आस्था और चिंतन

आचार्यरत्न श्री देशभूषणजी महाराज
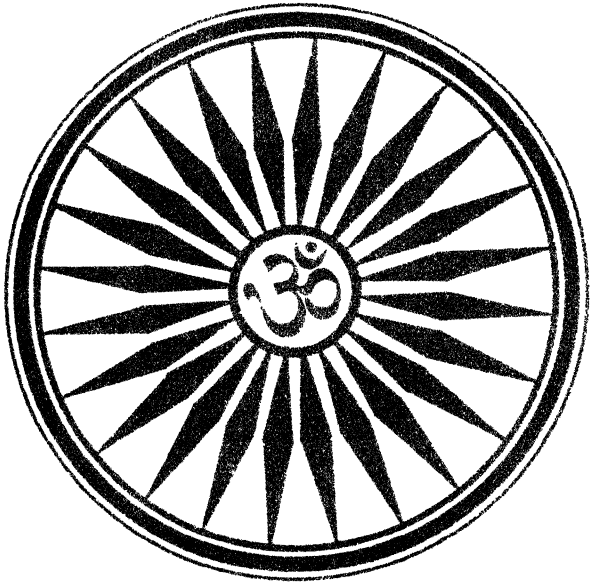
अभिनन्दन ग्रन्थ

आस्था और चिन्तन

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ

AASTHA AUR CHINTANA

Acharyaratna Shri Desh Bhùshan Ji Maharaj Abhinandan Granth

प्रकाशक

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ समिति,
1617 दरीबा कलां, दिल्ली-110006.

प्रकाशक : आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ समिति,
1617 दरीबा कलां दिल्ली-110006

वितरण : अभिनन्दन ग्रन्थ समिति की नीति के अनुसार

प्रकाशन : श्रुत पंचमी सन 1987

मुद्रक : नागरी प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा दिल्ली
ए आर.प्रिंटर्स, नई बस्ती, सीलमपुर, दिल्ली

रंगीन चित्र: शकुन प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा दिल्ली
श्याम-श्वेत चित्र. जी आर प्रिंटिंग प्रेस, छीपीवाड़ा, दिल्ली

AASTHA AUR CHINTANA: Acharyaratna Shri Desh Bhushan Ji Maharaj Felicitation Volume Published by Acharyaratna Shri Desh Bhushan Ji Maharaj Abhinandan Granth Samiti, 1617, Dariba Kalan, Delhi-110006. Edition 1987

CHIEF EDITOR : Dr R C Gupta

ORGANISING EDITOR : Sumat Prasad Jain

राष्ट्रपति
भारत गणतंत्र
PRESIDENT
REPUBLIC OF INDIA

सन्देश

मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई है कि आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की ऐतिहासिक दिगम्बरी साधना के 51 वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में उनके सम्मान में एक वृहत्त अभिनन्दन ग्रंथ, "आस्था और चिन्तन" के रूप में उन्हें समर्पित किया जायेगा जिसमें आचार्य जी के रचनात्मक व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सम्बन्ध में व्यापक प्रकाश डाला गया है ।

2. आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी पिछले 51 वर्षों से भारत के विभिन्न क्षेत्रों के पदयात्रा करते हुए सत्य, अहिंसा, दया, शांति, संयम, अपरिग्रह और उदात्त मानव मूल्यों का उपदेश जन-सामान्य को देते रहे हैं । देश के कोने-कोने में अपनी पदयात्रा के द्वारा उन्होंने सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वासों की ओर समाज का ध्यान आकृष्ट किया है और असंख्य लोगों को नैतिक जीवन व्यतीत करने हेतु प्रतिज्ञा दिलवाई है । मैं इनके इस कार्य को आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि राष्ट्रीय एकता और अखण्डता की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण मानता हूं । वे देश की विभिन्न भाषाओं के प्रकाण्ड पंडित हैं और जन-भाषा की सम्मुन्नति के लिए कृत संकल्प हैं ।

3. मैं इस शुभ अवसर पर उन्हें हार्दिक बधाई देता हूं और उनकी दीर्घायु की कामना करता हूं ।

(जैल सिंह)

नई दिल्ली
29 अप्रैल, 1987.
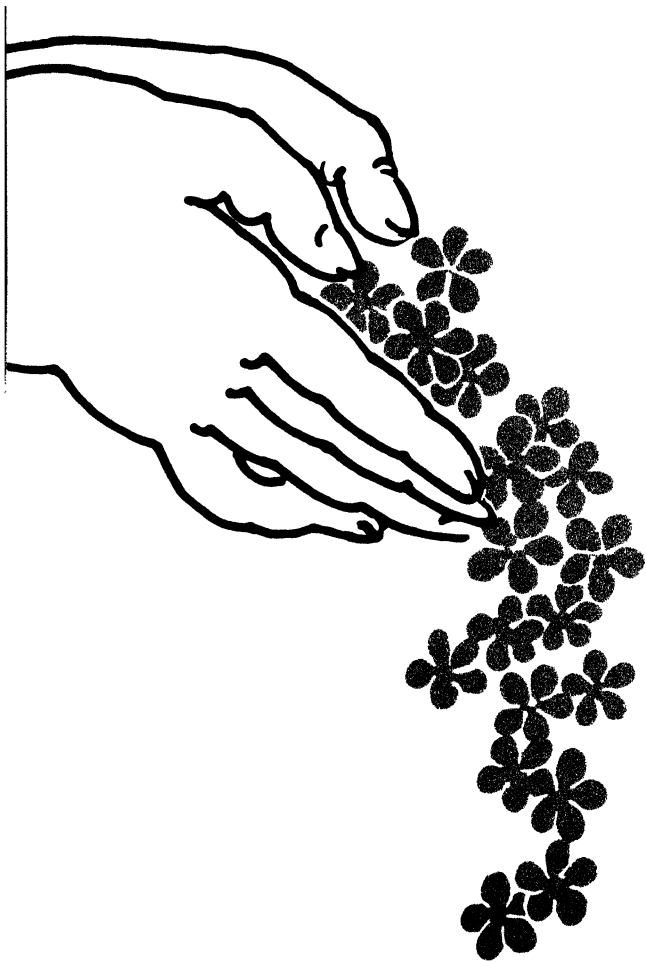
प्रधान मंत्री

नई दिल्ली
29 मई, 1987

प्रिय श्री अग्रवाल,

आपका 15 मई, 1987 का पत्र मुझे मिला ।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि जैन समाज राष्ट्रीय एकता के प्रतीक जैन धर्माचार्य श्री देशभूषण महाराज को दिगम्बरी साधना के 51 वर्ष पूर्ण करने पर उन्हें "आस्था और चिंतन " नामक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने जा रहा है ।

इस अवसर पर मेरी हार्दिक शुभकामनायें ।

आपका,
राजीव गांधी
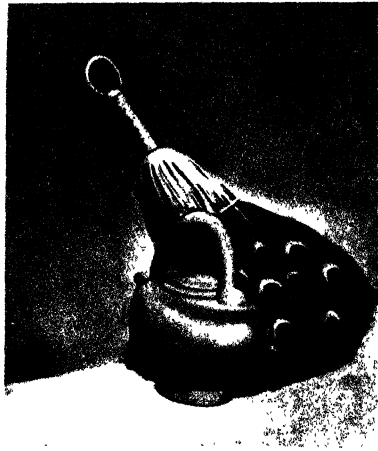
आशीर्वचन*

श्रीमत्परम-गम्भीर-स्याद्वादामोघ-लाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिन-शासनम् ॥

भारतवर्ष के जैन समाज ने गुरुभक्ति की भावनावश 'आस्था और चिन्तन' नामक जिस अभिनन्दन ग्रन्थ की रचना की है वह दिगम्बर जैन साधु पर लादा गया एक भारी बोझ है। हमारे जैसे गुणरहित एवं विद्वत्तारहित साधारण जैन मुनि को उठा कर पहाड़ पर विराजमान करने की जो चेष्टा हुई है वहां से उसके नीचे गिरने का भय भी निरन्तर बना हुआ है। भारत के जैन एवं जैनेतर विद्वानो एव समाजसेवियो ने जो भी स्तुतियां एव प्रशसा-वचन भेजे हैं, हम उनके योग्य नही।

दिगम्बर साधु आत्मा मे लीन रहता है और स्वमार्गोन्मुखी कर्तव्य-पथ पर अग्रसर रहता है। जैसे नदी का जल बहता रहता है, उसके जल से पिपासु अपनी प्यास बुझाते हैं, स्नानार्थी स्नान कर लेते हैं तथा कुछ लोग उसके जल से अन्य प्रयोग भी ले लेते हैं, परन्तु नदी का जल अच्छे और बुरे का भेद किए बिना निरन्तर बहता रहता है और अपने कर्तव्य-पथ का पालन करता है उसी प्रकार दिगम्बर साधु भी किसी की प्रशंसा या सम्मान से न तो आनन्दित होता है और न ही निन्दा-वचनो से दु खी होता है। सुख और दु:ख मे समान भाव बने रहना उसका वास्तविक स्वभाव है। हानि-लाभ, सुख-दु:ख, यश-अपयश सभी द्वन्द्वो से वह परे है।

मुझे मालूम हुआ है कि पिछले पाच-छह वर्षों से इस बृहत्काय ग्रन्थ का निर्माण चला आ रहा है। देश-विदेश के अनेक विद्वानों ने जैन विद्याओ के विविध पक्षों मे चिन्तन के नवीन आयाम जोड़े हैं। जैन परम्परा और उसके तत्त्व चिन्तन को प्रोत्साहित करना आज के युग की बहुत बड़ी आवश्यकता है। जैन तत्त्व चिन्तन के इस आयाम के प्रति अपना योग देने वाले सभी लेखको एवं देश-विदेश के विद्वानों को मेरा शुभाशीष है। मेरी दृष्टि में यह अभिनन्दन किसी एक जैन साधु का अभिनन्दन न होकर समग्र जैन परम्परा और उसके इतिहास का अभिनन्दन है। अहिंसा के प्रति समर्पित समग्र मानवता का अभिनन्दन है।

अभिनन्दन ग्रन्थ समिति ने अनथक और निष्काम रूप से कार्य करके अपना जो कर्तव्य सम्पादित किया है उससे न तो मैं आनन्दित हू और न ही इस अवसर पर कोई प्रशसा-वचन ही कहना चाहता हू। इतना अवश्य कहूगा कि मैंने आठ वर्ष दिल्ली में जो चातुर्मास किए हैं और टूटे-फूटे शब्दो से जिस सन्मार्ग की ओर संकेत किया है वह ही आत्मकल्याण का मार्ग है। उन शब्दो को हृदय मे रखकर आप यदि आत्मकल्याण के प्रति श्रद्धा रखेंगे तो वह ही मेरा वास्तविक अभिनन्दन है। श्रावक का कल्याण हो जाए तो हमारा भी कल्याण हो जाता है। अभिनन्दन ग्रन्थ को मूर्त रूप देने मे और उसकी रूपरेखा निर्धारित करने मे अभिनन्दन ग्रन्थ समिति के महामत्री सुमतप्रसाद जैन व उनके सहयोगियो ने जो विशेष परिश्रम किया है, उन्हें मेरा आशीर्वाद है। आत्मकल्याण की भावना का प्रचार व प्रसार करने वाले सभी जैन एव जैनेतर भाई-बहनो को हम हार्दिक शुभाशीर्वाद देते हैं और उनकी दीर्घायु की कामना करते हैं।

शांतिगिरि, कोथली (कर्नाटक)
अहिंसा दिवस
बृहस्पतिवार, दिनाक २-१०-१९८६

—आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

---

* प्रतिनिधिमंडल को शांतिगिरि मे दिया गया आचार्य श्री का अवसरानुकूल सदेश।

प्रणामांजलि

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज वर्तमान युग मे जैन धर्म की प्रभावना करने वाले शीर्षस्थ आचार्य हैं। वे हमारे लिए परमपूज्य हैं और गुरुतुल्य हैं। दीक्षा और संयम की दृष्टि मे वर्तमान मे वरिष्ठतम आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज हम सबकी प्रणामाजलि के पात्र है। हम उन्हे त्रिबार नमोऽस्तु करते हैं।

जैन धर्म और सस्कृति की रक्षा करने मे आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज विगत अर्धशताब्दी मे साधनारत हैं। आपने अनेक तीर्थक्षेत्रों एव मन्दिरों का जीर्णोद्धार एवं नवनिर्माण करवाया है और विशाल जिन-बिम्बो की प्रतिष्ठा करवाई है। निरन्तर अमृतमय उपदेश देकर और सम्पूर्ण भारत मे अनथक पद-यात्राए करके आपने श्रावको मे धर्म के प्रति रुचि जाग्रत की है। प्राचीन हस्तलिखित एव मुद्रित दुर्लभ ग्रन्थो का आपने विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया है और मानव-समाज को आध्यात्मिक आलोक प्रदान करने के लिए अनेक ग्रन्थो का प्रणयन किया है।

ऐसे युगप्रमुख आचार्य के व्यक्तित्व एव कृतित्व के प्रति श्रद्धा प्रकट करने की दृष्टि से अभिनन्दन ग्रन्थ समिति ने जो प्रयास किया है वह सराहनीय है। इस ग्रन्थ मे देश-विदेश के विद्वानो के जैन विद्या विषयक निबन्ध बहुत ही सुरुचिपूर्ण दृष्टि से प्रस्तुत किये गए है। १८०० पृष्ठो के इस भव्य अभिनन्दन ग्रन्थ 'आस्था और चिन्तन' को देखकर बहुत प्रसन्नता हुई है। इसके सम्पादन कार्य से जुडे हुए महामंत्री श्री सुमतप्रसाद जैन और प्रधान सम्पादक डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त के श्रम और साथ ही महाराज श्री के प्रति उनकी श्रद्धा से ही यह कार्य प्रकाश मे आ सका है। उन्हे और सम्पादन मडल के अन्य सभी सहयोगियो को हमारा आशीर्वाद।

हमे विश्वास है कि यह ग्रन्थ सम्पूर्ण विश्व के लिए अहिंसा का सन्देशवाहक बनेगा और जिन-वाणी के प्रचार-प्रसार मे इससे बल मिलेगा। ऐसे उत्तम कोटि के ग्रन्थ बहुत कम देखने मे आते हैं। ग्रन्थ के प्रकाशन मे रुचि लेने के लिए समिति के सभी सदस्य, दातार एव आस्थाशील श्रावक इसी प्रकार उपयोगी कार्यों मे सलग्न रहे, ऐसी हमारी कामना है।

बड़ौत (उ० प्र०) —श्री १०८ आचार्य विमल सागर

दिनाक ४-४-१९८७

Encyclopaedia of the Divine Practice

The Abhinandan Granth of Acharya Shiromani divine soul Acharya Deshbhushanji Maharaj is much more than a book. It is an encyclopaedia of the divine practice of Arihanta. In its 1800 odd pages it covers many subjects, experiences, philosophies, religious traditions, and different branches of divine knowledge I was very happy to learn that the Acharyaratna Shri Deshbhushanji Maharaj Abhinandan Granth Samiti has brought out this scholarly volume to honour the great sage of our times. Acharya Deshbhushanji Maharaj is a symbol of knowledge and practice. His studies, analysis and writings on a variety of subjects are impressive At the time of our first meeting he was editing Siri Bhoovalaya which is a complex collection of every deep knowledge once described by Dr. Rajendra Prasad, our First President as The eight wonder of the world

When I decided to travel abroad to spread the message of Lord Mahavir, I faced much opposition from some sectarian people. Acharya Deshbhushanji Maharaj was a staunch supporter of my mission. He blessed my journey and lovingly gave me the title of Dharmacharya, the Acharya of Religion. He has my gratitude and respect He is a true guru, teacher, advisor and instructor He has immense knowledge of Matrika Vidya. He is an authority on Mantras, particularly the Namokar Mantra. He has done a lot for the betterment of temples, education, libraries, social reform and Jain unity.

It is appropriate that we should celebrate the phenomenal work of this wise and talented saint who has given so much to the world. My blessings to all involved in the emergence of this great book which is destined to gain rapid respect in every University and Library My thanks to all.

February 26, 1987 —*Acharya Shri Sushil Kumar ji*

संयोजना

सम्यक्त्व चूडामणि आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज भारतवर्ष की परमकारुणिक अहिंसात्मक श्रमण संस्कृति की सर्वाधिक प्राचीन परम्परा के युगप्रमुख प्रतिनिधि हैं। मानव सभ्यता के विकास के प्रथम चरण मे इस महनीय परम्परा का सूत्रपात जैन धर्म के आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने किया था जिसे कालान्तर मे क्रमश. तेईस तीर्थंकरो ने अनुप्राणित किया—अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयासनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी। वैदिक साहित्य मे भी भगवान् ऋषभदेव की स्तुति एव अर्चा का अनेक प्रसंगो मे गौरवपूर्ण उल्लेख मिलता है। पुरातात्त्विक दृष्टि से हड़प्पा, मोहन-जो-दाडो से प्राप्त कुछ मुहरो पर साधनारत दिगम्बर मुनियो की भुवनमोहिनी कायोत्सर्ग मुद्रा के दर्शन होते हैं। सिन्धु घाटी के अभिलेखो के महान् अध्येता एव विश्लेषक श्री पी० आर० देशमुख के अनुसार जैनो के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव का सिन्धु सभ्यता से सम्बन्ध रहा है। भारतीय इतिहास मे सिन्धु घाटी की सभ्यता एव संस्कृति से लेकर आज तक इस महनीय परम्परा का एक गौरवशाली शृंखलाबद्ध इतिहास मिलता है।

वर्तमान युग मे आचार्यरत्न श्री श्री १०८ श्री देशभूषण जी महाराज जैन समाज के ज्योतिपुरुष, अप्रतिम उपसर्ग-विजेता और दिगम्बरत्व की जयध्वजा के रूप मे परम आदर और श्रद्धा की दृष्टि से सपूजित हैं। बीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध से उत्तरार्ध तक श्रमण सभ्यता एव संस्कृति के उन्नयन मे आप का ऐतिहासिक योगदान रहा है। विदेशी आक्रमणो, केन्द्रीय सत्ता के अभाव और विभिन्न राज्यो के शासको की धर्मान्धता के कारण लुप्तप्राय दिगम्बर साधुओ की परम्परा को नया जीवन देने मे चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शातिसागर जी एव श्रमणराज बहुश्रुत आचार्य श्री देशभूषण जी के योगदान को कौन विस्मृत कर सकता है? इन दोनो महान् विभूतियो के सात्विक संकल्प, सतत साधना एवं तपश्चर्या के कारण ही दिगम्बरत्व को इस युग मे पुन सामाजिक एवं धार्मिक स्वीकृति मिल सकी है।

साहित्य-साधना के सचल तीर्थ, प्रज्ञा-पुरुष, अनन्त श्री विभूषित आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज को तपोनिधि परमपूज्य आचार्य जयकीर्ति जी महाराज ने दिनाक ८ मार्च १९३६ को दिगम्बरी दीक्षा से श्रीमंडित किया था और तभी से आप अनथक, अपराजेय, अविचल भाव से जिन-शासन की प्रतिष्ठा और मानव-मात्र के कल्याण के लिए प्रयत्नशील हैं। ८ मार्च १९८७ को आपके दिगम्बर स्वरूप को धारण किये हुए इक्यावन वर्ष पूर्ण हो चुके हैं। विगत अनेक शताब्दियो मे इतनी दीर्घ कालावधि तक दिगम्बरत्व का प्रचार-प्रसार और इसकी सामाजिक प्रतिष्ठा करने वाला अन्य कोई तपस्वी दृष्टिगत नही होता। इस दृष्टि मे आपका ऐतिहासिक व्यक्तित्व स्पृहणीय, अनुकरणीय, वन्दनीय एव अभिनन्दनीय है।

पूज्य आचार्य श्री देशभूषण जी वास्तव मे देश के भूषण है। कर्नाटक एव महाराष्ट्र के सन्धिस्थल जिला बेलगाव (कर्नाटक) के कोथली नामक गाव मे जन्म लेने वाले इस सन्त-प्रवर ने लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष की अनेक बार पद-यात्रा की है। आचार्यश्री के धार्मिक एव आध्यात्मिक उपदेशामृत का लाखो व्यक्तियो ने लाभ उठाया है और उनकी निर्मल वाणी एव विचारणा शक्ति मे मानव-मात्र को ज्ञान, विवेक व शान्ति की प्राप्ति हुई है। इस निर्भीक सन्त ने आत्मा के अजर, अमर एव सनातन स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए भारतीय जन-मानस को स्वतन्त्रता एव जागरूकता का महामन्त्र दिया। वास्तव मे आचार्यरत्न की सारगर्भित सारस्वत वाणी मे भारतीय सस्कृति और दर्शन की सार्वभौम आध्यात्मिक चेतना के दर्शन होते हैं।

लोककल्याण के निमित्त निरन्तर तपश्चर्यारत और गतिशील धर्मचक्र के समान धर्मसभाओ मे अपने उपदेशामृत से लाखो भव्य जीवो को उपकृत करने वाले आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज केवल जैन धर्म के ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण मानव जाति की भौतिक, नैतिक एव आध्यात्मिक चेतना की परिशुद्धि के लिए मूर्तिमान तीर्थस्वरूप हैं। वैचारिक क्रान्ति और कल्याणकर उपदेश वाणी के उद्घोषक के रूप मे आप अनासक्त कर्मयोगी और ज्ञान के दैदीप्यमान सूर्य हैं। अपनी ऊर्ध्वमुखी चेतना और प्रकाश-प्रेरित अनुभूति द्वारा आपने समग्र राष्ट्र को अप्रतिम वरदान के रूप मे रचनात्मक आलोक से दीपित किया है।

तपोनिधि, बहुभाषाविज्ञ आचार्य श्री देशभूषण जी भारतीय साहित्य के गम्भीर अध्येता एवं मर्मज्ञ विद्वान् हैं। भारतीय साहित्य की आध्यात्मिक एवं दार्शनिक निधियों को जन-जन तक पहुंचाने मे उन्होंने स्वयं को समर्पित कर दिया है। इस भविष्यद्रष्टा, अनासक्त कर्मयोगी ने राष्ट्र के रचनात्मक निर्माण और उत्तर एवं दक्षिण के रागात्मक सम्बन्धों को विकसित करने के लिए विभिन्न भारतीय भाषाओ यथा सस्कृत, तमिल, कन्नड़, बगला, गुजराती आदि के भक्ति साहित्य को राष्ट्रभाषा हिन्दी मे तथा हिन्दी के भक्ति-साहित्य को अन्य भारतीय भाषाओं मे अनुदित किया है। आचार्य श्री देशभूषण जी की सतत साहित्य-साधना के कारण ही अनेक समर्थ ऋषियो की विभिन्न अज्ञात एवं महत्त्वपूर्ण रचनाएं प्रकाश में आ सकी हैं। आपकी गणना भारतीय भाषाओं के उन युगप्रमुख साहित्य-सेवियो मे की जा सकती है जिन्होंने धर्म की रक्षा एवं साहित्य के अभ्युदय के लिए समर्पित होकर भारत के विभिन्न भाषा-भाषियों मे प्रेम एवं सद्भाव की अविच्छिन्न कड़ियों को जोड़ा है। जिन-वाणी के प्रचार-प्रसार के लिए आपने अनेक प्राचीन एवं दुर्लभ पांडुलिपियों को प्रकाश में लाने का अहर्निश प्रयास किया है। लुप्तप्राय धर्मग्रन्थ-राशि-गंगा के आप अभिनव भगीरथ हैं।

परम वन्दनीय, सिद्ध तपस्वी आचार्य देशभूषण जी सास्कृतिक अनुचेतना के प्रमुख उद्बोधक महापुरुष हैं। आपके चरण रचनाधर्मी हैं। अनेक प्राचीन तीर्थक्षेत्रो के जीर्णोद्धार एवं नए तीर्थों की सृष्टि के मूल प्रेरक आप ही रहे है। आपके भागीरथ प्रयत्न से भारत की सास्कृतिक एवं आध्यात्मिक राजधानी श्री अयोध्या जी मे जैन धर्म के आद्य प्रवर्तक भगवान् श्री ऋषभदेव की बत्तीस फुट की कलात्मक मूर्ति की प्रतिष्ठा एवं भव्य मन्दिर जी का निर्माण सम्भव हो सका है। साधना स्थल चूलगिरि पार्श्वनाथ (जयपुर, खानिया जी) एवं गौरवमडित शान्तिगिरि (कोथली) पूज्य आचार्यश्री के रचनात्मक क्रिया-कलापो का सजीव इतिहास हैं। आपकी पावन प्रेरणा से सैकड़ो जिनमन्दिरो, कालेजो, पाठ-शालाओ, पुस्तकालयो, वाचनालयो, औषधालयो एव धर्मशालाओ का निर्माण एव उद्धार हुआ है।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी इस युग के सर्वप्रमुख दिगम्बर जैनाचार्य हैं। एक दिगम्बर सन्त के रूप मे जीवन व्यतीत करते हुए भी आचार्य श्री अत्यन्त उदार एव सहृदय हैं। भारत एव विश्व के सभी धर्मों के प्रति उनके मन मे समादर भाव है। उन्होने प्राय: सभी धर्मों के प्रमुख ग्रन्थो का अध्ययन किया है। इसीलिए उनकी पवित्र वाणी में सभी धर्मों के सिद्धान्तो एव आदर्शों का समावेश पाया जाता है। आचार्यश्री की सम्मति मे जैन धर्म की पृष्ठभूमि अत्यन्त उदार है। वे जैन धर्म को आत्मा का धर्म मानते हैं। उनकी दृष्टि मे जैन धर्म मे ही विश्वधर्म होने की क्षमता है। इसीलिए आचार्यश्री अपनी साधना एव तपश्चर्या से जैन धर्म को विश्वव्यापी बनाने मे निरन्तर सलग्न है। वास्तव मे वे नए युग की आस्था के सबल प्रतीक हैं। बहुमुखी रचनात्मक व्यक्तित्व एवं कृतित्व के धनी आचार्य श्री देशभूषण जी धर्म के सजीव एवं मूर्तिमन्त स्वरूप है।

धर्मप्राण मुमुक्षुओ के लिए आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज का व्यक्तित्व सहज आस्थामय रहा है। शरीरधर्मी होते हुए भी आप मे रक्त-मांस की गंध नहीं है। अध्यात्म की शुभ्र-ज्योत्स्ना मे परिव्याप्त प्रभा-मंडल आपके दिव्य शरीर को अलौकिक आभा प्रदान करता है। इसी कारण प्रतिकूल परिस्थितियां भी आपके सम्मुख नतमस्तक हुई है। आप उपसर्गजयी और महान् परिषहजेता हैं, एलाचार्य मुनि श्री विद्यानन्द जी महाराज सरीखे श्रमणो के परमगुरु और चिरन्तन मानवीय मूल्यो के सजग प्रहरी हैं, महान् अध्यात्मनायक, मनस्वी, मनीषी, उदार और उदात्त बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी तथा प्रेरणा के अक्षय अमृत-कोष हैं।

प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ

जैन-समाज की शीर्ष अध्यात्ममणि, गौरव-शिखर आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के महत्त्वपूर्ण अवदान से प्रेरित होकर उनके सर्वजन हिताय रचनात्मक कार्यों और धर्म-प्रचार की महान् सेवाओ को लक्षित करते हुए यह परमावश्यक था कि हम उनकी कीर्ति को मूर्त स्वरूप प्रदान करने के निमित्त एक विशाल अभिनन्दन ग्रन्थ को प्रस्तुत करके इस शलाका पुरुष का सारस्वत अभिनन्दन कर अपने कर्तव्य का पालन करें। इस प्रकार के युग-प्रमुख राष्ट्रीय सत का अभिनन्दन वास्तव मे एक राष्ट्रीय एव सास्कृतिक आवश्यकता है। इसीलिए भारतवर्ष के जैन समाज ने योगेन्द्र-चूडामणि, परमहंस, धर्म-साधक आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी की दीर्घकालीन सेवाओं एवं प्रेरक व्यक्तित्व के प्रति विनम्र श्रद्धा व्यक्त करने के लिए एक विशाल अभिनन्दन ग्रन्थ जैन-धर्म के विश्वकोश के रूप मे उनके कर-कमलों मे समर्पित करने का पावन सकल्प किया था।

इस प्रकार आचार्यरत्न श्री १०८ देशभूषण जी महाराज का सारस्वत अभिनन्दन दिगम्बर मुनि-परम्परा का सात्त्विक कीर्ति-आलेख है। यह व्यक्ति को नहीं, परम्परा को नमन है। व्यष्टि मे समष्टि की प्रतिच्छवि है। इस ग्रन्थ को दो भागों मे विभक्त किया गया है—(१) आस्था, और (२) चिन्तन। आस्था खड के अन्तर्गत पांच उपखंड हैं—आस्था का अर्घ्य, कालजयी व्यक्तित्व, रसवन्तिका, अमृतकण, सृजन-सकल्प।

'आस्था का अर्घ्य' के अन्तर्गत साहित्यकारों, राजनेताओ, केन्द्रीय मंत्रियो, राज्यपालों, संसद् सदस्यों, मुनिगणों एव समाज के प्रतिष्ठित श्रावकों द्वारा आचार्यश्री के प्रति शुभकामनाएं व्यक्त की गई हैं। *'कालजयी व्यक्तित्व' के अन्तर्गत इस महान साधक के दिव्य व्यक्तित्व, उनके जीवन की* अलौकिक घटनाओं, उनकी प्रेरणा से निर्मित विभिन्न तीर्थक्षेत्रो तथा मानव-कल्याण सम्बन्धी योजनाओ की जानकारी, उनके द्वारा सम्पन्न विभिन्न चातुर्मासों आदि का उल्लेख किया गया है। 'रसवन्तिका' के अन्तर्गत पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, शौरसेनी, संस्कृत, हिन्दी तथा उर्दू भाषा मे देश के अनेक रससिद्ध कवियो द्वारा आचार्यश्री की गुण-गरिमा का काव्यमय उल्लेख किया गया है। 'अमृत कण' मे आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी द्वारा देश के विभिन्न भागो मे दिये गए प्रवचनो मे से तथा उनके द्वारा सम्पादित, लिखित महत्त्वपूर्ण धर्म-ग्रन्थो मे से चुने हुए अंश प्रस्तुत किये गए है और 'सृजन संकल्प' खंड मे आचार्यश्री के साहित्यिक अवदान का मूल्यांकन किया गया है।

इस अभिनन्दन ग्रन्थ का दूसरा खड 'चिन्तन' के रूप मे है जिसे सात उपखंडो मे विभाजित किया गया है—(१) जैन दर्शन मीमासा, (२) जैन तत्त्व चिन्तन · आधुनिक सन्दर्भ, (३) जैन प्राच्य विद्याएं, (४) जैन साहित्यानुशीलन, (५) जैन धर्म एव आचार, (६) जैन इतिहास, कला और संस्कृति, (७) गोम्मटेश दिग्दर्शन। इन खंडो मे देश-विदेश के शीर्षस्थ विद्वानो, विभिन्न विश्वविद्यालयो के कुलपतियो, विभागाध्यक्षो, आचार्यों, विद्या विशेषज्ञो, अनुसन्धित्सुओ एवं जैन पीठाधीश्वरों के शोधपूर्ण निबन्ध समाकलित किये गए हैं। यह अभिनन्दन ग्रन्थ वास्तव मे जैन धर्म, दर्शन, कला, संस्कृति, इतिहास, साहित्य आदि के सन्दर्भ मे विश्वकोश के समान महत्त्वपूर्ण बन गया है और आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी के व्यक्तित्व की अनेक चमत्कारी घटनाओ के प्रामाणिक उल्लेख, उनके सम्पर्क मे आने वाले मुनियो और श्रावको के आस्थामय वचनो और आचार्यरत्न के धार्मिक प्रवचनो का सार-सक्षेप व अमृत-तुल्य सूक्ति-वचनो के समाहार से इसमे जैन समाज को ही नही, सम्पूर्ण मानव-जाति को दिशा देने की सामर्थ्य है।

प्रस्तुत ग्रथ के अभिनन्दनीय महापुरुष आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के चरणो मे भक्ति का अर्घ्य समर्पित करते समय लोक-मगल की पृष्ठभूमि मे जैन धर्म के गौरवशाली अतीत एवं महान् परम्परा का स्वर्णिम इतिहास मेरी आंखो मे तैर रहा था। अपनी इस कल्पना को मूर्त रूप देने के लिए मैंने महानगरी दिल्ली की साहित्यिक एवं सास्कृतिक गतिविधियो के प्राण, सुधी समालोचक, सहृदय कवि, साहित्यकार एवं पी० जी० डी० ए० वी० साध्य कालेज (दिल्ली विश्वविद्यालय) के वरिष्ठ प्राध्यापक, डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त से सम्पादन-कार्य के सम्बन्ध मे आवश्यक विचार-विमर्श किया। धर्मप्राण डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त ने इस सारस्वत अनुष्ठान के लिए अपनी ओर से भरपूर सहयोग देना सहर्ष स्वीकार कर लिया। उनके द्वारा दिये गए आश्वासन के उपरान्त पुराणपुरुष, परमाराध्य, आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव और उनकी गौरवशाली परम्परा के चरणों मे आस्था का दीप प्रज्ज्वलित करने की भावना से श्री १०८ आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज न्यास, दिल्ली के पदाधिकारियो एव सदस्यो ने दिनाक ३१ अगस्त १९८० को आचार्यचरण के प्रति आस्थाशील श्रावको की एक विशेष बैठक बुलाई जिसमे अभिनन्दन ग्रन्थ समिति का विधिवत् गठन किया गया। समिति की साधारण सभा द्वारा अनुमोदित इस मगल अनुष्ठान को मूर्त रूप देने के लिए द्रुतगति से कार्य का शुभारम्भ कर दिया गया। आवश्यक प्रबन्ध व्यवस्था एव साधनो के निरन्तर अभाव मे भी समिति ने धैर्यपूर्वक अपने दायित्व का कुशलतापूर्वक निर्वाह कर एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया है।

रविवार दिनाक २६ अक्तूबर १९८० को आयोजित बैठक मे समिति का सविधान स्वीकृत किया गया और प्रस्तावित अभिनन्दन ग्रन्थ की योजना की सस्तुति के उपरान्त श्री सुमतप्रसाद जैन (अवैतनिक महामत्री) एव प्रधान सम्पादक डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त को यह अधिकार दिया गया कि वे परामर्शदाता मडल तथा सम्पादक मडल का स्वय ही गठन कर लें।

कार्यारम्भ के समय इस अभिनन्दन ग्रन्थ को ११०० पृष्ठो मे पूर्ण करने का विचार किया गया था, किन्तु देश-विदेश के विद्वानो और आस्थाशील श्रावको द्वारा इस दिशा मे अत्यधिक उत्साह दिखाने के कारण वर्तमान मे यह लगभग २००० पृष्ठो का कलेवर ग्रहण कर गया है। इसके सम्पादन-मडल मे विभिन्न विषयो के अधिकारी विद्वानो और जैन विद्या के अध्ययन-अध्यापन मे समर्पित मनीषियों डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त (पी० जी० डी० ए० वी० साध्य कालेज), डॉ० मोहनचद (रामजस कालेज), डॉ० दामोदर शास्त्री (श्री लालबहादुर शास्त्री सस्कृत विद्यापीठ), डॉ० पुष्पा गुप्ता (लक्ष्मीबाई कालेज), डॉ० महेन्द्र कुमार 'निर्दोष' (हसराज कालेज), प्रो० पी० सी० जैन (इंडियन इन्स्टीट्यूट आफ टैक्नोलोजी, बम्बई), श्री बिशनस्वरूप रुस्तगी (रिसर्च स्कॉलर, सस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय), श्री जगबीर कौशिक (रिसर्च स्कॉलर, बौद्ध दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) का सहयोग प्राप्त हुआ है। डॉ० महेन्द्र कुमार को 'अमृत कण', डॉ० मोहनचन्द को 'जैन तत्त्व चिन्तन . आधुनिक सन्दर्भ', श्री बिशनस्वरूप रुस्तगी को 'जैन दर्शन मीमांसा', प्रो० पद्मचन्द जैन को 'जैन प्राच्य विद्याएं', डॉ० पुष्पा गुप्ता को 'जैन साहित्यानुशीलन', डॉ० दामोदर शास्त्री को 'जैन धर्म एव आचार' और श्री जगबीर कौशिक को 'गोम्मटेश दिग्दर्शन' शीर्षक खण्डो का सम्पादन करने का दायित्व दिया गया था जिसे उन्होंने पूर्ण मनोयोग से सम्पन्न किया। 'आस्था का अर्घ्य', 'कालजयी व्यक्तित्व', 'रसवन्तिका', 'सृजन सकल्प' का सम्पादन

डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त ने किया है। 'जैन प्राच्य विद्याए' एव 'जैन साहित्यानुशीलन' शीर्षक खण्डों के सम्पादन मे भी उनका सहयोग रहा है। 'जैन इतिहास, कला और संस्कृति' के स्वतन्त्र सम्पादन तथा शेष सभी खण्डों के पारस्परिक सामंजस्य का दायित्व मुझ पर रहा है। सम्पादन मंडल के सभी सहयोगियों की सारगर्भित मन्त्रणा मुझे सदैव उपलब्ध रही है। डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त, डॉ० मोहनचन्द, डॉ० दामोदर शास्त्री, डॉ० महेन्द्र कुमार 'निर्दोष' तथा श्री बिशनस्वरूप रुस्तगी तो समय-समय पर विचार-विमर्श के लिए कार्यालय में आते रहे हैं और कार्य को शीघ्र सम्पन्न कराने के लिए अनेक बार प्रेस मे भी गए हैं, किन्तु उन्होंने किसी भी प्रकार के मार्ग-व्यय को स्वीकार नही किया। इस उदारतापूर्वक दिये गए सहयोग के लिए समिति की ओर से मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए जैन धर्म के शीर्षस्थ आचार्यों एवं मुनियो का आशीर्वाद हमारे साथ रहा है। उन्होने कृपापूर्वक समय-समय पर हमारा मार्ग दर्शन किया है और मनोबल बढाया है। परामर्श मंडल के सदस्यों ने आवश्यकतानुसार ग्रन्थ की रूपरेखा को समझा, सराहा और अपने उपयोगी सुझाव दिए, सम्पादन मंडल के सभी विद्वान् और विशेषतया डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त तथा डॉ० मोहनचन्द विगत सात वर्षों से इस कार्य में मिशनरी भावना से सहज समर्पित रहे, लेखको से बिना किसी पारिश्रमिक के शोधपरक निबन्ध एवं अन्य महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई। कुछ लेखक बन्धु तो इस बीच दैव-योग से कालकवलित भी हो गए। अभिनन्दन ग्रन्थ समिति की ओर से मैं इन सभी सहयोगियों का साधुवाद करता हूं।

इस अभिनन्दन ग्रथ को सुरुचिपूर्ण रूप मे प्रस्तुत करने की दृष्टि से मुझे समाज के विभिन्न वर्गों के अनेक सज्जनो का सहयोग मिला है। इस धर्म कार्य के लिए सर्वश्री नरेन्द्र मल्होत्रा, श्रेणिक लाल शर्मा, अजित वद्योपाध्याय, जुगमन्दर दास जैन 'मुकेश', मुन्शी सुमेरचन्द जैन (पच), अनन्त कुमार जैन (जैन मेडिकोज), सुधीर जैन, विष्णु कुमार भार्गव, जिनेन्द्र कुमार जैन कागजी, अनिल कुमार जैन (वर्धमान पेपर प्रोडक्ट्स) का निष्काम भाव से सहयोग प्राप्त हुआ है। श्री सुरेन्द्र जैन ने समिति के लिए चित्राकन मे उदारता से सहयोग दिया है। शातिगिरि के चित्र भण्डार मे भी कुछ दुर्लभ चित्र प्राप्त हुए हैं। श्री महताबसिह जैन जौहरी, श्री बिजेन्द्र कुमार जैन सर्राफ, श्री प्रेमचन्द जैन (पहाडी धीरज) ने भी अपने निजी सग्रह मे कुछ चित्र उपलब्ध कराए हैं। श्री पवन कुमार जैन, श्री संजय चराडवा ने अपनी तूलिका से ग्रन्थ को सज्जित करने मे सहयोग दिया है।

अभिनन्दन ग्रथ को सर्वांग सुन्दर, उपयोगी एव प्रामाणिक रूप देने के लिए देश-विदेश के हजारो साधु-सन्तो एव मनीषियो से सम्पर्क एव पत्र-व्यवहार किया गया। समिति ने अपने गठन से अब तक लगभग पन्द्रह हजार पत्रो का आदान-प्रदान इस सारस्वत अनुष्ठान के निमित्त किया है जो स्वय मे इस अभिनन्दन का एक हिस्सा बन गया है। इस विशालकाय अभिनन्दन ग्रथ का मुद्रण विभिन्न मुद्रणालयों मे हुआ है। इस दृष्टि से सर्वश्री कुवरकान्त चौधरी, भगवत स्वरूप शर्मा, रामकिशोर शर्मा, शेखर जैन, पकज जैन, अम्बुज जैन, गगाशरण शर्मा की सेवाए उल्लेखनीय हैं। जिल्दसाज श्री मकसूद अली ने भी बड़े धैर्य का परिचय दिया है। अधिकाश सामग्री सन् ८२-८३ मे ही प्रकाशित हो चुकी थी। इस सामग्री को उन्होने इतनी लम्बी अवधि तक सजोए रखा और सुरुचिपूर्ण जिल्द बाधी, इसके लिए वे निश्चय ही हमारी बधाई के पात्र हैं।

इस विशाल अभिनन्दन ग्रथ के प्रकाशन के निमित्त जिन दातार महानुभावो ने आचार्यश्री के प्रति आस्था व्यक्त करते हुए संरक्षक अथवा साधारण सदस्य बन कर धन सुलभ कराया है, उनके प्रति आभार व्यक्त करना भी मैं अपना कर्तव्य समझता हू। अभिनन्दन ग्रथ समिति के इतिहास मे जनवरी ८३ से दिसम्बर ८५ की अवधि निष्क्रियता और उदासीनता की रही है। यद्यपि सम्पादको ने अपना सभी कार्य सर्वथा अवैतनिक रूप मे किया है और कार्यालय सम्बन्धी व्यवस्था पर भी राशि व्यय नही की गई, तथापि कागज के क्रय और मुद्रण व जिल्दबदी के भुगतान तो करने ही थे। इस सम्बन्ध मे मुझे यह कहते हुए सकोच है कि अभिनन्दन ग्रन्थ समिति के गठन से लेकर अब तक हमे समय-समय पर आर्थिक कठिनाइयो से सघर्ष करना पडा है। समाज के अनेक महानुभावो ने वचन तो दिया किन्तु या तो उसका पालन नही किया अथवा बारम्बार स्मरण दिलाने पर भी कच्छप गति से सहयोग दिया। परिणामस्वरूप ग्रन्थ के प्रकाशन मे विलम्ब होता गया और सन् १६८० मे प्रारम्भ किया गया यह भक्तिपरक अनुष्ठान यन-केन-प्रकारेण सन् १६८७ मे पूरा हो पा रहा है। यह भी समाज के लिए कम गौरव की बात नही है।

आर्थिक सहयोग समय पर प्राप्त न होने का एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि इस ग्रथ की सामग्री मुद्रण के लिए विभिन्न चरणो मे देनी पडी है और प्रेस भी बदलनी पडी हैं। परिणामत: मुद्रण की एकरूपता मे बाधा पहुंची है और प्रूफ-सशोधन के समय वर्तनी की एकरूपता भी खडित हुई है।

इस प्रकार की विषम स्थिति मे जनवरी १६८६ मे समिति को प्राणवान् बनाने के लिए विशेष सभा का आयोजन किया गया। सभा मे विधान के अनुसार पदाधिकारियों एव कार्यकारिणी का पुनर्गठन हुआ और इस सभा मे उपस्थित सभी महानुभावों ने कार्य को यथाशीघ्र पूर्ण करने के लिए सहयोग देने का आश्वासन दिया और इस कार्य को सफल बनाने के लिए युद्ध स्तर पर कार्य किया। इस नवगठित समिति के अध्यक्ष श्री लालचन्द जैन एडवोकेट ने समय-समय पर उपयोगी मार्गदर्शन किया और आर्थिक कारणो से समिति का कार्य प्रभावित न हो इसके लिए

प्रोत्साहन एवं सक्रिय सहयोग दिया। समिति के पदाधिकारी श्री अजितप्रसाद जैन ठेकेदार (अध्यक्ष); डॉ० कैलाशचन्द्र जैन (उपाध्यक्ष), श्री सुभाषचन्द जैन (मन्त्री), श्री महेन्द्र कुमार जैन (कोषाध्यक्ष) भी उपयोगी मन्त्रणा और कार्य मे सहयोग देते रहे हैं। अभिनन्दन ग्रंथ के सफल समापन के अवसर पर वैद्यराज प्रेमचन्द जैन (मन्त्री) की अविस्मरणीय सेवाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। समिति की संयोजना, गठन, अर्थ-व्यवस्था का नियंत्रण एवं अन्य अनेक प्रकार के दायित्वो का उन्होंने निष्काम भाव से निर्वाह किया है।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ समिति के विधान के अनुसार इस महान् कार्य की गतिविधियो को दिशा देने के लिए ग्यारह सदस्यीय समिति का गठन किया गया है। श्री अनन्त कुमार जैन (जैन मेडिकोज) के सयोजकत्व मे सचालन समिति अपना कार्य पूर्ण मनोयोग से कर रही है। इस सचालन समिति के सभी सदस्य धन्यवाद के पात्र हैं।

'आस्था और चिन्तन' के विशद भावलोक मे निरन्तर सात वर्षों तक विचरण करते रहने के कारण सम्भवत मैं अपने पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्वों के प्रति न्याय नही कर पाया। इस सात्विक सकल्प को मूर्त रूप प्रदान करने मे मेरे परिवार जनो—धर्मपत्नी ऊषा जैन तथा पुत्रो सजय, सदीप और शरत्—का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष समर्पित सहयोग रहा है। प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ के सफल प्रकाशन पर उन सबका हर्षित होना स्वाभाविक है। इस प्रकार के धर्म कार्यों मे उनकी निरन्तर रुचि बने रहे, यही मेरी कामना है।

भगवान् श्री जिनेन्द्रदेव, जिनवाणी एव धर्मगुरुओ की भक्ति के निमित्त निष्काम भाव से आयोजित इस सारस्वत अनुष्ठान की समापन बेला के अवसर पर युगप्रमुख दिगम्बराचार्य श्री देशभूषण जी महाराज ने कृपा-प्रसाद के रूप मे मुझ जैसे अल्पज्ञ एव साधारण व्यक्ति को 'सम्यक्त्व रत्नाकर', 'साहित्य मनीषी' और 'जैन विद्याभूषण' जैसे गौरवशाली पदो से समलकृत किया है। विश्वधर्म-प्रेरक आचार्य सुशील कुमार जी ने भी दिनाक ५ मई १९८७ को इस असाधारण कार्य की प्रशंसा करते हुए मुझे 'परमार्हत् धर्मोपासक' का पद प्रदान किया है। इस सबसे मैं एक ओर तो सकोच का अनुभव कर रहा हूँ, किन्तु दूसरी ओर मुझे सुखद सन्तोष का भी अनुभव हो रहा है। एक प्रकार से इन महान धर्मगुरुओ द्वारा यह मेरे श्रम और साधना की सामाजिक स्वीकृति है। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। वास्तव मे उन्ही की अज्ञात प्रेरणा से यह कार्य सम्पन्न हो सका है।

सुमतप्रसाद जैन
अवैतनिक महामन्त्री एवं प्रबन्ध सम्पादक

दिनांक १०-५-१९८७

प्रस्तावना

यत्र स्याद्वाद सिद्धान्तो यत्र वीरो जिनेश्वरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवानन्दो ध्रुवावरः ॥

परम पूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज श्रमण परम्परा के प्रतीक हैं। श्रमणों का स्मरण, ऋग्वेद से श्रीमद्भागवत तक—एक लम्बी जैनेतर शृंखला मे भी श्रद्धापूर्वक किया गया है। श्रमण शब्द सर्वप्रथम ऋग्वेद के दशम मण्डल में उपलब्ध होता है। वहाँ ऋषभदेव, अजितनाथ और नेमिनाथ की प्रशंसा मे अनेक ऋचाओं की रचना की गई है। डॉ० राधाकृष्णन् ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'इंडियन फिलासफी' में ऐसा लिखा है। ऋग्वेद के एक सूक्त १०/१३६ मे मुनियो का अनोखा वर्णन उपलब्ध होता है। तैत्तिरीयारण्यक (२/७) मे श्रमणो के सम्बन्ध मे लिखा है—वातरशनानामृषीणामूर्ध्वमंथिन। सायणाचार्य ने इसकी व्याख्या की है—वातरशनाख्या ऋषय श्रमणा ऊर्ध्व मथिनो बभूवुः। बृहदारण्यकोपनिषद् (४/३/३२) मे श्रमणो को पूज्य कहा गया है। श्रीमद्भगवत्गीता (२/५६) तथा श्रीमद्भागवत (५।३।२०) मे भी उनका भक्त्यात्मक वर्णन किया गया है। जैनाचार्य रविषेण ने श्रमण के श्रम शब्द पर बल देते हुए लिखा—तपसा प्राप्य सम्बन्धं तपो हि श्रम उच्यते। आचार्य देशभूषण जी ने इस दीर्घकालीन विरासत को जिया है। बचपन से अब तक ८० वर्ष का उनका जीवन तप मे ही बीता है। इस कलियुग मे ऐसे श्रम-साध्य तप का अभिनन्दन कर हम स्वय अभिनन्दनीय बने हैं। महाराज तो वीतरागी हैं, उन्हे न निन्दा से अर्थ है और न प्रशंसा से। वह दोनों से ही ऊपर है।

आज वह आचार्य पद पर दशकों से प्रतिष्ठित हैं। उन पर 'चरे राहि चागुरी' से 'आचार्यते आचार्यः' व्युत्पत्ति पूर्णरूप से घटित होती है। उन्होने केवलि-प्रणीत धर्म को स्वय अपने आचरण मे ढाला और दूसरों को ढालने की विधि बताई। उनका संघ अनुशासन-बद्ध है। वह आचार्यश्री के दिखाये मार्ग पर आत्महित के लिए ऊर्ध्वपंथी है। आचार्यश्री ने आचरण के जिस सम्यक् पथ पर सघ को आगे बढाया, वह उसी पर चला, तिलमात्र इधर-उधर नही हुआ, यह सब ने देखा है। यही कारण है कि उनके शिष्य आचार्य, एलाचार्य और उपाध्याय-जैसे पावन पदों पर प्रतिष्ठित हैं। वे सभी देश को सम्यक् दिशा मे ले जाने का प्रयास कर रहे हैं। इससे जन-जन मे धर्म और नैतिकता अपने सही अर्थों मे प्राणवत हो उठेगी, ऐसा हमे विश्वास है।

आचार्यश्री उच्चकोटि के आध्यात्मिक शिक्षक हैं। उन्होने ईसा की पहली शती में हुए आचार्य कुन्दकुन्द के इस विधि वाक्य को—आचार्य वही है जो साधारण साधुओ को कर्मों का क्षय करने वाली शिक्षा देता है—जीवन-कसौटी माना है। उन्होने इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए स्थूल से सूक्ष्म की ओर शनैः-शनैः किन्तु दृढतापूर्वक बढ़ने का सूत्र दिया है। इसी कारण वे अध्यात्म विद्या के साथ-साथ व्यावहारिक ज्ञान को भी कम महत्त्व नही देते। उनकी दृष्टि मे टेक्नीकल शिक्षा को अध्यात्म-मूला होना ही चाहिए। ऐसा हुए बिना वह विश्व विध्वंस करेगी, यह सुनिश्चित है। कोई भी व्यावहारिक शिक्षा जो केवल बाह्य को समुन्नत बनाती है, अत को नही, वह ऐसे ही है जैसे किसी का एक कदम बढता जाये और दूसरा जहाँ-का-तहाँ रहे। वह टूट जायेगा। लक्ष्य तक पहुंचे बिना बीच मे ही ढह पड़ना, उसकी नियति बन जायेगा। अध्यात्म के बिना मानव मे छिपा अतिमानव कभी प्रगट न हो सकेगा, ऐसा वे मानते हैं। वे स्थूल को नकारते नही, किन्तु उसकी सार्थकता तभी है, जब वह सूक्ष्म को पा सके। आचार्यश्री की दृष्टि सूक्ष्म पर टिकी है। स्थूल और सूक्ष्म का—पुद्गल और चेतन का—शरीर और आत्मा का अनादिकालीन सम्बन्ध है। पुद्गल दृष्ट है, मूर्तिक है, साकार है और गम्य है। उसे पकड कर हम सूक्ष्म तक पहुँच सकते है। ऐसा किये बिना हमारी गुजर नही। मानव संस्कृति के समाप्त होने का डर है।

स्थूल से सूक्ष्म तक की यात्रा बिना दिव्य चरित्र के नही हो सकती। आचार्यश्री की दृष्टि मे दर्शन, ज्ञान और चरित्र को एक साथ चलना चाहिए। जैन आचार्यों ने 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग:' से यह सिद्ध किया है कि हम में श्रद्धा हो, ज्ञान हो और चारित्र हो, तभी हम 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' के सूत्र को चरितार्थ कर सकते हैं, अन्यथा नही। आज के दार्शनिक, वैज्ञानिक और राजनीतिज्ञ चरित्र के बिना ही, जनमानस को एक सही दिशा मे ले आने का दावा करते हैं, किंतु स्पष्ट है कि विश्व एक खतरनाक मोड़ ले रहा है। हिंसा और आग्नेयास्त्र एक चरम सीमा तक बढ चुके हैं। आचार्य देशभूषण जी महाराज ने अहिंसा को ही सम्यक् चरित्र कहा। उसके बिना शिक्षा अधूरी है और मानव जीवन भी। उन्होंने अपने को इसी रूप मे ढाला है। वे अहिंसा के अवतार हैं। वे जन-मानस को इसी दिशा मे अग्रसर करने के लिए प्रयत्नशील

है। विश्व की मानव संस्कृति को यदि जीवंत रहना है, तो अहिंसा के अलावा कोई उपाय नहीं है।

आचार्यश्री मूलतः कन्नडभाषी हैं, किंतु उन्होंने मराठी, गुजराती, तथा तमिल पर मातृभाषा-वत अधिकार प्राप्त किया है। इसके साथ ही वे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के भी ज्ञाता हैं। हिन्दी में भी अधिकारपूर्वक प्रवचन करते और लिखते हैं। उन्होंने हिन्दी, मराठी, कन्नड़ और गुजराती मे अनेक ग्रंथो की रचना की है। इससे उनकी सृजन-शक्ति का पता चलता है। उनकी दृष्टि में भारत की भावात्मक एकता के लिए विभिन्न भाषाओ मे साहित्य-लेखन और विचारो का आदान-प्रदान आवश्यक है। वे चाहते हैं कि उत्तर और दक्षिण भारत के लोग एक-दूसरे की भाषा और साहित्य का गहन अध्ययन करे। इसका प्रारम्भ उन्होंने स्वयं किया और अपने भक्तो को एक राह दिखाई। एतदर्थ उन्होंने तमिल, कन्नड, मराठी और गुजराती के ग्रंथों का हिन्दी मे और हिन्दी के ग्रन्थो का दक्षिणी भाषाओ मे अनुवाद किया। इसके लिए मूल ग्रंथ की भाषा का ठोस ज्ञान आवश्यक है, तभी अनुवादक उस ग्रन्थ के भावो के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है। अनुवाद की प्रामाणिकता के लिए यह आवश्यक है। इस दिशा में आचार्यरत्न की मान्यता सर्वविदित है। फिर भी, विनम्रता इतनी कि वे अपने पाठको से कहते हैं कि आप केवल सार ग्रहण करें, क्योकि मैं भाषा-अल्पज्ञ हू। अनेक भाषाओ के ज्ञाता और अनेक ग्रन्थो के स्रष्टा होने पर भी, उनमें अहंकार बिल्कुल नही है। अच्छे-से-अच्छा लिखे और अनहंकारी रहे, यह मुश्किल है, किन्तु वह तपी और साधक, जिसमे अपने कर्तापन का आभास भी नही, उसके लिए यह कठिन नही है। जो अपने को परभाव का कर्ता मानता ही नही, उसमे किसी ग्रन्थ के लेखक, अनुवादक अथवा सम्पादक होने का दम्भ कैसे जन्मेगा ? जन्मेगा ही नही। दीर्घ तपसाधना ने आचार्यश्री को अभिमान मेरु पर नहीं चढ़ने दिया। आचार्यश्री सही अर्थों मे साधु हैं।

आज वृद्धावस्था मे भी वे अनुसन्धित्सुओं के लिए प्रेरणा-स्रोत हैं। उन्होंने असंख्य हस्तलिखित प्रतियां पढ़ी हैं। जहां भी गये, हस्तलिखित ग्रन्थ भण्डारो को अवश्य टटोला। आचार्यश्री का कथन है कि वहां ऐसे-ऐसे रत्न पडे हैं, जिनसे भारतीय साहित्यकार अभी तक नितांत अनभिज्ञ हैं। उनका सम्पादन और प्रकाशन होना ही चाहिए। यदि जैन शोध संस्थान और विश्वविद्यालय इस कार्य को सम्पन्न कराएँ तो उनका महत्त्व बढेगा। शोध संस्थानो का तो यही उद्देश्य होना चाहिए। यह एक श्रम-साध्य कार्य है। केवल श्रम ही नही, उसके पीछे लगन की ठोस भूमिका भी जरूरी है। एतदर्थ एक श्रमण साधु एक उपयुक्त पात्र है।

जैन साधु जानता है कि आत्मज्ञान ही सच्चा ज्ञान है, किन्तु श्रुतज्ञान भी अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण है। उसे नकारा नही जा सकता। आचार्यश्री एक दिगम्बर आचार्य हैं। योग और तप ही उनका जीवन है। वे मुमुक्षु हैं, किन्तु प्राचीन भण्डारो मे छिपे विलुप्तप्राय श्रुत को प्रकाश में लाने के लिए जो कुछ वे कर सकते हैं, कर रहे है। इसे भी वे ज्ञानसाधना ही मानते हैं। आत्मज्ञान और श्रुतज्ञान का ऐसा समन्वय और कही देखने को नही मिलता। वे साधु और विद्वान् दोनो के लिए ही अनुकरणीय हैं।

आचार्यश्री परमदयालु हैं। उठते-बैठते, सोते-जागते उन्हें सदैव 'जीवेषु कृपापरत्वम्' का ध्यान रहता है। जिसका हृदय सदैव दूसरो की मंगल भावना से ओत-प्रोत होगा, वह स्वयं मंगल रूप है। आचार्यश्री मंगल की साक्षात् प्रतिमा है। उनका शरीर, मन, प्राण सब कुछ जन-जन, जीव-जीव के मगल मे लगा हुआ है। यही कारण है कि उनके दर्शन-मात्र से लोग आनन्दित हो उठते है। चारो ओर सुख-शान्ति छा जाती है। दुखियो के दुःख दूर हो जाते हैं और चिन्तातुर निश्चिन्तता का अनुभव करते हैं। जिसके हृदय मे मगल है, उससे जड-चेतन दोनों का मगल होगा, ऐसा वैज्ञानिको के प्रयोगात्मक परीक्षणो से भी सही साबित हुआ है। रूस मे इस प्रकार के अनेक प्रयोग किये गए हैं।

इस सन्दर्भ मे आचार्य अमृतचन्द्र का एक कथन द्रष्टव्य है। उनके अनुसार जो दुखी जीवो की वेदना का अनुभव नही करते वे अपनी वेदना को भी नही जान पाते। अपने को जानने के लिए परवेदना का अनुभव आवश्यक है। ऐसा किये बिना, अपने चैतन्य की उपासना मोह और अज्ञान के अतिरिक्त कुछ नही है। जो पर-वेदना को नही जानते और निज को जानने का प्रयत्न करते है, व उसी भांति दुर्गति का प्राप्त हो जाते हैं, जैसे आखे बन्द कर चलने वाला हाथी किसी गहरे गड्ढे मे गिर जाता है। अर्थात् स्वचेतनतत्त्व की कहानी तभी समझ मे आती है, जब वह पर-वेदना का अनुभव करता है। आचार्य अमृतचन्द्र का वह श्लोक इस प्रकार है—

न कदाचनापि परवेदनां विना, निज वेदना जिन ! जनस्य जायते।
गजमीलनेन निपतन्ति बालिशा., पररिक्तरिक्त चिदुपास्ति मोहिता.॥ (लघुतत्त्वस्फोट)

'आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रंथ' एक बृहद्काय ग्रंथ है। इसमे बारह खण्ड हैं—आस्था का अर्घ्य, कालजयी व्यक्तित्व, रसवन्तिका, सृजन सकल्प, अमृत कण, जैनदर्शन मीमांसा, जैन तत्त्वदर्शन : आधुनिक सदर्भ, जैन प्राच्य विद्याए, जैन साहित्यानुशीलन, जैन धर्म एव आचार, जैन इतिहास, कला और संस्कृति, गोम्मटेश दिग्दर्शन। प्रथम पाच खण्ड आचार्यश्री के जीवन और व्यक्तित्व को उजागर करते हैं, शेष मे जैन दर्शन, जैन सिद्धान्त, जैन इतिहास-संस्कृति और पुरातत्त्व का विवेचन-विश्लेषण है। कुल मिलाकर यह ग्रंथ 'अभिनन्दन ग्रंथ

शृंखला' में विषय, रूप, आकार तथा सुरुचिपूर्ण मुद्रण की दृष्टि से अद्वितीय है और अपना एक पृथक् स्थान बनाने में समर्थ हो सका है। इससे अनेक विषयो के अनुसन्धित्सु लाभान्वित होगे, ऐसा मुझे विश्वास है। यह एक विद्वत्तापूर्ण प्रयत्न है।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी के व्यक्तित्व और कृतित्व को समग्र रूप से श्रावक समाज के सम्मुख प्रस्तुत करने की भावना से तैयार किया गया यह विशाल अभिनन्दन ग्रथ जैन विद्याओं के सभी पहलुओं पर प्रकाश डालता है। इसकी योजना बनाने और विगत पाच वर्षों से निरन्तर उसे सकुशल रूप मे निभाने का श्रेय श्री सुमतप्रसाद जैन (महामंत्री एवं प्रबन्ध सम्पादक) को है, जिन्होने इस कार्य को सुरुचिपूर्ण ढंग और सात्विक धर्म-भावना से सम्पन्न कराया है। खण्डो का नाम निर्धारण, उनमे सकलित विषयो का चयन और उनसे सम्बन्धित उत्तम कोटि के विद्वानो की खोज श्री सुमतप्रसाद जैन और प्रधान सम्पादक डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त की सूझ-बूझ की परिचायक है। उनके साथ डॉ० मोहनचंद, प्रो० पी० सी० जैन, डॉ० दामोदर शास्त्री, श्री बिशनस्वरूप रुस्तगी, डॉ० पुष्पा गुप्ता, डॉ० महेन्द्रकुमार और श्री जगबीर कौशिक ने भी लगन और श्रम से काम किया है। सम्पादन ही ग्रन्थ का मूलाधार होता है। वह यहां सुस्पष्ट है। इसके साथ ही, ग्रन्थ के लगभग १८०० पृष्ठों का कलात्मक मुद्रण, निर्दोष प्रूफ रीडिंग, आचार्यश्री के चित्रो का चयन, पूरे ग्रन्थ का आकर्षक गैट-अप आदि का प्रबन्ध भी आसान नही था। अभिनन्दन ग्रथ समिति के पदाधिकारियो एव सम्पादन-मडल ने यह भार जिस सहजता और धैर्य के साथ निभाया, वह उनकी असीम श्रद्धा का परिचायक है। श्री लालचन्द जैन एडवोकेट(अध्यक्ष), वैद्य श्री प्रेमचन्द जैन (मन्त्री), श्री सुभाषचन्द जैन बिजली वाले (मन्त्री)और श्री महेन्द्र कुमार जैन (कोषाध्यक्ष) की सेवाए इस दृष्टि से सराहनीय हैं। इन सबको मेरा पूर्ण आशीर्वाद है। आचार्यरत्न श्री को त्रिवार नमोऽस्तु।

—एलाचार्य मुनि विद्यानन्द

सदस्य मंडल

(अ) संरक्षक

अजितप्रसाद जैन, पटाखेवाले
अनन्त कुमार जैन, जैन मैडिकोज
कमलकान्त जैन, कूँचा सेठ
कश्मीरचन्द गोधा (मैसर्ज शांतिविजय एंड कंपनी)
(डॉ०) कैलाशचन्द जैन, राजा टॉयज
(श्रीमती) पुष्पा जैन धर्मपत्नी श्री अनन्त कुमार जैन
प्रदमन कुमार जैन, सर्राफ
रमेशचन्द जैन, राजपुर रोड
(श्रीमती) शकुन्तला जैन धर्मपत्नी श्री अजितप्रसाद जैन पटाखेवाले
(श्रीमती) शकुन्तला जैन धर्मपत्नी श्री अजितप्रसाद जैन जौहरी
(स्वर्गीय) सुमेरचन्द जैन, मैदावाले
सुरेशचन्द जैन, डिप्टी गंज
नरेन्द्र कुमार जैन सुपुत्र श्री महावीर प्रसाद जैन, गाजियाबाद वाले

(आ) सदस्य

अजित प्रसाद जैन, पीतलवाले
अजित प्रसाद जैन, ठेकेदार
अनिल कुमार जैन, दरियागंज
अनिल कुमार जैन, माडीवाले
अभिमन्यु कुमार जैन, मस्जिद मोठ
(डां०) एस० के जैन
ओमप्रकाश जैन सर्राफ, रिवाडी
(श्रीमती) कुसुम जैन, विवेक विहार
कृष्ण कुमार जैन, असरफी मैडिको
जिनेन्द्र कुमार जैन, कागजी
जिनेन्द्र कुमार जैन, कूँचा सेठ
जिनेन्द्र कुमार जैन, बंगलौर
(न्यायमूर्ति) जी० सी० जैन
(डां०) डी० सी० जैन
त्रिलोकचन्द जैन, पहाडी धीरज
दरोगामल जैन, कागजी
दामचन्द्र बाफना, मस्जिद मोठ
धनीचन्द जैन, सितारेवाले
धनेन्द्र कुमार जैन, जौहरी
नन्नूमल जैन, विजया बैंक
नन्नूमल जैन, सर्राफ
नरेन्द्र कुमार जैन, जौहरी
नरेशचन्द जैन, नरेश उद्योग
नरेशचन्द जैन मादीपुरिया
नानक चन्द जैन, कालका जी
नानग राम जैन, जौहरी
(श्रीमती) निर्मला जैन, भरतराम रोड
पद्मचन्द जैन, दिगम्बर आर्ट कॉटेज
पद्ममल जैन, कागजी
पन्नालाल जैन, तेज अखबार
पुरुषोत्तम कुमार जैन, भागीरथ पैलेस
प्रमोद कुमार जैन, कागजी
(वैद्यराज) प्रेमचन्द जैन
प्रेमचन्द जैन, जैना वाच कम्पनी
प्रेमचन्द जैन मादीपुरिया

फूलचन्द जैन, कागजी
बलवन्तराय जैन, सी० सी० कालोनी
बाबूदयाल जैन, लक्ष्मी नगर
भुजप्पा अप्पाराव यलगुजरी
महताब सिंह जैन, जौहरी
महेन्द्र कुमार जैन, मस्जिद मोठ
महेन्द्र कुमार जैन, ठेकेदार
महेशचन्द जैन, मस्जिद मोठ
(श्रीमती) मैना सुन्दरी जैन
(डॉ०) मोहनचन्द
रमेशचन्द जैन, सर्राफ
रमेशचन्द जैन, कपड़ेवाले
(डॉ०) रमेशचन्द्र गुप्त
राजेन्द्र प्रसाद जैन, कम्मो जी
रोशनलाल जैन, मस्जिद मोठ
लालचन्द जैन, एडवोकेट
विजय कुमार गंगवाल, जलगाँव
विनय कुमार जैन, दूधवाले
विमल कुमार जैन, विवेक विहार
(श्रीमती) शकुन्तला जैन, रामनगर (पहाड़गंज)

शान्तप्पा यशवन्तप्पा मिर्जी
श्रीचन्द जैन, चावलवाले
श्रीपाल जैन, मोटरवाले
श्रीपाल जैन, पहाड़ी धीरज
श्रीमन्दर कुमार जैन, कागजी
सतीश जैन (रज्जो भाई)
सनत कुमार जैन, सितारेवाले
सलेक चन्द जैन, कूँचा सेठ
सातगौडा बालगौडा पाटिल, मजलेकर
सुखमाल चन्द जैन, सितारेवाले
सुभाष चन्द जैन, कागजी
सुभाष चन्द जैन, बिजलीवाले
सुमत प्रसाद जैन, बर्द्धमान ड्रग्स
सुमत प्रसाद जैन, कपड़ेवाले
(मुंशी) सुमेर चन्द जैन
सुरेश चन्द जैन, नवीन शाहदरा
सुशील कुमार जैन, कूँचा सेठ
स्वर्ण कुमार जैन (आयकर विभाग)
होशक्का भीमगौडा, नमलापुरे

कार्यकारिणी समिति

अध्यक्ष	:	लालचन्द जैन, एडवोकेट
उपाध्यक्ष	:	अजितप्राद जैन, ठेकेदार
"		डॉ० कैलाश चन्द जैन
महामन्त्री	:	सुमतप्रसाद जैन
मन्त्री	:	वैद्यराज प्रेमचन्द जैन
"		सुभाष चन्द जैन, बिजलीवाले
कोषाध्यक्ष	:	महेन्द्र कुमार जैन, मस्जिद मोठ
सदस्य कार्यकारिणी	:	सुमेरचन्द जैन मुंशी जी
"		पन्नालाल जैन, तेज अखबार
"		महताबसिंह जैन, जौहरी
"		डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त
"		जिनेन्द्र कुमार जैन, कागजी
"		विनयकुमार जैन, दूधवाले

संचालन समिति

लालचन्द जैन, एडवोकेट (अध्यक्ष)

सुमतप्रसाद जैन (महामन्त्री)

महेन्द्र कुमार जैन, मस्जिद मोठ (कोषाध्यक्ष)

डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त (प्रधान सम्पादक)

श्रीमती पुष्पा जैन, वकीलपुरा

कमलकान्त जैन, कूंचा सेठ

विमल कुमार जैन, विवेक विहार

जिनेन्द्र कुमार जैन, कागजी

विनय कुमार जैन, दूधवाले

वैद्यराज प्रेमचन्द जैन

अनन्त कुमार जैन, जैन मेडिकोज (संयोजक)

जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्ति. सदास्तु मे।
सम्यक्त्वमेव संसार-वारणं मोक्ष-कारणम् ।।

श्रुते भक्ति. श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः सदास्तु मे ।
सज्ज्ञानमेव संसार-वारणं मोक्ष-कारणम् ।।

गुरौ भक्तिर्गुरौ भक्तिर्गुरौ भक्तिः सदास्तु मे ।।
चारित्रमेव संसार-वारणं मोक्ष-कारणम् ।।

आचार्यरत्न श्री १०८ देशभूषण जी महाराज का सारस्वत अभिनन्दन दिगम्बर मुनि-परम्परा का सात्विक कीर्ति-आलेख है। यह व्यष्टि में समष्टि की प्रतिच्छवि है।

आस्था और चिन्तन

आस्था और चिन्तन

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रंथ

आस्था

चिन्तन

आस्था का अर्घ्य

(पृष्ठ १—३६)

[साहित्यकारों, राजनेताओं, केन्द्रीय मंत्रियों, राज्यपालों, संसद् सदस्यों, मुनिगणों एवं समाज के प्रतिष्ठित श्रावकों द्वारा आचार्यश्री के प्रति व्यक्त शुभकामनाएँ एवं सन्देश]

सर्वश्री जैनेन्द्रकुमार १, अशोककुमार सेन ३, कृष्णचन्द्र पन्त ३, एस० एम० एच० बर्नी ४, आर० के० त्रिवेदी ४, बी० एन० पांडे ५, एच० एम० दुबे ५, खुर्शीद आलम खान ६, अजित पाजा ६, योगेन्द्र मकवाणा ७, जगप्रवेश चन्द्र ७, कुलानन्द भारतीय ८, रमेश सी० जिगजिनागी ८, जस्टिस एम० एच० बेग ९, अर्जुन सिंह ९, जी० एस० ढिल्लों १०, सैयद शाहबुद्दीन १०, डॉ० चन्द्रशेखर त्रिपाठी ११, जयप्रकाश अग्रवाल ११, मदन पांडेय १२, निहालसिंह जैन १२, रामाश्रय प्रसाद सिंह १३, वीरेन्द्रसिंह १३, नन्दकिशोर शर्मा १४, केशवराव पारधी १४, मनफूल सिंह चौधरी १५, कालीप्रसाद पांडेय १५, वृद्धिचन्द्र जैन १६, हरेन भूमिज १६, गंगाराम १७, समरब्रह्म चौधुरी १७, सुरेन्द्रपाल सिंह १८, डी० पी० यादव १८, कमला प्रसाद रावत १८, डालचन्द जैन १९, जगन्नाथ प्रसाद १९, रामेश्वर नीखरा १९, भारतसिंह २०, डॉ० मनोज पाण्डेय २०, लाल डहोमा २१, प्रो० नारायणचन्द पराशर २१, जे० के० जैन २२, जगदम्बी प्रसाद यादव २३, प्यारेलाल खंडेलवाल २४, सत्यप्रकाश मालवीय २४, कैलाशपति मिश्र २५, पुरुषोत्तमदास काकोडकर २५, तन्नाबालू २६, अटलबिहारी वाजपेयी २६, समरेन्द्र कुंडु २७, जॉर्ज फर्नांडीस २७, प्रमोद महाजन २८, मोहन धारिया २८, डॉ० विजयकुमार मल्होत्रा २८ भीकूराम जैन २९, डॉ० के० जी० देशमुख २९, एम० चन्द्रशेखर २९, परमपूज्य जगद्गुरु शंकराचार्य जी (पुरी) ३०, आचार्य सुबल सागर जी ३०, आचार्य सन्मति सागर जी ३०, क्षु० सिद्धसागर जी ३०, श्री चारुकीर्ति स्वामी जी ३१, स्वामी नन्दनन्दनानन्द सरस्वती ३१, अक्षयकुमार जैन ३१, रमेशचन्द जैन ३२, लक्ष्मीनिवास बिरला ३२, प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी ३२, भदन्त आनन्द कौसल्यायन ३२, कालीचरण ३२, कश्मीरचन्द गोधा ३३, दयानन्द योगशास्त्री ३३, बालचन्द्र शास्त्री ३४, डॉ० प्रेमचन्द जैन ३४, रामचन्द्र सारस्वत ३४, प० वीरचन्द जैन ३५, बाबूलाल पलंदी ३५, नगेन्द्रकुमार जैन बिलाला ३५, डॉ० अनन्तकुमार गुप्ता ३६, डॉ० नरेन्द्र भानावत ३६, माणकचन्द नाहर ३६

कालजयी व्यक्तित्व

(पृष्ठ १—१५६)

रसवन्तिका

(पृष्ठ १ -४०)

अमृत-कण

(पृष्ठ १—११६)

सृजन-संकल्प

(पृष्ठ १—८०)

जैन दर्शन मीमांसा

(पृष्ठ १—१७६)

जैन तत्त्व चिन्तन : आधुनिक सन्दर्भ

(पृष्ठ १—१६८)

जैन प्राच्य विद्याएँ

(पृष्ठ १—२२०)

जैन साहित्यानुशीलन

(पृष्ठ १—१८८)

जैन धर्म एवं आचार

(पृष्ठ १—१५२)

जैन इतिहास, कला और संस्कृति

(पृष्ठ १—१८०)

गोम्मटेश दिग्दर्शन

(पृष्ठ १—५२)

परिशिष्ट

मन्त्रद्रष्टा ऋषि

आचार्यरत्न द्वारा शांतिगिरि (कर्नाटक) में निर्मित भ. चन्द्रप्रभ,
भ. शांतिनाथ एवं, भ. महावीर स्वामी की भव्य एवं मनोज्ञ प्रतिमाएँ

मेरु मंदिर एवं नन्दीश्वर द्वीप की संरचना

धातु-निर्मित आकर्षक कलात्मक चौबीसी

तीर्थंकर पार्श्वनाथ की अतिशययुक्त प्राचीन प्रतिमा
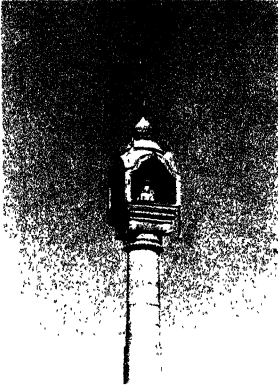
शांतिगिरि के गगनचुम्बी मानस्तम्भ एवं तीर्थंकर प्रतिमा
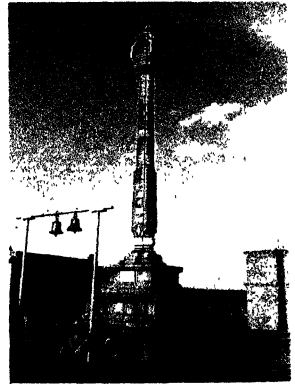
नवनिर्मित विशाल अपराजितेश्वर द्वार

शांतिगिरि का विहंगम दृश्य

आचार्य श्री की बालक्रीड़ा एवं निर्भीकता का साक्षी नारियल वृक्ष

ध्यान की विभिन्न मुद्राएँ

अनवरत साहित्य-साधना
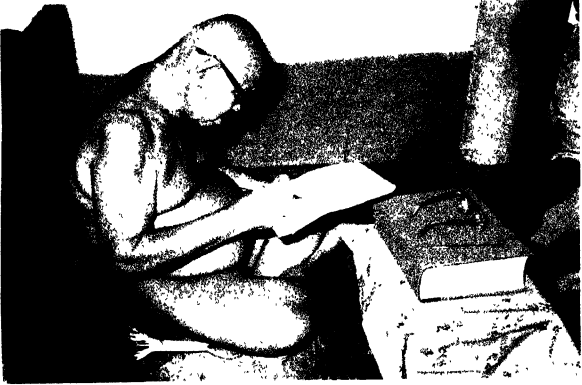
जयपुर पंचकल्याणक में धर्मदेशना (सन् 1982)

आचार्य श्री सदलगा के चातुर्मास में ससंघ (सन् 1986)

आचार्यरत्न द्वारा सम्पन्न कोथली के रचनात्मक कार्य—

श्री देशभूषण हाई स्कूल एवं उसके अध्यापकगण,

निर्माणाधीन श्री देशभूषण आरोग्यधाम
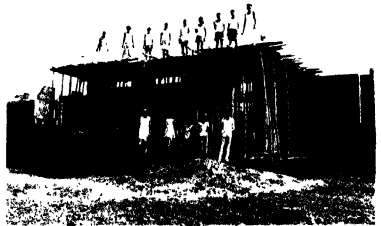
शांतिगिरि का सजीव हाथी

'आस्था और चिन्तन' ग्रन्थ की योजना से परिचित कराते हुए अभिनन्दन ग्रन्थ समिति के महामंत्री श्री सुमनप्रसाद जैन एवं कतिपय अन्य सहयोगी श्री अजितप्रसाद जैन ठेकेदार व डॉ. मोहनचन्द
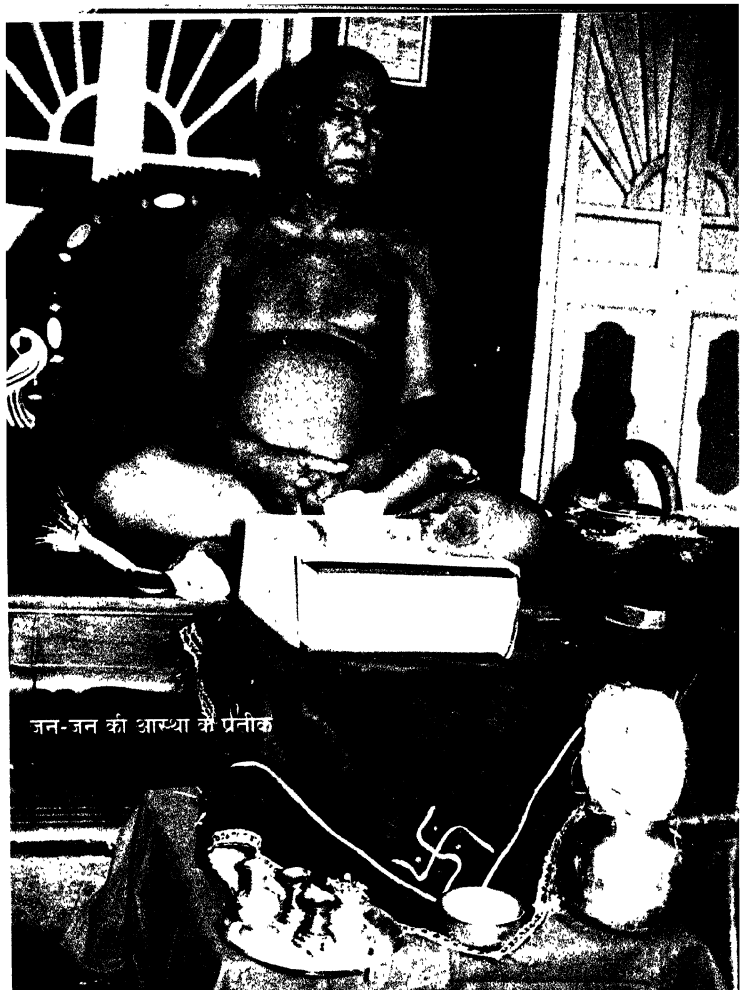
जन-जन की आस्था के प्रतीक

आस्था का अर्घ्य

शुभाशंसा

श्री जैनेन्द्र कुमार

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना श्री देशभूषण जी महाराज के प्रति श्रद्धा-सम्मान के उपहार स्वरूप हुई है। आचार्य देशभूषण जी जैन सन्त हैं। मुद्रा से वे जैनाचार्य भले ही माने जाएँ लेकिन आज की भोगवादी सग्रहवादी प्रदर्शनवादी तृष्णार्त्त पदार्थाकाक्षी सहाराभिमुख सभ्यता के सम्मुख आचार्यश्री एक जीते जागते प्रश्नचिह्न हैं। नाना लपेटो मे लिपटे ससारी मनुष्य के सामने निपट मानवता एव आत्मता के जाज्वल्य प्रतीक हैं। ऐसे वे इस उस धर्म के नही प्रत्युत धर्मार्थ के प्रकाश स्तम्भ हैं। 'आचार्य देशभूषण अभिनन्दन ग्रंथ' अनायास ही जैन विषयक विश्वकोष के समान ही बन गया है। जैन अध्यात्म चिन्तन से लगाकर जैन व्यवहार, जैनाचार, इतिहास, कला, सस्कृति, साहित्य आदि सभी विषयो का इसमे समावेश हो गया है। जैन विचार के उदय और क्रमिक इतिहास का आकलन भी इसमे पाया जाता है। तत्कालीन अन्यान्य विचारधाराओ के साथ असमजस अथवा सामजस्य की प्रक्रिया का विवरण भी इसमे देखा जा सकता है।

'धर्म' अपने आप मे एक सम्पूर्ण इकाई है। उसमे खण्ड नही है। इस प्रकार जीवन अखण्ड है फिर भले ही उसके कितने ही पहलू अथवा आयाम हो। 'धर्म' जीवन मे समग्रभाव से अन्तर्व्याप्त होने के कारण अविभाज्य है। 'धर्म' का दर्शन, ज्ञान अथवा आचार से क्या सम्बन्ध है? कहा गया है—"न धर्मो धार्मिकैर्विना"। 'धर्म' धार्मिक से अलग या बाहर कही नही है। वह जानने, मानने या करने मे नहीं है। उसको तो जीया ही जा सकता है, जाना, माना, किया नही जा सकता है। इन तीनो मे वह आबद्ध नहीं है फिर अशतः अभिव्यक्त भले ही हो। जैन तत्त्वशास्त्र का पहला सूत्र है—"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि-मोक्षमार्गः" किन्तु इस सूत्र मे मार्ग भर दर्शाया गया है। किन्तु यात्रा ही आरम्भ न हो तो मार्ग को जान लेने भर से क्या होता है। मुख्य स्थानबिन्दु अर्थात् 'सम्यग्दर्शन' से आगे यात्रा के आरम्भ मे एक विशेष बात की मुझे याद आती है। जैन गुरुकुल की पाचवी कक्षा मे मैं रहा हूगा। बताया गया 'सम्यक् दर्शन' पूर्वक ज्ञान 'सम्यक् ज्ञान' हो जाता है। अर्थात् ज्ञान अपने आप मे मात्र ज्ञान ही है न वह अपने मे 'सम्यक्' है न 'असम्यक्'। दर्शन के सम्यक्त्व के साथ ही युगपत् वह निर्गुण ज्ञान सहज सम्यक् हो जाता है। यह बात तब समझ मे नही आई थी अब इधर उसकी गहराई का पता चल रहा है। जैन विचार मे ज्ञान के पाच प्रकार गिनाए गए है। 'मति', 'श्रुति' को सामान्यतया सब लोग जानते और व्यवहार मे लाते हैं। ज्ञान के विशिष्ट रूप हैं—'अवधि' और 'मन पर्याय'। किन्तु सचाई यह है कि इनकी गणना भी छद्मस्थ ज्ञान मे ही है। ज्ञान तो है पाचवां—'केवल ज्ञान', जहा ज्ञाता ज्ञेय से पृथक् रह नही जाता, केवल ज्ञान ही ज्ञान-रूप मे स्वय रह जाता है। इसी को 'मुक्ति' या 'निर्वाण' कहते हैं। ज्ञान मे जब तक कुछ आकर समाया रहता है तब तक वह शुद्ध नही है क्योकि अनन्त नही है। सत्य अनन्त है और भाषा उस ओर इङ्गित मात्र कर सकती है। बाध नही सकती।

जैन धर्म को लोग अधिकाश इसलिए मानते और पहचानते है कि वहा 'अहिसा' को 'धर्म' नही 'परम धर्म' माना गया है। 'परम' अर्थात् प्रत्येक स्थिति-परिस्थिति, प्रत्येक देश-काल मे वह सगत है। परिणाम मे भी वह अचूक है। सामान्यतया इस अहिसा के आग्रह को अतिवाद कह कर टाल दिया जाता है। पर गाधी जी ने इस अत्युत्कट वैज्ञानिक और व्यावसायिक-औद्योगिक युग मे भी 'अहिसा' की क्षमता को कारगर कर दिखाया। 'अहिसा' को स्थूल कर्म के स्तर पर आसानी से मान लेंगे। मान लेंगे कि किसी को कष्ट देना, जी दुखाना, घात करना ठीक नही है। पर सैद्धान्तिक एव तात्त्विक विचार के क्षेत्र मे ऐसी उदारता को उचित नही मानेगे। सत् और असत् के द्वन्द्व को वहां नितान्त माना जाएगा किन्तु जैनाचार्यों ने 'स्याद्वाद' और 'अनेकान्तवाद' के रूप मे सत्य सम्बन्धी वादविवाद को सदा के लिए व्यक्त और निष्पन्न बता दिया। मत मान्यता आपेक्षिक ही हो सकती है। सत्यता उनकी सापेक्ष है। अपेक्षया विरोधी मान्यताओ मे भी सत्य का अंश हो सकता है। भाषा अपर्याप्त होती है अतएव प्रत्येक कथन अमुक अंग की ओर से ही सही हो सकता है। सर्वाङ्गीण नहीं। जैन विचार के इस आविष्कार ने मत-मतान्तर सम्बन्धी विवाद-वितण्डा सदा के लिए निर्मूल कर दिया।

सिद्धान्त ध्रुव है, जीवन गतिशील। इस तरह देखा जाता है कि सिद्धान्त का आग्रह अपनी जगह छूटा रह गया है और इतिहास आगे बढ़ गया है। मत पर टिक गया वह—मति मे मानो रुक गया है। इस प्रकार मतवादिता में बंधकर 'धर्म' सम्प्रदाय की सृष्टि कर चलता है और साम्प्रदायिकताएँ फिर द्वन्द्व, घर्षण और ताप-उत्ताप पैदा करती हैं। यही से हिंसा फूटती है। नेता, व्यवस्थापक इसका दोष 'धर्म' को देने लगते हैं। सच पूछिए तो मतवादिता के पीछे 'अस्मिता' की हुकार होती है। अपना मान-गुमान होता है और उसमे सांसारिक तृष्णा, आकाक्षा छिपी रहती है। राजकारण इन आकाक्षाओ को तीव्र उत्कट बनाता है। अर्थात् सम्प्रदायवाद पृथक्वाद तथा अन्यान्य इतरवाद मूलतः अहंवाद के ही रूप होते हैं। इस अहम् का उपचार केवल धर्म के पास है। अन्यत्र कही नही। कारण धर्म चिन्मय है, निरन्तर है, ऊर्ध्वमान्, गतिमान् काल स्वय उसका एक आयाम है। अर्थात् इतिहास यदि विकास पाता है तो 'धर्म' के आधार पर। जो बुद्धि 'धर्म' को विकास के मार्ग मे अवरोध मानती है वह अपने ही सम्मोहन मे पड़ी है और मनोसृष्टि के क्रम को अपनी मुट्ठी मे बधा मान लेना चाहती है। ऐसा अहम्-दर्पी विज्ञान आज मानव जाति को किस ध्वंस के शीर्ष पर ले आया है यह प्रकट है।

यदि जल है, प्रवाह है, तो दो तट हुए बिना नही रह सकते।। तट भी दो हैं प्रवाह एक है यही जीवन की स्थिति है। हम हैं—इसका बोध हमें अपने भीतर से प्राप्त होता है। अनुभूति के इस स्रोत को हम अन्तरात्मा कहते हैं किन्तु बोध के लिए जो भी हमें इन्द्रियां प्राप्त हैं वे बाहर की ओर खुलती हैं। अर्थात् अन्तर्जगत् और बाह्यजगत् चेतना के तट की दृष्टि से ही दो कहे जा सकते हैं। किन्तु यदि चैतन्य प्रवाहित है तो एक साथ दोनों तटो को निरन्तर छूता और साधता हुआ ही गन्तव्य की ओर बढ़ता जाता है। उसमे आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक, सासारिक इस प्रकार का एक उपक्रम अथवा अनुपक्रम देखा जा सकता है। नितान्त बाह्य तट को छूता हुआ सांसारिक, तो आन्तरिक को व्यवहृत करने वाला आध्यात्मिक। जीवन की समग्रता मे इन दोनो अथवा चारो मे कोई स्तर अछूता या अनभीगा नही रहता। प्रत्युत सच्चे धार्मिक पुरुष मे उत्तरोत्तर भरपूरता पाता हुआ दिखाई देता है।

आज का ज्ञान विज्ञान वस्तु जगत् को प्रधानता देता है और हो सकता है यह प्रतिक्रिया हो। कारण यह है कि पहले हम सचमुच ही 'आत्म' की ओर अतिरेकपूर्वक झुक गए थे। समाज राष्ट्र आदि संज्ञाओं के प्रति अनवधानता आ गई थी। जीवन का सन्तुलन विचलित हो गया था। आज वही विचलन दूसरी अति पर दीखता है। आत्मवाद को कुचलकर संसारवाद दर्पोद्धत हो उठा है।

प्रवृत्ति की अतिशयता है। सफलता अभीष्ट बन गई। राह मे नीति-अनीति का विचार अनिष्ट है। नैतिकता मानो गति मे अवरोध पैदा करती है। सत्ता-सम्पदा को पा सकेगा वही जो नीति-अनीति के वैचारिक परिग्रह से मुक्त हो। सफलता जैसे स्वय मे अपना बड़ा समर्थन है। आप शीर्ष पर पहुच जाए तो आपका किया धरा सब कुछ श्लाघ्य और स्तुत्य हो जाएगा। व्यवहार मे आदर्श का या मूल्य का विचार किया तो बस आप गए। आज सभ्यता के जिस उत्कर्ष पर आदमी आ पहुचा है वहा उसकी यह स्थिति बन गई है।

विचारशील जन चिंतित हैं। आदमी की कारगुजारी ने पर्यावरण को भयकर रूप से प्रदूषित कर दिया है। उन्नति मे ही गिरावट दीखने लगी है। शंका होने लगी है कि विज्ञान के सहारे कही मनुष्य भगवान् से हटकर शैतान की शरण मे तो नही जा रहा है।

ऐसी भयावह स्थिति मे मैं यह अशुभ नही अतीव शुभ मानता हू कि इस ग्रन्थ के सम्पादकीय विद्वन्मण्डल ने बृहद् आकार-प्रकार में धर्म के तत्त्वविवेचन के नाना आयामों को समाहित कर इस कोश की संरचना सम्पन्न की है जिसे एक नितान्त अपरिग्रही, अकिंचन दिगम्बर आचार्य के करारविन्द मे अर्पित किया जायेगा। मैं इस अनुष्ठान के आयोजको, विशेषकर ग्रन्थ के सम्पादकों, का साधुवाद करता हूँ। □

D.O. No. 1968/MLJ/86

मंत्री
विधि और न्याय
नई दिल्ली-११०००१ (भारत)
MINISTER
LAW AND JUSTICE
NEW DELHI-110001 (INDIA)
May 5, 1986

I am very glad to know that Acharyaratna Shri Deshabhushanaji Maharaj, India's leading Digambara Saint, has completed 51 years of Digambara Sadhana. To commemorate the event the Jain Community of India is going to present him a felicitation volume. I send my good wishes for the success of the function.

Sd/-
A. K. SEN

इस्पात और खान मंत्री, भारत सरकार
MINISTER OF STEEL AND MINES
INDIA
नई दिल्ली
7 मार्च, 1986

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज अपनी दिगम्बरत्व साधना के ५१ वर्ष पूरे कर रहे है। इस लम्बे तपस्याकाल में आचार्य श्री ने देश के कोने-कोने में विभिन्न भाषाओं मे लोगों को नैतिकता, सदाचार एवं सद्व्यवहार की प्रेरणा देकर विश्वबंधुत्व के पोषण में अमूल्य योगदान दिया है। यह उचित ही है कि इस अवसर पर एक अभिनंदन ग्रंथ का प्रकाशन किया जा रहा है। मैं आचार्यश्री के दीर्घायु होने की कामना करता हूं।

ह०/-
कृष्ण चन्द्र पंत

हरियाणा राजभवन
चण्डीगढ़

HARYANA RAJ BHAVAN,
CHANDIGARH

आचार्य श्री ने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में रचनात्मक भूमिका निभाई है। उन्होने भारतवर्ष के कोने-कोने में पद यात्रा करके सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक अन्धविश्वासों को दूर करने के लिए प्रबल प्रचार किया और आम लोगों को साफ-सुथरा जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित किया। मुझे आशा है कि यह ग्रन्थ जैनमत के मूल सिद्धान्तों पर प्रकाश डालेगा। हमारे देश में विभिन्न धर्म है, इसलिए किसी भी धर्म विशेष के लोगों को दूसरे धर्मों की जानकारी अवश्य होनी चाहिए। इससे राष्ट्रीय एकता को बल मिलेगा। मैं इस दिव्य अनुष्ठान के सफल निष्पादन के लिए अपनी शुभ कामनाएँ भेजता हूँ।

ह०/-
एस० एम० एच० बर्नी

RAJ BHAVAN
GANDHINAGAR-382020
GUJARAT

GOVERNOR
GUJARAT

It gives me pleasure to learn that Acharyaratna Shri Deshabhushan Ji Maharaj, India's leading Digambar Saint, a rare spiritual leader, selfless ascetic and a crusader who aroused public opinion against unjust prohibitory regulations imposed by the British rulers and the Indian princes, has completed 51 dedicated years of his Digambar Sadhana on March 26.

At a time when our country is confronted with problems like violence and fissiparous tendencies, the life and preachings of Acharyaratna should inspire our people to work for national unity, tolerance and strengthening of human values

I congratulate him for his altruistic service to the society and wish him a very long life.

Sd/-
R. K. TRIVEDI

GOVERNOR,
ORISSA

RAJ BHAVAN
BHUBANESWAR-751008
May 16, 1986

I am glad, the Jain Community belonging to Digambar Faith is felicitating Acharya Ratna Shri Deshbhushan Ji Maharaj on completion of his 51 years of dedicated spiritual service and a commemorative volume is being published on the occasion

Deshbhushan Ji Maharaj is an outstanding spiritual and religious leader gifted with the rare quality of pious, austere and righteous life. A crusader against social evils and religious superstitions. the Acharya has devoted his entire life to the cause of national unity, religious tolerance, spiritual and moral regeneration of the society.

I pay my respectful homage to this great saint of Digambar Faith and sincerely wish that the felicitation volume entitled 'Aastha evam Chintan' (Faith and Meditation) will inspire its readers to lead a nobler life

Sd/-
B. N. PANDE

RAJ NIWAS
AIZAWL
Dated : 6 5.'86

I am extremely happy to know that the Jain community of India proposes to bring out a special volume entitled 'Aastha evam Chintana' for being presented to Acharyaratna Shri Deshabhushanaji Maharaj on the occasion of completion of 51 years of his spiritual crusade.

Countless men are born in this planet of ours and pass away in course of time but very few succeed in creating a lasting impact on the society or leaving foot prints 'on the sands of time'. Acharyaratna belongs to that rare category of elevated souls who are totally dedicated to the well being of humanity at large and their spiritual development and, what is more, they transmute the traditional values into the practical idiom of today The 51 dedicated years of his life during which the Acharyaratna relentlessly fought against social evils, carried on a tirade against religious superstitions and worked for peace and amity among people, constitute a unique record of selfless service which will undoubtedly inspire the present as well as the coming generations. Such a great personality transcends religious and geographical boundaries and commands reverence from people irrespective of caste, creed, language and State. The proposed compilation will be a fitting tribute to this saintly and dedicated soul.

While paying my respectful regards to Acharyaratna Shri Deshabhushanaji Maharaj, I wish the venture of the Felicitation Volume Committee all success.

Sd/-
H. S. DUBEY

वस्त्र मंत्री
भारत
नई दिल्ली-110011
MINISTER OF TEXTILES
GOVT. OF INDIA
NEW DELHI-110011
March 4, 1986

I am glad to know that Acharya Ratna Shri Desh Bhushan Ji Maharaj, a leading Digambara Acharya and eminent spiritual leader will be completing 51 years of dedicated service in the cause of Digambara principles of universal brotherhood, national unity and religious tolerance, on March 26, 1986. On this auspicious occasion I send to the Samiti my hearty felicitations and homage to His Eminence Acharya Ratna Shri Desh Bhushanji Maharaj.

Sd/-
KHURSHED ALAM KHAN

योजना राज्य मंत्री,
नई दिल्ली-110001
भारत
MINISTER OF STATE FOR PLANNING
NEW DELHI-110001
INDIA
मार्च 6, 1986

मुझे यह जानकर अति प्रसन्नता हुई कि आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ समिति श्री देशभूषण जी की दिगम्बरी साधना के ५१ वर्ष पूरे किए जाने के अवसर पर एक विशाल अभिनन्दन ग्रन्थ "आस्था एवं चिन्तन" का प्रकाशन करने जा रही है। श्री देशभूषण जी ने विदेशी सरकार द्वारा अनेक यातनाएं सहकर भी भारत भ्रमण करके भारतवासियों में स्वतंत्रता की लहर फैलाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया तथा राष्ट्रीय एकता के लिए दक्षिण भारतीय भाषाओं का हिन्दी में एवं हिन्दी ग्रन्थों का दक्षिण भारतीय भाषाओं में अनुवाद करके सराहनीय कार्य किया है। आशा है कि आचार्यरत्न से हमें लम्बी अवधि तक इसी प्रकार सहयोग मिलता रहेगा।

ह०/-
अजित पांजा

कृषि राज्य मंत्री
भारत
नई दिल्ली-११०००१
MINISTER OF STATE, AGRICULTURE
INDIA
NEW DELHI-110001
अगस्त 22, 1986

मुझे यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि सात्विक दिगम्बर साधना के ५१ वर्ष पूरे होने के शुभ अवसर पर आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज को एक अभिनन्दन ग्रन्थ "आस्था और चिन्तन" समर्पित किया जा रहा है। आचार्यश्री ने सदैव अपने सारगर्भित प्रवचन व लेखन-शक्ति के द्वारा देश को निर्भीकता, एकता व अखण्डता का पाठ पढ़ाया है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य की सफलता के लिए मैं अपनी शुभकामनाएं भेजता हूँ।

ह०/-
योगेन्द्र मकवाणा

मुख्य कार्यकारी पार्षद
दिल्ली प्रशासन, दिल्ली
CHIEF EXECUTIVE COUNCILLOR
DELHI ADMINISTRATION, DELHI
दिल्ली, दिनांक 21 MAR, 1986

I am glad that revered Acharya Ratna Shri Deshbhushan Ji Maharaj, India's leading Digamber Acharya has completed 51 years of his penance and Sadhana and that on this occasion you are going to present him an Abhinandan Grantha. The inspiring lives of such saints and ascetics are like light pillars in the dark and turbulent ocean because of the surrounding atmosphere of selfishness, violence and untruth. The projected Granth would undoubtedly have an uplifting and elevating influence.

I wish your efforts every success.

Sd/-
JAG PARVESH CHANDRA

कार्यकारी पार्षद (शिक्षा)
दिल्ली प्रशासन, दिल्ली
EXECUTIVE COUNCILLOR (EDU.)
DELHI ADMINISTRATION, DELHI
का० पा० शि०/८६/४५७५
दिल्ली, दिनांक 10 सितम्बर, 86

मुझे यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि भारतवर्ष के जैन समाज द्वारा आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज को उनकी ५१ वर्ष की तप साधना के उपलक्ष्य में "आस्था और चिन्तन" नामक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है।

जैन धर्म एक महान् धर्म है। इसके मुनियों ने सदैव ही समाज सुधार, मानव प्रेम, जनहित और देश प्रेम बढ़ाने का प्रचार किया। मुझे आशा है आपका यह ग्रन्थ पाठकों के लिए बहुत ही प्रेरणादायी होगा।

मेरी शुभकामनायें आपके साथ हैं। मै आपके आयोजन की सफलता की कामना करता हूँ।

ह०/-
कुलानन्द भारतीय

MINISTER OF STATE FOR EXCISE
GOVT OF KARNATAKA

Vidhana Soudha, Bangalore-I
Dated : 18th March, '86

I am glad to know that the Jain Community of India is proudly presenting a big felicitation Volume 'Aastha evam Chintana' on the occasion of completion of 51 years of spiritual crusade of Acharyaratna Shri Deshbhushanaji Maharaj, India's leading Digambara Acharya. This is a noble cause that could be done to a rare spiritual and religious leader of an ancient religion. Jainism.

I hope that the Volume which will be in the form of an encyclopaedia of Jainology will contain thought-provoking articles besides the contributions made by the Swamiji in weeding out the social evils and religious superstitions as also his administering oaths to millions of people for leading a pious and righteous life.

I wish every success in this endeavour.

Sd/-
RAMESH C. JIGAJINAGI

Justice M H. Beg
CHAIRMAN

भारत सरकार
GOVERNMENT OF INDIA
अल्पसंख्यक आयोग
MINORITIES COMMISSION
लोक नायक भवन (पाँचवी मंजिल)
Lok Nayak Bhawan (Fifth Floor)
खान मार्किट, नई दिल्ली-110003
Khan Market, New Delhi-110003
May 29, 1986

I am happy to know about the great services of Acharya Ratna Shri Desh. Bhushanaji Maharaj, who upholds the spiritual greatness of our country.

I am sure that men of his eminence and depth of knowledge and fellow-feeling, illumined by a bright vision of the future of humanity and with sympathy for all, will rescue the country as well as the whole world from prospects of tragedies which could overtake us if we do not respect the values which the Maharajaji stands for and preaches.

Sd/-
M. H. BEG

ARJUN SINGH
M.P.

VICE PRESIDENT
ALL INDIA CONGRESS
COMMITTEE (I)
March 20, 1986

I am immensely pleased to learn that Jain Community of India is presenting to His Holiness Shri Deshbhushan Ji Maharaj, India's leading Digambara Acharyashri, a big felicitation volume, entitled 'Aastha Aur Chintana' (Faith and Meditation) on the eve of completion of 51 years of his spiritual crusade, on the 26th March, 1986

Acharyashri Ji, a highly spiritual religious leader, has always been an avowed supporter of national unity, religious tolerance and human values dedicated to universal brotherhood.

My best wishes and hearty greetings on this auspicious occasion.

Sd/-
ARJUN SINGH

MEMBER OF PARLIAMENT
(LOK SABHA)

200 Jor Bagh Road,
New Delhi-110 003
8th April, 1986

I am so glad that the Jain community is going to present a big felicitation volume entitled 'Aastha Aur Chintana' to His Holiness. While paying my homage to His Holiness I wish all success for the preparation and completion of the Abhinandan Granth—It may carry the life mission and teachings of Acharya Ratna Shri Desh Bhushan Ji Maharaj.

Sd/-
G. S. DHILLON

MEMBER OF PARLIAMENT
(LOK SABHA)

187, North Avenue,
New Delhi-110001
March 22, 1986

Acharyaji is remarkable for combining Jnan with Karma and what impresses one about his life is not only his scholarship and erudition but his propagation of the highest spiritual values which bind all human beings into one family, rising above all differences of religion, language or race. In celebrating 51 years of his spiritual crusade, the Jain community shall not only be honouring a great contemporary Saint but commemorating its own contribution to the national life and culture.

I would be grateful if you would kindly convey my sincere felicitations to the Acharyaji and my best wishes for many more years of service to the cause of national unity, religious tolerance and universal brotherhood. If India has survived through the ages it is because of Gurus, Rishis and Sufis like him.

Sd/-

SYED SHAHABUDDIN.

Member of Parliament
(Lok Sabha)

६६, नार्थ एवेन्यू,
नई दिल्ली
Phone : 384473
दिनांक १-३-१९८६

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि विश्वबन्धुत्व के महान् सन्देशाहक, राष्ट्रीय एकता के आध्यात्मिक प्रतीक आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की तप-साधना के ५१ वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष में आप 'आस्था और चिन्तन' नामक अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन कर महाराज जी के करकमलों में भेंट करने जा रहे हैं। सम्पूर्ण विश्व में आधुनिकता की मानसिकता ने मानव-मूल्यों को बुरी तरह प्रभावित किया है। मनुष्य को मनुष्यता के रास्ते पर चलाने के लिए ऐसे मनीषियों की आज आवश्यकता है। आप जानते हैं कि धार्मिकता के निरन्तर ह्रास के कारण अराजकता, बिखराव और बहुत-सी कुरीतियां व विसंगतियां बढ़ी है। मनुष्य को मनुष्य बनाने वाला धर्म उपेक्षित होता जा रहा है जिसके अभाव से विश्व में शान्ति व्यवस्था, एकता समाप्त होती जा रही है।

आहार निद्रा भय मैथुनंश्च
सामान्यमेतत् पशुभिः नराणां
धर्मोहि् शेषां अधिको विशेषां
धर्मोविहीना पशुभिसमानः ॥

आपका यह अभिनन्दन ग्रन्थ सभी लोगों में धर्म का उदय करे और उनके बीच कटुता की दीवार समाप्त कर सद्भावना व प्रेम की ज्योति जगाये।

ह०/-
डॉ० चन्द्रशेखर त्रिपाठी

MEMBER OF PARLIAMENT
(LOK SABHA)

1998, Naughara,
Kinari Bazar,
Chandni Chowk,
Delhi-110006.
Date 28 2.86

श्री आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज जैन साधुओं की प्रथम श्रेणी में आते है। लाखों-करोड़ों नागरिक आपकी वाणी सुनकर धर्म की ओर आकर्षित होते हैं। आप जैसे महापुरुष धर्म में लोगों की आस्था जगाते हैं। मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि आप हजारों साल धर्म की ज्योति लेकर चलते रहें ताकि लोग अपने सही धर्म के मार्ग को पहचान सकें।

ह०/-
जयप्रकाश अग्रवाल

Member of Parliament
(Lok Sabha)

72, North Avenue,
New Delhi-110001.
Phone : 381329
34, Court of Wards Colony,
Betiahata, Gorakhpur (U.P.)
Phone : 3029
दिनांक ४-३-१९८६

देश, धर्म और समाज की सेवा का जो दीर्घ इतिहास श्री महाराज जी ने अपनी अनवरत साधना एवं अध्यवसाय से निर्मित किया है उसको देखते हुए यह अभिनन्दन ग्रन्थ निश्चित रूप से श्लाघनीय प्रयास है। आप इस प्रयास के लिए मेरी ओर से बधाइयां स्वीकार करें। यह देश सदा से ऋषियों-मुनियों का देश रहा है। इस देश के सन्तों, ऋषियों और मुनियों ने केवल वचन से नहीं, बल्कि मनसा एवं कर्मणा प्रत्येक बात जो उनके मुह से निकली है उसे अपने जीवन में चरितार्थ कर समाज के सामने आदर्श प्रस्तुत किया है और यही कारण है कि भारत देश और उसके निवासी सहिष्णुता के आगार एवं सहअस्तित्व पर अमल करते रहे है। आज भी विश्व में शायद ही ऐसा कोई देश होगा जिसमें इतनी विभिन्नता रहते हुए भी सहअस्तित्व की भावना गहराई में विद्यमान हो। इन्ही सन्तों की कड़ी में श्री महाराज जी के प्रति मैं अपने श्रद्धासुमन अर्पित करता हूं।

ह०/-
मदन पाण्डेय

MEMBER OF PARLIAMENT
(LOK SABHA)

15 नार्थ एवेन्यू,
नई दिल्ली
24.7.1986

आपके पत्र द्वारा यह जानकर प्रसन्नता हुई कि भारतवर्ष का जैन समाज परम तपस्वी आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की सात्विक साधना एवं संकल्प के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने की भावना से आस्था और चिन्तन नामक अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन करने जा रहा है। मेरी शुभकामनाएँ।

ह०/-
निहाल सिंह जैन

संसद् सदस्य
(लोक सभा)

सी-२/३० तिलक मार्ग
नई दिल्ली

आज के अशान्त वातावरण में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज जैसे सन्तों की उपदेश वाणी ही एकमात्र शान्ति स्थापना का उपाय हो सकती है। जैन समाज की ओर से आयोजित यह ज्ञानपरक अनुष्ठान हम सब के लिए गौरवपूर्ण है। मैं आचार्यश्री द्वारा दीर्घकाल तक समाज को मार्गदर्शन दिए जाने की ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ।

आशा है वर्तमान अभिनन्दन ग्रन्थ "आस्था और चिन्तन" आचार्यश्री के मिशन को पुरस्सर करता हुआ जैन धर्म एवं दर्शन का अमूल्य कोष सिद्ध होगा।

ह०/-
रामाश्रय प्रसाद सिह

संसद् सदस्य
(लोक सभा)

४८, नार्थ एवेन्यू,
नई दिल्ली

आचार्य श्री देशभूषण जी ने अपनी सजग चेतना से भारतीय जनमानस को निर्भीकता एवं अहिंसा का सन्देश दिया है। सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन करने में उनकी उल्लेखनीय भूमिका रही है।

जैन समाज ने इस महान् तपस्वी के कर-कमलों में "आस्था और चिन्तन" नामक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का जो संकल्प किया है मैं उस अनुष्ठान के प्रति अपनी हार्दिक शुभ-कामनायें अर्पित करता हूँ।

ह०/-
वीरेन्द्र सिंह

संसद् सदस्य
(लोक सभा)

पो० लालबर्रा जिला बालाघाट,
(मध्य प्रदेश)
फोन : PCD 32 Ext. 1
45, नार्थ एवेन्यू
नई दिल्ली-110001
फोन : 372982
31-7-86

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि जैन समाज के परमादरणीय सन्त आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की सात्विक साधना एवं संकल्पों के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने की भावना से भारतवर्ष का जैन समाज जैन विद्याओं के कोष के रूप में "आस्था और चिन्तन" नामक अभिनन्दन ग्रन्थ उनके कर-कमलों में समर्पित करने जा रहा है। इस अवसर पर मेरी शुभकामनाएँ स्वीकार करें।

ह०/-
नन्दकिशोर शर्मा

MEMBER OF PARLIAMENT
(LOK SABHA)

45, साउथ एवेन्यू
नई दिल्ली
23-7-86

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि भारतवर्ष का जैन समाज आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की इक्यावन वर्षीय दिगम्बरी साधना के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के हेतु एक विशाल अभिनन्दन ग्रन्थ उनके पावन कर-कमलों में भेंट करने जा रहा है।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने उत्तर और दक्षिण के भाषापरक आयामों को एकसूत्रता में बाँध कर राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ किया है और विभिन्न भाषाओं के साहित्यिक वैभव को सम्पन्न करने में अपनी सक्रिय भूमिका निभाई है।

मैं आचार्यश्री के इस रचनात्मक कृतित्व के प्रति अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हुए उनकी दीर्घ आयु की कामना करता हूँ।

ह०/-
केशवराव पारधी

संसद् सदस्य
(लोक सभा)
23, फिरोजशाह रोड
नई दिल्ली
फोन : 385003

अजमेर रोड, हीरा पुरा, जयपुर
फोन : 76980
पिंक सिटी फिल्मस, जयपुर
फोन : 75069
छवि सिनेमा, सूरतगढ़
फोन : 31
मोटाराम भवन, सूरतगढ़
फोन : 8 5-3-86

जैन समाज के हित के लिए भारत के प्रमुख दिगम्बराचार्य, श्रेष्ठ अध्यात्मयोगी, महान् धर्मसाधक, निस्पृह तपोनिधि, शलाका पुरुष, विश्वबन्धुत्व के महान् संदेशवाहक, सरस्वती पुत्र श्री देशभूषण जी ने जिन परिस्थितियों में पदयात्रा द्वारा सारे भारतवर्ष का भ्रमण किया, जिस प्रकार अंग्रेजी शासकों, राजे-रजवाड़ों की अनेक प्रतिबन्धात्मक आज्ञाओं का उल्लंघन कर जनकल्याण के लिए मार्च किया है यह शब्दों द्वारा वर्णन करना सम्भव नहीं है। मुझे आशा ही नही, पूर्ण विश्वास है कि ऐसे महान् कालजयी युगसाधक की तप साधना के ५१ वर्ष पूर्ण होने पर जो विशाल अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है, वह निश्चित रूप से जैन समाज के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। मेरी ओर से हार्दिक बधाई व शुभकामनायें स्वीकार करे।

ह०/-
मनफूल सिह चौधरी

MEMBER OF PARLIAMENT
(LOK SABHA)

2, नार्थ एवेन्यू,
नई दिल्ली
11-3-1986

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप महान् कालजयी युगसाधक आचार्यरत्न दिगम्बराचार्य श्री देशभूषण जी महाराज की उत्कृष्ट दिगम्बरी साधना के ५१ वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में "आस्था और चिन्तन" शीर्षक से एक विशाल अभिनन्दन ग्रन्थ महाराजश्री के कर-कमलों में भेंट करने जा रहे है।

मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि महाराजश्री के सद्प्रयास से लोगों को नई स्फूर्ति, साहस एवं मार्गदर्शन मिलता रहे और उनकी कृति अमर रहे। मैं इस ग्रंथ के सफल प्रकाशन एवं विशाल लोकप्रियता में अपने को शरीक मानता हूं।

ह०/-
कालीप्रसाद पाण्डेय

MEMBER OF PARLIAMENT
(LOK SABHA)

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि जैन समाज आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की दीर्घ साधना के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के निमित्त "आस्था और चिन्तन" नामक अभिनन्दन ग्रन्थ महाराज के कर-कमलों में भेंट करने जा रहा है।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने राष्ट्र के रचनात्मक निर्माण और उसके प्रति अखण्ड चेतना को जागृत करने का जो सद्प्रयास किया है उसके प्रति मैं अपना हार्दिक सम्मान प्रकट करता हूँ।

ह०/-
वृद्धिचन्द्र जैन

Member of Parliament
(Lok Sabha)

Tel. No. 3017209
72, South Avenue,
New Delhi-110011
Dated 23-6-86

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ समिति "आस्था और चिन्तन" नामक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने जा रही है। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज तप-साधना के मूर्त आदर्श है, जो स्वय आत्मान्वेषण में निरत है और अपने श्रद्धालुओं को निर्भीकता का उपदेश देते है।

मैं आचार्यश्री जी की दीर्घ आयु की कामना करता हूँ तथा जैन समाज द्वारा आस्था और चिन्तन नामक ग्रन्थ प्रकाशन के प्रति अपनी हार्दिक शुभकामनाएं प्रकट करता हूँ।

ह०/-
हरेन भूमिज

MEMBER OF PARLIAMENT
(LOK SABHA)

3-5 नार्थ एवेन्यू,
नई दिल्ली
दि० 23-7-86

बहुभाषाविद् आचार्य श्री देशभूषण जी वास्तव में भारतीय साहित्य के गम्भीर अध्येता एवं मर्मज्ञ विद्वान् हैं। उन्होंने अपनी साहित्य-साधना एवं प्रेरक वाणी से समाज को स्वस्थ दिशा देने का स्तुत्य प्रयास किया है।

इस प्रकार के आदर्श युग-साधक एवं तपस्वी की अप्रतिम सेवाओं के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए जैन समाज द्वारा जैन विद्याओं के कोष के रूप में अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने का कार्य वास्तव मे एक शुभ संकल्प है। इस सारस्वत अनुष्ठान की सफलता के लिए मेरी शुभकामनाएँ स्वीकार करें।

ह०/-
गंगाराम

Member of Parliament
(Lok Sabha)

209, North Avenue,
New Delhi-110001
Telephone : 381713
Dated 23-'-1986.

जैन समाज के परमादरणीय सन्त आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज तप के मूर्त आदर्श है और अपने श्रद्धालुओ को आत्मान्वेषण व निर्भीकता का उपदेश देते है। इस प्रकार महाराजश्री आत्मकल्याण एवं विश्वकल्याण दोनों दिशाओं में प्रयत्नशील है।

मैं आपकी दीर्घ आयु की कामना करते हुए 'आस्था और चिन्तन' नामक ग्रन्थ के आयोजन पर हार्दिक शुभकामनाएँ प्रकट करता हूँ।

ह०/-
समरब्रह्म चौधुरी

संसद् सदस्य
(लोक सभा)

डब्ल्यू-29, ग्रेटर कैलाश-2
नई दिल्ली
१-८-१९८६

यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज एक राष्ट्रीय सन्त के अनुरूप भारतीय जनमानस को सत्य एवं अहिंसा के सन्देश से नवचेतना देते आए हैं। सामाजिक कुरीतियों को हटाने में भी वे अग्रणी रहे हैं। ऐसे महान् समाजसुधारक तपस्वी के प्रति कभी भी उऋण नहीं हुआ जा सकता।

ह०/-
सुरेन्द्रपाल सिह

संसद् सदस्य
(लोक सभा)

८, पं० पन्त मार्ग,
नई दिल्ली
१-८-८६

जैन धर्म की व्यापक पृष्ठभूमि के आलोक मे आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के अभिनन्दन का आयोजन वास्तव में सराहनीय है। इस प्रकार के निस्पृह सन्त एवं तपस्वियों का वस्तुत. अभिनन्दन होना ही चाहिए। मैं उनकी सेवाओं के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा अर्पित करता हूँ।

ह०/-
डी. पी यादव

संसद् सदस्य
(लोक सभा)

६४, नार्थ एवेन्यू,
नई दिल्ली
१-८-८६

जैन धर्म संघ की सुदीर्घ परम्परा को आधुनिक काल में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की धर्म-साधना द्वारा आदर्श रूप प्राप्त हुआ है। जैन समाज को जीवन्त रूप प्रदान करने में आचार्यश्री की धर्मप्रभावनाओं की कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका है, इससे सभी परिचित हैं। "आस्था और चिन्तन" नामक इस सारस्वत अनुष्ठान के लिए मैं अभिनन्दन ग्रन्थ समिति को बधाई देता हूँ और महाराज जी की दीर्घ आयु की कामना करता हूँ।

ह०/-
कमला प्रसाद रावत

Member of Parliament
(Lok Sabha)

३२, मीना बाग
नई दिल्ली
२८-२-८६

आचार्यरत्न हमारे देश के महान् अध्यात्मवादी, मानवता के पुजारी, देशभक्ति से पूर्ण महान् तपस्वी हैं। उनका जीवन मानव-समाज के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण है। उनके बताये मार्ग पर इस भौतिकवादी संसार में ज्ञान प्राप्त कर आत्मकल्याण के मार्ग पर हम लोग प्रशस्त हों, ऐसी कामना करता हूं।

ह०/-
डालचन्द जैन

Member of Parliament
(Lok Sabha)

४७-४८, साउथ एवेन्यू.
नई दिल्ली
२४-७-८६

जैन समाज आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की साधना के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के निमित्त एक वृहद्काय अभिनन्दन ग्रन्थ उनके कर-कमलों में भेंट कर रहा है। आदर्श युगसाधक एवं तपस्वी की अप्रतिम सेवाओं के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए यह प्रयास वास्तव में एक शुभ संकल्प है।

ह०/-
जगन्नाथ प्रसाद

संसद् सदस्य
(लोक सभा)

७१, नार्थ एवेन्यू,
नई दिल्ली
१-८-८६

भारतवर्ष प्राचीन काल से ही अध्यात्मप्रधान देश रहा है। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी जैसे तपस्वियों और युगचिन्तकों ने भारतीय संस्कृति की धारा को अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित किया है। जैन परम्परा के इस महान् तपस्वी की तपसाधना के प्रति मैं श्रद्धा अर्पित करता हूं।

ह०/-
रामेश्वर नीखरा

Member of Parliament
(Lok Sabha)

बी-१।१५३, पश्चिम विहार,
नई दिल्ली
१-८-८६

आपके पत्र द्वारा यह जानकर सुखद अनुभूति हुई कि दिगम्बर सन्त आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने अपनी साधना के फाल्गुन पूर्णिमा दिनांक २६ मार्च, १९८६ को इक्यावन वर्ष पूर्ण कर लिए हैं।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज साधना एवं तपस्या की महान् विभूति हैं जिनकी सद्प्रेरणा से भारतीय धर्म संस्था को स्वस्थ एवं मानवीय मूल्य प्राप्त हुए हैं। मैं आशा करता हूँ कि आचार्यश्री अपनी दिव्य एवं सारस्वत वाणी से दीर्घ काल तक धर्मप्रभावना करते हुए देश का उपकार करते रहेंगे।

जैन समाज ने इन महान् तपस्वी के कर-कमलों में आस्था और चिन्तन नामक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का जो संकल्प किया है मैं उस अनुष्ठान के प्रति अपनी हार्दिक शुभ-कामनाएँ अर्पित करता हूँ।

ह०/-
भारत सिंह

Member of Parliament
(Lok Sabha)

सी० २/६७, मोती बाग-१
१-३-८६

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ समिति ने आचार्यरत्न की तप-साधना के ५१ वर्ष पूरे होने पर एक अभिनन्दन ग्रन्थ 'आस्था और चिन्तन' शीर्षक से आचार्यरत्न को समर्पित करने का निश्चय किया है। यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। मैं अपनी शुभकामनाएं इस समिति को देता हूं।

ह०/-
डॉ० मनोज पाण्डेय

Member of Parliament
(Lok Sabha)

Lower Zarkawt
Aizawl, Mizoram
13 May, '86

I am an admirer of great sons of this country in various fields. I used to visit religious places of different faiths, including Jainism.

I am firmly convinced that the philosophy of Jainism has much relevance in the World, particularly where violence prevails.

I wish you and all the Jain Community a very fruitful life.

Sd/-
LALDUHOMA

Member of Parliament
&
Chairman, Committee on
Government Assurances
(Lok Sabha)

Phones : Office : 695717
Res. : 388140
Office : 143, Parliament House,
New Delhi-110001
Res. : 9, Mahadev Road,
New Delhi-110001
Permanent Address :
V.P.O. Sera
Distt. Hamirpur (H.P.)
Pin-177038

I am happy to learn that Acharyaratna Shri Deshabhushanaji Maharaj Abhinandan Samiti plan to publish and present an Abhinandan Granth to respected Acharyaji on his completion of 51 years of the Digambara Sahana. Acharyaji has made a significant contribution to our national culture in general and Jainism in particular His patronage of several Indian languages in promotion of religion and culture has contributed to national integration.

I send my good wishes to the Samiti for this noble attempt.

Sd/-
Narain Chand Parashar

MEMBER OF PARLIAMENT
(RAJYA SABHA)

SECRETARY
Congress (I) Party in Parliament
16, Park Area
New Delhi-110005

मेरा यह सौभाग्य है, आज से लगभग ३० वर्ष पूर्व प्रायुवा अवस्था के उषा काल में परम पूज्य १०८ आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज से मेरा सम्पर्क दिल्ली में हुआ। उनकी त्याग और तपस्यापूर्ण चर्या के निकट सम्बन्ध से निश्चय ही जन-सेवा की भावना का प्रादुर्भाव होता है। अडिग निष्ठा के साथ किसी कार्य में संलग्न होना और उसमें सफलता प्राप्त करने तक लगे रहना गुरुवर्य के श्रीचरणों में बैठकर अच्छी तरह सीखा जा सकता है।

तीर्थंकर परम्परा में स्वात्मानुभव से पूर्वाचार्यों द्वारा रचित प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश जैन साहित्य में आत्मकल्याण, जनकल्याण और उन्नति के प्रचुर साधन स्थान-स्थान पर उपलब्ध है। आचार्य महाराज ने उनका गम्भीर अध्ययन और मनन करके विपुल साहित्य का सृजन किया है, जिसके द्वारा आत्मिक शांति का मुमुक्षु सासारिक वासनाओं से विमुख होकर शान्ति के वास्तविक मार्ग का चयन कर सकता है।

अपने वर्तमान जीवन में ५१ वर्षीय अविराम तपस्या, त्याग और समता से ओतप्रोत साधु जीवन में उन्होंने प्रमुख भारतीय भाषाओं को अपने सुगम उपदेशों का माध्यम बनाया है और इसके द्वारा उन्होंने देश में एकता को दृढ किया है, अनेकों जैन और अजैन मानवों को अहिंसा और सदाचार के मार्ग पर लगाकर उद्धार किया है और प्राणिमात्र का कल्याण किया है।

उनकी तप-साधना के ५१ वर्ष समाप्त होने पर "आस्था और चिन्तन" अभिनन्दन ग्रंथ समता, सदाचार और ज्ञानवर्धन के लिए एक प्रकाश दीप बनेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। पूज्य आचार्यश्री के चरणों मे श्रद्धासहित नमिति।

ह०/-
जे० के० जैन

संसद् सदस्य
(राज्य सभा)

१४, तालकटोरा रोड
नई दिल्ली-११०००१
फोन : ३८२८३०

भारत आज भी हजारों वर्ष की परतंत्रता के काल को भोगने पर जिन्दा है तो इसका मुख्य कारण है भारत की ऋषि-मुनियों से संस्कारित-पोषित इसकी सनातन संस्कृति। संतों-महात्माओं ने भारत को भारत बनाकर रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। यही कारण है कि भौतिक जगत् में प्रगति के शिखर पर पहुंच जाने वाले देश भी भारत के जीवन-दर्शन एवं संस्कृति को समझना व अपनाना चाहते हैं। यही एकमात्र चीज भारत को जगत् में महत्त्व का स्थान दिलाती है। आचार्यरत्न मान्यवर श्री देशभूषण जी जैसे महाराज इसके आधार स्तम्भ हैं। इनमें प्राण फूकने वाले, जीवन देने वाले ऋषि है।

भारतीय समाज जब-जब जड़ता को, रूढिवादिता को, प्राप्त होता रहा है तो इससे छुटकारा दिलाने वाले समाज सुधारक ही तो अपने समाज में ऋषि और संत के नाम से पूजित हैं। आचार्यरत्न जी पैदल यात्रा करते हुए, देश के विशाल प्रांगण में रहते हुए, समाज से कुरीतियो को दूर भगाने को सतत प्रयासरत है। वास्तव में आज वे करोड़ों लोगों के प्रेरणा के स्रोत, सदाशयता, सदाचार की प्रतिमूर्ति हैं और अपने व्यक्तित्व के द्वारा व्यक्तियों को सद्गुणो बनाने का यज्ञ कर रहे है। आज वे देश में सार्वदेशिक महापुरुष के रूप में लोगों को उन्ही की भाषा में उपदेश देने की अद्भुत क्षमता का प्रगटीकरण कर उन्हें शान्ति, सुख-सन्तोष प्रदान करते हैं। मैं ऐसे महापुरुष का अन्त करण से अभिवादन और अभिनंदन करता हूं।

ह०/-
जगदम्बी प्रसाद यादव

संसद् सदस्य
(राज्य सभा)

दूरभाष : ३८११२६
१० डा० राजेन्द्रप्रसाद रोड
नई दिल्ली-११००११
दूरभाष : ७५६१६, ७४१८८
स्थायी पता :
भारतीय जनता पार्टी कार्यालय
मुकर्जी चौक, भोपाल (म० प्र०)
दिनांक १६.३.८६

आचार्यश्री का व्यक्तित्व न केवल धार्मिक है वरन् उन्होंने लोगों को निर्भीक और सुधार-वादी बनने का उपदेश भी दिया है। महाराजश्री के इन उपदेशो का समाज पर भारी प्रभाव पड़ा है तथा लाखों लोगों को सदाचारी जीवन व्यतीत करने को प्रेरणा हुई है। आचार्यरत्न देश की एकता और अखंडता के लिये प्रतिबद्ध हैं। उनके जीवन का यही संदेश है कि सत्य कहो और निर्भीक बन कर अपने मार्ग पर दृढ़ता से आगे बढ़ो। आस्था और चिन्तन जीवन के सर्वांगीण विकास के लिये आवश्यक है। धर्म पर आधारित जीवन पद्धति युग की आवश्यकता है। मै आचार्यरत्न के चरणों में अपने श्रद्धा-सुमन अर्पण करते हुए अभिनन्दन ग्रन्थ की सफलता की कामना करता हूं।

ह०/-
प्यारेलाल खंडेलवाल

संसद् सदस्य
(राज्य सभा)

३८, अशोक रोड,
नई दिल्ली-११० ००१
२ अप्रैल १९८६

आचार्य जी एक बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति है तथा उन्होंने राष्ट्र की अमूल्य सेवा की है। आज हमारे देश और भारतीय समाज मे जो सामाजिक कुरीतियां व्याप्त है, इनको निर्भीकता से ही समाप्त किया जा सकता है। जाति-पांति, साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता आज हमारे राष्ट्र के लिए सबसे बडा खतरा है और यदि इनका मुकाबला निडरता से न किया गया तो राष्ट्रीय एकता को भी खतरा आ सकता है।
आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज को अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करना एक ऐसे महापुरुष का सम्मान है जिसने राष्ट्र की विभिन्न क्षेत्रों में बहुमूल्य सेवाएं की हैं। मुझे पूरी आशा है और मेरी शुभकामनाये है कि अभिनन्दन ग्रन्थ समिति अपना ध्येय प्राप्त करने में सफलता प्राप्त करे।

ह०/-
(सत्यप्रकाश मालवीय)

संसद् सदस्य
(राज्य सभा)

10, डा० राजेन्द्र प्रसाद रोड,
नई दिल्ली
17.3.86

आचायरत्न श्री देशभूषण जी उत्कृष्ट दिगम्बरी साधना के ५१ वर्ष पूर्ण कर चुके है और इस अवसर पर इस हेतु गठित अभिनन्दन ग्रन्थ समिति १५०० पृष्ठों का अभिनन्दन ग्रन्थ निकाल रही है, यह जानकर अतीव आनन्द हुआ। जिन महापुरुषों ने आध्यात्मिक साधना-धरातल पर खड़े होकर अन्तःकरण में सर्व धर्म भाव रखकर इस देश का परिभ्रमण करके यहाँ की मूल राष्ट्रीय चेतना की ज्योति को कभी बुझने नहीं दिया, इस कटकाकीर्ण पथ पर वे कष्ट झेलते रहे, उनकी चरणधूलि मस्तक पर रखना अपने को ही गौरवान्वित करना है। आप लोग अभिनन्दन ग्रन्थ के माध्यम से समाज को अनुपम थाती दे रहे हैं। श्रद्धायुक्त मेरा नमन स्वीकार करें।

ह०/-
कैलाशपति मिश्र

Member of Parliament
(Rajya Sabha)

3, Mahadev Road,
New Delhi-110001
Phone : 384900
12, Maganlal Sadan,
Swami Vivekanand Road,
Panjim, Goa—403 001
Phones : 3699 & 4603
14.3.1986

पुराने समय से भारतीय जनता अपना मानवी-जीवन-व्यवहार किसी न किसी जीवन तत्त्वज्ञान के दिशा-सूर्य के प्रकाश से बनाती आ रही है। ऐसे जीवन-तत्त्वज्ञानों में जैन शासन का स्थान बहुत बडा रहा है। —"अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता"।

इसी परम्परा का प्रतिनिधित्व करने वाले आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के अभि-नन्दन ग्रंथ का उपक्रम करके आप स्वयं अभिनदन के पात्र बन गये है।

मैं अपनी श्रद्धा आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के चरण कमलों में समर्पित करते हुए आपकी पूर्ण यशस्विता की शुभकामना करता हूँ।

ह०/-
पुरुषोत्तम दास काकोडकर

MEMBER OF PARLIAMENT
(RAJYA SABHA)

21, FEROZE SHAH ROAD,
NEW DELHI

12, 6th MAIN ROAD,
KASTURIBA NAGAR,
ADYAR-MADRAS—6(0020

Dated : 8th March, 1986

The services of Maharaj towards mankind in general and particularly for India in nation building are well known, acknowledged and appreciated.

I send my best wishes for the success of the celebrations.

Sd/-
THANGA BAALU

卐 यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के व्यक्तित्व और कृतित्व के सभी पहलुओं को प्रकाश में लाने के लिए एक अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है। मै आपके प्रयत्नो की सफलता चाहता हूँ। आज जबकि विश्व में शस्त्रों की होड़ और देश के भीतर अनियंत्रित उपभोगवाद की दौड़ लगी है, अपरिग्रह के मंत्र को जीवन में साकार करने वाले, प्राणिमात्र के प्रति दया भाव का संदेश देने वाले आचार्यों के जीवन, उनके विचार तथा उनके व्यवहार के बारे में सर्वसाधारण को शिक्षित करना बहुत आवश्यक है।

—अटल बिहारी वाजपेयी

卐 I am indeed happy to know that you are bringing out a felicitation volume to present to His Holiness Acharya Ratna Shri Desh Bhushanji Maharaj on the completion of his 51 years of dedicated, selfless, spiritual and religious service to the people. I have heard of his dedicated and selfless work. He has been offering solace to the distressed and preaching harmony and peace.

The nation is passing through a critical time It seems it is out of its joints. There is a crisis of character. Erosion of basic accepted values is distorting the identity of the "Bharat" of Buddha, Mahavir and Gandhi. The monster of hatred, distrust and self-aggrandisement is threatenning to devour all good that we stand for. The desire to get rich quick and the lack of an intellectual and scientific temper is adding to the problem. A-growing fear psychosis is dwarfing the personality of many. In this back ground Persons like Desh Bhushanji Maharaj who walked through the nook and corner of India for last so many years spreading message of love, peace and equality is indeed a great source of inspiration. I sicerely wish that your effort to print felicitation volume is a big success.

Sd/-
SAMARENDRA KUNDU
EX-UNION MINISTER OF STATE
For External Affairs

卐 I join all people of gooodwill from all over the world in greeting Acharya Ratna Shri Desh Bhushan Ji Maharaj on his completing 51 years of uninterrupted service to spread the message of peace and brotherhood among our countrymen. The message which this great saint has carried to the nook and corner of the country during these 51 years is bound to leave a lasting imprint on our national consciousness I wish His Holiness a long life to fulfil the mission he has undertaken.

—GEORGE FERNANDES

卐 दिगम्बर साधना सभी साधनाओं में अति कठिन साधना है। तपस्या का परमोच्च बिंदु है। लगातार ५१ वर्ष तक शरीर के सारे मोह और मन की आकांक्षाओं पर नियंत्रण और संयम के द्वारा एक उच्च नैतिक आदर्श आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने साकार किया है। इस अवसर पर मैं उनका विनम्र अभिवादन करता हूँ। विश्व में बढ़ रहा अनियंत्रित भोगवाद और उसकी पूर्ति हेतु अनियंत्रित स्पर्धा और उसके कारण होने वाला शोषण यही आज की सबसे बड़ी समस्या है। अपरिग्रह के द्वारा वस्तुओं के न्यायोचित उपयोग से ही समान न्याय व्यवस्था का निर्माण हो सकेगा एवं उसी से प्राणीमात्र को सुख तथा समाधान मिलेगा। जैन दर्शन का यह अपरिग्रह का विचार आज श्रेष्ठ विचार है, दिगम्बर साधना उसका आचार है। अनेकांत दर्शन भी जैन दर्शन का एक श्रेष्ठ विचार है, जो किसी भी बात को अंतिम सत्य नहीं मानता है और सत्य की निरंतर खोज के लिये प्रोत्साहित करता है, सहिष्णुता एवं सर्वधर्मसमभाव के विचार का यह आधार है, राष्ट्रीय एकात्मता, विश्वबंधुत्व और मानवता के विचार को उससे बल मिलता है।

जैन सिद्धांतों की क्रांतिदर्शिता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, नैतिकता, अहिंसा, अपरिग्रह के विचार और त्याग-तपस्या और संयम से पूर्ण सिद्धांतानुसार आचार, इसको प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति अपने जीवन में उतारने का और अपनी वाणी एवं साहित्य द्वारा अथक प्रयास द्वारा प्रचारित-विस्तारित करने का काम आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज कर रहे हैं। इस काम में वे यशस्वी हों, यही मेरी शुभकामना है।

—प्रमोद महाजन

सचिव, अखिल भारतीय जनता पार्टी

卐 आचार्यरत्न श्री देशभूषण महाराज अभिनंदन ग्रन्थ समिति की ओर से भेजा हुआ खत मिला। मैं आभारी हूं। इस मंगल अवसर पर मेरी शुभकामनायें।

—मोहन धारिया

卐 मानव के आध्यात्मिक विकास के लिए निरन्तर चिन्तनरत साधनापुरुष आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज दिव्य व्यक्तित्व के धनी हैं। अपनी ५१ वर्षीय साधना में आपने प्रायः सम्पूर्ण भारत की पदयात्रा करके अपने प्रवचनों से केवल जैन समाज को ही नहीं, वरन् सभी को कल्याणकारी सन्देश दिया है। आपके दीर्घायुष्य की मंगल कामना करते हुए मैं आपके प्रति अपनी श्रद्धा भावना व्यक्त करता हूँ।

—डॉ० विजयकुमार मल्होत्रा

सचिव, अखिल भारतीय जनता पार्टी

卐 Jain philosophy is one for leading a life with his conscience with austerity, tolerance, forgiveness, Satya & Ahimsa. It teaches love for all—not only human beings but with all living beings—and one should therefore be proud, if he is a real Jain believer in the old saying of 'Live & Let Live'.

I am proud that a saint like Acharyashri Deshbhushan Ji Maharaj has completed 51 years of his dedicated Sadhna and pray Almighty to give him many many years to live to make people know what Jainism actually means and teaches and how problems of the world can be solved by adopting Jain principles of universal brotherhood through mutual love. Jain saints like Acharyashri Ji have undoubtedly enhanced the 'Jain' prestige & how people appreciate about the way the Jain Sadhus live with austerity & sacrifices even in the present age.

I respectfully pray for Acharyaji's long life.

—BHIKU RAM JAIN
(Ex. Member of Parliament)

卐 I am glad to learn that Acharya Ratna Shri Desh Bhushanji Abhinandan Granth Samiti is bringing out a commemoration volume dedicated to Acharyaratna Shri Deshabhushanji Maharaj, India's leading Digambara Acharya, for his devoted and dedicated service by rousing the people's conscience against social evils and religious taboos. His endeavour to reform the mankind throughout the World would ever be remembered. On the happy occasion of releasing the commemoration volume I send you my greetings and good wishes.

—Dr. K. G. DESHMUKH
Vice Chancellor, Amravati University, Maharashtra.

卐 I am very happy to learn that you are bringing out a felicitation volume entitled "Aastha Aur Chintana" in the encyclopaedic form, to be presented to Acharyaratna Shri Desh Bhushanji Maharaj, on the occasion of his completion of 51 dedicated years of his Digambara Sadhana It is really a befitting tribute to this great son of India who has striven hard for religious tolerance and national unity I congratulate the Abhinandana Grantha Samiti for making available such a volume which will be very useful to the students of Jainology in particular and religion in general.

—M. CHANDRASHEKHAR, M.L.A.
(President, Karnataka Pradesh Janta Party)

卐 आचार्य श्री देशभूषण जी के अभिनन्दन में परमपूज्य जगद्गुरु जी की सम्पूर्ण शुभ-कामनाएँ । परमपूज्य जगद्गुरु जी की आज्ञा से ।

—ब्र० सर्वेश्वर चैतन्य (पुरी).

卐 आपने स्वस्ति श्री १०८ आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज के उपदेशों और कार्यों से प्रभावित होकर अभिनन्दन ग्रन्थ छापने का जो निश्चय किया है और इसके लिए अनेक विद्वानों से सामग्री संकलित करने का जो श्रम किया है उससे बहुत समाधान व सन्तोष हुआ । इस ग्रन्थ को तैयार करने में आपके परिश्रम और सफलता के लिए हमारा आशीर्वाद ।

—श्री १०८ आचार्य सुबलसागर जी

卐 आचार्य देशभूषण विद्वान्, तपोनिष्ठ, महाप्रभावक साधु हैं । धर्म की प्रभावना करते हुए दीर्घायु को प्राप्त हों, ऐसी शुभकामना है ।

—आचार्य सन्मति सागर जी
(पट्टशिष्य आचार्य महावीर कीर्ति महाराज)

卐 इस ग्रन्थ में अधिक-से-अधिक स्थायी, उपयोगी, प्रकाशित और अप्रकाशित सम्पूर्ण सूत्र-पाठ तथा आबाल-वृद्ध के पढने योग्य शिक्षाप्रद सामग्री रहे । यह ग्रन्थ बाहुबली की भाँति नूतन सतत शांतिप्रदायक बना रहे ।

अभिनन्दन इस ग्रन्थ को, बारम्बार प्रणाम ।
आचार्यरत्न का लोक में, सदा रहेगा नाम ।
देव आप्त हितकर कहा, शस्त्र ध्यान निज ज्ञान ।
भूषण भारत का बना, सिद्धि-सिन्धु अम्लान ॥

—क्षु० सिद्धसागर जी
मोजमाबाद, जयपुर (राजस्थान)

卐 महान् तपस्वी, सरस्वती के वरद् पुत्र, बाल ब्रह्मचारी आचार्यरत्न श्री देशभूषण महा-राज के अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई । उनके जैसे महान् सन्त से जैन धर्म और संस्कृति अत्यन्त उपकृत है । भविष्य में भी उनके आदर्शमय मार्गदर्शन के अभिलाषी हम अभिनन्दन ग्रन्थ की सफलता की शुभकामना करते हुए

"मैं स्वय यह मानता हूँ कि मनुष्यमात्र की आदर्श स्थिति दिगम्बर की है।"

—राष्ट्रपिता महात्मा गांधी
(31-5-1931)

ज्ञानभावनालस्यत्यागः स्वाध्यायः

—सर्वार्थसिद्धि

परमपूज्य वयोवृद्ध दीर्घ तपस्वी समन्तभद्र जी महाराज से सुमत प्रसाद जैन के नेतृत्व मे अभिनन्दन ग्रंथ समिति का एक प्रतिनिधि मंडल कुभोज (बाहुबली) मे दिनाक २९ सितम्बर, १९८६ को मिला और अभिनन्दन ग्रंथ की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए उनके मंगल आशीर्वाद की प्रार्थना की।

मौन साधना मे निरत विद्याप्रणयी मुनिराज ने स्लेट पर मंगल वचन लिखकर अपनी हार्दिक प्रसन्नता को अभिव्यक्त किया और ॐ को अंकित करके इस सारस्वत अनुष्ठान की सफलता की कामना प्रकट की।
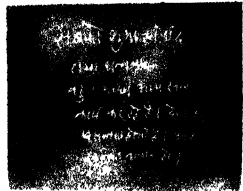
अहिंसा परमो धर्मः

आचार्यश्री के रत्नत्रय कुशलता के साथ उनके पावन चरणों में अनन्तानन्त नमोऽस्तु ।

—श्री चारुकीर्ति स्वामी जी

श्री जैनमठ, श्रवणबेलगोल, कर्नाटक

卐 आचार्यरत्न श्री देशभूषण दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं । दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में परम्परा से शिखोपवीत आदि हिन्दू धर्म संस्कारों का पालन-धारण चला आ रहा है । इस कारण हिन्दू जाति एवं धर्म के मार्ग से इनका निकटवर्ती सम्बन्ध रहा है । श्री देशभूषण आचार्य जी द्वारा जैनमतावलम्बी महानुभावों में हिन्दू धर्म के प्रति आस्था तथा अनन्यता का प्रचार-प्रसार हो, एतदर्थ हम सहर्ष आपके आयुष्य एवं सर्वविध कल्याण की नारायणाशंसा करते हैं ।

—स्वामी नन्दनन्दनानन्द सरस्वती

भूतपूर्व संसद् सदस्य एवं कार्यवाहक अध्यक्ष,

अ०भा० रामराज्य परिषद्, वाराणसी (उ०प्र०)

卐 जैन आचार्यों की परम्परा में महाराजश्री का स्थान बहुत ऊँचा है और सदा याद किया जाता रहेगा । उनके द्वारा दीक्षित अनेक मुनि आज उच्चकोटि प्राप्त कर चुके हैं । उनके संघ की प्रतिष्ठा भी किसी से छिपी नहीं है । ऐसे महापुरुष के अभिनन्दन ग्रन्थ से समाज-चेतना का बड़ा भारी कार्य होगा । महाराजश्री के दर्शनों का दिल्लो एवं जयपुर कई स्थानों पर मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ । सीधी सरल भाषा में धर्म के गूढ़ रहस्यों पर उनके प्रवचन सामान्य नर-नारी के लिए भी ग्राह्य होते हैं । मुझे पूरी आशा है कि यह अभिनन्दन ग्रन्थ धर्म, दर्शन, साहित्य, कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में एक सीमा चिह्न बन सकेगा ।

—अक्षयकुमार जैन

卐 आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज न केवल तपोनिधि हैं, बल्कि तप के अजस्र स्रोत भी है । इन्होंने आज के कितने ही साधु-साध्वियों को दीक्षा प्रदान कर तपस्या के पथ पर आरोहित किया है एवं अपनी हित-मित वाणी से जन-जन के मन में सदाचार और धर्म के प्रति आस्था जगाई है । मेरे पूज्य पिताजी एवं अम्माजी महाराजश्री की सेवा में दीर्घकाल से तत्पर रहे हैं और तभी से हम लोग भी उनके भक्त हैं । इतनी दीर्घावधि तक दिगम्बर तपस्वी का जीवन अपने आप में अत्यन्त उल्लेखनीय एव श्रद्धास्पद है । महाराजश्री ने समस्त भारतवर्ष में पदयात्रा के द्वारा जन-जन में धर्म के प्रति आस्था जगाकर समाज का कल्याण किया है । दिगम्बरी धर्मगुरुओं के निर्बाध विचरण के लिये प्रतिबन्धात्मक आज्ञाओं का आपने जिस

संकल्प के साथ विरोध किया, वह भारत में दिगम्बर साधुओं के निर्बाध विचरण के संबंध में ऐतिहासिक पथ सिद्ध होता रहेगा।
हमारे समस्त परिवार पर उनकी आशीर्वादात्मक कृपा रहे, यह हम अपना अहोभाग्य समझते हैं। उनका मार्गदर्शन अक्षुण्ण हो, वे दीर्घायु हों, समाज उनके सान्निध्य एवं उपदेशों से लाभान्वित हो। इसी भावना के साथ मैं, मेरी पत्नी सुशीला एवं मेरा समस्त परिवार उनके प्रति श्रद्धावनत है।

—रमेशचन्द जैन

राजपुर रोड, दिल्ली

卐 यह जान कर खुशी हुई कि आप आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं।

—लक्ष्मीनिवास बिरला

कलकत्ता

卐 आचार्य देशभूषण जी के व्यक्तित्व और कृतित्व ने भारतीय समाज को प्रभूत रूप में प्रभावित किया है। भगवान् महावीर के लोकमंगल संदेश को उन्होंने आधुनिक काल में जीवंत रखा है। उनके जैसे महानुभावों के कारण हमारी संस्कृति आज तक प्राणवती है।

—प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी

सागर (म. प्र.)

卐 मेरी दोनों आँखों में मोतियाबिन्द है। पत्रोत्तर देने का कार्य भी बिना किसी के सहयोग के नहीं हो पाता। + + + + अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए इस समय कुछ भी लिखाकर भेजने में असमर्थ हूँ। आपके इस मंगल प्रयास की कामना करता हूँ।

—भदन्त आनन्द कौसल्यायन

卐 भारतवर्ष विभिन्न धर्मों और मत-मतान्तरों का देश है। अनेकता में एकता इसकी विशेषता है। इन सभी धर्मों का एकमात्र लक्ष्य मानव-कल्याण है। ऋषि-मुनियों की इस धरती पर वर्तमान में जैनाचार्य, दिगम्बरत्व के प्रतिमान आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज अनथक पद यात्राओं और चातुर्मासों द्वारा मानव-कल्याण के इसी लक्ष्य से धर्मोपदेश द्वारा और कन्नड़, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के प्राचीन जैन ग्रन्थों का सम्पादन-प्रकाशन एवं अनुवाद करके इस दिशा में प्रयत्नशील है।
मैं आचार्यश्री के इस प्रयास के प्रति श्रद्धावनत हूँ तथा उनके गौरव के अनुकूल उनके सम्मान में अर्पित किये जाने वाले ग्रन्थ के सफल संपादन के लिए शुभकामना करता हूँ।

—कालीचरण

अतिरिक्त शिक्षा निदेशक,
दिल्ली प्रशासन, दिल्ली

卐 एक गतिशील धर्माचार्य के रूप में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने समाज की अविस्मरणीय सेवा की है। आचार्यश्री वास्तव में देश के अद्वितीय आभूषण हैं और अनन्तानन्त गुणों के भण्डार है। उनके अगणित उपकारों से भारतवर्ष का जैन समाज कभी भी उऋण नहीं हो सकता।

मेरे पूज्य पिता स्वर्गीय श्री मिलाप चंद जी गोधा का आचार्यश्री से दीर्घकाल तक सम्बन्ध रहा है। फलत: बाल्यकाल से ही आचार्यश्री की धर्म-प्रभावना, लेखन कार्य, रचना शिल्प आदि के चमत्कार से मैं प्रभावित रहा हूँ। आचार्यश्री के दिव्य गुणों के प्रति मैं अपनी हार्दिक भक्ति एव श्रद्धा प्रकट करता हूँ और उनके चरणों में शतश: वन्दन करता हूँ।

'आस्था और चिन्तन' नामक अभिनन्दन ग्रन्थ के द्वारा भारतवर्ष के जैन समाज ने दिगम्बर परम्परा के युगप्रमुख शीर्षस्थ आचार्य के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति व्यक्त करके अपने सामाजिक दायित्व की पूर्ति की है। इस अभिनन्दन ग्रन्थ की सयोजना एवं प्रकाशन के लिए मैं समिति के पदाधिकारियों एवं सम्पादन मंडल के सभी प्रबुद्ध सदस्यो का हृदय से स्वागत करता हूँ।

—कश्मीरचन्द गोधा

शांतिविजय एण्ड कम्पनी, जनपथ, नई दिल्ली

卐 आचार्यरत्न श्री देशभूषणजी महाराज के अभिनन्दनार्थ ग्रन्थ प्रकाशन की सूचना पाकर अत्यन्त हर्ष हुआ। जिन-परम्परा भारतीय दर्शन-निधि की अति प्राचीन परंपरा है। यह परंपरा किसी परम शक्ति की कृपा पर नहीं, अपने ही श्रम द्वारा साध्य की प्राप्ति की मान्यता पर टिकी है। बौद्ध परंपरा जिन-परंपरा से बहुत बाद की, मात्र ढाई हज़ार वर्ष पूर्व की है, किंतु भारत में वह अपनी जड़ अधिक समय तक नहीं जमा सकी और जैन परंपरा आज भी भारत में न केवल जीवित है, बल्कि फल-फूल भी रही है। कारण ? इस परंपरा का प्रचार राजकीय साधनों द्वारा बलपूर्वक नहीं हुआ है। आत्मिक बल और अपार असहिष्णुता इस मत के प्रचार के साधन रहे है।

जैन मत अन्तर्मुखता को प्रधानता देता है। अति-अन्तर्मुखी जनों को अपने तन से बाहर के ब्रह्माण्ड की सुधि नहीं रहती। बाह्य संसार के प्रति विमुख इन जनों की साधना से सामान्य जन अवगत नही हो पाते। अभिनन्दन ग्रन्थ जैसे आयोजन इनकी सूचना अन्य जनों तक पहुँचाने के साधनों में से हैं। आपका यह सद्प्रयास सफल हो।

—दयानन्द योगशास्त्री

कुलपति, अध्यात्मविज्ञान शोध संस्थान

एवं निदेशक, स्टार पब्लिकेशन्स

卐 निर्ग्रन्थमार्ग पूर्णतया अहिंसा प्रधान है। परब्रह्म के रूप में प्रसिद्ध वह अहिंसा परावलंबन से सर्वथा निर्मुक्त उस मुनि धर्म में ही संभव है जहां लेशमात्र भी आरंभ नहीं रहता। आचार्य समन्तभद्र नेमिजिनेन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे भगवन्! आपने करुणा के वश उस परिपूर्ण अहिंसा को सिद्ध करने के लिए बाह्य व अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह को छोड़ा है, व उस निर्मल वेश को विकृत करने वाली किसी प्रकार की उपाधि में अनुराग नहीं किया है। (स्वयंभू स्तोत्र ११९)
आचार्य देशभूषण जी महाराज ने उस निराकुलतामय मुनि धर्म के माहात्म्य से प्रेरित होकर उसे स्वीकार किया है व दीर्घ काल से उस पर प्रस्थित हैं। उनके साधु जीवन से अन्य मुमुक्षु जन को प्रेरणा मिलती है। रत्नत्रय के साधक साधु सदा वन्दनीय हैं। मैं ऐसे साधकों के प्रति श्रद्धावनत होकर नतमस्तक हूँ।

—पं० बालचन्द्र शास्त्री

卐 परम पूज्य मुनि श्री देशभूषणजी महाराज के वचनामृत के सिंचन से न जाने कितने जीव इस संसार समुद्र से पार होकर मुक्ति को प्राप्त करेंगे। यथा नाम तथा गुण के धारक गुरुदेव शिवपुर का मार्ग दिखाने के लिए सूर्य के सदृश और शिष्यों पर अनुग्रह करने वाले माता के तुल्य, और उनके दुर्गुण रूपी रोग को निकालने के लिए वैद्य के समान, इस भव रूपी गहन वन से निकालने के लिए हस्तावलम्ब रूप, अगणित गुणों के धारक है, जिनका वर्णन सहस्र जिह्वा से भी नहीं हो सकता। शास्त्रों ने जो गुरु का लक्षण बताया है, वे सब उनमें पूरे घटित होते हैं। ऐसे परमोपकारी मुनिवर्य का अभिनन्दन करके संयोजकों ने स्वयं को गौरवान्वित किया है। उनका अभिनन्दन तो सूर्य को दीपक दिखाना है। मैं मुनिजी का शत-शत वन्दन एवं कोटि-कोटि अभिनन्दन करता हूँ।

—डॉ० प्रेमचन्द जैन
राजस्थान विश्वविद्यालय

卐 आपने परम पावन आचार्यप्रवर श्री देशभूषण जी महाराज का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने का निश्चय किया है, यह जान कर प्रसन्नता हुई। आचार्यप्रवर का समस्त जीवन राष्ट्र के प्रति समर्पित रहा है, अभिनन्दन ग्रन्थ तो उनके असीम व्यक्तित्व के प्रति आपका एक पुष्प मात्र है। आचार्यप्रवर का बहुमुखी व्यक्तित्व एव कृतित्व ग्रन्थ से उजागर होगा, ऐसी कामना है।

—रामचन्द्र सारस्वत
अखिल भारतीय जैन श्वेताम्बर तेरापंथी समाज, कलकत्ता

卐 श्री आचार्य महाराज ने अपने प्रखर ज्ञान से बहुमूल्य साहित्य का सृजन कर अथवा प्राचीन साहित्य की शोध कर अथवा इन्हें प्रकाशित करके जैन साहित्य के भंडार में वृद्धि कर साहित्यिक दृष्टि से नया कीर्तिमान स्थापित किया है। आप दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति के चारित्र शिरोमणि आचार्य हैं। उनका अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करके भेंट करने का कार्य उत्तम व प्रशंसनीय है। सफलता के लिए मेरी मंगल कामनायें एवं आचार्यश्री के चरणों में भक्तिपूर्वक प्रणति-निवेदन।

—पं० वीरचन्द जैन

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर, भिंड

卐 भौतिकवाद के चक्र में आकण्ठ निमग्न वर्तमान विश्व को सन्मार्ग का निदर्शन और श्रमणत्व का दिग्दर्शन कराया है प्रातः स्मरणीय चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज ने। इस प्रशस्त परम्परा के उन्नायक हैं आचार्यरत्न, अनेक भाषाओं के मर्मज्ञ, प्रखर तपस्वी, ओजस्वी वक्ता, अनेक ग्रन्थों के प्रणेता, परम पूज्य आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज। वे वर्तमान साधु-संस्था के अग्रणी हैं। उन्होंने श्रावक संस्था में धर्म, संस्कृति, साहित्य और श्रमणत्व की आस्था को अग्रसर किया है।

—बाबूलाल पलंदी

अध्यक्ष, जैन प्रगतिशील परिषद्, दमोह

卐 अभिनन्दन ग्रन्थ पूज्य आचार्यश्री के गौरवानुकूल प्रकाशित होकर समाज में प्रतिष्ठा पाएगा एवं उसका स्वाध्याय कर हजारों अन्यात्माओं की रत्नत्रयात्मक मोक्ष मार्ग के स्वरूप को समझकर मिथ्या भ्रान्ति मिटेगी। परम पूज्य आचार्यश्री चिरायु होकर चिरकाल तक धर्म की ध्वजा अखिल विश्व में फहराते रहें, यही शुभकामना है।

—विमल ज्ञानपीठ परिवार

सोनागिर

卐 यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि आप पूज्य आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं। भगवान् वीर प्रभु से प्रार्थना है कि आपका यह प्रयास सफल हो। आचार्य महाराज की जीवन-गाथा सद्गुणों की पुस्तक है जिसमें मानव स्वयं अपने सन्मार्ग को ढूढ सकता है। आज मुनिश्री जैसी विभूतियों की समाज को बहुत आवश्यकता है।

—नगेन्द्रकुमार जैन बिलाला

जयपुर

卐 श्रीमद् आचार्यचरण के दिल्ली-प्रवास में मुझे उनको निकट से देखने, समझने व सेवा

करने का अवसर प्राप्त हुआ। मैं एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य श्रीचरण से पा सका हूँ कि व्यक्ति को समाज में अपनी क्षमता से अधिक कार्य करना चाहिए और अपनी आवश्यकता से कम लेना चाहिए। संयम, साधना और तपश्चर्या ही जिनके जीवन का लक्ष्य है ऐसे आचार्यचरण पूजनीय हैं। आपका अभिनन्दन ग्रन्थ इस दिशा में एक स्तुत्य प्रयास है। मेरी शुभकामनाये।

—डॉ० अनन्तकुमार गुप्ता
बाजार गुलियान, दिल्ली

卐 यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपके संपादन में आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज का विशाल एवं भव्य ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। आचार्य श्री देशभूषण जी भारतीय सन्त परम्परा की आध्यात्मिक ज्ञान-धारा के सच्चे प्रतिनिधि है। उन्होंने अपने तप, संयम और साधना के बल पर धर्म की रचनात्मक क्षमता और लोक-मंगल भावना को उभारा और प्रदीप्त किया है। वे धार्मिक महापुरुष होने के साथ-साथ बहुभाषाविद् साहित्यकार और मानव-मन की एकता के सूत्रकार है। अपनी साधनात्मक अनुभूति और रचनात्मक प्रतिभा से उन्होंने राष्ट्र की अखण्ड भावधारा को मुखरित किया है। उनका साधनाशील, तपोनिष्ठ व्यक्तित्व हमारा मार्गदर्शन करता रहे और वे शतायु हों, यही मङ्गल कामना है।

—डॉ० नरेन्द्र भानावत
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

卐 इस अलौकिक साहित्यिक अनुष्ठान एवं ऐतिहासिक अभियान की सफलता हेतु अनेकानेक बधाइयाँ। साहित्य-मनीषी, वरेण्य विद्वान्, बेजोड़ अनुवादक, वाग्मी वक्ता, श्रमण वैभव, जैनाचार्य रत्न श्री देशभूषण जी महाराज के प्रवचनो मे प्राचीन भाषाओ का वैभव, वर्तमान भाषाओं की जीवन्तता और लोकभाषाओं की अलौकिक माधुरी पग-पग पर झलकती है। मानवीय जीवन को संस्कृति, नीति और अध्यात्म के नये आयाम देना आपके प्रवचनों का लक्ष्य है। आचार्यश्री की अनेक गुण-गरिमाएँ इस अभिनन्दन ग्रन्थ के चरम सोपान एवं पर्यायवाची बनें, ऐसी शुभकामना है।

—माणकचन्द नाहर
निदेशक, सेठ बख्तावर रिसर्च इंस्टीट्यूट, मद्रास

कालजयी-व्यक्तित्व

एक कालजयी अपराजेय व्यक्तित्व

डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त
श्री सुमत प्रसाद जैन

बाल्यावस्था

आत्मानुसंधान में संलग्न ज्योतिपुरुष, धर्मध्वजा आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज का जन्म दक्षिण भारत के बेलगांव, जिला कोथलपुर (कोथली) नामक ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम श्री सत्यगौडा पाटिल तथा माता का नाम अक्कादेवी था। आपके पूज्य पिता अपने क्षेत्र के एक सुप्रतिष्ठित व्यक्ति थे तथा सत्यवादिता एवं धर्मपरायणता के लिए उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। अपने एकमात्र पुत्र को उन्होंने बालगौड़ा नाम दिया। प्यार से वे उसे बालप्पा कहकर भी सम्बोधित करते थे। बालक बालगौड़ा के भाग्य में मातृवात्सल्य का संयोग नहीं था। केवल तीन मास के उपरान्त ही माता श्री अक्कादेवी ने अपना नश्वर शरीर छोड़ दिया। मातृस्नेह से वंचित इस बालक के लालन-पालन का भार पिता के ऊपर आ पड़ा।

बालक की नानी को जब माता श्री अक्कादेवी की मृत्यु का दुःखद समाचार मिला, तब वह ममता से परिपूर्ण होकर श्री सत्यगौड़ा के पास आयी और अपनी हार्दिक संवेदना प्रकट करने के उपरान्त बालक को आवश्यक मातृस्नेह देने के लिए उसे अपने घर ले गयी। उनकी नानी ने उन्हें इतना स्नेह दिया कि बालक को कभी भी माता के अभाव की अनुभूति नहीं हुई। बालक बालगौड़ा की आयु ५-६ वर्ष की होने पर इनके पिता इन्हें पुनः अपने घर ले आये। पिता द्वारा बालगौड़ा को विद्याध्ययन के लिए गुरुजी की शरण में भेजा गया। विद्या का आरम्भ करने से पूर्व श्री सरस्वती (जिनवाणी) की विशेष पूजा की गई। स्लेट पट्टी पर चावल बढ़ा कर सोने की अंगूठी से 'ॐ नमः सिद्धम्' लिखवाया गया। गुरुजी को एक नारियल और दक्षिणा भेंट की गई। इस प्रकार बालक के विकास की मंगल कामना के साथ बालगौड़ा के विद्यार्थी जीवन का शुभारम्भ हुआ।

विद्याध्ययन के क्षेत्र में बालगौड़ा एक मेधावी छात्र के रूप में प्रतिष्ठित हुए और उन्होंने अपनी विशेष साधना, श्रम, प्रतिभा एवं एकाग्रता के बल पर सभी विद्याओं पर विशेषाधिकार कर लिया। भूगोल, चित्रकला एवं इतिहास में उनकी विशेष रुचि थी। मराठी और कन्नड़ के साहित्य की ओर उनका विशेष झुकाव था। अध्ययन के साथ-साथ बालगौड़ा खेल-कूद में भी विशेष रुचि लिया करते थे। कोथलपुर ग्राम में अंग्रेजी के अध्ययन की व्यवस्था नहीं थी। अतः तहसील चिकौड़ी में जाकर उन्हें अंग्रेजी का अक्षराभ्यास करना पड़ा।

बालक बालगौड़ा १२ वर्ष की अवस्था में अपने पिता की एकमात्र वात्सल्य छाया से भी वंचित हो गए। पिता के संरक्षण से वंचित बालक बालगौड़ा आगे और अधिक विद्यालयीय अध्ययन नहीं कर सके किन्तु उनके मन में विद्या के प्रति गहरा अनुराग अब भी विद्यमान था और उन्होंने अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त भी कन्नड और मराठी भाषाओं का स्वाध्याय नियमित रखा। बालगौड़ा के पिता श्री सत्यगौड़ा को अपनी मृत्यु का पूर्वाभास हो गया था। अतः उन्हें अपने एकमात्र पुत्र के भावी संरक्षण की चिन्ता सताने लगी थी। अपनी मृत्यु से पूर्व ही उन्होंने अपने भाई जिनगौड़ा पाटिल पर बालक बालगौडा के अभिभावकीय संरक्षण का भार सौंप दिया तथा अपनी सम्पत्ति भी उन्हीं को सौंप दी। अपने अग्रज भ्राता के अनुरोध को शिरोधार्य करते हुए श्री जिनगौडा ने भी बालक को अपना स्नेहपूर्ण संरक्षण प्रदान किया।

चंचल तारुण्य

बालक बालगौड़ा को प्रारम्भ से ही अपने शारीरिक स्वास्थ्य के प्रति अधिक मोह था। उन्होंने अपने गांव के समवयस्क साथियों को एकत्र करके बच्चों की एक प्रभावशाली टोली बना ली। अपनी शारीरिक सुडौलता एवं ओजस्वी व्यक्तित्व के कारण वह उसके प्रमुख बन गये। माता एवं पिता के वांछित स्नेह से वंचित बालक में शरारत एवं उत्पात की प्रवृत्तियां सहजतः आ गई थीं। वे

अपने साथियों के साथ खेत मे, बाग-बगीचों में जाकर पेड़ों पर से आम एवं नारियल तोड़कर खाया करते थे। उन्होंने एक नाटक-मण्डली का भी गठन कर लिया था। गांव मे वे किसी से भी नहीं डरते थे। उनकी इस स्वच्छन्दतापूर्ण प्रकृति से तंग आकर उनकी बुआ बालगौड़ा को अपने गाव ले गयी और अपनी देख-रेख मे उनका लालन-पोषण करने लगी। किन्तु बालगौड़ा का मन तो नाटक इत्यादि में लग गया था और वे उसमे रुचिपूर्वक भाग लेने लगे थे। एक बार बालक बालगौड़ा मुनि के भेष मे नाटक करते हुए भिक्षाटन कर रहे थे, तभी घूमते हुए उनकी बुआ के ससुर वहां पहुंच गये और बालगौड़ा को भीख मांगते हुए देखकर उन्होंने नाटक के निदेशक को फटकार लगाई। बालगौड़ा भी अपने घर वापिस आ गये। कालान्तर मे इन्होने एक नाटक मण्डली का गठन किया और भजन मण्डली भी बनाई, जो आध्यात्मिक गीतों को द्वार-द्वार पर जा कर गाया करती थी। बालगौड़ा का स्वर अत्यन्त सुरीला था। गौराङ्ग मस्तक पर त्रिपुण्ड लगाकर गले मे रुद्राक्ष की माला डाल कर जब वे राग अलापते थे, तब उनकी पावन छवि प्राय: देखने योग्य ही होती थी।

बालगौड़ा सरल हृदय के युवक थे। इनके मन मे दूसरों के प्रति करुणा का भाव बचपन से ही भरा हुआ था। इनके इस भोलेपन का लोग प्राय: अनुचित लाभ भी उठा लिया करते थे। वे बालगौड़ा से अपने दु:ख की कथा कह कर कर्ज ले लिया करते थे और उसे कभी वापस नही किया करते थे। बालगौड़ा ने भी अपने जीवन मे कभी भी किसी कर्जदार को अपमानित नहीं किया और न ही उस पर किसी प्रकार का दबाव डाला। वे अपने मित्रों की सुख-सुविधा का पूरा-पूरा ध्यान रखा करते थे। इनका स्वभाव मनमौजी था। इसीलिए ये अपनी जमीन को साधारण मूल्य मे दूसरो को जोतने के लिए दे दिया करते थे। एक बार इनके काका श्री जिनगौड़ा ने इन्हें २५ रुपये बैल खरीदने के लिए दिए। इन्होंने अपने दोस्तों के साथ वह सारा रुपया खाने-पीने मे खर्च कर दिया। वापस आकर इन्होंने अपने काका को सहज मन से सारी घटना क्रम से बता दी। काका ने इनके भोलेपन को जानते हुए इन्हें भविष्य मे सावधानी से रहने का आदेश दिया। इसी प्रकार एक बार इन्हे बाजार से मक्खन लाने के लिए ५ रुपये दिए गए। बाजार मे चौपड़ का खेल चल रहा था और बालगौड़ा का चंचल मन उस खेल के प्रति आकर्षित हो उठा। उन्होंने वह ५ रुपये चौपड़ के खेल मे हार दिए और पुन. प्रयत्न करने के उपरान्त ४ रुपये जीत लिए और उससे मक्खन खरीद कर जब घर पहुंचे तो इनके काका ने पूछा कि इतना थोड़ा मक्खन कैसे लाये हो? उन्होंने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए क्षमा याचना की और भविष्य में जुआ नही खेलने की प्रतिज्ञा भी ली।

महाराज श्री का शरीर बचपन से ही हृष्टपुष्ट एव स्वस्थ था। वे एक लोटा घी, आधा सेर गुड़, तीन सेर दूध तथा ४ कच्चे नारियल एक साथ ग्रहण कर लिया करते थे। बोझा उठाने मे भी वे प्रवीण थे। ढाई मन का बोरा एक हाथ से उठा कर पीठ पर रख लिया करते थे। ३ गुण्डी पानी (७ घड़े) पीठ पर रख कर वह चला करते थे। शारीरिक शक्ति के साथ-साथ उनके अन्दर असाधारण शौर्य एवं निर्भीकता का भाव भी था। वे कभी भी, किन्ही परिस्थितियो में किसी से भी नही डरा करते थे। एक बार उनके साथियों ने गांव मे प्रचलित किंवदन्ती के आधार पर उनसे कहा कि गाव के बाहर जो श्मशान भूमि है, उसमे जो नारियल का पेड़ है, उस पर भूत-पिशाच इत्यादि रात्रि के समय मे बसा करते हैं। अगर वहां से कोई भी बालक ५ नारियल तोड़ कर ले आएगा तो उसे पांच रुपये पुरस्कार के रूप मे दिए जाएंगे। निर्भीक बालगौड़ा ने, जिन्हें आचार्यरत्न देशभूषणजी महाराज के रूप मे परिवर्तित होना था, इस चुनौती को अपने बचपन मे ही स्वीकार कर भ्रान्त धारणाओ का निराकरण कर दिया। रात्रि के गहरे अन्धकार मे वे बिना किसी साथी को लिए श्मशान भूमि मे निर्भीक मन से पहुंच गये। वहां की स्तब्धता एव नीरवता किसी भी व्यक्ति के दिल को दहला सकती थी, किन्तु बालगौड़ा का निर्भीक और साहसी मन पराजय को स्वीकार नही कर सकता था। अत. श्मशान भूमि की परिक्रमा के उपरान्त वह पेड़ पर चढ गये और पेड़ पर रहने वाले चूहों मे जब भगदड़ मच गयी और गिद्ध अपनी भयानक आवाज मे चिल्ला उठे, तब भी बालगौड़ा का मन भयभीत नही हुआ। उन्होने पांच नारियल तोड़े और उन्हें अपने साथ लाकर अपने साथियों को भेट कर दिया। वास्तव मे जिन लोगो को अपने जीवन में महान् कार्य करने होते हैं, वे किसी भी परिस्थिति मे अपने धैर्य से विचलित नही होते।

बालगौड़ा अपने चरित्र के विकास मे सदैव सावधान रहा करते थे। उनका मन त्याग और करुणा की भावना से परिपूर्ण था। शक्ति-सम्पन्न एव धनाढ्य होने के उपरान्त भी वे किसी के साथ अन्याय नही करते थे। परोपकार की भावना उनके मन में सदैव विद्यमान रहती थी। एक बार उनके गांव के निकट मायाचिवली गाव मे माया देवी का विशाल मेला लगा हुआ था। वे भी अपने साथियो के साथ मेले मे गए और जब लौटकर आ रहे थे तो उन्होने एक स्त्री को रोते हुए देखा, जिसके चारों तरफ लोग बड़ी संख्या में एकत्र हो गए थे। उस स्त्री की सोने की नथ कुंए मे गिर पड़ी थी और वह रो-रो कर एकत्रित जनों से उस नथ को कुंए से निकालने का आग्रह कर रही थी। बालगौड़ा को जब उसकी व्यथा का पता चला, तब उन्होने अपने कपड़े उतार कर कुंए में छलांग लगा दी और उस स्त्री की नथ को कुंए की तलहटी से निकाल लिया। तदनन्तर उपस्थित पुरुषों एवं उनके साथियों ने रस्सा डाल कर बालगौड़ा को कुंए से बाहर निकाला। कुएं से निकलने के उपरान्त उन्होंने उस स्त्री के हाथ पर उसकी नथ को रख दिया और चुपचाप कपड़े पहन

कर अपने ग्राम की तरफ प्रस्थान किया। वास्तव में आत्मसिद्ध महापुरुष कभी भी किसी कृतज्ञता ज्ञापन एवं सराहना की अपेक्षा नहीं रखते। आचार्य श्री के चरित्र की यह जन्मजात विशेषता है कि वे आत्मप्रशंसा के प्रति सदैव उदासीन रहते आये हैं।

परम कारुणिक हृदय के बालगौड़ा उदार एवं सज्जन मनुष्य के रूप में अपने गांव में विख्यात रहे हैं। उनके जीवन का लक्ष्य परोपकार रहा है। अनेकानेक महानुभावों ने उनकी इस उदार मनोवृत्ति का उचित और अनुचित लाभ भी उठाया है। अन्य लोगों की स्वार्थ वृत्ति को जानते हुए भी वे करुणा-धर्म से कभी भी विचलित नहीं हुए। बचपन का ही एक दृष्टान्त है कि उनके कुटुम्ब मे उनके एक काकाजी का विवाह धन के अभाव में नहीं हो पा रहा था। उन काकाजी के दो विवाह हो चुके थे, किन्तु दोनों पत्नियों की मृत्यु हो गयी थी। काकाजी का मन तब भी विवाह की लालसा से नही भरा था। किन्तु धन की कमी के कारण उनका विवाह नही हो पा रहा था। उन्हीं दिनों मे बालगौड़ा के विवाह का प्रसंग चल रहा था। उन्होने अपने विवाह प्रस्ताव को ठुकरा कर अपना मकान बेचकर प्राप्त धनराशि काकाजी को सादर भेंट कर दी ताकि वे अपना विवाह कर सकें।

ज्ञान और वैराग्य

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के पूर्वजों का वंश राजवंश था। ये क्षत्रिय वंश की चतुर्थ जैन जाति मे उत्पन्न हुए थे। चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर जी महाराज के परिवार के साथ इनका पारिवारिक सम्बन्ध रहा है। बालगौड़ा जब ६ वर्ष के बालक थे तब परमपूज्य शांतिसागर जी महाराज ने अपनी क्षुल्लकावस्था मे बालगौड़ा के घर मे आहार इत्यादि ग्रहण किया। उस समय इस होनहार बालक के विकास की मंगलकामना भी महाराज श्री ने की थी। बालगौड़ा अपने प्रारम्भिक जीवन से ही परमहंस संन्यासी शुकदेव मुनि के अभिनय को अपने जीवन में गहराई से उतार चुके थे। उनकी भूमिका को वह प्रायः नाटको मे आत्मसात् होकर मंच पर प्रस्तुत किया करते थे। साथ ही साथ मंच पर वे नारद मुनि एवं लिंगायत साधुओं का भी अभिनय किया करते थे। इस प्रकार के अभिनय करते हुए उनका मन वैराग्य की ओर अग्रसर होने लगा। दुर्भाग्यवश विवाह के आठ दिन बाद ही इनकी एक चाची की कुएँ मे गिरकर मृत्यु हो गई थी। वह चाची अत्यन्त रूपवती एवं लावण्य से परिपूर्ण थी। परन्तु मृत्यु के उपरान्त उस शरीर के अन्दर मास-मज्जा, हड्डी इत्यादि अन्य घृणित पदार्थों को देख कर बालगौड़ा के वैरागी मन को गहरा आघात पहुँचा। उसी दिन से उन्होंने जीवनपर्यन्त साधनामय जीवन व्यतीत करने का संकल्प ले लिया। आचार्य श्री को उस समय यह अनुभूति हो चुकी थी कि जिस शरीर की सुन्दरता के संरक्षण के लिए हम जीवनभर प्रयत्न करते हैं; वह वास्तव मे नश्वर, घृणित एवं अवांछित पदार्थों का एक संग्रह पात्र है। अतः आचार्य श्री का वैरागी मन साधना के पथ पर निरन्तर बढ़ने लगा।

संयोग की बात है कि उसी समय परम पूज्य आचार्य श्री पायसागर जी महाराज का भी कोथलपुर में मंगल-प्रवेश हुआ। बालगौड़ा उनके दर्शन की उत्कट इच्छा रखते थे परन्तु अपने साथियो की शरारत आदि के कारण महाराज के निकट जाने मे सफल न हो सके। उनका वैरागी मन आचार्य पायसागर जी एवं उनके प्रवचनों पर मन्त्रमुग्ध हो चुका था।

उसी समय गांव मे कुछ भिश्ती मुसलमान नाटक का आयोजन कर रहे थे। उनमे से एक ने दिगम्बर मुनि का अभिनय करते हुए हाथ मे मटका ले लिया और उसके साथी ने झाड़ू ले ली। बालगौड़ा को जब इस घटना का पता लगा, तब उनका श्रद्धालु मन रोष से भर गया और उन्होने दिगम्बर मुनि के अभिनय को भ्रष्ट रूप से प्रस्तुत करने वाले व्यक्तियों की प्रताड़ना की और गाव के पटेल की हैसियत से उन्हे गाव से निर्वासित करने का आदेश भी दे दिया। इस घटना से दिगम्बर मुनियो के प्रति उनका अपनत्व एवं श्रद्धालु भाव निरन्तर जागृत होता गया और एक दिन वे सभी संकोच तोड़कर अपनी काकी के साथ निकटवर्ती गलतगा गांव मे पूज्य आचार्य पायसागर जी महाराज के दर्शन करने के लिए पहुँच ही गये। उनके चरण-कमल की वन्दना करके इनकी अतृप्त आत्मा को एक दिशा मिली और उन्होने महाराज श्री के आदेश से सप्त-व्यसन का त्याग करके अष्ट मूल गुणो को प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण कर अपने जीवन को मुक्ति-मार्ग की तरफ बढ़ाने का संकल्प लिया। उस दिन उन्हे अपने जीवन मे पहली बार अद्भुत आह्लाद एवं आत्मसतोष की अनुभूति हुई और उन्होने अनुभव किया कि पूज्य आचार्य महाराज ने नियम इत्यादि प्रदान कर उनके जीवन को गौरवान्वित कर दिया है। इस घटना से बालगौड़ा के जीवन मे एक अद्भुत परिवर्तन आ गया। उनका उद्धत एवं शरारती मन अब एक संस्कृतिनिष्ठ श्रद्धालु श्रावक के रूप मे परिवर्तित हो गया। बालगौड़ा मे इस आकस्मिक परिवर्तन को देख कर सारा गांव विस्मित था। वास्तव मे जिन महानुभावों को अपने जीवन मे कुछ असाधारण कार्य करने होते हैं, उनके जीवन में इस प्रकार की घटनाएँ प्रायः घटित हुआ करती हैं और उन्हीं घटनाओं से उनके चरित्र का विकास होता है।

कुछ समय उपरान्त आचार्य पायसागर जी महाराज के प्रिय शिष्य महामुनि श्री जयकीर्ति जी का कोथलपुर के निकटवर्ती स्तवननिधि मे मंगल-प्रवेश हुआ। बालगौड़ा आत्म-कल्याण की कामना से उनके दर्शनार्थ आने लगे। मुनि श्री जयकीर्ति महाराज से उनका सम्बन्ध निरन्तर प्रगाढ़ होता गया और बालगौड़ा ने अपने बाल्यकाल में ही महाराज श्री से दिगम्बरी दीक्षा के लिए अनुरोध किया। पूज्य महाराज श्री ने आदेश दिया कि अभी मुनि-धर्म ग्रहण करने की अपेक्षा उन्हे स्वाध्याय इत्यादि करना चाहिए। मुनि श्री ने उन्हें अपने शिष्य के रूप मे अंगीकार कर लिया और बालगौड़ा को धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन कराना आरम्भ कर दिया। बालगौड़ा ने भी एक विनीत शिष्य के रूप में अपने को पूज्य मुनि श्री जयकीर्ति जी के चरणों में निष्ठा के साथ समर्पित कर दिया। यहीं से इनके आध्यात्मिक विकास की कथा का शुभारम्भ होता है।

गुरु परम्परा

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के अन्तर्मन मे अपने धर्मगुरु आचार्य श्री जयकीर्ति जी महाराज और उनकी पूर्ववर्ती आचार्य परम्परा के प्रति असीम भक्ति भाव है। अपनी गौरवशाली गुरु-परम्परा का परिचय देते हुए उन्होंने 'अपराजितेश्वर शतक' की प्रशस्ति में लिखा है :

"चक्रवर्ति चारित्र के शांति सागराचार्य।
इनके सम हुआ नहीं नमते इनको आर्य ॥
शिष्य आपके सुगुणिवर पायसागराचार्य।
जिनकी वाणी मधुर सुन शिव मग है अनिवार्य ॥
अति पावन आचार्यवर श्री जयकीर्ति महान्।
पायसागराचार्य के थे सच्छिष्य प्रधान ॥
उन्हीं का मैं शिष्य हू देशभूषणाचार्य।
मुझ पर कर उपकार वे सिद्ध कर गए कार्य ॥"

जैनधर्म मे आचार्य परम्परा अथवा गुरु परम्परा की महिमा का गुणगान करते हुए उन्होने अन्यत्र कहा है—"भगवान् महावीर के मुक्त हो जाने पर आत्मकल्याण का पथ-प्रदर्शन गुरु ही तो करते रहे हैं। हमारे गुरुओं ने ही तो भगवान् महावीर की वीर चर्या का स्वय निर्मल आचरण किया और उसका महान् प्रचार किया।"

परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर जी के प्रति उनके मन में विशेष पूज्य भाव है। अपने मन के उद्‌गारों को प्रकट करते हुए उन्होने १३ दिसम्बर, १९५५ को जैन बालाश्रम, दरियागज दिल्ली मे कहा था—"परमपूज्य आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज ने आधुनिक युग मे भगवान् महावीर के धर्म को प्रचारित तथा प्रसारित करने मे, जैन सस्कृति की सुरक्षा मे, अभिनन्दनीय कार्य किया है।" उनकी दृष्टि मे दिगम्बर जैन समाज मे सयम के नवप्रभात के वे ही सर्वप्रमुख सूत्रधार थे। एक जनसभा को सम्बोधित करते हुए उन्होने २ जुलाई सन् १९५५ को हीरालाल जैन हायर सैकेन्डरी स्कूल सदर बाजार दिल्ली मे कहा था—"वैसे तो निर्ग्रन्थ गुरु-चर्या प्रत्येक युग मे बहुत कठिन रही है किन्तु इस कलियुग मे यह और भी कठिन हो गई है।······इस कलिकाल मे मनुष्यों के चित्त चचल हो गए हैं, धर्म मे स्थिर नही रहते, तथा शरीर अन्न का कीड़ा बन गया है, उपवास, एकाशन भोजन करने योग्य नहीं रहा। इस कारण यह बडा आश्चर्य है कि आजकल भी जिनेन्द्ररूप धारक निर्ग्रन्थ साधु पाये जाते हैं।"

परमपूज्य आचार्य शान्तिसागर जी महाराज द्वारा दीक्षित मुनि श्री पायसागर जी एवं श्री पायसागर जी द्वारा दीक्षित मुनि श्री जयकीर्ति जी महाराज का आचार्यरत्न पर विशेष ऋण है। इन दोनो धर्मगुरुओं के उपकार को स्मरण कर वह कह उठते हैं कि "हमको श्री गुरु ने ही सन्मार्ग दिखाया, इसी कारण हमारे उद्धारक गुरु ही हैं।" परमपूज्य श्री पायसागर जी एव परमपूज्य श्री जयकीर्ति जी ब्रह्मविद्या के धनी थे। उन्होंने आचार्यरत्न देशभूषण जी को नर से नारायण बनने के साधना-मार्ग पर उन्मुख किया। धर्मगुरु शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य जी कहते हैं—"मनुष्य को जो आत्मा से परमात्मा बनाने की प्रक्रिया सिखलाता है वह धर्मगुरु है। संसार सागर को पार करने का ज्ञान धर्मगुरु से प्राप्त होता है, अत: धर्मगुरु ससार मे सबसे अधिक पूज्य और वन्दनीय होता है।" जैनधर्म की दार्शनिक मान्यताओ के कारण वर्तमान युग मे इस धरती पर तीर्थंकर का होना सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में धर्मगुरु को

ही अपना एकमात्र आदर्श मानकर आचार्य श्री कहते हैं, "गुरु ही भगवान् की भक्ति का भेद बतलाता है, भगवान् तो हमारे सामने नहीं हैं। अत: हमको उनसे साक्षात् लाभ मिलना कठिन है। किन्तु भगवान् के पदचिह्नों पर चलने वाले निर्ग्रन्थ गुरु हमारे सामने हैं। उनका हित उपदेश विनय तथा ध्यान से सुनकर आत्महित करना चाहिए।"

अपने धर्मगुरु श्री जयकीर्ति जी महाराज के अकस्मात् समाधिमरण के कारण आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी परमपूज्य आचार्य श्री शान्तिसागर जी, अपने दादा धर्मगुरु श्री पायसागर जी एव दादा गुरु के साथ दीक्षित अन्य मुनियों को अपना आदर्श पुरुष मानते चले आए हैं।

आचार्य श्री शान्तिसागर जी ने दिगम्बर जैन धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के लिए जब आजन्म अन्नाहार का त्याग कर दिया था, उस समय श्री देशभूषण जी ने जनजागरण एवं आचार्य महाराज के महान् संकल्प के प्रति रचनात्मक श्रद्धांजलि देने की भावना से स्वयं भी एक सुदीर्घ अवधि तक अन्नाहार का त्याग कर दिया था। अनासक्त कर्मयोगी श्री शान्तिसागर जी महाराज ने जब सिद्धक्षेत्र कुन्थलगिरि में यम सल्लेखना (समाधि) का महान् संकल्प किया था उस समय श्री देशभूषण जी की इच्छा उनके चरणों में जाकर वैयावृत्य (सेवा) करने की थी, किन्तु मुनियोचित चातुर्मास की मर्यादा का पालन करने के कारण आप उस अवसर से वंचित रह गए।

किसी भी महान् कार्य को हाथ में लेने से पूर्व आप सदैव अपनी गुरु-परम्परा का भक्तिपूर्वक स्मरण करते हैं। साधना के क्षणों मे पंच परमेष्ठी, जिनवाणी इत्यादि का भाव-पूजन करने के उपरान्त वे अपने द्वारा निष्पादित कार्य की सफलता के लिये उनके मंगल आशीर्वाद के आकांक्षी रहते हैं। 'भरतेश वैभव', 'धर्मामृत' एवं 'रत्नाकर शतक' के मंगलाचरण इस दृष्टि से उल्लेख्य हैं—

(अ) "सूरि महागुण शान्ति बखान। पाय सिन्धु मुनिबंध जान।
जय कीरत की है कीरत महान्। हरो गुरु मम कर्मज्ञान।" (भरतेश वैभव)

(आ) "महावीरवक्त्रारविन्दच्यवनेश्च, यमोः पादपद्मात् सुसद्वृत्तिलाभः।
ममाभूत्तयोः शान्तिसिन्धुं नमामि, नमामि प्रभुं पायसिन्धुं किलाद्य ॥१॥
शान्तान्तरात्मसमुदञ्चितसाधुवृत्तिः, शश्वत्तपःपरमसंयमसत्प्रवृत्तिः।
शब्दप्रयोगसमलंकृतवाग्विभूतिः, शं सन्तनोतु जगतो जयपूर्वकीर्तिः ॥२॥
निःशेषशास्त्रपरिशीलनलब्धबोधम्, राजाधिराज-परिपूजित पादपद्मम्।
आचार्यवर्यजयकीर्तिगुरुं प्रणम्य, धर्मामृतस्य सरला वितनोमि भाषाम् ॥३॥
आचार्यवर्यमथ रत्नयसेनमर्च्यम्, विज्ञातपोविगतकल्मषसूर्यभासम्।
लोकान् सदा सदुपदेशकृतार्थयन्तम्, ज्ञानस्वरूपममलं मुनिमानतोऽस्मि ॥४॥" (धर्मामृत)

(इ) "रागद्वेषविजेतारं भवसागरपारगम्, वर्द्धमानं जिनाधीशमात्मशुद्ध्यै नमाम्यहम् ॥१॥
शान्तिक्षान्तिसमालीढं, चारित्रे चक्रवर्तिनम्, शान्तिसागरमाचार्यं भक्त्या नौमि मुदा सदा ॥२॥
चेतोहरप्रवक्तारं साधुचर्या सुभूषितम्। पायसागरसूरीशं प्रणमामि मुदा सदा ॥३॥
जयकीर्ति गुरुं नत्वा भव्यसत्वैकबान्धवम्। रत्नाकरस्य शतकस्य हिन्दीटीकां करोम्यहम् ॥४॥
पूर्वाचार्यकृपा चात्र फलतीवावलोक्यते। विशेषज्ञं न मां ज्ञात्वा क्षम्यन्तां विबुधाः सदा ॥५॥" (रत्नाकर शतक)

आचार्य जी द्वारा प्रणीत साहित्य में अनेक स्थलो पर महामुनि श्री पायसागर जी से पूर्व के दीक्षित मुनि परमपूज्य आचार्य श्री वीरसागर जी एवं श्री पायसागर जी के साथ सोनागिरि क्षेत्र पर दीक्षित मुनियो—श्री चन्द्रसागर, श्री कुंथुसागर एव श्री नमिसागर के चरणों में श्रद्धा का अर्घ्य अर्पित किया गया है। 'अपराजितेश्वर शतक' की प्रशस्ति में आपने लिखा है—

"मम गुरु के भ्रात जो सकल गुणों की खान।
वीर सिंधु मुनिराज हैं उग्र तपस्वी जान॥

अमर सिंधु तो नाहिं रहे करे स्वर्ग में वास ।
जिनके दृढ़ उपदेश से नष्ट होय भव त्रास ।।

कुंथुसागराचार्य श्री थे रत पर उपकार ।
मिष्ठ सुधा सम वचन थे छोड़ गए संसार ।।

सबको बंधु भाव से, नत मस्तक मतिमान ।
जिनवाणी दुःखहारिणी ही से हो कल्याण ।।"

परमपूज्य आचार्य नमिसागर जी महाराज की कठोर तपश्चर्या, व्रतविधान एवं शरीर के प्रति उनका अनासक्त भाव आचार्यरत्न के लिए प्रेरणा का विषय रहे हैं। दशलक्षण धर्म मे उत्तम तप का विवेचन करते हुए महामुनि नमिसागर जी महाराज का चित्र उनकी आंखों में तैर जाता है और वे उनके जीवन के अनेक प्रसगो को उदाहरण रूप मे प्रस्तुत करते हैं। यथा—

"एक बार आचार्य नमिसागर जी महाराज रोहतक गये। उनके पास एक हठयोगी आया। वह हठयोग-प्राणायाम आदि का अच्छा अभ्यासी था। उसने महाराज से चर्चा करते हुए कहा—मन को रोकने के लिए केवल प्राणायाम ही सर्वोत्तम साधन है। जो प्राणायाम नही कर सकता, वह साधु नही है। उसने प्राणायाम करके भी बतलाया। फिर बोला—आप क्या जानते हैं? नमिसागर जी महाराज उससे बोले—ठीक है। कौन ज्यादा जानता है? चलो, धूप मे बैठें। दो घण्टे में हठयोगी घबड़ाकर भाग गया!"

अपने दादा धर्मगुरु आचार्य श्री पायसागर जी के चरणो मे तो उनका अप्रतिम श्रद्धाभाव है। अपने धर्मगुरु की अनुपस्थिति मे वे उन्हे ही गुरु मानकर चलते हैं। प्रत्येक मंगल अवसर पर वे उनके आशीर्वाद एव आदेश की आकांक्षा करते हैं। धर्मसभाओं मे भी वे उनके दिव्य गुणो का श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया करते हैं। यथा—

"दक्षिण मे एक धर्मात्मा श्रावक था। वह एक दिन पूजा करने का द्रव्य लेकर जा रहा था। रास्ते मे एक बगीचा पड़ता था। जब उसके सामने से वह निकला तो एक साप ने निकल कर घुटने पर उसे काट खाया। उसने समझ लिया कि अब मृत्यु निश्चित है। वहां से पांच मील पर आचार्य पायसागर जी महाराज ठहरे हुए थे। वह दौड़ा-दौड़ा महाराज के पास पहुचा और बोला—महाराज मुझे मरना है। जल्दी सस्कार करो। उसने तत्काल क्षुल्लक दीक्षा ले ली। महाराज बीजाक्षर मन्त्र पढ़ते रहे। धीरे-धीरे उसका जहर उतरगया और ठीक हो गया। उनका नाम सुबल महाराज था।"

इस सबध मे विशेष रूप से यह स्मरणीय है कि श्री देशभूषण जी ने 'आचार्य पद' के गुरुतर दायित्व को ग्रहण करने से पूर्व सूरत की जैन समाज से स्पष्ट रूप मे कह दिया था कि मैं अपने दादा धर्मगुरु श्री पायसागर जी की अनुमति एवं आशीर्वाद के बिना कभी भी इस दायित्व को ग्रहण नही करूँगा। उनके दृढ सकल्प के सम्मुख नतमस्तक होकर सूरत का जैन समाज आचार्य श्री पायसागर जी महाराज के चरणो मे आवश्यक निवेदन के लिए गया था। परमपूज्य पायसागर जी महाराज तो शायद इस अवसर की तलाश मे ही थे। उन्हे श्री देशभूषण जी जैसे शिष्य पर अभिमान था। वे उनके अन्दर की छिपी हुई रचनात्मक एव आत्मिक शक्ति से भलीभांति परिचित थे। अतः उन्होने प्रफुल्लित मन से धर्म की बेल को हरा-भरा करने के लिए श्री देशभूषण जी को आचार्य पद पर अभिषिक्त करने की आज्ञा दे दी।

ऐसी गौरवशाली है आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी की गुरु-परम्परा और धन्य है गुरु-परम्परा का निर्दोष पालन एवं आचरण करने वाले आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज।

साधना के पथ पर

श्री पायसागर जी एव आचार्य श्री जयकीर्ति जी के निकट सम्पर्क मे आकर बालगौड़ा का अकस्मात् कायाकल्प हो गया। मुनि श्री जयकीर्ति जी महाराज ने इन्हे निकटभव्य जीव जानकर सदाचार एव सयम का मगल पाठ पढ़ाया। उनकी पावन प्रेरणा से बालगौड़ा ने इन्द्रियो पर नियन्त्रण करके जैनधर्म शास्त्रो मे वर्णित अभक्ष्य भोजन को सदा-सदा के लिए छोड़ दिया। आचार्य श्री जयकीर्ति जी ने इनके सर्वांङ्गीण विकास की भावना से इन्हे स्वाध्याय के लिए प्रेरित किया। बालगौड़ा ने पूज्य गुरु की प्रेरणा से जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, द्रव्यसग्रह, धनजय नाममाला, सर्वार्थसिद्धि इत्यादि ग्रन्थो का पारायण किया और साथ ही सस्कृत भाषा का विशेष अध्ययन किया। एक आदर्श धर्मगुरु के रूप मे उन्होने बालगौड़ा को संस्कारित करने के लिए कठोर अनुशासक के दायित्व का भी निर्वाह किया।

सिद्धक्षेत्र श्री सम्मेदशिखर जी पर स्थित भगवान् पार्श्वनाथ जी की टोंक,
जहां आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी का वैराग्य भाव जागृत हुआ।

आचार्य श्री जयकीर्ति जी महाराज एक अनुपम साधक थे। कठोर तपस्या एवं ज्ञानाराधना उनके जीवन के अभिन्न अंग थे। उनके संघ के त्यागी भी व्रत-उपवास एवं कठिन साधना में विश्वास रखते थे। इसी कारण पूज्य श्री जयकीर्ति जी के संघ के प्रभाव क्षेत्र में आने वाले धर्मप्राण श्रावकों के मन में संयम एवं त्याग के भाव स्वयमेव जागृत हो जाते थे। संघस्थ त्यागीवृन्द से बालगौड़ा को यह ज्ञात हुआ कि परमपूज्य आचार्य श्री जयकीर्ति जी महाराज संघ सहित परमपावन सिद्धक्षेत्र श्री सम्मेदशिखर जी की वन्दना के निमित्त शीघ्र ही प्रस्थान करने वाले हैं। उन्होंने पूज्य गुरुदेव से निवेदन किया कि वह भी संघ के साथ महान् पर्वतराज की वन्दना के लिए जाना चाहते हैं। आचार्य श्री की स्वीकृति पाकर बालगौड़ा धन्य हो गए। वे बड़े उत्साह और श्रद्धा के साथ संघ के साथ चलने की तैयारी के लिए अपने घर आए। परिवार वालों ने अब यह अनुभव किया कि बालगौड़ा का शीघ्र ही विवाह कर देना चाहिए अन्यथा यह बालक विरक्त साधु बन जाएगा। फलस्वरूप निकट परिचित एवं परिवार जनों ने इनसे विवाह करने का अनुरोध किया। किन्तु बालगौड़ा ने स्पष्ट कह दिया कि वे श्री सम्मेदशिखर जी से वापिस आने पर ही इस प्रस्ताव पर विचार करेंगे। संघ की सुविधा को दृष्टिगत करते हुए उन्होने दो वाहन एवं मार्ग मे काम आने वाली अन्य आवश्यक सामग्री की व्यवस्था कर ली। उनके निकटवर्ती ग्राम के समवयस्क श्री कुलभूषण जी भी इस यात्रा में उनके सहयोगी बन गए।

आचार्य श्री जयकीर्ति जी के संघ मे पांच मुनि एवं दस त्यागी थे। श्रावक के रूप में श्री देशभूषण जी एवं कुलभूषण जी पर संघ की प्रबन्ध-व्यवस्था का भार था। आचार्य श्री ने शुभ मुहूर्त में संघ सहित श्री सम्मेदशिखर जी की ओर प्रस्थान कर दिया। मार्ग मे इन दोनों श्रावकों ने अहर्निश तन, मन, धन से संघ की सेवा की। मार्ग में श्री देशभूषण जी ने आचार्य श्री जयकीर्ति जी की धर्म-प्रभावना के अनेक अद्भुत दृश्यों का अवलोकन किया। अमरावती में कुछ धर्मद्वेषी व्यक्तियों ने संघ पर बड़ा उपसर्ग किया। आत्मस्थ श्री जयकीर्ति जी एवं संघस्थ त्यागियों ने उपसर्ग के समय मौन व्रत का संकल्प लेकर शान्तिपूर्वक उपसर्गों को सहा। दूसरे दिन संघ ने अमरावती से विहार कर दिया। विहार के पश्चात् संघस्थ साधुओं को ज्ञात हुआ कि उपसर्ग करने वाले महानुभाव नेत्रहीन हो गए हैं। ऐसे अवसरो पर श्री देशभूषण जी को धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने में विशेष सहायता मिली और उन्हें अनुभव हुआ कि सत्साधना के मार्ग मे आने वाले विघ्न स्वयं ही दूर हो जाते हैं और पापी को कर्मों का फल मिलता है।

आचार्य श्री जयकीर्ति जी महाराज एवं अन्य त्यागी एक दिन के अन्तराल से पर्वतराज की वन्दना के लिए जाते थे। कुलभूषण और बालगौड़ा दोनों मिलकर त्यागीवृन्द के लिए चौका लगाते थे और क्रम से इन दोनों में से एक आचार्य श्री के साथ वन्दना हेतु जाया करता था। एक दिन बालगौड़ा ने यात्रा से लौटते हुए पांचों मुनियों का एक साथ पड़गाहन किया और उन सबको श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक आहार दिया। इस असाधारण आहारदान के समय बालगौड़ा के सरल मन में मुनि बनने का भाव जागृत हो गया। दूसरे दिन बालगौड़ा आचार्य श्री के साथ विश्ववन्दनीय सिद्धक्षेत्र की पूजा-अर्चना एवं वन्दना के निमित्त भक्ति-भाव से गये। पर्वतराज पर बालगौड़ा ने श्री गौतम गणधर की पादुका को नमन करने के पश्चात् आचार्य श्री के साथ धर्मयात्रा की। उन्होंने ज्ञानधर कूट, मित्रधर कूट, नाटक कूट, संबल कूट, संकुलिन कूट, सुप्रभा कूट, मोहन कूट, निर्जर कूट, ललित कूट, सिद्धवर कूट, विद्युत कूट, स्वयम्भू कूट, धवल कूट, सुवीर कूट, आनन्द कूट, दत्तवर कूट, अविचल कूट, सुप्रभास कूट, प्रभास कूट, विपुल कूट, प्रतिभंजन कूट, सिद्धवर कूट, प्रकाश कूट, एवं परमभ कूट के भक्तिपूर्वक दर्शन किए और श्री सम्मेद शिखर जी से मोक्ष जाने वाले बीस तीर्थंकरों, श्री कैलाश पर्वत, श्री मन्दारगिरि, श्री गिरिनार जी एवं श्री पावापुर जी से मुक्त होने वाले शेष चार तीर्थंकरों एवं सिद्धक्षेत्र श्री सम्मेद शिखर जी से सिद्धा-वस्था प्राप्त करने वाले अनन्तानन्त मुनियो को भक्ति सहित साष्टांग प्रणाम किया।

भगवान् श्री पार्श्वनाथ के मुक्ति स्थान परमभ कूट पर वैराग्यानुभूतियों से अभिभूत होकर बालगौड़ा (श्री देशभूषण) ने आचार्य श्री जयकीर्ति जी महाराज के पावन चरण स्पर्श करके यह प्रार्थना की कि "भगवन्! मेरे भाव संसार को छोड़ने के हो रहे हैं। अब आप मुझे मुनि दीक्षा से अनुगृहीत करके अपने चरणों मे शरण दीजिये।" आचार्य श्री जयकीर्ति जी बालगौड़ा की मनस्थिति एवं वैराग्य भाव से परिचित थे। उन्होंने बालगौड़ा को स्नेह से देखा और कहा कि "अभी तुम छटवीं प्रतिमा के व्रत ले लो और धीरे-धीरे त्याग का अभ्यास बढ़ाओ।" उन्होने गुरु के चरण स्पर्श करके छटवीं प्रतिमा के व्रत—दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषधोपवास, सचित्त त्याग एवं दिवाभुक्ति के नियमों को अङ्गीकार कर लिया। जैन आचारशास्त्र में गृहस्थ के सदाचार की ये सोपानें मुनिव्रत धारण करने का लक्ष्य रखने वाले महापुरुष ही अङ्गीकार कर सकते हैं।

बालगौड़ा का मन अब संसार से विरक्त होने लगा। साधना को विकसित करने के लिए उन्होंने अपनी आवश्यकताओं पर

केशलुंच करना आरम्भ कर दिया। अपने पहनने के लिए उन्होंने केवल उत्तरीय और अधोवस्त्र रखकर अन्य वस्त्रों का आजीवन त्याग कर दिया।

आचार्य श्री जयकीर्ति जी का संघ श्री सम्मेदशिखर जी से विहार करता हुआ दुर्ग आ गया। श्री जयकीर्ति जी महाराज ने सन् १९३९ में दुर्ग (मध्यप्रदेश) में चातुर्मास स्थापित किया। बालगौड़ा ने सांसारिक दायित्वो की परम्परा से मुक्त होने के लिए अन्तिम बार घर के लिए प्रस्थान किया और पारिवारिक दायित्वों को कुशलतापूर्वक अन्तिम रूप देकर वे सदा-सदा के लिए धर्म की शरण ग्रहण करने की भावना से आचार्य श्री जयकीर्ति जी महाराज के संघ मे आ गए। आचार्य श्री ने धर्मगुरु के रूप में बालगौड़ा को संघ में स्थान दिया और उसके चतुर्दिक विकास में वे स्वयं रुचि लेने लगे। आचार्य श्री की कृपा से बालगौड़ा का आध्यात्मिक विकास होने लगा।

आचार्य श्री जयकीर्ति जी महाराज का संघ दुर्ग चातुर्मास सम्पन्न करके सुप्रसिद्ध तीर्थ रामटेक (नागपुर से २८ मील दूर) आया। बालगौड़ा ने भगवान् श्री शान्तिनाथ जी की मनोज्ञ प्रतिमा के दर्शन किए और आचार्य श्री से पुन: जैनेन्द्री दीक्षा देने का आग्रह किया। आचार्य श्री जयकीर्ति जी महाराज ने बालगौड़ा की आन्तरिक भावना एवं त्यागवृत्ति से सन्तुष्ट होकर उन्हे तीर्थक्षेत्र रामटेक पर मुनि दीक्षा देना स्वीकार कर लिया। बालब्रह्मचारी बालगौड़ा के लिए वह क्षण अविस्मरणीय था। वह भक्तिरस मे अवगाहन करने लगा। उसने रामटेक के शताब्दियो पुराने जैन मन्दिर मे भगवान् श्री शान्तिनाथ जी की १२ फुट ऊँची प्रतिमा का पंचामृताभिषेक एवं पूजन किया।

आचार्य श्री द्वारा बालगौड़ा को रामटेक पर मुनि दीक्षा देने का समाचार विद्युत् गति से चारो ओर फैल गया। उन दिनों में मुनि दीक्षा अत्यन्त विरल थी। अत: दीक्षा समारोह को देखने के लिए हजारो श्रावकश्राविकाएं वहां एकत्र हो गए। ब्रह्मचारी बालगौड़ा की अल्पायु के कारण समाज के प्रतिनिधियो ने आचार्य जी से निवेदन किया कि इतनी छोटी अवस्था मे किसी को मुनि दीक्षा देना उचित नहीं है। समाज के प्रतिनिधियो की भावना को देखते हुए आचार्य श्री जयकीर्ति जी ने ब्रह्मचारी बालगौड़ा को चतुर्विध सघ के समक्ष समारोहपूर्वक ऐलक दीक्षा दे दी और इसी अवसर पर आचार्य श्री ने बालब्रह्मचारी बालगौड़ा का आध्यात्मिक नामकरण 'देशभूषण' कर दिया।

जैनधर्म के आचारग्रन्थ लाटी संहिता के अधिकार स० ७ पद्य संख्या ५५-६२ मे ऐलक के स्वरूप का विवेचन इस प्रकार किया गया है—

"उत्कृष्ट: श्रावको द्वेधा क्षुल्लकश्चैलकस्तथा—एकादशव्रतस्थौ द्वौ स्तो द्वौ निर्जरकौ क्रमात्। तत्रैलक. स गृह्णाति वस्त्रं कौपीनमात्रकम्। लोच श्मश्रुशिरोलोम्ना पिच्छिका च कमण्डलुम्। पुस्तकाद्युपधिश्चैव सर्वसाधारण यथा। सूक्ष्म चापि न गृह्णीयादीषत्सावद्यकारणम्। कौपीनोपधिमात्रत्वाद् विना वाचयमी क्रिया। विद्यते चैलकस्यास्य दुर्धरं व्रतधारणम्। तिष्ठेच्चैत्यालये संघे वने वा मुनिसंनिधौ। निरवद्ये यथास्थाने शुद्धे शून्यमठादिषु। पूर्वोदितक्रमेणैव कृतकर्मावधावनात्। ईषन्मध्याह्नकाले वै भोजनार्थमटेत्पुरे। ईर्यासमितिसशुद्ध. पर्यटेद्गृहसख्यया। द्वाभ्या पात्रस्थानीयाभ्या हस्ताभ्या परमश्नुयात्। दद्याद्धर्मोपदेश च निर्व्याज मुक्तिसाधनम्। तपो द्वादशधा कुर्यात्प्रायश्चित्तादि वाचरेत्।" अर्थात् उत्कृष्ट श्रावक दो प्रकार का होता है—एक क्षुल्लक और दूसरा ऐलक। इन दोनो के कर्म की निर्जरा उत्तरोत्तर अधिक-अधिक होती रहती है। ऐलक केवल कोपीनमात्र वस्त्र का धारण करता है, दाढ़ी, मूछ और मस्तक के बालो का लोच करता है और पीछी कमण्डलु धारण करता है। इसके सिवाय सर्वसाधारण पुस्तक आदि धर्मोपकरणो को भी धारण करता है। परन्तु ईषत् सावद्य के भी कारणभूत पदार्थों को लेशमात्र भी अपने पास नहीं रखता है। कौपीन मात्र उपाधि के अतिरिक्त उसकी समस्त क्रियाएँ मुनियो के समान होती हैं तथा मुनियो के समान ही वह अत्यन्त कठिन-कठिन व्रतो का पालन करता है। वह या तो किसी चैत्यालय मे रहता है, या मुनियो के सघ मे रहता है अथवा किसी मुनिराज के समीप वन में रहता है अथवा किसी भी सूने मठ मे वा अन्य किसी भी निर्दोष और शुद्ध स्थान मे रहता है। पूर्वोक्त क्रम से समस्त क्रियाएँ करता है तथा दोपहर से कुछ समय पहले सावधान होकर नगर मे जाता है। ईर्यासमिति से जाता है तथा घरों की सख्या का नियम भी लेकर जाता है। पात्रस्थानीय अपने हाथों मे ही आहार लेता है। बिना किसी छल-कपट के मोक्ष का कारणभूत धर्मोपदेश देता है तथा बारह प्रकार का तपश्चरण पालन करता है। कदाचित् व्रतादि में दोष लग जाने पर प्रायश्चित्त लेता है।

ऐलक दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् श्री देशभूषण जी ने अपने साधनामय जीवन को उज्ज्वल बनाने के लिए मुनियों के कठोर व्रतों का आचरण एवं अभ्यास आरम्भ कर दिया। उन्होंने मुनियों के लिए निश्चित २८ मूलगुण—पंच महाव्रत, पंच समिति, पंचेन्द्रिय निरोध, षडावश्यक एवं सप्त नियम का निर्दोष रूप से पालन किया। आत्मविशुद्धि का भाव उनमें प्रगाढ़तर होता गया।

आचार्य श्री जयकीर्ति जी का संघ विहार करते हुए सिद्धक्षेत्र कुन्थलगिरि पहुंच गया। इस महान् क्षेत्र पर भगवान् श्री रामचन्द्र जी ने पुराकाल में श्री देशभूषण मुनि एवं श्री कुलभूषण मुनि के उपसर्ग दूर किए थे। आचार्य रविषेण के अनुसार वंश-गिरि (कुंथलगिरि) पर भगवान् श्री रामचन्द्र जी ने बहुत-से जैन मन्दिर बनवाये थे। कुंथलगिरि के पौराणिक एवं आध्यात्मिक वैभव से चमत्कृत होकर ऐलक श्री देशभूषण जी ने आचार्य श्री जयकीर्ति जी महाराज से पुनः मुक्तिदायिनी दिगम्बरी दीक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की। इस बार आचार्य श्री ने ऐलक देशभूषण की प्रार्थना को स्वीकार करके चतुर्विध संघ की उपस्थिति में उन्हे फाल्गुन सुदी पूर्णिमा सम्वत् १९९२ तदनुसार रविवार ८ मार्च १९३६ को मुनि दीक्षा से अनुगृहीत किया। पंचाध्यायीकार एवं धवलाकार ने दिगम्बर सन्त के लिए वैराग्य की पराकाष्ठा एवं दयापरायणता को विशिष्ट गुण माना है और मुनि से कुछ अपेक्षाएँ की हैं, जो इस प्रकार हैं—

(अ) "वैराग्यस्य पराकाष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभः। दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः" अर्थात् वैराग्य की पराकाष्ठा को प्राप्त होकर प्रभावशाली दिगम्बर यथाजात रूप को धारण करने वाले तथा दयापरायण साधु होते हैं। (पंचाध्यायी/उ०/६७१)

(आ) "सीह-गय-वसह-मिय-पसु-मारुद-सूरुवहि-मंदरिंदु-मणी। खिदि-उरगंबर-सरिसा परम-पय विमग्गया साहू" अर्थात् सिंह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभिमानी या उन्नत, बैल के समान भद्रप्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह गोचरी वृत्ति करने वाले, पवन के समान निःसंग या सब जगह बे-रोकटोक विचरने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी या सकल तत्त्वों के प्रकाशक, सागर के समान गम्भीर, मेरु सम अकम्प व अडोल, चन्द्रमा के समान शान्तिदायक, मणि के समान प्रभापुञ्जयुक्त, क्षिति के समान सर्व प्रकार की बाधाओं को सहने वाले, सर्प के समान अनियत वस्तिका मे रहने वाले, आकाश के समान निरालम्बी व निर्लेप और सदाकाल परमपद का अन्वेषण करने वाले साधु होते हैं। (धवला १/१, १.१/गाथा ३३/५१)

वस्तुतः मुनिदीक्षा ग्रहण से पूर्व ही श्री देशभूषण जी ने अपनी साधना एवं आचरण से वैराग्य की ऊंचाइयो का स्पर्श कर लिया था। इसीलिए आचार्य श्री जयकीर्ति जी जैसे विलक्षण तपस्वी एवं साधक ने इन्हे मुनि दीक्षा प्रदान करके जैनधर्मानुयायियों को एक गतिशील धर्मचक्र प्रदान कर दिया।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज स्वभाव से आत्मकेन्द्रित मुनि हैं। 'स्व' (आत्मा) एवं 'पर' (पुद्गल) के चिन्तन में उनका जीवन व्यतीत हुआ है। आत्मसाधक सन्त के रूप मे वे निरन्तर संसार की असारता पर विचार करते हुए आत्मतल्लीन हो जाते हैं। समय की गति का निरूपण करते हुए वे प्रायः कहते हैं, "हमारा प्रत्येक पग श्मशान भूमि की ओर जा रहा है, प्रत्येक श्वास में आयु कम हो रही है, मृत्यु निकट आ रही है और प्रतिक्षण शक्ति क्षीण होती जा रही है फिर भी हम समझते हैं कि हम बढ़ रहे हैं।"

जैनधर्म मे साधना को विकसित करने लिए व्रत, त्याग, यम, नियम, संयम इत्यादि का आश्रय लिया जाता है। आचार्य जी का सम्बन्ध एक ऐसे संघ से रहा है जिस संघ के त्यागी अपने कठोर व्रतविधान एवं नियम-पालन के लिए राष्ट्र मे प्रसिद्ध रहे हैं। परमपूज्य आचार्य श्री जयकीर्ति जी महाराज आत्मविशुद्धि के लिए बड़ी संख्या मे उपवास किया करते थे। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में सिंहनिष्क्रीडित व्रत का अनुष्ठान किया था। उपवासो की दीर्घ परम्परा के कारण उनका शरीर क्षीण हो गया। व्रतों के आधिक्य के कारण उन्हें संग्रहणी रोग भी हो गया। जीवन की अन्तिम बेला मे उन्होने निस्पृह भाव से समाधि धारण कर ली। आचार्यजी ने चारों प्रकार के आहारों का त्याग, इच्छाओं का निरोध, अपनी गुप्तियो को अपने वश कर मन को णमोकार मंत्र मे तल्लीन कर दिया और उसी महामन्त्र का जाप्य करते हुए इस नश्वर शरीर को त्याग दिया।

आचार्य श्री जयकीर्ति जी महाराज के महाप्रयाण के पश्चात् इसी संघ के मुनि श्री मल्लिसागर जी, मुनि श्री नेमसागरजी, मुनि श्री शुभचन्द्र जी, क्षुल्लक सुमति महाराज तथा क्षुल्लक जम्बूस्वामी जी विहार करते हुए आरा मे आए। रात्रि मे सभी त्यागीवृन्द ध्यानावस्थित थे। इसी समय कमरे में रोशनी के लिए रखी गई कंडील अकस्मात् भभक उठी और आस-पास के जीर्ण तृणों

को भस्म करती हुई मुनियों एवं क्षुल्लकों की पुआल में प्रविष्ट हो गई। मृत्यु एवं उपसर्ग को समीप देखकर संघ के मुनियों एवं क्षुल्लकों ने अनादिनिधन णमोकार मन्त्र की शरण ग्रहण की। इस उपसर्ग के कारण चार मोक्षाभिलाषी मुनियों एवं क्षुल्लकों ने इस जीवन की अंतिम गति प्राप्त की।

अपने संघनायक एवं संघस्थों के इन आदर्श उत्सर्गों को आचार्य श्री देशभूषण श्रद्धा की दृष्टि से देखते आए हैं और उन्हीं के चरणचिह्नों का अनुसरण करते हुए उन्होंने अपने जीवनकाल मे अगणित व्रत-उपवास किए हैं। मुनि श्री देशभूषण जी महाराज ने अपनी प्रारम्भिक साधना मे व्रत-उपवास को विशेष महत्त्व दिया था। उन दिनों में एक कठोर तपस्वी के रूप मे उन्होंने सर्वतोभद्र व्रत, महासर्वतोभद्र व्रत, वसन्तभद्र व्रत, त्रिलोकसार व्रत, वज्रमध्यविधि व्रत, मृदंगमध्यविधि व्रत, मुरजमध्यविधि व्रत, मुक्तावली व्रत और रत्नावली व्रत का अनुष्ठान किया था। इस प्रकार से मुनि श्री देशभूषण जी ने ६०४ दिनों मे ४७१ उपवास किए और कुल १३३ पारणायें कीं।

उत्तर भारत के चातुर्मासों में आचार्यश्री का अधिकांश समय साहित्य समाराधना, पदयात्रा, भव्य एवं विशाल मन्दिरो की रूपरेखा के निर्धारण, धर्मदेशना, लोककल्याण की योजनाओं को दिशा देना, समाजसुधार एवं लोककल्याण के कार्यों मे व्यतीत हुआ है। आचार्यश्री ने १९६१ एवं १९६२ के चातुर्मास मानगांव एवं अब्दुललाट मे सम्पन्न किए तथा पर्वराज पर्यूषण के दसों दिन 'दशलक्षण धर्म व्रत' का अनुष्ठान किया और अनवरत आत्मा के धर्म पर विशेष प्रवचन किए।

आचार्यश्री के महान् व्यक्तित्व एवं कृतित्व को दृष्टिगत करते हुए सूरत के जैन समाज ने परमपूज्य आचार्य श्री पायसागर जी महाराज की सहमति से सन् १९४८ में आपको चतुर्विध संघ के अनुशासन के लिए आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। आचार्य रूप में श्री देशभूषण जी के कुशल नेतृत्व से प्रभावित होकर महानगरी दिल्ली के जैन समाज ने आपको 'आचार्यरत्न' की गौरवपूर्ण पदवी से समलंकृत किया।

एक धर्माचार्य के रूप में आपने भारतवर्ष के अधिकांश भाग की पदयात्रा करके धर्म का जो अलख जगाया है, वह अविस्मरणीय है। आपने अपने वरद् हस्त से लगभग सौ आत्माओं को कल्याणकारी दीक्षा दी है। आपके द्वारा दीक्षित मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका एवं ब्रह्मचारी लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष मे पदयात्राएँ करके तीर्थंकर वाणी का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं।

आचार्यश्री प्रायः पंचकल्याणक महोत्सवों एवं तीर्थक्षेत्रों पर दीक्षार्थियों को दीक्षित किया करते हैं। इस सम्बन्ध मे उनकी मान्यता है कि पंचकल्याणक महोत्सव के समय अथवा तीर्थक्षेत्रों में शलाका पुरुषों के स्मरण से दीक्षार्थी की भावनाओं मे वैराग्य की अनुभूतियां अत्यन्त प्रगाढ़ हो जाती हैं। आचार्य श्री द्वारा दीक्षित त्यागीवृन्द की क्रमानुसार सम्पूर्ण सूची आवश्यक सूचनाओं के अभाव में प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है, किन्तु समाचार पत्रों की कतरन एवं दिगम्बर मुनियों के सम्बन्ध में यत्रतत्र प्रकाशित सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आचार्य श्री ने सम्भवतया सर्वप्रथम २ अप्रैल १९४३ को सांगली जिले के भोसे गांव में शिवप्पा नामक श्रावक को मुनि दीक्षा से अनुगृहीत किया था। यही शिवप्पा मुनि श्री शांतिसागर जी महाराज के रूप मे अपनी धर्म-प्रभावनाओं के लिये प्रसिद्ध हुए।

उनके द्वारा दी गई अन्य प्रारम्भिक दीक्षाओं मे क्षुल्लक आदिसागर जी (सन् १९४९), आर्यिका शान्तिमति जी एवं मुनि श्री सुबलसागर जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके द्वारा दीक्षित परवर्ती मुनियों मे एलाचार्य महामुनि श्री विद्यानन्द जी एवं आर्यिकारत्न ज्योतिर्मयी ज्ञानमति जी ने तीर्थंकर वाणी एवं जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान देकर आचार्य श्री के महान् ध्येय की पूर्ति में अविस्मरणीय योगदान किया है।

आचार्यश्री वास्तव मे एक अध्यात्मपुरुष हैं। उनके संसर्ग मे आनेवाला पुण्यात्मा दीक्षार्थी मुक्ति के पथ पर अग्रसर होने लगता है। आचार्यश्री के महातेज के सम्मुख नतमस्तक होकर महाराष्ट्र मंत्रीमंडल के एक पूर्व सदस्य ने, जो खोत साहब के नाम से सुविख्यात थे, आचार्यश्री से मुनिदीक्षा ग्रहण कर आत्मकल्याण का पथ चुना था। कालान्तर मे यही खोत साहब मुनि श्री सिद्धसेन जी के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

सन् १९८१ मे भगवान् बाहुबली सहस्राब्दि प्रतिष्ठापना समारोह के अवसर पर आचार्यरत्न देशभूषण जी को जैन मुनि संघ एवं लाखों श्रावक-श्राविकाओं के सम्मुख 'सम्यक्त्व चूड़ामणि' की उपाधि से विभूषित किया गया। इस समारोह में दीर्घावधि के पश्चात् बड़ी संख्या मे दिगम्बर जैन सन्त एकत्र हुए और उन्होंने आपके सान्निध्य में दिगम्बर जैन सन्तों की आचार संहिता पर पुनर्विचार

किया। स्थान-स्थान पर आपको श्रावक समुदाय ने भक्ति से प्रेरित होकर सैकड़ों विरुदों से सम्मानित किया है। किन्तु आचार्यश्री अब एक ऐसी स्थिति में पहुंच गए हैं कि उन्हें इस भौतिक मान-सम्मान में रुचि नहीं है।

आचार्यश्री के जीवन का अब एकमात्र ध्येय आत्मशुद्धि एवं अर्हन्त भगवान् का स्मरण रह गया है। किसी भी साधक की साधना का शायद यह अन्तिम ध्येय है। उन्हीं के शब्दों में—"मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा काम आत्मा की शुद्धि करना है·········· ······जीवन के प्रत्येक समय वीतराग सर्वहितकारी अर्हन्त भगवान् को न भूलो और न अपनी मृत्यु को भूलो।" जैन दर्शन के अनुसार व्यक्ति अपने कर्मों का विनाश करके स्वयं परमात्मा बन जाता है। उस परमात्मा की दो अवस्थाएँ हैं—एक शरीर सहित जीवनमुक्त अवस्था, और दूसरी शरीर रहित देह मुक्त अवस्था। पहली अवस्था को अर्हन्त और दूसरी अवस्था को सिद्ध कहा जाता है। आचार्यश्री की साधना का लक्ष्य भी मुक्तावस्था को प्राप्त करना है। उन्हें उनके अभीष्ट की प्राप्ति हो, यही हमारी कामना है और उसी में उनके कालजयी व्यक्तित्व की सार्थकता।

अनथक पदयात्रा

जैन धर्म में मुनि के लिए २८ मूलगुणों का निर्दोष पालन करना आवश्यक है। ये २८ गुण इस प्रकार हैं—

(१) पंच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।
(२) पंच समिति—ईर्या, भाषा, एषणा, उत्सर्ग, आदाननिक्षेपण।
(३) पंच इन्द्रिय निरोध—स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु और कर्ण।
(४) प्रकीर्ण सप्त—केशलुंचन, अचेलत्व, अस्नान, भूशयन, अदन्तधावन, स्थितिभोजन, दिन में एकाहार।
(५) षडावश्यक क्रिया—सामयिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग।

अहिंसा महाव्रत के पालन मे ईर्या समिति विशेष रूप से सहायक होती है। आचार्य वट्टकेर विरचित मूलाचार मे ईर्या समिति के स्वरूप का निर्धारण इस प्रकार किया गया है—

फासुयमग्गेण दिवा जुगंतरप्पेहिणा सकज्जेण।
जंतूणि परिहरंतेणिरियासमिदि हवे गमणं॥ मूलगुणाधिकार, पद सं० ११

अर्थात् प्रयोजन के निमित्त चार हाथ आगे जमीन देखने वाले साधु के द्वारा दिवस मे प्रासुकमार्गों से जीवों का परिहार करते हुए जो गमन है वह ईर्या समिति है। सारांशतः जैन साधु द्वारा धर्मकार्य के निमित्त चार हाथ आगे देखते हुए दिवस (सूर्य उदित हो जाने के उपरान्त) में प्रासुक मार्ग से जो गमन किया जाता है वह ईर्या समिति है।

जैन साधु वर्षा योग (आषाढ़ सुदी १० से कार्तिक सुदी पूर्णिमा) के अतिरिक्त अधिक काल तक एक स्थान पर नहीं ठहरते। निरन्तर एक स्थान पर रहने से स्थान विशेष के प्रति राग भाव विकसित होने की सम्भावना रहती है। इसीलिये मूलाचार में धैर्यवान् प्रासुकविहारी से ग्राम मे एक रात और नगर मे पांच दिन रहने की अपेक्षा की गई है। वसंतादि षड्ऋतुओं मे से भी साधु के लिये किसी एक ऋतु में एकमास पर्यंत एक स्थान पर ठहरने का विधान है।

इस प्रकार जैन मुनिचर्या के अनुसार साधु मे सचरणशीलता का भाव स्वयमेव विकसित हो जाता है। इस निरन्तर गतिशील विहार के महत्त्व का प्रतिपादन 'भगवती आराधना' मे इस प्रकार किया गया है—

"अनियतविहारी साधु को सम्यग्दर्शन की शुद्धि, स्थितिकरण, रत्नत्रयकी भावना व अभ्यास, शास्त्र-कौशल तथा समाधिमरण के योग्य क्षेत्र की मार्गणा, इतनी बातें प्राप्त होती हैं। अनियतविहारी को तीर्थंकरो के जन्म, निष्क्रमण, ज्ञान आदि के स्थानो का दर्शन होने से उसके सम्यग्दर्शन मे निर्मलता होती है अन्य मुनि भी उसके संवेग, वैराग्य, शुद्धलेश्या, तप आदि को देखकर वैसे ही बन जाते हैं, इसलिये उसे स्थितिकरण होता है तथा अन्य साधुओ के गुणो को देखकर वह स्वयं भी अपना स्थितिकरण करता है। परीषह सहन करने की शक्ति प्राप्त करता है। देश-देशान्तरो की भाषाओ आदि का ज्ञान प्राप्त होता है। अनेक आचार्यों के उपदेश सुनने के कारण सूत्र का विशेष अर्थ व अर्थ करने की अनेक पद्धतियो का परिज्ञान होता है। अनेक मुनियो का संयोग प्राप्त होने से साधु के आचारविहार आदि की विशेष जानकारी हो जाती है।"

साधु के लिये विहार के महत्त्व को समझ कर आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने 'चरैवेति, चरैवेति' की भावना को सार्थक करते हुए अपनी ५१ वर्षीय दिगम्बर साधना मे कितने लाख किलोमीटर की पदयात्रा सम्पन्न की है इसका सही उत्तर आचार्यश्री की पदयात्राओं की मार्गसरिणी के अभाव मे देना कठिन है। आचार्यश्री ने एक भेंटवार्ता में लेखक को यह भी बताया था कि उन्होंने

अपने जीवन में कभी भी रेलगाड़ी में सफर नहीं किया है। वास्तव में आचार्यश्री का सम्बन्ध पृथ्वी माता से रहा है। उन्होंने षड् ऋतुओं ग्रीष्म, आतप, वर्षा, हेमन्त, शिशिर, बसन्त में पृथ्वी माता का प्रगाढ़ स्पर्श करके उसकी असीम धैर्यशक्ति के गुणों का मुक्तकंठ से गुणगान किया है। आचार्यश्री की निरन्तर संचरण प्रवृत्ति से पृथ्वी माता को भी उन पर गर्व है। उनकी निरन्तर बेशुमार पद-यात्राओं की गति को देखकर निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि वे वर्तमान युग में पदयात्राओं की गौरवशाली परम्परा के उज्ज्वल रत्न हैं।

मुनि श्री देशभूषण जी की आध्यात्मिक यात्रा का शुभारम्भ सुप्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र रामटेक से हुआ। इस महान् तीर्थराज पर उन्होंने परमपूज्य आचार्य श्री जयकीर्ति महाराज से ऐलक दीक्षा ग्रहण की थी। भारतीय साहित्य मे रामटेक की पहाड़ी को कवि कुलगुरु कालिदास के मेघदूत की प्रेरणाभूमि माना गया है। महाकवि कालिदास ने इसी पहाड़ी पर से निर्वासित यक्ष की विरह वेदना के माध्यम से सम्पूर्ण राष्ट्र के सांस्कृतिक वैभव का गुणगान किया है। जैन मन्दिरो से सुसज्जित रामटेक की एक निकटवर्ती पहाड़ी पर बौद्धधर्म के महान् दार्शनिक नागार्जुन की दर्शनीय गुफा भी है। अतः इस प्रकार के गौरवशाली एवं सुप्रसिद्ध क्षेत्र मे दीक्षित श्रमण परम्परा के महान् सन्त श्री देशभूषण जी से यह अपेक्षा थी कि वे भी कालिदास के मेघों की भाति सम्पूर्ण राष्ट्र मे विचरण कर धर्म, दर्शन एव भक्ति की अमरवेल को पुष्पित एवं पल्लवित करने में सहायक होगे।

ऐलक परिवेश मे श्री देशभूषण जी ने अपने दीक्षागुरु श्री जयकीर्ति जी के साथ सिद्धक्षेत्र कुथलगिरि (वंशगिरि) की पदयात्रा की। शुभयोग से आचार्यश्री जयकीर्ति जी ने मर्यादापुरुषोत्तम नारायण श्री रामचन्द्र जी द्वारा बनवाई गई जैन मन्दिरो की गौरवशाली पहाड़ी पर श्री देशभूषण जी को फाल्गुन सुदी पूर्णिमा सम्वत् १९९२ तदनुसार रविवार, ८ मार्च, १९३६ को परममुक्तिदायिनी दिगम्बरी दीक्षा प्रदान की। इस महान् पर्वतराज पर भगवान् श्री रामचन्द्र जी वनवास प्रवास की अवधि मे पदयात्रा करते हुए आये थे। महा-पुरुषो की पदयात्राओ से गौरवमंडित सिद्धक्षेत्र श्री कुन्थलगिरि मे मुनि श्री देशभूषण जी को भी गुरु के प्रसाद से जैन आगमो में निहित मुनि-चर्या के अन्तर्गत पदयात्रा का महाव्रत प्राप्त हो गया।

मुनि श्री देशभूषण जी ने सन् १९३६ मे अपने दीक्षागुरु श्री जयकीर्ति जी महाराज के साथ सिद्धक्षेत्र श्री कुन्थलगिरि से मांगुर की ओर विहार किया और वहीं उनका प्रथम वर्षायोग आचार्यश्री के सान्निध्य मे सम्पन्न हुआ। वर्षायोग की समाप्ति पर आपने आचार्यश्री के साथ दक्षिण भारत की पदयात्रा की और सुप्रसिद्ध जैन तीर्थक्षेत्र मूलबद्री की वन्दना के उपरान्त आप आचार्यश्री के संघ के साथ श्रवणबेलगोल पहुच गये। श्रवणबेलगोल मे भगवान् बाहुबलि की विशाल एवं मनोज्ञ प्रतिमा ने आपको अत्यधिक प्रभावित किया। निकटवर्ती पहाड़ियों के जैन वैभव एवं समर्थ आचार्यों एव मुनियो की साधनास्थली (समाधियो) ने आपके मानस को आन्दोलित कर दिया।

आचार्य श्री जयकीर्ति जी ने देशभूषण जी की वैराग्यवृत्ति एव धर्माचरण से सन्तुष्ट होकर इन्हे पृथक् सघ बनाकर धर्म-प्रभावना की अनुमति दे दी और स्वय सघ सहित श्री सम्मेदशिखर जी की ओर चल दिये। सघ से पृथक् हो जाने के उपरान्त मुनि श्री देशभूषण जी ने श्रवणबेलगोल को अपनी साधनास्थली बना लिया। मुनि श्री प्राय. पर्वत की शिला पर स्थित भगवान् बाहुबली की कलात्मक प्रतिमा के स्वर्गीय सौन्दर्य का घटो तक नियमित अवलोकन करने लगे। उस समय दूर तक फैले हुए नीले आकाश में आचार्य श्री को चतुर्दिक भगवान् के चरणो का शुभ्र प्रसार ही दिखलाई पडता था।

इन्ही दिनो आपको अचानक यह समाचार मिला कि परमपूज्य श्री जयकीर्ति जी महाराज ने ईसरी में जैनधर्मानुकूल समाधि द्वारा अपना पार्थिव शरीर छोड दिया है। पूज्य गुरुदेव क अकस्मान् स्वर्गारोहण के समाचार से आप हतप्रभ हो गये। अपने श्रद्धेय गुरु के दिव्य गुणों को स्मरण कर आपने उनके द्वारा की गई धर्मप्रभावना को अपना आदर्श मानकर दक्षिण भारत और निकटवर्ती प्रदेशों में धर्मप्रचार के निमित्त पदयात्राएँ आरम्भ करने का सकल्प किया। इस प्रकार आपकी प्रारम्भिक पदयात्राएँ दक्षिण भारत के कर्नाटक राज्य, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आध्र एव मध्यप्रदेश के सीमावर्ती क्षेत्रो मे सम्पन्न हुई। मुनि श्री देशभूषण जी के सरल, सौम्य एवं धर्म-मय व्यक्तित्व तथा पदयात्रा के सन्दर्भ मे दिये गये सदुपदेशो से श्रद्धालुओ मे अपूव उत्साह एव आकर्षण का समावेश होने लगा। उनका धर्माचरण एव स्वाध्याय के प्रति अनुराग श्रावक समुदाय मे चर्चा का विषय बन गया। युवावस्था मे निर्विकारी सन्त को धर्म का निर्दोष पालन करते हुए देखकर समाज मे एक वैचारिक क्रांति आरम्भ हो गई। मुनि श्री ने समाज की कमजोरी को लक्षित करते हुए अपने सम्पर्क मे आने वाली धर्मप्राण जनता को आत्मा की अपरिमित शक्ति से अवगत कराते हुए उन्हें निर्भीकता का पाठ पढ़ाया और

समाज एवं राष्ट्र में व्याप्त कुरीतियों का उन्मूलन करने की उन्हें प्रेरणा दी। समाज में व्याप्त गुटबन्दी को समाप्त करने में भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। दोनों पक्षों को समझाने के लिये आपने कई बार राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का अनुसरण करते हुए अनशन रूपी सत्याग्रह का भी आश्रय लिया।

मुनि श्री ने अल्प समय में ही मराठी, कन्नड़ इत्यादि भाषाओं में विशिष्ट निपुणता प्राप्त कर ली। उनकी धर्मसभाओं में अमृत का निर्झर बहता था। बंगलौर उच्च न्यायालय के निवर्तमान न्यायमूर्ति स्व० श्री टी० के० तुकोल के शब्दों में, "मैंने १९४५ में उनके दर्शन गलतगा ग्राम (बेलगांव जिला) के चातुर्मास के समय किये थे। वहां उनके उपदेश से अजैनों पर जो प्रभाव पड़ा था, उससे मैं चकित हो गया था। उनके उपदेश ग्रामवासियों के अन्तःकरण में सीधा पहुंचते थे। ग्रामवासियों की अनेक शंकाओं का समाधान करते हुए वे उनको णमोकार मन्त्र का जाप और सूर्यास्त के पहले भोजन करने की प्रेरणा देते थे।"

वस्तुतः सन् १९३६ से १९४७ के पूर्वार्द्ध तक दक्षिण भारत में एक गतिशील धर्मचक्र की भांति निरन्तर पदयात्राएं करते हुए आपने असंख्य व्यक्तियों को धर्म के स्वरूप से परिचित कराया और दक्षिण भारत के जैन वैभव एवं शास्त्र भण्डारों का सूक्ष्म अवलोकन किया।

इसी अवधि मे दिगम्बर जैन समाज के महान् सन्तों का नैकट्य प्राप्त करके आपने मुनि धर्म के सम्यक् स्वरूप पर गम्भीर चिन्तन किया। परमपूज्य आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज द्वारा वन्दित, दक्षिण भारत के वयोवृद्ध दिगम्बर सन्त, आदर्श तपस्वी, अप्रतिम उपसर्ग विजेता महामुनि श्री आदिसागर जी महाराज के समाधिमरण के समय आप उदगांव में उनके वैयावृत्य की भावना से गये थे। परमपूज्य आचार्य श्री आदिसागर जी महाराज के आदर्श समाधिमरण के दृश्यावलोकन से आपको एक अपूर्व अनुभूति हुई। वास्तव में ऐसे प्रेरक एवं तेजोमय अवसरों से प्रेरणा पाकर मुनि श्री देशभूषण जी ने दिगम्बरत्व की प्रतिष्ठा के लिये प्राण विसर्जन की कला सीखी है। उन्होंने अपनी पदयात्राओं में अनेक अवसरों पर उपसर्गों का मुनियोचित क्षमता से सामना करके दिगम्बरत्व का नया इतिहास लिख दिया है। आपके मैत्रीपूर्ण दृष्टिकोण के कारण विपक्षी (उपसर्गकर्ता) भी धर्म की शरण में आकर धन्य हो गये। ऐसे मे कौन विजित, कौन विजेता? समरस होकर एक-दूसरे के दृष्टिकोण के प्रति सहानुभूति रखना ही श्रमण संस्कृति की देन है। आचार्य श्री ने अपनी पदयात्राओ मे भेद दृष्टि का उन्मूलन कर अनेकान्त धर्म की अमृत-वर्षा की है।

स्वतन्त्रता-पूर्व के चातुर्मास

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने अपनी धर्मयात्राओं मे बड़े शहर और छोटे ग्राम सभी को समान महत्त्व दिया है। मैसूर के राज्यवंश के संभ्रान्त प्रतिनिधि, बंगलौर एवं अन्य प्रमुख शहरों के प्रबुद्ध बुद्धिजीवी, दक्षिण भारत के ग्रामीण क्षेत्रों के कृषक एवं मजदूरों का उनसे सम्पर्क हुआ है और मुनि श्री ने सभी को अपनी धर्ममयी वाणी से लाभान्वित किया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व आपके चातुर्मास मांगुर, श्रवणबेलगोल, नागपुर, कोल्हापुर, शमनेवाड़ी, भोज, बोरगाव, पट्टणगुड़ी, स्तवनिधि, गलतगा इत्यादि क्षेत्रों मे सम्पन्न हुए। भारतीय स्वातन्त्र्य की पावन बेला मे आप उत्तर भारत की सांस्कृतिक नगरी बनारस मे पधारे। अपने बनारस प्रवास में आपने धर्म के विशद रूप की व्याख्या करते हुए जनसाधारण का राष्ट्र के निर्माण मे सहयोग मांगा था। उन्होंने श्रमण परम्परा की परम कारुणिक दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हुए हिंसा के उन्माद की घोर भर्त्सना की थी और भारत के सांस्कृतिक मूल्यों के आलोक मे राष्ट्रीय एकता को बल प्रदान किया था। एक धर्मगुरु के रूप मे आपने बनारस स्थित जैन तीर्थक्षेत्रों, मन्दिरों एवं संस्थाओं के विकास में भी रुचि ली थी।

स्वतन्त्रता-परवर्ती चातुर्मास

सन् १९४७ के उपरान्त तो आपने लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष की पदयात्रा करके तीर्थंकर भगवान् की परमकल्याणकारी वाणी को संसद् के गलियारों से लेकर खेतो व कुटियो मे निवास करने वाले श्रमिको तक पहुंचाया है। इस राष्ट्रव्यापी पदयात्रा में निम्नलिखित स्थानो को आपके चातुर्मास की धर्मदेशना प्राप्त करने का विशेष गौरव प्राप्त हुआ है—

१९४७	बनारस	१९५४	जयपुर
१९४८	सूरत	१९५५	दिल्ली
१९४९	आरा	१९५६	दिल्ली
१९५०	आरा	१९५७	दिल्ली
१९५१	लखनऊ	१९५८	कलकत्ता
१९५२	बाराबंकी	१९५९	कोल्हापुर
१९५३	टिकैतनगर	१९६०	मानगांव

१९६१	मानगांव	१९७४	दिल्ली
१९६२	अब्दुललाट	१९७५	कोथली
१९६३	दिल्ली	१९७६	कोथली
१९६४	जयपुर	१९७७	कोथली
१९६५	दिल्ली	१९७८	भोज
१९६६	जयपुर	१९७९	शमनेवाडी
१९६७	स्तवनिधि	१९८०	कोथली
१९६८	बेलगांव	१९८१	कोथली
१९६९	कोल्हापुर	१९८२	जयपुर
१९७०	भोज	१९८३	कोथली
१९७१	जयपुर	१९८४	कोथली
१९७२	दिल्ली	१९८५	कोथली
१९७३	दिल्ली	१९८६	सदलगा

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि आचार्य श्री देशभूषण जी ने जयपुर मे पाच, दिल्ली मे आठ, कलकत्ता मे एक, कोथली (एव निकटवर्ती क्षेत्र) मे ग्यारह चातुर्मास सम्पन्न किये हैं। इन सभी चातुर्मासो मे उन्होंने एक ओर तो श्रावको को ज्ञान का उपदेश देकर उनके मुक्ति-मार्ग के द्वार का उद्घाटन किया है और दूसरी ओर अनेक लुप्तप्राय: शास्त्रो, जिनालयो, तीर्थक्षेत्रो आदि का उद्धार करके उनके नवनिर्माण की दिशा मे रचनात्मक काय करके जिनवाणी और जैन धर्म व सस्कृति की रक्षा व सवर्द्धन किया है। विस्तारभय से हम इन सभी चातुर्मासो की उपलब्धियो का पृथक्-पृथक् उल्लेख न करके दिल्ली, कलकत्ता एव जयपुर के कुछ चातुर्मासों मे उनकी मुनिचर्या, क्षमता, धर्मप्रभाव व रचनात्मक कार्यों का सकेत करेंगे।

दिल्ली के चातुर्मास

सन् १९८२ मे जयपुर चातुर्मास के उपरान्त कोथली की ओर प्रस्थान करते हुए महानगरी दिल्ली को अपना विहारपथ बनाकर आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने राजधानी को जो अपूर्व गौरव दिया था, उसके लिए दिल्ली का नागरिक समुदाय उनका हृदय से कृतज्ञ है। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने सर्वप्रथम २९ मई, १९५५ को अपनी पावन उपस्थिति मे दिल्ली को अनुगृहीत किया था। आपने अपने मगलप्रवेश के समय महानगरी के श्रावको की सुप्त चेतना को जागृत करके मनुष्यभव की उपयोगिता का महामन्त्र देते हुए कहा था, "मनुष्य भव की सफलता तो उस धर्म आराधन से है जो कि देव पर्याय मे भी नही मिलता और जिससे आत्मा का उत्थान होता है। जीव आत्मध्यान द्वारा अनादि परम्परा से चली आई कर्म-बेडी को तोडकर सदा के लिए पूर्ण स्वतन्त्र, पूर्ण मुक्त भी हो सकता है।" उसी दिन आपने अपने अनुभवो के आधार पर दिल्ली के जैन समाज को अमृतकलश देते हुए चेतावनी रूप मे परामर्श दिया था, "समय की गति अबाध्य है, पर्वत से गिरने वाली नदी का प्रवाह जिस तरह फिर लौटकर पर्वत पर नही जाता, इसी तरह आयु का बीता हुआ क्षण भी फिर वापिस नही आता, वह तो अपनी आयु मे से कम हो जाता है। तब दुर्लभ नर जन्म पाकर मनुष्य जीवन के अमूल्य क्षणो मे से एक क्षण व्यर्थ नही खोना चाहिए। आत्मकल्याण के कार्यो को करते चले जाना चाहिए। जो आज का समय है वह फिर कभी नही आएगा।"

आचार्यश्री ने अब तक राजधानी मे आठ चातुर्मास सम्पन्न किए हैं। उनका दिल्ली प्रवेश एव चातुर्मास सदैव सकारण होता रहा है। उनके विरक्त मन मे शहर की सुविधाओ एव चकाचौंध के लिए कोई आकर्षण नही है। आप वास्तव मे परमयोगी है क्योंकि आपकी प्रेरणा का सूत्र महाकवि रत्नाकर वर्णी का कन्नड महाकाव्य 'भरतेश वैभव' है। आपने उस अध्यात्म ग्रथ का अनुवाद ही नहीं

किया बल्कि उसके मर्म को जीवन में साकार कर लिया है। सम्राट् भरत चक्रवर्ती की सुविधाओं से सम्पन्न होते हुए भी परम वैरागी थे।

सन् १९५५ के गौरवपूर्ण चातुर्मास में आचार्यरत्न देशभूषणजी मानव धर्म की ज्योति को प्रज्वलित करते रहे। एक धर्म विशेष से सम्बन्धित होते हुए भी उन्होंने सभी धर्मों के साहित्य का अध्ययन किया और अपनी उदारता से पंथ विशेष की परिधियों को तोड़कर मानवता के लिए उपदेश दिया। इसीलिए जो भी व्यक्ति आपके सम्पर्क में आया वह आपकी चुम्बकीय शक्ति से प्रभावित हो गया। दिल्ली के इतिहास में पहली बार राजधानी की सर्वप्रमुख वैदिक संस्था ने आपके धर्मोपदेशों को प्रकाशित कराके जनसामान्य में वितरित कराया। आपके प्रथम मंगलप्रवेश से ही राजधानी के वातावरण में धर्म एवं सद्भाव की वृद्धि हुई। हिन्दू समाज के धर्मप्राण नेता स्व० श्री जुगलकिशोर जी बिरला ने आप में राष्ट्रीय सन्त की समर्थ भूमिका का निर्वाह करने वाले सौम्य ऋषि का दर्शन किया और तत्काल राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित होकर आपको बिरला मन्दिर में धर्मोपदेश के लिए आमन्त्रित किया। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने भी सम्प्रदाय विशेष के पूर्वाग्रहों से ग्रसित व्यामोहों को छोड़कर दिगम्बर आचार्य के रूप में श्री लक्ष्मीनारायण जी के मन्दिर के गीता भवन में धर्मोपदेश दिया। उस दिन ऐसा अनुभव हुआ कि नारायण श्री कृष्ण के गीता पाठ का आचार्य श्री मानो भाष्य करते हुए स्वतन्त्र भारत की चेतना को "सर्वधर्म सद्भाव," "अनेकान्तवाद" एवं निर्भयता का मंगल उपदेश दे रहे हों। वास्तव में यह दिन सांस्कृतिक इतिहास की कड़ी के रूप में प्रस्तुत हुआ था जो युगान्तर तक वैचारिक कट्टरता को समाप्त करने में प्रेरणा देता रहेगा।

सन् १९५५ के चातुर्मास के समापन के उपरान्त आप उत्तर भारत के ग्रामों में पदयात्रा करते हुए धर्मप्रभावना करते रहे। दैवयोग से सन् १९५६ का चातुर्मास भी आपको दिल्ली में करना पड़ा। भगवान महावीर स्वामी की श्रमण परम्परा का समुचित प्रतिनिधित्व करने के लिए आप जैसे समर्थ ऋषि का दिल्ली में होना अत्यावश्यक था। इस वर्ष परमकारुणिक भगवान् बुद्ध की २५०० वीं जयन्ती का विश्व स्तर पर आयोजन किया जाना था। आचार्यश्री ने इस अवसर पर श्रमण परम्परा के उन्नायक भगवान् महावीर (भगवान् बुद्ध के समकालीन एवं उनसे आयु में कुछ ही बड़े) के सिद्धान्त एवं दर्शन को सर्वसुलभ एवं लोकप्रिय बनाने की भावना से दिल्ली में चातुर्मास किया। इस महत्त्वपूर्ण चातुर्मास के माध्यम से आचार्यश्री ने जैनधर्म के सभी सम्प्रदायों को एक मंच पर एकत्र होने का सन्देश दिया। उन्हीं की प्रेरणा से राजधानी में जैन धर्म सम्बन्धी कला एवं साहित्य की प्रदर्शनी का आयोजन पहली बार सम्भव हो पाया। साहित्यपुरुष श्री देशभूषण जी ने विदेशी अतिथियों के लिए इस अवसर पर अंग्रेजी भाषा में 'तत्त्वार्थ सूत्र', 'आत्मानुशासन', 'द्रव्य संग्रह' एवं 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' नामक ग्रन्थों का प्रकाशन एवं वितरण कराया। उस समय उनके पौरुष को देखकर ऐसा अनुभव हुआ कि उनका जन्म साहित्य-साधना एवं धर्म-प्रचार के निमित्त ही हुआ है।

आचार्यश्री ने १९५७ ई० का चातुर्मास भी निकटवर्ती प्रदेशों की यात्रा के उपरान्त पुनः पहाड़ीधीरज दिल्ली में किया। साहित्य को समर्पित आचार्यश्री ने इन तीन वर्षों में स्वाध्याय के अतिरिक्त अनेक महत्त्वपूर्ण लुप्तप्रायः ताड़पत्रीय ग्रन्थों का अनुवाद एवं प्रकाशन कराया। 'श्री भूवलय' जैसे जटिल अंक शास्त्र के ग्रंथसे विद्वत समाज को परिचित कराने, जैन शास्त्र-सम्पदा को सर्वसुलभ कराने और धर्मानुरागियों के शंकासमाधान एवं मार्गदर्शन के लिए इस प्रकार के सन्त का दिल्ली में होना आवश्यक था। समाज की प्रार्थना को स्वीकार कर आचार्यरत्न ने अपने आचरण से सत्ताप्रमुखों, अनुसन्धाताओं, विद्वज्जनों एवं सार्वसाधारण को जो लाभ पहुंचाया, उससे दिल्ली के जैन समाज में एक नए आत्मविश्वास का उदय हुआ था। विदेशी अतिथियों ने आचार्य महाराज से भेंटस्वरूप पुस्तक लेने से पूर्व ५ मिनट आत्ममंथन किया और पुस्तक लेते समय अन्तःप्रेरणा से सर्वदा के लिए मांस का त्याग कर दिया। उन सुखद क्षणों में यह अनुभव हुआ कि आत्मशक्ति के चरणों में राजकीय वैभव स्वयं नतमस्तक होता है—आत्मवैभव के प्रतीक श्री देशभूषण वास्तव में भारतीय आत्मा के अपराजेय कालजयी स्वर हैं।

१९५७ ई० के चातुर्मास के उपरान्त पूज्य आचार्यरत्न जी ने १९६३ ई० एवं १९६५ ई० में पुनः देहली को अनुगृहीत किया। अपनी रचनात्मक शक्ति से श्रमणराज देशभूषण जी ने विपुल साहित्यसृजन के साथ-साथ इन चातुर्मासों में अनेक ऐतिहासिक जिन मन्दिरों को नया रूप एवं विकसित होती राजधानी में श्रावकों की आवश्यकतानुरूप नए मन्दिरों के निर्माण की प्रेरणा दी। आपके सबल नेतृत्व में पांच सौ वर्ष पूर्व के ऐतिहासिक भट्टारकों के मन्दिर (सब्जीमंडी) को नया रूप प्राप्त हो सका और लगभग २० नए मन्दिरों का शिलान्यास एवं वेदी प्रतिष्ठा का कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। शक्तिनगर, कैलाशनगर, गांधीनगर, नवीन शाहदरा, दिल्ली कैन्ट इत्यादि के अनेक मन्दिर आपकी संकल्पात्मक शक्ति के प्रतीक हैं। वास्तव में आपने दिल्ली के जैन वैभव में अनेक वृद्धियां की हैं। एक भविष्यद्रष्टा ऋषि के रूप में आपने अपने महातेज से २५ जुलाई १९६३ को क्षु० पार्श्वकीर्ति को मुनि श्री विद्यानन्द के रूप में दीक्षित कर जिनशासन को एक नया आस्था का स्वर और साक्षात् धर्मचक्र देकर भारतवर्ष के श्रावकों को कृतार्थ किया। उस दिन दिल्ली ने पहली बार दिगम्बर मुनि दीक्षा के पावन स्पर्श से अपने को पवित्र किया था। आचार्यश्री ने सहज उदारता से दीक्षा समारोह में दीक्षा मन्त्रों का पाठ करने के लिए राजधानी स्थित श्वेताम्बर साधुओं को आमन्त्रित कर जैन एकता की ठोस बुनियाद रखी थी, जिससे एकता के स्वप्न साकार हो रहे हैं।

पूज्य आचार्यश्री की आस्था विश्व-मानवता में है। इसलिए उनके उपदेश धर्मविशेष के अनुयायियों के लिए न होकर समग्र मानवता के लिए होते हैं। उन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषका का दिगम्बर साधक के रूप मे प्रत्यक्ष अनुभव किया है। युद्धजन्य उन्माद एवं उसके परिणामों की भयकरता से वे भलीभांति परिचित हैं। उनका चिन्तन देश-काल की सीमाओं से परे है किन्तु किसी भी युद्धोन्मादी समर्थ राष्ट्र या उससे उत्प्रेरित हिंसक आक्रमण का वे खुलकर विरोध करते हैं। उनका विरोध इतना रचनात्मक होता है कि वह राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान मे अपना साम्प्रदायिक हित भी गौण कर देते हैं। उन्होंने यह अनुभव किया कि दिगम्बर जैन धर्मानुयायियों को परमपावन सिद्धक्षेत्र श्री सम्मेदशिखर जी पर पर्याप्त सुविधाएं एवं औचित्यपूर्ण पूजा उपासना का अधिकार नही है। ऐसी स्थिति मे आप अध्यात्मयोगी का परिवेश ग्रहण कर शान्त नही बैठे रहे, वरन् उनकी हुंकार एव सिंहगर्जना से दिगम्बर समाज संगठित हो गया और उनके अनुभवी मार्गदर्शन में दिगम्बर जैन समाज पहली बार सगठित होकर अहिंसक आन्दोलनकारी के रूप में लाखों की सख्या में प्रधानमन्त्री निवास की ओर चल दिया। उन्होने जब यह अनुभव किया कि राष्ट्र पर विदेशी आक्रमण के बादल मंडरा रहे हैं तो उन्होंने अपने पूर्वाग्रहो को छोडकर राष्ट्रीय विपत्ति मे शासन से तादात्म्य स्थापित कर लिया। उन्होंने अपने तपोबल से राष्ट्रीय सुरक्षा में जो योगदान किया था वह इतिहास के पन्नों मे साधु सस्था के योगदान को अजर-अमर कर गया है। देश के स्वर्णिम इतिहास में इसे एक सुखद संयोग ही मानना चाहिए कि एक ओर तो राजनीति के क्षेत्र मे तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री अपने मनोबल और शस्त्र-बल की पृष्ठभूमि मे देश की सुरक्षा के लिये आक्रामक की चुनौती का मुहतोड़ प्रत्युत्तर दे रहे थे और दूसरी ओर आचार्यश्री देशभूषण जी अपनी धर्मसभाओ मे देश की अस्मिता की रक्षा के लिए जैन शूरवीरो सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य, सम्राट् खारवेल, सेनापति चामुडराय, अप्रतिम दानी भामाशाह आदि के चरित्र-गौरव का पुन:-पुन: उल्लेख करके समाज को जागृत कर राष्ट्रीय सुरक्षा मे योगदान के लिए प्रेरित कर रहे थे। २८ नवम्बर १९६५ को आचार्यश्री की जन्म जयन्ती मे युद्ध

भूतपूर्व प्रधानमन्त्री लोकनायक श्री लालबहादुर शास्त्री को अध्यात्म-पुरुष आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी द्वारा आशीर्वाद देते समय लिए गए चित्र की अनुकृति

एवं शान्ति के विजेता, जय जवान जय किसान के उद्घोषक लोकप्रिय प्रधानमन्त्री स्व० श्री लालबहादुर शास्त्री जी पधारे थे। आचार्यश्री ने अपने धर्मसंदेश में जैन समाज को राष्ट्रीय सुरक्षा कोष में सम्पत्ति देने का परामर्श दिया। आपकी प्रेरणा से वह सभा देशभक्ति एवं समर्पण का जीवित स्मारक बन गई थी। उपरोक्त धर्मसभा मे श्रावक समुदाय एवं महिलाओं ने नकद राशि के अतिरिक्त राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए स्वर्ण आभूषण एवं मंगलसूत्र भी प्रदान किए थे। परमादरणीय श्री शास्त्री जी भी उस दृश्य से अभिभूत हो गए थे। उन्होंने स्वयं आचार्यश्री से मार्गदर्शन की आकांक्षा प्रकट की थी।

स्व० श्री लालबहादुर शास्त्री सत्ता के केन्द्रीय पुरुष होते हुए भी भारतीय संस्कृति के सम्वाहक एवं अध्यात्मपुरुष थे। देश-विदेश में उनके उज्ज्वल चरित्र को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था। प्रधानमन्त्री पद पर आसीन होने के तत्काल पश्चात् जब लार्ड माउंटबेटन ने उन्हे ग्रेट ब्रिटेन की सद्भावना यात्रा के लिए आमंत्रित किया तब शास्त्री जी ने सहज भाव से उत्तर दिया था कि मुझ जैसा 'लघु' मानव आपके 'ग्रेट' ब्रिटेन मे क्या शोभा देगा ! लार्ड माउंटबेटन ने तुरन्त ही श्री शास्त्री की चारित्रिक गरिमा और उच्चादर्शों के प्रति नतमस्तक होते हुए स्वीकृति रूप मे लिखा था कि हमारे देश मे आदमी को 'इंचटेप' से नहीं, चरित्र से नापा जाता है ! ऐसा था श्री शास्त्री का चरित्र—हिमालय सा उच्च और धवल ! सत्ता के प्रति वे निर्मोही थे। राजा जनक के समान गृहस्थी होते हुए भी वीतरागी ! धर्मपुरुषो के सान्निध्य मे उन्हे सन्तोष का अनुभव होता था। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी के जन्मजयन्ती समारोह मे पधारकर आप आचार्यश्री के धर्मोपदेश से प्रभावित हुए। आयोजन से लौटते समय आप मन ही मन आचार्यश्री से सत्ता पर बने रहने का आशीर्वाद न चाहकर आत्मकल्याण का आशीर्वाद चाहते थे। आचार्यरत्न उनकी भावनाओं का समादर करते थे। अत: उनका सात्त्विक स्नेह स्वयं प्रस्फुटित होकर श्री शास्त्री को स्नेहासिक्त करता रहा। उस समय यह प्रतीत हो रहा था कि सत्ता अध्यात्म से शक्ति प्राप्त करने को आतुर है और अध्यात्म मानव-कल्याण के लिए सत्ता को अपना ब्रह्मतेज सहज रूप में समर्पित कर रहा है : वह दृश्य वास्तव में पौराणिक युग की गौरवगाथाओं को लालकिले के मैदान में सार्थक कर रहा था।

परिनिर्वाण महोत्सव के प्रेरक

आचार्यश्री के मन में जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के पच्चीस सौ वें परिनिर्वाण महोत्सव की परिकल्पना लगभग तीस वर्ष पूर्व जागृत हुई थी। बनारस, लखनऊ, बाराबंकी एवं टिकैत नगर के चातुर्मासों में उन्होंने इसका संकेत अपने द्वारा सम्पादित साहित्य मे किया था। इस योजना को भव्य एव विराट् रूप देने के लिए वह उद्यत रहते थे। इस महान् कार्य को सम्पादित करने के लिए जैन धर्म के चारों सम्प्रदायों को एक धर्मध्वज के नीचे संगठित करने की उनकी बर्षों पूर्व की योजना थी। इसलिए वे अपने विहार पथ मे श्वेताम्बर समाज की आदराञ्जलि को हर्ष के साथ ग्रहण किया करते थे। संयोगवश जैन समाज के सभी सम्प्रदायों मे उन दिनों उदार एवं प्रगतिशील सन्तों का वर्चस्व था। परमपूज्य धर्मसम्राट् आनन्द ऋषि जी, परमपूज्य आचार्य श्री तुलसी जी, परमपूज्य उपाध्याय श्री अमरमुनि जी, विश्वसन्त श्री सुशील कुमार जी, राष्ट्रीय सन्त महामुनि श्री नगराज जी, महामुनि श्री महेन्द्र कुमार जी प्रथम, महामुनि श्री नथमल जी (वर्तमान में युवाचार्य) एव अन्य समर्थ सन्त भी इस आयोजन की सफलता के लिए स्वत: ही सकल्पबद्ध थे। इन सभी पूज्य त्यागी महानुभावों ने वैचारिक कट्टरता का निषेध कर साधु संघों एवं समाज में सद्भाव का वातावरण बनाने मे जो योग दिया है वह जैन समाज के इतिहास मे अभूतपूर्व उपलब्धि है।

परमपूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी अपने मृदु एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण के कारण जैन धर्म के सभी सम्प्रदायो के सन्तों मे लोकप्रिय रहे हैं। भगवान् महावीर स्वामी के २५०० वें परिनिर्वाण महोत्सव में सक्रिय रुचि लेने वाले सन्त श्री सुशील कुमार जी के विशेष अनुरोध, दिगम्बर जैन समाज की प्रार्थना एवं आयोजन की गरिमा को दृष्टिगत करते हुए आचार्यश्री ने राजधानी दिल्ली को १९७२-७३-७४ के चातुर्मासों से पुन: कृतज्ञ किया। ये तीन वर्ष जैन समाज एव दिगम्बरत्व के इतिहास के स्वर्णिम वर्ष सिद्ध हुए हैं। आचार्यश्री इन तीन वर्षों मे निरन्तर समाज के सयोजन मे व्यस्त रहे। वे रुग्णता के उपरान्त भी लगभग १८-१९ घंटे कार्य करने की क्षमता रखते थे।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने इन दिनों यह अनुभव किया कि भगवान् महावीर स्वामी एव जैन धर्म से सम्बन्धित साहित्य का व्यापक स्तर पर निर्माण एवं प्रकाशन कराया जाए। इसीलिए उन्होने नगर के मन्दिरों के शास्त्रभण्डार का अवलोकन करके भक्तिकालीन महाकाव्य 'वर्धमान चरित्र' का हिन्दी भाषा में अनुवादित करके 'भगवान् महावीर और उनका तत्त्व दर्शन' नामक विशाल

ग्रन्थ का प्रणयन किया। इस गौरवशाली ग्रन्थ मे उन्होने जैन धर्म के इतिहास, भूगोल, दर्शन, भगवान् महावीर स्वामी जी के जीवन के विविध पक्षों एव दिगम्बरत्व पर जो सामग्री प्रस्तुत की है, वह उनकी अनवरत साधना एव सिद्धि का प्रतिफल है। पूज्य आचार्यश्री ने अपने अनुभवी निर्देशन मे जैन धर्म के इतिहास को भी दो खण्डो मे प्रकाशित करवाकर विद्वत् समाज को अपूर्व शोध सामग्री सुलभ करा दी है। जनसामान्य की सुविधा के लिए आपने लाखो की संख्या मे छोटी-छोटी पुस्तकें एवं अन्य प्रचार सामग्री प्रकाशित करवाकर वितरित करवायी थी।

आचार्यश्री इन दिनों सभी सम्प्रदायो की संयुक्त बैठक में सम्मिलित होते थे और अपने अनुभवी मार्ग-निर्देशन से सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के मनोबल को ऊंचा किया करते थे। उन्होंने मन्त्र रूप में समाज को यह प्रेरणा दी थी कि यह आयोजन वास्तव में राष्ट्रीय स्तर पर होते हुए भी एक पारिवारिक समारोह है। अतः समस्त जैन समाज को इस आयोजन को उत्साह से मनाना चाहिए। अनेक अवसरो पर तो यह प्रतीत होता था कि आचार्य महाराज का जन्म इसी प्रकार के महोत्सवो के लिए हुआ है। सत्य भी है, क्योंकि भगवान् महावीर स्वामी के २५०० वे परिनिर्वाण महोत्सव की रूपरेखा को निर्धारित करते हुए उनके लिए भी सिद्धालय के द्वार का मार्ग खुल गया है।

इन तीन चातुर्मासों की अनेकानेक उपलब्धियों के सन्दर्भ मे एक महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख करना भी आवश्यक है जिससे दिगम्बरत्व के इतिहास म एक गौरवशाली अध्याय सदा-सदा के लिए जुड गया है। भगवान् महावीर स्वामी की पच्चीस सौ वी निर्वाण शताब्दी के सन्दर्भ मे राष्ट्रीय समिति की बैठक का शिक्षा मन्त्रालय द्वारा संसद् भवन मे आयोजन किया गया था। किन्ही कारणो से प्रधानमन्त्री भवन को अवगत कराया गया कि आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के दिगम्बर रूप मे संसद् भवन पधारने पर कुछ सदस्यो की भावना के आहत होने की सम्भावना है। अत निश्चित हुआ कि आचार्यरत्न जी बैठक मे न पधारकर बाहर से ही दिगम्बर आचार्य के रूप मे अपना आशीर्वाद भिजवाने की कृपा करे। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने इस प्रकार की मन्त्रणा को दिगम्बरत्व का अपमान समझा। सभी सम्प्रदायो के समर्थ सन्त भी वस्तुस्थिति से परिचित थे। आचार्यरत्न जी के प्रति उनका अगाध स्नेह था। आचार्य रत्न जी ने घोषणा कर दी कि भगवान् महावीर स्वामी दिगम्बर थे। अत. उनके परिनिर्वाण महोत्सव की राष्ट्रीय समिति मे आमन्त्रित दिगम्बर प्रतिनिधि को रोकना सर्वथा अनुचित है। स्थिति गम्भीर रूप ले चुकी थी। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सन्तो ने माननीय उपशिक्षा मन्त्री का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। वह भी प्रधानमन्त्री भवन के सदेश के सामने विवश थे, किन्तु उन्होंने श्वेताम्बर समाज के प्रतिनिधि मुनियों से श्री धवन की भेट करा दी। तत्कालीन प्रधानमन्त्री उदारमना श्रीमती इन्दिरा गाधी को स्थिति से अवगत कराया गया और उन्होंने आचार्य महाराज के पधारने की सहर्ष स्वीकृति दे दी। परमपूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ससद् भवन मे आयोजित बैठक में पधारे और अपनी धर्ममय मन्त्रणा से उन्होने समाज एव सरकार का मार्गदर्शन किया। ऐसे अवसर पर यदि आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी दिल्ली मे नही होते और अपनी व्युत्पन्नमति मे तत्काल क्रियाशील नही हो जाते तो वास्तव मे दिगम्बरत्व पर एक ऐसा प्रहार होता जिसका निराकरण शायद सैकडो वर्षों मे भी सम्भव नही हो पाता। इसीलिए भारतवर्ष का जैन समाज, विशेषत. दिल्ली का जैन समाज, उनका हृदय से आभारी है। उनकी शानदार रचनात्मक उपलब्धियो के प्रति नतमस्तक होना वास्तव मे धर्म का ही अग है।

भगवान श्री महावीर स्वामी के २५००वें परिनिर्वाण महोत्सव की गरिमा को दृष्टिगत करते हुए समग्र जैन समाज को एक सर्वमान्य ध्वज की पावन छाया मे एकत्र करना आवश्यक था। स्व० साहू श्री शान्तिप्रसाद जैन ने इस सम्बन्ध मे जैन धर्म के चारो सम्प्रदायो के प्रमुख आचार्यो एव मुनियो से सम्पर्क स्थापित किया। इस अवसर पर आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने एक प्रगतिशील सन्त के रूप मे जैन समाज की एकता के लिए सर्वमान्य ध्वज एव प्रतीक की आवश्यकता को लक्षित करते हुए समाज को पूर्वाग्रहो से मुक्त होने की प्रेरणा दी। अन्तत. आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी, आचार्यश्री तुलसी जी महाराज, मुनिश्री यशोविजय जी, मुनिश्री विद्यानन्द जी, मुनिश्री सुशील कुमार जी इत्यादि के प्रयासो से पचपरमेष्ठी के प्रतीक रूप मे पाच रगो का ध्वज एव प्रतीक समस्त जैनधर्मानुयायियो द्वारा अपनाया गया। इस प्रस्तावित ध्वज एवं प्रतीक की भव्य योजना का विवरण वीर परिनिर्वाण' (अक १, वर्ष १, जून १९७४) मे इस प्रकार उल्लिखित है—

"जैन समाज के इस सर्वमान्य ध्वज मे पाच रंगो को अपनाया गया है, जो पच परमेष्ठी के प्रतीक हैं। ध्वज मे सफेद रग अर्हन्त, लाल रग सिद्ध, पीला रंग आचार्य, हरा रग उपाध्याय एव नीला रग (नेवी ब्ल्यू रग) साधु का द्योतक है। ध्वज के इन पांच रगों को पच अणुव्रत एव पच महाव्रत के प्रतीक रूप में भी सफेद रंग अहिंसा, लाल रग सत्य, पीला रग अचौर्य, हरा रंग ब्रह्मचर्य तथा नीला रंग (नेवी ब्ल्यू रग) अपरिग्रह का द्योतक माना जा सकता है। रंगो की यह सगति बहुत उपयुक्त जान पडती है। पंचपरमेष्ठी

में अर्हन्त और पंच महाव्रतों में अहिंसा का विशेष महत्त्व है, इसलिए सफेद रंग को मध्य मे रखा गया है। ध्वज के मध्य में स्वस्तिक को अपनाया गया है, जो चतुर्गति का प्रतीक है। स्वस्तिक के ऊपर तीन बिन्दु हैं, जो सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को दर्शाते हैं। तीन बिन्दुओं के ऊपर अर्धचन्द्र है, जो सिद्ध शिला को लक्षित करता है। अर्धचन्द्र के ऊपर एक बिन्दु है, जो मुक्त जीव का द्योतक है।

जैन संस्कृति में स्वस्तिक का विशेष महत्त्व है। इसीलिए इसे ध्वज के बीच मे रखा गया है। चतुर्गति ससार मे परिभ्रमण का कारण है। इससे ऊपर उठकर अहिंसा को आचरण मे और अर्हन्त को हृदय मे अपनाकर ही हम निर्वाण को प्राप्त कर सकते है।

प्रतीक मे भी स्वस्तिक को त्रिलोक के आकार पुरुषाकार मे अपनाया गया है, जिसका जैन शासन मे महत्त्वपूर्ण स्थान है और यह सर्वथा मंगलकारी है। स्वस्तिक के ऊपर तीन बिन्दु त्रिरत्न के द्योतक हैं, जो सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को दर्शाते हैं। त्रिरत्न के ऊपर अर्धचन्द्र सिद्ध शिला को लक्षित करता है। स्वस्तिक के नीचे जो हाथ दिया गया है वह अभय का बोध देता है तथा हाथ के बीच मे जो चक्र दिया गया है वह अहिंसा का धर्मचक्र है। चक्र के बीच मे 'अहिंसा' लिखा हुआ है। प्रतीक के नीचे जो वाक्य सस्कृत मे दिया गया है 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'……इसका तात्पर्य है कि 'जीवों का परस्पर उपकार।' प्रतीक में जैन दर्शन का यह सूत्र युग-युग मे सम्पूर्ण जगत् को शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है।

प्रतीक जिस सुन्दर ढग से बन पडा है, उससे समूचे जैन शासन की बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है। त्रिलोक के आकार में प्रतीक का स्वरूप यह बोध देता है कि चतुर्गति मे भ्रमण करती हुई आत्मा अहिंसा धर्म को अपनाकर सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एव सम्यक् चारित्र के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकती है। सचमुच में यह प्रतीक हमे संसार से ऊपर उठकर मोक्ष के प्रति प्रयत्नशील होने का पाठ पढ़ाता है।"

१२ जून सन् १९७४ को निर्वाण महोत्सव समिति की बैठक में जैन ध्वज मे नेवी ब्ल्यू (Navy Blue) रग की जगह काले रंग का उपयोग किए जाने का निर्णय लिया गया। १२ जुलाई १९७४ को दिल्ली में सम्पन्न महासमिति की बैठक मे इस निर्णय का पुन: अनुमोदन किया गया तथा यह निर्णय लिया गया कि भविष्य मे जो भी ध्वज बने उसमे नेवी ब्ल्यू की जगह काला रग ही अपनाया जाए।

भगवान महावीर २५००वां परिनिर्वाण महोत्सव समिति की केन्द्रिय एवं प्रादेशिक बैठको मे आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी विशेष रूप से सम्मिलित हुआ करते थे। आपकी पावन उपस्थिति, समारोह के प्रति गहरी रुचि और अनुभवी मार्गदर्शन एव सहयोग से समारोह के आयोजकों को दिशा एवं बल मिलता था। दिल्ली प्रदेश राज्य समिति द्वारा आयोजित भगवान् महावीर स्वामी के जन्मोत्सव (अप्रैल १९७३) के अवसर पर आपके प्रेरक सन्देश का श्रवण कर दिल्ली की जैन समाज ने इस आयोजन को सफल बनाने का सकल्प कर लिया था। आयोजन मे विशेष रूप से पधारे हुए तत्कालीन उपशिक्षामन्त्री श्री डी० पी० यादव ने भी प्रस्तावित समारोह की सफलता की कामना करते हुए शिक्षा मन्त्रालय द्वारा प्रत्येक सम्भव सहयोग देने का आश्वासन दिया था।

८ जुलाई १९७३ को आपके पावन सान्निध्य में २५००वे परिनिर्वाण महोत्सव की सफलता के निमित्त राजधानी में विशेष रूप से पधारे हुए साधु-साध्वियो मुनिश्री विद्यानन्द जी, मुनिश्री रूपचन्द जी महाराज, मुनिश्री मगल जी एवं महासती श्री मृगावती जी महाराज का नागरिक अभिनन्दन आयोजित किया गया। तदुपरान्त २८ अक्तूबर, १९७३ को आपकी पावन उपस्थिति में जगत् वन्दनीय भगवान् महावीर स्वामी जी का निर्वाण महोत्सव आयोजित किया गया। इस अवसर पर जैन सन्तों की प्रेरक वाणी से कृतार्थ होकर मुख्य अतिथि श्री मुहम्मद शफी कुरैशी (मत्री, भारत सरकार) ने अपना एक मास का वेतन परिनिर्वाण महोत्सव समिति को प्रदान करने की घोषणा की थी।

जैन धर्म के परम वन्दनीय सन्तो—आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी, आचार्यश्री धर्म सागर जी महाराज, आचार्यश्री तुलसी जी महाराज, मुनि श्री सुशील कुमार जी, मुनि श्री विद्यानन्द जी, मुनि श्री नथमल जी, मुनिश्री जनक विजय जी के सान्निध्य मे १६ नवम्बर १९७४ को विशाल धर्मयात्रा का आयोजन किया गया। यह शोभा यात्रा प्रातः साढे दस बजे अजमल खा पाक, करौलबाग से प्रारम्भ हुई तथा मॉडलबस्ती, बाड़ा हिन्दूराव, पहाडी धीरज, सदर बाजार, खारी बावली, फतेहपुरी, चादनी चौक, लाल मन्दिर होते हुए लाल किले के ऐतिहासिक प्रागण मे शाम ७-३० बजे विसर्जित हुई। इस विराट् शोभा यात्रा का जैनेतर समाज ने भी हृदय से स्वागत किया। उस दिन ऐसा प्रतीत होने लगा था मानो पावापुर मे २५०० वर्ष पूर्व का भगवान् महावीर स्वामी का निर्वाण महोत्सव आज पुरानी दिल्ली की प्राचीरों में पुन: साकार रूप ले रहा हो। रात्रि के समय श्रावको द्वारा किए गए विद्युत् प्रकाश एव साज-सज्जा को देखकर यह लगता था कि स्वर्ग की देवात्माओ ने स्वयं पृथ्वी पर अवतरित हो कर भगवान् महावीर स्वामी जी का २५०० वा परिनिर्वाण महोत्सव मनाया हो। पत्रकारों की स्मृति में इतना बड़ा धार्मिक जुलूस दिल्ली के इतिहास मे इससे पहले कभी नही निकला था।

भगवान् महावीर स्वामी के २५०० वें परिनिर्वाण महोत्सव की राष्ट्रीय समिति तथा महासमिति ने १७ नवम्बर १९७४ को मध्याह्न में २ बजे रामलीला मैदान के ऐतिहासिक प्रांगण में एक विशाल जनसभा का आयोजन किया। "सभास्थल पर निर्मित तीन भव्य मचों मे एक पर विराजमान थे श्रद्धेय आचार्य श्री विजयसमुद्र सुरीश्वर जी महाराज, आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज, आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज, आचार्यश्री तुलसी जी महाराज, मुनि श्री सुशील कुमार जी महाराज, मुनि श्री विद्यानन्द जी महाराज, मुनि श्री नथमल जी महाराज, मुनि श्री जनकविजय जी महाराज तथा अन्य विद्वान मुनिगण। दूसरे मंच पर विराजमान थी हमारी प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाधी, शिक्षा मंत्री श्री नुरुल हसन, महासमिति के अध्यक्ष श्री कस्तूरभाई लालभाई, कार्याध्यक्ष साहू श्री शान्तिप्रसाद जैन, दिल्ली के मुख्य कार्यकारी पार्षद श्री राधारमण तथा अन्य विशिष्ट महानुभाव। तीसरे मंच पर विराजमान थी साध्वी श्री विचक्षणश्री जी, साध्वी श्री कनकप्रभा जी, साध्वी श्री मृगावतीजी, आर्यिका श्री ज्ञानमती जी, साध्वी श्री प्रीति-सुधा जी एव अन्य विदूषी साध्विया। तीनो भव्य मचो के सामने था विशाल जनसमुदाय। यह जनसमुदाय केवल दिल्ली का ही नही था अपितु सम्पूर्ण देश का प्रतिनिधित्व कर रहा था और सारा सभास्थल भगवान् महावीर की जय-जयकार से गूज रहा था।

प्रधानमत्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ने इस अवसर पर बोलते हुए कहा कि धर्म मे गहरी आस्था भारतीय जनता की सबसे बड़ी पूंजी एव शक्ति है। आधुनिकता की चमक-दमक मे हमे अपनी ताकत को नही खोना है। धर्म मे आस्था के कारण भारतीय जनता ने बड़ी-बडी कठिनाइयो का सफलता से मुकाबला किया है। धम के मामलो मे हमारी मखौल उड़ाने वाले पश्चिम के कुछ देश अब इस सत्य को टटोलने की कोशिश कर रहे हैं। पश्चिम अब यह मानने लगा है कि जीवन मे असली शान्ति भौतिकता की अन्धी होड़ मे नही, अपितु सत्य, अहिंसा, सहिष्णुता और अपरिग्रह जैसे मूल्यो मे आस्था से ही सम्भव है। जीवन मे असली शान्ति के लिए वे भारत की ओर देखते हैं।

प्रधानमन्त्री ने भगवान् महावीर को 'महाविजेता' की संज्ञा देते हुए कहा कि भगवान् महावीर ने सिखाया कि अपने से लडो, दूसरों से नहीं। अपने अन्तस को टटोलो, दूसरो का नही। आत्मविजय प्राप्त करें—द्वेष से नही, दोस्ती से, हिंसा से नहीं, अहिंसा से। दूसरे धर्म भी उतने ही सत्य हैं जितना कि अपना। भगवान् महावीर ने हमे यही सिखाया और भारतीय सभ्यता की हमेशा से यही सबसे बडी देन रही—सहना यानी सहिष्णुता। भगवान् महावीर के शाश्वत और सार्वकालिक सन्देश—अपरिग्रह को जीवन मे उतारन की जोरदार अपील करते हुए प्रधानमंत्री ने कहा कि जरूरत से ज्यादा संचय ही झगड़े की मूल जड है। उन्होंने कहा कि कठिनाइयो के इस दौर में हम हौसला न खोएं और भगवान् महावीर के आदर्शों पर चलकर देश को आगे बढ़ाने मे मदद करें। उन्होंने विशेषतया युवकों से कहा कि वे भगवान् महावीर के २५०० वें परिनिर्वाण वर्ष मे, जबकि सम्पूर्ण विश्व में उनकी स्मृति मे समारोह आयोजित किए जा रहे हैं, ऐसी हिंसक कार्यवाहियो से बचें जिससे देश की एकता और हमारे बुनियादी ढाचे पर विपरीत प्रभाव न पड़े।"

इस अवसर पर आचार्य श्री विजय समुद्र सूरीश्वर जी महाराज, आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज, आचार्यश्री तुलसी जी महाराज, आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज ने भगवान् महावीर के जीवन एव उपदेशो पर प्रकाश डालते हुए उन्हे अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की। इस विराट् धर्मसभा के स्वरूप को देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि पावापुर का परमपावन जल मन्दिर आज भी अपनी असंख्य प्रकाश रश्मियों से सन्तप्त मानवता को दिशाबोध दे रहा है। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज, आचार्यश्री तुलसी जी महाराज, आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज, आचार्यश्री विजय समुद्र सूरीश्वर जी महाराज, आचार्यश्री आनन्द ऋषि जी महाराज और उनकी परम्परा के संघस्थ साधुओ एव साध्वियो के प्रयास से भगवान् महावीर स्वामी के परिनिर्वाण महोत्सव के समय यह अनुभव होने लगा था कि सम्पूर्ण भारतवर्ष इन दो दिनो मे महावीरमय हो गया है। काश ! यह चिरस्मरणीय क्षण सदा-सदा के लिए स्थायी रूप ले लेता तो विश्व मे शान्ति एवं अहिंसा के अखण्ड साम्राज्य का स्वत: ही निर्माण हो जाता।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज एक उदार एव प्रगतिशील सन्त हैं। विश्व के सभी धर्मों के प्रति उनके मन मे समादर का भाव है। उनकी मान्यता है कि सभी धर्मों के प्रवर्तको ने ससारी प्राणियो के कल्याण के लिए मंगल उपदेश दिया है। ऐसे सभी महापुरुषों के चरणचिह्नों का अनुसरण करते हुए मनुष्य जाति को सुख एव शान्ति की अनुभूति हो सकती है। आपके उपदेशो मे इन सभी धर्मों के महापुरुषो की जीवन गाथा और प्रेरक वाणी सुलभ होती है। इसीलिए आचार्यश्री विभिन्न धर्मों के सन्त समागमो में भी सहर्ष सम्मिलित होते रहे हैं।

मुनि श्री सुशीलकुमार जी के अनुरोध पर आप नई दिल्ली में आयोजित पाचवें विश्व धर्म सम्मेलन में विशेष रूप से सम्मिलित हुए। मुनि श्री सुशीलकुमार जी की मान्यता है कि मानव-जाति को आध्यात्मिक धरातल पर ही जोड़ा जा सकता है। उनके मतानुसार राजनीति जब धर्म से प्रेरणा लेती है और धर्म जब राजनीति को सहारा देता है, तभी कल्याणकारी राज्य की

कल्पना साकार होती है। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी सदा से ही मुनि सुशीलकुमार के इस धर्मप्रभावक रूप को संरक्षण, आशीर्वाद एवं सहयोग देते आए हैं।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने पांचवें विश्व धर्म सम्मेलन में २४ नवम्बर १९७४ को राष्ट्र की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी को अपना विशाल ग्रन्थ 'भगवान् महावीर और उनका तत्त्व दर्शन' भेंट किया था। इस विशालकाय धर्मग्रन्थ का विमोचन दिनांक २ दिसम्बर १९७४ को तत्कालीन उपराष्ट्रपति श्री गोपालस्वरूप पाठक द्वारा किया जाना था। विमोचन समारोह से पूर्व ही तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी को पुस्तक की प्रथम प्रति भेंट करना यही संकेतित करता है कि धर्म अनायास ही जब-तब राजनीति को प्रेरित करता है। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी की दृष्टि मे श्रीमती इन्दिरा गांधी जैनधर्म के सांस्कृतिक मूल्यों का समुचित प्रतिनिधित्व करती थीं और भगवान् महावीर स्वामी की २५०० वी निर्वाण जयन्ती मे उन्होंने विशेष सहयोग दिया था। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने इस धर्मग्रन्थ के आशीर्वचन मे लिखा है—"भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गान्धी, भारत सरकार के शिक्षामन्त्री प्रो० नूरुल हसन, उपशिक्षा मन्त्री श्री डी० पी० यादव तथा उनके सहयोगियो को हमारा शुभाशीर्वाद है जो भगवान् महावीर स्वामी के २५०० वें निर्वाणोत्सव को सफल बनाने और भगवान् महावीर के पावन सन्देशों के लोकव्यापी प्रचार में अपना पूर्ण सहयोग दे रहे हैं तथा इस उत्सव को राष्ट्रीय उत्सव का रूप प्रदान करके भगवान् महावीर के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर रहे हैं।"

भगवान् महावीर स्वामी के २५०० वें परिनिर्वाण महोत्सव पर भगवान् श्री जिनेन्द्रदेव की वाणी का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रचार-प्रसार करने के निमित्त आयोजित 'जिणधम्म संगीति' को भी आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने आशीर्वाद प्रदान किया। दिनांक २९ व ३० नवम्बर १९७४ को सर्वसेवा संघ, वर्धा की ओर से दिल्ली में यह समारोह हुआ था। इस संगीति का उद्देश्य जैन धर्म के चारों सम्प्रदायो को मान्य एक ऐसी पुस्तक तैयार करना था जो जैन एवं जैनेतर, देश-विदेश के सभी जिज्ञासुओं को जिनवाणी और जैन धर्म का परिचय दे सके। सर्वसेवा संघ की ओर से विभिन्न धर्मों पर ऐसी अन्य पुस्तकें प्रकाशित भी हुई हैं। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी के अतिरिक्त आचार्यश्री धर्मसागर जी, आचार्यश्री विजयसमुद्रसूरि जी, आचार्यश्री तुलसी जी आदि ने भी संगीति के इस सर्वजनकल्याणकारी उद्देश्य की सफलता के लिए आशीर्वाद दिया था।

दिनांक ८ दिसम्बर १९७४ को जैन बालाश्रम दरियागंज के निकट वाली सड़क पर बनाये गए आकर्षक मण्डप में वयोवृद्ध तपस्वी आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज एवं दिगम्बरत्व के आदर्श साधक, युगप्रमुख पट्टाचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज के पावन सान्निध्य मे मुनि दीक्षा का भव्य आयोजन सम्पन्न हुआ। इस वैराग्यपरक दीक्षा समारोह के अवसर पर धर्मसम्राट् श्री धर्मसागर जी ने भव्य आत्माओ को मुनि दीक्षा, आर्यिका दीक्षा एवं क्षुल्लक दीक्षाएँ प्रदान की। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने भी इस दीक्षा समारोह मे मुनि श्री विद्यानन्द जी एव आर्यिका ज्ञानमती जी को क्रमश 'जैन शासन प्रभावक उपाध्याय' एव 'आर्यिकारत्न' के गौरव से अलंकृत किया। इस भव्य दीक्षा समारोह मे आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी एव युगप्रमुख पट्टाचार्य निस्पृह सन्त परमतपस्वी श्री धर्मसागर जी महाराज का महातेज देखते ही बनता था। इन दोनो युगविभूतियों का दर्शन करके श्रावक समुदाय धन्य हो उठा था। दोनो संघो के २४ दिगम्बर मुनियो के एक साथ दर्शन कर सभी को यह लग रहा था कि जैन आगमों में वर्णित चतुर्थ काल दिल्ली में साकार हो गया है। पक्षियों के कलरव, निकटवर्ती मैदानो की हरियाली, पुलकित तृणो की नोकों एवं मन्द-मन्द विचरण करने वाली शीतल सुखद वायु ने भी दीक्षा के इस अभूतपूर्व समारोह की श्रीवृद्धि मे सहयोग दिया था। दिगम्बरत्व के सम्मान में पृथ्वी एव आकाश के सभी जीव मुक्त कंठ से गीत गा रहे थे।

कलकत्ता चातुर्मास

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज महानगरी दिल्ली मे लगातार तीन चातुर्मास सम्पन्न करने के पश्चात् जीवन को ज्योतिर्मय बनाने के लिए भगवान श्री पार्श्वनाथ जी के पावन चरणो मे धर्माराधन के लिए उत्सुक थे। इसी भावना से उन्होंने २४ दिसम्बर १९५७ को महानगरी दिल्ली से सिद्धक्षेत्र श्री सम्मेदशिखर जी की ओर विहार किया। लगभग एक हजार किलोमीटर की इस पदयात्रा में आपने सैकड़ों जनसभाओं को सम्बोधित किया और लाखों व्यक्ति आपके सम्पर्क में आए। सिद्ध साधना के महान् केन्द्र श्री सम्मेदशिखर जी पर पहुंच कर आपको विशेष आनन्द का अनुभव हुआ। ईषत् प्राग्भार में स्थित अनन्तानन्त सिद्धों के पावन स्मरण मात्र से आचार्य श्री को दिव्य प्रेरणा एवं नई शक्ति प्राप्त हुई। श्री सम्मेदशिखर की उत्तुंग शैलराशि किसके जीवन को ज्योतित नहीं कर देती? इस परमवन्दनीय शैलराज का कण-कण मुनिगण एवं श्रावक समाज के लिए पूजनीय है।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी आत्मप्रक्षालन एवं भावी जीवन की दिशा को निर्धारित करने के लिए सिद्ध भूमि श्री सम्मेदशिखर जी की शरण में आए थे। इस पावन पुण्यभूमि में शायद उन्होंने जैन धर्म एवं दिगम्बरत्व की प्रतिष्ठा करने का महान् स्वप्न संजोया होगा। श्री सम्मेदशिखर जी एवं निकटवर्ती तीर्थक्षेत्रों के दर्शन करते हुए आचार्यश्री आरा (बिहार) में आ गए। आरा अपनी सांस्कृतिक सम्पदा एवं लोककल्याण की प्रवृत्तियों के कारण आचार्यश्री को विशेष रूप से प्रिय रहा है। इन्हीं दिनों आचार्यश्री को दिगम्बरत्व की प्रतिष्ठा में व्यवधान स्वरूप आयी एक चुनौती को स्वीकार करना पड़ा। पश्चिमी बंगाल की राजधानी कलकत्ता में विगत ५०० वर्षों में किसी दिगम्बर साधु का विचरण नहीं हुआ था। इसी कारण कलकत्ते का सम्पन्न जैन समाज इच्छा होते हुए भी बंगाली बहुल क्षेत्र में दिगम्बर मुनि को चातुर्मास के लिए आमन्त्रित करते हुए भयभीत होता था। आरा प्रवास में आचार्यश्री को इस वस्तुस्थिति का पता लग गया। श्रावकों की एक बैठक में किसी सज्जन ने अपनी आन्तरिक व्यथा को प्रगट करते हुए कहा कि क्या पंचम काल में कोई ऐसा दिगम्बर जैन मुनि नहीं है जो कलकत्ता की ओर विहार कर सके? इस चुनौती को दृष्टिगत करते हुए आचार्यश्री ने आरा से कलकत्ता की ओर विहार करने का संकल्प कर लिया। परम तपस्वी आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी के कलकत्ता की ओर प्रस्थान के समाचार से बंगाल एवं बिहार के जैन समुदाय में हर्ष की लहर दौड़ गई। कलकत्ते के जैन समाज ने इस अवसर पर बुद्धिमत्ता से बंगाल राज्य सरकार, कलकत्ता के स्थानीय प्रशासन एवं बुद्धिजीवियों से सम्पर्क स्थापित कर जैन धर्म में दिगम्बरत्व की पृष्ठभूमि से उन्हें परिचित करा दिया जिससे किसी प्रकार की भ्रान्ति न रहे और अनावश्यक उपद्रव न हो। पश्चिम बंगाल की राज्य सरकार, कलकत्ता महानगर के स्थानीय प्रशासन एवं बुद्धिजीवियों ने आचार्यश्री के कलकत्ता आगमन पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए जनता के नाम एक विज्ञप्ति प्रकाशित की। दिनांक ४-५-१९५८ को कलकत्ता में प्रसारित-प्रचारित की गई इस विज्ञप्ति का अविकल पाठ इस प्रकार है—

कलकत्ता के विशिष्ट नागरिकों द्वारा

दिगम्बर जैनाचार्य श्री देशभूषण जी महाराज

का

ससंघ कलकत्ता आगमन पर

हार्दिक स्वागत

आज का अद्भुत युग अमर जीवन देनेवाले आध्यात्मिक विचारों पर यम दण्ड का प्रहार कर रहा है। पाशविक प्रवृत्तियों तथा आसुरी भावनाओं का विश्वव्यापी प्रसार हो रहा है। लोकरुचि भी भोगाकांक्षी, विषयलोलुप तथा द्रव्य की दासी बन गयी है। जगत् भौतिक वस्तुओं का इतना अधिक दास बन गया है कि उनकी आराधना के लिए अपनी आत्मा का भी पूर्णतया हनन करने के लिए सदा तत्पर रहता है। स्वार्थी पतन के पथ में प्रवृत्त करनेवाली सामग्री अमृततुल्य लगती है। ऐसे वातावरण में फँसा हुआ व्यक्ति कैसे शाश्वत शान्ति, अमर जीवन और आनन्द को प्राप्त कर सकता है? युगान्तर उत्पन्न करने की क्षमता असाधारण आत्माओं में ही पायी जाती है।

ऐसी परिस्थिति में जबकि सर्वत्र असंयम के कीटाणु व्याप्त हों और संयम की साधना मोही मानव को यम-वाणी सी लगती हो पवित्रता के निकुंज, श्रेष्ठ योगी का जीवन व्यतीत करनेवाले, महामना, बालब्रह्मचारी, परम विद्वान्, समस्त भारत में पैदल विहार कर अहिंसा के प्रकाश को फैलाने वाले, अष्टम आश्चर्य-रूप 'भू-वलय' ग्रन्थ के अनुवादकर्त्ता, नग्न दिगम्बर जैनाचार्य श्री देशभूषणजी महाराज एवं उनके संघ का इस कलकत्ता महानगरी में पदार्पण का हम हार्दिक अभिनन्दन करते हैं। आशा है कि आपके सदुपदेश हम जैसे सांसारिक कार्यों में रत मनुष्यों के जीवन में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह जागृत कर हमें अपना आत्मकल्याण करने को प्रेरित करेंगे। हम आपके इस परम पवित्र सम्पर्क से अपने जीवन को पावन कर सकेंगे— ऐसा हमें विश्वास है।

साथ ही हम बगाल निवासियों से भी यही अनुरोध करेंगे कि वे इस महान् आध्यात्मिक योगी के दर्शन एवं सदुपदेश से अपनी आत्मा का कल्याण करें।

विनीत

डॉ० त्रिगुण सेन (मेयर, कलकत्ता कारपोरेशन), **केशवचन्द्र बसु** (डिप्टी मेयर, कलकत्ता कारपोरेशन), **जुगलकिशोर बिड़ला** (सुप्रसिद्ध उद्योगपति), **डा० सुनीतिकुमार चटर्जी** (अध्यक्ष, पश्चिम बगाल राज्य सभा), **शंकरदास बनर्जी** (स्पीकर, पश्चिम बंगाल विधान सभा), **डॉ० प्रतापचन्द्र गुहा राय** (उपाध्यक्ष, पश्चिम बगाल राज्य सभा), **आशुतोष मल्लिक** (डिपुटी स्पीकर, पश्चिम बंगाल विधान सभा), **कालीपदो मुखर्जी** (मंत्री, पुलिस, सुरक्षा एव गृहविभाग प० ब०), **ईश्वरदास जालान** (मंत्री, स्वायत्त शासन एव पंचायत विभाग प० बं०), **विमलचन्द्र सिन्हा** (मत्री, भूमि एव भूमि राजस्व विभाग प० बं०), **राय हरेन्द्रनाथ चौधरी** (मत्री, शिक्षा विभाग प० बंगाल), **खगेन्द्रनाथ दास गुप्ता** (मत्री, वर्क्स बिल्डिंग एवं हाउसिंग प० बंगाल), **डॉ० अनाथबन्धु राय** (मंत्री, स्वास्थ्य विभाग प० बंगाल), **भूपति मजुमदार** (मंत्री, वाणिज्य एव उद्योग विभाग प० बंगाल), **श्यामाप्रसाद वर्मन** (मत्री, एक्साइज विभाग प० बगाल), **रामकुमार भुवालका** (एम० एल० सी०), **आनन्दीलाल पोद्दार** (एम० एल० ए०), **बद्रीप्रसाद पोद्दार** (एम० एल० सी०), **विजयसिंह नाहर** (मत्री, प० बंगाल प्रदेश कांग्रेस कमेटी), **किशोरीलाल ढांढनिया** (काउसिलर, कलकत्ता कारपोरेशन), **सुधांशु कुमार सेठ** (काउसिलर, कलकत्ता कारपोरेशन), **हरिनारायण सादानी** (काउसिलर, कलकत्ता कारपोरेशन), **डॉ० कालीदास नाग**, **कालीप्रसाद खेतान**, **गोपीकृष्ण कानोड़िया**, **सजनीकान्त दास शरदचन्द्र पण्डित**, **सुनीलकान्ति घोष** (अमृतबाजार पत्रिका), **कृष्णचन्द्र अग्रवाल** (सचालक, दैनिक विश्वमित्र), **सूर्यनाथ पांडेय** (सचालक, सन्मार्ग), **नेपाल राय** (एम० एल० ए०)।

आचार्यश्री के कलकत्ता आगमन पर जैन एव जैनेतर समाज ने उनका अभूतपूर्व स्वागत किया। नगर-प्रवेश के समय बड़ी सख्या मे जनसमुदाय इनके दर्शन को उमड पडा। दर्शनों के लिए विशाल भीड़ के कारण शोभायात्रा का संक्षिप्त कार्यक्रम भी सात घटे मे सम्पन्न हो सका।

कलकत्ता प्रवास मे आचार्यश्री ने 'योगसार' पर विशेष प्रवचन किए। उनके उपदेशामृत की सरल, सरस एवं सुगम शैली से प्रभावित होकर बगाली समाज भी बड़ी सख्या मे धर्मसभा मे आने लगा। आचार्यश्री के पुण्य प्रताप से कलकत्ता जैसे शहर मे सघ के लिए ४० चौके लगने लगे थे। आचार्यश्री भी आहार के लिए विचित्र सकल्प लिया करते थे। एक दिन आचार्यश्री ने अपनी साधना को विकसित करने एव इन्द्रियों पर नियत्रण करने के लिए यह नियम (आकडी) लिया कि मैं उसी चौके मे आहार के लिए जाऊंगा जिसके द्वार पर श्रावक-श्राविका दस नारियल लिए हुए खड़े हो। दैवयोग से यह सकल्प पूरा भी हुआ। ऐसी है महाराज की दिव्य शक्ति !

आचार्यश्री के कलकत्ता चातुर्मास मे जैन धर्म की विशेष प्रभावना हुई। उन्होंने अनेक बगाली भाई-बहिनों को जलतोरी (मछली) एव शराब के त्याग का नियम दिलवाया। इस चातुर्मास मे कुछ सहृदय बगाली सज्जनो ने आचार्यश्री से अपने निवासस्थान पर आहार ग्रहण करने का भी विनम्र अनुरोध किया। आचार्यश्री ने उनकी भावना का सम्मान करते हुए शर्त रखी कि चौका लगाने से पूर्व उन्हे सदा के लिए मास-भक्षण का त्याग करना होगा। इस चातुर्मास मे आचार्यश्री ने बगला भाषा का अभ्यास किया और 'दिगम्बर मुनि' नामक सक्षिप्त बगला ग्रन्थ की रचना की। आपकी प्रेरणा से 'तत्त्व भावना' एव 'स्तोत्र सार सग्रह' का प्रकाशन भी इन्ही दिनो सम्भव हो पाया।

आचार्यश्री ने अपने सरल एव गरिमामय व्यक्तित्व से कलकत्ता के जैन एव जैनेतर समाज में विशेष स्थान बना लिया था। बगाली बन्धु तो आचार्यश्री की निर्दोष दिनचर्या एव त्यागमय जीवन को देखकर उनके प्रति श्रद्धायुक्त हो गए थे। चातुर्मास सम्पन्न करने के पश्चात् जब आचार्यश्री ने कलकत्ता से सम्मेदशिखर के लिए प्रस्थान किया तब लाखों की सख्या मे जनसमुदाय ने उन्हें अश्रुपूर्ण विदाई दी। महाराज श्री के विहार के समय सभी के कठ से समवेत स्वर में यह गीत गूंज रहा था—

"जय हो.........

माँ धरती को वरदान, तुम्हारी जय हो !
हे मूर्तिमान सद्ज्ञान, तुम्हारी जय हो !

जब-जब सूरज का ताप प्रखर हो जाता।
मानव-मन जल-थल, गर्मी से घबराता।
तब-तब नभ से जल धार, धरा पर आती,
हो तृषा-तृप्त, सूखी धरती हरषाती।

वैसे ही सुगुरु महान् तुम्हारी जय हो।
हे मूर्तिमान सद्ज्ञान, तुम्हारी जय हो।

है धन्य बग-भू पा तव पद की छाया।
सौभाग्य प्रथम दर्शन का जिसने पाया।
पर अब वियोग की घड़ी निकट जब आई।
अन्तर-पट पर है श्याम घटा लहराई।

हे परम पूज्य महमान तुम्हारी जय हो।
हे मूर्तिमान सद्ज्ञान, तुम्हारी जय हो।

तुम वीतराग, हम मोह न कम कर पाये।
इसलिये भाव मन मे हैं ऐसे आये।
दर्शन सदैव उपवन-मन्दिर मे पाये।
आचार्य देशभूषण न यहाँ से जायें।

यह है अन्तर का गान, तुम्हारी जय हो।
हे मूर्तिमान सद्ज्ञान, तुम्हारी जय हो !

स्वयमेव प्रकाशित सूर्य गगन मे जैसे।
निज ज्ञान ज्योति से, तव मुखमण्डल वैसे।
यदि धूल सूर्य पर कोई मूर्ख उछाले।
तो अपने मुख को कलुषित स्वयं बना ले।

तमहर 'प्रकाश' मय ज्ञान तुम्हारी जय हो।
हे मूर्तिमान सद्ज्ञान, तुम्हारी जय हो।
माँ धरती को वरदान, तुम्हारी जय हो।"

एक प्रत्यक्षदर्शी के अनुसार, "आचार्य श्री चल रहे थे, हम दौड रहे थे। सिंह की सी निर्भयता, सूर्य का तेज, चन्दा की सी शीतलता, बादलो का सलोनापन, पर्वत की अडिगता, सागर की गम्भीरता सभी कुछ एक व्यक्ति मे एक साथ परिलक्षित हो रही थी। एक छोटी-सी लडकी भीड़ से निकली। उसके हाथ मे था फूल। आचार्यश्री को देखकर उनके चरणो पर रख दिया और हाथ जोड़ कर खड़ी हो गई। पाँच वर्ष की बालिका के सिर पर कोमल मयूर पंखो की पिच्छी ने मूक ही कहा—तुम्हें धर्म की प्राप्ति हो। बालिका के बगाली माता-पिता कर जोड़े पंक्ति मे खड़े थे। हजारों व्यक्ति जिन्होंने किसी दिगम्बर जैनसाधु का प्रथम दर्शन किया था, बालको जैसी निर्विकारी छवि को सश्रद्ध प्रणाम कर रहे थे। जल थल नभ मानो बाली पुल पर एक साथ बोले—आचार्य श्री देशभूषण महाराज की जय।"

(दिव्य ध्वनि, वर्ष १, अंक १)

जयपुर चातुर्मास

आचार्यरत्न देशभूषण जी ने अपनी राष्ट्रव्यापी पदयात्राओं के दौरान सन् १९५४, १९६४, १९६६, १९७१ एवं १९८२ मे राजस्थान की गुलाबी नगरी जयपुर मे चातुर्मास सम्पन्न किए हैं। आचार्यश्री की दृष्टि मे जयपुर जैन संस्कृति एवं साहित्य का प्रमुख केन्द्र है और निकट भविष्य में भी उन्हे जयपुर से विशेष अपेक्षाएँ हैं।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज रत्नत्रय के साधक हैं। एक धर्माचार्य के रूप मे आप श्रावकों की धर्म के प्रति श्रद्धा को अविचल बनाने के लिए विशेष पूजा-पाठ एवं अनुष्ठानो को महत्त्व देते हैं। सन् १९५४ के चातुर्मास मे आचार्यश्री ने स्वयं बडी संख्या मे व्रत किए और लोककल्याण के निमित्त तीन लोक विधान, शातिधारा इत्यादि के विशेष अनुष्ठान भी सम्पन्न कराए। जयपुर निवासियों की धर्म में रुचि को दृष्टिगत करते हुए आचार्यश्री ने विशेष प्रवचन सभाओ को सम्बोधित करते हुए मानव जाति द्वारा सदाचारपूर्ण जीवन अपनाने पर बल दिया। जयपुर प्रवास में आपने एक कर्मशील साधक की भाति समाज की समस्याओ को गहराई से समझा और उनके निदान के लिए समाज का मार्गदर्शन किया। उनके इस समाजसुधारक एव लोककल्याणकारी रूप को देखकर जयपुर के जैनेतर समाज ने भी आपसे मार्गदर्शन की अपेक्षा की। अपराधवृत्ति के निवारण के लिए जयपुर जेल के अधिकारियो ने उन्हे कैदियो को सम्बोधित करने के लिए जेल के प्रागण मे आमन्त्रित किया। करुणाशील आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने अपने जयपुर प्रवास मे अनेक बार कैदियो को सम्बोधित करते हुए अभय, अहिंसा एव अपनत्व का भाव दिया। वहां के जेल अधिकारी भी यह अनुभव करते हैं कि आचार्य श्री की धर्मवाणी से प्रभावित होकर अपराधियो मे प्रायश्चित्त भाव जाग जाता है।

आचार्यश्री की धर्मदेशना से जयपुर के जैन समाज को संगठित होने का अवसर प्राप्त हुआ है। उनके सदप्रयासो से वहाँ पर अनेक पुस्तकालय, औषधालय, बाल आश्रम इत्यादि स्थापित एव सचालित हुए है। आपने जयपुर नगरी के जैन मन्दिरों का दर्शन करके यह निष्कर्ष निकाला कि यदि इस नगरी मे एक पर्वतीय मन्दिर और उसके निकट मुनि आवास का निर्माण हो जाए तो जयपुर के जैन वैभव मे अभूतपूर्व वृद्धि हो जायेगी। आचार्यश्री की इस योजना का सर्वत्र स्वागत हुआ। इस परिकल्पना के मूर्त रूप मे आचार्यश्री की प्रेरणा से चूलगिरि का निर्माण कार्य लगभग पूर्ण हो गया है। पर्वत पर साधुओं के निवास के लिए गुफाओ को विशेष रूप से तैयार कराया गया है। प्रकृति की रम्य गोद मे बसा हुआ चूलगिरि अपने गगनचुम्बी शिखरों से पर्यटको का ध्यान आकर्षित कर लेता है।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी के प्रति जयपुर के जैन धर्मानुयायियो की विशेष श्रद्धा है। उनके जन्मजयन्ती समारोह एव नगर मे मंगलप्रवेश के समय वहा एकत्र हुई श्रावको की विशाल संख्या इस सत्य की साक्षी है। राजस्थान के श्रावको के मन मे यह धारणा है कि आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी सरस्वती एव लक्ष्मी के अद्भुत सगम हैं। उनकी पावन वाणी के श्रवण से गृहस्थ का कल्याण एव उनके द्वारा आहार प्राप्त कर लेने से घर मे लक्ष्मी का प्रवेश हो जाता है। इन आस्थाओं की वास्तविकता से जयपुर के श्रावक ही परिचित होंगे, किन्तु इससे आचार्यश्री के व्यापक प्रभाव और जनसामान्य मे उनके प्रति अटूट आस्था का बोध तो होता ही है।

अभिनव निर्माण

परमपूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज का जैन मन्दिरो से रागात्मक सम्बन्ध रहा है। आचार्यश्री का जन्म दक्षिण भारत के बेलगाव जिले में हुआ था। बेलगाव स्वयं मे जैन मन्दिरो का वैभवशाली केन्द्र रहा है। इस प्रात मे अनेक मुनियो ने धर्माराधना द्वारा मुक्ति लक्ष्मी का वरण किया है। श्री जी० एम० कोरकिल ने अपने एक लेख "ए लीजेंड ऑव ओल्ड बेलगांव"—इंडियन ऐंटीक्वेरी, खंड ४, पृ० १३८-१४०, बम्बई, सन् १८७५ मे एक प्राचीन जनश्रुति के आधार पर बेलगाव मे घटित एक दुर्घटना मे एक सौ आठ मुनियों का अकस्मात् स्वर्गवास हो जाने एव उनकी स्मृति मे किसी धर्मपरायण श्रावक द्वारा एक सौ आठ मन्दिर बनाये जाने का उल्लेख किया है।

बाल्यकाल मे श्री देशभूषण जी ने अपने गाव के निकटवर्ती सभी मन्दिरों के श्रद्धापूर्वक दर्शन किये थे। परमपूज्य आचार्य श्री जयकीर्ति जी महाराज के सम्पर्क मे आने पर आपने सिद्धक्षेत्र श्री सम्मेदशिखर जी की लम्बी पदयात्रा की। इस तीर्थाटन मे आपने अनेक जैन मन्दिरों के दर्शन किये और उनके शिल्पविधान, मूर्ति प्रतिष्ठा इत्यादि पर सघस्थ त्यागियो से जानकारी एकत्र की। विचार-विमर्श के समय उनके सात्त्विक मन मे विशालकाय मन्दिरो को बनवाने का भाव जागृत हो जाता था। मन्दिरो के प्रति उनके अप्रतिम श्रद्धा भाव को लक्षित कर कुछ सात्त्विक शक्तियाँ आचार्यश्री में समाविष्ट हो गई। पूज्य श्री जयकीर्ति जी महाराज की आज्ञा से आप दुर्ग (मध्यप्रदेश) मे एक मानस्तम्भ की नींव भरवाने के लिये ब्रह्मचारी के रूप में वहाँ गये। अनुष्ठान के समय वहाँ केसर की प्राकृतिक वर्षा हुई। रामटेक क्षेत्र पर ऐलक दीक्षा अगीकार करते समय आपने भगवान् श्री शांतिनाथ के भव्य मन्दिर एवं निकटवर्ती १० मन्दिरों के भक्ति-पूर्वक दर्शन किये।

मुनि दीक्षा अंगीकार करते समय आपने तीर्थक्षेत्र कुन्थल गिरि पर बन रहे नये मन्दिरो से विशेष प्रेरणा ली। मांगुर चातुर्मास के उपरान्त आपने आचार्यश्री जयकीर्ति जी के साथ दक्षिण भारत के जैन मन्दिरों का सूक्ष्म अवलोकन किया। श्रवणबेलगोल मे भगवान् बाहुबली की मनोज्ञ प्रतिमा एव निकटस्थ मन्दिरो मे आप प्रभावित हुए। दक्षिण एव उत्तर भारत की पदयात्रा मे आपने जहाँ भी यह अनुभव किया कि अमुक स्थान पर श्रावको की पूजा-अर्चना एव दर्शन के लिये मन्दिर नही हैं, वहाँ आपने समाज को तत्काल मन्दिर बनवाने की प्रेरणा दी और जहाँ कही भी आपने प्राचीन मन्दिरो को जीर्ण अवस्था मे देखा, वहाँ के श्रावको को उनके जीर्णोद्धार के लिये प्रेरित किया। आपके सतत् प्रयास से सैकडो जीर्ण प्राचीन मन्दिरो को नवीन वैभव प्राप्त हुआ है। आपकी मान्यता है कि धर्म-पालन के लिये श्रावको की बस्तियो मे या उनके निकट जैन मन्दिर का होना अत्यावश्यक है और धर्मप्रभावना के लिये विशिष्ट तीर्थक्षेत्रों एवं महानगरो मे विशाल मन्दिरो के निर्माण से जिनशासन की प्रतिष्ठा होती है और धर्मकार्यों मे रुचि लगती है।

इस सम्बन्ध मे आपने 'धर्मामृत' मे निःकांक्षित अग की कथा का निरूपण करते हुए अपनी भावनाओ को इस प्रकार व्यक्त किया है—"अत्यन्त सुन्दर, उन्नत आकाश को छूने वाले, शिखरयुक्त मन्दिर निर्माण कराओ। खूब समारोह से पूजा कराओ। खूब प्रभावना कराओ। याचको को यथेच्छ दान दो। दूध-दही, शुद्ध घी का सरोवर बनाकर जिनेन्द्र देव का अभिषेक कराओ। सत्पात्रो को मनमाना दान दो। मन और आँखो मे तृप्ति होने तक भगवान् का अभिषेक करके पुण्य बन्ध करो।"

आचार्यश्री प्राय जैन मन्दिरो के वैभव का वर्णन करते हुए भक्ति रस से आप्लावित हो जाते हैं। मन्दिर मे चढने के लिये बनी हुई सुन्दर सीढ़ियो को आप मोक्षमहल की सीढी मानते हैं। तीर्थंकर भगवान् की प्रतिमा को निहार कर आप असीम आनन्द का अनुभव करते हैं। उन्ही के शब्दो मे—भगवान् से दृष्टि मिलने पर उन्हे ऐसा आनन्द आता है जैसे किसी भिक्षुक को रत्न प्राप्त होने पर प्रसन्नता होती है। मन्दिरो के गगनचुम्बी शिखरो का अवलोकन कर आप लोक के जिनचैत्यो की भाववन्दना के कल्पना लोक मे पहुच जाते हैं। आपकी मान्यता है कि जिनभवन की शोभा और पूर्णता शिखर-कलश और स्तम्भ से होती है। ध्वजा-स्तम्भ-विहीन मन्दिर के सम्बन्ध मे अपने मन्तव्य को प्रकट करते हुए उन्होने कहा है "जिस जिनभवन पर ध्वजा नही होती उस जिनभवन मे किया हुआ जप, होम, पूजा आदि सब व्यर्थ हैं।" आचार्य नयसेन विरचित 'धर्मामृत' के एक उद्धरण को देते हुए उन्होने यह सिद्ध किया है कि प्राचीन काल में जैन मन्दिरो के शिखरों पर चीन, महाचीन आदि के सुन्दर वस्त्रो की ध्वजाएँ वायु मे फहराती थी।

विशालकाय जैन मन्दिरो के निर्माण मे महाराज श्री की रुचि देखकर प्राय उनसे यह प्रश्न किया जाता है कि दिगम्बर परिवेश ग्रहण करने के उपरात भी आप मन्दिरो के निर्माण मे विशेष रुचि क्यों लेते हैं? आचार्यश्री ने मे इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है—

(अ) "जिस कार्य मे थोडे-से सावद्य (दोष) के साथ महान् पुण्य लाभ हो वह कार्य करना उचित है। जैसे क्षीर सागर मे दो-चार बूद विष कुछ हानि नही करता, उसका अवगुण स्वय नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार मन्दिर मे प्रतिमा बनवाने, पूजन आदि करने मे जो थोडा-सा आवद्य आरम्भ होता है वह मन्दिर मे असख्य जीवो द्वारा धर्म-साधन करने से, वीतराग प्रतिमा के दर्शन-पूजन से, असख्य स्त्री-पुरुषो द्वारा भावशुद्धि, विशाल पुण्य उपार्जन करने मे स्वय विलीन हो जाता है, पुण्य रूप हो जाता है, अत दोष नही है, थोडी-सी हानि की अपेक्षा महान् लाभ है। जिस तरह कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न, गरुड, मुद्रा आदि अचेतन जड पदार्थ मनुष्यो का महान् सुख-सम्पत्ति प्रदान करते हैं, तथैव जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा भी अचेतन होकर दर्शन भक्ति आदि करने वाले को वीतरागता, भाव शुद्धि, शांति आदि आत्मनिधि (निमित्त रूप से) प्रदान करते है। अत जिनमन्दिर बनवाना, प्रतिमा बनवाना, पूजन आदि क्रियाये हानिकारक न होकर लाभदायक हैं। एक बार का बनवाया हुआ मन्दिर तथा प्रतिमा दीर्घ काल तक अगणित स्त्री-पुरुषो को आध्यात्मिक शुद्धि, पुण्य कर्म-सचय करने मे सहायक हुआ करते हैं। अत जिनमन्दिर, जिनचैत्य, गुरु निषिधिका, शास्त्रनिर्माण, पूजन, प्रक्षाल, तीर्थयात्रा आदि बहुत लाभदायक हैं।"

[शास्त्रसार समुच्चय]

(आ) 'मन्दिर बनवाना, पूजा करना, पचकल्याणक प्रतिष्ठा कराना रथोत्सव कराना, आदि जितने पुण्य के कारण है, उन सब मे थोडा बहुत सावद्य अवश्य होता है। परन्तु वह सावद्य दोष पुण्य का ही कारण होता है। इसी प्रकार सचित द्रव्य से होने वाली पूजा मे होने वाला सावद्य दोष पुण्य का ही कारण होता है। ...यह प्रश्न हो सकता है कि देवाधिदेव की पूजा करने मे भी जल, चदन, अक्षत, पुष्प आदि के सग्रह करने अथवा मन्दिर निर्माण करने म पाप लगता ही है, इसलिए पापबध का कार्य नही करना चाहिए। इस पर आचार्य कहते है कि यद्यपि इस कार्य मे कुछ पाप अवश्य लगता है परन्तु जिनपूजादि मे जो महान् पुण्यबध होता है उस मे इतना सा पापबध उसी तरह कार्यकारी नही होता है जैसे अगाध अमृत के समुद्र मे एक विष की कणिका कर्मकारी नहीं होती।"

(अपराजितेश्वर शतक, द्वितीय खंड, पृष्ठ १२३-१२४)

(इ) "सुन्दर शिखरबद्ध मन्दिर बनवाना, मन्दिर मे मूर्ति स्थापित करना, प्रतिष्ठा करना, भगवान् की प्रतिदिन पूजा करना ये गृहस्थ के कर्तव्य हैं। इन कार्यों से धर्म तो होता ही है, साथ ही कीर्ति भी मिलती है। अतएव प्रत्येक श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार अपने धन का सदुपयोग करना चाहिए। उसे भगवान् की पूजा, प्रतिष्ठा में धन का व्यय करना चाहिए।"

(रत्नाकर शतक, प्रथम भाग, पृष्ठ सं० १४३-१४४)

वस्तुतः प्राचीन काल से ही समर्थ धर्माचार्यों ने धर्म की प्रभावना के लिये श्रावक समुदाय को विशाल देव-प्रतिमाओं के निर्माण एवं उनके लिए भव्य मन्दिरों को बनवाने का उपदेश दिया है। उन्ही समर्थ धर्मगुरुओं के कारण आज भारतवर्ष के विभिन्न प्रांतो में विशालकाय मन्दिरों के दर्शन सुगमता से हो जाते हैं। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने पूर्ववर्ती दिगम्बर आचार्यों से प्रेरणा लेकर विशालकाय जिनालयों का निर्माण कराया है। उनके द्वारा स्थापित जिनालय आज तीर्थक्षेत्रों का रूप धारण कर चुके हैं। अयोध्या में स्थित भगवान् श्री ऋषभदेव जी का मन्दिर, चूलगिरि (जयपुर), शांतिगिरि(कोथली) इत्यादि उनकी रचनात्मक संकल्प शक्ति के प्रतीक हैं।

(अ) अयोध्या का रचना-शिल्प

जैनधर्मानुयायियों का अयोध्या के प्रति गहरा अनुराग भाव है। अनादिकाल से इस क्षेत्र मे २४ तीर्थंकरो का जन्म होता आया है और भविष्य मे होता रहेगा। हुन्डावसर्पिणी के दोष के कारण इस काल मे यहा केवल पाँच तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव, श्री अजितनाथ, श्री अभिनन्दननाथ, श्री सुमतिनाथ और श्री अनन्तनाथ का जन्म हुआ। चक्रवर्ती भरत एवं सगर ने भी अयोध्या को अपनी राजधानी बनाया था। आचार्य गुणभद्र के अनुसार मघवा, सनत्कुमार और सुभौम चक्रवर्ती का जन्म भी यही हुआ था। राजा दशरथ एवं नारायण श्री रामचन्द्र जी भी यही पर राज्य करते थे।

आचार्य जिनसेन के अनुसार मरुदेवी और नाभिराज से अलकृत पवित्र स्थान मे जब कल्पवृक्षो का अभाव हो गया तब वहा उनके पुण्य के द्वारा बार-बार बुलाये हुए इन्द्र की आज्ञा से अनेक उत्साही देवो ने स्वर्गपुरी के समान अयोध्या नगरी की रचना की। आद्य तीर्थंकर के जन्मस्थान के गौरव के अनुरूप अयोध्या नगरी का निर्माण एव उसकी विशेषताओ का वर्णन आचार्य श्री जिनसेन ने 'आदि पुराण' के द्वादश पर्व में इस प्रकार किया है :—

ताभ्यामलंकृते पुण्ये देशे कल्पांघ्रिपात्यये। तत्पुण्यैर्मुहुराहूत पुरुहूतः पुरी व्यधात् ॥६९॥
सुरा ससभ्रमा सद्य पाकशासनशासनात्। ता पुरी परमानन्दाद् व्यधु सुरपुरीनिभाम् ॥७०॥
स्वर्गस्यैव प्रतिच्छन्द भूलोकेऽस्मिन्निधित्सुभि.। विशेषरमणीयैव निर्ममे सामरैः पुरी ॥७१॥
स्वस्वर्गस्त्रिदशावास स्वल्प इत्यवमत्य तम्। परश्शतजनावासभूमिकां तां नु ते व्यधु ॥७२॥
इतस्ततश्च विक्षिप्तानानीयानीय मानवान्। पुरी निवेशयामासुर्विन्यासैर्विविधैः सुराः ॥७३॥
नरेन्द्रभवन चास्याः सुरैर्मध्ये निवेशितम्। सुरेन्द्रभवन स्पर्द्धिपरार्ध्य विभवान्वितम् ॥७४॥
सुत्रामा सूत्रधारोऽस्याः शिल्पिन. कल्पजाः सुराः। वास्तुजात मही कृत्स्ना सोढा नास्तु कथ पुरी ॥७५॥
सचस्करुश्च तां वप्रप्राकारपरिखादिभि.। अयोध्या न पर नाम्ना गुणेनाप्यरिभि. सुराः ॥७६॥
साकेतरूढिरप्यस्या. श्लाघ्यैव स्वैर्निकेतनैः। स्वर्निकेतमिवाह्वातु साकूतैः केतुबाहुभिः ॥७७॥
सुकोशलेति च ख्याति सा देशाभिख्यया गता। विनीतजनताकीर्णा विनीतेति च सा मता ॥७८॥
बभौ सुकोशला भाविविषयस्यालघीयस.। नाभिलक्ष्मी दधानासौ राजधानी सुविश्रुता ॥७९॥
सनृपालयमुद्वप्रं दीप्रशाल सखातिकम्। तद्वत्स्र्यन्नगरारम्भे प्रतिच्छन्दायित पुरम् ॥८०॥
पुण्येऽहनि मुहूर्ते च शुभयोगे शुभोदये। पुण्याहघोषणा तत्र सुराश्चक्रु प्रमोदिनः ॥८१॥
अध्यवात्सां तदानी तौ तमयोध्या महर्द्धिकाम्। दम्पती परमानन्दादाप्तसम्पत्परम्परौ ॥८२॥
विश्वदृश्वैतयोः पुत्रो जनितेति शतक्रतुः। तयो. पूजा व्यधत्तोच्चैरभिषेकपुरस्सरम् ॥८३॥

मरुदेवी और नाभिराज से अलकृत पवित्र स्थान में जब कल्पवृक्षों का अभाव हो गया तब वहाँ उनके पुण्य के द्वारा बार-बार बुलाये हुए इन्द्र ने एक नगरी की रचना की ॥६९॥ इन्द्र की आज्ञा से शीघ्र ही अनेक उत्साही देवो ने बड़े आनन्द के साथ स्वर्गपुरी के समान उस नगरी की रचना की ॥७०॥ उन देवों ने वह नगरी विशेष सुन्दर बनायी थी जिससे ऐसा जान पडता था मानो इस मध्यम लोक मे स्वर्गलोक का प्रतिबिम्ब रखने की इच्छा से ही उन्होंने उसे अत्यन्त सुन्दर बनाया हो ॥७१॥ 'हमारा स्वर्ग बहुत ही छोटा है क्योंकि यह त्रिदशावास है अर्थात् सिर्फ त्रिदश=तीस व्यक्तियों के रहने योग्य स्थान है (पक्ष मे त्रिदश=देवों के रहने योग्य स्थान है)' - ऐसा मानकर ही मानों उन्होंने सैकड़ों-हजारों मनुष्यो के रहने योग्य उस नगरी (विस्तृत स्वर्ग) की रचना की थी ॥७२॥ उस समय जो मनुष्य जहाँ तहाँ बिखरे हुए रहते थे, देवों ने उन सबको लाकर उस नगरी मे बसाया और सबके सुभीते के लिए अनेक प्रकार के उपयोगी स्थानों की रचना की ॥७३॥ उस नगरी के मध्य भाग में देवो ने राजमहल बनाया था। वह राजमहल इन्द्रपुरी के साथ स्पर्धा करने वाला था और अनेक बहुमूल्य विभूतियों से सहित था ॥७४॥ जब कि उस नगरीकी रचना करने वाले कारीगर स्वर्ग के देव थे, उनका अधिकारी सूत्रधार इन्द्र था और मकान वगैरह बनाने के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी पड़ी थी तब वह नगरी प्रशंसनीय क्यो न हो ? ॥७५॥ देवो ने उस नगरी को वप्र (धूलि के

बने हुए छोटे कोट), प्राकार (चार मुख्य दरवाजों सहित, पत्थर के बने हुए मजबूत कोट) और परिखा आदि से सुशोभित किया था। उस नगरी का नाम अयोध्या था। वह केवल नाममात्र से अयोध्या नही थी किन्तु गुणो से भी अयोध्या थी। कोई भी शत्रु उससे युद्ध नहीं कर सकते थे इसलिए उसका वह नाम सार्थक था [अरिभि. योद्धुं न शक्या—अयोध्या] ॥७६॥ उस नगरी का दूसरा नाम साकेत भी था क्योंकि वह अपने अच्छे अच्छे मकानो से बड़ी ही प्रशंसनीय थी। उन मकानो पर पताकाएँ फहरा रही थी जिससे वे ऐसे जान पडते थे मानो स्वर्गलोक के मकानो को बुलाने के लिए अपनी पताका रूपी भुजाओं के द्वारा संकेत ही कर रहे हो। [आकेतैः गृहै. सह वर्तमाना—साकेत, 'स + आकेता'—घरो से सहित] ॥७७॥ वह नगरी सुकोशल देश मे थी इसलिए देश के नाम से 'सुकोशला' इस प्रसिद्धि को भी प्राप्त हुई थी। तथा वह नगरी अनेक विनीत-शिक्षित-पढे-लिखे विनयवान् या सभ्य मनुष्यो से व्याप्त थी इसलिए वह 'विनीता' भी मानी गयी थी – उसका एक नाम 'विनीता' भी था ॥७८॥ वह सुकोशला नाम की राजधानी अत्यन्त प्रसिद्ध थी और आगे होने वाले बडे भारी देश की नाभि (मध्य भाग की) शोभा धारण करती हुई सुशोभित होती थी ॥७९॥ राजभवन, वप्र, कोट और खाई सहित वह नगर ऐसा जान पडता था मानो आगे कर्मभूमि के समय में होने वाले नगरो की रचना प्रारम्भ करने के लिए एक प्रतिबिम्ब-नकशा ही बनाया गया हो ॥८०॥ अनन्तर उस अयोध्या नगरी में सब देवो ने मिलकर किसी शुभ दिन, शुभ मुहूर्त, शुभ योग और शुभ लग्न में हर्षित होकर पुण्याहवाचन किया ॥८१॥ जिन्हे अनेक सम्प्रदायों की परम्परा प्राप्त हुई थी ऐसे महाराज नाभिराज और मरुदेवी ने अत्यन्त आनन्दित होकर पुण्याहवाचन के समय ही उस अतिशय ऋद्धियुक्त अयोध्या नगरी में निवास करना प्रारम्भ किया था ॥८२॥ "इन दोनो के सर्वज्ञ ऋषभदेव पुत्र जन्म लेंगे" यह समझकर इन्द्र ने अभिषेकपूर्वक उन दोनो की बड़ी पूजा की थी ॥८३॥

जैनधर्म के पौराणिक साहित्य मे अयोध्या नगरी मे अनेक जैन मन्दिरो का उल्लेख मिलता है। काष्ठासंघ - नदीतटगच्छ के भट्टारक ज्ञानसागर (१६वी—१७वी सदी) ने 'सर्वतीर्थवंदना' के ८१वें छप्पय मे इसका वर्णन इस प्रकार किया है :—

कोशल देश कृपाल नयर अयोध्या नामह ।
नाभिराय वृषभेश भरत राय अधिकारह ॥
अन्य जिनेश अनेक सगर चक्राधिप मडित ।
दशरथ सुत रघुबीर लक्ष्मण रिपुकुल खडित ॥
जिनवर भवन प्रचड तिहा पुण्यक्षेत्र जागे जाणिये ।
ब्रह्म ज्ञानसागर वदति श्रीजिनवृषभ बखाणिये ॥

धीरे-धीरे भारतीय इतिहास मे घटित अनेक धर्मान्ध घटनाओ के घटाटोप मे अयोध्या स्थित जैन मन्दिरो का अस्तित्व लुप्त होता चला गया। भगवान् ऋषभदेव के पावन चरणचिह्नो की पूजा-अर्चना करने वाले श्रावक समुदाय मे अयोध्या के जैन वैभव के प्रति विधर्मी शासन काल मे भी रुचि बनी रही। श्री एच० आर० नेविल ने सयुक्त प्रान्त आगरा एव अवध के स्थानीय गजेटियर—इलाहाबाद जिल्द संख्या ४३ (१९०५)—फैजाबाद के पृष्ठ ५७-५८ मे अयोध्या के जैन वैभव, उसकी पृष्ठभूमि इत्यादि का उल्लेख करते हुए सम्वत् १७८१ मे पाच तीर्थंकरो—भगवान् ऋषभनाथ, श्री अजित नाथ, श्री अभिनन्दन नाथ, श्री सुमति नाथ एवं श्री अनन्त नाथ की प्रतिष्ठा मे पाँच दिगम्बर जैन मन्दिरों के निर्माण का उल्लेख किया है। एक लोककथा के अनुसार दिल्ली निवासी श्री केशरी सिंह अग्रवाल की प्रार्थना पर फैजाबाद के शासक फैजुद्दीन ने एक अतिशयपूर्ण घटना को अपनी आँखो से प्रत्यक्ष रूप मे देखकर भगवान् ऋषभदेव की जन्मभूमि, जिसे किसी धर्मान्ध मुस्लिम ने मस्जिद का रूप दे दिया था, पर पुन. जैन मन्दिर बनवा दिया।

जैन पुराणकारो की भाति हिन्दू शास्त्रकारो ने भी अयोध्या नगरी की पवित्रता एवं वैभव का मुक्तकठ से गुणगान किया है। विश्वसाहित्य के आद्यकवि, रामचरित के गायक महर्षि वाल्मीकि से लेकर आज तक भारतवर्ष की विभिन्न भाषाओ मे राम साहित्य का प्रणयन करने वाले सभी सृजनशील साहित्यकारो ने अपनी पावन वाणी से अयोध्या नगरी को विश्ववन्दनीय बना दिया है। राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने तो अपने भक्तिपरक रामकाव्य का नामकरण 'साकेत' ही कर दिया। 'साकेत' की प्रशसा उन्होंने इन शब्दों में की है—"देख लो साकेत नगरी है यही, स्वर्ग से मिलने गगन को जा रही।" साकेत की यह परमपावन पुण्य भूमि सत्ता का केन्द्र होकर भी अपनी वैराग्यपरक अनुभूतियो के लिए प्रसिद्ध रही है। इस महान् भूमि पर 'भरत' नामधारी दो ऐसी विभूतियां हुई हैं जिनके नाम तथा गुण एक समान हैं। दोनों को राज्याभिषिक्त किया गया, किन्तु सत्ता का भोग एवं वैभव उनकी वैराग्यजन्य अनुभूतियों के सम्मुख नतमस्तक हो गया। भारतीय संस्कृति की श्रमण एव वैदिक चिन्तनधारा मे सम्राट् भरत का गुण-कथन समान रूप से उपलब्ध है। एक ओर जहां भारतवर्ष को एक राष्ट्र के सूत्र मे पिरोने वाले सम्राट् भरत को श्रमण संस्कृति में योगी के रूप में स्मरण किया जाता है, वहीं रामकाव्य के बहुश्रुत पात्र राजा भरत ने अपने भक्तिपरक त्यागमय आचरण से अयोध्यावासियों को मुग्ध कर लिया था।

जगज्जननी सीता ने राजा भरत को आशीर्वाद देते हुए कहा था—

"मैं अम्बा-सम आशीष तुम्हें दूं, आओ,
निज अग्रज से भी शुभ्र सुयश तुम पाओ ।"

ऐसी पावन भूमि में जैनधर्म के आद्य तीर्थंकर भगवान् श्री ऋषभनाथ के विशाल मन्दिर की योजना का विचार आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी के मन मे भारतवर्ष की स्वतन्त्रता के साथ-साथ जागृत हो गया।

सन् १९४७ में अपने बनारस चातुर्मास के अवसर पर आपने यह अनुभव किया कि भारत के सांस्कृतिक विकास के लिए सभी धर्मों के अनुयायियो को एक दूसरे के प्रति उदार दृष्टि रखनी चाहिए। वर्षों पूर्व बनारस में धार्मिक कट्टरता का वातावरण था। हिन्दी के महाकवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को जैन मन्दिर मे जाने पर हिन्दू समाज के रूढ़िवादियों का विरोध सहना पड़ा था। राष्ट्रीय कवि ने इस धर्मान्धता और सकीर्ण दृष्टि का विरोध करते हुए एक पद मे अपनी मानसिक वेदना को रूपायित करते हुए कहा था कि हमारे एवं जैनियों के ईश्वर मे कोई भेद नही है :—

"पियारे दूजो को अरहंत।
पूजा जोग मानि कै जग में जाको पूजै सत।
अपनी अपनी रुचि सब गावत पावत कोउ नही अंत।
'हरीचंद' परिनाम तुही है तासो नाम अनंत ॥"

शताब्दियों की परतन्त्रता से मुक्त होकर भारतीय जनमानस भी अब साम्प्रदायिक विद्वेषों को विस्मृत कर राष्ट्रीय धारा मे सम्मिलित होने का इच्छुक था। आचार्यश्री की दृष्टि में भगवान् ऋषभदेव का विराट् दिव्य रूप श्रमण संस्कृति के साथ-साथ वैदिक संस्कृति मे भी आदर एवं श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। आचार्यश्री ने इन दोनों सस्कृतियो के मिलनबिन्दु को अपनी समाराधना का केन्द्र बनाया। सन् १९४८ से १९५१ तक आचार्यश्री आद्यतीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के यशस्वी पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् भरत के कर्ण-प्रिय महाकाव्य 'भरतेश वैभव' का भारतीय भाषाओं (गुजराती, मराठी एव हिन्दी) मे अनुवाद करते रहे। प्रस्तुत ग्रन्थों की भूमिका में भगवान् ऋषभदेव के धवल गुणो का वर्णन आचार्यश्री ने श्रीमद्भागवत के आधार पर किया है। सन् १९५१ के लखनऊ चातुर्मास में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने अयोध्या मे पचकल्याणक समारोह की प्रेरणा दी थी। उसी वर्ष उनके सद्प्रयासों से समाज के बालकों के सर्वाङ्गीण विकास की भावना से अयोध्या मे जैन गुरुकुल की स्थापना भी हुई। सन् १९५२ में आचार्यश्री का बाराबंकी में चातुर्मास हुआ। चातुर्मास के समापन पर आप लम्बी पदयात्रा करके अयोध्याजी गए और वहां वेदी प्रतिष्ठा का कार्यक्रम सम्पन्न कराया।

आचार्यश्री अयोध्या क्षेत्र के योजनाबद्ध विकास मे गहरी रुचि रखते हैं। इसी कारण उन्होंने अपने मन में सजोए हुए विचारों को अनुकूल समय देखकर जयपुर चातुर्मास मे प्रकट कर दिया। श्रवणबेलगोल स्थित भगवान् गोम्मटेश की विश्वविख्यात कलात्मक प्रतिमा उनके लिए सदा आकर्षण एव प्रेरणा का केन्द्र रही है। आचार्यश्री की मान्यता यह रही है कि उत्तर भारत में भी भगवान् ऋषभ-देव, भगवान् शान्तिनाथ, भगवान् पार्श्वनाथ, भगवान् महावीर स्वामी, भगवान् बाहुबली इत्यादि की इसी प्रकार की भव्य एव विशाल मूर्तियां स्थापित कराई जाएँ। इसी भावना से उन्होने तीर्थक्षेत्र अयोध्या के लिए भगवान् ऋषभदेव की मकराना के श्वेत सगमरमर की ३३ फुट ऊँची प्रतिमा के निर्माण का सकल्प ले लिया। इस सात्विक संकल्प को मूर्त रूप देने के लिए जैन एवं जैनेतर समाज के अनेक उदार श्रेष्ठि तत्पर हो गए। कुशल मूर्तिकारों ने मूर्ति का तक्षण कार्य प्रारम्भ किया और अनायास ही आचार्यरत्न जैसे समर्थ मुनि के निर्मल मन की गंगा के अनुरूप मूर्ति का सौन्दर्य निखर कर प्रकट हो गया। इस भव्य, मनोज्ञ एव आकर्षक मूर्ति को देखकर हिन्दू समाज के महान् नेता उद्योगपति सेठ जुगलकिशोर जी बिडला विशेष रूप से प्रभावित हुए। उन्होने आचार्यश्री से अनुरोध किया कि वे इस मूर्ति को दिल्ली में स्थापित करने की कृपा करें। उन्होंने आचार्यश्री से यह प्रस्ताव भी किया कि यदि वे चाहे तो इस मूर्ति को राजधानी स्थित बिड़ला मन्दिर मे भी स्थापित किया जा सकता है। आचार्यश्री ने धर्मप्राण श्री जुगलकिशोर बिड़ला की भावनाओं का आदर करते हुए कहा कि यह मूर्ति तो भगवान् रामचन्द्र जी की जन्मभूमि अयोध्या क्षेत्र के लिए ही बनवाई गई है। उन्होंने सेठ जी की इच्छा को देखते हुए कहा कि यदि दिल्ली मे कोई उपयुक्त स्थान मिल जाए तो वह ऐसी ही मूर्ति का पुनः निर्माण करा देंगे।

आचार्य श्री देशभूषण जी तीर्थक्षेत्रों एव अन्य विशिष्ट स्थानों पर बड़े-बड़े मन्दिरों के निर्माण के प्रेरक रहे हैं। इस संबंध में उनकी धारणा है कि मन्दिरों का विस्तृत क्षेत्र होने से भविष्य में नई योजनाओं को क्रियान्वित करने मे आनेवाली पीढ़ियों को साधनों

की सुलभता एवं सुगमता सहज रूप मे प्राप्त हो जायेगी। इसी कारण भगवान् ऋषभदेव जी की मूर्ति को प्रतिष्ठित करने के लिए रेलवे स्टेशन के निकट रायगंज क्षेत्र मे रानी का विशाल बाग मन्दिर जी के लिए प्राप्त किया गया। इस विस्तृत भूभाग के मध्य मे नयनाभिराम मन्दिर बनवाया गया। श्री मन्दिर जी के गौरव के अनुरूप मुख्य द्वारो का निर्माण कराया गया। मुख्य द्वार के दोनो ओर तीर्थयात्रियों एव त्यागियों की सुविधा के लिए विशेष कक्ष बनवाये गए। श्री मन्दिर जी को आकर्षक एव भव्य रूप देने के लिए अन्य अनेक उपयोगी योजनाओं को वहाँ क्रियान्वित कराया गया।

श्री मन्दिर जी के निर्माण कार्य की प्रगति से सन्तुष्ट होकर आचार्यश्री ने बिम्ब प्रतिष्ठा के लिए ६ मई से १४ मई १९६५ की तिथि निश्चित कर दी। पचकल्याणक महोत्सव मे सम्मिलित होने के लिए आचार्यश्री स्वयं भी सघ सहित अयोध्या पहुच गए। इस चिरप्रतीक्षित पचकल्याणक महोत्सव मे श्रमण एव वैदिक परम्परा को एक मंच पर प्रस्तुत करने की भावना से राष्ट्रसन्त श्री देशभूषण जी महाराज ने अयोध्या स्थित रामभक्त सन्तो एव महन्तो से सम्पर्क स्थापित किया। आचार्यश्री के सरल एव आकर्षक व्यक्तित्व के कारण वैष्णव समाज के साधुओ एव महन्तो ने प्रतिष्ठा कार्य मे विशेष सहयोग प्रदान किया। प्रतिष्ठा के अवसर पर समस्त अयोध्यावासियो, तीर्थयात्रियों एव निकटवर्ती क्षेत्र के धर्मप्रेमियो को भोज के लिए आमन्त्रित किया गया। आचार्यश्री के आदेश पर इस नगर-भोज के लिए विशेष तैयारिया की गई। बडे-बडे कुएँ खुदवाकर उनकी तलहटी मे पत्तले बिछाकर भोजन सामग्री एव मिष्टान्न रखे गए। जैन-अजैन बन्धुओं मे निर्मित प्रबन्ध व्यवस्था समिति ने सभी आगन्तुको का हृदय से स्वागत किया। उस समय ऐसा प्रतीत होने लगा कि अयोध्या का प्राचीन वैभव एक बार फिर अगडाई लेकर खडा हो रहा है। पचकल्याणको की कडी मे शास्त्रीय नियमो के अनुसार श्री भगवान को आहार दान के निमित्त जाना था। उस दृश्याकन के लिए आचार्यश्री चर्या के लिए निकले। उन्होंने आहार ग्रहण करने की विधि के अनुसार बाये हाथ को कधे पर रखकर चलना आरम्भ किया ही था कि कुछ दूरी पर महोत्सव मे सम्मिलित होने के लिए आए गजयुगल ने हर्षातिरेक से चिघाडते हुए सूड उठाकर महाराज श्री को प्रणाम किया और उनके निकट आए। उसी समय एक व्यक्ति लड्डू से भरी परात लेकर आचार्य महाराज का पूजन करने के लिए आया। आचार्यश्री के सकेत से उस व्यक्ति ने लड्डू की परात गज युगल के सम्मुख कर दी। दोनो हाथियो ने प्रीतिपूर्वक मोदक-सेवन किया। पचकल्याणक महोत्सव के सफल समापन समारोह के अवसर पर आचार्यश्री ने मन्दिर के निर्माण कार्य मे लगे हुए श्रमिको को भी विशेष पुरस्कार, वस्त्र एव मिष्टान्न से भरी हुई थालियाँ दिलवाईं।

श्री मन्दिर जी की योजना को साकार रूप देते समय ऐसा प्रतीत होता था कि आचार्यश्री का इस मन्दिर से विशेष मोह हो गया है। किन्तु पंचकल्याणक महोत्सव के समाप्त हो जाने के उपरान्त वहाँ की प्रबन्ध व्यवस्था के सबध मे आचार्यश्री को कोई मोह नही रहा। सम्भवतया आचार्यश्री का १९६५ के उपरान्त शायद ही अयोध्या जाना हुआ हो। वास्तव मे आचार्यश्री इस प्रकार के विशाल मन्दिर एवं मूर्तियाँ श्रावको के कल्याण एव धर्म के प्रचार-प्रसार के निमित्त निर्मित कराते हैं। इस प्रकार की धर्मप्रभावनाओ मे सम्मिलित होकर आचार्यश्री को केवल एक लाभ होता है—वह है तीर्थंकर भगवान् की अनुभूतियो से तादात्म्य स्थापित हो जाना। इसी लाभ के लिए उन्होंने दिगम्बर स्वरूप को ग्रहण किया है। किन्तु विचार करके देखा जाए तो इस प्रकार के आयोजन मानव जाति के लाभ के लिए हैं। उनके जैसे समर्थ सन्तो के कृतित्व से संस्कृति का निर्माण होता है। अयोध्या स्थित दिगम्बर जैन मन्दिर मे आज बडी सख्या मे हिन्दू समाज एव अन्य पर्यटक आते हैं। इस महान् मन्दिर से वे जैन धर्म के सार तत्त्व एव दर्शन को अपने साथ ले जाते हैं। इस वैचारिक आदान-प्रदान से आने वाले कल मे कितने स्वर्णकमल खिलेंगे, इसका आकलन आज सम्भव नही है। किन्तु इन स्वर्णकमलो की सुगन्धि मे आचार्यश्री के कालजयी व्यक्तित्व के सौरभ का संस्पर्श पाकर कौन प्रफुल्लित न होगा ?

(आ) कोथली का रचना-शिल्प

बेलगांव के श्रावक आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी को अपना आदर्श एव गौरवपुरुष मानते हैं और आपकी धर्म-प्रभावना के लिए लालायित रहते हैं। इसी पावन भावना से प्रेरित होकर निपाणी के जैन समाज ने सन् १९६७ मे आचार्यरत्न जी से यह अनुरोध किया कि वे सघसहित निपाणी स्थित भगवान् श्री नेमिनाथ जी के मन्दिर के दर्शनार्थ पधारने की कृपा करें। इसी अवसर पर कोथली ग्राम के निवासियो ने आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी से कोथली ग्राम मे पधारने की विनम्र प्रार्थना की। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी अपनी जन्मभूमि मे जाने से सकोच करते थे। अत उन्होंने कोथली निवासियों की प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया। कोथली निवासियों ने आचार्यश्री के चरणो मे अपनी प्रार्थना पुन: निवेदित की। आचार्यश्री के संकोच को लक्षित करके उन्होंने उनसे अनुरोध किया—"आपने धर्म की गंगा को सर्वसुलभ कराया है। जैन धर्म के एक वयोवृद्ध महान् आचार्य के नाते अब ससार का कोई भी प्रलोभन आपको

अपनी ओर आकर्षित नही कर सकता। अतः कोथली निवासियों के आत्मकल्याण के निमित्त भी आप वहाँ पधारने की स्वीकृति प्रदान करें।" अन्ततः आचार्यश्री ने कोथली निवासियो की भावना का सम्मान करते हुए कोथली में प्रवेश करना स्वीकार कर लिया।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज का १७ जून, १९६७ को कोथली ग्राम मे मगल-प्रवेश हुआ। उन्होंने सन् १९३५ में दिगम्बर परिवेश ग्रहण करने के लिये अपनी जन्मभूमि का परित्याग कर जैन सन्तो का सान्निध्य प्राप्त किया था। आज वही दिव्य पुरुष अपनी साधना के चरम उत्कर्ष पर पहुंचकर महान् धर्माचार्य के रूप मे अपनी ही जन्मभूमि मे धर्मप्रभावना के निमित्त आ रहे थे। आचार्यश्री के मगल आगमन से कोथली अपने को धन्य अनुभव कर रही थी। उनके आगमन पर समुपस्थित स्त्री-पुरुषों के नयनो से आनन्दाश्रु बह उठे। आचार्यश्री का मगलप्रवेश सभी कोथली निवासियो के लिये पारिवारिक उत्सव बन गया। उस दिन सभी ने अपनी प्रसन्नता प्रकट करने के लिये द्वार-द्वार पर धर्मपुरुष श्री देशभूषण जी की मगल आरती उतार कर अपने को धन्य माना।

कोथली ग्राम के सरल हृदय श्रावकों ने गाव मे साधुओं के ठहरने की समुचित व्यवस्था न होने के कारण आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज को सघ सहित श्रा मलगौडा जिनगौडा पाटिल के खेतो मे ठहरा दिया। आचार्यश्री के चरण रचनाधर्मी हैं। उनकी पावन उपस्थिति से जगल मे मगल हो जाता है। कोथली एव उसके निकटवर्ती अन्य ग्रामीण क्षेत्रो की आवश्यकता का अनुमान करते हुए आचार्यश्री ने इस क्षेत्र के सर्वाङ्गीण विकास की योजना को मन ही मन में निर्धारित कर लिया।

उनके महान् व्यक्तित्व मे एक आदर्श धर्मपुरुष एव समाजशास्त्री का अद्भुत सम्मिश्रण है। कोथली के विकास की परियोजनाओं मे उन्होंने सर्वाधिक महत्त्व ग्रामीणो की आवश्यकताओ पर केन्द्रित किया और अपने लोकमगलकारी स्वरूप के कारण प्रथम चरण मे मुनिनिवास, देवस्थान, गुरुकुल एव उच्चतर माध्यमिक विद्यालय की योजना को प्रस्तुत किया। आचार्यश्री की इस विशाल परियोजना को कोथली मे समादर एव विस्मय की दृष्टि से देखा गया। समादर का कारण योजना का वैज्ञानिक परिवेश था और विस्मय की पृष्ठभूमि मे साधनों का अभाव—उपयुक्त भूमि एव धन का अभाव—परिलक्षित होना था। गुरुकुल एव उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के माध्यम से आचार्यश्री ने कोथली एव उसके निकटवर्ती ग्रामीण क्षेत्रो के अबोध बालको के आध्यात्मिक एव लौकिक विकास की ठोस पृष्ठभूमि निर्मित कर दी है और मुनिनिवास एव देवस्थान द्वारा आपने इस क्षेत्र का सम्बन्ध आध्यात्मिक जगत् से जोड़ दिया है। इन सभी योजनाओ के लिये वहाँ के जैन और जैनेतर बन्धुओं ने भूमि के दान-पत्र स्वेच्छा से आश्रम के नाम लिख दिये थे।

देवस्थान व मुनि निवास

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी की प्रेरणा से निर्मित कोथली के शिखरयुक्त जिनमन्दिर मे तीन भाग हैं—गर्भालय, कलश मडप, प्रशस्त कल्याण मन्दिर। गर्भ मन्दिर मे आद्यतीर्थंकर भगवान् आदिनाथ की ७ फुट ऊची श्वेत सगमरमर निर्मित भव्य, कायोत्सर्ग, मनोहारी प्रतिमा विराजमान है। कलश मण्डप की पीठिका पर भगवान् चन्द्रप्रभ, भगवान् पार्श्वनाथ, भगवान् महावीर आदि चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तिया पधराई गई है। मन्दिर की दीवारो पर स्थान-स्थान पर आचार्य कुन्दकुन्द कृत 'समयसार' की गाथाओ को उत्कीर्ण किया गया है। मन्दिर के दक्षिणी भाग मे थोडे अन्तराल पर जैन साधुओ की साधना के लिये १० × १० फुट आकार की दस गुफायें निर्मित की गई हैं। मन्दिर के ठीक सामने नयनाभिराम सगमरमर से निर्मित विशाल मानस्तम्भ है।

शांतिगिरि की भव्य कल्पना

शान्तिगिरि का धर्म-क्षेत्र के रूप मे विकास करना आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की एक विशाल परिकल्पना है। इस क्षेत्र में आप एक कोलाहलविहीन आदर्श साधना-भूमि का विकास करना चाहते हैं। उनकी दृष्टि मे, "संयमी मुनियो को संसार की पीड़ा को शान्त करने के लिए समुद्र के किनारे, वन में, पर्वत के शिखर पर, नदी के किनारे, कमल वन मे, प्राकार (कोट) मे; शालवृक्षो के समूह मे, नदियो के सगम स्थान पर, जल के मध्य द्वीप में, प्रशस्त वृक्ष के कोटर मे, पुराने वन मे, श्मशान मे, पर्वत की जीवरहित गुफा मे, सिद्धकूट मे, कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालयो मे, शून्य घर मे, शून्य ग्राम मे, पृथ्वी के ऊँचे-नीचे प्रदेश मे, कदली गृह मे, नगर के उपवन की वेदिका मे, चैत्य वृक्ष के समीप, उपद्रव रहित वर्जित स्थान मे ध्यान करना चाहिये।" तपोभूमि शांतिगिरि के निर्माण एवं विकास में आचार्यश्री का यह दृष्टिकोण सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। शांतिगिरि का वैभवयुक्त शैल आचार्यश्री के निर्मल मन की भक्ति का भावमय संगीत है। इस कलात्मक शैल के निर्माण मे उन्होने अपनी कल्पना शक्ति एव दीर्घ अनुभव को साकार किया है। सन् १९४९-५० मे श्री नयसेन कृत 'धर्मामृत' का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत करते हुए आचार्यश्री के अवचेतन में तीर्थंकर श्री शांतिनाथ

श्री का भव्य प्रतिमा के निर्माण का स्वप्निल विचार आया होगा। आचार्यश्री के अनुसार भगवान् श्री शांतिनाथ के पावन स्मरण से मुक्ति लक्ष्मी का द्वार सुलभ हो जाता है—

"अनादि से आत्मा के साथ लगे हुए कर्म वृक्ष को काट कर, मोह रूपी शत्रु का सामना करके अन्त में मोक्ष लक्ष्मीपति होकर सदा सुखी रहने की इच्छा है, तो मोक्ष लक्ष्मी के पति चतुर्मुख शांतिनाथ भगवान् की पूजा करके मनुष्य जन्म को सार्थक करो।"
(धर्मामृत, पचम आश्वास, पद ६६ का अनुवाद)

आचार्यश्री की दृष्टि मे श्रावकों को भी सांसारिक सुख-वैभव के लिए सम्यक् श्रद्धान सहित तीर्थंकर भगवान् की धर्ममय शरण में जाना हितकर है। भारतीय इतिहास मे किसी समय कलिंगपति एव मगधपति सत्ता एव वैभव के प्रतीक थे। आचार्यश्री का कथन है कि तीर्थंकर भगवान् की भक्तिपूर्वक पूजा से मनोवांछित फल मिलते हैं और साधक को कलिंगपति एव मगधपति से भी अधिक वैभव की प्राप्ति होती है—

"हे भव्य जनो! यदि तुम हमेशा सुवर्णमय या रत्नमय सिंहासन पर बैठकर अनेक प्रकार के भोग-विलास की इच्छा रखते हो, या कलिंगपति, मगधपति से भी बढ़कर वैभव की इच्छा करते हो, तो अनेक प्रकार के राजाओ और देवो से पूजनीय चतुर्मुख श्री शान्तिनाथ भगवान् की भक्तिपूर्वक पूजा करो। अनेक प्रकार के दुःखों से मुक्ति चाहते हो, विविध प्रकार की अग्नि मे डालकर दुःख देने वाले, नाना प्रकार के पशुओं द्वारा कष्ट देने वाले और आरे से चीर कर सताने वाले, निंद्य वचन कहने वाले, असह्य दुःख देने वाले नरक से बचना चाहते हो और देवों के सुख चाहते हो तो निवृत्ति-मार्ग ग्रहण करके पापो का नाश करने वाले मोक्ष लक्ष्मीपति चतुर्मुख शान्तिनाथ भगवान् की स्तुति-पूजा करो।" (धर्मामृत, पचम आश्वास, पद ६४ व ६८ का अनुवाद)

शांतिगिरि का शैल कोथली स्थित दिगम्बर जैन आश्रम से लगभग डेढ किलोमीटर के अन्तराल पर है। यह पर्वत समतल भूमि से लगभग १४५ फुट तक ऊँचा है। इस पहाड पर समतल भूमि के मध्य भगवान् श्री शान्तिनाथ की २१ फीट ऊंची, भगवान् श्री चन्द्रप्रभु एवं भगवान् श्री महावीर स्वामी की १६-१६ फीट ऊंची भव्य एव मनोज्ञ प्रतिमाएँ स्थापित की गई है। जैनधर्म मे मुनि एवं आचार्य को रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यग्चारित्र के निर्दोष पालन के लिए सतर्क रहना पडता है। जैन तीर्थंकर परम्परा मे श्री चन्द्रप्रभु, श्री शान्तिनाथ एव श्री महावीर स्वामी जी क्रमश. ८वें, १६वें एव २४वें तीर्थंकर हैं। तीनो तीर्थंकर रत्नत्रय आराधना के प्रतीक हैं। अत. आचार्य श्री देशभूषण जी ने रत्नत्रय की उज्ज्वलता के प्रतीक शांतिगिरि पर उपरोक्त तीनो तीर्थंकरों की प्रतिमायें विशेष रूप से प्रतिष्ठित कराई हैं। इन तीनो प्रतिमाओ के निकट विदेह क्षेत्र मे विद्यमान बीस विहरमान तीर्थंकरों—श्री सीमन्धर, श्री युगमन्धर, श्री बाहु, श्री सुबाहु, श्री सजात, श्री स्वयप्रभ, श्री ऋषभानन, श्री अनन्तवीर्य, श्री सूरिप्रभ, श्री विशालप्रभ, श्री वज्रधर, श्री चन्द्रानन, श्री चन्द्रबाहु, श्री भुजंगम, श्री ईश्वर, श्री नेमिप्रभ, श्री वीरसेन, श्री महाभद्र, श्री देवयश, श्री अजितवीर्य की नयनाभिराम प्रतिमायें हैं।

आचार्य श्री देशभूषण जी को अष्टाह्निका पर्व मे अर्थात् कार्तिक, फाल्गुन व आषाढ़ मास के अन्तिम आठ-आठ दिनों मे इन्द्रध्वज पाठ, सिद्धचक्र का पाठ एव विशेष पूजा विधान कराने मे आनन्द आता है। इसीलिए उन्होने श्रावको को प्रेरणा देकर शांतिगिरि पर नन्दीश्वर द्वीप—१६ वापिया और ४ अजनगिरि, १६ दधिमुख एव ३२ रतिकर पर्वत (अर्थात् कुल ५२ पर्वत) का निर्माण करवाया है। नंदीश्वर द्वीप के प्रत्येक पर्वत पर एक-एक चैत्यालय है। पौराणिक मान्यताओ के अनुसार पर्वराज अष्टाह्निका के अवसर पर देवगण उस द्वीप पर जाकर मन्दिरो एव चैत्यालयो के दर्शन करते हैं। आचार्य श्री की पावन प्रेरणा से कोथली मे धर्माराधना के निमित्त पधारने वाले महानुभावो को भी नन्दीश्वर द्वीप का पूजन करके कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्यालयो मे श्रद्धा का अर्घ्य अर्पित करने का अवसर मिल जाता है।

आचार्य श्री देशभूषण जी द्वारा प्रेरित सतत् निर्माण की प्रक्रिया से पिछले तीन-चार वर्षों मे शांतिगिरि पर्वत ने जैन देवकुल के प्रतिनिधि आलय का रूप ले लिया है। पर्वत पर तीर्थंकर प्रतिमाओं के अतिरिक्त जैन धर्म के प्रभावक आचार्यों यथा श्री धरसेन, श्री पुष्पदन्त, श्री भूतबली, श्री कुन्दकुन्द, श्री समन्तभद्र, श्री अमृतचन्द्र इत्यादि की प्रस्तर प्रतिमायें स्थापित की गई हैं। एक पाषाण खंड पर सिद्धक्षेत्र श्री सम्मेदशिखर के दृश्यांकन को उत्कीर्ण कराया गया है। शांतिगिरि की गरिमा को गगनस्पर्शी रूप देने के लिए पर्वत शृंग

पर ४१ फुट ऊंचा मानस्तम्भ बनवाया गया है। पर्वत पर स्थित अपराजित द्वार मुक्ति पथ के आकांक्षियों को अक्षय सुख के साम्राज्य में प्रवेश कराता है।

पंचलौह धातु से निर्मित चतुर्विंशति जिनप्रतिमा, भगवान् पार्श्वनाथ की १७ फुट ऊंची मनोज्ञ पाषाण-प्रतिमा, सौम्य सप्त ऋषि प्रतिमा, पर्वत पर विशेष रूप से स्थापित भगवान् ऋषभदेव, भगवान् बाहुबली एवं भगवान् भरत की (क्रमशः ११ फुट, ६ फुट, ६ फुट) ऊंची मनोहारी प्रतिमायें अनायास ही दर्शनार्थियों का ध्यान आकर्षित कर लेती हैं। शांतिगिरि का विशेष शृंगार करने के लिए महाराज श्री ने पर्वत पर कमल मन्दिर का निर्माण कराया है। इस अनुपम रचना में अष्टकोण कमल के मध्य में चतुर्मुख भगवान् पद्मप्रभु जी की प्रतिमा को प्रतिष्ठित किया गया है। चतुर्मुख तीर्थंकर प्रतिमा के निकट आठों कमल-पत्रों पर भगवान् ऋषभदेव से भगवान् चन्द्रप्रभु (पहले आठ तीर्थंकर) तक की प्रतिमायें गोलाकार रूप में स्थापित की गई हैं। आठों कमल-पत्रों के शेष भाग पर क्रमश. दो-दो तीर्थंकरों की प्रतिमायें (तीर्थंकर पुष्पदन्त से भगवान् महावीर स्वामी जी तक) प्रतिष्ठित की गई हैं। इन चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियों की रंग-सयोजना उनके वर्ण के अनुरूप है।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज जैन मूर्ति शास्त्र के गम्भीर अध्येता एवं अन्वेषक हैं। वे प्राय. प्राचीन प्रतिमाओं के भावपूर्वक दर्शन करते समय उससे तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। अतिशययुक्त मूर्तियों के आप अद्भुत पारखी हैं। इस सम्बन्ध में श्री महावीर कुमार डोसी ने 'आचार्य महावीर कीर्ति स्मृति-ग्रन्थ' में आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी एवं आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी द्वारा मल्हारगज (इन्दौर) स्थित चैत्यालय में भगवान् श्री चन्द्रप्रभु की प्रतिमा को छाती से दबा कर देखने का रोचक वर्णन किया है।

सन् १९८१ में भगवान् बाहुबली प्रतिष्ठापना सहस्राब्दी समारोह से कोथली के लिए वापिस आते समय आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज को कारकर जिले के जंगल में ८०० वर्ष प्राचीन भगवान् श्री पार्श्वनाथ की अतिशययुक्त प्रतिमा के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त हुई। आचार्यश्री उस मूर्ति के दर्शन के लिए जगल में गए। मूर्ति के अवलोकन मात्र से वे धन्य हो गए। उन्होंने भारतीय शिल्पकला की इस अनुपम निधि को शांतिगिरि पर प्रतिष्ठित करने का सकल्प किया। आज भगवान् पार्श्वनाथ की वह मनोहारी अद्भूत प्रतिमा शांतिगिरि के गौरव में भी वृद्धि कर रही है। उस अतिशययुक्त मूर्ति के छत्रत्रय में कुशल शिल्पियों ने कुछ रिक्त स्थान इस प्रकार से छोड दिए हैं कि प्रात कालीन अभिषेक के समय छत्रत्रय से जलधारा स्वय प्रवाहित हो उठती है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि शांतिगिरि पर्वत पर तीर्थंकर भगवान् का मणि-मौक्तिकों से देवकृत अभिषेक हो रहा हो। प्रत्यक्षदर्शियों का कहना है कि उस अभिषेक जल से असाध्य रोग भी तत्काल दूर हो जाते हैं।

आचार्यश्री के अनुभवी दिशा निर्देशन में शांतिगिरि के विकास का कार्यक्रम निरन्तर वेगमान गति से चल रहा है। समवशरण की योजना को क्रियान्वित किया जा रहा है। आचार्यश्री के प्रयास से पहाड को अनेक प्रकार के दुर्लभ पे -पौधों से सज्जित करके लता मंडप का रूप दे दिया गया है। शांतिगिरि की विकास योजना के बढ़ते हुए चरणों को देखकर निस्सन्देह कहा जा सकता है कि निकट भविष्य में शांतिगिरि का यह क्षेत्र आध्यात्मिक प्रेरणा के लिए मुनियों एवं मुमुक्षुओं को समान रूप से आकर्षित करेगा।

गुरुकुल एवं उच्चतर माध्यमिक विद्यालय

तीर्थक्षेत्र का सर्वाङ्गीण विकास करने से पूर्व आयोजकों का यह दायित्व हो जाता है कि वे सम्बन्धित क्षेत्र के नागरिकों की भावनाओं का सम्मान करने के लिए लोककल्याण की योजनाओं को प्राथमिकता प्रदान करें। यदि निकटवर्ती क्षेत्र के निवासियों की रागात्मक अनुभूतिया तीर्थक्षेत्र से सम्पृक्त नहीं हो पायेंगी तो निकट भविष्य में क्षेत्र की सुरक्षा एव प्रबन्धव्यवस्था के लिए आस्थावान् कार्यकर्ताओं का मिलना कठिन हो जाएगा। आचार्यश्री ने अपने कोथली प्रवास के प्रथम दिन ही यह अनुभव कर लिया था कि एक दीर्घ अवधि बीत जाने पर भी कोथली एवं आस-पास के क्षेत्र में बालकों की पढ़ाई की समुचित व्यवस्था नहीं हो पाई है। वहाँ के परिवारों की आर्थिक स्थिति से भी आप परिचित थे। अतः उन्होंने सर्वप्रथम क्षेत्र के बालकों की शिक्षा के लिए विद्यालय स्थापित किया। बालकों को सुसंस्कारित बनाने एवं धर्म सम्बन्धी ज्ञान देने के लिए गुरुकुल की स्थापना कराई। आपकी व्यक्तिगत रुचि के कारण कोथली की कल्याणकारी परियोजना के प्रभाव क्षेत्र में आने वाले बालकों का अभूतपूर्व विकास हुआ है। आज वहाँ के बालकों में अपूर्व आत्म-विश्वास की भावना है। शांतिगिरि क्षेत्र पर दर्शन के निमित्त जाने वाले श्रावकों ने इस सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा है कि आचार्य श्री देशभूषण जी ने वहां बालकों की एक ऐसी सेना खड़ी कर दी है जो युद्धस्तर पर किसी भी काम का दायित्व अपने ऊपर लेकर कार्य को कुशलतापूर्वक पूर्ण कर देती है। श्री मन्दिर जी में होने वाले सभी छोटे-बड़े आयोजनों की सम्पूर्ण व्यवस्था अब बालक-दल ही करता है।

कोथली का सजीव हाथी

भारतवर्ष के प्राय. सभी प्रमुख मन्दिरो मे पर्यटको का ध्यान आकर्षित करने के लिए पशु-पक्षियो की आकृतियों की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। प्रायः छोटी आयु के बालक उनकी सवारी से अपना मनोरंजन करते हैं। एक बार एक व्यक्ति मातृसुख से वंचित सात दिन के गजशावक को आचार्यश्री की शरण मे ले आया। आचार्यश्री ने उस गजशावक को भी स्नेह से कोथली के आश्रम मे स्थान दे दिया। आज वह गजशावक कोथली क्षेत्र मे दर्शन-पूजन के निमित्त आने वाले श्रावकों एव मुनियो का सूंड उठाकर स्वागत करता है। आचार्यश्री के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए वह नियमित रूप से पुष्प-गुच्छ उनके श्रीचरणो मे भेंट करता है। सायंकाल के समय वह अपनी सूंड मे दीपक को रखकर विभिन्न मुद्राओ मे आचार्य श्री देशभूषण जी की आरती करता है। वास्तव मे आचार्यश्री ने कोथली क्षेत्र का जो योजनाबद्ध विकास किया है वह श्रमण सस्कृति के इतिहास मे सदैव श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाएगा।

(इ) श्री पार्श्वनाथ चूलगिरि (जयपुर) का रचना-शिल्प

सन् १९५८ मे आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने राजस्थान की राजधानी जयपुर मे वर्षायोग स्थापित किया। आचार्यश्री के चातुर्मास का अधिकाश भाग राणा जी की नशिया मे व्यतीत हुआ। आचार्यश्री प्रायः तपस्या के लिए नशिया जी की निकटवर्ती पर्वत शृंखला पर जाया करते थे। पर्वत के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर उनके मन मे विचार आया कि जैन सन्तों की साधना के विकास के लिए यहा तपोभूमि बननी चाहिए। अपने प्रवास काल मे आपको यह भी ज्ञात हुआ कि इस पर्वत पर परम तपोनिधि आचार्यकल्प श्री श्री चन्द्रसागर जी महाराज एक पाव से खड़े होकर तपस्या किया करते थे। आर्यिका इन्दुमती जी ने 'आचार्यकल्प श्री चन्द्रसागर स्मृति ग्रन्थ' मे आचार्य चन्द्रसागर जी की साधना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि तपोरत आचार्यकल्प श्री चन्द्रसागर जी के निकट प्राय. एक शेर भी आकर बैठ जाया करता था। पहाड़ की रमणीयता एव प्राकृतिक परिवेश को देखकर आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने खानिया क्षेत्र चूलगिरि के विकास का सकल्प कर लिया।

चूलगिरि के विकास के प्रथम चरण मे आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने पर्वत पर आद्यतीर्थंकर भगवान् श्री ऋषभदेव जी के चरणों की स्थापना कराई। आचार्यश्री की प्रेरणा एव आशीर्वाद से राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया ने इस नवीन तीर्थ के विकास मे विशेष रुचि प्रदर्शित की और विकासमान तीर्थ के लिए भूमि आवटन मे विशिष्ट सहयोग दिया। सन् १९६४ मे आचार्यश्री की प्रेरणा से चूलगिरि के विकास को विशेष गति एव बल प्राप्त हुआ। पहाड़ पर चढने के लिए लगभग ८०० सीढ़ियो का निर्माण हुआ। पर्वत पर आद्यतीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर स्वामी जी तक की चौबीस टोकों का निर्माण हुआ। पर्वतशिखर पर स्वच्छ सगमरमर का भगवान् पार्श्वनाथ जिनालय भी स्थापित किया गया। मई १९६६ मे आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के सान्निध्य मे इस तीर्थ का शास्त्रोक्त विधि-विधान से पचकल्याणक प्रतिष्ठा समारोह सम्पन्न हुआ।

आचार्यश्री की उज्ज्वल शिष्य-परम्परा मे से बालब्रह्मचारिणी क्षुल्लिका राजमती जी ने आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज के दक्षिण प्रवास काल मे चूलगिरि क्षेत्र के विकास मे सराहनीय योग दिया है। क्षुल्लिका राजमती जी के अनुभवी मार्गनिर्देशन मे पर्वत पर भगवान् महावीर स्वामी जी के भव्य मन्दिर का निर्माण हुआ है। वस्तुत. आचार्य श्री देशभूषण जी चूलगिरि के माध्यम से राजस्थान में सम्मेदशिखर का लघु सस्करण एव पर्वतीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र का विकास करना चाहते थे। इसीलिए श्रावको ने आचार्यश्री की प्रेरणा एव मार्गदर्शन से चूलगिरि के पर्वत पर शिखरयुक्त मन्दिर बनवाया है।

चूलगिरि के नवनिर्माण की गौरवगाथा एव सास्कृतिक सम्पदा के दर्शन ने आचार्यश्री को वार्द्धक्य मे उत्तर भारत की ओर आने के लिए प्रेरित किया। चूलगिरि पर स्थापित भगवान् महावीर स्वामी जी की लगभग साढ़े उन्नीस फुट ऊची धवल पाषाण की प्रतिमा के पंचकल्याणक महोत्सव के निमित्त आप सन् १९८१ मे जयपुर चातुर्मास के लिए आए। आपके सद्प्रयासो से चूलगिरि के रूप में एक नए दिगम्बर तीर्थ का उद्भव हो गया है। जयपुर की महारानी गायत्रीदेवी के अनुसार पर्वत की उपत्यकाओ मे बना हुआ यह तीर्थ वर्तमान मे राजस्थान राज्य का शृंगार बन गया है।

(ई) कोल्हापुर जैन मठ का रचना-शिल्प

आचार्यश्री अपनी धर्मप्रभावना मे कोल्हापुर को विशेष महत्त्व देते आए हैं। उनकी दृष्टि मे कोल्हापुर उत्तर एवं दक्षिण का सन्धिस्थल है। कोल्हापुर के निकटवर्ती ग्रामो मे जैन धर्मानुयायी बड़ी संख्या मे रहते हैं। उनका प्रमुख व्यवसाय परम्परा से खेती रहा है। माननीय डब्ल्यू० डब्ल्यू हटर ने 'दी इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया' भाग ७ के संशोधित संस्करण सन् १९०८ मे कोल्हापुर राज्य

के जैन समाज के सम्बन्ध मे जानकारी देते हुए लिखा है कि कोल्हापुर राज्य मे ५०६२४ जैन निवास करते हैं जिनमें से अधिकाश लगभग ३६००० कृषि व्यवसाय से सम्बन्धित हैं। आचार्यश्री ने अपनी युवावस्था एव प्रारम्भिक मुनि जीवन मे धर्मपरायण जैन कृषकों को फसल के विक्रय एवं खेती के लिए उपयोगी सामग्री क्रय करने के लिए कोल्हापुर मे आते हुए देखा था। किसानों का धर्म के प्रति सहज रुझान होता है। आस्थाशील कृषको एवं निकटवर्ती ग्रामो से आने वाले लाखों व्यक्तियों की धर्म मे अडिग आस्था बनाये रखने के भाव से आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने कोल्हापुर के मठ मे भगवान् श्री ऋषभदेव जी के विशाल जिनबिम्ब को प्रतिष्ठित कराने का निर्णय लिया। संयोग से आचार्य श्री देशभूषण जी के कलकत्ता प्रवास में प्रथम पारणा का योग सेठ पारसमल कामलीवाल सरावगी को प्राप्त हुआ। उस भक्त परिवार ने आचार्यश्री की कलकत्ता मे प्रथम पारणा की स्मृति को अमिट बनाने के लिए एक बड़ी राशि दान मे निकाल दी। आचार्यश्री ने उस राशि से कोल्हापुर के मठ के लिए भगवान् ऋषभदेव की २५ फीट ऊची खडगासन मूर्ति का निर्माण कराया। सन् १९६०-६१ मे आपके सान्निध्य मे कोल्हापुर के मठ मे उपरोक्त प्रतिमा का पंचकल्याणक समारोह हुआ जिसमे कोल्हापुर के नरेश साहु महाराज ने स्वयं उपस्थित होकर भगवान् के चरणो की वन्दना की और महाराज श्री के असाधारण कृतित्व के प्रति श्रद्धा भाव प्रकट किया।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी के तत्कालीन समुचित मार्गदर्शन से प्रभावित होकर कोल्हापुर के श्रावकों ने 'श्री आचार्यरत्न देशभूषण शिक्षण प्रसारक मंडल, कोल्हापुर' नामक सस्था का गठन किया। इस सस्था के संरक्षण मे एक कॉलेज, एक हाईस्कूल और अन्य अनेक शैक्षणिक गतिविधियां नियमित रूप से चल रही हैं। कोल्हापुर मे धर्मप्रभावना के निमित्त आचार्य श्री देशभूषण जी ने मन्दिरो के जीर्णोद्धार एव निर्माण में विशेष प्रेरणा दी है। उनके सद्प्रयासो से भगवान् श्री जिनेन्द्रदेव के रथोत्सव के लिए एक विशाल रथ का निर्माण भी हुआ है।

(ड) सिद्धक्षेत्र चौरासी का विकास

परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती, धर्मसम्राट् आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज की उत्तर भारत यात्रा के दौरान सिद्धक्षेत्र चौरासी मथुरा मे पाषाण का मानस्तम्भ बन गया था, किन्तु आचार्य महाराज के विहार के पश्चात् मानस्तम्भ एक स्तम्भ के रूप मे ही खड़ा रह गया। समाज के आपसी विवाद के कारण उस पर छतरी एवं प्रतिमाएँ स्थापित नही हो पाईं। आचार्य श्री देशभूषण जी ने बुद्धिमत्तापूर्वक विवाद को सुलझा दिया और उनके सद्प्रयासों से मानस्तम्भ का प्रतिष्ठा समारोह सन् १९६९ मे सम्पन्न हुआ तथा सिद्धक्षेत्र चौरासी की अनेक गतिविधियो को नया जीवन एवं बल प्राप्त हुआ।

आचार्यश्री के चरण आस्था एव रचना के प्रतीक हैं। एक गतिशील धर्मचक्र की भाँति उन्होंने सम्पूर्ण भारतवर्ष का भ्रमण किया है। उनके पावन सचरण से जैन तीर्थों एव मन्दिरों के जीर्णोद्धार एव विकास मे सहायता मिली है। अतिशय क्षेत्र अकिवाट, विद्यासागर, मागुर, मनोली, दतवाड, कुम्भोज बाहुबली, मानगांव, जैसिंहपुर इत्यादि उनके समर्थ कृतित्व के अमर दस्तावेज हैं।

ऊर्ध्वगामी व्यक्तित्व

जैनदर्शन मे समस्त ससारी जीवो की चार गतिया मानी गई हैं—मनुष्य गति, तिर्यंच गति, देव गति एव नरक गति। मनुष्य और तिर्यंच गति वाले भाग्यवान् जीव अपने सत्कर्मों का सुफल भोगने के लिए देवगति प्राप्त करते हैं, और पापी जीव अपने दुष्कर्मों का दण्ड भोगने के लिए नरक गति मे जाते हैं। जैन धर्म के अनुसार मुक्ति का द्वार केवल मनुष्य गति के जीवों के लिए सुलभ है —

मणुवगईए वि तओ मणुवगईए महव्वद सयलं।
मणुवगदीए झाण मणुवगदीए वि णिव्वाण ।। (कार्तिकेयानुप्रेक्षा, मूल गाथा सं० २९९)

अर्थात् मनुष्य गति मे ही तप होता है, मनुष्य गति मे ही समस्त महाव्रत होते हैं, मनुष्य गति मे ही ध्यान होता है और मनुष्य गति में ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी के शब्दों मे—"देव इच्छा रहते हुए भी आत्मशुद्धि के लिए उपवास, व्रत, संयम नहीं कर सकते। यही कारण है कि अनादि काल से अब तक एक भी देव संसार से मुक्त नही हो सका। आत्मा की शुद्धि और मुक्ति इस मानव-शरीर से हुआ करती है। इस कारण मनुष्य-भव संसार मे सबसे उत्तम माना गया है।" (उपदेश सार संग्रह, भाग १, पृष्ठ १२)

धर्मध्वजा, परम तपस्वी, बालब्रह्मचारी, सरस्वतीपुत्र, प्रखर मनस्वी आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी को युवावस्था में पद-निक्षेप करते हुए मनुष्य भव की उपयोगिता का परिज्ञान हो गया था। इसीलिए उन्होंने जिनशासन की शरण ली—

चत्तारि सरण पव्वज्जामि, अरहंते सरण पव्वज्जामि,
सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरण पव्वज्जामि,
केवलिपण्णत्त धम्म सरण पव्वज्जामि।

जिनवाणी के अभिनव भाष्यकार आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

मुनि श्री देशभूषण जी को अपनी अखण्ड साधना एवं ज्ञानाराधना के क्षणों मे यह दिव्य अनुभूति हुई कि जैन धर्म मे प्रत्येक प्राणी की रक्षा तथा उद्धार का उपदेश दिया गया है। अतः जैन धर्म कुछ एक मनुष्यों या प्राणियों का ही धर्म नहीं है, अपितु वह विश्व धर्म है। प्रत्येक व्यक्ति, यहां तक कि पशु पक्षी भी अपनी शक्ति के अनुसार उसका आचरण कर सकते हैं।

मुनि श्री देशभूषण जी प्रथम विश्वयुद्ध के उन्माद से परिचित थे। इस महायुद्ध के कारण हुई अपार धन-जन की क्षति का स्मरण कर वे सिहर उठते थे। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो का अवलोकन कर आपने विश्वयुद्ध की विभीषिका से त्रस्त मानव जाति को तीर्थंकर वाणी—विश्व मैत्री एवं अहिंसा का मगल सन्देश देने के लिए राष्ट्रव्यापी मंगलयात्राएं करने का संकल्प किया। अपनी धर्मयात्राओं में उन्होंने अनुभव किया कि राष्ट्रपिता महात्मा गाधी ने अहिंसा, सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा आन्दोलन इत्यादि के महामन्त्र से भारतीय स्वातन्त्र्य का अलख प्रज्वलित कर दिया है। मुनि श्री देशभूषण जी ने भी एक धर्मगुरु के रूप मे आत्मा की अनन्त शक्ति एव उसकी अजरता, अमरता, अवध्यता इत्यादि का भाष्य करके देश की जनता को निर्भीकता का पाठ पढ़ाया। आपने स्वय अंग्रेजी शासको, राजे-रजवाड़ों की अनेक प्रतिबन्धात्मक आज्ञाओ का उल्लंघन कर लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष का भ्रमण किया। इसके लिए आप को कष्ट एव उपसर्ग भी सहने पड़े।

विश्वबन्धुत्व के प्रतीक राष्ट्रीय सत श्री देशभूषण जी के प्रेरक व्यक्तित्व एवं उनके ऊर्ध्वमुखी सात्त्विक संकल्पों के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति अर्पित करने की भावना से भारतवर्ष के जैन समाज ने उन्हे समय-समय पर 'आचार्य', 'आचार्यरत्न', 'सम्यक् शिरोमणि' इत्यादि विशिष्ट उपाधियो से अलकृत कर उनसे जैन एवं जैनेतर समाज के मार्गदर्शन की अपेक्षा की है। एक निष्काम तपस्वी होते हुए भी आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने समाज की सम्मिलित इच्छा का सम्मान करते हुए लोकोपकार की भावना से उपर्युक्त दायित्वों को स्वीकार कर श्रावक समाज को अनुगृहीत किया है।

आचार्य के रूप में

जैन धर्म की सघ व्यवस्था के अनुसार गुरु के तीन भेद हैं—आचार्य, उपाध्याय और साधु। आत्मशुद्धि के साधन की दृष्टि से देखा जाए तो इनमे साधु श्रेष्ठ होते हैं क्योंकि ये समस्त सकल्प-विकल्प से मुक्त होकर आत्मसाधना करते हैं, परन्तु लोककल्याण की दृष्टि से आचार्य पद सर्वोत्तम है, क्योंकि मुनि सघ की सुव्यवस्था करके वह मुनियों का ही नहीं, अपितु ससार का महान् उपकार करते हैं।

आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज ने जैनधर्म व्यवस्था के अन्तर्गत आचार्य के आधीन आने वाले सभी महत्त्वपूर्ण उत्तर-दायित्वो को भलीभांति समझा है और उसकी मर्यादाओ को गौरवान्वित भी किया है। इस सम्बन्ध मे आचार्यश्री की धारणा है, "आचार्य महाराज को मुनिसघ की व्यवस्था के लिए अपना बहुत-सा अमूल्य समय देना पड़ता है जिसे वे आत्मज्ञान, स्वाध्याय आदि स्वार्थ (आत्मशुद्धि) साधन मे लगा सकते हैं। इसके सिवाय नायक होने के कारण उनको अपने सघ के साधुओ की व्यवस्था के लिए थोड़ा चिन्तातुर भी होना पड़ता है, जिससे कि रागद्वेष का अंश भी उनको लगा करता है। इस कारण आचार्य पद पर रहते हुए उनको मुक्ति प्राप्त नही हो सकती। वे जब तक अपने स्थान के योग्य किसी अन्य अनुभवी तपस्वी मुनि को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करके स्वयं साधु के रूप मे आकर निर्द्वन्द्व तपस्या नही करते तब तक उनको मुक्ति प्राप्त नही होती। इस प्रकार आचार्य एक पद है, जिसे किसी सुयोग्य व्यक्ति द्वारा सर्वसघ की अनुमति से परोपकार बुद्धि से ग्रहण किया जाता है और किसी समय आत्मकल्याण की उत्कट भावना से परित्याग भी किया जाता है।" (उपदेशसार सग्रह, भाग-२, पृष्ठ ३६१-३६२)

मानव जीवन चार मूल्यो से अनुप्रेरित है—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन-दर्शन की अपेक्षा से भी मानव-मूल्यो को दिशा देने का कार्य प्राचीन काल से चला आ रहा है। एक समर्थ एवं युगचिन्तक साधक के रूप मे आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने जहा आत्मसाधना की अपेक्षा से दिगम्बरी परिवेश को धारण किया वहा लोककल्याण के लिए उन्होंने जनचेतना को सामायिक दृष्टि से प्रबुद्ध किया। धर्म, अर्थ और काम के मानवोचित मूल्यों को रेखांकित करते हुए आचार्यश्री के समाज दर्शन में मानवीय सन्तुलन एवं प्राकृतिक न्याय के आदर्श निबद्ध हैं। अनैतिक व्यापार वृत्ति, बेईमानी एव शोषण की प्रवृत्ति का उन्होंने घोर विरोध किया है। वस्तुतः व्यक्तिगत स्वार्थ वृत्ति और बेईमानी से उपार्जित धन समाज मे भेदभाव, ऊंच-नीच और विषमता

की रेखाएँ खींचता है, जबकि जैनधर्म एव दर्शन समता, स्वावलम्बन और सहिष्णुता का पाठ पढ़ाते हैं। अतएव आचार्यश्री यह मानते हैं कि सामाजिक कुरीतियो तथा विसंगतियो को ठीक करने मे जैन श्रावक एक आदर्श समाजसुधारक का प्रतिमान उपस्थित कर सकता है। इसी लक्ष्य पर केन्द्रित रहते हुए आचार्यश्री ने परोपकार वृत्ति को समझाने का प्रयास किया है। जैन समाज द्वारा हजारो अनाथ बच्चों, विधवा स्त्रियो आदि के संरक्षण और सम्वर्धन के सम्बन्ध मे आपका कथन है कि अनाथ बच्चे को अपना पुत्र या पुत्री समझकर ही पालना चाहिये और विधवा स्त्री की सहायता इस प्रकार की जानी चाहिए जिससे कि वह जीवनपर्यन्त अपने प्रयासो से जीविका उपार्जन कर सके। लोककल्याण की इन दोनो दृष्टियो मे सहिष्णुता एवं स्वावलम्बन की भावना निहित है। जहा सहिष्णुता एवं स्वावलम्बन होता है वहां समता स्वयं विद्यमान रहती है।

आचार्यश्री ने सामाजिक सम्पत्ति के सरक्षण पर विशेष बल दिया है। मेधावी छात्र किसी भी समाज तथा देश की अमूल्य निधि हैं। किसी विवशता या दरिद्रता के अभिशाप से ऐसे छात्रो का विकास अवरुद्ध हो जाए तो उससे पूरे समाज एव देश की हानि होती है। अतएव आचार्यश्री ने निर्धन छात्रो की समुचित अध्ययन-व्यवस्था को समाज-कल्याण के क्षेत्र मे सर्वाधिक प्राथमिकता प्रदान की है। उनकी इस सद्प्रेरणा के परिणामस्वरूप आज देश के विभिन्न भागो मे अनेक शिक्षण सस्थान कार्यरत हैं और अनेक महाविद्यालय, विद्यालय एव गुरुकुल इस सन्देश को कार्यरूप दे रहे हैं। आचार्यश्री ने इस प्रकार के लोकोपकारी कार्यों को वात्सल्य भाव के आदर्श रूप मे परिलक्षित किया है।

त्याग की भावना से भोग करने का सन्देश प्राचीन काल से प्रचारित होता आया है। आधुनिक चिन्तन पद्धति मे साम्यवाद, समाजवाद जैसी शब्दावलियो से सामाजिक न्याय और आर्थिक समता की भावना को प्रतिपादित किया जाता है। आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज के उपदेशामृत इस समाज-चिन्तन से अछूते नहीं हैं। उन्होने सम्पन्न और क्षुधापीड़ित, सुविधाभोगी और साधनहीन के मध्य की खाई को इन शब्दो से भरा है —

"भोजन करते समय भूखी जनता को न भूलो, उसके लिए कुछ-न-कुछ (कम-से-कम एक-दो रोटी) भोजन बचाओ। पलग पर सोते समय उन दरिद्र स्त्री-पुरुषो का स्मरण करो जो नंगी जमीन पर अपमानित रूप मे सो रहे हैं। सुन्दर मूल्यवान् वस्त्रो को पहनते समय उन ग़रीब स्त्री-पुरुषों, बच्चो का भी ध्यान रक्खो जिनके शरीर पर चिथडा नही है।" (उपदेश सार सग्रह, भाग-१, पृष्ठ १५)

आचार्यश्री ने सामाजिक कुरीतियो, आडम्बरो और मिथ्या अभिमान को दर्शाने वाले रीति-रिवाजो की कटु आलोचना की है। इन सब कुरीतियों मे सर्वाधिक आलोचना का विषय रही है—दहेज प्रथा। आचार्यश्री के अनुसार दहेज की विभीषिका ने न केवल अनेक निर्दोष अविवाहित कुमारियो और उनके निर्धन अभिभावको को निराश कर रखा है बल्कि इस कुप्रथा के दुष्परिणामो से धर्म-परिवर्तन जैसी प्रतिक्रिया को भी बल मिला है। ऐसे अनेक युवक-युवतिया है जिनके विवाह दहेज के कारण नही हो सके और उन्होने बलात् अपना धर्म-परिवर्तन कर लिया। विवाह मे होने वाला अपव्यय वस्तुतः दहेज से अनुप्रेरित है। दूसरी ओर दहेज मानवीय दुर्बलता का वह अभिशप्त रूप है जो लोभ से उत्पन्न होता है, और इस लोभ की सीमा पर जब तक सामाजिक नियन्त्रण नही होगा तब तक समाज मे स्वस्थ परम्पराओं की आशा रखना व्यर्थ है।

उपसर्गजयी

आचार्यश्री के सम्बन्ध मे 'शिशुपाल वध' महाकाव्य की यह उक्ति अक्षरश चरितार्थ होती है—"**शरीरभाजां भवदीय दर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम्**" —शरीरधारियो के लिए आपका दर्शन भूत, वर्तमान एव भविष्य को पवित्र करने वाला है। आचार्यश्री के दर्शन मात्र से ही श्रद्धालु प्राणी मे एक सात्त्विक अनुभूति होती है और वह सब कुछ विस्मृत कर आपके द्वारा स्वय को सम्मोहित-सा अनुभव करता है। भौतिक क्रिया-कलापो की दौड-धूप से थका हुआ व्यक्ति जब आपके उपदेश रूपी वृक्ष की शीतल-सुखद छाया में बैठता है तो उसे अभूतपूर्व शान्ति मिलती है। यह आत्मिक शान्ति ही आचार्यश्री का आध्यात्मिक सम्मोहन है। यही कारण है कि साधना के विविध अवसरों पर आचार्यश्री के सम्पर्क में न केवल क्रूर प्रकृति के व्यक्ति ही आए अपितु अनेक हिंसक जीव-जन्तुओं से भी आपका सामना हुआ। किन्तु आध्यात्मिक सम्मोहन के आकर्षण से उनकी क्रूर एवं हिंसक प्रवृत्ति आपके प्रति असीम श्रद्धा मे बदल गई। इस सम्बन्ध में कतिपय चमत्कारपूर्ण घटनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

गुफा के द्वार पर सिंह

मुनि श्री देशभूषण जी अपने प्रारम्भिक मुनि जीवन मे श्रवणबेलगोल की पहाड़ी पर स्थित गुफाओं मे धर्मध्यान एवं रात्रि-निवास किया करते थे। आप साधना के निमित्त वहा उस गुफा को विशेष महत्त्व देते रहे हैं जहाँ बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे महामुनि श्री अनंतकीर्ति जी (निल्लीकार) ने अद्भुत तपश्चर्या के कीर्तिमान स्थापित किये थे। एक रात्रि मे उस गुफा के द्वार पर एक सिंह आकर बैठ गया। पर्वत पर पूजा की सामग्री एकत्र कर नीचे लाने के लिये मठ का उपाध्याय पर्वत पर गया हुआ था। सामग्री एकत्र कर वह वापिस लौट रहा था कि मुनिश्री की गुफा के बाहर वाली चट्टान पर हिंसक सिंह को देखकर वह भयभीत हो गया और उसके मुंह से वातावरण की शान्ति को भग करती हुई करुण चीत्कार निकल पड़ी। मुनिश्री गुफा के द्वार पर आए और उपाध्याय की चीत्कार के रहस्य को समझ गये। सिंह से उनकी दृष्टि मिल गई। मुनिश्री ने तत्काल महामन्त्र णमोकार का चिन्तवन किया और समाधिस्थ हो गए। हिंसक सिंह उनके दर्शन कर जगल मे ओझल हो गया। प्रातःकाल यह ज्ञात हुआ कि भयभीत उपाध्याय सामग्री की थाली के साथ लुढ़कता हुआ कुशलतापूर्वक नीचे आ गया था।

वनराज से भेंट

सन् १६४० मे मुनिश्री पदयात्रा करते हुए जैन वैभव के सुप्रसिद्ध केन्द्र हुम्मच से विद्या के आलय मूडबद्री की ओर जा रहे थे। सायंकाल हो जाने के कारण उन्होंने जगल मे ही सामायिक करने एवं रात्रि मे ठहरने का निश्चय कर लिया। सामायिक के समय सहसा जगल का राजा शेर वहां आया और उनकी ओर मुह करके बैठ गया। समाधिस्थ मुनिश्री को सामायिक की समाप्ति पर शेर की उपस्थिति का पता लगा। उस समय आप अविचल धैर्यमूर्ति के रूप मे विराजमान रहे और महामन्त्र का मन ही मन पाठ करते रहे। लगभग २०-२५ मिनट के उपरान्त वनराज उनकी ओर विनीत मुद्रा मे झुकते हुए मानो नमस्कार करके झाड़ियो मे चला गया। आचार्यश्री प्रात.काल तक उसी स्थान पर निरापद विराजमान रहे और जगल के किसी भी हिंसक प्राणी ने उनका कुछ भी अहित नही किया।

सर्पराज द्वारा वन्दना

सन् १६४० के आसपास मुनि श्री देशभूषण जी महाराज का पेटनन्द गाव (अमरावती) के निकट पधारना हुआ। इस गा. मे कभी जैन समाज के अनेक सम्पन्न परिवार रहा करते थे। किन्तु उस समय वहाँ केवल एक-दो जैन परिवार रह गए थे। गाँव मे एक अत्यन्त प्राचीन मन्दिर है। आवश्यक मरम्मत एव देखभाल के अभाव में वह जीर्ण अवस्था को पहुच गया है। मुनिश्री को गाँव के मन्दिरो से विशेष लगाव रहा है। एकान्त स्थल पर साधना करने मे उन्हे आनन्द आता है। अत: आहार के पश्चात् आपने दोपहर को वहीं पर सामायिक सम्पन्न करने का निर्णय लिया। सामायिक के समय मन्दिर की दीवार से एक भयकर काला नाग निकल आया और उनकी पीठ की तरफ बैठ गया। थोड़ी देर बाद कुछ श्रावक यह देखने आए कि महाराज का सामायिक समाप्त हुआ अथवा नही। श्रावकों की पदचाप अथवा किवाडो की ध्वनि सुनकर सर्पराज उनकी पीठ की तरफ से हटकर सुरक्षा की दृष्टि से उनकी पालथी मे आकर बैठ गया। महाराजश्री ने उपसर्ग जानकर महामन्त्र णमोकार का आश्रय लिया और भगवान् पार्श्वनाथ के चरित्र का मन ही मन गुणगान करने लगे। ग्राम निवासियो का कोलाहल सुनकर वह विकराल सर्प क्रोध से फण उठाकर खड़ा हो गया और कोलाहल शान्त होने पर सरकते हुए अपने स्थान पर जाने लगा। मुनिश्री की जय का उद्घोष सुनकर वह पुन. लौट आया और महाराजश्री के वक्षस्थल पर से होता हुआ उतर गया। ऐसा लगता था मानो लौटने से पूर्व उसने मुनिश्री की भाव सहित वन्दना की थी।

जल-बाधा से मुक्ति

एक बार आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज गुलबर्गा से आलन्दा की ओर पदयात्रा करते हुए जा रहे थे। मार्ग मे सध्या हो गई। जैन मुनि के लिए सध्या के समय सामायिक करने का शास्त्रीय विधान है। अत· मुनिश्री सुविधा की दृष्टि से एक नाले के पुल के निकट ठहर गए। सामायिक करते समय अचानक बादल छा गए और घनघोर वर्षा आरम्भ हो गई। वर्षा के जल से नाला चढ़ गया और महाराजश्री की छाती तक पानी आ गया। महाकाल के इतना सन्निकट आ जाने पर भी आचार्यश्री तपश्चर्या मे तल्लीन रहे और मृत्यु का भय उन्हें प्रभावित नही कर पाया।

वर्षा के कारण गहरा अन्धकार छा गया। आचार्यश्री शास्त्रीय मर्यादाओं के कारण रात्रि में विचरण नहीं कर सकते थे। अतः वह उस जल मे एक पत्थर के सहारे रात्रि भर बैठे रहे। जब नाले के निकटवर्ती ग्राम-निवासियों को आचार्यश्री का नाले के निकट

ठहरना एवं जल में बैठे रहने के सम्बन्ध में जानकारी मिली तो वे अपने सारे कार्यों को छोड़कर नाले की ओर दौड़े आए और श्रद्धापूर्वक महाराजश्री को कन्धों पर उठा लिया।

चीते से सामना

नवदीक्षित मुनि श्री देशभूषण जी संघ के एक ब्रह्मचारी के साथ श्रवणबेलगोल के निकट हसन के जंगलों में से जा रहे थे। मार्ग में एक भयानक चीता उनके सम्मुख आ गया। चीते को देखकर मुनिश्री ने महामन्त्र णमोकार का चिन्तवन किया। चीता भी एकटक शान्त भाव से उनके स्वर्णिम शरीर की ओर देखता रहा। संघ का ब्रह्मचारी तो यह सब दृश्य देख कर घबरा गया और भयभीत होकर समाधिस्थ मुनिश्री के शरीर से चिपट गया। किन्तु अकस्मात् ही मुनिश्री के तपोबल का दर्शन कर और उससे प्रभावित होकर वह चीता जंगल मे ओझल हो गया।

विष की प्रभावहीनता

आचार्य श्री देशभूषण जी पर्वतराज श्री सम्मेदशिखर जी की पावन वन्दना के उपरान्त भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण-स्थल श्री पावापुरी जी की धर्मयात्रा के निमित्त पधारे थे। श्री मन्दिर जी एव ऐतिहासिक जल मन्दिर के दर्शन करने के उपरान्त आप प्राचीन भारत की शक्तिशाली राजधानी श्री राजगृही की ओर विहार कर रहे थे। मार्ग मे 'बिहार शरीफ' नामक महत्त्वपूर्ण नगर भी पड़ा। बिहार शरीफ मे ससंघ पहुचते हुए सायकाल का समय हो गया था, अत शास्त्रीय मर्यादाओ के अनुरूप महाराजश्री सामायिक के निमित्त बैठ गए। अचानक बादल उमड आए, वेगवान आंधी चली, मूसलाधार वर्षा से रास्ते भर गए, सभी प्राणियो को प्रकम्पित करता हुआ भीषण तूफान भी आ गया। ऐसे मे अचानक एक भयकर सर्प सामायिक मे जडवत् बैठे महाराजश्री की जांघ पर रेंगते हुए उनके शरीर पर चढ़ने लगा। महाराजश्री ने उसे करुण दृष्टि से देखा। किन्तु आख मिलते ही सर्प भयभीत हो गया और उसने मुनिश्री को अंगुली मे काट लिया। प्रत्यक्षदर्शियो ने घबडाकर मुनिश्री से प्रश्न किया कि सर्पदंश से क्या आपको वेदना हो रही है। विष का प्रभाव अब कैसा है?

आचार्यश्री भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के महानतम तपस्वी मुनि हैं। वे जैन मुनियों के परमाराध्य तीर्थराज के दर्शन करके आ रहे थे। मार्ग मे उन्होंने भगवान् वासुपूज्य एव भगवान् महावीर स्वामी की निर्वाण स्थली के भक्तिपूर्वक दर्शन किए थे और अब तीर्थंकरो की धर्मदेशना के पावन स्थलो को नमन करने के निमित्त विहार कर रहे थे। अत श्रावकों के प्रश्न पर आप केवल मुस्करा कर रह गए और एक महान् रहस्य को उद्घाटित करते हुए कहा कि साधारण विष का अब हम पर कुछ प्रभाव नहीं होता।

निष्प्रभावी सर्पदंश

सन् १९६२ मे आचार्यश्री दक्षिण भारत से दिल्ली की ओर धर्मप्रभावना के लिए आ रहे थे। महाकाल की नगरी उज्जैन की यात्रा के पश्चात् वे शाजापुर की ओर बढ रहे थे। एक दिन दीर्घ शका के लिए वे जंगल मे गए। तभी सूखे पत्तो के ढेर मे से लगभग दो हाथ लम्बा साप निकला और महाराजश्री के पैर मे लिपट गया। निर्भीक महाराजश्री ने साप के क्रोध की चिन्ता न करते हुए उसे स्वय ही पकड़ कर अपने से अलग कर दिया। झटका देने के कारण साप उल्टा हो गया और उसने महाराजश्री के दाहिने तलवे मे काट लिया। सांप के दात पैर में गड़ जाने के कारण टूट गए और महाराजश्री के पैर से थोडा खून भी निकला। पैरो मे जलन आरम्भ हो गई। आचार्यश्री ने अपने कमण्डलु का जल पैरो पर डाल दिया और महामन्त्र का जाप करने लगे। महामन्त्र के प्रभाव से सांप का विष स्वय प्रभावहीन हो गया।

लोकोत्तर सिद्धियाँ

जैन धर्मानुयायियो की मान्यता है कि मुनिश्री मे दीर्घकालीन साधना के कारण अनेक सिद्धियां स्वत. ही आ गई हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि उनके पास 'वचन सिद्धि' है अर्थात् वे जिस किसी भी व्यक्ति को जो भी आशीर्वाद दे दिया करते हैं, वह शीघ्र ही फलीभूत हो जाता है। कुछ भक्तों की मान्यता है कि आचार्यश्री के साथ कुछ लोकोत्तर शक्तियां सदैव साथ चलती हैं और उनकी आज्ञाओं का पालन कर अपने को कृतार्थ समझती हैं। उनके द्वारा श्रद्धालुओ को दिये गए मन्त्र एव कमंडलु के मन्त्रसिक्त जल से लाखों व्यक्तियों की समस्याओं एव रोगो का सहज ही निवारण हो गया है।

रेगिस्तान में पानी

आचार्यश्री सन् १९७० मे जयपुर की ओर चातुर्मास के लिए आ रहे थे। उन दिनो ज्येष्ठ का महीना था, भीषण गर्मी पड़

रही थी और ऐसा लग रहा था मानो पृथ्वी आग उगल रही है। ऐसे मे आचार्यश्री चतुर्विध सघ के साथ विचरण करते हुए आबू पहुंचे। आबू के पहाड से उतर कर वे सघ के साथ नीचे की ओर आ रहे थे। भीषण गर्मी मे ७-८ मील लगातार चलने से श्रावक-श्राविकाओं का गला सूख गया और वे पानी के लिए अत्यधिक व्याकुल हो गए। किन्तु उस रेगिस्तान मे पानी का कहीं भी नामनिशान तक नहीं था। एक भक्त तो प्यास से पीडित होकर आचार्यश्री के कमंडलु मे शुद्धि के निमित्त रखा सारा जल ही पी गया। ऐसी परिस्थिति में श्रावक-श्राविकाओ ने महाराजश्री से अनुरोध किया कि वे अब आगे विहार न कर थोडी देर के लिए विश्राम करें। उन्होने गर्मी के कारण अपनी प्यासजन्य वेदना की दुःखभरी गाथा उनके समक्ष निवेदन की।

भक्तों की प्रार्थना सुनकर महाराजश्री द्रवित हो गए। उन्होने अपने आराध्य देव का स्मरण किया और कहा कि, "यह दस कदम पर जो पत्थर पड़ा है इसे थोड़ा-सा अलग तो करो।" श्रावको ने पत्थर को हटाया। उसी समय एक अद्भुत दृश्य उपस्थित हो गया। पृथ्वी के गर्भ से निर्मल जल का उत्स फूट पडा। सभी श्रावक-श्राविकाओ ने आचार्यश्री के तपोबल के वैभव से प्रकट हुए जलकुंड के गंगा सदृश जल का रसपान करके उत्साहपूर्वक आगे के लिए विहार कर दिया।

नगर में हैजा एवं प्लेग का निवारण

कोल्हापुर के निकट राधापुरी ग्राम मे भयकर हैजा फैल गया था। सयोगवश आचार्यश्री पदयात्रा करते हुए उस ग्राम मे पधारे। महामारी से पीडित व्यक्तियो ने उनके आगमन को एक मंगल अवसर जानकर आचार्यश्री से श्रद्धा एव भक्तिपूर्वक निवेदन किया कि वे इस सर्वनाशी भयंकर रोग से गाव के प्राणियों की रक्षा करें। शरण मे आए भक्तगणो को आचार्यश्री ने प्रसाद के रूप में अपने कमण्डलु का जल मन्त्र से अभिसिक्त करके दे दिया। उस जल के प्रभाव से राधापुरी गाव मे फैला हुआ हैजा समाप्त हो गया।

इसी प्रकार आचार्यश्री ने एक अन्य पदयात्रा के दौरान एक गाव मे फैले हुए भयंकर प्लेग रोग के शमनार्थ महामन्त्र से अभिसिक्त जल सरल हृदय ग्रामीणों के दुःख से कातर होकर दे दिया था। उस जल के प्रभाव से ग्राम में फैला हुआ प्लेग का रोग दूर हो गया और वर्षों तक वहा प्लेग के कारण किसी प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचा।

मनोनुकूल वर्षा-व्याप्ति :

आचार्यश्री संघ सहित सन् १९७० मे ब्यावर (राजस्थान) के निकटवर्ती क्षेत्रो मे धर्मप्रभावना के निमित्त विहार कर रहे थे। आसपास के क्षेत्रो मे मूसलाधार वर्षा हो रही थी। अतः शहर के श्रावको ने भक्तिवश आचार्यश्री से निवेदन किया कि वे वर्षा के कारण कुछ दिन के लिए सघ के विहार को स्थगित कर दे। श्रावकों के विनयानुरोध को किन्हीं कारणो से आचार्यश्री स्वीकार नही कर पाए। विहार करने से पूर्व उन्होंने श्रावको को विश्वास दिलाया कि वर्षा के कारण संघ के विहार मे बाधा नही पड़ेगी। आचार्यश्री की आज्ञा एव इच्छा के सम्मुख सभी को नतमस्तक होना पडा। सभी श्रद्धा के साथ महाराजश्री के विहार मे सम्मिलित हो गए। मार्ग मे बरसाती बादलो मे आकाश आच्छादित हो गया। उसी समय विहार मे सम्मिलित होने वाले श्रावक-श्राविकाओ ने एक विशेष चमत्कार देखा कि संघ के पीछे थोडी दूरी पर और संघ से आगे दो-तीन मील की दूरी पर घनघोर वर्षा हो रही है किन्तु आचार्यश्री के गमन से सम्बन्धित क्षेत्र मे पानी की एक भी बूद नही गिरी और वर्षा के कारण बाधा उपस्थित नही हुई। विहार मे सम्मिलित होने वाले सभी जैन-जैनेतर बन्धुओं को उस दिन धर्म की साक्षात् अनुभूति हुई और उन्होंने श्रद्धा से आचार्य-चरणो मे शीश झुका दिए।

आस्थाशील व्यक्तित्व

परमपूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज को जैन एवं जैनेतर समाज मे एक सिद्ध पुरुष के रूप मे स्मरण किया जाता है। आचार्यश्री के साथ पदयात्रा करने वाले प्रत्यक्षदर्शियों का कहना है कि उनके साथ विचरण करते समय विचित्र तरह के अनुभव होते हैं। पदयात्रा के दौरान आचार्यश्री का सम्पर्क विभिन्न स्वभाव के व्यक्तियो से होता है। आचार्यश्री के सौम्य एव मृदु व्यक्तित्व के दर्शन करके प्रायः सभी दर्शको को आनन्द की अनुभूति होती है। उनके सम्मोहन से अभिभूत होकर कुटिल पुरुषो की क्रूरता निरस्त हो जाती है। शायद बहुत कम लोगों को ज्ञात होगा कि आचार्यश्री एक बार भगवान् महावीर स्वामी की जन्मजयन्ती के अवसर पर चम्बल के जंगल मे थे। दस्युदल सघ को लूटने के भाव से आया था। आचार्यश्री संघस्थ साध्वियों एव श्राविकाओ को डेरे में रहने का आदेश देकर स्वयं पुरुष सदस्यों के साथ खुले आकाश के नीचे चांद की रोशनी में बैठ गए थे। दस्युदल आपके भव्य तेज के सम्मुख नतमस्तक हो गया और उसने संघ को लूटने के स्थान पर ढोल-मजीरों की मंगलध्वनि में आपका गुणगान किया! देश-विदेश के सज्जन-दुर्जन सभी प्रकार के व्यक्ति आपके आध्यात्मिक वैभव के प्रति नतमस्तक होते रहे हैं।

बिड़ला जी की अनन्य भक्ति

हिन्दू जगत् के यशस्वी समाजसेवी एवं भारतीय उद्योग जगत् के मूर्धन्य नेता धर्मप्राण श्री जुगलकिशोर बिड़ला जी की महाराजश्री में अन्यतम आस्था थी। वह उन्हें अपने धर्मगुरु के रूप में स्वीकार करते थे और प्रायः प्रातःकाल के समय आचार्यश्री के दर्शन के लिये अकेले ही आया करते थे। आचार्य चरणों में वे शोभासम्पन्न सुवासयुक्त कमल या गुलाब के पुष्प अर्पित करते थे। कुछ अवसरों पर वह चाँदी की थाली में मेवा एवं अन्य फल भी लाया करते थे।

आचार्यश्री से वह केवल आध्यात्मिक चर्चा किया करते थे। उनकी वाणी से जन-जन को परिचित कराने की भावना से उन्होंने मुनिश्री के वर्षायोग में दिये गये प्रवचनों को पुस्तकाकार के रूप में मुद्रित कराया था। आचार्यश्री के तेजोमय आध्यात्मिक व्यक्तित्व के प्रति जैनेतर समाज का ध्यान आकर्षित करने के निमित्त उन्होंने महाराजश्री से श्री बिरला मन्दिर में प्रवचन देने के लिये विशेष आग्रह किया। आचार्यश्री की बिरला मन्दिर जी के निमित्त होने वाली पदयात्रा में वह श्रद्धा से सम्मिलित हुए थे और उन्हीं को उस दिन आचार्यश्री का कमण्डलु अपने हाथ में पकड़ने का गौरव मिला था।

विदेशियों के अध्यात्म गुरु

इटली के एक प्रोफेसर दम्पत्ति ने आचार्यश्री के चरणों में यह प्रतिज्ञा ली थी कि वे जीवनपर्यंत रविवार को मांस नहीं खायेंगे। साथ ही साथ उन्होंने यह भी कहा था कि अपने देश पहुंच जाने पर वह सर्वदा के लिये मांस का त्याग करने का प्रयास करेंगे।

एक डच महिला आचार्यश्री के दर्शन करने श्री दिगम्बर जैन लाल मन्दिर जी में प्रायः आया करती थी। महाराजश्री ने उसे महामन्त्र णमोकार का सस्वर पाठ सिखाया। महामन्त्र का पाठ करने से उस महिला को शान्ति मिलती थी। वह प्रायः महाराज के सम्बन्ध में भक्तिपूर्वक कहा करती थी कि आचार्यश्री के स्मरण से मेरे सभी मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं।

एक बौद्ध साधु कम्बोडिया से भगवान् बुद्ध की जन्मभूमि एवं अन्य बौद्ध तीर्थों के दर्शन के लिये आया था। वह नालन्दा में रहता था। आचार्यश्री से उसकी भेंट दिल्ली में हुई। उनके भव्य व्यक्तित्व से वह चमत्कृत हो उठा। श्रमण परम्परा के महान् उन्नायक आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज को वह अपने देश में देखना चाहता था। उसने महाराजश्री से निवेदन भी किया कि आप हमारे देश चले तो हमारे देशवासी आपके दर्शन से बहुत प्रसन्न होंगे। उसने आचार्यश्री को सुझाव दिया था कि यहां से वे कलकत्ता होकर ब्रह्म देश पहुँचे। वहाँ से वे बैंकाक होते हुए कम्बोडिया पहुँच जायेंगे।

यवन की श्रद्धा

आचार्यश्री के सम्बन्ध में प्रचलित लोकगीत की एक पंक्ति इस प्रकार है—

खोये हुए बालक को तुमने बुलाया था प्रभो!
फांसी से रिहा करवा दिया एक मुस्लिम बन्धु आपने।

भजन की इस पंक्ति के प्रति किसी का भी जिज्ञासा भाव जाग उठना स्वाभाविक है। आचार्यश्री के संघस्थ साधु-साध्वियों से इस बारे में प्रकाश डालने का अनुरोध किया गया। क्षुल्लिका राजमती जी ने बताया कि आचार्य ससंघ धुलिया (महाराष्ट्र) में विद्यमान थे। उन्हीं दिनों एक मुस्लिम बन्धु नियमित रूप से आचार्यश्री की धर्मसभा में आने लगा। उस मुसलमान के अत्यन्त निकटवर्ती रिश्तेदार पर कत्ल का अभियोग चल रहा था। अभियोग में उसके परिचित को दण्ड मिलने की सम्भावना थी। उसने महाराजश्री के चरणों में निवेदन करते हुए कहा कि हम बड़ी मुसीबत में हैं। आपसे प्रार्थना है कि आप हमें ऐसी दुआ दें जिससे हमारी मुसीबत टल जाए। महाराजश्री ने उस दुःखी मुस्लिम से कहा कि अब तुम्हारी मुसीबत दूर हो जायेगी। भविष्य में सदाचार एवं धर्म का पालन करते रहना। किसी भी जीव को कष्ट मत पहुंचाना। अन्ततः अदालत का निर्णय उस मुसलमान के सम्बन्धी के पक्ष में हो गया। वह और उनका सम्बन्धी महाराज को सिद्ध पुरुष मानकर उनकी पूजा करने लगे।

मुनिश्री के संघ को धुलिया से प्रस्थान करना था। अतः संघ की व्यवस्था के लिये संघपति ने गाड़ी लाने के लिये स्थानीय श्रावकों की सेवा प्राप्त की। संयोग से एक श्रावक ने मियाँ जी से २०-२५ रुपये प्रतिदिन के हिसाब से गाड़ी किराये पर ले ली। दो घण्टे बाद मियाँ साहब गाड़ी को सजाकर महाराजश्री के सम्मुख उपस्थित हुए और निवेदन किया कि मैं आपकी कोई खिदमत अभी तक नहीं कर पाया और अब संघस्थ श्रावक-श्राविकाओं की सुविधा के लिये यह गाड़ी संघ को भेंट करना चाहता हूं।

यवन की बलवती इच्छा को देखकर महाराजश्री ने अन्य दिगम्बराचार्यों से परामर्श करके उस मोटरगाडी को संघ के लिये स्वीकार कर लिया। गाड़ी की रजिस्ट्री कराई गई और मियाँ जी को रजिस्ट्री व्यय के रूप मे जैन समाज की ओर से १२००.०० रु० दिये गये। किन्तु भक्ति रस से प्लावित यवन भी कुछ कम नही था। उसने १२००) रु० का सदुपयोग करने के लिये एक वर्ष तक का अपना ही निःशुल्क ड्राइवर देने का प्रस्ताव रख दिया। उसकी भक्ति भावना से सभी भावविह्वल हो गए।

दस्युओं द्वारा चरण-स्पर्श

महाराजश्री का संघ श्रवणबेलगोल से दिल्ली की ओर आ रहा था। मार्ग मे डाकू-बहुल क्षेत्र पडता था। अतः इन्दौर से संघ की सुरक्षा के लिये शासन की ओर से पुलिस की विशेष व्यवस्था की गई। संघ जब गुना के पास पहुचा तब गुना से शिवपुरी जाते समय सामान्य नागरिक के रूप मे डाकुओ का गिरोह भी संघ के साथ लग गया। महाराजश्री की दैनिक दिनचर्या, निःस्पृह भाव एवं कठोर साधना को देखकर दस्युओ का वह गिरोह उनका भक्त बन गया। उन्होंने अपने को जैन बताना आरम्भ कर दिया। एक दस्यु महाराजश्री का कमण्डलु लेकर श्रावक के रूप मे आगे-आगे चलता था। संघ ग्वालियर के पनिहार नामक जैन तीर्थ के निकट पहुंच गया। एक दस्यु ने श्रावक रूप मे महाराजश्री को पनिहार दर्शन की प्रेरणा दी। प्रायः श्रावकगण डाकुओ के भय से वहाँ नही जाया करते थे। किन्तु महाराजश्री ने पनिहार के जगल मे स्थित तीर्थंकर प्रतिमाओ के दर्शन का निर्णय कर लिया। डाकुओ को महाराज के निर्णय पर प्रसन्नता हुई और वे उन्हें छोटे मार्ग से दर्शन कराने ले गये। मार्ग मे बडे-बडे काँटो का जाल बिछा था। चम्बल के उन शेरो ने महाराजश्री को श्रद्धा से कन्धे पर बिठाकर बात ही बात मे काँटो का बाडा पार कर लिया। महाराजश्री ने तीर्थंकरों की खड्गासन एवं पद्मासन मूर्तियों के दर्शन भाव-विभोर होकर किये। वहाँ के जैन-वैभव विशेषतया उत्तुग खड्गासन तीर्थंकर मूर्ति को देखकर वे चकित हो गये। महाराज की प्रेरणा से मूर्तियों का अभिषेक हुआ। ग्वालियर के निकट आने पर श्रावक के वेश मे चलने वाले वे डाकू महाराज के चरणो मे श्रद्धावनत होकर स्वय ही चले गये। आचार्यश्री ने विदाई के क्षणो मे उन्हे धर्मोपदेश से अनुगृहीत किया और उनके मगल-जीवन के लिये उन्हे कुछ नियम दिलाये।

दिगम्बरत्व की प्रतिष्ठा

विश्व वाङ्मय की आद्य रचना ऋग्वेद मे 'वातरशना' के रूप मे दिगम्बर मुनियो के प्रति अप्रतिम आस्थाभाव प्रकट किया गया है। कालप्रवाह मे दिगम्बर मुनियो की गौरवशाली ऐतिहासिक परम्परा विरल होती चली गई। भारतीय समाज मे दिगम्बर मुनियों के निर्बाध विचरण पर टीका-टिप्पणिया की जाने लगी। बीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती धर्मसम्राट् श्री शान्तिसागर जी महाराज ने मार्गशीर्ष कृष्ण प्रतिपदा १९२७ को दक्षिण भारत मे चतुर्विध सघ सहित श्री सम्मेदशिखर जी एवं उत्तर भारत के तीर्थक्षेत्रो की वन्दना के निमित्त प्रस्थान किया। उस समय ऐसा प्रतीत हुआ कि सदियो के काले अन्धेरे में मे प्रकाश की एक किरण प्रस्फुटित हो गई है। आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज के विचरण के समय भारतीय शासन व्यवस्था ब्रिटिश सरकार एवं देशी राजे-रजवाडो द्वारा शासित थी। हमारे महान् देश की परम्पराओ मे अनभिज्ञ विदेशियो के लिए आचार्यश्री का स्वच्छन्द विचरण विस्मय का विषय था।

परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर जी एव आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज के गरिमामय अवदान से लुप्तप्राय दिगम्बर साधुओ की परम्परा को वर्तमान युग मे सामाजिक एव धार्मिक स्वीकृति मिल पाई है। इन दोनो उपसर्ग विजेताओ ने अपनी अटट निष्ठा एव निस्पृह साधना से अनेक व्यवधानो के उपरान्त भी दिगम्बर साधुओ के विचरण को सर्वसुलभ बना दिया है। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने तो अपने निर्बाध विचरण से भारतीय ससद् के कक्ष को भी महिमा-मडित किया है। मुनि श्री देशभूषण जी ने दिगम्बर मुनियों के निर्बाध विचरण को सर्वसुलभ बनाने के लिए अनथक पदयात्रायें की है। आपने धर्मदेशना के लिए उन स्थानो का विशेष चयन किया जहां विगत पाँच-छ शताब्दियो से दिगम्बर मुनियों का विचरण नही हुआ था। इस महान् सकल्प की पूर्ति के लिए आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी को अनेक उपसर्गों एव बाधाओ का सामना भी करना पडा। किन्तु उनके सात्विक सकल्प के सामने शासन एवं उपद्रवकर्ताओं को सदैव झुकना पडा।

रामपुर (हैदराबाद) के विधर्मियों द्वारा बाधा

श्रवणबेलगोल (बंगलौर) एव मद्रास प्रान्त मे धर्मप्रभावना करते हुए आचार्यश्री निजाम स्टेट (हैदराबाद) के रामपुर जिले मे पधारे। इस मुस्लिम बहुल क्षेत्र मे जैन समाज के केवल आठ परिवार थे। अतः इस क्षेत्र मे दिगम्बर जैन मुनि का प्रवेश करना कठिन कार्य था। श्रावको ने समस्या का समाधान करने के लिए बुद्धिमत्तापूर्वक उन्हे नगर के बाहर सेठ हरधरन्नपा के बगले पर ठहरा दिया।

जैन मुनियों को प्राय: अपनी पदयात्रा के मार्ग मे आने वाले मन्दिरों के दर्शन का विशेष आकर्षण रहता है। अत: महाराजश्री ने श्रावकों से प्रश्न किया कि यहा पर दिगम्बर जैन मन्दिर हैं ? श्रावकों ने विनम्रतापूर्वक निवेदन किया कि श्री मन्दिर जी किले के अन्दर है। वहां आपका दिगम्बर वेश मे जाना असम्भव है। मुनिश्री ने स्थिति की गम्भीरता को समझकर भी दिगम्बर मुनि के विचरण को सर्वत्र सुलभ बनाने की भावना से कठोर सकल्प करते हुए कहा कि हम जिनालय के दर्शन करने निश्चित रूप से जायेंगे।

महाराजश्री के इस निर्णय से सभी श्रावक स्तब्ध रह गए। महाराजश्री एक योग्य पडित और अंग्रेजी भाषा के एक अन्य जानकार भक्त को लेकर स्वय ही बाजार मे होते हुए किले के जैन मन्दिर मे पहुच गये। बड़े मनोयोग से दर्शन के उपरान्त मुनिश्री दूसरे मोहल्ले के बाजार से होते हुए सेठ जी के बगले पर प्रात: नौ बजे तक आ गए। वापिस पहुँच कर महाराजश्री आहार प्रारम्भ कर ही रहे थे कि लगभग ३०० व्यक्तियों की एक धर्मान्ध भीड़ न लाठी, तलवार, भाला इत्यादि लिए हुए सेठ जी के घर को घेर लिया। सेठ जी ने उत्तेजित भीड़ को विनम्रतापूर्वक समझाया और मुनिश्री ने स्वय आहार का त्याग करके साहसपूर्वक दिगम्बर मुनि की परम्परा से उपस्थित मुस्लिम समुदाय को अवगत कराया। धीरे-धीरे भीड़ वहा से स्वय ही हट गई। किन्तु धर्मान्ध भीड़ के नेताओं ने कलक्टर के यहाँ जाकर प्रार्थनापत्र दे दिया कि राज्य की शान्ति के लिए नग्न मुनि के यहा रहने एव विचरण पर प्रतिबन्ध लगाया जाए। सेठ हरधरन्नपा भी कलक्टर के यहाँ पहुचे और उन्होंने निवेदन किया कि हमारे सौभाग्य से हमारे धर्मगुरु हमारे नगर मे आए हैं। वे परम्परा से नग्न रहते हैं और किसी भी स्थान पर अधिक समय नहीं ठहरते। अत: मैं उनके आगमन की सूचना देने के निमित्त आपके पास आया हू। उन्होंने जैन समाज की ओर से यह अनुरोध भी किया कि आप स्वय भी महाराजश्री से भेंट करने की कृपा करे। सेठ जी अपनी परोपकारिता एव धर्मप्रवृत्ति के कारण नगर मे विख्यात थे। अत: उनके विनम्र निवेदन का कलक्टर महोदय के मन पर विशेष प्रभाव पड़ा। उन्होंने धर्मान्ध व्यक्तियों द्वारा दिए गए आवेदन को रद्द कर दिया और स्वय महाराज के दर्शन को गए। महाराजश्री के मुख से सर्वधर्म सद्भाव के उदार एव उदात्त विचारो का श्रवण कर वह गद्गद हो गए। उन्होंने मुनिश्री से निवेदन किया कि हमारे योग्य कोई सेवा बतलाइए। महाराजश्री ने कहा कि दिगम्बर मुनि किसी भी व्यक्ति की कोई सेवा स्वय के लिए नहीं लेते। उसी समय सेठ हरधरन्नपा ने कलक्टर साहब से निवेदन किया कि हम अपने धर्मगुरु को एक बार पुन: श्री मन्दिर जी के दर्शन कराना चाहते हैं। कलक्टर महोदय ने शहर होकर मन्दिर मे जाने की आज्ञा दे दी। मार्ग मे उत्पात एव अन्य अशोभन दृश्य उपस्थित न हो, इस कारण उन्होंने पुलिस का विशेष प्रबन्ध भी कर दिया। महाराजश्री श्रावक समुदाय के साथ विशेष रूप से मन्दिर जी के दर्शन करने गए। उसी दिन दोपहर मे उनका मार्मिक प्रवचन हुआ और तत्पश्चात् केश लोच। आचार्यश्री के केश लोच का दृश्य देखकर कलक्टर महोदय एव विद्वेषी तत्त्वो पर विशेष प्रभाव पड़ा। उनकी आखो से अश्रुधारा बह उठी। इस अश्रुधारा मे मन की सभी ग्रन्थियाँ स्वय समाप्त हो गईं।

गुलबर्गा का उपद्रव

रामपुर (हैदराबाद) से विहार करते हुए मुनिश्री गुलबर्गा नगर मे पधारे। चार-पाच दिन श्री मन्दिर जी मे आपका धर्म प्रवचन हुआ। अचानक ही शहर के वातावरण मे किन्ही तत्त्वो ने जहर घोल दिया। नगर मे हिन्दू-मुस्लिम दगा हो गया। दगो के परिणामस्वरूप कुछ उत्तेजित मुसलमान आहार के लिए जाते हुए मुनिश्री की चर्या मे विघ्न उपस्थित करने लगे। आचार्यश्री ने अपने सरल साधु स्वभाव के कारण उत्तेजित बन्धुओं की दुर्भावना को कभी भी गम्भीरता से नही लिया। एक दिन आचार्यश्री सेठ चन्द्रकुमार जी के यहां भवन की तीसरी मजिल पर आहार ले रहे थे। उसी समय लगभग तीन हजार व्यक्तियो की भीड ने उस भव्य कोठी को घेर लिया। उनका इरादा मुनिश्री का कत्ल करने का था। आहार के पश्चात् मुनिश्री कोठी से निकलकर श्री मन्दिर जी के लिए चलने ही वाले थे कि एकाएक सेठ चन्द्रकुमार जी ने आकर महाराजश्री से निवेदन किया कि आप सामायिक का कार्यक्रम यही सम्पन्न कर लें। उन्होंने मुनिश्री को स्थिति की वास्तविकता से भी परिचित करा दिया। सेठ जी के प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए मुनिश्री ने कहा कि हम सामायिक श्री मन्दिर जी मे ही करेंगे। उन्होंने दार्शनिक भाषा मे श्री सेठ जी से कहा कि जन्म और मृत्यु का चक्र तो इस जीव के साथ अनादि काल से चला आ रहा है। अत: मृत्यु मे क्या भयभीत होना ? आचार्यश्री की धर्ममय प्रेरक वाणी का श्रवण कर सेठ जी एवं परिवार के अन्य सदस्य स्तब्ध रह गए। इसी समय नगर की जनता को पता चल गया कि महाराजश्री के प्राण सकट मे हैं। वे भी हजारो की सख्या मे एकत्र होकर महाराजश्री की रक्षा के लिए वीर सैनिको के रूप मे निकल पड़े। उत्साही धर्मरक्षको की सेना को देखते ही उत्तेजित भीड़ भयभीत होकर भाग गई और आचार्यश्री ने कुशलतापूर्वक श्री मन्दिर जी के लिए प्रस्थान किया।

इसी बीच उत्तेजित नेताओं ने कलक्टर महोदय से मिलकर उनके नगर विचरण पर प्रतिबन्ध लगवा दिया। महाराजश्री श्री मन्दिर जी की तरफ जा ही रहे थे कि उसी समय कलक्टर की गाड़ी वहाँ आकर रुकी और उन्होंने मुनिश्री से कहा कि आप कपड़े पहनकर ही यहाँ से जा सकते हैं। आचार्यश्री ने घोर उपसर्ग आया जानकर महामन्त्र का आश्रय लिया और कलक्टर की मोटर के आगे ही ध्यानारूढ़ होकर भगवान् ऋषभदेव के अनन्तानन्त गुणों का मन ही मन स्तवन करने लगे। उस समय ज्येष्ठ मास था और सड़क को पिघला देने वाली कड़ी धूप पड़ रही थी। आचार्यश्री को राजाज्ञा एवं कड़ी धूप प्रभावित नही कर पायी। वे एक आदर्श तपस्वी के रूप मे उसी स्थान पर २४ घण्टे तपोरत रहे। नगर की जनता वहाँ एकत्र हो गई। गुलबर्गा में स्थित जैन परिवारों के सभी सदस्यो ने—चार साल के बालक-बालिका से लेकर रुग्ण पुरुष और स्त्रियो तक ने भी—महाराजश्री के ऊपर आया उपसर्ग जानकर आहार और जल का त्याग कर दिया। नगर-निवासियो के आक्रोश को देखकर कलक्टर महोदय अगले दिन पुन. घटनास्थल पर आए। उन्होंने आचार्यश्री की ओर देखकर प्रश्न किया कि आप कौन हैं? आचार्यश्री तपोरत थे। अत. उन्होंने कोई उत्तर नही दिया। इतने मे भीड़ को चीरकर एक विद्वान् महिला कलक्टर के सम्मुख आई और उसने शालीनता से आचार्यश्री और दिगम्बर परम्परा के सम्बन्ध मे अंग्रेजी भाषा मे कलक्टर महोदय को आवश्यक जानकारी दी। वास्तविकता को जानकर कलक्टर को गहरा दुःख हुआ। उन्होने आचार्य श्री से क्षमायाचना करते हुए कहा कि अज्ञानतावश दी गई आज्ञा को मैं वापिस लेता हू और आप दिगम्बर वेश मे नगर मे जहाँ चाहे वहाँ विचरण कर सकते हैं। कलक्टर महोदय अपने शासकीय परिवेश को भूल कर आचार्यश्री की जयजयकार करते हुए उन्हे जुलूस के साथ मन्दिर जी मे छोड़कर ही वापिस आए।

आलन्दा (हैदराबाद) में विरोध

आचार्यश्री ने धर्मप्रचार के निमित्त आलन्दा जाने का निर्णय लिया। उनका आलन्दा आगमन जैन समाज के लिए प्रतिष्ठा का विषय था। आलन्दा स्थित जैन धर्मानुयायियो की यह बलवती इच्छा थी कि हमारे शहर मे भी कोई धर्मगुरु आकर हमको धर्मदेशना से लाभान्वित करें। किन्तु कुछ संकीर्ण मनोवृत्ति वाले व्यक्ति इस महान् देश की 'सर्वधर्म सद्भाव' की गौरवशाली परम्परा को क्षुद्र एवं साम्प्रदायिक कारणो से भंग करने मे विशेष रुचि लेते हैं। धार्मिक सकीर्णताओ से ग्रस्त कुछ व्यक्तियों ने उनके नग्न रूप के सम्बन्ध मे अनर्गल प्रचार करके एक मोर्चा-सा बना लिया। उन्होंने उनके नगर-प्रवेश पर प्रतिबन्ध भी लगवा दिया। आचार्यश्री को नगर प्रवेश से रोकने के लिए पुलिस की विशेष व्यवस्था भी करवाई गई।

दिगम्बरत्व की प्रतिष्ठा के लिए चुनौतियो को स्वीकार करना आचार्यश्री का स्वभाव है। उन्होंने अपने सघस्थ शिष्यों एव भक्तो को उपसर्ग के समय अपने से पृथक् रहने का परामर्श दिया और इस उपसर्ग को अकेले अपने ऊपर झेल लेने का संकल्प कर लिया। आप अकेले ही आलन्दा की ओर बढ़े। वहा कोई भी द्वार ऐसा नहीं था जहाँ बड़ी सख्या मे पुलिस-व्यवस्था न हो। आचार्यश्री ने अपने बुद्धि-चातुर्य से एक ऐसी पगडडी को पकड़ा जिससे वे सुगमता से शहर मे पहुंच सकें। उस पगडंडी पर भी पुलिस का पहरा था। किन्तु महाराजश्री की निर्भीक चाल एवं तपोमडित आकृति को देखकर पुलिस वालों की हिम्मत नही हुई कि वे उनके मार्ग मे रुकावट डाल सकें।

पगडडी के मार्ग से मुनिश्री शहर मे पहुच गए। पुलिस ने उन्हे नगर भ्रमण की अनुमति नही दी और वापिस जाने को कहा। आचार्यश्री ने धर्म पर आए सकट के निवारणार्थ महामन्त्र णमोकार का आश्रय लिया और पद्मासन लगाकर सड़क पर ही एक आदर्श सत्याग्रही के रूप मे बैठ गए। आलन्दा के अल्पसंख्यक जैन समाज ने भी धर्म पर आए हुए सकट का निवारण करने के लिए जल आहार का त्याग कर दिया और अधिकारियों को वस्तुस्थिति से अवगत कराया। समस्या का समाधान न निकलते देखकर उन्होंने भारतवर्ष की जैन समाज को—विशेषत. बम्बई, कलकत्ता, इन्दौर की जैन समाज को, इस अप्रिय काड की सूचना दे दी। इस दुःखद समाचार से भारतवर्ष के जैन समाज मे रोष उत्पन्न हो गया और उन्होने युगीन परिस्थितियो के अनुरूप अनशन-व्रत इत्यादि किए। भारतवर्ष की विभिन्न जैन समाजो ने निजाम हैदराबाद को तार भेजकर जैन धर्मगुरुओ के स्वतन्त्र विचरण पर प्रतिबन्ध लगाने का विरोध किया। निजाम साहब ने स्थिति का पता लगने पर तत्काल हस्तक्षेप किया और मुनिश्री पर लगाए प्रतिबन्ध को हटाने का आदेश दिया।

आचार्यश्री के पावन सान्निध्य से आलन्दा में धर्म की मन्दाकिनी प्रवाहित हो उठी। उनकी प्रेरक एवं धर्ममय वाणी का रसपान करने के लिए आलन्दा के तत्कालीन कलक्टर महोदय भी उनकी धर्मसभाओं मे आते थे। तत्पश्चात् न जाने किन लोगो के परामर्श

पर निज़ाम ने एक आज्ञा निकाली कि जैन मुनि हमारे राज्य में विहार तो कर सकते हैं किन्तु आहार के लिए वह रात को बारह बजे निकलें और दिन में एकान्तवास करें। सभी को ज्ञात है कि जैन मुनि प्रायः प्रातःकाल में ९-०० बजे तक चर्या के लिये जाते हैं और सायंकाल सूर्य छिपने के उपरान्त निश्चित स्थान के अतिरिक्त कहीं नहीं जाते। अतः इस धर्मविरुद्ध आज्ञा के सम्बन्ध मे निजाम साहब को समझाया गया। महापुण्यवान श्री समसकरण सेठी महोदय ने निजाम साहब से मिलकर यह आज्ञा निरस्त करवा दी। निजाम साहब ने एक अन्य आज्ञा प्रसारित कराई जिसका भाव इस प्रकार था कि हमारे राज्य मे जैन मुनियो के अतिरिक्त अन्य साधु नग्न नही फिर सकते। उस समय उन्होंने यह इच्छा भी प्रकट की थी कि जिन महात्मा के साथ पुलिस व प्रजा ने उपसर्ग किया था वे हमारे राज्य मे पुनः आवें, हम उनका स्वागत करेंगे।

उस समय मुनिश्री का चातुर्मास नागपुर मे हो रहा था। निजाम साहब द्वारा व्यक्त सद्भावनाओ की सूचना उन्हे तार द्वारा दी गई। चातुर्मास समापन के पश्चात् उन्हे सघ सहित भगवान् गोम्मटेश्वर की विश्वविख्यात प्रतिमा के दर्शन के निमित्त जाना था। मुनिश्री यद्यपि स्तुति एव उपसर्गों मे तटस्थ भाव रखते है किन्तु जैन धर्म की प्रभावना के हेतु वे निजाम स्टेट से होकर ही निकले। निजाम साहब ने अपने दरबारियो के साथ आकर आपका राजसी स्वागत किया और उन्हे आदर के साथ बडे जुलूस मे हैदराबाद ले गए। निजाम साहब ने उन्हें श्री मन्दिर जी के दर्शन कराए और केसर बाग मे ठहराया तथा एक विशेष आज्ञा द्वारा आठ दिन के लिए नगर मे मांस एव मदिरा की बिक्री पर प्रतिबन्ध लगवा दिया। आचार्यश्री के धर्मप्रवचन मे सभी सम्प्रदाय के व्यक्ति सम्मिलित होते थे। उनकी धर्मदेशना से सभी मुग्ध हो गए और ऐसा लगा कि आध्र राज्य मे १० शताब्दियो पूर्व का जैन वैभव एक बार फिर से अगडाई ले रहा है। मुनि श्री देशभूषण जी की प्रतिष्ठा मे निजाम साहब ने यह आज्ञा निकाली कि हमारे राज्य मे जहा भी मुनिश्री जाए वहा सभी इनकी सेवा करें और कही भी इनके विहार पर आपत्ति न आए।

कलकत्ता के प्रतिबन्ध का निषेध

आचार्यश्री ने सन् १९५८ मे कलकत्ते के वर्षायोग का आयोजन विशेष कारणो से किया था। भगवान् महावीर स्वामी ने अपनी साधना के सन्दर्भ मे प्रायः सम्पूर्ण बगाल राज्य की यात्रा की थी और अपनी धर्मवाणी से तत्कालीन समाज को नई दिशा दी थी। भगवान् महावीर की पदयात्राओ मे पवित्र बगाल राज्य मे विगत पाँच-छ वर्षों मे कोई भी दिगम्बर आचार्य एव मुनि नही गए थे। आचार्यश्री के मन मे दिगम्बर मुनि के सम्पूर्ण राज्य मे विचरण की परिकल्पना सदा से रहती आई है। इसी कारण अधिक आयु होने पर भी आचार्यश्री ने कलकत्ते की ओर प्रस्थान किया था।

मुनिश्री का कलकत्ता आगमन पर विशेष स्वागत हुआ। उनके समर्थ व्यक्तित्व एव कृतित्व के प्रति सम्मान प्रकट करने की भावना से पश्चिमी बंगाल राज्य के प्रमुख शासनाधिकारी, बुद्धिजीवी, पत्रकार एव विभिन्न सामाजिक, धार्मिक सगठनो के प्रमुखो ने एक विशेष अपील निकाली थी। उनके आगमन पर बेलगछिया के मन्दिर का वर्षों से सूखा कुआ स्वत ही जल से भर गया था। उनकी मुद्रा, तपश्चर्या एव योगसार की व्याख्या का रसपान करने के लिए जैन एव जैनेतर समाज बडी सख्या मे पधारता था। आचार्यश्री की धर्म-कीर्ति एव लोकप्रियता से किन्ही कारणो से द्वेष रखने वाले सज्जनो ने उनकी धवल कान्ति एव यश को मलिन करने की भावना से एक षड्यन्त्र का आयोजन किया और उनके नग्न विचरण के सम्बन्ध मे भ्रान्त वातावरण बनवा दिया।

सभी को विदित है कि महानगरी कलकत्ता मे कार्तिक महोत्सव के अवसर पर जैन रथयात्रा परम्परा से निकलती आई है। इस यात्रा मे दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनो बडे उत्साह से सम्मिलित होते हैं। पारसनाथ बाबा की इस ऐतिहासिक रथयात्रा को देखने के लिए लाखो बगाली भाई-बहिन प्रातःकाल से ही सडक के दोनों ओर एकत्रित हो जाते है। किन्तु धर्मद्वेषी व्यक्तियो को अपनी स्वार्थ साधना के समय धर्म की गौरव-परम्पराओं का ज्ञान भी नही रहता और वे अपने हित-साधन के लिए उन गौरवशाली परम्पराओं को तोडने मे भी नही हिचकिचाते। ऐसे ही व्यक्तियो की प्रेरणा से किन्ही सज्जनो ने आचार्यश्री द्वारा रथयात्रा मे नग्न मुनि के रूप मे सम्मिलित होने एव नगर-विचरण पर प्रशासन के अधिकारियो से मिलकर प्रतिबन्ध लगवा दिया।

समर्थ दिगम्बर मुनि श्री देशभूषण जी महाराज ने दासता के युग मे भी राजे-रजवाडे एव ब्रिटिश अधिकारियो द्वारा लगाई गई प्रतिबन्धात्मक आज्ञाओं का डटकर एक सत्याग्रही के रूप मे प्रबल विरोध किया था। उनके द्वारा किए गए तर्कसम्मत सत्याग्रहों के कारण अनेक देशी रियासतों के राजा, नवाबो एव ब्रिटिश शासन के प्रतिनिधियो ने अपने-अपने राज्य मे से दिगम्बर जैन मुनि के विचरण पर से प्रतिबन्ध हटा लिया था। सन् १९५८ मे तो परिस्थितियां बिल्कुल ही बदल गई थी। महात्मा गाधी के अहिंसक आन्दोलन के कारण भारत पराधीनता की बेडियों को तोड चुका था। हमारे देश मे एक ऐसी धर्मनिरपेक्ष सरकार की स्थापना हो चुकी थी जो किसी भी धर्म

के अनुयायी को अपनी परम्परागत समाराधना का संवैधानिक अधिकार देती थी। अतः इस प्रकार के प्रतिबन्ध को स्वीकार करना वास्तव में धर्म का अपमान था।

पुलिस ने आचार्यश्री के स्वतन्त्र विचरण पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए मन्दिर के चारों तरफ घेरा डाल दिया और आचार्य श्री ने भी दिगम्बर जैन धर्म एवं साधुओं के मौलिक अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाने वाली अनुचित निषेधाज्ञा का उल्लंघन करने की स्पष्ट घोषणा कर दी थी। जैन समाज में प्रतिबन्ध के समाचार से गहरी बेचैनी एवं हृदयविदारक पीड़ा थी। सम्भावना यह थी कि आचार्य श्री के प्रतिबन्ध तोड़ने पर पुलिस उन्हें गिरफ्तार कर लेगी। आचार्यश्री ने भगवान् पार्श्वनाथ का पावन स्मरण किया और उनकी स्तुति में भक्ति स्तोत्रों का पाठ किया। उसके उपरान्त आश्चर्यजनक ढंग से प्रतिबन्ध को तोड़ते हुए वे रथयात्रा में सम्मिलित हो गये। उनकी सिंह की सी गति एवं तपश्चर्या को देखकर पुलिस स्तब्ध रह गई। राजकीय आज्ञा से बंधे हुए पुलिसकर्मियों ने उन्हें अपनी विवशता बताते हुए दिगम्बर परिवेश में नगर-विचरण के लिए रोकने का प्रयास किया। तभी जैन समाज के प्रयासों से पुलिस कमिश्नर महोदय ने आचार्यश्री के चरणों में उपस्थित होकर निवेदन किया कि उनके नगर-विहार पर से सरकारी प्रतिबन्ध उठा लिया गया है।

सभी श्रावक-श्राविकाओं की आंखों में दीपमालिका का उज्ज्वल प्रकाश आलोकित हो उठा और आचार्यश्री विशाल जन-समूह के साथ रथयात्रा में ससंघ चलने लगे। बंगाल की धर्मप्राण जनता ने इन्द्रियजयी मुनिश्री की मुक्तकंठ से जयजयकार की और बंगाल की तत्कालीन राज्यपाल श्रीमती पद्मजा नायडू ने हरीसन रोड पर पुष्पवृष्टि द्वारा उनका स्वागत किया। वास्तव में आचार्यश्री का स्वागत गौरवशाली निर्ग्रन्थ परम्परा का अभिनन्दन मात्र था।

पदयात्राओं और धर्मसभाओं के सन्दर्भ में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज का सम्पर्क सामान्य से सामान्य नागरिक और विशिष्ट बुद्धिजीवी, समाजसेवी, धर्माचार्य, राजनेता सभी से हुआ है। सभी आपकी धर्मप्रभावना और ज्ञानज्योति से प्रभावित हुए है। विश्व धर्म सम्मेलन, भगवान् महावीर स्वामी के २५००वें परिनिर्वाण महोत्सव, श्रवणबेलगोला में भगवान् बाहुबलि के महामस्तकाभिषेक, 'भगवान् महावीर और उनका तत्त्वदर्शन' ग्रन्थ विमोचन, लालकिला के निकटस्थ परिन्दों के धर्मार्थ हस्पताल के विस्तार-योजना समारोह अथवा महाराजश्री के जन्मजयन्ती के अवसरों पर देश के शीर्षस्थ नेता एवं बुद्धिजीवी सर्व श्री डॉ० राधाकृष्णन्, डॉ० जाकिर हुसैन, डॉ० फखरुद्दीन अली अहमद, डॉ० गोपाल स्वरूप पाठक, श्रीमती इन्दिरा गांधी, लालबहादुर शास्त्री, गोविन्द वल्लभ पंत, सम्पूर्णानन्द, मोहनलाल सुखाडिया, यू० एन० ढेबर, निजलिंगप्पा, ब्रह्मानन्द रेड्डी, प्रकाशचन्द्र सेठी, कमलापति त्रिपाठी, शिवचरण माथुर, पद्मजा नायडू, धर्मवीर, प्रफुल्लचन्द्र सेन, देवराज अर्स, रामकृष्ण हेगड़े, महारानी गायत्री देवी, सेठ जुगलकिशोर बिड़ला आदि ने आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी का सान्निध्य पाकर अध्यात्म-लाभ किया है। भारत गणतन्त्र के प्रथम राष्ट्रपति राजर्षि डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने आचार्यश्री के द्वारा प्रकाश में लाए गये ज्ञान-विज्ञान के विविध आयामों को उद्घाटित करने वाले अंकलिपि में निबद्ध प्राचीन ग्रन्थ 'सिरि भूवलय' को संसार के आठवें आश्चर्य के रूप में स्वीकार करते हुए आचार्यश्री की शास्त्रान्वेषी दृष्टि और परम उपयोगी कार्यों को अहर्निश करते रहने के उनके संकल्प के प्रति आस्था व्यक्त की थी। भारत के उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) के न्यायमूर्ति माननीय श्री टी० एल० वेंकटरमण अय्यर श्री दिगम्बर जैन धर्मशाला, पहाड़ी धीरज, दिल्ली में जब दिनांक २०.२.१९५६ को आचार्यश्री के दर्शनार्थ पधारे तो उनकी वीतरागी दिगम्बर मुद्रा तथा अगाध ज्ञानज्योति एवं धर्मचर्चा ने उन्हें अत्यधिक प्रभावित किया था। उस अवसर पर न्यायमूर्ति श्री अय्यर ने संस्कृत भाषा में आचार्यश्री की वाङ्मय स्तुति करते हुए जो भाव प्रकट किए थे उन्हें अविकल रूप में यहाँ (हिन्दी अनुवाद-सहित) प्रस्तुत किया जा रहा है—

"न पुनः आत्मानं समर्थं मन्ये। तथापि अलंघनीयत्वात् गुरो रज्ञाया किञ्चिदेव वक्ष्यामि। अस्माकं पुराणेषु देवाश्चासुराश्चेति अस्माभिः पठ्यते।

न पुनरस्माभिः असुराः दृष्टाः विगतरूपः अमानुषरूपः चेति गुणः। देवः चेति गुणः असुरः इत्ययं अस्मद्भिः प्रच्छति सर्वैरेव अयं अत्रातः अवगन्तव्यः।

असुभिः रमन्ते इति असुराः। येषां शरीरस्यैव आशा वर्तते इति असुराः। ये चिन्तयति अयमेव देहाः मुख्या अस्य देहस्य पोषणार्थं सर्वं कर्तव्यं इति ये ये चिन्तयन्ति ते सर्वे असुराः। ये पुनः चिन्तयन्ति अस्माद्देहात् व्यतिरिक्ताः कश्चिद् वर्तते सह अस्माभिः ज्ञातव्याः। इति ये ये चिन्तयन्ति के ते देवाः। इत्ययं अत्र अस्मात्तस्मात् अस्माभिः देवपथमनुसरद्भिः आत्मा अवगन्तव्यः।

अयमेव अस्माक शास्त्राणां उद्देश्य.। तमुद्दिश्य मधिगन्तव्य:गुरुराश्रय कुत इति चेत् गुरुरेव विद्या अधीतव्य: इत्यस्माकं निर्णय: ।

आर्यवान् पुरुषो वेद· उच्यते वेद. ।
तदा तथैव मातृदेवो भव, पितृदेवो भव,
आचार्यदेवो भव इत्युच्यते वेदेषु ।
मातृवत्तुल्य पितृवत्तुल्य· गुरुरिति ।
गुरोर्ब्रह्मा गुरोर्विष्णु, गुरुर्देवो महेश्वर. ।
गुरु: साक्षात् परम ब्रह्म: तस्मै श्री गुरुवे नम: ।

इत्युच्यते सर्वैरेव तस्मात् गुरु सेवाया एव अस्माभि आत्मज्ञो नम । नमर्राधिगन्तव्य: वर्तते । इदमेव मया संक्षेपे उक्तं ।

कथं तवेति ते देवे ? देवे इदानीमेव पुनरपि वक्ष्यामि ।

अथ किंचित् वक्तव्य दिगम्बरमतमनुसृत्य अधिकृत्य किं नग्नत्व साधु: वाऽसाधुइत्यत्र प्रश्न. वर्तते ।

पुराणेषु शास्त्रेषु सर्वशास्त्रेषु न केवल जैनशास्त्रेषु सर्वेषामेव मतेषु क्वचित् क्वचित् नग्नत्वमुपशोधन वर्तते। किनाकि भगवान् अपि "दिगम्बरत्वेन निवेदित शुचि इत्युक्त· गणराशि" ।

कीदृशस्य भगवान् पिनाकपाणि ?

किन्नाम दिगम्बरत्वं अस्मिन् काले समीचीन स्यात् ?

किमिदमस्माक नागरिकवृत्या स्वाधीनमिति आश्रित्य प्रच्छेति पुनरेतत् वक्तव्य किं नग्नत्व ?

साधु. वाऽसाधु. अथवा इति अत्र अस्माकं मनरेव प्रथम कारण । इत्यस्माक मन: ।

कं शरीर वर्तते तदा तत्र न किंचिदपि दोष: पश्यामि ।

यदि पुनरस्माक क श वर्तते तदानग्नत्वे वय पश्यास. अयमेव संक्षेप: ।

तस्मात् येषा गुण. वर्तते अहं क शरीर: पापरहितं संबुद्ध्या तेषां मध्ये नग्नत्वं न दुष्ट भवति। यदि पुन: सन्ति मनुष्या येषा चित्त मन: कीदृश युक्त भवति येषां मन· पापशकी येषा मन. न सर्वकाल पापमेव चिन्तयति।

तेषामग्रे यदि नग्नत्वं दृश्यते तदातेषा मनसि विकारा. स्यादिति ताम् ।

तस्मात् कोऽत्र निर्णय कर्त्तुं शक्यमिति चेत्।

यदि वय मनसि शुद्धा: तदानामस्माकमत्र गृहीतं भवति ।

इत्येव मम अभिप्राय. इति मया गुरुरग्रे निवेदित । तवगुरुग्रे निवेदितु अशक्या इदानी शक्त्यानुसारेण मया नग्नत्व स्वरूप निवेदित· ।

इत्यलं नमस्ते । पुनर्भूयात् दर्शनम् ।

अर्थात्—

हमारे शास्त्र-पुराणो मे देवता और राक्षसों का वर्णन किया गया है। यद्यपि हम लोगो ने अमानस रूप असुरो को नहीं देखा तथापि उनके दुर्गुणो व सद्गुणो से देवता व राक्षसों की पहचान होती है। सुरासुरो के कुछ लक्षण इस प्रकार हैं—जो प्राणो से रमण करते हैं यानी दूसरों की जान लेते हैं अथवा प्राणोत्सर्ग के समान पीडा देते हैं, जिनके शरीर मे सदा क्षणिक भोगोपभोगो की आकांक्षा बनी रहती है तथा जो यह सोचते हैं कि "यह शरीर ही मुख्य है, इसका पालन-पोषण करना ही मूल कर्तव्य है" वे असुर यानी राक्षस हैं। परन्तु जो यह सोचते हैं कि "इस शरीर के अतिरिक्त भी कुछ है, वही हम लोगो को जानना चाहिये" वे देवता हैं। इसलिए देवपथ का अनुसरण करने वाले हम लोगों को आत्मा को जानना चाहिए। यही हम लोगो के शास्त्रों का उद्देश्य है। इसी उद्देश्य को ग्रहण करके हमें गुरु का आश्रय ग्रहण करके गुरुदेव से ही विद्याध्ययन करना चाहिए, यही हमारा निर्णय है।

आर्यवान् पुरुष वेद कहा जाता है। वेदो मे मातृ-देव, पितृ-देव तथा आचार्य-देव होने के लिये शिक्षा दी गई है। माता के समान, पिता के समान तथा गुरु के समान बनने की शिक्षा गुरुओं ने दी है। गुरु गरिमा के विषय मे कहा है कि गुरु ब्रह्मा, गुरु विष्णु, गुरु शंकर तथा गुरु साक्षात् परब्रह्म स्वरूप हैं। अत. ऐसे गुरुदेव के लिये नमस्कार है। गुरुदेव की सेवा से ही हम सब आत्म-ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं ।

अब दिगम्बर मत के विषय मे भी हम कुछ कहना चाहते हैं। नग्नता क्या है, साधु और असाधु क्या है? यह प्रश्न यहां उपस्थित होता है। इसके उत्तर मे हमारा विचार यह है कि केवल जैनशास्त्र में ही नहीं अपितु सभी शास्त्र-पुराणों में तथा सभी मतों में नग्नत्व की प्रशंसा की गई है। दिनांकि भगवान् ने भी गणराशि नामक शास्त्र में कहा है कि दिगम्बरत्व से पवित्रता का निर्माण होता है। शंकर भगवान् ने भी दिगम्बर वेष धारण किया था। अब यहा पर पुन: यह प्रश्न उठता है कि नग्न वेष से साधु या असाधु की क्या विशेषता है? तो इस प्रश्न के उत्तर में हमारा मन ही मूल कारण है। जब हमारा मन निर्मल रहता है तब हम दोष नही देखते तथा यदि हम विचार करें कि कहां कल्याण की प्राप्ति है तो नग्नत्व मे ही देखते हैं। अर्थात् जो निरभिमानी, निष्पाप तथा समता भाव धारण करने वाले हैं उनके मध्य में नग्नत्व कुछ भी प्रतिकूल नही मालूम पडता। परन्तु जो सशंकित हैं या जिनका मन सदा पाप का ही चिन्तन किया करता है तथा जो अहर्निश बाह्य पर-पदार्थों मे ही उलझे रहते हैं उनके मन मे नैसर्गिक विकार रहता है और वे ही स्वयं विकारी होने के कारण सर्वत्र सभी मे दोषान्वेषण किया करते हैं। इस प्रकार नग्नता परम पवित्रता की द्योतक है। ऐसे गुरुदेव हमारे परम आराध्य हैं। अत ऐसे पुरुषो के पाद पद्मों मे हम बार-बार नमस्कार करते हैं और सदा यही सद्भावना करते है कि इसी प्रकार हमे सत्संग का लाभ प्राप्त होता रहे तथा सभी बन्धुओं से नम्र निवेदन है कि आप लोग भी इसी प्रकार अपनी सद्भावना रखकर अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करें।"

धर्म प्रभावना के उद्बोधनात्मक स्वर

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने जैनधर्म के इतिहास का गम्भीर चिन्तन-मनन करके यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि जैनधर्मानुयायियो को राष्ट्रकल्याण एवं लोकोपकार की प्रवृत्तियो से प्रेरित होकर धर्म की प्रभावना हेतु सदैव तत्पर रहना चाहिए। चिन्तन एवं मनन के विविध क्षणो मे आचार्यश्री के तेजोद्दीप्त नयनो के सम्मुख अनेक बार जैनधर्म का गौरवमय अतीत अपने आध्यात्मिक एव सांस्कृतिक वैभव के साथ साकार हो उठता है। वर्तमान मे जैनधर्मानुयायियों की अल्पसंख्या तथा धर्मपरायणता के प्रति उनकी उदासीनता से उनका मन पीड़ित हो जाता है। श्री दिगम्बर जैन लाल मन्दिर जी, दिल्ली मे भाद्रपद शुक्ला १३, दिनांक ३१ अगस्त, १९५५ को एक धर्मसभा को सम्बोधित करते हुए आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने श्रावक समाज के उद्बोधन हेतु उनका मार्गदर्शन करते हुए कहा था—

"जिस धर्म का प्रचार जितना अधिक हुआ करता है उस धर्म के अनुगामी उतने ही अधिक होते जाते हैं तथा जो धर्म प्रचार में जितना पिछड जाता है उसके अनुयायियों की संख्या भी उतनी ही कम हो जाती है।

जैन धर्म का प्रचार भगवान् महावीर ने अपने समय मे इतना किया कि उनके नाम पर वर्द्धमान, वीरभूम, सिंहभूम, मानभूम आदि अनेक नगरो का नामकरण हुआ। भारत में जैनधर्म राजधर्म के रूप मे बन गया। अहिंसा धर्म की ध्वजा समस्त भारत में फहराने लगी। भगवान् महावीर का निर्वाण हो जाने पर उनकी शिष्य परम्परा ने भी जैनधर्म का बहुत प्रचार किया। सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासनकाल मे ४२ हजार जैन साधुओ का विशाल सघ तो केवल मालवा मे था। द्वादशवर्षी दुर्भिक्ष आने से पहले आचार्यश्री भद्रबाहु के नेतृत्व मे हजारों जैन साधुओं का संघ दक्षिण भारत की ओर विहार कर गया। सम्राट् चन्द्रगुप्त ने भी जैन साधु की दीक्षा लेकर उन्ही साधुओं के साथ दक्षिण की ओर विहार किया।

हजारों साधुओं का मालवा मे रहना और हजारों साधुओ के सघ का उत्तर भारत से विहार करते हुए दक्षिण भारत को जाना इस बात का साक्षी है कि उस समय उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत में जैनधर्म का बहुत प्रचार था। बहुत बड़ी संख्या मे जैनधर्मानुयायी भारत मे उस समय थे, तभी हजारो साधुओ के शुद्ध खान-पान, विहार, ठहरने आदि की सुव्यवस्था उस जमाने मे अनायास हो जाती थी। किन्तु आज जब हम इस ओर दृष्टिपात करते हैं तब बहुत निराशा होती है। इस समय दिगम्बर साधु केवल ३७-३८ हैं। उनमें भी क्षति होती जा रही है। शारीरिक, कालिक एवं क्षेत्र सम्बन्धी कठिन परिस्थितियों के कारण नवीन साधुओ का होना दुर्लभ नजर आता है। अत: जैनधर्म का प्रचार बहुत कम हो गया है। जैनधर्म के महान् प्रचार को सम्पन्न करने के लिये सम्यग्दर्शन के आठ अगों में से आठवां अंग 'प्रभावना' बतलाया गया है। प्रभावना अग का मूल उद्देश्य जैनधर्म को व्यापक बनाना था। किन्तु जैन समाज ने इस ओर इतनी उपेक्षा की है कि हमारी पडोसी जनता भी अनभिज्ञ है कि जैनधर्म क्या वस्तु है। करोडों भारतीय स्त्री-पुरुष भी जैनधर्म से अपरिचित हैं। भारतीय जैनेतर विद्वानों मे से अधिकांश जैनधर्म से अनभिज्ञ हैं। जैन सिद्धान्त का साधारण परिज्ञान भी बिरलों को होगा। तब विदेशों मे तो जैनधर्म को कौन कितना समझता होगा! ससार के सबसे प्राचीन, सबसे प्रमुख, सिद्धान्त और आचार की दृष्टि से सबसे अग्रेसर धर्म प्रसिद्धि मे इतना पीछे! यह सब प्रचार की कमी का परिणाम है।"

एक चिन्तक के रूप मे आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भारतीय समाज का विश्लेषण किया है और विविध धर्मों के प्रति तुलनात्मक दृष्टि रखते हुए जैनधर्म की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियो को समाज के सामने रखा है। साथ ही धर्मप्रभावक आचार्य की भूमिका का निर्वाह करते हुए उन्होंने जैन समाज को ऐसे आदर्शों एव सामाजिक मूल्यो के आचरण के लिए प्रेरित भी किया है जिससे जैन धर्म अपने वास्तविक अर्थ मे प्राणीमात्र का धर्म बन सके। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि आचार्य श्री की दृष्टि मे जैनधर्म एक सर्वोत्कृष्ट धर्म इसलिए है क्योंकि यह दया के मूल से जुड़ा हुआ है। इसलिए जैन धर्मानुयायी को बहुत सावधानी और सयम से धर्माचरण करना पड़ता है। वर्तमान धार्मिक पलायन से जैन समाज भी प्रभावित हुआ है। आचार्यश्री ने धर्मप्रभावना के प्रति इस उदासीनता के निम्नलिखित कारण बताए हैं—

(अ) "आधुनिक जैन जातिया प्राय: क्षत्रिय हैं, किन्तु निरन्तर व्यापार करते रहने से उनका वीरतापूर्ण क्षात्र-तेज लुप्त हो गया है। वे डरपोक बन गए हैं। जब कभी उन पर तथा उनके धर्मायतनों (मन्दिरो) पर आक्रमण होता है तो वे शूरवीरता से उसका उत्तर नही देते।" (उपदेश सार सग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ २६)

(आ) "जैन धर्मानुयायियो की प्रवृत्ति धन-सचय की ओर इतनी अधिक हो गई है कि वे आत्मा की शक्ति को विस्मृत कर भौतिक सम्पत्ति के मोह मे फस गए हैं।" (उपदेश सार सग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ २६)

(इ) "आजकल जैन धर्म प्रचारको का लक्ष्य केवल आर्थिक होता है। जिस सस्था की तरफ से वे दौरा करते हैं उस संस्था के लिए द्रव्य एकत्र करना उनका मुख्य लक्ष्य रहता है। यदि वे इस कार्य मे सफल नही होते तो उन्हे वह सस्था हटा देती है। इनमे से अधिकाश प्रभावशालिनी वक्तृत्व कला से शून्य होते हैं, शास्त्रीय ज्ञान भी उनका परिपक्व नही होता।"

(उपदेश सार संग्रह, दूसरा भाग, पृष्ठ ११६)

भारतवर्ष मे इस्लाम के आगमन तथा उसके प्रचार-प्रसार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के सम्बन्ध मे आचार्यश्री की मान्यता है कि प्रारम्भ मे भारतवर्ष के अनेक धर्मानुयायी शासकीय शक्ति के प्रभाव से इस्लाम धर्म मे दीक्षित किए गए। इन नवदीक्षित इस्लामानुयायियों को इस्लाम धर्म की ओर से इतनी सुविधाएं एव अपनत्व प्रदान किया गया जिसके फलस्वरूप नवदीक्षित इस्लामानुयायी पक्के मुस्लिम बन गए।

इसके विपरीत जैन समाज ने अपने साधर्मी बन्धुओ को अपने ही धर्म मे बनाये रखने का प्रभावशाली प्रयास नही किया। ऐसे अनेक कारणो से इस्लाम आज सम्पूर्ण भारतवर्ष मे प्रबल जनशक्ति बन गया है। एक उदार सन्त के रूप मे आचार्य श्री देशभूषण जी ने इस्लाम धर्म का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए जैन धर्मानुयायियो को धर्मप्रभावना के इस रहस्य को समझाने का प्रयास किया है—

"मुसलमानो मे जो पारस्परिक भ्रातृ भावना है, वह अवश्य अनुकरणीय है। जैनधर्म मे सम्यग्दर्शन का जो वात्सल्य अग बतलाया गया है ......उस वात्सल्य को मुसलमानो ने अपने यहा क्रियात्मक रूप दिया है। तदनुरूप यदि अरब के किसी मुसलमान पर कोई सकट आता है तो पूर्वी पाकिस्तान तक के मुसलमानो पर उसका प्रभाव होता है।...सम्यग्दर्शन के एक अन्य अग स्थितिकरण का आचरण भी मुसलमानो ने अच्छे ढग से किया है...जैन समाज ने अपने इन दोनो सामाजिक कर्तव्यो को भुला दिया है। इसी कारण आपसी विद्वेष के कारण हमारे अनेक भाई धर्म से च्युत हो चुके हैं ....दक्षिण मे लिङ्गायत जाति, मध्यप्रदेश की कलाल जाति, बिहार, बंगाल, उडीसा की सराक जाति पहिले जैन थी, अब वे जैन नही हैं। जैन समाज यदि अपने स्थितिकरण का आचरण करता तो ये समूची जातियां अजैन कैसे बन जाती। 'जैन समाज ने अपने धर्म प्रचार के सभी प्रशसनीय तथा आचरणीय साधनो को भुला दिया है। इस कारण जैन समाज की जनसंख्या का भारी ह्रास हो गया है और दिन पर दिन होता जा रहा है। इस ओर धार्मिक सज्जनो का ध्यान तुरन्त होना चाहिए।" (उपदेश सार सग्रह, भाग २, पृष्ठ ३२४-३२५)

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी को यह देखकर आश्चर्य एव दुःख होता है कि जैनधर्म अपनी शानदार सास्कृतिक विरासत का उत्तराधिकारी होते हुए भी सख्या की दृष्टि से अत्यधिक सीमित हो गया है। दूसरी ओर ईसाई धर्म ने दीन-दुःखियो की सेवा करके भारत मे अपनी गहरी जड़ें जमा ली हैं और विदेशी धर्म होते हुए भी अपनी सेवापरायणता एव धर्मप्रभावना से भारतवर्ष के मानचित्र मे अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। ईसाई धर्म की इस सेवाभावी विशेषता की ओर सकेत करते हुए आचार्यश्री ने कहा है—

"ईसाइयों ने सात समुद्र पार करके भारत के दीन-दरिद्र, असहाय स्त्री-पुरुषों को सभ्य शिक्षित बनाकर सम्पन्न बनाने के

लिए सैकड़ों स्कूल, अनाथालय, कालिज, बोर्डिङ्ग, अस्पताल आदि खोल रक्खे हैं जिनमें पढ़-लिखकर, आश्रय पाकर हजारों व्यक्ति आराम से जीवन व्यतीत कर रहे है। जिस भारत मे ४००-५०० वर्ष पहले एक भी ईसाई नहीं था उस भारत में आज ६०-७० लाख ईसाई हैं।"

(उपदेश सार संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ १८६)

जैन धर्म, दर्शन और इसकी सांस्कृतिक सम्पदा के वैभव का उल्लेख करते हुए आचार्यश्री ने महात्मा यीशुमसीह के भारत आगमन और जैन साधुओं से आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के ऐतिहासिक तथ्यो को समाज के सम्मुख इस भावना से रखा है कि वे अपने महान् जैन धर्म के प्रचार-प्रसार मे सक्रिय होकर गौरव का अनुभव करें।—"महात्मा यीशु भगवान् महावीर मे लगभग पांच सौ वर्ष पीछे हुए हैं। उनका २६ वर्ष का प्रारम्भिक समय अज्ञात है। अनेक ऐतिहासिक विद्वानो के मतानुसार महात्मा ईसा भारत में आये थे और उन्होने भारत मे जैन साधुओ से आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया था। जैन साधुओ के तप, त्याग, संयम से ईसा अच्छे प्रभावित थे। तदनन्तर उन्होंने पश्चिमी देशो मे अपने मनोनीत धर्म का प्रचार किया।" (उपदेश सार सग्रह, दूसरा भाग, पृष्ठ ३४१)

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी को अपनी राष्ट्रव्यापी पदयात्राओ मे समय-समय पर धर्मपरिवर्तन के अनेक प्रसगो का विवरण प्राप्त होता रहा है। जनसामान्य के आर्थिक वैषम्य, उदराग्नि की विकराल समस्याओं से वे भलीभांति परिचित है। इन सभी समस्याओ को देखते हुए उन्होंने सम्यग्दर्शन के अग वात्सल्य एव स्थितिकरण को अपनाकर समाज के एक भी व्यक्ति को धर्मविमुख होने से रोकने के लिए श्रावको को प्रेरित किया है। इस सम्बन्ध मे उन्होंने विभिन्न धर्मसभाओ मे प्रवचन करते हुए जहाँ भी अवकाश मिला है वही जैन धर्म की प्रतिष्ठा और इसे सुदृढ़ करने के विभिन्न उपायो का संकेत किया है। आचार्यश्री द्वारा दिए गए इन उद्बोधनो मे से कुछ इस प्रकार हैं—

(१) "धर्म से चलायमान होने वाले स्त्री-पुरुषो को तत्काल सम्भालने की बहुत भारी आवश्यकता है, जिससे वे धर्म से विचलित न होकर धर्म पालन मे स्थिर हो जाएँ। इस कार्य मे विलम्ब करने की आवश्यकता नही क्योकि धर्म परिवर्तन करने वाला जब तक अन्य धर्मानुयायियो या अधर्मी मनुष्यो के समागम में अच्छी तरह खुलकर नही आ पाता तब तक वह समझाने-बुझाने से तथा आवश्यकताएँ पूरी कर दिये जाने से अपने समाज मे उसके पुन आ जाने की सम्भावना बनी रहती है। यदि कुछ समय उसको विधर्म मे रहने दिया जाय तो धर्म परिवर्तन के उसके विचार पक्के हो जाते हैं। इस दशा में उसके पुनः अपने धर्म में लौट आने की आशा नही रहती।" (उपदेश सार सग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ १८८)

(२) "इस कार्य में लापरवाही भी न करनी चाहिए क्योंकि जिस तरह एक व्यक्ति की वृद्धि होने से समाज की शक्ति में वृद्धि होती है उसी तरह एक व्यक्ति के कम हो जाने से अपना समाज का बल भी कम हो जाता है। एक-एक बूद पानी के घड़े मे पड़ते रहने से घड़ा भर जाता है और एक-एक बूद पानी घड़े से निकलता है तो घडा खाली हो जाता है।"

(उपदेश सार सग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ १८८)

(३) "व्यापार करो, उद्योग-धन्धे चालू करो, धन उपार्जन के जो भी अच्छे उपाय है उनको काम मे लाओ, किन्तु एक तो उनमे अन्याय, अनीति रंचमात्र भी न करो...दूसरे धर्म साधन मे जरा भी कमी न आने दो। जिस कार्य मे प्राणिघात हो, किसी दीन दरिद्र निर्धन का हृदय दुःखता हो उस धन्धे को न करो। अहिंसा तथा दया की उपेक्षा करके धन सचय करना अनुचित है।"

(उपदेश सार सग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ २७)

(४) "परमपूज्य जिनेन्द्रदेव के उपासक बनकर शान्त अहिंसक बनो, किन्तु अपने भुलाए हुए क्षात्र धर्म को फिर से अपनाओ, अपनी सन्तान को निर्भय एवं बलवान बनाओ, स्वयं बलवान बनो। धर्म तथा धर्मायतन की रक्षा के लिए प्राणो का मोह छोड़ देना आवश्यक प्रतीत हो तो वैसा भी करो। स्त्रियो, दीन-दुखियों की रक्षा के लिए सर्वस्व अर्पण करना पड़े तो उससे भी न चूको।... अनेक जैन रानियों ने भी बड़ी वीरता से अपने धर्म तथा राज्य की रक्षा की थी। तुम भी वीरता से जीना सीखो।।"

(उपदेश सार संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ २७)

(५) "श्रावको का कर्तव्य है कि सदा दीन दुःखी जीवो पर अनुकम्पा करके उनके दुःख दूर करते रहे। अपने घर पर यदि कोई भूखा आए तो स्वय अपना भोजन उसको करा दो। पशु, पक्षी, कीडा, मकौडा कोई भी जीव हो सदा सब पर दया करते रहो। जैनधर्म दया पर आश्रित है। अतः ससार के दुःखी जीवो का अपनी शक्ति के अनुसार दुःख मिटाना प्रत्येक जैन धर्मानुयायी का कर्तव्य है।" (उपदेश सार संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ ८६)

(६) "अपने नगर मे आनेवाले साधर्मी दरिद्र बन्धु के परिवार के रहने के लिए मकान की व्यवस्था और व्यापार के लिए आवश्यक धनराशि का प्रबन्ध भी श्रावक समाज का कर देना चाहिए। इस प्रकार के वात्सल्य भाव से पुण्यबन्ध होता है, समाज की उन्नति होती है और धर्म की परम्परा बनी रहती है।" (उपदेश सार संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ ११४)

(७) "भगवान् महावीर ने अपने भक्तो को चार सघो मे सगठित रहने की विधि का निर्देश किया। मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका के उचित आचार का उपदेश भगवान् महावीर ने अच्छे विस्तार से दिया। उस चतुर्विध सघ की सगठित प्रणाली भगवान् महावीर के पीछे भी चलती रही जिससे जैनधर्म की परम्परा अनेक विघ्न बाधाओ के आने रहने पर भी बनी रही। आज उस चतुर्विध सघ का संगठन शिथिल दिख रहा है। इसी से जैन समाज मे निर्बलता प्रवेश करती जा रही है। अत: जैनधर्म को प्रभावशाली बनाने के लिए हमें चारों सघो का मजबूत संगठन बनाना चाहिए। 'संघे शक्ति: कलौयुगे' अर्थात् इस कलियुग मे सगठन द्वारा शक्ति पैदा की जा सकती है। इस कारण वीर शासन को व्यापक बनाने के लिए हमारा कर्तव्य अपने सामाजिक सगठन को बहुत दृढ़ बनाना है।"

(उपदेश सार संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ १२५)

(८) "जिस समाज मे मनुष्य रहता है उस समाज की उन्नति तथा बढ़वारी पर ही मनुष्य की उन्नति तथा बढ़वारी अवलम्बित है। अत: समाज सेवा के लिए जितना द्रव्य दे सकें उतना अवश्य देना चाहिए। अपने भाई बहिनो के सकट दूर करना, समाज के बच्चो की शिक्षा की व्यवस्था, साधर्मी के व्यापार आजीविका आदि मे सहयोग करने आदि सामाजिक कार्यों मे अपनी शक्ति अनुसार द्रव्य व्यय करना चाहिए।" (उपदेश सार संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ १४६)

(९) "जिस देश में हम रहते हैं उस देश की उन्नति के लिए यथासम्भव धन प्रदान करना चाहिए। इसके सिवाय लोक कल्याण के कार्यों का भी ध्यान रखना आवश्यक है। तदनुसार दीन दु:खी अनाथ अपाहिज, अन्धे, असहाय मनुष्यो के दु:ख दूर करने मे जितनी सहायता दी जा सकती हो देनी चाहिए। भूखे व्यक्ति को भोजन कराना, नगे को वस्त्र देना, रोगी को औषधि देना, औषधालय खोलना, प्यासे को स्वच्छ शीतल जल पिलाना चाहिए। इसके सिवाय पशु पक्षियो की रक्षा के लिए, उनके भोजन के लिए, उनकी चिकित्सा के लिए जितना बन सके अवश्य खर्च करना चाहिए। साराश यह है कि परिश्रम से न्यायपूर्वक सचित किए हुए धन को धर्मार्थ तथा परोपकार के लिए यथायोग्य व्यय करना चाहिए।" (उपदेश सार संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ १४९)

(१०) "श्रावको को अपनी शक्ति अनुसार धर्म का स्वय आचरण करना धर्म की मुख्य सेवा है क्योकि स्वय आचरण किए बिना धर्म का प्रभाव दूसरे व्यक्ति पर नहीं डाला जा सकता। अत: स्वयं धर्माचरण करके ऐसे शुभ कार्य करने चाहिएँ जिससे तुमको देखकर दूसरे व्यक्ति भी जैनधर्म की ओर स्वयं आकर्षित हों, जैनधर्म की प्रशसा करे। इसके सिवाय जैनधर्म के सत्य सिद्धान्त सरल भाषा में प्रकाशित करके जनता में उन्हे वितरण करें। जैन साहित्य जैनेतर विद्वानो को भेंट करें। जैनेतर भद्र पुरुषों के साथ सम्पर्क जोड़कर, उनके साथ प्रेम स्थापित करके उनको मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थो का स्वाध्याय कराएँ। जैन धर्म का आचरण करने की प्रेरणा करते रहें। जैनेतर सभाओं मे जैनधर्म के महत्व को प्रकट करने वाले भाषण दें। जो अपने जैन बन्धु धर्म से विचलित या शिथिल हो रहे हो उनको समझा-बुझा कर धर्म मे दृढ़ करें।" (उपदेश सार संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ १७६)

(११) "अपने समाज की निष्काम सेवा करना भी मनुष्य का प्रधान कर्तव्य है। व्यक्ति की उन्नति तभी होती है जबकि समाज की उन्नति होती है। यदि अपने समाज मे अविद्या, दुराचार, ईर्ष्या, द्वेष फैला हुआ होगा, दरिद्रता फैली हुई होगी तो उसका प्रभाव इस समाज के प्रत्येक व्यक्ति पर थोड़ा बहुत अवश्य पड़ेगा।————मनुष्य को अपना स्वार्थ गौण करके समाज के हित को प्रधानता देनी चाहिए। इसके लिए समाज में शिक्षा का प्रचार करना चाहिए, समाज मे फैली हुई कुरीतियो को दूर करना चाहिए। अपने समाज के अनाथ बच्चो, महिलाओ के शिक्षण, आजीविका आदि का प्रबन्ध कर देना चाहिए जिससे अपने समाज में कोई दुःखी न रहे। समाज मे ऐसे नियमो का प्रचार करना चाहिए जिनके द्वारा निर्धन व्यक्ति भी अपने पुत्र-पुत्रियो के विवाह सम्बन्ध आदि सामाजिक कार्य सरलता से कर सकें। साराश यह है कि समाज को हम अपना बड़ा परिवार समझ कर उसके प्रत्येक बच्चे को अपना बच्चा, उसकी प्रत्येक स्त्री को अपनी बहन, पुत्री और प्रत्येक मनुष्य को अपना भाई समझे।"

(उपदेश सार संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ १७६-१७७)

(१२) "दु:खी स्त्री पुरुषों के साथ मीठे नम्र शब्दो मे बातचीत करो, यदि वे भूखे हो तो उनको रोटी खिलाओ, प्यासे हो तो पानी पिलाओ, नंगे हों तो उनको वस्त्र दो, यदि रोगी हों तो उनको औषधि दो। स्वय जितना कर सकते हो उतना स्वयं करो, जितना

तुम से न हो सके उतना दूसरों से उनका भला कराने का यत्न करो। इतना भी न हो सके तो अपने मन मे उनके लिए सहानुभूति रक्खो। तन मन धन यदि दीन दुखियों की सेवा में लग जाए तो इससे अधिक और अच्छा इनका उपयोग क्या होगा?"

(उपदेश सार संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ १७७)

(१३) "यदि कभी किसी धर्मात्मा से कोई ऐसा निन्दाजनक अपराध हो जाये तो अन्य धर्मात्मा का यह कर्तव्य है कि उस धर्मात्मा का अपयश होने से बचावे जिससे कि धर्म का अपवाद न होने पाए। क्योंकि धर्मात्मा की निन्दा होने से धर्म की निन्दा अवश्य होती है। इससे समाज को भी बहुत धक्का पहुचता है। जिस तरह अपनी समाज का कोई मनुष्य अच्छा यशस्वी कार्य करे तो सर्वत्र उस समाज का नाम उज्ज्वल होता है और उस समाज का मस्तक ऊंचा होता है। किन्तु यदि कोई मनुष्य निन्दनीय कार्य कर बैठे तो उस समाज का भी अपयश फैल जाता है, उस मनुष्य के कुकृत्य के कारण उस समाज को भी नीचा देखना पड़ता है।"

(उपदेश सार संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ १८५)

(१४) "इस युग मे हम सबका कर्तव्य है कि प्रथम ही अपने पद अनुसार जैनधर्म का निर्दोष आचरण करके अपना ऐसा उच्चकोटि का जीवन बनाएं जिसे देखकर दूसरे व्यक्तियों के हृदय में जैनधर्म का गौरव स्वयं अंकित हो सके। इसके लिए हमारा नैतिक शुद्ध लेन-देन, रहन-सहन होना चाहिए। लोककल्याण की भावना, अहिंसा, दया का क्रियात्मक रूप हमारे कार्यों मे झलकना चाहिए। हमारी कोई भी प्रवृत्ति लोकहित के विरुद्ध न हो और देशहित विरोधी कार्य हमारे द्वारा न हो, हमारे वचन विश्वस्त, हितकर, सत्य, सारभूत होने चाहिएँ।"

(उपदेश सार संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ १६७)

(१५) "धर्मात्मा (श्रावक) अपनी विश्वसनीयता बनाने के लिए व्यापार में न असत्य बोलता है न किसी को धोखा देता है, कभी चुंगीकर की चोरी नही करता, न आयकर, बिक्रीकर से बचने या कमी के अभिप्राय मे दुकान का हिसाब, बही खाते ग़लत बनाता है। सही जमा खर्च किया करता है।————————ऐसा व्यापारी धीरे-धीरे व्यापार मे अग्रणी हो जाता है और उसे अचिन्त्य लाभ होता है।"

(उपदेश सार संग्रह, प्रथम भाग पृष्ठ २०७)

(१६) "अनेक स्त्रिया अनेक पुत्र-पुत्रियो के रहते गरीबी की दशा मे विधवा हो जाती हैं, अनेक गरीब लड़के-लड़कियां माता-पिता के मरने से अनाथ हो जाते हैं, अनेक व्यक्ति किसी रोग या दुर्घटना के कारण निकम्मे बन कर परमुखापेक्षी बन जाते हैं। अनेक स्त्रियों को उनके पति कुरूपता या बांझ होने के कारण निराश्रित छोड़ देते हैं, बहुत-से बच्चों को सौतेली मां घर में नही रहने देती। इस तरह आजकल संसार मे अनेक तरह के कष्ट स्त्री-पुरुषों पर आ रहे है। आये हुए दु:खो से छुटकारा पाने के लिए बहुत-से अपना धर्म-कर्म छोड़कर ईसाई आदि बन जाते हैं। बहुत-सी स्त्रियां दुराचारिणी, वेश्या आदि बन जाती हैं, बहुत-से आत्महत्या कर लेते हैं, बहुतों को भीख मांगनी पड़ती है। इस दशा मे समाज-हितैषी पुरुषों का काम है कि ऐसे दीन-दु:खी, अनाथ, विधवा, अपंग स्त्री-पुरुषो, बाल-बच्चों की सेवा करने के लिए, उनको पैरो पर खड़ा करने के लिए समुचित सफल स्थायी प्रबन्ध करे। औषधालय, अनाथालय, विधवाश्रम आदि की स्थापना करें और ऐसी संस्थाओ को ऐसे अच्छे ढंग से चलाएँ कि उनके चलाने के लिए द्रव्य मागने की आवश्यकता न पड़े, उस सस्था के आदर्श कार्य से आकर्षित होकर जनता उस सस्था को स्वयं सहायता प्रदान करे।"

(उपदेश सार संग्रह, दूसरा भाग, पृष्ठ ३८८)

(१७) "श्रावकों को ऐसे सेवामण्डल बनाने चाहिएँ जिनके द्वारा असहाय, निराश्रित, दु:खी, पीड़ित स्त्री-पुरुषों को तन, मन, धन से सहायता पहुंचती रहे। जो व्यक्ति निर्धन होते हुए भी समाज में सम्मान से रहते हो, जो प्रगट में किसी की सहायता लेना अपने सम्मान के विरुद्ध समझते हो ऐसे स्त्री-पुरुषों को गुप्त रूप से सहायता करनी चाहिए।"

(उपदेश सार संग्रह, दूसरा भाग, पृष्ठ ३८८)

(१८) "श्रावकों को अपने गुणो से आत्मा को प्रभावशाली बनाना चाहिए। तपस्या तथा सच्चरित्र के आचरण से आत्मा में भाव प्रकट होता है। अत. जैनधर्म की प्रभावना के लिए सबसे प्रथम तो अपने आत्मा में जैनधर्म को उतार कर अपने आपको प्रभावशाली बनाना चाहिए। इसके बाद अपना ज्ञान गुण विकसित करना चाहिए। जैन सिद्धान्त तथा अन्य सिद्धान्तों का और न्यायशास्त्र का परिज्ञान प्राप्त करना चाहिए।———इस प्रकार अपने ज्ञान के प्रभाव से उपदेश देकर, शास्त्रार्थ करके तथा ग्रन्थ रचना द्वारा जैनधर्म की प्रभावना करें।"

(उपदेश सार संग्रह, दूसरा भाग, पृष्ठ ४०३)

(१९) "श्रावकों को लोकोपकारक कार्य करके जैनधर्म का प्रभाव साधारण जनता मे फैलाना चाहिए जिस तरह कि जयपुर के निर्दोष दीवान अमरचन्द जी ने प्रजा की रक्षा के लिए अंग्रेज अफसर को मार डालने का अपराध अपने ऊपर लेकर सैकड़ो मनुष्यों की जीवन रक्षा की थी। इसी तरह दान, महान् उत्सव करके, दर्शनीय भव्य मन्दिर बनाकर जैनधर्म की प्रभावना संसार में

फैलानी चाहिए। अन्य मतानुयायियो को जैनधर्म की तरफ आकर्षित करने के लिए श्रावको को दीन दुःखी दरिद्र जनता की सेवा करके उनके हृदय मे जैनधर्म का प्रभाव उत्पन्न करना चाहिए। असहाय विधवाओं, अनाथ बच्चो की रक्षा करके उनको जैनधर्म का कल्याणकारी उपदेश देना चाहिए।" (उपदेश सार संग्रह, दूसरा भाग, पृष्ठ ४०४)

(२०) "प्रभावना करना धर्म के लिए नितान्त आवश्यक है। प्रभावना का सीधा-सादा अर्थ यह है कि अपने धर्म की उन्नति, विकास और प्रसार के लिए रथोत्सव करना, बडे-बडे विधान करना, प्रतिष्ठा करना, जिससे सहस्रो या लाखो की संख्या में जनता धर्म के बाह्य रूप को देख सके। धर्म के अन्तरग रहस्य, परिणाम शुद्धि या आत्मिक शान्ति को साधारण जन समाज नही समझ सकता है। वैयक्तिक होते हुए भी धर्म को सामूहिक या सामाजिक रूप देना ही प्रभावना है। उत्सव करने से सैकडों ही नही, सहस्रों व्यक्ति धर्म की ओर आकृष्ट होते हैं। उत्सव आदि धर्म प्रचार में बडे सहायक है। इनके द्वारा किसी भी धर्म का प्रचार सरलता-पूर्वक किया जा सकता है क्योंकि बाह्य रूप को देखकर अधिकाश भावुक व्यक्तियो का धर्म दीक्षित हो जाना या उस धर्म से परिचित हो जाना स्वाभाविक है।

पुरातन काल में धर्म परिवर्तन के प्रधान साधनो में रथोत्सव, शास्त्रार्थ और मान्त्रिक चमत्कार थे। जो सम्प्रदाय इन कार्यों मे प्रवीण होता था, वह अपने धर्म के अनुयायियो की सख्या बढा लेता था। उस काल में राजा के अनुसार ही प्राय. प्रजा का धर्म रहता था। यदि राजा जैन धर्मानुयायी है तो उसकी प्रजा भी प्रसन्नता से इसी धर्म की अनुयायी बन जाती थी और कालान्तर मे उसी राजा के शैव धर्मानुयायी हो जाने पर प्रजा को भी शैवधर्म ग्रहण करना पड़ता था। इस प्रकार उस काल में धर्मप्रचारक धर्म के बाह्य रूपो को जनता के सामने रखते रहते थे।

वर्तमान में भी रथोत्सव, पूजा, प्रतिष्ठा आदि प्रभावना के कार्यों की बडी आवश्यकता है। इन कार्यों के द्वारा जनता मे धार्मिक अभिरुचि उत्पन्न की जाती है। जनता किसी भी धर्म को जान सकती है तथा उसकी ओर आकृष्ट भी हो सकती है। आज पूजा, प्रतिष्ठा के अलावा भी जैन शास्त्रो को छपवाकर बाटना, जिससे सर्वसाधारण जैन धर्म के तत्त्वो से अवगत हो, प्रभावना का कार्य है। इस कार्य के द्वारा प्रभावना तो होती है, पर पुण्य का भी महान् बन्ध होता है, क्योकि शास्त्रो के अध्ययन द्वारा अनेक व्यक्ति अपने आचरण को सुधार सकते हैं, अपनी आत्मा का कल्याण कर सकते हैं तथा असत् मार्ग से हट कर सत् मार्ग मे लग सकते हैं। अत: प्रभावना से पुण्यार्जन होता है, जिससे जीव को परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

धन पाकर जो व्यक्ति धन का व्यय नही करता है, केवल अपने भोग-विलास को ही सब कुछ समझता है, उसी मे मस्त रहता है, वह व्यक्ति निम्न कोटि का है। उसका जीवन पशुवत् है, क्योकि खाना-पीना यही संकुचित क्षेत्र उसके जीवन का है। मनुष्य जन्म को प्राप्त कर जिसने अपने अभीष्ट धर्म का उद्योत नही किया तथा अपने अर्जित धन मे से मानव कल्याण मे कुछ नही लगाया, उसका जीवन निरर्थक है। नीतिकारो ने ऐसे व्यक्ति की बड़ी भारी निन्दा की है।

प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह अपनी कमाई का आठवां या दसवा भाग दान में अवश्य खर्च करे। आज के युग मे मन्दिर बनवाने या प्रतिष्ठा करवाने की उतनी अधिक आवश्यकता नही है, जितनी ज्ञानदान और जैन साहित्य के प्रचार की है। मन्दिर इस समय पर्याप्त संख्या मे प्रत्येक नगर में वर्तमान हैं। अधिक मन्दिर रहने से उनकी व्यवस्था भी ठीक नही हो पाती है। अत. अब प्रभावना के लिए मन्दिर की आवश्यकता नही। रथोत्सव आदि प्रभावना के लिए आज भी उपयोगी हैं, पर इनको भी सभाल कर करना चाहिए। प्रभावना का ठोस कार्य जितना साहित्य के प्रचार या शिक्षा द्वारा हो सकता है, उतना रथोत्सव आदि मे नही। साहित्य के प्रचार से जैनधर्म का यथार्थ बोध जनता कर सकती है तथा जैनधर्म के मौलिक आध्यात्मिक तत्त्वो का मनन कर सकती है। जैनधर्म आचार और विचार दोनो की ही दृष्टि से सर्वसाधारण को अपनी ओर आकृष्ट करने वाला है तथा इनके मनन, चिन्तन द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपना कल्याण कर सकता है। अतः प्रत्येक श्रावक को दान अवश्य करना चाहिए।" (रत्नाकर शतक, द्वितीय भाग, पृष्ठ ६६-१००)

(२१) "जैन समाज मे आज न तो यथेष्ट जनता को जैनधर्म की ओर झुकाने वाले हैं और इसी कारण जैनधर्म की ओर साधारण जनता का झुकाव नही है। जैनधर्म का जनता मे अधिक व्यापक प्रचार न हो सकने के विषय मे महान् ऋषि श्री समन्तभद्र आचार्य ने अनुभव की बात लिखी है—

> कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा, श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयोवा।
> त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः ॥

अर्थात्—हे भगवन्! आपका जगतहितङ्कर धर्म जो विश्वव्यापक नही बन पाया है उसके तीन कारण हो सकते है— १. या तो यह कलिकाल की महिमा कि इस काल मे लोकहितकारी सत्य धर्म का प्रसार कठिन हो गया है। २. उपदेश सुनने वाली जनता का हृदय इतना कलुषित बन गया है कि वह आत्म-कल्याण की ओर रुचि नही दिखाता। ३. तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि आप द्वारा प्ररूपित जैन धर्म के सिद्धान्तो का प्रचार करने योग्य प्रभावशालिनी वाक्शक्ति जैन वक्ताओ में नही रही।

पूर्वोक्त दो कारणो का सुधार करना तो हमारे हाथ की बात नही, क्योकि कलिकाल को हम किसी तरह चौथा काल नही बना सकते, परन्तु इतना अवश्य है कि इस कलिकाल मे सत्यखोजी, भद्रपरिणामी सज्जनों की कमी नही है, पर्याप्त जनता सत्य धर्म पर चलने के लिये लालायित है। उसको जैसा मार्ग मिल जाता है उस पर चलने लगती है। यदि कोई प्रचारक उस जनता के समक्ष जैनधर्म के सत्य सिद्धान्तों का ठीक ढग से प्रचार करे तो इस काल में भी वह भद्र जनता जैनधर्म को हृदय से स्वीकार कर सकती है, आचरण भी कर सकती है। यह बात अवश्य है कि लोग प्राय. मनोरंजन, विषयभोगो की ओर दौड़ते हैं। अपने आहार-विहार, खान-पान पर अधिकतर स्त्री-पुरुष किसी तरह का प्रतिबन्ध लगाना पसन्द नहीं करते। और, जैनधर्म शुरू से ही अभक्ष्य, अशुद्ध पदार्थों के खानपान पर तथा अयोग्य आचरण पर प्रतिबन्ध लगाता है। परन्तु उन स्त्री-पुरुषो की भी ससार मे कमी नही है जो आत्मकल्याण के लिये ऐसे प्रतिबन्धों का स्वागत करते हैं और सहर्ष उन अच्छे नियन्त्रणों का आचरण करना चाहते हैं।

अतः धर्म प्रचार के लिये हमको इन तीन कारणो पर ध्यान देते हुए अपनी त्रुटियों का सुधार करना चाहिये। हमको अच्छे प्रभावशाली विद्वान् वक्ता तैयार करने चाहिये जिनको विविध भाषाओ का ज्ञान हो, जैन दर्शन के सिवाय अन्य दर्शनो का भी जिनको अच्छा परिज्ञान हो, जिन्हे प्रचार करने की अच्छी शिक्षा दी जाए और जो प्रचार के साधनों से सम्पन्न हो, प्रचार कार्य के लिये उन्हे निराकुल रक्खा जाए। किन्तु जैन समाज मे आज ऐसा एक भी धर्मप्रचारक नही है।

प्राचीन समय मे प्रचार कार्य जैन साधुओं के हाथ मे था, वे अधिक संख्या में होते थे, सर्वत्र उनका निर्बाध विहार होता था। प्राय सभी मुनि अनेक विषयो के अच्छे विद्वान् होते थे। सच्चरित्र श्रावक (गृहस्थ जैन) भी सर्वत्र पाये जाते थे। अतः मुनियो को प्रायः सभी ग्रामों, नगरो मे यथासमय शुद्ध निर्दोष भोजन मिल जाता था। मुनि यथासमय भोजनचर्या के लिये नगर या ग्राम मे आते थे और विधि अनुसार थोड़ा-सा भोजन करके पुनः अपने ध्यान-अध्ययन के लिये एकान्त, शान्त, वन-प्रान्त मे चले जाते थे। वहा पर शान्ति के साथ कठोर तपस्या करते थे। उस तपस्या के कारण उनको विविध ऋद्धिया-सिद्धिया प्राप्त हो जाती थी। श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, बीज ऋद्धि, वचनबल, वादित्व ऋद्धि, अष्टाङ्ग निमित्त ज्ञान, चारणऋद्धि, पदऋद्धि, विक्रिया, तेजस आदि अनेक प्रभावशालिनी मानसिक, वाचनिक, शारीरिक ऋद्धिया उनको प्राप्त हो जाती थी, जिनके कारण उनका व्यक्तित्व महान् प्रभावशाली बन जाता था। इसी कारण वे जहां पर भी जाते थे वहां भव्य जनता का मेला लग जाता था। वे मुनि उस जनता का अनुरोध पा कर जो भी प्रभावशाली उपदेश देते थे, उस उपदेश का एक-एक शब्द श्रोताओ के हृदय पर अंकित हो जाता था। सुनने वाले सभी स्त्री-पुरुष गंभीर वाणी में प्रगट होने वाले उनके धर्म-उपदेश के अनुसार मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्य का त्याग करके जैनधर्म के भक्त बन जाते थे। उनमे से बहुत-से व्यक्ति तत्काल ससार, भोगो और शरीर से विरक्त होकर मुनि दीक्षा ले लेते थे, अनेक व्यक्ति ऐलक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी पद की दीक्षा ले लेते थे। जिन स्त्री-पुरुषो में कारणवश विशेष त्याग की क्षमता न होती थी, वे भी कम से कम जैनधर्म का हृदय से श्रद्धान व्यवहार कर सम्यग्दृष्टि तो बन ही जाते थे।

इस तरह प्राचीन समय मे जैनधर्म के प्रभावशाली प्रचारक, रत्नत्रय की मूर्ति, अच्छे कुशल विद्वान् मुनिराज होते थे। उनकी अटल श्रद्धा, ज्ञान, आचरण का जनता के हृदय पर तत्काल अमिट प्रभाव पडा करता था। आज वैसी बात नही रही। आज समस्त भारत मे केवल ३५-३६ दिगम्बर साधु हैं। उनका भी सर्वत्र स्वतन्त्र विहार संभव नही है। अन्य कारणो के सिवाय इस विहार में रुकावट का एक विशेष कारण यह भी है कि सभी स्थानो पर जैन गृहस्थो के घर नही पाये जाते। सैकड़ो गाव ऐसे हैं जहा पर जैनो का एक भी घर नही है। जहा पर जैनों के घर है वहा पर भी शुद्ध खान-पान का अभ्यास न रहने के कारण महाव्रती साधुओं की भोजन विधि तो दूर की बात रही व्रती श्रावको—ऐलक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी आदि के भोजन की व्यवस्था भी नही हो पाती। ऐसी विकट समस्याओ के कारण मुनियों का सर्वत्र विहार कठिन हो गया है। जहा पर मुनि विहार होता है उन स्थानो पर धर्मप्रचार भी अनायास होता ही है। किन्तु आज की आवश्यकतानुसार बहुत बड़े व्यापक प्रचार की आवश्यकता है। उस व्यापक प्रचार को ये केवल ३५-३६ मुनि पैदल विहार द्वारा नही कर सकते। अतः धार्मिक प्रचार कार्य मे सबको यथासभव सहयोग देना चाहिये।"

(उपदेश सार संग्रह, दूसरा भाग, पृष्ठ ३१९-३२१)

एक उदात्त पुरुष

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज निश्चय ही एक उदात्त पुरुष हैं। यहाँ 'उदात्त' शब्द का प्रयोग हम दोनों ही अर्थों मे कर रहे हैं—(i) उदार, और (ii) ऊर्ध्वमुखी चेतना के अध्यात्मपुरुष। दक्षिण भारत की भाषाओं मे उपलब्ध प्राचीन जैन धर्मग्रन्थों को उत्तर भारत की भाषाओं हिन्दी व मराठी में अनुदित करके आपने एक सुदृढ साहित्यिक-सांस्कृतिक समन्वय सेतु का निर्माण किया है। चारों जैन सम्प्रदायो के धर्मगुरुओं के साथ एक ही मंच पर बैठ कर आपने उनके समन्वय की दिशा मे तो विचार-विमर्श किया ही है, विश्व धर्म सम्मेलन के मंच पर समासीन होकर आपने मानव धर्म की कल्पना को साकार करने की दिशा मे भी चिन्तन किया है। आपकी उदार, सहिष्णु और गुणग्राही दृष्टि के कारण आपकी धर्मसभाओ मे केवल जैन ही नही, वैष्णव, आर्यसमाजी, मुस्लिम, सिख, हरिजन, गिरिजन सभी ने सम्मिलित होकर धर्मलाभ किया है। सामाजिक कल्याण और उसके निरन्तर उत्कर्ष के लिए भी आपने अपनी योजनाओ को साकार किया है। आपकी प्रेरणा से नवनिर्मित जिनालयो, तीर्थ क्षेत्रों अथवा जीर्णोद्धार किये गए धर्मस्थलों मे पहुचकर मानव-मन को असीम शांति का अनुभव होता है। विद्यालयों तथा गुरुकुलों की सस्थापना द्वारा भी आपने शिक्षा को सर्वजन सुलभ बनाने का प्रयास किया है। इधर, कोथली में लगभग एक करोड रुपये की लागत से निर्माणाधीन श्री देशभूषण चिकित्सालय तो उनकी जनकल्याणकारी उदार योजनाओं की विशाल झांकी प्रस्तुत कर रहा है जहाँ दूर-दूर से आये हुए रोगग्रस्त प्राणी आधुनिकतम चिकित्सा-सुविधाएँ प्राप्त करके करुणाविगलित हृदय से आचार्यश्री को कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया करेगे।

वस्तुत: आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की निवृत्ति भावना आदर्श है। निवृत्ति की साधना उन्होने मात्र मोक्षलक्ष्मी का वरण करके आत्म-कल्याण के लिए ही नही की वरन् भव्य जीवों के कल्याण के लिए भी वे निरन्तर अनेक लोकोपकारी योजनाओं की कल्पना और उनका क्रियान्वयन करके मानव-मात्र की मोक्ष-कामना कर रहे हैं। ऐसे हैं आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी!

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी की साधना और रचनात्मक कार्यों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि 'साकेत' मे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने भगवान् श्री रामचन्द्र जी से आत्मस्वीकृति के रूप मे जो अपेक्षाएँ की थी उन्हे वर्तमान मे आचार्यश्री पूरा कर रहे हैं—

"भव मे नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया॥" ☐

एक महान् सन्त-रत्न

आचार्य सम्राट् श्री आनन्द ऋषि जी

भारतवर्ष सदा से ही सन्तो की जन्मभूमि एवं कर्मभूमि के रूप में विश्रुत है। अनेक साधना-मार्ग होते हुए भी सभी का लक्ष्य सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर मोक्ष-प्राप्ति का रहा है। सभी संतों ने अपनी साधना एवं आराधना द्वारा स्व-पर का कल्याण करते हुए मानव-जाति का मार्ग प्रशस्त किया है। यह सन्त-परम्परा अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है।

संसार के महाभवर मे जब-जब जीवन-नौका डूबने को आई, सन्तो ने अपने अनुभव एवं आत्म-शक्ति द्वारा उसे उबारा है। युग के सन्दर्भ मे जिस इतिहास का निर्माण हुआ है, वह सभी सन्तों की प्रेरणा का प्रतिफल है। अतीत मे भगवान् महावीर, बुद्ध, नानक, विवेकानन्द आदि अनेक सन्त-पुरुषो ने भारत मे ही नही अपितु विश्व के कोने-कोने मे ज्ञान, भक्ति, चारित्र एवं सदाचार तथा विश्व-वात्सल्य का अलख जगाया था। मानव को 'वसुधैव कुटुम्बकम' का पाठ पढाया था। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का जीता-जागता नारा दिया था। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषाम् न समाचरेत्' का सिद्धान्त दिया था। 'जीओ और जीने दो' का उद्घोष किया था। मानव-जाति पर यह उनका बहुत बडा उपकार है।

उसी परम्परा मे वर्तमान मे भी ऐसे सन्त विद्यमान हैं जो अपने तन का कण-कण एवं जीवन का क्षण-क्षण जनहित मे लगा रहे हैं। उन्ही सन्तों की शृंखला की कडी में हैं आचार्य श्री देशभूषण जी। जैन समाज में दो परम्पराए चली आ रही हैं—दिगम्बर एव श्वेताम्बर। दोनो का आराध्य एक है—कुछ आचार-विचार व क्रिया-भेद होते हुए भी जैन की दृष्टि से या सैद्धान्तिक दृष्टि से दोनो एक हैं। दोनो सम्प्रदायों मे त्याग, तप, जप, स्वाध्याय आदि को महत्त्व दिया गया है। आचार्य देशभूषण जी एक महान् सन्त-रत्न हैं। हमने उनको देहली चातुर्मास मे निकटता से देखा है। वे उच्च विचारक, सगठन के हिमायती एवं समन्वयवादी सन्त हैं। उनकी हार्दिक भावना है कि सभी जैन भगवान् महावीर के नाम पर एक जगह आएं और समाज का नैतिक, धार्मिक एव आध्यात्मिक विकास हो। इसीलिए उनका विहार-क्षेत्र दक्षिण से उत्तर रहा है। उनके ऋण से उऋण होने के लिए समाज के प्रमुख लोगों ने 'अभिनन्दन ग्रन्थ' भेट करने का निर्णय किया। यह स्तुत्य है। इस ग्रन्थ-रत्न से जैन साहित्य मे वृद्धि होगी। यह ग्रन्थ रत्न जैन इतिहास एवं दर्शन का सुन्दर, सुलभ ग्रन्थ बने। इससे प्रेरणा लेकर अनेक मुमुक्षु आत्माएं सम्यक्त्व को प्राप्त कर अन्धकार से प्रकाश की ओर आएं। यही मेरी हार्दिक शुभकामना है। □

जैन धर्म के मुख्य नेता

आचार्य श्री शांतिसागर जी

(हस्तिनापुर वाले)

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज से मैंने जयपुर मे दर्शन प्रतिमा का स्वरूप समझ कर धारण किया। उनके आशीर्वाद से मुझे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र प्राप्ति का उपाय समझ कर ग्रहण करने का अवसर मिला। मैं उनका आभारी हूं। मेरी भावना है कि उनको रत्नत्रय की प्राप्ति हो। आप जैन धर्म के मुख्य नेता हैं और आपने में जैन धर्म का महान् प्रचार किया है। साहित्य भी लिखा है। वह धर्म का प्रचार करते रहें, यही विनय है। □

आदराञ्जलि

एलाचार्य मुनि श्री विद्यानन्द जी

रत्नत्रयात्मक श्रमण-धर्म की आराधना समीचीन देव, शास्त्र व गुरु—इन तीन आलम्बनों पर आधारित है। समस्त श्रमण-संघ में आचार्यों को एक ऐसे उज्ज्वल लोकानुग्रहकारी व्यक्तित्व के रूप में माना गया है जिसमे देव, शास्त्र एवं गुरु इन तीनो का अद्भुत समन्वय होता है। परमेष्ठी देवो में परिगणित होने से आचार्य देवकोटि मे तो हैं ही, आचार-शिक्षक के रूप मे वे साधुओ आदि के लिए गुरु तुल्य भी हैं। साथ ही आगमचक्षु साधुओ के नायक होने तथा भावश्रुत (सद्ज्ञान) की मूर्ति होने के कारण वे शास्त्रवत् प्रमाणभूत भी होते हैं। आचार्य एक ऐसे स्नेहपूरित दीपक होते हैं, जो स्वय प्रकाशित होने के साथ-साथ दूसरों को भी ज्ञान-प्रकाश देकर प्रकाशित कर देते हैं—"दीवसमा आयरिया अप्प च पर च दीवति"—आ० नि०-गाथा-८

परमपूज्य प्रातःस्मरणीय आचार्यप्रवर श्री देशभूषण जी महाराज वास्तव मे आचार्यरत्न हैं। दिगम्बर मुनित्व की परम्परा को आपश्री ने अत्यन्त सबल आधार प्रदान किया है जो सर्वदा अविस्मरणीय रहेगा। आपश्री ने मुझे अपनी चरण-छाया मे मुनि-दीक्षा (२५-७-६३) प्रदान की थी और उज्ज्वल आचार-निष्ठा का पाठ भी पढ़ाया था। मैं उनके द्वारा किये गये उपकारो को कभी भुला नही सकूगा।

जैन दिगम्बर अहिंसा धर्म की पताका फहराने के लिए आपश्री ने समस्त देश की पद-यात्रा की, अनेक शास्त्र-रत्नों की रचना की, अनेकानेक तीर्थों का उद्धार किया, अनेक जिन-मन्दिरो का निर्माण किया और मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की। ये सब कार्य आपश्री में विद्यमान अपूर्व श्रद्धा, ज्ञान व चारित्रनिष्ठा के ज्वलन्त प्रमाण हैं, जिन पर प्रकाश डालना मेरे लिए सूर्य को दीपक दिखाने जैसा कार्य होगा। आज भी आप इस वृद्ध अवस्था में जिस उत्साह के साथ जिन-धर्म के प्रचार-प्रसार मे तथा श्रमण-संघ के अभ्युदय मे सलग्न हैं, वह किसी से छिपा नही है। आचार्यश्री का भावी जीवन इसी प्रकार यशस्वी व कीर्तिमान, पावन एवं लोकोपकारी बने—इस भावना के साथ मैं अपनी विनीत आदराञ्जलि उनके श्री चरण-कमलो मे समर्पित करता हू। त्रिबार नमोऽस्तु। □

—□—

एक निश्छल व्यक्तित्व

युवाचार्य महाप्रज्ञ मुनि श्री नथमल जी

देशभूषण जी महाराज कर्तृत्व-सम्पन्न आचार्य हैं। उनकी सक्रियता निरन्तर गतिशील है। इसका मूल कारण है उनकी सरलता। दिल्ली मे दरियागंज के अहिंसा मन्दिर मे तीन आचार्यों का मिलन हो रहा था—आचार्य श्री तुलसी जी, आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी और आचार्य श्री देशभूषण जी। वार्ता का विषय था—'सवत्सरी'।

सवत्सरी की एकता सब जैनों का चिर-पालित स्वप्न है। उस स्वप्न को साकार करने का पहला प्रयत्न हो रहा था। तीन दिन तक वार्तालाप चला। वार्ता के अन्त मे सबने सार्थकता का अनुभव किया। सार्थकता का बिंदु था—भाद्र शुक्ला पचमी का दिन संवत्सरी का दिन हो सकता है। वह दिन श्वेतांबर समाज के पर्व का अन्तिम दिन और दिगम्बर समाज के दशलाक्षणिक पर्व का पहला दिन है। दोनों समाज उस दिन को सामूहिक रूप से मनाएँ और अनन्त चतुर्दशी को भी दोनों समाज मनाएं। इस सहमति मे आचार्य देशभूषण जो की उदारता, सरलता और सहजता देखने को मिली। वह आज भी स्मृतिपटल पर अंकित है। यद्यपि वार्तालाप का निष्कर्ष अभी क्रियान्वित नहीं हो सका है पर जब कभी यह क्रियान्वित होगा तो उसकी पृष्ठभूमि मे आचार्यत्रयी का निष्कर्ष अपने जीवित अस्तित्व को प्रमाणित करेगा। □

विरल विभूतियों में एक

राष्ट्रसन्त मुनि श्री नगराज जी
डी० लिट्०

मुनि श्री अनेक होते हैं, आचार्य भी अनेक होते हैं, पर ऐसे मुनि व आचार्य विरल होते हैं जो जीवन में निर्माण का नया इतिहास गढ़ देते हैं। ऐसी ही विरल विभूतियो मे आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी एक हैं। आपके जीवन में साधना व सृजन का मणिकांचन योग है। मैंने आपको बहुत निकट से जाना, देखा एव परखा है। ऐसे नाना संस्मरण हैं, जो उनकी जीवनगत विशेषताओं के परिचायक हैं। मैं मानता हूं, मुनियो एवं आचार्यों मे आप प्रथम हैं, जो श्वेताम्बर समाज मे घुले-मिले व जाने-माने हैं।

सन् १९६६ की बात है। मेरा व उनका चातुर्मास जयपुर में था। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज के मुनिवर श्री विशाल विजय जी का चातुर्मास भी वही था। सामूहिक प्रवचन का एक अभिनव प्रयोग हम सबने वहां किया। श्रावण मास के प्रारम्भ से ही प्रति पखवाड़े का दूसरा रविवार संयुक्त प्रवचन के लिए निश्चित कर लिया था। निर्धारित विषय पर श्वेताम्बर-दिगम्बर सभी परम्पराओ का संयुक्त प्रवचन किसी एक ही निर्धारित स्थान पर होता। जयपुर के पूरे जैन समाज मे इस अभिनव प्रयोग की सुन्दर प्रतिक्रिया थी।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी की विशेषता यह रही कि सभाओ मे हम सब मुनियो के साथ उन्होंने समान स्तर से बैठना मंजूर किया। मुझे ज्ञात है, दिगम्बर श्रावक समाज का यह आग्रह बराबर बना रहा कि आप आचार्य हैं, फिर मुनियो के साथ एक स्तर से ही क्यो बैठ जाते हैं, पर आचार्यरत्न देशभूषण जी ने उन बातों की कोई परवाह नहीं की और वह अभिनव प्रयोग काफी समय तक चलता ही रहा।

वे मिलने वालो को अपनी आत्मीयता में बाध लेते हैं, अपने प्रेम एवं अपनी उदारता से। जयपुर के पर्वतीय अंचल में मन्दिरों आदि का एक तीर्थ रूप निर्माण आपकी प्रेरणा से हो रहा था। आपने आग्रह किया कि किसी एक रविवार को आप लोग वहां चलें, मैं भी चलूंगा। चातुर्मास के अन्तिम दिनो मे एक तथारूप कार्यक्रम रहा। जयपुर से ३-४ मील दूर और पर्वतों की चढाई! बड़ा आनन्द आया। पर्वत की चढाई मे वयोवृद्ध होते हुए भी हम सबसे आगे आप चल रहे थे। बीच-बीच में मुझे सम्भालते भी कि आप तो पीछे रह गये! और, मेरी बांह पकड़ कर मुझे आगे ले जाते। उस अनोखी पर्वतीय सुषमा में निर्मित व निर्मीयमाण प्रतीकों का साथ-साथ रह कर मुझे अवलोकन कराया। दोनो समाजो के सैकड़ो श्रावक बन्धु भी साथ थे। पर्वत की तलहटी में दिगम्बर जैन मन्दिर था, जो अपनी स्वर्ण-कला के लिए सुप्रसिद्ध है। वहा हम लोगो का प्रवचन हुआ। जयपुर के तेरापंथ समाज व दिगम्बर समाज का वह एक ऐतिहासिक मिलन था।

सन् १९७१ से भारत की राजधानी दिल्ली मे हमारे कई वर्षाकाल साथ-साथ हुए। 'भगवान महावीर की २५००वी निर्वाण जयन्ती की तैयारी का वह कार्यकाल था। वहा माननीय सुशील मुनि जी आदि अनेक साधु-संत थे ही। आपकी स्नेहशीलता मे मेल-मेल इतना बढ गया था कि महावीर जयन्ती आदि पर्व तो सामूहिक रूप से मनाये ही जाते, पर अन्य परम्परागत कार्यक्रम भी सामूहिक रूप से मनाये जाने लगे। प्रत्येक परम्परा सबको आमन्त्रित करती व सभी आचार्य, मुनि वहां सहर्ष पहुंचते। इन सब कार्यक्रमो में आपका उत्साह समुल्लेखनीय ही रहता।' पारस्परिक आत्मीयताएं इतनी सध गई थी कि पारस्परिक घटना-प्रसंग भी सामूहिकता ले लेते। आचार्य श्री तुलसी ने स्व० मुनि महेन्द्रकुमार जी 'प्रथम' का चातुर्मास कलकत्ता का घोषित कर दिया जबकि उनका नाम राष्ट्रीय समिति से सम्बन्धित आचार्यों व मुनियों की परामर्श समिति मे था और विगत दो वर्षों से २५०० वीं निर्वाण जयन्ती के कार्य को आगे बढाने में हम सबके साथ थे। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने इस असामयिक निर्णय को सामूहिक सभाओं में चर्चित किया एवं पत्र व तार के माध्यम से अपनी राय आचार्य श्री तुलसी तक भी पहुचाई।

१२ अप्रैल १९७२ का दिन था। राष्ट्रीय समिति का प्रथम अधिवेशन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की अध्यक्षता में संसद् भवन में ही चार बजे होना था। जैन समाज मे अपूर्व उल्लास था। चारों सभाओ के प्रतिनिधि सदस्य देश के कोने-कोने से दिल्ली पहुंच चुके थे। प्रातः लगभग ११ बजे एक व्याघात आया। प्रधानमंत्री भवन से सूचना मिली—दिगम्बर मुनि संसद् भवन में आयेंगे तो

विभिन्न प्रतिक्रियाएं होंगी; अतः कृपया वे वहीं से अधिवेशन की सफलता के लिए आशीर्वाद प्रदान करें। आचार्यरत्न श्री देशभूषणजी ने इसे दिगम्बरत्व का अपमान माना और कहा—हमारे श्रावक प्रतिनिधि भी फिर क्यों जायेंगे ? मैं नहीं जाऊंगा तो मुनि नगराज व मुनि सुशीलकुमार भी कैसे जायेंगे ? स्थिति उलझ गई ।

मध्याह्न में केन्द्रीय उपशिक्षा मंत्री चार बजे की मीटिंग का कार्यक्रम निश्चित करने मेरे यहाँ आये। बातें हुईं। उन्होंने कहा—प्रधानमंत्री भवन के निर्णय पर शिक्षा मंत्रालय क्या कर सकता है ? मैंने कहा—आप स्वयं आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी के दर्शन कर लें तथा उन्हें आश्वस्त कर दें। वैसा सम्भव न हो तो मेरे दो प्रतिनिधियों को पार्लियामेंट में श्री यशपाल कपूर तक पहुंचा दें ताकि मेरी राय उनके माध्यम से प्रधानमंत्री तक अविलम्ब पहुंच सके। अस्तु, उपशिक्षा मंत्री ने आचार्य देशभूषण जी महाराज के दर्शन किये, पर, बात बनने वाली थी ही नहीं। उन्होंने कहा—भगवान् महावीर दिगम्बर थे और सरकार भगवान् महावीर की निर्वाण जयन्ती में दिगम्बर मुनियों को ही बाधा देना चाहती है, यह कैसी है भगवान् महावीर की निर्वाण जयन्ती ?

मेरे प्रतिनिधि उपशिक्षा मंत्री के साथ ही पार्लियामेंट में पहुंच गये। इन्दिरा जी के सचिवों से मिले तो उन्होंने कहा—प्रधानमंत्री महिला हैं, पार्लियामेंट भवन है, इस स्थिति में दिगम्बर मुनियों का यहां आना उचित नहीं है। अन्त में यशपाल कपूर स्वयं प्रतिनिधियों को मिल गये। उन्हें बताया गया—मुनि श्री नगराज जी ने कहा है कि दो वर्षों का 'काता-पीजा कपास' हो जायेगा, आप गम्भीरता से प्रधानमंत्री का ध्यान इस ओर दिलायें। श्री कपूर ने एक ओर हटकर प्रधानमंत्री से फोन पर बात की तथा तत्काल प्रतिनिधियों को कह दिया—दिगम्बर आचार्य जी को सहर्ष पधारने का निवेदन कर दें। बात बन गई। हम सब आचार्य, मुनि नई दिल्ली के जैन मन्दिर में ही तब तक एकत्रित हो गये थे। वहीं सन्देश आ गया और हम सब सहर्ष पार्लियामेंट में पहुंच गये। प्रथम अधिवेशन सानन्द सम्पन्न हो गया।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी के उस सभा में भाग लेने की दिगम्बर समाज में अन्यत्र जो भी चर्चा रही हो, पर, मैं यह मानता हूं, ऐसा करके आचार्य जी ने दिगम्बरत्व को राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता दिलवा दी। उस दिन ऐसा नहीं होता तो दिगम्बर आचार्य व मुनि इन्दिरा गांधी की अध्यक्षता में समायोजित भगवान् महावीर के २५०० वें विराट् निर्वाण समारोह में भी कैसे भाग ले सकते ? पर, उस दिन आचार्य देशभूषण जी के दृढ़ निश्चय ने इस प्रश्न को सदा-सदा के लिए हल कर दिया। अस्तु, उनके अभिनन्दन प्रसंग पर मैं अपनी शुभकामनाएं समर्पित करता हूं। ☐

—☐—

अभिनन्दन

उपाध्याय श्री अमर मुनि जी

आचार्य-श्रेष्ठ मुनिवरेण्य श्री देशभूषण जी किसी एक देशविशेष के ही भूषण नहीं हैं, वे देश-देश के एवं जन-जन के भूषण हैं। वे त्याग और वैराग्य की, धर्म और अध्यात्म की साक्षात् जीवित मूर्ति हैं, वे करुणा के देवता हैं। समाज के सर्वतोमुखी कल्याण की दिशा में आचार्य श्री की मंगलमयी करुणा ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं, उन पर हर कोई सहृदय व्यक्ति गौरवानुभूति कर सकता है। आचार्य श्री एक युग के नहीं, युग-युग के आदर्श हैं।

मैं व्यवहार में भिन्न परम्परा का मुनि होते हुए भी गुणानुराग से आचार्य श्री का हार्दिक अभिनन्दन और उनके यशस्वी दीर्घ जीवन हेतु मंगल-कामना करता हूं। ☐

स्नेह-सौजन्य के साक्षात् प्रतीक

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी

मैं जीवन के उषाकाल से ही संगठन का प्रबल पक्षधर रहा हूं। स्थानकवासी परम्परा की मान्यताओं के सम्बन्ध में गहरी निष्ठा होने पर भी मेरे अन्तर्मानस की यह भव्य भावना रही है कि जैन समाज एक बने। उसके लिए मैं समय-समय पर प्रयत्न करता रहा हूं। सन् १९४७ का हमारा वर्षावास नासिक (महाराष्ट्र) में था। मैंने जैन समाज का आह्वान किया कि महावीर जयन्ती का कार्यक्रम हम सभी मिलकर मनायें। मेरा प्रयास सफल रहा।

सन् १९४८ में बम्बई का वर्षावास सम्पन्न कर सौराष्ट्र संघ के अत्यधिक आग्रह से मैं नासिक होकर सौराष्ट्र की ओर जा रहा था। उस समय चारित्रचक्रचूडामणि आचार्य शान्तिसागर जी महाराज, जो दिगम्बर परम्परा के एक मूर्धन्य व तेजस्वी आचार्य थे, वे गजपंथा में विराज रहे थे। मुझे उसी रास्ते से आगे बढ़ना था। मैंने आचार्य श्री को सूचित किया कि यदि उन्हें किसी प्रकार की असुविधा न हो तो मैं वहाँ आऊँ। आचार्य श्री ने कहलाया कि आपको यहाँ अवश्य आना है और मेरे साथ ही ठहरना है। मैं वहाँ पहुंचा और एक ही मकान में ठहरा। साथ ही प्रवचन हुए। विचार-चर्चाएं भी हुईं। उस समय आचार्य शान्तिसागर जी महाराज ने अछूत जैन मन्दिर में प्रविष्ट न हों, एतदर्थ अन्न-त्याग कर रखा था। मैंने आचार्यप्रवर से निवेदन किया कि आगम साहित्य में हरिकेशीबल मुनि का वर्णन है। उन्होंने स्पष्ट कहा—यह वर्णन श्वेताम्बर आगम का है, दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ में ऐसा कोई वर्णन नहीं है। अनेक प्रश्नों को लेकर विविध दृष्टियों से चिन्तन हुआ। उसके पश्चात् अन्य दो-चार बार दिगम्बर-मुनिप्रवरों से मिलने के अवसर भी प्राप्त हुए। किन्तु प्रवचन आदि साथ में नहीं हुए।

सन् १९७४ का वर्ष जैन समाज के लिये वरदान के रूप में रहा। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रमण भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के कारण भगवान् महावीर का पावन संदेश जन-जन तक पहुंचा। भगवान् महावीर का जीवन और उनके सिद्धान्तों का व्यापक प्रचार और प्रसार करने का उपक्रम किया गया। स्थान-स्थान पर जैन परम्परा के मुनिप्रवरों के सामूहिक प्रवचनों का भी आयोजन किया गया और संगठन का वातावरण बना। उसी सुनहरे अवसर पर मेरा प्रथम साक्षात्कार हुआ आचार्य श्री देशभूषण जी से। बम्बई महानगरी में महावीर जयन्ती के साप्ताहिक कार्यक्रमों का शानदार आयोजन था।

भात बाजार के विशाल मैदान में जैन समाज की ओर से सामूहिक प्रवचन का विराट् आयोजन था जिसमें हजारों की उपस्थिति थी। स्थानकवासी समाज के प्रतिनिधि के रूप में मैं प्रमुख वक्ता के रूप में उपस्थित था तो दिगम्बर परम्परा के प्रतिनिधि के रूप में मुख्य प्रवक्ता आचार्य देशभूषण जी महाराज थे। प्रवचन के पूर्व आचार्य देशभूषण जी से जैन धर्म के अभ्युदय के सम्बन्ध में विविध चिन्तन-बिन्दुओं पर चिन्तन हुआ। हमने दिल खोलकर बातचीत की। मुझे लगा कि गुरु का गौरव इनमें मुखरित हुआ है। आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज की भांति इनमें सहज स्नेह और सद्भावनाएं देखने को मिली। प्रवचन में भी उन्होंने भगवान् महावीर के उदात्त सिद्धान्त अनेकान्तवाद का विश्लेषण करते हुए जैन एकता पर बल दिया। उस समय मुझे लगा कि तन से वृद्ध होने पर भी उनके मन में युवकों की तरह जोश है और कार्य करने की अपूर्व लगन है।

महावीर जयन्ती का भव्य आयोजन था। यों तो प्रतिवर्ष महावीर जयन्ती का कार्यक्रम बम्बई में मूर्धन्य नेताओं के नेतृत्व में मनाया जाता रहा है, किन्तु इस वर्ष का आयोजन अनूठा था। सभी कार्यकर्त्ताओं में अपूर्व उल्लास था। जैन समाज के प्रमुख मुनि व महासती वृन्द के एक साथ प्रवचन का आयोजन था। जैन समाज के तथा शासकीय वर्ग के उच्चतर अधिकारियों का भी भगवान् महावीर के प्रति अपनी श्रद्धा के सुमन समर्पित करने का उल्लासपूर्ण क्षण था। बरसाती नदी की तरह जनसमूह उमड़ रहा था। सभी के अन्तर्मानस भक्ति-भावना से विभोर होकर भगवान् महावीर के गुणानुवाद करने के लिये उमड़ रहे थे। बड़ा शानदार दृश्य था। आचार्यप्रवर देशभूषण जी के साथ यह मेरे दूसरे प्रवचन का आयोजन था, जो पूर्ण सफल रहा। इस समय भी हम ऐसे मिले मानो पय और पानी मिला।

उनके जीवन के मधुर संस्मरण आज भी मेरे मस्तिष्क में स्वर्णाक्षरों की तरह चमक रहे हैं। सज्जनों का एक क्षण का सत्संग भी अविस्मरणीय होता है। हमें तो कई घण्टों तक साथ में रहने का, विचार-चर्चा करने का, प्रवचन करने का अवसर मिला है, वह कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। मेरे हृदय की कोटि-कोटि मंगलकामना है कि आचार्यप्रवर श्री देशभूषण जी महाराज पूर्ण स्वस्थ रहकर जैनधर्म की प्रबल प्रभावना करते रहें। □

आचार्य श्री के प्रथम दर्शन

उपाध्याय मुनि श्री भरतसागर जी

परम पावन सिद्धक्षेत्र तीर्थराज सम्मेद शिखरजी के चरणो मे सिद्ध प्रभु के चिन्तन मे अपने मन को एकाग्रचित्त किये आह्लादित रहता था । दीक्षा लिये अभी अधिक समय नही हुआ था । अपनी ज्ञानगरिमा से विश्व को प्रकाशित करने वाले संतों के दर्शन मैं अभी नहीं कर पाया था । अतः उनके दर्शनो के लिये मन सदैव लालायित रहता था ।

रत्नाकर शतक, मेरुमन्दर पुराण आदि कन्नड-तमिल भाषाओ के ग्रन्थ मैंने पढे थे जिनकी टीका पूज्य आचार्य श्री ने की थी । कौन हैं वे ? हिन्दी टीकाकार का चित्र सामने हिन्दी पुस्तक मे था । गठीला बदन, चेहरे पर तेज, मुस्कराता मुख । सोचा, समस्त कन्नड, तमिल भाषाओ के जिनागम रहस्य को हिन्दी रूपान्तर करने वाले कर्नाटक-भाषी मुनिराज कितने महान् हैं । यह तो कोई अद्वितीय प्रभावक मानव ही होना चाहिये । कब दर्शन करूंगा ? अभी इच्छा पूर्ण नही हुई थी कि एक मंदिर मे क्या देखा ? देश का प्रधानमंत्री जिनके निकट श्रद्धावनत है, ऐसे वीतरागी सन्त उसे आशीर्वाद दे रहे थे । वह समय भी अद्भुत था । भारत की राजधानी दिल्ली का चप्पा-चप्पा जिसकी अद्भुत शक्ति से प्रभावित हो पुलकित हो रहा था—ऐसा देश का अनुपम भूषण, मां सरस्वती का पुत्र, भारती का सच्चा सपूत, देश का अनुपम हार बना हुआ था । उनकी वाणी और गंभीरता से, ओजमय चरित्र से और चारित्र से सारा देश कृतार्थ हो रहा था ।

पूज्य श्री के द्वारा निर्मित क्षेत्र चूलगिरि के दर्शन करते ही शिखरजी का पावन दृश्य आखो मे झूम उठा । सोचने लगा, इतने महान् कार्यों के निर्मापक गुरु, वीतरागमुद्रा के दर्शन मुझे कब होगे । अब तो दिनो-दिन आचार्य श्री के दर्शन की अभिलाषा बढ़ती जा रही थी । किसी ने कहा—'भावना भवनाशिनी" । जब उत्तम भावना के आने पर भव का नाश हो जाता है तो क्या मुझे आचार्य श्री के दर्शन नही होगे ? अवश्य होंगे । भावना मूर्त रूप लेने लगी—पुण्योदय से श्री बाहुबली स्वामी के महामस्तकाभिषेक का स्वर्ण अवसर आया । मार्ग प्रशस्त हो गया । हिन्दी कवि ने कहा है—

"उपजे शुभ इच्छा मन कोई, सो निश्चयकर पूर्ण होई ।
पर न अशुभ चिन्ते पूरण होई, तातै अशुभ न चिन्तो कोई ।।"

चातुर्मास के बाद मेरा विहार पूज्य बाहुबली के चरणो की ओर हुआ । पर मन मेरा उस महान् आत्मा मे अटका हुआ था । शीघ्र कोथली आयेगा और उन पवित्रात्मा के दर्शन होगे । शुभ समय मे कोथली पहुचते ही शान्तिनगर मे श्री 1008 शान्तिनाथ प्रभु के दर्शन कर मन अत्यत प्रफुल्लित हुआ । जिन आंखो मे आज तक जिनका चित्र घूमता था, आज उस मूर्तिमान आत्मा को आखो के सामने देखकर चरण स्पर्श कर हर्ष का अतिरेक हुआ । चरण-स्पर्श करके हाथ और दर्शन करके नेत्र तो पवित्र हो चुके थे पर अभी कर्णों को पवित्र करना शेष था । सोचा, इतनी वृद्धावस्था है, अब तो प्रवचन आदि नही होता होगा । अत. कर्णों को पवित्र करना मुश्किल है । सोचा—हे प्रभो ! जिनवाणी मा के लाड़ले, सच्चे सपूत के मुखारविन्द मे दो शब्द भी अमृत बरस जाय तो कर्ण पवित्र कर लू । आश्चर्य हुआ । ठीक तीन बजे थे कि आचार्य श्री ने अपनी दिव्य ओजस्वी वाणी से सभाभवन को विभोर कर दिया । आचार्य श्री कह रहे थे, "यदि धर्म के प्रति कोई भी गलत कदम उठायेगा तो मैं आज भी वहा जाकर उसका विरोध करूगा, धर्म के विरोधियों मे लोहा लेते हुए मेरे प्राण भी निकल जाये तो अच्छा, पर मैं धर्म के प्रति होने वाले अत्याचारो को कभी भी सहन नही करूगा ।" आज भी उनकी वाणी में अकलक-निकलक के समान दृढ़ श्रद्धा जीवन्त है । वास्तव मे इनका शरीर वृद्ध हुआ है, परन्तु धर्म के प्रति मन आज भी जवान ही है ।

धर्म के प्रति इसी भक्ति व श्रद्धा के फलस्वरूप शारीरिक रोग से ग्रसित होने पर भी आप महामस्तकाभिषेक मे पधारे और महान् कार्य किया । अभी भी चूलगिरि क्षेत्र मे पधार कर धर्म की प्रभावना कर रहे हैं । जैन धर्म मे साधु की सिंह वृत्ति कही गई है, परन्तु आचार्य श्री की धर्म के प्रति अपूर्व सिंहगर्जना को सुनने का सौभाग्य मुझे प्रथम बार ही मिला था । ऐसे मुनि-पुगव, नर-पुगव जब तक इस भारत-भूमि पर विचरण करते रहेंगे, तब तक भारत-भूमि अपनी धर्ममयी सस्कृति को सुरक्षित रख सकेगी । यथा नाम तथा गुण के अनुसार आप देश को तो शोभायमान कर ही रहे है, पर जैन धर्म के प्रभावक नेता बनकर जिनधर्म के भी भूषण बन गये है ।

"धन दे, तन को राखिये, तन दे, रखिये लाज ।
धन दे, तन दे, लाज दे, एक धर्म के काज" ।।

उपर्युक्त कहावत आचार्य श्री के जीवन मे चरितार्थ हो चुकी है । आप जैन दर्शन के अद्वितीय सूर्य बन देश के भूषण बन गये हैं । ऐसे महान् आचार्य श्री के चरणों मे मेरा त्रिभक्तिपूर्वक शतशः वन्दन । □

सन्त-रत्न

श्री देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री

सन् १९७४ मे श्रमण भगवान् महावीर के २५०० वे निर्वाण महोत्सव का भव्य आयोजन भारत के विविध अचलों मे उल्लास के साथ चल रहा था। सगठन की ऐसी सुनहरी लहर लहराई थी कि जन-जन के अन्तर्मानस मे एक ही विचार तरंगित हो रहा था— हम सभी एक हैं, और हमे मिल-जुल कर जैनधर्म की विजय-वैजयन्ती फहरानी है। श्रद्धेय गुरुदेव अध्यात्मयोगी, राजस्थान केसरी, उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज अपने शिष्य समुदाय के साथ अहमदाबाद का यशस्वी वर्षावास सम्पन्न कर बम्बई पधारे। इधर दिगम्बर समाज के मूर्धन्य आचार्य देशभूषण महाराज देहली का वर्षावास सम्पन्न कर बम्बई पधारे। श्वेताम्बरमूर्तिपूजक समाज के आचार्य श्री धर्मसूरि जी बम्बई मे ही अवस्थित थे। भारत जैन महामण्डल की ओर से तीनों समाज के प्रतिनिधि मुनिप्रवरो का भात बाजार मे प्रवचन का आयोजन था। हजारो की जनमेदिनी इस मधुर त्रिवेणी, सगम के दर्शन हेतु ललक उठी। तीनो ने जैन धर्म की उन्नति के लिये विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला। तीनो अधिकारी मुनि जिस स्नेह व सद्भावना के साथ मिले और वार्तालाप किया, उस देखकर जनमानस आनन्द-विभोर हो उठा। मैंने अनुभव किया कि आचार्य देशभूषण जी महाराज एक पुरानी परम्परा के सन्तरत्न होने पर भी उन में सहज स्नेह है। गुणों के प्रति उनमे अनुराग है।

जब मैंने आचार्यप्रवर को अपना "भगवान् महावीर—एक अनुशीलन" ग्रन्थ समर्पित किया तो वे गद्गद् हो उठे और उनकी हृत्तन्त्री के तार झनझना उठे। उन्होंने कहा—"यह ग्रन्थ बड़ा अद्भुत है, मैंने इसकी पहले ही प्रशसा सुन रखी है, श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के आलोक मे लिखा गया यह ग्रन्थ एकता का सच्चा प्रतीक है। मै ऐसे उत्कृष्ट साहित्य के लिये तुम्हे साधुवाद देता हू।"

मैं देखता ही रह गया। दिगम्बर परम्परा के आचार्य प्राय. पारपरिक मान्यताओ की दृष्टि से अत्यधिक कट्टर होते है, पर देशभूषण जी महाराज मे मैंने इस का अपवाद पाया। श्रद्धेय गुरुदेव श्री के साथ भी उन्होंने जिस स्नेह का परिचय दिया, वह कभी भी विस्मृत नही किया जा सकता।

महावीर जयन्ती का भव्य आयोजन था। चौपाटी के विशाल प्राङ्गण मे बम्बई महानगरी के सभी प्रतिष्ठित व्यक्ति उपस्थित थे। लगभग ६०-७० हजार की जनमेदिनी उस भव्य आयोजन म सम्मिलित थी। बम्बई मे विराजित सभी पूज्य मुनिवर व महासती वृन्द भी इस भव्य आयोजन मे चार चाद लगाने के लिये पधारे थे। एक मच पर पहली बार सभी सम्प्रदाय के प्रतिनिधियो को देखकर ऐसा लग रहा था कि साक्षात् महावीर का ही समोसरण हो। मैंने देखा कि सभी के मन मे एक ही विचार अगडाइयां ले रहा था कि हम अतीत काल मे सम्प्रदाय की मान्यता को लेकर खूब लडे, हमने अपनी शक्ति का अत्यधिक अपव्यय किया है, अब हमे एक बनकर विश्व को यह दिखा देना है कि जैन धर्म के उदात्त सिद्धान्त विश्व के लिये वरदान के रूप मे हैं।

मैंने दोनों प्रवचनो मे और दोनों दिन के स्वल्प परिचय मे ही यह अनुभव किया कि आज के युग में समन्वयवादी विशाल दृष्टिकोण वाले आचार्यों की ही आवश्यकता है जो अपने नियमोपनियम का पालन करते हुए एकता के वातावरण का निर्माण कर सकें।

आचार्य देशभूषण जी के स्वल्प परिचय ने मन मे एक स्नेह की ज्योति जाग्रत की है। मुझे यह जानकर हार्दिक आह्लाद है कि आचार्यप्रवर को अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है जो उनके तेजस्वी व्यक्तित्व के अनुरूप है। मैं इन पुण्य क्षणो में यही मंगल कामना करता हू कि वे पूर्ण स्वस्थ रहकर सयम की साधना करते हुए जैन समाज का मार्गदर्शन करते रहे। □

महाराज श्री की जीवन झांकी

आचार्यकल्प श्री ज्ञानभूषण जी

श्री परमपूज्य भारत-गौरव आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज की संक्षिप्त जीवन झांकी दर्शाने का मेरा भाव हुआ है। आचार्य श्री का और हमारा सयोग भारत की महानगरी कलकत्ता से हुआ है। आप महागम्भीर, उपसर्गविजयी, धैर्यवान् एवं साहसी हैं। आप धर्म की प्रभावना करने मे कर्मठ है। आपके द्वारा अनेक भव्यजीवो को दीक्षा-शिक्षा व धर्मोपदेश मे लाभान्वित किया गया है। आपने अपने जीवन मे कन्नड़ भाषा के अनेक शास्त्रो को शुद्ध हिन्दी मे अनुदित कर प्रकाशित किया है जिनमे से कुछ के नाम हैं—शास्त्रसार समुच्चय, योगामृत, धर्मामृत, निर्वाणलक्ष्मीपति स्तुति, रत्नाकर शतक, अपराजितेश्वर शतक, भरतेश वैभव, रयण सार, यशोधर चरित्र, नियम सार इत्यादि। जब आपका चातुर्मास कलकत्ता महानगरी में हुआ था तब आप ने अपने ज्ञान-वैभव से जान लिया था कि अब कुछ उपसर्ग आने वाला है। जब कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा के दिन रथयात्रा निकली तब आप रथयात्रा मे बड़े बाजार से ससंघ सम्मिलित हुए और डॉ० विधानचन्द राय तथा गवर्नर पद्मजा नायडू ने सघ के ऊपर पुष्पवृष्टि की। इस अवसर पर आपको द्वेषपूर्ण चुनौतियो का भी सामना करना पडा। वह दृश्य देखते ही बनता था। रथयात्रा जब पंचमी को लौटने वाली थी तब विरोधियो ने आप के सघ के ऊपर नग्नत्व का दोषारोपण कर शहर मे भ्रमण करने के निषेध रूप से प्रतिक्रिया व्यक्त की। तब आप धैर्यपूर्वक रथ के सामने चलने को शीघ्र ही उद्यत हो गये थे। पुलिस ने आप को आगे जाने से रोका तब आप बेलगछिया उपवन के दरवाजे पर ध्यान लगाकर बैठ गये। डॉ० विधानचन्द राय एव अन्य अधिकारियों को सूचना मिली तब पुलिस कमिश्नर ने आकर प्रार्थना की कि आपके लिये कोई निषेध नही, आप कही भी सघ सहित भ्रमण कर सकते हैं। तब सघ रथ के सामने चला। श्यामबाजार चौराहे के पूर्व भाग से महाराज सघ सहित वापस बेलगछिया में आ गये क्योकि समय थोडा रह गया था। उसके पश्चात् लोगो ने रथ पर सोडे की बोतल, ईंट इत्यादि का प्रहार किया।

सघ का विहार सम्मेद शिखर की तरफ होना था कि वहा के कुछ व्यक्तियो ने महाराज के पीछे के दरवाजे से निकलने की व्यवस्था की किन्तु महाराज श्री प्रधान दरवाजे की तरफ से ही प्रभावना के साथ विहार कर शिखरजी पहुंचे।

महाराज श्री का बाल जीवन—आपका नाम बालगौड़ा था। आपका जन्मस्थान दत्तवाड है। आपके पिता के ग्राम का नाम कोथली है। यह जिला बेलगाम तहसील चिक्कोडी के निकट है। आपकी माता का नाम अक्कावती था। पिता का नाम सतगोड़ा था। बाल-वय में ही आपको पहले माता का वियोग और कुछ ही दिनो के पश्चात् पिता का भी वियोग हो गया। तब आपका लालन-पालन आपकी नानी ने दत्तवाड मे ही किया। दत्तवाड मे नाना के घर पर रहकर आपने कन्नड़ भाषा मे पाचवी कक्षा तक शिक्षण प्राप्त किया। बिना माता-पिता के बच्चे का समय किस प्रकार व्यतीत होता है उसका दु:ख वही जान सकता है।

आपके घर के निकटवर्ती क्षेत्र स्तवननिधि पर श्री १०८ जयकीर्ति महाराज पधारे थे। आप अपने काका की प्रेरणा से उनके दर्शन करने गये थे। आपको श्री महाराज ने बैंगन खाने का त्याग दिलवाया। उसके पश्चात् आपने पायसागर जी महाराज के दर्शन किये और सघो मे आने-जाने लगे। जयकीर्ति महाराज ने आपको धार्मिक शिक्षण देना प्रारम्भ किया। आप कभी-कभी उनके पास जाकर पढ़ा करते थे। आप एक जैन पाटिल (ग्राम के मुखिया) के पुत्र हैं। जब आपकी वय करीब २४ या २५ वर्ष की थी तब श्री जयकीर्ति महाराज ने दक्षिण मे विहार कर सम्मेदशिखर की यात्रा करने का निश्चय किया। तब आप उनकी व्यवस्था करने को साथ चल दिये। शिखर जी की यात्रा कर आप ने महाराज से दूसरी प्रतिमा के व्रत ले लिये और कहने लगे कि मुझको दिगम्बर मुनि दीक्षा दीजियेगा। लेकिन महाराज ने अस्वीकार कर दिया। सघ ने विहार कर दुर्ग मे चातुर्मास किया और समापन कर छिंदवाड़ा होते हुए रामटेक पहुचे। जब आपने दीक्षा की पुन. प्रार्थना की तब श्री जयकीर्ति महाराज ने आपको ऐल्लक दीक्षा देकर अनुगृहीत किया। तब आपकी वय अनुमानत. २६ वर्ष थी। जब सघ नागपुर से विहार कर कुथलगिरि पर पहुचा तब आपने पुन: प्रार्थना की कि महाराज मुझे भवसिंधुतारिणी भगवती दिगम्बरी दीक्षा दीजिये। आचार्य श्री ने आपकी दृढता देखकर आपको श्री सिद्धक्षेत्र कुथलगिरि के प्रांगण मे मुनि दीक्षा दी तथा दूसरे ब्रह्मचारी को ऐलक दीक्षा तथा संघ मे दुर्ग से लाई हुई ब्रह्मचारिणी को आर्यिका दीक्षा दी। आपका नामकरण श्री देशभूषण किया, ऐलक का श्री कुलभूषण, माता जी का नाम धर्ममती रक्खा गया। आप

संघ में कुछ दिन रहे और स्वतंत्र विहार करने लगे। विहार कर सिवनी में आये। वहीं पर आपने हिंदी भाषा का अभ्यास किया। आपकी बुद्धि प्रखर होने से आपने कुछ ही दिनों मे भली प्रकार हिंदी भाषा सीख ली। अब आपका विहार उत्तर भारत की राजधानी दिल्ली मे हुआ। वहां से आपने लखनऊ, टिकैत नगर, जयपुर इत्यादि स्थानों पर विहार किये। आपका विचार अयोध्या क्षेत्र के दर्शन करने का हुआ। जब आप अयोध्या क्षेत्र में पहुचे तब वहां देखा कि मंदिर जीर्ण हो रहे हैं और विशेष दर्शनीय स्थान नही होने के कारण यात्रीगण भी वहां कम आते हैं।

आप ने अयोध्या क्षेत्र की धार्मिक उन्नति के लिए दूध और मीठा खाने का त्याग किया। जब त्रिलोकपुर, बाराबकी, टिकैत नगर के जैन समाज को ज्ञात हुआ तब लोगों ने आदिनाथ भगवान्, भरत और बाहुबली की तीन प्रतिमायें बनवाकर अयोध्या मे कटरा के मन्दिर में महाराज श्री द्वारा पंचकल्याण प्रतिष्ठा करवाई तथा जीर्णशीर्ण मन्दिरों का जीर्णोद्धार भी कराया गया। इसके पश्चात् भी आपका लक्ष्य अयोध्या क्षेत्र को उन्नत बनाने का रहा और दिल्ली नगरी मे चातुर्मास किया। लाला पारसदास तथा लाला प्रतापसिंह मोटर वालो के यहा जब आपका आहार हुआ तो आपने अयोध्या मे एक विशालकाय मूर्ति की स्थापना करने का भाव प्रकट किया। आपकी प्रेरणा पाकर पारसदास मोटर वालो ने तथा प्रतापसिंह मोटर वालों ने एक बडी धनराशि प्रदान की जिससे मूर्ति निर्माण करने का ठेका दे दिया गया। महाराज श्री ने अयोध्या की तरफ कोथली से विहार किया और टिकैतनगर मे चातुर्मास किया। वहा पर एक ब्रह्मचारिणी को क्षुल्लिका दीक्षा दी। बाराबकी मे तथा लखनऊ मे चातुर्मास किया और अयोध्या के एक ब्राह्मण राजा के उद्यान को, जो बेचा जा रहा था, खरीद लिया। उसी समय कलकत्ता चातुर्मास के पश्चात् विहार करते समय साहू श्री शान्तिप्रसाद जी ने ५१ हजार रुपया दान मे निकाले और कहा कि जहां गुरु की आज्ञा होगी वहीं व्यय किये जावेंगे। तब महाराज ने उनको अयोध्या मे मन्दिर बनवाने का भार सौंपा और तीन शिखर का मन्दिर बनवाकर पंचकल्याण प्रतिष्ठा श्री रामेश्वरलाल कलकत्ता वालो ने करवायी। आप कलकत्ता से विहार कर शिखर जी पहुंचे। वहा से दक्षिण की ओर श्रवणबेलगोल के लिए विहार किया। सघ की व्यवस्था का भार पारसमल जी कासलीवाल ने संभाला, साथ ही भागचन्द पाटनी उनकी सहायतार्थ चले। तब ब्र० पोखेराम संघ की सेवा मे रहने लगे। श्रवणबेलगोल की यात्रा कर सघ का चातुर्मास कोल्हापुर साहूपुरी नेमिनाथ मन्दिर मे हुआ। कलकत्ता 'बड़ा बाजार' मे पारसमल कासलीवाल के यहां आहार हुआ। उसके उपलक्ष में उन्होंने २१००१ रुपये की रकम दान मे दी थी। उस दान की रकम से आदिनाथ भगवान् की २१ फुट खड्गासन मूर्ति बनवाकर श्री लक्ष्मीसेन भट्टारक मठ कोल्हापुर मे पचकल्याणक प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई। सरोजबाई के सुपुत्र पारसमल एव उनके परिवारजनो ने श्री महाराज के सान्निध्य मे पचकल्याणक प्रतिष्ठा कराई। उसके पश्चात् महाराज ने मानगाम में चातुर्मास किया और विहार कर श्री शान्तिसागर महाराज की निवासभूमि भोजग्राम मे गये। वहाँ से विहार कर मांगूर मे गये जहां पर श्री आचार्य पायसागर जी महाराज की प्रेरणा से मंदिर का निर्माण तो हो चुका था परन्तु उसमे मूर्ति नहीं थी। वह मन्दिर ऐसे लग रहा था जैसे आत्मा बिना शरीर। यह देखकर महाराज श्री ने एक सात फुट की सुलक्षण प्रतिमा मगवाकर उसे पचकल्याण प्रतिष्ठा सहित विराजमान करवाया।

तदनन्तर दक्षिण भारत से विहार कर आप दिल्ली मे चातुर्मास के पश्चात् राजस्थान की राजधानी और कलाओं के केन्द्र जयपुर मे पहुचे। यहां पर भी एक दर्शनीय जैन क्षेत्र निर्माण करने का आपका भाव हुआ। तब आपने पहाड़ी के ऊपर मन्दिर निर्माण करने की नीव डलवाई और अयोध्या के लिए विहार किया। सघ मथुरा पहुंचा। वहां पर मानस्तम्भ २५ वर्ष से बनकर तैयार था परन्तु उसकी प्रतिष्ठा कराने को कोई उत्साहित नही था। तब श्री आचार्य देशभूषण जी महाराज की विशेष प्रेरणा से मूर्ति मगवाई गई तथा पचकल्याण प्रतिष्ठापूर्वक मानस्तम्भ मे भगवान् को विराजमान कराकर संघ ने विहार किया। संघ अयोध्या पहुंचा। वहां की रायगंज में आदिनाथ भगवान् और चन्द्रप्रभु इत्यादि की तीन मूर्तिया पंचकल्याणक प्रतिष्ठा सहित विराजमान करवाई गई। वही पर महाराज ने पोखेराम कलकत्ता वाले और जिनगोंडा पाटिल तथा उनकी धर्मपत्नी रत्नाबाई और सिद्धगोंडा इन सब को क्षुल्लक दीक्षा प्रदान की। उस दिन संवत् २०२० वैशाख शुक्ला त्रयोदशी बुद्धवार की तिथि थी।

सघ ने अयोध्या से विहार कर दिल्ली चातुर्मास किया और दिल्ली से जयपुर तथा जयपुर मे खानियां जी मे पंचकल्याणक प्रतिष्ठा करवाई। एक समय था कि कोई देव नित्यप्रति महाराज के पास आता था और बैठ कर चला जाता था। एक दिन महाराज श्री ने उससे पूछ लिया कि आप रोज कहा से आते है? आप क्या जैन है? तब वह बोला कि मैं यही नशिया जी मे रहता हूं, आप का दर्शन करना मुझे अच्छा लगता है, इसलिए मैं आता हू। महाराज ने पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है?" तब देव बोला कि मेरा नाम कालिन्द्री है।

यह कह कर वह अदृश्य हो गया। इधर-उधर देखा किन्तु दिखाई नहीं दिया। आपका वचन कभी भी खाली नहीं जाता है। जो आप अपने मुख से कहते हैं वह अत्यन्त सत्य निकलता है। एक समय रघुवीर सिंह जैना वाच वालों का अवसान समय निकट था। तब प्रेमचन्द टेपरिकार्डर लेकर महाराज श्री के पास आये। महाराज श्री ने कहा कि रघुवीर सिंह जी आप सावधान रहो, अब आपका यह पर्याय छूटने का समय आ गया है, और अभी २ बजे हैं, ठीक चार बजे समाप्त हो जाओगे। वैसा ही हुआ। एक समय महाराज श्री माउंट आबू के दर्शन कर मार्ग से लौट रहे थे कि साथ मे चलने वाले दस-बीस श्रावक कहने लगे। "महाराज आप के कमण्डलु के पानी को तो लोगों ने पी ही लिया। हम को बहुत जोर से प्यास लग रही है। नजदीक मे ग्राम भी नहीं है। गर्मी भी अधिक पड़ रही है।" तब महाराज श्री ने कहा कि, "घबड़ाओ मत, जाओ उस पत्थर को उठाओ और मन इच्छित पानी पीओ।" साथ मे चलने वालों ने विचार किया कि यहा कहा पानी होगा, पर गुरु की वाणी है, चलो देखें। तब पत्थर को उठाया तो उसके नीचे से पानी निकला। सबने पेट भर कर पिया और चल दिये। जगल मे विचरन करने वाले लोगो को भी आनद हुआ कि जहा कोसों तक पानी नही था वहां पानी निकल आया। यह सब चमत्कार निर्ग्रन्थ गुरुओं का ही है।

आचार्य श्री उत्तर भारत से विहार कर दक्षिण मे गये तब यह भाव हुआ कि दक्षिण मे एक गुरुकुल का निर्माण कराया जाये ताकि ग़रीब श्रावको के बच्चे धर्म शिक्षा व लौकिक शिक्षा प्राप्त कर सकें। इसलिए महाराज ने कोथली के निकटस्थ एक स्थान को एक चर्मकार से अल्प मूल्य मे खरीद लिया। मन्दिर का निर्माण कराकर उसमे चौबीस तीर्थंकरों की मूर्ति विराजमान करायी। मूलनायक सात फुट उत्तुग, खड्गासन आदिनाथ भगवान् की मूर्ति और मानस्तम्भ को बनवाकर प्रतिष्ठापूर्वक विराजमान किया तथा गुरुकुल की और हाईस्कूल की भी स्थापना की। इसके उपरान्त भी एक छोटी-सी पहाड़ी को खरीद लिया। उस पर पुनः नवीन मन्दिर का निर्माण कराने की समाज को प्रेरणा दी जिससे शान्ति, कुन्थु, अरहनाथ जी की १६ फुटी तथा अन्य भूत भावी वर्तमान और विदेह स्थित बीस तीर्थंकरो की मूर्तियो की पचकल्याणकपूर्वक प्रतिष्ठा सभव हो सकी। यह मदिर बहुत विशाल बना हुआ है जहाँ दर्शनार्थी एव यात्रियों का तांता लगा रहता है। शिखर के ऊपर ही मानस्तम्भ, नन्दीश्वर की रचना, समोशरण मन्दिर इत्यादि हैं।

श्री आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज को जैन समाज ने अनेक पदों से अलकृत किया है—भारतगौरव, चारित्रशिरोमणि, जगत्भूषण, विद्यालंकार इत्यादि। अब आप की उम्र करीब ८० वर्ष है। फिर भी आप निरन्तर तीर्थों का निर्माण कराने की प्रेरणा करते हैं। आपके प्रधान शिष्य बाल० ब्र० श्री उपाध्याय श्री विद्यानंद जी, श्री १०८ आचार्य सुबल सागर जी व श्री १०८ आचार्यकल्प चारित्रशिरोमणि ज्ञानभूषण, श्री १०८ बाहुबली इत्यादि धर्मप्रभावक हैं।

आप निरतर धर्मध्यान मे तथा स्वाध्याय मे रत रहते हैं। आप की दृष्टि मे काच और कांचन समान हैं। आपने क्रोध, मान, माया एव लोभ कषाय को जीत लिया है। आप समरस के स्वादी हैं। आपने दक्षिण भारत के अनेक मंदिरों मे पड़े हुए बिम्बों को दूर कर उन मदिरो में जिन बिम्बो की पचकल्याण प्रतिष्ठा करवाकर तथा अक्कीवाट, कोल्हापुर, भिण्डी गली, जयसिंहपुर, दत्तवाड़ तथा मानगाम इत्यादि मंदिरों मे मूर्तियां लाकर रखी हैं। मंदिर भी बनकर तैयार हैं। समाज मे एकता नहीं होने के कारण वे मन्दिर वर्षों से दुर्दशाग्रस्त थे। अब आप का विहार हुआ तो प्रवचन सुनने मात्र से ही इन मन्दिरों के जीर्णोद्धार हेतु हजारों रुपयों की थैली लोग देने लग गये। यह सब आपके वचन की ही गरिमा है। आपने अपने मुख से हँसी मे भी किसी को कुछ शब्द कह दिया तो वह अनिवार्य रूप से सत्य ही निकलता है, यह हमने प्रत्यक्ष भी अनुभव किया है। आप जब खानिया जी मे थे तब माली को सर्प ने काट लिया। यह समाचार आपको लोगों ने दिया तब आपने कहा कि कुछ नही होगा, निर्भय रहो। वैसा ही हुआ।

एक समय आप नित्यक्रिया करने के लिए जंगल मे पुलिया के पास गये थे। वहाँ पर पत्ते और पत्थर बहुत पड़े थे। आपने पत्तों को पीछिका से दूर किया और नित्यक्रिया के लिए बैठ गये। तब एक पत्थर के नीचे से सर्प निकला और आपके पैर के एक भाग को मुह मे दबा लिया। आपका चर्म कठोर होने से उस साँप के ही दो दात टूट गये। सघ मे कोलाहल मच गया कि अब क्या होगा ? रात्रि के समय शाहजहांपुर के कलेक्टर साहिब आये और महाराज से कहने लगे कि नीम चबाओ। तब महाराज ने कहा कि मुझे कुछ भी नही होगा। दूसरे दिन उन दातों को लोगों ने निकाला और आश्चर्यचकित हो गए। आपके साथ मार्ग में पंडित बलभद्र जी चल रहे थे। तब आपने पंडित जी से कहा कि पंडित जी आप को लाभ होने वाला है। यह सुनकर पंडित जी आश्चर्य में पड़ गये। दूसरे दिन पंडित जी आगरा गये तो वहां उनको किसी ने तीन हजार रुपये दिये। आपने एक रथ का निर्माण करवाकर कोल्हापुर

साहूपुरी नेमिनाथ दिगम्बर मन्दिर मे दिया है जिससे दक्षिण भारत में धर्म-प्रभावना हो रही है। आपके शिष्य और शिष्यायें वर्तमान में करीब ६० से अधिक हैं। कितने ही समाधि लेकर स्वर्गवासी बन गये हैं। आपका चातुर्मास सूरतनगरी मे था। तब श्री १०८ पायसागर महाराज की आज्ञा से सूरत दिगम्बर जैन समाज ने आपको आचार्य पद से अलकृत किया। आप जब गुलबर्गा गये थे तब आपको नगरी में प्रवेश करने से मुसलमानों ने रोका। आप वही पर बैठ गये। उसी समय नवाब हैदराबाद को समाचार मिला कि एक नग्न दिगम्बर जैन साधु को रोक दिया गया है और वह अन्न-जल का त्याग किये हुए बैठा है। यह समाचार पाकर नवाब हैदराबाद आये और आचार्य श्री को भेंट सहित नमस्कार किया और किले के मन्दिर मे दर्शन करने को साथ-साथ गये।

आपके कामविकार की अनेक बार परीक्षा की गई है परन्तु आपके मन में कभी कोई विकार उत्पन्न नहीं हुआ तथा लोग आपके समक्ष नतमस्तक हो गए। आप सरल स्वभावी और स्पष्टवक्ता हैं। आपको प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग का पूर्णरूप से ज्ञान है। आपने जहा कहीं विहार किया वहां के सभी जैन एवं जैनेतर समाज विशेष रूप से लाभान्वित हुए हैं। आपके द्वारा अयोध्या में स्थापित देशभूषण गुरुकुल मे अनेक छात्र तथा कोथली गुरुकुल से करीब ४५० विद्यार्थी नि:शुल्क शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। छात्रो के भोजन की व्यवस्था आश्रम से ही होती है। गरीब एवं अनाथ बालकों को भोजन और वस्त्र तथा पुस्तकें भी गुरुकुल से ही प्राप्त होती हैं। आपकी प्रेरणा से गुरुकुल को करीब १०० एकड़ जमीन भी प्राप्त हो गई है। आपकी कृपा से गुरुकुल मे एक हाथी भी रखा गया है जो पंचकल्याण-प्रतिष्ठाओ के समय यत्र-तत्र जाया करता है। इस प्रकार आपके द्वारा धर्मप्रभावना सम्बन्धी अनेक महान् कार्य हुए हैं और होते रहेगे। मैं यही कामना करता हू कि महाराज चिरायु रहें और इसी प्रकार उनके द्वारा धर्मप्रभावना होती रहे एवं मुझ अल्प मति का भी कल्याण हो। मेरी हार्दिक कामना है कि आपका आशीर्वाद सदैव मेरे साथ रहे। □

श्री महावीर वाणी के उद्घोषक

आचार्यकल्प श्री श्रेयांससागर जी
(श्री १०८ आचार्य सुमति सागर जी महाराज के शिष्य)

वर्तमान युग में आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषण जी महाराज ने भगवान् महावीर की वाणी को सर्वसाधारण तक पहुंचाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। आप संयम, त्याग एवं तपश्चर्या की साक्षात् मूर्ति हैं। आप जैसे लोकोपकारी धर्मपरायण सन्त को मैं हृदय से वन्दना करता हुआ यह कामना करता हू कि उनकी वरद् छाया चतुर्विध संघ पर निरन्तर बनी रहे। □

यतिवर्य नमोऽस्तु

मुनि श्री नेमीसागर जी महाराज

श्री १०८ प्रात:स्मरणीय, परम पूज्य आचार्य, जगत् वन्दनीय श्री देशभूषण जी महाराज सम्यक् रत्नत्रय विभूषित, अनेकानेक पद-संयुक्त, अनेक भाषाओं के विज्ञाता, द्वादशांग विद्यावारिधि, गुरु परम्परा आम्नाय पद्धति से अलंकृत, आगम सिद्धान्त अध्यात्म जिन-वाणी के प्रणेता, जगत् व आत्महितैषी, गुरुवर्य, अनेक ग्रन्थों के समूल अनुवादकर्ता, मोक्षार्थी, महागंभीर, महारथी, परोपकारी, स्वात्म-निधि के रक्षक, स्याद्वाद अनेकान्त वस्तु स्वरूप स्वतन्त्रता के ज्ञाता, द्रष्टा, धर्मध्वज के प्रसारक, धर्मचक्र के प्रवर्तक, धर्मनिष्ठ, शीलव्रत प्रतिपालक, चतुर्विध संघ के नायक, ऋषि यति मुनि अनगार इत्यादि के संरक्षक, प्रश्नोत्तरों में प्रवीण, वात्सल्यधारक, सर्वगुणालंकृत, ख्याति लाभ पूजा प्रतिष्ठा से अनभिज्ञ, शुद्धात्मदर्शी, सम्यक् स्वानुभूति के रसिक, संसार व शरीर भोगों से उदासीन, ज्ञान-ध्यान में समृद्धशाली, स्वपर कल्याणार्थी, शिवपद साधक, जगत्प्रसिद्ध बाह्याभ्यन्तर गुणों से परिपूर्ण, स्वात्म बल निधि, आत्मबल सबल, अन्य शरीरादि बलाबल से विरक्त, दिगम्बरत्व जैनत्व के संवर्द्धक, समस्त संघ में निवृत्त, इन्द्रिय विषय कषायों के विजेता, मोह क्षोभ राग-द्वेष से अलिप्त, ऐसे साधुगण का अभिनन्दन है। आप त्रैकालिक त्रिभुवन में रहते हुए आनन्दमय स्वात्म सुख के रसिक रसास्वादी है। सम्यक् रत्नत्रय के आप प्राचार्य हैं। स्वानुभवी मार्गप्रदर्शक हैं। नाम धाम काम तो अनेक भवभ्रमण में हुए हैं, किन्तु चेतनत्व की ही ख्याति लाभ-पूजा भक्ति परमात्म पद की ही श्रेयस्कर श्रेष्ठ अनुपम अचल ध्रौव्य है। इसका ही मैं अभिनन्दन भक्ति पूजा करता हूं, जो त्रैकालिक सारस्वत महानिधि हैं। अच्छा हो यतिवर्य का इस ओर ध्यान आकर्षण सदा बना रहे। निर्ग्रन्थ दिगम्बरत्व जैनत्व के आप प्रतीक हैं। बाह्याभ्यंतर आडम्बर से विरक्तता ही आत्मोन्नति का साधन है। शुद्धात्मा चित् साधक है, शिवपद साध्य है। मेरी यही भावना है कि आपका अविनाशी कल्याण हो। ॐ शान्ति ३ सिद्धाय नम.। □

मेरे शिक्षा गुरु

मुनि श्री संभवसागर जी

श्री परम पूज्य, भारतगौरव, महाप्रतापी, शासनप्रभावक एवं शासनप्रसारक आचार्यरत्न विद्यागुरु १०८ प्रात.स्मरणीय विश्ववंदनीय, त्रैलोक्य पूज्य देशभूषण जी महाराज के चरणों में शतशत वन्दन।

भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के दो वर्ष पूर्व देहली में मुझे आचार्यश्री के दर्शन का लाभ हुआ। आचार्यश्री के दर्शन करने पर मुझे ऐसी अद्भुत शान्ति मिली जिसका वर्णन करना मेरी लेखनी के बस की बात नहीं है। जैसे किसी पथी को धूप में चलते-चलते वट-वृक्ष की छाव मिल गयी हो। उसी तरह मेरी आत्मा ने भी आचार्यश्री के दर्शन करके तृप्ति प्राप्त की।

आचार्यश्री अनेक गुणों के भंडार हैं, जिनमें से एक है शिष्य के प्रति वात्सल्य। जब मैं आचार्यश्री के दर्शन करने गया तो उनकी मधुर एवं स्नेहमयी वाणी से मेरी आत्मा निर्मल हो गयी। मैंने आचार्यश्री को गुरु बनाना चाहा! वैसे मेरे दीक्षा गुरु आचार्यश्री १०८ धर्मसागर जी ही हैं। इसलिए मैंने आचार्यश्री को शिक्षा गुरु बनाने की इच्छा आचार्य जी के सामने प्रगट की। मेरी विनयपूर्वक इच्छा का आदर करते हुए आचार्यश्री ने गोम्मटसार ग्रन्थ का मार्मिक अध्ययन मुझसे करवाया। यह कृति आचार्यश्री के महान् शिष्य वात्सल्य एवं निरहंकारिता का उदाहरण है।

दूसरी विशेषता आचार्यश्री की शिष्य परम्परा है। आपके ही शिष्य श्री १०८ विद्यानन्दजी महाराज व आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती जी आज भारत भर में धर्म का प्रचार एवं प्रसार ऐसे ढंग से कर रहे हैं कि जैन और अजैन सभी आपकी वाणी के दास बने बैठे रहते हैं व ध्यानपूर्वक आपके प्रवचन का सुस्वाद करते हैं।

अंत में शिक्षा गुरु १०८ श्री आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज को मेरा शत-शत त्रिकाल वन्दन। मैं आचार्यश्री के लिए जिनेन्द्र भगवान् से यही प्रार्थना करता हूं कि आप दीर्घायु हों व इस संसार चक्र में डूबते हुए अनेक रत्नों को चुन-चुन कर शिष्य बनाते रहें व मोक्ष मार्ग में लगाते रहे □

विश्व विभूति

मुनि श्री आर्यनन्दी जी

विश्वविभूति आचार्यरत्न को कौन नहीं जानता ? वे वात्सल्य की अद्वितीय मूर्ति हैं। सन् १९७० में श्री अतिशय क्षेत्र बाहुबली कुम्भोज के पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव में आपके मंगल दर्शन पाकर मैं आनन्दविभोर हुआ। उस अवसर पर आगत लाखों श्रावक-श्राविकाओं ने पूज्य गुरुदेव समन्तभद्र जी महाराज को उनके असीम धर्मोद्धारक और समाजकल्याणकारी परोपकारों को लक्षित करते हुए कृतज्ञतापूर्वक 'आचार्य' पद देना चाहा, किन्तु पूज्य गुरुदेव ने आचार्य पद स्वीकार न करते हुए कहा कि "हम तो मुनि पद के भी पात्र नहीं, फिर आचार्य पद कहां ? हमारे आचार्य श्री तो श्री १०८ देशभूषण जी महाराज (जो पास में ही विराजमान थे) ही हैं।" श्री आचार्य श्री देशभूषण जी पहले ही से आचार्य थे और इनकी वात्सल्यपूर्ण छत्रछाया में अनेक त्यागी, मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि ध्यानाध्ययन से अपना कल्याण साधते हैं। दक्षिण में इतना बड़ा संघ आचार्य श्री का ही है। विश्वधर्म के प्रसारक एवं प्रचारक एलाचार्य श्री १०८ विद्यानन्द जी मुनिराज एवं महान् संस्कृत विद्वान् उपाध्याय मुनिराज श्री १०८ कुलभूषण जी महाराज आदि आपके शिष्योत्तम हैं। कोथली के पहाड़ पर नूतन अतिशय क्षेत्र शांतिगिरि का निर्माण, गुरुकुल स्थापना, नूतन मन्दिर, जिनेन्द्र प्रतिमाएँ आदि आपने ही स्थापित करवाईं। कन्नड़ भाषा के अनेक ग्रन्थ हिन्दी में अनूदित किए। भारत भर में विहार करके धर्म प्रभावना की। कहां तक वर्णन करें, हम अल्पज्ञ वर्णन करने में असमर्थ हैं।

"सब धरती कागद करूं, लेखनी सब बनराय।
सात समुंद की मसि करूं, गुरु गुन लिखा न जाय॥"

बाहुबली (कुम्भोज) में प्रतिष्ठा के अवसर पर भारतीय तीर्थ क्षेत्रों की सुरक्षा के लिए भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी की बैठक सन् १९७० में पूज्य श्री १०८ गुरुदेव समन्तभद्र जी महाराज एवं आचार्यरत्न श्री १०८ देशभूषण जी महाराज के सान्निध्य में हुई। तब एक कोटि ध्रुव निधि में दान संकलन का प्रस्ताव पारित हुआ था और हमें यह भार सौंपा गया था। इन्हीं दोनों आचार्यों के आदेश एवं आशीर्वाद से समाज ने उदारतापूर्वक दान दिया और हम सफल हुए। वे सब भाई-बहन पुण्यभागी एवं धन्यवाद के पात्र हैं। तात्पर्य यह कि तीर्थरक्षा कोटि फंड के संकलन में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज का भी आशीर्वाद था और है। यह उल्लेखनीय है। ऐसे धर्मोद्धारक, समाज उद्धारक, आचार्यरत्न, वात्सल्य मूर्ति, दयासिंधु, परमोपकारी श्री १०८ देशभूषण जी महाराज की दीर्घायु एवं स्वास्थ्य की प्रार्थना श्री जिनेन्द्र प्रभु के चरणों में करते हुए आचार्यरत्न के चरण-कमलों में सविनय आचार्यभक्ति से शतशः प्रणाम। नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु पूर्वक यह संस्मरण भाव पुष्पांजलि सादर समर्पित है। □

—□—

उच्च कोटि के आचार्य

मुनि श्री पार्श्वकीर्ति जी

आचार्य देशभूषण जी महाराज प्रथम श्रेणी के साधुओं में उच्च कोटि के आचार्य हैं। आप पचास साल से दीक्षित हैं। आपको हमने दिल्ली में ब्रह्मचारी व्रत में आहार दान दिया और आपका शुभ आशीर्वाद प्राप्त करने से हमारा बहुत उद्धार हुआ। आप दीर्घायु हों। □

जैन शासन के उज्ज्वल नक्षत्र

श्री गिरीश मुनि जी

करीब ३२ वर्ष पूर्व मेरे परमोपकारी पूज्य तपस्वी श्री जगजीवन जी महाराज अपने सत-शिष्य परमदार्शनिक पूज्य जयतिलाल जी महाराज को नव्य न्यायादि दर्शन पढाने के लिए सौराष्ट्र से बनारस (काशी) पधारे थे। मैं उनकी सेवा मे वैरागी के रूप में अध्ययन कर रहा था। उस समय पूज्य आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज ने बनारस मे दिगम्बर जैन मन्दिर धर्मशाला मे एक धर्मयज्ञ का आयोजन करवाया था। मुझे धर्मयज्ञ देखने की उत्सुकता थी, अतः मैं तुरंत ही आचार्य श्री के दर्शनार्थ चला गया।

यह मेरा आचार्य श्री का प्रथम दर्शन था। दीक्षित होने के बाद जब पूर्ण भारत मे पूज्य गुरुदेव के साथ मैं विचरण कर रहा था, तब कलकत्ता नगर में आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज का प्रथम पदार्पण हुआ था। उस समय दिगम्बर मुनि के रूप में आपका बंगाल प्रदेश मे प्रथम प्रवेश था।

आप बेलगछीया जैन मंदिर मे ससंघ विराजमान थे। आपके सान्निध्य मे एक जैन श्रमण सम्मेलन का आयोजन भी हुआ था। विशाल पाण्डाल मे आयोजित उस विराट् सम्मेलन मे मैं भी पूज्य गुरुदेव जयन्त मुनि जी महाराज के साथ गया था। उस समय चतुर्विध संघ के साथ तीनों संप्रदायों के मुनियों का एक साथ दर्शन-मिलन और प्रवचनादि सुनने का मुझे प्रथम ही सौभाग्य मिला था। उस मिलन ने मुझे संकीर्ण विचारो से मुक्त कर विचारो की विराटता की ओर प्रेरित किया। मुझ अकिंचन को आचार्यरत्न देशभूषण जी के दर्शन का यह दूसरा अवसर मिला था।

शत्रुंजय की यात्रा के समय आप सौराष्ट्र मे पधारे थे। हम उस समय बाबरा ग्राम में थे। आप श्री संघ के साथ भावनगर रोड से आगे पधार रहे थे। दिगम्बर मुनियों का संघ जा रहा है—यह समाचार सुनते ही हम धर्मस्थानक से तुरंत ही निकल पड़े और सड़क पर आये। वहाँ हमें एक मुनि जी के दर्शन हुए। वे कुछ शिक्षाएँ दे रहे थे। हमने पूछा कि आचार्य श्री कहाँ हैं? लोगो ने कहा वे तो आगे निकल गये हैं। मैंने कहा आप आगे जाकर पूज्य श्री को समाचार दें कि हम दर्शनार्थ आ रहे हैं।

आचार्यदेव खबर सुनते ही हमारी प्रतीक्षा करते हुए रुक गए। मैं विहार करता हुआ जल्दी वहाँ पहुँचा और बहुत साल के बाद आचार्य श्री का तीसरी बार दर्शन किया। आचार्य श्री ने मुझे काष्ठ के आसन पर बिठाकर प्रेम से सम्मानित किया। परिचय-वार्तालाप से दोनों ने अधिक आनन्द पाया। समय सन्ध्या का था। अतः वे आगे पधार गये और मैं लौट आया।

आप सचमुच भारत देश के भूषण ही हैं। यथा नाम तथा गुण—जैसा नाम वैसा ही सद्गुण है। आपकी ज्ञानमुद्रा, ध्यानमुद्रा और वात्सल्य मुद्रा का संस्मरण हमे अनेको बार संयम-ध्यान की अनूठी प्रेरणा देता रहा है। आप ज्ञान के दीपक हैं, संयम के सूर्य हैं और ध्यान के मेरु हैं। शास्त्र मे कहा है—

जह दीवा दीवसयं, पईप्पए सोय दीप्पए दीवो,
दीव समा आयरिया, अप्पं च परं च दीवन्ति॥

अर्थात् जिस प्रकार दीपक स्वय प्रकाशमान् होता हुआ अपने स्पर्श से अन्य सैकडो दीपक जला देता है, उसी प्रकार आचार्य स्वय ज्ञान ज्योति से प्रकाशित होते हैं एव दूसरों को भी प्रकाशमान् करते हैं।

आपकी ज्ञान-ध्यान, तप-त्याग की अखड ज्योति, सूर्य सदृश लाखों जनता को आधुनिकता की चकाचौंध से मोड़कर आध्यात्मिकता का प्रकाश देती रहे। भारतीय धरा के धवल सयम साधना के साधक पूज्य आचार्य देव के चरणों मे अखड साधना का अभिनदन करता हू और अभिवदन करता हू कि आप सयम-चारित्र की सुदीर्घ पर्याय के साथ संघ एव शासन की सेवा करते रहे।

□

अद्भुत है उनकी व्याख्यान-शैली

मुनि श्री कुन्दन ऋषिजी

भारत की राजधानी देहली में सन् १९६५ में जैन समाज के तीन सम्प्रदायों के आचार्यों का चातुर्मास था—दिगम्बर समाज के आचार्य श्री देशभूषण जी, श्वेताम्बर स्थानकवासी समाज के आचार्यसम्राट् पूज्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज एवं तेरापंथी समाज के आचार्य श्री तुलसी जी। वहां पर समाज के अग्रगण्य लोगों ने तीनों आचार्यों का एक स्थान पर मिलाप भी कराया। इस मिलन का एकमात्र उद्देश्य था—एकदूसरे को निकट लाना, समाज का संगठन बढ़ाना और जैन समाज पर होने वाले आक्षेपों का एक बनकर प्रतीकार करना। इसके लिये दरियागंज मध्यवर्ती क्षेत्र चुना गया। ठीक समय पर तीनों आचार्य पहुंचे। मुझे भी पूज्य गुरुदेव के साथ जाने का सुअवसर मिला। अभी दीक्षा ग्रहण किये दो-तीन वर्ष ही हुए थे। अनुभव भी नहीं था। मेरे लिए यह शायद पहला ही मौका था इन विभूतियों के सम्पर्क में आने का।

उक्त अवसर पर, परिधान-रहित, निर्वस्त्र, कृष्णवर्ण, सुगठित शरीर, भव्य ललाट, शान्त नयन, सौम्य मुख पर एक मुस्कान से स्वागत की मुद्रा में नजर आ रहे थे आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज। औपचारिकता के बाद सभी नियोजित स्थान पर बैठ गए थे। मेरी उत्कण्ठा जागी कि मैं भी बात कर लूं, परिचय करूं, किन्तु बड़ों के सामने कुछ नहीं बोल सका। आचार्यत्रय का विचार-विमर्श चलता रहा। सभी महापुरुष सरलता, सौजन्यतापूर्वक विचार-विमर्श कर रहे थे। सभी की इच्छाएं थीं कि कुछ न कुछ ठोस कार्य हो, संगठन, स्नेह एवं सद्भाव बढ़े। विचार-विमर्श के बाद बैठक समाप्त हुई। सभी अपने-अपने स्थान पर पधारे। किन्तु सभी बहुत ही निकट आ गये थे। बार-बार एक दूसरे से मिलने हेतु वचनबद्ध हुए थे।

× × ×

भारत जैन महामण्डल ने विश्वमैत्री दिवस को लेकर एक मंच तैयार किया। सभी ने सरल भाव से पधारने की स्वीकृति दी थी। देश के अनेक बड़े नेता भी आये थे।

गांधी मैदान में कार्यक्रम हो रहा था। पूज्य गुरुदेव के साथ मैं भी पहुंचा। हजारों की भीड़ थी। संभवतः मध्याह्न ३ बजे से सभा का कार्यक्रम प्रारंभ हुआ। तीनों आचार्यों को बोलना था। सर्वप्रथम आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज ने अपना प्रवचन प्रारंभ किया। सरल सीधी-सादी भाषा एवं कन्नड़-मिश्रित हिन्दी बोल रहे थे। भाव गहन एवं हृदयस्पर्शी थे। अद्भुत थी उनकी व्याख्यान-शैली। जैन दर्शन का गहन अर्थ सरल करके दिखाते थे। जैन एकता पर आपने काफी जोर दिया था। उस दिन आपकी गम्भीरता, सहृदयता, नम्रता और परस्पर सहिष्णुता का दर्शन हो रहा था। आपके उस व्यवहार ने सभी को आपके काफी निकट ला दिया था। आज भी वह स्मृति आती है तो सभी दृश्य सामने दृष्टिगोचर हो जाते हैं। ऐसे महापुरुष युग-युग तक जीएं एवं जनता का मार्गदर्शन करते हुए जैन शासन की शान बढ़ाते रहें। यही शासनदेव से प्रार्थना है।

□

प्रातः स्मरणीय

मुनि श्री बुद्धिसागर जी

(आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज ससंघ)

परम पूज्य गुरुदेव प्रातः स्मरणीय श्री १०८ आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने अपना जीवन साहित्य साधना, तीर्थक्षेत्रों के निर्माण एवं धर्मभावना के लिए समर्पित कर दिया है।

मैं उनके चरण-कमल में त्रिकाल सिद्धभक्ति आचार्य भक्ति पूर्वक नमोऽस्तु निवेदन करता हूं। □

परोपकारी गुरुदेव

आर्यिकारत्न ज्ञानमती जी

आज मुझे सन् १९५२ की बात याद आ रही है। मेरे हृदय में वैराग्य के अंकुर प्रस्फुटित हो चुके थे। मैंने विवाह-बंधन से सर्वथा इन्कार कर दिया था और त्याग-पथ पर चलने के लिये उत्कंठित हो चुकी थी। जब माता-पिता मुझे समझा-बुझाकर असफल हो गये, तब उन्होंने समझाने के लिये महमूदाबाद से मामा महीपालदास जी को बुलवाया। उन्होंने आकर अपनी भानजी को पहले तो प्रेम से समझाने का प्रयत्न किया, बाद में धमकाना व फटकारना शुरू किया और फिर युक्ति से बोले—"बेटी! जैन सिद्धांत के अनुसार कुमारी कन्या को दीक्षा लेने का अधिकार ही नहीं है।"

तब मैंने कहा—"चंदना भी तो कुंवारी थी, ब्राह्मी, सुन्दरी तथा अनंतमती भी तो कुंवारी ही थी।"

मामा बड़े प्रेम से बोले—"बेटी! तुझे मालूम नहीं, वे सब नपुंसक थी।"

इस बात को पुष्ट करने के लिये उन्होंने बहुत-सी दलीलें दे डाली। मैंने मात्र पद्मनंदिपंचविंशति ग्रन्थ का स्वाध्याय करके ही वैराग्यरूपी महानिधि को पाया था तथा जम्बूस्वामी-चरित्र, अनंतमती-चरित्र आदि कुछ चरित्र-पुस्तकें पढ़ी थी। मैं एक बार तो ऊहापोह में पड़ गई, पुनः दृढ़तापूर्वक बोली—

"नहीं मामाजी! वे कुमारिकायें ही थी। जैन धर्म में प्राणिमात्र को आत्मकल्याण करने का अधिकार प्राप्त है।"

तब उन्होंने कहा—"जैन धर्म अहिंसा-प्रधान है। यदि तेरे दीक्षा लेने से माता-पिता रो-रोकर अधमरे हो जायेंगे तो जैनधर्म कहां पला?"

मैंने कहा—"पता नहीं अनादिकाल से कितने माता-पिता को रोते हुए छोड़ा है? यह सब संसार का नाता झूठा है। यहां भला कौन किसका है?"

× × ×

कुछ ही दिनों में पूज्य आचार्यदेव श्री देशभूषण जी महाराज का आगमन लखनऊ में हुआ। सुनकर मैं बहुत ही प्रसन्न हुई। मैं सोचने लगी कि दिगम्बर मुनि कैसे होते हैं? कैसी उनकी चर्या होती है? वस्तव में मेरे पुण्योदय से ही गुरुदेव का टिकैतनगर में पदार्पण हुआ था। दर्शन करके मुझे ऐसा लगा मानों मुझे भवसागर से पार करने के लिये कर्णधार आ गये हों! मेरी प्रसन्नता का भला क्या ठिकाना! मध्याह्न में माँ के साथ गुरुदेव के निकट जाकर बैठ गई। महाराज जी ने भी सुन रखा था कि कोई बालिका विरक्त हो दीक्षा लेना चाहती है। मैंने अवसर पाते ही महाराज श्री से पूछा—

"महाराज जी! जैन शासन में क्या कुंवारी कन्या आत्म-कल्याण नहीं कर सकती?"

महाराज ने गंभीर मुद्रा में कहा—

"क्यों नहीं कर सकती? कुंवारी कन्या क्या, जैन शासन में पशु-पक्षी को भी आत्म-कल्याण करने का अधिकार प्राप्त है।"

× × ×

१५-२० दिन बाद आचार्य श्री का विहार होने लगा। मैंने साथ में जाने का उद्यम किया। समाज के साथ-साथ कुटुंबियों का विरोध द्विगुणित हुआ। घर के ताऊ, चाचा आदि सभी लोग बहुत कुछ विरोध में कहने लगे। बढ़ते हुए विरोध को देखकर एक क्षुल्लक जी ने, जो कि आचार्य श्री के साथ थे, समाज के लोगों को और भी अधिक उकसा दिया। वे बोले—"इसे आश्रम में छोड़ आओ।"

मैंने जैसे-तैसे अवसर प्राप्त कर आचार्य श्री से निवेदन किया—

"गुरुदेव ! इतनी विघ्न-बाधाओं को कैसे पार करें ? ताऊ जी यह कहते हैं, चाचा यह कहते हैं, अमुक ने यह कहा है, अमुक ऐसा कह रहा है······ ।"

आचार्य श्री बीच मे ही बोल पड़े—

"जिसे मोक्ष-पथ में चलना ही है, उसे विघ्नबाधाएँ क्या करेंगी ? कौन क्या कहता है ?—मुमुक्षु की इस पर दृष्टि ही नहीं जानी चाहिये । अर्जुन ने जब बाणवेध किया था तब उसे वृक्ष के पत्ते व डालें, आकाश व चिड़िया कुछ नहीं दिख रहे थे—मात्र उसको अपना लक्ष्य, आंख की पुतली ही दिख रही थी । तुम्हारा लक्ष्य एक तरफ ही होना चाहिये ।"

इतना उपदेश प्राप्त करके मैं तृप्त हो गई । यद्यपि उस समय मुझे आचार्यश्री के साथ नहीं जाने दिया गया, फिर भी मैं पुरुषार्थ से नहीं हटी, हिम्मत नही हारी । आखिर चातुर्मास मे बाराबंकी आकर अपने लक्ष्य को कुछ अंश में पूरा कर ही लिया । गुरुदेव के ही करकमलों से मैंने आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया, उन्ही के करकमलों से क्षुल्लिका-दीक्षा प्राप्त की । आज भी हर क्षेत्र में, हर कार्य में गुरुदेव के वे शब्द मेरे कर्णपथ मे घूमते ही रहते हैं । वे शब्द आज तक भी मेरे मानसपटल पर अंकित हैं । मेरे जीवन मे ज्ञान और चरित्र का दिनोंदिन विकास, मेरे द्वारा होने वाले और भी अनेकों कार्यों में गुरुदेव का वह आशीर्वाद और प्रेरणास्पद वाक्य ही मेरा सबल रहा है । यही कारण है कि मैं आज तक किसी कार्य मे असफल नही हुई हूं । जो भी कार्य हाथ में लिया है, उसे पूरा करके ही छोड़ा है । यह सब गुरुदेव का ही शुभाशीर्वाद है ।

मेरी व्याकरण पढ़ने की तीव्र इच्छा को देखकर आचार्यश्री ने जयपुर चातुर्मास में कई विद्वान् पंडित बुलाये । वे दो-चार सूत्र पढ़ा देते, पुनः कह देते—यह हलुआ नही है, लोहे के चने हैं । इसका संस्कृत कालेज मे दो वर्ष का कोर्स है । मैं कहती—मुझे चार-पांच पृष्ठों तक सूत्रों का अर्थ समझा दो । उन विद्वानों ने आकर आचार्यश्री से निवेदन किया—"महाराज जी ! मैं इन्हें व्याकरण नहीं पढ़ा सकता ।"

किसी ने कहा—"पूज्य गुरुदेव! यहा संस्कृत कालेज में एक दामोदर शास्त्री हैं जिन्होंने कि कातंत्र व्याकरण कंठस्थ किया हुआ है । आप उन्हें इनके पढ़ाने का कार्य सौंपें ।"

वे विद्वान् पं० दामोदर जी आये । महाराज ने मुझसे कहा—"देख वीरमती ! यह कातंत्र व्याकरण दो वर्ष का कोर्स है । तुझे दो मास में पूर्ण करना है ।"

इतना कहकर महाराज जी मुस्करा दिये । मैंने हाथ जोड़कर कहा—"जो आज्ञा आपकी ।"

मेरे साथ क्षुल्लिका विशालमती जी बैठती थीं । मैंने एक दिन कम दो महीने में वह व्याकरण पूर्ण कर लिया । पुनः आकर गुरुदेव को नमस्कार किया । गुरुदेव प्रसन्न हुए और बोले—

"बस ! तुझे अब सभी ग्रन्थों का अर्थ लगाना आ जायेगा ।"

गुरु का आशीर्वाद प्राप्त कर मुझे ऐसा लगा कि मैंने विद्यानिधि प्राप्त कर ली है । वही व्याकरण मैंने अपने सर्वशिष्यों को पढ़ाया है । पुनः उसका हिन्दी भाषा मे अनुवाद किया है । उसी एक व्याकरण के बल पर मैंने जैनेन्द्रप्रक्रिया, शब्दार्णवचन्द्रिका आदि कई व्याकरण अपनी शिष्याओं को पढ़ाये हैं तथा अष्टसहस्री जैसे क्लिष्टतम ग्रन्थ का भाषानुवाद भी किया है ।

महाराजश्री जब अपने आसन पर विराजते हैं तब उनकी स्थिर व गभीर मुद्रा भक्तों के हृदय में अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहती है । वे अपने निंदकों के साथ हँस-हँस कर वार्तालाप करते रहते हैं । उनके हृदय की क्षमा और उदारता देखकर विद्वान् लोग यही कहा करते हैं कि आचार्यश्री का पेट बहुत बड़ा है । इतनी वृद्धावस्था में भी आप भगवान् बाहुबली का सहस्राब्दी महोत्सव, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा आदि धर्मभावना के कार्यों मे श्रावकों के उत्साहवर्धन हेतु विहार करने पहुच जाते हैं । यह आपकी शरीर-निःस्पृहता और गाढ़ धर्मानुराग का ही द्योतक है ।

आचार्यश्री मेरे द्वारा अनुवादित अष्टसहस्री ग्रन्थ को प्रकाशित हुआ देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए और बोले—"मेरे लगाये हुए बीज का वृक्ष तो हो ही गया है, उसमें फल भी लग गये हैं ।"

उनके इन शब्दों में कितना वात्सल्य भरा हुआ था, अपने गुरु का असीम वात्सल्य प्राप्त होने पर एक शिष्य को ही उसका अनुभव हो सकता है । जब पुत्रों की कल्पना से भी अधिक उन्नति उनके माता-पिता देखते हैं तब उन्हें जितना हर्ष होता है और वे पुत्रों को कितना आशीषते हैं, यह वह माता-पिता व उनकी सन्तान ही अनुभव कर सकते हैं ।

फलस्वरूप अष्टसहस्री ग्रन्थ का विमोचन समारोह आचार्यद्वय (आचार्यरत्न देशभूषण जी और आचार्यश्री धर्मसागर जी) तथा विद्यानन्द जी मुनिराज आदि साधुओं के सान्निध्य में बाल आश्रम, दरियागंज में ही हुआ था।

जंबूद्वीप रचना के लिये जब हस्तिनापुर क्षेत्र का निर्णय लिया जा चुका था तब मैं सन् १९७४ में वैशाख सुदी पूर्णिमा को हस्तिनापुर की ओर विहार कर रही थी। प्रातः कूंचा सेठ त्यागी भवन से विहार कर कम्मोजी की धर्मशाला में महाराज जी के दर्शनार्थ आई। तब अन्य साधु-साध्वियों ने कहा—"आचार्यश्री शौच हेतु निकल गये।"

मैं दस-पन्द्रह मिनट तक बैठी। साथ में चलने वाले श्रावक आकुलता करने लगे और बोले —

"माता जी! आपने कल सायंकाल में गुरुदेव से आशीर्वाद ग्रहण कर लिया है, अतः अब चलिये, अन्यथा धूप हो जाने से आपको विहार करने में कष्ट होगा।"

मैं परोक्ष में गुरु की वन्दना करके धर्मशाला के बाहर निकली। जरा आगे बढ़ी ही थी कि आचार्यश्री सामने आते हुए दीखे। मुझे प्रसन्नता हुई और यह श्लोक स्मरण हो आया—

आरोह रथ पार्थ! गांडीवं चापि धारय।
निर्जितां मेदिनीं मन्ये निर्ग्रंथो यतिरग्रतः॥

अर्थात् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—हे अर्जुन! तुम रथ पर चढ़ जाओ और गांडीव धनुष को धारण कर लो। मैं इस पृथ्वी को जीती हुई ही समझ रहा हूं, चूंकि सामने निर्ग्रन्थ यति दिख रहे हैं।

विहार के समय यदि दिगम्बर मुनि का संमुख आगमन दीख जाए तो समझो सर्वकार्य सिद्ध हो गये। मैंने गुरुवर्य के चरणों में नमस्कार किया। गुरुदेव ने मस्तक पर पिच्छिका रखकर आशीर्वाद दिया। आज हस्तिनापुर में उस जंबूद्वीप मरचना की सफलता को देखकर वह दृश्य सम्मुख आ जाता है।

आज जंबूद्वीप-ज्ञान-ज्योति सारे भारतवर्ष में भ्रमण कर रही है और जन-जन को जंबूद्वीप के माध्यम से जैन भूगोल का ज्ञान करा रही है तथा भगवान् महावीर के द्वारा दिखाये गये समीचीन ज्ञान का उद्योत कर रही है। इन सब कार्यों में आज तक मुझे गुरुदेव का वरदहस्त मिला है, सदैव ऐसे ही मिलता रहे, यही मेरी मनोकामना है। आपके श्री चरणों में कोटिशः नमोऽस्तु। □

——□——

विनम्रता की प्रतिमूर्ति

क्षुल्लक रत्नकीर्ति जी

सर्वश्री १०८ मुनि दयासागर जी, अभिनन्दन सागर जी, विजय सागर जी, ऋषभ सागर जी, रयणसागर जी एवं सर्व श्री १०५ आर्यिका गुणमति जी, निर्मल मति जी, सुरत्नमति जी, प्रज्ञामति जी तथा सर्व श्री १०५ क्षु० सुरत्न सागर जी, सुज्ञान सागर जी आदि संघ सहित भगवान् बाहुबलि जी (श्रवणबेलगोल) यात्रा संघ का संचालन करते हुए मैं अप्रैल सन् १९७४ के प्रथम सप्ताह में कोथली-कुप्पनवाडी (शांतिगिरि) पहुंचा। वहां पर परम पूजनीय श्री १०८ आचार्य देशभूषण जी महाराज अपने संघ सहित विराजमान थे। समय के अभाववश वहां ठहरने में असमर्थ था। तब उन्होंने बहुत ही विनम्र शब्दों में मुझसे संघ रोकने के लिए कहा। मैं इतना ही कह पाया कि मुझको तो आपकी आज्ञा का भी पालन करना है और संघ का भी आदेश मानना है। साराश यह है कि संघ को ठहराने हेतु इतने महान् पद पर होते हुए भी मुझ जैसे साधारण ब्रह्मचारी से भी कहा। आचार्य देशभूषण जी की व्यावहार कुशलता से मैं बहुत प्रभावित हुआ। मैं श्रद्धापूर्वक अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि उनके चरणों में समर्पित करता हूं। □

——□——

महान् उपकारी

क्षुल्लक जयभूषण जी
(श्री १०८ पूज्य कुलभूषण महाराज के शिष्य)

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के महान् उपकारों का शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। मैं उनके पावन चरणों में त्रिकाल नमोऽस्तु निवेदन करता हूं। □

अलौकिक जीवन

आर्यिका अभयमती जी

लोकप्रसिद्ध आचार्यरत्न देशभूषण जी को कौन नहीं जानता—जिनकी गौरव-गाथा यश पताका अखिल भारत भू पर व्याप्त हो रही है। यह कौन जानता था कि कर्नाटक प्रान्त के कोथली ग्राम मे जन्म लेकर यह आत्मा श्रमण संस्कृति के रूप मे आदर्श बनकर जैन संस्कृति का देश के कोने-कोने मे प्रचार करेगी। वास्तव मे आपका जीवन अलौकिक है। आपके द्वारा अनेक स्थानों पर पाठशालाओं, विद्यालयों तथा गुरुकुलो की स्थापना कराई जा चुकी है जिनके माध्यम से हजारो छात्र अध्ययन में तल्लीन होकर धर्म के मर्म को पहचान रहे हैं। आपके द्वारा लिखित गद्य-पद्य रूप मे सैकडो महान् ग्रन्थ प्राणियों को आत्मविश्वास एवं तत्त्वज्ञान कराने में निमित्त रूप हैं। जितने रूप मे विश्व प्राणियो का आपके द्वारा उद्धार हुआ एवं वर्तमान मे हो रहा है उसे समाज कभी भुला नही सकता। उत्तरप्रदेश के अतिशय क्षेत्र अयोध्या जी मे जिनबिम्ब, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा एवं गुरुकुल की स्थापना मे जो आज तक उत्तरोत्तर उन्नति हो रही है, वह सब आप ही का सत्प्रयास है। जयपुर खानिया चूलगिरि जहां पर एक दिन जंगल-सा दिख रहा था, आज वही मंगलमय अतिशय तीर्थ रूप मे जो दिख रहा है वह भी आपकी पावन देन है। भविष्य में "श्री देशभूषण नगर" बसेगा जिसमें श्रेष्ठ गुरुकुल आदि तथा सुन्दर-सुन्दर बगीचो का आवास रहेगा। वर्तमान मे पूज्य एलाचार्य विद्यानन्द जी व आर्यिकारत्न ज्ञानमती जी द्वारा भारत मे जैन धर्म का जो डका बज रहा है, वह भी प्रथम रूप मे आपकी ही देन है। अभी तक आपने सैकड़ों दीक्षाएँ देकर शिष्यों को सच्चे मोक्ष मार्ग मे लगाया है। जिस प्रकार किसी से कोई पूछे कि भाई शरीर मे रोम कितने है, आकाश मे तारे कितने हैं, वह व्यक्ति किंकर्तव्यविमूढ होकर उत्तर देने से असमर्थ हो जाता है, उसी प्रकार हम जैसे प्राणी द्वारा सद्गुरुओ के गुणो का वर्णन करना मानो सूर्य के आगे दीपक दिखाना है। आपकी महिमा अपरपार है। आपके द्वारा जो साहित्य का सृजन हुआ है, वह अमूल्य है। अहिंसावाद, अनेकान्तवाद एवं सत्यं शिव को लिये हुए आपकी सरस ओजस्वी वाणी द्वारा जनता मंत्रमुग्ध हो जाती है। एक समय वह था जब उत्तरप्रदेश जिला बाराबकी, टिकैत नगर मे आपका चातुर्मास हुआ। उस समय प्रायः सारा समाज अज्ञान रूपी अन्धकार मे डूबा हुआ था— आपके द्वारा धर्मामृत का पान करके समाज को नई चेतना मिली। उसी के फलस्वरूप "मैना सती" आज आर्यिकारत्न ज्ञानमती जी के रूप मे प्रसिद्ध हैं। मैंने सोचा जब उन्होने कीचड मे पग नही धरा तो मैं क्यो कीचड मे पग धरूं? अतः ससार की असारता का विचार कर एव विरागता प्राप्त कर सभी गृहजजाल से मुक्त होकर स्त्री-पर्याय को छेदने के लिये तथा ससार के बन्धन से छुटकारा पाने के लिये अमूल्य संयम तप को स्वीकार किया। अन्त मे यही आशा करती हू कि हमारा सयम और चारित्र हमेशा अटल दृढ रहे। हमारे अन्दर वह आत्मज्योति जगे जिसके द्वारा हम अपने जीवन को सफल कर सकें एवं सदैव हमारे ऊपर आचार्यश्री का शुभाशीर्वाद बना रहे एवं सद्गुरुओ के प्रति सदैव हमारी भक्ति बनी रहे। □

——□——

पावन धर्मतीर्थ

क्षुल्लक जयकीर्ति जी महाराज
(अकलकोट)

आचार्यरत्न परम पावन धर्मतीर्थ हैं। अनन्त गुणो के सागर हैं। धर्मवात्सल्य के धारक हैं। धीर गम्भीर करुणानिधि हैं। सबके हृदयो मे श्रद्धारूप से विराजमान हैं। कर्मशत्रु के नाशक हैं। ज्ञान-सूर्य समान है। गर्वरहित हैं। निरभिमानी सरल परिणामी हैं। बालब्रह्मचारी परम तपस्वी गुणनिधि हैं। रत्नत्रयधारी मोक्षमार्गदर्शक हैं। आचार्य परमेष्ठि के सभी गुणधारी हैं। ऐसे परम गुरुओ की आयु आरोग्य समृद्धि-वृद्धि हो और वे सभी जीवो का परम कल्याण करे। ऐसी भावना वाले आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के चरण कमल को त्रिबार नमोऽस्तु करके भाव सहित आदराञ्जलि अर्पण करता हू।

समिति ने आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की प्रतिष्ठा मे जो अभिनन्दन ग्रन्थ निकालने का प्रयास किया है और तन मन धन से सद्कार्य की प्रेरणा को जागृत किया है, उसके लिए अनेकशः धन्यवाद। □

क्षुल्लक सन्मतिसागर 'ज्ञानानन्द' जी

प्रातःकाल का समय था। बालारुण अपनी स्वर्णिम किरणें पृथ्वी पर बिखेरता हुआ अपनी गति से उभरता हुआ आ रहा था। इसी बीच दर्शन किये आचार्य श्री १०८ देशभूषण जी महाराज के। दायें-बायें सुशोभित थे आचार्य विमलसागर जी महाराज एवं पूज्य उपाध्याय भरतसागर जी महाराज तथा गणधर मुनि कुंथुसागर जी महाराज एवं पूज्या आर्यिका विजयामती माता जी आदि अनेकों आर्यिका माताएँ, क्षुल्लक-क्षुल्लिकाएँ, अनेकों विद्वान् एवं असंख्य श्रावक-श्राविकाएँ। आपके दर्शनों का प्रथम बार सौभाग्य हमें सन् १९७४ में दिल्ली से कौथली की ओर विहार करते समय जयपुर नगरी में प्राप्त हुआ था। उसी समय आपके करकमलों द्वारा 'मुक्ति पथ की ओर' पुस्तक का विमोचन हुआ था। विमोचन के समय दिए गए आपके आशीर्वचन प्रेरक सिद्ध हुए हैं। उसी समय हमने आपसे मुनि निवास के लिए स्थान की निर्मिति हेतु आशीर्वाद लिया। कुछ ही क्षणों में दातारों की कतार लग गई। फलतः आज पार्श्वनाथ भवन के नाम से जयपुर नगर में मुनि-निवास शोभा पा रहा है। जितने भी मुनि, त्यागी, व्रतिगण पधार रहे हैं, सभी वहां आनन्द से धर्म ध्यान करते हैं।

यह जानकर परम प्रसन्नता हुई कि ऐसे भारत गौरव, सम्यक्त्व चूड़ामणि, आचार्य शिरोमणि, वयोवृद्ध, श्री १०८ आचार्य-रत्न देशभूषण जी महाराज का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। पूज्य आचार्य श्री की गौरव गाथा अखिल विश्व वसुन्धरा पर प्रसरित है। आपके यशगान घर-घर में जन-जन के मुख से सुनने को मिलते हैं। आपने अपने जीवन में देश एवं समाज का जो उपकार किया है, उसके लिए सभी नतमस्तक हैं। श्री विद्यानन्द जी जैसे विश्वधर्म प्रवक्ता एवं अन्य अनेकों मुनिराज आपकी ही देन हैं। कर्नाटक में शांतिगिरि, राजस्थान में चूलगिरि जैसे पवित्र अनेकों क्षेत्रों का निर्माण आपके उपदेशों का ही प्रभाव है। अबोध छात्रों में धार्मिक एवं लौकिक ज्ञानहेतु आपने अनेकों कालेज, विद्यालय एवं गुरुकुलों की स्थापना कराकर समाज का विशेष उपकार किया है। आपके निमित्त से सैकड़ों ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। ऐसे स्व-परोपकारी आचार्य श्री के दीर्घ जीवन की कामना करते हुए आपके चरण-कमलों में श्रद्धा-सुमन शुभकामना सहित समर्पित हैं।

——□——

संत शील के भूषण

क्षुल्लक कामविजय नन्दी जी

हे गुरु तेरे गुण गौरव की गाथा,
मैं पामर क्या लिख पाऊंगा।
जैसे चांद चमकता आकाश बीच,
मैं बौना क्या छू पाऊंगा!!

आचार्य परमेष्ठी पद को प्राप्त करके आप विशाल चतुर्विध संघ का नेतृत्व कर रहे हैं। आपने सारे विश्व में जैन धर्म का झंडा लहराया और लहराते चले जा रहे हैं। आपके द्वारा सर्वत्र धर्म-प्रभावना हो रही है। आप सिंह के समान दिगम्बर मुद्रा धारण कर पैदल विहार कर घर-घर मे आत्मज्ञान का दीपक जलाकर मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को दूर करने मे प्रयत्नशील हैं। आपने अपनी सबल लेखनी एवं धर्मोपदेशों के द्वारा अनवरत धर्म-प्रभावना की है तथा आपके द्वारा दीक्षित एलाचार्य मुनि श्री विद्यानन्द जी जैसे परम तपस्वी भी सारे विश्व के प्राणियों एवं तीन लोक के प्राणियों का कल्याण करने में जुटे हुए हैं। आप वात्सल्य-मूर्ति, परम शान्त, निर्भीक साधुराज हैं। आपमें अत्यन्त गम्भीरता है। पूर्व आर्ष परम्परा के संरक्षण में आप सहयोग दे रहे हैं। आप भारत देश की विभूति हैं। आपके द्वारा धर्म का उद्योत हो रहा है।

आपके गुण अनिर्वचनीय हैं। आगम रक्षा की भावना आप में कूट-कूट कर भरी हुई है। आपके द्वारा अनेक भव्य जीवों को आत्मसाधना का मार्ग प्राप्त हुआ है। वीतराग वाणी को जीवन मे साकार रूप देने वाले, आर्त्त और रौद्र ध्यान से सदा दूर रहने वाले, धर्म ध्यान एवं शुक्लध्यान की भावना भाने वाले, स्वपर कल्याण में तत्पर रहने वाले, प्रेरणास्पद व्यक्तित्व के धनी, दिव्य ज्योति, करुणा के सागर, प्रवचन पटु, शान्त स्वभावी, भद्र परिणामी, ज्ञान-ध्यान तप में विरत, अद्वितीय सन्त शील के भूषण, शिक्षा के भूषण, भारत का गौरव श्री देशभूषण जी महाराज के पावन चरणों में कोटि-कोटि नमन करते हुए अपनी भावाञ्जलि समर्पित करता हूं। □

संकल्प और त्याग की प्रतिमूर्ति

क्षुल्लिका राजमती जी

आचार्य गुरु की महिमा मे जितना वर्णन किया जाय अल्प है। आपकी आध्यात्मिक प्रतिभा का जन्म कर्नाटक प्रान्त के छोटे-से ग्राम कोथली में हुआ किन्तु उनका वैभव आज सम्पूर्ण भारत में विस्तृत है।

आचार्य श्री ने बाल्यकाल में ही आध्यात्मिक जीवन को अन्तःप्रेरणा से ग्रहण किया और उसकी ज्योति जन-जन के लिए प्रस्फुटित की। आपकी ज्ञानभूमि सिवनी रही है और आपने अनेक भाषाओं का अध्ययन-अभ्यास कर एक सौ से अधिक ग्रन्थों का सृजन किया है और दुर्लभ ग्रन्थों को प्रकाशमान कराया। आपको बाल्यावस्था में आचार्य शान्तिसागर जी से 'कल्याण भागासी' का आशीर्वाद मिला और आज आप जन-कल्याण व आत्म-कल्याण की प्रेरणा प्रदान कर रहे हैं।

जैन धर्म की प्रभावना के लिए आपने स्थान-स्थान पर भव्य एवं आकर्षक जिनबिम्ब प्रतिमाओं को प्रतिष्ठित कराया है तथा अतिशय तीर्थक्षेत्रों की स्थापना करायी है। इस शृंखला में जयपुर में श्री पार्श्वनाथ चूलगिरि तीर्थ है जहां श्री पार्श्वनाथ और श्री महावीर की उत्तुंग प्रतिमाओं के दर्शन कर लोग अपनी धर्मवृद्धि कर रहे हैं। आप ने मानस्तम्भ, गुरुकुल, विद्यालय, मुनि-निवास, यात्री-गृह, धर्मशालाओं और जलस्रोतों के स्थापन-निर्माण में भी प्रेरणा दी है।

भव्य जन-कल्याण के लिए महान् पुनीत तीर्थंकरों की जन्मभूमि अतिशय क्षेत्र, सुकौशल देश की राजधानी, अयोध्या नगरी के मनोहर वृषभोद्यान में महाकाय ३१ फुट उत्तुंग महामनोज्ञ श्री आदिनाथ तीर्थंकर भगवान् की नूतन प्रतिमा बनवाकर नव जिनमंदिर का निर्माण और उसमे पंचकल्याण समारोह कराकर विधिपूर्वक स्थापित कराना भी आपकी ही प्रेरणा से सम्भव हुआ है। यह क्षेत्र भव्य जीवों के मन को वीतराग-परिणति की ओर आकर्षित करता है। इसके अगल-बगल में भरत बाहुबलि की प्रतिमाएं चक्रवर्ती भरतराज तथा कामदेव बाहुबलि का स्मरण कराती हैं। इसी प्रकार महाराष्ट्र की प्रसिद्ध नगरी कोल्हापुर मे दीर्घकाल से प्रचलित भट्टारकों के मठस्थल पर प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ भगवान् की २५ फुट ऊंची खड्गासन प्रतिमा का प्रतिष्ठापन कराकर धर्म-प्रभावना की है।

इसी मन्दिर की पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा मे आप मुझे बाल्यावस्था में ही माता-पिता, भाई-बहिन, तमाम सम्बन्धियों के मोह से मुक्त कराकर मेरी जन्मभूमि 'बूढाखेड़ा' ग्राम से अपने साथ लाये और अपने सान्निध्य में रख कर संस्कृत, व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, जीवकांड आदि सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन कराया तथा सर्वप्रकार से दृढ़ता की परीक्षा ली। आपने मुझ अज्ञानी को ज्ञान की ओर अग्रसर किया और मोक्ष मार्ग के तपश्चरण करने योग्य बनाया। आपके प्रताप से मेरी मूढ़ता नष्ट हुई है और वीतराग में मन लगा है। कोल्हापुर के श्री आदिनाथ भगवान् के पंचकल्याण के अवसर पर ही आपने मुझे आत्मकल्याण कराकर क्षुल्लिका दीक्षा प्रदान कर कृतार्थ किया है। मेरा नाम राजमति रखा है। मेरा चरित्र में दृढ़ रहना, विद्या का प्राप्त करना, बालब्रह्मचारिणी होना, यह सब आचार्यश्री के आश्रय-प्रताप से ही हुआ है। आपके ही प्रताप से मुझे ज्ञानचरित्र की स्थिरता हुई है और आत्मबल प्रबल बना है। आपने मुझे स्त्री-लिंग छेदने का जो मार्ग बताया, इसके लिए मैं आपकी चिर ऋणी हू।

आपके मन में जिन-बिम्ब प्रतिष्ठा-निर्माण के प्रति उत्साह और लगन क्यों है, इस विषय में आचार्यश्री ने व्यक्त किया है कि—"मूर्ति-निर्माण के बारे मे यथार्थ मे बात यह है कि श्रवणबेलगोल जाकर भगवान् बाहुबलि की दिव्य छवि के दर्शन करने से अवर्णनीय आनन्द मिला, शान्ति प्राप्त हुई। बाहुबलि का चिन्तन ध्यान में सहायक रहा है। इसलिए आत्मध्यान के सहायतार्थ हमारा मन अत्यन्त उत्तुंग और विशाल जिनबिम्बों के निर्माण की ओर गया।" वस्तुत. आपकी आध्यात्मिक प्रतिभा से भारत के जैन-अजैन ही नही अपितु विदेशियो पर भी प्रभाव पड़ा है। अमेरिका, इटली, डच, कम्बोडिया के अनेक जन आपके चरणो में नमन कर चुके हैं।

आचार्यरत्न अपने संकल्प, तप और त्याग में दृढ़ हैं—अनेक उपसर्ग आये, किन्तु सब निष्फल रहे। सर्प ने काटा, शेर-चीते दहाड़े, आहार और गमन में लोग बाधक हुए किन्तु इन सब पर महाराज श्री को विजय श्री प्राप्त हुई। अनेक स्थानों पर समाज की समस्याएं भी सामने आईं, किन्तु आपके शान्त और मधुर व्यक्तित्व तथा प्रभावशाली प्रतिभा के प्रभाव से समाधान हुआ, शान्ति रही, प्रभावना हुई।

आचार्यरत्न की ऋद्धि-सिद्धि का दक्षिण मे प्रतीक कोथली का भव्य पंचकल्याणक और मंदिर-प्रतिष्ठापन है तो उत्तर में जयपुर मे श्री पार्श्वनाथ चूलगिरि क्षेत्र, जो स्वतः ही विकसित हो रहा है। यहां जंगल में मंगल हुआ है। गुरुदेव ने इन कार्यों में मुझे भी संलग्न रखा है। चाहे मंदिर-निर्माण हो, चाहे मूर्ति-प्रतिष्ठा हो या साहित्य-प्रकाशन हो, इन सभी मे आपने मुझे सुयोग्य समझ कर धन एकत्र कराने और कार्य का संयोजन व निष्पादन करने का भार देकर पुण्य प्राप्त करने का अवसर दिया है। आपकी आज्ञानुकूल मैने उत्तम कार्य के लिए धन सहायता कराना अपना अहोभाग्य मानकर लक्षातर रुपये का योगदान कराया है।

वर्तमान मे भी मैं विगत १०-११ वर्षों से जयपुर में श्रीपार्श्वनाथ चूलगिरि पर रह कर कार्य की प्रगति का मार्गदर्शन और अवलोकन कर रही हू। आचार्य श्री के आशीर्वाद से यहा अनेक कठिनाइयों और बाधाओं के उपरान्त भी कार्य कराने मे सफलता मिल रही है।

आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषण जी महाराज के मस्तिष्क मे इस अतिशय क्षेत्र के निर्माण कराने का विचार आज से लगभग २० वर्ष पहले आया था। जिस वर्ष जयपुर निवासियो के अनुरोध पर आचार्य श्री राणा जी की नशिया मे चातुर्मास के लिए पधारे थे, तो उस समय वहां के पहाडों के प्राकृतिक सौंदर्य एव साधुओं की तपश्चर्या इत्यादि को दृष्टिगत करते हुए आचार्य महाराज के मन मे यह विचार आया कि पहाड पर ऐसी रमणीक तपोभूमि बनानी चाहिए, जिससे विभिन्न स्थानो से पधारे साधु एवं अन्य त्यागीगण यहां आकर अपनी साधना को निरन्तर विकसित कर सकें।

प्रारम्भ मे आचार्यश्री ने जैन धर्म के आदिप्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव के चरणों की स्थापना कराई। भगवान् के चरणों की स्थापना करते समय इस प्रकार के विचार महाराज के मन में आये कि इस क्षेत्र का उद्धार होना चाहिए और उन्होने परिकल्पना की कि उत्तर भारत मे ही श्री सम्मेदशिखर जी का लघु संस्करण धर्मानुरागियो की सुविधा के लिए बनाया जाए। इसी योजना को साकार करने के लिए महाराज श्री के प्रयास से थोडे ही समय मे वहा पर चौबीसों तीर्थंकरो की २४ टोंको तथा मनोज्ञ मूर्तियों के निर्माण हुए। विशेष रूप से निम्नलिखित तीन मूर्तियो की स्थापना की परियोजना बनाई गई—

(1) भगवान् पार्श्वनाथ की काले पाषाण की $6\frac{1}{4}$ फुट ऊंची

(2) भगवान् महावीर की पद्मासन, लगभग $3\frac{1}{2}$ फुट ऊंची

(3) भगवान् नेमिनाथ की पद्मासन, लगभग $3\frac{1}{2}$ फुट ऊंची

चूलगिरि पर साधुओ के निवास के लिए अनेक गुफाओं का निर्माण किया गया। प्रकृति की रम्य गोद मे बैठकर लगभग ५०० साधु वहा उपासना इत्यादि कर सकते हैं। श्रावक समुदाय की सुविधाओ का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। लगभग २००० व्यक्ति वहां किसी भी समय जाकर ठहर सकते हैं।

जिस समय खानिया जी की पंच-कल्याणक प्रतिष्ठा हो रही थी, उस समय जयपुर के राजघराने को भी वहां उत्सव मे भाग लेते हुए देखा गया। राजमाता सुश्री गायत्री देवी समारोह मे पधारी। उस अवसर पर लगभग २,००,००० जैन-अजैन भी उत्सव मे भाग लेने के लिए वहा एकत्र हुए थे।

आचार्यश्री को खानिया जी के निर्माण मे विशेष रुचि थी। इसीलिए वे वहा की परियोजनाओ का स्वयं निरीक्षण किया करते थे और समय-समय पर आयोजको का मार्ग-दर्शन किया करते थे। क्षेत्र में काम करने वाले मजदूरो—स्त्रियो, पुरुषो और उनके बच्चों—की सुख-सुविधा का महाराजश्री पूरा ध्यान रखा करते थे। महाराज श्री मजदूरों की समस्याओ में भी गहरी रुचि लिया करते थे और उनके समुचित पालन-पोषण एव हितों के सरक्षण एव उनके परिवार के समुचित विकास का पूरा-पूरा ध्यान रखते थे। प्रायः वे सामायिक के उपरान्त मजदूरो के मध्य जाया करते थे और उनके भोजन इत्यादि की व्यवस्था में विशेष रुचि लिया करते थे। मजदूरों के आहार का निरीक्षण करने के उपरान्त जब उन्होंने यह अनुभव किया कि इनके आहार मे पोषक तत्त्व कम मात्रा मे हैं तो उन्होंने आयोजको को आदेश दिया कि खानिया जी मे काम करने वाले सभी स्त्री-पुरुष मजदूरो के लिए भोजन की विशेष व्यवस्था की जाए। उन्होने आदेश दिया कि इनके लिए तेल, मसाले, घी एव अन्य खाद्य पदार्थ वहा एकत्र किए जाए और उन्हे रोज मजदूरो मे वितरित किया जाए। साथ ही साथ फल एव चाय आदि की सुविधा का भी वह विशेष ध्यान रखा करते थे। खानिया जी मे काम करने वाले मजदूरो को यह अनुभव होता था कि हमारे साथ हमारे भगवान् एव मार्गदर्शक स्वय चल रहे हैं। इसीलिए उन्होंने भी कठोर परिश्रम कर अतिशय क्षेत्र खानिया जी के निर्माण मे अभूतपूर्व सहयोग किया।

महाराज श्री मजदूरों की पारिवारिक समस्याओं में विशेष रुचि लिया करते थे और उनकी तात्कालिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए समाज के सम्पन्न व्यक्तियों को विशेष प्रेरणा दिया करते थे। अनेक मजदूर उनकी उदार कृपा-दृष्टि का समय-समय पर लाभ उठाया करते थे ।

महाराज श्री मे एक अद्‌भुत कुशल सगठन-क्षमता है । उन्होंने अपने संरक्षण में लगभग ५०० बालकों की सेवक टोली तैयार कर ली थी । टोली के छोटे-छोटे बालक नीचे से सामान व जल इत्यादि लाने में सहायता किया करते थे । आचार्य श्री ने जब जयपुर से विहार किया, उस समय खानिया जी मे काम करने वाले मजदूर एव श्रावक बालकों ने भाव-विह्वल होकर अश्रुपूरित नेत्रों से महाराज श्री को विदा किया । उस समय खानियाजी के पहाड़ पर वास्तव मे करुणा की गंगा ही प्रवाहित हो उठी थी । महाराज श्री स्वयं उस करुणा के समुद्र से अभिभूत हो गये थे। किन्तु एक तत्त्वदर्शी के रूप में सभी का मार्गदर्शन करते हुए उन्होने कहा कि दिगम्बर साधु का एक स्थान पर रहना प्रायः कठिन है, इसलिए विहार करना तो परमावश्यक-सा है । किन्तु, आप सब लोग अपने धर्म का पालन करते हुए जीवन को व्यतीत करे, यही हमारी सबोधना है ।

यह सब आप की कृपा और प्रताप के फलस्वरूप है। आपके सान्निध्य मे इसके लिए बुद्धि भी मिली है, धैर्य भी और क्षमता भी । ऐसे कल्याणकारक सद्‌गुरु युग-युगों तक चिरजीवी रहें, धर्म का प्रचार करते रहें, अज्ञानियों को सद्‌बुद्धि प्रदान करते रहें—इसी कामना के साथ आपके चरणों मे शत-शत नमन और श्रद्धाजलि समर्पित है । □

भारत की शोभा

क्षुल्लिका कीर्तिमति जी

परम पूज्य गुरुवर्य आचार्यरत्न श्री १०८ परम तपस्वी देशभूषण जी महाराज त्रिकाल वन्दनीय, प्रातः स्मरणीय, तपोनिष्ठ, चारित्रश्रेष्ठ, भव्यजन उद्धारक, करुणासागर, सद्धर्मवृद्धिकारक, मिथ्यत्वदूषण विध्वसक, संयमविभूषण-विभूषित, सन्मार्ग प्रकाशक, मुनिधर्म प्रवर्तक, जिनवाणी कण्ठोद्‌गत, रत्नत्रयालकृत ज्ञान-दिवाकर हैं। ऐसे गुरुदेव के चरण कमलों में मेरा विनीत होकर त्रिबार नमोऽस्तु । परम पूज्य गुरुदेव की महिमा अपार है। यथा नाम तथा गुण हैं। आपकी महिमा के लिए करोडो जिह्वा लगाई जाएं तो भी अधूरी रहे। गुरु की महिमा वरनी न जाय, गुरु नाम जपो मन वचन काय। जिस प्रकार रत्नो मे हीरा श्रेष्ठ है, सुगन्धित द्रव्यों में कस्तूरी श्रेष्ठ है, पेडो मे कल्पवृक्ष श्रेष्ठ है, पर्वतो मे मेरु पर्वत श्रेष्ठ है, उसी प्रकार सब मानवों मे आचार्यरत्न श्री देशभूषण महाराज श्रेष्ठ हैं। दिन की शोभा सूर्य से है, रात्रि की शोभा चन्द्रमा से है, कुल की शोभा सत्पुत्र से है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भारत की शोभा आचार्य देशभूषण महाराज जी से है। ऐसे गुरुदेव के लिए ही कहा गया है—

उन गुरुवर के चरण में, नमन अनन्ते बार ।
मुक्ति पथ दर्शाय के, से भव करते पार ।।

सिद्ध पुरुष

ब्र० कुसुमबाई जैन

परम पूज्य, प्रातःस्मरणीय, विद्यालकार, भारतगौरव, धर्मनेता, बालब्रह्मचारी, तपोनिधि, उपसर्गविजयी, धर्मदिवाकर आचार्यरत्न श्री १०८ देशभूषण जी महराज एक साहसी धैर्यवान् नित्योद्योगी हैं। आपने अपने जीवन में धर्म के निमित्त नाना स्थानों पर अनेक प्रकार के उपसर्गों को सहन कर जैनधर्म का डंका बजाया है। आपके उपदेश द्वारा अनेक सामाजिक कार्य हुए हैं। हम नही जान पाते कि महाराज श्री को अवधिज्ञान है या कोई ऋद्धिसिद्धि, जिसमे जो कुछ कह देते हैं वह कार्य तुरन्त ही फलवान् बन जाता है। यह हमारे द्वारा प्रत्यक्ष में अनुभव किया हुआ है। आपने भारत के कोने-कोने मे विहार कर जैन समाज को जागृत किया है। आप उच्च कोटि के धैर्यवान् तपस्वी हैं, और निरन्तर ध्यानाध्ययन में संलग्न रहते हैं। आप एक ऐसे महान् आध्यात्मिक सन्त हैं कि आपके दर्शन मात्र से और उपदेश श्रवण से भव्य जीवों के मन में स्थित सशय नष्ट हो जाते हैं। आपको मेरा नमोऽस्तु । □

भारत-गौरव

ब्र० सुनीता शास्त्री
(मन्त्री श्री स्याद्वाद शिक्षण महिला परिषद्, सोनागिरि)

भारत वसुन्धरा पर चिरकाल से अनेको महर्षि-तपस्वी तपस्या करते आ रहे हैं। इसी से इस भूमि का कण-कण पवित्र हो गया है। आदीश्वर प्रभु से लेकर सन्मति पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरो के अवतार का सौभाग्य भी इसी वसुन्धरा को प्राप्त हुआ था। राम हनुमान जैसे चरम शरीरी हजारो महापुरुष इसी वसुन्धरा की देन हैं। यहाँ समय-समय पर परम पूज्य आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी से लेकर आचार्य शान्ति सागर जी, आचार्य शान्ति सागर जी छानी, आचार्य आदिसागर जी महाराज जैसे परम तपस्वी अनेकों आचार्य मुनिराज अपने तप एवं सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से जन-जन के हृदय में स्याद्वाद ज्ञान-ज्योति प्रज्ज्वलित कर गये हैं। इसी संत-परम्परा मे भारत-गौरव, सम्यक्त्व चूडामणि, धर्म दिवाकर, विश्ववंदनीय आचार्य रत्न श्री १०८ देशभूषण जी महाराज हैं, जिनकी गौरव-गाथा अखिल विश्व मे वायु के समान व्याप्त है। आपने वर्तमान में जैन समाज ही नहीं, प्राणी मात्र को जो सन्मार्ग दिखाया है वह परम प्रशंसनीय है। एक ओर सम्यग्दर्शन के प्रतीक अनेको जिनबिम्बो की स्थापना, दूसरी ओर सम्यग्ज्ञान के प्रतीक हजारों ग्रन्थों का अनुवाद, रच ना एवं प्रकाशन, तथा अनेकों विद्यालय एवं पाठशालाओं का शुभारम्भ तो आपने किया ही है, इसी शृंखला में हजारो भव्य आत्माओ को व्रती बनाकर, जैनेश्वरी दीक्षा देकर, सम्यक्चारित्र का बिगुल अखिल भारत मे बजा दिया है।

मुझे आपके प्रथम दर्शन जयपुर मे हुए। वात्सल्य से युक्त एवं सहानुभूति व ममतामय झलक देखते ही मन आनन्द विभोर हो गया। आपने उसी समय पंचकल्याणक प्रतिष्ठा चूलगिरि के ऊपर एवं नीचे दोनो जगह कराई। प्रतिष्ठा के समय भयकर तूफान आया परन्तु आपके आशीर्वाद से किसी भी मानव को तनिक भी कष्ट नहीं हुआ। ये है आपकी तपस्या का प्रभाव। जयपुर पर्युषण पर्व मे ज्ञात हुआ कि महाराज श्री का अभिनन्दन ग्रन्थ देहली समाज की ओर से प्रकाशित किया जा रहा है। यह महान् गौरव की बात है। वास्तव में आचार्य श्री के उपकारों का बदला तो अनेकों अभिनन्दन ग्रन्थों से भी नहीं चुकाया जा सकता। हम यही कामना करते हैं कि परम पूज्य आचार्य श्री चिरकाल तक जीवित रहकर हम सभी को सन्मार्ग दिखाते हुए भारत वसुन्धरा को गौरवान्वित करते रहे। ☐

——☐——

जनकल्याणकारी संत

ब्र० धर्मचन्द जी शास्त्री (संघस्थ)
(प्रचार मंत्री, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन युवा परिषद्)

हमारा देश संतों की तपोभूमि रहा है। संतों के कारण ही यहाँ की मिट्टी के कण-कण मे आध्यात्मिकता की सुगन्ध व्याप्त है। परमपूज्य राष्ट्रसंत आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज भी ऐसे ही संत हैं, जिन्होने असंख्य जनो को आध्यात्मिकता का पावन संदेश सुनाया है। आचार्य श्री केवल पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण के ही नही, वरन् सबके समान रूप से हैं, और उन्हे सभी भाषाओ से प्यार है। आपकी मातृभाषा कन्नड़ होते हुए भी आप सरल सुबोध हिन्दी भाषा मे प्रवचन करते हैं। आपका तप, त्याग, सयम, निष्ठा हर भारतीय के लिये महान् गौरव की बात है। हमे गर्व है कि हमे ऐसे जनकल्याणकारी आचार्य श्री का सामीप्य एव संरक्षण प्राप्त हुआ। आपके द्वारा प्रेरित अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन युवा परिषद सन् १९७७ के स्थापना वर्ष से निरन्तर जिनागम के अनुसार अग्रसर है। मैं अभिनन्दन की इस वेला मे आचार्यश्री की दीर्घायु की कामना करता हूं तथा श्री चरणों में बारम्बार नमन करता हू।

☐

——☐——

बन्दियों की भावना

डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त

जयपुर-प्रवास में महाराज श्री की समाज-सुधार के प्रति अद्वितीय सेवाओं से प्रभावित हो कर जयपुर केन्द्रीय कारागार के अधीक्षक एवं पदाधिकारियो ने दो या तीन बार महाराज श्री को आमंत्रित करके कैदियों के मध्य उनके विशेष मंगल-प्रवचन कराये थे। महाराज श्री की दिगम्बरी मुद्रा, धार्मिक उपदेश इत्यादि से प्रभावित हो कर कैदियों ने अपनी अपराध-प्रवृत्तियों को छोड़ने और अनेक कैदियों ने नियम इत्यादि लेकर अपने को सुधारने का सकल्प किया। महाराज श्री की पवित्र वाणी उनके अन्तरमन को छू गयी थी। इसीलिए महाराज श्री के दर्शन को वे लालायित रहा करते थे। महाराज श्री भी उनके विकास का निरन्तर ध्यान रखा करते थे और समय-समय पर अनेकानेक साहित्य जेल मे भिजवाया करते थे और श्रावकों से अनुरोध किया करते थे कि कैदियों के बन्दी जीवन के उपरान्त उन्हे समाज मे प्रतिष्ठित स्थान दिया जाए। इस सब का यह परिणाम हुआ कि महाराज श्री ने जब जयपुर से बिहार किया तब कैदियो ने भी उन्हे भरे हुए दिल से विदा किया और अपने जीवन को सुधारने का पुन: संकल्प किया।

आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज जिस समय बेलगाव मे चातुर्मास कर रहे थे, उस समय भी वहां के कारागार में कैदियों के सुधार की भावना से उनको वहा आमन्त्रित किया गया था। कैदियों के मन मे महाराज श्री के दर्शन से एक अद्भुत क्रान्ति आई थी। उन्होंने जीवन के सत्य को समझते हुए अपने अपराधों को महाराज श्री के समक्ष स्वीकार किया था और उनसे आवश्यक प्रायश्चित्त मागा था। महाराज श्री ने एक समाजसुधारक के रूप मे उनके छोटे-छोटे अपराधो की भावना को उन्मूलित करने के लिए आवश्यक परामर्श दिया था और कैदियो ने उनके परामर्श को जीवन में भी उतारा था। वहां के जेलर ने मौखिक रूप से चर्चा करते हुए कहा था कि महाराज श्री के आने से बंदियो के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। जेल के अन्दर उनके कलह एवं उत्पात बड़ी संख्या मे समाप्त हो गए थे। अनेकानेक कैदी अपने मन की व्यथा को लेकर महाराज श्री के पास आते थे और उनके आवश्यक मार्ग-दर्शन की अपेक्षा किया करते थे। जेलर साहब का प्राय: यह कथन था कि आचार्य श्री द्वारा जेल मे मंगल-प्रवचन के उपरान्त कैदियों मे अनुशासन इत्यादि के भाव उत्पन्न हो गये थे और वे अपने किए पर पछता कर जीवन को सुधारने लगे थे।

इस सम्बन्ध मे हमें केन्द्रीय कारागार, जयपुर, के अधीक्षक, वरिष्ठ लेखाधिकारी तथा कुछ बन्दियों के आभार पत्र प्राप्त हुए हैं, जिन्हे अविकल रूप मे प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) कार्यालय अधीक्षक का आभार पत्र

हम आभार प्रगट करते हैं कि आचार्यरत्न मुनि श्री देशभूषण जी महाराज ने १० जुलाई १९८२ को इस कारागृह पर पधार कर कारागृह के कर्मचारियो एव उसकी परिधि मे आम जनता को अपने प्रवचनों से लाभ पहुंचाया। उन्होंने बताया कि जीवन के उतार-चढ़ाव मे आने वाली कठिन परिस्थितियो से मानव किस प्रकार जूझ सकता है, किस प्रकार शान्ति से अहिंसा से मन को एकाग्र कर सत्यता से परे न जाकर और कठिन परिश्रम से अपने आपको उबार सकता है। हम सबने इस सीख को अपने जीवन मे उतारने हेतु अपने को पाबन्द करने का बचन महाराज श्री को दिया है। हम उनकी दीर्घायु के लिये कामना करते हैं।

रायसिंह यादव
अधीक्षक, केन्द्रीय कारागृह, जयपुर

(२) वरिष्ठ लेखाधिकारी का आभार पत्र

केन्द्रिय कारागृह जयपुर के बन्दियो की हार्दिक इच्छा को आचार्यरत्न मुनि श्री देशभूषण जी महाराज ने स्वीकार करते हुए दिनांक १०-७-८२ को कारागृह पर पधार कर अपने प्रवचन मे अहिंसा ही पावन जीवन का सार है पर जोर दिया व बन्दियो को बन्दी-काल एवं इसके पश्चात् भी अहिंसा के सिद्धान्तो पर चलने, सत्यता, निष्ठा परिश्रम से कार्य करते रहने व समाज मे रह कर किस प्रकार

दूसरे के मन को जीता जा सकता है, इस विषय पर प्रकाश डाला। फलस्वरूप सभी बन्दियों ने एक स्वर से आचार्य श्री के बताये गये सिद्धान्तों एवं मार्ग पर चलने का आश्वासन दिया एवं उन्हें पुन. कारागृह पर पधारकर ऐसे सच्चे रास्ते पर चलने की दिशा बताने हेतु निवेदन किया।

मैं भी यह समझता हू एवं निवेदन करूंगा कि यदि ऐसे प्रवचन समय-समय पर आयोजित किये जाएँ तो बन्दियों के विचार एवं जीवन में बहुत कुछ परिवर्तन हो सकता है क्योंकि आचार्यों द्वारा बताया गया रास्ता ही साकार होता है।

मैं आचार्यरत्न मुनि श्री देशभूषण जी के प्रति अपनी ओर से, विभाग की ओर से एवं बन्दियों की ओर से आभार प्रगट करता हू एवं उनके जीवन की दीर्घायु के लिए ईश्वर से कामना करता हूं।

दामोदर लाल अग्रवाल

वरिष्ठ लेखाधिकारी, कारागार विभाग, जयपुर

(३) बन्दियों का आभार-पत्र

हम समस्त बन्दीगण आचार्यरत्न मुनि श्री देशभूषण जी महाराज के प्रति सम्मान एवं अपार हार्दिक आभार प्रकट करते हैं कि उन्होंने १० जुलाई १९८२ को इस कारागृह पर पधार कर जो प्रवचन दिये, उन सब पर हमने विचार किया एवं विचार करने के फलस्वरूप यही पाया गया कि महाराज का दिखाया रास्ता मानव व स्वयं के कल्याण के प्रति सर्वोपरि है। हम सब यह प्रतिज्ञा करते हैं कि जब तक हम जेल मे हैं व जेल से छूटने के पश्चात् मुनि महाराज द्वारा दी गई शिक्षाओं का अनुसरण करते हुए निम्न बातें अपने जीवन मे उतारेंगे :—

(१) अहिंसा के मार्ग को जीवन मे उतारने का प्रयास करेंगे।

(२) हम अपने आपको सत्यता एवं निष्ठा से कार्य करने हेतु प्रस्तुत करेंगे।

(३) काम, क्रोध, लोभ, मोह, बैर भाव आदि कुरीतियों से दूर रहेंगे।

(४) आपस मे अपने साथी भाइयों से भाई-चारे का व्यवहार करेंगे।

(५) किये हुए कर्मों पर संध्या काल मे निद्रा लेने से पूर्व उस पर विवेचन कर अपने आपको सुधारने का प्रयास करते रहेंगे।

हम सब पुन. आभार प्रकट करते हुए आचार्यरत्न मुनि श्री देशभूषण जी की दीर्घायु के लिये कामना करते हैं। हम सब यह आशा भी करते हैं कि आचार्य मुनि अपने जयपुर प्रवास के दौरान फिर हमें अपने प्रवचनों से लाभान्वित करने का सौभाग्य प्रदान करेंगे।

भवदीय

अनेक बन्दियों के हस्ताक्षर

Homage to Acharyaratna Shri Deshabhushana Ji

Justice T.K. Tukol
Retired Judge, High Court of Karnataka
& Former Vice-Chancellor, Bangalore University.

श्रुतमविकल शुद्धा वृत्ति. परप्रतिबोधने
परिणतिरुरुद्योगो मार्गप्रवर्त्तनसद्विधौ ।
बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुता स्पृहा
यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरुः सताम् ॥

"May he, who is possessed of the perfect knowledge of the scriptures, of pure character, well versed in enlightening others (in the tenets of religion), ever engaged in the noble task of leading others to the right path of salvation, praised by the learned, free from temptations and endowed with such other virtues of great saints, be always our teacher."

Ātmānuśāsana (6)

When I thought of writing a short but humble tribute to revered Acharya Deshabhushana Muni Maharaj on his completion of seventy years of his life, my mind was naturally overwhelmed with a feeling of great veneration for the Saint whose blessings during the last three decades have moulded my life and given direction to it. He has grown in stature. I find a graphic picture of his mental and spiritual attainments in what Acharya Shri Gunabhadra has said in a verse (quoted at the top) in his learned book known as *Ātmānuśāsana*. Besides these qualities, I have found in him an enviable art of patient pursuasion working its charms on his audience by his sweet, clear and pious words of advice and guidance. He never gets excited amidst a volley of questions which he answers in his religious discourses by brief ethical stories as has been the practice of the ancient *munis* who have spread the glorious message of Bhagawān Mahaveera.

The first incident that I remember occurred in 1944 when I was privileged to have his *darsana* at Pandharpur when he was perhaps on his way to Kunthalagiri which is a place of pilgrimage, now in Maharashtra. During his stay, I used to attend his daily discourses on different aspects of Jainism. He was pained to see that the Sravakas had a dispute over the management of the local Digambara Jaina Temple. He tried to pursuade the local gentry to an amicable settlement ; he fasted for three days and advised them about the futility of raising disputes over the management of a temple. I lent my humble support by offering to adjudicate on the rival claims by looking into their documents and other evidence But human vanity for name and fleeting power had its sway over pious advice for unity and *aparigraha*. Though an ascetic unconcerned with worldly affairs, he was sad over the disharmony that was breeding disunity and bitterness amongst the members of a small community whose claims to be the followers of the immortal doctrines of Ahimsa and Truth found no stable basis in practice.

My next opportunity was during the year 1945 when he was spending his *chaturmasa* in Galtaji which is a village in the Belgaum District. I could realise what a wonderful awakening he had created amongst the Jains and non-Jains by his daily discourses on the ethical principles of Jainism. His familiarity with rural life and aspirations lent reality to what he preached and his words went straight to the hearts of the people.

People from neighbouring villages used to attend the discourses and it was a real delight to see how the villagers with all their innocence put questions on their difficulties in the practice of various principles in daily life. He used to emphasise the need of firm faith, of a sincere effort to understand the principles and of a determined will to practise what they had understood. The patience and the skill with which he tried to simplify the rules of conduct was remarkable. He used to impress on their minds the need of repeating the *ṇamokār* mantra after morning bath every day and of taking food before sunset. The magnitude of the task he performed can be appreciated only by those who know that Jainas in rural areas, most of them being agriculturists, are either illiterates or semi-literates.

During the next few years, I had very few occasions of having his *darshana*. His discoures used to attract large crowds of people from all communities who used to part in the evening with grateful reverence for the new light shown to them.

The Jaina community must acknowledge how much it is indebted to the Acharya and to the other Saints like *Charitra-Chakravarti* Shantisagar Muni Maharaj for awakening the people to the principles of Jainism which are universal in concept and unique in practice ; but for their efforts, many would have remained ignorant of their glorious inheritance and would have died without tasting the sweetness of *Jina-vani*.

It was a moment of exultation and wonder when I saw a crowd of about 20 thousand people, men and women gathered at Kothali-Kuppanawadi to celebrate the Diamond Jubilee of the Acharaya's birthday in 1964. It was presided over by me and the function was inaugurated by the then Chief Minister, Mr. S. Nijalingappa . The vast concourse of people loudly cheered the Maharaja by cries of "Long live Muni Maharaja, may victory attend the Jaina religion." The Chief Minister sang the catholicity of Jainism, its practical ethics, the contribution of Ahimsa to world peace and of Jaina writers to the enrichment of Kannada literature. He was all praise for the simplicity of Jaina monks whose nudity and renunciation evoked the admiration of even the atheists. The Muni's sermon on the eternal principles of Jainism was marked for its brevity and for its universal appeal to practise religion in daily life to save humanity from further degeneration. My speech was an appeal to cultivate human values in the light of what the Acharya had advised them just then.

It is a point for emulation that the occasion did not end with speeches. Solid foundations were laid for the education of poor students by establishing an Ashrama and a High School in the twin villages where the students receive regular instruction in religion. A temple dedicated to the Twentyfour Tirthankaras constructed at the Ashrama to commemorate the occasion exudes an atmosphere of religion and devotion. The two villages which have mostly a Jaina population have been pulsating with new life of religious enlightenment and piety. The institutions have been progressing with the blessings of the Acharya under the management of devout and dedicated Sravakas.

Five years later, the Jaina community celebrated the 65th Birthday of Acharyaratna Deshabhushanji at Belgaum with great pomp and enthusiasm. It was again my good fortune that I was called upon to preside over the occassion and the then Minister for Revenue, Mr. H. V. Kaujalgi, inaugurated the function. He too was eloquent over the catholicity of Jainism and the contribution it had made to Indian Culture. He paid rich tributes to the Muni Maharaj for spreading religious knowledge in different parts of the country and thus helping the cause of moral advancement in public life. The Muni Maharaj addressed the audience in eloquent terms emphasising the need to practice religion for a happy life here and for securing real happiness in the next world. As the audience consisted of many educated men and women, he dealt at some length on the meaning of *Ratna-trayā*—the three gems of Right Faith, Right Knowledge and Right Conduct—and explained how these qualities which were inherent in every soul were required to be realized by regulating our individual lives on the lines indicated by the *Jinas*. His speech was acclaimed even by the non-Jainas both for its serenity and breadth of vision. I emphasised that the need of the hour was to narrow the

gulf between precept and practice. To my co-religionists, I only appealed how they could easily be examples of noble life, both in private and public, by scrupulously following the five *anu-vratas* in letter and spirit.

It was the most fortunate moment of my life when I was asked to write a foreword to *Adhyatma Sudha-sara* which is a collection of the discourses delivered by the Acharya Maharaj during the *Chaturmasa* of the year 1968 in Belgaum. Though I was first delighted at the unexpected honour done to me, I felt very humble and wrote : "Does the sun need somebody to herald its rise in the sky ? The sudden disappearance of darkness bringing in new light and activity is ample proof of its brilliance " That was what the book *The Essence of Spiritual Nectar* was. It must have been a treat to all those who were lucky to hear expositions of the philosophical principles of Jainism. The nature of the *Atman* as the embodiment of infinite faith, knowledge, bliss and power has been explained in simple words with suitable illustrations. The primary task of the laymen and laywomen is to understand the real nature of the soul and purify themselves in mind, thought and action by following the various vows and observing the austerities with a firmness of mind and flawless devotion. Man has forgotten his nature and has been finding pleasure in the worldly objects of his attachment. He has entangled himself in the fine webs of karmas and has lost his way in the dazzle of his sensual delights. Religion alone can show the real path by helping him to destory his karmas. Due to his *mithyatva*, man is infatuated by delusion and knows not that he is himself his own enemy. Freedom from karmic matter is salvation and religion helps man not only in discovering the causes of bondage but also in getting rid of them. Continuous devotion to the Apta (*paramatman*), study of the scriptures to understand the seven principles and bringing about subsidence of obscuring karmas and passions will assist him to unravel the hidden qualities of real happiness and peace in his own Self. Know that you are distinct from non-self and then you have known what ought to be known to appreciate the value of truth, compassion, self control, austerity, renunciation and self-absorption. In brief, the book contains all the essence of Jaina tenets and philosophy and in fact is a guide for an average layman. Even if a person carries all the scriptures with himself, he will not be able to realise his pure soul so long as an atom of attachment continues to obscure his vision.

This is the substance of these discourses. To one who has carefully followed the life of this great Saint with devotion and care, it is an objective experiment to establish the universal validity and greatness of the Jaina philosophy. Shri Kundakunda Acharya has said :—

यो इन्द्रियान् जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकमनुते आत्मानम् ।
तं खलु जितेन्द्रियं ते भवंति ये निश्चिताः साधवः ॥

Samayasara, Verse 36.

"The Saints who know the real point of view call him a conquerer of himself, who has gained victory over his senses and realised that Knowledge is the inherent quality of his Soul." One may have faith in religion but to have Knowledge of the Self, it is essential that there is the subsidence of the *Jnanavaraniya* Karma. Today, the Muni Maharaj is a tower of spiritual strength and knowledge. Who could have expected fifty years ago that a Jaina youth with limited aquaintance with letters would blossom into a great Saint ? The answer of Jainism to this question is that there must have been a stoppage of the influx of karmas (*asrava*) as well as a purgation (nirjara) of the karmas. As indicated by Umaswami in Chapter IX of *Tattwarthadhiagama Sutra*, there could be subsidence of karma by the exercise of three kinds of restraints (guptis), five kinds of careful behaviour (*samiti*), the ten noble virtues and practices, and the twelve kinds of reflections (*anuprekshas*). Afflictions are to be endured, austerities have to be practised, and contemplation and meditation have to be resorted to before one can bring about the subsidence of the karmas. This great ascetic has undergone all the sufferings and privations inherent in the practice of penances and austerities. Only if one remembers how he has devoted himself to arduous task of self-purification day and night during these years, then only can one understand the metamorphosis that has taken place in his life.

The Muni Maharaj has demonstrated by precept and by example that the tenets of Jainism are noble and practical. We need faith in them and the will to follow them. He has been advising all of us, as did Yogında Swamin through his "*Paramatma Prakasha*", :—

"...वत्स, धर्मं कुरु, धने यौवने का तृष्णा" ।

"O pupil, follow religion and renounce all the greed and attachments of wealth and of youth."

12th April 1972 is a memorable day when the first meeting of Bhagawan Mahaveera 2500th Nirvana Mahotsava National Committee was held in one of the halls of the Parliament House at New Delhi. I attended the meeting as a member. It was a pleasant surprise when Acharyaratna Deshabhushan Muni Maharaj attended the meeting which was presided over by Prime Minister Indira Gandhi. Among those who addressed the meeting, the Acharya Maharaj was one. He addressed the meeting in a measured tone with dignity. While speaking about the need to spread the message of Ahimsa as propounded by the Bhagawan in a world of conflicts and of threatened wars, he also emphasised the absolute and immediate necessity of educating the public on the principles of Ahimsa, Satya and Aparigraha propounded by Lord Mahavira. The first two of these inspired Mahatma Gandhi to establish the triumph of Ahimsa as a weapon of strength even against the formidable strength of the British Government. He blessed the Prime Minister to uphold *dharma* in all her administrative measures.

It is strange that some newspapers commented upon the entry of a naked Saint into the Parliament House The Saint was there on invitation and his conduct in going naked was in the highest traditions of Jainism and also consistent with rights guaranteed under Article 25 of the Constitution of India. When Mahatma Gandhi entered the Royal Palace of the Queen of England with his half covered body, Churchill, the then Prime Minister of England, described him as a "naked Fakir". Gandhi replied that it was his ambition to be one and that he did not know when he would reach that stage.

Immediately after the celebration of the 2500th year of Nirvana of Bhagawan Mahavira, the Muniji achieved a great milestone by turning the tiny village where he was born into a great place of pilgrimage. In between the two villages, Kothali and Kuppanawadi, there is a hillock : In about 1977, the Muniji installed thereon three images of Bhagawan Adinath, Bahubali and Bharat and performed a great puja which was an event of great religious sanctity in this part The place is situated between Nipani and Chikodi in the Belgaum District, and lies away from the main road by about seven miles. I could not attend the function due to my ill health and had to miss the most solemn occasion of religious significance. Thousands of devotees from all over India attended the function and witnessed the pujas Unfortunately, the health of His Holiness has been failing but his enthusiasm for the cause of religion and the propagation of its tenets has not suffered in any manner.

Recently I had the pious pleasure of having the *darsana* of Muniji at Sravanabelgola when I attended the Mahamastakabhisheka on 22nd February 1981. The Muniji jocularly questioned me amidst the surging crowd : "What Tukolsahab, have you forgotten me ?" I replied after bowing down that it was impossible for me to forget him. We could not talk more as the crowd eager for darsana was pushing forward.

May I end this small homage by quoting the following from the *Vairagya Sataka* by Bhartrhari wherein he has expressed his ambition of life, which is identical with the ambition of all :

एकाकी निस्पृहो शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलन क्षम ॥

"O God, when shall I, after the destruction of all my Karmas, become a naked saint, solitary, free from all desires, calm and collected and taking my food in the palm of my hand ?". His Holiness has achieved this goal of his life long ago but when shall I and people like me attain that cherished goal of human life ? ☐

साधुरत्न आचार्य देशभूषण महाराज

पं० सुमेरुचन्द्र जैन दिवाकर

वर्तमान युग में मानव-समाज सांसारिक भोगों के जाल में फंसा है। वह यह नहीं सोचता कि देव-दुर्लभ मानव जीवन के माध्यम से परमात्मा के रूप में आत्मा का पूर्ण विकास हो सकता है। यह जीव बाहरी पदार्थों में सुख और शांति की सामग्री खोजा करता है। इसे यह पता नहीं है कि यदि वह अंतर्मुखी बन जाय तो स्वयं अपनी आत्मा को भी अक्षय आनन्द के महासागररूप में अनुभव करेगा।

आज विवेकशील मनुष्य खोजने पर भी नहीं मिल पाता। कहते हैं कि ग्रीस का एक विद्वान् दार्शनिक दोपहर के समय लालटेन लेकर जा रहा था। एक व्यक्ति ने उनसे पूछा कि सूरज का प्रकाश होते हुए भी आपने लालटेन किस लिये ले रखी है, तब उन्होंने कहा कि मैं मनुष्य को खोज रहा हूं। ऐसे इंसान को देख रहा हूं जिसमें मानवता हो।

वस्तुतः उच्च विचार और उन्नत चरित्र वाले मनस्वी महापुरुष इस संसार में चिंतामणिरत्न के समान दुर्लभ हैं। फिर भी, सौभाग्य से कुछ पुण्यशाली महापुरुष आज भी हैं, जो पवित्र श्रद्धा, विशुद्ध ज्ञान और निर्मल आचरण द्वारा अपने जीवन को समलंकृत कर रहे हैं। ऐसी विशुद्ध आत्माओं को वर्तमान युग में प्रेरणा प्रदान करने वाले महामना चारित्रचक्रवर्ती, श्रमण-शिरोमणि आचार्य शांतिसागर महाराज हो गये हैं। उनके दिवंगत होने के उपरान्त उन साधुराज के विषय में राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन ने श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए रेडियो-प्रसारण में कहा था "ज्ञान और आत्मत्याग की चर्चा करना आसान है, पर उन पर अमल करना कठिन है। आचार्य शांतिसागर जी ऐसे ही सन्त थे, जिनके आत्मत्याग के सहारे यह संसार जीवित है। आचार्य श्री बहुत बड़े सन्त थे, जिनके निधन से भारत को अपार क्षति पहुंची है। जनता को चाहिये कि वह आचार्य शांतिसागर महाराज के आदर्शों को अपने जीवन में व्यावहारिक रूप दे।"

इन साधुराज की जन्मभूमि के समीप कोथली (जिला बेलगांव) में आचार्यरत्न देशभूषण महाराज एक महान् सन्त उत्पन्न हुए, जिनके जीवन पर आचार्य शांतिसागर महाराज का गहरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। आचार्य देशभूषण महाराज के संबंध में मैंने "श्रमणराज आचार्य देशभूषण महाराज" ग्रन्थ बनाया है जिसका प्रकाशन दिल्ली से हुआ था। उनके जीवन में साधुता, सरलता और सहृदयता का सुन्दर समन्वय स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इनके मंगल जीवन के विषय में कवि के ये शब्द चरितार्थ होते हैं—

> गंगा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा।
> पापं तापं च दैन्यं च हन्ति सन्तो महाशया॥

गंगा के शीतल जल में स्नान करने वाला भक्त मानता है कि इससे उसका पाप नष्ट होता है, चन्द्रमा की किरणों का आश्रय लेने वाले व्यक्ति का संताप दूर होता है, कल्पवृक्ष के नीचे बैठने वाले व्यक्ति को मनोवांछित वस्तु प्राप्त होने से उसकी दीनता दूर होती है, किन्तु विशाल हृदय वाले महापुरुषों की शरण में आने वाले का पाप क्षय होता है, संताप दूर होता है, और व्यक्ति समृद्धि का अधीश्वर बनता है। यहां एकत्र सभी बातों का सद्भाव पाया जाता है।

जैन साधु, जैन शास्त्र और वीतराग जिनेन्द्र के द्वारा समस्त प्राणियों का कल्याण होता है इसलिये इन्हें सर्वकल्याणकारी कहा गया है। इनकी दृष्टि सीमित भक्तों की मर्यादा से परे, यहां तक कि शत्रुओं पर भी कल्याणदायिनी रहती है। मेरा आचार्यरत्न देशभूषण महाराज का करीब ५० वर्ष पुराना निकट परिचय है। उनकी रसवती, मनमोहिनी, मधुरवाणी जैन-अजैन सभी को अपनी ओर आकर्षित करती है।

प्रभावक व्यक्तित्व —१९६४ में प्राच्य विश्व अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन नई दिल्ली में हुआ था। उसमें मैंने अपने अमेरिकन मित्र डा० लूथर कोपलेंड के साथ भाग लिया था। एक दिन मेरे साथ डा० कोपलेंड आचार्य देशभूषण महाराज के दर्शनार्थ आये। उन्हें देखकर वे अत्यन्त प्रभावित हुए। जनवरी की भीषण शीत में पूर्ण स्वस्थ, प्रसन्नचित्त, अपनी धार्मिक क्रियाओं के परिपालन में तत्पर, दिगम्बर आचार्य का दर्शन कर महान् आनन्द का अनुभव किया। अमेरिका से उन्होंने मुझे एक पत्र में लिखा था—"आचार्य श्री की स्मृति

उनके अन्त:करण मे विद्यमान है, ऐसे व्यक्ति की साधुता के प्रति मेरे अन्त:करण में महान् आदर भाव है ।"

इटली के एक बंधु अपनी पत्नी सहित मेरे साथ देहली की जैन धर्मशाला, दरीबा मे पहुंचे । आचार्यश्री के दर्शन से वे बड़े प्रभावित हुए । उन्होने प्रत्येक रविवार को मास-त्याग का नियम लिया और कहा कि हम इटली पहुचने पर मांस त्याग के बारे में पूर्ण प्रयत्न करेंगे ।

एक बार लाल मदिर, देहली मे एक डच महिला को महाराज के समीप देखा । उसके साथ लका द्वीप का एक बड़ा व्यापारी भी था । वे दोनो पूज्यश्री के परम भक्त थे । डच महिला ने कहा था कि मैं इन महापुरुष को प्रतिदिन प्रणाम करती हूं । इनका फोटो मेरे पास है । इनसे मुझे महान् शाति एव प्रेरणा मिलती है ।

उस बहन को महाराज ने णमोकार मत्र सिखा दिया था जिसे उसने इंगलिश ट्यून(अग्रेजी स्वर पद्धति) मे सुनाया था । पूज्य श्री के आदेश पर मैंने उसे अग्रेजी मे 'एसो पच णमोयारो सव्व पावप्प णासणो' आदि गाथा अंग्रेजी अक्षरो मे लिखकर सिखायी थी ।

कम्बोडिया का तरुण बौद्ध साधु नालन्दा होते हुए महाराज श्री के समीप आया। महाराज की वाणी और तेजोमय व्यक्तित्व से उसे अपार आनन्द आया । उसने विनयपूर्वक प्रार्थना की कि आप हमारे देश कम्बोडिया चलिये, कलकत्ता से ब्रह्म देश होते हुए बैंकाक पहुचने के पश्चात् कम्बोडिया के देशवासियों को आपका दर्शन प्राप्त होगा ।

एक ज्योतिषी ने बताया कि पूज्य श्री की ज्योतिष की दृष्टि से अद्भुत कुडली है। इनके ग्रह शहंशाह अकबर व राष्ट्रपिता गाधी के समान हैं । प्रमुख धनी और राजनेता इनसे अधिक प्रभावित होते हैं । ध्यान, अध्ययन और परोपकार मे ये सदैव तल्लीन रहते हैं । ये महान आत्मचितक योगी हैं । इनकी उच्च समाधि होगी ।

हिन्दू धर्म के प्रगाढ श्रद्धालु सेठ राजा जुगलकिशोर बिरला को महाराज मे प्रगाढ श्रद्धा थी। उनके कमरे मे महाराजश्री की फोटो थी । वे उसे सदा प्रणाम करते थे । वे अनेक बार दिल्ली मे आकर महाराजश्री का दर्शन करते थे । एक समय वे स्वय उनका कमंडल हाथ मे लेकर उनके साथ बिरला भवन नई दिल्ली गये थे जहाँ गुरुदेव के प्रभावशाली धर्मोपदेश को बिरला मदिर मे एकत्रित बहुजन समाज ने सुनकर महान् हर्ष व्यक्त किया था ।

भारत के साधुतुल्य निर्मल चरित्र वाले चिरस्मरणीय प्रधानमत्री श्री लालबहादुर शास्त्री पूज्य श्री के चरणों मे हजारो व्यक्तियों के बीच २-३ घटे तक बैठे रहे थे । उन्होंने आचार्य श्री से यह आशीर्वाद मागा था कि मैं भी आपकी तरह परमहस सन्यासी बन जाऊँ । जिस समय गुरुदेव ने अपने को प्रणाम करते हुए भारत देश के प्रधानमंत्री श्री शास्त्री के मस्तक पर आशीर्वाद देते हुए पीछी रखी थी, उस समय पुण्य-मूर्ति शास्त्री का मुखमंडल प्रसन्न हो अपार आनन्द का भाव प्रकट कर रहा था । यह बात उनके गुरुदेव के साथ खीचे महत्त्वपूर्ण चित्र मे पूर्णतया अकित है ।

दिव्य प्रभाव :—आचार्यश्री विशिष्ट सिद्धियो से समलकृत हैं । कोल्हापुर के प्रमुख व्यापारी श्री गणपति रोटे ने कहा था— "जब पूज्य श्री कोल्हापुर से १६ मील की दूरी पर मान ग्राम मे पहुचे, तब उस गाव मे हैजे का भयकर प्रकोप था । आचार्य श्री के कमंडलु के पानी द्वारा क्षण भर मे रोगी व्यक्ति निरोगी हो जाता था । बड़े-बड़े डाक्टर भी इनके दर्शनार्थ आते थे ।"

दिल्ली में आचार्य-भक्त श्री कैलाशचन्द जैन, राजा टायज वालो, ने लिखा था "महाराज सदैव ही शास्त्र स्वाध्याय, उच्च तपश्चर्या तथा जिनेन्द्र की वाणी द्वारा जीवों का कल्याण करने मे दत्त-चित्त रहते हैं । उनमे सबसे बड़ी बात यह है कि क्रोध-क्षोभ आदि के कारणों के आने पर भी वे शान्त और गभीर रहते हैं । जिसने इनका उपदेश सुना है, वह सदा के लिये इनके चरणो का दास हो गया है ।"

बगलौर हाईकोर्ट के रिटायर्ड जज श्री तुकोल ने लिखा है कि वे १२ अप्रैल १९७२ की महावीर-निर्वाण-महोत्सव की उस बैठक में दिल्ली मे उपस्थित थे जो पार्लियामेंट हाउस मे प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाधी के नेतृत्व मे हुई थी । उस बैठक मे आपने प्रधानमत्री इंदिराजी को आशीर्वाद देते हुए अत्यन्त संतुलित भाषा में महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये थे ।

निर्भय एव सिद्ध साधुराज :—आचार्य श्री दक्षिण से दिल्ली की ओर आ रहे थे कि उज्जैन के समीप एक भयंकर सर्प ने इन्हें काटा था । उसके डेढ़ दांत टूट गये थे । इन्होंने कोई दवा न लगाकर अपने कमंडलु का जल उस जगह पर डाल दिया जहां सर्प ने दंश

किया था। आचार्य श्री के समीप आगरे के मेडिकल कालेज के प्रमुख डाक्टर चिकित्सा हेतु आए तब गुरुदेव ने हँसते हुए कहा "हमारा क्या इलाज करते हो, उस सर्प की दवा करो जिसके दांत टूट गये हैं।"

पूज्यश्री शिखर जी की ओर जाते हुए हजारीबाग के समीप पहुचे। वहां एक दुष्ट विधर्मी पडित ने कुछ अपशब्द इनके प्रति कहे। तुरन्त ही उस दुष्ट के पेट मे भीषण दर्द हुआ। महाराज को उसे देख दया आयी। उन्होंने एक झाड़ की पांच पत्तियो का रस कान मे डाला। वह तुरन्त स्वस्थ हो गया। उसने क्षमा मागी और वह उनका भक्त बन गया।

आरा मे एक बार आचार्य श्री के नेतृत्व मे विशेष पूजा विधान हुआ था। होम कुड मे एक जरी की साडी रखी थी। उसके ऊपर होम हुआ। साड़ी को जरा भी क्षति नही पहुची। चौबीस घटे बाद आग बुझी थी।

मार्मिक वाणी :—आचार्य श्री का भाषण बडा स्वाभाविक और मार्मिक होता है। स्तवनिधि तीर्थ मे मैं पूज्य श्री के पास १९६८ में था। वे कहने लगे कपड़ा स्वच्छ करने के लिये तुम लोग कपडे की डडे से पिटाई करते हो; तब वह स्वच्छ होता है। इसी प्रकार हम तप के द्वारा इस शरीर को दड देते हैं, तब आत्मा निर्मल बनती है।

विषयलोलुपी, स्वेच्छाचारी अपने हाथ मे समयसार का ध्वज लेकर अध्यात्मवाद की जय का नारा लगाते हैं, इस सदर्भ मे गुरुदेव ने एक दिन कहा था "ये विषयान्ध लोग 'रूप और रुपैय्या' के फेर मे निरन्तर फसे रहते हैं। ये तत्त्वार्थ श्रद्धानम् के स्थान पर अर्थ श्रद्धानम् को सम्यक्त्व मान बैठे हैं। ये अपने को दिव्य दृष्टि अर्थात् निश्चयनय वाला कहते हैं। वास्तव मे ये लोग द्रव्य दृष्टि हैं और नकद रूप द्रव्य पर अपना ध्यान निरतर लगाते है।" एक दिन मैंने पूछा "सुख आणि शाति कुठें आहे ?"

उत्तर—"त्यागा मध्ये सुख-शाति आहे।" आचार्य श्री का विनोद भी मधुर रहता है। मुझे सिवनी आने के लिए गुरुदेव की अनुज्ञा चाहिए थी। मैंने कहा, "जाने की टिकट मिलेगी क्या" उन्होने कहा—मोक्ष की टिकट चाहिए क्या ? इसके पश्चात् मुझे यह आशीर्वाद दिया—"सुमेरु शिखर अभिषेक भागी भव"।

मुझ पर उनकी बडी कृपा है। मुनि होने पर युवावस्था में वे सिवनी आये थे। हिन्दी का एक अक्षर भी उनके मुख से कठिनता से निकल पाता था। उस समय मैंने पूज्य श्री के अध्ययन हेतु थोडी सेवा की थी। उस लघु सेवा को वे अभी तक अपने हृदय मे स्थान दिये हुए हैं। एक समय कहने लगे, "दूसरे लोग मुझे दगड (पाषाण) कहते थे, पडित दिवाकर ने मुझे मूर्ति रूप बनाया !"

आचार्य श्री अपने बारे मे कहते हैं कि "मुझे आत्मविकास के लिये आचार्य शातिसागर जी महाराज से मूल प्रेरणा मिली थी। आचार्य श्री क्षुल्लक अवस्था मे हमारे घर पधारे थे। उनका आहार हुआ था। उन्होने मेरे सिर पर पिच्छी रखकर आशीर्वाद दिया था। महाव्रती साधु बनने पर आचार्य श्री मेरे बारे मे समाचार मंगाते थे। मेरी धर्म-सेवा के समाचार सुनकर आचार्य महाराज अत्यंत आनदित होते थे।"

आचार्य देशभूषण महाराज के विषय मे धर्मरत्न जौहरी श्री महताब सिंह जी, प्रमुख, दिल्ली जैन समाज, के शब्द स्मरण आते है जो उन्होंने अपने पत्र मे लिखे थे—"पडित जी अभी हम और आप आचार्य देशभूषण महाराज की श्रेष्ठता तथा उच्चता का मूल्यांकन पूर्णतया नहीं कर रहे हैं, लेकिन स्मरण रखिये कि ऐसा महान् प्रभावशाली साधु अब आगे नही होगा।"

महान् कार्य :—आचार्य श्री ने अयोध्या मे ३२ फुट ऊँची आदिनाथ प्रभु की मूर्ति विशाल जिन-मदिर मे विराजमान करवायी, कोल्हापुर के जैन मठ मे ऋषभदेव भगवान् की लगभग ३० फुट ऊंची मूर्ति उनके ही निमित्त से शोभायमान हो रही है। जयपुर के समीप खानिया के पर्वत पर चूलगिरि रूप एक महत्त्वपूर्ण नवीन तीर्थ बना दिया है, जिसके विषय मे जयपुर की राजमाता गायत्री देवी ने कहा था कि उसके कारण जयपुर महानगरी के सौन्दर्य की अभिवृद्धि हुई है। कोथली मे सुन्दर जिनमंदिर, गुरुकुल आदि का निर्माण अगणित लोगो को कल्याण मार्ग मे लगा रहे हैं।

आचार्यश्री ने कन्नड़, हिन्दी, मराठी द्वारा साहित्य निर्माण के क्षेत्र मे भी अपना विशेष स्थान बनाया है।

महान् परिश्रम, भगवती भारती की सतत् समाराधना तथा अत्यत उज्ज्वल चरित्र के प्रसाद से आचार्यरत्न देशभूषण महाराज वास्तव मे भारत के नहीं, विश्व के भूषण हैं। वे महान् हैं। उनके चरणो मे हमारा शतशः प्रणाम है।

□

आध्यात्मिक एवं सामाजिक उपलब्धियों के समग्रद्रष्टा

श्री कामेश्वर शर्मा 'नयन'

मानव-समाज की स्वच्छन्द धारा सतत प्रवाहिनी अन्तःसलिला की भाँति आदिकाल से अद्यावधि प्रवाहित है। समय-समय पर 'यदा यदा हि धर्मस्य' का स्मरण कर प्रभु हमे अपनी छत्रछाया में रखने आते हैं। यदि धरती के सारे कार्यकलाप सुचारु रूप से चलते रहेंगे तो वे स्वय निर्लिप्त रहकर तिरोभूत हो जाते हैं। पुन. जब कभी वह स्थिति अस्वाभाविकता की ओर बढ़ती है, भारत या भारत से बाहर भी कोई न कोई महान् सन्त, महात्मा, पीर या पैगम्बर के रूप मे अवश्य आते है, जो हमें विपथ से सुपथ पर चलाकर हमारा शाश्वत कल्याण करते हैं। महाप्रभु ऋषभदेव से लेकर अद्यावधि यह चिन्तन-धारा प्रवाहित है। प्रकृत्यैव वे महात्मा हमारा उद्धार करते हैं। उन्हे हमसे न कुछ लेना है, न चिरौरी या विनय करवानी है। 'परकार्य साधनोति इति साधु' जैसी पक्तियां इनके उपदेशों और कार्यों से स्वय सिद्ध होती हैं। इसी सदर्भ मे हमारे परमयोगी जैन सन्त आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज का आविर्भाव आज से लगभग ८० वर्ष पूर्व कर्नाटक के बेलगाव मण्डलान्तर्गत 'कोथली' ग्राम मे हुआ।

परमसत आचार्यरत्न जी ने जगत् को वह संजीवनी शक्ति दी है, जिस पर भारत को ही नहीं, अपितु सारे विश्व को गर्व है। अपने ५१ वर्षीय दिगम्बरत्वकाल मे उन्होने आत्मदर्शन के द्वारा आध्यात्मिक दिव्यकरण कर अपने को भगवान् महावीर की तरह रख लोक-यात्रा मे ससार के अनन्त प्राणियो की अपार सहायता की है। विगत दो शताब्दियो मे आचार्य जी की तरह दूसरा कोई सन्त दृष्टि-गोचर नही हो सका, जिसने दिगम्बरत्व स्वीकार कर अपने जीवन का समर्पण किया हो। आचार्य जी ने निदिध्यासन, ध्यान और कठोर तप के द्वारा लाखो मृतप्राय प्राणियो के अन्धकार और भ्रम को दूर किया है। आपके द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलकर भारत की पीढ़ियाँ सद्धर्म मार्गाश्रित हो आध्यात्मिक लाभ उठाती रहेंगी। आपकी अहर्निश तपस्या से सारा जैन जगत् कृतज्ञ हो चुका है। ऐसे देवोपम तपस्वी को हम अपना अर्घ्यदान कर नीराजन करे, यह हमारे परम सौभाग्य का विषय है। वास्तव मे यह हमारा अहोभाग्य है कि विद्वानो, बुद्धिजीवियो और जिज्ञासुओं के प्रकाशपुंज आचार्यरत्न जी हमारे बीच हैं। समाज को उनके दिव्य दर्शन से ही वह ज्योति मिलती है, जिससे हमारा व्यक्तित्व तो निखरता ही है, साथ ही सारे मानव समाज का अतिशय कल्याण होता है। जिसने जीवन में चीवर तक रखना सदा-सदा के लिए अवरुद्ध कर दिया, अपने पचतत्व-मिश्रित काया की कोई परवाह नही कर के देश, धर्म और समाज को तपोमय दिव्यज्ञान का आलोक दिया, धन्य हैं ऐसे तपोनिष्ठ आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज।

श्रमण-परम्परा के पाक्तेय साधुओं मे आचार्यरत्नजी ऐसे सन्त हैं, जिनके उपदेश और विचार हमें सदा सद्धर्म के लिए प्रेरित करते रहेंगे। आज जहा बाह्याडम्बरो मे पडकर दिगम्बर साधुओ का तिरोभाव-सा होता जा रहा है, वही हमारे आचार्यरत्न जी जैसे तपोनिष्ठ दिगम्बर साधु श्रमण-परम्परा की विभूति के रूप मे हमारे बीच मे वर्तमान है। यह बड़े गर्व की बात है। ससार के चाकचिक्य से दूर विमलमति भगवान् महावीर की उस कडी को उद्दीप्त करने वाले जैन साधुओं म भी कितने लोग इनकी तरह हैं? आज तक दिगम्बर श्रमण-परम्परावृक्ष की जड़ को सुदृढ़ और तनो को सम्पुष्ट बनाते हुए जिन श्रमणो के कठोरतप और साधनाश्रम लोगो के समक्ष दृष्टिगोचर हैं, उनमे आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज और आचार्य शान्तिसागर जी के नाम स्वर्णाक्षरो से उत्कीर्ण हैं। आचार्यरत्न जी ने देश के कोने-कोने को अपनी पवित्र चरण-धूलि से गौरवान्वित कर भारतीय ससद्-भवन तक को अपनी पावन उपस्थिति से कृतार्थ कर दिया है।

अनेक भाषाविद् आचार्यरत्न जी ने भारतीय दर्शन को जो उज्ज्वल परम्परा दी है, वह अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति और राष्ट्रीय एकता के सूत्ररूप मे हम सभी के समक्ष सदा प्रकाशित रहेगी। भाषायी एकता के प्रकाशस्तम्भ के रूप मे वे हमारे समक्ष हैं। उन्होने दक्षिण की भाषा-सरिता मे उत्तर का भाषा-प्रवाह इस सुगमता से प्रवाहित किया जिसका गंगा-गोदावरी-भाषा-संगम तीर्थराज प्रयाग से जरा भी कम महत्त्व नही रखता। उन्होने तमिल, कन्नड़, बगला, गुजराती आदि भाषाओ के अनेक ग्रन्थों का हिन्दी मे अनुवाद कर कृष्णा-कावेरी की धारा को अलकनन्दा से ब्रह्मपुत्र तक प्रकृत्यैव पहुँचा दिया। यह कार्य दूसरे असाधारण साधुओं से भी सम्भव नही है। आपने धार्मिक विषयो के अनेक ग्रन्थों का भारत की दूसरी कई भाषाओ मे तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी मे अनुवाद कर देश और जनता की अविस्मरणीय भलाई की है। अनवरत अविश्रान्त रहकर आपने ऐसा अज्ञात और महत्त्वपूर्ण प्रकाशन किया है, जिसकी

आवश्यकता आज अनिवार्य है। वर्तमान युग के मानवों में प्रेम और सद्भावना का यह मन्त्रद्रष्टा अद्वितीय है। विभिन्न भाषा-भाषी भारतीयों के बीच आपका यह धार्मिक और साहित्यिक अवदान तब तक चमकता रहेगा, जब तक पृथ्वी पर गंगा और गोदावरी की कल-कलनादिनी धारा विश्व को आप्यायित करती रहेगी।

समाज के प्रति आपकी उदात्त हितभावना सचमुच आज की व्याधिग्रस्त मानवता के लिए अद्भुत चरकसंहिता के रूप में स्थापित की जायेगी। आपकी अटूट निष्ठा और अथक प्रयास की सुखद उपलब्धि के रूप में जैन धर्म के प्रथम और मूल संस्थापक भगवान् ऋषभदेव जी महाराज की बत्तीस फुट ऊंची आदमकद प्रतिमा की स्थापना और पवित्र मन्दिर का निर्माण अयोध्या में सम्भव हो सका। विश्ववासियों को जैन-धर्म के दिव्यज्ञान से प्रदीप्त करने वालों में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज का स्थान सदा वरेण्य रहेगा। परम पूज्य महाराज जी कोटि-कोटि जनों के उपास्यदेव के रूप में प्रतिष्ठित हैं। आपने अनेक सामाजिक, शैक्षणिक एवं धार्मिक संस्थाओं का निर्माण कर समाज की अतुलनीय सेवा की है। आपकी सेवाएं गोमुखी द्वार की तरह सदा समादृत रहेंगी। आपके द्वारा स्थापित विद्यालय, महाविद्यालय, पुस्तकालय, वाचनालय, औषधालय और अनेक धर्मशालाएं आपके यशोध्वज को अहर्निश फहराती रहती हैं। आपने बड़े से बड़े जैन मन्दिरों का निर्माण कराकर अखण्ड कीर्ति का स्तम्भ स्थापित कर दिया है।

देश के महार्घरत्नों में हमारे आचार्यरत्न जी एक है। भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक भगवान् महावीर के सन्देश पहुंचाने वाली आपकी पद-यात्राएं भारतीय इतिहास की वह ज्योति कड़ी है, जिसके आलोक में आने वाले भारत को ही नहीं, समस्त विश्व को ज्ञान की ज्योति मिलती रहेगी। आज भी भगवान् महावीर की पीयूषवर्षिणी वाणी का रसास्वादन आपके अमृतोपदेश के माध्यम से हम घर बैठे कर लेते है। असंख्य प्राणियों को आपने अपने प्रवचन और ज्ञानोपदेश के द्वारा आध्यात्मिक सम्पन्नता प्रदान की है। आप आज के युग में ऐसे प्रकाशस्तम्भ हैं जिसके आलोक में सारा उद्वेलित मानव-जगत् आलोकित होकर शान्ति और परम कैवल्य तक की आकाङ्क्षा लेकर पलक-पावड़े बिछाये बैठा है। यह जगत् प्रेम, शान्ति और सद्भावना के कल्पवृक्ष आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के दर्शनों का सदैव आकाङ्क्षी बना रहेगा। □

अनुभूति की जाती है, कही नहीं जाती।

डॉ० लालबहादुर शास्त्री

श्री 108 परमपूज्य आचार्य देशभूषण जी इस युग के महान् आचार्यों में से हैं। सुदूर दक्षिण से विहार कर उत्तर प्रांत में आपने अपनी देशना तथा चर्या से जनता का जो उपकार किया है वह अविस्मरणीय है। इस सम्बन्ध में वस्तुतः उत्तर प्रान्त दक्षिण प्रान्त का बहुत कुछ ऋणी है। आचार्य श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय जब बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा था, उस समय दिगम्बर जैन साधुओं को दक्षिण प्रान्त ने ही शरण दी थी। अध्यात्म का जागरण और उद्बोधन करने वाले आचार्य कुन्दकुन्द भी दक्षिण प्रान्त के ही थे, जो आज भी 'समयपाहुड़' ग्रन्थ के रूप में जनजन का कल्याण कर रहे हैं। कलिकाल के प्रभाव से यहां उत्तर प्रान्त में जब साधु परम्परा समाप्तप्राय थी तब उसका पुनरुद्धार श्री 108 आचार्य शांतिसागर जी महाराज ने ही किया था। आज जो दिगम्बर जैन साधु स्थान-स्थान पर परिदृश्यमान हैं, यह उन्हीं की कृपा का फल है, जो मूलतः दक्षिण प्रान्त के थे और बाद में विहार करते हुए उत्तर प्रान्त में आये थे। आचार्य देशभूषण जी ने दक्षिण में उत्तर में विहार कर उस जैन साधु परम्परा को और भी समृद्ध किया है। आज यद्यपि उनका स्वास्थ्य क्षीण है, फिर भी वे धर्म-प्रचार में संलग्न हैं। आपने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सृजन किया और कर रहा है। देहली में आपने वर्षों विहार किया है तथा यहां के भक्तों को धर्माचरण के लिये प्रेरित किया है। मुझे अनेक बार आपके चरणों का सान्निध्य प्राप्त हुआ है और आपके आशीर्वादों का लाभ मिला है। महाराज श्री के द्वारा जैन-साहित्य का भी पर्याप्त प्रचार और प्रसार हुआ है। एक बार मैंने महाराज से कहा कि आपको मुनि बनने के बाद जो सुख-शांति की अनुभूति हुई है, उसका विवरण कृपया हमें भी सुनाएँ। महाराज बोले—"आप मुनि बन जाओ; तभी आपको सुख-शांति की अनुभूति का स्वयं ज्ञान होगा, हमारे कहने से नहीं होगा। अनुभूति की जाती है, कही नहीं जाती। आप तो विद्वान् हैं और मुनि बन जायेंगे तो सोने में सुगंध होगी।" मैंने कहा—मुनि बनने का हमारा भाग्य कहां? महाराज बोले—"मुनि भाग्य से नहीं बना जाता, किन्तु भाग्य को दबोच कर बनना पड़ता है!"

आचार्य देशभूषण जी वस्तुतः देश के भूषण हैं। आजकल आप का स्वास्थ्य अनुकूल नहीं है, फिर भी आप भाग्य से लड़ रहे हैं और मुनिपद को धारण किये हुए हैं। मैं आपके रत्नत्रय की कुशलता की कामना करता हूं। □

जिन-शासन-प्रभावक आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी

स्वर्गीय श्री सुमेरचन्द जैन

आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रभावना अङ्ग का लक्षण बताते हुए कहा है—

विज्जा रह मारूढो, मणोरह पहेसु भमइ जो चेदा।
सो जिणणाण पहावी, सम्मादिठ्ठी मुणेयव्वो।

जो आत्मा विद्यारूपी रथ पर चढ़कर मन रूपी रथ के मार्ग मे भ्रमण करता है, वह जिनभगवान् के ज्ञान की प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है।

चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज जैसे असाधारण तेजस्वी आचार्य थे उन्हीं की परम्परा में कतिपय ऐसी विभूतियाँ उत्पन्न हुई जिनके द्वारा जिन-शासन की महती प्रभावना हुई। उन्ही मुनिरत्नों में आचार्य देशभूषण जी महाराज हैं, जिन्हें तीर्थों के उद्धार करने, विशाल जिनेश्वर के प्रतिबिम्ब स्थापित करने और विविध भाषाओं के वाङ्मय का अनुवाद करने में आनद आता है। दिल्ली में उनके पांच से अधिक चातुर्मास हुए। उन्होने यहां पर रहकर अनेक गौरवशाली कार्य किए।

एक बार विश्वधर्म-सम्मेलन के प्रेरक विश्वविख्यात मुनि सुशीलकुमार जी ने मुझे बुलाया और कहा कि हम आपसे दो काम कराना चाहते हैं। प्रथम तो आप अपने किसी प्रभावशाली आचार्य को हमारे विश्वधर्म सम्मेलन मे दि० जैन समाज के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित होने की व्यवस्था करवा दीजिए और दूसरे पचास सदस्य सौ-सौ रुपये के बनवा दीजिए। हम दिल्ली मे विश्वधर्म सम्मेलन कर रहे हैं। यह जैन समाज के लिए गौरवशाली कार्य होगा।

हमने उनकी बात स्वीकार की। जैन समाज के कमंठ कार्यकर्त्ता मुनिभक्त बा० पन्नालाल जी तेज वालों से सदस्य बनवाने का कार्य करने की प्रार्थना की तो उन्होंने शीघ्र ही पचास सदस्य सौ-सौ रुपये वाले बनवा दिए और पूर्ण सहयोग का वचन दिया।

प्रथम कार्य के लिए हमने उनसे नम्र निवेदन किया कि इस समय मुनि विद्यानद जी महावीर जी मे हैं और आचार्य देशभूषण जी महाराज मथुरा मे हैं। विद्यानद जी ने अभी दीक्षा ली है और इतने कम समय मे वे दिल्ली नहीं आ सकते। आप अपनी ओर से समाज के प्रतिष्ठित पांच महानुभावों को मथुरा भेजिए और हम अलग से जाते हैं। उन्होंने ऐसा ही किया। जब हम मथुरा पहुचे तो देखा कि आचार्य महाराज सुबह-शाम मे ही आगरा जाने की तैयारी मे थे। वे प्रस्थान करने वाले थे। हमने महाराज से निवेदन किया कि एक विश्वधर्म सम्मेलन विशाल रूप मे दिल्ली मे हो रहा है जिसमे संसार के साठ देशों के प्रतिनिधि सम्मिलित होंगे। हम चाहते हैं कि दिगम्बर जैनधर्म की ओर से आप प्रतिनिधित्व करें। आपके सिवाय कोई अन्य प्रतिभाशाली हमारा आचार्य नहीं है।

महाराज बोले—मैं तो संघ सहित आगरा जा रहा हू। उनसे पुन: निवेदन किया गया कि ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं, जब जैनधर्म को विश्व के धर्मों के सम्मुख रखने का सुअवसर मिलता है। विनती करने पर उन्होंने स्वीकृति दे दी। तीन दिन का समय शेष था। महाराज ने तुरन्त समस्त सघ को मथुरा मे ही छोड़ा और अपने साथ वयोवृद्ध क्षुल्लक श्री जिनभूषण जी महाराज को, जो अत्यन्त जर्जर और क्षीणकाय थे, साथ लेकर दिल्ली की ओर चल दिये। चौथे दिन जब दिल्ली जैन समाज दिल्ली गेट के बाहर महाराज का स्वागत करने के लिए उपस्थित हुआ तो हमने महाराज से कहा कि मथुरा से दिल्ली नब्बे मील है। तीन दिन में आप पाद-विहार कर दिल्ली आ गए, थके नहीं? तब उन्होंने ऐसा तेजस्वी उत्तर दिया जो स्वर्णाक्षरों मे लिखने योग्य है। वे बोले—"धर्म प्रचार के लिए, नब्बे मील क्या, यदि नौ हजार मील भी जगह हो तो मैं सहर्ष जाने को तैय्यार हू।"

समस्त समुदाय इस उत्तर से अत्यन्त गद्गद् हो गया और फिर जब विश्वधर्म-सम्मेलन हुआ तो प्रारम्भिक मंगलाचरण आचार्य श्री के द्वारा हुआ। विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधि—जो रंग-बिरंगे रेशमी और बहुमूल्य वस्त्रों से अलंकृत थे—सभी महाराज के नैसर्गिक वेष, स्वाभाविक प्राकृतिक सौंदर्य, नग्न दिगम्बर मुद्रा को देख कर अत्यंत आह्लादित हुए, और न मालूम, उस समय रामलीला ग्राउंड में अथाह जन-समुदाय के बीच में कितने चित्र खींचे गए। सुशीलकुमार जी को ऐसा सम्बल मिला कि जैनधर्म की चारों ओर से जयजयकार हो गई और वे उनके भक्त हो गए।

इसी प्रकार भगवान् महावीर स्वामी का २५०० वां निर्वाण महोत्सव मनाने का विचार आया तो उस समय यह निश्चय किया गया कि बड़ा उत्सव बम्बई मे हो। भारत जैन महामण्डल और दूसरी संस्थायें इस ओर प्रयत्नशील थी। हमने सोचा कि वहां इतनी दूर कौन जायेगा? क्यों न दिल्ली में ही मनाया जाये।

बड़े प्रयत्न से भगवान् महावीर स्वामी के २५००वें निर्वाण महोत्सव को मनाने वाली बड़ी कमेटी सरकार की ओर से बनाई गई। उसमें चारों समाजों के गण्यमान्य नेताओं के अतिरिक्त प्रत्येक समाज का एक आचार्य और एक मुनिराज रखने का निश्चय किया गया। दिगम्बर समाज की ओर से आचार्यों में धर्मसागर जी और मुनियों में विद्यानन्द जी का नाम रखा गया। उस समय हमारे मन मे विचार आया कि जैन समाज के अन्य सम्प्रदायों के प्रतिभाशाली आचार्यों और वक्ताओं के समतुल्य हमारा आचार्य भी तेजस्वी, कुशल और प्रभावसम्पन्न होना चाहिए, जिसका प्रभाव दूसरों पर पड़ सके।

हमारी दृष्टि आचार्य देशभूषण जी महाराज पर गई। हमने उन्हें एक पत्र लिखा। महाराज का एक अनन्य भक्त पत्र लेकर जब जयपुर पहुचा तो महाराज ने ध्यान से पढ़ा और बोले—तुम स्वय जयपुर आओ। आमने-सामने बातचीत करके निर्णय करेंगे।

जब मैं जयपुर पहुचा तो महाराज ने कहा कि मैं तो गिरनार जा रहा हूं—दर्शन की इच्छा है। मैंने महाराज से कहा, "महाराज गिरनार कहीं जाने का नहो! ढाई हजार वर्ष बाद भगवान् महावीर स्वामी का निर्वाण महोत्सव आया है। कौन मरा, कौन जिया? हम तो इसे बडे उत्साह के साथ आपके सरक्षण मे मनाना चाहते हैं और यह कामना करते हैं कि यह उत्सव जैनधर्म के पुनरुद्धार का कार्य करेगा।" कुछ गभीर होकर महाराज बोले, "मैं चलू तो सही पर मेरे जाने से प्रयोजन क्या सिद्ध होगा? कमेटी मे मेरा नाम नहीं। उत्सव मनाने वालों ने मुझ से कोई चर्चा नही की। तुम बेमतलब मुझ पर जोर दे रहे हो।"

मैंने कहा—आचार्य श्री, यह मेरी ड्यूटी है कि कमेटी मे आपका नाम होगा और समस्त कार्य आपकी देखरेख मे ही सम्पन्न होगा। आप तो भगवान् महावीर की जय बोलकर दिल्ली चलने की तैयारी कीजिए। उन्होने सहर्ष स्वीकृति दे दी।

उसी दिन सर्वसुखदास जी की नसिया मे जयपुर समाज की ओर से महाराज के प्रति आभार-प्रदर्शन और विदाई-समारोह सम्पन्न हुआ। दिल्ली जैन समाज के गण्यमान्य परम धार्मिक स्व० सेठ पारसदास जी मोटर वाले और उनके सुपुत्र उदीयमान श्री श्रीपाल जी एव उनकी विदुषी पत्नी किरणमाला जी ने जयपुर से विहार करा दिया और थोड़े ही समय मे आचार्य श्री का दिल्ली में पदार्पण हो गया।

आचार्य देशभूषण जी महाराज ने दिल्ली मे आकर उत्सव का ऐसा भव्य वातावरण बनाया कि समस्त समाज मे जागृति की लहर आ गई और जैन समाज के सभी सम्प्रदायों के आचार्य और साधु अभिन्न अग की तरह कार्य मे जुट गये। बड़ी कमेटी में महाराज का नाम आ गया। कुछ विरोध भी हुआ। एक स्थान से पत्र आया—आचार्य महाराज हमारे नेता नही हैं। अमुक नेता है। जब डिप्टी मिनिस्टर ने इस सम्बन्ध मे चर्चा की तो उनसे कहा गया कि वे तो तपस्वी हैं। सामाजिक जागृति और समाज के मार्गदर्शन का काम इन्हीं का है। बात समाप्त हो गई।

आचार्य महाराज ग्रथ-निर्माण के कार्य मे स्वय जुट गये और विद्वानो को प्रोत्साहन देकर कई उत्तमोत्तम ग्रन्थों का निर्माण इस अवसर पर कराया गया। वैदवाड़े के दि० जैन मन्दिर से प्राप्त भगवान् महावीर का सचित्र जीवन इसका मुख्य आधार बना।

जब बड़ी कमेटी मे जाने का अवसर आया, जो पार्लियामेंट भवन मे होने वाली थी, तो कुछ विरोध हो गया। जाने में शिथिलता दिखाई देने लगी। दूसरे दिन मीटिङ्ग मे पहुचना था। कहा गया कि वे कहा बैठेंगे। सब जगह कालीन बिछे है। कुर्सिया लगी हैं। अच्छा है, न जाएँ। हमने कहा—इतने परिश्रम से तो यह कार्य हुआ और जब अवसर आया तो ढील दिखाई जाने लगी। महाराज अवश्य जाएँगे और सभी व्यवस्था हम करेंगे। हम एक छोटी मेज और चौकी लेकर पार्लियामेंट पहुचे। वहां का व्यवस्थापक एक सरदार था। हमने कहा, "सरदार जी! हमारे गुरु न तो कालीन पर बैठते हैं, न घास पर पैर रखते हैं, न कुर्सी पर बैठेंगे। इस मेज पर बैठेंगे और चौकी पर उनके सेवक क्षुल्लक जी बैठेंगे। आप उचित स्थान पर कालीन हटाकर इन्हें लगा दें।"

सरदार जी ने कहा कि कहां लगाऊं? मैंने कहा दो मन्त्रियो के बीच मे लगा दें। उन्होंने उसी स्थान पर प्रथम पंक्ति मे यह व्यवस्था कर दी जो सर्वोत्तम व्यवस्था थी। दूसरे दिन जब जाने का अवसर आया तो किसी अन्तर्दाह रखने वाले व्यक्ति ने ऐसा दूषित वातावरण बनाया कि प्रधानमंत्री का फोन आया है कि वहा नग्न साधु नही जा सकते।

जब मैं दो बजे जयसिंहपुरे के मन्दिर में पहुचा जहां महाराज विराजे थे तो उन्होने यह बात कही। मैंने कहा—आप यहीं बैठे रहें। जायेंगे तो चारों जायेंगे, नही तो कोई नही जाएगा।

मुनि सुशील कुमार जी ने मुझे और अहिंसा मन्दिर के डायरेक्टर को यादव साहब के पास भेजा। मैंने कहा हमारे भगवान् महावीर तो नग्न थे। शिवजी भी नग्न थे। हमारे साधु भी नग्न होते हैं। हमने ढाई हजार वर्षों से निर्वाण-महोत्सव सरकार से पैसे लेकर नही मनाया। हम अपने मंदिर मे मना लेंगे। यह प्रतिबन्ध की बात क्यों? उन्होंने कहा यह सरकार की तरफ से ढील नहीं, तुम्हारे समाज की तरफ से ढील है। इतनी बात सुनकर मै मुनिश्री डॉ० नगराज डी० लिट्, जो पार्लियामेंट जाने की तैयारी मे थे, के पास पहुंचा और बोला—आप जयसिहपुरे के मन्दिर चलिए। हमे ऐसे प्रतिबन्ध के रूप मे महावीर निर्वाण महोत्सव नही मनाना। उन्होने कहा—मैं वृद्ध पहले जयसिहपुरा चलू और फिर पार्लियामेट जाऊँ तो थक जाऊँगा। इस पर हमने कहा कि हम तो आपके कार्य मे आधी रात तैयार रहे और अब आप जाकर पार्लियामेट मे बैठ जाओ, हमारा साधु मन्दिर मे बैठा रहे।

जब मुझे नाराज होते हुए देखा तो तेरापन्थी समाज के अध्यक्ष सेठ मोहनलाल जी कठौतिया बोले—महाराज! आप जैसा पंडित जी कहें, वैसा करो। तब नगराज जी बोले अच्छा मैं आपके साथ चलता हू और मुनि महेन्द्र कुमार जी द्वितीय को प्रधानमंत्री के पास भिजवाता हू। उन्होने ऐसा ही किया।

वे मेरे साथ जयसिह पुरा के मन्दिर जी पहुचे जहाँ चारो समाजो के आचार्य मुनि विराजमान थे। थोडी देर मे यादव साहब आए और बोले—महाराज, आप नही चलेंगे तो महावीर निर्वाणोत्सव कैसे मनेगा? हमने कहा—अब सब भगवान् महावीर की जय बोलकर ही चलेंगे। ढाई हजार वर्ष के बाद यह अवसर आया है। आज कोई भी अपने आचार्य की जय नही बोलेगे। ऐसा ही हुआ।

इस प्रकार आचार्य महाराज पार्लियामेट भवन की मीटिङ्ग मे सम्मिलित हुए। उन्होने बहुत ही उत्तम ढग से आशीर्वाद दिया जिसका सभी उपस्थित समुदाय पर व्यापक प्रभाव पडा।

इसी प्रकार बड़ी कमेटी के द्वारा तत्त्वार्थ-सूत्र-टीका पं० सुखलाल जी संघवी द्वारा सभी भारतीय भाषाओ मे प्रकाशित करने का निश्चय किया गया। आचार्य महाराज ने यह बात मुझ से कही। मैंने प० सुखलाल जी का एक लेख 'अनेकान्त' मासिक पत्र में पढा जिसमे उन्होंने सर्वार्थसिद्धि के कर्त्ता आचार्य पूज्यपाद. राजवार्तिक के कर्ता भट्टाकलंक देव, और श्लोक वार्तिक के कर्ता स्याद्वाद विद्यापति आचार्य विद्यानंदि को रागी द्वेषी बताया। यह बात मुझे बहुत बुरी लगी। मैंने तत्त्वार्थ सूत्र और सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम के सूत्रो की तुलना की और एक विस्तृत लेख लिखकर टाइप कराकर उन सभी सदस्यो को भिजवाया जो दिगम्बर समाज के प्रतिनिधि थे। उसमे बताया कि मूल तत्त्वार्थ सूत्र मे इतने सूत्र अपने माने हुए सिद्धान्तो की पुष्टि के लिए बढाये गये हैं। किन-किन बातो मे हमारा और उनका अन्तर है। हम इसे नही मान सकते। ग्रथ चारो की ओर से वही छपेगा जिसमे चारो एक मत हो। ऐसा ही हुआ।

दिल्ली मे आचार्य महाराज के ठहरने से कई महत्त्वपूर्ण कार्य हुए। कही भी कोई विषमता आती तो आचार्य महाराज के पास सभी इकट्ठे हो जाते और थोड़े ही प्रयत्न से कार्य सिद्ध हो जाता। वे एक चलती-फिरती संस्था हैं। जगम तीर्थ हैं। प्रतिभाशाली हैं। सभी का साथ लेकर चलने मे उन्हे हर्ष होता है। जब वे दिल्ली से दक्षिण की ओर विहार करने के लिए तत्पर हुए तो हमने उनसे कहा—आचार्य श्री! हमारे मन मे एक इच्छा है कि जैसे सबने मिलकर भ० महावीर का निर्वाणोत्सव मनाया, ठीक उसी प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ का तपकल्याणक बडे समारोह के साथ मनाया जाय। सभी सम्प्रदायो के आचार्य, मुनि, गृहस्थ इस कार्य मे पूर्ण सहयोग प्रदान करेंगे। उन्होंने इस प्रकार का विशेष आयोजन होने पर पुन. दिल्ली आने की स्वीकृति दी।

हमारी श्री जिनेन्द्र देव से प्रार्थना है कि वे दीर्घायु हो और जिन शासन का सदैव उद्योत करते रहे। उनके पदचिह्नों पर अन्य मुनिराज चलते रहे जिसमे जैनधर्म की प्रभावना होती रहे। विश्व मे अहिंसात्मक भावनाओ का प्रचार हो। जगत् में सुख-शान्ति की वृद्धि हो।

□.

श्रमण-परम्परा में एक ज्योतिर्मय व्यक्तित्व

आचार्य राजकुमार जैन

भारत में जैन आचार और विचार ने जिस संस्कृति विशेष को जन्म दिया, वह सात्त्विकता, पवित्रता, शुद्धता एवं दृष्टिकोण की व्यापकता के कारण अतिश्रेष्ठ एवं उन्नत मानी गई। उसने जन-सामान्य को जो दिशा दृष्टि प्रदान की, उसमें मनुष्य आत्महित के द्वारा अक्षय सुख व शान्ति का अनुभव करने लगा। उस संस्कृति में ही जब श्रमण-धर्म और उसके आचार-विचार का भी विश्लेषणपूर्वक अभिनिवेश हुआ तो चिरन्तन सत्य के रूप मे अभ्युदय एव निःश्रेयस्-परक वह संस्कृति "श्रमण संस्कृति" के नाम से अभिहित हुई। श्रमण संस्कृति के स्वरूप-निर्माण, अभ्युत्थान एवं विकास मे श्रमणों एव श्रमण परम्परा का जो अद्वितीय योगदान है, उसे विस्मृत नहीं किया जा सकता। श्रमण शब्द के अभिप्राय को स्पष्ट करने की दृष्टि से कहा गया है—"श्राम्यति तपः क्लेशं सहते इति श्रमणः।" अर्थात् श्रमण शब्द का अर्थ है—सभी प्रकार के अन्त. बाह्य परिग्रह से रहित जैन साधु। श्रमण संस्कृति में मानवता के वे उच्चतम आदर्श, आध्यात्मिकता के वे गूढतम रहस्यमय तत्त्व एव व्यावहारिकता के वे अकृत्रिम सिद्धान्त निहित हैं जो मानव मात्र को चिरन्तन सत्य की अनुभूति व साक्षात्कार कराते हैं। मानवता के हित-साधन मे अग्रणी होने के कारण वह वास्तव मे सच्ची मानव-संस्कृति है और इस मानव-संस्कृति के अनुयायी, परिपालक, उद्घोषक एव विश्लेषक रहे है हमारे प्रात स्मरणीय गुरुदेव आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज। इसमे कोई भी सन्देह नहीं है कि आचार्य श्री देशभूषण जी ने श्रमण-धर्म, श्रमण आचार-विचार एवं श्रमण-परम्परा का पूर्णतः परिपालन एव निर्वाह किया है। अत श्रमण संस्कृति एव श्रमण परम्परा मे उनका अद्वितीय स्थान है।

वर्तमान शताब्दी मे श्रमण आचार-विचार का निष्ठा एव विवेकपूर्वक परिपालन करने के कारण आचार्य श्री देशभूषण जी को श्रमण परम्परा मे विशिष्ट महत्त्व एव अद्वितीय स्थान प्राप्त है, अत यहा संक्षेपतः श्रमण एव श्रामण्य की चर्चा करना अप्रासंगिक नही होगा। "श्रमणस्य भाव. श्रामण्यम्" अर्थात श्रमण के भाव को ही श्रामण्य कहते हैं। ससार के प्रति मोह-ममता, राग-द्वेष के भाव का पूर्णतः त्याग करना अथवा ससार के समस्त अन्तःबाह्य परिग्रहो से रहित होकर पूर्णतः संन्यास ग्रहण करना और सयमपूर्वक साधु-पथ का अनुकरण करना ही "श्रामण्य" कहलाता है। इसमे किसी भी प्रकार के विकार के लिए रचमात्र भी स्थान नहीं है और आचरण की शुद्धता एव अन्तःकरण की पवित्रतापूर्वक सयमाचरण को ही विशेष महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार का अकृत्रिम एवं विशुद्ध आचरण करने वाला जैन साधु ही श्रमण होता है। उसके विशुद्धाचरण मे बतलाया गया है कि वह पच महाव्रतो का पालक एवं राग-द्वेषोत्पादक समस्त सासारिक वृत्तियो का परित्यक्ता होता है। वह निष्कर्म भाव की साधना से पूर्ण एकाग्रचित्तपूर्वक आत्मचिन्तन मे लीन रहता है। आडम्बरपूर्ण व्यवहार एव क्रिया-कलापो का उसके जीवन मे कोई स्थान नही होता और वह आत्महित साधन के साथ मानवता के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित रहता है।

आचार्य श्री देशभूषण जी साधनारत महान् जैन साधु हैं और पूर्ण निष्ठापूर्वक साधुवृत्ति का आचरण करते हैं। इस दृष्टि से उन्होने अपने जीवन मे कभी शिथिलाचार नही आने दिया। अनेक बार उन्हे अपने जीवन मे भीषण परिस्थितियों एव समस्याओं का सामना करना पडा। किन्तु वे न तो कभी विचलित हुए, न कभी घबडाये और न ही कभी अपने आचरण को रचमात्र भी दूषित होने दिया। इस प्रकार वे सही अर्थों मे उच्चकोटि के साधक होने के कारण श्रमण है। श्रमणत्व उनकी रग-रग मे व्याप्त है और श्रमण धर्म उनके आचरण मे स्पष्टत. झलकता है। जिन लोगो को उनके दर्शन लाभ का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उन्होंने वास्तव में श्रमणत्व की एक जीती-जागती प्रतिमा के दर्शन किए हैं। कमल की भाति सदैव खिला उनका मुख-मण्डल उनके अभूतपूर्व सौम्य भाव को दर्शाता है। उनके चेहरे पर विद्यमान अद्वितीय तेज उनके साधनामय संयमपूर्ण जीवन का साक्षी है। उन्होंने अपने साधनामय जीवन के द्वारा सच्चे श्रमण का जो आदर्श उपस्थित किया है, सुदीर्घकाल तक उसका उदाहरण मिलना सभव नही है। अपने हृदय की विशालता और उस विशाल हृदय में व्याप्त मानवता के प्रति असीम करुणा का ऐसा विलक्षण धनी चिरकाल तक देखने को नही मिलेगा।

आप एक युगपुरुष हैं और साथ ही युगद्रष्टा भी हैं। आपने जीवन के यथार्थ के साथ ही मानवीय मूल्यो एव वर्तमान में हो रहे उनके ह्रास को भी समझा है। आपने स्वयं अनुभव किया है कि जीवन की जटिलताओं से घिरा हुआ निरीह मानव आज कितना

हताश और स्वयं के जीवन के प्रति कितना निराश है। उसके अंधकारावृत मार्ग को प्रकाश-पुंज से आलोकित करने वाला कोई नहीं है। आज मनुष्य इतना स्वार्थान्ध हो रहा है कि स्वार्थ-साधन के अतिरिक्त उसे और कुछ भी रुचिकर प्रतीत नहीं होता। ऐसी स्थिति में, परमकरुणामय मानवता-सेवी सन्त पुरुष श्री देशभूषण महाराज का अन्तःकरण भला कैसे चुप रहता ? आपने उस निरीह मानवता का पथ आलोकित करने का सकल्प किया और सर्वात्मना इस कार्य मे संलग्न हो गए। आपके कार्यक्षेत्र की यह विशेषता है कि आपका संदेश झोपड़ी से लेकर महलो तक पहुचता है। आपकी दृष्टि में सभी मनुष्य समान हैं और राजा रक तथा धर्म-जाति का कोई भेद नहीं है। सभी को समताभावपूर्वक वीरवाणी का अमृतपान कराकर बिना किसी भेदभाव के सन्मार्ग पर लगाने का दुरूह कार्य जिस निर्भयता और दृढ़ता-पूर्वक आचार्य श्री ने किया है और कर रहे हैं, वह अलौकिक एव अविस्मरणीय है।

आत्म-साधना के पथ पर आरूढ़ होकर निरन्तर पाच महाव्रतों का अखंडरूप से पालन करने वाला, दस धर्मों का सतत अनुचिन्तन, मनन और अनुशीलन करने वाला, बाईस परीषहजय तथा रत्नत्रय को धारण करने वाला, शुद्ध परिणामी, सरल स्वभावी, अपनी अन्तर्मुखी दृष्टि से आत्म साक्षात्कार हेतु प्रयत्नशील तथा श्रमण धर्म को धारण करने वाला साधु ही श्रमण कहलाता है और निज स्वरूपाचरण मे प्रमाद नहीं होना उसका श्रामण्य है। श्रमण सदैव राग-द्वेष आदि विकार भावों से दूर रहता है क्योंकि ये विकार भाव ही मोह-ममता एव कटुता-ईर्ष्या के मूल कारण हैं जिनसे सासारिक बध होने के साथ ही जीवन मे पारस्परिक कलह एव लड़ाई झगड़े की सम्भावनाओं-घटनाओ को प्रोत्साहन मिलता है। उपर्युक्त विकार भावो से श्रमण की आत्मसाधना मे निरन्तर बाधा उत्पन्न होती है और वह अपने लक्ष्य एवं गन्तव्य पथ से विचलित हो जाता है। इसी प्रकार क्रोध-मान-माया-लोभ ये चार कषाय मनुष्य को सासारिक बधनो में बांधने वाले तथा अनेक प्रकार के दुःखों को उत्पन्न करने वाले मुख्य मनोविकार हैं। आत्मस्वरूपान्वेषी साधक श्रमण सदैव इन कषायों का परिहार करता है, ताकि वह अपनी साधना एव लक्ष्य-साधन के पथ से विचलित न हो सके। चंचल मन और विषयाभिमुख इन्द्रियों के पूर्ण नियन्त्रण पर ही श्रमण साधना निर्भर है। आत्म-साधक श्रमण के श्रामण्य की रक्षा के लिए उपर्युक्त रागद्वेष आदि विकार भाव तथा क्रोध आदि चार कषायो का परिहार करते हुए इन्द्रियो का तथा मन का नियमन नितान्त आवश्यक है।

श्रमण के जीवन मे सयम एवं तपश्चरण के आचरण का विशेष महत्त्व है। उसका संयमपूर्ण जीवन उसे सासारिक वृत्तियों की ओर अभिमुख होने से रोकता है और तपश्चरण उसकी कर्म निर्जरा मे सहायक होता है। सयम के बिना वह तपश्चरण की ओर अभिमुख नहीं हो सकता और तपश्चरण के बिना उसकी मुक्ति सम्भव नही है। ऐसी स्थिति मे मोक्ष प्राप्ति हेतु आत्मसाधन का उसका ध्येय अपूर्ण रह जाता है। अतः यह सुनिश्चित है कि संयम धर्म का पालन तपश्चरण का अनुपूरक है। इस विषय मे आचार्यों ने तप की जो व्याख्या की है, वह महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है। आचार्य उमास्वामी के अनुसार इच्छाओ का निरोध करना तप कहलाता है। तप का यह लक्षण सयम और तप के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करता है; क्योंकि इच्छाएं और वासनाएं इन्द्रियजनित होती हैं। उनका निरोध करना ही संयम कहलाता है और तत्पूर्वक या उसके सान्निध्य से विहित क्रिया विशेष ही तपश्चरण है।

मनुष्य की सभी इन्द्रिया भौतिक होती हैं, अत उन इन्द्रियों से जनित इच्छाओ और वासनाओ की अभिव्यक्ति सासारिक व भौतिक क्षणिक सुखों के लिए होती है। इन इच्छाओं और वासनाओं को रोककर इन्द्रियों को स्वाधीन करना, संसार के प्रति विमुखता तथा चित्तवृत्ति की एकाग्रता ही सयम का बोधक है। इस प्रकार के सयम का चरम विकास मनुष्य के मुनित्व जीवन मे ही संभावित है। अतः संयमपूर्ण मुनित्व जीवन ही श्रामण्य का द्योतक है।

श्रमण परम्परा के अनुसार आपेक्षिक दृष्टि से गृहस्थ को निम्न एव श्रमण को उच्च स्थान प्राप्त है, किन्तु साधना के क्षेत्र में निम्नोच्च की कल्पना को किंचिन्मात्र भी प्रश्रय नही दिया गया है। वहा संयम की ही प्रधानता है। इस विषय मे उत्तराध्ययन सूत्र मे भगवान् के वचन मननीय एव अनुकरणीय हैं—"अनेक गृहत्यागी भिक्षुओं की अपेक्षा कुछ गृहस्थों का सयम प्रधान है और उनकी अपेक्षा साधनाशील संयमी मुनियो का सयम प्रधान है।" इस प्रकार एक श्रमण मे सयमपूर्ण साधना को ही विशेष महत्त्व दिया गया है। श्रमण परम्परा के अनुसार मोह-रहित व्यक्ति गांव मे भी साधना कर सकता है और अरण्य में भी। कोरे वेश-परिवर्तन को श्रमण परम्परा कम महत्त्व देती है, साधना के लिए मात्र दिगम्बरत्व या गृहत्याग ही पर्याप्त नही है, अपितु तदनुकूल विशिष्टाचरण भी महत्त्वपूर्ण एवं अपेक्षित है। अपने विशिष्टाचरण एव आसक्ति-रहित त्याग-भावना के कारण ही श्रमण को सदैव गृहस्थ की अपेक्षा उच्च एव विशिष्ट माना गया है।

इस प्रकार के श्रामण्य के प्रति उदात्तचेता एवं धर्मसहिष्णु पूज्यवर श्री देशभूषण जी महाराज का तीव्र आकर्षण प्रारम्भ से

ही रहा है। श्रमण धर्म के प्रति आपके हृदय मे शुरू से ही गहरी आस्था है और अन्ततः आप उस पथ के अनुयायी बने रहे। आपके व्यक्तित्व में एक विलक्षण प्रतिभा है जो आपको हिताहित-विवेकपूर्ण कर्त्तव्य का बोध कराती रहती है।

दीक्षाग्रहण कर श्रमण-धर्म को अंगीकार करने एवं सक्रिय आत्मसाधनापूर्वक स्व तथा पर कल्याण के प्रति अपना जीवन सदा सर्वदा के लिए अर्पित करने के उपरान्त आपकी प्रतिभा में और अधिक असाधारणता एवं विलक्षणता उत्पन्न हो गई। आपका तेजस्वी व्यक्तित्व और अधिक प्रखर हो गया और आपका संदेश जन-जन तक पहुंच कर उन्हें सन्मार्ग पर अग्रसर करने लगा। आपने वस्तुतः धर्म के मर्म को समझा और उसे सर्वजन-सुलभ कराया। आज के युग में जब कि लोगों को धार्मिक उपदेशों से अरुचि होती है, आपके उपदेशों मे इतना तीव्राकर्षण होता है कि सहस्रों लोग अनायास ही खिचे चले आते हैं। आपके उपदेश इतने सुरुचिपूर्ण, सारगभित और मानस को आन्दोलित करने वाले होते हैं कि सुदीर्घ काल तक उनकी छाप मानस-पटल पर अंकित रहती है। ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिले हैं जो आपके उपदेशों की प्रभावकारिता को सुस्पष्ट करते हैं। व्यसनरत, कुमार्गगामी और भ्रष्ट आचरण वाले अनेक व्यक्ति आपके प्रभावपूर्ण सदुपदेशों से प्रभावित हुए। आपके उपदेशों ने उन लोगों को ऐसा प्रभावित किया कि सहज ही उनका हृदय-परिवर्तन हो गया और आजीवन उन्होंने सदाचरण की प्रतिज्ञा ली। इस प्रकार हृदय-परिवर्तन की अनेक घटनाओं के उदाहरण हमारे सामने हैं।

श्री देशभूषण जी यद्यपि दिगम्बर जैन साधु हैं और दिगम्बर समाज में आपकी लोकप्रियता अद्वितीय है, तथापि यह एक निर्विवाद तथ्य है कि आप समता-भाव की एक जाग्रत मूर्ति और समन्वयवादी महान् सन्त हैं। यह सच है कि आपकी दीक्षा दिगम्बर समाज में हुई है किन्तु आपका कार्यक्षेत्र केवल दिगम्बर समाज तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु सम्पूर्ण जैन समाज को आपने आह्वान और संदेश का लक्ष्य बनाया।

आप श्रमण परम्परा के एक ऐसे सूर्य हैं जिसने समाज को आलोक दिया, दिशा-दृष्टि प्रदान की और अपने सत्साहित्य के द्वारा प्रेरणाप्रद संदेश दिया। विभिन्न स्थानों पर आयोजित अपने चातुर्मास-काल में आपने अपने सदुपदेशों के माध्यम से असंख्य लोगों का उद्धार किया। आपका जीवन इतना संयत, सदाचारपूर्ण एवं आडम्बर विहीन रहा है कि उसने प्रायः सभी को प्रभावित किया। आप अहिंसा आदि का पालन इतनी सूक्ष्मता एवं सावधानी से करते हैं कि उसे देखकर लोगों को आश्चर्य होता है। आपके व्रत-नियम कठोर होते हुए भी उदात्त हैं। आप सुदक्ष वाक्पटु हैं और आपकी वाणी एवं वक्तृत्व शैली मे गजब का सम्मोहन है, फिर भी आपकी वक्तृता मे वाक्पटुता की अपेक्षा जीवन का यथार्थ ही अधिक छलकता है। एक ओर जीवन को ऊँचा उठाने वाला और नैतिकता का बोध कराने वाला आपका संदेश और दूसरी ओर आपका अनुकरणीय आदर्शमय जीवन लोगो के हृदय पर स्थायी प्रभाव डालता है।

आप मानव जाति के नैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक उत्थान के लिए दिव्यता-विभूषित एक देवदूत की भूमिका का निर्वाह कर रहे हैं। आपने प्राणि-मात्र की जो सेवा की है, वह अविस्मरणीय है। हम चिरकाल तक आपके जीवन से, जो स्वयं ही एक दिव्य संदेश है, प्रेरणा लेते रहेंगे और सन्मार्ग पर चलने का उपक्रम करेंगे। आपका पावन संदेश एवं अलौकिक ज्योतिपुंज शताब्दियों तक हमारा पथप्रदर्शन करता रहेगा।

ऐसी अमर विभूति हमारे लिए सदा सर्वदा वन्दनीय है। आपके चरण-कमलों में विनयावनत वन्दनपूर्वक हमारा शतशः नमन है। ▣

महान् प्रभावक दिगम्बर सन्त

डॉ० ज्योति प्रसाद जैन

वर्तमान शताब्दी के प्रथम पाद से पूर्व पिछले डेढ़-दो सौ वर्षों से उत्तर भारत में दिगम्बर मुनियों का प्रायः अभाव रहता आया था। कभी कहीं किन्हीं मुनिराज की क्षणिक झलक दिखाई पड़ने की बातें सुनी जाती थीं। अधिकांश जनता दिगम्बर मुनियों के दर्शनों से वंचित ही रही। कुछ एक गृहत्यागी, ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, ऐलक आदि विचरते रहे, और वे ही दिगम्बर आम्नाय के श्रावक-श्राविकाओं के लिए गुरुभक्ति का माध्यम रहे। दिल्ली, हिसार, हस्तिकान्त, अटेर, ग्वालियर, आमेर, नागौर, बांसवाड़ा, कारंजा आदि कई स्थानों में भट्टारकीय पीठ भी थे। तथापि उस काल में उत्तरापथ में आम्नाय का संरक्षण मुख्यतया आगरा, दिल्ली, जयपुर, आदि के अनेक गृहस्थ विद्वान् पंडित ही करते रहे। दक्षिणापथ से, विशेषकर कर्नाटक देश में दिगम्बर मुनियों की परंपरा प्रायः अविच्छिन्न बनी रही, यद्यपि वहां भी अनेक भट्टारकीय पीठें भी रहीं और उनका प्रभाव भी पर्याप्त रहा। इस शती के तीसरे दशक में दिगम्बर साधुओं का दक्षिण से उत्तर की ओर विहार एकाएक प्रारम्भ हुआ। आचार्य शान्तिसागर छाणी पधारे और फिर चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी अपने विशाल संघ के साथ पधारे। उत्तरभारत के निवासियों ने भी मुनि-दर्शन एवं मुनिसेवा का प्रभूत लाभ लिया। इस संघ की शाखा-प्रशाखाओं के अतिरिक्त कई नवीन संघ भी उदय में आये, और गत पचास वर्षों में उत्तरापथ में जन्मे अनेक मुनि, एलक, क्षुल्लक, आर्यिकाएँ आदि भी हुए। तथापि आज भी जो लगभग एक सौ दि० मुनिराज उत्तर भारत में विचरते दृष्टिगोचर हैं, उनमें अधिकतर दक्षिणभारतीय ही हैं, जिनमें से अनेक ने तो अपने विहार, चातुर्मासों, प्रवचनों, साहित्यसृजन एवं प्रभावक कार्यों से लोक को अत्यन्त प्रभावित किया है।

ऐसे ही मुनिपुंगवों में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज हैं। शताब्दी के उत्तरार्ध के आरंभिक १५-२० वर्ष पर्यन्त उनका विहारक्षेत्र उत्तर भारत ही रहा—दिल्ली से कलकत्ता पर्यन्त उन्होंने कई बार विहार किया, विभिन्न स्थानों में चातुर्मास किए, मन्दिर निर्माण कराए, बिम्ब प्रतिष्ठाएं कराईं, संस्थाएं स्थापित कराईं, विपुल साहित्य प्रकाशित कराया और अपने व्यक्तित्व से जैनों को ही नहीं, अनेक जैनेतर विद्वानों, श्रीमंतों एवं राजनेताओं को प्रभावित किया। उत्तरभारत में जैन साधुओं के विस्मृत प्रायः दिगम्बरत्व को पुनः लोकसमादृत बनाने में उनका विशेष योग रहा। अयोध्या तीर्थ पर दो बार बिम्ब प्रतिष्ठाएं कराईं, भ० आदिनाथ का विशाल मंदिर निर्माण कराया, जिसमें भगवान् की ३२ फुट उत्तुंग मनोज्ञ खड्गासन प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई, एक गुरुकुल की स्थापना भी की, रत्नपुरी तीर्थ का जीर्णोद्धार कराया, दिल्ली आदि अन्य अनेक स्थानों को उपकृत किया। वार्द्धक्य के कारण उन्होंने दक्षिण देश की ओर विहार किया और कोथली, कोल्हापुर आदि को अपनी निर्माण एवं प्रभावक प्रवृत्तियों का केन्द्र बनाया। हमें आचार्य श्री के दर्शनों एवं सान्निध्य के लाभ का कई बार सौभाग्य मिला है। उन्हें सदैव साहित्यसृजन अथवा धर्मप्रभावना की किसी न किसी प्रवृत्ति में संलग्न देखा। लखनऊ आदि में दिये गये उनके प्रवचन कई जिल्दों में प्रकाशित हुए थे। महाकवि रत्नाकर के 'भरतेशवैभव' जैसे कन्नड़ साहित्य के कई रत्नों का स्वयं अनुवाद करके प्रकाशन कराया। इस महान् धर्मप्रभावक सन्त का हार्दिक अभिनन्दन करते हुए तथा उनके तपःपूत जीवन की सफलता की मंगल कामना करते हुए हम उनके चरणों में अपनी विनयांजलि अर्पित करते हैं। □

राष्ट्रीय एकता के आध्यात्मिक गुरु

श्री बलवन्तराय तायल
भूतपूर्व वित्त मन्त्री, हरियाणा

हमारी भारत भूमि एक पावन भूमि है। अनेक ऋषि व मुनियों ने अपने त्याग और तपस्या से इस धरती को पवित्र किया तथा जीवन को सहज जीने की कला सिखाई। यहां धर्मगुरु न होते तो इस देश में भी पश्चिम की संस्कृति होती परन्तु हमारे धर्मगुरुओं ने हमारी संस्कृति और कला को जीवित रखा है। प्राचीन ग्रन्थों मे अनेक मुनियों व ऋषियों के उदाहरण हैं जिन्होंने मानव को मानव बनाया अन्यथा मानव भी पशुवृत्ति का होता। वर्तमान युग एक भौतिक युग है जिसे वैज्ञानिक युग भी कहते हैं। मनुष्य भोग वृत्ति की ओर दौड़ रहा है, त्याग वृत्ति कम होती जा रही है। यह एक कटु सत्य है। परन्तु इस भौतिक युग में श्री जैनाचार्य श्री देशभूषण जी महाराज लम्बे समय से दिगम्बर साधक के रूप मे भारत भूमि पर जन-जन को धर्मोपदेश देकर हमें मानवता का पाठ पढ़ा रहे हैं।

लगभग २० वर्ष पूर्व आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज दिल्ली से विहार कर के हिसार पधारे थे। उस समय स्थानीय कटला रामलीला मे महाराज का प्रवचन हुआ। अपने स्व० मित्र श्री देवकुमार जैन के साथ महाराज के दर्शन का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ। राष्ट्रीयता और आध्यात्मिकता के प्रति हमारा कुछ मित्रों का लगाव रहा है। गांधी जी के जीवन को देखा है और उनका मन्थन भी किया है। जैनधर्म में अहिंसा व अपरिग्रह के सिद्धान्त को प्राथमिकता दी गई है। गांधी जी ने भी हमे यही सिखाया था। इसीलिये इसका प्रभाव हमारे जीवन पर पडा और आचार तथा विचार शुद्ध रहे। आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज ने एक सच्चे धर्मगुरु के रूप में देश को निर्भीकता का पाठ पढ़ाया। उनका व्यक्तित्व विशाल है। जैसा हमने सुना था वैसा ही उनके दर्शन करने पर पाया। उनकी वाणी मे सरस्वती है, त्याग और तपस्या है। आज के युग में ऐसे महान् त्यागी और तपस्वी मुनि के दर्शन हो पाना अपने आप मे एक विलक्षणता है।

महाराज श्री ने देश के कोने-कोने मे पद-यात्रा द्वारा सामाजिक कुरीतियो, धार्मिक अन्धविश्वासों के प्रति भारतीय जनमानस को आन्दोलित किया है। लाखों-करोड़ों लोगो को सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करने हेतु प्रतिज्ञा दिलवाई है। यह प्रसन्नता की बात है कि दिगम्बर परिवेश में रहने पर भी आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज ने राष्ट्रीय एकता एवं विश्वबन्धुत्व के मानवीय मूल्यों के प्रति राष्ट्र को जागृत किया है। मैं महाराज श्री के चरणो मे अपने श्रद्धासुमन चढ़ाता हुआ उनकी दीर्घ आयु की कामना करता हू।

पावन स्मृतियाँ

श्रीमती शशिप्रभा जैन "शशाङ्क"
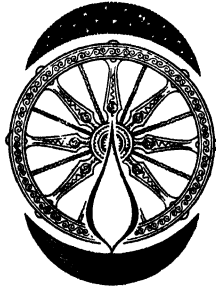
दिगम्बर मुद्राधारी, परम श्रद्धेय, बहुभाषाविद्, महातपस्वी, श्री जिनेन्द्रवाणी के अनन्य उपासक, साधुशिरोमणि, आचार्य श्री १०८ देशभूषण जी महाराज के पावन दर्शन करने का सौभाग्य मुझे उनके कलकत्ता में बेलगछिया उपवन स्थित श्री १००८ पार्श्वनाथ जिनालय के रमणीक स्थल पर उनके चातुर्मास काल मे हुआ था। ऋषिवर की वाणी मे इतना ओज, सरसता और स्वभाव मे मृदुता है कि नित्य हजारों बंगाली बन्धु उनके दर्शन से अपने को कृतकृत्य मानते थे। पारस-स्वरूप महाराज श्री के पास लौह तुल्य अधर्मी जैन-अजैन बन्धु मास-मदिरा, मधु, रात्रि भोजन त्याग आदि का त्याग करके जीवन को सार्थक मान महाराज श्री की अनुपम वाणी को हृदयगम कर लौटते थे। मुझे भी उस समय महाराज श्री से हल्के-फुलके निभने लायक व्रतों को धारण करके आहारदान देने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आहार क्रिया एवं प्रवचन के समय बेलगछिया का कोना-कोना भर जाता था। प्रवचन इतने मार्मिक और हृदयग्राही होते थे कि आबालवृद्ध बड़ी शान्ति के साथ सुनते और उसे हृदयङ्गम करने की चेष्टा करते। वहाँ धर्म का नित्य मेला-सा लगा रहता था, जिसमें स्वशक्त्यानुसार स्त्रीपुरुष धार्मिक नियम आदि वस्तुओं को खरीदता था।

आचार्य श्री महान् विद्वान्, दृढ संकल्पी, महान् तपस्वी, परिषह विजेता एवं भव्य-प्रभावक महासन्त हैं। जिसे भी उनका पावन संसर्ग प्राप्त हुआ है, वह स्वयं तो जीवन के सद्गामी पथ पर लगा ही, साथ ही उसका जीवन मोक्ष पथगामी बन गया। मैं उस धर्म की महकती वाटिका को कभी भूल सकती हू ? प्रवचनों के मध्य ऐसी-ऐसी शिक्षाप्रद घटनाओ, श्लोको का समावेश करते कि जिससे विषय सरल, सरस और सारयुक्त हो सके। कितने ही आध्यात्मिक ग्रन्थो के संस्कृत-प्राकृत के श्लोक उनको कठस्थ हैं। महाराज श्री द्वारा लिखित एवं अनुवाद किये अनेकानेक ग्रन्थ इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। मैने उपदेश सार सग्रह के विभिन्न भागो का अध्ययन-मनन किया है, और इस निष्कर्ष पर पहुची हू कि इसमे आये विषय जैसे — मनुष्यभव, सार्थकता, आत्मबोध, मानवीय गुणो की उपादेयता, रात्रिभोजन निषेध, जिनेन्द्र दर्शन फलादि का इतना सरल, बोधप्रद विवेचन किया है कि किशोर बालक भी उसे पढ़कर आत्मसात् कर सकता है। अत. महाराजश्री अलौकिक प्रतिभा के अप्रतिम धनी हैं। धर्म का मखौल उड़ाने वाले कुछ व्यक्तियो की विचारधारा है कि वर्तमान के मुनि सच्चे मुनि नही हैं, चतुर्थ काल के मुनि ही दर्शन-वन्दन योग्य हैं। मै ऐसी मिथ्या भावना धारण करने वालो से जानना चाहूगी कि कौन ऐसा वीर है जिसने दिगम्बरत्व धारण किया हो या एलक-क्षुल्लक पद पर ही शोभित हुए हो। ऐसे व्यक्तियों के जीवन में 'त्याग' का कोई महत्त्व नहीं है। वे सिर्फ खाना, पहनना, प्रवचनवादी बनना या सुनने मे ही जीवन की सार्थकता समझते हैं। राग छोडकर वैराग्य को धारणा सामारिक सुख को लात मार कर कर्म शत्रु से लडना यह वृत्ति उनकी पूज्य है। मुनिचर्या को दूषण बताने वालो ने कभी भी अपने अतरग की ओर नही झाका होगा कि मै क्या कर रहा हू, और मुझे क्या करना चाहिए। यह दूषित बयार शीघ्र ही बद होगी, और एक दिन उन्हे मानना होगा कि यह उनका भाग्य है कि इस विषम पचमकाल मे भी मुनिराजो, महातपस्वियों के पुनीत दर्शन हो रहे हैं। अत. वे हमारे परमपूज्य आराध्य गुरु हैं। उनके द्वारा दिखाया मार्ग सच्चा कल्याण का मार्ग है। धर्म और जिन मुद्राधारियो की निन्दा करना महान् पाप का कारण है।

इन महान् तपस्वियो के जीवन से हमे ज्ञान की वह रोशनी मिलती है जिससे हमारे अन्दर आत्मिक गुणों का विकास होता है। यही आत्मिक उन्नति जीवन के सच्चे सुखो का मार्ग है। उन महातपस्वियो साधुओ को शत-शत नमन है जिन्होंने अंतरंग और बहिरग क्रियाओं से पाँचो पाप, क्रोधादि चार कषायो का पूर्णत. त्याग कर दिया है, जो बाइस परिषहो को जीतकर चारित्रिक गुणों को धारण करते हैं। ऐसे महापुनीत, लोकपूज्य, असिधारातुल्य दिगम्बर मुद्रा को धारण करके उसका धर्मानुकूल पालन करने वाले मुनिराजों का दर्शन किसी पुण्य के फल से ही प्राप्त होता है। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की सत्प्रेरणा से कई नवीन मंदिरों का निर्माण तथा कितने ही प्राचीन जिनालयों का पुनरुद्धार हुआ है। उन्होंने जैन ग्रंथो का ही नही अपितु अनेक अन्य धर्मों के ग्रथों का अध्ययन किया है। उनके प्रति उनका समादर भाव है। ऐसे जैनाचार्य परमगुरु के दर्शन अभी मुझे श्री गोम्मटेश्वर भ० बाहुबली जी के सहस्राब्दि महामस्तकाभिषेक के समय भी हुए। उनके दर्शन करके मन गद्गद् हो गया और वे पुरानी स्मृतियां सामने आ गयीं जब मैं छोटी थी, और हमेशा महाराज श्री के दर्शन करके सिर पर पीछी रखवाने के लोभ से मंडराया करती थी।

आचार्य श्री अजेय महात्मा हैं, प्रौढ तपस्वी हैं, धर्म दिवाकर हैं, संसार के सच्चे हितैषी हैं। ऐसे निर्विकार, निष्कषाय, परमशांत साधुराज के चरणों मे शत-शत नमन है—साधु शरणं पवज्जामि। ☐

मेरे शिक्षा गुरु

श्री विमल कुमार जैन सोंरया

जुलाई सन् १९५३ मे विश्ववंद्य आचार्यरत्न विद्यालंकार परमपूज्य १०८ आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज का वर्षायोग अयोध्या तीर्थ की समीपवर्ती नगरी टिकैत नगर मे सम्पन्न हो रहा था उस समय लेखक आचार्यदेश भूषण दि० जैन गुरुकुल अयोध्या में वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय की प्रथमा एवं भा० दि० जैन परीक्षालय सोलापुर की जैनधर्म विशारद का छात्र था। गुरुकुल की स्थापना में प्रथम छात्र के रूप मे प्रवेश लेने का श्रेय भी मुझे प्राप्त था। उस समय गुरुकुल परिवार मे मात्र १० छात्र थे। हम सभी छात्र धर्माध्यापक के अभाव में धार्मिक शिक्षा की आकाक्षा से अपने गुरुकुल परिवार के संरक्षक एव न्याय विषय के गुरु स्व० पूज्य पं० कामताप्रसाद जी न्यायतीर्थ के साथ आचार्य श्री के चरणो मे कुछ समय के लिए टिकैत नगर गए। वहाँ की धर्मप्राण जैन समाज का वात्सल्यपूर्ण स्नेह हम को ऐसे अभूतपूर्व रूप मे प्राप्त हुआ जिसकी अमिट छाप कोमल हृदय पर सदैव-सदैव के लिए अकित हो गई।

आचार्य श्री के चरणों मे बैठकर प्रात· छहढाला और मध्याह्न मे तत्त्वार्थ सूत्र पर अपना धार्मिक अध्ययन करता था। नवदीक्षित क्षुल्लिका जो १०५ वीरमती के नाम से जानी जाती थी, एक वर्ष पूर्व इसी नगर की कुमारी मैना के नाम से एक ऐसी अनोखी लाडली बेटी थी जिसका बालापन से ही सारा समय ध्यान, अध्ययन, मनन, चिंतन मे व्यतीत होता था। हम सब छात्रो को पढ़ाने के बाद आचार्य श्री क्षु० मैना, जो क्षु० वीरमती के नाम से जानी जा रही थीं, को गोम्मट सार ग्रथ की शिक्षा देते थे और आचार्य श्री स्वय अग्रेजी भाषा का अभ्यास करते थे। वही क्षु० वीरमती आज भारत-गौरव महान् विदुषी आर्यिकारत्न ज्ञानमती जी के नाम से सुविख्यात हैं। आचार्य श्री हम सब छात्रों को कक्षा योग्यता के आधार पर धार्मिक शिक्षण देते थे जिसका प्रभाव आज तक मानस-पटल पर तथावत् अकित है। आचार्य श्री के प्रभावक, आकर्षक एवं बोधपूर्ण शिक्षण पद्धति का प्रभाव जीवन भर के लिए प्रवृत्तिमूलक हेतु बन गया।

एक दिन आचार्य श्री का अन्तराय हो जाने से आहार नहीं हुआ। हम छात्रों मे से कुछ ने आचार्य श्री के इस अन्तराय से दुःखी होकर भावावेश मे एकासन कर लिया। दूसरे दिन प्रातः से ही हम लोगों को क्षुधा व्याकुलता पैदा करने लगी। प्रातः प्रार्थना के बाद लगभग ७ बजे जब हम सब आचार्य श्री के चरणो मे पढने बैठे तो क्षुधा-वेदना के कारण पढ़ने मे मन नही लग रहा था। जीवन में पहली बार भावावेशी एकासन व्रत धारण किया था। आचार्य श्री हम सब की अन्तर पीड़ा को भाँप रहे थे। अचानक एक सिंघाडा बेचने वाला आवाज लगाते हुए निकला। हम सब उस तरफ देखने लगे तो आचार्य श्री ने कहा—सिंघाड़े की तरफ दृष्टि है, पढ़ने की तरफ नही! मेरे पास तो पैसा ही नहीं जिससे मैं खरीद कर तुम सबको खिला दू! आचार्य श्री का कहना था कि सिंघाडा बेचने वाला बिना कुछ कहे गली से हमारे कमरे की ओर मुड़ा और अन्दर चला आया तथा पूरी टोकरी उँड़ेल कर आचार्य श्री से प्रार्थना करने लगा कि गुरुकुल के इन बच्चो को यहाँ की समाज नानाविध व्यंजन खिलाकर प्रसन्न हो तो क्या मैं रूखे-सूखे सिंघाड़े खिलाकर हर्षित नही हूगा। इन्हे स्वीकार करने की अनुमति देने की कृपा करें। आचार्य श्री मुस्कराए कि हम लोगों ने सिंघाड़े खाना शुरू किए। विक्रेता हर्षित होकर छील-छील कर दे रहा है और हम सब लोग हर्षित होकर खा रहे हैं! उसे खिलाने मे हर्ष हो रहा था, हम सबको खाने मे आनन्द आ रहा था। आचार्य श्री ने मुस्करा कर कहा—बोलो अब भावावेश मे क्या एकासन फिर करोगे? हम लोगों ने निडरता से कहा—"हाँ, महाराज जी का अगर अन्तराय हुआ तो फिर करेंगे।" आचार्य श्री हम लोगों की बालभक्ति पर प्रमुदित हुए और ऐसा मंगल आशीर्वाद दिया कि जो जीवन की राह में प्रतिपल फलीभूत हुआ। हमे गौरव है भारतरत्न आचार्य श्री को शिक्षा गुरु के रूप से स्मरण करने पर। यद्यपि धर्म गुरु के रूप मे आचार्य श्री विश्व के जनों को पंचपरमेष्ठि के रूप मे त्रिकाल वदनीय तो हैं ही! उनके श्री चरणों मे कोटिशः नमन है।

□

समन्वय सेतु

पं० मोतीलाल 'विजय'

यह भारत का ही नही अपितु समस्त मानव समाज का सौभाग्य है कि इस युग के प्रखर तपस्वी, श्रमणराज, सरस्वतीपुत्र, बालब्रह्मचारी आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज को उनकी मानव जाति की सेवाओ के अनुरूप और आध्यात्मिक, धार्मिक तथा सामाजिक उन्नयन के प्रयासो के फलस्वरूप एक अभिनन्दन ग्रन्थ उनके करकमलो मे समर्पित किए जाने का सकल्प साकार हो रहा है। जैनधर्म, दर्शन, संस्कृति तथा साहित्य को नये परिवेश मे जनसामान्य मे लाने का भगीरथ प्रयत्न आचार्य श्री ने किया है, इसमे दो मत नहीं। वे इस युग के मान्य दिगम्बर जैन साधु हैं। बीसवी शती के प्रारंभिक दशको मे जब दिगम्बर जैन साधु क्वचित् पाए जाते थे उस समय चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी महाराज तथा हमारे चरितनायक श्रमणराज देशभूषण जी महाराज ही ऐसे साधु थे जिन्होंने दिगम्बर जैन साधुओ की परम्परा को नवीन जीवन दिया। "असिधारा व्रत" समझा जाने वाला साधु का पद इतना सरल-सुगम नही जितना समझा जाता है। यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि साधु परम्परा को अक्षुण्ण रखने मे दक्षिण भारत सर्वथा प्रथम रहा है।

मैसूर (अब कर्नाटक) प्रान्त के बेलगाव जिला मे स्थित कोथली ग्राम वह सौभाग्यशाली ग्राम है जहाँ आचार्य श्री ने जन्म लिया था। उनके पिता सत्यगौड़ा पाटिल तथा माता अक्कादेवी धर्मनिष्ठ श्रावक-श्राविका थे। बचपन का उनक नाम था बालगौड़ा उर्फ बालप्पा। क्षुल्लक जिनभूषण जी महाराज आचार्य श्री के काका थे।

आचार्य श्री बाल्यावस्था से ही इस असार ससार से विरक्त रहते थे। उनके जन्मस्थल में एक बार नाटक मडली आई। शुकदेव परमहंस हिन्दू संन्यासी का अभिनय कौन करे यह समस्या आने पर इन्होने तत्काल उसे स्वीकृत किया। नारद का पाठ भी ये कर चुके हैं। जो बाल्यावस्था मे विरक्तिपूर्ण अभिनय करते थे वे अब साक्षात् निर्ग्रन्थ साधु के रूप मे विराजमान हैं।

श्रमणराज के दीक्षा गुरु १०८ जयकीर्ति महाराज हैं जिन्होने कुथलगिरि मे दीक्षा दी थी। आत्मविकास के प्रेरक तो १०८ चारित्रचक्रवर्ती शांतिसागर जी महाराज को स्वीकारते हैं। आचार्य पायसागर जी की स्वीकृति से (सूरत मे) इन्हे आचार्य पद से समलंकृत किया गया। तपोनिधि आचार्य श्री ने समस्त भारत मे पदयात्रा करते हुए भारतीय सस्कृति के सन्देश को बहुविध प्रचारित-प्रसारित किया है। वे ऐसे सन्त हैं, जिनसे जैन व जैनेतरो मे देश के ही नही अपितु विदेशी राजदूत, भ्रमणार्थी प्रभावित हुए हैं। भूतपूर्व राष्ट्रपति स्व० श्री फ़खरुद्दीन अली अहमद, उपराष्ट्रपति स्व० डॉ० राधाकृष्णन जी तथा गोपालस्वरूप जी पाठक तथा स्व० प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री जी भी आपकी धर्मसभाओ मे सम्मिलित हुए।

अनेक केन्द्रीय, प्रान्तीय मत्री गण, प्रशासनिक अधिकारी, न्यायविभाग के सर्वोच्च अधिकारी, बौद्ध साधुगण, जर्मन गणतंत्र के राजदूत सहित सैकड़ो ऐसे भक्तगण है जो आचार्य श्री के दर्शन कर कृत-कृत्य हो चुके हैं। इनमें सर्वश्री पी० सी० सेठी पूर्व केन्द्रीय मन्त्री, कर्नाटक हाइकोर्ट के रिटायर्ड जज तथा बगलोर विश्वविद्यालय के उपकुलपति टी० के० तुकोल, सम्पूर्णानन्द जी राज्यपाल राजस्थान, पूर्व केन्द्रीय मंत्री श्री गुलजारी लाल नन्दा, भूतपूर्व राष्ट्रीय कांग्रेसाध्यक्ष ढेबर भाई, सुप्रीम कोर्ट चीफ जस्टिस वेंकटरमण अय्यर, सेठ जुगलकिशोर बिरला, पूर्व केन्द्रीय मत्री मोहनलाल सुखाडिया, डा० दौलतसिह कोठारी विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के पूर्व अध्यक्ष, राजमाता गायत्री देवी जयपुर, जयन्तीलाल मोदी, सूरत, मैसूर के मुख्यमत्री श्री निजलिंगप्पा तथा श्री धर्मवीर राज्यपाल बगाल व केन्द्रीय मंत्री ब्रह्मानद रेड्डी के नाम उल्लेखनीय हैं।

आचार्य श्री जैनधर्म सहित सम्पूर्ण मानव धर्म के रक्षक हैं। सन् १९६५ मे दिल्ली मे आयोजित विश्वधर्म सम्मेलन के आयोजन में प्रमुख भूमिका आचार्य श्री देशभूषण जी की ही थी। उन्होंने भारत के अनेक जैन तीर्थों पर चातुर्मास करते अथवा अल्पकालिक प्रवास पर रहते हुए अनेक निर्माण कार्यों को प्रोत्साहित किया है। भारत की आध्यात्मिक राजधानी अयोध्या जी में ३३ फुट ऊँची भगवान् ऋषभदेव की मोहक व दर्शनीय प्रतिमा जैनधर्म का सन्देश प्रसारित कर रही है। इसी प्रकार कोल्हापुर (महाराष्ट्र) में आचार्य श्री की प्रेरणा से २५ फुट ऊची आदिनाथ भगवान् की प्रतिमा स्थापित की गई है। जयपुर नगर मे खानिया के निकटवर्ती पर्वत चूलगिरि पर चौबीसी

का निर्माण धर्मप्रभावना तथा लोककल्याण का जीता-जागता उदाहरण है। उपरोक्त मूर्तियों के निर्माण के पीछे महाराज श्री की भावना यह रही है कि विशाल जिनबिम्बों के निर्माण से लोगों में धर्म की जागृति होगी तथा वे स्व-कल्याण की ओर प्रवृत्त होंगे ।

आचार्य श्री का हीरक जयन्ती समारोह सन १९६४ ई० मे कोथली कुप्पनवाडी में लगभग २५,००० भक्तों, श्रोताओं के समक्ष कर्नाटक के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री निर्जलिंगप्पा की उपस्थिति मे मनाया गया था। इसी प्रकार पांच वर्ष बाद सन् १९६९ ई० में उनका जन्मोत्सव बेलगाव मे बड़े वैभव के साथ कर्नाटक के राजस्वमंत्री एच० व्ही० काजलगी की विशेष उपस्थिति मे तथा कर्नाटक के उच्च न्यायालय बैंगलोर के जज श्री टी० के० तुकोल की अध्यक्षता में मनाया गया। इस सुअवसर पर प्रान्त के अनेक भाषाविद्, विद्वान् व प्रदेश शासन के अधिकारीगण उपस्थित थे।

भारत की दिवगत प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी सर्वधर्म समन्वय की अनोखी प्रतिमूर्ति थीं जो समभाव से ऐसे कार्यक्रमों को विशेष रुचिपूर्वक सम्पन्न कराने हेतु अग्रणी रहती थी। १२ अप्रेल १९७२ को भारतीय ससद् भवन सचमुच धन्य हो गया जब भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव आयोजन की राष्ट्रीय समिति की बैठक के सुअवसर पर आचार्यरत्न देशभूषण जी स्वयं संसद् भवन पहुंचे। बैठक की अध्यक्षता श्रीमती इन्दिरा गाधी कर रही थीं।

आचार्य श्री अनेक भाषाओ के ज्ञाता हैं। साथ ही ग्रन्थ प्रणेता भी। उन्होंने मां भारती की सेवा करते हुए अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। वे जिनमन्दिरो, सस्थाओं, विद्यालयों, पुस्तकालयों, पाठशालाओं व औषधालयों के साक्षात् उद्धारक हैं। वे ऐसे पारस हैं जिनके सम्पर्क में आते ही सस्थाए प्रगति के पथ पर चल पडती हैं ।

आचार्यश्री समन्वय के सेतु हैं उनके उपदेशों में सर्वधर्म समभाव के दर्शन होते हैं। वे स्फूर्त, जीवन्त विश्वधर्म के पोषक-प्रचारक हैं। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह को जीवन मे उतारते हुए उन्होंने लाखो व्यक्तियों का उद्धार किया है, व्यसनो से छुड़ाया है तथा सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी है। बालब्रह्मचारी, तपोनिष्ठ साधु, उपसर्ग विजेता, आध्यात्मिक सन्त का व्यक्तित्व इतना चुम्बकीय है कि देश-विदेश के सैकड़ो भक्त उनके दर्शनार्थ पहुचते हैं। सन् १९६४ जनवरी मे अमेरिकन प्रोफेसर डॉ० लूथर कोपलेन्ड दिल्ली मे आचार्य श्री से मिलकर प्रभावित हुए व नियमादि ग्रहण किए। ऐसे ही अनेकों उदाहरण हैं ।

दिगम्बर जैन साधुओं में इस समय सर्वाधिक चर्चित व प्रभावशाली हैं आचार्यरत्न देशभूषण जी, उनके सुशिष्य एलाचार्य विद्यानन्द जी तथा युवा आचार्य विद्यासागर जी। पूर्ण विश्वास है कि जिस प्रकार आचार्य विद्यानन्द जी, भट्टारक चारुकीर्ति जी तथा श्रीमती इन्दिरा गांधी की विशेष रुचि से विगत २२ फरवरी १९८१ को भगवान् बाहुबलीजी के सहस्राब्द प्रतिष्ठापन महोत्सव पर श्रवणबेलगोल में जैनधर्म की जयपताका फहराई गई है उसी प्रकार भविष्य मे भी जैनधर्म व संस्कृति का प्रसार उक्त साधुत्रयी द्वारा होता रहेगा।

श्री जिनेन्द्र देव से प्रार्थना है कि वर्तमान युग के प्रधान दिगम्बर साधु आचार्य श्री देशभूषण शतायु होकर मानवधर्म का प्रचार करते हुए जैनधर्म को विशेष सरक्षण प्रदान करें ताकि अहिंसा धर्म फले-फूले । □

आचार्यरत्न अलीगढ़ नगर में

डॉ० महेन्द्र सागर प्रचंडिया
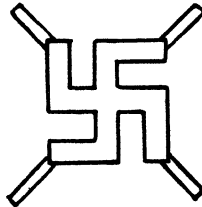
श्रमण सत प्राय: पद-यात्री होते हैं। वे मूलत. अपरिग्रही होते हैं। उनकी चर्या समितियों—ईर्या समिति, भाषा समिति, आदान निक्षेपण समिति और प्रतिष्ठापन समिति—से अनुप्राणित हुआ करती है। वर्षा-वास मे उन्हे लगभग चार महीने तक एक ही स्थान पर टिकना होना है। ईर्या समिति उन्हे वर्षा-ऋतु मे पंकिलपथ पर चलने की अनुमति नही देती।

कोई भी नगर उसके सुधी नागरिकों से शोभा प्राप्त करता है। नागरिको की शोभा सतों के समागम से हुआ करती है। जीवनचर्या मे उत्पन्न प्रमाद-प्राधान्य और आसक्ति-अतिशय सत आगमन से प्राय: शान्त होता है। सतो के उपदेशामृत से तथा उनकी सुधी चर्या से जो प्रभावना होती है उसे सामान्यत. शब्दायित नही किया जा सकता। जिनवाणी मे भगवान् जिनेन्द्र का कल्याणी संदेश व्यजित रहता है। संतों की चर्या वस्तुत: जिनवाणी की प्रयोगशाला है। विश्व के विविध धर्म-समुदाय और उनके अनुयायी सत समय-समय पर कल्याणकारी चर्या-फलक प्रस्तुत करते रहे हैं, परन्तु जैन धर्मानुयायी सत सामान्यत सरल और विरल होते हैं। उनकी चर्या निखिल विश्व मे निराली और निरुपमेय होती है। उसमे समता का सदेश कदाचित् सर्वोपरि होता है। पहली और अकेली उनकी तत्त्व-बोधक चर्या व्यक्ति मे व्याप्त विभु बनने की अद्भुत शक्ति का भान कराती है। उनकी दिगम्बरी मुद्रा और नासादृष्टि अग-अग मे अतरग आलोक विकीर्ण करती है। ऐसे आलोक को पाकर प्रापक ममता का अत कर समता से सराबोर हो जाता है।

अलीगढ अद्भुत नगरी है। मध्यकाल में वैचारिक दृष्टि से जो स्थान चित्तौडगढ़ का था वही अधुनातन काल मे अलीगढ़ का है। यहां हिन्दू-मुस्लिम दो भिन्न संस्कृतिया अभिन्न रूप मे जीवित हैं। यहा अनेक धर्मावलम्बियो का समागम होता रहता है। देश-देशान्तरों के विख्यात विचारको की वाणी-व्याख्या से यह नगरी लाभान्वित होती रही है। आश्चर्य की बात यह है कि दशाब्दियों से यहा जिनेन्द्र अनुयायियो के बीच श्रमण सत का मगल आगमन नही देखा-सुना गया। सामान्य लोगो की बात तो दूर जैन लोग भी उनकी चर्या से अभिज्ञ रहे। अधिकाश लोगो को उनकी आहार-विधि, वैयावृत्ति का ठीक-ठीक ज्ञान नही रहा। वास्तविकता यह है कि ये सारी बातें प्रयोग की हैं। पोथियो से ये बाते सामान्य जनता की परिधि स्पर्श नही कर सकती। ऐलक, क्षुल्लक तथा आर्यिका जैसी सत-भेदी सज्ञाओ से आज का सामान्य नवयुवक परिचित नही रहा है। नमोऽस्तु और इच्छामि कहा और किसको करनी चाहिए, सामान्यत: इसे वह नही जानता।

ऐसी अवस्था मे आज से लगभग एक-डेढ़ दशाब्द पूर्व श्रमणसत परम्परा के बेजोड विश्रुत आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषण जी महाराज का मगल आगमन अलीगढ मे हुआ था। उनके शुभागमन से तपतपाती ज्येष्ठ की तपन भी शान्त हो चली थी। आकाश में अनाहूत दल के दल बादल आच्छादित होने लगे थे। वातावरण मानो सतशिरोमणि का स्वागत करने के ब्याज से यह परिवर्तन कर रहा हो। सभी जनमन हर्षित और गर्वित हो उठे थे। नक्षत्री जीवो के पवित्र चरणों के पडने से सारे ताप नि:स्ताप होने लगते हैं। सारा वातावरण सुखद और सहज हो उठता है। उस समय सारा अलीगढ़ सुख अनुभव करने लगा था।

श्री उदयसिंह जैन कन्या कालिज प्रागण मे महाराजश्री का प्रवास था। उस समय अलीगढ की पडित परम्परा का प्रतिनिधित्व कर रहे थे जातिरत्न प० इन्द्रमणि जैन वैद्य शास्त्री। उनके निर्देशन मे आचार्यरत्न और उनके संघ की विधिपूर्वक व्यवस्था की गई थी। लोग जैन सतो के प्रवचन को सुनकर प्रभावित हुआ करते है किन्तु उनकी चर्या को देख सुनकर अतिशय धर्म की प्रभावना हुआ करती है। जैन-जैनेतर जनसमूह उनके प्रवचन को सुनने के लिए समय पर उपस्थित होता। कुछ ही समय में पिच्छी और कमंडलु की महिमा जन-जन में मुखर हो उठी। प्रवचन मे जैन धर्म के सच्चे स्वरूप को सुनकर लोगो में सुखानुभूति हो उठी। विशेषकर वे लोग संतोषित हुए जिनके मन मे जैन धर्म के प्रति भ्रान्त धारणाएं व्याप्त थी। उदाहरण के लिए जैन धर्म के चलानेवाले भगवान् महावीर स्वामी थे—सामान्यत. जनसमूह की यह धारणा निर्मूल हुई और यह बात जानकर बहुतो को भारी आश्चर्य हुआ कि महावीर से बहुत पहले तेईस और तीर्थंकर हुए हैं जिनमे ऋषभदेव पहले तीर्थंकर थे। जैन धर्म मे किसी व्यक्ति विशेष की

उपासना नहीं की जाती। यहां तो गणों का चिन्तवन किया जाता है। णमोकार मंत्र का विश्लेषण सुनकर अनेक अजैन तथा जैन भाई आनन्दित हुए थे। जैन संतों की चर्या और जिनवाणी की महिमा के विषय में उस समय जो भावना उत्पन्न हुई, उसका श्रेय महाराजश्री के पवित्र प्रवचन को ही जाता है। जैनेतर जनमन में व्याप्त नंगे बाबा आज के पूजनीय सुधी संत बन गए। साक्षर और निरक्षर सभी महाराजश्री के दर्शनों के लिए लालायित रहते। अनेक हिन्दू आर्यसमाजी तथा मुसलमान भाई अनाहूत प्रवचन सभा में उपस्थित देखे गए। यहां सभी के विरोध अनुरोध में बदलते देखे गए। महाराजश्री के अलीगढ़ प्रवासकाल में मध्यप्रदेश, दिल्ली, राजस्थान, महाराष्ट्र आदि प्रान्तों से पधारे भक्त जनों ने अलीगढ़ नगरी को प्रान्त-प्रान्त की संस्कृतियों का संगम ही बना दिया। अलीगढ़ एक में अनेक और अनेक में एकमुखी हो उठा। अनेक मुसलमान भाइयों ने उपस्थित होकर धर्म-लाभ उठाया।

यद्यपि महाराज की मातृभाषा हिन्दी नहीं है तथापि उनकी अभिव्यंजनात्मक प्रभावना वस्तुतः उल्लेखनीय है। उनके मुख से जो भी शब्द निकलता वह होता पूरा का पूरा उनकी चारित्रिक चारुता से ओत-प्रोत। पढ़े-अनपढ़े एक साथ उनके प्रवचन को सुनकर सुखानुभूति करते। आचार्यश्री की आचार-चर्या देखकर, सुन-समझकर सामान्य लोग दांतों तले उंगली दबा उठते। इतना बड़ा विद्वान् और चौबीस घंटे में एक बार सीमित अन्न-जल और वह भी अन्तराय उत्पन्न न होने पर। इस प्रकार की कठोर और विरल आहार-विधि संसार में दूसरी जगह देखने को नहीं मिल सकती। वाणी संयम कोई उनसे सीखे। किसी भी परम्परा का विरोध किए बिना अपनी बात सरल शब्दावली में उपन्यस्त कर सन्मार्ग पर चलने की आदर्श देशना सुनते ही बनती थी। आचार्यश्री के चारित्र से प्रभावित होकर अनेक व्यक्तियों ने छने पानी तथा दिवाभोजन करने का संकल्प लिया था। अनेक मुसलमान और सरदार भाइयों ने मांसाहार का त्याग किया था। आचार्यश्री का अलीगढ़ प्रवास जैनों के अतिरिक्त जैनेतर समुदाय में भी समादृत रहा। □

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

डॉ० कैलाशचन्द्र जैन (राजा टॉयज)

परमपूज्य आचार्य देशभूषण जी महाराज जैन समाज की ही नहीं, अपितु राष्ट्र की विभूति हैं। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी ने महाराज जी की शक्ति को समझा था। महाराजश्री ने भूवलय ग्रन्थ की शोध की थी, प्रकाशन भी कराया था। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी को भी दिखाया था। वे उससे इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने शासन की ओर से भूवलय ग्रन्थ की माइक्रो फिल्म तैयार कराकर महाराज श्री को भेंट की थी। महाराजश्री ने वह फिल्म मुझे दी थी। मैंने कई बार उसका प्रदर्शन भी किया था। यह करीब १५ वर्ष पहले की बात है, परन्तु मैं उसकी ठीक-ठीक सुरक्षा नहीं कर पाया। शायद भाई रघुवर दयाल जी शक्तिनगर निवासी को कुछ पता हो। वह कहीं खो गयी मालूम पड़ती है।

भूवलय ग्रन्थ में शब्दों को गणित के १ से ९ तक के अंकों में परिणित किया गया था और गणित के अंकों को महाराजश्री ने शब्दों में परिवर्तित कराया था। कैसी मीनाकारी से अंकों में GEOMETRICAL SHAPES से वह ग्रन्थ लिखा गया था। मेरा पूर्ण विश्वास है कि यदि किसी बड़े विश्वविद्यालय में राष्ट्रीय स्तर पर उस ग्रन्थ पर शोध कराया जाये तो COMPUTER SCIENCE को एक बड़ी भारी मदद मिल सकती है। यदि भाषाओं को गणित के अंकों में परिणित किया जा सके तो विश्व की समस्त भाषाएँ एक ही लिपि में लिखी जा सकती हैं।

आचार्य श्री देशभूषण महाराज जी ने करीब १५ वर्ष पहले पूजा पाठ संग्रह नामक एक विशाल ग्रन्थ प्रकाशित कराया था। उसमें सम्बन्धित विषय का अपूर्व संग्रह था। वैसा संकलन कहीं अन्यत्र नहीं दिखा। महाराज श्री के सान्निध्य में जितने भी ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उनको बहुत सावधानी और मेहनत के साथ किसी अच्छे संग्रहालय में रखने की आवश्यकता है। उनकी रचनाओं में अमूल्य निधि संगृहीत है।

पूज्य एलाचार्य विद्यानन्द जी महाराज और आर्यिकारत्न ज्ञानमती माताजी पूज्य आचार्य महाराज की समाज को देन हैं, जिनके द्वारा समाज के आध्यात्मिक वैभव को चार चांद लग रहे हैं और भविष्य में और भी अधिक लाभ संभावित हैं। ऐसे आचार्य श्री के चरण-कमलों में मेरा सश्रद्धा प्रणाम निवेदित है। □

स्मृतियां जो धुंधलायी नहीं

श्री बसन्त कुमार जैन शास्त्री

(१)

जयपुर के दीवानजी के मन्दिर में आचार्य देशभूषणजी महाराज के मंगल प्रवचन सुबह आठ बजे से नौ बजे तक होते हैं, यह जानकर हमारा मन भी महाराजश्री के उपदेश सुनने को हुआ। मैं अपने मित्र जाहिद अली, गंगाशंकर और किशोर वर्मा के साथ समय निकाल कर उपदेश सुनने जाने लगा। उस समय मैं दसवी कक्षा का छात्र था। मेरे मित्र जाहिद अली मुसलमान, गंगाशंकर ब्राह्मण तथा किशोर वर्मा राजपूत थे। एक दिन रविवार को हम सुबह छह बजे ही आचार्यश्री के सान्निध्य मे उपस्थित हुए। आचार्यश्री प्रतिक्रमणादि कार्यक्रम से निवृत्त हुए ही थे। हमे देखकर बोले—"स्कूल मे पढ़ते हो ?" हमने नम्र हो उत्तर दिया—"हां, महाराज !" "कुछ संयम भी है या नही ?", यह दूसरा प्रश्न था महाराजश्री का। "महाराज हम पढ़ने वाले लोग हैं। खूब पढ़कर याद कर लें, यही हमारे लिए संयम है"—मैंने ही नम्र हो उत्तर दिया। किंचित् मुस्कुराते हुए आचार्यश्री ने कहा—"पढ़ना, याद करना, यह एक लक्ष्य है विद्यार्थी का, लेकिन इस लक्ष्य की पूर्ति होती है संयम से। और वो संयम होता है—सदाचार, शुद्ध खानपान, नियमित खानपान, नियमित रहन-सहन।"

"मुझे संयम दे दीजिए महाराज", मेरे मित्र जाहिद अली ने निवेदन भाव से कहा। महाराजश्री ने गौर से देखा और बोले—"अंडा छोड़ सकोगे ? मांसभक्षण छोड़ सकोगे ?—ये दोनों ही मस्तिष्क और विचारो को तामसिक और कुण्ठित बना देते हैं। "मैं आज से ही छोड़ता हूं महाराज।"—स्वीकृति के भाव से जाहिद अली ने नम्र होकर कहा। तभी किशोर वर्मा ने भी अंडा छोड़ देने का नियम लिया। अब गंगाशंकर की ओर लक्ष्य करके महाराज श्री ने कहा—"तुम रात्रि भोजन त्याग कर सकते हो ?" वह सुनकर गंगाशंकर चौंका। मैंने बीच में ही कहा—"अन्न की वस्तुएँ रात को नहीं खाना।" अपना समाधान पाकर गंगाशंकर प्रसन्न हो कह उठा—"आज से ही रात्रि भोजन का त्याग है महाराज।"

आज इस प्रसंग को तीस वर्ष हो गए। मेरे उक्त तीनो साथी अब भी संयमित हैं तथा सम्पन्न हैं। जब मिलते हैं तो कहते हैं—"हमारी सम्पन्नता का राज है, महाराज देशभूषण जी द्वारा दिलाया गया संयम।"

(२)

बिहार में भागलपुर जिले के एक गांव से आए हुए यात्रा-संघ में से तीन (मां, बेटा और बेटे की बहू) महाराजश्री के चरण सान्निध्य मे बैठे हुए थे। मैं भी अपने रिश्तेदारों के साथ दर्शनार्थ गया हुआ था। सब महाराजश्री को नमोस्तु कह-कहकर चलते रहे। मैं बैठा रहा और तीनो वे बैठे रहे। अनायास ही महाराज श्री ने अपने आपमे सिमटी हुई उस मां से पूछा—"यह तेरा बेटा-बहू है ?" अपने को सम्बोधित पाकर मा ने हिचकते हुए 'हां' में सिर हिलाया। कुछ देर मौन रहकर महाराजश्री ने फिर पूछा—"जीवन में संयम बड़ी चीज है। कुछ संयम रखा है ?" इस बार मां ने अपनी गीली आँखें साफ करते हुए कहा—संयम ही संयम है महाराज। हम ग़रीब हैं। इसके पिताजी का स्वर्गवास हो गया। एक दुकान पर छोटी-सी नौकरी करता है। हमारा गुजारा ही मुश्किल से हो पाता है।—फिर भी महाराज आप इन्हें कुछ नियम दे ही दीजिए। आपका आशीर्वाद फलेगा-फूलेगा तो जीवन नैया पार हो जायेगी।

महाराजश्री ने इस नवदम्पति को अणुव्रत दिलाए। परिग्रह-परिमाण अणुव्रत में पूछा "कितनी सम्पत्ति रखने का नियम लेते हो ?" उत्तर मे फिर मां ही बोली—"चार कमरों का एक मकान है, जेवर जो भी है इसके तन पर है। पैसा संचित है नहीं। सम्पत्ति है ही कहां महाराज।" इस बार मैं बीच में बोल पड़ा—"अजी, फिर भी लाख-दो लाख के परिग्रह का परिमाण तो ले ही लो।" मेरी बात सुनकर मां फीकी-सी हँसी में बोली—"क्यों पाप बँधाते हो लाला ? जो है उसी से गुजारा हो जाये तो बहुत।"

महाराजश्री ने कहा—अच्छा तुम दोनों पति-पत्नी चार लाख परिमाण का नियम ले लो। इससे अधिक सम्पत्ति का त्याग कर दो।—और अपने भाग्य की विडम्बना का परिहास करते हुए दोनों ने चार लाख की सम्पत्ति का परिमाण अणुव्रत लेकर चरणों में सिर झुकाया। तभी आहार का समय हो आया था, अतः सब उठ खड़े हुए। इस परिवार से मैं विशेष परिचित-सा हो गया था।

समय व्यतीत हुआ। मैं फरवरी सन् ७३ मे चम्पापुर गया हुआ था। मन्दिर से दर्शन कर बाहर निकल ही रहा था कि दोनों पति-पत्नी ने मुझे टोका—अरे बसन्तजी ! आप यहाँ ? मैंने उन्हे गौर से देखा। पहचानने की कोशिश की। दिमाग पर ज़ोर देकर सोचने लगा कौन हैं ये लोग ? मुझे कैसे जानते हैं ?—तभी पत्नी ने मुझे झकझोरा...अरे ! आप हमे भूल गए !—आपसे हमारी भेंट हुई थी जयपुर खानिया जी मे, आचार्य देशभूषणजी महाराज के पास। मेरी स्मृति जागी। मैंने उन्हे गौर से देखा और बोला...लेकिन आप तो......।

मुझे उन्होंने बोलने नहीं दिया। बीच में ही पति महोदय बोले—उस वक्त हम बहुत ग़रीब थे। भाग्य ने पलटा खाया तो आज लाखपति हो गए। हम महाराज के पास ही होकर आए हैं। हर वर्ष जाते हैं। और वे मुझे अपनी कार मे बिठा कर भागलपुर घुमाने ले गए। भागलपुर में बने अपने सादा बंगले पर ले गए। अन्त में कहने लगे—भैया ! महाराजश्री का आशीर्वाद और उनकी दूरदर्शिता अपार है।

आचार्य श्री मेरठ पधारे तो रानी मिल के जैन मन्दिर में रात्रि को विश्राम किया। दूसरे दिन सुबह महाराजश्री ने अनेक मार्मिक अनुभव सुनाए जो आध्यात्मिक जीवन में एक पारसमणि के समान हैं। जी चाहता है कि निरन्तर आचार्यश्री का सान्निध्य मिलता रहे। □

युगाचार्य महान् सन्त

श्री पन्नालाल जैन

पंच, प्राचीन श्री अग्रवाल दिगम्बर जैन पंचायत, दिल्ली

भारत में महाराजश्री दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के महान् सन्त हैं। महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश,, गुजरात, राजस्थान, हरियाणा, दक्षिण कर्नाटक और दिल्ली सभी प्रांतों मे आप ने पदयात्रा करते हुए अहिंसा धर्म का प्रचार किया है। वृद्ध अवस्था में भी आप घोर तपस्या कर रहे हैं। भगवान् ऋषभदेव की जन्मभूमि अयोध्या जी मे नाममात्र के दो-तीन जैन घर थे। इस स्थान पर महाराज श्री के सान्निध्य मे एक बहुत ही आलीशान भगवान् ऋषभदेव के विशाल जिनमंदिर का निर्माण किया गया है। जयपुर नगरी के चूलगिरि पहाड पर भी भगवान् पार्श्वनाथ जी का एक भव्य जिनमंदिर लाखो रुपये की लागत से निर्मित किया गया है। कोथली गांव कर्नाटक राज्य में एक सुन्दर पहाडी पर लाखो रुपये की लागत से एक सुन्दर मंदिर बनाया गया है। अभी तक भी इस मन्दिर जी के लिये निर्माण कार्य हो रहा है। दिल्ली में भी देहली कैण्ट, शक्तिनगर, बर्फखाना सब्जीमण्डी आदि कई स्थानों पर मन्दिर जी व अन्य धार्मिक संस्थाओं का निर्माण कराया गया है। महाराजश्री ने अनेक बड़े-बडे ग्रन्थ लिखकर प्रकाशित कराये हैं।

दिगम्बर जैन आचार्यों, मुनियों पर कितने ही उपसर्ग आए। कई प्रांतों में विहार करने पर अजैनों ने आपत्ति उठाई। कलकत्ता, हैदराबाद, जबलपुर आदि स्थानों पर भी उपसर्ग हुए। महाराजश्री ने इन उपसर्गों को अपनी घोर तपस्या से सहन किया है और वहाँ की राज्य सरकारों ने मुनि संघ को पूरी तरह मान्यता दी है और इन उपसर्गों को दूर कराया है। जो व्यक्ति महाराजश्री के विहार में आपत्ति या उपसर्ग कर रहे थे उनको कामयाबी नहीं मिल सकी और निराश होना पड़ा। यहा तक कि बाद मे उन्होंने महाराजश्री के चरणों में आकर नमस्कार किया है। वास्तव में महाराजश्री इस युग के सबसे बड़े आचार्य और महान् संत हैं। उनके सम्मुख जैन या अजैन, छोटा या बड़ा कोई भी व्यक्ति आता है तो वह महाराजश्री का सम्मान करता है और महाराजश्री की तपस्या को देखकर उसका मन श्रद्धालु हो जाता है। □

भूली-बिसरी यादें

श्री निहालचन्द्र जैन

अयोध्या के आचार्य देशभूषण दिगम्बर जैन गुरुकुल के अधूरे अध्याय मे करुणावन्त, आचार्यरत्न पूज्य श्री देशभूषण जी महाराज के जीवन दर्शन का एक सम्पूर्ण सत्य उद्घाटित होता है। आज से ३० वर्ष पहले आपके अन्तस्तल मे समाज के साधन-विपन्न किन्तु प्रतिभावान छात्रों की शिक्षा-दीक्षा और धार्मिक संस्कारों की इच्छा थी और हृदय समाज के इन नन्हें घटकों के लिए ज्ञान-ज्योति-किरण सुलभ कराने की पावन भावना से आर्द्र था। सन् १९५० में अवधप्रान्त में मंगल विहार करते हुए आप तीर्थराज श्री अयोध्या जी पधारे थे। उस समय जैन मन्दिरों, जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी, जैन धर्मशाला पर ब्राह्मणों का अतिक्रमण देखकर आपके महर्षि-मन पर तीर्थराज के भावी स्वरूप पर प्रश्नचिह्न लगा होगा। अतः स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी की भाँति यहाँ भी एक जैन प्रतिमान (ज्ञान-स्मारक) स्थापित करने की एक योजना, एक संदृष्टि, उनके महर्षि भावों मे अवतरित हुई।

सन्तों के वचन, कार्य और परिणाम सार्वजनीन हित के लिए हुआ करते हैं। आचार्यरत्न की मंगलकामना से अभिभूत हो अवध प्रान्त के (विशेष रूप से लखनऊ, बाराबंकी, टिकैतनगर और फैजाबाद) श्रीमन्तो और सम्यक्त्वी श्रद्धालुओं ने आचार्यश्री की लोककल्याणी भावना को मूर्तवन्त करने हेतु दिगम्बर जैन गुरुकुल की स्थापना का संकल्प किया जो पूज्य आचार्यश्री के पुनीत नाम के साथ जुड़ा हुआ हो। आचार्यश्री के आशीर्वचन और मंगल आशीष से सन् १९५३ मे इसकी स्थापना हुई और इन पंक्तियों के लेखक को उस गुरुकुल का प्रथम छात्र होने का सौभाग्य मिला। मुझ जैसे और बीस-पच्चीस छात्र, जो श्रीमन्तो के बेटे नहीं थे तथा सनाथ होकर भी अनाथ का मासूम चेहरा लिये हुए साधनहीन थे, लेकिन जिनके हृदय मे शिक्षा और ज्ञान की प्यास थी, बुन्देलखण्ड को विदा कर यहाँ आये थे। आचार्यश्री का हृदय ऐसे ही बेटो के लिये आमन्त्रण दे रहा था। उनका सागर जैसा विशाल हृदय उन सीपियों को तलाश रहा था जो अपने मे कुछ कर गुजरने की आकांक्षा की स्वाति बूंद समेटे हुए मोती बनने की प्रतीक्षा कर रही थी।

आचार्यश्री अन्तर्द्रष्टा हैं। उन दिनों इस तीर्थ क्षेत्र पर बढ़ते विवादों और ब्राह्मण पुजारियों के स्वामित्व और अनधिकार चेष्टा से सम्पूर्ण क्षेत्र परिव्याप्त था। महाराजश्री इसे अहिंसात्मक ढंग से एक सौरभ मे बदलना चाहते थे। अतः उन्होंने एक ही विकल्प सामयिक और सारभूत समझा कि देश-प्रदेश के नन्हें-नन्हे घटक जैनधर्म, दर्शन और संस्कृति की शिक्षा लेते हुए एक सजग प्रहरी की भाँति इस तीर्थराज पर रहें और इसकी रक्षा मे अपना परोक्ष योग दें। यह भावना भी थी कि क्योंकि अवध प्रान्त की ही जैन समाज इस तीर्थराज के प्रति उदासीन थी, अतः इस तीर्थराज के प्रति समर्पित भाव तथा एकनिष्ठ भाव से कार्य करने के लिये यह विद्या केन्द्र सभी के लिये एक आकर्षण-बिन्दु बनेगा और लोग इस तीर्थराज के प्रति उन्मुख होकर इसके विकास मे अपना योगदान देंगे। सन् १९६५ में नवनिर्मित मन्दिर में ३२ फुट उत्तुङ्ग श्री आदिनाथ भगवान् की भव्य मूर्ति की प्रतिष्ठापना मे भी यही हेतुक जुड़ा हुआ है।

आज एक-एक करके अनेक घटनाएँ स्मृतिपटल पर आ रही हैं, जो हम सभी छात्रों ने पूज्य महाराज की अजस्र शक्ति से अनुप्राणित होकर की होंगी। कटरा स्थित जैनमन्दिर एवं विशाल धर्मशाला में ही गुरुकुल की स्थापना हुई थी, जिसके प्राङ्गण में एक बड़ी पाषाण पट्टिका लगी थी, जिसमे तत्कालीन ब्राह्मण पुजारी पं० सावरदत्त के दादा, परदादा के नाम लिखे थे और जिससे धर्मशाला पर इनके स्वामित्व की झलक उकेरी गई थी। हम अबोध बालकों ने उस पाषाण पट्टिका को उखाड़ फेंका। हमारी वह बाल विनोदमय क्रीड़ा उन पुजारी जी के लिये बगावत की एक चिन्गारी बन गई, जिसे बुझा देने के लिये पूरा वातावरण उत्तेजक हो गया। पण्डों और पुजारियों के लम्बे-लम्बे लट्ठ दिखाई देने लगे। सभी बालक एक अज्ञात भय से सिहर उठे। लेकिन जिसका कोई नहीं होता उसका ईश्वर होता है। आचार्यश्री का वरद् हस्त, मंगल शुभाशीष हम सभी के साथ था। किसी तरह पुलिस को खबर लग गई और दंगे की यह तैयारी आनन-फानन में टल गई। पुलिस ने शान्ति-स्थापना की कार्यवाही में विरासत का बखान करने वाली वह उखड़ी पट्टिका एक उखड़े दाँत की तरह पुनः किसी मसाले से जोड़कर वहीं लगा दी। बात आई-गई हो गई। लेकिन टूटा दाँत तो और भी पीड़ा देता है।

उसका पूरा उखाड़ जाना ही श्रेयस्कर है। अतः दूसरी बार वह पाषाण पट्टिका चुपचाप कब उखाड़कर फेंक दी गई, इसका किसी को कुछ पता नहीं चला!

यह घटना तो मंगलाचरण था आचार्यरत्न की भावना को मूर्तवन्त करने का, जिसकी कल्पना उन्होंने गुरुकुल की नींव में संजोयी थी। गुरुकुल के हम सभी बालक उस नींव के पत्थर की भाँति अनाम और अदृश्य होकर पड़े हुए थे और अपनी निर्बल बाहुओं में फौलाद बाँधे हुए गुरुकुल के उन्नत शिखर पर चमकते कंगूरे देखना चाहते थे और इस प्रकार हम आचार्यश्री की धर्मबुद्धि रूप मंगल भावना के अर्घ्य बन गये थे। इन अनदिखे नींव के जीवन्त पत्थरों को अवध प्रान्त की जैन समाज ने अपने हाथों सहलाया था। स्वर्गीय लाला उल्फतराय टिकैतनगर वालों की वे ममतामयी यादें आज मानस पटल पर एक संवेदनशील उद्रेक पैदा कर देती हैं। हम सभी के प्रति उनके हृदय में माँ-बाप जैसा प्यार भरा था। जब भी वे वन्दनार्थ तीर्थराज पर आते तो साथ में एक बड़ी टोकरी में मिठाई भर लाते और मिठाई के साथ-साथ प्यार-मुस्कराहट की मिठास भी लुटाते जाते थे। यदि ठण्ड में सिकुड़ते छात्रों को देखते तो लालाजी कहते तो कुछ नहीं थे, बस मन में बालकों का अभाव देखकर दूसरे माह थोक में सिले हुए कोट भेंट कर जाते।

इस प्रकार गुरुकुल की हर गतिविधि मे आचार्यश्री का नाम मन्त्र की भाँति जुड़ा हुआ था। मैं नाम की शक्ति को व्यक्ति से ज्यादा प्रभावशील मानता हूं। सागर का तटबन्ध बांधते हुए राम नाम लिखे पत्थर सागर मे तैरने लगे थे और उनसे सेतु बांधकर राम की सेना लंका पहुंच गई थी। यह राम से ज्यादा उनके नाम का ही महत्त्व था। ठीक ऐसे ही आचार्यश्री का नाम हम बालको की नसों का खून बन गया था। उनका नाम ही हमारा आराध्य, सद्गुरु और हमारा सम्बल था, क्योंकि अभी तक हम लोगों ने आचार्यश्री का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किया था। गुरुकुल की हर चुनौती हम लोगो को एक नई चेतना और प्रेरणा से भर जाती थी—फिर भले ही वह कभी उबले चने खाकर रह जाने की बात हो या खिचड़ी खाकर दिन काट देने वाली या प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझने की शक्ति। हमारे निर्बल हाथों में ताकत नहीं थी। लेकिन हम सभी के साथ आचार्य देशभूषण जी जैसे चारित्रचक्रवर्ती की अदृश्य शक्ति की छत्र-छाया सदैव रहती थी।

स्वर्गीय पं० कामताप्रसाद जी न्यायतीर्थ आचार्यश्री के उपदेश और आदेश से अपना शेष जीवन तीर्थक्षेत्र और गुरुकुल की सेवा मे लगाने के समर्पित भाव से मैनेजर के रूप मे व हम लोगो के लिये 'बड़े पंडित जी' बनकर आये थे। उन्होंने हम बालको के लिये झोली फैलाई, आसाम और कलकत्ता घूमे और आर्थिक अनुदान जुटाया तथा कभी भी हम बालकों को अभाव से ग्रसित नहीं होने दिया। सप्त ऋषियो के मन्त्र की जाप देकर जब वे उठते थे तो कहने लगते—"बेटो! तुम्हारे लिये मुझे प्रचारक और चाकर भी बनना पड़े तो बनकर आचार्यश्री को दिया वचन निभाऊँगा।" अपने अन्तिम समय से कुछ माह पूर्व वे बुन्देलखण्ड में प्रथम बार मेरे शासकीय सेवास्थल पर आये थे। लगभग १५ दिन रहने के उपरान्त विदा लेते समय आंसुओं से भरी आँखों से कहने लगे—"बेटा! जिस गुरुकुल के लिए मैंने अपना जीवन अर्पण किया था, आज वह बन्द हो गया और तीर्थक्षेत्र कमेटी वालों की राजनीति ने मुझे दूध मे गिरी मक्खी की भांति अलग कर दिया है।" जब धर्म में राजनीति का प्रवेश हो जाता है, तब होम करने वालों के हाथ जलाने के षड्यन्त्र रचने शुरू हो जाते हैं और इसी का शिकार पंडित जी को भी होना पड़ा।

गुरुकुल स्थापना के प्रथम वर्ष (१६५३) मे हम छात्रों की इच्छा आचार्यश्री के दर्शन करने की हुई। उस समय आचार्यरत्न टिकैतनगर (बाराबंकी) मे चातुर्मास कर रहे थे। हम लोग टिकैतनगर जा पहुंचे। आचार्यश्री को श्रद्धाभिभूत हो प्रणाम किया और बैठ गये उनका मंगल प्रवचन सुनने। उन दिनो आर्यिकारत्न ज्ञानमती माताजी अपनी कौमार्य अवस्था मे ब्रह्मचारिणी का अखण्ड व्रत लेकर आचार्यश्री के सान्निध्य मे बैठी रहती थी। हम लोग अपनी बालसुलभ क्रीड़ा मे उन्हे आर्यिका जी कहने लगे तो वे बहुत हंसी थी। उन्होंने हम लोगों के सिर पर ऐसे ही हाथ फेरा था जैसे कोई बड़ी बहिन छोटे भाइयों को शुभाशीष और प्यार लुटाती हो। आज उनका अगाध ज्ञान और चारित्र की उत्कृष्टता देखकर मस्तक गर्व से ऊंचा उठ जाता है कि ये वही ज्ञानमती माताजी हैं जिनके घर उनके छोटे भाई-बहिनों के साथ हम खेला करते थे।

एक दिन आचार्यश्री उपदेश देकर बाहर निकले तो हम सभी छात्रों को एकत्रित देखकर एक सिंघाड़े बेचने वाले की ओर इशारा करते हुए हँस कर कहने लगे—"क्या तुम सभी बच्चे सिंघाड़ा खाओगे?" उनकी मुस्कराहट और ममत्व भरी निस्पृह दृष्टि देखकर सिंघाड़ा बेचने वाला अपनी पूरी टोकरी उँड़ेलकर जाने लगा। शायद किसी श्रावक ने उसको पूरे पैसे भी दे दिये थे। जी भरकर हम लोगों ने कच्चे हरे सिंघाड़े खाये। यह घटना भले ही छोटी है, लेकिन इसके पीछे आचार्यश्री का गुरुकुल के प्रति एक लगाव और

अपनेपन का भाव स्पष्ट झलकता है। अपनी लगाई ज्ञानबेल को इस प्रकार देखकर वे प्रमुदित थे। आज वह गुरुकुल अपने अधूरे सपने देखकर अभावों के थपेड़े सहता हुआ विराम ले चुका है लेकिन ये स्मृतियां आज जब आचार्यरत्न का एक शानदार अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है तब बरबस हमारी याद को उससे जोड़ देती हैं।

आचार्यश्री ने एक अर्द्धशताब्दी श्रमण तपस्वी और चरित्रतपोनिधि के रूप में पूरी कर श्रमण साधना को आत्मसात् किया है और ज्ञान-गंगा को सम्पूर्ण भारत में उत्तर से लेकर दक्षिण तक अविरल और अविकल प्रवाहित कर मुमुक्षुओं के तृषित और भटके मन को शान्ति और सुख के शीतल जल से अभिसिक्त किया है। आप अथाह ज्ञान के सागर, कन्नड़, संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती आदि विविध भाषाओं के मर्मज्ञ, चारित्र मे अद्वितीय, सैकड़ो उपसर्गों से तपे कंचन जैसे जीवन के अधिपति, आचार्यों में शिरोमणि हैं। आचार्यश्री के जीवन में पंचमहाव्रत तो उच्छ्वास की भांति घुल गये हैं। कठोर श्रमण साधना की सीढ़ियों पर चढ़ते हुए आप उत्तरोत्तर जिस आध्यात्मिक ऊँचाई पर आसीन हो चुके हैं वह विरल एवं विशिष्ट है। आपकी वीतरागी तेजस्विता ने दिगम्बर मुनि की सिंह वृत्ति और इयत्ता को सिरमौर कर दिया है। कौन जानता था कि कोथलीपुर का बालक बालगौड़ा एक दिन आचार्यरत्न की अप्रतिम आभा से लोक को उद्भासित कर, सत्य और अहिंसा के प्रशस्त मार्ग का संधान कर और दिशाहारा मानव का दिक्सूचक बनकर इस युग को शान्त और आत्मोदय की करवट लेने के लिए उत्प्रेरित करेगा। विश्वबन्धुत्व, समता और अहिंसा धर्म के पालक आचार्यश्री की वीतराग साधना के सौ वर्ष पूरे होने पर हम एक 'श्रमण शताब्दी समारोह' मनायें जिसमें एक दूसरे 'श्रमण अभिनन्दन ग्रन्थ' का विमोचन हो। इस परम अभिलषित भावना के साथ महान् सद्गुरु को अपनी विनम्र प्रणामाञ्जलि निवेदित करके इन भूली बिसरी यादों के प्रसूनों को उनकी पूजा में अर्घ्य स्वरूप चढ़ाता हुआ विराम लेता हूं। ☐

धर्मचक्र प्रवर्तक

—श्री सलेकचन्द जैन

(कूचा सेठ)

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज पदयात्रा करते हुए बड़ौत शहर के निकट कोताना के श्री दिगम्बर जैन मन्दिर जी में भी पधारे थे। प्रबन्धकों ने उनके रात्रि-विश्राम की व्यवस्था शास्त्रभंडार के कक्ष में की थी। अगले दिन प्रातःकाल के समय आचार्य श्री ने श्रावकों की धर्मसभा को सबोधित करते हुए श्रुत साहित्य की सुरक्षा, संरक्षण एवं अध्ययन का विशेष परामर्श दिया था। श्री मन्दिर जी के शास्त्रभंडार और अनेक हस्तलिखित पांडुलिपियों का अवलोकन करने के उपरान्त उन्होंने स्थानीय श्रावकों से कहा था कि "आप सभी भाग्यशाली हैं क्योंकि आपके यहाँ धर्मग्रन्थों को विशेष रूप से सुरक्षित रखा गया है। नई पीढ़ी का दायित्व है कि वह भी श्रुत साहित्य का अध्ययन करे और अपनी सांस्कृतिक सम्पदा को प्राण देकर भी सुरक्षित रखे।"

मन्दिर जी के भव्य परिवेश को देख कर महाराज जी ने यह भविष्यवाणी भी कर दी थी कि निकट भविष्य मे यहाँ विशेष चमत्कार होगा और पृथ्वी के गर्भ से अतिशय सम्पन्न मूर्तियाँ प्राप्त होंगी। वस्तुतः कोताना एक ऐसे स्थान पर है जो उत्तरप्रदेश एवं हरियाणा को जोड़ता है। विगत वर्षों मे हाँसी (हरियाणा) से प्राप्त जैन मूर्तियों को देखकर ऐसा लगता है कि शायद हमारे पूर्वजों ने विदेशी आक्रमणकारियों से जिनबिम्बों की रक्षा करने के लिए उन्हें यहाँ की धरती मे सुरक्षा की दृष्टि से गाड़ दिया होगा।

आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज समाज की सुप्त शक्ति को जगाने वाले महान् साधु-श्रेष्ठ हैं। धर्मस्थानों की रक्षा और तीर्थंकर भगवान् महावीर की वाणी के प्रचार-प्रसार में उनका जीवन व्यतीत हुआ है। उनकी दीर्घ साधना एवं तपस्वी जीवन के प्रति मैं हार्दिक श्रद्धा अर्पित करता हूं। भगवान् श्री जिनेन्द्र देव से प्रार्थना है कि वे उन्हें दीर्घ आयु दें जिससे उनके द्वारा प्रवर्तित धर्मचक्र का सभी लाभ उठा सकें।

आचार्य महाद्रुमं वंदे

—डॉ० सुशीलचन्द्र दिवाकर

प्रातःस्मरणीय आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषण जी महाराज के दर्शन सर्वप्रथम मैंने तब किए थे, जब वे बाल-यति के रूप मे दक्षिण से उत्तर की ओर श्री सम्मेद शिखर पर वंदना हेतु गमन कर रहे थे। सिवनी मे हमने उनकी मोहक-मधुर वाणी में कन्नड़ कवि रत्नाकर रचित 'भरतेश-वैभव' पर अनेक प्रवचन सुने। तदुपरांत जबलपुर आदि में 'तरुण-मुनि' के रूप में और तत्पश्चात् श्रवणबेलगोल मे वयोवृद्ध 'आचार्य' के रूप में निकट से दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ किन्तु संत के ध्रौव्य गुण सदृश उनकी काया में वैराग्य संपन्न, रत्नत्रयधारी आत्मा का सदा ही अनुभव हुआ। जिनकी तरुणाई में बलिष्ठ शरीर में सर्पदंश की स्थिति है, सर्प के ही दांत टूट गए, उन्हीं को श्रवणबेलगोल मे महामस्तकाभिषेक की पावन वेला में भी देखा। सभी अवसरों पर अडोल-अकंप निर्ग्रंथ की ही झलक मिली। चेहरे पर वही मोहकता, मुस्कान और निर्विकारता।

कन्नड़ भाषा के पारगामी आचार्य महाराज को मैंने हिन्दी के अधिकारी विद्वान् के रूप मे देखा, जिसका श्रेय वे यदा-कदा सिवनी प्रवास के प्रारंभिक दिनों में मेरे पूज्य पिता स्वर्गीय सिंघई कुंवरसेन द्वारा प्रदत्त प्रेरणा को ही देते रहे हैं। भाषा-विवाद से ग्रस्त भारत मे पूज्य महाराज जी ने अद्भुत आदर्श उपस्थित किया है। जैनाचार्यों का सदा से यही योगदान रहा है। एक ओर जहां महाराज जी ने विद्वद्रत्न प० सुमेरुचन्द्र जी दिवाकर रचित 'महाश्रमण महावीर' ग्रन्थ का कन्नड़ मे रूपांतर किया है, तो दूसरी ओर 'धर्मामृत' सदृश सुप्रसिद्ध कन्नड़ ग्रन्थ का हिन्दी मे भाषान्तर किया है। साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने जैनागम की अद्वितीय सेवाएं की हैं।

वस्तुतः वे अद्वितीय आचार्य हैं। उनके द्वारा सम्पादित प्रशस्त कार्य अद्वितीय ही रहे हैं। वैदिक आम्नाय की नगरी अयोध्या में उन्होंने जिनेश्वर आदिनाथ की मनोज्ञ मूर्ति की स्थापना करा कर जयपुर मे खानियां में नवतीर्थ की प्रतिष्ठा आदि अनेक अलौकिक कार्य किए हैं। दक्षिण के 'भूवलय' ग्रन्थराज को प्रकाश में लाने का श्रेय भी उन्हीं को है। पं० सुमेरुचन्द्र जी दिवाकर ने आचार्य शांतिसागर महाराज की 'चारित्र-चक्रवर्ती' ग्रन्थ मे जीवनी लिखने के उपरान्त 'आचार्यरत्न देशभूषण महाराज' की जो जीवनी लिखी है, उसमे इन अप्रतिम घटनाओं का मार्मिक उल्लेख किया है।

मेरा परम सौभाग्य रहा है कि मुझे उनके जन्मस्थान कोथली मे उस गृह में प्रवेश पाने का अवसर मिला जहां उनकी जननी से उन्हें जन्म प्राप्त हुआ था। मैं वहां भावविभोर हो गया था। कोथली मे ही मैंने उनके नाम पर स्थापित गुरुकुल को भी देखा जहां अनेक मुनियो और त्यागियों सहित जैन बालको को धर्म-ज्ञान का लाभ प्राप्त होता है। वहां के भव्य जिनालय के भी दर्शन किए। मैंने महाराज के दर्शन जबलपुर, छिंदवाड़ा, बेलगाव, सिवनी आदि अनेक स्थानों पर किए हैं और सदा ही उनके शुभाशीर्वाद पाकर कृतार्थ हुआ हूं। उनकी परम कृपा से ही मुझे अपने जीवन मे अभ्युत्थान की प्राप्ति हुई है, ऐसी मेरी अटूट आस्था है।

मैं एक प्रसंग को कभी भी विस्मृत नहीं कर सकता। महामस्तकाभिषेक के अवसर पर अपार भीड़ उनके दर्शन के लिए लालायित हो उनकी कुटिया के समक्ष एकत्रित हो जाती थी। भीड़ को नियंत्रित करने मे स्वयंसेवक व्यस्त रहते थे। ऐसे अवसर पर सामान्य रूप से उनकी कुटिया में प्रवेश पाना मेरे लिए दुःसाध्य था। साहस बटोर कर मैंने अपना नाम का कागज स्वयंसेवक के माध्यम से महाराज के पास भिजवाया। तुरन्त ही महाराज ने मुझे तथा मेरी धर्मपत्नी कमलादेवी को भीतर बुला लिया। अश्रुपूरित नेत्रों से हमने उनके चरणों की वन्दना की और आशीर्वाद पाया। लगभग २० मिनट तक हमे उनकी मधुर वाणी के रसास्वादन का लाभ प्राप्त हुआ। पू० भाई साहब पंडित सुमेरुचन्द्र जी सदा ही कहते रहते हैं कि वे दिवाकर कुटुंब के परम हितचिंतक गुरुदेव हैं।

कहां तक बखान करे उनके गुणों का, उनकी गरिमा, गंभीरता और महानता का। "गुरु की महिमा वरणी न जाय, गुरुनाम जपो मन वचन काय"।

श्रीआदिनाथ प्रभु के चरणों मे प्रार्थना है कि हमारे गुरुदेव स्वस्थ और दीर्घायु हों और स्व-परकल्याण करते रहें।

"सम्यग्दर्शन से ही जिसका मूल बना है
ज्ञानरूप धन से ही जिसका तना बना है
मुनि-विहग-वृंद नित चरित शाख पर क्रीड़ा करता
कल्पवृक्ष-सम आचारज को वंदन करता।"

× × ×

"सम्यग्दर्शन मूल, ज्ञान स्कंधं चरित्र शाखाढ्यम
मुनिगण विहगाकीर्णं, आचार्य महाद्रुमं वंदे।"

□

वन्दनीय पंचक

पं० बलभद्र जैन

अनेक शताब्दियों की अन्धकारपूर्ण रात्रि के पश्चात् बीसवीं सदी सूर्योदय लेकर आयी। इस सदी को अनेक तेजस्वी जैनाचार्यों को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस सौभाग्य का प्रारम्भ चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी के उदय से हुआ।

यह प्रभाव-सूर्य अपनी गति से गमन करता हुआ निरन्तर प्रकाश विस्तार करता जा रहा है। यह आकाश में ऊँचा-ऊँचा उठता हुआ आचार्य पायसागर जी, आचार्य जयकीर्ति जी, आचार्य वीरसागर जी, आचार्य शिव सागर जी, आचार्य महावीर कीर्ति जी आदि वीथियों को पार करके उस केन्द्र-बिन्दु पर पहुँच गया है, जहाँ कभी इतिहास ने अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी के काल को देखा था। यह केन्द्र बिन्दु हैं आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी। इतिहास के एक सिरे पर श्रुतकेवली भद्रबाहु हैं और दूसरे सिरे पर हैं आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी। दोनों सिरों के मध्य सम्पूर्ण जैन इतिहास सुरक्षित है।

आचार्यरत्न देशभूषण जी मजबूत कदमों से पूर्वाचार्यों के पथ पर जीवन भर चलते रहे हैं। अपने गुरुओं के समान वे भी कर्नाटक के हैं। किन्तु यह उनके जन्म-स्थान की साधारण पहचान मात्र है। उनका तेजस्वी व्यक्तित्व क्षेत्र, काल, राष्ट्र और सम्प्रदाय की सीमाओं से अतीत है। उन्होंने समस्त भारत मे कई बार पद-यात्रा करके जहाँ असंख्य लोगों को धर्म-मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी है, वहाँ समस्त देश में भावनात्मक एकता को मजबूत किया है। उन्होंने अनेक शास्त्रों की रचना की है, टीका की है, किन्तु उन्होंने कन्नड़, मराठी, तमिल, गुजराती के अनेक ग्रन्थो की हिन्दी टीका करके विभिन्न भाषाभाषियो को भावनात्मक एकता के सूत्र में आबद्ध किया है। यों तो मन्दिर और मूर्तियाँ बहुत बनीं, बन भी रही हैं, किन्तु उन्होंने विशाल मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण कराया और वे स्थान तीर्थ बन गये। जयपुर का खानिया, कोथली, कोल्हापुर आदि इसके उदाहरण हैं। इनके दीक्षित शिष्यों की संख्या शायद शतक को पार कर चुकी है, किन्तु उन्होंने समाज को एक ऐसा शिष्य प्रदान किया है, जिसने जैन शासन की महान् प्रभावना करके एक नये इतिहास का निर्माण किया है। वे शिष्य हैं एलाचार्य मुनि विद्यानन्द जी।

इतिहास ने गुरु-शिष्यों का एक चतुष्क ढाई हजार वर्ष पूर्व देखा था। वह चतुष्क लोकोत्तर था। इस चतुष्क की रचना महावीर, इन्द्रभूति, सुधर्मा स्वामी और जम्बूकुमार से हुई थी। उसके साढ़े बारह सौ वर्ष पश्चात् गुरु-शिष्यों का एक चतुष्क हुआ। वह चतुष्क महनीय था। इस चतुष्क में एलाचार्य, वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र हुए। इनके लगभग साढ़े बारह सौ वर्ष बाद गुरु-शिष्यो का एक पंचक हुआ। यह पंचक वन्दनीय है। इस पचक मे शान्तिसागर जी, पायसागर जी, जयकीर्ति जी, देशभूषण जी और एलाचार्य विद्यानन्द जी हैं। इनके चमत्कारी व्यक्तित्व, अद्भुत कृतित्व, असाधारण प्रतिभा और महान् तेजस्विता की गौरवगाथाओ ने जैन इतिहास के बहुभाग को प्रभावित किया है। गुरु-शिष्यों के प्रथम चतुष्क के काल मे कर्नाटक मे जैनधर्म का बीजवपन हुआ, द्वितीय चतुष्क के काल में कर्नाटक में जैनधर्म की फसल लहलहाई, और वर्तमान गुरु-शिष्य-पंचक के काल मे फूल-फल लगे हैं। इन वन्दनीय गुरुजनो के चरणो मे अनन्त प्रणाम! □

साधना के मूर्त रूप

सेठ सर भागचन्द सोनी

परमपूज्य आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज को अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने की योजना उनके सदृश व्यक्तित्व के लिए भक्तजनो का सहज समर्पण है। आपने जीवन के प्रारम्भ से ही जिस साधना को प्रारम्भ किया वह आपके जीवन मे मूर्त रूप लेकर उपस्थित हुई है। आपकी साधना का ही परिणाम रहा कि भारत की राजधानी मे आप विराजमान रह कर राजमान्य व्यक्तियों को अपने शुभाशीर्वाद से लाभान्वित करते रहे हैं। आपने अहिंसा धर्म की ध्वजा को समुन्नत किया है तथा धर्म-प्रभावना मे प्रमुख भूमिका निभाई है। आपका व्यक्तित्व अपूर्व है। मैंने आपके अनेक बार दर्शन किये हैं। आप जब अजमेर पधारे तब मुझे व मेरे परिवार को आपकी वैय्यावृत्य का सुअवसर प्राप्त हुआ था। मुझे आपसे सदैव धर्म-दिशा मिली है तथा आपका सान्निध्य पाकर मैंने स्वात्मसंतोष प्राप्त किया है। मैं आपकी छत्रछाया अभिलषित करता हुआ वीर प्रभु से विनय करता हूं कि आपका वरद् हस्त समस्त जैन जाति व राष्ट्र पर हो। □

कुछ अमिट यादें

श्री श्रीपाल जैन कसेरे

क्या लिखूं, कैसे लिखूं ? न मेरे पास वह लेखनी है, न वह शब्दकोश, न वह ज्ञान, न वह सामर्थ्य जिससे मैं उस परम गुरु के गुणों का वर्णन कर सकूं, जिसके चरणों में मैं सदा नतमस्तक रहा हूं और सदा रहूंगा। वे गुरु हैं परम पूज्यनीय आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज। वे मेरे प्रेरक भी हैं, आराध्य भी। आज उनकी ५१ वर्षीय दिगम्बरी साधना के अवसर पर उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का आयोजन किया जा रहा है तो उनके अलौकिक व प्रेरक व्यक्तित्व की कुछ घटनाएँ मेरे मानस में भी उमड़ रही हैं। वे दृढ़निश्चयी हैं। कुछ वर्ष पूर्व उन्होंने जयपुर में चूलगिरि पर निर्माण कार्य प्रारम्भ करा रखा था। दिन में चार-पाँच बार वे खानिया जी से चलकर ऊपर चूलगिरि पर निरीक्षण करने जाया करते थे। वृद्धावस्था में यह काफी कठिन कार्य था। एक दिन उन्होंने निश्चय किया कि आज उस सड़क का निर्माण कार्य पूर्ण होना चाहिये जिस पर गाड़ियाँ ऊपर जा सकें। ग्रीष्म का तपता हुआ महीना था। महाराजश्री की प्रेरणा एवं सम्बोधन से कार्य सम्पूर्ण हुआ और गाड़ी ऊपर पहुंची। प्रथम कार चालक और श्रमिकों को उन्होंने पुरस्कार दिलवाये। उस समय एक अप्रतिम तेज और सन्तोष का भाव महाराज जी के मुखमण्डल पर विराजमान था जो उनके दृढ़ निश्चय और तज्जनित सफलता के कारण ही संभव था।

क्षमा और दया की भावना भी महाराजश्री में अद्वितीय है। एक बार कूचा बुलाकी बेगम की धर्मशाला में आप विराजमान थे। सामायिक के लिये जब वे बैठे तो एक सुन्दर घड़ी देखने के लिये उनके पास रख दी गई। कोई लोभी श्रावक अवसर का लाभ उठा कर घड़ी चुरा ले गया। महाराजश्री ने हमसे कहा कि समय देखने के लिये यहाँ घड़ी रखवा दो। हमारे द्वारा प्रश्न करने पर कि पहले वाली घड़ी कहाँ गई, महाराज जी टाल गये और कह दिया कि जिसे जरूरत थी वह ले गया। महाराज जी उस आदमी को घड़ी उठाते समय देख चुके थे। यह बात सुनकर वह लज्जित हुआ होगा और किसी समय चुपचाप घड़ी वापिस रख गया। जब हमने अगले दिन घड़ी रखी देखी तो महाराज जी से पुनः पूछा कि यह कहाँ से आ गई ? लेकिन महाराज जी फिर टाल गये और कहने लगे कि उसकी जरूरत पूरी हो गई होगी, अतः वापिस रख गया होगा। बार-बार पूछने पर भी उन्होंने उसका नाम नहीं बताया। ऐसी है आपकी क्षमाशीलता। जो व्यक्ति आत्मपश्चात्ताप कर चुका हो उसे क्षमादान ही देना चाहिये।

महाराजश्री सभी व्यक्तियों को उनकी सामर्थ्य के अनुसार धर्म-कार्य में लगाये रखते हैं और उसी के अनुसार संयम, त्याग के व्रत दिलवाते हैं। मुझे याद है जब आज से लगभग २५ वर्ष पहले अष्टमी चौदस को दर्शनार्थीगण महाराज जी के पास व्रत, उपवास के नियम लेने आये थे तब एक भक्त ने मेरी ओर संकेत कर कहा कि महाराज जी इन्हें भी कुछ व्रत दे दें। उस समय महाराज जी ने मेरी सामर्थ्य को देखते हुए हँसते हुए कहा था—आज तुम एक रोटी ज्यादा खाना !

वस्तुतः महाराज जी क्षमा, दया, ज्ञान, त्याग की मूर्ति हैं और धर्मोपदेश द्वारा जन-मानस का कल्याण कर रहे हैं। मैं भी शायद आपकी चरणधूलि से अपना कल्याण और आपकी प्रेरणा से कुछ सामाजिक कार्य कर सकूं। आपके चरणों में मेरा शत-शत प्रणाम। भगवान् जिनेन्द्र देव से प्रार्थना है कि आप चिरायु हों और हम सबको कल्याण का पथ दिखाते रहें। □

लोककल्याणकारी साधक

श्री सुधीरकुमार जैन
(कूचा सेठ)

परमपूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के पावन दर्शन अथवा स्मरण मात्र से ही मन पवित्र हो जाता है। आचार्यश्री जैन सन्त परम्परा की अमूल्य निधि हैं। आपने अपना जीवन सतत् साधना एवं जैनधर्म, दर्शन और संस्कृति की सेवा में समर्पित कर दिया है।

लोककल्याण ही आपकी साधना का लक्ष्य है। आपकी दीर्घ साधना का हृदय से अभिनन्दन करते हुए मैं पावन श्रीचरणों में कोटि-कोटि वन्दन करता हूँ। □

मेरा तो उद्धार हो गया

श्री जाहिद अली
(जयपुर)

सन् १९५४ की बात है। मैं राजकीय हाई स्कूल, माती कटला, जयपुर मे १० वी कक्षा में पढ़ता था। एक साथी से मेरी घनिष्ठता हो गई। उसे मैं अपने घर ले गया। उसने जब मेरे घर का खान-पान एवं वातावरण देखा तो उसे कुछ घृणा-सी हुई, लेकिन उसने मुझ से कुछ कहा नहीं। मुझे मालूम हुआ कि मेरा यह दोस्त जाति से 'जैन' है। अतः मैंने ही उससे कहा—"दोस्त, माफ़ कर देना, हम मुसलमान लोग हैं, हमारा खान-पान कुछ ऐसा ही है।" इस पर मेरा दोस्त मुस्करा कर रह गया।

इसी बीच हमारे स्कूल की दस दिन की छुट्टियां हो गईं और मेरा दोस्त मुझे अपने साथ एक मन्दिर में ले गया जहाँ एक मुनि महाराज उपदेश दे रहे थे। पहले ही दिन उनके उपदेश का मेरे दिल पर काफ़ी असर हुआ। जब सब लोग उपदेश सुनकर चले गए तो महाराज ने मेरी ओर देखा। मेरे दोस्त ने मेरा परिचय दिया। मैंने झिझकते हुए महाराज से निवेदन किया कि महाराज मुझे भी कुछ नियम दे दीजिए। तब महाराज ने मुझे खाने और न खाने लायक चीजों के बारे मे बहुत-कुछ बताया। मैंने तुरन्त मांस आदि न खाने का नियम ले लिया और, सच मानो, मुझे उस समय से अंडे, मांस आदि से एकदम नफरत हो गई।

अब तो मैं अपने दोस्त के साथ रोजाना ही महाराज के उपदेश सुनने जाने लगा। मैं बहुत समय से अंधेरे मे था। महाराज ने मुझे उजाला दिखाया। आज मेरे परिवार वाले, ससुराल वाले मुझे "जैन" कहकर पुकारते हैं। सच्चा और नेक दिल इंसान बनाने के लिए अपने साथी बसन्त जैन का तो मैं आभारी हूं ही, लेकिन सबसे बड़ा आभारी तो मैं आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज का हू जिन्होंने मेरा उद्धार कर दिया। सचमुच में देशभूषण जी महाराज में बहुत बड़ा चमत्काभूर है। मेरा बार-बार उनको नमस्कार हो।

□

धर्म के महान् आचार्य

श्री प्रेमचन्द्र जैन मादीपुरिया
पंच, प्राचीन श्री अग्रवाल दिगम्बर जैन पंचायत, दिल्ली

परमपूज्य आचार्यरत्न जी देशभूषण जी महाराज के प्रथम दर्शन मैंने अपने पूज्य पिता श्री कुन्दनलाल जी मादीपुरिया के साथ श्री दिगम्बर जैन धर्मशाला, धर्मपुरा नया मन्दिर जी में सन् १९५५ में किए थे। इस प्रथम भेंटवार्त्ता के अवसर पर अपने पिता जी के साथ उनके वार्त्तालाप एवं शास्त्र चर्चा को देखकर मै मुग्ध हो गया था। उस समय मुझे ऐसा लगा था कि आचार्यश्री अपनी असाधारण मेधा एवं कठोर तपश्चर्या से वर्तमान युग में जैनधर्म, दर्शन एवं संस्कृति के महान् संदेशवाहक बन जायेंगे। उनके भव्य व्यक्तित्व से प्रभावित होकर मै उनके चरणों में धर्मोपदेश श्रवण करने के लिए जाने लगा।

महाराजश्री के निकट सम्पर्क में आने पर मैंने अनुभव किया कि आपका जीवन वास्तव में स्वाध्याय, तपश्चर्या एवं धर्म प्रभावना के लिए ही रह गया है। धर्मप्रभावना के निमित आप सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। महानगरी दिल्ली में आपने जो अद्भुत कार्य किए हैं उससे जैन समाज का निश्चित रूप से गौरव बढ़ा है। उन्होंने महामुनि श्री विद्यानन्द जी को दिगम्बर दीक्षा प्रदान करके सम्पूर्ण राष्ट्र को एक आस्था का दीप प्रदान कर दिया है। आप स्वयं धर्म के महान् आचार्य हैं और उनके द्वारा दीक्षित मुनियों द्वारा आज इस पृथ्वी पर भगवान् महावीर स्वामी जी की पावन वाणी साकार हो रही है। मैं उनके चरणों में श्रद्धापूर्वक कोटि-कोटि नमोस्तु करता हूं। □

सचल तीर्थ

श्री सुमतिचन्द्र शास्त्री
(भूतपूर्व अध्यक्ष, नगरपालिका, मुरैना, म० प्र०)

परमपूज्य, चारित्रचक्रवर्ती, महातपोनिधि आचार्य श्री शांतिसागर महाराज ने दिगम्बरत्व का मूर्तिमन्त प्रचार-प्रसार और वीतरागता की ज्योति प्रज्वलित करने हेतु अनेक दिगम्बर मुनि दीक्षित किये, जिनमें आचार्यश्री देशभूषण जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस भौतिक युग में भौतिकता से ओतप्रोत राजनेताओं को अध्यात्म और धर्म की ओर आकर्षित किया है तो वह देशभूषण जी महाराज ने और उनके 'अलभ्य कोहिनूर हीरा' तुल्य प्रमुख शिष्य एलाचार्य विद्यानन्द जी महाराज ने। आचार्य देशभूषण महाराज तो एतदर्थ 'राजर्षि' ही कहलाने लगे क्योंकि देश की राजधानी दिल्ली में आपने अनेक चातुर्मास सम्पन्न करके इसे देश की 'आध्यात्मिक राजधानी' भी बना दिया। तत्कालीन प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री, राष्ट्रपति राधाकृष्णन्, कांग्रेस अध्यक्ष निजलिंगप्पा, प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई, प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी आदि शीर्षस्थ नेता आपकी उपदेश-सभाओं में आकर आशीर्वाद ग्रहण करते रहे हैं।

आचार्य देशभूषण जी स्वयं में एक चलते-फिरते 'तीर्थराज' ही हैं। जहां वे विराजमान होते है, जहां उनका चातुर्मास होता है, वहां एक तीर्थ ही बन जाता है। इसके अतिरिक्त जहाँ भी वे उपयुक्त स्थान, धर्मानुकूल वातावरण और जन-सहयोग देखते हैं वहां भव्य जैनबिम्बों की प्रतिष्ठा करके एक नये तीर्थ का निर्माण ही कर देते हैं, जो थोड़े ही समय मे दर्शनीय और शांतिप्रदायक बन जाता है। सुप्रसिद्ध अयोध्या तीर्थ मे जैन समाज के लिए एक और भव्य तीर्थ का निर्माण, जयपुर स्थित खानिया जी मे विभिन्न जिनालयों की संरचना और कोथली के सर्वथा उपेक्षित क्षेत्र में भव्य तीर्थ का निर्माण कार्य इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। साथ ही, आचार्य देशभूषण जी चलती-फिरती 'जिनवाणी' हैं। मराठी, कन्नड़, तमिल, तेलुगु, मलयालम, हिन्दी, गुजराती पर उनका अधिकार है और इन भाषाओं से हिन्दी में उन्होंने शताधिक ग्रन्थों का अनुवाद कर जिन-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। आपके चरणों में मेरा भक्तिपूर्वक प्रणति-निवेदन है।

□

शत-शत वन्दन

डॉ० प्रेमचन्द रांवका

भारतीय श्रमण संस्कृति के उन्नयन में—श्रमण परम्परा मे—प्रातःवन्दनीय चारित्र-चक्रवर्ती आचार्यश्री शान्ति सागर जी महाराज श्री के पश्चात् आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज का ऐतिहासिक योगदान उल्लेखनीय है। वर्तमान दिगम्बर साधुओं मे वे शीर्षस्थ हैं।आपकी सतत आत्मसाधना, त्याग, तपस्या, साहित्य तथा जनकल्याण की भावना किसे आकर्षित एवं वन्दनीय नही करेगी।

आचार्यश्री के चरणारविन्दों मे नतमस्तक होने का सौभाग्य मुझे जयपुर मे अनेकशः मिला है। उनके महान् एवं गम्भीर व्यक्तित्व में भारतीय श्रमण परम्परा के अद्भुत तेजोमय दर्शन होते हैं। वे उत्तर और दक्षिण की आध्यात्मिक संस्कृति के समन्वय के परिपालक एव परिपोषक हैं। विश्वविश्रुत, आत्मसाधनारत, विश्वधर्म के उद्घोषक एलाचार्य मुनि श्री विद्यानन्द जी जैसे आधाररूप सन्तो के गुरु, अतः गुरुणांगुरु हैं।

आचार्यश्री की गणना इस युग के उच्चकोटि के सन्त-महापुरुषों में की जाती है। सामान्य जन से लेकर राष्ट्रपति तक उनके चरणों मे नतमस्तक होकर अपना जीवन कृतार्थ मानते हैं। वे वस्तुत युगपुरुष और देश के भूषण स्वरूप हैं। उनमे उच्चकोटि के सन्तत्व और अध्यात्म के दर्शन होते हैं। प्राणि मात्र का कल्याण और सर्वधर्म समभाव उनका चिरस्थायी सन्देश है। उनका समग्र जीवन उच्चतम त्याग, तपस्या, तपोधन और तेजोमय आभा का अनुपम आदर्श है। वे अपने आप मे एक ऐसी साधु-संस्था हैं, जहां से प्रत्येक प्राणी अध्यात्म की शिक्षा ग्रहण कर आत्मज्ञान के मार्ग में प्रवृत्त होता है। ऐसे स्व-पर-हितैषी प्रातःस्मरणीय महान् अध्यात्म की विभूति के पावन व्यक्तित्व एवं कृतित्व को जनसाधारण मे स्थायी रूपेण अनुकरणीय हेतु अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन एक शोभन प्रयास है। तदर्थ आपको साधुवाद ! आचार्यश्री के चरणों में—

सद्दर्शन बोध चरण पथ पर, अविरल जो बढ़ते हैं मुनिगण,
उन देव परम आगम गुरु को शत-शत वन्दन, शत-शत वन्दन।

□

प्रणामांजलि

डॉ० उदयचन्द्र जैन

पंचपरमेष्ठी अपने मूलगुणों और उत्तरगुणों के कारण सदा ही अभिनन्दनीय और अभिवन्दनीय होते हैं। पंचपरमेष्ठियों में आचार्य परमेष्ठी का स्थान तीसरा है। भरतक्षेत्र में वर्तमान काल में अर्हन्त परमेष्ठी का सान्निध्य हम लोगों को सम्भव नहीं है। सिद्ध परमेष्ठी तो सिद्धशिला में विराजमान हैं। ऐसी स्थिति में आचार्य और साधु परमेष्ठी ही संसार के प्राणियों का कल्याण करने में समर्थ हैं। उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चल कर हम लोग अपना कल्याण कर सकते हैं। श्री देशभूषण जी महाराज आचार्य ही नहीं किन्तु आचार्यरत्न हैं। आपके द्वारा विशाल साहित्य का निर्माण हुआ है और अनेक भव्य जीवों का कल्याण हुआ है। इसे मैं अपना दुर्भाग्य ही समझता हूं कि ऐसे दीर्घ तपस्वी और महान् संयमी आचार्यरत्न के दर्शनों का अवसर अभी तक मुझे नहीं मिल सका है। फिर भी परोक्ष रूप से मैंने आपकी विद्वत्ता, तपस्या, संयम आदि के विषय में बहुत-कुछ पढ़ा या सुना है। अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पण द्वारा ऐसे आचार्यरत्न का सार्वजनिक अभिनन्दन करके हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ही ज्ञापित कर रहे हैं। इस मंगलमय अवसर पर मैं आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के चरणों में अपनी साष्टांग प्रणामाञ्जलि समर्पित करता हूं। □

देश और समाज के भूषण

श्री लक्ष्मीचंद्र 'सरोज'

धर्मध्वजी बालब्रह्मचारी सरस्वती-सुपुत्र आचार्य देशभूषण जी महाराज की संज्ञा सार्थक है। वे सही अर्थों मे देश और समाज के भूषण हैं। वे प्रशान्त वीतरागी प्रखर मनस्वी बहुश्रुताभ्यासी पद-यात्री हैं। आत्मा की आराधना के साथ लोकजीवन मांगल्य उनके जीवन का प्रमुख लक्ष्य रहा है। उनकी साहित्यिक धार्मिक सामाजिक सेवायें स्वर्णिम अक्षरों मे लिखने लायक हैं। भरतेश वैभव, परमात्म प्रकाश, धर्मामृत, निर्वाण लक्ष्मीपति स्तुति जैसे कन्नड़ भाषा के ग्रन्थों का आपने हिन्दी-गुजराती-मराठी में अनुवाद करके अतीव स्तुत्य कार्य किया है। आपकी विद्वत्ता और तेजस्विता, निरीहता और निस्पृहता, दयालुता और सहिष्णुता अपूर्व क्षमता की परिचायक है। □

महान् व्यक्तित्व

श्री भगतराम जैन

मंत्री, अखिल भारतीय दिगम्बर जैन परिषद्

मेरा आचार्यश्री से पिछले २०-२५ वर्षों से सम्पर्क है। उनका दिल्ली से बहुत सम्पर्क रहा है। भारत जैन महामण्डल के माध्यम से जैन समाज के सभी सम्प्रदायों के आचार्यों को एक मंच पर लाने व समाज के कुछ मुख्य-मुख्य एकता सम्बन्धी विषयों पर विचार-विमर्श करने के लिए जिस समय भी आचार्य देशभूषण जी से प्रार्थना की गई उन्होंने इसे सहर्ष स्वीकार किया और अपने बहुमूल्य विचारों से पूर्ण सहयोग दिया। जैन समाज की ओर से जब भी किसी प्रकार के आयोजन हुए उनमें सहर्ष सम्मिलित होकर समाज की एकता की महत्ता पर समाज को प्रेरणा दी। उनके मन में हर समय जैनधर्म के व्यापक प्रचार-प्रसार की भावना रही है। मैं उनके चरणों में श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हूं। □

दिव्य पुरुष

डॉ० जयकिशन प्रसाद खंडेलवाल

पूज्य महाराजश्री के दर्शन करने का सौभाग्य मुझे अनेक बार मिल चुका है। उनके प्रेरक व्यक्तित्व से मैं प्रभावित हुआ हूं। उनके द्वारा श्रमण संस्कृति के उन्नयन हेतु किये गए प्रयासों से भी मैं परिचित हूं। वे तपोनिधि हैं, वे अनासक्त कर्मयोगी हैं, वे उच्चकोटि के साधक साहित्यकार हैं। उनकी साहित्य-साधना धर्म की रक्षा हेतु हुई है और इस दृष्टि से वह साधना और भी महान् हो जाती है। उनके द्वारा रचित कृतियों का तो महत्त्व है ही, साथ ही उनकी प्रेरणा से प्रकाशित प्राचीन साहित्य भी अभिनव रूप में समाज के समक्ष प्रस्तुत हुआ है, और उससे श्रमण धर्म एवं संस्कृति की महान् सेवा हुई है।

आचार्यरत्न के मंगल-विहार से लाखों व्यक्तियों ने लाभ उठाया है। उनका प्रत्येक चरण मंगलमय रहा है। उनके ऐतिहासिक मंगल-विहार ने श्रमण-साधुओं की प्रतिष्ठा बढ़ाई है। आचार्यरत्न बड़े उदार विचार वाले सन्त हैं। उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली है तथा समन्वय संयुक्त है। यही कारण है कि उनके उपदेशामृत से जैन-अजैन सभी समान रूप से प्रभावित हुए हैं। एलाचार्य मुनि श्री विद्यानन्द जी आचार्यरत्न के सर्वोत्कृष्ट शिष्य हैं। वह श्रमण-संस्कृति के उन्नायक आचार्यरत्न की परम्परा को अग्रसर करने वाले हैं। ऐसे शिष्यों को प्रदान करके आचार्यश्री ने समाज को विशेष रूप से उपकृत किया है।

मैं पूज्य तपोनिधि आचार्यरत्न के चरणों में विनत हो अपनी भावाञ्जलि अर्पित करता हूं। वह दिव्य पुरुष हैं और उनके अभिनन्दन में समर्पित किया जाने वाला ग्रन्थ भी संग्रहणीय ज्ञानकोष बनेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। □

प्रेरणा के अमिट स्रोत

श्री महताबचन्द जैन
महानगर पार्षद, दिल्ली

परमपूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के पावन दर्शन का सौभाग्य मुझे उनके दिल्ली प्रवासों मे मिलता रहा है। भगवान् महावीर स्वामी के पच्चीस सौ वें परिनिर्वाण महोत्सव पर मुझे उनके सान्निध्य मे आने का विशेष अवसर प्राप्त हुआ। उनका पावन सान्निध्य एव मार्ग-दर्शन वास्तव मे मेरे लिए अहोभाग्य का विषय था। इस महोत्सव की रूपरेखा का निर्धारण करते हुए उनके सबल मार्ग-दर्शन ने समिति एव मेरे मनोबल मे विशेष वृद्धि की थी। जैन धर्म के चारों संप्रदायों के श्रावकों की सम्मिलित बैठक में उन्होंने अपने अनुभवी एव कुशल मार्ग-निर्धारण मे समाज को संगठित होने के लिए विशेष प्रेरणा दी थी। निर्वाण शताब्दी महोत्सव की अनेक मौलिक योजनाओं के वे जन्मदाता थे। उनके असीम उत्साह को देख कर समाज में अद्भुत चेतना जागृत हुई थी। वे प्रायः कहा करते थे कि इस प्रकार का अवसर जीवन में यदाकदा ही आता है, अतः श्रावकों को उत्साह के साथ कार्य करना चाहिए और जिस प्रकार से मामा अपने भांजे-भांजियो को प्यार के साथ भात भरता है, उसी प्रकार सभी को अपनी सात्विक कमाई का एक हिस्सा निर्वाण-शताब्दी के कार्यों में स्वेच्छा से लगाना चाहिए।

आचार्यश्री का कथन था कि निर्वाण-शताब्दी मे हमें समाज में फैले हुए साधारण भेदो को मिटा देना चाहिए। चौबीस तीर्थंकरो और णमोकार मंत्र मे आस्था रखने वाले सभी धर्मानुरागियों को अपने भेदभाव भूल कर एक मंच पर एकत्र होना चाहिए। आयोजना के मध्य एवं अन्य अवसरों पर वयोवृद्ध तपस्वी आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के पास जब कभी मैं दर्शनार्थ एवं मार्ग दर्शन के लिए गया, तब मैंने यह अनुभव किया कि उनके दर्शन से अभूतपूर्व शांति मिलती है। महाराजश्री साधु की कठिन दिनचर्या का पालन करते हुए भी सदैव साहित्य को समर्पित रहते थे। अहर्निश अध्ययन एवं धर्मग्रन्थों के लेखन, अनुवाद एव संपादन से उनके मुख-मण्डल पर एक अपूर्व तेज जागृत हो गया था। जो भी सज्जन उनकी सात्विक छवि के दर्शन करता था, वह प्रभावित हुए बिना नही रहता था। उन्होंने अपनी सतत साधना से निर्वाण शताब्दी के अवसर पर विशालकाय धर्मग्रन्थ 'भगवान् महावीर और उनका तत्त्व-दर्शन' एवं 'जैन धर्म का प्राचीन इतिहास', खण्ड-१ एव खण्ड-२ प्रस्तुत करके समाज एवं राष्ट्र की अभूतपूर्व सेवा के साथ-साथ निर्वाण-शताब्दी की शानदार आधारशिला को सम्पुष्ट किया था। उनके पावन व्यक्तित्व एवं कृतित्व के प्रति सादर श्रद्धा एवं अनेकानेक नमन करते हुए मैं यह मनोकामना करता हू कि आचार्यश्री जी का पावन सान्निध्य समाज को निरन्तर प्राप्त होता रहे और समाज उनके बताये हुए मार्ग पर चल कर आत्मकल्याण करता रहे। □

कालजयी चिन्तन के कुछ स्वर

श्रीमती निर्मला जैन
(भरतराम रोड, दरियागंज)

आदिकाल से ही भारतवर्ष तत्त्वानुसन्धान की जन्मभूमि रही है। ऋषियों-मुनियों ने समय-समय पर अपने जीवन के अनुभवों से संसार को एक दृष्टि प्रदान की है। इसी परम्परा मे आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज का कालजयी चिन्तन आधुनिक मानव समाज को एक नया आलोक प्रदान करता है। आज के भौतिकवादी मूल्यों से आध्यात्मिक चेतना कितनी कुंठित हो गई है इसके प्रति आचार्यश्री ने अपनी गहरी चिन्ता व्यक्त की है। विज्ञान ने मनुष्य को जो नए चामत्कारिक आयाम प्रदान किए हैं उनसे भी मानव का मूल्य घटा ही है। यही कारण है कि भौतिक दृष्टि से समुन्नत माने जाने वाले अनेक राष्ट्र उस आन्तरिक पीडा से सन्तप्त हैं जिनके कारण उनकी मानसिक शान्ति भंग हुई है। परन्तु आचार्यश्री के चिन्तन मे इस पीड़ा को दूर कर मनुष्य को आत्यन्तिक शान्ति प्रदान करने की क्षमता है।

सम्पदा का मूल्य—आचार्यश्री ने सारी परेशानियो के मूल 'सम्पदा' का मूल्याङ्कन करते हुए कहा है—"मैं यह नहीं पूछना चाहता हूं कि सम्पदा का मूल्य क्या है ? न यही पूछा करता हू कि चैतन्य का मूल्य क्या है ? सम्पदा स्वय मूल्यहीन है। हमारे ही चैतन्य ने उसमे मूल्य का आरोप किया है। सम्पदा के मूल्य को चैतन्य के मूल्य से अधिक मानें यह कैसी समझ है। यह कैसा विज्ञान है। सबसे बड़ी समझ और बडा विज्ञान है—समता। समता अर्थात् मनुष्य की मनुष्य के प्रति घृणा न हो, वैर-विरोध न हो, कुचलने की मनोवृत्ति न हो।"

संघर्ष का कारण—आचार्यश्री ने पारस्परिक संघर्ष भावना की मनोवृत्ति का भी विश्लेषण किया है। उनके अनुसार जहां द्वन्द्व है वहां संघर्ष है। अकेले मे सघर्ष होता ही नही। जहाँ एक दूसरे के स्वार्थ आपस मे टकराते हैं, विचारो मे मतभेद हो, एकपक्षीय पोषण हो, सामान्य जनता की उपेक्षा हो, अधिकार अयोग्य व्यक्तियो के हाथ मे हो, पक्षपात होता हो—वही संघर्ष की स्थिति रहती है। संघर्ष की इस स्थिति से बचा जा सकता है परन्तु इसके लिए व्यवहार मे सुधार लाना होगा। डोरी को इस प्रकार खींचो कि गांठ न पड़े। अपने को इस प्रकार चलाओ कि लड़ाई न हो। बालों को इस प्रकार संवारो कि उलझन न बने। विचारो को इस प्रकार ढालो कि भिड़न्त न हो। आक्षेप और आक्रमण की नीति को छोड दो। उससे गांठ बढ़ती है, युद्ध छिड़ते हैं और बातें उलझती हैं।

शान्ति और अशान्ति—सामान्यतया यह माना जाता है कि पदार्थ के अभाव में अशान्ति होती है और भाव मे शान्ति। परन्तु आचार्यश्री ने इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया है। उनका मत है कि "मानसिक नियन्त्रण से मानसिक साम्य होता है और वही शान्ति है। मानसिक अनियन्त्रण से मानसिक वैषम्य बढता है, वही अशान्ति है। जहां आकांक्षा है, वहां अशान्ति है। जहा आकाक्षा नही वहां शान्ति है। शान्ति ही मानव-जीवन का सर्वोपरि साध्य है। वह न तो सम्पदा होने से मिलती है और न सम्पदा न होने से। वह मिलती है मन की स्थिरता से। स्थिरता का विकास इन्द्रियों और मन के संयम से प्राप्त होता है। व्यक्तिगत सयम के अभाव मे व्यक्ति अशान्त होता है। सामाजिक संयम के अभाव में समाज अशान्त होता है तथा राष्ट्रीय संयम के अभाव मे सारा राष्ट्र अशान्त हो जाता है।"

समता का भाव—आत्मा में क्षोभ राग और द्वेष के कारण हुआ करता है। किसी अन्य वस्तु को अपनी प्रिय वस्तु मानकर उसके साथ मोही आत्मा राग-भाव करता है और किसी पदार्थ को अपने लिए हानिकारक मानते हुए उसके साथ द्वेष या घृणा का भाव रखता है। वास्तव में संसार का कोई पदार्थ न अच्छा है न बुरा। सब अपने-अपने रूप से परिणमन कर रहे हैं। अतएव किसी से प्रेम करना या द्वेष रखना आत्मा की ही अपनी मिथ्या धारणा का परिणाम है। इमी राग-द्वेष से आत्मा को परतन्त्र बनाने वाला कर्मबन्ध होता है। अत आत्मा यदि स्वतंत्र होना चाहे तो उसको अपने राग-द्वेष पर नियन्त्रण करके समता का भाव लाना पडेगा जिसका अर्थ है न किसी से प्रेम और न किसी से वैर।

धन संचय की मर्यादा—धन सचय करते समय सदा ध्यान रखना चाहिए कि जिस तरह मधुमक्खी फूलों से रस लेते समय फूलों को कुछ कष्ट नहीं देती वैसे ही मनुष्य भी धन संचय करते हुए नीति, न्याय तथा दया की मर्यादाओं को न तोड़े। धन संचय करते हुए व्यक्ति के मन मे दुर्भावना उत्पन्न न हो और न ही किसी अन्य व्यक्ति को दुःख पहुंचे। झूठ, चोरी, बेईमानी तथा विश्वासघात करके कमाया हुआ धन पाप का ही सचय करता है।

विवाह का उद्देश्य—पति-पत्नी पारस्परिक शरीर-संयोग से अपनी कामेच्छा शान्त किया करते हैं। कामवासना अन्य वासनाओं की अपेक्षा अधिक दुर्धर्ष एवं प्रबल होती है। इसी कारण कामातुर स्त्री-पुरुष अनेक प्रकार के दुराचार या अनर्थ कर डालते हैं। उन अनर्थों को रोकने तथा सीमित करने के लिए ही विवाह प्रथा प्रचलित हुई। परन्तु विवाह का उद्देश्य कामवासना की ही तृप्ति करना नहीं है। जो स्त्री-पुरुष अपनी इन्द्रिय तृप्ति को ही विवाह का लक्ष्य समझते हैं, वे विवाह का वास्तविक प्रयोजन नहीं समझते। कामसेवन के लिए तो विवाह बन्धन की कोई आवश्यकता नहीं। पशु-पक्षियों में कहां विवाह होता है। विवाह करने के तीन उद्देश्य हैं—(१) कुलाचार तथा धर्माचार की परम्परा बनाए रखने के लिए सन्तान उत्पन्न करना, (२) परस्पर में सहायक बनकर एक दूसरे का निर्वाह करना, तथा (३) विषय वासना को सीमित, वैधपूर्ण एवं न्यायानुकूल बनाना। प्रथम दो उद्देश्य मुख्य हैं तथा तीसरा गौण।

आत्म निरीक्षण के प्रति उदासीनता—मनुष्य बाह्यजगत् के निरीक्षण के लिए हजारों मीलों की भाग-दौड़ करता है। परन्तु क्या वह अन्तदृष्टि के निरीक्षण के लिए पाव घन्टा भी किसी दिन बैठता है। वह यूरोप और अमेरिका के देशों को देखने की इच्छा करता है, वहां जाकर मौज करना चाहता है, तथा उसके समान बनने की कोशिश करता है। परन्तु अपने हृदय के प्रदेश को देखने का उसे अवकाश ही नहीं मिलता। मनुष्य नित्य प्रति प्रातः उठकर अखबार पढ़ने बैठता है और दुनिया में क्या-क्या हो रहा है उसको जानना चाहता है। परन्तु हृदय का क्या हाल-चाल है तथा अपनी वृत्तियों में कैसा संयम चल रहा है—इसे जानने का उसके पास अवकाश ही नहीं। मनुष्य की कैसी पामर दशा आज हो गई है। परिवार के पालन-पोषण में, अपने शरीर का शृङ्गार करने में, अनेक उपायों द्वारा धन सचय करने में तथा इन्द्रियों को विविध विषयभोगों द्वारा तृप्त करने में ही मनुष्य अपनी आयु का प्राय. समस्त भाग खपा डालता है किन्तु आत्मनिरीक्षण का समय उसके पास नहीं है। यदि मनुष्य सासारिक कार्यों के समान आध्यात्मिक कार्यों को भी आवश्यक समझ ले तथा प्रतिदिन की दिनचर्या मे उन्हें भी शामिल कर ले तो उसके पाप संचय की जड़ सूखती जावे, आत्मा प्रगतिशील और सुखी हो जावे।

जीवन और मृत्यु—आशा जीवन है और निराशा मृत्यु—यह हमारी सहज अनुभूति है। उपादेय सत्य यह है कि जीवन की परिधि मे मनुष्य निराशावादी भी बनें और मृत्यु की परिधि मे आशावादी भी बनें। मृत्यु कोई संहारक तत्त्व नहीं और जीवन कोई निर्माता नहीं है। ये संहार और निर्माण हमारी अपनी ही सृष्टि हैं। हम मरने के बाद भी जीते हैं और जीने के बाद भी मरते हैं। इसलिए हम मृत्यु से निराशा और जीवन से आशा को ही प्राप्त न करें। हम मृत्यु से जैसे निवृत्ति का पाठ पढ़ते हैं वैसे ही जीवन से भी निवृत्ति का पाठ पढ़ें।

सत्ता की भूख—जगत् की बाह्य प्रवृत्तियों से भी मनुष्य की मानसिक प्रकृति प्रभावित होती है। स्वयं को बड़ा समझने का मानवीय मानदण्ड वही होता है, जिससे दुनियां दूसरो को बड़ा समझती है। कोई भी व्यक्ति पद के लिए उम्मीदवार न बने और प्रतिष्ठा की भूख भी न रखे—यह ठीक है, नीति की पुकार है। किन्तु सत्ता के प्रांगण में सत्ताधीश के साथियों और सगे-सम्बन्धियों का जब वह लालन-पालन देखता है तब दर्शक व्यक्ति के मुंह मे भी सत्ता की लार टपक पड़ती है और उसके साथी भी उसे सत्ता की ओर झुकने के लिए बाध्य करते हैं।

श्रम और बुद्धि का समन्वय—सबके सब बुद्धिजीवी बन जाए, तो क्या खाएं, क्या पीएं और कहां रहें? सबके सब श्रम-जीवी बन जाएं तो मनुष्य के बौद्धिक विकास का द्वार कैसे खुला रहे? इस स्थिति मे दोनो वर्गों का समन्वय अत्यावश्यक है। बुद्धिजीवी श्रम को नीचा न माने और श्रमजीवी बुद्धि को ऊंचा न समझे।

सुख क्या है?—ससार का प्रत्येक प्राणी चाहे वह छोटा कीड़ा हो या बड़ा हाथी, मनुष्य हो या पक्षी, देव हो या दानव सुख पाने के लिए लालायित है। परन्तु सुख का मानदण्ड सबके लिए अलग-अलग है। मन जिस वस्तु से सन्तुष्ट हो वही सुख है। राजा अपने राजभवन मे विशाल भोग-उपभोग के साधनों को प्राप्त करके भी इस कारण सुखी नही है कि उसका मन अनेक राजनैतिक चिन्ताओं से व्याकुल रहता है। राजपद नष्ट हो जाने की चिन्ता उसे बनी रहती है और अधिक राज्य पाने की तृष्णा भी उसे सतत सताती है। दूसरी ओर एक दिगम्बर साधु पर्वत की गुफा मे जमीन पर सोते, उठते, बैठते, बिना किसी भोग-उपभोग के भी निश्चिन्त, सन्तुष्ट और सुखी है क्योंकि उसके मन मे न कोई चिन्ता है, न भय और न तृष्णा।

ऋणों से उद्धार—प्रत्येक व्यक्ति अनेक प्रकार के ऋणों से ऋणी है। कुछ ऋण माता-पिता का होता है। उस ऋण को चुकाने के लिए माता-पिता की आज्ञा का पालन तथा माता-पिता की सेवा करनी चाहिए। जिस देश की भूमि पर मनुष्य का जन्म हुआ है उस देश का ऋण भी मनुष्य पर होता है। अत. देश की उन्नति और उसकी सम्मान वृद्धि के लिए देशसेवा करना भी मनुष्य का कर्त्तव्य है। जिस समाज में मनुष्य रहता है उस समाज के ऋण से भी मनुष्य तभी छूट सकता है जबकि वह समाज-सेवा मे भाग ले। इसी प्रकार मनुष्य अपने धर्म का भी ऋणी है। उस ऋण से छूटने के लिए मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने धर्म को अन्य भद्र पुरुषों में फैलाने के लिए प्रचार कार्य करे। □

परमकारुणिक आचार्यश्री

श्री अजितप्रसाद जैन ठेकेदार
उपाध्यक्ष, आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रंथ समिति

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के दर्शन का सर्वप्रथम सौभाग्य मुझे सन् १९५४ मे जयपुर मे मिला। दिव्य आभा से मंडित उनके मुखमंडल की निर्मल कांति से मैं संमोहित-सा हो गया। ऐसा लगा कि जिस अध्यात्म के बारे में मैं सुनता आया था उसके आज साक्षात् दर्शन हो गए। तदनन्तर सन् १९५५ में आचार्यश्री का दिल्ली में चातुर्मास सम्पन्न हुआ। मुनि संघ समिति के एक सेवक के रूप में आचार्यश्री के चरणों का सान्निध्य मुझे प्राप्त हुआ। लोककल्याण और धर्मप्रभावना के प्रयोजनों से प्रेरित होकर आचार्यश्री मुनि संघ समिति को समय-समय पर आवश्यक निर्देश दिया करते थे। तब मुझे ऐसा लगा कि धर्मप्रसार को जन-जन तक पहुंचाने में आचार्यश्री कितने आतुर हैं। उनकी प्रेरणा से धनसम्पन्न श्रावक लोककल्याण सम्बन्धी कार्यों में उदारता से जुट जाया करते हैं। आचार्यश्री के व्यक्तित्व की यह एक उल्लेखनीय विशेषता रही है।

धर्मनिष्ठ श्रावकों के प्रति आचार्यश्री की महान् अनुकम्पा रहती आई है। श्रावको के हित सम्पादनार्थ तथा उनमें धर्म की प्रेरणाओं को नियोजित करने में उनकी भूमिका 'परमकारुणिक' से कम नहीं थी। इस अवसर पर मुझे अपने पिता श्री महावीर प्रसाद जैन, ठेकेदार के अन्तिम समय का स्मरण हो आता है। मेरे पिता जी की हार्दिक इच्छा थी कि उनका अन्तिम समय आचार्यश्री की धर्म प्रभावनाओं से कृतार्थ हो। आचार्यश्री परमवात्सल्य भाव से अनुप्रेरित हो मथुरा के निकट पलवल से दिल्ली वापिस पहुंचे और उनके पावन सान्निध्य और धर्म सम्बोधना से मेरे पिता जी का जीवन अनुगृहीत हुआ। और अन्य ऐसी अनेक घटनाएं हैं जिनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्यश्री कितने भक्त वत्सल हैं।

मैं उनकी आदर्श दिगम्बरी साधना के ५१ वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य मे उनके चरणश्री की भावसहित वन्दना करते हुए उनके दीर्घ आयुष्य की कामना करता हू। □

चारित्र शिरोमणि

श्री जिनगौडा जगगौडा पाटिल
(सदलगा)

परम पूज्य, योगेन्द्र चूड़ामणि, योगेन्द्र सम्राट्, शान्तिदूत, भारतगौरव, विद्यालंकार, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, परम दयालु, वात्सल्यमूर्ति, सम्यक्त्व चूड़ामणि, चारित्रशिरोमणि, प्रात:स्मरणीय स्वस्ति श्री आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषण महाराज जी के चरण कमलों मे शतश: नमोऽस्तु ! नमोऽस्तु !! नमोऽस्तु !!!

गुरुदेव के गुणों का वर्णन करना सूरज के सामने जुगनू को दिखाने के समान है फिर भी भक्तिवश और उपकार स्मरण के आग्रह से हम यह कह सकते हैं कि हमारे जैसे पूर्ण अज्ञानी जीव को मनुष्य बनाने का श्रेय एकमात्र आचार्यश्री जी को ही जाता है। जिस प्रकार पारस मणि का स्पर्श पाकर लोहा भी सोना बन जाता है, उसी प्रकार हम भी गुरुदेव के सान्निध्य मे आकर धर्म संस्कारों के द्वारा आज मनुष्य बन सके हैं। हमे हिताहित का कुछ भी ज्ञान नही था। अपनी उम्र के ६ वें वर्ष से ही गुरुदेव का सान्निध्य मिला। उनके द्वारा समारोपित संस्कारों से आज हम अपने गाव में, समाज मे तथा साधु-संतों की दृष्टि में एक विशिष्ट स्थान को प्राप्त हुए हैं। गुरुदेव के गुणों का वर्णन सहस्र जिह्वाएं भी नही कर सकती हैं और उनके चरणकमलों की सहस्रों भवों तक सेवा करते रहने पर भी हम उनके उपकार से उऋण नहीं हो सकते हैं। कहा भी है—

सात समुन्दर मसि करूं, लेखनि सब बनराय।
सब धरती कागद करूं, गुरु गुन लिखा न जाय॥

गुरुदेव के संस्कारों से ही हमारे हृदय में आज वह शक्ति आयी है कि धर्म, देवशास्त्र और गुरुओं के ऊपर यदि कोई आपत्ति आ जाए तो हम अपनी जान की बाजी भी देने को तत्पर हैं। धर्म पर दृढ़ रहने की शिक्षा भी इन्हीं आचार्यश्री जी ने दी है—

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्ति:, पूजामूलं गुरो: पदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं, मोक्षमूलं गुरो: कृपा॥

गुरुदेव की मूर्ति ही ध्यान का मूल कारण है, गुरु के चरण कमल ही पूजा के मूल कारण हैं। गुरु की वाणी ही जगत् के संपूर्ण मंत्रों का मूल कारण है और गुरुदेव की कृपा ही मोक्ष प्राप्ति का मूल कारण है। इसलिये ऐसे गुरुदेव की कृपा हमारे ऊपर भव भवान्तरों में सदैव बनी रहे और उनका आशीर्वाद हमें मिलता रहे। ऐसे गुरुदेव के आयु-आरोग्य हमेशा वृद्धिगत होवें। वीर प्रभु के चरणों में यही सतत प्रार्थना करते हैं और अपनी शुभकामनाएं गुरु चरणों में समर्पित करते हैं। □

श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर जी के उद्धारक

श्री कर्मचंद जैन

महानगरी दिल्ली श्रमण-सभ्यता एवं संस्कृति का प्रमुख केन्द्र रही है। यहाँ मुसलमान शासकों के साम्प्रदायिक शासन में भी जैन धर्मानुयायियों ने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया था। दिल्ली में भट्टारक परम्परा के उदय के साथ श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, सब्जीमण्डी की भी स्थापना हुई थी। यह मन्दिर लगभग ५५० वर्ष प्राचीन है और इस मन्दिर के साथ अनेक ऐतिहासिक एवं चामत्कारिक किंवदन्तियों का समाज में श्रद्धा से गुणगान किया जाता रहा है। यह मन्दिर जब अपनी जीर्ण-शीर्ण अवस्था को पहुंच गया और इसके अहाते में पानी इत्यादि भरने लगा, तब इसके पुनर्निर्माण की समाज को आवश्यकता अनुभव हुई। श्री मन्दिर जी की प्रसिद्धि को परिलक्षित करते हुए शास्त्रोक्त रूप से मन्दिर जी का नवनिर्माण वास्तव में एक व्यय-साध्य कठिन कार्य था।

समाज की दृष्टि परमपूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की तरफ आकर्षित हुई, क्योंकि उन्हें प्राचीन मन्दिरों के जीर्णोद्धार एवं नवनिर्माण का विशेष अनुराग है। प्राचीन श्री अग्रवाल दिगम्बर जैन पंचायत की पंच-समिति एवं प्रबन्धकारिणी कमेटी ने परमपूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज से श्री मन्दिर जी में आवश्यक परिवर्तन एवं नवनिर्माण की अनुमति लेकर पूज्य महाराजश्री से अनुरोध किया कि वे इस महान् कार्य के लिये दिल्ली में पधार कर अपना अनुभवी एवं कुशल निर्देशन समाज को देने की कृपा करें। महाराजश्री ने पंचों की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए दिल्ली में पधारना स्वीकार कर लिया और श्री मन्दिर जी के नव-निर्माण के लिए एक विशेष संदेश जैन समाज को दिया। पूज्य महाराजश्री की पावन प्रेरणा से इस ऐतिहासिक मन्दिर को नया स्वरूप मिल गया और महानगरी दिल्ली के अन्दर श्री पंच-कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव का एक विशेष अवसर भी प्राप्त हुआ, जिससे राजधानी के जैन समाज को संगठित होने में विशेष बल प्राप्त हुआ।

पूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की पावन प्रेरणा से श्री मन्दिर जी के नवनिर्माण में धन संचय का कार्य सुगमता से हो गया और उनके पावन सान्निध्य ने राजधानी में विश्व-शांति महायज्ञ और जैनधर्म की जनसाधारण एवं प्राणी मात्र के प्रति मंगल-कामना की भूमिका का राष्ट्रव्यापी दिग्दर्शन करा दिया। इस आयोजन के लिये परमपूज्य आचार्यश्री ने एक लम्बी पदयात्रा करते हुए १५ फरवरी को दिल्ली में मंगल-प्रवेश किया था। पूज्य महाराजश्री के मंगल आगमन से राजधानी में एक उत्साह का अभूतपूर्व वातावरण बन गया और उनके पावन सान्निध्य का लाभ उठाकर दिल्ली के गांधी ग्राउंड में पंच-कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव का कार्य सम्पन्न हुआ। महाराज श्री की प्रेरणा से २५० फुट लम्बा, २०० फुट चौड़ा पण्डाल बनाया गया, जिसमें २२ द्वार निर्मित कराये गये थे। रंग-बिरंगी मालाओं से मण्डप को सुसज्जित किया गया था। विशाल पाण्डुक शिला पर अभिषेक होने से पूर्व आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज का सारगर्भित मंगल-प्रवचन हुआ था, जिससे राजधानी का जैन इतर समाज भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। उनकी पावन वाणी से सभा में उपस्थित लगभग ७५ हजार नर-नारियों ने जीवन को सार्थक करने वाले अनेक नियम भी लिये थे। दीक्षा-कल्याण के समय आचार्यश्री के महान् तेज एवं केशलोच ने उपस्थित जन-समुदाय को मन्त्रमुग्ध कर दिया था। पंच-कल्याणक में आहारदान के अवसर पर जब आचार्यश्री ने आहार ग्रहण किया तब नगर-भोज के उपरान्त भी यह प्रतीत होने लगा कि आज रसोई घर में वास्तव में इतनी भोजन-सामग्री का भण्डार है, जिससे अगणित व्यक्ति कृपाप्रसाद को प्राप्त कर अपने जीवन को धन्य कर सकते हैं।

वास्तव में यह आचार्यश्री के चरण-कमलों का ही प्रताप है कि जहाँ भी उनका पावन सान्निध्य होता है, वहाँ पर समस्याओं का समाधान स्वयमेव ही हो जाता है और जैन-शासन के प्रभावक मन्दिरों का जीर्णोद्धार एवं नवनिर्माण हो जाता है, जिससे मुक्ति की कामना करने वाले महानुभाव श्री मन्दिर जी की पावन छाया में अपने जीवन को विकसित कर सकें। श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, सब्जीमण्डी के नवनिर्माण के लिये वास्तव में आचार्यश्री प्रमुख प्रेरक महापुरुष हैं। उनकी मंगल प्रेरणा से यह कार्य सम्पन्न हो पाया था। इसीलिये श्री मन्दिर जी में पूजा-पाठ एवं दर्शन करने वाले समस्त महानुभाव आचार्यश्री के प्रति अन्तर्मन से कृतज्ञता प्रकट करते हुए उनके दीर्घ जीवन की कामना करते हैं, जिससे धर्म का पथ सदैव आलोकित होता रहे। □

राजस्थान में आचार्य देशभूषण जी

डॉ० कस्तूर चन्द कासलीवाल

परम श्रद्धेय आचार्य देशभूषण जी महाराज का जैनाचार्यों मे प्रमुख स्थान है। यद्यपि वे आचार्यप्रवर शान्तिसागर जी महाराज की परम्परा में होने वाले आचार्य नही हैं किन्तु वर्तमान दिगम्बर जैनाचार्यों मे उनका महत्व किसी भी आचार्य से कम नहीं है। वे दक्षिण भारत मे जन्म लेने वाले महान् सन्त हैं। हिन्दी इनकी मातृभाषा नहीं है फिर भी वे दक्षिण भारत से अधिक उत्तर भारत में समादृत हैं। उन्हे यहा श्रद्धापूर्वक सुना जाता है। इनका व्यक्तित्व महान् है। सन् १९८२ में उन्होंने राजस्थान की राजधानी जयपुर में चातुर्मास किया। जयपुर में इससे पूर्व भी वे चातुर्मास कर चुके हैं, इसलिये जयपुरवासियों के लिये भी वे नये नहीं हैं किन्तु इस वर्ष वे अपने जन्म स्थान कोथली से हजारो किलोमीटर दूर राजस्थान मे पधारे थे। अपने इस मगल विहार में उनके जहा भी चरण पड़े वहीं हजारों-लाखों ने अपने पलक-पांवड़े बिछा कर इनका स्वागत किया। पुष्प-वृष्टि की। नृत्य एवं मृदग बजाकर उनका अभिनन्दन किया। आकाश को गु जाने वाली जयजयकार की और साष्टाग नमस्कार करके अपनी श्रद्धा व्यक्त की। उनकी स्वागत सभाओ मे छोटे-छोटे गांवों तक में हजारो की उपस्थिति देखी गई। कोथली से लेकर जयपुर-प्रवेश तक उनके विहार के समाचार दैनिक एव साप्ताहिक पत्रों मे प्रमुखता से स्थान पाते रहे। जब तक उन्होंने जयपुर में अपने चरण नहीं रखे तब तक प्रदेश की जनता अधीर होकर उनकी प्रतीक्षा करती रही और उनके आगमन का एक-एक दिन अपनी अगुलियों पर गिनती रही।

जयपुर नगरवासियों ने प्रायः सभी प्रमुख आचार्यों, मुनियो एव सन्तों के दर्शन किये हैं। स्व० आचार्य शान्तिसागर जी महाराज, स्व० आचार्य रूपसागर जी, स्व० आचार्य शिवसागर जी, आचार्य धर्मसागर जी, एलाचार्य विद्यानन्द जी, आचार्यकल्प श्रुतसागर जी जैसे बहुचर्चित आचार्यों को पास से देखने, सुनने एवं भक्ति करने का अवसर मिला है। पूज्य एलाचार्य विद्यानन्द जी महाराज के स्वागत एवं विदाई के अभूतपूर्व जुलूस का आयोजन देखा है। प्रतिदिन हजारो की संख्या में प्रवचन सुनने के लिए एकत्रित जनमेदिनी को देखा है लेकिन इस बार आचार्य देशभूषण जी महाराज का साधुत्व जितना उभर कर आया उतना पहिले कभी नहीं देखा गया। उनके प्रति जनसामान्य मंत्रवत् आकर्षित हुआ है, उनके दर्शनों को लालायित रहा है तथा उनकी पिच्छिका द्वारा आशीर्वाद लेने हेतु घण्टों खड़ा रहता देखा गया है। यह सब उनके चमत्कारी व्यक्तित्व का ही प्रभाव है। पचासों स्त्री-पुरुष आहार देने की आशा मे पंक्तिबद्ध खड़े रहते हैं। यदि किसी के घर आहार हो गया तो वह कृतकृत्य हो गया और यदि कदाचित् नहीं हो सका तो कल की आशा में फिर तैयारी करने लगते हैं। यह सब उनके साधुत्व के प्रति आस्था का सुपरिणाम है।

आचार्यश्री के जयपुर में प्रवेश होते ही इस बार फिर चूलगिरि पर पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव आयोजन का कार्य प्रारम्भ हो गया। जयपुर जैन समाज उन्हीं के आगमन की प्रतीक्षा में था। यद्यपि लगभग एक वर्ष पूर्व ही नगर मे पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा हो चुकी थी लेकिन इस प्रतिष्ठा मे आचार्यश्री के आशीर्वाद एवं उनके महान् व्यक्तित्व का सबको सम्बल था। इसलिए प्रतिष्ठा महोत्सव को सफल बनाने मे सब तन, मन, धन से जुट गये। समाज के जो नेतागण महाराजश्री के विरोधी समझे जाते थे, पञ्चकल्याणक महोत्सवों के आयोजनों की निन्दा करते रहते थे, आचार्यश्री की सभाओ में जाने मे परहेज करते थे तथा पहिले कभी महावीर जयन्ती जैसे समारोहों को बुलाने के विरोध मे थे उन्हें इस बार महाराजश्री का आशीर्वाद लेते हुए सबसे आगे देखा गया। प्रतिष्ठा महोत्सव समिति में उनका नाम एवं सहयोग प्रमुख रूप से प्राप्त हुआ तथा उन्हें महाराजश्री के साथ बैठकर भविष्य की योजना बनाते देखा गया। पता नहीं यह सब महाराजश्री के चमत्कारी व्यक्तित्व का प्रभाव है या अपने नेतृत्व को अक्षुण्ण रखने का उपाय। कुछ भी हो, पञ्चकल्याणक महोत्सव खूब सफल रहा और जयपुर के इतिहास में एक और प्रतिष्ठा महोत्सव का इतिहास जुड़ गया। जिसने भी इस प्रतिष्ठा महोत्सव को देखा, जयपुर नगर के प्रमुख कार्यकर्ताओं को देखा, वही महाराजश्री के अद्भुत व्यक्तित्व के प्रति नतमस्तक हो गया। वास्तव में चूलगिरि जैसे क्षेत्र का निर्माण महाराजश्री के महान् व्यक्तित्व का ही एक सुपरिणाम है। इन्हीं कारणों से राजस्थान का समस्त जैन समाज उनके सामने नतमस्तक है। ☐

सन्त शिरोमणि परम गुरुदेव

पं० यतीन्द्रकुमार वैद्यराज

श्री आचार्य कुन्दकुन्द ने 'भाव पाहुड़' में लिखा है—"पंचविह् चेलचायं खिदि सयणं दुविह् संजमं भिक्खु भावं भाविय पुव्वं जिण लिंगं णिम्मल सुद्धम्" अर्थात् पांच प्रकार के (रेशमी, सूती, ऊनी, चमड़ा, वृक्ष) वस्त्रों का त्याग, भूमि पर शयन, दोनों प्रकार का संयम, भिक्षा से भोजन, पूर्णता के साथ आत्मश्रद्धा—यही निर्मल जिनलिंग है। श्री १०८ विद्यालंकार श्री देशभूषण जी महाराज ऐसे ही दिगम्बर जिनलिंग के धारी हैं। आप सही अर्थों में देश के भूषण हैं और स्वार्थ-त्याग पूर्वक समता भाव से साधना कर रहे हैं।

आप ऐसे महापुरुष हैं जो युवाकाल मे ही संन्यास ग्रहण करके भगवान् महावीर के सच्चे अनुयायी बनकर लगभग ५५ वर्ष से निरतिचार मुनिव्रत की सतत साधना मे लवलीन हैं। राजनैतिक, औद्योगिक, सामाजिक हर वर्ग के लोगों को आपने प्रभावित किया है। वर्षों देश की राजधानी देहली में रहकर जैन धर्म की प्रभावना के अनेक कार्य किये हैं। भारत के कोने-कोने में पदयात्रा करके आपने श्रमण सस्कृति का अलख जगाया है और कई उपसर्गों को जीतकर अचल रहे हैं। अनेक मुमुक्षुओं को उनकी योग्यता के अनुसार मुनि, ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, एलक के पदों की दीक्षा देकर साधना के मार्ग पर आरूढ किया है। जैन धर्म को विश्व धर्म के तुल्य उद्‌घोषित करने वाले राष्ट्र के प्रखर सन्तप्रवर श्री एलाचार्य विद्यानन्द जी महाराज आप के सुयोग्य शिष्य हैं। अध्यात्म क्षेत्र मे गुरु की यही कामना रहती है कि शिष्य महान् बने। आज राष्ट्रसन्त के पद से विभूषित होने वाले प्रखर प्रतिभा के धनी अपने श्रेष्ठ शिष्य के द्वारा सम्पन्न हो रहे जैन धर्म की प्रभावना के लोक-मगल कार्यों को देखकर महाराजश्री को आनन्दानुभूति होती है।

अनेक तीर्थ क्षेत्रो के विकास तथा जीर्णोद्धार मे भी महाराज की प्रेरणा रहती है। अयोध्या जैसे प्राचीन क्षेत्र को आधुनिक महत्त्व प्रदान करने के पवित्र उद्देश्य से वहां भगवान् ऋषभदेव की ३२ फुट ऊंची मनोज्ञ प्रतिमा की स्थापना में आपका प्रयास बहुत सराहनीय रहा है। निर्ममत्व होकर भी वात्सल्य तथा करुणा भाव आचार्यश्री के आचरण मे पग-पग पर दिखाई देता है। यही कारण है कि कोई भी छोटा या बड़ा व्यक्ति महाराजश्री के समीप पहुंचकर शांति और प्रसन्नता का अनुभव करता है।

आज जैन समाज के सामने दो प्रकार की समस्याएँ विक्षुब्धता का वातावरण बना रही हैं। सर्वप्रथम तो भावी पीढ़ी के कर्णधार युवक वर्ग मे धर्मसाधन के प्रति बढ़ता हुआ प्रमाद दृष्टिगत हो रहा है। धार्मिक क्रियाओं एवं आस्थाओं, संयम, आचरण की उनमें शिथिलता है। मर्यादा का उल्लंघन, पश्चिमी प्रभाव से भोगों के प्रति अभिरुचि तथा अर्थसंचय की गृद्धता धर्म के प्रति उदासी बढ़ा रही है। दूसरे, समाज को चुनौती प्राप्त हो रही है तथाकथित अध्यात्मवादी लोगों की ओर से, जो सयम तथा संयमी, त्यागी, तपस्वी, महापुरुषों की अवहेलना करते हैं; प्रत्येक हितकारी धार्मिक क्रिया को हेय मानते हैं; चार अनुयोगों में से केवल द्रव्यानुयोग का आश्रय लेकर निश्चय एकान्त का पोषण करते हैं, पुण्य का फल तो चाहते हैं पर गृहस्थ अवस्था मे ही पुण्य को हेय कहते हुए दिगम्बर ऋषियों का मखौल उड़ाते हैं। इस संकटमय वातावरण में हम सब का ध्यान रत्नत्रय के परम आराधक, विद्यालंकार, चारित्रचूड़ामणि, अनेकान्त के प्रवक्ता, आचार्य परम्परा के रक्षक श्री आचार्य देशभूषण जी जैसे महान् पुरुषो की ओर जाता है जो अपने प्रखर तप तेज के प्रभाव से सही दिशा में जैन जगत् का आध्यात्मिक नेतृत्व कर रहे हैं। सन्तों का जन्म संकटों से उबार कर सन्मार्ग पर प्रवृत्ति कराने के लिए ही होता है। कबीर साहब ने ठीक ही कहा था—

"आग लगी आकास में, झर-झर परें अंगार।
संत न होते जगत् में, तो जल जाता संसार॥"

ऐसे महान् सन्त गुरुदेव के चरणों मे सादर प्रणाम। □

कलकत्ता में ससंघ पदार्पण

धर्मालंकार कमलकुमार जैन गोइल्ल

आचार्यश्री ने पचास वर्ष के अपने साधु जीवन में आत्मसाधना के साथ सारे भारतवर्ष में यत्रतत्रसर्वत्र पादविहार से जो जैन एवं जैनेतर समाज में अहिंसा धर्म की ध्वजा फहराई वह सदा स्वर्णाक्षर में अंकित रहेगी। आपकी विद्वत्ता, वाणी की मधुरता, हृदय की गम्भीरता, मुखमण्डल की तेजस्विता, निरीहवृत्तिता, स्वाभाविक दयालुता, उपसर्ग सहिष्णुता, अनुपम क्षमता प्रभृति ऐसे अनेक अनुकरणीय एवं अभिनन्दनीय तथा वन्दनीय गुण हैं जो हम सरीखे अल्पज्ञों के द्वारा अनिर्वचनीय तथा अकथनीय हैं।

विक्रम सं० २०१५ ई० सन् १९५८ के ज्येष्ठ मास के कृष्ण पक्ष में शुभतिथि प्रतिपदा तदनुसार शुभ दिन रविवार के प्रातःकाल पूज्यश्री ने अपनी पवित्रतर चरण रज से बंगाल प्रान्त की राजधानी तथा सारे भारतवर्ष की महानगरी कलकत्ता के कणकण को पवित्र किया था। आपका ससंघ चातुर्मास यहीं सानन्द सम्पन्न हुआ था। पूज्यश्री की आज्ञानुसार श्रावकशिरोमणि दानवीर आदि अनेक उपाधि समलंकृत श्री शान्तिप्रसाद जी जैन उद्योगपति जो साहु जी के नाम से सारे भारत में इस अपर नाम से भी विख्यात थे और जिनके यहां हम धर्मशिक्षक पद पर प्रतिष्ठित थे, इन्होंने ही हमें संघवर्ती साधु-साध्वियों के अध्यापनार्थ पूज्यश्री के श्रीचरणों में भेजा था। जब तक पूज्यश्री ससंघ यहां विराजमान रहे तब तक हमें ज्ञानदान का सौभाग्य प्राप्त रहा। यह हमारे जीवन का कर्तव्यशाली युग था।

श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर बेलगछिया उपवन मे संघ विराजमान था। चातुर्मास में सारा उपवन आप की अमृतमयी मधुवाणी से मुखरित रहा। सचमुच उस समय का दृश्य चतुर्थकाल की गरिमा एवं महिमापूर्ण दृश्य की काल्पनिक मूर्ति को उपस्थित करता था। आपके सारगर्भित जनोपकारी मधुर भाषणों को सुनने के लिये जनता की बाढ़-सी आ जाती थी। सारा पण्डाल खचाखच भर जाता था। बैठने को जगह न मिलने से हजारों श्रोताओं को पण्डाल से बाहर ही खड़े रहकर उनके प्रवचनों को सुनने मे भारी आनन्द का अनुभव होता था।

वह सारा दृश्य आज भी हमारी आंखों के सामने ताजगी को लिये हुए दिखाई दे रहा है। ऐसे अप्रतिम, प्रतिभासम्पन्न, अकारणबन्धु, प्राणीमात्र के हितचिन्तक, साधुमना, आचार्यश्री शतायु हों और हम सरीखे अज्ञानियों को ज्ञान प्रदान करते रहें ऐसी १००८ भगवान् महावीर स्वामी के श्रीचरणों मे सहस्रशः प्रार्थना है। □

सिद्धियों के धनी

आचार्य जिनेन्द्र

श्री देशभूषण जी महाराज एक सिद्ध तपस्वी हैं। एक बार इन्दौर से श्री मक्सी पार्श्वनाथ जी की ओर मुनि श्री देशभूषण जी महाराज के साथ नर-नारियों ने पैदल ही प्रस्थान किया। चलते-चलते मक्सी जी के करीब वह संघ पहुंचने वाला था कि घनघोर मेघों की घटा उमड़ आई। जंगली क्षेत्र था। नर-नारियों में व्याकुलता व्याप्त हो गई। महाराजश्री ने धर्म के आस्तिकों की भावना विचलित देखी तो सभी को जैनधर्म पर आस्था दृढ़ रखने का उपदेश दिया। सभी को एकत्रित कर गोलाकार में खड़ा कर अपने कमण्डलु के मंत्रित जल से गोलाकार को रेखांकित कर दिया। जल की घनघोर वर्षा आस-पास चारों ओर हो रही थी, किन्तु उस गोलाकार के अन्दर एक भी बूंद प्रवेश नहीं कर सकी। सम्पूर्ण नर-नारियों ने महाराज देशभूषण जी के अगाध ज्योतिष्क ज्ञान से प्रभावित होकर गगन-भेदी जयकारों से उस वनप्रदेश को गुञ्जायमान कर दिया। यह प्रत्यक्ष सिद्ध चमत्कार है उन आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज का जिन्होंने सम्पूर्ण भारतवर्ष मे जैनधर्म की ध्वजा फहराई है। मैंने अयोध्या के पंचकल्याणक में श्री श्री महाराज जी की अद्भुत प्रतिभा की वन्दना की थी। ऐसे अनेकानेक शुभ अवसरो पर श्री महाराज जी के साक्षात् दर्शन करके मैं अपने को धन्य मानता रहा हूं। आचार्यश्री के अभिनन्दन समारोह पर हम दोनों पति-पत्नी चरणों में कोटिशः वन्दना करते हुए उनके दीर्घायुष्य की मंगल कामना करते हैं। □

श्रावक सद्कर्म करता रहे

श्री अजितप्रसाद जैन (पीतल वाले)

परमपूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने राजधानी में पहली बार अपने मंगल-प्रवेश के अवसर पर मेरे घर के निकट धौ दिगम्बर जैन नये मंदिर जी की निकटवर्ती पंचायती धर्मशाला को अपने गौरवमण्डित चरणों से पवित्र किया था। इस नैकट्य का लाभ उठा कर मैं प्रतिदिन पूज्य महाराज के दर्शन को दो या तीन बार धर्मशाला में आया करता था। तपोमूर्ति आचार्य महाराज साधना में रत रहते हुए निरन्तर स्वाध्याय एवं मंगल-प्रवचन से आत्म-कल्याण एवं पर-कल्याण में संलग्न रहते थे। कन्नड़ भाषा के ग्रन्थों का निरन्तर अध्ययन, अनुवाद एव सम्पादन का कार्य चलता रहता था। पूज्य आचार्यश्री की कठोर साधना एवं तपश्चर्या का मेरे जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा और मैं हृदय से उनके पावन श्रीचरण में नत-मस्तक हो गया।

पूज्य आचार्यश्री जिस समय आहार की विधि को जाते थे, उस समय मैं भी श्रद्धा से चौके लगाया करता था। मेरे घर में चौके लगने के कारण धार्मिक वातावरण ही बन गया था। पूज्य आचार्यश्री का कई दिनों के उपरान्त मेरे यहां आहार हुआ और मैं अपनी कुटिया में उनके श्रीचरण का प्रवेश पाकर अपने को गौरवान्वित अनुभव कर रहा था। आहार के उपरान्त पूज्य महाराजश्री परिवारजन एवं अन्य उपस्थित सज्जनो को धर्मोपदेश दिया करते थे और शंका-समाधान भी किया करते थे। मैंने महाराजश्री से निवेदन किया कि महाराजश्री आपकी आहारयात्रा के समय सबसे पहले मेरा घर पड़ता है, किन्तु इतने दिनों के बाद मुझे यह सौभाग्य किस प्रकार से प्राप्त हुआ? आपने यह अनुकम्पा पहले क्यों नहीं की?

आचार्यश्री ने मंद-मंद मुस्करा कर कहा कि मुनि एवं श्रावक, दोनों को ही अपने-अपने धर्म और कर्तव्य का पालन करना चाहिए। जिस प्रकार से दुकानदार अपनी दूकान को सजा कर रखता है और दूर-दूर की सामग्री एकत्र करता है और ग्राहक के आने की निरन्तर प्रतीक्षा किया करता है और जब ग्राहक आ जाता है, तब वह अपने को सफल मानता है। इसी प्रकार श्रावक को अपना दैनिक कार्य नियमपूर्वक करना चाहिए। यह अलग बात है कि उसे फल की प्राप्ति कब होती है। यह निश्चित है कि धार्मिक अनुष्ठान करने वाले करुणाशील श्रावकों को अपने-अपने कृत्यों का निश्चित रूप से फल मिलता है। इसके उपरान्त उन्होंने परिवार के बालकों में रुचि का प्रदर्शन करते हुए सबके बारे में आवश्यक जानकारी एकत्र की। उन्होंने बताया कि थोड़े ही समय उपरान्त अयोध्या के अन्दर पंच कल्याणक-प्रतिष्ठा का आयोजन किया जाएगा। उसमें इन नन्हे-मुन्ने बालकों को संगीत, नृत्य आदि दिखा कर सभा-मण्डप में अपना भक्ति-प्रदर्शन करना चाहिए। उनकी पावन वाणी एव प्रेरणा ने बच्चों के मन को अभिभूत कर दिया और वे नृत्य-संगीत का अभ्यास करने लगे और उन्होंने अयोध्या जी की पंच-कल्याणक प्रतिष्ठा में अपना कार्यक्रम प्रस्तुत किया। वास्तव में आचार्यश्री का पावन उद्बोधक उपदेश धर्म पर चलने की प्रेरणा देता है और मैं तो यह स्वीकार करता हूं कि उनके सान्निध्य ने ही मेरा हर प्रकार से विकास एवं मार्ग-दर्शन किया है। उनके चरणों में अनेकानेक नमोऽस्तु करते हुए उनके स्वस्थ एवं दीर्घ जीवन की निरन्तर मंगल कामना करता हूं। □

निर्भीक और मार्मिक वक्ता

श्री मांगीलाल सेठी 'सरोज'

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के दर्शनों का सौभाग्य मुझे दिल्ली में मिला था। आपकी सरल शान्त सौम्य मुद्रा निरख कर एक अनुपम आकर्षण की अनुभूति हुई। हृदय भक्ति से गद्गद् हो गया। आप जैसे महान् तपस्वी, आगम ज्ञान निष्णात्, सप्त भाषा के ज्ञाता, प०पू० १०८ स्व० आचार्यश्री शान्तिसागर जी की परम्परा के सुयोग्य निर्वाहक, निर्भीक मार्मिक वक्ता, परमहंस योगीराज के कारण जैन समाज अपनी श्रमण संस्कृति के लिए जितना गर्व करे, थोड़ा है। त्याग के साथ विद्वत्ता का सद्भाव आज के इस भौतिक युग में परमावश्यक है जिससे विनाश के कगार पर खड़े अशान्त विश्व के कल्याण के लिए विज्ञानसम्मत जैन सिद्धान्त रूपी संजीवनी बूटी का महत्त्व देशी-विदेशी विद्वान् अनुभव कर सकें। आचार्य महाराज की इस ओर सक्रियता को नकारा नहीं जा सकता। आचार्य महाराज शताधिक आयुष्मान् होकर ज्ञान की अविरल धारा निरन्तर प्रवाहित करते रहें जिससे भव्यजनों को आत्महितकर मार्गदर्शन मिलता रहे। श्री वीर प्रभु से इसी प्रार्थना के साथ ऐसी अनुपम विभूति के चरणों में श्रद्धापूरित हृदय से बारम्बार नमस्कार करता हू। □

धर्मध्वजा के उन्नायक

पं० राजकुमार शास्त्री

आचार्यरत्न देशभूषण जी धर्मप्राण प्रभावक प्रवक्ता हैं। दाक्षिणात्य होते हुए भी आपकी भाषा अन्तस्तल को झकझोरने वाली होती है। मुझे याद है जब आचार्यश्री देहली में विराजमान थे, एक विदेशी विद्वान् आपके उपदेश को सुनकर गद्गद् हो गया था और उसने आचार्यश्री के चरण स्पर्श करते हुए सभा में ही आजन्म मद्य-मांस-सेवन का त्याग कर दिया था, अष्टमूल गुण धारण किये थे और अपने को जैन होना घोषित किया था। संयोगवश आचार्यश्री का उस दिन अष्टमूल गुणो पर ही प्रवचन चल रहा था।

जयपुर मे एक आर्यसमाजी केशवदास जी ने आचार्यश्री से प्रश्न किया था कि आप दतोन नही करते हैं। इससे तो दाँतों मे पायरिया की बीमारी हो सकती है, मुह मे बदबू आ सकती है, दतक्षयादि की बीमारी हो सकती है। तब आचार्यश्री ने मुस्कराते हुए कहा था कि हम आहार करने के बाद मुखशुद्धि करते ही हैं। किन्तु याद रखिये कि दाँतो का आँतों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रायः सभी बीमारियाँ आँतो से सचित विष से होती हैं। जिसकी आँते खराब हैं, उसके दाँत भी खराब होते है। हम दिन मे अल्प आहार लेते हैं। सर्वदा गर्म किया हुआ प्रासुक जल पीते हैं। हमे देख लीजिये। हमारे मुह मे आपकी बताई हुई एक भी बीमारी नहीं है। इस उत्तर से सभी आचार्यश्री के ज्ञान की गम्भीरता मान गये थे। आचार्यश्री की सभी विषयो पर अबाध गति है। बहुमुखी प्रतिभा है। गभीर ज्ञान है। इसीसे आपने इस बीसवीं शताब्दी मे श्रमण सस्कृति के उन्नयन मे, धार्मिक जागृति करने मे ऐतिहासिक योगदान किया है। आपके प्रवचन से प्रभावित होकर बडी सख्या मे मानवो ने आपसे व्रत लिये हैं। अनेक व्यक्ति मुनि व आर्यिका जैसे महान् पद ग्रहण कर आत्मसाधना की ओर उन्मुख हुए हैं। विश्वधर्म के प्रेरक, प्रभावक वक्ता एलाचार्य मुनि विद्यानन्द महाराज आपके ही शिष्य है, जिन्होंने अपनी विद्वत्ता से सम्पूर्ण भारत मे अपने गुरु का नाम उज्ज्वल करते हुए अपना कीर्तिमान स्थापित किया है।

इस तरह आचार्यश्री अपने अनेक शिष्य-प्रशिष्यो द्वारा तथा स्वय भी पदयात्रा द्वारा आज के भौतिकता द्वारा अशान्त, क्लान्त सारे देश मे भ्रमण कर जैन धर्म के महान् सिद्धान्तो का प्रचार-प्रसार कर सुख-शान्ति का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। वस्तुतः इस युग मे धर्ममूर्ति, धर्मप्राण, महातपस्वी आचार्यश्री का आविर्भाव विश्व के लिये अप्रतिम वरदान है। उनके आध्यात्मिक उपदेशामृत का लाखो लोगो ने लाभ लेते हुए सुख व शान्ति की सही दिशा प्राप्त की है। सिद्ध तपस्वी, श्रमणो मे अग्रणी, महामनीषी, बालब्रह्मचारी, आचार्यश्री के अनेक रचनात्मक कार्यों मे भारतीय श्रमण संस्कृति का पक्ष उजागर हुआ है। जैन धर्म के प्रति और नग्न साधुओं के प्रति कुछ अविवेकी जनों द्वारा फैलाई गई अनेक भ्रान्तियो का आपके प्रभावक प्रवचनों व व्यक्तित्व-कृतित्व से निराकरण हुआ है। ऐसे परमोपकारी, विश्ववंद्य, धर्मध्वजा के उन्नायक आचार्यरत्न का जैनाजैन समाज चिरऋणी रहेगा और अपनी अगाध श्रद्धा उनके पावन चरणों मे समर्पित करता रहेगा। हम भी तीर्थंकर देशना के परम प्रचारक, सर्वकल्याणपरक, विश्वमैत्री के उद्घोषक, अकारण बन्धु, उद्भट विद्वान्, महान् तपस्वी, धर्मप्रभावक, परम पूज्य, श्रमणोत्तम, जगद्गुरु आचार्यरत्न श्री देशभूषण महाराज के पावन चरणो मे विनम्र श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए उनकी दीर्घायु के लिये कामना करते हैं। □

साधवो न हि सर्वत्र

श्री ताराचन्द जैन

स्वेच्छाचार विरोधिनी जैन दीक्षा फूलो की सेज नही है। इसकी कठोरता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि दिगम्बर जैन साधु इने-गिने ही होते हैं। इन इने-गिने साधुओं मे भी तपःपूत आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अग्रगण्य हैं। अपने कठोर तप और अभूतपूर्व त्याग के बल पर वे तृतीय परमेष्ठी के परम पद को प्राप्त कर चुके हैं और शिवमहल की ओर तीव्र गति से बढ़ रहे हैं। देश, काल और परिस्थितियो के अनुसार अपने को समायोजित करने में कुशल आचार्यश्री ने अपने बहुमुखी व्यक्तित्व के बल पर जनकल्याण के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। जैन समाज के चतुर्मुखी विकास में भी आपका अविस्मरणीय योगदान रहा है। सच्चे साधु के सभी गुणों से सम्पन्न आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के चरणों में मैं अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हूं। □

एक अपूर्व अतिशयी घटना

श्री मिश्रीलाल पाटनी

दिनांक २५-५-१६६३ को आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज लश्कर (ग्वालियर) में पधारे थे। अगले दिन लाभांतराय उदय से आचार्यश्री की पड़गाहन विधि नियम सहित मिल जाने के कारण मेरे घर पर उनका आहार हुआ। नवधाभक्तिपूर्वक मैं उन्हें जिस कमरे में कर-पात्र मे आहार करवा रहा था उसकी छत पर स्वच्छ श्वेत चादर का चंदोवा बंधा हुआ था। अचानक महाराजश्री के सम्मुख लगभग एक गज की दूरी पर चदोवे मे से स्वच्छ जल की पांच-सात बूंदें टपकी, जिन्हें देखते ही महाराज ने कर-पात्र संकुचित कर लिया और अपवित्रता जानकर आहार लेना बन्द कर दिया। मैंने और मेरे परिवारजनो ने महाराजश्री से करबद्ध निवेदन किया कि वे आहार पुन: प्रारम्भ करें और उन्हे यह भी विश्वास दिलाया कि "चंदोवे के ऊपर या छत पर आस-पास कोई नाली भी नही है जहां से गन्दा पानी आ सके। यह तो वास्तव मे महाराजश्री के तपोबल की सिद्धि से किसी शासन देव द्वारा की गई सुगन्धित जल की वृष्टि थी। यह उत्तम तपोबल का अतिशय है।" इस प्रकार आहार सानन्द निरन्तराय सम्पन्न हुआ और यह चमत्कार देखकर दर्शनार्थ आये हुए श्रावक समुदाय ने महाराजश्री का जयजयकार किया।

आहार-दान के बाद पीछी ग्रहण करने के पश्चात् हम सभी महाराज का चरण-वन्दन करने लगे तो महाराज ने कहा—"तुम बडे वाचाल धर्मज्ञ जिनबन्धु हो।" मैंने कहा—"महाराज, आप मेरे घर आये यह मेरा परम सौभाग्य है। जैन शास्त्रो मे उल्लेख है कि तीर्थंकरो के आहार के समय दाता के मकान पर पंचरत्न की वृष्टि होती थी। वर्तमान मे कलियुग काल है, भोगभूमि काल नही, अत रत्नो के स्थान पर आज सुगन्धित जल की वृष्टि हुई है।" महाराज बोले - "मैंने भी ऐसा दृश्य पहली बार तुम्हारे यहाँ ही देखा है। जल टपकता देखकर अपवित्रता के भय से मैंने हाथ सकुचित कर लिया था, किन्तु तुमने छत पर नाली न होने का विश्वास दिलाने और सुगंधित जल-वृष्टि की बात कहकर मेरी शंका दूर की। तुमने बाद मे चादर खोलकर छत भी दिखलाई। वास्तव मे आहार-दान के समय तुम्हारे मन के उत्तम भावो के कारण यह अतिशयशाली घटना हुई है। तुम भाग्यशाली उत्तम धर्मज्ञ पुरुष हो।"

मेरे यहाँ महाराजश्री के आहार के समय फोटोग्राफर नहीं था, अत: इस अतिशय रूपी घटना के अवसर पर चित्र न ले सका। इसका मुझे दुःख रहा। अब तक मै ५०-६० मुनियो व आर्यक-आर्यिका, क्षुल्लक-क्षुल्लिकाओं को आहार-दान कर चुका हू, लेकिन ऐसी घटना कभी नही घटी। आचार्य देशभूषण जी महाराज की साधना, सयम और तपोबल वास्तव मे अद्वितीय हैं और उनका स्वय का जीवन अलौकिकता के दिव्य गुणो से मडित है। उनके श्रीचरणो मे मेरा और परिवारजनों का भक्तिपूर्वक कोटि नमन है। □

A DEVOTEE'S HOMAGE

Km. Shakuntala D. Chowgule

Acharyaratna Shri Deshabhushanji Maharaj is a great Jain saint of our times. He has traversed the length and breadth of the country spreading the gospel of Lord Mahavira wherever he went. My association with Acharyaji started in my childhood I was overtaken by awe when I first met him, thinking that such a great and eminent personage would not take notice of a small child. But my fears were soon gone. To my pleasant surprise, I found that Acharyashri is a great lover of children. In fact he blesses everyone irrespective of one's age, with his benign presence. He is so simple and unassuming that anyone can go to him and have his blessings. I started giving him 'Āhāra' since I was eight years of age. My first 'darshana' of Acharyaji filled me with holy and noble thoughts and inspired me to follow the path of 'dharma' as propounded in our scriptures. In our city Kolhapur, Acharyaji installed a 28 feet high idol of Bhagawan Vrishabhanath in the Lakshmisen Jain Matha. The local Jain community is running a college, two high schools and a library for the benefit of students. While paying my humble and respectful homage to this great saint and ascetic, I pray that he may continue to guide us along the path of 'dharma' for many more years to come. □

अतिशय क्षेत्र (बरेली) का विकास

श्री सुमत प्रकाश जैन

आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषण जी महाराज ने संघ सहित मार्च १९७४ में देहली से उत्तर प्रदेश की ओर विहार किया। महाराजश्री की इच्छा उत्तर प्रदेश में श्री अहिच्छत्र पार्श्वनाथ अतिशय तीर्थक्षेत्र दिगम्बर जैन मन्दिर रामनगर किला जिला बरेली के दर्शन करने की हुई। महाराजश्री का संघ दिल्ली से विहार करके गाजियाबाद, हापुड़, गजरौला, हसनपुर, सम्भल, चंदौसी होते हुए अप्रैल में श्री अहिच्छत्र जी पर जा पहुंचा था। अधिकतर रास्ता मुस्लिम बहुल था परन्तु महाराजश्री के अभूतपूर्व व्यक्तित्व, ओजस्वी भाषण, मधुर वाणी एवं सरल स्वभाव से गांव-गांव के न केवल जैन बन्धु बल्कि सभी समुदायों के स्त्री-पुरुष व बच्चे बहुत ही प्रभावित होते थे और सैकड़ो लोगो ने उनके मधुर उपदेश सुनकर मद्य-मांस आदि का सेवन त्याग दिया। ग्रामवासी महाराजश्री को अपने गांव मे अवश्य ठहराते थे तथा कुछ उपदेश सुनकर ही आगे जाने देते थे। आगे की हर व्यवस्था मे वे अपना पूरा सहयोग देते थे एवं मीलो संघ के साथ पैदल चलते थे। इस प्रकार ग्रामवासियो ने जगह-जगह पर महाराजश्री की ओजस्विनी वाणी से लाभ उठाया। अप्रैल में श्री अहिच्छत्र जी पर जब महाराज श्री का संघ पहुंचा तब मैं भी साथ था। उस समय क्षेत्र पर श्री १०८ मुनि श्री शान्तिसागर जी भी ठहरे हुए थे। उन्होंने भी आचार्यश्री के संघ के पधारने पर बड़ी प्रसन्नता व्यक्त की। आचार्य देशभूषण जी महाराज का संघ श्री अहिच्छत्र जी पर तीन दिन ठहरा। क्षेत्र पर दर्शन करके तथा भगवान् पार्श्वनाथ की प्राचीन मूर्ति (तिरनाल वाले बाबा) की वन्दना करके आप बहुत ही प्रभावित हुए तथा क्षेत्र पर तिरनाल वाले बाबा की मूर्ति को बड़ा अतिशयवान बताया। महाराजश्री ने वहां पर दो पाठ भी करवाये। जिस दिन महाराजश्री क्षेत्र पर पहुंचे थे उससे अगले दिन ही प्रातःकाल की बेला मे जब मैं महाराजश्री के दर्शन को गया तो उन्होंने कहा था कि इस क्षेत्र का शीघ्र ही विकास एवं नवनिर्माण होगा। महाराजश्री की इस वाणी को सुनकर सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ था क्योंकि उस समय न तो इस प्रकार की कोई योजना विचाराधीन थी और न भविष्य मे किसी ऐसी योजना के आसार नजर आ रहे थे। परन्तु फिर भी महाराजश्री के कथन पर विश्वास हो गया था और केवल दो वर्ष बाद ही महाराजश्री की भविष्यवाणी साकार होती नजर आने लगी जब ८-१०-१९७६ को श्रावक शिरोमणि, दानवीर साहू शान्तिप्रसाद जी मुझे साथ लेकर क्षेत्र पर पहुंचे। साहू जी क्षेत्र के तथा तिरनाल वाले बाबा के दर्शन करके बहुत ही प्रभावित हुए तथा रात को क्षेत्र पर ठहरे। अगले दिन प्रातः पुनः क्षेत्र पर दर्शन करके क्षेत्र पर आये हुए सब लोगों के सामने उसके नवनिर्माण में अपना पूरा सहयोग देने की घोषणा कर दी और मुझे शीघ्र ही उसका एक 'मास्टर प्लान' बनाने को कहा। सेठ शिखर चन्द जी जैन (रानी मिल मेरठ वाले) के सहयोग से शीघ्र ही मास्टर प्लान बनवाया गया। सेठ शिखर चन्द जी ने भी अपनी ओर से हर प्रकार की सहायता का आश्वासन दिया। चार-पांच माह के अन्दर ही पूरा मास्टर प्लान व मॉडल तैयार करके साहू जी की स्वीकृति से निर्माण का काम चालू कर दिया गया और सब ओर से इस कार्य मे पूरा सहयोग मिलता चला गया और एक वर्ष मे ही इस क्षेत्र का न केवल नवनिर्माण एवं विकास हो गया बल्कि अप्रैल १९७८ मे क्षेत्र पर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा भी बड़ी धूमधाम से हो गई। ऐसी साकार हुई आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की भविष्यवाणी। जिन लोगो ने क्षेत्र को १९७७ से पहले देखा है तथा फिर अप्रैल १९७८ के बाद देखा है वही इस नवनिर्माण एवं विकास का सही मूल्यांकन कर सकते हैं कि किस तरह से पूरे क्षेत्र का कायाकल्प हो गया है। क्षेत्र से वापिस दिल्ली को विहार करते हुए महाराजश्री रामपुर, अमरोहा, मुरादाबाद, हापुड़, पिलखुवा, गाजियाबाद होते हुए लगभग ढाई माह बाद वापिस दिल्ली पहुंचे। महाराजश्री के इस प्रकार उत्तर प्रदेश मे विहार करने से जैन-अजैन सभी वर्गों मे बहुत ही धर्म-प्रभावना हुई और लोगो ने उनकी अमृतवाणी का पूरा-पूरा लाभ लिया। □

उपसर्ग विजेता

श्रीमती जैनमती जैन

लगभग ७५ ग्रन्थों का विद्वत्तापूर्ण लेखन, सम्पादन व अनुवाद करने वाले, मराठी, गुजराती, कन्नड, हिन्दी, अंग्रेजी, प्राकृत, संस्कृत आदि भाषाओं के वेत्ता, आचार्य जयकीर्ति जी महाराज के परम शिष्य और आचार्य विद्यानन्द जी जैसे आचार्यों के परम गुरु देशभूषण जी महाराज के जीवन मे विभिन्न भयानक और दुर्विजेय उपसर्ग आये। आचार्यश्री ने तपस्या और आध्यात्मिक बल से निर्विकार रूप से उनको सहन कर दिगम्बर जैन श्रमण परम्परा का अनुकरण किया है। इस प्रकार के भयंकर उपसर्गों को जीतने वाले, परिषहों को सहने वाले, कठोर तपस्वी आचार्यरत्न श्री का मैं शत-शत अभिनन्दन करती हूं। □

सार्वजनीन हित के प्रेरक

श्री कन्छेदो लाल जैन

आचार्यश्री के दर्शनों का सुयोग मुझे आज से लगभग २५ वर्ष पूर्व दादरी में मिला था। उस समय वे दिल्ली से सिकन्दराबाद की ओर जा रहे थे। दादरी में उनके रुकने की व्यवस्था उसी कालेज मे की गई थी जिसमे मैं शिक्षक था। मैंने हमेशा यही अनुभव किया कि उनका दृष्टिकोण उदार है। सिकन्दराबाद मे समाज ने आचार्यश्री की प्रेरणा से ऐसा धर्मार्थ औषधालय खोला था, जिससे सभी जनसमुदाय लाभ लेता था। सार्वजनीन हित की प्रेरणा देने वाले साधु विरल ही होते हैं।

उनके प्रवचनों के दो भाग दानवीर सेठ जुगलकिशोर जी बिरला एवं अखिल भारतीय आर्य हिन्दू धर्म सेवा संघ की ओर से प्रकाशित हुए थे, जिन्हे पढ़ने, देखने का सुयोग मुझे गाजियाबाद के जैन मन्दिर में मिला था। जैनेतर समाज द्वारा प्रवचनों के प्रकाशन हेतु आर्थिक सहयोग दिया जाना आचार्यश्री के उपदेशो की सरसता, सारगर्भिता और जैनधर्म को विश्वधर्म के रूप में प्रचारित करने की क्षमता का द्योतक है। □

साड़ी पर हवन

श्रीमती जयश्री जैन

विश्व मे सतो की महिमा का अपूर्व यशोगान हुआ है। सतों के बिना ससार असार है। सतों की आम्नाय मे जैन धर्म के सन्तो का स्थान सर्वोच्च है। मैं ऐसे ही निस्पृही मुनि आचार्य देशभूषण जी महाराज का एक पुनीत सस्मरण प्रस्तुत कर रही हूं। घटना काशी की है।

वहाँ महाराज श्री आचार्य देशभूषण जी का मगल पदार्पण हुआ। आपकी अलौकिक सिद्धियां प्रसिद्ध हैं। आपने एक बनारसी साडी मगवाई और उसे जमीन शुद्ध करके बिछा दिया। जनसमुदाय कौतुहल से देख रहा था। आपने उस नवीन साड़ी पर मन्त्रो से हवन प्रारम्भ कराया। साडी के ऊपर ही अग्नि प्रज्ज्वलित करके हवन किया गया। हवन शान्तिपूर्वक एक-डेढ़ घण्टे मे समाप्त हुआ। इसके बाद उस साडी को उठाया गया। किन्तु उपस्थित जन-समुदाय यह देखकर दंग रह गया कि हवन के बाद राख तो बच गई पर साड़ी का कुछ न बिगडा। वह अग्नि मे तपे हुए कुन्दन के समान और भी अधिक चमक रही थी। ऐसा चमत्कार तपोनिधि आचार्य दिगम्बर मुनि देशभूषण जी महाराज मे आज भी शतधाप्रकारेण विद्यमान है। उनके चरणों मे शतशः नमन। □

सजीव तीर्थ

कु० किरणमाला जैन
सागर, म० प्र०

श्री १०८ आचार्य देशभूषण जी महाराज यथार्थ मे जीवित तीर्थ हैं जिनकी सगति या दर्शन करने से भारत के मानवों का प्रतिदिन हित हो रहा है और होता रहेगा। इस जीवित तीर्थ का अवतरण महाराष्ट्र तथा कर्नाटक के सीमास्थल बेलगांव के कोथली नामक ग्राम में हुआ था। देशभूषण नामक इस सजीव तीर्थ पर सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक् चारित्र, सम्यक् तप, श्रेष्ठ वीर्याचार रूप पाँच मन्दिर शोभायमान हैं जिनका दर्शन कर बाल, वृद्ध, युवक, नर-नारी सभी मोक्षमार्ग में चलकर अपना कर्तव्य पालन कर रहे हैं।

भारत के इस मूर्तिमान रम्य तीर्थ पर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह रूप हरे-भरे विशाल एव फलप्रद वृक्ष खडे हुए हैं जिनकी शीतल छाया में बैठकर सभी वर्ग के मानव तथा पशु-पक्षी शान्ति-सुधा का पान करते हुए आनन्दित हो रहे हैं। अनेक व्यक्ति यम नियम रूप अमृत फलों का आस्वादन कर सयमनिष्ठ जीवन की साधना कर रहे हैं। इस आध्यात्मिक तीर्थ से क्षमा विनय सरलता शौच सत्य संयम तपत्याग आकिञ्चन्य ब्रह्मचर्य स्वरूप अनेक धर्मों के निर्झर प्रवाहित हो रहे हैं जिनमे स्नान कर अज्ञानी ने ज्ञान, निर्बल ने बल, रोगी ने निरोगिता, अनाचारी ने आचार, अविचारी ने विचार, सुप्त ने जागरण और दानवो ने मानवता को प्राप्त किया है। इस चेतनात्मक तीर्थ से ज्ञान की सरिता प्रवाहित हुई है जिसमे से प्राकृत, सस्कृत, कन्नड़, गुजराती, मराठी, बंगला, तमिल आदि विविध भाषा-भाषियों ने ज्ञान-जल का सकोरा लेकर पापताप को शान्त कर मानव-जीवन को पवित्र बनाया है। यह वह उन्नत तीर्थ है जिसने अनेक तीर्थों का जीर्णोद्धार, अनेक तीर्थों का उद्धार, अनेक मन्दिरों का निर्माण, पाठशालाओं, धर्मशालाओं और पुस्तकालयो का निर्माण कराया है। □

विश्व विभूति

श्री सुरेन्द्रकुमार जैन जौहरी
किनारी बाजार, दिल्ली

पूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज विश्व सन्तों की श्रेणी मे महान् विभूति हैं। उनके श्रीचरणो मे बैठकर मैंने अनुभव किया है कि वे संसार मे रहते हुए भी ससार से विरक्त हैं। शरीरधारी होते हुए भी अशरीरी हैं। दिव्य ज्योति से अनुप्राणित हैं। जैन धर्म एवं साधना को उन्होंने सहज जीवन पद्धति के रूप मे अपनाया है। उनका उदार हृदय केवल विश्व मानव के लिए ही नहीं वरन् मानवेतर प्राणियों के लिए भी करुणाशील और समर्पित है। साहित्य-साधना और रचनात्मक कार्यों मे निरन्तर तल्लीन रहने वाले महाराजश्री की मैं वन्दना करता हू और भगवान् श्री जिनेन्द्र देव से उनके दीर्घ आयुष्य की कामना करता हूं जिससे सन्तप्त मानवता को उनसे प्रेरणा व दिशा मिलती रहे। □

आरा (बिहार) में महाराज का लेखन-कार्य

श्री सुबोध कुमार जैन
जैनसिद्धान्त भवन, आरा

आरा के लिए यह अत्यन्त गौरव की बात रही है कि इस स्थान पर मुनिराज के दो चातुर्मास हुए थे। बड़ी भारी धार्मिक प्रभावना उनके कारण आरा नगर मे ही नही बल्कि सम्पूर्ण बिहार प्रात मे हुई थी। आरा से ही ससघ उन्होने सभी क्षेत्रो की वन्दना की थी तथा सभी नगरो मे पदार्पण कर उन्हे पवित्र किया था। ऐसे बहुत ही कम त्यागी या मुनि आरा आते हैं जो श्री जैन सिद्धान्त भवन के विशाल ग्रन्थागार मे बैठकर अध्ययन, मनन, चिंतन के अतिरिक्त लेखन भी करे। मुनिराज श्री देशभूषण जी महाराज ने अपने चातुर्मासो के दौरान दक्षिण भारतीय हस्तलिखित ग्रन्थो के अनुवाद किये तथा स्थानीय चित्रकारो से जैनचित्र तैयार कराए। उनके द्वारा लिखित कई ग्रन्थों का प्रकाशन इस स्थान से हुआ। जिस समय मुनिराज नगर में निकलते थे उस समय जैन-अजैन भक्तो की बहुत बडी भीड़ इनके साथ चलती थी तथा इनके उपदेशों मे भी सभी एक समान भक्तिभाव से शामिल होते थे।

महाराजश्री का अभिनन्दन कर जैन समाज स्वयं अपने ही गौरव का सम्वर्द्धन करेगी। मैं इस शुभ अवसर पर अपनी सादर वन्दना आचार्यश्री को अर्पित करता हू। □

अद्भुत स्मृति के धनी

श्री दरोगामल जैन
पच, प्राचीन श्री अग्रवाल दिगम्बर जैन पचायत (पंजीकृत), दिल्ली

परमपूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज का जयपुर के चूलगिरि क्षेत्र मे पचकल्याणक प्रतिष्ठा कराने एव बुन्देलखड की धर्मयात्रा के निमित्त लगभग सन् १६८१ मे जयपुर पधारना हुआ था। मैं विगत वर्षों मे आचार्यश्री की धर्मप्रभावना का साक्षी रहा हू। अत: श्रद्धाभिभूत होकर उनके दर्शन के निमित्त मैं राजस्थान की राजधानी जयपुर भी गया। वहाँ के एक स्थानीय मन्दिर मे मुझे आचार्यश्री के पावन चरणों के स्पर्श का पुण्य अवसर मिला। एक धर्मप्रेमी श्रावक ने इस अवसर पर मेरा परिचय जानना चाहा और मुझसे पूछा कि मैं कहाँ से आया हू। मैंने उत्तर दिया कि दिल्ली से। मेरे द्वारा उत्तर दिये जाने से पूर्व ही आचार्य महाराज के पावन मुखारविन्द से अपना नाम सुनकर मैं विस्मय मे पड़ गया और साथ ही गद्गद् भी हुआ। आचार्यश्री की वृद्धावस्था और रुग्ण दशा को देखते हुए मुझे स्वप्न मे भी यह अनुमान नही था कि महाराजश्री लगभग दस वर्ष के लम्बे अन्तराल के बाद भी भेंट होने पर अनायास मुझे पहचान लेंगे। वह क्षण मेरे जीवन का अविस्मरणीय स्वर्णिम क्षण था जब दिगम्बर जैन धर्म के आदर्श तपस्वी ने आत्मीयतापूर्वक मुझे इस प्रकार आशीर्वाद दिया हो।

शास्त्रकारो का कथन है कि सघ के पालन के लिए आचार्यों मे चेतना भाव होना चाहिए। आचार्यश्री के इस चैतन्य भाव को देखकर उनके प्रति मेरे मन का श्रद्धा-भाव और भी प्रगाढ़ होता चला गया। मै समझ गया कि आचार्यश्री की स्मृति अद्भुत है। यही कारण है कि आप जिस धर्मग्रन्थ का स्वाध्याय कर लेते हैं वह उन्हें सदैव के लिए स्मरण हो जाता है। उनकी साधना के ५१ वर्ष पूर्ण हो जाने पर मैं उनके चरणों में श्रद्धावनत होकर कोटि-कोटि नमोऽस्तु निवेदित करता हूं। □

साधना की पराकाष्ठा

श्री जिनेन्द्रकुमार जैन
बंगलौर

मेरे निकट परिचित श्री सुरेश चन्द जैन, सुपुत्र स्वर्गीय लाला निरजन दास जी जैन, नवीन शाहदरा, दिल्ली नवम्बर १६७६ में अपनी श्रवणबेलगोल की यात्रा के अवसर पर मेरे निवास-स्थान पर बंगलौर में पधारे थे। उन्होंने मुझसे अनुरोध किया कि मैं भी श्रवण बेलगोल चल कर भगवान् श्री बाहुबली जी की प्रतिमा के दर्शन एवं आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज का सान्निध्य प्राप्त करूँ। श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय मे जन्म लेने के कारण दिगम्बर मुनियो मे मेरी कोई आस्था नही थी किन्तु उनके स्नेहपूर्ण आग्रह को मै किसी भी प्रकार न टाल सका। १३ नवम्बर, १६७६ को भगवान् श्री बाहुबली जी के पावन दर्शन के उपरान्त १४ नवम्बर, १६७६ को रात्रि मे आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के दर्शन का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। पूज्य आचार्यश्री के मौन के कारण किसी प्रकार का वार्तालाप नही हो पाया, किन्तु उनके भव्य व्यक्तित्व ने मुझे सम्मोहित-सा कर दिया। अगले दिन आहार के समय करपात्रो मे नीरस-सा भोजन ग्रहण करते हुए जब मुझे उनके दर्शन हुए और यह ज्ञात हुआ कि आचार्य महाराज केवल एक समय ही सीमित भोजन एव जल लेते हैं, तब मेरा मन आश्चर्य से भर गया और उनकी साधना का अवलोकन करते हुए मेरी आखो से अश्रुपात होने लगा। मैंने यह अनुभव किया कि हम ससारी प्राणी वास्तव मे आत्मोत्थान के लिए कुछ भी नहीं करते। हम तो सारा जीवन विषय-वासना एव अनावश्यक कार्यों मे व्यतीत करते हैं। मनुष्य के जन्म की सार्थकता का हम कुछ भी लाभ नहीं उठाते। आचार्य महाराजश्री के दर्शन ने ही मुझे त्यागी मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी और मैंने स्वय ही रात्रि-भोजन का त्याग कर दिया।

महाराजश्री के दर्शनों से मेरे जीवन मे एक अभूतपूर्व परिवर्तन आया और मेरे व्यवसाय मे दिन दुगनी रात चौगुनी तरक्की होती चली गयी। आज हमारे परिवार मे महाराजश्री के सान्निध्य के कारण धार्मिक सस्कारो का प्रवेश हो गया है। मेरी निरन्तर यह कामना रहती है कि आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के पावन चरण-कमलो मे रह कर मैं अपने जीवन का शेष भाग व्यतीत करूँ और आत्मकल्याण के पथ पर निरन्तर चल सकूँ। □

पवित्र जीवन

श्री केवलचन्द एच० रावत
एडवोकेट

आचार्य श्री देशभूषण जी का व्यक्तिगत जीवन बहुत ही पवित्र है। जो भक्त आपके दर्शन करता है वह श्रद्धा से नतमस्तक हो जाता है। उनके जीवन का व्यक्तिगत प्रभाव मानव के हृदय-पटल पर अकित हो जाता है। वह शाति, त्याग, तपस्या और बलिदान की मूर्ति परम दिगम्बर, निर्वस्त्र, स्वात्म मे लीन हैं। उनकी आत्मा मे क्षमा, दया, तप, त्याग, आकिचन्य, ब्रह्मचर्य का विशेष स्थान है। संसार के मोह, माया का त्याग कर वे निष्परिग्रह बन गये और आत्मसाधना करने लगे। अब वे पचपरमेष्ठी पद मे स्थित रहते हैं और मुनि मार्ग का अक्षरशः पालन करते हैं।

महाराजश्री वर्तमान युग के सही मार्गदर्शक हैं। वर्तमान समय मे जब मनुष्य भयभीत और पथभ्रष्ट है, उसे कही मार्ग नहीं मिल रहा है, ऐसे कठिन समय मे जैन धर्म ही सही मार्ग-दर्शन दे सकता है तथा चारित्र-चक्रवर्ती तपस्वी मुनिराज ही धर्मोपदेश द्वारा सच्चे जिनधर्म की व्याख्या कर सकते हैं। सर्वसाधारण की समझ मे बात आ जाय, यही धर्म को समझाने का सही तरीका है। योगी पुरुष महाराज श्री देशभूषण जी ऐसे विद्वान हैं जो सरल भाषा में सर्वसाधारण को समझा सकते हैं। यद्यपि वर्तमान युग मे मार्गदर्शक के रूप में उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्द जी महाराज भी विराजमान हैं, अन्य मुनिराज भी हैं, जो धर्म के सिद्धान्तो को समझा रहे हैं, मेरा और भी मुनिसंघ तथा मुनियों से सत्संग हुआ और मैं उनसे भी बहुत प्रभावित हुआ परन्तु आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज से विशेष प्रभावित हुआ। □

निष्काम साधक

श्री अभयकुमार जैन

इस युग के श्रमण-संस्कृति के सूत्रधार हमारे आद्य तीर्थंकर भ० ऋषभदेव हैं, जिन्होंने कर्ममूलकसंस्कृति के प्रारम्भ मे श्रमण-धर्म को अंगीकार-आत्मसात् कर आत्मोद्धार तो किया ही, साथ ही आगे के लिये श्रमण-संस्कृति के विकास तथा प्रचार-प्रसार हेतु मार्ग खोला था। तब से आज तक श्रमण-संस्कृति का वह अक्षुण्ण धारा प्रागैतिहासिक काल से इस भारत वसुन्धरा पर प्रवहमान होकर सर्वत्र सर्वकालो मे जन-जन के संसार-ताप को शान्त-शीतल करती आ रही है। इसके सतत प्रवाह तथा उन्नयन मे हमारे प्रातःस्मरणीय परमेष्ठी-त्रय—आचार्य-उपाध्याय-साधु का भी महान् योगदान रहा है। ऐसी ही महान् विभूतियो में श्रमणराज योगीन्द्र आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषण जी महाराज हैं।

आप श्रमण-सभ्यता तथा संस्कृति के मूर्तिमान् प्रतीक हैं। आपकी आत्मसाधना तथा तपश्चर्या मानव-कल्याण के लिये अप्रतिम वरदान है। विगत अर्द्धशताब्दी से अपने अनुपम कठोर आत्मसाधना के पथ पर चलते हुए, निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिधर्म का पालन करते हुए आप राष्ट्र एवं समाज की सर्जनात्मक स्वरूप-संरचना मे संलग्न हैं। आप धर्म-प्राण हैं। अन्तः बाह्य दोनो ही रूपों मे आप धर्मसमाहित हैं। धर्म एव संस्कृति को जन-जन तक पहुंचाने हेतु आप पूर्ण समर्पित हैं। आपके धार्मिक, सामाजिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक सदेश लोगों को नूतन दिशाबोध देते हैं तथा उन्हे सन्मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित करते हैं। विभिन्न कारणों से लुप्त हो रही दिगम्बर साधु-परम्परा को पुनरुज्जीवित कर नया मोड देने वाले आचार्यों मे से आप एक हैं। आप की अमृतोपम वाणी मे भारतीय संस्कृति और दर्शन की सार्वभौम आध्यात्मिक चेतना के दर्शन होते है।

आप बहुभाषाविज्ञ, सतत साहित्याभ्यासी, मौलिक गंभीर चिन्तक, ज्योति-पुज, तप.पूत सन्त तथा आदर्श मनीषी विद्वान् हैं। अत: अनेक मौलिक ग्रन्थों की सर्जना कर, अनेक को अनूदित कर तथा अनेक को भाषारूपान्तरित कर आपने विभिन्न भाषा-भाषियो को दुर्लभ-दुर्बोध साहित्य सर्वसुलभ, सुबोध व उपादेय बनाया है तथा जैन वाङ्मय को भी अभिवृद्ध किया है।

परमपूज्य आचार्यश्री श्रमण-सभ्यता एवं संस्कृति के उन्नायक जगतोद्धारक आदर्श सन्त हैं। भारत के विभिन्न अञ्चलों मे धर्म, धर्मात्मा, धर्मायतन, जिनालय, विद्यालय, पाठशाला, धर्मशाला, आश्रम, गुरुकुल आदि के संरक्षण तथा संवर्द्धन हेतु समाज एवं समाजप्रमुखों को आपसे सदैव मार्गदर्शन, दिशाबोध, प्रेरणा तथा नैतिक सम्बल प्राप्त होता रहता है। पूज्य आचार्यश्री गुणाकर, क्षमा-शील, सहिष्णु और उदार सन्त हैं। आपका व्यक्तित्व आकर्षक प्रभावी व प्रेरक होने के साथ-साथ अचिन्त्य है, अथाह है, अगाध है, गम्भीर है। आपके व्यक्तित्व का पार पाना कठिन है, वह शब्दातीत है, शब्दों से परे है, तथापि आपमे असाधारण पाण्डित्य, दृढ़ सकल्प शक्ति, अपूर्व त्याग, निष्काम साधकता, निराकुलता, निस्पृहता, अनासक्तता, तपस्तेजस्विता, अद्भुत जितेन्द्रियता, चारित्र की दृढता, ज्ञानोपयोगित्व आदि अनेक गुण हैं। मेरी भावना है कि आचार्यप्रवर सुदीर्घकाल तक अपने पावन सन्देशों से जन-कल्याण करते हुए प्रेरणा व नूतन दिशाबोध देते रहे। □

श्रमण संस्कृति के उन्नायक

डॉ० शोभनाथ पाठक

परमपूज्य आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज की तपस्या में भगवान् महावीर के पांच महाव्रतों को अंगीकार कर, उसके प्रसार-प्रचार में निमग्नता को निरख कर मैं बेहद प्रभावित हू। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य तो मानो उनमे मूर्तिमान हो गया हो। भगवान् महावीर के इन पांच व्रतो की सहकारिता आचार्यश्री में परख कर श्रद्धाभिभूत उन्हें श्रमणश्रेष्ठ की गरिमा से गौरवान्वित करना इस अभिनन्दन ग्रन्थ की महत्ता का परिचायक होगा। कठोर तप और साधना के समष्टिमयी सम्बल से जिनका व्यक्तित्व और कृतित्व राष्ट्रीय स्तर पर अप्रतिम बना हुआ श्रद्धालुओं को मन्त्रमुग्ध कर रहा है, वही पांडित्य की प्रखरता, मानवीय कल्याण की महत्ता से मंडित आचार्यश्री के अभिनन्दन के उफान को आंकना संभव नहीं हो रहा है कि कितनी आस्था उनके कमलवत् चरणों में उँडेल दूं। □

सफल मार्ग-दर्शन

सेठ सुनहरी लाल जैन
आगरा

आचार्यश्री का मार्गदर्शन एवं व्यक्तित्व बहुत ही उच्चकोटि का रहा है। मुझे अच्छी तरह से याद है कि १००८ भगवान् ऋषभदेव जी का जिनालय अयोध्या जी में लाला उल्फतराय जी आदि देहली वालों को प्रेरणा देकर सम्पन्न कराया। यह श्री आचार्य जी के आदेशानुसार ही पूरा हुआ था। सम्मेदशिखर जी के विवाद के समय आचार्यश्री जी की प्रेरणा से ही कड़ी धूप और गर्मी मे जैन समाज के लाखो स्त्री-पुरुष एव बच्चे प्रधानमन्त्री के यहाँ ज्ञापन के रूप मे जुलूस व रैली द्वारा उपस्थित हुए थे। प्रधानमन्त्री के आश्वासन पर ही सम्मेदशिखर जी के विवाद और मुकद्दमेबाजी में कुछ नरमी आई थी।

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के जीवदया विभाग की ओर से मैंने कई बार आचार्यश्री जी के दर्शन किये और उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया। उन्हीं के आशीर्वाद से मैं हजरतपुर के कट्टीखाने को बन्द कराने मे सफल हुआ था। इसके लिये काफी प्रयास किया गया और हाईकोर्ट तक केस भी लडा गया और स्टे वगैरह भी लाया गया। यहां तक कि बुलडोजर वगैरह भी आये, परन्तु वापिस गये। उस वक्त मिनिस्टरी में श्री यशवन्त राव चव्हाण जी थे। उनसे भी पत्र व्यवहार किया गया, जिसके फलस्वरूप उन्होंने हमको आमन्त्रित किया और हम उनकी सेवा मे हाजिर हुए। हमने उन्हे सन्तुष्ट कराने की काफी चेष्टा की, परन्तु उन्होंने हमारी एक बात भी स्वीकार नहीं की। वहा से हम चले आये। परन्तु आते समय हमने उनसे कह दिया था कि यदि आप इसको नही रोकेंगे तो यह स्वत. ही बन्द हो जायेगा। इनसे मिलने के पहले हम और भी कई मिनिस्टरों से मिले थे, जो कि थोड़े-बहुत परिचित थे। मगर हमारा साथ किसी ने भी नही दिया और कुछ न कुछ बहाना बना कर टाल दिया। कई मिनिस्टरों ने तो हमको आश्वासन भी दिया कि वे इस बारे मे विचार-विमर्श हेतु श्री चव्हाण जी के पास आ रहे हैं, परन्तु बाद में कोई नही पहुचा। फिर भी आचार्यश्री के आशीर्वाद और प्रेरणा से हम प्रयास करते रहे और अन्तत. यह कट्टीखाना बन्द हो गया। □

तपस्वी साधुराज

पं० जमुनाप्रसाद जैन शास्त्री

बालब्रह्मचारी आचार्यरत्न श्री १०८ देशभूषण जी महाराज आचार्य परम्परा के प्रवर्तक एवं परम आध्यात्मिक सन्त हैं। मुझे महाराजश्री के बाराबकी (उ० प्र०) चातुर्मास के समय सान्निध्य का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। जीवित पंचशील की प्रतिमा, साक्षात् मोक्षमार्ग रूप ये तपस्वी साधुराज अपने सम्पर्क मे आने वाले छोटे-बडे, अमीर-ग़रीब, विद्वान्-मूर्ख सभी नर-नारियों के चित्त से साम्प्रदायिकता का परित्याग कर सदाचार, सयम आदि सद्गुणो की प्रतिष्ठा करते हैं। ऐसे वीतरागी दिगम्बर जैन सन्तो के प्रति जन-मानस ने समय-समय पर अपने शुभ भाव प्रकट किये हैं। ऐसे श्रेष्ठ आचार्य के चरणों मे हमारा भी सादर प्रणाम निवेदित है। □

पावन व्यक्तित्व

मिश्रीलाल शाह जैन शास्त्री

तपोनिधि आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी इस भारत भूखण्ड की अनुपम जीती-जागती ज्योति हैं। अपरिग्रहवाद जिससे कि आज शासन और उसके वर्तमान शासक, मन्त्री आदि नेतागण भी प्रभावित हैं, उस अपरिग्रहवाद के ही जो साक्षात् मूर्तिमान स्वरूप हैं, और जो दुनिया को सीमित परिग्रह और निष्परिग्रहवान् बनने की वाणी से प्रभावित करते रहते हैं, जिनके शीत उष्ण क्षुधातृषादि परीषह विजय को देखकर एव निरीहवृत्ति, सासारिक आकाङ्क्षाओ का दमन, आशातृष्णा विहीन वृत्ति तथा आदर्श चर्या को देखकर विरोधी अज्ञानी लोग भी अन्ततोगत्वा नतमस्तक होते देखे गये हैं। यह आपकी महान् आत्मशुद्धि एवं तपस्या का ही फल है। कुछ वर्ष पहले की घटना है कि कलकत्ता वर्षायोग मे आप बराबर १० रोज तक आहार की विधि (व्रतपरिसंख्यान) न मिलने पर निराहार रहे, फिर भी मुह पर विषाद नहीं था—११वें रोज विधि मिलने पर ही आहार हुआ और तब इस कठोर साधना से जैनाजैन जनता में आपका जयजयकार फैल गया। कलकत्ता मे बंगाली लोग नग्न वेश पर आपत्ति करते थे, पर अन्त मे वे ज्ञानध्यानरत तपोमय साधु को देखकर पश्चात्तापपूर्वक शान्त हो गये थे। यह है आपकी पचेन्द्रिय विषयाशाविहीन वृत्ति का परिणाम, ब्रह्मचर्य व्रत का माहात्म्य। □

धर्ममूर्ति आचार्यश्री

श्री महताब सिंह जैन जौहरी
पंच, प्राचीन श्री अग्रवाल दिगम्बर जैन पंचायत, दिल्ली

प्राचीन काल में जिस प्रकार तेजस्वी लोककल्याणकारी साधु विहार करते थे, आज भी इसी परम्परा मे आचार्यरत्न भारतगौरव विद्यालंकार १०८ श्री देशभूषण जी महाराज हैं जो अपने पावन विहार से निरन्तर जनसाधारण मे ज्ञान और चारित्र की ज्योति जगा रहे हैं।

आचार्य महाराज ऐसे ही तेजस्वी योगी दूरदर्शी और विचक्षण साधु हैं। उनका हृदय चक्रवर्ती के समान विशाल और उदार है। वे बड़े साहसी और दूरदर्शी हैं। धर्मप्रभावना के लिए प्राप्त हुए अवसर की प्रतीक्षा करते रहते हैं। उनमे धर्म प्रचार की अद्भुत लगन है। दिल्ली मे जब विश्व धर्म सम्मेलन हुआ तब महाराज मथुरा मे थे। मथुरा दिल्ली से ८८ मील दूर है। सम्मेलन की तारीख अति निकट थी। ऐसे अवसर पर कोई भी पद यात्री कदापि नही आ सकता था। परन्तु महाराज जी की देखो, उनमे धर्म प्रभावना की कैसी उत्कट लगन थी। ८८ मील का लम्बा मार्ग तीन दिन मे पूरा करके चौथे दिन ज्यो ही सूर्य की किरणे फैली, सारा दिल्ली नगर महाराजश्री का स्वागत करने के लिए दिल्ली गेट के बाहर उमड पड़ा। क्या बालक, वृद्ध, युवा, स्त्रियाँ और वृद्धायें महाराज के स्वागत के लिए बाट जोह रही थीं। सभी के मन मे यह आश्चर्य था कि महाराज इतनी शीघ्रता से कैसे आ सके। यह उनकी धर्म प्रभावना की इच्छा का अलौकिक उदाहरण था।

महाराज अत्यन्त लोकप्रिय हैं। हर एक से व्यक्तिगत सम्पर्क रखते हैं। सबको अपना मानते है। जो उनके सम्पर्क मे आ गया फिर उसे भूलते नहीं। महाराजश्री बड़े तीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी हैं। सदैव ज्ञान की तरफ रुचि बनाए रखते हैं। १०४ डिग्री बुखार मे भी ग्रन्थ निर्माण के कार्य मे लगे रहते हैं। उनमें संस्कृति के उद्धार की अद्भुत लगन है। वे बड़े निर्भीक निःशक और साहसी हैं। तीर्थराज सम्मेदशिखर की रक्षा के लिए वैशाख की तीव्र दुपहरी मे अयोध्या से दिल्ली पधारे और उपवास करने का सकल्प कर लिया। परन्तु सबके सहयोग और महाराज की तपस्या से कार्य सरल बन गया और माननीय गृहमन्त्री जी ने आश्वासन दिया तब उपवास करने का सकल्प छोड़ दिया। वे धार्मिक कार्यों को प्रोत्साहन देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ स्थापित करना, वेदी प्रतिष्ठा, पंचकल्याणको में सम्मिलित होना, सारे भारत में विहार करके समाज मे धर्म की ज्योति जगाना अपना नैतिक धर्म समझते है। कोल्हापुर और अयोध्या मे ३२ फुट की मूर्ति स्थापित कराना महाराजश्री की ही लगन का फल है। जैन सस्कृति के इतिहास मे उनका नाम अमर रहेगा।

शास्त्रों मे सल्लेखना का बड़ा महत्त्व है। दिल्ली मे अनेक ऐसे व्यक्ति जो धार्मिक और कर्त्तव्यपरायण थे, उनकी मृत्यु के अवसर पर उन्हे सम्बोधना, धर्म रुचि जागृत करना महाराज की आन्तरिक निर्मलता का ही द्योतक है, जो पहले से ही उन्हें चेतावनी देकर उनका परलोक सुधार दिया। आपने देश पर पाकिस्तानियों द्वारा आक्रमण करने पर लाल मन्दिर जी मे बृहत् शांति विधान किया। फलस्वरूप शत्रु परास्त हुआ और भारत की विजय हुई।

महाराज संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, मराठी, गुजराती, कनड़ी आदि अनेक भाषाओ मे पारंगत हैं। दक्षिणी साहित्य का राष्ट्र-भाषा में अनुवाद करना महाराजश्री का ही कार्य है। उनकी आत्मिक शक्ति के कारण उन्हे वचनसिद्धि हो गई है। वे परिषहजयी और तेजस्वी महान् साधु हैं। कर्नाटक से दिल्ली आते समय सर्प द्वारा काटा जाना और फिर निर्विष हो जाना असाधारण बात है। दिल्ली जैन समाज के ऊपर महाराज की बड़ी अनुकम्पा है। उनका यहां आठ बार चातुर्मास हो चुका है। वे चाहते हैं कि यहाँ के बहन-भाइयो मे धर्म रुचि जग जाय तो धार्मिक कार्य सरल हो जाएँगे। क्योकि यह केन्द्र है, यहाँ राजधानी है, यहा राजनैतिक नेता निवास करते हैं। उनकी धार्मिक भावनाओं का प्रभाव जनसाधारण पर अति शीघ्र पडता है। उन्हे धर्म की ओर आकर्षित करने के प्रति भी महाराज की बड़ी रुचि है। महाराजश्री सम्यक्त्व के आठ अगो का प्रचार करने मे निरन्तर प्रयत्नशील रहते है। निःसंदेह सम्यक् श्रद्धा ज्ञान चारित्र विभूषित प्राणी का जीवन ही सफल है।

महाराज के चरणो मे जो मेरी अनन्य भक्ति है उसका कारण महाराज का देदीप्यमान धर्म का रूप है। वे धर्म की साक्षात् मूर्ति हैं। हमारी श्री जिनेन्द्र देव से प्रार्थना है कि महाराजश्री दीर्घायु हो और जनसाधारण मे रत्नत्रय की वृद्धि करते हुए निर्वाण लक्ष्मी के अधिकारी बनें। □

आत्मानुसंधान और परकल्याण का संकल्प

श्री राजेन्द्रप्रसाद जैन 'कम्मो जी'

परमपूज्य आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज के पावन दर्शन का सौभाग्य मुझे सन् १९५५-५६ में उनके दिल्ली के प्रथम वर्षा योग में ही प्राप्त हो गया था। महाराजश्री की सरल सौम्य मुद्रा, आकर्षक व्यक्तित्व, तप-निष्ठा एव वाणी वैभव ने मुझे प्रथम क्षण मे ही चमत्कृत-सा कर दिया था। उनके पावन दर्शन से मुझे यह आभास हुआ कि उनके निरन्तर दर्शन से राजधानी में धर्म की पावन मन्दाकिनी प्रवाहित होगी। आप मे एक अद्भुत सम्मोहन शक्ति है और उसी से सम्मोहित हो कर मैं निरन्तर उनके चरण श्री मे आत्म-कल्याण के निमित्त जाने लगा। उनके पावन सान्निध्य मे मुझे यह अनुभव हुआ कि पूज्य आचार्य श्री की अपनी कोई आवश्यकता नही है और वे समग्रता से श्रमण-संस्कृति एव साहित्य को समर्पित हो चुके हैं। वे निरन्तर स्वाध्याय, उपासना एव लेखन मे सलग्न रहा करते थे। अत उनका अवलोकन करने मे मन को शान्ति मिला करती थी। शान्ति की खोज मे मैं निरन्तर उनके नैकट्य की कामना से उनके पास जाया करता था।

महाराजश्री एक कठोर तपस्वी हैं और शास्त्रों मे वर्णित दिगम्बर मुनियों के आचरण को अपने जीवन में उतारने मे सदैव तत्पर रहते हैं। कठोर व्रत-विधान एव साधना से वे आत्मानुसंधान में निरन्तर लीन रहते हैं। जैन धर्म के अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी जी के पावन उपदेश को जन-साधारण में प्रचारित एव प्रसारित करने की भावना से वे धर्मोपदेश एवं धर्मग्रन्थों के प्रकाशन इत्यादि मे सदैव रुचि लिया करते हैं। उन्होने तीर्थंकर की वाणी को घर-घर तक पहुचाने के लिए जो साहित्य-सेवा की है, उससे जैन समाज कभी भी उनके ऋण से मुक्त नही हो सकता।

महाराजश्री नव-निर्माण एव जीर्णोद्धार के लिए श्रावक समुदाय का एक लम्बे समय से मार्ग-दर्शन करते आये हैं। लाला सरदारीमल रतनलाल जैन अतिथि गृह श्री दिगम्बर जैन धर्मशाला, कूचा बुलाकी बेगम, दिल्ली के निर्माण की प्रेरणा भी परम-पूज्य आचार्य महाराज से ही मिली थी। धर्मशाला के रिक्त परिसर का अवलोकन करने के उपरान्त उन्होंने ही इस धर्मशाला के शेष भाग के निर्माण का परामर्श दिया था। उनकी भावना यह रहती थी कि धर्मशाला इस प्रकार से निर्मित करायी जाए जिस से समाज एवं त्यागी वर्ग दोनो ही धर्मशाला की सुविधा का पूरा-पूरा लाभ उठा सकें। निर्माण कार्य के दौरान वे स्वय व्यक्तिगत रुचि ले कर कार्य का निरीक्षण किया करते थे और मेहनती श्रमिकों को पुरस्कार एवं मिठाइयां इत्यादि दिलवाया करते थे। उनके ही पावन सान्निध्य मे राजधानी मे अनेक प्रतिष्ठाए, मुनि दीक्षाए एव अन्य मागलिक आयोजन सफलतापूर्वक किये गये थे। भगवान् महावीर स्वामी के २५ सौवें परिनिर्वाण महोत्सव के आचार्यश्री मुख्य प्रेरक थे। इस कार्य के लिए उन्होंने यथाशक्ति प्रयास किया और उनकी पावन प्रेरणा से ही सम्पूर्ण राष्ट्र म भगवान् महावीर स्वामी का २५ सौ वा परिनिर्वाण महोत्सव शानदार ढग से मनाया गया।

महाराजश्री जहां भी अपना मगल, प्रवेश करते हैं, वहां वे अपने रचनात्मक कार्यों से एक अमिट छवि छोड़ देते हैं। जिस समय वे किसी परियोजना को कार्यान्वित करते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि वे उसी म तल्लीन हो गये हैं, किन्तु परियोजना पूरी होने के उपरान्त उनका विरक्त मन अपनी पूर्व परियोजनाओ के प्रति किसी भी प्रकार का राग-सम्बन्ध नही रखता। वे वास्तव मे आत्मसिद्ध हैं और निरन्तर आत्मा के विकास मे सलग्न रहते हैं। केवल धर्म के प्रचार-प्रसार की भावना से अनेक योजनाओं को अपने सबल व्यक्तित्व से पूरा कराकर समाज को उपकृत कर देते हैं। मैं उनके स्वास्थ्य की मगलकामना करते हुए भगवान् श्री जिनेन्द्र देव से यह कामना करता हू कि आचार्य महाराज अपने दिव्य प्रकाश से समाज को लम्बे समय तक प्रकाश देते रहे। □

श्रमण शिरोमणि

वैद्यराज पं० सुन्दरलाल जैन

परम श्रद्धेय प्रातःस्मरणीय श्री देशभूषण जी महाराज श्रमण परम्परा की उन दिव्य विभूतियो मे से एक हैं जिन्होंने भगवान् जिनेन्द्र देव के पथ का अनुसरण करते हुए मानव-कल्याण को ही अपने जीवन मे प्रमुखता दी। ज्ञान-साधना के द्वारा उन्होंने जहां अपनी आत्मा को उन्नत एवं विकसित किया वहां अपने सदुपदेशो द्वारा अपने जीवन मे उतार कर स्वतः अनुभव किया, उसका ही उन्होंने दूसरो को आचरण करने का उपदेश दिया। लोगों के मन-मस्तिष्क पर इसका अनुकूल प्रभाव पड़ा और बुराइयां उनके जीवन से स्वतः दूर भागने लगी। मानव-जीवन मे बुराइयो का प्रवेश जितना सरल है, उनका निकालना उतना ही दुष्कर है। किन्तु जिसने एक बार भी श्री देशभूषण जी महाराज का प्रवचन सुना उनके जीवन मे बुराइयों का पलायन स्वत. होने लगा।

श्री देशभूषण जी महाराज केवल समाज की ही नही अपितु सम्पूर्ण देश की एक महान् दिव्य एव अलौकिक विभूति हैं। उनका व्यक्तित्व अभूतपूर्व है जिसमे अद्भुत सहज आकर्षण क्षमता है। वे श्रमण संस्कृति के महान् उपासक, भारतवर्ष के एक असाधारण सत और विश्व के अद्वितीय ज्योति पुज हैं। इस देश की जनता के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने, जीवन को सादगीपूर्ण बनाने, विचारों मे उच्चता लाने और अहिंसा का प्रचार-प्रसार करने मे उन्होंने जो योगदान किया है वह असाधारण एव अविस्मरणीय है। उनकी असाधारण एव विलक्षण प्रतिभा ने न जाने कितने गिरे हुए लोगों को उठाया और उनके पथभ्रष्ट जीवन को उन्नत बनाया। उनकी सहज स्वाभाविक सरलता ने न जाने कितने कण्टकाकीर्ण जीवन को सरल और मधुर बनाकर जीवन मे फूलों की वर्षा की। अपने जीवन मे हताश और निराश अनेक साधनहीन असहाय लोगो ने आपसे प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त कर पुनर्जीवन प्राप्त किया। आपके उपदेश की एक विशेषता यह है कि वह वर्ग विशेष के लिए न होकर सामान्य के लिए है।

गुरुदेव एक महामना हैं। उनका व्यक्तित्व अनोखा, प्रखर और कतिपय विशेषताओ से युक्त है। उनके विचार उन्नत और प्रगतिशील है। विचारो की उच्चता, आचरण की शुद्धता, जीवन की सरलता और सादगी ने आपके व्यक्तित्व को प्रखर और बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न बनाया। आपका हृदय इतना विशाल है कि विश्व के प्राणी मात्र के प्रति असीम करुणा का निवास आपके हृदय मे विद्यमान है। यह एक वस्तुस्थिति है कि जिन महापुरुषो के विशाल हृदय मे विद्यमान करुणा 'स्व' से ऊपर उठकर 'पर' तक पहुंच जाती है उनका जीवन लक्ष्य भी अधिक व्यापक एवं उन्नत हो जाता है। उनकी करुणा समाज और देश के सीमा बधन को लाघकर विश्व के प्राणी मात्र के प्रति असीम रूप से व्याप्त हो जाती है। पूज्य गुरुदेव की भी यही स्थिति है। यही कारण है कि आपका जीवन ध्येय मात्र आत्मकल्याण तक सीमित नहीं रहा। वह जनकल्याण के साथ-साथ प्राणी कल्याण तक व्याप्त हो गया। विश्व की सम्पूर्ण मानवता आपकी कल्याण-भावना की परिधि मे समाहित हो गई। मनुष्य मात्र मे आपने कभी भेदभावपूर्ण दृष्टि नहीं अपनाई। यही कारण है कि समाज के प्रत्येक वर्ग ने आपकी अमृतमयी वाणी का लाभ उठाया। व्यापक दृष्टिकोण के कारण संकीर्णता, साम्प्रदायिकता एव संकुचित मनोवृत्ति से ऊपर उठकर आप सदैव जनमानस को आन्दोलित करते रहे और मानवीय मूल्यो को उनमे प्रतिष्ठापित करते रहे।

वस्तुतः आप एक ऐसे महामानव हैं जो सम्पूर्ण मानवता के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित हैं। समाज के अविकसित कमलो के लिए आप सूर्य की भांति अद्वितीय पुरुष हैं। समाज को नई दिशा और आलोक दृष्टि देने के कारण जनता-जनार्दन ने आपको 'जैन दिवाकर' के नाम से सम्बोधित किया। सूर्य की भांति अंधकार दूर कर आलोक देने के कारण आप 'दिवाकर' हुए और अहिंसात्मक संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए मार्ग-निर्देश देने के कारण आप 'जैन दिवाकर' कहलाए। जैन शब्द का प्रयोग संकुचित और साम्प्रदायिक भाव मे न कर उसके व्यापक अभिप्राय मे करना ही अभीष्ट है। जन्मना ही कोई जैन नही होता, अपितु उत्कृष्ट कर्म, सयमपूर्ण जीवन और इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करना ही जैनत्व का प्रतिपादक है। ऐसे श्रमण-शिरोमणि प्रातःस्मरणीय श्री देशभूषण जी महाराज को मेरा शतशः वन्दन और नमन है। ☐

On my having the first Darsana of Acharyaratna Sri Deshabhushanji Maharaj

—Dr. B.K. Khadabadi

There was a Seminar on 'Bhagavān Mahāvīra And His Heritage', held under the auspices of the Jainological Research Society at the Vijñān Bhavan, Delhi, on the 30th and 31st December, 1973; and I, as a delegate of the Karnatak University, had participated in it. After the Seminar was over, I spent the 1st January in sight-seeing in and around Delhi, when I came to know that Āchāryaratna Śrī Deśhabhūṣhaṇajī Mahārāj was camping in Delhi itself. The same evening I went to the Digambara Lāl-mandir and collected information about the place where the revered one stayed, and decided to see him the next morning as I was to take up my return journey in the evening.

On 2nd January, 1974 at about 9 a.m., I reached the place (I cannot now recall the exact name of the building and its location). It was still severe cold, well-protected from which I respectfully entered the exclusive hall in that huge building. I saw from a little distance the revered one, with his awe-inspiring nude person, quite unaffected by the biting cold and engaged in *svādhyāya* with two of his close disciples sitting by his side. On seeing me, as the revered one nodded with a smile, I respectfully bowing to him and experiencing less severity of cold, sat at a distance before him. During our short conversation, the revered one specially asked me about my studies in the field of Jainology and Prakrits and was pleased with my replies. I felt encouraged and rewarded. As I bowed down to the revered one and begged him to permit me to return, he blessed me with two voluminous books, which, I noted with reverence, had been authored by him. The two books were: (1) *Dharmāmṛta*, and (2) *Meru Mandara Purāṇa*.

As I was about to leave, the revered one asked me to send him a copy of Kittel's *Kannada English Dictionary* or the address whence it could be had. Agreeing to do so, I left the sacred hall ruminating over his unique reverential personality, his encouraging specific enquiry about my studies and above all his keen and manifold interest in *svādhyāya*, with the two fruits of which I had been already blessed. After leaving the New Delhi Station until I reached Dharwad, both the *Dharmāmṛta* and the *Meru Mandara Purāṇa* not only made my journey quite short, as it were, but provided me with glimpses of the revered one's life, mission and achievements, etc.

Let me recapitulate a few points about these two books:

Dharmamrta: Originally, it is a Kannada classic in the *campū* style (mixture of prose and poetry), spread over 14 chapters, composed by the great Nāgavarma. It contains a vivid depiction and glorification of the Right Faith and its eight limbs, etc. through interesting and entertaining strories. This work is the first (containing 7 chapters) of the two parts in which the revered one has rendered the original Kannada Jaina classic into Hindi alongwith apt commentary.

Meru Mandara Purana: Originally, it is a Tamil work in verse, spread over 13 cantoes comprising 1405 verses, composed by Mallisenamuni alias Vāmanamuni, who was also a great Sanskrit scholar and who had rendered the Prakrit *Pañcāstikāya*, *Pravacanasāra*, *Samayasāra*, etc. into Tamil. It depicts the fruits of good and bad deeds and, thus, leads the reader or listener along the right path of spiritual progress. The

revered one had a great desire to render this work into Hindi. He learnt the Tamil script and language from Brahmachari Manikya Nainar and achieved this feat in 1971. The Hindi rendering has been made more comprehensive by adding, at relevant contexts, paraphrases, commentorial passages and explanatory notes. Previously it had also been rendered in Kannada and Marathi by the revered one.

I felt proud and astonished at the same time to learn, in the course of my reading, that these two works are just two of some forty fruits of his regular *svādhyāya* and perennial zeal for writing that are found in the form of original compositions, translations, and commentaries, etc. It can be said that, by producing such works, along the course of his spiritual mission the revered one has fused the Southern and the Northern India linguistically in an ideal manner.

Ācāryaratna Śrī Deśabhūṣaṇajī Maharaj has rightly maintained the noble traditions of Jaina teachers by producing numerous valuable works in different languages that can spiritually enlighten the people of the whole of India. Even today, to see him is to have a sort of spiritual experience ; to listen to his talks or sermons is to undergo a kind of spiritual education ; and to visit the Śāntagiri, (near Kothali-Kuppanwadi, Tal. Chikodi, Dist. Belgaum, Karnataka), a religio-spiritual centre carved after his ideals, is to get the satisfaction of undertaking a novel pilgrimage. □

संकल्पों के प्रति निष्ठा

श्रीमती ऊषा जैन

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज में संकल्पों के प्रति निष्ठा की भावना बाल्यकाल से ही रही है। बाल्यावस्था में साथियों को चमत्कृत करने एवं पुरस्कार ग्रहण के निमित्त वे अमावस्या की कालरात्रि में कोथलपुर की श्मशान भूमि के निर्जन एवं भयावह क्षेत्र में प्रवेश कर नारियल के पेड़ से पाँच श्रीफलों को तोडकर ले आए थे। यह निर्भीक प्रवृत्ति उनके आचरण में निरन्तर परिलक्षित होती रही है। इसीलिए उनके द्वारा समय-समय पर असाधारण कार्य सम्पन्न होते रहे है।

एक दिगम्बर आचार्य की मर्यादाओं का पालन करते हुए भी वे अपनी जीवनशक्ति से कुछ इस प्रकार के अनुपम कार्य कर देते है जिन पर विश्वास करना जनसाधारण के लिए कठिन-सा हो जाता है। आने वाला युग शायद यह विश्वास नही करेगा कि आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने विश्वधर्म सम्मेलन (सन् १९६५) में दिगम्बर जैनधर्म का प्रतिनिधित्व करने का आग्रहपूर्वक प्राप्त हुआ विशेष निमन्त्रण स्वीकार कर किस चुनौती को स्वीकार किया था। निमन्त्रण स्वीकार करने के पश्चात् यह आवश्यक था कि आचार्यश्री तीन दिन मे एक दिगम्बर सन्त की आवश्यक धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करते हुए पदयात्रा द्वारा मथुरा से दिल्ली पधारे। संकल्प के देवता आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने धर्मप्रचार के निमित्त नारायण श्री कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा से कमण्डलु एवं पीछी उठाकर इन्द्रप्रस्थ की ओर प्रस्थान कर दिया। उस समय ऐसा प्रतीत हुआ कि धर्म साक्षात् अपने लोककल्याणकारी मंगलस्वरूप से सन्तप्त मानवता को दिशा देने के लिए विश्वधर्म सम्मेलन में जा रहा हो। इस गौरवशाली सचरण के साक्षियों का यह विश्वास है कि आचार्यरत्न जी की इच्छाशक्ति में पर्वतराज हिमालय की दृढ़ता है। उन्होने इन तीन दिनों में केवल एक आहार लेकर मथुरा से इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) का ८८ मील का मार्ग जैनागमसम्मत नियमों का पालन करते हुए तय किया था। इस संकल्पशक्ति के कारण उनके द्वारा उठाए गए धर्ममय अनुष्ठान असाध्य होते हुए भी साध्य बन जाते हैं।

वास्तव में आचार्य श्री देशभूषण जी का पवित्र जीवन शताब्दियों तक यह प्रेरणा देता रहेगा कि संकल्पों के प्रति समर्पण की भावना एवं निष्ठा से किया गया पुरुषार्थ कभी भी निष्फल नही जाता। आचार्यश्री की आज भी यह मान्यता है कि शुभ संकल्पों द्वारा कर्मरथ पर आरूढ़ व्यक्ति मोक्षमार्ग का पथिक होता है। □

भक्तवत्सल एवं विनोद प्रिय

वैद्य प्रेमचन्द जैन
सहायक मन्त्री, आ० देश० अभि० ग्रन्थ समिति

राग-द्वेष से शून्य, अन्तरग से निर्मल, तपश्चर्या से देदीप्यमान एव परोपकार के प्रति कर्तव्यरत परमपूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज वर्तमान काल के महान् साधक, परम समाजोद्धारक एव युगद्रष्टा आचार्य हैं। जैन धर्म सघ के इतिहास मे बीसवी सदी का यह सौभाग्य ही है कि उसने एक ऐसी विभूति को जन्म दिया जिसने आत्म-साधना के पथ पर अग्रसर होते हुए भी नगर-नगर, ग्राम-ग्राम मे जैन मन्दिरो की ध्वजा फहराई, जैन साहित्य-साधना को नवीन आयाम दिए और जनकल्याण, समाज सुधार, स्वास्थ्य एव शिक्षा की गतिविधियो को प्रोत्साहित किया। जैन धर्म प्रभावना को समाजोन्मुखी दिशा प्रदान करना आचार्यश्री की एक महत्त्वपूर्ण देन है जिसे जैन धर्म सघ के इतिहास की एक अविस्मरणीय विशेषता के रूप मे मूल्यांकित किया जाएगा। अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुभाव से मुखरित आचार्यश्री ने जैन धर्म को सार्वभौमिक एव सार्वकालिक सन्दर्भों मे प्रस्तुत किया है जिससे जैन धर्म को विश्व ख्याति अर्जित हुई है।

आचार्यश्री की वक्तृत्व शैली अत्यन्त मधुर एव अभिव्यञ्जनापूर्ण है। विनोदप्रियता आपके स्वभाव का अभिन्न अग है। इस सम्बन्ध मे दिल्ली चातुर्मास की एक घटना याद आती है जब स्थानीय धार्मिक लीला कमेटी की ओर से रावण का अभिनय करने वाला सत्यप्रकाश नामक व्यक्ति आचार्यश्री के दर्शनार्थ आया। हाव-भाव और डील-डौल से रावण जैसे लगने वाले सत्यप्रकाश को आचार्यश्री ने देखा तो चुटकी लेते हुए बोले --भाई! रावण आया है इसे लड्डू खिलाओ। तभी दस किलो के लड्डुओ का थाल रावण के आगे रख दिया गया और आचार्यश्री ने सत्यप्रकाश से कहा, भाई! अगर असली रावण हो तो इन सभी लड्डुओं को खा कर दिखाओ! आखिर रावण की शान का सवाल है! इस घटना से सभी उपस्थित लोग ठहाके मार कर हसने लगे। ऐसे ही एक बार लाला मदन लाल घन्टे वाले आचार्यश्री के दर्शनार्थ पधारे। आचार्यश्री ने तपाक से उपस्थित लोगो से कहा, भाई! घन्टे वालो की मिठाई बड़ी मशहूर है, जिसने नही खाई तो चख लो। फिर क्या था! बेचारे घन्टेवाले जल्दी से दुकान गए और ढेर सारी मिठाई वहा उपस्थित लोगो को खिलाने के लिए ले आए।

आचार्यश्री एक कुशल प्रशासक एवं दयालु प्रवृत्ति के निःस्पृह योगी हैं। प्रेस कर्मचारियों, धर्मशाला के कार्यकर्त्ताओ, जमादार, पोस्टमैन आदि को पुरस्कार आदि देकर सदैव प्रोत्साहित करते रहे है। किसी व्यक्ति की निजी समस्या का समाधान ढूंढने मे वे तत्पर रहते हैं। एक बार एक कर्मचारी का सामान चोरी हो गया तो उन्होंने तुरन्त किसी श्रावक को कहकर उसकी पूर्ति करवा दी। प० राजकुमार की कन्या का विवाह आचार्यश्री ने बड़ी धूमधाम से करवाया और पारसदास मोटर वाले को यह भी सकेत देकर कहा कि कुछ पीले जेवरों अर्थात् सोने के जेवरो की भी व्यवस्था करो। एक बार की घटना है कि दिल्ली की धर्मशाला मे दक्षिण भारत से तीन बसे भरकर लगभग १५० व्यक्तियो की भीड आचार्यश्री के दर्शन हेतु अचानक पहुँच गई। उनके भोजन की व्यवस्था को तुरन्त करना कठिन था। आचार्यश्री ने श्रावको से कहा कि दिल्ली वालो की शान का सवाल है, इनके भोजन की व्यवस्था करो। बस फिर तो आधे घन्टे के भीतर खाने-पीने की सामग्री जुट गई और मेहमान लोगो के भोजन की व्यवस्था हो गई।

मुझे आचार्यश्री द्वारा संस्थापित ट्रस्ट के कार्य को देखने का सौभाग्य मिला है। अनेक पुस्तको के मुद्रण कार्य को मैने निर्वाहित किया। एक घटना याद आती है जब सम्राट प्रेस के मालिक नारायणसिंह को मुद्रण कार्य के १००१ रुपये देने थे और भूल-चूक मे १०००१ रुपये उनके पास चले गए। बाद मे पता चला और आचार्यश्री से मैंने अपनी भूल का निवेदन किया तो बोले कोई बात नही, शेष रुपये वापस आ जाएगे। आचार्यश्री का यह कहना ही था कि सम्राट प्रेस के मालिक आ गए और फालतू रुपये वापस कर गए।

आचार्यश्री की व्यवहार कुशलता की जितनी प्रशसा की जाए वह कम ही है परन्तु उन्होंने किसी भी कार्य मे व्यक्तिपरक भाव से कभी कोई रुचि नही ली और न ही कोई ममता या रागवृत्ति को जोडा। धर्मप्रभावना एव जनकल्याण की भावना से प्रेरित उनकी योजनाओ को स्वय ही दिशा मिलती जाती है और कार्य स्वयमेव सिद्ध हो जाते हैं। ऐसे महान् योगी के चरणों मे नतमस्तक होकर मैं अपनी नमोऽस्तु अर्पित करता हूँ। □

धर्म-दीपक

आचार्य सुबल सागरजी महाराज

योगेन्द्र चूडामणि सम्यक्त्व शिरोमणि भारतगौरव आचार्यरत्न श्री १०८ गुरुवर्य श्री देशभूषण महाराज के चरण कमलों में मुनि सुबल सागर का आचार्य भक्तिपूर्वक त्रिबार नमोऽस्तु।

यथा नाम तथा गुण को चरितार्थ करने वाले आचार्य श्री देशभूषण देश के भूषण हैं। दिल्ली से लेकर कन्याकुमारी तक विहार कर समग्र प्राणियों को आपने धर्मामृत रूप वाणी का पान कराया है। इस दुर्धर दुःखम काल में कल्पवृक्ष के तुल्य एवं चिन्तामणि रत्न के समान आपने संसार के तड़पते प्राणियों के सन्ताप को धर्मोपदेश से शान्त किया है। गुण रत्नों मे समुद्र तुल्य, समुद्र जैसी गम्भीरता लिए हुए आप जैसे गुरु दुर्लभ हैं। जैसे चन्दन वृक्ष से सांप चिपके रहते हैं वैसे ही शिष्य आपसे चिपके रहते हैं। चन्दन वृक्ष साँपों को दूर नहीं करता, आप भी अपने शिष्यों से दूर रहना पसन्द नहीं करते। आपकी धर्म प्रभावना से अनेक दीक्षित हुए हैं तथा अनेक व्रतों के धारक बने हैं। आपने कई लोगों का रात्रि-भोजन त्याग करवाया तथा अष्टमूलगुण धारण करवाया। हिन्दू, मुस्लिम, हरिजन आदि जातियों के लोगों ने आपके धर्म प्रवचनों को सुनकर मद्य-मांस-मधु का त्याग किया है। संसार रूपी अंधेरे में भटकने वाले हमारे जैसे कितने ही अज्ञ जीवों का आपने धर्म-दीपक के प्रकाश से मार्ग-दर्शन किया है। आपका शुभाशीर्वाद सदा हमारे मस्तक पर रहे तथा मेरा मस्तक आपके चरणों मे रहे इसी भावना के साथ त्रिबार नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु। □

चन्दन न वने वने

गणधराचार्य कुन्थुसागर जी

शेडवाल

भारत भूमि धर्मसाधना की ऐतिहासिक स्थली है, महान् पुरुषों की जन्म खानि है। इस भूमि पर अनेकानेक महापुरुष एवं अवतारी पुरुष और साधु सन्त हुए हैं। इसी परम्परा मे हमारे विश्वविख्यात भारतगौरव आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज हैं। आपने भारतवासी जन-जन का कल्याण किया। साहित्य सेवा के क्षेत्र मे आपकी कोई बराबरी नही कर सकता। ऐसी विभूति का सान्निध्य हमारे लिए अत्यन्त सौभाग्य की बात है। भगवान् श्री अर्हन्त देव से मैं यही प्रार्थना करता हूँ कि आपके द्वारा चिरकाल तक जन-जन का कल्याण होता रहे। इसी भावना से आचार्यश्री के चरणों मे त्रयभक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि आचार्यश्री की गौरवगाथा को अमर बनाने हेतु 'आस्था और चिन्तन' नामक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रस्तुत हुआ है। यह अभिनन्दन ग्रन्थ भारतीय तत्त्व चिन्तन के परिप्रेक्ष्य मे जैन परम्परा के इतिहास और उसके योगदान को निरूपित करने वाला अद्वितीय ग्रन्थ है। इस प्रकार का आयोजन करने वाली अभिनन्दन ग्रन्थ समिति और उसके सम्पादन मण्डल को हमारा साधुवाद एवं आशीर्वाद है—

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो न हि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने॥ □

अनेकान्त सार्वभौम

मुनि श्री देवनन्दि जी

शेडवाल

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज तारण-तरण, निज-परहित दक्ष, मंगल भावना के स्रोत, अनेक गुण मण्डित, भद्रपरिणामी, करुणा के सागर, धर्म प्रभावक, समाजोद्धारक, जैन साहित्योद्धारक, तीर्थक्षेत्र निर्मापक, बहुभाषा विशारद, एवं जैन दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् होने के कारण वर्तमान कालिक साधुओं की परम्परा मे एक अद्वितीय असाधारण साधुरत्न हैं।

महाराजश्री का धर्मानुराग, गहन प्रतिभा एवं तत्त्वजिज्ञासु वृत्ति आश्चर्यजनक है। आचार्यश्री का जीवन सतत साधनारत है। असाध्य साधना ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। समस्त प्राणियो के प्रति उनमें दया व करुणा का भाव स्पष्ट दिखाई देता है। वे सभी के चरमोत्कर्ष व कल्याणाकांक्षी हैं।

आचार्यश्री स्वाध्याय, तत्त्वचिन्तन, विचारधारा से अत्यन्त शुद्ध व अपूर्व होने के कारण "अनेकान्त सार्वभौम" की उपाधि से विभूषित किए गए हैं।

इन्हीं शब्दों के साथ मैं अल्प विराम लेते हुए इच्छा व्यक्त करता हूं कि आचार्यश्री जी का जीवन प्रत्येक प्राणी का आदर्श बने। आचार्यश्री का जीवन व यशगान इस भूमण्डल पर चिरकाल तक अमर रहे। मेरी यह शुभकामना है कि यह अभिनन्दन ग्रन्थ प्राणी मात्र के लिए उपयोगी हो। □

गुरु गुण लिखा न जाय

क्षु० अनन्तमति माताजी
शांतिगिरि (कोथली)

परमपूज्य धर्मगुरु आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषणजी महाराज के प्रथम दर्शन का सौभाग्य मुझे बाल्यावस्था मे प्राप्त हुआ। मुझ अबोध बालिका को उन्होंने नियमित रूप से देव दर्शन करने की प्रेरणा दी साथ ही 'णमोकार' मन्त्र के मंगल पाठ करने का आशीर्वाद भी दिया। आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त धर्मप्रभावना से मेरे बालमन में धर्म के सस्कार उदित हुए। उसी अवसर पर एक ऐसी घटना भी घटी जिससे आचार्यश्री की धर्मप्रभावना ने मेरे मन मे अत्यन्त गहरी छाप छोड़ दी। हमारे प्रान्त जिला धुलिया मे आचार्यश्री एक सिद्ध पुरुष के रूप मे स्मरण किए जाते हैं। आपकी वचनसिद्धि एवं आशीर्वाद से एक मुसलमान भाई फांसी के दण्ड से बच गया। इससे आचार्यश्री के प्रति मेरी भक्ति बढ़ती गई। सन् १९६६-६७ के लगभग जब मैं दस या बारह वर्ष की थी आचार्यश्री ने धुलिया ग्राम मे धर्मप्रवचन किए। तभी मेरे मन मे विरक्ति का भाव जाग्रत हुआ। तभी मैंने श्री मन्दिर में जाकर आजीवन अविवाहित रहने का प्रण कर लिया। आचार्यश्री द्वारा प्रणीत साहित्य को पढ़ने से मेरे मन मे दीक्षा ग्रहण करने का भाव उत्पन्न हुआ। सन् १९७२ की जनवरी २२ को जयपुर खंजाची जी की नशिया मे मैंने परमपूज्य आचार्यश्री के पावन चरणों में अपने मनोभाव प्रकट किए और आचार्यश्री ने मेरे आत्मोद्धार के लिए मुझे क्षुल्लिका दीक्षा से अनुग्रहीत किया।

एक क्षुल्लिका के रूप में आचार्यश्री के धर्म संघ से मेरा चौदह वर्ष का सम्बन्ध रहा है। इस अवधि में अनुभूत आचार्यश्री के अनन्त गुणो का वर्णन करने मे मैं असमर्थ हूं। कतिपय रोचक अनुभवों को निवेदित करना चाहूंगी।

सन् १९७२ मे जयपुर से देहली की ओर प्रस्थान करते हुए कुछ अबोध बालकों ने मुनि संघ की तरफ रेवाड़ी के निकट छोटे-छोटे पत्थरों से आक्रमण किया। उसी समय अचानक वहा कुछ गाएँ आयी और पत्थरो की मार से व्याकुल होकर बच्चों की तरफ दौड़ने लगीं। सभी बच्चे अपने-अपने घर चले गए और पूज्य आचार्यश्री जी ससंघ पदयात्रा करते हुए महानगरी देहली मे सकुशल पहुच गए।

बुंदेलखण्ड की यात्रा के अवसर पर पनागर नगर मे एक ब्राह्मण के घर मे एक सर्प का निवास था। वह सर्प ब्राह्मण से मनुष्य की भाषा मे वार्तालाप किया करता था। एक दिन सर्पराज ने ब्राह्मण से अनुरोध किया कि एक माह पश्चात् इस मार्ग पर से परमपूज्य धर्मविभूति आचार्यरत्न श्री देशभूषण का विहार होगा। उस सर्प ने ब्राह्मण को यह प्रतिज्ञा भी करायी कि वह उसको महाराज श्री के दर्शन करा देगा। पनागर नगर मे महाराज का मगल आगमन हुआ तब ब्राह्मण · लोक भय से सर्प को महाराजश्री के दर्शन नही कराये। ब्राह्मण द्वारा वचन भग किये जाने से सर्पराज कुपित हुआ और उसने अपना रोष प्रकट करने के लिये ब्राह्मण के शरीर को लपेट लिया। ब्राह्मण घबड़ा गया और उसने तत्काल सर्प को आचार्य के चरणों में पहुचकर दर्शन की अनुमति मांगने का वचन दिया। आचार्यश्री के सम्मुख वह ब्राह्मण उपस्थित हुआ, किन्तु बड़ी संख्या मे जनसमुदाय को देखकर अपना विनम्र निवेदन करने से पूर्व ही वापस चला गया। लौटकर उसने सर्पराज को वस्तुस्थिति से परिचित कराया और अगले दिन प्रातःकाल आचार्यश्री वन्दना को जाते समय अपने घर की छत पर से दर्शन कराने का वचन दिया। आचार्यश्री ब्राह्मण के घर के आगे से वंदनार्थ निकले और नागदेवता ने मकान की छत पर से अध्यात्मपुरुष, धर्मध्वजा, आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के श्रद्धा से दर्शन किये। उसी समय पूज्य आचार्यश्री एव नागराज की आंखों का अनायास आमना-सामना हो गया। सर्प का प्यार से लालन-पोषण करने वाले ब्राह्मण ने जबलपुर के पास मढ़िया जी में यह वृत्तान्त सुनाया।

सिद्धपुरुष आचार्यश्री को घटना की वास्तविक जानकारी थी, किन्तु, ख्याति, लाभ, मान-सम्मान इत्यादि से निःस्पृह रहने के कारण उन्होंने संघ के किसी भी व्यक्ति को इस सम्बन्ध मे कुछ नही बताया। सर्प का पालन करने वाले ब्राह्मण की मनोगत व्यथा का अवलोकन करते हुए महाराजश्री ने ब्राह्मण को बतलाया कि वह सर्प अब अपनी पर्याय से मुक्ति पा चुका है और अच्छी पर्याय मे पहुच गया है।

संघ में रहते हुए मुझे सदा यह अनुभूति हुई है कि मेरे शरीर मे जब कभी कोई रोग-व्याधि अथवा पीड़ा उत्पन्न हो जाती तो वह महाराजश्री के दर्शन एव आशीर्वाद के उपरान्त तत्काल शान्त हो जाती है।

पूज्य आचार्यश्री के सान्निध्य में रहकर मुझे भारतवर्ष दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्रों एवं धर्म के स्वरूप को समझने का एक अभूतपूर्व अवसर मिला है। उनके महान् ऋण मुझमें समाहित हो गये हैं। मैं नही जानती कि पूज्य गुरुदेव के असंख्य ऋणों से कैसे मुक्त हुआ जा सकता है? 'आस्था और चिन्तन' नामक ग्रंथ के प्रकाशन के अवसर पर पूज्य गुरुदेव के चरणों में श्रद्धा सुमन अर्पित करते हुए मैं स्वयं को बहुत भाग्यशाली मानती हू। परमपूज्य आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषण जी महाराज के चरण कमलों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्तिपूर्वक त्रिकाल नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोऽस्तु। □

गतिशील धर्मचक्र

क्षु० चन्द्र भूषण

मुक्तिलक्ष्मी का साक्षात्कार करने की भावना से श्री विद्याधर (वर्तमान मे आचार्य विद्यासागर जी) के साथ मैं सन् १९६९ मे आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के सान्निध्य मे चूलगिरि जयपुर पहुंचा था। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज उस समय जयपुर की पर्वत शृंखला में एक तपोवन एवं जिन मन्दिर के निर्माण मे संलग्न थे। आचार्य श्री देशभूषण जी की कठोर साधना एवं रचनात्मक शक्ति को देखकर मैं मन्त्रमुग्ध हो गया।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के गौरवशाली चरण वास्तव मे रचनाधर्मी हैं। उनके निकट सम्पर्क मे रहकर मैंने यह अनुभव किया कि उनकी उपस्थिति मात्र से ही श्रावक समुदाय को नवनिर्माण की विशेष प्रेरणा मिलती है। २० वर्षों में उनके धर्ममय सान्निध्य से अनेक प्राचीन मन्दिरो का जीर्णोद्धार और अनेक नए तीर्थों एव मन्दिरो का निर्माण हुआ है। बीसवी सदी का स्वातंत्र्योत्तर युग जैन वास्तुकला के इतिहास मे देशभूषण युग के रूप मे स्मरण किया जाएगा। अनवरत निर्माण की ऐसी सतत परम्परा विगत १००० वर्ष के जैन इतिहास मे कही भी दृष्टिगत नही होती है।

जैन धर्म अपने आरम्भ से ही लोककल्याण की परम्परा से सम्पृक्त रहा है। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने भी एक निवृत्ति प्रधान धर्म के सर्वप्रमुख आचार्य होते हुए भी लोककल्याण के निमित्त अनेक जनोपयोगी सस्थान—अस्पताल, गुरुकुल, विद्यालय, धर्मशालाएं इत्यादि खुलवाए हैं। जनकल्याण के इन मगल तीर्थों से न जाने कितने जीवन मे आलोक पहुंचा है।

एक धर्म गुरु के रूप मे जिनशासन की प्रभावना एव साधु संघ के सरक्षण का उन्होंने जो महान् कार्य किया है—वह दिगम्बर जैन आचार्य परम्परा मे सदा-सदा श्रद्धा की दृष्टि से देखा जायेगा। एक सजग एव व्युत्पन्नमति आचार्य के रूप मे उन्होंने जैन धर्म को राष्ट्र से जोड़ा है और मौलिकता को बनाए रखा है।

सरस्वतीपुत्र आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी वास्तव मे भारत माता के कंठहार हैं। अपनी राष्ट्रव्यापी पदयात्रा मे भारत की सांस्कृतिक एकता एवं अखडता को बनाए रखने के लिए आपने दक्षिण भारत के भक्तिपरक साहित्य को उत्तर भारत की भाषाओं मे और उत्तर भारत के साहित्य को दक्षिण भारत की भाषाओं मे प्रस्तुत करके एक अद्भुत उदाहरण स्थापित किया है। दिगम्बर मुनिचर्या का निर्दोष पालन करते हुए शताधिक रचनाओ का प्रणयन एवं सम्पादन भी वास्तव मे एक विलक्षण उपलब्धि है।

आचार्यश्री की दीर्घ तप: साधना के प्रति भक्ति एव श्रद्धा व्यक्त करने की भावना से अभिनन्दन ग्रथ समिति ने जो स्तुत्य कार्य किया है उसके लिए समिति के सदस्यो एव सम्पादन मण्डल को हमारा आशीर्वाद है। □

हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता

श्री सुरेशचंद्र जैन
(नवीन शाहदरा)

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज को जैन समाज मे एक सिद्ध पुरुष माना जाता है। उनके अद्भुत व्यक्तित्व एव अलौकिक सिद्धियों की घर-घर मे चर्चा होती है। 'आस्था और चिन्तन' के प्रकाशन के समय मै केवल सदलगा की एक घटना का उल्लेख सुविज्ञ पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहूगा। आज के वैज्ञानिक युग मे इस प्रकार की घटनाओ पर मानव-मन सहसा विश्वास नही करता, किन्तु जिस सत्य का चक्षुओं ने साक्षात्कार किया हो उसे कैसे अस्वीकार किया जा सकता है। मेरे साथ घटित हुई एक घटना का सत्य विवरण इस प्रकार है—

7 सितम्बर, 1986 को परमपूज्य आचार्यरत्न के पावन सान्निध्य मे मैंने 'ऋषि मडल विधान' का सदलगा मे आयोजन किया। इस विधान के सम्बन्ध मे यह धारणा बन गई थी कि विधान के अनुष्ठान और नित्यप्रति की क्रिया के मध्य किसी भी समय तीव्र वर्षा होगी। सदलगा एक ग्रामीण क्षेत्र है और वहा की खुशहाली के लिए वर्षा का योग सुखद होता है। अत: वहा के भोले-भाले ग्रामीण भाई-बहिन वर्षा की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे। अनन्त चतुर्दशी दिनांक 17 सितम्बर 1986 को मध्याह्न के समय एक श्रावक ने निराश होकर कहा कि आज विधान का समापन भी हो जायेगा किन्तु क्या इन्द्रदेव की कृपा नही होगी ? उसी दिन सायं

4'30 बजे पाठ का समापन हुआ और सदलगा के जैन समाज ने भगवान् के अभिषेक के लिए नदी पर जाने के लिए धर्मयात्रा का आयोजन किया। शोभा यात्रा के लिए जैसे ही मैं पाठ की वेदी से उठकर बाहर आया तभी बड़ी जोर से वर्षा प्रारम्भ हो गई। मेरे हाथों मे अभिषेक के लिए जो रिक्त कलश था वह वर्षा के जल से भर गया। सदलगा के सभी निवासियों का मन-मोर नाच उठा और उपस्थित जनसमुदाय तीर्थंकर भगवान् के अभिषेक के लिए नदी की ओर श्रद्धापूर्वक चल पड़ा। नदी के तट पर वर्षा के जल से परिपूरित कुम्भ से भगवान् का अभिषेक करके विशेष आनन्द आया। किन्तु आज भी मैं यह सोचता हू कि वह अभिषेक एक व्यक्ति के द्वारा न होकर स्वयं इन्द्रदेव का भगवान् के चरणो मे श्रद्धामय वन्दन था।

सच तो यह है कि आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी का मन तीर्थंकर भगवान् के चरणो मे अनुरक्त रहता है। आचार्यश्री जब भी भक्ति रस से प्लावित हो जाते हैं तब दैवी शक्तियां उनके मनोरथ को पूर्ण करने के लिए श्रद्धा के साथ इसी प्रकार के अवसर उपस्थित कर देती हैं। आचार्यश्री के सान्निध्य मे मैंने ऐसी अनेक घटनाओ को घटित होते हुए अपनी आंखो से देखा है। अपने अनुभवों के आधार पर मैं यह निस्संकोच कह सकता हू कि आप एक दिव्य पुरुष हैं और अपने कल्पनालोक मे एक आध्यात्मिक वातावरण तैयार कर देते हैं। मैं उनके पावन चरणों मे शत-शत वन्दना करता हू। □

कृपा सिंधु, नर रूप हरि!

श्री अनन्त कुमार जैन
(जैन मैडिकोज, दिल्ली)

धर्मध्वजा, तपमूर्ति, परम श्रद्धेय आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के तेजोमय व्यक्तित्व के प्रति मैं बाल्यावस्था से ही आस्थाशील रहा हू। मुझे स्मरण है जब मैं पांच-छ: वर्ष का अबोध बालक था तब मुझे मेरी पूज्य माता जी महाराज जी के दर्शनार्थ ले गई थी। उस समय आप लच्छूमल की धर्मशाला मे धर्म-प्रवचन कर रहे थे। मै बाल-सुलभ चचलतावश उनके बिल्कुल निकट जाकर बैठ गया। तब तक मुझे 'चुन्नू' नाम से बुलाया जाता था और महाराज जी ने मेरे सिर पर हाथ रख कर आशीर्वाद देते हुए मेरा नामकरण 'अनन्त' कर दिया था। यह भी एक संयोग था कि वर्षों के अन्तराल के बाद जब मेरा विवाह हुआ और मुझे पुत्र-प्राप्ति हुई तब उस नवागत बालक का नाम भी महाराजश्री ने ही किया था। उसका नाम उन्होंने 'आदीश' रखा था।

महाराज जी के साथ निकट सम्पर्क मे मै सन् 1982 के बाद निरन्तर आता रहा हू। मथुरा, आगरा, सोनगिरि, सागर, दमोह, कुडलपुर, नागपुर आदि मे महाराज जी जहाँ-जहाँ धर्म-यात्रा करते हुए गए वही पहुच कर मैंने उनके दर्शन किए। मैंने प्रत्येक स्थान पर यह अनुभव किया कि महाराज जी के धर्म-वचन सुनने के लिए उस क्षेत्र के सभी समुदायों की भीड उमड पडती थी। सोनगिरि सिद्धक्षेत्र की यात्रा के समय मैं तीन दिन तक महाराज जी के साथ रहा। वहाँ मार्ग मे मुझे आचार्यश्री की तेजस्विता और अलौकिक शक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। एक विशाल अजगर न जाने किस ओर से रेंगता हुआ अचानक निकल आया और संघ के आगे चलने लगा। श्रावकों मे घबराहट हो जाना स्वाभाविक था। किन्तु थोड़ी ही देर मे वह मानो महाराज जी के दर्शन और आशीर्वाद ग्रहण करके बिना किसी का अहित किए लौट गया।

कोथली मे आजकल महाराज जी जनकल्याण और अध्यात्म-प्रतिष्ठा के अनेक रचनात्मक कार्य कर रहे हैं। कुछ ही मास पहले भगवान् नेमिनाथ की मूर्ति के पचकल्याणक के अवसर पर हमारा सम्पूर्ण परिवार वहा गया हुआ था। मेरे माता-पिता की महाराज श्री मे अगाध आस्था है। इस पंचकल्याणक मे मेरे माता-पिता को ही अवसर के अनुकूल पचकल्याणक मे माता-पिता बनने का गौरव दिया गया। मैंने भी उन धार्मिक क्रियाओ मे भाग लिया। महाराज जी की किसी अज्ञात प्रेरणा व शक्ति से उस पंचकल्याणक के अवसर पर इतनी भीड़ एकत्रित हो जाती थी कि आश्चर्य होता था। कोथली मे तो इतनी आबादी थी नही। भगवान् के पचकल्याणक मे यह भीड़ महाराज की अलौकिक सिद्धि की ओर ही सकेत करती है।

कोथली मे मैं अनेक बार महाराज जी के दर्शनार्थ गया हूं। अपने साथ फोटोग्राफर भी ले जाता रहा हू जिससे महाराज जी के चित्र विभिन्न मुद्राओं के ले सकू। कई बार महाराज जी ने हँसते हुए कहा कि तुम जितना भी प्रयास करो, मेरा चित्र नहीं ले पाओगे! और, मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जब-जब महाराज ने ऐसा कहा था तभी वह 'नेगेटिव' बिल्कुल खाली रह गया। उस पर किसी प्रकार की भी आकृति नही आ पाई! इन सब घटनाओ का मैं प्रत्यक्ष साक्षी हूं और इसी कारण मुझे उनमे अनन्त और अज्ञात शक्ति के दर्शन करके शांति मिलती रही है। अपने जीवन का शेष भाग मैं कोथली मे रह कर ही बिताना चाहता हू। कोथली एक तीर्थ क्षेत्र के रूप मे विकसित हो रहा है। वहां का प्राकृतिक वातावरण भव्य है और सबसे बड़ी बात यह है कि वह महाराजश्री की जन्मभूमि है। मुझे लगता है कि मुझे कोथली मे ही सच्ची शांति मिल सकेगी। इधर कुछ समय पूर्व एक दिन अनायास ही महाराज

श्री ने मुझसे कहा था कि, "मैंने तुझे गोद ले लिया है। अपने पिता जी से पूछ ले जो सामने ही बैठे हैं !" उस समय मैं क्या उत्तर देता ! मेरी तो मानो मनोकामना ही पूरी हो गई थी। पिता जी को भी क्या आपत्ति होती। वे तो बचपन से ही महाराज जी की अद्‌भुत भक्ति और धर्म-प्रभावना से श्रद्धावनत रहे हैं। मुझे लगता है कि अब मेरा शेष जीवन महाराज जी के 'मिशन' को पूरा करने में ही लगेगा। उनके श्री चरणों में मेरा बारम्बार भक्ति पूर्वक नमस्कार। □

राष्ट्रसन्त आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

डॉ० रघुवीर वेदालंकार

विद्याविलासमनसो धृतिशीलशिक्षा

सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः ।

संसारदुःखदलेन सुभूषिता ये

धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः ॥

वही संस्कृति सुरक्षित रह सकती है तथा वही समाज जीवित रह सकता है जिसमे निःस्पृह, परोपकारी, विद्वान् सन्त महात्मा विद्यमान हो। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ऐसे ही सच्चे सन्तों मे हैं जिन पर समाज गर्व कर सकता है, राष्ट्र गर्व कर सकता है। जिन-धर्म का पालन करते हुए समस्त कषायो को समाप्त कर देने वाले आचार्यश्री न केवल सन्त ही हैं अपितु राष्ट्र एव समाज मे चेतना फूकने वालो मे अग्रणी भी हैं। अपने जीवन में अनेक शिक्षा संस्थाओं की स्थापना कर आचार्यश्री ने "तमसो मा ज्योतिर्गमय" के अनुसार अज्ञानान्धकार को दूर करने, ज्ञानप्रकाश फैलाने मे जो योगदान दिया वह वस्तुतः अविस्मरणीय है। इसके अतिरिक्त औषधालय आदि समाजकल्याण सम्बन्धी कार्यों को करने की प्रेरणा द्वारा आपने सामाजिक क्षेत्र मे अपरिहार्य योगदान दिया है। इतना ही नहीं, अपितु ब्रिटिश काल मे जहां एक ओर अन्य नेतागण स्वाधीनता का आन्दोलन चला रहे थे वहां दूसरी ओर यह निःस्पृह, वीतराग सन्त अपने विमल उपदेशों द्वारा जनमानस को "आत्म स्वातन्त्र्य" का उपदेश दे रहा था।

जैन समाज के लिए तो आचार्यश्री विशेष रूप में श्रद्धाभाजन हैं क्योकि आपने आचार्य परम्परा का पालन करते हुए अनेक प्राचीन शास्त्रो का उद्धार किया। "अहिंसा परमो धर्मः" के अनुसार अहिसा को समाज मे सुप्रतिष्ठित करने का पवित्र कार्य भी आपने किया है। ५१ वर्ष तक अहर्निश चलने वाली आपकी दिगम्बरी साधना के सामने कौन नतमस्तक नहीं होगा। इस प्रकार जैन समाज आपके जीवन से चिरकाल तक प्रेरणा प्राप्त करता रहेगा।

आचार्यश्री उच्च कोटि के सन्त तो हैं ही, इसके साथ ही उनकी विद्वत्ता सोने मे सुहागे का काम कर रही है। यह मणि-कांचन संयोग है कि उच्चकोटि के साधक होते हुए भी आप अनेक भाषाओ के विद्वान् हैं। स्वयं शताधिक ग्रन्थों का प्रणयन करके तथा अनेक भाषाओ मे ग्रन्थो का अनुवाद करके आपने धार्मिक जगत् के साथ-साथ साहित्यिक जगत् पर भी जो उपकार किया है उस पर भला कौन गर्व नही करेगा ? कर्नाटक प्रान्त में जन्म लेकर उत्तर भारत को भी आपने अनुयायी बनाया यह आपकी विद्वत्ता एव साधना का ही परिणाम है। इससे राष्ट्रीय चेतना अक्षुण्ण रहने मे विशेष बल मिला है। सम्प्रति वृद्धावस्था ने आपके शरीर का तो स्पर्श कर लिया है किन्तु "नास्ति एषां यशः काये जरामरणजं भयम्"—आपके यशः शरीर का कोई कुछ नही बिगाड सकता। वह अजर है, अमर है। वेद के अनुसार आप "भूयश्च शरदः शतात्" को चरितार्थ करते हैं। ऐसे राष्ट्रसन्त के प्रति देश को गर्व है। समस्त राष्ट्र उनके प्रति नतमस्तक है एव चिरायु की कामना करता है ! □

'सदलगा' (कर्नाटक) चातुर्मास, १९८६ के सन्दर्भ में जनमानस का स्वर

सद्गुरु महिमा अपार

श्री आलगूर बी० डी०
सदलगा

सच्चा साईं गुरु गोसाईं राह बताई ।
जिससे सकल भरमना मिटी ।
डोरी जनम-मरण की टूटी ।
कोठड़ी करम की फूटी ॥

महान् तपोनिधि अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी राष्ट्र संत, योगींद्र चूडामणि, भारतगौरव, आचार्यरत्न श्री १०८ देशभूषण मुनि महाराज जी हमारे परम गुरु परमात्मा हैं क्योंकि वे हमारे भ्रम को मिटाकर, कर्मराशि को नाश करने का तथा जन्म-मरण रूपी चक्र से छुटकारा पाने का मार्ग बताकर समस्त जीवराशि का कल्याण चाहने वाले सच्चे गुरु है ।

'शरीर रोगमया, संसार दुखमया' इसे सब लोग जानते और मानते भी है। हमारा शरीर कई प्रकार के रोगो का शिकार बनकर पीडा देता ही रहता है। ससार मे तो सदा इष्ट वियोग और अनिष्ट सयोग का दु:सह दुःख भोगना ही पडता है। इसलिए हमारे गुरुवर्य सदा इन सभी दु:खो से मुक्त होने का मार्ग ही बताते रहते हैं। इसलिए आप हमारे सद्गुरु है। कहा भी है—

जो कोणी ज्ञानबोधी । समूल अविद्या छेदी ।
इंद्रिय-दमन प्रतिपादी । तो सद्गुरु जाणावा ॥

सद्गुरु की कसौटी पर हमारे आचार्यश्री सोलहो आने खरे उतरते है। आप भोगविजयी, इंद्रियजयी, सम्यग्ज्ञानी, चारित्र के धनी, योगींद्र चूडामणि हैं। विषयोन्मुख से ईश्वरोन्मुख करनेवाले एव असार ससार से विरक्त करके सारभूत सारस्वतलोक का सन्मार्ग दिखानेवाले मुनिपुंगव तथा ज्ञानभास्कर हैं, जो अज्ञानी ससारी जीवों को रत्नत्रय धर्म का बोध करके उन मे सम्यग्ज्ञान ज्योति प्रज्वलित कर उनके आत्मकल्याण हेतु नित्य परिश्रम करते रहते हैं। सबको सयम की महिमा बताते हैं, जिससे ससार का बधन टूटता है। ऐसे सन्मार्गदर्शी, महान् विभूति-पुरुष एव युगपुरुष हमारे परम गुरु आचार्यश्री हैं ।

सदलगा मे आचार्यश्री का चातुर्मास

महिमानगरी

सदलगा ग्राम कर्नाटक प्रात के बेलगाम जिले के ठीक उत्तरी भाग मे बहनेवाली पावन दूधगगा नदी के किनारेवाली उपजाऊ समतल भूमि के बीच मे बसा हुआ है। आज तक इस नगरी से कुल १८ साधु-साध्वी हुए हैं, जिनमे गुरुवर्य विद्यासागरजी महाराज अग्रमान्य हैं। आपकी विरक्ति के प्रेरक गुरु आचार्य देशभूषण मुनि महाराज जी ही है। यह स्थान चारित्रचक्रवर्ती शांतिसागरजी की तथा गुरुवर्य देशभूषणजी की तपोभूमि तथा धार्मिक क्राति का केन्द्र है। यहा के अधिकाश लोग कृषक है। वैसे तो सभी भद्रपरिणामी हैं। दुर्भाग्य से यहा के लोग लबे अरसे से मुनिश्री के चातुर्मास से और सुदीर्घ काल तक प्रवचनामृत पान करने से वचित थे पर इस साल वह सौभाग्य उदित हुआ है। आचार्य जी की महिमा अपार है—

अज्ञानतिमिरांधाना ज्ञानाजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलित येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

सुवर्ण में सुगन्ध—सदलगा ग्राम मे रत्नत्रय स्वरूपी तीन मदिर है जिनमे भ० वृषभदेव का अतिशय मदिर भी एक है। इस तरह मंदिर होते हुए भी कई सालो से यहा जनजागृति और धर्मचेतना सुप्तावस्था को प्राप्त हुई थी। महाराज जी के धर्म भेरी नाद से जन जागृति तथा धर्मचेतना के उषाकाल का आगमन हुआ जिसके फलस्वरूप शिखर बस्ति के प्रांगण मे विशाल, भव्य, मानस्तभ का निर्माण हुआ तथा आपके मार्गदर्शन और नेतृत्व मे २२-५-१९८६ के दिन पंचकल्याणक महोत्सव भी सपन्न हुआ। इस शुभ अवसर पर लाखों लोगों को आचार्यश्री की वाणी का और धार्मिक विधि-विधान और शोभायात्रा का अखड अनुभव हुआ। इसके साथ ही साथ करीब एक सौ साल के बाद होनेवाले इस महोत्सव के अविस्मरणीय इतिहास का निर्माण हुआ ।

वाणी की महिमा—आचार्यजी के प्रेरणा सरित् सागर मे अनगिनत लोग नित्य स्नान करके अपने को पुनीत मानते हैं। लगातार दो-चार साल के दुर्भिक्ष से कगाल जनता आग उगलती धूप और विषम गर्मी से भयभीत थी। सभी पंचकल्याणक मे पानी की व्यवस्था करने का उपाय ढूंढ रहे थे। इस मंगल महोत्सव की प्रगति देखकर और मार्गदर्शन करने के लिए आप दो-चार दिन पहले

ही यहा पधारे हुए थे। पानी की समस्या उनकी समझ में आ गयी। प्रवचन में आपकी अमृत वाणी निकली—"भव्य सद्धर्म बंधु, डरो मत हम त्रिलोकाधिपति भगवान् श्री पार्श्व प्रभु का पंचकल्याणक शुभ कार्य करने जा रहे हैं, इस कार्य मे आनेवाली कितनी भी विघ्न-बाधाएँ क्यो न हो वे अपने आप दूर हो जायेगी और पंचकल्याणक से पहले ही बरसात होगी।" देखना क्या था! मई मास की २१ तारीख की शाम के वक्त आसमान पर एकाएक काले-काले बादल मडराने लगे। कुछ ही घंटों में सभी ओर अंधेरा-सा छा गया देखते ही देखते लगातार एक घटे तक मूसलाधार वर्षा हुई जिससे गड्ढे-तालाब सब भर गये। भूमि शुद्धि के साथ यह महोत्सव निर्विघ्न संपन्न हुआ।

दूसरी बात आचार्य श्री शातिसागर जी की तपोभूमि एवं मुनिनिवास के बारे मे थी। इस अनाथ क्षेत्र की ओर किसी का भी ध्यान नहीं गया था। जब आचार्यश्री की नजर इस क्षेत्र पर पडी तो सिहर उठे और बोले—"यह अनाथ क्यो हैं, हमारे साथ त्रिलोकनाथ हैं। इस क्षेत्र का संरक्षण करना हर मानव हितवादी का परम कर्तव्य है।" यहा एक गुफा और आचार्य अनतकीर्ति महाराज की समाधि भी है। महाराज जी की प्रेरणा से अनगिनत द्रव्यदान मिला, कार्यकर्ताओ और कारीगरो का ताता लग गया जिससे देखते ही देखते इस क्षेत्र का संरक्षण कार्य पूर्ण हुआ। क्षेत्र-अभिवृद्धि का कार्य जारी है।

तरण-तारणकर्ता—महाराज जी की वाणी से और तपोबल से प्रभावित जनता की मनोकामना थी कि १९८६ का चातुर्मास सदलगा मे संपन्न हो। बडी आरजू प्रार्थना के बाद यह सौभाग्य प्राप्त हुआ। पर्वराज पर्यूषण के शुभ योग मे दोनों मंदिरो के लिए शिखर तथा मानस्तम निर्माण के लिए भूमि-पूजन की बात सोची गई। अकाल से पीडित जनता भयभीत मुद्रा से गुरु के मुखमंडल की ओर विवशता से निहारने लगी तो अमृतवाणी निकली—"शुभकार्य के लिए आज-कल कहने मे तथा विघ्न-बाधा डालने में भव-भवातर की हानि है। त्रिलोकनाथ के भरोसे पर कर डालो सब ठीक हो जायेगा और समाज की भलाई होगी।" देखना क्या था, प्रातःकाल की शुभ बेला मे भूमिपूजन कार्य सपन्न हुआ। दानियो की होड लग गई महाराजजी के मार्गदर्शन मे सब कार्य यथाशीघ्र करने का प्रण भी किया गया। महाराज जी की वाणी मे अद्भुत शक्ति है जिसमे सभी प्राणीमात्र का कल्याण ही प्रधान प्रयोजन होता है। आपकी अमृतवाणी हमारे अन्तर्मन मे गूजती है। जैसे कुशल कृषक भूगुण और मौसम की जानकारी लेकर बीज बोकर सुफल पाता है उसी तरह के कुशल कृषक अध्यात्मकेसरी गुरुवर्य आत्मा की पृष्ठभूमि मे अध्यात्म बीज बोकर मुक्ति फल दिलाने मे मर्मज्ञ हैं। आप का गुणगान शब्दों से करना असंभव है। मुझे लगता है—

सब धरती कागद करूं, लेखनी सब बनराय।
सप्त समुंदर मसी करूं, गुरु गुण लिखा न जाय॥

महान् महिमापुरुष, बीसवी सदी के श्रेष्ठ संत, श्रमण सस्कृति के सरक्षक, विश्वधर्म के प्रेरक, राष्ट्रीय एकता एव अखडता की ज्योति जगाने वाले, मानव जाति के हितचिंतक तथा जीवदयामयी यतीश्वर का गुणगान मेरे शब्दो द्वारा करना सर्वथा असभव है। □

शत-शत वंदन

जैन धर्म में प्राय. श्रावक एव श्राविकाएँ नियमित रूप से पंच मंगल-पाठ का स्तवन करके परमपूज्य तीर्थंकर भगवानो के चरणों मे अपनी आस्था का अर्घ्य भक्तिपूर्वक समर्पित करते हैं। पच मंगल-पाठ मे भगवान् ऋषभदेव से भगवान् महावीर स्वामी पर्यंत चौबीस तीर्थंकरो के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान एव निर्वाण कल्याणक-उत्सवो का स्मरण किया जाता है।

परमपूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने पाच तीर्थंकर भगवान् की जन्म कल्याणक भूमि अयोध्या मे विशाल जैन मन्दिर बनवाकर श्रमण संस्कृति की अपूर्व सेवा की है। यदि हमारे यहां के समर्थ सन्त आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी का अनुकरण करके तीर्थंकर भगवानों के पचकल्याणक से सम्बन्धित क्षेत्रो की विकास योजनाओं को अपने हाथ मे लें तो निकट भविष्य मे सभी तीर्थक्षेत्रों का अभिनव रूप सामने आ जायेगा। □

विजेन्द्र कुमार जैन सर्राफ
दरीबा कलां

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज एक साक्षात् धर्मतीर्थ हैं। अनेक अवसरो पर उनके दर्शन का सौभाग्य मुझे मिला है। आचार्यश्री की धर्मप्रभावना एव वाग्वैभव से समग्र जैन समाज लाभान्वित हुआ है। उन्होंने अपने कुशल संयोजन से अनेकानेक तीर्थों का उद्धार एव नवनिर्माण किया है। पंचपरमेष्ठी के प्रतीक आचार्यश्री की दिव्य साधना के प्रति मैं नतमस्तक होकर अपनी हार्दिक श्रद्धा अर्पित करती हूं। □

श्रीमती जे० के० गांधी
बम्बई

लगभग आठ या नौ वर्ष की शैशवावस्था में मैंने सर्वप्रथम आचार्यश्री देशभूषण जी महाराज के दर्शन श्री दिगम्बर जैन मन्दिर जी पहाड़ी धीरज मे किए। उसी अवसर पर आचार्यश्री ने आशीर्वाद देते हुए मुझे सर्वप्रथम णमोकार मन्त्र का मंगल उपदेश दिया। जीवन की अनेक विषम परिस्थितियों मे णमोकार मन्त्र की आवृत्ति मेरे लिए वरदान सिद्ध हुई है। आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त यह महामन्त्र मेरे जीवन के लिए एक अद्भुत प्रकाशपुंज सिद्ध हुआ है।

श्री महेन्द्र कुमार जैन
अध्यक्ष, जैन समाज, दक्षिणी दिल्ली

परमपूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज श्रमण संस्कृति के सूर्य हैं। उन्होंने अपनी ज्ञानाराधना एव तपश्चर्या से 'स्व' एव 'पर' का कल्याण किया है। आचार्यश्री के महान् उपकारो से जैन समाज कभी भी उऋण नही हो सकता। पावन भक्ति से उत्प्रेरित होकर भारतवर्ष का जैन समाज आचार्यश्री की वन्दना करता है।

श्री धनेन्द्र कुमार जैन
उपाध्यक्ष, जैन युवक निर्माण समिति, दिल्ली

परमपूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के चरणश्री मे मेरी गहरी आस्था है। आचार्यश्री अपने सम्पर्क मे आने वाले श्रावको को जीवन मे सदाचार एव मानवीय मूल्यों को अपनाने की सलाह देते हैं। समय-समय पर आचार्यश्री मेरा और मेरे पतिदेव का भी मार्गदर्शन करते रहे हैं। उन्ही के आशीर्वाद से हमारे परिवार में धर्म के संस्कार विकसित हुए हैं। आचार्यश्री के अभिनन्दन की बेला मे मैं स्वयं और परिवार के समस्त सदस्यो की ओर से उनकी वन्दना करती हू।

श्रीमती शकुन्तला देवी जैन
रामनगर, पहाड़गंज

श्री श्री १०८ श्री देशभूषण जी के चरण-कमलों मे इस तुच्छ सेवक का प्रणाम स्वीकार हो! महान् त्यागी श्री महाराज जी हमारे जैसे अज्ञानियों के लिए ज्ञान के प्रकाश-स्तंभ हैं। इस धर्म संकट के समय में आप ज्ञान के प्रकाश की विशाल ज्योति लिए कितनी निर्भीकता से हमारा मार्गदर्शन कर रहे हैं। धर्म की नैय्या के निपुण खिवैया आप ही हैं। आपके प्रवचनों का गुणगान करने मे हमारी वाणी और लेखनी सक्षम नही है। आपके प्रवचनो से समस्त ससार में जो धार्मिक चेतना आई है, वह अलौकिक है।

दुनिया के कोने-कोने से आई आवाज—जय जय श्री देशभूषण जी महाराज।

श्रीमती संतोष जैन
वकीलपुरा

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज साक्षात् मे धर्म के रूप हैं। उनके चरणों की वन्दना बड़े भाग्य से मिलती है।

सुशील जैन
सुपुत्र स्व० श्री जुगल लाल जैन

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज को स्मरण करने से सभी प्रकार के संकटो का स्वय निवारण हो जाता है। अधिक क्या कहू! वे साक्षात् भगवान् हैं।

श्री पुरुषोत्तम जैन
सुपुत्र स्व० श्री जुगल लाल जैन

पचपरमेष्ठी के प्रति श्रद्धानत होना स्वाभाविक है। वर्तमान मे निष्परिग्रही स्वात्मखोजी तपस्वी साधुओ का समागम वास्तव मे कठिन है। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की अप्रतिम सेवाओ के सम्मानार्थ प्रकाशित होने वाले अभिनन्दन ग्रंथ के लिए मैं समिति एवं सम्पादन मंडल को साधुवाद देता हू। जिनमार्ग की प्रभावना के लिए दिगम्बरत्व का गुणगान अत्यावश्यक है।

श्री महावीर प्रसाद जैन, सर्राफ
चांदनी चौक, दिल्ली

आयरियप्पवरो सिरिदेसभूसणो

प्रो० माधव श्रीधर रणदिवे,

सातारा

'भो भव्वजणा, तुम्हे च्चिय अप्पाण कत्ता विणासगा भग्गविधादा य। तुम्हे च्चिय अप्पाण मित्ता वेरिणो वि। जारिस सुभासुभ कम्म करिस्सध तारिस सुक्खदुक्ख भुंजिस्सध। कडाण कम्माण ण मोक्खोऽत्थि। कत्तारमेव अणुजादि कम्म। उट्ठध, मा पमादं कुणध।···अलिय वयण अयसकर वइरवड्ढण च। सच्च खु भगव। सच्च सग्गद्दार सिद्धीए सोपाण च।···वित्तेणताण ण लभदि पमत्तो। जहा लाभो तहा लोभो। लाभा लोभो पवड्ढदि। लोभो सव्वविणासगो। लोभो सतोसेण जिणे ··सव्व नयणं सापेक्ख सच्च। दूर कुणध मणसि दद वयणस्स विग्गह च। परोप्पराणं दिट्ठीओ जोडिदूण समण्णय कुणध। अणेकतो सियादवादो च्चिय समत्थो राया जो सवस्स णस्सिदूण जगमि सति पत्थावेदि। ··जम्मेण ण को वि सेट्ठो ण को वि सुद्दो। माणवस्स णेयाउय अणेयाउय च जीवण उच्चणीचाणं सच्चपरिक्खा।···मव्वे जीवा इच्छति जीविदु ण मरिज्जिदु। मव्वे तमति दडस्स। सव्वेसिं जीविद पिय। अदो परमसुह चिय जीवणस्स पहाणुद्देसो। धम्मेण सुह लहदि। अहिंसा परमो धम्मो। अहिमाणुयारिणो समल जग चिय एक्क कुडुब। मेत्ती भूदेसु कप्पदे - ··'

'धण्णो! धण्णो!! धण्णो!!! भो सेट्ठिवर, सव्वजीवाण कल्लाणमय एरिस हिदोवदेस कुणतो को एसो मुणिवरो?'

'महाणुभाव, एसो क्खु बालब्रभयारी तवसेटठो सरस्सदीपुत्तो अणासत्तकम्मजोगी रट्ठमतो १०८ सिरिदेसभूसणायरियवरो।'

'भो सज्जण, कुणध पसाद ममोवरि। कधमेसो महायरिओ जादो त्ति कधेसु।'

'ण समत्था मह वाणी एदस्स जीवणकज्जं वण्णिदु। तो वि कधेमि सखेवेण तस्स दिव्व जीवण। सुणाहि एगग्गचित्तेण।

कण्णाडगविसए कोथलग्गामे एग चदुत्थाजणकुडुब वसदि। सुसावगो सच्चगोडा तत्थ गामप्पमुहो। आकवामिहाणा से पदिपरायणा सुसीला भज्जा। एगम्मि सोहणे दिणे सा वरलक्खणकलिद पुत्त पसूदा। बालगोडो त्ति तस्स णाम किद। तदिए मासे बालगस्स मादा कालगदा। बालत्तणम्मि य तस्स पिदा वि कालगदो। तदो तस्स मादामही पद्मावदी बालगोडं अदिजेहेण पालेदि तस्सोवरि सुसंखार कुणदि य।

बालगोडो बुद्धिमतो। सो मरहट्ठी-कण्णडीभासासु णिउणो जादो।

एगम्मि समये सिरिजयकित्ती णाम मुणिवरो वरिसावासस्स किदे कोथलग्गामे आगदो। तस्सतीए बालगोडो जिणागम पढेदि। तस्स चित्ते धम्मभावणा जग्गिदा। सो मुणिवरेण सह सिरि सम्मेदसिहरजत्ताए गच्छिदुमिच्छदि। पडिणियत्तिदूण विवाह करिस्सदि त्ति आसाए पदुमावदीए दुक्खेण बालगोडो तित्थजत्ताए विसज्जिदो।

तम्महातित्थदसणेण तित्थगराण दिव्व जीवण सुमरिदूण बालगोडो विरत्तो जादो। तरुणजणमणाणयारिसि उम्मत्ततारुण्णसि अट्ठदसवरिसे बालगोडो सिरिपासणाहसिहरे सिरिजयकित्तिस्सतीए बभचेर पडिवज्जदि।

चदुव्विधसंघेण सह विहरतो सिरिजयकित्तिमुणिवरो कुथलगिरितित्थभूमीए पविट्ठो। तत्थ बभचारी बालगोडो तस्स मुणिवरस्स पादमूले दिगबरमुणी जादो। तदा तस्स सिरिदेसभूसणो त्ति नाम किद।

कमेण विहरतो चदुव्विधसघो सवणबेलगोलतित्थे आगदो। तत्थ भगवदो बाहुबलिस्स सुमणोहर भव्व पयंड च पडिम दट्ठूण परमभत्तीए सिरिदेसभूसणमुणिवरो गोम्मटेसथुदि कुणदि।

'... दियवरो यो ण य भीविजुत्तो,
ण यबरे ससामणो विसुद्धो।
सप्पादिजतुप्फुसदो ण कपो,
त गोम्मटेस पणमामि णिच्चं ॥...'

अध सिरिदेसभूसणो पुणरवि तित्थजत्तं गतुमिच्छदि। मुणिवरेणाणुमदिदो सो एगागी पादचारी गामाणुगाम विहरंतो जादि। रायचुर-गुलमग्गादिणगरेसु जवणमिलिछादिलोगेहिं सो मुणिवरो उवसग्गिदो उवसग्गिदो य। सिरिदेसभूसणमुणिवरो सव्व उवसग्ग परमसंतीए सहिदूण पसण्णहिदयेण धम्मोवदेसं कुणदि। त मुणिदूण सव्वे जणा पच्छादावेण मुणिवरं बहुमण्णंति।

सियादवादकेसरिणा आयरियप्पवरसिरिणायसागरेण तस्स आयरियदिक्खा दिण्णा।

आयरियप्प सो सिरिदेसभूसणो समग्गभारहे पादचारी विहरेदि। सज्झाय काहूण सो सिद्धत-सिरोमणी जादो। विविहभासा-कुसलेण आयरियवरेण णेगाणि पोत्थगाणि रइयाणि। मधुरवाणीए देसण काहूण तेण सहस्साधिगाइं इत्थीपुरिसाइं उद्धारियाइं। णेगठाणेसु मणहराइं जिणालयाइं कारिदूण लोगहिदकाए आयरिएण धम्ममालापाठमालाविज्जालयमहाविज्जालयाइं कारियाइं। आयरियस्स जीवणं चिय जणहिदकए अत्थि।'

'सेट्ठिवर, धण्णो ह ! एगस्सि महारट्ठसतस्स दरिसणमह करेमि।'

'भो महाणुभाव, अज्ज क्खु आयरियप्पवरो जहत्थणामो देसभूसणो होदि। सो णिच्च चिय विस्सधम्मस्स सदेस दे दि—

'मित्ती मे सव्वभूदेसु,
वेरं मज्झ ण केणई।'

□

आचार्यप्रवर श्री देशभूषण

प्रो० माधव श्रीधर रणदिवे
सातारा

'हे भव्यजन ! आप ही अपने कर्त्ता, विनाशक और विधाता हैं। आप ही अपने मित्र तथा शत्रु भी हैं। जैसे आप भले-बुरे काम करोगे वैसे सुख-दुःख का फल भोगोगे। किए हुए कर्म मे मुक्ति नहीं मिलती। कर्म कर्त्ता के पीछे जाता है। जागिए, प्रमाद मत कीजिए।...झूठ वचन अपकीर्तिकारक और वैरवृद्धिकारक होता है। भगवान् सत्यरूप है। सत्य स्वर्ग का दरवाजा तथा सिद्धि का सोपान है।...दुःखी का कारण धन मे नही होता। जैसा लाभ वैसा लोभ। लाभ की तरह लोभ बढ़ता है। लोभ सब का नाश करने वाला है। संतोष से लोभ जीतिए।...सब वचन सत्य की तुलना से सापेक्ष है। मन का द्वन्द्व और वचन का आग्रह दूर कीजिए। परस्पर दृष्टि जोडकर समन्वय कीजिए। अनेकान्त स्याद्वाद से समर्थ सम्राट है जो संघर्ष मिटाकर शान्ति प्रस्थापित कर सकता है।... जन्म से न कोई श्रेष्ठ है, न कोई शूद्र। मानव जीवन मे नीति-अनीति द्वारा ऊँच-नीच की कसौटी होती है।...सब प्राणी जीवनोत्सु हैं, मृत्युवादी नही। सब दण्डशासन से त्रस्त होते हैं। सब को जीवन प्रिय है। अत. जीवन का प्रधान उद्देश्य परमसुख है। धर्म से सुख प्राप्त होता है। अहिंसा परम धर्म है। अहिंसाचारी सकल विश्व ही अपना कुटुम्ब मानता है। प्राणीमात्र मे मित्रता कीजिए। . '

'धन्य ! धन्य !! धन्य !!! हे श्रेष्ठिवर ! इस तरह सब जीवों को कल्याणमय उपदेश देने वाले ये मुनिवर कौन हैं ?'

'महानुभाव ! ये हैं बालब्रह्मचारी, तपश्रेष्ठ, सरस्वतीपुत्र, अनासक्त कर्मयोगी, राष्ट्रसन्त श्रीदेशभूषण आचार्यवर !'

'हे सज्जन ! कृपा कीजिए। बतलाइए, कैसे ये महान् आचार्य बने ?'

'उनका जीवनकार्य वर्णन करने मे मेरी वाणी असमर्थ है। तो भी सक्षेप से मैं उनका दिव्य जीवन बताता हूँ। गौर से सुनिए ।'

कर्नाटक प्रान्त के कोथलग्राम में एक चतुर्थ जैन परिवार रहता था। वहाँ का मुखिया था सुश्रावक सत्यगौडा। उसकी आकाम्बा नाम की पतिपरायण और शीलवती पत्नी थी। उसने एक शुभ अवसर पर उत्तम लक्षणो से युक्त पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम बालगौडा रखा गया। तीन महीने मे बालक की माता गुजर गई। बचपन मे ही पिता गुजर गया। तब उसकी दादी पद्मावती ने बालगौडा का बड़े ममत्व से पालन किया। उस पर वह सस्कार करती रही ।

बालगौडा बुद्धिमान था। वह मराठी और कानड़ी भाषा मे निपुण हो गया ।

एक समय वर्षावास के लिए श्री जयकीर्ति मुनिवर कोथलग्राम मे पधारे। बालगौडा ने मुनि के पास जिनागम का अध्ययन किया। उसका मन धर्मभावना से प्रभावित हुआ। वह मुनिवर के साथ श्रीसम्मेदशिखरयात्रा जाना चाहता था। लौटने पर बालगौडा विवाह करेगा, इस आशा से पद्मावती ने उसे बडे कष्ट से तीर्थयात्रा जाने के लिए विदा दी ।

उस महातीर्थ दर्शन से तीर्थकरो के दिव्य जीवन से प्रभावित होकर बालगौडा विरक्त हो गया। युवा मन के मस्त जीवन के अठारह साल की उम्र मे बालगौडा ने श्री पारसनाथ चोटी पर श्री जयकीर्ति के अनुग्रह से ब्रह्मचर्य धारण किया ।

चतुर्विध सघ के साथ बिहार करते श्री जयकीर्ति मुनिवर कुथलगिरि तीर्थ पधारे। वहाँ ब्रह्मचारी बालगौडा मुनिवर की शरण मे दीक्षा पाकर दिगम्बर मुनि बन गए। तब उनका श्री देशभूषण नाम रखा गया। चतुर्विध सघ विहार करता श्रवणबेलगोल पधारा। वहाँ भगवान् बाहुबलि की सुमनोहर, भव्य तथा प्रचण्ड मूर्ति के दर्शन से श्री देशभूषण मुनिवर परम भक्ति मे गोमटेश्वर का स्तवन करने लगे।

'....जो दिगम्बर, भयमुक्त, (वल्कलादि) वस्त्रों के बारे मे अनासक्त, (रागद्वेषरहित) विशुद्ध और सर्प आदि जन्तुओं के दश से (भी) विचलित नही होते, ऐसे (महायोगी) गोमटेश्वर की मैं (भक्तिश्रद्धा से) वन्दना करता हू।....'

अब श्री देशभूषण फिर से तीर्थयात्रा जाना चाहते थे। मुनिवर की अनुज्ञा लेकर वे एकाकी पैदल ग्रामानुग्राम विहार कर जाने लगे। रायचुर, गुलमर्ग आदि नगरों मे यवन, म्लेच्छादि लोगो ने मुनिवर की हँसी उड़ाकर उपसर्ग किया। श्री देशभूषण मुनिवर ने सब यातनाएँ परम शान्ति से सहन करके प्रसन्न चित्त से धर्मोपदेश दिया। उपदेश सुनकर सब पश्चात्तापदग्ध होकर मुनिवर को चाहने लगे। स्याद्वादकेसरि आचार्यप्रवर श्री पायसागर ने उनको आचार्य पद की दीक्षा दी ।

आचार्यप्रवर श्री देशभूषण ने समग्र भारत मे पैदल विहार किया। अध्ययन-चिन्तन से वे सिद्धान्तशिरोमणि बन गए। विविध भाषा पारंगत आचार्य श्री ने काफी ग्रन्थ-रचना की। मधुर वाणी से उपदेश कर उन्होंने सहस्राधिक नर-नारियों का उद्धार किया। कई स्थानो मे सुन्दर जिनालय बनवाये। आचार्यश्री ने जनहितार्थ धर्मशाला, पाठशाला, विद्यालय, महाविद्यालय आदि खोले। आचार्यश्री का जीवन ही जनहितार्थ है।'

'श्रेष्ठिवर, मुझे ऐसे महान् राष्ट्रसन्त के दर्शन हुए। मैं धन्य हूँ।'

'महानुभाव ! आज आचार्यप्रवर जी का देशभूषण नाम चरितार्थ हुआ। वे नित्य विश्वधर्म का सन्देश देते हैं—

'सब प्राणिमात्रों से मेरी मित्रता है,
किसी से भी मेरी शत्रुता नहीं है।' ☐

समस्या और समाधान

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

[डॉ० महेन्द्र कुमार 'निर्दोष' द्वारा लिया गया साक्षात्कार]

पौराणिक काल से ही दिल्ली राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना की साधना-स्थली रही है। आज भी यह सांस्कृतिक पुनर्जागरण का नियामक केन्द्र है। आधुनिक युग के अनेक क्रांतद्रष्टा मनीषियों ने इस क्षेत्र को अपने वचनामृत से पावनता प्रदान की है। आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज का जन्म कन्नड प्रदेश मे हुआ; परन्तु उनका जीवन देश-काल की सकुचित सीमाओ से सर्वथा मुक्त है। उनका कालजयी व्यक्तित्व विश्वव्यापी है। श्रमण सस्कृति के शाश्वत संदेश को जन-जन तक पहुचाने के लिए वे निरन्तर विहार करते रहते हैं और संस्कृति के प्रचारार्थ निरन्तर गतिशील रहना ही उनके जीवन का लक्ष्य है। दिल्ली मे वे अनेक बार विहार कर चुके हैं। इस वर्ष (सन् १९८२) भी वे मंगल-विहार करते हुए दिल्ली पधारे। जब मैंने पहली बार महाराज को देखा, तब वे अपने आसन पर ध्यानमग्न थे, उनके चेहरे पर अपूर्व तेज था। दिगम्बर होते हुए भी वे दिव्य विभूतियो से परिपूर्ण थे। मेरे हृदय मे सहसा एक विलक्षण अभिलाषा उत्पन्न हुई कि किसी प्रकार महाराज से अनुरोध किया जाए कि वे अपनी मधुमयी वाणी द्वारा आज के भौतिकतावादी मानव की संतप्त जिज्ञासाओं को शात करें। श्री सुमतप्रसाद जैन पर महाराज जी की सदैव अनुकम्पा रही है। इसीलिए मैंने सुमतजी का आश्रय ग्रहण किया और उन्होने महाराज के समक्ष मेरे मनोभावों को श्रद्धापूर्वक अभिव्यक्त किया। महाराजश्री ने वात्सल्यपूर्ण नेत्रो से हम सबकी ओर देखा और वे हमारे प्रश्नो के समाधान के लिए सहर्ष प्रस्तुत हो गए।

महाराज के समक्ष आस्था-विश्वासपूर्वक प्रणत होते हुए मैंने कहा कि हे प्रभो! आप श्रमण सस्कृति के संवाहक हैं। श्रमण संस्कृति के रहस्यात्मक भेदो-प्रभेदो को जन-जन तक प्रचारित करने के लिए आपने अनेक ग्रथो की सरचना की है। अपनी विलक्षण प्रतिभा के द्वारा जैन-दर्शन के निगूढ तत्त्वो को आपने जनसाधारण की भाषा मे व्याख्यायित किया है। आपके इस सृजन-संकल्प से सम्पूर्ण भारतवर्ष लाभान्वित हो रहा है। हमारी दृढ आकांक्षा है कि आपकी क्रांतदर्शी प्रतिभा का आलोक युग-युगो तक सतप्त मानव की अतरात्मा को परितृप्ति प्रदान करता रहे। इसीलिए हम आधुनिक मानव की उलझी हुई संवेदनाओ का समाधान आप से प्राप्त करना चाहते हैं।

महाराजश्री के सामने अपनी जिज्ञासाओ को प्रस्तुत करते हुए मैंने कहा कि हे आचार्यवर! आज का मानव राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एव आर्थिक मिथ्याडम्बरो के मायाजाल मे इस प्रकार से उलझ गया है कि उसे अपने निर्वाण का कोई भी मार्ग दिखाई नहीं देता। इस समय तो कोई अलौकिक दिव्य शक्ति ही उसके क्षत-विक्षत मानव को आत्मविश्रांति प्रदान कर सकती है। इसीलिए आप ही समय-संत्रास के आघात से पीडित मानव को अपने वचनामृत से पुनर्जीवन प्रदान करें।

☐ आधुनिक मानव के समस्त क्लेश-द्वेष का मूल कारण है भौतिकता के प्रति अत्यधिक आग्रह। भारतवर्ष भी पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से भौतिकता के व्यामोह मे फसता चला जा रहा है। आपके विचार से लोक-जीवन का निर्वाह करते हुए भी भौतिकता के इस बधन से कैसे मुक्त रहा जा सकता है?

आचार्यश्री ने इस ससार के समस्त क्लेशद्वेष मे मुक्ति प्राप्त करने के लिए तीन सूत्र बतलाये—(१) धर्म के शाश्वत मार्ग का संधान, (२) मन की शुद्धि, तथा (३) जीवन मे उदात्त संस्कारो का सद्भाव।

आचार्य समंतभद्र की वाणी को उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा "आत्म-कल्याण का मार्ग अपने पास ही है। तुम जिस मार्ग से सुख और शांति चाहते हो, वह सुख देने वाला मार्ग अपने पास है। तुम उसे अपने मन के अंदर झांककर पा सकते हो।"

"वह मार्ग धर्म का मार्ग है। धर्म किसको कहते हैं? संसारी प्राणियो को दु:ख के खड्ड से उठाकर निर्वाण के मार्ग की ओर उन्मुख करना ही धर्म है। धर्म से कर्म का नाश होकर ससार रूपी दु:ख का नाश होता है। धर्म का मार्ग परम्परा से चला आ रहा है, परन्तु आज का जीव पाश्चात्य संस्कारों के कारण उस मार्ग को भूल चुका है। वह मार्ग उसके भीतर है, पर वह उसे नही जानता। यही उसके कष्ट का कारण है।"

इस संदर्भ में आचार्यश्री ने मन की शुद्धि पर विशेष बल देते हुए कहा कि किसी भी दुष्कर्म के प्रक्षालन के लिए मन का प्रक्षालन आवश्यक है। प्राचीन समय में लोग धर्म के मार्ग को जानते थे। उनके जीवन में ऋजुता थी। इसीलिए वे किसी बाह्य दण्ड-विधान की अपेक्षा मन के पश्चात्ताप को विशेष महत्त्व देते थे। किसी भी अपराध के लिए मानसिक पश्चात्ताप पर्याप्त माना जाता था, जिससे कि उस अपराध की पुनरावृत्ति न हो। "प्राचीन समय में दण्डनीति के अन्तर्गत हा! मा! धिक्! की शिक्षा ही पर्याप्त था। जैसे जैसे परिवर्तन होने लगा, लोग यह नीति मार्ग छोड़कर उद्दण्ड हो गए।"

काल परिवर्तनशील है। इस संसार में कभी मंद जीव होते हैं और कभी विवेकशील जीवों का जन्म होता है। आज पश्चिम के प्रभाव के कारण हमारे धार्मिक संस्कार मिटते जा रहे हैं। प्राचीन समय में हमारे देश में ऐसी पाठशालाएं थीं, जिनमें भव्य संस्कारों की शिक्षा दी जाती थी। इसीलिए लोग धर्म के मार्ग पर चलते थे। आज इस प्रकार की शिक्षा की अत्यंत आवश्यकता है।

बच्चों को अच्छे संस्कारों की शिक्षा माँ-बाप से प्राप्त हो सकती है; परन्तु जब आज के माँ-बाप पर ही कोई बंधन नहीं, तो बच्चों पर बंधन कैसे होगा? आज घर में पालन पोषण के लिए दाई को रखना पड़ता है। वही स्तन-पान कराती है। बच्चे जैसा अन्न खायेंगे, वैसे उनके संस्कार बनेंगे। महाभारत में मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए भीष्म पितामह ने भी यह स्वीकार किया था कि चीर-हरण के समय मैं द्रौपदी की रक्षा इसलिए नहीं कर सका, क्योंकि उस समय दुर्योधन का अन्न खाने के कारण मेरे संस्कार दूषित हो गये थे। आज युद्ध के उपरान्त मेरे संस्कार फिर शुद्ध हो गए हैं, और मैं यह बात स्वीकार कर रहा हूं।

जैन धर्म के स्याद्वाद की ओर संकेत करते हुए आचार्यश्री ने कहा कि अनेकांतवाद के वास्तविक स्वरूप को हमें समझना चाहिए। भगवान् महावीर स्वामी के मन में जब सांसारिक प्राणियों के कल्याण की कामना उत्पन्न हुई, तब उन्होंने पहले स्वयं सांसारिक प्रलोभनों का त्याग किया और फिर संसार को अनेकान्त रूप में मुक्ति प्रदान करने का मार्ग दिखाया। भगवान् महावीर स्वामी ने सोचा कि यदि मैं निस्वार्थ भाव से प्रचार करूंगा, तभी लोगों पर उसका प्रभाव पड़ेगा। इसीलिए दिगम्बर बनकर उन्होंने संसार को उपदेश दिया।

आज भी धर्म-प्रभावना के लिए महावीर स्वामी की वाणी का प्रचार आवश्यक है। दिगम्बर साधु यह प्रचार करते रहते हैं। लोगों को स्वयं भी सत्साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। केवल मंदिर जाना ही पर्याप्त नहीं है। मंदिर जाने के साथ-साथ साहित्य का अध्ययन मनन भी आवश्यक है। मंदिर और साहित्य दोनों परस्पर सम्बन्धित होने चाहिये। मंदिरों के माध्यम से साहित्य का प्रचार अवश्य होना चाहिए।

☐ क्या संसार में रहते हुए भी संसार से विरक्त रहना सम्भव है?

—अपने मनोभावों को शब्दबद्ध करते हुए मैंने फिर पूछा। आचार्यश्री ने एक लौकिक आख्यान के द्वारा हमारी इस जिज्ञासा को शांत किया।

एक बार एक जिज्ञासु के मन में इसी प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ। अपनी शंका के निवारण के लिए वह एक दिगम्बर साधु के पास गया और यही सवाल उससे पूछा कि क्या संसार में रहते हुए भी संसार से विरक्त रहना सम्भव है? दिगम्बर साधु ने स्वयं कोई उत्तर नहीं दिया और उस प्रश्नकर्ता को एक सेठ के पास भेज दिया। उस व्यक्ति ने सेठ के पास जाकर देखा कि सेठ अपने कामकाज में अत्यंत व्यस्त था। उसके पास अनेक लोग आ-जा रहे थे। वह जिज्ञासु व्यक्ति यह दृश्य देखकर निराश हो गया। उसने सोचा कि जो व्यक्ति स्वयं सांसारिक कार्यों में इतना लिप्त है, वह मेरे प्रश्न का उत्तर भला क्या देगा? इसी समय एक नौकर आया और उसने कहा—"सेठ जी! पचास हजार का घाटा हो गया।" "होगा, होगा!" सेठ ने कहा और फिर अपने काम में व्यस्त हो गया। वह व्यक्ति यह देखकर स्तब्ध रह गया। सेठ के चेहरे पर किसी प्रकार का भाव-परिवर्तन नहीं था। वह सर्वथा निर्विकार था। वही मुनीम थोड़ी देर बाद फिर आया और कहा "बाबूजी! चार लाख का लाभ हो गया।" "हुआ होगा" —सेठ ने कहा। इतने बड़े लाभ की बात सुनकर भी वह उत्तेजित नहीं हुआ। जिज्ञासु को अपने प्रश्न का उत्तर स्वतः प्राप्त हो गया कि जो व्यक्ति सुख-दुःख में समभाव रख सकता है, हानि-लाभ में निर्विकार रह सकता है, वही व्यक्ति इस संसार में रहते हुए भी इस संसार से विरक्त रह सकता है, बिल्कुल वैसे ही जैसे कि कमल कीचड़ में रहता हुआ भी उससे असम्पृक्त रहता है।

अब उस जिज्ञासु व्यक्ति ने व्यापारी से पूछा कि आपने यह बात कहाँ से सीखी? उस सेठ ने उत्तर दिया कि जिन्होंने तुम्हें मेरे पास भेजा, उन्होंने ही मुझे यह शिक्षा दी। उसी साधु ने, उसी मेरे गुरु ने, मुझे यह सब सिखाया कि यदि कोई व्यक्ति समभाव से अपने कर्तव्य-कर्मों का निर्वाह करता है, सुख-दुःख, हानि-लाभ में निर्विकार रहता है, तब वह गृहस्थ आश्रम में रहते हुए भी उससे मुक्त

रह सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को यह समझना चाहिए कि अपने कर्मों के कारण ही मैं इस बंधन में पड़ा हूँ। समय आने पर इससे मुक्त हो जाऊँगा।

☐ सांसारिक प्रलोभनों से मुक्त रहने के लिए मन को संयमित रखना अत्यन्त आवश्यक है; किन्तु मन का संयमन किस प्रकार संभव है ?

प्राचीन आचार्यों ने अपने ग्रंथों में यह बात बतलायी है कि यदि हम संसार के कष्टों से मुक्त होना चाहते हैं, तो सबसे पहले हमें मन को काबू में करना पड़ेगा। इसके लिए हमारे यहाँ इस प्रकार के संयम माने गए हैं—मन-मुंडन, तन-मुंडन, इन्द्रिय-मुंडन; काषाय-मुंडन, हस्त-पाद-मुंडन, शिर-मुंडन आदि। मन को एकाग्र करने के लिए पदस्थ ध्यान का विधान भी आचार्यों ने बतलाया है। प्रत्येक साधक को णमोकार मंत्र का जाप करना चाहिए। मन को एकाग्र करके उसमें लगाना चाहिए। इस मंत्र के प्रत्येक अक्षर को अपने मन में धारण करना चाहिए। इसके साथ-साथ भगवान् के भजन, पूजन तथा महापुरुषों की कथा-वार्त्ता के श्रवण में भी मन को एकाग्र करना चाहिए। प्रत्येक भक्त को प्रार्थना करनी चाहिए कि हे भगवान् ! मुझे कुछ नहीं चाहिए। मेरी तो केवल यही कामना है कि आपके चरणों में हमेशा मेरी भावना बनी रहे। आपकी शास्त्र-शुचि मेरे मन में रहे। साधुओं की संगति बनी रहे। सत्पुरुषों का गुणगान और उनकी कथा मेरे मन में बनी रहे। मैं सभी के साथ हितमित वचन बोलूं। किसी का मन दुःखाने की भावना न रहे। मेरा मन हमेशा एकाग्र रहे। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को मनन करना चाहिए। इसके लिए नियमित अभ्यास अत्यंत आवश्यक है।

☐ किसी भी कर्म को करने के उपरान्त मनुष्य के मन में कभी-कभी उस कर्म के कर्त्ता होने का जो अहंकार उत्पन्न हो जाता है, उस अहंकार से मुक्त होने का सबसे सरल उपाय कौन-सा है ?

जैन-शास्त्र में २५ मलदोष माने गए हैं। संसार में सबसे खतरनाक अहंकार है। इस अहंकार का त्याग विवेक और ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। ज्ञानी पुरुष ही यह सोचता है कि तीर्थंकर का ज्ञान कितना है? मेरा ज्ञान कितना है ? महाराज की सम्पत्ति कहाँ? मेरी सम्पत्ति कहाँ ? महाराज ने क्यों त्याग किया ? यह अहंकार अकल्याणकारी है, इसीलिए उन्होंने भी अहंकार का त्याग किया। मैं तुच्छ हूं। मेरे अंदर वह ज्ञान कहाँ ? जब ज्ञानी व्यक्ति इस प्रकार से विचार करता है, तब उसका अहंकार स्वतः नष्ट हो जाता है।

जाति एक कर्म है, स्वभाव नहीं। आज मनुष्य-जन्म है। कल क्या होगा ? कौन-कौन-सी योनि में जन्म हुआ ? मनुष्य-रूप में आने से पहले कहाँ-कहाँ भटकता रहा ? तब —इस प्रकार का चिंतन और ज्ञान-प्राप्ति भी अहंकार-नाश के लिए आवश्यक है। यह ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानी व्यक्ति—'व्यक्ति अहं' और 'जाति अहं'—किसी भी प्रकार का अहंकार नहीं करेगा। केवल अज्ञानी ही अहंकार करेगा।

एक बार दो व्यक्ति एक सेठ के घर भोजन करने के लिए गए। दोनों अहंकारी थे। वे दोनों अपने आप को परम ज्ञानी और दूसरे को महामूर्ख समझते थे। भोजन से पूर्व एक ने सेठ से कहा कि दूसरा तो केवल गधा है। दूसरे ने पहले के बारे में कहा कि वह तो बस बैल है। जब दोनों खाने के लिए बैठे तो सेठ ने दोनों पंडितों के सामने घास रख दी और कहा कि आप दोनों ने एक दूसरे को गधा और बैल कहा, इसीलिए मैंने आप लोगों के भोजन के लिए ऐसा प्रबंध किया है। इस बात को सुनकर दोनों पंडितों का आपस का अहंकार दूर हो गया। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को सोचना चाहिए कि यह अहंकार ही नीच गति का कारण है। मनुष्य यदि शाश्वत रहे तो अहंकार करे, जब मनुष्य शाश्वत ही नहीं, तब अहंकार भी नहीं। इस सच्चाई को जानकर ज्ञानी व्यक्ति कभी भी अहंकार नहीं करेगा।

☐ महाराज ! आप श्रमण संस्कृति के संवाहक हैं। श्रमण संस्कृति के रहस्यात्मक भेदों-प्रभेदों को जन-जन तक पहुंचाने के लिए आपने अनेक ग्रंथों की रचना की है। आपके इन कार्यों से आज सारा भारतवर्ष लाभान्वित हो रहा है। हम चाहते हैं कि आपके ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश सारे संसार को प्राप्त हो। आने वाले युग-युगों तक इस संसार के दुःखी, सन्तप्त प्राणी आपके ज्ञान के प्रकाश में अपने मार्ग को खोज सकें। इसीलिए आपके दरबार में हम आज के इंसान की समस्याओं को उठा रहे हैं। आज का मानव मिथ्याडम्बरों के मायाजाल में उलझ गया है। अब कोई अलौकिक दिव्य शक्ति ही उसे रास्ता दिखा सकती है। हम चाहते हैं कि आप समय के संत्रास से पीड़ित मानवों को अपने वचनामृत से पुनर्जीवन प्रदान करें। महाराज के समागम से उपस्थित जन-समुदाय की ओर से श्रद्धा-विश्वास प्रकट करते हुए मैंने कहा, और फिर पूछा—

महाराज ! संसार के सभी धर्म हमें सद्भाव एवं एकता का संदेश देते हैं। परन्तु, कभी-कभी धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता

की एक ऐसी आग भड़कती है जिसमें अनेक लोग झुलस कर रह जाते हैं। आपके विचार से भारत जैसे इस विशाल देश में साम्प्रदायिक सद्भाव की सृष्टि किस प्रकार हो सकती है? छुआछूत, ऊँच-नीच, भेद-भाव की संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण आज हमारा समाज विघटित हो रहा है। इस विघटन को रोकना किस प्रकार सम्भव है?

"प्रश्न ठीक है। धर्म तो प्रत्येक मानव-प्राणी के लिए एक ही है—"अहिंसा परमो धर्मः"। जब तक हम इस मूल स्वरूप का नहीं समझेंगे, तब तक हम किसी भी धर्म को मानें, जीव का कल्याण नहीं हो सकता। धर्म तो एक ही है। धर्म दो नहीं हैं। परन्तु लोग उसके मार्ग भिन्न-भिन्न मानकर, उसे अलग-अलग रूप देकर, उसकी आराधना करते हैं। धर्म तो एक ही है।

एक बार दो ब्राह्मण परस्पर मिले। एक उत्तर से आया था और दूसरा दक्षिण से। एक ने कहा—'सीताराम', दूसरे ने कहा 'सियाराम'—और वे दोनों वाद-विवाद करने लगे। उसी समय एक व्यक्ति उधर से गुजरा। उसने कहा सीताराम और सियाराम दोनो एक ही हैं। दोनो का अर्थ एक ही है। एक है सीताराम, इसी को अपभ्रंश मे कहते हैं सियाराम।

इस प्रसंग से महाराज का अभिप्राय स्वतः स्पष्ट था—सत्य एक है। विविध भाषाओ मे उसकी अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न रूपों मे होती है। महाराज ने फिर कहा—"मनुष्य धर्म तो एक ही है। परन्तु हम उसे जानते नही। अहिंसा मूल तत्त्व है। प्राणियों पर दया करना धर्म है। उनके दुःखो को दूर करना धर्म है। उपकार करना धर्म है। इसके अलावा दूसरा कोई धर्म नही।

यमुना नदी है। सभी उसका जल भरते हैं। किसी का घड़ा मिट्टी का है, किसी का लोहे का है तो किसी का चाँदी का है। सभी घड़ों मे जल एक ही है; पर सब लड़ते हैं। विवाद करते हैं कि मेरा घड़ा अच्छा है, मेरा घड़ा अच्छा है, मेरा घड़ा अच्छा है। पर वे नही जानते कि सभी घडो मे जल तो एक ही है। इसी प्रकार संसारी प्राणी ऊँच-नीच को मानकर परस्पर लडते रहते हैं। जब तक वे इस सत्य को नही जानेंगे, झगड़ा चलता रहेगा। वास्तव में अंतर तो बाह्य है, भीतरी नही। सारे झगड़े पुद्गल के हैं। यह मेरा धर्म है। यह विधर्म है। इसान यही सोचता है। अध्यात्म की दृष्टि से देखें तो कोई झगडा नही। मनुष्य भाव-कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप धारण करता है। अध्यात्म की दृष्टि से सब एक हैं। पर्याय की दृष्टि से अनेक हैं। इस प्रकार यदि विचार किया जाए तो कोई शत्रु नही, कोई मित्र नहीं। हम सभी प्राणी एक हैं।

☐ आधुनिक युग के बदलते हुए रीति-रिवाजो एवं आचार-व्यवहार के सम्बन्ध मे चर्चा करते हुए मैंने कहा—महाराज! जो अन्न हम खाते हैं, उस अन्न के द्वारा हमारे भावो एवं विचारों का पोषण होता है। मासाहार एव शाकाहार का किसी भी प्राणी के मन पर क्या प्रभाव पडता है? आज के युवावर्ग मे मासाहार की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को कैसे रोका जा सकता है?

एक पौराणिक प्रसग के माध्यम से महाराज ने इस प्रश्न का उत्तर दिया। एक बार एक साधु के पास एक व्यक्ति आया। उसने नमस्कार किया। साधु ने कहा "मनुष्य बन जा"। उस व्यक्ति ने फिर नमस्कार किया और साधु ने फिर वही उत्तर दिया—"मनुष्य बन जा।" तीसरी बार जब उस व्यक्ति ने पुन नमस्कार किया, तब उस साधु ने भी वही उत्तर दिया—"मनुष्य बन जा।" वह व्यक्ति बोला, महाराज! मैं पशु तो नही, मैं मनुष्य हू। आपके सामने खड़ा हूँ। तीन बार मैंने नमस्कार किया और तीनो बार आपने कहा "मनुष्य बन जा" "मनुष्य बन जा"। उस परम तपस्वी साधु ने उसे समझाते हुए कहा—बेटा, तेरा आकार तो मनुष्य का है, परन्तु तेरे अंदर की प्रवृत्ति और तेरा आचरण पशु का है। जब तक तेरे अदर का पशु नही निकलेगा, जब तक पशु का आचरण तेरे भीतर से नहीं जायेगा, तू मनुष्य नही बन सकता।

इसी प्रकार आज के युवा वर्ग मे बढ़ती हुई मासाहार की प्रवृत्ति को रोकना संभव है। परन्तु इसके लिए अथक प्रयास की आवश्यकता है। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए स्कूलों मे शिक्षा का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए। सभी प्राणियों के प्रति प्रेम-भावना का प्रसार होना चाहिए। युवा वर्ग को शाकाहार के सत्प्रभाव से परिचित कराना आवश्यक है। युवा वर्ग मे अच्छे संस्कारों का भी निर्माण होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जैनधर्म के सस्कारों का व्यापक प्रचार जरूरी है। जैनधर्म की शिक्षा से मांसाहार की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को सयमित किया जा सकता है।

☐ नर और नारी के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे मे भी हमने महाराज से चर्चा की और अपने मन की जिज्ञासा को उनके सामने प्रस्तुत करते हुए कहा—महाराज! आज के जीवन मे नर-नारी के पारस्परिक सम्बन्धो में जो एक परिवर्तन आता जा रहा है, उस परिवर्तन को देखते हुए हम आपसे कुछ पूछना चाहते हैं। मध्यकाल के संतों ने नारी को मोह-माया का बधन माना है। उसे सिद्धि-मार्ग की बाधा कहा है। आपके विचार से नारी सिद्धि-मार्ग की बाधा है अथवा उसकी प्रेरक शक्ति?

महाराज ने अपनी सहज शांत मुद्रा में उत्तर देते हुए कहा—बात यह है, नारी बन्धन के लिए कारण भी है और बन्धन के लिए कारण नहीं भी है। पुरुष को जन्म देने वाली नारी ही है। महापुरुषो को जन्म देने वाली नारी है। वह बाधा नही है। पति-पत्नी गाड़ी के दो पहियों के समान हैं, दोनो से मिलकर गाड़ी चलती है। यदि एक पहिया न हो तो गाडी नही चल सकती। एक पहिया नष्ट हो जाए तो मोक्ष-मार्ग नष्ट हो जाए। यह एक परम्परा है जो अनादि काल से चली आ रही है।

महाराज ने नर-नारी को एक-दूसरे का पूरक स्वीकार करते हुए यह भी कहा—यदि नारी मे नारी के गुण नहीं हैं और पुरुष मे पुरुष के गुण नही हैं, तो वे दोनो ही बाधक हैं। इस प्रकार वह (नारी) बन्धन भी है, अबन्धन भी है।

☐ यदि पुरुष के जीवन में नारी का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है, तो फिर समाज मे उसकी स्थिति कैसी होनी चाहिए ?—मैंने अपनी जिज्ञासा को महाराज के समक्ष अभिव्यक्त करते हुए कहा। अनेक परिवारो मे नारी का मान-सम्मान उसके गुणों के कारण नही, अपितु उसके माता-पिता के द्वारा दिए गए दहेज के कारण होता है। दहेज आज के समाज की एक ऐसी बुराई है, एक ऐसा अभिशाप है, जिसके कारण आज अनेक कुलवधुएँ प्रताड़ित हो रही हैं। इस सामाजिक अभिशाप से हम कैसे मुक्त हो सकते हैं ?

बात यह है कि यह प्रश्न नारी के प्रति नही है। नारी का इसमे कोई दोष नहीं है।—महाराज ने कहा, और फिर अपने विचारो को वाणी प्रदान करते हुए वे बोले—इसमे माता-पिता, जन्म देने वालों का दोष है, जिन्होंने विवाह को भी एक व्यापार बना लिया है। लोग विवाह करते समय पैसा लेते हैं। दो-चार महीने लडकी को अपने पास रखते हैं। फिर कहते हैं—और पैसा लाओ। लडकी का पिता अपनी बेटी की शादी के लिए अपना घर बार तक बेच देता है। वह और पैसा कहां से लाए। कभी-कभी पैसे के लिए एक व्यक्ति कई-कई बार शादी करता है। इसका मूल कारण है—लोभ। इसमे कन्या का क्या दोष ? कई बार लडकी के माता-पिता भी अपनी बेटी का विवाह करते समय यह नही सोचते कि मेरी कन्या का क्या होगा ? उसे सुख मिलेगा ? नही मिलेगा ? वे सोचते हैं कि लडकी के हाथ किसी प्रकार से पीले हो जाएँ। लड़की बेचारी तो गाय है। जहाँ भेजो, चली जाती है।

हमने स्पष्ट लक्षित किया कि इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महाराज की वाणी किंचित् तीक्ष्ण, करुणार्द्र एवं व्यंग्यपूर्ण था। अपने हृदय की करुणा को अभिव्यक्त करते हुए उन्होंने कहा—पहले जमाना था, जब लोग सोचते थे कि लड़का कैसा होना चाहिए ? लड़का पढ़ा-लिखा होना चाहिए। गुणवान् होना चाहिए। धर्म-कर्म वाला होना चाहिए। लड़के-लडकी का सयोग ऐसा हो कि जिससे दोनो को सुख-शांति मिले। लेकिन अब जमाना बदल गया है। आज लड़की यदि पढ़ी-लिखी है, बी० ए० पास है, तो वह सास-ससुर की सेवा नहीं करती। वह सोचती है, मै पढ़ी-लिखी हू। मैं इतना धन लेकर आई हू। मैं न तो सास का पाँव दबा सकती हू, न साड़ी धो सकती हूं। आज सभी को गाडी चाहिए, टी० वी० चाहिए। तब यह बताओ कि वह लड़की इस ससार मे क्या धर्म करेगी ? कभी मदिर जाएगी ? धर्म-शास्त्र पढेगी ? सेवा करेगी ? दान करेगी ? क्या करेगी ? बताओ। क्योकि आज घर मे सस्कार ही नही है। घर वालो ने विचार ही नही किया कि हमारे घर मे धार्मिक सस्कार होने चाहिए, जैन धर्म के सस्कार न होने के कारण ही यह सब कुछ हो रहा है। अब कैसे कल्याण होगा ? आज कितने लोग पूजा करते है ? मदिर जाते हैं ? शास्त्र पढते है ? इस बुराई को मिटाने के लिए, इस सामाजिक अभिशाप से मुक्त होने के लिए सत्साहित्य का प्रचार आवश्यक है।

☐ महाराज ! आप अन्तर्यामी है। हम ससारी प्राणियो के भावो-अनुभावो को बनाने वाले है। आज का इंसान दुनियादारी और भौतिकता मे उलझकर अपने आपको भूल गया है। मैं कौन हू ? कहा से आया हूं ? कहा जाना है ? मेरे जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या है ?—इन प्रश्नो पर विचार करने के लिए आज के इसान के पास समय ही नही है। मानव-जीवन के इन सभी सवालों का जवाब प्राप्त करने के लिए तथा वर्तमान जीवन की समस्याओं का समाधान पाने के लिए हम आपकी शरण मे आए हैं। कल हमने नारी-जीवन की कुछ समस्याओ के बारे मे चर्चा की थी, कि नारी सिद्धि-मार्ग की बाधा है अथवा प्रेरक शक्ति ? आज हम आपसे युवा वर्ग की कुछ समस्याओ के बारे मे चर्चा करना चाहते हैं। आज हमारे स्कूलो मे जो शिक्षा दी जाती है, उससे भौतिक विज्ञान का प्रकाश तो प्राप्त होता है, परन्तु आत्मिक ज्ञान की शीतलता प्राप्त नही होती। आप आधुनिक शिक्षा-प्रणाली मे किस प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव करते हैं ?

प्रश्न बड़ा अच्छा है। बात यह है, भगवान् महावीर की वाणी को और उनके परम्परा-मार्ग को जिन्होंने समझ लिया, उन्होंने अपने जीवन को सार्थक बना लिया। भगवान् महावीर ने यह विचार किया और कहा कि हे अज्ञानी प्राणियो ! तुम जिस सुख के मार्ग मे भटक रहे हो, वह सुख का मार्ग नहीं, दुःख का मार्ग है। यदि सुखमय मार्ग चाहते हो तो हमारे पास आओ, सुनो। भगवान् महावीर ने

सुख का मार्ग जानने के लिए, उसे समझाने के लिए स्वयं अपना राजपाट छोड़ दिया। उन्होंने सोचा कि अगर मेरे पास कुछ रहेगा, मैं कुछ रखूंगा तो दूसरों पर मेरे उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ेगा। दुःख का मूल कारण भी यही है। परिग्रह मे पड़ा हुआ जीव कभी भी आत्मिक सुख को नही पा सकता।

महाराज के प्रवचन का स्पष्ट अभिप्राय यही था कि वही शिक्षा श्रेष्ठ है जो इन्सान की परिग्रह भावना को संयमित कर सके। शिक्षको का आचरण भी स्वयं एक आदर्श के रूप मे होना चाहिए। इस संदर्भ मे महाराज ने यह भी कहा कि शिक्षा की व्यवस्था समाज द्वारा होनी चाहिए। धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था भी होनी चाहिए। गरीबो के लिए शिक्षा का उचित प्रबंध होना चाहिए।

□ इस भेंट-वार्त्ता की समाप्ति से पूर्व मैंने सहज जिज्ञासावश आचार्यश्री से पूछा— "महाराज ! प्रत्येक सत्य शाश्वत प्रतीत होते हुए भी युगानुसार परिवर्तनशील होता है। आधुनिक युग के वातावरण एवं समस्याओं को ध्यान मे रखते हुए क्या आप जैन धर्म के मूल सिद्धांतो मे किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता महसूस करते हैं ?

महाराज ने जैन-धर्म के सुदृढ़ आधार की ओर संकेत करते हुए कहा कि समय परिवर्तनशील है, परन्तु सत्य कभी नष्ट नही होता। जैन-सिद्धान्त शाश्वत हैं। ये सर्वव्यापक हैं। जैन-धर्म सामजस्यपूर्ण है। वह अनेकात मे है।

□ □ □ □

प्रस्तुत भेंट-वार्त्ता एक सुनिश्चित कार्यक्रम के अनुसार तीन दिनो तक चलती रही। इस भेंट-वार्त्ता के अन्तर्गत हमने वर्तमान जीवन की अनेक समस्याओं को आचार्यश्री के सामने प्रस्तुत करते हुए उनका समाधान प्राप्त किया। यह भेंट-वार्त्ता व्यक्तिगत होते हुए भी सार्वजनिक थी। एक विशाल जन-समुदाय की उपस्थिति मे मैंने महाराज के सामने विविध प्रश्न प्रस्तुत किए और उन्होंने उपदेशात्मक शैली में उन सभी प्रश्नों के संतुलित उत्तर दिए। महाराज की अमृतवाणी को सुनकर उपस्थित श्रोताओ को अलौकिक सुख-संतोष प्राप्त हुआ।

इस भेंट-वार्त्ता मे अभिनन्दन-ग्रन्थ समिति के महामंत्री श्री सुमतप्रसाद जैन प्रधान सम्पादक एवं हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि-मनीषी डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त, अभिनन्दन ग्रन्थ के सम्पादन से सम्बद्ध डॉ० वीणा गुप्ता, डॉ० मोहन चन्द, श्री विशनस्वरूप रुस्तगी, वैद्यराज प्रेमचन्द जैन ने भी सक्रिय भाग लेकर इसे सार्थकता प्रदान की।

भेंट-वार्त्ता के अन्त मे उपस्थित जन-समुदाय की ओर से महाराज के प्रति आभार प्रकट करते हुए मैंने कहा कि महाराज, आप ज्ञानी पुरुष हैं। इसीलिए आधुनिक जीवन की समस्याओ को लेकर हम आपके पास आए और आपकी वात्सल्यमयी वाणी के माध्यम से उन समस्याओ का समाधान प्राप्त किया। तीन दिनो के इस वार्त्तालाप से हमे अपने मन की अनेक उलझनो को सुलझाने का अवसर प्राप्त हुआ। हमारी दृढ आकाक्षा है कि आपकी यह मंगलमयी वाणी आने वाले युग-युगो तक ससार के प्राणियों के मन में गूंजती रहे। आपकी इस वाणी को सुनकर सभी प्राणियों के मन का अंधकार दूर हो और सारे संसार मे लोकमंगल की भावना का प्रसार हो।

महाराज ने आशीर्वाद दिया तथा उपस्थित जन-समुदाय द्वारा किए गए जय-जयकार के मधुर नाद के साथ यह भेंट-वार्त्ता सम्पन्न हुई। □

रसवन्तिका
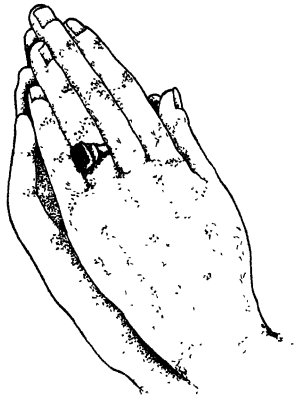
अध्यात्म-पुरुष

— डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त

अध्यात्म-पुरुष,
हे वीत-राग !
मानव की ऊर्ध्वमुखी चेतनता के प्रतीक !
हे आत्मजयी, उपसर्ग-विजेता, निर्विकार !
तुमको पाकर केवल कोथलपुर नहीं—
विश्व यह धन्य हुआ !

हे अमृत-कलश !
युग-श्रेष्ठ, तपी !
तुमको काया का मोह न बिल्कुल छू पाया !
आतप, वर्षा, झञ्झा में विचलित हुए नहीं,
दिक् को तुमने अम्बर माना !
हे दिगम्बरत्व की चरम साधना के ललाट ! !

तुम जिन-वाणी के सार्थवाह !
तुमने संस्कृति का सदा-सदा के लिए लिखा,
निर्माण किया !
पर्वत-पर्वत पर भव्य सातिशय प्रतिमाएं स्थापित कर दी !
जो ग्रन्थ समय के काल-चक्र में विस्मृत थे—
अपने चिन्तन की गरिमा से तुमने उनका सस्पर्श किया !

हे धर्म-ध्वजी !
तुमने विहार, या संघ या कि चातुर्मासों में
इस भारत-भू के श्रमणों को दिव्यामृत उपदेश दिया।
जिसने भी उसको सुना—
उसी को शान्ति मिली !
उसको बस ऐसा लगा—
कि जैसे तीर्थराज के तट पर आकर,
पाप शमन कर डाले हों !
हे समता के आदर्श,
समन्वय के साधक !
हे शांति-दूत, हे धर्म-प्राण !
केवल भारत ही नहीं—
विदेशों के अनेक श्रावक भी तुमसे—
शास्त्रों की चर्चा सुन कर नत-शीश हुए !
धर्मों के, और विभिन्न मतों या पंथों के प्रेरक आए—
मानवता का कल्याण सभी का लक्ष्य,
मगर, उन सबने भी,
हे समता के प्रतिरूप !
तुम्ही से दिशा और संकेत लिया !
इसीलिए दिल्ली की जनता ने तुमको —
'आचार्य-रत्न' की पदवी ही दे डाली थी ! !

ज्यों पारस को छू कर लोहा सोना बनता,
बस, उसी तरह -
हे कामजयी ! युग-कल्याणी !
जिसको भी तुमने शरण लिया,
वह कोलाहल से भरी जिन्दगी में,
वैभव को तिनके जैसा समझ—
यहीं पर मुक्त हुआ !
सब परिग्रहों को छोड़
आत्मचिन्तन में लीन हुआ सहसा ! !

हे मूर्तिमान् तप ! आत्मजयी !
करुणा के पुंजीभूत स्रोत !
निर्ग्रन्थ ! अहिंसा के साधक ! !
केवल मेरा ही नहीं, सभी का—
तव चरणों में है वन्दन !
ये चरण आस्था के प्रतीक !
हे वन्दनीय !
स्वीकार करो यह अभिनन्दन !
स्वीकार करो यह अभिनन्दन ! !

□

इन्द्रियजयी श्री देशभूषण जी

—सुमत प्रसाद जैन

इन्द्रियजयी
आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी
आप,
तपोमंडित
वैभव सम्पन्न
उर्वर भारतवर्ष की
अध्यात्म विद्या के
गौरवपुरुष हो !
क्योंकि
आपने
स्वानुभूतियों के अर्घ्यदान से
जन्म और मृत्यु के चक्र में
परिभ्रमण करती हुई
अजर, अमर
अनश्वर
सनातन आत्मा से
साक्षात्कार कर
प्रकाश के अखंड साम्राज्य में
प्रवेश कर लिया है !

प्रभापुंज !
आपने अपने दिव्य आलोक से
मेरे युग की शापित
बदनाम
भौतिकता से ग्रस्त
वासनाजन्य संस्कृति के
दग्ध भाल पर
अमर शान्ति का
आत्मजयी
महाकाव्य लिख दिया है !

आचार्य श्री,
आप,
मेरी समाराधना के
आराध्यपुरुष हो !
आपने
दासता के दैत्याकार पंजों में सिसकते,
सर्वथा उपेक्षित,
दक्षिण भारत के एक अनाम ग्राम—
कोथलपुर में
जन्म लेकर
अपने परम पौरुष,
स्व साधना से उद्भूत,
भेद विज्ञान की सांस्कृतिक शलाका से
तोड़ दिए युग-युग के बन्धन !
हे शताब्दियों की समर्पित साधना के प्रतिफल !
देहधारी होकर भी,
सर्वथा विरक्त !
अनासक्त !!
आत्मस्थ !!! □

क्षितिज से उभरा सूरज

—डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त

पूर्वजन्मों के संचित पुण्य
जब भी छूते हैं शिखर
कोई एक दिव्यात्मा
पवित्र करती है धरा को !

बसन्त-सी मधुसिक्त
और व्याप्त बरगद-सी
उभरती है शून्य में
सिद्धान्त की छाया,
घनसार-सी गन्धयुक्त
पतझड़ से मुक्त
निष्काम काया !

उद्वेग नही होते
शख ध्वनित चिन्तन में
ध्वनियाँ उठाता
सामंजस्य संगीत-सा
झुकता नही कभी भी
विवश स्रोत-सा !

कही तो वैदिक ऋचा-सा
शान्त होता मन
कभी गंगा के जल में
डुबकी लगाते है वे,
बुद्ध हों या महावीर
अथवा, नानक और गांधी
कभी गुजरे थे सभी
बावड़ी के किनारे से,
आत्मचेता उन्होंने
दिशा दी उद्भ्रान्त मन को !

ऐसे ही सन्त हैं—
आचार्य-प्रवर देशभूषण
समाज के शिरोमणि
सम्राट् प्रतीकों के
जैसे गहन धुंध चीर
प्रकटा हो सूरज
भरने को प्राण-ज्योति
अद्भुत प्रशान्ति में ! □

हे सरस्वती पुत्र

—डॉ० उदयचन्द्र जैन

हे सरस्वती पुत्र !
तुम्हें शत-शत प्रणाम !!
अध्यात्म ज्ञान की नौका से
तुमने भव-जन को तारा है !
तुम हुए आत्म में लीन
सहज सौम्य दृष्टि से
जग की चिन्ता को
दिया शीघ्र ही
मुक्तिबोध का नारा है !

तुम बने देश के भूषण
श्रमण संस्कृति के रथ पर
तुम आरूढ़ हुए !
सत्य-अहिंसा की दृष्टि को
सूक्ष्मभाव से दर्शाया
तुमसे मानव को राह मिली
सत्पथ को उसने अपनाया !! □

स्तुति पंचक

—डॉ० योगेन्द्रनाथ शर्मा 'अरुण'

देकर ज्ञानामृत जगती को,
तमस्-गरल का नाश किया!
हे ज्ञान-रत्न! तुमने जग को,
जैनत्व का दिव्य प्रकाश दिया!!

शमित हुई मन की शंकाएं,
धर्म का दीप जलाया ऐसा!
भटका मानव सभला जिससे,
कर्म का गीत सुनाया ऐसा!!

भूल हुई जब भी जिससे भी,
क्षमा उसे तत्काल किया!
दया का मंत्र सिखा मानव को,
उसका हृदय विशाल किया!!

षट्-दर्शन का सार सजोकर,
निज वाणी मे साकार किया!
तुम जैन-धर्म के सूर्य बने,
ज्योति का नव उपहार दिया!!

नव ज्योति मिली जग को तुमसे,
सादर अर्पित शत-शत वन्दन!
इस 'देश' के हे सच्चे 'भूषण'
स्वीकारो मेरा अभिनन्दन!! □

हे भारत के संत तेजस्वी

—जयप्रकाश 'जय'

हे गौरव पुरुष,
तव जन्मदिवस पर अभिनन्दन!
तुम आत्मजयी
तुम दीन-दुखी के रहे मीत,
जन-जन को प्यार दिया तुमने
हे चरित्रवान!
तुमने किया मानवजाति कल्याण।
जिसने भी सुना उपदेश
किया उसने नव चरित्रनिर्माण।
तुम भक्ति-साहित्य पुजारी हो!

हे महापुरुष,
तुम हो महान्
हे शांति दूत, आदर्शवान्
हे सम्पूर्ण भारत के पद-यात्री,
हे परम वन्दनीय तपस्वी।
तुम सुर-सरि हो
तुम सूरज हो,
हे भारत के संत तेजस्वी! □
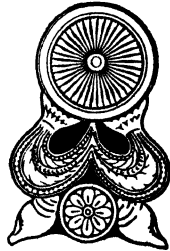
धन्य देश वह

—डा० कस्तूरचन्द्र 'सुमन'

अविरल बहती जहां गग-सी सतों की परिपाटी।
धन्य देश वह, धन्य सभ्यता, धन्य वहाँ की माटी ॥

श्रमण सभ्यता के उन्नायक धर्म-प्राण जो भू पर,
परम पूज्य आचार्य रत्न श्री सत कंत जो मुनिवर।
सार्थक नाम देशभूषण जो भारतीय अध्येता,
योगी अनासक्त वर चिन्तन जिनका उनके नेता।

वीतरागतामयी सुपथ को मूर्तिमती जो घाटी!
जिन्हे प्राप्त कर धन्य हुई है भारत भू की माटी!!

ग्राम कोथली, बेलगाव कर्नाटक भू है बाकी,
जहाँ अवतरी सत प्रवर की अनुपम जीवन झाकी।
उपदेशामृत से बरसायो शान्ति सुधारस वर्षा,
मात्र नही मानव, हर प्राणी जिनसे भू पर हर्षा ॥

दुख-सुख-गेंद खिलाड़ी यतिवर ले निस्पृहता हाकी!
खेल रहे, पा रहे विजय तुम ही हे! शिव-पथ बाटी!!

आर्य जगत् की परम विभूति बहुभाषा विज्ञेता,
साधु दिगम्बर धर्मस्नेही, हे उपसर्ग विजेता।
निस्पृह साधु, सभ्यता प्रेमी, धन्य-धन्य है चिंतन,
महापुरुष हे महातपस्वी, तुम हो पाप-निकंदन ॥

जैनधर्म की विजय पताका लहराने को लाठी!
जग-बन्धन की कर्म-शृंखला जिसने तप से काटी!!

महामनीषी बालब्रह्मचारी का हो अभिनन्दन,
जिनके चरण युगल में जगती करती नित प्रति वन्दन।
वाणी जिनकी परमहितैषी ज्यो हितकारी चन्दन,
लगते हैं गुरु ऐसे मानो हैं जिनेन्द्र लघुनन्दन ॥

श्रद्धा-सुमन' समर्पित मेरे, हे! आगम के पाठी!
शत-शत नमन धर्म हित जिनके जीवन की परिपाटी!! □

परमहंस आचार्यरत्न को शत-शत बार प्रणाम

—कल्याण कुमार जैन 'शशि'

मुनि पद की गरिमा का ध्वज, फहराया चारों ओर,
वर्तमान युग में उत्तम तप-निष्ठा के सिरमौर।
मुनि-पद्धति के संरक्षण में, रहे नितान्त कठोर,
नग्न दिगम्बरता के जग में, यश का ओर न छोर॥

चरण जहाँ भी पड़े, बन गया जंगल-मंगल धाम !
परमहंस, आचार्यरत्न को, शत-शत बार प्रणाम॥

स्याद्वाद का, अनेकान्त का, किया पुनीत प्रसार,
शिथिलाचरण नई पीढ़ी को, दिये नवीन विचार।
खण्डहर बनते जिन तीर्थों के, किया जीर्ण-उद्धार,
पथभ्रष्टों में भरे धर्म के चारित्रिक संस्कार॥

अगनित विद्या-केन्द्र, गहनतम प्रतिभा के परिणाम !
रात-दिवस अध्यात्म प्रगति में कहीं न रञ्च-विराम॥

रिक्त-क्षेत्र को विविध रूप में, मिला मूर्ति का रूप,
बना खानिया, चूलगिरी, चिरवन्दनीय-चिद्रूप।
पधरा दिये अयोध्या में, आदीश्वर आदि-स्वरूप,
क्षेत्र-क्षेत्र में केतु उड़ाते, मन्दिर मानस्तूप॥

सरस्वती के पुत्र विलक्षण, चूड़ामणि सरनाम !
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित, करते मन में विश्राम॥

मुनियों की गत परम्परा के बरगद-वृक्ष विशाल,
जिज्ञासाओं के संरक्षक, विध्वंसक भ्रम-जाल।
पूर्वाचार्य प्रणीत धर्म की ज्योतिर्मान मशाल,
धर्म-प्राण, प्रेरणा स्रोत, अभिनन्दनीय चिरकाल॥

बाल ब्रह्मचारी व्रतधारी, निर्विवाद निष्काम !
अगणित, अन्तरहित हैं सक्रिय, रचनात्मक आयाम !! □

हे तपोरत्न! भारत-भूषण!
अर्पित जग का शत अभिनन्दन!!

—नेमिचन्द्र जैन 'विनम्र'

उस ग्राम कोथली माटी को,
हम करते शत-शत नमस्कार ।
उसने ही लाल दिया अनुपम,
जिससे ज्योतित हैं दिशा द्वार ।।
उन मात-पिता के चरणों मे,
हम अपना माथा टेक रहे ।
जिनकी आंखों के तारे ने,
परिषह आतम-हित हेतु सहे ।।
उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम,
करती अगणित जनता वन्दन ।
हे तपोरत्न, भारत-भूषण,
अर्पित जग का शत अभिनन्दन! !

यह पुण्य प्रताप तुम्हारा ही,
जिससे जिनधर्मी-ज्योति जली ।
घर-घर हो शिक्षा का प्रसार,
यह चाह हृदय में सदा पली ।।
दर्शन, चारित्र, ज्ञान से ही,
तुमको समाज ने रत्न कहा ।
तुम जहा-जहां पर पग धरते,
उस जगह धर्म का सिन्धु बहा ।।
वाणी में तेज अलौकिक है,
समता, शुचिता का पूर्ण मिलन! !
हे तपारत्न, भारत-भूषण,
अर्पित जग का शत अभिनन्दन!

तुमने समाज-उद्धार किया,
दे दिया धर्म-अमृत प्याला ।
है यह समाज चिर ऋणी, अहो,
आदेशों को झुक-झुक पाला ।।
तुममें हैं दोनों मूर्त रूप,
आचार्य शान्तिसागर का तप ।

है विद्यमान वर्णी जी की,
परिणाम सरलता-निधि अनूप ।।
है यही भावना हम सबकी,
हो प्राप्त तुम्हें शतयुग जीवन !
हे तपोरत्न, भारत-भूषण,
अर्पित जग का शत अभिनन्दन !!

यह जो जोवन का पुष्प खिला,
उसकी सुगन्ध से सुरभित नभ ।
धरती का ओर छोर महका,
जल की लहरों पर भी वैभव ।।
जो आप सदृश मुनिरत्न मिले,
हैं धन्यभाग, ये गूंजे स्वर ।
युग-युग की घोर साधना से,
युग-पुरुष जन्म लेता भू पर ।।
चरणों में करते नमन सभी,
जिनवाणी का करके गुंजन! !
हे तपोरत्न, भारत-भूषण,
अर्पित जग का शत अभिनन्दन!!

□

अभिनन्दन

(महाराज श्री के बुन्देलखण्ड आगमन पर)

—डा० कैलाश कमल

जैनदिगम्बर मुनी संघ के महाचार्य अभिनन्दन है।
बुन्देलखण्ड की पावन माटी, तुम्हे लगाती चन्दन है।।

अम्बर, धरती हुए प्रफुल्लित, जन-जन भाव-विभोर हुआ।
तम से आच्छादित रजनी में, जैसे स्वर्णिम भोर हुआ।।
बुन्देलों की भूमि सुकौशल, जनपद की गौरव गाथा।
परम तपस्वी मुनी जनों को, सदा नवाती है माथा।।

नवलशाह से ग्रन्थकार का, हर कण कण में गुञ्जन है।
बुन्देलखण्ड की पावन माटी, तुम्हे लगाती चन्दन है।।

बाल ब्रह्मचारी, मुनि नायक, परम तपेश्वर हितकारी।
परमहंस, ज्ञाता, दृष्टा, निर्ग्रन्थ, दिगम्बर, व्रतधारी।।
श्री देशभूषण युग मानव, सत्गुरु, आत्म प्रकाशी हैं।
रोग, सोग, उद्वेग, भवभ्रमण, अष्ट कर्म अविनाशी हैं।।

जिनके दर्शन मात्र से मिटता, भवभव का बंधन है।
बुन्देलखण्ड की पावन माटी, तुम्हे लगाती चन्दन है।।

जब जब क्रूर, कुकर्मी, दुष्ट के, भूपर अतिचार हुये।
तब तब सत्य, अहिंसा रक्षक, होते है अवतार नये।।
चातुर्वणी स्वयं तीर्थ बन, कण कण रूप अनूप किया।
शान्ति गिरी और चूल गिरी को, नये तीर्थ का रूप दिया।।

जैनागम से कर्मशत्रु का तुमने कर दिया भञ्जन है।
बुन्देलखण्ड की पावन माटी, तुम्हें लगाती चन्दन है।।

संघचालिका शकुन्तला, मुनिवर, क्षुल्लक, प्रतिमाधारी।
संघ सहित है नमन सभी को, कृपा करो शिवमगचारी।।
धन्य धन्य शुभ घड़ी, तुच्छ यह अभिनन्दन स्वीकार करें।
भक्तगणों को भविष्य में फिर, दर्शन दे उपकार करें।।

नवधा भक्ति से चरण 'कमल' का नतमस्तक वन्दन है।
बुन्देलखण्ड की पावन माटी, तुम्हें लगाती चन्दन है।। □

अभिनन्दन

—आर्यिका अभयमती जी

आचार्य देशभूषण गुरुवर तुमको है मेरा अभिनन्दन।
गुण गाऊँ नित प्रति चरणों में, शत-शत वदन शत-शत वंदन।

शुभ पिता नाम है सत्यगौड़ माता देवी अक्काताई।
तुम ग्राम कोथली में जन्मे, सब हर्षित हों पुरजन भाई।
है प्रान्त सुकर्नाटक महान, हो धन्य-धन्य जनमन-रंजन।

शुभ बचपन नाम सुबालगौड़, तुम पूर्णचन्द्र सम सुखकारी।
हो बाल ब्रह्मचारी महान, तुम कुशल कलायुत मनहारी।
यौवन में तुमने जीत लिया, कर कामदेव का मदमर्दन।

जब मात-पिता ने ब्याह रचा, तुमने सचमुच इंकार किया।
ली भरी जवानी में दीक्षा, आतम से नाता जोड़ लिया।
असिधारा व्रत का पालन कर, ले ब्रह्मचर्य व्रत आजीवन।

आचार्य श्री जयकीर्ति हुए दीक्षा गुरु तुमरे हे महान्।
गुरुवर के चरणों में रहकर, शिक्षा लेकर, हो बुद्धिमान।
शिवमार्ग प्रदर्शक गुरु हित दर्शक, भव भयहारी दुख भंजन।

चारित्र रूप रथ पर चढ़कर, जिनधर्म का डंका बजा दिया।
जिन-सत्य, अहिंसा, अनेकांत, वाणी द्वारा प्रचार किया।
दो "अभयमती" को आशिष, हे गुरु शत वदन, शत-शत वंदन।

कोटि-कोटि प्रणाम

—विमलकुमार जैन सोंरया

जो अर्हंत दिगम्बर मुद्रा का लेकर उपहार।
जिसने अपनी ज्ञान ज्योति से किया जगत-उपकार।
सम्यकता का अलंकरण जिसके अन्तस् में छाया।
और साधना से साधकता का पद जिसने पाया।
क्षमा हृदय मार्दव मन जिसका सत्य स्वयं के साथ।
आर्जव अन्तस् बना शौच का बाना जिसके पास।
संयम की सुगन्ध है जिसमें तप का तेज प्रकाश।
और त्याग की ऊँचाई पर है जिसका विश्वास।
आत्म-साधना में रत जिसका ब्रह्मचर्य भगवान्।
ऐसे सन्त शिरोमणि के चरणों में कोटि प्रणाम।

स्तवन

—[illegible]

विमलकीर्ति श्रमणेन्दु जितेन्द्रिय,
अमित ओज प्रज्ञामय नन्दन।
वन्दनीय सिद्धान्तमिद्ध श्रुत,
प्राचेतस् उद्बोधन स्यन्दन॥
दर्शनज्ञानचरित्रपयोनिधि,
उर्ध्वग सुमन सुशील सुवन्दन।
संघरत्न निःसंग तपोनिधि,
यतिवर देशभूषण अभिनन्दन !!

बहुश्रुत व्रती शीलमणि शीतल,
त्रिविधतापहर सुमतिशृङ्गधर।
परम अकिञ्चन दिव्य दिगम्बर,
प्रीतिपुण्य प्रतिमाधर शंकर॥
प्रखर प्रवीर्य प्रवीण प्रशीतक,
मलयमेरु रत्नाकर चन्दन।
श्रद्धापुञ्ज विनयमहिमामय,
त्राता देशभूषण अभिनन्दन !!

चरम तितिक्षु भिक्षु भावमय,
सार्थक समय सुचारु प्रवाचक।
पारमिता के सुफल धाम सित,
सुष्ठु सुधीर वेद्य आराधक॥
ज्योतिपुरुष कालज्ञ कामजित,
तपःपूत शत-शत अभिवन्दन।
मृदुल मनोहर जिनपथसज्ञक,
आप्त देशभूषण अभिनन्दन !!

ऋत चित् के धारक प्रतिपादक,
चिरप्रबुद्ध प्रतिमान शरीरी।
योगनिष्ठ योगाग्निदीप्तिधर,
सिद्धामन ऋषि सेतु अभीरी॥
आर्जवशील अजातशत्रु विभु,
महामनस्वी जनमननन्दन।
पुरुषसिंह वृषभानु अजरमति,
आर्य देशभूषण अभिनन्दन !!

नादबिन्दुधारी उद्धारक,
मणिधर प्रजापिता योगेश्वर।
कुशल-क्षेम के कल्पवृक्ष ऋतु,
आर्ष अमर्ष हृष्ट परमेश्वर॥
विद्याधर प्रशान्त समाधी,
गणनायक गोप्ता माध्यन्दन।
अपरामृष्ट क्लेशकर्मजित्,
अमर देशभूषण अभिनन्दन !!

पार्थिव अखिल कषायविजेता,
निमिषार्धज्ञ करुणार्णव द्रष्टा।
आशुतोष वरदायक कल्पी,
ज्ञाता दाता संवृत स्रष्टा॥
शौचक्षमा सन्तोषत्यागधन,
शान्त दान्त निष्ठामय वन्दन।
आर्तिभञ्ज जीवन पीयूषघन,
ईश देशभूषण अभिनन्दन !!

करपात्री पदचर श्रद्धाभुक्,
दिग्गज ब्रह्मचित्त अविकारी।
वातरशन वातायन वैभव,
अविचल गतिमय अघमलहारी॥
तीर्थङ्करद्युति दिव्य प्रकीर्णक,
क्षितितलभूषण दीक्षानन्दन।
दिङ्‍वर हंस विवेकी वाग्भव,
श्रीश देशभूषण अभिनन्दन !!

धन्य संघ, धन्या तव जननी,
धन्य काल, धन्या यह धरणी।
श्रावक धन्य, धन्य सम्भावक,
धन्य भाग्य, धन्या जनसरणी॥
धन्य भारती, धन्य भरतभू,
धरा बनी यह सुर-वन नन्दन।
पा तुम-सा आचार्य मनीषी,
शत-शत वन्दन, शत अभिनन्दन !! □

कर रहा विश्व वन्दन है

—शर्मन लाल जैन "सरस"

बेनगांव जनपद का, कोथलपुर निकला बड़भागी,
जिसकी रज में खेला कूदा हो, ऐसा बैरागी ।
सत्यदेव, माँ अक्कावती का, अखिल विश्व आभारी,
जिनने जाया बालगोडसा, परम बाल ब्रह्मचारी ।।

जो हर रहा आज हँस करके, कण-कण का क्रंदन है ।
उन्हीं देशभूषण जी का, कर रहा विश्व वंदन है ।।

क्यों न करें जो निराधार, बहते को तीर बना हो,
अखिल विश्व की पीड़ा हरने, जा भव पीर बना हो ।
रागद्वेष के हनन हेतु, संयम शमशीर बना हो,
चलते-फिरते महावीर की, जो तस्वीर बना हो ।।

दीख रहा है कुंद-कुंद का, अब जिनमें कुंदन है ।
उन्हीं देशभूषण जी का, कर रहा विश्व वंदन है ।।

जिनके द्वारा जैन संस्कृति में नवजीवन आया,
मुस्लिम युग में मुनि मार्ग को, जिसने अग्र बढ़ाया ।
जिनने अपनी आत्म ज्योति से, भू का तिमिर हटाया,
बाधाओं ने जिन्हें बाध्य होकर के शीश झुकाया ।।

आज जहाँ में जहाँ देखिए, यही कहे नंदन है ।
उन्ही देशभूषण जी का, कर रहा विश्व वंदन है ।।

जब तक भारत की धरती पर, ऐसे संत रहेंगे,
गीता वेद पुराण सभी के, जीविन मंत्र रहेंगे ।
जहाँ 'सरस' इनकी वाणी से, शिव के स्रोत बहेंगे,
वहाँ एक दो नहीं, अरे, सौ-सौ साकेत रहेंगे ।।

ऐसे कामजयी ही काटें, इस युग का बंधन है ।
उन्हीं देशभूषण जी का, कर रहा विश्व वंदन है ।।

□

हे भविष्य के द्रष्टा

—डॉ० सत्यप्रकाश बजरंग

विश्वधर्म संस्कृति समाज का दीप जलाने वाले।
आदर्शों सिद्धान्तों को निज कार्यरूप में ढाले ॥
दर्शन ज्ञान तत्त्व के ज्ञाता, हे मानव कल्याणी।
संकल्पों में दिव्य हिमालय, धर्म-प्राण जिनवाणी ॥

पाकर मृदुल स्पर्श तुम्हारा, धन्य धरा की माटी।
क्षमा-दया, तप-त्याग, अहिंसा की पाली परिपाटी ॥
संत-हृदय निर्मल गंगा सम, सिद्ध साधना पाई।
विद्वानों की प्रथम-पंक्ति पाकर तुमको हर्षाई ॥

देशरत्न आचार्य देशभूषण सच्चे कर्म-योगी।
तुमने सत्य-समागम द्वारा शुद्ध किये बहु भोगी ॥
अनासक्त योगी बनकर, निर्माण पंथ अपनाया।
भारतीय भाषाओं को रचना से गले मिलाया ॥

तुम साहित्य, समाज, धर्म-धारा के पावन संगम।
जन मानस मन हुआ उल्लसित सुने शब्द अत्युत्तम ॥
ऋषि परम्परा के उन्नायक त्याग तपस्या साधी।
धर्म और अध्यात्म पथ की हर मर्यादा बाँधी ॥

प्रेम और सद्भाव-भावना का प्रकाश फैलाया।
तुमने महावीर वाणी का सही अर्थ समझाया ॥
बिखरी साहित्यिक कड़ियों को निज प्रतिभा से जोड़ा।
मानवता रथ चले निरन्तर रूढ़िवाद को तोड़ा ॥

व्यवधानों के आये पर्वत पिघल गये तप आगे।
मानव-मानव मिले परस्पर द्वेष-भाव सब भागे ॥
हर भाषा में उठा लेखनी सबको प्यार सिखाया।
'एक हृदय हो भारत जननी' का मृदु मंत्र गुंजाया ॥

हे भविष्य के द्रष्टा तुमने युग को था पहिचाना।
सात्विकता साहचर्य भाव का अनुपमेय व्रत ठाना ॥
मूल प्रेरणा दे तीर्थों का जीर्णोद्धार कराया।
सारे ही दुख पीकर पीड़ित मन को सुख पहुँचाया ॥

हे सजीव इतिहास, हमारे मठ-मंदिर उद्धारे।
रात-दिवस गुंजित जिनमें श्री वीरप्रभु जयकारे ॥
ज्ञान-तीर्थ कालेज पुस्तकालय जहाँ गये वहाँ खोले।
धर्म-वाचनालय औषध के दिये रत्न अनमोले ॥

अध्ययन बल से उपदेशों में मर्म अनेक बताये।
भ्रम आवरण हटाकर तुमने जीवन श्रेष्ठ बनाये ॥
सारे ही गुण लिख पाये, सामर्थ्य कहाँ है मेरी।
तुम शीतल चन्दन से सुरभित, मैं चिन्ता की ढेरी ॥

देव तुम्हारे युगल चरण में अर्पित श्रद्धा-माला।
ताकि पा सकूं मैं भी इनसे श्रद्धा-ज्ञान उजाला !! □

वन्दन करता हूं बार-बार

—हजारीलाल 'काका' बुन्देलखंडी

उपसर्गजयी श्री बाहुबली स्वामी को करके नमस्कार।
आचार्य देशभूषण जो का वन्दन करता हूं बार-बार॥
इनके ही एलाचार्य शिष्य श्री विद्यानंद का वन्दन है।
जो विश्व-धर्म के नारों से हर रहे जगत का क्रन्दन हैं॥

बीसवो सदी का समय बन्धु वैज्ञानिक युग कहलाता है।
अब तरह-तरह के यंत्रों से मानव सुख-सुविधा पाता है॥
बढ रहा दिनो-दिन भाग पक्ष, संयम का हाल बेहाल हुआ।
छीना-झपटी संघर्षों का इस युग में नया कमाल हुआ॥

कर्नाटक जनपद बेलगाव में ग्राम कोथली आता है।
इसमें स्वर्गों का एक देव चय कर मानव गति पाता है॥
ज्यों होनहार बिरवानो के हर पात चीकने होते हैं।
बस उसी तरह मानव महान् के काम अनोखे होते हैं॥

यह बालक भी बचपन से ही अनहोने करतब दिखलाता।
जिनदर्शन देवभजन पूजन भक्ती में सभी समय जाता॥
हो जाते घटों ध्यान-मग्न, जग नश्वर है सोचा करते।
वैराग्य भावनायें आकर संयम की ओर चरण धरते॥

अब जैन-धर्म रूपी खराद पर यह हीरा चढ़ जाता है।
जग की माया ममता तज कर आचार्यरत्न बन जाता है॥
आचार्य देशभूषण सचमुच इस युग के सच्चे भूषण हैं।
हैं जैन धर्म के मुकुट और भारत मा के आभूषण है॥

आचार्य शातिसागर जो के इस युग के यही पट्टधर है।
जो उनके सद्उपदेशों को अब भेजा करते घर-घर हैं॥
सौभाग्य आज हम सब का है जो ऐसे गुरुवर पाये हैं।
आपाधापी के इस युग में सन्मार्ग दिखाने आये हैं॥

यह परम विभूति आज जग को मानवता सिखलाने आई।
जो पाप-पंक में डूबे थे अब उन्हें बचाने को आई॥
जग का कोई भी आकर्षण इनको विचलित कर सका नहीं।
लक्ष्मी, गृहलक्ष्मी का बन्धन इन पर प्रभाव कर सका नही॥

यह बालब्रह्मचारी साधु, ज्ञानामृत नित्य पिलाते हैं।
लघु भोजन दिन में एक बार बस खड़े-खड़े हो पाते हैं।।
अमृत के झरने झरते हैं इनकी सारस्वत वाणी में।
उपदेशों से सद्ज्ञान भरा करते जग के हर प्राणी में।।

जंगल में मंगल हो जाता जिस जगह चरण पड़ जाते हैं।
लगता है चौथा काल आप जिस तीरथ पर रुक जाते हैं।।
लिख करके शास्त्र पुराण कई मां सरस्वती भंडार भरा।
इस आकुल-व्याकुल प्राणी में उपदेशों से उत्साह भरा।।

ये पंडित बहु भाषाओं के, अनुवाद अनेकों कर डाले।
तामिल, कन्नड़, संस्कृत, बंगला कुछ गुजराती मे लिख डाले।।
उपसर्ग अनेकों कई बार आये पर यों ही चले गये।
पर ये उपसर्ग-विजेता तब निज आत्मध्यान में लगे रहे।।

निर्माण कार्य तो कई जगह भारत भर मे करवाये हैं।
गाते हैं गौरव-गान तीर्थ ऐसे इतिहास बनाये है।।
तीर्थों के मुकुट अयोध्या में सुन्दर मंदिर बनवाया है।
बत्तिस फिट ऊँची आदिनाथ की प्रतिमा को पधराया है।।

कोल्हापुर का मठ, चूलगिरि में पार्श्वनाथ की छवि प्यारी।
कोथली सरीखे नये-नये क्षेत्रों की रचना कर डाली।।
कालेज और पाठशाला तो जाने कितनी खुलवाई हैं।
औषधालय और धर्मशाला दीनों के हित बनवाई हैं।।

वाचनालय और पुस्तकालय गाते इनकी गौरव गाथा।
यह चमत्कार लख कर इनका झुक जाता जन-जन का माथा।।
व्रत, ज्ञान, ध्यान, तप, संयम तो हरदम इनका पहरा देते।
जो भी इनके दर्शन करता ये सबके पातक हर लेते।।

ऐसे आचार्य देशभूषण जी के चरणों का वन्दन है।
'काका' कवि द्वारा मांग यही, करके वंदन अभिनन्दन है।।
हे प्रभु, धन्य हो जाऊँ मैं, मेरा शुभ दिन कब आयेगा।
जब तव पद चिह्नों पर चल कर यह दीन मोक्षफल पायेगा।। □

अभिनन्दन

—डॉ० शोभनाथ पाठक

आचार्य देशभूषण जी का, अभिनन्दन शतशः वंदन है,
आस्थानुभूति अभिव्यक्ति उन्हीं चरणों में कुंकुम चंदन है।

कोथली गाँव कर्नाटक का, उनसे ही गौरववान् हुआ,
धर्मोपदेश से ही जिनके, भारत में अचल बिहान हुआ।
प्रतिपल ही जैन-जागरण में, जो स्वय समर्पित रहते हैं,
पांचों व्रत अंगीकार किये, अवधूत-त्याग-तप सहते हैं।

शम-दम-व्रत-सयम-सुमनों की फुलवारी उपवन नंदन है,
आचार्य देशभूषण जी का, अभिनंदन शतशः वंदन है।

जिनके पांडित्य प्रखरता की, कोई उपमा-उपमान नहीं,
जो दिव्य दिगम्बर दीक्षा मे कोई है श्रेष्ट समान नहीं।
भारत के कोने-कोने मे, जिनका व्यक्तित्व कृतित्व अमर,
बिखरी है विविध सस्थाएँ जिनमें समष्टि, पांडित्य प्रखर।

मानवता के कल्याण हेतु, जो स्वय समर्पित जीवन है,
आचार्य देशभूषण जी का, अभिनदन शतशः वंदन है।

सैकडों सस्थाएँ जिनके, गौरव की गाथा गाती हैं,
जन-मगल का आह्वान किये, श्रद्धा असीम दिखलाती हैं।
मूर्तियाँ मनोहर बनवाकर, जो प्राण प्रतिष्ठा करवाये,
उन मुनिवर के सद्भावो का हम विहँस-विहँस कर गुण गायें।

उस धर्मध्वजाधारक मुनि के प्रति हर उर में अब स्पन्दन है,
आचार्य देशभूषण जी का, अभिनदन शतशः वंदन है।

हे आलोक-पुरुष

—डॉ० रमेशचन्द आनन्द

हे आलोक-पुरुष !
सम्यग्दर्शन के मूर्त रूप !
तुम्हें शत-शत प्रणाम ।
हे देव ! आचरण के सत्व रूप !
तुमने जग-जीवन के तम को
आलोक किरणों से विदीर्ण कर
जन-मन के नभ मण्डल को
प्रकाशवान कर दिया ;
जड़ता का उच्छेदन कर जड़ से
आकुल जिज्ञासा का समाधान कर
विचारों की गति से, श्रावक जग को
गतिवान कर दिया !

हे पुण्य-पुरुष !
अनन्त-चतुष्टय के सद्भाव
तुम्हें शत-शत प्रणाम ।
आचार्यरत्न ! मानव हितचिन्तक !
स्वनामधन्य ! सर्वज्ञ देव !
तुम वीतराग, हितोपदेशक !
पदार्थ का तुम्हें प्रत्यक्षज्ञान ।
हे तपी ! तप के अनुरागी !
तुम अरहन्त अनुपम महान
सिद्ध-श्रेष्ठ, दिगम्बरत्व प्रतिमान !
युग-युग की साधना सफलीभूत तुम में
करुणा के सागर, त्रिभुवन ललाम !

हे धर्मपुरुष !
संस्कृति के शीतल सुधांशु !
तुम्हें शत-शत प्रणाम ।
हे अणुव्रतों के जीवन्त रूप !
तुमसे अपरिग्रह होता सार्थक !
तुम कालजयी, तुम कामजयी,
हे संचरणशील दिग्विजयी !
बाधाएँ करतीं तुम्हें न विचलित ।
तुम हिमाद्रि के गौरीशंकर
तुम जाह्नवी के पुण्य सलिल !
तुम्हारी ऊँचाइयों को छू पाना असम्भव
तुम्हारा हर पग पावन तीर्थ-थल ।

हे विश्व-पुरुष !
जिन-वाणी के साहित्यकार !
तुम्हें शत-शत प्रणाम ।
हे पावनी वाणी के स्रष्टा !
धर्मामृत के हे उपदेशक !
तुम्हारी वाणी सदा कल्याणी
शब्द-शिल्प के हे साधक !
तुमने उपलब्ध कराया, जो विस्मृत था,
अर्थ दिया उसे जो संश्लिष्ट था
भाषाओं की दीवारों के आर-पार
आवृत भाव जो मूल अभीष्ट था,
वही तुम्हारी वाणी से उजागरित होकर
बना सभी का कण्ठ-हार
जिसने जोड़ा उत्तर-दक्षिण को
जो सेतु बना पूर्व-पश्चिम का
जो बन गया राष्ट्र-अखण्डता का प्रतीक ।

वाणी में जय गूँज उठी तुम्हारी
तुम्हारी वाणी में चिन्तन की गरिमा गूंजी ।
तुमने जो लिखा, सीपी का मोती बन गया,
तुमने जो कहा, बनी राष्ट्र की पूंजी ।
तुमने जो शब्दों की प्रतिमाएँ गढ़ी-संवारीं;
हे वाणी-पुरुष ! उनके चरणों में
मेरी आस्थाओं का वन्दन,
मेरे विश्वासों का प्रणाम !
तुम्हें शत-शत प्रणाम !
हे आलोक पुरुष !
सम्यक् दर्शन के मूर्त रूप !
तुम्हें शत-शत प्रणाम । □

अभिनन्दन होते रहें

—श्री सुव्रत मुनि शास्त्री

वृद्धो में जो वृद्ध है, बालों में बाल।
युवकों में जो युवक हैं, सब को करें निहाल ।।

आयु बीस ही वर्ष में, संयम कर स्वीकार।
अकिञ्चन आप हो गए, लिया धर्म आधार ।।

अलौकिक स्व साधन से, किए नव चमत्कार।
जिससे सर्वत्र गूंजा, जग में जयजयकार ।।

जैसे छिप रहती सदा, पानी में ही मीन।
वैसे आप सदा रहें, स्वाध्याय में विलीन ।।

स्व पर दर्शन बोध किया, मन, वच एक विधाय।
संघ ने योग्य जानकर, सूरी दिया बनाय ।।

कीर्ति फैली आपकी, महक उठा संसार।
दिगम्बर जैन संघ के, आप बने शृंगार ।।

पूज्य आचार्यरत्न श्री, देशभूषण महान।
बहु भाषाविज्ञ निपुण अति, आप बड़े विद्वान ।।

सुव्रत मुनि सुन खुश हुआ, अभिनन्दन की बात।
अभिनन्दन होते रहें, ऐसे दिवा व रात ।।

नेतृत्व तव बना रहे, भू पर वर्ष हजार।
दिन हों इक-इक वर्ष के, पूरे एक हजार ।।

शत-शत अभिनन्दन

—डॉ० सुरेश गौतम

युग-निर्माता, हे महान् संत, तपती जगती का नम्र नमन।
ओ मानवता के कर्णधार, करते तेरा शत-शत वन्दन ।।

आत्मविश्वास के मूर्तिमत, आदर्शों के जीवित स्तूप।
भारत भूमि है धन्य-धन्य, तेरे जैसा यहां तपःपूत ।।

है मानसरोवर पगी देह, आत्मा तेरी है कल्प वृक्ष।
भवमंथन हुआ पूर्ण, तुम पारिजात से अनासक्त ।।

हे युगस्रष्टा, भविष्यद्रष्टा, हे तत्व-ज्ञान के मूर्तिपुंज।
हम फिरे-भटकते वन-वन में, खोजे कितने हो विभिन्न कुंज ।।

चुन-चुन कर लाए हम कोमल, खिलते कितने श्रद्धा-सुमन।
स्वीकार करो हे आराधन, है धन्य-धन्य निस्पृह जीवन !! □

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी

—डॉ० प्रकाश सिंघई

आचार-विचार को धारण करके, स्व-पर का भेद भुलाकर।
चार गुणो का पालन करके, कथनी करनी में समता कर।
(प)'ंचरण जिन-धारण करके, जिनत्व सफलता से पाकर।
रत्न प्रभा से शोभित होकर, पंच महाव्रत पालन करते।
तुम अज्ञान को दूर भगाकर, जनमन में ज्ञानोदय करते।
नग्न दिगम्बर बन करके, समता ममता का पाठ पढ़ाते।
श्री मुख से | जिन वाणी का, सूक्ष्म विवेचन करते हैं।
देशकाल को ध्यान में रखकर, 'गूढ़' सरल कर कहते हैं।
शङ्काओं का कर समाधान, यह उपदेश वे करते हैं।
भूतकाल के किये कर्म |से, वर्तमान है बड़ा हुआ।
षट्कर्मों से दूर| रहो| तो, | नव | जीवन सुखमय होगा।
णमोकार का जाप करो तो, भव-दुख दूर तभी होगा।
जीवानाम परस्परोपग्रहो का सिद्धांत मूर्तवत् तब होगा।

हे आचार्य आपकी जय हो

—राजमल पवैया

हे आचार्य आपकी जय हो।
वस्तु |स्वभाव धर्म के ज्ञाता, निज में ही रहने निर्भय हो।
तम छत्तीस गुणों से मंडित, धर्म प्रभावी सदा विजय हो।
छह अभ्यंतर छह बाह्यंतर, द्वादस तप तुम करत निरंतर।
उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों के धारी मुनिवर अक्षय हो।
दर्शन ज्ञान चरित्र वीर्य तप, पचाचार पालते निज जप।
मन वच काय त्रिगुप्ति पालते, निज स्वरूप में ही प्रभु लय हो।
षट आवश्यक समता वदन, करते जिन स्तुति जिन वंदन।
स्वाध्याय प्रतिक्रमण सदा ही, करते कार्योत्सर्ग अभय हो।
भव्यजनों को दीक्षित करते, साधु संघ संचालन करते।
स्थितिकरण सुवात्सल्यमय, हे गुरुवर तुम मंगलमय हो।
मेरे मिथ्यातम को टारो, मेरा अघ संताप निवारो।
सम्यक् ज्योति प्रकाशित कर दो, मेरा जीवन ज्योतिर्मय हो।
हे आचार्य आपकी जय हो।

अर्पित चरण श्रद्धा-सुमन

—मिश्रीलाल जैन

अर्पित चरण, श्रद्धा सुमन।
शत-शत नमन, शत-शत नमन ।।
हर गाँव अमृत बांटता।
पथ-धूलि देह निखारता ।।
आमंत्रण दे हर द्वार को।
चलने जगत के पार को ।।
निर्वाण के पथ पर चला।
जग पोंछ लो अपने नयन !!
अर्पित चरण श्रद्धा-सुमन !
शत-शत नमन, शत-शत नमन !!

शीतल शिशिर की रात में।
आत्मा के बाहुपाश में ।।
भूमि पर करता शयन।
हैं देखते ऊपर नयन ।।
ज्योति - पारावार भी,
करता तुम्हें शत-शत नमन !!
अर्पित चरण श्रद्धा-सुमन !
शत-शत नमन, शत-शत नमन !!

जिस अंश में भी युद्ध हो।
उतने ही आप प्रबुद्ध हो ।।
बाहर लड़ाई व्यर्थ है।
भीतर निरन्तर युद्ध हो !!
सिन्धु के तट बैठकर।
मापा न जाता गहरापन !!
अर्पित चरण श्रद्धा-सुमन !
शत-शत नमन, शत-शत नमन !! □

प्रखर सूर्य

—जवाहरलाल 'भारत'

हे आचार्य देशभूषण जी,
श्रद्धा से नत हूँ
तुम्हारे विराट् व्यक्तित्व के सामने।
प्रखर सूर्य-सा ज्ञानोपदेश
बन गया पथ-प्रदर्शक
अन्धकार में भटकते
असख्य-असंख्य
प्राणियों के लिए !

मुख मंडल पर
चन्द्रमा-सी आभा,
शीतलता,
सौम्यता !
वाणी में सरस्वती का दुलार !!
सागर को गागर में भरकर
बनाया 'अमृत कुंड' !
यानी कि विविध भाषाओं के धर्म-ग्रन्थों को
कर दिया अनुदित हिन्दी में।
बना दिया धर्म-ज्ञान जन-जन के लिए सुलभ !!

हे स्नेहिल !
द्रौपदी-चीर की भाँति
धर्म-चक्र का निरन्तर प्रवर्तन कर
उत्थान किया तुमने
अस्वस्थ मानसिकता का
कल्याण किया तुमने मानव मात्र का ! □

इस मुनिवर को नमन करो

—मैसी निशान्त

इस मुनिवर को नमन करो,
यह ज्ञाता सारे ज्ञान का है !
यह सूरज तेरा ना मेरा,
यह सारे हिन्दुस्तान का है !!

दक्षिण से ज्योति किरण निकली,
कल रातों के दामन में।
फैल गई वो पूरब, पश्चिम,
उत्तर तक आंगन में।
शीश झुका कर नमन करो,
यह श्रेष्ठ रूप इंसान का है !

माया मोह तजा मुनिवर ने,
अष्ट मदों का नाश किया।
इन्द्रिय दमन कर कोटि जनों के,
मानस-मन में वास किया।
नमन करो इस जीवन को जो,
त्याग और बलिदान का है !

दश विधि धर्म किया पालन,
तुम मुनि दिगंबर संत महान्।
ज्ञान के इस गहरे सागर में,
आओ कर लें हम सब स्नान।
यह दिव्य मुख शोभायमान तन,
निश्चय ही गुणवान् का है !

जो भी दो भूषण मुनि जिनके,
उपसर्ग निवारण 'राम' करें।
यह वह 'भूषण' हैं जिनसे अब,
असुरों के भी उपसर्ग डरें।
अति सुन्दर यह सुमन धर्म के,
गौरवशाली उद्यान का है !

भावों में चन्दन - सुगन्ध,
वाणी में हैं वरदान भरे।
क्यों न ऐसे तपोधनी को,
सारा जग प्रणाम करे।
इनका तन जैसे हो मन्दिर,
मन पावन घर भगवान् का है !

गुरु-गौरव आध्यात्मिक-भूषण

—वसन्तकुमार जैन शास्त्री

वैराग्य विभूषित हे गुरुवर,
निज ज्ञान ध्यान तप में सुलीन।

आगम चक्षु-तत्त्व प्रकाशक,
परम दिगम्बर शान्त प्रवीन ॥

तुम कुल-भूषण, तुम गुण-भूषण,
तुम जिन-जग के हो युग भूषण।

तुम सन्त प्रवर, देश भूषण,
गुरु-गौरव आध्यात्मिक भूषण ॥

सुसुप्त मनुज तब जाग उठा,
जब प्रकट आपकी ज्ञान-गिरा।

निज की निधि को वह समझ सका,
जैसे भवसागर तिरा, तिरा !!

निज-पर के उपकारी गुरुवर,
उपकार किया जग-प्राणों पर।

दे सम्बल जिनवाणी उनको,
वे निश्चय से जायेंगे तर !!

युग-युग जीओ, युग-युग जीओ,
युग-युग हो अमर जैन-वाणी।

है कोटि नमन, वन्दन गुरुवर,
आचार्य देशभूषण ज्ञानी !!

संस्कृति के महासूर्य

—प्रभात जैन

कर्मों की कारा से —
मुक्त हो गये हैं जो,
मोह, मद, माया के
आडम्बर त्याग दिये हैं,
अहर्निश जागृत जो,
अन्तर्ध्वनि दीक्षित हैं,
चिन्तन में,
तत्त्व के विवेचन में,
त्याग और संयम के महामंत्र—
और जो समर्पित हैं—
कर्मों के रेचन में !

ज्योतिपुञ्ज, युगद्रष्टा,
आत्मपुरुष
संस्कृति के महासूर्य,
आलोकित,
आत्मलीन,
मंगलमय और पुनीत !
निर्ग्रन्थ, तपोनिष्ठ की काया,
आभासित दर्शन में—
उस विराट् की छाया ।

स्थितप्रज्ञ, निर्विकार,
योग, ज्ञान, भाष्यकार,
नमन मेरा—
भावना का,
कामना का,
प्रार्थना का,
चिर कृतज्ञ—
श्रमण संस्कृति समाज,
सद्, चिद्, आनंद—
चिदानंद,
आचार्य श्री देशभूषण महाराज ! □

मेरा नमन करो स्वीकार

—शरदचन्द्र शास्त्री 'शरद'

चरणों में आचार्य श्री के,
शीश नवाऊँ शत-शत बार ।
जीवन धन हो जैन धर्म के,
स्याद्वाद के तत्त्व निधान ।।
श्रद्धा भक्ति विनय से गुरुवर,
मेरा नमन करो स्वीकार ।
देश धर्म के तुम आभूषण,
मौलिकता के शुचि आधार ।।

स्याद्वाद की तर्क नीति के,
एकमात्र प्रिय तथ्य विचार ।
चारित्र के तुम पूर्ण धनी हो,
मिथ्या मत को प्रबल कुठार ।
विश्व धर्म की पावन प्रतिमा,
नाम आपका विदित जहान ।
मोक्ष मार्ग के मार्ग-प्रवर्तक,
मेरा नमन करो स्वीकार ।। ■

आस्था के प्रतीक

—सुमतप्रसाद जैन
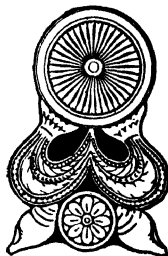
आचार्य श्री
आपके पावन संस्पर्श से
मेरी दिगम्बरत्व की समाराधना को
एक नया अर्थ मिल गया है।
आपने एक निर्भीक सिंह की तरह
आत्मवैभव से मंडित होकर
दासता के युग में धर्मदेशना द्वारा
ग्राम - ग्राम, नगर - नगर,
स्वातंत्र्य का ज्योतिर्मय अलख जगाया था।

दिगम्बरत्व की महावेदी पर
स्वयं को आचरण बना कर
ब्रिटिश-शासित राज्यों
और, किलेबन्दी किये हुए रजवाड़ों-
फौलादी रियासतों में,
मंगल - विहार कर
अनेक उपसर्गों को सहते हुए
धर्मान्ध राजाज्ञाओं को ध्वस्त कर
आपने
धर्ममय साधना
एवं गौरवमंडित व्यवहार से
दिगम्बरत्व का नया इतिहास ही लिख दिया था।
मेरे प्रभु !
आपने—
दिगम्बरत्व का नया इतिहास ही लिख दिया था।
इसीलिए
आप
मेरी अन्यतम आस्था के प्रतीक हो !
सच तो यह है—
आप ही इस युग में
दिगम्बरत्व के
दैदीप्यमान प्रतीक हो !! □

जयकार तो बोलो !

—'सुयेश' जैन

दिव्य यमुना-धार ! कल कल कण्ठ से जयकार तो बोलो !
और स्वर में स्वर मिला जय ऐ कुतुबमीनार ! तो बोलो !

ग्रीष्म से कब भीत होते, शीत से कब कांपते हैं ये !
'देशभूषण' देश-भू को निज पदों से नापते हैं ये !!
ये किसी भी तो उपासक से न कोई कामना करते !
हर परीषह और हर उपसर्ग का नित सामना करते !!
इन विचक्षण वीतरागी पर स्वयं बलिहार तो हो लो !

एक-सी इनके लिये ललकार औ' जयकार दोनों हैं !
एक-सी इनके लिये दुत्कार औ' सत्कार दोनों हैं !!
एक-से इनके लिये प्रतिकूल औ' अनुकूल दोनों हैं !
एक-से इनके लिये तो शूल एवं फूल दोनों हैं !!
साधु ये समदृष्टि, इनके प्रति विनय-उद्गार तो बोलो !

देह से होकर विरत इनने निजात्मा को निखारा है !
औ' नहीं तन-रूप, चेतन-रूप ही अविरत सिंगारा है !!
मुक्ति पाने हेतु सारे बन्धनों को खोलते हैं ये !
अष्ट कर्मों की गढ़ी पर नित्य धावा बोलते हैं ये !!
अब इन्हीं के अनुसरण के हेतु तुम तैयार तो हो लो !
□
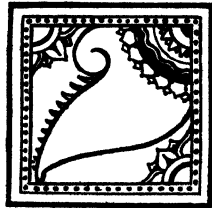
उन पवित्र पदाम्बुरुह में विनय सहित प्रणाम है

—मदन शर्मा 'सुधाकर'

जो कषायों से रहित विषयोपभोग अजान हैं, सकलविद्या-गुण-विभूषित, मथितमन्मथमान हैं।
सत्य ही जो देश-भूषण 'देशभूषण' नाम हैं, उन पवित्र पदाम्बुरुह में विनय सहित प्रणाम है ॥

अनुत्तम तप-त्याग-संयम-शोभमान महान् हैं, धर्मनेता, विविधविरुदावलिकलित, विद्वान हैं।
अमृत-निर्झर वचन जिनके मुक्ति के सोपान हैं, उन पवित्र पदाम्बुरुह में विनय सहित प्रणाम है ॥

धर्मचर्चा, ग्रन्थलेखन, सदुपदेश-विशेष से, प्रतिक्षण जो भव्यजन के उददिधीर्षाकाम हैं।
जिनालय-स्थापन-समुत्साही, सरल निर्मल हृदय, उन पवित्र पदाम्बुरुह में विनय सहित प्रणाम है ॥

एक भोजन, दो उपकरण, तीन रत्न-निधान हैं, चार आचरणीय, पंच महाव्रतों के प्राण हैं।
मन:षष्ठेन्द्रियजयी, जित सप्त-व्यसन-मुकाम है, उन पवित्र पदाम्बुरुह मे विनय सहित प्रणाम है ॥

रागपरिणतिरहित जिनको तुल्य सौध-मसान हैं, गिरिगुहा, पर्वतशिखर, नगरी, अरण्य समान हैं।
प्रिय नहीं, अप्रिय नहीं जो उदासीन अकाम हैं, उन पवित्र पदाम्बुरुह मे विनय सहित प्रणाम है ॥

मार के दुर्वार दावप्रशम में हिमवान हैं, गहन अज्ञानान्धकार-निकारपटु भास्वान हैं।
जो विमलचारित्र ज्ञान सम्यक् शुद्ध-बुद्ध-प्रकाम है, उन पवित्र पदाम्बुरुह मे विनय सहित प्रणाम है ॥

आत्मबोधविदग्ध जिनको स्व-पर की पहचान है, तपस्वी, सुहृदय, मनस्वी, क्षमाशील, महान हैं ॥
जो जिनप्रभुचरण-रतिधर अडिग गिरिचट्टान हैं, उन पवित्र पदाम्बुरुह में विनय सहित प्रणाम है ॥

जो प्रसन्नात्मा, सदाशय, सद्गुणों की खान हैं, शुद्ध सामायिकपरायण, पुण्यमय-अवदान हैं।
जो चतुर्विध संघ के रक्षार्थ कृत-अवधान हैं, उन पवित्र पदाम्बुरुह मे विनय सहित प्रणाम है ॥

जो पदाति विहार करके अनघ करते मेदिनी, क्षमा-आर्जव-शौच-उत्तम वित्त के निर्भर धनी ॥
सम्पदाओं के निकेतन किन्तु अपपरिधान हैं, उन पवित्र पदाम्बुरुह में विनय सहित प्रणाम है ॥

जो कठिन मिथ्यात्वतरु-तक्षण कठोर कुठार है, जो त्रिविध सम्यक्रत्न के सुपुनीत मणि आगार हैं ॥
परम नि:श्रेयस-सुपथ के जो उदित्वर भानु हैं, उन पवित्र पदाम्बुरुह में विनय सहित प्रणाम है।

मदनविजयी जो विचरते खड्ग की शित धार पर, चुलुक करते कालकूट-समुद्र संयम धार कर।
जिन्हें ज्वालापर्वतों के स्नात हो पयपान हैं, उन पवित्र पदाम्बुरुह में विनय सहित प्रणाम है ॥

भूमिशय्या, केशलुंचन, पदविहार, दिगम्बरी, सर्वदा अनगार, दुष्कर एकभोजन गोचरी।
वीतराग जिनेन्द्र मुद्रांकित जिन्हों का धाम है, उन पवित्र पदाम्बुरुह में विनय सहित प्रणाम है ॥

जो त्रिविध सम्यक् रत्न के अनुपम स्वयं आदर्श हैं, अहिंसावृष के ककुद उन्नति-कलित उत्कर्ष हैं।
जैन संस्कृति-आम्रवन के पिक मधुर मृदुगान हैं, उन पवित्र पदाम्बुरुह में विनय सहित प्रणाम है ॥ □

शत-शत वन्दन

—श्री दामोदर चन्द्र

विद्यासागर सब वृष ज्ञाता, नीतिज सुतपि कल्याण धान।
कर्मठ आदर्शगुणी सुसन्त, आध्यात्मिक निधि के हे निधान॥
हे प्राणवान गौरव विशाल, आचार्य देशभूषण सुनाम।
ऐसे महात्मा के पद में, शत-शत वन्दन शत-शत प्रणाम॥

हे धर्ममूर्त्ति राजर्षि व्रती, विद्याप्रेमी, प्रकाण्ड पण्डित।
सतशोधक तत्त्वसमीक्षक हे, उत्कृष्ट त्यागि शांत-मण्डित॥
मानवता के आदर्शरूप, जीवन की निधियों से ललाम।
शुभ वक्ता हित उपदेशी को, शत-शत वन्दन शत-शत प्रणाम॥

युग के गौरव हे सत् साधक, मृदु भाषी, हे ससार-विरत।
सन्यासि निरीह समाज प्राण, हो जनहितु तुम वात्सल्यनिरत॥
तुम योगी सत्सुख भोगी हो, हो शुभ आचार्य प्रशस्त नाम।
आत्मानुरक्त तुमको मेरा, शत-शत वन्दन शत-शत प्रणाम॥

आध्यात्मिक सन्त सुज्ञान सूर्य, बहु संस्थाओं के निर्माता।
निश्छलता के प्रतिरूप अरे, सर्वोदय के तुम तो ज्ञाता॥
हे विद्वानों के हितचिन्तक, स्तम्भ अहिंसा, न्याय धाम।
विद्वषहारि तुम पूज्यपाद, शत-शत वन्दन शत-शत प्रणाम॥

आगम-वारिधि मथकर तुमने पाया आत्मिक अमृत महान्।
बन गये अमर, जग को तुमने बांटा अमरत्व अरे प्रकाम॥
निर्माणी, ज्ञानगुरु, गुण का है नहिं अन्त, कहां क्या किया काम।
जाज्वल्यमान जन के नेता, शत-शत वंदन शत-शत प्रणाम।

दिव्यावतार अध्यात्म पुरुष, हो चित उदार निरपेक्ष धीर।
समदर्शी सम्यग्ज्ञानी हे, शिवपथ-साधक तुम हो गंभीर॥
मानव-चरित्र की पुण्य मूर्त्ति, तुम महामना सत्पथिक नाम।
जन उद्धारक तुम निर्ग्रन्थी, शत-शत वन्दन शत-शत प्रणाम॥

तुम ज्ञानवृद्ध, अनुभवसमृद्ध, हो वयोवृद्ध, शुभ देशभक्त।
तुम सिद्धहस्त, हो त्याग मूर्त्ति, शुभ ज्ञान कल्पतरु तीर्थ भक्त॥
प्रातःस्मरणीय महान् सन्त, जन वंद्य सन्त चारित्र धाम।
हो जैन जगत् हीरा अमूल्य, शत-शत वन्दन शत-शत प्रणाम॥
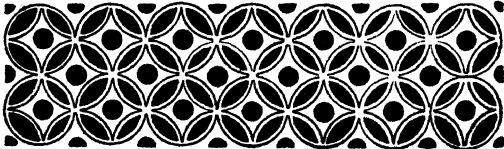
सचल तीर्थ

—डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त

हे सचल तीर्थ
आचार्य-प्रवर,
युगश्रेष्ठ, तपी !

तुमने जिस धर्ममयी वाणी को
ग्रन्थों में आबद्ध किया
उसको मानव युग-युग तक
पढ़ता जाएगा।
वह मनन करेगा,
और,
अचानक चेतन ही बन जाएगा !

हे करुणा के प्रतिरूप,
उदारता-मेरु !
कल्पना के पांखी,
तुम युगद्रष्टा !
तुमने पर्वत शिखरों पर सातिशय
जिन-प्रतिमा स्थापित कर दीं।
वह नहीं मात्र है शिल्प-कला,
भगवान् स्वयं उतरे भू पर !
तुमने उनको अवतरित किया,
जन-मन में सुख पहुंचाने को !!

तुम समदर्शी
तुम युगचेता,
हे सत्त्व रूप !
संचरणशील
दिक् को तुमने अम्बर माना !
हे सचल तीर्थ
आचार्य-प्रवर,
युगश्रेष्ठ, तपी !!

□

हे युग कल्याणी

—कु० इन्दिरा गुप्ता

हे युग कल्याणी
सरस्वती पुत्र
परम तपस्वी
ज्ञान के भण्डार
आचार्य देशभूषण जी महाराज
तुमको बारम्बार प्रणाम !

ज्ञाता हो तुम ज्ञान के
वाणी में अमृत-सी मिठास
सूर्य की भांति मानव को
दिया तुमने ज्योति का प्रकाश !

भाषा की दीवार तोड़
मिलाया मानव को मानव से
हुआ जो लिप्त भौतिकता में
दिखाई राह उसे ज्ञान से
तुम हो महान्
हे प्राणवान् ! □

सार्थवाह

—डॉ० वीणा गुप्ता

साहित्य साक्षी है
और इतिहास गवाह
कि भारत-भूमि पर अवतरित सार्थवाह
अपने दिव्य संदेशों,
उपदेशामृतों
आचरणों,
व्यवहारों
और कर्मवृत्तों से—
कर देते हैं मानव का कल्याण,
दिखा देते हैं उसे एक मंजिल
बना देते हैं उसे इंसान !
इंसान !
यानि कि उसके वासनाजन्य विकारों को
मिटा देते हैं वे अपने उपदेशों से
कर देते हैं उसे पावन !
वर्तमान युग में,
ऐसे ही सार्थवाह हैं—
आचार्य श्री देशभूषण ! □

आचार्य देशभूषण जी

—कपूरचन्द्र जैन

सुदृढ़ श्रद्धा नौका लेकर,
सम्यक् चारित की पतवार।
बढ़े देशभूषण निज पथ पर,
लिया ज्ञान दीपक उजियार ॥
त्याग दिया है राग-फाग को.
अब विराग के गाते गीत।
रहते अविचल मग्न ध्यान में,
सुनते चेतन का संगीत ॥
तोड़ा देह गेह से नाता,
दिया परिग्रह पोट उतार ॥

मीठा-सीठा चिकना रूखा,
तज शत्रु-मित्र के द्वेष राग।
प्रभुवर तुम से समता जागी,
शीतल हुई मन की विषय आग ॥
हम जग दुखियों पर करुणा कर,
दो आशिष—उपदेश उदार ॥

हे रवि तेरे मुख से फूटीं,
उपदेशों की किरणें दिव्य ।
गल गया सकल अज्ञान अघ
अरु खिले सकल अरविन्द भव्य।
उर की कलिकाएँ विकच उठीं
फिर वसन्त का हुआ प्रसार ॥

विज्ञ देशभूषण हे मुनिवर
तुमने स्वरूप निज पहचाना ।
परदेश कहां निज देश कहां,
क्या लक्ष्य सभी तुमने जाना ॥
तुमने प्राप्त किया है शिव मग,
पहुंचोगे भव सागर पार ॥

लुभा सका न तुमको ऋषिवर,
काम-वासनाओं का जल ।
बेध सका न तुम्हे कभी वह,
भौतिक बहुरगी धनुष चपल ॥
उठ करके तप अग्नि शिखाएँ,
शीघ्र करेंगी कर्म क्षार ॥

□

शत-शत प्रणाम

—जिनेन्द्र कुमार जैन कागजी

हे धर्म पुरुष !
श्रमण संस्कृति के उन्नत सुमेरु !
तुम्हारे चरण आस्था के प्रतीक !
पूजा के अर्घ्य से उन्हें प्रणाम !

हे श्रुत पुरुष !
जिनवाणी के भाष्यकार !
तुमने सुलभ कर दिया धर्म-ज्ञान
तुम्हारे चरण रचना के प्रतीक !
जलगंध से उन्हें प्रणाम !

हे तीर्थोद्धारक ! रचना शिल्पी !
तुम्हारे पौरुष से प्रकट हुए—
उत्तुंग शिखर और मन्दिर !
तुम्हारे चरण निर्माण के प्रतीक !
अष्टमंगल द्रव्य से उन्हें प्रणाम !

हे धर्मचक्र ! आदर्श पदयात्री !
तुमने किया उपदेश सभी के निमित्त,
परम करुणामय ! तुम शांति के प्रतीक !
तुम्हारे चरणों में शत शत प्रणाम ! □

विराजो लीलाधारी

—गुरुप्रसाद कपूर

तुम उदार ज्ञान के
मधुर भार !
मानव मोती में—
पिरे तार;
कल्याण भावना के प्रतीक,
हे देव-मनुज !
शत-शत प्रणाम !

मानवता के नए क्षितिज
राग-द्वेष के नित्य घाव से
नहीं विक्षिप्त

सत्य अहिंसा ज्ञान-प्रेम के
वैभवशाली;
हर रहे धरा के
भौतिक ताप !!
हैं खुले हृदय के द्वार
विराजो लीलाधारी !!! □

तं देशभूषणमहर्षिमहं समीडे

—डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य

(१)
यः पापपुञ्जपरिहारपरीतपक्षः
पुण्यप्रभावपरिवर्धनपूर्णदक्षः।
सद्ध्यानदावविनिदग्धविधिप्रकाश-
स्तं देशभूषणमहर्षिमहं समीडे।

(२)
यो मन्त्रतन्त्रकुशलो दुरितौघहारी
धर्मप्रभावनपरः सुकृतप्रसारी।
जैनागमप्रभव तत्त्व वितानकारी
तं देशभूषणमहर्षिमहं समीडे।

(३)
आगत्य दक्षिणपथाद्धरित ह्युदीची
सर्वप्रदेशनिचये विजहार भूत्या।
यो धर्मदेशनकरो निकरो गुणानां
तं देशभूषणमहर्षिमहं समीडे।

(४)
यं राजनीतिकजना विनमन्ति नित्य
यं तीर्थरक्षकजनाः प्रणमन्त्यजस्रम्।
यं भक्तिभारनिभृता यतयो नमन्ति
त देशभूषणमहर्षिमह समीडे॥

(५)
वक्तृत्व शक्तिसुयुतो विनुतो वरेण्ये-
र्विद्वद्भिरत्र जगतीशजनैः सुवन्द्यः।
यो वृत्तबोधसहितो महितो महद्भि-
स्त देशभूषणमहर्षिमहं समीडे॥

(६)
येन व्यधायि विविधागमरम्यटीका
येन व्यधायि भुवि भूवलयप्रकाशः।
येन व्यधायि विपुला वरशिष्यपंक्ति-
स्तं देशभूषणमहर्षिमहं समीडे॥

(७)
खान्याचले जयपुरे रचयांबभूव
यच्चूलिकाख्यगिरिमप्रतिमं पृथिव्याम्।
यः कोथलीनिजभुवि प्रतिमां च रम्यां
तं देशभूषणमहर्षिमहं समीडे॥

(८)
यस्याप्तशिष्यनिकरेषु परं प्रधान
एलाद्याचार्यं इति विश्रुतनामधेयः।
सद्धर्मदेशनपरः प्रथितः पृथिव्यां
तं देशभूषणमहर्षिमहं समीडे॥

संस्तुतिः

—डॉ० कर्णराजशेषगिरि राव

(१)
श्रीदेशभूषणजैनमहाराजमहाभागः।
जीयादाचंद्रतारार्कं, साहित्यालोक-भूतले॥

(२)
जैनसंघमहाध्यक्ष! प्राणिकोटि-महाप्रभो!
तपोनिष्ठ! युगोद्धार! साहित्यसाधना-रत!

(३)
दिगंबर मध्यभाग! दिव्य-शक्ति-महेश्वर!
लोकाराध्य! जगद्वंद्य! जयोऽस्तु ते, नमोऽस्तुते॥

(४)
तीर्थंकर महारत्न! आत्मज्योतिः-प्रवर्धक।
अहिंसा-व्रत-तत्पर!! जयोऽस्तु ते, नमोऽस्तु ते॥

(५)
आचार्यरत्नश्रीरत्न! विश्वशांति-प्रवर्धक।
सरस्वतीवरदपुत्र! जयोऽस्तु ते, नमोऽस्तु ते॥

(६)
उपसर्ग-विजेतारं, दिगबर-जयध्वजम्।
ऋषिमीडे महाप्रभु, लोक-कल्याणकारकम्॥

(७)
अनेक-ग्रन्थ-कर्तारं, तत्त्व-दर्शन-बोधकम्।
नवविचारसपन्नं, वन्देऽहं जिननायकम्॥

(८)
युगधर्मप्रवक्तारं, तपःपूत महानिधिम्।
सत्त्वगुणाभिवर्धक, वदेऽहं जिननायकम्॥

(९)
अखडमण्डलाकारं, ज्ञानामृतप्रदायकम्।
निर्विकल्प निरालस्य, वन्देऽहं, जिननायकम्॥

देशभूषणाष्टकम्

—पं० दयाचन्द्र साहित्याचार्य

श्रिया विभूषितं वीरं, साधुमूलगुणाश्रितम् ।
दिगम्बरमणि रम्यं, वन्दे श्रीदेशभूषणम् ॥१॥

महाव्रतान्वितं शान्तं, तत्त्वविज्ञानभूषणम् ।
धर्मसंसाधने वीरं, वन्दे श्रीदेशभूषणम् ॥२॥

सम्यक्त्वं भूषणं यस्य, देशना कण्ठभूषणम् ।
संयमो भूषणं शुद्धं, वन्दे तं देशभूषणम् ॥३॥

नैकभाषाकलातीर्थं भक्तिसाहित्यतीर्थकम् ।
ब्रह्मचर्यव्रते तीर्थं, वन्दे श्रीदेशभूषणम् ॥४॥

जगत्पात्रं सुधीपात्रं, पाणिपात्र सुपात्रकम् ।
शक्तिपात्रं कलागात्रं, वन्दे श्रो देशभूषणम् ॥५॥

ज्ञानवृद्ध तपोवृद्धं, वयोवृद्धं सुबुद्धिदम् ।
कृतिवृद्ध प्रजावृद्ध, वन्दे श्रीदेशभूषणम् ।६॥

प्रतिभाप्रतिभासन्तं, सूरिसन्तं वसन्तवत् ।
विलसन्तं हि सन्मार्गे, वन्दे श्रीदेशभूषणम् ॥७॥

दर्शनं चोपदेशश्च, देशभूषणयोगिनः ।
भारते भूषणं नित्यं, भूषणैः किं प्रयोजनम् ॥८॥

प्रजासु शान्तिदायकं अनाथवृद्धिकारणम् ।
नवीनभव्यशिक्षकं असेव्यरीतिनाशकम् ॥९॥

प्रशस्तमन्त्रबोधकं विदेशदेशभूषणम् ।
प्रशस्तिकामनाकृतं हि देशभूषणाष्टकम् ॥ १०॥

□

महाश्रेष्ठवन्दनम् !

—प्रो० नारायण वासुदेव डुंगार

रामं कृष्णं महावीरं बुद्धं च गुरुनानकम् ।
अल्लां येशुं करतुष्टं माङ्गल्यार्थं नमाम्यहम् ॥१॥

जयतु जयतु देशभूषणः सर्वमान्यः ।
जयतु जयतु देशभूषणः सर्ववन्द्यः ॥
जयतु जयतु देशभूषणः सद्गुरुर्यः ।
जयतु जयतु देशभूषणो जैनसाधुः ॥२॥

जयतु जयतु देशभूषणः सिद्धश्रेष्ठः ।
जयतु जयतु देशभूषणः साधु-श्रेष्ठः ॥
जयतु जयतु देशभूषणो धर्मगोप्ता ।
जयतु जयतु देशभूषणो जैन साधुः ॥३॥

जयतु जयतु देशभूषणः शान्तिदाता ।
जयतु जयतु देशभूषणो ज्ञानमूर्तिः ॥
जयतु जयतु देशभूषणो लोकगोप्ता ।
जयतु जयतु देशभूषणो जैनसाधुः ॥४॥

जयतु जयतु देशभूषणः कीर्तिरूपः ।
जयतु जयतु देशभूषणो दीनभक्तः ॥
जयतु जयतु देशभूषणो भारतस्य ।
जयतु जयतु देशभूषणो जैनसाधुः ॥५॥

आचार्य-स्तव-द्वादशी

—पं० रामरत्न प्रभाकर शास्त्री

भव्याकृति सुकृतिनं, तपसा विशुद्धम् ।
वैराग्यसाधनरतं जितरागद्वेषम् ॥

भूतेषु धारितदयं, मनसा विशालम् ।
त देशभूषणमहं शिरसा नमामि ॥१॥

वीतरागोऽपि जीवान् वै, भवबन्धानुरागिण: ।
रजयन् दयया नितरां, राजते देशभूषण: ॥२॥

जनुषा कर्मणा तपसा सम्यक् सम्बोधनेन च ।
द्विजान्, जैनान् जनानन्यान् निजात्मानमतोषयत् ।३।

यमेषु नियमेषु निमग्नचित्तम् ।
ध्यानेन रक्षंश्च स्वचरित्रवित्तम् ।

क्षमया धिया ज्ञानप्रबृद्धवृत्तं ।
मनसा मुनिं नौमि चिराय नित्यम् ॥४॥

शास्त्रेषु प्राप्त-दाक्षिण्यं व्यवहारे विचक्षणम् ।
साधनाया रतं तं वै नमामि देशभूषणम् ॥५॥

त्यक्तवासोऽशनं वासं, दिव्यं तं दिगम्बरम् ।
"भक्तामर"परं नित्यं नमामि देशभूषणम् ॥६॥

नमामि देशभूषणं निरस्तसर्वदूषणम् ।
विशुद्धकर्मकारिणम् श्रद्धालुतापहारिणम् ॥

निजात्मज्ञानदायिनं सुमन्त्रतन्त्र स्वामिनम् ।
सुबुद्धिसत्त्वसंयुतं स्वभक्तकर्मसु रतम् ॥७॥

दक्षिणादुत्तर यावत् पूर्वाच्च पश्चिमं प्रति ।
धर्मयात्रासु सलग्नं नमामि देशभूषणम् ॥८॥

विद्यया नन्दयन्तं तं परया परमार्थया ।
निर्दिशन्त शुभं मार्गं नमामि देशभूषणम् ॥९॥

वैराग्यं समुपाश्रित: सुकुलज: वीरव्रते दीक्षित: ।
विद्याज्ञानपरोऽपि कर्मसु रत:, स्वाध्यायशीलोव्रती ॥

सौम्य: शान्ततपस्विनां वरतम: साम्ये स्थित: संयमी ।
विद्यानन्दमुने: गुरुश्च परम: देशस्य सभूषण: ॥१०॥

धीविद्यासत्यसयुक्तम् परां सिद्धिगत हि तं ।
देशभूषणमहं नित्य नमामि शान्तचेतसम् ॥११॥

विरचितबहुशास्त्र दत्तज्ञानोपदेशम् ।
निरत सततसाध्यं, प्राप्तनिष्ठं प्रकृष्टम् ।

दुरिततमविनाशं ध्यानिना सदगुरुं तम् ।
जिनवरतपलग्न देशभूषं नमामि ॥१२॥

माहात्म्यम्

ब्राह्मणेन कृतं स्तोत्रं जैनाचार्यस्य सात्त्विकम् ।
त्रिधा यस्तु पठेन्नित्यं, वर्धमान: स जायते ॥

देशभूषण-गुणस्तुतिः

—आचार्य प्रकाशचन्द्र जैन

ससाराब्धिनिमग्नजीवकरुणासन्मार्ग सन्देशदः,
विद्युन्नश्वरलोकभोगविषयान् मोक्षेच्छया योऽत्यजत् ।
तारुण्येऽयमभूद्दिगम्बरमुनिस्तप्तु तपो दुश्चरम्,
विद्वाञ्जीवतु देशभूषणगुरुर्यावच्छशी द्योतते । १॥

जैनाचार्य-परम्परा नियमिना पूतात्मनाऽलंकृता
भव्याम्भोजविकास रम्यरविणा धर्मप्रकाशः कृतः ।
जैनाचारविकासबद्ध मतिना देशः समस्तो महान्,
पादाभ्यां विहृतस्तपस्विमणिनाऽऽचार्येण शान्तात्मना ॥२॥

विद्यामण्डनमण्डितं गुणगणालङ्कारशोभान्वितम्,
पूज्यं संयमिन कषायरहितं गङ्गाम्बुवन्निर्मलम् ।
जैनाचार्यशिरोमणिं विनयवान् धर्मस्य संरक्षकम्,
वन्दे तं मुनिदेशभूषणगुरुं भक्त्या महत्या मुदा ॥३॥

कर्मारातिवनं विशालविकट दग्धु सदा तत्परः,
निश्चिन्तो जगतो निजात्मरमणोऽध्यात्मप्रबोधोज्ज्वल. ।
सर्वोद्धारसुचारुभावलसित. साहित्यसेवी महान्,
गम्भीरोमधुराल्पभाषणपरः सद्धर्मवर्षापटु ॥४॥

जातिर्मेऽद्य विभाति गौरवमयी लब्ध्वा तपोभूषणम्,
सम्यक्त्वादिविभूषित हितकर देशस्य संभूषणम् ।
शास्त्रज्ञः खलु देशभूषणयतिः सर्वांस्तु मोक्षार्थिनः,
पन्थानं विमल प्रदर्शयतु मुक्तेर्यत्र नित्यं सुखम् ॥५॥

आचार्य देशभूषण-स्तुतिः

— मुनि श्री ज्ञानभूषण जी

जन्मक्षेत्रसुकोथली च तव या वृक्षै: सदावेष्टिता,
रम्यश्री जिन चैत्यशान्तिगिरि विद्यापीठ वापी तथा।
श्रीकर्नाटकवेलगाममधि चिक्कोडीमटम्बोसने,
दिव्य श्रीमुनि-देशभूषण गुरु: भक्त्या मयापूज्यते ॥१

ज्ञानाभ्यासनिरंतरं गमयते कालो न कश्चन तव,
माताक्का तव सातगोड जनकस्यो बालगोडा च ते।
संवेगो विशिखे ततीष्ट सहसालाभं न पूर्वे करा,
दिव्य: श्रीमुनि-देशभूषण गुरु: भक्त्या मयापूज्यते ॥२

सद् भाग्योदव लब्धमेव जयकीर्त्याचार्यवर्यं तव,
यात्रार्थं खलु वव्रजु: शिखिरि संवेद ससंघं पुन:।
रम्यं कुंथल पर्वतं मनसि चोल्लास विशेषस्तदा,
दिव्य: श्रीमुनि-देशभूषण गुरु: भक्त्या मया पूज्यते ॥३

तत्रैवं मुनि दिक्षतिस्म इतिलोकद्वौ न दु:खं पुन:,
योगाभ्यासरतो मुनि तपति नित्यं कल्मषान्येव वा।
वभ्रामु: तवनाम देशभूषण: पंचालकर्नाटके,
दिव्य: श्रीमुनि देशभूषण गुरु: भक्त्या मया पूज्यते ॥४

अंगावंगकलिंग शौरवधिरा. कर्णाटके मागधे,
सन्मार्गोपदिशन्ति धर्म करुणा मूलं सतीर्थं भवेत्।
सद्भक्त्या लभतेऽचिरेणशिवता सौख्य परं केवलम्,
दिव्य: श्रीमुनि-देशभूषण गुरु: भक्त्या मया पूज्यते ॥५

आत्माधीन सुखं न पुण्यदुरिताधीनं न चान्याश्रितम्,
क: सकल्प विकल्प जालमपि दृश्यन्ते न भव्यात्मनि।
ज्ञात्वा ध्यायति चैक चेतसि निजात्मानं तदार्थान्तर,
दिव्य: श्रीमुनि-देशभूषण गुरु: भक्त्या मया पूज्यते ॥६

भव्याम्भोजविकाशकोऽवनितले मार्तण्डसादृश्यते,
बालब्रह्ममयमीश्वरो वृषधरः संरक्षकः षट् कायकान् ।
मिथ्यादर्शनपुष्पबाणविजयी योगीन्द्र चूडामणिः,
दिव्यः श्रीमुनि-देशभूषण गुरुः भक्त्या मया पूज्यते ॥७

मोहध्वान्तमिदं भवे च विविधव्याप्तोऽस्थिति सत्पथः,
त्वं साधो तिमिरारिसादृशभवे मोहारिमा-भेदकः ।
श्रेयोमार्गदिवाकरः गुरुनुतो भव्यैः सदा पूज्यते,
दिव्यः श्रीमुनि-देशभूषण गुरुः भक्त्या मया पूज्यते ॥८

ध्यायन्ते दशधर्म गुप्ति समिती षट् षड् विधस्तप्यते,
बाह्याभ्यन्तर कर्मणां खलुतपैः निर्जीयते च त्वया ।
आचारानियथाऽऽचरन्ति शुभभावैं षडावश्यकान्,
दिव्यः श्रीमुनि देशभूषण गुरुः भक्त्या मया पूज्यते ॥९

आकिंचन्यपरिग्रहो भयमपिप्राप्त न चिन्ता परा,
सद्ध्यानाध्ययनेरतः भवसुखं वाञ्छा न चित्तकदा ।
शुध्यर्थं तव कल्मषानि निरतः साध्यन्ति सिद्धात्मनः ।
दिव्यः श्रीमुनि देशभूषण गुरुः भक्त्या मया पूज्यते ॥१०

नित्यं पंचमहाव्रतानि समिती पञ्चेन्द्रियो निग्रहः,
उत्पाटयन्ति कचानि भूशयनमस्नानं स्थितः स्वादनम् ।
द्वौ एकाशन पाणयोरसन सपादोषडावश्यकान्,
दिव्यः श्रीमुनि देशभूषण गुरुः भक्त्या मया पूज्यते ॥११

धर्माचार्यवरः सदा ददति दिक्षाशिष्य-वर्गान् सदा,
सन्मार्गं विदधासि भव्यकमलानिद्योतको भास्कर ।
व्याप्ताऽज्ञान तमोनिवारयति याथातथ्यमर्कोदये,
दिव्यः श्रीमुनि देशभूषण गुरुः भक्त्या मया पूज्यते ॥१२

श्री देशभूषणस्तवं श्री ज्ञानेन कृतं भक्त्या ।
पठन्ति पाठयन्ति ये लभन्ते सुख निर्वाणम् ॥१३

आचार्य मुनिदेशभूषणमहं वन्दे जगद्वन्दितम्

—डॉ० दामोदर शास्त्री

(१)

कर्णाटके विबुधसेवित-'बेलगांव'—
इत्याह्वयो जनपदोऽस्ति बहुप्रसिद्धः।
तत्रास्ति 'कोथलपुरम्' लघुभूमिभागे,
तत् पाटिलेति-परिवार-निवासभूमिः॥

(२)

'अक्कावती'' परमधन्यतमास्ति माता,
धन्यः पिता च सुकृती खलु 'सत्यगौड़ः।'
धन्याविमौ सुपितरौ, यत एतदीयः,
'श्री बालगौड'' इति पुत्रवरा मुनीन्द्रः॥

(३)

बाल्येऽस्य पूज्यजननी सुदिवंगनाऽभूत्,
कालान्तरे च जनकोऽपि दिवं प्रयातः।
बाल्योचितां चपलतां दधतः पितृव्य—
संरक्षणेऽध्ययनमस्य ततः प्रजातम्॥

(४)

स्वीयाधिकार-परिरक्षणतत्परत्वम्,
अन्योपकारकरणे सततोद्यमश्च।
निर्भीकता, सरलता, मृदुता च बाल्ये,
श्रेष्ठैर्गुणैर्बहुभिरेवमलंकृतोऽयम्॥

(५)

आचार्यो मुनिपायसागरमहाराजो गुणज्ञाग्रणीः,
आसन्ने समुपस्थितो 'गलबगा'-ग्रामे सुधीरेकदा।
नम्रोऽयं प्रणतिं च तच्चरणयोः श्रीबालगौडोऽकरोत्,
आचार्योऽपि स बालगौडकृतिने सज्ज्ञानरत्नान्यदात्॥

(६)

तत्कालतोऽत्यन्तदृढप्रतिज्ञः,
समत्यजद् दुर्व्यसनानि सप्त।
अष्टावसौ मूलगुणान् प्रधार्य,
शिष्टः सुसभ्यश्च जनप्रियोऽभूत्॥

(७)

शनैःशनैर्भाव-विशुद्धिरेवम्,
प्रवर्धमाना समवर्ततास्य।
मुनीन्द्रसम्पर्ककृतप्रभावः,
आश्चर्यमेवाजनयत् जनानाम्॥

(८)

पुण्योदयात् समभवत् निकटस्थदेशे,
आचार्यवर्यजयकीर्ति-विहारयोगः।
आचार्यवर्यवचनामृतसुप्रभावात्,
अस्योदगाद् दृढतरा जगतो विरक्तिः॥

(९)

मुनित्वमासादयितु नतेन वै,
निजाभिलाषो गुरवे निवेदितः।
मुनित्वदीक्षाऽनुमता न तेन तद्-
विरक्तिभावस्त्वधिकं प्रशंसितः॥

(१०)

आचार्यवर्यस्तु तमादिशद् यद्,
शास्त्राणि सर्वप्रथमं पठेति।
स्वयन्तमाचार्यवरः कृपावान्,
शास्त्राणि सपाठयितु प्रवृत्तः॥

(११)

सम्मेदशैल प्रति गन्तुकामम्,
ज्ञात्वा ससंघ मुनिराजवर्यम्।
श्रीबालगौडोऽनुमतिं गृहीत्वा,
मुनीन्द्रसंघानुचरः प्रजातः॥

(१२)

यात्रापथे धर्मरिपु-प्रयासाद्,
जातं मुनीनामुपसर्गकष्टम्।
धीराग्रगण्यो व्रतिनां यतीनाम्,
परन्तु नैवोद्विजिषीष्ट सघः॥

(१३)

श्रीबालगौडः पथि सघ-सेवाम्,
कुर्वन् मनस्तोषमवोढ पूर्णम्।
आहार-दाने तु मुनिभ्य एष,
आसीत् प्रमोदं परमाप्नुवानः॥

(१४)

सम्मेदशैलाधिपतीर्थमाप्त,
ससंघ आचार्यवरो मुनीन्द्र ।
निजात्मकल्याणपरैर्विनम्रैः,
वासं व्यधात्तत्र तपस्विभिः सः ॥

(१५)

श्रीबालगौडो न्यवसत्सहैव,
भवाम्बुधिं तर्तुमसौ सचेष्टः ।
एकाभिलाषः समवर्ततास्य,
मुनित्व - दीक्षाश्रयणार्थमेव ॥

(१६)

स चैकदा स्वामुचिते हि काले,
व्याज्ञोत् सदिच्छां स्वगुरोः समक्षम् ।
दुःसाध्य एवास्त्यनगार-धर्मः,
इत्याशय व्यानगिमं गुरुस्तु ॥

(१७)

पूर्वन्तु षष्ठप्रतिमाव्रतानि,
धार्याणि किञ्चित्समय त्वयेति ।
इत्यादिशत् स्नेहगिरा गुरुस्तम्,
शिष्येण साज्ञाऽनुसृता नदैव ॥

(१८)

आचार्यवर्यस्य विनीतशिष्यः,
तन्मार्ग-निर्देशन एव धीरः ।
एकादशानां प्रतिमा-व्रतानां,
पूर्णत्वमासादितवान क्रमेण ॥

(१९)

तस्यैव योग्यस्य गुरोः कठोरे—
ऽनुशासने संस्थित एष नित्यम् ।
मुनित्वधर्मोचितनत्त्वशिक्षाम्,
-च्छास्त्रगूढा सकलामवाप्नोत् ॥

(२०)

संघस्य तन्मुनिवरस्य हि गमटेके—
त्याख्ये च नागपुर-सन्निकटे विहारः ।
श्रीबालगौडसुकृती स्वगुरोः समक्षम्,
प्राचीकटत् पुनरपि स्वमनोऽभिलाषम् ॥

(२१)

शिष्यं परीक्ष्य तमवाप्तविरक्तिभावम्,
सम्प्रत्यसौ मुनिवरोऽप्यददादनुज्ञाम् ।
आचार्यवर्यकृतनिर्णय एष शीघ्रम्,
सामाजिकैरपि जनैर्बहुचर्चितोऽभूत् ॥

(२२)

केचिज्जनास्तु कृतवन्त इमा विशङ्काम्,
यद् "यौवने वयसि सर्वसुख विहाय ।
स्थातुं कथन्तरुण एष जिनोक्तधर्म,
दु.साध्यसंयममये प्रभविष्यतीति ॥

(२३)

आनन्त्यैव 'सुनान्द्रसागर'मुनेस्तद्धर्मसघस्य च,
लोके निन्द्यतमापकीर्तिरभवत् स्वाचार-शैथिल्यतः ।
तस्मादत्र पुनर्विचार उचितोऽस्त्याचार्यवर्यैरिति",
भावोऽयं विनिवेदितो मुनिवरस्याग्र च कैश्चिज्जनैः ॥

(२४)

आचार्यवर्यश्च विचारदक्षः,
स भावनामादृतवान् जनानाम् ।
श्रीबालगौडस्य तदैलकीय—
दीक्षैव तेनानुमता विचार्य ॥

(२५)

आचार्यवर्यजयकीर्तिकृपाप्रसादात्,
जातोऽयमैलकपदे समवाप्तदीक्षः ।
'तन्देशभूषण'—इतिप्रथितेन नाम्ना-
लंकृत्य तद्गुरुवरोऽप्यभवत्प्रहृष्टः ॥

(२६)

सिद्धक्षेत्रवरे च कुन्थलगिरौ मासद्वयानन्तरम्,
आचार्यस्य पदार्पण विचरतः संघस्य चाजायत ।
औचित्यं सुविचार्य तन्मुनिपदप्राप्त्यर्थनाया, गुरुः,
तस्मै तत्र सुधीवरैरनुमतां श्रामण्यदीक्षामदात् ॥

(२७)

श्रामण्यमाप्त स गुरोः सकाशे,
वर्षाण्यनैषीत् स च सप्त षड् वा ।
आसीज्जनाना सुधियां मतं यद्,
शिष्योऽस्त्ययं योग्यगुरोः सुयोग्यः ॥

(२८)

आचार्यवर्यैरवधार्य सम्यक्,
चर्यां प्रशस्तां प्रतिमा च सम्यक् ।
स्वतन्त्ररूपेण विहर्तु मस्मै,
आज्ञा प्रदत्ता जिनधर्मवृद्ध्यै ॥

(२९)

मुनिः स्वतन्त्रो व्यहरत्स्वदेशे,
ग्रामेषु नानानगरेषु चैषः ।
कर्णाटकेऽजायत गोम्मटेश-
क्षेत्रे तदीयो बहुकालवासः ॥

(३०)

साहित्यमासीदनुशीलनीयम्,
'यत्कन्नडी' - वाचि तदोपलब्धम् ।
तस्याकरोत्सोऽध्ययनं श्रमेण,
वैदुष्यमेतस्य महत् प्रजातम् ॥

(३१)

अभून्महद्दुःखद ईसरीति-
स्थाने तदाचार्यसमाधिमृत्युः ।
आकर्ण्य चैतत्सहसा स खिन्नः,
कथंचिदेवाभवदात्मनिष्ठः ॥

(३२)

गुरोरभावेऽपि तदीयशिक्षाः,
हितोपदेशाश्च हितावहा ये ।
सन्दर्शयिष्यन्ति सुमार्गमेतद्,
विचारयन्नाश्वसितः स्वचित्ते ॥

(३३)

तत्साधनायाः पथि चोपसर्गाः,
जातास्तथाप्येष महान्दृढोऽस्थात् ।
तपः - प्रभावात्सविषेऽस्य दुष्टः,
जनोऽप्यवाप्त सुजनत्वमेव ॥

(३४)

निर्भीकतायास्तपसश्च तस्य,
प्रभावतो यावनराज्यभूमौ ।
राजाज्ञया प्रारभदादरेण,
दिगम्बराणां सुगमः प्रवेशः ॥

(३५)

स हैदराबादनबाबतोऽपि,
समादरं प्रापदपूर्वमेव ।
निजामराज्ये तदुपस्थितौ तु,
वधः पशूनामभवन्निरुद्धः ॥

(३६)

मैसूर-राजा महिषी च तस्य,
भक्तौ प्रजातौ मुनिभूषणस्य ।
तस्योपदेशैर्महती च धर्म—
प्रभावनाऽजायत तत्र राज्ये ॥

(३७)

स सर्वतोभद्र-वसन्तभद्र—
रत्नावलीत्यादिमहाव्रतानाम् ।
सामान्यतः सम्प्रति दुष्कराणाम्,
कृत्वाऽप्यनुष्ठानमवाप तेजः ॥

(३८)

चारित्रवित्तपरिरक्षणदत्तचित्तः,
कर्मक्षयाय सततोद्यत आत्मनिष्ठ ।
अध्यात्मयोगशिवमार्गमनुव्रजन् यः,
विद्वद्वरेषु महनीय-यशोऽप्यविन्दत् ॥

(३९)

वर्षावासो भुवि विहरतः सूरताख्ये पुरेऽस्य,
जातो धर्मप्रियजन-मनःसौख्यदो धर्मसंतोः ।
तत्रत्यानां मनसि समभूदेष पुण्यो विचारः,
आचार्यत्व भवति मुनयेऽस्मा" अतीवोपयुक्तम् ॥

(४०)

सर्वे समाजप्रमुखा गुणज्ञाः,
तदन्तिके पौरजना अगच्छन् ।
प्रदातुमाचार्यपदं हि तस्मै,
अभ्यर्थना स्वां विनता अकार्षुः ॥

(४१)

संप्रार्थितो मुनिवरस्तु जनानवोचत्,
यद् "भावनाऽस्ति भवतां सुविचारणीया ।
अत्यादरो मम कृतेऽस्ति भवद्भिरद्य,
संघस्य नायकपदाय न चास्मि योग्यः ॥

(४२)

अन्यच्च, तथ्यमपरं सुविचारणीयम्,
यत्पायसागरमुनिर्भुवि पूज्यवर्यः।
आचार्यता मम कदाप्युपपद्यते न,
तस्मिंश्च जीवति, विनाऽनुमतिञ्च तस्य" ॥

(४३)

श्रुत्वा वचो मुनिवरस्य समाजमुख्याः,
ते पायसागरमुनेः सविधे प्रयाताः।
तस्मै निवेद्य मुनये निजहार्दमत्र,
का सम्मतिर्हि भवतामिति चोक्तवन्तः ॥

(४४)

वार्ताञ्च तैर्निगदितां सकलां निशम्य,
श्रीपायसागरमुनिः समवोचतैनान्।
यत् "सर्वथैव भवतामुचितोऽभिलाषः,
युष्माकमस्ति च यथार्थगुणज्ञतेयम् ॥

(४५)

यो निर्णयोऽस्ति भवतां सुधियां जनानाम्,
ज्ञेयं सदा मदनुमोदनमेव तत्र।
पृथ्वीतले सततमेव जिनोपदिष्टः,
धर्मो विवर्द्धतु जनेषु भवादृशेषु" ॥

(४६)

इत्येवमेते स्वचिकीर्षितस्य,
समर्थनेनाप्यनुमोदनेन।
ते सूरताख्यं नगरं प्रहृष्टाः,
प्रत्यागता आशु मनस्विवर्याः ॥

(४७)

श्रीपायसागरमुनिप्रहितामनुज्ञाम्,
आदृत्य, सघमहदाग्रहमीक्ष्य चायम्।
श्री देशभूषणमुनिप्रवरो जनेभ्यः,
सम्प्रत्यदात् मद्गमतिं मनिमान् स्वकीयाम् ॥

(४८)

आचार्य-पूज्यपद-दाननिमित्तमेतै,
सर्वैरकारि महदुत्सव आदरेण।
आचार्यतामिह चतुर्विध-धर्मसंघ,
श्रीदेशभूषणमुनिप्रवराय चादात् ॥

(४९)

अनेकभाषाप्रवणो मुनीशः,
साहित्यसंवर्धनतत्परोऽयम्।
वैदुष्यपूर्णा उपयोगिनीश्च,
प्रणीतवान् श्रेष्ठकृतीरनेकाः ॥

(५०)

कर्णाटकीयामथ गुर्जरीयाम्,
हिन्दीं महाराष्ट्रसुभाषिताञ्च।
भाषां समाश्रित्य वराः प्रणीताः,
पञ्चाशदेतत्कृतयः प्रथन्ते ॥

(५१)

कृत्वांकितान् जयपुरे पुरि खानियेति—
क्षेत्रस्थिताद्रिशिखरे' चरणान् जिनानाम्
प्रातिष्ठिपत्सुभवने जिन-पार्श्वनाथ—
मूर्तिं मनोहरतमां मुनिवर्य एषः ॥

(५२)

रम्यां प्रतिष्ठापितवान् जिनस्य,
खड्गासनस्थामृषभस्य मूर्तिम्।
जिनेन्द्रकल्याणकपञ्चकीयम्,
अकारयद् दिव्यमहोत्सवञ्च ॥

(५३)

क्षेत्रेषु चायं जिनमन्दिराणाम्,
बहुत्र जीर्णोद्धरणं व्यधत्त।
कोल्हापुरे" चापि जिनर्षभस्य,
मूर्तिं प्रतिष्ठापितवान्मुनीशः ॥

(५४)

क्षेत्रेष्वनेकेषु च मन्दिराणि,
विद्यालयांश्चोत्तमधर्मशालाः।
तथा चिकित्सा-भवनानि देशे,
लोकस्य निर्मापितवान् हिताय ॥

(५५)

अत्यद्भुतं भूवलयेतिसञ्ज्ञम्",
शास्त्रं प्रणीतं कुमुदेन्दुना यत्।

बुध यमासीदपि पण्डितानाम्,
तस्यार्थबोधेऽपि स शक्त आसीत् ॥

(५६)

वैदुष्य-धर्मदृढता-तपसादिकैश्च,
सर्वान् मुनीन् निजगुणैरतिशायिनेऽस्मै ।
दिल्लीस्थ-धार्मिकजनप्रवरा गुणज्ञाः,
'आचार्यरत्न'-पदवीमददन् विशिष्टाम् ॥

(५७)

दुःसाध्यघोरतपसाचरणे सुगूढम्,
अध्यात्मशक्त्यतिशयं दधतोऽपि यस्य ।
सांसारिकव्यवहृतावृजुतैव दृष्ट्वा,
वाक्कायकर्मसु सदा निरहङ्कृतिश्च ॥

(५८)

लब्धप्रतिष्ठा मुनिवर्य-विद्या—
नन्दादयः सम्प्रति लोकपूज्याः ।
अनेकशिष्यप्रवरास्तदीयाम्,
कीर्ति परामत्र समेधयन्ति ॥

(५९)

निजयथास्थिततत्त्वनिरूपणैः,
सुजनतां जनतामनुशास्ति यः ।
विविधसद्गुणहारविभूषितः,
विजयतां स सतां प्रमुखो मुनिः ॥

(६०)

सरस्वती सर्वजगद्धिताय,
देवी नरीनृत्यति वाचि यस्य ।
यस्या विलासं परिवीक्ष्य विद्वद्—
वर्गो मनोरञ्जनमादधाति ॥

(६१)

सरस्वतीं प्रत्यनुरागमस्य,
स्वं प्रत्युपेक्षामपि वीक्ष्य कीर्तिः ।
लज्जां वहन्ती मनसि स्वकीये,
दिगन्तरालेषु गतेति मन्ये ॥

(६२)

शास्त्रार्थचिन्ताप्रवणैर्बुधाग्र्यैः,
दिवानिशं भक्तिपरैः सुसेव्यम् ।
सम्यक्त्वसोपानमथाधिरोढुम्
यं सेवमानाः प्रभवन्ति लोकाः ॥

(६३)

मनोविकारग्रसितं जगद् यः
करोति माध्यस्थ्यसुधर्मनिष्ठम् ।
मतं यदग्रे परतीर्थिकानाम्,
सूर्योदये ध्वान्तमिव प्रलीनम् ॥

(६४)

पुनीतचारित्रवतां वरेण्यम्,
जिनेन्द्रभक्त्या विगतात्मदोषम् ।
दयादमत्यागसमाधिनिष्ठ—
धर्मप्रवक्तारमहं नमामि ॥

(६५)

सुवर्णरूपापि यदीयवाणी,
लौही कृपाणीव विषादवृक्षम् ।
समूलमुन्मूलयितुं समर्था,
मुनीन्द्रवर्यं प्रणमाम्यहं तम् ॥

(६६)

सत्यस्य मूर्तिः, तपसश्च मूर्तिः,
अकिञ्चनत्वस्य मनोज्ञमूर्तिः ।
यदीयपुण्यस्थितिनाऽपकृष्ट—
धर्मस्य नून भवतीह पूर्तिः ॥

(६७)

आर्षागमान् प्रत्यधुना जनानाम्,
श्रद्धां समृद्धामकरोत् यदेषः ।
तत्कारणादेव विलोकयामः,
स्वाध्यायकार्ये महतीं प्रवृत्तिम् ॥

(६८)

महोदयश्रीरजनीमृगाङ्कम्,
नमाम्यहं कीर्तिनिरस्तराकम् ।

धर्मस्य सेतुं गतभीतिशोकम्,
लोकोत्तमं हर्षितसाधुलोकम् ॥

(६६)

दृष्टास्य काचिदपरैव हि वाक्यसूक्तिः,
धर्मोपदेशमधुरा हितसार्धयित्री ।
आनन्दयत्यथ च कर्णपथं प्रयाता,
चेतः सतामममृतवृष्टिरिव प्रविष्टा ॥

(७०)

कल्याणमारोग्यमभीष्टसिद्धिम्,
समृद्धिलब्धिञ्च गुणप्रसिद्धिम् ।
महोन्नतिं कीर्तिततिं प्रसिद्धाम्,
तदीयसंघः श्रयते सदैव ॥

(७१)

विद्यावद्भिः सुभगतनुभिश्चारुचारित्रवर्यैः,
श्रीगुर्वाज्ञाविनयनिपुणैः सेवितं साधुवर्यैः ।
श्रद्धालूनां पृथुपरिषदि प्रौढधाम्नां निषण्णाम्,
त्रायस्त्रिंशैरिव परिगतं संसदीन्द्रं सुराणाम् ॥

(७२)

धात्रीभृत्सु महान् सुमेरुरचलः, शस्त्रेषु वज्रं यथा,
तार्क्ष्यः पक्षिषु गोषु कामसुरभी रत्नेषु चिन्तामणिः ।
कल्पद्रुर्द्रुषु नन्दनं वनगणेष्वैरावतो हस्तिषु,
पूज्यश्रीयुतदेशभूषणमुनिर्लोकेऽत्र विद्योतते ॥

(७३)

यावज्जगत्यां रविचन्द्रतारा:,
यावच्च गङ्गादिनदीप्रवाहः ।
आचार्यवर्याः विमलां जगत्याम्,
तावत्सुकीर्तिं समवाप्नुवन्तु ॥

(७४)

धन्योऽस्त्ययं भारतवर्षदेशः,
धन्योऽस्ति सर्वो जिनधर्मसंघः ।
श्रीबालगौडादिसमा यदीयाः,
स्वजीवनं सार्थकतां नयन्ति ॥

(७५)

प्राप्तान्तरात्मत्वपदं वरेण्यम्,
वृत्तिं दधानं प्रशमप्रधानाम् ।
सिद्धान्तवारांनिधिमृद्धशुद्धिम्,
वन्दे मुनीन्द्रं विबुधार्चिताङ्घ्रिम् ॥

(७६)

चारित्रेण समुज्ज्वलेन यतिषु प्राप्तादरं सर्वदा,
सद्धर्माचरणोपदेशकुशलं सच्छास्त्रपारङ्गतम् ।
मिथ्याज्ञानघनान्धकारमलिने पृथ्वीतले भास्करम्,
आचार्यं मुनिदेशभूषणमहं वन्दे जगद्-वन्दितम् ॥

---

१. पूज्य श्री देशभूषण जी की जन्मभूमि-'कोथली' ।
२. पूज्य आचार्य श्री की माता ।
३. पूज्य आचार्य श्री के पिता ।
४. पूज्य आचार्य श्री का जन्म (सासारिक) नाम ।
५. हैदराबाद स्टेट मे आचार्य श्री के पदार्पण से पूर्व किसी नग्न मुनि का प्रवेश कानूनी तौर पर निषिद्ध था । आपने अनेक उपसर्गों को जीतकर, सत्याग्रह आदि के द्वारा मुस्लिम सम्प्रदाय का भी दिल जीता ।
६. सर्वतोभद्र, बसन्तभद्र, रत्नावली—ये कठिन घोर तप 'उपवास' के व्रत हैं ।
७. अस्मै+अतीव
८. आचार्य पायसागर जी महाराज ।
९. जयपुर (खानिया) की मनोरम नशियां की पृष्ठभागवर्ती पहाडी पर २४ की टोंक बनाकर, उनके चरण स्थापित किये तथा बीच मे जिनालय मे पार्श्व भगवान् की उत्तुंग सातफुटी प्रतिमा स्थापित की गई ।
१०. कोल्हापुर (महाराष्ट्र) ।
११. भूवलय शास्त्र एक प्रकार से अद्भुत ग्रन्थ है । अंकों द्वारा सांकेतिक भाषा में यह निबद्ध है । कई भाषाओं में इसे पढ़ा जा सकता है । वायुयान-निर्माण आदि की विधियां इसमे छिपी हैं । आचार्य श्री ने इसे पढ़ कर एक खण्ड प्रकाशित कराया ।

आचार्यदेशभूषण-स्तुतिः

—पं० कुन्नलाल शास्त्री

ब्रह्मतेजः सुतेजस्वी दर्शनीयः सदाकृतिः ।
सौम्यमूर्तिर्महावक्ता मेधावी गुणमण्डितः ॥१॥
लेखकः शुद्धसद्ध्यानी पूज्यपादः सुशांतिभृत् ।
ओजस्वी दृष्टिसंमोदो लोकाकृष्टिप्रभाववान् ॥२॥
सज्ज्ञातानेकभाषाणां विद्वान् धीमान् दिगंबरः ।
निर्ग्रन्थो वीतरागात्मा सूरिराट् देशभूषणः ॥३॥
यो जित्वा भवभोगकर्कशारिपून् संसारकष्टप्रदान्,
आत्मन्येव सुनिष्ठितात्मधिषणो मुक्त्वा वृति भौतिकीम् ।
धृत्वाऽऽनन्दसुखास्पदं बुधधृतं जैनेश्वरं दीक्षणम्,
सोऽव्यात् सूरिवरो हितोद्यतमतिः श्री देशभूषो गुरुः ॥४॥
सम्यग्दृष्ट्यादि - संशुद्धरत्नत्रितय-भूषितः ।
आत्मैकसिद्धिसंलीनो नोऽव्यात् श्रीदेशभूषणः ॥५॥
जिनवाणीमनुसृत्य निर्मला क्लेशहारिणीम् ।
शास्त्राणां लेखको वक्ता सदाव्याद्देशभूषणः ॥६॥
स्वभावमधुरा वाणी सदैवामृतवर्षिणी ।
भव्यलोकोद्धरा यस्य स जीयाद्देशभूषणः ॥७॥

●

आइरयदेशभूषण-थुदी

प्राकृतरूपान्तरण : डॉ० प्रेमसुमन जैन, उदयपुर

बम्हतेओ सुतेजस्सी दंसणीयो सयाकिदी ।
सोम्ममुत्ती महावत्ता मेहावी गुणमंडिदो ॥१॥
लेहगो सुद्धसज्झाणी पुज्जपाओ सुसंतिधिदो ।
ओजस्सी दिट्ठि-समोओ लोगाकिट्ठि-पहावणो ॥२॥
संणायाणेगभासाण विउसो धिओ दिअंबरो ।
णिग्गंठो वीयरागप्पा सूरिराइ-देसभूसणो ॥३॥
जो जित्ता भवभोग-ककसरी संसार-परिवड्ढणा,
अप्पे एव सुणिट्ठिदप्प-हिसणो मुत्ता वित्ति भोदिगिं ।
धित्ताणंदसुहप्पदं बुहधिद जेनीस्सर दिक्खण,
स सेट्ठो सूरिवरो हिओज्जदमदी सिरि-देसभूसो गुरू ॥४॥
सम्मादिट्ठादि - संसुद्धरयणतितय - भूसिदो ।
अप्पेग-सिद्धि-सलीणो णो अव्वा सिरिदेसभूसणो ॥५॥
जिणवाणिं अणुसिज्ज-णिम्मल किलेसहारिणिं ।
सत्थाणं लेहगो वत्ता सयअव्वा देसभूसणो ॥६॥
सहावमहुरा वाणी सएव अमियवस्सिणी ।
भव्वलोगोद्धरा जस्स स जिअदु देसभूसणो ॥७॥

सिरिदेवो देशभूषणो जयइ

—डॉ० श्रीरजन सूरिदेव

घणपंकमुक्को व ससी
आइरियो सोमदंसणो महिमा ।
अणुपेक्खादित्तणयणो
सिरिदेवो देसभूसणो जयइ ॥१॥

लोअग्गगामि तवतेअपुंजं
पण्णापवित्तं जिणमग्गणाहं ।
कारुण्णरूवं करुणायरं तं
सेट्ठं मुणिं णिच्चमहं थुणामि ॥२॥

विसिट्ठदिट्ठिमंडिअ सुकम्मणाणपंडिअ ।
महग्घसत्थसायरं णमामि देशभूषणं ॥३॥

विरागमग्गमस्सियं महागुरुं दिअंबर ।
विलीणमोहदंसण भआमि देसभूसणं ॥४॥

अप्पसिद्धिसमल्लीण सिद्ध लिरयणायरं ।
सब्भावभावियं झामि तं सिरीदेसभूसणं ॥५॥

अणुओगधरं साहुं धम्मद्धयधुरंधर ।
झाइज्जामि गणहरं तमणंगंतवाइणं ॥६॥

पमायमूले संसारे वेयणापउरेऽसुहे ।
जीवाणं हि विमुक्खत्थ जीवेउ देसभूसणो ॥७॥

□

अभिनन्दन

—सुनील कुमार जैन

त्वमेव रतनत्तयभूसितोसि ।
त्वमेव सद्धम्मपतिट्ठितोसि ॥१॥

सेट्ठोसि झाणे परिदीपितोसि ।
पञ्ञात्ति कुसलोसि चिरट्ठितोसि ॥२॥

आसत्तिरहितोसि सुसिक्खितोसि ।
सम्मप्पधाने पतिमण्डितोसि ॥३॥

सति सम्पजञ्ञो जिनबोधि' अङ्गे ।
सम्मासमाधिं परिनिब्बुतोसि ॥४॥

मेत्तासु करुणासु समाहितोसि ।
भिय्यो नमामि सततं अभिवन्दितोसि ॥५॥ □

जगदाणदो देशभूषणो

—डॉ० उदयचन्द्र जैन

हं किं देमु ?
भो' धीर वीर
गुणगहीर
महणीय-वएणं महव्वयी
सुय-णाणेण महण्णाणी
हं किं देमु ?

मण-वय-काएणं णिग्गहेणं
तुम जोगीए महजोगी
विसय-वासणाजयी
चरित्तधरी
हं किं देमु ?

हं णंदणो तवप्पहू
तुम जगदाणंदो
देशभूषणो
भो ! तित्थयरपहाणुगामी
जग-जण-अहिरामी
हं किं देमु ?

कुणमु वंदण
या अहिणदणं
हं विज्जाधरो वि णत्थि
जो विज्जाए सायरो
विज्जासायरो वि कधं होमु ।
हं किं देमु ?

तओ वि
नव-चलणंबु-जुगले
उदिद-सुय्य-बिंब उदयो
लहु-सेवाए
महावीरस्स दिव्वझुणीरूवं
जण-सामण्ण-भासाए पाइयं
अक्खर-किरणावलिं
णिक्खेमु
हं किं देमु ? □

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की जीवन गाथा

—डॉ० रियाज़ ग़ाज़ियाबादी

१

नाम लूं मालिक का पहले फिर उठाऊँ मैं कलम
और करूं फिर जीवनी श्रीदेशभूषण की रक़म
मुस्कुराती थी बहारें गीत गाती थी पवन
बादलों की चाल में था एक अजब-सा बांकपन
हाथ बांधे था खड़ा सम्मान में नीला गगन
उस घड़ी जैसे किसी हो देवता का आगमन
आप जब पैदा हुए तो कलियाँ मुस्काने लगीं
और खुश होकर जहाँ में खुशबू फैलाने लगी

२

सब तरफ थी रोशनी और जश्न सा मनने लगा
घर में श्री सत्यगौड़ जी के पुत्र एक पैदा हुआ
दूज की थी वह तिथि और मूल का नक्षत्र था
क्षत्री परिवार सारा रोशनी से भर गया
कोथली है गाँव प्यारा और जिला है बेलगाम
ऊँचा है संसार भर में दक्षिणी भारत का नाम

३

आपके माता पिता भी खुश थे बेटा देखकर
भर गया था नूर से सतगौड पाटिल का घर
चाचा चाची भी हुए दिल से निछावर आप पर
हर्ष और उल्लास में डूबा हुआ था गाँव भर
दीप जलता हो न जिस पर कोई ऐसा दर न था
इससे सुन्दर और सुहाना कोई भी मंज़र न था

४

हर्ष का वातावरण था सबके हृदय थे निहाल
गीत गाते थे सभी पक्षी भी होकर एक ताल
आपके दर्शन के मोह में चाँद ने बदली थी चाल
सूर्य-सा था चमकता आपका मस्तक विशाल
कुछ खुशी भी देखने पाई न थी अक्कावती
पुत्र को छोड़ा अचानक स्वर्ग ही की राह ली

५

आपकी चाची ने सीने से लगाया आपको
बाल जीवन में हर एक दुख से बचाया आपको
ज्ञान की घुट्टी में घोला औ पिलाया आपको
सद्गुणों के भाव से अवगत कराया आपको
पालन और पोषण किया चाची ने यद्यपि आपका
किन्तु इस शुभ काम में सहयोग नानी ने दिया

६

'शान्ति सागर' जी ने भोजन आपके घर जब किया
आपको देखा तो उनका हृदय गद्गद् हो गया
और आशीर्वाद पिच्छी सर पर रख कर यूँ दिया
एक भावी साधु को बच्चे में मैंने पा लिया
दीक्षा दी आपको जयकीर्ति महाराज ने
आपके मन को लुभाया तख्त ने, न ताज ने

७

बालावस्था में ही मन को आपके चिन्ता लगी
आपके मन में कभी इच्छा हुई न भोग की
आपने दुनिया की हर वस्तु की इच्छा छोड़ दी
मानवता का दान फिर देने लगे भूषण श्री
कुछ दिनों तक ही पिता के प्यार की वर्षा हुई
फिर पिता ने भी अचानक ही ये दुनिया छोड़ दी

८

यूं तो बचपन से ही स्वामी ज्ञान का भंडार थे
अपने सब सहयोगियों से तेज थे तर्रार थे
अपने गुरुओं की भी वह आशाओं का आधार थे
नस्ले आदम के लिए वह जैसे एक सरदार थे
देशभूषण जी जवानी में बहुत बलवान थे
तीन मन के बोझ भी इनके लिए आसान थे

९

बालपन में भूमिका नाटक में जब करते कभी
उनमें बनते थे कभी सुखदेव और नारद कभी
पाँव छूता आपके नाटक का हर एक आदमी
आरती करते थे सारे गाँव वाले आपकी
ब्याह की जब आपके परिवार में चर्चा चली
लाख कहने पर भी सबके आपने शादी न की

१०

आपकी चाची अचानक एक कुएं में गिरी
चोट इस घटना से दिल पर आपके ऐसे लगी
आपको संसार से एकदम विरक्ती हो गयी
आपने ली दीक्षा अपनी गृहस्थी छोड़ दी
सांसारिक वस्तुओं की अब कोई इच्छा न थी
वस्त्र और भोजन की कोई आपको परवा न थी

११

आप हो निर्भीक योगी जंगलों में घूमते
एक दिन जब आप दिल्ली की तरफ थे आ रहे
एक घटना घट गयी थी आप पर संध्या ढले
दाँत पाँवों में गड़ाये आपके इक नाग ने
सर्प को महाराज ने झटका दिया जब जोर से
दंत टूटे पाँव में और उसका विष चढ़ने लगा

१२

बस किसी से आपने उस सर्प की चर्चा न की
और विष को दूर करने की कोई औषधि न ली
औषधि तो आपके अपने कमण्डल में ही थी
मात्रा जल की ज़रा-सी अपने पग पर डाल ली
वैद्य ने दाँतों को जब खींचा तो वह चिन्तित हुआ
दृढ़ता महाराज की देखी तो प्रभावित हुआ

१३

मग्न इक दिन आप थे जब आत्मा के ध्यान में
सर्प एक आया कहीं से और बैठा सामने
उसने ये चाहा कि बढ़कर आपको वह काट ले
आपके तप से हुए पूरे न उसके हौसले
आपके चरणों को छूकर उसने यह वादा किया
अब न मैं मानव को काटूंगा मुझे कर दो क्षमा

१४

मूड़बद्री यात्रा पर आप थे जब जा रहे
सामायिक करने लगे जब रात के बारह बजे
आपको बैठे हुए देखा वहीं वनराज ने
आप उससे हो निडर स्तोत्र पढ़ते ही रहे
आपके पढ़ने का यूं ही एक क्रम चलता रहा
और वह वनराज बैठा ध्यान से सुनता रहा

१५

कालीकट में एक दिन जब बाद चातुर्मास के
तन्मयता से आप जब अपना सफर करने लगे
आपके अपमान को कुछ दुष्ट व्यक्ति जम गये
और बोले नग्न साधू रास्ते पर क्यों चले
एक घण्टे आपने भगवान् का स्मरण किया
दुष्ट लोगों का जो संकट था वह फौरन हट गया

१६

एक घटना और भी प्रभाव की देखी गयी
जबलपुर में 'जिन' विरोधी भीड़ जब बढ़ने लगी
साम्प्रदायिक तत्त्वों ने चाल थी ऐसी चली
क्रोध से उबला हुआ था शहर का हर आदमी
ऐसी हिंसक भीड़ से मुनिवर न कुछ दिल में डरे
सहस्रों के मध्य वे निर्भीक आगे बढ़ गये

१७

आपने फिर मार्मिक उपदेश जनता को दिया
आपका एक एक वचन था प्यार में डूबा हुआ
आपके उपदेश का जनता पे जादू-सा चला
और बिगड़ा सन्तुलन भी ठीक सहसा हो गया
यह था छोटा-सा नमूना आपके प्रभाव का
और धर्मों में बढ़ा सम्मान आदर आपका

१८

आप आयुवृद्ध हैं पर नौजवानों-सी है चाल
आपका मस्तिष्क सागर, आपका हृदय विशाल
धर्म के हर क्षेत्र में है आपका रोशन कमाल
खाली लौटाते नहीं हैं जो भी करता है सवाल
हर श्रमी के हैं सहायक और दया के देवता
आपके सम्पर्क में जो आ गया हर्षित हुआ

१९

गहरे चिन्तक ही नहीं हैं एक बड़े साधक हैं आप
आत्मिकता के हैं रक्षक, धर्म प्रचारक हैं आप
लोक के कल्याण के बेजोड़ संचालक हैं आप
मानवों के हैं पिता भगवान् के बालक हैं आप
कार्य सब करते हैं वो जग की भलाई के लिये
आपका उद्देश्य है संसार से हिंसा मिटे

२०

कोल्हापुर को आपने भगवान् का घर कर दिया
और अयोध्या को भी उसके बराबर कर दिया
सारे जयपुर शहर को श्रद्धालुओं से भर दिया
मूर्ति भगवान् की रखवाई, ये आदर दिया
कितनी सुन्दर प्रतिमायें आपने लगवाई हैं
चाँदनी में धूल के जैसे आत्माएं आयी हैं।

२१

आप जब ग्रीष्म ऋतु में आबू पर्वत पर गये
इस सफर में आपके जितने भी व्यक्ति साथ थे
प्यास से सूखे गले सब लोग व्याकुल हो गये
पी गया सब जल कमण्डल से कोई महाराज के
वेदना बढने लगी सब व्यक्तियों को प्यास की
कुछ ने घबरा कर श्री महाराज से अरदास की

२२

आपने संकेत में एक आदमी से कुछ कहा
और वह अपनी जगह से दस कदम आगे बढ़ा
और एक भारी-सा पत्थर जब दिया उसने हटा
पानी का चश्मा निकल कर धरती पर बहने लगा
आपके संकेत पर धरती से धारा बह चली
साधना से आपकी यह एक घटना घट गयी

२३

एक दिन थे मेघ जब आकाश में छाये हुए
तब गमन के वास्ते महाराज ब्यावर से चले
देखा ये मौसम तो फिर कुछ लोग यूं कहने लगे
छोड़ दें संकल्प अपना कुछ समय के वास्ते
दृढ़ था महाराज का निश्चय तो रुकते क्यों भला
और अचानक आपका एक चमत्कार ऐसा हुआ

२४

आगे-आगे आप थे और पीछे-पीछे संघ था
गर्जना करते थे बादल पूरी शक्ति को लगा
आप पर कुछ भी असर इसका मगर न हो सका
ऐसी घटना थी कि जो भी व्यक्ति था हैरान था
आपके पीछे ही पीछे जोर की वर्षा हुई
आपके सारे सफर में कुछ नहीं बाधा हुई

२५

आपका उपदेश सच्ची आत्मा का साज है
आपकी आवाज ही तो वक्त की आवाज है
आपके कब्जे में कोई तख्त है न ताज है
किन्तु हर श्रोता के दिल पर आपका ही राज है
मन्द बुद्धि भी समझ लेते हैं सारे भाव को
आपके वचनों से भर लेते हैं दिल के घाव को

२६

धर्म-सम्मेलन में आये लोग लाखो विश्व के
सर्वाधिक व्यक्ति मगर बस आपके नजदीक थे
थे विदेशी कैमरे भी आप ही के सामने
गोरे आते पास और प्रणाम करके बैठते
उस सभा में आये थे जब डाक्टर जाकिर हुसैन
आपको आदर दिया हालांकि वे तो थे अजैन

२७

ग्यारह गज की मूर्ति भगवान आदिनाथ की
आपने मन्दिर में रखवाई तो ये चर्चा हुई
राम की नगरी को अब कुछ और प्रसिद्धि मिली
पहले थी बस एक की अब दो की नगरी हो गई
काम में सहयोग तो हर एक व्यक्ति ने किया
योग किन्तु सबसे बढ़कर बिरला जी ने ही दिया

२८

आपकी ताकत के एक मुस्लिम भी कायल हो गये
एक मुकदमा चल रहा था उनके रिश्तेदार पे
पास वे महाराज के आये दुआ के वास्ते
थे बहुत चिन्तित कि कैसे उनका ये संकट टले
हाथ जिस दिन आपने उस पुरुष के सर पर रखा
उसके हक में फैसला उस दिन अदालत से हुआ

२६

एक दिन जब शास्त्री जी आये मिलने के लिए
इतने प्रभावित हुए वह आपके सद्भाव से
मिनटों की तो बात क्या है घण्टों वो बंठ रहे
दे के आशीर्वाद उनसे फिर कहा ये आपने
तुम पे जीवन भर रहे भारत का यह प्रधान पद
और शोहरत की तुम्हारो दुनिया में होगी न हद

३०

आपका जोवन है सारे दीन दुखियो के लिए
दिल बदल जाते हैं अक्सर आपके प्रभाव से
ऐसे कुछ मोठ व प्यारे है वचन महाराज के
एक लुटेरा भी सुने तो लूटना हो छोड़ दे
कितने ही लोगो ने आकर आप से ली दीक्षा
जाने कितने दुष्ट लोगो का सफल जीवन हुआ

३१

दूसरे देशों से आता है जो कोई आदमी
आपकी सेवा में वह देता है आकर हाजिरी
कोर्ति फैली है अब संसार भर में आपकी
गर्व है हमको मिले हैं देशभूषण से मुनि
आज है संसार भर में आपका दिव्य प्रताप
देशभूषण नाम है हां देश के भूषण हैं आप

३२

आप मानव के लिए सरदार बनकर आये हैं
डूबती इस कौम के पतवार बन कर आये हैं
दोन दुखियों के लिए गमख्वार बन कर आये है
दुष्ट लोगों के लिये तलवार बन कर आये है
आपके प्रभाव से कल्याण मानव का हुआ
रोशनी वह पा गया जो राह था भटका हुआ

३३

आपने जिसको दुआ दी उसका सकट टल गया
जिसका घर सूना था वह भी खूब फूला औ फला
जिसको जिस साँचे मे ढाला वह उसो मे ही ढला
शान्ति का पथ यहाँ से हर किसी ने पा लिया
ए मुनिवर आपके सम्मान मे जो भो झुका
सासारिक कोप से वह पूर्ण मुक्ति पा गया

३४

आप मुनियों के मुनि हैं, करुणा के आधार हैं
आपके चरणों में अर्पित 'रियाज़' के अशआर हैं

□

——□——
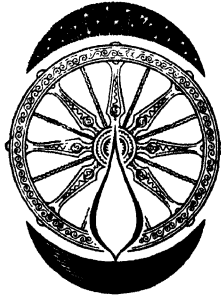
ए देव, तुम्हारे कदमों में सर अपना झुकाने आया हूं

—कृष्णमुरारि 'जिया'

खुशियों को बढ़ाने आया हूं, ग़म अपना बँटाने आया हूं
रजूर[1] फजाओं को दिल की मसरूर[2] बनाने आया हूं
खाबीदा[3] मुकद्दर को अपने बेदार[4] कराने आया हूं
दीदार की प्यासी आंखो की मैं प्यास बुझाने आया हू
कुछ फूल अकीदत[5] के लेकर चरणों में चढ़ाने आया हू
ए देव तुम्हारे क़दमों में सर अपना झुकाने आया हूं

तुम मेहरो वफ़ा की मूरत हो, अरु सब्र ओ रज़ा के पैकर[6] हो
इस देश के यूं तो भूषण हो, कहने के लिए दिगम्बर हो
इरफान[7]-ओ हक़ीक़त की रह के हादी[8] हो हक़ीक़ी रहबर हो
धरती के चमकते गोहर हो भक्ति के मेहरे खावर[9] हो
अनवार[10] के धारों से दिल की ज़ुल्मत[11] को भगाने आया हूं
ए देव तुम्हारे क़दमों में सर अपना झुकाने आया हू

कसरत[12] में तुम्हारी वहदत[13] है, वहदत में कसरत रहती है
हर आन बदन की उरयाना[14] मौसम के थपेड़े सहती है
रातों में अदा-ए खामोशो मस्ती की कहानी कहती है
बख्शिश के रवां हर सू चश्मे अरु ज्ञान की गंगा बहती है
इस ज्ञान की बहती गंगा में खुद मैं भी नहाने आया हूं
ए देव तुम्हारे कदमों में सर अपना झुकाने आया हूं

ए जैन मुनि ए धीर पुरुष गो मेरी तरह इन्सान हो तुम
हामी हो अहिंसा के लेकिन अमाल-ए निको[15] की जान हो तुम
हो शान जो नस्ले आदम की दुनिया का सही ईमान हो तुम
अब दिल तो मेरा यह कहता है इस दौर के बस भगवान हो तुम
भगवान की मूरत पर दिल के अरमान चढ़ाने आया हूं
ए देव तुम्हारे क़दमों में सर अपना झुकाने आया हूं

ये त्याग तुम्हारा ये भक्ति देखा तो नज़ारे झूम उठे
जगल की हवाएँ मस्त हुईं घर बस्ती द्वारे झूम उठे
हूरों ने फलक पर रक्स किया अरु चाँद सितारे झूम उठे
ईमान हमारे झूम उठे अरमान हमारे झूम उठे
इस जान-ए तवज्जुद[16] की सूरत आँखों में बसाने आया हूं
ए देव तुम्हारे क़दमों में सर अपना झुकाने आया हूं

खुर्शीद-ए हकीकत[17] की किरणें निकली तो जमीं पर फैल गई
गुल हाय हसीं[18] पर फैल गई अशजारेबरीं[19] पर फैल गई
मन्दिर के कलश मस्जिद के दरों गिरजों की जबीं[20] पर फैल गई
ओहाम[21] के साये छटने लगे ईमानों यकीं पर फैल गई
तारीक[22] फजाओं को दिल की पुर नूर बनाने आया हूं
ए देव तुम्हारे क़दमों में सर अपना झुकाने आया हूं

पहली ही सदा ने चौंकाया गफ़लत में पड़े इंसानों को
आ-आ के खुशी से गिरने लगे जो शम्मा मिली परवानों को
नज़्मों को मिले अश्आर नये उनवान मिले अफसानों को
मद्दाहो[23] के मुंह से जो निकले, दुनिया ने सुना उन गानों को
गानों मे उन्हीं रूहो दिल को महज़ूज़[24] बनाने आया हूं
ए देव तुम्हारे क़दमो में सर अपना झुकाने आया हूं

सत् और अहिंसा का तुमने आकर जो यहां पैग़ाम दिया
हर गाह[25] दिया हर आन[26] दिया हर सुबह दिया हर शाम दिया
क्या हिन्दु, मुसलमां, ईसाई सबही को यह इज़्ने आम[27] दिया
मयखाना-ए उलफ़त से भर कर इक जामेमये गुलफाम[28] दिया
इस जामे मुहब्बत का पीकर दिल मस्त बनाने आया हूं
ए देव तुम्हारे कदमो में सर अपना झुकाने आया हूं

हर शख्स को अब तो ख्वाहिश है सहबाए मुहब्बत[29] पीने की
है तारे नज़र मे खासीयत जख्मों को जिगर के सीने की
अखलाक ए मुकद्दर[30] ने धुल कर पाई है ज़िला[31] आईने की
मुर्दों के दिलों में जाग उठी दुनिया में तमन्ना जीने की
ईसार[32] की राहों में अपनी हस्ती को मिटाने आया हूं
ए देव तुम्हारे क़दमों में सर अपना झुकाने आया हूं

जो बात जबां से निकली है वह बात लगी सबको प्यारी
हर बोल में इक शीरीनी है हर लफ़्ज़ में है इक बेदारी[33]
यूँ फूल-से मुंह से झड़ते हैं यूँ सांस ने की है गुल[34] कारी
गुलशन में नई खुशबू फैली अरु महक उठी क्यारी क्यारी
खुशबू से नई दिल को अपने गुलज़ार बनाने आया हूं
ए देव तुम्हारे क़दमों में सर अपना झुकाने आया हूं

हर शहर गली अरु कूचों की रुत बदली नये माहौल दिये
तफरीक ए हक्को-बातिल[35] करके मिट्टी में से मोती रोल दिये
हर शख्स को अमृत बांटा है सब एक नजर से तौल दिये
दोजख के सजावारों के लिये जन्नत के दरीचे खोल दिये
उस मर्दे-मजाहिद[36] की पद रज आंखों से लगाने आया हूं
ए देव तुम्हारे कदमों में सर अपना झुकाने आया हूं

जो नोके कलम से टपका है उलफत का मेरी इक राज है ये
तायर की खयालों[37] के मेरे है पहुंच यही परवाज है ये
अलफाज का जाम पहनाया बस दिल की मेरे आवाज है ये
मिल जावे 'ज़िया' गर दाद-ए सखुन शायर के लिये एजाज़[38] है ये
महफिल में मुनिवर भूषण की यह गीत सुनाने आया हूं
ए देव तुम्हारे कदमों में सर अपना झुकाने आया हूं

—o—

१. रंजीदा २ प्रसन्न ३. सोया हुआ ४. जगाने ५. श्रद्धा ६. शरीर ७. ईश्वरीय पहचान ८. हिदायत देने वाला ९. सुबह का सूरज १०. उजाला ११. अंधेरा १२. भीड़ १३. एकान्त १४. नगापन १५. आचरण १६ झूमना १७. सत्य का सूर्य १८. सुन्दर फूल १९. ऊंचे वृक्ष २०. माथा २१. वहम २२ अन्धेरा २३ यशगान करने वाला २४. मजेदार २५. जगह २६. समय (घड़ी) २७. सबको निमन्त्रित करना २८. फूल जैसी रंगत की शराब का प्याला २९. प्रेम की शराब ३०. गन्दा स्वभाव ३१. चमक ३२. परोपकार ३३. जागृति ३४. फूल बिखराना ३५. सत्य और असत्य मे फर्क करना ३६. उपासक ३७. खयाल का पक्षी ३८. इज्जत

गुल ए अक़ीदत

—नेमचन्द जैन, गाजियाबाद

ए पाक बातिन[1] ए नेक तीनत[2]-जाने रियाजत[3] शान-ए-इबादत[4]
तुझ पै खुली है राहे हकीकत[5] ए राजदान[6] ए असरार ए कुदरत[7]

ख्वाबे मुहब्बत की ताबीर है तू
हुस्ने वफा[8] की तस्वीर है तू

तू देवता है मेहरो वफा[9] का—मखजन[10] है दिल में तेरे दया का
नक्शा मुकम्मिल सिद्को सफा[11] का—खाका[12] सरापा[13] सबो रजा का

सत् और अहिंसा का काम लेकर
आया है तू ये पैगाम लेकर

तासीर बख्शी हक ने जबां में, जादू भरा है तेरे बयां में
शोहरत है तेरी बज्में जहां में, गूंजे है नग्में कोनों मकां[14] में

हर आन खुश और दिलशाद तू है
दुनिया के ग़म से आजाद तू है

हस्ती है तेरी महवे इबादत[15], सुनता है हरदम आवाजे फितरत[16]
वहदत[17] में गोया रहती है कसरत[18], दुनिया है तेरी यह रश्के जन्नत[19]

दिल में रवां है नेकी का दरिया
हुस्ने अमल की बहती है गंगा

तेरा तजस्सुस[20] हैरत के क़ाबिल, तेरा तसव्वुर[21] रफ़अत[22] पै माइल[23]
हर इक नफ़स है इरफां[24] की मंजिल, तेरी नजर मे दुनिया है बातिल[25]

समझा है तूने हर ,राजए हस्ती
हस्ती है तेरी मुमताजए[26] हस्ती

योगी, मुनि, ए दरवेश[27], ए कामिल[28], ए सच्चे रहबर ए खिज्रे[29] मंजिल
तेरी नजर में तूफानो साहिल, आसान तुझको हर राहे मुश्किल

रोशन है सीना रोशन नजर है
दोनों जहां की तुझको खबर है

बीमार-ए ग़म के दिल की दवा है, हाथों में तेरे बेशक शफ़ा[30] है
आंखों में जादू लब पे दुआ है, हर हुक्म तेरा हुक्मे खुदा है

आता है बन के जो भी सवाली
जाता है दर से कब तेरे खाली

पैरो अगरचे है जैन मत का, है सब मजाहिब में तेरी निष्ठा
सच्चा है सच्चा यह कोल तेरा, है सारे धर्मों का एक मब्दा[31]

देता है सबको दर्स ए अखव्वत[32]
रखता है सबसे मेहरो मुहब्बत

दिल में जिला है हुर इल्मों फन की, हासिल है दौलत शेरो सुख़न[33] की
भर दी फ़जां में मस्ती चमन की, किस्मत जगा दी कौम-ओ वतन की

छाया जहा पर मक़बूल[34] होकर
महका चमन में तू फूल होकर

आधी सदी तक कसकस के तनमन, तूने निखारा भक्ति का दर्पण
तुझको मुबारक ऋषियों का जीवन, ए मर्दे मालिक[35] ए देशभूषण

है राहे हक में हर काम तेरा
जिंदा रहेगा यह नाम तेरा

ए मेरे मालिक, ए मेरे आका, ए मेरे मलजा[36] ए मेरे मावा
आया हूं लेकर सिर्फ इक तमन्ना, जिसका फ़कत[37] है इतना खुलासा

अब दूर दिल की उफ़ताद[38] कर दे
क़ल्बे ज़िया को तू शाद कर दे

—०—

१. स्वच्छ हृदय २. अच्छा स्वभाव ३. भक्ति की जान ४ भक्ति की शान ५. सच्चाई की राह ६. भेद जानने वाला ७. प्रकृति का रहस्य ८. स्वामी भक्ति की शोभा ९. प्यार १०. कोष ११. सच्चाई और पवित्रता १२. नक्शा १३. सर से पैर तक १४. लोक परलोक १५. इबादत में लगा हुआ १६. प्रकृति की आवाज १७ एकान्त १८. यह वहदत का बिलोम है १९. स्वर्ग से उत्तम २० तलाश करना २१. कल्पना शक्ति २२. ऊंचाई २३. लगा हुआ २४. ईश्वरीय भेद २५. असत्य २६. महत्त्वपूर्ण २७. फकीर २८ पूर्ण २९. एक पैगम्बर ३०. अरोग्य ३१. उद्गम, ३२. भाई चारा ३३. शायरी ३४. पसन्द ३५. फकीर ३६. शरण स्थल ३७. बस ३८. गिरावट

सृजन-
संकल्प

साहित्य-पुरुष : आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी

—साहित्य की श्रीवृद्धि को समर्पित अमृत-पुत्र आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की साहित्य-साधना

डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त
श्री सुमतप्रसाद जैन

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी की साहित्य-समाराधना का प्रेरणास्रोत संत-समागम एवं बाल वैराग्य है। बाल्यावस्था में ही माता-पिता की अकस्मात् मृत्यु हो जाने से बालगौडा (वर्तमान में श्री देशभूषण जी) को अनेक विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। सरल मन के इस अनाथ बालक ने सांसारिक प्रपंचों को देखकर यह अच्छी तरह अनुभव कर लिया था कि संसार में सब सम्बन्ध स्वार्थों पर आधारित हैं।

आचार्य श्री ने किशोरावस्था पार करके यौवन की ओर पद-निक्षेप किया ही था कि उनके परिवार में अनायास एक ऐसी घटना घटित हुई जिसमें उनका वैराग्य और अधिक प्रगाढ़ हो गया। अपनी नवविवाहिता चाची के कुएं में से निकाले गए शव के वीभत्स रूप को देखकर उन्हें जीवन की क्षणभंगुरता और संसार की असारता का बोध हो गया। उन्होंने तत्काल यह निश्चय कर लिया कि अब मैं विवाह नहीं करूंगा। आचार्य श्री के अनुसार वह करुणाजनक दृश्य एक वर्ष तक निरन्तर उनकी आंखों के समक्ष साकार रूप लेकर खड़ा हो जाया करता था।

संयोग की बात है कि उन्हीं दिनों आपको आचार्य पायसागर जी एवं आचार्य श्री जयकीर्ति जी महाराज का पावन सान्निध्य अनायास ही मिल गया। आचार्य श्री पायसागर जी ने आपको अष्टमूल गुणों के पालन का नियम दिया और आचार्य श्री जयकीर्ति जी महाराज ने आपको यज्ञोपवीत प्रदान किया। इन दोनों संतों की कृपा से आपके जीवन में अभूतपूर्व क्रांति आ गई और आपने जैन सिद्धान्त प्रवेशिका का विधिवत् अभ्यास आरम्भ कर दिया। शुभयोग से आचार्य श्री जयकीर्ति जी ने इनमें छिपी हुई प्रतिभा एवं रचनात्मक शक्ति को पहचानकर इन्हें अपने शिष्यत्व में लेना स्वीकार कर लिया। उन्होंने एक आदर्श गुरु के रूप में अपने शिष्य की समुचित शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध कर दिया। उनके पावन संसर्ग में बालगौडा ने संस्कृत का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने के अतिरिक्त द्रव्य संग्रह, धनंजय नाममाला, सर्वार्थसिद्धि इत्यादि महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का अध्ययन किया। आचार्य श्री जयकीर्ति ने इनके समुचित विकास के लिए इन्हें संस्कृत, कन्नड एवं मराठी के सैकड़ों पदों एवं सूक्तियों को भी कंठस्थ करा दिया। विद्यानुरागी श्री देशभूषण जी अपने धर्मगुरु के असाधारण कृतित्व एवं विद्वत्ता पर असीम श्रद्धा रखते थे। श्री जयकीर्ति जी महाराज की कठोर तपस्या, असाधारण प्रवचन शैली एवं हस्तलेख के अक्षरों की सुन्दर बनावट ने भी इन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया। उनके द्वारा एक पोस्टकार्ड पर तत्त्वार्थ सूत्र तथा भक्तामर के ४८ छन्द लिखे देखकर आचार्य देशभूषण जी को भी कुछ करने की प्रेरणा मिलती थी।

सन् १६३८ में आचार्य श्री जयकीर्ति जी ने अपने इस शिष्य की धर्मनिष्ठा एवं स्वाध्याय की प्रवृत्ति से सन्तुष्ट होकर इन्हें धर्म-प्रभावना के निमित्त स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का आदेश दे दिया और स्वयं संघ सहित तीर्थराज श्री सम्मेद शिखर जी की पावन वन्दना के निमित्त प्रस्थान कर गए। मुनि श्री देशभूषण जी ने गुरु के आदेशानुसार भगवान् बाहुबली की पावन प्रतिमा की छाया में संस्कृत, कन्नड, मराठी इत्यादि भाषाओं के गहन अध्ययन में स्वयं को समर्पित कर दिया। इन्हीं दिनों में आपको अपने धर्मगुरु श्री जयकीर्ति जी महाराज के आदर्श उत्सर्ग एवं समाधिपूर्वक प्राण-विसर्जन का हृदयद्रावक समाचार मिला। इस अप्रत्याशित एवं दुःखद समाचार से आपको मर्मान्तक पीड़ा पहुंची। अपने पूज्य गुरु के सात्त्विक एवं दिव्य गुणों का स्मरण करते हुए आपने उनके चरणचिह्नों पर चलने का शुभ संकल्प लिया।

इसी संकल्प की पूर्ति के लिए आपने ग्राम-ग्राम, नगर-नगर में जाकर तीर्थंकर वाणी का प्रचार-प्रसार करना प्रारम्भ किया और इसी क्रम में अपने विहार-पथ में आने वाले जिनालयों, जैन पुस्तकालयों, मठों एवं तीर्थक्षेत्रों में संरक्षित एवं सुरक्षित जैन धर्म की असंख्य पाण्डुलिपियों का अवलोकन भी किया। स्वाधीन भारत से पूर्व आचार्य श्री का कार्यक्षेत्र दक्षिण भारत एवं उसके निकटवर्ती हिन्दी राज्यों के कुछ प्रान्त रहे हैं। सन् १६३८ से १६४७ तक का कालखण्ड आचार्य श्री की प्रभावक धर्मयात्राओं के लिए विख्यात है। इन पदयात्राओं के सन्दर्भ में आचार्य श्री का व्यापक लोकसम्पर्क हुआ और जैन धर्म के शाश्वत मूल्यों के प्रचार के लिए उन्होंने एक तर्कसम्मत वैज्ञानिक दृष्टिकोण निश्चित कर लिया। इन धर्मयात्राओं में उन्होंने समाज के विद्वत्-वर्ग से गम्भीर विचार-विमर्श किया। विद्यानुरागी महाराज श्री का स्वाध्याय, भाषा

अध्ययन एवं लेखन कार्य भी निरन्तर चलता रहा है। श्रवणबेलगोल, नागपुर, शोलापुर, बंगलौर इत्यादि विभिन्न स्थानो पर उन्होने निस्संकोच होकर विद्वानो की सहायता से भारतीय भाषाओ का गहरा अध्ययन किया और अनेक धर्मग्रन्थो के साहित्यिक, धार्मिक एव दार्शनिक पक्षो पर विचार-विमर्श किया। वयोवृद्ध हो जाने पर भी आज तक इनमे ज्ञान-पिपासा की वृत्ति यथावत् बनी हुई है। ज्ञानाराधन के लिए वे संकोच की सीमाओं को तोड़ते हुए छोटे-बड़े किसी का भी सहयोग लेने मे नही कतराते। एक युगप्रवर्तक दिगम्बराचार्य होते हुए भी उन्होने ब्रह्मचारी माणिक्य नैनार (वर्तमान मे क्षुल्लक इन्द्रभूषण) के सम्पर्क मे आने पर उनके माध्यम से तमिल भाषा का अक्षराभ्यास किया। अपनी स्वाध्याय प्रवृत्ति के कारण शीघ्र ही उन्होने तमिलभाषा मे निपुणता प्राप्त कर ली और तमिल के दो प्रसिद्ध महाकाव्यों 'मेरुमन्दर पुराण' एव 'जीव सम्बोधनम्' का हिन्दी अनुवाद किया।

भारतीय स्वतन्त्रता दिवस (१५ अगस्त १९४७) के अवसर पर आचार्य श्री देशभूषण जी भारत की सास्कृतिक राजधानी बनारस मे चातुर्मास कर रहे थे। उन्होने यह अनुभव किया कि दक्षिण एव उत्तर की रागात्मक एकता के लिए एक रचनात्मक सास्कृतिक अभियान चलाना आवश्यक है। इस अभियान के यज्ञवेत्ता बनकर उन्होने स्वयं दक्षिण भारत के जैन साहित्य का हिन्दी भाषा मे और हिन्दी भाषा के साहित्य का दक्षिण भारतीय भाषाओ मे अनुवाद करने का सकल्प किया। भारतीय भाषाओ मे विचारो की एकरूपता, समान शब्दावली इत्यादि का बोध कराने की दृष्टि से प्रादेशिक भाषाओं के ग्रन्थो का उन्होने स्वय भी अनुवाद किया और सुधी समालोचको का ध्यान भी इस ओर आकृष्ट किया। सन् १९४८ मे आचार्य श्री ने सूरत (गुजरात) मे चातुर्मास किया और रत्नाकर कवि के कन्नड महाकाव्य 'भरतेश वैभव' पर विशेष प्रवचन दिए। आपकी प्रेरणा से ही श्री बाबू भाई शाह एडवोकेट ने इस कालजयी कृति का गुजराती मे अनुवाद किया। सन् १९४९ से १९५७ तक आचार्य श्री का कार्यक्षेत्र हिन्दी भाषी प्रान्त रहे है। इस कालखड मे आचार्य श्री ने बिहार, उत्तरप्रदेश, राजस्थान एवं दिल्ली के गांवो मे, कस्बों मे, नगर, उपनगरो मे एव प्रान्तो मे सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करने की ज्योति प्रज्जवलित की। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग के साकार रूप आचार्य श्री ने इस कालखण्ड मे जैन धर्म की पाडुलिपियों के लिए विश्वविख्यात 'जैन सिद्धान्त भवन' (आरा) के पुस्तकालय का विशेष रूप से अवलोकन किया।

एक युगप्रमुख आचार्य होते हुए भी आप पुस्तकालय मे अनुसन्धान छात्र के रूप मे दिन-रात स्वाध्याय एव लेखन कार्य किया करते थे। प्रत्यक्षदर्शियो के अनुसार उन दिनो यह प्रतीत होता था मानो 'जैन सिद्धात भवन' मे श्रुतावतार का आविर्भाव हो गया हो। इस अवधि मे आचार्य श्री ने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का सम्पादन एव अनुवाद कार्य किया। इस यात्रा मे उन्हे राजस्थान, बिहार, उत्तरप्रदेश एवं दिल्ली के जिनालयों मे उपलब्ध प्राचीन साहित्य को देखने का अवसर भी मिला। सन् १९५८ मे आचार्य श्री का कलकत्ता मे चातुर्मास हुआ और उन्होने बंगला भाषा मे दक्षता प्राप्त की। उनके प्रवचनों मे कभी-कभी बगला साहित्य के उदाहरण इसी दक्षता के परिणामस्वरूप सहज मे आ जाते हैं। इस चातुर्मास मे आचार्य श्री ने बगला भाषा मे 'दिगम्बर मुनि' ग्रथ का प्रणयन भी किया।

सन् १९५९ से १९८६ के कालखड मे आचार्य श्री ने इस पवित्र देश की विराट् परिक्रमा करके मानवीय मूल्यो के प्रति आस्था का भाव जगाया। एक उदार सन्त के रूप मे आपने विश्व के विभिन्न धर्म ग्रन्थो का अध्ययन किया और अपने उपदेशों मे उदारतापूर्वक उनका प्रतिपादन करके विश्वबन्धुत्व एव राष्ट्रीय सद्भाव को बल प्रदान किया। एक दिगम्बर साधक के रूप मे आपने आचार्य धर्म एव उसकी पवित्र मर्यादाओ का निर्वाह करते हुए विपुल साहित्य की सृष्टि की है और धर्मप्रभावना के निमित्त विद्वानो एव श्रेष्ठियो का सहयोग लेकर अनेक लुप्तप्राय: रचनाओ से भारतीय साहित्य जगत् को समृद्ध किया है। आचार्य श्री द्वारा प्रणीत, अनूदित, सम्पादित एव उत्प्रेरित साहित्य की यह सूची इस प्रकार है—

१. भगवान् महावीर और उनका तत्त्व-दर्शन
२. भरतेश वैभव—भोगविजय भाग १ खड १
३. भरतेश वैभव—भोगविजय भाग १ खड २
४. भरतेश वैभव—भोगविजय भाग १ खड ३
५. भरतेश वैभव—दिग्विजय भाग २ खंड १
६. धर्मामृत—भाग १
७. धर्मामृत—भाग २
८. रत्नाकर शतक—भाग १
९. रत्नाकर शतक - भाग २
१०. अपराजितेश्वर शतक—भाग १
११. अपराजितेश्वर शतक—भाग २
१२. मेरुमन्दर पुराण
१३. जीव सम्बोधनम् (अप्रकाशित)
१४ णमोकार ग्रन्थ
१५ णमोकार कल्प
१६ शास्त्रसार समुच्चय
१७ निर्वाण लक्ष्मीपति स्तुति
१८. निरजन स्तुति
१९. भक्ति स्तोत्र सग्रह
२०. भक्तामर सचित्र (अप्रकाशित)

२१. भावना सार
२२. चौदह गुण स्थान चर्चा
२३. योगामृत
२४ सिरिभूवलय
२५. भूवलय के कुछ पठनीय श्लोक
२६. श्री भूवलयान्तर्गत जयभगवद् गीता
२७. उपदेशसार संग्रह (जयपुर स० २०११)
२८. उपदेशसार संग्रह—भाग १ दिल्ली, स० २०१२)
२९. उपदेशसार संग्रह—भाग २ (दिल्ली, स० २०१२)
३०. उपदेशसार संग्रह—भाग ३ (दिल्ली, स० २०१३)
३१ उपदेशसार संग्रह—भाग ४ (दिल्ली, स० २०१४)
३२. उपदेशसार संग्रह—भाग ५ (कलकत्ता, स० २०१५)
३३. उपदेशसार संग्रह—भाग ६ (दिल्ली, वीर नि० स० २४९०)
३४ दशलक्षण धर्म (दिल्ली, सन् १९५६)
३५. दशलक्षण धर्म (दिल्ली, सन् १९६५)
३६. उपदेशसार संग्रह (कांधली, सन् १९७९)
३७. उपदेशसार संग्रह—प्रथम भाग (जयपुर, सन् १९८२)
३८ उपदेशसार संग्रह—द्वितीय भाग (जयपुर, सन् १९८-)
३९. भगवान् महावीर और मानवता का विकास
४० ढाई हजार वर्षों मे भगवान् महावीर स्वामी की विश्व को देन
४१. भगवान् महावीर की अहिंसा
४२ जैन धर्म का मर्म अहिंसा
४३. भगवान् महावीर का दिव्य सन्देश
४४. अहिंसा का शुभ सन्देश
४५. अहिंसा और अनेकान्त
४६. गुरु-शिष्य प्रश्नोत्तरी
४७. गुरु-शिष्य-सम्वाद
४८. मानव जीवन
४९ शास्त्र-गुच्छक
५०. ध्यान सूत्राणि
५१. गृहस्थ धर्म : प्राचीन—अर्वाचीन
५२. धर्म
५३ जैन धर्म का प्राचीन इतिहास—प्रथम खंड
५४. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास—द्वितीय खंड
५५. त्रेसठ शलाका पुरुष
५६. त्रिकालवर्ती महापुरुष
५७. तत्त्व भावना
५८. तत्त्व दर्शन
५९. रयण सार
६०. नियम सार
६१. यशोधर-चरित्र
६२. भक्ति कुसुम संचय
६३. अध्यात्मवाद की मर्यादा
६४. श्री जिनस्तोत्र पूजादि संग्रह
६५. विद्यानुवाद
६६. मन्त्र-सामान्य-साधन-विधान
६७. जीवाजीव विचार
६८. श्रुतपंचमी माहात्म्य
६९ सद्गुरुवाणी
७०. आशा प्रवचन ध्यान
७१. तत्त्वार्थ सूत्र (अंग्रेजी)
७२. द्रव्य-संग्रह (अंग्रेजी)
७३. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय (अंग्रेजी)
७४. आत्मानुशासन (अंग्रेजी)
७५. नर से नारायण

मराठी

७६. प्रवचनसार
७७. परमात्म प्रकाश
७८. धर्मामृतसार
७९ भरतेश वैभव सार
८०. दशभक्त्यादि संग्रह
८१ पंचस्तोत्र
८२. निरंजन स्तोत्र
८३ महाश्रमण महावीर
८४ समयसार
८५ निर्वाण लक्ष्मीपति
८६. भगवान महावीर
८७ योगामृत
८८. चिन्मय चिन्तामणि (कन्नड़ से मराठी में)
८९ अनुभव प्रकाश
९०. सूक्तिसुधा

कन्नड़

९१. स्तोत्र सार संग्रह
९२ अध्यात्म सुधासार
९३. श्रमण भगवान् महावीर भाग—१
९४. श्रमण भगवान् महावीर भाग—२
९५ अध्यात्म रस मंजरी
९६. प्रवचन सार
९७ भरतेश वैभव
९८ अष्टप्राभृत (यन्त्रस्थ)
९९ द्वादशानुप्रेक्षा (यन्त्रस्थ)
१००. सर्वार्थसिद्धि वचनिका

बंगला

१०१. दिगम्बर मुनि

गुजराती

१०२ भरतेश वैभव

साहित्य-पुरुष श्री देशभूषण जी मूलतः दिगम्बर जैन परम्परा के युगप्रमुख आचार्य हैं। मुनि अथवा आचार्य के लिए धर्मशास्त्रों मे विहित साधु धर्म का पालन प्राथमिक आवश्यकता है। जैन धर्म मे तो आचार्य एवं मुनि से विशेष अपेक्षाए की जाती हैं। शास्त्रो मे वर्णित अट्ठाईस मूलगुणों का पालन उनके लिए आवश्यक है। आचार्य श्री देशभूषण जी की दिनचर्या का एक बड़ा भाग भी सामायिक, प्रतिक्रमण, आहार, प्रवचन, ध्यान, धर्मप्रभावना इत्यादि मे व्यतीत होता है। चातुर्मास (वर्षायोग) के समय को छोड़कर उन्हे प्रायः धर्मप्रचार एवं तीर्थ-दर्शन के लिए लम्बी पदयात्राएं करनी होती हैं। ऐसी परिस्थितियो मे जीवन व्यतीत करने वाले साधक के लिए साहित्य समाराधना हेतु समय निकालना वास्तव मे कठिन कार्य है, किन्तु सरस्वतीपुत्र आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी का साहित्य के प्रति असीम अनुराग है। स्वाध्याय के समय उनके मुखमंडल पर एक अपूर्व तेज एवं दिव्यभाव के दर्शन होते है। आचार्य श्री को साहित्य के अनुशीलन एवं परिशीलन के क्षणों मे तल्लीन देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मपरिज्ञान के द्वारा मोक्षलक्ष्मी के वैभव मे उनका तादात्म्य स्थापित हो गया है।

आचार्य श्री की साहित्य-समाराधना के पुष्प प्रायः वर्षाकाल मे खिलते है। जैन मुनियो के लिए वर्षायोग आत्मसाधना एवं स्वाध्याय का स्वर्णिम अवसर है। आचार्य श्री प्रायः वर्षायोग के समय मुनिचर्या के निर्दोष पालन के अतिरिक्त धर्मप्रचार एवं संस्कृति संरक्षण के लिए श्रावक समुदाय का विशेषतः मार्गदर्शन करते हैं। उन दिनो मे आचार्य श्री प्रातःकाल से मध्य रात्रि पर्यन्त प्रायः एक ही स्थान पर स्थित रहकर समस्त कार्यों को दिशा-निर्देश देते है। उनके आसन के सन्निकट एक चौकी पर स्वाध्याय हेतु अनेक धर्मग्रन्थ, समाचार पत्र एवं सन्दर्भ ग्रन्थ रखे रहते हैं और उन्हीं के मध्य पूर्ण तन्मय होकर आचार्य श्री साहित्य रस मे समाधिस्थ हो जाते है। इसी कारण चातुर्मास के अवसरो पर उनके द्वारा प्रणीत साहित्य मे धर्म का सूक्ष्म विश्लेषण विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन साहित्य-ग्रन्थो का वे मात्र अनुवाद न करके प्रत्येक शब्द की विस्तृत व्याख्या करते है और अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए कथा-उपकथाओ एवं दार्शनिक विवेचन का सम्बल लेते हैं। इसीलिए उनके द्वारा अनूदित एवं सम्पादित कृतियां मूल आकार मे लघु होने पर भी उनकी प्रतिभा के संस्पर्श से विशालकाय धर्म-ग्रन्थों का रूप ले लेती है। 'रत्नाकर शतक' के ४५ वे पद्य की ८ पंक्तियो के अनुवाद की व्याख्या मे आचार्य श्री ने १३ पृष्ठो की विस्तृत व्याख्या की है। प्रस्तुत पद्य मे आहार, अभय, भेषज और शास्त्रदान की आवश्यकता एवं उनके स्वरूप का विवेचन किया गया है। आचार्य श्री द्वारा की गई इन उपांगो की विस्तृत व्याख्या ने एक स्वतन्त्र निबन्ध का रूप ही ले लिया है।

इसी प्रकार 'रत्नाकर शतक' के तीसरे एवं सातवे पद्य मे भी दर्शन सम्बन्धी विषयो पर पन्द्रह-पन्द्रह पृष्ठो की सविस्तार विवेचना है। ज्ञान-साधना, अनुभव एवं काल-प्रवाह के साथ आचार्य श्री की यह विस्तारवादी व्याख्या-प्रवृत्ति और भी अधिक भास्वर होती गयी है। इसी के फलस्वरूप 'अपराजितेश्वर शतक' के ६७ वें पद्य की व्याख्या मे उन्होंने लगभग ३० पृष्ठो मे विषय का विस्तृत विवेचन किया है। आचार्य श्री द्वारा प्रणीत परवर्ती रचनाओ मे तो उनका धर्मोपदेशक एवं व्याख्याकार का रूप अत्यन्त प्रबल हो गया है। 'भगवान् महावीर और उनका तत्त्व दर्शन' नामक विशालकाय ग्रन्थ मे आचार्य श्री कविवर नवलशाह की कृति 'वर्धमान पुराण' को मूलपाठ के साथ सरल हिन्दी मे प्रस्तुत करना चाहते थे। भगवान् महावीर स्वामी के भव्य एवं विराट् रूप ने उन्हे इतना अधिक मोह लिया कि वे 'स्व' को विस्मरण कर भगवान् महावीर स्वामी के युग मे ही विचरण करने लगे। भगवान् महावीर स्वामी से पूर्व की स्थिति एवं उनके द्वारा प्रतिपादित दर्शन ही उनके अध्ययन, मनन एवं अनुसंधान का विषय हो गया। इसी के परिणामस्वरूप हिन्दी भाषा मे लिखी गई ३८०६ छन्दो की रचना ने रायल अठपेजी आकार मे लगभग ६५० पृष्ठो का बृहद् रूप ले लिया। निस्सन्देह कहा जा सकता है कि आचार्य श्री द्वारा संकलित अनूदित रचनाए यथा—भगवान् महावीर और उनका तत्त्व दर्शन, भरतेश वैभव, धर्मामृत, रत्नाकर शतक, अपराजितेश्वर शतक, मेरुमन्दर पुराण, शास्त्र-सार समुच्चय, भावनासार, निर्वाण लक्ष्मीपति स्तुति इत्यादि मे उनका भाष्यकार रूप अत्यधिक प्रबल हो गया है। किन्तु इन कृतियो मे व्याख्या की इस बहुलता को देखकर यह अनुभव नही होता कि भाष्यकार ने कही भी विषय को बलात् रूप मे प्रस्तुत किया है अथवा इस विस्तार के कारण मूल विषय को ग्रहण करने मे किसी प्रकार की कठिनाई हो रही है।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने इस व्याख्यात्मक शैली और भाष्यकार स्वरूप को साभिप्राय अपनाया है। वस्तुतः विदेशी आक्रमणो एवं धर्मान्ध शासको के शासन काल मे भारतीय धर्मों के आचार्यो ने भारतीय विद्याओ को सुरक्षित एवं संरक्षित रखने की भावना से अपने ग्रन्थों में सूत्र शैली को अपनाया था। सूत्र शैली एवं कंठ विद्या उस समय की आवश्यकता थी। आज हमारा राष्ट्र परतन्त्र नही, स्वतन्त्र है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की अहिंसामय साधना एवं उत्सर्ग से भारतीय समाज मे साम्प्रदायिक कट्टरता भी अधिक नही पनप सकी। हमारे देश के संविधान निर्माताओ ने भी सर्वधर्म सद्भाव की भावना को राष्ट्र की नीति का अभिन्न अंग बना दिया है। इतिहास साक्षी है कि इस प्रकार के उदार शासनो मे जैन एवं जैनेतर धर्मानुयायियों को अपनी कला, संस्कृति एवं साहित्य को विकसित करने का अवसर मिला है। आचार्य श्री ने समय की आवश्यकता के अनुसार सूत्र शैली को भाष्य रूप मे परिवर्तित करके युगधर्म का निर्वाह किया है। एक धर्माचार्य के रूप मे आचार्य श्री का व्यापक लोकसम्पर्क हुआ है। समाज के सभी वर्गों की बोध-क्षमता से वह भली-भांति परिचित हैं। यदि

आचार्य श्री द्वारा किसी रचना का अन्य भाषा मे मात्र रूपान्तर कर दिया जाता तो जनसाधारण उसके भाव को पूर्णरूपेण नही समझ पाता। आज का मानव अनेकानेक प्रश्नचिह्नों से युक्त है। उसकी अपनी उलझनें हैं। उसके पास समय का अभाव है। वह धर्म और दर्शन की समस्याओं का बोझ अपने मस्तिष्क पर नही डालना चाहता। ऐसे संसार-चक्र मे भ्रमण करने वाले सन्तप्त प्राणियो की समस्या से अभिभूत होकर करुणाशील आचार्य श्री ने उनकी समस्याओं के निदान के लिए भाष्यकार के रूप मे कथारूपी धर्मामृत का अमृत कुंड प्रदान कर दिया है।

अनुवादक के रूप में

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने अपनी साहित्य-यात्रा मे कन्नड एवं तमिल के अनेक कालजयी धर्म-ग्रंथो यथा— महाकवि रत्नाकर वर्णी कृत 'भरतेश वैभव', 'रत्नाकर शतक', 'अपराजितेश्वर शतक', श्री नयसेन कृत 'धर्मामृत', मुनि श्री बालचन्द्र कृत 'योगामृत', श्री पुट्टय्या स्वामी कृत 'भावनासार', श्री सुजनोत्तम कृत 'श्री निर्वाण लक्ष्मीपति स्तुति', श्री माघनन्दी कृत 'शास्त्रसारसमुच्चय' श्री वामनाचार्य कृत 'मेरु मन्दर पुराण' अथवा सुप्रसिद्ध तमिल ग्रंथ जीव सम्बोधनम् आदि का हिन्दी भाषा मे अनुवाद एवं व्याख्या की है। इसी प्रकार हिन्दी भाषा के अनक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का उन्होंने कन्नड़ एवं मराठी मे अनुवाद किया है। कन्नड़ की अनेक रचनाओं का मराठी एव गुजराती मे भी उन्होंने अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त, यद्यपि सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की किसी स्वतन्त्र रचना का उन्होंने अनुवाद नही किया तथापि उनके साहित्य मे इन भाषाओ के काव्यांशो एवं गद्यांशों का बहुलता से प्रयोग मिलता है। अतः आचार्य श्री अधिकारपूर्वक यथास्थान उनका भी अनुवाद एवं विवेचन करते हैं। आचार्य श्री ने हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़ एव बंगला मे स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं।

जैनाचार्यों के लिए साहित्य की आराधना धर्म-प्रचार एवं मुक्ति का मार्ग है। धर्म के स्वरूप एवं उसमे निहित भावना से जनसाधारण को अवगत कराने के लिए उन्होने साहित्य को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। इसीलिए समर्थ आचार्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे धर्म-प्रचार के लिए भारतीय भाषाओ एवं विभिन्न लोकभाषाओ (आंचलिक भाषाओ) मे दक्षता प्राप्त करे। धर्म-सूत्रो की व्याख्या एवं धर्मग्रथो के प्रणयन से पूर्व किसी भी आचार्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत साहित्य का गम्भीर अध्ययन भी करे। बहुभाषाविद् आचार्य श्री ने धर्मग्रंथो के अनुवाद कार्य मे प्रवृत्त होने से पूर्व ही भाषाशास्त्र, अर्थ की संस्कारपरकता एवं अर्थनिरूपण की प्रकृति पर असाधारण अधिकार प्राप्त कर लिया था।

अनुवाद कार्य वस्तुतः एक साधना है। किसी भी कवि अथवा लेखक की रचना का अनुवाद करते समय रूपान्तरकार को रचयिता से भावात्मक तादात्म्य स्थापित करना पडता है। मूल लेखक के मनोभावो के साथ न्याय करने के लिए उसे विशद अध्ययन करना पड़ता है। काव्य का अनुवाद तो और भी अधिक दुष्कर है। काव्य के अनुवाद मे प्राय अनुवादक काव्य की आत्मा और कवि के मनोभाव के साथ न्याय नही कर पाते क्योंकि काव्य स्वयमेव सूत्र शैली मे होता है। सूत्रो का रूपान्तर करने के लिए काव्य के वर्ण्य, उसकी व्यापक पृष्ठभूमि, कथा सन्दर्भ, प्रसग-गर्भ, दार्शनिक शब्दावली इत्यादि का गम्भीर ज्ञान अत्यावश्यक है। अनुवाद प्रारम्भ करने से पूर्व आचार्य श्री अनूदित की जाने वाली रचना का पुनः पुनः अनेक धर्मसभाओ मे पाठ और स्थानीय विद्वानो मे विचार-विमर्श करते है। विषय पर अधिकार प्राप्त करने के उपरान्त ही वे अनुवाद कार्य मे प्रवृत्त होते हैं। उनके द्वारा किए गए अनुवादो मे यशलिप्सा की अपेक्षा आत्मकल्याण एव धर्मप्रचार की भावना रहती है। अत उनके द्वारा किए गए अनुवादो एव व्याख्या मे मोक्षसुख का बीज सन्निहित रहता है।

एक कुशल अनुवादक होते हुए भी उन्होने अपनी स्वाभाविक विनम्रता के वशीभूत होकर भाषा के सम्बन्ध मे अपनी 'अल्पज्ञता' को प्रकट करते हुए अनूदित रचना के सारतत्त्व को ग्रहण करने की सलाह दी है। आचार्य श्री के शब्दो मे "महाकवि रत्नाकर के 'अपराजितेश्वर शतक' नामक कानड़ी ग्रंथ का अनुवाद करने की मेरे हृदय मे उत्कठा उत्पन्न हुई। पर मुझमे इतनी योग्यता नही थी कि इस बडे भक्तिरसपूर्ण उत्तम ग्रंथ का अनुवाद मैं राष्ट्रभाषा हिन्दी मे करता क्योंकि हमारी मातृभाषा कर्नाटकी है। अतः त्रुटियाँ रह जाना स्वाभाविक है। विवेकी पुरुषो को दोष छोडकर गुण ग्रहण करना चाहिए। इस ग्रंथ मे कवि ने भक्ति रस के रूप मे बड़े ही सुन्दर ढंग से अध्यात्म रस का वर्णन किया है जिसके पढ़ने-सुनने से पाठको को अपूर्व रस का आस्वादन होगा और उनकी आत्मा को शान्ति प्राप्त होगी।"

आचार्य श्री ने कन्नड, तमिल, मराठी, गुजराती इत्यादि प्रादेशिक भाषाओं का अनुवाद करते समय कवि के मूल काव्य एवं कथा को भी देवनागरी लिपि मे प्रस्तुत किया है। कन्नड, तमिल, मराठी, गुजराती के पद्यो को देवनागरी लिपि में लिपिबद्ध कर देने के कारण हिन्दी भाषा-भाषियों को कन्नड एव तमिल की भक्तिपरक रचनाओं का हिन्दी मे पाठ करने की सुगमता भी प्राप्त हो गई है। आचार्य श्री के इस प्रयास मे हिन्दी भाषा-भाषियो को कन्नड इत्यादि भारतीय भाषाओ के माधुर्य एव शब्दलालित्य से परिचित होने का अवसर प्राप्त हुआ है। आचार्य श्री को उत्तर एव दक्षिण की विभाजक रेखाओ को मिटाकर उन्हे एक सूत्र मे समायोजित करने मे सफलता मिली है।

विभिन्न आर्ष ग्रंथों को हिन्दी मे अनूदित करके प्रकारान्तर से आचार्य श्री ने यह इंगित किया है कि यदि देवनागरी लिपि को अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में अपना लिया जाए तो राष्ट्र की भाषा-समस्या का स्वय ही समाधान हो जाएगा।

काव्य मान्यताएं

आचार्य श्री की साहित्य-समाराधना का उद्देश्य वीतराग भगवान् की वाणी मे रस-निमग्न होकर मोक्ष-सुख की ओर अग्रसर होना है। उनकी मान्यता है कि जिस महाकाव्य अथवा काव्येतर रचना मे जीवन को उदात्त बनाने के लिए सर्वशक्तिमान प्रभु की वाणी नही है वह रचना कभी भी मधुर एव सुन्दर नही हो सकती। आचार्य नयसेन के माध्यम से उन्होने अपने कथन को इस प्रकार पुष्ट किया है—

> **मले इल्लदे पोर्वनिर्रिबेलेगुमे घरे मरुगि कुविदु शास्त्रबबर्लाव ।**
> **दलिपं पेक्वोडमवुकोमल मक्कुमे सहजमिल्लदातन कब्ब ।।** (धर्मामृत, प्र० अध्याय, पृ० ४६)

अर्थात् जिस प्रकार बरसात के पानी के बिना गन्ना कोमल और सुरम नही हो सकता, उसी प्रकार भगवान् की वाणी के बिना कोई सुकवि मधुर और अच्छे शास्त्र की रचना नही कर सकता।

अपनी इसी मान्यता पर और अधिक बल देने के लिए आचार्य श्री ने लौकिक जगत् के उपमानों के माध्यम से अपने भाव स्पष्ट करते हुए कहा है—

> **उप्पिल्दे केलोक्कल तुप्पवनेरेवुप्वेनेंबोडुवुणिसे स्वा—**
> **वप्पुदे सहज तनगिनि-सप्पोडमिल्लदनकविते रुचिवडेवपुदे ।।** (धर्मामृत, प्र० अध्याय, पृ० ४६)

अर्थात् जिस प्रकार रसोई मे बिना नमक के सरस शाक आदि भोजन नही बन सकता, उसी प्रकार यदि कविता मे भगवान् की वाणी का रसास्वाद नही होगा तो वह मधुर तथा सुकाव्य नही बन सकती।

एक धर्माचार्य के रूप मे आचार्य श्री की महाकाव्यो के सम्बन्ध में परम्परा से भिन्न मान्यता है। भामह, दण्डी, रुद्रट इत्यादि ने महाकाव्य के लिए जिन मापदण्डो को निश्चित किया था वे आचार्य श्री को स्वीकार्य नही है। आचार्य श्री महाकाव्य के लिए ऐसे पात्रो का चयन आवश्यक मानते हैं जिनके पावन चरित्र का गुणगान करने से ८४ लाख योनियो मे भ्रमण करने वाले जीव के कर्मों की निर्जरा होकर मुक्ति का मार्ग मिले। महाकवि रत्नाकर वर्णी के स्वर मे अपना स्वर मिलाते हुए उन्होने कहा है—

> **प्रचुरवि पवनेंटु रचनेय वाक्य के। रचिसुवरानतु पेले।**
> **उचितके तक्कष्ट् पेलवेन ध्यात्मवे। निचित प्रयोजन वेनगे ।।** (भरतेश वैभव, भोग विजय, भाग १, पृ०६)

अर्थात् कविगण काव्य के कलेवर को पूर्ण करने के लिए समुद्र, नगर, राजा, रानी इत्यादि की पद्धति का निरूपण करते है, किन्तु मेरा प्रयोजन भरत की कथा के गान और अध्यात्म का रहा है।

काव्यशास्त्र मे महाकाव्य के नायक एव नायिका के श्रृंगार निरूपण को भी विशेष महत्त्व देते हुए कहा गया है कि इसमे काव्य के गौरव में वृद्धि होती है। आचार्य श्री का दृष्टिकोण इसमे सर्वथा भिन्न है। वे महापुरुषो के पावन चरित्र मे आवश्यकता से अधिक श्रृंगार रस के वर्णन का समर्थन नही करते। 'भरतेश वैभव' के भोग विजय की १५ वी सन्धि मे उन्होने स्पष्ट कहा है कि "पति-पत्नी के एकान्तवास का वर्णन करना बुद्धिमानो का चातुर्य नही है।" इसी कारण 'भरतेश वैभव' का अनुवाद करते समय अनेक स्थलो पर उन्होंने सयम का परिचय दिया है। राजा भरत एवं पद्मनी से सम्बन्धित भोगपरक पद्यो का हिन्दी मे अनुवाद न करके मार्गदर्शक आचार्य के रूप मे उन्होंने लिख दिया है कि आगे का प्रसंग हिन्दी भाषा मे अनूदित करने मे कोई बुद्धिमत्ता नही है। इसी प्रकार श्री नयसेन कृत 'धर्मामृत' के सातवे आश्वास में सम्यग्दर्शन के स्थितिकरण अग की कथा मे पद्य सख्या १९७ से २१९ तक का अनुवाद भी उन्होने नही किया है। मूल कृतियों के साथ न्याय करने की भावना से अनूदित रचनाओ मे मूल पद्यांश अवश्य दे दिया है।

आचार्य श्री की मान्यता है कि रचनाधर्मी साहित्यकारो को लोकापवादो की चिन्ता न करते हुए धर्मकथाओ के लेखन मे निरन्तर संलग्न रहना चाहिए। कुछ व्यक्ति केवल दोष-दर्शन करते हैं। बुद्धिमान व्यक्तियो को उनकी चिन्ता नही करनी चाहिए। आचार्य नयसेन के माध्यम से सम्यग्दर्शन के स्वरूप का विवेचन करते हुए वे कहते हैं, "सज्जन लोग काव्य में दोषो को ग्रहण नही करते। वे केवल उसके सार को देखते हैं। दुर्जन लोग सारगर्भित काव्य होने पर भी उसमे दोष देखते है।"

नई पीढ़ी के रचनाधर्मी साहित्यकारों के मनोबल को ऊंचा करने के लिए वे कहते हैं कि सृष्टि मे ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसमे दोष नहीं है। हमे तो केवल काव्यकार की भावना को दृष्टिगत करना चाहिए—

चविनोलमे कप्पुंटु बोलिवगलु। कवि हुवो निर्मल वो।
संधिसि शब्द दोंषग लोम्मे सुकवेगे। बंवरे धर्ममासवदे।। (भरतेश वैभव, भोग विजय, भाग १, पृ० ४)

अर्थात् दोष कहा नही है? क्या चन्द्रमा मे कलक नही है? तो क्या इससे चादनी कलङ्कित होती है? नही, कदापि नही। शब्दगत दोष आ जाए तो इससे क्या कुछ धर्म मे अन्तर आ सकता है?

प्राचीन भारत मे धर्म व दर्शन की जटिलताओं के समाधान के लिए संस्कृत भाषा का अवलम्ब लिया जाता था। भगवान् महावीर स्वामी ने अपनी धर्मदेशना मे अर्धमागधी (लोक भाषा) का आश्रय लेकर धर्म के स्वरूप को सभी के लिए सुलभ कर दिया। भगवान् महावीर स्वामी के परवर्ती जैनाचार्यों ने सस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, अपभ्र श एव आचलिक भाषाओ मे प्रचुर मात्रा मे साहित्य का प्रणयन किया है। कन्नड, तमिल इत्यादि अनेक प्रादेशिक भाषाओ का प्राचीन साहित्य तो वास्तव मे जैनाचार्यों की अभूतपूर्व देन है। आचार्यरत्न श्री देश-भूषण जी महाराज का भी भाषा के सबध मे उदार दृष्टिकोण रहा है। उनका जन्म कन्नड एवं मराठी के सन्धिस्थल जिला बेलगाम मे हुआ है। अत कन्नड एवं मराठी दोनो ही उनकी मातृभाषाए है। एक धर्मप्रभावक आचार्य के रूप मे उन्होने अंग्रेजी, तमिल, संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, बगला इत्यादि मे भी दक्षता प्राप्त की है। उनकी धर्मप्रभावना लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष में हुई है। अत. भारतीय भाषाओ की प्रादेशिक बोलियो, ग्रामीण भाषा इत्यादि मे भी उनका परिचय हुआ है। बहुभाषाविज्ञ आचार्य श्री ने भाषा संबंधी अपनी मान्यता को इस प्रकार प्रकट किया है—

"अपनी मातृभाषा सीखने के साथ द्वितीय भाषा के रूप मे भारत की प्राचीन भाषा सस्कृत का अध्ययन करना भी आवश्यक है। सस्कृत भाषा मे साहित्य, न्याय, ज्योतिष, वैद्यक, नीति, सिद्धान्त, आचार आदि अनेक विषयो के अच्छे-अच्छे सुन्दर ग्रथ विद्यमान हैं, जिनको पढने के लिए सस्कृत भाषा का ज्ञान होना अति आवश्यक है। जर्मनी, रूस, जापान आदि विदेशो के विश्वविद्यालयो मे सस्कृत भाषा पढाई जाती है, तब हमारे विद्यार्थी सस्कृत भाषा मे अनभिज्ञ रहें, यह बडी कमी और लज्जा की बात है।" (उपदेशसार संग्रह, भाग २, पृष्ठ ३०१)

'अपराजितेश्वर शतक' की समाप्ति पर अपनी विशेष टिप्पणी देते हुए आचार्य श्री ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा का गौरव प्रदान किया है। इस राष्ट्रभाषा हिन्दी के वे सरल और सुबोध स्वरूप के पक्षधर रहे है। उन्होने अपने अनेक ग्रथों की भूमिका मे भी इस आशय के भाव प्रकट किए हैं। यह विचित्र सयोग ही है कि 'अपराजितेश्वर शतक' के हिन्दी अनुवाद का समापन कार्य राष्ट्रनायक पं० जवाहरलाल नेहरू के जन्मदिवस अर्थात् १४-११-१९५५ को सम्पन्न हुआ था। राष्ट्रभाषा हिन्दी के सरल स्वरूप के सम्बन्ध मे पं० नेहरू के विचार भी कुछ इसी प्रकार के थे। वस्तुत आचार्य श्री भाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम मानते हैं। वे किसी भाषा विशेष से बधे हुए नही हैं। उनका लक्ष्य तो धर्ममयी वाणी का प्रचार-प्रसार रहा है। अत उन्होंने अपनी अनूदित कृतियो मे विद्वानो का सहयोग लेकर अनेक अशो का अंग्रेजी मे भी पद्यानुवाद कराया है। आचार्य श्री के शब्दो मे, "अगरेजी अनुवाद केवल इस अभिप्राय से किया गया है कि अन्य देशवासी भी जो कन्नडी व हिन्दी भाषा से अनभिज्ञ हैं उन्हे भी इस भारतवर्ष के महान् चक्रवर्ती तथा जैन शासन का पूर्ण परिचय मिल जाए और उनके भाव भी इस अहिंसा धर्म मे लगे।" (भरतेश वैभव, भूमिका)

आचार्य श्री द्वारा रचित एव अनूदित साहित्य का अनुशीलन करने के लिए सुविधा की दृष्टि से इसे निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है—पौराणिक साहित्य, दार्शनिक साहित्य, भक्ति साहित्य, उपदेशात्मक-उद्बोधक साहित्य, अन्य विधाओ का साहित्य, प्रेरित साहित्य।

(१) पौराणिक साहित्य

जैनागम के बारहवे श्रुताग दृष्टिवाद के भेदो मे प्रथमानुयोग का उल्लेख मिलता है। प्रथमानुयोग मे त्रेसठ महापुरुषो के जीवन-चरित्र का विस्तार से विवेचन किया गया है। त्रेसठ शलाका पुरुषों की सूची का क्रम शास्त्रसार समुच्चय के अनुसार इस प्रकार है—२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव।

(अ) तीर्थंकर—आदिनाथ अजितनाथ, सभवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर स्वामी।

(आ) **चक्रवर्ती**—भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ, सुभौम, महापद्म, हरिसेन, जयसेन, ब्रह्मदत्त।

(इ) **बलदेव**—रथ, विजय, अचल, सुधर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नंदिमित्र, राम, पद्म।

(ई) **वासुदेव**—त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुषवर, पुंडरीक, दत्तनारायण, कृष्ण।

(उ) **प्रतिवासुदेव**—अश्वग्रीव, तारक, मेरक, निसुंभ, मधुकैटभ, बली, प्रहरण, रावण, जरासंध।

भगवान् महावीर स्वामी के समवशरण मे राजा श्रेणिक की प्रार्थना एवं जिज्ञासा पर परमपूज्य श्री गौतम गणधर ने त्रेसठ महापुरुषो की कथा, उनके पूर्वभव एवं जिनवाणी के सार का निरूपण किया था। सम्राट् श्रेणिक एवं गौतम गणधर के प्रश्नोत्तर से निःसृत साहित्य को पौराणिक साहित्य कहा जाता है। पौराणिक मान्यताओ के अनुसार त्रेसठ शलाका पुरुषो मे वर्णित सभी तीर्थंकर मोक्ष पाते है। बलदेव भी ऊर्ध्वगामी होते हैं। वासुदेव और प्रतिवासुदेव अधोगामी होते हैं। चक्रवर्तियो मे ऊर्ध्वगामी एवं अधोगामी दोनो होते है।

त्रेसठ शलाका पुरुष भव्य होते हैं। भेदाभेद रत्नत्रयात्मक धर्म को धारण कर उसी भव से स्वर्ग जाने की जो कथा कही जाती है उसे अर्थाख्यान कहते हैं। मोक्ष जाने तक जो कथा है वह चारित्र कहलाती है। तीर्थंकर और चक्रवर्ती के कथानक को पुराण कहते है। आचार्य श्री द्वारा प्रणीत साहित्य मे पुराण, चारित्र एवं अर्थाख्यान तीनो का समावेश है।

आचार्य श्री द्वारा प्रणीत साहित्य मे प्रथमानुयोग संबंधी सामग्री प्रचुर मात्रा मे है। प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत इनमे से कतिपय प्रमुख रचनाओ पर विचार-विमर्श किया जायेगा।

भगवान् महावीर और उनका तत्त्व दर्शन

आचार्य श्री का भगवान् महावीर स्वामी के प्रति विशेष रागात्मक सम्बन्ध रहा है। इसी कारण वे भगवान् महावीर की पावन वाणी एवं सदेश को विश्वव्यापी बनाना चाहते है। आपने अपने बृहदकाय ग्रंथ 'भगवान् महावीर और उनका तत्त्व-दर्शन' मे श्रावक समुदाय को आशीर्वचन देते हुए लिखा है—"यह हमारा सौभाग्य है कि वर्तमान काल मे हम सब परम तीर्थंकर शासन देव भगवान् महावीर के कल्याणकारी शासन-तीर्थ मे रह रहे है और उनके लोकपावन शासन मे रहकर आत्म-कल्याण की राह पर चल रहे है। इससे भी अधिक सौभाग्य की बात यह है कि भगवान् महावीर का २५०० वा निर्वाण महोत्सव मनाने का हमे सुयोग मिल रहा है। इस महोत्सव के उपलक्ष्य मे भगवान् महावीर का जीवन-परिचय और उनका तत्त्वदर्शन समझने का सुअवसर सर्वसाधारण को सुलभ करने की भावना हमारे मन मे थी।" आचार्य श्री के दृष्टिकोण मे भगवान् महावीर स्वामी का स्वरूप अत्यन्त विराट् था। उनकी मान्यता है कि, "व्यक्ति की एक सीमा होती है, वे असीम थे। उनका व्यक्तित्व असीम था। वह देश, काल, जाति आदि की क्षुद्र सकीर्णताओं से अतीत तथा विराट् थे।"

प्रस्तुत ग्रंथ मे भगवान् महावीर के पूर्व भवो और वर्तमान जीवन का परिचय दिया गया है। पुरुरवा भील द्वारा मुनि सागरसेन से मद्य-मासादि के त्याग का नियम, व्रत के प्रभाव मे सौधर्म नामक महाकल्प विमान मे महाऋद्धिधारी देव स्वरूप को प्राप्त करना, तत्पश्चात् आद्य तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के पौत्र मरीचि के रूप मे उत्पन्न होना और फिर अनन्तानन्त भवो मे भ्रमण करके अन्तिम तीर्थंकर महावीर के रूप मे अवतरित हो जाना इस काव्य का विषय है। भगवान् महावीर स्वामी के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान एवं मोक्षकल्याणक का भी हृदयस्पर्शी वर्णन है। भगवान् महावीर के पूर्वभवों की कथा के रूप मे आचार्य श्री द्वारा दी गई टिप्पणियो से ग्रंथ ने विशाल रूप ले लिया है। प्रस्तुत ग्रंथ के अन्य भागो मे जो महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी सामग्री दी गई है उसके कारण यह ग्रन्थ एक तीर्थंकर का पुराण होते हुए भी महापुराण बन गया है।

भरतेश वैभव

आचार्य श्री को आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के पराक्रमी पुत्र चक्रवर्ती भरत ने विशेष रूप से अभिभूत किया है। सम्राट् भरत हमारे देश की आध्यात्मिक विद्या के गौरव-पुरुष रहे हैं। उनकी विजयवाहिनी ने ही सर्वप्रथम इस देश को एकछत्र शासन के अन्तर्गत संगठित किया था। विक्रम व पौरुष से सम्पन्न सम्राट् भरत वैभव की अट्टालिकाओ मे रसक्रीडा करते हुए भी परमयोगी थे। इसी साधना के बल पर सम्राट् भरत ने दिगम्बर दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् युग-युगान्तर के कर्म क्षण भर मे निर्मूल करके मुक्ति के पथ को पा लिया था।

आचार्य श्री ने इस मोक्षदायिनी कथा का सरस, रोचक एवं सरल शैली मे प्रस्तुतीकरण किया है। इस कथा के माध्यम से आचार्य श्री ने भारत की सुप्त आत्मा को झकझोरा है और सासारिकता मे लिप्त मानवजाति को गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी निर्लिप्त जीवन व्यतीत करने का सन्देश दिया है।

धर्मामृत

आचार्य नयसेन कृत धर्मामृत कन्नड भाषा का क्लिष्ट ग्रथ है। प्रस्तुत ग्रंथ मे गद्य एवं पद्य के माध्यम से आचार्य नयसेन ने सम्यग्दर्शन के स्वरूप, उसके आठ अग एव पाच व्रतो पर कथाए प्रस्तुत करके भटकती हुई मानव जाति को धर्मामृत प्रदान किया है।

आचार्य श्री देशभूषण जी की मान्यता है कि कथा साहित्य द्वारा मानव-मन को शीघ्र ही धर्म के पथ पर लगाया जा सकता है। उनके अनुसार जो काव्य या कथा जडमति के हृदय मे प्रवेश कर उसकी रुचि को जागृत कर सके ऐसा सुगम सर्वगम्य काव्य ही काव्य पद का अधिकारी है। धर्मामृत के माध्यम से आचार्य श्री ने अनेक पौराणिक पात्रो का सुधी पाठकों से परिचय कराया है। आचार्य श्री की कथा शैली सहज एव रोचक है। सभी आयु वर्ग के श्रावक-श्राविका इस कथासागर का समान रूप से आनन्द ले सकते है। कथाओं की रोचकता एवं तारतम्यता के कारण पाठक ग्रन्थ को बीच में नही छोड पाता। इन कथाओ के माध्यम से श्रावक समुदाय को धार्मिक मूल्यों के प्रति अडिग आस्था रखने का सन्देश दिया गया है।

मेरुमन्दर पुराण

श्री वामनाचार्य कृत तमिल ग्रन्थ 'मेरुमन्दर पुराण' मे १३ वें तीर्थंकर भगवान् श्री विमलनाथ जी के गणधर मेरु और मन्दर के मोक्ष जाने की कथा है। राजकुमार वैजयन्त अपने पिता मुनि श्री सजयत पर हुए उपसर्ग के समाचार से क्षुब्ध हो गया था। उसने उपसर्ग-कर्त्ता विद्युद्दष्ट्र को नागपाश मे बाधकर मारने का निश्चय कर लिया था। दैवयोग से उसी समय लातवकल्प मे परिनिर्वाण पूजा के निमित्त आए हुए आदित्यभाव देव से उसकी भेट हो गई। आदित्यभाव देव ने मेरुमन्दर पुराण के कथापात्रो के पूर्वभव वर्णन के व्याज से कथाओ का जो वृहद निरूपण किया है उससे पाठको को यह प्रतीत होने लगता है कि ससार के प्राणियों का सम्बन्ध भाव अस्थायी है। यदि प्राणी को अपना कल्याण करना है तो उसे राग-द्वेष को बढाने वाले प्रसगो से बचकर आत्मकल्याण के लिए प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार आचार्य श्री ने 'मेरुमन्दर पुराण' की रोचक एव प्रेरक कथाओ के माध्यम से पाठको को सासारिकता से विरक्त होकर आत्मचिन्तन की प्रेरणा दी है।

आचार्य श्री द्वारा प्रणीत अन्य रचनाओ मे भी प्रथमानुयोग के स्वर मुखरित होते है। ऐसा होना स्वाभाविक है क्योकि आचार्य श्री को धर्म की मर्यादाओ मे प्रतिदिन षड्आवश्यक धर्म का पालन करना होता है। अत: तीर्थंकर भगवान् की स्तुति उनके दैनिक जीवन का अग है। आचार्य श्री पौराणिक साहित्य के अध्ययन-मनन से अपने जीवन को गति एवं दिशा देते है। एक धर्मसन्त के रूप मे राष्ट्र के कल्याण की भावना से उन्होंने पौराणिक साहित्य को सहज, सरल एव रोचक रूप मे प्रस्तुत करके मानव जाति का महान् उपकार किया है।

(२) दार्शनिक साहित्य

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी की दृष्टि मे धर्म की गतिशीलता उसके दर्शन शास्त्र मे निहित होती है। आचार्य श्री ने श्री गौतम गणधर एव राजा श्रेणिक के प्रश्नोत्तर के माध्यम से 'धर्मामृत' मे अपनी भावनाओ को इस प्रकार व्यक्त किया है—"हे राजन्! कान लगाकर सुनो! बिना राजा के पृथ्वी, बिना भोजन के तृप्ति, बहुमूल्य वस्त्रों के बिना आभूषण, अलकार के बिना वेश्या, विशेष लाभ के बिना तोडा हुआ कमल पुष्प, कमल के बिना तालाब, फसल बिना देश, रक्षा बिना राजा का राजपद जिस प्रकार व्यर्थ है उसी प्रकार दर्शन रहित जो धर्म है, इस जगत् मे वह कभी भी शोभा नही पाता।"

आचार्य श्री की दर्शनशास्त्र के प्रति सहज रुचि है। 'भावनासार' मे आचार्य श्री ने दर्शन सम्बन्धी सूत्रों को समझाने के लिए लौकिक उपमानो एव प्रचलित कथाओं का आश्रय लिया है। 'वर्धमान पुराण' का सम्पादन करते समय उन्होंने ग्रथ को उपयोगी बनाने के लिए तत्त्व दर्शन पर विशेष सामग्री प्रस्तुत की है। इसी कारण ग्रंथ का नाम भी 'भगवान् महावीर और उनका तत्त्व दर्शन' रखा गया है। इस वृहद्काय धर्मग्रन्थ मे भी उन्होंने जैन दर्शन के सार को प्रस्तुत किया है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि आचार्य श्री अपनी कृतियों के माध्यम से जैन दर्शन के सिद्धान्तो का प्रचार-प्रसार करने मे निरन्तर सलग्न रहते है। उन्होंने प्राय सभी रचनाओ मे दर्शन सम्बन्धी समस्याओ का समाधान किया है। अपनी रोचक एव उपदेशमयी शैली से दर्शन शास्त्र के गम्भीर विषयो को उन्होने सरल एव बुद्धिगम्य बना दिया है। आचार्य श्री की यह मान्यता रही है कि यदि हमे अपने धर्म के शाश्वत मूल्यो की ओर देश-विदेश के बुद्धिजीवियो का ध्यान आकर्षित करना है तो जैन समाज को दर्शन विषयक ग्रन्थो का विशद रूप से प्रचार-प्रसार करवाना चाहिए। इसी भावना से उन्होंने श्री पुट्टय्या स्वामी द्वारा कन्नड भाषा मे लिखी गई 'द्रव्यसंग्रह' की ताडपत्रीय प्रति की व्याख्या एव सम्पादन का महान् कार्य किया है। प्रस्तुत ग्रथ के सारतत्त्व को

विश्वव्यापी बनाने के लिए उन्होंने हिन्दी टीका के साथ अंग्रेजी अनुवाद भी दे दिया है।

(३) भक्ति साहित्य

आचार्य श्री द्वारा प्रणीत साहित्य का मुख्य प्राण भक्ति भावना है। ससार-चक्र मे भटकती हुई आत्मा की मुक्ति के लिए आचार्य श्री स्वयं विदेहक्षेत्र स्थित तीर्थंकर अपराजितेश्वर की शरण मे चले जाते है। महाकवि रत्नाकर वर्णी की भाव-यात्रा मे सम्मिलित होकर वे १२७ पद्यों में प्रभु का स्तवन करते हुए ससार-सागर से पार करा देने की प्रार्थना करते है। १२८ वें पद्य मे भगवान् का ग्रन्थकार की प्रार्थना पर अभय वचन है, जिसमें कहा गया है—"शंका मत करो, अच्छी तरह भाव लगाकर पूजा करो। यदि इस तरह मन लगाकर पूजा करोगे, स्तुति करोगे तो निश्चयपूर्वक अपराजितेश्वर अनन्तवीर्य स्वामी और श्री मन्दर स्वामी का साक्षात् दर्शन करोगे।"

'रत्नाकर शतक' मे भी भक्ति की मन्दाकिनी प्रवाहित है। आचार्य श्री भगवान् को सम्बोधित करते हुए कहते हैं, "हे रत्नाकराधीश्वर, आप करोड़ो सूर्य और चन्द्र के प्रकाश को धारण करने वाले हैं। आपने इस पृथ्वी के ऊपर पाच हजार धनुष के आकार मे सोने और रत्नों के प्रकाश मे निर्मित लक्ष्मी-मण्डप के मध्य भाग मे स्वर्णमयी कमल की कर्णिका से चार अगुल के उन्नत प्रदेश मे, जय को प्राप्त किया था।" आचार्य श्री की उनसे एक ही भक्तिपूर्ण प्रार्थना है— "आत्म-स्वरूप के प्रति श्रद्धा, उत्कृष्ट ज्ञान और चारित्र इन तीनो को रत्नत्रय कहते हैं। यही रत्नत्रय आत्मा का अलंकार है। इसीलिए ये तीनो रत्न स्वीकार करने योग्य है, ऐसा आपने ससारी जीवो को समझाया है। हे भगवन् ! उस रत्नत्रय को प्राप्त करने की भावना मेरे हृदय मे जागृत करे।"

आचार्य श्री ने णमोकार ग्रन्थ मे पच-परमेष्ठी के स्वरूप का वर्णन करते हुए स्थान-स्थान पर भक्ति से अभिभूत होकर स्तुतिपरक साहित्य प्रस्तुत किया है। उनके मानस मे २४ तीर्थंकर सदैव विराजमान रहते है। इसीलिए आपके साहित्य मे तीर्थंकर भक्ति एव तीर्थ क्षेत्र बन्दना विशेष रूप से विद्यमान रहती है। भगवान् ऋषभदेव के प्रति आपका अप्रतिम भक्ति भाव है। इसीलिए णमोकार ग्रन्थ मे आपने उनके १००८ नाम व्याख्या सहित प्रस्तुत किए हैं। आपकी प्रगाढ भक्ति के कारण ही देश के विभिन्न भागो मे नित्य नवीन दर्शनीय धर्मस्थलो का विकास हो रहा है।

आचार्य श्री ने श्रावक समाज की सुविधा के लिए अनेक भक्तिपरक ग्रन्थो का प्रणयन किया है। उनके सद्प्रयासो से जैन मन्दिरो के पूजन मे व्यवहृत होने वाली विभिन्न पूजाओ, आरतियो और पाठ एवं प्रविधि के वृहद् सग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। आचार्य श्री अपराजित मन्त्र णमोकार के महान साधक हैं। धर्माराधन के लिए वे स्वय इस मन्त्र का जाप करते है और इसकी अचिन्त्य शक्ति का जीवन की निधि मानते हैं। श्रावक समाज मे भक्तिपूर्ण वातावरण बनाने के लिए उन्होंने राजधानी के मन्दिरो मे दुर्लभ प्रतिया एकत्र करके 'णमोकार ग्रन्थ' एव 'णमोमन्त्र कल्प' नामक महान् ग्रन्थो का सम्पादन किया है। आचार्य श्री ने प्राचीन साहित्य का आलोडन करके अनेक भक्ति स्तोत्रो का सग्रह भी किया है। इस वाङ्मय मे भी आप भक्तिपरक साहित्य के सग्रह एव प्रकाशन मे रुचि ले रहे हैं।

सन् १९८१-८२ मे जयपुर मे हुए चातुर्मास के समय आचार्य श्री ने एक मन्दिर के शास्त्र भण्डार से सचित्र भक्तामर को खोज निकाला था। आचार्य श्री की प्रेरणा से यह ग्रन्थ भी शीघ्र ही प्रकाश मे आने वाला है।

आचार्य श्री की एक विशेषता यह है कि बालक-बालिकाओ अथवा अशिक्षित महिलाओ इत्यादि मे भक्ति भाव जागृत करने के लिए वे अपने ग्रन्थो मे भक्तिपरक अनेक चित्रो को सम्मिलित कर लेते है। भरतेश वैभव, भगवान् महावीर और उनका तत्त्व दर्शन, णमोकार-ग्रन्थ आदि के सहस्रो चित्र इस दृष्टि से अवलोकनीय हैं।

(४) उपदेशात्मक-उद्‌बोधक साहित्य

श्रावक समाज को आचार्य श्री के मुखारविन्द से धर्म-श्रवण की विशेष अपेक्षा रहती है। धर्मगुरु के रूप मे समाज का समीचीन मार्ग-दर्शन एव धर्म के स्वरूप का परिज्ञान कराने के लिए उन्हे प्रायः नियमित रूप से उपदेश देना पडता है।

जैनधर्म की शास्त्रीय मर्यादाओं का पालन करते हुए साधु एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए पदयात्रा करते है। अतः जैन साधुओं का सम्पर्क समाज के विभिन्न वर्गों से स्वयमेव हो जाता है। आचार्य श्री देशभूषण जी अपनी राष्ट्रव्यापी पदयात्राओ के लिए विशेष

रूप से स्मरण किए जाते हैं। पदयात्राओं के समय उनके सम्पर्क में आने वाले धर्मप्रेमियों की जिज्ञासाओं एवं कुतूहल को शान्त करने के लिए उन्हें उपदेशात्मक शैली का आश्रय लेना पड़ता है। उन्होने अपनी ५१ वर्षीय मुनिचर्या में कितनी धर्मसभाओं को सम्बोधित किया, उनके सम्पर्क में कौन-कौन आया, उनके उपदेशामृत से कितने लाख व्यक्ति अनुगृहीत हुए, आदि प्रश्नों का उत्तर देना कठिन है, किन्तु उनकी जीवन-सरिणी का विश्लेषण करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने अब तक १० हजार से अधिक धर्मसभाओं को अवश्य सम्बोधित किया है और उनके सम्पर्क क्षेत्र मे कई करोड़ श्रावक आए है। उनके प्रवचनो में शासन के सूत्रधारों से लेकर मिट्टी की उर्वरा शक्ति एव कल-कारखानों को नया जीवन देने वाले कृषक एवं मजदूर आदि समान रूप मे सम्मिलित होते हैं। इसीलिए आचार्य श्री धर्म के स्वरूप एव अपनी आन्तरिक अनुभूतियो को जनसभाओं में लोक-कल्याण के लिए व्यक्त कर देते हैं। उनकी पावन वाणी को सर्वसुलभ एव कालजयी रूप देने की भावना से धर्मशील श्रावक-श्राविकाओ ने उनके उपदेशों को उपदेशसार के रूप मे प्रकाशित कराया है।

जैन धर्म की शास्त्रीय मर्यादाओ के अन्तर्गत दिगम्बर मुनि वर्षाकाल मे किसी निश्चित स्थान पर चातुर्मास करते हैं। इस प्रकार के प्रवास काल मे धर्मसभाओ का विशेष रूप से आयोजन होता है। श्रद्धा से भाव-विभोर होकर श्रावक-श्राविकाएँ उनके उपदेशों को साधनो की सुलभता के अनुसार पुस्तकाकार रूप दे देते हैं। आचार्य श्री के निरन्तर विचरण के कारण उनका उपदेशात्मक साहित्य एक स्थान पर उपलब्ध नही हो पाता। यहा हम उनके जयपुर, दिल्ली, कलकत्ता एवं कोथली में हुए उपदेशात्मक साहित्य का ही विश्लेषण कर रहे हैं।

आचार्य श्री के प्रवचनो का विश्लेषण करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि वे मनुष्य भव को मुक्ति का द्वार मानते हैं और इसीलिए संसारी प्राणियो के कल्याण के निमित्त वे आवश्यक मार्ग-दर्शन करते हुए जीवन के प्रत्येक क्षण का सार्थक उपयोग करने का परामर्श देते हैं। महानगरी दिल्ली मे सर्वप्रथम मगल-प्रवेश के अवसर पर विशाल जन-सभा को सम्बोधित करते हुए उन्होंने अपनी मान्यता को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"मनुष्य भव की सफलता तो उस धर्म आराधन से है जो कि देव पर्याय मे भी नहीं मिलता और जिससे आत्मा का उत्थान होता है। आत्मध्यान द्वारा अनादि परम्परा मे चली आई कर्म बेडी को तोडकर मनुष्य सदा के लिए पूर्ण स्वतत्र पूर्णमुक्त भी हो सकता है। तब दुर्लभ नर-जन्म पाकर मनुष्य जीवन के अमूल्य क्षणो मे से एक भी क्षण व्यर्थ नही खोना चाहिए।" (उपदेशसार संग्रह, भाग १, पृ० २)

उपदेशो के प्रतिपाद्य विषय को प्रामाणिक एव विज्ञान-सम्मत बनाने के लिए आचार्य श्री अनेक रोचक संवादो का आश्रय लेते हैं। वृक्षों में आत्मा को सिद्ध करने के लिए उन्होंने कलकत्ता के ईडन बाग मे हुए डा० जगदीशचन्द्र बोस एव पं० पन्नालाल जी बाकलीवाल के वार्तालाप को प्रस्तुत किया है। इस प्रकार के संवादो से जैन-धर्म के सिद्धान्तो के प्रति निष्ठा जागृत करने मे वे सफल हुए हैं। इसी प्रकार विषय को प्रभावक एव वेगमान बनाने के लिए वे प्रायः अंग्रेजी, उर्दू, हिन्दी, सस्कृत के मुहावरों व सूक्तियो का प्रयोग करते हैं। समय को अमूल्य सम्पत्ति बताते हुए उन्होंने Time is the money का प्रयोग किया है। घडी की सुई से निकलने वाली टिक-टिक ध्वनि के द्वारा उन्होंने कार्य को शीघ्र ही करने का उपदेश दिया है।

भाव को प्रभावशाली बनाने के लिए वे प्राय. अंग्रेजी कविताओ के रोचक अंश प्रस्तुत करते है। उपदेशसार प्रथम भाग मे प्रयुक्त अंग्रेजी कविता का अंश इस प्रकार है—

"Tick the clock says tick tick tick
what you have to do, do quick"

आचार्य श्री एक आदर्श धर्मसाधक हैं। उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपना सारा समय आत्मकल्याण के लिए ही केन्द्रित करेंगे। वे अपनी महान् साधना मे से समय निकालकर जन-समुदाय का मार्ग-दर्शन क्यों करते हैं? इसका सटीक उत्तर आचार्य श्री ने अपने प्रवचनों मे इस प्रकार दिया है— 'वीर शासन को व्यापक बनाने के लिए हमारा प्रथम कर्तव्य अपने सामाजिक सगठन को दृढ बनाना है। गृहस्थ वर्ग की भाँति व्रती त्यागी लोगो का संगठन भी वीरवाणी के प्रचार के लिए अत्यावश्यक है।" (उपदेशसार सग्रह, भाग १, पृ० १२६)

जैन धर्म मे सफल आचार्य को चतुर्विध सघ का पालन करना होता है। अत. मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविका सभी को समीचीन धर्मोपदेश देना उनके पद की मर्यादा के अन्तर्गत आता है। आज समाज का रूप अत्यन्त भयावह हो गया है। धर्म एवं लोक की मर्यादाओ को तोड़कर सद्गृहस्थों ने भी भौतिक सम्पन्नता के लिए गलत मार्ग को अपना लिया है। आचार्य श्री अपने धर्मप्रवचनो मे समाज मे व्याप्त कुरीतियो पर गहरा प्रहार करते है। दहेज, रात्रि-भोजन, मद्य-मास से उत्पन्न होने वाली बुराइयो, बल-स्त्रियों का कुत्सित रूप, विवाह मे होने

आँखें मीचें प्रदर्शन एवं फिजूलखर्ची पर उन्होंने तीखा प्रहार किया है।

आचार्य श्री भारतीय वाङ्मय के गंभीर अध्येता हैं। जैन धर्म एवं विश्व के अन्य प्रमुख धर्म-ग्रंथों का उन्होंने विशद अध्ययन किया है। उन्होंने अपना समस्त जीवन धर्माचरण मे लगा दिया है। अत. उनके उपदेशो मे सभी धर्मों का सार स्वयमेव आ जाता है। आचार्य श्री का उपदेशात्मक साहित्य प्रवचन मात्र न होकर धर्म का सार है। वास्तव मे उनके द्वारा दिया गया उपदेश और उपदेशात्मक साहित्य अनेक धर्म ग्रन्थों का नवनीत है। इसका स्वाध्याय कर आज की वर्तमान पीढी और भावी पीढ़ी आत्मकल्याण मे सफल होगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

आचार्य श्री अपने उपदेशो मे भारतीय एवं विश्व इतिहास की अनेक प्रेरक एवं रोचक घटनाओं का बहुलता से उल्लेख करते हैं। साथ ही, दैनिक समाचार पत्रो मे प्रकाशित होने वाली घटनाओ का विवरण भी उनके उपदेशों मे प्रचुर होता है। चीन के राजवंश, रूस के जार, जर्मनी के कैसर की अन्यायपूर्वक हस्तगत की हुई राज्य सम्पत्ति के दुष्परिणामो का उल्लेख उन्होंने अनेकत्र किया है। भारत-विभाजन एवं उससे उत्पन्न मानवीय पीड़ा का करुण दृश्य भी उनके उपदेशो मे मिलता है।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के पास अनुभूतियो का भण्डार है। पदयात्राओ के सन्दर्भ मे उन्हे अनायास ही भारतीय समाज का अध्ययन करने का अवसर मिल जाता है। स्थान-स्थान पर अनेक व्यक्ति उनसे धर्म सबधी विषयो पर मार्गदर्शन लेने आते हैं। तत्त्वचर्चा प्रेमी अपनी जिज्ञासाओ के समाधान के लिए उनके आगे प्रश्नों की बौछार कर देते हैं। समाज के अनेक रगों से वे परिचित हैं। सभ्य परिवेश की आड मे पापमय आचरण के प्रसगों की सत्य कथाओ को उन्होंने सुना है। चम्बल के बीहड़ो मे दस्युओं के प्रायश्चित्त भाव के आप साक्षी रहे हैं। इसी प्रकार की अनेक घटनाओ ने उनको जीवन-दृष्टि प्रदान की है। अनुभूत सत्यों से प्रेरित होकर उन्होंने मानवता का मार्गदर्शन करने के लिए भगवान् महावीर और मानवता का विकास, ढाई हजार वर्षों मे भगवान् महावीर स्वामी की विश्व को देन, अहिंसा और अनेकान्त, नर से नारायण, मानव जीवन, गुरु शिष्य प्रश्नोत्तरी इत्यादि पुस्तकों का प्रणयन किया है। ये सभी पुस्तकें सरल एव रोचक शैली मे है। कही-कही ऐसा लगता है कि आचार्य श्री पाठक से बातचीत कर रहे है।

भारतीय महिला समाज से महाराज श्री को अत्यधिक अपेक्षाएँ है। बालको के पालन-पोषण मे माताओं के उपेक्षा भाव को देखकर वे दुःखी हो जाते हैं। ऐसे मे वह परिवार के एक वयोवृद्ध सदस्य के रूप मे बालको के जन्म लेते ही धाय एव विलायती डिब्बे का दूध न पिलाने का परामर्श देते है। उनकी मान्यता है कि अच्छी माताएँ ही राष्ट्र के निर्माण मे सहयोग दे सकती है। राष्ट्र मे प्रचलित बुराइयों के उन्मूलन मे वे नारी-जाति का सहयोग चाहते हैं। आचार्य श्री के शब्दों मे—"जब हमारी माताओ को नए-नए कपडे बनाने, फैशन निकालने, बेटा-बेटी के ब्याह मे जनखे नचाने से ही अवकाश नही मिलता तब हमारी कमर मे युद्ध के समय प्रस्तुत होने के लिए तलवार बाधने को स्वर्ग से देवता थोड़े ही आयेंगे। आज हिन्दू ललनाओ को जनखे नचाने और नए-नए फैशन निकालने का शौक चर्राया है तो कल उन्ही की सन्तान नाटकों में पार्ट करके बाजार मे तबले बजा कर अपना जीवन समाप्त कर देगी। जो देश अथवा समाज विलासिता मे फँस जाता है वह क्या कभी अपना स्वत्व रख सकता है ?" (ढाई हजार वर्षों मे भगवान् महावीर स्वामी की विश्व को देन, पृष्ठ ३५)

आचार्य श्री अपने मन्तव्य को प्रभावी बनाने के लिए विचारोत्तेजक ऐतिहासिक प्रमाण भी पाठको के सम्मुख प्रस्तुत कर देते है। विलासिता मनुष्य को कितना कायर बना देती है, इसका उदाहरण देने के लिए आचार्य श्री ने 'ढाई हजार वर्षों मे भगवान् महावीर स्वामी की विश्व को देन' मे कहा है—

"मोहम्मद शाह रगीले का समय था। दिल्ली विलासिता के रग मे डूबी हुई थी। छोटे-बडे, अमीर-गरीब सभी विलासिता मे डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफीम की पीनक ही मे मजे लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग मे आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन विभाग मे, साहित्य क्षेत्र मे, सामाजिक व्यवस्था मे, कलाकौशल मे, उद्योग-धन्धो मे, आहार-व्यवहार मे सर्वत्र विलासिता व्याप रही थी। राज्य कर्मचारी विषयवासना मे, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन मे, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने मे, व्यवसायी सुरमे, इत्र, मिस्सी और उबटन करने के रोजगार मे लिप्त थे। सभी की आखों मे विलासिता का मद छाया हुआ था। संसार मे क्या हो रहा है इसकी किसी को खबर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरो की लडाई के लिये पाली बदी जा रही हैं। कही चौसर बिछी हुई है। ऐसे समय मे लाहौर के शासक का खरीता देहली दरबार मे पहुचा। जिस समय उसमे नादिरशाह की चढाई का हाल पढ़ा गया, उस समय मोहम्मदशाह के दरबार में शराब का दौर चल रहा था, मद्य को पीकर शाह से लेकर दरबारी तक मदमस्त थे। खरीता सुनकर एक दरबारी ने हँसकर कहा था "अजी हजूर असल बात यूँ है कि लाहौर वालों के मकान बहुत ऊंचे हैं, इसी से उन्हे बडी दूर की सूझती है। न कोई नादिरशाह है न उसकी इतनी हिम्मत ही है कि वह हजूर जैसे शाह का सामना कर सके।" उस समय इस दरबारी की बात का सबने अनुमोदन किया और शाह की

आज्ञा से वह खरीना शराब मे घोलकर पी डाला गया था। अन्त में मौहम्मदशाह को अपनी अकर्मण्यता के कारण नादिरशाह के हाथ बन्दी होना पड़ा। लालकिले पर अधिकार करके नादिरशाह ने हुक्म दिया कि "मुगलिया खानदान की तमाम बेगमात मेरे आगे आकर नाचें।" यह नादिरशाही हुक्म सुनते ही बेगमों के हाथ के तोते उड गये, होशोहवास जाते रहे। भला जिन बेगमों के मखमली गद्दों पर चलने से पैर में छाले पड़ जावें, बगैर छिला अंगूर खालें तो कब्जियत हो जावे, चान्दनी रात में नंगे बदन निकलें तो बदन काला पड़ जावे, वह क्योंकर गैर मर्द के सामने नाचने को प्रस्तुत हो जाती? परन्तु हील-हुज्जत बेकार थी। नादिरशाह का हुक्म साधारण हुक्म नहीं था। अन्त में लाचार उन्हें नादिरशाह के सामने जाना पड़ा। नादिरशाह को नींद आ गई थी, सिरहाने खंजर रखा हुआ था, बेगमें पसोपेश मे थीं, आँख खुलते ही नाचना होगा। नादिरशाह की आँख खुली, तेवर बदल कर बोला—"चली जाओ मेरे सामने से, तुम्हारा नापाक साया पड़ने से कहीं मैं भी बुजदिल न बन जाऊँ। आह! तुम अपने ऐशोआराम मे फँसने से इतनी बुजदिल हो गई हो कि तुम्हे अपनी अस्मत का भी ख्याल नही है। भला जो बेगमे गैर मर्द के सामने जान बचाने की गर्ज से नाचने को तैयार हो सकती हैं, उनकी औलाद सल्तनत क्या खाक करेगी? बस, मुझे मालूम हो गया कि अब मुगलिया खानदान हिन्दोस्तान मे बादशाहत नही कर सकेगा।"

धर्माचार्यों मे अपने धर्म के प्रति कट्टरता का भाव देखकर वे दुःखी हो जाते है। ऐसी स्थिति मे उनके मुखारविन्द से अनेकान्तमयी वाणी प्रस्फुटित हो उठती है–

'आज गृहस्थी मनुष्यों की बात तो जाने दीजिये। त्यागी साधुओं की दृष्टि भी आज निर्मल नही है। सब अपने-अपने सम्प्रदाय के साधुओं को ही श्रेष्ठ और चरित्रशील समझ बैठे है। दूसरे सभी उनकी दृष्टि में शिथिल हैं? यह कैसी शोचनीय बात है? कोई मनुष्य गंगा मे अपनी नाव चलाय या जमुना मे, आखिर तो दोनो समुद्र मे ही जाएँगे। लेकिन फिर भी कोई कहे कि गंगा मे जाने से ही समुद्र मे जाया जाय, जमुना मे जाने मे नही, तो क्या यह ठीक माना जायगा। वास्तविक सत्य तो यह है कि अपनी चरित्ररूपी नाव मजबूत होनी चाहिए, फिर चाहे कोई किसी भी रास्ते मे क्यों न जाय, अपने ध्येय पर पहुच ही जाएगा। अत. यह सोचना कि हम जिस मार्ग से जा रहे हैं वह मार्ग ही सच्चा और अच्छा है, दूसरा नही, नितान्त भ्रामक है।" (मानव जीवन, पृष्ठ १६)

इसी प्रकार धर्म के मूल्यो को विस्मृत कर मासाहार करने वाले सजातीय हिन्दुओं की सात्विक भावना को जाग्रत करने के लिए वे 'मानव जीवन' मे कहते है—

"हमारे हिन्दू भाइयों, अगर आपको भारत वर्ष का उद्धार करना है तथा इस आर्य भूमि को पवित्र बनाना या वृद्धि करनी है तो इस भूमि को जिस महान् ऋषि, मुनि, राम, कृष्ण, वशिष्ठ, अर्जुन, परमहस शुकदेव, भगवान् महावीर व स्त्रियो मे सीता सती, द्रौपदी, अहिल्या आदि महान् स्त्री रत्नो ने जन्म लेकर पवित्र किया है, उन्हे हिंसा से कलंकित न कीजिये। अगर इनकी इज्जत रखना चाहते हैं तो इन पूज्य महापुरुषों की वाणी का ख्याल करिये और क्रांति म लाने का प्रयास करिये। अर्थात् अपने शास्त्रो के अनुसार मासाहार तथा हिंसावृत्ति को बन्द करने से मानवमात्र का भला होता है और यही सच्चे सुख का एकमात्र मार्ग है। अपनी या अपने देश की भलाई करके जगत् को कल्याण मार्ग पर ले आना आवश्यक है और हमारा गौरव इसी मे है।"

राष्ट्रपिता महात्मा गाधी के असाधारण व्यक्तित्व एव कृतित्व के प्रति आचार्य श्री के हृदय मे श्रद्धाभाव है। भारतीय स्वतन्त्रता सग्राम मे महात्मा गाधी द्वारा किये गए प्रयोगो के वे साक्षी रहे हैं। इसीलिए राष्ट्रनायको से आचार्य श्री यह अपेक्षा करते हैं कि वे भी महात्मा गाधी के पदचिह्नो का अनुसरण कर विश्व मे शान्ति स्थापना मे सहयोग देंगे। आचार्य श्री के शब्दों मे—"भाइयो, आज इस देश के कोने-कोने मे जिस महात्मा गांधी की जय बोली जाती है, इस भारत देश को उसने अहिंसा रूपी शस्त्र को धारण करके ही गुलामी से मुक्त कराया। उन्होंने सभी देशवासियों को इसी मार्ग पर चलने की आज्ञा दी। इससे उत्तम कोई दूसरा मार्ग सुख और शान्ति का नही है।"

(मानव जीवन, पृष्ठ १२-१३)

आज के मानव मे परस्पर छिद्रान्वेषण एवं अविश्वास भाव का प्राधान्य देखकर आचार्य श्री को यह अनुभव होता है कि इस प्रकार के शकायुक्त दृष्टिकोण से समाज एवं राष्ट्र के विकास मे बाधा पहुंच रही है। धर्मोपदेशक एवं आचार्य होने के कारण आपने इस प्रकार के नकारात्मक चिन्तन को निरस्त करने के लिए कथामय उपदेश दिये हैं। उनके उद्बोधक उपदेशों की बानगी इस प्रकार है—

(अ) "एक दिन छलनी ने सूई से कहा—बहिन, तेरे सिर में तो छेद है। बिचारी छलनी यह नही जानती थी कि उसके तो सिर में ही छेद है, पर मेरा तो सारा शरीर ही छेदों से भरा पड़ा है। यही हाल आज मनुष्य का है। वह दूसरों के दोष तो बड़ी आसानी से देख लेता है। पर यह नही देखता कि मैं कितने दोषों का भागी हूं।" (मानव जीवन, पृष्ठ १५)

(आ) गुजरात के प्रसिद्ध कवि 'दलपत' ने अपनी एक कविता मे कहा है—

एक दिन एक ऊंट ने सियार से कहा, यह दुनिया तो बड़ी खराब है।

सियार ने कहा—क्यों मामा, यह कैसे कहते हो?

ऊंट ने कहा—देखो न, कहीं बगुले की चोंच टेढी है तो कहीं कुत्ते की पूँछ टेढ़ी है। कही हाथी की सूंड टेढ़ी है। मित्र, सब टेढ़े ही टेढ़े इस दुनिया में न जाने कहाँ से भर गये हैं?

सियार ने कहा—ऊंट मामा, यह तो ठीक कहा, लेकिन जरा अपने को तो देखो कि तुम कितनी जगह से टेढ़े हो।

मनुष्य का भी ऐसा ही हाल है। वह भी दूसरों के दोष तो देखता है। यह नही देखता कि मुझ मे भी कितने दोष भरे पड़े हैं। यह तो जानी और मानी हुई बात है कि दूसरे के दोषो को देखने से अपने जीवन मे भी दोष आवेंगे और गुणो को देखने से गुण। अतः हमारा जो खराब स्वभाव है कि हम दूसरे के दोषों को ही देखा करते हैं, वह छोड़कर गुणो की तरफ ही अपनी दृष्टि डालनी चाहिए और दोषों की तरफ से आंख मींचकर ध्यान हटा लेना चाहिए।'' (मानव जीवन, पृष्ठ १५)

वस्तुत: आचार्य श्री अपनी उद्बोधक रचनाओ के माध्यम से एक धर्ममय एव सुखी समाज की सृष्टि करना चाहते हैं। उनका चिन्तन शाश्वत एवं समाजोन्मुखी है।

(५) अन्य विधाएँ

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने अपनी राष्ट्रव्यापी पदयात्रा करते समय लगभग सन् १९४०-४१ मे प० ऐलप्पा शास्त्री के शास्त्र भण्डार मे एक महान् एव अद्भुत ग्रन्थराज 'सिरि भूवलय' का अवलोकन किया था। उस समय आचार्य श्री नवदीक्षित मुनि थे और प्रभावक धर्मयात्राओ के लिए दक्षिण का भ्रमण कर रहे थे। इस महान् ग्रन्थराज के पूर्ण वैभव का वह उस समय परिचय प्राप्त नही कर पाए।

आचार्य श्री के महानगरी दिल्ली मे चातुर्मास के समय पं० ऐलप्पा शास्त्री के पधार जाने से आचार्य श्री को इस महान् ग्रन्थ का पूर्ण परिचय प्राप्त हुआ। प्रस्तुत ग्रंथ ६४ अङ्कों मे है जिसमे कन्नड भाषा के ह्रस्व तथा दीर्घ आदि अक्षर बनते है। यह ग्रन्थराज जैनधर्म की विशेषता तथा अन्य धर्मों की सस्कृति का परिचय देता है। इसमे ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न विषय समाहित हैं। इस ग्रन्थ मे १८ महान् भाषाएँ तथा ७०० कनिष्ठ भाषाएं गर्भित हैं। आचार्य श्री के प्रभावक व्यक्तित्व से मुग्ध होकर दानवीर सेठ जुगलकिशोर बिरला ने इस ग्रन्थ के शोधकार्य मे व्यय होनेवाली राशि का भार स्वय वहन करने का दायित्व ले लिया। आचार्य श्री के सद्प्रयासो से जब भारत के विद्यानुरागी राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद को इस ग्रन्थ से परिचित कराया गया तो उन्होने भूवलय को विश्व का आठवा आश्चर्य बताया और इस ग्रन्थ को भविष्य के लिए सुरक्षित रखने की भावना मे इसे राष्ट्रीय सम्पत्ति बना दिया। कर्नाटक राज्य सरकार ने भी इस ग्रन्थ को अंग्रेजी अंकों में बदलने के लिए स्वर्गीय पं० ऐलप्पा शास्त्री को अनुदान रूप मे बारह हजार रुपये की राशि प्रदान की थी।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने विश्व साहित्य की अक शास्त्र मे निबद्ध सर्वभाषामय काव्य-रचना 'श्री भूवलय' के अंशो को चक्रबन्ध पद्धति से प्रकट किया है। महान् आचार्य श्री कुमुदेन्दु ने भूवलय मे अंको के द्वारा प्राचीन महाभारत 'भारत जयाख्यान' को समाहित किया था। आचार्य श्री देशभूषण जी ने अपनी अनवरत साहित्य साधना से श्री भूवलयान्तर्गत जयभगवद् गीता को सर्वसुलभ बना दिया है। महाराज श्री द्वारा श्री भूवलय मे से निकाले गए श्री जयभगवद् गीता के कुछ मूल श्लोक एव उन्ही के द्वारा किया गया उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है —

> 'स' ववबांधवर कोयिसि अपंरजवि, सिरिदेगबरि 'र्' आ ज्य।
> चिरसेमगेंदाय कृष्णनु पार्थने, कुरुक्षेत्र दोलरिहन न् "अ"॥
> "व्" शवाव मेलल्लवे अतरगव, कसवेंब अरिय गेल्व न् "क"।
> य सर्वरिहनन मोनाभुमसाम्मेले, कसवरि हननवप्प न् "श्" ॥

समस्त बन्धुओ की हिंसा करके प्राप्त होन वाले राज्य की अपेक्षा अविनाशी साम्राज्य को प्राप्त करने के लिये मैं दिगम्बर साधु बन कर उसे प्राप्त करूँ—ऐसे पार्थ के वचन सुन कर कृष्ण कहते हैं कि सबस पहले कुरुक्षेत्र के मैदान में जाकर शत्रु को पराजित कर। तत्पश्चात् मन-शत्रु—क्रोधादि कषायरूप अन्तरंग शत्रु के जीतने के लिये युद्ध कर—अन्तर्वासना रूप ममतामय शत्रु-दल का विनाश कर, ऐसा करने से तू अन्तर्बाह्य शत्रुओं को जीत कर अरिहंत बन जायगा और तुझे वह शाश्वत राज्य प्राप्त हो जाएगा। तब तू सम्पूर्ण विश्व का परमात्मा हो जाएगा॥

> 'व' न दोलु होक्काग तपवाशे बरब्रिल्ल, गुणवह्लि कोलावुदरि "ह्"।
> अणवेयानुयजललनु तुरिकालनु, जनगित्त् तपकयुद्धुद "व्"॥

"अ"रिहंत कुरुक्षेत्र अरहंत निर्वाण, परिक्षिणमाविय "क्षे" हु।
सिरिय निर्तार्जिसि अर्जुनर्मुवन, गुरुवागसेलंक सिद्ध "अ"।।

पार्थ को समझाते हुए श्री कृष्ण आगे कहते हैं कि हे अर्जुन ! अरिहंत नामक कुरुक्षेत्र है और अरहंत नामक निर्वाण क्षेत्र है। इन दोनों क्षेत्रो मे से सबसे पहले तू कुरुक्षेत्र मे जाकर बाह्य शत्रुओं के साथ लड़कर जिस तरह किसान शालि के भुस (तुष) को उड़ाकर तन्दुल की रक्षा करता है, उसी तरह हे पार्थ ! तू कुरुक्षेत्र मे जाकर कर्मशत्रुओ को पराजित करके इष्ट अर्थात् धर्मात्माओं की रक्षा कर। तत्पश्चात् अरहंत नामक निर्वाण क्षेत्र में जाकर भीतरी अन्तरंग कामक्रोधादिक चारो कषायों तथा पांचों इन्द्रिय रूपी शत्रुओ को जीतकर परम स्थान अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त कर।

आचार्य श्री की मान्यता है कि यदि भूवलय का गणितशास्त्र संसार मे प्रचलित हो जाए और समांक का विषमांक से विभाग हो जाए तो सब प्रश्न हल हो जायेंगे। अंको की महिमा बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि भगवान् ऋषभदेव ने एक बिन्दी को काटकर ९ अंक बनाने की विधि बताकर कहा कि सुन्दरी देवी ! तुम अपनी बड़ी बहिन ब्राह्मी के हाथ में ६४ वर्णमाला को देखकर चिन्ता मत करो कि इनके हाथ में अधिक और हमारे हाथ मे अल्प हैं। क्योंकि ये ६४ वर्ण ९ के अन्तर्गत ही हैं। इस ९ के अन्तर्गत ही समस्त द्वादशांग वाणी है। यह बात सुनते ही सुन्दरी तृप्त हो गई।

आयुर्वेद जगत् में 'पुष्पायुर्वेद' का नाम श्रद्धापूर्वक स्मरण किया जाता है। पुष्पायुर्वेद मूल रूप मे तो उपलब्ध नही है किन्तु प्राचीन धर्मग्रन्थो में उसके उद्धरण मिलते है। कहा जाता है कि भूवलय में पुष्पायुर्वेद निबद्ध है। स्वर्गीय पं० ऐलप्पा शास्त्री के निधन से 'भूवलय' का अनुवाद कार्य एवं प्रकाशन रुक गया है। यदि जैन समाज इस दिशा में कुछ रचनात्मक कार्य करे तो साहित्य की अनेक निधियो के प्रकाश में आने की सम्भावना है।

(६) प्रेरित साहित्य

आचार्य श्री का जीवन जैन धर्म, दर्शन, सस्कृति एव साहित्य के प्रचार-प्रसार मे समर्पित है। वे जैन समाज से यह अपेक्षा करते है कि वह अपने धर्म की सास्कृतिक विरासत मे विश्व को परिचित कराये। इसी भावना से वे स्वय तो साहित्य-सृजन करते ही हैं, साधर्मी विद्वानो को भी साहित्य-लेखन के लिए प्रेरित करते रहते हैं।

अहिंसा के अवतार भगवान् बुद्ध की पच्चीस सौ वी जयन्ती के अवसर पर देश-विदेश के बौद्ध विद्वानो का ध्यान भगवान् महावीर स्वामी की वाणी की ओर आकर्षित करने के हेतु आपने अंग्रेजी व्याख्या सहित पूर्वप्रकाशित ग्रन्थो तत्वार्थ सूत्र, द्रव्य सग्रह, पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, आत्मानुशासन का पुन प्रकाशन कराया। आचार्य श्री के इस प्रयास से धर्म-प्रभावना को विशेष बल मिला।

भगवान् महावीर स्वामी के पच्चीस सौवे निर्वाण महोत्सव के अवसर पर आस्था का दीप प्रज्जवलित करने के लिए आचार्य श्री ने भगवान् महावीर और उनका तत्त्व दर्शन, णमोकार ग्रन्थ आदि पुस्तको का प्रणयन किया और अपने विश्वासपात्र विद्वान् प० बलभद्र जैन एव इतिहास-मनीषी स्वर्गीय प० परमानन्द को प्रेरणा देकर 'जैन धर्म का प्राचीन इतिहास' प्रथमखण्ड एव द्वितीय खण्ड का लेखन एव प्रकाशन कराया। इसी प्रकार समय-समय पर उन्होने श्रावको की राशि को धर्म-कार्यों मे नियोजित कराने की भावना से अनेकानेक अप्रकाशित एवं अनुपलब्ध ग्रन्थो का प्रकाशन कराया। आचार्य श्री द्वारा प्रेरित साहित्य सख्या की दृष्टि से विशाल होने के कारण उसकी सूची तैयार करना एक कठिन कार्य है। वैसे भी, आचार्य श्री एक अपरिग्रही एव सचरणशील साधु हैं। कार्य निष्पादित होने के उपरान्त उनकी उसमे रुचि नहीं रहती। जैन शास्त्र भण्डारो में उनके द्वारा प्रेरित साहित्य के रूप मे त्रेसठ शलाका पुरुष, त्रिकालवर्ती महापुरुष, तत्त्व भावना, तत्त्व दर्शन, रयण सार, नियमसार, यशोधर चरित्र, भक्ति कुसुम सचय, अध्यात्मवाद की मर्यादा, विद्यानुवाद, मन्त्र-सामान्य-साधन-विधान, जीवाजीव विचार, सद्गुरुवाणी इत्यादि कृतिया उपलब्ध है। आचार्य श्री ने इन उपयोगी कृतियो के सम्पादन एवं टीका के लिए विद्वानो को आकर्षित किया और श्रेष्ठिवर्ग को इनके प्रकाशन का व्यय-भार वहन करने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार ये अनुपलब्ध कृतियाँ प्रकाश मे आईं।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी की रचना-धर्मिता और सृजन-सकल्प के सन्दर्भ मे कुछ विशेषताएँ सहज ही परिलक्षित होती हैं। समाहार रूप मे उनका उल्लेख भी आवश्यक है। इयत्ता और ईदृक्ता दोनों ही रूपो में उन्होने जो सृजन किया है उसमें सागर की अपार जल-राशि के समान केवल विस्तार ही नही वरन् अतल गहराई की भांति चिन्तन की गम्भीरता भी है। उनके विचारो के अमृतकण सागर-तल की सीपी से निकले उज्ज्वल मौक्तिक हैं जिनमे कृत्रिम मोती की ऊपरी चमक और मुलम्मा नही वरन् जो अपने अन्तर्लावण्य से सहज भास्वर हैं। नैसर्गिक मोती की दीप्ति जैसे धारण करने वाले के शारीरिक लावण्य को अप्रतिम स्निग्धता से श्रीमंडित कर देती है उसी प्रकार इसमे किंचित्

यों सन्देह नहीं कि जो श्रावक और मुमुक्षु आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी विरचित विपुल ग्रन्थ-राशि और उपदेश-सन्देश की असंख्य मुक्तावलियों में से किन्हीं दो-चार को भी अपने हृदय-प्रदेश में स्थान देगा वह मानव से अतिमानव और नर से नारायण की कल्पना का स्वयं ही साकार उपमान बन जाएगा।

आचार्य श्री ने जो कुछ भी लिखा है या कहा है उसमे जैन धर्म के सन्दर्भ मे अभिव्यक्त होने पर भी धार्मिक या साम्प्रदायिक संकीर्णता नहीं आ पायी। उनकी वाणी मानव-कल्याण के लिए है, किसी विशिष्ट समुदाय या जाति मात्र के लिए नही। महापुरुषो का चिन्तन पूर्वाग्रहों से प्रेरित नहीं होता। उनका सन्देश काल और भूगोल की परिधि का अतिक्रमण कर सार्वकालिक और सार्वदेशिक मानव-मूल्यों को रूपायित करता है। इसी कारण आचार्य श्री की सारस्वत साधना मे मानव के उदात्तीकरण और उसे परम सिद्ध अवस्था की ओर संचरण करने को प्रेरित करने की संकल्प शक्ति है। रामायण, महाभारत, बाइबिल, कुरान, जैन धर्म-कृतियो, अन्य आर्ष ग्रन्थों अथवा देश-विदेश के अनेक साधु-महात्माओ, दार्शनिकों, चिन्तको के कथन का जो भी अंश उन्हें मानव के ऊर्ध्वमुखी विकास के लिए सहायक प्रतीत हुआ है उसे उन्होंने उन्मुक्त भाव से अपनी वाणी का अंग बना कर प्रकाशित किया है। सम्भवतया साहित्य के सुधी पाठको और समालोचकों ने आचार्य श्री के साहित्य का परिशीलन इस दृष्टि से अभी नही किया। धार्मिक साहित्य मानकर इसे शायद वे अधिक महत्त्व नही दे पाये, किन्तु इस मौलिक, अनूदित और प्रेरित विशाल ग्रन्थ-राशि मे शाश्वत जीवन-मूल्यो की जो सहज व्याप्ति है, उसे जन-जन के लिए उजागर करना परम आवश्यक है। सन्तों ने निस्पृह भाव से जो लिख दिया उसमे लोकेषणा नही होती, किन्तु कला-मर्मज्ञो का यह दायित्व हो जाता है कि उन उदात्त बिन्दुओं की ओर समाज की चेतना को संवेदनशील बनाये। और यह तभी हो सकेगा जब सुधी समीक्षक आचार्य श्री की कृतियों का मनन कर उनका निष्पक्ष मूल्यांकन करेंगे। इनमे से अनेक कृतियों की सुगठित सरचनात्मक परिकल्पना, कथात्मक परिदृश्यों की चयन-छटा तथा भाषा की सहज और अनगढ प्रस्तुति भारतीय वाङ्मय मे अभूतपूर्व है। इनकी प्रबन्धात्मक कृतियो के चरितनायक और उनका कथात्मक सगुम्फन मात्र मनोरजन के लिए नही है, उसमे आत्म-विकास के दिशा सकेत हैं और तत्कालीन-समाज की विचार-दृष्टि, मनोदशा और जीवन मूल्यों को समझने मे उनसे सहायता मिलती है। मराठी, कन्नड, गुजराती आदि भाषाओ के धार्मिक साहित्य को देवनागरी हिन्दी मे रूपान्तरित और व्याख्यायित करके आचार्य श्री ने भाषा-विवाद के समाधान का प्रयास करते हुए भारत की एकात्मकता को बल प्रदान किया है। जैन शास्त्र-भण्डारों मे अभी भी असंख्य हस्तलिखित अथवा प्रकाशित---किन्तु सामान्यतया अनुपलब्ध ग्रन्थ बिखरे पड़े हैं, जिनमे अपूर्व भाव-सम्पदा सन्निहित है। उन ग्रन्थों को प्रकाश मे लाने का हर सम्भव प्रयास जैन समाज और सम्पन्न श्रावको को करना चाहिए। ऐसे सद्ग्रन्थों को प्रकाश मे लाकर देवनागरी हिन्दी को समृद्ध करना और कोटि-कोटि मानवो के कल्याण-पथ को प्रशस्त करना ही आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज का वास्तविक अभिनन्दन है।

भगवान् महावीर और उनका तत्त्व-दर्शन

—महावीर-चरित एवं जैन-दर्शन का विश्वकोश

समीक्षक : प्रो० सुरेशचन्द्र गुप्त

विश्व-साहित्य की परम्परा में वाङ्मय के दो रूप स्पष्ट दिखायी देते हैं —पहला धार्मिक साहित्य के रूप मे तथा दूसरा शुद्ध साहित्य के रूप में। संसार की विभिन्न जातियो की धार्मिक आस्थाओ –हिन्दुओं को मान्य वैदिक धर्म, इस्लाम, ईसाई मत, बौद्ध धर्म, जैन-दर्शन इत्यादि को समझने-समझाने के लिए अंग्रेजी, हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में प्रचुर सामग्री विद्यमान है। अंततः दोनों ही प्रकार के साहित्य का लक्ष्य मानवोत्थान ही होता है। फिर भी, प्रश्न हो सकता है कि आखिर धर्मविषयक रचनाओं की प्रासंगिकता क्या होती है और ऐसी रचनाएँ क्यों अपेक्षित होती हैं। उत्तर सीधा है—किसी विशिष्ट जनसमुदाय की एकता को बनाए रखने के लिए ऐसी रचनाओ का जन्म होता है और इसी मे इनकी सार्थकता है। प्राय: अपने-अपने धर्म-समुदाय के अन्तर्गत ऐसे लेखन का महत्त्व इतना अधिक है कि इस विषय मे जितना भी कहा या सोचा जाए, कम ही होगा। धर्म-सम्प्रदाय-विशेष के निरन्तर विकास और विस्तार के लिए ऐसी रचनाएँ एक प्रकार के शोधक का कार्य करती हैं। स्वयं को, धर्म के संदर्भ मे, समझने-परखने के लिए भी ऐसे साहित्य की सार्थक भूमिका रहती है। नए मूल्यो की स्थापना का कार्य भी समय-समय पर धार्मिक साहित्य ही करता है। इसी सदर्भ मे यह भी स्पष्ट है कि ऐसे साहित्य के माध्यम से विभिन्न धर्म अपना-अपना मूल्यांकन भी करते रहते हैं। निश्चय ही यह मूल्याकन मूल्यों की स्थापना के संदर्भ मे ही होता है। समय-समय पर मूल्यों के ह्रास के कारण उत्पन्न परिस्थितियो को सही दिशा देने के लिए भी ऐसे साहित्य की आवश्यकता होती है। मानव-मूल्यों को, किसी भी युग में, पोषित करने मे धार्मिक साहित्य के योगदान को नकारा नही जा सकता। यही साहित्य, वास्तव मे, हमे हमारे होने का अहसास कराकर जीवन जीने के लिए त्याग, तप, कर्म और मानव-प्रेम की पवित्र संकल्पना से हमें परिचित कराता है। विभिन्न प्रकार की नैतिक तथा आध्यात्मिक मान्यताओं के सन्दर्भ में भी तुलनात्मक अनुसंधान को सही दिशा देने का कार्य ऐसा साहित्य ही करता है। देश-काल से जुड़ी नैतिक एवं आध्यात्मिक मान्यताएँ समय के सन्दर्भों मे कितनी खरी उतरती हैं, इस बात का परिचय भी हमे ऐसे ही साहित्य से मिलता है। नैतिकता और अनैतिकता का प्रश्न जब-जब आडे आता है, तो हमे धार्मिक साहित्य की शरण मे आना पड़ता है। भारतीय संस्कृति की धरोहर के रूप मे 'रामायण', *'महाभारत', 'श्रीमद्भगवद्गीता' इत्यादि धर्म-ग्रन्थ इसी परम्परा के अंग हैं। जैन धर्म-ग्रन्थों मे उपलब्ध सामग्री भी इसी कड़ी मे मानवोत्थान* के लक्ष्य पर बल देती रही है। ऐसे धर्म-ग्रन्थ अन्ततः हमारे जीवन से इतनी निकटता के साथ जुड़ जाते हैं कि उनका अनुशीलन हमारी जीवन-यात्रा का अनिवार्य अंग बन जाता है।

धार्मिक साहित्य और शुद्ध साहित्य के अपने-अपने गुण होते हैं। दोनों ही रिक्तता की स्थिति मे अपना प्रभाव दिखाते हैं। फिर भी, देखा यही गया है कि शुद्ध साहित्य से जुड़े रचनाकार यदा-कदा ही धार्मिक साहित्य की रचना के प्रति उदार होते हैं। धर्म से जुड़े मूल्यों में अपनी आस्था व्यक्त करते हुए भी वे अपने लेखन मे उसके प्रति निरपेक्ष दिखायी देते हैं। धार्मिक साहित्य मे प्रवचन-मूलकता के कारण कहीं तो अनावश्यक विस्तार की प्रवृत्ति आ जाती है और कहीं पुनरावृत्ति का तत्त्व प्रधान रहता है। इसे धार्मिक साहित्य की आवश्यकता भी माना जा सकता है, क्योंकि बार-बार कहने से कथन-विशेष का प्रभाव लम्बे समय तक स्थिर रहता है तथा समर्पण का भाव भी जाग्रत हो जाता है। आख्यानबहुलता भी धार्मिक साहित्य से जुड़ी होती है। विभिन्न आख्यानों के माध्यम से सत्य की खोज का प्रयत्न किया जाता है और मुक्ति की राह दिखाने की चेष्टा की जाती है। यह भी उल्लेखनीय है कि विभिन्न धर्मों के साहित्य के अन्तर्गत उपलब्ध आख्यान—नाम, देश, काल आदि के थोड़े-बहुत फेर-बदल के साथ — प्रायः एक-से ही लक्षित होते हैं। ईश्वर के विभिन्न रूप विभिन्न धर्मों के माध्यम से प्रस्तुत तो होते हैं, किन्तु एक ज्योति अथवा एक शक्ति मे ही सबका विश्वास रहता है। फिर मानव के हित की बात तो सभी धर्म एक-सी ही करते हैं। प्रत्येक धर्म के साहित्य में मानव-हित का यही स्वर गुंजायमान रहता है। साहित्य एवं धर्म दोनो ही में अनुभूति का तत्त्व प्रधान होता है। कहीं निजी अनुभव की ही व्याप्ति रहती है, तो कहीं निजी भाव के ताल-मेल से रचना को पोषित किया जाता है। कला के माध्यम से ऐसी रचनाएँ अपनी गहरी छाप छोड़ती हैं। रचनाकार इनमे विवेकशील रहकर बार-बार तर्क और तुलना से अपनी भावना को प्रस्तुत करता है।

धर्मेश जन निष्ठा, समर्पण-भाव और अपनी ग्राह्यता की सीमा के अनुरूप उसे ग्रहण करते हैं। यह सिलसिला लगातार चलता रहता है। कल्पना-लालित्य का तत्त्व भी इसमे यत्किंचित् योग देता है। इन सभी गुणो को एक साथ समाहित करने पर ही प्रभावी धार्मिक साहित्य का उदय होता है। यही कारण है कि धार्मिक साहित्य प्रत्येक युग मे जन-जन की धरोहर बनता है तथा अपने समुदाय-विशेष मे ही सीमित न रहकर अपनी प्रकाश-किरणो को विश्व के प्रागण मे बिखेर देता है। इसी परिप्रेक्ष्य मे 'भगवान् महावीर और उनका तत्त्व-दर्शन' शीर्षक प्रस्तुत ग्रन्थ अवलोकनीय है और उसकी उपादेयता विचारणीय है।

आचार्यरत्न देशभूषण जी द्वारा रचित-सम्पादित 'भगवान् महावीर और उनका तत्त्व-दर्शन' शीर्षक बृहत्काय ग्रन्थ, रायल अठपेजी आकार मे, भगवान् महावीर के निर्वाण के पच्चीस सौ वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य मे सन् १९७३ मे प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत ग्रन्थ चार अध्यायों मे विभाजित है। प्रथम तीन अध्यायो मे क्रमश. जैन धर्म के सामान्य स्वरूप, जैनाभिमत भूगोल और काल का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय के आरम्भ मे कवि नवलशाह कृत 'वर्धमान पुराण' काव्य का प्रकाशन हुआ है। ब्रजभाषा मे रचित मूल कृति के साथ ही आचार्य जी ने खड़ी बोली मे सरल व्याख्या भी प्रस्तुत कर दी है। 'वर्धमान पुराण' की रचना सवत् १८२५ मे महाराज छत्रसाल के पौत्र हिन्दूपति के राज्य-काल मे हुई थी। ग्रन्थ के इसी अध्याय मे जैन धर्म, भगवान् महावीर आदि के सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण और विद्वत्तापूर्ण सामग्री सकलित है। देशभूषण जी के अतिरिक्त इस अध्याय मे जिन अन्य विद्वानो के लेख सकलित है, वे हैं—जुगलकिशोर मुख्त्यार, डॉ० जैकोबी, मुनि नगराज तथा अगरचन्द नाहटा। उक्त सम्पूर्ण सामग्री के अतिरिक्त ग्रन्थ के आरम्भ मे श्री सुमेरचन्द्र दिवाकर की प्रस्तावना, श्री ए० एन० उपाध्याय की अग्रेजी-भूमिका तथा श्री बलभद्र जैन का आमुख भी दिया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता अद्यावधि अज्ञात ग्रन्थ 'वर्धमान पुराण' का सपादन-मुद्रण है। इसकी पाडुलिपि दिगम्बर जैन खडेलवाल मन्दिर, वैदवाडा, दिल्ली मे सुरक्षित थी, जिसे प्रकाश मे लाने के लिए आचार्य श्री बधाई के पात्र है। 'भगवान् महावीर और उनका तत्त्व-दर्शन' धर्मग्रन्थ है। अत ग्रन्थ-परिचय और समीक्षा के लिए उसी दृष्टिकोण को अपनाना होगा। ग्रन्थ की रचना पारम्परिक धर्मनिरूपिणी शैली मे हुई है, फलस्वरूप इसे प्रवचन-पद्धति की रचना कहना ही उचित होगा। यहाँ इसके प्रत्येक अध्याय के प्रतिपाद्य पर विचार किया जा रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम अध्याय का प्रतिपाद्य है—जैन धर्म का सामान्य स्वरूप। आचार्य देशभूषण जी ने धर्म का यह लक्षण स्थिर किया है : "अन्त-रहित इस ससार के भ्रमर रूपी जाल मे फसकर भ्रमण करने वाले जीव कोटि को कर्मपाश से मुक्त कर नित्य पद जो कि सुखमय है उसमे जो पहुचाने वाला है, वही धर्म है।" जैन धर्म मे कर्म को बन्धनमूलक नहीं, अपितु बन्धन से मुक्ति दिलाने वाला माना गया है। कर्म से ही जीव को रागादिक भाव-कर्म और ज्ञानावरण आदि द्रव्य-कर्म से मुक्ति मिलती है। सर्वोपरि ध्येय सुख को प्राप्त करके वह धर्म की ओर प्रेरित होता है। धर्म रूपी सुख के इस अभ्युदय को जैनाचार्यों ने 'धर्मः सर्वसुखकरो हितकरो' के रूप मे परिभाषित किया है। उनके अनुसार कर्म से प्राप्त धर्म सर्वार्थसिद्धि का दाता होना है।

जैन धर्म की स्वरूप-चर्चा के सदर्भ मे देशभूषण जी ने आचार्य समन्तभद्र के निम्नलिखित श्लोक की विस्तृत तत्त्वनिरूपिणी व्याख्या प्रस्तुत की है :

देशयामि समीचीन धर्मं कर्मनिबर्हणम्।
ससारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥

देशभूषण जी ने धर्म मे समीचीनता को महत्त्व दिया है "धर्म यथार्थ और विवेक पर आधारित रहता है, वह प्राचीन और अर्वाचीन की समन्वय-भूमि है, किन्तु यह समीचीनता व्यक्ति, देश और काल पर निर्भर करती है अर्थात् अवस्थाविशेष मे समीचीनता का मानदंड बदल जाता है।" कर्म, धर्म और समीचीनता की इस त्रयी मे से, आगे चलकर, उन्होने कर्म को शत्रु-रूप भी कहा है। उन्ही के शब्दो मे, "जिन्होने अरिरज रहस्य यानी कर्म-शत्रु को जीत लिया है उनको जिन कहते है, उन्होने प्राप्त किया जो आत्म-स्वरूप उसको आत्मधर्म या जैन धर्म कहते हैं।" सम्पूर्ण मिथ्या-मार्ग के निराकरण पर बल देना ही आचार्य जी का अभीष्ट है। जीव निरजन पद को कब प्राप्त होता है अर्थात् अखण्ड सिद्धात्मा कब कहलाता है, इसकी भी उन्होने सुन्दर व्याख्या की है। उनके अनुसार जीव का उत्थान-पतन स्वयं उसी पर निर्भर करता है—जन्म, जरा और मरण के रूप मे वह क्रमश. सृष्टिकर्ता, स्थिति कर्तव्य और लय कर्तव्य नाम्नी तीन स्थितियो का अनुभव करता है। आचार्य जी ने द्रव्य, षट्द्रव्य तथा जीव द्रव्य पर भी विचार प्रस्तुत किए है। उनके मत मे जीव सर्वव्यापक, निर्विकल्प और ब्रह्मानंद मे सदा तैरने वाला है। जीव का लक्षण और उसके भेद, कर्म और उसके भेद, धर्म द्रव्य, काल द्रव्य, सप्त तत्त्व, अष्ट कर्म आदि का विवेचन भी लेखक ने सारग्राहिणी शैली में किया है। आचार्य-श्री ने पाक्षिक श्रावक का वर्णन, अष्ट मूलगुण, सप्त व्यसन दोष वर्णन, दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सचित्त त्याग प्रतिमा, रात्रि-भोजन-त्याग, ब्रह्मचर्य प्रतिमा आदि का स्वरूप-वर्णन भी जैनधर्मानुसार किया है। अध्याय के अत मे आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग, उद्दिष्ट त्याग, बारह भावनाओ, सोलह कारण भावनाओ, बाईस परिषहो, बारह प्रकार की तपस्याओ, गुण-स्थान आदि के वर्णन द्वारा जैन धर्म का संक्षेप मे परिचय दिया गया है।

द्वितीय अध्याय मे जैनाभिमत भूगोल के अन्तर्गत विश्व-परिचय, लोक-लक्षण, वातवलय-परिचय, पर्वत-प्रमाण, सागर-प्रमाण,

नदियों इत्यादि के द्वारा संसार के विकास को रूपायित किया गया है। आचार्य जी के मत मे अनन्तानत अलोकाकाश के बहुमध्यभाग मे स्थित जीवादि पांच द्रव्यो मे व्याप्त और जग-श्रेणी के घन प्रमाण से युक्त यह लोकाकाश है। बुद्धिमान् मनुष्य सब समय सर्वत्र व्याप्त रहने वाले जिनेन्द्र भगवान् के वचन रूपी उत्तम दीपकों के सामर्थ्य से सूर्य और चन्द्रमा मे विहीन अधोलोक के अधकार को नष्ट कर वस्तु के यथार्थ स्वरूप को देखते हुए प्रभुत्व को प्राप्त होते हैं। इसमे आश्चर्यजनक कुछ नही है, क्योंकि तीन लोको मे जिनेन्द्र रूपी सूर्य के द्वारा प्रकाश के उत्पन्न होने पर अंधकार कहाँ रह सकता है? प्रस्तुत अध्याय मे उपर्युक्त सभी पक्षो का वर्णन पर्याप्त विस्तार और स्पष्टता के साथ हुआ है। अध्याय के अन्त मे आचार्य जी ने जीवमात्र के उद्‌बोधन के लिए यह मत व्यक्त किया है : "लज्जा से रहित, काम मे उन्मत्त जवानी मे मस्त, परस्त्री मे आसक्त, और दिन-रात मैथुन सेवन करने वाले प्राणी नरको मे जाकर घोर दु:ख को प्राप्त करते हैं।" तृष्णा प्रभृति मायात्मक प्रपंच का भी उन्होंने तीव्रता के साथ खंडन किया है : "पुत्र, स्त्री, स्वजन और मित्र के जीवनार्थ जो लोग दूसरो को ठगकर तृष्णा को बढाते हैं तथा पर के धन को हरते हैं, वे तीव्र दु:ख को उत्पन्न करने वाले नरक मे जाते हैं।" संक्षेप मे, प्रस्तुत अध्याय मात्र विवरणात्मक न होकर ओजमयी उद्‌बोधन-क्षमता से अनुप्राणित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के तृतीय अध्याय मे जैन धर्मानुसार काल के स्वरूप और उसके तीन रूपो का वर्णन हुआ है। भोगभूमि मे दस प्रकार के कल्पवृक्षो की परिकल्पना भी प्रस्तुत अध्याय मे विस्तृत रूप से विद्यमान है। ये कल्पवृक्ष इस प्रकार है—गृहाग, भोजनाग, भाजनाग, पानाग, वस्त्राग, भूषणांग, माल्याग, दीपाग, ज्योतिराग, तुर्यांग। इन सभी से भोगभूमि के जीवो को नाना प्रकार की भोगोपभोग-सामग्री प्राप्त होती है। इसके अनतर जैन धर्म द्वारा मान्य चौदह कुलकरो का विशेष परिचय दिया गया है। कुलकरो का दूसरा नाम मनु भी है। सभी कुलकर पूर्व भव मे विदेह क्षेत्र के क्षत्रिय राजकुमार थे। मिथ्यात्व दशा मे उन्होंने मनुष्य-आयु का बध कर लिया था। फिर उन्होंने मुनि प्रभृति सत्पात्रो को विधि-सहित भक्तिपूर्वक आहार-दान दिया, जीवो का दु:ख करुणा भाव से दूर किया। विशिष्ट दान के प्रभाव से वे भोगभूमि मे उत्पन्न हुए। इनमे से अनेक कुलकर पूर्वभव मे अवधिज्ञानी थे। वे इस भव मे भी अवधिज्ञानी हुए। अत उन्होंने, अवधिज्ञान से जानकर, अपने समय के लोगो की समस्याए सुलझायी। अन्य कुलकर विशेष ज्ञानी थे, अत वे जाति-स्मरण के धारक हुए। उन्होंने भी जनता का कष्ट दूर किया। इस प्रकार कुलकरो के सम्पूर्ण परिचय और उनके क्रियाकलाप को प्रस्तुत अध्याय मे वर्णनात्मक-व्याख्यात्मक शैली मे प्रस्तुत किया गया है। वर्तमान तीर्थंकरो—भगवान् आदिनाथ से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ तक—के जीवन-चरित्र भी यथेष्ट विस्तृत रूप मे इस अध्याय में समाविष्ट है। तीर्थंकरो के परिचय की विशेषता यह है कि पूर्वभव एव वर्तमान परिचय दोनो को साथ-साथ दिया गया है। आचार्य-श्री की शैली यहा इतनी स्पष्ट और रोचक है कि पाठक सहज ही सर्वस्व ग्रहण करते हुए आख्यान और दर्शन का आनन्द एक साथ पाता है। काल-वर्णन से लेकर तीर्थंकरो के जीवन-वर्णन तक का आख्यानयुक्त इतिहास प्रस्तुत अध्याय की अनुपम देन है।

चतुर्थ अध्याय का विशेष आकर्षण है —रीतिकालीन कवि नवलशाह कृत 'वर्धमान पुराण' का पहली बार प्रकाशन। इसका सम्पूर्ण श्रेय आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी को है, जिन्होंने इस अप्रकाशित ग्रथ को प्रकाशित कराने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। इस काव्य-ग्रन्थ पर विस्तृत रूप मे आगे विचार किया जाएगा। चतुर्थ अध्याय मे ही सर्वश्री जुगलकिशोर मुख्त्यार, डॉ० जैकोबी, मुनि नगराज तथा अगरचन्द नाहटा के शोधपूर्ण लेख संकलित है। जुगलकिशोर जी ने भगवान् महावीर के जीवन-दर्शन का परिचय देते हुए उनके निर्वाणकाल पर प्रकाश डाला है। डॉ० जैकोबी ने भी भगवान् महावीर के काल-निर्णय मे सारगर्भित भूमिका निभायी है। मुनि नगराज ने महावीर स्वामी का काल-निर्णय तर्कपूर्ण पद्धति के आधार पर किया है। नाहटा जी के लेख मे महावीर-शासन की विशेषताओ की झलक मिलती है। 'गौतम-चरित्र', 'भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध', 'यजुर्वेद मे महावीर-उपासना', 'भगवद्‌गीता मे तीर्थंकर-उपासना' इत्यादि लेखो के माध्यम से भी प्रस्तुत अध्याय मे अत्यधिक ज्ञानवर्द्धक सामग्री को स्थान दिया गया है। जैन धर्म और विज्ञान, अहिंसा धर्म, धार्मिक निर्दयता आदि सामयिक विषयों पर उपलब्ध विचारो के कारण प्रस्तुत ग्रन्थ की गरिमा असन्दिग्ध रूप मे वर्द्धित हुई है। इस कोटि की प्रभावशाली सामग्री का प्रस्तुतीकरण आचार्य श्री की कर्मठता का प्रमाण है। 'वर्धमान पुराण' का सशोधन और सम्पादन करके आचार्य देशभूषण जी ने जैन साहित्य की समृद्ध परम्परा मे एक और महत्त्वपूर्ण कडी जोडी है। वास्तव मे यह रचना जैन हिन्दी-काव्य मे अपना समुचित स्थान बनाने मे भाव, भाषा, छन्द, अलंकार आदि सभी दृष्टियो से समर्थ है। देशभूषण जी के काव्य-प्रेमी मन ने 'वर्धमान पुराण' नामक काव्य-ग्रन्थ को सकलित करके भारतीय समाज के समक्ष अपनी सूझ-बूझ तथा धार्मिक साहित्य के प्रति अटूट लगन का प्रमाण दिया है।

'वर्धमान पुराण' ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का परिचय इसके नाम से ही हो जाता है। इसमे भगवान् महावीर के पूर्वजन्मों तथा वर्तमान जीवन का परिचय प्राप्त होता है। कविवर नवलशाह कृत प्रस्तुत ग्रन्थ ब्रजभाषा का एक सरल काव्य-ग्रन्थ है। पुराण-परम्परा के अनुसार इसमे मंगलाचरण के अनतर वक्ता और श्रोता के लक्षण प्रथम अधिकार मे दिए गए हैं। ग्रन्थ में कुल मिलाकर सोलह अधिकार हैं। द्वितीय अधिकार मे असंख्य वर्षों तक निम्न योनियो मे भ्रमण आदि का वर्णन है, तो तृतीय अधिकार मे नारकीय परिदृश्यो का वर्णन। प्रस्तुत काव्य का महत्त्व इसके उत्तरार्द्ध के कारण है। इस दृष्टि से पचम अधिकार मे प्रियमित्र चक्रवर्ती के भव का वर्णन है तथा अन्य अधिकारो मे क्रमश. तीर्थंकर-महिमा, गर्भावतरण महोत्सव, जन्मकल्याणक महोत्सव, केवल ज्ञान की

प्राप्ति, समवशरण, ईश्वर-स्तुति, तत्त्व-निरूपण आदि के बाद कवि ने अन्त में विस्तार से अपना परिचय दिया है। इस प्रकार महावीर-चरित का वर्णन कवि नवलशाह ने परम्परागत रूप से किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे कवि ने जैन धर्म के विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन जैन पुराणकारो की तरह ही किया है। ग्रन्थ मे सोलह अधिकार रखने का कारण बताते हुए कवि ने बडी सरस कल्पनाओ का आधार लिया है। तीर्थंकर-माता ने सोलह स्वप्न देखे थे, महावीर ने पूर्वभव मे सोलह कारण-भावनाओं का चिन्तन करके तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया था, ऊपर सोलह स्वर्ग हैं, चन्द्रमा की सोलह कलाओं के पूर्ण होने पर ही पूर्णमासी होती है, स्त्रियो के सोलह ही शृंगार बताए गए हैं, आठ कर्मों का नाश कर आठवी पृथ्वी (मोक्ष) मिलती है। यह ग्रन्थ भी सोलह माह मे ही लिखा गया। इन सब कारणो से ग्रंथ मे सोलह अधिकार दिए गए हैं। वास्तव मे कवि की यह सुन्दर कल्पना है।

कविवर नवलशाह भगवान् महावीर के अनन्य भक्त थे। कवि के मत मे भगवान् के दर्शन-मात्र से ही जीवन सफल हो जाता है। वे स्पष्ट कहते हैं :—

दर्शन कर सुरराज हम, सन्मति सार्थक नाम।
कर्म निकन्दन वीर हैं, वर्धमान गुणधाम।।

स्पष्ट है कि कवि ने अपनी काव्यमयी वाणी द्वारा सम्पूर्ण ग्रन्थ मे महावीर-चरित्र एव जैन दर्शन के मूल सिद्धान्तो को उद्घाटित किया है। कवि नवलशाह ने वर्ण्य विषय के अनुकूल विभिन्न छदो और अलकारो का प्रयोग करके अपनी प्रतिभा का सफल प्रदर्शन किया है, कृति मे कही भी कवि ने अनावश्यक शब्दाडम्बर नही दिखाया है। धर्मप्राण रचना होने के कारण यद्यपि इसका मूल्याकन साहित्यिक स्तर से अपेक्षित नही है, तथापि इसमे कोई सन्देह नही है कि कवि ने धार्मिक तत्त्व-व्याख्या और उद्बोधन की दृष्टि से सार्थक शब्दावली का प्रयोग किया है। ग्रन्थ मे दोहा, छप्पय, चौपाई, गीतिका, सोरठा, कवित्त, त्रिभगी इत्यादि छदो का प्रयोग मिलता है। अतः काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से भी यह कृति सफल रही है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि 'भगवान् महावीर और उनका तत्त्व-दर्शन' नामक विशालकाय ग्रन्थ जैन धर्म को समझने के लिए एक विश्वकोश का कार्य कर सकेगा। सपादक की सूझ-बूझ के कारण ग्रन्थ का विभाजन विभिन्न अध्यायो मे इस प्रकार हुआ है कि जैन धर्म के उद्भव और विकास से लेकर सम्पूर्ण जैन-दर्शन को इस भांति समाहित कर लिया गया है कि रोचक शैली मे ज्ञानवर्द्धन होता चलता है। नवलशाह कृत 'वर्धमान पुराण' को पहली बार यहाँ प्रस्तुत करके आचार्य देशभूषण जी ने जैन-साहित्य की काव्य-परम्परा मे एक नया अध्याय जोडा है। ग्रन्थ मे संकलित विभिन्न विद्वानो के लेख भगवान् महावीर को समझने मे सहायक रहे हैं। इतनी विपुल सामग्री से मडित इस विशालकाय ग्रन्थ का एकमात्र प्रकाशन-उद्देश्य यही रहा है कि भगवान् महावीर और उनके सम्बन्ध मे सभी ज्ञातव्य विवरण जिज्ञासु जैन समाज और जैनेतर पाठको को एक स्थान पर ही उपलब्ध हो जाए। निश्चित रूप से प्रस्तुत ग्रथ अपने उद्देश्य मे सफल रहा है।

शास्त्रसार समुच्चय

—जैन धर्म एवं दर्शन का संक्षिप्त विश्वकोश

समीक्षक : डॉ० मोहन चन्द

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के द्वारा माघनन्द्याचार्य कृत 'शास्त्रसार समुच्चय' की कन्नड़ टीका का हिन्दी अनुवाद एवं विशेष व्याख्या का कार्य श्रुतज्ञान के प्रसार की भावना से अनुप्रेरित है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि जैन परम्परा के अनुसार आचार्य द्वारा पालनीय पंचविध आचारो मे 'ज्ञानाचार' को प्रमुख स्थान दिया गया है जिसके अनुसार स्वय स्वाध्याय मे प्रवृत्त होना तथा अन्य को स्वाध्याय मे प्रवृत्त कराना आचार्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दायित्व स्वीकार किया जाता है —

"**पञ्चविधे स्वाध्याये वृत्तिर्ज्ञानाचारः।**" (मूलाराधना, ४१९ गाथा पर विजयोदया टीका)

जैन धर्म-सघ के इतिहास मे श्रुतज्ञान के सरक्षण का कार्य आचार्य वर्ग ही करता आया है। प्रत्येक युग में धर्माचार्य ही तीर्थंकर के मुख से निस्सृत वाणी को जन-साधारण तक पहुचाते आए हैं। प्राचीन अवधारणाओ को युगानुसारिणी मूल्यो के अनुसार प्रस्तुत करने की सदैव अपेक्षा रहती है जिसके सर्वाधिक आप्त प्रमाण 'आचार्य' ही होते है। इस सम्बन्ध मे हरिवंशपुराण का स्पष्ट कथन है कि आगम तन्त्र के मूल कर्ता तीर्थंकर वर्धमान थे। उत्तर तन्त्र के प्रणेता गौतम गणधर थे तथा उत्तरोत्तर आगम तन्त्र का विकास आचार्य-वर्ग द्वारा हुआ जो एक प्रकार से सर्वज्ञ की वाणी के अनुवादक ही हैं—

तथाहि मूलतन्त्रस्य कर्ता तीर्थंकरः स्वयम्।
ततोऽप्युत्तरतन्त्रस्य गौतमाख्यो गणाग्रणी:॥
उत्तरोत्तरतन्त्रस्य कर्त्तारो बहवः क्रमात्।
प्रमाणं तेऽपि नः सर्वे सर्वज्ञोक्त्यनुवादिनः॥ (हरिवंश पुराण १.५६-५७)

जैन धर्माचार्यों की उपर्युक्त मर्यादाओ के सन्दर्भ में आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज द्वारा 'शास्त्रसार समुच्चय' का अनुवाद कार्य भी ज्ञान के निर्मल सरिता प्रवाह से आधुनिक जनमानस का किया गया पवित्र अभिषेक है। दूसरे शब्दों मे इस धर्मप्राण 'शास्त्रसार समुच्चय' की सक्षम अनुवादपरक अभिव्यक्ति के माध्यम मे आचार्य श्री ने स्वानुभूति एवं आत्मज्ञान से सम्बन्धित गम्भीर सत्यानुसन्धान का उद्घाटन किया है। आचार्य श्री द्वारा स्वयं इस ग्रन्थ की उपादेयता को इन शब्दो द्वारा अभिव्यक्त किया गया है—"भगवान् महावीर का शासन विश्व-व्यापी हो, मानव-समाज दुर्गुण, दुराचार छोडकर सन्मार्गगामी बने और विश्व की अशान्ति दूर हो हमारी यही भावना है।"

(आलोच्य सस्करण, पृ० ख)

जैन परम्परा के अनुसार श्रुतज्ञान की जो निर्मल एव सारस्वत धारा समय-समय पर आचार्य वर्ग के माध्यम से प्रवाहित होती आई है उसी का अनुसरण करते हुए शास्त्रसार समुच्चय के रचयिता ने अपने ग्रन्थ को मुख्यतया चार अनुयोगो मे विभाजित किया है—

१. प्रथमानुयोग २ करणानुयोग ३ चरणानुयोग, तथा ४. द्रव्यानुयोग।

१. **प्रथमानुयोग**—प्रथमानुयोग मे शास्त्रीय मान्यता के अनुसार ६३ शलाका पुरुषो एवं परमार्थ ज्ञान की चर्चा आती है—

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः। (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ४३)

शास्त्रसार समुच्चय के प्रथमानुयोग मे जैन श्रुतज्ञान से सम्बन्धित काल के भेद, कल्पवृक्ष, चौदह कुलकर, सोलह भावना, चौबीस तीर्थंकर, चौंतीस अतिशय, पांच महाकल्याण, चार घातिया कर्म, अठारह दोष, ग्यारह समवशरण भूमि, बारह गणधर, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ नारद, ग्यारह रुद्र आदि का वर्णन आया है।

आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज ने प्रथमानुयोग सम्बन्धी तत्त्व चर्चा को जनसाधारण की दृष्टि से अत्यन्त सरल एवं सहज शैली में समझाने का प्रयास किया है। सूत्र एवं उस पर की गई टीका तो मात्र सन्दर्भ बनकर रह गए हैं। आचार्य श्री के विशेष कथनो एवं व्याख्या-

परक चर्चाओ से तत्त्व ज्ञान सरस एवं धर्मानुप्राणित बन गया है। यह तथ्य कतिपय उदाहरणो से विशद किया जा सकता है। उदाहरणार्थ शास्त्रसार समुच्चय का एक मूल सूत्र 'चतुर्विंशतिस्तीर्थंकरा.' को ही ले जिसमे केवल चौबीस तीर्थंकरो का निर्देशमात्र आया है तथा इस सूत्र की कन्नड टीका ने भी कोई विशेष प्रकाश नही डाला है परन्तु आचार्य श्री ने इस सूत्र के विशदीकरण को लगभग ३५ पृष्ठो मे प्रस्तुत किया है जिसमे तीर्थंकरों के समग्र इतिहास और उनसे सम्बद्ध देवशास्त्रीय मान्यताओ के पूरे विवरण उपलब्ध हैं। विविध तीर्थंकरो के अनेक भवो उनकी तप-साधनाओ को अत्यन्त व्यवस्थित ढग से प्रस्तुत किया गया है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ के विविध भवो और उनसे द्वेष रखने वाले कमठ के जीव के ऐतिहासिक वृत्त को समझाने मे आचार्य श्री ने कथा शैली का उपयोग किया है। इसी प्रकार तीर्थंकर वर्धमान महावीर के पूर्व भवो का विस्तृत वर्णन करने के उपरान्त उनकी केवल ज्ञान प्राप्ति तक की घटनाओ को अत्यन्त सुन्दर ढग से समझाने की चेष्टा की गई है।

तीर्थंकर सम्बन्धी चर्चा के अन्तर्गत महाराज श्री ने यह विशेष रूप से निर्दिष्ट किया है कि वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर बाल ब्रह्मचारी थे तथा कुमारावस्था मे ही इन्होने मुनि दीक्षा ली थी। आचार्य श्री ने आवश्यकनिर्युक्ति नामक श्वेताम्बर ग्रन्थ का उदाहरण देकर यह पुष्ट करने की चेष्टा की है कि श्वेताम्बर आगम परम्परा मे भी महावीर, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, मल्लिनाथ और वासुपूज्य—ये पाचों तीर्थंकर बाल ब्रह्मचारी माने जाते थे। (आलोच्य सस्करण, पृ० ३८-३९) तीर्थंकरो के दीक्षा-स्थान, दीक्षाकाल तथा दीक्षा साथियो के सम्बन्ध मे भी आचार्य श्री ने महत्त्वपूर्ण सूचनाए प्रस्तुत की है।

२. **करणानुयोग**—लोकालोक का विभाग, युग-परिवर्तन की स्थिति तथा चार गतियों का वर्णन करणानुयोग का मुख्य प्रतिपाद्य है—

लोकालोक विभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोग च॥ (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ४४)

शास्त्रसार समुच्चय मे भी इसी शास्त्रीय मर्यादा के अनुरूप तीन लोक, सात नरक, अढाई द्वीप, मनुष्य लोक, छियानबे कुभोग भूमि, वैमनिक देव आदि का वर्णन आया है। करणानुयोग चर्चा से सम्बद्ध प्रारम्भिक सूत्र '**अथ त्रिविधो लोक**' की व्याख्या करते हुए आचार्य श्री कहते हैं "अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक इस प्रकार यह तीन लोक हैं। जिधर देखिए उधर दीखने वाले अनन्त आकाश के बीच अनादि-निधन अकृत्रिम स्वाभाविक नित्य सम्पूर्ण लोक आकाश है, जिसके अन्तर मे जीवाजीवादि सम्पूर्ण द्रव्य भरे हुए हैं।" तीनो लोको से सम्बन्धित जैन मान्यता का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि "नीचे सात राजु ऊचाई वाला 'अधोलोक' है, जिसमे भवनवासी देव और नारकी रहते हैं। द्वीप समुद्र का आधार, महा मेरु के मूलभाग से लेकर ऊर्ध्व भाग तक एक लाख योजन ऊचा 'मध्यमलोक' है। स्वर्गादि का आधारभूत पच-चूलिका मूल से लेकर किचित् न्यून सप्त रज्जु ऊचाई वाला 'ऊर्ध्वलोक' है।" लोको एव द्वीपो की जैन देव शास्त्रीय (माइथौलॉजिकल) मान्यताओ को चित्रों द्वारा भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

ऊर्ध्वलोक के विस्तृत विवरण मे आचार्य श्री ने विशेष रुचि ली है तथा नक्षत्रो की स्थिति का प्रसग आने पर ज्योतिषशास्त्र का ही पूरा परिचय दे दिया गया है जो अपने आप मे अत्यन्त अद्भुत है। ज्योतिषशास्त्र के ज्ञान की दृष्टि मे 'अवकहड' चक्र, लग्नाधिपति और लग्न प्रमाण घडी का कोष्ठक, ६० सवत्सर, ६ ऋतु, १२ मास, २ पक्ष, ३० तिथि, ७ वार, २८ नक्षत्र, २९ योग, ११ करण, ९ ग्रह, पचाग विधि आदि की चर्चा अत्यन्त उपयोगी कही जा सकती है। ज्योतिष शास्त्र की व्यावहारिक उपादेयता को महत्त्व देते हुए आचार्य श्री ने ग्रहो के शुभाशुभ विचार, गृह प्रवेश, यात्रा, विवाह आदि से सम्बन्धित सिद्ध योगो का भी विशेष विवेचन प्रस्तुत किया है। मुहूर्तचिन्तामणि जैसे प्रसिद्ध ज्योतिष ग्रन्थो के आधार पर शुभ कार्यों के शुभ योगो को भी स्पष्ट किया गया है। गोचर ग्रह जानने की विधि तथा नव ग्रहो के गोचर फल का सक्षिप्त एवं सारगर्भित विवेचन इस ग्रन्थ की एक उल्लेखनीय विशेषता कही जाए तो अत्युक्ति न होगी।

३. **चरणानुयोग**—चरणानुयोग का मुख्य प्रयोजन है व्यक्ति को पापाचरण से हटाकर धर्माचरण की ओर उन्मुख करना। शास्त्रीय लक्षणो की दृष्टि से श्रावको और मुनियो के आचार वर्णन इस अनुयोग के मुख्य प्रतिपाद्य विषय है—

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमय सम्यग्ज्ञान विजानाति॥ (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ४५)

शास्त्रसार समुच्चय के तृतीय अध्याय 'चरणानुयोग' मे भी पाच लब्धि, २५ दोष, ११ प्रतिमा, ८ मूलगुण, १२ व्रत, ५ अतिचार, ६ कर्म, मुनियों के भेद, सल्लेखना, यति धर्म, महाव्रत, १२ तप, १० भक्ति, ४ ध्यान, ८ ऋद्धि आदि की विशेष चर्चा आई है।

श्रावक की दृष्टि से आठ मूल गुणो से सम्बद्ध सूत्र '**अष्टौ मूल गुणा:**' पर व्याख्यान करते हुए आचार्य श्री ने कहा है कि "जिस प्रकार मूल (जड) के बिना वृक्ष नही ठहर सकता उसी प्रकार गृहस्थ धर्म के जो मूल (जड) हैं, उनके बिना श्रावक धर्म स्थिर तथा उन्नत नही हो सकता। वे मूलगुण आठ हैं। पाच उदुम्बर फलो का तथा तीन मकार (मद्य, मास, मधु) के भक्षण का त्याग। ये आठ अभक्ष्य पदार्थों के त्याग रूप ८ मूल गुण हैं।" आठ मूल गुणो के सम्बन्ध मे कन्नड टीकाकार का और ही मत रहा था जिसकी ओर सकेत करते हुए आचार्य श्री ने कहा कि कन्नड टीकाकार हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील का आंशिक त्याग तथा परिग्रह परिमाण इन पाच अणुव्रतो के साथ मद्य, मांस तथा मधु त्याग करना—आठ मूल गुण मानते हैं। इस प्रकार आठ मूल गुणों के सम्बन्ध मे जैन आचार्यों के मध्य जो विवाद रहा था उसके

सम्बन्ध मे आचार्य श्री ने तथ्यात्मक स्थिति को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"किसी आचार्य के मतानुसार पूर्वोक्त पांच अणुव्रत तथा मद्य, मास, मधु का त्याग ये आठ मूल गुण हैं। दूसरे आचार्य के मत मे १. मद्यपान त्याग, २. पंच-उदुम्बर फल का त्याग, ३. मास त्याग, ४. मधुत्याग, ५. जीवों की दया, ६. रात्रि मे भोजन न करना, ७. वीतराग भगवान् का दर्शन पूजन, और ८. वस्त्र से छाना हुआ जल पीना, ये आठ मूल-गुण गणधरदेव ने गृहस्थो के बतलाएं है। इनमे से एक भी मूल गुण कम हो तो गृहस्थ जैन नहीं हो सकता।"

आचार्य श्री ने "**दशविधानि वैयावृत्यानि**" की व्याख्या करते हुए वैयावृत्य के निम्नलिखित दश भेद गिनाए हैं—(१) आचार्य वैयावृत्य (२) उपाध्याय वैयावृत्य (३) चान्द्रायण आदि व्रतो मे कृशकाय तपस्वी मुनियो की वैयावृत्य (४) ज्ञान, चरित्र, शिक्षा आदि मे तत्पर शिष्य मुनियो की वैयावृत्य (५) विविध रोगो से पीडित मुनियों की वैयावृत्य (६) वृद्ध मुनियो के शिष्यो के गण की वैयावृत्य (७) आचार्य के शिष्य मुनि-कुल की वैयावृत्य (८) चातुर्वर्ण्य संघ की वैयावृत्य (९) नव-दीक्षित साधुओ की वैयावृत्य, एव (१०) आचार्य आदि मे समशील मनोज्ञ मुनियो की वैयावृत्य।

छठवे बाह्य क्रिया-काण्ड के सन्दर्भ मे कौन-सी भक्ति कहा करनी चाहिए इसका भी व्यवस्थित विवरण आचार्य श्री द्वारा प्रस्तुत किया गया है। आचार्य श्री ने सामान्य-ज्ञान की दृष्टि से 'दश-भक्ति' सन्दर्भ को स्वतन्त्र रूप से प्रस्तुत कर इस ग्रन्थ के गौरव को बढ़ाया है जिसमे १. ईर्यापथशुद्धि, २ श्री सिद्ध भक्ति, ३. श्री श्रुत भक्ति, ४. श्री चारित्र भक्ति, ५. योग भक्ति, ६. आचार्य भक्ति, ७. पचगुरु-भक्ति, ८. तीर्थंकर भक्ति, ९. शान्ति भक्ति, १०. समाधि भक्ति, ११. निर्वाण भक्ति, १२. नन्दीश्वर भक्ति, १३. चैत्य भक्ति, १४. चतुर्दिग्वन्दना-प्रकरण जैन भक्ति के स्वरूप एवं इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं।

'अर्हं' शब्द की व्युत्पत्तिपरक परिभाषा करते हुए कहा गया है कि इसमे 'अ' अक्षर परम ज्ञान का वाचक है। 'र' अक्षर समस्त लोक के दर्शक का वाचक है। 'ह' अक्षर अनन्त बल का सूचक है तथा 'बिन्दु' उत्तम सुख का सूचक है—

अकार: परमो बोधो रेफो विश्वावलोकदृक्।

हकारोऽनन्तवीर्यात्मा बिन्दुस्स्यादुत्तमं सुखम् ॥ (शास्त्रसार समुच्चय, पृ० २९३)

आचार्य श्री ने इस टीका पर विशेष व्याख्यान देते हुए कहा है कि अर्हंत परमेष्ठी, सिद्ध परमेष्ठी तथा आचार्य परमेष्ठी के आदि अक्षर अ+अ+आ मिलकर 'आ' बनते है जिसमे उपाध्याय परमेष्ठी का आदि अक्षर 'उ' मिलकर 'ओ' बन जाता है। इसमे पाचवें परमेष्ठी मुनि का प्रथमाक्षर 'म' मिलकर 'ओम्' का निर्माण करता है। इस प्रकार आचार्य श्री ने अत्यन्त सुन्दर ढंग से 'ओम्' को पांच परमेष्ठियो का वाचक पद सिद्ध किया है। '**आचारःसूत्र**' की व्याख्या को भी अनेक दृष्टान्तों द्वारा विशद किया गया है। मुनि-आचार की महिमा को बताते हुए कहा गया है कि जैसे तपते लोहे के ऊपर यदि थोडा-सा जल डाल दिया जाए तो वह उसे तत्क्षण भस्म कर देने के पश्चात् भी गर्म बना रहता है वैसे ही परमतपस्वी गुरु भी अज्ञान का नाश करके अपने 'स्व' रूप मे स्थित रहते हैं। जैसे एक किसान केवल 'धान' की कामना करते हुए धान के साथ-साथ भूसा, पुआल, डठल आदि अनायास ही प्राप्त कर लेता है वैसे ही भव्य जीव केवल मोक्ष की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, इन्द्र, धरणीन्द्र तथा नरेन्द्रादिक पद तो उन्हे अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। अतएव यति धर्म की अपेक्षा से इन्द्रिय-जन्य सुख क्षणिक और मोक्ष सुख शाश्वत है। इस भावना से सम्यग्दृष्टि सदैव शाश्वत सुख की ही इच्छा करते हैं और निःकांक्ष भावना से आत्मस्वरूप में ही लीन रहते है। सक्षेप मे शास्त्रसार समुच्चय के चरणानुयोग अध्याय मे आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने श्रावक धर्म और यति धर्म सम्बन्धी उपदेश ज्ञान की जो सरिता बहाई है वह वर्तमान सन्दर्भ मे जैन धर्म की प्रभावना को विशेष प्रेरणाशील बनाता है।

४. **द्रव्यानुयोग**—द्रव्यानुयोग एक मोक्षमार्गी अनुयोग है जिसका उद्देश्य तत्त्वसन्धान नय प्रमाणादि के द्वारा जीव, अजीव, पुण्य, पाप, बध, मोक्ष आदि तत्त्वो की चर्चा करना है—

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।

द्रव्यानुयोगदीप: श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥ (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ४६)

एक अन्य मान्यता के अनुसार प्रमाणों द्वारा पदार्थों के अस्तित्व को सिद्ध करना भी द्रव्यानुयोग का लक्षण स्वीकार किया गया है। शास्त्रसार समुच्चय के चतुर्थ अध्याय द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत ६ द्रव्य, ५ अस्तिकाय, ७ तत्त्व, ९ पदार्थ, ४ निक्षेप, विविध ज्ञान भेद, सप्तभग, ५ भाव, ८ कर्म, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष आदि विविध दार्शनिक पक्ष सूत्र-निबद्ध किए गए हैं।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है 'द्रव्यानुयोग' मे 'द्रव्य' को प्रधानता प्रदान की गई है। सूत्रकार ने "**अथ षड् द्रव्याणि**" से इस अनुयोग का उपक्रम किया है। आचार्य श्री देशभूषण महाराज ने द्रव्य लक्षण की समीक्षात्मक विवेचना प्रस्तुत की है। "**द्रवतीति, द्रव्यम्, द्रवति गच्छति परिणाम इति**" पर अपना भाष्य लिखते हुए आचार्य श्री कहते हैं—"अतीत अनन्तकाल मे इन्होंने परिणमन किया है और वर्तमान तथा अनागत काल मे परिणाम करते हुए भी सत्ता लक्षण वाले है तथा रहेंगे। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त हैं एव गुण-पर्याय सहित होने के कारण इन्हें द्रव्य कहते हैं। उपर्युक्त तीनो बातो से पृथक् द्रव्य कभी नही रहता।"

द्रव्य सम्बन्धी अनेक शकाओ का निराकरण करते हुए आचार्य श्री कहते हैं, "प्रति समय छह द्रव्यों मे जो उत्पाद और व्यय होता

रहता है उसका नाम वर्तना है। यद्यपि सभी द्रव्य अपने-अपने पर्याय रूप से स्वयमेव परिणमन करते रहते हैं किन्तु उनका बाह्य निमित्त काल है। अतः वर्तना को काल का उपकार कहते हैं। अपने निज स्वभाव को न छोड़कर द्रव्यो की पर्यायो को बदलने को परिणाम कहते हैं। जैसे जीव के परिणाम क्रोधादि हैं और पुद्गल के परिणाम रूप रसादि हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान मे गमन करने को क्रिया कहते हैं। यह क्रिया जीव और पुद्गल में ही पाई जाती है। जो बहुत समय का होता है उसे 'पर' कहते हैं और जो थोड़े दिनो का होता है उसे 'अपर' कहते हैं।"

'सप्तभंगी' सूत्र पर टिप्पणी करते हुए आचार्य श्री ने कहा है "सप्तभगी की ये सातों भगे कथंचित् (किसी एक दृष्टिकोण से) की अपेक्षा तो सत्य प्रमाणित होती हैं, इसी कारण इनके साथ 'स्यात्' पद लगाया जाता है। यदि इनको 'स्यात्' न लगाकर सर्वथा (पूर्णरूप से) माना जावे तो ये भंगे मिथ्या होती है।"

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चरित्र ये तीन मोक्ष के कारण हैं जिसे दो प्रकार का कहा जाता है—द्रव्य मोक्ष तथा भाव मोक्ष। घाति कर्मों के क्षय की अपेक्षा अर्हंत अवस्था प्राप्त होना द्रव्य मोक्ष है और अनन्त चतुष्टय प्राप्त होकर अर्हंन पद प्राप्त करना भाव मोक्ष है। आचार्य श्री ने 'मोक्ष' की इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "कर्म से रहित होना, कर्म-क्षय करना, कर्मों से आत्मा का पृथक् होना अथवा आत्म-स्वरूप की उपलब्धि होना या कृत्स्न (समस्त) कर्मों से मुक्त होना मोक्ष है, यह सब कथन भी एकार्थ वाचक है। इस तरह समस्त पर विजय प्राप्त करना द्रव्य मोक्ष है यही उपादेय है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य माघनन्दि कृत 'शास्त्रसार समुच्चय' और उसकी कन्नड टीका का आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज द्वारा जो ग्रन्थात्मक प्रस्तुतिकरण किया गया है उसके वे अनुवादक कहे गए हैं। वास्तव मे ग्रन्थ का पूरा अवलोकन यदि किया जाए तो आचार्य श्री ने अनुवाद कार्य से भी बहुत आगे बढ़कर ग्रन्थ पर एक स्वतन्त्र निजी भाष्य ही रच डाला है। आचार्य श्री ने अपने सरल उपदेशो, विशेष व्याख्यानों, विविध व्याख्यान शैलियो, गूढ शास्त्रीय एव लाक्षणिक विवेचनाओं तथा चित्रमय प्रारूपो के माध्यम से शास्त्रसार समुच्चय की आड़ मे जैन धर्म-दर्शन तथा प्राचीन देव-शास्त्रीय मान्यताओ को आधुनिक शैली मे अभिव्यक्ति प्रदान की है। जैन परम्परा और सस्कृति का कोई भी ऐसा पक्ष नही रह गया है जो आचार्य श्री द्वारा इस ग्रन्थ मे निर्दिष्ट न हो। सक्षेप में 'शास्त्रसार समुच्चय' का आचार्य श्री द्वारा प्रस्तुत यह सस्करण जैन धर्म-दर्शन-इतिहास और सस्कृति का एक सक्षिप्त विश्वकोष है—एक ऐसा सग्रहणीय धर्म-कोष जो आधुनिक शैली मे जैन धर्मानुप्राणित व्यक्ति को जैन धर्म की प्राचीन परम्पराओ और मान्यताओ से अवगत कराता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के शिल्पवैधानिक वैशिष्ट्य को भी ऐतिहासिक सन्दर्भ मे देखा जाना चाहिए। आचार्य माघनन्दि 13वी शती के आचार्य माने जाते हैं जब जैन दर्शन ही नही बल्कि सभी भारतीय दर्शन मौलिक चिन्तन से बहुत दूर हट चुके थे। समय की आवश्यकता यह बन गई थी कि तब तक जो भी लिखा जा चुका था उसे ही सरल एवं सक्षिप्त शैली मे प्रस्तुत किया जाए। प्रकरण ग्रन्थो की रचना इस युग के इसी संक्षिप्तीकरण के मूल्य को लेकर उभरी है। 'शास्त्रसार समुच्चय' भी इसी प्रयोजन से लिखा गया ग्रन्थ प्रतीत होता है जिसमे जैन परम्परा के चार अनुयोगो की तात्त्विक स्थिति सक्षेप मे प्रस्तुत की गई है। कन्नड टीका तथा अन्य सस्कृत टीका इस ग्रन्थ को विशद बनाने के प्रयोजन से लिखी गई हैं। परन्तु आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज ने हिन्दी भाषा को आश्रय बनाकर प्रस्तुत ग्रन्थ पर जो व्याख्या विशेष लिखी है वह पुन. एक ऐसा विरुद्ध प्रयास है जब सक्षिप्त सूत्र ज्ञान को बृहत् की ओर ले जाया गया हो, सक्षिप्त सूत्र की मणियों को जैन श्रुतज्ञान के अपार समुद्र में अभिषिक्त कर दिया गया हो। आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज द्वारा रचित इस शास्त्रसार समुच्चय-भाष्य से ऐसा लगता है कि जैन तत्त्व-चिन्तन आज भी जीवन्त है।

भरतेश वैभव

—इन्द्रियजन्य सुखों पर मन के नियन्त्रण की गौरव गाथा

समीक्षक : श्री सुमतप्रसाद जैन

आध्यात्मिक साहित्य के निर्माताओं में रत्नाकर वर्णी की अमर कृति 'भरतेश वैभव' को कर्नाटक साहित्य का 'गीतगोविन्द' स्वीकार किया जाता है। कन्नड प्रान्त के कण्ठहार तुल्य इस ग्रन्थ की मान्यता जैन समाज में वैसी ही है जैसे कि हिन्दू समाज में तुलसीकृत रामचरितमानस की। रत्नाकर वर्णी ने १५५१ ईस्वी में इस ग्रन्थरत्न का निर्माण किया था।

कन्नड भाषा के मध्यकालीन महाकवि रत्नाकर वर्णी का यह बृहद् काव्य 'भरतेश वैभव' आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के जीवन का एक प्रेरक एवं दिशाबोधक धर्मग्रन्थ रहा है। इस ऐतिहासिक एवं लोकप्रिय कृति ने उनके जीवन को एक दिव्य सन्देश एवं अध्यात्म का आलोक दिया है। अतः इस महाकाव्य में प्रतिपादित महान् जीवन-मूल्य आचार्य श्री के आचरण एवं साधना के विषय हैं। इस अनुपम रचना ने आचार्य श्री की चेतना को झंकृत किया था। इसीलिए आपके प्रवचनों में प्राय भरतेश वैभव के काव्यांश की प्रमुखता रहती है। आचार्य श्री ने इस रचना के सन्देश को विश्वव्यापी बनाने के लिए इसका अनुवाद एवं सारतत्त्व स्वयं हिन्दी, मराठी एवं गुजराती में प्रस्तुत किया है और डॉ० श्यामसिंह जैन को प्रेरणा देकर इसका अनुवाद अंग्रेजी भाषा में भी करवाया है।

चक्रवर्ती भरत ने भारतवर्ष को सर्वप्रथम एक केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत संगठित कर राष्ट्रीय एकता का स्वप्न दिया था। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने भी एक धर्माचार्य के रूप में लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष की पदयात्रा करके जैन समाज को इस युग में संगठित करने का सफल प्रयास किया है। उन्होंने देश के एक महान् रचनात्मक सन्त के रूप में भाषागत एकता को स्थापित करते हुए दक्षिण भारत की भाषाओं के साहित्य यथा तमिल, कन्नड एवं मराठी की अनेक कृतियों का हिन्दी भाषा में और हिन्दी की कृतियों का दक्षिण भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, बंगाली, कन्नड एवं हिन्दी भाषा में मौलिक साहित्य का सृजन एवं सम्पादन किया है। वास्तव में आचार्यरत्न जी इस काव्य के नायक चक्रवर्ती भरत की भांति राष्ट्र में रागात्मक एकता को स्थापित करने में निरन्तर संलग्न रहे हैं। इसीलिए उन्होंने आत्मसाधना के साथ-साथ भारतीय भाषाओं एवं साहित्य की अपूर्व सेवा का कीर्तिमान स्थापित कर विभिन्न भाषा-भाषियों में सद्भाव के अमर सूत्रों को पिरोया है।

साहित्यपुरुष आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी आज आयु की दृष्टि से एक बड़ी उम्र में पहुंच गए हैं। नेत्ररोग, मधुमेह एवं वृद्धावस्था-जन्य अन्य बीमारियों से ग्रस्त होने पर भी वे साहित्य-सेवा में निरन्तर संलग्न हैं। उनके गौरवमंडित मुखारविन्द से इस महाकाव्य के अनेक सरस पद आज भी स्वयं प्रस्फुटित हो उठते हैं। भरतेश वैभव के पद्यों का काव्यपाठ करते हुए उनके मुखमंडल पर जो सात्विक तेज प्रकट होता है, उससे यह आभास मिलता है कि मुक्ति के लिए आकुल उनकी आत्मा योगीराज भरत की वैराग्य अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित करने को कितनी व्याकुल है? भरतेश वैभव का सार वास्तव में भारतीय आत्मा का अपराजेय स्वर है। यह महाकाव्य जीवन में सुखों के उपभोग, युद्धभूमि में शौर्य के प्रदर्शन, कला क्षेत्र में हृदय की विशालता, सम्पन्नता में विनय और दान एवं चिन्तन के क्षणों में वैराग्य का सन्देश देता है। यह कृति इन्द्रियजन्य सुखों अथवा सांसारिक विषयों पर मन के नियन्त्रण की गौरवगाथा है। इसीलिए आचार्यरत्न जी का पवित्र मन इसी ग्रन्थ में निरन्तर रमा रहता है। वास्तव में यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि इसी ग्रन्थ के कथासार से आचार्यरत्न जी ने अपना जीवनदर्शन निर्धारित किया है अथवा उनका जीवन-दर्शन इसी ग्रन्थ के आदर्शों में साकार हो उठा है।

भरतेश वैभव का कथानायक सम्राट् भरत जैन धर्म के आद्य तीर्थंकर भगवान् श्री ऋषभदेव (वृषभदेव) का ज्येष्ठ पुत्र है। भगवान् श्री वृषभदेव को वैदिक विचारधारा और पश्चात्वर्ती पौराणिक धर्मग्रन्थ यथा श्रीमद्भागवत, महाभारत, शिवपुराण, ब्रह्माण्ड पुराण के साथ-साथ बौद्धधर्म ग्रंथ धम्मपद एवं आर्यमन्जु ने भी श्रद्धा के साथ स्मरण किया है। इस मेधावी राजकुमार ने पुराण पुरुषोत्तम, कल्पवृक्ष तुल्य जगद्गुरु एवं युग के आदि में सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान के प्रदाता एवं मानवीय व्यवस्था के नियामक अपने पिता श्री वृषभदेव के चरणों में विद्याभ्यास कर जीवन को पवित्र एवं गरिमामय बनाया था।

सुख एवं वैभव में जन्म लेने के उपरान्त भी इस राजकुमार ने अपने विक्रम, पौरुष एवं धर्ममय आचरण द्वारा तीनो लोको मे असाधारण लोकप्रियता अर्जित की थी। यह धर्मज्ञ सम्राट् विद्याओ का अनुरागी, प्रजा का पुत्रसम पालन करने वाला एवं धर्म की नीतियों का संरक्षक था। सम्राट् भरत ने धर्म एव आत्मा के रहस्यो को वास्तविक रूप से जानने के लिए अपने जीवन को साधनापथ में लगा दिया था। एक आचारवान् श्रावक की तरह वह अपना समय धार्मिक क्रियाओ यथा देवपूजा, स्वाध्याय, मुनियो के सत्संग एव आहारदान इत्यादि में व्यतीत करता था।

श्री चन्द्रगति एवं श्री आदित्यगति नामक मुनियो को आहार के निमित्त पडगाह कर वह सहज मन से भक्ति रस मे प्लावित होकर श्रद्धाभाव से विनयपूर्वक कह उठता है—

अवकल्ल स्वामि गलिर नोडि नाविप्प। सवनवेलल वु डोंकु नम्मा॥
हुवय विन्नेष्टु डोंको नीवु वल्लि रें। वेवेंगिपुवोरि नडिवन॥
मने डोंकु ममसु डोंकावरु निम्म शि। श्यन मेलन प्रीतिर्यिव॥
जिन कल्परिर विजय गैदि रिल्लेन्न। मनमनेगलु नेरवेंवा॥

अर्थात् महाराज मेरा तो सदन (घर) टेढा है, स्वय शरीर भी टेढा है, न मालूम हृदय भी कितना टेढा है, इसको आप ही जान सकते हैं। घर, शरीर, हृदय के टेढ़े होने पर भी शिष्य के ऊपर प्रेम होने मे आप मेरे सदन मे पधारे हैं। अतएव पूर्ण आशा है कि आपके अनुग्रह से अब वस्तुएं सीधी हो जायेगी, इसमे किंचित्मात्र भी सन्देह नही है।

चक्रवर्ती भरत को श्रद्धापूर्वक आहार दान देते हुए देखकर स्वर्ग के वैभवशाली एव समर्थ इन्द्रो ने यह अनुभव किया कि मनुष्य पर्याय श्रेष्ठतम है। मनुष्य जन्म लेकर ही इन्द्रियो का निग्रह, कर्मो की निर्जरा, आत्मिक विकास एव मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। जैन धर्म मे निर्धारित चारो गतियो मे से मनुष्य जन्म को श्रेष्ठतम उपलब्धि माना गया है। मनुष्य रूप मे पुण्य के भावो के साथ आत्मचिंतन, पुरुषार्थ, स्व एव पर के भेद का ज्ञान एव धार्मिक अनुष्ठान एव मुनियो को आहार दान इत्यादि का अवसर प्राप्त होता है। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने मनुष्य पर्याय के महत्त्व को आत्मसात् कर अपने जीवन को श्री जिनेन्द्र देव के शासन मे समर्पित कर दिया है। महाकवि रत्नाकर वर्णी की अनुसन्धान यात्रा मे अपने को सम्मिलित करते हुए वह सहज मन से कह उठते है—

तनु जिन गृहवॅंनुमन सिंहपीठ वॅं। वनुपमात्मने जिननॅंदु॥
नेनहवेल्लव विट्टू, कण्मुच्चि नोलपाग। जिननाथ तोरुव नोलगे॥

अर्थात् यह शरीर जिन मन्दिर है और मन उसका सिंहासन है। निर्मल आत्मा 'जिन' भगवान् है। बाहर के सभी विकल्प छोडकर आंख बन्द कर इस प्रकार अपने अन्दर देखे तो सचमुच ही 'जिन' अपने ही मे प्राप्त होगे अर्थात् अपने ही भीतर दर्शन देगे।

आत्मस्थ श्री देशभूषण जी महाराज मनुष्य पर्याय को मोक्षमार्ग का सोपान मानकर एक आचार्य के रूप मे श्रावको के कल्याण एव मार्गदर्शन हेतु इस प्रकार के समर्थ अनुवाद एवं साहित्य का प्रणयन करते रहे हैं। आचार्य श्री देशभूषण जी ने ग्रन्थ के आरम्भ म स्वयं ही कहा है, "प्रत्येक प्राणी का कर्त्तव्य है कि वह निज धर्म (आत्म धर्म) को न भूले और उसे उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न करे क्योंकि मनुष्य भव बार-बार नही मिलता। इस ग्रन्थ को सब पाठक विनयपूर्वक मनन करे जिसमे ज्ञान ज्योति प्रकट हो ऐसा हमारा आशीर्वाद है।" श्रावक समाज के हाथ मे आत्मोद्धार की भावना से भरतेश वैभव का अमृतकलश देते हुए और स्वर्ग के वैभव को भी भरत के आहारदान के अवसर पर हेय बताकर वास्तव मे वह सुप्त मानवता मे आत्मविश्वास के मन्त्र का शखनाद करना चाहते है —

व्रतदिंव तपदिंद नामिंदा स्वर्गं। गतिय पडेदे वहुदिल्लि॥
व्रतविल्ल तपविल्ल दानविल्लले भूमि। पति निम्न सिरिगोणेयुंटे॥

अर्थात् स्वर्ग के देवगण राजा भरत से कह रहे है कि व्रत, तप और दान से इस देवत्व को हमने प्राप्त किया है किन्तु यहा व्रत, तप और दान देने की योग्यता हममे नही है। अत: हे राजन! आपकी अपेक्षा हमे ऐश्वर्य और स्वर्गीय भोग सब कुछ प्राप्त होते हुए भी क्या आपके समान आहारदान देने का सौभाग्य हमे प्राप्त है? कदापि नही।

आचार्य श्री अपने बाल्यकाल मे ही माता-पिता की स्नेहिल छाया से वंचित हो गए थे किन्तु पूर्व सस्कारो के कारण उनके मन मे साधु-सन्तो की सेवा-सुश्रुषा का कोमल भाव विद्यमान था। मुनिराज श्री पायसागर जी महाराज के पावन सस्पर्श से आप मे श्रावको के आचार-शास्त्र के पालन का भाव जाग्रत हो गया था। एक किसान के स्वावलम्बी पुत्र होने के कारण आपका सामाजिक चिन्तन प्रखर हो उठा। आपने अपनी आय को परोपकार एव मुनि-भक्ति के कार्यो मे नियोजित करना प्रारम्भ कर दिया था। आपकी यह मान्यता रही है कि मनुष्य को अपनी आय के साधनो में नैतिक उपायो का आश्रय लेना चाहिए। नीतिहीन धन-सचय एव दान को आपने महत्त्व नही दिया क्योंकि अपवित्र साधनों से अर्जित राशि का अन्न शरीर मे जाकर दोष उत्पन्न करता है। भरतेश वैभव से एकाकार होकर आपका मन भी सहज रूप से कह उठता है :—

तन्मात्म गुरे ब्रह्मवेसरटा ब्रह्मु । त्पन्न वन्नवे ब्राह्मणान्न ।।
भिन्नार्थं बोलपाव सुखवे शूद्रान्नवें । कुन्नतमॅकु सिक्कुवनो ।।

आत्मा का नाम ही ब्रह्म है। इसलिए निजात्म गुरु ही ब्राह्मण है। उसी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ अन्न ब्राह्मण अन्न कहलाता है। भिन्नार्थ सुख को उत्पन्न करने वाला अन्न ही शूद्रान्न है। इस प्रकार से दोनो अन्नो को भिन्न-भिन्न मानकर भिन्न-भिन्न रूप से अर्पण करने वाले मुनि को अन्न दान देने वाले श्रावक धन्य नही हैं क्या ? अवश्य ही हैं।

मुनियों में वैराग्य और मुक्ति की भावना को वृद्धिगत करने वाला परिश्रम से अर्जित सात्त्विक अन्न ही साधु की तपश्चर्या मे सहायक होता है और आहारदान देने वाले श्रावक एवं आहार दान लेने वाले मुनि दोनो को ही कृतार्थ कर देता है। आचार्यरत्न जी २०-२१ वर्ष की उम्र में अकेले दक्षिण भारत मे श्री सम्मेदशिखर जी की सघयात्रा मे साधुओ को आहारदान देकर और श्री सम्मेदशिखर जी की तलहटी में एक साथ पाच मुनियों को पड़गाह कर अपने को धन्य समझते थे और आज भी श्रद्धा से प्राप्त आहारदान को ग्रहण कर अपने को कृतार्थ मानते हैं। वास्तव मे आहारदान ही एक ऐसी प्रक्रिया है जिसने साधु एव श्रावक के संबधो को शताब्दियो से जोड रखा है। अपनी साधना के चरम सोपानो को प्राप्त करने के लिए महामुनियो को भी शरीर की स्थिति को कायम रखने के लिए श्रावको का आश्रय लेना पड़ता है। यही क्षण किसी भी श्रावक के जीवन के स्वर्णिम एव प्रेरणादायी क्षण होते है। आचार्य श्री ने एक श्रावक एवं साधु के रूप मे इन क्षणों को भोगा है।

सम्राट् भरत ने अपनी दूरदर्शिता से यह अनुभव किया कि धर्म के शासन की स्थापना के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डल को एक ध्वज के नीचे संगठित करना चाहिए। राजतन्त्र की सुख-सुविधाओ को त्यागकर उसने भारतीय इतिहास मे सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डल को एक शासन के अन्तर्गत लाने का सर्वप्रथम विजय अभियान किया। अपने इस विजय अभियान मे उसने पृथ्वी के समस्त राजाओं को विजित कर चक्रवर्ती सम्राट् का विरुद ग्रहण किया। उसकी इस विजयगाथा के कारण ही उसके नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड गया। विजय अभियान मे उसका मानवोचित उदार दृष्टिकोण देखकर अधिकाश राजा स्वय ही गौरवानुभूति करते हुए उसकी शरण मे पहुच गए। उसके विजय अभियान मे शालीनता एव मानवीय गरिमा थी। अत पराजित अथवा शरण मे आए हुए राजाओ को भी ग्लानि का अनुभव नही हुआ।

सम्राट् भरत ने अपने विजय अभियान का प्रयोजन बताते हुए विजित मागधामर से कहा था—

अडिगेर सिर्कोंब तेज ओंवल्लदे। बोडवेयासेये चक्रधरगे ।।
ओडनिद्द नृपरेल्ल तलेवूगु बंसत्र। गुड्डगोरे पित्तु मन्निसिवा ।।

अर्थात् चक्रवर्ती राजा केवल यही अभिलाषा रखते हैं कि अन्य राजसमूह आकर हमारे चरणो मे मस्तक नवावे। शेष धनधान्यादि से प्रयोजन नही रखते। उपस्थित राजागण आश्चर्य मे पडे इस निमित्त से उन लोगो के सामने ही भरत ने यथेष्ट सत्कार मागधामर का किया।

मागधामर द्वारा आत्मसमर्पण एवं विनय भाव दिखाने पर भारतीय सस्कृति के दिशानिर्धारक सम्राट् स्वयं ही कह उठे—

होगु निम्नय नाल्लिनवन करेवु कोंडु । सागर बोलगे तेप्पिगरु।
आगले सदितेन्नोलग बॅंदनु । मागधॅंवगे राय मेच्चि ।।

अर्थात् भरत जी मागधामर पर सतुष्ट होकर कहने लगे कि मागध जाओ, अनेक राजाओ को वश मे करके आनन्दपूर्वक रहो। मेरा कार्य तो उसी दिन हो गया। अब तुम स्वतंत्र होकर रह सकते हो।

इस प्रकार के गौरवशाली विजय अभियान मे कौन विजेता और कौन विजित ? दोनो ही अपने को धन्य अनुभव करते हैं। इस प्रकार की राजनीति को भारतीय इतिहास मे आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी के प्रेरक महापुरुष सम्राट् भरत ने स्थापित किया था।

सम्राट् भरत दिग्विजय अभियान मे एक रणप्रिय योद्धा के परिवेश मे रहकर भी अपने दैनिक, धार्मिक, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के प्रति सजग थे। चक्रवर्ती राजा के रूप मे सम्पूर्ण पृथ्वी मडल को धर्मशासन के अन्तर्गत संगठित करने की भावना से दर्पी राजाओ के मानमर्दन एवं आश्रित राजाओ को पुरस्कार इत्यादि से उन्हे पुरस्कृत करना पडता है। विजय अभियान की अबाध गति, सैनिको की मनस्थिति और साथ में चल रहे परिवारजनो की सुख-सुविधा का भी उन्हे ध्यान रखना पडता था। दिग्विजय अभियान की सांस्कृतिक गरिमा को स्थापित करने के लिए उन्होने एक आदर्श संहिता का निर्माण किया था। विजित राज्यो के नागरिको की भावनाओ और उनकी संस्कृति का संरक्षण कर वह जन-जन की भावनाओ के समादरणीय बन गए थे। इसीलिए जनसामान्य ने श्रद्धा से अभिभूत होकर उनके नाम 'भरत' के नाम से अपने देश का नाम 'भारत' रख दिया। कहना न होगा कि आचार्य रत्न श्री देशभूषण जी महाराज भी यथानाम तथागुण के न्याय से समग्र भारत के 'देशभूषण' हैं और शब्दान्तर से 'भारतभूषण' भी। आज सारे देश को ऐसे भारतभूषण आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज पर महान् गर्व है। उनके पावन व्यक्तित्व के समक्ष प्रत्येक जनमानस का मस्तक स्वयमेव श्रद्धा से नत हो जाता है।

लेखक को आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने यह बताया था कि भगवान् वृषभदेव ने अपने अग्रज पुत्र का नाम भरत

इसलिए रखा था क्योंकि उसमें समस्त पृथ्वी मंडल के प्राणियो के भरण-पोषण की क्षमता थी। इस देश को 'भारतवर्ष' का रूप देने वाला सम्राट् भरत वास्तव मे एक असाधारण पुरुष था। वह दिव्य गुणो का पुंजीभूत रूप था। समग्र मानवता का प्रतीक था। वह इस महान् देश की सांस्कृतिक आत्मा का प्रतिनिधि था। वह शक्तिसम्पन्नता एव विकास की एक अमर गाथा था। वह चक्रवर्ती सम्राट् था और चक्रवर्ती सम्पदा के अपरिमित वैभव का स्वामी था। चक्रवर्ती राजा के रूप मे वैभव का उपभोग करने की उसमे अद्वितीय क्षमता थी। वह सुहृदय कवि एवं ललित विद्याओ का निष्णात पडित था। अत गृहस्थाश्रम मे रहते हुए उसने धार्मिक रीतियो के निर्वाह के साथ-साथ कलाओं को कृतार्थ करने के लिए जीवन का भरपूर आनन्द लिया। भारतीय नारी के आदर्श गुणो की प्रतीक रानी कुसमा जी के हाथ से सुस्वादु रसपूर्ण भोजन ग्रहण करने, राजप्रासाद के रत्नजटित कक्ष मे नारी कुसमा जी के मन को विभोर कर देने वाले नृत्य का अवलोकन करने, स्नेह के दीपक को प्रज्वलित कर ताम्बूलपत्रो के सौहार्दपूर्ण आदान-प्रदान करने और शरीर को सासारिक सुखो के मिन्धु मे निमग्न करने के उपरान्त चेतना के लौटने पर चक्रवर्ती भरत का विरक्त मन शरीर की परिधियो को भेद कर अन्ततोगत्वा आत्मरस मे ही आनन्दानुभूति का अनुभव करता था।

नन्नात्म वरेव बरेंदु च्छुधिय। तन्न तानोलगे निट्टिसुत ॥
मन्नेय गोडेय निरल कडे कविदुदु। अन्न सौविकन नसमिद्रे ॥

अर्थात् श्री भरतेश जी शयन करते हुए आख बन्द कर के विचार करने लगे कि मेरी आत्मा क्षुधा मे पीडित नही है। यह सब कुछ शरीर के लिए करना आवश्यक है। इस प्रकार विचार मग्न होते हुए भी अन्न की उष्णता से उन्हे निद्रा आ गई।

सम्राट् भरत भक्ति एव अध्यात्म का युगद्रष्टा महापुरुष था। युद्धभूमि के कोलाहलमय वातावरण मे भी वह निर्माण के गीत गाता था। अपने पुत्र अर्ककीर्तिकुमार को प्यार से गोद मे लेकर मनोविनोद मे सम्राट् भरत निम्नलिखित शब्दो का उच्चारण करवा रहे थे 'आदि तीर्थकर', 'चिदम्बर पुरुष' एव 'निरजन सिद्ध'। बालक तुतलाहट मे कह रहा था 'आदिकर', 'चिंबएपूस' एव 'निज सिद्ध'। पारिवारिक परिवेश मे सस्कारों का निर्माण करते हुए अर्ककीर्तिकुमार की तुतलाहट का जो रसास्वाद राजा भरत ने किया था, वह शब्दो की सीमाओ मे निबद्ध नही किया जा सकता। इस लौकिक एव अलौकिक आनन्द को अनुभव करने के लिए राष्ट्र को आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी जैसे साहित्य मनीषी की निरंतर अपेक्षा रहेगी।

सम्राट् भरत इस सनातन राष्ट्र की सांस्कृतिक सम्पदा—आत्म-वैभव के सिद्ध पुरुष थे। इसीलिए अनुश्रुतियो मे उन्हे 'राजा योगी' के नाम से सम्बोधित किया जाता रहा है। भेद विज्ञान द्वारा उन्होने आत्मा एव पुद्गल के पार्थक्य का अल्पवय मे ही परिज्ञान कर लिया था। अत एक कुशल शासक होते हुए भी उनका हृदय सन्त समागम के लिए आकुल रहता था। इन्द्रियजन्य सुखो का उपभोग करते हुए उनका आन्तरिक मन सासारिकता से सर्वथा विरक्त था। सम्राट् भरत की सासारिक भोगो के प्रति अरुचि को तत्कालीन समाज ने भी अनुभव किया था। इसीलिए उस युग के प्रमुख कवि दिविज कलाधर ने सम्राट् भरत का कीर्तिगान करते हुए कहा था —

होरगेल्लव तोरेदोलगे निर्मलवागि। मेरेववरुंटु लोकदोलु ॥
होरगेल्ल विहोलगेनु विल्लेने बच्च। वरिवावराद निन्नते ॥

अर्थात् हे राजन्! लोक मे ऐसे बहुत-से योगी होंगे जो सम्पूर्ण भोग का त्याग कर अन्तरग मे निर्मल आत्मा का दर्शन करते है परन्तु अतुल ऐश्वर्य रखते हुए भी अंतरंग मे अकिंचन तुल्य निर्मोही होकर आत्मानुभव करने वाले आप सरीखे कितने हैं।

निर्मल आत्मा को ही समयसार स्वीकृत करने के कारण सम्राट् भरत धर्म का ही मूर्तिमान विग्रह हो गया था। चक्रवर्ती के रूप मे ९६ हजार रानियो से सेवित होने पर भी वह भोगविमुख था और जीवन की क्षणभगुरता से परिचित होने के कारण भोगो को संसार चक्र का कारण मानता था—

धर्म विदावुदु सिरियेंदु सुखिसुत। धर्मव मरेयरुत्तमरु ॥
धर्म वेंतन्देंदु भोग के मरुल्लागि। कर्मिगला चरिसुवरु ॥

अर्थात् सपत्ति धर्म मे ही प्राप्त होती है ऐसा निश्चय कर हमेशा धर्म मे उत्सुक रहने वाला पुरुष धन्य है। किसका धर्म, कैसा धर्म ऐसा ही कहकर भोग मे ही रत होकर धर्म को तिरस्कृत करने वाले मूर्ख लोग सतत ससार रूपी समुद्र मे मग्न होकर दुख रूपी समुद्र मे गोता खाते रहते है।

एक प्रशासक के दायित्वो का निर्वाह करते हुए भी उसकी दृष्टि ससारचक्र के बन्धनो से मुक्त होने के लिए निरन्तर आतुर रहती थी। महाकवि रत्नाकर वर्णी ने उसके मनोभावो का चित्रण करते हुए कहा है—

गाण महले नाललयके नलिप मद। यामेगे शिरद कुंभदोलु॥
ध्यान विप्पते ध्यानदोलिर्दु नवित स। धानदोलगे निन्ननेनु॥

अर्थात् जिस प्रकार एक नर्तकी अपने मस्तक पर घड़े को रखकर नृत्य कर रही हो और नृत्य करते समय गायन ताल लय आदि को भंग न होने देकर—ये सब बाते होते हुए भी उसकी मुख की दृष्टि इसी पर केन्द्रित रहती है कि मस्तक पर रखा हुआ घडा गिर न पड़े,

इसी प्रकार हे राजन् समस्त राज-योग को सम्हालते हुए भी आपकी मुख की दृष्टि मोक्ष मार्ग की ओर है।

सम्राट् भरत की दृष्टि धर्मशासन की स्थापना के साथ-साथ मोक्षसुख की आकाक्षा की ओर भी केन्द्रित थी। उसकी साधना इतने उत्कर्ष पर पहुच गई थी कि राजा भरत एव योगी भरत में भेद करना भी जनसामान्य के लिए कठिन था—

घरियोलेल्लव सुट्टुरुहल्लि भस्म क। पुरं व सुट्टरे भस्म बुंटे॥
नरलति गाहारनिहारबुंटेन्न। भरतेशनिल्ल निहारा॥

अर्थात् जैसे ससार मे सभी पदार्थ जलाने से उसका भस्म तैयार होता है, परन्तु कपूर जलाने से कभी उसका भस्म तैयार होता है? उसी प्रकार सभी मनुष्यो को आहार और निहार प्राय दोनो ही देखने मे आते हैं। परन्तु राजा भरत मे आहार तो है लेकिन निहार नही है। क्या यह अलौकिक व्यक्ति नही है।

इसी आदर्श स्थिति के कारण चक्रवर्ती भरत का आत्मतेज इस देश के कण-कण मे व्याप्त हो गया है। सम्राट् भरत की वैराग्यजन्य आत्मसाधना इतनी प्रखर हो गई थी कि महाकवि रत्नाकर वर्णी भावविह्वल होकर कह उठे—

मुरिदु कण्णिट्टरे क्षणके मुक्तिय काँब। भरत बण्णिय हेललवने॥

अर्थात् वह क्षणमात्र मे दृष्टि बन्द कर मोक्ष को प्राप्त करने वाले उन चक्रवर्ती भरत का मैं क्या वर्णन करू।

मोक्षमार्ग के अद्भुत प्रेरक सिद्ध पुरुष श्रीभरत के पावन कथानक का गौरव गान करने मे सरस्वती भी अपने को असमर्थ-सा मानती है। इसीलिए आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाकवि रत्नाकर वर्णी की मन स्थिति के समान ही कह उठते है—

हदिनारनेमनु प्रथम चक्रेश्वर। सुदति जनके राजमदन॥
चदुरर तलेवणि तद्भवमोक्षास। पदन बण्णिस लेन्न हवणे॥

अर्थात् सोलहवे मनु, प्रथम चक्रवर्ती, अन्न पुरवासिनियो के लिए कामदेव, विवेकियो के चूडामणि एवम् तद्भव मोक्षगामी भरत का वर्णन करने मे मैं कहा तक समर्थ हो सकता हू।

आत्मसाधना मे प्रवृत्त आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने भोगविजय, दिग्विजय, योगविजय, मोक्षविजय एवं अर्ककीर्ति-विजय नामक पाच कल्याणो मे विभक्त, चौसठ संधियो और चौरासी प्रकरणो मे गुम्फित एव दस हजार से भी अधिक पद्यो वाली इस रचना को अपनी काव्यसाधना का विषय क्यो बनाया? इसका उत्तर आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी द्वारा ग्रन्थ के प्रारंभ मे किए गए मंगलाचरण से स्वयं मिल जाता है —

भरतभूप का यह यशोगान। यह है तद्भव मोक्ष जान।
कटे कर्मभव भव के महान्। आदिपुत्र सम मिले आत्मज्ञान॥
मिल जाए मुक्ति पद मन में ठान। करूँ आरम्भ कथा सुन लगा ध्यान।
यह है भरतेशवैभव महान्। भविजन को तारण तरणहि जान॥"

यह सत्य है कि इस काव्य के प्रतिपाद्य विषय भोगो से मुक्ति की तरफ ले जाने वाले हैं और पापकर्मों को नष्ट कर सनातन सुख की अनुभूति कराने वाले है। उस सनातन सुख से साक्षात्कार करने के लिए ही आचार्यरत्न जी ने दिगम्बर परिवेश ग्रहण किया है और एक लम्बे कालखड से वह दिगम्बर सन्त के रूप मे आत्मानुसधान मे निरन्तर संलग्न है।

प्राय जैन धर्म से सम्बन्धित साधु-समाज पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह वैराग्यमूलक निवृत्तिप्रधान धर्म का पालन करते हुए ससार मे सर्वथा विरक्त रहते है। भरतेश वैभव का कथासार मनुष्य मे ब्रह्मविद्या की रुचि तो उत्पन्न करता है किन्तु वह पलायनवादी दृष्टिकोण से सर्वथा दूर है। आचार्य श्री मानव समाज को अपने ज्ञानानुभव द्वारा पिछली पाँच दशाब्दियो से आस्था एव रचना का उपदेश देते रहे है। जैन धर्म के आचार ग्रथो मे इस तथ्य पर बल दिया गया है कि साधु को श्रावक से भेटवार्ता करते हुए सर्वप्रथम श्रावक को मुनि बनने की प्रेरणा एव आशीर्वाद देना चाहिए।

आचार्य श्री देशभूषण जी का दिव्य व्यक्तित्व श्रावक समाज को धर्म पर चलने की प्रेरणा देना है। एक दिगम्बर सन्त के रूप मे कठोर तपश्चर्या करते हुए भी वह अपने सामाजिक दायित्व से मुक्त होने के लिए निरन्तर कर्मशील रहते है। उनके गौरवशाली चरित्र मे निवृत्ति एव प्रवृत्ति का मणिकाचन-सयोग है। इन्द्रियो को सयमित करने के लिए वह कठोर तप के साथ-साथ अद्भुत व्रतविधान भी करते रहे है। कोल्हापुर के प्रारंभिक चातुर्मासो मे उन्होने सर्वतोभद्रव्रत, महासर्वतोभद्रव्रत, बसन्तभद्रव्रत, त्रिलोकसार-व्रत, वज्रमध्य विधि व्रत, मृदगमध्यविधि व्रत, मुरजमध्य-विधि व्रत, मुक्तावली-व्रत एव रत्नावली-व्रत का विधान करते हुए ६०४ दिनो मे ४७१ उपवासो को करते हुए १३३ पारणाए की थी। साधना काल एव उपवासो मे भी वह निरतर कर्मरत रहते हैं। मूलाचार मे साधु के लिए नियत नियमावली का पालन करते हुए वह शास्त्राभ्यास मे सलग्न रहते है। कठोर नियमावली का पालन करते हुए भी उनके मन मे सन्त हृदय की कोमलता एव करुणा प्रायः साकार हो उठती है। अत श्रावक समाज के उद्धार एव धर्म के उन्नयन की भावना से वह साहित्य के प्रणयन वीतराग

विज्ञान के केन्द्र श्री जिन मन्दिरो के निर्माण एव तीर्थ क्षेत्रो की सरचना एवं विकास मे स्वयं कर्मरत हो जाते है। वास्तव मे इस प्रकार का कर्म आचार्य श्री की प्रवृत्तिमार्गी विचारधारा का प्रतिफल है। उनके कर्मप्रधान पौरुष से राष्ट्रीय एकता को बल मिला है और जैन धर्मानुयायियों में अभूतपूर्व आत्मविश्वास जागृत हुआ है। एक सन्त के रूप मे साधना करते हुए चक्रवर्ती भरत के आत्मवैभव से गौरवमंडित होते हुए उन्होंने शताधिक महत्त्वपूर्ण धर्मग्रंथो का अनुवाद, प्रणयन एवं सम्पादन कर एक कीर्तिमान स्थापित किया है। एक श्रमणराज के रूप में प्राय: भारत के सभी प्रमुख खडो मे विचरण करते हुए उन्होने विशाल मन्दिरो के निर्माण से आत्म साधना के केन्द्रो को विकसित करते हुए लोकोपकार के लिए धर्मशालाओ, औषधालयो, पुस्तकालयों, विद्यालयो इत्यादि का निर्माण कराकर जैन धर्म की उदार एवं लोकोपकारी चेतना को साकार रूप प्रदान किया है।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी का प्रेरणास्रोत चक्रवर्ती भरत का पावन चरित्र रहा है। इसीलिए उनका कथन है—

हसिवु तृषेयु निद्रे मोदलाद दु:खव । हसे गेडिसुव शक्तियुल्ल ।।
असमवैभवने नम्मेदे योलगिरु मोक्ष। रसिक चिदबर पुरुषा ।।

अर्थात् भूख, प्यास, निद्रा इत्यादि दु:खो का नाश करने की शक्ति को धारण करने वाले असीम पुण्य वैभवशाली मोक्ष रसिक, हे चिदंबर पुरुष, सिद्ध परमात्मन्! मेरे हृदय मे हमेशा रहकर मेरी रक्षा करो!

ग्रन्थ के समापन पर आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज भव्य जीवो को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे भव्य जीवो! यदि आप लोग शरीर व आत्मा को अभेद जानकर परमात्मा का चिंतन करते रहोगे तो आप लोग भी भरत जी के समान इस लोक व परलोक के सुख को भोगकर अन्त मे मोक्ष की प्राप्ति कर सकोगे।

धर्मामृत

—सम्यग्दर्शन का कथामय निरूपण

समीक्षक : डॉ० रवेलचन्द आनन्द

युगपुरुष पूज्य श्री १०८ आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज दिगम्बर तपस्वियो की श्रेणी मे विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं। उन्होने साधुचर्या करते हुए धार्मिक प्रवचनो द्वारा भारत भूमि के प्राय: सभी अंचलो को तपोपूत किया है, साथ ही सत्साहित्य की सर्जना द्वारा जैन-धर्म के सिद्धान्तो का सश्लेषण-विश्लेषण और व्याख्या-भाष्य प्रस्तुत कर जैन-साहित्य की अभिवृद्धि की है। आचार्यरत्न ने लगभग ७५-८० ग्रन्थो का प्रणयन किया है। इनमे उनके मौलिक और अनूदित दोनो प्रकार के ग्रन्थ हैं। आचार्यरत्न ने भारत की कई प्रादेशिक भाषाओ विशेष रूप से कन्नड भाषा की जैन-कृतियो को हिन्दी मे अनूदित कर जैन धर्म और हिन्दी भाषा और साहित्य को उपकृत किया है। 'धर्मामृत' भी उनकी कन्नड भाषा मे अनूदित महत्त्वपूर्ण कृति है।

'धर्मामृत' (हिन्दी अनुवाद दो भागो मे) के मूल लेखक श्री नयसेन हैं। यह गद्यपद्यात्मक कृति १४ आश्वासों मे विभक्त है। इस रचना का परिसमाप्ति काल कवि के अन्त साक्ष्य के आधार पर शक सवत् ११७६ है। कवि ने स्वयं को मुलुगुन्द ग्राम का निवासी कहा है और जिनेन्द्र के चरणों मे भक्ति उत्पन्न करने के उद्देश्य से प्रेरित होकर उसने इस काव्य की रचना की है। इस ग्रन्थ मे सम्यग्दर्शन, उसके आठ अंगों तथा पाच व्रतो का सुन्दर निरूपण हुआ है। इस निरूपण के लिए रचनाकार ने कथाओं का माध्यम अपनाया है। जैन-साहित्य के लेखकों और आचार्यों की एक प्रवृत्ति यह रही है कि वे किसी सिद्धान्त-प्रधान रचना मे सिद्धान्त-विशेष के प्रतिपादन के अनन्तर कथा-माध्यम द्वारा उसका स्पष्टीकरण करते हैं और बीच-बीच मे सुन्दर दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए उपदेश देना भी नही भूलते। नयसेन की इस रचना में भी यही प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इन कथाओ को पढते समय पाठक इनमे रसमग्न हो जाता है और साथ ही 'धर्मामृत' के उपदेश-पीयूष का भी पान करता है। रचनाकार बडे ही प्रभावी ढंग मे ओजस्विनी शैली मे कथा कहता हुआ सम्यग्दर्शन की व्याख्या करता जाता है और पाठक को बडे सहज रूप से, अनायास ही जैन धर्म के सिद्धान्तो से अवगत कराता जाता है। इस प्रकार यह ग्रन्थ जैन धर्म-सिद्धान्तो का अमृतमय प्रवाह अपने मे समेटे हुए अपने नाम को सार्थक करता है और अपने अज्ञातवृत्त रचयिता की अक्षुण्ण कीर्ति का आधारस्तम्भ बन जाता है।

ग्रन्थ का आरम्भ भारतीय काव्य पद्धति के अनुकूल मगलाचरण के साथ होता है, जिसमे ग्रन्थकार श्री जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति करके उनके चरणो मे 'त्रिलोक मे सारभूत उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति के मार्ग-दर्शन के लिए' प्रार्थना करता है। ग्रन्थ के इस हिन्दी अनुवाद में आचार्यरत्न ने मगलाचरण की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या करते हुए मगलस्तवन की परिपाटी, सच्चे देव, अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, गुरु आदि के गुणो और स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है। इस प्रकार अनुवादक मूल ग्रथ के अनुवाद के साथ-साथ टिप्पणी और भाष्य के रूप मे जिस व्याख्या को प्रस्तुत करता है, उसमे उसकी विद्वत्ता तो प्रकट होती है, साथ ही मौलिक सृजन की प्रतिभा भी उद्भासित होती है। अनुवादक अपनी बात की पुष्टि के लिए प्राचीन धर्म-ग्रन्थो से उद्धरण भी प्रस्तुत करता है। 'सिद्ध' के सम्बन्ध मे निम्नलिखित कथन से इसकी पुष्टि की जा सकती है—"जैसे ससारी जीव रागद्वेष मोह से वासित होकर मन, वचन, काय के योगो से व्यापार करते हुए शुभ व अशुभ कर्मों का संचय करते हैं, अतएव वे कर्मों का कारण हो जाते हैं, वैसे सिद्ध परमात्मा रागद्वेष, मोह व योगो के हलन-चलन से रहित होते हुए न किसी कर्म-वर्गणा को बाधते हैं, न कभी उस बध का फल सुख-दु:ख या ससार मे भ्रमण पा सकते हैं।" (धर्मामृत, प्रथम भाग, पृष्ठ १८)

'मगलाचरण' के अनन्तर कवीन्द्र नयसेन ने काव्य के उद्देश्य, सुकवि और कुकवि मे अन्तर, आध्यात्मिक विषय-वस्तु की प्रस्थापना, सस्कृत और भाषा काव्य की भिन्नता आदि का संक्षिप्त विवेचन किया है। कवि नयसेन के विचार हिन्दी के मध्ययुगीन रामभक्त कवि तुलसी के 'रामचरित मानस' के बालकाण्ड के प्रारम्भिककाव्यांश का स्मरण करा देते हैं, जहां कवि तुलसी घोषणा करते है, "कीन्हें प्राकृत जन गुणगाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना।" नयसेन लिखते हैं—"जिस प्रकार रसोई में बिना नमक के सरस शाक आदि भोजन नहीं बन सकता है तथा घी के साथ अगर नमक का प्रयोग नहीं किया गया तो जीभ को स्वाद नहीं आता, उसी प्रकार यदि कविता में भगवान् की वाणी का रसास्वाद नहीं होगा तो वह मधुर और सुकाव्य नहीं बन सकती। (धर्मामृत, प्रथम भाग, पृष्ठ ४६)। इसी प्रकार तुलसी की तरह नयसेन

अपने काव्य को सज्जनों द्वारा ग्राह्य और दुर्जनो द्वारा अग्राह्य मानते है—"सज्जन लोग मेरे द्वारा रचे हुए काव्य को देखकर किसी प्रकार की अवहेलना करेंगे या उस रचे हुए काव्य की निन्दा करेंगे, उसके विषय मे मुझे तिलमात्र भी डर नही है, क्योकि सज्जन लोग सदा एक से ही रहते है। वे काव्य के दोष को ग्रहण नही करते, उसके सार को ही ग्रहण करते है। और दुर्जन लोग सदा दुष्ट व्यवहार करते है, सार गर्भित मधुर कविता होने पर भी अपने अभिप्राय की बाते न मिलने के कारण उस सुकवि के रचे हुए काव्य की निन्दा करते रहते हैं। इसलिए मैं सबसे पहले अपने काव्य मे दोषग्राही दुर्जनो को भी भगवान् समझकर पहले उनकी प्रदक्षिणा देता हू।" (धर्मामृत प्र० भा०, पृष्ठ ४६-४७) नयसेन के इस कथन और तुलसी के सज्जन-दुर्जन प्रसग मे अद्भुत साम्य है। इतना ही नही कन्नड का यह साहित्यकार तुलसी की भाति ही 'कवि न होऊं नहिं चतुर कहावऊं। मति अनुरूप राम गुन गावहु' की धारणा मे विश्वास रखता है और अपनी विनम्रता इस प्रकार प्रकट करता है—"महान् कवियों के सामने मै एक अल्पज्ञ बुद्धि कैसे टिक सकता हू। अत मेरे द्वारा रचे हुए काव्य मे सज्जन लोग मेरे दोषों को न देखकर मेरे काव्य का पठन करे।" (धर्मामृत प्र० भा०, पृष्ठ ४७) अन्त मे कवि इस ग्रथ के प्रतिपाद्य के विषय मे तुलसी की भाति ही सकेत करता है— "जो अतिशयशाली जिनेन्द्र भगवान् के वचनामृत से परिपूरित है, जो समस्त जीवो का हित करने वाला है, पुण्यो को उत्पन्न करने वाला है, जो भव्यजनो से स्तुत है, पवित्र है, ऐसे धर्मामृत नाम काव्य को मै विस्तारपूर्वक यथामति कहूगा। (धर्मामृत प्र० भा०, पृष्ठ ४६) इस प्रकार उत्तर भारत की अवधी भाषा मे रचित 'रामचरितमानस' तथा दक्षिण भारत की कन्नड भाषा मे रचित 'धर्मामृत' के प्रारम्भिक अंशो को पढकर सुखद आश्चर्य होता है कि सम्पूर्ण भारत मे विचारो का किस प्रकार अद्भुत साम्य था। एक-दूसरे को ये कवि विचारो के आदान-प्रदान से किस प्रकार प्रभावित करते थे।

'धर्मामृत' के वक्ता गौतम गणधर है और श्रोता राजा श्रेणिक। कवि के अनुसार 'सम्यग्दर्शन' चतुर्गति के जन्म-जरा-मरण को दूर कर अनंत सुख प्रदान करने वाला है। कवि कहता है कि "इसके बिना यदि कोई मोक्ष की अभिलाषा करता है तो वह उसके समान है जैसे कोई बिना नेत्र देखना चाहता है, मिट्टी मे बीज बोए बिना फल की इच्छा करता है, बिना बाण के लक्ष्यवेध करना चाहता है, बिना जहाज के समुद्र पार होना चाहता है।" (धर्मामृत प्र० भा०, पृष्ठ ५८) प्रथम आश्वास मे कवि ने सम्यग्दर्शन के महत्त्व और स्वरूप का विस्तार से विवेचन करते हुए गिरिनगर के सेठ दयामित्र की कथा द्वारा अपने विवेचन को स्पष्टता प्रदान की है। "तत्त्व के ऊपर अचल श्रद्धान रखना और व्यवहार तथा निश्चयनय मार्ग से उसे समझकर स्वात्मानुभूति करना तत्त्व श्रद्धान है। यह तत्त्व श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) तीनो लोको मे पूजनीय है, अविनाशी सुख-शान्ति रूप मोक्ष को देने वाला है।" (धर्मामृत प्र० भा०, पृष्ठ ६२) इस सम्यग्दर्शन के बिना दान-जप-तप कुछ भी शोभा नही देता। इससे रहित ज्ञान और चरित्र भी अज्ञान और अचरित्र होते हैं। सम्यग्दर्शन ही निर्मल सुख का मूल है।

जैन धर्म के अनुसार सम्यग्दर्शन के आठ अग है—नि शका, निष्काक्षता, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और धर्मप्रभावना। 'धर्मामृत' के दूसरे से नवे आश्वास तक इन्ही अगो का प्रतिपादन किया गया है। कवि ने बडी सुबोध और रोचक भाषा शैली मे इनके स्वरूप और महत्त्व को स्पष्ट करते हुए आठ कथाओ द्वारा उनको जीवन मे आचरित करने के महत्त्व को भी प्रकाशित किया है। ये कथाए है—विजयनगर के राजा अरिमथन तथा उसके पुत्र ललितांग की कथा, चम्पापुर के प्रियदत्त सेठ की पुत्री अनन्तमती की कथा, रौरवपुर के राजा उद्दायन की कथा, ताम्रलिप्त नगर के वैभवशाली जिनेन्द्र भक्त सेठ की कथा, वारिषेण की कथा, सोमदत्त पुरोहित और बालक वज्रकुमार की कथा, अकम्पनाचार्य तथा राजा जयवर्मा की कथा। ये कथाए यद्यपि सुपरिचित है, किन्तु कवि ने जिस रमणीयता और सरसता से इन्हे प्रस्तुत करते हुए सम्यग्दर्शन के आठ अगो का विवेचन किया है, उसमे ये कथाए मौलिक और नवीन प्रतीत होती है।

'धर्मामृत' के अन्तिम पाच आश्वास पाच व्रतो के निरूपण से सम्बन्धित है। ये पाच व्रत है—अहिंसा व्रत, सत्य व्रत, अचौर्य व्रत, ब्रह्मचर्य व्रत, और अपरिग्रह व्रत। इन व्रतो का जैन धर्म मे विशिष्ट महत्त्व है। इन्हे अणुव्रत कहा जाता है, "ये पाच अणुव्रत भव्य पुरुष को पचरत्न के समान है। ये ही पाच रत्न मोक्ष-प्राप्ति करने मे साधनभूत है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। ये पाच रत्न मनुष्य को हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाच पापो से मुक्त करते है (धर्मामृत प्र० भा०, पृष्ठ ७६)। कवीन्द्र नयसेन ने पांच कथाओं द्वारा इन व्रतों का निरूपण किया है। इस प्रकार 'धर्मामृत' मे चौदह कथाओ के माध्यम से जैन धर्म के सम्यग्दर्शन की समग्ररूप मे व्याख्या कवि नयसेन का उद्देश्य रहा है और इस उद्देश्य मे कवि को पर्याप्त सफल माना जा सकता है।

'धर्मामृत' का धार्मिक महत्त्व तो असदिग्ध है ही, इसका साहित्यिक महत्त्व भी है। सोद्देश्य काव्य की रचना करते हुए भी नयसेन ने इसके साहित्यिक एव कलात्मक पक्ष को दृष्टि से ओझल नही किया। संस्कृत के स्थान पर कन्नड भाषा मे रचना करना अपने आप मे एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इससे कवि जन-सामान्य के निकट पहुचा है और अपनी विचारधारा को अधिक सफलता से प्रचारित कर सका है। इस रचना मे वर्णित दृष्टान्त तो मुग्ध करते ही है साथ ही इसमे आलंकारिक शैली का प्रयोग भी बडा प्रभावी बन पडा है। विशेष रूप से इस ग्रथ मे उपमाओं की भरमार है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए कवि ललित उपमाओं की झडी लगा देता है और सार्थक उपमानो के प्रयोग से अपने कथ्य को मार्मिक, सरस और प्रभावी बना देता है। किसी भी प्रसग को पढिए, ललित उपमाएँ स्वयमेव पाठक

के सामने नृत्य करती हुई प्रस्तुत होती हैं। यहां एक उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा —"दर्शन सहित निःशंकित अंग को धारण करने वाला मनुष्य उसी प्रकार शोभा को पाता है, जैसे मंगलवेष में सजा हुआ दूल्हा, जैसे आंखों में कज्जल की रेखा, पावों में पैंजनी, कूटने से जिसका ऊपर का छिलका उड़ गया है ऐसा धान्य, अश्व पर सवार जैसे सुन्दर युवक, जैसे विवाहोत्सव का मंगलमय घर, शूरवीर की मूंछों की बाँकी मरोड़, चावल की मुट्ठी के समान, तेजधार परशु के समान, जुती हुई सुन्दर बैलगाड़ी के समान, तोरण से शोभायमान घर के द्वार के समान, दोनों ओर कंधे पर झूलती हुई कावड के समान, दंतधावन से निर्मल हुए दांतों के समान, निःशंकित अंग को धारण करने वाला मनुष्य शोभा देता है।" (धर्मामृत प्र० भा०, पृष्ठ २०२) कितने व्यापक और विस्तृत क्षेत्र से अथवा यों कहिए कि लोकजीवन के विशाल प्रांगण से बटोरकर ललित उपमाओं को एक-साथ प्रस्तुत करने में कवि नयसेन अप्रतिम रूप से सफल हुए हैं। संस्कृत के कवि बाण भट्ट भी इसी प्रकार की उपमाएँ संजोते थे।

नयसेन की कन्नड भाषा की गौरव-कृति 'धर्मामृत' का आचार्यरत्न श्री १०८ देशभूषण जी महाराज द्वारा यह हिन्दी अनुवाद अपने आप में एक सुललित कृति बन जाता है। कन्नड भाषा से हिन्दी में अनुवाद करने में इस रचना के महत्त्व का तो पता चलता ही है, साथ ही आचार्यरत्न द्वारा की गई व्याख्या, भाष्य और टिप्पणियों में अनुवादक के पाण्डित्य, गम्भीर ज्ञान-गरिमा, अध्ययन-प्रवृत्ति और धर्मनिष्ठा का भी अनुमान लगाया जा सकता है। इस अनुवाद की भाषा ललित और सरस है, अतः पाठक और विशेष रूप से जैन धर्मानुयायियों के लिए सुग्राह्य है। इस रचना का अनुवाद करके आचार्यरत्न ने हिन्दी भाषा और जैन-समुदाय को तो उपकृत किया ही है, साथ ही उत्तर और दक्षिण भारत की सांस्कृतिक चेतना की मूलभूत एकता को भी रेखांकित किया है। इस प्रकार के अनुवाद राष्ट्रीय एकता को समृद्ध करने की दिशा में भी ठोस कदम कहे जा सकते हैं।
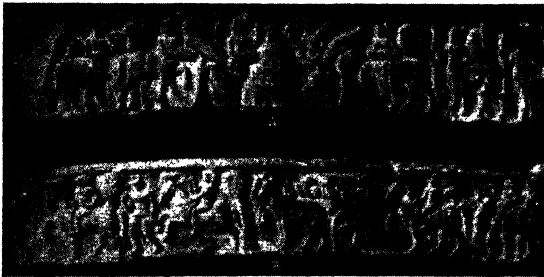
रत्नाकर शतक

—आन्तरप्रान्तीय योगदान की राष्ट्रीय निधि

समीक्षक डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र

सोलहवीं शती के कन्नड कवि रत्नाकर वर्णी कृत 'रत्नाकराधीश्वर' अथवा 'रत्नाकर शतक' का अध्ययन तो दूर, परिचय प्राप्त करना मुझ जैसे हिन्दी भाषी प्राध्यापक के लिए दुस्तर ही था, यदि आचार्य देशभूषण जी जैसे सस्कृति-भाषा-विषयक समन्वयी चेतना वाले विद्वान् मनीषी इस रचना का सम्पादन और उसकी व्याख्या प्रस्तुत न करते। वास्तव मे भारतीय भाषाओ के ग्रथ रत्नो को हिन्दी भाषी अपार जन-समाज तक लाना राष्ट्रीय महत्त्व का कार्य है। ऐसा करने मे दो महत् सिद्ध होते हैं—१ साहित्यिक-सास्कृतिक-दार्शनिक विरासत को प्रसारित करने का, और २. भाषा-क्षमता के आधार पर राष्ट्रीय एकता को सुगुफित करते हुए जनमानस को सस्कारित करते जाने का। सभी प्रकार की समन्वित चेतना को प्रबुद्ध करने मे भाषा का प्रमुख हाथ रहता है। भारत के सन्दर्भ मे हिन्दी या हिन्दुस्तानी भाषा शताब्दियो से राष्ट्रीय एकता की प्रतीक रही है; क्योंकि हिन्दी भाषा-क्षेत्र शताब्दियो से राजनैतिक, धार्मिक एव सास्कृतिक दृष्टि से अनेक वैचारिक दबावो को सहन करता आया है। इसी विस्तृत भूभाग मे मौर्य, शुग, गुप्त मुगल, पठान आदि साम्राज्यो का उत्थान-पतन हुआ है, आक्रमण, युद्ध झेले हैं। प्रसिद्ध हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिक्ख, इस्लाम, ईसाई तीर्थ-स्थल इसी प्रदेश मे है। अत यह क्षेत्र दीर्घकाल से जन-चेतना को आकर्षित करने का चुम्बकीय कार्य करता रहा है। परिणामत. इस क्षेत्र मे सकीर्ण प्रान्तीयता नही पनप सकी है। इस क्षेत्र की जनभाषा होने के कारण ही हिन्दी मे अद्भुत समन्वयकारी क्षमता अन्तर्निहित है। साथ ही, आध्यात्मिक चेतना के विकास मे भी इस क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। काल क्रम मे यह चेतना पहले सस्कृत, पुन प्राकृत और अपभ्र श मे अभिव्यक्त होती हुई हिन्दी और उसकी उपभाषाओ मे आई है। जनमानस तक पहुचने मे भाषा ही सबसे बड़ा माध्यम है। यह भाषा स्थानीय बोलियो से जीवनी-शक्ति लेती हुई उपभाषा, प्रान्तीय भाषा के सोपानो पर अग्रसर होकर सार्वदेशिक भाषा के रूप मे स्वीकृति पाती है। अत मातृभाषा, प्रदेश भाषा और देशभाषा यह एक स्थितिजन्य क्रम है। यह क्रम सर्वजनोन्मुखी होकर काल क्रम मे आगे बढता है। जनोन्मुखी होने का यह क्रम सस्कृत से प्राकृत मे, प्राकृत से अपभ्र श मे आधुनिक भारतीय भाषाओ मे देखने को मिलता है। एक विद्वान् का अभिमत है कि भारत ऐसा सास्कृतिक देश है, जिसकी जड़ अध्यात्म है। यह अध्यात्म हमारी सस्कृति के उस वृक्ष की भाति है जो समूचे राष्ट्र को अपनी मूलवत्ता एव सघन छाया मे परिवेष्ठित किए हुए है। वृक्ष के अग-प्रत्यग की विभिन्नता के बावजूद राष्ट्रीय अखडता एव उसकी समन्वित सत्ता का सारा दायित्व सस्कृति की पीठिका पर निर्भर है। सस्कृति के इस गुरुतर दायित्व को क्षेत्रीय-प्रान्तीय भाषाओ के सहयोग से हिन्दी ही निभा सकती है, कोई विदेशी भाषा नही। वास्तव मे हिंदी मे चिन्तन-व्यवहार के जीवन्त तत्त्व युगो से सचाहित होते रहे है। हम देखते हैं कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के ये सोपान मनीषी ऋषि, जैन, बौद्ध चिन्तन को आधुनिक युग तक किस प्रकार उत्कर्ष प्रदान करते रहे हैं। मध्य देश की शौरसेनी अपभ्र श तो आठवी से तेरहवी शती तक उत्तर भारत की साहित्यिक और सास्कृतिक विनिमय की भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित रही है। सस्कृत विद्वान् भी जनसमुदाय तक पहुंचने के लिए इसे आवश्यक मानते आये हैं। मागधी, महाराष्ट्री अपभ्रंश भी उसी विकास क्रम मे आती है। हिन्दी उसी विकास क्रम के उत्तराधिकार से पुष्ट है।

आचार्य देशभूषण जी ने भाषा विकास क्रम एव उसकी अमोघ क्षमता को भली प्रकार समझा है और अनुभव किया है कि आज के युग मे अध्यात्म चिन्तन का ज्ञान और उसका सार जनसुलभ बनाने के लिए हिन्दी को माध्यम रूप मे अपनाना अपेक्षित ही नही अपरिहार्य है। मुनि परम्परा के धर्मध्वज आचार्य श्री देशभूषण जी अनासक्त होते हुए भी लोककल्याण की भावना से प्रेरित हैं। उनकी मान्यता है कि आज लोकरुचि भोगाकाक्षी एव द्रव्यदासी बनी हुई है। ऐसी मानसिकता के दबाव मे व्यक्ति कैसे शाश्वत शान्ति, अमर जीवन और आनन्द-भाव की प्राप्ति या परिचय प्राप्त कर सकता है। ऐसी मानसिकता को श्रम-वाणी, यम-वाणी जैसी लगती है। किन्तु आचार्य देशभूषण जी ने ऐसे सामाजिक वातावरण मे भी अपने अमृतमय सकल्प को न छोडकर जीवन के पवित्र पक्ष—योग, ब्रह्मचर्य, तप, स्वाध्याय, निर्वैरता, त्याग एवं दिगम्बर चेतना को धारण करके, अहिंसा के प्रकाश को मन, वाणी और कर्म से फैलाते हुए समस्त भारत मे पैदल बिहार करते हुए जीवन-

यापन की महती साधना का अनवरत-अनथक व्रत सन्धान किया है, कर रहे हैं। आपके जीवन-सकल्पो मे एक यह भी है कि भारत की अध्यात्म चेतना लोकमंगलकारी है, जिसका प्रचार-प्रसार आज जनहित मे परमावश्यक है। अनन्तकाल से मनीषी रचनाकारो ने जो अमृतवाणी प्रदान की है, वह आज की वेदनामयी करुण परिस्थिति मे क्लिष्ट और दुष्टबुद्धि का परिष्कार करने मे, संवदना-बुद्धि जागृत करने में सहायक हो सकती है। इस महत् कार्य सम्पादन मे किसी भाषा विशेष का आग्रह न होने पर भी, संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के स्रोतों से जुड़ती हुई, अनेक ऋषि-मनीषी रचनाकारो के समान ही जैन रचनाकारो न कनडी, तमिल, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, ब्रज आदि मे अपनी चेतना की निर्मल गगा प्रवाहित की है। इस विकल्प को —कि लोक भाषाओ या क्षेत्रीय भाषाओ मे उच्च साहित्य-सृजन की क्षमता क्षीण है, आचार्य देशभूषण जी का निष्कर्ष है कि शताब्दियो से जैनाचार्यों ने गम्भीर विषयो पर लोकभाषाओ और प्रान्तीय भाषाओ मे मौलिक और उच्चकोटि का साहित्य सृजन किया है। उदाहरण के लिए कन्नड भाषा के तो अधिकाश कवि प्राय जैन विचारधारा के ही अनुयायी रहे है। पोन्ना, रन्न, रत्नाकर, अन्न, पम्प, नयसेन, नागचन्द्र, अगल, साल्व आदि रचनाकारो ने कन्नड़ साहित्य की श्री वृद्धि की है।

तपस्वी जीवन के अग्रेता आचार्य देशभूषण जी मुनि परम्परा के सवाहक होने के साथ ही मनीषी चिन्तक एव प्रतिष्ठित साहित्यकार भी हैं। आपका संस्कृत, प्राकृत, कनडी, मराठी और हिन्दी भाषा पर अधिकार है। अपने जीवन के अधिकाश समय को आप शास्त्र-रचना मे लगाते रहे हैं। आपके द्वारा रचित, अनूदित, सम्पादित लगभग ७० ग्रन्थ है। इनमे प्रमुख है —भूवलय, भावनासार, शास्त्रसार समुच्चय, रत्नाकर शतक (प्रथम-द्वितीय भाग), निर्वाण लक्ष्मीपति स्तुति, चौदह गुणस्थान चर्चा, धर्मामृतसार (प्रभाचन्द्राचार्यकृत, यह रचना हिन्दी और मराठी दोनो भाषाओ मे उपलब्ध है), ध्यान सूत्राणि, अपराजितेश्वर शतक (प्रथम-द्वितीय भाग), श्रेष्ठ शलाकापुरुष, उपदेशसार संग्रह (१-६ भाग तक) निरजन स्तुति, गुरु शिष्य प्रश्नोत्तरी, गुरु शिष्य सवाद, णमोकार मन्त्र कल्प, तत्त्वदर्शन, स्तोत्रसार संग्रह, भरतेश वैभव भाग १, (खण्ड १-२-३) भाग २, दश लक्षण धर्म, आत्मरस मजरी, भक्ति स्तोत्र सग्रह (भाग १-२), प्रवचनसार (कनडी और मराठी अनुवाद), समयसार प्रवचन (अध्याय पाच तक मराठी मे), भरतेश वैभव (गुजराती मे), धर्मामृत (नयसेनाचार्य कृत, १-२) जय भगवद् गीता, त्रिकालदर्शी महापुरुष, भगवान् महावीर और उनका समय, भगवान महावीर और मानवता का विकास, तात्त्विक विचार, जैनधर्म का मर्म अहिंसा, योगामृत।

वास्तव मे आचार्य देशभूषण जी ने अपना जीवन धर्म-दर्शन एव साहित्य-संस्कृति को सहर्ष समर्पित किया हुआ है। और इस अर्थ मे आपका साहित्यिक-ऐतिहासिक योगदान भी उल्लेखनीय है। आप प्राचीन भारतीय साहित्य के गम्भीर अध्येता रहे है। भारतीय साहित्य के चिन्तन तत्त्वो को, बहुमूल्य निष्कर्षों को जन-जन तक पहुचाना आपने अपने जीवन का ध्येय बनाया है। सच तो यह है कि भविष्यद्रष्टा अनासक्त कर्मयोगी ने राष्ट्र की अमृतमयी एकान्वित चेतना को अग्रसारित करते हुए दक्षिण और उत्तर के रागात्मक सम्बन्धों को विकसित करने के लिए ही विभिन्न भारतीय भाषाओ—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, तामिल, कन्नड, बगला और गुजराती आदि की भक्तिमयी चेतना को राष्ट्रभाषा हिन्दी मे प्रस्तुत करने का महनीय कार्य सम्पादित किया है। आपकी सतत साहित्य-साधना के कारण ही अनेक मनीषी रचनाकारो की अज्ञात, अल्पज्ञात एव महत्त्वपूर्ण रचनाए हिन्दी मे प्रकाशित हो सकी है। आप उन युगप्रमुख साहित्यसेवियो में हैं, जिन्होंने धर्म रक्षा एवं धर्म साहित्य के अभ्युदय को संस्कृति की धुरी माना है। इसलिए अपने तन-मन मे जीवन मे विहार करते हुए अध्यात्म चेतना का प्रसार एवं राष्ट्रीय चेतना को सम्बल प्रदान किया है। और ऐसा करने के लिए आपने भारत के विभिन्न प्रदेशो की बहुश पद यात्रा तो की ही है अनेक प्रान्तीय भाषाओ को समझा-पढा और दक्षता प्राप्त करके प्रदेशो की सरस्वती-सरिताओ को एक-दूसरे से जोडने हुए हिन्दी के माध्यम से आदान-प्रदान रूप पुल बनाया है, विच्छिन्न कवियो को जोडा है। ऐसा करते हुए आपकी वाणी की अमोघ शक्ति एक ओर तो ज्ञान-विवेक एवं शान्ति-आनन्द का अखण्ड द्वार अनावृत करती है, तो दूसरी ओर भारतीय चिन्तन पद्धति की सार्वभौम क्षमता व संस्कृति के अमृतसर मे सात्त्विक चेतना को निमज्जित कराने में समर्थ है। आप विगत ५५-६० वर्षों से निरन्तर निर्ग्रन्थ भगीरथ बने रहकर दक्षिण की गंगा को उत्तर मे लाते रहे है।

आचार्य देशभूषण जी ने रत्नाकर वर्णी कवि कृत 'रत्नाकर शतक' का सम्पादन एव व्याख्या आदि की है जो अनुवाद कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रस्तुति है। अनुवाद कार्य मे जहा अनुवादक अथवा टीकाकार का मुख्य लक्ष्य रहना है कि मूल मे निहित सौन्दर्य-अर्थ की चेतना न केवल ध्वस्त न हो, अपितु, उसकी आत्मा बखूबी अभिव्यक्त हो, प्रभविष्णु बनकर रूपायित हो। इसके लिए अनुवादक को, व्याख्याकार को निरन्तर सावधान होकर केन्द्रोन्मुख बने रहना पडता है। यह कार्य वह तभी कर सकता है, जब वह अनुवाद-कला-व्याख्या सामर्थ्य से सम्पन्न हो और मूलकृति का रसास्वादन करके आत्मसात् कर सके। मूलभाषा मे प्रवेश की दक्षता इस कार्य मे उसको निरन्तर सहयोग देती है। ऐसा होने पर ही उसकी वाहिका भाषा मूलकृति की भाति ही चित्त रमाने मे सक्षम हो पाती है। इस दृष्टि से जब हम आचार्य देशभूषण जी की भाषा-क्षमता एवं विषयाधिकार को देखते हैं तो पढ़ते ही अनुभव होने लगता है कि उन्हे मूल अर्थात् कन्नड़ एव टीका-व्याख्या की भाषा अर्थात् हिन्दी दोनों की प्रकृति और उनके बोलने वालो के मुहावरे से पूर्ण परिचय है। एक उनकी मातृभाषा है तो दूसरी उनकी विचाराभिव्यक्ति की भाषा विगत लगभग पचास वर्षों से रही है। यहा यह बात भी उल्लेखनीय है कि जब छन्दोबद्ध रचना की टीका या व्याख्या करनी होती है और

वह भी दार्शनिक पक्ष प्रधान रचना की, तब अनुवाद या टीका करने के नियमों को अधिक व्यापक बनाना पड़ता है। तब उद्देश्य रहता है कि मूल की गहराई मे जाकर उसकी अर्थवत्ता को भाषा विशेष के पाठक तक सम्प्रेषित करना। और यह कार्य आचार्य श्री ने रत्नाकर शतक की व्याख्या में दायित्वपूर्वक निर्वाहित किया है।

समीक्ष्य पुस्तक 'रत्नाकर शतक' की टीका-व्याख्या और सम्पादन पर विचार करने से पहले मूल रचना के ग्रंथकार के बारे मे परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। कवि ने अपने बारे मे बहुत कम कहा है। अन्त:साक्ष्य मे कुछ सकेत मिलते हैं। अपने त्रिलोक शतक में 'मणिशैलंग तिङ्‌दुशाली' शतक का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि इन्होने शतक त्रय की रचना शालिवाहन शक १४७६ (सन् १५५७) मे की थी। रत्नाकर वर्णी कन्नड भाषा के मूर्धन्य साहित्यकारो मे से है। आपका जन्म कर्णाटकीय भूभाग मे तुलुदेश के मूडबिद्री मे किसी सूर्यवंशी राजा देवराज के घर १६ वी शती के मध्य . हुआ था। आपने अपने गुरु 'देवेन्द्रकीर्ति' का उल्लेख रत्नाकर शतक के १०८ वें श्लोक में किया है—'श्रीमद्देवेन्द्र-कीर्ति योगेश्वर पादाभोजभृंगायमान श्रृंगार कवि राजहंस विरचित रत्नाकर सपाद शतकमसमाप्तम्।' कही-कही इनके गुरु का उल्लेख महेन्द्रकीर्ति भी मिलता है। आचार्य देशभूषण जी ने तर्कयुक्त प्रमाण देकर बताया है कि देवचन्द्रकृत 'राजा बलि की कथा' के अनुसार देवेन्द्र कीर्ति और महेन्द्र कीर्ति दोनो नाम एक ही व्यक्ति के है। इनके अन्य नामो का उल्लेख है—अण्ण, वर्णी, सिद्ध आदि।

रत्नाकर वर्णी अपने विषय के पारगामी विद्वान् थे। आपने अपनी किशोर वय मे ही गोम्मटसार की केशववर्णी टीका, कुन्दकुन्दाचार्य के अध्यात्मिक ग्रन्थ, अमृतचन्द्र सूरि कृत समयसार नाटक, पद्मनन्दि कृत स्वरूप सम्बोधन, इष्टोपदेश आदि ग्रन्थो का अध्ययन-मनन कर लिया था। वास्तव मे आचार्य और मुनि परम्परा की सबसे बडी विशेषता यह रही है कि इन्होने अध्यात्म और सिद्धान्त को जीवन की व्यावहारिकता मे साकार करने का प्रयत्न किया है। इसका प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ है कि इनकी अभिव्यक्ति से, आध्यात्मिक चेतना से जनमानस की रुचि सुसंस्कृत होती रही है। शृंगार के अश्लील पक्ष को कह-सुनाकर हठात् उनमे अध्यात्म चेतना का अर्थ भरकर कवि-कलाकार की हैसियत से सामाजिक की मानसिकता को विकृति से नही भरा है। इसलिए इनकी रचना का लक्ष्य उद्देश्यपूर्ण और सामाजिक आचरण की कोई-न-कोई गहन समस्या ही रहा है। इन तत्त्व मनीषियो की दृष्टि सत्य की चरम खोज करना है। जैन तत्त्व ज्ञान की एक विशेषता और भी रही है कि उसमे वर्णित सत्य साक्षात्कार की दार्शनिक दृष्टि मे अनेकान्त अथवा स्याद्वादीय पक्ष भी प्रमुख रहा है, जो जीवन की व्यावहारिकता को पोषित करता है। जैन अध्यात्म में आत्मा की अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख की स्वीकृति है। फलस्वरूप जैनाचार्य-कवि शुष्क अध्यात्म के पोषक नही हैं। इसलिए जैन-रचनाकारो मे केवल वैराग्यधारक मुनि-आचार्य ही नही हैं, गृहस्थ विद्वान् और भट्टारक भी हैं। ये रचनाकार व्यवसायी रचनाकार नही थे, जो राजवर्ग, धनिक वर्ग की सन्तुष्टि मे लगे हो। इन्होंने जो कुछ लिखा वह स्वान्तःसुखाय ही लिखा, जिसमें स्वतः ही जनकल्याण निहित था। ऐसा करते हुए सहज ही उच्छृंखल वृत्ति, दम्भ और प्रदर्शन वृत्ति का शमन तो हुआ ही, परम्परा और मर्यादा के निर्वाह से पाठक-श्रोता वर्ग की अस्मिता जागृत बनी रहकर कल्याणोन्मुख रही।

रत्नाकर वर्णी इसी विचारमाला के पुष्प हैं। इनकी रचनाओ मे तीन शतक—१. रत्नाकर शतक (अन्य नाम रत्नाकराधीश्वर शतक), २ अपराजित शतक, ३. त्रैलोक्येश्वर शतक प्रसिद्ध है। तीनों शतको मे १२८-१२८ श्लोक है। इनका वर्ण्य विषय है—अध्यात्म, नीति, वैराग्य वेदान्त और त्रिलोक सम्बन्धी ज्ञान। अन्य रचनाए है—१ भरतेश वैभव तथा २ सोमेश्वर शतक। 'भरतेश वैभव' में योगिराज चक्रवर्ती भरत का जीवनचरित गुम्फित है। इसमे वैराग्य के साथ शृंगार का समन्वय है। इसी रचना के आधार पर रत्नाकरवर्णी को 'शृंगार कवि राजहंस' भी कहा गया है। यह काव्य कन्नड भाषा के काव्यो मे महत्त्वपूर्ण और महाकाव्य के गुणो से मंडित माना गया है। 'सोमेश्वर शतक' काव्य कवि की उस काल की रचना है जब उसने जैन मत छोडकर शैवमत स्वीकार कर लिया था। इसमे भी तत्त्व चिन्तन तो जैन धर्मावलम्बी ही है, किन्तु यह शिव को सम्बोधित करके लिखा गया है। इसके प्रत्येक पद्य के अन्त मे 'हरहरा सोमेश्वरा' पदांश जोड़ा गया है।

'रत्नाकर शतक' के वर्ण्य विषय के रूप मे इसमे जैन तत्त्व ज्ञान का आधार लिया गया है। कवि का मन्तव्य है कि मनुष्य को वास्तविक शान्ति 'धर्म' पुरुषार्थ के सेवन द्वारा ही सम्भव है। 'अर्थ' और 'काम' पुरुषार्थ महत्त्वपूर्ण होते हुए भी आंशिक सुख दे पाते है। वास्तविक धर्म तो आत्म धर्म ही है। इस दृष्टि से कह सकते है कि 'रत्नाकर शतक' का वर्ण्य विषय वैराग्य, नीति और आत्मतत्त्व निरूपण है। दूसरे 'अपराजित शतक' मे अध्यात्म और वेदान्त का विस्तार सहित प्रतिपादन है। तीसरे 'त्रैलोक्येश्वर शतक' मे भोग और त्रैलोक्य के आकार-प्रकार और विस्तार का वर्णन है। प्रत्येक शतक मे १२८ पद्य हैं। 'रत्नाकर शतक' की आचार्य देशभूषण जी द्वारा की गई व्याख्या को पढकर लगता है कि स्वय कवि ने ससार, आत्मा और परमात्मा के त्रक् का अनुभव गहराई से किया है और उसी अनुभव को रचनाबद्ध किया है। इसके प्रत्येक पद्य मे आत्मरस छलकता है। स्वय देशभूषण जी का अभिमत है कि इस रचना पर समयसार, आत्मानुशासन और परमात्म प्रकाश की छाया स्पष्ट लक्षित है। किन्तु, इन रचनाओ के तत्त्व ज्ञान को कवि ने अपने अनुभव के साचे मे ढालकर नया नाम-रूप प्रदान किया है। स्वयं आचार्य जी के शब्दो मे—"इस ग्रन्थ मे अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थो का सार है। इसके अन्त:स्तल मे प्रवेश करने पर प्रतीत होता है कि कवि ने वेदान्त और उपनिषदो का भी अध्ययन किया है और उस अध्ययन से प्राप्त ज्ञान का उपयोग, जैन मान्यताओ के अनुसार आठवें, नवें और दसवें पद्य मे किया है। अकेले रत्नाकर शतक के अध्ययन से अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थो का सार ज्ञात होता है।"

वैराग्य प्रतिपादक होते हुए भी 'रत्नाकर शतक' का अध्यात्मवाद निराशावाद से पुष्ट या प्रेरक नहीं है। इसमें संसार से घबड़ा कर उसे नश्वर या क्षणिक नहीं बताया गया। अपितु, वस्तुस्थिति का प्रतिपादन करते हुए आत्मस्वरूप का विवेचन किया गया है। संसार के मनोज्ञ पदार्थों का अन्तरंग एवं बहिरंग का साक्षात्कार कराते हुए उनकी वीभत्सता दिखाई है। कवि की मान्यता है कि मोह के कारण संसार के पदार्थ बाहर से सुन्दर दिखाई देते है। मोह के दूर होते ही इनका वास्तविक रूप सामने आ जाता है। अज्ञानी या मोहित व्यक्ति ही भ्रमवश रागी, द्वेषी, क्रोधी, लोभी, मायावी आदि बने रहकर अपने को सीमित-संकीर्ण किए रहते हैं। यद्यपि ये सारी स्थितियां मनुष्य की विभाव पर्यायी हैं, विकृतिजन्य हैं, प्रकृति जन्य नहीं। अतः 'रत्नाकर शतक' का अध्यात्म निराशावाद का पोषक न होकर, चेतना पर आवृत कृत्रिम आशा-निराशा को दूर कर आत्मा की सहज ज्योति को उद्भासित करता है।

रचना में संवाद-शैली का आश्रय लिया गया है। कवि रत्नाकराधीश्वर से जिनेन्द्र भगवान को सम्बोधन कराकर संसार, स्वार्थ, मोह, माया, क्रोध, लोभ, मान, ईर्ष्या, घृणा आदि के कारण प्राणी की दुर्दशा का वर्णन करते हुए आत्मतत्त्व की श्रेष्ठता बताता है। जीवन विशेषतः मनुष्य जीवन अनादि काल से रागद्वेषों के आधीन रहने के कारण उत्तरोत्तर कर्मार्जन करता रहा है। जब उसे 'रत्नत्रय' की अनुभूति-उपलब्धि हो जाती है, तभी वह कर्म सागर से सन्तरित हो पाता है। इस विचार को कवि ने सहज ढंग से प्रस्तुत किया है। लेकिन, तत्त्व ज्ञान जनित ऐसे गूढ़ विषय को भी कवि ने सम्बोधन-संवाद शैली में सरल-ग्राह्य रूप में प्रस्तुत किया है। शब्द-विन्यास ने विषय की निगूढ़ता को अर्थ-बोध की सतह पर लाकर ग्राह्य बनाया है। कवि सर्वत्र इस बात के लिए जागरूक दिखाई देता है कि सहृदय मनुष्य की चित्तवृत्ति रस दशा की उस भावभूमि पर पहुंचने में आहत न होकर, आत्मा की परम तृप्ति में सहायक हो। कवि की शैलीगत मौलिकता यही है कि अनुवाद के माध्यम से भी पाठक-श्रोता रसास्वादन को अनुकूल पाते हैं। यद्यपि, संस्कृत में भर्तृहरि ने भी शतक त्रय की रचना की है, परन्तु उसमें संवाद शैली की ऐसी पीठिका नहीं है। इसमें तो भावधारा स्वाभाविक एवं निश्चित क्रम में प्रवाहित हुई है, जिसमें अन्विति सर्वत्र दृष्टव्य है। इसलिए मुक्तक काव्य होते हुए भी 'रत्नाकर शतक' में प्रस्तुत आत्मभावन ग्राह्य है। इसका कारण यह है कि कवि का लक्ष्य चेतना को चिरन्तन अक्षय सुख प्राप्ति कराना है। यह अक्षय सुख ही रत्नत्रय की उपलब्धि में सहायक होकर आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करता हुआ वृत्ताकार बन जाता है। ऐसे सुख का अनुभव ज्ञानजन्य विवेक से, आत्मिक भेद-विज्ञान के द्वारा, शरीर और आत्मा के भेद के अनुभव के कारण जो शम-शान्त रस का भावन होता है, वह काव्यशास्त्रीय शान्तरस की सीमा में परिसीमित नहीं हो पाता।

'रत्नाकर शतक' की भाषा संस्कृत मिश्रित पुरातन कन्नड है। इसमें कुछ शब्द अपभ्रंश और प्राकृत के भी हैं। कवि ने इन शब्द रूपों को कन्नड की विभक्तियों को जोड़कर प्रयोगानुकूल बनाया है। संस्कृत शब्दों को कन्नडी जामा पहनाने में ध्वनि परिवर्तन के नियमों का पूरा उपयोग किया गया है। फिर भी, कृदन्त और तद्धित प्रत्यय प्रायः संस्कृत के ही हैं। इस प्रकार भाषा को परिमार्जित करने में अपने कवि-कौशल का उपयोग किया है। इस शतक की रचना मत्तेभ विक्रीडित और शार्दूल विक्रीडित छन्दों में हुई है। इसकी रचना-शैली प्रसाद और माधुर्य गुण सम्पन्न है। आचार्य देशभूषण जी ने इसके वर्ण्यविषय एवं शैली के सम्बन्ध में लिखा है—'रत्नाकर शतक के प्रत्येक पद्य में अंगूर के रस के समान मिठास विद्यमान है। इसमें शान्त रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। कवि ने आध्यात्मिक और नैतिक विचारों को लेकर फुटकर पद्य-रचना की है। वस्तुतः यह गेय काव्य है। इसके पद्य स्वतंत्र हैं, एक का सम्बन्ध दूसरे से नहीं है। संगीत की लय में आध्यात्मिक विचारों को नवीन ढंग से रखने का यह एक विचित्र क्रम है।' (—अभिमत, पृ० १२)

आचार्य देशभूषण जी द्वारा सम्पादित, अनुवादित एवं व्याख्यायित समीक्ष्य कृति 'रत्नाकर शतक' को पढ़कर यह सप्रमाण कहा जा सकता है कि आपने राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार में महत् योग प्रदान किया है। इसके प्रकाशन से जहां एक ओर तो कन्नड भाषा का प्रभाव-क्षेत्र विस्तृत हुआ है, वहीं दूसरी ओर हिन्दी-भाषी जनता का आन्तरप्रान्तीय भाषा-प्रवेश हुआ है। इसके लिए कन्नड़ ही नहीं हिन्दी संसार आचार्यरत्न के प्रति कृतज्ञ है। राष्ट्रभाषा के राष्ट्रीय स्वरूप को पुष्ट एवं समृद्ध करने के लिए यह परमावश्यक है कि अनेकानेक भारतीय भाषाओं का श्रेष्ठ साहित्य हिन्दी में आए। और जब यह कार्य मनीषी चिन्तक आचार्य देशभूषण जी महाराज जैसे अध्यात्म एवं संस्कृति के स्तम्भ सम्पन्न करते है तो भाषा का गौरव और अधिक बढ़ जाता है। ऐसा कार्य भाषा ही नहीं, राष्ट्र को एकरसता में निमज्जित कराने का सुन्दर सुयोग भी प्रदान करता है। समीक्ष्य कृति के सम्पादन-टीका-व्याख्या के द्वारा एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह भी हुआ है कि जैन-वाङ्मय का प्रसार क्षेत्र व्यापक बना है। आचार्यरत्न ने अपने आध्यात्मिक सांस्कृतिक योगदान में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया है कि इन्होंने किसी भी भाषा विशेष की प्रभुसम्पन्नता जनित दासता को स्वीकार नहीं किया। देशभूषण जी ने कन्नड भाषी होते हुए भी अपने उपदेश की भाषा हिन्दी ही बनायी है। आपका उद्देश्य रहा है कि जनता की भाषा में ऋषि-मुनि परम्परा के ज्ञानानुभव को जनता तक पहुंचाना। यद्यपि, जैन परम्परा में यह मान्यता है कि 'दिव्य ध्वनि' अर्धमागधी में प्रकट हुई थी। यह ध्वनि-भाषा निरक्षरी मानी गई है, जिसे देव, मनुष्य एवं तिर्यंच योनि के प्राणी अपनी भाषा में समझ लेते हैं। अतः वैखरी भाषा तो मात्र भाव-विचारों की वाहिका है। पूर्व जैन साहित्यकारों ने साहित्य-निर्माण के लिए यह निष्कर्ष दिया है कि तीर्थंकरों के उपदेश सभी लोगों के पास उनकी ही भाषा में पहुंचने चाहिए। और ऐसा करने से स्वयं ही भाषा-दासता अतिक्रमित होती रहती है। शायद इसीलिए संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के समान ही,

हिन्दी भाषा के आद्य रचनाकार जैन ही थे। हिन्दी के आदि कवि चतुर्मुख, स्वयंभू तथा रयधू माने जाते हैं, जो कि जैन मतावलम्बी थे। कन्नड भाषा की सम्पन्नता तो जैन-साहित्यकारो पर ही निर्भर है।

उक्त उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने साहित्य को सर्वजन सुलभ बनाने के लक्ष्य को सामने रखा। इसी लिए आपकी सभी प्रमुख रचनाएँ हिन्दी में है। कानडी भाषा के ग्रन्थरत्नों को आपने हिन्दीभाषी जनता के लिए सुलभ बनाया है। 'रत्नाकर शतक' के समान ही आपने 'निर्वाण लक्ष्मीपति स्तुति', 'अपराजितेश्वर शतक', 'भरतेश वैभव, 'भावना सार', 'धर्मामृत', 'योगामृत', 'निरजन स्तुति' आदि कानड़ी ग्रन्थो की हिन्दी-टीका की है। इस प्रकार दो भाषाभाषियो को ही नही, दो क्षेत्र-विशेष के वैचारिक आदान-प्रदान के मार्ग को उदारता से उद्घाटित किया है। इसके लिए हिन्दी ससार ही नही, समस्त राष्ट्र आपका ऋणी है।

'रत्नाकर शतक' का प्रथम सस्करण 'स्याद्वाद प्रकाशन मंदिर' आरा से वीर सवत् २४७६ मे प्रकाशित हुआ था। इस संस्करण के दोनो भागों की पृष्ठ संख्या २४० + २७१ = ५११ पृष्ठ थी। उस समय इसका सम्पादन श्री शान्तिराज शास्त्री द्वारा सम्पादित 'रत्नाकर शतक' के आधार पर किया गया था। तब यह प्रथम भाग मे ५० पद्य एव द्वितीय भाग मे ७८ पद्यो की व्याख्या मे विभाजित था। पाठको की रुचि के कारण प्रथम संस्करण शीघ्र समाप्त हो गया। 'रत्नाकर शतक' का प्रस्तुत द्वितीय सस्करण प्रथम संस्करण की पुनरावृत्ति मात्र नही है। आचार्य देशभूषण जी ने बडे परिश्रम से इस द्वितीय सस्करण का वीर सवत् २४८९ मे दिल्ली चातुर्मास के समय पुनरुद्धार किया है और तब इसके दोनों खण्डो की श्लोक संख्या मे ६३ पद्य एव ६५ पद्यो के विभाजन के साथ ही व्याख्या-विस्तार होने से २१८ पृष्ठ की सामग्री अभिवृद्ध हुई। इसका मुख्य कारण व्याख्याकार द्वारा विषय को अधिक बोधगम्य बनाने के उद्देश्य से विचार-विस्तार प्रदान करना है। ऐसा करते हुए आचार्य श्री ने अनेको उद्धरण देकर विषय को बहुत अधिक स्पष्टता प्रदान की है। इस व्याख्या को पढकर लगता है कि आचार्य श्री का शास्त्र-परम्परा-सम्मत ज्ञान असीमित है। गुरु गम्भीर विचारो को भी सरल-सहज भाषा मे हृदयग्राही बनाने की आप मे अपूर्व क्षमता है। प्रथम खण्ड के प्रारम्भ में 'अभिमत' शीर्षक के अन्तर्गत आपने ग्रन्थ, ग्रन्थकार एव जैन-रचनाकार-परम्परा के सम्बन्ध मे बहुमूल्य वस्तुपरक जानकारी भी दी है, जो हिन्दी-पाठकों के लिए महत्त्वपूर्ण है। अत कहा जा सकता है कि 'रत्नाकर शतक' आज आचार्य देशभूषण जी के सारस्वत प्रयत्न से कन्नड भाषा का सरस एवं उपदेश ग्रथ ही न होकर हिन्दी भाषा की आतरप्रान्तीय योगदान की राष्ट्रीय निधि है।
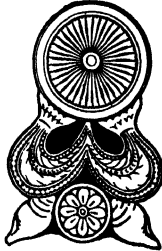
योगामृत

—चिरन्तन महत्त्व की एक जनोपयोगी रचना

समीक्षक डॉ० सुन्दरलाल कथूरिया

धर्म-प्राण भारतीय सस्कृति मे श्रेय और प्रेय मे से श्रेय को ही अधिक सार-गर्भ माना गया है —त्यागप्रधान जैन-संस्कृति भी इसका अपवाद नही है। भौतिक सुख तुच्छ और हेय हैं, क्षणिक हैं, किन्तु इन्द्रियातीत पारलौकिक सुख चिरस्थायी, स्वाधीन और स्पृहणीय हैं। वस्तुत: स्वाधीन होने से आत्म-सुख ही सुख है और पराश्रित होने से इन्द्रियजन्य आनन्द दु ख-रूप है, छलावा है। केवल अध्यात्म-चिन्तन ही व्यक्ति को अहकारमुक्त कर उसे वास्तविक ज्ञान प्रदान करता है और यह बताता है कि पर-पदार्थों—स्त्री, पुत्र, धन, शरीर आदि से आत्मिक सुख की प्राप्ति नही हो सकती।

आत्मिक आनन्द की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक ग्रन्थो का पठन-मनन-चिन्तन और तदनुरूप आचरण आवश्यक है। इसके बिना सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति यदि असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। सासारिक सुखो—जो वस्तुत बन्धन का कारण होने से दुःख-रूप है—से मुक्ति और आत्मिक आनन्दोपलब्धि के लिए 'योगामृत' जैसे ग्रन्थो का प्रणयन हुआ है, अत: ऐसे जनोपयोगी आध्यात्मिक ग्रन्थो का चिरन्तन महत्त्व स्वत. सिद्ध है।

'योगामृत' के प्रणेता मुनि बालचन्द्र है और इसकी उपलब्ध श्लोक सख्या ९९ है। मुनि बालचन्द्र का विस्तृत परिचय अज्ञात है। ग्रन्थ की जो प्रति प्राप्त हुई है वह भी कदाचित् अपूर्ण है अथवा यह भी हो सकता है कि किन्ही अज्ञात कारणो से लेखक इसे पूर्ण ही न कर पाया हो। जो भी हो, अपने वर्तमान रूप मे, ग्रन्थ अपूर्ण है और इसमे लेखक का परिचय अप्राप्त है।

जैन मुनियों, जैनाचार्यों और जैन-लेखको ने भारत की विभिन्न जनपदीय भाषाओ मे साहित्य-सृष्टि कर अपने विचारो को आम जनता तक पहुचाने का एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। 'योगामृत' भी इसका अपवाद नही है। यह कानडी ग्रन्थ है और मूलत. मुनि बालचन्द्र ने इसकी रचना कनडी भाषा मे की है, किन्तु हिन्दी-भाषी जनता तक इस ग्रन्थ को पहुंचाने की बलवती इच्छा के फलस्वरूप विवेच्य ग्रन्थ की हिन्दी टीका आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने की है और इसका सम्पादन श्री बलभद्र जैन ने किया है। ग्रन्थ के टीकाकार आचार्य-रत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने अब तक लगभग ७० ग्रन्थों का मौलिक प्रणयन किया है अथवा विभिन्न भाषाओ के और विविध विषयो के ग्रन्थो का अनुवाद किया है। वे सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श, कनडी, तामिल, मराठी, हिन्दी आदि अनेक भाषाओ के समर्थ विद्वान् हैं।' विषय के ऐसे अधिकारी विद्वान् द्वारा 'योगामृत' जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थ की टीका अनुवाद व्याख्या आदि का यदि जन-सामान्य मे स्वागत हो तो कोई आश्चर्य नही।

जैसाकि कहा जा चुका है 'योगामृत' का प्रतिपाद्य सूक्ष्म तत्त्व चिन्तन है। इसमे स्पष्टत यह बताया गया है कि आत्म-परिज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नही। मात्र शास्त्रो के पठन-पाठन से ही अज्ञानी को आत्मानुभव नही हो सकता। आत्मानुभव के लिए सम्यग्दृष्टि की आवश्यकता है और सम्यग्दृष्टि को बाह्य पदार्थों की चिन्ता नही रहती, वरन् सदा आत्मा की ही चिन्ता रहती है क्योकि आत्मा का सुख आत्मा मे ही निहित है, परवस्तु मे नही।

टीकाकार ने सर्वप्रथम 'योगामृत' के मूल श्लोको का सरल हिन्दी मे 'अर्थ' किया है, तदुपरान्त 'विवेचन' के अन्तर्गत विस्तृत व्याख्या करते हुए सस्कृत, प्राकृत आदि के श्लोको से मन्तव्य और अधिक पुष्ट और स्पष्ट किया है। कही-कही 'भावार्थ' भी दे दिया है और कही 'साराश यह है' आदि से सार रूप मे मन्तव्य को प्रस्तुत कर दिया है। यथा—'कहने का साराश यह है कि हे भव्य जीव ! तू इस संसार, विषयवासना का मन, वचन, काय से त्याग करके शुद्ध, अखण्ड, अविनाशी ज्योति जो शरीर मे निरन्तर प्रकाशमान हो रही है उसके दर्शन कर।' (योगामृत, पृ० २४९)। योग जैसे दुरूह विषय को सरस बनाने के लिए विवेचन अथवा भावार्थ के अन्तर्गत दृष्टान्तो या लोकप्रचलित कथाओ का आधार भी टीकाकार ने ग्रहण किया है। यथा—'योगामृत' के श्लोक क्रमांक ६१ के भावार्थ मे जीव के परवस्तु के प्रति मोह का स्पष्टी-करण करते हुए टीकाकार लिखते हैं—

"लोक में एक कथा प्रसिद्ध है।

किसी जंगल मे कोई एक साधु आत्म-साधन मे लगे हुए आसन लगाकर स्थिर बैठे थे। अर्थात् ध्यान मे लीन थे। एक समय उनके पास एक चूहे ने आकर नमस्कार किया। उसका नमस्कार करने का कारण यह था कि उसको पूर्व जन्म के संस्कार अर्थात् वह पूर्व जन्म मे धन के आर्तध्यान से मरकर चूहा बना था। उस साधु को देखकर उसके संस्कार जागृत हुए, इससे उसने महात्मा के पास आकर आनन्द से मस्तक झुका कर नमस्कार किया। इससे वह साधु उस चूहे पर प्रसन्न हुआ और बोला—हे चूहे! तेरे नमस्कार से मुझे अत्यंत प्रसन्नता हुई है, मैं तुझे मनुष्य पर्याय में या देव पर्याय मे जन्म लेने का उपाय बताऊ या सेठ साहूकार होने का उपाय बताऊ या बना दू या सूर्य, चन्द्र, भुवनपति या देव आदि बना दू। अगर तुझे मनुष्य बना दू तो धर्म की आराधना का महासाधन प्राप्त होता है। उस साधु का वचन सुनकर चूहा कहने लगा कि हे महात्मा! मुझे श्रीमंत बनने की इच्छा नही है। परन्तु एक अत्यन्त सुन्दर रूपवती चुहिया मिले ऐसा मुझे आशीर्वाद दें। "तब महात्मा समझ गया कि अज्ञानी, मोही, बहिरात्मा जीव का यही स्वभाव होता है, इसलिए अपनी वासना के अनुसार ही ये आशीर्वाद मांगते हैं।" (योगामृत, पृ० २४१)

कहने की आवश्यकता नही कि 'योगामृत' के टीकाकार श्री देशभूषण जी महाराज की शैली सरल, सुबोध, रोचक एवं सरल है। आशा है, धर्मप्राण जनता मे इसका अच्छा स्वागत होगा और जनसमुदाय इससे लाभ उठाकर आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर होगा।

अपराजितेश्वर शतक

—मौलिक अनुवाद-परम्परा का अभिनव दस्तावेज

समीक्षक : डॉ० देवराज पथिक

दक्षिण भारत के कवि शिरोमणि रत्नाकर वर्णी लोकमंगल की कामना करने वाले कानडी भाषा के अद्वितीय रचनाकार हुए हैं। कवि रत्नाकर वर्णी के अमर काव्य-ग्रन्थ अपराजितेश्वर शतक मे कुल १२७ पद्य हैं। इन १२७ पद्यो वाले महान् ग्रन्थ की हिन्दी मे विषद विवेचना सहित टीका का दायित्व निर्वाह करने वाले श्री १०८ श्री दिगबर जैनाचार्य श्री देशभूषण जी महाराज आधुनिकयुग के महान् तपस्वी सत हैं। वीतरागी परम्परा की श्री आचार्य जी महाराज अन्यतम विभूति हैं। श्री १०८ आचार्यवर्य श्री शांतिसागर जी महाराज के अपरिमित गुणो के श्रेष्ठतम उत्तराधिकारी-प्रशिष्य श्री १०८ श्री देशभूषण जी महाराज के प्रकाण्ड ज्ञान, स्वाध्यायशील प्रकृति और विलक्षण आध्यात्मिक प्रतिभा ज्योति ने जाने कितनी भटकती आत्माओ को सही जीवन जीने की दिशा दी है। श्री आचार्य महाराज जी मूलत कानडी और मराठी भाषा के महान् विद्वान् माने जाते हैं परन्तु आपकी प्रतिभा के दर्शन अन्य भारतीय भाषाओ मे भी समान रूप से सुलभ हैं। आपकी सुप्रसिद्ध हिन्दी, गुजराती, मराठी मे अनुवादित कृतियो मे भरतेश वैभव, रत्नाकर शतक, परमात्म प्रकाश, धर्मामृत, निर्वाण लक्ष्मीपति स्तुति, निरंजन स्तुति आदि कानडी भाषा की महान् निधिया हैं। श्री आचार्य जी महाराज के मौलिक चिन्तन और रचनाधर्मिता का दिव्य रूप इनकी स्वतत्र रचनाओ—गुरु शिष्य सवाद, चिन्मय चितामणि, अहिंसा का दिव्य संदेश, महावीर दिव्य सदेश आदि मे स्पष्ट है। ज्ञान और चरित्र का मणिकाचन संयोग श्री आचार्य जी महाराज के व्यक्तित्व मे सहज सुलभ है। उनके महान् व्यक्तित्व की गहरी छाप आचार्य जी महाराज की मौलिक और अनूदित कृतियो मे परिलक्षित होती है।

वस्तुत. दक्षिण भारत के समस्त साहित्य मे विशेषकर कानडी और तमिल भाषा के साहित्य मे बहुमुखी चिन्तनधाराओ का वारि-प्रवाह उपलब्ध है। परमपूज्य तपोनिधि आचार्य देशभूषण जी महाराज ने दक्षिण भारत के ऐसे समृद्ध साहित्य के हिन्दी मे अनुवाद के द्वारा सम्पूर्ण देश के जन-जीवन के लिए राष्ट्रीय चेतना के दिव्य और विराट् रूप के दर्शन के सकल्प को साकार करने की दृष्टि से महान् कार्य का परिचय दिया है। अपराजितेश्वर शतक के दोनो खण्ड हिन्दी मे अनुवादित काव्य ग्रन्थो की दृष्टि से बहुमूल्य बन पड़े हैं। भारत की सास्कृतिक, आध्यात्मिक और धार्मिक श्रेष्ठता एव उच्चता का आदर्श आचार्य महाराज जी द्वारा विवेच्य अनुवाद मे गरिमापूर्ण ढग से प्रस्थापित हुआ है। इस अनुवाद को पढने से स्वयं ही प्रमाणित हो जाता है कि आचार्य महाराज जी एक विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न, दिग्गज और धुरन्धर विद्वान् के साथ-साथ प्राचीन तपस्वियो और यतियो की समृद्ध परम्परा के अत्याधुनिक अवतार है।

सास्कृतिक, धार्मिक और साहित्यिक सेवाओ की दृष्टि से धर्म-प्राण पूज्यपाद श्री श्री १०८ आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज का महान् व्यक्तित्व बीसवी शताब्दी के विस्तृत फलक को आलोकित करने मे सर्वत्र संकल्पशील रहा है। दिशाहीन भारतीय समाज को नया जीवन देने की दृष्टि से चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज का योगदान अविस्मरणीय महत्त्व का है। तपोनिधि, बहु-भाषा विशारद आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज भारतीय साहित्य और दर्शन के गम्भीर अध्येता एव मर्मज्ञ विद्वान् हैं। राष्ट्र की भावनात्मक एकता के उपासक, भविष्यद्रष्टा, अनासक्त कर्मयोगी आचार्य-प्रवर की राष्ट्र के रचनात्मक स्वरूप के निर्माण की कल्पना महान् राष्ट्रीय आकांक्षाओ के अनुरूप दिव्य और विशाल प्रमाणित होती है। वे उत्तर और दक्षिण के मानसिक स्वरूप के स्वस्थ निर्माण के लिए रागात्मक सम्बन्धो की पवित्रता के परिप्रेक्ष्य मे अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका हेतु युगो-युगो तक अविस्मरणीय रहेगे। आचार्य जी ने आजीवन धर्म की रक्षा एव साहित्य के अभ्युदय के लिए देश के कोने-कोने मे प्रेम और सद्भाव की सुरसरि प्रवाहित की है। आचार्य जी महाराज की अमृतवाणी मे आत्मा की अजर-अमर सत्ता का भाष्य है। इस निर्भीक सन्त की लेखनी मे सनातन शक्ति की व्याख्या है। भारतीय जन-मानस को स्वतत्रता एव जागरूकता का दिव्य संदेश देने वाले इस तपस्वी-संत ने मानव कल्याण के परिप्रेक्ष्य मे सार्वभौम आध्यात्मिक चेतना की सत्ता को अपनी विवेचना का विषय बनाया है। सास्कृतिक अनुचेतना के विख्यात उद्बोधक इस महापुरुष की अनुवादित महान् कृतियों को अपने अध्ययन का विषय बनाकर आज मुझ जैसा अकिंचन पथिक भी कृत-कृत्य है।

वस्तुतः किसी कृति का मौलिक अनुवाद अपने-आप मे चुनौती भरा कार्य है। सामान्यत अनुवाद की परम्परा तो सुदीर्घ काल से चली आ रही है परन्तु अधिकांश अनुवादित कृतियो में मूल ग्रन्थ का आस्वाद देखने को नही मिलता। मूल ग्रन्थ जैसा आनन्द अनुवादित करने वाले विवेचक की विद्वत्ता पर बहुत कुछ निर्भर करता है। विश्व की अनेक भाषाओ मे उत्तम कोटि के अनुवादों का प्राय. अभाव ही देखा गया है। इस दृष्टि से कानडी काव्य अपराजितेश्वर शतक का श्री श्री १०८ आचार्यप्रवर देशभूषण जी महाराज कृत हिन्दी अनुवाद निश्चय ही अद्भुत, अनूठा और गुरु गम्भीर कार्य है। हिन्दी भाषा और साहित्य के फलक को विस्तार देने की दृष्टि से ऐसे मौलिक अनुवाद आज तक विरल ही देखने मे आये हैं।

कानडी काव्य अपराजितेश्वर शतक का विवेच्य हिन्दी अनुवाद जहा एक ओर अनुवादकला की अपने आप मे कसौटी है वहा मौलिक रसास्वादन की दृष्टि से एक आदर्श अनुवाद कृति है। इस अनुवाद मे सरसता, स्वाभाविकता, मृदुलता, प्रभावोत्पादकता और मनोज्ञता आदि अनेकानेक गुणो का प्रादुर्भाव देखकर विद्वान् अनुवादक श्री १०८ आचार्य देशभूषण जी महाराज की ऋषि-तुल्य साधना और तपस्या का स्मरण हो जाता है। निश्चय ही इस अनुवाद की अनूठी सरचना के मूल मे आचार्य श्री की साहित्य, दर्शन और धर्म के प्रति गहरी आस्था और तपश्चर्या का बहुत बडा हाथ है। प्रस्तुत अनुवाद एक सिद्ध पुरुष की अमृतवाणी का प्रताप है जिसमे एक ओर परिव्राजक धर्म के अनन्य अनुष्ठान कर्त्ता की धार्मिक चेतना की दिव्य ज्योति का अक्षय स्रोत प्रवाहित है तो दूसरी ओर महान् आत्मचेता की निर्मल, निश्छल और दिव्य आत्मा की महान् छवि का रूपाकन भी अपनी समस्त सवेदनाओ के साथ उपलब्ध है। बहुभाषाभाषी, शास्त्रज्ञ, विद्वान् और जैन धर्म की अपराजेय प्रतिभा से समृद्ध श्री १०८ आचार्य देशभूषण जी महाराज ने कानडी काव्य अपराजितेश्वर शतक का हिन्दी अनुवाद दो खण्डो मे प्रस्तुत करके जहां असख्य जैन धर्मानुयायियो का कल्याण किया है वहा बावन करोड हिन्दी भाषाभाषियो के प्रति भी उपकार किया है। अन्यथा हिन्दी का बहुत बडा पाठक वर्ग इस कानडी कृति के रसास्वादन से वचित ही रह जाता।

विवेच्य कृति के कुल १२७ पद्यो वाले मूल काव्य ग्रन्थ के प्रस्तुत अनुवाद को विद्वान् अनुवादक ने अनेकानेक ग्रन्थो के पुष्ट प्रमाणो के उद्धरणो द्वारा समृद्ध बनाकर अनुवाद मे मौलिकता का अद्भुत समावेश किया है। आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज के दिव्य प्रवचनो के अनुरूप ही उनके साधनाशील मौलिक ग्रन्थो और अनुवादो मे भी आत्मशोधन की अद्भुत क्षमता और सामर्थ्य विद्यमान है। ऐसे महापुरुषो एव विद्वान् सतो के प्रत्यक्ष दर्शन और कृति समागम से भटकती आत्माओ को निजात्म रस मे अवगाहन करने का सौभाग्य निरन्तर सुलभ होता रहे, प्रत्येक मानवतावादी ऐसी कामना तो कर ही सकता है।

ग्रंथ शिरोमणि 'श्री भूवलय'

—भारतीय मेधा, ज्ञान-विज्ञान-साहित्य-सामर्थ्य का अद्भुत उदाहरण

समीक्षक : डॉ० बालकृष्ण अकिंचन

सार्वभौम अध्यात्म-चेतना के धनी, धर्मप्राण, पूज्यपाद आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज लुप्त प्राय. ग्रंथराशि-गंगा के अभिनव भागीरथ हैं। यों तो अनेकानेक जैन तीर्थों के उद्धारक, स्कूल-कालिजों, औषधालयों, पुस्तकालयादिकों के संस्थापक, जीर्णोद्धारक आचार्यश्री को ग्रंथ गंगा तक सीमित करना एक भारी भूल होगी, किन्तु साहित्य के इस अकिंचन विद्यार्थी की दृष्टि में उसी का मूल्य सर्वाधिक है। कारण, उनकी साहित्य-सर्जना एवं अनुवादन क्षमता के कारण ही आज का हिन्दी ससार तमिल, गुजराती, कन्नड, बंगला आदि के अनेक सद्ग्रंथों के आस्वादन एवं अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त कर पाया है। उनकी अनुवाद-साधना के परिणामस्वरूप ही हिन्दी का भक्ति साहित्य अन्यान्य अनेक भारतीय भाषाभाषियों को भक्ति-भागीरथी में स्नानावगाहन का पुनीत अवसर सुलभ करा रहा है। इतना सब कुछ होते हुए भी यदि वे कुछ न करते और एकमात्र श्री भूवलय ग्रंथराज के हिन्दी अनुवाद में ही तत्पर हुए होते, तो भी उनकी साहित्य-साधना, उसी प्रकार महिमामंडित मानी जाती जितनी कि आज मानी जा रही है। इसका कारण है श्री भूवलय ग्रंथ की महत्ता, उपयोगिता, गंभीरता, संश्लिष्टता एवं विविधता।

श्री भूवलय ग्रंथ भारतीय मेधा, विशेषतया जैन मनीषियों के ज्ञान-विज्ञान-साहित्य-सामर्थ्य का एक अद्भुत उदाहरण है। विशाल भारत के प्रथम महामहिम राष्ट्रपति अजातशत्रु डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने इसे संसार का आठवां आश्चर्य घोषित किया था। ज्ञान-विज्ञान की इतनी शाखाओं तथा संस्कृत, प्राकृत, कन्नड आदि अनेकानेक भाषाओं का एक साथ परिचय कराने वाला यह ग्रंथ सचमुच ही आठवां आश्चर्य है। भाषा को अंकों में लिखकर रचयिता ने इस बात का अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत कर दिया है कि आज से एक हजार वर्ष से भी पहले वर्तमान युग की कम्प्यूटर भाषा के समान ही भाषा को अंकों में लिखने की कोई समृद्ध परम्परा विद्यमान थी। हम यह बहुत बड़ी और सर्वथा नई बात कह रहे हैं। इस क्षेत्र में नवीन शोधों का श्रीगणेश होना चाहिए।

सिरि भूवलय या श्री भूवलय नामक यह ग्रंथ स्वनामधन्य महापंडित श्रीयुत् कुमुदेन्दु आचार्य की कृति है। इस नाम के अनेक पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्य प्रकाश में आ चुके है, किन्तु अन्तः एवं बाह्य साक्ष्य के कतिपय निश्चित प्रमाणों के आधार पर यह निर्णय हो गया है कि श्री भूवलय के रचयिता, दिगम्बर जैनाचार्य कुमुदेन्दु का समय आठवीं शताब्दी से बाद का नहीं है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण अमोघवर्ष का अनेक बार नामोल्लेख है जिसने ८१४ से ८७७ ई० तक राज्य किया था। अतः स्पष्ट है कि श्री भूवलय एक हजार वर्ष से भी पुराना ग्रंथ है।

यह समय लगभग वही है जब हिन्दी का उदय हुआ था। हिन्दी या हिन्दुवी शब्द उतना पुराना नहीं है। देवनागरी का प्रयोग बहुत पहले से मिल रहा है। यह एक सुखद आश्चर्य की बात है कि कुमुदेन्दु आचार्य ने भी भाषा परिगणन में अपने काल की जिन ७१८ भाषाओं का उल्लेख किया है उनमें देवनागरी भी एक है। ७१८ भाषाओं की पूरी नामावली, कुमुदेन्दु जी ने गिनाई है। इनमें से अनेक नामों से हम परिचित हैं, अनेक से अपरिचित। कुछ विचित्र नाम निम्नलिखित हैं—

वाणिक्य, पाशी, अमित्रिक, पवन, उपरिका, वराटिका, वजीद खरसायिका, प्रभूतिका, उच्चतारिका, वेदनतिका, गन्धर्व, माहेश्वरी, दामा, बोलधी आदि। भाषाओं के कुछ नाम क्षेत्रादि से सम्बद्ध हैं। जैसे—सारस्वत, लाट, गौड़, मागध, बिहार, उत्कल, कान्यकुब्ज, वैस्मर्ण, यक्ष, राक्षस तथा हंस। इन सात सौ अट्ठारह भाषाओं में से अनेक आज भी जानी तथा लिखी पढ़ी जाती हैं। जैसे—संस्कृत, प्राकृत, द्रविड़, ब्राह्मी, तुर्की, देवनागरी, आन्ध्री, महाराष्ट्र, मलयालम, कलिंग, काश्मीर, शौरसेनी, बाली, सौराष्ट्री, खरोष्ट्री, तिब्बति, वैदर्भी, अपभ्रंश, पैशाचिक, अर्धमागधी इत्यादि। अतः भाषाविज्ञान के लिए यह ग्रंथ एक नई चुनौती है। भाषाविज्ञान के साथ ही यह व्याकरण की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण होगा। कुमुदेन्दु आचार्य ने इसकी व्याकरणगर्भिता स्वयं भी स्वीकार की है। सौभाग्य से उनकी अंकमयी सरस्वती का अनुवाद भी मुनिश्री के श्रम से बड़ा सटीक हुआ है। हां, अनुवाद में कुछ अटपटे शब्द प्रयोग में अवश्य आये हैं। वे संस्कृत आदि की परम्परा से

तो ठीक हैं पर परिनिष्ठित हिन्दी मे उस रूप मे प्रयुक्त नही होते यथा ऊन (शरीर से किंचित् ऊन है। पृ० ६६), फिजिक्स के लिए अणु विज्ञान (पृ० १४२), छन्द के लिए 'दोहो' शब्द का प्रयोग (पृ० १४२) और वह भी भगवद्गीता के प्रसग मे, भेडो के लिए भेडिये शब्द का प्रयोग (पृ० १८६), बैठते के लिए मार्ग मे 'तिष्ठते है' (पृ० १८८) इसी प्रकार लाछन शब्द का प्रयोग चिह्न के अर्थ मे। हिन्दी व्याकरण की दृष्टि से लिंग और वचनादि के कुछ प्रयोग भी चिन्त्य है। इतना होने पर भी आचार्य जी का हिन्दी अनुवाद कमाल का है और कमाल का है उनका पांडित्य। हो भी क्यो न! वे स्वय कुमुदेन्दु की परम्परा के आचार्य है।

ग्रंथ मे जिन ७१८ भाषाओ का नामोल्लेख किया गया है उन सभी भाषाओ को आचार्य ने कैसे निबद्ध किया यह कहना कठिन है।

आचार्य कुमुदेन्दु का विभिन्न भाषाओ मे उनका पाण्डित्य तथा काव्य-रचना-कौशल नि:सन्देह कमाल का था। इस ग्रंथ मे छ. हजार सूत्रो तथा छ लाख श्लोको के रचने का उल्लेख है। "यह ग्रथ मूलत: कन्नडी भाषा मे छपा है। मुद्रित ग्रथ के पद्यो मे काव्य श्रेणिबद्ध है। प्रत्येक अध्याय मे आने वाले कन्नड भाषा के आदि अक्षरो को ऊपर से लेकर नीचे पढते जाय तो प्राकृत काव्य निकलता है और मध्य मे सत्ताइसवे अक्षर को, ऊपर से नीचे पढने पर सस्कृत काव्य निकलता है। इस तरह पद्यबद्ध रचना का अलग-अलग रीति से अध्ययन किया जाय, तो अनेक बधों मे अनेक भाषाएं निकलती हैं—ऐसा कुमुदेन्दु आचार्य कहते है। उदाहरण के लिए ग्रथ के प्रथम खड—मंगल प्राभृत—के प्रथम अध्याय 'अ' को लिया जा सकता है। इसके प्रथम अक्षरो के मिलाने से जो प्राकृत छद बनता है, वह निम्नलिखित है—

अट्ठ विहकम्म विमला णिट्टिय कज्जा पणट्ठससारा
दिट्ठसयलत्थ सारा सिद्धआ सिद्धिम मम दिसनतु ॥

और बीच के अक्षरो से बना सुप्रसिद्ध श्लोक है—

ओंकारं बिन्दु सयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः ॥

कितनी विचित्र होगी कुमुदेन्दु आचार्य की भाषा-प्रतिभा और कितना विदग्धतापूर्ण होगा उनके कवि का काव्य-कौशल!

संस्कृत श्लोक कुमुदेन्दु जी की जैनाचार्योचित ओउम् के प्रति निष्ठा का प्रमाण भी है। वैसे तो आज का सामान्य कर्मकाण्डी पुरोहित या सस्कार कराने वाला ब्राह्मण भी इसी मन्त्र से ओउम् का पूजन कराता है। किन्तु वह ओउम के मर्म को शायद ही समझ पाता है। आचार्य ने ग्रथ मे बडे विस्तृत रूप से ओउम् की महिमा प्रकाशित की है।

दूसरा अध्याय ज्ञान की शास्त्रीय विवेचना से आरम्भ होता है। उसे दो भागो मे विभक्त किया गया है—सम्यक् ज्ञान तथा मिथ्या ज्ञान। सम्यक् ज्ञान—मति, श्रुति, अवधि, मन: पर्य और केवल नाम से पाच प्रकार का तथा मिथ्या ज्ञान कुश्रुत, कुमति, कुअवधि नाम से तीन प्रकार का बताया गया है। ज्ञान से लोकोत्तर सिद्धिया सभव बताई गई है, यथा—'पाद औषधि' का विधान। इसे लेप करके व्यक्ति का आकाश मे उडना सिद्ध किया गया है और यह घोषणा की गई है कि भूवलय के 'प्राणवायु पर्व' मे जगली कटहल के फूलों से इसके निर्माण की विधि स्पष्ट की गई है। वही विमान इत्यादि तैयार करने की विधि भी कही बताते हैं। अन्य ज्ञानो मे कामकला, पुष्पायुर्वेद तथा गीता ज्ञान प्रमुख हैं। यहीं नेमि गीता, भगवद्गीता, महावीर गीता तथा कुमुदेन्दु गीता का उल्लेख है। यही पर दो अको से अंग्रेजी-अरबी-फारसी इत्यादि शब्द बनाने की विद्या तथा तीन अकों से तीन अक्षरो वाले सभी भाषाओ के शब्द बनाने की विद्या अंकित है और यह मान्यता स्थापित की गई है कि अक ही अक्षर हैं और अक्षर ही अक हैं।

तीसरा अध्याय अध्यात्म योग की चर्चा से आरम्भ होता है। कहा गया है कि आर्य लोगो को योग का मगलमय सम्वाद प्रदान करने वाला यह भूवलय ग्रंथ अक्षर विद्या मे निर्मित न होकर केवल गणित विद्या मे निर्मित महा सिद्धान्त है। यहा योग की चली आती परम्परा की व्याख्या करके उसकी महिमा स्थापित की गई है और बताया गया है कि कषाय को नाश करने वाला शुद्ध चरित्र योग ही है। चरित्र योग के कतिपय कर्म भी वर्णित हैं। अरहन्त परमेष्ठी के चार अघातिया कर्म बडी सुन्दर दृष्टान्त शैली मे वर्णित है और दर्शन, ज्ञान और चरित्र को आत्मा के तीन अग माना गया है। फिर योग और योगी की विस्तृत व्याख्यात्मक चर्चा है जो निस्सन्देह पढने लायक है। १३५वें छन्द मे स्पष्ट कहा गया है कि यह भूवलय योगियो का गुणगान करने वाला ग्रन्थ है।

चौथे अध्याय मे भूवलय को अशरीर अवस्था अर्थात् मुक्ति अवस्था प्राप्त कराने वाला काव्य कहा गया है। यह काव्य तब का है जब श्री वृषभदेव ने यशस्वी देवी के साथ विवाह किया था। शुभ विचार तथा शुभ शब्द की दृष्टि से भी शब्द पर विचार व्यक्त है, इसीलिए ग्रथ के पहले 'सिरि' शब्द अकित है—आदौ सकार प्रयोग: सुखद। यही सूक्ष्म तत्व का विश्लेषण है, जो बडा सारगर्भित है। अध्याय की समाप्ति से पूर्व पुष्प आयुर्वेद तथा पारे की सिद्धि का वर्णन है। उदाहरण के लिए निम्न कथन उल्लेखनीय है—पारा अग्नि का सयोग पाकर उड जाता है परन्तु इस क्रिया से उड नही पाता। सर्वोत्तम रूप से शुद्ध हुए पारे को हाथ मे लेकर अग्नि मे भी प्रवेश किया जा सकता है। यदि आकाश स्फटिक मणि पर सिद्ध रसमणि सहित पुरुष बैठ जाए तो सूर्य के साथ-साथ आकाश मे और पृथ्वी के अन्दर गमन कर सकता है अर्थात् आकाश मे ऊपर उड़ सकता है और नीचे पृथ्वी के अन्दर घुसकर भ्रमण कर सकता है। गिरिकर्णिका नाम एक पुष्प है। इस पुष्प के रस से

पारा सिद्ध किया जाता है, जो ऊपर बताये हुए आकाश गमन और पाताल गमन दोनों मे ठीक काम करता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न पुष्पों के रस से पारा सिद्ध किया जा सकता है। उससे भिन्न-भिन्न चामत्कारिक कार्य किए जा सकते है। इस प्रकार कार्यक्रम को बतलाने वाला यह भूवलय ग्रंथ है।' (१६४-१७२)

पाचवे अध्याय के आरम्भ मे गणित के नवमाक की महिमा वर्णित है। अकों से अनेक भाषाए बन जाती हैं। उन सब भाषाओं को एक राशि में बनाकर गणित के बंध मे बाधते हुए जिनेन्द्र देव की दिव्य वाणी सात सौ भाषाओ द्वारा इस धर्मामृत कुम्भ मे स्थापित हुई है। इतनी सूक्ष्मता गणित के कारण प्राप्त हुई है। इसीलिए अगले अध्याय अर्थात् छठे अध्याय मे गणित शास्त्र को जीव के लिए मोक्ष देने वाला बताया है। उन्होंने इस प्रसग मे ऋग्वेद का भी उल्लेख किया है। उनके अन्यत्र कथन से संकेत मिलता है कि कोई अंकमय ऋग्वेद भी विद्यमान था। यह बडी भारी खोज का विषय होगा। ८२वें छन्द मे वे कहते हैं "एक से लेकर नौ तक अंको द्वारा द्वादशांग की उत्पत्ति होती है। उस नौ अंक मे एक और मिलाने मे उस दस अक से ऋग्वेद की उत्पत्ति होती है। इसी को पूर्वानुपूर्वी तथा पश्चातानुर्वी कहते हैं। दशाग रूप वृक्ष की शाखा रूप ऋग्वेद है। इसलिए इस वेद का प्रचलित नाम ऋक् शाखा है।" यह उल्लेखनीय है कि जैनाचार्य प्राय वेदो का उल्लेख नही करते किन्तु यहा वेदों की महिमा गाई है। हा, उनके मानव, देव और दनुज नाम से प्रकारो का उल्लेख करके उसके दनुज (हिंसा रूप) से सावधान किया गया है और आशीर्वाद दिया गया है कि इन वेदो द्वारा पशुओ की रक्षा, गो ब्राह्मण रक्षा तथा जैन धर्म की समानता सिद्ध हो। भूवलय का यह अश जैन धर्म मे क्रान्तिकारी प्रसग है।

सातवां अध्याय जिनेश्वर भगवान् की महिमा से आपूरित है। सब तीर्थंकरो को कुसुमबाण कामदेव का नाश करने वाला कहा है। कुसुमों का कई प्रकार से उल्लेख हुआ है। एक सौ पचासवे छन्द मे अशोक वृक्ष के फूलो का वर्णन है। यदि इसे सिद्ध करना हो तो वृक्षो के क्षुद्र पुष्प न लेकर विशाल प्रफुल्ल पुष्प लेने चाहिए और उसी को फिर यदि रसमणि बनाना हो तो इन्ही वृक्षो के क्षुद्र (मजरी रूप) फूल लेना चाहिए। न्यग्रोध नाम के अशोक वृक्ष के फूल को विषपान की बाधा दूर करने वाला बताया गया है। पारे को घन रूप बनाना हो तो इन पुष्पो को काम मे लेना चाहिए। यहा पारे की रससिद्धि के लिए गणितीय पद्धति तथा उससे प्राप्त पारलौकिक सिद्धि का आख्यान भी है।

आठवें अध्याय मे सिंहासन नाम के प्रतिहार्य रूप अको का वर्णन है और नन्दी गिरि पर्वत की अनेक प्रकार से महिमा गायी गई है तथा सिंह के समवशरण एवं गजेन्द्र निष्क्रीणनप आदि का वर्णन है।

नौवे अध्याय का आरम्भ भगवान् जिनेन्द्र देव की शारीरिक दिव्यताओ से होता है। यह बडा विचित्र एव अलौकिक है। जैसे भोजन न करते हुए भी उनका जीवित रहना, एक मुख होते हुए भी चार मुख दीखना, आखो की पलकें न लगना, ओष्ट दांत तालु के बिना भगवान् की दिव्य ध्वनि निकलना, समवशरण मे वाटिका के सभी जीवो को अभय प्रदान करना। फिर समवशरण (एक साथ सभी प्रकार के जीवो को उपदेश) की विद्या का उल्लेख है। भूवलय की विद्याओ, भाषाओ, उसके काव्य चक्रबन्धो तथा जैन धर्म की महत्ताओ का गायन है। इस अध्याय की भौगोलिक एव ऐतिहासिक दृष्टि विशेष महत्त्वपूर्ण है। दो सौ तीसवे छन्द मे बताया है कि यह भारत लवण देश से घिरा हुआ है और इसी भारत देश के अन्तर्गत एक वर्द्धमान नामक महानगर था। उसके अन्तर्गत एक हजार नगर थे। उस देश को सौराष्ट्र कहते थे और सौराष्ट्र देश को कर्माटक (कर्नाटक) देश कहते थे। उस देश मे मागध देश के समान कई जगह उष्ण जल का झरना निकलता था। उसके समीप कही-कही पर रसकूप (पारो कुआ) भी निकलते थे। सौराष्ट्र देश का पहले का नाम त्रिकलिंग था। भारत का त्रितलि नाम इसलिए पड़ा क्योंकि भारत के तीन ओर समुद्र है। यह भूमि सकनड देश थी।' (२३०-२३८)

दसवे अध्याय मे अनेक विचित्रताओ का वर्णन है। जैसे, 'ससार मे काले लोहे को विज्ञान विद्या से सोना बना सकते है पर इस भूवलय (ज्ञान) से उस स्वर्ण को धवल वर्ण बना सकते हैं।' इस अध्याय के प्रथमाक्षरो से बनने वाला प्राकृत अर्थ भी उद्धरणीय है—

'ऋषिजनो मे सुग्रीव, हनुमान, गवय, गवाक्ष, नील, महानील इत्यादि निन्नियानवें कोटि जैनो ने तुगीगिरि पर्वत पर निर्वाण पद को प्राप्त कर लिया। उन सबको हम नमस्कार करे।'

ग्यारहवां अध्याय रूपी द्रव्यागम, अरूपी द्रव्यागम एव भूवलय की गणितीय महिमा के आख्यान से आरम्भ होता है। आगे चलकर ओउम्, अजन, अकाक्षर, दान, मोह-राग, जीव, शिवपद तथा सिद्धलोक से सम्बद्ध ज्ञान दिया गया है। बारहवे अध्याय का नाम 'ऋ' अध्याय है। इस अध्याय मे मुनियो के सयम का वर्णन है। पहले छन्द मे ही बारह तप गिनाते हुए दिगम्बर महामुनियो की सख्या तीन कम नौ करोड़ बतायी गई है। सेनगण की गुरु परम्परा का भी वर्णन है। लक्ष्मण द्वारा अपने भाई श्री राम के दर्शनार्थ एक पहाड़ पर भगवान् बाहुबली आकार के समान रेखाएं खीचना, स्याद्वादमुद्रा से अपने मन को बाधना, रेणुकादेवी के ऊपर उनके ही पुत्र परशुराम द्वारा फरसे के आघात की कथा है। आगे ऐसे आघात शस्त्र का वर्णन है जो सम्पूर्ण आयुधो को जीत लेता है। यह आयुध पारा मिलाकर किए हुए भस्म को शस्त्र के ऊपर लेप लगाने से तैयार होता है। आगे जाकर शोकरहित करने वाले नागवृक्ष, शिरीष, कुटकी, बेलपत्र, गुग्गुल, तेन्दु, अश्वत्थ, नन्दी, तिलक, आम, ककेली आदि वृक्षो की मिट्टी को रोगोपचार मे प्रयुक्त करने का विधान है। मेष शृंग वृक्ष के गर्भ से प्राप्त मिट्टी द्वारा आकाश-गमन की सिद्धि तथा दारु वृक्ष की जड़ से सोना बनने का उल्लेख है और इस विद्या को तथा रत्न, स्वर्ण, चादी, पारा, लौह एवं पाषाण आदि

को 'क्षणमात्र' में भस्म करने की विद्याओं को पार्श्वनाथ तीर्थंकर के गणित से समझने का आदेश है। आगे आकाशगमन सिद्धि का उल्लेख है। इसके लिए उन २४ वृक्षों की जिनकी छाया को तीर्थंकरों ने अपने तप से पवित्र किया था, नामावली गिना कर सबको अशोक संज्ञा दी गई है और बताया गया है 'इन वृक्षों के पुष्प जब खिल जाते है तब उनमे से निकलने वाली सुगध की वायु का शरीर से स्पर्श होते ही शरीर के सभी बाह्य रोग नष्ट होते हैं। सुगध के सूंघने से मन के रोगो का नाश होता है। ऐसा होने से इन फूलों को पीस कर निकले हुए पारे के रस से बनाये हुआ रस मणि के उपभोग से आकाश गमन अर्थात् खेचर नाम ऋद्धि प्राप्त होने में क्या आश्चर्य है। अर्थात् कुछ भी आश्चर्य नही है।'

तेरहवें अध्याय में अढाई द्वीप वाले भारतवर्ष के मध्यप्रदेशीय लाड देश के परमेष्ठी आगमानुसार तपस्या करने वाले साधुओं की सिद्धि का वर्णन है। उन साधुओं को ज्ञान-मद से मुक्त बताया गया है और उनके अनेकानेक गुणो का व्याख्यान हुआ है। उन्तालीसवें छन्द में ऐसे मुनियो को महर्षि संज्ञा दी गई है और भक्ति भावना से यह कामना करने का उपदेश है कि उनके पद हमको भी प्राप्त हो। इसी उदात्त भाव का यह भूवलय दयामय रूप है।

स्वर अक्षरो में कु चौदहवां अक्षर है। इसी अक्षर के नाम मे आचार्य ने चौदहवें अध्याय को 'कु' नाम दिया है। इसमें अनेक सिद्ध मुनियो तथा उनकी ऐसी सिद्धियो का उल्लेख है जिनके कारण उनके थूक, लार, पसीने तथा कान, आख, दन्त एव मल के छूने मात्र से शरीर के समस्त रोग नष्ट हो जाते है। ये वर्णन कवि की अतिशय श्रद्धा के परिणाम प्रतीत होते है। उनका कहना है—'ऐसे ऋद्धिधारक मुनि जिस वन में रहते है, उनके प्रभाव से उस वन की वनस्पतिया (वृक्ष, बेल, पौधे आदि) के फल-फूल पत्ते, जड, छाल भी महान् गुणकारी एवं रोगनाशक हो जाते हैं (११५)। ऐसे रोगनाशक १८००० पुष्पों मे बने पुष्पायुर्वेद का उल्लेख है जिसमें अनेक चमत्कारिक योग बनते हैं जैसे पाद रस इस रस को तलुवो में मलने से योजनो तक शीघ्र चले जाने की शक्ति आ जाती है। यहीं पर मास मदिरामय, चरकादि, हिंसा आयुर्वेद को धिक्कारा है और अहिंसामय आयुर्वेद के निर्माणकर्त्ताओं की उत्पत्ति के अयोध्या, कौशाम्बी, चन्दपुरी आदि नगरो की सूची दी है। और चूंकि अहिंसामय आयुर्वेद तीर्थंकरो की वाणी मे प्रकट हुआ है अत. तीर्थंकरो के कुलो की सूची तथा उनकी माताओं की सूची दी गई है। उन्होने बताया है कि 'श्री जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट आयुर्वेद स्वपर कल्याणार्थ सभी को पढना चाहिए। श्री पूज्यपाद आचार्य ने आयुर्वेदिक कल्याणकारक ग्रथ द्वारा सिद्ध रसायन को काव्य निबद्ध किया, उसी का मैंने (श्री कुमुदेन्दु ने) भूवलय के रूप में अंक निबद्ध करके रोग मुक्ति का द्वार खोल दिया है।'

प्रस्तुत जिल्द में संगृहीत १४ अध्यायो के अनुवाद पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि ग्रथ का कथ्य अद्भुत है। उसमें धर्म, दर्शन, नीति, विज्ञान, आयुर्वेद, गणित तथा अतिविद्या अथवा पराविज्ञान सम्बन्धी ज्ञान सगृहीत है। इस ज्ञान को कुमुदेन्दु आचार्य ने नीरस नही अपितु काव्यात्मक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। कही व्याख्यात्मक शैली है तो कही सूत्रात्मक, कही आलकारिक शैली का आश्रय लिया गया है तो कही कथात्मक शैली का। व्याख्यात्मक शैली कवि को विशेष प्रिय है। अनन्त, ओउम् भूवलय, योग, योगी, भाषा, मोक्ष आदि की विस्तृत एव अनेक प्रकार से अनेक बार व्याख्या की गई है। मोक्ष को कामिनी, तथा जैनधर्म को विषयुक्त समाज के लिए गारुड मणि कहकर अलंकारिक चमत्कार उत्पन्न किया गया है (१० ५२)। अलकारो के साथ ही कानडी भाषा के सागत्य छन्द ने कितना मार्दव उत्पन्न किया होगा उसका आस्वाद तो कानडी विद्वान् ही ले सकते है परन्तु उसकी कल्पना अवश्य की जा सकती है। चक्रबन्ध, हसबन्ध, नवमांक बन्ध तथा अक बन्धादि गणितीय पद्धति द्वारा ज्ञान कथन विशेष महत्त्व की बात है। दार्शनिक ज्ञान की दृष्टि से तो इसे पढकर गीता याद हो आती है। यह भी उल्लेखनीय है कि भूवलय में कई गीताओं का उल्लेख है। कुमुदेन्दु आचार्य ने भूवलय म जो गीता सकलित की है, वह महाभारत से पूर्व के लुप्त हुए 'भारत जयाख्यान' काव्य में उद्धृत है। उसका अन्तिम श्लोक निम्नलिखित है—

चिदानन्दघने कृष्णेनोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम् ।
वेदत्रयी परानन्दतत्त्वार्थं ऋषि मण्डलम् ॥

यह भी ध्यातव्य है कि कुमुदेन्दु जी ने स्वय कृष्ण रूप हो, अर्जुन रूपी राजा अमोघवर्ष को उसी गीतात्मक शैली मे उपदेश दिया है। यह भी अकमयी गणितीय भाषा में है। इस जिल्द में तो वैसे भी १४ अध्यायो का ही अनुवाद है जिसके लिए मूलत स्व० विद्वान् अनुवादक स्व० एलप्पा शास्त्री तथा विद्यावारिधि देशभूषण जी महाराज समस्त ज्ञान प्रेमियो के साधुवादाह तथा प्रणम्य हैं। उनकी सरस्वती साधना हमारा अवश्य ही कल्याण करेगी। आचार्य कुमुदेन्दु ने भी द्वितीय अध्याय के मध्यवर्ती अक्षरो द्वारा निकलने वाले संस्कृत श्लोक में यही कामना की है कि अविरल शब्द समुदाय स्वरूपा, मुनिजन उपास्या, समस्त जगत् कलक को धो देने वाली तीर्थ रूपी सरस्वती (जिन वाणी) हमारे पापो का क्षय करे—

अविरलशब्दघनौघ प्रक्षालित
सकल भूतल मल कलंका ।
मुनिभिरुपासिततीर्था
सरस्वती हरतुनो दुरितान ॥

सिरि भूवलय

--अकलिपि में लिखित विश्व का एकमात्र सर्वभाषामय काव्य

समीक्षक : अनुपम जैन

समीक्ष्य ग्रंथ श्री भूवलय महान् दिगम्बर जैनाचार्य धवला टीका के रचयिता आचार्य वीरसेन के प्रमुख शिष्य आचार्य कुमुदेन्दु द्वारा लिखा गया है। आचार्य कुमुदेन्दु राष्ट्रकूटवशीय नृप अमोघ वर्ष एव गगनरेश शिवमार के धर्म प्रचारको के गुरु थे। भूवलय के अन्त.साक्ष्यो एवं अन्य स्रोतो से यह स्पष्ट है कि आप बगलौर से लगभग ६० किमी० दूर नदी हिल के पास यलव नामक ग्राम मे रहते थे। आपने विश्व के महान् ज्ञान एव सभवत. समस्त भाषाओ को समाहित करने वाले 'भूवलय 'शीर्षक ग्रथ की रचना धवला टीका के पूर्ण होने के वर्ष (८१६ ई० या ७८० ई०) से ४४ वर्ष उपरान्त (८६० ई० या ८२४ ई०) पूर्ण की थी। फलत: यह नवी शताब्दी ई० की कृति है।

यह विश्व का एकमात्र अक लिपि मे लिखित सर्वभाषामयी काव्य है। ६४ अको को एक विशेष नियम मे अक्षरों मे परिवर्तित करने पर सागत्य छन्द युक्त कन्नड भाषा का काव्य प्राप्त होता है जिसके अक्षरो को भिन्न-भिन्न क्रमो से पढ़ने पर भिन्न-भिन्न भाषाओ के काव्य प्राप्त होते हैं। इन काव्यो मे प्राचीन भारतीय दर्शन, साहित्य, कला एव विज्ञान विषयक विपुल सामग्री निहित है। डा० एस० श्रीकान्त शास्त्री ने ग्रथ के अध्याय १ से ३३ तक का सम्यक् अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला है (देखे पृ० १४२-१४३) कि इसमे कन्नड़ भाषा साहित्य, सस्कृत, पाली, प्राकृत, तामिल, तेलुगू आदि भाषाओ, भारतीय धर्मों, दर्शनो, भारत एवं विशेषत. कर्नाटक के राजनैतिक इतिहास, गणित, ज्योतिष, भूगोल-खगोल, रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र, आयुर्वेद, प्राणि विज्ञान एव भाषाविज्ञान विषयक महत्त्वपूर्ण सामग्री है। रामायण, महाभारत, श्रीमद्भगवद् गीता तथा प्राचीन जैन स्तोत्रो एव काव्यो के पाठ सशोधन भी इस ग्रंथ की सहायता से करना संभव हो सकता है। ग्रथ की महत्ता का आकलन करते हुए भारत के प्रथम राष्ट्रपति महामहिम डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी ने इसे विश्व का आठवां आश्चर्य बताया था एवं इस अमूल्य निधि के सरक्षण हेतु अपने विशेष आदेश से इसकी माइक्रोफिल्म राष्ट्रीय सग्रहालय दिल्ली मे सुरक्षित करायी।

लगभग सभी प्रमुख जैनाचार्यों ने अपने काल मे प्रचलित भाषाओ मे आगमो एव महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रथों की टीकाये, अनुवाद एवं व्याख्याये लिखी थी। आ० यतिवृषभ, आ० पूज्यपाद, आ० भट्ट अकलक, आ० वीरसेन, आ० जिनसेन, आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती का कृतित्व इसका ज्वलन्त प्रमाण है। बीसवी सदी के महान् दि० जैनाचार्य आचार्यरत्न देशभूषण जी ने इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए इस दुर्लभ उपेक्षित एव अज्ञात ग्रथ भूवलय के मगल प्राभृत के प्रथम १४ अध्यायों का अक लिपि से कन्नड भाषा मे रूपान्तरण करने के उपरान्त हिन्दी भाषा मे अनुवाद प्रस्तुत किया है। यह अनुवाद उनके दोनों भाषाओ पर समान अधिकार तथा विषय वस्तु के गहन अध्ययन को प्रतिबिम्बित करता है। आगत विषयो को स्पष्ट करने हेतु प्रस्तुत की गई व्याख्यायें तथा टिप्पणिया उपयोगी है। आचार्य श्री द्वारा ग्रथ की प्रस्तावना स्वरूप लिखा गया 'श्री भूवलय परिचय' ग्रथकार के इतिवृत्त, ग्रथ के स्वरूप, उसकी सामग्री के मूलस्रोत, प्राचीनता एव मगल प्राभृत के सभी अध्यायों की विषयवस्तु पर सक्षिप्त प्रकाश डालता है।

ग्रंथ के सम्पादन के मध्य कई स्थानो पर पाठ अशुद्धि की समस्या उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है (देखे पृ० ४८)। इसका एक मुख्य कारण सम्पादनार्थ मात्र एक प्रति का उपलब्ध होना है। यह एकमेव प्रति भी मूल लेखक की न होकर किसी प्रतिलिपिकार द्वारा की गई प्रतिलिपि है। प्रकाशको को एवं विद्वत जनो को इस ग्रथ की अन्य प्रतियो की खोज का गम्भीर प्रयास करना चाहिए। मेरा सुझाव है कि—

१—ग्रंथ के शेष भाग को शीघ्रातिशीघ्र अनुवादित कराकर उसके प्रकाशन की व्यवस्था होनी चाहिए। स्व० यलप्पा शास्त्री जी के अभाव की पूर्ति असभव है किन्तु वर्तमान मे आचार्य श्री का मार्गदर्शन हमे उपलब्ध है।

२—ग्रंथ मे निहित आधुनिक विद्याओं (गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, आदि) के ज्ञान के सकारात्मक लाभ प्राप्त करने हेतु विभिन्न विषयों के विशेषज्ञो एवं भाषाविदो के सयुक्त दल द्वारा इस ग्रथ का विस्तृत व्याख्याओ, टिप्पण एव तुलनात्मक अध्ययन सहित सम्पादन होना चाहिए तथा सम्पूर्ण सामग्री का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित होना चाहिए।

आचार्य श्री ने अत्यन्त श्रमपूर्वक अपने अगाध ज्ञान का सदुपयोग करते हुए आधुनिक विद्वानो को भूवलय रूपी यह अनुपम उपहार दिया है। छपाई एवं साज-सज्जा सुन्दर है। ग्रंथ अत्यन्त उपयोगी एव संग्रहणीय है।

णमोकार ग्रन्थ

—मुक्ति-द्वार की ओर इंगित करने वाली कृति

समीक्षक : मुंशी सुमेरचन्द जैन

जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के २५००वें परिनिर्वाण महोत्सव की परिकल्पना मे आस्था का दीप प्रज्ज्वलित करने की भावना से आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने दीपमालिका (वीर निर्वाण सम्वत् २४९९) के अवसर पर इस ग्रन्थ का प्रकाशन कराया था।

आचार्य श्री को प्राय. धर्म प्रवचन से पूर्व अथवा जिन दर्शन के पश्चात् मन्दिरो के शास्त्र भण्डार के अवलोकन का जन्मजात सस्कार रहा है। श्री दिगम्बर जैन मन्दिर जी वैदवाडा, दिल्ली के शास्त्र भण्डार का निरीक्षण करते हुए उन्हे ढुढारी और खडीबोली दोनो मे मिश्रित यह दुर्लभ प्रति प्राप्त हुई थी। इसी ग्रन्थ की एक अन्य प्रति उन्हे श्री दिगम्बर जैन बडा मन्दिर श्री कूचा सेठ मे प्राप्त हुई। आचार्य श्री ने दोनो प्रतियो को आधार मानकर इस ग्रन्थ का सम्पादन किया था।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक दिल्ली निवासी श्री लक्ष्मीचन्द्र वैनाडा (खडेलवाल गोत्रिय) है। ग्रन्थ के प्रशस्ति लेख से ज्ञात होता है कि इसके प्रणयन के समय भारतवर्ष मे सम्राट् आर्ज पंचम का शासन था और महानगरी दिल्ली मे जैन समाज की विशिष्ट स्थिति थी।

भगवान् महावीर स्वामी के २५००वें परिनिर्वाण महोत्सव वर्ष से एक वर्ष पूर्व ही इस विशालकाय ग्रन्थ को सम्पादित करने के पीछे एक निश्चित पृष्ठभूमि रही थी —और वह यह कि इसके द्वारा वे जैन समाज मे चेतना एवं आत्मविश्वास का मन्त्र फूकना चाहते थे। २५००वें परिनिर्वाण महोत्सव के महान् शिल्पी युगद्रष्टा ऋषि श्री देशभूषण जी के मन मे यह भावना थी कि णमोकार मन्त्र के माध्यम से समाज की सुप्त शक्ति को जगाया जा सकता है। वैसे भी णमोकार मन्त्र के स्मरण एव उच्चारण से जैन समाज मे अद्भुत शक्ति एव स्फूर्ति का सदा से सचार होता आया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे दो अधिकार है—प्रथम में णमोकार मन्त्र और उससे सम्बद्ध पंच परमेष्ठियो का बृहद् स्वरूप निरूपण है और दूसरे मे मुक्ति के द्वार रत्नत्रय का विशद विवेचन हुआ है। आचार्य श्री की वास्तविक इच्छा यह रही होगी कि २५०० वें परिनिर्वाण महोत्सव मे श्रावक समुदाय एव जनसाधारण को मगलकारी 'णमोकार मत्र' का परिज्ञान हो जाए और साथ ही मुमुक्षु आत्मकल्याण के निमित्त रत्नत्रय को जीवन एव आचरण का अग बना ले।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन मे आचार्य श्री ने मूल ग्रन्थ के अनुवाद के साथ-साथ प्राय· सभी महत्त्वपूर्ण विषयो पर सारगर्भित व्याख्याए एव टिप्पणिया देकर ग्रन्थ को जनसाधारण के लिए उपयोगी एव ग्राह्य बना दिया है।

आचार्य श्री के अनुसार मानव जीवन के उत्थान मे णमोकार मन्त्र एक वरदान सिद्ध हो सकता है। मन्त्र का पाठ इस प्रकार है—

णमो अरिहंताण, णमो सिद्धाण, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायण, णमो लोए सव्व साहूण ॥

अरिहन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक मे सर्व-साधुओ को नमस्कार हो। इस महामन्त्र मे पच परमेष्ठियो को नमस्कार किया गया है।

इस अनादि, अनिधन, अपराजित मन्त्र मे ३५ अक्षर हैं और वह पच परमेष्ठियो के स्वरूप को लिए हुए हैं। इस मन्त्र मे किसी भी कामना की अभिव्यक्ति नही है। फिर भी इसके स्मरण एव उच्चारण से सभी सिद्धियां स्वयमेव प्राप्त हो जाती हैं। जैन धर्मानुयायियो की दृष्टि मे यह एक अलौकिक मन्त्र है। इस महामन्त्र की महत्ता का गान शताब्दियों से इस प्रकार गाया जाता है—

एसो पंच णमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाण च सव्वेसिं पढम हवइ मंगलं ॥

यह नमस्कार मन्त्र ससार मे सारभूत है। तीनो लोको मे इसकी तुलना के योग्य कोई दूसरा मन्त्र नही है। यह समस्त पापो का शत्रु है। ससार का उच्छेद करने वाला है। विषम विष को दूर करने वाला है। कर्मों को जड मूल से नष्ट करने वाला है। अतएव सिद्धि का देने वाला है, मुक्ति सुख का जनक है और केवलज्ञान का समुत्पादक है। अतएव इस मन्त्र का बार-बार जाप करना चाहिए क्योकि यह कर्म परम्परा का विनाशक है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम अधिकार के ६७ पृष्ठो मे पचपरमेष्ठियो का पावन स्मरण, अरहन्त भगवान् मे न उत्पन्न होने वाले अष्टादश दोष, अरहन्त भगवान् के ४६ गुण, विशिष्ट गुणो के कारण जिन भगवान् के १००८ नामो का पवित्र स्मरण एव भक्तिपूर्वक वन्दन किया गया है। प्रथम अधिकार के शेष ६८ से ८५ तक के पृष्ठो मे आचार्य परमेष्ठी, उपाध्याय परमेष्ठी एव साधु परमेष्ठी के स्वरूप का वर्णन करते हुए साधु धर्म की आचरण सहिता के महत्त्वपूर्ण अगो यथा षडावश्यक, पाँच महाव्रत, पंच समिति, छियालीस दोष, बत्तीस अन्तराय, चौदह मलदोष एव पचेन्द्रिय निरोध का विशद रूप से वर्णन, उपाध्याय परमेष्ठी एव साधु परमेष्ठी के प्रसग मे जैनधर्म शास्त्रो के पावन अगो एव समर्थ साधुओं मे दृष्टि होने वाली ऋद्धियो का विस्तारपूर्वक विवेचन भी किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के 'रत्नत्रय' नामक द्वितीय अधिकार मे जैन आचार, दर्शन, तत्त्व चिन्तन एव सृष्टि सबधी विषयो—सम्यग्दर्शन, जीवतत्त्व, ससारत्व, सिद्धत्व, सात तत्त्व, षोडश भावना, दशधर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा, बाईस परिषह, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, श्रावक की तिरेपन क्रिया और लोक के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय अधिकार मे तिरेसठ शलाका महापुरुषो (२४ तीर्थकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ बलभद्र, ९ प्रतिनारायण), ९ नारद, चौबीस कामदेव और समर्थ आचार्य अकलक देव, कुन्दकुन्द इत्यादि का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया गया है। महापुरुषो के जीवन की प्रमुख घटनाओ का कथा रूप मे उल्लेख भी किया गया है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ के प्रेरक एव रोचक प्रसगो को मार्मिक चित्रो के रूप मे यथावत् प्रस्तुत करके इसे जन-जन के लिए उपयोगी बनाने का आचार्य श्री ने सफल प्रयास किया है।

इस ग्रन्थ के सम्पादन मे रस-निमग्न होकर आचार्य श्री ने अपना प्राप्य अर्थात् मुक्तिद्वार का रास्ता पा लिया था। किन्तु समर्थ आचार्यों को युगधर्म का निर्वाह भी करना पडता है। इसी कारण आचार्य श्री ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन के समय 'दो शब्द' मे अपने मनोभाव को प्रकट करते हुए कहा था, "णमोकार ग्रन्थ पाठको को देते हुए परम आनन्द का अनुभव हो रहा है। हमे पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थ के पठन-पाठन और मनन-चिन्तन से सभी पाठको को लाभ होगा और वे जैनधर्म के सिद्धान्तो को भली प्रकार समझ सकेंगे। इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे हमारी भावना यही रही है।"

आशा है, जैन समाज आचार्य श्री द्वारा सपादित इस महान् कृति के भावो को जीवन मे उतारकर अपने मनुष्य जन्म को सफल बनायेंगे।

णमोकार ग्रन्थ

—जिन-वाणी और आत्म-प्रकाश की मशाल

समीक्षक : श्रीमती नीरा जैन

वर्तमान युग अति भौतिकवादी, बुद्धिवादी, वैज्ञानिक स्तर पर प्रगति के चरम शिखर को छूकर भी मानव का अन्तरतम नही छू सका है। आध्यात्मिक विकास और मन की सच्ची शान्ति की खोज मे मनुष्य निरन्तर भटक रहा है। सर्वत्र मानव मूल्यो का अवमूल्यन, चरित्र का नैतिक पतन, धर्म मे बाह्याडम्बरो और मृत परम्पराओ का समावेश, सामाजिक, राजनैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन जैसी संक्रमणशील एवं विघटनकारी परिस्थितियो मे मनुष्य को सघर्ष करना पड रहा है क्योकि समस्त मूल्य व आदर्श अपनी अर्थवत्ता खोकर खोखलेपन की गहरी खाई मे विलीन होते जा रहे है। इतिहास साक्षी है कि जब कभी किसी भी युग मे मानवता और धर्म को इस तरह की परिस्थितियों से गुजरना पडता है कि उसका अस्तित्व ही सकट मे पडने लगे तब विश्व स्तर पर मानवता और धर्म, साहित्य और सस्कृति की रक्षा हेतु महान् आत्माओ ने इस पृथ्वी पर कवच स्वरूप जन्म लिया है तथा अपना सम्पूर्ण जीवन मानव जाति के कल्याण मे समर्पित कर दिया है—चाहे उन्हें समाज, शासन के विरोध और दैवी प्रकोपो का सामना करना पडा, किन्तु उन्होने अपने कर्तव्य पथ से विचलित हुए बिना धर्म और मानव कल्याण का मार्ग नही छोडा।

आज सर्वत्र पाशविक और आसुरी वृत्तियो का ताण्डव हो रहा है। लोक रुचि भी भोगाकाक्षी और विषय-लोलुपता एव द्रव्य-दासता की ओर अग्रसर है, असंयम के कीटाणु व्याप्त हैं। इन स्थितियो मे बालब्रह्मचारी, प्रकाण्ड विद्वान, सत्य, अहिंसा और प्रेम का प्रकाश फैलाने वाले दिगम्बराचार्य श्री देशभूषण महाराज जी ने ही अपने सदुपदेशो से भटकी मानवता का मार्ग-दर्शन किया। उन्होने अपने पावन करकमलो से जैन धर्म के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का सम्पादन कर प्रकाशित कराया तथा अन्य भाषाओं मे अनुवाद भी किया जिससे जैन धर्म को व्यापक धरातल प्राप्त हुआ। आचार्य श्री सस्कृत, कन्नड, मराठी, प्राकृत और हिन्दी भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् हैं। इनके महत्वपूर्ण ग्रन्थ है—भूवलय ग्रन्थ, भावना सार, शास्त्रसार समुच्चय, चौदह गुण स्थान चर्चा, णमोकार मन्त्र कल्प, विवेक मंजूषा, स्तोत्र सार सग्रह, दश लक्षण धर्म, त्रिकाल दर्शी महापुरुष, भगवान महावीर और उनका समय, तात्त्विक विचार आदि। इनका योगदान अविस्मरणीय है।

'णमोकार ग्रन्थ' जैन साहित्य की अनुपम निधि और आचार्य देशभूषण महाराज के दैदीप्यमान प्रतिभा पुज की एक ऐसी किरण है जिसमे मोहग्रस्त संसारी व्यक्ति के संतप्त मन को मुक्ति पथ का दर्शन होता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश कभी लुप्त नही होता उसी प्रकार आचार्य जी द्वारा प्रणीत एव सम्पादित सामग्री सूर्य के प्रकाश की भांति सनातन है, शाश्वत है। इस ग्रन्थ मे जैन धर्म के मूलभूत सिद्धान्तो और रत्नत्रय के स्वरूप, जैन तीर्थंकरो से सम्बद्ध कथाओ, तीर्थस्थलो एव प्रमुख धर्म सूत्रो का रहस्योद्घाटन अत्यन्त सरल भाषा में किया गया है जिसके अध्ययन-मनन से मनुष्य अपनी आत्मा का उद्धार कर सकता है। यह ग्रथ अपने मूल रूप मे खण्डेलवाल जाति के दिल्ली वासी लक्ष्मीचन्द बैनाडा द्वारा संवत् १९४६ मे सकलित किया गया था किन्तु अप्रकाशित होने के कारण सभी श्रावको की पहुंच से परे था। इसे पुन: नवीन रूप में संपादित करने का प्रयास स्तुत्य और अभिनन्दनीय है जिसका श्रेय आचार्य श्री देशभूषण जी को है जिन्होंने अनथक परिश्रम और साधना द्वारा इस ग्रन्थ को पुन: सपादित कर प्रकाशित कराया। यह ग्रथ ढुढारी और खडीबोली मिश्रित भाषा मे लिखा गया है किन्तु आचार्य जी ने इस भाषा को परिमार्जित किन्तु सरल रूप देकर सर्वजन सुलभ बना दिया है।

यह ग्रथ दो अध्यायो मे विभक्त है—प्रथम मे णमोकार मन्त्र के माहात्म्य और उसमे सम्बद्ध पच परमेष्ठियो का स्वरूप-विवेचन किया गया है तथा दूसरे मे रत्नत्रय का वर्णन है। जैन धर्म के इस महत्त्वपूर्ण ग्रथ द्वारा पतनोन्मुख मानव जाति को आत्मदर्शन द्वारा आत्म-कल्याण की प्रेरणा दी गई है। इसमे जीवोद्धार का मूल कारण जिनधर्म का णमोकार मत्र माना गया है। इसके नित्य चिन्तन, वन्दन, स्मरण से ही आत्मा सांसारिक दु खों से मुक्त हो सकती है। यह मत्र तो इतना चमत्कारी है कि मानव ही क्या अन्य प्राणी जगत् का कोई भी जीव इसके श्रवण मात्र से शान्त भाव मे प्राण त्याग कर सद्गति प्राप्त करता है। अनादि काल से रागद्वेष, मोह, कषाय से युक्त होने के कारण जीव जो दुख भोगता रहा है, इंद्रिय भोगविलास द्वारा कर्म बन्धन की शृखला को जो जटिल बनाता रहा है—इस मन्त्र के प्रभाव से वह इससे

मुक्त हो जाता है। इसके स्मरण से मनुष्य के शुभ कर्म का उदय होता है जिससे कर्म निर्जरा होकर सभी कार्य निर्विघ्न सम्पन्न होते जाते हैं।

इस अपराजित मंत्र मे ३५ अक्षर हैं जिनमे पंच परमेष्ठियों का स्वरूप निहित है, यह पाप विनाशक और मनोकामनापूरक हैं। यद्यपि इस मन्त्र में किसी भी कामना की अभिव्यक्ति नही होती, फिर भी आराधक इसे सर्वसिद्धि दाता मानते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

'णमो अरिहंताणं, णमोसिद्धाण, णमो आइरियाण।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।।

इसमे पांचों परमेष्ठियों को नमन कर उनके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है—प्रस्तुत ग्रंथ मे इसका विवेचन विस्तार से किया गया है। मंत्र शास्त्र की दृष्टि से प्रस्तुत मन्त्र विश्व के समस्त मन्त्रो मे अलौकिक है जो पाप विनाशक तो है पर साथ ही मगलकारी होने के साथ कर्मों को जड़मूल से नष्ट करने वाला है। इस मन्त्र का प्रयोग जैनाचार्यों ने सदैव निष्काम भाव से कर्मों की वज्र शृखलाओ को तोड़ने के लिए ही किया। तंत्रादि की असीम शक्ति से परिचित होते हुए भी सासारिक सिद्धि के लिए इसका उपयोग नही किया। समस्त प्राणी जगत् के प्रति सद्भावना रखने के कारण ही कभी इस मन्त्र का दुरुपयोग नही किया।

प्रस्तुत ग्रन्थ के दूसरे अधिकार मे मानव चरित्र के उत्थानकर्त्ता तीन प्रमुख गुणो का 'रत्नत्रय' के अन्तर्गत विशद विवेचन किया गया है। ये गुण हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक चारित्र। मानव जीवन का उद्देश्य इन तीन रत्न गुणो का अपने चरित्र मे विकास करना ही है। तीनों की सिद्धि मुक्तिदायिनी है। कर्म बन्धनो से मुक्ति भी इन्ही की उपलब्धि से संभव है। आत्मा को जन्म-जरा-मरण की त्रिविध व्याधियो से छूट कर अविनाशी सुख प्राप्त करने के लिए 'रत्नत्रय' की आराधना और उपासना मे सलग्न रहना जरूरी है, यही उसकी अमूल्य निधि है।

वस्तुतः इस ग्रन्थ मे जैन धर्म और उसके सिद्धान्तो का विशद विवेचन अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक शैली मे किया गया है। लोक रुचि के अनुकूल ही अनेक पुराणसम्मत कथानको के सहयोग से विषय को सुरुचिपूर्ण बनाने का श्रेय इस ग्रन्थ के सपादक जी को है। इसमे स्पष्ट किया गया है कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र को सम्पूर्ण और सम्यक् बनाने के लिए मनुष्य को किस प्रकार कठिन साधना और तपश्चर्या का अनुसरण करना पड़ता है। धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है जिसके बिना ज्ञान और चारित्र भी पूर्णतया को प्राप्त नही कर सकते। यह मोक्ष रूपी महल की पहली सीढ़ी है। जब मनुष्य की आखो के आगे से मोह-माया का मिथ्या भ्रम का आवरण हट जाता है तो सत्य के आलोक मे उसकी दृष्टि सम्यक् होने लगती है। वह हर वस्तु के सच को जानकर अपने को तटस्थ प्रकृति का बनाने का प्रयास करने लगता है। उसे न तो सुख में हर्ष और न दुख में विषाद की अनुभूति होती है। किसी जीव की हिंसा या अहित का भाव उसके मन मे नही आता वरन् निःस्वार्थ भाव से वह अपनी ही आत्मा के परिष्कार मे लगा रहता है। यह समदृष्टि भव-सागर को पार करने मे सहायक है। पाप रूपी वृक्ष को काटने वाला तीक्ष्ण कुठार भी यही है। मोह रूपी अंधकार के नष्ट होने पर ही सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होती है और तभी व्यक्ति सद्चरित्र का विकास करता है। पाप एव भोगविलास से निवृत्ति और आत्मपरिष्कार मे प्रवृत्ति ही सम्यक् चारित्र है।

मानव चरित्र की अनमोल निधि स्वरूप इन 'रत्नत्रय' गुणो के विवेचन के अतिरिक्त इस ग्रंथ मे २४ तीर्थंकरों के परिचय, धर्मपथ का अनुसरण करने वाले अनेक महापुरुषो और धर्मात्माओ के जीवन संदर्भ दिए गए हैं। ग्रंथ मे धर्म के यथार्थ स्वरूप और एक सच्चे साधक के गुण-दोषमय चरित्र की व्याख्या करके जन सामान्य को भी सत्पथ पर चलने की प्रेरणा दी गई है। इस ग्रथ के प्रणयन का मूल उद्देश्य जैन धर्म का प्रचार करना, जैन तथा जैनेतर लोगो मे धर्म प्रभावना बढाना होने के साथ यह भी रहा है कि जैन धर्म विषयक सम्पूर्ण सामग्री प्रस्तुत करने वाला एक सम्यक् ग्रथ प्रकाशित किया जाये जिसमे जिनवाणी का यथार्थ स्वरूप मिल सके तथा अधिकाधिक लोग इस धर्म के अनुयायी बन कर आत्मलाभ कर सके।

इस ग्रन्थ को प्रकाश मे लाने के लिए महान् सन्त, युगपुरुष, आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज का सम्पूर्ण जैन समाज चिर ऋणी रहेगा। उन्होंने जीवन को जिस कर्मठता, सृजनशीलता से शोध साधना मे बिताया है और जैन धर्म के शाश्वत सत्यों को विश्वव्यापी बनाने के लिए जो साहित्य-रत्न जैन संस्कृति को दिए है वे अनुपम है। अव्यवस्था और विषमताओं के इस युग मे आत्मप्रकाश की मशाल लिए जैन धर्म को लोकप्रियता और व्यापकता दिलाने के लिए आचार्य श्री ने जो स्तुत्य प्रयास किए है वे अविस्मरणीय रहेंगे।

मेरुमंदर पुराण

—भारतीय जन-मानस को सांस्कृतिक धरोहर से सम्पृक्त करने वाली कृति

समीक्षक : डॉ० रवीन्द्रकुमार सेठ

दिगम्बर जैन धर्म के प्राय: सभी महान् आचार्यों का आविर्भाव दक्षिण भारत में हुआ। जैन गुरुओं ने जन-मानस और राजवंश दोनो को धर्म के मार्ग की ओर प्रवृत्त किया; अपने त्यागमय जीवन, ज्ञानराशि तथा जनसेवा के समन्वय द्वारा समाज में अपना विशिष्ट महत्त्व प्राप्त किया। तमिल के आदि ग्रन्थ 'तिरुक्कुरल' और व्याकरण 'तोलकाप्पियम्' जैसे ग्रन्थों में उपलब्ध जैन-चिंतन इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि तमिल भाषा एवं साहित्य के कला एवं भाव पक्ष दोनो पर जैन विचारधारा का निश्चित प्रभाव है। तिरुक्कुरल मे 'एलगुनत्तन्' (अष्ट गुण सम्पन्न), मलरमिसइ एहिनान्' (कमल पर चलने वाला) इत्यादि के प्रयोग के आधार पर तथा अनेक अन्य प्रमाणों का सविस्तार विवेचन करके श्री ए० चक्रवर्ती ने इसे जैन रचना ही स्वीकार किया है। इस विषय मे यद्यपि पर्याप्त मतभेद हैं पर नि:सन्देह जैन धर्म के मूल तत्त्वो एवं चिंतनधारा का उल्लेख महाकाव्य 'शिलप्पदिकारम्' मे सविस्तार हुआ है। यह भी स्पष्ट है कि तमिल साहित्य के इतिहास-लेखकों ने प्राय: शैव और वैष्णव भक्ति-परम्पराओं का तो अध्ययन किया है पर जैन धर्म के विषय मे उल्लेख अत्यल्प हैं। तिरुमगै आल्वार का जैन मतावलम्बियों से शास्त्रार्थ, सम्बन्धर द्वारा जैन धर्म के मानने वालों का शैव बनाया जाना तथा पेरियपुराणम् में वर्णित जैनो पर हुए अत्याचारों मे चाहे कितनी भी अतिशयोक्ति हो, इस धर्म के मतावलम्बियो का तमिल प्रदेश में अस्तित्व, उनका जीवन, चिंतन और संघर्ष प्रकारान्तर से हमारे समक्ष उभर कर आ जाता है।

आधुनिक जैन समाज की परम विभूति धर्मप्राण आचार्यरत्न श्री श्री १०८ देशभूषणजी महाराज द्वारा इसी विशाल जैन साहित्य की परम्परा मे से एक ग्रन्थ 'मेरु पुराण' का मूल तमिल से अनुवाद और व्याख्या एक असाधारण कार्य है। इसके अनुवाद मे उनकी आध्यात्मिक ऊंचाई एवं दार्शनिक विचार-प्रक्रिया का अद्भुत समन्वय हुआ है। एक अनासक्त कर्मयोगी की भांति राष्ट्र के रचनात्मक निर्माण मे संलग्न मर्मज्ञ विद्वान् श्री देशभूषण जी के कार्य को जन-मानस मे परिचित करवाने का अवसर प्राप्त कर मैं स्वयं को धन्य मानता हूं। मेरु मंदर पुराण तमिल भाषा में विरचित ग्रंथ है जिसे किन्हीं श्री वामनाचार्य ने रचा था। जयपुर चातुर्मास के समय आचार्य जी ने संवत् २०२८ मे इसकी हिन्दी टीका की और संवत् २०२९ मे इसका प्रकाशन हुआ। ५१० पृष्ठो के इस ग्रन्थ मे मूल तमिल का देवनागरी लिप्यंतरण, अनुवाद और विस्तृत हिन्दी टीका प्रस्तुत की गई है। वामनाचार्य के जीवन, समय इत्यादि के विषय मे प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं। हां, यह निश्चित है कि आप तमिल तथा संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। कांचीपुरम् के निकट तिरुपति कुण्ड्र नामक गांव के प्राचीन जैन वृषनाथ भगवान् के मन्दिर मे इस विषय मे एक अस्पष्ट शिलालेख उपलब्ध है।

ग्रन्थ के समग्र १२ अध्यायों की कथा का सार प्रारम्भ मे ६० पृष्ठो मे देने के उपरान्त ग्रन्थ के प्रत्येक पद की सविस्तार टिप्पणियां अपने आप मे एक अनुभव है। जैन धर्म की गहन तात्त्विक समीक्षा, सहज सरल भावपूर्ण शब्दावली मे हृदय के अन्तस्तल को छू लेती है। यह मात्र धर्म-ग्रन्थ नहीं है, इसमें अद्भुत् प्रकृति-वर्णन, मानव-स्वभाव चित्रण, जीवन-संघर्ष, तपश्चर्या के मार्ग मे आने वाले अनेक कष्ट आदि का सहज, स्वाभाविक चित्रण हुआ है, पर धार्मिक दृष्टि सर्वोपरि है। शिवभूति मन्त्री और भद्रमित्र की कथा के माध्यम से कंचन के दुष्प्रभाव, धन और रत्न के लोभ का कुपरिणाम और न्याय के महत्त्व का प्रतिपादन हुआ है। तीव्र परिग्रह की लालसा करने वाले मनुष्य तृष्णा के द्वारा संपत्ति का उपार्जन करने के लिए जो विभिन्न प्रयास करते हैं उनका विवेचन करते हुए कहा गया है कि अपहरण, चोरी आदि विधियों से प्राप्त संपत्ति शीघ्र नष्ट होती है, यशकीर्ति का नाश होता है, धैर्य, ऐश्वर्य आदि नष्ट होता है।

कतिपय अन्य प्रसंगों का अवलोकन करें तो इस ग्रन्थ मे जीवन के अनेक सत्य उद्घाटित हुए है। सभी प्रकार के जीवो का हित करना, दया धर्म का पालन, दूसरे के दु:ख से करुणा भाव उत्पन्न होना, बदला लेने की भावना का त्याग आदि गुणो का विवेचन करते हुए शास्त्रदान, औषधदान, आहारदान और अभयदान आदि का प्रतिपादन हुआ है। एक प्रसंग मे भाषा की गरिमा देखते ही बनती है—"जीव दया रूपी

स्त्री के साथ मिलकर, मन शोधन रूपी स्नेह से युक्त निद्रा रूपी रस्सी को त्याग कर वह सिंह चन्द्रमुनि तपरूपी स्त्री के साथ मग्न होकर तपश्चरण करने लगे।"

प्रबन्ध की कथा अनेक अन्तर्कथाओं से समन्वित है। इन अन्तर्कथाओं के माध्यम से धर्म और दर्शन तथा जीवन को त्याग की ओर उन्मुख करने का उपदेश काव्य का प्रमुख लक्ष्य है। अनेकानेक सूक्तिवचन इसमें सहज रूप से समन्वित हो गए हैं। चिंतन का आधार निरन्तर यही रहा है कि नरक में पड़े हुए जीवों की रक्षा करने वाला सच्चा साक्षी धर्म ही है। श्रद्धा-पूर्वक धर्माचरण का संदेश देते हुए अर्हंत भगवान् द्वारा कहे गए धर्म की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार प्रकार के कषाय पाप कर्म के आस्रव को उत्पन्न करने वाले हैं। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और उत्तम ब्रह्मचर्य इन दस धर्मों तथा आगम पर श्रद्धा भक्ति स्तुति का उपदेश है। इसी मार्ग से अभ्युदय नाम के निःश्रेयस पद अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। कहीं-कहीं बौद्ध धर्म के अनित्य आत्मवाद का खण्डन भी हुआ है। कवि का मन नगर वर्णन, भवन वर्णन तथा अन्य प्रासंगिक वर्णनों में पर्याप्त रमण करता रहा है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—"उस धरणी तिलक नगर में अधिक से अधिक ऊंचाई में तथा ध्वजाओं से युक्त गोपुर थे और गोपुर के आस-पास बड़ी गलियां थीं। नगर में सुन्दर स्त्रियों की इतनी भीड़ रहती थी कि जिससे आने-जाने में बड़ी बाधा होती थी···इस प्रकार स्त्रियों तथा पुरुषों के चलने-फिरने में ऐसे शब्द होते थे जैसे पर्वत पर से नदी के पानी के गिरने की आवाज होती है।' 'उस महानगर में निवास करने वाली तरुण स्त्रियां सर्वगुण-सम्पन्न व रूप में सुन्दर, मधुर शब्दों से युक्त, एक क्षण में मन्मथ को वश में करने वाली थीं।···उस नगर में वीणा के तथा नृत्य करने वाली स्त्रियों की पैंजनी के मधुर शब्द सुनाई दे रहे थे···।"

समग्रत प्रकृति-चित्रण, मानव-सम्वेदनाओं का सम्यक् अध्ययन, जनजीवन के विभिन्न पक्षों के अनेक रम्य पक्षों का उद्घाटन करते हुए यह ग्रन्थ 'सत्य' के प्रतिपादन का ग्रन्थ है। बहुभाषाविज्ञ, सांस्कृतिक अनुचेतना के उद्बोधक महापुरुष श्री देशभूषण जी द्वारा अनूदित एवं व्याख्यायित होकर वामनाचार्य का यह मूल तामिल ग्रन्थ एक संग्रहणीय हिन्दी ग्रन्थ में परिणत हो गया है। धर्म में आस्था को सुदृढ़ करने, भारतीय जन-मानस को सांस्कृतिक धरोहर से सम्पृक्त करने तथा जैन धर्म के जिज्ञासुओं को अन्य स्रोतों से सामग्री का सञ्चयन करने की प्रेरणा देने में इस 'मेरुमंदर पुराण' का निश्चित योगदान होगा।

उपदेश सार-संग्रह

—दिल्ली चातुर्मास के अपूर्व प्रवचन

समीक्षक : डॉ० भरत सिंह

यद्यपि परम पूज्य स्वामी देशभूषण जी महाराज के देहली चातुर्मास के अवसर पर दिए गए दैनिक प्रवचनो के संग्रह ग्रन्थ "उपदेश सार संग्रह" पर समीक्षा लिखने का न तो साहस मुझ मे है और न मैं इस काम के योग्य पात्र हूं, फिर भी मुनिवर की अनुपम लोक-सेवा तथा बन्धुवर डॉ० रमेश गुप्त का स्नेहपूर्ण आग्रह मुझे इस परमोपयोगी कार्य के लिए बाध्य कर रहा है।

आज जब हम नितान्त अर्थप्रधान युग मे जीवनयापन कर रहे है; प्रत्येक व्यक्ति का एकमात्र लक्ष्य असीमित धन-दौलत एकत्र कर मनोवाञ्छित सुख भोगना रह गया है। व्यक्ति कर्त्तव्यो को भूलकर अधिकारो की पूर्ति के लिए नारो, जुलूसो तथा प्रदर्शनो के भंवर-जाल मे फस गया है। राष्ट्र अनाचार-भ्रष्टाचार, धर्मवाद, जातिवाद और इसी प्रकार की अन्य अनेक बुराइयो मे लीन हो गया है। अब जब कि राष्ट्र को एक निश्चित दिशा की ओर ले जाने वाले चरित्रवान् नेताओ का नितान्त अभाव हो, सुविचारक तपी, त्यागी साधु-संन्यासियों का अकाल पडा हो, समाजसेवी सज्जन समाज-सेवा की आड मे केवल अपना स्वार्थ-साधन अपनी समाज सेवा का मुख्य अग मानते हो, ऐसे मे इस प्रकार के प्रवचनों की महती आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। इस निराशा और निविड़ अन्धकारपूर्ण समय मे यदि एकमात्र आशा की किरण कही नजर आती है, तो इसी प्रकार के सद्प्रयासो मे।

श्री १०८ स्वामी देशभूषण जी महाराज बालब्रह्मचारी हैं और उन्होने अपना सारा जीवन प्रथम जैन धर्म की शिक्षा-दीक्षा को प्राप्त करने तथा तत्पश्चात् उसके प्रचार-प्रसार के लिए धर्म को समर्पित कर दिया है। निश्चय ही यह बहुत बड़ा त्याग है। जो मनुष्य-जीवन इतनी अनन्त साधना के पश्चात् उपलब्ध होता है और जिसमें सामान्य इंसान दुनिया के समस्त भोगो को भोग लेना चाहता है, उस जीवन को नि:स्वार्थ-भाव से समाज के उद्धार तथा धर्म की अभिवृद्धि को सौंप देना निश्चय ही एक प्रशस्य कदम है।

अपने वरेण्य जीवन मे आचार्य श्री ने न जाने कितने प्रवचन दिये होंगे और न जाने कितने व्यक्तियो को उनको सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ होगा लेकिन जैसाकि आज के समाज को देखकर प्रतीत होता है व्यक्ति उपदेश-सभा में प्रवचनो को सुनने का प्रयास तो करते हैं, परन्तु उन्हें आत्मसात् कर व्यवहार मे उतारने का प्रयास नही करते। घर आकर उसी प्रकार नाना प्रकार के छल-प्रपंचो मे व्यस्त हो जाते हैं, जिस प्रकार के प्रपंचों मे वे इन उपदेशों को सुनने से पहले थे। इससे प्रतीत होता है कि वे प्रवचन-सभाओं मे अपने आपको इतना ध्यानावस्थित नही कर पाते, जितना कि उन्हें करना चाहिए और इसीलिए इन प्रवचनों का उनके व्यावहारिक जीवन पर विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर नही हो पाता। बहुत-से व्यक्ति तो इन सभाओ में खाना-पूर्ति करने अथवा अन्यो की दृष्टि मे अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने के निमित्त ही जाते हैं, वहा से कुछ उपयोगी बात ग्रहण कर जीवन को अधिक उदात्त बनाने का प्रयास उनका नही रहता। ऐसा इसलिए लिखा जा रहा है कि आज समाज मे पूजा-पाठ, धर्म-कर्म, भक्ति-भाव और इसी प्रकार के अन्य विचारो का ढोंग उन व्यक्तियों में अधिक पाया जाता है, जो समाज में ऐसा मिथ्या प्रदर्शन न करने वाले सात्विक-सामाजिको की अपेक्षा अधिक निन्दनीय जीवन जी रहे हैं। यही एक ऐसा कारण भी है जिससे प्रभावित होकर लोग उक्त सद्भावो से विरक्त होते जा रहे हैं।

आचार्य देशभूषण जी ने अपने पूर्ण प्रयास से सुन्दर प्रवचन दिये, लेकिन उन सद्विचारों को यदि संग्रह नही किया गया होता तो उनका लाभ केवल वे ही श्रोतागण उठा सकते जो निश्चय ही सभा मे कुछ ग्रहण करने के पुनीत भाव से प्रेरित होकर वहा विराजमान रहे। किन्तु उनके प्रवचनों को संग्रह करने का प्रयास अनेकानेक धर्म प्रेमियो को लाभान्वित कर सकेगा इसमें सन्देह नहीं। प्रार्थना-सभाओ मे सुने गये प्रवचनों की अपेक्षा अपने अध्ययन कक्ष मे एकाग्रभाव से पढे गये और मनन किये गये इन पुस्तकाकार उपदेशो का लाभ निश्चय ही अधिक है। क्योकि अपने बन्द कमरे मे बैठकर इस अमूल्य ग्रन्थ का अध्ययन वही व्यक्ति करना चाहेगा जो निश्चित रूप से इससे लाभान्वित होना चाहता है। अत: बहुमूल्य विचारो को पुस्तक-बद्ध करने का विचार एक बहुपयोगी उत्तम विचार है। स्वय मुझे इन विचारो से लाभ उठाने का अवसर इसीलिए मिल पाया है कि ये लिपिबद्ध उपदेश पुस्तक के रूप मे मुझे पढने को प्राप्त हो सके हैं। पुस्तक के रूप में निबद्ध ये सद्

उपदेश अब समाज की एक बहुमूल्य थाती बन गये हैं और अनन्त काल तक ज्ञानपिपासुओं की धार्मिक भावना, चरित्र निर्माण तथा समाजोद्धार के विचारों को प्रेरित करते रहेंगे।

"उपदेश सार संग्रह" के पारायण के पश्चात् प्रतीत होता है कि श्री देशभूषण जी महाराज के पास ज्ञान का अनन्त सागर है। समाज के संस्कार की ललक उनके पास है। अपने विचारों को पूर्णता प्रदान करने के लिए उन्होंने वैदिक ग्रन्थो का अध्ययन किया है। संस्कृत ग्रन्थों को पढा है। इसी प्रकार जैन धर्म सम्बन्धी प्राकृत-पाली साहित्य का उन्होंने मनन किया है। हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल से सम्बद्ध श्रेष्ठ सन्तो की अमूल्य वाणी के मूल मे पहुचने का भी उन्होने अथक प्रयास किया है। इस तमाम साहित्य का उन्होने आलोडन-विलोडन ही नही किया अपितु उसे भलीभांति मथ कर वे उसमे से जीवनोपयोगी अनेकों बहुमूल्य भावमणियां अपने श्रोताओं के उद्धार के लिए खोज लाये है। उन्होने उक्त साहित्य को पढा ही नही, अपितु पचाया भी है। यही कारण है कि वे अपने विचारो को श्रोताओ तक पहुंचा पाने मे समर्थ हुए हैं।

इस ग्रन्थ का क्षेत्र अनन्त है। इसमे आत्मा-परमात्मा, धर्म-कर्म, पूजा-पाठ, जप-तप, भक्ति-भाव जैसे आध्यात्मिक विषयों को तो सहज बोधगम्य करने का प्रयास किया ही गया है, साथ ही समाज में व्याप्त व्यक्ति तथा समाजगत बुराइयो की ओर भी श्रोताओं का ध्यान आकर्षित किया गया है। आचार्य श्री चाहते हैं कि व्यक्ति का इहलौकिक और पारलौकिक दोनो प्रकार के जीवन का विकास हो। इसीलिए उन्होंने अपने प्रवचनो मे कुलाचार को महत्त्व दिया है। जैन धर्मी होने के कारण मद्य, मांस, अण्डा आदि का सेवन न करने की प्रेरणा सामाजिको को दी है। व्यापार मे भ्रष्टाचार करने वाले जैनियो की निन्दा की है। अन्न ही से मन बनता है। अत: उत्तम सात्विक और पौष्टिक भोज्य सामग्री को ग्रहण करने की प्रेरणा उन्होंने दी है।

जीवन मे सद्‌गुरु का महत्त्व प्राय. प्रत्येक सद्‌विचारक ने स्वीकारा है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे भी गुरु के महत्त्व को प्रमुखता प्रदान की गई है। इस ग्रन्थ के पृष्ठ १०८ पर लिखा है—"यह बात प्रत्येक कला तथा ज्ञान पर लागू होती है बिना गुरु के सिखाये कोई भी विद्या या कला नही आती।" समाज को दूषित करने वाले वामाचार की इन उपदेशो मे कठोर निन्दा की गई है पृ० (३७)। पश्चिमी देशवासी जिस मास को अनन्त शक्ति का स्रोत मानते हैं और इसे प्राप्त करने के लिए वे जिस प्रकार से अनेकानेक प्रकार के पशुओ का वध करते हैं, इसकी निन्दा भी इस ग्रन्थ मे की गई है। साथ मे यह भी सिद्ध किया गया है कि मासाहारी भोजन की अपेक्षा शाकाहारी भोजन अधिक पौष्टिक एव बलप्रद होता है। "इस तरह मास से तिगुनी शक्ति अन्न मे होती है" यह बात पृष्ठ ३९ पर कही गई है। आचार्यरत्न देशभूषण जी की मान्यता है कि चारित्रिक उत्थान के लिए भी मास जैसे भोज्य पदार्थों का त्याग आवश्यक है।

आज के प्रदर्शन-प्रिय ढोंग-भरे इस समाज को ध्यान में रखते हुए आचार्य श्री का यह कथन कितना उपयुक्त है—"संसार मे इस जीव का सबसे बडा शत्रु कोई पुरुष, स्त्री, पशु या कोई दृश्यमान जड पदार्थ नहीं है। इसका सबसे बड़ा वैरी तो एक मिथ्यात्व है जिसके प्रभाव से जीव की श्रद्धा विपरीत हो गई है।" इसी के कारण मनुष्य पूर्ण रूप मे न अपने को पहचान पा रहा है और न पर को। ऐसे मे परमात्मा को पहचान पाने की तो बात ही नही उठती। व्यक्ति की व्यावहारिक शुद्धता पर भी इन उपदेशों मे बल दिया गया है। जैन समाज अधिकतर व्यवसाय पर अवलम्बित है। व्यापार मे शुद्ध एवं अशुद्ध कमाई का बडा प्रचलन है। जो व्यापारी अशुद्ध कमाई करते है उन्हे अपार सम्पत्ति के स्वामित्व हो जाने पर भी सच्ची सुख-शान्ति नहीं मिल पाती। पृ० ८२ पर वे कहते हैं—"धन उपार्जन मे इस तरह से अनीति, धोखेबाजी, विश्वासघात, बेईमानी का आश्रय लिया जाता है तभी आजकल पहले की अपेक्षा अधिक समागम होने पर भी लोगो की सम्पत्ति, सुख-शान्ति मे, स्वास्थ्य मे पारिवारिक अभ्युदय मे उल्लेख करने योग्य प्रगति नही दिखाई देती। प्राय प्रत्येक गृहस्थ किसी-न-किसी विपत्ति का शिकार बना हुआ है। एक ओर से धन आ रहा है, दूसरी ओर से चोरी, डकैती, मुकद्दमेबाजी बीमारी, सन्तान द्वारा अपव्यय आदि मार्गों से धन निकला जा रहा है। जिस उपार्जन के लिए दुनिया भर के पाप अनर्थ अन्याय किए जाते हैं, अपमान सहन किया जाता है, वही धन दो-चार पीढी तक भी नही ठहरने पाता।" आज भारतीय समाज मे जितना भी भ्रष्टाचार व्याप्त है उसका मूल कारण आचार्य श्री ने अतिशय अर्थलोलुपता को ही माना है। उनका यह मन्तव्य है कि जिस दिन व्यक्ति इस लोभ का परित्याग कर देगा, निश्चय ही उस दिन व्यक्ति एव समाज दोनों का उद्धार हो जायेगा।

व्यक्तिगत राग-द्वेष तथा स्वार्थपरता की गर्हित भावना का भी खण्डन किया गया है। वे कहते हैं—"आत्मा को राग, द्वेष, क्रोध, काम आदि भावों से शुद्ध करना ही आत्मा का सबसे बड़ा हित है क्योंकि कर्म बन्धन मे मुक्त होने का यही एक मार्ग है।"—पृ०१२१। स्वामी जी ने इस ससार मे विद्यमान समस्त पदार्थों मे आत्मा को सर्वोपरि सिद्ध किया है। अत उसी का उद्धार करना प्राणी मात्र का परम कर्त्तव्य है। तभी व्यक्ति सांसारिक चक्र से भी मुक्त हो सकता है। समाज के प्रति अपना दायित्व ध्यान मे रखते हुए आचार्यरत्न देशभूषण जी ने समाज मे व्याप्त नाना प्रकार की बुराइयों के प्रति भी सामाजिकों का ध्यान आकर्षित किया है। समाज जिन चोरी-डकैती, हिंसा, जुआ, शराब एवं दहेज जैसी कुरीतियों से ग्रसित है, उनके उन्मूलन के प्रति भी वे सजग हैं। कन्या के लिए योग्य वर को ध्यान मे रखते हुए वे कहते हैं—कन्या के योग्य गुणी, स्वस्थ, सदाचारी वर को प्रमुख रूप से देखा जावे, केवल धन देखकर दुर्गुणी, रोगी, अशिक्षित, दुर्जन, प्रौढ, वृद्ध

आदि अयोग्य वर के साथ कन्या का विवाह न किया जाए। इसी तरह अपने पुत्र के लिए कन्या लेते समय दहेज के धन पर दृष्टि न रखकर शिक्षित, गुणी, विनीत, सुन्दर कन्या को विशेषता देनी चाहिए।" "विवाह शादी आदि के ऐसे सरल कम खर्चीले नियम बनाने चाहिए जिससे समाज का गरीब से गरीब व्यक्ति भी अपने पुत्र-पुत्रियो का विवाह सम्बन्ध कर सके।" पृ० १५२।

आचार्य जी समाज के सर्वांगीण विकास के पक्षपाती है। उनके अनुसार समाज का आनुपातिक विकास तभी सम्भव है, जबकि व्यक्ति अहिंसा, सत्य, त्याग, दान, सहयोग एव पारस्परिक सहानुभूति से प्रेरित होकर स्वय की अपेक्षा पर के विकास की ओर अधिक उन्मुख होगा। इसके लिए उन्होंने सामाजिक सहयोग पर अत्यधिक बल दिया है। यही वह मत्र है, जिसके द्वारा समाज का समुचित विकास सम्भव है। धनी लोगों द्वारा निर्धनो की सहायता के विषय मे पृ० १८८ पर वे कहते हैं—"यथाशक्ति थोडी बहुत द्रव्य की सहायता देकर उस बेकार भाई को छोटे-मोटे काम-धन्धे मे लगा देना चाहिए।"

इस प्रकार "उपदेश सार संग्रह" मे निश्चय ही बहुत उपयोगी बातो का उल्लेख है। यदि सभी मनुष्य इस प्रकार के परोपकारी धर्मात्मा साधुओ के उपदेशो का रस-पान कर अपने चरित्र मे ढाल सकते तो इस बात मे जरा भी सन्देह नही कि समाज का कब का उद्धार हो चुका होता। उपदेश देने की शैली अत्यधिक सहज सरल है। तरह-तरह के दृष्टान्त, उदाहरण एव प्रमाणो को उद्धृत कर वे अपनी गूढ-से-गूढ बात को भी अत्यधिक सरल बना देते है। थोडा-सा भी ज्ञान रखने वाला श्रोता उनके उपदेशो का रस-पान करने मे पूर्णत. सक्षम हो सकता है। वैदिक संस्कृत, सस्कृत, प्राकृत एव पाली तथा हिन्दी के जो भी प्रमाण उन्होने दिये है और जिस प्रकार से उनकी व्याख्या की है उससे लगता है, उक्त भाषाओ पर उनकी पूर्ण पकड़ है। उपदेश के लिए उन्होने हिन्दी के जिस रूप को चुना है वह अपने आप मे पूर्ण विकसित तो है ही, सहज बोधगम्य भी है। इसीलिए आशा की जाती है कि प्रत्येक ज्ञान-पिपासु व्यक्ति इस ग्रथ से पूर्ण रूप से लाभान्वित हो सकेगा। निश्चय ही यह ग्रन्थ व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र को विकास की एक नई दिशा देने मे समर्थ हो सकेगा, ऐसी मुझे आशा है।

उपदेश सार-संग्रह

—जयपुर चातुर्मास की अनूठी उपलब्धि

समीक्षक : श्री जगत भंडारी

प्रस्तुत पुस्तक मे श्री १०८ देशभूषण जी महाराज के जयपुर चातुर्मास के प्रवचनो का सार संगृहीत किया गया है। प्रातः स्मरणीय, सकल गुण निधान, परमपूज्य, भारत गौरव, विद्यालंकार, धर्मनिष्ठ, स्वस्ति आचार्यरत्न, श्री १०८ आदि अनन्य उपाधियो से विभूषित देशभूषण जी महाराज का जीवन धर्म, स्वाध्याय, सदाचार, त्याग, सयम, सत्य, सकल्प, परोपकार, तप, विद्या, बुद्धि, विवेक और ज्ञान-तरंगो का असीम सागर है; यह निस्सन्देह इस पुस्तक को आद्योपान्त पढकर कहा जा सकता है। भक्तो के धर्मगुरु, जिज्ञासुओ के दिग्दर्शक, ज्ञानपिपासुओ के अक्षय निधि और सासारिको के मोक्षयान रूप मे सदा विराजमान महात्मा देशभूषण जी के अमृतकुण्ड रूपी मनोमय कोष से प्रसूत यत्र-तत्र बिखरे मणि-मानिको की भांति समार के अज्ञानतिमिर को तिरोहित करती उनकी प्रवचन-रश्मियो का प्रकाश-पुंज इस पुस्तक में दर्शनीय है।

मतवादो के दायरे से बाहर, धार्मिक वाद-विवादो से पृथक्, साहित्यिक एव भाषायी गुटबन्दियो से निरपेक्ष रह कर इस पुस्तक को निष्पक्ष समीक्षात्मक भावना की कसौटी मे कसने पर महात्मा देशभूषण जी उपरोक्त सभी विशेषणो के अधिकारी सिद्ध होते हैं। यह उनके तप, त्याग और स्वाध्याय का परिणाम भी है और उनके आराध्य का पावन प्रसाद भी।

अहिन्दी भाषी होते हुए भी हिन्दी मे इतने गूढ विषयो पर सरल, विमल व तर्कसंगत व्याख्यान वह महापुरुष ही दे सकता है जो स्वयं विवेक का पुंज हो। जैन सम्प्रदाय से सम्बन्धित होते हुए भी सभी भारतीय वेद, शास्त्र, पुराण तथा भागवत, रामायण, श्रीरामचरितमानस, श्रीमद्भागवत इत्यादि महान् ग्रन्थों से लेकर आधुनिक राष्ट्रकवि स्व० मैथिलीशरण गुप्त की कृतियों तक का अध्ययन, मनन व स्मरण करना उसी महापुरुष का कार्य हो सकता है जो स्वयं सरस्वती मा का वरद पुत्र हो। जैन धर्म से लेकर वैदिक धर्म, भागवत धर्म, वैष्णव धर्म, आर्यसमाज, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म, एकेश्वरवाद, बहुदेववाद, अवतारवाद, निर्गुण-सगुण आदि सभी धर्मों के गहरे अन्तस्तल तक वही महापुरुष पैठ सकता है जो सिन्धु के समान विशाल हो। साधु, ज्ञानी, गृहस्थ, व्यापारी, ठग, ठाकुर, चोर, जालसाज, न्यायाधीश, वकील, नेता, डाक्टर, अध्यापक, कामी, क्रोधी, लालची, मक्कार, याचक, वंचक, सरकारी नौकर, स्वामी-सेवक और शोषक-शोषित सभी के जीवन के यथार्थ का ज्ञान वही महापुरुष रख सकता है जिसका हृदय और मस्तिष्क पुष्प से भी कोमल हो और वज्र से भी कठोर। इस पुस्तक मे यह सभी कुछ देखा जा सकता है। इसलिए ये प्रवचन महान् साधु की विलक्षण प्रतिभा के विभिन्न अध्याय है।

पुस्तक मे विभिन्न विषयो से सम्बन्धित ८४ प्रवचन संगृहीत हैं। इन प्रवचनो मे जहा स्थान-स्थान पर जैन-सिद्धान्तो को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है वही 'सर्वधर्म समभाव' की मर्यादा का आद्योपान्त निर्वाह किया गया है। पुस्तक मे कही भी किसी धर्म पर आक्षेप नही किया गया है, अपितु उनकी विशेषताओ का बखान करते हुए अपने मत को प्रतिष्ठित किया गया है। इस प्रकार की शैली द्वारा प्रातःस्मरणीय श्री देशभूषण जी महाराज ने अपनी भावनाओ की प्रभावी प्रतिष्ठा भी कर दी और किसी अन्य धर्म पर कोई आक्षेप या कटाक्ष भी नही किया।

चाहे किसी भी प्रसंग के प्रवचन पढिये, मिलेगी बोलचाल की सुस्पष्ट चुटीली भाषा, सुविश्लेषित भाव, पौराणिक अथवा लौकिक व्यावहारिक कहानी-किस्से और नीतिशतक अथवा अन्य संस्कृत ग्रन्थो के श्लोक एव तुलसी, कबीर, सूर, मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं के अंश अथवा शेरो-शायरी। कही भी कोई भेद नही, कुछ भी त्याज्य नही···और इस समुद्र-मन्थन से हाथ लगते हैं ज्ञान के रत्न।

उदाहरण के लिए 'परोपकार' प्रसंग पर महाराज के प्रवचनो का अवलोकन करें (देखिये पृष्ठ २३०)। विषय की भूमिका बाधते हुए वे कहते हैं—"संसारवर्ती समस्त जीव मोहनीय कर्म से मोहित होकर न तो स्व-उपकार करते है न पर उपकार। मोहभाव के कारण उनको जब आत्मश्रद्धा ही नही है तो आत्महित की बात उनको सूझेगी भी कैसे।···" इत्यादि। अपनी इस गूढ बात को सामान्य बनाते हुए वे कहते हैं—"अपनी समझ से प्रत्येक प्राणी स्वार्थ-साधन मे लगा हुआ है, माता के ऊपर भी जब विपत्ति आती है तो अपने आप को बचाने के लिए अपने

पुत्र को भी अरक्षित छोड़ देती है'''इत्यादि। फिर परोपकार विषयक अपनी बात पर बल देने के लिए स्व० मैथिलीशरण गुप्त की कविता की निम्न पंक्तियां उद्धृत करते हैं—

> आभरण इस नर देह का बस एक पर-उपकार है,
> हार को भूषण कहे उस नर को शत धिक्कार है।
> स्वर्ण की जंजीर बांधे श्वान फिर भी श्वान है,
> धूलि धूसर भी करी पाता सदा सम्मान है।।

फिर इस पद का सरल भाषा मे अर्थ बता कर वे अपने मत की दृष्टि से विषय को बाधते हुए कहते हैं—"अर्हन्त भगवान् इसी कारण जगत्-पूज्य हैं कि अपने दिव्य उपदेश द्वारा समस्त जीवो को अनुपम लाभ पहुंचाते हैं। जनता से कुछ नही लेते'''" इत्यादि। फिर इस बात को सूक्ति मुक्तावली के इस श्लोक द्वारा स्पष्ट करते हुए प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं—

> "आयुर्दीर्घतर व पुर्वंरतर गोत्र गरीयस्तर।
> वित्त भूरितर बल बहुतर स्वामित्वमुच्चैस्तरम्।।
> आरोग्य विगतान्तर त्रिजगति श्लाघ्यत्वमल्पेतर।
> संसाराम्बुनिधि करोति सुतर चेतः कृपार्द्रान्तरम्।।"

इस श्लोक का अर्थ बताने के बाद देशभूषण जी महाराज शिशप गाव के मृगसेन धीवर और उसकी स्त्री घटा की कहानी सुनाते हैं कि किस प्रकार तपस्वी मुनि जयधन की बात मानकर वह धीवर बिना मछली पकड़े घर आया, किस प्रकार पत्नी के रोष से निष्कासित उसे मन्दिर में सर्प ने काटा, किस प्रकार उसकी पत्नी को भी उसी सर्प ने काटा और दोनो काल कवलित हुए। फिर मछली को जीवनदान देने के कारण किस प्रकार उज्जयिनी मे मृगसेन धीवर "सोमदत्त" बनकर आया और किस प्रकार उसकी स्त्री घटा "बिषा" नामक राजकन्या बनी, किस प्रकार सोमदत्त मृत्यु से चार बार बचा (क्योंकि उसने मछली को चार बार जल मे छोडकर जीवनदान दिया था) और बिषा से उसकी शादी होकर उसे राज्य, सुख और वैभव की प्राप्ति हुई।

इस एक ही प्रवचन के उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि परम श्रद्धेय देशभूषण जी महाराज सभी धर्म-शास्त्रो से सार ग्रहण करने मे सकोच नही करते और परस्पर ताल-मेल द्वारा अपने मत को प्रतिष्ठित करते हैं। उनका दृष्टिकोण उदार है और उन्हे "स्वधर्म" की लीक पर चलते हुए भी जगत् की व्यावहारिकता का सदैव ध्यान रहता है।

महाराज जी की विलक्षण प्रतिभा के दिग्दर्शन पृष्ठ दो पर "जैन धर्म प्राणी मात्र का धर्म" प्रसग मे भी होते है। अपने धर्म को प्राणी मात्र का धर्म सिद्ध करने के लिए उन्होने अन्य धर्मों के आचार्यों की भाति शब्द-जाल मे उलझाने की चेष्टा न करके अहिंसा परमोधर्म: कहकर जैन धर्म की मूल विशिष्टता का विश्लेषण किया। कबीर के निम्न दोहे को भी उन्होने स्थान देकर कहा—

> "हिन्दू कहता राम हमारा, मुसलमान रहमान हमारा।
> आपस में दोउ लड़ते मरते, मरम नहिं कोउ जाननहारा।।"

फिर वे कहते हैं—"'''किसी का भी धर्म श्रेष्ठ नही है। अहिंसा परमो धर्म:" इत्यादि।

"शक्ति अनुसार तप" (पृष्ठ १२४) विषयक प्रवचन मे प्रवक्ता महाराज की चुटीली व बोलचाल की भाषा का अच्छा समावेश है। पृष्ठ १२६ मे—"यदि कोई देव उपवास करना चाहे तो ''भोजन स्वयमेव हो जाया करता है।" अथवा उसी पृष्ठ पर अगले पैरा में—"'''अत: जिस तरह घोड़े को खिलाते-पिलाते रहो, नियन्त्रण-कंट्रोल न किया जावे तब तक इन्द्रियां भी'' इत्यादि" ऐसे अंश हैं जिन्हें साधारण पाठक भी आसानी से समझ कर तदनुरूप अभ्यास कर सकते है।

इसी प्रकार के अंश जो कि सर्वधर्म समभाव, 'अहिंसा परमो धर्म:' तथा एक मौलिक मानव-धर्म की अप्रत्यक्ष निदर्शना करते हैं, पुस्तक मे कई स्थलो पर देखे जा सकते हैं। पुस्तक सभी मानव-समुदायो के लिए उपयोगी है, यह निर्विवाद कहा जा सकता है।

श्री निर्वाण लक्ष्मीपति स्तुति

—अध्यात्म के अनन्त वैभव का फलक

समीक्षक : डॉ० राज बुद्धिराजा

श्री निर्वाण लक्ष्मीपति स्तुति कन्नड जैन वाङ्मय की अमूल्य निधि है जिसे सर्वसुलभ बनाया है आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषण जी विद्यालंकार ने। सभी जैन कृतियों की तरह प्रस्तुत कृति भी अध्यात्म के अनन्त वैभव और सौन्दर्य से परिपूर्ण है तथा कृतिकार साधना-तपस्या से अभिमंडित है। सांसारिक वैभव को तुच्छ समझकर सतत साधना द्वारा प्रदत्त अमूल्य उपलब्धियों को, वीतरागी सुजनोत्तम बोप्पण कवि ने, जनसाधारण में बांटकर अभूतपूर्व कार्य किया है।

२८ पद्यों वाला यह लघु स्तुति ग्रन्थ आचार्य श्री द्वारा अनूदित है। उनके अन्य अनूदित ग्रन्थों रत्नाकर शतक, अपराजितेश्वर शतक, भरतेश वैभव, भावनासार, धर्मामृत, योगामृत तथा निरंजन स्तुति में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह ग्रन्थ भेद-विज्ञान से प्रारम्भ होता है तथा ज्ञान, कर्म और उपासना की अनेकानेक सीढ़ियां चढ़ता हुआ जीव के भव्यरूप की परिकल्पना करता है। वस्तुतः इसमें जीव, ब्रह्म और संसार के स्वरूप का चित्रण किया गया है। जीव के अस्तित्व, ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता तथा संसार के गमनचक्र का वर्णन कर कृतिकार ने मानवीय अज्ञान-अंधकार को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया है। जीव की वस्तुस्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वह आत्म-अनात्म स्व-पर का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही ८४ लाख योनियों के जन्म और मृत्यु की वेदना को भोगते हुए केवल मानव-शरीर में ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जब तक जीव को 'स्व' का ज्ञान नहीं होता तब तक बाह्य सौन्दर्य-ऐश्वर्य में रमण करके अंतहीन पीड़ा भोगता रहता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि विद्या माया और अविद्या माया के चक्रों में फंसकर जीव स्वयं को भूल जाता है। कृतिकार बार-बार मानव का परिचय जीव के इस 'स्व' से कराते हैं जो अंधकार में विलीन हो गया है। मैं कौन हूं, कहां से और क्यों आया हूं आदि शाश्वत प्रश्न-सत्यों को उभार कर भेदविज्ञान को उत्तर रूप में प्रस्तुत किया गया है। भेदविज्ञान अर्थात् आत्म-अनात्म, सत्य-असत्य, अंधकार-प्रकाश, मृत्यु-अमृत, जीव-शरीर में भेद दृष्टि ही कालान्तर में मोक्ष का कारण बनती है। मोक्ष प्राप्त करने के लिए बंधनों का खोलना अत्यावश्यक है। जिस प्रकार जन्म और मृत्यु जीव के लिए बंधन का कारण है उसी प्रकार पाप और पुण्य भी बारी-बारी से जीव को बांधते रहते हैं। इसलिए निष्काम भाव से सभी कर्मों को करणीय बताया गया है।

नाना प्रकार के सत्यों में से एक शाश्वत सत्य व्यक्ति का सौभाग्य भी है। वही सौभाग्य जिसके आधार पर भविष्य अर्थात् परलोक निर्मित होता है। सौभाग्यशाली व्यक्ति केवल वही है जो अमृत-पान कर उसे पचाने की क्षमता रखता है। वह व्यक्ति भी कम भाग्यशाली नहीं है जो संयमित जीवन व्यतीत करता है। इन्द्रिय और मन पर अंकुश रखने से मानव तप का जीवन व्यतीत कर सकता है और यही तपश्चर्या उसे शाश्वत सुख प्रदान करती है।

जीव के स्वरूप का विवेचन करने के पश्चात् ग्रन्थकार ब्रह्म के विराट रूप का वर्णन करते हैं। ब्रह्म अनादि और सर्वशक्तिमान है। वही उत्पत्ति और विनाश का कारण है। उसकी लीला अपरम्पार है। पूजा, व्रत तथा उपवास से व्यक्ति ब्रह्म के ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। पूजा-उपासना भी प्रकारान्तर से मोक्ष का कारण है। व्यक्ति तब तक पूजा-ध्यान नहीं कर पाता जब तक उस पर गुरु की कृपा नहीं होती। वह ब्रह्म ही आदि गुरु है। उसकी अनुकम्पा से ही जीव आयु भोग और कर्मगत बंधनों से छूट पाता है। सत्य तो यह है कि इसी अनुकम्पा के बल पर जीव के पाश अपने आप खुल जाते हैं, अंधकार दूर हो जाता है और ज्ञान की किरणें विकीर्ण होने लगती हैं। उसका वह अज्ञान दूर हो जाता है जिसके प्रभाव से वह शरीर को आत्मा समझने की भूल कर बैठता है। जबकि शरीर का अन्त केवल भस्म है। वस्तुत ब्रह्म के अस्तित्व को जाने बगैर मनुष्य इहलोक के दुःखों से छूट नहीं सकता।

जीव और ब्रह्म का तत्त्वज्ञानपरक विवेचन करने के पश्चात् कृतिकार अत्यन्त आकर्षक और लुभावने संसार का दर्शन कराते हैं। संसार वह स्थल है जहां जीव संसरण या भ्रमण करता रहता है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त के अनेक सुख-मंगल और दुःख-व्याधि जीव इसी संसार में ही भोगता है। नाना प्रकार के भोगों को भोगकर शरीर को छोड़कर वह एक अनजाने लोक में चला जाता है जिसकी खोज में तपस्वी

और मनीषी अपने तन-मन को गला देते हैं। जीव एक स्थिति से दूसरी स्थिति मे कब, क्यो और कैसे चला जाता है यही जानने योग्य विषय है। कौन-सी घड़ी मे इसका शिशु रूप यौवन और वृद्धावस्था मे पहुच जाता है? किसी को भी नही मालूम। जीव और संसार के इसी आश्चर्य को समझने के लिए लेखक ने मानवमात्र के लिए कुछ आदेश दिये हैं जो परमावश्यक हैं। सत्पात्र को दान देना और व्रत-नियम-निष्ठा प्रमुख हैं। दान के लिए सत्पात्र का होना उतना ही आवश्यक है जितना निर्मल दुग्ध के लिए साफ-सुथरा और मंजा बर्तन। निरंतर व्रत-नियम का पालन करने से व्यक्ति को इसी संसार मे ही तत्वज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। वस्तुतः व्रत-नियम जीव पर अंकुश का कार्य करते हैं। इसी अंकुश नियन्त्रण से उसे ज्ञान होता है कि काया, लक्ष्मी और यौवन चंचल है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के अंत मे कवि शुभ, मगल, सत्य, अमृत और सुख की कामना करता है। वस्तुत यह ग्रन्थ अमूल्य है जिसमे जीव, ब्रह्म और संसार का वास्तविक स्वरूप निर्धारित है। भाव अपने आप मे इतने सुलझे हैं कि पाठक के मन पर कभी गहरी चोट कर जाते हैं और कभी हृदय को छू जाते हैं। भाव इतने सशक्त हैं कि स्वयमेव भाषा का वस्त्र पहनते चलते हैं। भाषा का कोष इतना समृद्ध है कि लेखक अपनी इच्छा से शब्दो की मुट्ठी भरता और बिखेरता रहता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ हिन्दी वाङ्मय को समृद्ध करता है।

गुरु-शिष्य प्रश्नोत्तरी

—शंकाओं का सहज समाधान

समीक्षक : डॉ० सुरेश गौतम

दिगम्बरत्व की शीर्षमणि, मानव की ऊर्ध्वमुखी चेतना के प्रतीक, चिरन्तन मानवीय मूल्यों के अक्षय महाकाव्य, अध्यात्म पुरुष, मनस्वी चिन्तक, तपोनिष्ठ बालब्रह्मचारी, ज्योतिपुरुष १०८ आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अलौकिक प्रतिभा के धनी हैं। जैन धर्म के अभ्युदयकर्ता इस पुण्यात्मा का श्री मुख सदैव स्वर्गिक शान्ति और तेज से देदीप्यमान रहता है। पारस मस्तिष्क के इस अद्भुत व्यक्तित्व ने भारतीय सभ्यता-संस्कृति के साथ-साथ सम्पूर्ण वाङ्मय का गंभीर एवं मर्मज्ञ दृष्टि से मंथन किया है। भविष्य के प्रति आस्थावादी मूल्यों को निर्भीकता देने वाले इस अनासक्त कर्मयोगी का व्यक्तित्व मानव-कल्याण के लिए समर्पित है। बहुभाषाविज्ञ इस तपोमुनि ने भारतीय साहित्य और लोक के भौतिक प्रश्नों को गहरे जा कर छुआ है। भारतीय अध्यात्म दर्शन के मरुप्रदेश में भटकता सामान्य जन इस बहुभाषी तपस्वी की कृपा और कठोर परिश्रम से ही उसका रसास्वादन कर सका है। संस्कृत, कन्नड, तमिल, बगला, गुजराती आदि भाषाओं के भक्ति साहित्य को हिन्दी में और हिन्दी के भक्ति साहित्य को अन्य भारतीय भाषाओं मे अनूदित कर इस मनीषी ने साहित्यिक-क्षेत्र मे भी क्रान्ति का बिगुल बजा दिया। लेकिन इस बिगुल में युद्ध का शखनाद नहीं, अपितु मानव-मात्र के लिए अहिंसा और शान्ति का सजीवन रस था जिसको पाने के लिए मानव सदैव तरसा-भटका है।

'गुरु-शिष्य प्रश्नोत्तरी' आचार्यचूडामणि, धर्मध्वजा रक्षक १०८ श्री देशभूषण जी महाराज विरचित एक ऐसा लघुग्रन्थ है जिसमे जीवन को निकट से जानने, उसका सदुपयोग कर सार्थक करने के लिए शिष्य ने गुरु से लोकव्यवहार और अध्यात्म के सामान्य और गम्भीर दोनों ही तरह के प्रश्न किए हैं और गुरु ने गम्भीर चिन्तन कर अपनी अमृतवाणी द्वारा शिष्य की जिज्ञासाओं का सार्थक समाधान किया है।

जीवन मे गुरु का सर्वोच्च स्थान है और शिष्य की जिज्ञासाएं अनन्त। उन जिज्ञासाओं-शंकाओं का शमन समर्थ और सच्चा गुरु ही कर सकता है। सन्त कबीर ने कहा भी है—

"गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूं पायँ।
बलिहारी गुरु आप जिन गोविन्द दियो बताय॥"

मोक्ष-प्राप्ति अथवा आत्म-प्राप्ति मार्ग बिना गुरु के प्राप्त नहीं होता। इसलिए कल्याण-मार्ग से यदि जीवन प्राप्त करना है तो गुरु के प्रति आत्मिक असीम श्रद्धा और गुरु का समर्थ और सच्चा होना जीवन की अनिवार्यता है। चर्चित ग्रन्थ में मूढ़ बुद्धि शिष्य गुरु के सामने अपनी प्रश्नात्मक जिज्ञासाएँ रखता है और आचार्य श्री गुरु के रूप मे उनका शमन करते हैं।

इस ग्रन्थ मे शिष्य द्वारा कुल १०३ प्रश्न पूछे गए हैं। पाप-पुण्य पर गम्भीर चिंतन है। लौकिक प्रश्नों में निर्धनता, पुत्र-प्राप्ति, कपूत-पुत्र संयोग, पूर्व जन्म से सम्बन्धित अनेक जिज्ञासाएं, कुमार्गगामी होना, माता-पिता से दुर्व्यवहार, सुपुत्री लाभ, खोटी-खरी स्त्री से समागम के कारण अपमान, कीर्ति, सुख-दुख, रोग-निरोग के प्रति शिष्य की जिज्ञासाएं जितनी स्वाभाविकता के साथ कही गई हैं उससे कहीं अधिक स्वाभाविक और गम्भीर विश्लेषण करते हुए गुरु के प्रभावशाली उत्तर हैं। सयम-नियम, लक्ष्मी, धर्म-अधर्म, निर्बल-सबल, भय-अभय की स्थिति जानने की बेचैनी जीव को इस ससार मे त्रस्त रखती है लेकिन गुरु के श्री मुख से उच्चरित उपदेश चंदन लेप बनकर उसकी संतप्त आत्मा पर लग जाता है। वह अनुभव करता है कि निस्सन्देह इस हाड़-मांस के बने जगत् मे गुरु की अमृत-वाणी जीवन के दिशा-सूचक यन्त्र का काम करती है।

शिष्य सभी जिज्ञासाओ व प्रश्नों का उत्तर एकदम खोज लेना चाहता है। गुरु के समक्ष पुनः प्रश्नों की झड़ी लग जाती है। वह उद्विग्न है जानने को पराधीनता, भाग्यहीनता, कुरूपता आदि किस पाप का फल है और गुरु जीवन के निचोड़ का मूलमन्त्र देता है —"वत्स! पूर्व भव के पाप के उदय से होता है यह सब।" शिष्य की उत्कण्ठाएं फिर भी शान्त नहीं होतीं। भाई-बहन, पति-पत्नी, मा-बाप, बेटी-बाप,

पुत्र-पिता, पुत्र-माता आदि मानवीय सम्बन्धों की गुत्थियों मे वह उलझ जाता है। गुरु शिरोमणि इस सांसारिक बंधनो की निस्सारता का उपदेश कर उसे मानसिक थपेड़ों के सागर से पार उतार ले जाता है।

शिष्य का सहज प्रश्न है—"हे गुरुदेव ! इस जीव को मनुष्य जन्म किस पुण्य के उदय से प्राप्त होता है ?"

गुरु उत्तर देता है—"हे भव्य शिरोमणि ! जिस जीव ने पर भव मे सरल भाव रखा हो, किसी जीव के प्रति द्वेष भावना न रखी हो, मन्द कषाय वाला हो, धर्म भावना सहित भद्र परिणामी हो, इत्यादि भावना से इस जीव को मनुष्य पर्याय मिलता है।"

"हे गुरुदेव ! यह जीव नरक मे किस पाप के उदय से जाता है ?"

"हे भव्य ! जिस जीव ने पर भव मे अनेक जीवो को सताया हो, क्रोध किया हो, जीव को दुःख दिया हो, मन मे मारने की भावना की हो, अभक्ष्य भक्षण किया हो, धर्मभावना से रहित हो, पाप भावना सहित हो, धर्म से द्वेष किया गया हो, धर्मात्मा को देखकर ग्लानि या उनका तिरस्कार किया हो, इत्यादि पाप के उदय से यह जीव नरक मे जाता है।"

जीवात्मा-परमात्मा का चिंतन निरन्तर चलता है। जीवन के उभय पक्षो को प्रस्तुत करने वाला यह लघु ग्रन्थ कोई मामूली ग्रन्थ नहीं है। सामान्य जीवन से जुडी अनेको भ्रान्तियो और जिज्ञासाओ को शान्त कर गुरु शिष्य को मोक्ष-मार्ग की ओर अग्रसर कर देता है। इससे अधिक जीवन की सार्थकता और हो भी क्या सकती है।

सरल बोलचाल की भाषा और प्रश्नोत्तर शैली मे लिखी यह कृति अनुपम है। जिस सजीवता से प्रश्नो का समाधान इस कृति मे किया गया है वह अपढ़ मे अपढ़ व्यक्ति के लिए भी बोधगम्य है। यह उपलब्धि कम महत्त्व की नहीं है, जबकि देश मे साक्षरता नाममात्र की हो। मानव-जीवन के अनन्त उलझे प्रश्नो व शकाओ का प्रस्तुत करने वाला यह लघुग्रन्थ वस्तुत एक मानसिक तृप्ति है। आध्यात्मिक-भोजन से भरपूर यह उसी प्रकार शान्ति देता है जैसे मरुप्रदेश मे भटकते भूखे-प्यासे किसी पथिक को अनायास जल प्राप्त हो जाए। इसीलिए यह अमूल्य, सग्रहणीय एव ऐतिहासिक महत्त्व का है।
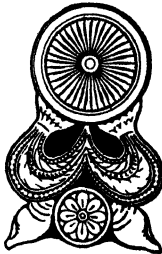
ढाई हजार वर्षों में श्री भगवान् महावीर स्वामी की विश्व को देन

—आत्म-विश्लेषण का शिलालेख

समीक्षक . डॉ० नरेन्द्रनाथ त्रिपाठी

हम २१वी सदी मे प्रवेश करने के लिए आतुर हैं किन्तु हम इस बात को नही देख रहे कि वह सदी अति वैज्ञानिक एवं अतियान्त्रिक होगी। फलत. सौहार्दपूर्ण वातावरण की सम्भावना कम होगी और सामाजिक, धार्मिक एवं अन्य संस्कृतियो के मलीन होने की सम्भावना बढ़ जायेगी। ऐसी स्थिति मे अपनी आत्मोन्नति एव मानव की चरमोन्नति हेतु आचार्य देशभूषण जी महाराज द्वारा सम्पादित 'ढाई हजार वर्षों मे श्री भगवान् महावीर स्वामी की विश्व को देन' पुस्तक पठनीय है।

महाराज जी ने सरल भाषा मे संस्कृत-उर्दू के कथनो द्वारा यह बताने का प्रयत्न किया है कि जैन धर्म की विश्व को क्या देन है। हिंसा किसे कहते हैं ? आज दुनिया जो भोग मे लीन है वह जीवन का परम लक्ष्य नही है। भारतीय जो सदैव अध्यात्मवादी रहे उन्हे भोग-लिप्सा से दूर रहना चाहिए, अन्यथा उन्नति के स्थान पर पतन ही होगा। इस पुस्तक मे भगवान् महावीर से सम्बन्धित अनेक घटनाओं का समावेश किया गया है जो जीवन के लिए प्रेरणास्रोत है। भगवान् महावीर के 'वचनामृत' आज भी उतने ही उपयोगी एवं प्रभावी हैं जितने आज से २५०० वर्ष पूर्व थे।

प्रस्तुत पुस्तक मे आचार्य जी ने उन सब कारणो को प्रस्तुत कर हमारी आखें खोलने का प्रयत्न किया है जिन कारणो से भारत का पतन हुआ। इस ओर भी सकेत किया गया है कि हमारा उत्थान किस प्रकार हो सकता है। हमे बलहीन किसने बनाया ? बचपन के सस्कारो का क्या प्रभाव होता है ? हमारी शिक्षा-दीक्षा कैसी हो ? आज शिक्षा हमे जिस प्रकार दिग्भ्रमित कर रही है वह किसी से छिपा नही है। अत. शिक्षा को यदि सही दिशा देनी है तो यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी। विभिन्न जैन धर्मावलम्बी राजाओ का संक्षिप्त जीवन-परिचय भी इस पुस्तक मे प्राप्य है। पुस्तक के अन्त मे सिहावलोकन के अन्तर्गत जैन धर्मावलम्बियो के योगदान एव उनके गुणो का वर्णन है। चरित्र निर्माण के लिए 'छादोग्य उपनिषद्' की कथा का उल्लेख भी किया गया है। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि परमपूज्य आचार्य देशभूषण जी महाराज द्वारा सम्पादित यह पुस्तक आबाल-गोपाल के लिए तो उपयोगी है ही, पिता, गुरु, नेता, धर्मगुरुओ एव आज की युवा पीढ़ी के लिए विशेषतया पठनीय है।

दश लक्षण धर्म

—सर्वजन हिताय ! सर्वजन सुखाय !

समीक्षक : डॉ० सतीश कुमार भार्गव

परमपूज्य आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषण जी महाराज क्रियाशील आचार्य हैं। वे चतुर्विध-संघ-मुनि-अर्जिका-श्रावक-श्राविका धर्म और धर्मायतनो की रक्षा के लिए अपने दायित्व को पूर्ण करने मे सदा सजग रहते हैं। उनकी सजगता का प्रमाण यह है कि वे सन् १९६४ में जयपुर से पावागढ की यात्रा के लिए जाने वाले थे। उन्हें समाचार मिला कि तीर्थराज सम्मेद शिखर जी के विषय में बिहार सरकार और श्वेताम्बर समाज के मध्य ऐसा समझौता हुआ है, जिससे दिगम्बर समाज के अधिकार समाप्त हो गये हैं और सम्मेद शिखर जी के दर्शनों तक के लिए दिगम्बरो को श्वेताम्बरों की कृपा पर निर्भर रहना पडेगा। यह बात दिगम्बर समाज के धार्मिक अधिकार और स्वाभिमान के विरुद्ध थी। ऐसे समय मे आचार्य देशभूषण जी ने घोषणा की कि यदि शीघ्र ही इस समझौते को रद्द न किया गया तो वे आत्मशुद्धि के लिए अनशन करेंगे। उनकी इस घोषणा से दिगम्बर समाज मे जागृति की लहर फैल गई। सरकारी क्षेत्रो के अनुरोध और आश्वासनो पर महाराज को अनशन स्थगित करना पडा।

आचार्य महाराज सरस्वती माता के अनन्य भक्त हैं। वे अपने खाली समय का सदुपयोग साहित्य-सृजन, अध्ययन और चिंतन मे ही करते हैं। उन्होने सन् १९६५ मे दिल्ली चातुर्मास मे पर्युषण पर्व मे जो प्रवचन दिये थे उनका सकलन 'दश लक्षण धर्म' पुस्तक मे किया गया है। आचार्य महाराज ने दश लक्षण धर्म की व्याख्या अपने प्रवचनो मे कथा-कहानी के माध्यम से बडे रोचक ढंग से की है।

१. **उत्तम क्षमा धर्म**—क्षमा वीरो का आभूषण है। इसी से व्यक्ति को अमर पद मिलता है। असत्य से सत्य की ओर जाने पर अमर पद की प्राप्ति होती है। विवेकी पुरुष को क्रोध से दूर रह कर केवल शाति से काम लेना चाहिए। क्रोध पिशाच की भांति है और इसे केवल क्षमा से जीता जा सकता है। अक्रोध क्षमा का एक रूप है। क्षमा के द्वारा व्यक्ति की अपनी हानि नही होती बल्कि क्रुद्ध व्यक्ति का उत्तेजित मस्तिष्क शात हो जाता है। गृहस्थ श्रावक को आवश्यकता पडने पर क्रोध के द्वारा अन्याय का प्रतिकार करना चाहिए। वैसे हर एक को यह याद रखना चाहिए कि मेरा अक्रोध स्वभाव है।

२. **उत्तम मार्दव धर्म**—मार्दव का अर्थ मृदुता या कोमलता है। अभिमानी मनुष्य का मन अपने अंह मे इतना कठोर हो जाता है कि वह अपने समक्ष किसी को कुछ गिनता ही नही। अहंकार और ममकार (माया और लोभ) प्राणी के सबसे बड़े शत्रु हैं। व्यक्ति को अपनी आत्मिक उन्नति के लिए मद या अभिमान को छोड़कर अपने स्वभाव में कोमलता लानी चाहिए।

३. **उत्तम आर्जव धर्म**—आत्मा का स्वभाव सरलता है। मायाचार हमे संसार मे फंसाता है किन्तु हमे यह याद रखना चाहिए कि हमे सिद्धालय पहुचना है। दश लक्षण धर्म आत्मा की कुटिलता या मायाचार को छोडकर उसे ऋजु पथ पर ले जाते हैं। मन, वचन, काय से एकरूपता रहने पर ही यह कुटिलता दूर हो सकती है।

४. **उत्तम सत्य धर्म**—सत्यमेव जयते अर्थात् ससार मे सत्य की जय होती है। आत्मा का धर्म सत्य है और यही जैन धर्म है। महान् तीर्थंकरो ने हमेशा सत्य के अदर मग्न होकर इसका उपयोग किया है। प्रत्येक मानव को भी यथासम्भव सत्य का व्यवहार करना चाहिए। इसी से उसे पंचेन्द्रिय सम्बन्धी सुख प्राप्त होते हैं।

५. **उत्तम शौच धर्म**—शौच धर्म आत्मा का स्वभाव है। आत्मा शुद्ध दर्शन ज्ञान चैतन्य रूप है। ऐसे निर्मल आत्मा का सम्पूर्ण पर वस्तु को मन वचन काय मे त्याग कर ध्यान करना ही शौच है। व्यवहार में लोभ का त्याग करना भी इसका एक रूप है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र से आत्मा मे शुचिता आती है। श्रावक को आत्मा मलिन करने वाले लोभ कषाय का परित्याग करना चाहिए।

६. **उत्तम सयम धर्म**—संयम दो प्रकार का होता है—इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम। पाचों इन्द्रियो को काबू मे रखना इन्द्रिय सयम कहलाता है। सयमी जीव सदा सुखी जीवन व्यतीत करता है। इसी से आत्मा की उन्नति होती है।

७. **उत्तम तप धर्म**—संयम पालन करने पर ही तप किया जा सकता है। तप द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है। प्राणी को सम्यक् तप द्वारा 'पर' से रुचि हटाकर आत्म-रुचि जाग्रत करनी चाहिए। इसी से उसका कल्याण होता है।

८. **उत्तम त्याग धर्म**—अनादि काल से यह जीव स्व को भूलकर पर-द्रव्य को ग्रहण करता रहा है। जिन वाणी को सुनने के बाद मन में त्याग की भावना प्रबल होती है। त्याग दो प्रकार का होता है—एकदेश त्याग और सर्वदेश त्याग। इनमे से पहला गृहस्थों के लिए है, दूसरा साधुओं के लिए। ससार मे त्यागी महान् होता है। अत. प्राणी को त्याग धर्म का निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए।

९ **उत्तम आकिंचन्य धर्म**—आकिंचन्य का अर्थ है—मैं अकिंचन हूं। पदार्थ परिग्रह नही है बल्कि पदार्थ मे ममता परिग्रह है। हर एक को यह याद रखना चाहिए कि उसे इस ससार से जाना है। अतः उसे त्याग करते रहना चाहिए। मंदिर में नित्य दर्शन के लिए जाना, दान करना तथा गुरु भक्ति करने से मन वासनाओ से दूर हो जाता है और उसमे आकिंचन्य भावना की लौ सदा प्रज्वलित रहती है।

१० **उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म**—अपनी आत्मा मे रमण करना ब्रह्मचर्य है। यह दो प्रकार का होता है। सम्पूर्ण कर्म की निर्जरा करके, अपने स्वरूप में लीन होकर जो सिद्ध पद प्राप्त करता है उसे ब्रह्म या सिद्ध कहते हैं। व्यवहार मे स्वस्त्री और परस्त्री का त्याग करके अपने आत्मसाधन मे लीन रहना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मज्योति के झलकने से दूसरे विकारो का स्वत. दमन हो जाता है। इसके पालन से व्यक्ति निरोगी, कांतिवान्, विद्यावान् होता है तथा उसकी स्मरण शक्ति भी विकसित होती है।

उक्त दश लक्षण धर्म का पालन करने वाले व्यक्ति के मन मे भगवान् के धर्म का सदा वास होता है। इससे प्रेरणा पाकर मानव स्वयं अपना ही नही बल्कि अन्यो का भी कल्याण करता है। पर्व की भाति नित्य ही शुद्ध आहार और जल लेने पर व्यक्ति एक ओर रोगो से मुक्त होता है और दूसरी ओर उसे पुण्य लाभ भी मिलता है। आचार्य के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को दश-लक्षण-धर्म का पालन करना चाहिए, जिससे एक ऐसे मानव-समाज का विकास हो सके, जिसमे एकता हो और सभी लोग सुखी रह सकें।

नर से नारायण

—मुक्ति का सूत्र

समीक्षक श्री गुरप्रसाद कपूर

जैन धर्म का अभ्युदय अहिंसा, मानवता, प्यार, दया, करुणा और ज्ञान-चेतना के अखण्ड प्रकाश को जन-जन तक पहुचाने के लिए हुआ है। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने अपने गम्भीर अध्ययन और दार्शनिक विचारो से जैन समाज का ही नही, ससार के समस्त प्राणियों का जो उपकार किया है वह वन्द्य है। महान् कर्मयोगी ने अपनी अलौकिक अनुभूतियो से साधारण शब्दो के माध्यम से वर्ग या भाषा की दीवार से ऊपर उठ राष्ट्र के निर्माण मे जो योगदान दिया है उसे कोई भी सहृदय कैसे भूल सकता है। अनेक भारतीय भाषाओ के अतिरिक्त विदेशी भाषाओ पर भी इनका अधिकार इनकी भावधारा को बडी सरलता से अन्त स्थल तक पहुचाने मे समर्थ है। जहा-जहा आपके चरण पडे वहा-वहा पावन तीर्थ का सा दृश्य उपस्थित हो गया। आपके दर्शनो से जन-जन ने अपने जीवन को धन्य समझा।

पदयात्रा से जनसाधारण के समीप पहुच व प्राचीन तीर्थों का जीर्णोद्धार कर आपने जैन धर्म की भावना को समृद्ध बनाया है, अपने विचारो से 'भारत के लालो' को 'जीना और जागना' सिखाकर अपने कर्त्तव्य-बोध का सुन्दर परिचय दिया है। ये विचार पुस्तक के आकार मे हमारे सामने मार्ग-दर्शन का कार्य बडी कुशलता से करते रहेगे, ऐसा प्रत्येक पाठक का विचार है। प्रस्तुत पुस्तक 'नर से नारायण' भी एक अनुपम विचारमाला है। इसके अध्ययन से जैन साहित्य व सस्कृति के ज्ञान के साथ-साथ जैन धर्म का सम्यक् ज्ञान बडी सरलता से हो जाता है। आत्मशुद्धि और चरित्र-निर्माण की दिशा मे आचार्य देशभूषण जी के विचार पाठकों के मर्म पर बडी खूबी से चोट करते है। कुरीति, झूठी तडक-भडक और कामुक वेशभूषा के अतिरिक्त आपने स्त्री के आभूषण-मोह को खुले शब्दो मे ललकारा है। अधविश्वास के अधेरे से निकलकर कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होने का सन्देश सभी को अभीष्ट होना चाहिए। यह क्षणिक और नश्वर जीवन लोभ, मोह और काम की आग मे दिनो-दिन हमारे अस्तित्व को राख कर देने मे लगा है और इधर हम है कि विवेक और ज्ञान को पाव तले रौंद रहे है। परिणाम बडा भयंकर है—जन्म-मरण का चक्र। वस्तुत. भौतिक सुख ही हमारी दुर्दशा के कारण है। इनसे छुटकारा पाना यद्यपि सरल नही है किन्तु प्रभाव को कम कर हमे अपने भावी जीवन को सुखमय बनाना चाहिए। शक्ति-परीक्षा यदि करनी है तो अखाडे मे नही वरन् व्यसनो से मुक्ति पाने मे हो।

पूर्व कर्म और अच्छे सस्कारो से भगवद्-भक्ति को बल मिलता है और भगवद्भक्ति ही मोक्ष-प्राप्ति का एकमात्र साधन है। भगवद्-भक्ति केवल ईश्वर-भजन, जप-तप तक ही सीमित नही है। इसकी विशाल सीमा या काया का निर्माण शुद्ध दैनिकचर्या, नैतिक आचार-विचार, ब्रह्मचर्य पालन, अहिंसा, प्यार, दया, करुणा आदि सात्विक विचारो द्वारा हुआ है। इन विचारो पर आस्था ही ईश्वर-भक्ति है। सामान्य जन को 'अति गृद्धतापूर्वक' विषय भोग न करने का सुझाव ईश्वर-भजन की प्रथम सीढी है। निरतर अच्छे उद्यम करने से एक दिन साधना साध्य के समीप पहुचा ही देती है। इसीलिए जीवन मे उद्यम का स्थान 'पर्व' से कम नही। किन्तु यह उद्यम 'सत्वेद्रिक' होना चाहिए। विवेक ज्ञान भी भगवद्भक्ति का छोटा भाई समझना चाहिए। इस तरह नर (मानव) के जीवन को किस तरह नारायण तुल्य अथवा उस नारायण के समक्ष खडा करने मे यह पुस्तक प्रभावशाली बन पडी है इसे केवल पढने के बाद ही जाना जा सकता है। यही इस पुस्तक का उद्देश्य है। यही देशभूषण जी का 'बीजमन्त्र' है।

भाव-गरिमा के साथ-साथ इसकी प्रतिपादन शैली बडी मार्मिक और सुबोधगम्य है। भाषा सरल और बोध-साध्य है। गूढ और अगम्य विचार-माला पाठक के मन और बुद्धि को एक बार तो झकझोर ही देती है। पाडित्यप्रदर्शन या अह की भावना आचार्य देशभूषण जी के विचारो से बहुत दूर और बहुत दूर है।

अन्त मे परम सिद्ध तपस्वी महान् नर रूपी नारायण श्री देशभूषण जी महाराज के चरण कमलो मे मैं अपनी पूर्ण आस्था के सुमनो की वर्षा कर अपने जीवन को धन्य समझूगा। निश्चय ही कुछ क्षणो के लिए उनके विचारो से मैं झकृत हो अपनी 'मैं' महिमा को भूल तद्रूप हो गया था।

चौदह गुणस्थान चर्चा कोष

—गृहस्थियों की दैनिक चर्या का विश्लेषक

समीक्षक · श्री सुनील कुमार

प्रस्तुत प्राचीन, उपयोगी, अनुपलब्ध पुस्तक को अपने विहारकाल के अन्तर्गत पूज्य आचार्य श्री १०८ देशभूषण जी महाराज ने फर्रुखनगर (जिला गुड़गाव) के मन्दिर जी के शास्त्रभंडार मे उपलब्ध कर इसका सरल सुबोध हिन्दी भाषा मे अनुवाद किया है। जैन सिद्धातो के जिज्ञासुओ तथा सैद्धान्तिक चर्चा-प्रेमियो के लिए यह ग्रथ बहुत उपयोगी प्रमाणित है। गोमट्टसार, त्रिलोकसार, तिलोयपण्णत्ति, आचारसार, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, समयसार आदि अनेक ग्रन्थो से सार खीचकर इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है. अत. स्वाध्याय प्रेमियो के लिए यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ अनेक प्रकार की चर्चाओ का सुगम कोष है। पूज्य आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज जिनवाणी के उद्धार तथा प्रचार मे जो चिरस्मरणीय ठोस कार्य कर रहे है उसमे यह ग्रथ भी अभूतपूर्व है। तपोनिधि, बहुभाषाविज्ञ आचार्य श्री देशभूषण जी भारतीय-साहित्य के गम्भीर अध्येता एव मर्मज्ञ विद्वान् है। इस भविष्यद्रष्टा, अनासक्त कर्मयोगी ने राष्ट्र के रचनात्मक निर्माण और उत्तर एव दक्षिण के रागात्मक सम्बन्धो को विकसित करने के लिए विभिन्न भारतीय भाषाओ के ग्रन्थो को हिन्दी मे अनूदित किया है।

आचार्य श्री देशभूषण जी ने जहाँ एक ओर प्राकृत एवं जैनविद्या के अध्ययन-अध्यापन एव शोध को विश्वविद्यालय स्तर पर पर्याप्त आगे बढाया वही लुप्त-विलुप्त एव अनुपलब्ध जैन-साहित्य की खोजकर उसके उद्धार मे अपना सारा जीवन लगा दिया। शील, स्वास्थ्य, सुदीप्त दीर्घ शरीर, निरभिमानता, कर्तव्यनिष्ठा, आत्मतोष, मधुरवाणी आदि सद्गुण उन्हे कुल-परम्परा से ही प्राप्त है। लोकप्रियता एवं सांस्कृतिक सुरुचि का उनमे अपूर्व सगम है। उनका जीवन वस्तुत. अनेक प्राचीन अप्रकाशित ग्रन्थो के जीर्णोद्धार का प्रामाणिक इतिहास है। एक दिगम्बर सन्त के रूप मे जीवन व्यतीत करते हुए भी आप अत्यन्त उदार एव सहृदय है। भारत एव विश्व के सभी धर्मों के प्रति उनके मन मे समादर भाव है। उन्होंने प्राय सभी धर्मों के प्रमुख ग्रन्थो का गम्भीर अध्ययन किया है। इसीलिए उनकी पवित्र वाणी मे सभी धर्मों के सिद्धान्तो एव आदर्शों का समावेश पाया जाता है।

आचार्य श्री द्वारा सगृहित प्रस्तुत पुस्तक मे श्री चौदह गुण स्थान का वर्गीकरण गणित व सांख्यिकी दृष्टि से किया गया है।

हमारा दैनिक जीवन अच्छी-बुरी क्रियाओं से सवलित है। क्रिया-कुशल श्रावक-श्राविका प्रशस्त क्रियाओ मे स्वय को नियोजित करते हैं तथा उपयोग और विवेक से यत्नपूर्वक गृहस्थ सासारिक कार्यों को करते हुए दुष्ट व अप्रशस्त क्रियाओ से अपने को बचाते है।

इस पुस्तक के प्रारम्भ मे चौबीस ठाणा यन्त्र का विशेष भेद जैसे गति, इन्द्रियकाय, योग, वेद कषाय, ज्ञान सयम, दर्शन, लेश्याभव्य, सम्यक्त्व, सज्ञी, अहारक इत्यादि का सांख्यिक विश्लेषण उद्धृत किया गया है। इसी प्रकार स्फुट विषयो जैसे द्रव्य, पदार्थ, प्रतिमा व्रत, अणुव्रत, अनुप्रेक्षा, भावना, तप, मूलभाव की विशेष व्याख्या की गयी है। इन विषयों का वर्गीकरण क्रम रूप मे किया गया है जिसके अन्तर्गत मध्यलोक के ४५८ अकृत्रिम चैत्यालय, १६ मतिज्ञान के ३३६ भेद शील के १८००० भेद, परमाद के ३७५०० भेद, गुण श्रेणी निर्जरा, स्थान ग्यारह प्रकार, गुणस्थानो मे चढने, उतरने, मरण करने का मार्ग, केवली समुद्घात के समय, सख्या, अवस्था, गोत्र के प्रकार, एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक जीवो की उत्कृष्ट तथा जघन्य अवगाहना का कोठा के प्रकार का सुन्दर वर्णन मिलता है। इसी प्रकार चौबीस स्थानो का प्रमाण उत्तरोत्तर असख्यात, असख्यात स्थान बीतने पर अधिक-अधिक है उन चौबीस स्थानों के नाम, छह प्रकार के आहारो की व्याख्या, तीन प्रकार की सम्यग्दृष्टियो की सख्या का प्रमाण उत्तरोत्तर अधिक-अधिक प्रकार जैसे उपशम सम्यग्दृष्टि, क्षायक सम्यग्दृष्टि, क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि का वर्णन बताया गया है। चार गतियो मे जब जीव जन्म लेता है तब कौन-सी गति मे पहले समय मे कौन-सी कषाय का उदय होता है? चार गतियों मे चार कषायो के काल का वर्णन है। जिन पूजा के भेद, छह प्रकार की पूजा जैसे नाम पूजा, स्थापना पूजा, द्रव्यपूजा, भावपूजा, क्षेत्र पूजा तथा काल पूजा का विस्तृत विवरण मिलता है।

प्रस्तुत पुस्तक मे पुण्य-पाप के ८६ भग, पर्याय जीवों की जघन्य अवगाहना दृष्टान्त सहित, लौकिक गणित के भेद, आचार के पांच भेद,

पुद्गल की १० पर्यायें और उनकी ३१ उत्तर पर्याय, जो जीव आहार करते हैं परन्तु निहार (मल-मूत्र) नही करते उन जीवों के नाम जैसे तीर्थंकर, बलभद्र, नारायण, चक्रवर्ती, युगलिया मनुष्य इत्यादि, किस जीव समास मे कौन-सा समुद्घात होता है और उसका स्पर्शन क्षेत्र कितना है इन सभी बातो का अच्छा वर्णन है। इसमे श्वेताम्बर जैन आम्नाय और दिगम्बर जैन आम्नाय मे ८४ प्रकार के मतभेदो का वर्णन भी मिलता है। इतने अधिक मतभेद अन्यत्र किसी भी पुस्तक मे वर्णित नही किये गये हैं।

गृहस्थियों की दैनिक चर्या का अच्छा उत्तर वर्णन मिलता है, जैसे गृहस्थियो को कहा-कहां स्नान करना चाहिए, रसोई का बर्तन व पानी का बर्तन किस-किस को नहीं देना, दिया भी गया हो, तो किस-किस विधि से बर्तन की शुद्धि करना। नक्षत्रो, व्यन्तर देवो, कल्पवासी व कल्पातीत देवों का भी वर्णन मिलता है। वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों का, विदेह क्षेत्र के २० विहरमान तीर्थंकरो के नाम, चक्रवर्तियो का, नौ नारायणों का, बलभद्रो का, नौ प्रतिनारायण का, चौदह कुलकरो का, ग्यारह रुद्रो का, नौ नारद का अतिसुन्दर वर्णन मिलता है। मुनि महाराज के आहार लेने सम्बन्धित आचार-नियमो का भी प्रस्तुत पुस्तक मे सुन्दर वर्णन मिलता है।

आचार्य श्री द्वारा संगृहित प्रस्तुत पुस्तक जैन सिद्धान्तो के जिज्ञासुओं तथा सैद्धान्तिक चर्चा-प्रेमियो के लिए बहुत ही उपयोगी है। इसी तरह का नवीन प्रयास, अनुपलब्ध ग्रन्थो की खोज व सगृहित करने के लिए हमारे जैन विद्वानो व मुनि, साधुवर्ग को आगे आना चाहिए। हस्तलिखित अप्रकाशित ग्रन्थो की विवरणात्मक सूचियाँ तैयार कराई जाए। इस दिशा मे कुछ कार्य हुआ है, जिससे अनेक नवीन ग्रन्थों की जानकारी प्राप्त हुई है, फिर भी लाखो ग्रन्थ अभी अछूते ही पडे है। क्या ही अच्छा हो कि जैन विद्वन्मण्डली व प्राध्यापक अपने निकटवर्ती प्राचीन शास्त्र-भाण्डारों मे जीर्ण-शीर्ण हो रहे इन हस्तलिखित ग्रन्थो की सूचियाँ तैयार करे तथा शोधपत्र-पत्रिकाओ के माध्यम से उनका प्रकाशन करें। संस्कृत, प्राकृत एव अपभ्रंश के जिन ग्रन्थों मे प्राकृत-भाषा एवं जैन विद्या के अज्ञात अथवा अप्रकाशित पूर्ववर्ती ग्रन्थ एव ग्रन्थकारो के उल्लेख मिलते हैं, उनकी सन्दर्भ सहित एक सूची प्रकाशित-प्रचारित की जाय तथा प्राचीन शास्त्र-भाण्डारो मे उनकी खोजबीन की जाए। यह कार्य यद्यपि कठिन है तथापि साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से अत्यावश्यक है।

णमोकार-मन्त्र-कल्प

—आत्मिक सुख और मोक्ष-लाभ का संदेशवाहक

समीक्षक . श्री युगेश जैन

सुदूर अतीत से निरन्तर विकासमान श्रमण-संस्कृति-परम्परा के अनुपम रत्न आचार्य श्री १०८ देशभूषण जी महाराज के तप: पूत व्यक्तित्व के चरणो मे सभी व्यक्ति अनायास नतमस्तक हो जाते हैं। सरस्वती के वरद् पुत्र आचार्य जी ने संस्कृत, तमिल, कन्नड आदि अनेक भारतीय भाषाओं के भक्ति-साहित्य तथा सिद्धान्त-ग्रन्थों को हिन्दी मे अनूदित करके उत्तर-दक्षिण भारत के रागात्मक सम्बन्धो की वृद्धि मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। आचार्य जी की पुनीत प्रेरणा से अनेक धर्म-ग्रन्थों का प्रणयन तथा अनुवाद सम्पन्न हुआ है। इन्ही ग्रन्थो की परम्परा मे अन्यतम कृति है—'णमोकार-मन्त्र-कल्प'

आद्य वक्तव्य के अनुसार इस संग्रह-ग्रन्थ की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति ला० मनोहर लाल जौहरी (पहाडी धीरज, दिल्ली) ने पूज्य आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज को अवलोकनार्थ दी थी। महाराज जी की प्रेरणा से यह महत्त्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित होकर सर्व-सुलभ हो गई है।

पुस्तक के आरम्भ मे मथुरा-संग्रहालय-स्थित स्तूपद्वार पर विभूषित पचपरमेष्ठी-मन्त्र का चित्र प्रदर्शित है। अन्यत्र, प्राचीन आयाग-पट्ट के मध्य स्थित मंगल-पाठ का चित्र भी प्रकाशित है। प्रस्तुत संग्रह-ग्रंथ के मुख्य विषय निम्नलिखित हैं।

जैन-रक्षा-स्तोत्रम्

इस स्तोत्र के २२ पद्यो मे चौबीस तीर्थंकरो से प्रार्थना की गई है कि वे भक्त के विभिन्न अंगों मस्तक, सिर, नेत्र, नाक, जिह्वा, कान, गरदन, हाथ, हृदय, पेट, नाभि, कमर, जंघा, घुटनो आदि की रक्षा करें। तदनन्तर स्तोत्र-पाठ की विधि बताई गई है और स्तोत्र के महत्त्व का वर्णन किया गया है।

द्वितीय जैन-रक्षा-स्तोत्रम् (वज्रपंजरकवचम्)

इसमे चौबीस तीर्थंकरो का स्मरण करके उनसे सभी अंगों की रक्षा के लिए प्रार्थना की गई है। इस स्तोत्र का पाठ करने वाला व्यक्ति चिरायु, सुखी तथा आधि-व्याधि-मुक्त होकर विजयी होगा। वह पापो से लिप्त नही होता और उसे सभी सिद्धियो, भोगो तथा मुक्ति की प्राप्ति होगी।

रक्षा-मन्त्र

इसमे आपदा-नाशन-मन्त्र, सर्वरक्षा-मन्त्र, ऋषभ-देव-रक्षा मन्त्र तथा आत्म-रक्षा-मन्त्र दिए गए हैं।

पंचपरमेष्ठी स्तोत्रम्

आरम्भ मे 'पंचपरमेष्ठी-स्तोत्रम्' मे पांच परमेष्ठियों का वर्णन किया गया है। पच महाव्रतों का पालक, तपस्या में लीन, आहार तथा जल मे विवेकशील, देह एवं भोगो से विरक्त तथा २८ मूल गुणो का धारक व्यक्ति मुनि कहलाता है। जो स्वयं ११ अंगो और १४ पूर्वों को स्वयं पढ़ते हो और दूसरों को पढ़ाते हों, वे उपाध्याय कहलाते हैं। निर्विकल्प समाधि के धारक तथा आत्मानुभव रूपी अमृत का अवगाहन करने वाले साधक आचार्य विवेक की अजलि द्वारा ज्ञान का आस्वादन करते हैं।

घाति कर्मों का क्षय करके अघाति कर्मों को जली हुई रस्सी के समान करने वाले तथा ४६ गुणों से युक्त महापुरुष 'अर्हंत्' कहलाते हैं तथा वे सम्यक्त्वादि अष्टगुणों से युक्त होकर संसार के आवागमन से मुक्त हो जाते हैं और सिद्ध-पद प्राप्त करते हैं।

पंच-परमेष्ठी-स्वरूप-वर्णन के अनन्तर सम्यग्ज्ञान का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। सम्यग्ज्ञानी जीव उन्ही कार्यों मे स्वानुभव-परिणति द्वारा कर्म-निर्जरा प्राप्त करता है जिनसे अज्ञानी रागान्ध होकर 'बन्ध' को प्राप्त करता है, अत मिथ्यात्व रूपी विष को त्याग कर सम्यक्त्व रूपी अमृत का पान करना चाहिए।

श्री पंच नमस्कृतिस्तवनम्

इसमे पंच नमस्कार-मन्त्र की स्तुति करके इसका महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। यह मन्त्र अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करके संसार के मायाजाल को छिन्न-भिन्न करता है। स्वयम् अष्ट सिद्धियो का धारक यह मन्त्र साधक को अनन्त सिद्धिया प्रदान करता है। राजा आदि अन्य व्यक्ति तो अनुकूल होने पर ही भुक्ति (भोग) देते है परन्तु यह मन्त्र उल्टा पढने पर भी मुक्ति देता है। इस अद्भुत राजा की फूत्कार (फूंक) से ही शत्रु भाग जाते हैं। अणिमा, महिमा आदि सिद्धिया इसम निहित हैं। इसके प्रयोग से धूलि-कण भी समार का निर्माण कर लेते हैं।

जो नवीन साधक इस मन्त्र का जाप करता है, वह सभी विघ्नो का विनाश करके ससार-सागर को पार कर लेता है और परम शान्ति को प्राप्त करता है। इसके स्मरण से कर्म-ग्रन्थि नष्ट होती है, बिजली, जल, अग्नि, राजा, सर्प, चोर, शत्रु, महामारी आदि के भय दूर हो जाते हैं और इच्छित फल प्राप्त होते हैं। इसकी विधिपूर्वक आराधना करके इसके एक लाख जाप द्वारा उदारबुद्धि व्यक्ति पापो से मुक्त होकर 'अर्हत्' पद प्राप्त करता है। यह ऐहिक (सासारिक भोगो) फलो के इच्छुक व्यक्तियो के लिए आठ कर्मों का बन्ध करता है और मोक्षार्थी व्यक्ति के लिए आठो कर्मों का विनाश करता है। यह १४ पूर्वों का पुज, सम्पूर्ण विद्याओ की आद्य-विद्या तथा बीजाक्षरो का उद्गम है। मृत्यु के समय क्षण भर भी इसका ध्यान करके जीव सुगति प्राप्त करता है। यह मन्त्र चमत्कारी है। इसके प्रभाव से श्रेष्ठिनन्दन ने स्वर्ण-पुरुष की सिद्धि की, महासती सोमा के लिए घडे मे रखा हुआ साप भी माला बन गया, श्राद्धपुगव ने मातुलिग-वन के अमर को नमस्कार-मन्त्र से सम्बोधित करके अपने और दूसरों के प्राण बचाए, हुडिक यक्ष बन गया, चण्ड पिंगल कुलीन बना और सुदर्शन ने सुदर्शन वन मे गुण-गरिमा को प्राप्त किया।

यह मन्त्र माता, पिता, गुरु, मित्र, वैद्य है तथा प्राणरक्षक है। इसका प्रभाव वाणी आदि इन्द्रियो द्वारा अवर्णनीय है।

नमस्कार-कमणिका

इसमे भगवान् शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ आदि तीर्थंकरो की वन्दना करके श्रेष्ठ साधुओ, भगवती शारदा और गणधर गौतम को नमस्कार किया गया है। मूलसंघ के भवन को प्रकाशित करने वाले दीपक के समान मुनीश्वर पद्मनन्दी जैन-शासन के लिए सूर्य थे। इसी पट्ट-परम्परा मे श्री जिनचन्द्र, श्री शुभचन्द्र, मुनि सिहकीर्ति, श्री धर्मकीर्ति, मुनि सुशीलभूषण, मुनि ज्ञानभूषण, मुनि जगद्भूषण तथा मुनि श्री विश्वभूषण हुए। मुनि श्री विश्वभूषण तीर्थंकर भगवान् सम्भवनाथ की पूजा-प्रतिष्ठा के लिए किसी पवित्र नगर मे गए और वहा उन्होने भगवान् की प्रतिष्ठा कराई। उनके नाम, गुणो तथा पवित्र मन्त्र का स्मरण हम नित्य करते है।

पचनमस्कारस्तोत्रम्

श्री उमास्वामि-कृत इस स्तोत्र मे मन्त्रराज 'णमोकार मन्त्र' की वन्दना की गई है। यह मन्त्र कर्मराशि का विनाशक है और ससार-रूपी पर्वतो के लिए वज्र के समान है। यह चराचर-जगत् के लिए सजीवन है और स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति मे उत्पन्न सभी विघ्नो को दूर करता है। यदि तराजू के एक पलडे मे इस मन्त्र को रखा जाए और दूसरे पलडे मे तीनो लोको को रखा जाए तो भी इस पंचपरमेष्ठी-मन्त्र का पलडा अधिक भारी रहेगा। जो व्यक्ति उठते हुए, चलते हुए, सोते हुए सभी कालो मे इसका स्मरण करता है, वह सभी वांछित पदार्थों को प्राप्त करता है। इसके स्मरण से सग्राम, सागर, हाथी, सर्प, सिंह, दुष्ट व्याधियो, अग्नि, शत्रु और बन्धन मे उत्पन्न सभी भय (चोर, ग्रह-पीडा, निशाचर, शाकिनिया) आदि नष्ट हो जाते हैं। जो साधक भगवान् जिनेन्द्र मे हृदय-वृत्तियो को एकाग्र करके अपने ध्येय के प्रति श्रद्धा से पूर्ण होकर वर्ण-क्रमो का स्पष्ट उच्चारण करता है, इस मन्त्र का विधिपूर्वक जाप करता है और एक लाख सुगन्धित पुष्पो से इसकी पूजा करता है, वह तीर्थंकर-पद पाता है। हिंसक, मिथ्याभाषी, पराए धन का हर्ता, परस्त्रीगामी तथा घोर पापी जीव भी मृत्यु के समय इस मन्त्र का जाप करके देव-पद प्राप्त कर सकता है। वस्तुत तीर्थंकरो के मोक्ष-गमन के पश्चात् यही मन्त्र लोकोद्धार के लिए इस संसार मे भगवान् जिनेन्द्र के मन्त्रात्मक शरीर के रूप मे सुशोभित है।

नमस्कार-मन्त्र-स्तवनम्

श्रीमानतुगाचार्य-विरचित इस स्तोत्र मे चौबीस तीर्थंकरो के रूप मे पचपरमेष्ठियो की वन्दना की गई है। अर्हत् प्रणत-जनों के लिए मोक्ष-पद प्रदान करे। सिद्ध तीनो लोको को वश मे करे। आचार्य जल, अग्नि आदि सोलह विघ्नो का स्तम्भन करें। उपाध्याय सब भयों

को दूर करें तथा साधु पापों के उच्चाटन, मारण आदि मे सहायक हो। हमे पंच तत्त्वों में पंचपरमेष्ठियों का ध्यान करना चाहिए। अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और मुनि इनके पंचाक्षरों से निष्पन्न ओंकार ही पंचपरमेष्ठी हैं।

वर्तुलाकार अर्हंत्, त्रिकोणाकार सिद्ध, लोष्टकाकार आचार्य, द्वितीया तिथि की चन्द्रकला के समान आकारधारी उपाध्याय तथा दीर्घ-कलाकार साधु सभी भक्तों के लिए सुखकर हो। वर्ण-क्रम (स्वर) मे अ-आ के रूप मे अर्हंत्, इ-ई-उ-ऊ के रूप मे सिद्ध, ए-ऐ के रूप मे आचार्य, ओ-औ के रूप मे उपाध्याय तथा अं-अः के रूप मे मुनि जयशाली हैं। इसी प्रकार नव-ग्रहो, वर्णों (रंगों), रसों, तिथियों, सात दिनो (वारो), मासों, नक्षत्रो तथा राशियो के रूप मे पच परमेष्ठियो का ध्यान करना चाहिए। पंचनमस्कार-मन्त्र के स्मरण, पाठ, उच्चारण तथा ध्यान से सभी सिद्धिया प्राप्त हो जाती है और जीव आत्म-कल्याण करके सम्यग्ज्ञान प्राप्त करता है।

श्री पचपरमेष्ठि मन्त्र-प्रभाव-फलम्

पंचबीज रूप पचपरमेष्ठि-मन्त्र के पाठ के अनन्तर इस अपराजित मन्त्र के महान् प्रभाव का वर्णन है। इसी मन्त्र के समाराधन और प्रभाव से रत्नत्रय का पालन करके योगी मुनि संसार-बन्ध से मुक्त होकर परम-पद मुक्ति को प्राप्त करते हैं। ससार-सागर मे मग्न तथा व्यसन के पाताल मे प्रविष्ट मनुष्य का भी उद्धार इस मन्त्र से हो जाता है। मन-वचन-काय द्वारा इसका १०८ जाप करना चाहिए। यह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारो का फल प्रदान करता है। सोलह अक्षरो तथा पंचपरमेष्ठी-रूप गुरुओ से युक्त यह मन्त्र सभी इच्छाओ को पूर्ण करता है। अत सदैव मन-वचन-काय-गुप्ति की अवस्था मे मौनपूर्वक इस मन्त्र का ध्यान करना चाहिए।

वज्रपजरस्तोत्रम्

पचपरमेष्ठी-नमस्कार मन्त्र नवपदात्मक है। यह सभी मन्त्रो का सारभूत है। यह हमारे सिर, कन्धो, मुख आदि सभी अगो की रक्षा करे। यह सभी उपद्रवो, भयो, आधि-व्याधि तथा सभी विघ्न-बाधाओ का नाश करके आत्मा की रक्षा करता है।

इसी प्रकार 'भस्मपजरस्तव राज' स्तोत्र का अर्थ समझना चाहिए।

जिनपजर स्तोत्रम्

पचनमस्कार-मन्त्र का महत्त्व वर्णित करके मुनि श्री सूरीन्द्र ने इस स्तोत्र मे मन्त्र-पाठ की विधि लिखी है। साधक ब्रह्मचर्यव्रत धारण करे, पृथ्वी पर शयन करे, क्रोध एव लोभ का त्याग करे तथा मन-वचन-काय द्वारा देवताओं का ध्यान करे। इस प्रकार वह छह मासो मे इष्ट फल प्राप्त करता है। साधक मस्तक पर 'अर्हत्' को, चक्षु एवं ललाट मे सिद्ध को, दोनो कानो के मध्य भाग में आचार्य को, नासिका मे उपाध्याय को, और मुखाग्र मे साधुओ को भावनापूर्वक स्थापित करे। पचपरमेष्ठी सभी अगो तथा दिशाओ में साधको की रक्षा करें। चौबीस तीर्थंकर साधको के सभी अगो की रक्षा करे। राजद्वार, श्मशान, सग्राम, शत्रु-सकट, चोर, सर्प, भूत-प्रेत, अकाल मृत्यु, विपत्ति, दरिद्रता, ग्रह-पीडा आदि सभी प्रसगो मे इस मन्त्र का ध्यान करना चाहिए। इसके पाठ से साधक कमलप्रभा-नामक लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

तत्त्वार्थसारदीपके पदस्थ-भावना-प्रकरणम्

भट्टारक श्री सकलकीर्ति-विरचित 'तत्त्वार्थसार-दीपक' मे से पदस्थ-भावना-प्रकरण को उद्धृत किया गया है। सिद्धान्त के बीज-भूत सार-पदो के अवलम्बन से जो ध्यान योगियो द्वारा किया जाता है, वह 'पदस्थ ध्यान' कहलाता है। इसमे वर्णमातृका (सिद्ध-मातृका) के ध्यान की विधि का वर्णन है। आदिनाथ भगवान् के मुख मे उत्पन्न, सकल आगमो की विधायिका तथा अनादि सिद्धान्त मे विख्यात वर्ण-मातृकाओ का विधिपूर्वक ध्यान करने वाला साधक श्रुत-सागर के पार हो जाता है।

अर्हन् नामक गणाधीश मन्त्र सभी तत्त्वो का मुख्य नायक है। देव तथा असुर सभी इसे नमस्कार करते हैं। सूर्य के समान यह मिथ्याज्ञान रूपी अन्धकार का नाश करता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, बुद्ध आदि नामो से प्रसिद्ध इस मन्त्र मे स्वय सर्वत्र तथा सर्वव्यापी देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान् विराजमान हैं। जिसने एक बार भी इस मन्त्र का उच्चारण कर लिया अथवा हृदय मे स्थिर कर लिया, उसने मोक्ष के लिए श्रेय पाथेय का संग्रह कर लिया।

अर्हन्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा मुनि इन परमपूज्य पचपरमेष्ठियो के पदो के प्रथम अक्षरो (अ-अ-आ-उ-म् = ॐ) से ॐ कार नामक परम मन्त्र का निष्पादन हुआ। यह मन्त्र सभी कामनाओं तथा प्रयोजनो की पूर्ति करता है, चिन्तामणि के समान अभीष्ट सिद्धिया प्रदान करता है तथा कर्म रूपी शत्रुओ का विनाश करता है। अत बुद्धिमान् व्यक्ति बड़ी युक्ति से कमल जाप से चंचल मन को वश मे करके इसका विधिपूर्वक ध्यान करे। यहा मन्त्र-सिद्धि की विधि विस्तारपूर्वक समझाई गई है। मन्त्र के प्रभाव का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इस मन्त्र के जाप से उपवास न करने पर भी उपवास का फल मिलता है, दुष्कर्म नष्ट हो जाते हैं, दुष्ट, शत्रु, राजा, चोर आदि से उत्पन्न

विघ्न दूर हो जाते हैं, ग्रह, व्यन्तर, शाकिनी आदि दुष्ट देवता उपद्रव नही कर सकते, नाग, व्याघ्र हाथी आदि कीलित हो जाते हैं, सभी उपसर्ग तथा रोग क्षण-मात्र में नष्ट हो जाते हैं और क्रूर जीव भी अपनी क्रूरता छोड देते हैं। इस कारण सुख-दु:ख, मार्ग, दुर्ग, युद्धभूमि आदि में सभी कालों और स्थानों मे हजारो, लाखों, और करोडों की संख्या मे "णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणम्, णमो उवज्झायाणं, णमोलोए, सव्व साहूणं"—इस मंत्र का जाप करना चाहिए।

अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नम.

उपर्युक्त महाविद्या पंचपरमेष्ठियों के नाम से निष्पन्न, सोलह अक्षरो से सुशोभित तथा समस्त प्रयोजनो की सिद्धि के लिए जगद्-विद्या है। दो सौ बार इसका एकाग्र ध्यान करके मनुष्य को उपवास का फल (न चाहने पर भी) प्राप्त होता है। 'अरहंत-सिद्ध' छ: वर्णों से उत्पन्न इस विद्या का ध्यानी लोग सदा ध्यान करें। मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक इस विद्या के तीन सौ बार जाप से संवरपूर्वक उपवास का फल मिलता है।

"ॐ ह्रां ह्रीं ह्रू ह्रों ह्र: अ-सि-आ-उ-सा नम." उपर्युक्त विद्या पचपरमेष्ठियो के नाम के प्रथमाक्षरों से निष्पन्न तथा ह्राकार आदि पांच महातत्त्वो एव ॐ कार से उपलक्षित है। जो मनुष्य इस विद्या का चार सौ बार जप करता है, वह एक उपवास का फल पाता है। इससे मनुष्यो के कर्म-बन्धनो सहित जन्म-मरण तथा वृद्धावस्था आदि नष्ट हो जाते है।

चत्तारि मंगल। अरिहंता मगल। सिद्धा मगलं। साहू मगल। केवलिपण्णत्तो धम्मो मगल।

चत्तारि लोगुत्तमा। अरिहता लोगुत्तमा। सिद्धा लोगुत्तमा। साहू लोगुत्तमा। केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

चत्तारि सरणं पवज्जामि। अरिहते सरण पवज्जामि। सिद्धे सरणं पवज्जामि। साहू सरण पवज्जामि। केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

उपर्युक्त 'चत्तारि मंगल' मन्त्र के ध्यान से प्रत्येक पग पर मंगल का उदय होता है, तीनो लोको की सम्पदा एव धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी चारो पुरुषार्थ प्राप्त होते हैं और सभी विपत्तिया नष्ट हो जाती हैं।

ॐ अरहन्त-सिद्ध-सयोगिकेवली स्वाहा

उपर्युक्त विद्या अर्हन्त, सिद्ध और सयोगी केवलियों के अक्षर से उत्पन्न और पन्द्रह सुन्दर वर्णों से सुशोभित है। गुणस्थान की प्राप्ति के लिए इस विद्या का ध्यान करना चाहिए। मुक्ति के महल मे शीघ्र पहुचने के लिए यह सीढियो के समान है। "ॐ ह्रीं अर्हं नम:" यह मन्त्र सम्पूर्ण ज्ञान और सुखों का साम्राज्य देने में कुशल है और सभी मन्त्रों मे चूडामणि है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए 'णमो सिद्धाण' मन्त्र का निरन्तर जाप करना चाहिए। यह सम्पूर्ण कर्म-कलंक समूह रूपी अन्धकार के विनाश के लिए सूर्य के समान है।

"ॐ नमोऽर्हते केवलिने परमयोगिने अनन्त विशुद्ध परिणाम विस्फुरच्छुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मबीजाय प्राप्तानन्तचतुष्टयाय सौम्याय शान्ताय मंगलवरदाय अष्टादशदोषरहिताय स्वाहा।"

उपर्युक्त मन्त्र के जाप से तीर्थंकर भगवान् की सम्पत्तिया तथा सुख क्रमश: प्राप्त हो जाते हैं। यह मन्त्रराज सम्पूर्ण क्लेश रूपी अग्नि के लिए मेघ के समान है, भोग और मोक्ष देता है और भव्य प्राणियो की रक्षा करता है।

"ॐ नमो अरहंताण। ह्रीं" इस मन्त्र के विधिपूर्वक जाप से ससार के सभी संकट तथा पाप दूर हो जाते हैं।

इसी प्रकार 'क्ष्वीं', णमो अरहंताणं', 'ॐ अर्हं', श्रीमद्वृषभादि वर्धमानान्तेभ्यो नम:।" 'नम: सर्वसिद्धेभ्य:' आदि विविध मन्त्रो के जप की विधियों और महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

पंचनमस्कृति-दीपक-सन्दर्भ

श्री सिंहनन्दि-भट्टारक-विरचित इस प्रकरण मे सर्वप्रथम देवाधिदेव भगवान् जिनेन्द्र तथा णमोकार-मन्त्र की वन्दना की गई है। भगवान् जिनेन्द्र ने कर्म-रूपी ईंधन के धुएँ को नष्ट कर दिया है, सम्पूर्ण लक्ष्मी उनमे स्वयं सुशोभित होती है, इन्द्रादि के द्वारा भी उनका प्रभाव अवर्णनीय है, उनके स्मरण-मात्र से विघ्न, चोर, शत्रु, महामारी, शाकिनी आदि सभी नष्ट हो जाते हैं। तदनन्तर णमोकार-मन्त्र-कल्प का वर्णन किया गया है।

णमोकार-मन्त्र के पाच अधिकार हैं—साधन, ध्यान, कर्म, स्तवन तथा फल। यही गायत्री मन्त्र, अष्टक तथा पंचक आदि नामो से प्रसिद्ध हैं। दुष्ट और मिथ्यादृष्टि मनुष्यो को इसे नही देना चाहिए। पार्श्वचक्र, वीर-चक्र, सिद्ध-चक्र, त्रिलोक-चक्र, कर्म-चक्र, योग-चक्र, ध्यान-चक्र, श्रुत-चक्र, तीर्थचक्र, जिन-चक्र, मोक्ष-चक्र, श्रेयश्चक्र, वृद्धमृत्युञ्जयचक्र, लघुमृत्युञ्जयचक्र, ज्वालिनी-चक्र, अम्बिका-चक्र, चक्रेश्वरी-चक्र, शान्ति-चक्र, यक्ष-चक्र, भैरव-चक्र आदि कई चक्र नमस्कार मन्त्र की सिद्धि के बिना सिद्ध नहीं होते। अत: सर्वप्रथम इसी मन्त्रराज को सिद्ध करना चाहिए।

फल-वर्णन में कहा गया है कि णमोकार-मन्त्र के स्मरण मात्र से वराग के हाथी का भय दूर हो गया तथा सेठ सुदर्शन का सकट दूर हो गया। मोक्षदायक यह मन्त्र सभी इच्छित पदार्थों को प्रदान करता है। साधन के अन्तर्गत इस मन्त्र की सिद्धि के लिए विहित विधि का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस अनादि मन्त्र के ही कारण भव्य जीवो को मुक्ति प्राप्त होती है। इस मन्त्र का शुद्ध पाठ निम्नलिखित है—

ॐ नमः अर्हद्भ्यः।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

ॐ नमः आचार्येभ्यः।

ॐ नम उपाध्यायेभ्यः।

ॐ नमः सर्वसाधुभ्यः।

इसके अनन्तर हिन्दी मे णमोकार-मन्त्र की स्तुति तथा नवकार-मन्त्र-स्तोत्र का पाठ दिया गया है।

मन्त्र-साधन-विधान

णमो अरहंताणं। णमो सिद्धाणं। णमो आयरियाणं।

णमो उवज्झायाणं। णमो लोए सव्व साहूण।

उपर्युक्त णमोकार-मन्त्र के प्रथम पद मे सात, द्वितीय पद मे पाच, तृतीय पद मे सात, चतुर्थ पद में सात तथा पंचम पद मे नौ अक्षर हैं। इस प्रकार इसमे पैंतीस अक्षर हैं। लौकिक कार्यों की सिद्धि के लिए विविध बीजाक्षरों को कही पहले, कही पीछे और कही बीच मे जोड़ने से इसके छियालीस स्वरूप (मन्त्र) बनते हैं। इसके स्मरण-मात्र मे सभी प्रकार के विघ्न नष्ट हो जाते हैं और साधक को मोक्ष प्राप्त होता है।

इसके पश्चात् हिन्दी-भाषा मे मन्त्र-साधन की विधि का विस्तृत वर्णन किया गया है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—इन पुरुषार्थों की सिद्धि के अतिरिक्त, पुत्र-प्राप्ति, विघ्न-शान्ति, दुष्टो के स्तम्भन तथा कीलन, शत्रुओं का उच्चाटन, वशीकरण आदि लौकिक कार्यों की पूर्ति के लिए भी इस मन्त्र की सिद्धि का विधान किया गया है। मन्त्र की निर्विघ्न तथा अमोघ सिद्धि के लिए रक्षा-मन्त्र का जाप आवश्यक है जिससे उपसर्ग तथा उपद्रव न हो।

णमोकार-मन्त्र के जाप्य-विधान के उपरान्त उपवास की विधि का वर्णन किया गया है। मानसिक, वाचिक तथा कायिक इन तीन प्रकार के जापो मे मानसिक जाप सर्वश्रेष्ठ है।

यन्त्र-मन्त्र भाग मे विभिन्न यन्त्रो तथा मन्त्रो की विधि एव चित्रो सहित व्याख्या की गई है। अन्त मे अनेक रक्षा-मन्त्रो, रोग-निवारण-मन्त्र, ताप-निवारण मन्त्र, शिरो-पीडा-निवारण-मन्त्र बन्दी-गृह-निवारण-मन्त्र, अग्नि-निवारण-मन्त्र, चोर-शत्रु-निवारण-मन्त्र, भूत-प्रेत-निवारण-मन्त्र, द्रव्य-प्राप्ति मन्त्र आदि अनेक मन्त्रो का पाठ तथा विधि दी गई है।

लौकिक तथा पारलौकिक सुखो की प्राप्ति तथा मोक्ष-लाभ के लिए णमोकार-मन्त्र के स्मरण, पाठ, साधन तथा वन्दन से अधिक उपयोगी कोई अन्य मन्त्र या उपाय नही है। णमोकार-मन्त्र की सिद्धि के लिए प्रस्तुत पुस्तक 'णमोकार-मन्त्र-कल्प' अवश्यमेव पठनीय तथा सग्रहणीय है।
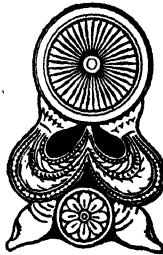
णमोकार-मन्त्र-कल्प

—मानव-कल्याण का सोपान

समीक्षक प० संदीप कुमार जैन

णमोकार-मन्त्र-कल्प की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति स्व० श्री मनोहर लाल जैन जौहरी, पहाडी धीरज, दिल्ली ने आचार्यरत्न श्री देशभूषण महाराज को अवलोकनार्थ दी थी। आचार्य श्री का णमोकार मन्त्र से जन्मजात लगाव है। अत प्रस्तुत ग्रन्थ की पाडुलिपि का अध्ययन करने के उपरान्त आचार्य श्री ने महामन्त्र की प्रभावना एव श्रावक समुदाय के कल्याण के निमित्त इस ग्रथ के सम्पादन का निर्णय ले लिया। प्रस्तुत समीक्ष्य ग्रथ वास्तव मे णमोकार-मन्त्र सम्बन्धी अनेक स्तोत्रो, यन्त्र-मन्त्रों का अद्भुत सग्रह है। सकलनकर्त्ता ने सकोचवश अपने नाम का उल्लेख नही किया है। किन्तु प्रतीत होता है कि ग्रन्थ का सकलनकर्त्ता मूलसघ के यशस्वी मुनि श्री पद्मनन्दि की परम्परा मे से था।

जैन धर्मानुयायियों का विश्वास है कि णमोकार-मन्त्र मे ऐसी शक्ति निहित है जिससे मनुष्य के समस्त पाप और अनिष्ट कर्म सदा-सदा के लिए नष्ट हो जाते हैं।

इस मन्त्र के श्रद्धापूर्वक स्मरण व जाप से मनोवाछित पदार्थ प्राप्त हो सकते है। प्रस्तुत ग्रथ मे आचार्य श्री उमास्वाति कृत पच नमस्कारस्तोत्रम मे कहा गया है -

> इन्दुर्दिवाकरतया रविरिन्दुरूप पातालमम्बरमिला सुरलोक एव ।
> किं जल्पितेन बहुना भुवनत्रयेऽपि यन्नाम तन्न विषमं सम च न स्यात ॥ (णमोकार-मन्त्र-कल्प पृ० २६)

इस मन्त्रराज के प्रभाव से इच्छा करने पर चन्द्रमा सूर्यरूप मे, सूर्य चन्द्ररूप मे, पाताल आकाश रूप मे, पृथ्वी स्वर्गरूप मे परिणत हो सकते है। अधिक कहने से क्या ? तीनो लोक मे ऐसी कोई वस्तु नही है, जो इस मन्त्रराज के साधक के लिए सम चाहने पर सम और विषम चाहने पर विषम न हो जाए।

जैन समाज मे आचार्यरत्न श्री देशभूषण एक सिद्ध पुरुष के रूप मे पूज्य है। भारतवर्ष के नगर-नगर, ग्राम-ग्राम मे उनकी अलौकिक साधना एव सिद्धियो के विषय मे प्राय चर्चा होती रहती है। किन्तु आचार्य श्री की प्रेरणा का मूल उत्स णमोकार महामन्त्र है। वह महामन्त्र की निरन्तर समाराधना करते है। उन्ही के शब्दो मे—

> अहो पचनमस्कार कोऽप्युदारो जगत्सु य ।
> सम्पदोऽष्टौ स्वय धत्ते दत्तेऽनन्ता स्तुत: स ता ॥२॥

तीनो लोको मे अतिशय उदार पचनमस्कारमन्त्र आश्चर्यजनक है। जो स्वय तो अष्टसिद्धियो को ही धारण करता है किन्तु स्मरण किये जाने पर वह अनन्तसिद्धियो को देता है।

> दत्तेऽनुकूल एवान्यो भुक्तिमात्रमपि प्रभु ।
> एष पचनमस्कार प्रातिलोम्येऽपि मुक्तिद ॥३॥

ससार मे सामर्थ्यशील अन्य व्यक्ति (राजा, महाराजा) अनुकूल होने पर ही भुक्ति (भोग) मात्र देते है किन्तु यह पच नमस्कार मन्त्र ही ऐसा है जिसे उल्टा पढने पर भी मुक्ति प्राप्त होती है।

णमोकार-मन्त्र मे कुल पाच पद और पैंतीस अक्षर हैं। किन्तु इसके सक्षेपीकरण से कई अन्य मन्त्र भी बन जाते हैं। यथा—

पैंतीस अक्षरो का मन्त्र—णमो अरिहताण, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाण,

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूण।

सोलह अक्षरों का मंत्र—अरिहंत-सिद्ध-आइरिय-उवज्झाय-साहू

अथवा

अर्हत्सिद्धाचार्य उपाध्याय सर्व साधुभ्यो नमः।

छः अक्षरों का मंत्र —अरिहंत सिद्ध, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, नमोऽर्हत्सिद्धेभ्य ।

पांच अक्षरो का मन्त्र—अ-सि-आ-उ-सा, णमो सिद्धाण।

चार अक्षर का मंत्र—अरिहंत, अ-सि-सा-हू।

दो अक्षर का मंत्र—ॐ ह्रीं, सिद्ध, असि।

एक अक्षर का मंत्र—ॐ, ओ, ओम्, अ, सि।

ग्रंथ में णमोकार-मन्त्र की साधना के क्रमिक सोपानों का विवेचन किया गया है। अनेक प्रकार के उपद्रव अमंगल, रोग एवं भय का निवारण करने के लिए भी विविध मन्त्र दिए गए हैं। मन्त्रो की जाप्य विधि, माला एवं आसन के सम्बन्ध में भी आवश्यक निर्देश दिए गए हैं। लोक-कल्याण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इस ग्रंथ को मुद्रित करवाते समय आचार्य श्री की यह भावना रही होगी कि इस ग्रंथ के प्रकाशन से जैन धर्मानुयायियो को धर्म में निष्ठा केन्द्रित होगी और वे अपने मंगल-कार्यों की सिद्धि एवं अनिष्ट-निवारण के लिए जैनेतर मन्त्रो का आश्रय न लेकर कल्पवृक्ष तुल्य णमोकार-मन्त्र की शरण में आकर जीवन को सार्थक बनायेंगे।

भावनासार (द्रव्य संग्रह की टीका)

—लघुकाय दार्शनिक कृति

समीक्षक : डॉ० लालचन्द जैन

द्रव्यसंग्रह ११वी शती के आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त देव की एक दार्शनिक कृति है। इसकी रचना शौरसेनी प्राकृत भाषा मे की गई है। मात्र ५८ गाथाओं के द्वारा आचार्य ने जैन धर्म-दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तो का, विशेषकर तत्त्व मीमांसा का, सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत कृति में किया है। विषय-वस्तु की दृष्टि से उक्त ५८ गाथाओ को तीन अधिकारो मे विभाजित किया गया है। ये तीनो अधिकार भी एकाधिक अंतराधिकारों मे वर्गीकृत है।

पहले अधिकार मे तीन अंतराधिकार और सत्ताईस गाथाएँ है। प्रथम अतराधिकार की १४ गाथाओं मे जीव द्रव्य का स्वरूप विवेचन उपलब्ध है। दूसरे अंतराधिकार मे पाच अजीव द्रव्यो(पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल)का १५ वी गाथा से २२ वीं गाथा तक अर्थात् ८ गाथाओ में विवेचन किया गया है। शेष ५ गाथाओं (२३-२७) मे पांच अस्तिकायो, अस्तिकाय का स्वरूप, छह द्रव्यो के प्रदेशो और प्रदेश का लक्षण तथा काल को अकाय के होने के कारण का उल्लेख कर तीसरा अतराधिकार समाप्त किया गया है। दूसरे अधिकार की ११ गाथाओं में जीवादि सात तत्त्वों और पाप-पुण्य सहित नौ पदार्थों का स्वरूप बतलाया गया है। तीसरे अधिकार मे कुल बीस गाथाओं को दो अंतराधिकारो मे विभाजित किया गया है। इसमे व्यवहार और निश्चय मोक्ष मार्ग (सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र), ध्यान और पाच परमेष्ठियो अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के स्वरूप का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार जिनागम का सार सूत्र रूप मे द्रव्य सग्रह में सग्रहीत है। दूसरे शब्दो मे सम्पूर्ण आगम रूपी सागर को द्रव्यसग्रह रूपी गागर मे भर दिया गया है।

यही कारण है कि यह लघुकाय ग्रंथ दिगम्बर जैन परम्परा मे बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसकी महत्ता इस ग्रंथ पर विभिन्न आचार्यों और विद्वानो द्वारा विभिन्न भाषाओ सस्कृत, हिन्दी, कन्नड, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी आदि मे लिखी गई छोटी-बडी टीकाओ से सिद्ध होती है। आचार्य ब्रह्मदेव (ई० सन् १२६०-१३२३) ने सर्व प्रथम ग्रन्थ सग्रह सस्कृत टीका लिखी थी। इससे अधिक प्राचीन टीका इस ग्रथ की आज तक उपलब्ध नही हुई। इसके पश्चात् प० जयचन्द्र छाबडा की भाषा टीका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

उपर्युक्त टीकाओ के अतिरिक्त १५ वी शताब्दी से पहले 'पुट्टय्या स्वामी' ने द्रव्यसग्रह पर कन्नड भाषा मे ३००० श्लोक प्रमाण 'भावनासार' नामक टीका लिखी थी। इस टीका की भाषा प्राचीन कन्नड थी और यह ताडपत्र के ४२ पृष्ठो मे लिखी हुई थी। यह ला० मनोहर लाल जी जैन जौहरी, पहाडी धीरज, दिल्ली के चैत्यालय मे स्थित ग्रन्थ-भडार मे अप्रकाशित सग्रहीत थी।

आचार्य जयकीर्ति के परम शिष्य और एलाचार्य विद्यानन्द जी जैसे श्रमणो के परमगुरु, जैन साहित्य के सृजक, अनुवादक, सम्पादक, उपसर्ग विजयी, महान् परिषह जयी, कठोर तपस्वी, कन्नड, सस्कृत, प्राकृत, गुजराती, मराठी, अंग्रेजी आदि भाषाओ के अधिकारी आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज को जब इस भावनासार (द्रव्यसग्रह की कन्नडी टीका) का दर्शन हुआ तो हिन्दी-भाषियो के लाभार्थ इसका हिन्दी भाषा मे अनुवाद कर जैन वाङ्मय की समृद्धि मे एक बहुत बडा योगदान किया। 'भावना सार' के हिन्दी-अनुवाद का सर्वप्रथम प्रकाशन वीर निर्वाण सं० २४८२ (स० १६५६) मे हुआ था।

'द्रव्यसग्रह' के आज तक अनेक हिन्दी अनुवाद देखन मे आये लेकिन भावनासार का हिन्दी अनुवाद जैसा उत्तम कोटि का अनुवाद दृष्टिगोचर नही हुआ। इस अनुवाद की निम्नांकित विशेषताएँ उल्लेखनीय है—

(१) ग्रथ की पहली गाथा के पूर्व २४ पृष्ठो मे ग्रन्थ-परिचय, सूत्र का लक्षण, वीतराग का स्वरूप, सच्चे देव का स्वरूप, मंगल करने का प्रयोजन और उसके भेद आदि का विस्तृत और प्राचीन ग्रन्थो के उद्धरणो से प्रामाणिक विवेचन किया गया है।

(२) गाथाओ के स्पष्टीकरण हेतु सर्वप्रथम गाथा का अन्वयार्थ उसके बाद विस्तार या विवेचन आदि के द्वारा गाथाओ के प्रत्येक विशेषण का सूक्ष्म और शास्त्रसम्मत विवेचन किया गया है। प्रत्येक कथन की पुष्टि के लिए प्राचीन जैन आचार्यों और जैनेतर आचार्यों के दार्शनिक

ग्रन्थों, पुराणों और कोषों के उद्धरण ससन्दर्भ दिये गये हैं और उनकी हिन्दी भाषा में विस्तृत व्याख्या करके विषय को भलीभांति समझाने का प्रयास किया गया है।

(३) इसकी तीसरी विशेषता है कि मूल गाथाओं की हिन्दी व्याख्या और विवेचन के अलावा सन् १९१७ मे कुमार देवेन्द्र प्रसाद, आरा द्वारा प्रकाशित शरतचन्द्र घोषाल की अंग्रेजी भाषा मे ज्यों की त्यों व्याख्या दे दी गई है। इससे इस हिन्दी व्याख्या की उपयोगिता और भी अधिक बढ़ गई है, क्योंकि अब इस 'भावनासार' नामक द्रव्यसंग्रह की टीका का अध्ययन हिन्दी और अहिन्दी दोनों प्रकार के भाषा-भाषी समान रूप से कर सकते हैं। सभी लोग द्रव्यसंग्रह के मर्म को समझ सकें इसी लोककल्याण की भावना से अंग्रेजी अनुवाद और व्याख्या का संकलन कर दिया गया प्रतीत होता है।

(४) ग्रन्थ की गाथाओं की व्याख्या करने की भाषा-शैली इतनी सरल, सुबोध और स्पष्ट है कि सामान्यजन भी इसका स्वाध्याय कर सकते है। इसके अध्ययन से ऐसा प्रतीत नही होता कि यह हिन्दी अनुवाद अन्य भाषा से अहिन्दी भाषाभाषी द्वारा किया गया है। इससे आचार्यरत्न श्री का जैन और जैनेतर दार्शनिक ग्रन्थो के गूढ़ अध्येता और गम्भीर, अगाध ज्ञानी और महान् दार्शनिक होना सिद्ध होता है।

(५) प्रस्तुत भावनासार की हिन्दी टीका शोध-प्रज्ञों के लिए बहुत अधिक उपयोगी है। इसके अध्ययन और मनन करने से ही अध्ययनकर्त्ता जैन दर्शन का ही नही बल्कि समस्त भारतीय दर्शन का अच्छा जानकार हो सकता है, क्योंकि इसमें प्रसगवशाद् जैन दर्शन के अनेकान्त, स्याद्वाद, सर्वज्ञवाद, तत्त्व मीमासा, आचार मीमांसा आदि की व्याख्या अन्य भारतीय दर्शनों के सिद्धातो के साथ निष्पक्ष दृष्टि से तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने द्रव्यसग्रह की कन्नड टीका 'भावनासार' का हिन्दी अनुवाद करके यदि एक ओर श्री पुट्टय्या स्वामी के परिश्रम को सार्थक बनाया है तो दूसरी ओर उनके विचारों का अध्ययन करने वाले समस्त इच्छुकजनो को सौभाग्यशाली बनाया है। यदि इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद न होता तो सभी हिंदी भाषा-भाषी इसके लाभ से वंचित रह जाते। 'द्रव्य सग्रह' की इससे अधिक उपयोगी और उत्तम कोटि की टीका आज तक देखने मे नही आई है। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी का प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद हर दृष्टि से शतशः अभिनन्दनीय है।

भावनासार

—धर्म के प्रति निष्ठा का अपूर्व ग्रन्थ

समीक्षक डॉ० प्रमोद कुमार जैन

जैन समाज मे सिद्धांतदेव श्री नेमिचन्द्र जी की धर्मकृति 'द्रव्यसग्रह' के प्रति शताब्दियो से विशेष आकर्षण रहा है। ग्रथकार ने ५७ गाथाओ मे जैन धर्म के सारतत्त्व जीव द्रव्य, पाच अजीव द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, निश्चय व्यवहार रत्नत्रय, पचपरमेष्ठी तथा ध्यान का स्वरूप इत्यादि का वर्णन किया है। इस ग्रथ की लोकप्रियता से प्रभावित होकर अनेक समर्थ आचार्यों एव टीकाकारो ने भारतवर्ष की विभिन्न भाषाओ मे इसकी विस्तृत व्याख्या की है। श्री पुट्टय्या स्वामी ने भी अलौकिक सुख की प्राप्ति के निमित्त शक स० १७८१ मे इस ग्रंथ की 'भावनासार' नाम से कन्नड भाषा मे टीका की थी।

राजधानी दिल्ली के जैन समाज के सौभाग्य से आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज ने सन् १९५५ का चातुर्मास कूचा सेठ, दरीबा कला मे सम्पन्न किया था। वर्षायोग मे धर्मोपदेश के निमित्त उन्हे दिल्ली के अन्य भागो मे भी जाना पडता था। एक बार पहाडी धीरज मे धर्म-प्रवचन, शुद्धि एवं आहार के पश्चात् उन्हे धर्मपरायण ला० मनोहर लाल जी जौहरी का चैत्यालय एव शास्त्र-भण्डार देखने का अवसर प्राप्त हुआ। आचार्य श्री कन्नडी भाषा के मर्मज्ञ विद्वान् है। अत शास्त्र-भण्डार का निरीक्षण करते हुए ताडपत्रो पर प्राचीन कन्नड लिपि मे लेखबद्ध 'भावनासार' ने उन्हे विशेष रूप से आकृष्ट किया और जैन धर्म के प्रभावक एवं समर्थ आचार्य होते हुए भी उन्होने उपरोक्त ग्रथ का हिंदी अनुवाद करने के लिए शास्त्र-भण्डार के स्वामी से विशेष अनुमति मागी।

प्रस्तुत ग्रथ का अनुवाद आचार्य श्री ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार एव लोक-कल्याण के निमित्त किया था। अत. भावनासार का अनुवाद करते समय आचार्य श्री कन्नड पाठ के अनुवाद के साथ-साथ प्रत्येक महत्त्वपूर्ण विषय पर अपनी विशेष टिप्पणी देते रहे है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अनेक स्थलो पर उनका अनुवादक रूप गौण हो गया है और अनेक महत्त्वपूर्ण प्रसगो पर आप एक विवेचक एव भाष्यकार के रूप मे परिलक्षित होते हैं। ग्रंथ को जन-जन के लिए उपयोगी बनाने के निमित्त उन्होने प्रत्येक गाथा का अंग्रेजी अनुवाद भी सुधी पाठको के लिए सुलभ कर दिया है। ग्रन्थ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इस ताडपत्रीय ग्रथ के अनुवाद का कार्य आसाढ सुदी अष्टमी वीर० स० २४८२ रविवार को दिल्ली मे सम्पन्न हुआ था।

धर्मामृतसार

—भाषा-समस्या के लिए देवनागरी लिपि अपनाने का महामन्त्र

समीक्षक : कु० रुचिरा गुप्ता

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज प्राय वर्षायोगों मे श्रावकों के ज्ञानवर्धन एवं तत्त्वचर्चा के लिए प्रश्नोत्तर शैली मे धर्म-निरूपण किया करते हैं। इस प्रकार के प्रवचनों मे श्रावकों का धर्म के प्रति उत्साह बढ़ता है और वे वैचारिक रूप से मुनि संघ के सन्निकट आ जाते हैं। 'धर्मामृतसार' आचार्य श्री के इसी प्रकार के आध्यात्मिक वाग्वैभव का एक कान्तिमान रत्न है। उन्होंने सन् १९६२ मे अब्दुल लाट (ताल्लुका-शिरोल, जिला कोल्हापुर, मे श्रावकों को अनुगृहीत करने की भावना से मराठी एवं हिन्दी भाषा मे अनेकानेक प्रश्नों की धर्मसम्मत व्याख्या की थी।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम अध्याय मे श्रावकाचार से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर देते हुए मुनि श्री ने प्राय: आगम की मूल वाणी का प्रयोग किया है। आगम के रहस्यों से जनसाधारण को परिचित कराने के लिए वे सरल, सुबोध भाषा का प्रयोग करते है। प्रश्नोत्तर के उपरान्त वे श्रावकों का मार्गदर्शन करते हुए उन्हे २४ घण्टों मे से एक घटा धर्म के कार्यों मे लगाने की प्रेरणा देते है। द्वितीय अध्याय मे तत्त्व चिन्तन सम्बन्धी प्रश्नों के सुबोध भाषा मे उत्तर दिए गए है। तीसरे अध्याय मे कविवर भूधरदास के 'पार्श्वपुराण' के अनुसार सुख-दु:ख का प्रश्नोत्तर शैली मे विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्याय मे आचार्य श्री ने सुगम एवं सरल भाषा मे श्रावक की नियमित क्रिया के सम्बन्ध मे आवश्यक सूचनाएँ दी है।

आलोच्य ग्रन्थ मे मराठी भाषा का भी देवनागरी लिपि मे प्रस्तुतिकरण किया गया है। मराठी भाषा से अनभिज्ञ हिन्दी भाषी जन देवनागरी लिपि मे मराठी एवं हिन्दी का एक साथ पाठ करते हैं तो उन्हे दोनों भाषाओं मे अद्भुत साम्य नजर आता है।

इस कृति का प्रकाशन एक ऐसे कालखण्ड मे हुआ था जब भाषा की समस्या को लेकर राष्ट्र मे प्रान्तीयता की भावना सिर उठा रही थी। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने राष्ट्र को एक सूत्र मे बाधने के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्री रामचन्द्र जी के विजय दिवस दशहरा की सार्थकता को सिद्ध करने के लिए उपरोक्त महत्त्वपूर्ण तिथि पर भारतीय भाषाओं की समस्याओं के रचनात्मक समाधान के लिए देवनागरी लिपि के प्रयोग का महामन्त्र दिया था।

आचार्य श्री ने अपने दीर्घ जीवन मे लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष की पदयात्राएं की है और भारतवर्ष की प्रमुख एवं आंचलिक भाषाओं के साहित्य एवं बोलियों से उनका गहरा तादात्म्य रहा है। अत: 'धर्मामृतसार' मे राग-द्वेष से पीड़ित मनुष्य के लिए प्रेरक मार्गदर्शन है और साथ-ही-साथ भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए देवनागरी लिपि को भावनात्मक रूप से अपनाने का संकेत दिया गया है।

मानव जोवन

भगवान् महावीर और मानवता का विकास

शास्त्र-गुच्छक

—चरित्र-निर्माण के तीन प्रकीर्णक

समीक्षक : वैद्य प्रेमचन्द जैन

(१) मानव जीवन

इस पुस्तक मे परमपूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज द्वारा भगवान् महावीर स्वामी जी की जन्मजयन्ती के अवसर पर दिए गए भाषण का सार प्रस्तुत किया गया है। आचार्य श्री सर्वधर्मसद्भाव के मूर्तिमान् प्रतीक हैं। इस भाषण मे उन्होने वेद, पुराण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, कुरान इत्यादि के उद्धरण देकर सुखी मानव जीवन के लिए सदाचार एव अहिंसा के महत्त्व पर प्रकाश डाला है।

(२) भगवान् महावीर और मानवता का विकास

इस लघु पुस्तिका मे भगवान् महावीर स्वामी, उनकी ऐतिहासिकता, उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म एव जैन धर्म के शाश्वत सिद्धान्तो का विवेचन किया गया है। इन शाश्वत सिद्धान्तो मे आचार्य श्री ने मानवता के विकास के लिए शुद्ध सात्विक भोजन, सदाचारपूर्ण सरल जीवन पर विशेष बल दिया है। मासाहार के विरोध मे उन्होने अपना धर्मसम्मत वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए मानवजाति को अभक्ष्य भोजन का त्याग करने का सन्देश दिया है।

(३) शास्त्र-गुच्छक

आचार्य श्री को जैन धर्म के पूर्ववर्ती एव प्रभावक आचार्यों की वाणी एव स्तोत्रो के पठन-पाठन एव श्रवण मे विशेष आनन्द आता है। समय-समय पर आत्मोद्बोधन के लिए वे प्रभावशाली आध्यात्मिक स्तोत्रो एव स्तवनो का सग्रह कर लेते हैं। इस पुस्तक मे उन्होने बालचन्द्रोदय विरचित 'भावनाष्टकम्', स्वामी श्री समन्तभद्राचार्य प्रणीत 'बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रम्', श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्राचार्य्य विरचित 'रत्नकरण्डश्रावकाचार', श्रीमदमृतचन्द्रसूरि विरचित 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय', श्री गुणभद्राचार्य विरचित 'आत्मानुशासनम्' एव आचार्य श्रीमद् उमास्वामि विरचित 'तत्त्वार्थसूत्र' का सग्रह किया है।

जैनधर्म के भक्तिपरक एव तत्त्व चिन्तन से सम्बन्धित साहित्य मे रुचि लेने वाले सुधी जिज्ञासुओ की सुविधा के लिए प्रस्तुत पुस्तक को पाकेट सस्करण मे मुद्रित कराया गया है।

स्वानुभूति से रसानुभूति की ओर

—आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी की काव्य-क्षणिकाएं

डॉ० मोहनचन्द

स्वानुभूति जब रसानुभूति का संसर्ग पाकर समष्टि तक पहुंच जाती है तो तत्त्वचिन्तन की अभिव्यक्ति काव्यशक्ति से गुंजायमान रहती है। सच तो यह है कि विश्व प्रसिद्ध धर्म ग्रन्थों की असाधारण लोकप्रियता का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि धर्मप्रभावना को काव्य साधना का मणिकांचन संयोग मिला। काव्य का स्वर पाते ही अभिव्यक्ति देश-काल-पात्र की संकुचित परिधियों से ऊपर उठकर विश्वजनीनता का रूप धारण कर लेती है परिणामतः उद्घाटित सत्य किसी व्यक्तिविशेष या धर्मविशेष के ही अमानत नहीं रह जाते अपितु समग्र मानवता ही उनसे लाभान्वित होती है। आचार्यरत्न श्री देशभूषण महाराज की निम्नलिखित पंक्तियों का भी यही आशय है :—

> बहुत से क्या एक चिंगारी चाहिए कोयले स्वयं धधक उठेंगे।
> बहुत से क्या एक मनुष्य चाहिए मनुष्यता स्वयं निखर उठेगी॥

व्यष्टि से समष्टि की ओर पदयात्रा करने से स्वानुभूति का रसानुभूति के रूप में जो रूपान्तरण होता है भारतीय काव्यशास्त्र में उसे 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया के नाम से जाना जाता है जिसका तात्त्विक भाव है 'असाधारण का साधारण' हो जाना। ऊपर से ऐसा लगता है असाधारण का साधारण अथवा सामान्य के रूप में परिवर्तन कोई अच्छा लक्षण नहीं है क्योंकि लोकव्यवहार मे सामान्य से विशेष बनने की ओर ही लोगो की रुचि देखी जाती है। परन्तु सच तो यह है कि तत्त्वचिन्तन और काव्य साधना की अपनी अलग ही आचार संहिता है। कोई भी अच्छे से अच्छा विद्वान् या विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न कवि भी इस क्षेत्र में आता है तो उसे सर्वप्रथम निजी स्वाभिमान व स्वत्व के बोध को भुला देना होता है तभी वह एक अच्छा कवि या तत्त्ववेत्ता बन सकता है। कारण स्पष्ट है व्यष्टि समष्टि की ओर जा रहा है, असाधारण साधारण बन गया है तथा स्वानुभूति रसानुभूति के रूप में अभिव्यक्त हो गई है। जैनधर्म के प्रभावक आचार्यों में से भक्तामरस्तोत्र के प्रणेता श्री मानतुङ्गाचार्य से भला कौन परिचित नहीं। किन्तु जिनेन्द्र भक्ति के भाव से संपूरित मानतुङ्गाचार्य का 'मान' गलित हुआ सा जान पड़ता है जब वे कहते हैं कि बसन्त काल में आम्रमंजरी जैसे कोकिल को कूजने के लिए विवश कर देती है वैसे ही जिनेन्द्र भक्ति का भाव भी उन्हें 'मुखरित' होने के लिए बाध्य कर रहा है :—

> अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम, त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
> यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति तच्चारुचूतकलिकानिकरैकहेतुः॥

मानतुङ्गाचार्य की स्वानुभूति रसानुभूति के रूप मे 'मुखरित' हुई तो देश-काल-पात्र की सीमाओ से वे ऊपर उठ गए और आदि जिन को बुद्ध, शंकर, ब्रह्मा तथा विष्णु के रूप में देखने लगे :—

> बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात्।
> धाताऽसि धीरशिवमार्गविधेर्विधानाद् व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि॥

भारतीय काव्य साधना का इतिहास चाहे वैदिक परम्परा से सम्बद्ध हो या श्रमण परम्परा से इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि काव्याभिव्यक्ति या तो 'आराधना' के भाव से उत्प्रेरित हुई या फिर कारुणिक 'संवेदना' ने बलात् काव्य को फूटने के लिए बाध्य किया। आदि काव्य रामायण के सम्बन्ध में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की ऐसी ही धारणा है :—

> राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
> कोई कवि बन जाए सहज संभाव्य है॥

जैनधर्म के प्रभावक आचार्यों ने मानव प्रकृति की इस प्रवृति को भली-भांति से समझा है। परिणामस्वरूप जैनधर्म का अधिकांश साहित्य काव्यसाधना से विशेष उत्प्रेरित रहा है। जिनसेन एवं गुणभद्रकृत आदिपुराण एवं उत्तरपुराण उत्कृष्ट शैली के महाकाव्य हैं तथा अनेक परवर्ती काव्यों के उपजीव्य भी हैं। इसी परम्परा मे आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की काव्य साधना की पृष्ठभूमि भी अत्यन्त वैभवशाली रही है। बाल्यकाल से ही नाट्य-अभिमंचन तथा सगीत गायन के प्रति उनका रुझान रहा था। एक दायित्वपूर्ण दिगम्बरी साधना के आचार्य पद का निर्वाह करते हुए भी उन्होंने 'भरतेशवैभव', 'अपराजितेश्वरशतक' आदि उत्कृष्ट काव्य कृतियो पर व्याख्यापरक भाष्य लिखे। उपदेश सार सग्रह के अनेक सन्दर्भ ऐसे हैं जहां पर महाराज श्री का वाग्वैभव सुन्दर 'काव्याभिव्यक्ति' के रूप मे स्फुट हुआ है। स्वानुभूति से रसानुभूति की ओर जाने का अनुभव महाराज श्री ने किया है और आत्मानुभूति की प्रक्रिया को समझाते हुए कहा है—"आत्मलोचन वह है जो परलोचन की वृत्ति को निर्मूल कर दे। आत्मनिरीक्षण वह है जो परदोष दर्शन की वृत्ति को मिटा दे। दूसरों की आलोचना वही कर सकता है जिसमें आत्म-विस्मृति का भाव प्रबल होता है।"

मौलिक सर्जन के लिए आत्मानुभूति की अनिवार्यता को रेखाङ्कित करते हुए महाराज श्री ने कहा है—"आज आलोचकों की भरमार है, मौलिक स्रष्टा कम और बहुत कम। कारण सैद्धान्तिकता अधिक है, अनुभूति कम। सिद्धान्तवादिता से आलोचना प्रतिफलित होती है और अनुभूति से मौलिकता। सिद्धान्त से मौलिकता नहीं आती, मौलिकता के आधार पर सिद्धान्त स्थिर होते हैं।"

आचार्य श्री ने जैनधर्म के तत्त्वचिन्तन को प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत करने के उद्देश्य से काव्य क्षेत्र की विभिन्न प्रतीक योजनाओं, बिम्ब-विधानो, अप्रस्तुत विधानों का आश्रय लेते हुए मौलिक काव्यसर्जन को भी आधुनिक आयाम दिए हैं। प्राचीन काल से ही नीतिकारों एवं काव्य रसिकों ने 'अन्योक्ति' विधा की काव्य रचनाओ से जीवन के यथार्थ सत्यो का उद्‌घाटन किया है। आचार्य श्री देशभूषण महाराज के प्रकीर्ण उपदेश सन्दर्भों मे 'अन्योक्ति' का पुट अत्यन्त प्रबल है। इस विधा के अन्तर्गत लोक व्यवहार या प्रकृति आदि की विभिन्न वस्तुओं को लक्ष्य करके सार्वभौमिक सत्यो का उद्‌घाटन किया जाता है। ऐसी काव्याभिव्यक्तिया इतनी अभिव्यजना-प्रधान होती हैं कि सामान्य व्यक्ति भी सहज भाव से तत्त्व को ग्रहण कर लेता है। सामान्य उपदेश की अपेक्षा ऐसी अन्योक्तिपरक अभिव्यक्तियां मनुष्य के हृदय पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ने में अधिक समर्थ होती हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य मे 'क्षणिका' शैली द्वारा काव्य लेखन की प्रवृति अत्यन्त लोकप्रिय होती जा रही है। इसी शैली के माध्यम से आचार्य श्री की काव्यक्षणिकाओं ने भी मानव जीवन के कटु सत्यों को उद्‌घाटित किया है।

इन पंक्तियों के लेखक ने उपदेश सार सग्रह(प्रथम भाग)से अनेक काव्यमय क्षणिकाओ और अन्योक्तियो को विविध शीर्षको के माध्यम से संकलित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। प्रकीर्ण रूप से यत्र तत्र बिखरे हुए उपदेशो को भाव साम्य की दृष्टि से एक शीर्षक के अन्तर्गत लाने की चेष्टा की गई है। किंचित् संकलनात्मक एवं प्रस्तुतीकरण सम्बन्धी परिवर्तनो एव सशोधनो के अतिरिक्त समग्र भावपरकता एव शब्द योजना की दृष्टि से महाराज श्री की मौलिकता को बनाए रखा गया है।

'ओ बन्दी देख!' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्षणिका है जिसमे मानव मन द्वारा इन्द्रियों की दासता ग्रहण करने की दुर्बलताओ का हृदयाकर्षक वर्णन मिलता है। इन्द्रिया अपने बाह्य विषयों से पराभूत हो जाने के कारण आत्मोन्मुखी वृत्ति से पराङ्मुख हो गई हैं। इसी मानवीय दुर्बलता को विदेशी शासन की गुलामी के रूपक मे बाधा गया है। विदेशी सत्ता का तन और मन दोनो पर अधिकार हो गया है। इस परतन्त्रता की जंजीरों मे जकडा हुआ मानव भोगविलास के पुष्पसौन्दर्य से मोहित है और कैद कर लिया गया है। रूप-रस-गन्ध के कटीले तारो से उसकी स्वतन्त्रता अवरुद्ध हो गई है। स्वतन्त्रता, मुक्ति, आलोक और समता से वंचित मानव मन अपने विषय भोगों की लोलुपता के कारण दासता की जजीरों मे जकड़ता ही जा रहा है।

'विषय भोगों' से लिप्त मनुष्य मुक्ति की ओर जाना भी चाहे तो भी वह वहां तक पहुचने मे कितना असमर्थ है—इस भाव की सौन्दर्याभिव्यक्ति 'विवशता' नामक क्षणिका मे की गई है। नयनाभिराम सुन्दरियो से आत्म-प्रकाश का मार्ग अवरुद्ध हो गया है। धन-वैभव की शान शौकत ने तत्त्व दृष्टि को ढक दिया है। 'संघे शक्ति कलौ युगे' में उस भेड़चाल की प्रवृति का पर्दाफाश किया गया है जब भौतिकवादी सुखवाद के शोरगुल मे अध्यात्म चेतना कुंठित हो जाती है और मनुष्य जानता हुआ भी सांसारिक सुखों मे ही आत्म कल्याण मानता है। संघ चेतना का युगीन स्वर उसे इस ओर जाने के लिए विवश किए हुए है। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' नामक कविता मे आम्रवृक्ष के प्रतीक द्वारा फलप्राप्ति के समाज शास्त्र को समझाया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत संग्रह मे अनेकानेक अन्योक्तियां प्रकृति की किसी वस्तु विशेष की विशेषता द्वारा जीवन के कटु सत्यों का आभास कराती हुई हमें तत्त्वचिन्तन की गहराइयों मे ले जाती हैं। आशा है काव्य रसिक एवं श्रद्धालु लोग महाराज श्री की इन क्षणिकाओं से आनन्दित होने के साथ-साथ ज्ञानान्वित भी होंगे।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी की काव्य-क्षणिकाएं

१. ओ बन्दी देख !

ओ बन्दी ! तू पूछता है—पराजय क्या है ?
पराजय है विदेशी सत्ता के सामने आत्मसमर्पण !
विदेशी तेरे देश के हर कोने में घुसता जा रहा है
औ सोख रहा है तेरी देह से अनवरत रक्त
यही रक्त सींच रहा है विदेशी शासन के तरु मूल को
ताकि उसमे खिल सकें तरह तरह के रंग बिरंगे फूल
देख ! यही तेरी परतन्त्रता है !

विदेशी किस्म के फल फूलों ने तुझे इतना लुभाया है
देख ! यही है तेरी परतन्त्रता का हेतु !
विदेशी सेना तुझे एक ऐसे दुर्ग में बन्दी बना चुकी है
जिसके पाचों द्वारों में लगे हैं कटीले तारों के घने जाल
ओ बन्दी ! माना शासक उदार दिल का है
तो कुछ सुविधाएं भी मिल सकती हैं !
फिर भी देख ! बन्द ही पड़े हैं स्वतन्त्रता के द्वार !

फूलों की जिस सेज में तू सोया है
इनके केशर में उलझ गए हैं तेरे पैर !
जरा देख ! बन्द ही पड़े हैं मुक्ति के द्वार

ये हीरों का हार उपहार नही है
यह है तेरी आखो का मनमोहक उपहास
परन्तु देख ! बन्द ही पड़े हैं ज्योति के द्वार !

जिस प्रासाद मे तू बन्दी है वह है शत्रु का विजय स्तूप !
जिसमें पराजित व्यक्ति सदैव गाता है विषमता के गीत
ओ बन्दी देख ! बन्द ही पड़े हैं समता के द्वार !

२. विवशता

ओ सर्वज्ञ ! मैं तेरा मार्ग कैसे जानू ?
देखो न ! ये कजरारे बादल मंडरा रहे हैं !
ढांक दिया है इन्होंने मेरी आखों के प्रकाश को !

ओ सर्वदर्शिन् ! मैं तुझे अब कैसे देखू ?
देखो न ! इन गगन चुम्बी अट्टालिकाओ को !
कैद कर ली है इन्होंने मेरी पारदर्शी दृष्टि को !
ओ निर्विघ्न ! मैं तेरे पास कैसे आऊं ?
तेरे सिंह द्वार पर बैठे हैं भयंकर प्रहरी !
बिछा दिए हैं जिन्होंने काटों के कटीले जाल !

ओ वीतरागी ! मैं तेरे पथ पर कैसे चलू ?
उन्मत्त हो चुका हूं सुनहरे सपनों की मादकता से
मैं आना चाहता हूं मगर पैर लड़खड़ा रहे हैं !

३ आस्तिक-नास्तिक

नास्तिक ने आत्मा का अस्तित्व न माना तो क्या ?
उसके पास विधि का अक्षय कोष है !
आस्तिक ने आत्मा का अस्तित्व माना तो
उसे एक के बदले विशाल निषेध शास्त्र को रचना पड़ा !

४. संघे शक्ति कलौ युगे

उधर मेरे साथी भी तो खड़े हैं !
पुकार पुकार कर कह रहे हैं !
अरे ! परलोक किसने देखा है !
विजय का आनन्द किसने लूटा है !!

ये पौद्गलिक सुख हमें प्रत्यक्ष हैं !
ये भोग हमारे निःसर्ग हैं !!
इन्हें पराजय कौन कहता है ?

वर्तमान को छोड़ रहा है !
भविष्य के लिए दौड़ रहा है !!
अरे निपट मूर्ख है !

शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श !
सुख दुःख के हमारे साथी हैं !
इनके दुर्भेद्य संघ को भला—
पराजित कौन कर सकता है ?

अपन भी सबके साथ ही चलेंगे !
जो सबके साथ होगा !
वही अपन का भी सही !!

५. कर्मण्येवाधिकारस्ते

"कर्म मे तेरा अधिकार है, फल मे नहीं"
सदियों से मनुष्य इसे गाता आया है !
परन्तु तरु उसे साक्षात् निभाता आया है !!
झुके हुए आम्र वृक्ष ने सम्बोधित किया—
"फल देने के लिए होता है अपने लिए नहीं"

कच्चे फलो को मैं बांधे रखता हूं
क्योंकि वे खट्टे होते हैं, अबोध होते हैं !
मिठास उनमे जब आती है
तो उन्हें दे दिया करता हूं
तरु ने फल को समझाया
"भला परिपक्व के लिए कैसा बन्धन" !

६. आत्म-बलिदान

जेठ के धधकते महीने मे
धूप बह रही थी विकराल बन कर !
एक पनिहारिन ने जल का भरा घड़ा
काठ की पट्टी पर टिका दिया
घड़े के नीचे था गरम लू से सन्तप्त!
पानी का प्यासा रेत का ढेर !

कभी कभी बन्धन असह्य होता है !
बलिदान का भाव मुखरित हुआ
मैंने देखा—जल बिन्दु टपका
प्यासी रेत ने उसे सोख लिया
फिर दूसरा बिन्दु टपका पर
वह भी न बच सका !

मैं नहीं जान सका—नीचे गिरते हुए
और सोखे हुए जल बिन्दुओं के मुक्ति प्रेम को !
औ रेत की समरस नृशंसता को
किन्तु मैने देखा कि अब घड़ा खाली है !

७. स्वप्न सृष्टि

देर रात के घुप अंधेरे में कबूतर आया अपने नीड़ में
मंगल प्रभात का स्वप्न टूट गया आला खाली था
केवल अंडे थे उनका पोषण करने वाली नहीं थी

वह निराश चारों ओर घूमा पर उसे नही पा सका
मैंने उसकी निराश-करुण आंखो मे झांका
उसकी मूक वेदना को पढ़ा और आत्मा को टटोला

मुझे स्मरण हो आई वह वाणी
जहां संयोग है वहां वियोग भी होगा
जो सयोग में सुखी है वह वियोग मे दु:खी होगा
संयोग-वियोग से ऊपर उठ सके ऐसी अनुभूति उसमे कहा !

वियोगी कबूतर रो रहा था
अब अपने अण्डे भी उसके लिए भार थे
मां ही ममता का प्रेम दे सकती पिता नहीं

किन्तु यह भार उस बिल्ली को नहीं लगा
जिसने कबूतर की स्वप्न सृष्टि को
एक ही झपट में उठा लिया था

८. वसुधैव कुटुम्बकम्

शत्रु वह नहीं जो हमारे ही जैसा है
मनुष्य मनुष्य जैसा है इसलिए मनुष्य मनुष्य का शत्रु नहीं !
दीप आलोक देता है भले ही वह पूरब का हो या पश्चिम का
आलोक का शत्रु आलोक नहीं हो सकता !

९. गर्वोन्माद

सस्मित कवि ने टिट्टिभ से कहा—
"हे कवे ! ऐसी कल्पना मत कर कि मैं गर्वोन्मत्त हू ।
रात्रि में जब गहन अन्धकार छा जाता है
सारा जगत् निश्चिन्त सुख से सोता है
ऐसे मे कुछ अनिष्ट भी हो सकता है
यदि ऐसे मे निरालम्ब आकाश नीचे गिर पड़े
मैं सोचता हू उसे कौन झेलेगा ?
इसलिए मैं अपने पैरों को ऊपर किए सोता हूँ
कवे ! विश्वास कर यह मेरा गर्वोन्माद नही !"

१०. सुरक्षा

एक तने पर अनेक शाखाएं हैं
एक शाखा पर अनेक फल !
एक फल मे अनेक बीज होते हैं
बीज फिर कभी वृक्ष बनेंगे—
इस उम्मीद से फलों ने उन्हें
अपने उदर मे छिपा रखा है !

११. वसन्त फिर आएगा

एक बूढ़ा सूखे वृक्ष से बोला
ओह ! यह क्या ! फल नही,
फूल नहीं, एक पल्लव भी नहीं !

नंगी टहनियों से भला कैसी शोभा ?
वाह रे पतझड़ ! कैसा बुरा हाल किया !

वृक्ष बूढ़े की झुर्रियों पर मुस्कराया
और उसकी मूर्खता पर हंसकर कहने लगा—
मनुज ! बसन्त फिर आएगा ! यौवन नही

१२. बहुत से क्या

बहुत से क्या एक चिंगारी चाहिए
कोयले स्वय धधक उठेंगे !

बहुत से क्या एक बीज चाहिए
वृक्ष स्वय खिल उठेंगे !

बहुत से क्या एक हिलोर चाहिए
मन स्वयं महक उठेंगे !

बहुत से क्या एक मनुष्य चाहिए
मनुष्यता स्वयं निखर उठेगी !

१३. मैं कैसे मानूं ?

सेठ ने कहा मुनिराज ! मैं कैसे मानू—
"धन अनर्थ का मूल है इसलिए बुरा है"
महाराज ! जब मैं निर्धन था तो कोई कदर न थी
मैं संयमी था किन्तु फिर भी बेईमान कहा जाता था

महाराज ! आज मैं धनी हू लोग चरण चूमते हैं
असंयमी हूँ फिर भी लोग महान् कहते हैं
अब बताओ मैं कैसे मानू—धन बुरा है ?

१४. मिलन और विरह

मिलन मे सुख है विरह मे वेदना !
मानव मिलन-प्रेमी है और विरह-विद्वेषी !
पर उसे क्या मालूम विरह के बिना मिलन का सुख कैसा ?

१५. काटना और साधना

काटना सहज है साधना कठिन
कैंची अकेली चलती है क्योंकि
उसका काम है सीधा 'काटना'
सूई धागे के बिना चल नहीं सकती
क्योंकि 'सीने' मे अनेक घुमाव जो होते हैं !!

१६. नेपथ्य में

मैं ढूढ रहा था भगवान् को
भगवान् खोज रहे थे मुझे !

अकस्मात् हम दोनों मिल गए
न तो वे झुके और न मैं झुका
न वे मुझसे बड़े थे और न मैं उनसे लघु था

एक पर्दा मुझे उनसे विभक्त किए था
वह हटा और मैं भगवान् बन गया !

१७. अस्तित्वहीन

केवल गति ही नहीं स्थिति भी चाहिए
पवन में गति है पर स्थिति नहीं
वह पल में होता है ठण्डा और पल मे गरम
पल-पल में सुरभित और दुर्गन्धित भी !
लगता है उसका कोई अपना अस्तित्व ही नहीं !

१८. समन्वय

बादल चले आ रहे थे बरसने
अनन्त ने उनका सम्मान किया !
बादल चले आ रहे थे बरस कर
अनन्त ने उन्हे छाती से चिपका लिया !!

१९. सापेक्षता

वह ठंडक किस काम की
जो पानी को पत्थर बना दे।
वह गर्मी भी क्या बुरी है
जो पत्थर को भी पानी बना दे ।।

२०. तप का चमत्कार

भला लघु बने बिना भी कोई ऊँचा उठ सकता है ?
जल बादलो से भरकर भारी हुआ कि नीचे चला गया !
पात्र में तपकर लघु हुआ कि बाष्प बन कर अनन्त में लीन हो गया
तपे बिना कौन लघु हो सकता है ?
और लघु बने बिना कौन अनन्त को छू सकता है ?

२१. गतिरोध

सिगनल झुका, रेल चलती गई।
वह स्तब्ध रहा, रेल रुक गई।
गतिरोध वहां होता है जहां स्तब्धता होती है।

२२. प्रकाश और तिमिर

सूर्य ! तुम्हारे पास सब कुछ है समत्व नहीं !
तिमिर अपने अंचल मे
समूचे विश्व को छिपा लेता है !
तम में साम्य है, एकत्व है
रवि, तुम यह नही कर पाते !
तुम्हारे रश्मिजाल मे
विश्लेषण है, भेद है !
शान्ति और मौन को लेकर
आता है तिमिर
सहस्ररश्मि ! तुम लाते हो
क्रान्ति और तुमुल !

२३. आरोप की भाषा

कोलाहल होता है, हम जग जाते हैं
शान्ति होती है, हम सो जाते हैं
यह हमारी आरोप की भाषा है
सचाई कुछ और ही है
हम जगते हैं तभी कोलाहल होता है
हम सोते हैं तभी शान्ति रहती है
शान्ति और कोलाहल—
हमारी ही परिधियां हैं !

२४. उषा और सन्ध्या

नया आलोक लिए उषा आती है
संसार जगाने को !
सन्ध्या आती है खोलने को
हमारे जीवन की एक गांठ !
एक दिन वह भी आता है
जब जीवन की सभी गाठें
हो जाती हैं निश्शेष !

२५. विधि का विधान

कण कण तुम्हारा मधुर है—ईक्षु !
देखो ! विधि का यह कैसा विधान है !
ये सुरभिहीन तुम्हारे ही फूल
क्या तुम्हारी मधुरिमा के अनुरूप हैं ?

२६. रंग परिवर्तन

चाँदनी की सफेदी मे रंगे
खजूर के तनों को विलीन होते देखा !
और यह भी देखा ! कि अपने ही रंग
के निर्विकार पत्ते
शून्य में निराधार खड़े थे !

२७. उतार चढ़ाव

मैं सागर की गहराई को
विस्मय से देख रहा था
किन्तु सागर मेरे मन की
गहराई मे डूबा जा रहा था
मैं हस रहा था उर्मियों के
उतार चढाव पर
वे पहले ही मेरी कल्पनाओ के
उतार चढ़ाव पर हंस रही थी।

२८. मुक्ति

रस्सी ! मुझे मुक्ति दो !
अब तुम लम्बी हो चली हो !
एक साथ ही बहुतों को
बाधना चाहती हो क्या ?

वह सघनता अब मिट चुकी है !
तब विश्वास था अब सन्देह !
तब बन्धन था अब मुक्ति !
रस्सी ! तुम लम्बी हो चली हो
अब मुझे मुक्ति दो ! मुक्ति दो !!

२९. अमृत और विष

अमृत पी मनुष्य क्लान्त हो गया है
आज उसे विष की बूदें पीनी होंगी !
अन्यथा अमृत स्वयं विष बन जाएगा !

अब विष पान कर !
चिरकाल से तू अमृत पीने का आदी है !
तेरा उद्गार भी विकृत हो चला है !
लंघन के क्रम का उल्लघन मत कर !
अन्यथा अमृत स्वयं विष बन जाएगा !

विष को अमृत किया इसलिए
नीलकंठ शंकर बना है !
जिसने विष को पचा लिया
वह अमर हो गया !

३०. यह वही सुन्दरी है

यह वही सुन्दरी है—जिसका यौवन
वरदान बन गया था !
जिसका हर चरण हजारो आखो
का नूपुर पहन चुका था !
जिसके सौन्दर्य की गहराई मे
हजारो स्नेह बिन्दु समा चुकी थी
यह वही सुन्दरी है—जिसके बुढ़ापे ने
हजारो दृष्टियों मे उपहास भर दिया है !
जिसके होठों की पपड़ियों मे
समा चुकी है घृणा की गन्ध !
जिसके झुरियों में सिमटे हुए मुखचन्द्र ने
जगा दिए करुणा सागर मे अनेक ज्वार भाटे
अरे ! यह वही सुन्दरी है !
जिसका बुढ़ापा अभिशाप हो रहा है !

३१. लोकालोक

इस मिट्टी के बर्तन में
घी तूने उडेला, बाती सजाई !
पर चिन्गारी तेरे पास कहा है ?
दियासलाई मत जला, लकड़िया मत घिस,
वह सूरज रहा बादलो की ओट में
उसकी एक किरण ले आ
याद रख ! यहा की चिन्गारी
क्षितिज के उस पार उजाला नही बनेगी !

३२. दिन और रात

मनुष्य ने कृत्रिम प्रकाश कर
रात को दिन बनाना चाहा
पर नींद से अधमुदी आखो ने
यह मानने से इन्कार कर दिया
कि अभी दिन है !
दिन अपने साथ प्रकाश लाता है
इसलिए वह स्पष्ट है !
रात इसलिए अन्धेरे में रहती है
कि वह सबको एक समान बनाना चाहती है !!

३३. नीला आकाश

ओ द्रष्टा ! इस रगीन चश्मे को उतार फेंक !
किसने कहा—आकाश नीला है ?
जो नीला है वह आकाश नही
धूप और छांह—नीले और सफेद की रेखा
इस सूरज ने खींच रखी है
नटराज ! ऊपर को देख आकाश नीला नही है,
नीचे गड्ढा है !

३४. ओ विदेह

इस रेशमी कीड़े ने अपने हाथो
यह जाल कब बुना था ?
यह अभिमन्यु इस चक्रव्यूह
में कब घुसा था ?
कहां है इस जाल का आदि बिन्दु
मध्य बिन्दु और अन्त बिन्दु ?
अन्दर से अभिमन्यु चिल्ला रहा है !
मैं उस मुक्ति बिन्दु में आना चाहता हूँ !
जहां जालों औ व्यूहों की परम्परा ही नही है।

३५ श्रद्धा का इतिहास

आसुओं की स्याही से
लिखा गया है—श्रद्धा का इतिहास !
भक्ति के उद्रेक से पिघल जाता है
भक्त का कोमल हृदय !
देख सकता नहीं भगवान्
अपने भक्त की इस दशा को
परम कारुणिक अपने भक्त के खातिर
स्वयं ही पिघल जाता है।

३६. अर्थ-गौरव

शब्द उतने ही हों जितना अर्थ !
जल उतना ही ओ जितना मीठा !
वे शब्द किस काम के
जो अर्थ-गौरव को निगल जाएं !
वह जल किस काम का
जो मिठास को ही हर ले !

३७. व्यक्ति और समूह

व्यक्ति मे निर्माण शक्ति है
किन्तु मूल्य है स्वतंत्र !
व्यक्ति-व्यक्ति के बीच विराम है
शक्ति संचय से हीन
जैसे—१, २, ३ (एक, दो, तीन)
समूह में निर्माण शक्ति नहीं
स्वतंत्र मूल्य से भी वंचित !
उसमे एक दूसरे के बीच विराम नहीं !
शक्ति संचय से प्रेरित
जैसे—१ २ ३ (एक सौ तेइस)

३८. आवरण

मैं आश्चर्य से देखता रहा !
सूर्य का अभिनन्दन उसने किया
जो तिमिर को अपने में छिपाए हुए था।
सत् का अभिनन्दन उसने किया
जो असत् को अपने में छिपाए हुए था।
जन्म का अभिनन्दन उसने किया
जो मृत्यु को अपने मे छिपाए हुए था।
स्मित का अभिनन्दन उसने किया
जो अश्रुओं को अपने में छिपाए हुए था।
मैं आश्चर्य से देख रहा हूँ !
तिमिर प्रकाश का कवच पहने हुए है।
असत् सत् का कवच पहने हुए है।
मृत्यु जन्म का कवच पहने हुए है।
अश्रु स्मित का कवच पहने हुए है।

३९. मैं महान् हूँ

अकिंचन हूँ, इसलिए मैं महान् हूँ !

कामना हीन हूँ, इसलिए मैं सुखी हूँ !

इन्द्रियां संयत हैं, इसलिए मैं स्वतन्त्र हूँ !

आत्मद्रष्टा हूँ, इसलिए मैं अभय हूँ !

४०. चिन्तन और चिन्ता

चिन्तन क्या है ?

जीवन दर्शन का प्रतिबिम्ब !

चिन्ता क्या है ?

विकृत मनोभावों का भय !

अमृत
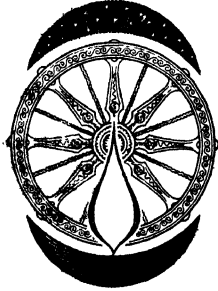
जैन धर्म का शाश्वत स्वरूप

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

'वत्थुसहावो धम्मो' अर्थात्—वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। जिस तरह जल का स्वभाव शीतल है। जल चाहे आकाश से गिरा हो, कुए या बावड़ी से निकाला हो, किसी झील, नदी या समुद्र से लिया जाय, शीतल ही होगा। हाँ, कुछ स्रोतों से गर्म जल भी आता है परन्तु वह स्वाभाविक नही होता। इस पृथ्वी में अनेक स्थानों पर दहनशील अग्निमय पदार्थ भी पाये जाते हैं। अनेक पर्वत ऐसे होते हैं जिनसे अग्निज्वाला निकलती रहती है। पृथ्वी के भीतर कहीं पर गन्धक की खानें होती हैं। किसी जल के सोते के नीचे पृथ्वी मे यदि ऐसी कोई अग्निमय पदार्थ की खान हो तो वह उस जल को उष्ण करती रहती है। इस कारण उन सोतो मे पानी गर्म ही निकला करता है, जैसे कि राजगृही के कई कुण्डो मे निकलता है। परन्तु सोते का वह गर्म जल भी थोडी देर पीछे स्वयं ठण्डा होकर अपने स्वभाव में आ जाता है। इस कारण जल का धर्म या स्वभाव शीतल मानना पडता है।

आत्मा का स्वभाव आत्मा का धर्म कहलाता है। आत्मा ज्ञान, दर्शन, क्षमा, धैर्य आदि अनन्त गुणों का अखंड पिण्ड है। यद्यपि ससारी जीवो का आत्मा कर्मों के कारण पराधीन बना हुआ है, उसके स्वाभाविक गुण विकृत हो गये हैं, उसके गुणो मे से अनेक गुण अविकसित हैं, अनेक विकृत हो गये हैं, किन्तु फिर भी उनकी स्वाभाविक झलक सर्वथा नही छिप सकती। जिस तरह सूर्य पर चाहे जितने बादल आ जाएँ परन्तु उसके द्वारा जगत् में होने वाला प्रकाश तो हो ही जाता है, जैसे कि वर्षा के दिनों मे होता है। ज्ञानावरण कर्म के द्वारा ससारी आत्मा का ज्ञान बहुत कम हो गया है। परन्तु ऐसा नही है कि वह सर्वथा अस्त हो गया हो, कुछ न कुछ ज्ञान प्रत्येक जीव मे पाया ही जाता है। निगोदिया जीव मे सबसे कम ज्ञान होता है। वह अक्षर ज्ञान के अनन्तवें भाग होता है। अर्थात् ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है। अत. वह आत्मा मे अवश्य सदा रहता है।

क्षमा आत्मा का स्वाभाविक गुण है। क्रोध स्वाभाविक गुण नहीं है। इसी कारण क्रोध थोडी देर ठहरता है। उतनी ही देर में क्रोध से आत्मा व्याकुल हो जाता है। क्षमा आत्मा मे सदा बनी रहे तो भी आत्मा को कोई कष्ट नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा के और भी स्वाभाविक गुण हैं। वे स्वाभाविक गुण जिस मार्ग पर चलने से प्रगट हो जाते हैं उसी का नाम धर्म है। कर्मों के कारण आत्मा के गुण विकृत या अल्प विकसित हो रहे हैं, जिससे कि आत्मा को संसार मे जन्म-मरण, भूख-प्यास, रोग, बुढापा, खेद, शोक आदि अनेक तरह के शारीरिक, मानसिक कष्ट मिल रहे हैं। आत्मा दुर्गतियो मे चक्कर लगा रहा है। आत्मा जिस मार्ग पर चलने से इन कष्टो से बिल्कुल छूट जावे उसका नाम धर्म है। श्री समन्तभद्र आचार्य ने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में कहा है—

देशयामि समीचीनं धर्मंकर्मनिबर्हणम्।
संसारदु.खत सत्त्वान्यो धरत्युत्तमे सुखे॥

अर्थात् धर्म कर्म-जाल को नष्ट करके तथा ससार-दुःख से छुडाकर उत्तम सुख मे पहुँचाने वाला होता है, ऐसे धर्म को मैं बताता हू।

श्री समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' मे जिस धर्म की रूपरेखा बतलाने का सकेत किया है वह धर्म जैनधर्म के नाम से विख्यात है, जो कि ससार का सबसे प्राचीन धर्म है क्योंकि प्रचलित अवसर्पिणी युग मे सबसे प्रथम इसी धर्म का उदय हुआ था। इसका संक्षिप्त इतिहास यों है—

आज से करोडो वर्ष पहले अयोध्या के शासक राजा नाभिराय की रानी मरुदेवी के उदर से परम तेजस्वी पुत्र ऋषभनाथ का जन्म हुआ था। ऋषभनाथ जन्म से ही अवधिज्ञानी थे। जब वे बडे हुए तो उन्होंने अपने एक सौ पुत्रो को तथा जनता को खेती-बाड़ी, युद्ध,

'अमृत-खंड' के अन्तर्गत विभिन्न चातुर्मासों में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज द्वारा दिये गए प्रवचनों का सार-संक्षेप डॉ० महेन्द्र 'निर्दोष' द्वारा संकलित-संपादित किया गया है।

राजनीति, वस्त्र बुनना, नाट्यकला, चित्रकला आदि अनेक कलाएं सिखलाईं। अपनी बड़ी पुत्री ब्राह्मी को अक्षर-विद्या और छोटी पुत्री सुन्दरी को अंकविद्या सिखलाई। इस तरह गृहस्थ दशा में उन्होंने लौकिक विद्याओं की शिक्षा सर्वसाधारण को दी। फिर जब वे ससार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर योगी बने तब एक हजार वर्ष तक अनेक कठिन तपस्याएं करने के बाद वे सर्वज्ञ वीतराग जीवन्मुक्त परमात्मा बन गये। राग, द्वेष, क्रोध, मद, मोह, माया, काम आदि विकारों को आत्मा से दूर कर दिया तथा आत्मगुण-घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चारों कर्मों पर विजय प्राप्त कर ली। उक्त दुर्भावों और कर्मों को जीत लेने के कारण भगवान् ऋषभनाथ का उपाधिनाम 'जिन' (जयति इति जिन. यानी जीतने वाला) प्रसिद्ध हो गया।

उस जीवन्मुक्त 'जिन अवस्था में उन्होंने विशाल समवशरण नामक व्याख्यान-सभा द्वारा समस्त सुर, नर, पशु, पक्षी आदि जीवों को कर्मों तथा दुर्भावों से आत्मा को शुद्ध करने वाला अनुभूत मार्ग (धर्म) का उपदेश दिया, जिसका आचरण करके अनेक मनुष्यो ने दीक्षा लेकर परमात्मा पद को प्राप्त किया। जो मुनि न बन सकते थे उनके लिये गृहस्थ अवस्था मे रहते हुए उससे नीची श्रेणी सुगम आचरण बतलाया। इस कारण उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म का नाम उनके प्रसिद्ध नाम 'जिन' के अनुसार 'जैनधर्म' विख्यात हुआ।

इस तरह भगवान् ऋषभनाथ लौकिक कलाओं के सबसे प्रथम शिक्षक हुए और सबसे पहले वे योगी बने तथा अपने योग में पूर्ण सफल होकर इस युग की अपेक्षा सबसे प्रथम धर्म-प्रचारक आद्य तीर्थंकर हुए। आत्मा को महात्मा, तदनन्तर परमात्मा बनाने की विधि बतलाई। इस प्रकार जैनधर्म का उदय जगत् मे अन्य सब धर्मों से पहले हुआ है। इस कारण ससार का सबसे प्राचीन धर्म जैनधर्म है।

आत्मा को पूर्ण शुद्ध करके परमात्मा बनाने का विधान केवल जैनधर्म ने बतलाया है। अन्य धर्मों मे परमात्मा केवल एक व्यक्ति को माना है, उनके सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा अन्य कोई नही बन सकता वह चाहे जितनी भी तपस्या क्यो न करे। परन्तु जैनधर्म ने आत्मा का सामान्य स्वरूप बतलाकर ससारी आत्मा को विशेष रूप से खुलासा करके बतलाया कि आत्मा ससार मे कर्मबन्धन के कारण अशुद्ध, विकृत, परतन्त्र होकर विविध योनियो मे जन्म-मरण करता हुआ घूमता-फिरता है। किस तरह कर्मबन्धन बनता है? कितने उसके भेद हैं, वह जीव को फल किस तरह देता है, किस तरह वह कम होता है, किस तरह बढ़ता है, वह कर्म-बन्धन जीव के किस-किस गुण को क्या हानि पहुँचाता है, किस तरह उसका वेग हलका होता है, किस तरह कर्म छूटता है? इत्यादि कर्म-सिद्धान्त बड़े विस्तार के साथ जैन दर्शन मे बतलाया गया है। उस सिद्धान्त के अनुसार जो व्यक्ति कर्म दूर करने की जितनी कोशिश करता है उतना ही शुद्ध उसका आत्मा होता है। घर-बार छोड़ साधु-दीक्षा लेकर जो अपना सारा समय आत्म-शुद्धि के लिये ध्यान-स्वाध्याय आदि में लगाते हैं, काम क्रोध आदि को बहुत कुछ शान्त कर देते हैं, वे आत्मा से महात्मा बन जाते हैं।

वे ही महात्मा आत्म-ध्यान करते-करते जब अपने कर्मों को निर्मूल नष्ट करके अपना आत्मा पूर्ण शुद्ध बना लेते हैं तब उनके समस्त आत्मगुण कर्म-आवरण हट जाने से पूर्ण विकसित हो जाते हैं। अत: वे सर्वज्ञ, द्रष्टा, पूर्ण सुखी, निरजन, निर्विकार परमात्मा सदा के लिये बन जाते हैं। इस तरह आत्मा, महात्मा और परमात्मा आत्मा की ही तीन श्रेणियाँ हैं। अत: जितने भी आत्मा पूर्ण ज्ञानी, पूर्ण सुखी व निर्विकार बन चुके हैं वे सभी परमात्मा हैं। इस तरह आत्मा के पूर्ण विकास का स्पष्ट विवरण जैनधर्म के सिवाय अन्य किसी दर्शन ने नही बतलाया।

हिन्दुस्तान टाइम्स के सम्पादक, गाधी जी के सुपुत्र श्री देवदास गाधी जब इगलैण्ड गये तो वहा के प्रसिद्ध विचारशील लेखक जार्ज बर्नार्ड शॉ से मिले। बातचीत करते हुए देवीदास गाधी ने बर्नार्ड शॉ से पूछा कि आपको सबसे अधिक प्रिय धर्म कौन-सा प्रतीत होता है? बर्नार्ड शॉ ने उत्तर दिया कि "जैनधर्म"। देवदासजी ने इसका कारण पूछा तो जार्ज बर्नार्ड शॉ ने उत्तर दिया कि—जैनधर्म में आत्मा की पूर्ण उन्नति तथा पूर्ण विकास की प्रक्रिया बताई गई है—इस कारण मुझे जैनधर्म सबसे अधिक प्रिय है।

जैनधर्म विश्वहितकारी धर्म है। ससार के प्रचलित धर्मों मे किसी धर्म मे तो केवल अपने धर्मानुयायियो की रक्षा करने का ही उपदेश है। जो नर नारी उस धर्म के अनुयायी न हो उनको अपना शत्रु समझ कर या तो उन्हे मार कर नष्ट करने का उपदेश दिया है या बलपूर्वक उन्हे अपना धर्म मनवाने की शिक्षा दी है। दूसरे धर्मानुयायियो के साथ कुछ कम या कुछ अधिक कठोर बर्ताव करने का उपदेश प्राय: सभी धर्मों (जैन धर्म के सिवाय) के ग्रन्थों में दिया गया है। किसी धर्म ने यदि दया भाव का क्षेत्र कुछ बढ़ाया है तो समस्त मनुष्यों की रक्षा करने का विधान उसने कर दिया है। किसी धर्म ने मनुष्य के सिवाय कुछ काम आने योग्य पशुओं की रक्षा करने का विधान कर दिया है। अपने परमात्मा देवी देवताओं का प्रसाद (प्रसन्नता) पाने के लिये अनेक धर्मों में गाय, बकरा, भैंसा, सुअर, मुर्गा, घोड़ा यहाँ तक कि मनुष्य को भी मार कर भेंट करने का उपदेश दिया है। सभी पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, आदि जीवों की रक्षा करने का विधान किसी भी धर्म मे नही पाया जाता। यह प्राणी मात्र पर दया करने का उपदेश जैनधर्म में ही पाया जाता है। कोई भी प्राणी वह चाहे सर्प, सिंह, भेड़िया, बीछू आदि दुष्ट प्रकृति का हो अथवा कबूतर, खरगोश, हिरण आदि भोली प्रकृति का हो, हाथी, ऊँट

आदि बड़े आकार का हो अथवा चीटी, मकोड़ा, मच्छर आदि छोटे आकार का हो, एकेन्द्रियधारी हो अथवा पंचेन्द्रिय हो, जलचर हो, थलचर हो या नभचर हो, समस्त जीवों की रक्षा करने का उपदेश जैन धर्म मे दिया गया है। अतः विश्व धर्म कहलाने का अधिकार केवल जैन धर्म को ही है।

इसी 'अहिसा परमो धर्म' का सिद्धान्त महात्मा बुद्ध ने मान कर पशुयज्ञ का विरोध अवश्य किया परन्तु मांस-भक्षण को अपना कर प्रकारान्तर मे हिसा का अश रहने दिया। आज विदेशी बौद्ध साधु मांस-भक्षण करते हैं। जैनधर्म ने अपने सबसे निम्न कोटि के अनुयायी को भी मास का न खाना नियमित रक्खा। इस कारण ससार के जहाँ प्रायः सभी धर्मानुयायियो मे मास-भक्षण प्रचलित है वहाँ केवल जैन धर्मानुयायी ही मास भक्षण से अछूते हैं।

इसके सिवाय खान-पान के विषय मे जैनधर्म का सुनिश्चित सिद्धान्त है। कौन पदार्थ किस दशा मे भक्ष्य (खाने योग्य) है और किस दशा मे वह भक्ष्य नही है। पानी, दूध आदि पेय पदार्थों मे से कौन-कौन पेय ग्राह्य हैं और कौन-कौन से अग्राह्य हैं? कौन से सर्वथा अभक्ष्य अपेय हैं और क्यो हैं? इसका सुनिश्चित वैज्ञानिक विवरण जैन धर्म के सिवाय अन्यत्र नही मिलता।

जीवों का वर्गीकरण जैन सिद्धान्त मे जिस सुन्दर ढग से किया गया है वैसा अन्यत्र कही नही मिलता। कौन जीव किस श्रेणी का है, उसकी कितनी इन्द्रियाँ और कितने प्राण हैं? कितनी उसमे ज्ञान शक्ति है? इसका वैज्ञानिक उल्लेख जैन-सिद्धान्त मे पाया जाता है। वृक्षो मे जीव प्रायः किसी भी धर्म ने नही माना, यदि किसी ने माना है तो वह इस विषय मे पूरा खुलासा नही दे सकता। परन्तु जैनधर्म इस विषय मे बहुत अच्छा विज्ञान-सम्मत खुलासा बतलाता है। वनस्पतियो का वर्गीकरण बड़े अच्छे ढग से जैन दर्शन ने किया है। उनकी ग्राह्यता, अग्राह्यता पर सुन्दर प्रकाश डाला है।

जैनधर्म का आचार शास्त्र बहुत सुन्दर है। उसके समस्त नियम श्रेणीबार सुनिश्चित है। उनमे कही भी कमी या बेशी करने की रंचमात्र भी आवश्यकता नही है। मनुष्य को उच्च ध्येय की सिद्धि के लिये अपने जीवन्मुक्त अर्हन्त भगवानों तथा तीर्थंकरो की प्रतिमाए बनवा कर उनका विधिवत् सन्मान पूजन करना, दर्शन करना भी जैनसिद्धान्त ने ही सबसे प्रथम ससार के समक्ष रक्खा। मूर्ति मन्दिर, शिखरवेदी का निर्माण, उनकी प्रतिष्ठा आदि के निश्चित नियम जैनशास्त्रों मे बताये गये हैं। बुद्धि को परिपक्व करने के लिये स्याद्वाद सिद्धान्त तो जैनधर्म का एक अनुपम महान् सिद्धान्त है। इस तरह जैनधर्म ने प्रत्येक दिशा मे बहुत स्पष्ट दिग्दर्शन किया है।

जैन धर्म की प्राचीनता

जैन धर्म का उद्देश्य अर्थात् प्रयोजन ससारी आत्मा के पाप-पुण्य रूपी कर्ममैल को धोकर उसको ससार के जन्म-मरणादि दुःखो से मुक्त कर स्वाधीन परमानन्द मे पहुंचा देना होता है, जिससे यह अशुद्ध आत्मा शुद्ध होकर परमात्म-पद मे सदाकाल के लिए स्थिर हो जावे। यह मुख्य उद्देश्य है। और, गौण उद्देश्य क्षमा, ब्रह्मचर्य, परोपकार, अहिंसा आदि गुणो की प्राप्ति करना है।

यह जगत् अनादि है

जगत् कोई विशेष भिन्न पदार्थ नही है। चेतन और अचेतन वस्तुओं का समुदाय है, जैसे वृक्षों के समूह को वन, मनुष्यों के समूह को भीड, हाथी-घोडे-रथ-पयादों के समूह को सेना कहते हैं, वैसे ही यह जगत् या लोक पदार्थों के समुदाय का नाम है। यह बात आबाल-वृद्ध सभी जानते हैं कि जो वस्तु बनती है वह किसी वस्तु से बनती है, वह नाश होती है तो वह किसी अन्य वस्तु के रूप मे परिवर्तित हो जाती है। अकस्मात् बिना किसी उपादान कारण के न कोई वस्तु बनती है, न नष्ट होकर वह सर्वथा अभाव रूप हो जाती है। दूध से घी, खोया, मलाई बनती है, मिट्टी चूना पत्थरो के मिलने से मकान बन जाता है, मकान को तोडने से मिट्टी, लकड़ी आदि पदार्थ अलग-अलग हो जाते हैं। यह सृष्टि का एक अटल और पक्का नियम है कि सत् का सर्वथा नाश और असत् का उत्पादन कभी नही हो सकता। अर्थात् जो मूल पदार्थ जड या चेतन हैं, उनका सर्वथा नाश नही होता है तथा जो मूल पदार्थ नहीं है वह कभी पैदा नही हो सकता। विज्ञान भी यही मत रखता है।

किसी वस्तु का नाश नही होता। यह जगत् परिवर्तनशील है। अर्थात् इसके भीतर जो चेतन और जड द्रव्य हैं वे सदा अवस्थाओ को बदलते रहते हैं। अवस्थायें जन्मती और बिगडती हैं, मूल द्रव्य नही। इसलिए यह लोक सदा से है और सदा चलता जाएगा तथा अकृत्रिम भी है क्योंकि जो वस्तु आदि-सहित होती है उसी के लिए कर्ता की आवश्यकता है, अनादि पदार्थ के लिए कर्ता नही हो सकता। यह जगत् स्वभाव से सिद्ध है। अर्थात् इसके सब पदार्थ अपने स्वभाव मे काम करते रहते हैं।

प्रत्येक कार्य के लिये दो मुख्य कारण होते हैं—एक उपादान, दूसरा निमित्त। जो मूल कारण स्वय कार्यरूप हो जाता है उसे उपादान कारण कहते हैं। उसके कार्य रूप होने मे एक व अनेक जो सहायक होते हैं उनको निमित्त कारण कहते हैं। जैसे पानी से

भाप का बनना। इसमें पानी उपादान, तथा अग्नि आदि निमित्त कारण हैं। जगत् में आग, पानी, हवा, मिट्टी एक दूसरे को बिना पुरुषार्थ के अपने-अपने परिणमनों के अनुसार निमित्त होकर बहुत से कार्यों और रूपों में बदल देते हैं। पानी बरसना, बहना, मिट्टी का बह जाना, कहीं जमकर पृथ्वी बनना, बादलों का बनना, सूर्य का प्रकाश, ताप फैलना, दिन-रात होना ये सब जड़ पदार्थों का विकास है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध चिन्तवन में नहीं आ सकता। न जाने कौन पदार्थ अपनी परिस्थिति के वश विकास करता हुआ किसके किस विकास का निमित्त हो रहा है। ऐसे असंख्य परिणाम प्रतिक्षण हो रहे हैं।

बहुत-से कामों मे चेतन जीव भी निमित्त होते हैं। जैसे चिड़ियों से घोंसले का बनाना, आदमी से मकान बनाना आदि, तथा कहीं चेतन कार्यों में भी जड़ पदार्थ निमित्त बन जाता है, जैसे अज्ञानी होने मे भांग या मद्य आदि। इस जगत् में सदा ही काम होता रहता है। ऐसा नहीं है कि वह कभी परमाणु रूप से दीर्घ काल तक पड़ा रहे और फिर बने। जहा जल और ताप का सम्बन्ध होगा वहां जल शुष्क हो भाप बना होगा। कही कभी कोई बस्ती हो जाती है, कभी-कभी ऊजड़ क्षेत्र बस्ती हो जाता है। सर्व जगत् मे कभी महा-प्रलय नही होती। किसी थोड़े-से क्षेत्र में पवनादि की तीव्रता से प्रलय की अवस्था कुछ काल के लिए होती है, फिर कहीं बस्ती बसने लगती है। यों सूक्ष्मता से देखा जाए तो सृष्टि और प्रलय सर्वथा होते रहते हैं। इस तरह यह जगत् अनादि होकर अनन्त काल तक चलता जाएगा।

जैन धर्म अनादि है

जैन धर्म इस जगत् में कहीं न कहीं सदा ही पाया जाता है। यह किसी विशेष काल मे शुरू नहीं हुआ है। जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में (जिसका अभी वर्तमान भूगोलज्ञाताओं को पता नहीं लगा है) यह धर्म सदा जारी रहता है। वहा से महान् पुरुष सदा ही देह से रहित हो मुक्त होते हैं। इसी कारण उस क्षेत्र को विदेह कहते हैं। इस भारत क्षेत्र मे भी यह धर्म प्रवाह की अपेक्षा अनादि काल से है। यद्यपि यह किसी काल में कुछ समय के लिए लुप्त हो जाता है, तो फिर तीर्थंकरो या मोक्षगामी केवलज्ञानी महान् आत्माओं के द्वारा प्रकाश किया जाता है। जब यह धर्म आत्मा के शुद्ध करने का उपाय है तब जैसे आत्मा और अनात्मा अर्थात् चेतन और जड़ से भरा हुआ यह जगत् अनादि अनंत है, वैसे ही आत्मा की शुद्धि का उपाय यह धर्म भी अनादि अनंत है। जगत् मे धान्य, धान्य की तुष रहित शुद्ध अवस्था चावल, तथा धान्य का शुद्ध होने का उपाय—ये तीनों ही अनादि हैं। इसी तरह संसार आत्मा, परमात्मा और परमात्म पद की प्राप्ति के उपाय भी अनादि हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से जैन धर्म की प्राचीनता

यह जैनधर्म अनादि काल से चला आ रहा है। हम यदि खोजे हुए इतिहास की ओर दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि जहां भारत की ऐतिहासिक सामग्री मिलती है वहा तक जैनधर्म पाया जाता है। इस बात के प्रमाण यहां नमूने के रूप में एक दो ही दिए जाते हैं जिससे अधिक विस्तार न हो जावे।

मेजर जनरल फर्लांग साहब (Major General J. G. R Furlong) अपनी पुस्तक The short studies of comparative religion p.p. "243-44" मे कहते हैं—

All Upper, Western North & Central India was, then say, 1500 to 800 B. C. and indeed from unknown times, ruled by Turanians, conveniently, calld Dravids and given to tree, serpent and the like worship...... but there also existed throughout Upper India an ancient & highly organised religion, philosophical, ethical & a severely ascetical viz Jainism.

भावार्थ—ई० सन् ८०० से १५०० वर्ष पहिले तक तथा वास्तव में अज्ञात समयों से यह कुल भारत तूरानी या द्रविड़ लोगो द्वारा शासित था जो वृक्ष व सर्प आदि की पूजा करते थे किन्तु तब ही ऊपरी भारत में एक प्राचीन, उत्तम रीति से संगठित धर्मतत्त्वज्ञान से पूर्ण सदाचार रूप, तथा कठिन तपस्या सहित धर्म अर्थात् जैन धर्म मौजूद था।

इस पुस्तक मे ग्रन्थकार ने जैनो के ऐसे भावों का पता अन्य देशों मे प्राप्त भावों मे पाया जैसे ग्रीक आदि में। उसी से इसका अस्तित्व बहुत पहिले से सिद्ध किया है। दुनिया के बहुत से धर्मों पर जैन धर्म का असर पड़ा—ऐसा इसमें बताया है।

वैदिक वाङ्मय में तीर्थंकर

आजकल के इतिहास ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि को प्राचीन ग्रन्थ मानते हैं। उनमें भी जैन तीर्थंकरों का वर्णन है। जैनियों के २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि का नाम नीचे के मन्त्रों में है—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

(ऋग्वेद, १/८९/६)

भावार्थ —महा कीर्तिवान् इन्द्र विश्ववेत्ता पूषा तार्क्ष्य रूप अरिष्टनेमि व बृहस्पति हमारा कल्याण करें ।

वाजस्य नु प्रसव आ बभूवेमा च विश्वा भुवनानि सर्वतः ।
स नेमि राजा परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्धयमानो अस्मै स्वाहा ॥

(यजुर्वेद, अध्याय ९ मन्त्र २५)

भावार्थ—भावयज्ञ को प्रगट करने वाले ध्यान का इस संसार के सब भूत-जीवों के लिये सर्व प्रकार से यथार्थ रूप कथन करके जो नेमिनाथ अपने को केवलज्ञानादि आत्मचतुष्टय के स्वामी और सर्वत. प्रगट करते हैं और जिनके दयामय उपदेश से जीवों को आत्मस्वरूप की पुष्टि शीघ्र बढ़ती है, उसकी आहुति हो ।

अर्हन् बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम् ।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ॥

(ऋग्वेद मं० २ सू० ३३, मंत्र १०)

भावार्थ —हे अर्हन् ! आप वस्तु स्वरूप धर्म रूपी बाणी को, उपदेशरूपी धनुष को तथा आत्मचतुष्टय रूप आभूषणों को धारण किये हो । हे अर्हन् ! आप विश्वरूप प्रकाशक केवलज्ञान को प्राप्त हो । हे अर्हन् ! आप इस संसार के सब जीवों की रक्षा करते हो । हे कामादि को जलाने वाले ! आपके समान कोई बलवान् नही है ।

इस मन्त्र में अरहन्त की प्रशंसा है, जो जैनियों के पाच परमेष्ठियो मे प्रथम हैं । श्री नग्न साधु महावीर भगवान् का नाम नीचे के मन्त्र मे है—

आतिथ्यरूपंमासरं महावीरस्य नग्नहुः ।
रूपमुपसदामेतत्तिस्रो रात्रीः सुरासुता ॥

(यजुर्वेद, अध्याय १९, मन्त्र १४)

योगवाशिष्ठ अ० १५, श्लोक ८ मे श्री रामचन्द्र जी कहते हैं—

नाहं रामो न मे वांछा भावेषु च न मे मन. ।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥

भावार्थ—न मैं राम हू । न मेरी वाछा पदार्थों मे है । मैं तो जिन के समान अपनी आत्मा में ही शान्ति स्थापित करना चाहता हू ।

वाल्मीकि रामायण(बालकाड १४ सर्ग, श्लोक १२)मे महाराज दशरथ द्वारा श्रमणो को भोजन देने का उल्लेख मिलता है:—

"श्रमणाश्चैव भुञ्जते'

श्रमणाः दिगम्बराः —भूषण टीका

महाभारत (वन पर्व अ० १८३, पृ० ७२७, मुद्रित १९०७ शरतचन्द्र सोम) के अनुसार हैहय वशी काश्यप गोत्री आदि सबने महाव्रतधारी महात्मा अरिष्टनेमि मुनि को प्रणाम किया ।

यहां २२वें तीर्थंकर का संकेत है, जिनका नाम ऊपर वेद के मन्त्रों मे भी आया है ।

मार्कण्डेय पुराण (अ० ५३) के अनुसार—ऋषभदेव ने पुत्र भरत को राज्य दे वन में जाकर महा संन्यास ले लिया । (यहां जैनियों के प्रथम तीर्थंकर का वर्णन है ।)

भागवत के स्कन्ध ५ अ० २ पृ० ३९६-९७ मे जैनियों के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव को महर्षि लिखकर उनके उपदेश की बहुत प्रशंसा लिखी है । भागवत के टीकाकार लाला शालिग्राम जी पृ० ३७२ मे लिखते हैं कि शुकदेव जी ने जगत् को मोक्ष-मार्ग दिखाया और अपने आप भी मोक्ष होने के कर्म किये, इसीलिये शुकदेव जी ने ऋषभदेव जी को नमस्कार किया है ।

जैनधर्म की मौलिकता

जैनधर्म हिन्दू धर्म की शाखा नही हो सकता। क्योंकि जो उसकी शाखा होता है उसका मूल भी वही होता है। जो हिन्दू कर्तावादी हैं उनसे विरुद्ध जैनमत कहता है कि जगत् अनादि व अकृत्रिम है, उसका कर्ता ईश्वर नही है। जो हिन्दू एक ही ब्रह्ममय जगत् मानते हैं उनसे विरुद्ध जैनमत कहता है कि लोक मे अनन्त परब्रह्म परमात्मा, अनन्त ससारी आत्मा, पुद्गल आदि जड़ पदार्थ, ये सब स्वतन्त्र हैं। कोई किसी का खण्ड नही। जो हिन्दू आत्मा या पुरुष को कूटस्थ नित्य या अपरिणामी मानते हैं उनसे विरुद्ध जैनधर्म कहता है कि आत्मायें स्वभाव न त्यागते हुए भी परिणमनशील हैं, तब ही राग-द्वेष भावो को छोड वीतराग हो सकती हैं। जैन लोग उन ऋग्वेदादि वेदों को नही मानते जिनको हिन्दू लोग अपना धर्मशास्त्र मानते हैं। प्रोफेसर जैकोबी ने आक्सफोर्ड मे जैनधर्म का हिन्दू धर्मों से मुकाबला करते हुए कहा है—जैनधर्म सर्वथा स्वतन्त्र है। मेरा विश्वास है कि यह किसी का अनुकरण रूप नही है और इसीलिये प्राचीन भारतवर्ष के तत्त्वज्ञान और धर्म-पद्धति के अध्ययन करने वालों के लिये यह एक महत्त्व की बात है।

(पृष्ठ १४१ गुजराती जैन दर्शन, प्रकाशक अधिपति जैन, भावनगर)

बौद्धधर्म पदार्थ को नित्य नही मानता है, आत्मा को क्षणिक मानता है, जब कि जैनधर्म आत्मा को द्रव्य की अपेक्षा नित्य, किन्तु अवस्था की अपेक्षा अनित्य मानता है। जैनधर्म मे छः द्रव्य हैं, उनकी बौद्धो के यहा मान्यता नही है।

इसके विरुद्ध बौद्ध जैनधर्म की नकल जरूर है। पहले स्वय गौतम बुद्ध जैन मुनि पिहिताश्रव के शिष्य-साधु हुए। फिर उन्होंने मृतक प्राणी मे जीव नही होता, ऐसी शंका होने पर अपना भिन्न मत स्थापित किया। (देखो जैनदर्शन-सार, देवनन्दि कृत),

प्रोफेसर जैकोबी भी कहते हैं—

"The Buddhist frequently *refer to the* Nirgranthas *or Jains* as a rival sect but they never so much as hint this sect was a newly founded one. On the contrary, from the way in which they speak of it, it would seem that this sect of Nirgranthas was at Budha's time already one of long standing, or in other words, it seems probable that Jainism is considerably older than Buddhism.

(देखो पृष्ठ ४२ गुजराती जैनदर्शन)

भावार्थ—बौद्धो ने बार-बार निर्ग्रन्थ या जैनियों को अपना मुकाबिला करने वाला कहा है, परन्तु वे किसी स्थल पर कभी भी यह नही कहते हैं कि यह एक नया स्थापित मत है। इसके विरुद्ध जिस तरह वे वर्णन करते हैं उससे यही प्रकट होगा कि निर्ग्रन्थों का धर्म बुद्ध के समय मे दीर्घ काल से मौजूद था, अर्थात् यही सम्भव है कि जैनधर्म बौद्धधर्म से अधिक पुराना है।

जैकोबी ने आस्रव शब्द को बौद्ध ग्रन्थों मे पाप के अर्थ मे देखकर तथा जैन ग्रन्थो में जिससे कर्म आते हैं व जो कर्म आत्मा में आता है ऐसे असली अर्थ मे देखकर यह निश्चय किया है कि जहा आस्रव के मूल अर्थ हैं वही धर्म प्राचीन है।

Dr. Ry Davids डॉ० राइ डेविड्स ने "Buddhist India" p. 143 मे लिखा है कि—

"The Jains have remained as an organised Community all through the History of India from before the rise of Buddhism down today."

भावार्थ—जैन लोग भारत के इतिहास मे बौद्ध धर्म के बहुत पहिले से अब तक सगठित जाति के रूप मे चले आ रहे हैं। लोकमान्य बालगगाधर तिलक 'केसरी' पत्र मे १३ दिसम्बर १६०४ मे लिखते हैं कि—बौद्धधर्म की स्थापना के पूर्व जैनधर्म का प्रकाश फैल रहा था। बौद्धधर्म पीछे से हुआ यह बात निश्चित है। हटर साहिब अपनी पुस्तक इण्डियन इम्पायर के पृष्ठ २०६ पर लिखते हैं कि—

जैनमत बौद्धमत से पहिले का है। ओल्डनबर्ग ने पाली पुस्तको को देखकर यह बात कही है कि जैन और निर्ग्रन्थ एक हैं। इनके रहते हुए बाद मे बौद्धमत उत्पन्न हुआ। (See Buddha's life & Haey's translation 1882)

जैनमत बौद्धमत से भी उतना ही भिन्न है जितना भिन्न कि हम उसे किसी भी और मत से कह सकते हैं।

बौद्ध ग्रन्थों में तीर्थंकर

ऐतिहासिक खोज (Historical Gleanings) नाम की पुस्तक मे, जिसको बाबू विमलचरण लॉ एम० ए० बी० एल० नं० २४ सुकिया स्ट्रीट, कलकत्ता ने सन् १६२२ मे सम्पादन कर प्रकाशित कराया है, इस सम्बन्ध मे बहुत से प्रमाण लिखे हैं, जिनमें से कुछ यहां नीचे दिये जाते हैं —

(१) गौतम बुद्ध राजगृही में निर्ग्रन्थ नातपुत्र (श्री महावीर) के शिष्य चुलसकुल वादी से मिले थे।

(मज्झिमनिकाय अ० २)

(२) श्री महावीर गौतम बुद्ध से पहिले निर्वाण हुए। (मज्झिमनिकाय सामगामसुत्त व दीघनिकाय पासिक सुत्त)

(३) बुद्ध ने अचेलको (नग्न दिगम्बर साधुओं) का वर्णन लिखा है। (दीघनिकाय कस्सप सिंह नादे)

(४) निर्गन्थ श्रावको का देवता निर्गन्थ है—निर्गन्थ सावकानाम् निर्गन्थो देवता। (पाली त्रिपिटक निद्दुशपत्र १७३-१७४)

(५) महावीर स्वामी ने कहा है कि शीत जल मे जीव होते हैं—सो थिए सीतोदके सत संज्ञा होंति।

(सुमगल विलासिनी, पत्र १६८)

(६) राजगृही मे एक दफा बुद्ध ने महानम को कहा कि इसिगिला (ऋषिगिरि) के तट पर कुछ निर्ग्रन्थ भूमि पर लेटे हुए तप कर रहे थे तब मैंने उनसे पूछा— ऐसा क्यो करते हो? उन्होने जवाब दिया कि उनके नातपुत्र ने जो सर्वज्ञ व सर्वदर्शी है उनसे कहा है कि पूर्वजन्म मे उन्होंने पाप किये हैं उन्ही के क्षय करने के लिये मन, वचन, काय का निरोध कर रहे हैं।

(मज्झिमनिकाय, जिल्द १ पत्र ९२-९३)

(७) लिच्छवो का सेनापति सीह निर्गन्थ नातपुत्र का शिष्य था। (विनयपिटक का महावग्ग)

(८) निर्ग्रन्थ मतधारी राजा के खजाची के वंश मे भद्रा को, श्रावस्ती के मंत्री के वंश में अर्जुन को, बिम्बसार के पुत्र अभय को, श्रावस्ती के सश्रीगुप्त और गरहदिन्न को बुद्ध ने बौद्ध बनाया।

(धम्मपाल कृत प्रमथदीपिनी व धम्मपदत्थ कथा, जि० १)

(९) धनञ्जय श्रेष्ठी की पुत्री विशाखा निर्ग्रन्थ मिगार श्रेष्ठी के पुत्र पुराणवर्द्धक को बिवाही गई थी। श्रावस्ती मे मिगार श्रेष्ठी ने ५०० नग्न साधुओ को आहार दान दिया। (विसाखावत्थु धम्मपद कथा, जि० १)

जैन धर्म के शाश्वत सिद्धान्त

हमारा धर्म, जैन धर्म है। तुम जानते हो, जैन किसे कहते हैं? हा, ठीक है। तुम अभी इतनी दूर नही जा सके हो। लो, मैं ही बता दूंगा। परन्तु जरा ध्यान से सुनो।

जैन का अर्थ है 'जिन' को मानने वाला। जो जिन को मानता हो, जिन की भक्ति करता हो, जिन की आज्ञा का पालन करता हो, वह जैन कहलाता है।

तुम प्रश्न कर सकते हो, जिन किसे कहते हैं? जिन का अर्थ है, जीतने वाला। किसको जीतने वाला? अपने असली शत्रुओं को जीतने वाला। असली शत्रु कौन है? असली शत्रु राग और द्वेष हैं। बाहर के कल्पित शत्रु इन्ही के कारण पैदा होते हैं।

राग किसे कहते हैं? मनपसन्द चीज पर मोह। द्वेष क्या है? मन की नापसन्द चीज नफरत। ये राग और द्वेष दोनों साथ-साथ रहते हैं। जिनको राग होता है, उसे किसी के प्रति द्वेष भी होता है और जिसे द्वेष होता है, उसे किसी के प्रति राग भी होता है।

राग और द्वेष ही असली शत्रु क्यो हैं? इसलिये शत्रु हैं कि ये हमे अत्यन्त दु.ख देते हैं, हमारा नैतिक पतन करते हैं, हमारी आत्मा की आध्यात्मिक उन्नति नही होने देते। राग के कारण माया और लोभ उत्पन्न होते हैं और द्वेष के कारण क्रोध तथा लोभ उत्पन्न होते हैं। क्रोध, मान (गर्व), माया (कपट), और लोभ को जीतने वाला ही सच्चा जिन है।

जिन राग और द्वेष से बिल्कुल रहित होते है, इसलिये उनका नाम वीतराग भी है। वे अठारह दोषो से रहित होते हैं। राग और द्वेष रूपी असली शत्रुओ का हनन अर्थात् नाश करते हैं, इसलिए ये अरिहन्त भी कहलाते हैं, अरि—शत्रु, हन्त—नाश करने वाला है।

जिन को अरहन्त भी कहते हैं। अर्हंत किसे कहते हैं? अर्हंत का अर्थ योग्य है। किस बात के योग्य? पूजा करने के योग्य। जो महापुरुष राग-द्वेष को जीत कर 'जिन' हो जाते हैं, वे ससार के पूजने योग्य हो जाते हैं। पूजा का विशुद्ध अर्थ भक्ति है। अत. जो महापुरुष राग-द्वेष को जीतने के कारण ससार के लिए पूज्य यानी भक्ति करने के योग्य हो जाते हैं, वे अर्हंत कहलाते हैं। भक्ति का अर्थ है सम्मान करना, उनके बताये हुए सत्पथ पर चलना।

जिन को भगवान् भी कहते हैं। भगवान् का क्या अर्थ है? भगवान् का अर्थ है ज्ञान रूपी संपत्ति वाला। राग और द्वेष को पूर्ण रूप से नष्ट करने के बाद 'केवल ज्ञान' उत्पन्न हो जाता है। 'केवल ज्ञान' के द्वारा जिन भगवान् तीन लोक और तीन काल की

सब बातों को सूर्य प्रकाश के समान स्पष्ट रूप से एक साथ जान लेते हैं।

जिन भगवान् को परमात्मा भी कहा जाता है। परमात्मा का अर्थ है, परम शुद्ध आत्मा। जो परम शुद्ध आत्मा चेतन हो, वह परमात्मा है। राग-द्वेष को नष्ट करने के बाद ही आत्मा शुद्ध होता है और परमात्मा बनता है।

जैनधर्म क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी संसारी देवताओं को अपना इष्टदेव नही मानता। भला जो स्वयं काम, क्रोध आदि विकारों में फंसे पड़े हैं, वे दूसरों को विकार रहित होने के लिये क्या आदर्श हो सकते हैं? इसलिये जैन-धर्म में सच्चे देव वे ही माने गये हैं, जो रागद्वेष को जीतने वाले हों, कर्म रूपी शत्रुओं को नष्ट करने वाले हों, तीन लोक के पूजनीय हो, केवल ज्ञान वाले हों तथा परम शुद्ध आत्मा हों।

तुम प्रश्न कर सकते हो, इस प्रकार राग और द्वेष को जीतने वाले कौन जिन भगवान् हुए हैं, इसका उत्तर है एक दो नहीं, अनेक हो गये हैं। जानकारी के लिये एक दो प्रसिद्ध नाम बताये देता हूँ।

वर्तमान काल-चक्र में सबसे पहले भगवान् ऋषभदेव हुए हैं। आप भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध साकेत नगरी के रहने वाले राजा थे। आपने राजा के रूप में न्याय नीति के साथ प्रजा का पालन किया और बाद में ससार त्याग कर मुनि बने एवं रागद्वेष को क्षय करके जिन भगवान् होकर मोक्ष मे पहुंच गये।

भगवान् नेमिनाथ, भगवान् पार्श्वनाथ, और भगवान् महावीर भी जिन भगवान् थे। ये महापुरुष राग और द्वेष को पूर्ण रूप से नष्ट करके केवल ज्ञान को प्राप्त कर चुके थे। अपने समय मे इन्होंने जनता मे अहिंसा और सत्य की प्राण-प्रतिष्ठा की और राग-द्वेष पर विजय पाने के लिए सच्चे आत्म-धर्म का उपदेश देकर आत्मा को परमात्मा बनाने का मार्ग प्रशस्त किया।

निर्ग्रन्थ गुरु—संसारी विषय-वासनाओं से रहित, आरम्भ-रहित और परिग्रह से रहित रहकर सद् ज्ञान और ध्यान में लीन रहने वाले तथा संसारी सम्पूर्ण मानव को सन्मार्ग बतलाने वाले निर्ग्रन्थ गुरु होते हैं। कहा भी है कि :—

विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रह.।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥

मनुष्य के हृदय के अन्धकार को दूर करने वाला कौन होता है? क्या तुमने कभी इस प्रश्न पर कुछ सोच-विचार किया है? मालूम होता है, अभी तक इस तरफ तुम्हारा लक्ष्य नहीं गया है। आओ, आज इस पर कुछ विचार कर लें।

मनुष्य के मानसिक ज्ञानान्धकार को दूर करने वाले और ज्ञान का प्रकाश फैलाने वाले गुरुदेव के बिना दुनिया के भोग-विलासों मे भूले हुए प्राणी को कौन मार्ग बता सकता है? ज्ञान की आंखें गुरु ही देते हैं।

हाँ, तो क्या तुम बता सकते हो, गुरु कौन होते हैं? सच्चे गुरु का क्या लक्षण है? जैन धर्म मे गुरु किसे कहते हैं? जैन धर्म में गुरु का महत्त्व बहुत बडा है, परन्तु है वह सच्चे गुरु का। जैन-धर्म अन्धश्रद्धालु धर्म नही है, जो हर किसी दुनियादारी भोग-विलासी आदमी को गुरु मानकर पूजने लगे। वह गुणों की पूजा करता है, शरीर और वेष की नही। बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से और क्रोध से रहित रहकर जो शरीर से भी निर्ममत्व हो, जैन धर्म ऐसे गुरु को पूजने वाला है। अत वह गुणो का ग्राहक है।

हाँ, तो जैन धर्म मे वही त्यागी आत्मा गुरु माना जाता है, जो धन-दौलत का त्यागी हो, मकान-दुकान आदि के प्रपंचों से रहित हो, अहिंसा सत्य आदि का स्वय आचरण करता हो और बिना किसी लोभ-लालच के जनकल्याण की भावना से उपदेश देता हो। सच्चा गुरु वही है, जो जिन भगवान् के द्वारा प्ररूपित शास्त्रो मे बताए हुए आत्मा से परमात्मा बनने के आदर्श को सामने रखकर अपने विशुद्ध आचरण तथा ज्ञान से उस आदर्श को प्राप्त करना चाहता हो।

जैन धर्म मे त्याग का महत्त्व है। भोग-विलासो को त्याग कर आध्यात्मिक साधना की आराधना करना ही श्रेष्ठ जीवन का लक्षण है। यही कारण है कि जैन साधुओं का तपश्चरण की दृष्टि से बडा ही कठोर जीवन होता है। जैन साधु कड़ी सरदी पड़ने पर भी आग नही तापते हैं और शरीर ढकने के कपड़े की भी इच्छा नही करते। प्यास के मारे कठ सूख जाये फिर भी पानी पीने की इच्छा नहीं करते हैं। चाहे जितनी भूख लगी हो, पर भोजन की इच्छा नहीं करते हैं। एक ही बार नियत समय में आहार करते हैं। बुढापा या बीमारी होने पर भी पैदल चलते हैं, कोई भी सवारी काम मे नही लाते। पैरों मे जूते नहीं पहनते। शराब आदि नशीली चीजों को काम में नहीं लाते। पूर्ण ब्रह्मचर्य पालते हैं, स्त्री को माता-बहन के समान हमेशा मानते हैं। कौड़ी, पैसा आदि कुछ धन पास नहीं रखते।

जैन साधुओं के पांच महाव्रत बतलाए गये है, जो प्रत्येक साधु को, चाहे वह छोटा हो या बड़ा हो, अवश्य पालन करने पड़ते हैं :—

(१) अहिंसा— मन से, वचन से, शरीर से किसी भी जीव की हिंसा न करना, न दूसरो से कराना, न करने वालों का अनुमोदन-समर्थन ही करना।

(२) सत्य— मन से, वचन से, शरीर से न स्वयं झूठ बोलना, न दूसरो से बुलवाना, तथा न बोलने वालों का अनुमोदन करना।

(३) अचौर्य— मन से, वचन से, शरीर से न स्वयं चोरी करना, न दूसरो से करवाना, न करने वालो का अनुमोदन करना।

(४) ब्रह्मचर्य— मन से, वचन से, शरीर से मैथुन-व्यभिचार न स्वयं करना, न दूसरों से करवाना, न करने वालो का अनुमोदन करना।

(५) अपरिग्रह— मन से, वचन से, शरीर से परिग्रह को पास नही रखना।

जैन साधु का जीवन तप और त्याग का इतना कठोर जीवन है कि आज उसके समान कोई दूसरा नही मिलेगा। यही कारण है कि जैन साधु सख्या मे बहुत थोडे है, जब कि दूसरे वेषधारी साधुओं की देश मे भरमार है। आज छप्पन लाख साधु नामधारियों की फौज भारतवर्ष के लिये भार बन चुकी है। परन्तु सच्चा गुरु पद हरेक व्यक्ति धारण नही कर सकता। कहा है—गुरु कीजे जान कर, पानी पीजे छान कर।

शास्त्र—जिसमें हिंसा का उपदेश तथा देवी देवता के सामने बकरा गाय, भैंस चढाने से धर्म होता है ऐसा जिसमें वर्णन किया गया हो, और जिस शास्त्र को सुनने मात्र से पाप भाव का बध होता हो उसको शास्त्र नही कहते। इन पापो से रहित अहिंसा मार्ग का जिसमे वर्णन किया गया हो वही प्राणी मात्र का कल्याण करने वाला है। वही सच्चा शास्त्र है।

तुम्हारा कौन-सा धर्म है ? जैन धर्म। धर्म का क्या अर्थ है ? जो दु:ख से, दुर्गति से, पापाचार से, पतन से बचाकर आत्मा को ऊँचा उठाने वाला हो, धारणा करने वाला हो, वह धर्म है।

सच्चा धर्म कौन-सा होता है ? जिससे किसी को दु:ख न पहुंचे, ऐसा जो भी अच्छा विचार अच्छा आचार है, वही सच्चा धर्म है। क्या जैन धर्म भी सच्चा धर्म है ? हाँ, वह अच्छे विचार और अच्छे आचार वाला धर्म है, इसलिए सच्चा धर्म है।

जैन धर्म का क्या अर्थ है ? जिन भगवान् का कहा हुआ धर्म। जिन भगवान् कौन ? जो राग-द्वेष को जीतकर पूर्ण पवित्र और निर्मल आत्मा हो गये हैं, वे जिन भगवान् हैं श्री महावीर, पार्श्वनाथ आदि।

जैनधम के क्या दूसरे भी कुछ नाम हैं ? हां, दया धर्म, स्याद्वाद धर्म, अर्हंत धर्म, निग्रंथ (दिगम्बर) धर्म आदि। जैन धर्म में दया का बड़ा महत्त्व है, इसलिए वह दया धर्म है। स्याद्वाद का अर्थ है पक्षपात-रहित ! समभावका समर्थन करने से जैन धर्म स्याद्वाद धर्म है। राग, द्वेष, मोह, अज्ञान से मुक्त होने के कारण यह अर्हंत धर्म है। निर्ग्रन्थ का अर्थ है—संपूर्ण लगोटी तक के परिग्रह से रहित होना। जैन धर्म परिग्रह का अर्थात् धन सम्पत्ति के सग्रह का त्याग बतलाता है, इसलिए वह निर्ग्रन्थ साधु धर्म है।

जैनधर्म कब स चला ? जैन धर्म नया नही चला है, वह अनादि है। दया ही तो जैन धर्म है और संसार मे जिस प्रकार दु:ख अनादि है, उसी प्रकार जीवो को दु:ख से बचाने वाली दया भी अनादि है। अनादि दया का मार्ग ही जैनधर्म कहलाता है।

जिन भगवान् का कहा हुआ धर्म ही तो जैन धर्म है, इसलिए अनादि कैसे हुआ ? जिन भगवान् कोई एक नही हुए हैं। पूर्व काल मे जिन भगवान् अर्थात् तीर्थंकर अनन्त हो गये हैं, और भविष्य मे भी अनन्त होते रहेंगे, अत. जैन-धर्म अनादि काल से चला आता है। समय-समय पर होने वाले जिन भगवान् उसे अधिकाधिक प्रकाशित करते हैं, देश-काल व परिस्थिति के अनुसार उसकी नवीन पद्धति से पुनः स्थापना करते हैं। जिन भगवान् जैन धर्म के चलाने वाले नही, वरन् उसका समय-समय पर सुधार करने वाले उपचारक हैं।

सच्चा जैन किसे कहते हैं ? धर्म का मूल दया है, अस्तु जो जीव-मात्र को अपने समान समझ कर उनकी हिंसा से बचता है, प्राणी मात्र के लिये दया भाव रखता है, वही सच्चा जैन है।

जैन धर्म का पालन कौन कर सकता है ? जैन धर्म का कोई भी भव्य प्राणी पालन कर सकता है। जैन धर्म में जाति और देश का बन्धन नहीं है। किसी भी जाति का और किसी भी देश का मनुष्य जैन धर्म का पालन कर सकता है। हिन्दू हो, मुसलमान

हो, ईसाई हो, चाण्डाल हो, अंग्रेज हो, कोई भी हो, सभी जैन धर्म का पालन कर सकते हैं।

जैन धर्म का सिद्धान्त बहुत गम्भीर है। अतः उसका पूरा परिचय तो जैन धर्म के प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से हो सकता है। हां, संक्षेप में जैन धर्म के विषय की बातें इस प्रकार हैं :—

१. जगत् अनादि है।
२. आत्मा अमर है।
३. आत्मा अनन्त है।
४. आत्मा ही परमात्मा होता है।
५. आत्मा ही कर्म बाधता है।
६. आत्मा ही कर्म तोडता है।
७. कर्म ही ससार है।
८. कर्म का क्षय ही मुक्ति है।
९. कर्म खुद जड़ है।
१०. अशुद्ध भावों से कर्म बधते है।
११. शुद्ध भावो से कर्म टूटते हैं।
१२. स्वर्ग, नरक और मोक्ष है।
१३. पुण्य, पाप है।
१४. जांत-पांत कोई नही।
१५. शुद्ध आचरण ही श्रेष्ठ है।
१६. अहिंसा ही सबसे बड़ा धर्म है।

जैन-शासन का माहात्म्य

संसार मे केवल जैन धर्म ही सारे दुःखो को दूर कर सकता है। जैन धर्म क्या है, यदि आप लोग इसे अच्छी तरह समझ लें तो यह बात आसानी से समझ मे आ जायगी कि यही धर्म हमारा कल्याण कर सकता है। इसलिये आचार्य अमितगति ने कहा है—

मृत्यूत्पत्ति वियोगसंगमभयव्याध्याधिशोकादय,
सूद्यंते जिनशासनेन सहसा संसारविच्छेदिना।

सूर्येणेव समस्तलोचनपथप्रध्वंसबद्धोद्यया,
हन्यन्ते तिमिरोत्कराः सुखहरा नक्षत्रविक्षेपिणा ॥ १६ ॥

जैसे नक्षत्रो को छिपाने वाले सूर्य के द्वारा सबकी आखों मे देखने की शक्ति को रोकने वाले, सुख हरने वाले, अन्धकार के समूह नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार संसार का नाश करने वाले जैनशासन के द्वारा मृत्यु-जन्म, सयोग-वियोग, भय-रोग, आधि-शोक आदि एकदम दूर हो जाते हैं।

आचार्य ने यहाँ जैन शासन का माहात्म्य बताया है। उन्होने जैन शासन की उपमा सूर्य से की है। जैसे सूर्य अन्धकार का नाश कर देता है, उसी प्रकार जैन शासन ससार के जन्म-मरण, भय शोकादि दुःखो का नाश कर देता है।

संसार मे जितने धर्म है, वे किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा स्थापित किये गये हैं और उस धर्म का नाम भी उसी व्यक्ति-विशेष नाम के ऊपर रक्खा गया है, जैसे बुद्ध द्वारा स्थापित किया हुआ धर्म बौद्ध धर्म कहलाया, विष्णु का धर्म वैष्णव, ईसा का धर्म ईसाई आदि। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या धर्म को कोई व्यक्ति बना सकता है? वास्तव म व्यक्ति धर्म को नही बनाता, अपितु धर्म व्यक्ति को बनाता है। धर्म के कारण व्यक्ति महान् बनता है, व्यक्ति के कारण धर्म महान् नही बनता। बुद्ध ने धर्म नही बनाया बल्कि धर्म ने बुद्ध को महात्मा बनाया। ईसा ने धर्म स्थापित नही किया, बल्कि धर्म ने ईसा को महान बनाया। तब फिर बुद्ध और ईसा, विष्णु और शिव ने जो धर्म स्थापित किया, वह सब क्या था?

वास्तव मे वे सब महापुरुष थे, किन्तु इन्होंने धर्म की स्थापना नही की। धर्म की स्थापना की भी नही जा सकती। स्थापना होती है अपने मत की। अत बौद्ध, ईसाई आदि मत तो हो सकते हैं, सम्प्रदाय भी हो सकते हैं, किन्तु धर्म नही हो सकते। धर्म तो आत्मा का स्वभाव है और आत्मा का स्वभाव किसी के द्वारा स्थापित नही किया जा सकता, उसका प्रारम्भ नही किया जा सकता।

जैन धर्म किसी व्यक्ति द्वारा चलाया या स्थापित किया हुआ नही है। यह तो जिनो का धर्म है। जिन का अर्थ है वे व्यक्ति जिन्होंने अपने आत्मा के राग-द्वेष मोहादि शत्रुओं को जीत लिया हो। जो आत्मा के इन विकार रूपी शत्रुओं को जीत लेते हैं, वे शुद्ध निर्विकार वीतराग हो जाते हैं, उन्हे आत्म-दर्शन होने लगता है, उन्हे आत्मा के शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है। वे व्यक्ति चाहे कोई भी हों, उनका नाम 'जिन' या 'अरहन्त' कहलाता है। वे सब लोगो को आत्मा के शुद्ध रूप और उसकी प्राप्ति के जो उपाय बताते हैं, वही जैनधर्म कहलाता है। जैन धर्म तो वास्तव मे आत्मजयी पुरुषों द्वारा बताया गया वह धर्म है, जिसके द्वारा आत्मा की सम्पूर्ण

शुद्धि की जा सकती है, जिसके द्वारा आत्मा की उपलब्धि हो सकती है। इसे दूसरे शब्दों मे कहा जाय तो यह तो आत्मा का 'निजधर्म' है।

इसीलिये आचार्य समन्तभद्र ने भगवान् की स्तुति करते हुए उनके तीर्थ, शासन या धर्म को सर्वोदय तीर्थ बताया है—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥

अर्थात् आपका तीर्थ या शासन द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध, एक-अनेक आदि समस्त धर्मों को लिये हुए है, गौण और मुख्य की कल्पना को साथ मे लिये हुए है। जो शासन सब धर्मों मे पारस्परिक,अपेक्षा का प्रतिपादन नही करता, वह सब धर्मों से शून्य है। इसलिए आपका ही शासन सब दु.खो का अंत करने वाला है और वही सब प्राणियो के अभ्युदय का कारण है।

आगे समन्तभद्र स्वामी जैन शासन की विशेषता बताते हुए कहते हैं—

दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं नयप्रमाणप्रकृताञ्जसार्थम्,
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम्॥

अर्थात् हे जिनदेव! आपका मत दया, इन्द्रियदमन, त्याग और प्रशस्त ध्यान से युक्त है, नय और प्रमाणो से सम्पूर्ण वस्तुतत्त्व को बिल्कुल स्पष्ट करने वाला है, दूसरे सारे वादों के द्वारा यह दूषित नही हो सकता, ऐसा आपका अद्वितीय शासन है।

आचार्य ने इसमें जैन शासन की विशेषताओ पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि जैन शासन मे जीवों की रक्षा का विधान है। यह शासन वस्तुत जीव-दया की नीव पर ही खडा है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, परोपकार आदि सभी व्रत दया पर ही निर्भर हैं। दया का जैन शासन मे इतना सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है कि आत्मा की उपलब्धि के सारे आयोजन स्व-दया मे सम्मिलित हो जाते हैं। जीव के बुरे सकल्प और विचार, बुरी भावनाए जीव के प्रति अदया कहलाती हैं, अत. उस अदया को दूर किये बिना स्व की उपलब्धि सभव नही है। अत· दया ही धर्म का वास्तविक मूलाधार है।

इस शासन मे इन्द्रिय-दमन का विधान है। आत्मा इन्द्रियो के आधीन होकर विषयो मे रमण कर रहा है, इष्ट की प्राप्ति के लिये व्याकुलता और अनिष्ट के वियोग के लिये प्रयत्न इन्द्रिय-लिप्सा और विषयों की रस-लालसा की वजह से है। जब तक इन्द्रियों का दमन नहीं किया जायेगा, उन्हें विजय नही किया जायगा, तब तक आत्मा की प्रवृत्ति ससार की ओर बनी रहेगी, वह अपने को पाने की ओर उन्मुख ही नही होगा। इसीलिये तो 'आत्मा का अहित' विषय-कषाय कहा गया है। ये विषय और कषाय आत्मा का अहित करने वाले हैं। आत्मा का अहित यही है कि उसे पराधीन बना देते हैं। इन्हें जीत कर ही आत्मा स्वाधीन, स्वतन्त्र हो सकता है और यह स्वाधीनता, इन्द्रिय-दासता से मुक्ति तभी मिल सकती है जब इन्द्रियो का दमन किया जाय।

आत्मा के साथ जो परतन्त्र लगा हुआ है और जिसे आत्मा ने 'स्व' मान लिया है, उसका त्याग करना आवश्यक है। पर को स्व मानकर ही तो आत्मा ने यह ससार बसा रक्खा है। पर मे स्व बुद्धि हट जाय, स्व को स्व मानने लग जाय तो इस ससार से मुक्ति सरल हो जाय। पर मे ममत्व अर्थात् मेरापन ही परिग्रह कहलाता है। जिन्हे पर होते हुए भी वह आत्मा अपना मानता है, वह कोई भी पदार्थ हो, चाहे अपना शरीर हो, कुटुम्ब हो, धन दौलत हो या कुछ भी—ये सब चीज परिग्रह कहलाती हैं और इनमे स्वबुद्धि भी परिग्रह कहलाती है। इन दोनो बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करके ही स्व की उपलब्धि हो सकती है। अत: जैन शासन मे त्याग पर विशेष बल दिया गया है।

इन तीनो दया, दम, और त्याग के अतिरिक्त जैन शासन मे समाधि अर्थात् प्रशस्त ध्यान भी बताया गया है। ससारी जीव दिन-रात ध्यान तो करता ही रहता है, वह आर्त और रौद्र ध्यान मे सदा फसा रहता है। दिन-रात विषयों और कषायों का ही ध्यान करता रहता है। लेकिन उसमे भी अनन्त ससार की वृद्धि ही होती है। अत उन्हे त्याग कर प्रशस्त ध्यान करने का विधान किया है। जब अप्रशस्त ध्यान छोड कर प्रशस्त ध्यान—धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान—करेंगे, तभी कर्म-जाल को तोड़ा जा सकेगा। आत्मा जब अपने शुद्ध स्वरूप के बारे मे एकाग्र मन से चिंतन करता रहता है तो उसे अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होता है और शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति का उत्साह होता है। आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध अप्रशस्त ध्यानो के कारण ही है। उस सम्बन्ध को प्रशस्त ध्यानों के द्वारा ही तोडा जा सकता है और जब वह सम्बन्ध टूट जाता है तो आत्मा शुद्ध व निर्मल हो जाती है। उसका आवागमन, जन्म-मरण नष्ट हो जाता है और वह मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार जैन शासन की प्रथम विशेषता यह है कि उपर्युक्त चारो बातें बताई गई हैं जिनके द्वारा आत्मा की मुक्ति

हो सकती है। दूसरी विशेषता यह है कि जैन शासन में एकान्त दृष्टि नहीं है। एकान्त दृष्टि से पक्ष-व्यामोह हो जाता है, अपने के प्रति आग्रह हो जाता है। उस आग्रह के होने पर सत्यान्वेषण की दृष्टि नही रहती, बल्कि यह हो जाती है कि जो मेरा है वही सत्य है। क्या इस आग्रह और पक्षपात मे कभी सत्य की उपलब्धि हो सकती है और क्या इससे वस्तुतत्त्व का सही प्रतिपादन हो सकता है? कभी नहीं। इसलिये जैन शासन मे नय और प्रमाणो द्वारा अनेकान्त दृष्टि से पदार्थ का कथन किया गया है। ससार मे जो कुछ कहा जाता है, वह पूर्ण सत्य नही होता, बल्कि सत्यांश होता है क्योकि कोई शब्द सम्पूर्ण सत्य को कह नही सकता। शब्द जो कुछ कहता है, वह सत्यांश होता है और वह किसी अपेक्षा को लेकर ही कहता है। इस सापेक्षता को ही तो अनेकान्त कहते हैं। जैन शासन इसी अनेकान्त का कथन है। अतः वह पदार्थों का अनेक दृष्टियों से सही निरूपण कर सका है।

जैन शासन की तीसरी विशेषता यह है कि चूकि उसमे सारा कथन अनेकान्त को लेकर है, दूसरे एकान्तवादी जैन शासन का खंडन नहीं कर सकते। वह अकाट्य है।

इन सब विशेषताओं के कारण जैन शासन ही आत्मा का कल्याण कर सकता है और ससार के जन्म-मरण, आधि-व्याधि आदि को नष्ट कर सकता है। इसीलिये जैसा कि हमने पहले कहा था कि वस्तुत जिनशासन निज शासन है, आत्मा का धर्म है।

दिगम्बर मुद्रा की नैसर्गिकता

जल स्वभाव से शीतल होता है। यदि उसको अग्नि द्वारा गर्म किया जाए तो भी देर तक उसे यो ही छोड देने पर वह स्वयं शीतल हो जाता है। जिन स्रोतो से जल उष्ण (गर्म) निकलता है, उस जल की गर्मी भी स्वाभाविक नही होती। उस जल के नीचे गन्धक आदि ज्वलनशील पदार्थ की कोई खान होती है जिस कारण स्रोत का यह जल गर्म होता रहता है। किन्तु स्रोत से निकले हुए उस गर्म जल को भी यदि यो ही रख दिया जाए तो वह फिर अपनी स्वाभाविक शीतलता मे आ जाता है। इससे सिद्ध होता है कि जल का स्वभाव शीतल है।

जीव का स्वभाव भी शीतल है। उसमे जब किसी प्रतिकूल अनिष्ट बात को देखकर, सुनकर या विचार करके भयानक गर्मी का आवेश आता है उस समय यह एकदम अपने वश मे नही रहता। अपना विवेक, धैर्य, क्षमा, शान्ति खोकर मरने-मारने और ऊल-जलूल बकवास करने, गालिया, अपशब्द देने के लिये तैयार हो जाता है, उसके नेत्रो मे रक्त उतर आता है, चेहरा लाल हो जाता है परन्तु जीव की यह गर्मी स्वाभाविक नही होती, क्रोध कषाय[1] के कारण बनावटी (वैभाविक) होती है। इसी कारण थोडी देर तक ही उस गर्मी का प्रभाव रहता है, तदनन्तर वह क्रोधी जीव स्वयं शीतल स्वभाव मे आ जाता है। द्वेष भावना चाहे उसके हृदय मे भले ही बनी रहे परन्तु क्रोध का आवेश अधिक देर तक नहीं ठहर सकता। यदि किसी मनुष्य मे बहुत अधिक देर तक क्रोध बना रहे तो उस क्रोध की गर्मी से पागल हो जायेगा। यहाँ तक कि उसकी मृत्यु भी हो सकती है। इस से प्रमाणित होता है कि क्रोध जीव का स्वभाव नहीं है, विभाव है[2]—विकृत परिणाम है।

इसी तरह हिंसा करना जीव का स्वभाव नहीं है, विभाव है। इसीलिये कोई भी हिंसक, वह चाहे मनुष्य हो या पशु, सदा हिंसा नही कर सकता। उसे अपने बच्चों, स्त्री, मित्र आदि के मारने के क्रूर परिणाम स्वप्न मे भी नही होते। उनकी रक्षा करने मे वह सदा तत्पर रहता है। इसके सिवाय उसके सामने जब कोई दीन जीव आता है और अपने प्राणो की भिक्षा मांगता है तो उसके ऊपर उसको दया भी आ जाती है। उसकी हिंसा नही करता। यदि कोई व्यक्ति अहिंसा भाव से रहना चाहे तो वह जन्म भर रह सकता है। अहिंसा के कारण उसका आत्मा क्षुब्ध नही होता। सिंह हिंसक अवश्य होता है परन्तु सदा सबकी हिंसा न करता है, न कर सकता है। उधर हिरण, खरगोश को देखो वे अहिंसक प्राणी हैं। जन्म से लेकर मरण पर्यन्त अहिंसक बने रहते हैं। किसी भी प्राणी की हिंसा नही करते। इस अहिंसा के कारण उनमें न कोई विकार आता है, न उन्हे कोई कष्ट होता है। इससे सिद्ध होता है कि हिंसा करना जीव का स्वभाव नही है। अहिंसा भाव स्वभाव है।

---

१. आत्मा के भीतरी कलुष परिणाम को कषाय कहते हैं। यद्यपि क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चार ही कषाय प्रसिद्ध हैं, पर इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार की कषायो का निर्देश आगम मे मिलता है।"—जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-२, जिनेन्द्रवर्णी, पृ० ३३

२. "कर्मों के उदय से होने वाले जीव के रागादि विकारी भावों को विभाव कहते हैं।"—जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-३ जिनेन्द्र वर्णी, पृ० ५६५

पहनने ओढने के विषय मे विचार किया जाए तो ज्ञात होता है कि पशु-पक्षियो की अपेक्षा मनुष्य मे बहुत-कुछ कृत्रिमता (बनावटीपन) आ गयी है। विभिन्न देश के रहने वाले स्त्री-पुरुषो के विभिन्न वेश हैं। किसी देश के स्त्री-पुरुष लम्बे कपड़े पहनते हैं, किसी देश के छोटे पहनते हैं, कोई ढीले कपडे पहना करते हैं, कोई तग वस्त्र पहनते हैं, कोई पेडो के पत्तों, छालों से शरीर को ढँकते हैं, कोई पक्षियो के परो से शरीर आच्छादन करते हैं, कोई चर्म के वस्त्र पहनते हैं, किसी देश मे प्राय ऊनी वस्त्र काम मे लिये जाते हैं, कही पर ऊनी सूती दोनों तरह के वस्त्र पहने जाते हैं।

अन्य देशो की बात छोडकर हम भारत के विभिन्न प्रान्तो का पहनावा देखें तो उसमें परस्पर बहुत अन्तर है। पंजाब, बंगाल, मद्रास, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र प्रान्तो मे स्त्री पुरुषो की वेशभूषा विभिन्न प्रकार की है: आसाम के नागा लोग तथा अनेक देशों के मूल निवासी बहुत थोडा-सा वस्त्र पहन कर प्राय: नग्न रहते है। इन सब बातों से यह बात ज्ञात होती है कि मनुष्य की वेशभूषा में बनावटी रूप आ गया है।

पशु-पक्षी सदा नग्न रहते है फिर न उनको शीत ऋतु मे कफज्वर (निमोनिया) होता है, न वर्षाऋतु के अन्त में मलेरिया होता है और न ग्रीष्म ऋतु मे उनका कभी गर्मी से पित्तज्वर होते सुना है। जगलो मे उनके लिये न कही अस्पताल खुले हैं, न समशीतोष्ण (एअरकण्डीशन के) भवन बने हुए हैं। फिर भी वे सदा स्वस्थ हृष्ट-पुष्ट रहते हैं। अपने लिये सुख-साधनों की व्यवस्था करने वाला, वस्त्रो से लदा हुआ, सभ्यता का पुजारी मनुष्य ही प्रत्येक ऋतु मे विभिन्न रोगों से पीडित हुआ करता है और प्लेग, हैजा, राजयक्ष्मा, मलेरिया आदि का शिकार होकर अकाल मृत्यु का शिकार होता रहता है।

मनुष्य के वस्त्र पहनने मे दो कारण हैं—एक तो यह कि उसने अपनी शारीरिक सहनशक्ति को बिगाड़ लिया है। इसी कारण वह पशु-पक्षियो के समान अपने प्राकृतिक नग्नवेश मे नही रह सकता। नग्न रहने पर सर्दी गर्मी लग जाने का उसे भय बना रहता है। दूसरे —मनुष्य के मन मे उत्पन्न होने वाली कामवासना उसकी कामेन्द्रिय मे विकार खडा कर देती है, अपनी उस ऐन्द्रिय निर्बलता को छिपाने के लिये अपने उन अगो को वस्त्र मे ढक कर गुप्त रखना पडता है जिससे उसके मानसिक विकार को अन्य व्यक्ति देख न सकें। उसे सभ्य सदाचारी जानते रहे।

कोई-कोई साधुवेशधारी कामविकार को रोकने के विचार से अपनी मूत्र इन्द्रिय रस्सी से कस कर बाँध देते हैं। कोई उसके साथ लोहे का टुकडा लटका देते हैं इत्यादि क्रिया कामवासना को रोकने के लिये करत हैं। सभवत उन्हे मालूम नही कि कामवासना मन से उत्पन्न होती है। अत इन्द्रिय के विकार को रोकने के लिये मन मे अखण्ड ब्रह्मचर्य की भावना जाग्रत रहना आवश्यक है। मूत्रेन्द्रिय को बाधना आदि अकार्यकारी है।

मनुष्य यदि प्रकृति मे रहन-सहन का अभ्यासी हो जाए तथा अपने मानसिक काम-विकार पर विजय प्राप्त कर ले, तो फिर उसे कोई भी वस्त्र पहनने की आवश्यकता नही है।

भगवान् ऋषभनाथ ने जब घर-परिवार से, ससार से, शरीर से तथा विषयभोगो से विरक्त होकर साधुदीक्षा ली, उस समय उन्होंने परिग्रह-त्याग की पूर्ति के लिए शरीर के सब वस्त्र उतार कर अपना नग्नवेश बनाया, क्योंकि वस्त्र लेने मे द्रव्य खर्च करना पडता है जिससे फिर माया के चक्कर मे आना पडता है। दूसरे शारीरिक मोह छोडने के लिये शरीर को नग्न रखकर प्राकृतिक सर्दी-गर्मी को सहन करने योग्य बनाया। तीसरे, अपने मानसिक ब्रह्मचर्य का प्रत्यक्ष प्रमाण ससार को कराने के लिये भी उन्होने वस्त्र पहनना त्याग दिया। उसी नग्नवेश मे तपस्या करके उन्होंने मुक्ति प्राप्त की। उनके उसी नग्नवेश को उनके अनुयायी साधुवर्ग ने परम्परा से अपनाया, पश्चात्वर्ती समस्त तीर्थंकर भी नग्न होकर ही साधु बने और अन्त तक नग्न रहे।

भगवान् महावीर के बाद सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय द्वादशवर्षीय अकाल पडने के समय कुछ जैन साधुओ ने भोजनचर्या के समय लंगोट पहनना प्रारम्भ कर दिया था। उसके वे अभ्यासी बन गये, जिससे कि विक्रम सवत् की दूसरी शताब्दी मे जैन श्रमण संघ दिगम्बर व श्वेताम्बर रूप मे विभक्त हो गया। दिशाओ को ही अपना प्राकृतिक अम्बर (वस्त्र) समझकर पहले की तरह नग्न रहकर तपश्चरण करने वाले साधुओं का नाम दिगम्बर प्रख्यात हुआ और श्वेत (सफेद) अम्बर (कपडे) पहनने वाले श्वेताम्बर कहलाये।

जैनेतर उच्चकोटि के साधुओं ने भी दिगम्बर रूप अपनाया है। उपनिषदो के कथनानुसार परमहस साधु दिगम्बर ही होते हैं। शुकदेव जी नग्न रहते थे, शम्मस आदि कुछ मुसलमान फकीर भी नग्न रहा करते थे।

श्री अकलंक देव ने स्तुति करते हुए जिनेन्द्र भगवान् को विश्वपूज्य बतलाने मे एक हेतु उनके नग्नरूप को बतलाया है। उन्होंने लिखा है—

नो ब्रह्मांकितभूतलं न च हरेः शम्भोर्न मुद्रांकितम्,
नो चन्द्रार्ककरांकितं सुरपतेर्वज्रांकितं नैव च।
षड्वक्त्रांकितबौद्धदेवहुतभुक्यक्षोरगैर्नांकितं,
नग्नं पश्यत वादिनो जगदिदं जैनेन्द्रमुद्रांकितम् ॥

अर्थात् यह जगत् या इस जगत् के प्राणी ब्रह्मा के किसी चिह्न से अंकित नही हैं, विष्णु और शम्भु की मुहर भी किसी पर नहीं लगी है, न चन्द्र सूर्य की किरणें किसी पर लगी हुई हैं, इन्द्र के वज्र का निशान भी किसी पर नही बना हुआ है, न षण्मुख कार्तिकेय के चिह्न से या बुद्ध, अग्नि, यक्ष, नागराज के चिह्न से अंकित जगत् या जगत् के प्राणी हैं। हे वादी विद्वानो! देख लो यह समस्त जगत् जिनेन्द्र भगवान् की मुद्रा से अंकित नग्न दिखाई दे रहा है। प्रत्येक प्राणी भगवान् जिनेन्द्र देव की नग्न मुद्रा मे उत्पन्न होता है।

आगे इसको स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

मौंजीदण्डकमण्डलुप्रभृतयो नो लाञ्छनं ब्रह्मणो,
रुद्रस्यापि जटाकपालमुकुटं कौपीनखट्वांगना।
विष्णोश्चक्रगदादिशंखमतुलं बुद्धस्य रक्तांबरं,
नग्नं पश्यत वादिनो जगदिदं जैनेन्द्रमुद्रांकितम् ॥

अर्थात्—जैन दर्शन के विरुद्ध वाद करने वाले वादी पण्डित जन! ध्यान देकर देखो कि इस जगत् मे किसी भी वस्तु पर या किसी भी जीव पर ब्रह्मा का चिह्न मौंजी, दण्ड, कमण्डलु आदि कोई भी नही पाया जाता। महादेव का भी केशो की जटा, हाथ में लिया कपाल, चन्द्र-मुकुट, कौपीन, खाट, स्त्री (पार्वती) आदि का कोई चिह्न कही किसी पर अंकित नही दीख पडता। विष्णु के शंख, चक्र, गदा आदि के चिह्न भी किसी पर दिखाई नही देते। बुद्ध का लाल वस्त्र भी किसी पर अंकित नही है, किन्तु समस्त जगत् में समस्त जगत् के प्राणी जिनेन्द्र भगवान् की नग्न मुद्रा से अंकित पाये जाते है।

अपने-अपने देश, प्रदेश, प्रान्त का मान्य शासक वही माना जाता है जिसकी मुहर के सिक्के (रुपया, पैसा, गिन्नी, नोट आदि) चलते हैं, राजकीय व्यवहार के समस्त पदार्थों (टिकट, स्टाम्प आदि) पर जिसका चिह्न अंकित होता है। तदनुसार जगत् मे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध, इन्द्र, यक्ष आदि किसी भी देव की मुहर नही पाई जाती किन्तु जिनेन्द्र भगवान नग्न होते हैं, सो उनकी नग्नता की छाप ससार के सभी उत्पन्न होने वाले जीवो पर लगी होती है। अत विश्व के पूज्य श्री जिनेन्द्र देव ही हैं।

जिनेन्द्र भगवान् की उस नग्न दिगम्बर मुद्रा को दीन, हीन, भीरु व्यक्ति धारण नही कर सकते। उसके लिये महान् मनोबल, अटूट साहस तथा अखण्ड ब्रह्मचर्य की आवश्यकता होती है। यदि इन बातों मे कमी हो तो मनुष्य नग्न दिगम्बर मुद्रा धारण नहीं कर सकता। पशु ब्रह्मचर्य की कमी के कारण ही नग्न रहते हुए भी भगवान् जिनेन्द्र की नग्न दिगम्बर मुद्रा-धारक नही कहलाते। कवि ने कहा है—

अन्तर विषय-वासना बरतै बाहर लोकलाज भयकारी।

तातैं परम दिगम्बर-मुद्रा धरि सकैं नहीं दीन संसारी ॥

अर्थात्—सर्वसाधारण मनुष्यो का मन काम-वासना से भरा हुआ है, बाहर उन्हे नग्न होने के लिये लोकलज्जा बाधा डालती है। इस कारण वे अपनी निर्बलता के कारण दिगम्बर दीक्षा नही ले सकते।

इसके साथ ही मुनियो के अन्य २७ गुणो का भी आचरण होना आवश्यक है। पाच महाव्रत, पाच समिति, पाच इन्द्रिय-दमन, छह आवश्यक तथा दिन मे केवल एक बार ही भोजन करना, पानी भी उबाला हुआ उसी समय पीना, पृथ्वी पर, पत्थर या लकडी के तख्ते पर सोना, अपने बालो का अपने हाथो से लोच करना, जीवन भर स्नान न करना इत्यादि कठोर व्रत भी कडाई के साथ आचरण किये जाते हैं। तब ही श्री जिनेन्द्र भगवान् की दिगम्बर मुद्रा का धारण होता है।

जैन दर्शन एवं भक्ति

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

प्रत्येक मनुष्य अपना कुछ न कुछ लक्ष्य निश्चित करके अपने जीवन की धारा प्रवाहित करता है। व्यापारी अपने समय, समझ और परिस्थिति के अनुकूल लक्ष्य बनाकर व्यापार प्रारम्भ करता है। उद्योगी पुरुष किसी उद्योग की नींव भी अपने सामने किसी लक्ष्य को रखकर डालता है। गर्भ-धारण तथा प्रसव की महती वेदना सहन करके भी जो पुत्र को जन्म देती है, वह भी अपना कोई लक्ष्य रखकर ही पुत्र का मुख देखते ही अपनी समस्त पीड़ा भूल जाती है, तदनन्तर उसका महान् यत्न और सावधानी से पालन-पोषण करती है। अपना शारीरिक बल क्षीण करके उसे अपनी छाती का दूध पिलाती है। उसके इस अनुपम त्याग का भी कुछ उद्देश्य होता है। उसकी भावना होती है कि मेरा पुत्र बड़ा होकर अपने कुल का उद्धार करे, परिवार को समृद्ध बनावे, मेरे लिये सुख-सामग्री जुटावे।

पिता स्वयं अनेक कष्टों को सहर्ष स्वीकार करके अपने पुत्र को शिक्षित बनाने में अपनी शक्ति जुटा देता है। उसका भी उद्देश्य होता है कि मेरा पुत्र अच्छा विद्वान् बनकर अपना तथा मेरा नाम प्रसिद्ध करे तथा जीवन की अन्तिम घड़ियों में मेरे असमर्थ शरीर को कुछ सहायता प्रदान करे।

एक विद्यार्थी पाठशाला में प्रविष्ट होकर अ आ इ ई पढ़ना प्रारम्भ करता है। अपना परम प्रिय खेल खेलना छोड़कर ६ घन्टे के बन्दीघर में अपने आपको सहर्ष डाल देता है। अपने अध्यापक की डाट-फटकार और थप्पड़-बेंत की मार को भी सहन करता है, अक्षर-ज्ञान में मन लगाता है। वह छोटा बच्चा भी अपने हृदय में अन्य विद्वानों के समान महान् विद्वान् बनने की उच्च भावना से ही विद्यार्थी-जीवन प्रारम्भ करता है।

एक किसान खेत को बड़े परिश्रम से जोतता है। अपने पास रक्खे हुए सबसे अच्छे अन्न को स्वयं न खाकर उसे मिट्टी के खेत में बिखेर देता है। फिर उस मिट्टी को गहरे कुए में पानी निकाल-निकाल कर अनेक बार सींचता है। सर्दियों की ठण्डी रातों में खड़ा रहता है। वर्षा ऋतु में खुले मैदान में फावड़ा लेकर अपने खेत के अनेक चक्कर लगाता है। गर्मियों में दोपहर की धूप और भयानक लू की कुछ भी चिन्ता न करके उस खेत के काम में लगा रहता है। इतना महान् प्रयास करने का उसका उद्देश्य यही होता है कि अपने बोये हुए अन्न के एक-एक दाने के बदले में अन्न के हजारों दाने प्राप्त करूं, वर्ष भर तक अपने परिवार को भोजन खिलाऊं, अपने पशुओं को भूसा देता रहूं और अतिरिक्त अन्न तथा भूसे को बेचकर अपनी अन्य आवश्यकताओं को पूर्ण करता रहूं। इस तरह अपनी-अपनी समझ, शक्ति, परिस्थितियों के अनुसार अपना कोई न कोई लक्ष्य बनाकर ही प्रत्येक प्राणी कोई कार्य करता है।

इस प्रकार के सभी लक्ष्य सांसारिक दृष्टिकोण से होते हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से आत्मशुद्धि का लक्ष्य इससे भिन्न श्रेणी का हुआ करता है। जो व्यक्ति अपनी आत्मा का उत्थान करना चाहते हैं वे अपना अन्तिम लक्ष्य संसार के आवागमन (जन्म-मरण) से छूटकर संसार से पूर्ण मुक्ति प्राप्त करने का रखते हैं। इस लक्ष्य को सिद्ध करने के लिये वे अपना आदर्श पंच परमेष्ठियों को रखते हैं।

परमेष्ठी—

आत्मशुद्धि द्वारा जो परम (सर्वोच्च) पद में स्थित हैं उन्हें परमेष्ठी कहते हैं। शासन-व्यवस्था की दृष्टि से जमींदार, जागीरदार, राजा, महाराजा, मंडलेश्वर, सम्राट्, चक्रवर्ती एक-दूसरे से महान् होते हैं। परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से चक्रवर्ती भी, देवों के स्वामी इन्द्र भी, परमेष्ठियों को पूज्य समझकर उनको नमस्कार करते हैं। अतः उनका परमेष्ठी नाम सार्थक है।

परमेष्ठी के ५ भेद हैं—(१) अर्हन्त, (२) सिद्ध, (३) आचार्य, (४) उपाध्याय, (५) साधु। इनमें अर्हन्त भगवान् जीवन्मुक्त परमात्मा हैं। सिद्ध भगवान् पूर्णमुक्त परमात्मा हैं। अर्हन्त, सिद्ध भगवान् के पदचिह्नों पर चलने वाले, संसार से विरक्त,

महाव्रतधारी आचार्य, उपाध्याय, साधु ये तीनों गुरु कहलाते हैं। पूज्यता की दृष्टि से सबसे नीचा पद साधु का माना गया है। साधु से अधिक पूज्य उपाध्याय होते हैं। उपाध्याय से भी उच्चपद आचार्य परमेष्ठी का होता है। आचार्य परमेष्ठी से अधिक पूज्यता सिद्ध परमेष्ठी में मानी गई है और सबसे अधिक पूज्यता अर्हन्त भगवान् मे होती है। यद्यपि आत्मशुद्धि की दृष्टि से सिद्ध परमेष्ठी का पद सबसे उच्च है क्योंकि वे सर्वकर्मविनिर्मुक्त होते हैं, जबकि अर्हन्त भगवान् को चार अघातिकर्म नाश करने शेष रहते हैं, परन्तु संसार से पार करने का दिव्य उपदेश जनता को अर्हन्त भगवान् द्वारा ही मिला करता है, उनसे ही लोक-कल्याण हुआ करता है, अतः जगत् मे अर्हन्त को सबसे अधिक पूज्य माना गया है।

इसी तरह गुरुओ मे आत्मशुद्धि की दृष्टि से साधु उच्च होते हैं, परन्तु लोकमान्यता की दृष्टि से आचार्य को सबसे उच्च गुरु माना गया है। साधु आचार्य की आज्ञानुसार चलते हैं। आचार्य को अपना गुरु समझते हैं, उनसे प्रायश्चित्त, दीक्षा लेते हैं। उपाध्याय आचार्य के शासन मे रहते हैं। अतः आचार्य से उनका पद कम होता है किन्तु अधिक ज्ञानवान होने से वे साधुओं से उच्च माने जाते हैं। आचार्य और उपाध्याय एक पदवी है। साधुओ के संघ मे जो सबसे अधिक अनुभवी, विद्वान्, तपस्वी, प्रभावशाली होते हैं उनको या तो संघ द्वारा अथवा गुरु आचार्य द्वारा 'आचार्य' पद प्रदान किया जाता है, अधिक शास्त्रज्ञ विद्वान् साधु को उपाध्याय पद दिया जाता है। आचार्य और उपाध्याय जब अधिक आत्मशुद्धि करने के लिये संघ से अलग होकर तपस्या करने के लिये तत्पर होते हैं, अथवा समाधिमरण मे आरूढ़ होते हैं तब सब संघ के समक्ष अपना उत्तराधिकार सुयोग्य साधु को प्रदान करके स्वय उस कार्य-भार से निश्चिन्त हो जाते हैं। मुक्ति प्राप्त करने के लिये जिस उच्च साधना की आवश्यकता होती है, वह आचार्य व उपाध्याय पद पर रहते हुए प्राप्त नही होती। वह तो साधु पद से ही मिलती है।

मनुष्य को जब तक आत्मा का अनुभव नही होता तब तक वह अपने शरीर, पुत्र, स्त्री, भाई आदि परिवार तथा मित्र परिकर में एवं धन, मकान आदि पदार्थों को अपनाकर उनके मोह-ममता मे फंसा रहता है। उसके हृदय मे भी ससार होता है और उसके बाहर चारो ओर भी ससार होता है। इस कारण उसका जीवन परिवार के पालन-पोषण तथा सासारिक विषय-वासनाओ मे ही बीत जाता है। किन्तु जिस व्यक्ति को पूर्वभव के संस्कार से या किसी साधु-मुनि के उपदेश से अथवा भगवान् की प्रतिमा के दर्शन से अपनी आत्मा की अनुभूति (सम्यक् श्रद्धा) हो जाती है, उस समय उसकी रुचि आत्मा की ओर हो जाती है। वह फिर शरीर, परिवार, विषयभोगों से ऊपरी दिखावटी प्रेम बनाये रखता है जैसे धाय दूसरे बच्चे को पालते समय उस पर बाहरी प्रेम प्रगट करती है। बाहर से उसके चारो ओर ससार दिखाई देता है, क्योकि वह कुटुम्ब या परिवार मे रहता है, किन्तु उसके हृदय मे ससार नही होता। उसकी प्रबल इच्छा यही बनी रहती है कि कौन-सी शुभ घडी आये जब कि मैं घर-गृहस्थी का भार अपने पुत्र, भ्राता आदि को सौंपकर घर से अलग हो जाऊं और ससार के कोलाहल से दूर वन, पर्वत आदि एकान्त स्थान मे अपना सारा समय आत्म-साधना मे व्यतीत करूं।

ऐसे विरक्त आत्म-अनुभवी पुरुष को जब घरबार को सम्हालने वाले समर्थ पुत्र आदि का अवसर मिल जाता है तब वह अपने पुत्र, स्त्री आदि को अपना घर-परिवार का भार सौंप कर घर से अलग हो जाता है। घर के साथ ही ससार के समस्त परिग्रह से अन्तरंग-बहिरंग सम्बन्ध त्याग कर किसी गुरु से जाकर साधु दीक्षा ग्रहण करता है। अपने शरीर के समस्त वस्त्र भी उतार आजन्म नग्न रहने की प्रतिज्ञा करके पाच महाव्रत आचरण करता है। शौच आदि के लिये जल रखने को लकडी या नारियल का एक कमडलु, चीटी आदि जीव जन्तुओ को बैठने-सोने आदि के स्थान से दूर करने के लिये मोर के पखो की बनी हुई एक पीछी तथा ज्ञानाभ्यास के लिये शास्त्र, ये तीन पदार्थ अपने पास रखता है। इनके सिवाय अन्य कोई भी पदार्थ उसके पास नही होता। सदा पैदल विहार करता है। सिर, दाढी, मूँछो के बाल बडे हो जाने पर दो, तीन या चार मास पीछे अपने हाथ से उनका लोंच कर डालता है। उसको जहां जिस गृहस्थ के घर शुद्ध भोजन विधि-अनुसार मिल जाता है वहा भोजन कर लेता है। शुद्ध भूमि पर ही सो जाता है। भोजन करने तथा सोने के सिवाय शेष सारा समय आत्मध्यान, स्वाध्याय, शास्त्र-चर्चा या उपदेश मे लगाता है। इसके सिवाय और कोई कार्य नही करता। इस तरह वह अधिकतर आत्म-साधना करता है। इस कारण उसे साधु कहते हैं। 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' मे साधु परमेष्ठी का स्वरूप यों लिखा है—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥

अर्थात्—जो इन्द्रियो की विषय-वासनाओं से अलिप्त हो, खेती, व्यापार , उद्योग तथा भोजनादि के आरम्भ-कार्यों से अलग रहता हो, किसी भी प्रकार का रच मात्र भी परिग्रह जिसके पास न हो, जो ज्ञानाभ्यास करने मे तथा आत्मध्यान मे लगा रहता हो—ऐसा तपस्वी साधु प्रशंसनीय है ।

५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियविजय, ६ आवश्यक तथा नग्नता, भूमि-शयन, स्नान-त्याग आदि ७ यम—इस तरह २८ मूलगुण साधु परमेष्ठी के होते हैं ।

इन्हीं २८ मूल गुणो के आचरण करने वाले साधुओ में जो सबसे अधिक विद्वान् होते हैं, तथा अन्य साधुओ को सिद्धान्त, न्याय, आचार, व्याकरण आदि विषयो का ज्ञानाभ्यास कराने की योग्यता रखते हैं, ऐसे विद्वान् साधु को उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है । २८ मूल गुणो का आचरण करते हुए मुनियो को पढ़ाना इनका विशेष कार्य होता है । अत. ११ अग, १४ पूर्वका ज्ञान होना ये २५ गुण (२८ मूल गुणो के सिवाय और) बतलाये गये हैं ।

कुलपति के समान जो मुनि-सघ मे प्रधान होते हैं, जिनसे कि मुनि-दीक्षा ग्रहण की जाती है, जो सघ के साधुओ को किसी चरित्र-सम्बन्धी त्रुटि का प्रायश्चित्त देते हैं, समस्त साधु जिनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करते हैं, वे आचार्य होते हैं । २८ मूल गुण पालन करते हुए १२ तप, १० धर्म, ५ आचार, ६ आवश्यक, ३ गुप्ति—इन ३६ गुणों का और भी विशेष आचरण आचार्य किया करते हैं ।

महाव्रती मुनि जिस समय आत्मध्यान मे तन्मय होकर सातवे गुणस्थान मे पहुच जाते हैं, उस समय जिस मुनि के परिणाम और अधिक विशुद्ध होते हैं उस मुनि के शुक्लध्यान प्रारम्भ होते ही आठवा गुणस्थान प्रारम्भ हो जाता है । अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति--इन ७ प्रकृतियो के सिवाय शेष चारित्र-मोहनीय की २१ प्रकृतियो को क्षय करने के लिये जो मुनि क्षपक श्रेणी को प्रारम्भ करता है, वह उन प्रकृतियो का क्षय करता हुआ नवे गुणस्थान मे स्थूल सज्वलन लोभ के सिवाय शेष सब प्रकृतियो का क्षय करता है । दसवे गुणस्थान मे उस लोभाश को और भी सूक्ष्म करके, १२वें गुणस्थान मे उसका समूल नाश कर देता है । इस गुणस्थान के अन्त मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय कर्म का नाश करके १३वें गुणस्थान मे पहुच जाता है । इतना बडा भारी कार्य केवल पहले दो शुक्ल ध्यानो के द्वारा अन्तर्मुहूर्त मे हो जाता है ।

१३वें गुणस्थान मे पहुचने पर अर्हन्त परमात्मा का पद प्राप्त हो जाता है । ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्म नष्ट हो जाने से वे पूर्ण त्रिकाल त्रिलोक के ज्ञाता, पूर्णज्ञाता-द्रष्टा, मोहनीय कर्म न रहने से पूर्ण सुखी और अन्तराय कर्म का क्षय हो जाने से उन्हे अनन्त बल प्राप्त हो जाता है । इस तरह अनन्तचतुष्टय के धारक अर्हन्त भगवान् वचन-योग के कारण निरीह भाव से धर्म उपदेश देकर धर्म प्रचार करते हैं । तीर्थंकरो के उपदेश के लिये समवशरण नामक विशाल तथा सुन्दर सभा-मण्डप देवो द्वारा बनाया जाता है ।

अर्हन्त परमात्मा जब योग-निरोध करके १४वें गुणस्थान मे पहुचते हैं तब अ इ उ ऋ लृ—इन लघु अक्षरो के उच्चारण योग्य थोडे से समय मे शेष वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र इन चार अघाति कर्मों का नाश करके द्रव्यकर्म, भावकर्म से रहित होकर अशरीर, निष्कलक, शुद्ध आत्मारूप होकर, अन्तिम शरीर आकार से कुछ कम मनुष्याकार मे स्थित होकर, स्वय लोक के सर्वोच्च स्थान मे जाकर ठहर जाते हैं । वे सिद्ध परमेष्ठी है ।

इस ससार मे आध्यात्मिक गुणो के विकास के कारण ये ५ परमेष्ठी ही समस्त जगत्वर्ती जीवो मे श्रेष्ठ होते हैं, इसी कारण इनका नाम परमेष्ठी है । णमोकार मन्त्र में किसी व्यक्ति-विशेष को नमस्कार न करके इन्हीं पाच परमेष्ठियो को नमस्कार किया गया है। प्रत्येक आत्मशुद्धि-इच्छुक स्त्री-पुरुष को अपने सामने इन्हीं पाच परमेष्ठियों को आदर्श रखकर धर्म-आराधना में तत्पर रहना चाहिये ।

जगत् में चार मंगल

यह तो ठीक है कि ससारी जीवो की अमूल्य, अटूट, अक्षय और असीम आत्मनिधि कर्म के आवरण मे छिपी हुई है, किन्तु है तो उसके अपने घर मे ही, कहीं बाहर तो नही है । उसे स्वय अपने उस अटूट भण्डार का पता न हो तो न सही, किन्तु वह भण्डार है तो उसी के पास । उसके सिवाय कोई अन्य व्यक्ति तो उसको न ले सकेगा । कस्तूरी-हिरण अपनी ही नाभि की कस्तूरी की सुगन्धि से मस्त हो जाता है किन्तु उस अभागे को इस बात का रहस्य ज्ञात नही होता । इसी कारण उस सुगन्धि को वह अन्य वृक्षो, झाडियो, घास, पौधो में

सूंघता फिरता है और भटकते-भटकते खेदखिन्न हो जाता है। परिणाम यह होता है कि वह शिकारी के हाथ में पड़ जाता है और उस कस्तूरी का उपयोग उस हिरन के बजाय वह शिकारी उसके पेट को चीर कर, कस्तूरी निकाल कर करता है।

एक तेल बेचने वाले तेली को कहीं से एक सेर भर पारस पत्थर मिल गया। तेली का सौभाग्य था जो ऐसी मूल्यवान् निधि उसके हाथ आ गई। वह यदि चाहता तो मनों लोहे को उस पारस पत्थर से छुआ-छुआ कर सोना बना लेता किन्तु उस अभागे के भाग्य में यह बात थी ही नहीं। उसे पता ही न था कि 'मेरे पास ऐसा अमूल्य पत्थर है, मुझे अब घर-घर फिर कर यो तेल बेचने की क्या आवश्यकता है। मैं तो घर मे बैठ कर ही जरा से परिश्रम से अपने घर सोने का ढेर लगा सकता हू।' उस अभागे तेली ने उस अमूल्य पारस पत्थर को केवल पत्थर ही समझा और इसी कारण उस पारस को अपना तेल तोलने के लिये एक सेर का बाट ही बना लिया।

ठीक ऐसी ही दशा ससारी जीव की है। वह सुखदायक पदार्थ की खोज मे इधर-उधर भटकता-फिरता है। लोकाकाश का कोई भी प्रदेश इससे अछूता नही रहा, कही यह नारक बनकर पहुँचा, तो कही पर देव बनकर, कही मनुष्य के रूप मे पहुँचा तो कहीं पशु-पर्याय के रूप में। मुक्त जीवो का सिद्ध क्षेत्र भी निगोदी जीव के रूप मे इसने जाकर छू लिया। वहाँ पर बहुत समय तक रहा भी।

सभी ग्राह्य पुद्गल वर्गणाओ के कारण यह एक बार नही, किन्तु अनेक बार अनन्त रूप ग्रहण कर चुका है। कोई भी परमाणु इससे अछूता न रहा, परन्तु उस अनन्त अतीत काल मे इसकी सुख की प्यास कण-मात्र भी एक क्षण के लिये भी न बुझी, यह तो अब तक सुख का भूखा ही रहा तथा भविष्य मे भी यह जब तक अपने रहस्यमय भण्डार से अपरिचित बना रहेगा तब तक इसकी यह भूख मिटेगी भी नहीं।

अपनी सुख की इच्छा तृप्त करने के लिये मनुष्य विविध विचित्र मान्यताओं को अपने ही लिए सिद्धान्त बना लिया करते हैं। कभी किसी मनुष्य ने किसी कार्य के लिये जाते हुए दही मे भरा हुआ पात्र देख लिया और सौभाग्य से उसको अपने कार्य में सफलता मिल गई तो वह समझ लेता है कि दही का दर्शन मगलमय है, दही को खाकर या देखकर किसी कार्य-सिद्धि के लिये जाना चाहिये। किसी व्यक्ति को प्रात सबसे प्रथम गाय दीख गई और उसका वह दिन सुख-शान्ति-समृद्धि से व्यतीत हुआ तो उसने तथा जनता ने सिद्धान्त बना लिया कि प्रातः गाय का दर्शन मंगलरूप है।

इसी प्रकार विभिन्न लोगो ने जल-पूरित कलश को मगल-कुम्भ तथा पीली सरसो, हल्दी, दूर्वा, कुमारी कन्या आदि का प्रथम दर्शन आदि मगलरूप मान लिया है। कामी पुरुषों ने व्यभिचार-परायण वेश्या को मगलामुखी मान लिया है, किन्तु ये सब सासारिक मान्यतायें गलत हैं। सांसारिक सुख की प्राप्ति उक्त पदार्थों को प्रात. सब से पहले देख लेने मात्र से हो जाती तो प्रत्येक व्यक्ति दही, हल्दी, पीली सरसो, जल से भरा हुआ कलश आदि पदार्थ अपने-अपने घर पर रख कर प्रतिदिन मंगलमय दिवस बना लेते, तब किसी को किसी दिन कोई दुःख होता ही नही।

सातावेदनीय कर्म के उदय से ससारी जीवो को सुख मिलता है और असातावेदनीय कर्म के उदय से दुःख मिलता है। साता-वेदनीय का सचय शुभ कार्य करने से होता है। अत. भ्रान्त भावना त्याग करके दुःख के कारणभूत कर्मों को दूर करने के लिये तथा शुभ कर्मों के उपार्जन करने के लिये मगलकारी पदार्थों तथा कार्यों का आश्रय लेना चाहिये।

तदनुसार जगत् मे मंगल (सुख-शातिदायक) पदार्थ चार हैं—

अरहंत मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।

अर्थात्—जगत् मे अर्हन्तदेव, सिद्धभगवान्, साधु तथा सर्वज्ञ-प्रतिपादित धर्म—ये चार पदार्थ मंगलरूप हैं, स्वयं मंगलरूप हैं तथा अपने आराधक उपासक का मंगल करने वाले हैं।

अर्हन्त मंगल

आत्मध्यान-निमग्न योगी जब शुद्धोपयोग शुक्ल ध्यान द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—इन चार घाति कर्मों का समूल क्षय करके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तबल प्राप्त कर लेते हैं, तब वे पूर्ण वीतराग, सर्वद्रष्टा, अर्हन्त परमात्मा हो जाते हैं, शरीर मे रहते हुए भी जीवन्मुक्त होते हैं। अजर, अमर, निरजन, निर्विकार हो जाते हैं। उनकी समस्त इच्छायें समूल विलीन हो जाती हैं।

यदि वचन-योग से उनकी दिव्यध्वनि होती है तो उसके द्वारा प्रत्येक जीव को कल्याणकारी, सुपथ-प्रदर्शक, तत्त्व, पदार्थ, नय, कर्मबन्धन, कर्ममोचन, व्यवस्था, ससार-भ्रमण, ससार-मुक्ति आदि सिद्धान्तों का विवेचन जनता को सुनने के लिये मिलता है। उसको सुनकर असंख्य प्राणी सन्मार्ग पर चलते हुए आत्म-कल्याण करते है। बहुत-से मनुष्य उन-के पद-चिह्नों पर चलकर उन अर्हन्त भगवान् के समान ही घाति कर्म का क्षय करके अर्हन्त बन जाते है। बहुत-से व्यक्ति उनका दर्शन करके अपने आत्मा की अनुभूति करने लगते हैं। उनके समीपवर्ती विकराल हिंसक जीव सिंह, बाघ, भेडिया, सर्प, बिल्ली आदि जानवर अर्हन्त भगवान् के प्रभाव से अपनी हिंसक भावना छोड कर गाय, हिरण, खरगोश, चूहे, कबूतर आदि जीव जन्तुओं के साथ प्रेम से खेलते हैं।

उन अर्हन्त भगवान् का दर्शन करते ही मनुष्य के हृदय मे शान्ति का स्रोत बहने लगता है। उनका पुनीत नाम लेने से ही रसना (जीभ) पवित्र हो जाती है। अत सबसे प्रधान मगलरूप भगवान् अर्हन्त परमात्मा हैं। प्रात. सब से प्रथम अर्हन्त भगवान् की मूर्ति का दर्शन करना मंगलमय है।

अर्हन्त भगवान् का दर्शन, स्तवन, चिन्तवन करने से शुद्ध आत्मा का स्मरण होता है। राग-द्वेष, क्रोध, भय, शोक आदि त्याग कर, क्षमा-शान्ति-समता आदि गुणो की ओर चित्त आकर्षित होता है। आत्मा का अनुभव करने की ओर प्रवृत्ति बढती है। अतः शुभ कर्म का आस्रव होता है, अशुभ कर्मों की निर्जरा तथा सवर होता है,[1] जिससे कि आत्मा को सुख प्राप्त होता है। चित्त शान्त, सन्तुष्ट व निराकुल होता है।

सिद्ध मगल

अर्हन्त भगवान् जब शेष वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र -- इन चार अघाती कर्मों का क्षय करके पूर्ण मुक्त हो जाते हैं, उस समय पूर्ण आत्मसिद्धि पा लेने के कारण सिद्ध परमात्मा कहलाते हैं। द्रव्य कर्म, भावकर्म, तथा नोकर्म (शरीर) से मुक्ति पा लेने के कारण उनकी आत्मा परम विशुद्ध अपने स्वाभाविक अमूर्तिक अतिम मनुष्याकार मे स्थिर हो जाती है—अनन्त समय तक उसी आकार मे रह जाती है। कर्मबन्धन से मुक्त हो जाने के कारण तदनन्तर वे स्वयं मनुष्य लोक से गमन करके लोकाकाश के सब से उच्चभाग तनुवात वलय मे विराजमान हो जाते है। उससे ऊपर अलोकाकाश है, वहा पर धर्मास्तिकाय न होने मे नही जाते।

अष्ट कर्म नष्ट होने से उनमे कर्मों के अभावरूप अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख, अनन्तवीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघु —ये आठ गुण प्रगट होते है। इनके साथ ही और भी अनन्तगुण पूर्ण विकसित हो जाते है। ऐसे परम शुद्ध सिद्ध परमात्मा का साक्षात् दर्शन तो किसी को होता नही, अत उनका ध्यान, स्मरण, चिन्तन तथा स्तवन ही किया जाता है। साक्षात् दर्शन न होने के कारण तथा उनसे उपदेश आदि न मिलने के कारण ही उनका नाम अर्हन्त के पीछे लिया जाता है।

तीर्थंकर संसार मे किसी को नमस्कार नही करते, केवल सिद्ध परमेष्ठी को ही नमस्कार करते हैं। कार्य प्रारम्भ करने से पहले जनसाधारण भी 'नम सिद्धेभ्य' कहकर सिद्ध परमात्मा का स्मरण करते है। ऐसे परम पुनीत सिद्ध भगवान् भी उत्तम मंगल रूप हैं। उनका मन मे स्मरण करते ही चित्त पवित्रता की ओर आकर्षित होता है। उनके गुण-गायन करने से मुख पवित्र हो जाता है, हृदय मे शुद्ध आत्मा की लहर लहराने लगती है जिससे अशुभ कर्म क्षय होकर शुभ कर्म का आस्रव होता है। विघ्न-बाधाये नष्ट हो जाती हैं। प्रारब्ध कार्य मे सफलता मिलती है। अत प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ मे "ॐ नम. सिद्धेभ्य." उच्चारण किया करो। शय्या से उठते ही सिद्धो का स्मरण करो तथा विविध स्तोत्रो का पाठ करो। यथा—

विराग सनातन शान्त निरंश, निरामय निर्भय निर्मल हंस।
सुधाम विबोध निधान विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्ध समूह॥

---

१. (क) "पूर्वबद्ध कर्मों के झडने का नाम निर्जरा है। वह दो प्रकार की है—सविपाक व अविपाक। अपने समय स्वय कर्मों का उदय मे आ आकर झडते रहना सविपाक, तथा तप द्वारा समय से पहले ही उनका झडना अविपाक निर्जरा है। सविपाक सभी जीवो को सदा निरन्तर होती रहती है, पर अविपाक निर्जरा केवल तपस्वियो को ही होती है।"

—जैनेन्द्र सिद्धात कोश, भाग २—क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, पृ० ६२०

(ख) आस्रव-निरोधः सवरः—आस्रव का निरोध संवर है।

—तत्त्वार्थसूत्र, ९/१

साहु मंगलं

अर्हन्त भगवान् के मुक्त हो जाने पर उनके पद-चिह्नों पर चल कर स्व-पर कल्याण करने वाले साधु परमेष्ठी होते हैं। कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति, मित्र-परिकर तथा सांसारिक विषय-वासनाओं, भोग्य-उपभोग्य पदार्थों से ममता व मोह का त्याग कर, शरीर से भी ममत्व दूर करके, तत्काल उत्पन्न (यथाजात) बच्चे का सा निर्विकार नग्न रूप धारण करके, समस्त आरम्भ-कर्मों का त्याग कर जो ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रिय-दमन, ६ आवश्यक तथा अचेल, अस्नान, भूमिशयन आदि २८ मूलगुणों तथा उत्तर गुणों का आचरण करते हैं, आत्मध्यान, स्वाध्याय आदि तपस्या से निरन्तर आत्म-शुद्धि करते हैं, वे साधु परमेष्ठी है। संसार में न कोई उनका मित्र होता है, न कोई शत्रु। संसार के किसी पदार्थ की इच्छा उनको नहीं होती।

ऐसी पुनीत चर्या वाले साधु परमेष्ठी भी जगत् मे मगलरूप हैं क्योंकि वे आत्मशुद्धि मे लगे हुए हैं। किसी के अहित का न कोई कार्य करते हैं, न वचन से कोई किसी को हानिकारक, कडवा तथा असत्य वचन कहते हैं और न उनके मन मे किसी के लिये दुर्भावना उत्पन्न होती है। ऐसे पवित्र आत्मा का दर्शन करते ही मन के दुर्विचार दूर हो जाते हैं। उनका उपदेश सुनने से सन्मार्ग पर चलने की भावना जाग्रत होती है। अत: मगलाचार के लिये 'णमो लोए सव्वसाहूणं' मुख से उच्चारण करो।

वन्दों दिगम्बर गुरुचरण, जगतरण तारण जान।
जो भरम भारी रोग को हैं, राजवैद्य महान ॥

—इत्यादि स्तुति पढ़ कर मुख तथा मन पवित्र करना चाहिये।

केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं

केवलज्ञानी अर्हन्त भगवान् का बतलाया हुआ धर्म तो आत्मा को शुद्ध करके परमात्मा बना देता है। उससे बढ़ कर ससार में और मंगल क्या हो सकता है। आत्मा का जो निर्मल स्वभाव है, वही आत्मा का धर्म है। उसी आत्म-धर्म को कठोर तपस्या द्वारा केवली भगवान् प्राप्त करते हैं। अत: उनका बताया हुआ, अनुभूत धर्म ही आत्मा का कल्याण कर सकता है।

वह धर्म-वार्त्ता जिन ग्रन्थों मे अंकित है उन धर्म-ग्रन्थो का अध्ययन करने से आत्मज्ञान, परपदार्थ-ज्ञान, कर्मबन्ध, मोक्ष, संवर, निर्जरा आदि उपयोगी तत्त्वो का परिज्ञान होता है। प्रत्येक जीव के साथ दयालुता का व्यवहार करो क्योंकि वे भी तुम्हारे समान ही जीव हैं। ऐसा प्राणीमात्र का हितकारी उपदेश उन शास्त्रों से ही मिलता है। मोह और अज्ञान के अन्धकार को दूर करने के लिये वे धर्मग्रन्थ प्रकाश देने वाले दीपक जैसे हैं। अत: जगत् मे धर्म, धर्मग्रन्थ भी मगलरूप हैं।

केवलिकल्पे वाङ्मय-मंगे, जगदम्बे अघ नाश हमारे।
सत्यस्वरूपे मंगलरूपे, मन मंदिर में तिष्ठो हमारे ॥

अर्हन्त-भक्ति

चार घाति कर्म-रहित, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त बल संयुक्त जीवन्मुक्त अर्हन्त परमेष्ठी होते हैं। उन अर्हन्त परमेष्ठी की भक्ति करना अर्हन्तभक्ति भावना है।

यदि सूर्य न हो तो संसार में अन्धकार बना रहे, प्रकाश न हो। इसी तरह यदि अर्हन्त भगवान् न हों तो संसार मे ज्ञान का प्रकाश न हो, और अज्ञान-अन्धकार, मोह-अन्धकार संसारी जीवो के आत्मा से दूर न हो सके। अर्हन्त भगवान् ने अपने तपोबल से आत्मा के सबसे अधिक अहित करने वाले घातिया कर्मों को क्षय किया, तभी वे पूर्णज्ञानी, पूर्णसुखी, अनन्त शक्तिशाली और पूर्ण वीतराग बन गये। उस समय उन्होने समस्त तत्त्वज्ञान, आत्मा को ससार-जाल से छूटने का उपाय प्रतिपादन किया। सिद्ध भगवान् आत्मशुद्धि में अधिक हैं किन्तु लोक-कल्याण मे उनसे अधिक अर्हन्त हैं, अत. वे पहले परमेष्ठी हैं।

वे पूर्ण ज्ञानी थे, इसलिये उनके जानने मे कुछ ग़लती नही थी और उनको रंचमात्र भी किसी के साथ न राग था, न द्वेष था। इस कारण नि:स्पृह भाव से दिये गये उनके उपदेश मे कुछ विकार न था।

वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी होने के कारण वे समस्त ससार के पूज्य देव बन गये। ये तीनों विशेषताएं संसार के किसी अन्य देव में नही पाई जातीं। इसी कारण कोई स्त्री-प्रेमवश अपने साथ स्त्री रखता है और कोई अपने शत्रु को मारने के लिए अपने

साथ तलवार, भाला, गदा, धनुष आदि हथियार लिये हुए हैं। ऐसे देवों की आराधना से आत्मा में राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, भय आदि की शिक्षा आराधक को मिल सकती है। राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि भाव ससारचक्र में ही डाले रखते हैं। अत: संसार से छूटकर अजर-अमर बनने के लिये तो वैसा ही देव उपयोगी हो सकता है जो राग, द्वेष, क्रोध आदि से मुक्त हो। ऐसे देव तो अर्हन्त ही हैं। अत: जो ससार-जाल से छूटकर अजर-अमर बनना चाहता है वह अर्हन्त भगवान् की आराधना करे।

श्री रामचन्द्र जी ने ससार से विरक्त होकर 'जिनेन्द्र' (अर्हन्त) की तरह अपनी आत्मा मे शान्ति पाने की इच्छा प्रगट की। यह बात योगवाशिष्ठ (१५/८) के निम्नलिखित श्लोक से प्रगट होती है -

नाहं रामो न मे वांछा, भावेषु च न मे मन: ।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव 'जिनो' यथा ॥

इसके सिवाय ससार के जितने भी अन्य देव हैं वे अपने भक्त (सेवक) को सदा सेवक ही बनाये रखते हैं। कभी अपने समान नही बनाते। परन्तु अर्हन्त भगवान् की जो व्यक्ति सेवा-भक्ति करता है वह कुछ समय बाद खुद अर्हन्त परमात्मा बन जाता है। यानी—अर्हन्त देव अपने भक्त को अपने-जैसा भगवान् बना देते हैं।

इसमे भी विशेषता यह है कि अर्हन्त देव स्वयं ऐसा नही करते। यदि कोई मनुष्य अर्हन्त भगवान् की निन्दा करे तो उससे अप्रसन्न होकर उस निन्दक का कुछ अहित नही करते और न अपनी भक्ति-पूजा-स्तुति करने वाले पर प्रसन्न होकर उसको कुछ पारितोषिक देते है क्योंकि वे तो पूर्ण वीतराग हैं। ऐसा होते हुए भी अर्हन्त भगवान् की निन्दा करने वाला व्यक्ति अपने बुरे परिणामो से अशुभ कर्म बाध लेता है, जिससे उसको महान् सकट व दु:ख प्राप्त होता है और भक्ति करने वाला शुभ कर्म का उपार्जन करता है। इस कारण उसको सब तरह की सुख-सामग्री स्वयमेव मिल जाती है। ऐसा अपूर्व महत्त्व ससार मे और किसी देव मे नही मिलता।

इस कारण सुख प्राप्त करने के लिये अर्हन्त भगवान् की भक्ति अवश्य करनी चाहिये, क्योंकि जो जैसा बनना चाहता है वह वैसे ही व्यक्ति की सेवा-भक्ति करता है और भक्ति करते-करते वैसा ही बन जाता है। विद्या लेने के लिये विद्यागुरु की भक्ति की जाती है और जौहरी बनने के लिये जौहरी की सेवा की जाती है। तदनुसार अनन्त सुखी, अनन्त ज्ञानी बनने के लिये अर्हन्त भगवान् की भक्ति आवश्यक है।

जैसे सिंह का ज्ञान कराने के लिये सिंह की मूर्ति से काम लिया जाता है। उसकी मूर्ति से बच्चो को सिंह की सारी बातें बतला दी जाती हैं, इसी तरह अर्हन्त भगवान् के पूर्णमुक्त (सिद्ध) हो जाने पर अर्हन्त भगवान् का बोध उनकी प्रतिमा से होता है। अर्हन्त भगवान् जिस तरह पूर्ण शान्त वीतराग थे, ठीक वही बात उनकी प्रतिमा से प्रगट होती है। अर्हन्त प्रतिमा के मुख और नेत्रो से यह बात प्रगट होती है कि न इनको किसी पर क्रोध है, न अभिमान। अर्हन्त जिस तरह निर्भय, निर्विकार, वीतराग थे, वही मूक शिक्षा अर्हन्त भगवान् की मूर्ति से प्राप्त होती है। धीरता, गम्भीरता का प्रभाव भी अर्हन्त की मूर्ति के दर्शन से आत्मा पर पड़ता है।

सारांश यह है कि अर्हन्त भगवान् की मूर्ति पर न कुछ भूषण हैं, न वस्त्र हैं, न कोई शस्त्र। स्वात्मलीनता तथा ससार से विरक्ति उस मूर्ति से झलकती है। दर्शन करते ही आत्मा मे शान्ति की छाया पड़ती है। अत. निरञ्जन, निर्विकार, निर्भय बनने के लिये अर्हन्त परमात्मा का दर्शन करना चाहिये।

जिस तरह किसी वेश्या का चित्र देखते ही आत्मा मे कामवासना जाग उठती है और किसी वीर पहलवान शूर योद्धा की मूर्ति देखते ही वीरता के भाव जाग्रत हो उठते हैं, देशभक्त धर्मात्मा का चित्र देखने पर मन मे देशभक्ति और धर्म-आचरण की लहर लहराने लगती है; इसी तरह अर्हन्त भगवान् की मूर्ति का दर्शन करने से वीतराग, शान्त भावना जाग्रत हो उठती है। संसार की मोहमाया से विराग भाव पैदा होने लगता है।

सिनेमा में स्त्री पुरुषो के नाटक के चित्र होते हैं। इस तरह फिल्म जड अचेतन वस्तु है किन्तु उसको देखने से दर्शकों के हृदय पर उस अजीव जड़ चित्र का कैसा गहरा असर पडता है। देखने वालों का चित्त कभी करुणाजनक नजारा देखकर करुणा से भर आता है, कभी सिनेमा देखने वाले स्त्री-पुरुष उन जड चित्रो को देखकर रोने लगते हैं, तो कभी हास्यजनक दृश्य से हँसने लगते हैं। सिनेमा देखकर ही लड़ना, भिडना, चोरी करना आदि भी सीख लेते हैं।

इसी तरह अर्हन्त भगवान् की प्रतिमा वास्तव में अजीव जड पदार्थ होते हुए भी अपने दर्शक के हृदय पर अपनी शान्ति व वीतरागता की छाप लगा ही देती है।

अर्हन्त भगवान् के दर्शन, पूजा, भक्ति से शान्ति व वैराग्य प्राप्त होता है। आत्मा को आनन्द और तृप्ति इसी से मिला करती है। इसके साथ अतिशय पुण्य कर्म का समागम भी होता है जिससे कि स्वर्ग राज्य आदि सांसारिक विभूति स्वयं मिल जाती है। इस कारण अर्हन्त भगवान् की भक्ति करके किसी सासारिक वस्तु की इच्छा नही करनी चाहिये।

अर्हन्त भगवान् की भक्ति से तो अनन्त अविनाशी मुक्ति पाने का उद्देश्य रखना चाहिये। संसार-सुख तो अपने आप मिल ही जाता है। इस तरह अर्हन्त की प्रतिमा को साक्षात् अर्हन्त भगवान् मान कर बडे उत्साह के साथ सदा दर्शन, पूजन, भक्ति करनी चाहिये तथा उनका ध्यान करना चाहिये। यह अर्हन्त-भक्ति है।

श्री ऋषभनाथ भगवान् सबसे पहले अर्हन्त भगवान् हुए हैं। उन्होने ही कैवल्य प्राप्त करके अर्हन्त अवस्था मे सबसे प्रथम संसार के प्राणियो को मुक्ति-मार्ग का उपदेश दिया था।

वैष्णव सम्प्रदाय मे ईश्वर के २४ अवतार माने गये हैं। उनमे से भगवान् ऋषभनाथ को छठे अवतार के रूप में माना गया है। भागवत पुराण मे भगवान् ऋषभनाथ का वृत्तान्त जैन ग्रन्थो से मिलता-जुलता लिखा हुआ है।

वैष्णव सम्प्रदाय मे एक बाल ब्रह्मचारी, परम तपस्वी, नग्न दिगम्बर 'शुकदेव जी' नामक साधु हुए हैं। उन्होंने ईश्वर के २४ अवतारो में से केवल 'ऋषभ अवतार' को नमस्कार किया है।

जब लोगो ने श्री शुकदेव जी से इसका कारण पूछा कि आप अन्य अवतारो को नमस्कार क्यो नही करते? तब उन्होंने बडी गम्भीरता के साथ उत्तर दिया कि—

'अन्य अवतारो ने ससार का मार्ग चलाया है, ऋषभदेव जी ने मुक्ति का मार्ग चलाया है। इसलिये मुक्ति की इच्छा से, मैं ऋषभदेव जी को ही नमस्कार करता हू।'

जो स्त्री-पुरुष संसार-सागर से पार होना चाहते हैं, कर्मबंधन काट कर सदा के लिये पूर्ण स्वतन्त्र होना चाहते हैं, उनको संसार-सागर से पारगामी, घाती कर्मबन्धन से मुक्त, मुक्ति-मार्ग के प्रदर्शक, परमशुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन, निर्विकार, सच्चिदानन्द अर्हन्त परमात्मा का श्रद्धालु भक्त बनना चाहिये।

इस कारण अर्हन्त भगवान् की भक्ति क्रमश: भक्त को एक दिन भगवान् बनाने का सुगम साधन है। उसके द्वारा तीर्थंकर-बध बँध जावे, इसमे तो आश्चर्य ही क्या है?

आचार्य-भक्ति

साधु-सघ के अधिनायक आचार्य कहलाते हैं। वे गुरुओं मे मुख्य होते हैं। उनकी भक्ति करना 'आचार्य भक्ति' है।

'आचार्य' एक पद है जो कि मुनि-सघ के सबसे अधिक तपस्वी, अनुभवी, देश, क्षेत्र, काल, भाव के ज्ञाता, पांच आचारो के पालक, प्रायश्चित्त शास्त्र के जानकार महान् मुनि को समस्त मुनियो की अनुमति मे प्रदान किया जाता है। सघ के समस्त मुनि आचार्य की आज्ञानुसार चर्या करते हैं। नवीन मुनि-दीक्षा आचार्य ही देते हैं। मुनि जन आचार्य महाराज के समक्ष अपने दोषों की आलोचना करते हैं और उनको उनकी शक्ति-अनुसार प्रायश्चित्त भी आचार्य ही देते हैं। सघ मे यदि कोई साधु बीमार हो जाय तो उसकी वैयावृत्य (सेवा) का प्रबन्ध भी आचार्य ही करते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का अनुमान करके आचार्य ही अपने मुनि-सघ को किसी स्थान पर ठहरने और कितने समय ठहरने तथा वहा से कब और किस ओर विहार करना है—यह आदेश देते हैं। यदि किसी स्थान पर सघ के ऊपर आता हुआ कोई भीषण उपद्रव देखते हैं तो उस समय मुनि-सघ में उस उपद्रव के समय समस्त मुनियो का कर्तव्य-निर्धारण भी आचार्य ही करते हैं तथा किसी मुनि को सघ से निकालना, किसी को अपने सघ मे सम्मिलित करना भी आचार्य के ही अधिकार की बात है। यदि कोई मुनि समाधिमरण ग्रहण करना चाहे तो आचार्य महाराज ही उसकी शारीरिक योग्यता, उसकी परिषह-सहन करने की क्षमता तथा उसके स्वास्थ्य आदि बातों का विचार करके उसको समाधिमरण की अनुमति देते हैं।

इस तरह आचार्य अपने मुनि-संघ के नायक होते हैं। जिस तरह बिना नायक के घर की व्यवस्था, समाज की दशा और देश की अवस्था बिगड़ जाती है, छिन्न-भिन्न हो जाती है, उसी तरह बिना आचार्य के मुनिसंघ में भी अनेक तरह की विषम समस्याएं आ खड़ी होती हैं। उन्हें सुलझाकर पथप्रदर्शन करने के लिये मुनिसंघ का नायक होना परम आवश्यक है।

आचार्य महाराज को मुनिसघ की व्यवस्था के लिये अपना बहुत-सा अमूल्य समय देना पड़ता है जिसको कि वे आत्मध्यान, स्वाध्याय आदि आत्मशुद्धि के साधनों मे लगा सकते हैं। इसके अतिरिक्त नायक होने के कारण उनको अपने सघ के साधुओं की व्यवस्था के लिये थोड़ा-बहुत चिन्तातुर भी होना पड़ता है जिससे कि राग-द्वेष का अश भी उनको लगा करता है। इस कारण आचार्य पद पर रहते हुए उनको मुक्ति प्राप्त नही हो सकती। वे जब तक अपने स्थान के योग्य किसी अन्य अनुभवी तपस्वी मुनि को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करके स्वय साधु के रूप मे आकर निर्द्वन्द्व तपस्या नही करते तब तक उनको मुक्ति प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार आचार्य एक पद है जिसको किसी सुयोग्य व्यक्ति द्वारा सर्व सघ की अनुमति से परोपकार-बुद्धि मे ग्रहण किया जाता है और किसी समय आत्म-कल्याण की उत्कट भावना से परित्याग भी किया जाता है।

आचार्य महाराज वैसे तो अन्य साधुओं के समान २८ गुणो का आचरण करते हैं, किन्तु उनके अतिरिक्त ३६ गुण उनमे और भी माने गये हैं :—१२ तप, १० धर्म, ५ आचार, ६ आवश्यक और ३ गुप्ति।

६ प्रकार के बहिरग और ६ प्रकार के अन्तरग तपो को निर्दोष रूप मे आचार्य अन्य मुनियो की अपेक्षा विशेष रूप से आचरण करते हैं।

इसी तरह उत्तम क्षमा आदि १० धर्मों का आचरण भी अन्य साधुओं की अपेक्षा आचार्य का श्रेष्ठ होता है।

छह आवश्यक यद्यपि अन्य मुनि भी पालते है, परन्तु आचार्य आदर्श रूप मे इनका आचरण करते है।

आत्म-शुद्धि की विशेष कारणभूत ३ गुप्तियों का परिपालन भी आचार्य द्वारा विशेषता के साथ होता है।

आचार के ५ भेद हैं—१ दर्शनाचार, २. ज्ञानाचार, ३. चारित्राचार, ४. तपाचार, ५ वीर्याचार। इन पाँचो आचारो का आचरण आचार्य पद की एक मुख्य विशेषता है। आचार्य नाम भी इन पाँच आचारों के आचरण के कारण है।

सम्यग्दर्शन का निर्दोष, दृढता के साथ आचरण करना दर्शनाचार है। सम्यग्दर्शन आत्म-शुद्धि की मूल भूमिका है। यदि इसमे जरा भी शिथिलता आ जावे तो आचार्य अन्य साधुओ को मुक्ति-मार्ग पर किस प्रकार चला सकता है? अतः आचार्य का 'दर्शनाचार' आदर्श होता है।

जैन सिद्धान्त का पूर्ण ज्ञान तथा साथ ही अन्य सिद्धान्तो का परिज्ञान, तर्क, व्याकरण, साहित्य आदि का असाधारण ज्ञान होना ज्ञानाचार है। आचार्य महान् ज्ञानी होते हैं। जैन सिद्धान्त की सिद्धि और अन्य मतो के खण्डन मे अतिनिपुण होते हैं। अवसर आने पर शास्त्रार्थ करके जैनधर्म की प्रभावना करते है। शास्त्र-निर्माण करते हैं। यह ज्ञानाचार की विशेषता है।

बारह प्रकार के तपो मे से वे कठोर तप करने के असाधारण अभ्यासी होते हैं। अत. तपाचार भी उनका श्रेष्ठ होता है।

कठोर परिषह, भयानक उपसर्ग सहन करने से, निर्जन भयानक स्थान मे ध्यान लगाने से, दुर्द्धर विकट तपस्या करने से तथा और भी विकट परिस्थितियो से वे कतराते नही हैं। सिंह के समान उनकी मनोवृत्ति सदा निर्भय रहती है। इन विशेषताओ के कारण आचार्य मे वीर्याचार माना जाता है।

उनका चारित्र निर्दोष होता है। पाच महाव्रत, पाच समिति और तीन गुप्ति—इस तेरह प्रकार के चरित्र का जैसा अच्छा आचरण आचार्य महाराज का होता है, उतना अच्छा आचरण सघ के अन्य किसी साधु का नही होता। यही उनका चारित्राचार है।

गुरु के तीन भेद हैं—आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनमे आत्म-शुद्धि के साधन की दृष्टि से देखा जाय तो साधु श्रेष्ठ होते हैं, क्योंकि ये समस्त सकल्प-विकल्प से मुक्त होकर आत्मसाधना करते हैं। परन्तु लोक-कल्याण की दृष्टि से विचार किया जावे तो आचार्य का पद सबसे उच्च है, क्योकि मुनि-सघ की सुव्यवस्था करके वे मुनियो का ही नहीं, अपितु ससार का महान् उपकार करते हैं। अतएव अर्हन्त व सिद्ध भगवान् के बाद आचार्य परमेष्ठी का पद रक्खा गया है।

उन आचार्य महाराज की भक्ति करना आचार्य-भक्ति है। अर्हन्त भगवान् के साक्षात् अभाव मे मोक्षमार्ग का नेता आचार्य ही तो होता है। उनकी आज्ञा का पालन करना, उनका हृदय से सम्मान करना, उनको ऊंचे आसन पर बैठाना, उनको हाथ जोड़ कर,

सिर झुकाकर नमस्कार करना, उनके पीछे-पीछे चलना, उनके आते ही खड़े हो जाना, उनके बैठ जाने पर उनकी अनुमति से बैठना, उनके चरण-स्पर्श करना, उनके पैर दबाना, थकावट दूर करने के लिये उनके हाथ, पैर, पीठ आदि दबाना आचार्य भक्ति है।

सामायिक

सामायिक का अर्थ मन को एकाग्र कर अपने आत्म-स्वरूप का ध्यान करना, अपने आत्मा के अन्दर ऐक्य होना तथा पर पदार्थ से भिन्न होकर अपने आत्म-स्वरूप मे रत होना है।

सामायिक की व्याख्या—संसार में अपनी आत्मा से जितने भी पर पदार्थ हैं उसमे अपना उपयोग नही जाने देना, उस पर-पदार्थ को बिलकुल ही भूल जाना और अखण्ड अविनाशी अपनी आत्मा के अतिरिक्त "कोई भी अन्य वस्तु ससार मे मेरी नही है" ऐसा मान करके संसार, शरीर और भोग इत्यादि से विरक्त होकर कुछ समय के लिए या एक घन्टे के लिए इस तरह मन मे सकल्प करना कि आत्मा का ध्यान करते समय मैं अपने शरीर आदि को भी पर-पदार्थ समझ करके अपनी आत्मा मे ही लीन रहूंगा तथा मेरे ऊपर चाहे जितना भी कष्ट क्यो न हो, पर मैं आत्मा की तरफ से अपना मन न हटा कर किसी पर-वस्तु मे तिल मात्र भी उपयोग नही लगाऊंगा, इस तरह से मन, वचन व काय को रोक कर अपने आत्मा मे रत होना सामायिक है।

सामायिक की निरुक्ति एव भाव इस प्रकार है कि "सम" कहिए एकरूप होकर, "आय" कहिए आगमन अर्थात् पर द्रव्यों से निवृत्त होकर आत्मा में उपयोग की प्रवृत्ति होना। अथवा "सम" कहिये रागद्वेष रहित, "आय" कहिये उपयोग की प्रवृत्ति सो सामायिक है। भावार्थ :—**साम्यभाव का होना ही सामायिक है**। यह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से छह प्रकार का है। यथा इष्ट, अनिष्ट नामो मे रागद्वेष न करना। मनोहर, अमनोहर स्त्रीपुरुषादि की काष्ठ, पाषाणादि की स्थापना मे रागद्वेष न करना। मनोज्ञ, अमनोज्ञ, नगर, ग्राम, वन आदि क्षेत्रो मे रागद्वेष न करना। बसन्त, ग्रीष्म ऋतु तथा शुक्ल-कृष्ण पक्ष आदि कालो में रागद्वेष न करना। जीवों के शुभाशुभ भावो मे रागद्वेष न करना। इस प्रकार साम्यभाव रूप सामायिक के साधन के लिये बाह्य मे हिंसादि पंच पापों का त्याग करना और अन्तरग मे इष्ट-अनिष्ट वस्तुओ से राग-द्वेष-त्याग की भावना करना परमावश्यक है, क्योंक इन विरोधी कारणो को दूर करने और अनुकूल कारणों को मिलाने से ही साम्यभाव होता है। इस साम्यभाव के होने पर ही आत्मा के स्वरूप मे चित्त मग्न होता है, जो सामायिक धारण करने का अन्तिम साध्य है।

जब सामायिक योग्य द्रव्य (पात्र), योग्य क्षेत्र, योग्य काल, योग्य आसन, योग्य विनय, मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय-शुद्धि पूर्वक की जाती है तभी परिणाम मे शांति-सुख का अनुभव होता है। यदि इन बाह्य कारणों की योग्यता-अयोग्यता पर विचार न किया जाय तो सामायिक का यथार्थ फल प्राप्त नही हो सकता, अतएव इनका विशेष स्वरूप वर्णन किया जाता है।

(१) **योग्य द्रव्य (पात्र)**—सामायिक के पूर्ण अधिकारी निर्ग्रन्थ मुनिराज ही हैं। उन्ही मे सामायिक सयम होता है, क्योकि उन्होने अपने पचेन्द्रियो को वश मे करके अन्तरग कषायो को निर्बल कर डाला है। बाह्य परिग्रहो को तज, षट्काय की हिंसा का सर्वथा त्याग कर दिया है, जिससे उनके सदाकाल समभाव रहता है। ऋषि श्रावक (गृहस्थ या गृहत्यागी) केवल नियत काल तक सामायिक की भावना भावने वाला सामायिक व्रती या नियत काल तक समता भाव धारण करने वाला सामायिक प्रतिमाधारी हो सकता है। जिस सामायिक के द्वारा मुनि शुद्धोपयोग को प्राप्त होकर सवरपूर्वक कर्मों की निर्जरा करते हैं और समस्त कर्मों को क्षय कर मोक्ष को प्राप्त होते हैं, उसी सामायिक के प्रारम्भिक अभ्यासी श्रावक, शुभोपयोग द्वारा सातिशय पुण्य बंध करके अभ्युदययुक्त स्वर्गसुख भोग, परम्पराय मोक्ष के पात्र हो सकते है।

(२) **योग्य क्षेत्र**—जहा कलकलाहट शब्द न हो, लोगों का सघट्ट (भीड-भाड) न हो, स्त्री, पुरुष, नपुंसक का आना-जाना, ठहरना न हो, गीत-गान आदि की निकटता न हो, डास मच्छर, कीडी आदि बाधाकर जीव-जन्तु न हो, अधिक शीत-उष्ण-वर्षा, पवनादि चित्त को क्षोभ उपजाने वाले तथा ध्यान से डिगाने वाले कारण न हो, ऐसे उपद्रव-रहित वन, घर, धर्मशाला-मन्दिर व चित्त-शुद्धि के कारण अतिशय क्षेत्र, सिद्धक्षेत्र आदि एकान्त स्थान ही सामायिक करने योग्य हैं।

(३) **योग्य काल**—प्रभात, मध्याह्न, सध्या - इन तीनो समयो मे उत्कृष्ट ६ घड़ी, मध्यम ४ घडी और जघन्य २ घडी योग्यतानुसार सामायिक का काल है। इसके सिवाय अधिक काल तक या अतिरिक्त समय मे सामायिक करने के लिये कोई निषेध नहीं है। सबेरे ३ घड़ी, २ घडी, १ घडी, रात से ३ घड़ी, २ घडी १ घड़ी दिन चढे तक, मध्याह्न मे ३। २। १ घडी पहिले से ३। २। १ घड़ी

पीछे तक, संध्या को ३ । २ । १ घडी पहिले से ३ । २ । १ घडी रात्रि तक सामायिक करना योग्य है। इन समयों में परिणामों की विशुद्धता विशेष रहती है ।

कई ग्रन्थों मे सामायिक काल सामान्य रीति से ६ घड़ी कहा गया है। स्वामी-कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ की संस्कृत टीका और दौलत क्रियाकोष में तीनो समयो को मिला कर भी ६ घडी कहा है । श्री धर्मसागर जी ने जघन्य २ घडी, मध्यम ४ घडी और उत्कृष्ट ६ घड़ी कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि सामायिक व्रत मे जघन्य दो घडी से लेकर उत्कृष्ट ६ घड़ी पर्यन्त योग्यतानुसार त्रिकाल सामायिक का काल है ।

(४) **योग्य आसन**—काष्ठ के पाटे पर, शिला पर, भूमि पर, बालू के रेत मे पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके पर्यंकासन (पद्मासन) बाँध कर, खडे होकर (खड्गासन) अथवा अर्धपद्मासन या पालथी मार कर, इनमे से जिस आसन से शरीर की स्थिरता तथा परिणामों की उज्ज्वलता नियत काल तक रहनी सम्भव हो, उसी आसन से क्षेत्र का प्रमाण करके इन्द्रियो के व्यापार वा विषयों से विरक्त होते हुए; केश, वस्त्रादि को अच्छी तरह बाँधकर (जिसमे उनके हिलने से चित्त मे क्षोभ न हो) हस्तांजली जोड़, स्थिर चित्त करके सामायिक, वन्दनादि पाठों का, पचपरमेष्ठी का अथवा अपने स्वरूप का चितवन करे और उसमे लीन रहे ।

(५) **योग्य विनय**—सामायिक के आरम्भ मे पृथ्वी को कोमल वस्त्र या अमाड़ी की कोमल बुहारी से बुहार कर ईर्यापथ-शुद्धिपूर्वक खडा होवे, क्षेत्र काल का प्रमाण करे तथा ६ बार णमोकार मत्र पढ कर हाथ जोड कर पृथ्वी पर मस्तक लगाकर नमस्कार करे । पश्चात् चारों दिशाओ मे नव-नव बार णमोकार मंत्र कह कर तीन-तीन आवर्त दोनों हाथ की अंजुली जोड दाहिने हाथ की ओर से तीन बार फिराना और एक-एक शिरोनति (दोनो हाथ जोड नमस्कार) करे । पीछे खड़े हो या बैठ कर योग्य आसन पूर्वक णमोकार मंत्र का जाप करे, पंच परमेष्ठी के स्वरूप का चितवन करे, सामायिक पाठ पढ़े, अनित्यादि द्वादश-अनुप्रेक्षा का चिंतन करे, आत्म-स्वरूप का चितवन-पूर्वक ध्यान लगावे और अपना धन्य भाग समझे ।

सामायिक पाठ के ६ अग हैं । (१) प्रतिक्रमण—अर्थात् जिनेन्द्र देव के सम्मुख अपने द्वारा किये हुए पापो की क्षमा-प्रार्थना करना, (२) प्रत्याख्यान—आगामी पाप त्याग की भावना करना, (३) सामायिक कर्म—सामायिक के काल तक सब मे ममताभाव त्याग करके समता भाव धारण करना, (४) स्तुति—चौबीसो तीर्थंकरो का स्तवन करना, (५) वन्दना—किसी एक तीर्थंकर का स्तवन करना, (६) कायोत्सर्ग—काय से ममत्व छोडकर आत्मस्वरूप मे लवलीन होना ।

इस प्रकार समभावपूर्वक चितवन करते हुए जब काल पूरा हो जाय, तब प्रारम्भ की तरह आवर्त्त, शिरोनति तथा नमस्कार-पूर्वक सामायिक पूर्ण करें ।

(६) **मनःशुद्धि**—मन को शुभ तथा शुद्ध विचारो की तरफ झुकावे, आर्त-रौद्र ध्यान मे दौडने से रोक कर धर्म ध्यान में लगावे । जहा तक सम्भव हो, पच परमेष्ठी का जाप वा अन्य कोई भी पाठ, वचन के बदले मन से स्मरण करे, ऐसा करने से मन इधर-उधर चलायमान नही होता ।

(७) **वचन-शुद्धि**—हुकारादि शब्द न करे, बहुत धीरे-धीरे या जल्दी-जल्दी पाठ न पढ़े, जिस प्रकार अच्छी तरह समझ में आवे, उसी प्रकार समानवृत्ति एव मधुर स्वर से शुद्ध पाठ पढ कर धर्म-पाठ के सिवाय कोई और वचन न बोले ।

(८) **काय-शुद्धि**—सामायिक करने के पहले स्नान करने, अंग अगोछने, हाथ-पाँव धोने आदि से जिस प्रकार योग्य हो, यत्नाचारपूर्वक शरीर पवित्र करके, वस्त्र पहिन कर सामायिक मे बैठे और सामायिक के समय शिर-कम्प, हस्तकम्प अथवा शरीर के अन्य अंगों को न हिलावे-डुलावे, निश्चल अग रक्खे । कदाचित् कर्मयोग से सामायिक के समय चेतन-अचेतन कृत उपसर्ग आ जाय, तो भी मन-वचन-काय को चलायमान न करते हुए उसे सहन करे ।

यहां कोई प्रश्न करे कि यदि सामायिक के समय अचानक लघुशका या दीर्घशका की तीव्र बाधा आ जाय, तो क्या करना चाहिये? उसका उत्तर यह है कि प्रथम तो व्रती पुरुषो का खान-पान नियमित होने से उनको इस प्रकार की अचानक बाधा होना सम्भव नही, और कदाचित् कर्मयोग से ऐसा ही कोई कारण आ जाय, तो उसका रोकना या सहन असम्भव होने से उस काम से निबट कर, प्रायश्चित्त ले, पुनः सामायिक स्थापन करे ।

किसी भी कार्य के होने के लिये दो प्रकार के कारणों की आवश्यकता हुआ करती है—१. उपादान, २. निमित्त। दोनों कारणों के मिलने पर ही कार्य हुआ करता है। दोनों में से कोई भी एक हो, किन्तु दूसरा कारण न हो तो कार्य कभी नही होता। वस्तु में जो अपने कार्य रूप होने की शक्ति होती है उसे 'उपादान कारण' कहते हैं। उपादान कारण के सिवाय जो और दूसरे कारण उस कार्य के होने में सहायक हुआ करते हैं उनको 'निमित्त कारण' कहते हैं।

जैसे— आम का पेड उत्पन्न करने के लिये उपादान कारण आम की गुठली है, क्योकि आम का पेड़ उत्पन्न करने की शक्ति उसी में है। किन्तु आम का पेड उगाने के लिये उस गुठली से ही पेड़ नही उग सकता। उसको दूसरे सहायक कारण मिलने चाहियें, जैसे पेड उगने योग्य जमीन। क्योंकि गुठली पत्थर पर पडी रहे या पानी मे रहे अथवा किसी बर्तन मे रक्खी रहे तो वह पेड़ पैदा न कर सकेगी। जहाँ उसके उगने योग्य जमीन होगी वही वह उग सकेगी। उसके साथ ही उसको उगने योग्य खाद, पानी, हवा तथा उगाने वाला माली, उसके उगने योग्य ऋतु आदि और पदार्थ भी होने आवश्यक है। जब सब कारण मिल जाते हैं तब आम का वृक्ष उत्पन्न होता है। वह न तो केवल गुठली से होता है और न केवल जमीन, पानी, खाद, हवा आदि से।

इसी प्रकार आत्मा की शुद्धि के लिये मूल कारण सम्यग्दर्शन (दर्शन शब्द का प्रसिद्ध अर्थ 'देखना' यहाँ नही लिया गया, यहाँ दर्शन का अर्थ 'श्रद्धान करना' लिया गया) है। सम्यक् शब्द का अर्थ 'ठीक' या 'भली प्रकार' है। यानी—ठीक रूप से आत्मा की श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है। इसके उत्पन्न होने के भी दो कारण हैं। आत्मा तो उसका उपादान कारण है क्योकि आत्मा मे ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने की शक्ति है। तत्त्वो का श्रद्धान होना, पाच लब्धियो का मिलना, योग्य अन्य साधनो का प्राप्त होना निमित्त कारण हैं।

गर्भाशय आदि होने पर भी, अपने पति का प्रसग मिलने पर जिस तरह बन्ध्या स्त्री के सन्तान नही होती क्योकि उस स्त्री मे गर्भ धारण करने की योग्यता नही होती, इसी प्रकार तात्त्विक श्रद्धान, कुछ लब्धियो (करण लब्धि के सिवाय शेष ४ लब्धियो) तथा अन्य साधन मिलने पर भी अभव्य जीव मे सम्यग्दर्शन प्रगट होने की स्वाभाविक योग्यता नही होती। इस कारण सम्यग्दर्शन का उपादान कारण 'भव्य जीव' है। भव्य जीवो मे भी कुछ दुरानुदूर भव्य ऐसे होते है जिनमे सम्यग्दर्शन होने की स्वाभाविक योग्यता होती है किन्तु उनको निमित्त कारण सम्यग्दर्शन के लिये नही मिल पाते। जैसे कि कोई अवन्ध्या (जो बाझ नही है, गर्भ धारण कर सकती है), कुलीन,(जिस कुल मे स्त्री का दूसरा विवाह नही किया जाता), बाल विधवा स्त्री हो (पति का समागम होने से पहले ही पति मर गया हो —विधवा हो गई हो) तो सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता होने पर भी जन्म भर पति का सयोग न मिलने के कारण सन्तान उत्पन्न न कर सकेगी। इसी तरह दुरानुदूर भव्य भी सम्यग्दर्शन होने के लिये ठीक उपादान कारण होते हुए भी अन्य बाहरी निमित्त कारण न मिलने की वजह से कभी सम्यग्दर्शन प्रगट न कर सकेगा।

तत्त्व—

वस्तु के स्वरूप को तत्त्व कहते हैं (तस्य भावस्तत्त्वं योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवन), जैसे मनुष्यत्व (मनुष्यपना), पशुत्व (पशुता) आदि। तत्त्व वस्तु से पृथक् नही होता है जैसे—अग्नि से पृथक् उष्णता (गर्मी) नही रहती। अत तत्त्व का अभिप्राय 'तत्त्वार्थ' यानी—'अपने स्वरूप सहित वस्तु' ही समझना चाहिये। इसी कारण श्री उमास्वामि आचार्य ने मोक्षशास्त्र मे सम्यग्दर्शन का लक्षण बतलाते हुए 'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' यानी अपने स्वरूप सहित (मोक्षमार्ग-उपयोगी) पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, ऐसा कहा।

वैसे तो जगत् मे घटत्व, पटत्व, पुस्तकत्व, मनुष्यत्व, पशुत्व आदि अनन्तानत तत्त्व हैं। उनके ठीक या गलत श्रद्धान से आत्मा का कल्याण या अकल्याण नही होता। आत्मा को शुद्ध मुक्त करने के लिये श्रद्धेय तत्त्व सात हैं—१. जीव, २. अजीव, ३. आस्रव, ४. बन्ध, ५. संवर, ६. निर्जरा और ७. मोक्ष।

जानने-देखने वाला (ज्ञान-दर्शन उपयोगमय) चेतन पदार्थ जीव है, जो ससार मे कर्मबन्ध के फलस्वरूप मिले हुए मनुष्य, पशु, देव, नारकी के शरीर मे से किसी एक शरीर मे कुछ समय तक रहकर अपने पिछले कर्मों का फल भोगता है तथा भविष्य के लिये अन्य कर्म संचित किया करता है। इसी संसारी जीव को विकारी भावों से छुडाकर शुद्ध और कर्म-बन्धन से छुडाकर मुक्त करने का प्रारम्भिक मूल उपाय 'सम्यग्दर्शन' है। यानी—संसारी जीव को यह दृढ़ श्रद्धान होना चाहिये कि मैं इस समय विकृतबद्ध अवस्था में हूं, विकारों तथा कर्मों को हटा कर शुद्ध-मुक्त हो सकता हूं।

चैतन्य-रहित जड़ पदार्थ अजीव हैं। सभी दृश्यमान (दिखाई देने वाले) पदार्थ तो अजीव जड़ हैं ही, शरीर भी जड़ है। जब तक शरीर में जीव रहता है तब तक जीव के संबन्ध से शरीर को जीवित कह देते हैं। सभी भौतिक पदार्थ तथा चार अमूर्त पदार्थ—धर्म, अधर्म, आकाश, काल—अजीव पदार्थ हैं। इनमे से जीव के साथ सम्बद्ध होने वाला और उसको संसार जेल में रखने वाला 'कार्मण स्कन्ध' नामक पुद्गल (भौतिक) पदार्थ है,[1] कार्मण स्कन्ध जब जीव के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं तब वे 'कर्म' कहलाते हैं।

कार्मण स्कन्धों को आकर्षित करने वाली (अपनी ओर खीचने वाली) एक 'योग' नामक शक्ति जीव मे होती है जो कि मन, वचन, शरीर का सहयोग पाकर आत्मा के प्रदेशो (अंशों) में हलन-चलन (हरकत) किया करती है। इस योग शक्ति से जो कार्मण स्कन्धों का आकर्षण (खिंचना) होता है उसको 'आस्रव' कहते हैं।

आकर्षित कार्मण स्कन्धो का जीव के प्रदेशो के साथ कषाय के निमित्त से एकमेक (दूध पानी के समान) सम्बन्ध हो जाता है, उस दशा का नाम 'बन्ध' है। आस्रव और बन्ध क्रिया एक साथ होती हैं। संसारी जीव प्रति समय अनन्तानन्त परमाणुओं वाले कार्मण स्कन्धो का आस्रव और बन्ध किया करता है। इस आस्रव और बन्ध की मात्रा मे कुछ कमी-बेशी तो हो जाती है, किन्तु दोनों बातें सदा होती रहती हैं।

सम्यक्त्व व्रत, सयमादि द्वारा जो कर्म-आस्रव-प्रणाली रुकती जाती है, उस कर्म के आने की रोक का नाम संवर है। ससार अवस्था मे, यानी पूरी तौर से कर्म नष्ट होने स पहले, कर्म-आस्रव पूरी तौर से नही रुका करता। आस्रव का कुछ-कुछ अश रुकता जाता है। जैसे किसी कुड मे ५ मोरियो से जल भरता था उनमे से जब एक मोरी बन्द कर दी गई तब चार मोरियो से पानी आता रहा। जब दो मोरियो का मुख बन्द कर दिया तब पानी का आना और भी कम हो गया। इसी तरह कर्म आने के कारण ज्यो-ज्यो कम होते जाते हैं त्यो-त्यो सवर बढता जाता है, यानी कर्म-आस्रव कम होता जाता है। अत मे जब आस्रव के सभी कारण नष्ट हो जाते हैं तब पूर्ण सवर हो जाता है, उसी समय मोक्ष हो जाता है।

जिस प्रकार प्रतिसमय नये-नये कर्मों का बन्ध होता रहता है उसी तरह प्रतिसमय पहले के बन्धे कर्म उदय मे आकर छूटते भी जाते हैं। इस तरह कर्मों की निर्जरा (छूटते जाना) प्रत्येक ससारी जीव के स्वय हुआ करती है। इस सविपाक निर्जरा मे जीव का कुछ कल्याण नही होता। किन्तु तपस्या करने से पूर्वबद्ध कर्म बिना फल देकर भी आत्मा से छूट जाते हैं—वह अविपाक निर्जरा है। मुक्ति मे कारण यही अविपाक निर्जरा होती है।

सवर और निर्जरा होते-होते जब समस्त कर्म आत्मा से छूट जाते हैं, आत्मा पूर्ण शुद्ध हो जाता है, उसको मोक्ष कहते हैं। जिस तरह चावल के ऊपर का छिलका उतर जाने के बाद फिर वह चावल नही बन सकता, इसी तरह एक बार समस्त कर्म छूट जाने पर फिर कर्मों का बध नही होता। आत्मा सदा के लिये कर्म-बन्धन से मुक्त होकर अजर, अमर, निरजन, निर्विकार, पूर्ण शुद्ध बन जाता है।

ससारी जीव को पूर्ण शुद्ध करना है, अत सबसे प्रथम जीव तत्त्व रक्खा गया है। जीव अजीवरूप पुद्गल (कर्म-नोकर्म) से सबद्ध होकर ससार मे भ्रमण कर रहा है, अत जीव तत्त्व के अनन्तर अजीव तत्त्व रक्खा गया। ससार के कारण आस्रव और बन्ध है, इसलिये तीसरा-चौथा तत्त्व आस्रव, बन्ध रक्खा गया। ससार मे छूटने के भी दो कारण हैं, सवर और निर्जरा। इसलिये पाचवा-छठा तत्त्व संवर-निर्जरा रक्खा गया। सवर और निर्जरा का फल क्या होता है? मोक्ष। अतः मोक्ष को सबसे अन्त मे रक्खा गया।

---

१. (क) परमाणुओ मे स्वाभाविक रूप से उनके स्निग्ध व रूक्ष गुणो मे हानि, वृद्धि होती रहती है। विशेष अनुपात वाले गुणो को प्राप्त होने पर वे परस्पर बध जाते हैं, जिनके कारण सूक्ष्मतम से स्थूलतम तक अनेक प्रकार के स्कध उत्पन्न हो जाते हैं। पृथ्वी, अप्, प्रकाश, छाया आदि सभी पुद्गल स्कध हैं। —जैनेन्द्र सिद्धात कोश, भाग ४-जिनेन्द्र वर्णी, पृ० ४४६-४७

(ख) "जीव के प्रदेशो के साथ बधे अष्ट कर्मों के सूक्ष्म पुद्गल-स्कध के संग्रह का नाम कार्मण शरीर है। बाहरी स्थूल शरीर की मृत्यु हो जाने पर भी इसकी मृत्यु नही होती।"—वही, भाग -२, पृ० ७५

इस तरह जीव के साथ-साथ कर्म (अजीव), कर्म आने, बँधने, कर्म-आस्रव रुकने, कर्म झरने तथा मुक्त होने को बतलाने रूप सात तत्त्व बतलाये हैं।[1] इन सातों तत्त्वों का विवरण जानकर बन्धन तथा मोक्ष की प्रक्रिया का श्रद्धान हो जाने पर आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ करता है।

सम्यग्दर्शन उत्पन्न (प्रगट) होने का उपादान कारण 'दर्शन मोहनीय' (आत्मा की अनुभूति न होने देने वाला) कर्म का उपशम (कुछ समय तक कर्म का उदय न होना) या क्षय (कर्म का बिल्कुल नष्ट हो जाना) अथवा क्षयोपशम (कुछ उदयाभावी क्षय, कुछ उपशम और कुछ उदय) होना है। दर्शन मोहनीय का उपशम होने से अन्तर्मुहूर्त तक उपशम सम्यक्त्व होता है। दर्शन मोहनीय का क्षय हो जाने से सदा के लिये क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है और दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने पर क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है जो कि अन्तर्मुहूर्त और ८ वर्ष कम एक कोटि पूर्व ६६ सागर तक (अधिक से अधिक) रहता है, तदनन्तर छूट जाता है।

किन्तु इन सम्यक्त्वो को होने के लिये बहिरंग निमित्त कारण भी अवश्य होने चाहियें, सो नरको मे तीसरे नरक तक नारकी जीवों में सम्यग्दर्शन किसी को अपने मित्र देव द्वारा धर्म उपदेश सुनने से, किसी को पहले भव का स्मरण आ जाने से और किसी को नारकीय यन्त्रणाओं (पीड़ाओं) के कारण चित्त मे निर्मलता आने पर हो जाता है। नरको मे देव तीसरे नरक तक ही जाते हैं, उससे आगे नहीं जाते, अतः चौथे नरक से सातवें नरक तक नारकी जीवो को सम्यग्दर्शन होने के दो ही कारण होते हैं—१. पूर्व भव स्मरण, २. वेदना का अनुभव।

तिर्यञ्च (पशु) गति में किसी पशु-पक्षी को किसी मुनि आदि द्वारा धर्म-उपदेश सुनने से, किसी को पूर्व भव का स्मरण हो जाने से और किसी को जिनेन्द्र भगवान् की शान्त वीतराग मूर्ति का दर्शन करने मे सम्यग्दर्शन हो जाता है। मनुष्यों को भी इन ही तीन कारणो से सम्यग्दर्शन होता है।

देव गति मे किन्ही देवो को तीर्थंकर, मुनि आदि का उपदेश सुनने से, किन्ही को तीर्थंकरो के कल्याणक देखने से, किन्ही को पहले भव का स्मरण हो जाने से और किन्ही देवो को बड़े ऋद्धिधारक देवो को देखकर सम्यग्दर्शन हो जाता है। ये चारो कारण भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष तथा बारहवें स्वर्ग के देवो के लिये हैं। १३, १४, १५, १६वें स्वर्ग के देवो मे ऋद्धिधारक देवो को देखने के सिवाय तीन कारणो से सम्यग्दर्शन होता है। नव ग्रैवेयको के देवो में किसी को धर्म उपदेश सुनने से और किसी को पूर्व भव के स्मरण हो जाने से परिणामो में निर्मलता आने पर सम्यग्दर्शन हो जाता है। उनसे ऊपर अनुदिश तथा ५ अनुत्तर विमानो मे रहने वाले सभी देव सम्यग्दृष्टि होते हैं।

इस तरह निमित्त और उपादान कारण मिलते ही सम्यग्दर्शन प्रगट होने की सक्षेप से प्रक्रिया है। हमको देव, शास्त्र, गुरु में अटल भक्ति रखनी चाहिये, चाहे जैसी विपत्ति क्यों न आ जावे किन्तु कुदेव, कुशास्त्र, कुधर्म, कुगुरु की श्रद्धा, मान्यता, भक्ति अपने मन में न आने दें, न उनकी स्तुति करें, न उन्हे नमस्कार करें। सातो तत्त्वो का स्वरूप अच्छी तरह समझ कर कर्म आस्रव और बन्ध के कारणो से अपने आपको बचाते रहने का यत्न करना चाहिये, सवर निर्जरा होने के कारणो को आचरण मे लाना चाहिये तथा जिनवाणी का मन लगाकर स्वाध्याय करना चाहिये, चारित्र-धारक गुरुओ से उपदेश सुनना चाहिए और जिनेन्द्र भगवान् का बड़ो श्रद्धा-भक्ति से दर्शन, विनय, पूजन करना चाहिये, जिससे हमारे आत्मा में अच्छे भाव, अच्छे संस्कार उत्पन्न हों और आत्मा शुद्धि की ओर अग्रसर हो। आत्मा को शुद्ध करने के लिये मनुष्य भव मे सभी साधन उपलब्ध हैं, हमे उनसे लाभ उठाना चाहिये।

पांच अणुव्रत

अहिंसाणुव्रत—मन-वचन और काय के कृत, कारित और अनुमोदना रूप नव प्रकार के संकल्पो से त्रस जीव का घात नहीं करना अहिंसाणुव्रत है। यहा पर यद्यपि त्रस दो इन्द्रिय आदि के चलते फिरते जीवो की जानबूझकर हिंसा नही करना अहिंसाणुव्रत है, तथापि अहिंसाणुव्रती अनावश्यक स्थावर एकेन्द्रिय जीवों का घात भी इरादतन नहीं करेगा, क्योंकि उसके हृदय मे दया का महान् उदय उद्भूत है। वह नही चाहता कि मेरे द्वारा किसी जीव का संहार हो। वह तो यही भावना करता है कि हे भगवान् मेरी आत्मा में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो, जिससे मैं जीव मात्र का रक्षक बनूं, मेरे द्वारा जानकर व अनजाने कुछ भी स्थावर एकेन्द्रिय जीवो का विनाश होता है, वह मेरी ही दुर्बलता या कमजोरी के कारण ही होता है, क्योंकि घर गृहस्थी के अन्दर रहकर स्थावर जीवों का हिंसा से

---

१. "जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्", तत्त्वार्थ सूत्र, १/४

अपना बचाव पूर्णतया असंभव है। यह अहिंसाणुव्रती कभी किसी के नाक-कान आदि अंगों का छेदन नहीं करेगा, उनको मजबूत बन्धनों से बांधकर किसी एक जगह रोककर नहीं रखेगा। उन्हे लकड़ी-पत्थर आदि से नहीं मारेगा, उनके ऊपर उनकी शक्ति से अधिक भार, बोझा, वजन नहीं लादेगा, उनको भूख और प्यास से पीड़ित नही करेगा, अर्थात् वह उन्हें समय पर खाना खिलायेगा और पानी भी पिलायेगा क्योंकि उसने अहिंसा (कष्ट पहुचाने की चेष्टा और भावना का त्याग करना रूप अहिंसा) का प्रण यावज्जीवन के लिए ले रखा है।

सत्याणुव्रत—ऐसा वचन जिसके बोलने से अपना और दूसरों का घात होने की सम्भावना हो या जिसके सुनने पर लोगों में आपस मे लड़ाई-झगड़ा, कलह और विसवाद प्रारम्भ हो जाय ऐसे वचन स्वय बोलने का और दूसरो से बुलवाने का त्याग करना सत्याणुव्रत है। ऐसा सत्याणुव्रती ऐसा सत्य नही बोलेगा और न बुलवायेगा, जिसके बोलने पर दूसरो का विनाश सम्भव हो। यह सत्याणुव्रती कभी किसी की निन्दा नही करेगा, शास्त्र-विरुद्ध झूठा उपदेश नही देगा, किसी की गुप्त बात या क्रिया को लोक मे प्रकट नहीं करेगा, किसी की शारीरिक चेष्टा से उसके अन्तरग के अभिप्राय को जानकर कषाय के वशीभूत हो दूसरों के सामने उसे प्रकट करने की चेष्टा सत्याणुव्रती कभी नही करेगा। जो बात या जो कार्य किसी ने किया नही है उसको अमुक ने ऐसी बात कही थी अथवा अमुक ने अमुक कार्य मेरे सामने किया था—ऐसा निराधार और अप्रमाणिक सर्वथा मिथ्यालेख सत्याणुव्रती कभी भी नहीं लिखेगा क्योंकि झूठी बातों और व्यवहारो का वह पहले ही त्याग कर चुका है। अगरचे कोई मनुष्य धरोहर के रूप मे कोई रुपया पैसा सोना चांदी या आभूषण वगैरह रख जाय और कुछ समय के पश्चात् विस्मरण हो जाने से कम मांगने लग जाय तो उसे उसके कहे अनुसार कम देने की इच्छा नही करेगा, कम देना तो वस्तुत. दूर की बात है। इस प्रकार से सत्याणुव्रती का जीवन सत्य से ओत-प्रोत रहता है।

अचौर्याणुव्रत—अचौर्याणुव्रती कभी किसी की कही पर रक्खी हुई, पडी हुई, भूली हुई, वस्तु को न तो स्वयं ग्रहण करेगा और न अपने हाथ से उठाकर किसी दूसरे को देगा क्योंकि उसने पर वस्तु के—उसके स्वामी के बिना दिये और बिना कहे-लेने का परित्याग कर दिया है। जैसे उस प्रकार की चीज स्वय नही लेता है वैसे किसी दूसरे को देता भी नही है, यह उसका मुख्य व्रत है। ऐसा व्रती धर्मात्मा किसी चोर को चोरी के लिये प्रेरणा नही करेगा, उसे चोरी करने के उपाय नही बतायेगा, उसके द्वारा चोरी कर के लाये हुए सुवर्ण आदि पदार्थों को नही खरीदेगा, राजा के आदेशो के विरुद्ध कार्य नही करेगा, महसूल आदि को बिना चुकाये इधर-उधर से माल को लाने की कोशिश भी नही करेगा, अधिक मूल्य की वस्तु मे अल्प मूल्य की वस्तु जो उसके ही सामने है मिलाकर नहीं चलायेगा, अपने लेने का बाट-तराजू, गज-आदि तौलने और मापने के पदार्थों को अधिक और अल्प नही रखेगा, किन्तु राजा द्वारा तौलने और मापने के पदार्थों का प्रमाण जो निश्चित किया गया है उसी प्रमाण को रखेगा और उन्ही से लेगा और देगा। ऐसा करते रहने से उसका लिया हुआ व्रत दृढ़ होगा।

ब्रह्मचर्याणुव्रत—इस व्रत का धारक और पालक व्रती जीव पाप के भय से न तो स्वय पर-स्त्री का सेवन करेगा और न दूसरो से सेवन करायेगा किन्तु अपनी विवाहिता धर्मपत्नी मे ही पत्नीत्व बुद्धि को धारण कर उसको ही सेवन करेगा और उसी में सन्तुष्ट रहकर अपनी राग-परिणति को क्रमश. कृश करता जायगा। ऐसा ब्रह्मचारी स्वदार-सन्तोषी होता है, वह अपने पुत्र-पुत्रियो को छोड़ कर दूसरो के पुत्र-पुत्रियो की शादी नही करेगा और न करायेगा, काम-क्रीड़ा के नियत अगो से भिन्न अंगो के द्वारा काम-क्रीड़ा नहीं करेगा। अश्लील, अशिष्ट, अशोभनीय, उच्चता से गिराने वाले, रागवर्धक, नीचो द्वारा बोले जाने वाले, अश्रवणीय शब्दो को भी नहीं कहेगा। अपनी धर्मपत्नी मे भी काम-सेवन की अधिक इच्छा नही रखेगा किन्तु सन्तानार्थ योग्य समय मे ही काम-रत होगा, अन्य समय मे नही। और जो स्त्री परपुरुषगामिनी, व्यभिचारिणी या दुराचारिणी है उससे अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं करेगा अर्थात् उसके घर जाना-आना, उससे वार्तालाप करना आदि व्यवहार नही करेगा। ऐसा स्वस्त्री-सन्तोषी ब्रह्मचर्याणुव्रती होना है।

परिग्रहपरिमाणाणुव्रत—हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दास-दासी-कुप्य, भाण्ड, क्षेत्र, वस्तु—इन दस प्रकार की चीजो का प्रमाण करके बाकी की चीजों को यावज्जीवन छोडना अर्थात् प्रमाण की हुई वस्तुओं से बची हुई चीजों के साथ व्यामोह का त्याग करना ही परिग्रह-परिमाण अणुव्रत है। ऐसा अणुव्रती आवश्यक प्रयोजनीभूत सवारियों से अधिक सवारियाँ नही रखेगा। आवश्यकताओं जरूरतो से अधिक चीजो का संग्रह भी नहीं करेगा क्योंकि जरूरत से ज्यादा चीजों के जोड़ने का मूल लोभ कषाय है, और लोभ कषाय परिग्रहपरिमाणाणुव्रत का विरोधी है, अतएव परिमित वस्तुओं से अधिक को जोड़ने की भावना का त्याग करेगा। दूसरे विशेष पुण्यात्माओं के पुण्य के फलस्वरूप धन-धान्यादि सम्पत्ति की अधिकता को देख आश्चर्य या अचम्भा नही करेगा, अधिक लोभ

नहीं करेगा और लोभ से प्रेरित ही शक्ति से अधिक भार नहीं लादेगा। इस तरह से पांच अणुव्रतों का पालक अणुव्रती श्रावक उन अणुव्रतों को पालन करके उनके सुफल-स्वरूप स्वर्ग को प्राप्त करता है। वह अवधिज्ञान और अणिमा, गरिमा, लघिमा आदि अनेक ऋद्धियों को प्राप्त करता है; सुन्दर और दिव्य भव्य वैक्रियक शरीर को एवं सुन्दर मनोहर हाव-भाव-प्रधान देवाङ्गनाओं को प्राप्त करता है। इस तरह से संयम के सुफल को जानकर प्रत्येक श्रावक को अपने कर्तव्य-स्वरूप षट् कर्मों में से कर्म-संयम को भी अपनाना चाहिए। वह संयम ही एक अद्वितीय जहाज है जिस पर आरूढ़ होकर यह संसारी प्राणी संसार-महासागर से पार हो सकता है। सदा के लिये अनन्तक से मुक्त हो आत्मिक अनन्त सुख-सागर में अवगाहन कर अनन्त काल के लिये एकमात्र सुख का ही अनुभोक्ता बन सकता है जो इन्द्रिय-विषय-सुख से बिल्कुल ही विपरीत एवं स्वाधीन है।

पाप और पुण्य

पुण्य और पाप इन दोनों ने आपस मे मिलकर इस जीवात्मा को अपने अमूल्य अखड अविनाशी निजरूपी आत्मनिधि से विमुख करके भूल-भुलैया में डाल दिया है। यह आत्मा अपने निज स्वरूप का मार्ग भूलकर इस भयकर भवाटवी मे परिभ्रमण करके अत्यन्त दुःखी होता हुआ इस महान् संसार-वन मे पड़ा हुआ है और अभी तक इसे सन्मार्ग बतलाने वाले किसी भी सद्गुरु का समागम नही प्राप्त हुआ। कदाचित् इसे सद्गुरु का समागम भी प्राप्त हुआ तो पाप और पुण्य ये दोनो मिलकर इस जीवात्मा को अपनी ओर खीचकर उसी में रत करा देते हैं। इसलिये यह अपनी शक्ति का उपयोग करने पर भी हताश होकर इसी पाप और पुण्य के आधीन होकर उसी मे रमण करने लगता है। जैसे कि कहा भी है कि .—

पापं नारकभूमिगोय्युवसुवं पुण्यंदिवक्कोय्दा।
पापं पुण्यमिवोंदुग डिवोडेतिर्यंङ मर्त्यजन्मंगोल्॥
रूपं मालकुमिवेल्लमघ्र् ममिवे जन्मके सार्विगोडल्।
पापं पुण्यमिवात्मबाह्यकवला रत्नाकराधीश्वरा!

हे रत्नत्रय के अधिपति सिद्ध परमात्मन्! यह आत्माराम अनादिकाल से इस ससार मे चक्कर काट रहा है। कभी पुण्य के आधीन होकर देवगति मे जाता है और वहाँ के इन्द्रियो के सुखो का अनुभव करते हुए जब वहाँ की आयु समाप्त हो जाती है तब मन मे अत्यन्त व्याकुल होकर जैसे मछली पानी मे से निकालकर बाहर जमीन पर पटकते ही तडफड़ाती रहती है उसी तरह यह जीव देवगति मे निकलकर इस मनुष्य भव मे तडफता हुआ गिर जाता है। तत्पश्चात् यहाँ पर इन्द्रिय-जन्य सुख के आधीन होकर अपने असली स्वरूप को भूलकर पशु के समान विचरने लगता है, कभी पाप-पुण्य दोनो के सयोग मे तिर्यंच गति मे कभी मनुष्य कभी पशु-पक्षी तथा कभी नरक आदि दुर्गतियो मे जाकर भटकता रहता है। इस तरह-भिन्न-भिन्न गतियो मे भ्रमण कराते हुए इस आत्माराम को अनेक रूप बना देता है और पाप तथा पुण्य जन्म-मरण के कारणभूत इस आत्मा को बारम्बार जन्म-मरण कराते रहते हैं। इसलिये आत्माराम को ये सभी पदार्थ बाह्य होने के कारण त्याग देने चाहिये, क्योकि आत्मा इनके साथ होने के कारण व्यवहार नय से अच्छे और बुरे दोनो कर्मों को करने वाला कहलाता है और इसी के सयोग मे जन्म और मरण करने वाला कहलाता है, किन्तु विचार किया जाय तो निश्चय दृष्टि से यह अविनाशी व अखण्ड सपत्तिमय निधि है।

प्रत्येक आत्मा अच्छे कर्म के साथ बुरे कर्म भी करता है। परन्तु बुरे कर्म का फल कोई नही चाहता है। चोरी तो करता है, पर यह कब चाहता है कि मैं पकड़ा जाऊं? दूसरे दर्शन कहते हैं कि कर्म स्वयं जड-रूप होने से वे किसी भी ईश्वरीय चेतना की प्रेरणा के बिना फल-प्रदान करने मे असमर्थ भी हैं। अतएव कर्मवादियों को मानना चाहिये कि ईश्वर ही प्राणियो को कर्म-फल देता है।

कर्मवाद का यह सिद्धान्त ठीक नही है कि कर्म से छूटकर सभी जीव मुक्त अर्थात् ईश्वर हो जाते हैं। यह मान्यता तो ईश्वर और जीव में कोई अन्तर ही नहीं रहने देती जो कि अत्यावश्यक है।

जैन-दर्शन ने उक्त आक्षेपों का सुन्दर तथा युक्ति-युक्त समाधान किया है। जैनधर्म का कर्मवाद कोई बालू (रेत) का दुर्ग थोड़े ही है, जो साधारण धक्के से ही गिर जाए? इसका निर्माण तो अनेकान्त की वज्र-भित्ति पर हुआ है। हाँ, तो उसकी समाधान पद्धति देखिये :—

आत्मा जैसा कर्म करता है, कर्म के द्वारा उसे वैसा ही फल भी मिल जाता है। यह ठीक है कि कर्म स्वयं जड़रूप है और

बुरे कर्म का फल भी कोई नही चाहता, परन्तु यह बात ध्यान देने की है कि चेतन के संसर्ग से कर्म में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जिससे वह अच्छे बुरे कर्मों का फल जीव पर प्रकट करता रहता है। जैन धर्म यह कब कहता है कि कर्मफल में ईश्वर (जीव) का कोई हाथ नही है।

कल्पना कीजिये कि एक मनुष्य धूप मे खड़ा है और गर्म चीज खा रहा है और चाहता है कि मुझे प्यास न लगे। यह कैसे हो सकता है? एक सज्जन मिर्च खा रहे हैं और चाहते हैं कि मुँह न जले, क्या यह सम्भव है? एक आदमी शराब पीता है, और साथ ही चाहता है कि नशा न चढ़े। क्या यह व्यर्थ कल्पना नही है? केवल चाहने और न चाहने भर से कुछ नहीं होता। जो कर्म किया है, उसका फल भी भोगना आवश्यक है। इसी विचारधारा को लेकर जैन-दर्शन कहता है कि जीव स्वयं कर्म करता है और स्वयं ही उसका फल भोगता है।

ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन है। तब दोनों मे भेद क्या रहा? भेद केवल इतना ही है कि जीव अपने कर्मों से बंधा है और ईश्वर उन बन्धनो से मुक्त हो चुका है। एक कवि ने इसी बात को कितनी सुन्दर भाषा मे लिखा है :—

आत्मा परमात्मा में कर्म ही का भेद है।
काट दे यदि कर्म तो फिर भेद है न खेद है॥

जैन-दर्शन कहता है कि ईश्वर और जीव मे विषमता का कारण औपाधिक कर्म है। उसके हट जाने पर विषमता टिक नहीं सकती। अतएव कर्मवाद के अनुसार यह मानने मे कोई आपत्ति नही कि सभी मुक्त जीव ईश्वर बन जाते हैं। सोने मे से मैल निकाल दिया जाय तो फिर सोना शुद्ध परमात्मा बन जाता है।

निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक जीव कर्म करने मे जैसे स्वतंत्र है, वैसे ही कर्म-फल भोगने मे भी वह स्वतंत्र ही रहता है। ईश्वर का वहा कोई हस्तक्षेप नही होता।

कर्मवाद का व्यावहारिक रूप

मनुष्य जब किसी कार्य को आरम्भ करता है, तो उसमे कभी-कभी अनेक विघ्न और बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। ऐसी स्थिति मे मनुष्य का मन चचल हो जाता है और वह घबड़ा उठता है। इतना ही नही, वह किंकर्तव्य विमूढ़-सा बन कर अपने आसपास के संगी-साथियो को अपना शत्रु समझने की भूल भी कर बैठता है। फलस्वरूप अंतरग कारणो को भूलकर बाहरी कारणो से ही जूझता रहता है।

ऐसी दशा मे मनुष्य को पथ भ्रष्ट होने से बचाकर सत्पथ पर लाने के लिये सुयोग्य गुरु और कोई नही, कर्म-सिद्धान्त ही हो सकता है। कर्मवाद के अनुसार मनुष्य को यह विचार करना चाहिये कि जिस अतरग मे विघ्न रूपी विष-वृक्ष अकुरित और फलित हुआ है, उसका बीज भी उसी भूमि मे होना चाहिये। बाहरी शक्ति तो जल और वायु की भाति मात्र निमित्त कारण हो सकती है। असली कारण तो मनुष्य के अपने अन्दर ही मिल सकता है, बाहर नही। अस्तु, जैसे कर्म किये हैं, वैसा ही तो उसका फल मिलेगा। नीम का वृक्ष लगा कर यदि कोई आम के फल चाहे तो कैसे मिलेंगे? मैं बाहर के लोगो को व्यर्थ ही दोष देता हूं। उनका क्या दोष है? वे तो मेरे कर्मों के अनुसार ही इस दशा मे परिणत हुए हैं। यदि मेरे कर्म अच्छे होते, तो वे भी अच्छे न हो जाते? जल एक ही है, वह तमाखू के खेत मे कड़वा बन जाता है तो ईख के खेत मे मीठा भी हो जाता है। जल अच्छा बुरा नही है। अच्छा और बुरा है तम्बाकू और ईख। यही बात मेरे और मेरे सगी-साथियों के सम्बन्ध मे भी है। मैं अच्छा हू तो सब अच्छे हैं और मैं बुरा हूं तो सब बुरे है।

मनुष्य को किसी भी काम की सफलता के लिये मानसिक शान्ति की बड़ी भारी आवश्यकता है और वह इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त से ही मिल सकती है। आंधी और तूफान मे जैसे हिमाचल अटल और अडिग रहता है, वैसे ही कर्मवादी मनुष्य भी अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों मे भी शान्त तथा स्थिर रहकर अपने जीवन को सुखी और समृद्ध बना सकता है। अतएव कर्मवाद मनुष्य के व्यावहारिक जीवन मे बड़ा उपयोगी प्रमाणित होता है।

कर्म सिद्धान्त की उपयोगिता और श्रेष्ठता के सम्बन्ध मे डॉ० मैक्समूलर के विचार बहुत ही सुन्दर और विचारणीय हैं। उन्होंने लिखा है :—

यह तो सुनिश्चित है कि कर्मवाद का प्रभाव मनुष्य-जीवन पर बेहद पड़ा है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पड़े कि

वर्तमान अपराध के सिवाय भी मुझको जो कुछ भोगना पड़ता है, वह मेरे पूर्वकृत कर्म का ही फल है, तो वह पुराने कर्ज को चुकाने वाले मनुष्य की तरह शान्त-भाव से कष्ट को सहन कर लेगा। और यदि वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहनशीलता से पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्य के लिये नीति की समृद्धि एकत्रित की जा सकती है, तो उसको भलाई के रास्ते पर चलने को प्रेरणा आप ही आप होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नही होता। यह नीति-शास्त्र का मत और पदार्थ-शास्त्र का बल-संरक्षण सम्बन्धी मत समान ही है। दोनों मतो का आशय यही है कि किसी का नाश नही होता। किसी भी नीति शिक्षा के अस्तित्व के सम्बन्ध में कितनी ही शका क्यो न हो, पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्म-सिद्धान्त सबसे अधिक जगह माना गया है। उससे लाखों मनुष्यों के कष्ट कम हुए हैं और उसी मत से मनुष्य को वर्तमान सकट झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भावी जीवन को सुधारने मे भी उत्तेजना, प्रोत्साहन और आत्मिक बल मिलता है।

सल्लेखना

आत्मा अजर-अमर है। अत. वह न कभी उत्पन्न होता है, न मरता है। किन्तु यह आत्मा भौतिक शरीर को अपना निवास बनाकर कुछ दिन उसमे रहता है। उस शरीर का निर्माण माता के गर्भ मे नौ मास तक सम्पन्न हो जाता है, तदनन्तर वह बाह्य जगत् में आता है, जिसे जनता 'जन्म' कहती है। तदनन्तर उस शरीर के आकार-प्रकार मे शनै. शनैः वृद्धि होती है और वह शैशवकाल, किशोरावस्था समाप्त करके यौवन दशा मे पहुंच जाता है जहा कि उस भौतिक शरीर का पूर्ण विकास होकर वृद्धि समाप्त हो जाती है। तदनन्तर दिन के तीसरे पहर की तरह प्रौढ दशा मे शरीर क्षीण होने लगता है और अपने चौथेपन वृद्ध अवस्था मे पहुंच कर शरीर वृक्ष के पके हुए पत्ते की तरह जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, तथा वह किसी रोग आदि साधारण आघात से इस तरह निर्जीव निश्चेष्ट होकर सदा के लिये गिर जाता है जैसा कि वायु के साधारण झकोरे से भी पका हुआ पत्ता वृक्ष से टूट कर गिर जाता है। जन-साधारण की भाषा में शरीर की इस निष्क्रिय दशा का नाम 'मृत्यु' है। आध्यात्मिक भाषा मे इसे आत्मा द्वारा शरीर-परित्याग या नूतन शरीर में आत्म-प्रवेश कहते हैं।

वैसे तो शरीर की मृत्यु उसी दिन से प्रारम्भ हो जाती है जिस दिन कि उसका जन्म होता है। टूटे हुए घडे मे से जिस तरह एक-एक बूद पानी टपक-टपक कर कम होता जाता है उसी तरह शरीर भी क्षण-क्षण मे क्षीण होता हुआ मृत्यु के निकट पहुच जाता है। जीवन की अवधि कम होती जाती है, परन्तु जनता की स्थूल दृष्टि उसे नही देख पाती।

इस शारीरिक जन्म-मृत्यु को ससार भूल से आत्मा या जीव की जन्म-मृत्यु कहने लगा है।

भोगी मनुष्य अपने जीवन के अमूल्य क्षण शरीर की सेवा में—विषयभोगो मे बिता देता है। आत्मा को स्वस्थ निराकुल करने की ओर उसका ध्यान नही जाता। इसी शारीरिक मोह के कारण वह सदा मृत्यु से भयभीत बना रहता है। परन्तु योगी जन अपने नर-जीवन के अमूल्य क्षणों को आत्मशुद्धि, आत्मविकास या आत्मसाधना मे व्यतीत करता है। उसको शारीरिक पतन की चिन्ता नहीं होती। उसे तो अपने आत्मा के पतन की चिन्ता रहती है। इसी कारण वह आत्मा के पतन के कारणो—क्रोध, मद, माया, लोभ, काम, मोह आदि से सचेत रहकर आत्मा को उनसे बचाता रहता है, सदा अपना समय आत्मचिन्तन, परमात्मचिन्तन, ध्यान, स्वाध्याय, शास्त्र-अभ्यास आदि में लगाता है। इसी कारण योगी अपने जीवन मे आत्मा की अमूल्य निधि—क्षमा, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, नम्रता, निर्लोभ, समता, ज्ञान आदि को बहुत बड़ी मात्रा में एकत्र कर लेता है। उसकी इस अमूल्य निधि को काम, क्रोध, लोभ आदि चोर न चुरा ले जावें—इसके लिए वह सतत सचेत रहता है। रात्रि के समय भी इसी कारण वह बहुत थोडी नींद लेता है।

जिस समय इस भौतिक शरीर की मृत्यु का क्षण निकट आता दीखता है, तब मोही जीव अपना शरीर छूटता देख व्याकुल होता है, भयभीत हो जाता है, दुःखी होता है और उसे बचाने के लिये सभी सभव प्रयत्न करता है। परन्तु योगी उस समय भयभीत और व्याकुल या दुःखी नही होता क्योंकि वह जीवन-मरण के यथार्थ रहस्य को समझता है। शरीर के जाने मे उसे अपनी हानि नजर नही आती। उसके सामने तो उस समय आत्मनिधि की सुरक्षा का प्रश्न महत्त्वपूर्ण होता है। वह नही चाहता कि जीवन मे तपस्या के कारण जो आत्मशुद्धि की है, उस पर क्रोध, शोक, मोह आदि का मैल फिर छा जाये।

अतः वह उस समय और भी जागरूक होकर शारीरिक चिन्ता और क्रोध, मद, मोह आदि कषायों से दूर रह कर आत्म-साधना मे निरत हो जाता है। इस तरह आत्मशुद्धि की भावना से अपने शरीर को तथा क्रोध आदि कषायो को कृश करते जाना सल्लेखना है।

[सत्=आत्मशुद्धि के शुभ उद्देश्य से+लेखना=शरीर तथा कषाय का कृश करना=सल्लेखना]

शरीर से मोह कम करने के लिये भोजन में क्रमशः कमी करना शरीर-सल्लेखना है। जैसे भोज्य पदार्थ त्याग कर दूध, छाछ, जल आदि पेय पदार्थ ही आहार में लेना, फिर क्रमशः उनमें भी दूध, छाछ आदि को छोड़ कर केवल जल ही रखना और अन्तिम समय निकट आता देख जल भी त्याग देना, यह शरीर सल्लेखना का क्रम है।

अनेक निकटवर्ती तथा दूरवर्ती व्यक्तियों (सम्बन्धियो, मित्रों, चाकरो तथा शत्रुओं) से समता भाव लाने के लिये उनसे मोह या द्वेष त्यागना, उनसे अपने ज्ञात-अज्ञात अपराधों की क्षमा मांगना तथा स्वयं उनको क्षमा कर देना, संसार के सब पदार्थों से मानसिक सम्बन्ध भी दूर कर देना, अपने शरीर के वस्त्रों, बिस्तरो, नीचे बिछी चटाई आदि चीजें भी क्रम से हटाते जाना कषाय सल्लेखना है।

शरीर कृश करने का उद्देश्य यह है कि मृत्यु के क्षण मे भूख-प्यास आदि से व्याकुलता या अशांति न होने पावे। भूख या प्यास को शान्ति से सहन करने का उत्कट अभ्यास हो जावे। कषाय कृश करने का अभिप्राय अपने संचित क्षमा, शान्ति, धैर्य, निर्वैर, मार्दव आदि आत्मगुण सम्पत्ति की क्रोध, मोह, मद, माया आदि दुर्भावों से सुरक्षा करना है।

यह आत्महत्या नहीं है

मनुष्य जब किसी क्रोध, लोभ, लज्जा, भय, शोक आदि के आवेश में आकर क्लेशित भावों से भूखा रहकर या फांसी लगाकर, नदी मे कूद कर अथवा बिजली आदि द्वारा मृत्यु का आलिंगन करता है तब वह कायरतापूर्ण आत्म-हत्या होती है, क्योंकि मानसिक दुःख न सह सकने के कारण वह ऐसा करता है। किन्तु सल्लेखना में क्रोध, शोक, भय, क्षोभ आदि कोई दुर्भाव नहीं होता। आत्मसाधना में तन्मय होकर शान्ति और धैर्य से मृत्यु का स्वागत किया जाता है, अतः यह 'वीरमरण' है।

प्रातःस्मरणीय श्री समन्तभद्र आचार्य ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में लिखा है—

> उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
> धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥

किसी प्राण-घातक महान् उपद्रव के आ जाने पर या ऐसे महान् दुष्काल में फंस जाने पर जिसके सुरक्षित होने की आशा न रहे, अतिशय वृद्ध अवस्था आ जाने पर, असाध्य रोग हो जाने पर, धर्मभावना, धर्मसाधना के साथ शरीर छोड़ना सल्लेखना है—ऐसा सर्वज्ञ भगवान् के उपदेशानुसार आचार्य कहते हैं।

जिस तरह मकान मे आग लग जाने पर प्रथम तो उस मकान का स्वामी उस आग को बुझाने का यत्न करता है, किन्तु जब उसे यह प्रतीत होता है कि आग बुझ न सकेगी उस समय वह घर मे से सबसे अधिक मूल्यवान् पदार्थों को सुरक्षित ले आने का प्रयत्न करता है जिससे कि वह दीन दरिद्र न बनने पाये, अपना भावी जीवन सुख से बिता सके। इसी प्रकार धार्मिक व्यक्ति के ऊपर जब कोई प्राण-घातक महान् संकट आ जाता है तब वह पहले तो संकट को दूर करने की चेष्टा करता है, जब उसे यह विश्वास हो जाता है कि किसी भी तरह जीवन बच नही सकता, मृत्यु अवश्य होगी तब वह अपनी अन्तिम चेष्टा यह करता है कि अपने जीवन मे मैंने जो व्रत, तप, त्याग, सयम द्वारा धर्मनिधि सचित की है, उसको बचा लू जिससे कि वह शरीर के साथ नष्ट न हो जावे। क्योंकि उस धर्मनिधि के सुरक्षित रह जाने पर उसका अन्य भव सुखमय हो सकता है।

आयु-कर्म का बन्ध जीवन मे आठ बार में से किसी भी बार योग्यता होने पर हो सकता है। उन आठ बारों का नाम जैन सिद्धान्त मे 'अपकर्ष काल' कहा है। कदाचित् उन आठों अपकर्ष-कालों मे से कभी भी अन्य भव की आयु न बन्ध पाई हो तो अन्तिम समय (मृत्यु क्षण) मे अन्य भव की आयु अवश्य बन्ध जाती है। इसी कारण आचार्यों का उपदेश है कि सदा अपने परिणाम अच्छे रक्खो, मन, वचन, काय की चेष्टा पापमय न होने दो, क्योंकि पता नहीं किस क्षण में अन्य भव की आयु बन्धने का अवसर आ जाए। आयु बन्धने के समय मन-वचन-काय की प्रवृत्ति यदि अशुभ होगी तो नरक या तिर्यञ्च की आयु बन्ध सकती है, अन्यथा मरने के समय जैसे परिणाम होंगे उनके अनुसार परभव का आयुबन्ध हो जायगा।

इसी के अनुसार लोक में यह कहावत प्रचलित है कि 'अन्त मति सो गति' यानि—मरण-समय में जैसे परिणाम होंगे, आगामी भव भी उसी प्रकार का होगा। अत अन्य भव सुधारने में 'सल्लेखना' विशेष कारण है।

नीतिकार ने कहा है—

तावद्भयस्य भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्याद्यथोचितम् ॥

भय से तभी तक डरना चाहिये जब तक कि भय अपने पास न आने पावे किन्तु भय को अपने पास आया देखकर मनुष्य को यथा उचित प्रयत्न करना चाहिये ।

मृत्यु से भय पापी पुरुष को होता है कि मैंने अपने जीवन में महान् पाप कार्य किये हैं, पता नहीं मर जाने पर मैं किस नरक, निगोद, पशु-पक्षी की योनि में जा कर अपने पापों का दण्ड भोगूं गा । उसे अपने किये हुए पाप स्मरण आकर मृत्यु से भय लगता है । पापी भी मृत्यु के क्षणों में बुद्धिमानी से काम ले तो समाधिमरण द्वारा अपना कल्याण कर सकता है । परन्तु जिस सुजन व्यक्ति ने अपने जीवन में परोपकार, दान, पूजा, व्रत, तप, संयम आदि धर्म कार्य किये हैं, उसे मृत्यु से क्या भय हो सकता है । उसको तो हर्ष होता है कि यह पुराना शरीर छूट कर नया शरीर प्राप्त होगा ।

आचार्य कहते हैं—

कृमिजालशताकीर्णे जर्जरे देहपंजरे ।
भज्यमाने न भेतव्यं यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः ॥२॥ (मृत्यु महोत्सव)

अर्थात्—यह जीर्ण-शीर्ण पौद्गलिक शरीर सैकडो कीड़ो से भरा हुआ है, इसके नष्ट होते समय जरा भी भयभीत न होना चाहिये क्योंकि तू स्वयं ज्ञानमय या ज्ञान-शरीरी है, मृत्यु द्वारा तेरा नाश नहीं होता ।

साधारण-सी परदेश यात्रा करते समय मनुष्य बडे उत्साह और हर्ष के साथ अनेक प्रकार शुभ शकुन बनाता है, भगवान् का शुभ नाम लेकर प्रस्थान करता है । मृत्यु-समय तो परलोक-यात्रा करने का अवसर है । उस समय तो और भी अधिक सावधानी और हर्ष के साथ शुभ शकुनों की तैयारी होनी चाहिये । उस समय रोना, शोक करना, पछताना आदि अपशकुन की बातें छोड़कर श्री जिनेन्द्र देव का पवित्र स्मरण और उनका नाम उच्चारण करना चाहिये, वैराग्य भावना द्वारा शारीरिक मोह छोड़ देना चाहिये ।

आचार्य ने कहा है—

यत्फलं प्राप्यते सद्भिर्व्रतायासविडम्बनात् ।
तत्फलं सुखसाध्यं स्यान्मृत्युकाले समाधिना ॥१४॥ (मृत्यु महोत्सव)

धर्मात्मा जो सुकार्य व्रत, तप, संयम आदि द्वारा करता है, उतना कार्य या उतना फल वह मृत्यु-समय समाधि द्वारा सहज में प्राप्त कर लेता है ।

वनस्पति में जीव

वृक्ष और वनस्पतियो मे जीव होने की बात हम भारतवासी आज से नहीं, कल से नही, हजारों सालों से मानते आये हैं । हमारे तत्त्वदर्शी ज्ञानियों ने अपनी विकसित आत्म-शक्ति के द्वारा वनस्पतियो मे जीव होने की बात का पता बहुत पहले से ही लगा लिया था । जैन धर्म मे तो स्थान-स्थान पर वृक्ष मे जीव होने की घोषणा की गई है । भगवान् महावीर की वाणी आचारांग सूत्र का भाव इन शब्दों मे प्रकट किया जा सकता है :—

(१) जिस प्रकार मनुष्य जन्म लेता है, युवा होता है और बूढ़ा होता है, उसी प्रकार वृक्ष भी तीनों अवस्थाओं का उपभोग करते हैं ।

(२) जिस प्रकार मनुष्यो मे चेतना-शक्ति होती है, उसी प्रकार वृक्ष भी चेतना-शक्ति रखता है, सुख-दुःख का अनुभव करता है । आघात आदि सहन करता है ।

(३) जिस प्रकार मनुष्य छीज जाता है, कुम्हलाता है और अन्त में क्षीण होकर मर जाता है, उसी प्रकार वृक्ष भी आयु की समाप्ति पर छीज जाता है, कुम्हलाता है और अन्त में मर जाता है ।

(४) जिस प्रकार भोजन करने से मनुष्य का शरीर बढ़ता है और न मिलने से सूख जाता है उसी प्रकार वृक्ष भी खाद और पानी की खुराक मिलने से बढ़ता है, विकास पाता है और उसके अभाव में सूख जाता है ।

आज का युग विज्ञान का युग है । आजकल प्रत्येक बात की परीक्षा प्रयोगों की कसौटी पर चढ़ाकर की जाती है । यदि विज्ञान की कसौटी पर बात खरी उतरती है, तो मानी जाती है अन्यथा नहीं । जैन धर्म की यह वृक्ष मे जीव होने की बात पहले केवल

मजाक की चीज समझी जाती थी, परन्तु जब से इधर डॉ० जगदीशचन्द्र बसु महोदय ने अपने अद्भुत आविष्कारों द्वारा यह सिद्ध किया है कि वृक्ष मे जीव है, तब से पुराने धर्मशास्त्रो की खिल्ली उड़ाने वाली जनता आश्चर्यचकित रह गई है।

बसु महोदय के आविष्कारों से पता चला है कि हमारी ही तरह वृक्षों में भी जान है। भोजन, पानी और हवा की जरूरत उन्हें भी पड़ती है। हमारी ही तरह वे भी जिन्दा रहते हैं और बढ़ते हैं। हाँ, इतना जरूर है कि उनका काम करने का तरीका हमसे कुछ भिन्न है।

चलती हुई सास देखकर ही मनुष्य जिंदा कहा जाता है, अतएव पेड़-पौधे भी सांस लेते हैं। और मजा यह है कि उनका सांस लेने का तरीका हमसे बहुत मिलता-जुलता है। हम सिर्फ फेफड़े से ही सास नही लेते, प्रत्युत् हमारे शरीर मे लगा चमड़ा भी इस काम मे हमारी मदद करता है। ठीक इसी तरह पौधे भी सारे शरीर से सांस लेते हैं। ऐसे यंत्र अब बन गए हैं जो ठीक नाप-तौल के बतला देंगे कि अमुक बीजों ने इतने समय मे इतनी आक्सीजन हवा में से खींच ली है।

पौधों मे स्मरण-शक्ति का भी अभाव नही है। यह बात सभी जानते हैं कि बहुत-से पौधे रात्रि के समीप आने पर अपने पत्तों को सिकोड लेते हैं और फल के डंठल को नीचे गिरा देते हैं। इसका कारण सूरज की अन्तिम किरणो का पौधो पर पड़ना बताया जाता है। लेकिन वैज्ञानिको ने प्रयोग करके देखा है कि अंधेरे कमरे में बन्द कर देने से भी पौधे ठीक सूर्यास्त के समय अपने पत्तो को समेटने लगते हैं और सूरज के निकलने के समय खिल उठते हैं। सच बात तो यह है कि पौधो के कोषो को उसका स्मरण रहता है। रजनी-गन्धा रात होते ही महकने लगती है।

वैज्ञानिको ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि पौधे पशुओ की तरह सर्दी-गरमी, दुःख-हर्ष आदि का ज्ञान भी रखते हैं। पौधो मे प्यार तथा घृणा का भाव भी विद्यमान है। जो उनके साथ अच्छा व्यवहार करते हैं, उन्हे वे चाहते हैं और जो मनुष्य उनके साथ दुर्व्यवहार करते है, उन्हे वे घृणा की दृष्टि से देखते है। कुछ पौधे फैशन-पसन्द होते हैं। जरा मैले हाथों से कमल को छू दीजिए, वह मुरझा जायेगा।

चोट लगने या छिल जाने पर जैसे हमे तकलीफ होती है, उसी तरह पौधों को भी होती है। प्राणियों के समान वृक्षों के शरीर मे भी स्नायु-जाल फैला रहता है। जैसे मनुष्य के किसी अग मे पीड़ा होने से वह स्नायु-सूत्रो के द्वारा सारे शरीर मे फैल जाती है, वैसे ही वृक्षो के शरीर मे भी आघात की उत्तेजना फैल जाती है।

अपनी इन्द्रियो द्वारा पौधे सर्दी-गर्मी आदि का तो अनुभव करते ही हैं, साथ ही विष और उत्तेजक पदार्थों का भी उन पर प्रभाव पड़ता है। डॉ० बसु ने एक यन्त्र ऐसा भी बनाया है जो नाजुक पत्तियो की धड़कन का पता बताता है। शराब पीकर पौधे भी उत्तेजित हो जाते हैं, इस बात का पता इस यन्त्र की सहायता से सहज ही मे लग सकता है। पौधे की जड मे शराब डाल दी जाय और फिर यन्त्र से उस पौधे का सम्बन्ध कर दो तो तुम देखोगे कि उसकी पत्तियो मे अधिक धडकन होने लगी है।

क्या मनुष्य और क्या पशु-पक्षी, सभी दिन-भर काम करने के बाद थक जाते हैं और रात मे उन्हें आराम करने की जरूरत पडती है। पेड-पौधे भी इसी प्रकार थक कर रात मे आराम करते हैं। सूरज के डूब जाने के बाद यदि तुम बाग़ मे जाओ, तो देखोगे कि पत्तियो का रंग-ढंग दिन-जैसा नहीं है। ऐसा लगता है, जैसे वे चुपचाप पड़ी सो रही हों। क्लोवर नामक पौधे की पत्तियों मे यह परिवर्तन बहुत साफ दिखाई देता है। उसकी पत्तियाँ रात के समय झुक कर तने से सट जाती हैं। हिन्दुस्तान में पाया जाने वाला टेलीग्राफ प्लांट रात मे पत्ती पर पत्ती रखकर सोता है।

जिस प्रकार मनुष्य के स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं, उसी प्रकार वृक्षों के स्वभाव भी बहुत विचित्र प्रकार के होते हैं। कुछ वृक्ष ऐसे होते हैं जो मासाहार भी करते हैं। मांसाहारी पौधों की लगभग पाँच सौ जातियाँ पाई गई हैं। एक पौधा ब्लैडर वर्ट होता है, यह जल मे रहने वाला है। इसके तने पर छोटे-छोटे थैलों के मुंह पर एक दरवाजा लगा रहता है। ज्यो ही कीड़ा-मकोड़ा अन्दर पहुंचता है त्यो ही दरवाजा अपने आप बन्द हो जाता है। बेचारा कीड़ा अन्दर ही अन्दर छटपटा कर मर जाता है और उसका रक्त वह वृक्ष चूस लेता है।

अफ्रीका के घने जंगलो मे ऐसे पेड पाये गये हैं, जो बडे-बडे जानवरों को भी दूर से जाल फैला कर पकड़ लेते हैं। उनके शिकंजे से निकल भागना फिर असम्भव हो जाता है। ये पेड़ मनुष्यो को भी पाने पर चट कर जाते हैं। मनुष्य के पास आते ही उसे अपनी टहनियों से पकड लेते हैं और चारो ओर से टहनियो के बीच दबाकर रक्त चूस लेते हैं। कितना भयंकर कर्म है इनका ! वृक्षों की सजीवता का यह प्रबल प्रमाण है। ❑

जैन आचार-संहिता

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

अष्ट मूल गुण

वृक्ष तभी तक हरे-भरे रहते हैं जब तक कि उनकी जड़ हरी-भरी व दृढ़ बनी रहती है। ऊँचे वृक्षों की जड़ भी छोटे वृक्षों की अपेक्षा गहरी और अधिक मजबूत होती है। गेहूं-चने के पेड़ छोटे होते हैं तो उनकी जड़ भी छोटी होती है। जड़ उखड़ जाने पर वृक्ष की शाखाएं, पत्ते आदि सभी अंग सूख जाते हैं, उस पर फल-फूल लगना बन्द हो जाता है। बड़े-बड़े विशाल मकान भी तभी खड़े रहते हैं जबकि उनकी जड़ (नींव) गहरी और मजबूत होती है। निन्यानवे हजार योजन ऊँचा सुमेरु पर्वत इसी कारण अब तक अचल खड़ा हुआ है कि उसकी जड़ एक हजार योजन गहरी है। इसी प्रकार धर्माचरण भी तभी दृढ़ निश्चल रहता है जबकि उसके मूल यम, नियम दृढ़ हों। मूल व्रतों का आचरण किये बिना धर्माचरण चिरस्थायी नहीं रहता।

घर-परिवार के साथ रहने वाले गृहस्थ व्यक्ति के लिए अपनी आत्मा को उन्नत करने के लिये उन मूलव्रतों का आचरण करना आवश्यक होता है जो उसके धर्माचरण के मूल आधार हैं। उन आधार-भूत व्रतों को ही जिनवाणी में मूलगुण कहा गया है।

मूल गुण ८ होते हैं—१. मद्य त्याग, २. मांस त्याग, ३. मधु त्याग, ४. बड़, ५. पीपल, ६. ऊमर, ७. गूलर, ८. कठूमर त्याग। इसी को ५ उदुम्बर (बिना फूल के होने वाले फल बड, पीपल, ऊमर, गूलर, कठूमर) फलों का तथा ३ मकार (मद्य, मांस, मधु) का त्याग कहते हैं। यानी—न खाने योग्य आठ पदार्थों के त्याग रूप आठ मूलगुण हैं।

मद्य-त्याग

शराब पीने का त्याग करना मद्य-त्याग है। गुड़, जौ, महुआ आदि अनेक वस्तुओं को सड़ाकर शराब तैयार की जाती है। चीजों को सड़ाने से एक तो उनमें असंख्य छोटे कीटाणुओं की उत्पत्ति हो जाती है अथवा यों समझ लीजिये कि पदार्थों का सड़ना बिना कीटाणुओं (छोटे-छोटे जीवों) की उत्पत्ति के होता ही नहीं है। इस कारण शराब अगणित जीवों का पिण्ड है। अतः शराब पीते समय उन असंख्य त्रस जीवों की हिंसा हुआ करती है।

शराब पीने में एक तो महान् त्रस जीव हिंसा का पाप होता है। दूसरे, शराब में बड़ा भारी नशा (मूर्छित करने की शक्ति) भी होती है जिससे कि शराब पीने के बाद विचार-शक्ति एवं विवेक लुप्त हो जाता है जिससे शराब पीने वाले को कुछ होश नहीं रहता कि मैं कहाँ पर पड़ा हूं? क्या कर रहा हूं? कौन मेरे सामने है? शराब के नशे में शराबी चलते-चलते लड़खड़ा कर गंदे पानी की नालियों में गिर पड़ते हैं, तब भी उन्हें कुछ होश नहीं आता। शराब की गंध पाकर कोई कुत्ता उधर आ जाय तो शराबी का मुख सूंघ कर वह शराबी के मुख में मूत्र भी कर देता है। शराबी को उस बात का भी पता नहीं चलता।

शराब पीने से कामवासना भी जाग उठती है। शराबी लोग प्रायः अपनी कामवासना जाग्रत करने के लिये ही शराब पिया करते हैं। वेश्याओं के पास जाने वाले व्यभिचारी लोग प्रायः शराब पी कर नशे में चूर रहते हैं। अनेक घटनाएं ऐसी भी हो जाती हैं कि यदि शराब में चूर शराबी के सामने उसकी अपनी बहिन या पुत्री भी आ जावे तो वह बदहोश उस बहिन या पुत्री को ही अपनी कामवासना का शिकार बनाने का प्रयत्न करता है।

शराब पीने का व्यसन एक ऐसा दुर्व्यसन है जो कि एक बार लग जाने पर फिर छूटता नहीं। शराब पीने की आदत जिसको पड़ जाती है वह अपनी सारी सम्पत्ति नष्ट कर देता है, बिल्कुल बर्बाद हो जाता है। शराब का प्रभाव शरीर पर भी बहुत बुरा पड़ता है, अतः शराब शरीर का स्वास्थ्य भी बिगाड़ देती है।

इस तरह शराब किसी भी तरह लाभदायक नहीं। धर्म, विवेक, कुलाचार, धन, स्वास्थ्य आदि सभी को हानि पहुंचाती है। इस कारण शराब का त्याग किये बिना धर्माचरण की जड़ नहीं जम सकती। कितने दुःख की बात है कि इस युग के सभ्य शिक्षित लोग

पार्टियों (प्रीतिभोजों) में भी शराब का प्रयोग करने लगे हैं। जो व्यक्ति अपनी सन्तान तथा परिवार में सदाचार कायम रखना चाहता है उसको शराब से सदा दूर रहना चाहिये।

मांस-त्याग

स्थावर—एकेन्द्रिय जीवों के शरीर मे रक्त नहीं होता, अत: रक्त से बनने वाला मांस भी वृक्ष आदि एकेन्द्रिय जीवों में नहीं हुआ करता, न हड्डी उनके शरीर मे होती है। किन्तु दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय तथा पांच इन्द्रिय जीवों के शरीर मे रक्त जमता रहता है, अत: उनके शरीर मे मांस तथा हड्डी भी होती है।

जिस तरह रक्त में त्रस जीव उत्पन्न होते रहते हैं, उसी तरह मांस में भी सदा असंख्य त्रस जीव उत्पन्न होते रहते हैं। यह बात केवल कच्चे मांस के लिये ही नहीं है किन्तु प्रत्येक तरह के मास के लिये है। यानी—मास चाहे कच्चा हो, चाहे पका हुआ हो अथवा सूखा मांस हो उसमें त्रस जीव उत्पन्न होते रहते हैं। इस कारण मास खाने से उन असख्य त्रस जीवो की हिंसा हुआ करती है।

श्री अमृतचन्द्र सूरि ने 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' मे कहा है—

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोदानाम् ॥६७॥

अर्थात्—कच्चे, पक्के तथा सूखे हुए मास मे सदा उसी मास जाति के अनन्त सम्मूर्छन जीव उत्पन्न होते रहते हैं।

इस कारण दयालुचित्त धार्मिक व्यक्ति को मांस-भक्षण का त्याग करना अनिवार्य है। मनुष्य स्वभाव से शाकाहारी यानी—अन्न, फल, दूध, घी आदि का भोजन करने वाला है। मनुष्य के दात इस बात की साक्षी देते हैं। मासाहारी पशुओं के दांत गोल नुकीले होते हैं, उनके चबाने वाली डाढ़े नही हुआ करती; किन्तु मनुष्य के दात चपटे होते हैं। इस कारण मास मनुष्य का प्राकृतिक आहार नहीं है। मांस-भक्षण से हृदय मे निर्दयता आ जाती है। अत. हिंसाजनित तामसी पदार्थ मांस का त्याग किये बिना धर्म-आचरण की भूमिका नहीं बन सकती। इस कारण मास-त्याग एक मूलगुण है।

मधु-त्याग

शहद खाने का त्याग करना मधु-त्याग है। मधुमक्खियाँ फूलों का रस चूस कर लाती हैं, फिर उस चूसे हुए रस को अपने बनाये हुए छत्ते मे आकर उगल कर रख देती हैं। मधुमक्खियो के मुख से उगला गया वह फूलों का रस ही मधु कहलाता है। मक्खियो के मुख का उगाल होने के कारण मधु (शहद) मे असख्य कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं क्योंकि मुख से उगले हुए रस मे मक्खियो की लार होती है। अत: उसके कारण त्रस जीव शहद मे पैदा हुआ करते हैं। शहद खाने से उन असख्य त्रस जीवों की हिंसा होती है। अतः दयालु धार्मिक मनुष्य को शहद खाने का त्याग करना उचित है।

उदुम्बर-फल-त्याग

आम, अनार, सेब, अंगूर आदि फल लगने से पहले उन वृक्षा पर बौर, फूल आते हैं। उन फूलो के झड़ जाने पर उनके स्थान पर फल लगते हैं। समस्त फलो की उत्पत्ति प्राय इसी प्रकार हुआ करती है। परन्तु कुछ फल ऐसे भी है जो बिना फूल आये ही पेड़ों पर उत्पन्न हुआ करते हैं। उन फलो को उदुम्बर फल या अपने पेड के दूध से उत्पन्न होने के कारण उन्हें क्षीरी फल भी कहते हैं।

ऐसे फल ५ होते हैं—१. बड वृक्ष पर लगने वाले फल, २. पीपल पर लगने वाले फल, ३. गूलर, ४. ऊमर और ५. कठूमर (अंजीर)। इन फलो के भीतर बहुत-से त्रस जीव होते हैं। बहुत-से फलो को तो तोड़ने पर उनमे से उडते हुए जीव स्पष्ट दीख पड़ते हैं और कुछ फलो मे सूक्ष्म जीव दिखाई भी नही देते। इस कारण इन उदुम्बर फलो के खाने से उन त्रस जीवों की हिंसा होती है। सूखे हुए उदुम्बर फलों मे उनके भीतर के त्रस जीव भी मर जाते हैं। सूखे हुए त्रस जीवो का शरीर मासमय होता है। अत: सूखे हुए उदुम्बर फल भी अभक्ष्य हैं।

जो व्यक्ति धर्माचरण प्रारम्भ करता है उसको मद्य, मास, मधु की तरह इन पाचो उदुम्बर फलों का भी त्याग करना चाहिए।

इस तरह इन आठ अभक्ष्य वस्तुओं के त्याग रूप आठ मूल गुण प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति को कड़ाई के साथ आचरण करने चाहियें। जगत मे असंख्य निर्दोष भक्ष्य पदार्थ हैं, मनुष्य की भूख और जीभ की स्वाद-लालसा मिटाने के लिये वे पर्याप्त हैं। इस दशा मे इन आठो अभक्ष्य वस्तुओ के खाने-पीने का परित्याग करना समुचित है।

जो व्यक्ति अपने धर्माचार में दृढ़ होते हैं, संसार की कोई भी शक्ति उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। प्रकृति उनकी सहायता करती है। इस कारण कम-से-कम धर्म-आचरण की मूल भूमिका रूप अष्ट मूलगुण प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य रूप से स्वीकार करने चाहियें।

श्रावक धर्म

कल्याण की इच्छा रखने वाले को सबसे पहले सच्चे देव, सच्चे गुरु, सच्चे शास्त्र का श्रद्धान करना चाहिए और भली-भांति कहे हुए उनके तत्त्वों को समझना चाहिए। जैन धर्म का पक्ष रखने वाले को मूल गुणों का पालन करना चाहिए। वे आठ मूल गुण इस प्रकार हैं—

कई ग्रन्थों मे बड़, पीपल, गूलर(ऊमर), कठूमर, पाकर—इन पांच उदुम्बर फलो (जिनमें प्रत्यक्ष जीव दिखाई देते हैं) तथा मद्य, मांस, मधु (जो त्रस जीवो के पिण्ड हैं) के त्याग करने को अष्ट मूल गुण कहा है। रत्नकरण्डश्रावकाचारादि कई ग्रन्थों में पंचाणुव्रत धारण करने तथा तीन प्रकार के त्याग को अष्टमूलगुण कहा है। महापुराण मे मधु की जगह सप्त व्यसन के मूल जुआ खेलने की गणना की है। सागरधर्मामृतादि कई ग्रन्थों मे मद्य, मांस, मधु—इन तीन प्रकार के त्याग के ३, उपर्युक्त पंच उदुम्बर फलों के त्याग का १, रात्रि भोजन के त्याग का १, नित्यवन्दना करने का १, जीवदया पालने का १, जल छानकर पीने का १, इस प्रकार अष्ट मूल गुण कहे हैं। इन स। ऊपर कहे हुए अष्ट मूलगुणो पर जब सामान्य रूप से विचार किया जाता है तो सभी का मत अभक्ष्य, अन्याय और निर्दयता के त्याग कराने और धर्म मे लगाने का नियम एक समान ज्ञात होता है। अतएव सबसे पीछे कहे हुए त्रिकाल वन्दना तथा जीव-दया-पालनादि अष्ट मूलगुणो मे इन अभिप्रायों की भलीभांति सिद्धि होने के कारण यहा उन्ही के अनुसार वर्णन किया जाता है।

(१) **मद्यपान-त्याग**—मद्य बनाने के लिए दाख छुआरे आदि पदार्थ कई दिनो तक सड़ाये जाते हैं। पीछे यन्त्र द्वारा उनसे शराब उतारी जाती है। वह महा दुर्गन्धित होती है। इसके बनने मे असख्यात अनन्त, त्रस स्थावर जीवो की हिंसा होती है। यह मद्य मन को मोहित करती है, जिससे धर्म-कर्म की सुध-बुध नही रहती तथा इसका सेवन करने से पच पापो मे नि:शंक प्रकृति होती है। इसी कारण मद्य को पांच पापों की जननी कहते हैं। मद्य पीने से मूर्च्छा, कम्पन, परिश्रम, पसीना, विपरीतपना, नेत्रो के लाल हो जाने आदि दोषों के सिवाय मानसिक एव शारीरिक शक्ति नष्ट हो जाती है। शराबी धनहीन और अविश्वास का पात्र हो जाता है। उसका शरीर प्रतिदिन अशक्त होता जाता है। अनेक रोग उसे घेरते है। आयु क्षीण होकर नाना प्रकार के कष्टो को भोगता हुआ वह मरता है। प्रत्यक्ष ही देखो। मद्यपी मद्य पीकर उन्मत्त होकर माता, पुत्री, बहिन आदि की सुधि भूलकर निर्लज्ज हुआ यद्वा-तद्वा बर्ताव करता है। इस प्रकार मद्यपी स्व-पर को दु:खदाई होता हुआ जितने कुछ ससार मे दुष्कर्म करता है, उससे कोई भी व्यसन बचा नहीं रहता। ऐसी दशा मे धर्म की शुद्धि तथा उसका सेवन होना सर्वथा असम्भव है। मद्य पीने वाला लोक मे निंद्य तथा दु:खी रहता है और मरने पर नरक को प्राप्त होकर अति तीव्र कष्ट भोगता है। वहां उसे संडासियों से मुंह फाड-फाड कर गर्म तांबा तथा सीसा पिलाया जाता है। इस प्रकार मद्य-पान को लोक-परलोक को बिगाडने वाला जानकर दूर से ही त्याग देना योग्य है। स्मरण रहे कि चरस, चड्, अफीम, गाजा, तम्बाकू, कोकेन आदि नशीली चीजें खाना या पीना भी मदिरा-पान के समान धर्म-कर्म नष्ट करने वाला है। अतएव मद्यत्यागी को इन सब का त्यागना ही योग्य है।

(२) **मांस-भक्षण त्याग**—मास त्रस जीवो के वध से उत्पन्न होता है। इसके स्पर्श, आकृति, नाम और दुर्गन्धि से चित्त मे महाग्लानि उत्पन्न होती है। यह जीवों के मूत्र, विष्ठा एव सप्त धातु उपधातु रूप महा अपवित्र पदार्थों का समूह है। मांस का पिण्ड चाहे सूखा हुआ हो चाहे पका हुआ हो, उसमे हर हालत मे त्रस जीवों की उत्पत्ति होती ही रहती है। मास-भक्षण के लोलुपी बिचारे, निरपराध, दीन-मूक पशुओ का वध करते हैं। मासभक्षियो का स्वभाव निर्दय व कठोर होने के कारण धर्म-धारण के योग्य नही रहता। मास-भक्षण के साथ-साथ मदिरापानादि व्यसन भी लग जाते हैं। मास-भक्षी इस लोक मे सामाजिक एवं धार्मिक पद्धति में निंद्य गिना जाता है। मरने पर नरक मे महान् दुस्सह दु:ख भोगता है। वहां लोहे के गर्म गोले, सडासियो से मुंह फाड-फाड़ कर खिलाये जाते हैं तथा दूसरे-दूसरे नारकी जीव, गृद्धादि मासभक्षी पशु-पक्षियो का रूप धारण करके इसके शरीर को नोचते हैं तथा नाना प्रकार के दु:ख देते हैं। अतएव मांस-भक्षण को अति निंद्य, दुर्गति एवं दु:खो का दाता जान कर सर्वथा ही त्यागना योग्य है।

(३) **मधु-भक्षण त्याग**—मधु अर्थात् शहद की मक्खियां नाना प्रकार के फूलो का रस चूस-चूस कर लाती हैं और उन्हें उगल कर अपने छत्ते मे एकत्र करती हैं। वे वही रहती हैं, उसी में सम्मूर्छन अण्डे उत्पन्न होते हैं। भील-गोंड आदि निर्दयी नीच जाति के मनुष्य उन छत्तो को तोड, मधु मक्खियो को नष्ट कर, उनके अण्डो-बच्चो को बची-खुची मक्खियों समेत निचोड़ कर इस मधु को तैयार करते हैं। यथार्थ मे यह त्रस जीवो के कलेवर (मांस) का पुज अथवा थूक है। इसमे समय-समय पर असंख्यात त्रस जीवों

की उत्पत्ति होती रहती है। इसके भक्षण करने का निषेध केवल जैन धर्म में ही नहीं, बल्कि अन्य मतों में भी किया गया है। मधु-भक्षण के पाप से नीच गति में गमन होता है तथा नाना प्रकार के दुःखों की प्राप्ति होती है। अतएव इसे सर्वथा त्याग देना योग्य है। जिस प्रकार ये तीन 'मकार' त्यागने योग्य हैं, उसी प्रकार मक्खन भी है। यह महाविकृत, मद को उत्पन्न करने वाला और घृणा रूप है। तैयार होने पर यद्यपि इसमें अन्तर्मुहूर्त के पीछे त्रस जीवों की उत्पत्ति होना शास्त्रों में कहा है, तथापि विकृत होने के कारण आचार्यों ने तीन मकार के समान इसे भी अभक्ष्य और सर्वथा त्यागने योग्य कहा है।

(४) **पंच उदुम्बर फल-भक्षण त्याग**—जो वृक्ष की काठ को फोड़कर फले, वे उदुम्बर कहलाते हैं। यथा (१) गूलर, ऊमर, (२) वट, बड़, (३) प्लक्ष या पाकर, (४) कठूमर या अंजीर, (५) पिप्पल या पीपल। इन फलों में हिलते, चलते-फिरते, उड़ते सैकड़ों जीव आंखों से दिखाई देते हैं। इनका भक्षण हिंसा का कारण और आत्म-परिणाम को मलिन करने वाला है। जिस प्रकार मांस-भक्षी के दया नहीं तथा मद्यपी के पवित्रता नहीं, उसी प्रकार पांच उदुम्बर फल खाने वाले के अहिंसा धर्म नहीं होता, अतएव इनका भक्षण तजने योग्य है। इनके सिवाय जिन वृक्षों से दूध निकलता हो, ऐसे क्षीण वृक्षों के फलों का अथवा जिनमें त्रस जीवों की उत्पत्ति होती हो, ऐसे सभी फलों का सूखी, गीली आदि सभी दशाओं में भक्षण सर्वथा त्याज्य है। उसी प्रकार सड़ा-घुना अनाज भी अभक्ष्य है क्योंकि इसमें भी त्रस जीव होने से मांस-भक्षण का दोष आता है।

(५) **रात्रि-भोजन त्याग**—दिन में भोजन करने की अपेक्षा रात्रि को भोजन करने में राग-भाव की उत्कटता, हिंसा और निर्दयता विशेष होती है। जिस प्रकार रात्रि को भोजन बनाने में असंख्यात जीवों की हिंसा होती है, उसी प्रकार रात्रि को भक्षण करने में भी असंख्यात जीवों की हिंसा होती है। इसी कारण शास्त्रों में रात्रिभोजियों की उपमा निशाचरों से दी है। यहां कोई शंका करे, कि रात्रि को दीपक के प्रकाश में भोजन किया जाय तो क्या दोष है? दीपक के प्रकाश के कारण दीपक पर पतंगादि सूक्ष्म तथा बड़े-बड़े कीड़े उड़ कर आते और भोजन में गिरते हैं। रात्रि-भोजन में अरोक (अनिवारित) महान् हिंसा होती है। रात्रि में अच्छी तरह न दिखने से हिंसा (पाप) के सिवाय शारीरिक नीरोगता में भी बड़ी हानि होती है। मक्खी खा जाने से वमन हो जाता है, कीड़े खा जाने से पेशाब में जलन होती है, केश-भक्षण से स्वर का नाश होता है, जूं खा जाने से जलोदर रोग हो जाता है, मकड़ी भक्षण से कोढ़ हो जाता है और विषभरा आदि भक्षण से तो आदमी मर तक जाता है।

धर्मसंग्रहश्रावकाचार में 'रात्रि भोजन प्रकरण' में स्पष्ट कहा है कि रात्रि में जब देवकर्म, स्नान, दान, होमकर्म नहीं किये जाते हैं (वर्जित हैं) तो फिर भोजन करना कैसे सम्भव हो सकता है? कदापि नहीं। वसुनन्दिश्रावकाचार में भी कहा है कि रात्रिभोजी किसी भी प्रतिमा का धारी नहीं हो सकता। इसी कारण यह रात्रि-भोजन उत्तम जाति, उत्तम धर्म, उत्तम कर्म को दूषित करने वाला, नीच गति को ले जाने वाला है, ऐसा जानकर सर्वथा त्यागने योग्य है।

(६) **देव-वन्दना**—वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी श्री अरहन्त देव के साक्षात् प्रतिबिम्बरूप सच्चे चित्त से अपना पूर्ण पुण्योदय समझकर पुलकित मन से आनन्दित होते हुए दर्शन करने, गुणों के चिंतवन करने तथा उनको आदर्श मानकर अपने स्वभाव विभावों का चिंतवन करने से सम्यक्त्व की उत्पत्ति हो सकती है। नित्य पूजन, दर्शन करने से सम्यक्त्व की निर्मलता, धर्म की श्रद्धा, चित्त की शुद्धता तथा धर्म में प्रीति बढ़ती है। इस देव-वंदना का अन्तिम फल मोक्ष है। अतएव मोक्षरूपी महानिधि को प्राप्त करने वाली यह देववंदना अर्थात् जिन-दर्शनपूजादि प्रत्येक धर्मेच्छु पुरुष को अपने कल्याण के निमित्त योग्यतानुसार नित्य नियमित रूप से करना चाहिये तथा शक्ति एवं योग्यता के अनुसार पूजन की सामग्री, एक द्रव्य अथवा अष्ट द्रव्य नित्य अपने घर से ले जाना चाहिये।

किसी-किसी ग्रन्थ में प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल इन तीनों समयों में देववंदना प्रतिपादित की गई है तो सन्ध्यावन्दन से कोई रात्रि-पूजन न समझ ले, क्योंकि रात्रि-पूजन का निषेध धर्मसंग्रहश्रावकाचार, वसुनन्दिश्रावकाचारादि ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से किया है तथा प्रत्यक्ष हिंसा का कारण भी है इसलिये सन्ध्या के पूर्वकाल में यथाशक्ति पूजन करना ही सन्ध्यावन्दन है। रात्रि को पूजन का आरम्भ करना अयोग्य और अहिंसामय जिन-धर्म के सर्वथा विरुद्ध है। अतएव रात्रि को केवल दर्शन करना ही योग्य है।

नोट—यह बात भी विशेष ध्यान रखने योग्य है कि मन्दिर में विनय-पूर्वक रहे, यद्वा-तद्वा उठना-बैठना, बोलना, चलना आदि कार्य न करें, क्योंकि शास्त्रों का वाक्य है—

अन्यस्थाने कृतं पापं, धर्मस्थाने विनश्यति।
धर्मस्थाने कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति॥

(७) **जीवदया पालन**—सदा सब प्राणी अपने-अपने प्राणों की रक्षा चाहते हैं। जिस प्रकार अपने प्राण अपने को प्रिय हैं उसी प्रकार एकेन्द्री से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी प्राणियों को अपने-अपने प्राण प्रिय हैं। जिस प्रकार हम जरा-सा भी कष्ट नहीं सह

चाहते, उसी प्रकार वृक्ष, लट, कीड़ी, मकोड़े, मक्खी, पशु, पक्षी मनुष्यादि कोई भी प्राणी दुःख भोगने की इच्छा नहीं करते और न सह सकते हैं। अतएव सब जीवों को अपने समान जानकर उनको जरा भी दुःख कभी मत दो, कष्ट मत पहुंचाओ, सदा उन पर दया करो। जो पुरुष दयावान् हैं, उनके पवित्र हृदय में ही पवित्र धर्म ठहर सकता है, निर्दयी पुरुष धर्म के पात्र नहीं। उनके हृदय में धर्म की उत्पत्ति अथवा स्थिति कदापि नही हो सकती। ऐसा जानकर सदा सर्व जीवों पर दया करना योग्य है। दया-पालक के झूठ, चोरी, कुशीलादि पंच पापों का त्याग सहज ही हो जाता है।

(८) जलगालन अनछने जल की एक बूद मे असंख्य छोटे-छोटे त्रस जीव होते हैं। अतएव जीवदया के पालन तथा अपनी शारीरिक आरोग्यता के निमित्त जल को दोहरे छन्ने से छानकर पीना योग्य है। छन्ने का कपड़ा स्वच्छ, सफेद, साफ़ और गाढ़ा हो। खुरदरा, छेददार, पतला, पुराना, मैला-फटा तथा ओढ़ा-पहिना हुआ कपड़ा छन्ने के योग्य नही है। पानी छानते समय छन्ने में गुड़ी न पड़े। छन्ने का प्रमाण सामान्य रीति से शास्त्रो मे ३६ अगुल लम्बा और २४ अगुल चौड़ा कहा है, जो दोहरा करने से २४ अंगुल लम्बा और १८ अंगुल चौड़ा होता है। छन्ने मे रहे हुए जीव अर्थात् जीवाणी (बिलछानी) रक्षापूर्वक उसी जलस्थान मे डाले जिसका पानी भरा हो। तालाब, बावड़ी, नदी आदि जिसमे पानी भरने वाला जल पहुंच सकता है, जीवाणी डालना सहज है। कुएं मे जीवाणी बहुधा ऊपर से डाल दी जाती है सो या तो वह कुएं मे दीवालो पर गिर जाती है अथवा कदाचित् पानी तक भी पहुंच जाय, तो उसमें के जीव इतने ऊपर से गिरने के कारण मर जाते हैं, जिससे जीवाणी डालने का अभिप्राय अहिंसा धर्म नहीं पल पाता। अतएव भंवरकड़ी डाल लोटे से कुएं के जल में जीवाणी पहुंचाना योग्य है।

पानी छानकर पीने से जीवदया पलने के सिवाय शरीर भी नीरोगी रहता है। वैद्य तथा डाक्टरो का भी यही मत है। अनछना पानी पीने से बहुधा मलेरिया ज्वर, नहरुवा आदि दुष्ट रोगों की उत्पत्ति होती है। इन उपर्युक्त हानि-लाभों का विचार कर हर एक बुद्धिमान पुरुष का कर्तव्य है कि शास्त्रोक्त रीति से जल छानकर पीवे। छानने के पीछे उसकी मर्यादा दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट तक होती है। इसके बाद जीव उत्पन्न हो जाने से वह जल फिर अनछने के समान हो जाता है।

इन अष्ट मूलगुणों में देव-दर्शन, जल-छानन और रात्रि-भोजन-त्याग ये ३ गुण तो ऐसे हैं जिनसे हरएक सज्जन पुरुष जैनियों के दया धर्म की तथा धर्मात्मापन की पहिचान कर सकता है। अतएव आत्महितेच्छु धर्मात्माओं को चाहिए कि जीव मात्र पर दया करते हुए प्रामाणिकतापूर्वक बर्ताव करके इस पवित्र धर्म की सर्व जीवो में प्रवृत्ति करें। इस प्रकार की सद्भावना करने से शीघ्र ही कर्मों का बन्धन नष्ट होकर अक्षय सुख की प्राप्ति होती है।

शुद्ध भोजन

मनुष्य जैसा भोजन करता है उसका वैसा ही प्रभाव उसके शरीर तथा मन पर पड़ता है। शुद्ध सात्विक भोजन करने वाले स्त्री-पुरुषों के मन मे बुरी नीच वासनाएं नहीं आने पातीं। इसी कारण यह एक लौकिक किंवदन्ती है—

जैसा खाओ अन्न, वैसा होवे मन।
जैसा पीओ पानी, वैसी होवे बानी॥

इस कारण मन मे अच्छे शुभ विचार लाने के लिये शुद्ध भोजन करना भी आवश्यक है। मास एक घृणित तामसिक पदार्थ है। अतः धार्मिक व्यक्ति मांस-भक्षण से सदा दूर रहते हैं किन्तु उन्हे मास-भक्षण-त्याग व्रत को निर्दोष रखने के लिये ऐसे पदार्थों को भी भोजन मे न लेना चाहिये जिनमे सूक्ष्म त्रस जीवो के उत्पन्न होने की सम्भावना हो। क्योकि त्रस जीवों का कलेवर ही तो मांस कहलाता है। अतः जिन पदार्थों मे नेत्रो से स्पष्ट दिखाई न दे सकने वाले भी कीटाणु उत्पन्न हो जावें उन पदार्थों के खाने से मांस-भक्षण का दोष लगता है। इस कारण नीचे लिखी वस्तुओ को आहार-पान मे न लेना चाहिये।

चर्म पात्र का निषेध

चमड़ा गाय, बैल, भैंस, बकरी, हरिण, ऊंट आदि पशुओं के शरीर से उतारा जाता है, अतः उस चमड़े से बने हुए कुप्पा, मशक आदि बर्तनों मे यदि पानी, तेल, घी आदि पदार्थ रक्खे जावें तो उनमे नमी तथा चिकनाई से सूक्ष्म त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इस कारण चमड़े में रक्खे हुए पानी, घी, तेल, हींग आदि पदार्थ न खाने चाहियें।

अन्न-शोधन

गेहूं, चना, जौ, उड़द, मूग आदि अनाजों तथा दालों में कुछ क्षार (क्षार तत्त्व) होता है। वह क्षार तत्त्व जब तक अनाजों में बना रहता है तब तक वे अनाज ठीक रहते हैं। उनमें जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति नहीं हो पाती। किन्तु जब उनका वह क्षार तत्त्व कम हो जाता है अथवा सारा नष्ट हो जाता है तब उनमें भीतर त्रस कीटाणु उत्पन्न होने लगते हैं, जिनको कि घुन कहते हैं।

चना, उड़द, मूग, मोठ मे जब घुन लगने वाला होता है तब पहले उन पर सफेद फुल्ली आ जाती है। यह सफेद फुल्ली ही इस बात का चिह्न है कि इस अन्न मे घुन लगना प्रारम्भ हो गया है।

अनाज या दालो को ठीक तरह से शोधा या बीना न जावे तो उनको पीसते समय या दलते समय अथवा उबालते समय उनके भीतर के घुन के सूक्ष्म कीटाणु भी पिस जाते हैं या उबल कर मर जाते हैं और भोजन करते समय उन जीवो का कलेवर खाने में आ जाता है। इस कारण बिना शोधा, बीना, फटका अनाज न पिसाना चाहिये, न दलना चाहिये और न उबालना चाहिये।

बिना शोधे हुए गेहू आदि अनाजो मे ककडियां भी रह जाती हैं जो कि अन्न के साथ पिस कर आटे में मिल जाती हैं। ऐसे आटे का भोजन करने से पथरी रोग होने की भी आशका रहती है। इस प्रकार के अनाज का भोजन भी शरीर के लिए हानिकारक होता है। अत. जीवदया की दृष्टि से तथा शरीर-रक्षा की दृष्टि से भी शोधा हुआ अन्न ही भोजन के लिये लेना चाहिये।

जलादि-शोधन

कच्चे पानी मे त्रस जीव उत्पन्न होते रहते हैं। उनमे से कुछ तो बिना छाने पानी मे स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं और कुछ बहुत सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं पडते। अतः पानी दोहरे कपडे से छान कर पीना चाहिये। किन्तु यह ध्यान रहे कि छाना हुआ जल दो घड़ी (४८ मिनट) तक ही ठीक रहता है, उसके बाद उसमे फिर जीव उत्पन्न होने लगते हैं। यदि उस छने हुए पानी मे लौंग, इलायची, इमली आदि कषायली वस्तु पीसकर मिला दी जाये, जिससे कि उसका स्वाद बदल जाये, तो उस जल मे ६ घटे तक त्रस जीव उत्पन्न नही होते।

छने हुए पानी को गर्म कर लिया जावे तो १२ घंटे तक उसमे जीव-उत्पत्ति नही होती और छने हुए पानी को उबाल लेने पर २४ घंटे तक उस जल मे त्रस जीव उत्पन्न नहीं हो पाते।

घी और तेल मे भी मक्खी-मच्छर आदि जीव-जन्तु गिर पडते हैं। कभी-कभी चूहे भी तेल-घी के पीपे में गिर कर मर जाते हैं। अतः घी और तेल भी कपडे से छानकर खाने-पीने के काम में लेने चाहिये जिसमें मास के दोष से बचा जा सके तथा शरीर को भी हानि न पहुचे। दूध, शर्बत, ईख का रस, फलो का रस आदि पेय पदार्थ भी कपडे से छानकर ही पीने चाहियें।

पाक विधि

शुद्ध भोजन तैयार करने के लिये जहा अनाज, आटा, दाल, जल, घी, तेल की शुद्धता का ध्यान रक्खा जावे वहां भोजन बनाने की निर्दोष विधि का भी विचार रखना आवश्यक है। इसके लिये रसोई बनाने के स्थान पर एक तो छत मे चादर तनी रहनी चाहिये जिससे मकड़ी, छिपकली, छत की मिट्टी आदि भोज्य पदार्थों मे न गिरने पावे। छतों तथा पक्की दीवालो पर भी मकड़ी के जाले आदि न लगने पावें इसका भी ध्यान रखना चाहिये।

रसोईघर मे पर्याप्त प्रकाश होना चाहिये जिससे शाक, रोटी आदि बनाते समय दाल, आटा, शाक मे आकर गिरा हुआ जीव-जन्तु, बाल आदि साफ़ दिखाई दे सके। सूर्य-उदय से कम-से-कम दो घडी पीछे और सूर्य-अस्त से घड़ी पहले तक के दिन के समय में भोजन बनाना चाहिये। रात्रि के समय मे भोजन तैयार न करना चाहिये।

रसोईघर साफ़-सुथरा होना चाहिये, न वहां कूड़ा-कर्कट हो, न कीचड़ हो, न और कोई चीजें बिखरी हुई हो। रसोईघर मे मक्खियां न आने पावें, चीटिया न एकत्र हो सकें, पानी बिखरा हुआ न हो, बर्तन ठीक तरह से मंजे हुए साफ़-सुथरे यथास्थान रक्खे हुए हों, खिडकियो पर बारीक तार की जाली लगी हुई हो, रोशनदानों मे साफ़ शीशे लगे हों। धुआ रसोईघर से बाहर ठीक निकलता हो। रसोईघर से पानी निकालने की नाली ठीक हो जिससे रसोईघर मे दुर्गन्ध न होने पावे। इन सब बातों का ध्यान रखना चाहिये।

रसोइया

ऊपर लिखी बातो के अतिरिक्त भोजन बनाने वाली स्त्री या पुरुष की शुद्धता का भी ध्यान रखना चाहिये। स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनने के बाद ही रसोईघर मे जाकर भोजन बनाना चाहिये। रसोई बनाने के लिये यदि कोई व्यक्ति रक्खा जावे तो जहां तक हो सके वह साधर्मी हो जिससे कि ठीक विधि से रसोई बनाना वह जानता हो क्योंकि जो लोग स्वयं पानी छानकर पीते हैं तथा जीव दया का पूर्ण ध्यान रखते हैं उनके हाथ से बने हुए भोजन में शुद्धता अनायास आवेगी ही। जो स्त्री-पुरुष साधर्मी नही हैं उनको छने हुए जल आदि का कुलाचार के अनुसार विचार नही होता। अतः उनका बनाया हुआ भोजन उतना शुद्ध नही बनता।

· रसोई बनाने वाला व्यक्ति स्वस्थ भी होना चाहिये। किसी भी प्रकार के रोगग्रस्त व्यक्ति से भोजन कभी नहीं बनवाना चाहिये। भोजन बनाने वाले व्यक्ति में माता के समान उदार प्रेम होना चाहिये। माता स्वयं भूखी रहकर अथवा बचा-खुचा अल्प आहार करके भी पुत्र को प्रेम से पर्याप्त अच्छे-से-अच्छा भोजन कराकर प्रसन्न एवं सन्तुष्ट रहती है। ऐसी ही भावना भोजन बनाने वाले स्त्री-पुरुष में होनी चाहिये। रसोइया भोजन बनाते हुए यों विचारा करता है कि भोजन करने वाले व्यक्ति जितने थोड़े हों उतना ही अच्छा, जिससे मुझे भोजन थोड़ा बनाना पड़े। अच्छा स्वादिष्ट भोजन मेरे लिये अधिक बच जावे, ऐसे विचारों के कारण वह परोसते हुए भी कंजूसी करता है। ऐसी दुर्भावना वाले व्यक्ति के हाथ का बना हुआ भोजन कभी न करना चाहिये।

खाद्य-मर्यादा

भोज्य पदार्थ भी सदा खाने योग्य नहीं बने रहते। कुछ समय पीछे उनमे विकृति आ जाती है। विकृत भोजन करने से जीव-हिंसा होती है तथा शरीर में अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। अतः जिस पदार्थ की जितनी मर्यादा हो उस पदार्थ को उतने ही समय के भीतर खा लेना चाहिये। खाद्य पदार्थों की मर्यादा नीचे लिखे अनुसार है—

आटा शीत ऋतु मे ७ दिन तक ठीक रहता है। गर्मी के दिनो मे ५ दिन तक और वर्षा ऋतु मे तीन दिन तक ठीक रहता है।

रोटी, दाल, खिचड़ी, कढ़ी, चावल (भात) की मर्यादा छह घंटे की है।

जिन पदार्थों में पानी का अंश कम हो किन्तु घी, तेल मे तले गये हों उनकी मर्यादा ८ पहर (२४ घंटे) की है। जैसे— बून्दी, लड्डू, घेवर, बाबर, मर्मरी।

जिन चीजों मे जल का अंश अधिक होता है ऐसी तली हुई वस्तुए ४ पहर (१२ घंटे) तक खाने योग्य रहती हैं। जैसे—पूड़ी, पुआ, भुजिया, पकौड़ी आदि।

जिन चीजों मे पानी न पड़ा हो ऐसे पदार्थों को खाने की मर्यादा आटे के बराबर है। जैसे—घी, खांड, आटे, बेसन का बना हुआ मगद लड्डू (जाड़े के दिनों में ७ दिन तक, गर्मी मे ५ दिन तक और सर्दी मे ३ दिन तक)।

कच्चा दूध अन्तर्मुहूर्त्त (४५ मिनट) के भीतर पी लेना चाहिये। औटा हुआ दूध २४ घटे तक पीने योग्य रहता है।

औटे हुए दूध मे जामन देकर जमाये हुए दही की मर्यादा जामन देन से ८ पहर (२४ घंटे) तक की है। गर्म जल डालकर तैयार की गई दही की छाछ की मर्यादा ४ पहर की है। कच्चे पानी को डालकर तैयार की गई छाछ की मर्यादा २ घड़ी (४८ मिनट) की है।

इसके सिवाय यदि किसी पदार्थ का स्वाद बदल जाए और रंग बदल जाए या उसमे गन्ध आने लगे अथवा जाला पड़ जाए तो उन पदार्थों को बिगड़ा हुआ समझकर कदापि ग्रहण न करना चाहिये क्योंकि ये बातें इसका प्रमाण या चिह्न हैं कि वह खाद्य पदार्थ बिगड़ गया है। उसमें छोटे कीटाणु उत्पन्न होने लगे हैं, उस चीज मे विकार आ गया है।

जो भोजन किया जावे वह न अधिक पका हुआ यानी जला हुआ हो, न वह कच्चा ही हो, ठीक पका हुआ हो। क्योंकि कच्ची या जली हुई रोटी आदि खाने से शारीरिक स्वास्थ्य को बहुत हानि पहुचती है।

इसके साथ ही भोजन नियत समय पर ही दिन के अच्छे प्रकाश मे कर लेना चाहिये। जो व्यक्ति अनियत समय पर भोजन करते हैं, किसी दिन जल्दी और किसी दिन बहुत देर से भोजन करते हैं, उनकी पाचनशक्ति ठीक नही रहती, न उनके धार्मिक तथा व्यावहारिक दैनिक कार्य ठीक तरह हो पाते हैं।

भोजन करने के स्थान पर अच्छा प्रकाश होना चाहिये जिससे खाने की वस्तुओं में पड़ा हुआ बाल या चींटी आदि जीव-जन्तु स्पष्ट दिखाई पड़ सकें और उन्हें निकाला जा सके।

भोजन प्रसन्नचित्त होकर करना चाहिये। क्रोध, शोक, क्षोभ, उद्वेग, व्याकुलता की दशा में भोजन करना उचित नहीं।

अच्छी भूख लगने पर ही भोजन करना चाहिये। यदि भूख न हो तो अमृत समान भोजन भी दुःखदायक होता है। भोजन सदा भूख से कम करना चाहिये। आधा उदर (पेट) भोजन से पूर्ण करे और चौथाई भाग पानी से भरना चाहिए तथा एक चौथाई भाग पेट खाली रखना चाहिये। ४० वर्ष की आयु के पश्चात् कम-से-कम एक तिहाई भोजन की मात्रा कम कर देनी चाहिये।

इस तरह जो स्त्री-पुरुष शुद्ध भोजन ठीक समय पर ठीक मात्रा में करते रहते हैं, वे जीव-रक्षा के साथ-साथ अपने शारीरिक स्वास्थ्य की भी रक्षा किया करते हैं।

रात्रि-भोजन

जीवन के लिए भोजन आवश्यक है। बिना भोजन किये मनुष्य का दुर्बल जीवन टिक नहीं सकता। आखिर मनुष्य अन्न का कीड़ा ही तो ठहरा। परन्तु भोजन करने की भी सीमा है। जीवन के लिए भोजन है न कि भोजन के लिए जीवन। खेद की बात है कि आज के युग में भोजन के लिए जीवन बन गया है। आज का मनुष्य भोजन पर मरता है। खाने-पीने के सम्बन्ध मे सब प्राचीन नियम प्रायः भुला दिये गये हैं। जो कुछ भी अच्छा-बुरा सामने आता है, मनुष्य चट करना चाहता है। न मांस से घृणा है, न मद्य से परहेज। न भक्ष्य का पता है, न अभक्ष्य का निषेध। धर्म की बात तो जाने दीजिए, आज तो भोजन के फेर मे पड़कर अपने स्वास्थ्य का भी ध्यान नही रक्खा जा रहा है।

आज का मनुष्य प्रातःकाल बिस्तर से उठते ही खाने लगता है और दिनभर पशुओ की तरह चरता रहता है। घर मे खाता है, मित्रों के यहाँ खाता है, बाजार मे खाता है। और तो क्या, दिन छिपते खाता है, रात को खाता है, और बिस्तर पर सोते-सोते भी दूध का गिलास पेट में उडेल लेता है। पेट है या कुछ और! दिन-रात इस गड्ढे की भरती होती रहती है, फिर भी सन्तोष नहीं।

भारत के प्राचीन शास्त्रकारो ने भोजन के सम्बन्ध मे बड़े ही सुन्दर नियमों का विधान किया है। भोजन मे शुद्धता, पवित्रता, स्वच्छता और स्वास्थ्य का ध्यान रखना चाहिए, स्वाद का नही। मांस और शराब आदि अभक्ष्य पदार्थों से सर्वथा घृणा रखनी चाहिए। शुद्ध भोजन भी भूख लगने पर ही खाना चाहिए। भूख के बिना भोजन का एक कौर भी पेट मे डालना पापमय अन्न का भक्षण करना है। भूख लगने पर भी दिन में दो-तीन बार से अधिक भोजन नही करना चाहिए, और रात में भोजन करना तो कभी भी उचित नहीं है।

जैन धर्म मे रात्रि-भोजन के निषेध पर बहुत बल दिया गया है। प्राचीन काल मे तो रात्रि-भोजन न करना जैनत्व की पहचान के लिये आवश्यक था। बात है भी ठीक। वह जैन कैसा, जो रात्रि मे भोजन करे? रात्रि मे भोजन करने से जैन धर्म ने हिंसा का दोष बतलाया है।

बहुत-से इस प्रकार के छोटे और सूक्ष्म जीव होते हैं, जो दिन मे सूर्य के प्रकाश मे तो दृष्टि मे आ सकते हैं, परन्तु रात्रि मे तो वे कथमपि दृष्टिगोचर नही हो सकते। रात्रि मे मनुष्य की *आँखें* निस्तेज हो जाती हैं। अतएव वे सूक्ष्म जीव भोजन में गिरकर जब दाँतो के नीचे पिस जाते हैं और अन्दर पेट मे पहुंच जाते हैं तो बडा ही अनर्थ करते हैं। जिस मनुष्य ने मांसाहार का त्याग किया है, वह कभी-कभी इस प्रकार मांसाहार के दोष से दूषित हो जाता है। बिचारे जीवो की व्यर्थ ही अज्ञानता से हिंसा होती है और अपना नियम भंग होता है। कितनी अधिक विचारने की बात है।

आज के युग मे कुछ मनचले लोग तर्क किया करते हैं कि रात्रि मे भोजन करने का निषेध सूक्ष्म जीवो को न देख सकने के कारण ही किया जाता है न? अगर हम दीपक आदि जला ले और प्रकाश कर लें, फिर तो कोई हानि नही? उत्तर मे कहना है कि दीपक आदि के द्वारा हिंसा से नही बचा जा सकता। दीपक, बिजली और चन्द्रमा आदि का प्रकाश चाहे कितना ही क्यों न हो, परन्तु यह सूर्य के प्रकाश जैसा सार्वत्रिक, अखण्ड, उज्ज्वल और आरोग्यप्रद नही है। जीव-रक्षा और स्वास्थ्य की दृष्टि से सूर्य का प्रकाश ही सबसे अधिक उपयोगी है। कभी-कभी तो यह देखा गया है कि दीपक आदि का प्रकाश होने पर आस-पास के जीव-जन्तु और अधिक सिमिट कर आ जाते हैं। फलतः भोजन करते समय उनसे बचना बड़ा ही कठिन कार्य हो जाता है।

त्याग-धर्म का मूल सन्तोष मे है। इस दृष्टि से भी दिन की अन्य सभी प्रवृत्तियों के साथ भोजन की प्रवृत्ति को भी समाप्त कर देना चाहिए तथा सन्तोष के साथ रात्रि मे पेट को पूर्ण विश्राम देना चाहिए। ऐसा करने से भली-भांति निद्रा आती है, ब्रह्मचर्य-पालन में भी सहायता मिलती है और सब प्रकार से आरोग्य की वृद्धि होती है। जैन धर्म का यह नियम पूर्णतया आध्यात्मिक और वैज्ञानिक दृष्टि को लिए हुए है। शरीर शास्त्र के ज्ञाता लोग भी रात्रि-भोजन को बल, बुद्धि, आयु का नाश करने वाला बतलाते हैं। रात्रि मे हृदय और नाभिकमल सकुचित हो जाते हैं, अत भोजन का परिपाक अच्छी तरह नही हो पाता।

धर्म शास्त्र और वैद्यक शास्त्र की गहराई मे न जाकर यदि हम साधारण तौर पर होने वाली रात्रि-भोजन की हानियों को देखें, तब भी यह सर्वथा अनुचित ठहरता है। भोजन मे कीडी (चिउटी) खाने में आ जाय तो बुद्धि का नाश होता है, जू खाई जाय तो जलोदर नामक भयंकर रोग हो जाता है, मक्खी चली जाय तो वमन हो जाता है, छिपकली चली जाय तो कोढ़ हो जाता है, शाक आदि मे मिलकर बिच्छू पेट मे चला जाय तो वेध डालता है, बाल गले मे चिपक जाय तो स्वर-भंग हो जाता है, इत्यादि अनेक दोष रात्रि-भोजन मे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। रात्रि का भोजन अन्धो का भोजन है। एक-दो नहीं, हजारो ही दुर्घटनाएं देश में रात्रि भोजन के कारण होती है। सैकड़ो लोग अपने जीवन तक से हाथ धो बैठते हैं।

अतः रात्रि-भोजन सब प्रकार से त्याज्य है। जैन धर्म में तो इसका बहुत ही प्रबल निषेध किया गया है। अन्य धर्मों में भी इसे आदर की दृष्टि से नहीं देखा गया। कूर्म पुराण आदि वैदिक पुराणों में भी रात्रि-भोजन का निषेध है। आज के युग के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष महात्मा गांधी भी रात्रि-भोजन को अच्छा नहीं समझते थे। लगभग ४० वर्ष की आयु से जीवन पर्यन्त रात्रि-भोजन के त्याग के व्रत को गांधी जी बड़ी दृढ़ता से पालन करते रहे। यूरोप में गये तब भी उन्होंने रात्रि-भोजन नहीं किया। अतः प्रत्येक जैन का कर्तव्य है कि वह रात्रि-भोजन का त्याग करे, न रात्रि में भोजन बनाए और न खाए।

दैनिक नियम

संसार के प्रायः समस्त प्राणी इन्द्रियों के दास बने हुए हैं। जो उद्योगपति अपने आपको अपनी मिल के हजारो मजदूरों का स्वामी समझते हैं और जो पूंजीपति अपने आपको यह मानते हैं कि मैं किसी का चाकर नही हूं, अपनी इच्छा का स्वतन्त्र सर्वतन्त्र स्वामी हूं, एवं जो सर्वोच्च राज-अधिकारी (वे चाहे सम्राट् हों या राष्ट्रपति हो) अपने आपको सब का संचालक नेता मानते हैं वास्तव में देखा जाए तो उन सब की मान्यता असत्य है क्योंकि वे भी एक दरिद्र मजदूर की तरह स्वतन्त्र नही हैं। उन्हे भी अपनी इन्द्रियो की गुलामी करनी पड़ती है। इन्द्रियो की प्रेरणा जैसी उनको मिलती है, उनको उसी तरह कार्य करना पड़ता है।

घोड़े से सम्पर्क रखने वाले मनुष्य संसार मे दो प्रकार के होते हैं—१-रईस, २-साईस। साईस तो घोड़े की सेवा मे लगा रहता है, घोड़े को घास खिलाता है, पानी पिलाता है, उसकी मालिश करता है, उसे स्नान कराता है, उसकी लीद उठा कर साफ करता है, घोड़े का स्वामी जब कहता है तब घोड़े पर जीन कस देता है, इत्यादि घोड़े के सभी सेवा कार्य वह करता है। परन्तु उस पर सवारी करने का अधिकार उसको नही होता। वह कभी घोडे पर सवारी नही करता। घोड़े पर सवारी का सौभाग्य रईस को होता है। वह कभी घोड़े की सेवा नहीं करता किन्तु अपनी इच्छानुसार उस पर सवार होकर उसको चलाता है।

इसी तरह जो स्त्री-पुरुष इन्द्रियो के दास होते हैं उन्हे अपना जीवन इन्द्रियो की सेवा व गुलामी मे बिताना पडता है। वे अपने आत्मकल्याण के लिये अपनी इच्छानुसार उन इन्द्रियों पर नियन्त्रण नही रख सकते। उन्हे इच्छा पूर्ण करने के लिये इन्द्रियों के संकेत पर चलना पड़ता है। परन्तु, व्रती त्यागी पुरुष इन्द्रियों पर नियन्त्रण करके उन पर शासन करते हैं। इन्द्रियां उनकी दासी बनी रहती हैं। उनके व्रत, तप, संयम में बाधा नहीं करतीं, सहायक बनी रहती हैं।[1] यदि व्रती त्यागी मुनि भी इन्द्रियो के दास बने रहते तो वे न तो महान् उपसर्ग और परीषहों पर विजय प्राप्त कर पाते और न अनादिकालीन कर्म-बन्धन को छिन्न-भिन्न करके संसार से मुक्त हो पाते।

अतः प्रत्येक स्त्री-पुरुष का कर्तव्य है कि वह आत्म-शुद्धि के लिए इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करे। कदाचित् गृहस्थाश्रम की बेड़ी तोड़ कर वह स्वतन्त्र मुनि-जीवन मे नही आ सकता तो उसे इन्द्रियों पर आंशिक विजय प्राप्त करने का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। उस अभ्यास के लिये जिनवाणी में हमारे पूर्वाचार्यों ने कुछ नियमों का निर्देश किया है। समस्त विषयो के प्रसिद्ध उद्भट विद्वान् आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में लिखा है—

भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु ।
ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसङ्गीतगीतेषु ॥ ८८ ॥
अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्तुरयनं वा ।
इति कालपरिच्छित्त्याप्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥ ८९ ॥

आज, दिन, रात, सप्ताह (सात दिन), पक्ष (१५ दिन), मास, ऋतु (दो महीना या ४ महीना), अयन (६ महीना), वर्ष आदि समय की मर्यादा रख कर भोजन-पान, वाहन(सवारी), शयन (सोना), स्नान, लेप,फूल, ताम्बूल, वस्त्र, आभूषण, कामसेवन, गायन, वादन का नियम करके शेष विषयों का त्याग करना चाहिये। जैसे—

१. आज मैं इतनी बार भोजन करूंगा। इतने से अधिक बार न खाऊंगा। भोजन में अमुक-अमुक रस (घी, तेल, दूध, दही, खांड, नमक ये छह रस हैं) ग्रहण करूंगा। अमुक-अमुक व्यञ्जन (मिठाई आदि) खाऊंगा। अमुक-अमुक खाद्य (रोटी, परांवठा, पूड़ी, भात, दाल, शाक आदि) भोजन में लूंगा, और कुछ नही लूंगा।

---

१. "गर्मी, सर्दी, भूख, प्यास, मच्छर आदि की बाधाएं आने पर आर्त परिणामों का न होना अथवा ध्यान से न डिगना परीषह-जय है।"
—जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग ३—क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, पृ० ३६

२. मैं आज आम, अंगूर, अनार, सेब, अमरूद, नारियल आदि सचित्त फलों तथा किशमिश, बादाम, छुआरा, पिस्ता, अखरोट, चिलगोजा, काजू आदि सूखे फलो मे से अमुक फल खाऊंगा, शेष नही।

३. आज मैं जल इतनी बार पीऊगा। दूध, सिकंजबीन, शर्बत, जीरे का पानी, गन्ने का रस आदि पेय पदार्थों में अमुक पदार्थ पीऊंगा, इनके सिवाय और कोई चीज नही पीऊगा।

४. आज मैं घोडा, हाथी, ऊट, बैलगाडी, तागा, रिक्शा, मोटर, ट्राम, रेलगाडी, हवाई जहाज आदि सवारियों में से अमुक सवारी काम मे लूगा, उसके सिवाय अन्य किसी पर सवारी न करूगा।

५. मैं आज खाट, तख्त, पलग, जमीन मे से अमुक चीज पर सोऊंगा।

६. मैं आज कुर्सी, चौकी, मूढा, सोफा आदि आसनो मे से अमुक आसन पर बैठूगा।

७. मैं आज इतनी बार ठडे या गरम जल से स्नान करूंगा।

८. मैं आज चन्दन, केसर, मिट्टी आदि मे से अमुक वस्तु का इतनी बार शरीर पर लेप करूंगा।

९ मैं आज गुलाब, चमेली, चम्पा, गेंदा, बेला, कमल आदि के फूलों में से अमुक-अमुक फूल का हार या माला पहनूंगा या सूंघने, गुलदस्ता बनाने आदि मे अमुक फूलो को काम में लूगा।

१०. मैं आज पान, सुपारी, इलायची, लोग, सोफ आदि मे से अमुक-अमुक वस्तु इतनी बार ही खाऊंगा, और नहीं लूंगा।

११. मैं आज कुर्ता, कमीज, बनियान, धोती, पगडी, साफा, टोपी, अङ्गरखा, कोट, पाजामा, पैन्ट, नेकर आदि में से अमुक कपड़ा पहनूगा, और नही पहनूगा।

१२. मैं आज हार, जजीर, अगूठी, चैन, अनत, करधनी, कडे आदि आभूषणों में से अमुक-अमुक आभूषण पहनूगा, उसके सिवाय और नही पहनूंगा।

१३. मैं आज ब्रह्मचर्य से रहूगा, या मैं आज इतनी बार ही कामसेवन (मैथुन) करूंगा।

१४. मैं आज इतनी बार गाना गाऊगा, या गाना इतनी बार सुनूगा।

१५. मैं आज सितार, तबला, बासुरी, हारमोनियम, बेला आदि बाजो में से अमुक-अमुक बाजों को बजाऊंगा, या अमुक बाजे की ध्वनि सुनूंगा।

१६ मैं आज नर्तकी, नर्तक, नट, नटी आदि मे से अमुक कलाकार की कला देखूगा, अन्य की नही।

१७. मैं आज नाटक, चलचित्र, खेल, तमाशे, दौड आदि मे से अमुक-अमुक देखूगा या कोई भी नहीं देखूगा।

इन ऊपर लिखी बातों का नियम रात, दिन, घटे, सप्ताह, पखवाड़ा, महीना, ऋतु, अयन आदि समय की मर्यादा करके भी किया जाता है।

ऐसे नियम करते रहने से इन्द्रियो को अपने वश मे करते रहने का अभ्यास होता जाता है, क्योंकि इन्द्रियां संसार के सभी इष्ट विषयो की ओर बे-लगाम होकर दौड़ती रहती हैं। जिस सुन्दर वस्तु को अपने सामने पाती हैं उनको ही ग्रहण करने के लिये तैयार हो जाती हैं। यदि पदार्थों का नियम करके उन इन्द्रियो पर लगाम लगा दी जाती है तो नियमित वस्तुओं के सिवाय अन्य वस्तुओं की लालसा उत्पन्न नही होने पाती और इन्द्रिया उनकी ओर नही दौड़ने पाती। इस तरह जिस इन्द्रिय-सयम को बहुत कठिन समझा जाता है उस इन्द्रिय संयम का सरलता से आचरण हो जाता है। इन्द्रिय-संयम होते ही प्राणी-संयम तो हो ही जाता है।

उपर्युक्त नियमो के साथ-साथ नीचे लिखी बातो का भी प्रतिदिन नियम करते रहना उपयोगी है—

१. मनोरंजन या समय बिताने के लिये ताश, चोपड आदि खेलना, तोता-मैना की कथायें, आल्हा की कथायें, श्रृंगार रस की कथा उपन्यास आदि पढना।

२. अश्लील हँसी, मजाक, दिल्लगी करना।

३. किसी की अनुकृति यानी नकल करके मजाक उड़ाना।

४. किसी का अपवाद (बदनामी) करना, बुराई करना, चुगली खाना, गाली देना।

५. झूठी साक्षी (गवाही) देना।

६. क्रोध करना, मारना, पीटना आदि।

७. असत्य भाषण, धोखा देना, विश्वासघात करना।

८. अन्य व्यक्ति के अधिकार को छीनना।

९. अन्य का अहित यानी जानबूझ कर दूसरे का बुरा करना।

इन नौ बातों का तथा इनसे मिलती-जुलती अन्य बातों के न करने का भी नियम करते रहना चाहिये जिससे कि मन की शुद्धि होती रहे, व्यर्थ में पापबन्ध न होने पाए, और सद्‌गुणो का अभ्यास होता जाए।

निम्नलिखित बातो का यम रूप से (जन्म भर के लिये) त्याग करना चाहिये—

१. परस्त्री शरीर स्पर्श का त्याग, अपनी विवाहित स्त्री के सिवाय अन्य समस्त स्त्रियों के शरीर को छूने का त्याग। इसमें अपनी माता, दादी, नानी आदि बडी-बूढ़ी स्त्रियो तथा ७-८ वर्ष तक की बच्चियो को छूने की छूट है।

स्त्रियों की अपेक्षा से 'पर पुरुष स्पर्श त्याग' है यानी अपने पति के सिवाय अन्य पुरुष के शरीर को छूने का त्याग। इसमें पिता, बाबा, नाना आदि बड़े-बूढ़े पुरुषो तथा ५-६ वर्ष तक के बच्चो तथा छोटी अवस्था के पुत्र-पौत्र आदि को छूने की छूट है।

२. भंग, चरस, तम्बाखू, सिगरेट, बीडी, गाँजा, अफीम आदि नशीली वस्तुओ का त्याग।

३. द्यूत का त्याग—जुआ खेलना, सट्टा-फाटका के व्यापार का त्याग करना।

४. अभक्ष्य-भक्षण त्याग—शराब, मांस, शहद सर्वथा त्याग करना चाहिये तथा प्याज, लहसुन का भक्षण भी न करना चाहिये। अन्य कन्द-मूल आदि पदार्थों के त्याग का प्रयत्न करना चाहिये। विवाह का भोजन, प्रीतिभोज, धर्म-उत्सवो के जीमनवार, पंचायती जीमनवार आदि सामूहिक भोजन में आलू, गोभी, गाजर आदि कन्दमूल का शाक न बनाना चाहिये।

५. रात्रि-भोजन त्याग—जहा तक हो सके रात्रि मे सब तरह के भोजन-पान करने का त्याग करना श्रेष्ठ है। यदि इतना न हो सके तो औषधि आदि के रूप मे जल पीना रख लेवे, इतना भी न निभ सके तो जल और दूध की छूट ले लेवे। इतने से भी निर्वाह न होता दीखे तो आवश्यकता के समय फल-मेवा आदि के सिवाय कुछ न ले। रात्रि मे अन्न के बने हुए भोजन का त्याग तो प्रत्येक जैन स्त्री-पुरुष को अवश्य करना चाहिये। रात्रि के समय जीमनवार करना सर्वथा त्याज्य है।

६. चर्म का त्याग—उत्तम तो यही है कि प्रत्येक तरह के चमडे के बने जूते पहनने का त्याग करके या तो नंगे पैर रहा जाए अथवा कपड़े, रबड के बने हुए जूतों का उपयोग हो। कदाचित् कोई इतना भी त्याग न कर सके तो जो कसाई लोग जीवित गाय, बछड़े आदि जानवरों को बडी वेदना देकर उनके शरीर से चमडा उतारते हैं अथवा गाय, भेड, बकरी आदि के बच्चो को दवा खिलाकर गर्भ में से निकाल कर उन बच्चो के शरीर से जो चमड़ा उतारा जाता है उस काफलैदर, क्रोम लैदर, चमकीले, भटकीले हिरन, बाघ आदि के चमड़ों से बने हुए जूतों के पहनने का त्याग अवश्य कर देना चाहिये।

७. चर्म वस्तु का त्याग—जूते के सिवाय अन्य सब चमडे की वस्तुओं (कमर पेटी, हैण्डबैग आदि) के व्यवहार का त्याग कर देना चाहिये, जिससे पशु-हिंसा के पाप से बचा जा सके। इसमे रेल, मोटर, जहाज आदि की सीटो पर लगे हुए चमड़े पर बैठने की छूट दी जा सकती है।

धार्मिक जैन को ऊपर लिखे ७ प्रकार के त्याग को अवश्य क्रियात्मक रूप देना चाहिये, जिससे अनेक पाप-बन्ध और निन्दनीय कामो से बचाव हो सके।

प्रतिज्ञापूर्वक थोडा-सा त्याग भी आत्मा के उत्थान में बहुत-कुछ सहायक हो जाता है। इसके लिये एक प्राचीन प्रसिद्ध घटना अच्छा उदाहरण रखती है।

एक बार एक मुनिराज का प्रभावशाली उपदेश सुनकर उपस्थित स्त्री पुरुषों ने अनेक प्रकार के व्रत-नियम लिये। सबसे अंत में एक भील भी मुनि महाराज के पास आया और उसने भी कोई व्रत लेने की इच्छा प्रकट की। मुनि महाराज ने कहा कि भाई! तू शिकार खेलना छोड दे। भील ने कहा कि महाराज जंगल मे रहकर परिवार का पालन-पोषण किस तरह करूंगा? तब मुनि श्री ने कहा तो अच्छा तू मांस खाना छोड दे। भील ने उत्तर दिया कि यह भी नहीं कर सकता। तब मुनि बोले किसी जीव का मांस खाना तो छोड दे। भील ने सोच-विचार कर कहा कि महाराज! कौए का मास छोड सकता हू। मुनि महाराज ने उसको धर्मवृद्धि का आशीर्वाद देते हुए कहा कि अच्छा कौए का मास खाना ही छोड दे। भील ने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

एक बार भील बहुत बीमार पड गया। तब एक वैद्य ने भील को कौए का मांस खाना बतलाया। भील अपने त्याग पर दृढ़ रहा। उसने कौए का मास खाना स्वीकार न किया। वैद्य की सम्मति मे उसके रोग की और औषधि न थी। भील ने मुनि से ली हुई प्रतिज्ञा का पालन किया और शान्ति तथा सन्तोष के साथ प्राण त्याग किया। वह मर कर एक यक्षदेव हुआ।

जैन संस्कृति की संसार को जो सबसे बड़ी देन है, वह अहिंसा है। अहिंसा का वह महान् विचार, जो आज विश्व की शान्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है और जिसकी अमोघ शक्ति के सम्मुख ससार की समस्त संहारक शक्तियां कुण्ठित होती दिखाई देने लगी हैं, एक दिन जैन सस्कृति के महान् उन्नायको द्वारा ही हिंसा-काण्ड मे लगे हुए संसार के सामने रक्खा गया था।

जैन सस्कृति का महान् सन्देश है कि कोई भी मनुष्य समाज से सर्वथा पृथक् रह कर अपना अस्तित्व कायम नही रख सकता। समाज में घुल-मिल कर ही वह अपने जीवन का आनन्द उठा सकता है। जब यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता, तब यह आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार बनाए, विशाल बनाए और जिन लोगो से खुद को काम लेना है या जिनको देना है, उनके हृदय मे अपनी ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करे। जब तक मनुष्य समाज मे अपनेपन का भाव न पैदा करेगा, अर्थात् दूसरे उसको अपना आदमी नहीं समझेंगे और वह भी दूसरो को अपना आदमी न समझेगा तब तक समाज का कल्याण नही हो सकता। एक बार नहीं हजार बार कहा जा सकता है कि नही हो सकता, एक दूसरे का आपस मे अविश्वास ही तबाही का कारण बना हुआ है।

संसार मे जो चारों ओर दुःखों का हाहाकार है, प्रकृति की ओर से मिलने वाला वह तो मामूली-सा ही है। यदि अधिक अन्तर्निरीक्षण किया जाय तो प्रकृति दु ख की अपेक्षा हमारे सुख मे ही अधिक सहायक है। वास्तव मे जो कुछ भी ऊपर का दुःख है, वह मनुष्य के द्वारा ही लाया हुआ है। यदि हर एक व्यक्ति अपनी ओर से दूसरों पर किए जाने वाले दुःखों को हटा ले तो यह ससार आज ही नरक से स्वर्ग में बदल सकता है।

जैन संस्कृति के महान् सस्कारक अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने तो राष्ट्रो में परस्पर होने वाले युद्धो का हल भी अहिंसा के द्वारा ही बतलाया है। उनका आदर्श है कि प्रचार के द्वारा विश्व भर मे प्रत्येक मनुष्य के हृदय मे यह जंचा दो कि वह स्व में ही सन्तुष्ट रहे, पर की ओर आकृष्ट होने का कभी भी प्रयत्न न करे। पर की ओर आकृष्ट होने का अर्थ है कि दूसरों के सुख-साधनों को देखकर लालायित हो जाना और उन्हे छीनने का दुःसाहस करना। जब तक नदी अपने पाट में प्रवाहित होती रहती है तब तक उससे ससार को लाभ ही लाभ है, हानि कुछ भी नही। ज्योंही वह अपनी सीमा से हटकर आस-पास प्रदेश पर अधिकार जमाती है, बाढ़ का रूप धारण करती है तो ससार मे हाहाकार मच जाता है, प्रलय का दृश्य आ खड़ा होता है। यही दशा मनुष्यों की है। जब तक सब मनुष्य अपने स्व मे ही प्रवाहित रहते हैं तब तक कही भी अशान्ति और सघर्ष का वातावरण पैदा नही होता। जहां मनुष्य स्व से बाहर फैलना शुरू करता है, दूसरो के अधिकारो को कुचलता है, दूसरो के जीवनोपयोगी साधनो पर कब्जा जमाने लगता है, वहा संघर्ष, ईर्ष्या, द्वेष और कलह पनपने लगते हैं।

प्राचीन जैन साहित्य उठाकर आप देख सकते हैं कि भगवान् महावीर ने इस दिशा मे बड़े स्तुत्य प्रयत्न किये हैं। वे अपने प्रत्येक गृहस्थ शिष्य को पाँचवें अपरिग्रह व्रत की मर्यादा सर्वदा स्व मे ही सीमित रहने की शिक्षा देते हैं। व्यापार, उद्योग आदि क्षेत्रों में उन्होंने अपने अनुयायियों को प्राप्त अधिकारों मे कभी भी आगे नही बढ़ने दिया। प्राप्त अधिकारों से आगे बढ़ने का अर्थ है, अपने दूसरे साथियों के साथ संघर्ष मे उतरना। जैन संस्कृति का अमर आदर्श है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही उचित साधनो का सहारा लेकर प्रयत्न करे। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख-सामग्री का सग्रह करना जैन संस्कृति मे चोरी है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र क्यो लड़ते हैं ? इसी अनुचित संग्रह वृत्ति के कारण! दूसरो के जीवन की, जीवन के सुख-साधनों की उपेक्षा करके मनुष्य कभी भी सुख-शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। अहिंसा के बीज अपरिग्रह वृत्ति में ही ढूंढे जा सकते हैं। एक अपेक्षा से कहें तो अहिंसा और अपरिग्रह वृत्ति दोनो पर्यायवाची शब्द हैं।

आत्मरक्षा के लिए उचित प्रतिकार के साधन जुटाना जैनधर्म के विरुद्ध नहीं है। परन्तु आवश्यकता से अधिक संगृहीत शक्ति अवश्य ही संहारलीला का अभिनय करेगी, अहिंसा को मरणोन्मुख बनावेगी। अतएव आप आश्चर्य न करें कि पिछले वर्षों मे जो शस्त्र-संन्यास का आन्दोलन चला था, प्रत्येक राष्ट्र को सीमित युद्ध-सामग्री रखने को कहा जा रहा था, वह जैन तीर्थंकरों ने हजारों वर्ष पहले चलाया था। आज जो काम कानून के द्वारा, पारस्परिक विधान के द्वारा लिया जाता है उन दिनों वह उपदेशों के द्वारा लिया जाता था। भगवान् महावीर ने बड़े-बड़े राजाओं को जैनधर्म में दीक्षित किया था और उन्हे नियम दिया गया था कि राष्ट्र-रक्षा के काम मे आने वाले शस्त्रों से अधिक शस्त्र संग्रह न करें। साधनों का आधिक्य मनुष्य को उद्दण्ड बना देता है, प्रभुता की लालसा मे आकर वह कहीं किसी पर चढ़ दौड़ेगा और मानव संसार में युद्ध की आग भड़का देगा। इस दृष्टि से जैन तीर्थंकर हिंसा के मूल कारणों को उखाड़ने का प्रयत्न करते रहे हैं।

जैन तीर्थंकरों ने कभी भी युद्धों का समर्थन नहीं किया। जहाँ अन्य अनेक धर्माचार्य साम्राज्यवादी राजाओं के हाथों की कठपुतली बनकर राजा को परमेश्वर का अंश बताकर उसके लिए सब कुछ अर्पण कर देने का प्रचार करते आए हैं, वहाँ जैन तीर्थंकर इस सम्बन्ध में काफी कट्टर रहे हैं। यदि थोड़ा-सा कष्ट उठाकर जैन साहित्य देखने का प्रयत्न करेंगे तो बहुत-कुछ युद्ध-विरोधी विचार-सामग्री प्राप्त कर सकेंगे। आप जानते हैं, मगधाधिपति अजातशत्रु कुणिक भगवान् महावीर का कितना अधिक उत्कट भक्त था। प्रति-दिन भगवान् के कुशल-समाचार जानकर फिर अन्न-जल ग्रहण करना कितना उग्र नियम था। परन्तु वैशाली पर कुणिक द्वारा होने वाले आक्रमण का भगवान् ने जरा भी समर्थन नहीं किया। अजातशत्रु इस पर रुष्ट भी हो जाता है, किन्तु भगवान् महावीर इस बात की कुछ भी परवाह नहीं करते। भला पूर्ण अहिंसा के अवतार रोमांचकारी नर-संहार का कैसे समर्थन कर सकते थे?

जैन तीर्थंकरों की अहिंसा का भाव आज की मान्यता के अनुसार निष्क्रियता रूप भी न था। वे अहिंसा का अर्थ प्रेम, परोपकार, विश्वबन्धुत्व करते थे। स्वयं आनन्द से जीओ और दूसरों को जीने दो, जैन तीर्थंकरों का आदर्श यहीं तक सीमित न था। उनका आदर्श था—दूसरों को जीने में मदद करो बल्कि अवसर आने पर दूसरो के जीवन की रक्षा के लिए अपने जीवन की आहुति भी दे डालो। वे उस जीवन को कोई महत्त्व नहीं देते थे जो जन-सेवा के मार्ग से सर्वथा दूर रह कर एक मात्र अर्थशून्य क्रियाकाण्डों में ही उलझा रहता हो। महावीर का यह महान् ज्योतिर्मय सन्देश आज हमारी आंखो के सामने है।

अहिंसा के अग्रगण्य सन्देश-वाहक भगवान् महावीर हैं। आज तक उन्हीं के शिष्यो का गौरव-गान गाया जा रहा है। आपको मालूम है, आज से ढाई हजार वर्ष पहले का समय भारतीय संस्कृति के इतिहास मे एक महान् अन्धकारपूर्ण युग माना जाता है। देवी-देवताओं के आगे पशुबलि के नाम पर रक्त की नदियां बहाई जाती थी, मांसाहार और सुरा-पान का दौर चलता था, स्त्रियो को भी मनुष्योचित अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। एक क्या, अनेक रूपो मे सब ओर हिंसा का विशाल साम्राज्य छाया हुआ था। भगवान् महावीर ने उस समय अहिंसा का अमृतमय सन्देश दिया जिससे भारत की काया पलट गई। मनुष्य राक्षसी भावों से हट कर मनुष्यता की सीमा में प्रविष्ट हुआ। क्या मनुष्य, क्या पशु सबके प्रति उसके हृदय मे प्रेम का सागर उमड पडा। अहिंसा के सन्देश ने सारे मानवीय सुधारों के महल खड़े कर दिए। दुर्भाग्य से आज वे महल फिर गिर रहे हैं। जल, थल, आकाश अभी-अभी खून से रंगे जा चुके हैं और भविष्य मे इससे भी भयकर रंगने की तैयारियां हो रही हैं। तीसरे महायुद्ध का दुःस्वप्न अभी देखना बन्द नहीं हुआ। परमाणु बम के आविष्कार की सब देशों में होड़ लग रही है। सब ओर दुर्भाव चक्कर काट रहे हैं। अस्तु, आवश्यकता है आज फिर जैन संस्कृति के, जैन तीर्थंकरों के, भगवान् महावीर के, जैनाचार्यों के 'अहिंसा परमो धर्म' की। मानव जाति के स्थायी सुखों के स्वप्नों को एकमात्र अहिंसा ही पूर्ण कर सकती है —

'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्'

—समन्तभद्र

सत्य धर्म

प्रामाणिक हितकारक सद् वचन बोलना 'सत्य' है। असत्य भाषण के त्याग से सत्य वचन प्रगट होता है।

मनुष्य अनेक कारणो से असत्य बोला करता है। उनमे से झूठ बोलने का एक प्रधान कारण तो लोभ है। लोभ मे आकर मनुष्य अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये असत्य बोला करता है।

असत्य भाषण करने का दूसरा कारण भय है। मनुष्य को सत्य बोलने से जब अपने ऊपर कोई आपत्ति आती हुई दिखाई देती है, अथवा अपनी कोई हानि होती दीखती है, उस समय वह डरकर झूठ बोल देता है। झूठ बोलकर वह उस विपत्ति या हानि से बचने का प्रयत्न करता है।

असत्य बोलने का तीसरा कारण मनोरंजन भी है। बहुत-से मनुष्य हँसी मजाक मे कौतूहल के लिये भी झूठ बोल देते हैं। व्यक्ति को भ्रम मे डालकर या हैरान करके अथवा किसी को भय उत्पन्न कराने के लिये या दूसरे को व्याकुल करने के लिये झूठ बोल देते हैं। इसी में उनका मनोरंजन होता है।

इसके सिवाय कुछ झूठ अज्ञानता के कारण भी बोला जाता है। जिस बात को मनुष्य न जानता हो उस विषय में चुप रह जाना तो अच्छा है, परन्तु अपना महत्त्व (बड़प्पन) या सम्मान रखने के विचार से, न जानते हुए भी उस बात को कुछ-का-कुछ बतला देना तो हानिकारक है।

इसके अतिरिक्त क्रोध मे आकर मनुष्य ऐसे कुवचन, गाली-गलौज मुख से निकाल बैठता है जिनको सुनकर जनता में क्षोभ फैल जाता है, निर्बल मनुष्य का हृदय तड़प उठता है; बलवान मनुष्य को वैसे दुर्वचन सुनकर क्रोध उत्पन्न हो जाता है जिससे कि बहुत भारी दंगाफसाद हो जाता है, मारपीट हो जाती है, यहाँ तक कि मरने-मारने की भी तैयारी हो जाती है।

अभिमान में आकर भी मनुष्य दूसरों को अपमानकारक असह्य वचन कह डालता है जिससे सुनने वाला यदि शक्तिशाली मनुष्य होता है तो वह भी उत्तर मे उनसे भी अधिक अपमानकारक वचन कह डालता है। यदि सुनने वाला व्यक्ति कमजोर दीन-दुःखी होता है तो उसका हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, उसको मार-पीट से भी अधिक दुःख होता है। तलवार का घाव तो मरहम-पट्टी से अच्छा हो जाता है किन्तु वचन का घाव अच्छा नही होता।

द्रौपदी ने दुर्योधन को व्यङ्गरूप से इतना कह दिया था कि 'अन्धे (धृतराष्ट्र राजा दुर्योधन का पिता) का पुत्र भी अन्धा है।' यह बात दुर्योधन को लग गई और इसका बदला लेने के लिए उसने जुए मे पाडवो से द्रौपदी को जीतकर अपनी सभा में अपमानित किया। उसकी साड़ी उतार कर सबके सामने उसने द्रौपदी को नगा करना चाहा। इसी असह्य अपमान का बदला लेने के लिए कौरव पांडवो का महायुद्ध हुआ जिसमे दोनो ओर की बहुत हानि हुई, सभी कौरव योद्धा मारे गये।

इस तरह अन्य व्यक्ति को दु:खकारक, निन्दाजनक पापवचन भी असत्य में सम्मिलित हैं। इस कारण सत्यवादी मनुष्य को ऐसे वचन भी मुख से उच्चारण न करने चाहियें।

आचार्यों ने असत्य वचन ६ प्रकार के बतलाये हैं—

१. मौजूद चीज को गैर मौजूद कहना। जैसे घर मे नेमिचन्द बैठा है, फिर भी बाहर द्वार पर किसी ने पूछा कि 'नेमिचन्द है?' तो उत्तर मे कह दिया कि 'वह यहां नही है।'

२. गैर मौजूद वस्तु को मौजूद बतला देना। जैसे नेमिचन्द घर मे नही था फिर भी किसी ने पूछा कि नेमिचन्द घर मे है क्या? तो उत्तर में कह दिया कि 'हा, घर मे हैं।'

३. कुछ का कुछ कह देना। जैसे घर मे विमलचन्द था। किसी ने पूछा कि घर मे कौन है तो उत्तर मे कह दिया कि यहां नेमिचन्द है।

४ गर्हित—दूसरे को दु:खदायक हँसी-मजाक करना, चुगली खाना, गाली-गलौज देना, निन्दाकारक बात कहना। जैसे—तेरे कुल में बुद्धिमान कोई हुआ ही नही, फिर तू मूर्ख है तो इसमे आश्चर्य ही क्या है।

५. सावद्य—पापसूचक या पापजनक शब्द उच्चारण करना। जैसे—तेरा सिर धड से अलग कर दूगा, तुझे कच्चा खा जाऊंगा। तेरे घर-बार को आग लगा कर तुझे जीवित जला दूगा।

६. अप्रिय—दूसरे जीवो को डराने वाले, द्वेष उत्पन्न करने वाले, क्लेश वाले, क्लेश बढाने वाले, विवाद बढ़ाने वाले, क्षोभ-जनक शब्द कहना। जैसे—निर्दय डाकुओं का दल इधर आ रहा है। वह सारे गांव को लूट-मार कर जला देगा।

ऐसे वचनों से कभी-कभी बडी अशान्ति और महान् अनर्थ फैल जाता है। झूठ बोलने वाले मनुष्य के वचन पर किसी को विश्वास नही रहता। अत वह कभी सत्य भी बोले तो भी सुनने वाले उसे असत्य ही समझते हैं।

एक गांव मे एक धनवान बुड्ढा रहता था। उसके परिवार मे उसके सिवाय और कोई न था। एक समय रात को वह झूठ मूठ चिल्लाया कि 'मेरे घर मे चोर आ गये हैं, जल्दी आकर मुझे बचाओ।'

पडोस के आदमी उसका चिल्लाना सुनकर उसके घर पर दौडे आये तो उनको देखकर बूढा हंस कर बोला कि मैं आप लोगों की परीक्षा लेने के लिये झूठ-मूठ चिल्लाया था, चोर-वोर कोई नहीं आया।

कुछ दिन पीछे फिर उसने ऐसा ही किया। दूसरी बार भी लोगो ने बूढे की बात सत्य समझी और इसी विचार से वे बचाने के लिये उसके घर पर दौडे आये। किन्तु वहां आकर वही बात देखी कि बुड्ढे ने अपना जी बहलाने के लिये उन सब को व्यर्थ हैरान किया है। यह देखकर लोगों को बहुत बुरा मालूम हुआ। सब चुपचाप अपने घर लौट गये।

सयोग से एक रात को सचमुच ४-५ चोर उस धनी बूढे के घर घुस आये। उनको देखकर बूढा अपनी रक्षा के लिए बहुतेरा गला फाड़ कर चिल्लाता रहा परन्तु सब पडोसियों ने उसकी बात झूठ ही समझी। इस कारण एक भी पड़ोसी उसकी रक्षा करने के लिये उसके घर नही पहुचा। चोरों ने बुड्ढे को मार-पीट कर उसका सारा धन उससे मालूम कर लिया और सब धन लेकर बूढ़े का भी गला घोंट कर वहां से चले गये।

एक झूठी बात को सत्य सिद्ध करने के लिये मनुष्य को और बीसो असत्य बातें बनानी पडती हैं, जिससे एक असत्य पाप के साथ अन्य अनेक पाप स्वयं हो जाते हैं और यदि असत्य का त्याग कर दिया जाय तो मनुष्य मे अन्य अनेक पाप भी स्वयमेव छूट जाते हैं। इस कारण सत्य धर्म आत्म-हित के लिये बहुत उपयोगी है।

एक बार एक नगर के बाहर एक साधु आये। नगर के सभी स्त्री-पुरुष उनका दर्शन करने के लिए तथा उपदेश सुनने के लिये उनके निकट गये। उपदेश सुन कर प्रायः सभी ने मुनि महाराज से यथाशक्ति व्रत-नियम ग्रहण किये।

जब सब स्त्री-पुरुष वहाँ से चले गये तब वहा जो एक मनुष्य रह गया था बड़े संकोच के साथ वह मुनि महाराज के पास आया और नम्रता के साथ बोला कि महाराज मुझे भी कुछ व्रत दीजिये। मुनि महाराज ने उससे पूछा कि तू क्या काम करता है?

उसने उत्तर दिया कि मैं चोर हू, चोरी करना ही मेरा काम है।

साधु ने कहा कि फिर तू चोरी करना छोड दे।

चोर ने विनय के साथ कहा कि गुरुदेव ! चोरी मुझ से नही छूट सकती क्योंकि चोरी के सिवाय मुझे और कोई काम करना नहीं आता।

मुनिराज ने कहा कि अच्छा भाई ! तू चोरी नही छोड़ सकता तो झूठ बोलना तो छोड़ सकता है ?

चोर ने प्रसन्नता के साथ उत्तर दिया कि हाँ महाराज ! असत्य बोलना मैं छोड़ सकता हू। मुनि ने कहा कि बस तू झूठ बोलना ही छोड़ दे। कैसी ही विपत्ति आए पर तू कभी असत्य न बोलना।

चोर हर्ष के साथ हाथ जोड़ कर मुनि महाराज के सामने असत्य बोलने का त्याग करके अपने घर चला गया।

रात को वह चोर राजा की अश्वशाला में चोरी करने के लिये गया। घुड़साल के बाहर सईस सो रहे थे। चोर को घुड़साल में घुसते देखकर उन्होंने पूछा कि कौन है ?

चोर ने उत्तर दिया कि मैं चोर हू। सईसो ने समझा कि यह मजाक से कह रहा है, घुडसाल का ही कोई नौकर होगा, इसलिये चोर को किसी ने न रोका। चोर ने घुडसाल मे जाकर राजा की सवारी का सफेद घोडा खोल लिया और उस पर सवार होकर चल दिया।

बाहर सोते हुए सईसो ने फिर पूछा कि घोडा कहाँ लिये जा रहा है। चोर ने सत्य बोलने का नियम ले रक्खा था। इस कारण उसने कह दिया—"मैं घोड़ा चुरा कर ले जा रहा हू"। सईसो ने इस बात को भी हँसी-मजाक समझा। यह विचार किया कि दिन मे घोड़े को पानी पिलाना भूल गया होगा सो अब पानी पिलाने के लिये घोड़ा ले जा रहा है। ऐसा विचार कर उन्होने उसे चला जाने दिया।

चोर घोडा लेकर एक बडे जंगल मे पहुचा और घोडे को एक पेड से बाध कर आप एक पेड के नीचे सो गया। जब प्रभात हुआ तब घुड़साल के नौकरों ने देखा कि घुडसाल का मुख्य सफेद घोडा नहीं है। नौकर बहुत घबडाये। उनको रात की बात याद आ गई और वे कहने लगे सचमुच रात वाला आदमी चोर ही था और सचमुच वह घोड़ा ले गया।

अन्त में यह बात राजा के कानो तक पहुची। राजा ने घोडे को खोजने के लिये चारों ओर सवार दौड़ाये। कुछ सवार उस जंगल मे आ पहुचे। उन्होंने चोर को सोता देखकर उठाया और पूछा कि तू कौन है ?

सत्यवादी चोर ने उत्तर दिया कि मैं चोर हू।

राजा के नौकरों ने पूछा कि रात को तूने कही से कुछ चोरी की थी ?

चोर ने कहा कि 'हाँ', राजा की घुडसाल से घोडा चुराया था।

नौकरो ने पूछा कि घोडा किस रंग का है और कहा है ?

चोर ने कहा घोड़े का रंग सफेद है और वह उस पेड़ के साथ बंधा हुआ है।

देवों ने चोर के सत्य की परीक्षा लेने के लिये घोड़े का रंग लाल कर दिया। अतः राजकर्मचारियों ने जब वह घोड़ा देखा तो वह लाल था। उन्होने चोर से पूछा कि भाई ! घोडा तो लाल है।

चोर ने दृढता के साथ उत्तर दिया कि मैं तो सफेद घोडा चुरा कर लाया हूं।

देवो ने उस चोर के सत्यव्रत से प्रसन्न होकर चोर के ऊपर फूल बरसाये और घोडे का रंग फिर सफेद कर दिया। यह चमत्कार देखकर राजा के नौकरो को आश्चर्य हुआ। वे चोर को अपने साथ ले कर राजा के पास पहुंचे।

राजा ने चोर से सब समाचार पूछे। चोर ने साधु महाराज से सत्य व्रत लेने से लेकर अब तक का सब बात सच-सच कह डाली।

राजा चोर की सत्यवादिता पर बहुत प्रसन्न हुआ और पारितोषिक मे उसको बहुत-सा धन देकर उससे चोरी करना छुड़ा दिया। इस तरह एक झूठ के छोड़ देने से चोर का इतना राज-सम्मान हुआ और उसका चोरी करना भी छूट गया।

बहुत-से लोग अपने छोटे बच्चों के साथ झूठ बोल कर अपना चित्त बहलाया करते हैं परन्तु बच्चो का हृदय कोमल, स्वच्छ, निर्मल होता है। उस पर जैसे संस्कार माता-पिता जमाना चाहे वैसे जमा सकते हैं। तदनुसार जो बात मनोरंजन के लिये बच्चों से की जाती है बच्चे उसको सत्य समझ कर अपने हृदय में धारण कर लेते हैं। इस कारण मनोरंजन के लिये भी बच्चों से झूठ न बोलना चाहिये।

सत्यभाषी मनुष्य यदि धनहीन हो तो भी सब कोई उसका विश्वास करता है और असत्यवादी बहुत बड़ा धनिक हो तब भी कोई उसका विश्वास नही करता। संसार का व्यवहार, व्यापार सत्य के आधार पर ही चलता है। सत्यवादी मनुष्य बिना हस्ताक्षर किये तथा बिना साक्षी या लिखा-पढ़ी के लाखो-करोडों रुपयो का लेन-देन किया करते हैं, जब कि असत्यवादी के साथ बिना पक्की लिखा-पढ़ी के कोई भी व्यवहार नही करता। अत. अपना विश्वास फैलाने के लिए सदा सत्य बोलना चाहिये।

परन्तु ऐसा सत्य नही बोलना चाहिये जिससे किसी को दु:ख पहुंचे। जिस तरह नेत्रांध पुरुष को अन्धा कहना अथवा एकाक्षी को काना कहना असत्य नही है परन्तु उन अन्धे व काने पुरुषों को अन्धा-काना शब्द बहुत बुरा मालूम होता है। अत: उनको अन्धा-काना नहीं कहना चाहिये।

इसके अतिरिक्त जिस सत्य बोलने से किसी का प्राण-नाश होता हो अथवा धर्म के विनाश होने की आशका हो तो वैसा सत्य वचन भी न कहना चाहिये।

एक जंगल मे एक मुनि बैठे स्वाध्याय कर रहे थे। इतने में एक हिरण भागता हुआ उनके सामने से एक ओर निकल गया। कुछ देर पीछे एक शिकारी धनुषबाण लिये वहाँ आया। उसने मुनिराज से पूछा—

महाराज ! हिरण किधर गया है ?

मुनिराज ने विचार किया यदि मैं सत्य कहता हूं तो इसके हाथ हिरण मारा जायगा और यदि हिरण को बचाता हूं तो मुझे असत्य भाषण करना पड़ता है।

इसके लिये उन्होंने उत्तर दिया कि भाई ! मेरी आंखों ने हिरण देखा है परन्तु आखें कुछ कह नही सकती, और जीभ कह सकती है किन्तु उसने कुछ देखा नही, इसलिए मैं तुझे क्या बताऊं। इस ढंग से उन्होने हिरण के प्राण बचा दिये।

कोई बात सिद्धान्त-विरुद्ध भी नही कहनी चाहिये। यदि कोई बात मालूम न हो तो सरलता के साथ कह देना चाहिए कि 'यह बात हमको मालूम नहीं'। उस विषय मे अट-सट उत्तर देना उचित नही।

इस तरह मुख से प्रामाणिक, सत्य, स्व-परहितकारी मीठे वचन बोलने चाहियें। अपने नौकर-चाकरो से, भिखारी, दीन-दरिद्र व्यक्तियो से सान्त्वना तथा शान्तिकारक मीठे वचन कहने चाहियें। पीडाकारक कठोर बात न कहनी चाहिये, क्योकि उनका हृदय पहले ही दु खी होता है। कठोर वचनो से उन्हे और भी अधिक दुःख होगा। यह जीभ यदि अच्छे वचन बोलती है तो वह अमूल्य है। अगर वह झूठे, भ्रमकारक, भय-उत्पादक, पीडादायक, कलहकारी, क्षोभकारक, निन्दनीय वचन कहती है तो यह जीभ चमडे का अशुद्ध टुकडा ही है।

निष्काम सेवा

यह महान् जगत् अनन्त पदार्थों के सहयोग से बना है। बिखरे हुए धूलिकण भी जब जल का संयोग पा जाते हैं तब मिट्टी का रूप धारण करके बडे-बडे भवन बना देते हैं। प्यास बुझाने के लिये सुन्दर घडा बन जाते हैं। अन्न-उत्पादन के लिये खेत की मिट्टी बन जाते हैं। आकाश से गिरने वाले जल-कण मिल कर नदी, झील, समुद्र का रूप धारण कर लेते हैं। बिखरे हुए अणु मिलकर ऊँचे पर्वतो, विशाल वनों और विस्तृत पृथ्वी का रूप धारण कर लेते हैं जो कि असख्य जीवो तथा जड़ पदार्थों के ठहरने का आधार बन जाती है।

मनुष्यो, पशु-पक्षियो तथा अन्य समस्त कीड़ो-मकोड़ों, यहां तक कि वृक्षो के लिये, प्रतिक्षण श्वास द्वारा जीवन सुरक्षित रखने वाली वायु किसी से भी बिना कुछ मूल्य लेकर सब की सेवा करती है। यदि वायु एक घण्टे भर भी जीवो को न मिले तो कोई भी

प्राणी जीवित न बचे, सांस घुट कर तुरन्त मर जावें। वायु यदि हजार रुपये तोले बिके तो भी मनुष्य को अवश्य लेनी पड़े। किन्तु वह वायु बिना कुछ लिये समस्त प्राणियों की निष्काम सेवा करती है।

जल समस्त मनुष्यों, पशु-पक्षियों, वृक्षों आदि के जीवन का आधार है। बिना जल के न अन्न उत्पन्न हो सकता है, न वृक्ष फल-फूल सकते हैं, न जगत् के अन्य अनेक आवश्यक कार्य हो सकते हैं। सब की प्यास और सन्ताप मिटाने वाला जल भी सब किसी की निष्काम सेवा करता है। किसी से कुछ नहीं लेता और जो भी पीने, नहाने, धोने, सींचने की सेवा लेना चाहे उसे इनकार नही करता।

वृक्ष स्वयं धूप सहते हैं, किन्तु अपने नीचे बैठने वाले को गर्मियों के दिन में शीतल छाया और सर्दियों मे रात्रि समय गर्म छाया देते हैं। अपने मधुर फल, सुगन्धित पुष्प, कोमल पत्ते सभी कुछ दूसरो को दे डालते हैं जिनसे भूखे प्राणी अपनी भूख मिटाते हैं। वृक्ष अपना चर्म (छाल) देकर अनेक उपयोगी उपकार करते हैं। यहाँ तक कि अपना सारा शरीर (लकड़ी) जला कर मनुष्य का भोजन बना देते हैं, सर्दियों मे ठण्ड दूर कर देते हैं। उनके फल, फूल, पत्ते, छाल, लकड़ी आदि विविध औषधियों के रूप मे मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों के अनेक रोगों को अच्छा कर देते हैं। इन सेवाओं के बदले में वृक्ष मनुष्य से लेशमात्र भी बदला नही चाहते। इस तरह जीवन भर हरे-भरे रहकर और सूख कर मर जाने पर भी जगत् की निष्काम सेवा करने वाले वृक्ष जगत् का आधार बने हुए हैं।

पृथ्वी को कोई रौंदता है, कोई कूटता है, कोई खोदता है, कोई उस पर मल-मूत्र करता है, कोई उसका हृदय विदारण करके उसके अमूल्य खनिज पदार्थ निकाल लेता है, कोई उस पर ऊँचे-ऊँचे भारी मकान बनाता है तो कोई उस पर सड़क बनाता है। कोई उस पर आग जलाता है, परन्तु पृथ्वी किसी को कुछ नही कहती। समस्त कष्ट सह कर भी किसी का कुछ अहित नही करती। समस्त जीवों को तथा जड़ पदार्थों को अपने ऊपर ठहराये हुए है। इसके बदले मे पृथ्वी ने न किसी से कुछ मांगा, और न किसी ने उसको कुछ दिया। वह सब की निष्काम सेवा करती है।

अग्नि भी मनुष्य तथा अन्य प्राणियो के जीवन का सहारा है। यदि अग्नि न हो तो समस्त प्राणी ठण्ड से सिकुड कर या अकड कर मौत के मुख मे चले जाएँ। गर्मी भी जीवन के लिए अति उपयोगी है। शरीर की गर्मी समाप्त होते ही शरीर की जीवन-शक्ति विदा हो जाती है। रेल तथा कारखानो के चलाने मे, भोजन पकाने मे, धातुओ को गलाने में, कूडा-कर्कट जलाने मे अग्नि ही काम आती है। वह अग्नि भी बिना कुछ मूल्य लिये सब की सेवा करती है।

सूर्य-चन्द्र का प्रकाश धूप-चाँदनी भी प्राणियो के जीवन का आधार है। धूप फलों, अनाजो को पकाती है, सीलन को सुखाती है, अनेक रोगों को उत्पन्न होने से रोकती है, जगत् को प्रकाश और गर्मी प्रदान करती है। चान्दनी रात्रि को प्रकाशित करती है, औषधियों मे रस की वृद्धि करती है। रात्रि मे सूर्य के अभाव की पूर्ति करती है। ये प्रकाश, धूप, चांदनी की अमूल्य सेवायें भी हमको बिना कुछ दिये-लिये बिना मूल्य प्राप्त होती हैं।

इस जीवन के लिये अनिवार्य आधारभूत वायु, जल, भोजन, गर्मी और प्रकाश—ये पाँचो चीजें मनुष्य को प्रकृति स्वयं बिना मूल्य प्रदान करती है।

माता अपने पुत्र की कितनी सेवा करती है। कदाचित् स्वयं भूखी रह जाए तो रह जाए परन्तु अपने पुत्र को अपना दूध पिला कर उसे भूखा नही रहने देती। रात को जब उसका पुत्र पेशाब करके बिछौने गीले कर देता है तब वह उसे सूखे बिछौने पर सुला देती है। आप स्वयं गीले पर लेट जाती है। बच्चे को जरा-सा कोई रोग या कष्ट होता है तो वह रात भर जागती रहती है। माता पुत्र की कितनी सेवा करती है, इसका अनुमान आप निम्नलिखित पद्य से लगा सकते हैं। एक हिरणी को जाल बिछा कर एक शिकारी ने पकड़ लिया तब वह हिरणी शिकारी से कहती है कि—

> आदाय मांसमखिलं स्तनवर्जमङ्गात्,
> मां मुञ्च वागुरिक यामि कुरु प्रसादम्।
> अद्यापि शस्यकवलग्रहणानभिज्ञाः,
> मन्मार्गवीक्षणपराः शिशवो मदीयाः॥

भावार्थः—हे शिकारी! तू मेरे दूध भरे स्तनों को छोडकर मेरे शरीर का शेष सब मांस ले ले और कृपा करके मुझे जाने दे। मेरे दुधमुंहे मेरे आने की प्रतीक्षा कर रहे होंगे, क्योंकि वे अभी तक घास खाना नही जानते। मैं उन्हें जाकर दूध पिलाऊँगी।

अपनी सन्तान के लिये माता की अनुपम निष्काम सेवा कवि ने उक्त श्लोक मे हिरणी के वचन द्वारा रख दी है। इसी कारण नीतिकार ने कहा है—

मातृपितृसमं तीर्थं विद्यते न जगत्त्रये ।
यतः प्राप्नोति सुलभो नृभवः शिवशर्मदः ॥

अर्थात्—माता-पिता के समान मनुष्य के लिये दूसरा कोई तीर्थ नहीं है । क्योंकि माता-पिता से मुक्ति-सुख तक देने वाला मानव शरीर प्राप्त होता है ।

विश्व-उद्धारक तीर्थंकर भगवान् का जगत्-हितकारी दिव्य उपदेश बिना किसी के आग्रह, अनुरोध तथा अनुनय-विनय के स्वयं होता है । उनकी इतनी इच्छा भी नही होती कि जनता हमारी वन्दना-नमस्कार करे, हमारा यश-विस्तार करे ।

तीर्थंकरों के अनुयायी गणधर, श्रुतकेवली, आचार्य, मुनि आदि भी तीर्थंकर देव का अनुकरण करके समस्त संसार मे बिना किसी लालसा इच्छा के धर्म-प्रचार करते रहते हैं । थोड़ा-सा रूखा-सूखा भोजन, वह भी दिन मे एक बार और वह भी कभी-कभी, लेकर अपना समस्त समय जनता के कल्याण मे लगाते रहते हैं ।

उनके इसी महान् उपकार से आभारी होकर समस्त संसार उनके चरणों में सिर झुकाता है और उनकी बिना इच्छा तथा संकेत के उनका निर्मल यश विश्वव्यापक बना देता है ।

इस तरह प्रकृति के जड़ पदार्थ तथा उच्चकोटि की परम महान् आत्माएँ हमको निष्काम सेवा करने का सुन्दर पाठ पढ़ाती हैं । यदि हम उस पाठ को हृदय पर अंकित करके उसका आचरण करें तो हम भी ससार मे महान् व्यक्ति बन सकते हैं और संसार का तथा अपना बहुत कुछ उद्धार कर सकते हैं ।

सबसे प्रथम अपने विश्वकल्याणकारी जैनधर्म की सेवा करनी चाहिए । जैनधर्म ही प्राणीमात्र की रक्षा करने का उपदेश देता है और आत्मा को परमात्मा बनाने की विधि बताता है । अत. निर्दोष रूप से अपनी शक्ति अनुसार धर्म का स्वय आचरण करना धर्म की मुख्य सेवा है, क्योंकि स्वय आचरण किये बिना धर्म का प्रभाव दूसरे व्यक्ति पर नही डाला जा सकता । अत. स्वय धर्माचरण करके ऐसे शुभ कार्य करने चाहिये जिससे दूसरे व्यक्ति भी जैनधर्म की ओर स्वय आकर्षित हो, जैनधर्म की प्रशसा करे । इसके सिवाय जैनधर्म के सत्य सिद्धान्त सरल भाषा मे प्रकाशित करके जनता मे उन्हे वितरण करें, जैन साहित्य जैनेतर विद्वानो को भेंट करे । जैनेतर भद्र पुरुषो के साथ सम्पर्क जोडकर, उनके साथ प्रेम स्थापित करके उनको मोक्षमार्गप्रकाशक आदि ग्रन्थो का स्वाध्याय कराएँ, जैनधर्म आचरण करने की प्रेरणा देते रहे । जैनेतर सभाओ मे जैनधर्म के महत्त्व को प्रगट करने वाले भाषण दें । जो अपने जैन बन्धु धर्म से विचलित या शिथिल हो रहे हो उनको समझा-बुझाकर धर्म मे दृढ़ करें ।

समाज-सेवा

अपने समाज की निष्काम सेवा करना भी मनुष्य का प्रधान कर्तव्य है । व्यक्ति की उन्नति तभी होती है जबकि समाज की उन्नति होती है । यदि अपने समाज मे अविद्या, दुराचार, ईर्ष्या, द्वेष फैला हुआ होगा, दरिद्रता फैली हुई होगी तो उसका प्रभाव उस समाज के प्रत्येक व्यक्ति पर थोड़ा-बहुत अवश्य पड़ेगा । समाज में अपने अनेक मित्र और सम्बन्धी होते हैं, उन पर आये कष्ट मे अवश्य थोड़ा-बहुत भाग लेना ही पडता है । इस कारण मनुष्य को अपना स्वार्थ गौण करके समाज के हित को प्रधानता देनी चाहिये । इसके लिये समाज मे शिक्षा का प्रचार करना चाहिये । समाज मे फैली हुई कुरीतियों को दूर करना चाहिये । अपने समाज मे अनाथ बच्चो, महिलाओ के शिक्षण, आजीविका आदि का प्रबन्ध कर देना चाहिये जिससे अपने समाज मे कोई दुःखी न रहे । समाज मे ऐसे नियमो का प्रचार करना चाहिये जिनके द्वारा निर्धन व्यक्ति भी अपने पुत्र-पुत्रियो के विवाह-सम्बन्ध आदि सामाजिक कार्य सरलता से कर सके । सारांश यह है कि समाज को हम अपना बडा परिवार समझ कर उसके प्रत्येक बच्चे को अपना बच्चा, उसकी प्रत्येक स्त्री को अपनी बहिन, पुत्री और प्रत्येक मनुष्य को अपना भाई समझना चाहिये ।

दीन-दुःखी सेवा

मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म दीन-दुःखी स्त्री-पुरुषो की सेवा करना है । धर्म का चिह्न दयाभाव है । जिसका चित्त दीन-दुःखी जीवों को देखकर नही पसीजता, उसके हृदय मे लेशमात्र भी धर्मवासना नही । ऐसे मनुष्य का जप, तप, संयम केवल बाहरी ढोंग है । दीन-दुःखियो के दुःख दूर करके जो मनुष्य उनका शुभ आशीर्वाद लेता है वह कभी दुःखी नही होता । अतः दुःखी स्त्री-पुरुषो के साथ मीठे नम्र शब्दों में बातचीत करो, यदि वे भूखे हो तो उनको रोटी खिलाओ, प्यासे हो तो पानी पिलाओ, नगे हों तो उनको वस्त्र दो, यदि रोगी हो तो उनको औषधि दो । स्वयं जितना कर सकते हो उतना स्वय करो, जितना तुम से न हो सके उतना दूसरों से उनका भला कराने का

यत्न करो। इतना भी न हो सके तो अपने मन में तो उनके लिये सहानुभूति रक्खो। तन-मन-धन यदि दीन-दुःखियों की सेवा में लग जाए तो इससे अधिक और अच्छा इनका उपयोग क्या होगा ?

साधु सेवा

जगत् में सदाचार फैलाने वाले तथा स्वयं सच्चरित्र मुनि तपस्वियो व्रतियो महात्माओ की सेवा करने से अपने हृदय मे उनके सद्गुण अनायास आ जाते हैं, ज्ञान का विकास होता है, सदाचार स्वय प्रगट होता है, धर्म मे श्रद्धा होती है, दुर्विचार दूर हो जाते हैं। इस कारण मुनि, व्रती, त्यागी महात्माओ की सेवा करने मे कभी प्रमाद न करो।

अपने माता-पिता, पुत्र-पुत्री, बहिन-भाई आदि की उनके योग्य सेवा करो। जो पुरुष अपने परिवार के साथ अपना उचित कर्तव्य-पालन नहीं कर सकता वह अपने समाज, देश, जाति की सेवा भी नहीं कर सकता। परिवार का कोई भी व्यक्ति दुःखी न हो, तथा कोई भी कुमार्ग पर न लगे, सभी प्रसन्न, कर्तव्यपरायण और सन्मार्ग पर चलें—ऐसा यत्न करना चाहिये।

सेवा करके उसका बदला चाहने वाले व्यक्ति तो नौकर हुआ करते हैं। जिन व्यक्तियो के हृदय मे उपकार करने की भावना होती है, वे कभी अपनी सेवा का फल नहीं चाहते, निष्काम सेवा करते हैं। परन्तु बिना चाहे भी उनको फल अवश्य मिलता है और उससे अधिक मिलता है जितना कि वे चाहते हैं। निष्काम सेवा कभी व्यर्थ नहीं जाती।

दान

संसारी जीव को चार रोग अनादि से लगे हुए हैं—१. जन्म, २. मरण, ३. भूख, ४. प्यास। इनमे से जन्म-मरण की चिकित्सा तो संसार-भ्रमण के कारण कर्मबन्धन को नष्ट करना है। कर्मबन्धन का नाश आत्म-श्रद्धा, आत्मज्ञान तथा तपश्चर्या से होता है। किन्तु ये तीनो बातें प्रत्येक प्राणी को प्राप्त होना सरल नहीं है। अत. जन्म-मरण की परम्परा समाप्त करना भी हर एक प्राणी का काम नहीं। हां, भूख-प्यास की चिकित्सा (इलाज) प्रत्येक जीव किया करता है। पहले भोगयुग मे मनुष्यों तथा पशु-पक्षियो को अपनी भूख-प्यास मिटाने के लिये कुछ परिश्रम नहीं करना पड़ता था। उनको भूख-प्यास दूर करने की सामग्री कल्पवृक्षो से मिल जाया करती थी। किन्तु जब कर्मयुग आया तब वह सामग्री कल्पवृक्षो से मिलनी बन्द हो गई। उस समय मनुष्यो को परिश्रम करके भोजन-पानी प्राप्त करने की विधि सीखनी पड़ी।

सबसे प्रथम खेती आदि करने की विधि भगवान् ऋषभनाथ ने सिखलाई थी। इसी कारण उन्हे 'आदि ब्रह्मा' कहते हैं। तत्काल उत्पन्न हुए बच्चे को भी भूख-प्यास लगती है और उसको मिटाने के लिये वह बिना सिखाये पूर्व भव के सस्कार से अपनी माता के स्तनो का दूध पीने लगता है। ज्यो-ज्यों बडा होता जाता है खाने-पीने की दूसरी विधियाँ भी सीखता जाता है। देवो को जैसे ही भूख लगती है वैसे ही उनके गले से स्वयं अमृत झरने लगता है और उनकी भूख शान्त हो जाती है। इस तरह भूख-प्यास मिटाने का इलाज सब किसी को करना पड़ता है।

किन्तु कर्मभूमि में प्यास मिटाने के लिये पानी तो पृथ्वी के नीचे से कुओं द्वारा, पृथ्वी के ऊपर नदियो, झीलों द्वारा तथा आकाश से जल-वर्षा द्वारा सरलता से मिल जाता है। अत: उसके लिए मनुष्यो तथा पशु-पक्षियो को विशेष परिश्रम करने की आवश्यकता नही होती और न उसके अधिक इकट्ठा करने की आवश्यकता दीखती है। परन्तु भोजन की सामग्री इतनी सरलता से प्रकृति से नही मिल पाती, अत. उसके लिये खेती-बाड़ी आदि कठोर परिश्रम करने का सहारा लेना पडता है। किसान खेती करके इतना अन्न उत्पादन करता है कि अपने परिवार के अतिरिक्त अन्य बहुत-से परिवारो को भूख शान्त करने के लिये अन्न दे सकता है। अत: वह अपने लिये आवश्यक अन्न-वस्त्र, बर्तन आदि पदार्थों के बदले मे अपना अन्न दूसरो को दे देता है। इस तरह भूख मिटाने के लिये प्रत्येक मनुष्य को किसी न किसी तरह का परिश्रम अवश्य करना पड़ता है।

परिश्रम करते हुए मनुष्य कभी बीमार भी हो जाता है। उस दशा मे वह भोजन प्राप्त करने के लिये परिश्रम नहीं कर पाता। ऐसे अवसर के लिये मनुष्य को कुछ भोजन-सामग्री अपने पास एकत्रित रखने की आवश्यकता अनुभव होती है। अत: वह अपने कठिन समय के लिये कुछ न कुछ इकट्ठा भी करता जाता है। इसी संचय-वृत्ति (इकट्ठा करने) की भाग-दौड मे जो दूसरों से आगे बढ़ जाते हैं वे धनवान् भाग्यवान् कहे जाते हैं। उनके पास पदार्थों का सचय दूसरो की अपेक्षा अधिक होता है और जो पदार्थ-संचय की दौड़ में पीछे रह जाते हैं उनके पास पदार्थों का संचय थोड़ा हो पाता है या सर्वथा नही हो पाता, अत: वे निर्धन, गरीब, दरिद्र कहलाते हैं।

इस तरह संसार की सारी भाग-दौड़ और अनेक तरह के परिश्रमों का मूल कारण भूख मिटाने का प्रयास है। इसी में धनिक, निर्धन की समस्या छिपी हुई है। धनिक अधिक द्रव्य संचय करके दूसरों को अपना दास बना लेता है और दूसरे मनुष्य अपने पास कम सचय होने के कारण धनिको के दास बन जाते हैं। इसी आर्थिक विषमता के कारण संसार में लड़ाई, झगड़े, लूट, चोरी, अनीति, अन्याय, अत्याचार, धोखेबाजी आदि बुरे कामो की सृष्टि होती है। क्रोध, मान, मायाचार, लोभ आदि दुर्गुण भी इसी के फल हैं।

धन की अत्यधिक विषमता को दूर करने के लिये जैन धर्म मे कुछ मौलिक आचरणीय सिद्धान्त बतलाये गये हैं। महाव्रती साधु के लिये धन-सम्पत्ति का पूर्ण त्याग रूप अपरिग्रह रक्खा है। तदनुसार जैन साधु फूटी कौड़ी भी अपने पास नही रख सकता। गृहस्थ के लिये जो ११ श्रेणियाँ (प्रतिमायें) बताई हैं उनमे से ९-१०-११वी श्रेणी का व्यक्ति योग्य वस्त्र तो अपने पास रख सकता है परन्तु रुपया-पैसा आदि जरा भी नही रख सकता। नीचे की श्रेणी के जैन गृहस्थों के लिये धन के विषय मे दो नियमो का पालन करना पड़ता है—१. परिग्रह का परिमाण, २. दान।

अपनी आवश्यकता के अनुकूल रुपया-पैसा, सोना-चांदी, मकान, पशु, वस्त्र, बर्तन आदि गृहस्थ उपयोगी पदार्थों का नियम करना, कि मैं इतना रुपया अपने पास रक्खूंगा, इतने रुपये हो जाने के बाद और अधिक सचय करना त्याग दूगा, इतना सोना-चादी, मकान आदि रक्खूंगा, उससे अधिक नही परिग्रह परिमाण व्रत है।

धार्मिक व्यक्तियो तथा दीन-दुःखी जीवो को उनकी आवश्यकतानुसार भोजन, औषधि आदि देना दान है।

वैसे दान के चार भेद किये हैं—१. अन्वयदान, २. समदान, ३. पात्र दान, ४. दयादान। अपने पुत्र, भाई-भतीजे आदि को अपनी सम्पत्ति देना अन्वय दान है। अपने समाज-जाति के योग्य वर को अपनी कन्या देना, कन्या लेना, जीमनवार खिलाना, प्रेम-व्यवहार के लिये कोई वस्तु अपनी जाति-बिरादरी मे बाँटना आदि समानता का सामाजिक लेन-देन समदान कहलाता है।

मुनि, ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिका, क्षुल्लिका आदि धर्मात्मा पुरुषो के लिये आहार, उपकरण आदि प्रदान करना पात्रदान है और दीन-दुःखी अनाथ असहाय स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षियो के दुःख-सकट दूर करने के लिये उनकी आवश्यकता के योग्य वस्तुए दान करना दयादान है।

इनमे से प्रारम्भ के दो दान तो ऐसे हैं जिनको सभी मनुष्य स्वार्थ-साधन के लिये किया ही करते हैं। ऐसा किये बिना उनका समाज मे निर्वाह नही हो सकता। इन दानो मे तो केवल इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि अपनी वश-परम्परा मे धर्म-आचरण चलता रहे और कोई सामाजिक दोष न उत्पन्न होने पाए तथा कन्या के योग्य गुणी, स्वस्थ, सदाचारी वर को ही प्रमुखता दी जाए, केवल धन देखकर दुर्गुणी, रोगी, अशिक्षित, दुर्जन, प्रौढ, वृद्ध आदि अयोग्य वर के साथ कन्या का विवाह न किया जाए। इसी तरह अपने पुत्र के लिये कन्या लेते समय दहेज के धन पर दृष्टि न रख कर शिक्षित, गुणी, विनीत, सुन्दर कन्या को विशेषता देनी चाहिये।

यहा इतना और ध्यान रखना चाहिये कि विवाह-सगाई आदि करते समय सामाजिक नियमो का उल्लंघन न किया जाए जिससे समाज के साधारण व्यक्तियो को तगी न होने पावे। विवाह शादी आदि के ऐसे सरल, कम खर्चीले नियम बनाने चाहियें जिससे समाज का गरीब से गरीब व्यक्ति भी अपने पुत्र-पुत्रियो का विवाह सम्बन्ध कर सकें।

परोपकार रूप दान तो पात्रदान दयादान ही हैं।

पात्र के तीन भेद हैं—१. उत्तम, २. मध्यम, ३. जघन्य। उत्तम पात्र (धर्म के भाजन) महाव्रती मुनि होते हैं। निर्ग्रन्थ तपस्वी मुनि सदा ज्ञान-आराधन, आत्मसाधना तथा धर्म उपदेश देना आदि स्व-उपकार, पर-उपकार करने मे लगे रहते हैं। किसी से कुछ नही लेते किन्तु सबको सत्ज्ञान, अभयदान देते हैं। जनता को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर लगाते हैं। ऐसे सर्वोच्च धर्मात्मा मुनि उत्तम पात्र हैं। उनको भोजन कराना, कमडलु, पीछी तथा स्वाध्याय करने के लिये शास्त्र देना, उत्तम पात्र दान है। व्रताचरण करने वाले श्रावकों को उनकी आवश्यकता के अनुसार भोजन, औषधि, शास्त्र आदि देना मध्यम पात्र दान है। व्रतरहित सम्यक् धर्म श्रद्धालु व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुकूल वस्तु प्रदान करना जघन्य पात्र दान है।

पात्र दान द्वारा जगत् का उपकार करने वाले धार्मिक सज्जनों, साधु-सन्तों की सुरक्षा तथा वृद्धि होती है, जिससे कि जगत् में सदाचार, शान्ति का प्रसार होता है, दुराचार और अशान्ति मे कमी होती है। अतः पात्र दान सब दानो मे श्रेष्ठ दान है।

दीन-दुःखी जीवो पर दया करके दुःख मिटाने के लिये चार प्रकार की वस्तुओ का दान करना चाहिये—१. आहार दान, २. औषधि दान, ३. विद्या दान, ४. अभय दान।

भूख से दुःखी जीवों को उनकी भूख मिटाने के लिए निरामिष, भक्ष्य, सात्विक भोजन देना आहार दान है। जगत् में ऐसे निर्धन स्त्री-पुरुष हजारों लाखों पाये जाते हैं जिनके पास अपने पेट भरने का कोई साधन नहीं होता। इस कारण यदि उनको भोजन न मिले तो वे भूख से छटपटा कर अपने प्राण दे देते हैं, अथवा अपना पेट भरने के लिये कोई अनर्थ या अकार्य कर डालते हैं। भूख का भयानक दृश्य बतलाते हुए कवि ने लिखा है—

त्यजेत्क्षुधार्ता महिला स्वपुत्रं,
खादेत्क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम् ।
क्षुधातुराणां न भयं न लज्जा,
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ॥

अर्थात्—भूख से व्याकुल माता अपने औरस दुधमुहे पुत्र को अरक्षित छोड़कर चली जाती है, भूखी सर्पिणी अपनी भूख शान्त करने के लिये अपने ही अडे खा जाती है। भूख से पीडित मनुष्यों को न कोई भय रहता है, न किसी प्रकार की लज्जा रहती है, निर्भय निर्लज्ज होकर सब कुछ करने को तैयार हो जाते हैं। भूख से पीडित मनुष्यो मे दया नही रहती। वे भूख के कारण निर्दय बन जाते हैं।

ऐसी दशा मे भूखे स्त्री-पुरुषों, भिखारियो को तथा पशु-पक्षियो को भोजन कराना महान् उपकार का कार्य है। अपने घर आये हुए भूखे को अवश्य थोड़ा-बहुत भोजन कराना चाहिये। अपने बनाये हुए भोजन में से थोड़ा-बहुत भोजन भूखे जीवों को दान करने के लिये अवश्य बचा कर रखना चाहिये।

असमर्थ, रोगी स्त्री-पुरुषो को स्वस्थ बनाने के लिये उनकी मुफ्त चिकित्सा करना, गरीब रोगियो को दवा बांटना, रोगियों की सेवा करना, औषधालय खोलना जहां से सबको मुफ्त दवा मिलती रहे, हस्पताल खोलना जहा रहकर दरिद्र रोगी स्त्री-पुरुष अपनी चिकित्सा करावें, रोगी पशु-पक्षियो का इलाज करना इत्यादि औषध दान हैं। गरीब स्त्री-पुरुष वैद्य डाक्टरों के लिये फीस तथा दवा की रकम खर्च नही कर सकते। अतः भयानक रोगों के शिकार होकर तड़प कर मर जाते हैं। ऐसे रोगियो को यथासमय औषधि मिल जाने से उनके प्राणो की रक्षा हो जाती है। अतः औषधि दान भी बहुत उपयोगी है।

अशिक्षित मूर्ख मनुष्य पशु के समान होता है। वह न तो कुछ धर्म आचरण करके या अन्य कोई अच्छा कार्य करके अपना भला कर सकता है और न अपनी जाति, समाज एवं देश की सेवा कर सकता है। ऐसे मनुष्यो को विद्या पढ़ाना, विद्यालय खोलना, अच्छी उपयोगी पुस्तकें छपाकर जनता मे उनको बांटना, उपदेश देकर अच्छे ग्रन्थ या लेख लिखकर ज्ञान का प्रसार 'ज्ञान दान' है। मूर्ख को ज्ञानी बनाना और ज्ञानी को अधिक ज्ञानी बनाने के लिये छात्रवृत्ति देना, विद्यार्थियों में उत्साह लाने के लिये उन्हें पारितोषिक देना ज्ञान-दान ही है। ज्ञान-दान से संसार का महान् उपकार होता है। अतः ज्ञान-दान श्रेष्ठ प्रशंसनीय दान है।

किसी भयभीत स्त्री-पुरुष का भय दूर करके उसे निर्भय बनाना, किसी दुष्ट आक्रमणकारी से किसी दीन-दुर्बल की रक्षा करना, अनाथ बच्चों व असहाय स्त्रियो की सहायता करना, असहाय जीवो को सहायता देना अभयदान हैं। रात्रि को आने-जाने के मार्ग पर जहा अंधेरा हो जिससे आने-जाने वालो को डर लगता हो वहाँ प्रकाश कर देना, वन-पर्वतों मे साधु-मुनियो के लिये मठ बनवा देना, धर्मशाला बनवाना आदि अभयदान है।

दान करने से मनुष्य गरीब नही हो जाता, पुण्य कर्म से उसकी सम्पत्ति और भी बढ़ती है। अतः उदारता के साथ सदा यथाशक्ति दान करते रहना चाहिये।

क्षमा

ससार मे प्रत्येक मानव के लिये क्षमा रूपी शस्त्र इतना आवश्यक है कि जिसके पास यह क्षमा नही होती वह मनुष्य संसार मे अपने इष्ट कार्य की सिद्धि नही कर सकता।

क्षमा आत्मा का धर्म है। इसलिए जो मानव अपना कल्याण चाहता है उसे हमेशा इस भावना की रक्षा करनी चाहिये। क्षमावान् मनुष्य का इस लोक और परलोक मे कोई शत्रु नही होता। क्षमा ही सर्व धर्म का सार है। क्षमा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप आत्मा का मुख्य सच्चा भण्डार है। जैसे कि—

उत्तम खम गुण गण सहयारी।
उत्तम खम मुणि बिंद पयारी॥
उत्तम खम बहुयन चिन्तामणि।
उत्तम खम सबं जह मणि॥

उत्तम क्षमा गुणों के समूह के साथ रहने वाली है अर्थात् उत्तम क्षमा के होने से अनेक गुण प्रगट हो जाते हैं। यह उत्तम क्षमा मुनियों को बड़ी प्यारी है। श्रेष्ठ मुनिजन इसका पालन करते हैं। यह उत्तम क्षमा विद्वानो के लिये चिन्तामणि रत्न के समान इच्छित पदार्थों को देने वाली है। इसी तरह विद्वानो को उत्तम क्षमा से इच्छित ज्ञानादिक प्राप्त होते हैं। ऐसी यह उत्तम क्षमा चित्त की एकाग्रता होने से उत्पन्न हो जाती है।

क्षमा वीरस्य भूषणम्

क्षमा धर्म वीर पुरुष का भूषण है। जिनके पास क्षमारूपी शस्त्र है, उनका शत्रु क्या कर सकता है? वैरी को जीतने मे देर नही लगती। क्षमावान् मनुष्य हमेशा सुखी रहता है। क्षमा वाले पुरुष का संसार मे कोई भी शत्रु नही है।

क्षमावान् पुरुष हमेशा गम्भीर रहता है। क्रोधी मनुष्य हमेशा दुबला-पतला रहता है। क्रोधी मनुष्य का कोई भी विश्वास नही करता। क्रोधी अपने और पर का भी घात कर डालता है। क्रोधी मनुष्य की आँख हमेशा लाल रहती है। जिस समय उसको क्रोध आता है तब उसका सारा शरीर काप उठता है और उसको सुध-बुध नही रहती, अनेक अनर्थ कर बैठता है आर धर्म-कर्म आदि सभी बातो को भूल जाता है।

धैर्य

सात्विक प्रवृत्ति का मनुष्य धृतियुक्त होता है। अनेक विघ्न आने पर भी उसकी अन्तःकरण प्रवृत्ति मे तिलमात्र भी अतर नही पडता, खेद-खिन्न नही होता। वह शान्तिपूर्वक सभी विघ्नो को सह लेता है। इस प्रकार शाति पाने के लिये सयम का अभ्यास करना पडता है। इसके अभ्यास के लिए तथा अपनी इन्द्रियो को काबू मे लाने के लिये बाहरी विषय-लोलुपता को घटाना आवश्यक है। इन्द्रिय-वासना कम होने पर द्रव्य के प्रति लालसा घट जाती है। तब क्रोध की मात्रा भी कम होती जाती है। अपनी आत्मा मे उत्सुकता और शरीरादि पर-द्रव्य मे निरुत्सुकता होती है। इस स्थिति मे व्यक्ति सपूर्ण प्राणी मात्र को अपने समान मानता है, और पर को पर वस्तु। व्यक्ति के जब मन मे शत्रु या मित्र के प्रति समानता होती है तब वह दूसरे जीवो के प्रति क्रोध या द्वेष व अहंकार भावना नही करता। क्रोध ही महान् शत्रु है। यह क्रोध चारो गतियो मे भ्रमण कराने वाले कौन-कौन से अनर्थ नही करता? इसलिये सज्जन पुरुष क्रोध से दूर रहता है। ज्ञानी सज्जन पुरुष पर यदि कोई शत्रु दुष्टता से प्रहार करे या अनेक उपद्रव खडे कर दे तो भी वह अपनी क्षमावृत्ति का कभी त्याग नही करता। जैसे कहा भी है कि—

दग्ध दग्धं त्यजति न पुन काचनं दिव्यवर्णम्।
घृष्टं घृष्टं त्यजति न पुनश्चंदन चारुगन्धम्॥
खड खड त्यजति न पुन स्वादुतामिक्षुदडम्।
प्राणान्तेऽपि प्रकृतिविकृतिर्जायते नोत्तमानाम्॥

बार-बार जलाये और तपाये जाने पर भी सोना अपने सौन्दर्य को नही छोडता वल्कि जितना तपाया जाता है उतना ही चमकता है। बार-बार घिसने पर भी चन्दन अपना स्वभाव न छोडकर सुगन्ध को ही फैला देता है। ईख (गन्ना) टुकडे-टुकडे करने पर अपने मीठेपन को नही छोडता। इसी प्रकार उत्तम पुरुषो की प्रकृति किसी भी अवस्था मे विकारमय नही होती।

अर्थात् कैसी भी आपत्ति आने पर जो क्षमावान् मनुष्य अपने स्वभाव से च्युत नही होता आर शान्तिपूर्वक अपने ऊपर आई हुई आपत्ति को सहन कर धैर्यशाली या बलशाली बन जाता है, उसी को लोग शूरवीर कहते है। पूर्व जन्म मे किये हुए कर्म का बदला यह मनुष्य मुझ से ले रहा है सो कोई बात नही। क्योकि मैने पूर्व जन्म मे इसके साथ क्रोध किया होगा इसलिए मुझसे बदला ले रहा है। यदि कोई मुझे पापी, चाडाल, अन्यायी, अत्याचारी, असभ्य, कुवचन बोलता है तो कोई हर्ज नही है। इससे मेरे कर्म की निर्जरा ही होती है।

यदि सज्जन क्षमावान् मनुष्य को कोई दुर्वचन कहे या अकुलीन कहे तो वह अपने मन मे ऐसा विचार करता है कि ये तो मेरा नाम ही नही है, और जाति नही है। मैं तो परम पवित्र स्वरूप आत्म-ज्योतिरूप परमानन्द अविनाशी परब्रह्मस्वरूप परमात्मा रूप हूं। वही मेरा आत्मा है। आत्मा का नाम तो नही है। फिर मुझे गाली से, निंदा से, दुर्वचनों से उन पर क्रोध करना उचित नही। फिर

अपने आत्मा को समझाता है कि हे आत्मन् ! तुम अनेक जन्म मे चोर, जार, कुमार तथा कूकर, सूकर आदि योनियों मे तिर्यंच पापी व अधर्मी आदि नीच पर्याय को धारण करके आये हो, तो कूकर-सूकर व चांडालादि कहने से दुःखी क्यों होते हो ? क्योंकि जीव इस प्रकार के कुवचन कहने से संक्लेशित होता है उसे पुनः चतुर्गति मे पड़कर नाना प्रकार के दुःख उठाने पड़ते हैं। अतः जब हम सब उपरोक्त नीच-ऊंच योनियों में जन्म ले चुके हैं तब हम शोक क्यो करें ? निन्दक लोगो को हमारे प्रति ऐसा समझना चाहिये कि वे हमारे भीतर के मैल को बिना रुपया-पैसा व साबुन के ही साफ कर रहे हैं। ऐसे उपकारियो के साथ यदि हम ईर्ष्या या द्वेष करें तो हमारे जैसा अधम और कौन होगा ?

इस प्रकार क्षमावान् पुरुष अपनी आत्मा को समझाकर अपने क्षमा-भाव से च्युत नहीं होता। आज के युग मे महात्मा गांधी ने केवल निःशस्त्र अर्थात् क्षमारूपी शस्त्र से भारत भूमि को स्वतंत्र करा दिया। जिन-जिन महान् ऋषि-मुनियो ने आत्म-सिद्ध कर लिया उन्होंने केवल क्षमारूपी शस्त्र से कर्म-वैरी को जीतकर अखड मोक्षरूपी साम्राज्य को हस्तगत कर लिया। अगर मानव प्राणी सम्पूर्ण विश्व को हस्तगत करना चाहता है तो उसे वश में करने के लिये क्षमा मन्त्र ही एक महामन्त्र है अन्य कोई साधन नही। इससे दुर्जन भी सज्जन बन जाता है। इसलिये मानव प्राणी को अपने और पर-हित के लिये क्षमा का साधन भी करते रहना चाहिये।

नीतिकार ने भी कहा है कि जो धीर वीर पुरुष है वह क्षमा भाव से नही डिगता—

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्बुद्धेर्विनाशो नहि शंकनीयः।
अधःकृतस्यापि तनूनपातो नाधःशिखा याति कदाचिदेव ।।

धीर वीर मनुष्य की प्रकृति या बुद्धि उत्पीडित होने पर भी किसी प्रकार से विकृत हो सकती है इस प्रकार की आशका करना व्यर्थ है। अग्नि को कितना ही नीचे की ओर क्यों न दबाइये, उसकी लपट सदा ऊपर को ही जायगी।

ऐसे ही महापुरुषो की वृत्ति (भीतर का क्षमारूपी तेज) शत्रु से न डरकर शत्रु से दबाये जाने पर भी हमेशा दूसरो के उपकार के प्रति ही दौडती है।

क्रोधी क्या-क्या नही करता ? सब कुछ कर डालता है। क्रोधी सम्पूर्ण धर्म का लोप कर देता है। माता, पिता, स्त्री, पुत्र, बालक, स्वामी, सेवक तथा अन्य मित्र, कुटुम्ब इत्यादि किसी को भी नही छोडता, सभी को मार डालता है। तीव्र क्रोधी स्वत ही विष खाकर शस्त्र से या छुरी या चाकू इत्यादि से अपनी आत्म-हत्या कर लेने मे पीछे नही हटता। पर्वतादि से नीचे गिरकर प्राण भी दे देता है। अगर कोई अन्य मनुष्य उसको समझाने भी जाय तो उसका भी घात करता है। जिनकी क्रोध प्रकृति है वे मनुष्य किसी का उपकार, दया या अन्य सेवा-सुश्रूषा भी नही करते। क्रोध ऐसा है कि ये अग्नि के समान मनुष्य के भीतर से उत्पन्न होकर शरीर तक को पूरा जला देता है। बड़े-बड़े महान् तप से युक्त तपस्वियो को भी इस क्रोध ने नही छोड़ा है। जिसने क्रोध को जीता वह अपने कर्म शत्रुओ को जीतकर निर्वाण पद प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नही।

क्षमावान् पुरुष को पृथ्वी की उपमा दी गई है। जैसे पृथ्वी पहाड़, पत्थर, वृक्ष, नदी, सरोवर, मनुष्य, पशु-पक्षी इत्यादि का सम्पूर्ण भार अपने आप सह लेती है, उसी प्रकार क्षमावान् मनुष्य पृथ्वी के समान ऊँचे-नीचे लोगो के द्वारा होने वाले असह्य उपसर्ग, निन्दा, गाली, तिरस्कार इत्यादि को सहन करते हुए अपने क्षमा भाव को नही छोडता। शायद क्षमावान् पुरुष यह विचारता है कि मैंने पूर्व भव मे इसका कुछ अपकार किया है। उसी का यह बदला चुका रहा है। इसे शान्तिपूर्वक सह लेने से मेरे अशुभ कर्मों की निर्जरा होगी। फिर मैं क्रोध क्यों करूँ ?

भाव एवं मनोविकार

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

श्रद्धा के दो रूप

ससार मे जीव अनेक प्रकार की आकुलताओ व्याकुलताओ से दुःखी है। वह अनेक तरह की चिन्ताओ से सदा चिन्तित रहता है। अनेक प्रकार के भय उसको भीरु बनाये रहते हैं। भूख-प्यास उसको सताती रहती है और जन्म-मरण की व्याधि उसका कभी पीछा नही छोडती। जैसे जन्म से अंधे मनुष्य को किसी ऊबड-खाबड भूमि मे चलना पड़े तो उसे पग-पग पर ठोकरें खानी पडती हैं, उसी तरह आत्म-ज्ञान से शून्य ससारी जीव को मोह के गहन अन्धकार मे नरक, पशु आदि विविध योनियों में भटकना पडता है। जिस तरह कोल्हू को चलाने वाला बैल दिन भर मे २० मील चल लेता है किन्तु रहता वहीं का वहीं है, वहा से १० गज भी आगे नही बढ़ पाता, उसी तरह संसारी जीव असख्य योजनो की यात्रा कर चुका है परन्तु ससार के चक्र से छूट नही पाया, वहीं का वहीं खडा है।

जैसे कोई अन्धा मनुष्य मीलो लम्बे-चौडे एक परकोटे मे भटक रहा है जिसमें कि केवल एक ही द्वार बाहर निकलने का बना हुआ है, वह बेचारा अन्धा दीवार के सहारे हाथो से टटोलता हुआ उस परकोटे का चक्कर लगाता है। चक्कर लगाते-लगाते जब वह द्वार पर आता है तब दुर्भाग्य मे उसको कभी खुजली हो उठती है जिसको खुजाने के लिए चलता हुआ ज्यो ही हाथ उठाता है कि वह द्वार निकल जाता है और उसे फिर सारा चक्कर लगाना पडता है। कभी उसी द्वार के आने पर छाती मे पीडा होने लगती है तब टटोलने वाला हाथ छाती पर जा लगता है और समीप आया हुआ द्वार छूट जाता है। उसे फिर सारा चक्कर लगाना पडता है। जब घूमते-घूमते सौभाग्य से द्वार पुन पास मे आता है तो दुर्भाग्य से उसकी धोती खुलने लगती है। चलते-चलते ज्यो ही टटोलने वाले हाथ से धोती को सम्भालता है कि द्वार फिर निकल जाता है। इस तरह जन्म भर चक्कर लगाते-लगाते बेचारा उस परकोटे से बाहर नही हो पाता। इसी तरह ससारी जीव को संसार रूपी बन्दीगृह मे चक्कर लगाते-लगाते एक मनुष्य-भव ऐसा मिलता है जिसके द्वार से यह ससार के बन्दीघर से बाहर निकल सकता है किन्तु उस समय घर-परिवार, मित्र, परिकर, धन-सचय के मोह मे आकर वह अपना समय बिता देता है। मनुष्य-भव गया कि ससाररूपी जेल से निकलने का द्वार भी इस जीव के हाथ से निकल गया। जब कभी सौभाग्य से मनुष्य का शरीर मिला तब फिर पुत्र-मोह, शत्रु-द्वेष, कन्या के जीवन की चिन्ता, दरिद्रता से मुक्ति आदि मे फँसकर उस सुवर्ण अवसर से लाभ नही ले पाता।

इस सासारिक भ्रमण का मूल कारण 'मोह' है। मोह मे आबद्ध होकर जीव विवेक-शून्य हो जाता है। जब विवेक कुछ कार्य नही करता तब अविवेक से यह जीव अपने आपको नही पहचान पाता, जड शरीर को ही आत्मा समझ बैठता है। कोई भी कार्य, वह चाहे लौकिक हो अथवा अलौकिक हो—श्रद्धा-ज्ञानयुक्त आचरण के बल पर सिद्ध होता है। किसी रोगी को यदि रोग से छुटकारा पाना है तो उसे वैद्य तथा औषधि पर दृढ श्रद्धा होनी चाहिये कि इसके द्वारा मैं नीरोग हो जाऊँगा। उसे औषधि-सेवन का ज्ञान होना चाहिये कि अमुक औषधि पीने के लिये है और अमुक औषधि मालिश के लिए है। इसी के साथ औषधि का सेवन भी आवश्यक है। इन तीनो प्रक्रियाओ से रोगी रोग-मुक्त हो जाता है।

संसार-भ्रमण या जन्म-मृत्यु के रोग से मुक्ति पाने के लिये भी जीव को इसी प्रक्रिया को ठीक तरह से अपनाना पडता है। ज्ञान और आचरण पर लगाम लगाने वाली श्रद्धा है। श्रद्धा के अनुसार ही ज्ञान, आचरण स्वय चल पडते हैं। किसी मनुष्य के हृदय मे यह श्रद्धा (विश्वास) घर कर जाए कि दूध मुझे हानि करता है तो दूध के विषय में उसकी विरोधी विचारधारा चल पडेगी। वह प्रत्येक तरह से दूध को दुःखदायक विचारने लगेगा और लाखों यत्न करने पर भी वह दूध पीना स्वीकार न करेगा।

इसी तरह संसारी जीव की श्रद्धा अपने शरीर पर जमी हुई है। उसे विश्वास है कि यह अपनी ही एक चीज है, पराई नहीं है। सुख, दुःख, हर्ष, शोक, लाभ, हानि मुझे शरीर से ही प्राप्त होते हैं। एक क्षण भी शरीर के बिना मैं कुछ नही कर सकता।

अतः शरीर रूप ही मैं हूं। ऐसी दृढ़ श्रद्धा संसारी जीव की अपने शरीर के साथ है। इसी श्रद्धा के अनुसार उसका ज्ञान उन व्यक्तियों को अपना मित्र समझता है जो इसके शरीर को कुछ लाभ पहुंचाते हैं, और जिन प्राणियों से इसके शरीर को रंचमात्र भी क्षति पहुंचती है उनको अपना शत्रु समझ लेता है। जिन वस्तुओं से शरीर को कुछ लाभ अनुभव होता है उनको प्रिय, और जिन चीजो से इसे अपने शरीर की हानि ज्ञान पड़ती है उन्हें अप्रिय समझ लेता है। अपनी उसी श्रद्धा के अनुसार समझे हुए मित्रो से प्रेम करता है और शत्रु माने हुए लोगों से बैर बांध कर उनसे लड़ता-झगड़ता है। प्रिय वस्तुओ का संग्रह करता है, अप्रिय वस्तुओं को दूर हटा देता है, तोड़-फोड़ डालता है।

इसी प्रेम बैर के आधार पर जीव ससार के सभी कार्य किया करता है। इस कारण संसार का मूल शरीर मे आत्मा की श्रद्धा ही है। यह श्रद्धा सत्य श्रद्धा नही है क्योकि शरीर तो एक तरह ससारी जीव का कुछ देर तक किराये पर लिया हुआ एक घर है। नियत समय के बाद यह किराये का मकान जीव को नियम से खाली करना पड़ता है। इस दशा मे यह शरीर जीव का अपना पदार्थ किस तरह बन सकता है। अतः शरीर मे आत्मा की श्रद्धा को 'श्रद्धा' न कहकर कुश्रद्धा या मिथ्या श्रद्धा कहना चाहिये। इससे यह बात सिद्ध होती है कि संसारी जीव को ससार की जेल मे रखने वाला कोई और नही है, इसी के हृदय मे जमी हुई मिथ्या श्रद्धा ही इसको ससार जेल से बाहर नही जाने देती।

अपनी उस कुश्रद्धा के आधार पर ही जीव शरीर के साझे मे संसार का व्यापार कर रहा है। आत्मा शरीर को अपनी इच्छा अनुसार चलाता है। आत्मा जब शरीर को दौड़ने, भार उठाने, सर्दी, गर्मी, वर्षा मे कार्य करने, कठिन परिश्रम करने आदि का संकेत करता है, शरीर वैसा ही करता है, और शरीर आत्मा से अपने लिये जैसे वस्त्र, आभूषण, तेल, उबटन, भोजन तथा अन्य पोषण, विश्राम के पदार्थ मांगता है, आत्मा वे पदार्थ शरीर को प्रदान करता है। इस तरह शरीर तथा आत्मा का साझा ससार मे अनादि काल से चला आ रहा है। इसी साझे के कारण आत्मा शरीर को अपना ही समझ बैठा है। इतना ही नही, बल्कि शरीर के मोह मे मूर्छित होकर स्वयं अपनी सुध-बुध भुला बैठा है। शरीर के कारण ही माता, पिता, पुत्र, स्त्री, भ्राता आदि विविध व्यक्तियो के साथ विविध सम्बन्ध स्थापित कर लेता है।

इसी मोह भाव के कारण आत्मा अपने बन्धन के लिए कर्म-बन्ध स्वयं तैयार करता है। कर्म का बन्धन होता तो पौद्‌गलिक है[1] किन्तु आत्मा के मोहमय भावो के प्रभाव से वे जड़ कर्म भी मोह-उत्पादक प्रभाव से प्रभावित हो जाते है, जिससे समय आने पर मोह कर्म आत्मा पर मोह का प्रभाव डालता है। जैसे कोई शराबी स्वयं नशीली शराब तैयार करता है और जब वह उस शराब को पीता है तब वह शराब उस मनुष्य को अपने प्रभाव से मूर्छित कर देती है। इसी तरह ससारी जीव शारीरिक मोह के कारण अपने भावो से कर्म बन्धन करता है और वह कर्म-बन्ध इस जीव को अपने प्रभाव से विकृत कर देता है। इस तरह भाव कर्म से द्रव्य कर्म, और द्रव्य कर्म से भाव कर्म बनता रहता है, कर्म-बन्धन की परम्परा चलती रहती है।

कर्म बन्धन का मूल कारण वह एक मिथ्या श्रद्धा ही है जिसके कारण जीव शरीर मे अपनापन प्रगट किया करता है। किन्तु शरीर निजी वस्तु नही, न सदा आत्मा के साथ वह रहता है, कभी उत्पन्न होता है, कभी नष्ट होता है, कभी बढ़ता है, कभी घटता है, अतः आत्मा शरीर मे अपनापन मानकर कभी सन्तुष्ट, शान्त, सदा सुखी नही बन पाता, सदा व्याकुल बना रहता है।

यदि कभी आत्मा को सौभाग्य से किसी सद्‌गुरु का समागम उपलब्ध हो जाता है, तो वे दयालु होकर मोह-ग्रस्त ससारी जीव को अपने परम हित उपदेश से सावधान करते हैं कि 'जिस सुख-शान्ति के लिये तू बाहर भटक रहा है, सुख-शान्ति का वह अथाह सागर तो तेरे भीतर (शरीर में नही, आत्मा मे) हिलोरें ले रहा है। कस्तूरी-हिरण की नाभि मे कस्तूरी होती है, उसकी मोहक सुगन्धि में वह हिरण मस्त हो जाता है, किन्तु भ्रम से वह उस सुगन्धि को अपने भीतर न समझकर बाहर की कोई अन्य वस्तु समझता है, अतः इधर-उधर दौड़ता-फिरता दूसरी-दूसरी चीजो को सूंघता-सूंघता थक जाता है। किन्तु उसकी इच्छा-तृप्ति नहीं हो पाती। वैसे ही दशा तेरी है। अतः बाहर की ओर से अपनी विचारधारा हटाकर अपने अतरंग की ओर उन्मुख हो, अन्तर्मुख होने पर ही तुझे शान्ति प्राप्त होगी, तेरी आकुलता दूर होगी और तेरी परतन्त्रता के बन्धन ढीले होंगे। तेरे भीतर अपार अक्षय निधि भरी हुई है तू अपने आपको दीन-हीन क्यों समझ रहा है, एक बार अपनी ओर देख तो सही।'

१. "मूलभूत पुद्‌गल पदार्थ तो अविभागी परमाणु ही है। उनके परस्पर बंध से ही जगत् के चित्र-विचित्र पदार्थों का निर्माण होता है जो स्कंध कहलाते हैं। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ये पुद्‌गल के प्रसिद्ध गुण हैं।"

—जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग ३—क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, पृ०—६७

दीनबन्धु पतितपावन सद्गुरु की इस हितवाणी को सुन कर जब जीव की मिथ्या श्रद्धा में परिवर्तन आता है, जब उसके हृदय में आत्म-श्रद्धा जाग्रत होती है, तब मिथ्या श्रद्धा का जनक (उत्पादक) मोहनीय कर्म स्वयं इस प्रकार दूर हो जाता है जिस तरह विस्तृत खुले मैदान में सूर्य उदय होने पर रात का अन्धेरा लापता हो जाता है, ढूढने पर भी वहाँ कहीं नहीं दीख पाता। मिथ्या श्रद्धा का गहन अन्धकार हटते ही इस जीव के भीतर आत्म-ज्योति जगमगा जाती है जिससे आत्मा को अपनी अनुभूति होने लगती है। उस स्व-आत्म-अनुभूति से इस जीव को जो महान् अनुपम आनन्द प्राप्त होता है, वह संसार के किसी भी इष्ट भोग्य-उपभोग्य पदार्थ के अनुभव से नहीं मिलता। वह निज-आत्मा का आनन्द न तो कहा जा सकता है, न किसी उपमा से प्रगट किया जा सकता है। जैसे गूगा मनुष्य किसी विषय के सुख को स्वयं अनुभव तो करता है परन्तु किसी अन्य व्यक्ति को बतला नही सकता, ठीक ऐसी ही बात आत्म-अनुभवी की हो जाती है। उस आत्म-अनुभव को जैन दर्शन मे 'सम्यग्दर्शन' कहा है।

सम्यग्दर्शन होते ही जीव की विचारधारा तथा कार्यप्रणाली मे महान् परिवर्तन आ जाता है। उसे फिर अपने आत्मा के सिवाय अन्य किसी पदार्थ मे रुचि नही रहती। वह बाहरी पदार्थों को छूता हुआ भी उनमें रत (लीन) नहीं होता—अछूता-सा रह जाता है। स्वादिष्ट पदार्थों को जीभ पर रखता हुआ, दातो से उसे चबाता हुआ भी उनके स्वाद से अनजान बना रहता है, जैसे गोम्मटसार की टीका करते समय पं० टोडरमल जी को दाल-शाक मे पडा हुआ कम-अधिक नमक मालूम नही होता था।

आत्म-अनुभव प्राप्त व्यक्ति को सुगन्धित पदार्थों की सुगन्धि अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाती। उसके नेत्र सुन्दर रंगीले पदार्थों को देखकर भी अदेखे-से बने रहते हैं। वह सुन्दर पदार्थों को देखकर उनमें तन्मय या मुग्ध नही हुआ करता। उसके कान सब कुछ सुनकर भी अनसुने-से रहते हैं। गीत-वाद्य मे उसे आनन्द अनुभव नहीं होता।

उस समय वह यदि कुछ छूना चाहता है तो ससार-विरक्त वीतराग गुरुओ के चरण छूना चाहता है। यदि जीभ से कुछ करना चाहता है तो वीतराग-कथा या आत्मगुण-कथन करना चाहता है। नेत्रों से सदा वीतराग भगवान् व गुरु का दर्शन करना चाहता है तथा शास्त्र पढना चाहता है तथा कानो मे जिनवाणी, गुरु का उपदेश सुनना चाहता है। उसकी मानसिक-वृत्ति ससार से विरक्त और आत्मा की ओर सलग्न हो जाती है।

वह गृहस्थाश्रम मे रहता हुआ भी, गृहस्थाश्रम के सब कार्य करता हुआ भी, उनसे इस प्रकार अलिप्त-अछूता रहता है जिस तरह कीचड मे पडा हुआ सोना मैला नही होने पाता या जल मे रहता हुआ भी कमल जल से अछूता रहता है। भरत चक्रवर्ती इस आत्म-अनुभव के कारण षट्खण्ड का अधिनायक और ९६००० स्त्रियो का पति होकर भी, समस्त भोग-सम्भोग का भोग-उपभोग करता हुआ भी विरक्त रहता था। इसी का परिणाम यह हुआ कि दीक्षा लेकर आत्मध्यान मे बैठते ही उसका मोहकर्म तथा अन्य घाति-कर्म क्षय होकर केवल-ज्ञान हो गया।

सम्यग्दर्शन होते ही जब ज्ञान और आचरण ठीक धारा मे बह उठते हैं तब उनका नाम सम्यग्दर्शन सच्चारित्र (स्वरूपाचरण आदि) हो जाता है। ऐसा व्यक्ति अवश्य स्वल्पकाल मे ससार से मुक्त हो जाता है। यदि कुछ समय ससार मे रहता है, तो अच्छे पद पर प्रतिष्ठित जीवन व्यतीत करता है। दुर्गति, दीनकुल, दरिद्रघर, हीनांग, अधिकांग, विकल शरीर नही पाता। स्त्री, नपुसक शरीर उसे नही मिलता, सम्यग्दर्शन से पहले नरकायु बन्ध कर लेने वाला प्रथम नरक से नीचे नही जाता। स्थावर, विकलत्रय तथा निम्नश्रेणी का देव नही होता।

अनुकम्पा

फलों को चार भागो मे बाटा जा सकता है—१ जो भीतर और बाहर से नीरस हैं, जैसे– सुपारी। २. जो बाहर मीठे हैं किन्तु भीतर से नीरस हैं, जैसे –बेर। ३. जो बाहर नीरस या कठोर हैं किन्तु भीतर से नम्र, स्वादिष्ट हैं, जैसे– बादाम। ४. जो बाहर भी कोमल, मीठे, सरस हैं और भीतर भी मीठे, कोमल, सरस है, जैसे—अंगूर। ठीक इसी प्रकार मनुष्यों की चार श्रेणियां हैं—१. जिनका हृदय भी कोमल है और वाणी तथा शारीरिक प्रवृत्ति भी कोमल है। २. जिनका हृदय कोमल है किन्तु जो बेलाग सत्य साफ कह देते हैं। वह वचन चाहे सुनने वाले को मीठा प्रतीत न हो। ३. जो बाहर से मीठे हो, जिनकी वाणी और व्यवहार सरस रुचिकर दीखता हो किन्तु हृदय कठोर व काला हो। ४. जिनका हृदय भी कठोर तथा काला हो और जिनका वचन भी कठोर व अप्रिय हो, साथ ही शरीर भी भयानक हो।

पहली श्रेणी के मनुष्य अति सज्जन होते हैं, जैसे कि महाव्रती साधु। वे प्रिय वचन बोलते हैं। अत्यन्त दयालु होने से उनकी शारीरिक प्रवृत्ति भी दूसरों के लिये हितकारी होती है। किसी भी प्राणी को वे लेशमात्र कष्ट नहीं देते। यदि कोई मूर्ख उनको

प्राण-नाशक कष्ट भी देता है तो भी वे उस पर क्रोधित नहीं होते, वे उसको शुभ आशीर्वाद ही देते हैं। रात-दिन स्व-कल्याण, पर-उपकार करना जिनका कार्य होता है। वे उत्तम पुरुष कहलाते हैं।

दूसरी श्रेणी के मनुष्य सज्जन होते हैं। उनके हृदय मे दूसरों के लिये सद्भावना होती है। दूसरो की उन्नति देखकर जिन्हें हर्ष होता है, किन्तु बोलने मे साफ-साफ सत्य कह देते हैं। वह बात यदि किसी को अप्रिय लगती है तो लगे, उन्हें चिन्ता नही होती। मीठा बोलकर दूसरों को प्रसन्न करना, चापलूसी, खुशामदी वचन करने की जिन्हे आदत नही होती। वे बाहर से कठोर प्रतीत होते हैं, सरस नहीं दिखाई देते। स्वार्थ-साधन के लिये अन्य व्यक्ति को हानि नही पहुंचाते, परन्तु स्वार्थ का घात करके जो परोपकार भी नहीं करते, यानी—जिस कार्य में अपने को हानि न हो ऐसा परोपकार का कार्य कर देते हैं। ऐसे पुरुष मध्यम कहलाते हैं।

तीसरी श्रेणी के मनुष्य भीतरी दुष्ट होते हैं। उनका बाहरी व्यवहार मीठा होता है। वे बहुत मीठा बोलते हैं। सभ्य भाषा में दूसरों का मन अपनी ओर खींच लेते हैं, जिनके शारीरिक आचरण मे भी कठोरता नही दिखाई देती, बहुत शिष्ट-सज्जन प्रतीत होते हैं, किन्तु उनका हृदय मीठा नही होता। उनका हृदय काला होता है। मन मे दूसरो को हानि पहुचाने की भावना बनी रहती है। दूसरों की हानि या पतन से जिन्हे हर्ष होता है। स्वार्थ-साधन के लिये जिन्हें अन्य जीवो को कष्ट देने मे भी सकोच नहीं होता, "मुख में राम बगल मे छुरा" आदि उपाधिया जिन पर चरितार्थ होती हैं। ऐसे मनुष्य दुष्ट कहे जाते हैं।

चौथी श्रेणी के मनुष्यो का बाहरी और भीतरी बर्ताव कठोर होता है। उनका मन भी काला होता है और उनके वचन भी कड़ुवे होते हैं। जिनकी आकृति भी भयानक होती है, जिनको देखते ही जानवरों तक को डर लगता है। जो किसी का उपकार करना तो जानते ही नही। दूसरों को हानि पहुचाने के लिये यदि उन्हें अपनी भी कुछ हानि करनी पडे तो भी वे अच्छा समझते हैं। दूसरो की हानि होते देखकर या सुनकर जिनको बहुत हर्ष होता है, जिन्हें मारना-कूटना, गाली-गलौच देना, क्लेश करना, भय उपजाना, शोर मचाना, अन्य का अपमान करना रात-दिन प्रिय मालूम होता है। ऐसे लोग महादुष्ट या अधम कहे जाते है।

इसी तरह की मिलती-जुलती श्रेणियाँ पशुओ मे भी होती है। गाय आदि अनेक पशु-पक्षी ऐसे होते है जो किसी अन्य जीव को कष्ट नही देते। स्वय कष्ट सह कर लोक-कल्याण के लिये अमृत जैसा गुणकारी दूध देते हैं। हिरण, कबूतर आदि निरामिषभोजी (मास न खाने वाले) भोले जीव ऐसे हैं जो किसी को कष्ट तो नही देते किन्तु किसी का उपकार भी नही करते। बगुला, सारस आदि ऐसे जीव हैं जो बाहर से उज्ज्वल साधु जैसे दीखते हैं। एक टाग उठाकर ध्यानी साधु की तरह खडे हो जाते हैं, परन्तु भीतर से इतने काले होते हैं कि मछली नजर आते ही झट दबोच लेते है। ससार मे भोजन के लिये असख्य पदार्थ है किन्तु वे मछलिया पकड कर ही खाते हैं। कौवा, मगर, काला सर्प, भेडिया, तेंदुआ, चीता आदि अनेक ऐसे जानवर हैं जो बाहर से भी भयानक एव काले है और जिनका हृदय भी काला होता है। सदा बुरे पदार्थ खाना, दुष्टता से दूसरे जीवो को दुख देना जिनका स्वभाव है, कभी किसी का भला करना तो जिनको आता ही नही।

परन्तु मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो अच्छे सस्कारो मे आ जाए तो महान् स्व-पर उपकारी साधु बन जाए, जगत् के कल्याण के लिये सभी सभव कार्य कर डाले और यदि वह कुसस्कारो मे पड कर दुष्ट प्रकृति धारण कर ले तो ऐसा महादुर्जन कुकर्मी बन जाता है कि ससार मे उसके समान भयानक जीव भी न मिल सके। मनुष्य सातवें नरक तो जा ही सकता है किन्तु उसके परिणाम इतने भयानक, दुष्ट, उग्र हो जाते है कि उस समय सातवें नरक की आयु बांधने के भावो से भी अधिक बुरे भाव होते हैं जिनसे कि किसी भी आयु का बन्ध नही होता, क्योकि ससार मे सातवें नरक से भी बढकर दु:खदायी कोई स्थान नही पाया जाता।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह स्वभावत: परिवार तथा समाज के साथ रहा करता है। अकेला-दुकेला रह कर उसका निर्वाह नही हो सकता। मनुष्यो मे जब तक आपस का सहयोग व सहानुभूति न हो तब तक उनका जीवन-निर्वाह नही हो सकता। अत: जो मनुष्य अति दुष्ट प्रकृति के महाभयानक प्राणी माने जाते हैं उनका निर्वाह भी अकेले नही होता। उन्हे भी कुछ न कुछ अपना समाज (समुदाय) बनाना ही पडता है, तभी वे जीवित रह सकते हैं।

सामाजिक रूप मे रहने के लिये मनुष्य के हृदय मे सहानुभूति (हमदर्दी) का होना आवश्यक है। मनुष्य यदि अपने समाज के जाति भाइयो का सुख-दु:ख अनुभव न करे, उनके सुख-दु:ख मे भाग न बंटावे तो वह समाज के रूप में कदापि नही रह सकता। वैसे तो यह बात अतिदुष्ट पशु-पक्षियो मे भी पाई जाती है। वे भी अपना झुण्ड बना कर रहते हैं, परन्तु वे अकेले रह कर भी अपना जीवन बिता लेते हैं। सिंह प्राय. अकेला ही रहता है, परन्तु मनुष्य ऐसा नही कर सकता।

तो हां, जिस सहानुभूति गुण के कारण मनुष्य समाज के रूप मे रहता है उस सहानुभूति की माता (उत्पन्न करने वाली) है 'अनुकम्पा', जिसका प्रसिद्ध नाम दया है। दया गुण के कारण मनुष्य का हृदय दूसरे का दु:ख देखकर पिघल जाता है, व्याकुल हो जाता

है, रो उठता है और स्वयं ऐसी सद्भावना प्रगट होती है कि उस दुःखी जीव का दुःख दूर हुए बिना शान्ति नहीं आती। उस दुःख को दूर करने में चाहे अपने को कुछ कष्ट भी क्यो न उठाना पड़े। यह दया का भाव मनुष्य के हृदय मे स्वाभाविक होता है, किसी की प्रेरणा पर ही नही होता।

एक दयाचन्द्र नामक युवक था। एक दिन गर्मियो मे वह दोपहर के समय एक वृक्ष के नीचे खड़ा हुआ विश्राम कर रहा था। सूर्य की किरणो से जमीन गर्म तवे की तरह तप रही थी। उसी समय दयाचन्द्र ने देखा कि उस पेड से एक बीछू जमीन पर रेत मे गिरा है। गर्म रेत मे पड कर वह तडफड़ाने लगा। यह देखकर दयाचन्द्र को दया आई, उसने बीछू को उठा कर पेड़ की ठडी छाया मे रखना चाहा, परन्तु बीछू को उठाते ही बीछू ने दयाचन्द्र के हाथ मे डक मारा।

बीछू के काटने से दयाचन्द्र को बहुत पीडा हुई। उसने ज्योंही अपना हाथ झटकारा कि बीछू फिर गर्म रेत मे गिर कर तडफड़ाने लगा। बीछू को देखते ही दयाचन्द्र अपना दुःख भूल गया। उसने फिर बीछू को उस रेत मे से उठाकर छाया में रखना चाहा। ज्योंही उसने बीछू उठाया कि बीछू ने छूते ही फिर डक मारा। दुबारा काटने से दयाचन्द्र के हाथ से बीछू रेत मे ही गिर पड़ा और गर्म रेत मे पहले की तरह तडफडाने लगा। दयाचन्द्र से बीछू का दुःख न देखा गया और उसने बीछू के प्राण बचाने के लिये बीछू को उठाया। बीछू ने तीसरी बार भी दयाचन्द्र को काटा परन्तु अबकी बार दयाचन्द्र ने उसे छाया मे रख ही दिया।

वहाँ देखने वाले मनुष्यो ने दयाचन्द्र से कहा कि 'तू बहुत मूर्ख है, बीछू के बार-बार काटने पर भी उसे उठाता ही रहा।' दयाचन्द्र ने उत्तर दिया कि मैं क्या करूं? मुझसे उसका तडफड़ाना नही देखा गया। यदि बीछू ने अपनी डंक मारने की आदत नहीं छोडी तो मैं दया करने की अपनी आदत कैसे छोड़ देता। ?

इसी दया भाव के कारण मनुष्य दूसरो का दुःख दूर करने के लिये झट तैयार हो जाता है। दूसरो का दुःख दूर करते हुए कभी-कभी दयालु मनुष्य अपने प्राणो की भी चिन्ता न करके भयानक विपत्ति मे फस जाते हैं, दूसरो को बचाते हुए स्वय मर भी जाते है।

अभी दो-तीन मास पहले मध्यप्रदेश की एक कोयले की खान मे ११२ मजदूर कोयला खोद कर निकाल रहे थे कि अचानक पास की दूसरी खान के स्रोत से उस खान मे पानी भरने लगा। तब सब मजदूर अपने प्राण बचाने के लिये लिफ्ट से बाहर आने लगे। पानी बहुत तेजी से खान मे भर रहा था। लिफ्ट भी उन्हे शीघ्र बाहर निकालने के लिये कार्य कर रही थी। एक मजदूर जो खान से बाहर आ गया था वह खान मे फसे हुए दूसरे मजदूरो को बचाने के लिए लिफ्ट द्वारा बार-बार खान मे जाता था और मजदूरो को बाहर ले आता था। पाँचवी बार जब वह खान मे गया तो उसने दूसरे मजदूरो को तो लिफ्ट मे चढ़ा दिया परन्तु आप न चढ़ सका और वही ८० फुट भरे हुए पानी मे डूब कर मर गया।

इस प्रकार दयालु पुरुष दूसरो की रक्षा करने मे अपने कष्टो को भूल जाते हैं, इसी दया भाव के कारण मनुष्यों मे परस्पर प्रेमभाव बना हुआ है और प्रेम के कारण मनुष्य आपस मे मिलजुल कर रहते हैं। परिवार, जाति, समाज के सगठन इसी आपसी प्रेम के कारण बने हुए हैं।

कुत्ता अपने जाति भाई दूसरे कुत्ते को देखकर उसे काटने के लिये दौडता है और यदि उसे कोई न रोके तो वह दूसरे कुत्ते को मार ही देता है। इस आपसी द्वेष और निर्दयता के कारण कुत्तो का आपसी सगठन नही दिखाई देता और न वे बडी संख्या मे कही रहते हैं। दूसरे पशु आपस मे प्रेम से रहते हैं। एक दूसरे का दुःख दूर करने मे परस्पर सहायता करते हैं। अतः उनका झुण्ड इकट्ठा भी रहता है। अतएव सगठन का मूल कारण 'दया या अनुकम्पा' है।

दया आत्मा का एक स्वाभाविक गुण है, जो कि प्रत्येक जीव मे पाया जाता है। जो जानवर प्रकृति के होते हैं उनके हृदय में भी दया का अंश रहता है जिससे कि वे अपने बच्चो को दुःख नही होने देते। बड़ी सावधानी से चौकन्ने रहकर उनका पालन-पोषण करते हैं। भेड़िया बहुत निर्दय दुष्ट जानवर है। परन्तु उसे भी कभी-कभी दूसरों पर दया आ जाती है। इसी कारण जब वह खाने के लिये मनुष्य के बच्चे को उठा ले जाता है, तब कभी-कभी उसे दया आ जाती है और उस मनुष्य के बच्चे को मारता नही बल्कि उसे अपने बच्चों की तरह ही पाल लेता है। मादा भेडिया उसे अपना दूध पिलाकर पाल लेती है। भेड़ियो द्वारा पाले गये ऐसे अनेक बालक-बालिकायें भेड़ियो की मांद से मिले हैं।

इसी तरह अन्य खूंखार भयानक पशुओं तथा दुष्ट मनुष्यों के हृदय में भी अनुकम्पा छिपी रहती है जिससे कि अपने बच्चों तथा संबंधियों को दुःखी देखकर उनका मन व्याकुल हो उठता है। इससे जाना जाता है कि दूसरो को मारना, सताना, दुःख देना पाप है और दूसरे जीवों पर दया करना बडा धर्म है।

बुद्धिमान् मनुष्यो का कर्तव्य है कि सदा दीन-दुःखी जीवो पर अनुकम्पा करके उनके दुख दूर करते रहे। जो मनुष्य दयालु चित्त होते हैं, दूसरे जीव उनसे डरते नही है। निडर होकर उनके पास आ जाते हैं। उनसे प्रेम करते है। खूंखार निर्दय पशुओं पर भी उनके दयाभाव का प्रभाव पडता है और वे भी उन दयालु पुरुषो के सामने अपनी क्रूरता छोड देत हैं।

अत इस महान् धर्म को कभी न छोडना चाहिये। अपने घर पर यदि कोई भूखा आए तो स्वय अपना भोजन उसको करा दो। पशु, पक्षी, कीड़ा, मकोड़ा कोई भी जीव हो सदा सब पर दया करते रहो।

धार्मिक पुरुष का मुख्य चिह्न दया है। जैनधर्म दया पर आश्रित है। अत संसार के दुःखी जीवो का अपनी शक्ति के अनुसार दुःख मिटाना प्रत्येक जैन का कर्तव्य है।

तृष्णा

संसार के समस्त प्राणी इन्द्रियो के दास बनकर एक ही दिशा मे दौडे जा रहे हैं। अपने मन वचन और शरीर की शक्ति का उपयोग अपनी इन्द्रियों की प्यास बुझाने के लिये या इन्द्रियो को प्रसन्न करने के लिये कर रहे है। इसी भाग-दौड़ मे उनकी सारी आयु बीत जाती है, सारा बल-विक्रम नष्ट हो जाता है परन्तु उनकी प्यास नही बुझ पाती। जिस तरह खारा पानी पीने से प्यास बुझती नही है, और अधिक बढती है, इसी प्रकार इन्द्रियो के विषय-भोग पहले तो अपनी इच्छानुसार मिलते नही है क्योकि प्रत्येक प्राणी को इतनी तृष्णा है कि वह समस्त ससार के पदार्थ अकेला ही ले लेना चाहता है, तब अनन्त प्राणियो की इच्छा कही पूर्ण हो सकती है!

आत्मानुशासन मे श्री गुणभद्र आचार्य ने कहा है—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यत्र विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथातो विषयैषिता ॥

प्रत्येक प्राणी को इतनी दीर्घ आशा लगी हुई है कि उसकी आशा के गहरे गड्ढे को भरने के लिये समस्त ससार परमाणु समान दीखता है। इस दशा मे किस-किस जीव की आशा पूर्ति के लिये सासारिक वस्तुओं का कितना-कितना हिस्सा आ सकता है? अर्थात् सारे ससार के पदार्थों मे एक जीव की भी आशा पूर्ण नही हो सकती तब समस्त जीवो की इच्छा पूर्ण होने के लिये कुछ भी नही रहता। इस कारण विषयो की इच्छा करना व्यर्थ है।

हाथी जैसा विशालकाय और महाबलवान प्राणी कागज की बनी हुई हथिनी को सच्ची हथिनी समझ कर उसमे अपनी विषय-वासना तृप्त करने के लिये उसकी ओर दौडता है। उसको पता नही होता कि जहां वह कागज की हथिनी रक्खी है उसके नीचे खड्डा बना हुआ है। परिणाम यह होता है कि वह हाथी वहा पहुचते ही उस खड्डे मे जा पडता है, और मनुष्य वहा से उसे पकड कर ले जाते हैं, फिर जन्म भर उसे पराधीनता मे रहना पडता है।

मछियारे मछली पकडने के लिये लोहे के काटे पर जरा-सा आटा लगा देते है। मछली उस आटे को खाने के लिये ज्यों ही उस पर झपटती है कि वह लोहे का काटा उसके गले मे फस जाता है और जीभ की लालसा पूर्ण करने के लिये वह अपने प्राणों से हाथ धो लेती है।

भौंरा सुगन्धि का बडा लोभी होता है। सुगन्धित पदार्थों को सूघने के लिये उधर जा पहुचता है। सूघते-सूघते वहाँ से हटना नही चाहता, और कभी-कभी तो अपने प्राण भी वही दे बैठता है। कमल का फूल दिन मे खिलता है और रात्रि को बन्द हो जाता है। दिन मे उस खिले हुए कमल के फूल पर भौंरा उसकी सुगन्धि सूघने आ बैठता है, और सूघते-सूघते वही बैठा रहता है। अनेक बार रात को भी उस कमल के भीतर रह कर अपने प्राण तक दे डालता है।

अपनी आखो की प्यास बुझाने के लिये पतगा रात को दीपक, लालटेन, बिजली के जलते हुए बल्ब पर झपटता है और वहीं पर जल कर मर जाता है। आजकल रात मे असख्य पतगे प्रतिदिन इसी तरह अपने प्राणों की बाजी लगाकर अपनी आंखों की लालसा पूरी करने का यत्न करते हैं और उसी तरह यत्न मे मर जाते हैं।

हिरण को मीठे सुरीले बाजे की ध्वनि सुनने मे बहुत रुचि होती है। इसी कारण हिरणों को पकड़ने के लिये कुछ मनुष्य

जंगल मे जाकर सुरीला बाजा बजाते हैं । बाजे का मधुर स्वर सुनने के लिये हिरण उधर चला आता है और शिकारी के हाथो मे अपने कानो की इच्छा पूर्ण करते हुए फंस जाता है ।

इस तरह एक-एक इन्द्रिय के दास हाथी, मछली, भौंरा, पतगा और हिरण अपने आपको विपत्ति मे डाल देते हैं तो पांचों इन्द्रियो का दास यह मनुष्य तो अनेक विपत्ति उठाता ही रहता है ।

मनुष्य जब यह देखता है कि इन्द्रियो के विषय-भोग धन के द्वारा प्राप्त होते है तो धन कमाने की आशा मे बुरे से बुरे और कडे से कडे काम करने पर उतारू हो जाता है । देश विदेश मे घूमना, आकाश मे उड़ना, नदी नाले लांघना, समुद्र मे यात्रा करना, पृथ्वी के नीचे खानो मे घुसना, धनिक लोगो की गुलामी करना, चोरी करना, विश्वासघात करना, अनीति करना, डाका डालना, अत्याचार करना, हिंसा करना, व्यभिचार करना-कराना आदि सभी बुरे से बुरे कार्य मनुष्य रुपया-पैसा पाने की आशा में किया करता है । धन की आशा मे सब किसी नीच, ऊच, दुराचारी, दुष्ट, निर्दय, अयोग्य पुरुष की चाकरी करने लगता है । एक कवि ने कहा है—

आशाया ये दासास्ते दासा सर्वलोकस्य ।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः ॥

जो मनुष्य आशा के चाकर बने हुए है, वे सारे ससार के चाकर हैं यानी धन की आशा दिखाकर कोई भी मनुष्य उन्हें अपना नौकर बना सकता है । और जो मनुष्य आशा को अपनी दासी बना लेते हैं यानी आशा को अपने वश मे कर लेते हैं सारा ससार उनका दास बन जाता है ।

बडे-बडे धनिक सेठ, राजे, महाराजे, सम्राट्, चक्रवर्ती आशा के चक्कर मे पड कर सदा चिन्ताकुल बने रहते हैं । उन्हें अपने धन तथा राज्य को बढाने की तथा उनको सुरक्षित रखने की चिन्ता लगी रहती है । उसी चिन्ता के कारण ये रात को निश्चिन्त होकर सो भी नही सकते । उनको सदा चोर-डाकुओ राजविप्लव, आक्रमण आदि का भय बना रहता है । भोजन भी सन्तोष से नहीं कर पाते । उन्हे उसमे भी विष आदि मिलने की आशका बनी रहती है । इस तरह बडी सम्पत्ति और राज्य पाकर भी सुख से न खा पी सकते हैं, न आराम मे सो सकते हैं । सदा कैदियों की तरह पहरेदारो के पहरे मे बाहर आते-जाते हैं । इस तरह आशा तृष्णा का शिकार यह मनुष्य किसी भी तरह सुख-शाति नही पाता ।

इसी कारण एक कवि ने कहा है—

आशा हि परम दुःखं नैराश्य परम सुखम् ।
यथा संछिन्द्य कान्ताशां सुख सुष्वाप पिङ्गला ॥

किसी विषय की आशा बहुत दु:खदायक है, आशा छोड देना बहुत सुखदायक है । पिङ्गला ने जब अपने प्रियतम की आशा छोड दी तो उसने सुख की नीद ली ।

पिङ्गला नामक एक वेश्या थी । उसके एक प्रेमी ने एक बार पिङ्गला को एक स्थान पर मिलने का सकेत किया । पिङ्गला उस स्थान पर नियत समय पर पहुच गई और अपने प्रेमी के आने की प्रतीक्षा करने लगी । अपने प्रेमी की आशा मे बैठे-बैठे जब पिङ्गला को बहुत समय बीत गया और उसका प्रेमी नही आया, तब पिङ्गला के हृदय मे विवेक जाग्रत हुआ कि मेरा सच्चा प्रियतम तो मेरा भगवान् है जो कि हृदय मे सदा रह सकता है । यदि मैं अपने हृदय से बुरी वासनाओ के कूडे को झाड-बुहार कर निकाल फेंकू तो प्यारा भगवान् सदा मेरे पास रहेगा । मै उन दुराचारी स्वार्थी प्रेमियो की आशा मे अपना जीवन क्यो खराब करूं ।

ऐसा विचार कर उसने ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया और कामवासना के प्रेमी अपने सब मित्रो की आशा छोडकर, धन-भोगो की आशा छोड कर भगवान् की भक्ति मे लग गई और बहुत आराम से रहने लगी ।

इसी प्रकार जो आशा के पाश मे फसे रहते है वे दुखी बने रहते हैं । जो सब तरह की आशाओ को छोड कर अपने प्रियतम आत्मा मे तन्मय हो जाते है वे परमसुखी हो जाते हैं । चक्रवर्ती सम्राटो को राज्य करते हुए विषय-भोगो मे शाति और तृप्ति नही मिली । जिस समय वे विषय-भोगो की आशा छोड कर घर-बार राज-पाट से सम्बन्ध तोडकर साधु बन गये तब उनको शांति और सुख स्वय अपने आत्मा मे ही मिल गया ।

जिस तरह मनुष्य यदि अपने शरीर की छाया को पकडने दौडे तो छाया हाथ नही आती, आगे-आगे भागती चली जाती है । यदि मनुष्य उसको पकडना छोडकर अपने मार्ग पर चला चले तो वही छाया मनुष्य के पीछे स्वय चलने लगती है । इसी तरह

मनुष्य धन की आशा में दौड़ता फिरता है किन्तु शुभ कर्म के बिना वह हाथ नहीं आता। यदि वह आशा की मात्रा घटा कर शुभ कार्य करता जाए तो लक्ष्मी स्वयं उसके पैरों पर लोटने लगेगी।

हम अपनी आत्मनिधि को भूल चुके हैं और उस भौतिक धन को पाने के लिये लालायित हो रहे हैं जो कि न तो आत्मा के साथ रहा और न कभी रहेगा। धन की आशा मनुष्य को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर नही रहने देती। जिसके पास कुछ नहीं है वह कुछ सौ रुपये चाहता है। जब उसके पास सैकड़ों हो जाते हैं तब वह हजारपति बनना चाहता है। हजारपति हो जाने पर भी उसको सन्तोष नहीं होता तब वह लखपति बनना चाहता है। सौभाग्य से यदि वह लखपति बन जावे तब भी उसकी आशा शान्त नही होती और वह कोटिपति बनने की आशा मे चिन्तातुर हो उठता है।

एक नगर में एक धनिक सेठ रहता था। उसके पास काफी धन था, फिर भी उसकी इच्छा बढ़ती ही जाती थी जिससे रात-दिन धन सचय मे लगा रहता था, आराम से न भोजन करता था, न कुछ समय अपने परिवार के साथ बिताता था, न आराम से सोता था।

उसके पास में एक सन्तोषी ब्राह्मण रहता था जो कि केवल एक दिन की भोजन-सामग्री संचित रखता था। एक दिन सेठ के घर अच्छा भोजन बना। रात को कुछ भोजन अपने पड़ौसी ब्राह्मण के घर भेजा, किन्तु ब्राह्मण ने यह कह कर भोजन लौटा दिया कि मेरे घर कल के लिये भोजन-सामग्री रक्खी हुई है।

सेठानी ने सेठ से ताना मारते हुए कहा कि देखो ब्राह्मण की सन्तोष वृत्ति को और अपनी आशा तृष्णा को। सेठ ने उत्तर दिया कि ब्राह्मण निन्यानबें (९९) के फेर में आकर सब सन्तोष भूल जाएगा। ऐसा कह कर सेठ ने एक रुमाल मे ९९ रुपये बांध कर चुपचाप ब्राह्मण के आंगन में डाल दिये।

ब्राह्मण जब सवेरे उठा तो उसने ९९ रुपये की पोटली अपने आंगन में पड़ी पाई। रुपये देखकर ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुआ उसने ब्राह्मणी से कहा कि किसी तरह अधिक परिश्रम करके एक रुपया और कमाऊंगा जिससे ये १००) रुपये हो जाएँगे। यह सोच कर उसने कुछ अधिक दौड-धूप करके ९९) से १००) कर लिये। फिर उसने सोचा कि सौ रुपये ठीक नही होते इन्हे सवा सौ करना ठीक रहेगा। यह सोच कर अपने आराम का समय कम करके और अपने भोजन मे से बचत करके उसने कुछ दिन मे सवा सौ रुपये कर दिये। फिर उसने विचार किया ये रुपये २५०) होने चाहियें। तब सवा सौ रुपये और जोड़ने मे तन्मय हो गया।

इस तरह ब्राह्मण पर आशा और लोभ का भूत ऐसा सवार हुआ कि वह सेठ से भी अधिक धन संचय मे लग गया। समय पर भोजन करना, सोना, विश्राम करना सब कुछ भूल गया। तब सेठानी से सेठ बोला कि देखा निन्यानबें रुपये का फेर, ब्राह्मण की सन्तोषवृत्ति कहां चली गई?

इसी प्रकार सारी जनता धन संचय के चक्कर में न कुछ धर्मध्यान करती है, न परोपकार में कुछ समय लगाती है, न पर्याप्त विश्राम करती है। रात-दिन लोभ की चक्की चलाते-चलाते अपना अमूल्य समय नष्ट कर देती है। जीवन समाप्त हो जाता है किन्तु आशा समाप्त नही होती।

मनुष्य-जीवन में जीवन के मूल्यवान् क्षण यदि सफल करने हैं तो आशा के दास मत बनो! प्रभात होते ही सबसे पहले भगवान् का दर्शन करो, पूजन करो, स्वाध्याय, सामायिक करो, फिर शुद्ध भोजन करके न्याय नीति से व्यापार, उद्योग आदि करो। भाग्य पर विश्वास रक्खो, भाग्य से अधिक एक कौड़ी भी न मिलेगी। अतः नियत समय पर धर्म-साधन, भोजन, व्यापार, विश्राम आदि सारे कार्य करो। धर्म-आराधन, परोपकार, दान, दीन-दुःखियों की सेवा करने से व्यापार में धन-संचय में सफलता मिलती है।

लोभ

संसार मे प्रायः सब चीजों की सीमा है। पृथ्वी की सीमा है, समुद्र की सीमा है, पर्वत की सीमा है, लोक और आकाश की भी सीमा है। भूख लगती है तो वह भी किसी सीमा तक रहती है। भोजन कर लेने पर तृप्त हो जाती है। उसके बाद कुछ नहीं खाया जाता। प्यास लगती है, पानी पी लेने पर शान्त हो जाती है। उसके बाद पानी पीने की इच्छा नहीं रहती। हम किसी अनदेखी वस्तु को देखना चाहते हैं, जब उसको खूब अच्छी तरह देख लेते हैं, तो फिर उधर से चित्त हट जाता है। किसी उपदेश, भाषण या गायन सुनने की इच्छा होती है तो उस भाषण या गायन को सुन लेने पर कान तृप्त हो जाते हैं। इसी तरह अन्य इन्द्रियों के विषय भी भोग लेने पर कुछ सीमा तक शान्त हो जाते हैं।

क्रोध कषाय बड़ी दुर्द्धर्ष कषाय है ।[1] क्रोध के कारण मनुष्य का चित्त ठिकाने नहीं रहता । प्रलय-सी मचा देना चाहता है, परन्तु लड़-झगड़ कर मार-कूट कर क्रोध का नशा भी उतर जाता है । अपने आप शान्ति आ जाती है । अभिमान भी अपनी अकड़ दिखला कर, दूसरे को नीचा दिखा कर तथा किसी का अपमान कर देने के बाद शान्त हो जाता है । अभिमानी को बड़प्पन दे देने पर अभिमानी पुरुष प्रसन्न हो जाता है ।

मायाचारी कपटी पुरुष जब अपने छल-कपट मे सफल हो जाता है, खोखा-धड़ी के प्रपंच से किसी की हानि तथा अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेता है तब उसको भी शान्ति मिल जाती है ।

परन्तु संसार मे एक चीज ऐसी भी है जिसकी कोई भी सीमा नहीं, उसका नाम है लोभ । लोभ की सीमा कभी भी समाप्त नही होती । जितना यह जगत् है ऐसे अनन्त जगत् एक मनुष्य के लोभ मे पूरे नही हो सकते । इसी बात को श्री गुणभद्राचार्य ने अपने 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ मे निम्नलिखित श्लोक द्वारा प्रगट किया है—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यत्र विश्वमणूपमम् ।

कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ।।

अर्थात्, प्रत्येक प्राणी का लोभ रूपी गड्ढा इतना गहरा है जिसमें यह विशाल जगत् एक परमाणु के बराबर है, यानी—प्रत्येक प्राणी अनन्त जगत् को हड़प कर जाने का लोभ अपने हृदय मे रखता है। ऐसी दशा में किस-किस जीव का लोभ शान्त करने के लिए क्या-क्या कितना भाग (हिस्सा) आ सकता है । यानी—एक जीव का हिस्सा भी पूरा नहीं हो सकता, इस कारण हमारी विषय भोगों की तृष्णा (इच्छा) व्यर्थ है ।

इसी लोभ के कारण प्रत्येक जीव सचयशील बना हुआ है । चूहे अपने बिलो मे अन्न एकत्र कर लेते हैं । चीटियां अपने बिल मे एक-एक कण चुनकर इतना भोजन एकत्र कर लेती हैं कि वर्षा के दिनों में यदि उन्हे बाहर आने का अवसर न मिले तो वे भी भूखी न रहें । वृक्षो की जड़ें भी उसी ओर फैलती हैं जिस ओर उनको खाने-पीने का खाद-पानी मिलता है । एक कहावत प्रचलित है कि पेड़ की जड़ें भी धन की ओर जाती हैं ।

जब चींटी पेड जैसे जीवों की लोभ तृष्णा का यह हाल है तब मनुष्य के लोभ का तो क्या कहना ! भिखारी भीख मांगने निकलता है, उसको पेट भर भोजन मिल जाता है, फिर भी वह भीख मागना बन्द नही करता । इसी कारण हजारों रुपये बैंक मे जमा रखने वाले भिखारी भी मिल सकते हैं। दिल्ली में ५० भिखारियो पर भीख मांगने के अपराध में २०० रुपये जुर्माना किया गया । जुर्माने की रकम भिखारियो ने वही जमा कर दी । एक भिखारिणी के पास बैंक की पासबुक निकली जिसमें ६०० रुपये जमा थे । उसकी जमानत देने उसका पुत्र आया जो गजेटेड आफीसर था । सरकारी आफीसर की माता भी धन-संचय के विचार से भीख मागने लगी ।

छोटा अबोध बच्चा रोता है । उसके हाथ मे पैसा पकडा दीजिये । पैसे का मूल्य न समझने वाला वह शिशु भी पैसा पाकर चुप रह जायेगा और पैसे को मुट्ठी मे इतने जोर से दबायेगा कि फिर छोडने का नाम भी न लेगा । इस तरह सचय-शीलता बचपन से ही प्रारम्भ हो जाती है । पैसा ज्यो-ज्यों मिलता जाता है त्यो-त्यों लोभ की रस्सी भी रबड की तरह बढती चली जाती है। रबड़ का तनाव तो कहीं पर रुक जाता है परन्तु लोभ का तनाव कही पर समाप्त नही होता ।

एक दरिद्र ब्राह्मण की कन्या का विवाह था । किन्तु उस गरीब के पास कन्यादान के समय कुछ भी देने को न था, तब बहुत कुछ सोच-विचार कर वह राजा के पास गया और नम्रता के साथ उसने राजा से कहा कि मुझे अपनी पुत्री के कन्यादान के समय वर को देने के लिए तीन माशा सोना चाहिए ।

राजा ने ब्राह्मण की छोटी-सी मांग देखकर अपने खजांची के नाम पर्चा लिखकर ब्राह्मण को दे दिया । पर्चे मे राजा ने लिख दिया 'यह ब्राह्मण जो कुछ मांगे तो इसको दे देना ।'

पर्चा लेकर ब्राह्मण खजांची के पास गया । मार्ग मे ब्राह्मण ने सोचा कि राजा ने इसमे देने की कुछ सीमा तो लिखी नही है, अब लेना मेरी इच्छा पर निर्भर है । मैं जितना भी मागूगा, खजाची उतना दे देगा । तो मैं तीन माशा सोना ही क्यो मागू ? ३००) रुपये क्यों न मागूं, परन्तु तीन हजार रुपये ठीक रहेंगे जिससे विवाह धूम-धाम से हो जाए । फिर उसको लोभ ने सताया । तब उसने विचार किया कि जब मागने ही चला हू तब तीन लाख रुपये ही क्यों न मांग लूं। इस पर भी उसका लोभ समाप्त न हुआ । उसने

---

१. "आत्मा के भीतरी कलुष परिणाम को कषाय कहते हैं । क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार प्रसिद्ध कषाय है ।"

—जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग २—क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, पृ० ३३

आखिर यह निर्णय किया कि राजा के खजाने में क्या कमी है, ऐसा अवसर भी मुझे कभी न मिल सकेगा। अतः खजांची से तीन करोड़ रुपये माँगूगा जिससे जन्म भर के लिये मेरी दरिद्रता समाप्त हो जाये। फिर कभी किसी से कुछ न मांगना पड़े।

वह खजांची के पास पहुंचा और उसके हाथ मे राजा का पर्चा दिया। खजांची ने पर्चा पढ़कर ब्राह्मण से पूछा कि देवता ! कितनी रकम चाहिये ?

ब्राह्मण ने कहा तीन करोड़ राजमुद्रा (रुपये)।

खजांची ब्राह्मण की मांग सुनकर चकित रह गया। उसने राजा के पास समाचार भेजा कि ब्राह्मण तीन करोड़ रुपये मांगता है, सो क्या इतनी रकम इसे दे दी जाए ?

राजा भी खजांची का समाचार सुनकर दंग रह गया। उसने ब्राह्मण को अपने पास बुर . . पूछा—'माशत्रयस्य कार्यं भिकोट्या नैव सिद्धयति'—तेरी मांग तीन माशे सोने की थी सो अब वह तीन करोड रुपये तक पहुच गई, क्या इतने ' 'पो काम हो जायेगा या नही ?

राजा की बात सुनकर ब्राह्मण को होश आया कि मैं लोभ के कारण कहाँ क. .हाँ पहुच ग.। उसने राजा को उत्तर दिया—

'शृणु राजन् महाभाग ! लाभाल्लोभः प्रजायते'—हे राजन् ! धन के मिलने से लोभ बढ़ता जाता है। इसी कारण मैं तीन माशे सोने से तीन करोड रुपये पर जा पहुचा।

इसी प्रकार मनुष्य की तृष्णा निन्यानवें के चक्कर मे पडकर बढती चली जाती है। इस लोभ तृष्णा का प्रयोग भोले अनभिज्ञ धर्मात्मा अपने धर्म-आचरण मे भी करते हैं। श्री महावीर जी तीर्थ क्षेत्र की वन्दना करने वाले अधिकतर स्त्री-पुरुष अपनी सांसारिक इच्छाओ और कामनाओ का जाल भगवान् महावीर स्वामी के सामने भी फैला देते हैं। जो भगवान् महावीर पूर्ण वीतराग तथा ससार से मुक्त हैं उनके समक्ष राग-द्वेष, मोह-ममता आदि विकार दूर करने की भावना करनी चाहिये, सो ऐसा न करके कोई स्त्री-पुरुष अपने घर में पुत्र की कामना करते हैं, कोई भगवान् से धन-सम्पत्ति मागते हैं, कोई अपने पुत्र-पुत्री के विवाह हो जाने की प्रार्थना करते हैं; अपनी इन लोभमयी इच्छाओ को पूर्ण करने के लिये सोना-चांदी के छत्र चढ़ाते हैं, मानो भगवान् महावीर छत्रो के लोभवश उनकी इच्छाएं पूर्ण कर जाएंगे।

जिन भगवान् महावीर ने घर मे रहते हुए भी सुन्दरी राजकन्या से विवाह करने के प्रस्ताव को ठुकरा कर ब्रह्मचर्य धारण किया था, वे भगवान् महावीर किसी के विवाह कराने और किसी के पुत्र उत्पन्न करने मे क्या सहयोग या वरदान देंगे। जिन वीर प्रभु ने स्वयं राज्य वैभव का परित्याग करके निर्ग्रन्थ[1]-साधु पद स्वीकार किया, वे पूर्ण मुक्त भगवान् महावीर दूसरो को धन प्रदान कर संसार के माया जाल में क्यो डालेंगे ? खेद है कि जिस भगवान् की भक्ति-स्तुति से लोभ माया दूर होने की भावना करनी चाहिये उन वीतराग प्रभु से भी अज्ञानी व्यक्ति सासारिक लोभ अकुरित करने की कामना करते हैं। इसीलिए नीतिकार ने कहा है—'अर्थी दोष न पश्यति' यानी—स्वार्थी पुरुष दोषो का विचार नही करता।

छोटे-से लोभ को पूरा करने के लिये यत्न किया जाता है तो उसके पूर्ण होते ही उसके स्थान पर दूसरा बड़ा लोभ आ खड़ा होता है। जब वह पूर्ण होने को होता है तब उसकी जगह उससे भी बड़ा लोभ उत्पन्न हो जाता है। साराश यह है कि यह लोभ रूपी दानव प्रारम्भ मे छोटे आकार मे दिखाई देता है परन्तु बढ़ते-बढते लोकाकाश के बराबर हो जाता है, जिसको शात करना असम्भव हो जाता है। अधिकाश व्यक्ति लोभ में अपने प्राण भी गवा देते हैं।

लोभ को दूर करने का सफल और सरल उपाय सन्तोष है। प्रत्येक मनुष्य को अपने गृहस्थाश्रम को चलाने के लिये न्याय, नीति और परिश्रम से धन के उपार्जन का यत्न तो अवश्य करना चाहिये परन्तु साथ ही यह भी निश्चय रखना चाहिए कि लाभ उतना ही होगा, जितना हमने शुभ कर्म कमाया होगा। यदि शुभ कर्म का उदय न हो तो व्यापार मे लाभ नही होता। एक साथ एक-सा ही व्यापार बहुत-से मनुष्य करते हैं परन्तु जिसके शुभ कर्म का उदय नही होता उसको सफलता नहीं मिलती और जिसके शुभ कर्म का उदय होता है, उसको व्यापार मे खूब लाभ होता है। इसलिए अल्प लाभ या अलाभ होने पर यह समझकर सन्तोष करना चाहिए कि हमने पूर्व जन्म में जितनी शुभ कर्म की कमाई की थी उतना ही मिलेगा, एक पाई भी उससे अधिक न मिल सकेगी।

---

१. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय मे जो भी बाह्य व अभ्यन्तर परिग्रह (ग्रन्थ) का परित्याग है, उसे निर्ग्रन्थता समझना चाहिए। —जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भाग २)—क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, पृ० ६२०

इसके अतिरिक्त लोभ का विष उतारने के लिए अपनी इच्छाओं को संयमित-परिमित करना चाहिए। अपनी आवश्यकताओं को कम करके सादे रहन-सहन का अभ्यास करना चाहिए तथा अपने परिग्रह (मकान, धन, वस्त्र, आभूषण आदि) की अपनी आवश्यकता के अनुसार सीमा कर लेनी चाहिए। 'मैं इतना सचय करूंगा, इससे अधिक न करूंगा।'—ऐसा परिमाण कर लेने पर भी लोभ का विष दूर हो जाता है।

इस तरह लोभ से बचने का उपाय 'त्याग' करना है। ग्रहण या सचय करने मे लोभवृत्ति कम नही होती, बढ़ती ही जाती है।

भय

श्रा प० आशाधरजी ने संसारी जीवो के विषय मे लिखते हुए 'सागरधर्मामृत' में एक वाक्य-खण्ड दिया है 'चतुःसंज्ञाज्वरातुरा.'—संसारी जीव आहार, परिग्रह, भय और मैथुन—इन चार सज्ञाओ रूपी ज्वर से पीड़ित है अर्थात् ये चारो सज्ञाएं प्रत्येक जीव को पीड़ा प्रदान किया करती हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखने मे आ रही है। प्रत्येक जीव चाहे एकेन्द्रिय वृक्ष आदि स्थावर हो और चाहे द्विन्द्रिय त्रस आदि हो, मनुष्य हो या पशु पक्षी या देव, वह आहार अवश्य करता है, क्योंकि इस भौतिक शरीर की प्राकृतिक बनावट इस तरह की है कि कुछ समय के अंतराल से (केवलज्ञानी के परम औदारिक शरीर के अतिरिक्त) सभी को भूख लगती है। उस भूख का उपशम करना प्रत्येक जीव के लिए अनिवार्य हो जाता है। उत्पन्न होते ही बच्चा सबसे पहले यदि कोई पदार्थ चाहता है तो वह भोजन ही है। उसकी इच्छा को उसकी माता समझ ले, इसके लिये वह रोना प्रारम्भ कर देता है और पूर्वभव के संस्कार से दूध पीने आदि प्रक्रिया द्वारा अपनी भूख मिटाना उसे बिना किसी के सिखाये स्वय आ जाता है। एकेन्द्रिय पेड़ भी अपनी जड़ो के द्वारा पृथ्वी से पानी और खाद खींच कर अपनी भूख शान्त किया करते हैं। उन्हे यदि खाद, पानी और अपनी भूख के योग्य नही मिलता तो वे मुरझाकर, सूख कर मर जाते हैं, जैसे बच्चो को भूख मिटाने के लिये भोजन न मिलने से उनकी मृत्यु हो जाती है। इस तरह प्रत्येक जीव को आहार सज्ञा प्राप्त होती है।

अपने लिये भोजन आदि सामग्री एकत्र करने की आदत भी सब किसी की होती है। प्रत्येक जीव, मनुष्य, पशु-पक्षी अपने रहने के लिए मकान, घोसला, बिल आदि स्थान अवश्य बनाते हैं और उस मकान मे जीवनोपयोगी वस्तुएं भी एकत्र किया करते हैं। चूहो के बिलो मे बहुत-सा अनाज इकट्ठा रहता है। चीटियां भी रात-दिन भोजन इकट्ठा करती रहती हैं। प्रत्येक जीव को अपने शरीर से तो मोह ममता होती ही है, पर-पदार्थ से मोह ममता का नाम ही परिग्रह है। इस तरह समस्त जीव परिग्रह सज्ञा के चक्कर मे भी पड़े हुए हैं।

एकेन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक के जीव, सम्मूर्छन जीव तथा नरक निवासी तो सभी केवल नपुसक लिंग वाले होते हैं, देवो मे स्त्री-वेद पुवेद ही है, नपुसक वेद उनमे नही होता। शेष सभी पशुओ तथा मनुष्यो मे स्त्री, पुरुष, नपुसक पाये जाते हैं। अपने-अपने लिंग के अनुसार सभी जीवों की कामवासना होती है। पुवेद की कामवासना फूस की अग्नि की तरह शीघ्र उत्पन्न होने वाली तथा शीघ्र शान्त होने वाली होती है। स्त्री-वेद की कामवासना कडे (उपले) की अग्नि के समान ऊपर से शान्त किन्तु भीतर से उग्र होती है और नपुसक की कामवासना ईंटो के भट्टे के समान ऊपर प्रतीत न होकर भीतर उग्रता से धधकने वाली होती है। इस तरह विभिन्न ससारी जीवो को काम-वेदना हुआ करती है। विभिन्न दो प्राणियो का परस्पर काम-सेवन करना मैथुन सज्ञा है। यह निम्न श्रेणी के जीवो मे अधिक और उच्च श्रेणी के जीवो मे अल्पमात्रा मे पाई जाती है। पशुओ मे सिंह सबसे अधिक बलवान् होता है अतः वह पशुओ का राजा कहलाता है। वह सिंह वर्ष मे केवल एक बार सिंहनी से कामवासना करता है। उसी से सिंहनी गर्भवती हो जाती है। तदनन्तर दोनो पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहते हैं। गाय, भैस आदि के विषय मे भी ऐसी ही बात है। १६ स्वर्ग से ऊपर के अहमिन्द्र देव १६ स्वर्गवासियों की अपेक्षा अधिक सुखी होते हैं किन्तु न वहाँ कोई देवी होती है, न वे कभी आयु भर किसी से मैथुन किया करते हैं। फिर पुवेद कर्म के कारण उनमे मैथुन सज्ञा का अस्तित्व माना गया है। कारण न मिलने से वह वहाँ पर कार्यकारी नही होती। इस तरह मैथुन संज्ञा भी ससार के प्रत्येक प्राणी मे पाई जाती है।

चौथी सज्ञा 'भय' है। अन्य सज्ञाओ की तरह यह सज्ञा समस्त जीवो मे होती है। इसी कारण निर्बल, छोटे-बड़े, स्थावर, जंगम, नर, पशु, नारकी, देव, सभी जीवों को सदा किसी न किसी तरह का भय बना रहता है। सिंह सबसे बलवान् पशु है किन्तु मृत्यु और अग्नि से वह भी डरता है। सरकस मे रिंग मास्टर के चाबुक की फटकार के भय से उसी बलवान् सिंह को अग्नि मे से निकलना पड़ता है। मक्खियो के काटने के डर से वह अंधेरी गुफा मे जाकर सोता है। मृत्यु-भय तो अहमिन्द्र को भी भीरु बना देता है। इस तरह भय संज्ञा से भी कोई जीव छूटा हुआ नही है।

भय के सात भेद हैं—१. इह लोक सम्बन्धी भय, २. परलोक सम्बन्धी भय, ३. मरण भय, ४. वेदना भय, ५. अरक्षा भय, ६. अगुप्ति भय ७. अकस्मात् भय।

प्रत्येक जीव अपने वर्तमान भव में अनेक प्रकार के भयों से सदा भयभीत बना रहता है। पुत्र, स्त्री, मित्र आदि न छूट जायें, मेरा धन नष्ट न हो जाए, मेरी मान-प्रतिष्ठा मिट्टी में न मिल जाए, मेरा कोई अंग-भंग न हो जाए, मेरी पुत्री बहिन को वैधव्य न आ जाए, मेरी स्त्री-पुत्री आदि का अपमान न हो जाए, मेरे पुत्र की आजीविका छिन्न-भिन्न न हो जाए। मेरा मकान, जमीन आदि न छिन जाए, मेरी अपकीर्ति न फैल जाए, मेरा या मेरे परिवार का कोई अंग भंग न हो जाए, मेरा शरीर लकवा आदि से निष्क्रिय न बन जाए, मैं असहाय न हो जाऊं इत्यादि इस लोक-सम्बन्धी अनेक प्रकार के भय मनुष्य को सतत् सताते रहते हैं।

परलोक में पता नहीं मुझे कैसा कुल मिलेगा ?, कैसे घर में मेरा जन्म होगा ?, कैसा मेरा परिवार होगा ?, कैसा मेरा शरीर, रूप-रंग तथा अंगोपांग होंगे ?, पुत्र भार्या आज्ञाकारी होंगे या नहीं?, धन होगा या नहीं ?, दीर्घायु होगी या नहीं ?, जीवन में सुख शान्ति हो सकेगी या नहीं ?, कहीं नरक में तो न जाना पड़ेगा ?, कहीं पशुगति का शरीर तो न मिलेगा, कीड़े मकोड़ों की योनि में तो कहीं जन्म न लेना पड़ेगा, कहीं फिर निगोद भव मे तो दुर्दशा न उठानी होगी ? इत्यादि अनेक प्रकार से परभव के विषय में दुःखदायक अशान्तिजनक परिस्थितियों से भयभीत होना 'परलोक' भय है।

संसारी जीव को और कोई भय हो या न हो किन्तु अपने मरने का भय तो प्रत्येक जीव को होता ही है। मरण से बचने के लिए यह जीव यथा-संभव सभी यत्न करता है। टट्टी का कीडा भी मृत्यु से उतना डरता है जितना कि देवों का अधिपति इन्द्र।

> अमेध्यमध्ये कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालये।
> समाना जीविताकांक्षा समं मृत्युभयं द्वयोः॥

टट्टी मे रहने वाले कीड़े तथा स्वर्ग मे रहने वाले इन्द्र की जीवन की इच्छा और मृत्यु का भय एक समान है।

अपने आप को मृत्यु से बचाने के लिए मनुष्य या अन्य कोई जीव अपनी समस्त सम्पत्ति, यहाँ तक कि अपने परिवार, का त्याग करने के लिये तैयार हो जाता है।

शरीर मे जरा-सा कांटा चुभता है, उसकी पीडा भी कोई नही उठाना चाहता। जीवन मे अनेक तरह की दुर्घटनाए हो जाती हैं जिससे शरीर क्षत-विक्षत हो जाता है। उसकी भारी वेदना तो जीव स्वप्न मे भी नही सहना चाहता। इसी कारण संसारी जीवो को सदा भय बना रहता है कि कहीं मुझे आंख, कान, नाक, शिर में पीड़ा न हो जाय, दांत, गले, छाती, पेट में किसी तरह की वेदना न हो, हाथ पैर आदि अंग-उपांग मे कोई ऐसा भयानक रोग न हो जाए जिसके दर्द से मैं बेचैन हो जाऊं ? इत्यादि वेदना (शारीरिक पीड़ा) का भय जीव को सदा बना रहता है।

प्रत्येक जीव अपने जीवन की सुख-शान्ति बनाने के लिए रक्षा के अनेक साधन जुटाता है। फिर भी उसे भय बना रहता है कि कभी कोई आपत्ति मेरे ऊपर न आ जाए जिससे बचाने वाला कोई न हो। मेरे अनेक शत्रु हैं, कहीं अकेले होने पर मुझे कोई मार पीट न दे। सोते समय रात मे आकर कोई मेरा माल न उठा ले जाए। पापकर्म के उदय से कोई ऐसा दुःख न आ जाय जिससे कि छुटकारा न मिल सके। इस तरह अरक्षा भय से जीव भयभीत बने रहते हैं।

मनुष्य अपने परिवार, धन, सम्पत्ति आदि की रक्षा के लिये अच्छा मजबूत मकान बनाता है, दृढ़ किवाड फाटक लगाता है, मजबूत ताले लगाता है फिर भी उसे डर लगा रहता है कि कोई सेन्ध लगा कर, सीढ़ी लगाकर या कमन्द से मकान मे न घुस आए। किसी तरह ताला न टूट जाए, तिजोरी खोलकर कोई माल न निकाल ले जाए। अपने माल को सुरक्षित रखने के लिए जो प्रबध मैंने किए है वे पर्याप्त नही हैं—इत्यादि अगुप्ति भय जीव को सदा लगा रहता है।

मनुष्य पर बिना सोची-विचारी अनेक प्रकार की आपत्तियाँ आ जाती हैं। उनसे भी सब कोई डरता रहता है कि कहीं घर मे आग न लग जाए, कही आते-जाते कोई मकान मेरे ऊपर न गिर पडे, मोटर गाडी आदि की दुर्घटना मे न फंस जाऊं, अचानक कोई ऐसी विपत्ति न आ खडी हो जिसमे मेरा सम्मान चला जाए। मैं मुख दिखाने योग्य न रहूं। इत्यादि अनेक प्रकार के अकस्मात् भय से यह जीव सदा भयभीत रहता है।

इस तरह इन सात प्रकार के भयों से संसारी जीव सदा भयभीत रहते हैं। किन्तु भयभीत वही होता है जिसका हृदय

स्वच्छ नहीं होता। पापवासना जिसके हृदय मे बनी रहती है। ससार में प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि पापी सदा भयभीत रहता है। वह छुप-छिप कर हिंसा, कत्ल, चोरी, व्यभिचार, बेईमानी करता है। अतः उसका हृदय कांपता रहता है कि कही भेद खुल गया तो इसी भव में फांसी, जेल आदि का दण्ड भुगतना पड़ेगा। कही परभव मे भी दुर्गति न सहनी पड़े, कहीं हंटरों की मार न खानी पड़े। पापकर्म जो बांधा है उससे कोई आपत्ति न आ जाए। इत्यादि सातों तरह के भय पापी को सदा डराते रहते हैं।

धर्मात्मा का हृदय शुद्ध स्वच्छ रहता है। वह निश्चित होकर सर्वत्र घूमता है। उसको पुलिस, सेना आदि का कुछ भी भय नहीं होता। सत्य व्यवहार के कारण वह सदा निर्भय रहता है। धर्म-कार्य करते रहने से ससार में उसका कोई शत्रु नहीं होता। सभी जीव उसके मित्र होते हैं। वह पुण्य कर्म उपार्जन करता है। अतः उसे न इस लोक मे कोई भय होता है, न वह मरने से डरता है क्योंकि उसे निश्चय होता है कि मरने के पश्चात् मुझे नरक आदि मे न जाना पड़ेगा। इस तरह उसे अरक्षा, अकस्मात्, वेदना आदि कोई भी भय नहीं होता।

जिस मनुष्य को आत्म श्रद्धा हो जाती है, उस मनुष्य को शरीर से ममता नही होती। वह तो इस शरीर को अपने लिये कुछ दिन तक का किराये का मकान समझता है। उसे तो अपने आत्मा की ओर ही लग्न होती है। उसको दृढ़ श्रद्धा होती है कि मेरी आत्मा अजर-अमर है, न वह कभो मरता है न जन्म लेता है। आत्मा को कोई शस्त्र न काट सकता है, न अग्नि जला सकती है, न पानी गला सकता है। जलना, कटना, गलना, सूखना आदि शरीर का होता है, सो मुझे कोई प्रयोजन नहीं। मेरे आत्मा में जिस कार्य से अशान्ति पैदा हो ऐसे राग, द्वेष, मोह, क्रोध, लोभ, हिंसा आदि मुझे न करना चाहिये।

जैसी मैंने पहले भव में कर्मों की कमाई की है उसका वैसा फल मुझे अवश्य मिलेगा। यदि अपने अशुभ कर्म के फल में कुछ धन की हानि, शरीर का कष्ट, पुत्र आदि का मरण मुझे हो तो उस फल को शात भाव से सह लेना चाहिये क्योंकि रोने-पीटने से वह दुःख कम न होगा, अधिक मालूम होगा और आर्त ध्यान से आगे के लिये दुःखदायक बंध होगा। धन आदि से उसे मोह नहीं होता। इसलिए न उसको इस लोक का भय होना है, न परलोक का, न मरण का, न वेदना का, न अरक्षा का, न अगुप्ति का और न अकस्मात् भय से वह डरता है। वह अपनी अजर-अमर आत्मा म तन्मय रहता है। इसलिए निर्भय बनने के लिये आत्मश्रद्धा तथा धर्म का आचरण करना चाहिए।

शान्ति

आत्मसुख का मार्ग ही शांति का मूल कारण है। इसीलिए महान् पुरुष ससार मे रहते हुए भी हमेशा शांति की भावना किया करते हैं, जैसे कि भर्तृहरि ससार मे रहते हुए इस प्रकार की भावना किया करते थे :—

पाणि पात्र पवित्र भ्रमणपरिगत भक्ष्यमक्षय्यमन्नम्,
विस्तीर्ण वस्त्रमाशा सुविशकमल तल्पमस्वल्पमुर्वी।
येषा निःसगतांगी करणपरिणति. स्वात्मसन्तोषिणस्ते,
धन्याः सन्यस्त-दैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति॥

वे ही प्रशसा के भाजन हैं, वे ही धन्य हैं, उन्होने ही कर्म की जड़ काट दी है—जो अपने हाथों के सिवा और किसी पात्र की आवश्यकता नहीं समझते, जो घूम-घूम कर भिक्षा का अन्न खाते हैं। जो दशो दिशाओ को ही वस्त्र समझ कर नग्न रहते हैं, जो सारो पृथ्वी को ही अपनी निर्मल शय्या समझते हैं, जो दीनता से घृणा करते हैं और जिन्होंने आत्मा में ही सन्तोष कर लिया है

ससार का प्रत्येक जीव सुख और शान्ति चाहता है। दु.ख और अशान्ति कोई भी जन्तु अपने लिये नही चाहता। परन्तु संसार मे सुख-शान्ति है कहाँ? प्रत्येक जीव किसी न किसी कारण से दु खी पाया जाता है। जन्म, मरण, भूख, प्यास, रोग, अपमान, पीड़ा, भय, चिन्ता, द्वेष, घृणा, प्रिय-वियोग, अनिष्ट-संयोग आदि दुःख के कारणों मे से अनेक कारण प्रत्येक जीव को लगे हुए हैं। इसी कारण प्रत्येक जीव किसी न किसी तरह व्याकुल है और व्याकुलता ही दु ख का मूल है। निराकुलता ही परम सुख है। अनन्त निराकुलता कर्मों के क्षय हो जाने पर प्राप्त होती है। इस मुक्ति के साधन तप, त्याग, सयम, सुखशान्ति के साधन हैं और क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व-राग, द्वेष, क्षोभ आदि विकृत भाव कर्मबन्ध के कारण हैं। ये ही विकृत भाव दुःख और अशान्ति के साधन हैं।

गृहस्थ स्त्री-पुरुषों को परिवार के पालन-पोषण की चिन्ता रहती है। उस चिन्ता को कम करने के लिये वे धन-संचय परिग्रह एकत्र करने में लग जाते हैं। उस धन-परिग्रह का उपार्जन तथा संचय करते हुए कभी किसी पर क्रोध, किसी के साथ मान, किसी से माया, लोभ आदि करने पड़ते हैं। उनसे ही मानसिक तथा शारीरिक दुःख होता है। परिग्रह त्यागी मुनिराज को

धन-संचय, परिग्रहसंचय की चिन्ता नही होती। अतः उनको मानसिक दुःख, चिन्ता और अशान्ति भी नहीं होती। यों बाहर से देखने वाले उनको नग्न अकिंचन देखकर अपने मोटे विचार से उनको भले ही दुःखी मान बैठे परन्तु सूक्ष्मदर्शी बुद्धिमान समझते हैं कि एकान्त-वासी, नग्न, अपरिग्रही मुनि महान् सुखी हैं। नीतिकार ने कहा है—

चिन्तातुराणां न सुखं न निद्रा, क्षुधातुराणां न वपुर्न तेजः।
अर्थातुराणां न सुहृन्न बन्धुः, कामातुराणां न भयं न लज्जा॥

चिन्तायुक्त स्त्री-पुरुषो को न तो नीद आती है और न किसी तरह का सुख होता है। चिन्ता के कारण उन्हे अशान्ति बनी रहती है। भूखे मनुष्य के शरीर मे न बल रहता है, न तेज। स्वार्थी मनुष्य का न कोई मित्र होता है, न भाई आदि कोई सम्बन्धी होता है और कामातुर मनुष्य को न किसी तरह की लज्जा रहती है, न भय। इस तरह चिन्ता महान् दुःख का मूल है।

चिता चिन्ता समाख्याता, बिन्दुमात्रं विशेषता।
चिता दहति निर्जीवं, चिन्ता किन्तु सजीवकम्॥

मृतक मनुष्य को जलाने की 'चिता' और 'चिन्ता' ये दोनों शब्द प्रायः बराबर हैं, केवल एक बिन्दी का ही दोनों में अन्तर है। परन्तु इनके अर्थ में महान् अन्तर है क्योकि चिता तो निर्जीव मनुष्य को जलाती है किन्तु चिन्ता जीवित मनुष्य को जला देती है।

जब तक लड़के पढ़ते रहते है, तब तक विद्यार्थी-अवस्था मे निश्चिन्त सुखी रहते हैं। उनके माता-पिता स्वयं कष्ट सहन करके भी उनकी पढ़ाई की व्यवस्था बनाये रखते हैं। उन विद्यार्थियो को धनोपार्जन आदि की चिन्ता नही रहती। जब कोई विद्यार्थी नव यौवन की उमंगो मे अपनी जीवन-सहचरी पाने को लालायित होकर जब अपने विवाह की तैयारी में योग देता है तभी से उसके ऊपर चिन्ता का भूत सवार हो जाता है। जब उसका विवाह हो जाता है तब कुछ दिन तो कामवासना मे रात-दिन डूबा रहता है, तदनन्तर गृहस्थाश्रम चलाने के लिये रुपये-पैसे तथा विविध पदार्थों के सग्रह की चिन्ता सवार हो जाती है। यदि कही सौभाग्य या दुर्भाग्य से कोई सन्तान हो गई तो उसका जीवन और भी विपत्ति मे फंस जाता है। एक अनुभवी व्यक्ति ने विवाहित मनुष्य की स्थिति यों बताई है—

'भूल गये राग रंग, भूल गये जकड़ी, तीन चीजे याद रहीं, नोन तेल लकड़ी'।

एक युवक ने बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने गुरु को यह शुभ समाचार सुनाया कि 'गुरु जी! मेरी मंगनी हो गई है।' अनुभवी गुरु ने उसे उत्तर दिया कि 'मूर्ख! तेरी मंगनी नही हुई, तेरी टंगनी हुई है।' तेरे टंगने (फसने) का फंदा तेरे गले मे आ पडा है। कुछ दिन पीछे उसी नवयुवक ने मुस्कराते हुए अपने गुरु को कह सुनाया कि 'गुरुजी! मेरी शादी हो गई है।' गुरु ने इसके उत्तर में कहा कि 'मूर्ख! तू प्रसन्न होता है, तेरी शादी नही हुई बल्कि तेरे जीवन की बर्बादी शुरू हो गई है।

इस तरह अशान्ति और दुःख का कारण एक तो गृहस्थाश्रम के लिये विविध परिग्रह का संचय करना है। अशान्ति का दूसरा कारण 'अविवेक से जल्दबाजी मे काम करना' है। मनुष्य विवेक से खूब सोच-विचार करके जो कार्य करता है, वह कार्य ठीक होता है। उसमे दुःख नही मिलता, न चिन्ता का अवसर आता है। राजा भोज के समय मे एक कवि ने एक श्लोक बनाया—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥

अर्थात् जल्दबाजी मे कोई कार्य नही कर डालना चाहिये। अविवेक (कर्तव्य अकर्तव्य का ज्ञान न होना) अनेक बड़ी विपत्तियों का घर है। सोच-विचार करके कार्य करने वाले मनुष्य को अनेक सम्पत्तिया स्वयमेव प्राप्त हो जाती हैं।

उस कवि को अपने इस श्लोक पर अच्छा विश्वास और अभिमान था। उसको एक बार रुपयों की आवश्यकता हुई। तब वह एक धनिक सेठ के पास गया। उसने सेठ से कहा कि मुझको एक हजार रुपये की आवश्यकता है आप मुझको मेरा एक श्लोक बन्धक (गिरवी) रख कर मुझे रुपया दे दे। जब मेरे पास पास रुपये आ जावेगे तब मैं अपना श्लोक आपको रुपये देकर वापिस ले जाऊंगा। सेठ ने श्लोक को अच्छी नीति से पूर्ण समझ कर गिरवी रखकर उस कवि को एक हजार रुपया दे दिया। सेठ ने वह श्लोक अपने शयनकक्ष मे मोटे सुन्दर अक्षरो मे लिखवा दिया। कुछ दिन पीछे सेठ के घर एक पुत्र का जन्म हुआ। बहुत हर्ष मनाया गया और उसका लालन-पालन बडे प्रेम से होने लगा। जब उसका पुत्र ५ वर्ष का हो गया तब सेठ अपने घर का समस्त प्रबन्ध करके परदेश को चला गया। व्यापार करते-करते सेठ को ११-१२ वर्ष विदेश मे हो गये। तब वह बहुत-सा धन कमा कर अपने घर वापिस लौटा। जब अपने नगर में पहुँचा तब रात्रि हो गई थी। सेठ दबे पैर अपने घर जा पहुचा। घर मे पहुँच कर उसने देखा कि उसकी पत्नी एक युवक के साथ एक ही चारपाई पर सो रही है। सेठ ने सोचा कि 'दीर्घकाल तक परदेश मे रहने के कारण सेठानी ने किसी युवक से मित्रता करली है, उसी युवक के साथ वह सो रही है। मेरी पत्नी चरित्र-भ्रष्ट हो गई है।' ऐसा सोच कर उसको अपनी पत्नी तथा उसके साथ सोते हुए उस

युवक के ऊपर बहुत क्रोध आया और उसने दीवार पर टगी हुई तलवार से दोनो का सिर काट देने का विचार किया कि उसी समय उसकी दृष्टि उस श्लोक पर जा पडी । श्लोक देखते ही वह सचेत हो गया । उसने सोचा 'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।' अर्थात् जल्दबाजी मे कोई कार्य नही करना चाहिए, अविवेक अनेक आपत्तियो का घर है ।' वह तलवार खींचने से रुक गया । उसने ठीक बात जानने के लिए अपनी सेठानी को जगाया । सेठानी तुरन्त उठ बैठी । उसने देखा कि उसका पति आ गया है । प्रसन्नता से वह फूली न समाई । तत्काल उसने अपने साथ सोते हुए उस युवक को जगाया और कहा 'पुत्र ! उठ, देख तेरे पिता जी आ गए हैं । इनके चरण छू । तू जब पाँच वर्ष का था तब ये परदेश मे व्यापार करने गये थे । आज ११-१२ वर्ष पीछे लौट कर आये हैं ।'

सेठ को यह जानकर कि सेठानी के साथ सोने वाला नवयुवक उसी का अपना पुत्र है, उसकी आशका दूर हो गई। वह उस नीति के श्लोक पर बहुत प्रसन्न हुआ कि इस श्लोक ने मेरे वश का नाश होने से बचा लिया । इस हर्ष के उपलक्ष्य मे उस सेठ ने उस कवि को बुलाकर एक हजार रुपया और पारितोषिक दिया । सारांश यह है कि अविवेक और जल्दबाजी दुःख और अशान्ति का कारण बन जाते हैं । नीतिकार ने कहा है—'सुचिन्त्य चोक्त सुविचार्य यत्कृत सुदीर्घकालेपि न याति विक्रियाम् ।' अर्थात् अच्छी तरह चिन्तवन करके जो कुछ कहा जाए और खूब विचार कर जो कार्य किया जाए, उस वचन और कार्य मे दीर्घकाल तक भी कुछ बिगाड उत्पन्न नही होता । इस कारण प्रत्येक कार्य को सोच-समझ कर करना चाहिये ।

अशान्ति का एक प्रमुख कारण क्रोध कषाय है । मनुष्य क्रोध मे अधा होकर अपनी विवेक बुद्धि को खो बैठता है । उसका मन बेकाबू हो जाता है । अतः मुख से गाली आदि अपशब्द बकने लगता है, और जिस पर उसे क्रोध आता है, उसे मार-पीट डालता है । अपना घात कर लेता है, आग लगा लेता है, मार काट कर डालता है । इस तरह बडी अशान्ति और क्लेश पैदा कर देता है ।

एक काले सर्प के फण पर एक मक्खी आ बैठी । उसने फण हिलाया, मक्खी उड गई । फिर वहा आ बैठी । साँप ने फिर फण हिला कर उडा दिया, किन्तु मक्खी बार-बार उसके फण पर आकर बैठने लगी । सर्प को मक्खी पर बहुत क्रोध आया । उसने मक्खी को मार डालना चाहा । सामने सडक पर एक बैलगाडी जा रही थी । सर्प ने यह विचारा कि मै गाडी के पहिये के नीचे अपना फण रख दूगा जब गाडी का पहिया मक्खी पर आएगा, मैं अपना फण झट खीच लू गा । मक्खी पहिये के नीचे पिचक कर मर जायगी । सोच कर सर्प ने अपना फण गाडी के पहिये के नीचे रख दिया । तब मक्खी तो उड गई किन्तु साप पिचक कर मर गया ।

रीछ को जब क्रोध आता है तब उसके पास कोई न हो तो वह अपने आपको ही चबा डालता है । क्रोध की अशान्ति दूर करने का एक उपाय मौन धारण करना है । क्रोधी मनुष्य के सामने व्यक्ति यदि चुप रह जाए तो क्लेश कलह बढने नही पाता, स्वयं शान्त हो जाता है ।

एक स्त्री का पति बहुत क्रोधी था । वह प्रतिदिन अपनी पत्नी को डंडे से मार लगाता था । हजार गालियां देकर वह उसका मन क्षुब्ध कर देता था । अपने पति के इस व्यवहार से वह अत्यन्त दुखी थी । जब वह बहुत दुखी हुई तो एक दिन एक वृद्ध स्त्री के पास गई और उसको अपना सारा दुःख कह सुनाया । वह वृद्धा स्त्री अच्छी अनुभवी थी, घर-कलह के कारणो को खूब जानती थी । उसने एक बोतल मे पानी भर कर थोडा-सा नमक डाल दिया तथा कुछ मन्त्र पढ़ने का बहाना किया । वह बोतल उसको दे दी और कहा कि जब तेरा पति आकर तुझे गालिया देनी शुरू करे, उस समय तू इस बोतल मे से कुछ पानी निकाल कर अपने मुख मे रख लिया कर । जब तक वह गालिया देता रहे तब तक इस पानी को मुख मे ही रखे रहना । जब वह चुप हो जाए तब तू उस पानी को पी जाना । वह स्त्री प्रसन्न होकर उस बोतल के पानी को औषधि समझ कर घर ले गई ।

उसका पति जब घर आया और घर आते ही उसने गालिया देना प्रारम्भ किया तभी उस स्त्री ने बोतल मे से थोडा पानी निकाल कर अपने मुख मे भर लिया । मुख मे पानी भरा होने के कारण वह अपने पति की गालियों का कुछ भी उत्तर न दे पाई । इस कारण उसका पति थोडी देर गाली देकर अपने आप चुप हो गया । डडा तो उसने हाथ मे उठाया ही नही । मार न लगने से और थोड़ी गालियां मिलने से वह स्त्री बुढ़िया की औषधि पर बडी प्रसन्न हुई । उसका वह दिन शान्ति से व्यतीत हुआ ।

दूसरे दिन उसके पति ने घर आते ही जब गाली देना शुरू किया, उसी समय उसकी स्त्री ने पहले दिन की तरह उस बोतल का पानी मुह मे भर लिया । पत्नी की ओर से कुछ भी उत्तेजना न पाने के कारण वह जल्दी चुप हो गया । मार-पीट तो कुछ हुई ही नही । ऐसा प्रतिदिन होने लगा । इससे उस मनुष्य का क्रोध क्रमशः कम होता गया । उधर बोतल की दवा भी समाप्त हो गई । जब वह फिर बुढ़िया से दवा लेने गई तब बुढ़िया ने दवा का रहस्य बतलाया कि दवा अपने पति के क्रोध के समय मौन धारण करना ही है । स्त्री ने उस दिन से ऐसा ही किया । स्त्री के मौन रखने से उसके पति का क्रोधी स्वभाव भी बदल गया और उस घर में क्लेश, अशान्ति मिट गई, शान्ति स्थापित हो गई । इस तरह क्रोध कषाय और अज्ञान ही अशान्ति का कारण है । शान्ति के लिये इन दोनो को कम करते जाना चाहिये ।

व्यक्ति एवं समाज

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

जैन-संस्कृति की प्रासंगिकता

जैन-संस्कृति की सबसे बड़ी देन अहिंसा है। अहिंसा का महान् विचार, जो आज विश्व की शान्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है और इसकी अमोघ शक्ति के सम्मुख संहारक शक्तियां कुण्ठित होती दिखाई देने लगी हैं, जैन-संस्कृति के महान् उन्नायकों द्वारा ही हिंसा-काण्ड में लगे हुए उन्मत्त संसार के सामने रक्खा गया था।

जैन-संस्कृति का महान् सन्देश है कि कोई भी मनुष्य समाज से सर्वथा पृथक् रहकर अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। समाज में घुल-मिल कर ही वह अपने जीवन का आनन्द उठा सकता है और दूसरे, आस-पास के सभी साथियों को भी उठाने दे सकता है। जब यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज में अलग नहीं रह सकता, तब यह भी आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार बनाए, विशाल बनाए, विराट बनाए और जिन लोगों से खुद को काम लेना है, उनके हृदय में अपनी ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करे। जब तक मनुष्य अपने पार्श्ववर्ती समाज में अपनेपन का भाव पैदा न करेगा अर्थात् जब तक दूसरे लोग उसको अपना आदमी न समझेंगे, और वह भी दूसरों को अपना आदमी न समझेगा, तब तक समाज का कल्याण नहीं हो सकता। एक-दूसरे का आपस में अविश्वास ही विनाश का कारण बना हुआ है।

संसार में जो चारों ओर दुःख का हाहाकार है, वह तो प्रकृति की ओर से मिलने वाला मामूली-सा ही है। यदि अन्तः निरीक्षण किया जाए तो प्रकृति दुःख की अपेक्षा हमारे सुख में ही अधिक सहायक है। वास्तव में जो कुछ भी ऊपर का दुःख है, वह मनुष्य के ऊपर मनुष्य के द्वारा ही लादा हुआ है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी ओर से दूसरों पर किए जाने वाले दुःखों को हटा ले, तो यह संसार आज ही नरक से स्वर्ग में बदल सकता है।

जैन-संस्कृति के महान् संस्कारक अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने तो राष्ट्रों में परस्पर होने वाले युद्धों का हल भी अहिंसा के द्वारा बतलाया है। उनका आदर्श है कि धर्म-प्रचार के द्वारा ही विश्व भर के प्रत्येक मनुष्य के हृदय में यह जचा दो कि वह स्व में ही सन्तुष्ट रहे, पर की ओर आकृष्ट होने का कभी भी प्रयत्न न करे। पर की ओर आकृष्ट होने का अर्थ है दूसरे के सुख-साधनों को देखकर लालायित हो जाना और उन्हें छीनने का दुस्साहस करना।

जब तक नदी अपने पाट में प्रवाहित होती रहती है, तब तक उससे संसार को लाभ ही लाभ है, हानि कुछ भी नहीं। ज्यों ही वह अपनी सीमा से हटकर आस-पास के प्रदेश पर अधिकार जमाती है, बाढ़ का रूप धारण करती है, तो संसार में हाहाकार मच जाता है, प्रलय का दृश्य खड़ा हो जाता है। यही दशा मनुष्यों की है। जब तक सब के सब मनुष्य अपने-अपने स्व में ही प्रवाहित रहते हैं, तब तक कुछ अशान्ति नहीं है। अशान्ति और संघर्ष का वातावरण वहीं पैदा होता है, जहां मनुष्य अपने आपे से बाहर फैलना शुरू करता है, दूसरों के अधिकारों को कुचलता है और दूसरों के जीवनोपयोगी साधनों पर अधिकार जमाने लगता है।

प्राचीन जैन-साहित्य उठाकर आप देख सकते हैं कि भगवान् महावीर ने इस दिशा में बड़े स्तुत्य प्रयत्न किये हैं। वे अपने प्रत्येक गृहस्थ शिष्य को पांचवें अपरिग्रह व्रत की मर्यादा में सर्वदा स्व में ही सीमित रहने की शिक्षा देते हैं। व्यापार, उद्योग आदि क्षेत्रों में उन्होंने अपने अनुयायियों को अपने न्याय-प्राप्त अधिकारों से कभी आगे नहीं बढ़ने दिया। प्राप्त अधिकारों से आगे बढ़ने का अर्थ है, अपने दूसरे साथियों के साथ संघर्ष में उतरना।

जैन-संस्कृति का अमर आदर्श है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही उचित साधनों का सहारा लेकर उचित प्रयत्न करे। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख-सामग्री का संग्रह कर रखना, जैन-संस्कृति में चोरी है। व्यक्ति, समाज

अथवा राष्ट्र क्यो लडते हैं ? इसी अनुचित संग्रह-वृत्ति के कारण। दूसरों के जीवन मे सुख-साधनों की उपेक्षा कर मनुष्य कभी भी सुख-शान्ति नही प्राप्त कर सकता। अहिंसा के बीज अपरिग्रह-वृत्ति मे ही ढूढे जा सकते हैं। एक अपेक्षा से कहें, तो अहिंसा और अपरिग्रह वृत्ति दोनो पर्यायवाची शब्द हैं।

आत्म-रक्षा के लिये उचित प्रतिकार के साधन जुटाना जैन धर्म के विरुद्ध नही है परन्तु आवश्यकता से अधिक संगृहीत एव संगठित शक्ति अवश्य ही संहार-लीला का अभिनय करेगी, अहिंसा को मरणोन्मुखी बनाएगी। अतएव आश्चर्य न करें कि पिछले कुछ वर्षों मे जो शस्त्र-सन्यास का आन्दोलन चल रहा था, प्रत्येक राष्ट्र को सीमित युद्ध-सामग्री रखने को कहा जा रहा था, उसे तीर्थंकरों ने हजारो वर्ष पहले चलाया था। आज जो काम कानून द्वारा, पारस्परिक विधान के द्वारा लिया जाता है, उन दिनो वह उपदेशों द्वारा लिया जाता था। भगवान् महावीर ने बडे-बडे राजाओं को जैन-धर्म मे दीक्षित किया था और उन्हे नियम दिया था कि वे राष्ट्र-रक्षा के काम मे आनेवाले शस्त्रो से अधिक संग्रह न करे। साधनो का आधिक्य मनुष्य को उद्दण्ड बना देता है। प्रभुता की लालसा मे आकर वह कही न कही किसी पर चढ दौडेगा और मानव-संसार मे युद्ध की आग भडका देगा। इस दृष्टि से जैन-तीर्थकर हिंसा के मूल कारणो को उखाड़ने का प्रयत्न करते रहे हैं।

जैन तीर्थंकरो ने कभी भी युद्धो का समर्थन नही किया। जहाँ अनेक धर्माचार्य साम्राज्यवादी राजाओ के हाथो की कठपुतली बन कर युद्ध के समर्थन मे लगते आए हैं, युद्ध मे मरने वालो को स्वर्ग का लालच दिखाते आए हैं, राजा को परमेश्वर का अंश बताकर उसके लिए सब कुछ अर्पण करने का विचार करते आए हैं, वहाँ जैन तीर्थंकर इस सम्बन्ध मे काफी कट्टर रहे हैं। प्रश्न, व्याकरण और भगवती सूत्र युद्ध के विरोध मे क्या कहते हैं ? यदि थोडा-सा कष्ट उठाकर देखने का प्रयत्न करेंगे तो बहुत कुछ युद्ध विरोधी विचार-सामग्री प्राप्त कर सकेंगे। आप जानते हैं, मगधाधिपति अजातशत्रु कुणिक भगवान् महावीर का कितना अधिक उत्कृष्ट भक्त था। औपपातिक सूत्र मे उसकी भक्ति का चित्र चरम सीमा पर पहुंचा दिया है। प्रतिदिन भगवान् के कुशल समाचार जानकर फिर अन्न जल ग्रहण करना, कितना उग्र नियम है। परन्तु वैशाली पर कुणिक द्वारा होने वाले आक्रमण का भगवान् ने जरा भी समर्थन नही किया, प्रत्युत् नरक का अधिकारी बताकर उसके पाप-कर्मों का भण्डाफोड कर दिया। अजातशत्रु इस पर रुष्ट भी हो जाता है। किन्तु भगवान् महावीर इस बात की कुछ भी परवाह नही करते। भला पूर्ण अहिंसा के अवतार रोमांचकारी नर-संहार का समर्थन कैसे कर सकते थे ?

जैन तीर्थंकरो की अहिंसा का भाव आज की मान्यता के अनुसार निष्क्रियता का रूप भी न था। वे अहिंसा का अर्थ प्रेम, परोपकार, विश्व-बन्धुत्व करते थे। स्वय आनन्द मे जीओ और दूसरों को जीने दो। जैन तीर्थंकरो का आदर्श यही तक सीमित न था। उनका आदर्श था दूसरो के जीने मे मदद करो, बल्कि अवसर आने पर ऐसे जीवन को कोई महत्त्व न देते थे, जो जन-सेवा के मार्ग से सर्वथा दूर रह कर एकमात्र भक्तिवाद के अर्थ (शून्य क्रिया-काण्डो) मे ही उलझा रहता हो।

भगवान् महावीर ने तो एक बार यहाँ तक कहा था कि मेरी सेवा करने की अपेक्षा दीन-दुखियो की सेवा करना कही अधिक श्रेयस्कर है। मै उन पर प्रसन्न नही, जो मेरी भक्ति करते हैं, माला फेरते हैं, बल्कि मैं तो उन पर प्रसन्न हू, जो मेरी आज्ञा का पालन करते हैं। मेरी आज्ञा है—प्राणीमात्र को सुख-सुविधा और आराम पहुंचाना। भगवान् महावीर का महान् ज्योतिर्मय सन्देश आज भी हमारी आखो के सामने है। उस सन्देश का सूक्ष्म बीज यदि हममे से कोई देखना चाहे तो उत्तराध्ययन सूत्र की सर्वार्थ सिद्धि वृत्ति मे देख सकता है।

अहिंसा के अग्रगण्य सदेशवाहक भगवान् महावीर हैं। आज तक उन्ही के अमर सन्देशो का गौरव-गान गाया जा रहा है। आपको मालूम है कि आज से ढाई हजार वर्ष पहले का समय भारतीय संस्कृति के इतिहास मे एक महान् अन्धकारपूर्ण युग माना जाता है। देवी-देवताओ के आगे पशु-बलि के नाम पर रक्त की नदियाँ बहाई जाती थी, और सुरापान का दौर चलता था। अस्पृश्यता के नाम पर करोडो की सख्या मे मनुष्य अत्याचार की चक्की मे पिस रहे थे। स्त्रियो को भी मनुष्योचित अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। एक क्या, अनेक रूपो मे सब ओर हिंसा का विशाल साम्राज्य छाया हुआ था किन्तु भगवान् महावीर ने उस समय अहिंसा का अमृतमय सन्देश दिया जिससे भारत की काया पलट गई। मनुष्य राक्षसी भावो से हटकर मनुष्यता की सीमा मे प्रविष्ट हुआ। क्या मनुष्य, क्या पशु सबके प्रति उसके हृदय में प्रेम का सागर उमड पडा। अहिंसा के सन्देश ने सारे मानवीय सुधारों के महल खड़े कर दिए। दुर्भाग्य से आज वे महल गिर रहे हैं। जल, थल, अभी-अभी खून से रंगे जा चुके हैं, और भविष्य में इससे भी भयंकर रंग में रंगने की तैयारिया हो रही हैं। तीसरे महायुद्ध का दुःस्वप्न अभी देखना बन्द नही हुआ है। परमाणु बम के

आविष्कार की होड़ सब देशों में लग रही है। सब ओर अविश्वास और दुर्भाव्य चक्कर काट रहे हैं। अस्तु, आवश्यकता है आज फिर जैन-संस्कृति के, जैन तीर्थंकरों के, भगवान् महावीर के, जैनाचार्यों के अहिंसा परमो धर्मः के सन्देश की। मानव-जाति के स्थायी सुखों के स्वप्नों को एकमात्र अहिंसा ही पूर्ण कर सकती है। अहिंसा भूताना जगति विदितं ब्रह्म परमम्।

श्रावक का लक्षण

कर्मों का जटिल जाल छिन्न-भिन्न करके आत्मा को स्वतन्त्र करने के लिए उन क्रियाओं का त्याग करना कार्यकारी है जिनसे वह कर्मजाल टूटने के बजाय मजबूत होता जाता है। क्योंकि जिन क्रियाओ से कर्मबन्धन जटिल होता है, उन क्रियाओं को छोड़ कर उनसे विपरीत क्रियाए करने से ही कर्मों से छुटकारा मिल सकता है।

कर्मबन्धन का मूल कारण मिथ्यात्व है। अतः आत्मा तथा अजीव, आस्रव आदि अन्य तत्वो के विषय मे यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उन तत्वो की श्रद्धा ठीक करनी चाहिए और कुदेव, कुधर्म, कुशास्त्र, कुगुरु की श्रद्धा भक्ति त्याग कर सत् देव, सत् शास्त्र, सद्गुरु की उपासना करनी चाहिये। ऐसा करने से मिथ्यात्व का नाश होकर सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है जिससे कि मिथ्या श्रद्धान के द्वारा जो कर्म-सचय होता था वह फिर नही होने पाता। मिथ्यात्व से छुटकारा पा लेने पर कर्मबन्धन के दूसरे कारण को दूर करने का यत्न करना चाहिये जिससे कर्म-आस्रव का दूसरा द्वार बन्द होकर आत्मा का कर्मभार और हल्का हो जाए।

कर्मबन्धन का दूसरा कारण 'अविरति' यानी 'असंयम' है। असंयम का अर्थ 'अनियन्त्रण' यानी—अपने वश मे न रखना है, जिसका अभिप्राय यह है कि आत्मा जब अपनी इन्द्रियो तथा मन पर नियन्त्रण नही रखता है तब इन्द्रिया और मन आत्मा को हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, काम सेवन और परिग्रह-सचय मे प्रवृत्त कर देता है। इन क्रियाओ से कर्मबन्धन ही नही होता है बल्कि आत्मा को बहुत दुःखदायक, दुर्गतियो मे आत्मा की दुर्गति कराने वाला, अशुभ कर्मों का बन्ध हुआ करता है। इस कारण आत्मा की दुर्गति मिटाने के लिये असयम या हिंसा आदि पाच पाप कार्यों को छोडना परम आवश्यक है।

पापकार्यों का पूरी तरह से त्याग तो घरबार छोडकर साधु बन जाने पर होता है क्योंकि साधु अवस्था मे न धन-संचय की आवश्यकता है, न चोरी करने, झूठ बोलने और किसी जीव की हिंसा करने की आवश्यकता है। स्त्रियो का सम्पर्क तो बिल्कुल ही छूट जाता है। अतः कामसेवन का वहा पर कुछ काम नही। इसी तरह मुनिदशा मे अविरतिका ससर्ग पूरी तरह से दूर हो जाता है। परन्तु गृहस्थाश्रम मे रहने वाला गृहस्थ इन पाच पापो को पूरी तरह नही त्याग सकता, क्योंकि खेतीबाड़ी, वाणिज्य, व्यापार द्वारा घर-परिवार के लिये धन-सचय की आवश्यकता होती है। इन कार्यों मे कुछ न कुछ जीव-हिंसा होती ही है, थोड़ा-बहुत असत्य बोले बिना व्यापारिक कार्य नहीं होते। सन्तान उत्पन्न करने के लिये विवाह करना तथा मैथुन क्रिया होती है, घर के लिये आवश्यक अन्न, वस्त्र, बर्तन, घर, रुपया, पैसा आदि वस्तुओ का सचय करना ही पड़ता है। अतः गृहस्थ पापों को पूर्ण तौर से नही त्याग सकता।

इस कारण सम्यग्दृष्टि पापपक से बचने के लिये सकल्पी त्रसजीवो की हिंसा (जान-बूझकर द्विइन्द्रिय आदि जीवो को मारना) का त्याग कर देता है। राज्य से दण्डनीय और पचो से भण्डनीय (निन्दनीय) असत्य बोलने का त्याग कर देता है। जल और मिट्टी (जिन पर कि किसी विशेष व्यक्ति का अधिकार नही है) के सिवाय अन्य कोई भी पदार्थ बिना पूछे नही लेता। अपनी विवाहित स्त्री के सिवाय अन्य सभी स्त्रियो से काम-सेवन का त्याग कर देता है तथा अपनी आवश्यकता के अनुसार धन-सम्पत्ति नियमित करके और अधिक धन-सग्रह करने का त्याग कर देता है। इस तरह पाचो पापो का वह कुछ त्याग कर देता है। इसी कारण उसके इस त्याग को 'अणुव्रत' कहते हैं।

इस धार्मिक गृहस्थ का दूसरा नाम 'श्रावक' भी है जिसका अपभ्रंश शब्द अनेक जगह 'सरावगी' प्रचलित हो गया है। श्रावक शब्द का अर्थ 'सुनने वाला' है। यानी—जो अपने निर्ग्रन्थ गुरु से आत्म-कल्याण का उपदेश सुने (शृणोति इति श्रावकः)। श्रावक के अनेक तरह अनेक भेद किये गये हैं। उनके विषय मे हम फिर कभी बतलायेंगे। यहाँ पर श्रावक का सामान्य स्वरूप सागारधर्मामृत ग्रन्थ मे पण्डितप्रवर श्री आशाधर जी ने जो लिखा है, उसे बतलाते हैं। उन्होंने लिखा है—

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भजन्,
अन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणी स्थानालयो ह्रीमयः।
युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी,
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत्॥

जो न्यायपूर्वक धन-उपार्जन करता हो, अपने गुरुओं की पूजा, उपासना करता हो, सत्य बोलता हो, धर्म, अर्थ, काम—इन तीन पुरुषार्थों का अविरुद्ध सेवन करता हो, अपने योग्य स्त्री, मुहल्ला, घर वाला हो, लज्जाशील हो, योग्य आहार करने वाला हो, सज्जन पुरुषों की संगति करता हो, बुद्धिमान हो, कृतज्ञ हो, इन्द्रिय-विजयी हो, धर्म-उपदेश को सुनता हो, पापों से भयभीत हो, दयालुचित्त हो, ऐसा पुरुष श्रावक धर्म का आचरण करता है। अर्थात् श्रावक धर्म आचरण करने वाले व्यक्ति को ऊपर कहे गये गुणों से युक्त होना चाहिये।

गृहस्थाश्रम को चलाने के लिये रुपया-पैसा आदि धन-सम्पत्ति की आवश्यकता हुआ करती है और धन-संचय करने के लिये बड़े प्रयत्न करने पड़ते हैं। गृहस्थ का अधिकांश समय इस धन-संचय में ही व्यतीत होता है, अतः धन-संचय करना तो बुरा नहीं है किन्तु वह धन-संचय अन्याय, अनीति, धोखाधड़ी, चोरी, बेईमानी, व्यभिचार, नीच कर्म से नहीं होना चाहिये। मन, शरीर और वचन के परिश्रम से न्यायपूर्वक होना चाहिये। न्यायपूर्वक कमाई अपने लिये तथा अन्य जनता के लिये बहुत लाभदायक होती है। अतः जो व्यक्ति अन्न का व्यापार करता है अथवा पंसारी, सोना-चांदी आदि का कार्य करता है उसको तोलने के बाट और तराजू ठीक रखनी चाहिये तथा तोलने में अनीति न करनी चाहिये। माल लेने के लिये भारी बाट और देने के लिए हल्के बाटों का प्रयोग छोड़ देना चाहिये। तराजू न्याय का चिह्न है अतः तराजू से बावन तोले पाव रत्ती के समान बिल्कुल ठीक तोलना चाहिये। जो व्यक्ति कपड़े का कार्य करता हो उसको नापने का गज ठीक नाप का रखना चाहिये, लेने के लिये लम्बा गज और देने के लिये छोटा गज न होना चाहिये तथा नापने की क्रिया भी ठीक रखनी चाहिये। जो व्यक्ति लेन-देन, साहूकारी का व्यापार करते हों उन्हें लेन-देन, ब्याज-बट्टा आदि में अनीति न करनी चाहिये। कर्ज लेने वाले तथा अपने आभूषण गिरवी रखने वाले गरीब प्रायः अपढ़ अशिक्षित होते हैं, हिसाब नहीं जानते हैं। उनसे लेन-देन में अनीति नहीं करनी चाहिये तथा रुपये पैसे को ही सब कुछ न समझकर गरीबों के साथ व्यापार में दया का बर्ताव करना चाहिये। यदि उनके पास कर्ज चुकाने के लिये कुछ न हो तो उनके रहने की झोपड़ी नीलाम करा कर उन्हें निराश्रय बनाने की निर्दयता न करनी चाहिये। इसके सिवाय बढ़िया असली चीजों में कम मूल्य की घटिया वस्तु मिलाने की प्रवृत्ति छोड़ देनी चाहिये। खाने-पीने के पदार्थों तथा औषधियों में मिलावट करना हिंसा जैसा पाप है। इस कारण ऐसे कार्य कभी न करने चाहिये। चुंगी कर की चोरी, आय-कर (इन्कम टैक्स) की भी चोरी न करनी चाहिये। जिस देश में हम रहते हैं, जिस देश की पुलिस सेना हमारे प्राणों तथा सम्पत्ति की रक्षा करती है उस देश की शासन-व्यवस्था चलाने के लिये जो कर लगाये जाते हैं उनकी चोरी करना देशद्रोह है। देशद्रोह भी महान् पाप है।

व्यापार करते समय भावना लोककल्याण की रखनी चाहिये। कोई लोभी वैद्य व डाक्टर मन में सोचते रहते हैं कि रोग, बीमारियां फैलें तो हमारा व्यापार खूब चले। अनाज के व्यापारी बहुत-से नीच स्वार्थी लोग दुष्काल होने की भावना करते हैं जिससे उनको अच्छा लाभ हो, इत्यादि भावनाएं बहुत बुरी हैं। जैन व्यापारियों को ऐसी भावना कदापि न करनी चाहिये। जो व्यक्ति नौकरी करके धन-उपार्जन करते हैं उनको भी अपना कार्य नीतिपूर्वक ईमानदारी से करना चाहिये। जो कार्य उनको दिया जाय उसको अपना निजी कार्य समझकर नियत समय के भीतर समाप्त करने का यत्न करना चाहिये। जिसकी नौकरी करे उसको हानि पहुंचाने की चेष्टा कदापि न करनी चाहिये।

इसी तरह मालिक को भी अपने नौकरों के साथ अपने पुत्रों तथा भाइयों के समान मीठा व्यवहार करना चाहिये, न उनके साथ कठोर बर्ताव करना चाहिये, न उनके वेतन देने में रंचमात्र अनीति करनी चाहिये। जहां तक हो सत्य बोलना चाहिये। जिस तरह मधु-मक्खी फूलों को बिना कष्ट पहुंचाये उनमें रस ले आती है इसी तरह जनता को कष्ट न देते हुए न्याय-नीति से व्यापार करना चाहिये। जो व्यक्ति दर्शन ज्ञान चारित्र में अपने से अधिक हैं ऐसे गुणवान सद्गुरुओं का आदर, विनय, सन्मान करना धार्मिक श्रावक का मुख्य कर्तव्य है। संसार से पार करने वाले साक्षात् तरणतारण गुरु ही होते हैं। उनके समान उपकार करने वाला व्यक्ति और कोई नहीं होता। इसलिये उनके गुण प्राप्त करने के लिये श्रद्धा से उनकी पूजा-उपासना करनी चाहिये।

जैन श्रावक की वाणी (वचन) हित, मित, प्रिय, प्रामाणिक होनी चाहिये। वचन में क्रोध, अभिमान की झलक न हो, स्व-पर हितकारक हो तथा सत्य हो। भय-उत्पादक, क्षोभ उत्पन्न करने वाली बात न कहनी चाहिये। दीन-दुःखी प्राणियों के साथ मीठा बोलना चाहिये तथा आवश्यकता से अधिक न बोलना चाहिये।

धर्म-साधन करने से पुण्य-कर्म का बन्ध होता है, पुण्य कर्म के उदय से धन का लाभ होता है, धन से इन्द्रियों के विषय-भोगों की साधन-सामग्री प्राप्त होती है। अतः सबसे प्रधान लक्ष्य धर्म-सेवन का होना चाहिये। प्रातःकाल सबसे पहले पवित्र होकर भगवान् का

दर्शन, पूजन, सामायिक, स्वाध्याय आदि धर्म-क्रिया करनी चाहिये। फिर व्यापार आदि धन-उपार्जन का कार्य करना चाहिये। रात्रि में गुणी धार्मिक सन्तान के उत्पादन के लिये काम पुरुषार्थ करना चाहिये। रजस्वला के समय, रोगी दशा मे, अष्टान्हिका, दशलाक्षणी, अष्टमी व चतुर्दशी को तथा गर्भाधान के बाद पूर्ण ब्रह्मचर्य मे रहना चाहिये, शेष दिनों मे भी अधिक से अधिक ब्रह्मचर्य का यत्न करना चाहिये। ब्रह्मचर्य से शरीर बलवान् तेजस्वी होता है, सन्तान गुणवान् होती है, तथा दीर्घ आयु होती है। अत. अपनी स्त्री को शिक्षित बनाकर धर्मात्मा बनाना चाहिये। धार्मिक स्त्री के कारण सारे परिवार को शुद्ध भोजन मिलता है, तथा परिवार मे धर्म-आचरण बना रहता है।

रहने को अच्छा घर हो जिसमे खुला प्रकाश, वायु तथा धूप आती हो, जिसमे धुआ न भर जाता हो, सीलन न रहती हो। घर ऐसे स्थान पर हो जहा आस-पास में शराबी, मांस-भक्षक, जुआरी, लुच्चे, चोर, गुण्डे, बदमाश न रहते हो। सद्गृहस्थो का पड़ोस हो। धार्मिक व्यक्ति को बुरे कार्य करने मे सकोचशील होना चाहिये। निर्लज्ज मनुष्य निन्दनीय कार्य करते सकोच नही करता, अतः उसकी सब जगह निन्दा होती है। धर्मात्मा मनुष्य को अपना खान-पान, आहार-विहार शुद्ध सात्त्विक रखना चाहिये। अभक्ष्य पदार्थ, नशीली चीजें, रोग पैदा करने वाली वस्तुयें न खानी चाहियें।

सदा सज्जन पुरुषों की संगति करनी चाहिये। दुर्जन, दुर्गुण, मूर्ख, व्यसनी पुरुषो की संगति से सदा दूर रहना चाहिये। मनुष्य के आचार व्यवहार पर संगति का बहुत भारी प्रभाव पडता है। कुसगति मनुष्य को बर्बाद कर देती है और सत्सगति से मनुष्य का उद्धार हो जाता है। अतः सदा सज्जन पुरुषो के समागम मे रहना चाहिये।

सन्तान-शिक्षण

यह संसार अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता जायगा। ये जगत्वर्ती समस्त जड-चेतन पदार्थ भी अनादि काल से चले आ रहे हैं और वे सभी अनन्त काल तक बने रहेंगे। न तो उनमे परमाणु मात्र कम होगा और न उनमें परमाणु मात्र कोई पदार्थ नवीन ही उत्पन्न होगा, जितने हैं उतने ही रहेंगे। फिर भी प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वभाव के अनुसार प्रतिसमय परिणमन करता रहेगा, सदा एक ही दशा मे न रहेगा। जो दशा पदार्थ की एक क्षण पहले होती है, वह दूसरे क्षण में नहीं रहने पाती और जो दशा दूसरे क्षण मे होती है वह तीसरे क्षण मे नही रहती। यानी—पर्याय प्रतिक्षण नवीन होती जाती है। यह प्रतिक्षण का परिणमन कोई अन्य व्यक्ति करने नही आता, काल द्रव्य की सहायता मे प्रत्येक पदार्थ स्वयं उस तरह परिणमन करता है।

इस तरह प्रत्येक पदार्थ अविनाशी, शाश्वत होता हुआ भी उसकी दशा सदा प्रतिक्षण परिणमनशील है। इस तरह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, प्रति समय सभी पदार्थों मे होता रहता है। यही कारण है कि जीव अविनाशी अजर-अमर है, वहा वह सदा परिवर्तनशील भी है। तदनुसार जगत् मे कोई भी जीव ऐसा नही जो कि किसी विशेष समय उत्पन्न हुआ हो। किन्तु कोई भी जीव ऐसा नही जो अनादि काल से अब तक एक सी ही दशा मे चला आया हो। मनुष्यो की तथा विभिन्न थलचर, जलचर, नभचर पशु-पक्षियो की सत्ता जैसे करोडो वर्ष पहले थी उसी तरह आज भी है, परन्तु वे सन्तान परम्परा से ही मौजूद हैं, वैसे के वैसे नही हैं। जैसे बीज-वृक्ष की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है, इसी तरह पिता-पुत्र की परम्परा भी अनादि काल से चली आ रही है।

पिता के संस्कार, गुण, अवगुण उसकी सन्तान में आया करते हैं। तदनुसार भगवान् ऋषभनाथ की धर्म-परम्परा अभी तक चली आ रही है। पुत्र अपने पिता की छाया-अनुरूप होता है। अत पिता जिस धर्म का अनुयायी होता है, प्राय पुत्र भी उसी धर्म का आचरण करता है। इस तरह सन्तान अपने पिता की विरासत को सुरक्षित रखकर आगे चलती रहती है।

जिस तरह अच्छा वृक्ष उत्पन्न करने के लिये अच्छा बीज और अच्छी भूमि की आवश्यकता होती है, उसी तरह अच्छा तेजस्वी, गुणी, बुद्धिमान पुत्र उत्पन्न करने के लिये अच्छे बीज तथा अच्छी भूमि की आवश्यकता है। वीर्य बीज रूप है और माता का गर्भाशय भूमि के अनुरूप है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण आदि महान् पराक्रमी पुत्रो को उत्पन्न करने वाले माता-पिता भी असाधारण व्यक्ति होते थे।

श्री मानतुङ्गाचार्य ने भक्तामरस्तोत्र मे कहा है—

> स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
> नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।

सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥२२॥

हे भगवान् ! पुत्रो को तो सैकडों स्त्रियां जन्म देती हैं किन्तु आप सरीखे पुत्र को आपकी माता के सिवाय अन्य किसी माता ने जन्म नहीं दिया। सो ठीक है, सूर्य को धारण तो सभी दिशाए करती हैं परन्तु सूर्य का उदय तो पूर्व दिशा से ही हुआ करता है, अन्य किसी से नही होता।

इसलिए तेजस्वी गुणी पुत्र उत्पन्न करने के लिये माता-पिता को विशेष सावधानी रखनी चाहिये। गर्भाधान के समय पति और पत्नी की ऐसी शुभ भावना होनी चाहिये कि हमारे अच्छा तेजस्वी, गुणवान्, विद्वान्, धर्मात्मा, कुलदीपक पुत्र हो जो कि अपने गुणो तथा शुभ कार्यों से ससार मे अपना तथा हमारे कुल का यश फैलाए। ऐसी शुभ कामना हृदय मे रख कर गर्भाधान संस्कार किया जाए। इस विषय को आदिपुराण से और भी अधिक जान लेना चाहिये।

गर्भाधान हो जाने पर पति-पत्नी को सन्तान-प्रसव होने तक पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ रहना चाहिये। इस ब्रह्मचर्य के पालन से गर्भस्थ सन्तान पर सदाचार के संस्कार स्थापित होते है। दुराचारी सन्तान उत्पन्न होने मे अन्य कारणो के अतिरिक्त एक विशेष कारण यह भी है कि उन सन्तानो के माता पिताओं ने गर्भाधान के बाद ब्रह्मचर्य का पालन नही किया। इसके सिवाय उस समय की काम-क्रीडा गर्भस्थ शिशु के शरीर पर तथा स्त्री के शरीर पर भी बुरा प्रभाव डालती है।

ब्रह्मचर्य धारण करने के साथ ही साथ पति-पत्नी का गर्भाधान के दिनो मे परस्पर बहुत शान्ति, उत्साह, हर्ष के साथ रहना चाहिए। पत्नी को सन्तुष्ट रखना, उसकी इच्छाओं की पूर्ति करना, उसको कोई चिन्ता, शोक, भय, खेद, क्लेश, कलह पैदा न होने की व्यवस्था करना पति का कर्तव्य है। अपनी गर्भिणी भार्या को सुन्दर, गुणी, यशस्वी पुरुषो के चित्र दिखाना, उसको पराक्रमी, गुणी, विद्वान् पुरुषो के चरित्र सुनाना, उसका चित्त हर्षित रखना बहुत आवश्यक है। गर्भिणी पत्नी का कर्तव्य है कि वह यथासभव निरालस्य रहकर हलके परिश्रम के कार्य करती रहे। भारी परिश्रम के कार्य न करे, भागना, दौडना, जल्दी सीढियां पर उतरना-चढना बन्द रक्खे तथा प्रतिदिन भगवान् के दर्शन करे, शास्त्रों का स्वाध्याय करती रहे। अकलंक देव, समन्तभद्र, जिनसेन, वीरसेन, भद्रबाहु, चन्द्रगुप्त आदि के जीवन-चरित्र पढे। तीर्थंकरो, भरत, बाहुबली, सुकुमाल, जम्बूकुमार, प्रद्युम्न, बलभद्र, नारायण, राम, लक्ष्मण, कृष्ण, पवनजय, हनुमान, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, अभिमन्यु आदि महान् पराक्रमी, गुणी, बुद्धिमान, लोकोत्तर व्यक्तियो की जीवन-घटनाओं को बडी रुचि और उत्साह से पढती रहे। उनके चित्र बडे ध्यान से देखती रहे।

ऐसे कार्यों का प्रभाव गर्भस्थ सन्तान पर बहुत अच्छा पडता है। माता के विचारो और भावना के संस्कार गर्भस्थ सन्तान के ऊपर अंकित हो जाते है। महाभारत मे अभिमन्यु के विषय मे कथा आई है कि अभिमन्यु जब सुभद्रा के गर्भ मे था तो एक दिन उसे कुछ पीडा हुई तो अर्जुन ने उसका चित्त उस ओर से हटाने के लिये सुभद्रा को चित्र खीचकर चक्रव्यूह (गोल आकार मे सेना को खडी करना) तोड़ने की विधि बतलाई। सुभद्रा ने उसे बहुत ध्यान से सुना और वह चित्र भी देखा। अर्जुन जब उसको चक्रव्यूह तोडकर घुस जाने की विधि समझा चुका तो सुभद्रा को नीद आ गई। अत चक्रव्यूह से बाहर निकलने की जो विधि अर्जुन ने समझाई उसे वह न सुन पाई। इसका प्रभाव यह हुआ कि गर्भस्थ बालक अभिमन्यु के हृदय पर सुभद्रा की समझ के अनुसार चक्रव्यूह तोडने के संस्कार जम गये पर चक्रव्यूह से बाहर निकलने की वार्ता उसे मालूम न हो पाई। तदनुसार कौरवो के जिस चक्रव्यूह को महा बलवान् भीम भी न तोड पाया उस चक्रव्यूह को अभिमन्यु ने बिना सीखे अपने नवयौवन मे तोडकर गर्भाधान के समय के संस्कार का परिचय दिया।

साराश यह है कि गर्भाधान के बाद सन्तान उत्पन्न होने तक पत्नी के जैसे अच्छे-बुरे विचार होगे वैसे ही संस्कार सन्तान पर आवेंगे। इसके अतिरिक्त गर्भिणी स्त्री को अपना रहन-सहन, खान-पान, बोलना-चालना आदि भी ठीक रखना चाहिए। उन दिनो मे भोजन शुद्ध, हलका, सात्विक होना चाहिये। आखो मे सुर्मा आदि न लगाना चाहिये, जिससे शिशु के नेत्र ठीक रहे। उबटन न करना चाहिये। घर साफ-सुथरे रहने चाहिये और हृदय मे कोई बुरी भावना न आने देनी चाहिये। इस तरह गर्भाधान के दिनों मे स्त्री को अपने गर्भस्थ शिशु की आत्मा पर अच्छे संस्कार उत्पन्न करने के लिये सावधानी से अपना आचार-विचार अच्छा शुभ रखना चाहिये।

बालक उत्पन्न हो जाने पर उसका ठीक ढग से पालन-पोषण करना चाहिये। दूध पिलाते समय माता का चित्त प्रसन्न होना चाहिए। क्रोध, क्षोभ, भय, घृणा आदि के समय बच्चे को दूध कभी न पिलाना चाहिये। उसको लोरियां देते समय अच्छे उपदेश, उच्च भावना के सूचक सुन्दर गीत गाने चाहिये और अच्छी उच्च शुभ भावना से प्रेम का हाथ बच्चे पर फेरते रहना

चाहिये। जहां तक हो सके बच्चे को ठीक समय पर दूध पिलाना चाहिये। दूध उतना ही पिलाया जाए जितनी उसे भूख हो। जब उसे पीने की अनिच्छा हो तो जबरदस्ती और दूध न पिलाना चाहिये। न उसे सुलाने के लिये कभी अफीम का अंश देना चाहिये। ऐसी व्यवस्था रखनी चाहिये कि बच्चा रोने न पावे। रोने की आदत डलवाना ठीक नही। एक वर्ष तक बच्चे के स्वास्थ्य की सबसे अधिक सावधानी रखने की आवश्यकता है। तदनन्तर ज्यों-ज्यो बड़ा होता जाए उसके अनुसार उसके आहार-पान की व्यवस्था करते रहना चाहिये।

इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि बच्चे के सामने कभी काम-सेवन न किया जाए। बच्चों को अबोध समझकर उनके सामने मैथुन किया करना बहुत भारी ग़लती है। बच्चे इतने अबोध नही होते जितना कि उन्हे समझा जाता है। बच्चो मे भी ज्ञान शक्ति है। वे शिशु अवस्था मे बोल नही सकते, किन्तु थोडा-बहुत समझते सब कुछ हैं। उनके सामने की हुई काम-क्रीड़ा से उनके चरित्र पर दुराचार का प्रभाव तथा संस्कार पड़ता है जो कि उनके बडे हो जाने पर उनमे प्रकट होता है। अतः यह कार्य उनके सामने कभी न करना चाहिये।

बच्चा ज्यों ही बोलने लगे उसको अच्छी बातें सिखानी चाहिये। बच्चो के सामने गाली-गलौज करना या बुरी बातें कहना व सुनना बहुत बुरा है। बुरी बाते या गालिया सुनकर बच्चे भी वैसा ही बोलना सीख जाते हैं। मूर्ख माता-पिता छोटे बच्चे की तोतली बोली में गाली-गलौज सुनकर बडे प्रसन्न होते हैं। वे ये नही समझते कि तोतली भाषा की वे ही गालिया बच्चों की जीभ पर पक जाती हैं, जो कि आगे चलकर बुरी आदतों मे शामिल हो जाती हैं। इसलिए न तो बच्चो के सामने दुर्वचन बोलने चाहिये और न गाली-गलौज ही करनी चाहिये।

इसके सिवाय बच्चो के सामने हंसी-मजाक मे झूठ बोलना भी उचित नही, क्योंकि बच्चे तो कोरे घड़े के समान शुद्ध हृदय वाले होते हैं। जिस तरह कोरे घड़े को हजार बार धो डालने पर भी उस घडे से हींग की गंध नही जाती, इसी तरह छोटे बच्चों के हृदय पर यदि झूठ बोलने का संस्कार पड़ जाए तो वह भी स्थायी हो जाता है, बडे होने पर भी नहीं छूटता।

इस कारण बच्चों के सामने हँसी-मजाक मे भी झूठी बातें करना ठीक नही। उसका उनके हृदय पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

चिन्तन के विविध आयाम[1]
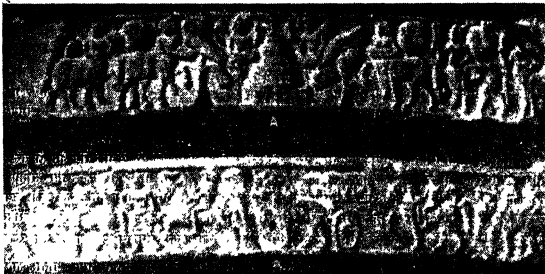
—आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

योगामृत

☐ शुद्ध परमात्मा हमारे भीतर अनादि काल से निवास करता है। एकाग्रता से ध्यान करने पर वह सिद्ध परमात्मा अपने अन्दर मिलेगा, अन्य जड़ रूप परद्रव्य मे नही।

☐ यह ससारी आत्मा परद्रव्य के सम्बन्ध से जब छूटता है, उसी समय सिद्ध क्षेत्र मे जाकर विराजमान हो जाता है। मुक्त आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन स्वरूप से युक्त अनन्त अतीन्द्रिय सुख को भोगता है। शुद्ध चेतना के प्रगट होने से यह जीव त्रिकाल-वर्ती समस्त पदार्थों का एक ही समय मे प्रत्यक्ष जान लेता है।

☐ सिद्ध भगवान् जन्म, जरा, मरण से रहित है। कर्मों से छूट गए है। सर्व व्यापार व चार गति मे जाने-आने के प्रपंच से शून्य है। मलरहित निरजन है। उपमारहित है। आठ परम गुण सहित हैं। अनन्त गुणो के पात्र हैं। परावलम्बन से रहित है। अच्छेद्य हैं। अभेद्य है। आनन्दमय परमात्मा है।

☐ अनादि काल से यह आत्मा बाह्य वस्तु मे रमण करते हुए विविध विषय कषाय के आधीन होता हुआ अनेक प्रकार के कष्ट उठाता आ रहा है। शरीर आदि बाह्य पदार्थों मे इस जीव को सुख और शान्ति मिलती है। बाह्य वस्तु मे ही सुख मानकर सासारिक प्राणी अपना जीवन बिता रहा है। ससार मे वह अनेक वस्तुओ का परिचय करता आया; परन्तु शुद्ध सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र, जो निज स्वभाव है, उस स्वभाव का बिल्कुल भी उस जीव को परिचय नही हुआ। यह निजी स्वरूप सम्पूर्ण वस्तुओ से भिन्न है, निर्विकार है, निर्मल है, शुद्ध है, अनेक गुणो से परिपूर्ण है। इतना होने पर भी यह जीव इसकी ओर दृष्टि न रखते हुए बाह्य पदार्थ मे दृष्टि डालकर, उसी को अपना मान कर उसमे रमण कर रहा है।

☐ अध्यात्म तत्त्व को जानने से, मनन करने से तथा रुचिपूर्वक ग्रहण करने से कर्मों का नाश होता है।

☐ पूर्वबद्ध कर्मों का तप द्वारा दूर होते जाना निर्जरा और सब कर्मों का अभाव होना मोक्ष कहलाता है।

☐ जब तक आत्म-तत्त्व को जानकर उसके प्रति रुचि न होगी तब तक उससे भिन्न पदार्थों को आत्मा से अलग नही कर सकते। इसीलिए इस तत्त्व को भली प्रकार जानने के लिए सद्गुरु के समाधान की आवश्यकता है।

☐ आत्मा के अशुभ परिणामो से समस्त पाप-बन्ध होता है। शुभ परिणामो से शुभ कर्म-बन्ध होता है, राग-द्वेष रहित शुद्ध भावो से मोक्ष होता है।

☐ जिस प्रकार चारो दिशाओ मे फैला हुआ अन्धकार सूर्य की किरणो से विलीन हो जाता है, उसी प्रकार निष्कषाय शान्त मन एवं एकाग्र चित्त से आत्म-तत्त्व का चिन्तन करने से सम्पूर्ण कर्म-समूह नष्ट हो जाते हैं।

☐ अपने आत्म-चितवन को पिंडस्थ ध्यान कहते हैं, समस्त चित्स्वरूप के चितवन करने को रूपस्थ ध्यान कहते हैं; कर्म मल से रहित परमात्मा के चितवन करने को रूपातीत ध्यान कहते हैं। स्फटिक मणि के पात्र मे स्वभाव से प्रकाशित होने वाली चन्द्रमा की ज्योति के समान अपने हृदय-कमल मे चमकने वाले सच्चे आत्मरूप को अपने हृदय मे देखना या उसी का ध्यान करना पिंडस्थ ध्यान कहलाता है। द्वादश गणो से युक्त समवशरण मे विराजमान होकर बारह करोड़ सूर्यों के प्रकाश से भी अधिक शरीर की कांति से सुशोभित होने वाले अरहन्त परमात्मा के स्वरूप को अपने मन मे स्थिर करके चिन्तन करना रूपस्थ ध्यान है। सहज सुख, सहज ज्ञान, सहज ही होने वाले आत्म-दर्शन को मन मे स्थिर कर सहज प्रेम रूप से अपने भीतर आप ही स्थिर होकर अपने आत्मा का ध्यान करना—यही सम्पूर्ण पाप को नाश करने वाला रूपातीत ध्यान है।

☐ पच परमेष्ठियों का णमोकार मन्त्र अनन्तानन्त जन्मो मे उपार्जन किए हुए सम्पूर्ण पापों का नाश करने वाला है और

१. आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के विभिन्न ग्रन्थो में से डॉ० वीणा गुप्ता तथा कु० रेखा गोयल द्वारा संकलित।

अन्त में मोक्ष गति अर्थात् पंचम गति को प्राप्त कराने वाला है। जो भव्य जीव सदा सद्भक्ति से इस पंच परमेष्ठी के मंत्र का जप करते हैं, उनकी समस्त आपत्ति, संसार के संताप तथा पाप नष्ट हो जाते है और उन्हें मोक्ष की प्राप्ति होती है।

☐ जो व्यक्ति उठते हुए, गिरते हुए, चलते हुए, पृथ्वी तल पर लेटे हुए, सोते हुए, हँसते हुए, वन-मार्ग में चलते, घर में रहते, कोई भी कार्य करते हुए, पग-पग पर सदा णमोकार मंत्र का स्मरण करता है, उसकी इच्छाएं पूर्ण होती हैं। णमोकार मंत्र जपने से युद्ध, समुद्र, गजराज, सर्प, सिंह, भयानक रोग, अग्नि, शत्रु, बन्धन (जेल) आदि का तथा चोर, दुष्ट ग्रह, राक्षस, चुड़ैल का भय दूर हो जाता है।

☐ जो मनुष्य हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, पर-स्त्री-सेवन तथा लोकनिंदित अन्य पाप कर्मों में तत्पर रहता हो वह भी यदि निरन्तर णमोकार मन्त्र का स्मरण करता रहे तो कुकर्मों से उपार्जित अपनी नरक आदि दुर्गति को बदलकर मरने पर देव गति को प्राप्त करता है। यह णमोकार मन्त्र ऐसा महत्त्वशाली है जिसके प्रभाव से ऐसी कोई चीज नही जो शुभ न हो सके।

☐ मनुष्य को दु:ख में, सुख मे, भयानक स्थान मे, मार्ग मे, वन मे, युद्ध मे पग-पग पर पंच नमस्कार मन्त्र का पाठ करना चाहिए।

☐ हे आत्मन्! इस मनुष्य भव से च्युत होने के बाद तुझे अनेक प्रकार का दु:ख भोगना पड़ेगा। इसलिए तुझे यह जो नररत्न मिला है उसे पाकर यदि तू विवेकपूर्वक अपने साधन मे लगा रहेगा तो तुझे आगे आत्म-शान्ति देने वाली सामग्री अपने अन्दर ही प्राप्त होगी। इसलिए धर्म की आराधना कर जिससे आत्मा को दु:ख देने वाला माया का फेर मिट जाए। जब तक तू काया-माया के झंझट मे रहेगा, तब तक दु:खी ही रहेगा। मन को शुभ कार्य में लगाने का प्रयत्न कर क्योंकि शुभ कार्य करने के लिए इस समय शुभ अवसर है। प्राप्त किये हुए नर-रत्न को वृथा गंवाना ठीक नहीं है। तेरे भाग्य के उदय से सत्य उपाय बतलाने वाले सद्गुरु तुझे मिले हुए हैं। चिंता आदि से छुटकारा पाने के लिए सद्गुरु तुझे जगा रहे हैं। इस लक्ष्य से उपयोगपूर्वक तू सद्गुरु का उपदेश सुन।

☐ तू पर-वस्तु के लिए जितना परिश्रम करता है और पेट भर अन्न भी नही खाता, यदि उतना श्रम अपने आत्म-साधन में थोड़ी देर तक करता रहे तो तेरा चिन्ता-जाल नष्ट हो जाएगा और तुझे आत्मस्वरूप की पहचान हो जाएगी। जब तक विषय-वासना का संग नही छूटेगा तब तक तुझे निजात्म-सुख की प्राप्ति नही हो सकती। सद्गुरु कहते हैं कि हे आत्मन्! ठीक विचार कर ले कि मैं कौन हूं? मेरा स्वरूप क्या है? मेरा कर्तव्य क्या है? इस मानव भव को प्राप्त करके मुझे क्या करना है? क्योंकि ठीक विचार करने की बुद्धि इस मानव पर्याय मे ही है।

☐ आत्मिक गुणों मे प्रेम रखने से व्याधि दूर भागती है। अनन्त गुण प्रकट होते हैं। इस प्रकार का विचार-विवेक जिस प्राणी के अन्दर नही आता, उसको आत्म-तत्त्व का ज्ञान कहां से आ सकता है?

☐ हे भव्य प्राणी! तू अनादिकाल से परवस्तु के व्यासंग मे पडकर अपने आत्म-कल्याण से वंचित रहा। यदि तू सम्पूर्ण व्यासंग को छोड़कर अपने आत्म-उपासना मे रत होकर अपने को अपने अन्दर अन्वेषण करेगा तो तुझे अपने अन्दर ही अपनी प्राप्ति होगी। हे जीव! अब तू इस व्यासंग को छोडकर अपने आपको देख। तुझे अपने अन्दर ही अखण्ड सुख और शान्ति मिलेगी।

☐ जब तक यह भव्य मानव प्राणी भगवान् जिनेश्वर द्वारा कहे हुए तत्त्व का रुचिपूर्वक अभ्यास करके उस पर श्रद्धा नहीं रखता, तब तक यह संसार रूपी समुद्र को पार नही कर सकता।

☐ हे जीव! जब तक तेरी पीठ की हड्डी न झुके, जब तक तेरी आंखो की रोशनी न जाए, आंखो से अच्छी तरह दीखता रहे, हाथ मे डंडा न आए, तब तक तू अपने अन्दर को ठीक समझ कर आत्म-चिन्तन कर। वृद्धावस्था में सामान्यत: चित्त की स्थिरता न होने के कारण तेरा शुद्धात्मा होना अत्यन्त कठिन है। इसलिए वृद्ध अवस्था प्राप्त करने से पहले आत्म-स्वरूप का चिन्तन करना तेरे लिए अत्यन्त उचित है।

☐ इस शरीर में स्थित पंचेन्द्रियों की विषय-वासनाओं मे आसक्त होकर अनन्त दु:ख उठाते हुए संसार दीर्घ काल से परिभ्रमण कर रहा है। इसलिए हे आत्मन्! तेरे शरीर में जब तक वृद्धावस्था ने प्रवेश नहीं किया तब तक तुझे अपना आत्महित कर लेना योग्य है। तू एकाग्र होकर अपने अन्दर विचार कर। तेरे अन्दर न पर-वस्तु है, न राग है, न मोह है, न आत्मा में आत्मा से भिन्न पर-विकार है। जिस शरीर के लिए तू अनादि काल से जन्म-मरण करता आ रहा है, यदि विचार करके देखा जाए तो यह शरीर क्षणिक और अशाश्वत है।

☐ मनुष्य का जीवन चिन्ता और दु:खों का जीवन है। प्रत्येक मनुष्य दिन-रात दु:खों का अनुभव करता है। इन दु:खों की न कोई सीमा है, न कोई अन्त है।

☐ जो कुटुम्ब से छूटा तो नही छूटा, भाव से छूटा तो छूटा। जो साधु भाव से मुक्त हो गया उसको मुक्ति मिल गई। स्त्री, कुटुम्ब, मित्र आदि से मुक्त होने से उसको मुक्त नही कहा जा सकता। इसलिए ऐसा समझकर तू आभ्यतर वासना को छोड़। भव्य जीव को केवल बहिरग से ही नहीं, अपितु द्रव्य और भाव दोनो से मुक्त होना चाहिए। मोक्ष की प्राप्ति तभी हो सकती है।

☐ हे आत्मन्! चलते समय, बोलते समय, सोते समय, खाते समय, व्यवहार करते समय या अन्य किसी हालत मे क्यों न हो, प्रतिदिन अपने से आपको देखो तथा चिन्तवन करो। इस प्रकार चिन्तवन करने से तुम्हारी कोई हानि नहीं है। इसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति शीघ्र होगी। सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र, जो आत्मा का धर्म है, वही अपना स्वरूप है। जब तक उसकी शरण मे नही आओगे तब तक इस जीव की कोई रक्षा करने वाला नही है, सुख और शान्ति को देने वाला नही है।

☐ इन नश्वर वस्तुओ के लिए मनुष्य घोर प्रयत्न करता रहता है। फिर भी ये वस्तुए मनुष्य की सर्वदा सहचर नही होतीं। सर्वदा सहचर है तो एकमात्र धर्म ही है जो कभी भी साथ नही छोड़ता अर्थात् परलोक जाने के समय मनुष्यो का एकमात्र सखा धर्म ही है। अत: ज्ञानी जीव को धर्म से अलग कभी नही होना चाहिए। इस ससार मे धर्म के सिवाय और किसी से भी सुख और शान्ति आज तक नही मिली।

☐ जो सिद्ध ज्योति सूक्ष्म भी है, स्थूल भी है, शून्य भी है, परिपूर्ण भी है, उत्पाद-विनाशशाली है, नित्य भी है, सद्भावरूप भी है और अभावरूप भी है, एक भी है, अनेक भी है, ऐसा दृढ़ प्रतीति को प्राप्त हुई वह अमूर्तिक, चेतन, सुख स्वरूप सिद्ध ज्योति किसी बिरले ही योगी पुरुष के द्वारा देखी जाती है। मिथ्यात्व रागादिक के छोडने से निज शुद्धात्म द्रव्य के यथार्थ ज्ञान मे जिनका चित्त परिणत हो गया है, ऐसे ज्ञानियो को शुद्धबुद्ध परम स्वभाव परमात्मा को छोड़कर दूसरी कोई भी वस्तु सुन्दर नही दिखती। इसलिए उनका मन कभी विषय-वासना मे नहीं रमता।

☐ कर्मो से मोक्ष तभी हो सकता है जब शरीर से ममता दूर हो। अपनी आत्मा के प्रति गाढ़ श्रद्धान् होकर, आत्मा को सांसारिक विषयो से उसी प्रकार खीच लिया जाय जिस प्रकार वृक्ष को जड़ समेत जमीन से उखाड़कर खीच लिया जाता है। जब तक तुम्हारे भावो मे कर्म की जड़ मोह खीचने की शक्ति नही होगी तब तक बाह्य तपस्या से कर्म की निर्जरा न होगी और आत्मा का अनुभव नही होगा।

☐ परीषहो की तीव्र वेदना से दुखित होकर जिस समय तू परम उपशम भावना करेगा उस समय आधे क्षण मे तेरे समस्त अशुभ कर्म नष्ट हो जायेंगे।

☐ जो पुरुष परीषह सुभटो से भयभीत होकर चारित्र रूपी सग्राम भूमि को छोड़कर भागते है वे ससार मे हास्य के पात्र बनते हैं और अनेक प्रकार के दु:खो का उन्हे सामना करना पडता है। जो पुरुष ससार से भय करने वाले है और ससार के दु:खो को भोगना नही चाहते, उन्हे चाहिए कि वे चारित्र को प्राप्त होकर परीषहो के भय से विमुख न हो, किन्तु परीषहो रूपी सुभटो की कठिन मार झेलते हुए भी बढते चले जाए। अखण्ड अविनाशी मोक्ष राज्य को पाकर कीर्ति का उपार्जन करे एव समस्त प्रकार के दु:खो से छूटें।

☐ हे योगी! तू जिस शरीर को धारण किये हुए है, उस शरीर मे यह आत्मा सुज्ञान, सुदर्शन, सुख और शक्ति रूप से युक्त है। यह आत्मा निराकार है, किन्तु साकार शरीर मे रह रही है।

☐ यह मनुष्य-जीवन प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। ज्ञानी लोग अज्ञान मे फँस कर काल के एक क्षण को भी व्यर्थ नही करते। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र स्वरूप स्व-समय है और उससे भिन्न जितना भी पर है वह सब पर-समय है। ऐसा विचार करके कि स्व-समय ही मेरा आत्म-स्वरूप है जो उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है वह भव्यज्ञानी जीव आत्म-तत्त्व को उपादेय समझ कर अपने को आप प्राप्त होता है।

☐ जितना-जितना आप अपने अन्दर रत होकर भावना करेंगे उतना-उतना ही आत्म-सुख को प्राप्त होगे। परवस्तु का आश्रय करने वाले कभी आत्म-सुख की प्राप्ति नही कर सकते। बाह्य विषय-वासना मे फसकर अपने आत्मा से वंचित रह कर तू अपने मनुष्य-जन्म को व्यर्थ ही मत खो।

☐ जीव का स्वभाव ज्ञान है। जीवो को जितने भी दु:ख, उद्वेग, क्षोभ होते दीखते हैं वे सब रागद्वेष के वश मे होने से व अज्ञान के रहने से ही हैं। इसी प्रकार जहां-जहा पर रागद्वेष की कमी व ज्ञान की वृद्धि दीख पडती है वहां-वहां पर सुख-शान्ति व अनुद्वेग देखने मे आता है। पर-वस्तु को त्यागे बिना सुख और शान्ति नहीं मिलती।

☐ विवेकी जन एकाग्र होकर सम्पूर्ण पर-पदार्थ को त्याग करके जब आत्मा मे लीन होता है तब वह अपने अन्दर आत्मा का अनुभव करके उसी मे रत होकर अखण्ड अविनाशी सुख की प्राप्ति करता है।

☐ आत्मा एक दिन में दीखने वाला नहीं है। क्रम-क्रम से ही दीखेगा। आत्मा कभी-कभी अनेक चन्द्रमाओ और सूर्यों के प्रकाश के समान उज्ज्वल होकर दिखाई देता है। कभी-कभी चचलता आने पर मन्द दिखाई देता है, फिर स्थिरता आने पर प्रकाशमान दिखाई देता है। हे योगी ! ध्यान के समय जो प्रकाश दीखता है वह श्रुतज्ञान है, सुदर्शन है, रत्नत्रय है। जिस समय कर्म झरने लगता है तब आत्म-सुख की वृद्धि होती है।

☐ जिस समय आत्मा अपने निज स्वरूप में रत हो जाता है, बाहर की बोल-चाल बन्द हो जाती है। शरीर नहीं चलता है। कोई सकल्प-विकल्प की भावना नहीं आती है। कषाय की भावना बन्द हो जाती है। मन स्थिर होता है तब आत्मा उज्ज्वल प्रकाशमान दिखाई देती है।

☐ योगियो को चाहिये कि वे अविद्या रूपी प्रबल शत्रु से बचें तथा कल्याणकारी परम पवित्र अध्यात्म-विद्या रूपी सूर्य हृदय से स्वीकार करें। अविद्या ही चेतन तथा अचेतन तथा सूक्ष्म पदार्थ में शका करा देती है।

☐ जब तक मन, वचन, काम और इन्द्रियाँ वश में न होंगी तब तक कभी स्वाध्याय नहीं हो सकता। बिना स्वाध्याय के कर्मों का क्षय और अनुपम मोक्ष का प्राप्त होना असम्भव है। केवल ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद तीनो लोको के समस्त प्राणियो को समझाने योग्य निरक्षर दिव्य ध्वनि होने लगेगी जिससे विश्व कल्याणकारी महाधर्मोपदेश के प्रभाव से समस्त प्राणियो को स्व-पर का अमित ज्ञान-लाभ होगा। जो स्व-पर-ज्ञान करके अपना कल्याण करना चाहता है उसे हमेशा सच्चे ज्ञान की प्राप्ति के लिए स्वाध्याय से अपने अज्ञान को दूर करना चाहिए।

☐ ज्ञानी के हृदय-स्थान मे जो ज्ञान रूपी दीपक प्रकाशमान है, वह उत्कृष्ट प्रकाश है। वायु आदि कोई भी द्रव्य उसका विनाश नहीं कर सकता। सूर्य-प्रकाश तो आकाश में मेघ-मालाओं से आच्छादित हो जाता है, परन्तु ज्ञान-सूर्य सदैव प्रकाशमान रहता है।

☐ हे प्राणियो ! तुमको सुख और शान्ति चाहिए तो मोह-निद्रा को त्याग कर जाग्रत हो जाओ। अगर मृत्यु का भय नहीं चाहते हो और जन्म-मरण में पड़ना नहीं चाहते हो तो तुम आत्म-सुख की प्राप्ति का प्रयत्न करो। आयु का कोई भरोसा नही है।

☐ मोहरूपी कर्दम के क्षीण होने पर तथा रागादिक परिणामों के प्रशान्त होने पर योगीगण अपने मे ही परमात्मा के स्वरूप का अवलोकन करते हैं। हे आत्मन् ! अपने मन को सक्लेश, भ्रान्ति और रागादिक विकारों से रहित करके अपने मन को वशीभूत कर तथा वस्तु के यथार्थ रूप का अवलोकन कर।

☐ परमात्मा तुम्हारे शरीर में पाँव के अंगुल से लेकर मस्तिष्क तक सम्पूर्ण अवयवों में तेल मे तिल की भाँति रमा रहता है। वह ज्ञान स्वरूप और सम्यक् चारित्र रूप अत्यन्त तेजस्वी प्रकाश स्वरूप है। वह पुनः मंगल स्वरूप, अतिशय युक्त, कषाय रहित होकर अपने स्वरूप को प्राप्त होता है।

☐ जब तक संसार की सार तथा असार वस्तु को विचार कर नहीं देखोगे तब तक आत्म-साधन की सामग्री प्राप्त होने पर भी आत्म-सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए सबसे पहले जिस वस्तु को प्राप्त करना है उसके कारण को ठीक समझ लो। बिना कारण समझे साधन भी निरर्थक हो जाते हैं।

☐ इस शरीर के साथ सम्यग्दर्शन सहित सयम और चारित्र की जरूरत है। चारित्र धारण किये बिना और अन्तरंग बाह्य तप के साधन के बिना कर्म हटेगा नहीं। शारीरिक शक्ति केवल बाह्य शत्रु का नाश करती है, किन्तु अन्तरंग कषाय शत्रु का नाश करने में असमर्थ है। अगर इस शरीर के साथ संयम हो तो वह अन्तरंग व बाह्य शत्रु दोनों का नाश कर देती है।

☐ शरीर और आत्मा में रहने वाले भेद को समझकर यह मूर्ख जीव अत्यन्त कठिन तप करके शरीर को सुखा देता है। परन्तु आत्मा मे अनादिकाल से चिपके हुए कर्म का नाश करने की भावना उसमे नहीं होती। केवल बाह्य तप को ही कर्म की निर्जरा का कारण समझता है। आत्मा का भेद-भेदक ज्ञान और बहिरंग-अन्तरंग दोनों मिलकर तपस्या हो तो आत्मा में चिपका हुआ कर्म नष्ट हो जाता है।

☐ हे अज्ञानी जीव ! अनादिकाल से बाह्य वस्तु का भोगी होकर तू अनेक प्रकार के दुःख भोग रहा है। अब तो चेत।

इस तरह तू जन्म-मरण कब तक करेगा। अपने मन में स्थिर होकर सोच तो।

☐ अपने आत्मा में रत होकर यथार्थ रूप का अनुभव करो। यही सम्यक् श्रद्धान् है। आत्मा का जानना सम्यक् ज्ञान है। अपने आत्मा का आचरण करना, रागद्वेष में परिणत न होना, अपने आत्मा मे रमण होना उसका नाम चारित्र है। यही रत्नत्रय है। यही मोक्ष मार्ग है।

☐ ज्ञान की आराधना करने का या ज्ञान मे मग्न होने का असली व उपयोगी फल यही है कि परोक्ष व अल्प श्रुतज्ञान हट कर सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान का लाभ हो। यह फल अविनश्वर है व आत्मा को पवित्र व सुखी बनाने का कारण होने से स्तुत्य है।

☐ शास्त्रो का ज्ञान होने से वस्तुओं पर सच्चा प्रकाश पडता है और कर्म-कलक जल जाते हैं। इसलिए शास्त्रज्ञान एक प्रकार की आग है। अग्नि मे पड़ने से जैसे रत्न शुद्ध होकर चमकने लगता है वैसे ही निर्मोह हुए भव्य जीव शास्त्र-ज्ञान मे मग्न होकर कर्म-कालिमा को जला डालते हैं और निर्मल होकर कर्मों से छूटकर प्रकाशमान होते हैं।

☐ हे निर्बुद्धि जीव! अपने आत्मस्वरूप को पहचान। यदि तू बाह्य इन्द्रियजन्य विषय-भोग के मोह को त्याग कर अपने अन्दर आप ही रत होकर अपने को देखेगा तो तू ही परमात्मा बन जाएगा। स्वय तू ही मोक्ष रूप है। इसलिए भावलिंगी बनकर आत्मस्वरूप का चिन्तन कर।

☐ आत्म-ज्ञान रहित तप करने वाले योगियो की उनकी पाचो इन्द्रियां पचाग्नि के समान है और अध्यात्म सहित होकर तप करने वाले आत्मज्ञानी की पाँचो इन्द्रियां पचरत्न के समान है, ऐसा समझना चाहिए। आत्मज्ञान सहित तप करो। आत्मज्ञान रहित तप सदा दीर्घ ससार और दुःख का कारण बनता है। इससे तुझे ससार मे अनेक दुःखो को सहन करना पडेगा।

☐ अगर असली मोक्ष फल की इच्छा है तो तुझे लोकव्यवहार की वाछा छोडनी ही पडेगी।

☐ जो योगी व्यवहार से बाहर जाकर केवल अभेद एकरूप अपने आत्मा के स्वरूप मे ठहर जाता है, उस योगी को स्वात्म ध्यान के बल से कोई अद्भुत परमानन्द प्राप्त होता है। यही आनन्द का अनुभव वीतरागमयी ध्यान की अग्नि है जो निरन्तर जलती हुई बहुत अधिक कर्मों के ईंधन को जलाती है।

☐ सबसे पहले इन्द्रियजन्य विषयभोगादि पर-पदार्थ का ध्यान छोडकर एकाग्रतापूर्वक अपने अन्दर ही आपको देख। बाहरी चिन्ता को रोक और निश्चिन्त होकर अपने मन की समस्त चिन्ताओं को छोडकर अपने परम पद का ध्यान कर और निरंजन देव को देख।

☐ तेरी आत्मा ही शिवरूप है। यह शिवरूप आत्मा अपने अन्दर ही है, ऐसा समझकर पर को हटा और स्वभाव में रत हो जा। शिव कल्याण का ही नाम है। अतः कल्याणरूपी, ज्ञान स्वभाव, निज शुद्धात्मा को जानो। उसके तो दर्शन अनुभव से जैसा सुख होता है, वैसा सुख परमात्मा को छोडकर तीनो लोको में भी नही है।

☐ जिस तरह गरुड का ध्यान करने से सर्प का विष उतर जाता है उसी तरह शुद्धात्मा का ध्यान करने से अनादिकाल से आत्मा के साथ लगा हुआ कर्मरूपी विष फौरन नष्ट हो जाता है और यह जीवात्मा शुद्ध परमात्मा बन जाता है।

☐ यदि तू राग और द्वेष दोनों का त्याग करेगा तो कर्म नाश होकर तुझे मोक्ष की प्राप्ति होगी। रागद्वेष दोनों का त्याग करने से योगी जनों का कर्म नाश होकर उन्हे विशुद्ध निरंजन परमात्म पदवी प्राप्त होती है।

☐ जो महात्मा जन्म-मरण से रहित, एक, उत्कृष्ट, शान्त और सब प्रकार के विशेषणों से रहित आत्मा को आत्मा के द्वारा जानकर उसी आत्मा में स्थिर रहता है वही अमृत अर्थात् मोक्ष के मार्ग में स्थित होता है। वही अरहन्त, तीनों लोकों का स्वामी, प्रभु एवं ईश्वर कहा जाता है। केवलज्ञान, केवलदर्शन, और अनन्त सुख-स्वरूप जो वह उत्कृष्ट तेज है, उसके जान लेने पर अन्य क्या नही जाना गया? उसके देख लेने पर अन्य क्या नहीं देखा गया? उसके सुन लेने पर अन्य क्या नही सुना गया? अर्थात् एकमात्र उसके जान लेने पर सब कुछ जान लिया गया।

☐ मोह से रहित, अपने आत्महित मे लीन तथा उत्तम चरित्र से संयुक्त जो मुनि मोक्ष-प्राप्ति के लिए घर आदि को छोड़ कर तप करते हैं वे बहुत थोड़े हैं। फिर जो मुनि स्वय तपश्चरण करते हुए अन्य मुनि के लिए भी शास्त्र आदि देकर उसकी सहायता करते हैं तो वे इस ससार मे पूर्वोक्त मुनियों की अपेक्षा और भी दुर्लभ हैं।

☐ जीव द्रव्य स्वतः सिद्ध है। इसका आदि नही है। इसी प्रकार अन्त भी नही है। यह जीव अमूर्त है, ज्ञान, दर्शन, सुख,

वीर्यादिक अनन्त धर्म है। इसलिए यह नाशरहित द्रव्य है। यह जीव साधारण गुण सहित है और असाधारण गुण सहित भी है। विश्व रूप है, परन्तु विश्व मे ठहरा नही है। सबसे उपेक्षा रखने वाला है तो भी सबको जानने वाला है।

☐ जो आत्मा कर्म से बंधा हुआ है वही संसारी है। ससारी आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप से रहित है। आत्मा का स्वरूप शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, शुद्ध वीर्य आदि अनन्त गुणात्मक है। इसलिए ससारी आत्मा असली स्वभाव का अनुमान नही करता है। जब यह दोष और आवरण मूल आत्मा से हट जाता है तब वही आत्मा निज शुद्ध रूप का अनुभव करने लगता है।

☐ जीवन-मरण मे, लाभ-हानि मे, अनिष्ट वस्तुओ के सयोग मे, इष्ट वस्तुओ के वियोग मे, शत्रु और मित्र मे, सुख और दुख आदि मे समभाव रखना ही उत्तम तपस्या है। समभाव ही उत्तम चरित्र है। समभाव ही शुद्धात्मा है और समभाव ही समस्त कर्मों का नाश करने वाला है।

☐ हे आत्मन्! तू ससार मे समभाव के बिना विकार भाव को प्राप्त करके परिभ्रमण करता आया है। इसलिए अब तू पर-वस्तु के अवलम्ब को छोड़कर अपनी आत्मा का ही आश्रय ग्रहण कर। जब तक पर के आश्रित रहेगा, तब तक तुझे इस शरीर के साथ सुख और शान्ति नही मिल सकती। परीषहो की तीव्र वेदना से दुःखित जिस समय तू परम उपशम भावना करेगा उस समय अर्ध क्षण मे तेरे समस्त अशुभ कर्म नष्ट हो जायेग।

☐ परीषह रूपी दावानल से सतप्त हुआ जीव जब निर्विकल्प हो ज्ञानरूपी शीतल स्वच्छ सरोवर मे प्रवेश करता है और स्वभावरूपी जल मे स्नान करता है, तब उस समय इसे निर्वाण, मोक्ष धाम की प्राप्ति होती है।

☐ हे आत्मन्! यहा ससार रूपी शत्रु तब तक ही दुःख दे सकता है जब तक तेरे भीतर ज्ञानरूपी ज्योति को नष्ट करने वाले कर्मबन्ध रूप दोष स्थान प्राप्त किये है। यह कर्मबन्ध रूप दोष राग और द्वेष के निमित्त से होता है। इसलिए मोक्ष सुख का अभिलाषी होकर तू सबसे पहले यथाशीघ्र यत्नपूर्वक उन दोषो को छोड दे।

☐ पुण्य कर्म का उदय जब तक रहता है तभी तक विषय-भोग टिकते है, नही तो वे पुण्य कर्म के खत्म होते ही रात्रि मे कमल की तरह विलीन हो जाते है। आत्मा मे उपज कर भी आत्मीय शुद्ध भावो से ये विषय सदा जुदा रहते है।

☐ अरे जीव! तू निरर्थक, दुःखदायक विषयो मे फंसकर भौरे की तरह प्राण क्यो गवाता है। ये विषय भोगते समय तो कमल की तरह कोमल लगते है, पर, जिस प्रकार कमल फसे हुए भौरे को आखिर मे मारकर छोडता है, उसी प्रकार ये विषय अपने मे फंसे हुए जीवो को अनेक बार प्राणान्त दुःख देने वाले है।

☐ हे योगी! अगर तुझे सच्चा आत्म-ज्ञान करना है तो अज्ञान के मार्ग को छोडकर सुज्ञान मार्ग मे प्रवेश कर। अज्ञान ही ससार के लिए कारण है। अज्ञान से अनेक प्रकार की मिथ्या गति मे परिभ्रमण करना पडता है, जो हमेशा के लिए दुर्गति के कारण है।

☐ यह शरीर क्षणभगुर है व आधि-व्याधि तथा बुढ़ापे के दुःखो से परिपूर्ण है। तेरा निजात्मा अजर, अमर अव्याबाध व शाश्वत सुख का धाम है। फिर तू इस तुच्छ शरीर से प्रेम क्यो करता है। तू स्वतः सम्पूर्ण चराचर विषयो को जान सकता है, परन्तु शरीर ने तुझे अत्यन्त अज्ञानी बना रखा है। जड़ के समान मूर्ति सरीखा बना दिया है, बहुत मलिन कर दिया है।

☐ हे निर्बुद्धि, अज्ञानी बहिरात्मा जीव! तू कितना मूर्ख है। तेरे पास अखड, अविनाशी, अत्यन्त पवित्र परमात्म सुख स्वरूप निजात्म निधि होने पर भी तू उसको पहचान न करके क्षणिक तथा निरन्तर दुःख देने वाले मिथ्या मार्ग का अनुसरण करके अपनी सुबुद्धि से विमुख होता है।

☐ इस जीव मे जो शुभ और अशुभ कर्म का उदय होता है वह सत्य और असत्य निमित्त से आता है। तब यह जीव उस सुख और दुःख का भोगने वाला बन जाता है।

☐ हे योगी! सत्पुरुषो पर कितना भी कष्ट का समय आ जाए या दुश्मन के द्वारा उपसर्ग हो फिर भी वे अधर्म को प्राप्त नही होते। आत्म-चिन्तन को नही त्यागते। धैर्यपूर्वक उसका चितवन करते है। मुनियो पर दुर्जनो के द्वारा कितना भी उपसर्ग क्यो न हो वे अपने आत्म-ध्यान से च्युत न होकर कभी भी विकार भाव को उत्पन्न नही होने देते। जितना-जितना कष्ट आता है उतना-उतना सहन कर कर्म की निर्जरा का कारण बना लेते है। क्योकि क्षमा गुण सबसे बड़ा और प्रधान है।

☐ हे जीव! तू भी उपसर्ग को दृढ़ता से सहन करता हुआ आत्मा मे स्थिरता लाने का पुरुषार्थ कर। शुद्धात्म भावना के

द्वारा उपसर्ग को दूर करने के लिए प्रयत्न कर। शत्रु और मित्र के प्रति समान भाव रख। यही परम साधु का कर्तव्य है। इससे संसार में सुख, शान्ति मिल सकती है। थोड़े ही समय में तू संसार का अन्त कर मोक्ष की प्राप्ति कर लेगा। प्राणी मात्र के लिए सम्यक्त्व के अतिरिक्त कल्याण करने वाला अन्य कोई पदार्थ तीन काल और तीन लोक मे नहीं है। मिथ्यात्व के समान अहित करने वाला अन्य पदार्थ दूसरा कोई नहीं है।

☐ हे योगी! सम्यग्दर्शन सहित आराधना करके इस संसार रूपी बन्धन से शीघ्र ही तैर जा। बिना सम्यक्त्व के मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस सम्यग्दर्शन से महापापी भी तर गये हैं।

☐ जब तक पर-वस्तु में आत्मा लिपटी रहती है तब तक इस आत्मा का सच्चा कल्याण नहीं होता। पर-वस्तु ही आत्म-घात करने वाली है। पर-वस्तु ही संसार मे इस जीव को परिभ्रमण कराने का कारण है।

☐ देह आदि परद्रव्यो पर विश्वास रखकर चलने वाला यह अज्ञानी मानव कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नही कर सकता। अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार सुख और दुःख का अनुभव करता हुआ सदा संसार में ही भ्रमण करता रहता है।

☐ जो ज्ञानी पुरुष संपूर्ण बाह्य वस्तु को त्याग कर अपनी आत्मा मे रमण करता है, वह शीघ्र ही कर्मों की निर्जरा करके संसार से अर्थात् कर्म बन्धन मे छूट सकता है। हे योगी! सम्पूर्ण बाह्य वस्तु के मोह को त्याग कर अपने आत्मसम्मुख होकर, अपने अन्दर ही अपने को अपने 'स्व' उपयोग के द्वारा देख; तत्पश्चात् अपने 'स्व' उपयोग के द्वारा अपने 'स्व' स्वभाव का निरीक्षण करने पर "यह आत्मा चिन्मय चित् ज्योति रूप है"—ऐसा तुझे अपने अन्दर ही मालूम पड़ेगा। तब उसमे मग्न होकर अमृतमय, आत्मानन्द सरोवर में क्रीडा कर, बार-बार उसी अमृत का पान कर, निजात्म को पुष्ट कर, आत्म बल को बढा।

☐ हे योगी! यदि अमृतमय आत्मानन्द रूपी रसायन का एक बार तू पान करेगा तो तेरे साथ लगा हुआ कर्म रूपी रोग क्षणभर मे नष्ट होगा और सदा के लिए तेरी दरिद्रता दूर होगी। तू अपने अन्दर भरे हुए रत्नो के खजाने को छोड़कर दुनिया के पहाड़, पत्थर, नदी, सरोवर, तीर्थक्षेत्र आदि मे भ्रमण करके व्यर्थ ही कष्ट क्यों उठा रहा है? जरा तू पर पदार्थ की तरफ लगी हुई दृष्टि हटाकर अपने भीतर छिपी हुई रत्नत्रय निधि को ध्यान मे देख तब पता लगेगा कि तीन लोक का सारा खजाना तेरे पास ही छिपा हुआ है। तत्पश्चात् बाह्य पदार्थ मे दौड़ने वाला तेरा चंचल मन जब इसी मे स्थिर हो जाएगा तब तुझे अजर, अमर, अचल स्थिर निज शुद्धात्म स्वरूप की प्राप्ति हो जाएगी।

☐ हे जीव! तू अनादिकाल मे आज तक अनेकानेक बाह्य विचित्र चित्रों को देखकर आश्चर्यचकित हुआ होगा। परन्तु तीन लोक को आश्चर्यचकित करने वाली अद्भुत वीतराग निर्विकल्प परम ज्योति तेरे ही पास है। उसे देखकर तू कभी आश्चर्य को प्राप्त नहीं हुआ होगा।

☐ परमात्मा के नाम मात्र से ही अनेक जन्मों के एकत्रित पापो का नाश होता है। उक्त परमात्मा में स्थित ज्ञान, चारित्र और सम्यग्दर्शन मनुष्य को जगत् का अधीश्वर बना देता है। जिस मुनि का मन चैतन्य स्वरूप में लीन होता है वह योगियों में श्रेष्ठ हो जाता है। हे भव्य जीव! तू इस संसार की विषयवासना का मन, वचन, काय से त्याग करके शुद्ध, अखण्ड, अविनाशी ज्योति जो शरीर में निरन्तर प्रकाशमान हो रही है उसके दर्शन कर।

☐ हे साधु! बाह्य शरीर जो पुद्गलमय है, ऊंच-नीच कर्म के अनुसार इस आत्मा के साथ प्राप्त हुआ है। वह तेरा स्वरूप नहीं है। आत्मा में न लिंग है, न जाति है, न वेष, न गोत्र। वह निर्विकार, निरंजन, चित्स्वरूप अरूपी है। इसलिए तू जाति आदि बाह्य भावो को छोड़कर केवल एक आत्मा का ही ध्यान कर। आत्मा का स्वभाव अविनाशी है जबकि शरीरादि पदार्थ नश्वर है। आत्मा ज्ञानमय है जबकि शरीरादि जड़ हैं। आत्मा निर्मल वीतरागी है जबकि क्रोधादि कर्म विकाररूप हैं। आत्मा सर्व आकुलता व दुःखों से रहित परमानन्द रूप है जबकि शरीरादि व क्रोधादि का सम्बन्ध जीव को आकुल व दुःखी करने वाला है। इस तरह आत्मा व अनात्मा का सच्चा स्वरूप जान।

☐ जितने भी नाम हैं सब शरीर के हैं, आत्मा के नही। संसार की माया मे अज्ञानी जीव इसी को अपना नाम मानकर संसार में भ्रमण करते हैं।

☐ इष्ट अनिष्ट वस्तुओं मे समभाव का होना ही परम मोक्ष है। समभाव ही समस्त सुख का वास स्थान है। समभाव ही मुक्ति का मार्ग है। समभाव से युक्त तपश्चर्या ही सफल है। समभाव रहित तपस्या व्यर्थ है।

☐ परीषह रूपी दावानल से सन्तप्त हुआ जीव जब निर्विकल्प हो ज्ञान रूपी शीतल स्वच्छ सरोवर में प्रवेश करता है और

'स्व' स्वभाव रूपी जल में स्नान करता है उस समय उसे निर्वाण मोक्षधाम की प्राप्ति होती है।

☐ इष्ट व अनिष्ट वस्तुओं में समता भाव अगर नहीं रहेगा तो ध्यान की शुद्धि नहीं हो सकती। इसलिए योगी को समभाव रखना ही उचित है। यदि वह समभावपूर्वक ध्यान करेगा तो वास्तव में मोक्ष की प्राप्ति हो जाएगी। परभाव से मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं होती।

☐ जैसे समुद्र में फेंके हुए रत्न का हाथ आना मुश्किल है वैसे ही मनुष्य जन्म भी अत्यन्त दुर्लभ है। तिर्यन्च पर्याय से निकल कर अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य भव को प्राप्त करके भी यह जीव मिथ्यादृष्टि होकर पाप का अर्जन करता है। हे योगी! उत्कृष्ट मनुष्य पर्याय प्राप्त होने के बाद तू मन लगाकर इष्ट और अनिष्ट वस्तु की ममता को छोड़कर समता भाव की आराधना कर, तभी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। बिना समता के करोड़ वर्ष तू तप भी करेगा तो भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए तू समभाव का अभ्यास करके इस संसार रूपी कारागार से मुक्त होने की चेष्टा कर।

☐ वीतरागी, ज्ञानी, योगी मन में विचार करके अपने आत्म-स्वरूप से च्युत नहीं होता। वह अपने समता रूपी खड्ग के द्वारा कर्मों की निर्जरा करके अखण्ड शुद्धात्मा के सुख की प्राप्ति कर लेता है। जो ज्ञानी पुरुष धर्म में एकाग्र मन रहता है और इन्द्रियों के विषयों का अनुभव नहीं करता, उनसे सदा विरक्त रहता है, स्पर्शन आदि इन्द्रियों के विषयों का कभी सेवन नहीं करता, संसार, शरीर और भोगों से उदासीन रहता है उसी ज्ञानी को धर्म-ध्यान होता है।

☐ जहाँ तुझे धर्म-ध्यान में बाधा आती है, जिस जगह तेरे मन में विकार आता है, अप्रसन्नता होती है, ऐसे स्थान को छोड़कर एकान्तवासी बन। तू घर-परिवार वगैरह की चिन्ता करता हुआ मोक्ष कभी नहीं पा सकता। अतः उत्तम तप का ही बारम्बार चिन्तन कर, क्योंकि तप से ही तू श्रेष्ठ मोक्ष सुख को पा सकेगा।

☐ ममता ही दुःखों को बढ़ाने वाली है व ममता का त्याग ही मुक्तिरूपी लक्ष्मी को प्राप्त कराने वाला है। अब यह मानव जन्म पाया है तो शरीर में व शरीर के भीतर इन्द्रियों में ममता की जाएगी तो कर्मों का ऐसा बन्ध होगा जिससे इस जीव को नरक निगोद आदि गतियों में आकर दुःखों को बढ़ावा मिलेगा। फिर मानव जन्म का मिलना ही दुष्कर हो जायगा। यह मानव बुद्धिमानी से क्षणभंगुर व अपवित्र शरीर पर ममत्व न करे और अपनी आत्मा के स्वरूप को पहचान कर उसका ध्यान करे तो इसी जन्म में मोक्ष की अनुपम सम्पदा को पा सकता है।

☐ जब तक वैराग्य उत्पन्न नहीं होता तब तक जीव यह मेरा और यह तेरा है ऐसा रागद्वेषादि मोह भाव रखता है। वैराग्य होने के बाद यह राग और मोह भाव बिल्कुल नष्ट हो जाता है। जब तक अपने अन्दर ही वैराग्य उत्पन्न नहीं होता, तब तक बाह्य विषय में ही सन्तोष मानता है। अपने को आप जानने के बाद विषय सुख में सन्तोष नहीं होता।

☐ हे आत्मन्! जब तक तू पंचेन्द्रिय विषय सुख को दूर नहीं करता तब तक तुझे अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि तू आत्मानन्द को प्राप्त करना चाहता है तो तुझे अतीन्द्रिय सुख का सेवन करना ही उचित है।

☐ सुगन्ध या दुर्गन्ध—ये दोनों तेरे ज्ञान रूप नहीं है। ये दोनों जड़ और चेतन रहित है। तू उनके प्रति राग और द्वेष के द्वारा अशुभ पाप का बन्ध करता है। तू अपने शरीर के अन्दर अनादिकाल से कर्मों के अन्दर दबे हुए निर्गन्ध आत्मानन्द की सुगन्ध का अनुभव क्यों नहीं करता?

☐ हे जीव! तू अगर कल्याण चाहता है तो बाहरी रूप-रंग के प्रति जो तेरा ममत्व भाव है, रागद्वेष है, उसको त्याग दे। अपने अन्दर स्थित शुद्धात्मा को प्राप्त करने की चेष्टा कर। हे अज्ञानी जीव! मनुष्य पर्याय में इसका त्याग नहीं करेगा तो किस पर्याय में करेगा? अब तू इसे छोड़कर साधु के असली रूप को धारण कर। तभी तू तीन लोक में चमकेगा।

☐ हे योगी! षट्रस के स्वाद को छोड़कर अनादिकाल से अपने अन्दर ही रहने वाली आत्मा के रस का स्वाद ले। तेरी आत्मा में अनन्त ज्ञानमय आनंदामृत के रस का भंडार भरा पड़ा है। तू आप अपने रस का स्वादी होकर बाहर की विषयवासना को उत्पन्न करने वाले रस को छोड़।

☐ यह अज्ञानी जीव अनादिकाल से बार-बार पंचेन्द्रिय विषयभोग को भोगता आ रहा है। इस तरह विषयभोग में आसक्त होकर यह आत्मा मलिन बनकर निम्न गति को प्राप्त होता है। जब तक यह जीव इन्द्रिय विषय में इस प्रकार फंसा रहेगा तब तक इस जीव को आत्मा के स्वरूप की पहचान नहीं होगी।

☐ जो सम्यग्दर्शन के सन्मुख हैं, वे अनन्त सुख को पाते हैं। जो जीव सम्यक्त्व रहित हैं वे यदि पुण्य भी करते हैं तो उस

पुण्य के फल से अल्प सुख को पाकर फिर संसार में अनन्त दुःख भोगते हैं। इसलिए तुझे पुण्य और पाप इन दोनो से भिन्न शुद्धात्मा स्वरूप का मनन करना ही योग्य है। उसी से तुझे तृप्ति होगी।

☐ आत्म-कल्याण को छोडकर तू कही भी मत जा। जो अज्ञानी जीव निजभाव मे लीन नहीं होते, वे सभी दुःखों को सहते हैं। यह आत्म-कल्याण, प्रत्यक्ष में, ससार सागर को तरने का उपाय है। तू शुद्धात्मा की भावना कर।

☐ हे जीव! तूने अनन्त भव प्राप्त कर पचेन्द्रिय विषय रूपी शत्रु के लिए ही अपना जीवन बिता दिया। स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करने के लिए एक भव भी दान नही दे सकता? हे मनुष्य! इस भव को स्वर्ग और मोक्ष के लिए दान कर, जिससे तेरी जिन्दगी सुधर जाए।

☐ हे प्राणी! विचार कर कि पंचेन्द्रिय विषय को तू नही भोग रहा है परन्तु पंचेन्द्रिय विषय तुझको भोग रहे हैं। हमने भोग नहीं भोगे बल्कि भोगों ने हमको भोगा है। हमने तप नही तपे बल्कि हम ही तपे हैं। काल नही बीता बल्कि हम ही समाप्त हुए हैं। तृष्णा वृद्ध नही हुई बल्कि हम ही जर्जरित हो गए हैं।

☐ हे अज्ञानी जीव! आज तक तेरी समझ मे नही आया कि तेरा स्वरूप ज्ञान, दर्शन, चैतन्य, अखण्ड, अविनाशी और अमूर्तिक है। जो पदार्थ तेरे सामने दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे जड हैं। तेरा और जड का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। दोनों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? तेरा रूप हमेशा ब्रह्म स्वरूप है। तू अपने मे उत्पन्न हुए अनन्त ज्ञान रूपी रस को ग्रहण करने वाला है।

☐ जीव के अन्दर अशुभ, शुभ और शुद्ध तीन परिणाम होते हैं। अशुभ योग से पाप का बन्ध होता है और शुभ योग से पुण्य का। शुद्धोपयोग से पाप, पुण्य दोनो नष्ट होकर अन्त मे मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः तीनो योगों मे से शुद्धोपयोग का ध्यान करना ही ज्ञानी योगी के लिए उचित है।

☐ अगर तुझे शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति करनी है तो मन को मार कर परब्रह्म का ध्यान कर। हे योगी! तेरी बुद्धि क्या छोटी है जो तू ससार के कल्याणरूप व्यवहार करता है। अब तू मायाजाल रूप पाखण्डो से रहित जो सिद्धात्मा है उसको जानकर विकल्प जालरूपी मन को मार।

☐ स्व-पर ज्ञान से आत्मा को पहचान कर उसी के अन्दर रत रहना तथा रुचि रखना ही सच्चा शास्त्र है। उसी तत्त्व के अन्दर रमण करके सच्चे निजात्म तत्त्व मे रमण करना ही तपश्चर्या है। पर-वस्तु का सम्पर्क अपनी आत्मा से न होने देना ही दीक्षा है और गुरु ही यह दीक्षा देने वाले है।

☐ भेद-विज्ञान मे ही आत्मध्यान की सिद्धि होती है। आत्मा से पुद्गलमय शरीरादि अलग हैं। निर्मल आत्मा को शुद्ध चैतन्यमय सिद्ध भगवान् के समान जानकर जो उसी आत्मिक तत्त्व मे अपने उपयोग को स्थिर कर देता है, वह आत्मा आत्मध्यान करके आत्मा की सिद्धि कर सकता है। भेद-विज्ञान द्वारा जो सामायिक का अभ्यास करते हुए आत्मध्यान में लयता प्राप्त करते हैं वे ही सच्चे समाधि भाव को पाते हैं। आत्मा के जल सदृश निर्मल स्वभाव मे अपने मन को डुबाना चाहिए। ॐ या सोऽहं मन्त्र का आश्रय लेकर बार-बार मन को आत्मरूपी नदी मे डुबोने से मन की चंचलता मिटती है और वीतरागता का भाव बढ़ता जाता है। आत्म-ध्यान ही परोपकारी जहाज है। इसी पर चढ़कर भव्य जीव संसार मे पार हो जाते हैं। अतः ज्ञानी को आत्मज्ञान का अभ्यास करना चाहिए।

☐ जिस प्रकार अमूर्त आकाश के ऊपर चित्र का निर्माण करना असम्भव है, उसी प्रकार अतीन्द्रिय आत्मा के विषय में कुछ वर्णन करना असम्भव है। जो उसका चिन्तन मात्र करता है उसका जीवन प्रशंसा के योग्य है। वह देवों के द्वारा भी पूजा जाता है। जो सर्वज्ञ देव ससार मे पृथक् जीवन मुक्त होते हुए केवल ज्ञान रूप नेत्र को धारण करते हैं उन्होने इस आत्मा के आराधन का उपाय एक-मात्र समता भाव बताया है।

☐ अखण्ड, अविनाशी, परम वीतराग, निर्विकल्प, आत्मानन्द सुखामृत अपने पास होते हुए भी यह जीव अपने आपको न समझकर पंचेन्द्रिय विषयों की ओर दौडता है। परद्रव्यो के द्वारा दुःखी हो सुख को बाहर ढूंढ रहा है।

☐ ससार मे जितने रूपी पदार्थ हैं वे सब चेतनारहित हैं। तू शुद्ध चैतन्यज्ञान दर्शनपूर्ण है। अरूपी है। जड़ पदार्थ को तूने खुद पकड़ा हुआ है और तू अज्ञान अवस्था मे पागल के समान "जड ने मुझको पकडा है—छुडाओ-छुडाओ" आदि चिल्लाता है। अनेक प्रकार के दुःख, सताप सहते हुए ससार मे परिभ्रमण करता है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि हे जीव! तू अज्ञान दशा में जड़ के साथ सम्बन्ध करके जड़ के द्वारा ही दुःख पा रहा है। जैसे अग्नि लोहे की संगति से पीटी जाती है उसी तरह जड के संसर्ग से

तुझे दुःख उठाना पड़ता है। तू जड़ वस्तु पर राग और मोह को त्याग। तब तू सुखी हो जाएगा और असली निजात्म तत्त्व की प्रतीति तुझे होगी।

☐ तत्त्व श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन की अभिव्यक्ति की योग्यता से युक्त जीवों को ही भव्य जीव कहते हैं और जिसके अन्दर यह योग्यता नहीं है ऐसे जीवो को अभव्य कहते हैं। भव्य जीवों में ही मुक्ति की योग्यता है, अभव्यों में नहीं। भव्यजीवों के समुदाय को उस आत्मवस्तु की आराधना ही हितकारक होती है। उस आराधना से निर्बंध होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

☐ यह आत्मा अमूर्त स्वभाव होने से रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द संस्थानादिक पौद्‌गलिक भावो से रहित है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल—इन चार अमूर्त द्रव्यो से भी भिन्न है। स्वजीव सत्ता की अपेक्षा अन्य जीव द्रव्य से भी भिन्न है। आत्मा किसी पुद्‌गलिक चिह्न से ग्रहण नही किया जाता। यह आत्मा केवल अनुभवगम्य है, वचन से नही कहा जाता। कहने से अशुद्धता का प्रसंग आता है। इसलिए शुद्ध जीव द्रव्य ज्ञानगम्य है। जो अनुभवी हैं वे ही शांतरस के स्वाद को जानते हैं।

☐ बाह्य पर-वस्तु के विचार मात्र से मन चंचल होता है। उसी चंचलता के निमित्त से यह आत्मा बहिरात्मा होती है। वही अपने आत्मा को मलिन करने के लिए निमित्त कारण हो जाती है। जब भेद-विज्ञान होता है, तब उस भेद-विज्ञान के द्वारा विषय-वासना दूर होती है। इसलिए योगी के लिए अपनी सम्पूर्ण बाह्य इन्द्रियो को भेद-विज्ञान के द्वारा पर-पदार्थ से हटाकर अपनी आत्मा के अन्दर मनन करने को कहा गया है। जब तक अपनी आत्मा मे रत नही होगे तब तक मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती; क्योंकि परद्रव्य का सम्बन्ध महा दुःख रूप है।

रत्नाकर-शतक

☐ श्री जिनेन्द्र भगवान् ने नित्य देव-पूजा, शुभकारी गुरु-वचन का श्रवण, सतपात्र को प्रतिदिन दान, निर्मल शील का पालन, अपनी शक्ति के अनुसार शुद्ध तप व आचरण करना—इस संसार मे शुभ भावना रखने वाले श्रावक का यह पवित्र मोक्ष मार्ग स्वरूप धर्म कहा है। श्री सर्वज्ञ वीतराग भगवान् के पूजन में प्रेम, अत्यन्त उदार बुद्धि से तीर्थयात्रा मे श्रद्धा, पाप कर्मों मे वैराग्य, मुनियों की चरण-सेवा में अगाध भक्ति, दान मे आसक्ति, समस्त मिथ्यात्व को दूर करने में सद्‌धर्म भावना, धर्म-कार्य मे अनुरक्ति—ऐसे आचरण करने वाले श्रावक शीघ्र ही संसार-बन्धन से मुक्ति पाते हैं।

☐ गृहस्थ को औषध के समान विषयों का सेवन करना चाहिए। अधिक विषयो को भोगने से व्यक्ति को शारीरिक और मानसिक नाना प्रकार की व्याधियां हो जाती हैं जिससे उसका जीवन कष्टमय बीतता है। इन्द्रिय-जय के समान संसार मे अन्य कुछ भी सुखदायक नहीं है।

☐ प्रधानत: मनुष्य मे दो प्रकार की प्रवृत्तियां पायी जाती हैं— स्वाभाविक प्रवृत्ति और वैभाविक प्रवृत्ति। स्वाभाविक प्रवृत्तियो में प्रत्येक व्यक्ति के भीतर ज्ञान की मात्रा रहती है तथा वह व्रत समिति, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चरित्र की ओर बढता है। वह ससार के यथार्थ स्वरूप को सोचता है कि इसमे कितना दुःख है। कर्मों मे किसी का साझा नही है और न कोई किसी का सहायक ही है। अन्य पदार्थों की तो बात ही क्या, यह शरीर भी सहायता नही कर सकता। सांसारिक कष्टो को अपनी आत्मा से भिन्न समझ कर जो आत्म-स्वरूप में स्थित होता है, वह रत्नत्रय को प्राप्त कर लेता है। उसकी प्रत्येक क्रिया रत्नत्रय को पुष्ट करने वाली होती है।

अनात्मा की ओर ले जाने वाले क्रोध, माया, लोभ रूप कषाय तथा प्रमाद के कारण जीव की वैभाविक प्रवृत्ति होती है। वैभाविक प्रवृत्ति वाला मनुष्य शरीर को ही आत्मा समझता है जिससे उसका प्रत्येक व्यवहार शरीराश्रित होने के कारण आत्मा के स्वभाव से विपरीत पड़ता है। जो व्यक्ति शरीर को अपना समझता है उसे प्रत्येक क्षण दुःख का अनुभव होता है। दुनिया के भौतिक पदार्थों का सम्बन्ध शरीर के साथ है आत्मा के साथ नही।

☐ इन्द्रिय भोग असंयमी जीवों को प्रिय मालूम होते हैं पर सयमी व्यक्तियो को उनमे रस नही मिलता। वे इनको देखकर उदासीन वृत्ति धारण कर लेते हैं। उनकी अन्तरात्मा संयम के महत्त्व को अच्छी तरह जान लेती है, अत: इन्द्रियो पर वे नियंत्रण करते हैं। महापुरुषों के जीवन की सबसे बड़ी महत्ता जो उनको आगे बढ़ाती है वह है विवेक और इन्द्रिय-नियंत्रण।

☐ जितने भी महान् पुरुष, तीर्थंकर आदि हो गये हैं उनकी स्तुति करने से, अच्छे-अच्छे छन्दो मे रचना करके गाने से मन की निर्मलता होती है और सुनने वाले के मन मे भी निर्मलता आती है। इससे कर्म की निर्जरा होती है।

☐ ज्ञान की बड़ी महत्ता है। ज्ञान के समान ससार मे ओर कुछ भी सुखदायक नही है। ज्ञान के बल से ही मनुष्य निर्वाण

पद को प्राप्त करता है। ज्ञान के कारण ही जीव करोड़ों जन्मों से अर्जित कर्मों को क्षण भर में त्रिगुप्तियों के द्वारा नष्ट कर देता है।

☐ मोह ने इस जीव को पागल बना दिया है। मोह के दूर होते ही इस जीव को शरीर और भोगों से घृणा हो जाती है। उसके मन में वैराग्य की भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। संसार और शरीर दोनों की वास्तविकता दिखलायी पड़ने लगती है। वह शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न देखने लगता है।

☐ कल्याण-प्राप्ति के मूलतः दो ही मार्ग हैं—आचार और विचार की शुद्धि। इन दोनों का प्रायः तादात्म्य सम्बन्ध है। आचार की शुद्धता से विचारों मे शुद्धता आती है और विचार की शुद्धता से आचार में। जो व्यक्ति इन दोनों का सम्बन्ध नही समझते वे ग़लत मार्ग पर हैं। नर-भव की सार्थकता राग-रंगों को पाकर भी इनसे अनासक्त रहने मे है। अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार श्रद्धा-पूर्वक निवृत्ति मार्ग की ओर जाना, संसार के चमकीले-भड़कीले पर-पदार्थों से पृथक् रहने की चेष्टा करना ही कल्याणकारक है। जिन व्यक्तियों के विचार शुद्ध हैं, जिनकी प्रवृत्ति राग-द्वेष से परे रहती है वे अपने आचरण को उन्नत बना लेते हैं। उनकी दृष्टि विशाल हो जाती है। स्वार्थ की संकुचित सीमा टूट जाती है जिससे पर-पदार्थों के प्रति व्यग्रता नहीं होती।

☐ विद्वान और राजा दोनों को एक-सा नहीं कह सकते क्योंकि राजा केवल अपने देश में ही पूजनीय होता है, किन्तु विद्वान् तो चाहे किसी भी देश में चला जाए वहां उसका पूजा-सत्कार होता है। इस विद्या रूपी धन को जितना खर्चोगे उतना ही बढ़ेगा। यह विद्या रूपी वह गुप्त धन है जिसको चोर नहीं चुरा सकता, राजा नहीं छीन सकता, भाई-बन्धु बँटवा नहीं सकते। विद्या वह धन है जो कामधेनु तथा कल्पवृक्ष के समान है। इसका जो कोई संचय करेगा, उसको दिनो-दिन अधिक सुख मिलेगा। जिसके पास यह धन है उसका चित्त हर समय प्रसन्न बना रहेगा, चिन्ता तो उसके पास फटकने भी नही पायेगी। जितना भी इसको खर्चोगे, उससे भी कही हजारो लाखों गुणी अधिक बढ़ेगी।

☐ शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर शान्ति और सहिष्णुता को धारण करना, अहंकार से रहित होना, धार्मिक बनना, मृदु बातें करना, मोक्ष-चिन्ता तथा स्वात्म-चिन्ता मे निरत रहना श्रेष्ठ कर्तव्य है। जो व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर अपना कल्याण नही करता, विषयों के अधीन रहता है, उसे धिक्कार है। उस व्यक्ति का ज्ञान शास्त्रीय ज्ञान नही कहलाता बल्कि शस्त्र-ज्ञान कहलाता है। सदाचार के बिना ज्ञान बोझ के समान है। ज्ञान का एक मात्र ध्येय आत्मोन्नति करना है, अपने आचरण का विकास करना है। किन्तु जहाँ स्वपर का विवेक नहीं होता भेद-विज्ञान की प्राप्ति नही होती वह ज्ञान कोरा ज्ञान ही है। उसके रहते हुए भी जीव अज्ञानी के समान है। सम्यग्ज्ञानी ही संसार के पदार्थों को जानते हुए उदासीन रहता है। यद्यपि ज्ञान का कार्य पदार्थों को जानना है, पर सम्यग्ज्ञानी जानकर भी उनमे अनुरक्त नही होता।

☐ आशा एक नदी है। इसमे इच्छा रूपी जल है। तृष्णा इस नदी की तरंगें हैं। प्रीति इसके मगर हैं। तर्क-वितर्क या दलीलें इसके पक्षी हे। मोह इसकी भवर। चिन्ता ही इसके किनारे हैं। यह आशा नदी धैर्य रूपी वृक्ष को गिराने वाली है। इस कारण इससे पार होना बडा कठिन है। जो शुद्धचित्त योगी-मुनि इसके पार चले जाते हैं, वे असीम आनन्द प्राप्त करते हैं।

☐ योग के कारण आत्मा की शक्तियो का विकास होता है। इन्द्रिय और मन का निग्रह होने के कारण आत्मा की छिपी हुई शक्तियों का आविर्भाव हो जाता है। आत्मा का चिन्तन योगी सरलता से कर सकता है। वह अपने प्रयत्न द्वारा मन, वचन और कर्म की असत् प्रवृत्तियों के साथ-साथ सत्प्रवृत्तियो पर भी अपना नियत्रण कर लेता है।

☐ मनुष्य का यह स्वभाव है कि उसे जितनी अपनी प्रशसा प्रिय होती है उतनी अन्य व्यक्ति की नहीं। यह तो उसकी कमजोरी है। जिसकी आत्मा मे शक्ति उद्‌बुद्ध हो जाती है उसका यह सकुचित दायरा नही रहता। उसे गुणी मनुष्य के गुण प्रिय होते हैं। गुणों की प्रशंसा सुनकर उसके मन मे हर्ष होता है।

☐ जन्म-जन्मान्तर के कर्मों का फल प्रत्येक व्यक्ति को भोगना पड़ता है। प्रधानतः कर्म दो प्रकार के होते हैं—पुण्य कर्म और पाप कर्म। पुण्य कर्म के उदय से व्यक्ति को नाना प्रकार की सुख-सामग्री मिलती है और पाप कर्मों के उदय से दुःख सामग्री।

☐ प्रभु भक्ति करने से संसार से वैराग्य हो जाता है। उसे कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान हो जाता है। प्रतिदिन भगवान् के दर्शन करने से आत्मा में अपूर्व शक्ति आ जाती है। वह किसी भी असम्भव कार्य को कर सकता है। नाना प्रकार की विपत्तियां आने पर भी कार्य से डिगता नही। उसे प्रभु भक्ति मे अपूर्व रस और आनंद आता है। वह समस्त संसार के भोगों में नीरसता का अनुभव करने लगता है।

☐ आत्मा का गुरु निश्चय रूप से आत्मा ही है; क्योंकि अपने भीतर स्वयं हित की लालसा उत्पन्न होती है तथा स्वयं अपने को ही मोक्ष का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। अपने को ही अपने हित के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। जो स्वयं पुरुषार्थ नहीं करते

उन्हें मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। संसार के सभी पदार्थ क्षणभंगुर हैं। इनकी अनित्यता को देख कर भगवान् की भक्ति करना तथा ध्यान और तपश्चरण द्वारा कर्म-कालिमा को पृथक् करना आवश्यक है।

☐ सबसे पहले जीव को इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए। क्रोध, मान, माया और लोभ कषायों को भी आत्मा में उत्पन्न न होने देना चाहिए। निमित्त मिलने पर भी जो इन कषायों को नहीं उत्पन्न होने देते वे ही वीर हैं; आत्मा के सच्चे कल्याणकारी हैं।

☐ सत्पात्र के प्रति दान मे अपनी लक्ष्मी का उपयोग धर्मात्मा लोग करते हैं। इसलिए वह पवित्र द्रव्य सदाचार को उत्पन्न करता है; नम्रता को बढ़ाता है; ज्ञान की उन्नति करता है, पुरुषार्थ उत्पन्न करता है, शास्त्र-ज्ञान प्रबल करता है; पुण्य का संचय करता है, पाप का नाश करता है। अतः सत्पात्र को नियम से दान देना चाहिए।

☐ जो व्यक्ति वर्तमान मे दुःखी है, उसके लिए भी धर्म परम सुखदायक है। धर्म-सेवन के लिए धन की आवश्यकता नहीं है। बिना धन के भी धर्माचरण किया जा सकता है। क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय को मन्द करना, दया धर्म का अनुसरण करना, अभिमानवश किसी भी व्यक्ति को बुरे वचन न कहना, हितमित-प्रिय वचनों का व्यवहार करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपकारी है।

☐ जो मनुष्य पुण्य सचय के लिए सत्पात्र को सक्रिय द्रव्य देता है उसको सम्पत्ति प्राप्त होती है। सद्बुद्धि उसे ढूढ़ती है, कीर्ति उसकी तरफ देखती है। प्रीति चुम्बन करती है। सौभाग्य उसकी सेवा करता है। आरोग्य उसका आलिंगन करता है। सुख की प्राप्ति होती है। स्वर्ग की सम्पत्ति उसका वरण करती है।

☐ धर्म कल्पवृक्ष के समान अचिन्त्य फल ही नही देता अपितु उससे भी अधिक देता है। कल्पवृक्ष से फल पाने के लिए तो मन मे संकल्प करना पडता है पर धर्म के लिए यह बात नही है। यह तो स्वय जीव को सुख प्रदान करता है। धर्म-सेवन द्वारा दुष्कर कार्य भी सुखकर हो जाते हैं।

☐ गृहस्थाश्रम में रह कर सासारिक सुखों को भोगते हुए भी जीव पुण्य बंध कर सकता है। अपनी आत्मा का उत्थान कर सकता है। आत्मकल्याण के लिए बिना घर छोड़े भी अभ्यासवश कषाय मन्द की जा सकती है। इन्द्रियजयी व्यक्ति भी कषायो को मन्द करता है। अतएव पुण्यार्जन के लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

☐ हे प्रभो! आपकी स्तुति और पूजा की तो बात ही क्या है। वह रागादि समस्त दोषो को दूर करने वाली है। आपके नाम मात्र से ही जीवों के पाप नष्ट हो जाते हैं। आपके नाम तथा गुणो के स्मरण करने से वह शक्ति आ जाती है जिससे समस्त पापकालिमा दूर हो जाती है, पुण्य का सचय हो जाता है और आत्मानुभूति जागृत हो जाती है।

☐ मिथ्याज्ञान के रहने से जीव की जो प्रवृत्ति होती है वह मिथ्या चारित्र कहलाती है। मिथ्यादर्शन के कारण यह जीव पर को अपना मानता है तथा पर मे ही प्रवृत्ति करता है। आत्मा के निज गुणो मे इस जीव की प्रवृत्ति नही होती। अतः प्रत्येक व्यक्ति को विषय-वासनाओ की ओर से अपनी प्रवृत्ति को हटाकर आत्मा की ओर लगाना चाहिए। तभी आत्मा का कल्याण हो सकेगा।

☐ शास्त्र और काव्य ऐसा होना चाहिए जिससे इनके अध्ययन द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपने आचरण को उन्नत कर सके तथा मनोबल, वचन बल व कायबल को दृढ कर सके। सदाचार की नींव ये तीनों बल हैं। मन के सबल होने से बुरे सकल्प मन मे उत्पन्न नहीं होते, विचार शुद्ध रहते हैं तथा हृदय मे निरन्तर शुद्ध भावनाए उत्पन्न होती हैं। हृदय के स्वच्छ हो जाने से वचन भी बुरे नही निकलते। वचन शक्ति इतनी सबल हो जाती है कि सत्य के सिवाय मिथ्या वाणी कभी मुख से नही निकलती। ससार का सबसे बडा पाप मन की निर्बलता से होता है। जिसका मन निर्बल है वह डरपोक होता है, भय और आशंका सर्वदा उसके सामने रहती है। सबल मस्तिष्क मे अशुद्ध विचार उत्पन्न नही हो सकते। कमजोर हृदय के व्यक्ति जल्दी पाप करने पर उतारू हो जाते हैं। अत. निर्भय बनना और सत्य बोलना मनुष्य का परम कर्तव्य है।

☐ प्रात. काल उठकर भगवान् जिनेन्द्रदेव के गुणों का स्तवन करना चाहिए। स्तवन के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति को विचारना चाहिए कि मैं कौन हू? मेरा कर्तव्य क्या है? क्या मेरा धर्म है? मुझे क्या करना है? मैं क्या कर रहा हू? अब तक मैंने क्या किया है? आदि। इन बातो के सोचने से मनुष्य के मन मे कल्याण करने की प्रेरणा जाग्रत होती है। भक्ति मे बडा भारी आकर्षण होता है। यद्यपि वह हृदय की रागात्मक वृत्ति है फिर भी इसमे जन्म-जन्मान्तरों के सचित कर्म नष्ट हो जाते हैं। भगवान् के पवित्र गुणो का स्मरण करने से आत्मा मे निजानुभूति की शक्ति आती है जिससे पर-पदार्थों से ममत्व बुद्धि दूर हो जाती है।

☐ गृहस्थ अवस्था मे रहकर भी मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है। घर में रहते हुए भी जो सर्वथा अनासक्त होकर कार्य

करता है, जिसे फल की आकांक्षा नहीं और जो परिणाम के बुरे या अच्छे होने से भी विचलित नहीं होता है तथा कार्य करना ही जिसके जीवन का लक्ष्य रहता है और जो निरन्तर कर्तव्य को ही अपना सब कुछ मानता है, ऐसा व्यक्ति घर में रहता हुआ भी संन्यासी है।'

☐ मनुष्य को शरीर और धन की आशा जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे मोह की गाठ मजबूत होती जाती है। संसारी जीवों के लिए आशा इन्द्रियों को उन्मत्त करने वाली मदिरा है, विषय-विष बढाने वाली लता है। समस्त दु:खो का एकमात्र कारण यह आशा है। ससार मे आशा को दूर करने पर ही कोई सुखी हो सकता है।

☐ प्रत्येक व्यक्ति को दान अवश्य करना चाहिए, इससे जीवन मे मोह कम हो जाता है, भावनाएँ परिष्कृत और विशुद्ध हो जाती हैं, व्यक्ति स्वार्थ के सकुचित दायरे से हटकर परोपकार के विस्तृत क्षेत्र मे पहुच जाता है। स्वाध्याय करना तो मानव-जीवन के लिये बहुत ही आवश्यक है। जो प्रतिदिन ज्ञानार्जन करता है, वह ससार के विषयो की भयंकरता से बच सकता है। स्वाध्याय सबसे बड़ा तप है। स्वाध्याय करने मे भावनाएँ पवित्र बनी रहती हैं, मन मे एकाग्रता आती है, विषयो से अरुचि उत्पन्न होती है तथा भौतिकता निस्सार प्रतीत होती है।

☐ ज्ञान के समान ससार मे कोई बड़ा पदार्थ नही है क्योकि ज्ञान ही लोक-परलोक और आत्मा-परमात्मा का यथार्थ स्वरूप अवगत कराता है। सच्चे ज्ञान का एक कण भी इस जीव के लिए महान् उपकारी हो सकता है। महापुरुषो ने स्वाध्याय को संसार-सागर से पार उतरने के लिए नौका बताया है। स्वाध्याय का रस आ जाने पर सारी आकुलता दूर हो जाती है। वस्तु का यथार्थ मर्म मालूम हो जाता है। अनादिकाल से चली आयी कर्म-कालिमा दूर हो जाती है।

☐ पूजा दो प्रकार की होती है—द्रव्य पूजा, भाव पूजा। शुद्ध लक्ष्य से जो भगवान् का पूजन किया जाता है वह द्रव्य पूजा (अष्ट द्रव्य) कहलाती है। यह द्रव्य पूजा भाव के लिए कारण होती है। द्रव्य पूजा के लिये गृहस्थ अधिकारी है और भाव पूजा के मुनिजन। अष्ट द्रव्यो से पूजा करना द्रव्य पूजा है और बिना द्रव्यो के स्तोत्र पढ़ना एव भगवान् के गुणो का चिन्तन करना भाव पूजा है।

☐ वीतरागी प्रभु तो पूजा से न सन्तुष्ट होते हैं और न निन्दा से असन्तुष्ट। परन्तु पूजक और निन्दक को अपनी करनी का फल अवश्य मिल जाता है। भावनाएं विशुद्ध या अपवित्र जैसी भी रहती हैं कर्मों का बन्ध भी वैसा ही होता है।

☐ ससार-सागर को पार करने का सहज उपाय भगवान् जिनेन्द्र देव की पूजा ही है। भगवान् की पूजा करने से सम्यग्दर्शन गुण तो विशुद्ध होता ही है, साथ ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भी प्राप्ति होती है। पूजा करना, दर्शन करना, स्तोत्र पढ़ना प्रत्येक श्रावक का दैनिक कर्तव्य है। कोई भी व्यक्ति भगवान् की पूजा कर अपनी भावनाओ को आसानी से पवित्र कर सकता है। मन को वश मे करने के लिए तथा विषयो का त्याग करने के लिए पूजा बड़ी ही सहायक है। इसके द्वारा मन को स्थिर कर भीतर के मोह को जीता जा सकता है, और आत्मानुभूति को प्राप्त किया जा सकता है।

☐ स्वावलम्बन-प्राप्ति के लिए आचार्य ने तीन बातें बतलायी हैं—(१) सहिष्णु होना—पर द्रव्य को दूर करने के लिए कष्टसहिष्णु बनना। तपश्चर्या, उपवास आदि के द्वारा अपना शोधन करना, जिससे कषाय उत्पन्न न होने पावे। सहिष्णु व्यक्ति अपने मार्ग मे कभी असफल नही होता है। (२) सयम—इसके द्वारा इंद्रिय और मन को वश कर विकार और कषायो से अपनी रक्षा की जाती है। सयम के ही द्वारा जीव रत्नत्रय मार्ग का अवलम्बन करने मे समर्थ हो सकता है। मन, वचन और काय की प्रवृत्तियो को नियंत्रित करना भी सयम के भीतर परिगणित है। राग भाव सयमी के हृदय से बिल्कुल हट जाता है। (३) रत्नत्रय मार्ग का अनुसरण करना—जब यह विश्वास हृदय मे उत्पन्न हो जाय कि मै स्वतन्त्र द्रव्य हू, मेरा सम्बन्ध इन पर-वस्तुओ से बिल्कुल नहीं है, अतः मेरा प्रत्येक प्रयत्न अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिये है।

☐ जैसे अग्नि मे ईंधन डालने से अग्नि बढती जाती है वैसे ही तृष्णावान् प्राणी कितना भी भोग करे परन्तु उसकी तृप्ति कभी नही हो सकती। तृष्णा का रोग बढता जाता है। तृष्णा का रोग जिससे मिटता है वह दवा है—एक शान्त रसमय निज आत्मा का ध्यान, जिससे स्वाधीन आनन्द जितना मिलता जाता है, उतना ही विषय भोगों का रोग घटता जाता है। अतएव इन्द्रिय सुख की आशा छोड़कर अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति का उद्यम करना चाहिये।

☐ वासनाएँ जितनी अधिक बढती जाती हैं जीव को उतनी ही अधिक अशान्ति का सामना करना पड़ता है। वास्तव मे शान्ति त्याग रूप में ही मिलती है। क्योकि पर-वस्तुओ की ममता जितने अश मे रहती है जीव को अशान्ति उतने ही अश मे अधिक मिलती है। धन और कामिनी जीव को स्वावलम्बी बनने मे सबसे बड़े बाधक हैं। आत्मा की अपार शक्ति का विकास इस मदन ज्वर के दूर करने पर ही होता है।

☐ सुख और शान्ति तभी प्राप्त हो सकती है जब जीव अपने यथार्थ स्वरूप को अवगत कर ले। पराधीनता भी अशान्ति का दूसरा नाम है तथा इसकी उत्पत्ति भी विकार और कषायों से होती है। जब तक जीव विकारग्रस्त रहता है तब तक वह अपने चारों ओर अशान्ति ही अशान्ति देखता है। विकारो की प्रचुरता ही जीव को राग और द्वेष-बुद्धि की ओर अग्रसर करती है जिससे वह शत्रुता और मित्रता की कल्पना करता है। अतएव जीव का हित विकारो को दूर करने में ही है।

☐ आत्मचिन्तन से मन पवित्र हो जाता है, गन्दे और बुरे विचार रुक जाते हैं तथा धीरे-धीरे ज्ञानानन्दमय स्वभाव की प्राप्ति हो जाती है। विषयाधीन रहने वाले मन और शरीर स्वतन्त्र हो जाते हैं। विषय-वासना के न होने से ज्ञानाभ्यास, विषय-व्याकुलता हटने से शान्ति; अनशनादि तपो के करने से शरीर से ममत्वबुद्धि का त्याग तथा स्व की पहिचान; त्रिकाल सामायिक करने से आत्मानुभूति; ईर्यापथ शुद्धि के पालने से समताबुद्धि एवं मन-वचन काय को आधीन करने से विश्व-बन्धुत्व तथा स्वावलम्बन की प्रवृत्ति होती है। अत: योगीश्वर अपने आत्मकल्याण मे प्रवृत्त होकर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। वह इस मनुष्य जीवन को व्यर्थ नही खोता।

☐ जीव का कल्याण अपने स्वरूप मे अवस्थित होने पर ही हो सकता है। राग-द्वेष और मोह के निकलने पर ही जीव मे साम्यभाव आ सकता है। साम्यभाव के आ जाने से आशाएँ, आकांक्षाएँ तत्काल दूर हो जाती हैं तथा चंचल मन जो सर्प के समान सर्वत्र विचरण करता है, शान्त हो जाता है। संसार और विषयभोगो से विरक्ति, शारीरिक आवश्यकताओ से आसक्ति एव विकार और कषायों की पूर्ति करने की वांछा साम्यभावना के द्वारा ही दूर की जा सकती है। अत: प्रत्येक व्यक्ति को विकार और कषायों को जीतने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। इनके जीते बिना आत्मोत्थान के मार्ग में प्रवृत्ति नही हो सकती।

☐ आत्मानन्द का पान करने से अद्‌भुत तृप्ति होती है तथा ध्यान करने की शक्ति भी आती है। जो प्रारंभिक साधना करना चाहते हैं उन्हे तो केवल एकान्त मे बैठकर कुछ समय तक आत्मानन्द का पान करने का अभ्यास करना चाहिये तथा अपने को सभी द्रव्यो से स्वतन्त्र अनुभव करना चाहिए।

☐ णमोकार मन्त्र के ध्यान से समस्त पाप दूर हो जाते हैं। आत्मा पवित्र हो जाती है। इस मन्त्र मे ऐसी विचित्र शक्ति है कि संसार का बडे से बड़ा काम इसके स्मरण मात्र से सिद्ध हो जाता है। जो व्यक्ति भावपूर्वक प्रतिदिन इस मन्त्र का जाप करते हैं उनको ऐहिक सुखो के साथ पारलौकिक सुख भी प्राप्त होते हैं। ससार का परिभ्रमण चक्र इससे समाप्त होता है और आत्मस्वतन्त्रता की प्रेरणा होती है।

☐ कमल के डंठल में नीचे से लेकर ऊपर तक जिस प्रकार निर्मल तन्तु सर्वांगीण रूप से व्याप्त रहते हैं उसी प्रकार मनुष्य के अंगूठे से लेकर मस्तक तक समस्त शरीर में आत्मा व्याप्त है। शरीर का कोई भी भाग ऐसा नही है जिसमे आत्मा न हो। यह आत्मा अखण्ड, अविनाशी, निराकार, चिदानन्द स्वरूप है।

☐ मनुष्य की आत्मा स्फटिक मणि के समान निर्मल है। अनादि कर्म-कालिमा के कारण यह आत्मा अशुद्ध हो रही है तथा नाना प्रकार के शरीरो को इसे धारण करना पडता है। इस आत्मा का कोई रूप रंग नही है और न इसकी कोई जाति है। यह तो स्वभाव से निराकार है। इसमे शरीर के निमित्त से भेद किये जाते हैं। जैसे शरीर के आवरण मे यह रहती है, इसका व्यवहार भी वैसा ही हो जाता है।

☐ जो आत्मध्यान करना चाहे उसको तप का प्रेमी होना चाहिये। सासारिक विषयो की कामनाएँ न कर निज सुख के रमण का प्रेमी होना चाहिये। ध्यान के अभ्यासी को शास्त्रो का ज्ञान व उनका निरन्तर मनन करना चाहिये। जितना साफ व अधिक तत्त्वों का ज्ञान होगा, उतना ही अधिक निर्मल ध्यान का अभ्यास होगा।

☐ समस्त कर्मों का नाश कर मोक्ष की प्राप्ति होती है। गृहस्थावस्था मे रहकर कोई भी व्यक्ति मोक्षप्राप्ति के लिये तैयारी कर सकता है। भेद-विज्ञान द्वारा अपने स्वरूप का विचार करना तथा निरन्तर आत्मद्रव्य को ससार के समस्त पदार्थों से भिन्न अलौकिक शक्तिधारी सोचना और तदनुकूल आचरण करना ही गृहस्थावस्था का पुरुषार्थ है। शरीर और भोगों से परम उदासीनता धारण करना एवं परिणामो में विरक्ति लाना गृहस्थ जीवन मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के साधन हैं।

☐ संसार के सभी प्राणी सुख चाहते हैं। इस सुख के लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। परन्तु यह सुख तब तक नही प्राप्त हो सकता जब तक जीव सुखबाधक अनिष्ट कर्म को नष्ट न कर दे। अनिष्ट कर्मों का नाश एकमात्र सच्चे चारित्र ज्ञान से प्राप्त होता है। जब कोई भी व्यक्ति अपने स्वरूप का विश्वास कर लेता है; अपनी आत्मा को ससार के पदार्थों से भिन्न और स्वतन्त्र अनुभव करता है, उस समय उसे अपूर्व शान्ति मिलती है।

☐ वृक्ष का आश्रय लेने वाले को न मांगने पर भी छाया मिलती है। वीतराग देव ! आपकी स्तुति से भी अयाचित फल की प्राप्ति होती है। आप स्वयं किसी को कुछ देते भी नहीं और ग्रहण भी नहीं करते। परन्तु जो आपका आश्रय लेता है, उसको स्वयमेव फल मिल जाता है।

☐ जो भव्य प्राणी भक्ति से जिन भगवान् का दर्शन, पूजन और स्तुति किया करते हैं वे तीनों लोकों में स्वयं ही दर्शन, पूजन और स्तुति के योग्य बन जाते हैं।

☐ गुरु की प्रसन्नता से वह केवलज्ञान रूपी नेत्र प्राप्त होता है जिसके द्वारा समस्त जगत् हाथ की रेखा के समान स्पष्ट देखा जाता है।

☐ जिन गृहस्थों का हृदय जिनागम का अभ्यास करने के कारण दया से ओत-प्रोत हो चुका है, वे ही गृहस्थ वास्तव में धर्मात्मा हैं।

☐ जिस प्रकार फूलों के हारों की लड़ियाँ धागे के आश्रय से स्थिर रहती हैं उसी प्रकार समस्त गुणों का समुदाय प्राणी-दया के आश्रय से स्थिर रहता है। निर्दयी मनुष्य के वे सब गुण भी दया के अभाव में बिखर जाते हैं। अतएव सम्यग्दर्शनादि गुणों के अभिलाषी श्रावक को प्राणियों के विषय में दयालु अवश्य होना चाहिये।

☐ प्राणियों के शरीर आदि सब नश्वर हैं। इसलिए उक्त शरीर आदि के नष्ट हो जाने पर भी शोक नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह शोक पाप-बन्ध का कारण है।

☐ जिस प्रकार छिद्रयुक्त नाव घूमकर उक्त छिद्र के द्वारा जल को ग्रहण करती हुई अन्त में समुद्र में डूबकर अपने को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार यह जीव भी संसार में परिभ्रमण करता हुआ मिथ्यात्वादि के द्वारा कर्मों का आस्रव करके इसी दुःखमय संसार में घूमता रहता है। तात्पर्य यह है कि दुःख का कारण यह कर्मों का आस्रव ही है, अतः उसे छोड़ना चाहिये।

☐ उन्नत बुद्धि के धारक भव्य जीवों को पढ़ने के लिए भक्तिपूर्वक पुस्तक का जो दान किया जाता है इसे विद्वज्जन श्रुतदान (ज्ञानदान) कहते हैं। इस ज्ञानदान के सिद्ध हो जाने पर कुछ थोड़े-से ही भवों में मनुष्य उस केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व साक्षात् देखा जाता है।

☐ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र से विभूषित पुरुष यदि तप आदि अन्य गुणों में मन्द भी हो तो भी वह सिद्धि का पात्र है। किन्तु इसके विपरीत यदि रत्नत्रय से रहित पुरुष अन्य गुणों में महान् भी हो तो भी वह सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता। मार्ग से परिचित व्यक्ति यदि चलने में मन्द भी हो तो वह धीरे-धीरे चलकर अभीष्ट स्थान में पहुंच जाता है। इसके विपरीत अन्य व्यक्ति जो मार्ग से अपरिचित है वह चलने में शीघ्रगामी होकर भी अभीष्ट स्थान को नहीं प्राप्त हो सकता।

☐ समवशरण में चारों प्रकार के देव और देवांगना, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि सभी प्रकार के प्राणी भगवान् के मंगलमय उपदेश को सुनने के लिये एकत्रित होते हैं। समवशरण में भगवान् ऐसे मालूम होते हैं कि चारों तरफ देखने वाले स्त्री-पुरुष सभी यह समझते हैं कि भगवान् मेरी तरफ देख रहे हैं। जहां पर भगवान् का समवशरण होता है उसके चारों तरफ सुकाल हो जाता है। वह ज्ञान-प्रचार की ऐसी सभा है जिसमें प्राणीमात्र आकर सुख-शान्ति का अनुभव करते हैं और अपने जन्म को सफल बनाकर मोक्ष के मार्ग में लगते हैं।

शास्त्रसार समुच्चय

☐ जिस व्यक्ति की ऐसी प्रबल शुभ भावना हो कि "मैं समस्त जगतवर्ती जीवों का उद्धार करूं, समस्त जीवों को संसार से छुड़ाकर मुक्त कर दूँ" उस किसी एक बिरले मनुष्य के उपर्युक्त दशा में निम्नलिखित सोलह भावनाओं के निमित्त से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है—

१. दर्शन विशुद्धि, २. विनय संपन्नता, ३. अतिचार रहित शीलव्रत, ४. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, ५. संवेग, ६. शक्ति अनुसार त्याग, ७. शक्ति अनुसार तप, ८. साधु समाधि, ९. वैय्यावृत्तिकरण, १०. अरहंत भक्ति, ११. आचार्य भक्ति, १२. बहुश्रुत भक्ति, १३. प्रवचन भक्ति, १४. आवश्यक अपरिहारिण, १५. मार्ग प्रभावना, १६. प्रवचन वात्सल्य।

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनूपगूहन, अस्थितिकरण, अप्रभावना, अवात्सल्य ये आठ दोष, कुलमद, जातिमद, बलमद, ज्ञानमद, तपमद, रूपमद, धनमद, अधिकारमद ये आठ मद, देवमूढता, गुरुमूढता, लोकमूढता ये मूढताएं हैं तथा छः अनायतन, कुगुरु, कुगुरु भक्ति, कुदेव, कुदेव भक्ति, कुधर्म, कुधर्म सेवक ऐसे सम्यग्दर्शन के ये पच्चीस दोष हैं। इन दोषों से रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन

का होना दर्शनविशुद्धि भावना है। देव, शास्त्र, गुरु तथा रत्नत्रय का हृदय से सम्मान करना, विनय करना, विनय-सम्पन्नता है। व्रतों तथा व्रतों के रक्षक नियमों (शीलों) में अतिचार रहित होना निःशीलव्रत भावना है। सदा ज्ञान-अभ्यास में लगे रहना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। धर्म और धर्म के फल से अनुराग रखना संवेग भावना है। अपनी शक्ति को न छोड़कर अन्तरंग बहिरंग तप करना शक्तितपस्त्याग है। अपनी शक्ति के अनुसार आहार, अभय, औषध और ज्ञान दान करना शक्तितप है। साधुओं का उपसर्ग दूर करना, अथवा समाधि सहित वीर मरण करना साधु समाधि है। व्रती त्यागी साधर्मी की सेवा करना, दुःखी का दुःख दूर करना वैय्यावृत्तिकरण है। अरहंत भगवान् की भक्ति करना अरहंत-भक्ति है। मुनि संघ के नायक आचार्य की भक्ति करना आचार्य भक्ति है। उपाध्याय परमेष्ठि की भक्ति करना बहुश्रुत-भक्ति है। जिनवाणी की भक्ति करना प्रवचन-भक्ति है। छह आवश्यक कर्मों को सावधानी से पालन करना आवश्यक अपरिहाणि है। जैनधर्म का प्रभाव फैलाना मार्ग प्रभावना है। साधर्मीजन से अगाध प्रेम करना प्रवचन वात्सल्य है। इन सोलह भावनाओं में से दर्शन विशुद्धि भावना का होना परमावश्यक है। दर्शन विशुद्धि के साथ कोई भी एक, दो, तीन, चार आदि भावना हो या सभी भावना हों तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है।

☐ दशविध वा सम्यग्दर्शन १० प्रकार का है—(१) आज्ञा सम्यक्त्व, (२) मार्ग सम्यक्त्व, (३) उपदेश सम्यक्त्व, (४) सूत्र सम्यक्त्व, (५) बीज सम्यक्त्व, (६) संक्षेप सम्यक्त्व, (७) विस्तार सम्यक्त्व, (८) अर्थ सम्यक्त्व, (९) अवगाढ सम्यक्त्व, (१०) परमावगाढ सम्यक्त्व।

जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा का श्रद्धान करने से जो सम्यग्दर्शन होता है वह आज्ञा सम्यक्त्व है। जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रदर्शित मुक्ति मार्ग ही यथार्थ है ऐसे अचल श्रद्धान से जो सम्यक्त्व होता है वह मार्ग सम्यक्त्व है। निर्ग्रन्थ मुनि के उपदेश को सुनकर जो आत्म-रुचि होकर सम्यग्दर्शन होता है वह उपदेश सम्यक्त्व है। सिद्धान्त सूत्र सुनने के पश्चात् जो सम्यक्त्व होता है वह सूत्र सम्यक्त्व है। बीज पद सुनकर जो सम्यक्त्व होता है वह बीज सम्यक्त्व है। संक्षेप से तात्त्विक विवेचन सुन कर जो सम्यग्दर्शन होता है वह संक्षेप सम्यक्त्व है। विस्तार के साथ तत्त्व विवेचन सुनने के बाद जो सम्यक्त्व होता है वह विस्तार सम्यक्त्व है। आगम का अर्थ सुनकर जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह अर्थ सम्यक्त्व है। द्वादशांगवेत्ता श्रुतकेवली के जो सम्यक्त्व होता है उसे अवगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं। केवल ज्ञानी का सम्यक्त्व परमावगाढ सम्यक्त्व है।

☐ मायाचार, छलकपट, वचनवक्रता आदि रखकर जो मनुष्य जैन धर्म की आराधना करता है उसको वास्तव में जैन धर्म प्राप्त नहीं होता।

☐ पुण्यहीन मनुष्य द्रव्य पाने की इच्छा से एक पर्वत पर चढ़ता है, और उस पर्वत के मार्ग में इधर-उधर निधि को ढूंढ़ता है, ढूंढ़ते-ढूंढ़ते जब उसको वह निधि मिलने का समय आता है तब वह पागल हो जाता है। पागल हो जाने पर उसको उस पास पड़ी हुई द्रव्य का ज्ञान भी नहीं रहता। इसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक मनुष्य अनेक शास्त्र-वेद-पुराण आदि पढ़कर भी आत्मतत्त्व के यथार्थ निर्णय की बुद्धि न होने के कारण जैसे के तैसे अज्ञानी ही बने रहते हैं। पाप कर्म की कितनी शक्ति है!

☐ दिगम्बर मुनि होकर कठोर तपस्या करके मनुष्य अहमिन्द्र पद भी पा लेता है परन्तु सम्यक्त्व न होने से उसका संसार-भ्रमण नहीं छूट पाता।

☐ हाथ पर रक्खे हुए आंवले के समान विद्याओं और कलाओं को जानकर करोड़ों युग तक तपस्या करके भी सम्यग्दर्शन रूपी अमृत-रस का आस्वादन न करने वाले मनुष्य को मोक्ष प्राप्त नहीं होती। यह सम्यग्दर्शन अभव्य की तो बात ही क्या दूर-भव्य को भी दुर्लभ है। यह तो निकट-भव्य प्राणी को ही प्राप्त होता है। कितना भी प्रकाश क्यों न हो अन्धे मनुष्य को कुछ दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार अभव्य को चाहे कितना भी उपदेश दिया जाए, व्रताचरण कराया जाए किन्तु उसे सम्यक्त्व नहीं होता। नेत्र-रोग वाले मनुष्य को नेत्र ठीक हो जाने पर दिखाई देने लगता है उसी तरह दूर-भव्य को दीर्घ समय पीछे मिथ्यात्व हटने से सम्यक्त्व प्राप्त होता है। किन्तु जैसे ठीक नेत्र वाले मनुष्य को प्रकाश होने पर तत्काल दिखाई देने लगता है, उसी तरह निकट भव्य को सम्यक्त्व की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है।

☐ परम आराध्य श्री वीतराग भगवान् जिनेन्द्र देव का उपदिष्ट आगम तथा पदार्थ और जिनेन्द्र देव के चरणचिह्नों पर चलने वाले परम निर्मल निर्ग्रन्थ योगी का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है। अर्हन्त भगवान्, जिनवाणी, निर्ग्रन्थ गुरु तथा जिनवाणी में प्रतिपादित पदार्थों का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

☐ निर्ग्रन्थ गुरु के वचन रूपी दीपक द्वारा प्रकाशित और अपने सुयुक्ति रूपी नेत्रों से देखे हुए आत्म-स्वरूप का निश्चय सम्यग्-

दर्शन है। अचल सुमेरु भी कदाचित् चलायमान हो जाए, अग्नि भी कदाचित् शीत (ठण्डी) बन जाए तथा चन्द्र में भी कदाचित् उष्णता प्रगट होने लगे, परन्तु जिनेन्द्र भगवान् के वचन कदापि अन्यथा नहीं हो सकते, ऐसी अचल श्रद्धा का नाम सम्यक्त्व है। समस्त संसार मोह-जाल में फंसा हुआ है उस मोह-जाल को छिन्न-भिन्न करके मोक्ष की ओर आकर्षित करने वाला जिनमार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं है, ऐसी निश्चल श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। जिनेन्द्र देव की जैसी आकृति आंखो से देखी है, उसको मन में रखकर फिर सिद्ध परमेष्ठी को साक्षात् देख लेने की हृदय में भावना करना सम्यक्त्व है।

☐ बाह्य क्रियाओं को छोड़ दो, सद्गुरु के उपदेश रूपी रत्न-ज्योति से मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को हटा कर अन्तर्मुख हो जाओ, निश्चल चित्त बन जाओ, स्वाधीन सुखामृत में मग्न हो जाओ। ऐसी वृत्ति रखने वाला शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और संसार-सागर के पार पहुंचने वाला है।

☐ सम्यक्त्व का नष्ट होना मिट्टी के घड़े के टूटने के समान है और चारित्र का नष्ट होना सुवर्ण घड़े के टूटने के समान है। मिट्टी का घड़ा टूट जाने पर फिर नहीं जुड़ सकता किन्तु सोने का घड़ा टूट जाने के बाद भी फिर जुड़ जाता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व के नष्ट हो जाने पर आत्मा का सुधार नही हो सकता, चारित्र नष्ट हो जाने पर फिर भी आत्मा सुधर जाती है।

☐ जहां पर जिनेन्द्र देव का पूजन महोत्सव होता है वहाँ जाकर हर्ष मनाना, जिनेन्द्र भगवान् की महिमा सुनकर और देख कर आनन्द मनाना, जैन शास्त्रो के महान् विस्तार को देखकर हर्ष मनाना, जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार करने मे आनन्दित होना, जिनागम मे सारतत्त्व का विवेचन देखकर प्रसन्न होना, जिन-चैत्यालय को देखकर हर्षित होना, इस प्रकार की प्रवृत्ति वाला शुद्ध सम्यक्त्वी है।

☐ हे भव्य जीव ! तू इस ससार मे अनादि समय से भटक रहा है। इस लोकाकाश का कोई भी ऐसा प्रदेश शेष नही रहा जहा तू उत्पन्न नहीं हुआ। कोई ऐसा पदार्थ नही बचा जिसको तूने भक्षण नही किया, तू जगत् के समस्त प्रदेशो मे घूम आया, कर्म-बन्धन के समस्त भाव भी तूने प्राप्त किये, संसार की समस्त पर्यायें तू प्राप्त कर चुका है। इतना सब कुछ होकर भी दुर्मोह से तू फिर उन्हीं पदार्थों की भिक्षा मांगता है यह तुझे शोभा नहीं देता। तू अपने स्वरूप को प्रत्यक्ष अवलोकन कर, यही श्रेष्ठ है और अन्त मे तू नित्य निरञ्जन मोक्ष-वैभव को इसी से प्राप्त करेगा।

☐ पृथ्वी पर हाथ का आघात करने से पृथ्वी पर चिह्न पड़ता है, वह कदाचित् चूक जाय या विफल हो जाय परन्तु जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश कभी निष्फल नहीं हो सकता। यदि अर्हन्त भगवान् की वाणी निष्फल हो जाएगी तो समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ देगा, अचल सुमेरु चलायमान हो जाएगा तथा सूर्य के उदय-अस्त होने का क्रम भी भंग हो जाएगा।

☐ जिनेन्द्र देव के वचन रसामृत का आस्वादन करना, उसको श्रेयस्कर मानना, उसमें ही निमग्न होना, उसी मे आनन्द अनुभव करना, अनुपम सुख का बीज है। सम्यक्त्व ही परम पद है, सम्यक्त्व ही सुख का घर है, सम्यक्त्व ही मुक्ति का मार्ग है, सम्यक्त्व-सहित तप ही सफल है। सम्यक्त्व मे प्रवृत्ति करना, आत्म-श्रद्धा करना, जिन-भक्ति करना, तत्त्वों में रुचि करना, आत्म-ज्ञान होना, यह सब सम्यग्दर्शन के पर्याय नाम हैं।

☐ संसार तथा शरीर, विषय भोगो से विरक्त गृहस्थ जब पांच उदुम्बर फल (बिना फूल के ही जो फल होते हैं—१. बड़, २. पीपल, ३. पाकर, ४. ऊमर, ५. कठूमर) भक्षण के त्याग तथा ३ मकार (मद्यपान, मांस भक्षण, मधु भक्षण) के त्याग के साथ सम्यग्-दर्शन (वीतराग देव, जिनवाणी, निर्ग्रन्थ साधु की श्रद्धा) का धारण करना दर्शन प्रतिमा है। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह, इन पांच पापों के स्थूल त्याग रूप अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह परिमाण, ये पांच अणुव्रत, दिग्व्रत, देश व्रत, अनर्थ दण्ड व्रत, ये तीन गुणव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास भोगोपभोग परिमाण, अतिथि संविभाग, ये चार शिक्षाव्रत (५+३+४=१२) हैं, इन समस्त १२ व्रतों का आचरण करना व्रत प्रतिमा है।

☐ संकल्प से (जान बूझकर) दो इन्द्रिय आदि त्रस जीवो को न मारना अहिंसा अणुव्रत है। राज-दण्डनीय, पचों द्वारा दंडनीय, असत्य भाषण न करना सत्य अणुव्रत है। सर्वसाधारण जल मिट्टी के सिवाय अन्य व्यक्ति का कोई भी पदार्थ बिना पूछे न लेना, अचौर्य अणुव्रत है। अपनी विवाहित स्त्री के सिवाय शेष सब स्त्रियों से विषय-सेवन का त्याग ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। सोना, चांदी, वस्त्र, बर्तन, गाय आदि पशु धन, गेहूं आदि धान्य, पृथ्वी, मकान, दासी (नौकरानी), दास (चाकर) तथा और भी परिग्रह पदार्थों को अपनी आवश्यकतानुसार परिमाण करके शेष परिग्रह का परित्याग करना परिग्रह परिमाण व्रत है। पंच पापों का आंशिक त्याग होने से इनको अणुव्रत कहते हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य तथा ऊर्ध्व (पृथ्वी से ऊपर आकाश) और अधः (पृथ्वी से नीचे), इन दस दिशाओं में आने-जाने की सीमा जन्म भर के लिए करना 'दिग्व्रत' है। दिग्व्रत के भीतर कुछ नियत

समय तक आवश्यकतानुसार छोटे क्षेत्र की मर्यादा करना 'देशव्रत' है, जिन क्रियाओं से बिना प्रयोजन व्यर्थ में पाप-अर्जन होता है उन कार्यों का त्याग करना अनर्थदण्ड व्रत है। नियत समय तक पच पापो का त्याग करके एक आसन से बैठकर या खड़े होकर सबसे रागद्वेष छोड़कर आत्म-चिन्तन करना, बारह भावनाओं का चिन्तवन करना, जाप देना, सामायिक पाठ पढ़ना सामायिक है। अष्टमी और चतुर्दशी के दिन समस्त आरम्भ परिग्रह को छोडकर खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय इन चारो प्रकार के आहार का त्याग करना तथा पहले और पीछे के दिन (सप्तमी, नवमी, त्रयोदशी पूर्णिमा) प्रोषध (एकाशन एक बार भोजन) करना प्रोषधोपवास है। भोग्य (एक बार भोगने योग्य भोजन, तेल आदि पदार्थ) तथा उपभोग्य (अनेक बार भोगने योग्य पदार्थ– वस्त्र, आभूषण, मकान, सवारी आदि) पदार्थों का अपनी आवश्यकतानुसार परिमाण करके शेष अन्य सबका त्याग करना भोगोपभोग परिमाण व्रत है। अपने यहां आने की तिथि (प्रतिपदा, द्वितीया आदि दिन) जिनकी कोई नियत नही होती, ऐसे मुनि, ऐलक, क्षुल्लक आदि अतिथि व्रती पुरुषो को भक्तिभाव से तथा दीन-दुःखी दरिद्रो को करुणा भाव से एवं साधर्मी गृहस्थों को वात्सल्य भाव से भोजन कराना, ज्ञान-दान, औषधदान तथा अभयदान करना अतिथि संविभाग व्रत है।

☐ शुभकर्म के अभाव में धन नही मिलता, यदि धन मिल जाए तो सत्पात्र नही मिलता, यदि सत्पात्र मिल जाए तो पात्र दान करने की प्रेरणा करने वाले सहायक व्यक्ति नही मिलते। यदि पुत्र, स्त्री, मित्र आदि दान करने मे अनुकूल सहायक भी मिल जाएं तो फिर सत्पात्रो को दान करने से अनन्त चतुष्टय प्राप्त होने में क्या सन्देह है? अर्थात् कुछ नही।

☐ सत्पात्रो को आहार दान करने से महान् अभ्युदय प्राप्त होता है। जिस तरह निर्दोष भूमि मे बीज डालने से फल अवश्य मिलता है, इसी तरह भव्य द्वारा सत्पात्र को दिया हुआ दान अवश्य मोक्ष फल देता है।

☐ दान चार प्रकार का होता है—आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान, अभयदान।

आहार दान – जिस प्रकार वैद्य रोगियो की प्रकृति वा उदराग्नि को जानकर और योग्य औषधि वगैरह देकर उनकी रक्षा करते हैं, जिस तरह किसान अपने खेत की रक्षा करते हैं, ग्वाले दूध के लिए गाय की रक्षा करते हैं, एवं राजा जिस तरह अपने राज्य की रक्षा करते हैं, उसी तरह धर्मात्मा लोग आहार दान द्वारा धर्म की तथा मुनि आदि धर्मात्माओ की रक्षा करते है।

औषध दान—रोग दूर करने के लिए शुद्ध औषधि प्रदान करना औषधदान है। मुनि आदि व्रती पुरुषो के रोग निवारण के लिए उनको प्रासुक औषध आहार के समय देना चाहिये, भोजन भी ऐसा होना चाहिए जो रोगवृद्धि मे सहायक न होकर रोग शान्त करने मे सहायक हो। अन्य दीन-दुःखी जीवो का रोग दूर करने के लिए करुणा भाव से उनके लिए बिना मूल्य औषध बाटना, औषधालय खोलना, बिना कुछ लिये मुफ्त चिकित्सा करना औषधदान है।

ज्ञान दान – मुनि व्रती त्यागी पुरुषो को स्वाध्याय करने के लिए शास्त्र प्रदान करना, ज्ञानाभ्यास के साधन जुटाना तथा सर्वसाधारण जनता के लिए पाठशाला स्थापित करना, स्वय पढना, प्रवचन करना, उपदेश देना, जिनवाणी का उद्धार करना, पुस्तकें बांटना ज्ञान दान है।

अभय दान—मुनि आदि अनगार व्रतियों के ठहरने के लिये नगर के बाहरी प्रदेशो, वन, पर्वतो मे तथा नगर, पुर मे मठ बनवाना, जिससे कि जङ्गली जीवो से सुरक्षित रहकर वे ध्यान आदि कर सकें। आगन्तुक विपत्ति से उनकी रक्षा करना तथा साधारण जनता के लिए धर्मशाला बनवाना, विपत्ति मे पड़े हुए जीव का दुःख मिटाना, भयभीत प्राणियो का भय मिटाना आदि अभयदान है।

☐ संसार में एक आत्मा ही सारभूत है और शरीर निस्सार है। ऐसी निश्चल बुद्धिपूर्वक भावना से शरीर को त्यागने वाला व्यक्ति धीर पुरुष है।

☐ हे जीवात्मन्! तू रात दिन अज्ञानवश अन्न-पानादिक खाद्य पेय पदार्थों का ध्यान करके अपनी आत्मा का अधःपतन न कर, किन्तु सारतर परम सौख्य सुधारस-भरित आत्म-तत्त्व का ध्यान कर।

☐ अपने मन को बाह्य विषय वासनाओ मे न घुमाकर सदा अपने उपयोग मे स्थिर करके निराबाध केवल ज्ञान होने पर्यन्त स्थिर रहो।

☐ हे भव्य जीव! मन वचन काय की प्रवृत्ति बाहर की ओर से हटाकर अन्तर्मुख करो, तथा अपने चैतन्य भाव को ग्रहण करो। ऐसा किये बिना संसार की परम्परा नही टूटती।

☐ मुनियों का धर्म १० प्रकार का है : (१) उत्तम क्षमा, (२) उत्तम मार्दव, (३) उत्तम आर्जव, (४) उत्तम शौच, (५) उत्तम सत्य, (६) उत्तम संयम, (७) उत्तम तप, (८) उत्तम त्याग, (९) उत्तम आकिञ्चन्य, (१०) उत्तम ब्रह्मचर्य ।

☐ अपने मन में क्रोध भाव न लाकर, यो विचार करना कि मैं भेदात्मक तथा अभेदात्मक रत्नत्रय का धारक हूं, ऐसी भावना का नाम उत्तम क्षमा है। ज्ञान, तप, रूप आदि आठ प्रकार का अभिमान न करना, अपने अपमान होने पर भी खेद-खिन्न न होना तथा सम्मान होने पर प्रसन्न न होना मार्दव धर्म है। मन वचन शरीर की क्रियाओ (विचार, वाणी और काम) मे कुटिलता न आने देना आर्जव धर्म है। किसी भी पदार्थ पर लोभ न करके अपना मन पवित्र रखना शौच धर्म है। राग द्वेष मोह आदि के कारण झूठ न बोलना सत्य धर्म है। मन वचन काय की शुद्धि द्वारा किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं देना संयम धर्म है। अनशनादिक बहिरङ्ग तथा प्रायश्चित्त आदि अन्तरङ्ग तपो का आचरण करना तप धर्म है। ससार के समस्त पदार्थों से भी मनुष्य की तृष्णा शान्त नही होती, ऐसा विचार करके परमाणु मात्र भी पर-पदार्थ अपने पास न रखकर उनका त्याग कर देना त्याग धर्म है। अन्य पदार्थों की बात तो दूर है, अपना शरीर तथा शरीर से उत्पन्न हुआ पुत्र-पौत्र आदि परिवार भी आत्मा का अपना नही है, ऐसा विचार करके किसी भी पदार्थ मे ममत्व भाव न रखना आकिञ्चन्य धर्म है। विषयवासना का त्याग करके अपने आत्मा में रत रहना ब्रह्मचर्य धर्म है।

☐ सम्पत्तिशाली, समस्त इष्ट पदार्थ प्रदान करने वाला, मोक्ष कारण, चतुर्गति भ्रमण संसार दु.ख को नाश करने वाला तथा लोक का हितकारी पंचपरमेष्ठी का मन्त्र सदा मेरे हृदय मे रहे। पंचपरमेष्ठी का पद अनन्तानन्तकाल से संचित पापो को नष्ट करता है तथा पचमगति मोक्ष को शीघ्र बुलाकर देने वाला है। इस पचपरमेष्ठी की महिमा का वर्णन कौन कर सकता है ? भयानक रोग, चोर, शत्रु, अग्नि, जल, राजरोग आदि भयकर दु खो का नाश करने वाला सारभूत पच नमस्कार मन्त्र कल्प वृक्ष के समान हृदय मे विराजमान रहे। यह पचणमोकार मन्त्र सागर रूपी कीचड का नाश कर देता है, शाकिनी, डाकिनी, भूत, पिशाच आदि को भगा देता है। समस्त मङ्गलों मे उत्तम है।

☐ यह पच नमस्कार मन्त्र तीन लोको को कपा देता है, तीन लोको मे सर्वोत्तम गर्भावतरण, जन्माभिषेक, दीक्षा कल्याणक, केवलज्ञान तथा लक्ष्मी को आकर्षण करके देने वाला है। अनुपम उत्कृष्ट मोक्ष लक्ष्मी को वश मे करके देने वाला यह मन्त्र है। ज्ञानरूपी चन्द्रमा का उदय करने वाला है। त्रिलोकवर्ती समस्त प्राणियो को मोहित करने वाला है। ऐसा अतिशयशाली अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय सर्वसाधु के नमस्कार रूप मन्त्र मेरी जीभ पर सदा निवास करे।

☐ पचपरमेष्ठी के नाम रूप मन्त्राक्षर अत्यन्त प्रबल कर्मशत्रु को नाश करने वाले हैं, प्रबल मिथ्यात्व ग्रह को भगाने वाले हैं, दुष्ट कामदेव रूप सर्प के विष को निर्विष करने वाले हैं, रागादि परपरिणति से होने वाले कर्मास्रव को रोक देते हैं, इन्द्र धरणीन्द्र पदवी को प्रदान करने वाले है, मोक्ष लक्ष्मी को मोहित करने वाले है तथा सरस्वती को मुग्ध करने वाले हैं।

☐ अर्हंत शब्द मे 'अ' अक्षर परम ज्ञान का वाचक है, 'र' अक्षर समस्त लोक के दर्शक का वाचक है, 'ह' अक्षर अनन्त बल का सूचक है, बिन्दु (बिन्दी) उत्तम सुख का सूचक है।

☐ अर्हन्त परमेष्ठी का प्रथम अक्षर 'अ', अशरीरी (पौद्गलिक शरीर रहित सिद्ध परमेष्ठी) परमेष्ठी का आदि अक्षर 'अ', आचार्य परमेष्ठी का आदि अक्षर 'आ', इन तीनों अ+अ+आ को मिलाकर सवर्ण स्वर सन्धि के नियम अनुसार तीनो अक्षरो का एक अक्षर 'आ' हो गया। उपाध्याय परमेष्ठी का प्रथम 'उ' है। पहले तीन परमेष्ठियो के आदि अक्षरो को मिलाकर जो 'आ' बना था उसमें 'उ' जोड़ देने पर (आ+उ) स्वर सन्धि के नियम अनुसार दोनों अक्षरो के स्थान पर एक 'ओ' अक्षर हो गया। पांचवें परमेष्ठी 'मुनि' का प्रथम अक्षर 'म्' है। उसको चार परमेष्ठियो के आदि अक्षरो के सम्मिलित अक्षर 'ओ' के साथ मिला देने पर 'ओम्' बन जाता है। इस प्रकार 'ओम्' या ॐ शब्द पंच परमेष्ठियो का वाचक है।

अपराजितेश्वर शतक

☐ हे अपराजितेश्वर! जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इन सात तत्त्वो पर श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन है। इन सात तत्त्वों के अर्थ अपने मन में ठीक तरह से समझ लेना सम्यग्ज्ञान है। अहिंसा धर्म मे या जिनवाणी मे बाधा न आए, इस तरह आचरण करना यह सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार ये तीन रत्नत्रय हैं। इन तीन रत्नत्रयो की प्राप्ति किस समुद्र से है? इस अनमोल रत्नत्रय का स्थान श्रेष्ठ तप ही एक समुद्र है।

☐ अरे मूर्ख! तू इस शरीर में वृथा क्यों आसक्त हो रहा है? इस शरीर को तू केवल जेलखाना समझ। जेलखाना बड़े-बड़े पत्थर सहतीर वगैरह लगाकर बनता है। यह शरीर हड्डियों से बना हुआ है। जेलखाना लोहे और पत्थर आदि के परकोटे से घिरा हुआ होता है, यह शरीर शिरा स्नायुओ से जकड़ा हुआ है। जेलखाना भी कैदी लोग कही से निकल न जाएँ इसके लिए सब तरफ से ढँका हुआ रहता है, यह शरीर चमड़े से ढँका हुआ है। जेलखाने मे जहाँ-तहाँ कैदियो के आघात से रुधिर, मांस दृष्टिगोचर होता है परन्तु शरीर के भीतर सभी जगह वह भरा हुआ है। कैदी कही भाग न जाए इसलिए जेलखाने के आस-पास जेल के स्वामी की तरफ से चारों तरफ मनुष्यों का पहरा लगा रहता है। इसी प्रकार इस शरीर मे भी दुष्ट कर्म शत्रुओ का पहरा लगा रहता है। जेलखाने में जगह-जगह दरवाजो के बीच मे अर्गला की लकड़ी लगी रहती है जिससे कैदी बाहर न निकल जाएँ। यहा भी जीव-कैदी को रोकने के लिए आयु रूप मजबूत अर्गला लगी हुई है। जब तक आयु अर्गला नही टूटती हैं तब तक जीव रूप कैदी शरीर मे से बाहर नही निकल सकता। जब ऐसा है तो शरीर और जेलखाने मे क्या अन्तर है? कुछ भी नही।

☐ पूजा में स्वस्तिक की स्थापना कल्याण तथा सिद्धत्व की प्राप्ति के हेतु होती है। स्वस्तिक के बीच के चार शून्य चार गतियों के द्योतक हैं। सिद्धत्व की प्राप्ति के लिए इन चारो गतियों का नाश आवश्यक है। इन गतियो का नाश होने पर ही अन्तिम परमस्थानो और सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रय की पूर्ण प्राप्ति सम्भव है। इसका प्रयोजन क्रमश चार अनुयोगो की आराधना, चौबीस तीर्थंकरो की भक्ति, पाच परमेष्ठी तथा युगल चारण मुनियो के चार चरणो का ध्यान है। पूजा के आरम्भ मे स्वस्तिक में आराधक इसी भाव की स्थापना करते हैं।

☐ जो अज्ञानी मनुष्य शत्रु के आधीन मित्र को, पातिव्रत्य रहित स्त्री को, कुलनाशक पुत्र को, मूर्ख मंत्री को, स्वार्थी राजा को, प्रमादी वैद्य को, रागयुक्त देव को, विषयासक्त गुरु को तथा दया से वर्जित धर्म को प्रमादवश नही छोड़ता है, उसे पुण्य छोड़ देता है।

☐ हाथी मद से, पानी कमलो से, रात्रि पूर्ण चन्द्रमा से, वाणी व्याकरण से, नदिया हंसो के मिथुनों से, सभा पण्डितो से, स्त्री शील व्रत से, अश्व दौड़ने से, मन्दिर नित्य मंगलोत्सव करने से, कुल सत्पुत्र से, पृथ्वी राजा से तथा तीनो लोक धर्म से सुशोभित होते हैं। इसलिये मनुष्य को धर्म नहीं छोड़ना चाहिये।

☐ रात्रि का दीपक चन्द्रमा, प्रभात का दीपक सूर्य, कुल का दीपक सत्पुत्र तथा तीनो लोकों का दीपक धर्म है। इसलिये मनुष्य को धर्म कदापि नही छोड़ना चाहिये।

☐ हे अपराजितेश्वर! यह आत्मा एक भी है अनेक भी है, कम ज्यादा भी है, नाशरहित है, नाशवत भी है, अस्ति रूप है, नास्तिक रूप भी है। तीनो लोक के परिमित है और धारण किये हुए शरीर के प्रमाण भी है। लोकालोक को व्यापे हुए है व कर्मबद्ध भी है और मुक्त भी है। इस प्रकार इसकी महिमा का कौन जान सकता है? यह तो ध्यान मे योगियो को गम्य है, अन्यथा नही।

☐ जिन-मन्दिर पर शिखर और शिखर से ऊचा ध्वज स्तम्भ होना चाहिये। शिखरो के कलशो से ध्वजा सदा ऊंची होनी चाहिये। नीची ध्वजा शुभ नही होती है। जिस प्रकार व्रत की पूर्णता उद्यापन से होती है, भोजन की पूर्णता और शोभा ताम्बूल से होती है, उसी प्रकार जिन-भवन की शोभा और पूर्णता शिखर कलश और ध्वजा स्तम्भ से होती है।

☐ जो पुरुष बिम्बाफल पत्ते के समान बहुत छोटा चैत्यालय बना कर तथा उसमें जौ के समान छोटी-सी प्रतिमा विराजमान करके भगवान् की पूजा किया करता है तो समझना चाहिये कि मुक्ति इसके अत्यन्त समीप आ चुकी है।

☐ यदि जिन-प्रतिमा का मुख पूर्व दिशा की ओर हो तो पूजा करने वाले को उत्तर दिशा की ओर मुह करके पूजा करनी चाहिये। यदि प्रतिमा का मुख उत्तर दिशा की ओर हो तो पूजक को पूर्व दिशा की ओर मुह करके पूजा करनी चाहिये। दक्षिण दिशा की ओर वा विदिशा की ओर मुंह करके कभी पूजन नहीं करना चाहिये।

☐ हे अपराजितेश्वर! मित्र भी अपने में ही है और शत्रु भी अपने में ही है। इस प्रकार भगवान् जिनेन्द्र देव के द्वारा कहा हुआ यह सत्य वाक्य है। फिर मैं इसके अतिरिक्त बाहर क्यो देखता हूं? क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक ज्ञान इत्यादि आठों गुणों में संतोष करते हुए रहने से उसी समय ज्ञानावरण इत्यादि आठों कर्मों को दूर करते हुए अब मैं अपनी ज्ञान दृष्टि को अपने में स्थिर करके उसी में रहूं, उसी को देखूं, उसी में खेलूं। अब मुझको अन्य वस्तु को देखने का क्या काम?

☐ हे अपराजितेश्वर! नदी, सरोवर, समुद्र के किनारे, पर्वत की गुफा, जिन मन्दिर, वन वाटिका, रेती की चट्टान, शून्यागार, श्मशान एवं अन्य निर्जन स्थानों में पशु, नपुंसक, दुष्ट स्त्री, दुष्ट जन तथा विघ्नकारक जीव-जन्तु से रहित स्थान ध्यान करने के लिए सर्वोत्कृष्ट हैं।

☐ इस चंचल मन को रोकने के लिए हमेशा शास्त्र-स्वाध्याय करते रहना चाहिये क्योंकि यह बन्दर के समान अत्यन्त चंचल है। जैसे चंचल बन्दर को जब तक खाने के लिए फल-फूल अथवा वृक्ष पर हरे-भरे पत्ते न मिलें तब तक वह वहां स्थिरता-पूर्वक नहीं रहता है किन्तु जब उसको वृक्ष मे हरे-भरे पत्ते मिल जाते हैं तब उसी मे रत रहकर उसीमे रम जाता है। उसी तरह यह हमारा चंचल मन इधर-उधर सूखे हुए संसार रूपी जगल में इन्द्रिय जन्य क्षणिक वासनाओं के प्रति हमेशा घूमा करता है। यदि यह शास्त्र-स्वाध्याय तथा अन्य पुराण पुरुषों की कथा या आत्मतत्त्व की चर्चा आदि रूपी हरे-भरे वृक्ष मे लग जाय तो उसकी चंचलता रुक जाती है और चचलता रुक जाने से मन अपने आत्मा मे स्थिर हो जाता है। तत्पश्चात् बाहर से आने वाले अशुभ कर्मों का द्वार बन्द हो जाता है। स्वाध्याय का अर्थ आत्मा के सन्मुख होना है। स्वाध्याय एक परम तप है। स्वाध्याय से मन में शान्ति मिलती है और यह कर्म की निर्जरा के लिए मुख्य कारण है। इसलिए मनुष्य को हमेशा स्वाध्याय करते रहना चाहिए।

☐ जिस मुनि का चित्त महलो के शिखर मे और श्मशान मे, स्तुति और निंदा के विधान मे, कीचड़ और केशर मे, शय्या और कांटो के अग्रभाग में, पाषाण और चन्द्रकान्त मणि मे, चर्म और चीन देशीय रेशम वस्त्रो मे और क्षीण शरीर व सुन्दर स्त्री में, अतुल्य शान्त भाव के प्रभाव या विकल्पो से स्पर्शन न करे, वही एक प्रवीण मुनि समभाव की लीला के विलास का अनुभव करता है अर्थात् वास्तविक समभाव ऐसे मुनि के ही जानना चाहिये।

☐ हे परमात्मन्! मै न तो इन्द्र का पद चाहता हू और न चक्रवर्ती पद। मेरे हृदय मे तो यही भावना है कि सदैव आपके चरणो की भक्ति बनी रहे।

मेरु मन्दर पुराण

। तुमको यदि संसार के दु:खो का नाश करना है तो सम्पूर्ण परिग्रहों को छोड़कर जिनदीक्षा धारण करो। जिनदीक्षा धारण किये बिना अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति व अनन्त सुख आदि देने वाले मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती। आठों कर्मों से रहित शुद्ध स्वर्ण के समान कलकरहित यह जीव सदैव प्रकाशमान होता है।

☐ मनुष्य पर्याय को धारण किया हुआ जीव अपने शरीर को छोडकर अपने-अपने परिणाम के अनुसार चारों गतियों को प्राप्त करता है। न्यूनाधिक परिणामों के अनुसार पंचेन्द्रिय पर्याय तथा तिर्यंच गति को प्राप्त हुए जीव अपने-अपने परिणामानुसार पूर्वोक्त कथन के समान अनेक गतियो मे जन्म लेते हैं। देव गति मे जन्म धारण किया हुआ जीव देव पर्याय को छोडकर मनुष्य व तिर्यंच गति को प्राप्त होता है।

☐ जीव अमूर्तिक स्वभाव वाले हैं। जिस प्रकार एक दीपक को दोनो हाथो की अजुलि मे रखकर यदि बन्द किया जाए तो वह प्रकाश मन्द-मन्द प्रतीत होता है, उसी प्रकार अनादि काल से रहने वाले शरीर मे आत्मा शरीर रूपी आवरण को प्राप्त हुआ है। नाम कर्म द्वारा जितना शरीर का परिमाण होता है उतना ही आत्मा छोटे-बड़े शरीर प्रमाण धारण किये हुए है। यह जीव अत्यन्त सूक्ष्म तथा मोटे रूप को धारण करता है, परन्तु आत्मा शरीर के निमित्त कारण छोटा-बड़ा कहलाता है। यदि निश्चय नय की दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा न छोटा होता है और न बड़ा। यह आत्मा शरीर का निमित्त पाकर छोटा-बड़ा शरीर धारण करता है। आत्मा छोटा-बड़ा नही है।

☐ आकाश में बिजली की चमक के समान समस्त जीव जन्म-मरण करते आये हैं। इन तीन लोको में सर्व जीव परस्पर बंधु के रूप में भी हैं, नाती तथा मित्र भी हैं। परन्तु वे कभी भी स्थिर होकर अपने साथ नही रहते, सदैव उनका सयोग-वियोग होता ही रहता है।

☐ सम्पत्ति आकाश मे बिजली की चमक के समान क्षणिक है। राजा-महाराजा के पास सपत्ति होते हुए भी वे क्षणिक

संपत्ति के मोह से ही चक्रवर्ती होते हुए भी नरक में गए हैं। यह सब मोह की लीला है। संपत्ति एक स्थान पर स्थिर नहीं रहती। वह सम्पत्ति वेश्या के समान है जो कभी इसकी बगल मे कभी उसकी बगल मे जाती है। यह सब पाप-पुण्य का फल है। इस कारण किसी को सुख-शान्ति नहीं मिलती। एक दिन सबको छोडकर जाना पडेगा।

☐ तीनों लोको की सम्पत्ति अपने पास रहने पर भी मूर्खश ज्ञानी लोगो की तृष्णा की पूर्ति नहीं होती। वे मूर्ख इतना होने पर भी दूसरों की सम्पत्ति का अपहरण करने की भावना रखते हैं। सामान्य रीति से विचार किया जाय तो यह भी एक चोरी है। चोरी दो प्रकार की होती है - कार्य चोरी व कारण चोरी। अपने पास कितनी भी सम्पत्ति रहने पर भी दूसरो का द्रव्य लेना, मायाचार से अन्य का धन लेना, दरिद्रता आने से चोरी करना यह सभी कारण चोरी हैं। मायाचार से दूसरे माल को लेते समय अधिक लेना, देते समय कम देना, हमेशा अन्याय द्वारा धन सम्पन्न करना, अन्य का माल चुरा लेना आदि कार्य चोरी कहलाती है।

☐ भूमि मे बीज बोए बिना अकुर की प्राप्ति नही होती। पर्वत पर यदि पानी की वर्षा न हो तो ऊपर से झरता हुआ पानी तालाब व कुओं मे नही आता, उसी प्रकार पुण्य के कारण होने वाले व्रत, नियम, अनुष्ठान, पूजा आदि किये बिना इस मानव को पंचेन्द्रिय सुख की प्राप्ति नही होती।

☐ करोड़ो चन्द्र और सूर्यों से भी अधिक तेजमय केवल ज्ञान रूपी उत्कृष्ट ज्योति को धारण करने वाले देवताओ के मौलि मुकुटों से प्रतिबिंबित श्री ऋषभदेव के चरण कमल हमारी रक्षा करें।

☐ सारासार विचार में परायणकारिणीभूत आत्मस्वरूप हे महात्मन्! सद्गुण रूपी शृङ्गार हार से शोभित हे निरंजन सिद्ध भगवान्! मुझे सारभूत सद्बुद्धि शीघ्रातिशीघ्र प्रदान कीजिये।

☐ हे भोग सागर, सुज्ञान सागर, कान्ति सागर, योग सागर, वीतराग निरञ्जन सिद्ध भगवान्! मुझको शीघ्र ही सन्मार्ग दिखाओ।

☐ संसार नाटक को देखते हुए एवं बोधरूपी तथा ज्ञान दर्शन सुखमयी सत्त सुखो मे मग्न होकर नृत्य करने वाले हे सश्री, सभी दुःखों को विध्वंस करने वाले निरञ्जन सिद्ध भगवान् मुझमे सद्बुद्धि प्रदान करो।

☐ सज्जनो के अधिपति, सुज्ञान सूर्य, तीनो लोको को आनन्ददायक एव अष्ट कर्म रूपी अष्ट दिशाओ को जीतकर अखण्ड साम्राज्य को प्राप्त करने वाले भगवान् सिद्ध परमात्मा हमे सुबुद्धि प्रदान करे।

☐ हे परमात्मन्! आप सुख निधि हैं। लोक मे जो पदार्थ सर्वश्रेष्ठ कहलाता है उससे भी आप अत्यधिक श्रेष्ठ हैं। जो वस्तु निर्मल है उससे भी आप अत्यधिक निर्मल हैं और जो वस्तु मधुर है उससे भी आप अत्यधिक मधुर हैं। आप मेरे हृदय मे चिरकाल तक वास कीजिये।

☐ पोल मे कूट-कूट कर भरे हुए तिल की भाति तीन लोक की पोल मे भरे हुए समस्त चराचर जीवों को एक साथ ही केवल ज्ञान रूपी नेत्रो से देखने वाले ज्ञानाधिपति हे निरजन सिद्ध भगवान्! आप सर्वदा मेरे हृदय मे रहकर मुझे विशुद्ध कीजिये।

☐ हे सिद्धात्मन्! आप कामदेव रूपी मतवाले हाथी के लिए सिह के समान हैं, ज्ञान-समुद्र को भडकाने के लिये चन्द्रमा के समान हैं तथा कर्म-पर्वत को आप सम्हाल चुके हैं इसलिये हमे भी उसी प्रकार का ज्ञान दीजिये जिससे हम अपनी कायरता को त्याग सकें।

☐ हे निरजन सिद्ध भगवान्! आप लोकैकशरण है। जो भव्य जीव आपके शरण मे आते हैं उनके सचित पुण्य को देखकर आप उनकी रक्षा करते हैं। इतना ही नही बल्कि पाप रूपी भयकर जाल से मुक्त करते हैं। आप तीनो लोको मे सर्वश्रेष्ठ हैं।

☐ हे सिद्धात्मन्! जो प्राणी चलते, बोलते, उठते और बैठते समय स्मरण-पथ मे विराजमान रहते हैं उनके सर्वकल्याण होते हैं और उनके समस्त कार्य सिद्ध होते हैं। इसलिए हे निरजन भगवान्! आप रत्न दर्पण के समान मेरे हृदय मे रहकर मुझे सद्बुद्धि प्रदान करिये।

☐ हे आत्मन्! तुम परब्रह्म हो। तीनों लोको मे तुम्ही श्रेष्ठ हो। ज्ञान ही तुम्हारा वस्त्र है। सर्वकर्म-कलंक रहित हो और पापो को जीतने वाले हो। इसलिए तुमको नमस्कार है।

☐ भगवान् आदिनाथ के ज्येष्ठ पुत्र नर लोक के एकमात्र सम्राट् थे। क्षणमात्र दृष्टि बन्द कर मोक्ष को प्राप्त करने वाले उन चक्रवर्ती भरत का मैं क्या वर्णन करूं? सोलहवे मनु, प्रथम चक्रवर्ती, अन्तःपुर वासिनियो के लिए कामदेव, विवेकियो के चूड़ामणि एवम् तद्भव मोक्षगामी भरत का वर्णन करने मे मैं कहां तक समर्थ हो सकता हू। सम्राट् भरत का गुण-कीर्तन कैसे किया जाय क्योंकि उदाहरण देने के लिए उनके तुल्य न कोई राजा है और न कोई वस्तु।

☐ संसार मे अक्सर यह देखा जाता है कि किसी के पास रूप है तो शील नही, शील है तो विद्या नही, विद्या है तो शरीर की सुन्दरता नही। शरीर की सुन्दरता है तो गम्भीरता नही, गंभीरता है तो पराक्रम नही, पराक्रम है तो युवा नही, युवा है तो शरीर-शृङ्गार नही। लेकिन सम्राट् भरत मे मणिकंचन सयोग तुल्य सर्वगुण विद्यमान थे।

☐ भगवान् की ध्वनि दिव्य है। स्वयमेव भगवान् दिव्य हैं एवम् उनका मुख भी दिव्य व दर्शन भी दिव्य तथा ज्ञान एवम् शक्ति भी दिव्य हैं। इसलिए उनकी सिद्धि भी दिव्य हैं।

☐ चमकता हुआ दर्पण हाथ मे होते हुए भी पानी मे अपने प्रतिबिम्ब को देखने वाले मूर्ख के समान अपने शरीर के भीतर रहने वाली आत्मा को न देखकर यह जीव सर्वत्र घूम रहा है।

☐ घर मे गड़ी हुई निधि को नही देखते हुए श्रीमन्त (धनिक) के पास जाकर याचना करने के समान अनादि काल से शरीर मे रहने वाले आत्मा रूपी निधि को न देखते हुए बाहर ही भटकता हुआ सर्वत्र ढूढ़ रहा है।

☐ हरे-भरे पत्तो को छोडकर जैसे हाथी ईख के रस का स्वाद लेता है उसी प्रकार कोई-कोई भेद-ज्ञानी शरीर के सुख को तुच्छ मानकर आत्म-सुख का ही अनुभव करता है।

☐ अपने हाथ मे विद्यमान पदार्थ को न देखकर सारे जगल में उसे खोजने वाले मनुष्य के समान शरीर मे स्थित आत्मा को न देखते हुए सारे लोक मे ढूढ़ने पर क्या आत्मा की प्राप्ति होगी? कदापि नही।

☐ ज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है। वह आत्मा निर्मल ज्ञान दर्शनमय स्वरूप है। ये ज्ञान दर्शन ही आत्मा का चिह्न है। ऐसा विचार करने वाले पुरुष धन्य हैं।

☐ यह आत्मा पुरुषाकार होकर शरीर मे रहते हुए भी शरीर को स्पर्श नही करता है और न शरीर मे मिलता है। आकाश के बीच मे पुरुषाकार रूप बनाये हुए चित्र के समान यह आत्मा है। जैसे तांबे की चद्दर मे निर्मित की हुई छाया प्रतिमा दिन में प्रकाशमय दीखती है, ठीक उसी प्रकार छाया प्रतिमा की तरह शरीर मे पुरुषाकार रूप मे आत्मा रहती है। छाया प्रतिमा तथा पुरुष की छाया को ज्ञान नही है, उसी प्रकार मनगोचर, वाक्गोचर एवम् दूसरो के द्वारा नही जाना जाने वाला ऐसी शुद्ध आत्मा छाया की भांति अपने शरीर मे ही है।

☐ यह शरीर एक बाजे के समान है। वाद्य को जब तक बजाने वाला नही बजाता तब तक उस शरीर का कोई उपयोग नही हो सकता। न बोलने वाले शरीर को आत्मा होने से गुजार कराने लगता है, न चलने वाले को चलाता है, ध्येय (शरीर) और आत्मा दोनों को भिन्न न समझ करके ससार दु.खी हो रहा है। भेद ज्ञान न होने के कारण शरीर के दुःखी होने पर आत्मा भी दुःखी हो जाती है।

☐ सिद्धि दो प्रकार की होती है—एक लौकिक, दूसरी पारमार्थिक। वैरियों का सामना कर अनेक प्रकार की चाल-बाजियों व युक्तियों से जीतना लौकिक अर्थ सिद्धि है। अनादि काल से आत्मा के साथ सन्तान के रूप मे रहकर सतत आत्मा को भयभीत करने वाले काल रूपी कर्म को स्वाधीन कर उसका सामना करके जीतना पारमार्थिक सिद्धि है।

☐ राजा सर्वगुण सम्पन्न होना चाहिये। जैसा राजा होता है उसी प्रकार प्रजा भी होती है। राजा को भोग विचार एवम् आत्म-योग विचार भी होना चाहिये तथा रागरसिक भी होना चाहिये एवम् भावपूर्वक वीतराग रसिक भी होना चाहिये। शृङ्गार रसिक भी तथा अध्यात्म रसिक भी होना चाहिये। शत्रुओ का सामना करने वाला भी होना चाहिये तथा आत्मयोग प्राप्त करने में भी कुशल होना चाहिये। इह लौकिक सुख का उपभोग करते हुए धर्म मे उत्सुक होना चाहिये। देखने वाले को ऐसा मालूम होना चाहिये कि संसार रूपी माया में फंसा हुआ है लेकिन हृदय में उसे नि.स्पृह होना चाहिये।

☐ विज्ञान दो प्रकार का है—बाह्य विज्ञान, अन्तरंग विज्ञान। बाह्य विषयो के जानने वाले (आत्मा से भिन्न) सभी बाह्य विज्ञान कहलाते हैं और अपनी आत्मा को जानना अन्तरंग विज्ञान है। जगत् मे रत्न-परीक्षा करने के लिए प्रयत्न करना व हाथी-

मोती आदि की परीक्षा करना सीखना यह भी एक बाह्य कला है। आत्मा सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र 'रत्न त्रय' स्वरूप है। अतः उन रत्नों की परीक्षा कर पहिचानना बड़ा कठिन कार्य है। इसे ही अन्तरंग विज्ञान कहते हैं। इसको जानने से आत्म-कल्याण होता है।

□ क्या दग्ध बीज बोया हुआ कहीं उगने में समर्थ हो सकता है? कभी नहीं। क्योंकि उसकी अंकुरोत्पत्ति की शक्ति नष्ट हो चुकी है। उसी प्रकार कर्मबन्ध रूपी अंकुर के लिए बीज रूपी राग को यदि पहले ही नष्ट कर दिया जाय तो फिर क्या उसकी उत्पत्ति आगे हो सकती है? अर्थात् नहीं। निष्काम भोगी आत्मज्ञानी को किसी भी वस्तु मे राग नही रहता, इसलिए विकारमय संसार में रहते हुए भी उस पर विकारो का प्रभाव नही होता।

□ यह शरीर 'जिन' मन्दिर है। मन उसका सिंहासन है। निर्मल आत्मा 'जिन' भगवान् हैं। बाहर के सभी विकल्प छोड़ कर, आंख बन्द कर इस प्रकार अपने अन्दर देखें तो सचमुच ही 'जिन' अपने मे ही प्राप्त होंगे अर्थात् अपने ही भीतर दर्शन देंगे।

□ जैसे कोई विद्यार्थी अभ्यास के पाठ को भूल गया हो और अध्यापक के पूछन पर अपनी भूल पर दत्तचित्त होकर विचार करता है, उसी प्रकार ज्ञान दर्शन भी मेरा रूप है ऐसा समझकर एकाग्रता से शरीर के अन्दर (आत्मा में) चित्त लगा से आत्मा का दर्शन होता है।

□ इस लोक में थल मे, जल मे अथवा पृथ्वी पर गमन करना सरल है परन्तु बिना आधार के क्या कोई आकाश में भी चल सकता है? नहीं। इसी प्रकार बाह्य वस्तु का तो सभी वर्णन कर सकते है परन्तु आध्यात्मिक विषय का वर्णन करना उन लोगो के लिए कभी शक्य नही हो सकता।

□ शास्त्र के मर्म को न समझकर केवल वस्त्रत्याग करने वाले मुनि, मुनि नही हैं। वस्त्र के समान ही तीनो लोक एवं शरीर भी परिग्रह हैं। ऐसा समझकर केवल आत्मा मे ही तृप्त होने वाले योगी योगी हैं।

□ राजा भरत की क्या प्रशसा की जाय? भोजन करते हुए भी वे उपवासी हैं और भोग भोगते हुए भी ब्रह्मचारी हैं। हाथ में भू-मण्डल होने पर भी निष्परिग्रही हैं। सिर मे बालो की वृद्धि होने पर भी उनका मन मुंडित है।

भावना-सार

□ भगवान् जिनेन्द्र देव के वचन औषधि के समान हैं और पंच इन्द्रियो के विषयो के विरचन के लिए वीतराग भगवान् की वाणी अमृत के समान है। उस दिव्य वाणी से जन्म-मरणरूपी व्याधियो का नाश होता है। वह अलौकिक वाणी ससारी जीवो के सभी दुःखो का क्षय करने वाली है।

□ जैन दर्शन किसी पदार्थ को एकान्त नही मानता। उसके मत से प्रत्येक पदार्थ अनेकान्त रूप हैं। केवल एक ही दृष्टि से किए गए पदार्थ निश्चय को जैन धर्म अपूर्ण समझता है। उसका कथन है कि पदार्थ का स्वरूप ही कुछ इस प्रकार का है कि हम उसमे अनेक प्रतिद्वन्द्वी परस्पर विरोधी धर्म देखते हैं। यदि वस्तु मे रहने वाले किसी एक ही धर्म को लेकर उस वस्तु का निरूपण करें, उसी को सर्वांश रूप में सत्य समझें, तो वह विचार अपूर्ण एव भ्रान्त ही ठहरेगा क्योंकि जो विचार एक दृष्टि से सत्य समझा जाता है तद्विरोधी विचार भी दृष्ट्यन्तर से सत्य ठहरता है।

□ जैसे सूर्य एक ही है, मेघों का आवरण होने से उसकी प्रभा के अनेक भेद हो जाते हैं, उसी तरह निश्चय नय से यह आत्मा भी अखण्ड है व एक तरह से प्रकाशमान है, ता भी व्यवहार नय से कर्मों के पटलों से घिरा हुआ है। इसलिए उसके ज्ञान के सुमात ज्ञान आदि बहुत भेद हो जाते हैं।

□ मैं राजा हूं, मैं धनवान हू, मैं बड़ा हू, मैं दीन हू, मैं दुःखी हू, मैं रोगी हू, मैं निरोगी हू, मैं सुन्दर हू, मैं कुरूप हू, मैं पुरुष हूं, मैं स्त्री हू इत्यादि अहबुद्धि होती है। यह तन मेरा है, यह धन मेरा है, यह वस्त्र मेरा है, यह घर मेरा है, यह राज्य मेरा है, यह खेत मेरा है, यह आभूषण मेरा है, यह भोजन मेरा है, यह ग्रन्थ मेरा है, यह मन्दिर मेरा है इत्यादि ममकार बुद्धि पैदा होती है। इस अहंकार ममकार के द्वारा वर्तन करते हुए चारो कषायो की प्रबलता हो जाती है और यह मोही प्राणी संसार के झझटो मे व सुख तथा दुःखों में उलझा रहता है। कभी अपने सच्चे सुख को व अपनी शान्ति को नही पाता है।

□ जब तक शरीर में तन्दुरुस्ती है व जब तक इन्द्रियो मे शक्ति मौजूद है तब तक तप कर लेना योग्य है। वृद्धावस्था मे मात्र परिश्रम है, तब तप की सिद्धि कठिन है। जब तक आयु दृढ है तब तक धर्म कार्य मे बुद्धि करनी योग्य है। जब आयु कर्म क्षय हो जायेगा तब तू क्या करेगा?

□ हे आत्मन्! पुण्यहीन होने के पश्चात् तुम्हारा मंत्र तंत्रादिक कोई भी शरण नहीं है। अतः किसी अन्य में बुद्धि न करके केवल धर्म को ही अपनाओ।

☐ हे आत्मन् ! शरीर के मोह के कारण तू अनादि काल से उसका साथ करते हुए शरीर सम्बन्धी पुत्र, मित्र, कलत्रादि कुटुम्बी जनों को अपना समझकर उनकी रक्षा करने के लिए अनेक पाप-संचय करके देश-विदेश में भ्रमण करके धन-संचय करता रहा और तूने उस धन की रक्षा में रात-दिन चिंताग्रस्त होकर राज भय, चोर भय इत्यादि को सहन करते हुए अनन्त दुःख रूपी बेलि को बढ़ाया और अपने ऊपर महान् आपत्तिकारी कालरूपी कुठाराघात करके अत्यन्त दुःखमय नरक व तिर्यंचादि गतियों में पड़कर हमेशा वेदना देने वाले कराल काल के ऊपर विश्वास करके तू सदा संतोष धारण किये रहा और उनके द्वारा होने वाले दुःख का कुछ भी ध्यान न करके चारों गतियो मे घोर दुःख ही दुःख उठाया। उस दुःख के समय स्वजन, इष्ट, मित्र, पुत्र, कलत्र तथा राजा आदि कोई भी तेरी रक्षा करने के लिए समर्थ न हो सके। यदि तुझे अपने आत्मा की रक्षा करके इस दुःख से छुटकारा पाकर शाश्वत सुख को प्राप्त करना है तो तू केवल जैन धर्म की ही शरण ले, क्योंकि यह जैन धर्म ही तुझे जन्माटवी सकटो से पार उतारने वाला है। अन्य कोई धर्म संसार-सागर से पार नहीं उतार सकता।

☐ नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देवगतियो मे तथा अनेक योनियों मे जन्म लेकर बालत्व, यौवनत्व तथा वृद्धत्व अवस्था को प्राप्त करके महादुःख का अनुभव किया, किन्तु सुख का लेशमात्र भी इस आत्मा को न मिल सका। इस प्रकार अनादि काल से भवभ्रमण करते हुए इस जीव के केवल एक ही माता, पिता, भाई, बन्धु, स्वजन तथा परिवार आदि न होकर असख्य हो चुके हैं और उनमें भी जाति-जरा-मरणादिक के असह्य विविध प्रकार के दुःख देने वाले पुत्र, मित्र, कलत्रादि, कुटुम्बीजन जब तक इस जीवात्मा के साथ पुण्य-सचय था तब तक साथ देते रहे, पर जीवन-यात्रा समाप्त हो जाने पर वे ही कुटुम्बीजन केवल श्मशान तक साथ जाकर लौट आये और उसकी जीवित अवस्था में विविध प्रकार के पाप-पुण्य द्वारा संचित किये गये उसके संपूर्ण धन के स्वामी बन गये। हे आत्मन् ! यह सब कुछ होते हुए भी तू सांसारिक क्षणिक सुखों को छोड़कर आत्म-कल्याण की भावना क्यों नहीं करता ?

भगवान् महावीर और उनका तत्त्व दर्शन

☐ सुख जीवो का सर्वोपरि ध्येय है और उसकी प्राप्ति धर्म से होती है। धर्म सुख का साधन (कारण) है और साधन कभी साध्य (कार्य) का विरोधी नही होता। इसलिए धर्म से वास्तव में कभी दुःख की प्राप्ति नही होती। वह तो सदा दुःखों से छुड़ाने वाला ही है।

☐ धर्म करते हुए भी यदि कभी दुःख उपस्थित होता है तो उसका कारण पूर्वकृत कोई पाप-कर्म का उदय ही समझना चाहिये, न कि धर्म ! धर्मशब्द का व्युत्पत्त्यर्थ अथवा निरुक्त्यर्थ भी इसी बात को सूचित करता है और उस अर्थ को लेकर ही तीसरे विशेषण की घटना (सृष्टि) की गई है। उसमे सुख का उत्तम विशेषण भी दिया गया है, जिससे प्रकट है कि धर्म से उत्तम सुख की, शिवसुख की अथवा यो कहिये कि अबाधित सुख की प्राप्ति तक होती है। तब साधारण सुख तो कोई चीज नही है—वे तो धर्म से सहज मे ही प्राप्त हो जाते हैं। सासारिक दुःखो से छूटने से सासारिक उत्तम सुखो का प्राप्त होना उसका आनुषगिक फल है। धर्म उसमें बाधक नही और इस तरह प्रकारान्तर से धर्म ससार के उत्तम सुखो का भी साधक है।

☐ वस्तुतः पतित उसे कहते है जो स्वरूप से च्युत है, स्वभाव मे स्थिर न रहकर इधर-उधर भटकता और विभाग-परिणतिरूप परिणमता है और इसलिए जो जितने अशो मे स्वरूप से च्युत है वह उतने अशों मे ही पतित है। इस तरह सभी ससारी जीव एक प्रकार से पतितों की कोटि मे स्थित और उसकी श्रेणियो मे विभाजित हैं। धर्म जीवो को उनके स्वरूप मे स्थिर करने वाला है, उनकी पतितावस्था को मिटाता हुआ उन्हे ऊंचा उठाता है और इसलिए पतितोद्धारक कहा जाता है। कूप मे पड़े हुए प्राणी जिस प्रकार रस्से का सहारा पाकर ऊंचे उठ आते हैं और अपना उद्धार कर लेते हैं उसी प्रकार ससार के दुःखो मे डूबे हुए पतित जीव भी धर्म का आश्रय एव सहारा पाकर ऊंचे उठ आते हैं और दुःखो से छूट जाते हैं।

☐ धर्म को प्राचीन या अर्वाचीन आदि न बतलाकर जो समीचीन विशेषण से विभूषित किया है वह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि प्रथम तो जो प्राचीन है वह समीचीन भी हो ऐसा कोई नियम नही है। इसी तरह जो अर्वाचीन है वह असमीचीन ही हो ऐसा भी कोई नियम नहीं है। उदाहरण के लिए अनादि मिथ्यात्व तथा प्रथमोपशम सम्यक्त्व को लीजिये। अनादिकालीन मिथ्यात्व प्राचीन से प्राचीन होते हुए भी समीचीन (यथावस्थित वस्तुतत्त्व के श्रद्धानादिरूप मे) नही है और इसलिए मात्र प्राचीन होने से मिथ्याधर्म को समीचीन धर्म के रूप मे ग्रहण नहीं किया जा सकता। प्रत्युत इसके, सम्यक्त्व गुण जब उत्पन्न होता है तब मिथ्यात्व के स्थान पर नवीन ही उत्पन्न होता है, परन्तु नवीन होते हुए भी वह समीचीन है और इसलिये सद्धर्म के रूप मे उसका ग्रहण है। उसकी नवीनता उसमें बाधक नही होती। नतीजा यह निकला कि कोई भी धर्म चाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन, यदि वह समीचीन है तो वह ग्राह्य

है अन्यथा ग्राह्य नहीं है। और इसलिए प्राचीन-अर्वाचीन से समीचीन का महत्त्व अधिक है, वह प्रतिपाद्य धर्म का असाधारण विशेषण है, उसकी मौजूदगी में ही अन्य दो विशेषण अपना कार्य भली प्रकार से करने में समर्थ हो सकते हैं। अर्थात् धर्म के समीचीन (यथार्थ) होने पर ही उसके द्वारा कर्मों का नाश और जीवात्मा को ससार के दु:खो से निकाल कर उत्तम सुख में धारण करना बन सकता है— अन्यथा नहीं। इसी से समीचीनता का ग्राहक प्राचीन और अर्वाचीन दोनो प्रकार के धर्मों को अपना विषय बनाता है अर्थात् प्राचीन-अर्वाचीन का मोह छोड़कर उनमे जो भी यथार्थ होता है उसे ही अपनाता है ।

☐ जैन धर्म के अनुसार जगत् मे प्रत्येक प्राणी अव्यक्त परमात्मा है। हर आत्मा अपने सहज स्वरूप को जानने के बाद परमात्मा बन सकता है ।

☐ जुआ खेलना, मांस भक्षण करना, मद्यपान करना, वेश्या सेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना, पर-स्त्री सेवन ये सप्त व्यसन संसार परिभ्रमण के कारण, रोग, क्लेश, बध बधनादि के कराने वाले, पाप के बीज, मोक्ष मार्ग मे विघ्न करने वाले, सर्व अवगुणों के मूल, अन्याय की मूर्ति तथा लोक-परलोक बिगाडने वाले हैं। जो सप्त व्यसनो मे रत होता है उसके विशुद्ध लब्धि अर्थात् सम्यक्त्व धारण होने योग्य पवित्र परिणामो का होना सम्भव नही, क्योंकि उसके परिणामो मे अन्याय से अरुचि नही होती। ऐसी दशा में शुभ कार्यों से तथा पवित्र धर्म से रुचि कैसे हो सकती है ? इसलिए प्रत्येक स्त्री-पुरुष को इन सप्त व्यसनो को सर्वथा तज कर शुभ कार्यों मे रुचि रखते हुए नियमपूर्वक सम्यक्श्रद्धानी बनना चाहिये और गृहस्थधर्म के उपयुक्त अष्टमूलगुण धारण करने चाहिए ।

☐ सम्यक् दर्शन के समान न तो कोई धर्म है, न होगा। यह सम्यक्त्व ही कल्याण का साधक है। पर मिथ्यात्व के समान तीनो लोको मे दूसरा पाप नही है। अतएव यह मिथ्यात्व ही सारे अनर्थों की जड़ है। उस सम्यक्त्व की प्राप्ति जीवादि सप्त तत्त्वो के श्रद्धान से तथा सर्वज्ञदेव, सद्ग्रंथ और निर्ग्रंथ गुरुओं के श्रद्धान से होती है, जिसकी प्राप्ति से ही ज्ञान चारित्र को सत्य कहा जा सकता है ।

☐ ससार के आयु, लक्ष्मी-भोग आदि इन्द्रियजन्य सुख विद्युत के समान क्षणभगुर और विनश्वर है, अतएव भव्य जनों को सदा मोक्ष का ही सेवन करना चाहिए। ससार मे जीव को मृत्यु-रोग-क्लेश आदि दु:खो से रक्षा करने वाला और कोई दूसरा मार्ग नही है। धर्म ही एक शरण है। दु:खादिको के निवारण के लिए सदा उसका पालन करते रहना चाहिए। ससार-सागर दु:खों का आगार है, उसके पार होने के निमित्त रत्नत्रय का सेवन करना बड़ा ही आवश्यक है। जीव को यह समझ लेना चाहिए कि मै अकेला हूं, यदि कोई मेरा सहायक हो सकता है तो वे भगवान् जिनेन्द्र देव हैं। इस प्रकार शरीर से अपने को भिन्न समझ कर आत्म-ध्यान में शरीर की ममता से मुक्त हो, सलग्न हो जाना चाहिए। यह शरीर सप्तधातुमयी निन्दित है, दुर्गन्धि का घर है, ऐसा समझकर बुद्धिमान लोग धर्म का ही आचरण करते हैं ।

☐ वस्तुतः वे बड़े ही मूर्ख हैं जो थोड़ी आयु पाकर तपस्या के बिना अपने अमूल्य समय को नष्ट कर देते हैं। वे यहां भी दुःख भोगते हैं और नरकादि की यातनाये भी। मैं ज्ञानी होते हुए संयम के अभाव मे एक अज्ञानी की भाति भटक रहा हूं। अब गृहस्थाश्रम में रहकर समय व्यतीत करना उपयुक्त नही कहा जा सकता। वे तीनों ज्ञान ही किस काम के, जिनके द्वारा आत्मा को और कर्मों को अलग-अलग न किया जाय तथा मोक्षरूपी लक्ष्मी की उपासना न की जाय। ज्ञान प्राप्त करने का उत्तम फल उन्ही महापुरुषो को प्राप्त है, जो निष्पाप तप का आचरण करते है ।

☐ उस व्यक्ति के नेत्र निष्फल हैं जो नेत्र होते हुए भी अन्धकूप मे गिरता है, वही दशा ज्ञानी पुरुषो की है जो ज्ञान होते हुए भी मोहरूपी कूप मे बधे रहते हैं। वस्तुत. अज्ञान (अनजान) मे किए हुए पाप से ज्ञान प्राप्त होने पर छुटकारा भी मिल जाता है, ज्ञानी (जानकार) का पाप से मुक्त होना दुष्कर होता है। अतएव ज्ञानी पुरुषो को मोहादिक निन्दनीय कर्मों के द्वारा किसी प्रकार का पाप नही करना चाहिये। इसका कारण यह है कि मोह से राग-द्वेष उत्पन्न होता है। उस पाप के फलस्वरूप जीव को बहुत दिनों तक दुर्गतियो मे भटकना पडता है। वह भटकना भी साधारण नही अनन्त काल तक का, जिसका वर्णन नही किया जा सकता।

☐ ससार मे जितनी भी दुष्प्राप्य वस्तुएं हैं वे सब धर्म के प्रसाद से अनायास प्राप्त होती है। धर्म ही माता-पिता तथा साथ-साथ चलने वाला, हित करने वाला है। वह कल्पवृक्ष, चिन्तामणि और रत्नो का खजाना है। वे पुरुष इस ससार मे धन्य हैं जो प्रमाद का परित्याग कर धर्म का पालन करते हैं। उन्हीं की ससार मे पूजा होती है। किन्तु जो पुरुष धर्म के अभाव में समय व्यतीत करते हैं, वे पशु के सदृश हैं। । ऐसा समझकर बुद्धिमान धर्म के बिना एक क्षण का समय भी व्यर्थ न जाने दें ।

☐ इस संसार मे अर्हन्त से बढ़कर कोई उत्कृष्ट देव नहीं, निर्ग्रन्थ से बढ़कर महत्त्वशील गुरु नही, अहिंसा आदि पंचव्रतों से उत्तम अन्य कोई व्रत नहीं, जिनमत से श्रेष्ठ कोई मत नही, सबके हृदय को प्रकाशित करने वाला ग्यारह अंग चौदह पूर्व से बढ़कर दूसरा कोई शास्त्र-ज्ञान नहो, सम्यक् दर्शन इत्यादि रत्नत्रय से बढ़ कर दूसरा कोई परमोत्कृष्ट मोक्ष का मार्ग नही और पांच परमेष्ठियों से बढ़कर भव्य जीवो के लिए कोई दूसरा कल्याण एवं हितकारी नही हो सकता।

धर्मामृत

☐ ऐसी कविता जो साधुजनो के समान ही मात्सर्यवश मूक रहने वाले व्यक्तियो को भी बलात् साधुवाद (धन्य-धन्य) कहने को मुखरित कर दे, वही वास्तविक कविता है। इससे भिन्न नहीं। वस्तुतः जिन्हे सुनकर प्रसन्नता से कन्धा ऊँचा करते हुए मृगादि पशुगण भी अपने मुख में चबाये जाते हुए घास को अधचबाया छोड दें, वही कविता वास्तविक है। इससे भिन्न कविता भी कोई कविता है ?

☐ जिस प्रकार बरसात के पानी के बिना गन्ना कोमल और सुरस नही हो सकता, उसी प्रकार भगवान् की वाणी के बिना सुकवि मधुर और अच्छे शास्त्र की रचना नहीं कर सकता। जिस प्रकार रसोई मे बिना नमक के सरस शाक आदि भोजन नही बन सकता है, तथा घी के साथ अगर नमक का प्रयोग नही किया जाएगा तो जीभ को स्वाद नही आता, उसी प्रकार यदि कविता में भगवान् की वाणी का रसास्वाद नही होगा तो वह मधुर तथा सुकाव्य नही बन सकती।

☐ जीवों को इस जगत् मे सम्पूर्ण वैभव सुलभता से प्राप्त होता है किन्तु तत्ववेत्ता पुरुष की दृष्टि से गुरुओ के वचन दुर्लभ हैं। सद्गुरु के बिना भी जो ससार-समुद्र से तैर जाने की इच्छा करते हैं, वे मूढ़ जीव आयु कर्म से रहित होकर भी जीने की इच्छा करते हैं। जिन्होंने गुरु-उपदेश का उल्लंघन किया है वे लोग अन्तर्मुहूर्त काल मे भी अनेक योनियों मे क्षुद्रभव धारण कर भ्रमण करते हैं।

☐ जो सौ इन्द्रो के द्वारा पूजनीय हैं एव अठारह दोषों से रहित हैं ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेव के मुखकमल से विनिर्गत पवित्र वाणी के अर्थ को तत्त्व कहते हैं। क्रम से कहे हुए तत्त्व के ऊपर अचल श्रद्धा न रखना और व्यवहार तथा निश्चयनय मार्ग से उसे समझकर स्व-आत्म-अनुभूति करना तत्वश्रद्धान है। यह तत्त्वश्रद्धान (सम्यग्दर्शन) तीनो लोको मे पूजनीय है, अविनाशी सुख-शान्ति रूप मोक्ष सुख को देने वाला है।

☐ बिना सम्यग्दर्शन के मनुष्य की शोभा नही है। जिस प्रकार सेना हो, किन्तु सेनापति न हो तो सेना शोभारहित होती है; मुख है किन्तु यदि नाक नही तो मुख की शोभा नही होती; अगूठी के बिना अगुली शोभायमान नही लगती, जिस प्रकार बिना धुरी के गाड़ी चलने मे समर्थ नही, हाथ जिस प्रकार अगूठी के बिना शोभा नही देता, बिना तेल के जिस प्रकार दीपक प्रकाश नही देता, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् के मानवो की शोभा सम्यग्दर्शन के बिना नही है।

☐ जो व्यक्ति अन्याय से धन कमाता है, उसे राजा भी दण्ड देता है तथा लोक मे भी उसका अपमान होता है एव अनेक प्रकार के दुःख भोगने पडते हैं। इसलिए न्याय से ही धन कमाना चाहिए। ऐसा करने से ही यह जीव इस लोक मे सुखी रह सकता है। न्याय से कमाया हुआ धन तो सत्पात्र को देने और दुःखी जीवों मे बाटने पर उनके दुःखों को दूर करने के काम आता है और ऐसा करने से वह जीव भी सुखी होता है। बिना धन के गृहस्थ धर्म चल नही सकता, इसलिए गृहस्थ के लिए धन का महत्त्व है।

☐ मेढक गड्ढे मे इकट्ठे हुए कीचड के पानी को ही सरोवर मान लेता है, वह विशाल स्वच्छ जल वाले समुद्र को जानता ही नही। उल्लू सूरज के प्रकाश को धिक्कार करके रात्रि के अन्धकार को ही अच्छा मानता है क्योंकि उसको दिन मे दिखाई नही देता, रात को दिखाई देता है। कौवा चन्द्रमा की चादनी का तिरस्कार करता है क्योंकि उसको चन्द्रमा की चादनी मे अच्छा दिखाई नही देता, इसलिए वह रात्रि की ही प्रशसा करता है। इसी तरह हीन लोग हमेशा हीन-धर्मों तथा हीन लोगों के ससर्ग मे रहकर हीन-प्रवृत्ति तथा कुसंस्कार वाले बन जाते हैं, इस कारण उनको हीन धर्म तथा हीन लोग ही अच्छे लगते हैं। इसी कारण वे उनकी प्रशसा करते हैं और सज्जनो की निन्दा करते है।

☐ जैनधर्म मे ऐसा कोई नियम नही कि जो राजा, महाराजा या बलवान, पहलवान हो, जैन हो, वही दिगम्बर मुनि बने। किन्तु जो कुल मे, शील मे, वश मे, बुद्धि मे शुद्ध हो, शुद्ध आचार-विचार का हो, ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो या वैश्य हो, वह दिगम्बर मुनि बन सकता है।

☐ जो काम कठिन प्रतीत होता है उसे सरल किया जा सकता है, सिंह के उपर सवारी भी की जा सकती है। संसार में जो

भी असाध्य प्रतीत होने वाले कार्य हैं, उन्हें भी किया जा सकता है; किन्तु हे दयामित्र ! तुम्हारा जो दिगम्बर साधु का व्रत है उसका पालन असाध्य है । वह व्रत नहीं है, वह तो तीक्ष्ण करौंत के समान है, जिसे मैं तो स्पर्श करने मे भी डर रहा हूं । मुख से कहना तो सरल है किन्तु उस दिगम्बर मुनि व्रत का पालन करना अति कठिन है ।

☐ साधारण चने खाने वाला लोहे के चने नही चबा सकता । जैनधर्म केवल चने चबाने के समान नही है बल्कि लोहे के चने के समान अत्यन्त कठिन है । इसको महापुरुष ही धारण कर सकते हैं । जैन धर्म का पालन शूरवीर महापुरुष सरलता से करते हैं । जैसे सिंहनी का दूध सोने के पात्र मे ही रह सकता है, उसी प्रकार पवित्र जैनधर्म का आचरण पवित्र हृदय वाले धीर-वीर महापुरुष द्वारा ही हो सकता है ।

☐ जिसका मन शान्त हो गया है ऐसे निर्ग्रन्थ मुनि तृण और रत्न, शत्रु और मित्र, सुख और दुःख, श्मशान और प्रासाद, स्तुति और निन्दा तथा मरण और जीवन इन इष्ट और अनिष्ट पदार्थों मे स्पष्ट ही समबुद्धि रखते हैं । अभिप्राय यह है कि वे किसी वस्तु पर राग या द्वेष नही रखते ।

☐ यौवन, धन-सम्पत्ति, अधिकारमद और मूर्खता, यह एक-एक बात भी बहुत अनर्थकारिणी होती है । यदि एक ही व्यक्ति में ये चारों बातें हों तो फिर जो कुछ भी अनर्थ न हो जावे वह कम है । य चारो बाते मिलकर महान् अनर्थ कर डालती हैं ।

☐ महानदियों का पानी कितना निर्मल तथा पीने योग्य होता है किन्तु जब वही खारे समुद्र मे जाकर मिल जाता है तो पीने योग्य नही रह जाता । उस खारे जल का क्षारत्व उस मीठे जल मे भी आ जाता है । यह कुसंग के दोष का परिणाम ही तो है । पानी का स्वभाव शीतल है किन्तु अग्नि के सम्पर्क से वह उष्ण हो जाता है और तब वह अग्नि के समान ही जलाने भी लगता है । शीतलता प्रदान करने वाले जल में दाहकता कहां से आई । उस अग्नि के साहचर्य से । ऐसे ही सगति के प्रभाव से मनुष्य मे गुण और अवगुण आ जाते हैं । कुसग से उसके सद्गुण नष्ट हो जाते हैं ।

☐ आज शिक्षा के नाम पर फैशन और बाहरी तडक-भडक को प्रमुखता दी जा रही है । अनुशासन के स्थान पर उद्दंडता का बोलबाला है । विनय को तुच्छता समझा जाता है । नम्रता को उपहास की दृष्टि से देखा जाता है । सद्गुणो की श्री असद्गुणों के समुदाय मे फीकी दिखाई देती है । इसका कारण है शिक्षा के क्षेत्र मे तथा परिवार मे उत्तम शिक्षको तथा माता-पिताओ की योग्यता का अभाव । आज के माता-पिता अपने बालको को स्कूल मे भेजकर निश्चिन्त हो जाते हैं और समझने लगते हैं कि हमने अपने बालकों को मार्ग पर लगा दिया यानी अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया । माता-पिता की इस उदासीन मनोवृत्ति के कारण बालक मे अपने वंश के स्वच्छ व उच्च संस्कार नहीं आ पाते जिससे कालान्तर मे वे अपने परिवार के अनुक्रम मे आये हुए शील, शौच, धर्म आदि से अछूते रह जाते हैं । चरित्र-पतन की यह महामारी बालको को उनकी उचित देखरेख के अभाव मे ही त्रास देती है । अतएव समाज भीतर से खोखला हो रहा है और हमारे अपने ही घरों मे अपनी ही परम्परा और आचार के प्रति अवज्ञा करने वाले पुत्र उत्पन्न हो रहे हैं । आहार मे, विहार मे, शिक्षा मे, धर्मव्यवहार मे कोरे आज के बालक-बालिकाओ को धर्म के प्रति एव सच्ची शिक्षा के प्रति जागरूक करना माता-पिता और अध्यापको का, जिनके सम्पर्क मे बालक अपनी सस्कार प्राप्त करने वाली अवस्था मे रहता है, ध्यान देकर अपने कर्त्तव्यो का पालन करना चाहिए, क्योंकि बच्चे ही राष्ट्र की भावी निधि हैं, सम्पत्ति हैं ।

☐ जो तेजस्वी हो, यशस्वी हो, शरण मे आने वाले मनुष्यो की रक्षा करने वाला हो, प्रवीण हो, दुष्टो का निरन्तर शासन (दमन) करता हो, विरोधी राजाओ को नष्ट करने मे समर्थ हो, प्रजा की रक्षा करने वाला हो, दानवीर हो, धन का समुचित भोग करता हो, विवेक रखता हो, नीति के मार्ग का अनुसरण करने वाला हो, जिसकी प्रतिज्ञाये किसी उद्देश्य के लिए होती हो, जो किए हुए उपकार को कभी नही भूले, वह राजा पृथ्वी-मण्डल पर अखडित आज्ञा करने वाला होता है तथा अपने धन-धान्य से समृद्ध राज्य का विस्तार करता है ।

☐ मक्खियां केवल गन्दगी पर ही बैठती हैं, वे उसी को अपना इष्ट मानती हैं, किन्तु वे कभी भी सुगन्धित चन्दन के पेड़ पर नही बैठती । इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि मूर्ख लोग पाप-मार्ग को ग्रहण करते हैं, उसी को अपना इष्ट मानते हैं । उससे वे मिथ्यात्व के अन्धकार मे भटक कर अनन्त ससारी बनते है । उनकी रुचि कभी सद्कर्म के प्रति नही होती ।

☐ जैसे पान मे मुख की शोभा होती है, सगीत से कान तृप्त होते है, दिन से जनता जागृत है, सूर्य से प्रकाश होता है, मोती से कठ की शोभा होती है, उसी तरह नि कांक्षित (सासारिक सुखो की अनिच्छा) से सम्यक्त्व की शोभा होती है ।

☐ मलयगिरि पर उत्पन्न होने वाला चन्दन का पेड़ समस्त वृक्षों (वनस्पतियों) में श्रेष्ठ है। कमल का पुष्प सभी पुष्पों में उत्तम माना जाता है, समस्त पर्वतों मे सुमेरु पर्वत श्रेष्ठ है, समस्त पाषाणों मे रत्न श्रेष्ठ होता है, समस्त देवो मे इन्द्र श्रेष्ठ है, समस्त पुरुषों से भगवान् जिनेन्द्रदेव सर्वश्रेष्ठ होते हैं, क्योंकि उन्होंने समस्त आत्मशत्रुओ को परास्त करके सर्वज्ञ वीतराग परमात्मपद प्राप्त कर लिया है।

☐ जिस प्रकार पतझड़ आने पर वृक्ष के पत्ते वृक्ष मे टूट-टूटकर अपने आप गिर जाते हैं, उसी प्रकार सभी ऐश्वर्य आदि पदार्थ काल आने पर नष्ट हो जाते हैं। परन्तु शील (ब्रह्मचर्य) ऐसा सुन्दर आभूषण है जो कभी नष्ट नही होता, सदा साथ देता है।

☐ मनुष्य जन्म, उत्तम वश की प्राप्ति, धन सम्पन्न होना, दीर्घ आयु, नीरोग शरीर मिलना, अच्छे मित्रों की प्राप्ति, अच्छी कन्या, सती पत्नी, भगवान् तीर्थंकर मे भक्ति होना, विद्वत्ता, सुजनता, इन्द्रिया पर विजय, योग्य पात्र को दान दे सकने की सामर्थ्य—ये तेरह गुण पुण्य के बिना ससारियो को मिलने दुर्लभ हैं।

☐ जिसके हृदय मे काम का वेग उदय हुआ है वह मनुष्य समस्त गुणो से पतित हो जाता है। उसमें न विद्वत्ता रह जाती है और न मनुष्यता रहती है, न वह अपने विमल कुल का स्मरण करता है और न उसकी वाणी में सत्य रहता है।

☐ उसी समय तक अनेक प्रकार के मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र सहायता करते हैं, जब तक प्राणी का पुण्य प्रबल है। जिस प्रकार गाड़ी के चक्रों की कील निकल जाने पर गाडी नही चल सकती, और गिर पड़ती है, उसी प्रकार पुण्य का समय निकल जाने पर प्राणी की गति पंगु (लंगड़ी) हो जाती है। उसके सभी उपाय, सभी साधन उस समय व्यर्थ हो जाते हैं।

☐ मूर्ख लोग पत्थर मे से तेल निकालना चाहते हैं, मृगमरीचिका मे से जल लेना चाहते हैं, रेत की ढेरी में मेरु की कल्पना करते हैं, मोक्ष सुख और इन्द्रिय-सुखो को एक समान समझते हैं, कृत्रिम सुख मे वास्तविक सुख की भावना करते हैं। किन्तु क्या किसी ग़लत स्थान मे किसी वस्तु की भावना करने से वह वहाँ प्राप्त हो सकती है?

☐ जो मनुष्य जन्म लेकर बाल सफेद होने तक अपने जीवन मे ससार की विषय-वासना का अनुभव करते हुए भी भगवान् के चरणकमलरूपी धन को अपने हृदय मे सुरक्षित रखता है और मरण पर्यन्त उसे निकलने नही देता, वही मनुष्य इस ससार में धन्य है।

☐ संसार मे यौवन, धन-सम्पत्ति, प्रभुत्व और अविवेक इनमे से प्रत्येक बात मनुष्य को अंधा बना देती है। फिर यदि ये चारों एक स्थान पर मिल जाये अर्थात् किसी एक ही व्यक्ति को ये चारों प्राप्त हो जाएँ तो फिर उसके बिगाड़ का कहना ही क्या है!

☐ पति के अनुकूल यदि स्त्री हो तो धर्म, अर्थ, काम से तीन पुरुषार्थ मोक्ष के साधन बन जाते हैं। यदि पति-पत्नी में विसंगति (असमानता) होती है तो दोनों लोक बिगड जाते हैं।

☐ श्रेष्ठ दयामय धर्म ही सम्पूर्ण प्राणियों के लिए शरणभूत (रक्षक) है, अन्य कोई नही। दयामय धर्म ही जिनेन्द्र देव ने समस्त प्राणियों के लिए सुख का कारण बतलाया है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई धर्म ऐसा नहीं है। ऐसा विश्वास करके जिसने उस धर्म को ग्रहण किया है, वही बुद्धिमान है।

☐ सद्धर्म ग्रहण करने मे कुल और जाति का कोई बन्धन नही है। सदाचार वृत्ति से जो चलता है, उसकी दुनिया में ख्याति होती है किन्तु केवल उत्तम कुल मे जन्म लेने मात्र से कोई पूज्य नही होता।

☐ परम्परा से चले आ रहे कुल-धर्म को कोई नही देखता। ब्राह्मण आदि जाति उच्च है, अमुक जाति नीच है, लोग ऐसा मानते हैं, किन्तु इस तरह मोक्ष की परिपाटी नही बन सकती। क्योंकि ब्राह्मण होने पर भी बहुत से लोगो में नीच और पाप की वृत्ति देखी जाती है, कहीं-कहीं नीच कुल के व्यक्ति भी अपने उच्च आचार-विचार के कारण जगन्मान्य बन जाते हैं। भीलों मे भी कोई-कोई सदाचारी मिलते हैं। सद्धर्म की दृष्टि से सभी तपोधन नहीं हो सकते। बहुत-से साधु का वेष धारण करके तपस्वी और आचारवान् नहीं होते। साधु-साधु मे भी अन्तर है। इसी तरह गृहस्थो मे भी अन्तर है। महातपस्वी और कुतपस्वियों मे अन्तर है। दोनो समान नहीं हैं। सद्गृहस्थ की अपेक्षा कुलिंगी साधु गये-बीते हैं। जैन गृहस्थ की क्रिया मोक्ष का कारण होती है, जबकि कुलिंगी की क्रिया संसार-वृद्धि का कारण है।

☐ छली-कपटी लोग शुद्ध सोने मे अपने लाभ के लिए चादी-तांबा-पीतल को मिलाकर उसे असली सोने के नाम पर बेचते हैं, इसी प्रकार दुष्ट लोग धर्म मे अधर्म मिलाकर उसे धर्म के नाम पर चलाते हैं और पाप मार्ग की प्रवृत्ति कराते हैं।

☐ आजकल राष्ट्र में मिलावट-विरोधी अभियान चलाये जा रहे हैं। संभव है, इससे वस्तुएँ शुद्ध मिलने लगें। किन्तु शुद्ध धर्म में जो अधर्म मिलकर धर्म के नाम पर चल रहे हैं, यदि इनके विशुद्धीकरण का ही अभियान चलाया जाय तो यह असंभव नहीं कि विश्व-मानस की रुचि अधर्म को अधर्म और शुद्ध धर्म को ही धर्म न मानने लगे। ऐसे अभियान की आज बहुत आवश्यकता है। जिन व्यक्तियों ने भी धर्म में मिलावट की है, उन्होंने भले ही अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति कर ली हो, किन्तु संसार का उन्होंने कोई उपकार नहीं किया, बल्कि अधर्म फैलाकर उन्होंने संसार के करोड़ो व्यक्तियों को सन्मार्ग से भ्रष्ट करने का अपराध किया है। उनका यह अपराध सारी मानवता के प्रति है।

☐ यंत्र-तंत्र-मंत्र से यदि आपत्तियों का निवारण हो जाता तो रामचन्द्र, पाण्डव राजपाट छोड़कर जंगल में क्यों घूमते ? उनकी पत्नी का अपमान क्यों होता ? यंत्र-मंत्र-तंत्र आदि विद्याओं ने इनको क्यों नहीं बचाया ? इनको इतना कष्ट क्यों उठाना पड़ा ? क्या वे लोग नहीं जानते थे कि यंत्र-मंत्र-तंत्र आपत्तियां का नाश कर सकते हैं। वस्तुतः अशुभ कर्म का उदय होने पर आपत्तियों का आना अनिवार्य है। पुण्य के उदय होने पर ही मंत्र-वैद्य आदि सहायक हो सकते हैं। जीव कितना ही प्रयत्न करे किन्तु पूर्वजन्म के पुण्य के बिना वह सफल नहीं होता।

☐ चम्पा-चमेली के फूलो को पानी में डालने से पानी सुगंधित होता है और नीम के फूलों को पानी में डालने से पानी कड़वा होता है। इसी तरह मनुष्य जाति में भी गुण-स्वभाव की भिन्नता होने पर उनके परिणामों के फल भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

☐ बिना परीक्षा किये दीक्षा देने वाला तथा बिना इच्छा के बलात् दीक्षा देने वाला गुरु अयोग्य है क्योंकि यदि वह पीछे शिथिलाचारी हो जाय अथवा अपने गुरु के प्रतिकूल हो जाय तो ऐसे गुरु और शिष्य दोनों संसार में परिभ्रमण करते हैं।

☐ दीक्षा लेने के बाद अपने कुल की महिमा, जाति, ऐश्वर्य, गाँव, वैभव, अपनी स्त्री की महिमा का स्मरण करने वाला, तथा उसकी प्रशंसा करने वाला मुनि नहीं है, दुर्जन है।

☐ जितने जिनालय हैं, दिव्य तपोधन है, श्रावक हैं, उन सबको समान भाव से देखने वाला ही श्रेष्ठ मुनि है। अपने मन में राग-द्वेष उत्पन्न न हो, ऐसी तपस्या करने वाला ही तपस्वी कहलाता है। मन में राग-द्वेष रखकर तपस्या करने वाला मुनि कषाय दग्ध होता है। उसके लिए कषाय ही तप है। जिन्होंने सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर दिया, यदि उसके कषाय-परिग्रह हैं तो निर्ग्रन्थ नहीं है, वह सग्रन्थ है। यदि सग्रन्थ होते हुए भी कषाय-परिग्रह नहीं है तो वह उपचार से निर्ग्रन्थ कहलाता है।

☐ जैनधर्म सम्पूर्ण जीवों का हित करने वाला है, पाप को हटाने वाला है, संसाररूपी बड़वानल को शान्त करने वाला है, सुव्रत का भण्डार है, सम्पूर्ण गुणों से परिपूर्ण है। यह जैनधर्म ही उत्तम कुल, उत्तम जाति, उत्तम माता-पिता, बहन-भाई, मित्र, स्त्री, पुत्र आदि अनेक प्रकार की सम्पत्ति तथा इन्द्रियजन्य सुख को देने में जैसा समर्थ है, वैसा अन्य कोई धर्म समर्थ नहीं है। यह सम्पूर्ण प्राणियों को सुख-शान्ति के लिए जननी के समान है। बिना परमागम के जाने धर्म का ज्ञान नहीं होता। जैनधर्म का मर्म समझ में आ जाता है, तब अक्षय सुख प्राप्त करने की सामग्री प्राप्त हो जाती है और मोक्ष-सुख का साधन मिल जाता है। इसलिए आगम का मनन करना चाहिए; धर्म-अधर्म का ज्ञान करना चाहिए और परमागम का अभ्यास करना चाहिए।

☐ मुर्गी को कितना ही अच्छा भोजन दिया जाय किन्तु वह कूड़े-कचरे को ही कुरेद कर खाती है। इसी प्रकार धूर्त कितने ही माया वेश धारण कर लें, उन्हें कितना भारी भी सम्मान क्यों न प्राप्त हो जाये किन्तु वे अपनी आदत नहीं छोड़ते।

☐ प्रारम्भ में प्रथमानुयोग को श्रद्धानपूर्वक न पढ़कर और उसका मनन न करके जो द्रव्यानुयोग के पठन की इच्छा करते हैं और उसका मनन करके उसके फल की इच्छा करते हैं वे आम का पौधा लगाकर उसमें पानी न देकर फल की इच्छा करते हैं। मूर्ख लोग तीनों अनुयोगों का क्रमिक अध्ययन न करके केवल द्रव्यानुयोग को पढ़कर मोक्ष की इच्छा करते हैं। ऐसे मूर्ख हाथ के बिना भी सोने का कंकण पहनना चाहते है।

☐ जिन्हें सुख की इच्छा हो, उनको जिनेन्द्र भगवान् का अर्चन-पूजन और स्मरण दिन-रात करना चाहिए। जो जिनेन्द्र देव की सद्भावपूर्वक पूजा करता है, वह देवेन्द्र पद का सुख, विद्याधरों का राज-सुख एवं चक्रवर्ती का साम्राज्य प्राप्त करता है। किन्तु जो दूसरों की सम्पत्ति को देखकर ईर्ष्या करता है, उसे कभी सुख नहीं मिल सकता।

☐ धर्म का मार्ग समझे बिना पाप-मार्ग का अवलम्बन करके इहलोक और परलोक के सुख की इच्छा करने वाले मूर्ख हैं। जैसे कोई ज्वार बोकर धान की इच्छा करता हो या नीम बोकर आम की इच्छा करता हो, अथवा भैंस के बजाय भैंसे से दूध की इच्छा करे, उसी प्रकार सधर्म को छोड़कर पाप कर्म करके सुख चाहने वाला निर्बुद्धि है।

☐ श्रावक धर्म कीर्ति-लक्ष्मी के कुच युगल के समान है, वाणी रूपी लक्ष्मी को सुन्दरता प्रदान करता है और जयलक्ष्मी को सुन्दर वस्त्र प्रदान करने वाला है। इस श्रावक धर्म का आचरण करने वाले दान, पूजा, शील, उपवास आदि में किसी प्रकार की मलिनता नही आने देते। श्रावक धर्म सुव्रतो की वृद्धि कर दृढ़ आचरण द्वारा संसार-सागर से पार होने के लिए जहाज के समान है। वह दुश्चंकितरूपी चोर को आने का अवकाश नहीं देता, दुराचार रूपी तरंगों से बचाकर, रागरूपी मगरों से रक्षा करता हुआ, संशयरूपी मच्छों को हटा कर धर्मरूपी जहाज को बचाने की चेष्टा करता है। जैसे घी को तपाती हुई स्त्री अपने उपयोग को इधर-उधर नहीं जाने देती, उसी प्रकार वह ध्यान द्वारा अपने उपयोग को इधर-उधर न जाने देकर कर्मों के नाश का प्रयत्न करता है। श्रावक को जिनागम का अभ्यास करते हुए अपने चरित्र मे दृढ़ रहकर सदा कर्म के क्षय का उपाय करना चाहिए।

☐ सर्प को तथा गाय को एक ही कुएं का पानी पिलाने पर सर्प के शरीर मे जाकर वह जल विष बन जाता है और गाय के शरीर में जाकर वह दूध बन जाता है। पात्र और अपात्र भी इसी प्रकार हैं। अतः पात्र-अपात्र का विचार करके दान देना चाहिए।

☐ अज्ञानी जगत् निर्ग्रन्थ स्वरूप को देखकर मन में उसका तिरस्कार करता है, किन्तु संसार में निर्ग्रन्थ स्वरूप ही सर्व-सम्मत श्रेष्ठ है। जिनेन्द्रदेव का स्वरूप निग्रन्थ है। यदि संसार की वस्तुओ को देखा जाय तो वे सभी निर्ग्रन्थ (अन्य पदार्थ के संसर्ग से रहित) हैं। निर्ग्रन्थ भाव के बिना कोई तपस्या नही हो सकती। निर्ग्रन्थ तपस्या ही इच्छित फल को देने वाली है।

☐ पृथ्वी तथा जन्म लेने वाला बालक, सूर्य, गाय, समुदाय, आकाश, हाथी, समुद्र, घोड़े, अग्नि, वृक्ष, पर्वत आदि लोक मे जितने भी पदार्थ हैं, ये सभी निर्ग्रन्थ जिनेन्द्र की मुद्रांकित (नग्न) हैं, दूसरा कोई लांछन (चिह्न) उन पर नहीं है। सम्पूर्ण जगत् में भगवान् का निर्ग्रन्थ लांछन (नग्नता का चिह्न) ही पाया जाता है। जगत् मे नग्नत्व पूज्य है, आवरण पूज्य नही है। सूर्य का बिम्ब सदा नग्न रहता है, किसी से ढँका हुआ नही रहता। छोटे बालक नग्न रहते हैं। सन्तान-उत्पादन तथा सन्तान का जन्म नग्न ही होता है। मरण भी नग्न दशा में ही होता है। इस तरह नग्नत्व के बिना ससार मे कोई वस्तु नही है।

☐ आकाश मे बादलों के पटल छाये होने के कारण चन्द्रमा का प्रकाश नही दीखता, प्रकाश दबा रहता है, इसी प्रकार अनादिकाल से कर्मावस्था से आच्छादित होने के कारण जीव का स्वरूप प्रकट नहीं होता।

☐ समुद्र के किनारे खड़े हुए घुने हुए पेड़ को जिस प्रकार समुद्र की तरंगें उखाड़ कर ले जाती हैं, इन्द्रधनुष का रंग जैसे शाश्वत नही रहता, अनेक रंगों में बदल जाता है, उसी प्रकार पंचेन्द्रिय सुख भी शाश्वत नही है। ऐसा समझकर भी सद्धर्म को छोड़ने वाले जीव मूर्ख नहीं तो क्या हैं?

☐ पागल की सन्तान, बादल की छाया, दोपहर के सूर्य की गर्मी, लोभी का धन, जैसे क्षणिक हैं, उसी प्रकार क्षणिक सम्पत्ति को जगत् मे रहने वाले मनुष्य सचमुच मे शाश्वत मानकर ग्रहण करते हैं और उसके निमित्त सद्धर्म को नष्ट कर डालते हैं। उन सब को मूर्ख अज्ञानी ही समझना चाहिये।

☐ जैनधर्म प्राणीमात्र का हितकारी है तथा तीन लोक में तिलक के समान है। संसार समुद्र से पार कराने वाला है। तीन लोक में पूजनीय है। देव और चक्रवर्ती के सुख को प्राप्त कराने वाला है। विद्याधरों के सुख को देने वाला है। उत्तम कुल का सुख देने वाला है। शील, संतोष और सयम को प्राप्त कराने वाला है। संसार-समुद्र से इस जीव को उठा कर अचल सिद्धों के सुखों मे लाकर रखने वाला है। मोक्ष-लक्ष्मी को देने वाला है। अनेक प्रकार के सौभाग्य को प्राप्त कराने वाला है। चिन्तित वस्तु को देने वाला है। ऐसे धर्म को कभी नहीं छोड़ना चाहिए।

☐ सदा घर को स्वच्छ-शान्त रखने वाली, सद्‌विचार से काम करने वाली सती स्त्री को घर से निकाल कर घर को गन्दा रखने वाली, दुष्टविचार वाली स्त्री को लाकर घर मे रखने वाले मूर्ख के समान सुख-शान्ति देने वाले सद्धर्म को ठुकराकर दुर्गति में ले जाने वाले पापयुक्त कुधर्म का सेवन करने वाला मनुष्य कभी दुखदायी संसार से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

☐ परस्त्री मे आसक्त पुरुष को कहीं गति नहीं, उसे दया नही, बुद्धि नही, सुगति नही, मति नहीं, धृति नहीं। ऐसे मनुष्यों को जगत् में सज्जन पुरुषो का आश्रय नही मिलता, न उनका मान होता है।

राष्ट्र को सम्बोधन

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

[जैन धर्म में एक समर्थ आचार्य को चतुर्विध संघ का सम्यक् मार्ग-दर्शन करना होता है। चतुर्विध संघ से अभिप्राय मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका का है। आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज ने अपनी ५१ वर्षीय दिगम्बरी साधना में लगभग सम्पूर्ण राष्ट्र का भ्रमण किया है और अपनी प्रेरक वाणी से राष्ट्र को सम्बोधित किया है। आचार्य श्री का लक्ष्य एक आदर्श एवं धर्मप्राण समाज की रचना का रहा है। समाज की हर कमजोरी को उन्होंने इंगित किया है और मानव-कल्याण के लिए दिशा-निर्देश दिया है।

असंख्य जन-सभाओं मे समय-समय पर दिये गए महाराज श्री के चिन्तनकण विभिन्न 'उपदेश-सार-संग्रह' ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध हैं। प्रस्तुत लेख मे आचार्य श्री द्वारा जयपुर, दिल्ली, कलकत्ता एवं कर्नाटक की जनसभाओं मे दिये गये भाषणों के प्रेरक अंश डॉ० वीणा गुप्ता द्वारा समाकलित किए गए हैं।—सम्पादक]

☐ मनुष्य भव की सफलता तो उस धर्म आराधन से है जो देवपर्याय मे भी नही मिलता और जिससे आत्मा का उत्थान होता है। आत्मध्यान द्वारा अनादि परम्परा से चली आई कर्म बेडी को तोडकर मनुष्य सदा के लिए पूर्ण स्वतन्त्र, पूर्णमुक्त हो जाता है।

☐ समय की गति अबाध है। पर्वत से गिरने वाली नदी का प्रवाह जिस तरह फिर लौटकर पर्वत पर नहीं जाता, इसी तरह आयु का बीता हुआ क्षण भी फिर वापिस नही आता, वह तो अपनी आयु में से कम हो जाता है। दुर्लभ नर-जन्म पाकर मनुष्य जीवन के अमूल्य क्षणों में से एक भी क्षण व्यर्थ नही खोना चाहिये। आत्म-कल्याण के कार्यों को करते चले जाना चाहिये। जो आज का समय है वह फिर कभी नही आयेगा।

☐ जैसे यात्रा करते हुए यात्री को किसी धर्मशाला मे विविध देशो से आये हुए यात्री कुछ समय के लिए मिल जाते हैं; उसी तरह इस देह-रूपी धर्मशाला के कारण कुछ यात्री इस जीव को कुछ समय के लिए मिल जाते हैं, जिनमे से यह जीव अज्ञानवश विभिन्न व्यक्तियों को अपने शत्रु, मित्र, पुत्र, भार्या, बहिन आदि मानकर उनसे तरह-तरह की चेष्टाये करता है।

☐ हमारा प्रत्येक पग श्मशान भूमि की ओर ले जा रहा है, प्रत्येक श्वास मे आयु कम हो रही है, मृत्यु निकट आ रही है और प्रतिक्षण शक्ति क्षीण होती जा रही है, फिर भी हम समझते हैं कि हम बढ रहे हैं।

☐ आधुनिक जैन जातियां भी प्राय: क्षत्रिय ही हैं किन्तु व्यापार करते रहने से जैन लोग वैश्य बनिये कहलाने लगे हैं; बनिये कहलाते-कहलाते सचमुच उनमे से वीरतापूर्ण क्षात्र तेज लुप्त हो गया है। वे डरपोक बन गये हैं। जब उन पर तथा उनके धर्मायतनों (मंदिरों) पर या उनके परिवार पर आक्रमण होता है तो वे शूरवीरता से उसका उत्तर नही देते, प्राणों के मोह मे आक्रमणकारी का सामना करने मे कतरा जाते हैं। इसके सिवाय जैन धर्मानुयायियो की प्रवृत्ति धन-संचय की ओर इतनी अधिक हो गई है कि वे आत्मा की सम्पत्ति को भूल कर भौतिक सम्पत्ति के मोह मे फँस गये है। धर्मसाधना उनमें नाममात्र को देखा-देखी या कुलाचार के रूप में रह गई है। जिस धर्म आराधना के कारण जैन जनता ने अपना उत्थान किया, यश, धन, परिवार आदि से उनकी समृद्धि हुई, उसी धर्म-साधना को जैन समाज ने गौण कर दिया और धन की आराधना मे अपना मन, वचन, शरीर लगा दिया। यह बहुत बडी भूल है। मूल (जड़) को सींचने से ही फल मिलता है। मूल को सुखाकर फल को सींचने से फल नही मिला करते। अत: लक्ष्मी, परिवार, यश, आदि की उन्नति के मूल कारण धर्मसेवन मे ढिलाई नही करनी चाहिए।

☐ कुछ धार्मिक लोगों ने रात के समय रोटी खाना प्रारम्भ कर दिया है। उनकी देखा-देखी उनके बाल-बच्चे तथा अन्य साधारण व्यक्ति भी अपनी कुल-मर्यादा को तोड़ कर रात्रि-भोजन करने लगे हैं। देहली में आकर मालूम हुआ है कि वहां पर विवाह के समय बारात चढ़ने के बाद रात्रि के समय कन्या पक्ष वर पक्ष को जीमनवार कराता है। यह कितने धार्मिक पतन और दुःख की वार्ता है। दिल्ली के प्रमुख पुरुष अच्छे धार्मिक हैं। यदि वे इस आरम्भ होने वाली कुप्रथा के विरुद्ध आवाज उठावें और थोड़ी-सी भी प्रेरणा करें तथा स्वयं ऐसी रात्रि की जीमनवार न करावें, न ऐसे कार्य में सहयोग दें तो धर्मघातक यह प्रथा शीघ्र ही बन्द हो सकती है।

☐ जनता में जैन साहित्य का इतना प्रसार करना चाहिये कि प्रत्येक विद्वान् तथा धर्मजिज्ञासु के हाथ में जैनधर्म के उपयोगी ग्रन्थ पहुंचें। अन्य लोग अपने पीतल को मुलम्मा करके जनता को अपने धर्म की ओर आकर्षित कर रहे हैं, इधर जैन समाज अपनी सुवर्णप्रभा को भी जनता के सामने रखने में प्रमाद करता है।

☐ भगवान् महावीर ने जहां आत्मकल्याणकारी उपदेश दिया, मुक्तिपथ का प्रदर्शन किया, अज्ञान, अन्ध श्रद्धा को मिटाया, ज्ञान प्रकाश किया, वहीं सामाजिक व्यवस्था की भी सुन्दर प्रणाली बतलाई। अपने भक्तों को चार संघों मे संगठित रहने की विधि का निर्देश किया। मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका के उचित आचार का उपदेश भगवान् महावीर ने अच्छे ढंग से वर्णित किया। उस चतुर्विध संघ की संगठित प्रणाली भगवान् महावीर के पीछे भी चलती रही जिससे जैनधर्म की परम्परा अनेक विघ्न-बाधाओं के आते रहने पर भी बनी रही।

☐ आज चतुर्विध संघ का संगठन शिथिल दिखाई पड़ रहा है, इसी से जैन समाज में निर्बलता प्रवेश करती जा रही है। अतः जैन धर्म को प्रभावशाली बनाने के लिए हमे अपने संघों को मजबूत करना चाहिये। 'संघे शक्तिः कलौ युगे'—इस कलियुग में संगठन द्वारा ही शक्ति पैदा की जा सकती है। इस कारण वीर शासन को व्यापक बनाने के लिए हमारा प्रथम कर्तव्य अपने सामाजिक संगठन को बहुत दृढ़ बनाना है।

☐ गत ८०० वर्ष की परतन्त्रता ने भारतीय विद्वानो के मस्तिष्क को भी परतन्त्र बना दिया है। अतः वे भी विदेशी ईर्ष्यालु इतिहासकारों की कल्पित कल्पना की प्रचण्ड धारा मे बह कर भारत के प्राचीन गौरव से अनभिज्ञ बन गये हैं। भारत अब स्वतन्त्र है। अब भारतीय विद्वानों को स्वतन्त्र स्वच्छ मस्तिष्क से भारत के प्राचीन गौरव की खोज भारत के प्राचीन इतिहास ग्रन्थों के आधार से करनी चाहिये।

☐ जो व्यक्ति अच्छे अवसर से लाभ नहीं उठाता वह सचमुच में अभागा होता है। अतः हमको अपने प्रत्येक क्षण की कदर करनी चाहिये। अशुभ कार्य जितनी देर से किया जाए उतना अच्छा है और शुभ कार्य जितनी जल्दी किया जाए उतना अच्छा है।

☐ संसार का प्रत्येक जीव सुख और शान्ति चाहता है। दुःख और अशान्ति कोई भी जन्तु अपने लिये नहीं चाहता। परन्तु संसार में सुख-शान्ति है कहां? प्रत्येक जीव में किसी न किसी तरह का दुःख पाया जाता है। जन्म, मरण, भूख, प्यास, रोग, अपमान, पीड़ा, भय, चिन्ता, द्वेष, घृणा, प्रिय-वियोग, अनिष्ट-सयोग आदि दुःख के कारणों में से अनेक कारण जीव को लगे हुए हैं। इसी कारण प्रत्येक जीव किसी न किसी तरह व्याकुल है और व्याकुलता ही दुःख का मूल है। निराकुलता ही परमसुख है। अनन्त निराकुलता कर्मों के क्षय हो जाने पर प्राप्त होती है। इस मुक्ति के साधन तप, त्याग, सयम, सुख-शान्ति के साधन हैं और क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व-राग, द्वेष, काम, क्षोभ आदि विकृतभाव कर्मबन्ध के कारण हैं, अतः ये ही विकृत भाव दुःख और अशान्ति के साधन हैं।

☐ अपनी मातृभाषा सीखने के साथ द्वितीय भाषा के रूप में भारत की प्राचीन भाषा संस्कृत का अध्ययन करना भी आवश्यक है। संस्कृत भाषा में साहित्य, न्याय, ज्योतिष, वैद्यक, नीतिसिद्धान्त, आचार आदि अनेक विषयों के अच्छे-अच्छे सुन्दर ग्रन्थ विद्यमान हैं जिनको पढ़ने के लिए संस्कृत भाषा का ज्ञान होना अति आवश्यक है। जर्मनी, रूस, जापान आदि विदेशों के विश्वविद्यालयों में संस्कृत भाषा पढ़ाई जाती है, तब हमारे विद्यार्थी संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ रहें, ये बड़ी कमी और लज्जा की बात है।

☐ घर की व्यवस्था पुरुष से नहीं हो सकती, बच्चों का पालन-पोषण पति नहीं कर पाता। भोजन बनाकर परिवार को पहले खिलाना, पीछे बचा-खुचा आप खाना, घर आये हुए अतिथि का सत्कार करना, मुनि-ऐलक आदि व्रती त्यागियों के आहार-दान की व्यवस्था करना, घर स्वच्छ रखना, परिवार के प्रत्येक व्यक्ति के वस्त्रों की स्वच्छता का ध्यान रखना, घर में अशुद्ध खान-पान

का ढंग देना, शुद्ध आहार—सदाचार को सुरक्षित रखना—ये सभी अमूल्य कार्य स्त्रियों के हैं। स्त्री चाहे तो घर को स्वर्ग बना दे और यदि वह चाहे तो उसे नरक बना दे। इस प्रकार स्त्री अपने पति की बहुत बड़ी सहायिका शक्ति है। स्त्री के बिना गृहस्थ मनुष्य न धर्म कार्य शान्ति से कर पाता है और न उसके व्यावहारिक कार्य सम्पन्न हो पाते हैं। इस प्रकार पतिव्रता स्त्री घर की साक्षात् लक्ष्मी है।

☐ आज जो ईसाई जाति संख्या मे सबसे अधिक दिखाई दे रही है, ईसा का नाम, धाम, काम न जानने वाले लाखों भारत-वासी भी ईसाई बने हुए नजर आ रहे हैं उसका कारण ईसाई समाज का साधर्मी वात्सल्यभाव ही है। वे करोड़ो रुपया खर्च करके अपने सभ्य, कर्मपटु पादरियों द्वारा दीन-हीन जनता की सहायता करके उनको ईसाई मत मे दीक्षित करते हैं, फिर उनको शिक्षित बनाते हैं, उनके विवाह करा देते हैं।

☐ हजारों जैन परिवार इस महँगाई के युग मे अपनी दरिद्रता के कारण अपना निर्वाह बड़ी कठिनाई से कर रहे हैं। बहुत-सी अनाथिन स्त्रियों की जीवन-समस्या विकट बन गई है। हजारो गरीब बच्चे दरिद्रता के कारण पढ़ नही पाते। किन्तु हमारे धनी वर्ग में सहायता करने का भाव उत्पन्न ही नही होता। उन्होंने यही समझा हुआ है कि यह धन हमारे ही पास रहेगा और हम ही इसका उपभोग करेंगे। परन्तु आज की राजनीति समाजवाद (सोशलिज्म) या साम्यवाद (कम्युनिज्म) की ओर बढ़ रही है। इसके कारण अब धन कुछ थोड़े-से धनी लोगों के पास न रहेगा।

☐ धन-सम्पत्ति की ऐसी अस्थिर दशा मे बुद्धिमान पुरुष वही कहलाएगा जो स्वय अपने हाथो से धन धर्म-कार्यों में, समाज-सेवा में तथा लोककल्याण में खर्च कर जाएगा। आज किसी धनी रईस की सन्तान निकम्मी व निष्क्रिय रहकर ऐशो आराम नहीं कर सकती। आज उन पुराने रईसों, राजाओ, जागीरदारों को भी अपने निर्वाह के लिए परिश्रम करना आवश्यक हो गया है। इसलिए धन-संग्रह अब उतना लाभदायक नही रहा जितना कि पहले कभी था। ऐसी दशा मे धनिक जैन भाइयो को अपनी सम्पत्ति साधर्मी भाई-बहनों के उद्धार में व्यय करके यश और पुण्य कर्म-संचय तथा समाजसेवा का श्रेय प्राप्त करना चाहिये।

☐ कोई भी मनुष्य समाज से सर्वथा पृथक् रहकर अपना अस्तित्व कायम नही रख सकता। समाज में घुल-मिलकर ही वह अपने जीवन का आनन्द उठा सकता है और दूसरे आस-पास के साथियों को भी उठाने दे सकता है। जब यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता, तब यह भी आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार बनाए, विशाल बनाए, और जिन लोगों से खुद को काम लेना है, उनके हृदय मे अपनी ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करे। जब तक मनुष्य अपने पार्श्ववर्ती समाज मे अपनेपन का भाव पैदा न करेगा अर्थात् जब तक दूसरे लोग उसको अपना आदमी न समझेंगे और वह भी दूसरों को अपना आदमी न समझेगा, तब तक समाज का कल्याण नही हो सकता।

☐ जैन संस्कृति के महान् सस्कारक अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने तो राष्ट्रों में परस्पर होने वाले युद्धों का हल भी अहिंसा के द्वारा ही बतलाया है। उनका आदर्श है कि धर्मप्रचार के द्वारा ही विश्व भर के प्रत्येक मनुष्य के हृदय में जँचा दो कि वह 'स्व' में ही सन्तुष्ट रहे, 'पर' की ओर आकृष्ट होने का कभी भी प्रयत्न न करे। 'पर' की ओर आकृष्ट होने का अर्थ है दूसरों के सुख-साधनों को देखकर लालायित हो जाना और उन्हे छीनने का दुस्साहस करना।

☐ प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही उचित साधनो का सहारा लेकर उचित प्रयत्न करे। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख-सामग्री का सग्रह कर रखना जैन सस्कृति में चोरी है। व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र क्यों लड़ते हैं? इसी अनुचित संग्रह-वृत्ति के कारण। दूसरों के जीवन के सुख-साधनो की उपेक्षा कर मनुष्य कभी भी सुख-शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। अहिंसा के बीज अपरिग्रहवृत्ति मे ही ढूँढे जा सकते हैं। एक अपेक्षा से कहे तो अहिंसा और अपरिग्रह दोनो पर्यायवाची शब्द हैं।

☐ आवश्यकता से अधिक संगृहीत एवं सगठित शक्ति अवश्य ही सहार-लीला का अभिनय करेगी, अहिंसा को मरणोन्मुखी बनाएगी। अतएव आप आश्चर्य न करें कि पिछले कुछ वर्षों मे जो शस्त्रसन्यास का आन्दोलन चल रहा था, प्रत्येक राष्ट्र को सीमित सामग्री रखने को कहा जा रहा था, वह जैन तीर्थंकरों ने हजारो वर्ष पहले बतलाया था। आज जो काम कानून द्वारा, पारस्परिक विधान के द्वारा लिया जाता है, उन दिनों वह उपदेशों द्वारा लिया जाता था। भगवान् महावीर ने बड़े-बड़े राजाओं को जैन-धर्म में दीक्षित किया था और उन्हें नियम दिया था कि वे राष्ट्र-रक्षा के काम में आने वाले शस्त्रों से अधिक संग्रह न करें। साधनों का आधिक्य मनुष्य को उद्दण्ड बना देता है। प्रभुता की लालसा में आकर कहीं न कहीं किसी पर चढ़ दौड़ेगा और मानव-संहार में युद्ध की आग भड़का देगा।

☐ परमाणु बम के आविष्कार की सब देशों में होड़ लग रही है। सब ओर अविश्वास और दुर्भाग्य चक्कर काट रहे हैं। अस्तु, आवश्यकता है आज फिर जैन-संस्कृति के, जैन तीर्थंकरों के, भगवान् महावीर के, जैनाचार्यों के 'अहिंसा परमोधर्मः' की। मानव जाति के स्थायी सुखों के स्वप्नों को एक साथ अहिंसा ही पूर्ण कर सकती है।

☐ इस संसार-रूपी गहरे गर्त से निकाल कर परमोन्नत सुख-शान्ति के शिखर पर पहुंचाने वाली मशीनरी के समान कार्य करने वाला सच्चा साधन-रूप सिद्ध परमात्मा ही हम सभी मानवों के लिए आदर्श है। यह सिद्ध पद शुद्धात्मा का पद है जहां आत्मा अपने ही निज स्वभाव में सदा मग्न रहती है। आत्मा प्रकाश के समान परम निर्मल है और आत्म-द्रव्य गुणों का अभेद समूह है। वहां पर सर्वगुण पूर्ण रूप से प्रकाशित होते रहते हैं। सिद्ध भगवान् पूर्ण ज्ञानी, परम वीतरागी, अतीन्द्रिय सुख के सागर, अनन्तशक्तिशाली अर्थात् अनन्त वीर्य के धारी हैं।

☐ प्रभु स्वयं अनन्त सुख के धारक हैं। जो उनको ध्येय मानकर उनकी उपासना करते, उनका ध्यान व स्मरण करते हैं, उनको कोई पाप छू नहीं पाता। उनके सब पातक दूर भाग जाते हैं।

☐ ससारी मानव की आत्मा इन्द्रिय के भोगो मे फंसकर अनेक भांति के दुःख उठा रही है। इसकी दशा चूहे के समान हो रही है जो निरन्तर प्रातः से सायं तक लगातार अन्न के दानों के संग्रह में ही लगा रहता है। उसे तो रुपया-पैसा कमाने की धुन सवार रहती है। न्याय, अन्याय, कर्तव्य, अकर्तव्य, भक्ष्य, अभक्ष्य, हित, अहित, भलाई, बुराई, नीच, ऊँच, व्यवहार आदि का कोई विचार नही रहता। ऐसी स्थिति मे आत्मस्वरूप के विचार के लिए तो उसे समय ही नहीं मिलता। तब बताइये आत्म-कल्याण हो तो कैसे हो? वह धन कमाने मे सारा जीवन लगा देते हैं और मरते समय जो कुछ कमा कर छोड़ जाते हैं वह उनके साथ नही जाता। अतः जो मानव सुखी होना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अपने इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को धर्म कार्यों में लगाकर सफल करे। धर्म ही आत्मा का रक्षक है, अन्य कोई नहीं।

☐ यह शरीर समय-समय पर निर्बल और सबल, निरोग और सरोग, सुरूप और कुरूप होता रहता है। साथ ही साथ किसी रोगादिक की अधिकता होने पर इसका असमय में वियोग भी हो जाता है, जो यथासमय देखने मे आता रहता है। अतः ऐसे नश्वर शरीर को यदि मनुष्य किसी भी प्राणी की रक्षा में, उसकी भलाई में अथवा व्रती पुरुषों की वैय्यावृत्य मे, उनकी सेवा-टहल में लगा दे तो उसका शरीर पाना सफल होगा।

☐ मानव जीवन में सुख और दुःख गाड़ी के पहिये के समान सदा घूमते रहते हैं। कभी दुःख आ जाता है, तो कभी सुख भी आ जाता है। यही जीवन का माधुर्य है।

☐ आज एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को हड़पना चाहता है और चाहता है कि मैं ही सर्वराष्ट्रों का एकमात्र अधिपति बन कर रहू। इसके लिए वह न्याय का गला घोंटता है, नही करने योग्य कार्यों को भी किये बिना चैन नही लेता। आज जो शस्त्रास्त्रों का निर्माण हुआ है वह इतना भयंकर और प्रलयङ्कर है कि कदाचित् उसमें से किसी एक का भी प्रयोग हो जाय तो दुनिया का बहु भाग नष्ट हो जाय। ऐसे ही प्रलयंकारी शस्त्रास्त्रों के निर्माण में बड़े-बड़े राष्ट्रों की होड़ लग रही है, जो न तो स्वयं ही रहेंगे और न दूसरों को ही सुख-शान्ति से रहने देंगे।

☐ यह जीवात्मा तो उस शुक के समान है, जो पिंजड़े में पड़ी हुई नलिनी को पकड़कर नीचे की ओर लटक रहा है और समझता है कि—हाय! मुझे किसी नलिनी ने पकड़ रखा है। नलिनी जो जड़ है, अचेतन है, नासमझ है, वह तो किसी को पकड़ती-जकड़ती नहीं है। परन्तु यह अज्ञानी मूढ़ शुक ऐसा ही मान बैठा है, और दुःखी होता है। यदि वह चाहे तो अपनी नासमझी छोड़ कर बन्धन-मुक्त हो सकता है, और दुःख की सन्तति से पार पा सकता है।

☐ जैसे बिना सीढ़ियों की सहायता के किसी ऊँचे स्थ पर नहीं चढ़ा जा सकता, वैसे ही ध्यान-रूप रथ पर भी बिना व्रत, श्रुत और तपरूप सीढ़ियों की सहायता के नहीं चढा जा सकता।

☐ यह भारत आर्यभूमि है। मानव जन्म पाया है तो आर्यभावना रखें, आर्य क्रिया करें, आर्य विचारधारा का क्षेत्र यही है, अन्यत्र नहीं।

☐ तुम अपने सामने एक महान् लक्ष्य रखो। अब तक तुम्हारा लक्ष्य रहा है केवल तात्कालिक क्षणिक सुख। तुम अपना लक्ष्य बनाओ अविनाशी स्थायी सुख। इसके लिए तुम्हें अपनी मान्यतायें बदलनी होंगी, अब तक के संस्कार बदलने होंगे।

☐ जो इस आसक्ति और अहंकार को मन से निकाल देते हैं वे ही वास्तव मे बड़े हैं। कागज का मूल्य नही, किन्तु जब उस पर अंक की छाप और मोहर लग जाती है तो उस कागज के टुकड़े का भी मूल्य हो जाता है। इसी प्रकार इस शरीर का कोई मूल्य नहीं, किन्तु जब अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रह के भार को उतार कर मोहर लग जाती है तब यह शरीर भी पूज्य बन जाता है।

☐ मन को स्थिर करने के लिए स्वाध्याय अमोघ शक्ति है। स्वाध्याय ससार-सागर से पार करने को नौका के समान है, कषाय अटवी को दग्ध करने के लिए दावानल है, स्वानुभव-समुद्र की वृद्धि के लिए चन्द्रमा के समान है, भव्य कमल विकसित करने के लिए भानु है, और पाप रूपी उल्लू को छिपाने के लिए प्रचण्ड मार्तण्ड है।

☐ स्वाध्याय ही परम तप है, कषाय निग्रह का मूल कारण है, ध्यान का मुख्य अंग है, शुद्ध ध्यान का हेतु है, भेद ज्ञान के लिए रामबाण है, विषयो में अरुचि कराने के लिए ज्वर सदृश है, आत्मगुणों का संग्रह कराने के लिए राजा तुल्य है।

☐ सत्समागम से भी विशेष हितकर स्वाध्याय है। सत्समागम आस्रव का कारण है, जबकि स्वाध्याय स्वात्माभिमुख होने का प्रथम उपाय है। सत्समागम मे प्रकृतिविरुद्ध मनुष्य मिल जाते हैं, परन्तु स्वाध्याय मे इसकी भी सम्भावना नही। अत: स्वाध्याय की समानता रखने वाले अन्य कोई कार्य नही। अत: स्वाध्याय की अवहेलना करने से हम दैन्य वृत्ति के पात्र और तिरस्कार के भाजन हो जाते हैं। कल्याण मार्ग मे स्वाध्याय प्रधान सहकारी कारण है। स्वाध्याय से उत्कृष्ट कोई तप नही।

☐ स्वाध्याय आत्मशान्ति के लिए है, केवल ज्ञानार्जन के लिए नही। ज्ञानार्जन के लिए तो विद्याध्ययन है। स्वाध्याय तप है। इससे संवर और निर्जरा होती है। स्वाध्याय का फल निर्जरा है, क्योंकि यह अन्तरग तप है। जिनका उपयोग स्वाध्याय मे लगता है वे नियम से सम्यग्दृष्टि हैं।

☐ कामवासना को मजबूरी मे दबाया जाय। लोकलाज या भय के कारण दबाया जाय तो उससे मन मे उद्वेलना होती है। किन्तु यदि उसे विवेक और समझ के साथ दबाया जाय, स्वेच्छा से काम-विजय की जाय तो उससे मन मे बड़ा सन्तोष और तृप्ति रहती है। स्वेच्छा से काम का त्याग या विवेक से काम पर विजय यही आचार्यों का उपदेश है।

☐ मन मे वासना न जगे, वही पूर्ण ब्रह्मचर्य है। तन का विकार मन के विकार पर निर्भर करता है। मन मे शुद्धि हो तो तन निर्विकार रहेगा। जो लोकलाज या भय से शरीर को निर्विकार दिखाते हैं, किन्तु मन में जो विकार पालते-पोसते रहते हैं, वे मायाचार करते हैं। ब्रह्मचर्य लोक-प्रदर्शन की वस्तु नही है। उसे तुम अपने आत्मा का रूप मान कर पालो। मन मे विकार मत आने दो। विकार आयें तो वस्तुस्वरूप का विचार करके मन को निर्विकार बनाने का प्रयत्न करो।

☐ मन की गति दुनिया मे सबसे तेज है। शब्द की गति बहुत तेज मानी जाती है। शब्द की गति से भी तेज चलने वाले विमान भी अब बन गये हैं। किन्तु मन की गति को कोई विमान नहीं पा सकता। मन अभी यहा है, अगले क्षण मे हजारो मील दूर है। मन उड़ान भरकर कभी स्वर्ग मे पहुच जाता है और कभी दूसरी जगह। मन की इस उडान के कारण इस जीव की आशा-तृष्णा का कोई ओर-छोर नही है, कोई अन्त नही।

☐ कोई भी मनुष्य समाज से सर्वथा पृथक् रहकर अपना अस्तित्व क़ायम नही रख सकता। समाज मे घुल-मिल कर ही वह अपने जीवन का आनन्द उठा सकता है। जब यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता, तब यह आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार बनाए, विशाल बनाए और जिन लोगो से खुद को काम लेना है या जिनको देना है, उनके हृदय मे अपनी ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करे। जब तक मनुष्य समाज मे अपनेपन का भाव न पैदा करेगा अर्थात् दूसरे उसको अपना आदमी नहीं समझेंगे और वह भी दूसरो को अपना आदमी न समझेगा तब तक समाज का कल्याण नही हो सकता।

☐

जैन दर्शन मीमांसा

जैन दर्शन मीमांसा

सम्पादकीय

दर्शनशास्त्र का उद्देश्य निम्नलिखित तीन प्रश्नो का अन्वेषण करना है[1]—

१— मैं क्या जान सकता हूं ?

२ —मुझे क्या करना चाहिए ?

३—मैं किस भाग्य की आशा कर सकता हूं ?

पहले प्रश्न के साथ मिला हुआ यह प्रश्न भी है कि ज्ञान-प्राप्ति के साधन क्या हैं ? सत्य और असत्य मे भेद करने की कसौटी क्या है ? उपर्युक्त तीन प्रश्नों मे पहला प्रश्न बौद्धिक विवेचन का केन्द्रीय विषय है तथा दूसरा व्यावहारिक विवेचन मे प्रमुख विषय है। सामान्यत. जीवन मे ज्ञान और क्रिया संयुक्त मिलते है।

पश्चिम मे चिरकाल तक अन्तिम सत्ता को समझने का यत्न होता रहा। नवीन काल मे विचारको को ध्यान आया कि इस प्रश्न के पूर्व एक अन्य प्रश्न का पूछना आवश्यक है—हमारे ज्ञान की पहुच कहा तक है ? यह जानकर ही हम निश्चय कर सकते हैं कि हमारी खोज के सफल होने की सम्भावना भी है या नही। भारत मे **ज्ञान-मीमांसा** को सदा ध्यान मे रखा गया है।

भारतवर्ष मे **दर्शनशास्त्र** की लोकप्रियता जितनी है, उतनी किसी भी अन्य देश मे नही। पाश्चात्य देशो मे **दर्शनशास्त्र** विद्वज्जनो के मनोविनोद का साधनमात्र है। जिस प्रकार अन्य विषयो के अध्ययन में वे मनमानी कल्पना किया करते हैं, उसी प्रकार इस महत्त्वपूर्ण विषय की भी स्थिति है; परन्तु भारतवर्ष मे दर्शन तथा धर्म का, तत्त्वज्ञान तथा भारतीय जीवन का गहन सम्बन्ध है। त्रिविध ताप से सन्तप्त जनता की शान्ति के लिए, क्लेशमय ससार से आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति करने के लिए भारत मे **दर्शनशास्त्र** का आविर्भाव हुआ।

भारतीय दर्शन की धारा सुदूर वैदिक काल से अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती चली आ रही है। प्रारम्भिक अवस्थाओं में दार्शनिक विचारधाराओ की प्रणालियो का अधिकाश स्वरूप एक निश्चित दिशा को प्राप्त कर सुनिर्धारित हो चुका था, किन्तु वह उस स्वरूप-हीन अवस्था मे था कि उसका विभेदीकरण कठिन था; विभिन्न मतो की आलोचना-प्रत्यालोचना एव विचार-सघर्ष के कारण इनका स्वरूप निरन्तर सुस्पष्ट एव सुसमन्वित होता गया।

भारत मे वैदिक साहित्य से प्राचीन कोई साहित्य उपलब्ध नही है। अग्नि, वायु आदि प्रकृति के देवताओ की स्तुति मे लिखे गए सूक्तों मे कोई विशिष्ट दर्शन प्राप्त नही होता। लेकिन परवर्ती, ई० पू० १००० के लगभग लिखे गए, वैदिक वाङ्मय के कतिपय सूक्तों मे **दर्शनशास्त्र** के कई ब्रह्माण्ड-विषयक रोचक प्रश्न प्राप्त होते हैं। उत्तर-वैदिककालीन ग्रन्थ ब्राह्मण एव आरण्यक हैं। ये ग्रन्थ मुख्यतः गद्य मे हैं। इनमें दो विशिष्ट धाराए दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम, कर्मकाण्ड की चमत्कारात्मक विधि तथा द्वितीय, कल्पनात्मक ढग पर कुछ विचारणीय तथ्यों का बहुत साधारणीकरण करते हुए चिन्तन के धरातल पर विचार-विमर्श करने की विधि। एतदनन्तर गद्य और पद्य मे लिखे गए उपनिषद् सज्ञा से अभिहित दर्शन-ग्रन्थ प्राप्त होते है, जिनमे **एकात्मवादी** अथवा **अद्वैतवादी** विविधतापूर्ण दार्शनिक विवेचन पाया जाता है। साथ ही **द्वैतवाद** एवं **बहुलवादी** (अनेकेश्वरवादी) विचारधाराओ का उल्लेख भी पाया जाता है। सम्भवतः इस साहित्य का प्रारम्भिक भाग ईसा से ५०० वर्ष पूर्व से ७०० वर्ष पूर्व तक लिखा गया है। **बौद्ध दर्शन** बुद्ध के प्रादुर्भाव के साथ ईसा से ५०० वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। यह विश्वसनीय ढंग से कहा जा सकता है कि **बौद्ध दर्शन** १०वी अथवा ११वी शताब्दी तक किसी न किसी रूप मे विकसित होता रहा। बुद्ध-काल और ईसामसीह से २०० वर्ष पूर्व के समय के मध्य अन्य भारतीय दार्शनिक विचारधाराओ का भी प्रादुर्भाव हुआ होगा। **जैन दर्शन** सम्भवतः बौद्ध धर्म से पहले उद्भूत हुआ। यद्यपि जैन धर्म मे आन्तरिक सैद्धान्तिक मतभेद और अनेक पन्थ रहे है, फिर भी **बौद्ध दर्शन** की भांति जैन

1. डॉ० दीवानचन्द : दर्शनसग्रह, पृ० १

दर्शन अनेक विपरीत दार्शनिक विचारधाराओं एवं शाखाओं में विभक्त नहीं हुआ है।[1]

भारतीय दर्शन की प्रणालियों को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जाता है—आस्तिक दर्शन एवं नास्तिक दर्शन। आस्तिक दर्शन, जो सनातन धारा के अनुयायी हैं, षड्दर्शन के रूप मे प्रचलित हैं तथा निम्न छ शाखाओ मे विभाजित हैं—सांख्य, योग, वेदान्त, मीमांसा, न्याय एवं वैशेषिक। ये साधारणतया षड्दर्शन के नाम से प्रचलित हैं। नास्तिकवादी विचारधारा के अनुसार वेद साधारण ग्रन्थ के रूप में माने जाते हैं, स्वतःप्रमाण नही माने जाते और यह आवश्यक नही समझा जाता कि सिद्धान्तो की पुष्टि के लिए वेदों को ही आधार माना जाए। ये नास्तिक दर्शन मुख्यतः तीन हैं—बौद्ध, जैन तथा चार्वाक। जैनाचार्य हरिभद्र सूरि इस विभाजन का विरोध करते हैं। उनके अनुसार नास्तिक दर्शन केवल चार्वाक है तथा आस्तिक (मूल) दर्शन बौद्ध, नैयायिक, साख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय हैं, जिन्हें षड्दर्शन संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।[2] अस्तु, ऐसा प्रयास होने पर भी जैन दर्शन को नास्तिक दर्शनों की कोटि मे ही परिगणित किया जाता है।

जैन दर्शन का क्रमिक विकास

जैन दर्शन सम्बन्धी साहित्य का निर्माण एक दीर्घ काल मे सम्पन्न हुआ। इस लम्बे काल मे जैन दर्शन का क्रमिक विकास भी परिलक्षित होता है[3], यद्यपि मूल मान्यताएं नही बदली हैं। जैन दर्शन के क्रमिक विकास को समझने के लिए जैन दार्शनिक साहित्य को प्रायः निम्नलिखित चार युगो के अन्तर्गत विभक्त किया जाता है[4]—

(१) आगम युग
(२) अनेकान्तस्थापन युग
(३) न्याय-प्रमाणस्थापन युग
(४) नव्य-न्याय युग

(१) आगम युग

यह युग भगवान् महावीर या उनके पूर्ववर्ती भगवान् पार्श्वनाथ से लेकर आगम-संकलना—विक्रमीय पञ्चम-षष्ठ शताब्दी तक का लगभग एक हजार या बारह सौ वर्ष का है। इस युग मे प्राकृत तथा लोकभाषाओ की ही प्रतिष्ठा रही, जिससे संस्कृत भाषा मे साहित्य-सृजन की प्रवृत्ति उपेक्षित रही।

अंग-साहित्य—जैन धर्म के सभी सम्प्रदायो मे सभी आगमो का मूल आधार गणधर-ग्रथित द्वादशाग को माना गया है। वे द्वादशांग हैं[5]—(१) आचार, (२) सूत्रकृत, (३) स्थान, (४) समवाय, (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति, (६) ज्ञातृधर्मकथा, (७) उपासकदशा, (८) अंतकृद्दशा, (९) अनुत्तरोपपातिकदशा, (१०) प्रश्नव्याकरण, (११) विपाक तथा (१२) दृष्टिवाद। सभी जैन सम्प्रदाय एकमत से अन्तिम अंग दृष्टिवाद का सर्वप्रथम लोप स्वीकार करते हैं।

अंग-साहित्य का क्रमिक ह्रास—दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद आगम के मूल अगो का क्रमिक ह्रास होता गया और ६८३ वर्ष बाद कोई अगधर या पूर्वधर आचार्य नही रहा। बाद मे अगो और पूर्वों के अशमात्र के ज्ञाता आचार्य ही हुए। जिनमें पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यों ने षट्खण्डागम और आचार्य गुणधर ने कषायपाहुड की रचना की। दिगम्बर सम्प्रदाय में इन दोनों ग्रन्थों को ही आगम का स्थान प्राप्त है, क्योंकि उनके अनुसार द्वादशागमूलक आगम लुप्त हो चुके हैं।

दिगम्बरो के मत मे वीर-निर्वाण के बाद आगम-परम्परा का जो क्रमिक ह्रास हुआ, वह इस प्रकार है—भगवान् महावीर के निर्वाण के १२ वर्ष पश्चात् गौतम इन्द्रभूति को निर्वाण प्राप्त हुआ। गौतम इन्द्रभूति के १२ वर्ष बाद जैन संघ का भार अपने शिष्य जम्बूस्वामी को सौंपकर आर्य सुधर्मा ने निर्वाण प्राप्त किया। जम्बूस्वामी ने ३८ वर्ष तक जैन संघ का कार्यभार वहन करने के अनन्तर निर्वाण-लाभ किया। इस प्रकार भगवान् महावीर के निर्वाण के ६२ वर्ष पश्चात् केवलज्ञान तथा निर्वाण का मार्ग अवरुद्ध हो गया। इसके अनन्तर विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन तथा भद्रबाहु नामक पांच श्रुतकेवली हुए, जिन्हें ग्यारह अग तथा चौदह पूर्वों का ज्ञान था। इन श्रुतकेवलियों का कुल समय १०० वर्ष था। इसके पश्चात् विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयसेन, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिलिंग,

---

१. द्रष्टव्य—एस० एन० दासगुप्त : भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग-१), जयपुर, १९७८, पृ० ६-७
२. 'बौद्ध नैयायिकं सांख्यं जैन वैशेषिकं तथा।
जैमिनीयं च नामानि दर्शनानाममून्यहो ॥' षड्दर्शनसमुच्चय, का० ३
३. द्रष्टव्य—आचार्यसम्राट् पूज्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज : स्याद्वाद साहित्य का विकास, पृ० ९-११
४. महेन्द्रकुमार जैन : जैन दर्शन, काशी, १९६६, पृ० १४
सुखलाल संघवी : प्रमाणमीमांसा, अहमदाबाद, १९३९, प्रस्तावना-पृ० ३२
५. कषायपाहुड, प्रकरण १८, पृ० २६
समवायांग, समवाय १३६

देव व धर्मसेन (सुधर्म) नाम के ग्यारह अंग तथा दस पूर्वधारी आचार्य हुए, जिनका कुल समय १८३ वर्ष था। इस अवधि तक महावीर-परिनिर्वाण के पश्चात् ३४५ वर्ष व्यतीत हो चुके थे।

दिगम्बर-परम्परा में उपर्युक्त स्थिति के पश्चात् आगमों के ह्रास से सम्बद्ध दो दृष्टियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक—तिलोयपण्णत्ति, हरिवंशपुराण, धवला, कषायपाहुड तथा महापुराण पर आधारित है तथा दूसरी—धवला (नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली) पर। पहली दृष्टि के अनुसार महावीर-निर्वाण के ३४५ वर्ष पश्चात् नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन व कंस नाम के एकादशांगधारी आचार्य हुए, जिनका काल २२० वर्ष है। इसके बाद सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु द्वितीय तथा लोहाचार्य नामक आचारांगधारी आचार्य हुए। इनका काल ११८ वर्ष है। इस प्रकार महावीर-निर्वाण के कुल ६८३[1] वर्ष पश्चात् आगम-परम्परा विच्छिन्न हो गई।

दूसरी दृष्टि के अनुसार महावीर-निर्वाण के ३४५ वर्ष पश्चात् नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन व कंस नामक एकादशांगधारी; सुभद्र नामक दशांगधारी; यशोभद्र नामक नवांगधारी; भद्रबाहु द्वितीय तथा लोहाचार्य नामक अष्टांगधारी आचार्य हुए। इन सबका काल २२० वर्ष है। तदनन्तर विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त एवं अर्हद्दत्त नामक एकांगधारी आचार्य हुए। ये सब समकालीन थे, अतः इनका काल कुल २० वर्ष माना जाता है। यह काल परवर्ती एक अंग के अंशधारी आचार्यों के काल में अन्तर्भूत है। हीरालाल जैन के अनुसार इन आचार्यों का मूल पट्टावली में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। इन आचार्यों के बाद अर्हद्बलि, धरसेन, पुष्पदन्त तथा भूतबलि नामक एक अंग के अंशधारी आचार्य हुए। इनका तथा विनयदत्त आदि एकांगधारी आचार्यों का सम्मिलित काल कुल ११८ वर्ष है। एवंविध महावीर-निर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् आगम-परम्परा लुप्त हो गई।

अंगबाह्य-साहित्य—दिगम्बरों के अनुसार उपर्युक्त द्वादशांगों (अंगप्रविष्ट-साहित्य) के अतिरिक्त स्थविरों ने चौदह अंगबाह्य आगमों की रचना भी की थी। उपलब्ध जैन साहित्य में दृष्टिवाद के पाँच भेदों का उल्लेख प्राप्त होता है—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। इनमें से पूर्वगत के चौदह भेद माने गए हैं—(१) उत्पादपूर्व, (२) अग्रायणी, (३) वीर्यानुवाद, (४) अस्तिनास्तिप्रवाद, (५) ज्ञानप्रवाद, (६) सत्यप्रवाद, (७) आत्मप्रवाद, (८) कर्मप्रवाद, (९) प्रत्याख्यान, (१०) विद्यानुवाद, (११) कल्याणवाद, (१२) प्राणावाय, (१३) क्रियाविशाल और (१४) लोकबिन्दुसार। इन्हीं पूर्वों के आधार पर रचित आगमों को **अंगबाह्य-साहित्य** कहा गया है, जो इस प्रकार हैं[2]—(१) सामायिक, (२) चतुर्विंशतिस्तव, (३) वन्दना, (४) प्रतिक्रमण, (५) वैनयिक, (६) कृतिकर्म, (७) दशवैकालिक, (८) उत्तराध्ययन, (९) कल्पव्यवहार, (१०) कल्प्याकल्प्य, (११) महाकल्प्य, (१२) पुण्डरीक, (१३) महापुण्डरीक तथा (१४) निषिद्धिका। इन सबका भी द्वादशांगों की भाँति लोप माना गया है।

चैत्यवासी सम्प्रदाय सम्मत आगम-साहित्य[2]—श्वेताम्बर चैत्यवासी अथवा मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में मान्यता-प्राप्त ४५ आगमों का विवरण इस प्रकार है—

अंग (११)—पूर्ववत्[3]।

उपांग (१२)—(१) औपपातिक, (२) राजप्रसेनजित्क अथवा राजप्रश्नीय, (३) जीवाजीवाभिगम, (४) प्रज्ञापना, (५) सूर्यप्रज्ञप्ति, (६) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, (७) चन्द्रप्रज्ञप्ति, (८) निरयावलिका, (९) कल्पावतंसिका, (१०) पुष्पिका, (११) पुष्पचूला तथा (१२) वृष्णिदशा [(८-१२) निरयावलिकाश्रुतस्कन्ध]।

प्रकीर्णक (१०)—(१) चतुःशरण, (२) आतुरप्रत्याख्यान, (३) भक्तपरिज्ञा, (४) संस्तार, (५) तन्दुलवैचारिक, (६) चन्द्रवेध्यक, (७) देवेन्द्रस्तव, (८) गणिविद्या, (९) महाप्रत्याख्यान तथा (१०) वीरस्तव।

छेदसूत्र (६)—(१) आचारदशा अथवा दशा, (२) कल्प या बृहत्कल्प, (३) व्यवहार, (४) निशीथ, (५) महानिशीथ तथा (६) जीतकल्प। दिगम्बर-मान्य अंगबाह्य आगमों में से प्रथम छः (सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक तथा कृतिकर्म) का अन्तर्भाव यहाँ परिगणित कल्प, व्यवहार और निशीथ सूत्रों में माना गया है।

चूलिकासूत्र (२)—(१) नन्दी तथा (२) अनुयोगद्वार।

मूलसूत्र (४)—(१) उत्तराध्याय, (२) दशवैकालिक, (३) आवश्यक तथा (४) पिण्डनिर्युक्ति।

स्थानकवासी व तेरापंथ सम्प्रदाय सम्मत आगम-साहित्य[4]—स्थानकवासी और तेरापंथ सम्प्रदाय में मान्यता-प्राप्त ३२ आगमों का विवरण इस प्रकार है—

---

१. कषायपाहुड, प्रकरण १७, पृ० २५

२. बेचरदास दोशी : जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग १), वाराणसी, १९६६, पृ० २६-२८

३. द्रष्टव्य—पृ० २

४. बेचरदास दोशी जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग १), वाराणसी, १९६६, पृ० २७-२८

अंग (११)—पूर्ववत्[1]।
उपांग (१२)—पूर्ववत्[2]।
छेदसूत्र (४)—(१) आचारदशा अथवा दशा, (२) कल्प अथवा बृहत्कल्प, (३) व्यवहार तथा (४) निशीथ।
चूलिकासूत्र (२)—पूर्ववत्[3]।
मूलसूत्र (३)—(१) उत्तराध्याय, (२) दशवैकालिक तथा (३) आवश्यक।
उपर्युक्त आगमो मे कभी-कभी नामभेद भी देखा जाता है।[4]

कुन्दकुन्दाचार्य-विरचित दार्शनिक साहित्य—कुन्दकुन्दाचार्य का दिगम्बर-साहित्य मे पद्मनन्दी, गृध्रपिच्छ, वक्रग्रीव और एलाचार्य जैसे विविध नामों से उल्लेख मिलता है। इन्हे श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य माना जाता है। इनके सभी उपलब्ध ग्रन्थ पद्यमय तथा शौरसेनी प्राकृत मे हैं। प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय संग्रहसूत्र अथवा पञ्चास्तिकायसार तथा समयसार के समूह को प्राभृतत्रय के रूप मे मान्यता प्राप्त है। इनकी शेष रचनाएं नियमसार तथा अष्टप्राभृत (अट्ठपाहुड)· दर्शनप्राभृत, चारित्रप्राभृत, सूत्रप्राभृत, बोधप्राभृत, भावप्राभृत, मोक्षप्राभृत, लिंगप्राभृत एवं शीलप्राभृत हैं। पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार[5] तथा समयसार[6] जैन धर्म के तत्त्वज्ञान को समझने मे कुञ्जी हैं। शेष भी अध्यात्म विषय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।[7]

समस्त आगम-साहित्य मे प्रमाण, प्रमेय और वादविद्या का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। प्रमेय के विवेचन में विभज्यवाद; अनेकान्तवाद[8]; स्याद्वाद और सप्तभंगी[9]; नय, आदेश या दृष्टिया, नाम स्थापना, द्रव्य, भाव आदि, प्रमाण के विवेचन मे ज्ञान-चर्चा और उसका विषय, ज्ञान का प्रमाण से स्वातन्त्र्य, प्रमाण और प्रमाण के भेद आदि, वाद-विद्या के विवेचन मे वाद, कथा, विवाद, वाददोष, विशेष दोष, प्रश्न, छल, जाति और उदाहरण-ज्ञात-दृष्टान्त आदि विषय वर्णित है। सृष्ट्युत्पत्ति-सिद्धान्त[10] तथा क्रियावाद की स्थापना हुई है। दिगम्बर आगमों का विषय मुख्य रूप से जीव और कर्म तथा कर्म के कारण होने वाली जीव की नाना अवस्थाएं हैं।[11]

आगम युग मे मुख्यत स्वमत-प्रदर्शन का भाव होने से खण्डनात्मक ग्रन्थ-निर्माण की प्रवृत्ति का अभाव-सा ही है, यद्यपि प्रसंगवश सूत्रकृतांग जैसे ग्रन्थो में परमत की आलोचना भी है। इस युग की प्रमुख विशेषता जड-चेतन के भेद-प्रभेदो का विस्तृत वर्णन तथा अहिंसा, संयम, तप आदि आचारों[12] का निरूपण करना है। इन आचारो से जैन परम्परा के परवर्ती काल मे योग-साहित्य पुष्पित तथा पल्लवित हुआ।[13]

आगमिक आम्नाय पर लिखी गई चूर्णि तथा निर्युक्ति नाम की टीकाएं दार्शनिक चर्चा से परिपूर्ण हैं। इनमे तथा कुन्दकुन्द विरचित पाहुडों[14] मे तत्कालीन दार्शनिक मन्तव्यो का पर्याप्त मात्रा मे ऊहापोह किया गया है।

(२) अनेकान्तस्थापन युग

यह युग लगभग दो शताब्दियों का है, जो विक्रमीय छठी शताब्दी से प्रारम्भ होकर आठवी शताब्दी तक पूर्ण होता है। इस युग में संस्कृत भाषा के अभ्यास की तथा उसमे ग्रन्थ-प्रणयन की प्रतिष्ठा स्थिर हुई। सामान्यत प्रथम-द्वितीय शताब्दी मे उमास्वाति-सदृश आचार्यों द्वारा जैन वाङ्मय मे संस्कृत का प्रवेश होते ही इस युग का परिवर्तनकारी लक्षण प्रारम्भ होता है, किन्तु आगमो का सृजन पञ्चम-षष्ठ शताब्दी तक प्रचुर मात्रा में होता रहा, अत. इस युग का प्रारम्भ षष्ठ शताब्दी मे माना जाता है। इस युग मे परमत-खण्डन की प्रधान दृष्टि

---

१. द्रष्टव्य—पृ० २
२. द्रष्टव्य—पृ० ३
३. द्रष्टव्य—पृ० ३
४. द्रष्टव्य—Kapadia : A History of the Canonical Literature of the Jainas, प्रकरण २
५. द्रष्टव्य—डॉ० रमेशचन्द जैन : प्रवचनसार में संसार और मोक्ष का स्वरूप, पृ० ९६-१००
६. द्रष्टव्य—डॉ० लालबहादुर शास्त्री : आचार्य कुन्दकुन्द की सन्तुलित दृष्टि, पृ० ९३-९५
७. द्रष्टव्य—डॉ० प्रभुदयालु अग्निहोत्री : आचार्य कुन्दकुन्द और उनका दार्शनिक अवदान, पृ० १४४-१५०
८. द्रष्टव्य—युवाचार्य महाप्रज्ञ जी (मुनि नथमल) : द्वैतवाद और अनेकान्तवाद, पृ० १७-२०
९. द्रष्टव्य—श्री रमेश मुनि शास्त्री : स्याद्वाद सिद्धान्त—मनन और मीमांसा, पृ० २१-२५
१०. द्रष्टव्य—Prof. M. S. Ranadive : The Jaina Idea of Universe, पृ० ६५-६८
११ द्रष्टव्य—डॉ० रामभूर्ति त्रिपाठी . जैन कर्मसिद्धान्त—तुलनात्मक विवेचन, पृ० ८७-८८
१२. द्रष्टव्य—श्री जिनेन्द्र वर्णी · तत्त्वज्ञता, पृ० ४८-५१
१३. द्रष्टव्य—मुनि श्री राकेशकुमार जी : आगम-साहित्य में योग के बीज, पृ० १४०-१४३
१४. द्रष्टव्य—Dr. Shiv Kumar . Kundakunda on Sāṁkhya Puruṣa, पृ० १६१-१६४

से स्वमत-स्थापक ग्रन्थों की रचना भी होने लगी। इस युग के प्रमुख-प्रमुख आचार्यों का विवरण इस प्रकार है—

उमास्वाति—दिगम्बर-सम्प्रदाय मे इनका नाम उमास्वामी माना जाता है। नन्दिसंघ की पट्टावली, विद्वज्जनबोधक में उद्धृत श्लोक और इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के आधार पर फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री ने उमास्वाति का समय प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० माना है।[1] उमास्वाति पहले विद्वान् हैं, जिन्होने विविध आगम-ग्रन्थो मे बिखरे हुए जैन तत्त्वज्ञान को योग, वैशेषिक आदि दर्शन-ग्रन्थों के समान सूत्रबद्ध किया और उसे तत्त्वार्थाधिगम, तत्त्वार्थसूत्र या अर्हत्प्रवचन के रूप मे प्रस्तुत किया। इसके पूर्व प्राय: समस्त जैन वाङ्मय अर्धमागधी प्राकृत में था। सम्भवत: उन्होंने सर्वप्रथम यह अनुभव किया कि अब विद्वत्समुदाय की प्रधान भाषा संस्कृत बन रही है, अत. संस्कृत मे लिखने पर ही उसका ध्यान जैन दर्शन की ओर जा सकेगा। उमास्वाति-कृत तत्त्वार्थसूत्र के मुख्य रूप से दो पाठ पाये जाते हैं—एक, दिगम्बर और दूसरा, श्वेताम्बर। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र के दस अध्यायों की सूत्र-संख्या इस प्रकार है[2] –

३३ + ५३ + ३९ + ४२ + ४२ + २७ + ३९ + २६ + ४७ + ९ = ३५७

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार यह संख्या इस प्रकार है[3]—

३५ + ५२ + १८ + ५३ + ४४ + २६ + ३४ + २६ + ४९ + ७ = ३४४

तत्त्वार्थ सात है—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। सम्यग्दर्शन के विषय-रूप से इन सात तत्त्वार्थों का प्रस्तुत सूत्र-ग्रन्थ मे विस्तार के साथ निरूपण किया गया है।

समन्तभद्र—इनका समय स्पष्टरूपेण निश्चित नही हो पाया है। कैलाशचन्द्र शास्त्री[4], महेन्द्रकुमार जैन[5] आदि विद्वान् इन्हे विक्रमीय द्वितीय-तृतीय शताब्दी का स्वीकार करते हैं। सतीशचन्द्र विद्याभूषण[6] इन्हें छठी शताब्दी ई० का मानते हैं। डा० पाठक[7] ने तो इन्हे आठवी शती ई० का स्वीकार किया है। ये प्रसिद्ध स्तुतिकार थे। इन्होने आप्त की स्तुति करने के प्रसग से आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन और बृहत्स्वयंभूस्तोत्र आदि ग्रन्थों की रचना की। जिनस्तुतिशतक और रत्नकरण्ड भी इन्ही की रचनाए मानी जाती हैं। इन ग्रन्थो में इन्होंने अनेकान्त का स्थापन, स्याद्वाद का लक्षण, सुनय-दुर्नय की व्याख्या एव अनेकान्त मे अनेकान्त लगाने की प्रक्रिया बताई। इसके अतिरिक्त स्वपरावभासक बुद्धि को प्रमाण का लक्षण माना तथा अज्ञान-निवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षा को प्रमाण का फल बताया।

सिद्धसेन—प० सुखलाल एव बेचरदास जी ने सिद्धसेन को विक्रमीय पांचवी शती का आचार्य माना है।[8] सन्मतितर्क, न्यायावतार और कुछ द्वात्रिंशिकाएं इनकी कृतियां हैं। कुछ और साहित्य भी उपलब्ध हो रहा है।[9] सन्मतितर्क प्राकृत गाथाओं में निबद्ध है। इन ग्रन्थो मे इन्होने नय, अनेकान्त आदि विषयो का गम्भीर विवेचन तो किया ही है। साथ ही, प्रमाण-लक्षण में बाधविवर्जित पद देकर उसे संशोधित किया। इन्होने प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम तीन भेद किए। इसके अतिरिक्त अनुमान और हेतु का लक्षण करके दृष्टान्त, दूषण आदि परार्थानुमान के समस्त अवयवो का निरूपण भी किया है।

मल्लवादी—इन्हें विक्रमीय पांचवी शताब्दी के लगभग का माना जाता है।[10] ये प्रबल तार्किक थे। इनके द्वारा रचित नयचक्र ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, इसका पूरा नाम द्वादशार-नयचक्र है। मूल ग्रन्थ अनुपलब्ध है, किन्तु सिंहगणि क्षमाश्रमण-कृत उसकी टीका अवश्य मिलती है। नयचक्र मे नयो के गुण और दोष दोनो की समीक्षा की गई है। वस्तुत: इसमे जैनेतर मतो का ही नयों के रूप में वर्णन किया गया है। अभिप्राय यह है कि जैनेतर मतो को ही नय मानकर समग्र ग्रन्थ की रचना की गई है।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण—ये विक्रमीय छठी-सातवीं शती के आचार्य हैं।[11] ये बहुत ही समर्थ और आगमकुशल विद्वान् थे। इनका विशेषावश्यकभाष्य नाम का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमे ये अनेकान्त और नय आदि का विवेचन करते हैं तथा प्रत्येक प्रमेय में उसे लगाने की पद्धति भी बताते हैं। इन्होंने लौकिक इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, जो आगमिक मान्यता के अनुसार परोक्ष ज्ञान था, को लोक-व्यवहार के निर्वाह के

---

१. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री : सर्वार्थसिद्धि की प्रस्तावना, पृ० ७४-७५
२. वही, पृ० २२
३. वही
४. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन धर्म, पृ० २६६
५. महेन्द्रकुमार जैन . जैन दर्शन, पृ० २०
६. Satish Chandra Vidyabhusana · A History of Jain Logic, पृ० १८२
७. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute (Vol. XI), पृ० १४६
८. सन्मतितर्कप्रकरण की प्रस्तावना, पृ० ४३
९. द्रष्टव्य—Prof. M.A. Dhaky : Some Less known Verses of Siddhasena Divākara, पृ०१६५-१६८
१०. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन धर्म, पृ० २७२
११. वही तथा Satish Chandra Vidyabhusana · A History of Indian Logic, पृ० १८१

लिए संव्यवहार प्रत्यक्ष के रूप में निरूपित किया।

ईसा की पञ्चम शती तक बौद्ध, नैयायिक, मीमांसक, सांख्य आदि दार्शनिक एक-दूसरे के पक्ष का निरसन कर अपने-अपने पक्ष की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील थे। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने शून्यवाद की उपस्थापना की और तद्द्वारा वस्तु को सापेक्ष सिद्ध किया। असंग और वसुबन्धु ने विज्ञानवाद की स्थापना की। दिङ्नाग ने अपने गुरु वसुबन्धु का समर्थन करने के लिए नूतन प्रमाण-शास्त्र की रचना की। बौद्धों के विरोध में नैयायिक वात्स्यायन ने आत्मादि प्रमेयों की आवश्यकता पर बल दिया। मीमांसक शबरस्वामी ने वेदापौरुषेयत्ववाद का समर्थन किया तथा सांख्यों ने भी अपने पक्ष की सिद्धि का प्रयत्न किया।

जैन दार्शनिको ने भी अनेकान्तवाद की तार्किक स्थापना[1] करके दार्शनिको के इस सघर्ष का लाभ उठाया। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि आगम युग मे जो स्वमत-प्रदर्शन का भाव होने से खण्डनात्मक ग्रन्थ-निर्माण की प्रवृत्ति का अभाव था, उसे इस युग के आचार्यों ने युक्तियुक्त खण्डन और स्वमत-स्थापन की भावना से जैन-न्याय और प्रमाणशास्त्र का निर्माण करके दूर कर दिया।

इस अनेकान्त-स्थापन युग मे जैनाचार्यों ने अनेकान्तवाद का प्रबल समर्थन किया। यहा तक कि तत्कालीन विभिन्न वादों को नयवाद मे सन्निहित कर सभी दर्शनो के समन्वय का मार्ग सुझाया।[2] इसके अतिरिक्त विरोधी वादो मे अनेकान्त की योजना करके अपने मत को सबल बनाया।[3]

(३) न्याय-प्रमाणस्थापन युग

यह युग विक्रमीय आठवी शताब्दी से लेकर सत्रहवी शताब्दी तक लगभग एक हजार वर्ष का है। इस युग मे ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय आदि सभी पदार्थों का निरूपण तार्किक शैली से सस्कृत भाषा मे शास्त्रबद्ध किया गया। इस युग के प्रमुख आचार्य निम्नलिखित हैं—

अकलंक—ये ईसा की आठवी शताब्दी के उत्कृष्ट विचारक थे।[4] जैन दर्शन को इन्होने जो रूप दिया, उसे उत्तरकालीन जैन दार्शनिको ने अपनाया। इनकी रचनाएं दो प्रकार की हैं—एक, पूर्वाचार्यों के ग्रन्थो पर भाष्य-रूप और दूसरी, स्वतन्त्र। प्रथम प्रकार की रचनाए **तत्त्वार्थराजवार्तिक, अष्टशती** आदि हैं। दूसरी प्रकार की रचनाओ मे **लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, स्वरूपसम्बोधन, बृहत्त्रय, न्यायचूलिका, अकलंकस्तोत्र, अकलंकप्रायश्चित्त, अकलंकप्रतिष्ठापाठ** आदि ग्रन्थ सम्मिलित किए जाते है। इन सभी ग्रन्थों में जैन न्याय के सभी पक्षो को तो स्पष्ट किया ही गया है, किन्तु न्याय, वैशेषिक, व्याकरण-दर्शन, बौद्ध तथा श्वेताम्बर जैनों के मतो को पूर्वपक्ष रूप में स्थापित करके उनका विद्वत्तापूर्वक निराकरण किया गया है।

हरिभद्र—हरिभद्रसूरि विक्रमीय आठवी शताब्दी मे श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के बहुमान्य विद्वान् हुए हैं।[5] इन्होंने सस्कृत और प्राकृत में अनेक ग्रन्थो की रचना की। इन्होंने **अनेकान्तवादप्रवेश, अनेकान्तजयपताका, षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय, न्यायप्रवेशटीका** आदि ग्रन्थो का प्रणयन किया। इन्होने भी परमत-निराकरण करते हुए जैन सिद्धान्तो को पुष्ट किया।

अनन्तवीर्य—ये विक्रमीय अष्टम-नवम शती के आचार्य थे।[6] इन्होने भी अकलंक-कृत **सिद्धिविनिश्चय** पर टीका लिखी। यह टीका मुख्यत: बौद्ध दर्शन के खण्डन के लिए बनाई गई।

विद्यानन्द—ये विक्रमीय नवम शती के अत्यन्त समर्थ विद्वान् थे।[7] इन्होने भी अकलक की भाति दो प्रकार के ग्रन्थो की रचना की—एक, टीका-ग्रन्थ तथा दूसरे, स्वतन्त्र ग्रन्थ। **अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक** और **युक्त्यनुशासनटीका** तो टीका-ग्रन्थ हैं। **आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा** और **सत्यशासनपरीक्षा** स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थो मे इन्होने पूर्व-परम्परा को मानते हुए ही जैन दर्शन का प्रतिपादन किया, परन्तु **पत्रपरीक्षा** मे लिखित शास्त्रार्थ के विभिन्न पहलुओ पर इन्होने एकदम मौलिक चर्चा प्रस्तुत की।

---

१. द्रष्टव्य—डॉ० सत्यदेव मिश्र : स्याद्वाद, पृ० २९-३२
२. द्रष्टव्य—डॉ० अरुण लता जैन : समन्वय का मार्ग स्याद्वाद, पृ० ३३-३६
उपाध्याय श्री अमर मुनि समन्वय का अमोघ दर्शन—अनेकान्त, पृ० १३७-१३८
३. द्रष्टव्य—श्री सुव्रतमुनि शास्त्री . अन्य दर्शनो मे अनेकान्त के तत्त्व, पृ० २६-२८
४. Satish Chandra Vidyabhusana · A History of Indian Logic, पृ० १८६
M. Winternitz History of Indian Literature (Vol. II), पृ० ५८८
A. B. Keith . History of Sanskrit Literature, पृ० ४९७
सुखलाल : न्यायकुमुदचन्द्र (भाग २) का प्राक्कथन, पृ० १६
५. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन धर्म, पृ० २७२
६. परमानन्द शास्त्री : जैन धर्म का प्राचीन इतिहास (भाग २), पृ० २४०
७ वही, पृ० २००-२०१

माणिक्यनन्दी— ये विक्रमीय नवम शती के प्रकाण्ड विद्वान् थे।[1] इन्होंने **परीक्षामुख** नामक सूत्र-ग्रन्थ की रचना की। इसमें प्रमाण और प्रमाणाभासों का विवेचन किया गया है।

वादिराज—ये विक्रमीय दशम शताब्दी के तार्किक थे।[2] तार्किक होने के साथ ही उच्चकोटि के कवि भी थे। इन्होने **पार्श्वनाथचरित, यशोधरचरित, एकीभावस्तोत्र, न्यायविनिश्चयविवरण, प्रमाणनिर्णय** आदि ग्रन्थों की रचना की है। **अध्यात्माष्टक** और **त्रैलोक्यदीपिका** भी इन्हीं की रचनाए मानी जाती हैं।

प्रभाचन्द्र—इन्हें विक्रमीय १०वीं-११वीं शती का आचार्य माना जाता है।[3] इनकी प्रमुख रचनाएं **प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण, शाकटायनन्यास, शब्दाम्भोजभास्कर** तथा **प्रवचनसारसरोजभास्कर** हैं। इनसे पूर्व यद्यपि जैन न्याय का निरन्तर विकास देखने मे आता है, तथापि सभी पूर्वकालीन जैनाचार्य न्याय के विवेचन मे आगमों का आश्रय लेने का मोह नही छोड सके। फलत: उनकी कृतियों मे जैनागमोक्त मति, श्रुत आदि ज्ञान-भेदों का प्रमाणो से समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया गया। परन्तु प्रभाचन्द्र ने जैन दर्शन की परम्परा का अनुसरण करते हुए भी प्रमाण-मीमांसा को आगमोक्त ज्ञान-भेदों से सर्वथा विविक्त रखा।

अभयदेव सूरि—ये विक्रमीय ११वी शताब्दी के आचार्य थे।[4] ये प्रद्युम्न सूरि के शिष्य थे। इन्होने सिद्धसेन के **सन्मतितर्क** पर बहुत ही विद्वत्तापूर्ण एवं विशाल टीका लिखी। इस टीका में सैकडो दार्शनिक ग्रन्थों का निचोड समाहित है।

अनन्तवीर्य—इनका काल १०वीं शताब्दी है।[5] इन्होने माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख पर **प्रमेयरत्नमाला** नाम की टीका लिखी।

वादिदेव सूरि—ये १२वीं शती के आचार्य हैं।[6] इन्होंने **प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार** और **स्याद्वादरत्नाकर** नाम के दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की।

हेमचन्द्र—ये १२वी शताब्दी के विद्वान् थे।[7] इन्हें सभी विषयों का पूर्ण ज्ञान था, इसीलिए इन्हें **कलिकालसर्वज्ञ** कहा जाता था। इनकी कृतियों में **शब्दानुशासन, काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन, अभिधानचिन्तामणि, देशीनाममाला, द्वयाश्रयमहाकाव्य, प्रमाणमीमांसा,**[8] **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, योगशास्त्र** तथा कुछ **द्वात्रिंशिकाएं** प्रसिद्ध हैं। इन रचनाओ मे अध्ययन की प्रत्येक विधा विद्यमान है।

जैन दर्शन के इस युग मे ११वी-१२वी शताब्दी को मध्यकाल माना जाता है। इसके पश्चात् इस युग का ह्रासकाल है, जिसके अन्तर्गत १३वीं शताब्दी मे[9] मल्लिषेण की स्याद्वादमजरी, रत्नप्रभसूरि की स्याद्वादरत्नाकरावतारिका, चन्द्रसेन की उत्पादादिसिद्धि, रामचन्द्र गुणचन्द्र[10] का द्रव्यालंकार आदि ग्रथ लिखे गए। १४वीं शताब्दी मे[11] सोमतिलक की षड्दर्शनसमुच्चयटीका और १५वीं शताब्दी में[12] गुणरत्न की षड्दर्शनसमुच्चयबृहद्वृत्ति, राजशेखर की स्याद्वादकलिका आदि, भावसेन त्रैविद्य का विश्वतत्त्वप्रकाश आदि ग्रन्थों की रचना हुई। धर्मभूषण[13] की न्यायदीपिका भी इस युग की महत्त्वपूर्ण कृति है।

इस युग के अन्तर्गत सातवी और आठवी शताब्दी दर्शनशास्त्र के इतिहास में विप्लव का युग था। इस समय नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्य धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति का सपरिवार उदय हुआ। शास्त्रार्थों की धूम मची हुई थी। धर्मकीर्ति ने सदलबल प्रबल तर्कबल से वैदिक दर्शनो पर प्रहार किए। जैन दर्शन भी इनके आक्षेपो से नही बचा था। यद्यपि अनेक विषयो मे जैन और बौद्ध दर्शन समानतन्त्रीय थे, पर क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि बौद्ध वादो का दृष्टिकोण ऐकान्तिक होने के कारण दोनो में स्पष्ट विरोध था और इसीलिए इनका प्रबल खण्डन जैन न्याय के ग्रन्थो मे पाया जाता है। धर्मकीर्ति के आक्षेपो के उद्धारार्थ इसी समय प्रभाकर, व्योमशिव, मण्डनमिश्र, शंकराचार्य, भट्टजयन्त, वाचस्पतिमिश्र, शालिकनाथ आदि वैदिक दार्शनिकों का प्रादुर्भाव हुआ। इसी

---

१. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन धर्म, पृ० २६६
२. महेन्द्रकुमार जैन : न्यायविनिश्चय विवरण (भाग १) की प्रस्तावना, पृ० ४५
३. महेन्द्रकुमार जैन : प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रस्तावना, पृ० ६७
४. सुखलाल संघवी और बेचरदास दोशी सन्मतितर्क की गुजराती प्रस्तावना, पृ० ८३
५. हीरालाल जैन : प्रमेयरत्नमाला की प्रस्तावना, पृ० ४५
६. Satish Chandra Vidyabhusana : A History of Iodian Logic, पृ० १९८
७. रसिकलाल पारिख . प्रमाणमीमांसा की प्रस्तावना, पृ० ३५, ४३
८. द्रष्टव्य—श्री श्रीचन्द चोरड़िया : प्रमाणमीमांसा—एक अध्ययन, पृ० १०५-११२
९. Satish Chandra Vidyabhusana : A History of Indian Logic, पृ० २११-२१२
१०. महेन्द्रकुमार जैन · जैन दर्शन, पृ० २५
११. वही
१२ वही
१३. वही

संघर्ष के युग में अकलंक-प्रभृति जैनाचार्यों ने भी जैन दर्शन के संरक्षणार्थ पूर्वपक्ष की स्थापना और उसके निरसन द्वारा जैन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। केवल षड्दर्शन और बौद्ध दर्शन ही नहीं, अपितु व्याकरण-दर्शन[1], चार्वाक-दर्शन आदि के सन्दर्भ में भी जैनाचार्यों ने उपर्युक्त विधि अपनायी। इसी कारणवश यह युग न्याय-प्रमाण-स्थापन युग कहलाया। इस युग की प्रवृत्ति से दार्शनिक साहित्य के अतिरिक्त पुराण[2], महाकाव्य[3] तथा तत्कालीन अभिलेख[4] भी प्रभावित हुए।

(४) नव्य-न्याय युग

यह युग विक्रमीय सत्रहवी शताब्दी और उसके बाद का है। इस युग में अब तक के दार्शनिक विचारो को नव्य ढंग से परिष्कृत करने का महान् प्रयत्न किया गया। इस युग के प्रमुख आचार्यों का विवरण निम्नलिखित है—

यशोविजय—इनका काल सत्रहवी शताब्दी है।[5] इन्होने ही जैन दार्शनिक परम्परा मे नव्यन्याय की नींव रखी। इनकी उपलब्ध कृतियों में **अष्टसहस्रीविवरण, अनेकान्तव्यवस्था, ज्ञानबिन्दु, जैनतर्कभाषा, शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका, न्यायखण्डखाद्य, अनेकान्तप्रवेश, न्यायालोक, गुरुतत्त्वविनिश्चय** आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं।

इनके अतिरिक्त विमलदास[6] की सप्तभंगीतरंगिणी और अठारहवीं शती मे यशस्वतसागर[7] की सप्तपदार्थी आदि रचनाए इस युग की महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं।

भारतीय दार्शनिक क्षेत्र मे गंगेशोपाध्याय के प्रवेश के साथ तेरहवी शताब्दी मे नव्य-न्याय का युग प्रारम्भ होता है। गंगेश द्वारा प्रवर्तित नव्य-न्याय-शैली के प्रकाश में सभी दार्शनिको ने अपने-अपने दर्शन को परिष्कृत किया। परन्तु जैन परम्परा मे यशोविजय से पूर्व इस प्रकार का प्रयास किसी भी आचार्य ने नही किया। फलस्वरूप १३वी मे १७वी शताब्दी तक भारतीय दर्शनो की विचारधारा का जो नया विकास हुआ, जैन-दार्शनिक-साहित्य उससे वंचित रहा। १७वी शताब्दी मे यशोविजय ने काशी से सर्वशास्त्र-वैशारद्य प्राप्त कर इसका प्रथम प्रयास किया और जैन दर्शन मे नव्य-न्याय-शैली से अनेक रचनाए करके अनेकान्तवाद, जैन-प्रमाणशास्त्र तथा नयवाद को नूतन शैली में पुन:प्रतिष्ठापित किया।

—विज्ञानस्वरूप रस्तगी

संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-११०००७

---

१. द्रष्टव्य— डॉ० लालचन्द जैन : शब्दाद्वैतवाद—जैन दृष्टि, पृ० ११५-१३१

२. द्रष्टव्य— डॉ० उदयचन्द जैन : आदिपुराण मे जैन दर्शन के तत्त्व, पृ० १३९-१३६

३ द्रष्टव्य—डॉ० मोहनचन्द भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में जैन महाकाव्यों द्वारा विवेचित मध्यकालीन जैनेतर दार्शनिकवाद, पृ० १५१-१६०

४. द्रष्टव्य — श्री जगबीर कौशिक : श्रवणबेलगोला के अभिलेखो में जैन-तत्त्व-चिन्तन, पृ० १०१-१०४

५. Satish Chandra Vidyabhusana : A History of Indian Logic, पृ० २१७

६. महेन्द्रकुमार जैन : सिद्धिविनिश्चय टीका (भाग १) की प्रस्तावना, पृ० ४३

७. महेन्द्रकुमार जैन जैन दर्शन, पृ० २६

स्याद्वाद साहित्य का विकास

आचार्य-सम्राट् पूज्य श्री आनन्द ऋषिजी महाराज

अहिंसा और अनेकान्त ये जैनधर्म के दो मूल सिद्धान्त है। भगवान् महावीर ने इन्ही दो मूल सिद्धान्तो पर अधिक बल दिया है। महावीर परम अहिंसक थे। वे शारीरिक अहिंसा के समान ही मानसिक अहिंसा-पालन पर भी जोर देते थे। उनका निश्चित मत था कि उपशम वृत्ति से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है और यही वृत्ति मोक्ष का साधन है। मानसिक, वाचिक और कायिक इस त्रिविध अहिंसा की परिपूर्ण साधना और स्थायी प्रतिष्ठा वस्तु-स्वरूप के यथार्थ दर्शन के बिना होना अशक्य है। हम भले ही शरीर से दूसरे की हिंसा न करें किन्तु वचन, व्यवहार और चित्तगत विचार यदि विषम और विसवादी हैं तो कायिक अहिंसा का पालन कठिन है। इसीलिए उनका उपदेश था कि प्रत्येक पुरुष भिन्न-भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार ही सत्य की प्राप्ति करता है। जिससे प्रत्येक दर्शन के सिद्धान्त किसी अपेक्षा से सत्य हैं। जब तक इन मतो का वस्तुस्थिति के आधार पर यथार्थ दर्शनपूर्वक समन्वय न होगा, तब तक हिंसा और सघर्ष की जड नही कट सकती है। हमारा कर्त्तव्य तो यह होना चाहिए कि हम व्यर्थ के वाद-विवादो मे न पडकर अहिंसा और शान्तिमय जीवनयापन करें। हम प्रत्येक वस्तु को प्रतिक्षण उत्पन्न होती हुई और नष्ट होती हुई देखते हैं। साथ ही उस वस्तु के नित्यत्व को भी अनुभव करते हैं। अतएव प्रत्येक पदार्थ किसी अपेक्षा से नित्य और सत् तथा किसी अपेक्षा से अनित्य और असत् आदि अनेक धर्मों से युक्त है।

अनेकान्तवाद सम्बन्धी इस प्रकार के विचार प्राय. प्राचीन आगम ग्रन्थो मे यत्र-तत्र देखने मे आते हैं। गौतम गणधर भगवान् महावीर से पूछते हैं--आत्मा ज्ञान स्वरूप है, अथवा अज्ञान स्वरूप ? भगवान् उत्तर देते हैं—आत्मा नियम से ज्ञान स्वरूप है क्योकि ज्ञान के बिना आत्मा की वृत्ति नही देखी जाती है। परन्तु आत्मा ज्ञान रूप भी है और अज्ञान रूप भी—"आया पुण सिय णाणे सिय अन्नाणे"। इसी तरह ज्ञातृधर्मकथा और भगवतीसूत्र मे भी वस्तु को द्रव्य की अपेक्षा एक, ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा से अनेक, किसी अपेक्षा से अस्ति, किसी से नास्ति और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य कहा गया है।

इस प्रकार प्राचीन आगमो मे स्याद्वाद के सूचक त्रिपदी (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य) सिय अत्थि, सिय नत्थि, द्रव्य, गुण, पर्याय, नय आदि शब्दो का अनेक स्थानो पर उल्लेख पाया जाता है। किन्तु स्याद्वाद के सात भगो का उल्लेख नही मिलता। इसके बाद हम आगम ग्रन्थो पर लिखित निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य रूप जैन वाङ्मय की ओर आते है। आगम ग्रन्थो पर ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी मे भद्रबाहु को दस निर्युक्तियो में भी आगमो के विचारो को विशेष रूप से प्रस्फुटित किया गया है।

जैन दर्शन में स्याद्वाद साहित्य का विकास

जैन वाङ्मय को सर्वप्रथम सस्कृत भाषा का रूप देने वाले दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायो द्वारा मान्य आचार्य उमास्वाति हुए हैं। इनका समय ई० सन् प्रथम शताब्दी माना जाता है। भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद से लेकर इनके पूर्व तक जैन साहित्य की भाषा प्राय प्राकृत रही। इस दीर्घकाल के अधिकाश राजाओ के लेखो मे भी इसी प्राकृत भाषा का प्रयोग मिलता है किन्तु धीरे-धीरे इस स्थिति मे परिवर्तन हुआ। सस्कृत भाषा का एक नया रूप विकसित हुआ। जिसे राजसभाओ, कवियो और पंडितो की गोष्ठियो में स्थान मिला और उच्च वर्ग की प्रतिष्ठित भाषा का स्तर प्राप्त हुआ। बौद्ध और जैन विद्वानो ने भी इस साहित्यिक सस्कृत को अपनाकर अपने विशाल धार्मिक साहित्य से उसे समृद्ध बनाया। इस भव्य परम्परा का प्रारम्भ जैन सघ में आचार्य उमास्वाति से हुआ। आपने लगभग ३५७ सूत्रो के तत्त्वार्थ सूत्र नामक अपने छोटे से ग्रन्थ में विशाल आगम साहित्य का सार बडी कुशलता से ग्रथित किया है जिसमे अनेकान्तवाद और विशेषकर नयवाद की चर्चा विस्तृत रूप में पायी जाती है। यहा अर्पित, अनर्पित[1] प्रमाणनयो के भेद और उपभेदों[2] का वर्णन विस्तार से किया गया है। परन्तु यहा भी स्याद्वाद के स्यादस्ति आदि सात भंगो के नामो का उल्लेख नही मिलता।

---

१. 'अर्पितानर्पित सिद्धे.।', तत्त्वार्थसूत्र, ५।३१.

२. 'प्रमाणनयैरधिगमः।', तत्त्वार्थसूत्र, १।६ व इसका भाष्य

जैन साहित्य में स्यादस्ति आदि स्याद्वाद के सूचक सप्तभंगों के नाम सर्वप्रथम हमे आचार्य कुन्दकुन्द के पचास्तिकाय और प्रवचनसार में देखने को मिलते हैं। परन्तु यहा भी स्याद्वाद के विषय मे विशेष चर्चा नही है। यही कारण है कि उक्त ग्रन्थो में सप्तभगो के नाममात्र गिनाए गये हैं।

दक्षिण भारत के जैन संघ में असाधारण रूप से सम्मानित आचार्य कुन्दकुन्द का मूल नाम पद्मनन्दि था। कोण्डकुन्द यह उनके मूल स्थान का नाम था जो दक्षिण की परम्परा के अनुसार उनके नाम के रूप मे प्रचलित हुआ तथा संस्कृत मे यही नाम कुन्दकुन्द के रूप में प्रसिद्ध हुआ। यह कोण्डकुन्द अब कोनकोण्डल कहलाता है तथा आन्ध्रप्रदेश के अनन्तपुर जिले मे स्थित है। यहा कई जैन शिलालेख प्राप्त हुए हैं। इनके उपलब्ध ग्रन्थों में दशभक्ति, अष्टप्राभृत, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार और समयसार के नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी सभी रचनाएं शौरसेनी प्राकृत में हैं। दशभक्ति और अष्टप्राभृत ये प्रारम्भिक रचनाए प्रतीत होती हैं। नियमसार मे आध्यात्मिक दृष्टि से साधु जीवन के विविध अंगों का वर्णन किया गया है। पंचास्तिकाय में१७३ गाथाए हैं। जिनमे छह द्रव्यो और नौ पदार्थों का विवरण मिलता है। प्रवचनसार मे ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र इन तीन अधिकारो (प्रकरणो) में २७५ गाथायें हैं। सर्वज्ञ के दिव्य ज्ञान और उनके द्वारा उपदिष्ट द्रव्य स्वरूप का प्रभावी समर्थन इसमें प्राप्त होता है। समयसार में ४३७ गाथायें हैं। जिनमें निश्चयनय और व्यवहारनय की विभिन्न दृष्टियो से आत्म-तत्त्व का विशद वर्णन किया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा किये गये स्याद्वाद सूचक सप्तभगो के उल्लेख से यह जान पड़ता है कि इस समय जैन आचार्य अपने सिद्धान्तो पर होने वाले प्रतिपक्षियों के कर्कश तर्क-प्रहारो से सतर्क हो गये थे और यही से स्याद्वाद का सप्तभगमय विकास प्रारम्भ होता है। इस विकास का श्रेय आचार्य सिद्धसेन दिवाकर तथा स्वामी समन्तभद्र को है। इन दोनो आचार्यों से पूर्व जैनदर्शन मे तर्कशास्त्र विषयक किसी स्वतंत्र सिद्धान्त की स्थापना नही हुई थी। इन विद्वानो के पूर्व का युग विशेषतः आगमप्रधान ही था, लेकिन गौतम के "न्यायसूत्र" की रचना के पश्चात् जैसे-जैसे तर्क का प्रचार बढने लगा वैसे-वैसे जैन तथा बौद्ध विद्वानो ने अपने-अपने दर्शनो मे तर्क-पद्धति को स्थान देना प्रारम्भ किया। फलतः बौद्ध और जैन श्रमणों ने अपने-अपने सिद्धान्तो का प्रतिपक्षियो के तर्क प्रहारो से सुरक्षित रखने के लिए क्रमश शून्यवाद और स्याद्वाद को एक सुनिश्चित तथा सुव्यवस्थित स्थान दिया।

वाचक उमास्वाति आदि अन्य आचार्यों के द्वारा जैन वाङ्मय मे संस्कृत भाषा का प्रवेश होने के कई शताब्दी पूर्व ही यह भाषा बौद्ध साहित्य मे अपना उच्च स्थान बना चुकी थी। जब बौद्ध दर्शन मे नागार्जुन, वसुबधु, असग तथा बौद्ध न्याय के पिता दिङ्नाग का युग आया तब दर्शनशास्त्रियों में इन बौद्ध दार्शनिको के प्रबल तर्क प्रहारो से बेचैनी उत्पन्न हो रही थी। दर्शनशास्त्र के तार्किक अश और परपक्षखडन का युग प्रारम्भ हो चुका था। इस युग में जो धर्म सस्था प्रतिवादियो के आक्षेपो का निराकरण करके स्वदर्शन की प्रभावना नही कर सकती थी उसका अस्तित्व ही खतरे में था। अतः पर चक्र से रक्षा करने के लिए अपना दुर्ग स्वत सुरक्षित बनाने का महत्वपूर्ण कार्य स्वामी समतभद्र और सिद्धसेन दिवाकर इन दो महान् आचार्यों ने किया।

स्वामी समतभद्र प्रसिद्ध स्तुतिकार थे। इन्होंने दर्शन, सिद्धान्त एवं न्याय सम्बन्धी मान्यताओ को स्तुति काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

समंतभद्र की रचनाए निम्नलिखित मानी जाती हैं--

(१) बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, (२) स्तुतिविद्या अथवा जिनशतक, (३) देवागमस्तोत्र या आप्तमीमासा, (४) युक्त्यनुशासन या वीरस्तुति, (५) रत्नकरण्डश्रावकाचार, (६) जीवसिद्धि, (७) तत्त्वानुशासन, (८) प्राकृत व्याकरण, (९) प्रमाणपदार्थ, (१०) कर्मप्राभृत-टीका, (११) गन्धहस्तिमहाभाष्य।

इनमे से कई रचनाएं अनुपलब्ध हैं। उपलब्ध ग्रन्थो को देखने से प्रतीत होता है कि समतभद्र अत्यन्त प्रतिभाशाली और स्वसमय, पर-समय के सारस्वत ज्ञाता थे। उनकी कारिकाओ के अवलोकन से उनका विभिन्न दर्शनो का पाडित्य अभिव्यक्त होता है। उन्होंने देवागमस्तोत्र (आप्तमीमासा) में आप्तविषयक मूल्याकन में सर्वज्ञाभाववादी-मीमासक, भावैकान्तवादी-साख्य, एकान्तपर्यायवादी-बौद्ध तथा सर्वथाउभयवादी-वैशेषिक का तर्कपूर्ण विवेचन कर उनका निराकरण किया है। प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव का सप्तभगी न्याय द्वारा समर्थन कर वीरशासन की महत्ता प्रतिपादित की है। सर्वथा अद्वैतवाद, द्वैतवाद, कर्माद्वैत, फलाद्वैत, लोकाद्वैत प्रभृति का निरसन कर अनेकान्तात्मकता सिद्ध की है। इनमें अनेकान्तवाद का स्वस्थ स्वरूप विद्यमान है।

स्वामी समतभद्र ने अपने ग्रन्थो मे जैन दर्शन के निम्नलिखित सिद्धान्तो का निरूपण किया है -

१. प्रमाण का स्वपराभास लक्षण।
२. प्रमाण के क्रमभावी और अक्रमभावी भेदो की परिकल्पना।
३. प्रमाण के साक्षात् और परम्परा फलो का निरूपण।
४. प्रमाण का विषय।

५. नय का स्वरूप।
६. हेतु का स्वरूप।
७. स्याद्वाद का स्वरूप।
८. वाचक का स्वरूप।
९. अभाव का वस्तुधर्म-निरूपण एवं भावान्तर कथन।
१०. वाच्य का स्वरूप।
११. अनेकान्त का स्वरूप।
१२. तत्त्व का अनेकान्तरूप प्रतिपादन।
१३. अनेकान्त में भी अनेकान्त की योजना।
१४. जैन दर्शन में अवस्तु का स्वरूप।
१५. 'स्यात्' निपात का स्वरूप।
१६ अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि।
१७. युक्तियों से स्याद्वाद की व्यवस्था।
१८. आप्त का तार्किक स्वरूप।
१९. वस्तु-द्रव्य-प्रमेय का स्वरूप।

स्वामी समंतभद्र के समय के बारे मे विद्वानो ने पर्याप्त ऊहापोह किया है। अन्तिम निष्कर्ष के रूप मे उनका समय ई० सन् की पहली या दूसरी शताब्दी माना जाता है।

समन्तभद्र की तरह कवि और दार्शनिक के रूप मे आचार्य सिद्धसेन भी बहुत प्रसिद्ध हैं। समंतभद्र द्वारा प्रवर्तित तर्कपूर्ण स्तुतियो की परम्परा मे सिद्धसेन की द्वात्रिंशिकाओ का महत्वपूर्ण स्थान है। इनकी भाषा साहित्यिक सुन्दरता और तर्क के प्रभावी प्रयोग से युक्त है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परम्परायें इन्हे अपना-अपना आचार्य मानती है। आचार्य जिनसेन ने अपने आदिपुराण में सिद्धसेन को कवि और वादिराजकेसरी कहा है।

सन्मतितर्क और न्यायावतार सिद्धसेन रचित दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। ये दोनो ग्रन्थ तर्कशास्त्र की दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखते हैं। सन्मतितर्क मे १६६ प्राकृत गाथाओं मे नय और अनेकान्त का गम्भीर, विशद और मौलिक विवेचन किया गया है। आचार्य ने नयो का सागोपांग विवेचन करके जैन न्याय की सुदृढ पद्धति को प्रारम्भ किया है। कथन करने की प्रक्रिया को नय कहा गया है। विभिन्न दर्शनो का अतर्भाव विभिन्न नयो मे किया है। न्यायावतार में ३२ सस्कृत श्लोकों मे प्रमाणो का सक्षिप्त विवेचन है। जैन साहित्य मे प्रमाण-विवेचन सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में मिलता है। प्रमाण के स्वपरावभासक लक्षण मे 'बाधवर्जित' विशेषण देकर उसे विशेष समृद्ध किया गया है। ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता का आधार मोक्षमार्गोपयोगिता की जगह धर्मकीर्ति की तरह "मेयविनिश्चय" को रखा गया है। इससे यह प्रतिभासित होता है कि इन आचार्यों के युग मे 'ज्ञान' दार्शनिक क्षेत्र मे अपनी प्रमाणता बाह्यार्थ की प्राप्ति या मेयविनिश्चय से ही सिद्ध कर सकता था। आचार्य सिद्धसेन ने न्यायावतार में प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—ये तीन भेद किए है। प्रत्यक्ष और अनुमान के स्वार्थ और परार्थ भेद किये है। अनुमान और हेतु का लक्षण करके दृष्टान्त, दूषण आदि परार्थानुमान के समस्त परिकर का निरूपण किया है।

आचार्य सिद्धसेन के समय के सम्बन्ध मे अनेक मान्यताए प्रचलित हैं। कोई इन्हे प्रथम शताब्दी का और कोई चतुर्थ शताब्दी का विद्वान् समझती है। लेकिन अनेक अन्वेषको ने इनका समय ई० की चौथी शताब्दी सिद्ध किया है।

सिद्धसेन और समंतभद्र समकालीन भले ही न हो किन्तु इनके द्वारा रचित ग्रन्थो को देखने से यह धारणा पुष्ट होती है कि ये दोनो अद्भुत प्रतिभा के धनी मौलिक विद्वान् थे। इन विद्वान् आचार्यों ने जैन तर्कशास्त्र पर सन्मतितर्क, न्यायावतार, युक्त्यनुशासन, आप्तमीमांसा आदि ग्रन्थो में लिखकर जैन दर्शन के मूल स्याद्वाद सिद्धान्त को सागोपाग परिपूर्ण बनाकर जैन सिद्धान्त को सबसे पहले सर्वदा के लिए अटल बनाया था। उपनिषदो के अद्वैतवाद का जो समन्वय आगम सूत्रो तथा दिगम्बरीय पचास्तिकाय और प्रवचनसार नामक ग्रन्थो मे दृष्टिगोचर नही होता था, उसे इन प्रकाण्ड विद्वानो ने बहुत सुन्दर रूप मे दार्शनिको के समक्ष उपस्थित करके अपनी-अपनी अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया था।

सिद्धसेन और समतभद्र ने घट, मौलि, सुवर्ण, दुग्ध, दधि, अगोरस आदि अनेक प्रकार के दृष्टातो से और नयो के सापेक्ष वर्णन से द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयो मे जैनेतर सम्पूर्ण दृष्टियो को अनेकात दृष्टि का अंशमात्र प्रतिपादित[1] कर मिथ्यादर्शनो के समूह को जैन दर्शन बताते

---

१. 'उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥,' सिद्धसेन : द्वा० द्वात्रिंशिका

हुए[1] अपनी सर्वसमन्वयात्मक उदार भावना का परिचय दिया है। निस्संदेह जो स्थान वैदिक साहित्य मे शकराचार्य और कुमारिलभट्ट को प्राप्त है तथा बौद्धदर्शन मे सर्वप्रथम न्यायपद्धति को स्थान देने के लिए जो महत्व आचार्य दिङ्नाग को है वही महत्व जैन साहित्य में उक्त दोनों विद्वान् आचार्यों का है।

सिद्धसेन और समंतभद्र के बाद जैन न्याय साहित्य के क्षितिज पर आचार्य मल्लवादी और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का प्रादुर्भाव हुआ। सिद्धसेन के समान ही मल्लवादी भी तर्कशास्त्र के प्रमुख ज्ञाता के रूप मे प्रसिद्ध थे। प्रभावकचरित, प्रबन्धकोश और प्रबंधचिन्तामणि मे इनका जीवनवृत्त वर्णित है। जिसके अनुसार इनका जन्म गुजरात की राजधानी वलभी मे हुआ था। उस समय इनके मामा आचार्य जिनानन्द वाद-विवाद में एक बौद्ध आचार्य से पराजित हुए थे। फलस्वरूप राजा शिलादित्य ने जैन श्रमणों को निर्वासित कर दिया था। शत्रुंजय के प्रसिद्ध तीर्थ को भी बौद्धो के अधिकार में दे दिया था। बाल्यावस्था में ही जैन संघ की इस दुरवस्था को देखकर मल्लवादी क्षुब्ध हुए और दृढ निश्चय से अध्ययन मे संलग्न हुए। शीघ्र ही उन्होने तर्क-शास्त्र मे अद्भुत निपुणता प्राप्त की और बौद्ध आचार्यों को राजा शिलादित्य की सभा मे पराजित कर जैनसंघ का खोया हुआ गौरव पुनः प्राप्त किया। इन्होने अनेकान्तवाद का प्रतिपादन करने के लिए नयचक्र आदि ग्रन्थो की रचना की। किसी समय नयचक्र बहुत प्रसिद्ध था। अब वह मूल रूप मे नही मिलता किन्तु सिंहसूरी द्वारा उस पर लिखी गई टीका प्रकाशित हो गई है। सन्मतिसूत्र की टीका भी इन्होने लिखी थी। किन्तु वह भी अप्राप्य है।

आगमो के व्याख्याकारो में भद्रबाहु के बाद जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का स्थान महत्वपूर्ण है। इन्होंने विशेषावश्यकभाष्य की रचना की। जो सन् ६०६ में पूर्ण हुई थी। आवश्यकसूत्र की इस व्याख्या मे लगभग ३६०० गाथाएं है। इसमें ज्ञान, नय, निक्षेप, परमेष्ठी, गणधर आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। इन्होने प्रायः सिद्धसेन दिवाकर की शैली का ही अनुसरण किया है। जिनभद्रगणि सैद्धान्तिक परम्परा के एक बड़े विद्वान् माने जाते हैं।

यद्यपि वाचक उमास्वाति से लेकर जिनभद्रगणि के समय तक के युग मे संस्कृत भाषा के अभ्यास और परमत-खण्डन की दृष्टि से स्वमतस्थापक ग्रन्थो की रचना की प्रवृत्ति अवश्य स्थिर हो चुकी थी। सिद्धसेन जैसे एकाध आचार्य ने जैन न्याय की व्यवस्था दर्शाने वाला एकाध ग्रन्थ भले ही रचा हो, किन्तु इस युग मे जैन न्याय या प्रमाणशास्त्र की न तो पूरी व्यवस्था हुई जान पडती है और न तद्विषयक साहित्य का निर्माण देखा जाता है। इस युग के जैन तार्किको की प्रवृति की प्रधान दिशा प्रायः दार्शनिक क्षेत्र मे एक ऐसे जैन मतव्य की स्थापना की ओर रही जिसके बीज आगमो मे बिखरे हुए थे। ये मतव्य आगे जाकर भारतीय दर्शन परम्परा मे एकमात्र जैन परम्परा के ही समझे जाने लगे तथा इन्हीं मतव्यो के नाम पर आज तक समस्त जैन दर्शन का व्यवहार किया जाता है। वह मतव्य है—अनेकान्तवाद, स्याद्वाद। सिद्धसेन, समतभद्र, मल्लवादी, जिनभद्रगणि आदि इस युग के सभी जैनाचार्यों मे अन्य दर्शनो के सामने जैनमत की अनेकान्त-दृष्टि तार्किक शैली से तथा परमत खण्डन के अभिप्राय से इस तरह रखी, जिससे इस युग को अनेकान्त-स्थापना-युग कहा जाना समुचित होगा।

उक्त आचार्यों के पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य के प्राकृत या संस्कृतग्रन्थ मे न तो वैसी अनेकान्त की तार्किक स्थापना है और न अनेकान्त-मूलक सप्तभंगी और नयवाद का वैसा तार्किक विश्लेषण है। जैसाकि सन्मतितर्क, द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका, न्यायावतार, स्वयम्भूस्तोत्र, आप्तमीमासा, युक्त्यनुशासन, नयचक्र और विशेषावश्यकभाष्य मे प्राप्त होता है। तर्कदर्शन निष्णात इन जैन आचार्यों ने नयवाद, सप्तभंगी और अनेकान्त-वाद की प्रबल और स्पष्ट स्थापना की और इतना अधिक पुरुषार्थ किया कि जिससे जैन एव जैनेतर परम्पराओं मे जैनदर्शन, अनेकान्तदर्शन के नाम से ही प्रतिष्ठित हो गया। बौद्ध और ब्राह्मण दार्शनिको का लक्ष्य अनेकान्तवाद के खण्डन की ओर गया तथा वे किसी-न-किसी प्रकार से अपने ग्रन्थों मे मात्र अनेकान्त या सप्तभंगी का खण्डन करके ही जैन दर्शन के मतव्यो के खण्डन की इतिश्री समझने लगे।

इस प्रकार ईसा की सातवी शताब्दी तक अनेकान्त-व्यवस्था की एक निश्चित रूपरेखा बन चुकी थी जिसको उत्तरवर्ती अनेक जैना-चार्यों ने विविध रूपो में पल्लवित किया। इसके पश्चात् आठवी-नवी शताब्दी मे जैन दर्शन के अपूर्व तार्किक और प्रतिभासम्पन्न अकलक एव हरिभद्र जैसे समर्थ विद्वानो का आविर्भाव हुआ।

जैन परम्परा में यदि समंतभद्र जैन न्याय के पितामह है तो अकलक पिता है। बौद्धदर्शन मे जो स्थान धर्मकीर्ति को प्राप्त है। जैन दर्शन मे वही स्थान अकलक देव का है। इनके द्वारा रचित प्रायः सभी ग्रन्थ जैन दर्शन और जैन न्याय विषयक हैं। जैन तर्कशास्त्र के परिपक्व-रूप का दर्शन अकलंक देव के ग्रन्थो मे होता है। इनकी रचनाओं को दो वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्ग मे अनेक स्वतंत्र ग्रन्थ और द्वितीय वर्ग में टीका ग्रन्थ रखे जा सकते हैं। स्वतन्त्र ग्रन्थ निम्नलिखित है —

(१) स्वोपज्ञ वृत्ति सहित लघीयस्त्रय, (२) न्यायविनिश्चय सवृत्ति, (३) सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति, (४) प्रमाणसग्रह सवृत्ति।

---

१. 'भद्द मिच्छादसण समूह मइयस अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ सविग्गसुहाहिगम्मस्स॥', सिद्धसेन · सन्मतितर्क।

टीका ग्रन्थ—

(१) तत्त्वार्थराजवार्तिकभाष्य (२) अष्टशती-देवागमवृत्ति।

अकलंक की कृतियों में तत्त्वार्थसूत्र की टीका—तत्त्वार्थराजवार्तिक सबसे विस्तृत है। इसका आकार लगभग १६ हजार श्लोक प्रमाण है। इसके प्रथम और चतुर्थ अध्याय विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनमे मोक्ष और जीवस्वरूप सम्बन्धी विभिन्न विचारो का परीक्षण प्राप्त होता है। अष्टशती समंतभद्र कृत आप्त-मीमासा की व्याख्या है। नाम के अनुसार इसका विस्तार आठ सौ श्लोक प्रमाण है। लघीयस्त्रय में प्रमाण, नय और प्रवचन मे तीन प्रकरण है। न्यायविनिश्चय में भी तीन प्रकरण है। इनमें प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणो का विवेचन है। प्रमाणसग्रह मे ९ प्रकरण हैं। जिनमे प्रमाण सबधी विभिन्न विषयो की चर्चा है। सिद्धिविनिश्चय मे १२ प्रकरण है। इनमे प्रमाण, नय, जीव, सर्वज्ञ आदि विषयों का विवेचन है। इन चार ग्रन्थो में मूल श्लोको के साथ गद्य मे स्पष्टीकरणात्मक अंश भी जोडा है।

जैनाचार्यों में अकलक के ग्रन्थो का बड़ा आदर हुआ। अष्टशती पर विद्यानन्द ने, लघीयस्त्रय पर अभयचंद्र और प्रभाचन्द्र ने, न्यायविनिश्चय पर वादिराज ने तथा प्रमाणसंग्रह और सिद्धिविनिश्चय पर अनन्तवीर्य ने विस्तृत व्याख्याएं लिखी हैं। माणिक्यनन्दि का परीक्षामुख अकलक के विचारो का सूत्रबद्ध रूप प्रस्तुत करता है।

हरिभद्रसूरि का जन्म चित्तौड के एक ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। कुलक्रमागत वेदादि का अध्ययन पूर्ण होने पर ज्ञान के गर्व से इन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि जिसका वचन मैं न समझ सकू उसका शिष्यत्व स्वीकार करूगा। एक बार याकिनी महत्तरा नामक जैन साध्वी आगमों का पाठ कर रही थी। उनकी प्राकृत गाथा का अर्थ हरिभद्र नही समझ सके और प्रतिज्ञानुसार उनकी सेवा मे शिष्य रूप मे उपस्थित हुए। साध्वी ने अपने गुरु जिनभद्रसूरि से उनकी भेंट कराई। उनसे मुनिदीक्षा ग्रहण कर आगमों का विधिवत् अध्ययन कर लेने के उपरान्त हरिभद्र को आचार्य पद दिया गया।

विस्तार, विविधता और गुणवत्ता —इन तीनो दृष्टियो से हरिभद्र की रचनायें जैन साहित्य मे महत्वपूर्ण है। परम्परानुसार इनके ग्रन्थो की कुल सख्या १४४४ कही गई है। आपने आवश्यक, प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोगद्वार, ओघनिर्युक्ति, दशवैकालिक, जीवाभिगम, जम्बू-द्वीपप्रज्ञप्ति आदि आगम ग्रन्थो पर सस्कृत टीकाए लिखी है जिससे सस्कृतभाषी विद्वानो के लिए इन आगमो का अध्ययन सरल हो गया है।

अनेकान्तजयपताका, अनेकान्तवादप्रवेश, शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि ग्रन्थों मे विभिन्न भारतीय-दर्शनो के तत्वो का जैनदृष्टि से परीक्षण कर हरिभद्र ने जैनतत्वो को तर्कशास्त्र के अनुकूल सिद्ध किया। षड्दर्शनसमुच्चय नामक ग्रन्थ मे उन्होने जीव, जगत् और धर्म सम्बन्धी भारतीय दर्शनो की मान्यताओ का प्रामाणिक रूप मे सकलन किया है। सक्षेप में कहा जा सकता है कि हरिभद्रसूरि ने भारतीय साहित्य और विशेष रूप से जैन साहित्य के प्रत्येक अग को पुष्ट बनाने में अपना योगदान दिया है।

अकलक और हरिभद्रसूरि का समय दर्शनशास्त्र के इतिहास में विप्लव का युग था। शास्त्रार्थों की धूम मची हुई थी। बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति के उदय से बौद्धदर्शन उन्नति की पराकाष्ठा पर था। धर्मकीर्ति ने अपने प्रबल तर्कबल से वैदिक दर्शनो पर प्रचण्ड प्रहार किए। जैन दर्शन भी उनके आक्षेपो से नही बचा था। प्रतिपक्षी विद्वानो द्वारा अनेकान्तवाद पर अनेक प्रहार होने लगे थे। कई लोग अनेकान्त को सशय कहते थे। कोई केवल छल का रूपान्तर कहते थे और कोई इसमे विरोध, अनवस्था आदि दोषो का प्रतिपादन करके इसका खण्डन करते थे। ऐसे तर्कप्रधान समय मे सम्पूर्ण दर्शनो का अनेकान्तवाद मे समन्वय करके उस पर कहना या लिखना साधारण कार्य नही था। परन्तु अकलक और हरिभद्रसूरि इस असाधारण कार्य को सम्पन्न करने में अपनी अद्भुत-क्षमता और प्रकाण्ड-पाण्डित्य से सफल हुए। इन्होंने स्याद्वाद के एक-एक विषय को लेकर नाना प्रकार से ऊहापोहात्मक सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया।[1] इन्होंने गम्भीर तर्कपद्धति का आलम्बन लेकर स्याद्वाद पर प्रतिवादियों द्वारा आरोपित दोषो का निराकरण करते हुए नाना-दृष्टि बिन्दुओ से अनेकान्तवाद का जो विवेचन और समर्थन किया है वह निश्चय ही जैन दर्शन के इतिहास मे सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करने की क्षमता रखता है।

यद्यपि अनेक मुद्दों मे जैन दर्शन और बौद्धदर्शन समानतन्त्रीय थे। किन्तु क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि बौद्धवादो का दृष्टिकोण एकान्तिक होने से दोनो में स्पष्ट विरोध था। इसीलिए इनका प्रबल खडन अकलक और हरिभद्र के ग्रन्थों मे पाया जाता है। इनके ग्रन्थों का बहुभाग बौद्ध दर्शन के खण्डन से भरा हुआ है। धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक और प्रमाणविनिश्चय आदि का खण्डन अकलक के सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, प्रमाणसग्रह और अष्टशती आदि ग्रन्थो मे किया गया है। हरिभद्र के शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकान्तजयपताका और अनेकान्तवादप्रवेश आदि मे बौद्ध दर्शन की प्रखर आलोचना है। यहा एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जहां वैदिक दर्शन ग्रन्थो में अन्य मतो का मात्र खण्डन ही खण्डन है। वहा जैन दर्शन के ग्रन्थो मे इतर मतो का नय और स्याद्वाद पद्धति से विशिष्ट समन्वय किया गया है। शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय और धर्मसग्रहणी आदि ग्रन्थ इसके विशिष्ट उदाहरण हैं।

अब धर्मकीर्ति के शिष्य देवेन्द्रमति, प्रभाकरगुप्त, कर्णकगोमी, शातरक्षित और अर्चट आदि अपने प्रमाणवार्तिकटीका, प्रमाणवार्तिका-

---

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 'प्रमाणनयैरधिगम.' सूत्र की व्याख्या।

लंकार, प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीका, तत्त्वसंग्रह, वादन्यायटीका और हेतुबिन्दुटीका आदि ग्रन्थ रच चुके थे। तब इसी युग में अनन्तवीर्य ने बौद्ध दर्शन के खण्डन में सिद्धिविनिश्चयटीका की रचना की।

इसके बाद ईसा की नवीं शताब्दी में दर्शनशास्त्र के धुरीण तार्किक विद्वान् विद्यानन्द और माणिक्यनन्दि का युग आता है। आचार्य विद्यानन्द और माणिक्यनन्दि दोनों गुरुबन्धु थे। इन दोनों के गुरु का नाम वर्धमान था। जो तपस्या और उत्तमज्ञान के कारण प्रसिद्ध थे तथा गंगवंश के राजाओं के गुरु थे।

आचार्य विद्यानन्द जैन तर्कशास्त्र के प्रौढ़ लेखकों में प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने प्रमाण और दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थो की रचना कर श्रुत परम्परा को गतिशील बनाया। इनके नौ ग्रन्थ ज्ञात हैं। तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या श्लोकवार्तिक का विस्तार १८,००० श्लोको जितना है। इनके एक अन्य ग्रन्थ अष्टसहस्री, जो अकलक कृत अष्टशती की टीका है, में अनेकान्तवाद के विभिन्न रूपो का विस्तृत विवरण और समर्थन प्रस्तुत किया गया है। नाम के अनुसार इसका विस्तार आठ हजार श्लोको जितना है। समतभद्र की दूसरी कृति युक्त्यनुशासन पर भी युक्त्यनुशासनालंकार नामक व्याख्या ग्रन्थ लिखा है।

उक्त तीन व्याख्या ग्रन्थो के अतिरिक्त आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र, विद्यानन्दमहोदय स्वतंत्र ग्रन्थ हैं। आप्तपरीक्षा में जगत्कर्ता ईश्वर की मान्यता का खण्डन विस्तार से प्राप्त होता है। प्रमाणपरीक्षा मे प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान के विभिन्न प्रकारो का विवेचन है। पत्रपरीक्षा में वाद-विवादो मे प्रयुक्त होने वाले पत्रो (कूट श्लोको) का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। सत्यशासनपरीक्षा में जैनेतर मतो के निरसन के साथ अनेकान्तवाद का समर्थन है। श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र मे भी विभिन्न मतो का संक्षिप्त खंडन किया गया है। विद्यानन्दमहोदय मे तर्कशास्त्र सम्बन्धी विविध विषयो पर विचार किया गया है। किन्तु अभी वह अप्राप्त है।

विद्यानन्द ने नैयायिकों तथा बौद्ध ग्रन्थो का अध्ययन करके अनेक प्रकार से तार्किक शैली द्वारा स्याद्वाद का प्रतिपादन और समर्थन किया। इन्होंने कुमारिल आदि वैदिक विद्वानो के जैनदर्शन पर होने वाले आक्षेपो का बडी योग्यता से परिहार किया। जो निश्चय ही उनके अपूर्व पाण्डित्य को प्रकट करता है।

माणिक्यनन्दि ने सर्वप्रथम जैन न्याय को परीक्षामुख के सूत्रो मे गूथकर अपनी अलौकिक प्रतिभा का परिचय दिया। यह ग्रन्थ प्रमाणो के मूलभूत ज्ञान के लिए बहुत उपयोगी है। अकलक के गभीर और दुर्गम-ग्रन्थो के विचार सरल सूत्र शैली मे निबद्ध कर यह ग्रन्थ लिखा गया है। इस पर अनेक छोटी-बडी व्याख्याए भी प्राप्त होती है।

इन सब जैनाचार्यों की ग्रन्थ रचना से उत्तरवर्ती जैनसघ मे न्याय और प्रमाण ग्रन्थों के सग्रह, परिशीलन और नये-नये ग्रन्थो के निर्माण का ऐसा युग आया कि समाज उसी को प्रतिष्ठित विद्वान् समझने लगा, जिसने सस्कृत भाषा मे लिखकर तर्क या प्रमाण पर मूल या टीका रूप से कुछ लिखा हो। परिमाणतः ईसा की दसवी-ग्यारहवी शताब्दी मे जैन न्यायशास्त्र का अच्छा विकास हुआ। यह जैन न्यायशास्त्र का मध्याह्न काल था। जिसमे सिद्धर्षि, प्रभाचद्र और अभयदेव जैसे महान् तार्किक विद्वान हुए।

आचार्य सिद्धर्षि दुर्गस्वामी के शिष्य थे। इन्होने उपमितिभवप्रपचकथा नामक विस्तृत कथा-ग्रन्थ की रचना की और सिद्धसेन के न्यायावतार पर टीका ग्रन्थ लिखकर अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया है।

धारानगर के महाराज भोजदेव के समय मे विद्यमान विद्वानमण्डल मे प्रभाचद्र का विशिष्ट स्थान था। उनकी बहुमुखी प्रतिभा के प्रमाण चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो के रूप मे उपलब्ध है। प्रमेयकमलमार्तण्ड जो माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख की व्याख्या है। इसका विस्तार १२,००० श्लोको जितना है। उस व्याख्या मे प्रमाणो के विषयो के रूप मे विश्व स्वरूप के बारे मे विविध वाद विषयो की सूक्ष्म चर्चा की गई है। इसी प्रकार न्यायकुमुदचद्र अकलक के लघीयस्त्रय की व्याख्या है। इसमे भी मूल ग्रन्थ के प्रमाण विषयो के साथ प्रमेय विषयो का विस्तृत विवेचन है। ग्रन्थ का विस्तार १६,००० श्लोक प्रमाण है। शब्दाम्भोजभास्कर जैनेन्द्र व्याकरण की विस्तृत व्याख्या है तथा गद्यकथाकोष कथा-ग्रन्थ है।

अभयदेव चन्द्रकुल के प्रद्युम्नसूरि के शिष्य थे। इनके शिष्य धनेश्वर राजामुज की सभा मे सम्मानित हुए थे। इनकी परम्परा को राजगच्छ नाम मिला था। सिद्धसेन के सन्मतितर्क पर अभयदेव ने वादमहार्णव नामक टीका लिखी। जिसका विस्तार २५,००० श्लोक प्रमाण है। अब तक के जैन सस्कृत ग्रन्थो मे वादमहार्णव सबसे बड़ा ग्रन्थ था। इसमे आत्मा, ईश्वर, सर्वज्ञ, मुक्ति, वेदप्रामाण्य आदि विविध विषयो का तर्कदृष्टि से विस्तृत परीक्षण किया गया है।

सिद्धर्षि आदि उक्त तीनों विद्वान्-आचार्यों ने सौत्रान्तिक, वैभाषिक, विज्ञानवाद, शून्यवाद, ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत आदि बौद्ध और वैदिक-वादो का समन्वय करके, स्याद्वाद का नैयायिक पद्धति से प्रतिपादन किया है। जो उनके ग्रन्थों मे यथास्थान अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है।

इनके पश्चात् हम बारहवी शताब्दी की ओर आते हैं। इसे जैन-दर्शन का मध्याह्नोत्तर काल समझना चाहिए। वादिदेवसूरि और आचार्य हेमचन्द्र का नाम इस युग के प्रमुख आचार्यों मे है।

देवसूरि प्रसिद्धवादी थे। अतः वादीदेवसूरि इसी रूप में उनका नाम विख्यात हुआ। इनका जन्म सन् १०८७ में हुआ था। ये नौ वर्ष की अवस्था में बृहद्गच्छ के यशोभद्र के शिष्य मुनिचन्द्र के शिष्य बने थे। आपका कार्यक्षेत्र गुजरात रहा। इन्होंने स्याद्वाद का स्पष्ट विवेचन करने के लिए प्रमाणनयतत्त्वालोक नामक जैन-न्याय का सूत्र-ग्रन्थ लिखा और उस पर स्याद्वादरत्नाकर नामक बृहद्काय टीका की रचना की, जिसमें अपने समय तक के सभी जैन तार्किकों के विचारों को दुहकर संकलित कर दिया, साथ ही अपनी जानकारी के अनुसार ब्राह्मण और बौद्ध परम्परा की शाखाओं के मन्तव्यों की विस्तृत चर्चा भी की। जिससे यह ग्रन्थ रत्नाकर जैसा समग्र मन्तव्य रत्नों का संग्रह बन गया जो तत्वज्ञान के साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़े महत्व का है। प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए इसको संक्षेप में रत्नाकरावतारिका नाम से इनके शिष्य रत्नप्रभ ने लिखा है।

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य तो अपने समय के असाधारण पुरुष हैं। उनके कर्तृत्व से जैन संघ कृतज्ञता अनुभव करने के साथ-साथ अपने आपको गौरवशाली अनुभव करता है। जैन न्याय, व्याकरण, काव्य आदि साहित्य के सभी अंगों को आपने पल्लवित करके अनेक नयी देनें दी हैं। इन्होंने अन्ययोगव्यवच्छेदिका, अयोगव्यवच्छेदिका, प्रमाणमीमांसा आदि ग्रन्थों की रचना करके जैन दर्शन के सिद्धान्तों को विकासोन्मुखी बनाया है। अन्ययोगव्यवच्छेदिका के ३२ श्लोकों में चार्वाक, न्यायवैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, योगाचार, माध्यमिक आदि दर्शनों का हृदयग्राही सुन्दरवाणी में जो समन्वय किया है वह अपने ढंग का अनोखा और अभूतपूर्व है।

इसके अतिरिक्त शान्तिसूरि का जैनतर्कवार्तिक, जिनदेवसूरि का प्रमाणलक्षण, अनन्तवीर्य की प्रमेयरत्नमाला, चन्द्रप्रभसूरि का प्रमेयरत्नकोष, चन्द्रसूरि का अनेकान्तजयपताका का टिप्पण आदि ग्रन्थ भी इसी युग की कृतियां हैं।

इसके पश्चात् तेरहवीं, चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में जैन-दर्शन के जो समर्थ व्याख्याकार और ग्रन्थलेखक हुए हैं। उन्होंने स्याद्वाद के विभिन्न अंगों की विशद रूप से विवेचना की है। इनमें आचार्य मलयगिरि एक समर्थ टीकाकार हुए हैं। इसी युग में मल्लिषेण की स्याद्वादमंजरी, चन्द्रसेन की उत्पादादिसिद्धि, रामचन्द्र-गुणचन्द्र का द्रव्यालंकार, सोमतिलक की षड्दर्शनसमुच्चयटीका, गुणरत्न की षड्दर्शनसमुच्चयबृहद्वृत्ति, राजशेखर की स्याद्वादकलिका आदि, भावसेन त्रैविधदेव का विश्वतत्वप्रकाश, धर्मभूषण की न्यायदीपिका आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये हैं।

अभी तक के आचार्यों की लेखन-शैली प्राचीन न्याय प्रणाली का अनुसरण करती रही थी। किन्तु विक्रम की तेरहवीं सदी में गंगेश उपाध्याय ने नव्य न्याय की नींव डाली और प्रमाण-प्रमेयों को अवच्छेदकावच्छिन्न की भाषा में जकड़ दिया। जैन विद्वानों ने भी अपने ग्रन्थों में इसका अनुसरण किया है। जिनमें सत्तरहवीं-अठारहवीं शताब्दी के प्रमुख विद्वान् उपाध्याय यशोविजय जी और पण्डित विमलदासजी के नाम उल्लेखनीय हैं। उपाध्यायजी जैन परम्परा में बहुमुखी प्रतिभा के धारक असाधारण विद्वान् थे। इन्होंने योग, साहित्य, प्राचीन न्याय आदि का गम्भीर पाण्डित्य प्राप्त करने के साथ नव्य-न्याय की परिष्कृत शैली में खण्डनखण्डखाद्य आदि अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया और उस युग तक के विचारों का समन्वय तथा उन्हें नव्य शैली से परिष्कृत करने का आद्य और महान् प्रयत्न किया। स्याद्वाद के द्वारा अभूतपूर्व ढंग से संपूर्ण दर्शनों का समन्वय करके स्याद्वाद को "सार्वतांत्रिक"[1] सिद्ध करना उपाध्यायजी की प्रतिभा का सूचक है। उन्होंने शास्त्रवार्तासमुच्चय की स्याद्वादकल्पलताटीका, नयोपदेश, नयरहस्य, नयप्रदीप, न्यायखण्डनखण्डखाद्य, न्यायालोक, अष्टसहस्रीटीका आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की।

पण्डित विमलदास जी ने नव्य न्याय का अनुकरण करने वाली भाषा में सप्तभंगीतरंगिणी नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की संक्षिप्त और सरल भाषा में रचना करके एक महान् अभाव की पूर्ति की है।

इस प्रकार अनेक विद्वद्शिरोमणि आचार्यों ने ग्रन्थ लिखकर जैन दर्शन के विकास में जो भगीरथ प्रयत्न किये हैं उनकी यहां झलक मात्र प्रस्तुत की गई है।

यह स्याद्वाद साहित्य के विकास का इतिहास भारतीय दर्शन साहित्य के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह विकास जैनाचार्यों के प्रकाण्ड पाण्डित्य के साथ-साथ उनकी अलौकिक क्षमता तथा सर्वकल्याण की मंगलमयी दृष्टि को प्रकट करता है। भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में जो-जो नवीन धाराएं विशेष विकास को प्राप्त होती गईं; इन सबको जैनाचार्यों ने अपने दर्शन में स्थान देकर न्यायात्मक दृष्टि से सत्य सिद्ध करने के साथ उनका स्तर निर्धारिण करने का प्रयत्न किया है। जो उनके सर्वतोभद्र औदार्यभाव को व्यक्त करता है। "सत्य एक है"। उसके रूप अनेक है। भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न देशकाल के अनुसार सत्य के एक अंश को ही ग्रहण कर सकते हैं। अतएव परस्पर विरोधी दिखाई देती हुई भी वे सभी दृष्टियां सत्य हैं जैन विद्वानों का यह मन्तव्य अवश्य ही विशाल, उदार और गम्भीर है।

---

१. 'ऋजुबाणा भिन्नभिन्नार्थान्नियमे द्व्यपेक्षया।
प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदाः स्याद्वादं सार्वतांत्रिकम् ॥', अध्यात्मसार, ५१

पाश्चात्य साहित्य में स्याद्वाद

वैदिक, बौद्ध आदि भारतीय दार्शनिकों की तरह पाश्चात्य दर्शनों के संस्थापकों ने भी स्याद्वाद सिद्धान्तों को अपने अनुभवों से सिद्ध करके अपने साहित्य में एक सुव्यवस्थित तथा सुनिश्चित रूप दिया है। जिसका यहा सक्षेप मे दिग्दर्शन कराते हैं।

ग्रीक दर्शन में एलिअटिक्स और हेरेक्लिट्स नामक विचारकों के बाद ईसा से ४६५ वर्ष पूर्व एम्पीडोक्लीज, एटोमिस्ट्स और अनैक्सागोरस नामक दार्शनिकों का युग था। इन तत्ववेत्ताओं ने एलिअटिक्स के एकान्त नित्यवाद और हेरेक्लिट्स के एकान्त क्षणिकवाद का समन्वय करके दोनों सिद्धान्तों को नित्यानित्य के रूप में ही स्वीकार किया। इनके मतानुसार सर्वथा-क्षणिकवाद असम्भव है और इसी तरह सर्वथा-नित्यवाद भी। किन्तु साथ ही साथ वस्तु परिवर्तनशील भी अवश्य है। इन विद्वानो ने अनुभव द्वारा नित्य दशा मे रहते हुए भी पदार्थों का परिवर्तन देखकर "आपेक्षिक परिवर्तन" के सिद्धान्त को स्वीकार किया है।[1]

इसके पश्चात् हम ग्रीस के प्रतिभाशाली कवि और दार्शनिक विद्वान् प्लेटो के विचारो की ओर आते हैं। सोफिस्ट नामक संवाद में एलिया का मुसाफिर कहता है—जब हम "असत्य" के विषय मे कुछ कहते हैं तो इसका मतलब 'सत्' के विरुद्ध (सर्वथा असत्) न होकर केवल सत् से भिन्न होता है।[2] इसी प्रकार "एलिया" का मुसाफिर सवाद के एक दूसरे स्थान पर भी प्लेटो अपने पात्र के माध्यम से अपने विचारो को व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

> "उदाहरण के लिए हम एक ही मनुष्य को उसके रग, रूप, परिणाम, गुण, दोष आदि की अपेक्षा मे देखते है अतएव हम "यह मनुष्य ही है।" यह न कहकर "यह भला है।" इत्यादि नाना दृष्टि बिन्दुओ से व्यवहार मे प्रयोग करते है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु जिसको हम प्रारभ में एक समझते है अनेक तरह से अनेक नामो द्वारा वर्णन की जा सकती है।"

पश्चिम के आधुनिक दर्शन मे भी इस प्रकार के विचारो की कमी नही है। उदाहरण के रूप मे जर्मनी के प्रकाण्ड दार्शनिक हीगेल का कथन है कि 'विरुद्धधर्मात्मकता ही सब वस्तुओ का मूल है। किसी वस्तु का ठीक-ठीक वर्णन करने के लिए हमे उस वस्तु सम्बन्धी सम्पूर्ण सत्य कहने के साथ उस वस्तु के विरुद्ध धर्मों का किस प्रकार समन्वय हो सकता है यह भी प्रतिपादन करना चाहिए।"[3]

इसके पश्चात् हम नये विज्ञानवाद के प्रतिपादक ब्रेडले के विचारो पर दृष्टिपात करे। इस दार्शनिक का कहना है कि कोई भी वस्तु दूसरी वस्तुओ से तुलनात्मक दृष्टि से देखी जाने पर किसी अपेक्षा से आवश्यक और किसी अपेक्षा से अनावश्यक दोनो ही सिद्ध होती है। अतएव संसार मे कोई भी पदार्थ नगण्य अथवा आकिंचित्कर नही है, प्रत्येक तुच्छ-से-तुच्छ विचार मे और छोटी-से-छोटी सत्ता मे सत्यता विद्यमान है।[4]

आधुनिक दार्शनिक विद्वान् प्रो० जे० अचिम भी अपनी 'सत्य का स्वरूप' नामक प्रसिद्ध पुस्तक मे इसी प्रकार के विचार प्रकट करते हैं। इनका कहना है कि कोई भी विचार स्वत. ही दूसरे विचार से सर्वथा अनपेक्षित होकर केवल अपनी अपेक्षा से सत्य नही कहा जा सकता। उदाहरण के लिए तीन से तीन गुणा करने पर नौ होता है (३×३=९); यह सिद्धान्त एक बालक के लिए सर्वथा निष्प्रयोजन है। परन्तु इसे पढकर गणितज्ञ के सामने गणितशास्त्र के विज्ञान का सारा नक्शा आ जाता है। इसी प्रकार दूसरे तत्ववेत्ता प्रोफेसर पेटी के अनुसार यह विश्व किसी अपेक्षा से नित्य है। लेकिन इसका अर्थ यह नही कि इसमे परिवर्तन नही होता। यही सिद्धान ससार की छोटी-से-छोटी वस्तुओं के लिए भी लागू है। यह ब्रह्माड नाना दृष्टि-बिन्दुओ से देखा जा सकता है। किसी एक वस्तु के पिंड को जानकर हम उसके विषय मे सपूर्ण सत्य जानने का दावा नही कर सकते हैं। इसी तरह के विचार नैयायिक जोसफ, एडमण्ड, होम्स प्रभृति विद्वानो ने भी प्रकट किए हैं।

अमेरिका के प्रसिद्ध मानसशास्त्र के विद्वान् प्रो० विलियम जेम्स ने भी अपेक्षावाद से समानता रखने वाले विचारो को व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि "हमारी अनेक दुनिया हैं। साधारण मनुष्य इन सब दुनियाओ को परस्पर असबद्ध तथा अनपेक्षित दशा मे देखता है। पूर्ण तत्ववेत्ता वही है जो सम्पूर्ण दुनियाओं को एक-दूसरे से सबद्ध और अपेक्षित रूप मे जानता है।"

इस प्रकार जैन दार्शनिको की तरह विश्व के समस्त पौर्वात्य और पाश्चात्य दर्शनो के सस्थापको ने भी स्याद्वाद को अपने चिन्तन-मनन और आचार-व्यवहार के द्वारा सिद्ध करके किसी-न-किसी रूप मे स्वीकार किया है। और अपने अनुभवों को स्थायी रूप देने के लिए साहित्य का अंग बना दिया। यह स्थिति हमे कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य के निम्नलिखित भावो का स्मरण करने के लिए प्रेरित करती है—

"आदीपमाव्योमसमस्वभावं स्याद्वादमुद्रानति भेदि वस्तु।"

दीपक से लेकर आकाश पर्यन्त छोटे-बडे सभी पदार्थ स्याद्वाद की मर्यादा का उल्लघन नही कर सकते।

---

१. Thilly; History of Philosophy, पृ० २२
२. Dialogues of Plato
३. Thilly; History of Philosophy, पृ० ४६७
४. Appearance and Reality, पृ० ४८७

द्वैतवाद और अनेकान्त

युवाचार्य महाप्रज्ञ जी (मुनि नथमल)

हम जिस जगत् मे सांस ले रहे हैं वह द्वन्द्वात्मक है। उसमें चेतन और अचेतन—ये दो द्रव्य निरन्तर सक्रिय हैं। इन दोनों का अस्तित्व स्वतंत्र है—चेतन अचेतन से उत्पन्न नही है और अचेतन चेतन से उत्पन्न नही है। चेतन भी त्रैकालिक है और अचेतन भी त्रैकालिक है। इन दोनों मे सह-अस्तित्व है। दोनों परस्पर मिले-जुले रहते हैं। शरीर अचेतन है, आत्मा चेतन है। दोनों मे पूर्ण सामजस्य है। दोनो एक-दूसरे का सहयोग करते हैं। चेतन को अचेतन के माध्यम से और अचेतन को चेतन के माध्यम से समझने मे सुविधा होती है। चेतन से अचेतन और अचेतन से चेतन प्रभावित है। अचेतन मे ज्ञान नही है, इसलिए वह चेतन के प्रभाव से मुक्त होने की बात सोच नही सकता। चेतन मे ज्ञान है, इसलिए वह अचेतन के प्रभाव से मुक्त होने की बात सोचता है और उसके लिए उपाय करता है। इस तत्त्ववाद के आधार पर चेतन तत्त्व दो भागो मे विभक्त है—

१. अचेतन प्रभावित चेतन—बद्धजीव।

२. अचेतन से अप्रभावित चेतन—मुक्तजीव।

बद्धजीव की व्याख्या सापेक्ष दृष्टि से की जा सकती है। अचेतन की सापेक्षता के बिना बद्धजीव की व्याख्या नही की जा सकती। इस दृष्टि से बद्धजीव का अस्तित्व सापेक्ष-सत्य है और मुक्तजीव का अस्तित्व निरपेक्ष-सत्य है। इसी प्रकार चेतन से सपृक्त अचेतन पदार्थ परतंत्र होते हैं और चेतन से असपृक्त अचेतन पदार्थ स्वतत्र होते हैं। परतत्र अचेतन पदार्थ सापेक्ष-सत्य है और स्वतत्र अचेतन पदार्थ निरपेक्ष-सत्य है।

जैन तार्किकों ने पक्ष और प्रतिपक्ष के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनका तर्कसूत्र है— जो सत् है वह प्रतिपक्षयुक्त है। इस तर्क का आधार आगम सूत्र मे भी मिलता है। स्थानाग मे बतलाया गया है कि लोक मे जो कुछ है वह सब द्विपदावतार (दो-दो पदो मे अवतरित) होता है—

१ जीव और अजीव।

२. त्रस और स्थावर।

३. सयोनिक और अयोनिक।

४. आयु सहित और आयु रहित।

५. इन्द्रिय सहित और इन्द्रिय रहित।

६. वेद सहित और वेद रहित।

७. रूप सहित और रूप रहित।

८. पुद्गल सहित और पुद्गल रहित।

९. संसार समापन्नक।

१०. असंसार समापन्नक।

११. शाश्वत और अशाश्वत।

१२. आकाश और नो-आकाश।

१३. धर्म और अधर्म।

१४. बंध और मोक्ष।

१५. पुण्य और पाप।

१६. आस्रव और संवर।

१७. वेदना और निर्जरा।[1]

त्रयात्मक अस्तित्व

चेतन और अचेतन—इन दोनों द्रव्यों का अस्तित्व त्रयात्मक है। उसके तीन अंग हैं—ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय।

अस्तिकाय द्रव्य का ध्रौव्य अंश है। पांच द्रव्य अस्तिकाय वाले हैं—

१. धर्मास्तिकाय
२. अधर्मास्तिकाय
३. आकाशास्तिकाय
४. पुद्गलास्तिकाय
५. जीवास्तिकाय

अस्तिकाय का अर्थ है—प्रदेश-राशि। पुद्गलास्तिकाय की सबसे छोटी इकाई परमाणु है। वियुक्त-अवस्था मे परमाणु और संयुक्त अवस्था में प्रदेश कहलाता है। दो परमाणुओ के मिलने से बना हुआ स्कंध द्विप्रदेशी-स्कंध कहलाता है। पुद्गलास्तिकाय को छोड़कर शेष चार अस्तिकाय अविभागी हैं। इनका एक ही स्कन्ध होता है। उसका कोई भी भाग कभी पृथक नही होता, इसलिए चार अस्तिकायों के प्रदेश होते हैं, परमाणु नही होते। अवगाह की दृष्टि से एक परमाणु एक प्रदेश के तुल्य होता है। एक जीवास्तिकाय के असंख्य प्रदेश होते हैं और वे सब चैतन्यमय होते हैं। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के असंख्य प्रदेश होते हैं। आकाश के अनन्त प्रदेश होते हैं। इनका अपना-अपना विशेष गुण है। धर्मास्तिकाय के सभी प्रदेशो मे गति मे सहयोगी बनने की क्षमता है। अधर्मास्तिकाय के सभी प्रदेशो में स्थिति में सहयोगी बनने की क्षमता है। आकाश के प्रदेशो मे अवगाह देने की क्षमता है। पुद्गलास्तिकाय के परमाणुओ और प्रदेशो मे वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की क्षमता है। इन पांचो अस्तिकायों के अपने-अपने विशेष गुण हैं। वे गुण अपने-अपने द्रव्य से कभी पृथक् नही होते और न कभी एक-दूसरे में परिवर्तित होते हैं। पांचो अस्तिकायो की द्रव्य राशि (Mass) भी ध्रुव है। पुद्गलास्तिकाय विभागी-द्रव्य है, इसलिए कभी परमाणु संयुक्त होकर स्कंध निर्मित कर देते हैं और कभी वियुक्त होकर वे परमाणु बन जाते है। अविभागी अस्तिकायों का एक प्रदेश भी कम हो तो वे अस्तिकाय नही कहलाते। उनका पूर्ण स्कंध ही अस्तिकाय कहलाता है।

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—
'भंते ! धर्मास्तिकाय के एक, दो, तीन आदि प्रदेशो को धर्मास्तिकाय कहा जा सकता है ?'
भगवान् ने कहा—'गौतम ! नही कहा जा सकता।'
'भंते ! उन्हें धर्मास्तिकाय क्यो नही कहा जा सकता ?'
'गौतम ! चक्र का खंड चक्र कहलाता है, या पूरा चक्र चक्र कहलाता है ?'
'भंते ! चक्र का खंड चक्र नही कहलाता, पूरा चक्र चक्र कहलाता है।'
'गौतम ! छत्र का खंड छत्र कहलाता है या पूरा छत्र छत्र कहलाता है ?
'भंते ! छत्र का खंड छत्र नही कहलाता, पूरा छत्र छत्र कहलाता है।'
'गौतम ! चर्मरत्न का खण्ड चर्मरत्न कहलाता है या पूरा चर्मरत्न चर्मरत्न कहलाता है ?'
'भंते ! चर्मरत्न का खण्ड चर्मरत्न नही कहलाता है, पूरा चर्मरत्न चर्मरत्न कहलाता है।'
'गौतम ! दंड का खण्ड दंड कहलाता है या पूरा दंड दंड कहलाता है ?'
'भंते ! दंड का खंड दंड नही कहलाता, पूरा दंड दंड कहलाता है।'
'गौतम ! दुष्यपट्ट का खंड दुष्यपट्ट कहलाता है या पूरा दुष्यपट्ट दुष्यपट्ट कहलाता है ?'
'भंते ! दुष्यपट्ट का खंड दुष्यपट्ट नही कहलाता, पूरा दुष्यपट्ट दुष्यपट्ट कहलाता है ?'
'गौतम ! आयुध का खण्ड आयुध कहलाता है या पूरा आयुध आयुध कहलाता है ?'
'भंते ! आयुध का खंड आयुध नही कहलाता, पूरा आयुध आयुध कहलाता है।'
'गौतम ! मोदक का खंड मोदक कहलाता है या पूरा मोदक मोदक कहलाता है ?'
'भंते ! मोदक का खंड मोदक नही कहलाता, पूरा मोदक मोदक कहलाता है।'

---

१. ठाणं, २।१

'इसी प्रकार गौतम ! धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को यावत् एक प्रदेश न्यून धर्मास्तिकाय को धर्मास्तिकाय नहीं कहा जा सकता। प्रतिपूर्ण प्रदेशों को ही धर्मास्तिकाय कहा जा सकता है।'

'अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय के लिए भी यही नियम है।'[1]

द्रव्य, द्रव्यराशि और उसका विशेष गुण त्रैकालिक (सार्वदेशिक और सार्वकालिक) होने के कारण ध्रौव्य हैं।

द्रव्य के प्रदेश न उत्पन्न होते हैं और न नष्ट होते हैं, इसलिए वे ध्रुव हैं। उन्हें जानने वाला नय द्रव्यार्थिक नय है। यही निश्चय नय है।

द्रव्य के प्रदेशों में परिणमन होता है। वह उत्पाद और व्यय है। उसे जानने वाला नय पर्यायार्थिक नय है।[2] यही व्यवहार नय है।

निश्चय नय इन्द्रिय सीमा को पारकर केवल आत्मा से होने वाला अतीन्द्रिय ज्ञान है। इसलिए वह व्यक्त पर्याय (व्यंजन पर्याय अथवा द्रव्य का वर्तमान स्थूल पर्याय) को भेदकर द्रव्य के मूल स्वरूप तक पहुंच जाता है। चीनी पुद्गल का एक व्यक्त पर्याय है। निश्चय नय से जानने वाले के लिए चीनी केवल सफेद रंग और मिठास वाली नहीं है, वह एक पौद्गलिक स्कंध है, जिसमें प्रत्यक्ष हो रहे हैं—पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस और आठ स्पर्श—पुद्गल के मौलिक गुण।

निश्चय नय से जानने वाला द्रव्य के विभिन्न पर्यायों को मौलिक द्रव्य नहीं मानता, किन्तु वह मूल द्रव्य को ही द्रव्य के रूप में स्वीकृति देता है। इसलिए उसकी दृष्टि में द्रव्य का जगत् सिकुड़ जाता है, अभेद प्रधान बन जाता है।

व्यवहार नय बाह्य माध्यमों की सहायता से होने वाला इन्द्रिय ज्ञान है। इसलिए वह अव्यक्त पर्याय की सीमा में प्रवेश नहीं कर पाता, केवल व्यक्त पर्याय को ही जान पाता है। चीनी में सभी वर्ण, गंध, रस और स्पर्श होते हैं, फिर भी व्यवहार नय से जानने वाला उसके व्यक्त पर्याय (सफेद रंग और मिठास) को ही जान पाता है। उसमें द्रव्य के मूल स्वरूप तक पहुंचने की क्षमता नहीं होती। अतः व्यवहार नय की दृष्टि में द्रव्य का जगत् बहुत बड़ा होता है। वह व्यक्त पर्याय के आधार पर प्रत्येक द्रव्य को स्वतन्त्र रूप में स्वीकार कर लेता है। इसमें भेद प्रधान बन जाता है।

अनेकान्त के अनुसार द्वैत और अद्वैत भेद और अभेद के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। द्वैत के बिना अद्वैत और अद्वैत के बिना द्वैत नहीं हो सकता। अभेद का चरम बिन्दु है अस्तित्व। उसकी अपेक्षा अद्वैत सिद्ध होता है। अपने-अपने विशेष गुण की अपेक्षा से द्वैत सिद्ध होता है। जैसे दो द्रव्यों में अभेद और भेद का सम्बन्ध पाया जाता है, वैसे ही एक द्रव्य में भी अभेद और भेद दोनों पाए जाते हैं। गुण और पर्याय द्रव्य (द्रव्य की प्रदेश राशि) में होते हैं। उसके बिना नहीं होते। इस अपेक्षा से द्रव्य, गुण और पर्याय में परस्पर अभेद है। जो द्रव्य है वह गुण नहीं है और जो गुण है वह पर्याय नहीं है। इस अपेक्षा से तीनों—द्रव्य, गुण और पर्याय में भेद है। एक ही द्रव्य द्रव्य की दृष्टि से एक और पर्याय की दृष्टि से अनेक है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से द्रव्य एक या अखण्ड है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से द्रव्य में प्रदेश, गुण और पर्याय होते हैं, अतः वह अनेक है।

ध्रौव्य द्रव्य का शाश्वत अंग है। उत्पन्न होना और विनष्ट होना—ये द्रव्य के अशाश्वत अंग हैं। द्रव्य जगत् का यह सार्वभौम नियम है कि ध्रौव्य के बिना उत्पाद और व्यय नहीं होते तथा उत्पाद और व्यय से पृथक् कहीं ध्रौव्य नहीं मिलता। दोनों विरोधी स्वभाव के हैं, पर दोनों में सह-अस्तित्व है और दोनों परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। द्रव्य में शाश्वत और अशाश्वत का विरोधी युगल विद्यमान है। उसमें केवल एक विरोधी युगल ही नहीं किन्तु ऐसे अनन्त विरोधी युगल विद्यमान हैं। उन सबमें सह-अस्तित्व है। विरोध और सह-अस्तित्व ये दोनों सार्वभौम नियम हैं। इस जगत् में ऐसा कोई भी अस्तित्व नहीं है जिसका पक्ष हो और प्रतिपक्ष न हो तथा पक्ष और प्रतिपक्ष में सह-अस्तित्व न हो। यह दार्शनिक सत्य अब वैज्ञानिक सत्य भी बन रहा है। वैज्ञानिक जगत् में प्रतिकण और प्रतिपदार्थ के सिद्धान्त मान्यता प्राप्त कर रहे हैं। परमाणु में जितनी संख्या एलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन आदि कणों की होती है, उतनी ही संख्या प्रतिकणों की होती है। एलेक्ट्रोन का प्रतिकण पोजिट्रोन, प्रोटोन का प्रतिप्रोटोन और न्यूट्रोन का प्रतिन्यूट्रोन होता है। परमाणु के नाभिक का जब विखंडन होता है तब ये प्रतिकण एक सैकेण्ड के करोड़वें भाग से भी कम समय के लिए अस्तित्व में आते हैं। उस समय कण और प्रतिकण में टकराव होता है। फलस्वरूप गामा किरणें या फोटोन्स पैदा होते हैं।

वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि प्रतिकण कण का प्रतिद्वन्द्वी होते हुए भी उसका पूरक है। वे दोनों साथ-साथ रहते हैं, परस्पर एक-दूसरे का सहयोग करते हैं और उनमें क्रिया-प्रतिक्रिया का व्यवहार भी चलता है। उनके सह-अस्तित्व या सहयोग, विरोध या संघर्ष,

---

१. अंगसुत्ताणि, भाग २, भगवती, २।१३०-१३५

२ 'उप्पज्जंति वियंति य, भावा नियमेण पज्जवनयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्वं, सया अणुप्पन्नमविणट्ठं॥' सन्मति प्रकरण, १।११

क्रिया या प्रतिक्रिया को पेण्डुलम के उदाहरण से समझा जा सकता है।

अनेकान्तवाद के आधार पर चार विरोधी युगलों का निर्देश किया जाता है—

१. शाश्वत और परिवर्तन।

२. सत् और असत् (अस्तित्व और नास्तिक)

३. सामान्य और विशेष।

४. वाच्य और अवाच्य।

इन चार विरोधी युगलों का निर्देश केवल एक संकेत है। द्रव्य में इस प्रकार के अनन्त विरोधी युगल हैं। उन्हीं के आधार पर अनेकान्त का सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है।

ध्रौव्य प्रकपन के मध्य अप्रकपन है, परिवर्तन के मध्य शाश्वत है। पर्याय (उत्पाद-व्यय) अप्रकंप की परिक्रमा करता हुआ प्रकंपन और शाश्वत की परिक्रमा करता हुआ परिवर्तन है। द्रव्य ध्रौव्य का प्रतिनिधित्व करता है और पर्याय परिवर्तन का प्रतिनिधित्व करता है। अस्तित्व में अपरिवर्तन और परिवर्तनशील—दोनों प्रकार के तत्त्व विद्यमान रहते हैं। कोई भी अस्तित्व शाश्वत की सीमा से परे नहीं है और कोई भी अस्तित्व परिवर्तन की मर्यादा से मुक्त नहीं है।

द्वैतवाद—पुरुष और प्रकृति के द्वैतवाद पर सांख्य-दर्शन निम्नलिखित युक्तियों के माध्यम से पहुंचता है—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥ सांख्यकारिका, का० ९

१. अभावात्मक पदार्थ किसी भी क्रिया का विषय नहीं हो सकता। आकाशकुसुम उत्पन्न नहीं किया जा सकता। असत् को कभी भी सत् नहीं बनाया जा सकता। नीले को सहस्र कलाकार भी पीले में परिवर्तित नहीं कर सकते—**नहि नीलं शिल्पिसहस्रेणापि पीतं कर्तुं शक्यते— सांख्यतत्त्वकौमुदी।**

२. उत्पन्न पदार्थ उस सामग्री से भिन्न नहीं है, जिससे कि वह बना है—**उपादाननियमात्—सांख्यसूत्र, १/११५।**

३. उत्पन्न होने से पूर्व वह सामग्री के रूप में विद्यमान रहता है। यदि इसे स्वीकार न किया जाए तो हर किसी वस्तु से प्रत्येक वस्तु उत्पन्न हो सकेगी—

असत्त्वे नास्ति सम्बन्ध कारणैः सत्त्वसंगिभिः।

असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥

४. कार्यकारणभाव-सम्बन्धी योग्यता उसी से सम्बद्ध रहती है जिसके अन्दर आवश्यक क्षमता रहती है—**शक्तिश्च शक्तिमत्सम्बन्धरूपा संयोगवदुभयत्र या शक्याभावे न सम्भवतीति शक्यभावोऽभ्युपेयः। इति न्यायकणिकाचार्याः।**

५. कार्य का स्वरूप वही होता है जो कारण का होता है। अपने तात्त्विक रूप में कपड़ा धागों से भिन्न नहीं है। ऐसे पदार्थों में जो एक-दूसरे से तात्त्विक रूप में भिन्न हैं, कार्यकारणसम्बन्ध नहीं हो सकता—**कारणभावाच्च कार्यस्य कारणात्मकत्वात्—सांख्यतत्त्वकौमुदी। कारणभावात् कारणस्य सत्त्वादित्यर्थं अथवा कारण-स्वभावात्, यत्स्वभावं कारणं तत्स्वभावं कार्यम्--जयमंगला।**

अनेकान्तवाद—अनेक धर्मों के एक रसात्मक मिश्रण से उत्पन्न जात्यन्तरभाव को अनेकान्त कहते हैं—**को अणेयं-तो णाम ? जच्चंतरत्तं। धवला, १५/२५/१**

अनेकान्त के बिना वस्तुतत्त्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वह भेद ज्ञान से अनेक और अभेद ज्ञान से एक है। अतः भेदाभेद ज्ञान (अनेकान्त) ही सत्य है। इनमें से एक को ही सत्य मानना तथा उसका अन्य में उपचार करना मिथ्या है, क्योंकि एक का अभाव मानने पर दूसरे का भी अभाव हो जाता है और इस प्रकार वस्तुतत्त्व निःस्वभाव हो जाता है। वस्तु को सर्वथा नित्य मानने पर उसमें उदय-अस्त या क्रियाकारक योजना नहीं बन सकती। सर्वथा असत् का कभी जन्म नहीं हो सकता और सर्वथा सत् का नाश नहीं हो सकता। यथा—दीपक बुझने पर भी अन्धकार रूपी पर्याय को धारण किए हुए अस्तित्व में रहता ही है। वास्तव में विधि और निषेध दोनों कथंचित् इष्ट हैं, विवक्षावश उनमें मुख्य गौण की व्यवस्था होती है। (**द्रष्टव्य—स्वयम्भूस्तोत्र, २२-२५**)

(सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन् के 'भारतीय दर्शन' तथा आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के उपदेशों के आधार पर)

स्याद्वाद सिद्धान्त—मनन और मीमांसा

श्री रमेश मुनि शास्त्री

प्रत्येक दर्शन का एक मौलिक और विशिष्ट सिद्धान्त होता है, जिसके आधार पर उसके विचारों का भव्य भवन आधारित है। जैन दर्शन का अपना गम्भीर चिन्तन है, अपना मौलिक दृष्टिकोण है, उसका ज्योतिर्मय स्वरूप जैन साहित्य के प्रत्येक पृष्ठ पर अंकित है।

जैन दर्शन का प्राणतत्व अनेकान्तवाद है, इसकी सुदृढ नीव पर ही विचार और आचार का सुरम्य प्रासाद खडा होता है। इसलिए यहां यह जानना अतीव आवश्यक है कि अनेकान्तात्मक दृष्टिकोण का मूलभूत आधार क्या है? जैन वाङ्मय का गहराई से पर्यवेक्षण करने पर सुस्पष्ट हो जाता है कि अनेकान्त-दृष्टि सत्य पर आधारित है। प्रत्येक मानव सत्य-ज्योति का संदर्शन करना चाहता है, उसका साक्षात्कार करना चाहता है; जो व्यक्ति सत्य को एक ही दृष्टि से देखता है तो वह दृष्टि परिपूर्ण और यथार्थ दृष्टि नहीं है। अनेकान्तवादी पदार्थ के स्वरूप को एक ही दृष्टि से नही अपितु विभिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से देखता है, यही कारण है कि उस अनेकान्त-दृष्टि मे पूर्णता और यथार्थता रही हुई है।

इसी सन्दर्भ मे यह तथ्य ज्ञातव्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को वस्तु का यथार्थ स्वरूप पूर्णरूपेण ज्ञात हो सके यह असम्भव है। पूर्ण पुरुष ही अपने दिव्य ज्ञान से वस्तुमात्र के परिपूर्ण और यथार्थ स्वरूप को देखते हैं। परन्तु वे उसे वाणी के द्वारा अभिव्यक्त नही कर सकते। जब पूर्ण पुरुष भी शब्दो के द्वारा पदार्थ के पूर्ण स्वरूप को प्रकट नही कर सकते, प्रकाशित नही कर सकते; तब अपूर्व व्यक्ति वस्तु के पूर्ण रूप को प्रकट करने की क्षमता रखता हो, यह सम्भव नही है।

प्रत्येक पदार्थ अखण्ड है, वह अपने आप मे एक है, अनन्तधर्मात्मक है, द्रव्यपर्यायात्मक है। उसमे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों ही विद्यमान हैं। उत्पाद और विनाश परिवर्तन के प्रतीक हैं। ध्रौव्य नित्यता का सूचक है। गुण नित्यता का बोधक है और पर्याय अनित्यता का द्योतक है। इस पर से यह प्रकट है कि प्रत्येक पदार्थ के दो रूप होते हैं—नित्यता और अनित्यता, इनमे प्रथम पक्ष गुण का परिचायक है और उत्तर पक्ष उत्पाद और व्यय अर्थात् पर्याय का ससूचक है।

प्रत्येक वस्तु के स्थायित्व में स्थिरता, समानता और एकरूपता रहती है। यह सच है कि परिवर्तन के समय मे भी वस्तु के पूर्व रूप का विनाश होता है और उत्तर रूप की उत्पत्ति होती है। वस्तु के इस परिवर्तन में उत्पाद और व्यय होता है, फिर भी वस्तु का मूल स्वभाव विनष्ट नही हो सकता।

प्रस्तुत विवेचन अपने आप में गम्भीरता को समेटे हुए है। इसलिये विषय की स्पष्टता के लिए उदाहरण प्रस्तुत करना अति-आवश्यक है। एक स्वर्णकार है, वह स्वर्ण के हार को तोडकर कंकण बनाता है। इसमे हार का विनाश होता है और कंकण का निर्माण होता है। परन्तु इस उत्पाद और विनाश मे स्वर्ण का स्थायित्व बना रहता है। ठीक इसी तरह पदार्थ के उत्पाद-व्यय के समय मे मूल स्वभाव की स्थिरता बनी रहती है। उसका न तो उत्पाद होता है और न विनाश ही। वस्तु की यह जो स्थिरता है उसी को नित्य ध्रुव और शाश्वत कहते हैं।

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु नित्य है और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि मे वह अनित्य है, अशाश्वत है, क्षणिक और अस्थिर है। उक्त कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि वस्तु द्रव्य की दृष्टि से नित्य है और पर्याय को अपेक्षा से अनित्य है।

द्रव्य और सत् दो नही हैं, एक हैं। द्रव्य का जो लक्षण है, वही लक्षण सत् का है। इस सदर्भ मे ज्ञातव्य तथ्य यह है कि जैन दर्शन द्रव्य अथवा सत् को एकान्त रूप से नित्य स्वीकार नही करता है और न उसको एकान्त अनित्य ही मानता है, वह उसको नित्यानित्य मानता है।

जैन दर्शन की यह विचारधारा सर्वथा मौलिक है कि वह पदार्थ में उत्पाद और व्यय मानता है, परन्तु यह मूलभूत पदार्थ का उत्पाद-व्यय नहीं है। प्रत्येक वस्तु की जो-जो पर्याय है, उन्हीं का उत्पाद है, व्यय है। उत्पाद और व्यय की व्याख्या को समझना अति-आवश्यक है। स्वजाति का त्याग किए बिना पर्यायान्तर का अधिग्रहण करना उत्पाद कहलाता है। स्वजाति का त्याग किये बिना पर्याय के पूर्व भाव का

विनाश होना 'व्यय' कहलाता है। जैसे मिट्टी का पिण्ड स्वजाति को छोड़े बिना घट रूप पर्यायान्तर को ग्रहण करता है, यह उसका उत्पाद कहलाता है। घट की आकृति में परिणत होते ही मिट्टी पिण्ड की आकृति का व्यय हो जाता है। पिण्ड और घट रूप इन दोनो अवस्थाओं मे जो मिट्टी का अन्वय है उसको ध्रौव्य कहा जाता है। यहां पर मिट्टी का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, वह केवल पदार्थ के स्वरूप को समझने के लिए दिया गया, क्योकि मिट्टी का कोई द्रव्य नही होता वह पुद्गल द्रव्य का पर्याय है। यही कारण है कि जैन दर्शन उसको एकान्ततः नित्य नही मानता है जो परमाणु पुद्गल है वह वास्तव मे नित्य है। वह सदा के लिए परमाणु रूप मे रहेगा, उसका कभी भी विनाश नही होता।

उपर्युक्त विवेचन को तात्पर्य की भाषा में यों भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक पदार्थ मे नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म विद्यमान हैं और उन्हें हम किसी अपेक्षा विशेष से समझ सकते हैं। इसी अपेक्षा दृष्टि को जैन दर्शन की भाषा मे नय कहते हैं। नयवाद मे पदार्थ के स्वरूप को समझने की क्षमता है अतएव सभी दृष्टियो और दर्शनो का समावेश नयवाद मे हो जाता है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से हम वस्तु के नित्यत्व पक्ष का कथन करते हैं, उसके नित्यत्व स्वरूप को देखते हैं, परखते हैं। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से हम उसके पर्यायो को परिवर्तित होते हुए देखते हैं, जिससे वस्तु का पर्याय रूप अनित्य सिद्ध होता है।ये दोनो ही अपेक्षा-दृष्टियाँ यथार्थता को लिए हुए हैं। अतः दोनों ही सत्यांश हैं। दोनों ही नय अपनी-अपनी अपेक्षा से वस्तु स्वरूप का अवलोकन करते हैं, परन्तु अन्य नय का अपलाप नही करते। अतः वह सम्यग्नय कहलाता है और इस नय से वस्तु स्वरूप को देखने वाला दर्शन भी सम्यग्दर्शन कहलाता है।

अनेकान्तवाद सिद्धान्त का आधार है नयवाद। नय का अभिप्राय है वस्तुगत अनन्त गुण-धर्मों को अनेक सापेक्ष-दृष्टियों से समझना, जैसे एक आम्रफल है, उसका आकार भी है, इस ओर गंध भी है, वर्ण एवं स्पर्श भी है, इस प्रकार अनेक धर्म हैं। यदि हम उस फल को आकार की दृष्टि से देखते हैं तो वह गोल, त्रिकोण अथवा अन्य किसी भी आकार वाला प्रतीत होता है। रस के दृष्टिकोण से वह खट्टा, मीठा प्रतीता होगा। ये सब सापेक्ष दृष्टियाँ नयवाद के अन्तर्गत आ जाती हैं।

जितने भी एकान्तवाद प्रधान दर्शन हैं, उन सभी का अन्तर्भाव 'नयवाद' मे हो जाता है, कारण यह है कि वे वस्तु के मूल स्वरूप को एक ही दृष्टि बिन्दु से देखते-परखते हैं और उस दृष्टि में सत्य का अंश अवश्य है, परन्तु वे अपने दृष्टिकोण सत्य और अन्य के दृष्टिकोण को एकान्त रूप से मिथ्या बताते हैं अत वे अपने आप मे स्वय ही मिथ्या होते हैं। जैसे द्रव्य की दृष्टि से आत्मतत्व के नित्यत्व को देखने वाला दर्शन यह आग्रह रखता है कि आत्मा नित्य ही है, वह कभी भी अनित्य है ही नही, नित्यवाद ही सत्य है, अनित्यवाद का जो सिद्धान्त है वह पूर्णरूपेण असत्य है। इसी एकान्तवादप्रधान आग्रह के कारण वह नय नयाभास हो जाता है, मिथ्यानय हो जाता है, यह भी एक ज्ञातव्य तथ्य है कि उसमे सत्यांश है, किन्तु एकान्त का आग्रह, सत्याशो का तिरस्कार और अपनी दृष्टि का व्यामोह इन सभी कारणो से उसको नयाभास अथवा मिथ्यारूप में परिणत कर देता है। परिणामतः उनमे वैचारिक सघर्ष की ज्वाला धधकती है, दहकती है और वे अपने-अपने मंतव्य को सत्यांश को पूर्णरूपेण सत्य और दूसरो के अभिमत को असत्य सिद्ध करने के लिए तर्क और वितर्क के तीर तलवार को लेकर वाग्युद्ध के मैदान मे पहुंच जाते हैं और पारस्परिक संघर्ष भी प्रारम्भ हो जाता है, उसी सघर्ष रूपी ज्वाला को उपशान्त करने के लिये ज्योतिर्मय प्रभु महावीर ने एकान्तवाद के स्थान मे अनेकान्तवाद की परम शीतल सरिता प्रवाहित की। उन्होंने नित्यत्व-अनित्यत्व आदि पक्षो को लेकर संघर्षरत दार्शनिको को सुस्पष्ट और मधुर भाषा मे कहा तुम सभी ने सत्य को नही समझा है, तुम्हारा एकान्तवाद मूल से भरा है। वस्तुस्थिति यह है कि पदार्थ न एकान्ततः नित्य है, न ध्रुव है, न शाश्वत है और न वह अनित्य—अशाश्वत है, वह अनन्तधर्मात्मक है, अतएव उसको एक ही धर्म से युक्त कहना सत्य का घोर तिरस्कार है।

अनेकान्त और स्याद्वाद दोनो एक ही सिद्धान्त के दो पहलू हैं। यह भी एक तथ्य ज्ञातव्य है कि बाहर से एक सदृश प्रतीत होते हुए भी दोनो में अन्तर अवश्य है। अनेकान्त पदार्थ के मूल स्वरूप को देखने की एक विचार-पद्धति है। स्याद्वाद देखे हुए स्वरूप को अभिव्यक्त करने की भाषा-पद्धति है। अनेकान्त एक दार्शनिक दृष्टिकोण है और स्याद्वाद उसकी भाषा है। उस सिद्धान्त का प्ररूपण है।

वस्तुतः अनेकान्त चिंतन की अहिंसामयी प्रक्रिया है। इसका मूल सम्बन्ध मनुष्य के विचारो से जुड़ा हुआ है, स्याद्वाद अनेकान्त-प्रधान चिंतन की अभिव्यक्ति की शैली है, यही कारण है कि स्याद्वाद उक्त प्रकारीय विचार को अभिव्यक्ति देने की लिए अहिंसामयी भाषा की अन्वेषणा करता है।

अनेक, अंत और वाद इन तीन शब्दों से अनेकातवाद शब्द की निष्पत्ति होती है।अनेक शब्द का वाच्य अर्थ है—नाना, अन्त का अर्थ है वस्तु-धर्म, वाद का अर्थ मान्यता है। एक पदार्थ मे विभिन्न विरोधी-अविरोधी धर्मों की मान्यता का नाम अनेकान्तवाद है। इसकी दिव्य-दृष्टि का ध्वनित अर्थ है कि प्रत्येक पदार्थ मे सामान्य और विशेष रूप से, नित्यत्व की अपेक्षा से, अनित्यत्व की अपेक्षा से, सद्रूप से, असद्रूप से अनन्त-अनन्त धर्म विद्यमान हैं। अनेकान्तवाद का उन्मुक्त घोष है कि प्रत्येक वस्तु मे हर गुण-धर्म अपने धर्म के साथ रहता है। जहां अनेकान्तवादी दृष्टिकोण हमारी बुद्धि को पदार्थ के सभी धर्मों की ओर समग्र रूप से खींचता है, वहा स्याद्वाद वस्तु के धर्म का प्रधान रूप से परिबोध कराने में सर्वथा रूप से समर्थ है। अनेकान्तवाद और स्याद्वाद—इनमे यह भी अन्तर है कि अनेकान्त दृष्टि का फल विधानात्मक है

और स्याद्वाद का फल उपयोगात्मक है। सारपूर्ण शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि अनेकान्तवाद ने स्याद्वाद की मान्यताओं को जन्म दिया है अतः अनेकान्तवाद एक वृक्ष है और उसका फल स्याद्वाद है।

स्याद्वाद की यह उल्लेखनीय विशेषता है कि वह हमें चिन्तन की एकांगी पद्धति से बचाकर सर्वांगीण विचार के लिए उत्प्रेरित करता है, इसका परिणाम यह आता है कि हम सत्य के विभिन्न पहलुओं से भली-भांति परिचित हो जाते हैं। समग्र सत्य को समझाने के लिए स्याद्वाद दृष्टि ही एकमात्र सफल साधन है। स्याद्वाद पद्धति से ही विराट् सत्य का साक्षात्कार हो जाता है, जो विचारक पदार्थ के अनेक गुण धर्मों को ओझल करके किसी एक ही धर्म का प्रतिपादन करता है, उसी धर्म को पकड़कर अटक जाता है, वह कभी भी सत्य ज्योति के परिदर्शन नहीं कर सकता। जब हमारा चिंतन अभेद प्रधान होता है तब प्रत्येक प्राणी में चेतना की दृष्टि से समानता है और चेतना से बढ़कर सत्ता को आधार बताते हैं। तो चेतन और अचेतन समस्त हुआ पदार्थ सत् स्वरूप में एकाकार प्रतीत होता है। जब हमारा दृष्टिकोण भेद की प्रधानता को लिए होता है, तो अधिक-से-अधिक समान प्रतीत हो रहे दो पदार्थों मे भिन्नता होती है।

स्याद्वाद यह एक दिव्य-आलोक है जो हमे निराशा के सघन अधकार से बचाता है और वह दिव्य-दृष्टि हमे एक ऐसी विचारधारा की ओर ले जाती है, जहां पर सभी प्रकार के विरोधात्मक विचारो का दार्शनिक समस्याओं का निराकरण हो जाता है।

अनेकान्त अनन्त-धर्म वस्तु-स्वरूप की एक दृष्टि है, और स्याद्वाद एव सप्तभगीवाद ये दोनों उस ज्ञानात्मक दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करने के लिए सापेक्ष वचन पद्धति है। अनेकान्त एक लक्ष्य है तो स्याद्वाद सप्तभंगीवाद साधन है, उस समझाने का एक सुन्दर प्रकार है। अनेकान्त का जो क्षेम है वह बहुत ही व्यापक है और स्याद्वाद सप्तभंगीवाद का क्षेम व्याप्य है। इस प्रकार इन दोनो में व्याप्य-व्यापक-भाव सम्बन्ध है।

सप्तभगीवाद स्याद्वाद का आधारस्तम्भ है। पदार्थगत जो धर्म है वह सापेक्ष है, यही कारण है कि उसका विश्लेषण भी अपेक्षा दृष्टि से होगा। इसी सन्दर्भ मे यह एक तथ्य ज्ञातव्य है कि स्याद्वाद जहा पदार्थ का सापेक्ष विश्लेषण प्रस्तुत करता है, वहा सप्तभगीवाद पदार्थगत अनन्त-अनन्त धर्मों मे से प्रत्येक गुण-धर्म का तर्क-सगत विश्लेषण करने की प्रक्रिया को प्रस्तुत करता है।

यहा पर एक विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है कि यह सप्तभगी क्या है ? और उसका उपयोग क्या है ? प्रस्तुत प्रश्न का समाधान यह है कि प्रत्येक पदार्थ के स्वरूप प्रतिपादन मे सात प्रकार के वचनो का प्रयोग किया जाता है। एक वस्तु में अविरोधभाव से एक धर्म के विषय मे जो विधि निषेध की परिकल्पना की जाती है, उस धर्म के सम्बन्ध मे सात प्रकार से विवेचन विश्लेषण सम्भव है इसीलिए इसे सप्तभगी कहते है। भग शब्द का वाच्य अर्थ है—विकल्प, प्रकार या भेद। प्रत्येक शब्द के दो अर्थ होते हैं—विधि और निषेध। प्रत्येक विधि के साथ निषेध जुडा हुआ है और प्रत्येक निषेध के साथ विधि। एकान्ततः न कोई विधि है और एकांत रूप से न कोई निषेध है। प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध मे जो भी विवेचन विश्लेषण किया जाता है वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से दिया जाता है। इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि जिस वस्तु का विवेचन किया जा रहा है, उस विवेच्य वस्तु के साथ स्यात् पद का प्रयोग करना अतीव आवश्यक है, क्योंकि प्रधान अथवा गौण की विवक्षा सूचना इस पद के माध्यम से सप्राप्त होती है।

स्यात् पद अस्-भुवि धातु से निष्पन्न हुआ है। स्यात् यह संस्कृत रूप है और इसका प्राकृत रूपान्तर सिया होता है। जैन दर्शन मे इसका प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ मे किया गया है। इसका अर्थ है कथंचित् किसी अपेक्षा से स्यात् की व्याकरणा व्युत्पत्ति इस प्रकार है—अस् धातु का विधिलिंग लकार प्रथम पुरुष एक वचन का रूप है। जैन साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि स्यात् को सापेक्ष विधान का वाचक अव्यय बनाकर अपने अनेकान्तात्मक विचार को प्रकट करने का साधन बताया गया है। स्यात् और कथंचित् ये दोनो ही एक अर्थ के परिबोधक हैं। स्यात् श्रोता को विवक्षित धर्म का प्रधान रूप से ज्ञात कराता है और पदार्थ के अविवक्षित धर्मों के अस्तित्व की तत्प्रतिपक्षी धर्म की सूचना देता है इस पद के साथ किसी भी पदार्थ का विवेचन अधिक-से-अधिक सात प्रकार से हो सकता है। सात से भी अधिक प्रकारो से वस्तु का विश्लेषण सम्भव नही है। इसी कारण इसे सप्तभगी कहते हैं। वे सात भंग इस प्रकार हैं :

(१) स्यात् अस्ति घट.,
(२) स्यात् नास्ति घटः,
(३) स्यात् अस्ति नास्ति घट.,
(४) स्यात् अवक्तव्य घटः,
(५) स्यात् अस्ति अवक्तव्य घटः,
(६) स्यात् नास्ति अवक्तव्य घटः,
(७) स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य घटः।

प्रस्तुत सप्तभगी मे अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ये तीन ही मूलभूत भग हैं। इसमें से अस्ति, नास्ति, अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य ये तीन द्विसयोगी भग हैं। इस तरह सात भग होते हैं। प्रत्येक भंग निश्चयात्मक है, वह कभी-कभार भी अनिश्चयात्मक नहीं हो सकता। यही कारण है कि अनेक बार एक ही का प्रयोग भी होता रहा है, जैसेकि स्याद् घट अस्त्येव। यहां पर एव का प्रयोग स्वचतुष्टय की अपेक्षा निश्चितरूपेण घट का अस्तित्व प्रकट करता है। यदि एव का प्रयोग नही हुआ, तथापि प्रत्येक कथन को निश्चयात्मक ही समझना चाहिए। स्याद्वाद सिद्धान्त ने संदेहास्पद कथन का समर्थन नही किया है और वह अनिश्चय का भी समर्थक नही है।

यदि कोई भी वचन प्रयोग स्याद्वाद से सम्बन्धित है तो वह वचन निश्चयात्मक है।

प्रत्येक पदार्थ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की दृष्टि से सत् है और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव की अपेक्षा से असत् है इस प्रकार एक ही पदार्थ के सत् और असत् होने में कोई विरोध नहीं है।

स्याद्वाद और सप्तभंगी इन दोनों में व्याप्य-व्यापक-भाव सम्बन्ध रहा है। स्याद्वाद व्याप्य है और सप्तभंगी व्यापक है। यहां तक कि प्रत्येक पदार्थ अनन्तधर्मात्मक है, एतदर्थ सप्तभंगी के स्थान पर अनन्तभंगी क्यो नही स्वीकार की जाये। उक्त प्रश्न चिंतनीय है, इसका समाधान भी अवश्य है। प्रत्येक वस्तु मे अनन्त-अनन्त धर्म विद्यमान हैं और हर धर्म को सलक्ष्य मे रखकर एक-एक सप्तभंगी बनती है, इससे यह स्पष्ट है कि अनन्त धर्मों की अनन्त सप्तभगी होती हैं। यदि एक धर्म का ही भंग होता है तो अनन्त धर्मों की अनन्त भंगी हो सकती हैं पर यह कथन उचित नही है। वास्तविक स्थिति यह है कि एक धर्माश्रित एक सप्तभंगी है, इसलिए अनन्त धर्मों की अनन्त सप्त-भंगियां संभव हैं।

सप्तभंगीवाद मे प्रत्येक भंग स्वधर्म की प्रधानता होती है और दूसरे धर्म गौण हो जाते हैं, प्रधानता और अप्रधानता इन दोनो की विवक्षा के लिए स्यात् का प्रयोग होता है। स्यात् पद जहां विवक्षित धर्म का प्रमुख रूप से उपस्थापन करता है, वहा अविवक्षित धर्म का पूर्ण-रूपेण निषेध न कर उसका गौण रूप से उपस्थान कर देता है।

स्याद्वाद सिद्धान्त मे पदार्थ के स्वरूप का विवेचन सापेक्ष दृष्टि से किया जाता है। सातो भगो का जो आधार है वह काल्पनिक नही है। वरन् वस्तु का विविध और व्यापक रूप ही है। सप्तभगी मे वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व के सम्बन्ध में गम्भीर विचारणा की गई है। इसमे जो अस्तित्व और नास्तित्व का विधान है, वह वास्तव मे स्वचतुष्टय और परचतुष्टय के आधार पर है।

ये सातों ही वचन पद्धतिया अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं और उतनी सार्थकता रखती है। यह सच हैं कि प्रत्येक भग अलग-अलग रूप मे वस्तुमात्र के एक अश को ही प्रकट करता है। उसके पदार्थ के सपूर्ण स्वरूप को नही इसीलिए जैन दर्शन का उन्मुक्त घोष है कि इन सप्तवचन-पद्धतियो मे से प्रतिपादन-कर्ता अपने मतव्य को अभिव्यक्त करने के लिए उस वचन-पद्धति का उपयोग करता है, उसके पूर्व वह स्यात् का प्रयोग अवश्य करे। जिससे यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु की जो स्थिति है, उसमें अन्य सम्भावनाएं हैं।

ये सातों ही भंग जब सकलादेशी होते हैं, तब वे प्रमाणवाक्य कहलाते है और जब वे विकलादेशी होते हैं तब नयवाक्य कहलाते हैं। इसी प्रमुख आधार पर सप्तभंगी का वर्गीकरण दो प्रकार से हुआ—प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभगी।

यह तो पूर्णतः स्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु-तत्व मे अनन्त-अनन्त गुण-धर्म विद्यमान है। किसी भी एक वस्तु का सम्पूर्ण रूप से परिज्ञान करने के लिए उन अनन्त शब्दो का प्रयोग करना अतीव आवश्यक है, किन्तु यह सम्भव ही नही है। क्योकि अनन्त शब्दो का प्रयोग करने के लिए भी अनन्तकाल चाहिए। किन्तु, मानव का जो जीवन काल है, वह वास्तव मे परिमित है। अनन्तकाल नही है, इस पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी मनुष्य अपने समग्र जीवन मे एक भी पदार्थ का पूर्णतया प्रतिपादन नही कर सकता। इसलिए एक शब्द के द्वारा ही संपूर्ण अर्थ का परिबोध करना होता है। यह तथ्य ज्ञातव्य है कि बाह्य दृष्टिकोण से ऐसा भी परिज्ञात होता है कि वह एक ही धर्म का प्रति-पादन कर देता है। किन्तु, प्राधान्यवृत्ति अर्थात् अभेदोपचार की दृष्टि से एक शब्द के द्वारा एक धर्म का कथन होने पर भी अखड रूप मे अनत-धर्मात्मक संपूर्ण गुण धर्मों का युगपत् प्रतिपादन हो जाता है। एक ही शब्द से अनन्त गुण पदार्थों के पिण्ड स्वरूप सपूर्ण वस्तु का युगपत् परि-ज्ञान हो जाता है। इसको प्रमाण-सप्तभगी कहते हैं।

इस विराट् विश्व की प्रत्येक वस्तु गुण और पर्याय स्वरूप है। गुण और पर्याय इन दोनो का परस्पर भेदाभेद सम्बन्ध है। जिस समय मे भेद दृष्टि से वस्तु के स्वरूप का कथन किया जाता है। द्रव्य पदार्थ को गौण और पर्याय स्वरूप अर्थ को मुख्य माना जाता है। इसी को नय-सप्तभंगी कहते हैं। नय-सप्तभगी मे भेदवृत्ति या भेदोपचार का कथन किया जाता है।

इन दोनों मे मुख्य रूप से अन्तर यह है कि नय विकलादेश है और प्रमाण सकलादेश है। जिस समय प्रमाण सप्तभंगी के द्वारा पदार्थ का युगपत् परिबोध होता है, उस समय गुण और पर्यायो मे काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार आदि अभेदवृत्ति का उपचार होता है और अस्ति या नास्ति प्रभृति किसी भी पद से गुणपर्याय स्वरूप वस्तु का युगपत् परिज्ञान होता है। जिस समय नयसप्तभंगी के द्वारा वस्तु-तत्व का अधिगम किया जाता है, उस समय गुण पर्याय में काल आत्मरूप अर्थ आदि के द्वारा भेद का उपचार होता है और अस्तित्व नास्तित्व प्रभृति किसी शब्द के द्वारा ही द्रव्यगत अस्तित्व नास्तित्व आदि किसी एक विवक्षित गुण पर्याय का प्रमुख रूप से क्रमशः प्रतिपादन होता है।

प्रमाण और नय इन दोनों की जो विवक्षा है, वह वस्तुतः पदार्थगत अनेकात के परिबोध के लिये है और सप्तभंगी की जो व्यवस्था है वह तत्प्रतिपादक वचन-पद्धति को समझने के लिए है। स्याद्वाद मे सप्तभंगी का गंभीर रहस्य रहा हुआ है।

प्रस्तुत विषय अपने आप मे गभीरता को लिए हुए हैं, तथापि विषय की गंभीरता को सुस्पष्ट करने के लिए उस विविध पहलू पर पर्याप्त प्रकाश डालने का विनम्र प्रयत्न चल रहा है कि स्याद्वाद सिद्धान्त मे विविध विवक्षाओ से पदार्थ की सत्यता का व्याख्यान किया

जाता है। सत्य विराट् और अखण्ड है। शब्दो के असीम घेरे मे वस्तु के अनन्त-अनन्त गुणों की व्याख्या करना कदापि संभव नहीं है, किन्तु यह भी ज्ञातव्य है कि उसके केन्द्र मे मुख्य पहलुओ को अलग-अलग रूप से समाहार रूप में समझकर उस पदार्थ की अखण्डता का परिबोध किया जाता है। इस सिद्धान्त की गौरव गरिमा स्वयमेव सिद्ध है कि वह विभिन्न दृष्टियों को एक ही केन्द्र में संस्थापित करता है और वस्तु की सत्यता का विवेचन करता है, इससे यह स्पष्ट होता है कि स्याद्वाद समस्त विरोधात्मक विचारों को शान्त करता है। वस्तु के स्वरूप का सच्चा परिचायक है। इस सिद्धान्त के अभाव मे पग-पग पर विसवाद खड़े होते रहते हैं। जब अनेकान्तवाद स्याद्वाद की कल्याणकारिणी महागंगा में रहता है, तब किनारो के मिथ्यावादो का निराकरण भी स्वतः हो जाता है। यह मौलिक और विशिष्ट वाद अपनी अलौकिक विभिन्न नयो की तरल उत्ताल तरगो से तरगित होता है और वह अनेकान्तात्मक पदार्थ के विषय मे सुस्पष्ट रीत्या प्रतिपादन करता है।

सारपूर्ण शब्दों मे यह कथन भी समुचित होगा कि जैन दर्शन मे समन्वयात्मक दृष्टिकोण को लेकर स्याद्वाद का आविष्कार हुआ। विविध दृष्टियो को यथाप्रसग कभी मुख्य तो कभी गौण करने पर समन्वय रूपी नवनीत उपलब्ध होता है। यह समन्वय विधि यथार्थ-वाद की आधारभूमि पर निर्मित है। अतः स्याद्वाद सिद्धान्त की व्यापक परिधि मे निरपेक्ष काल्पनिक दृष्टिकोण का अवकाश नही है।

वस्तुतः स्याद्वाद दार्शनिक विवादो मे वैचारिक समन्वय की संस्थापना करता है और वह दार्शनिक क्षितिज पर सहस्र किरण दिवाकर की भाँति दीप्तिमान है, और उसकी दिव्य रश्मियाँ युग-युग तक विकीर्ण होती रहेगी।

स्यात् अर्थात् किसी अपेक्षा से कहना **स्याद्वाद** है। एक पदार्थ में बहुत से विरोधी प्रतीत होने वाले स्वभाव होते हैं। सबका वर्णन एक बार या एक ही काल मे नही हो सकता, एक का ही हो सकता है। जिस काल मे जिस स्वभाव का कथन करना हो, उसके साथ स्यात्—कथञ्चित् या किसी अपेक्षा से का प्रयोग करना ही **स्याद्वाद** है। उदाहरण के लिए एक पुरुष एक समय मे पिता, पुत्र, भाई, भान्जा, मामा आदि अनेक रूपो से युक्त होता है। उसके किसी एक रूप का कथन इस प्रकार करना चाहिए—स्यात् पिता है अर्थात् किसी अपेक्षा से (अपने पुत्र की अपेक्षा से) पिता है। स्यात् पुत्र है अर्थात् किसी अपेक्षा से (अपने माता-पिता की अपेक्षा से) पुत्र है। स्यात् भ्राता है अर्थात् अपने भ्राता या भगिनी की अपेक्षा मे भ्राता है, इत्यादि। इसी प्रकार आत्मा भी अस्ति स्वभाव, नास्ति स्वभाव, नित्य स्वभाव, अनित्य स्वभाव, एक स्वभाव, अनेक स्वभाव आदि विरोधी स्वभावो का धारक है। इन्ही विरोधी स्वभावो को समझाने के लिए सात भग कहे जाते हैं, जो गुरु-शिष्य के मध्य सात प्रश्नोत्तर हैं। जैसे —

१. क्या आत्मा नित्य है ? हा, आत्मा सदा बने रहने के कारण नित्य है—**स्यात् आत्मा नित्यः स्वभावः।**
२. क्या आत्मा अनित्य है ? हा, अवस्थाओ को परिवर्तित करते रहने के कारण आत्मा अनित्य है—**स्यात् आत्मा अनित्यः स्वभावः।**
३. क्या आत्मा नित्य अनित्य दोनो है ? हा, आत्मा एक ही काल मे नित्यानित्य स्वभावों से युक्त है—**स्यात् आत्मा नित्यानित्य स्वभावः।** जैसे सोने की अंगूठी को तोडकर कुण्डल बनाने पर उसमे सोना नित्य है, किन्तु कुण्डल या अगूठी रूप पर्याय अनित्य है।
४. क्या हम दोनो को एक साथ नही कह सकते ? हा, शब्दो मे शक्ति न होने से आत्मा अवक्तव्य है—**स्यात् आत्मा अवक्तव्य. स्वभावः।**
५. क्या अवक्तव्य होते हुए नित्य है ? हां, जिस समय अवक्तव्य है, उस समय नित्य भी है—**स्यात् आत्मा नित्यावक्तव्य स्वभावः।**
६. क्या अवक्तव्य होते हुए अनित्य है ? हा, जिस समय अवक्तव्य है, उस समय अनित्य भी है—**स्यात् आत्मा अनित्यावक्तव्य स्वभावः।**
७. क्या अवक्तव्य होते हुए नित्यानित्य भी है ? हां, जिस समय अवक्तव्य है, उस समय नित्यानित्य भी है—**स्यात् आत्मा नित्यानित्यावक्तव्यः स्वभावः।**

इस प्रकार किसी भी पदार्थ को समझने के लिए स्याद्वाद आवश्यक है। जब तक स्याद्वाद से पदार्थ को न समझेंगे तब तक हम पदार्थ को ठीक नही समझ सकते। प्रत्येक पदार्थ मे स्व की अपेक्षा से भाव तथा पर की अपेक्षा से अभाव होता है, अतः एक पदार्थ को दूसरे से पृथक् समझने के लिए यह सिद्धान्त दर्पणवत् है। राजवार्तिककार अकलंकदेव ने कहा भी है—**स्वपरात्मोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यं खलु वस्तुनो वस्तुत्वम्।**

(आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज कृत उपदेश-सार-संग्रह, भाग-६, दिल्ली, वी०नि०सं० २४९० से उद्धृत)

अन्य दर्शनों में अनेकान्तवाद के तत्त्व

श्री सुव्रत मुनि शास्त्री

जैन दर्शन का सर्वाधिक विशिष्ट सिद्धान्त 'अनेकान्तवाद' है। 'अनेकान्तवाद' शब्द तीन शब्दों के मेल से बना हुआ संयुक्त शब्द है। वे तीन शब्द हैं--अनेक+अन्त+वाद। 'अनेकान्तवाद' शब्द का अर्थ इन तीनों शब्दों के अनुरूप ही है। अनेक का सीधा-सा अर्थ है--एक न होकर बहुत, अन्त का अर्थ है--धर्म अथवा गुण और वाद का अर्थ यहा पर कथन है।

जैन दर्शन के मन्तव्य के अनुसार जगत् की प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मों का पुञ्ज है, असख्य गुणों का समूह है। इसीलिए उस सिद्धान्त को अनेकान्तवाद कहा जाता है, जिसमे वस्तु के किसी एक धर्म का नही, अपितु वस्तुगत समस्त धर्मों का समादर किया जाता है। एक मनीषी आचार्य ने अनेकान्तवाद का स्वरूप बताते हुए कहा है **अनन्तधर्मात्मकं वस्तु**। तत्त्व क्या है? इसके उत्तर मे कहा गया है कि--**अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्**।

वस्तु अपने आप में अनन्त है, पर उसके समग्र रूप को कभी एक साथ व्यक्त नही किया जा सकता। अनेकान्तवाद' वस्तुत 'वाद' अर्थात् विवाद नहीं है, वह तो एक प्रकार का सवाद है। अतः अनेकान्त के साथ प्रचलित अर्थ मे 'वाद' न लगाकर 'दृष्टि' लगाना ही अधिक उपयुक्त है। अनेकान्त-दृष्टि, वह दृष्टि है जिसमें किसी एक ही धर्म और गुण को नही पकड़ा जाता बल्कि एक को प्रधानता दी जाती है। जब एक को प्रधानता दी जाती है तो यह स्वाभाविक है कि शेष को गौणता प्राप्त हो जाती है। गौण-प्रधान-भाव मे वस्तु का कथन करना यही अनेकान्त-दृष्टि अथवा अनेकान्तवाद कहा जाता है। जैसा कि पहले बताया गया है-- 'वाद' का अर्थ है-- कथन करना।

भगवान् महावीर ने जो कुछ कहा था वह उनके कहने से अनेकान्तमय नही हुआ, लेकिन पदार्थों की जैसी स्थिति थी, वैसा ही उनका कथन था। यथार्थ का ज्ञाता एव द्रष्टा ही यथार्थ-भाषी होता है, अन्यथा-भाषी नही।

अनेकान्त-दृष्टि अथवा अनेकान्तवाद, क्या जैन परम्परा का ही एकमात्र सिद्धान्त है? क्या वैदिक परम्परा मे और बौद्ध परम्परा में इस प्रकार के विचार उपलब्ध नहीं हैं? निश्चय ही वहा पर भी इस प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं। वैदिक-परम्परा का आदि-ग्रन्थ 'ऋग्वेद' माना जाता है, बल्कि विश्व की समस्त पुस्तकों मे उसे प्रथम पुस्तक माना जाए तो भी अनुचित नही होगा। ऋग्वेद मे इस प्रकार के विचारो के सूक्ष्म बीज यत्र-तत्र बिखरे हुए उपलब्ध होते हे। ऋग्वेद मे एक स्थान पर कहा है --**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**। सत्य एक ही है, किन्तु विद्वान् लोग उसका कथन अनेक प्रकार से करते हैं। मुण्डकोपनिषद् मे एक शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया, "वह कौन-सी वस्तु है, जिसके ज्ञान से वस्तुमात्र का ज्ञान हो जाता है"। इसके उत्तर मे गुरु ने कहा था **एकेन मृत्पिण्डेन विज्ञातेन मृण्मयं विज्ञातं स्यात्** मिट्टी के एक ढेले को जान लेने पर सारी मिट्टी का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार का प्रश्न छान्दोग्योपनिषद् मे पूछा गया है। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि उपनिषद् काल के ऋषियो ने भी इस अनेकान्त पर अवश्यमेव विचार किया होगा।

बौद्ध-परम्परा में अनेकान्तवाद और अनेकान्त-दृष्टि जैसे शब्दो का प्रयोग तो नहीं है, हा, जैन-परम्परा के स्याद्वाद से मिलता-जुलता एक शब्द बौद्ध-परम्परा के साहित्य मे उपलब्ध होता है-- 'विभज्यवाद'। विभज्यवाद का प्रयोग सुप्रसिद्ध जैन अङ्ग-सूत्र 'सूयगड' मे भी किया गया है---**विभज्जवायं च वियागरेज्जा**।। विभज्यवाद का सामान्य अर्थ है --विभाग करके कथन करना। बुद्ध जब किसी भी तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं, तब वे सापेक्षतावाद को ध्यान मे रखकर ही कथन करते थे। बौद्ध परम्परा का मध्यम मार्ग एक प्रकार से जैन परम्परा के स्याद्वाद और अनेकान्तवाद का ही एक प्रतीक है। जैन दर्शन जिस प्रकार जगत् को सत् एव असत् कहता है, उसी प्रकार माध्यमिक बौद्ध भी कहता है। अस्ति और नास्ति ये दोनो अन्त हैं, शुद्धि और अशुद्धि ये दोनो भी अन्त है। तत्त्वज्ञानी इन दोनो अन्तो को त्यागकर मध्य में स्थित होता है। समाधिराज-सूत्र में कहा गया है--

> अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता
> शुद्धि-अशुद्धि इमेऽपि अन्ताः।
> तस्माद् उभे अन्त विवर्जयित्वा,
> मध्ये हि स्थान प्रकरोति पण्डित ॥

इस प्रकार बौद्ध-परम्परा को भी अनेकान्तवाद, किसी न किसी रूप में अभिमत रहा है।

यूनान देश के महान् विचारक एव दार्शनिक सुकरात, अफलातू और अरस्तू ने भी अपने विचारों के प्रतिपादन में ज्ञातभाव अथवा अज्ञातभाव से अनेकान्त का कथन किया ही है। सुकरात को अपने ज्ञान की अपूर्णता का, उसकी अल्पता का पूरा परिज्ञान था। इस मर्यादा के भान को ही उसने ज्ञान अथवा बुद्धिमत्ता कहा है। वह कहा करता था कि—"मैं ज्ञानी हूं क्योंकि मैं जानता हूं कि मैं अज्ञ हूं। दूसरे लोग ज्ञानी नहीं हैं। क्योकि वे यह नही जानते हैं कि वे अज्ञ हैं"। सुकरात के इस कथन से यह सिद्ध होता है कि उसका कथन अनेकान्तवाद के अनुरूप है। सुकरात के शिष्य प्लेटो ने कहा था कि हम लोग सागर के किनारे खेलने वाले उन बच्चों के समान हैं जो अपनी सीपियों से सागर के अथाह जल को नापना चाहते हैं। सत्य यह है कि हम सीपियो में पानी भर-भरकर कभी उसे खाली नही कर सकते। फिर भी अपनी छोटी-छोटी सीपियो मे जो पानी इकट्ठा करना चाहते हैं, वह उस महासागर का ही एक अश है, इसमें किसी प्रकार का संशय नही रह जाता। अफलातू का यह कथन स्याद्वाद और अनेकान्तवाद के अत्यन्त निकट है।

अरस्तू कहा करता था कि एक ओर अत्याचार है ओर दूसरी और अनाचार है। उन दोनो के बीच मे जो कुछ है वही सदाचार है। क्योकि अत्याचार और अनाचार दोनो पापरूप हैं। धर्म तो एकमात्र सदाचार है, जो दोनों के मध्य स्थित है, जो मध्य मे स्थित होता है वही वस्तुत धर्म होता है। अरस्तू के इस कथन मे अनेकान्त स्पष्ट ही परिलक्षित होता है। भले ही उसका कथन अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद शब्दो मे न किया गया हो।

जर्मनी का महान् दार्शनिक 'हिगेल' अपने युग का एक महान् विचारक था और समन्वयवादी विचारक था। दर्शनशास्त्र मे इसके युग से पूर्व जो कुछ लिखा गया था और स्वय उसके युग के अन्य दार्शनिको ने जो कहा था, उसमे जहा-जहां विसगति रह गई थी, हिगेल ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति उसकी संगति और समन्वय मे लगा दी थी। उनका कथन सापेक्षता को लेकर होता था। वर्तमान युग मे भारत मे समन्वयवादी विचारधारा को आगे बढाने मे स्वामी विवेकानन्द जी ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। भारतीय दर्शनो में स्वामी जी ने जो एक निकट का समन्वय देखा था, उसी का प्रतिपादन उन्होंने यूरोप में जाकर किया था। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द जी ने वही कार्य किया जो कार्य परम्परा से जैन-आचार्य करते आ रहे थे। इस प्रकार देखा जाता है कि अनेकान्तवाद सर्वत्र व्याप्त है। उसे अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद इन शब्दो से अभिहित किया जाए अथवा न किया जाए, पर भारत के समग्र दर्शनों मे और पाश्चात्य दर्शनों में भी यत्र-तत्र किसी-न-किसी रूप मे उसे स्वीकार किया ही गया है। सत्य से कभी इन्कार नही किया जा सकता।

जैन परम्परा के दार्शनिकों मे अनेकान्तवाद का प्रतिपादन तार्किक शैली से प्रस्तुत करने वाले आचार्य सिद्धसेन दिवाकर रहे हैं। उन्होंने अपने 'सन्मतिसूत्र' नामक ग्रन्थ मे अनेकान्त-दृष्टि पर व्यापक रूप मे विचार किया है। आचार्य समन्तभद्र जी ने अपने 'आप्तमीमांसा' ग्रन्थ मे स्याद्वाद का प्रतिपादन तार्किक शैली मे किया है। वैसे तो जैन-परम्परा के प्रत्येक दार्शनिक ने कम या अधिक रूप में अनेकान्तवाद और स्याद्वाद के सम्बन्ध मे कुछ न कुछ लिखा ही है किन्तु उक्त दोनो आचार्यों ने तो अपनी सम्पूर्ण शक्ति अनेकान्तवाद और स्याद्वाद के स्थापन मे ही लगा दी थी।

कुछ विद्वान् अनेकान्तवाद और स्याद्वाद को एक-दूसरे का पर्यायवाची समझ लेते हैं। परन्तु यह उचित नही है, क्योकि अनेकान्त एक वस्तुपरक दृष्टि है, एक वस्तु सम्बन्धी विचार है, वस्तु के सम्बन्ध मे सोचने की एक पद्धति है। स्याद्वाद का अर्थ है—वस्तु का विभिन्न गुण-कर्मों की अपेक्षा विशेष से कथन करना। अनेकान्त दृष्टि को जिस भाषा और जिस पद्धति से अभिव्यक्त किया जाता है; वास्तव में उसे ही स्याद्वाद कहा जाता है।

प्राचीन युग मे भारतीय दर्शनो मे अनेक वाद-विवाद, प्रतिवाद दृष्टिगोचर होते है। जहा वाद होता है वहां प्रतिवाद अवश्य ही होगा और जहा प्रतिवाद होता है वहा सघर्ष अवश्य होगा ही। इस स्थिति मे सघर्ष को टालने के लिए अथवा वाद-विवाद की कटुता को मिटाने के लिए किसी ऐसे सिद्धान्त की आवश्यकता थी, जो उनमे समन्वय स्थापित कर सके। उस युग की इस माग को अनेकान्तवाद ने पूरा किया था। यद्यपि अनेकान्त का खण्डन जैन-परम्परा को छोडकर अन्य सभी परम्परा के विद्वानो ने किया था, तथापि उसे किसी न किसी रूप मे स्वीकार भी अवश्य किया गया। जैसे वेदान्त-दर्शन एकान्त-नित्यवादी दर्शन रहा है और बौद्ध-दर्शन एकान्त-क्षणिकवादी दर्शन रहा है। सत् क्या है? इसके उत्तर मे वेदान्त कहता है कि वह एक है और नित्य है। बौद्ध-दर्शन कहता है—सत् अनेक हैं और वे सब क्षणिक है। इस प्रकार भारत में दोनो प्रसिद्ध दार्शनिक-पक्ष एक-दूसरे के विरोध मे खडे थे। यह कहना होगा कि साख्य ने सत्य को एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य न मानकर परिणामी-नित्य कहा था। इसका अर्थ यह है कि परिणामवाद ने कुछ सीमा तक उस कटुता को दूर करने का प्रयत्न अवश्य किया था, परन्तु पूर्णत नही। क्योकि साख्य ने अपने अभिमत पच्चीस तत्त्वो मे से एक पुरुष को कूटस्थ नित्य माना है। उसने एकमात्र प्रकृति को ही परिणामी माना है। चेतन को परिमाणी नही माना। समस्या का समाधान होकर भी नही हो सका। वाद-प्रतिवाद की परम्परा का क्रम चलता रहा, उसका अन्त न हुआ।

अनेकान्त-दृष्टि में और स्याद्वाद में समन्वय एवं प्रतिवाद दूर हो जाता है। अनेकान्तवाद की व्यवस्था ही इस प्रकार की है कि उसमें किसी भी प्रकार के वाद-विवाद को स्थान रहता ही नहीं। जैन-दार्शनिको से यह पूछा गया कि आपके यहा सत्य अनित्य है अथवा नित्य। तब उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—नित्य भी और अनित्य भी। कैसे और क्यों? इस दार्शनिक सनातन प्रश्न का समाधान उन्होंने दो दृष्टियों से किया—द्रव्य-दृष्टि से और पर्याय-दृष्टि से।

द्रव्य-दृष्टि से जगत् की प्रत्येक वस्तु नित्य है और पर्याय-दृष्टि से विश्व की प्रत्येक वस्तु अनित्य है। जैन-दार्शनिको ने कहा सत् भी सत्य है और असत् भी सत्य है। दोनों में दृष्टि का भेद है। दोनों में दृष्टि का अन्तर है। क्या घर मे रहने वाला एक व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा पुत्र और अपने पुत्र की अपेक्षा पिता नहीं हो सकता? पितृत्व और पुत्रत्व में विरोध प्रतीत होने पर भी विरोध नही है, क्योकि दृष्टि भिन्न-भिन्न है। तब फिर जगत् की एक ही वस्तु नित्य भी और अनित्य भी क्यों नही हो सकती? उसमे भी किसी प्रकार का विरोध दृष्टि-गोचर नहीं होता, क्योकि दोनो की अपेक्षा भिन्न-भिन्न है। जगत् के प्रत्येक पदार्थ मे जो परिवर्तन परिलक्षित होता है, वह पर्याय की अपेक्षा से है। उसकी सत्ता का कभी लोप नही होता—यह द्रव्य की अपेक्षा से उचित है। क्या एक ही व्यक्ति बालक, तरुण और वृद्ध नही हो सकता। फिर भी यह सत्य है कि तीनो अवस्थाओ में परिवर्तन आता है इसे झुठलाया नहीं जा सकता। यह भी सत्य है कि तीनों अवस्थाओ मे व्यक्ति एक ही है, भिन्न नही। जैन-दर्शन की यही अनेकान्त-दृष्टि है और यही अनेकान्त-तत्व या वाद है।

☐ 'नासदासीन्न सदासीत्तदानीम्।', ऋग्वेद, १०/१२६/१
'यद्यपि सदसदात्मकं प्रत्येक विलक्षण भवति तथापि भावाभावयो सहवस्थानमपि संभवति।', उपर्युक्त पर सायण-भाष्य

☐ 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके।' ईशोपनिषत्, ५
'अणोरणीयान् महतो महीयान्।' कठोपनिषत्, २/२०
'सदसच्चामृतं च यत्।' प्रश्नोपनिषत्, २/५
'अस्तीति काश्यपो अयं एकोऽन्त' नास्तीति काश्यपो अय एकोऽन्त: यदनयोर्द्वयो. अन्तयोर्मध्य तदरूप्य अनिदर्शनं अप्रतिष्ठ अनाभासं अनिकेत अविज्ञप्तिकं यमुच्यते काश्यप मध्यमप्रतिपदधर्मणा।', काश्यपपरिवर्तन, महायान सूत्र

☐ 'विरोधस्तावदेकान्ताद्वक्तुमत्र न युज्यते।', मीमांसाश्लोकवार्तिक
'···तस्मात् प्रमाणबलेन भिन्नाभिन्नत्वमेव युक्तम्। ननु विरुद्धौ भेदाभेदौ कथमेकत्र स्याताम्। न विरोध, सह दर्शनात्। यदि हि 'इद रजतम्, नेद रजतम्' इतिवत् परोस्परोपमर्देनभेदाभेदौ प्रतीयेयाताम् ततो विरुद्धयेयाताम् न तु तयो· परोस्परोपमर्देन प्रतीति। इय गौरिति बुद्धिद्वयम् अपर्यायेण प्रतिभासमानमेकं वस्तुद्वयात्मक व्यवस्था-पयति समानाधिकरण्य हि अभेदमापादयति अपर्यायत्व च भेदम्, अत प्रतीति बलादविरोध.। अपेक्षाभेदाच्च,··· एव धर्मिणो द्रव्यस्य रसादिधर्मान्तररूपेण रूपादिभ्यो भेद द्रव्यरूपेण चाभेद····', शास्त्रदीपिका

☐ इच्छन् प्रधानं सत्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुम्फित गुणै।
सांख्य सख्यावतां मुख्यो नानेकान्त प्रतिक्षिपेत्॥
चित्रमेकमनेक च रूप प्रामाणिक वदन्।
योगो वैशेषिको वाऽपि नानेकान्त प्रतिक्षिपेत्॥
प्रत्यक्ष भिन्नमात्रंशे मेयाशो तद्विलक्षणम्।
गुरुर्ज्ञानं वदन्नेकं नानेकान्त प्रतिक्षिपेत्॥
जातिव्यक्त्यात्मक वस्तु वदन्ननुभवोचितम्।
भट्टो वापि मुरारिर्वा नानेकान्त प्रतिक्षिपेत्॥
अबद्ध परमार्थेन बद्धं च व्यवहारत·।
ब्रुवाणो ब्रह्मवेदान्ती नानेकान्त प्रतिक्षिपेत्॥
ब्रुवाणा भिन्नाभिन्नार्थान्नयभेदव्यपेक्षया।
प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदा. स्याद्वाद सार्वतात्रिकम्॥', अध्यात्मसार, ४५-५१

—सम्पादक

स्याद्वाद

डॉ० सत्यदेव मिश्र

सत्यान्वेषण भारतीय दर्शन का प्रमुख वैशिष्ट्य है। द्रव्य और पर्याय—सत्य के दो पहलू हैं। सत्य के इस पक्षद्वैविध्य को भारतीय चिन्तको ने विविध रूपों में देखा है। अद्वैत-वेदान्त ने द्रव्य को परमार्थिक सत्य मानकर पर्याय को काल्पनिक कहा है। बौद्धों ने पर्याय को पारमार्थिक बताया है, पर द्रव्य को काल्पनिक माना है। अन्य दार्शनिक इन ऐकान्तिक मतों का खण्डन-मण्डन करते प्रतीत होते हैं। समन्वयवादी जैन चिन्तको ने सत्य को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त मानकर[1] द्रव्य तथा पर्याय—दोनो की परमार्थ सत्यता का उद्घोष किया है तथा स्वसिद्धान्त को अनेकान्तवाद के नाम से प्रतिष्ठित किया है।

अनेकान्तवाद मे 'अन्त' पद का अर्थ है—धर्म। अत: अनेकान्तवाद का शाब्दिक अर्थ है—वस्तु के अनेक या अनन्त धर्मों का कथन। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु, चाहे वह जीव हो या पुद्गल या इन्द्रिय जगत् या आत्मादि, उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यशील है तथा नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, भाव-अभाव जैसे विरुद्ध धर्मों से युक्त है। जो वस्तु नित्य प्रतीत होती है, वह अनित्य भी है। जो वस्तु क्षणिक दिखाई देती है, वह नित्य भी है। जहा नित्यता है, वहा अनित्यता भी है। वस्तु मे इन द्वन्द्वात्मक विरोधों की मान्यता अनेकान्तवाद है और वस्तु की अनेकान्तात्मकता का कथन स्याद्वाद है।[2] वस्तुतः "स्याद्वाद अनेकान्तवाद की कथन शैली है, जो वस्तु के विचित्र कार्यों को क्रमशः व्यक्त करती है। और विविध अपेक्षाओ से उनकी सत्यता भी स्वीकार करती है।"[3] अनेकान्तवाद और स्याद्वाद एक-दूसरे के पूरक हैं। प्रमेयफलक पर जो अनेकान्तवाद है, वही प्रमाणफलक पर स्याद्वाद है।

स्याद्वाद जैन दर्शन का एक प्राचीन तथा बहुचर्चित सिद्धान्त है। प्राचीनतम जैन ग्रन्थो मे इसका स्पष्ट संकेत है। भगवती सूत्र (१२-२-९) मे इसके तीन भंगो की चर्चा है। भद्रबाहु ने सूत्रकृतांग मे इसका विशेष उल्लेख किया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय मे तथा समन्तभद्र ने आप्तमीमासा मे स्याद्वाद के सात भगो का विशद विवेचन किया है। सिद्धसेन दिवाकर, अकलक, विद्यानन्द प्रभृति जैन नैयायिको ने इसे सुसम्बद्ध सिद्धान्त का रूप प्रदान किया है।

स्याद्वाद 'स्यात्' और 'वाद'—इन दो पदो से निष्पन्न है। 'स्यात्' पद तिङन्त प्रतिरूपक निपात है, जो अनेकान्त, विधि, विचार आदि अनेक अर्थों मे प्रयुक्त होता है। यहा यह 'अनेकान्त' द्योतक है।[4] 'स्यात्' क्वचित् (देश) और कदाचित् (काल) का भी वाचक होता है।[5] संभावना और सशय के अर्थ मे भी इसका प्रयोग प्राप्त होता है। स्याद्वाद के सदर्भ मे 'स्यात्' पद सशयार्थक नही है। इसका अर्थ है --अनेकान्त और यह अनेकान्त अनन्तधर्मात्मक वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान है, अत: 'स्यात्' शब्द भी निश्चितार्थक है।[6] 'स्यात्' के इस अर्थ के साथ सभावना और सापेक्षता भी जुड़े हुए हैं।

'स्यात्' पद का प्रयोग किए बिना इष्ट धर्म की विधि और अनिष्ट धर्म का निषेध नही किया जा सकता, अत: पदार्थ का प्रतिपादन करने वाली प्रत्येक वाक्य-पद्धति के साथ 'स्यात्' पद का प्रयोग किया जाता है। यह दो अर्थों को सूचित करता है—

१. विधि शून्य निषेध और निषेध शून्य विधि नही हो सकती।

२. अन्वयी धर्म (ध्रौव्य या सामान्य) तथा व्यतिरेकी धर्म (उत्पाद और व्यय या विशेष)—ये दोनो सापेक्ष हैं। ध्रौव्य-रहित

---

१. 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्', तत्त्वार्थसूत्र, ५।२९

२. 'अनेकान्तात्मकार्थ कथन स्याद्वाद.', आचार्य अकलक. लघीयस्त्रय, ६२

३. मधुकर मुनि. अनेकान्त दर्शन, पृ० २०

४. 'स च लिङन्त (तिङन्त) प्रतिरूपको निपात.। तस्यानेकान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु सभवत्सु इह विवक्षावशात् अनेकान्तार्थो गृह्यते।', तत्त्वार्थवार्तिक, ४।४२

५. 'सियासद्दो णिवायत्तादो जदि वि अणेगेसु अत्थेसु वट्टदे, तो वि एत्थ कत्थ वि काले देसे त्ति एदेसु अत्थेसु वट्टमाणो घेत्तव्वो।', कसायपाहुड, भाग १, पृष्ठ ३७

६. 'स्याद्वादो निश्चितार्थः अपेक्षितयाथात्म्यवस्तुवादित्वात्।', तत्त्वार्थवार्तिक, १।६

उत्पाद-व्यय और उत्पाद-व्यय-रहित ध्रौव्य कहीं भी उपलब्ध नहीं हो सकता।

वस्तु का स्वरूप सर्वात्मक नहीं है, अतः स्वरूप से उसकी विधि और पररूप से उसका निषेध प्राप्त होता है। उत्पाद और व्यय का क्रम निरन्तर चलता रहता है, अतः उत्पन्न पर्याय की अपेक्षा से वस्तु की विधि और अनुत्पन्न या विगत पर्याय की अपेक्षा से उसका निषेध प्राप्त होता है। स्याद्वाद का सिद्धान्त यह है कि विधि और निषेध वस्तुगत धर्म हैं। हम अग्नि का प्रत्यक्ष करते हैं, इसलिए उसकी विधि का अर्थ होता है कि अमुक देश में अग्नि है। हम धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान करते हैं तब साधक हेतु मिलने पर अमुक देश मे उसकी विधि और बाधक हेतु मिलने पर उसका निषेध करते हैं किन्तु स्याद्वाद का विधि-निषेध वस्तु के देश-काल से सबद्ध नही है। यह उसके स्वरूप-निर्धारण से संबद्ध है। अग्नि जब कभी और जहां कही भी होता है वह अपने स्वरूप से होता है, इसलिए उसकी विधि उसके घटकों पर निर्भर है और उसका निषेध उन तत्वो पर निर्भर है जो उसके घटक नही हैं। वस्तु मे विधि और निषेध—ये दोनो पर्याय एक साथ होते हैं। विधि-पर्याय होता है इसलिए वह अपने स्वरूप मे रहता है और निषेध-पर्याय होता है, इसलिए उसका स्वरूप दूसरो से आक्रान्त नही होता। यही वस्तु का वस्तुत्व है।[1] इस स्वरूपगत विशेषता की सूचना 'स्यात्' शब्द देता है।[2]

विभज्यवाद[3] और भजनावाद[4] स्याद्वाद के नामान्तर हैं। भगवान् महावीर ने स्वय भी अनेक प्रश्नों के उत्तर विभज्यवाद की पद्धति से दिए हैं। जयन्ती ने पूछा—'भते सोना अच्छा है या जागना अच्छा है।' महावीर ने कहा 'जयन्ती! कुछ जीवो का सोना अच्छा है और कुछ जीवों का जागना अच्छा है।'[5] जयन्ती ने पुन. प्रश्न किया—'भते' यह कैसे ?' महावीर का उत्तर था 'जो जीव अधर्मी हैं उनका सोना अच्छा है और जो धर्मी हैं, उनका जागना अच्छा है।' सोना ही अच्छा है या जागना ही अच्छा है, यह एकागी उत्तर होता। इसलिए महावीर ने प्रश्न का उत्तर विभाग करके दिया, एकागी दृष्टि से नही दिया।

भजनावाद के अनुसार द्रव्य और गुण के भेद एव अभेद का एकागी नियम स्वीकार्य नही। उसमे भेद और अभेद दोनों है। 'द्रव्य से गुण अभिन्न है', यदि इस नियम को स्वीकृति दी जाय, तो द्रव्य और गुण दो नही रहते, एक हो जाते है। फिर 'द्रव्य मे गुण'—इस प्रकार की वाक्य-रचना सभव नही। द्रव्य से गुण भिन्न है, यदि इस नियम को माना जाय, तो 'यह गुण इस द्रव्य का है'—इस प्रकार की वाक्य-रचना नही की जा सकती।

वस्तु स्वभावत अनेकधर्मात्मक है। जो वस्तु मधुर प्रतीत है, वह कटु भी है, जो मृदु प्रतीत होती है, वह कठोर भी है। जो दीपक क्षण-क्षण बुझता और टिमटिमाता दिखाई पडता है, उसमे एकान्तक्षणिकता ही नही, द्रव्य रूप मे स्थिरता भी है। 'जो द्वन्द्व (युगल) विरोधी प्रतीत होते हैं, उनमे परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है'– इस स्थापना के आधार पर अनेकान्त का सिद्धान्त अनन्त विरोधी युगलो को युगपत् रहने की स्वीकृति देता है।[6] पर इन विरोधी युगलो को एक साथ व्यक्त नही किया जा सकता। इनके युगपत् प्रतिपादन के लिए भाषा मे क्रमिकता और सापेक्षता चाहिए। यह सापेक्ष कथन या प्रतिपादन शैली स्याद्वाद है, जिसके अस्ति (विधि), नास्ति (निषेध) और अवक्तव्य आदि के भेद से अधोलिखित सात विकल्प है :—

१ स्याद् अस्ति एव—किसी अपेक्षा से है ही।

२. स्याद् नास्ति एव—किसी अपेक्षा से नही ही है।

३. स्याद् अस्ति एव स्याद् नास्ति एव—किसी अपेक्षा से है ही और किसी अपेक्षा से नही ही है।

४. स्याद् अवक्तव्य एव—किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

५ स्याद् अस्ति एव स्याद् अवक्तव्य एव—किसी अपेक्षा से है ही और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

६. स्याद् नास्ति एव स्याद् अवक्तव्य एव—किसी अपेक्षा से नही ही है और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

७ स्याद् अस्ति एव स्याद् नास्ति एव स्याद् अवक्तव्य एव—किसी अपेक्षा से है ही, किसी अपेक्षा से नही ही है और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

ये वचन विकल्प सप्तभंगी के नाम से प्रसिद्ध हैं।[7] इनमें प्रथम चार मूल भग है और अन्तिम तीन इन्ही के विस्तार है। मूल भगो के स्पष्टीकरण के लिए एक व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत है—

---

१. 'स्वपरात्मोपादानापोहनव्यवस्थापाद्य हि वस्तुनो वस्तुत्वम्', तत्त्वार्थवार्तिक, १।६

२. मुनि नथमल· जैन न्याय का विकास, पृ० ६७

३ सूयगडो, १।१४।२२

४. कसायपाहुड, भाग १, पृ० २८१

५. भगवई, १२।५३-५४

६. मुनि नथमल. जैन न्याय का विकास, पृ० ६८

७. 'सप्तभि: प्रकारैर्वचनविन्यास सप्तभगी', स्याद्वादमञ्जरी

तीन व्यक्ति एक स्थान पर खड़े हैं। किसी आगन्तुक ने पूछा—'क्या आप इनके पिता हैं?' उसने उत्तर दिया—'हाँ (स्यादस्मि)—अपने इस पुत्र की अपेक्षा से मैं पिता हूं। किन्तु इन पिताजी की अपेक्षा से मैं पिता नही हूं (स्यान्नास्मि)। मैं पिता हूं भी, नहीं भी हूं (स्यादस्मि-नास्मि), किन्तु एक साथ दोनो बातें नही कही जा सकतीं (स्यादवक्तव्यः)—इसलिए क्या कहूं?'

स्याद्वाद का एक शास्त्रीय उदाहरण है—घट, जिसका स्वरूप-नियमन जैन दार्शनिक सप्तभंगी के माध्यम से इस प्रकार करते हैं—

स्याद् अस्ति एव घट : —कथंचिद् घट है ही।

स्याद् नास्ति एव घट : —कथंचिद् घट नहीं ही है।

स्याद् अस्ति एव घट: स्याद् नास्ति एव घट:—कथंचिद्घट है ही और कथंचिद् घट नही ही है।

स्यादवक्तव्य एव घट —कथंचिद् घट अवक्तव्य ही है।

स्याद् अस्ति एव घट: स्यादवक्तव्य एव घट:—कथंचिद् घट है ही और कथंचिद् घट अवक्तव्य ही है।

स्यान्नास्ति एव घट : स्यादवक्तव्य एव घटः—कथंचिद् घट नहीं ही है और कथंचिद् घट अवक्तव्य ही है।

स्याद् अस्ति एव घट: स्यान्नास्ति एव घटः स्यादवक्तव्य एव घट —कथंचिद् घट है ही, कथंचिद् घट नही ही है और कथंचिद् घट अवक्तव्य ही है।

'स्याद् अस्ति एव घटः'—कथंचिद् घट है ही। इस वाक्य मे 'घट' विशेष्य और 'अस्ति' विशेषण है। 'एवकार' विशेषण से युक्त होकर घट के अस्तित्व धर्म का अवधारण करता है। यदि इस वाक्य मे 'स्यात्' का प्रयोग नही होता तो 'अस्तित्व-एकान्तवाद' का प्रसंग आ जाता, जो इष्ट नही है। क्योंकि घट में केवल अस्तित्व धर्म नही है, उसके अतिरिक्त अन्य धर्म भी उसमें हैं। 'स्यात्' शब्द का प्रयोग इस आपत्ति को निरस्त कर देता है। 'एवकार' के द्वारा सीमित अर्थ को वह व्यापक बना देता है। विवक्षित धर्म का असंदिग्ध प्रतिपादन और *अविवक्षित अनेक धर्मों का संग्रहण इन दोनो की निष्पत्ति के लिए 'स्यात्कार' और 'एवकार' का समन्वित प्रयोग किया जाता है।*[1]

सप्तभंगी के प्रथम भंग मे विधि की और दूसरे मे निषेध की कल्पना है। प्रथम भंग मे विधि प्रधान है और दूसरे मे निषेध। वस्तु स्वरूपशून्य नही है इसलिए विधि की प्रधानता से उसका प्रतिपादन किया जाता है और वह सर्वात्मक नही है, अत. निषेध की प्रधानता से उसका प्रतिपादन किया जाता है। जैसे विधि वस्तु का धर्म है वैसे ही निषेध भी वस्तु का धर्म है। स्व-द्रव्य की अपेक्षा से घट का अस्तित्व है। यह विधि है। पर-द्रव्य की अपेक्षा से घट का नास्तित्व है। यह निषेध है। इसका अर्थ यह हुआ कि निषेध आपेक्षिक पर्याय है—दूसरे के निमित्त से होने वाला पर्याय है। किन्तु वस्तुतः ऐसा नही है। निषेध की शक्ति द्रव्य मे निहित है। द्रव्य यदि अस्तित्वधर्मा हो और नास्तित्व-धर्मा न हो तो वह अपने द्रव्यत्व को बनाए नही रख सकता। निषेध 'पर' की अपेक्षा से व्यवहृत होता है, इसलिए उसे आपेक्षिक या पर-निमित्तक पर्याय कहते हैं। वह वस्तु के सुरक्षा-कवच का काम करता है, एक के अस्तित्व मे दूसरे को मिश्रित नही होने देता 'स्व-द्रव्य की अपेक्षा से घट है' और 'पर-द्रव्य की अपेक्षा से घट नही है'—ये दोनो विकल्प इस सत्यता को प्रकट करते हैं कि घट सापेक्ष है। वह सापेक्ष है *इसलिए यह नही कहा जा सकता कि जिस क्षण मे उसका अस्तित्व है, उस क्षण में उसका नास्तित्व नही है। अस्तित्व और नास्तित्व* (विधि और निषेध)— दोनो युगपत् हैं, किन्तु एक क्षण मे एक साथ दोनों का प्रतिपादन कर सके—ऐसा कोई शब्द नहीं है। इसलिए युगपत् दोनों धर्मों का बोध कराने के लिए अवक्तव्य भंग का प्रयोग होता है। इसका तात्पर्य यह है कि दोनो धर्म एक साथ हैं, किन्तु उनका कथन नही किया जा सकता।[2]

उक्त विवेचन का सार यह है कि स्याद्वाद के अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य आदि भंग घट वस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा पर्याय पर निर्भर करते हैं। घट जिस द्रव्य से निर्मित है, जिस क्षेत्र, काल और पर्याय मे है, उस द्रव्य, क्षेत्र, काल और पर्याय की दृष्टि से उसका अस्तित्व है, किन्तु अन्य-द्रव्य, अन्य-क्षेत्र, अन्य-काल और अन्य-पर्याय की अपेक्षा मे उसका नास्तित्व है। इस प्रकार घट में अस्तित्व-नास्तित्व दोनो हैं, और इन युगल धर्मों को एक साथ नही कहा जा सकता अत वह (घट) अवक्तव्य भी है।

अस्त, नास्ति तथा अवक्तव्य—ये तीन मूल भंग हैं। शेष चार भंग इन्ही भंगो के योग-अयोग से निष्पन्न होते हैं,[3] अतः उनका *विवेचन अनावश्यक है। सप्तभंगी से घटादि वस्तु के समग्र भावाभावात्मक, सामान्य-विशेषात्मक, नित्यानित्यात्मक और वाच्यावाच्यात्मक* धर्मों का युगपत् कथन संभव है।

विवेचित उदाहरणो से यह निष्कर्ष निकलता है कि स्याद्वाद का महत्त्व जितना दर्शन की गम्भीर पहेलिया सुलझाने में है, उतना ही जीवन की जटिल समस्याओ का निराकरण करने मे भी है। यह अनुभवगम्य तथा सापेक्षसिद्ध होने के कारण व्यावहारिक जगत् की भाषा

---

१. मुनि नथमल, जैन न्याय का विकास, पृ० ७०

२. वही, पृष्ठ ७०-७१

३. यशोविजय, जैनतर्कभाषा, १६-२०

है, तथापि साम्प्रदायिक आग्रह के कारण कतिपय दार्शनिकों ने इसकी कटु आलोचना की है। शान्तरक्षित ने सप्तभंगी नय को उन्मत्त व्यक्ति का प्रलाप कहा है क्योंकि यह सत्त्व-असत्त्व, अस्तित्व-अनस्तित्व, एक-अनेक, भेद-अभेद तथा सामान्य-विशेष जैसे विरोधी धर्मों को एकत्र समेटने का उपक्रम करता है।[1] शंकराचार्य ने स्याद्वाद को सशयवाद का पर्याय मान लिया है तथा इसके खण्डन में यह कहा है कि एक वस्तु में शीत व उष्ण के समान विरोधी धर्म युगपत् नही रह सकते। वस्तु को विरोधी धर्मों से युक्त मानने पर स्वर्ग और मोक्ष मे भी विकल्पत: भाव-अभाव और नित्यता-अनित्यता की प्रसक्ति होगी। स्वर्गादि के वास्तविक स्वरूप की अवधारणा के अभाव में किसी की इनमे प्रवृत्ति नही हो सकती। इसी प्रकार विश्वसनीयता एव अविश्वसनीयता के विकल्पो से व्याहत आर्हत मत भी अग्राह्य होगा।[2] रामानुजाचार्य के अनुसार भी स्याद्वाद अयौक्तिक है क्योंकि छाया तथा आतप के समान विरुद्ध अस्तित्व तथा अनस्तित्वादि धर्मों का युगपत् होना असंभव है।[3] तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर ये आलोचनाए असगत सिद्ध होती है।[4] स्याद्वाद वस्तु को एक ही अपेक्षा से शीत-उष्ण नही कहता। जल शीतल है, इसका अर्थ यह है कि वह गरम दूध या चाय की अपेक्षा शीतल है। जल उष्ण है, इसका अर्थ है कि वह बरफ की अपेक्षा गरम है। यह नहीं कि जल में शीतलता और उष्णता एक साथ विद्यमान हैं। वस्तुत. जल अन्य वस्तु की अपेक्षा से शीतल और उष्ण है। इस अपेक्षा-भेद को न समझने के कारण ही शान्तरक्षित आदि ने स्याद्वाद का विरोध किया है। मल्लिषेण ने इन आलोचको का उत्तर देते हुए कहा है कि वस्तु से सत्त्व का अभिधान उस (वस्तु) के रूप-द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की अपेक्षा मे होता है और उसके असत्त्व का अभिधान अन्य (वस्तु) के रूप-द्रव्य-क्षेत्र-काल एव भाव की अपेक्षा से किया जाता है, अत· विरोध का अवकाश कहा है ?[5] इसके अतिरिक्त 'स्यात्' का अर्थ, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, न 'शायद' है, न 'सभवत' है और न 'कदाचित्' ही। स्याद्वाद के सन्दर्भ मे यह 'कथंचित्' या 'किसी अपेक्षा' का वाचक है। इसलिए 'स्याद्वाद' को संशयवाद कहना भ्रामक है। जहा सशय होता है, वहा परस्पर विरोधी अनेक धर्मों का युगपत् शंकात्मक ज्ञान होता है, क्योकि संशय साधक और बाधक प्रमाण का अभाव होने से अनिश्चित अनेक अशो का स्पर्श करता है और अनिर्णयात्मक स्थिति मे रहता है। स्याद्वाद मे यह नही होता। यहा परस्पर विरुद्ध सापेक्ष धर्मों का निश्चित ज्ञान होता है। वह अपेक्षाओ के बीच अस्थिर न रहकर, निश्चित प्रणाली के अनुसार वस्तु का बोध करता है।[6] स्याद्वाद मे निश्चय है, अत इसे अनिश्चयात्मक सशयवाद मानना सर्वथा अनुचित है। शकराचार्य के द्वारा स्याद्वाद की आलोचना और भी अशोभनीय लगती है क्योंकि उन्होंने स्वय भी परमार्थ तथा व्यवहार की अपेक्षा से नामरूपात्मक जगत् के मिथ्यात्व और सत्यत्व का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है तथा उनके अनिर्वचनीयतावाद पर स्याद्वाद के प्रमुख भंगो का प्रभाव परिलक्षित होता है।

विद्वानो ने स्याद्वाद की तुलना भर्तृप्रपञ्च, नागार्जुन, हीगेल, काण्ट, ब्रैडले, स्पेन्सर, हेरेक्लाइट्स, ह्वाइटहेड प्रभृति दार्शनिकों के विचारो से की है,[7] पर यह एक अन्य लेख का विषय है, अत यहा इसकी चर्चा उचित नही।

वैज्ञानिक सापेक्षवाद के सन्दर्भ मे स्याद्वाद का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वैज्ञानिको ने इस बात को स्वीकार किया है कि हम वस्तु के स्वरूप को एकान्तदृष्टि से नही अपितु अनेकान्तदृष्टि से ही जान सकते हैं और विश्लेषण कर सकते हैं। विज्ञान की प्रयोगशाला मे यह तथ्य सामने आया है कि वस्तु मे अनेक धर्म और गुण भरे हुए हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटाईन आदि ने विश्व मे व्याप्त सापेक्षता के सिद्धान्त की खोज द्वारा एक छोटे-से परमाणु तक मे अनन्त शक्ति और गुणो का होना सिद्ध कर दिया है।[8] प्रोफेसर पी० सी० महालनबीस ने स्याद्वाद की सप्तभंगी को सांख्यिकी (statistics) सिद्धान्त के आधार रूप मे उपन्यस्त किया है।[9]

प्रस्तुत अध्ययन का निष्कर्ष यह है कि स्याद्वाद वस्तु-धर्म-विश्लेषण का व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक सिद्धान्त है और अपनी इन विशेषताओ के कारण ही यह उत्कृष्ट एव लोकप्रिय भारतीय चिन्तन का प्रतिनिधित्व करता है।

---

१. तत्त्वसंग्रह, ३११-३२७

२. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, २।२।३३

३. 'एकस्मिन्वस्तुनि अस्तित्वानस्तित्वयोर्विरुद्धस्य च्छायातपवद्युगपदसंभवात्', शारीरकभाष्य, २।२।३१

४. S. Radhakrishnan: Indian Philosophy, Vol. I, पृ० ३०४

५. 'स्वरूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सत्त्वम्, पररूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैस्त्वसत्त्वम्, तदा क्व विरोधावकाश:', स्याद्वादमञ्जरी, पृ० १७६, तुलनीय-स्याद्वाद-मुक्तावली, १, १९-२२

६. मधुकर मुनि: अनेकान्त दर्शन, पृ० २५-२६

७. T. G. Kalghatgi : Jaina View of life, पृ० २३-३२,
अनेकान्तदर्शन, पृ० २७ तथा जैन न्याय का विकास, पृ० ७२

८. अनेकान्त दर्शन, पृ० २६

९. जैन न्याय का विकास, पृ० ७५-७७

समन्वय का मार्ग : स्याद्वाद

डॉ० अरुणलता जैन

"स्याद्वाद जैन दर्शन का एक अभेद्य किला है जिसके अन्दर प्रतिवादियो के गोले प्रवेश नही कर सकते।", महामहोपाध्याय पं० स्वामी राम मिश्र शास्त्री के स्याद्वाद के विषय मे उक्त विचार बड़े ही समीचीन हैं। वस्तुतः स्याद्वाद जैन दर्शन मे व्यवहृत अनेकान्त सिद्धान्त की एक पद्धति विशेष है जो वस्तु के अनन्त ज्ञानाशो का प्रकारान्तर से प्रकाशन करती है। एकान्तिक, एकांशिक, एकांगिक दृष्टियो से समाज, राष्ट्र, विश्व मे वैयक्तिक-विग्रह उत्पन्न होता है। स्याद्वाद उसका निवारक है साथ ही सत्य का निकट से परिचय कराता है।

स्याद्वाद वैज्ञानिक उपाय

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो वस्तु के परिज्ञान के साधन प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष एक ही रूप मे उसका ज्ञान उजागर नहीं करते। स्वाध्ययन और अनुभव के आधार पर पदार्थ के भिन्न-भिन्न रूप अनुभूति मे आते हैं जिन्हे तर्क द्वारा झुठलाया नही जा सकता और न भ्रमपूर्ण कहा जा सकता है। इन भिन्न-भिन्न दृष्टियो, अनुभूतियो पर अनेकान्त दृष्टि से विचार न करके जब सकीर्ण-भाव से विचार कर एकान्त दृष्टि से असत्य मान लेते है, तब ऐसे विचार सघर्ष का कारण बनते हैं। ऐसी दृष्टि वाले लोग एकान्तवादी होने के कारण सत्य के सर्वांगीण विकास से वचित रह जाते है। जैन दर्शन का स्याद्वाद एक वैज्ञानिक उपाय है जो ऐसी तमोमय स्थिति को प्रकाशमान तथा गतिमान बनाता है।

स्याद्वाद का अर्थ

अब देखना यह है कि स्याद्वाद है क्या जिसमे सघर्ष-निवारण तथा शान्ति-प्रसारण की शक्ति निहित है। स्याद्वाद यौगिक शब्द है, स्यात् + वाद, "स्यात् सहित वाद स्याद्वादः।" स्यात् शब्द सापेक्षता की सिद्धि करता है जिसका अर्थ है कथंचित् तथा वाद का अर्थ है कथन। इस प्रकार 'स्यात्' सहित कथन होने के कारण यह पद्धति स्याद्वाद कहलाती है। किसी पदार्थ के शेष अनेक गुणो को नकारते नही वरन् गौण बनाकर तत्कालिक स्थित्यनुसार गुण विशेष का प्रमुख रूप से प्रतिपादन करना ही स्याद्वाद है।

सकलादेश, विकलादेश दृष्टि

यह कथन के साथ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग एकान्त दृष्टि का निराकरण करती है। जब पदार्थ के अनन्त गुणो धर्मों पर दृष्टि रहती है तब इसे सकलादेश दृष्टि तथा पदार्थ के एक गुण धर्म विशेष को मुख्य तथा शेष गुणो को गौण बनाकर कथन किया जाय तो यह विकलादेश दृष्टि होती है। सकलादेश प्रमाण-दृष्टि तथा विकलादेश नय-दृष्टि कहलाती है। सद्रूप पदार्थ मे रहे हुए अनन्त धर्मों को एक साथ विषय करने वाला प्रमाण है, "सकलादेश प्रमाणाधीना"। प्रमाण वस्तु को अखड रूप मे ग्रहण करता है। प्रमाण-दृष्टि मे वस्तुगत समस्त धर्मों में विशेष, गौण स्थिति नही होती है। वस्तु किसी अपेक्षा से कथचित् सत् है। इस कथन मे वस्तु के एक अस्तित्व गुण का कथन है। उसमे निहित अनेक का नहीं। किन्तु यहां वक्ता का अभिप्राय प्रतिपादित अस्तित्व गुण के साथ, उसमे निहित अविवक्षित नास्तिकत्व, अवक्तव्य आदि गुणो के कथन से भी है। नय की दृष्टि से वस्तुगत अन्य विवक्षित-धर्मा गौणता की दृष्टि मे आते हैं। जबकि प्रमाण-दृष्टि से ये सभी धर्म एक गुण के प्रतिपादन द्वारा एकसाथ ग्रहण कर लिये जाते हैं। एक वस्तु में अविरोध रूप में सत्-असत् आदि धर्म की कल्पना की जाती है। इस प्रकार सातों में से किसी-किसी धर्म की मुख्यता से समान धर्मों के ग्रहण करने मे प्रमाण सप्तभगी[1] प्रतीत होता है। ये दोनों दृष्टियाँ सात नामों से निर्दिष्ट हैं :—

---

१. "एकस्मिन्न विरोधेन प्रमाणनयवाक्यत।
सदादि कल्पना या च सप्तभगीति सा मता॥", पंचास्तिकाय १४/३०/१५

१. स्यात् अस्ति

२. स्यात् नास्ति

३ स्यात् अस्ति नास्ति

४. स्यात् अवक्तव्य

५. स्यात् अस्ति अवक्तव्य

६. स्यात् नास्ति अवक्तव्य

७. स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य

वस्तु में अनेकत्व

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, अनेक पर्यायों का आधार है। अनेक का तात्पर्य वस्तु मे सन्निहित विवक्षित तथा अविवक्षित दो विरोधी धर्मों से है। वस्तु मे दो विरोधी धर्म किसी खास विवक्षा से ही रह सकते है। नित्य का विरोधी अनित्य, एक का विरोधी अनेक, भेद का विरोधी अभेद आदि है। वस्तु नित्य है यह द्रव्य-दृष्टि है, वस्तु अनित्य है यह पदार्थ-दृष्टि है। जब आभूषण को कगन कहते है तब कगन वस्तु की पर्याय-दृष्टि से कहा गया इसलिए अनित्य है, क्योंकि कभी गलवा कर अगूठी आदि बनवाई जा सकती है। अत इसकी पर्याय नष्ट हो सकती है। जब यह कहते हैं कि कगन सोने का है तब यह द्रव्य-दृष्टि है क्योकि सोना नित्य है; गलाने पर भी सोना ही रहेगा। 'स्यात्' शब्द वस्तु के अस्तित्व गुण को प्रधानता से बताता है। इसके द्वारा अनेकान्त और सम्यक्-एकान्त का बोध होता है। एक ही दृष्टि से वस्तु दोनो नही हो सकती। वस्तु के अनन्त धर्मों का बोध न होने के कारण एकान्तवादी स्याद्वाद को नही समझ सके। वाणी के द्वारा एकमात्र सत्य का पूर्ण कथन नही हो सकता।

जिस धर्म का वर्णन किया जाता है वह मुख्य तथा अन्य गौण बन जाते है। एकान्तदृष्टि से अन्य गौण धर्म वस्तु से पृथक् माने जाते हैं। इस प्रकार एकान्त दृष्टि से वस्तु का सौन्दर्य समाप्त हो जाता है। यह निश्चित है कि ससार विरोधी तत्त्वो से पूर्ण है। उदाहरणार्थ सखिया प्राणघातक पदार्थ माना गया है किन्तु वैद्यक प्रक्रिया द्वारा यह प्राणरक्षक बन जाता है। यदि सखिया को अनुपात में न खाया जाए तो वह प्राणघातक बन जाता है। किन्तु वैद्य के परामर्श के अनुसार यथाविधि सेवन करने पर प्राणरक्षक होता है। स्पष्ट है कि सखिया पदार्थ मे एक ही नही दोनो दृष्टिया सन्निहित हैं। इस प्रकार वस्तु के स्वरूप के विषय मे समन्वयकारी परस्पर मैत्री रखने वाली दृष्टि से वस्तु का सत्स्वरूप हृदयग्राही होता है।

स्याद्वाद भगवान् ऋषभदेव की देन

स्याद्वाद नया नही है। भगवान् ऋषभदेव ने ही इसका प्रतिपादन कर दिया था। भगवान् महावीर के समय तक सदर्भ बदल गए। जनसाधारण को समझाने का नया आयोजन भगवान् महावीर ने किया था। आज भी लोग स्याद्वाद को नही समझ पाते। स्याद्वाद मे व्यवहृत 'स्यात्' को अरबी भाषा के 'शायद' शब्द का पर्यायवाची मानते हैं। जिसके आधार पर उन्होंने स्याद्वाद को सशयवाद का पर्याय मान लिया। यह भ्रामक है। ऐसे लोग इस शब्द के वास्तविक अर्थ से अपरिचित है। शकराचार्य जैसे विद्वान् भी स्याद्वाद के अर्थ को न समझ पाए। यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है कि जो नित्य है वह अनित्य भी है, जो एक है वह अनेक भी है, जो वाच्य है वह अवाच्य भी है, कैसे ? किन्तु स्याद्वाद इन विपक्षी तत्वों का निराकरण नही करता बल्कि समर्थन करता है। यही स्याद्वाद की विशेषता है। विभिन्न सापेक्षिक दृष्टियो द्वारा ही उसका वास्तविक स्वरूप-दर्शन हो सकता है। विज्ञान हो या धर्म सापेक्षता की मूल धारणा एक-सी रहेगी, सिद्धान्त एक-सा होगा। वैज्ञानिक आइन्स्टाइन ने सापेक्षता के सिद्धान्त द्वारा सिद्ध किया है कि परमाणु मे अनन्त शक्ति विद्यमान है। यह सिद्धान्त भगवान् महावीर ने हजारो वर्ष पूर्व खोज निकाला था।

स्याद्वाद नित्य व्यवहार की वस्तु

स्याद्वाद जीवन में नित्य व्यवहार की वस्तु है। इसकी उपादेयता स्वीकार करनी होगी अन्यथा लोक-व्यवहार चलना कठिन है। जो अनेकान्त का विरोध करते हैं वे भी इसे अपने जीवन मे अपनाते हैं। स्याद्वाद ऐसा सिक्का है जो समस्त विश्व मे चलता है। इसकी मर्यादा से बाहर कोई वस्तु नही है। जैनाचार्यों ने अपने सरस साहित्य द्वारा इस ज्ञान-गर्भित सिद्धान्त को जनसाधारण तक पहुचाया। तत्त्वार्थ-

राजवार्तिक[1] में आचार्य अकलकदेव ने बताया है कि वस्तु का वस्तुत्व इसी में है कि वह अपने स्वरूप को ग्रहण करे और पर की अपेक्षा अभावरूप हो। इन विधि-निषेध दृष्टियों को अस्ति और नास्ति दो भिन्न धर्मों द्वारा बताया।

स्याद्वाद सत्याग्रह है

साररूप में यह सिद्धान्त हमे सजग किए रहता है कि जगत् के अनेक रूप हैं, पक्ष हैं, गुण हैं। मानव अपनी सीमित अवधारण क्षमता के कारण एक रूप, एक पक्ष, एक गुण को ग्रहण कर पाता है और इसी गर्व में भरकर स्व से भिन्न रूपों, पक्षों, गुणों को समझने वाले से झगड जाता है। ऐसी स्थिति मे दोनो पक्षो का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। क्योंकि वह ज्ञानमद मे डूबकर दूसरों से व्यर्थ ही वाद-विवाद में उलझा रहता है। वर्तमान समय मे सम्पूर्ण संसार मे युद्ध, विध्वंस, वैमनस्य का कारण मानव का यही एकान्त-दृष्टि के प्रति दुराग्रह है। स्याद्वाद सत्याग्रह है जिसका अर्थ है कि जैसे तुम्हारे दृष्टिकोण मे सत्यांश है वैसे ही दूसरो के। अपने ही दृष्टिकोण को सत्य और दूसरे के को असत्य नही मानना चाहिए।

आत्मवत् व्यवहार का आधार स्याद्वाद

पाश्चात्य दर्शन विघटन मानकर चलता है। भारतीय दर्शन समन्वय को अपनाने मे प्रयत्नशील है। कारण यह है कि यहां जीवन के शाश्वत मूल्यो का महत्व है केवल भौतिक व्यवस्था का नही। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए सामाजिक सगठन आवश्यक है। मानव अपने जीवन लक्ष्यो को प्राप्त कर सके। इसके लिए ऐसी सामाजिक व्यवस्था हो जो लक्ष्य प्राप्ति के पथ की बाधाओं का उन्मूलन कर सके। आत्मिक समानता की अनुभूति हुए बिना समुचित विकास सम्भव नही। समाज के विघटन का मूल हेतु विषमता है। विषमता तभी दूर हो सकती है जब कि सभी से आत्मवत् व्यवहार करें। आत्मवत् व्यवहार तभी आचरित हो सकता है जब अनेकान्त-दृष्टि अपनाई जाय। सामाजिक उत्कर्ष के लिए व्यक्ति मे आत्म-निर्णय के साथ आत्मानुशासन आवश्यक है। किसी दूसरे पर अपनी शक्ति का दुरुपयोग न करे, अपनी सत्ता लादने का प्रयास न करें क्योंकि जितना अधिक बाह्य नियत्रण होगा उतना ही उसका निस्तेज होगा। इसलिए सापेक्षता की आवश्यकता है। सापेक्षता से ही सत्य का सही ज्ञान तथा निरूपण हुआ। एकातिक, एकाधिक दृष्टि होने के कारण कुछ व्यक्ति अधिकार, पदलिप्सा मे डूबे रहते है। दूसरो को अवसर नही मिलता तब असतोष की ज्वाला भडक उठती है। इस दृष्टि से भारत को ही नही विश्व को भी जैन दर्शन की सबसे बडी देन स्याद्वाद है। स्याद्वाद इन स्थितियो का निवारण कर सकता है।

संग्रह-वृत्ति का परिहार

विषमता का कारण तृष्णा भी है जिससे सग्रह-वृत्ति जन्म लेती है। यह वृत्ति आसक्ति रूप मे बदल जाती है। तभी परिग्रह की भावना जागृत होती है जिसमे समाज मे अन्याय, अत्याचार, शोषण का जन्म होता है। एक वर्ग सम्पन्न तथा दूसरा विपन्न हो जाता है। जैन दर्शन का स्याद्वाद स्पष्ट करता है कि प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्व है, जैसे मैं हूं वैसे वह भी है, मेरी आवश्यकता है वैसे उसकी भी, मैं अधिक सग्रह कर लूगा तो दूसरो को क्या मिलेगा यह भावना परिग्रह-भावना का उच्छेद करती है। जिससे सामाजिक व्यवस्था में सन्तुलन आता है। स्याद्वाद आध्यात्मिक जीवन का मूल तो है ही लौकिक जीवन को भी सुव्यवस्थित करता है। प्रजातन्त्र के लिए यह आधारशिला है। अनेकान्त आगाध समुद्र है जिसमे एकान्तिक विचाररूपी नदियो को आत्मसात कर लेने की क्षमता है।

स्याद्वाद मन के तनावों को रोकता है

पारस्परिक विवाद समाप्त करने के लिए समन्वयकारी दृष्टिकोण की आवश्यकता है। स्याद्वाद मन के तनावो को रोकता है यदि यह दृष्टि न रहे तो सभी सम्बन्धो मे, चाहे वे पारिवारिक हो या सामाजिक, राष्ट्रीय हो या अन्तर्राष्ट्रीय, तनाव, टकराव, सघर्ष छिड जाते हैं। अत: इनसे बचने के लिए तथा सतुलित जीवन-यापन करने के लिए अनेकान्त स्याद्वाद को अगीकार करना आवश्यक है।

स्याद्वाद के महत्व को विदेशी विद्वानो ने स्वीकार किया है। प्रो० हर्मन जेकोबी ने लिखा है—"जैन धर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान और धार्मिक पद्धति अभ्यासियो के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। इस स्याद्वाद से सर्व सत्य विचारो का द्वार खुल जाता है।" आज का विश्व जटिल, गुटबन्दी मे सघर्षशील है। प्रत्येक राष्ट्र एक-दूसरे का विश्वास खो बैठा है। सभी राष्ट्र स्वय को शक्तिशाली मानते हैं। किस समय एक-दूसरे पर प्रहार कर दें कुछ पता नही। भौतिक उपलब्धियाँ मिली किन्तु मानव आन्तरिक रूप से भीत है। कुछ समान सम्पन्नता वाले राष्ट्र आपस में गुट बनाकर अन्य राष्ट्रो को दबाने के यत्न मे है। जिससे चारो तरफ हाहाकार मचा हुआ है। गुटबन्दी का

---

१. "स्वपरात्मोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्", तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ० २४

निराकरण करने के लिए गुटनिरपेक्षता को अपनाकर ही शान्ति व्यवस्था लाई जा सकती है। इस गुट निरपेक्षता का आधार स्याद्वाद है।

महावीर का दृष्टिकोण

भगवान् महावीर ने कहा था कि कोई मत, सिद्धान्त असत्य नही है। विरोधियो द्वारा स्वीकृत सत्य भी सत्य है क्योंकि विरोधियों के सत्य में भी सृजनात्मक तत्व विद्यमान रहते हैं। स्व-सत्य से तालमेल न बैठने के कारण उनकी उपेक्षा विध्वंसात्मक भावो को जन्म देती है। यह सत्य है कि मानव द्रव्य के सम्पूर्ण रूप को एक साथ नहीं समझ सकता यदि ऐसा ही हो तो सर्वज्ञ बन जाय। कोई एक मार्ग नही है जिस पर आगे बढ़कर सत्य के सभी पक्षों का ज्ञान हो जाय। स्याद्वाद मे दुराग्रह नही है। इस सिद्धान्त को अपनाते हुए राष्ट्रीय नीतियो की स्वीकृति के साथ अन्य राष्ट्र की नीतियों में जो ग्रहण करने योग्य हो, उसे भी अपनाना चाहिए। जिस प्रकार दूसरो के विचारो को सत्य व प्रमाणिक रूप में स्वीकार करते हैं। उसी प्रकार अन्य राष्ट्रों कीनीतियो, उनकी सार्वभौमिकता के प्रति भी सम्मान का भाव रखना आवश्यक है। जब किसी 'वाद' को ऐकान्तिक रूप से सत्य मानते हैं और अन्य 'वादो' को असत्य मानते हैं तब द्वन्द्वात्मक स्थिति सामने आती है। स्याद्वाद ही असहिष्णुता तथा मनमानी विचारधाराओ मे परिमार्जन कर उन्हें नया रूप दे सकता है। स्याद्वाद का शिक्षण अपने प्रति ही नही समस्त मानव जाति के प्रति आदर अनुराग उत्पन्न कर समन्वय की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है।

स्याद्वाद सम्पूर्ण जैनेतर दर्शनों का समन्वय करता है। जैन दार्शनिको का कथन है —

बौद्धानामृजुसूत्रतो मतमभूद्वेदान्तिनां संग्रहात्।
सांख्यानां तत एव नैगमनयाद् योगश्च वैशेषिकः॥
शब्दब्रह्मविदोऽपि शब्दनयतः सर्वैर्नयैर्गुम्फिता।
जैनी दृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते॥

—अध्यात्मसार, जिनमतिस्तुति

अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण दर्शन नयवाद मे समाहित हो जाते हैं, अतएव सम्पूर्ण दर्शन नय की अपेक्षा से सत्य हैं। उदाहरणतः ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा बौद्ध, संग्रहनय की अपेक्षा वेदान्त, नैगमनय की अपेक्षा न्याय-वैशेषिक, शब्दनय की अपेक्षा शब्दब्रह्मवादी तथा व्यवहारनय की अपेक्षा चार्वाकदर्शन को सत्य कहा जा सकता है। ये नयरूप समस्त दर्शन परस्पर विरुद्ध होकर भी समुदित होकर सम्यक्त्व रूप कहे जाते है।

सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी दर्शन से द्वेष नही करता। वह सम्पूर्ण नयरूप दर्शनो को इस प्रकार वात्सल्य-दृष्टि से देखता है, जैसे कोई पिता अपने पुत्रो को देखता है। क्योंकि अनेकान्तवादी को न्यूनाधिक बुद्धि नही हो सकती। वास्तव मे सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का अधिकारी वही है, जो स्याद्वाद का अवलम्बन लेकर सम्पूर्ण दर्शनो मे समान भाव रखता है। वास्तव मे माध्यस्थ्य भाव ही शास्त्रो का गूढ रहस्य है, यही धर्मवाद है। माध्यस्थ्य भाव रहने पर शास्त्रो के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोडो शास्त्रो के पढ जाने से भी कोई लाभ नही।

यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव।
तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी॥
तेन स्याद्वादमालम्ब्य सर्वदर्शनतुल्यताम्।
मोक्षोद्देशाविशेषेण यः पश्यति स शास्त्रवित्॥
माध्यस्थ्यमेव शास्त्रार्थो येन तच्चारु सिध्यति।
स एव धर्मवादः स्यादन्यद्बालिशवल्गनम्॥
माध्यस्थ्यसहितं ह्येकपदज्ञानमपि प्रमा।
शास्त्रकोटिः वृथैवान्या तथा चोक्तं महात्मना॥

—अध्यात्मसार, ६१, ७०, ७२, ७३

— सम्पादक

सत्य की सर्वाङ्ग साधना

श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री

एक सिक्के के दो पहलू

सत्य विराट् है। वह अनन्त आकाश की तरह व्यापक है। वह आत्मा का शुद्ध स्वरूप है, यथार्थ अभिव्यक्ति है। अत: विश्व के सभी मूर्धन्य मनीषियों ने एक स्वर से सत्य के महत्त्व को स्वीकार किया है। सत्य की आराधना और साधना ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वज्येष्ठ आराधना और साधना है। सत्य सूर्य की तरह जन-जन के अन्तर्मानस को आलोकित करने वाला व्रत है, तो असत्य अमा की रात्रि की तरह गहन अन्धकारमय है। सत्य और अहिंसा ये दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं। अहिंसा के अभाव मे सत्य अस्तित्वहीन है और सत्य के अभाव मे अहिंसा निर्मूल्य। अहिंसा को यदि निषेधात्मक माना जाय तो सत्य उसका विधेयात्मक पक्ष है। सत्य जीवन का मूल तत्त्व है, व्यावहारिक जीवन का मूल आधार है और आध्यात्मिक साधना का प्राण है। सत्य की आराधना के बिना सारी साधना मिथ्या है और सारा व्यावहारिक जीवन भी अस्त-व्यस्त है।

सत्य की परिभाषा

भारतीय चिन्तकों ने सत्य पर गहराई से चिन्तन करके उसकी परिभाषा करते हुए लिखा है—जो शब्द सज्जनता का पावन संदेश प्रदान करता है, सौजन्य भावना को उद्‌बुद्ध करता है और जो यथार्थ व्यवहार का पुनीत प्रतीक है, वह सत्य है। जिस शब्द के प्रयोग से जन-जन का हित होता है, कल्याण होता है, आध्यात्मिक अभ्युदय होता है, वह सत्य है।[1] सत् वह है, जिसका कभी भी नाश नही होता। जो नष्ट हो जाता है, वह सत् नही है। कुरुक्षेत्र के मैदान मे अर्जुन की जिज्ञासा पर कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने कहा—जो असत् है, उसका कभी जन्म नहीं होता। वह कभी अस्तित्व मे नही आता और जो सत् है, वह कभी भी नष्ट नही हो सकता।[2] सत् हर समय विद्यमान रहता है। वह अतीत काल में भी था, वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगा। वह त्रिकालवर्ती है।

जैनदर्शन के महान् चिन्तक आचार्य उमास्वाति ने सत् की परिभाषा करते हुए लिखा है—जो पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, वह सत् है।[3] जैन दृष्टि से विश्व के सभी पदार्थ या तत्त्व जड और चैतन्य इन दो तत्त्वो मे समाविष्ट हो जाते हैं। ऐसा कोई समय नही, जिनमें इन दोनो तत्त्वो का कोई अस्तित्व न रहा हो, प्रत्येक वस्तु द्रव्य रूप से नित्य है, पर्याय रूप से उसमे उत्पाद भी होता है, और विनाश भी होता है। बदलती हुई पर्यायो मे भी जो अपने मूल स्वभाव को नही छोड़ता, वह द्रव्य है। पदार्थ का मूल गुण हर समय अपने ही स्वरूप में स्थित रहता है। सत्य यथार्थ है, वास्तविक है, उसमे किसी भी प्रकार का सम्मिश्रण नही है। इसीलिए सत् से सत्य शब्द निष्पन्न हुआ है। जिसका अस्तित्व तीनो कालो मे है वह सत् है वही सत्य है।[4] सत्य शब्द तथ्य के अर्थ मे भी व्यवहृत हुआ है। जो वस्तु जैसी देखी है, या सुनी व समझी है, उस वस्तु को जन-जन के हित के लिए उसी रूप मे कहना, वचन के द्वारा उस तथ्य को प्रकट करना ही सत्य है। महर्षि पतञ्जलि ने व्यास-भाष्य में सत्य का लक्षण बताते हुए कहा—**सत्यं यथार्थे वाङ्मनसी यथादृष्टं यथाश्रुतं।**[5]

सत्य की महिमा

एक जिज्ञासु ने भगवान् महावीर से पूछा—इस विराट् विश्व मे ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सारपूर्ण हो! भगवान् ने कहा—

---

१. 'सद्‌भ्यो हित सत्यम्।', आचार्य शान्तिसूरि : उत्तराध्ययन टीका
२. 'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सत:।', गीता
३. 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्।', तत्त्वार्थसूत्र, ५।२९
४. 'कालत्रये तिष्ठतीति सद् तदेव सत्यम्।'
५. योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३

इस लोक में सत्य ही सारभूत है।[1] सत्य रहित जो भी है, वह निस्सार है क्योंकि सत्य समस्त भावों का प्रकाश करने वाला है।[2] सत्य की महत्ता प्रदर्शित करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—सत्य महासागर से भी अधिक गम्भीर है, चन्द्र से भी अधिक सौम्य है और सूर्यमण्डल से भी अधिक तेजस्वी है।[3]

सत्य केवल वाणी तक ही सीमित नहीं है। वह अभिव्यक्ति का ही प्रकार नहीं है। सत्य का जन्म सबसे पहले मन में होता है और बाद में वह वाणी के द्वारा व्यक्त होता है तथा आचरण के द्वारा वह मूर्तरूप लेता है। यदि मन में अलग विचारधारा चल रही है, वाणी से अन्य विचार उगले जा रहे हैं और आचारण दूसरे ही रूप में किया जा रहा है, तो वस्तुत. वह व्यक्ति सत्यनिष्ठ नहीं है। उसके जीवन में यथार्थता नहीं है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति के मन, वचन और आचरण मे एकरूपता रहती है, अनेकता नही। उसके अन्तर्मानस मे जो चिन्तन चलता है, वही वाणी के द्वारा मूर्त रूप लेता है और वही आचरण के द्वारा जन-जन को अभिनव प्रेरणा देता है। यदि मन मे असत्य का विष व्याप्त है और वाणी से सत्य का अमृत बरस रहा है तो वह केवल वाक्छल है। वह वाक्छल दूसरो के विनाश के लिए है। ऐसी मधुर वाणी जो सत्य प्रतीत होती है किन्तु यथार्थत: सत्य नही है, वह किंपाक फल के सदृश है। जिसमे हलाहल विष रहा हुआ है। ऐसे व्यक्ति को भारतीय चिन्तको ने धूर्त माना है।

वह विषकुम्भपयोमुख है। वह महात्मा नही, दुरात्मा है। भगवान् महावीर ने कहा—सत्य की निर्मल धारा सर्वप्रथम मन में बहनी चाहिए, फिर वचन में, और फिर आचरण में।[4] जिसके मन, वचन और काया मे सत्य समान रूप से प्रवाहित है, वह महात्मा है—पवित्र आत्मा है।[5] सत्य जब तक जीवन के अणु-अणु मे व्याप्त नही होता, तब तक उसमे चमत्कार पैदा नही होता है। कोई व्यक्ति प्रतिज्ञा ग्रहण करता है कि मैं अमुक कार्य कर दूगा, यदि वह कार्य नही करता है तो वह सत्य का आचरण नही हुआ। राजा हरिश्चन्द्र ने सत्य के लिए ही सब कुछ छोड दिया था। प्रश्न व्याकरण मे कहा है—"जैसा कहा है वैसा क्रिया के द्वारा साकार करना सत्य है!" **सच्चं जह भणियं तह य कम्मुणा होइ** (संवरद्वार)।

सत्य प्रज्वलित प्रदीप

सत्य जगमगाता हुआ एक प्रज्वलित प्रदीप है, जो जन-जन को आलोक प्रदान करता है। सत्य की चर्चा नही, अर्चा आवश्यक है। एक बार पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपने वक्तव्य मे कहा—"मैंने डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद जी को जीवन मे कभी असत्य बोलतेहुए नही देखा और न सुना ही!" राजनीति में रहकर भी सत्य का प्रयोग जीवन मे किया जा सकता है। जो लोग यह समझते है कि राजनीति मे असत्य के बिना कार्य नही चल सकता, उनके लिए प्रस्तुत उदाहरण सर्च-लाइट की तरह उपयोगी है।

जीवन की ऊष्मा : सत्य

सत्य मानव के उज्ज्वल चरित्र का सजग प्रहरी है। वह प्रहरी जब तक सजग रहता है, तब तक बुराइयां फटकने नही पाती। शरीर मे से ऊष्मा यदि निकल जाये तो व्यक्ति जीवित नही रह सकता। जब तक ऊष्मा है, शरीर के कण-कण मे प्राण है, तब तक वह जीवित है। उसमे चमक-दमक है, वह बढता है, सुन्दर बना रहता है और प्राण निकलते ही वह सडता है, गलता है, उसमे कीडे कुलबुलाने लगते है, उस मुर्दे शरीर का स्थान घर नही होता, श्मशान होता है। शव का चाहे कितना भी श्रृंगार किया जाये, वह निरर्थक है। वैसे ही सत्य रहित जीवन की स्थिति होती है। वह भी सत्य की ऊष्मा से रहित निष्प्राण हो जाता है। असत्य धूए के बादल के सदृश है। वे बादल भले ही उमड-घुमडकर आयें, किन्तु वे बिखरने के लिए होते हैं, बरसने के लिए नही। उन बादलों से भूमि की प्यास नही बुझ सकती, और न खेती ही लहलहा सकती है।

असत्य का मूल स्रोत

हमे सर्वप्रथम यह समझना होगा कि असत्य का मूल स्रोत कहा है? ऐसी कौन-सी आन्तरिक वृत्तियां हैं जिसके कारण असत्य जन्म लेता है। न्याय का यह पूर्ण निश्चित सिद्धान्त है कि बिना कारण के कार्य नही हो सकता। कारण मे जो गुण होगे, वे कार्य मे भी अपने

---

१. 'सच्चं लोगम्मि सारभूयं।', प्रश्नव्याकरण, २।२
२. 'सच्चं···पभासकं भवति सव्वभावाण।', वही, २।२
३. 'सच्चं···गंभीरतरं महासमुद्दाओ, सच्चं···सोमतरं चंदमंडलाओ, दित्ततरं सूरमंडलाओ।', वही, २।२
४. 'मणसच्चे, वयसच्चे, कायसच्चे।'
५. 'मनस्येकं वचस्येकं काये चैकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् काये चान्यद् दुरात्मनाम्॥'

आप जायेंगे।[1] यदि कारण असत्य है तो कार्य सत्य कदापि सम्भव नही।

कल्पना कीजिए—एक कुम्भकार मिट्टी के बर्तन बना रहा है। वे मिट्टी के बर्तन जिनके मूल मे मिट्टी है, वे सोने-चाँदी के नहीं बन सकते। जैसा कारण होगा, वैसा ही कार्य होगा। कारण-कार्य के नियमों मे परिवर्तन नहीं हो सकता।

जैन दार्शनिको ने कहा—असत्य का मूल-कारण मिथ्यात्व है। मिथ्यादृष्टि के सत्य भाषण को व्यवहार की भाषा मे सत्य कहा जा सकता है किन्तु वास्तविक दृष्टि से वह सत्य नही है, क्योकि उसे सत्य-दृष्टि प्राप्त नहीं है। एक व्यक्ति जिसने मदिरा पी रखी हो और उस मदिरा के नशे मे उन्मत्त बना हुआ हो। उस समय वह पिता को पिता, पुत्र को पुत्र, पत्नी को पत्नी और माता को माता कहता है और उनके साथ उसी प्रकार का व्यवहार भी करता है, स्थूल दृष्टि से वह सत्य प्रतीत होता है, तथापि वह अपने होश मे नही है, उसका दिमाग दुरुस्त नही है। अत: वह दूसरे क्षण दूसरी बात भी कह सकता है। भाग्य के भरोसे जो कुछ भी मुह से निकल जाये। पर वह स्वय नही समझता है कि मैं क्या बोल रहा हू? ऐसी ही स्थिति एक पागल व्यक्ति की भी होती है। वह एक क्षण में प्रेम से वार्तालाप करता है तो दूसरे क्षण खूख्वार भेडिये के समान मारने के लिए भी लपक सकता है। उसके मुह से निकली हुई सत्य बात भी प्रमाण रूप नही मानी जा सकती, क्योंकि उसमे विवेक और विचार का आलोक नही है। जिसकी दृष्टि मे मिथ्यात्व की मलिनता है, अज्ञान का गहन अन्धकार है, उसका सत्य, सत्य नही है। सत्य वही होता है, जिसे विवेकदृष्टि प्राप्त हो चुकी है और जिसे सत्य-दृष्टि उपलब्ध हो जाती है, वह अनन्त, अपरिमित, और असीम सत्य के सदर्शन कर सकता है।

सत्य-दृष्टि और सत्य

सत्य और सत्य की दृष्टि मे अन्तर है। जो सम्यग्दृष्टि साधक है, उसकी दृष्टि सम्यक् होती है जिसके कारण वह जो भी ग्रहण करता है, वह सत्य के लिए होता है। यदि सम्यग्दृष्टि भ्रान्तिवश असत्य का आचरण कर भी ले किन्तु ज्ञात होने पर वह अपनी भ्रान्ति और तज्जन्य आचरण को स्वीकारने मे भी सकोच नही करता और उसी समय उस आचरण को छोड देता है। जब उसे यह परिज्ञात हो जाये कि उसका कथन सत्य नही है तो वह उसी क्षण सत्य को स्वीकार कर लेता है। आचार्य देववाचक ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है[2]—"यदि मिथ्या-दृष्टि सम्यक्श्रुत को भी ग्रहण करेगा तो वह भी सम्यक्श्रुत उसके लिए मिथ्या मे ही परिणत होगा और यदि सम्यग्दृष्टि मिथ्याश्रुत को ग्रहण करेगा तो वह भी उसके लिए सम्यग्श्रुत के रूप मे परिणत होगा।" जैसे—गाय घास को भी दूध के रूप मे परिणत करती है और सर्प दूध को भी जहर के रूप मे परिणत कर देता है, वैसे ही जिसकी दृष्टि सम्यक् है उसके द्वारा जो भी ग्रहण किया जायेगा, वह सम्यक् ही होगा और मिथ्यादृष्टि द्वारा ग्रहण किया हुआ मिथ्या बनेगा। सम्यग्दृष्टि जहर को भी अमृत के रूप मे परिणत कर देता है और मिथ्यादृष्टि अमृत को जहर के रूप मे। यदि हमारा मन सत्य को ग्रहण करने मे समर्थ नही है तो हम सत्य को ग्रहण नही कर सकते। यदि हमारे मे सत्य-दृष्टि है तो हमें प्रत्येक परिस्थिति और वस्तु मे सत्य के दर्शन हो सकते हैं।

असत्य बोलने के कारण

भगवान् महावीर ने असत्य भाषण के कारणो पर चिन्तन करते हुए कहा है—मुख्य रूप से असत्य चार कारणो से बोला जाता है—क्रोध से, लोभ से, भय से और हास्य से।[3] जब मन में क्रोध की आँधी चल रही हो, लोभ का बवण्डर उठ रहा हो, भय का भूत मन पर हो, और हास्य का प्रसग हो, उस समय मानव सहज ही असत्य-भाषण करता है, क्योकि ये विकार जीवन की पवित्रता और मानव के विवेक को नष्ट कर देते है, जिससे उसकी वाणी और व्यवहार मे असत्य प्रस्फुटित होता है।

यदि मन में दया की स्रोतस्विनी प्रवाहित नही हो रही हो, अपितु प्रतिशोध की अग्नि भडक रही हो, एक-दूसरे को हीन बताने का प्रयत्न चल रहा हो तो मनुष्य कर्कश भाषा का प्रयोग करता है। इस प्रकार की कर्कश, कठोर, प्राणियो को परिताप देने वाली, सपापकारी सत्य भाषा भी असत्य है, क्योकि अन्तर्मानस मे जो वैभाविक भावनाए पनप रही हैं वे सत्यवाणी को भी असत्य मे परिणत कर देती हैं। इसके विपरीत यदि मन मे अहिंसा का आलोक जगमगा रहा हो, करुणा-दया की शीतल सरिता प्रवाहित हो, तो वाणी के द्वारा असावधानी से निकला हुआ असत्य भी सत्य है।

जैन दार्शनिको ने व्यक्ति की वाणी की अपेक्षा विचारो को और भाषा की अपेक्षा भावो को अधिक महत्त्व दिया है।

---

१. 'कारणगुणपूर्वको हि कार्यगुणो दृष्ट:।'

२. 'एयाणि मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाइ मिच्छासुय।
एआणि चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइ सम्मसुय ॥', नन्दीसूत्र

३. 'सव्व भन्ते ! मुसावाय पच्चक्खामि—से कोहा वा, लोहा वा, भया वा, हासा वा नेव सय मुस वएज्जा···।', दशवैकालिक, ४/१२

आचार्य अगस्त्यसिंह स्थविर[1], आचार्य जिनदास महत्तर[2] और आचार्य हरिभद्र[3] ने असत्य के चार कारणों का विश्लेषण करते हुए उन्हें उपलक्षणमात्र बताया है। क्रोध से मान को भी सूचित किया गया है। लोभ से माया को भी ग्रहण किया गया है। भय और हास्य का कथन करने से राग-द्वेष, कलह, अभ्याख्यान आदि कारणों का भी ग्रहण किया गया है। इस तरह अनेक वृत्तियों से असत्य बोला जाता है।

दशवैकालिक की अगस्त्यसिंह चूर्णि[4] और जिनदास चूर्णि[5] में मृषावाद के चार प्रकार बताये गये हैं—

(१) **सद्भाव प्रतिषेध**—जो है, उसके सम्बन्ध में यह कहना है कि यह नहीं है, जैसे—जीव, पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष आदि के सम्बन्ध में कहना कि ये नहीं हैं।

(२) **असद्भाव उद्भावना**—जो नहीं है, उसके सम्बन्ध में कहना कि वह है, जैसे—आत्मा के सर्वगत और सर्वव्यापी न होने पर भी उसे उस प्रकार का बतलाना या आत्मा को श्यामाक, तन्दुल के समान कहना।

(३) **अर्थान्तर**—एक वस्तु को अन्य बताना, जैसे—गाय को घोड़ा कहना, घोड़े को गाय कहना आदि।

(४) **गर्हा**—जैसे—काणे को काणा कहना, अन्धे को अन्धा कहना, नपुंसक को नपुंसक कहना। इस प्रकार के वचन बोलना जिसमें सुनने वाले को पीड़ा हो।

यदि कोई मानव दुर्भाग्य से काणा या अन्धा हो गया है, उसे एकाक्षी या अन्धा कहना, लौकिक दृष्टि से भले ही सत्य हो, पर मर्मकारी भाषा होने से वह सत्य नहीं है।[6] ऐसे कथन में व्यंग्य और घृणा रही हुई होती है। बोलने वाला व्यक्ति सुनने वाले के चित्त पर चोट करके हर्षित होता है। उसे हीन बताकर अपनी महानता प्रदर्शित करना चाहता है। उसके अन्तर्मानस में आसुरी वृत्ति अठखेलियाँ कर रही होती है। जिसमें वह उस व्यक्ति को खिझाना व चिढ़ाना चाहता है। अन्धे का अन्धा और काणे को काणा कहना यह तथ्य हो सकता है पर सत्य नहीं। तथ्य हितकर ही हो यह बात नहीं है, वह अहितकर भी होता है। उसमें राग-द्वेष का सम्मिश्रण भी होता है, इसलिए वह सत्य भी असत्य है।

सत्य कहो पर चुभने वाला न हो, जो असर करे पर हृदय में छेद न करे। वही सत्य बोलो, जो जन-जन का कल्याण करने वाला हो।

सत्यं शिवं सुन्दरम्

सत्य के लिए भारतीय चिन्तकों ने कहा—'वह सुन्दर हो, कल्याणकारी हो।' जो केवल सुन्दर ही है और कल्याणकारी नहीं है तो वस्तुतः वह सत्य नहीं है। इसीलिए **सत्यं शिवं सुन्दरम्** कहा गया है। सत्य एक ऐसी साधना है जिसे प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार कर सकता है। व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार उसे ग्रहण कर सकता है।

स्कन्दपुराण में कहा है—सत्य बोलो, प्रिय बोलो, किन्तु अप्रिय सत्य कभी मत बोलो। और प्रिय असत्य भी मत बोलो।[7] परहित में वाक् और मन का यथार्थ भाव ही सत्य है।[8] योगसूत्रकार पतंजलि ने कहा है—सत्य-प्रतिष्ठित व्यक्ति को वाक्सिद्धि प्राप्त होती है।[9] यदि कोई व्यक्ति बारह वर्ष तक पूर्ण रूप से सत्यवादी रहे तो उसकी प्रत्येक बात यथार्थ होगी। एतदर्थ ही यजुर्वेद के ऋषि ने कहा—सत्य के पथ पर चलो।[10]

---

१. दशवैकालिक, अगस्त्यसिंहचूर्णि

२. दशवैकालिक, आचार्यजिनदासचूर्णि, पृष्ठ-१४८

३. दशवैकालिक, हारिभद्रीयटीका, पत्र-१४६

४. दशवैकालिक, अगस्त्यसिंहचूर्णि

५. दशवैकालिक, जिनदासचूर्णि, पृष्ठ-१४८

६. तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति य।
वाहियं वावि रोगित्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए ॥', दशवैकालिक, ७।१२

७. 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥', स्कन्दपुराण, का० ब्र० मा०, ६।८८

८. 'परहितार्थं वाक्मनसो यथार्थत्वं।'

९. 'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।', योगसूत्र, २।३६

१०. 'ऋतस्य पन्था प्रेत !', यजुर्वेद, ७।४५

मानव का श्रेष्ठ गुण : सत्य

ऋग्वेद मे कहा गया है—जो व्यक्ति दुष्कर्मी हैं, वे सत्य के पवित्र पथ को पार नही कर सकते।[1] इसीलिए यजुर्वेद में ऋषि ईश्वर से प्रार्थना करता है—मैं असत्य से बचकर सत्य का अनुगामी बनूं।[2] सत्य ही बोलो, असत्य कभी मत बोलो।[3] अथर्ववेद के अनुसार असत्यवादी वरुण के पाश में पकड़ा जाता है। उसका उदर फूल जाता है।[4] आचार्य मनु का मन्तव्य है कि इस लोक में भी असत्य बोलने वालों को घोर पापी माना जाता है। तस्कर केवल दूसरों के धन का अपहरण करता है, पर मृषावादी अपनी आत्मा के सद्गुणों का भी अपहरण करता है।[5] सज्जनो के बीच किसी बात को न बतलाना भी असत्य है। शब्द और अर्थ को तोड़-मरोड़कर उल्टे-सीधे रूप मे प्रस्तुत करना, असत्य के साथ ही स्तेय-कृत्य की तरह है।[6] शतपथ ब्राह्मण में सत्य को मानव का सर्वश्रेष्ठ गुण कहा है। इसके अभिमतानुसार असत्यभाषी अपवित्र है। वह किसी भी यज्ञ आदि पवित्र कार्य को करने का अधिकारी नही है।[7] सत्य के द्वारा ही मानव मे तेजस्विता आती है। उसका नित्य अभ्युदय होता है तथा वह सिद्धि को वरण करता है। जो व्यक्ति सत्य बोलता है, उसका तेज प्रतिपल-प्रतिक्षण बढ़ता है और असत्य बोलने वाले का तेज क्षीण होता चला जाता है। अत सदा सत्य भाषण करना चाहिए।[8]

सृष्टि सत्य पर प्रतिष्ठित है

ऋग्वेद के ऋषि ने सत्य को सर्वोच्च स्थान दिया है। उनका अभिमत है कि सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम मे सर्वप्रथम ऋत और सत्य उत्पन्न हुए। सत्य से ही आकाश, पृथ्वी, वायु स्थिर है। सत्य के समक्ष असत्य की किंचित् भी प्रतिष्ठा नही है।[9] एक अन्य वैदिक आचार्य ने भी कहा है—पृथ्वी सत्य पर आधृत है। सत्य के कारण ही आकाश-मण्डल मे चमचमाता हुआ सूर्य सारे विश्व को प्रकाश और ताप देता है। सत्य के कारण ही शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन प्रवाहित है। और तो क्या? विश्व की जितनी भी वस्तुएं हैं, वे सत्य पर प्रतिष्ठित हैं।[10] शिवपुराण में कहा है—तराजू के एक पलड़े मे हजारो अश्वमेध यज्ञ के पुण्य को रखा जाये और दूसरे पलड़े मे सत्य को रखा जाये तो हजारो अश्वमेध यज्ञ के पुण्य से बढ़कर सत्य का पुण्य है।[11] इसीलिए वाल्मीकि ऋषि ने राम के पवित्र चरित्र का उट्टंकन करते हुए लिखा है कि राम ने अपने प्राणो के लिए भी कभी मिथ्याभाषण नही किया।[12] राम ने स्पष्ट शब्दो मे कहा—न मैं पहले कभी झूठ बोला हूं और न कभी आगे झूठ बोलूंगा।[13] सन्त तुलसीदास ने भी सभी सुकृत्यो का मूल सत्य को बताया है।[14] अथर्ववेद के मंत्र विभाग मे महर्षि शौनक की जिज्ञासा का समाधान करते हुए आचार्य अंगिरा ने सत्य की गौरव-गरिमा गाते हुए कहा—सत्य की विजय होती है, असत्य की नही। सत्य से देवयान मार्ग का विस्तार होता है, जिससे आप्तकाम ऋषिगण प्रस्तुत पद को प्राप्त होते हैं। जहा पर सत्य का परम विधान है।[15] शतपथ ब्राह्मण मे लिखा है—सत्यवादी को प्रारम्भ मे भले ही विजय प्राप्त न हो, पर अन्त में विजय सत्यवादी की ही होती है। जैसे—देवताओ और असुरों

---

१. 'ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृत.', ऋग्वेद, ९/७३/६
२. 'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि', यजुर्वेद, १/५
३. (क) 'सत्य वद', उपनिषद्
   (ख) 'सत्यमेव वद नानृतम्', बोधायनधर्मसूत्र, ६/६
४. अथर्ववेद, ४/१६
५. मनुस्मृति, ४/२२५
६. 'सर्वस्तेयकृत', मनुस्मृति, ४/२५६
७. शतपथब्राह्मण, ३/१/२/१० तथा १/१/१/१
८. शतपथब्राह्मण, २/२/१/१९
९. ऋग्वेद, ७/१०४/२२
१०. 'सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रवि.।
   सत्येन वायवो वान्ति, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥'
११. 'अश्वमेध सहस्र च सत्य च तुलयाधृतम्।
   अश्वमेध सहस्राद्धि, सत्यमेक विशिष्यते॥', शिवपुराण, उ० स०, १२/२५
१२. 'दद्यान्न प्रतिगृह्णीयात् सत्य ब्रूयान्न चानृतम्।
   अपि जीवितहेतोर्वा, राम' सत्यपराक्रम॥', वाल्मीकि रामायण, ५/३३/२५
१३. 'अनृत नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन।'
१४. 'सत्य मूल सब सुकृत सुहाए।', रामचरितमानस, २/२७/६
१५. 'सत्यमेव जयति नानृतं, सत्येन पन्था विततो देवयान:।
   येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा, यत्र तत् सत्यस्य परम निधान॥', अथर्ववेद

के बीच भयंकर युद्ध हुआ। उस युद्ध में पहले देवता पराजित होते रहे, अन्त में विजय उन्ही की हुई।[1]

आत्म-साक्षात्कार का साधन : सत्य

सत्य से ही देवताओं ने असुरों पर विजय-वैजयन्ती फहराई थी। उनका अप्रतिम यश सर्वांचित हुआ था। सत्य कष्टों को भी दूर करता है।[2] ऐतरेय ब्राह्मण में मनु के पुत्र नाभानेदिष्ठ का एक मधुर प्रसंग है। नाभानेदिष्ठ ने सत्य बोलकर बहुमूल्य पारितोषिक प्राप्त किया था। इसलिए उसने विश्व को यह आदेश दिया कि आप सत्य बोला करें। मानवमात्र भूल का पात्र है। जीवन मे भूल होना उतना बुरा नहीं है। यदि जीवन में कोई पाप भी हो गया है और उस पाप को मानव सत्य रूप में स्वीकार कर लेता है तो वह उस पाप से मुक्त हो जाता है।[3] उपनिषत्कार का मन्तव्य है कि सत्य से आत्मा उपलब्ध होता है।[4] सत्य आत्म-साक्षात्कार का साधन है। आत्मानुभूति का हेतु है।

सत्य पर चलना कठिन

जैन पुराण साहित्य में ऐसे प्रसंग प्राप्त होते हैं, जहा असत्य भाषण से अनेक व्यक्तियो का पतन हुआ है। किंचित् असत्य भाषण भी विविध द्विविधाओ और पतन का कारण बन जाता है। जैसे— राजा वसु ने जान-बूझकर **अजैर्यष्टव्यम्** पद के मिथ्या अर्थ को सत्य मानकर उसका प्रतिपादन कर दिया था तथा मिथ्या अर्थ के पक्ष मे निर्णय कर दिया था, जिससे उसका सिंहासन पृथ्वी में धस गया था।

मानव-जीवन मे यदि सत्य-निष्ठा नही है तो उसके जीवन में धर्म का कोई अस्तित्व ही नही है। धर्म की जड सत्य पर आधृत है। सामान्य रूप से सत्य पर दृढ रहना सहज नही है। सत्य का पथ तलवार की धार पर चलने से भी अधिक कठिन है। तलवार पर दो पैसे लेकर बाजीगर भी चल सकता है, अपनी कला दिखाकर जन-जन के मन को मुग्ध कर सकता है। किन्तु सत्य के मार्ग पर चलना अत्यधिक कठिन है। तलवार की धार पर चलने के लिए सतत जागरूकता अपेक्षित है। बिना तन्मयता के नुकीली धार पर चलना खतरे से खाली नही है। जरा-सी असावधानी से धार पैर को काट सकती है। किन्तु सत्य का मार्ग तलवार की धार से भी अधिक तीखा है। किंचिन्मात्र भी असावधानी यहां नही चल सकती।[5] अत: सत्य के पथिक साधक को अत्यन्त जागरूकता के साथ अपने कर्त्तव्य पथ पर बढना चाहिए।

सत्य और आचरण

भारत की शासकीय मुद्रा पर **सत्यमेव जयते** अंकित है। धार्मिक स्थलो पर भी सत्य बोलने के लिए प्रेरणा प्रदान की जाती है। चाहे धर्मनेता हो, समाजनेता हो या राष्ट्रनेता हो—वे सभी सत्य बोलने की प्रेरणा देते हैं और असत्य के परिहार के लिए कहते हैं। पर आज जीवन से और व्यवहार में सत्य कितना अपनाया जा रहा है, यह एक चिन्तनीय प्रश्न है।

पाश्चात्य दार्शनिक आर० डब्ल्यू० एमर्सन ने एक बार कहा था—सत्य का सर्वश्रेष्ठ अभिनन्दन यह है कि हम जीवन मे उसका आचरण करें। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भी स्पष्ट शब्दो मे कहा—जो व्यक्ति सत्य को जानता है तथा मन, वचन, काया से सत्य का आचरण करता है, वह परमात्मा को पहचानता है। एक दिन वह मुक्ति को भी वरण कर सकता है।

सत्य : जीवन का आधार

एक पाश्चात्य चिन्तक ने लिखा है कि मानव-जीवन की नीव सत्य पर आधृत है। सत्य सम्पूर्ण जीवन और सृष्टि का एकमात्र आधार है। एमर्सन ने कहा है—सत्य वह है, जिसे सुन्दरतम और श्रेष्ठतम आधार पर मानव अपना जीवन अवस्थित कर सकता है। सत्य का आधार ही सर्वोपरि तथा सर्वश्रेष्ठ आधार है।

महाभारत के उद्योगपर्व मे यह बताया गया है कि जिस प्रकार नौका के सहारे से व्यक्ति विशाल समुद्र को पार कर जाता है, वैसे ही मानव सत्य के सहारे नरक-तिर्यंच के अपार दुःखो को पार कर स्वर्ग प्राप्त कर लेता है।[6]

---

१. शतपथब्राह्मण, ३/४/२/८
२. शतपथब्राह्मण, ११/५/३/१३
३. शतपथब्राह्मण, २/५/२/२०
४. बृहदारण्यक-उपनिषद्, ३/१/५
५. 'क्षुरस्य धारानिशिता दुरत्यया, दुर्गपथस्तत् कवयो वदन्ति।'
६. 'सत्यं स्वर्गस्य सोपान, पारावारस्तु नौरिव।', महाभारत, उद्योग पर्व

सत्य का मरहम

शरीर मे जब तक ऊष्मा रहती है तब तक यदि शरीर पर मक्खी-मच्छर आदि बैठते हैं तो शरीर उसे सहन नहीं कर पाता। ऊष्मा समाप्त होने के पश्चात् यदि शरीर के टुकड़े-टुकड़े भी कर दिये जायें तो भी उसे पता नही लगता। साधक के जीवन मे भी सत्य की ऊष्मा रहती है, तब तक कोई भी दुर्गुणरूपी मक्खी-मच्छर उसे बर्दाश्त नही होता। शास्त्रो मे बताया गया है—यदि किसी श्रमण से मोह की तीव्रता के कारण महाव्रत भंग हो गया हो और वह आचार्य, उपाध्याय या गुरुजन के समक्ष जाकर अपनी उस भूल को उनके सामने यथातथ्य बताकर तथा प्रायश्चित लेकर शुद्ध हो जाता है तो उस श्रमण को आचार्य आदि वरिष्ठ पद भी दिया जा सकता है। महाव्रत-भंग जैसे भयंकर घाव को भी सत्यरूपी मरहम भर देता है। जिस श्रमण का सत्य महाव्रत पूर्ण रूप से सुरक्षित है, वह श्रमण अन्य महाव्रतो को भंग करने पर भी सुधर सकता है। वह अपनी गलती को गलती के रूप मे स्वीकार कर अपनी शुद्धि कर सकता है। यदि साधक भूल करके भी भूल को भूल नही मानता है, उनका प्रायश्चित नही करता है तो उसका सुधार कभी भी सम्भव नही है, वह आराधक नहीं बन सकता।

जैसे गुरुतर व गुप्त व्याधि से ग्रसित रुग्ण व्यक्ति चिकित्सक के सामने गुप्त से गुप्त बात भी प्रकट कर देता है तो चिकित्सक उसके रोग का सही निदान कर देता है। चिकित्सक रुग्ण व्यक्ति के गलत कार्यों की निन्दा और भर्त्सना नही करता, अपितु औषधि देकर तथा शल्य चिकित्सा कर उसे जीवन-दान देने का प्रयास करता है। वैसे ही सद्गुरु रूपी चिकित्सक भी पापी से घृणा नहीं करते, पर प्रायश्चित देकर उसके अध्यात्म रोग को नष्ट कर स्वस्थ बनाते है।

सत्य का अपूर्व बल

सत्य का उपासक साधक स्वय की गलतियो को गलती समझकर उन गलतियो को सुधारता है। एतदर्थ ही सत्य को स्वयभू, सर्व-शक्तिमान् और स्वतीर्थगुप्त (रक्षित) कहा गया है।

सत्य मे अपूर्व बल है। जिस साधक मे सत्य का बल व्याप्त हो, वह साधक तोप व मशीनगनो के सामने भी सीना तानकर खडा हो जाता है, वह भय से कापता नही है। बाइबिल मे कहा है—सत्य ही महान् है और परमशक्तिशाली है। यह जनबल, परिजनबल, धनबल और सत्ताबल से भी बढ़कर है।

असत्य का बल चाहे कितना भी बडा क्यो न हो वह कागज की नौका की तरह और बालू के महल की तरह है। जिनके डूबने और ढहने में समय नही लगता। मैंने देखा है—दिल्ली मे रामलीला के अवसर पर विशालकाय रावण के पुतले निर्मित होते हैं। जिसे देखकर मन मे एक कुतूहल होता है कि इतने विशालकाय रावण को एक नन्हा सा राम कैसे समाप्त कर देगा? पर वह पुतला कागज और बांस की खपच्चियो से बना हुआ होता है जिसमे बारूद होता है। जरा-सी चिनगारी का स्पर्श पाते ही कुछ ही क्षणो में जलकर भस्म हो जाता है। यही स्थिति असत्य के आधार पर खडे हुए बाह्य-आवरण की है। उसमे वास्तविकता एव स्थिरता का अभाव होता है।

सत्य का दिव्य प्रभाव

सत्य का वट वृक्ष शनै शनै बढता है, फलता है, फूलता है, पर उसकी जडें बहुत ही गहरी होती है। वह शताधिक वर्षों तक अपना अस्तित्व बनाये रखता है, आधी और तूफान भी उसे धराशायी नही कर पाते। जबकि लताए बहुत ही शीघ्रता से बढती है और शीघ्र ही नष्ट भी हो जाती है। हल्का सा सूर्यताप उन्हे सुखा देता है। और मामूली वर्षा से ही वे सड जाती हैं। इसीलिए कहा है—"सत्य मे हजार हाथियो के बराबर बल होता है"। सत्यनिष्ठ व्यक्ति मे इतना अधिक आत्मबल होता है कि उसके सामने भौतिक व अनैतिक बल टिक नही सकता।

आवश्यकसूत्र और प्रश्नव्याकरणसूत्र मे सत्यवादी का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि सत्यवादी सत्य के दिव्य-प्रभाव से विराट्काय समुद्र को तैर सकता है। पानी उसे डुबा नही सकता और अग्नि उसे जला नही सकती। खौलता हुआ तेल, तप्त-लोहा, गर्म शीशा सत्यवादी के हाथ का सस्पर्श होते ही बर्फ की तरह शीतल हो जाते है। पर्वत की ऊंची चोटियों से गिरकर भी वह मरता नही। शत्रुओ से घिरने पर भी शत्रु उसका बाल-बाका नही कर पाते। यहा तक कि देव भी उसके चरणों की धूल लेने के लिए लालायित रहते हैं।

योगदर्शन मे सत्य की अपार शक्ति का परिणाम प्रतिपादित करते हुए कहा है—**सत्य-प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्** सत्य का पूर्ण परिपाक हो जाने पर किसी भी प्रकार की कोई कमी नही रहती। वह चाहे जिसे वरदान या अभिशाप दे, वह सत्य होकर ही रहता है।

सत्य सुदृढ़ कवच है

पाश्चात्य दार्शनिक कांट का अभिमत है, सत्य वह तत्त्व है जिसे अपनाने पर मानव भले-बुरे की परख कर सकता है। हृदय में

रहे हुए सभी सद्गुणों के विकास की चाबी मानव की सत्यनिष्ठा में सन्निहित है। असत्य दुर्गुणो की खान है। सत्य सभी सद्गुणों में श्रेष्ठ है, अतः आत्मबल की अभिवृद्धि और ईश्वरत्व संप्राप्त करने के लिए भारतीय तत्त्वचिन्तको ने सत्य को सभी सद्गुणों में श्रेष्ठ सद्गुण माना है। चीन के महान् चिन्तक कन्फ्यूशियस का अभिमत है कि जो सत्यार्थी होगा, वह कर्मठ भी होगा। आलस्य और विलासिता असत्य की देन है।

सत्य का पवित्र पथ ऐसा पथ है, जिस पर चलने वाले को न अहंकारी सतायेगा और न माया ही परेशान करेगी। सत्य ऐसा सुदृढ कवच है, जिसे धारण करने पर दुर्गुण चाहे कितना भी प्रहार करे किन्तु सत्यवाद पर उनका कोई असर नही होगा। सत्य अभीष्ट फल प्रदान करने वाला है।

एक कवि ने कहा है—इस पृथ्वी पर ऐसा कौन सा मानव है जिसके हृदय को मधुर व सत्य वचन हरण नही करता है। वह सभी के हृदय को आकर्षित करने वाला महामंत्र है। ससार का प्रत्येक प्राणी प्रतिपल-प्रतिक्षण सत्य वचन सुनने की ही आकाक्षा करता है। देव भी सत्य वचन से प्रसन्न होकर मनोवांछित फल प्रदान करते हैं। इसीलिए तीन लोकों मे सत्य से बढकर अन्य कोई भी व्रत नही है।[1] उपनिषत्-कार ने कहा है—'सत्य ज्ञानरूप और अनन्तब्रह्मस्वरूप है।'[2]

सत्य महाव्रत की भावनाएं

गृहस्थ साधक सत्य को स्वीकार तो अवश्य करता है, पर परिपूर्ण रूप से वह सत्य का पालन नही कर पाता। उसका सत्य अणुव्रत होता है, किन्तु श्रमण सत्य को पूर्णरूप से स्वीकार करता है, इसलिए उसका सत्य सिर्फ व्रत नही, महाव्रत होता है।

क्रोध, लोभ, हास्य, भय, प्रमाद आदि मोहनीय कर्म की प्रकृतियो के अस्तित्व मे रहने पर भी मन, वचन और काया से तथा कृत, कारित और अनुमोदना से कभी भी झूठ न बोलकर हर क्षण सावधानीपूर्वक हितकारी, सार्थक और प्रियवचन बोलना सत्य महाव्रत है।[3] निरर्थक और अहितकारी बोला गया सत्य वचन भी त्याज्य है। इसी तरह सत्य महाव्रती को असभ्य वचन भी नही बोलना चाहिए।[4] 'यह भोजन बहुत ही अच्छा बना है, यह भोजन बहुत ही अच्छी तरह से पकाया हुआ है' इस प्रकार सावद्य वचन भी उसे नही बोलना चाहिए।[5] 'मैं प्रस्तुत कार्य को आज अवश्य ही कर लूंगा' इस प्रकार निश्चयात्मक भाषा का भी प्रयोग श्रमण को नही करना चाहिए। क्योंकि सावद्य भाषा से हिंसा की और निश्चयात्मक भाषा के बोलने से असत्य होने की आशका रहती है। इसलिए साधक को सदैव हितकारी, प्रिय व सत्य भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए।

मन से सत्य बोलने का सकल्प करना भावसत्य है, सत्य बोलने का प्रयास करना करणसत्य है और सत्य बोलना योगसत्य है। भावसत्य से अन्तःकरण विशुद्ध होता है, करणसत्य से सत्यरूप क्रिया को करने की अपूर्व शक्ति प्राप्त होती है तथा योगसत्य से मन-वचन-काया की पूर्ण शुद्धि होती है।

अहिंसा के उदात्त संस्कारो को मन मे सुदृढ बनाने के लिए जैसे पांच भावनाओ का निरूपण किया है, वैसे ही सत्य महाव्रत की सुदृढता के लिए पाच भावनाए प्रतिपादित की गई हैं। जो श्रमण इन भावनाओ का मनोयोगपूर्वक चिन्तन करता है, वह ससार सागर मे परिभ्रमण नहीं करता।[6] भावनाओं के निदिध्यासन से व्रतो मे स्थिरता आती है।[7] मनोबल दृढ होता है और निर्मल सस्कार मन मे सुदृढ होते हैं। अत· भावनाओ का आगम-साहित्य में विस्तार से विश्लेषण किया गया है। आचाराग[8], समवायाग[9], और प्रश्नव्याकरण[10] में भावनाओं का निरूपण है, पर नाम व क्रमो मे कहीं-कहीं अन्तर है। उनके नाम इस प्रकार हैं —

---

१. 'प्रिय सत्यं वाक्यं हरति हृदयं कस्य न भुवि ?
   गिरं सत्यां लोकः प्रतिपदमिमामर्थयति च ॥
   सुराः सत्याद् वाक्याद् ददति मुदिताः कामितफलम् ।
   अतः सत्याद् वाक्याद् व्रतमभिमतं नास्ति भुवने ॥'

२. 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।'

३. उत्तराध्ययन, २५/१४, १६/२७

४. उत्तराध्ययन, २१/१४

५. उत्तराध्ययन, १/२४, ३६

६. उत्तराध्ययन, ३१/१७

७. 'तत्स्थैर्यार्थं भावना पंच-पंच ।'

८. आचारांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, १५वां भावना-अध्ययन

९. समवायांग, २५वां समवाय

१०. प्रश्नव्याकरणसूत्र, संवरद्वार, सातवां अध्ययन

आचारांग में—(१) अनुवीचिभाषण (२) क्रोधप्रत्याख्यान (३) लोभप्रत्याख्यान (४) अभय (भयप्रत्याख्यान) (५) हास्य-प्रत्याख्यान।

समवायांग में—(१) अनुवीचिभाषण (२) क्रोधविवेक (क्रोध का परित्याग) (३) लोभविवेक (लोभ का परित्याग) (४) भयविवेक (भय का त्याग) (५) हास्यविवेक (हास्य का त्याग)।

प्रश्नव्याकरण में—(१) अनुचिन्त्यसमितिभावना (२) क्रोधनिग्रहरूप क्षमाभावना (३) लोभविजयरूप निर्लोभभावना (४) भयमुक्तिरूप धैर्ययुक्त अभयभावना (५) हास्यमुक्तिवचनसंयमरूप भावना।

चारित्रप्राभृत[1] **में**—(१) अक्रोध (२) अभय (३) अहास्य (४) अलोभ (५) अमोह।

प्रश्नव्याकरण की भांति ही तत्वार्थसूत्र की टीकाओं सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक[2] में भी क्रम मिलता है।

इन पांचों भावनाओ में जिन कारणो से सत्य की साधना मे स्खलनाएं हो सकती हैं उनसे अलग-थलग रहने के लिए प्रेरणा प्रदान की गई है। प्रतिपल-प्रतिक्षण चिन्तन करने से साधक मे वे संस्कार बद्धमूल हो जाते हैं, जिससे वह किसी भी समय और परिस्थिति में असत्य का उपयोग नहीं कर सकता।

हम यहां प्रश्नव्याकरण को मूल आधार मानकर ही उन भावनाओं पर चिन्तन कर रहे हैं।

(१) अनुचिन्त्य-समिति-भावना

अनुचिन्त्य अथवा अनुविचिन्त्य से तात्पर्य है सत्य के विभिन्न पहलुओं पर पुन: पुन: चिन्तन कर बोलना। जब तक जीवन के कण-कण में एवं मन के अणु-अणु मे सत्य पूर्णरूप से रम नहीं जाता, वहां तक सत्य की साधना व आराधना पूर्ण नही होती। सत्य की महिमा और गरिमा का तभी पता चलता है जब तक साधक मनोयोगपूर्वक उस पर गहराई से चिन्तन करता है। सत्य के महत्व को समझकर साधक उसके बाधकतत्वों[3] का परित्याग करता है।

सत्य के बाधक तत्व ये हैं—

(१) **अलीक वचन**—जो बात नही है उसे कहना, स्वयं की प्रशंसा करने के लिए और दूसरों को नीचा दिखाने के लिए झूठ बोलना।

(२) **पिशुन वचन अथवा चुगली**—नारद की भांति एक-दूसरे के विपरीत बात कहकर लड़ाना। एक राजस्थानी कवि ने चुगलखोर का वर्णन करते हुए कहा—वह बहुत ही खतरनाक प्राणी है, जिसके कारण सरसब्ज बाग वीरान और शहर उजड़ जाते हैं। पैशुन्य ऐसा चालाक तस्कर है जो सत्य रूपी धन को चुरा लेता है।

(३-४) **कठोर वचन तथा कटु वचन**—ये दोनों भी सत्य के शत्रु हैं। हित की बात भी कटु शब्दों में नहीं कहनी चाहिए। दूध को एक मिट्टी के बर्तन मे रखकर पिलाया जाय और उसी दूध को चमचमाते हुए चांदी या स्वर्ण-पात्र में पिलाया जाय तो पीने वाले को अधिक आह्लाद किसमे होगा? स्वर्ण या चादी के पात्र में। वैसे ही सत्य को भी मधुर शब्दो मे कहा जाय तो वह अधिक प्रभावशाली होगा।

(५) **चपल वचन**—बहुत ही उतावली से, जल्दबाजी से बिना सोचे बोलना। व्यवहारभाष्य[4] में आचार्य ने लिखा है—अन्धा व्यक्ति जैसे अपने साथ आंख वाले व्यक्ति को रखता है, वैसे ही वाणी जो अन्धी है उसे अपने साथ बुद्धिरूपी नेत्र रखना चाहिए अर्थात् पहले अच्छी तरह बुद्धि से सोचकर फिर वाणी का प्रयोग करना चाहिए।

साधक को सत्य के इन पांच बाधक तत्वों से बचना चाहिए।

यहां पर यह स्मरण रखना होगा कि आचारांग, समवायांग और प्रश्नव्याकरण मे उल्लिखित 'अनुवीचि भाषण' या 'अनुविचिन्त्य

---

१. 'कोह भय हास लोहा मोहा विवरीय भावणा चेव।
   विदियस्स भावणा ए पचेव य तहा होंति॥', आचार्य कुन्दकुन्द : षट्प्राभृत में चारित्रप्राभृत, ३२

२. तत्वार्थसूत्र, ७/३ की टीकाएं

३. 'अलिय-पिसुण-फरुस- कडुय-चवल वयण परिरक्खणट्ठयाए', प्रश्नव्याकरणसूत्र, संवर द्वार, सातवां अध्ययन

४. 'पुव्विं बुद्धिए पासेत्ता तत्तो वक्कमुदाहरे।
   अचक्खुओ व नेयार बुद्धिमन्नेसए गिरा॥', व्यवहारभाष्य, पीठिका-७६

समिति' के स्थान पर आचार्य कुन्दकुन्द ने 'अमोह' भावना का उल्लेख किया है। पर चारित्रप्राभृत के टीकाकार ने अनुवीचिभाषण ही रखा है[1] और अमोह का अर्थ अनुवीचिभाषणकुशलता किया है। आगम के टीकाकारो ने 'अनुवीचिभाषण' का अर्थ चिन्तनपूर्वक बोलना किया है, जबकि चारित्रप्राभृत की टीका मे[2] 'वीचि' का अर्थ 'वचन-लहर' तथा 'वचन-तरंग' किया गया है। और उस वचन-तरग का अनुसरण करके बोली जाने वाली भाषा को 'अनुवीचि' कहा गया है। दूसरे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि सूत्रों का अनुसरण करने वाली और पूर्वाचार्य व पूर्व परम्परा का अनुगमन करने वाली भाषा 'अनुवीचि' भाषा है। उसके पश्चात् प्रस्तुत भाषा के सम्बन्ध मे भी चिन्तन चला। भट्टअकलक ने दोनो ही अर्थों को स्वीकार किया है।[3]

सारांश यह है कि प्रस्तुत भावना मे भाषा व उसके गुण-दोषों पर चिन्तन करके सत्य के प्रति मन मे दृढ़ता बनाये रखी जाती है।

(२) क्रोध निग्रह रूप क्षमा भावना

यह द्वितीय भावना है। प्रथम भावना मे चिन्तनपूर्वक विवेकयुक्त वचन बोलने का अभ्यास किया जाता है। निरन्तर अभ्यास करने से संस्कार सुदृढ़ हो जाते हैं।

असत्य भाषा के प्रयोग का प्रथम कारण क्रोध है। क्रोध का भूत जब मस्तिष्क पर सवार होता है तब विवेक लुप्त हो जाता है। वह दूसरो पर मिथ्या दोषो का आरोपण करने लगता है। उसे यह भान ही नही रहता कि मैं किसके सामने और क्या बोल रहा हूं। क्रोध अनेक दुर्गुणो की खिचड़ी है, इसीलिए प्रस्तुत भावना मे क्रोध से बचकर क्षमा को धारण करने का सकल्प किया जाता है। मन को क्षमा से भावित करने का उपक्रम करना ही इस भावना का मूल उद्देश्य है।

(३) लोभ विजय रूप निर्लोभ भावना

क्रोध की तरह लोभ भी सत्य का सहार करने वाला है। क्रोध से द्वेष की प्रधानता होती है तो लोभ मे राग की प्रधानता। सूर्य के चमचमाते हुए दिव्य प्रकाश को उमड़-घुमड़ कर आने वाली काली-कजराली घटाए रोक देती है और अन्धकार मडराने लगता है। वैसे ही लोभ की घटाओ से भी मानव का विवेक धुधला हो जाता है, सत्य सूर्य का प्रकाश मन्द हो जाता है।

लोभ के कारण मानव असत्य भाषण करता है। सत्य का साधक लोभ से बचने के लिए इस प्रकार चिन्तन करता है कि जिन पर-पदार्थों पर मैं मुग्ध हो रहा हूं, वे सभी वस्तुएं क्षणिक है। ससार के अपार कष्ट इन वस्तुओं के प्रति ममत्व एव लोभ के फल ही है। अत. वह निर्लोभ-भावना का चिन्तन कर लोभ की वृत्ति को नष्ट करने मे सतत प्रयत्नशील रहता है।

(४) भयमुक्तियुक्त अभय भावना

लोभ मीठा जहर है जो साधक के जीवन रस को चूस लेता है, उसे विषमिश्रित कर देता है तो भय कटुक जहर है जो साधक के जीवन को संत्रस्त कर देता है। भय का सवार होते ही व्यक्ति की बुद्धि कुंठित हो जाती है, वह करणीय तथा अकरणीय का यथातथ्य निर्णय नही कर पाता।

स्थानांग[4] मे सात भय बताये हैं—(१) इहलोकभय (२) परलोकभय (३) आदानभय (४) अकस्मात्भय (५) वेदनाभय (६) मरणभय (७) अपयशभय। इन भयों के कारण मानव असत्य भाषण करता है।

भयभीत व्यक्ति सत्य नही बोल पाता। इसलिए आगम साहित्य मे साधक को यह स्पष्ट आदेश दिया है कि तुम्हें भयभीत नही होना चाहिए। भय के दुष्परिणामो पर चिन्तन कर अभय बनाने का प्रयास करना चाहिए।

सुप्रसिद्ध विचारक इमर्सन ने लिखा है—भय अज्ञान से उत्पन्न होता है।

साधक भयविमुक्ति के लिए अभय भावना से आत्मा को भावित कर सत्य के चिन्तन को सुदृढ़ करता है।

---

१. 'अकोहणो अलोहो य भय हस्स विवज्जिदो।
अणुवीचि भासकुसलो बिदिय वदमिस्सदो ॥', चारित्रप्राभृत, गाथा ३२ की टीका

२. 'वीचा वाग्लहरी तामनुकृत्य या भाषा वर्तते सानुवीची भाषा—जिनसूत्रानुसारिणीभाषा-अनुवीचीभाषा-पूर्वाचार्यसूत्रपरिपाटीमनुल्लघ्य भाषणीयमित्यर्थ.।', चारित्रप्राभृत, गाथा ३२ की टीका

३. 'अनुवीचिभाषण अनुलोमभाषणमित्यर्थ—विचार्यभाषण अनुवीचिभाषणमिति वा।', तत्त्वार्थराजवार्तिक, ७/५

४. स्थानांगसूत्र, स्थान-७

(५) हास्य-मुक्तिवचन संयम रूप भावना

स्वास्थ्य के लिए मानव को सदा प्रफुल्लित रहना चाहिए। खिले हुए फूल की तरह उसका चेहरा होना चाहिए।

उत्तम मानवों की आंखें हसती है। जब भी हसने का प्रसंग आता है, उनकी आंखों से ऐसी रोशनी चमकती है कि मानव का मन आनन्द से विभोर हो जाता है। मध्यम मानव खिलखिलाकर हसता है और अधम मानव अट्टहास करता है। उसके ठहाके से दीवारें गूजने लगती हैं। इस प्रकार की हसी असभ्यता व जगलीपन का प्रतीक है। समझदार व्यक्ति बहुत कम हसता है। वह हसी-मजाक का परित्याग कर इन्द्रियों को संयत करता है।[1] राजस्थानी कहावत भी है—"रोग की जड खांसी, लडाई की जड हासी।" हास्य सत्य का शत्रु है। एक कवि ने कहा—ए मानव ! हस मत ! हंसना उच्चता का प्रतीक नही है। हसने से अनेक दोष आ जाते हैं और गुण चले जाते हैं तथा लोग पागल समझते हैं।[2]

हसी-मजाक करने वाला गम्भीर नही हो सकता। वह विवेकयुक्त शब्दों का चयन नही कर पाता, सत्य-असत्य का विवेक नही रख पाता। लोगों को हसाने के लिए वह जोकर, विदूषक या भाड की तरह चेष्टा करता है, जिससे लोग हंसें। वह दूसरों का उपहास भी करता है, जिससे दूसरो के हृदय को आघात लगता है। एतदर्थ ही शास्त्रकारो ने साधक को हंसी-मजाक न करने के लिए प्रेरणा दी है।

यहा यह स्मरण रखना होगा कि हसी-मजाक और विनोद में अन्तर है। विनोद मे सौम्यता होती है, यथार्थता होती है। विनोद में इस प्रकार से शब्दो का प्रयोग होता है, जिससे किसी के दिल को पीड़ा नही होती, किन्तु हंसी-मजाक में दूसरो के मन में पीडा होती है। "एक व्यंग्य-वचन हजार गालियो से भी भयानक होता है" तथा "एक मसखरी सौ गाली" आदि लोकोक्तियां व्यंग्य-हास्य की भयंकरता का दिग्दर्शन कराती हैं। अतः साधक हसी-मजाक का परित्याग करता है और संयम के द्वारा ऐसे सस्कार जागृत करता है जिससे उसकी वाणी पूर्ण संयत, निर्दोष और यथार्थ होती है। हित, मित, प्रिय, तथ्य व सत्य से संपृक्त होती है।

उपर्युक्त पक्तियो म सत्य के सम्बन्ध मे सक्षेप मे कुछ चिन्तन किया है। यो सत्य का स्वरूप बहुत ही विराट् है। शब्दो के संकीर्ण घेरे में उसे बांधना सम्भव नही, किन्तु सक्षेप मे समझा तो जा ही सकता है।

प्रामाणिक हितकारक सद्वचन बोलना सत्य है।

असत्य भाषण के त्याग करने से सत्य वचन प्रकट होता है।

मनुष्य लोभ, भय, मनोरजन, अज्ञानता आदि अनेक कारणो से असत्य बोलता है। क्रोध, अभिमान, व्यग्य रूप से अन्य व्यक्ति को दु:खकारक, निन्दाजनक, पापवचन बोलना भी असत्य मे सम्मिलित है, अतः सत्यवादी मनुष्य को ऐसे वचन मुख से उच्चारण नही करने चाहियें।

कोहभयलोहहासपइण्णा अणुवीचिभासणं चेव।
बिदियस्स भावणाओ वदस्स पंचेव ता होंति॥ —मूलाचार, ३३८

सदैव अपने मुख से प्रामाणिक, सत्य, स्व-परहितकारी, मृदु वचन बोलने चाहिएं, अपने सेवकों से, भिखारी, दीन, दरिद्र व्यक्तियों से सात्वना तथा शान्तिकारक मृदु वचन बोलने चाहिए। पीडाकारक कठोर बात न कहनी चाहिए क्योंकि उनका हृदय पहले ही दु:खी होता है कठोर वचनों से और अधिक दुखेगा। यह जिह्वा यदि अच्छे वचन बोलती है तो वह अमूल्य है। यदि यह असत्य, भ्रामक, भयोत्पादक, पीडादायक, कलहकारी, क्षोभकारक निन्दनीय वचन कहती है तो यह जीभ चमडे का अशुद्ध टुकडा है।

सत्यं प्रिय हितं चाहुः सूनृतं सूनृतव्रताः।
तत्सत्यमपि नो सत्यमप्रिय चाहितं च यत्॥ —अनगार-धर्मामृत, ४२

(आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज कृत उपदेशसारसंग्रह, भाग-१, जयपुर, वि० सं० २०३६ से उद्धृत)

---

१. 'सव्वं हासं परिच्चज्ज अल्लीण गुत्तो परिव्वए।', आचारांग, ३१२

२. 'हंसिए नहीं गिवार, हंसिया हलकाई हुवै।
हंसिया दोष अपार, गुण जावै गहलो कहै॥'

तत्त्वज्ञता

श्री जिनेन्द्र वर्णी

नि:सन्देह समीचीन श्रद्धान, समीचीन विवेक तथा समीचीन आचरण का परम्परागत त्रित्व ही एकमात्र कल्याण का हेतु है, इसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ वृथा है, परन्तु देखना तो यह है कि क्या वास्तव मे हमारा श्रद्धान, विवेक तथा आचरण 'समीचीन' विशेषण को धारण करने के योग्य है। क्या किसी व्यक्ति विशेष से प्रभावित होकर उसकी बातो पर श्रद्धा कर लेना समीचीन है अथवा अन्य धर्मों का तिरस्कार करने वाली विविध साम्प्रदायिक श्रद्धाओं की भांति ही यह कोई साम्प्रदायिक श्रद्धा है। क्या शास्त्रज्ञान समीचीन ज्ञान है अथवा विश्वविद्यालयों से बड़ी-बड़ी उपाधि प्राप्त कर लेने वाले स्नातकों के ज्ञान की भांति ही वह कोई शब्द-संग्रह है। क्या 'शरीर जुदा, आत्मा जुदा' इस मन्त्र की माला जपना समीचीन विवेक है अथवा केवल शब्द-विन्यास है। क्या शास्त्रानुसार क्रियायें करना या व्रत आदि धारण कर लेना समीचीन आचरण है अथवा लज्जा, भय, गौरव के कारण धारण किया गया कोरा लदाव है।

शास्त्रो का उल्लेख है कि समीचीन त्रित्व को धारण करने वाले व्यक्तियो की सख्या प्राय: अत्यल्प हुआ करती है, तब क्या स्कूल, कालेज की भांति शास्त्रो का अभ्यास करके तथा कराके अथवा व्रतादि धारण करके तथा कराके इनकी सख्या मे वृद्धि करना समीचीन है अथवा शब्दाडम्बर तथा बाह्याडम्बर के कारण उत्पन्न हुई भ्रान्ति है। क्या इस प्रकार के मानवीय प्रयासो के द्वारा स्वाभाविक-विधान बाधित किया जा सकता है। ये तथा अन्य भी अनेक प्रश्न हैं जो कि पग आगे रखने से पहले किसी भी कल्याणाकाक्षी मुमुक्षु के हृदय मे उदित हुआ करते हैं। परन्तु इनका उत्तर वह कहा से तथा किससे प्राप्त करें, क्योकि सभी तो धर्म पर दृढ आस्था रखते हैं, सभी शास्त्रज्ञ हैं, सभी देह तथा आत्मा को पृथक् समझते तथा कहते हैं और सभी शास्त्रानुकूल आचरण का यथाशक्ति पालन कर रहे है।

यह एक पहेली है। किसकी सामर्थ्य है कि इसको बूझ सके। क्या इसको बूझने वाला भी उसी श्रेणी मे न गिना जायेगा, जिसमे कि 'मैं वन्ध्या का पुत्र हू' ऐसा कहने वाला। तब क्या आध्यात्मिक क्षेत्र मे तथा साधना के क्षेत्र मे जो इतना बडा विकास आज चारो ओर दिखाई दे रहा है, वह सब वृथा है अथवा मिथ्या है। इस बात का उत्तर देने का भी सर्वज्ञ के अतिरिक्त और किसको अधिकार है। गुत्थी पर गुत्थी चढ़ी जाती है, उलझन पर उलझन पड़ी जाती है।

सत्पुरुषार्थ को वृथा बताना इष्ट नही है, केवल यह बताना इष्ट है कि समीचीनता सत्य है और सत्य को सत्य ही पढ सकता है, तत्वज्ञ ही तत्वज्ञ को पहचान सकता है। परन्तु जो तत्वज्ञ होगा वह दूसरो को सत्यता या असत्यता का प्रमाण-पत्र देने का अहकार करेगा ही क्यों। दूसरो को छोटा-बडा देखने वाली विषम दृष्टि है तो तत्वज्ञता नही और तत्वज्ञता है तो विषम दृष्टि नही। यह एक विचित्र पहेली है।

तथापि इतना तो निश्चित रूप से कहा ही जा सकता है कि तत्त्वज्ञता का सम्बन्ध शब्द से नही जीवन से है। इसका यह अर्थ नही कि शब्द अथवा शास्त्रज्ञता सर्वथा व्यर्थ है। नि:सन्देह शब्द इस मार्ग मे सबसे बडा साधक है परन्तु सबसे बडा बाधक भी यही है। साधक तो यह किसी-किसी को ही होता है, प्राय: सबको बाधक ही होता देखा जाता है। भ्रान्ति उत्पन्न कर देना इसकी सबसे बडी बाधा है क्योंकि कौन शास्त्रज्ञ अपनी दृष्टि को असमीचीन मानता है। जब उसकी सभी बातें सत्य होती हैं, उसकी सभी व्याख्यायें सत्य होती हैं, उसकी सभी चर्चायें सत्य होती हैं और उसका अध्ययन तथा अध्यापन भी सत्य होता है तब वह अपने को असमीचीन कैसे मान सकता है। उसे यह भी पता लगने नही पाता कि जो कुछ व्याख्यायें या चर्चायें अथवा अध्ययन-अध्यापन वह कर रहा है वह स्वय अपने जीवन को पढकर कर रहा है या शास्त्रों को देखकर अथवा शास्त्र मे पढी गई बातो को सस्कारवश कर रहा है। शास्त्रो मे ११ अग के पाठी द्रव्यलिगी को मिथ्यादृष्टि कहा गया है। सभी शास्त्रज्ञ प्राय: शास्त्रज्ञता की गौणता दर्शाने के लिए इसका उदाहरण देते हैं परन्तु कौन ऐसा है जो अपने को भी उसी श्रेणी का समझता हो। यही शब्द की सबसे बडी भ्रान्ति है।

शास्त्रो मे शास्त्राध्ययन को स्वाध्याय कहा है। इसका क्या तात्पर्य है इसका विचार करने वाले कोई बिरले ही हो तो हों क्योंकि स्वाध्याय का सीधा-सीधा अर्थ Self reading या अपने जीवन का अध्ययन करना है शब्द पढना नही। शब्द उससे निमित्त अवश्य होता है, क्योंकि शब्द वाचक है और उसका वाच्य अध्येता के अपने जीवन मे पढा जाने योग्य है। जो अध्येता वाचक पर से वाच्य का अध्ययन करने में

सफल हो जाता है उसके लिये ही शास्त्राध्ययन स्वाध्याय कहा जा सकता है। अन्य सभी के लिये तो वह शास्त्राध्ययन ही है, स्वाध्याय नहीं। स्वाध्याय को ही परम तप कहा गया है शास्त्राध्ययन को नही, क्योकि स्वाध्याय से जिस प्रकार कर्मों के शतखण्ड होते देखे जाते हैं उस प्रकार शास्त्राध्ययन से नही देखे जाते। स्व-अध्ययन से निरपेक्ष शास्त्राध्ययन तो अध्येता में ज्ञानाभिमान उत्पन्न करके कर्मों की वृद्धि का ही हेतु होता है, हानि का नही।

इसी प्रकार आचरण के क्षेत्र मे भी समझा जा सकता है। आचरण शब्द जीवन की सहज गति का द्योतक है। चारित्तं खलु धम्मो, यह सूत्र चारित्र को धर्म अथवा स्वभाव घोषित करता है, क्योकि धर्म का पारमार्थिक अर्थ वस्तु का स्वभाव किया गया है, बाह्य का क्रियाकाण्ड नही। वह जीवन को समता स्वभाव को हस्तगत कराने मे निमित्त अवश्य हो सकता है। परन्तु जिस प्रकार शास्त्राध्ययन पर से कोई विरला ही स्वाध्ययन करने मे सफल होता है और परमार्थतः उसी के प्रति उसे निमित्त कहा जा सकता है सबके प्रति नही, उसी प्रकार बाह्य क्रिया-कलाप पर से भी कोई विरला ही समता स्वभाव की प्राप्ति मे सफल होता है, और परमार्थतः उसी के प्रति उसे निमित्त कहा जा सकता है, सबके प्रति नही।

निमित्त कहो या साधन एक ही बात है और प्राप्तव्य कहो या साध्य एक ही बात है। साधन को शास्त्रीय भाषा मे व्यवहार कहा जाता है और साध्य को निश्चय। इसीलिये व्यवहार को सर्वत्र निश्चय का साधन कहा गया है। जिस प्रकार साध्य या निश्चय की प्राप्ति साधन या व्यवहार के बिना होनी सम्भव नही है, उसी प्रकार निश्चय या साध्य की प्राप्ति से निरपेक्ष रहता हुआ व्यवहार साधन कहलाने के लिये समर्थ नही है। यही साधन तथा साध्य की अथवा व्यवहार तथा निश्चय की मैत्री है।

स्वाध्याय के नाम पर शास्त्राध्ययन करने वाले हो या चारित्र के नाम पर बाह्य क्रियाकलाप करने वाले, दोनो इस न्याय की दृष्टि मे समान हैं। दोनो ही एक नाव के पथिक है। इनमे से किसी भी एक को छोटा या बडा नही कहा जा सकता, क्योकि स्वाध्याय से निरपेक्ष शास्त्राध्ययन जिस प्रकार ज्ञानाभिमान जागृत करके कर्मों मे वृद्धि करता है उसी प्रकार समता से निरपेक्ष बाह्य क्रिया-कलाप भी चारित्राभिमान या तपाभिमान जागृत करके कर्मो मे वृद्धि ही करता है। "ये दोनों कर्म के इस वेग से अपनी रक्षा किस प्रकार करें" इस प्रश्न का उत्तर देना बहुत कठिन है क्योकि जब तक वे स्वय अपनी असमीचीनता को नही पहचान जाते तब तक इससे छुटकारा सम्भव नही। विश्वास किसी दूसरे के कहने से नही स्वय अपने मन के कहने से होता है।

तत्वज्ञ की दृष्टि कुछ विचित्र ही होती है जिसका परिचय इन दोनो को ही नही है। वह ही समीचीनता के रहस्य को ठीक-ठीक जानता है, वह ही शास्त्राध्ययन का प्रयोग स्व-अध्ययन के लिये और बाह्य क्रिया-कलाप का प्रयोग समता की प्राप्ति तथा वृद्धि के लिये करता है, पाकर कर सकता है। उसके ढग निराले हैं जिमे पहचानना साधारण दृष्टि की पहुंच से बाहर है। अपने भीतर-बाहर, दायें-बायें, ऊपर-नीचे, आगे-पीछे सर्वत्र ही वह एक तथा अखण्ड तात्त्विक विधान के दर्शन करता है, जो सहज तथा स्वाभाविक होने के कारण प्राकृतिक है, कृतक नही। उसे न यहा कुछ मैं दीखता है न मेरा, न तू न तेरा, न मनुष्य न तिर्यञ्च, न स्त्री न पुरुष, न बच्चा न बूढ़ा, न ब्राह्मण न शूद्र, न जैन न अजैन, न हिन्दू न मुस्लिम, न धर्म न अधर्म। उसे न यहा कुछ जन्म दीखता है न मृत्यु, न इहलोक न परलोक, न इष्ट न अनिष्ट, न मनोज्ञ न अमनोज्ञ, न अनुकूल न प्रतिकूल, न स्व न पर। ये सकल द्वन्द्व मनुष्य के मन मे उपजी विकल्पकृत उपाधि हैं जिनका तात्विक विधान मे कोई स्थान नही। जहा-जहा केवल तत्व ही तत्व मे वर्तन करते प्रतीत हो रहे हैं वहा इन द्वन्द्वो को अवकाश कहा? सभी प्रकार के सम्बन्ध या रिश्ते-नाते, मनुष्यकृत हैं, प्राकृतिक या तात्विक नही। तब कौन पिता और कौन पुत्र, कौन भाई और कौन बहिन, कौन पति और कौन पत्नी, कौन मित्र और कौन शत्रु, कौन स्वामी और कौन सेवक। इन सब लौकिक सम्बन्धो की तो बात नहीं यहा तो साध्य-साधक, वाच्य-वाचक, उपास्य-उपासक, भगवान्-भक्त आदि के उस द्वैत को भी कही अवकाश नही है जिसका उल्लेख तात्विक विधान समझाने के लिये अध्यात्म-शास्त्रों मे प्राय: किया जाता है। इतना ही क्यो यहा तो गुरु-शिष्य का वह भेद भी विलय को प्राप्त हो जाता है जो कि साधक दशा मे मुमुक्षु का मूल आधार है और जिसका आश्रय लिये बिना तीन काल मे भी कल्याण नही।

परन्तु अरे रे! यह क्या? तत्वज्ञ के मुख से इस प्रकार की व्यवहार विरुद्ध बातें सुनकर तू भी समस्त व्यवहार का लोप करने लगा? याद रख, नष्ट हो जायेगा, व्यवहार की चक्की मे पिसकर रह जायेगा। जब तक चित्त में तनिक सा भी द्वैत है तब तक तत्वदृष्टि नही और जब तक तत्व-दृष्टि नही तब तक व्यवहार की भूमि का अतिक्रम सम्भव नही। पिता-पुत्र, शत्रु-मित्र, स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र आदि के लौकिक-द्वैत का लोप करने से पहले ही भगवान्-भक्त, गुरु-शिष्य, धर्म-अधर्म, साध्य-साधक आदि के परमार्थिक द्वैत का लोप करने से क्या तू व्यवहारातीत हो जायेगा। यही तो वह भ्रान्ति है जो कि शब्दाध्ययन के द्वारा प्राय: उत्पन्न हुआ करती है। रक्षा कर, इस भ्रान्ति से अपनी रक्षा कर। मुमुक्षु के लिये इससे अधिक विनाशकारी अन्य कुछ नही है।

दृष्टि में तथा आचरण मे द्वैत के जीवित रहते केवल मुख से अद्वैत के राग अलापना किसको कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है। अन्दर कुछ और बाहर कुछ, इस प्रकार की वक्र प्रवृत्ति को शास्त्रों मे मायाचारी कहा गया है, आत्म-वंचना कहा गया है। क्या तू नही जानता

कि इस प्रकार की आत्म-वंचना से दूसरों का कुछ बिगाड़ हो या न हो, तेरा तो सर्वनाश हो ही रहा है।

तत्त्वज्ञ में यह भ्रान्तिकारक वक्रता सम्भव नहीं। वह भीतर तथा बाहर से समान होता है। इसी से वह केवल दृष्टि-सम्पन्न नहीं आचरण-सम्पन्न भी होता है। इस प्रकार की दृष्टि जागृत हो जाने पर विषम व्यवहार सम्भव नहीं है। लेने-देने में, बोलने-चालने में, पढ़ने-पढ़ाने में, करने-कराने में उसका समस्त व्यवहार स्वतः समता के रंग में रंग जाता है। यही है दृष्टि, विवेक तथा आचरण का पारमार्थिक त्रित्व, जिसके जागृत हो जाने पर भीतर तथा बाहर सर्वत्र जो कुछ भी दिखाई दे रहा है उसमें कुछ भी वैचित्र्य रह नहीं जाता है।

जगन्मंचपर होने वाली यह अखण्ड नाट्यलीला अनादिकाल से ऐसे ही चलती रही है और ऐसे ही चलती रहेगी। न इसे कोई चलाने वाला है और न बिगाड़ने वाला। अहंकार की दृष्टि के द्वारा अहंकारकृत छोटे-छोटे विधान ही बनते-बनाते अथवा बिगड़ते-बिगड़ाते दिखाई देते हैं परन्तु जिसकी दृष्टि इस क्षुद्र अहंकार का अतिक्रम करके सकल विश्व में व्याप गई है, जो व्यष्टि को न देखकर समष्टि को देखती है, एक-एक को न देखकर समग्र को युगपत् देखती है, इस अखिल विश्व को तथा इसकी व्यवस्था को एक तथा अखण्ड इकाई के रूप में देखती है, उसके लिये कर्तृत्व को कहां अवकाश है। विश्वव्यापी इस इकाई में अहंकारकृत क्षुद्र व्यष्टियें न जाने कहां विलीन होकर रह गई हैं। न यहां देशकृत व्यवधान है और न कालकृत। देशकालानवच्छिन्न यह समग्र तथा इसका सकल विधान केवल प्राकृतिक तथा स्वाभाविक है जिसमें हेर-फेर करने के लिये कोई समर्थ नहीं। सर्वज्ञ भी जब इसे केवल देख ही सकते हैं, इसमें कुछ कर नहीं सकते, तब अस्मद्-युष्मद् की तो बात ही क्या?

वास्तव में हेर-फेर करने की बुद्धि अहंकार की उपज है। क्षुद्र होते हुए भी वह अपने को बड़ा समझता है और समस्त विश्व को अपने अनुकूल परिणमन करा देने की कल्पनायें किया करता है। अपने को बदलने के बजाय दूसरे को बदल देना यही उसका सकल पुरुषार्थ है और यह पुरुषार्थ ही सकल प्रपंच का आधार है। जब तक अहंकार का लेश भी जीवित है व्यक्ति इस विश्वव्यापी सहज तात्त्विक विधान को कैसे देख तथा समझ सकता है। यही कारण हैं कि तात्त्विक विधान को शास्त्रों में पढ़कर तथा समझकर भी वह अपने उस ज्ञान का प्रयोग दूसरों की दृष्टि को बदल देने के प्रति ही करता है, अपनी दृष्टि को बदल देने के लिये नहीं।

यदि एक क्षण के लिये भी कदाचित् वह देख पाये कि वस्तु स्वभाव के आधीन होने के कारण विश्व का जटिल विधान सहज तथा स्वाभाविक है और इसलिए अकृत्रिम, तो इसमें हस्तक्षेप करने की अथवा बदल देने की इसकी कल्पना को कहीं अवकाश न रह जाये। यदि एक क्षण के लिये भी कदाचित् वह देख ले कि इस सकल विधान का शासक तथा सम्राट् कर्म है जो मानवीय विधान की भांति किसी की सिफारिश की प्रतीक्षा नहीं करता, तो इसमें हस्तक्षेप करने की अथवा बदल देने की उसकी कल्पना को कहीं अवकाश न रह जाये। यदि एक क्षण के लिए भी कदाचित् वह देख ले कि उत्थान-पतन, वृद्धि-ह्रास, जन्म-मरण, सृष्टि-प्रलय, सुख-दुःख, धर्म-अधर्म आदि द्वन्द्वों का यह चक्र अनादि काल से यों ही चला आ रहा है और अनन्त काल तक यों ही चलता रहेगा। काल की नित्य तथा निर्बाध इस महागति को किंचित्-मात्र भी बाधित करना तो दूर इसे बाधित करने का विचार करने वाला भी इसके जबड़े का चबीना बनकर रह जाता है, तो इसमें हस्तक्षेप करने की अथवा बदल देने की उसकी कल्पना को कहीं अवकाश न रह जाये। यदि एक क्षण को भी कदाचित् वह यह विश्वास कर ले कि विश्व की यह अखण्ड तथा निर्बाध व्यवस्था वैसी ही नियत तथा टंकोत्कीर्ण है जैसी कि सर्वज्ञदेव ने देखी है तो इसमें हस्तक्षेप करने की अथवा बदल देने की उसकी कल्पना को कहीं अवकाश न रह जाये।

तत्त्वज्ञ ही ठीक जानता है कि विश्व की व्यवस्था में स्वभाववाद की अथवा कर्मवाद की अथवा कालवाद की अथवा नियतिवाद की चर्चा करने वाले स्वयं जगत् के इस विधान के अन्तर्गत हैं, अन्यथा दूसरों को बदल देने की उनकी यह प्रवृत्ति अवश्य विराम पर जाती। सर्वत्र तात्त्विक विधान के दर्शन करने वाले में कर्तृत्व बुद्धि का सत्त्व सम्भव नहीं और कर्तृत्व बुद्धि के सद्भाव में तात्त्विक विधान के दर्शन सम्भव नहीं। शास्त्र इस बात की स्पष्ट घोषणा कर रहा है कि जो कर्ता है वह ज्ञाता नहीं और जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं—"कोई एक अकेला व्यक्ति सारे विश्व को बदल सके यह निःसन्देह असम्भव है परन्तु अपनी सामर्थ्य के अनुसार वह अपने सीमित क्षेत्र में तो परिवर्तन कर ही सकता है अन्यथा पुरुषार्थ निष्फल हो जायेगा' ऐसी चर्चा करने वाले-पुरुषार्थवादी नहीं जानते कि उनकी यह आवाज वास्तव में सत्पुरुषार्थ की है या कि उसकी आड़ लेकर अहंकार की गर्जना है, अन्य कुछ नहीं। जब तक यह अहंकार जीवित है तब तक उसके समस्त विश्वास, विवेक तथा आचरण समीचीनता को स्पर्श करने के लिये समर्थ नहीं हैं।

इस तथ्य को यदि वह अपने जीवन में प्रत्यक्ष कर ले तो उसकी कर्तृत्व बुद्धि विश्रान्त हो जाय, अहंकार विलय हो जाये, ज्ञाता-दृष्टा-बुद्धि जागृत हो जाये। उस अवस्था में वह जगत् की भांति तमाशा न बनकर इसका तमाशाई बन जाये, दृश्य न रहकर दृष्टा बन जाय, ज्ञेय न रहकर ज्ञाता बन जाये, रागी न रहकर वीतराग बन जाये और वही होगा उसका समीचीन पुरुषार्थ जिसमें श्रद्धा, विवेक तथा आचरण का त्रित्व एक-रस होकर अपने त्रित्व को भी खो देता है। उस अवस्था में वह स्वयं कुछ न करके तटस्थ तथा साक्षी की भांति जगत् प्रसिद्ध पुरुषार्थ की नाट्य-लीला को देखा करे और इसे धन्यवाद दिया करे क्योंकि यदि यह न हो तो जगत् ही न हो।

व्यष्टि से समष्टि और समष्टि से व्यष्टि भिन्न नही है। तृणमात्र में भी हेरफेर करने का विकल्प विकल्प है। तृण में वह परमार्थतः कुछ कर सकता है या नही यह बात तो अनुभव ही बता सकता है, परन्तु इतना तो स्पष्ट है ही कि करने-धरने के विकल्प से उसकी जो पारमार्थिक हानि होने वाली है उससे वह किसी प्रकार भी बच नही सकता। इस प्रकार तत्वज्ञता का अवसान अकर्तृत्व मे अकर्तृत्व का ज्ञाता-दृष्टा-भाव में, ज्ञाता-दृष्टा का वीतरागता मे और वीतरागता का अवसान समता मे होता है। यही समीचीन आचरण है जिसे प्राप्त कर लेने पर अन्य कुछ भी प्राप्तव्य नही रह जाता, जीवन की महायात्रा समाप्त हो जाती है। उस अवस्था में न कहीं व्यवहार का पदचिह्न दिखाई देता है और न निश्चय का, न साधन का और न साध्य का। यही परमानन्द है, यही परमानन्द है।

कल्प	वस्तु के द्रव्य की अपेक्षा विभाग	वस्तु के वस्तु की अपेक्षा विभाग
१.	सत्ता	सत्
२.	जीव, अजीव	जीवभाव-अजीवभाव। विधि-निषेध। मूर्त-अमूर्त। अस्तिकाय-अनस्तिकाय
३.	भव्य, अभव्य, अनुभय	द्रव्य, गुण, पर्याय
४.	(जीव) ससारी, असमारी, (अजीव) पुद्गल, अपुद्गल	बद्ध, मुक्त, बन्धकारण, मोक्षकारण
५.	(जीव) भव्य, अभव्य, अनुभय, (अजीव) मूर्त्त, अमूर्त्त	औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक
६.	जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश	द्रव्यवत्
७.	जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध सवर, निर्जरा, मोक्ष	बद्ध, मुक्त, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश
८.	जीवास्रव, अजीवास्रव, जीवसवर, अजीवसवर, जीवनिर्जरा, अजीवनिर्जरा, जीवमोक्ष, अजीवमोक्ष	भव्य ससारी, अभव्य ससारी, मुक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल
९.	जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष	द्रव्यवत्
१०.	(जीव) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय, (अजीव) पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल	द्रव्यवत्
११.	(जीव) पृथिवी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति, त्रस, (अजीव) पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल	द्रव्यवत्
१२.	(जीव) पृथिवी अप्, तेज, वायु, वनस्पति, सज्ञी, असंज्ञी, (अजीव) पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल	— —
१३.	(जीव) भव्य, अभव्य, अनुभय, (पुद्गल) बादर-बादर, बादर, बादरसूक्ष्म सूक्ष्मबादर, सूक्ष्म-सूक्ष्म, (अमूर्त अजीव) धर्म, अधर्म, आकाश, काल	— —

(श्री जिनेन्द्रवर्णी कृत जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३ से उद्धृत)

जैन-दर्शन में द्रव्य की अवधारणा

श्री कपूर चन्द जैन

जीव और जगत्—मानव की आदितम समस्यायें रही हैं, क्या नही किया है उसने इन समस्याओ को सुलझाने के लिए, किन्तु क्या फिर भी मानव आज तक इन समस्याओं को सुलझा पाया है ? उत्तर नकारात्मक ही होगा। किन्तु क्या उत्तर की नकारात्मकता को सोचते हुए चिन्तन छोडा जा सकता है, पशुओ के खाने के भय से खेती नही छोडी जाती, यही कारण है कि ससार के लगभग सभी दर्शनो ने जीव और जगत् की विस्तृत व्याख्या की है।

भारतीय दर्शनो मे जैन-दर्शन ने जगत् की उत्पत्ति और उसके स्वरूप पर विस्तृत विचार किया है। आज जिस अणु या परमाणु का विश्व मे संहारक रूप दिखाई दे रहा है तथा जिसकी उपलब्धि वैज्ञानिको की अप्रतिम उपलब्धि कही जा रही है उसके सम्बन्ध मे सदियों पूर्व जैनाचार्य विस्तृत विवेचना कर चुके थे। जैन-दर्शन के अनुसार विश्व छः द्रव्यो मे बटा है। द्रव्य का लक्षण करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥[1]

अर्थात् द्रव्य का लक्षण तीन प्रकार से है, प्रथम—द्रव्य का लक्षण सत्ता है, द्वितीय—द्रव्य का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सयुक्त है, तथा तृतीय—द्रव्य का लक्षण गुणपर्यायाश्रित है। इन्ही लक्षणो का विशदीकरण करते हुए आचार्य उमास्वामी कहते है – **सद्द्रव्यलक्षणम्** तथा **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्**[2] द्रव्य का लक्षण सत् है तथा सत् वह है जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों हो। अपनी जाति को न छोडते हुए, चेतन और अचेतन द्रव्य को जो अन्य पर्याय की प्राप्त होती है उसे उत्पाद कहते हैं। अपनी जाति का विरोध न करते हुए चेतन-अचेतन द्रव्य की पूर्व पर्याय का जो नाश है वह व्यय कहलाता है तथा अनादि स्वभाव के कारण द्रव्य मे जो उत्पाद, व्यय का अभाव है, वह ध्रौव्य है।[3]

द्रव्य का तीसरा लक्षण **गुणपर्ययवद्द्रव्यम्**[4] है अर्थात् द्रव्य, गुण और पर्यायो वाला होता है। यहा भी द्रव्य का वही लक्षण है जो ऊपर है, केवल शब्दो का अन्तर है। द्रव्य की विशेषता को गुण कहते हैं तथा द्रव्य के विकार को पर्याय कहा जाता है। इस विकार या विक्रिया शब्द का अर्थ उत्पाद और व्यय है। किसी वस्तु की जब उत्पत्ति होती है तो उसमे पूर्व स्थिति का विनाश (व्यय) और नयी स्थिति का सृजन (उत्पाद) होता है। यही विक्रिया या विकार है। जीव के असाधारण गुण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि है और साधारण गुण वस्तुत्व, प्रमेयत्व, सत्व आदि स्वीकार किये गये हैं। इसी प्रकार रूप, रस गन्ध, स्पर्श पुद्गल के असाधारण गुण हैं तथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल के क्रमशः गति-हेतुत्व, स्थिति-हेतुत्व, अवागाहननिमित्तत्व और वर्तनाहेतुत्व असाधारण गुण स्वीकार किये हैं। इन पाचो (पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) के साधारण गुण वस्तुत्व, सत्व, प्रेमयत्व आदि है।

यहा प्रश्न उठ सकता है कि उत्पाद और व्यय परस्पर विरोधी गुण हैं और दो विरोधी गुणो का एक आधार मे रहना सम्भव नहीं है। फिर ये दोनो कैसे रहते हैं ? किन्तु ऐसा प्रश्न निराधार है। अत: एक ही द्रव्य मे अवस्था विशेष से तीनो गुण रह सकते हैं। यह बात एक दृष्टान्त द्वारा सुगम रीति से स्पष्ट हो सकेगी—कोई व्यक्ति, जिसके पास सोने का हार है, अपने हार से कडा बनवाना चाहता है। ऐसी

---

१. कुन्दकुन्द : पचास्तिकाय, परम श्रुतप्रभावक मण्डल, वि. स. १९७२, गाथा १०
२. उमास्वामी : तत्वार्थ सूत्र, वर्णी ग्रन्थमाला, वी. नि. स. २४७६, ५/२९-३०
३. अमृतचन्द्र सूरि तत्वार्थसार, वर्णी ग्रन्थमाला, सन् १९७० ई०, ३/६-७-८
४. उमास्वामी : तत्वार्थ सूत्र, ५/३८

स्थिति में सोने की हार रूप पर्याय का तो विनाश (व्यय) हुआ तथा कड़ा रूप पर्याय का सृजन (उत्पाद) हुआ, किन्तु सोना तो दोनों ही अवस्थाओं में ज्यों का त्यों (ध्रौव्य) है; पहले भी सोना था अब भी सोना है।

द्रव्य शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है— अद्रुद्रवत्, द्रवति, द्रोष्यति तांस्तान् पर्यायान् इति द्रव्यम् जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हुआ, हो रहा है और होगा वह द्रव्य है अर्थात् अवस्थाओं का उत्पाद और विनाश होते रहने पर भी जो ध्रुव रहता है वह द्रव्य है। इससे यह भी फलित होता है कि ससार मे जितने द्रव्य थे, उतने ही हैं और उतने ही रहेंगे। उनमें से न कोई घटा है, न घट रहा है और न घटेगा ही। न कोई बढा है, न बढ रहा है और न बढ़ेगा ही। सभी द्रव्य नित्य अवस्थित रहते हुए जन्म और मृत्यु, उत्पाद और नाश पाते रहे हैं, पा रहे हैं और पाते रहेंगे।

द्रव्य-भेद

जैन दर्शन मे द्रव्यो की संख्या छः स्वीकार की गई है जबकि वैशेषिक दर्शन में नव द्रव्यों की अवधारणा है। जैन दर्शन सम्मत छः द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल है।[1] वैशेषिक दर्शन सम्मत नव द्रव्य— पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन हैं।[2] इनमे आकाश और काल द्रव्य दोनों मे समान हैं। आत्मा और जीव एक ही हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु शरीर रूप होने से अर्थात् मूर्तिक होने के कारण पुद्गल मे ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। दिक् चूंकि आकाश का ही एक विशिष्ट रूप है अत. उसे आकाश में अन्तर्भूत माना जा सकता है। मन-द्रव्यमन और भावमन के भेद से दो प्रकार का है अत· द्रव्यमन का पुद्गल मे तथा भावमन का जीव मे अन्तर्भाव हो जाता है। धर्म और अधर्म की कल्पना वैशेषिक दर्शन मे नही है। ये दोनो केवल जैन दर्शन मे ही कल्पित हैं।

इन द्रव्यो का विभाजन तीन दृष्टियो से किया जा सकता है—

१ चेतन-अचेतन की दृष्टि मे। इस दृष्टि से जीव चेतन द्रव्य तथा बाकी पाच अचेतन द्रव्य।[3]

२ मूर्तिक-अमूर्तिक की दृष्टि से। इस विभाजन मे पुद्गल मूर्तिक होगा, बाकी पांच अमूर्तिक।[4]

३. अस्तिकाय-अनस्तिकाय की दृष्टि से। इस दृष्टि मे काल अनस्तिकाय होगा तथा बाकी पाच अस्तिकाय।[5]

यह विभाजन निम्न प्रकार होगा—

द्रव्य	जीव	पुद्गल	धर्म	अधर्म	आकाश	काल
१. चेतन-अचेतन दृष्टि से	चेतन	अचेतन	अचेतन	अचेतन	अचेतन	अचेतन
२. मूर्तिक-अमूर्तिक दृष्टि से	अमूर्तिक	मूर्तिक	अमूर्तिक	अमूर्तिक	अमूर्तिक	अमूर्तिक
३. अस्तिकाय-अनास्तिकाय की दृष्टि से	अस्तिकाय	अस्तिकाय	अस्तिकाय	अस्तिकाय	अस्तिकाय	अनस्तिकाय

जीव

जैन दर्शन मे जीव द्रव्य, जिसे आत्मा भी कहा जाता है, स्वतन्त्र और मौलिक माना गया है। जीव का सामान्य लक्षण उपयोग है उपयोगो लक्षणम् क्योकि यह जीव को छोडकर अन्य द्रव्यो मे नहीं पाया जाता। उपयोग का अर्थ है—चेतना। चेतना जीव का लक्षण है अर्थात् जिसमे चेतना है, वह जीव है, जिसमे चेतना नही, वह जीव नही। उपयोग दो प्रकार है। प्रथम ज्ञानोपयोग—घटपट आदि बाह्य पदार्थों को जानने की शक्ति ज्ञानोपयोग है। ज्ञानोपयोग मे अनेक विकल्प होते है, जैसे यह घट है, यह घट नही है आदि। दूसरा दर्शनोपयोग —वस्तुओ के सामान्य रूप को जानने की शक्ति दर्शनोपयोग है। ज्ञानोपयोग स्वभावज्ञान तथा विभावज्ञान—दो प्रकार का है। स्वभावज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान, इसके मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाच प्रकार हैं तथा विभावज्ञान के कुमति, कुश्रुत तथा विभंगावधि ये तीन भेद हैं।[6] इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है। मतिज्ञान के पश्चात् जो अन्य पदार्थ का ज्ञान होता है, वह

१. उमास्वामी : तत्वार्थसूत्र, ५/१-३ तथा ३६

२. 'तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव', तर्कसंग्रह, मोतीलाल बनारसीदास, १९७१, पृ० ६

३. तत्वार्थसार, ३/२

४. नेमिचन्द्र : द्रव्यसग्रह, वर्णी ग्रथमाला, सन् १९६६ ई०, गाथा १५

५. कुन्दकुन्द, पचास्तिकाय, गाथा ४

६. वही, गाथा ४१ और तत्वार्थ सूत्र, २/९

श्रुतज्ञान है। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना 'रूपी' पदार्थों का जो ज्ञान होता है वह अवधिज्ञान है। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना दूसरे के भावों का जो ज्ञान होता है वह मन:पर्यय ज्ञान है। श्वेताम्बर परम्परानुसार दूसरे को मन की पर्यायो का ज्ञान तथा परम्परया पदार्थों का ज्ञान मन:पर्यय द्वारा होता है। अन्त मे त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों का युगपत-ज्ञान केवल-ज्ञान है। मिथ्या-मतिज्ञान कुमति, मिथ्याश्रुत-ज्ञान कुश्रुत, और मिथ्या-अवधिज्ञान विभंगावधि है, दर्शनोपयोग भी स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार का है। केवल-दर्शन-स्वभाव दर्शनोपयोग है। केवल-ज्ञान के साथ जो दर्शन होता है वह केवल-दर्शन है। विभाव-दर्शनोपयोग तीन प्रकार का है—चक्षुरिन्द्रिय से जो दर्शन होता है वह चक्षुदर्शन है। चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रिय से होने वाला दर्शन अचक्षुदर्शन है तथा अवधिज्ञान से पूर्व होने वाला दर्शन अवधिदर्शन है।[1] उपयोग के इन भेदो को रेखाचित्र द्वारा निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है—
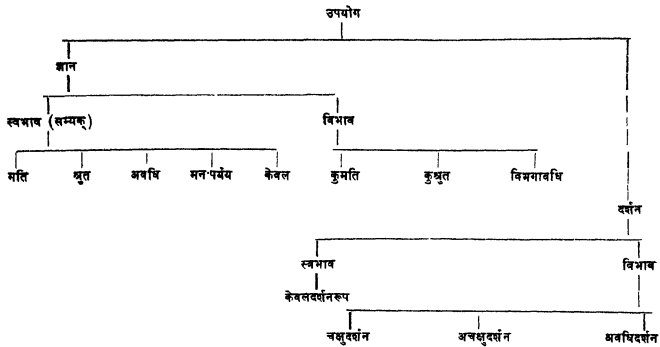
प्रकारान्तर से जीव का स्पष्ट और सुगम लक्षण नेमिचन्द्र कृत द्रव्यसग्रह मे प्राप्त होता है—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिणामो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥' गाथा २

अर्थात् जीव उपयोग स्वरूप है, अमूर्तिक है, कर्ता है, स्वदेहपरिणाम है, भोक्ता है, ससारी है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है। जीव के उपयोग के सम्बन्ध मे ऊपर विस्तृत चर्चा की जा चुकी है। मूर्तिक का अर्थ है—जिसमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारो पाये जायें। चूंकि जीव मे ये नही पाये जाते हैं, अत जीव अमूर्तिक है। ज्ञानावरणादिक कर्मों को करने वाला होने से कर्ता है। प्रदेशो मे सकोच और विस्तरणशील होने से स्वदेहपरिणाम है। अर्थात् जीव अपनी देह के अनुसार छोटे-बडे स्वरूप (परिणाम) वाला है। सासारिक पुद्गल कर्म सुख-दुःख आदि का भोगने वाला होने से भोक्ता है। अनेक संसारी भेदो वाला होने से या ससार मे भ्रमण करने के कारण संसारी है। ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय--उन आठ कर्मों से रहित होकर ऊर्ध्वगमन करने वाला होने से ऊर्ध्वगामी कर्ता और सिद्ध है। अर्थात् जीव का अन्तिम सोपान मोक्ष है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि जैन-दर्शन मे जीव जहा कर्ता है वहा भोक्ता भी है। जैसे अच्छे-बुरे कर्म उसने किये हैं उसका वह वैसा फल अवश्य प्राप्त करेगा। वह अपने सस्कारो की सरणि मे बधा हुआ है। अपने पुरुषार्थ से वह ससार में बधा भी रह सकता है और मुक्त भी हो सकता है। जीव ससारी भी है और मुक्त-सिद्ध भी है। अर्थात् जो ससारी है वह मुक्त भी हो सकता है। जो सामान्य आत्मा है

1. कुन्दकुन्द : नियमसार, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, वी. नि. स. २४६२, गाथा १४

वह परमात्मा भी बन सकती है। इस प्रकार आत्मा से परमात्मा बनने का अद्भुत कौशल जैन-दर्शन में दर्शाया गया है।

जीवों के भेद

जीव दो प्रकार के हैं—ससारी और मुक्त[1] जिनके कर्म नष्ट हो गये हैं, जो सिद्धशिला पर विराजमान हैं, वे मुक्त जीव हैं। वे अपने शुद्ध-बुद्ध चैतन्य रूप मे स्थित हैं। सिद्ध-स्वरूप का वर्णन करते हुए कुन्दकुन्द कहते हैं—

> णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठामहागुणसमण्णिया परमा।
> लोयग्गठिवा णिच्चा, सिद्धा जे एरिसा होंति॥[2]

जिन्होने ज्ञानावरणादि आठ कर्मों को नष्ट कर दिया है, जो सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व तथा अव्याबाध—इन आठ गुणो[3] से युक्त हैं, परम अर्थात् बडे हैं, जो लोक के अग्रभाग मे स्थित है तथा जो नित्य—अविनाशी हैं, वे सिद्ध हैं।

कर्मों के कारण जो ससार की नाना योनियो मे भटक रहे हैं वे ससारी जीव हैं। ससारी जीव त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के होते है। दो इन्द्रियो वाले—स्पर्श तथा रसना से युक्त, तीन इन्द्रियो वाले—स्पर्श, रसना, घ्राण से युक्त, चार इन्द्रियों वाले—स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु से युक्त तथा पाच इन्द्रियो वाले—स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण से युक्त। ये ४ प्रकार के त्रस जीव हैं। उदाहरणार्थ क्रमश: कृमि, पिपीलिका, (चींटी) भ्रमर, मनुष्य को ले सकते हैं[4] पचेन्द्रिय जीव सज्ञी तथा असंज्ञी के भेद मे दो प्रकार के हैं। जो मन सहित हैं वे संज्ञी[5] तथा जो मन रहित हैं वे असज्ञी है। देव, नारकी, मनुष्य आदि सज्ञी तथा कुछ पशु असज्ञी हैं। जिनकी केवल एक स्पर्शनेन्द्रिय होती है वे स्थावर हैं। ये भी पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक तथा वनस्पतिकायिक के भेद से पांच प्रकार के हैं। जीवो के उपर्युक्त भेद एक रेखाचित्र द्वारा निम्न प्रकार दिखाये जा सकते हैं —
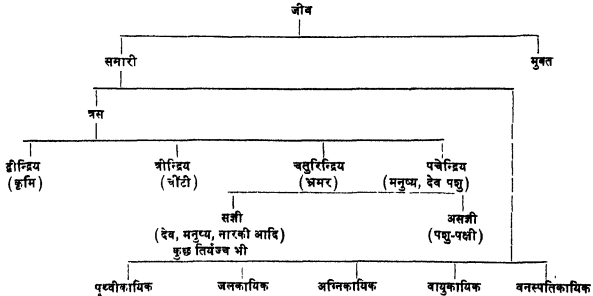
जीवों के कार्य के सम्बन्ध मे भी जैन-दर्शन विवेचना करता है। आचार्य उमास्वामी कहते हैं—**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**[6] परस्पर में सहायक होना जीवो का उपकार है। ससार की व्यवस्था एक दूसरे की सहायता के बिना नही चल सकती। परस्पर मे उपकार करना जीवो का कार्य

१. 'ससारिणो मुक्ताश्च', तत्वार्थ सूत्र, २/१०
२. कुन्दकुन्द : नियमसार, सूरत, वी. नि. स २४६२, गाथा ७२
३. 'सम्यग्दर्शन ज्ञान, अगुरुलघु अवगाहना।
सूक्ष्म वीरजवान, निराबाधगुण सिद्धके ॥', चौथा भाग
४. 'कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि', तत्वार्थसूत्र, २/२२
५. 'सज्ञिन: समनस्का:,' वही, २/२४
६. तत्वार्थसूत्र, ५/२२

है। पति सुख-सुविधा की व्यवस्था कर और अपने जीवन की सच्ची संगिनी बनाकर पत्नी का उपकार करता है और पत्नी अनुकूल प्रवर्तन द्वारा पति का उपकार करती है।[1]

जीव संख्या में अनन्त, असंख्यात प्रदेशों वाले तथा समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं। जीव अपने वास्तविक रूप मे स्वयम्भू, सर्वज्ञ, ज्ञायक, सर्वगत है, किन्तु कर्मों के संयोग से भव-भ्रमण करता है। ज्यों ही कर्मों का संयोग छूट जाता है, त्यों ही जीव का भव-भ्रमण समाप्त हो जाता है, और वह अपने वास्तविक रूप में आकर अनन्त-दर्शन, अनन्त-ज्ञान, अनन्त-सुख और अनन्त-वीर्य का अधिकारी होकर सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है।

पुद्गल

जैन-दर्शन मे पुद्गल द्रव्य मूर्तिक स्वीकार किया गया है। पुद्गल की व्युत्पत्ति बताते हुए बताया गया—पूरयन्ति गलन्तीति पुद्गलाः[2] अर्थात् जो द्रव्य (स्कन्ध अवस्था में) अन्य परमाणुओ से मिलता (/पृ० + णिच्) है और गलन (/गल्) = पृथक्-पृथक् होता है, उसे पुद्गल कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पोग्गलस्स सुहुमादो।
पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो ॥[3]

अर्थात् पुद्गल द्रव्य में ५ रूप, ५ रस, २ गन्ध, और ८ स्पर्श ये चार प्रकार के गुण होते हैं तथा शब्द भी पुद्गल का पर्याय है। ५ रूप हैं नीला, पीला, सफेद, काला, लाल। ५ रस हैं—तीखा, कटुक, आम्ल, मधुर और कसैला। दो गन्ध है—सुगन्ध तथा दुर्गन्ध और ८ स्पर्श हैं—कोमल, कठोर, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध तथा रूक्ष। इनमे से प्रत्येक के सख्यात, असख्यात और अनन्त भेद कहे गये हैं। एक रेखाचित्र द्वारा इन्हें इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—
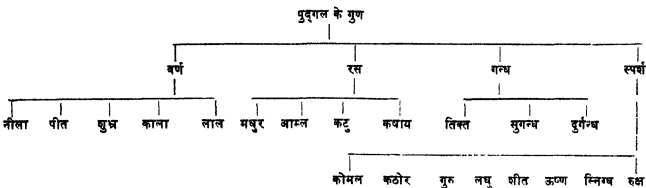
सख्यात, असख्यात, अनन्त बीसो उपभेदों के ये तीन-तीन भेद होते हैं।

पुद्गल के भेद—पुद्गल दो प्रकार का है—एक अणुरूप, दूसरा स्कन्धरूप।[4] आगे स्कन्ध के तीन रूप होकर पुद्गल के चार भेद भी स्वीकार किये गये हैं—(१) स्कन्ध (२) स्कन्ध देश (३) स्कन्ध प्रदेश (४) परमाणु। अनन्तानन्त परमाणुओ का पिण्ड स्कन्ध कहलाता है, उस स्कन्ध का अर्धभाग स्कन्ध देश और उसका भी अर्धभाग अर्थात् स्कन्ध का चौथाई भाग स्कन्ध प्रदेश कहा जाता है तथा जिसका दूसरा भाग नही होता उसे परमाणु कहते हैं।[5]

स्कन्ध दो प्रकार के हैं—बादर तथा सूक्ष्म। बादर स्थूल का पर्यायवाची है। स्थूल अर्थात् जो नेत्रेन्द्रिय-ग्राह्य हो और सूक्ष्म अर्थात् जो इन्द्रिय-ग्राह्य न हो। इन दोनो को मिलाकर स्कन्ध के छः वर्ग स्वीकार किये गये हैं—

---

१. वही, पं० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री कृत व्याख्या, पाठ २२४
२. माधवाचार्य : सर्वदर्शनसंग्रह, चौखम्भा विद्या भवन, १९६४, पृ० १५३
३. कुन्दकुन्द प्रवचनसार, श्रीमद् राजचन्द्र-आश्रम, अगास, वि. स. २०२१, गाथा २/४०, 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त. पुद्गला.' तत्वार्थ सूत्र, ५/२३
४. 'अणव स्कन्धाश्च', तत्वार्थ सूत्र, ५/२५
५. पञ्चास्तिकाय, गाथा ७५

(१) बादर-बादर (स्थूल-स्थूल)—जो स्कन्ध छिन्न-भिन्न होने पर स्वयं न मिल सकें, ऐसे ठोस पदार्थ, यथा-लकड़ी, पत्थर आदि।

(२) बादर (स्थूल)—जो छिन्न-भिन्न होकर फिर आपस में मिल जावें ऐसे द्रव पदार्थ, यथा-घी, दूध, जल, तेल आदि।

(३) बादर-सूक्ष्म (स्थूल-सूक्ष्म)—जो दिखने में तो स्थूल हों अर्थात् केवल नेत्रेन्द्रिय से ग्राह्य हों किन्तु पकड में न आवें, जैसे—छाया, प्रकाश, अन्धकार आदि।

(४) सूक्ष्म-बादर (सूक्ष्म-स्थूल)—जो दिखाई न दें अर्थात् नेत्रेन्द्रिय-ग्राह्य न हों, किन्तु अन्य इन्द्रियो स्पर्श, रसना, घ्राणादि से ग्राह्य हों, जैसे—ताप, ध्वनि, रस, गन्ध, स्पर्श आदि।

(५) सूक्ष्म—स्कन्ध होने पर भी जो सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न किये जा सकें, जैसे—कर्म, वर्गणा आदि।

(६) अतिसूक्ष्म—कर्म वर्गणा से भी छोटे द्व्यणुक (दो अणुओ=दो परमाणुओ वाले) आदि।

परमाणु सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, अविभागी है, शाश्वत शब्दरहित तथा एक है। परमाणु का आदि, मध्य और अन्त वह स्वयं ही है। आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं—

अंतादि अंतमज्झं, अतंतं णेव इन्दिए गेज्झं।
अविभागी जं दव्वं परमाणु तं वियाणाहि ॥[1]

अर्थात् जिसका स्वय स्वरूप ही आदि, मध्य और अन्त रूप है, जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण योग्य नही है, ऐसा अविभागी --जिसका दूसरा भाग न हो सके द्रव्य परमाणु है। यहा यह द्रष्टव्य है कि परमाणु का यही रूप आधुनिक विज्ञान भी मानता है। इस सम्बन्ध मे श्री उत्तमचन्द जैन का निम्न कथन द्रष्टव्य है—"परमाणु किसी भी इन्द्रिय या अणुवीक्षण यन्त्रादि से भी ग्राह्य (दृष्टिगोचर) नही होता है। इसे जैनदर्शन मे केवल पूर्णज्ञानी (सर्वज्ञ) के ज्ञानगोचरमात्र माना गया है। इस तथ्य की पुष्टि एव निश्चित घोषणा करते हुए 'प्रोफेसर जान, पिल्ले विश्वविद्यालय, ब्रिस्टल' लिखते है---"

We can not see atoms either and never shall be able to···Even if they were a million times bigger it would still be impossible to see them even with the most powerful microscope that has been made (An Outline for Boys, Girls and their Parents (collau ery) Section Chemistry, p. 261)

इससे स्पष्ट है कि 'अणु' के विषय मे दो हजार वर्ष पूर्व कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा लिखे गए नियमसार मे णेव इन्दिए गेज्झं अर्थात् इन्द्रिय ग्राह्य (परमाणु) है ही नही यह लक्षण कितना वैज्ञानिक एव खरा है।[2] रूप, रस, गन्ध, स्पर्श उसमे पाये जाते हैं अत: मूर्त है। ऐसी अवस्था में कहने का भाव यह है कि - परमाणु मे दो स्पर्श, शीत और ऊष्ण मे से एक तथा स्निग्ध और रुक्ष मे से एक होते हैं। ५ वर्णों में से एक कोई, रसो मे से एक तथा गन्ध मे से एक (क्योकि ये तीनो सदैव परिवर्तित होते रहते हैं) गुण होता है। यह एक प्रदेशी है।[3] पुद्गलो की परमाणु अवस्था स्वाभाविक पर्याय है तथा स्कन्धादि अवस्था विभाव पर्याय है।

परमाणु नित्य है, वह सावकाश भी है और निरवकाश भी।[4] सावकाश इस अर्थ मे है कि वह स्पर्शादि चार गुणो को अवकाश देने में समर्थ है तथा निरवकाश इस अर्थ मे हैं कि—उसके एक प्रदेश मे दूसरे प्रदेश का समावेश नही होता। परमाणु— पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु आदि का कारण है (अर्थात् पृथ्वी आदि के परमाणु मूलत. भिन्न-भिन्न नही हैं) वह परिणमनशील है, वह किसी का कार्य नही अत: वह अनादि है। यद्यपि उपचार से उसे कार्य कहा जाता है।

परमाणु की उत्पत्ति

परमाणु शाश्वत है अत उसकी उत्पत्ति उपचार से है। परमाणु कार्य भी है और कारण भी। जब उसे कार्य कहा जाता है तब

---

१. कुन्दकुन्द · नियमसार, गाथा २६

२. श्री उत्तमचन्द जैन . 'जैन दर्शन और सस्कृति' नामक पुस्तक में सकलित निबन्ध 'जैन दर्शन का तात्विक पक्ष परमाणुवाद', इन्दौर विश्वविद्यालय प्रकाशन, अक्तूबर १९७६

३. 'नाणो:' (अणु के प्रदेश नहीं होते), तत्वार्थ सूत्र, ५/११; पचास्तिकाय, गाथा ८१
प्रदेश—'जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणु उट्ठद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिह ॥', द्रव्य सग्रह, २७
अर्थात् आकाश के जितने स्थान को अविभागी परमाणु रोकता है, वह एक प्रदेश है।

४. कुन्दकुन्द ; पंचास्तिकाय, गाथा ८०

उपचार से ही कहा जाता है; क्योंकि परमाणु सत्-स्वरूप है, ध्रौव्य है, अतः उसकी उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। परमाणु पुद्गल की स्वाभाविक दशा है। दो या अधिक परमाणु मिलने से स्कन्ध बनते हैं, अतः परमाणु स्कन्धो का कारण है। उपचार से कार्य भी इस प्रकार है कि लोक में स्कन्धों के भेद से परमाणु की उत्पत्ति देखी जाती है। इसी कारण आचार्य उमास्वामी ने कहा है—'भेदादणुः'[1] अर्थात् अणु भेद से उत्पन्न होता है, किन्तु यह भेद की प्रक्रिया तब तक चलनी चाहिए जब तक स्कन्ध द्व्यणुक न हो जाए।

स्कन्धों की उत्पत्ति

स्कन्धों की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उमास्वामी ने तीन कारण दिए हैं—१. भेद से, २. सघात से और ३. भेद-सघात (दोनों) से।[2]

१. **भेद से**—जब किसी बडे स्कन्ध के टूटने से छोटे-छोटे दो या अधिक स्कन्ध उत्पन्न होते हैं; तो वे भेदजन्य स्कन्ध कहलाते हैं। जैसे, एक ईंट को तोडने से उसमें से दो या अधिक टुकडे होते हैं। ऐसी स्थिति मे वे टुकडे स्कन्ध हैं तथा बडे स्कन्ध टूटने से हुए हैं, अत. भेद-जन्य हैं। ऐसे स्कन्ध द्व्यणुक से अनन्ताणुक तक हो सकते है।

२. **संघात से**— सघात का अर्थ है जुडना। जब दो परमाणुओ अथवा स्कन्धो के जुडने मे स्कन्ध की उत्पत्ति होती है तो वह सघात-जन्य उत्पत्ति कही जाती है। यह तीन प्रकार से सम्भव है—(अ) परमाणु+परमाणु (आ) परमाणु+स्कन्ध (इ) स्कन्ध+स्कन्ध। ये भी द्व्यणुक से अनन्ताणुक तक हो सकते हैं।

३. **भेद संघात (दोनों) से**—जब किसी स्कन्ध के टूटने के साथ ही उसी समय कोई स्कन्ध या परमाणु उस टूटे हुए स्कन्ध से मिल जाता है तो वह स्कन्ध 'भेद तथा सघातजन्य-स्कध' कहलाता है, जैसे टायर के छिद्र से निकलती हुई वायु उसी क्षण बाहर की वायु से मिल जाती है। यहा एक ही काल मे भेद तथा सघात दोनो है। बाहर से निकलने वाली वायु का टायर के भीतर की वायु से भेद है तथा बाहर की वायु से संघात। ये भी द्व्यणुक से अनन्ताणुक तक हो सकते है।

पुद्गल की पर्यायें

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च[3] अर्थात् वे पुद्गल शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूल्य, सस्थान, भेद, अंधकार, छाया, आतप और उद्योत वाले होते हैं।

शब्द—शब्द को अन्यान्य दर्शनो, यथा वैशेषिक आदि ने आकाश का गुण माना है[4] किन्तु जैनदर्शन मे इसे पुद्गल की ही पर्याय स्वीकार किया गया है। आज के विज्ञान ने भी शब्द को पकडकर ध्वनि-यन्त्रो, रेडियो, ग्रामोफोन आदि मे एक स्थान मे दूसरे स्थान पर भेजकर जैनमान्यता का ही समर्थन किया है। पुद्गल के अणु तथा स्कन्ध भेदो की जो २३ अवातर जातिया स्वीकार की गयी है उनमे एक जाति भाषा वर्गणा भी है। ये भाषा वर्गणाएं लोक मे सर्वत्र व्याप्त हैं। जिस वस्तु से ध्वनि निकलती है, उस वस्तु मे कम्पन होने के कारण इन पुद्गल वर्गणाओ में भी कम्पन्न होता है, जिसमे तरगें निकलती हैं। ये तरगें ही उत्तरोत्तर पुद्गल की भाषा वर्गणाओ मे कम्पन पैदा करती है, जिससे शब्द एक स्थान से उद्भूत होकर दूसरे स्थान पर पहुच जाता है।[5] विज्ञान भी शब्द का वहन इसी प्रकार की प्रक्रिया द्वारा मानता है।

शब्द भाषात्मक और अभाषात्मक के भेद से दो प्रकार का है। भाषात्मक शब्द पुन. अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक के भेद से दो प्रकार का हो जाता है। सस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी आदि भाषाओ के जो शब्द है, वे अक्षरात्मक शब्द हैं तथा गाय आदि पशुओ के शब्द-सकेत अनक्षरात्मक शब्द हैं। अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक और वैस्रसिक के भेद से दो प्रकार का है। मघ आदि की गर्जना वैस्रसिक शब्द है। प्रायोगिक चार प्रकार का है। (क) तत—मृदग, ढोल आदि का शब्द, (ख) वितत- वीणा, सारगी आदि वाद्यो का शब्द, (ग) घन—झालर, घण्टा आदि का शब्द, (घ) सौषिर या सुषिर-- शख, बासुरी आदि का शब्द। ये भेद एक रेखाचित्र द्वारा निम्न प्रकार से देखे जा सकते हैं।

---

१. तत्वार्थ सूत्र, ५/२७
२. 'भेदसघातेभ्यः उत्पद्यन्ते', तत्वार्थसूत्र, ५/६२
३. तत्वार्थसूत्र, ५/२४
४. 'शब्दगुणकमाकाशम्', तर्कसग्रह, पृ० ४३
५. तत्वार्थसूत्र (पं० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री कृत व्याख्या), पृ० २३०
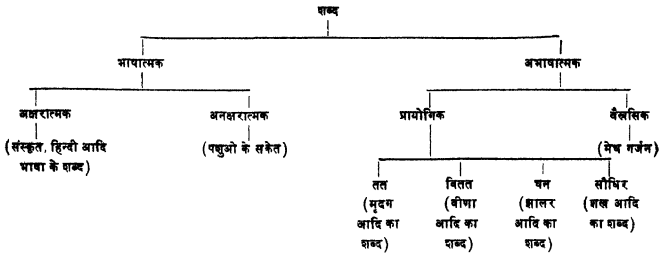
बन्ध

परस्पर मे श्लेष बन्ध कहलाता है बन्ध का ही पर्यायवाची शब्द है सयोग, किन्तु सयोग मे केवल अन्तर रहित अवस्थान होता है जबकि बन्ध मे एकत्व होना, एकाकार हो जाना आवश्यक है। प्रायोगिक और वैस्रसिक के भेद से बन्ध दो प्रकार का है। प्रायोगिक भी अजीव प्रायोगिक तथा जीवाजीव प्रायोगिक के भेद से दो प्रकार का है। लाख और लकडी आदि का बन्ध अजीव प्रायोगिक बन्ध है तथा कर्म और नोकर्म का बन्ध जीवाजीव प्रायोगिक बन्ध है।[1] वैस्रसिक भी सादि और अनादि के भेद से दो प्रकार का है। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यो का बन्ध तो अनादि है और पुद्गलो का बन्ध सादि है। जो द्वयणुक आदि स्कन्ध बनते हैं वह सादि बन्ध हैं। परमाणुओ मे परस्पर में बन्ध क्यो और कैसे होता है इस समस्या पर दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो दार्शनिको ने प्रर्याप्त प्रकाश डाला है। यह बात दोनों को ही मान्य है कि स्निग्धत्व और रूक्षत्व से कारण बन्ध होता है -- **स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्ध**[2] यह ऊपर कहा जा चुका है कि परमाणु मे दो स्पर्श-शीत और ऊष्ण मे से एक, तथा स्निग्ध और रूक्ष मे से एक पाये जाते है। इनमें से स्निग्ध और रूक्ष के कारण इनमे बन्ध होता है और स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। स्निग्धत्व का अर्थ है चिकनापन और रूक्षत्व का अर्थ है रूखापन। वैज्ञानिक परिभाषा मे ये पाजिटिव और निगेटिव है।[3] इस प्रकार यह बन्ध तीन रूपो मे होता है (१) स्निग्ध+स्निग्ध परमाणुओ का (२) रूक्ष+रूक्ष परमाणुओ का तथा (३) स्निग्ध+रूक्ष परमाणुओ का।

दिगम्बर परम्परा मे **द्वयधिकादिगुणानांतु**[4] सूत्र के अनुसार दो गुण अधिक वाले परमाणुओ का बन्ध होता है। गुण का अर्थ हैं शक्त्यंश (शक्ति का अश) बन्ध होने के लिए यह आवश्यक है कि जिन दो परमाणुओ मे बन्ध हो रहा है उनमे दो शक्त्यंशो का अन्तर होना चाहिए। जैसे कोई परमाणु दो स्निग्ध शक्त्यश वाला है तो दूसरा परमाणु जिसके साथ बन्ध होना है---उसे ४ शक्त्यंश (स्निग्ध या रूक्ष) वाला होना चाहिए। इसी प्रकार ३ शक्त्यश वाले के लिए ५ शक्त्यश तथा ८ शक्त्यश वाले के लिए १० शक्त्यंश वाला होना

---

१. तत्वार्थसार, ३/६७

२. तत्वार्थसूत्र, ५/३३

३. प्रो० जी० आर० जैन के अनुसार स्निग्धत्व और रूक्षत्व वैज्ञानिक परिभाषा मे निगेटिव और पाजिटिव हैं, वे लिखते हैं—'तत्वार्थसूत्र के पचम अध्याय के सूत्र न० ३३ मे कहा गया है—'स्निग्धरूक्षत्वाद्‌बन्ध' अर्थात् स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुणो के कारण एटम एक सूत्र मे बधा रहता है। पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि टीका मे एक स्थान पर लिखा है—'स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तो विद्युत्' अर्थात् बादलो में स्निग्ध और रूक्ष गुणों के कारण विद्युत् की उत्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्निग्ध का अर्थ चिकना और रूक्ष का अर्थ खुरदुरा नही है। ये दोनों शब्द वास्तव में विशेष टैक्निकल अर्थों मे प्रयोग किये गये हैं। जिस तरह एक अनपढ़ मोटर ड्राइवर बैटरी के एक तार को ठण्डा और दूसरे तार को गरम कहता है (यद्यपि उनमे से कोई तार न ठण्डा होता है न गरम) और जिन्हे विज्ञान की भाषा मे पाजिटिव व निगेटिव कहते हैं, ठीक उसी तरह जैन धर्म मे स्निग्ध और रूक्ष शब्दो का प्रयोग किया गया है। डा० बी० एन० सील ने अपनी कैम्ब्रिज से प्रकाशित पुस्तक 'पाजिटिव साइन्सिज आफ एनशियन्ट हिन्दूज' मे स्पष्ट लिखा है—'जैनाचार्यों को यह बात मालूम थी कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं को आपस में रगड़ने से पाजिटिव और निगेटिव बिजली उत्पन्न की जा सकती है। इन सब बातो के समक्ष इसमे कोई सन्देह नही रह जाता कि स्निग्ध का अर्थ पाजिटिव और रूक्ष का अर्थ निगेटिव विद्युत् है।', द्रष्टव्य 'तीर्थंकर महावीर स्मृति ग्रन्थ', जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर प्रकाशन, पृ० २७५-७६

४. तत्वार्थसूत्र, ५/३६

आवश्यक है। भाव यह है कि बन्ध में सर्वत्र २ शक्त्यंशों (गुणो) का अन्तर होना चाहिए, न इससे कम और न इससे अधिक।

श्वेताम्बर परम्परा इसे नहीं मानती। उसके अनुसार सदृश परमाणुओ में तीन-चार आदि अश अधिक होने पर भी बन्ध हो जाता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि समान शक्त्यंश होने पर सदृश परमाणुओ का बन्ध नही होगा। उमास्वामी का **गुणसाम्ये सदृशानाम्**[1] सूत्र भी यही कहता है।

बन्ध न होने की दूसरी स्थिति है **न जघन्यगुणानाम्**[2] अर्थात् जघन्यगुण वाले परमाणुओ का बन्ध नही होता है। गुण का अर्थ है शक्त्यंश। शक्ति के अशों में सदैव हानि वृद्धि का क्रम चलता रहता है। ऐसा होते होते जब शक्ति का एक ही अश बाकी रह जाता है तो ऐसे परमाणु को जघन्यगुण वाला परमाणु कहते हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार जघन्यगुण वाले परमाणु अर्थात् एक शक्त्यंश वाले परमाणु का अजघन्य गुण वाले परमाणु अर्थात् तीनादि शक्त्यश वाले परमाणु का बन्ध नही होता सामान्यत: **द्व्यधिकादिगुणानां तु** सूत्र के अनुसार १+३ शक्त्यंश वाले परमाणुओ का दो गुणों का अन्तर होने से बन्ध होना चाहिए था, परन्तु **न जघन्यगुणानाम्** सूत्र के अनुसार १+३ गुणों वाले परमाणुओ मे बन्ध नही होगा। असदृश+असदृश मे भी यही नियम लागू होगा।

श्वेताम्बर परम्परा ऐसा नहीं मानती उसके अनुसार जघन्य अश वाले परमाणु का अजघन्य अंश वाले परमाणु के साथ बन्ध होता है।

उपर्युक्त बन्ध प्रक्रिया को एक सारिणी[3] द्वारा निम्न प्रकार दर्शाया जा सकता है—

अश	श्वेताम्बर सदृश	परम्परानुसार विसदृश	दिगम्बर सदृश	परम्परानुसार विसदृश
१. जघन्य जघन्य	नही	नही	नही	नही
२. जघन्य एकाधिक	नही	है	नही	नही
३. जघन्य द्व्यधिक	है	है	नही	नही
४. जघन्य त्र्यादि अधिक	है	है	नही	नही
५. जघन्येतर सम जघन्येतर	नही	नही	नही	नही
६. जघन्येतर एकाधिक जघन्येतर	नही	है	नही	नही
७. जघन्येतर द्व्यधिक जघन्येतर	है	है	है	है
८. जघन्येतर त्र्यादि अधिक जघन्येतर	है	है	नही	नही

बन्ध हो जाने के पश्चात् अधिक अश वाले परमाणु हीन अश वाले परमाणुओ को अपने मे परिणाम लेता है। तीन अश वाले परमाणु को पांच अश वाला परमाणु अपने मे मिला लेता है अर्थात् तीन अश वाला परमाणु पाच अश वाला हो जाता है—**बन्धे अधिकौ पारिणामिकौ च**।[4]

सूक्ष्मत्व—सूक्ष्म भी अन्त्य और आपेक्षिक के भेद मे दो प्रकार का है। अन्त्य सूक्ष्मत्व परमाणुओ मे तथा आपेक्षिक सूक्ष्मत्व बेल, आंवला आदि मे होता है।[5]

स्थौल्य—यह भी अन्त्य और आपेक्षिक के भेद से दो प्रकार का है। अन्त्य स्थौल्य लोक रूप महा-स्कन्ध मे होता है तथा आपेक्षिक स्थौल्य बेर, आवला आदि मे होता है।[6]

संस्थान—सस्थान का अर्थ है आकृति। यह इत्थंलक्षण और अनित्थंलक्षण भेद रूप दो प्रकार की है। कलश आदि का आकार गोल, चतुष्कोण, त्रिकोण आदि रूपों में कहा जा सकता है, वह इत्थंलक्षण है। तथा जो आकृति शब्दो से नही कही जा सकती वह अनित्थ

१. तत्त्वार्थसूत्र, ५/३५
२. वही, ५/३४
३. मुनि नथमल : जैन दर्शन . मनन और मीमांसा, आदर्श साहित्य सघ प्रकाशन, चूरू, १९७७ की सारिणी से साभार
४. तत्त्वार्थसूत्र, ५/३७
५. तत्त्वार्थसार, ३/६५
६. वही, ३/६६

लक्षण है, जैसे —मेघ आदि की आकृति ।[1]

भेद—एक पुद्गल पिण्ड का भंग होना भेद कहलाता है। यह उत्कर, चूर्णिका, चूर्ण, खण्ड, अणुचटन और प्रतर रूप छह प्रकार का है।[2] लकड़ी या पत्थर आदि का आरी से भेद उत्कर है। उड़द, मूंग आदि की चुनी चूर्णिका है। गेहूं आदि का आटा चूर्ण है। घट आदि के टुकड़े खण्ड हैं। गर्म लोहे पर घन-प्रहार से जो स्फुलिंग (कण) निकलते हैं, वे अणुचटन हैं तथा मेघ, मिट्टी, अभ्रक आदि का बिखरना प्रतर है।

अन्धकार—अन्धकार भी पौद्गलिक स्वीकार किया गया है। नेत्रों को रोकने वाला तथा प्रकाश का विरोधी तम—अन्धकार है।

छाया—शरीर आदि के निमित्त जो प्रकाश आदि का रुकना है, वह छाया है। यह भी पौद्गलिक है। छाया दो प्रकार की है—एक छाया वह जिसमें वर्ण आदि अविकार रूप में परिणमते हैं, यथा—पदार्थ जिस रूप और आकार वाला होता है दर्पण में उसी रूप और आकार वाला दिखाई देता है। आधुनिक चलचित्र इसी के अन्तर्गत आएगा। दूसरी छाया वह है, जिसमें प्रतिबिम्ब मात्र पड़ता है, जैसे धूप या चांदनी में मनुष्य की आकृति है।[3]

आतप और उद्योत—सूर्य आदि का ऊष्ण प्रकाश आतप कहलाता है तथा चन्द्रमा-जुगनू आदि का ठण्डा प्रकाश उद्योत कहलाता है। जैन-दर्शन में वे भी पौद्गलिक स्वीकार किये गए हैं।[4]

इस प्रकार जैन-दर्शन में पुद्गल तथा परमाणु के सम्बन्ध मे विस्तृत विवेचना उपलब्ध होती है। आज के राकेट आदि की गति वस्तुत: परमाणु की गति से कम है। अत: परमाणु को उत्कृष्ट गति एक समय में १४ राजू बताई गयी है। (मन्द गति से एक पुद्गल परमाणु को लोकाकाश के एक प्रदेश पर से दूसरे प्रदेश पर जाने मे जितना काल लगता है उसे एक समय कहते हैं।) 'एक समय' भी काल की सबसे छोटी इकाई है। वर्तमान एक सेकण्ड में जैन पारिभाषिक असंख्यात समय होते हैं। राज सबसे बड़ा प्रतीकात्मक माप है—एक राज में असंख्यात किलोमीटर समा जायेंगे।[5] इसी कारण विश्वविख्यात दार्शनिक विद्वान् डा० राधाकृष्णन् ने लिखा है—"अणुओं के श्रेणी-विभाजन से निर्मित वर्गों की नानाविध आकृतिया होती हैं। कहा गया है कि अणु के अन्दर ऐसी गति का विकास भी सम्भव है जो अत्यन्त वेगवान् हो, यहां तक कि एक क्षण के अन्दर समस्त विश्व को एक छोर से दूसरे छोर तक परिक्रमा पर आए।"[6]

धर्म—यहा धर्म-अधर्म के पुण्य पाप गृहीत नही हैं। अपितु ये दोनों जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। धर्म का अर्थ है 'गति में सहायक द्रव्य'। दार्शनिक जगत् में जैन दर्शन के सिवाय किसी ने भी धर्म और अधर्म की स्थिति नही मानी है। वैज्ञानिको में सबसे पहले न्यूटन ने गति तत्व (Medium of motion) को स्वीकार किया है। प्रसिद्ध गणितज्ञ अलबर्ट आईन्स्टीन ने भी गति तत्व की स्थापना करते हुए कहा है—"लोक परिमित है, लोक के परे अलोक अपरिमित है, लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नही जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति का द्रव्य का अभाव है जो गति में सहायक होता है। वैज्ञानिको द्वारा सम्मत ईथर (Ether) गति तत्त्व का ही दूसरा नाम है।[7] और यही जैन दर्शन का धर्मद्रव्य है। धर्मद्रव्य अमूर्तिक स्वीकार किया गया है। यह रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित है। ससार के निर्माण के लिए पदार्थों की गति और स्थिरता के किन्ही नियमो मे बद्ध होना आवश्यक है। धर्म गति का और अधर्म स्थिरता का सूचक है। यदि धर्म न हो तो पदार्थ चल ही नही सकेंगे और यदि अधर्म न हो तो पदार्थ सदा-सदा चलते ही रहेंगे। धर्मद्रव्य क्रिया रूप परिणमन करने वाले क्रियावान् जीव और पुद्गलो को गति मे सहायक होते हैं। यहां यह ध्यातव्य है कि धर्मद्रव्य स्वयं निष्क्रिय है, वह स्वय न तो चलता है और न दूसरो को चलने के लिए प्रेरित करता है, अपितु वह उनकी गति मे सहायक अवश्य है। जिस प्रकार जल न तो स्वय चलता है और न ही मछली आदि को चलने के लिए प्रेरित करता है, किन्तु मछली के चलने मे सहायक होता है। वैसे ही धर्मद्रव्य भी जीव और पुद्गलो के चलने के सहायक होता है। जैसे पानी के बिना मछली का चलना सम्भव नही वैसे ही धर्म के बिना जीव और पुद्गलों की गति असम्भव है। आचार्य अमृतचन्द्र ने बड़े ही सुन्दर शब्दो मे लिखा है

१. तत्त्वार्थसार, ३/६४
२. वही, ३/७२
३. वही, ३/६९-७०
४. वही, ३/७१
५. श्री उत्तमचन्द जैन : जैन दर्शन का तात्विक पक्ष परमाणुवाद (जैन दर्शन और संस्कृति, पृ० ३६-३७) निबन्ध से
६. डा० राधाकृष्णन् : भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९७३, पृ० २६२
७. द्रष्टव्य, जैन दर्शन . मनन और मीमांसा, पृ० १८८

क्रियापरिणतानां यः स्वयमेव क्रियावताम् ।
आदधाति सहायत्वं स धर्मः परिगीयते ।।
जीवानां पुद्गलानां च कर्तव्ये गत्युपग्रहे ।
जलवन्मत्स्यगमने धर्मः साधारणाश्रयः ।।[1]

अर्थात् स्वयं क्रिया रूप परिणमन करने वाले क्रियावान् जीव और पुद्गलो को जो सहायता देता है, वह धर्मद्रव्य कहलाता है। जिस प्रकार मछली के चलने मे जल साधारण निमित्त है, उसी प्रकार जीव और पुद्गलों के चलने मे धर्मद्रव्य साधारण निमित्त है।

धर्मद्रव्य असंख्यात-प्रदेशी एव एक है, अखण्ड है। किसी का कार्य नही।[2] उदासीन अर्थात् निष्क्रिय है। इसका अस्तित्व लोक के भीतर तो साधारण है, पर लोक की सीमाओं पर नियन्त्रण के रूप मे है। सीमाओ पर ही पता चलता है कि धर्मद्रव्य भी कोई अस्तित्वशाली द्रव्य है, जिसके कारण जीव तथा पुद्गल अपनी यात्रा उसी सीमा तक करने को विवश है, उसके आगे नही जा सकते। आगे धर्मद्रव्य न होने के कारण जीव और पुद्गल में गति सम्भव नहीं है।[3]

अधर्म

लोक मे जिस प्रकार जीव और पुद्गलो की गति मे धर्मद्रव्य सहायक है, उसी प्रकार उनकी स्थिति मे अधर्मद्रव्य सहायक है। अधर्म भी रूपादि रहित होने से कारण अमूर्तिक है। यह भी निष्क्रिय है। यद्यपि यह जीव और पुद्गलो की स्थिति मे सहायक है, किन्तु यह आते हुए जीव और पुद्गलो को स्वय नही रोकता। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं :

जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं ।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ।।[4]

अर्थात् जैसे धर्मद्रव्य गति मे सहायक है, वैसे ही अधर्मद्रव्य स्थिर होने की क्रिया से युक्त जीव-पुद्गलों के लिए पृथ्वी के समान सहकारी कारण है। जैसे पृथ्वी अपने स्वभाव से अपनी अवस्था लिए पहले से स्थिर है और घोडा आदि पदार्थों को जबरदस्ती नहीं ठहराती, अपितु यदि वे ठहरना चाहे तो उनकी सहायक होती है। अथवा जैसे वृक्ष पथ मे चलते पथिक को स्वय नही रोकते, अपितु यदि वे रुकना चाहें तो उन्हे छाया अवश्य देते हैं, ऐसे ही अधर्मद्रव्य भी अपनी सहज अवस्था मे स्थित रहते हुए जीव और पुद्गलो की स्थिति मे सहायक कारण होते हैं।

अधर्म द्रव्य असंख्यातप्रदेशी, एक, नित्य, अखण्ड तथा किसी का कार्य नही है। उदासीन अर्थात् निष्क्रिय है। समस्त लोकाकाश में व्याप्त है तथा उसी के बराबर भी है। इसके अस्तित्व का पता लोकाकाश की सीमा पर जाना जाता है। लोकाकाश की सीमा समाप्त होते ही वहां धर्मद्रव्य भी समाप्त हो जाता है तब द्रव्यो (जीव और पुद्गलो) की गति उससे आगे नही हो पाती और स्थिति के लिए इसकी सहकारिता अपेक्षित होती है।

धर्म और अधर्मद्रव्य के कारण ही आकाश के लोकाकाश और अलोकाकाश ये दो भेद हुए हैं। जहा धर्माधर्म द्रव्य है वह लोकाकाश है तथा जहा ये नही है, वहां अलोकाकाश है। गति तथा स्थिति दोनो के ही कारण नही होती है। ये दोनो एक-दूसरे से भिन्न हैं, किन्तु एक ही क्षेत्र मे रहने के कारण अविभक्त है।[5]

सिद्धसेन दिवाकर के मत मे निश्चय नय से जीव और पुद्गल—ये दो ही सद्मूर्त (शुद्ध परिगृहीत) पदार्थ हैं।[6]

आकाश

लोक मे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा काल को अवकाश देने वाला द्रव्य है,[7] साथ ही यह स्वयं अपने को भी अवकाश देने वाला है। रूपादि से रहित होने के कारण यह अमूर्तिक है। लोक मे कोई ऐसा द्रव्य होना चाहिए जो सभी को अवकाश दे सके। यद्यपि ऐसा देखा जाता

---

१. तत्त्वार्थसार, ३,३३-३४
२. पचास्तिकाय, गाथा ८३-८४
३. प० महेन्द्र कुमार जैन दर्शन, वर्णी ग्रन्थमाला, १९७४, पृ० १३१
४. पचास्तिकाय, गाथा ८६
५. वही, गाथा ८७
६. निश्चय द्वात्रिंशिका-२४, १९/२४-२६
७. पचास्तिकाय, गाथा ९०

है कि पुद्गल द्रव्य आपस मे अवकाश देने वाले हैं। जैसे मेज पर पुस्तक। वहां पुस्तक, जो पुद्गल है, को पुद्गल-द्रव्य मेज ने ही अवकाश दिया है, किन्तु मेज को अवकाश देने वाला कौन है वह ही है जो सभी आकाश को अवकाश देने वाला है। अवकाश दो प्रकार का है— लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश वह है जहां जीव और पुद्गल सयुक्त रूप से रहते हैं तथा जो धर्माधर्मास्तिकाय और काल से भरा हुआ है। अलोकाकाश वह है— जहा केवल आकाश ही आकाश है, धर्म-अधर्मद्रव्यों का अभाव होने से वहां जीव और पुद्गलो की गति नहीं है। आकाश अनन्तप्रदेशी, नित्य, अनन्त तथा निष्क्रिय है। आकाश के मध्य चौदह राजू ऊचा पुरुषाकार लोक है, जिसके कारण आकाश के लोकाकाश और अलोकाकाश दो विभाग हुए हैं। धर्म और अधर्म लोकाकाश मे उसी तरह व्याप्त है, जैसे तिल में तेल।[1]

काल

काल भी द्रव्य है।[2] श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार काल औपचारिक द्रव्य है। वस्तुवृत्या यह जीव और अजीव की पर्याय है। जहा इसके जीव अजीव की पर्याय होने का उल्लेख है वहां इसे द्रव्य भी कहा गया है। ये दोनो कथन विरोधी नहीं किन्तु सापेक्ष हैं। निश्चय दृष्टि मे काल जीव-अजीव की पर्याय है। और व्यवहार दृष्टि मे यह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है—उपकारकं द्रव्यम् वर्तना आदि काल के उपकार है इन्ही के कारण यह द्रव्य माना जाता है। पदार्थों की स्थिति आदि के लिए जिसका व्यवहार होता है, वह आवलिकादि रूप काल जीव अजीव से भिन्न नही है, उन्ही की पर्याय है।[3]

दिगम्बर परम्परा मे काल अणु रूप स्वीकार किया गया है। प्रत्येक लोकाकाश के प्रदेश पर एक-एक कालाणु रत्नो की राशि के समान अवस्थित है।[4] कालाणु असख्यात हैं वे परमाणु के समान ही एकप्रदेशी हैं।

काल द्रव्य दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्पराओ के अनुसार अनस्तिकाय है। श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि से औपचारिक और दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से वास्तविक काल के उपकार या लिंग, पाच हैं **वर्तनापरिणामक्रिया: परत्वापरत्वे च कालस्य**[5] वर्तना परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व। वर्तना शब्द के दो अर्थ हैं बर्तन करना तथा वर्तन कराना। प्रथम अर्थ काल के सम्बन्ध मे तथा द्वितीय अर्थ बाकी द्रव्यो के सम्बन्ध मे घटित होता है। तात्पर्य यह है कि काल स्वय परिवर्तन करता है तथा अन्य द्रव्यों के परिवर्तन मे भी सहकारी होता है। जैसे कुम्हार का चाक स्वय परिवर्तनशील (=घूमनेवाला) होता है तथा अन्य मिट्टी आदि को भी परिवर्तन कराता है उसी प्रकार काल भी है। ससार की प्रत्येक वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होने से परिवर्तनशील है, काल उस परिवर्तन मे निमित्त है। काल परिणाम (द्रव्यो का अपनी मर्यादा के अनुसार भीतर प्रतिसमय जो परिवर्तन होता है उसे परिणाम कहते है) भी कराता है। एक देश से दूसरे देश मे प्राप्ति हेतु हलन-चलन रूप व्यापार क्रिया है। परत्व का अर्थ उम्र मे बड़ा, और अपरत्व का अर्थ उम्र में छोटा है ये सभी कार्य भी काल द्रव्य के है। नयापन पुरानापन आदि भी कालकृत ही हैं।

काल के विभाग[6]

दिगम्बर परम्परानुसार काल निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। श्वेताम्बर परम्परानुसार काल चार प्रकार का है— प्रमाण-काल, यथायुर्निवृत्तिकाल, मरणकाल और अद्धाकाल। काल के द्वारा पदार्थ मापे जाते हैं इसलिए उसे प्रमाण काल कहा जाता है। जीवन और मृत्यु भी काल सापेक्ष है इसलिए जीवन के अवस्थान को यथायुर्निवृति-काल और उसके अन्त को मरण-काल कहा जाता है। सूर्य, चन्द्र आदि की गति से सम्बन्ध रखने वाला अद्धा-काल कहलाता है। काल का प्रधान रूप अद्धा-काल ही है। शेष तीनो इसी के विशिष्ट रूप है। अद्धा-काल व्यावहारिक है। वह मनुष्य लोक मे ही होता है इसीलिए मनुष्य-लोक को समय-क्षेत्र कहा जाता है। निश्चय काल जीव-अजीव का पर्याय है। वह लोक-अलोक व्यापी है, उसके विभाग नही होते। समय से लेकर पुद्गल परावर्त तक के जितने विभाग है वे सब अद्धा काल के हैं। इसका सर्वसूक्ष्म भाग समय कहलाता है जो अविभाज्य होता है। इसकी प्ररूपणा कमल पत्रभेद और वस्त्र विदारण के द्वारा की जाती है। मन्दगति से एक पुद्गल परमाणु को लोकाकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जाने मे जितना समय लगता है उसे एक 'समय' कहते है। इस दृष्टि से जैन धर्म की समय की अवधारणा आधुनिक विज्ञान के बहुत समीप है। १९६८ की परिभाषा के अनुसार सीजियम धातु नं० १३३ के परमाणुओ के ९१९२६३१७७६ कम्पनी की निश्चित अवधि कुछ विशेष परिस्थितियो मे एक सेकण्ड के बराबर होती है।[7]

---

१. उदाहरण मूल ग्रन्थों में नही है।
२. 'कालश्च', तत्त्वार्थसूत्र, ५/३९
३. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, पृ० १९३
४. तत्त्वार्थसार, ३/४४
५. तत्त्वार्थसूत्र, ५।२२
६. प्रस्तुत शीर्षक में वर्णित सामग्री, 'जैन दर्शन : मनन और मीमांसा' के आधार पर है।
७. द्रष्टव्य, नवनीत, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, जून १९८०, पृ० १०६

समयों के समूहों से बनने वाली काल की भिन्न-भिन्न पर्याय निम्न हैं—

अविभाज्यकाल	एक समय
असंख्य समय	एक आवलिका
२५६ आवलिका	एक क्षुल्लक भव (सबसे छोटी आयु)
२२२३ $\frac{१२२९}{३७७३}$ आवलिका	एक उच्छ्वास—निःश्वास
४४४६ $\frac{२४५८}{३७७३}$ आवलिका या साधिक १७ क्षुल्लक भव या दो श्वासोच्छ्वास	एक प्राण
७ प्राण	एक स्तोक
७ स्तोक	एक लव
३८ $\frac{१}{२}$ लव	एक घडी (२४ मिनट)
७७ लव	दो घडी या ६५५३३ क्षुल्लक भव या १६७७७२१६ आवलिका या ३७७३ प्राण या एक मुहूर्त (४८ मिनट)
३० मुहूर्त	एक दिन रात (अहोरात्रि)
१५ दिन	एक पक्ष
२ पक्ष	एक मास
२ मास	एक ऋतु
३ ऋतु	एक अयन
२ अयन	एक वर्ष
५ वर्ष	एक युग
७० लाख क्रोड, ५६ हजार क्रोड वर्ष	एक पूर्व
असख्य वर्ष	एक पल्योपम
१० क्रोडाक्रोड पल्योपम	एक सागर
२० क्रोडाक्रोड सागर	एक काल चक्र
अनन्त काल चक्र	एक पुद्गल परावर्तन

इन सारे विभागों को संक्षेप में अतीत प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) और अनागत कहा जाता है।

इस प्रकार विश्व सरचना के सम्बन्ध मे विस्तृत विवेचना जैन दर्शन मे उपलब्ध होती है। जैन-दर्शन के अनेक सिद्धान्त ऐसे हैं जो आधुनिक विज्ञान से पूर्णतः मेल खाते हैं।

The Jaina Idea of Universe

Prof. M. S. Ranadive

In metaphysics, man through different ages and stages of philosophy has observed the self and the non-self. He has always tried to give importance to the one or the other or to strike a sort of compromise between the two. He has formulated either one substance, like the *Brahma* of the Vedāntist or the matter of the materialist or else many substances like the Sāṁkhya. Jainism takes its stand upon a common-sense basis, which can be varified by everyone for himself. Jaina metaphysics divides the Universe into two everlasting, uncreated, coexisting but independent categories (i) Jīva (the soul) and (ii) Ajīva (the non-soul). Logically it is a perfect division and unassailable. The soul is the higher and the only responsible category. Except in its perfect condition in the final stage of *Nirvāṇa* (liberation), it is the always in combination with matter. The body (the non-soul—Ajīva) is the lower category, and must be subdued by the soul.

According to Jainism, the Universe is uncreated and existing from eternity though undergoing modifications. Any object of knowledge that exists is called *Artha* which must be associated with *Dravya* (substance), *Guna* (quality) and *Paryāya* (modification)[1]. A substance exists in its own nature and has its own attributes and modifications. Moreover, it is united with *Utpāda* or *Sambhava* (origination), *Vyaya* or *Nāśa* (destruction) and *Dhrauvya* or *Sthiti* (permanence), which are at one and the same time[2]. One modification of a substance originates and other one vanishes; but the substance remains the same. Viz., the golden ring is changed into a new form called an earring, one form vanishes and the other one originates; but the substance gold remains the same.

Substance is divided into (I) Jīva (soul) and (II) Ajīva (non-soul)[3].

1. **Jiva**—Soul is the central theme in the Jaina system The soul is not created by anybody, nor is anybody created by the soul. It is essentially an unit of *Cetanā* (consciousness) and *Upayoga* (conation)[4]. The soul is eternal but not of a definit size, since it contracts or expands according to the dimension of the body in which it is incorporated for the time being[5] Souls are classified under two principle heads: *Samsārī* (mundane) and *Mukta* (liberated)[6] Liberated souls will be embodied no more; they have accomplished absolute purity, they dwell in the state of perfection in *Nirvāṇa* at the top of the universe and have no more to do with worldly affairs Mundane souls are the embodied souls of living beings in the world and still subject to the Cycle of Birth Mundane souls are *Sthāvara* (immobile) and *Trasa* (mobile).

---

1. 'तं परियाणहि दव्वु तुहुँ जं गुणपज्जयजुत्तु ।
   सहभुव जाणहि ताहँ गुण कमभुव पज्जउ वुत्तु ॥', परमात्मप्रकाश, I/57
2. 'दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
   गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥', पञ्चास्तिकाय, 10
3. 'जीवमजीवं दव्वं ।', द्रव्यसंग्रह, 1
4. 'जीवो पुण चेदणोवओगमओ ।', प्रवचनसार, II 35
5. 'अप्पा देहपमाणु मुणि ।', परमात्मप्रकाश, I/51,
6. 'संसारिणो मुक्ताश्च ।', तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, II/10

Being caused by *Aśubha* (inauspicious) and *Śubha* (auspicious) *Karman*, they wander in the cycle of the four grades of existence, i.e., *Nārakī* (denizens of hell), *Tiryañca* (lower animals), *Manuja* (men) and *Deva* (gods).

II. **Ajīva**—Non-soul is lacking of sentiency and it comprises five substances: matter, principle of motion, principle of rest, space and time[1].

i. *Pudgala*—Matter is non-sentient concrete principle. It is either in the form of *Paramāṇu* (primary atoms) or *Skandha* (aggregates)[2]. These *Skandhas* are the lumps of *Paramāṇus*. The aggregatory process is going on because of their inherent qualities of *Snigdha* (cohesiveness) and *Rūkṣa* (aridity)[3]. It possesses the four qualities as touch, taste, fragrance and colour[4]. They are grasped by sense organs. Matter also possesses origination, destruction and permanence.

ii. *Dharma*—It is the principle of motion. It assists the movement of moving souls and matters as water helps the moving fish[5].

iii. *Adharma*—It is the principle of rest. It serves as the medium of rest as the shadow helps the resting of travellers, or like the earth to falling bodies[6].

We see around us things moving, coming to rest, again moving and so on There must be some media to help the moving and resting things. If there were no medium of motion, all things in the universe will be at a standstill. There will be universal cosmic paralysis. If there were no medium of rest, the things in the world will be scattered and flying about in the space and instead of cosmos there will be only chaos. Hence, the existence of these substances is postulated.

iv. *Ākāśa*—Space gives accommodation to all the five substances[7]. It is eternal, pervasive and formless and it includes our world (Loka) and beyond (Aloka).

v. *Kāla*—Time is a substance characterised by *Vartanā* (continuity), being an accessory cause of change. The moments of time are individually separate like jewels in a heap of jewels[8].

Of these matter alone is corporal or concrete (Mūrta) and the rest, including soul, are incorporal or non-concrete (Amūrta), i.e., devoid of sense qualities and hence cannot be grasped by sense-perception. Time is devoid of *Pradeśa* (space-points), while the remaining five substances have innumerable space-points, and therefore they, are called *Astikāyas* (magnitudes).

It is not maintained these six causes created the world at some particular time; but they are eternally existing, uncreated and with no beginning in time. As substances, they are eternal and unchanging ; but their modifications are passing through a flux of changes Their mutual co-operation and inter-action

---

1. 'जीवु सचेयणु दव्वु मुणि पंच अचेयण अण्ण ।
   पोग्गलु धम्माहम्मु णहु कालें सहिया भिण्ण ॥', परमात्मप्रकाश, II / 17
2. 'अणव. स्कन्धाश्च ।', तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, v / 28
3. 'स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्ध ।', तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, v / 32
4. 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त: पुद्गला. ।', तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, v / 23
5. 'गइ परिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ।
   तोय जह मच्छाण अच्छंता णेय सो णेइ ॥', द्रव्यसंग्रह, 17
6. 'ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी ।
   छाया जह पहियाण गच्छंते णेव सो धरइ ॥', द्रव्यसंग्रह, 18
7. 'आकाशस्यावगाह ।', तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, v/18
8. 'कालु मुणिज्जहि दव्वु तुहुं वट्टणलक्खणुएउ ।
   रयणहं रासि विभिण्ण जिम तसु अणुयहं तहभेउ ॥', परमात्मप्रकाश, II / 21

explain all that we imply by term 'creation'. There are always two causes in any event, namely, the *Upādāna* (substantial cause) and the *Nimitta* (the instrumental cause). Viz., fire would be the instrumental cause determining water to boil, water being the substantial cause of the event 'boiling'. Each of the above named substances or realities is both substantial cause and instrumental cause, each act upon the others and is itself acted upon by the others. Each has the power of originating new states, destroying old ones and keeping permanent. The basic substance with its qualities is something that is permanent, while the modes or accidental characters appear and disappear. Viz., the soul is eternal with its inseparable character of consciousness; but at the same time it is subjected to accidental characters like pleasure and pain and super-imposed modes such as body etc., both of which changing constantly. This power is called '*Sattā*'. It is not a separate entity existing outside these six realities. It is a power inherent in them and inseparable from them.

The modern physics also proved "Nothing new is created, nothing is destroyed, only modifications appear. Nothing comes out of nothing, nothing altogether goes out of existance; but only substances are modified."

As Jainism is a dynamic realism, its doctrine is similar to the views held by the philosophers in the west, especially those belonging to the Realistic School The Jaina conception of *Dravya*, *Guṇa* and *Paryāya* is aproximately similar to Spinoza's view of substance, attributes and modes, though he uses the term 'attribute' with a technical meaning, while in Jaina metaphysics it means qualities. Hegal had a conception of reality similar to the Jaina conception of *Dravya*. *Sattā* and *Dravya* are one and the same as Hegel maintained Thing-in-itself and experience are not absolutely distinct. *Dravyas* refer to facts of experience and *Sattā* refers to existence or reality. The French philosopher Bergson also recognised substance as a permanent thing existing through change.

The position is the same in Jainism and Sāṁkhya so far as the initial start is concerned. One accepts the thesis and antethesis of *Jīva* and *Ajīva* and the other of *Puruṣa* and *Prakṛti*. Thus both are dualistic of even pluralistic in view. But in Jaina system, *Jīva* is an active agent, while in Sāṁkhya system *Puruṣa* is always *Udāsīna* (indifferent) and is only a passive spectator. Jainism is a realistic religion with a philosophical background, while Sāmkhya remained till the end only a system of intellectual pursuit.

Jainas and Mīmāṁsakas agree in holding that *Ātman* is constituted of *Caitanya* and that there is a multitude of separate souls But according to Jainism pleasure and pain come to be experienced because of Karmic association: while Mīmāṁsakas simpiy say that they are changes in the Soul. In the condition of liberation, the soul, according to Mīmāṁsakas, exists without cognition; but Jainism holds that the liberated soul is an embodiment of entire cognition (Ananta-Darśana), omniscience (Ananta-Jñāna), infinite energy (Ananta-Vīrya) and the highest bliss (Ananta-Sukha).

The Jaina Ātman is a permanent individuality and will have to be distinguished from Buddhistic Vijñānas which rise and disappear, one set giving rise to a corresponding set.

Unlike in the Nyāya system the soul in Jainism is not physically all-pervading but of the same size as that of the body which it comes to occupy. Jainism does not accept any idea like the individual souls being drawn back into some Higher soul *Brahman* or *Īśvara* periodically.

Soul's inherent qualities cognition (Darśana) and knowledge (Jñāna) are similar to that of Kant's view of sensibility and understanding.

The Jaina conception that *Jīvas* are potentially divine and are found in different states of existence is echoed in the following lines of the Sūfī Mystic :

'God sleeps in the minerals
Dreams to consciousness in animals

To self-consciousness in man
And to God consciousness in
Man made perfect.'

Matter in Jainism is concrete, gross, common place stuff amenable to multifarious modifications and realistic; while Sāṁkhya *Prakṛti*, though it involves much that is gross as well as subtle, stands for what is ordinary termed as undeveloped permordial matter, and it is an idealistic concept.

Some Buddhist heretics known as Vātsīputīryas too, as Sāṁtarakṣita says, take Pudgala equal to *Ātman*.

That body, mind and speech are material corresponds to the Sāṁkhya view according to which they are all evolved from *Prakṛti*. The four kinds of *Ahaṅkāras* : *Vaikārika*, *Taijasa*, *Bhūtādi* and *Karmātman* remind us of the four bodies in Jainism: *Āhāraka*, *Vaikriyika*, *Taijasika* and *Kārmaṇa*.

In explaining the phenomenon of Saṁsāra, the Karmic matter plays the same part in Jainism as *Māyā* or *Avidyā* in the Vedānta system. The *Karma* doctrine, as an aspect of Jaina notion of matter, is complex and elaborated subject by itself.

The Jainas and Vaiśeṣikas agree in holding that an atom is beyond sense-perception. According to Nyāya-Vaiśeṣika, it is the will of God, the creating agency, that produces motion in the atom; and so they combine *Dvyaṇukas*, *Tryaṇukas* and so forth, till masses of earth, water, fire and air (Pṛthivī, Ap, Teja and Vāyu), the four elements are produced. The Nyāya-Vaiśeṣika ideas and hair-splitting discussions of *Dvyaṇukas* and *Tryaṇukas* have no place in Jaina exposition.

The Jaina *Paramāṇu* is similar to the atoms recognised by Lencippus and Democritus in its basic conception that it is an eternal and indivisible minute particle or matter, that it is beyond sense-perception, that it is made of the same substance and that there are no four classes of atoms corresponding to elements ; but the varying size and form of atoms with corresponding sourness etc., accepted by them is not possible in Jainism.

As in Jainism, *Dharma* and *Adharma* are never used as the medium of motion and rest anywhere else. The Sāṁkhya idea that *Dharma* leads upwards and *Adharma* downwards is merely the ethico-religious idea quite usual in Gītā and other works. In Jainism, they are non-corporal and homogeneous-whole substances. Dr. Hermann Jacobi holds this as mark of antiquity of Jainism. The function of *Adharma Dravya* corresponds to Newton's theory of gravitation

Like the Jainas, the European mathematicians Cantor, Peano and Frege have accepted the reality of Space and Time. Jainism and Nyāya-Vaiśeṣika agree in holding *Ākāśa* as all pervading and eternal, but Jainism does not accept that sound is a quality of *Ākāśa*; but it is produced only when molecules strike against one another. This view is now moved by the modern science also. The realistic philosopher Bertrand Russell also says that though Time is the existent substance; still it is not merely experienced. Jainism holds that Time is unilateral and in mathematical language it is called monodimentional

Considering the above discussion, I now conclude my article in H. Warren's words:

"The power which creates and destroys things
is not extra-cosmic outside the above named
six realities, the power is inherent in the
things themselves, and is fouud in both the
intelligent and in the non-intelligent realities.
This power is not called God in Jainism.
That is the Jaina position."

Jain Concept of Living

Dr. J. D. Bhomaj

तस्मादर्हति पूजामर्हन्नेवोत्तमोत्तमो लोके।
देवर्षिनरेन्द्रेभ्य: पूज्येभ्योऽप्यन्यसत्त्वानाम् ॥

Prelude

Whenever something is claimed to be super-excellent and different, its supernal quality must be proved and distinguished from the rest the different and sole expects to be experienced. The separate ingradients must be fully convinced by realistic science. Mere belief or the supersticious creed is of no avail. Even holding the commonly accepted or established faith in the religious system or confirmed as represented in the acumenical creed, having so-called world-wide scope, cannot be justified, realised and convinced by all. Even the theological discourse, culminating in a synthesis or philosophy of worship may not by existing in real sense. Also the share Testimony brought fourth from whatever high source, is not accepted or embrased as such, when it remains outside the measuring and knowing power of the human knower.

Formal or so-called pure logic does not withstand actually. There cannot be any formal system to know the phenomena. Whatever remains beyond the scope of knowledge ultimate, is null and void. Pure knowledge does encompass everything, visible or invisible, inward or outward, finite or infinite, organic or inorganic, physical or mental, space or time, perpetual or perishable, transient or permanent, static or kinetic, stagnant or dynamic, atom or mass, virus or giant, might or meek, pervading or shrinking, grasped by senses or not, having from or not, tangent or intangent, having taste, smell, colour or not. As the knowledge knows everything in existance, every existant must be known by the knower. Under ontology and epistemology whatever is not knowable, is not the existing reality at all. So all the existing things are necessarily knowable and known by the knower.

Jain Schooling

Accordingly, all the *REALITY* is knowable under the Jain concept. Jains, the followers of the Omniscient-Jinas, do not rely upon anything like the so-called Creator or The Father-God of the heavens, or The Supreme Soul, nor wait for the favour of the Angels or Apostles, nor they consider themselves, alongwith the rest of things and beings, as the part and parcel of the supposed God-Supreme. Inspite of this, they are not heterodox nor atheist. On the other hand, they do have their own ontology of Religion and Theism, Doctrine of purity of souls, concept of mundane creatures and the school to cognize other phenomena in the universe.

Thus, it is clear that they know all the Realities in their own way. They do not rely upon anything supposed or sponsored by others. They themselves perceive, understand, think, consider, experience and know everything in the universe They have established their own way of scrupulous scrutiny. It is their firm conviction that the Soul is the Supreme knower and knowable too. Knowledge is the fundamental virtue, attributed to soul. Anything cannot be known unless the knower knows himself first. Any

thing could be known only when the Self is known. There is nothing that knows others but does not know itself. The faculty of knowledge works like the light, which illuminates itself at the first event and in accordance with the span and scope of vigour, it illuminates the rest of things in its realm. Light never requires another lamp to shine upon it. The sun is the best example. He is illuminated by his own virtue and in course of it, He illuminates the universe.

So the Jain exerts to know the Self that knows everything. Knowing the Self becomes the sole motto of his life. For a real devotee of the Jina, to know his own Self directly and realisingly is have it experienced continuously, outside and the Godhood, including the God, if there be any, is the secondary thing for him. Primarily he believes in the realization of the Self Which is the only source of universal knowledge.

The Special Seed of Life

On the fundamental principle of the Self-realization the real Jain happens to be different in the worldly walks of life There by he seems clearly distinct, quite apprently, from the other sects in the varied world outside. Even though all the herbs are conceived collectively alike for the botanical sense, they individually do differ, depending on the class and power of the seeds It is the seed that prevails ! In the same way the Jain seed of life is quite unique and distinguished from those of others. In principle, the conception of the element called *SAUL* and the direct experience of the independent illumination of the Self, are of multifarious nature. It is the distinct vim of the seed that thrives in its own way unlike others. Its blossoms are found quite different Eventually the harvest also is distinguished from others It comes out of individuality, forming its own class. It displays the distinct quality and efficacy owing to the vim of the seed.

Varily the psychic seed of a Jain is quite different in principle. It is the psychological and scientific truth that the inward power of man controls his behaviourism and characteristic development. The inward vim and the inclinations of a Jain are different, so his way of life does become different. The nature and virtue of his self governs his inclinations and behaviours. He is quite alike in the event of the birth system. His physical, organic and metabolic conditions do resemble alike others The wakenings for food, sleep, protection, sex appeal and so also the sense of health, ease of mind, greed, will, pride, revange etc., may be present in his physical and mental systems But sincerely clinging to the real sense of the epithet of the Jina, a Jain strives for the victory over the mundane elements of life. He never likes to be carried away by the force of secular currents Normally all other persons are living the mundane life as it comes to them, whereas the Jain selects the kind of it, to his own choice. He endeavours more for the spiritual life. Thus his spirit involves in the Self-realization. And this is the main focus that takes altogether different direction to develop his individuality into a distinct cult. If at all the others make their life course like a water current that always runs down the level, the Jain makes his life like vapour that flees upward, becomming more and more light, by way of ousterity, instead of addiction.

The Import of Life

Any person as an individual must exist as a single and free unit He ought to live on, as a separate entity and distinguish his element from others even of the same class. He must differentiate himself by his special virtues and characteristics. His personality be kept on ever developing in independence, in the realm of action, thought and self-respect. His individuality must clearly become a social theory that emphasises on the importance of his distinctive character, quality and personal achievements. This kind of success and accomplishment sprout from the seed of self-realisation put to the course of sublimation.

But whenever and wherever the sense of self is neglected or misunderstood or misled, the ingradient vim moves the faculty to reveal the hidden image towards the reaction of light, to advance maturity to

the higher stage, to expand the potentiality, to evince the quality and to educe piety, purity and holiness in him. Any human not enchancing his own faculty of virtue like these, may become demon-like. If this kind of growth of personality is not maintained, the human cannot continue to remain even as a real human-being. The mind if not put in good duity, it necessarily indulges into evilness, as it cannot remain inactive. The cycle-rider must advance on, and on lest the fall is certain. It holds good in the principle of human advancement. So to avoid the evil, the mind must embrace piety.

The human mind and the individual faculty are powerful enough to undertake the evergrowing recourse of life to sustain and maintain the progress of evolution. In this course, the Self very naturally develops its vigour is accomplish the goal of its purification to the infinity. This course of life knows no stop, and responds no break, alike the wheel of chronology. If it does not shoot up by way of sublimation, varily it agitates the hidden passions To the effect the person falls victim to vices like addiction, regimentation, mechanization etc., like the beasts in the world of creatures. The recourse resorted by a Jain adverbs to embrace the line of vigourous virtues.

By birth man may resemble the base metal. If it is not made stainless it gets spoiled and rusted. It remains blunt it not sharpened and put to continuous use. The human faculties also do not remain sober and balanced it not put its austereness and auspicious work. The motion always runs on obverse or reverse. There is no third course. So to avoid reverse position, one must keep on moving up and on. Only hard working does not solve the problem One has to strain while digging or climbing. But the former confines entrenchment and the latter elevates to the summit. Knowing the significance of the rising life full well, a Jain prefers to sublimation, purification and perfection of virtues of his soul, even by austerity.

Base of Distinction

Biological life alone is not covetable for a Jain, even though he has to look after physical needs. The bio-physic forces must be adhered to for sustaining and improving the healthy disposition of life. The Metabolism should be maintained One cannot live on without one's body. But for this kind of biological welfare, one is not required to be beastly. While working, fuel is consumed by an engine. But it does not mean that an engine is to be kept running for consumption only. The bio-physical working also needs consumption beyond doubt Even than a wise person should not live like an engine. On the other hand he has to be very expert-engineer to achieve his personal welfare by operating the machanical forces, so as to get his purpose served. Just as engine is not deviced for the sake of engine, the biological system should not be cared for its own sake only. It ought to serve or be made to serve the human cause of the Master.

Whether to become a slave or to earn the mastery over the forces of the body, is the factor that distinguishes the route of life A Jain does master his life and gets his religious and spiritual purpose served, instead of being a victim to it He governs and regulates his life towards the fulfilment of his spiritual aim. He established deliberate discipline of his activities in the life. The purpose of life may be wholesome or otherwise, just as the case of machine or instrument. Exactly at this juncture, there crops up the so-called Guardian Knot which should be considered very difficult to solve or ever remaining unsolved or solved to the otherwise effect or worked out purposelessly or reacted upon, to bring to desired efficacy. They happen to advert to variety of ways, producing diversity in the walks of life.

Just as there happen to be cross roads, side roads, diversions or footprints, scattered away or along the highway, there are differant traits and tenets come across the life-route. They bring forth the diversity in the coures of life and in the life-philosophy The wanton life cares no discipline leading towards some decided goal. Some ignorants follow any path they came across around. They have no power of faculty discriminate wrong from right. Some lacking self-awareness embrace superstitious passively. Some

lacking self-awareness embrace superstitious passively. Some practise hypocracy to hide the inward feelings and to make a good show. Some shoot astray by the force of egoism, distortion and misunderstanding. Some are aware of the right path but are feeble to traverse. Some are striving hard but not achieving success to the expected degree. And there are a very few who can conduct the right course, evinecing the self and the powers of virtues on and on.

Out of these seven classes a Jain decidedly disapproves and rejects the first four types totally. On the merit of his faculty of knowledge, he is well qualified to do so, on the vigour of self-awareness and realization of the virtues and properties of his own soul, distinguished from any other substance that are bereft of consciousness It is this awareness and realization of the self that poves the foundation of difference in the course of life. So all the Jains, even unto this era, are found embracing only the last three stages aforesaid.

The Analysis of Living

Even though one likes his own self very much, the carnal and emotional side of life cannot be neglected. At the most, one can give more preference to his option and undertake spiritual affairs. No soul or self could be evinced without body in this world of creatures Thus one has to attend, even though a strict—Jain, all the sides of life. Consequently life becomes multifarious. So the proper balance retains it over all importance. As the world is absolutely unable to experience the self outside the corporeal life, the maintenance of a physique is a must And the realm of bio-physical affairs is far and wide. The body cannot be singled out. It has to be accepted as a whole, with all its internals and externals. There are many branches and sub-branches belonging to the trunk. As such we can consider only a few, that represent the rest.

(A) The Bio-Physical Life

Having the body accepted, the normal strength and vigour is usually maintained. The sense organs require sensuality and it is kept up for the good state of body, speech and mind. The span of life period is cared to enjoy the long life. The respiratory system is protected to provide oxygen for the purification of blood and combustion to produce energy The physical functions like these, has to be kept intact and orderly. If harm is levied unto these functions, the life undergoes danger. So also the inborn drives like hunger, slumber, protection, sexappeal etc , become active and forceful. If these drives are not quenched to a certain degree, they bring about very urgent pressure on the various capacities and activities of the self. Mental powers and spiritual urges are disturbed. Sometimes the life itself comes to an end. Thus the corporeal life has got its own importance in its realm.

(B) The Psycho-Mental Life

It covers the entire field of feeling affairs The lively impulses like emotional, intellectual and mindful activities are brought under this designation Passions like revenge, pride, strangeness, timidity, greed, lust etc. and emotions, like affection, pety, joy, jest, amuse, play etc., emerge to expose and reaction. These inward forces tend to produce motion, inter-action, kidnap, rape, etc. These are the uncultured and unreasoned forceful inclinations attend to induce action unto others. They are actuated by an impulse rather than reflection They have the forceful influence to incite the life to action. So they are not negligible. They are to be controlled and diverted for wholesome living. They turn the life to make one human or demon.

There are the basic sensations that make one feel alive and be aware of self. They create a strong surge of feeling to outward expression. They often accompany the complex reactions. They re-inforce the faculty of feeling and sensibility. They arouse the tendencies towards transactions. They over indulged the emotions and make them much affected. The extereme, intense or overwhelming impulsions and

notions are known as passions. They take the form of ardent affection or love, of intense impulse for sex and lust. Overpowering anger, enragement, crualty etc., set forth. An out-burst of violence against some object or event, inclines towards strong excitement. They make the person rash-tempered and display the vehement action of revange. Persons under such emotional impulse become harmful. But if they are put to cultural and disciplined vent, the expression being mild and tender, they could be turned innocent. this kind of cultural life results in social morality and personal morale. The healthy and wholesome control over these impulses, lays the foundation for spiritual and religious way of life.

(C) Religio-Spiritual Life

Having the personal control and mental discpiline established one is free to advanced towards virtuous and pious living. The rational power to think and the deliberation could be improved so as to master the force and source of passion. The bio-physical needs are cultured, moderated and minimised. The emotions and passions are well governed and brought under good control. All the forces are yoked to cultivate the field of right knowldge, philosophy, faith and spiritual conduct. Further on abstinence and austerity is practised to win over the self. This victory sheds more light and delight. The inward peace springs up. The stains of carnal pleasures are removed and purity of self enjoyed The pious vision enlightens the living, where pure knowledge is manifested and the soul attributes are revealed.

Discernment

When the sensuality is replaced by sensefulness, indulgence by indifference, addiction by aversion, illusion by vision, eye-sight by insight, delight by enlight, will by wisdom the course of living ascends more and more spiritual stages Otherwise it descends The life of a Jain is always improving and ascending by,the power of knowldge, belief and conduct of the soul itself. The range of his learning, is not confined to the lessons in texts. He knows all the basic substances with their ingredients. He realises his own soul endowed with eternal awareness and knowldge insight and conscience, bliss and vim and all that comes under spiritualle vitals. It is realization of the self that tosses up the Soul to the fourth stage of spiritual life. And lo, the living status changes at this juncture, just like the litmus turns its blue-colour to redness, being treated with acidity. This self-realization and insight make oneself a Jain in real sense. Otherwise nobody is a Jain by mere birth or any other creed.

The new achievement, acquired at this stage, incites discernment. It re-acts upon everything with insight and rationality It recognises all the aspects of the things outside and of the mental affairs inside. It is confirmed on this merit, that the bio-physical drives are separate and different from the spirituelle vitals of the self. The expression of volition is completely changed. He is empowered with a keen discernment. Even though not disembodied as yet, and still carried with the body, his spirituality remains allof from the domain of bio-physical affairs He refrains himself doing harm to his own soul. He obstains from sinful activities. Meditates and recollects the attributes of his pure self.

In the field of mundane activities, he grasps everything reacted by his insight and discernment. He recognises them as quite separate from his soul and different in attributes He seeks the life way that suits his choice. He chooses everything healthy and wholesome, atleast harmless, to experience the holy spirit, of his self. He becomes expert in discriminating the mundane livings from religious life. He keeps up his judging power very sharp, keen and accurate

On the power of his discernment he gets his life activities newly classified, to suit and promote the degree of self-realization. Because he is more and more inclined ascend higher and higher stages of the spiritual life. The output of the power of discernment is heightened ability to realise, good and bad in reality, and to avoid bad actually to embrace good in the practical life. The only scale of measurment utilised, is the purification of soul. The passions are harmful to the real and eternal spirit of soul. So the promoters of the virtues of soul, are upheld Taking right decision over the worthful and worthless for the spiritual

life becomes the core of his mental affairs. Practically he avoids the pervert and tries to embrace the right. He goes on achieving success more and more, as he knows the real attributes of his soul, full well. On the merit of a discarment he discards and rejects the devious states of his mind, which indulges and yields to the surge of passions.

This way of life becomes a warfare as it were So a Jain remains very alert and cautious for his protection from sinful and passionate side. He earns more power to keep on progressing towards the meritful spiritual life. While living on such a pious life, he becomes very vigilent in the way of appeasement of the senses. He avoids the corrupt usury that looses the virility of his self. He sees that no merit of the soul is spoiled by the over pleasures or addictions. While giving way to mundane affairs also, he becomes vigilent to maintain the weal and welfare of the self. He scrupulously scrutinizes the fitness of the things accepted.

It resembles a tug of war between the forces of the sense organs and the spirit of Soul or his mundane affairs on one side and religious duties on the other A real Jain at least stands still and not moved by the worldly forces, when he is unable to proceed on and on, ganing the spiritual heights. He goes on keeping the quiescence of his mind and Faith only on the strength of his discernment Lacking it, the non-Jains are just blasted away by the gale of pleasures and addictions very easily. So this is the central line for the tug of war, that makes the difference of life—course of a Jain and a non-Jain. Jains mean the follower of the path of the Jainas, the victors.

Self-vigilance

It is the power of insight and discernment that makes the analysis of life and classifies the modes and elements to suit his own conscious that brings forth weal, tranquility, trance and peace for himself. Slowly he becomes so vigilant in keeping up the spirit of his soul, that the forces and drives of his body, sense organce and mentality, are duly subdued and controlled. Notwithstanding they are used for the purpose of religious progress. The spirit earned by discernment and self vigilance becomes such a vigorous soldier to fight like a commando, silently enlaring the stronghold of the enemy and destroying it completely.

To the effect, the philosophical vision, scope of insight, light and delight of the self, go on increasing. His mind attains contentment, senses are appeased, body seeks its own way of maintenance by itself and even by the environment. In such a suitable condition, he uses his inward virility to purify the virtue of knowledge to the higher degree. He earns bliss and peace in the domain of the purified soul and in the virtual spring of happiness. To become on with knowledge is the real life of the Self. So the invincible Jain lives on, or seeks for this kind of life, where he is engrossed in knowledge and the other attributes of soul.

Generally to live on like this, is not easily possible. But it is made possible on the merit of pure self-realization. To the non-Jains, this is not convincing, because they do not believe in the independant power and virtue of the 'Self'! It is the distinct kind of faith that is based on different elements and concepts of Theism. It is the wrong concept of God that leads the devotees to the multiferious way of worship, practice of religion and diversity of living.

No belief, wrong belief and right belief are the chief elements that govern the life and living principles. So the nature of belief must be correctly scrutinised and reacted by rationality. Discernment is the prime power to get oneself distinguished from the nonself. The Self is the master of all rest. It is the Self who is endowed with happiness, who actually lives on seeking the sense of safeness and avoidance of dangers. Thus self is the central principle of life belief and behaviour. Those who do not believe in Self, do not consider any thing good or bad. They are simply led away by any current of force or drive in the outside world. But those who find out the SELF and believe in virtuous life, try to discriminate virtue form vice. While doing so, some do not seek for the real master of their own virtue or vice, producing happiness and

misery unto them. They happen to seek and search for the source of virtue and happiness or some idea of power to unto their misery, somewhere outside themselves. And this outside view leads to illusion and diversity is the concept of *Theism*. There illusionary mistakes are not apprehended by a Jain in its true sense.

On the contrary the Jain belief is well centred on the Self. Their Theism is established in knowing and realizing the Self, with-in only, and not anywhere else. On the merit of the Self-based religion they pave the way leading to Self-Theism and as such they are well distinguished. Their rites, rituals, church (Chaitya) cults, worshipping modes etc., stand in different position, in the practice of religion. So also the look-out for daily life takes its own focus. Accordingly, the picture of life is displayed in a different perspective The different angles of the spectators also tell upon the sight pose of Jain. This is the basic reason, why the Jain religion and philosophy are misunderstood at times. Eventhough they seem strange to strangers they are quite homely to the Faith of Self-Theism.

Lenity

The confused diversity never sets forth in the life affairs of a Jain. The realization of the Self has no foundation for confusion, illusion and mirage. The mathematical functions could be either wrong or right. There cannot be any diversity in the correct decipher. If the the existence of knower is not firmly and finally decided the existance of any other element could be questioned very easily. The knower himself is the sound realization of the knowledge But if the existance of the knower himself is in question, any knowledge, philosophy, gosped, discourse, Testimony etc., are eventually elasped by danger. The Self-Theism is out of the realm of such danger In knowing the self, any other outward proof is superfluous.

The mundane existance of a Jain may remain similar to others. His apparent consumption, worldly activities, some playful pleasures, the way of satiating his bio-physical needs etc., may seem all alike. The inwardness achieved by a Jain on the merit of Self-vigilance and Self-awareness etc., creat content, satisfaction and satiability So his peace of mind is not disturbed He is never given to addiction. He lives sober. He masters his sense organs other passions and inborn drives. Instead of being moved by them, he directs them to his own notions and proves himself the Indra in real sense to govern the Indriyas. In the daily life, he prefers inward peace and contentment to the external pleasures in secularity. He becomes a Bhoga-Yogi

Not only his secular course of life is transformed but also his lookout in the wide zone of sociality becomes an optimism He cultures his mind to look at the better side of things and events around. He cultivates a view of equanimity on the merit of Self-like out-look He becomes more and more lenient to consider the liberty of others in the range of pursuit of pleasure, peace and happiness in the living. His own way of treating the sense organs, results, so unto himself that he becomes more and more lenitive. His lenity softens his mind so much, that he grows quite fit to educe social qualities like equality, faternity leading toward the Universal Liberty to live on. The equity he breeds in his mentality and disposition endows repose for himself. It arouses a sense of life leading to "Live, let live and help to live-on" policy. What-ever he takes, he allows others to like it freely Whatever his soul tries to avoid, he helps others to avoid. In this kind of life discipline, the harmfulness, falsehood, theft, sexuality, hoarding and the other antilife elements never crop up. The otherwise pleasures are when strictly avoided, what of sinfulness and criminality ? He remains far away from the worthless and wickedness. His Lenity is the gentil seed sowed in the living realm to reap the repose and mercy for all. Thus the Jain way of life is covated by all alike.

The Blossoms

Jainism, more rightly Jinology, is not the empty drum that sounds aloud to summon up others only. Jain way of life in the prima facie, is devised for self-living in its wide sense. The principle of living,

cannot be modified for any individuality. It is always practised first and then discoursed. Even though the purest of all, its gospel comes not from heavens. Neither it is an order or command issued to others, by any power or by Heavenly. Being it is the universal truth that applies alike to all. It never favours nor disfavours any one, Jain or non Jain.

Eventhough the least spread in the world, Jainism (Jinology) is ever universal by its virtue. It is based on pure knowledg of intrinsic properties of the universal substances and realities. The Jina is ever invincible as he evinees victory over his Self. He considers no friend or foe. He cannot be a devotee, servant, obedient or ward of anybody in any sense. He embraces Self-Theism and becomes God himself. Likewise he considers other beings also are able and free to advance on the way to Master themselves. If at all the full mastry over Self-Knowledge is established, the Godhood is automatically achieved.

A true Jain sets forth an example in the practical life, for every expression of his philosophy and belief. There is no high-sounding word that does not yield to the practical living range. His lenity and modesty blossom into fruits like universal friendship, mindful appreciation of any virtue in anybody, sincere pity for the suffering ones and retard at opposition. This tendency brings out peace and co-operation in the social living in the world. He also found an example for living, sans conflict. Actually he practises the policy of living with malice towards none and with generosity towards all. His living is, sans sort and sans criminality. His life goes on lovely and lively.

Alike knowledge, bliss, virility etc. the other spiritualities are manifested in the pure soul to the infinity. Every virtue is eventually experienced and practically evinced All the disturbing and harmful elements are removed from the Self Thus every woe is undone and weal is enjoyed, to its infinity. Facing no harm as break, and manifesting elernal bliss is the virtual life. Being faultless in it self and harmless to others, it is considered as the achievement par excellent. Thus the Jain concept of living leads to the real life that suffers no death or any other loss. Eventually it blossoms into the pure, virtuous and eternal status for the ever living soul.

It is useful like a tree in its full bloom. It is the full life to the tree itself, so also it helps others to live on. They can use its shade, leaves, flowers, fruition to their choice. It upholds the real spirit of life as such, without making any discrimination in any sense. Thus it is the Best concept of life in the universal sense, as everything expounded by Jains is true to the universality

सर्वे भवन्तु सुखिनः
सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
न कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ।।

जैन दर्शन सम्मत आत्मा जैनेतर दर्शनों के आलोक में

डॉ० प्रेमचन्द जैन

भारतीय विचार-जगत् के दार्शनिक-वाङ्मय में सुदीर्घ काल से अनुभूतिधारक तत्त्व अर्थात् आत्मा के सम्बन्ध में उत्सुकता एवं विचारात्मक अनुसन्धान चला आ रहा है। अब तक अनेक तीर्थंकर, ऋषि-मुनि, तत्त्व-चिन्तक, संन्यासी, ईश्वर-भक्त, सन्त, मनीषा-निधि, दार्शनिक पुरुष और सर्वोच्च कोटि के निर्मल चरित्र सम्पन्न लोक-सेवक नानाविध भौतिक एवं आध्यात्मिक प्रगूढ समस्याओं का चिन्तन-मनन करते हुए इस विचार-मन्थन मे अनुरक्त रहे हैं कि इस महान् अज्ञात और अज्ञेय रहस्य वाले ब्रह्माण्ड मे मौलिकता तथा अमरता का कौन-सा तत्त्व है ?

इस दार्शनिक विचारणा की धारा शनैःशनैः विभिन्न कोटि के चिन्तको के मस्तिष्क मे प्रवाहित होने लगी और परिणामस्वरूप नित्य नये-नये विचार और नई-नई व्यवस्थाएं तथा अपूर्व कल्पनायें इस अनुभूतिमय तत्त्व के सम्बन्ध मे उपस्थित होने लगी। उन्हीं को आधार करके मैं यहा यह बताने का प्रयास कर रहा हू कि विभिन्न भारतीय दर्शनो में आत्मा के विषय मे क्या मन्तव्य है ?

चार्वाक दर्शन

चार्वाक दर्शन प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानता है। अतः उसके मत मे स्वर्ग, नरक, आत्मा, परलोक आदि नही है। यह संसार इतना ही है जितना दृश्यमान् है। जड जगत् पृथ्वी आदि चार प्रकार के तत्त्वों से बना हुआ है। जैसे पान, चूने और कत्थे मे अलग-अलग से ललाई नही दीखती, पर उनके मिलाने से ललाई उत्पन्न हो जाती है और मादक द्रव्यों के संयोग से मदिरा मे मादकता का आविर्भाव होता है, वैसे ही पृथ्वी आदि चारो भूत जब देहरूप मे परिणत होते हैं, तब उस परिणामविशेष से उसमे चैतन्य उत्पन्न हो जाता है।[1] उस चैतन्य-विशिष्ट देह को जीव कहा जाता है।[2] "मैं स्थूल हूं", "मैं कृश हू", "मैं दुःखी हू" आदि अनुभवों का ज्ञान हमें चैतन्ययुक्त शरीर से होता है। इन तत्वो (भूतो) के नाश होने पर उसका भी नाश हो जाता है।[3] अतः चैतन्य-विशिष्ट शरीर ही कर्त्ता तथा भोक्ता है। उससे भिन्न आत्मा के अस्तित्व का कोई प्रमाण नही है। शरीर अनेक हैं, अतः उपलक्षण से जीव भी अनेक हैं। शरीर के साथ उत्पत्ति एवं विनाश स्वीकार करने से वह शरीराकार और अनित्य है। चार्वाक का एकदेश कोई इन्द्रिय को, कोई प्राण को और कोई मन को भी आत्मा मानते है।[4] कोई चैतन्य को ज्ञान और देह को जड मानते हैं। उनके मत मे आत्मा ज्ञान-जड़ात्मक है।[5]

बौद्ध-दर्शन

बौद्ध दार्शनिको ने नित्य शाश्वत आत्म-सत्ता का निषेध किया है, परन्तु आत्मा के अस्तित्व का निषेध नहीं किया। इनके अनुसार आत्मा से किसी स्थायी द्रव्य का बोध नही होता है, किन्तु विज्ञान-प्रवाह का बोध होता है।[6] विज्ञान के गुणरूप होने के कारण उसका कोई परिणाम नही है। बुद्ध को उपनिषद् प्रतिपादित आत्मा के रहस्य को समझाना प्रधान-विषय था। सकल दुष्कर्मों के मूल में इसी आत्मवाद

१. 'किण्वादिभ्यो मदशक्तिवच्चैतन्यमुपजायते।', सर्वदर्शनसग्रह, पृ० २

२. 'चैतन्यविशिष्टदेह एवात्मा।', सर्व० द० सग्रह, पृ० ४

३. 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य सज्ञास्ति।', बृ०, २/४/१२

४. 'चार्वाकैकदेशिन एव केचिदिन्द्रियाण्येवात्मा, अन्ये च प्राण एव-आत्मा अपरे च मन एवात्मेति मन्यन्ते।', सर्व० द० संग्रह, पृ० ५६

५. चैतन्यविशिष्टे देहे च चैतन्यांशो बोधरूप देहांशश्च जड़रूप इत्येतन्मते जड़बोधैतदुभयरूपो जीवो भवति।', सर्व० द० सग्रह, पृ० ५६

६. 'विज्ञानस्वरूपो जीवात्मा।', सर्व० द० संग्रह, पृ० ५७

को कारण मानकर उन्होंने आत्मा जैसे एक पृथक् पदार्थ की सत्ता को अस्वीकार किया है।[1] विज्ञानों का प्रवाहरूप आत्मा प्रतिक्षण नष्ट होने के कारण अनित्य है। पूर्व-पूर्व विज्ञान उत्तरोत्तर विज्ञान में कारण रूप होने से मानसिक अनुभव और स्मरणादिक की असिद्धि नहीं है। बौद्ध अनात्मवादी होते हुए भी कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष को स्वीकार करते हैं। डॉ० फरकोहर का मत है कि बुद्ध पुनर्जन्म को मानते थे किन्तु आत्मा के अस्तित्व में उनका विश्वास नहीं था।[2]

यदि बुद्ध आत्मा की नित्यता को नही मानते थे तो पुनर्जन्म मे उनका विश्वास कैसे हो सकता था। बाल्य, युवा और वृद्धावस्था में एक ही व्यक्ति का अस्तित्व कैसे माना जा सकता है। प्रतीत्यसमुत्पाद और परिवर्तनवाद के कारण नित्य आत्मा का अस्तित्व अस्वीकार करते हुए भी बुद्ध यह स्वीकार करते थे कि जीवन विभिन्न अवस्थाओ का एक प्रवाह है, जीवन की विभिन्न अवस्थाओ में पूर्वापर कार्य-कारण संबंध रहता है, इसलिए सम्पूर्ण जीवन एकमय प्रतीत होता है। जैसे--दीपकज्योति, वह प्रतिक्षण भिन्न होने पर भी अविच्छिन्न ज्ञात होती है। एक बार बुद्ध ने आत्मा के विषय मे पूछने पर कहा था कि यदि मैं यह कहू कि आत्मा है तो लोग शाश्वतवादी बन जाते है और यदि यह कहू कि आत्मा नही है तो लोग उच्छेदवादी हो जाते हैं।[3] बुद्ध ने मध्यम मार्ग बताया।

राहुल सांस्कृत्यायन का मत है कि बुद्ध के समय मे आत्मा के सम्बन्ध मे दो प्रकार के विचार प्रचलित थे पहला तो यह कि आत्मा शरीर में बसने वाली, पर उससे भिन्न एक शक्ति है, जिसके रहने से शरीर जीवित रहता है और जिसके चले जाने से वह शव हो जाता है। दूसरा आत्मा शरीर से भिन्न कोई कूटस्थ वस्तु नही है। शरीर मे ही रसो के योग से आत्मा नामक शक्ति पैदा होती है, जो शरीर को जीवित रखती है। रसो का न्यूनाधिक्य होने से इस शक्ति का लोप हो जाता है, जिससे शरीर जीवित नही रह पाता। बुद्ध ने अन्यत्र की तरह यहां पर भी मध्यम मार्ग अपनाया और बताया कि आत्मा न तो सनातन है, न कूटस्थ और न ही वह शरीर के रसो पर अवलम्बित है और न ही शरीर से भिन्न है। वह असल मे भूतो (स्कन्धो) और मन के योग से उत्पन्न एक शक्ति है। जो अन्य बाह्यभूतो की भाँति क्षण-क्षण उत्पन्न और विलीन होती रहती है। उन्होंने न तो भौतिकवादियों के अनुच्छेदवाद को स्वीकार किया और न उपनिषद्वादियो के शाश्वतवाद को। आत्मा के विषय मे उनका मत अशाश्वतानुच्छेदवाद का पर्याय था।[4] माध्यमिक बौद्धो के अनुसार व्यवहार दशा मे जीवात्मा प्रतिभासित होता है, किन्तु उसका मूलस्वरूप शून्य ही है।[5]

वेदान्तदर्शन

शकराचार्य का मत है कि स्वभावत जीव एक और विभु है, परन्तु शरीरादि उपाधियो के कारण अनेक प्रतीत होता है। एक विषय का दूसरे विषय के साथ भेद, ज्ञात और ज्ञेय का भेद, जीव और ईश्वर का भेद ये सब माया की सृष्टि है। उपनिषदो मे प्रतिपादित जीव और ब्रह्म की एकता के वे पूर्ण समर्थक हैं। शकराचार्य का कथन है कि प्रमाण आदि सकल व्यवहारो का आश्रय आत्मा ही है। अत: इन व्यवहारो से पहले ही उस आत्मा की सिद्धि है। आत्मा का निराकरण नही हो सकता, निराकरण होता है तो आगन्तुक वस्तु का, स्वभाव का नहीं।[6] मनुष्य, शरीर और आत्मा के सयोग से बना हुआ जान पडता है परन्तु जिस शरीर को हम प्रत्यक्ष देखते है, वह अन्यन्य भौतिक विषयो की तरह माया की सृष्टि है, इस बात का ज्ञान हो जाने पर आत्मा और ब्रह्म मे कुछ अन्तर नही है। रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुसार ब्रह्म ही ईश्वर है, उसके शरीर-भूत जीव और जगत् उससे भिन्न हैं तथा नित्य हैं। अत: जीव और जगत् उसमे भिन्न हैं तथा नित्य है, अत. पदार्थ एक नही तीन हैं--चित्, अचित् तथा ईश्वर। जीव (चित्) अणुपरिमाण है किन्तु अनन्त है।[7]

सांख्य-दर्शन

साख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष (आत्मा) दो मूल तत्त्व है। प्रकृति जड है परन्तु पुरुष चेतन तथा अनेक हैं। सांख्य आत्मा को नित्य और निष्क्रिय मानता है। साख्य पुरुष को अमूर्त, चेतन, भोक्ता, नित्य, सर्वव्यापी, क्रियारहित, अकर्त्ता, निर्गुण और सूक्ष्म मानता

---

१. बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० १८५
२. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० १३५-१३६
३. 'अस्तीति शाश्वतग्राही, नास्तीत्युच्छेददर्शनम् ।
तस्मादस्तित्व-नास्तित्वे, नाश्रीयेत विचक्षण' ॥', मा० का०, १८/१०
४. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० १३६
५. वही, पृ० १३८
६. 'आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिध्यति ।
न चेदृशस्य निराकरण सभवति, आगन्तुकं हि निराक्रियते न स्वरूपम्···।', शांकरभाष्य, २/३/७
७. 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य । भागो जीव. स विज्ञेय: स चानन्त्याय कल्पते ।', श्वे०, ५/९

हैं। सांख्य पुरुष को कर्त्ता नही मानता किन्तु प्रातिभासिक कर्त्ता और फल भोक्ता मानता है।[1] उसका मानना है कि कर्तृत्वशक्ति प्रकृति में है।[2] "मैं हूं" 'यह मेरा है', इस प्रतीति के द्वारा आत्मा का अस्तित्व निर्विवाद सिद्ध है। बुद्धि मे चेतना-शक्ति का प्रतिबिम्ब पडने से आत्मा (पुरुष) अपने को अभिन्न समझता है, अत: आत्मा में 'मैं सुखी हूं, दु:खी हूं', ऐसा ज्ञान होता है।

मीमांसा दर्शन

मीमांसकों का मानना है कि आत्मा कर्त्ता तथा भोक्ता है। वह व्यापक है और प्रत्येक शरीर मे विद्यमान है। ज्ञान सुख-दुःख तथा इच्छादि गुण उसमें समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं। आत्मा ज्ञानसुखादिरूप नहीं है। भाट्ट-मीमांसक आत्मा को अंशभेद से ज्ञानस्वरूप और अंशभेद से जडस्वरूप मानता हो उसकी मान्यता है कि आत्मा बोध-अबोध रूप है।[3] भाट्ट आत्मा के क्रिया-स्वरूप को मानते हैं उनके अनुसार परिणामशील होने पर भी आत्मा नित्य पदार्थ है। आत्मा चिदंश से प्रत्येक ज्ञान को प्राप्त करता है और अचिदंश मे वह परिणाम को प्राप्त करता है।[4] कुमारिल आत्मा को चैतन्यस्वरूप नही किन्तु चैतन्यविशिष्ट मानते हैं। शरीर तथा विषय मे सयोग होने पर आत्मा में चैतन्य का उदय होता है पर स्वप्नावस्था में विषय से सम्पर्क न होने के कारण आत्मा में चैतन्य नहीं रहता।

जैन-दर्शन

दर्शन-क्षेत्र मे जैन-दर्शन का विशेष महत्त्व है। इसका जीव-अजीव का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है। जैन-दर्शन वैज्ञानिक दर्शन है। इसकी मान्यता है कि चेतना ही 'जीव' या आत्मा है। चैतन्य ही प्रत्येक जीव का स्वरूप है।

चेतना लक्षणो जीव:[5]

आत्मा जड मे भिन्न और 'चैतन्यस्वरूप' है। साख्ययोग मे जिसे 'पुरुष' कहा गया है, बौद्ध जिसे 'विज्ञान-प्रवाह' कहते हैं, चार्वाक जिसे 'चैतन्य-विशिष्ट-देह' मानते हैं, और न्याय-वैशेषिक तथा वेदान्तमत से जो आत्मा है, वह जैन-दर्शन की दृष्टि मे जीव है। इतने पर भी जैन दर्शन की आत्माविषयक विचारधारा अन्य दर्शनो से स्वतन्त्र है।

द्रव्यसग्रह में जीव की व्याख्या इस प्रकार है—

जीवो उवओगमओ अमुत्तो कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥[6]

अर्थात् जीव उपयोगमय, अमूर्त, कर्त्ता, स्वदेहपरिमाण, भोक्ता, संसारस्थ, सिद्ध और स्वभावत. ऊर्ध्वगतिवाला होता है। इसी प्रकार की व्याख्या कुन्दकुन्दाचार्य ने भी पचास्तिकाय मे की है—

जीवोत्ति हवदि चेदा उवओग विसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता च देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो॥[7]

अर्थात् जीव अस्तित्ववान्, चेतन, उपयोगमय, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, देहमात्र, अमूर्त और कर्मसयुक्त है।

जैनो ने आत्मा की सूर्य से उपमा दी है। आत्मा के साथ ही जीव है अन्यथा मृत है। बन्धनयुक्त होने पर आत्मा की शक्ति परिमित हो जाती है। आत्मा जीव है और जीव का अस्तित्व जीव शब्द से ही सिद्ध है। आत्मा शरीर मे भिन्न है और सर्वत्र व्याप्त है। इसका यह अर्थ नही कि यह जड द्रव्यो की तरह विस्तार करता है, परन्तु इसमे शरीर के भिन्न अगो के अनुभव वर्तमान हैं। आत्मा आलोक की तरह शरीर के प्रत्येक स्थान में चैतन्य द्वारा व्याप्त रहता है। यह शरीर का परिचालक है और इन्द्रिया साधन हैं। शरीर और चैतन्य मे कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता। शरीर के साथ चैतन्य का साहचर्य नित्य नहीं होता जैसे निद्रा और मूर्च्छा के समय चैतन्य अपना कार्य करता है।

महावीर ने आत्मा को सरल शब्दो मे इस प्रकार बताया है—

---

१. 'प्रकृतेरेव वस्तुत. कर्तृत्वम् तच्च प्रकृतिसम्बन्धाज्जीवात्मनि प्रतिभास,
अतस्तत्प्रातिभासिकमिति साख्या पातञ्जलाश्च वदन्ति भोक्तृत्वमप्येवमेव।', सर्व० द० सग्रह, पृ० ५८

२. साख्यकारिका, ६२

३. 'भाट्टा आत्मानमशभेदेन ज्ञानस्वरूप जडस्वरूप चेच्छन्ति। तेषा मत आत्मा बोधाबोधरूप इति··।', चित्पद प्रकरण, ६.६५

४. 'चिदशेन दृष्टत्व सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा, विषयत्व च अचिदशेन।', वही

५. षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० ४७

६. द्रव्यसग्रह, गाथा २

७. पचास्तिकाय।

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुपट्ठिय सुपट्ठिओ॥

आत्मा ही कर्ता और विकर्ता है, यही सुख और दुख का भोक्ता है। आत्मा ही मित्र, अमित्र, सुप्रयुक्त और दुष्प्रयुक्त है। और भी—

अप्पा दंतो सुही होई अस्सि लोए परत्थए।[1]

अर्थात् आत्मा का दमन करने वाला दोनों लोको में सुखी होता है। आत्मा के लक्षणो के बारे मे इस प्रकार कहा गया है—

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
विरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं॥[2]

अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपभोग आत्मा के लक्षण हैं। 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' मे वादिदेव सूरि ने ससारी आत्मा का स्वरूप बताया है कि—"प्रत्यक्षादि प्रमाणो से सिद्ध,[3] चैतन्यस्वरूप, परिणामी, कर्ता, साक्षाद्भोक्ता, स्वदेहपरिमाण, प्रत्येक शरीर मे भिन्न और पौद्गलिक कर्मों से युक्त आत्मा है।"[4]

चार्वाक जड से भिन्न पदार्थ का अस्तित्व ही नही स्वीकार करते। जैनो से बौद्ध दार्शनिक इस बात से सहमत हैं कि चैतन्य जड-पदार्थ का विकार नही है। किन्तु वे आत्मा नामक एक सत् पदार्थ के अस्तित्व को नही स्वीकार करते, केवल विज्ञान-प्रवाह को मानते हैं। उनका मानना है कि प्रतिक्षण उदय और लय होने वाले इस विज्ञान-प्रवाह के मूल में कोई स्थाई सत् पदार्थ नही है। वैशेषिक चैतन्य को, आत्मा से भिन्न, देह-इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने वाला आगन्तुक धर्म मानते है।

प्रतिसमय अन्यान्य पर्यायों मे गमन करने के कारण आत्मा 'परिणामी' है। जैसे सोने के मुकुट, कुण्डल आदि बनते हैं, तब भी वह सोना ही रहता है, ठीक उसी प्रकार चारो गतियो मे भ्रमण करते हुए जीव की पर्यायें बदलती हैं, तो भी जीव-द्रव्य वैसा ही रहता है।

आत्मा का 'परिणामी' विशेषण होने के कारण न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि भिन्न हो जाते हैं, क्योंकि वे आत्मा को अपरिणामी कूटस्थनित्य मानते हैं।

आत्मा कर्ता तथा साक्षाद्भोक्ता भी है। जैसा कर्म करता है वैसा फल भोगता है। ससारी आत्मा अपनी सत्-असत् प्रवृत्तियो के द्वारा शुभाशुभ कर्मों का स्वय सचय करता है और उसका फल साक्षात् भोगता है।

परिणामी, कर्ता और साक्षाद्भोक्ता विशेषणों के द्वारा सांख्य अलग हो जाते हैं। कारण वे प्रकृति को कर्ता मानते है और पुरुष को कर्तृत्वशक्ति-रहित, परिणामरहित, आरोपित भोक्ता मानते हैं।

आत्मा 'स्वदेह-परिणाम' है कारण उसका संकोच और विस्तार कार्मणशरीर सापेक्ष होता है। कर्मयुक्त दशा मे जीव शरीर की मर्यादा मे बंधे हुए होते है, इसलिए उनका परिणाम स्वतन्त्र नही होता। जो आत्मा हाथी के शरीर मे रहता है वह चीटी के शरीर मे भी रह सकता है क्योकि उसमे सकोच-विस्तार की शक्ति है।

आत्मा का 'स्वदेह-परिणामी' विशेषण होने के कारण न्याय, वैशेषिक, अद्वैतवेदान्ती और सांख्य भिन्न हो जाते है, कारण कि वे आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं।

आत्मा प्रत्येक शरीर मे स्वतन्त्र है। यह जैन-दर्शन की मान्यता सांख्य, नैयायिक और विशिष्टाद्वैतवादी के अनुकूल है, तो भी अद्वैतवादी का मत भिन्न है कारण कि वह मानता है कि स्वभावत· जीव एक है, परन्तु देहादि उपाधियो के कारण नाना प्रतीत होता है।

जैनों की मान्यता है कि आत्मा कर्म-सयुक्त है। जैसे सोना और मिट्टी का सयोग अनादि है वैसे ही जीव और कर्म का सयोग भी अनादि है। जैसे खाया हुआ भोजन अपने आप सप्त धातु के रूप मे परिणत होता है, वैसे ही जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-योग्य पुद्गल अपने आप कर्मरूप मे परिणत हो जाते हैं।

आत्मा का 'पौद्गलिक अदृष्टवान्' विशेषण होने के कारण न्याय-वैशेषिक और वेदान्ती भिन्न हो जाते है। कारण कि चार्वाक अदृष्ट को मानते ही नही। न्याय-वैशेषिक अदृष्ट को आत्मा का विशेष गुण मानते हैं और वेदान्ती उसे मायारूप मानकर उसकी सत्ता को ही स्वीकार नही करते।

निष्कर्ष रूप मे जैन-दर्शन का आत्मा चैतन्यस्वरूप, विभिन्न अवस्थाओ मे परिणत होने पर भी नित्य (कूटस्थनित्य नही), शुभाशुभ कर्मों का कर्ता तथा उसके फलो का भोक्ता, स्वदेह-परिणामी, न अणु, न विभु किन्तु मध्यम-परिमाण का है।

---

१. दशवैकालिकसूत्र, अ० ४, गाथा १६
२. उत्तराध्ययनसूत्र, १/५५
३. 'प्रमाता प्रत्यक्षादि प्रसिद्ध आत्मा।', प्रमाणन० तत्त्वा०, सूत्र ७/५५
४. 'चैतन्यस्वरूप, परिणामी कर्ता साक्षाद्भोक्ता स्वदेहपरिमाण प्रतिक्षेत्र भिन्न: पौद्गलिकादृष्टवांश्चायमिति', प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, सूत्र, ७/५६

जैनदर्शन में जीवद्रव्य

डॉ० श्रेयांस कुमार जैन

प्राचीन काल से भारत वर्ष में प्रधान रूप से आचार और विचार सम्बन्धित दो परम्पराएं विद्यमान हैं। आचार पक्ष का कार्य धार्मिकों ने सम्पादित किया और विचार पक्ष का बीड़ा भारतीय-चिन्तक-मनीषियों ने उठाया। आचार का परिणाम धर्म का उद्भव और विचार का परिणाम दर्शन का उद्भव है।

दर्शन शब्द का सामान्य अर्थ है—देखना, साक्षात्कार करना तथा प्रत्यक्ष ज्ञान से किसी वस्तु का निर्णय करना।

भारतीयों के सामने 'दुःख से मुक्ति पाना' यही प्रधान प्रयोजन था। इसी प्रयोजन की सिद्धि हेतु विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं ने जन्म लिया। दुःख से छुटकारा कराने वाली प्रमुख विचारधाराएं इस प्रकार हैं—चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदान्त)। इन्हें विद्वानों ने आस्तिक और नास्तिक दो शाखाओं में विभाजित किया है। उत्तरवर्ती षड्वैदिक दर्शनों (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा) को आस्तिक और प्रथम तीन (चार्वाक, बौद्ध, जैन) को नास्तिक संज्ञा दी है।

वस्तुतः उक्त वर्गीकरण निराधार है। आस्तिक और नास्तिक शब्द **अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः**—पा० ४/४/३० इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार बने हैं। मौलिक अर्थ उनका यही था कि परलोक-सत्ता को मानने वाला आस्तिक और न मानने वाला नास्तिक कहलाता है। स्पष्टतः इस अर्थ में जैन और बौद्ध जैसे दर्शनों को नास्तिक कहा ही नहीं जा सकता है, क्योंकि इन दोनों में परलोक-सत्ता को दृढ़ता से स्वीकार किया गया है।

कुछ दार्शनिकों ने षड्दर्शन बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनीय स्वीकार किये हैं।[1]

जैन दर्शन भारतीय दर्शनों का समन्वित स्वरूप है। इसमें द्रव्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक[2] होता है। गुणपर्याय वाला द्रव्य भी कहा गया[3] है। अनेक गुण और पर्याय युक्त द्रव्य के मूल षड् भेद हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल[4]।

प्रथम जीव-द्रव्य का जैन दर्शन में स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में विशद विवेचन प्राप्त होता है, उसी का संक्षिप्त निर्देशन किया जा रहा है—

जीव का सामान्य स्वरूप उपयोग[5] है। उपयोग का अर्थ है—ज्ञान और दर्शन। ज्ञानोपयोग दो प्रकार का है—स्वभावज्ञान और विभावज्ञान। जो केवल—निरुपाधिरूप, इन्द्रियातीत तथा असहाय अर्थात् प्रत्येक वस्तु में व्यापक है, वह स्वभावज्ञान है और उसी का नाम केवलज्ञान[6] है। विभावज्ञान सज्ज्ञान और असज्ज्ञान के भेद से दो तरह का है। सज्ज्ञान चार प्रकार का है—मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय।

---

१. 'दर्शनानि षडेवात्रमूलभेदव्यपेक्षया—
बौद्ध नैयायिकं सांख्य, जैन वैशेषिक तथा।
जैमिनीय च नामानि, दर्शनानामभूत्यहो ॥', षड्दर्शनसमुच्चय, ३

२. 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्', तत्त्वार्थसूत्र, ५/३०

३. 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्', वही, ५/३८

४. 'जीवापोग्गल काया धम्माधम्मा य काल आयास।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणगुणपज्जएहिं संजुत्ता ॥', नियमसार, गा० ६

५. 'जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होई।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाण विभावणाणत्ति ॥', वही, गा० १३

६. वही, ११-१२

कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि के भेद से असज्ज्ञान तीन प्रकार का है। इसी प्रकार दर्शनोपयोग भी दो प्रकार[1] का है—स्वभावदर्शनोपयोग और विभावदर्शनोपयोग। जो इन्द्रियरहित और असहाय है, वह केवलदर्शन स्वभावदर्शनोपयोग है। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधि-दर्शन ये तीनों विभाव दर्शनोपयोग है।

ज्ञानदर्शनरूप उपयोगमय जीव ही आत्मा है। चेतयिता है। अकलंकदेव ने कहा है कि दशसु प्राणेषुयथोपात्तप्राणपर्यायेण त्रिषु कालेषु जीवनानुभवनात् जीवति अजीवीत् जीविष्यति वा जीवः, राजवार्तिक, ६/४/७/२५।

जैन दर्शन मे जीव (आत्मा) के स्वरूप का प्रतिपादन सभी दर्शनो को दृष्टि मे रखकर किया गया है। इसके स्वरूप से सम्बन्धित प्रत्येक विशेषण किसी न किसी दर्शन से सम्बन्ध रखता है—जैसा कि नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव की गाथा से स्पष्ट है—

जीवो उवओगमओ अमुत्तो कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥, द्रव्यसंग्रह, २

जीव, उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्त्ता है, स्वदेहपरिणामी है, भोक्ता है, ससारी है, सिद्ध है, और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

चार्वाक आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर शरीर को ही आत्मा मानता है।

जीव सदा जीता है वह अमर है कभी नही मरता है। उसका वास्तविक प्राण चेतना है, जो उसी की तरह अनादि और अनन्त है। उसके व्यावहारिक प्राण भी होते हैं, जो पर्याय के अनुसार परिवर्तित होते रहते है। पाच ज्ञानेन्द्रियां, मनोबल, वचनबल, कायबल, श्वासो-च्छ्वास और आयु ये दस प्राण सज्ञी पशु, पक्षी, मनुष्य, देव, नारकियो मे होते हैं। असज्ञी पचेन्द्रिय के नव प्राण, चार इन्द्रिय वाले के आठ, तीन इन्द्रिय वाले के सात, दो इन्द्रिय वाले के छः और एकेन्द्रिय के चार प्राण होते हैं। योनियो के अनुसार प्राणो मे परिवर्तन होता रहता है। शरीर का परिवर्तन होता रहता है किन्तु चैतन्य नष्ट नही होता। अतएव शरीर की अपेक्षा जीव (आत्मा) भौतिक है और चेतना की अपेक्षा अभौतिक है।

नैयायिक और वैशेषिक आत्मा को ज्ञान का आधार मानते हैं। जैन दर्शन मे आत्मा को आधार और ज्ञान को आधेय नही माना गया किन्तु जीव (आत्मा) ज्ञानस्वभाव वाला माना गया है जैसे कि अग्नि ऊष्णस्वभावात्मक है। अपने से सर्वथा भिन्न ज्ञान से आत्मा कभी ज्ञानी नहीं हो सकता है।[2]

भाट्टमतानुयायी मीमांसक और चार्वाक आत्मा को मूर्त पदार्थ मानते हैं किन्तु जैन दर्शन की मान्यता है कि पुद्गल में जो गुण विद्यमान है, आत्मा उनसे रहित है जैसा कि कहा गया है—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिदिट्ठसंठाणं ॥[3]

जीव को रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, स्पर्शरहित, शब्दरहित, पुद्गल रूप लिंग (हेतु) द्वारा नही ग्रहण करने योग्य, जिसके किसी खास आकार का निर्देश नही किया जा सकता ऐसा और चेतना गुण वाला जानो।

इस प्रकार यह अमूर्त है तो भी अनादिकाल से कर्मों से बधा हुआ होने के कारण व्यवहार दृष्टि मे उसे कथञ्चित् मूर्त भी कहा जा सकता है। शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा अमूर्त और कर्मबध की अपेक्षा मूर्त यदि उसे सर्वथा मूर्त माना जायेगा, तो उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा। पुद्गल और उसमे भेद नही रहेगा। अतएव कथञ्चित् की दृष्टि से निर्धारित किया गया है।

भारतीय दर्शनो मे आत्मा के आकार के सम्बन्ध मे मतान्तर प्रचलित हैं। न्याय-वैशेषिक, साख्य, मीमासक आदि आत्मा का अनेकत्व स्वीकार करते हुए आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार आकाश सर्वव्यापक है उसी प्रकार आत्मा (जीव) भी सर्वव्यापक है। उपनिषद् मे आत्मा के सर्वगत और सर्वव्यापक होने का उल्लेख है।[4] अंगुष्ठमात्र[5] तथा अणुमात्र[6] होने का भी निर्देश है।

---

१. नियमसार, १३-१४
२. 'जीवो णाणसहावो जह अग्गी उण्हवो सहावेण।
अत्थतरभूदेण हि णाणेण ण सो हवे णाणी ॥', कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १७८
३. समयसार, ४९
४. 'सर्वव्यापिनमात्मानम्', श्वेता०, १/१६
५. 'अंगुष्ठमात्रपुरुष.।', वही, ३/१३
६. कठो०, १/२/२०

जैन दर्शन में कहा गया है कि आत्मा के प्रदेशो का दीपक के प्रकाश की भांति संकोच और विस्तार होने से वह (जीव) अपने छोटे-बडे शरीर के परिमाण का हो जाता है। अर्थात् हाथी के शरीर में उसी जीव के प्रदेशो का विस्तार और चींटी के शरीर में सकोच हो जाता है। उक्तञ्च—

जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेहमित्तं पभासयदि ।।, पञ्चास्तिकाय, ३३

जैसे दूध मे डाली हुई पद्मरागमणि उसे अपने रंग से प्रकाशित कर देती है, वैसे ही देह मे रहने वाला आत्मा भी अपनी देहमात्र को अपने रूप से प्रकाशित कर देता है। अर्थात् वह स्वदेह मे ही व्यापक है देह के बाहर नही, इसीलिए जीव स्वदेह-परिणाम वाला है। यह स्थिति समुद्घात दशा के अतिरिक्त समय की है। समुद्घात मे तो उसके प्रदेश शरीर के बाहर भी फैल जाते हैं। यहा तक कि सारे लोक में व्याप्त हो जाते हैं। इसीलिए जैन दर्शन मे आत्मा (जीव) को कथञ्चित् व्यापक तथा कथञ्चित् अव्यापक माना गया है।

सांख्य दर्शन मे आत्मा के कर्तृत्व को स्वीकार न कर भोक्तृत्व को स्वीकार किया है।[1] कर्तृत्व तो केवल प्रकृति मे है, पुरुष (जीव) निष्क्रिय है। जैन दर्शन के अनुसार जीव (आत्मा) व्यवहार नय से पुद्गल-कर्मों का, अशुद्ध निश्चय नय से चेतन-कर्मों का और शुद्ध निश्चय नय से अपने ज्ञानदर्शन आदि शुद्ध भावों का कर्त्ता है। उक्तञ्च -

कत्ता सुहासुहाणं कम्माणं फलभोयओ जम्हा।
जीवो तप्फलभोया भोया सेसा ण कत्तारा ।।, वसु० श्र०, ३५

जीव अपने शुभ और अशुभ कर्मों का कर्त्ता है क्योंकि वही उनके फल का भोक्ता है। इसके अतिरिक्त कोई भी द्रव्य न कर्मों का भोक्ता है और न कर्त्ता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व का कोई विरोध नही। यदि भोक्ता मानना है तो कर्त्ता अवश्य मानना होगा। इस प्रकार एक दृष्टि से कर्त्ता और दूसरी दृष्टि से अकर्त्ता हैं।

बौद्ध दर्शन क्षणिकवादी है, अतएव वह आत्मा के कर्त्ता और भोक्ता रूप का ऐक्य स्वीकार नही करता है। यदि आत्मा को कर्मफल का भोक्ता नही माना जायेगा, तो जो कर्म करेगा उसे फल प्राप्त न होकर अन्य को फल प्राप्त होगा। इससे अव्यवस्था हो जायेगी। इसलिए आत्मा अपने कर्मों के फल का भोक्ता अवश्य है। इतना अवश्य है कि आत्मा सुख-दुःख रूप पुद्गल-कर्मों का व्यवहार दृष्टि से भोक्ता है और निश्चय दृष्टि से वह अपने चेतन भावो का ही भोक्ता है। अतएव वह कथञ्चित् भोक्ता और कथञ्चित् अभोक्ता है।

सदाशिवदर्शन मे कहा गया है कि आत्मा कभी भी संसारी नही होता, वह हमेशा शुद्ध बना रहता है। कर्मों का उस पर कोई असर नही पडता, कर्म उसके हैं ही नही। जैन दर्शन का इस सम्बन्ध मे भिन्न दृष्टिकोण है कि प्रत्येक जीव पहले ससारी होता है, तदनन्तर मुक्तावस्था को प्राप्त होता है। ससारी अशुद्ध जीव है। अनादि काल से जीव अशुद्ध है, वह ध्यान के बल से कर्मों का संवर-निर्जरा और पूर्ण क्षय करके मुक्त होता है। पुरुषार्थ से शुद्ध होता है। यदि जीव पहले ससारी नही होता तो उसे मुक्ति के उपाय खोजने की भी आवश्यकता नही है। जैन दर्शन का यह भी कहना है कि जीव को ससारस्थ कहना व्यावहारिक दृष्टिकोण है। शुद्ध नय से तो सभी जीव शुद्ध हैं। इस प्रकार जैन दर्शन जीव को एक नय से विकारी मानकर दूसरे नय से अविकारी मान लेता है।

भाट्ट-दार्शनिक मुक्ति को स्वीकार नही करते है, उनके अनुसार आत्मा का अन्तिम आदर्श स्वर्ग है। आत्मा सदा ससारी ही रहता है, उसकी मुक्ति होती ही नही मुक्ति नाम का कोई पदार्थ नही है। चार्वाक तो जीव की सत्ता ही नही मानता है। तब मुक्ति को भी कैसे स्वीकार करेगा, वह तो स्वर्ग को भी नही मानता। आत्मा ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों को नष्ट करके सिद्ध हो जाता है, इसीलिए सिद्ध का स्वरूप बताते हुए सिद्धान्तदेव नेमिचन्द्र ने कहा है —

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदोसिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ।।, द्रव्यसंग्रह, १४

जो ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणो के धारक है और अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार वाले हैं, वे सिद्ध हैं और उर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोक के अग्रभाग मे स्थित हैं, नित्य है तथा उत्पाद-व्यय से युक्त हैं।

जीव के ससारी और मुक्त दोनो विशेषण तर्कसगत है। हा जैन दर्शन मे कुछ जीव अभव्य होते हैं, जिन्हे मुक्ति नही मिलती।

माण्डलिक का कहना है कि जीव निरन्तर गतिशील है वह कही भी नही ठहरता चलता ही रहता है। जैन दर्शन उसे उर्ध्वगमन वाला मानकर भी वहीं तक गमन करने वाला मानता है, जहा तक धर्म द्रव्य है। वास्तविक स्वभाव उर्ध्वगमन है। अशुद्ध दशा मे कर्म जिधर ले जाते हैं, वहां जाता है किन्तु कर्मरहित जीव उर्ध्वगमन करता है और लोक के अग्रभाग मे ठहर जाता है। इसके आगे द्रव्य की गति नहीं है इसलिए जीव उर्ध्वगामी होकर भी निरन्तर उर्ध्वगामी नही है, यह जैन दर्शन की मान्यता है।

---

१. सांख्यकारिका, १७-१९

जीव द्रव्य के हेतु प्रयुक्त सभी विशेषण सार्थक हैं तत्तत् दर्शनों की मान्यताओं के प्रतिपक्ष के रूप में उल्लिखित हैं।

यह जीवद्रव्य दो प्रकार का है (१) संसारी (२) मुक्त[1]। जो अपने संस्कारों के कारण नाना योनियों में शरीरों को धारण कर जन्म-मरणरूप से संसरण करते हैं, वे संसारी हैं। जो मन, वचन और कायरूप दण्ड अर्थात् योगो से रहित है; जो किसी भी प्रकार के संघष से अथवा शुभ और अशुभ के द्वन्द्व से रहित है, जो बाह्य पदार्थों की सम्पूर्ण ममता से रहित है, जो शरीर रहित है; जिसे किसी प्रकार का आलम्बन नहीं, जो रागरहित, द्वेषरहित, मूढ़तारहित और भयरहित है वही आत्मा सिद्धात्मा[2] है।

इन्द्रिय की अपेक्षा से जीव के भेद—एकेन्द्रिय जीव के केवल स्पर्शनेन्द्रिय होती है।[3] पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय ये पांच प्रकार के स्थावर एकेन्द्रिय हैं। दो, तीन, चार और पंचेन्द्रिय वाले सभी जीव त्रस होते हैं। दो इन्द्रिय के स्पर्शन और रसना इन्द्रिय होती हैं जैसे लट आदि। तीन इन्द्रिय के स्पर्शन, रसना और घ्राणेन्द्रिया होती हैं जैसे पिपीलिका आदि। चार इन्द्रिय के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन्द्रिय होती है जैसे भ्रमर आदि। पचेन्द्रिय के भी दो भेद हैं, सज्ञी और असज्ञी। मनसहित मानव, पशु, देव, नारकी संज्ञी हैं।[4] मनरहित तिर्यञ्च जाति के जलचर, सर्प आदि असंज्ञी हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वैदिक भारतीय दर्शनों मे वर्णित जीव द्रव्य का स्वरूप जैन दर्शन का ही आधार है क्योंकि जैन दर्शन में व्यापक रूप से जीव द्रव्य का व्याख्यान किया गया है अन्य दर्शनो मे एक-एक अश का अवलम्बन लिया गया है। प्रस्तुत लेख मे जीव-द्रव्य की महत्ता को बतलाते हुए जैन दर्शन मे इसके स्वतन्त्र अस्तित्व और बहु-व्यापकता पर संक्षिप्त प्रकाश मात्र डाला गया है।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग तथा वेदान्त आदि वैदिक दर्शनों मे ईश्वर को सृष्टि का कर्ता और कर्मफल का दाता माना गया है, परन्तु जैन दर्शन सृष्टिकर्ता और कर्मफल के दाता के रूप मे ईश्वर की कल्पना ही नहीं करता। जैन दर्शन जीवो की विभिन्न परिणतियो मे ईश्वर को कारण न मानकर, कर्म को ही कारण मानता है। अध्यात्म-शास्त्र के मर्मस्पर्शी सन्त देवचन्द्र जी ने कहा है—

रे जीव साहस आदरो, मत थावो तुम दीन।
सुख-दुःख सम्पद् आपदा पूरब कर्म अधीन॥

जैन दर्शन के अनुसार जीव जिस प्रकार कर्म करने में स्वतन्त्र है, उसी प्रकार उनके फल का भोग करने मे भी स्वतन्त्र है। इस सन्दर्भ मे एक विद्वान् जैनाचार्य का कथन है—

स्वय कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्माद्विमुच्यते॥

अभिप्राय यह है कि आत्मा स्वयं ही कर्म का करने वाला है और स्वय ही उसका फल भोगने वाला भी है। स्वयं ही ससार मे परिभ्रमण करता है और स्वयं ही सांसारिक बन्धन से मुक्ति भी प्राप्त कर लेता है।

जीव को उसके कर्म ही सुख-दुःख देते हैं, कोई और नही। जैसे कि ध्वजा हवा के कारण अपने आप उलझती-सुलझती है।

को सुख को दुख देत है, कर्म देत झकझोर।
उरझै सुरझै आप ही, ध्वजा पवन कै जोर॥

(आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज कृत उपदेशसारसग्रह, भाग ४, दिल्ली, वी० नि० स० २४८४ तथा भाग २, जयपुर, वि० सं० २०३१ से उद्धृत)

---

१. 'संसारिणोमुक्ताश्च', तत्वार्थसूत्र, १०
२. 'णिद्दंडो णिद्द्वन्द्वो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो।
वीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा।', नियमसार, ४३
३. 'एइंदियस्स फुसण एक्कं चिय होइ सेस जीवाण।
एयाहिया य तत्तो जिब्भाघाणक्खि सोताइ॥', पञ्चास्तिकाय, १/६७
४. 'संज्ञिनः समनस्काः।', तत्वार्थसूत्र, २/२४

पुद्गल और आत्मा का सम्बन्ध

आचार्य अनन्त प्रसाद जैन

व्यवहार और निश्चय दोनो की ही जैन धर्म मे बडी महत्ता कही गई है। निश्चय तो लक्ष्य है और व्यवहार उस तक पहुचने का मार्ग। षट्द्रव्य, सप्ततत्व, नवपदार्थ का शास्त्रोक्त ज्ञान तो व्यवहार-सम्यक्-दर्शन या व्यवहार-श्रुत-ज्ञान है। आत्मा (जीव), पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये षट्द्रव्य हैं। जीव (आत्मा) क्या है? पुद्गल क्या है? तथा दूसरे तत्व क्या हैं? यह सब गुरुओं या ज्ञानियो के उपदेश या स्वयं शास्त्रो के अध्ययन से जान लेना ही व्यवहार-सम्यक्-दर्शन है। इसे ही शुद्ध-सम्यक्-दर्शन मान लेना भारी भूल है। शास्त्रों में कही गई या गुरुओं और विद्वानो द्वारा उपदेशित जानकारी पराश्रित होती है। पुद्गल आत्मा से कैसे मिलता है इसकी स्वय की अनुभूतियां जानकारी करना या हो जाना ही सही शुद्ध-सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-ज्ञान है। लोग इस शुद्ध ज्ञान दर्शन को इसलिए नही पाते कि वे व्यवहार तथा श्रुत दर्शन ज्ञान को पाकर ही सतुष्ट हो जाते हैं या उसी मे भूले रहते हैं।

शास्त्रों मे कहा गया है कि 'योग' (मन, वचन, काय के हलन चलन) द्वारा पुद्गल आते हैं और मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, विषय एव 'कषाय' (क्रोध, मान, माया, लोभ) के कारण आत्मा मे सट (बंध) जाते है। पर आत्मा तो अरूपी, अदृश्य, अस्पृश्य है उसमे पुद्गल कैसे सटता तथा बन्ध करता है-- इस पर कभी कोई विचार नही करता। अत. ऐसा ज्ञान या दर्शन श्रुतमात्र ही रहता है शुद्ध नहीं होता। स्वय की अनुभूति हुए बिना ऐसी मान्यता व्यवहार ही है। इससे मोक्ष या सही मोक्षमार्ग मे प्रवेश नही मिल सकता।

षट्द्रव्यो का ज्ञान होना तो आवश्यक ही है। ये सभी स्वतत्र द्रव्य हैं। कोई भी एक-दूसरे में नही मिलता न परिणत होता है। आत्मा और पुद्गल साथ-साथ—एक मे एक घुल-मिलकर रहते हुए भी अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते है। आत्मा क्या है इसकी कुछ जानकारी शास्त्रो या ज्ञानी गुरुओ के उपदेश से हो सकती है। अरूपी-अशरीरी आत्मा को कर्म पुद्गल कैसे बाध लेते हैं—कैसे सट जाते हैं यह एक कठिन समस्या है जिसका समाधान किसी शास्त्र मे नही मिलता। आत्मा और पुद्गल का सम्बन्ध एक वैज्ञानिक तथ्य है। परम्परा से चली आई यह गुत्थी आधुनिक विज्ञान द्वारा ही सुलझाई जा सकती है। इसका ज्ञान गुरुओ-पण्डितो मे नही होने से आत्मा और कर्मों के सम्बन्ध का ज्ञान अधूरा ही रह जाता है। न तो शुद्ध-सम्यक्-दर्शन ही होता है न शुद्ध-सम्यक्-ज्ञान ही। फिर लोग अपने को रत्नत्रय का धारी समझ बैठते हैं जो महान् भूल है। ऐसे लोग कितना भी तप करें मोक्षमार्ग के पथिक नही हो सकते।

सम्यक् ज्ञान का अर्थ है किसी विषय या वस्तु के विषय मे, वैज्ञानिक एव पूर्ण विधिवत् ज्ञान, जैसे - किसी ने अंगूर न खाए हों केवल सुन-सुनाकर या पुस्तको में पढकर अगूरों के विषय मे जानकारी पा ली हो तो उसे शुद्ध सच्चा, सही ज्ञान नही कह सकते। जब वह व्यक्ति विभिन्न प्रकार के अगूरो को देख ले और स्वय चख भी ले, खा ले, तभी उसका अगूर-विषयक ज्ञान अंगूर का सम्यक् ज्ञान कहा जा सकता है। उसे यह भी जानना जरूरी है कि अगूर कैसे, कहा, कैसा होता या पैदा होता है। उसकी पैदावार के लिए क्या-क्या जरूरतें होती हैं, इत्यादि। यह सब पूरी तरह जान लेने और स्वय स्वाद ले लेने के उपरान्त ही पूर्ण ज्ञान या शुद्ध ज्ञान या सम्यक् ज्ञान अगूर के विषय का कहा जा सकता है। अन्यथा तो ज्ञान अधूरा ही कहा जाएगा। इसी प्रकार की कुछ बात आत्मा के साथ भी है। आत्मा और कर्म पुद्गल कैसे बधते छूटते हैं इसकी स्वयं की अनुभूति जब तक नही होती ज्ञान श्रुत-ज्ञान ही रहेगा और 'व्यवहार' का ही भाग रहेगा—'निश्चय' नहीं हो सकता।

जैन सिद्धान्त का 'पुद्गल' ही वर्तमान विज्ञान का इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन आदि है। चूकि इनके प्राथमिक सघ को 'परमाणु' कहा जाता है। इससे मैंने 'पुद्गल' (इलैक्ट्रोन, प्रोटोन आदि) को 'परम-परमाणु' की संज्ञा दी है। इन परम-परमाणुओ, परमाणुओं आदि से सारा वातावरण भरा हुआ है और किसी भी जीवधारी का शरीर इन पुद्गलों से ही निर्मित है। हम जो भी खाते-पीते, स्वांस लेते आदि हैं वे सब पुद्गलो के सघ ही हैं। सारा दृश्य जगत् पुद्गल-निर्मित है। जीवधारियो मे उनका शरीर भी पुद्गल निर्मित ही है। पुद्गल अजीव या अज्ञान, जड है। शरीर मे चेतन आत्मा की विद्यमानता से ही सारा कार्य हो पाता है। दुःख-सुख की अनुभूति भी होती है। बिजली के

विभिन्न यन्त्रों एवं उपकरणों में जब तक बिजली प्रवाहित नहीं होती ये यन्त्र और उपकरण कुछ नही करते, परन्तु उनमे विद्युत् आते ही ये अपनी-अपनी संरचना या बनावट के अनुसार काम करने लगते हैं। बिजली हटाते ही पुन: चुप, बेकार हो जाते हैं। उसी प्रकार आत्मा की मौजूदगी में शरीरधारी अपने-अपने शरीर की संरचना एवं बनावट के अनुसार काम करते हैं। आत्मा के चले जाने पर वे जड हो जाते हैं उन्हें मरा हुआ कहा जाता है। आत्मा स्वयं कुछ नही करता, सब कुछ शरीर यन्त्र ही करता है। पर अकेला जड शरीर भी कुछ नही कर सकता पर चेतन आत्मा की विद्यमानता मे सारा शरीर एव सभी इन्द्रियां कार्यशील रहती है और दु:ख, सुख, आनन्द आदि की अनुभूति भी होती है। आत्मा न हो तो कोई अनुभूति न हो। इसीलिए यह कहते है कि आत्मा ही दु:ख-सुख अनुभव करता है एवं कर्त्ता और भोक्ता है।

आत्मा भावकर्म, द्रव्यकर्म तथा नोकर्मरूप पुद्गलपिंड से बद्ध होने के कारण जड व अचेतन शरीर के ससर्ग से स्वय को रूपी मानता है और उसके साथ परिभ्रमण करता रहता है।

आत्मा का स्वरूप निर्विकार, नित्यानन्द, स्वसमयसार रूप अमूर्तिक है। वह चक्षुरादि बाह्येन्द्रियगम्य नही, अपितु ज्ञानगम्य है। अपने वास्तविक स्वरूप का बोध न होने के कारण वह अवास्तविक बाह्य शरीरादि को निजस्वरूप मान लेता है। यदि वह सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छ: द्रव्य तथा पाच अस्तिकायादि के बोध द्वारा स्वनिरीक्षक बन जाए, तो उसे अपनी वास्तविकता का पता चलेगा जिसके द्वारा वह अन्त तक अविनाशी फल को देकर अनन्तकाल-पर्यन्त सुख प्राप्त कर सकता है। यह आत्मा इस सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। कहा भी है—

> अरविदी भिसलनकुमात्मनिबं वेहं बोलीकण्णे तां।
> धुरियाग शिलेयोळ्सुवर्णमरलोळ्सौरम्यमाक्षीरवोल् ॥
> नणनेयकाष्ठवोळग्नियिर्पतेरविंदीमेय्योळीर्विपनें।
> धरिवम्यासिसे काणुमेंबपिदं! रत्नाकराधीश्वरा ॥४॥

वास्तविक, अमूर्त्तिक, नित्य-निरंजन आत्मस्वरूप बाह्य चर्मदृष्टि द्वारा दृष्टिगोचर नही होता, अपितु आत्मानन्द-स्थितिज्ञानरूपी चक्षु द्वारा दृष्टिगोचर होता है। यह आत्मा शरीर मे सर्वांगरूप से व्याप्त है, अतएव व्यवहार और निश्चय धर्म के द्वारा उसका मन्थन करने से अपने आप मे ही शुद्धात्मा की प्राप्ति हो जाएगी।

अपि च, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रय से बाह्येन्द्रियवासना के आवरण को हटाकर आत्मा शीघ्र सुवर्ण के समान शुद्ध निर्मल केवलज्ञान रूप बनकर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

(आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज कृत उपदेशसारसंग्रह, भाग ४, दिल्ली, वी० नि० सं० २४८४ से)

जैन कर्म सिद्धान्त : तुलनात्मक विवेचन

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

हिन्दू संस्कृति का प्रत्यभिज्ञापक प्रतिमान है—पुनर्जन्मवाद में आस्था। पुनर्जन्मवाद का मूल है—कर्मवाद। हिंदू संस्कृति के अंतर्गत परिगणित होने वाली तीनो धाराएं—ब्राह्मण (शैव, शाक्त तथा वैष्णवादि), जैन और बौद्ध कर्मवाद मे आस्था रखती हैं। ब्राह्मण अथवा वैदिक धर्म के अन्तर्गत परिगणित होने वाला मीमासा दर्शन तो 'कर्म' ही को सब कुछ मानता है—**कर्मेति मीमांसकाः**। बौद्ध सृष्टिमत समस्त वैचित्र्य का मूल कर्म को स्वीकार करते हैं और जैन कर्म तथा जीवात्मा का अनादि सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। तीनो ही धाराओ में सृष्टि का मूल 'कर्म' मानने वाले उपलब्ध हैं- - मानवेतर किसी सर्वोपरि सत्ता 'ईश्वर' को अस्वीकार करते हैं। तीनो अनादिवासना, कषाय और तृष्णा को कर्मबंध का मूल मानते हैं। तीनो ही इनका समुच्छेद स्वीकार करते है। इन तमाम समानताओ के बावजूद 'कर्म' के स्वरूप के सम्बन्ध मे जैन दर्शन की धारणा सर्वथा भिन्न है।

जैनेतर दर्शनो मे वैशेषिक दर्शन 'कर्म' को एक स्वतन्त्र पदार्थ मानता है। उनकी दृष्टि मे 'कर्म' वह है जो द्रव्य समवेत हो, जिसमें स्वयं कोई गुण न हो और जो संयोग तथा विभाग मे कारणान्तर की अपेक्षा न रखता हो। गुण की तरह यहा कर्म भी द्रव्याश्रित धर्म-विशेष है। गुण-द्रव्यगत सिद्ध धर्म का नाम है, जबकि क्रिया 'साध्य' है। कर्म मूर्त द्रव्यो मे ही रहता है और मूर्त द्रव्य वे होते हैं जो अल्प परिमाण वाले होते हैं। वैशेषिकों के यहा आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा विभु या व्यापक है—अत. इनमे कर्म नही होता। पृथिवी, जल, वायु, तेज तथा मन इन्ही मूर्त्त पाच द्रव्यो मे कर्म की वृत्ति रहती है। यह कर्म पाच प्रकार का है—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन। अन्य सर्वविध क्रियाओ का अन्तर्भाव 'गमन' मे ही हो जाता है। यहा कभी-कभी क्रिया और कर्म पर्याय रूप में भी समझे जाते हैं, कभी-कभी क्रिया के द्वारा प्राप्य 'कर्म' कहा जाता है। पाणिनि ने 'कर्म' जो कर्त्ता की क्रिया से ईप्सिततम रूप मे प्राप्त होता है—उसे कहा है। विवेकशील मानव के संदर्भ मे मीमासा दर्शन ने 'कर्म' के नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषेध्य रूपो पर पर्याप्त विचार किया है। मानव के ही संदर्भ मे प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण कर्मचक्र का विचार उपलब्ध होता है। गीता मे 'कर्म' शब्द का विशिष्ट और सामान्य, संदर्भ-सापेक्ष तथा सदर्भ-निरपेक्ष अनेक रूपो मे प्रयोग मिलता है। शाकर अद्वैतवेदात की दृष्टि से 'गीताकार' के **भूतभावोद्भवकरः विसर्गः कर्मसंज्ञितः** की व्याख्या करते हुए लोकमान्य ने जो कुछ कहा है—उसका आशय यह है कि निःस्पदब्रह्म मे मायोपाधिक आद्यस्पंद या हलचल ही 'कर्म' है। इस प्रकार सारी सृष्टि ही गत्यात्मक होने से क्रियात्मक या कर्मात्मक है। स्थिति तो केवल ब्रह्म है। 'स्थिति' के वक्ष पर ही 'गति' है—हलचल है—बनना-बिगड़ना है—ससार है। वैशेषिक दर्शन का कर्म भी यही है—वैसे उसे माया अथवा मायोपाधिक स्पंद का पता नहीं है। जैन दर्शन भी जब कायवाङ्मन. 'कर्म' को 'योग' कहता है, तब वह काय, वाक् तथा मन:प्रदेश मे होने वाले आत्मपरिस्पंद को ही क्रिया या योग कहता है। यहा योग, क्रिया तथा कर्म को सामान्यत पर्याय रूप मे ही लिया गया है- वैसे अन्यत्र 'कर्म' का स्वरूप सर्वथा भिन्न रूप मे कहा गया है।

जैन दर्शन मे 'कर्म' के स्वरूप पर विचार करते हुए यह माना गया है कि कर्म और जीवात्मा का अनादि सम्बन्ध है। कर्म ही के कारण जीव एक साथ होता है। कर्मों के ही कारण जीव मे कषाय आता है और कषाय के ही कारण कर्म के योग्य पुद्गलो का आत्मा मे उपश्लेष होता है। इस प्रकार कर्म पौद्गलिक, मूर्त तथा द्रव्यात्मक है—भौतिक है—वह आयतन घेरता है। जैनाचार्यों की धारणा है कि जिस प्रकार पात्रविशेष मे फल-फूल तथा पत्रादि का मदिरात्मक परिणामविशेष होता है, उसी प्रकार आत्मा मे एकत्र 'योग, कलाप तथा योग्य पुद्गलो' का भी जो परिणाम होता है—वही 'कर्म' है। कषायवश काय, वाक्, मन:प्रदेश मे आत्मपरिस्पंद होना है और इसी परिस्पंदवश योग्य पुद्गल खिंच आते हैं। इस प्रकार कर्म से आत्मा का बंध या सबंध होता है और सबंध होने से विकृति या गुण प्रच्युति होती है। प्रवचनसार के टीकाकार अमृतचन्द्र सूरि का कहना है कि आत्मा द्वारा प्राप्य होने से क्रिया को कर्म कहते हैं। उस क्रिया के निमित्त से परिणाम विशेष को प्राप्त होने वाला पुद्गल भी कर्म कहा जाता है। जिन भावो के द्वारा पुद्गल आकृष्ट होकर जीव से सम्बद्ध होते हैं—वे

भाव कर्म कहलाते हैं और आत्मा में विकृति उत्पन्न करने वाले पुद्गलपिंड को द्रव्य-कर्म कहा जाता है। पंचाध्यायी में तो यह भी बताया गया है कि आत्मा में एक वैभाविकशक्ति है जो पुद्गलपुंज के निमित्त को पाकर आत्मा में विकृति उत्पन्न करती है। यह विकृति कर्म और आत्मा के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली एक अन्य ही आगन्तुक अवस्था है। इस प्रकार आत्मा शरीर रूपी कावर मे कर्मरूपी भार का निरन्तर वहन करता रहता है। इसी से राहत पाना है—आत्मा को निरावृत करना है।

आत्मा से कर्म का सम्बन्ध ही 'बन्ध' का कारण बनता है। यह कर्म या मूलक बध चार प्रकार का होता है—प्रकृति, स्थिति, अनुभव या अनुभाग और प्रदेश। कर्म या बन्ध का स्वभाव ही है—आत्म की स्वभावात विशेषताओ का आवरण करना। 'स्थिति' का अर्थ है—अपने स्वभाव से अच्युति। स्वभाव का तारतम्य अनुभव है और 'इयत्ता' प्रदेश। स्वभाव की दृष्टि से 'कर्म' आठ प्रकार के कहे गए हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय। इनमे से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय को घातिया कर्म कहते हैं, क्योंकि ये आत्म गुण—ज्ञान, दर्शनादि का ध्यान करते हैं। अवशिष्ट चार अघातिया हैं। जीवन्मुक्त के शरीर से ये सम्बद्ध रहकर भी उसके आत्मगत गुणों का घात नही करते। हां, विदेहमुक्त 'सिद्ध' में अघातिया कर्मों की भी स्थिति नहीं रहती। जैन कर्म सिद्धान्त मे इन कर्म भेदो का बडे विस्तार से वर्णन मिलता है। केवल कर्म प्रकृति के ही १४८ भेद हैं। सामान्यत. ज्ञानावरण के पांच, दर्शनावरण के नव, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाइस, आयु के चार, नाम के बयालिस, गोत्र के दो तथा अन्तराय के चार भेद हैं। फिर इनके अवान्तर भेद हैं।

इस कर्मबंध का जिस प्रकार बौद्ध दर्शन मे 'चक्र' मिलता है—वह कर्मचक्र यहां भी आचार्यों ने निरूपित किया है। ब्राह्मण दर्शनों में माना गया है कि किया गया कर्म अपने सूक्ष्म रूप मे जो सस्कार (अदृष्ट या अपूर्व) रूप मे छोडते हैं—वे 'सचित' होते जाते हैं। इस 'संचित' भण्डार का जो अश फलदान के लिए उन्मुख हो जाता है—वह 'आरब्ध' या 'प्रारब्ध' कहा जाता है और जो तदर्थ उन्मुख नहीं है—वह 'अनारब्ध' या 'सचित' कहा जाता है। किया जा रहा कर्म 'क्रियमाण' है। इस प्रकार 'क्रियमाण' से 'सचित' और 'सचित' से 'प्रारब्ध' और फिर 'प्रारब्ध' योग के रूप मे 'क्रियमाण' कर्म और फिर इससे आगे-आगे का चक्र चलता रहता है। बौद्ध दर्शन मे उसे 'अविज्ञप्ति कर्म' कहते हैं, जिसे ऊपर वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'अदृष्ट' तथा मीमांसा दर्शन के अनुसार 'अपूर्व' कहा गया है। साख्य कर्म जन्य सूक्ष्म बात को 'सस्कार' नाम से जानता है। अविज्ञप्तिकर्म का ही स्थूल रूप विज्ञप्ति कर्म है। वस्तुतः बौद्ध दर्शन मे 'धर्म' चित्त और चैतसिक सूक्ष्म तत्व हैं जिनके घात-प्रतिघात से समस्त जगत् उत्पन्न होता है। एक अन्य दृष्टि से इन्हें 'संस्कृत' और 'असंस्कृत'—दो भेदो मे विभक्त किया जाता है। इन्हें 'सास्रव' और 'अनास्रव' नाम से भी जाना जाता है। सस्कृत धर्म हेतुप्रत्ययजन्य होते हैं। इसके भी चार भेदो मे दो मे से एक है—रूप। रूप के ग्यारह भेद हैं—पाच इन्द्रिय और पाच विषय तथा एक अविज्ञप्ति। चेतनाजन्य जिन कर्मों का फल सद्यः प्रकट होता है—उन्हें 'विज्ञप्ति' कर्म कहते हैं और जिनका कालान्तर मे प्रकट होता है—उन्हे 'अविज्ञप्ति' कहते है। इन्हे 'सचित' 'प्रारब्ध' के समानान्तर रखकर परख सकते हैं। सामान्यत. यह विवेचन वैभाषिक बौद्धो के अनुसार है।

महर्षि कुदकुद ने 'पचास्तिकाय' मे जैन चिन्ताधारा के अनुरूप 'कर्मचक्र' को स्पष्ट किया है। मिथ्यादृष्टि, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—सभी बध के कारण हैं। यह तो माना ही गया है कि जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध है। अर्थात् जीव अनादि काल से ससारी है और जो ससारी है वह राग, द्वेष आदि भावों को पैदा करता है, जिनके कारण कर्म आते है। कर्म से जन्म लेना पडता है, जन्म लेने वाले को शरीर ग्रहण करना पडता है। शरीर से इन्द्रियां होती हैं। इन्द्रियो द्वारा विषयो का ग्रहण होता है और विषयो के कारण राग द्वेष होते हैं। और फिर राग द्वेष से पौद्गलिक कर्मों का आकर्षण होता है। इस प्रकार यह चक्र चलता ही रहता है।

इस कर्मचक्र से मुक्ति पाने के लिए तीनो ही धाराए यत्नशील हैं। तदर्थ कही शील, समाधि और प्रज्ञा का विधान है और कही सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र तथा कही श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का उपदेश है। कही परमेश्वर अनुग्रह या शक्ति-पात, दीक्षा तथा उपाय का निर्देश है। इस प्रकार विभिन्न मार्गों से हिंदू सस्कृति की विभिन्न धाराओ मे कर्मचक्र से मुक्ति पाने और स्वरूपोपलब्धि तक पहुचने का क्रम निर्दिष्ट हुआ है। जैन दर्शन सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चारित्र को सम्मिलित रूप से मोक्ष मार्ग मानता है।

कर्मशब्दोऽनेकार्थः—क्वचित्कर्तुरीप्सिततमे वर्तते, यथा-घट करोतीति। क्वचित्पुण्यापुण्यवचनः, यथा—'कुशला-कुशलं कर्म' (आप्तमीमांसा, ८) इति। क्वचिच्च क्रियावचनः, यथा—'उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारण गमनमिति कर्माणि' (वैशेषिक सूत्र, १/१/७) इति। तन्नेह (आस्रवप्रकरणे) क्रियावाचिनो ग्रहणम्।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक, ६/१/३

जैन दर्शन में बन्ध और मोक्ष

प्रोफेसर अशोक कुमार

जैन दर्शन मुख्यत एक आचारवादी दर्शन है। इसकी मुख्य समस्या बन्धन और मोक्ष की समस्या है। अस्तित्ववादियों की तरह यह भी दु:ख-बोध से प्रारम्भ होता है। इसके अनुसार वर्तमान जीवन बन्धन का जीवन है और इसका चिह्न है—दु ख की अनुभूति। भगवान् महावीर के अनुसार, 'जन्म दु ख है, जरा दु ख है, रोग दु ख है, मृत्यु दु:ख है', सारा ससार ही दु:खमय है जिसमें व्यक्ति फसा है।

जम्मं दुक्खं, जरा दुक्खं, रोगाणि, मरणाणिय।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जन्तवो ॥[1]

महावीर मानते हैं कि अपने स्वभाव मे नहीं होना ही बन्धन है, और स्वभाव मे लौट आना ही मुक्ति है। दु ख का अनुभव हमारे विभाव मे होने का परिचायक है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा स्वभावत: 'अनन्त-चतुष्टय' युक्त है। उसमें अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्द है। लेकिन हमारी वर्तमान अवस्था ऐसी नहीं है। वर्तमान अवस्था मे हम दु:खी, निर्बल, अज्ञानी और मूर्च्छित हैं। इससे स्पष्ट है कि हमारी आत्मा अपनी स्वाभाविक शक्तियो की अभिव्यक्ति मे सक्षम नही है। उसका कारण यह है कि आत्मा का पुद्गल के साथ संयोग हो गया है। उसकी शक्तियो को पुद्गल ने आवृत कर रखा है, जैसे—सूर्य का प्रकाश बादलो से ढक जाता है। अत: आत्मा के साथ पुद्गल का सयोग ही बन्धन है। इस सयोग के कारण आत्मा अपना स्वरूप खो देती है और पुद्गल को ही अपना मान बैठती है। फलस्वरूप पुद्गल के गुण-धर्म को वह अपना गुण-धर्म समझ लेती है और इसी कारण बन्धन उत्पन्न होता है। पुद्गल वह है जो प्रक्रिया मे है (पूरयन्ति गलन्ति च) और जहा प्रक्रिया है वहा बेचैनी और दु ख है। आत्मा प्रक्रियातीत है। उस तल पर अनन्त शान्ति और आनन्द है, लेकिन पुद्गल के साथ तादात्म्य हो जाने के कारण उसकी स्वाभाविक शक्तिया ढक जाती है, यद्यपि नष्ट नही होती। अतएव आत्मा में मुक्ति या स्वभाव लाभ की सभावना सदा बनी रहती है।

प्रश्न है कि बन्धन क्यो होता है? इसका उत्तर मे जैन दर्शन का मत है कि अज्ञान की स्थिति मे ममत्व के कारण कर्म करने से पुद्गल का सग्रह होता है जो आत्मा मे सयोजित होकर उसे आवृत कर लेता है। अज्ञान या मूर्च्छा की स्थिति मे स्वरूप-बोध नष्ट हो जाता है और 'पर' की कामना एव 'पर' के साथ तादात्म्य होने लगता है। व्यक्ति जैसी कामना करता है, उसी के अनुरूप पुद्गलों का आस्रव उसकी ओर होने लगता है जो अन्ततोगत्वा आत्मा को बिल्कुल ढक लेता है। इस कारण भगवान् महावीर ने कहा है कि 'मूर्च्छा ही परिग्रह है।' **मूर्च्छा परिग्रह**[2] वही बन्धन का कारण है। अज्ञान की स्थिति मे किया गया कर्म जीव मे कषाय की उत्पत्ति करता है। कषाय आत्मा के कल्मष हैं। वे आत्मा की वे प्रवृत्तिया हैं जो पुद्गल-कणो को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। क्रोध, लोभ, मान और माया ये चार कषाय है। जो आत्मा को बन्धन मे डालती है। जैसे—तेल से भीगा कपडा धूलि कणो को अपनी ओर आकृष्ट करता है, उसी प्रकार कषाययुक्त आत्मा पुद्गल कणों को अपनी ओर आकृष्ट करती है, और इस प्रकार पुद्गल का सयोग आत्मा के साथ हो जाता है।

जैन दर्शन के अनुसार बन्धन के दो स्तर है – (१) भावबन्ध और (२) द्रव्यबन्ध। बन्धन का आरम्भ पहले भाव के स्तर पर होता है और तब वास्तव मे आत्मा और देह का सयोग हो जाता है। पहले आत्मा में अज्ञान या मूर्च्छा के कारण किसी वस्तु के लिए आसक्ति जागती है या भोग-लालसा का उदय होता है, जिससे जीव का आकर्षण भौतिक पदार्थ की ओर होने लगता है और तब पुद्गल कणो का आस्रव जीव की कामना के अनुरूप उसकी ओर होने लगता है, जिसमे विभिन्न प्रकार के अगोपागो का विकास होता है। व्यक्ति जीवन मे जो कुछ

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र, १६/१६

२. तत्वार्थ सूत्र, ७/१७

भी पाता है, वह सब उसके कर्मों का ही परिणाम है। उसकी सभी शारीरिक और मानसिक क्षमताएं जीव की प्रवृत्ति के अनुरूप होती हैं। इस कारण जैन दर्शन में कई प्रकार के कर्मों की चर्चा है। जैसे—नामकर्म, गोत्रकर्म, आयुकर्म, मोहनीयकर्म, वेदनीयकर्म, ज्ञानावरणीय कर्म इत्यादि। व्यक्ति जो शरीर प्राप्त करता है या उसकी जो शारीरिक और मानसिक क्षमताएं होती हैं, वे उसके कर्म के परिणाम हैं। व्यक्ति की आयु उसके 'आयुकर्म' द्वारा निर्धारित होती है। उसका गोत्र उसके 'गोत्रकर्म' से निर्धारित है। 'ज्ञानावरणीय' कर्म से उसका ज्ञान ढंक जाता है। 'दर्शनावरणीय' कर्म से उसका दर्शन आवृत्त हो जाता है। 'मोहनीयकर्म' से उसमे मोह उत्पन्न होता है और 'वेदनीयकर्म' से उसमें सुख-दुःख की वेदना होती है। इस प्रकार जीवन में जो कुछ भी घटता है, वह जीवन के अपने कर्मों का ही परिणाम है। महावीर कार्य-कारण के सार्वभौम सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। अतः वे मानते हैं कि व्यक्ति के जीवन मे जो भी होता है, वह आकस्मिक या संयोगवश नहीं, वरन् व्यक्ति के पूर्व कर्मों का परिणाम है। अतएव कर्म ही बन्धन का कारण है। भाव-बंध की अवस्था मे केवल भावना के स्तर पर बन्धन होता है, जबकि द्रव्य-बन्ध की स्थिति मे वास्तव मे पुद्गल का सयोग आत्मा के साथ हो जाता है। साख्य, वेदान्त आदि केवल भाव-बन्ध को मानते हैं। उनके अनुसार द्रव्य-बन्ध नही होता। आत्मा कभी वास्तव मे बन्धन मे पडती ही नही है, क्योकि स्वभाव से वह शुद्ध, बुद्ध और मुक्त या सच्चिदानन्द है। परन्तु जैन दर्शन मुक्ति के सम्बन्ध मे वस्तुवादी दृष्टिकोण अपनाता है। इस कारण यह मानता है कि वास्तव मे आत्मा और पुद्गल का संयोग हो जाता है।

जैन दर्शन बन्धन के चार आयाम मानता है। प्रकृति बन्ध, प्रदेश बन्ध, स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध। आत्मा की ओर कौन-कौन प्रकार के पुद्गल कण आकृष्ट होंगे, उसे 'प्रकृति बन्ध' कहा जाता है। फिर ये पुद्गल कण आत्मा के किस प्रदेश मे सयोजित होंगे, इसे 'प्रदेश बन्ध' कहते हैं। साथ ही साथ, पुद्गल कणों का सयोग आत्मा के साथ कितने समय तक होगा इसे 'स्थिति बन्ध' और पुद्गल कणो का आत्मा पर जो प्रभाव पडता है, उसे 'अनुभाग बन्ध' कहते हैं। प्रकृति बध, प्रदेश बन्ध तथा स्थिति बन्ध का निर्धारण 'कषाय' के द्वारा होता है और अनुभाग बन्ध का निर्धारण 'योग' द्वारा होता है। 'कषाय' चित्त की वृत्तिया हैं और 'योग' जोडने की आत्मा का क्षमता। कषाय के कारण विशेष प्रकार के पुद्गल कणो का आस्रव आत्मा की ओर होता है और वे आत्मा के विभिन्न प्रदेशों मे संगठित होते हैं तथा एक समय-विशेष के लिए उनकी स्थिति रहती है। ये पुद्गल-कण आत्मा के योग के कारण सगठित हो जाते हैं और इस प्रकार विभिन्न आकृतियों और क्षमताओ वाले देह का निर्माण होता है और भौतिक वातावरण प्राप्त होता है। इस प्रकार पुद्गल के जाल में आत्मा फंस जाती है (स कषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान्पु द्गलानादत्ते स बन्धः)।[1]

मोक्ष विचार—चूंकि पुद्गल का आत्मा को ढंक लेना बन्धन है, अतः पुद्गल का आत्मा मे अलग होना मोक्ष है इसलिए दो प्रक्रियाएं आवश्यक हैं—'संवर' और 'निर्जरा'। पुद्गल कणो का आस्रव बराबर आत्मा की ओर होता रहता है तथा कुछ पुद्गल-कण स्थायी रूप से संयुक्त हो गये हैं, अत आत्मा को परिष्कृत करने के लिए दो बातें आवश्यक हैं—पहली यह कि जिन पुद्गल कणो का आस्रव आत्मा की ओर हो रहा है उसे रोक देना, यह 'संवर' है। दूसरे, जो पुद्गल-कण पहले से आत्मा से संयुक्त हो चुके हैं, उन्हें हटाना इसे, 'निर्जरा' कहते हैं। इन दो प्रक्रियाओ से आत्मा रूपी मणि से पुद्गल रूपी रज कणो को झाड-पोछकर अलग किया जा सकता है, जिससे आत्मा की मणि पुनः चमकने लगती है और वह अपनी खोयी शक्तियां—अनन्त चतुष्टय—पुन. उपलब्ध कर लेती है। मोक्ष की स्थिति अनन्त दर्शन, ज्ञान, वीर्य और आनन्द की स्थिति है। यह बुद्ध के 'निर्वाण' की भांति निषेधात्मक नही, वरन् भावात्मक है।

सवर और निर्जरा के लिए तीन मार्ग बताये गये हैं जिन्हे जैन दर्शन मे 'त्रिरत्न' की सज्ञा दी गई है। वे हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र।

सम्यक् दर्शन—हमारे भीतर जो कुछ भी हो रहा है उसके तटस्थ दर्शन को सम्यक् दर्शन कहा जाता है। इस तटस्थ दर्शन से व्यक्ति जो कुछ भी हो रहा है उससे मुक्त हो आत्म-स्थित हो जाता है। कुछ लोग मानते है कि सम्यक् दर्शन का अर्थ तीर्थंकरो के वचन में आस्था है। भगवान् महावीर के अनुसार "जिसमे स्वयं ज्ञान है, उसे आस्था की आवश्यकता नही है,"[2] किन्तु जो अज्ञानी है, उसके लिए आस्था भी मार्ग है। फिर भी भगवान् का जोर स्वयं में ज्ञान के जागरण पर ही है,[3] क्योंकि उन्होंने अधानुकरण का विरोध किया—**जो लोगस्स सेवणं चरे**। जो कुछ हो, सम्यक् दर्शन बोधयुक्त आस्था है, अध-विश्वास नही। जैन दार्शनिक मणिभद्र ने कहा है—'न मेरा महावीर के लिए कोई पक्षपात है, न कपिल के लिए कोई द्वेष। युक्तियुक्त वचन ही मुझे ग्राह्य हैं, चाहे वे किसी के हो।

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष कपिलादिषु
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्य. परिग्रहः।

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र, ८/२
२. 'उद्देसो पासगस्स नत्थि।', आचारांग सूत्र, २/३
३. 'संपिक्खए अप्पगमप्पएण।', दशवैकालिक सूत्र चूलिका, २/१२

२. सम्यक् ज्ञान—बाहर से जो कुछ भी हो रहा हो, उसके पूर्ण ज्ञान को सम्यक् ज्ञान कहते हैं। बाह्य के प्रति तटस्थ दर्शन हमें उसके सारतत्व का बोध करा देता है। इस प्रकार भीतर और बाहर के प्रति मौन-सजगता से मूर्च्छा टूटती है, जड़ता मिटती है और आत्म-चेतना जाग्रत होती है। जिससे पुराने संस्कारों का क्षय हो जाता है। अत. व्यक्ति 'निर्ग्रन्थ' होकर अपने स्वरूप में बसता जाता है।

३. सम्यक् चारित्र—मात्र दर्शन और ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, वरन् इसे व्यवहार मे ढालना भी आवश्यक है। सम्यक् चारित्र सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन का आवश्यक परिणाम है क्योंकि चारित्र ज्ञान का अनुगमन करता है। सुकरात ने कहा था, 'ज्ञान ही सद्गुण है' और महावीर ने भी कहा,'पहले ज्ञान है, तब क्षमा' पढमं णाणं तओ दया। अहित कार्यों का वर्जन एवं हित कार्यों का साधन 'सम्यक् चारित्र' है। सम्यक् चारित्र कोई कर्मकाण्ड नही, वरन् एक जीवन शैली है जो सम्यक् दर्शन और ज्ञान से अनुप्राणित है। यह एक समत्व और संतुलन का जीवन है—समयाये समणो होई।[1] सम्यक् चारित्र 'पंच महाव्रत' मे अभिव्यक्त होता है, वे है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

१. अहिंसा—प्रमादवश दूसरो को कष्ट देना हिंसा है और अप्रमत्त होकर सब मे प्रेम करना एव किसी को मन, वचन और कर्म से कष्ट नही देना अहिंसा है। भगवान् महावीर के अनुसार, सभी प्राणी जीना चाहते हैं, कोई मरना नही चाहता, अत प्राणी-वध का परित्याग करना चाहिए। अहिंसा की धारणा स्वाइत्जर के 'रेवरेंस ऑव लाइफ' की धारणा के अनुकूल है। यह असभ्य लोगो की जीवन के प्रति आतंकित दृष्टि नही जैसा कि मैकेन्जी ने माना था। महावीर मानते हैं कि वनस्पति से लेकर 'केवली' तक सभी सजीव हैं, सभी की आत्मा बराबर है, अत: सबको समान आदर मिलना चाहिए। दूसरी बात यह कि ज्ञान की स्थिति मे सबके साथ रक्त-सम्बन्ध सा हो जाता है। सभी अपने से हो जाते हैं, अतः ज्ञानी किसी का अहित कर ही नही सकता। अहिंसा का आधार समानता और पारस्परिक सहानुभूति है, क्योंकि भगवान् महावीर ने कहा है कि "हमें दूसरो के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा हम दूसरो से अपने प्रति चाहते हैं।"[2] यदि कोई स्वयं दुःख पसन्द नही करता है, तो उसे दूसरो को भी दु खी नही करना चाहिए। आत्मा ही उचित-अनुचित की परख की आधार-शिला है।

२. सत्य—जो जैसा है, उसका उसी रूप मे कथन करना सत्य है। जैन दर्शन 'अनेकान्त' मे विश्वास करता है। इसके अनुसार, सत्य के अनन्त पहलू हैं · अनन्तधर्मकं वस्तु, फलस्वरूप "ऐसा ही है," नही कहा जा सकता, वरन् "ऐसा भी है" कहना अधिक उचित है। अत: निश्चयात्मक वाणी का प्रयोग नही करना चाहिए। वह भी हिंसा का कारण हो सकता है। अतएव 'सत्य' के साथ 'शील' जुड़ा हुआ है। फलस्वरूप जैन दर्शन भी सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियं मे विश्वास करता है।

३. अस्तेय—'स्तेय' का अर्थ है—'चौर्य'। अस्तेय इसके विपरीत है अर्थात् किसी की वस्तु को बिना उसकी आज्ञा के नही लेना चाहिए (अदत्ता दान स्तेयम्)।[3] जैन दर्शन मानता है कि संसार में जीवन-यापन के लिए धन आवश्यक है। सांसारिक दृष्टि से धन जीवन का दूसरा रूप है। अत किसी की वस्तु का अपहरण नही करना चाहिए। मार्क्स की तरह महावीर भी मानते हैं कि धन का सम्यक् विभाजन होना चाहिए। अत उन्होने कहा है कि जो धन का सम्यक् विभाजन नही करते, वे मोक्ष के अधिकारी नही हो सकते हैं (असंविभागी नहु तस्स मोक्खो)।[4]

४. ब्रह्मचर्य—इन्द्रियों का सयम ब्रह्मचर्य है (मैथुन ब्रह्म)।[5] जैन दर्शन आत्म-सयम और इन्द्रिय-निग्रह पर जोर देता है। उसके अनुसार, आत्म-संयम व्यक्तिगत और सामाजिक उत्थान के लिए आवश्यक है। ज्ञान की स्थिति मे 'अहचर्य' मिट जाता है और 'ब्रह्मचर्य' की उपलब्धि होती है। ब्रह्मचर्य की स्थिति मे व्यक्ति 'सृष्ट' न रहकर 'स्रष्टा' हो जाता है और उसका दृष्टिकोण विशाल और जीवन-व्यापी हो जाता है, जिसमे सर्वकल्याण की भावना निहित होती है।

५. अपरिग्रह—आवश्यकता से अधिक न लेना 'अपरिग्रह' है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को इच्छाओ मे परिमितता बरतनी चाहिए, क्योंकि तृष्णा दुष्पूर है— दुप्पूरए इमे आया। इच्छाएं आकाश के समान अनन्त हैं। क्योंकि वे कभी पूरी होने वाली नही हैं। ज्यों-ज्यो लाभ होता जाता है, त्यो-त्यो लोभ भी बढ़ता जाता है।[6]

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र, २५, ३२
२. आचारांग सूत्र, १/३/३
३. तत्वार्थ सूत्र, ७/१५
४. दशवैकालिक सूत्र, ९/२ २२
५. तत्वार्थ सूत्र, ७/१६
६. 'जहा लाहो तहा लोहो।
लाहो लोहो पवड्ढई ॥', उत्तराध्ययन सूत्र, ८/१७

अतः व्यक्ति को इच्छाओं पर संयम रखना चाहिए और उतना ही लेना चाहिए जितना जीवन-रक्षा हेतु आवश्यक हो। भगवान् महावीर ने माना है कि 'जैसे भौंरा फूल के सौन्दर्य को नष्ट किये बिना केवल आवश्यकता भर मधु ले लेता है और कोई संचय नहीं करता, वैसे ही व्यक्ति को जीवन-यापन करना चाहिए।'[1]

इस प्रकार जैन दर्शन ईश्वरवादी परिप्रेक्ष्य से हटकर मात्र आत्मावादी परिप्रेक्ष्य में बन्धन और मोक्ष की व्याख्या करता है। इसके अनुसार मनुष्य अपने चलते बन्धन में है, इसलिए अपने प्रयत्न से ही मुक्त हो सकता है।[2]

स्वयं पर विजय पाना ही असली विजय है—सव्वमप्पे जिए जियं।[3]

कर्मों के पूर्ण विनाश को ही मुक्ति कहते हैं और वही शुद्धात्मा का स्वरूप वीतराग अवस्था है · स आत्यन्तिकः सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्ष इत्युच्यते (तत्त्वार्थराजवार्तिक, १/१/३७)। कर्मों का निर्मूल नाश करने के लिए दो प्रयत्न हैं—कर्मास्रव का निरोध तथा निर्जरा। कर्मों का समूल नाश करने के लिए मुमुक्षु जीव को सर्वप्रथम मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग के स्रोतों से बंधने वाले नवागन्तुक कर्मों को रोकना चाहिए, तदनन्तर पूर्व बद्ध-कर्मों को तपस्या आदि के द्वारा नष्ट करना चाहिए। इनमें से प्रथम प्रयत्न को संवर तथा द्वितीय को निर्जरा कहते हैं। इस प्रकार आत्मा और (कर्म के) बंध का पृथक्करण ही मोक्ष कहा जाता है—

आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणं मोक्षः, (समयसार, २८८)

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पांच आस्रवबंध के हेतु मोह के कारण माने गए हैं। मोह मिथ्यात्व का बलिष्ठ हेतु है, इसी के कारण जीवात्मा चारों गतियों तथा सातों नरकों में सदैव भ्रमण करता है। जहां मिथ्यात्व है, वहां अविरति, प्रमाद, कषाय और योग भी है। इन पांचों के माध्यम से आत्मा कर्मास्रव के द्वारा बन्ध में पड़ जाता है।

तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यक्त्व कहते हैं, इससे विपरीत अश्रद्धान मिथ्यात्व कहलाता है। यह दो प्रकार का है—नैसर्गिक तथा गृहीत। छः कायिक जीवों की हिंसा का त्याग न करना पाँचों इन्द्रियों तथा मन को विषयासक्ति से न रोकना अविरति है। शुभ कार्यों में आलस्य करना प्रमाद कहलाता है। भोजन, स्त्री, देश तथा राज—ये चार कथाएं, क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय; पांचों इन्द्रियां, निद्रा और स्नेह ये पन्द्रह प्रमाद हैं। सोलह तथा नौ कषाय—ये पच्चीस कषाय हैं। चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग—ये पन्द्रह योग हैं। ये सब मिलकर अलग-अलग आत्मा के बंध के कारण हैं। यदि आत्मा अपने निर्विकल्प स्वरूप के विपरीत उपर्युक्त पांचों आस्रवों से पराङ्मुख होकर स्वस्वरूप में निमग्न हो जाए तो अबंध (मोक्ष) का कारण होकर अखण्ड सुख का स्वामी बन सकता है।

(आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज कृत उपदेशसारसंग्रह, भाग ४, दिल्ली, वी० नि० सं० २४८४ में उद्धृत)

---

१. 'जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियई रसं। न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं।', दशवैकालिक सूत्र, १/२

२. 'बंधप्प मोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव', आचारांग सूत्र, १/५/२

३. उत्तराध्ययन सूत्र, ९/३६

आचार्य कुन्दकुन्द की संतुलित दृष्टि

डॉ० लालबहादुर शास्त्री

दिगम्बर जैनाचार्यों में आचार्य कुन्दकुन्द का प्रमुख स्थान है और वह इसलिये कि अगर आचार्य कुन्दकुन्द न होते तो आज दिगम्बर जैन धर्म का अस्तित्व न होता। श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में १२ वर्ष के दुर्भिक्ष के बाद जो जैनत्व की परपरा चली आ रही थी उसमें इतना विकार आ गया था कि सच्चा जैनत्व क्या है लोग इसको भूल ही गये थे, अत. इस विकृति को हटाने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने पाहुड ग्रन्थो[1] की रचना की और अनेक सुदृढ एव व्यवस्थित निर्णय दिये। साथ ही धर्म के नाम पर भोग विलासिता के आडम्बर को दूर कर अध्यात्म का उपदेश दिया समयपाहुड ग्रथ उसी का परिणाम है। यह सही है कि विभक्त और अपने आप में अद्वैत आत्मा का वर्णन करने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चयदृष्टि को प्रधान रखा है, पर व्यवहार दृष्टि को उन्होने भुलाया नही है। प्रत्युत बीच-बीच मे वे विषय को समझाने के लिये व्यवहार-दृष्टि का भी सकेत करते गये हैं। यहा हम कुछ उदाहरण देंगे जिनमे पाठक यह समझ सकेंगे कि कुन्दकुन्द अपने कथन के लिये सदा सापेक्ष रहे हैं, निरपेक्ष नही।

समयसार की छठी गाथा मे कुन्दकुन्द कहते हैं कि यह आत्मा न प्रमत्त है न अप्रमत्त है शुद्ध ज्ञापक है।[2] यहां तक कि आत्मा मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र भी नही है। किन्तु आगे सातवी गाथा मे कहते हैं, आत्मा मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र व्यवहार-नय से है। निश्चय से न ज्ञान है, न दर्शन है।[3]

गाथा न० ८ मे लिखा है कि बिना व्यवहार के परमार्थ का उपदेश नही है। गाथा न० ९ व १० मे कहा है कि जो श्रुत से आत्मा को जाने वह परमार्थ से श्रुतकेवली है। जो समस्त श्रुत को जाने वह (व्यवहार से) श्रुतकेवली है। १२वी गाथा मे लिखा है कि परमभाव में जो स्थिति है उनको शुद्ध नय का उपदेश है और जो अपरम भाव मे स्थिति है उनको व्यवहार का उपदेश है। इसी गाथा के अन्तर्गत अमृतचंद्र आचार्य ने दो कलश श्लोक दिये हैं जिनका आशय है 'यदि जिनेन्द्र के मत मे दीक्षित होना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों को मत छोडो व्यवहार के बिना तीर्थ नष्ट हो जायेगा और निश्चय के बिना तत्त्व नष्ट हो जायेगा।'[4]

'दोनो नयो के विरोध को दूर करने वाले स्याद्वाद में अंकित जिनेन्द्र भगवान् के वचनो मे जो रमण करते हैं वे शीघ्र ही उस समय-सार ज्योति को देखते है जो सनातन है और किसी नय पक्ष से क्षुण्ण नही।'[5]

गाथा १४ से लेकर पुन. शुद्ध नय की प्रधानता से कथन है और लिखा है 'कर्म, नो कर्म (शरीर) आदि सबसे पृथक् यह आत्मा है। किन्तु गाथा न० २६ मे व्यवहार का समर्थन करते हुए लिखते हैं कि व्यवहार नय की अपेक्षा जीव और शरीर एक हैं किन्तु निश्चय नय से वे कभी एक नही हैं।

इसके बाद आचार्य ने अध्यवसान आदि भावो को पुद्गल बताया है। किन्तु गाथा ४६ में वे पुनः व्यवहार दृष्टि देते हुए लिखते हैं। भगवान् जिनेन्द्र ने अध्यवसानादि भावो को व्यवहार दृष्टि से जीव के भाव बतलाये है और आगे की गाथाओं मे दृष्टान्त देकर अपने कथन का दृढीकरण किया है।

---

१. अष्टपाहुड इत्यादि

२. 'णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।'

३. 'ववहारेणुव दिस्सदि णाणिस्स चरित्तदसण णाण।
णवि णाण ण चरित्त ण दसण जाणगो सुद्धो ॥'

४. 'जइ जिणमय पवज्जह ता मा ववहार णिच्छाए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण उण तच्च।'

५. 'उभयनय विरोधध्वसिनि स्यात्पदाके जिन वचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहा सपदि समय सार ते स्वय ज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षत एव', गाथा न० ४

पुन: गाथा ५० से ५५ तक वर्ण, रस, गन्ध, रागद्वेष, उदयस्थान, योगस्थान, गुणस्थान, मार्गणा आदि का जीव में निषेध किया है। परन्तु ५६वीं गाथा मे लिखते हैं कि वर्ण आदि से लेकर गुणस्थानपर्यंत भाव व्यवहार नय से हैं, निश्चय नय से नही हैं। ६०वीं गाथा में भी इसी अभिप्राय: को पुन: दोहराया है।

कर्तृ कर्म अधिकार में आत्मा के परद्रव्य के कर्तृत्व का निषेध किया है किन्तु ८४वी गाथा मे लिखा है व्यवहार नय की दृष्टि से आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गल आदि कर्मों को करता है और उन्ही कर्मों का वेदन करता है अर्थात् भोक्ता है।

आगे चलकर पुन: ८वें अकर्तृत्व का प्रतिपादन करते हैं और भाव्य-भावक, ज्ञेय-ज्ञापक भाव का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं व्यवहाररूप नय से आत्मा घट, पट, रथ आदि द्रव्यो को करता है। स्पर्शन आदि पच इन्द्रियो को करता है। ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों को तथा क्रोधादि भावकर्मों को करता है।

इस तरह व्यवहार दृष्टि देकर पुन: निश्चय दृष्टि पर आ जाते हैं और कहते हैं कि जीव न घट बनाता है न पट बनाता है न अन्य शेष द्रव्यों को करता है। जीव के योग-उपयोग ही उक्त वस्तुओं को बनाते हैं लेकिन पुन: व्यवहार दृष्टि की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—आत्मा पुद्गल द्रव्य को व्यवहार नय से उत्पन्न करता है बनाता है परिणमाता है ग्रहण करता है।

इस तरह दोनो नयो का यथास्थान सकेत देते हुए आचार्य कुन्दकुन्द शिष्य के द्वारा प्रश्न उठाते है तब आत्मा कर्मों से बद्धस्पष्ट है या अबद्धस्पष्ट है इस सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति समझाइये। इसका उत्तर कुन्दकुन्द निम्न प्रकार देते है—

हमने जो यह कहा है कि व्यवहार नय से जीव कर्म से बद्धस्पष्ट है और शुद्ध नय से बद्धस्पष्ट नही है। इसका तात्पर्य यह है कि जीव में कर्मों की बद्धस्पष्टता या अबद्धस्पष्टता ये दोनो ही नयपक्षपाती हैं समयसार (शुद्धात्मा) तो इन दोनो नय पक्षो से रहित है।

आचार्य अमृतचन्द्र जी ने इसी गाथा को अपने कलश-श्लोक मे इस प्रकार स्पष्ट किया है—

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम् विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति।

जो नयो के पक्षपात को छोडकर अपने आत्मस्वरूप मे लीन रहते हैं। वे सभी विकल्प-जालो से रहित शान्तचित्त होकर साक्षात् अमृतपान करते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने इस कलश के बाद अपने कथन के समर्थन मे २० कलशो की रचना की है। जिनमे नित्य-अनित्य, मूढ़-अमूढ़, एक-अनेक आदि परस्पर विरोधी धर्मों के प्रतिपादक व्यवहार और निश्चय को पक्षपात बतलाया है और लिखा है जो तत्वज्ञानी है वह इन दोनो पक्षपातो से रहित होकर चित्-सामान्य को ही ग्रहण करता है।[1]

आचार्य कुन्दकुन्द की मूलगाथाओ में यह विषय प्रतिपादित है, जैसे :—

दोण्ह विणयाण भणिय जाणइ णवरितु समयपडिबद्धो।
ण तु णय पक्खं गिण्हवि किंचिवि, णयपक्ख परिहीणो॥

शुद्ध आत्मस्वरूप मे लीन रहने वाला पुरुष दोनो नय के विषय को जानता है पर दोनो नयो के पक्ष को ग्रहण नही करता क्योकि वह नय-पक्ष से रहित है।

आगे की गाथा मे इसी का पुन समर्थन किया है और कहा है कि समयसार दोनो पक्षपातो से रहित है।

इस तरह उक्त दोनो आचार्यों ने निश्चय और व्यवहार को समान कोटि मे ला दिया है यदि व्यवहार-नय एक पक्ष है तो निश्चय-नय भी वैसा ही दूसरा पक्ष है आत्मस्वरूप मे लीन होने के लिये दोनो पक्षों की आवश्यकता नही है किन्तु वस्तु को समझने तक ही दोनो नयों के पक्षपात की आवश्यकता होती है।

कर्तृ कर्म अधिकार मे जहा यह लिखा है कि एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता नही है वही आगे चलकर परद्रव्य का कर्ता भी मानते हैं। वे लिखते हैं, सम्यक्त्व को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है उसके लक्ष्य से यह जीव मिथ्यादृष्टि होता है। गाथा १६१ बंधाधिकार मे वे लिखते हैं कि ज्ञानी पुरुष स्वय रागादिरूप परिणमन नहीं करता है, जैसे स्फटिक मणि जपा पुष्प आदि से लाल होती है स्वयं लाल नही होती।

मोक्षाधिकार गाथा ३०६ मे लिखा है प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारण, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि यह आठ प्रकार विष-कुम्भ हैं किन्तु सर्वविशुद्ध अधिकार मे लिखा है 'पूर्वकृत अनेक प्रकार के जो शुभ-अशुभ कर्म हैं उनसे अपने आपको निवृत्त करता है प्रतिक्रमण है। आचार्य अमृतचन्द्र इससे भी आगे बढ़कर लिखते हैं जहा प्रतिक्रमण को ही विष कहा है वहां अप्रतिक्रमण अमृत कैसे हो सकता है इसलिये यह जीव प्रमाद से नीचे-नीचे क्यो गिरता है। प्रमाद रहित लेकर ऊपर क्यों नही चढ़ता। इसी सर्वविशुद्ध अधिकार मे एक ओर तो कुन्दकुन्द

---

१. देखो—गाथा न० १४८ की टीका

मुनिलिंग गृहीलिंग दोनों को मोक्ष मार्ग होने का निषेध करते हैं और दूसरी ओर लिखते हैं कि व्यवहार नय से दोनों लिंग मोक्षमार्ग हैं किन्तु निश्चयनय सभी लिंगों को मोक्षमार्ग में नही चाहता इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द और उनके प्रमुख टीकाकार अमृतचन्द्र निश्चयप्रधान कथन का सहारा लेते हुए अपनी संतुलित दृष्टि को नहीं छोड़ते।

यही कारण है कि निश्चय का व्याख्यान करते हुए भी व्यवहार दृष्टि को भी कहना चाहते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने तो अपनी इस संतुलित दृष्टि के लिये स्याद्वाद अधिकार में उपाय और उपेय भाव का चिन्तन किया है। जिसमें उपाय को व्यवहार और निश्चय को उपेय माना है अर्थात् दोनों मे साधनसाध्यभाव माना है। व्यवहार को भेद रत्नत्रय कहकर उसे अभेद रत्नत्रय का साधन माना है और अभेद रत्नत्रय को साध्य माना है। यह अधिकार उन्हें एकान्त के विरोध में स्याद्वाद के लिये लिखना पडा है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने मंगलाचरण मे समयसार को कहने की प्रतिज्ञा की है और समयसार का उद्भव श्रुतकेवली से बताया है। यद्यपि टीकाकारो ने श्रुतकेवली का अर्थ श्रुत और केवली दोनों के द्वारा कहा हुआ भी बतलाया है। पर वस्तुत: कुन्दकुन्द का समयसार को श्रुतकेवली कथित कहने का अभिप्राय विशेष रहा है। शास्त्रों मे केवली अरिहन्त को अर्थकर्ता बताया है और गणधर श्रुतकेवली को ग्रन्थ-कर्ता बताया है। इसका सीधा अर्थ यह है कि केवली मात्र-वस्तु का प्ररूपण करते हैं। किन्तु गणधर उसमे स्याद्वाद का पुट देकर उसे श्रुत का रूप देते हैं। श्रुत शब्द का अर्थ ही 'सुना हुआ है'। चूंकि गणधर इसे केवली तीर्थंकर के मुख से सुनते हैं और सुनने के बाद जब उसे ग्रथित करते हैं वह श्रुत का रूप ले लेता है। क्योंकि वह सुना हुआ है। अत. गणधर श्रुतकेवली की रचना नयप्रधान होती है। जैसाकि आचार्य अमृतचन्द्र के 'उभयनयायत्ता हि पारमेश्वरीदेशना' इस वाक्य से स्पष्ट है अर्थात् परमेश्वर द्वारा उपदिष्ट श्रुत व्यवहार और निश्चय दोनों नयो को लेकर होता है। चूंकि प्रस्तुत ग्रन्थ समयसार किसी एक नय को प्रधान करके लिखा जा रहा है अत: नयप्रधान कथन की प्रामाणिकता श्रुत के आधार पर ही हो सकती है और श्रुत केवलीकथित होता है। इसलिये कुन्दकुन्द भी समयसार को श्रुतकेवली-कथित बताते हैं। शास्त्रों मे केवली के ज्ञान को प्रमाणज्ञान बताया है क्योकि वह पदार्थ की अनन्तगुणपर्यायों को युगपत् देखता है किन्तु क्रमिक ज्ञान स्याद्वाद से संस्कृत होकर ही प्रमाणभूत होता है। इस तरह हम देखते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की परम्परा को जो श्रुतकेवली से जोडा है वह विशेष अभिप्राय से खाली नही है, क्योकि आगम का वाक्य है कि 'भगवान् का उपदेश दोनो नयों (व्यवहार, निश्चय) के आधीन है'। अत: कुन्दकुन्द का समयसार भी परम्परा से भगवान् का उपदेश ही है अत: वह एक नय (निश्चयनय) के ही आधीन कैसे हो सकता है। इससे सिद्ध है कि कुन्दकुन्द ने अपने विषय के प्रतिपादन में दोनो नय-दृष्टियों को अपनाया है यही उनकी संतुलित दृष्टि है।

जीवात्मा के साथ जब तक नित्य-नैमित्तिक का सम्बन्ध अशुद्धभाव से है, तब तक आत्मा को स्व-पर का ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है। इस सन्दर्भ मे कुन्दकुन्दाचार्य अपने ग्रन्थ नियमसार मे स्पष्टीकरण देते हैं—

णो खलु सहावठाणा, णो माणवमाण भावठाणा वा।
णो हरिसभावठाणा, णो जीवस्स हरिस्स ठाणा वा॥

भूत, भविष्य तथा वर्तमान —तीनों काल में जो निरुपाधि-स्वभाव है अर्थात् जिसकी कोई परद्रव्यसम्बन्धी उपाधि नही हैं। इस प्रकार के शुद्ध जीवास्तिकाय का निश्चय से कोई विभाग रूप स्वभाव नही है, शुभ-अशुभ समस्त मोह, राग और द्वेष के अभाव से उस शुद्ध जीव मे मान-अपमान के कारणभूत किसी कर्म का उदय नही होता। निश्चय से भी उसकी शुभोपयोग रूप परिणति नही होती, इसलिए शुभ-कर्म का बंध नही होता। शुभ-कर्म का बंध न होने से सारहीन सांसारिक सुख नही होता, सांसारिक सुख का अभाव होने से उस शुद्ध आत्मा (जीव) मे कोई हर्ष-स्थान सिद्ध नही होता। इस अवस्था मे आत्मा मे अशुभ परिणमन नही होता।

(आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज कृत उपदेशसारसंग्रह, भाग ३, दिल्ली, वि० सं० २०१३ से उद्धृत)

प्रवचनसार में संसार और मोक्ष का स्वरूप

डॉ० रमेश चन्द जैन

संसार—आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार संसरण करते हुए (गोल फिरते हुए, परिवर्तित होते हुए) द्रव्य की क्रिया का नाम ससार है।[1] ससार में स्वभाव से अवस्थित कोई नही है।[2] जीव द्रव्यपने से अवस्थित होने पर भी पर्यायो से अनवस्थित है। उसमे मनुष्यादिक पर्यायें होती हैं।[3] अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जीव के साथ किस कारण पुद्गल का सम्बन्ध होता है कि जिससे उसकी मनुष्यादि पर्यायें होती हैं? इसका उत्तर यह है कि कर्म से मलिन आत्मा कर्मसयुक्त परिणाम को (द्रव्यकर्म के संयोग से होने वाले अशुद्ध परिणाम को) प्राप्त करता है, उससे कर्म चिपक जाता है, इसलिए परिणाम कर्म है।[4] द्रव्यकर्म परिणाम का हेतु है; क्योकि द्रव्यकर्म की सयुक्तता से ही (अशुद्ध) परिणाम देखा जाता है।

प्रश्न—ऐसा होने मे इतरेतराश्रय दोष आएगा।

उत्तर—नही आएगा; क्योकि अनादि सिद्धद्रव्य कर्म के साथ सम्बद्ध आत्मा को जो पूर्व का द्रव्यकर्म है, उसका यहा हेतु रूप से ग्रहण किया गया है।[5]

पुद्गल पिण्डों को कर्म रूप करने वाला आत्मा नहीं है—लोक चारों ओर सूक्ष्म तथा बादर और कर्मत्व के अयोग्य तथा योग्य पुद्गल स्कन्धो के द्वारा अवगाहित होकर गाढ भरा हुआ है। कर्मत्व योग्य स्कन्ध जीव की परिणति को प्राप्त करके कर्मभाव को प्राप्त होते हैं, जीव उनको नही परिणमाता।[6] कर्मरूप परिणत वे पुद्गल पिण्ड देहान्तर रूप परिवर्तन को प्राप्त करके पुन पुन जीव के शरीर होते है।[7]

अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिक पुद्गल के साथ बन्ध—जैसे रूपादि रहित जीव रूपी द्रव्यो को और उनके गुणो को देखता है और जानता है, उसी प्रकार अरूपी आत्मा का रूपी पुद्गल के साथ बन्ध होता है।[8]

भावबन्ध—जो उपयोगमय जीव विविध विषयो को प्राप्त करके मोह करता है, राग करता है अथवा द्वेष करता है वह जीव उन मोह, राग, द्वेष के द्वारा बन्ध रूप है।[9]

द्रव्यबन्ध का निमित्त भावबन्ध—आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि जीव जिस भाव से विषयागत पदार्थ को देखता और जानता है, उसी से उपरक्त होता है और उसी से कर्म बधता है।[10] इसी की व्याख्या करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते है—'यह आत्मा साकार और निराकार प्रतिभास स्वरूप (ज्ञान और दर्शनस्वरूप) होने से प्रतिभास्य (प्रतिभासित होने योग्य) पदार्थ समूह को जिस मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप भाव से देखता और जानता है, उसी से उपरक्त होता है। जो यह उपराग (विकार) है, वह वास्तव मे स्निग्ध रूक्षत्वस्थानीय भावबन्ध है और उसी से अवश्य पौद्गलिक कर्म बधता है। इस प्रकार यह द्रव्यबन्ध का निमित्त भावबन्ध है।'[11]

---

१. 'ससारो पुण किरिया ससरमाणस्स दव्वस्स', प्रवचनसार, १२०
२. 'तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति ससारे', वही, १२०
३. वही, तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या, पृ० २४७-२४८
४. प्रवचनसार, १२१
५. वही, तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या, १२१
६. प्रवचनसार, १६८-१६९
७. वही, १७०
८. वही, १७४
९. वही, १७५
१०. वही, १७६
११. तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या, १७६

जब आत्मा रागद्वेषयुक्त होता हुआ शुभ और अशुभ में परिणमित होता है, तब कर्मरज ज्ञानावरणादि रूप से उसमें प्रवेश करती है।[1] इस विषय मे आचार्य अमृतचन्द्र ने मेघजल का दृष्टान्त दिया है। जब नया मेघजल भूमिसंयोगरूप मे परिणमित होता है तब अन्य पुद्गल स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त हरियाली, कुकुरमुत्ता (छत्ता) और इन्द्रगोप (चातुर्मास में उत्पन्न लाल कीड़ा) आदि रूप में परिणमित होता है। इसी प्रकार जब यह आत्मा रागद्वेष के वशीभूत होता हुआ शुभाशुभरूप परिणमित होता है तब अन्य योगद्वारो से प्रविष्ट होते हुए कर्म-पुद्गल स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त ज्ञानावरणादि भावरूप मे परिणमित होते हैं।[2] प्रदेशयुक्त वह आत्मा यथाकाल मोह-राग-द्वेष के द्वारा कषायित होने से कर्मरज से लिप्त या बद्ध होता हुआ बन्ध कहा गया है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द की दृष्टि मे कर्म दो प्रकार का होता है—एक वह कर्म जो आत्मा में होता है, जिसे जैन दर्शन में भावकर्म कहा जाता है, दूसरा द्रव्यकर्म जो पौद्गलिक होता है, जिसकी संयुक्तता से आत्मा मलिन होती है। वैशेषिक मत में कर्म एक स्वतन्त्र पदार्थ है। जैन दर्शन मे कर्म स्वतन्त्र पदार्थ न होकर आत्मा का अशुद्ध परिणाम अथवा पुद्गल का विशेष परिणमन है, जिसे क्रमशः द्रव्यकर्म और भावकर्म कहा जाता है। वैशेषिक दर्शन मे कर्म केवल मूर्तद्रव्यो मे ही रहता है। इस दर्शन के अनुसार आत्मा व्यापक है, अतः इसमें कर्म नहीं होता। जैन दर्शन मे भावकर्म आत्मा में होता है और द्रव्यकर्म भी आत्मा के प्रदेशो के साथ संसारी अवस्था मे एक क्षेत्रावगाही रहता है, अतः वह आत्मा का कहा जाता है। वैशेषिक दर्शन मे कर्म और क्रिया दोनो को एक ही माना गया है। इसीलिए वहां कर्म पांच प्रकार के बतलाए गए हैं—(१) उत्क्षेपण (२) अवक्षेपण (३) आकुंचन (४) प्रसारण और (५) गमन। जैन दर्शन में क्रिया चाहे वह स्वप्रत्ययक हो अथवा परप्रत्ययक हो, प्रत्येक द्रव्य मे पाई जाती है, क्योंकि वहा प्रत्येक द्रव्य को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त माना गया है, जब कि कर्म या तो आत्मा का (वैभाविक) परिणाम होता है अथवा पौद्गलिक कर्म होता है, अन्य किसी प्रकार का कर्म नही होता है। वेदान्त दर्शन मे यद्यपि निष्पन्द ब्रह्म मे मायोपाधिक आस्पद या हलन-चलन कर्म माना गया है, किन्तु उस माया को वे मिथ्या मानते हैं, जैनधर्म उसे सर्वथा मिथ्या नही मानता है। वेदान्त ब्रह्म को स्थितिमय और सृष्टि को गत्यात्मक मानता है। जैनधर्म सब पदार्थों को स्थितिगतिमय मानता है।

सांख्य दर्शन मे सृष्टि-निर्माण के सम्बन्ध मे प्रकृति की मुख्यता है, क्योंकि पुरुष कर्ता नही है, वह निष्क्रिय है, कर्ता स्वयं प्रकृति है। इसलिए परिणमन भी प्रकृति मे होता है। कारण यह है कि पुरुष निष्क्रिय है और प्रकृति सक्रिय। जैन दर्शन में संसार का कारण आत्मा और कर्मपुद्गल दोनो हैं; क्योंकि आत्मा रागद्वेष करता है, उससे कर्मपुद्गल आकृष्ट होते हैं, कर्म पुद्गल के निमित्त से जीव रागद्वेष करता है, इस प्रकार का चक्र निरन्तर चलता रहता है। पुरुष अर्थात् आत्मा कथंचित् कर्ता है और कर्मपुद्गल भी कथंचित् कर्ता है। पुरुष या आत्मा सर्वथा निष्क्रिय नही है। जड और चेतन दोनो मे परिणमन होता है। सांख्य दर्शन मे पुरुष को बन्ध नहीं होता है, जैन दर्शन में संसारी अवस्था मे पुरुष का बन्ध होता है; क्योंकि जिसका बन्ध होता है, उसी का मोक्ष होना युक्तियुक्त ठहरता है। सांख्य दर्शन मे शुभ-अशुभ, सुख-दुःख प्रकृति के धर्म हैं। जैन दर्शन के अनुसार ये संसारी अवस्था मे आत्मा को होते हैं और इनके होने में कथंचित् प्रकृति या कर्म निमित्त है। सांख्य दर्शन मे पुरुष कर्ता नही भोक्ता है। जैन दर्शन मे पुरुष कर्ता भी है और भोक्ता भी है। जो कर्ता होता है, वही भोक्ता होता है, भोक्ता सर्वथा भिन्न नही होता है। सांख्य आत्मा को ज्ञानमय न मानकर ज्ञान को जड प्रकृति का धर्म कहता है। जैन दर्शन ज्ञान को आत्मा का धर्म कहता है।

बन्ध के निरूपक दो नय--बन्ध के निरूपक दो नय हैं—(१) निश्चय नय (२) व्यवहार नय। राग परिणाम ही आत्मा का कर्म है, वही पुण्य पाप रूप द्वैत है, आत्मा राग परिणाम का ही कर्ता है, उसी का ग्रहण करने वाला है और उसी का त्याग करने वाला है—यह शुद्ध द्रव्य का निरूपणस्वरूप निश्चय नय है और जो पुद्गल-परिणाम आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पाप रूप द्वैत है, आत्मा पुद्गल-परिणाम का कर्ता है, उसका ग्रहण करने वाला और छोडने वाला है, ऐसा अशुद्ध द्रव्य का निरूपणस्वरूप व्यवहार नय है। द्रव्य की प्रतीति शुद्ध रूप और अशुद्ध रूप दोनो प्रकार से की जाती है। निश्चयनय यहा साधकतम है, अतः उसका ग्रहण किया गया है। साध्य के शुद्ध होने से द्रव्य के शुद्धत्व का द्योतक होने से निश्चयनय ही साधकतम है, अशुद्धत्व का द्योतक व्यवहारनय साधकतम नही है।[4]

जीव की शुभ, अशुभ और शुद्ध अवस्थायें--जीव परिणाम स्वभावी होने से जब शुभ या अशुभ भावरूप परिणमन करता है, तब शुभ या अशुभ स्वयं होता है और जब शुद्ध रूप परिणमन करता है तब शुद्ध होता है।[5] धर्म से परिणमित स्वरूप वाला यदि शुद्ध उपयोग मे युक्त हो तो मोक्षसुख को प्राप्त करता है और यदि शुभोपयोग वाला हो तो स्वर्ग के सुख को प्राप्त करता है।[6] अशुभ उदय से आत्मा कुमनुष्य,

---

१. प्रवचनसार, १८७

२. तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या, १८७

३. प्रवचनसार, १८८

४. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या, १८९

५. 'जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो॥', प्रवचनसार, ९

६. वही, ११

तिर्यंच और नारकी होकर हजारों दुःखों से सदा पीड़ित होता हुआ संसार में अत्यन्त भ्रमण करता है।[1]

बौद्ध दर्शन में दुःख का कारण तृष्णा बतलाई गई है। मनुष्य को जहां सुख एवं आनन्द मिलता है, वहां ही उसकी प्रवृत्ति होती है। उसकी यह अधिक प्रवृत्ति या चाह ही तृष्णा कहलाती है। यह तृष्णा ही पुनः पुनः उत्पन्न कराती है अर्थात् तृष्णा पौनर्भविकी है। नन्दि और राग से सहगत है। जहां-जहां सत्व उत्पन्न होते हैं, वहा वहां तृष्णा अभिनन्दन करती-कराती है अतएव तृष्णा पौनर्भविकी, नन्दिरागसहगता और तत्रतत्राभिनन्दिनी कही गई है।[2] आचार्य कुन्दकुन्द ने दुःख का मूल कारण रागद्वेष (तृष्णा) को कहा है। उनके अनुसार जिसने वस्तु-स्वरूप को जान लिया है, ऐसा जो ज्ञानी द्रव्यों मे राग व द्वेष को नही प्राप्त होता है, वह उपयोग विशुद्ध होता हुआ देहोत्पन्न दुःख का क्षय करता है।[3] बौद्ध दर्शन के अनुसार पंचेन्द्रिय और उनके विषय जो कि प्रिय, मनोज्ञ, एवं आनन्दकर हैं, तृष्णा से उत्पन्न होते हैं।[4] सत्त्व इनमें आसक्त हो इन्हें ही सुखरूप मानकर उनमे ही आनन्द लेते हैं, जिससे तृष्णा बढ़ती ही जाती है। तृष्णा से उपादान, भव, जाति, जरामरण आदि दुःख उद्भूत होते है। जैन दर्शन मे शरीर तथा इन्द्रियो की निमिति के कारण जीव के द्रव्य और भावकर्म है। इनमे भावकर्मों का मूल कारण तृष्णा अथवा राग, द्वेष और मोह हैं। इनमे मे रागद्वेष को दुःख का कारण ऊपर कुन्दकुन्द बतला ही चुके हैं। मोह के विषय मे उनका विचार है कि पापारम्भ को छोडकर शुभ चारित्र मे उठा हुआ भी जीव यदि मोहादि को नही छोडता तो वह शुद्ध आत्मा को नही पाता है।[5]

आत्मा का परिणमन—यदि आत्मा स्वयं स्वभाव से शुभ या अशुभ नही होता (शुभाशुभ भाव मे परिणमित ही नही होता) तो समस्त जीवनिकायों के ससार भी विद्यमान नही है, ऐसा सिद्ध होगा।[6]

शंका—संसार का अभाव तो सांख्यो के लिए दूषण नही, किन्तु भूषण ही है।

समाधान—ऐसा नही है। संसार का अभाव ही मोक्ष कहा जाता है। वह मोक्ष ससारी जीवो का नही दिखाई देता है। यदि संसारी जीवो के भी मोक्ष मानो तो प्रत्यक्ष से विरोध हो जाएगा।[7]

शुद्धोपयोग का अधिकारी—जिन्होने पदार्थों और सूत्रो को भली प्रकार जान लिया है, जो सयम और तपयुक्त है, जो वीतराग हैं तथा जिन्हें सुख दुःख समान है, ऐसे श्रमण शुद्धोपयोगी है।[8]

शुद्धोपयोगी की अवस्था—जो शुद्धोपयोगी है, वह आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहरूप रज से रहित स्वयमेव होता हुआ ज्ञेयभूत पदार्थों के पार को प्राप्त होता है। इस प्रकार वह आत्मा स्वभाव को प्राप्त, सर्वज्ञ और सर्वलोक के अधिपतियो से पूजित स्वयमेव हुआ होने से स्वयम्भू है।[9] तात्पर्य यह कि (१) शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए आत्माओ का सुख सातिशय, आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनन्त और अविच्छिन्न है अर्थात् अनादि ससार से जो पहले कभी अनुभव में नही आया ऐसा अपूर्व परम अद्भुत आह्लाद रूप होने से अतिशय (२) आत्मा का ही आश्रय लेकर (स्वाश्रित) प्रवर्तमान होने से आत्मोत्पन्न (३) पराश्रय से निरपेक्ष होने से विषयातीत (४) अत्यन्त विलक्षण होने से अनुपम (५) समस्त आगामी काल में कभी भी नाश को प्राप्त न होने से अनन्त और (६) बिना ही अन्तर के प्रवर्तमान होने से अविच्छिन्न सुख शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए आत्माओ के होता है, इसलिए वह सुख सर्वथा वाञ्छनीय है।[10]

केवलज्ञानी अबन्धक है—केवलज्ञानी आत्मा पदार्थों को जानता हुआ भी उस रूप मे परिणमित नही होता, उन्हे ग्रहण नही करता और उन पदार्थों के रूप मे उत्पन्न नही होता। इसलिए उसे अबन्धक कहा गया है।[11] बौद्धदर्शन मे कहा गया है कि वेदना तृष्णा का कारण है, तब अर्हत् को वेदना होने से उसे तृष्णा होगी। अर्हत इस प्रकार तृष्णावान् कहलाएगा। परन्तु ऐसा नही कहा जा सकता, क्योंकि तृष्णा का बीज प्रतिपक्ष विशेष के होने से ही उद्भूत होता है। अर्हत् को वेदना के रहने पर भी अविद्या बीज के अभाव मे तृष्णा की उत्पत्ति नही होती।[12]

१ प्रवचनसार १२
२. 'कतम च भिक्खवे दु.खसमुदय अरियसच्च ?
यायं तण्हा पोनोभविका नदीरागसहगता तत्रतत्राभिनन्दिनी ॥', दीघनिकाय, १, ३०८
३. 'एव विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ॥', प्रवचनसार, ७८
४. मज्झिमनिकाय, १/२५६-२७१
५. 'चत्ता पावारम्भं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि।
ण जहदि जदि मोहादीणलहदि सो अप्पग सुद्धं ॥', प्रवचनसार, ७९
६. वही, ४६
७. जयसेनाचार्यविरचित तात्पर्यवृत्ति व्याख्या, ४६
८. प्रवचनसार, १४
९. वही, १५-१६
१०. वही, तत्त्वप्रदीपिका, १३
११. प्रवचनसार, ५२
१२. अर्थविनिश्चय, पृ० १२८-१२९

जैन दर्शन में भी अर्हन्तावस्था मे वेदनीय कर्म का सद्भाव बतलाया गया है, किन्तु मोह (तृष्णा) कर्म के अभाव के कारण वह वेदनीय कर्म कुछ भी फल देने मे समर्थ नही हो पाता है। अविद्या अथवा मिथ्यात्व के अभाव के कारण मोह नही रहता है।

जहां तक इन्द्रियां हैं वहां तक स्वभाव से ही दुःख है—जिन्हे विषयो में रति है, उन्हें स्वाभाविक दुःख है। यदि वह दुःख स्वभाव न हो तो विषयार्थ मे व्यापार न हो।[1] धम्मपद मे भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जिसके चित्त मे बहुत संकल्प विकल्प होते हैं और जिसके तीव्रराग होता है, वह सत्त्व शुभ ही शुभ देखता है, उसकी तृष्णा बढती है। वह अपने बन्धन और अधिक दृढ करता है। आगे और भी कहा गया है जो राग मे रत है, वह मकडी के द्वारा अपने बनाए हुए जाले की तरह प्रवाह मे फंसे हुए हैं। तृष्णा रूपी सरिता स्निग्ध होती है, सत्त्वो के चित्त को अच्छी लगती है। इनके बन्धन मे बधे सत्त्व आनन्द की खोज करते हैं। भगवान् सदैव ही सत्त्वो को इस अंकुरित होने वाली तृष्णा लता को प्रज्ञारूपी कुठार से काटने की प्रेरणा देते हैं।[2] आचार्य कुन्दकुन्द ने शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनो का एक प्रकार से निषेध किया है। वे कहते हैं—उपयोग यदि शुभ हो तो जीव का पुण्य तथा अशुभ हो तो पाप संचय को प्राप्त होता है। इन दोनो के अभाव में सचय नही होता।[3]

आत्मा ही सुख दु.ख रूप होती है, देह नहीं—स्पर्शनादिक इन्द्रिया जिनका आश्रय लेती हैं ऐसे इष्ट विषयो को पाकर (अपने शुद्ध) स्वभाव से परिणमन करता हुआ आत्मा स्वय ही सुखरूप (इन्द्रिय सुख रूप) होता है, देह सुख रूप नही होता।[4] एकाल से अर्थात् नियम से स्वर्ग मे भी शरीर शरीरी (आत्मा) को सुख नही देता, परन्तु विषयो के वश से सुख अथवा दुःख रूप स्वय आत्मा होता है।[5] यदि प्राणी की दृष्टि तिमिरनाशक हो तो दीपक से कोई प्रयोजन नही है अर्थात् दीपक कुछ नही कर सकता। उसी प्रकार जहा आत्मा स्वय सुखरूप परिणमन करता है, वहा विषय क्या कर सकते हैं?[6]

इन्द्रिय सुख दुःख ही है—जो इन्द्रियो से प्राप्त होता है, वह सुख परसम्बन्धयुक्त बाधासहित, विच्छिन्न, बन्ध का कारण और विषम है, इस प्रकार वह दु.ख ही है।[7] तात्पर्य यह कि इन्द्रियसुख को परद्रव्य की अपेक्षा होती है, अतः वह सपर है। पारमार्थिक सुख परद्रव्य से निरपेक्ष आत्माधीन होता है। तीव्र क्षुधा, तृष्णा आदि अनेक बाधाओ सहित होने के कारण इन्द्रियसुख बाधासहित है। निजात्मसुख पूर्वोक्त समस्त बाधाओ से रहित होने के कारण अव्याबाध है। इन्द्रियसुख प्रतिपक्षभूत असातावेदनीय कर्म के उदय से विच्छिन्न होता है, इसके विपरीत अतीन्द्रियसुख प्रतिपक्षभूत असातावेदनीय कर्म के अभाव से निरन्तर होता है। दृष्ट, श्रुत और अनुभूत भोगाकाक्षा प्रभृति अनेक अपध्यान के वश से भावी नरक दु खो के उत्पादक कर्म बन्ध का उत्पादक होने से इन्द्रिय सुख बन्ध का कारण है, अतीन्द्रिय सुख समस्त बुरे ध्यानो से रहित होने के कारण बन्ध का कारण नही है। इन्द्रिय सुख मे परम शान्ति नही रहती अथवा उसमे हानिवृद्धि होती रहती है, अतः वह विषम है। अतीन्द्रिय सुख परमतृप्तिकर तथा हानि और वृद्धि से रहित है। इस प्रकार इन्द्रियो से लब्ध ससार सुख दु ख रूप ही है।[8]

आत्मज्ञान का उपाय—जो अरहन्त को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने से जानता है, वह आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है। जिसने मोह को दूर किया है और आत्मा के सम्यक् तत्त्व को प्राप्त किया है, ऐसा जीव यदि राग द्वेष को छोडता है तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है।[9]

राग, द्वेष तथा मोह क्षय करने योग्य क्यों है?—मोहरूप, रागरूप अथवा द्वेषरूप परिणमित जीव का विविध बन्ध होता है, इसलिए वे सम्पूर्णतया क्षय करने योग्य है।[10] साख्य दर्शन मे माने गए सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण प्रीति, अप्रीति तथा विषादात्मक हैं।[11] तत्वकौमुदीकार ने प्रीति का अर्थ सुख, अप्रीति का अर्थ दु ख तथा विषाद का अर्थ मोह किया है।[12] ये तीनो जैन दर्शन मे कहे हुए राग, द्वेष और मोह ही हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार राग, द्वेष और मोह सम्यग्दृष्टि के नही है। इसीलिए आस्रवभाव के बिना द्रव्य-प्रत्यय कर्म

---

१. प्रवचनसार, ६४

२. 'ये रागरत्तानुपतन्ति सोतं सयकतं मक्कटको व जालं ।।', धम्मपद, ३४७, ३४१ व ३४०

३. प्रवचनसार, १५६

४. वही, ६५

५. 'एगतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ।।', वही, ६६

६. वही, ६७

७. वही, ७६

८ वही, तात्पर्यवृत्ति, ७६

९. प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति, ८०-८१

१०. वही, ८४

११. सांख्यकारिका, १२

१२. सांख्यतत्त्वकौमुदीव्याख्या, कारिका १२

बन्ध के कारण नहीं हैं।[1] तात्पर्य यह कि सम्यग्दृष्टि में राग, द्वेष व मोह नही हैं,क्योंकि राग, द्वेष व मोह के अभाव के बिना सम्यग्दृष्टि नहीं बना जा सकता। राग, द्वेष व मोह के अभाव से उस सम्यग्दृष्टि के द्रव्यास्रव पुद्गल कर्म के बंधने का कारण नहीं बन सकते; क्योंकि द्रव्यास्रव के—पुद्गल कर्म बंधने के कारणपने का कारणपना रागादिक ही है, इसलिए कारण के कारण का अभाव प्रसिद्ध है, इस कारण ज्ञानी का बन्ध नहीं होता।[2] उपर्युक्त राग, द्वेष तथा मोह सांख्य के अनुसार प्रकृति के धर्म हैं तथा जैनदर्शन मे भी इनका कारण कथंचित् प्रकृति (द्रव्यकर्म) है।

मोह के चिह्न—पदार्थों का अन्यथाग्रहण, तिर्यंच-मनुष्यों के प्रति करुणाभाव तथा विषयों की संगति यह सब मोह के चिह्न हैं।[3] शुद्धात्मादि पदार्थ जो कि यथास्वरूप स्थित हैं, उनमें विपरीताभिनिवेश से अयथाग्रहण अन्यथाग्रहण है। शुद्धात्माकी उपलब्धि लक्षण परम उपेक्षा संयम से विपरीत दयापरिणाम करुणाभाव है अथवा व्यवहार से यहां करुणा का अभाव ग्रहण किया जा सकता है। ये सब दर्शनमोह के चिह्न हैं। निर्विषय सुखास्वाद से रहित बहिरात्मा जीवों के मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों में जो प्रकृष्टता से ससर्ग है, उसे देखकर प्रीति और अप्रीतिरूप लिंगों से चारित्रमोह नाम वाले रागद्वेष जाने जाते हैं। उक्त जानकारी के अनन्तर ही निर्विकार स्वशुद्ध भावना से राग, द्वेष तथा मोह नष्ट करने चाहियें।[4]

मोहक्षय के उपाय—प्रवचनसार में मोहक्षय के निम्नलिखित उपाय बतलाए गए हैं—

१. **जिनशास्त्र का अध्ययन**—जिनशास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जानने वाले के नियम से मोह का समूह क्षय हो जाता है, इसलिए शास्त्र का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिए।[5] तात्पर्य यह कि वीतराग सर्वज्ञप्रणीत शास्त्र से कोई भव्य एक शाश्वत आत्मा ही मेरा है, इत्यादि परमात्मा के उपदेशक श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को जानता है, तदनन्तर विशिष्ट अभ्यास के वश परमसमाधि काल में रागादि विकल्प से रहित मानसप्रत्यक्ष से उसी आत्मा की जानकारी करता है, अथवा उसी प्रकार अनुमान से जानकारी करता है। जैसेकि 'इसी देह में निश्चयनय से शुद्ध, बुद्ध, एकस्वभाव वाला परमात्मा है, क्योंकि निर्विकार स्वसवेदन प्रत्यक्ष हो रहा है, जैसेकि सुखादि का प्रत्यक्ष होता है।' इसी प्रकार अन्य पदार्थ भी यथासंभव आगम के अभ्यास के बल से उत्पन्न प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से जाने जाते हैं। अत: मोक्षार्थी भव्य को आगम का अभ्यास करना चाहिए।[6] जो जिनेन्द्र के उपदेश को प्राप्त करके मोह राग-द्वेष को हनता है, वह अल्पकाल मे समस्त दु:खों से छूट जाता है।

२. **स्व-पर विवेक**—यदि आत्मा अपनी निर्मोहता चाहता है तो जिनमार्ग से गुणो के द्वारा द्रव्यो मे स्व और पर को जाने[7] अर्थात् जिनागम द्वारा ऐसा विवेक करना चाहिए कि अनन्त द्रव्यो मे से यह स्व है और यह पर है।

निर्वाण की सम्प्राप्ति—प्रवचनसार की आरम्भिक गाथाओं में पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करके उनके विशुद्ध दर्शन-ज्ञान प्रधान आश्रम की प्राप्ति के अनन्तर साम्यभाव की प्राप्ति बतलाई है तथा साम्यभाव से मोक्ष[8] की प्राप्ति प्रतिपादित की गई है। आचार्य जयसेन और अमृतचंद्र ने यहां सम्मं का अर्थ चारित्र माना है।[9] अमृतचन्द्राचार्य ने उसके वीतराग और सराग दो भेद किए हैं तथा वीतराग चारित्र की प्राप्ति मुख्य ध्येय बतलाई है। वे कहते हैं कि सम्यग्दर्शन सम्पन्न होकर जिसमे कषाय-कण विद्यमान होने से जीव को जो पुण्यबध की प्राप्ति का कारण है ऐसे सराग चारित्र को—वह (सराग चारित्र) क्रम से आ पडने पर भी दूर उल्लंघन करके जो समस्त कषाय-क्लेश रूपी कलक से भिन्न होने से निर्वाण प्राप्ति का कारण है, ऐसे वीतराग चारित्र को प्राप्त करता हू। इसी बात को आचार्य कुन्दकुन्द ने इस रूप मे वर्णित किया है कि चारित्र धर्म है और जो धर्म है वह साम्य है तथा साम्य मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम है। तात्पर्य यह कि धर्म, चारित्र और साम्य ये तीनो शब्द एक ही अर्थ को व्यक्त करते हैं। द्रव्य जिस समय जिस भाव से परिणमन करता है, उस समय तन्मय है। इसलिए धर्मपरिणत आत्मा को धर्म समझना चाहिए।[10] इस धर्म (चारित्र अथवा साम्यभाव) से ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

---

१. समयसार, १७७
२. वही, आत्मख्याति टीका, पृ० २४४
३. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, ८५
४. वही
५. 'जिण सत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ॥', प्रवचनसार, ८६
६. वही, तात्पर्यवृत्ति व्याख्या, ८६
७. प्रवचनसार, ९०
८. 'किच्चा अरहन्ताणं············सव्वेसिं।
तेसिं विसुद्धदसणणाणपहाणासमं समासेज्ज।
उवसपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाण सपत्ती ॥', प्रवचनसार ४-५
९. वही, तत्त्वप्रदीपिका तथा तात्पर्यवृत्ति, ४/५
१०. प्रवचनसार, ७-८

श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में

जैन-तत्त्व-चिन्तन

श्री जगबीर कौशिक

जैन धर्म संसार के प्राचीन धर्मों में से एक है। देवेन्द्रमुनि[1] के अनुसार जैनाचार्य जैन धर्म को एक ऐसा उदार एवं लोकप्रिय धर्म बनाना चाहते थे, जिससे ब्राह्मण संस्कृति के अनुयायी भी आकर्षित हो पायें तथा जैन समाज मौलिक तत्वों में भी किसी प्रकार का विरोध न आए। यदि जैनेतर आचार्यों के द्वारा किसी प्रकार का विरोध आता था तो उसका जैनाचार्य शास्त्रार्थ के द्वारा परिहार करते थे। आलोच्य अभिलेखों में इस प्रकार के एकाधिक वर्णन प्राप्त होते हैं।[2]

धर्म का स्वरूप—पउमचरिय में[3] जीवों की दया और कषायों के निग्रह को धर्म कहा गया है। स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोकना निग्रह है। आलोच्य अभिलेखों में[4] इस प्रकार के निग्रह की स्थान-स्थान पर चर्चा आई है। मोह और क्षोभ से रहित आत्मा के शुद्ध परिणाम को भावप्राभृत[5] में धर्म माना गया है। अभिप्राय यह है कि मोक्ष को जैन परम्परा में धर्म माना गया है। आलोच्य अभिलेखों में मोक्ष का मुक्ति, कैवल्य, प्रमोक्ष इत्यादि शब्दों में उल्लेख किया गया है।[6]

आत्मा—दर्शन, ज्ञान, चारित्र को जो सदा प्राप्त हो वह आत्मा है। आलोच्य अभिलेखों में द्वादशात्मा[7] का उल्लेख हुआ है। सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र को मोक्ष का मार्ग माना गया है। इस रत्नत्रय के अभ्यास करने की विद्या या मत को स्याद्वाद या अनेकान्तवाद कहा जाता है। आलोच्य अभिलेखों में स्याद्वाद[8] और रत्नत्रय[9] की विविध स्थानों पर चर्चा हुई है।

नयवाद—सधर्मा दृष्टान्त के साथ ही साधर्म्य होने से जो बिना किसी प्रकार के विरोध के स्याद्वाद रूप परमागम में विभक्त अर्थ (साध्य) विशेष का व्यंजक (गमक) होता है, उसे नय कहते हैं।[10] आलोच्य अभिलेखों में नय का उल्लेख आया है[11] और इसके नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत आदि सात भेद बतलाते हैं।[12]

नैगम—सामान्य विशेष के संयुक्त रूप का निरूपण नैगम नय है।

संग्रह—केवल सामान्य का निरूपण संग्रह नय है।

व्यवहार—केवल विशेष का निरूपण व्यवहार नय है।

ऋजुसूत्र—क्षणवर्ती विशेष का निरूपण ऋजुसूत्र नय है।

शब्द—रूढ़ि से होने वाली शब्द की प्रवृत्ति का अभिप्राय शब्द नय है।

---

१. साहित्य और संस्कृति, वाराणसी, १९७०, पृ० ५७
२. जैन शिलालेखसंग्रह, भाग १, ले० सं० ४९२, ३९/२, ५०
३. पउमचरिय, २६/३४
४. जै० शि० सं०, भाग १, ले० सं० ५४/२७
५. भावप्राभृत, ८१
६. जै० शि० सं०, भाग १, ले० सं० १०८/५८, १०५/७, १०५/५
७. वही, ले० सं० १०८/३६
८. वही, ५४/५४, ८२/१
९. वही, ५४/७१, ८२/४
१०. आप्तमीमांसा, १०६
११. जै० शि० सं०, भाग १, ले० सं० ५४/३
१२. वही, ११३

समभिरूढ़—व्युत्पत्ति से होने वाली शब्द की प्रवृत्ति का अभिप्राय समभिरूढ नय है।

एवम्भूत—वर्तमानकालिक या तत्कालभावी व्युत्पत्ति से होने वाली शब्द की प्रवृत्ति का अभिप्राय एवम्भूत नय है।

प्रमाण और उसका विषय—स्याद्वाद के अन्तर्गत प्रमाण, उसका विषय (प्रमेय) तथा नय की विवेचना की जाती है। तत्त्वार्थ सूत्र में सम्यग्ज्ञान को प्रमाण माना गया है। सम्यग्ज्ञान के पाच भेद होते है—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल। आलोच्य श्रवण-बेल्गोला के अभिलेखो मे इनमे से श्रुत[1] और केवलज्ञान[2] का उल्लेख हुआ है।

श्रुतज्ञान—जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार श्रुत ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर निरूप्यमाण पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनता है या सुनना मात्र 'श्रुत' कहलाता है। तत्त्वार्थ सूत्र मे श्रुत ज्ञान को परोक्ष प्रमाण माना गया है।[3] वह एक ज्ञान विशेष के अर्थ मे निबद्ध है। पहले लेखनक्रिया का जन्म न होने के कारण, समूचा ज्ञान गुरुशिष्यपरम्परा से सुन-सुनकर ही प्राप्त होता था। शास्त्रो में निबद्ध होने के पश्चात् भी वह श्रुत संज्ञा से ही अभिहित होता रहा। जैनाचार्यों के अनुसार वे ही शास्त्र श्रुत कहलायेंगे, जिनमें भगवान् की दिव्य ध्वनि का प्रतिनिधित्व हुआ है।[4]

केवलज्ञान—केवल शब्द का अर्थ एक या असहाय होता है।[5] ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान के अवान्तर भेद मिटकर ज्ञान एक हो जाता है। फिर उसे इन्द्रिय और मन के सहयोग की अपेक्षा नही होती, इसलिए वह केवल कहलाता है। उमास्वाति ने केवलज्ञान का प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप मे विवेचन किया है।[6]

जैन परम्परा में सर्वज्ञता का सिद्धान्त मान्य रहा है। केवलज्ञानी केवलज्ञान उत्पन्न होते ही लोक और अलोक दोनों को जानने लगता है।[7]

केवलज्ञान का विषय सब द्रव्य और पर्याय है। मति को छोड शेष चार ज्ञान के अधिकारी केवली कहलाते हैं—श्रुतकेवली, अवधिज्ञानकेवली, मनःपर्ययज्ञानकेवली और केवलज्ञानकेवली।[8] इनमे श्रुतकेवली और केवलज्ञानी का विषय समान है। दोनो सब द्रव्यों और सब पर्यायो को जानते हैं। इनमे केवल जानने की पद्धति का अन्तर है। श्रुतकेवली शास्त्रीयज्ञान के माध्यम से तथा क्रमश: जानता है और केवलज्ञानकेवली उन्हें साक्षात् तथा एक साथ जानता है।

आलोच्य अभिलेखो मे केवलज्ञान का पर्यायवाची 'अपवर्ग' शब्द भी प्राप्त होता है।[9] यह मूलत न्याय दर्शन का शब्द है, न कि जैन दर्शन का। न्याय दर्शन के अनुसार अपवर्ग दु:खदायी जन्म से अत्यन्त विमुक्ति का नाम है।

पदार्थ के भेद—श्रवणबेल्गोला के अभिलेखो मे प्रमाण के विषय का पदार्थ शब्द से उल्लेख किया गया है।[10] श्रवणबेल्गोला के आलोच्य अभिलेखो मे यद्यपि पदार्थ के भेदो का स्वतन्त्र रूप से उल्लेख नही हो पाया तथापि कर्म[11], निरस्तकर्म,[12] बद्धकर्म[13] आदि शब्दो से उनका परोक्ष रूप से उल्लेख हो जाता है।

कर्म का अर्थ है, जो जीव को परतन्त्र करे अथवा मिथ्यादर्शन आदि रूप परिणामो से युक्त होकर जीव के द्वारा जो उपार्जन किये जाते हैं, वे कर्म है।

आत्मा का मूल स्वरूप अनन्त दर्शन-ज्ञान-चारित्र-वीर्य रूप शक्ति का शाश्वत उज्ज्वल पिण्ड है। परन्तु उन पौद्गलिक कर्मों के कारण वह विकृत हो जाता है। कर्म के सन्दर्भ मे जैनाचार्यो का कथन है कि जिस प्रकार पौद्गलिक मदिरा अमूर्तिक चेतना मे विकार भाव उत्पन्न कर देती है। उसी प्रकार पौद्गलिक कर्म भी अमूर्त आत्मा को प्रभावित करते हैं। अविद्या, माया, वासना, मल, प्रकृति, कर्म, मोह,

---

१ जै० शि० स०, ५४/३१, १०५/६, ८
२ वही, १०८ ५८, १०५/७, १५
३. 'आद्ये परोक्षम्', तत्त्वार्थसूत्र, १/११
४. सपा० जुगलकिशोर आचार्य समन्तभद्र कृत समीचीन धर्मशास्त्र, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, १९५५, १/९, पृ० ४३
५. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८४
६. 'प्रत्यक्षमन्यत्', तत्त्वार्थसूत्र, १/१२
७. दशवैकालिकसूत्र, ४/२२
८. स्थानांगसूत्र, ३/५१३
९. जै० शि० स०, भाग १, ले० स० ८२/४
१०. वही, १०५/१८
११. वही, ५४/३३
१२. वही, १०५/३
१३ वही, १०८/७

मिथ्यादर्शन, अज्ञान—ये सभी शब्द समानार्थक हैं।

आचार--आलोच्य अभिलेखों में आचार संज्ञा का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] जैन परम्परा में आचार और विचार को समान स्थान दिया गया है। अहिंसामूलक आचार एवं अनेकान्तमूलक विचार का प्रतिपादन जैन विचारधारा की विशेषता रही है। उपर्युक्त अभिलेखों में पञ्चाचार (श्रमणाचार)[2] और श्रावकाचार (एकादशाचार)[3] का उल्लेख हुआ है।

श्रमणाचार (पञ्चाचार)—श्रमण के व्रत महाव्रत अर्थात् बड़े व्रत कहलाते हैं। क्योंकि वह हिंसादि का पूर्णतः त्यागी होता है। श्रावक, उपासक, देशविरत, सागार, श्राद्ध, देशसयत आदि शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं। श्रावक के व्रत अणुव्रत अर्थात् छोटे व्रत कहलाते हैं क्योंकि वह हिंसादि का अंशतः त्याग करता है। सर्वविरति अर्थात् सर्वत्याग रूप महाव्रत पांच हैं– (१) सर्वप्राणातिपात-विरमण (२) सर्वमृषावाद-विरमण (३) सर्वअदत्तादान-विरमण (४) सर्वमैथुन-विरमण (५) सर्वपरिग्रह-विरमण। इन पांच महाव्रतों को ही श्रवणबेल्गोला के आलोच्य अभिलेखों में पञ्चाचार कहा गया है।[4] प्राणातिपात अर्थात् हिंसा का सर्वतः विरमण यानि पूर्णतः त्याग सर्वप्राणातिपात-विरमण कहलाता है। इसी प्रकार मृषावाद अर्थात् झूठ, अदत्तादान अर्थात् चोरी, मैथुन अर्थात् कामभोग और परिग्रह अर्थात् संग्रह अथवा आसक्ति का पूर्णतः त्याग क्रमशः सर्वमृषावाद-विरमण, सर्वअदत्तादान-विरमण, सर्वमैथुन-विरमण और सर्वपरिग्रह-विरमण कहलाता है।

श्रावकाचार—जैन आचारशास्त्र में व्रतधारी-गृहस्थ श्रावक, उपासक, अणुव्रती, देशविरत, सागार आदि नामों से जाना जाता है। चूंकि वह श्रद्धापूर्वक अपने गुरुजनों अर्थात् श्रमणों से निर्ग्रन्थ-प्रवचन का श्रवण करता है। अतः उसे श्राद्ध अथवा श्रावक कहते हैं। श्रमण वर्ग की उपासना करने के कारण वह श्रमणोपासक अथवा उपासक कहलाता है। अणुव्रतरूप एकदेशीय अर्थात् अपूर्ण सयम अथवा विरति धारण करने के कारण उसे अणुव्रती, देशविरत, देशसयमी अथवा देशसयत कहा जाता है। चूंकि वह आगार अर्थात् घरवाला है– उसने गृह-त्याग नहीं किया है। अतः उसे सागार, आगारी, गृहस्थ, गृही आदि नामों से पुकारा जाता है। श्रावकाचार से सम्बन्धित ग्रन्थों अथवा प्रकरणों में उपासक धर्म का प्रतिपादन तीन प्रकार से किया गया है—(१) बारह व्रतों के आधार पर (२) ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर (३) पक्ष, चर्या अथवा निष्ठा एवं साधन के आधार पर। उपासकदशाग, तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्ड-श्रावकाचार आदि में सल्लेखना सहित बारह व्रतों के आधार पर श्रावक धर्म का प्रतिपादन किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्रप्राभृत में, स्वामी कार्तिकेय ने अनुप्रेक्षा में एवं आचार्य वसुनन्दि ने वसुनन्दि-श्रावकाचार में ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर श्रावक-धर्म का प्ररूपण किया है। इन एकादश श्रावकाचारों का आलोच्य अभिलेखों में भी उल्लेख मिलता है। कुन्दकुन्द[5] और वसुनन्दि ने[6] श्रावकों के ग्यारह भेदों का वर्णन किया है। दार्शनिक, व्रतिक, सामयिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तविरत, ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत—ये श्रावकों के ग्यारह भेद होते हैं। इन ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर एकादश श्रावकाचार बतलाये गये हैं।

सल्लेखना- श्रावकाचारों में से एक आचार सल्लेखना भी है। जिसका आलोच्य अभिलेखों में उल्लेख हुआ है।[7] जीवन के अन्तिम समय में अर्थात् मृत्यु आने के समय तप विशेष की आराधना करना सल्लेखना कहलाता है। इसे शास्त्रीय परिभाषा में अपश्चिम-मारणान्तिक सल्लेखना कहते हैं। मारणान्तिक सल्लेखना का अर्थ होता है—मरणान्त के समय अपने भूतकालीन समस्त कृत्यों की सम्यक् आलोचना करके शरीर व कषायादि को कृश करने के निमित्त की जाने वाली सबसे अन्तिम तपस्या। सल्लेखनापूर्वक होने वाली मृत्यु को जैन आचार-शास्त्र में समाधिमरण कहा गया है। जब शरीर भारभूत हो जाता है तब उससे मुक्ति पाना ही श्रेष्ठ होता है। ऐसी अवस्था में बिना किसी प्रकार का क्रोध किए प्रशान्त एवं प्रसन्नचित्त से आहारादि का त्याग कर आत्मिक चिन्तन करते हुए समभावपूर्वक प्राणोत्सर्ग करना सल्लेखना व्रत का महान् उद्देश्य है।

ज्ञानाचार—अपनी शक्ति के अनुसार निर्मल किए गए सम्यग्दर्शनादि में जो यत्न किया जाता है, उसे आचार कहते हैं।[8] उपर्युक्त

१. जै० शि० स०, १०५/२
२. वही, ११३
३. वही, १०८
४. वही, ११३
५. चरित्रसार, ३/३
६. वसुनन्दि-श्रावकाचार, ४
७. जै० शि० स०, भाग १, ले० स० ५४, १०८/६२
८. सागार-धर्मामृत, ७/३५

आचारों के अतिरिक्त सम्यग्दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार आदि पांच आचार[1] और बतलाये हैं। इनमें से आलोच्य अभिलेखों में ज्ञानाचार[2] का उल्लेख हुआ है।

तप और समाधि—सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र को धारण करने वाले साधु के द्वारा जो कर्मरूपी मैल को दूर करने के लिए तपा जाता है उसे तप कहते हैं।[3] श्रवणबेल्गोला के आलोच्य अभिलेखों मे तप[4] और उसके बारह प्रकारो (द्वादश तप)[5] का उल्लेख हुआ है।

जैनों ने 'अनेकार्थ निघण्टु' मे 'चेतश्च समाधानं समाधिरिति गद्यते' कहकर चित्त के समाधान को ही समाधि कहा है।[6] उपर्युक्त अभिलेखों में समाधि[7] और उसके भेदों (सविकल्पक और निर्विकल्पक)[8] का एकाधिक बार उल्लेख हुआ है।

व्रत—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से निवृत्त होना व्रत है।[9] आशाधर के अनुसार किन्ही पदार्थों के सेवन का अथवा हिंसादि अशुभ कर्मों का नियत या अनियत काल के लिए संकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है।[10] श्रवणबेल्गोला के अभिलेखो मे व्रत का कई स्थलों पर उल्लेख आया है।[11] एक अभिलेख मे श्रावको के अणुव्रत या एकदेशव्रत तथा साधुओ के महाव्रत या सर्वदेशव्रत—इन दो भेदों का उल्लेख मिलता हैं।[12]

देवी-देवता—आत्मा के ज्ञानरूप का दिग्दर्शन कराने वाला कोई जैनाचार्य या राजा ऐसा नही हुआ, जिसने भगवान् के चरणों में स्तुति-स्तोत्रो के पुष्प न बिखेरे हो। जैनो मे देवी-देवताओं की पूजा-स्तुति होती रही है, ऐसा श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों के साक्ष्य से प्रमाणित होता है। आलोच्य अभिलेखों में अनेक जैन-अजैन देवी-देवताओ के उल्लेख मिलते है। इनकी सूची इस प्रकार है—धूर्जटि (शिव)[13], महेश्वर[14], वन-देवता[15], त्रिभुवनतिलक[16], शासनदेवता (चौबीस तीर्थंकर)[17], परमेश्वर[18], सरस्वती[19], पद्मावती[20] आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रवणबेल्गोला के आलोच्य अभिलेखो मे धर्म, दर्शन तथा आचार आदि से सम्बद्ध सामग्री उपलब्ध होती है परन्तु वह इतनी विवरणात्मक तथा स्पष्ट नही है जिससे धर्म, दर्शन तथा आचार के विविध पक्षो को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया जा सके।

---

१. प्रवचनसार, २०२
२. जै० शि० स०, भाग १, ले० स० ११३
३. पद्मनन्दि कृत पचविंशतिका, १/४८
४. जै० शि० स०, भाग १, ले० स० ५४/६६, १०८/६०, १०५/१६
५. वही, ११३
६. धनञ्जयनाममाला सभाष्य, श्लोक १२४, पृ० १०५
७. जै० शि० स०, भाग १, ले० स० १०८/४४
८. वही, १०८/२४, १०८/३०
९. तत्त्वार्थसूत्र, ७ १
१०. सागार-धर्मामृत, २/८०
११. जै० शि० स०, भाग १, ले० स० ५४, १०५, १०८
१२. वही, १०८/६०
१३. वही, ५४/८, १०५/५४
१४. वही, ५४/१८
१५. वही, ५४/४
१६. वही, १०५/४६
१७. वही, ५४/१०
१८. वही, ५४/१७
१९. वही, ५४/१७, १०५/५५
२०. वही, ५४/६, ५४/१२

प्रमाणमीमांसा : एक अध्ययन

श्री श्रीचन्द चोरड़िया

एक विवेचन

आत्मा का स्वरूप-गुण चैतन्य है। आत्मा से भिन्न जड पदार्थों मे यह लक्षण प्राप्त नही होता है। अत: यह चैतन्य गुण जड पदार्थों से आत्मा को भिन्न करने वाला होता है। ज्ञान और दर्शन की प्रवृत्ति को उपयोग कहते हैं।[1] चैतन्यलक्षण उपयोग रूप होता है। आत्मा के अनन्त गुणो मे यह चैतन्यात्मक उपयोग ही ऐसा असाधारण गुण है जिससे आत्मा लक्षित होता है।[2]

वस्तु मे दो प्रकार के गुण होते हैं—सामान्य गुण और विशेष गुण।[3] सामान्य गुण का ग्राही दर्शन और विशेष गुण का ग्राही ज्ञान है। दर्शन को निराकारोपयोग तथा ज्ञान को साकारोपयोग भी कहा जाता है। दर्शन का काल विषय और विषयी के सन्निपात के पहले है[4] जिसमें ज्ञेय का प्रतिभास नही होता है।[5] दार्शनिक ग्रथो मे दर्शन का काल विषय और विषयी के सन्निपात के अनन्तर है।[6] इस कारण से ही पदार्थ के सामान्यावलोकन के रूप से दर्शन की प्रसिद्धि हुई।[7] बौद्धो के द्वारा मानित निर्विकल्प ज्ञान और नैयायिकादि सम्मत निर्विकल्प प्रत्यक्ष नही है।

प्रमाण का लक्षण

ज्ञान के द्वारा वस्तु की विशेष अवस्थाओ का ज्ञान होता है। जिस ज्ञान का प्रतिभासित पदार्थ ठीक उसी रूप में मिल जाय जिस रूप मे कि उसका बोध हुआ है, वह ज्ञान प्रमाण कहलाता है।[8] ज्ञान की तरह दर्शन वस्तुस्पर्शी न होने के कारण प्रमाण की कोटि मे नही रखा जाता है। वह सामान्य अश का भी मात्र आलोकन ही करता है, निश्चय नहीं। जिस ज्ञान का प्रतिभासित पदार्थ जैसा का तैसा मिल जाता है, वह अविसवादी ज्ञान सत्य है और प्रमाण है।[9]

यद्यपि आगमिक क्षेत्र मे जो ज्ञान मिथ्यादर्शन का सहचारी है वह मिथ्या है और जो ज्ञान सम्यग्दर्शन का सहभावी है वह सम्यक् कहलाता है,[10] परन्तु दार्शनिक परम्परा साहित्य के अनुसार प्रतिभासित विषय का अव्यभिचारी होना ही प्रमाणता की कुजी है।[11]

प्रमीयते येन तत्प्रमाणम् अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो, उसे प्रमाण कहते हैं। ऐसा भी कहा जा सकता है जो प्रमा का साधकतम करण हो, वह प्रमाण है। जानना या प्रमारूप क्रिया चेतन है, अत: उसमे साधकतम उसी का गुण-ज्ञान ही हो सकता है। इन्द्रिय-सन्निकर्षादि स्वय अचेतन हैं, अतएव अज्ञान रूप होने के कारण प्रमिति मे साक्षात् करण नही हो सकते।[12] अधकार की निवृत्ति में दीपक की

---

१. 'उपयोगलक्षणो जीव:', जैनसिद्धांतदीपिका, प्र० २

२. 'उद्दिष्टस्यासाधारणधर्मवचनम्—लक्षणम्', प्रमाणमीमांसा, १/१

३. प्रमाणमीमांसा, १/१

४. 'विषयविषयिसम्पातात् पूर्वावस्था इत्यर्थ', धवला टी०, १४६

५. बृहद्द्रव्यस० टीका, गा० ४३

६ 'विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शन भवति', सर्वार्थसिद्धि, १/३५

७. 'विषयाकार एवास्य, प्रमाण तेन मीयते', प्रमाणसमुच्चय, पृ० २४

८. प्रमेयरत्नमाला, ६/१

९. 'यथाविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता', सिद्धिवि०, १/२०

१०. नदीसूत्र

११. 'प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्व येन तत्प्रमाण प्रमाया साधकतमम्', प्रमाणमीमांसा, १/१

१२. 'सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमनुपपन्नमर्थान्तरवत्', लघी० स्ववृत्ति, १/३

तरह अज्ञाननिवृत्ति में प्रमाण ही साधकतम होता है। जानाति क्रिया जानने रूप क्रिया ज्ञान गुण की पर्याय है, अतः उसमें अव्यवहित कारण ज्ञान ही हो सकता है। हितप्राप्ति और अहितपरिहार करने मे समर्थ प्रमाण ही हो सकता है।[1]

स्वरूप की दृष्टि से प्रत्येक ज्ञान अविसंवादी होता है, चाहे संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय रूप मे क्यों न हो।[2] यह नियम नही है कि ज्ञान घटपटादि पदार्थों की तरह अज्ञात रूप मे उत्पन्न हो जाय और पीछे मन आदि के द्वारा उसका ग्रहण हो। यदि ज्ञान अपने स्वरूप को न जाने तो उसके द्वारा पदार्थ का बोध भी नही हो सकता। अतः सशयादि ज्ञानो में भी ज्ञानाश का अनुभव अपने आप उसी ज्ञान के द्वारा होता है। जो ज्ञान स्वरूप का ही प्रतिभास करने मे असमर्थ है, वह पर का अवबोधक कैसे हो सकता है।[3]

स्वरूप की दृष्टि से सभी ज्ञान प्रमाण हैं। प्रमाणता और अप्रमाणता का विभाग बाह्य अर्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति से संबध रखता है। स्वरूप की दृष्टि से न कोई ज्ञान प्रमाण है और न प्रमाणाभास।[4]

आचार्यों ने प्रमाण के लक्षण मे **स्वपरावभासक** विषय दिया है। उस तत्वज्ञान को भी प्रमाण कहा है जो एक साथ सबका अवभासक होता है। ज्ञान चाहे अपूर्व पदार्थ को जाने या गृहीत अर्थ को, वह **स्वार्थव्यवसायात्मक** होने से प्रमाण ही है।[5] कतिपय आचार्यों ने **अविसंवाद** को प्रमाणता का आधार माना है।[6]

उत्तरकालीन जैन आचार्यों ने प्रमाण का लक्षण—**सम्यग्ज्ञान** और **सम्यगर्थनिर्णय** किया है अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थ का यथार्थ रूप से निर्णय किया जाता है, उसे प्रमाण कहते हैं।[7]

यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान और प्रमाण का व्याप्य-व्यापक सबध है। ज्ञान व्यापक है और प्रमाण व्याप्य है। ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार का होता है। सम्यक् निर्णायक ज्ञान यथार्थ होता है और सशय, विपर्यय आदि ज्ञान अयथार्थ। प्रमाण केवल यथार्थ-ज्ञान होता है। वस्तु का सशयादि से रहित जो निश्चित ज्ञान होता है, वह प्रमाण है।

प्रमाण सामान्य लक्षण की तार्किक परम्परा के उपलब्ध इतिहास मे कणाद का स्थान प्रथम है। उन्होंने **अदुष्टमविद्या** कहकर प्रमाण सामान्य का लक्षण कारण-शुद्धि-मूलक सूचित किया है। आचार्य वात्स्यायन ने **उपलब्धिहेतुत्व** को प्रमाण सामान्य का लक्षण कहा है।[8] संभवतः उन्होने उपलब्धि रूप फल की ओर दृष्टि न रखकर ऐसा कहा हो। वाचस्पति मिश्र ने **अर्थ** पद का संबध जोडकर प्रमाण सामान्य का लक्षण सूचित किया।[9] प्रमाण सामान्य का यह लक्षण बाद के सभी न्याय-वैशेषिक दर्शनो मे मान्य है।[10]

उपर्युक्त प्रमाण-सामान्य की परिभाषा मे **स्वपरप्रकाशत्व** की चर्चा का विवेचन नही मिलता, न सम्यक् रूप से जानने की क्रिया का उल्लेख है।[11] अतः प्रमाण-सामान्य लक्षण सम्यक् प्रकार से घटित नही होता है।

यद्यपि प्रभाकर (मीमासक) ने **अनुभूति** मात्र को ही प्रमाण माना है[12] तथा कुमारिल भट्ट ने **अनधिगतार्थगन्तृ** को प्रमाण माना है।[13] परन्तु इस लक्षण से भी स्वपरप्रकाशत्व का बोध नही होता है।

---

१. 'हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाण ततो ज्ञानमेव तत्', परीक्षामुख, १/२

२. 'भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः।
बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाण तन्निभं च ते ॥', आप्तमीमांसा, ७३

३ 'प्रमेय नान्यथा गृह्णातीति यथार्थत्वमस्य', भिक्षुन्याय०, १/११

४. 'सर्व ज्ञान स्वापेक्षया प्रमाणमेव, न प्रमाणाभासम् ।
बहिरर्थापेक्षया तु किंचित् प्रमाण, किंचित् प्रमाणाभासम् ॥', प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, १/१६

५. 'प्रमाण स्वपराभासि ज्ञान बाधविवर्जितम्', न्यायावता० श्लो० १
'स्वपरावभासक यथा प्रमाण भुवि बुद्धिलक्षणम्', बृ० स्वय०, ६३

६. 'प्रमाणाविसंवादिज्ञान अनधिगतार्थाधिगमलक्षणम्', अष्टसहस्री, पृ० १७

७. 'सम्यग्ज्ञान प्रमाण', न्यायदीपिका
'सम्यगर्थनिर्णय प्रमाणम्', प्रमाणमीमांसा, १/२

८. न्यायभाष्य, १/१/३

९. तात्पर्य०, पृ० २१

१०. न्यायकु०, ४/१/१५

११. 'स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम्', तत्त्वार्थश्लोक०, १/१०/७७

१२ 'अनुभूतिश्च प्रमाणम्', बृहती, १/१/५

१३. 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम् इति भट्टमीमांसका आहु.', सि० चन्द्रो०, २०

बौद्ध दर्शन में प्रमाण सामान्य के लक्षण स्वसंविति[1]**, प्रवृत्तिसामर्थ्य, अविसंवादित्व** आदि उपलब्ध होते हैं, परन्तु प्रमाण के इस लक्षण से सम्यक् रूप से निर्णय नहीं होता है अर्थात् स्वपरप्रकाशत्व नहीं करते हैं। यद्यपि बौद्धों द्वारा मानित जो प्रमाण का लक्षण **स्वसंविति** किया गया है, उसका एक या दूसरे रूप मे अन्य दार्शनिको पर प्रभाव अवश्य पड़ा। जैनेतर दर्शनो मे सिर्फ बौद्धदर्शन मे ही **स्वसंवेदन** विचार का प्रवेश हुआ। वस्तुतः बौद्ध दर्शन की इस परिभाषा से ज्ञानसामान्य मे स्वपरप्रकाशत्व का संकेत अवश्य उपलब्ध हुआ।[2]

बौद्ध दर्शन मे प्रमा के करण के रूप मे **सारूप्य, तदाकारता** को स्वीकृत किया है।[3] परन्तु **अर्थाकारिता** ज्ञान के साथ अन्वय और व्यतिरेक न होने से प्रमा के करण के रूप मे प्रयोजक नहीं हो सकती।[4] अर्थाभाव मे भी उस वस्तु का ज्ञान हुआ देखा जाता है। सीप में चांदी का प्रतिभास करने वाला ज्ञान प्रतिभास के अनुसार बाह्यार्थ की प्राप्ति न होने के कारण प्रमाण कोटि मे नहीं डाला जा सकता।[5] संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय—ये ज्ञान भी तो अततोगत्वा पदार्थाकार ही होते हैं।[6]

संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय—इनके द्वारा वस्तु का यथार्थ रूप से निर्णय नहीं किया जाता है, अत. आचार्यों ने इन्हे प्रमाण से बहिष्कृत किया है।[7] प्रमाण के अन्य लक्षणो मे पाये जाने वाले निश्चित, बाधवर्जित, अदुष्टकारणजन्यत्व, लोकसम्मतत्व, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक विशेषण **सम्यग्ज्ञान प्रमाण**—इस एक ही विशेष पद से गृहीत हो जाते है।

जैनेन्द्र व्याकरण मे कहा है—**साधकतम करण**, इस परिभाषा के अनुसार प्रमाण शब्द करण साधन है, अत कर्त्ता-प्रमाता, कर्म-प्रमेय और क्रिया-प्रमिति प्रमाण नहीं होते।[8] यद्यपि वही आत्मा प्रमितिक्रिया मे व्याप्त होने के कारण प्रमाता कहलाता है[9] और वह फिर भी पर्याय की दृष्टि से यदि प्रमिति क्रिया मे साधकतम हो तो प्रमाण कहलाता है।[10] आचार्यों ने प्रमिति, प्रमाण और प्रमाता को द्रव्यदृष्टि से अभिन्न माना है। प्रमाण शब्द का करणार्थक ज्ञान पद शब्द के साथ सामानाधिकरण्य भी सिद्ध हो जाता है।[11] इन्द्रियादि सामग्री ज्ञान की उत्पत्ति मे तो साक्षात् कारण होती है परन्तु **अर्थोपलब्धि** (प्रमा) मे साधकतम करणज्ञान ही होता है। ज्ञान को उत्पन्न किये बिना वह सीधे अर्थोपलब्धि नहीं करा सकती। प्रमा भावसाधन है और वह प्रमाण का फल है जबकि ज्ञान करण साधन और स्वय करणभूत प्रमाण है।[12]

युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी ने जैनसिद्धातदीपिका मे कहा है—**यथार्थनिर्णायिज्ञान प्रमाणम्** अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थ का सम्यक् रूप से निर्णय किया जाता है[13] उसे प्रमाण कहते है। अत. सम्यग्ज्ञान ही एकात रूप से प्रमाण हो सकता है।

यद्यपि दिगम्बर सम्प्रदाय के कतिपय आचार्यो ने **धारावाहिक** और **गृहीतग्राही** ज्ञान को प्रमाण नहीं माना है[14] परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय का कहना है कि ज्ञान की प्रमाणता का आधार अविसवाद या सम्यग्ज्ञान है, वह चाहे गृहीतग्राही हो चाहे अगृहीतग्राही। आर्थिक तात्पर्य मे मतभेद न होने के कारण भी दिगम्बर-श्वेताम्बर आचार्यो के प्रमाण के लक्षण मे शाब्दिक भेद है। सभवतः यह भेद किसी अश मे विचार विकास का सूचक और तत्कालीन भिन्न साहित्य के अभ्यास का परिणाम है।

---

१. 'स्वसवित्ति. फल चात्र तद्रूपादर्थनिश्चय ।
विषयाकार एवास्य प्रमाण तेन मीयते ।', प्रमाणस०, १,१०

२. 'स्वपरव्यवसायिज्ञान प्रमाणम्', प्रमाणनय०, १ २

३. 'प्रमाण तु सारूप्य, योग्यता वा ।', तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १३/४४

४. 'तदन्वयव्यतिरेकानुभावाच्च', परीक्षामुख, प्र० १

५ 'अनुभयत्रोभयकोटिस्पर्शीप्रत्यय सशय.', प्रमाणमीमांसा, १ ५

६. अष्टसहस्री

७ 'तत्र निर्णय: सशयाऽनध्यवसायाविकल्पकत्वरहित ज्ञानम् । ततो निर्णय-पदेनाज्ञानरूपस्येन्द्रियसन्निकर्षादे , ज्ञानरूपस्यापि सशयादे: प्रमाणत्वनिषेध । ',
प्रमाणमीमांसा, १/२

८. प्रमेयकमलमार्तण्ड

९. जैनसिद्धांतदीपिका, प्र० ९

१०. न्यायदीपिका, प्र० १

११. वही

१२. 'तस्याज्ञानरूपस्य प्रमेयार्थवत् स्वपरपरिच्छित्तौ साधकतमत्वाभावत: प्रमाणत्वायोगात् तत्परिच्छित्तौ साधकतमत्वस्य अज्ञानविरोधिना ज्ञानेन व्याप्तत्वात्',
प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ८

'प्रमाण स्वार्थनिर्णीतिस्वभाव ज्ञानम्', सन्मतिटीका, पृ० ५१८

१३. 'सशयादिराहित्येण यथार्थनिर्णीयते इत्येव शील ज्ञान प्रमाणम्', जैनसिद्धातदीपिका, पृ० ९

१४. 'गृहीतमगृहीत वा यदि स्वार्थं व्यवस्यति ।
तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम् ।', तत्त्वार्थश्लो०, १/१०/७८

आचार्य हेमचंद्र ने पुराने आचार्यों द्वारा मानित स्व, अपूर्व, अनधिगत आदि सबको न रखकर सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् कहा है। आचार्य विद्यानंद ने अभ्यास के स्थान में व्यवसाय अथवा निर्णीति पद रखकर विशेष अर्थ समाविष्ट किया है। यह समंतभद्र के लक्षण का शब्दान्तर मात्र मालूम होता है।[1]

एक ही प्रमेय में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति को प्रमाणसंप्लव कहते हैं। बौद्धों का कहना है कि जिस विवक्षित पदार्थ से कोई एक प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह पदार्थ दूसरे क्षण में नियमतः नष्ट हो जाता है, अतः किसी भी अर्थ में हो, ज्ञान की प्रवृत्ति का अवसर ही नहीं है।[2] पर उनका यह कहना यथोचित नही है। पदार्थ एकांत रूप से क्षणिक नही हो सकता है। उसे कथंचित् नित्य और सामान्य-विशेषात्मक कहा जाता है। यही प्रमाण का विषय होता है। पदार्थ अनंतधर्मात्मक होता है। वस्तु के कतिपय अंशो के निश्चित होने पर अगृहीत अंशों को जानने के लिए प्रमाणांतर को अवकाश ही रहता है। अतः अनिश्चित अश के निश्चय में अथवा निश्चितांश मे उपयोग विशेष हो जाने पर ही प्रमाणसंप्लव माना जाता है।[3]

नैयायिक का कहना है कि यदि इन्द्रियादि कारण कलाप मिलते हैं तो प्रमाण की प्रवृत्ति अवश्य ही होगी। उन्होंने प्रत्येक अवस्था में प्रमाणसम्प्लव स्वीकृत किया है। जैन दर्शन मे अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणा ज्ञानो के ध्रुव और अध्रुव भेद भी किये गये। नित्यानित्य पदार्थ मे सजातीय या विजातीय प्रमाणो की प्रवृत्ति और सवाद के आधार पर उनकी प्रमाणता को स्वीकार करते ही हैं। विशेष परिच्छेद के अभाव में भी यदि सवाद है तो भी प्रमाणता अवश्य ही होगी।

यद्यपि कतिपय स्थलो पर गृहीतग्राही ज्ञान को प्रमाणाभास मे अंतर्भूत किया है। प्रमाण के लक्षण मे दिगम्बर आचार्यों ने अपूर्वार्थ पद या अनधिगत विशेषण दिया है, इस कारण इसे प्रमाणाभास में रखा है। वास्तव में प्रमाण का लक्षण सम्यगर्थ का निर्णय करना है, अपूर्वार्थग्राहित्व नही।[4] पदार्थ के नित्यानित्य होने के कारण उसमे अनेक प्रमाणो की प्रवृत्ति होने मे किसी भी प्रकार की बाधा नही होती।[5]

प्रमाण का प्रामाण्य

प्रमाण सत्य होता है, इसमे कोई द्वैध नही, फिर भी सत्य की कसौटी सबकी एक नही है। ज्ञान की सत्यता या प्रामाण्य के नियामक तत्त्व भिन्न-भिन्न माने जाते हैं।[6] जैन दृष्टि के अनुसार वह याथार्थ्य है। याथार्थ्य का अर्थ है—ज्ञान की तथ्य के साथ संगति।[7]

आचार्य विद्यानद अबाधित तत्व, बाधक प्रमाण के अभाव या कथनो के पारस्परिक सामञ्जस्य को प्रामाण्य का नियामक मानते हैं।[8] ज्ञान तब तक सत्य नही होता, जब तक वह फलदायक परिणामो द्वारा प्रामाणिक नही बन सकता। यह भी सार्वदिक सत्य नही है। इसके बिना भी तथ्य के साथ ज्ञान की संगति होती है। क्वचित् 'यह सत्य की कसौटी बनता है' इसलिए यह अमान्य भी नही है।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः होती है। ज्ञानोत्पादक सामग्री मे मिलने वाले गुण और दोष क्रमश. प्रामाण्य और अप्रामाण्य के निमित्त बनते हैं।[9] अर्थ का परिच्छेद प्रमाण और अप्रमाण दोनो मे होता है। किन्तु अप्रमाण (सशय-विपर्यय) मे अर्थ-परिच्छेद यथार्थ नही होता और प्रमाण मे वह यथार्थ होता है।

विषय की परिचित दशा मे ज्ञान की स्वतः प्रामाणिकता होती है, विषय की अपरिचित दशा मे प्रामाण्य का निश्चय परतः होता है।[10] अस्तु, प्रामाण्य का निश्चय स्वतः और परतः होना है, यह विभाग विषय (ग्राह्य वस्तु) की अपेक्षा से है।[11] ज्ञान के स्वरूप ग्रहण की अपेक्षा उसका प्रामाण्य निश्चय अपने आप होता है।

अस्तु, प्रमाण जिस पदार्थ को जिस रूप मे जानता है, उसका उसी रूप मे प्राप्त होना अर्थात् प्रतिभास विषय का अव्यभिचारी होना

---

१. 'तस्मादनुपचरितविसवादित्व प्रमाणस्य लक्षणमिच्छता निर्णय प्रमाणमेष्टव्य इति।', प्रमाणमीमासा, १, ८
२. 'प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु', प्रमाणमीमासा, १, ३०
३. 'उपयोगविशेषाभावे प्रमाणसम्प्लवस्यानभ्युपगमात्।', अष्टसहस्री, पृ० ४
४. 'ग्रहीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम्।', प्रमाणमीमासा, १/४
५. जैनसिद्धांतदीपिका, पृ० ६
६. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० १७५
७. 'प्रमेय नान्यथा गृह्णातीति यथार्थत्वमस्य।', भिक्षुन्यायकर्णिका, १/११
८. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालकार, पृ० १७५
९. प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार, १/२०
१०. 'अयञ्च विभाग; विषयापेक्षया, स्वरूपे तु सर्वत्र स्वत एव प्रामाण्यनिश्चयः', ज्ञानबिन्दु
११. 'तत्प्रामाण्य स्वतः परतश्च', परीक्षामुख, प्र० १

प्रामाण्य कहलाता है।[1] प्रामाण्य हो या अप्रामाण्य, उसकी उत्पत्ति पर से होती है।[2] ज्ञप्ति की अभ्यास दशा में स्वत: और अनभ्यास दशा में परत: होती है। जिन स्थानों का हमें परिचय है उन जलाशयादि में होने वाला ज्ञान अपने आप अपनी प्रमाणता और अप्रमाणता को सूचित करता है। इसके विपरीत अपरिचित स्थानों मे होने वाले जलज्ञान की प्रमाणता का ज्ञान 'पनहारियों का पानी भरकर लाना, मेढकों का शब्द करना अथवा कमल की गंध आना, आदि जल के अविनाभावी स्वत·प्रमाणभूत ज्ञानों से ही होता है।[3]

यद्यपि मीमांसा दर्शन का प्रमाण की उत्पत्ति के विषय में यह अभिप्राय है कि जिन कारणो से ज्ञान उत्पन्न होता है उससे अतिरिक्त किसी अन्य कारण की प्रमाणता की उत्पत्ति मे अपेक्षा नही होती।[4] पर उनका यह कहना उचित नही है, क्योंकि कोई भी सामान्य अपने विशेषों मे ही प्राप्त हो सकता है। दोषवान् कारणो से उत्पन्न होने के कारण अप्रामाण्य परत: मानने की तरह आपको गुणवान् कारणों से उत्पन्न होने के कारण प्रामाण्य को भी परत: मानना चाहिए। प्रामाण्य हो अथवा अप्रामाण्य, उनकी उत्पत्ति परत: ही होगी।[5]

सर्वदर्शनसग्रह में कहा गया है कि सांख्य प्रामाण्य और अप्रामाण्य[6] दोनों को स्वत: तथा बौद्ध अप्रामाण्य को स्वत:[7] और प्रामाण्य को परत: मानता है। पर उनके मूल ग्रन्थो मे इन पक्षो का उल्लेख नही मिलता है। आचार्य शांतरक्षित ने बौद्धो का पक्ष अनियमवाद के रूप मे रखा है अर्थात् जो प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो को अवस्था विशेष मे स्वत और अवस्था विशेष मे परत: मानने का है,[8] सांख्य दर्शन में इसका कोई उल्लेख नही मिलता है।

नैयायिक दोनो को परत· मानते हैं। वे कहते हैं कि वेद की प्रमाणता ईश्वरकर्तृक होने से परत: है,[9] पर उनका यह ऐकांतिक दृष्टिकोण ठीक नही है। प्रमाणता या अप्रमाणता सर्वप्रथम तो परत. ही गृहीत होती है। गुण और दोष—दोनो ही वस्तु के धर्म हैं। यदि काचकामलादि दोष हैं तो निर्मलता चक्षु का गुण है। अत· गुण और दोष रूप कारणो से उत्पन्न होने के कारण प्रमाणता और अप्रमाणता—दोनो ही परत. माननी चाहिए। ज्ञप्ति के विषय में पहले कहा जा चुका है कि वे अभ्यास दशा मे स्वत· और अनभ्यास दशा में परत· होती हैं।

यद्यपि दर्शनशास्त्रो मे प्रामाण्य और अप्रामाण्य के स्वत:-परत:[10] की चर्चा बहुत प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसा मालूम होता है कि इस चर्चा का उद्गम मूल वेदो[11] को मानने तथा न मानने वालो के पक्ष मे हुआ। प्रारम्भ मे यह चर्चा शब्दप्रमाण तक ही सीमित रही। फिर वह तार्किक प्रदेश मे आने पर व्यापक बन गई और सर्वज्ञान के विषय मे प्रामाण्य किंवा अप्रामाण्य के स्वत.-परत: का विचार प्रारभ हो गया।[12]

यद्यपि बौद्ध ज्ञान की उत्पत्ति मे समनन्तर आदि चार प्रत्यय मानते हैं।[13] सौत्रान्तिक बौद्धों का यह सिद्धांत है कि जो ज्ञान का कारण नही होता, वह ज्ञान का विषय नही हो सकता।[14] नैयायिक तथा वैशेषिक इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से ज्ञान की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।[15] अत उनके मत से भी सन्निकर्ष के घटक रूप मे पदार्थ ज्ञान का कारण हो जाता है।[16]

---

१. न्यायदीपिका
२. 'तदुभयमुत्पत्तौ परत एव ज्ञप्तौ तु स्वत: परतश्चेति', प्रमाणनय०, १/२१
३. प्रमेयरत्नमाला, १/१३
४. 'स्वत सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्ति: कर्तुमन्येन शक्यते ।।', श्लोकवा०, २/४७
५. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, पृ० ३८
६. 'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वत: साख्या समाश्रिता', सर्वद०, पृ० २७९
७. 'सौगताश्चरम स्वत', सर्वद०, पृ० २७९
८. 'नहि बौद्धैरेषा चतुर्णामेकतमोऽपिपक्षोऽभीष्टोऽनियमपक्षस्येष्टत्वात्। तथाहि-उभयमप्येतत् किंचित् स्वत किंचित् परत· इति पूर्वमुपवर्णितम्। अतएव पक्षचतुष्टयोपन्यासोऽप्ययुक्त:। पञ्चमस्याऽनियमपक्षस्य सम्भवात्।', तत्वसग्रह प०, का० ३१२३
९. 'प्रमाया: परतन्त्रत्वात्,' न्यायकुसुमाजलि, २/१
१०. 'प्रामाण्यनिश्चय: स्वत· परत वा', प्रमाणमीमासा, १/८
'तथाहि विज्ञानस्य तावत्प्रामाण्य स्वतो वा निश्चीयते परतो वा', —तात्पर्य, १/१/१
११. 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थे न सबधस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकाश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाण बादरायणस्यानपेक्षत्वात्', जैमि०, सूत्र १-१-४
'सर्वविज्ञानविषयमिद तावत्प्रतीयताम्। प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वत. कि परतोऽथवा', श्लोकवा०, चोद०, श्लोक ३३
१२. 'तस्मात् तत्प्रमाणम् अनपेक्षत्वात्। न ह्येव सति प्रत्ययान्तरमपेक्षितव्यम् पुरुषान्तर वापि, स्वयं प्रत्ययो ह्यसौ', शाबरभा०, १/१/५; बृहती, १/१/५
१३. 'चत्वार· प्रत्यया हेतुश्चालम्बनमनन्तरम्।
तथैवाधिपतेय च प्रत्ययो नास्ति पचम।', माध्यमिककारिका, १/२
१४. 'नाकारण विषय', बोधिचर्या०, पृ० ३९८
१५. न्यायदीपिका, पृ० १
१६. 'तत: सुभाषितम्-इन्द्रियमनसि कारण विज्ञानस्य अर्थो विषय', लघीयस्त्रय स्व०, श्लोक ५४

जैन दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन करने से यह मालूम होता है कि सर्वप्रथम अकलंकदेव ने उक्त विचारो की आलोचना करते हुए ज्ञान के प्रति मन और इन्द्रिय की कारणता का सिद्धांत स्थिर किया। बाद मे सभी जैन दार्शनिक इस मान्यता को पुष्ट करते रहे।[1] ज्ञान अर्थ का कार्य नहीं हो सकता है, क्योंकि ज्ञान तो मात्र इतना ही जानता है कि यह अमुक अर्थ है।[2] वह यह नही जानता कि 'मैं इस अर्थ से उत्पन्न हुआ हूँ।' ज्ञान का अर्थ के साथ अन्वय[3] और व्यतिरेक घटित नही होता तब उसके साथ कार्यकारणभाव स्थिर नही किया जा सकता।

जब ज्ञान अतीत और अनागत पदार्थों को, जो कि ज्ञान-काल में अविद्यमान हैं, जानता है तब अर्थ की ज्ञान के प्रति कारणता अपने आप निस्सार सिद्ध हो जाती है। सन्निकर्ष मे प्रविष्ट अर्थ के साथ ज्ञान का कार्यकारणभाव तब निश्चित हो सकेगा जब सन्निकर्ष, आत्मा, मन और इन्द्रिय आदि किसी एक ज्ञान के विषय हो।[4] वस्तुत: अन्य कारणो से उत्पन्न बुद्धि के द्वारा सन्निकर्ष का निश्चय होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान मे तथा चक्षुरिन्द्रिय में सन्निकर्ष का अभाव है।[5] इस तरह जब वह विद्यमान रहते हुए भी अप्रत्यक्ष है तब उसकी ज्ञान की उत्पत्ति में कारणता कैसे मानी जाय? दूसरी बात यह है कि ज्ञान अमूर्त है, अत. वह मूर्त अर्थ के प्रतिबिम्ब को धारण नही कर सकता।[6]

बौद्धो के द्वारा मानित तदुत्पत्ति, तदाकारता और तदध्यवसाय ज्ञान मे विषय प्रतिनियत नही हो सकते,[7] क्योंकि शुक्ल शख में होने वाले पीताकार ज्ञान से उत्पन्न द्वितीय ज्ञान मे अनुकूल अध्यवसाय देखा जाता है पर नियामकता नही। वस्तुत. अर्थ मे दीपक और घट के प्रकाश्य-प्रकाशक भाव की तरह ज्ञेय-ज्ञापकभाव मानना ही उचित है।[8] अकलकदेव ने छेदनक्रिया के कर्त्ता और कर्म की तरह ज्ञेय और ज्ञान में भी ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव कहा है।[9] कर्मयुक्त मलिन आत्मा का ज्ञान अपनी विशुद्धि के अनुसार तरतम रूप से प्रकाशमान होता है और अपनी क्षयोपशमरूप योग्यता के अनुसार पदार्थों को जानता है। अत. अर्थ को ज्ञान मे साधकतम कारण नही माना जा सकता है।[10]

इसी प्रकार आलोक ज्ञान का विषय है, परन्तु कारण नही। आलोक के अभाव मे अन्धकार ज्ञान होता हुआ देखा जाता है। रात्रिञ्चर उल्लू आदि को आलोक के अभाव मे ज्ञान होता है, सद्भाव मे नही। अधकार भी ज्ञान का विषय है। साधारणत: यह नियम है कि जो जिस ज्ञान का विषय होता है, वह उस ज्ञान का कारण नही होता—जैसे अधकार।[11]

विषय की दृष्टि से ज्ञानो का विभाजन और नामकरण भी नही किया जाता। परन्तु इन्द्रिय और मन रूप कारणो से उत्पन्न होने से ज्ञान का विभाजन नही किया जा सकता है। अत. अर्थ आदि को किसी भी दृष्टि से ज्ञान मे कारण मानना उचित नही है।[12]

प्रमाण का फल

दार्शनिक क्षेत्र मे प्रमाण के फल की चर्चा भी एक खास स्थान रखती है। वैदिक, बौद्ध, जैन सभी परंपराओ मे ज्ञान का फल अविद्यानाश या वस्तु-विषयक अधिगम कहा है। उपनिषदो, पिटकों, आगमो मे अनेक स्थल पर ज्ञान—सम्यग्ज्ञान के फल का कथन है।[13] जब तर्क का युग आया तब प्रमाण के फल का विचार साक्षात् दृष्टि तथा परपरा दृष्टि से हुआ।

अब यह देखना है कि प्रमाण का फल और प्रमाण का पारस्परिक भेद है या अभेद। बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि प्रमाण और प्रमाण-फल—दोनो एक ही हैं।[14] प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण मे प्रमाण (ज्ञान) ही फल है, क्योंकि वह अधिगम रूप है अर्थात् ज्ञानगत विषय

---

१. 'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्', तत्त्वार्थसूत्र, १/१४
२. लघी०, श्लोक ५३
३. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० १
४. लघी० स्व०, श्लोक ५५, प्रमाणमीमांसा, १/२५
५. प्रमेयकमलमार्तण्ड
६ लघी० स्व०, श्लोक ५८
७. 'भिन्नकाल कथ ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदु:।
हेतुत्वमेवायुक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम् ॥', प्रमाणवा०, २/२४७
८. 'मन्वयोजन्यत्वे ज्ञानस्य कथ प्रतिकर्मव्यवस्था', प्रमाणमीमांसा, १/२५
९. 'स्वहेतुजनितोऽर्थ: परिच्छेद्य स्वतो यथा।
तथा ज्ञान स्वहेतूत्थ परिच्छेदात्मक स्वत ।', लघी० स्व०, श्लोक ४९
१०. 'तदुत्पत्तिमन्तरेणाप्यावरणक्षयोपशमलक्षणया योग्यतयैव प्रतिनियतार्थप्रकाशकत्वोपपत्ते: तदुत्पत्तावपिच योग्यतावश्याश्रयणीया.', प्रमाणमीमांसा, १/२५
११. प्रमेयकमलमार्तण्ड
१२. मलयगिरि : नदीसूत्र-टीका
१३. 'सोऽविद्याग्रन्थिविकिरतीह सौम्य', मुण्डको०, २/१/१०, सांख्यका०, ६७-६८
'तमेत उच्चति—यदा च ञात्वा सो धम्म सच्चानि अभिसमेस्सति। तदा अपिञ्ञूयसमा उपसन्तो चरिस्सन्ति', विशुद्धि०, पृ० ५४४
१४. 'उभयत्र तदेव ज्ञान प्रमाणफलमधिगमरूपत्वात्', न्यायप्रवेश, पृ० ७

सारूप्य प्रमाण है और विषयाधिगति फल ।[1] विज्ञानवाद (योगाचार) बौद्धों का कहना है कि ज्ञानगत स्वसंवेदन फल है और ज्ञानगत तथा-विध योग्यता ही प्रमाण है ।[2] प्रमाण और फल को ज्ञानगत धर्म माना है और उनमें भेद न माने जाने के कारण वे अभिन्न कहे गये हैं, क्योंकि ज्ञान से भिन्न हेय और उपादेय रूप ज्ञान का फल वास्तव में प्रमाता का फल है, ज्ञान का नहीं।

परन्तु उनका यह कहना सम्यक् नहीं है, क्योंकि जो पदार्थ जिस पदार्थ से सर्वथा अभिन्न होता है, वह उसी पदार्थ के साथ उत्पन्न होता है। बौद्ध लोग प्रमाण और प्रमाण के फल मे कार्य-कारण संबंध मानकर प्रमाण को कारण और प्रमाण के फल को कार्य कहते हैं ।[3] यह कार्य-कारण-भाव प्रमाण और उसके फल को सर्वथा अभिन्न मानने मे नहीं बनता। दर्शनशास्त्र का यह नियम है कि कारण कार्य के पहले, कार्य कारण के बाद होता है ।[4] तत्वत. बौद्ध लोगों द्वारा मानित क्षणिकवाद मे कार्य-कारण-भाव बन ही नही सकता है। किसी भी दृष्टि से प्रमाण और प्रमाण का फल सर्वथा अभिन्न नही हो सकते ।[5]

न्याय, वैशेषिक, मीमासक आदि फल को प्रमाण से भिन्न ही मानते हैं ।[6] फल के स्वरूप से विषय मे वैशेषिक, नैयायिक और मीमांसक सभी का मतव्य प्रायः एक समान है ।[7] सर्वथा एकात भेद का पक्ष भी ठीक नही है, क्योकि प्रमाण और उसका फल अलग-अलग नही हैं, कारण कि एक ही प्रमाता प्रमाण और उसका फल रूप होकर पदार्थों को जानता है। अतः प्रमाण और प्रमाण के फल से कथचित् अभिन्न है, क्योकि प्रमाण रूप परिणत आत्मा ही फल रूप कही जाती है ।[8] आत्मा को छोडकर दूसरी जगह फल का ज्ञान नही होता। यदि प्रमाण और उसके फल मे कथचित् अभेद न माना जाय तो एक मनुष्य के प्रमाण का फल दूसरे मनुष्य को मिलना चाहिए और इस तरह प्रमाण और उसके फल की कोई भी व्यवस्था नही हो सकती ।[9]

जैन दर्शन मे चूकि एक ही आत्मा प्रमाण और फल दोनो रूप से परिणति करता है, अतः प्रमाण और फल अभिन्न माने गये हैं तथा कार्य और कारण रूप से क्षण भेद और पर्याय भेद होने के कारण ये भिन्न हैं ।[10] भेदाभेदविषयक चर्चा में जैन दर्शन अनेकात दृष्टि का ही उपयोग करता है ।[11] सर्वथा अभेद मे—उनमे एक व्यवस्थाप्य, दूसरा व्यवस्थापक, एक प्रमाण और दूसरा फल—यह भेद व्यवहार हो नही सकता। जिसे प्रमाण उत्पन्न होता है, उसीका अज्ञान हटता है,[12] वही हित को छोडता है, हित का उपादान करता है और उपेक्षा करता है। इस तरह एक प्रमाता (आत्मा) की दृष्टि से प्रमाण और फल मे कथंचित् अभेद हो सकता है ।[13] प्रमा के साधकतम ज्ञान को प्रमाण कहते हैं तथा व्यापार प्रमिति है। इस प्रकार पर्याय की दृष्टि से उनमे भेद है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रमाण और फल में कथचित् अभेद, कथचित् भेद है ।[14]

नैयायिक, वैशेषिक, मीमासक, साख्य आदि इन्द्रियव्यापार के बाद होने वाले सन्निकर्ष से लेकर हानोपादानोपेक्षाबुद्धि तक के क्रमिक फलो की परपरा को फल कहते हुए भी उस परपरा से पूर्व-पूर्व फल को उत्तर-उत्तर फल की अपेक्षा से प्रमाण भी कहते हैं। इन्द्रिय को तो वे प्रमाण ही मानते हैं, फल नहीं। जब प्रमाण का कार्य अज्ञान की निवृत्ति करना है तब उस कार्य के लिए इन्द्रिय, इन्द्रियव्यापार और सन्निकर्ष, जो कि अचेतन हैं, कैसे उपयुक्त हो सकते हैं ।[15]

---

१. 'उभयत्रेति प्रत्यक्षेऽनुमाने च तदेव ज्ञान प्रत्यक्षानुमानलक्षण फल कार्यम्', न्यायप्रवेशवृत्ति, पृ० ३६

२. 'विषयाधिगतिश्च प्रमाणफलमिष्यते ।
स्ववित्ति वा प्रमाण तु सारूप्य योग्यतापि वा ।।', तत्वस०, १३४४

३. प्रमाणसमुच्चय, १/६, न्यायबिंदु टीका, १.२१

४. 'प्रमाण कारण फल कार्यमिति', स्याद्वादमजरी

५. 'द्विष्ठसबधसवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात् ।
द्वयो: स्वरूपग्रहणे सति सबधवेदनम् ।।', स्याद्वादमजरी

६. श्लोकवा०, प्रत्यक्ष, श्लो० ७४-७५

७. न्यायभा०, १/१/३, प्रश० कन्दली, पृ० १९८-९९

८. अष्टसहस्री, पृ० २८३-८४

९. 'फलमर्थप्रकाश', प्रमाणमीमांसा, १/३४

१०. 'कर्मोन्मुखो ज्ञानव्यापार: फलम् । कर्तृव्यापारमुल्लिखन् बोध: प्रमाणम्', प्रमाणमीमासा, १/३५-३६

११. जैनसिद्धान्तदीपिका, पृ० ६

१२. 'एकज्ञानगतत्वेन प्रमाणफलयोरभेदो व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावात् भेद इति भेदाभेदरूप: स्याद्वादमबाधितमनुपतति', प्रमाणमीमांसा, १/३७

१३. 'य: प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीते', परीक्षामुख, ५/३

१४. 'करणरूपत्वात् क्रियारूपत्वाच्च प्रमाणफलयोर्भेद: । अभेदे प्रमाणफलभेदव्यवहारानुपपत्ते: प्रमाणमेव वा फलमेव वा भवेत्', प्रमाणमीमांसा, १/४१

१५. अष्टसहस्री, अष्टशती

जैन परंपरा में सबसे पहले तार्किक सिद्धसेन और समंतभद्र हैं, जिन्होंने लौकिक दृष्टि से प्रमाण के फल का विचार रखा।[1] प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति ही है,[2] व्यवहित अर्थात् परंपराफल हानोपादानोपेक्षाबुद्धि है।[3] आचार्य विद्यानंद ने अज्ञाननिवृत्ति और स्वपरव्यवसिति रूप प्रमाण के फल की ओर संकेत किया[4]— जिसका अनुसरण प्रभाचंद्राचार्य ने प्रमेयकमलमार्तण्ड में और देवसूरि ने स्याद्वाद-रत्नाकर में किया। यह स्मरण रहे कि केवलज्ञान का फल केवल उपेक्षा ही है।[5] केवलज्ञानी वीतरागी है, अत: उसमें रागद्वेष-मूलक हेय उपादेय बुद्धि नहीं हो सकती। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान में—हान, उपादान और उपेक्षा तीनों बुद्धियां फल रूप होती हैं।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा और हानादि बुद्धि—इस धारा में अवग्रह केवल प्रमाण ही है और हानादि बुद्धि केवल फल ही, परन्तु ईहा से धारणापर्यंत ज्ञान पूर्व की अपेक्षा फल होकर भी अपने उत्तरकार्य की अपेक्षा प्रमाण भी हो जाते हैं। एक ही आत्मा का ज्ञान-व्यापार जब ज्ञेयोन्मुख होता है तब वह प्रमाण कहा जाता है और जब उसके द्वारा अज्ञाननिवृत्ति या अर्थप्रकाश होता है तब वह फल कहलाता है।[6] इस प्रकार प्रमाण का फल (प्रमिति) प्रमाण से कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है।

अस्तु, प्रमिति चेतनात्मक है अत: उसका साधकतम अज्ञान का विरोधी ज्ञान प्रमाण ही हो सकता है।[7] नैयायिकों द्वारा मानित सामग्री प्रामाण्यवाद[8] में कारकसाकल्य या इन्द्रियवृत्ति प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह अचेतन और अज्ञानरूप है। अज्ञानरूप व्यापार प्रमा में साधकतम न होने के कारण प्रमाण नहीं हो सकता।[9]

संसार परम-दुःख रूप है, इसमें एक दुःख नहीं सबकुछ दुःख ही दुःख है। प्रथमत: यह जीव निगोद में एक श्वास में अठारह-अठारह बार जन्म लेता है। साधारण नामकर्म के उदय में यह शरीर में अनन्तकाल के लिए जन्म लेता है। यह शरीर अनन्तानन्त जीवों का होता है, अत: वे अनन्तानन्त जीव एक साथ जन्म लेते हैं और एक साथ ही मरते हैं। संसार में जीव की हितकारक वस्तु कोई नहीं है, इसीलिए इस जगत् से उदासीन होकर जो आत्म-चिंतन में लगे रहते हैं वही सुखी हैं। ज्ञान को आत्म-चिंतन में लगाना ही श्रेय है और यही परम नि:श्रेयस (मोक्ष) का साधन है। वस्तुत: सम्यग्ज्ञान ही सम्यक्चारित्र की प्राप्ति का साधन है और स्वानुभूतिरूप ज्ञान ही सम्यग्दर्शन का लक्षण है। सारसमुच्चय में कहा भी गया है—

स्वहितं तु भवेज्ज्ञानं चारित्रं दर्शनं तथा।
तप:संरक्षणं चैव सर्वविद्भिस्तदुच्यते ॥१५६॥

हे आत्मन्! तुम्हारा हित सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र व तप संरक्षण है। अभिप्राय यह है कि आत्मा का हित केवल रत्नत्रयरूप धर्म ही है। अत: इसमें ही रुचि रखनी चाहिए, जिससे कि जीव मोक्ष प्राप्त कर सके।
(आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज कृत उपदेशसारसंग्रह, भाग ३, दिल्ली, वि० सं० २०१३ से उद्धृत)

---

१. आप्तमीमांसा, का० १०२, न्याया०, का० २८
२. 'अव्यवहितमेव—अज्ञाननिवृत्तिर्वा', प्रमाणमीमांसा, १/३८
३. परीक्षामुख, प्र० ५, सू० १-२
४. तत्त्वार्थश्लोक०, पृ० १६८, प्रमाणपरीक्षा, पृ० ७९
५. 'प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम्।
केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादानहानधी॥', न्याया०, २८
६. 'अवग्रहादीनां वा क्रमोपजनधर्माणां पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम्', प्रमाणमीमांसा, १/३९
७. 'सिद्धं यन्न परापेक्ष्यं सिद्धौ स्वपररूपयो:।
तत्प्रमाणं ततो नान्यदविकल्पमचेतनम्॥', सिद्धिविनिश्चय
८. 'अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्', न्यायम०, पृ० १२
९. न्यायविनिश्चय टीका, लि० पृ० ३०

योगिप्रत्यक्ष : एक विवेचन

डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर

आचार्य भावसेन के प्रमाप्रमेय (जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९६६, पृ० ४) मे प्रत्यक्ष ज्ञान के चार प्रकार बताये गए हैं—(१) इन्द्रियप्रत्यक्ष, (२) मानसप्रत्यक्ष, (३) योगिप्रत्यक्ष तथा (४) स्वसंवेदनप्रत्यक्ष। इनमे से तीसरे प्रकार का कुछ विवेचन यहा प्रस्तुत है। इसके तीन उपभेद बताये है- -अवधि, मन पर्यय तथा केवल। स्पष्ट है कि उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में प्रत्यक्ष के जो प्रकार बताये हैं तथा जिन्हे अकलक (लघीयस्त्रय, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, १९१५, श्लो० ४), ने मुख्य प्रत्यक्ष नाम दिया है वे यही है। इनमे से मन:-पर्यय और केवलज्ञान जैन परम्परा के अनुसार योगियो को ही प्राप्त होते है। अवधिज्ञान योगियो को तपस्या के प्रभाव से प्राप्त हो सकता है किन्तु इसकी प्राप्ति देव और नारको को जन्मत भी मानी गई है, साथ ही गृहस्थो मे भी इसकी सभावना स्वीकार की गई है। इन तीनों ज्ञानो में जो बात समान है वह यह है कि ये इन्द्रियो की सहायता के बिना होते है। योगी इन्द्रियों का प्रयोग किये बिना 'देख' सकते है—यह धारणा प्राचीन काल मे ही प्रचलित है। इसके प्रसिद्ध उदाहरण कालिदास के रघुवश (१।७३) तथा शाकुन्तल (७-३३) मे प्राप्त हैं, इनमे पहले स्थान पर वसिष्ठ 'देखते है' कि राजा दिलीप को पुत्रप्राप्ति क्यो नही हो रही है तथा दूसरे स्थान पर कण्व शकुन्तला और दुष्यन्त के पुर्नमिलन को प्रत्यक्ष जानते है यद्यपि वे बहुत दूर अपने आश्रम मे हैं।

बौद्ध परम्परा मे आचार्य धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु (बिब्लोथिका इंडिका, कलकत्ता सस्करण, पृ० १२ से १४) मे प्रत्यक्ष ज्ञान के उपर्युक्त चार प्रकारो का निर्देश मिलता है यद्यपि उनकी परिभाषा जैन परम्परा से कुछ भिन्न है। योगिप्रत्यक्ष की प्राप्ति का साधन धर्म-कीर्ति के अनुसार **भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्त** (यथार्थ वस्तुस्वरूप के चिन्तन की पराकाष्ठा) है। यद्यपि यह शब्दावली जैन परम्परा मे नही मिलती—जैन परम्परा मे अवधि, मन पर्यय और केवल के वर्णन मे प्रतिबन्धक कर्मों के क्षय के अतिरिक्त अन्य विवरण नही मिलता—तथापि कहा जा सकता है कि यह शब्दावली जैन परम्परा के प्रतिकूल भी नही है। केवलज्ञान की प्राप्ति के साधनभूत **शुक्लध्यान** के प्रकारो को **पृथक्त्ववितर्क** और **एकत्ववितर्क** ये नाम दिये हैं तथा इनके साधक पूर्वविन् कहे गये है (तत्त्वार्थवार्तिक, खण्ड २, भारतीय ज्ञानपीठ १९४३, पृ० ६३२), इनसे स्पष्ट है कि वस्तुस्वरूप की विविधता और उनमे अन्तर्निहित एकता का चिन्तन योगियो की साधना का आवश्यक अग था।

मेरी दृष्टि मे उपर्युक्त ज्ञानप्रक्रिया की आधुनिक वैज्ञानिक प्रक्रिया से काफी समानता है। वैज्ञानिक को भी पूर्ववित् होना पडता है—अपने पूर्व अपने विषय का जो अध्ययन—अनुसधान हुआ है उसकी जानकारी उसे होना आवश्यक है। वह पृथक्त्ववितर्क भी करता है—किसी विषय मे विभिन्न स्थितियों में प्राप्त विविध सामग्री का वह अध्ययन करता है। तदनन्तर वह एकत्ववितर्क भी करता है अर्थात् किसी ऐसे एक नियम की खोज करता है जिसमे सारी विविधता का स्पष्टीकरण हो सके। पृथक्त्ववितर्क का अनुवाद विश्लेषणात्मक चिन्तन और एकत्ववितर्क का अनुवाद सश्लेषणात्मक चिन्तन किया जा सकता है। इन दोनो प्रकारो से ही वैज्ञानिक शोध का कार्य चलता है।

इस विषय के एक अन्य पहलू पर आचार्य विद्यानन्द के विचार भी देखने योग्य हैं। आप्तमीमासा, श्लो० ७६ की व्याख्या मे आगम की आवश्यकता बतलाते हुए वे कहते हैं—कुछ लोगो का मत है कि ज्योतिष ज्ञान आदि केवल प्रत्यक्ष और अनुमान से सभव हैं किन्तु यह ठीक नही है, आगम के उपदेश के बिना यह ज्ञान सम्भव नही होता। सर्वज्ञ प्रत्यक्ष से ही इन विषयो को जानते है यह कहना भी पर्याप्त नही है, योगिप्रत्यक्ष के पूर्व उपदेश का अभाव हो तो योगिप्रत्यक्ष की उत्पत्ति होना सम्भव नही है, योगी श्रुतमय और चिन्तामय भावना के प्रकर्ष को प्राप्त करके ही योगिप्रत्यक्ष के अधिकारी होते हैं। स्पष्ट है कि यहा विद्यानन्द और धर्मकीर्ति के शब्दो मे काफी समानता है। विद्यानन्द के कथन से स्पष्ट है कि योगी की ध्यानसाधना पूर्ववर्ती ज्ञान (उपदेश) को आधार बना कर ही होती है।

प्राचीन दार्शनिको की दृष्टि मे ज्योतिष ज्ञान तो आनुषगिक विषय था—योगियो के ज्ञान का मुख्य विषय वस्तुतत्वनिरूपण था। जैन दार्शनिक जहा स्याद्वाद के अमोघ सिद्धान्त को भगवान् महावीर की सर्वज्ञता का द्योतक मानते थे, वही बौद्ध दार्शनिक आर्यसत्यों के उपदेशक होने से भगवान् बुद्ध को सर्वज्ञ मानते थे। परस्परविरोधी दार्शनिको के सामने समस्या थी कि अतीन्द्रियविषयक वचन सभी संप्रदायो में मिलते

हैं किन्तु सब तो यथार्थ नहीं हो सकते क्योंकि उनमें परस्पर विरोध स्पष्ट है (प्रमाणवार्तिकभाष्य, पटना, १९४३, पृ० ३२८)। इस समस्या का समाधान भी जैन और बौद्ध परम्परा में लगभग समान शब्दों में मिलता है। प्रमाणवार्तिकभाष्य के उपर्युक्त प्रसंग में ही प्रज्ञाकर कहते हैं कि जो योगिप्रत्यक्ष प्रमाण संवादी हो वह यथार्थ है, शेष (जो प्रमाणविरुद्ध हो) अयथार्थ समझना चाहिए। इसी प्रकार समन्तभद्र रत्नकरण्ड में उस शास्त्र को यथार्थ कहते हैं जो दृष्ट और इष्ट का अविरोधी हो।

जैन परम्परा में मन पर्यय और केवल में अयथार्थता की सम्भावना नहीं मानी गई किन्तु अवधिज्ञान में यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार सम्भव माने हैं। जिस प्रकार आंख आदि इन्द्रियों के दोष से इन्द्रियप्रत्यक्ष में गलती होना सम्भव है उसी प्रकार योगिप्रत्यक्ष में भी पूर्वोपदेश की त्रुटियों के कारण कुछ अयथार्थ अंश आ जाना संभव है। पूर्वोपदेश का योगिप्रत्यक्ष से आधारभूत सम्बन्ध है यह ऊपर दिखा चुके हैं। यहां पुनः हम वैज्ञानिक प्रक्रिया का निर्देश करना चाहेंगे। विज्ञान के अध्ययन में परम्परा से प्राप्त तथ्यों और सिद्धान्तों का निरन्तर परीक्षण और संशोधन चलता रहता है। इसी प्रकार हम जिसे योगिज्ञान कहते हैं उसमें प्राप्त सामग्री का भी निरन्तर नवीन उपलब्ध होने वाली सामग्री के प्रकाश में परीक्षण और संशोधन करते रहना चाहिए। यथार्थ-ज्ञान की साधना में यह गतिशीलता आज के युग की विशेष आवश्यकता है।

नैयायिकों की दृष्टि में अलौकिक सन्निकर्षज्ञान 'योगज' कहलाता है। सूक्ष्म (परमाणु आदि), व्यवहित (दीवाल आदि के द्वारा व्यवधान वाली) तथा विप्रकृष्ट काल तथा देश (उभयरूप) से दूरस्थ वस्तुओं का ग्रहण लोकप्रत्यक्ष के द्वारा कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता, परन्तु ऐसी वस्तुओं का अनुभव अवश्य होता है। अतः इनके लिए ध्यान की सहायता अपेक्षित है। इसे योगजसन्निकर्षजन्य कहते हैं। योगियों का प्रत्यक्ष इसी कोटि का है।

योगाभ्यासजनितो धर्मविशेषः। स चादृष्टविशेषः। अयं चालौकिके योगिप्रत्यक्षे कारणीभूतः अलौकिकसन्निकर्षविशेषः।, भाषापरिच्छेद, श्लो० ६६

योगियों के प्रत्यक्ष-ज्ञान के विषय में भर्तृहरि का महत्त्वपूर्ण कथन है कि जिन व्यक्तियों ने भीतर प्रकाश का दर्शन किया है तथा जिनका चित्त किसी प्रकार व्याघातों से अशान्त नहीं होता, उन्हें भूत तथा भविष्य काल का ज्ञान सद्यः हो जाता है और यह ज्ञान वर्तमानकालिक प्रत्यक्ष से कथमपि भिन्न नहीं होता—

अनुभूत—प्रकाशानामनुपद्रुतचेतसाम्।
अतीतानागतज्ञानप्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥, वाक्यपदीय, १/३७

—सम्पादक

शब्दाद्वैतवाद : जैन दृष्टि

डॉ० लालचन्द जैन

शब्दाद्वैत भारतीय-दर्शन का महत्वपूर्ण अद्वैत-सिद्धान्त है। इसके पोषक व्याकरणाचार्य 'भर्तृहरि' हैं। वैयाकरणो के दार्शनिक सिद्धान्त शैव-सिद्धान्त के अन्तर्गत आते हैं। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि शैव दार्शनिको का एक सम्प्रदाय व्याकरण-दर्शन का अनुयायी है, जिसका प्रमुख सिद्धान्त शब्दाद्वैत है। इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन छठी शती के विद्वान् भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' नामक ग्रन्थ मे उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त विभिन्न भारतीय दार्शनिक-ग्रन्थो[1] मे भी इसका पूर्वपक्ष के रूप मे उल्लेख किया गया है।

ब्रह्माद्वैतवाद की तरह शब्दाद्वैतवाद मे भी बाह्य पदार्थों की वास्तविक सत्ता मान्य नही है। शब्दाद्वैतवाद का अर्थ है--ऐसा सिद्धान्त जो यह मानता हो कि शब्द ही परमतत्व एव सत्य है। यह दृश्यमान् समस्त जगत् इसी का विवर्तमात्र है। इसी परमतत्व रूप शब्द को उन्होने ब्रह्म कहा। अत इनका सिद्धान्त शब्दब्रह्माद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है।

वाक् के भेद एव स्वरूप

भर्तृहरि ने अपने सिद्धान्तो का विवेचन करते हुए वाक् के तीन भेद बतलाये हैं[2]—वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती। विद्यानन्द के अनुसार नागेश आदि नव्य-वैयाकरणो ने वाक् के चार प्रकार माने है—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा।[3] भर्तृहरि ने पश्यन्ती का वही स्वरूप बतलाया है, जो नव्य-वैयाकरणो ने सूक्ष्मा का बतलाया है। इन भेदों का स्वरूप भी शब्दाद्वैतवादियो मे प्रतिपादित किया है।[4]

वैखरी— मनुष्य, जानवर आदि बोलने वाले के कठ, तालु आदि स्थानो मे प्राणवायु के फैलने से ककारादि वर्णों को व्यक्त करने वाली स्थूल वाणी वैखरीवाक् कहलाती है। इस कथन से स्पष्ट है कि वैखरी का सम्बन्ध हर प्रकार की व्यक्त ध्वनियो के साथ है।[5]

---

१. (क) भट्टजयन्त · न्यायमञ्जरी, पृ० ५३२

(ख) कमलशील तत्वसग्रहपञ्जिका, ५, कारिका १२८, पृ० ८५-८६

(ग) स्वामी विद्यानन्द तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय १, तृतीय आह्निक, सूत्र २०, पृ० २४०

(घ) अभयदेव सूरि · सन्मतितर्कप्रकरणटीका, तृतीय विभाग, गा० ६, पृ० ३७९-३८०

(ङ) आ० प्रभाचन्द्र : न्यायकुमुदचन्द्र, १/५, पृ० १३९-१४२

(च) वही · प्रमेयकमलमार्तण्ड, १ ३, पृ० ३९

(छ) वादिदेव सूरि . स्याद्वादरत्नाकर, १ ७, पृ० ८८-९८

(ज) यशोविजय : शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका, पृ० ३८०

२. 'वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम् ।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाच· पर पदम् ॥', भर्तृहरि वाक्यपदीय, १/१४४

३. 'चतुर्विधा हि वाग्वैखरी-मध्यमा पश्यन्ती-सूक्ष्माश्चेति ।', विद्यानन्द · श्लोकवार्तिक, अध्याय १, आ० ३, पृ० २४०
और भी देखे—उपाध्याय, बलदेव भारतीयदर्शन, पृ० ६४६

४. 'वैखरी-शब्दनिष्पत्ती मध्यमाश्रुतिगोचरा ।
द्योतितार्था च पश्यन्ती-सूक्ष्मा-वागनपायिनी ॥', कुमारसम्भवटीका, उद्धृत प्र० क० मा०, पृ० ४२

५. 'स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा ।
वैखरी-वाक्-प्रयोक्तणां प्राणवृत्तिनिबन्धना ॥'

मध्यमा—यह बैखरी की अपेक्षा सूक्ष्म होती है। इसका व्यापार अन्तरंग होता है। प्राणवायु का अतिक्रमण कर अन्तरंगजल्परूप जो वाक् है, वह मध्यमावाक् कहलाती है। मध्यमा वाणी उस अवस्था में होती है, जब वक्ता के शब्द बोलने के पहले भीतर ही होते हैं।[1] चिन्तन करना मध्यमा का कार्य है। श्रुत मे प्रविष्ट होकर उसका विषय बनने वाली वाक् मध्यमावाक् का स्वरूप है।

पश्यन्ती—यह मध्यमा से सूक्ष्म होती है। भर्तृहरि ने पश्यन्ती को सूक्ष्मतम बतलाया है। उन्होंने कहा है कि पश्यन्ती वर्ण, पद आदि क्रम से रहित (प्रतिसंहृत), अविभागरूप, चला (क्योंकि शब्दाभिव्यक्ति में गति है), अचला (क्योंकि अपने विशुद्धरूप में निःस्पंद रहती है), स्वप्रकाश तथा संविद्रूप होती है।[2] भर्तृहरि ने इसे परब्रह्मस्वरूपिणी कहा है। यह अक्षर, शब्द, ब्रह्म और परावाक् भी कहलाती है।

पश्यन्ती मे वाच्य-वाचक का विभाग प्रतीत नहीं होता। इसके अनेक भेद होते हैं, जैसे-परिच्छिन्नार्थप्रत्ययवभास, संसृष्टार्थप्रत्ययवभास और प्रशान्तसर्वार्थप्रत्ययवभास।[3]

सूक्ष्मा (परावाक्)—नागेश आदि नव्य-वैयाकरणो ने सूक्ष्मा को ज्योतिस्वरूपा, शाश्वती, व्यापका, दुर्लक्ष्या और काल के भेद से स्पर्शरहित बतलाया है।[4] यह सबके अन्तरग मे प्रकाशित होती है। सूक्ष्मवाणी में सम्पूर्ण जगत् व्याप्त होने से ससार शब्दमय कहलाता है। सूक्ष्मा सम्पूर्ण ज्ञानो मे व्याप्त रहती है। इसके बिना पश्यन्ती नही हो सकती, पश्यन्ती के बिना मध्यमा और मध्यमा के बिना बैखरी वाणी नहीं हो सकती। इसलिए सूक्ष्मा सभी वाणियो की आद्य-जननी कहलाती है।[5] सम्पूर्ण ससार इसी का विवर्तमात्र है।

शब्दब्रह्म का स्वरूप

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय मे शब्दब्रह्म का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए निम्नांकित विशेषण दिये हैं[6]—

(क) शब्दब्रह्म अनादिनिधन है—शब्दब्रह्म की पहली विशेषता यह है कि वह उत्पत्ति और विनाश से रहित है। जिसकी न कभी उत्पत्ति होती है और न विनाश, वह अनादिनिधन कहलाता है। शब्दब्रह्म उत्पत्ति एव विनाश रहित है। इसलिए उसे अनादिनिधन कहा गया है।

(ख) शब्दब्रह्म अक्षररूप है—शब्दब्रह्म अक्षररूप है, क्योकि उसका क्षरण अर्थात् विनाश नही होता। दूसरे शब्दो मे शब्दब्रह्म कूटस्थ नित्य है। दूसरी बात यह है कि अकारादि अक्षर कहलाते हैं। शब्दब्रह्म इन अकारादि अक्षरो का निमित्त-कारण है, इसलिए वह अक्षर-रूप कहा गया है। अकारादि अक्षरो की उत्पत्ति शब्दब्रह्म के बिना नही हो सकती। शब्दब्रह्म के अक्षररूप से यह भी सिद्ध होता है कि वह वाचकरूप है।

(ग) शब्दब्रह्म अर्थरूप से परिणमन करता है—शब्दाद्वैतवादियो ने शब्दब्रह्म का स्वरूप बताते हुए यह भी कहा है कि वह अर्थरूप से विवर्तित होता है। अर्थात्, घट-पटादि जितने भी पदार्थ हैं, वे सब उसी शब्दब्रह्म की पर्याय है। घटादि पदार्थों का कारण शब्द-ब्रह्म है, जो घटादि रूप से प्रतीत होने लगता है। इससे सिद्ध है कि शब्दब्रह्म 'वाच्य' भी है।

(घ) शब्दब्रह्म जगत् की प्रक्रिया है—घट-पटादि भेद-प्रभेद रूप जो यह दृश्यमान् जगत् है, वह शब्दब्रह्ममय है। अर्थात्, शब्द-ब्रह्म से भिन्न जगत् की स्वतन्त्र सत्ता नही है। क्योकि, सम्पूर्ण पदार्थ शब्दब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं।

---

१. 'प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा-वाक् प्रवर्तते।'

२. 'अविभागाऽनुगा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा'
और भी द्रष्टव्य, स्या० र०, पृ० ६०

३. 'सविकल्प पश्यन्तीरूपा परावाक् शब्दब्रह्ममयीति ब्रह्मतत्त्व शब्दात् पारमार्थिकान्न भिद्यते, विवर्तदशायां तु वैखर्यात्मनाभेदः।',
हेलाराज, वाक्यपदीय, ३/११, उद्धृत बलदेव उपाध्याय, भा० द०, पृ० ६४०

४. 'स्वरूपज्योतिरेवान्त सूक्ष्मा-वागनपायिनी।
तया व्याप्त जगत्सर्वं तत शब्दात्मक जगत्।।'
और भी देखे स्या० र०, पृ० ६०

५. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १/३, श्लोक ६३-६४, पृ० २४०

६. (क) 'अनादिनिधन ब्रह्मशब्दतत्त्व यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रियाजगतो यत।।', भर्तृहरि वाक्यपदीय, १/१
(ख) प्रभाचन्द्र : प्र० क० मा०, १/३, पृ० ३६
(ग) वादिदेव सूरि स्याद्वादरत्नाकर, १/७, पृ० ६०
(घ) 'नाशोत्पादासमालीढ ब्रह्मशब्दमय परम्।
यत्तस्य परिणामोऽय भावग्राम: प्रतीयते।।', शान्तरक्षित : तत्त्वसंग्रह, का० १२८

समस्त जगत् शब्दब्रह्ममय है—शब्दाद्वैतवादियों ने इस सम्पूर्ण विश्व को ब्रह्ममय बतलाया है, क्योंकि विश्व उसका विवर्त है। संसार के सभी पदार्थ शब्दाकारयुक्त हैं, यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो शब्दाकारयुक्त न हो।[1]

दूसरी बात यह है कि जो जिस आकार से अनुस्यूत होते हैं, वे तद्रूप होते हैं। जैसे घट, सकोरा, दीया आदि मिट्टी के आकार से अनुगत होने के कारण मिट्टी रूप ही होते हैं। ससार के सभी पदार्थ शब्दाकार से अनुस्यूत हैं, अतः सम्पूर्ण जगत् शब्दमय है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण से शब्दाद्वैतवादी जगत् को शब्दब्रह्ममय सिद्ध करते हैं।[2]

केवलान्वयी अनुमान के अतिरिक्त केवलव्यतिरेकी अनुमान के द्वारा भी उन्होंने जगत् को शब्दब्रह्ममय सिद्ध किया है।[3] यथा—अर्थ शब्द से भिन्न नहीं है, क्योंकि वे प्रतीति अर्थात् ज्ञान मे प्रतीत होते हैं। जो प्रतीति मे प्रतीत होते हैं, वे उससे भिन्न नहीं होते, जैसे—शब्द का स्वरूप। अर्थ की प्रतीति भी शब्द-ज्ञान के होने पर होती है। इसलिए अर्थ शब्दब्रह्म से भिन्न नहीं है। इस प्रकार प्रत्यक्ष-प्रमाण से शब्दब्रह्म की सिद्धि होती है।

ज्ञान भी शब्द के बिना नहीं होता—समस्त जगत् को शब्दब्रह्मरूप सिद्ध करने के बाद शब्दाद्वैतवादी कहते हैं कि संसार के सभी ज्ञान शब्दब्रह्म रूप हैं। उनका तर्क है कि समस्त ज्ञानो की सविकल्पकता का कारण भी यही है कि वे शब्दानुविद्ध अर्थात् शब्द के साथ अभिन्न रूप से मलग्न हैं। ज्ञानो की वाग्रूपता शब्दानुविद्धत्व (शब्द से तादात्म्य सम्बन्ध) के कारण है।[4] शब्दानुविद्धत्व के बिना उनमे प्रकाशरूपता ही नही बनेगी। तात्पर्य यह है कि ज्ञान शब्दसस्पर्शरूप है, इसलिए वे सविकल्प और प्रकाशरूप हैं। यदि ज्ञान को शब्द-संस्पर्श मे रहित माना जाय तो वे न तो सविकल्प (निश्चयात्मक) हो सकेंगे और न प्रकाशरूप।[5] फलतः न तो ज्ञान वस्तुओं को प्रकाशित कर सकेगा और न उनका निश्चय कर सकेगा।

अत ज्ञान मे जो वाग्रूपता है, वह नित्या (शाश्वती) और प्रकाश-हेतुरूपा है। ऐसी वाग्रूपता के अभाव मे ज्ञानो का और कोई रूप अर्थात् स्वभाव शेष नही रहता। यह जितना भी वाच्य-वाचक तत्व है, वह सब शब्दरूप ब्रह्म का ही विवर्त अर्थात् पर्याय है। वह न तो किसी का विवर्त है और न कोई स्वतन्त्र पदार्थ है।

शब्दब्रह्माद्वैतवाद की समीक्षा

भारतीय चिन्तको ने शब्दब्रह्माद्वैतवाद पर सूक्ष्म रूप से चिन्तन कर उसका निराकरण किया है। प्रसिद्ध नैयायिक जयन्तभट्ट,[6] बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित और उसके टीकाकर कमलशील,[7] प्रमुख मीमासक कुमारिल भट्ट की कृतियो[8] मे विशेषरूप से शब्दाद्वैतवाद का निराकरण विविध तर्कों द्वारा किया गया है। जैन दर्शन के अनेक आचार्यों ने इस सिद्धान्त मे विविध दोष दिखाकर उसकी तार्किक मीमासा की है। इनमे वि० ६वी शती के आचार्य विद्यानन्द,[9] वि० ११वी शती के आचार्य अभयदेव सूरि,[10] वि० ११-१२वी शती के प्रखर जैनतार्किक प्रभाचन्द्र,[11] वि० १२वी शती के जैन नैयायिक वादिदेव सूरि[12] और वि० १८वी शती के जैन नव्यशैली के प्रतिपादक यशोविजय[13] का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सभी के आधार पर इस सिद्धान्त का निराकरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

शब्द-ब्रह्म की सत्ता साधक प्रमाण नही है

शब्दाद्वैतवादियो ने शब्दब्रह्म का जो स्वरूप प्रतिपादित किया है, वह तर्क की कसौटी पर सिद्ध नही होता। क्योंकि, शब्दाद्वैत-

---

१. प्रभाचन्द्र : न्यायकुमुदचन्द्र, १ ५, पृ० १८६

२. वही

३. वही, पृ० १४१-१४२

४. वही, पृ० १४०, प्रभाचन्द्र : प्र० क० मा०, १ ३, पृ० ३६

५. 'शब्दसम्पर्कपरित्यागे हि प्रत्ययानां प्रकाशरूपताया एवाभावप्रसक्ति·।', स्याद्वादरत्नाकर, १/७, पृ० ८८-८६

६. न्यायमञ्जरी, पृ० ५३१

७. तत्वसग्रह, कारिका १२६-१५२, पृ० ८६-६६

८. मीमासाश्लोकवार्तिक, प्रत्यक्ष सूत्र, श्लोक १७६

६. तत्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय १. तृतीय आह्निक, सूत्र २०, पृ० २४०-२४१, श्लोक ८४-१०३

१०. सम्मतितर्कप्रकरणटीका, पृ० ३८४-३८६

११. (क) न्यायकुमुदचन्द्र, १/५, पृ० १४२-१४७
 (ख) प्रमेयकमलमार्तण्ड, १/३, पृ० ३६-४६

१२. स्याद्वादरत्नाकर, १/७, पृ० ६२-१०२

१३. शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका

वादियों ने उसे एक परमतत्व माना है। जैनतर्कशास्त्रियों का मत है कि 'शब्द' प्रमेय है, और प्रमेय के अस्तित्व की सिद्धि प्रमाण के अधीन होती है।[1] आचार्य विद्यानन्द, अभयदेव सूरि, प्रभाचन्द्र, वादिदेव सूरि आदि जैनतर्कशास्त्रियों का कथन है कि यदि शब्दब्रह्मसाधक कोई प्रमाण होता है, तो उसकी सत्ता मानना ठीक था, लेकिन कोई भी प्रमाण ऐसा नही है, जिसके द्वारा उसकी सत्ता सिद्ध होती हो। अतः प्रमाण के अभाव मे शब्दब्रह्म की सत्ता सिद्ध नही हो सकती।[2] आचार्य विद्यानन्द आदि जैनन्यायशास्त्रियों का तर्क है कि यदि शब्दब्रह्म-साधक कोई प्रमाण है, तो प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणो मे से कोई एक हो सकता है।[3] शब्दब्रह्माद्वैतवादियो से वे प्रश्न करते हैं कि वे उपर्युक्त तीन प्रमाणो मे से किस प्रमाण से शब्दब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध करते है। इन आचार्यों ने इसकी विस्तार से समीक्षा की है।

शब्दब्रह्म के अस्तित्व का निराकरण करते हुए तत्वसग्रहकार शान्तरक्षित की भाति जैन दार्शनिक आ० विद्यानन्द, अभयदेव सूरि, प्रभाचन्द्र और वादिदेव सूरि कहते हैं कि प्रत्यक्ष-प्रमाण शब्दब्रह्म का साधक नही है। प्रभाचन्द्राचार्य और वादिदेवसूरि शब्दाद्वैतवादियों से प्रश्न करते हैं कि यदि वे प्रत्यक्ष-प्रमाण को शब्दब्रह्म का साधक मानते हैं, तो यह बतलाना होगा कि निम्नाकित प्रत्यक्ष मे से किस प्रत्यक्ष से उसका अस्तित्व सिद्ध होता है[4]—

(क) इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से ? अथवा
(ख) अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से ? अथवा
(ग) स्वसवेदन प्रत्यक्ष से ?

(क) इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष शब्दब्रह्म का साधक नही है

आचार्य विद्यानन्द तत्वार्थश्लोकवार्तिक मे कहते है कि इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष-प्रमाण से शब्दब्रह्म की सत्ता सिद्ध नही हो सकती, क्योंकि शब्दाद्वैतवादियों ने इन्द्रिय प्रत्यक्ष को स्वप्नादि अवस्था मे होने वाले प्रत्यक्ष की भाति मिथ्या माना है।[5] अत इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमेय रूप सम्यक् शब्द का साधक कैसे हो सकता है ? इस प्रकार सिद्ध है कि इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष शब्दब्रह्म का साधक नही है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि शब्दाद्वैतवादियो ने शब्दब्रह्म का जैसा स्वरूप प्रतिपादित किया है, वैसा किसी को इन्द्रिय प्रत्यक्ष-प्रमाण से प्रतीत नही होता। सन्मतितर्कप्रकरणटीका[6] मे अभयदेवसूरि और प्रमेयकमलमार्तण्ड[7] मे प्रभाचन्द्र कहते है कि इन्द्रिया वर्तमानकालवर्ती, सम्मुखस्थित मूर्तिक (स्थूल) पदार्थों को ही जानती हैं। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष सूक्ष्म शब्दब्रह्म का साधक नही हो सकता। यदि इन्द्रिय प्रत्यक्ष उसका साधक होता तो आज भी उसकी प्रतीति सभी को होनी चाहिए थी, लेकिन किसी को इसकी प्रतीति नही होती। अत सिद्ध है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष शब्दब्रह्म का साधक नहीं है।

शब्दब्रह्म का सद्भाव किस इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से होता है : इन्द्रिय प्रत्यक्ष को उसका साधक मानने पर प्रभाचन्द्र और वादिदेवसूरि एक यह भी प्रश्न शब्दाद्वैतवादियो मे पूछ ते हैं कि स्पर्शनादि पाच इन्द्रियो मे से किस इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से शब्दब्रह्म का सद्भाव प्रतीत

---

१. 'प्रमाणाधीना हि प्रमेयव्यवस्था।', अभयदेवसूरि सन्मतितर्कप्रकरणटीका, पृ० ३८४
२. (क) 'न चैवभूतब्रह्मसिद्धये प्रमाणमुपलभ्यते··।', वही, तृतीय विभाग, गा० ६, पृ० ३८४
   (ख) 'शब्दब्रह्मण सद्भावे प्रमाणाभावात्।'
३. (क) 'तद्धि शब्दब्रह्मनिरशमिन्द्रियप्रत्यक्षादनुमानात्स्वसवेदनप्रत्यक्षादागमाद्वा न प्रसिद्ध··।',
   विद्यानन्द तत्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय १. तृतीय आह्निक, सूत्र २०, पृ० २४०
   (ख) 'तथाहि तत्सद्भाव प्रत्यक्षेण प्रतीयतानुमानेनागमेन वा।', वादिदेवसूरि : स्याद्वादरत्नाकर, १ ७, पृ० ९८
४. (क) 'यतस्तत्सद्भाव· किमिन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षत प्रतीयेत्, अतीन्द्रियात् स्वसवेदनाद्वा ?', प्रभाचन्द्र न्या० कु० च०, १ ५, पृ० १४२
   (ख) 'यदि प्रत्यक्षेण, तत्किमिन्द्रियप्रभवेणातीन्द्रियेण वा।', स्या० र०, १ ७, पृ० ९८
५. 'ब्रह्मणो न व्यवस्थानमक्षज्ञानात् कुतश्चन।
   स्वप्नादाविव मिथ्यात्वतस्य साकल्पत स्वयम्।', विद्यानन्द त० श्लो० वा०, १/३, सूत्र २०, कारिका ९७, पृ० २४०
६. 'न तावत् प्रत्यक्ष तथावस्थितब्रह्मस्वरूपावेदकम् नीलादिव्यतिरेकेण तत्रापरस्य ब्रह्मस्वरूपस्याप्रतिभासनात्।',
   अभयदेवसूरि : सन्मतितर्कप्रकरणटीका, विभाग ३, का० ६, पृ० ३८४
७. 'न खलु यथोपवर्णितस्वरूप शब्दब्रह्म प्रत्यक्षत प्रतीयते, सर्वदा प्रतिनियतार्थस्वरूपग्राहकत्वेनैवास्य प्रतीते·।',
   प्रभाचन्द्राचार्य : प्रमेयकमलमार्तण्ड १/३ प० ४५
   तुलना कीजिये : 'न तत्प्रत्यक्षत: सिद्धमविभागमभासनात्।', शान्तिरक्षित : तत्वसग्रह, कारिका १४७

होता है ? दो ही विकल्प हो सकते हैं[1],

(क) श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से ? अथवा

(ख) श्रोत्रेन्द्रिय से भिन्न अन्य किसी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से ?

श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष शब्दब्रह्म का साधक नहीं है : श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को शब्दब्रह्म का साधक मानना ठीक नही है, क्योंकि श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष केवल शब्द को ही विषय करता है। दूसरे शब्दो मे श्रोत्र का विषय शब्द है। अतः शब्द के अतिरिक्त वह अन्य किसी को नहीं जान सकता। यही कारण है कि श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष अपने विषय से भिन्न ससार के समस्त पदार्थों मे अन्वित रूप से रहने वाले शब्द-ब्रह्म को जानने मे असमर्थ है।[2] अनुमान-प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि शब्दब्रह्म श्रोत्रजन्य प्रत्यक्ष का विषय नही है। 'जो जिसका विषय नही होता, वह उससे अन्वित रहने वाले को कभी भी जानने में समर्थ नही हो सकता। जैसे— चक्षु-ज्ञान रसनेन्द्रिय से नही जाना जाता। चूकि समस्त ससार के सभी पदार्थों मे अन्वित रूप से रहने वाला शब्दब्रह्म श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय नही है, अत: श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष भी उपरिवत् उसका साधक नही हो सकता।'[3] श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय न होने पर भी यदि शब्दाद्वैतवादी श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को शब्दब्रह्म का साधक मानेंगे तो समस्त इन्द्रियो मे सभी पदार्थों के ज्ञान का प्रसग आयेगा, जो किसी को मान्य नहीं है। अत सिद्ध है कि श्रोत्रेन्द्रियजनित प्रत्यक्ष शब्दब्रह्म का साधक नही है।

शब्द श्रोत्रेतरेन्द्रिय का विषय नहीं है—श्रोत्रेन्द्रिय-भिन्न इन्द्रिय से जन्य प्रत्यक्ष भी शब्दब्रह्म का साधक नही है, क्योंकि शब्द उन इन्द्रियों का विषय नही है।[4] अत. इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा शब्दब्रह्म की प्रतीति नही हो सकती।

अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष भी शब्दब्रह्म का साधक नहीं है—इन्द्रिय प्रत्यक्ष की भाति अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा भी शब्दब्रह्म की सत्ता सिद्ध नही हो सकती, क्योंकि शब्दाद्वैतवाद मे अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष की कल्पना भी नहीं की जा सकती।[5] इसके उत्तर मे शब्दाद्वैतवादियो का कहना है कि अभ्युदय और नि.श्रेयस फल वाले धर्म से अनुगृहीत अन्त:करण वाले योगीजन उस शब्दब्रह्म को देखते हैं। अत. उनके अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से शब्दब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। इसके प्रत्युत्तर मे प्रभाचन्द्राचार्य एव वादिदेवसूरि कहते हैं कि ऐसा मानना भी ठीक नही है, क्योंकि पहली बात तो यह है कि शब्दब्रह्म को छोडकर अन्य कोई परमार्थभूत योगी नहीं है, जो उसे देखता हो। दूसरी बात यह है कि शब्दब्रह्म के अतिरिक्त पारमार्थिक रूप से योगी मानने पर योगी, योग और उससे उत्पन्न प्रत्यक्ष इन तीन तत्वो को मानना पड़ेगा और ऐसा मानने से अद्वैतवाद का अभाव हो जायेगा।[6] एक प्रश्न के प्रत्युत्तर मे जैनतर्कशास्त्री यह भी कहते हैं कि योग्यावस्था में शब्दब्रह्म स्वय आत्मज्योतिरूप मे प्रकाशित होता है। यह मानना भी ठीक नही है, क्योंकि इस प्रकार की कल्पना करने पर भी योग्यावस्था, ज्योतिरूप और स्वयंप्रकाशन इन तीनो की सत्ता सिद्ध होने से द्वैत की सिद्धि और अद्वैत का अभाव सिद्ध होता है।[7]

शब्दाद्वैतवादियो को एक बात यह भी स्पष्ट करनी चाहिए कि योग्यावस्था मे आत्मज्योतिरूप से प्रकाशित होने के पूर्व शब्द-ब्रह्म आत्मज्योति रूप मे प्रकाशित होता है कि नही ?[8] यदि शब्दब्रह्म योग्यावस्था के पूर्व आत्मज्योति रूप से प्रकाशित होता है, यह माना जाय तो समस्त ससारी जीवों को बिना प्रयत्न के मोक्ष हो जायेगा, क्योंकि शब्दाद्वैत-सिद्धान्त मे ज्योतिरूप ब्रह्म का प्रकाश हो जाना ही मोक्ष कहा गया है। अयोग्यावस्था मे इस प्रकार के ज्योतिस्वरूप ब्रह्म के प्रकाशित हो जाने पर सबका मुक्त हो जाना युक्तिसगत है। लेकिन

---

१ (क) 'तथाविधस्य चास्यसद्भाव श्रोत्रप्रभवप्रत्यक्षात्, इतरेन्द्रियजनिताध्यक्षाद्वा प्रतीयेत् ।,' प्रभाचन्द्र : न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४२

(ख) वादिदेवसूरि न्या० र०, १,७, पृ० ६८

२. वही

३. (क) 'यद्यदगोचरो न तत्तेनान्वितरव कस्यचित् प्रतिपत्तु समर्थम् यथा चक्षुर्ज्ञान रसेन, अगोचरश्च तदाकारनिकट श्रोत्रज्ञानस्येति ।', न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४२

(ख) स्या० र०, १,७, पृ० ६८

४. (क) स्या० र०, १/७, पृ० ६८

(ख) न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४२

५. 'नाप्यतीन्द्रियप्रत्यक्षात, तस्यैवात्राऽसभावात् ।'

(क) प्रभाचन्द्र : न्या० कु० च०, पृ० १४२

(ख) वादिदेवसूरि · स्याद्वादरत्नाकर, १/७, पृ० ६६

६. वही

७. वही

८. (क) 'किं च, योग्यावस्थाया तस्य तद्रूपप्रकाशनेन तत. प्राक् तद्रूप प्रकाशते, न वा ?', वही

(ख) अभयदेव सूरि : सम्मतितर्कप्रकरणटीका, तृतीय काण्ड, पृ० ३८५

(ग) तत्वसग्रहपञ्जिका, पृ० ७४

ऐसा कभी हो नहीं सकता। अतः सिद्ध है कि योग्यावस्था के पूर्व आत्मज्योति का प्रकाश नहीं होता है।[1]

अब यदि उपर्युक्त दोष से बचने के लिए यह माना जाय कि वह योग्यावस्था के पूर्व आत्मज्योतिरूप से प्रकाशित नहीं होता है, तो इसका कारण बतलाना चाहिए कि वह क्यों नही प्रकाशित होता ? यहां भी विकल्प होते हैं कि क्या वह शब्दब्रह्म है कि नही ?[2] यदि शब्दाद्वैतवादी यह माने कि वह अयोग्यावस्था मे नही रहता, तो उसे नित्य नही मानना चाहिए, क्योंकि वह कभी होता है और कभी नही होता। यह नियम है कि जो कदाचित् अर्थात् कभी-कभी होता है, वह नित्य नहीं होता, जैसे—अविद्या। ज्योतिस्वरूप ब्रह्म भी अविद्या की तरह कभी-कभी होता है अर्थात् योग्यावस्था मे होता है और अयोग्यावस्था में नहीं होता। अतः वह भी अविद्या की तरह अनित्य है। इस प्रकार ब्रह्म और अविद्या का द्वैत भी सिद्ध होता है। अतः शब्दाद्वैत-सिद्धान्त खण्डित हो जाता है।[3]

अब यदि यह माना जाय कि अयोग्यावस्था में शब्दब्रह्म आत्मज्योति रूप से प्रकाशित नही होता, फिर भी वह है, तो अभयदेव सूरि की भांति न्यायकुमुदचन्द्र में प्रभाचन्द्र और स्याद्वादरत्नाकर मे वादिदेव प्रश्न करते हैं—शब्दाद्वैतसिद्धान्ती बतायें कि शब्दब्रह्म होने पर भी क्यो नही प्रकाशित होता ? यहा भी दो विकल्प हो सकते हैं।[4]

(क) ग्राहक का अभाव होने से वह प्रकाशित नही होता ? अथवा

(ख) अविद्या के अभिभूत होने से ?

यह मानना ठीक नही है कि ग्राहक (ज्ञान) का अभाव होने से वह प्रकाशित नही होता, क्योंकि शब्दाद्वैत-सिद्धान्त मे शब्दब्रह्म ही ग्राहकरूप है और ग्राहकत्व शक्ति उसमे सदैव रहती है। तात्पर्य यह है कि शब्दब्रह्म मे ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व दोनो शक्तिया विद्यमान रहती हैं—ऐसा शब्दाद्वैतवादी मानते हैं। इसलिए जैन तर्कशास्त्रियो का कहना है कि जब शब्दब्रह्म में ग्राहकत्व शक्ति सदैव विद्यमान रहती है, तो उसे अयोग्यावस्था मे प्रकाशित होना चाहिए।[5] अतः शब्दाद्वैतवादियो का यह तर्क ठीक नही है कि ग्राहक (ज्ञान) का अभाव होने से वह प्रकाशित नही होता।

अविद्या से अभिभूत होने से ब्रह्म होते हुए भी अयोग्यावस्था मे वह प्रकाशित नही होता - यह विकल्प भी ठीक नही है, क्योंकि विचार करने पर अविद्या का अस्तित्व ही सिद्ध नही होता। प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र मे विशद रूप से अविद्या पर विचार कर उसका निराकरण किया है। वे प्रश्न करते हैं कि अविद्या ब्रह्म मे भिन्न है कि अभिन्न ?[6] यदि अविद्या ब्रह्म से भिन्न है, तो जिज्ञासा होती है कि वह वस्तु (वास्तविक) है अथवा अवस्तु[7] (अवास्तविक) ? स्याद्वादरत्नाकर और शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका मे भी इसी शैली के अनुसार अविद्या का निराकरण किया गया है।

अविद्या अवस्तु नहीं हो सकती—शब्द-ब्रह्म से भिन्न मानकर अविद्या को अवस्तु नही माना जा सकता, क्योंकि अवस्तु वही होती है, जो अर्थक्रियाकारी न हो। अविद्या शब्द-ब्रह्म की भांति अर्थक्रियाकारी है, इसलिए उसे अवस्तु नही माना जा सकता। यदि अर्थक्रियाकारी होने पर भी उसे अवस्तु माना जाता है, तो शब्द-ब्रह्म को भी अवस्तु मानना पड़ेगा। प्रभाचन्द्र के मतानुसार अर्थक्रियाकारी होने पर उसे अवस्तु कहा जाता है, तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि अवस्तु अर्थक्रिया का दूसरा नाम है।[8]

अविद्या को अर्थक्रियाकारी न मानने से एक दोष यह भी आता है कि वह वस्तुरूप न हो सकेगी और ऐसा न होने पर शब्दाद्वैतवादियो का यह कथन 'अविद्या कलुषत्व की तरह हो जाती है' नही बन सकेगा।[9]

---

१. (क) तत्वसग्रहपञ्जिका, पृ० ७४
 (ख) सन्मतितर्कप्रकरणटीका, तृतीय काण्ड, पृ० ३८५

२ 'अथ न प्रकाशते, तदा तत्किमस्ति, न वा ?', प्रभाचन्द्र न्या० कु० च०, पृ० १४२

३. वही

४. (क) 'अथास्ति कस्मान्न प्रकाशते —ग्राहकाभावात् अविद्याभिभूतत्वाद्वा ?', प्रभाचन्द्र . न्या० कु० च०, १,५, पृ० १४२
 (ख) वादिदेव सूरि, १/७, पृ० ६६

५. '···ब्राह्मण एव तद्ग्राहकत्वात्, तस्य च नित्यतया सदा सत्वात्।', वादिदेव सूरि, १/७, पृ० ६६

६. (क) 'सा हि ब्रह्मणो व्यतिरिक्ता, अव्यतिरिक्ता वा ?', प्रभाचन्द्र · न्यायकुमुदचन्द्र, १/५, पृ० १४३
 (ख) 'सा हि शब्दब्रह्मण सकाशाद्भिन्ना भवेदभिन्ना वा।', वादिदेवसूरि स्या० र०, १.७, पृ० ६६
 (ग) यशोविजय · शा० वा० स० टी०, पृ० २३७

७. वही

८. 'तत्कारित्वेऽप्यस्या अवस्तु इति नामान्तरकरणे नाममात्रमिव भिद्येत्।', न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४३

९. (क) 'कथमेवम् 'अविद्यया कलुषत्वमिवापन्नम्' इत्यादि वचो घटेत ?', न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४३
 (ख) स्या० र०, १/७, पृ० ६६

अविद्या के अवस्तु होने पर एक दोष यह भी आता है कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्ति में समानता नहीं रहती, क्योंकि आकाश में असत् (मिथ्या) प्रतिभास का कारणभूत अंधकार (तिमिर) वस्तुरूप है और अविद्या अवस्तुरूप। जब अविद्या अवस्तु है, तो वह विचित्र प्रतिभास का कारण कैसे बन सकती है। एक स्वभाव वाली दो वस्तुओं में दृष्टान्त और दार्ष्टान्ति बन सकता है। वास्तविक और अवास्तविक पदार्थों में दृष्टान्त और दार्ष्टान्ति नहीं बन सकता।'

अतः शब्दाद्वैतवादियों का यह कथन भी ठीक नहीं है कि 'जिस प्रकार तिमिर से उपहत जन विशुद्ध-आकाश को नाना प्रकार की रेखाओं से व्याप्त मान लेता है, उसी प्रकार यह अनादि-निधन-शब्दब्रह्म निर्मल और निर्विकार है, किन्तु अविद्या के कारण (अविद्यारूपी तिमिर से उपहत नर) उसे घट-पटादि कार्य के भेद से प्रादुर्भाव और विनाश वाला अर्थात् भेद रूप में देखता है।'

शब्दब्रह्म से भिन्न अवस्तुस्वरूप अविद्या के वशीभूत होकर नित्य, अनाधेय और अतिशय रूप शब्दब्रह्म भेद रूप से प्रतिभासित होता है, यह कथन भी तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि अवस्तु के वशीभूत होकर वस्तु अन्य रूप नहीं हो सकती।[1] प्रभाचन्द्र, अभयदेव[3] और वादिदेव[4] की भांति 'तत्त्वसंग्रह' के टीकाकार कमलशील[5] ने भी यही कहा है। इस प्रकार अविद्या को अवस्तु मानना न्यायसंगत नहीं है।

शब्द-ब्रह्म से भिन्न अविद्या को वस्तु मानना भी अतर्कसंगत है—उपर्युक्त दोषों के कारण शब्द-ब्रह्मवादियों का यह अभिमत कि अविद्या वस्तुरूप है, तर्कशील नहीं है ? क्योंकि अविद्या को वस्तु मानने पर शब्दाद्वैतमत में निम्नांकित दोष आते हैं—

१ पहला दोष यह आता है कि स्वीकृत सिद्धान्त का विनाश हो जायेगा[6], क्योंकि अविद्या और ब्रह्म दो की सत्ता सिद्ध हो जायेगी।

२ दूसरा दोष यह है कि शब्द-ब्रह्म की भांति अविद्या भी वस्तुरूप है, अतः दो तत्त्वों के सिद्ध हो जाने से द्वैत की सिद्धि और अद्वैत का अभाव हो जायेगा।[7] अतः अविद्या को ब्रह्म से भिन्न मानना ठीक नहीं है।

अविद्या को शब्द-ब्रह्म से अभिन्न मानने में दोष—अविद्या शब्दब्रह्म से भिन्न नहीं है, यह सिद्ध हो जाने पर शब्दाद्वैतवादी उसे शब्द-ब्रह्म से अभिन्न नहीं मान सकते, क्योंकि ऐसा मानने से या तो अविद्या की तरह ब्रह्म असत्य हो जायेगा या ब्रह्म की तरह अविद्या सत्य हो जायेगी।[8]

उपर्युक्त दोनों विकल्प युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि अविद्या की तरह ब्रह्म के मिथ्यात्व रूप हो जाने से शब्दाद्वैतवाद में कोई तत्त्व पारमार्थिक सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतः यदि ब्रह्म की भांति अविद्या शब्द-ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण सत्य रूप मान ली जाय तो अविद्या मिथ्याप्रतीति का कारण कैसे मानी जा सकती है ? क्योंकि यह अनुमान प्रमाण से सिद्ध है कि जो सत्य रूप होता है, वह मिथ्याप्रतीति का हेतु नहीं होता, जैसे ब्रह्म से अभिन्न अविद्या भी सत्य होने से मिथ्याप्रतीति का कारण नहीं हो सकती। अतः अविद्या को शब्दब्रह्म से अभिन्न मानना भी ठीक नहीं है।

यहां एक बात यह भी है कि घोड़े के सींग की तरह अविद्या अवस्तु अर्थात् असत् होने से शब्दब्रह्म से बलशाली नहीं है। जो बलशाली होता है, वही निर्बल के स्वभाव को ढक लेता है। न कि निर्बल बलशाली के स्वभाव को, जैसे - सूर्य तारों के स्वभाव का अभिभव कर देता है। इस अनुमान से सिद्ध है कि अविचारणीय स्वभाव वाली अविद्या से शब्दब्रह्म का स्वभाव अभिभव नहीं हो सकता।[9]

एवंविध सिद्ध होता है कि शब्दब्रह्म के असत्य होने से अयोग्यावस्था में आत्मज्योतिस्वरूप शब्दब्रह्म अप्रकाशित रहता है, अविद्या के अभिभूत होने से नहीं। अयोग्यदशा में शब्दब्रह्म के असत् सिद्ध होने से यह भी सिद्ध हो जाता है कि योग्यावस्था में उसका अस्तित्व नहीं

---

१. (क) प्रभाचन्द्र प्र० क० मा०, १ ३, पृ० ४५
   (ख) प्रभाचन्द्र न्या० कु० च०, १ ५ पृ० १४३
   (ग) वादिदेवसूरि स्या० र०, १ ५, पृ० ६६

२. 'न चानाधेयाऽप्रहेयातिशयस्य ब्रह्मण तद्वशात् तथाप्रतिभासो युक्तोऽतिप्रसङ्गात्। नाप्यवस्तुवशाद्वस्तुनोऽन्यथाभावो भवति, अतिप्रसङ्गाच्च।',
प्रभाचन्द्र न्या० कु० च०, पृ० १४३

३. 'न च···ब्रह्मणि तस्या अकिञ्चित्करत्वात्···।', सन्मतितर्कप्र० टीका, तृतीय विभाग, पृ० ३८५

४. 'न ···शब्दब्रह्मणोऽविद्यासामर्थ्याद्भेदेन प्रतिभासो ज्यायान्। अतिप्रसक्तेः···।', स्या० र०, पृ० ९९-१००

५. 'अथ···ब्रह्मण सा न किञ्चित् करोतीति न युक्तमविद्यावशात् तथा प्रतिभासनम्।', त० स० पञ्जिका, का० १५१, पृ० ६५

६. (क) 'अथ वस्तु, तन्न, अभ्युपगमक्षतिप्रसक्तेः···।', न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४३
   (ख) स्या० र०, १/७, पृ० १००

७. वही

८. (क) द्रष्टव्य, न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४३
   (ख) स्या० र०, १/७, पृ० १००

९. वही

रहता। अतः इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की भांति अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से भी उस शब्द-ब्रह्म की सत्ता सिद्ध नहीं होती।[1]

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से भी शब्द-ब्रह्म का सद्भाव सिद्ध नहीं होता—स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से भी शब्दब्रह्म का सद्भाव सिद्ध नहीं होता; क्योंकि आ० विद्यानन्द कहते हैं[2] कि पहली बात यह है कि शब्दाद्वैतवादियो ने बौद्धो द्वारा मान्य क्षणिक और निरंश ज्ञान की सिद्धि स्व-संवेदन प्रत्यक्ष से नही मानी। जब क्षणिक एव निरंश ज्ञान की स्वसवेदन प्रत्यक्ष से सिद्धि नही हो सकती, तो शब्दब्रह्म की सिद्धि उससे कैसे हो सकती है ?

दूसरी बात यह है कि युक्तिरहित वचनमात्र से शब्दब्रह्म की सत्ता मान लेना भी युक्तियुक्त नही है। अन्यथा अश्व-विषाण आदि असत् पदार्थों का सद्भाव सिद्ध हो जायेगा।

प्रभाचन्द्राचार्य ने भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा शब्दब्रह्म की प्रतीति का निराकरण करते हुए कहा है कि स्वप्न मे भी आत्मज्योति-स्वभाव शब्दब्रह्म की प्रतीति स्वसवेदन के द्वारा नही हो सकती। यदि स्वसवेदन में उसकी प्रतीति होने लगे, तो बिना प्रयत्न किये समस्त प्राणियो को मोक्ष हो जायेगा। क्योकि, शब्दाद्वैत-सिद्धान्त में यह माना गया है कि आत्मज्योतिस्वभाव शब्दब्रह्म का स्वसवेदन होना मोक्ष है।[3] अभयदेव सूरि और कमलशील ने भी स्वसवेदन को विरुद्ध बताकर उसका निराकरण किया है।[4] एक अन्य बात यह है कि घटादि शब्द और पदार्थ स्वसविदित स्वभाव वाले नही हैं, इसके विपरीत सभी लोगो को अस्वसविदित रूप ही प्रतीत होते है।[5] तात्पर्य यह है कि घट-पटादि शब्द और पदार्थ शब्दब्रह्म की पर्याय हैं और शब्दाद्वैतवादी शब्दब्रह्म को स्वसविदितरूप मानते हैं। जैन तर्कशास्त्रियो का कथन यह है कि शब्दब्रह्म की भाति घटादि शब्द और पदार्थ स्वसंविदित रूप होने चाहिए, क्योकि वे उसी शब्द-ब्रह्म के विवर्त हैं। ऐसी प्रतीति किसी को नही होती; सभी को घटादि पदार्थ अस्वसविदित रूप ही प्रतीत होते हैं। इससे सिद्ध है कि शब्दब्रह्म भी स्वसविदित रूप नही है और प्रत्यक्ष प्रमाण से इसकी प्रतीति किसी को नही होती।

अनुमानप्रमाण भी शब्दब्रह्म का साधक नही है

अनुमान प्रमाण भी शब्दब्रह्म का साधक नही है, क्योकि ऐसा कोई अनुमान नही है, जो शब्दब्रह्म की सिद्धि करता हो।[6] दूसरी बात यह है कि शब्दाद्वैतवादियो को अनुमान प्रमाण मान्य नही हैं। आचार्य विद्यानन्द कहते हैं[7] कि शब्दाद्वैतवादियो ने अनुमान के द्वारा अर्थों की प्रतीति को दुर्लभ माना है। उनका मत है कि जिस समय व्याप्ति का ग्रहण होता है, उसी समय सामान्य रूप से अनुमेय का ज्ञान हो जाता है। अनुमान काल मे पुनः उसे सामान्यरूप से जानने पर सिद्ध-साधन दोष आता है। विशेष रूप से अनुमेय जानने के लिए हेतु का अनुगम गृहीत नही होता। अत. अनुमान से अर्थ-प्रतीति जब शब्दाद्वैत-सिद्धान्त मे मान्य नही है, तो उससे शब्दब्रह्म की सिद्धि कैसे कर सकते हैं ? अर्थात् नही कर सकते।

अब यदि शब्दाद्वैतवादियो का यह अभिमत हो कि अन्य सिद्धान्तो मे मान्य अनुमान-प्रमाण से शब्दब्रह्म की सिद्धि हो जाती है। तो, इसके प्रत्युत्तर मे आचार्य विद्यानन्द का कथन है कि परवादियों की अनुमान प्रक्रिया शब्दाद्वैतवादियो के लिए प्रामाणिक नही है।

अभयदेव सूरि, प्रभाचन्द्र और तत्वसग्रह के टीकाकारो ने विशद रूप से शब्दाद्वैतवादियों की इस युक्ति का खण्डन करके सिद्ध

---

१. (क) स्या० र०, १ ७, पृ० १००
   (ख) न्या० कु० च०, १ ५, पृ० १४३

२. 'स्वत सवेदनात्सिद्धिः क्षणिकानशवित्तिवत् ।
   न परब्रह्मणो नापि सा युक्ता साधनादिना ॥', त० श्लो० वा०, १/३, सू० २०, श्लोक ६८, पृ० २४०

३. '··· आत्मज्योति स्वभावस्यास्य स्वप्नेऽपि सवेदनाऽगोचरत्वात् तद्गोचरत्वे वा अनुपायसिद्ध एव अखिलप्राणीना मोक्षः स्यात्, तथाविधस्य हि शब्दब्रह्मणः स्वसवेदन यत् तदेव मोक्षो भवतामभिमत: ।', प्रभाचन्द्र, न्या० कु० च०, १ ५, पृ० १४३

४. 'अथ ज्ञानरूपवत् स्वसवेदनस्याध्यक्षत एव शब्दब्रह्म सिद्धम्···असदेतत्, स्वसवेदनविरुद्धत्वात् तथाहि अन्यत्र गतचित्तोऽपि रूप चक्षुषा वीक्षमाणोऽभिलापासंसृष्ट-मेव नीलादिप्रत्ययमनुभवतीति···।', अभयदेवसूरि सन्मतितर्कप्रकरणटीका, तृतीय विभाग, गा० ६, पृ० ३८४
   तुलना करें, ···तथाहि ज्योतिस्तदेव शब्दात्मकत्वाच्चैतन्यकपरत्वाच्चेति ?तदेनत् स्वसवेदनविरुद्धम् । तथाहि अन्यत्र गमनमानसोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षमाणोऽनादिष्टा-भिलापमेव नीलादिप्रत्ययमनुभवतीति ।', कमलशील त० स० टीका, पृ० १४७, पृ० ६२

५. 'न च घटादिशब्दोऽर्थो वा स्वसंविदितस्वभाव , यतस्तदन्वितत्व स्वसवेदनत सिद्ध्येत्, अस्वसंविदितस्वभावतयैवास्य प्रतिप्राणिप्रसिद्धत्वात् ।',
   न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४४

६. 'नाप्यनुमानेन, तस्य तत्सद्भावावेदकस्य कस्यचिदसम्भवात् ।', वादिदेव सूरि स्या० र०, १/७, पृ० १००

७. 'नानुमानात्ततोऽर्थाना प्रतीतेर्दुर्लभत्वत: ।
   परप्रसिद्धिरप्यस्य प्रसिद्धा नाप्रामाणिका ॥', त० श्लो० वा०, १/३, सूत्र २०, श्लोक ६७, पृ० २४०

किया है कि अनुमान प्रमाण भी प्रत्यक्ष प्रमाण की भांति शब्दब्रह्म का साधक नहीं है। विकल्प प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि अनुपलब्धि लिंग वाले अनुमान को विधिसाधक नहीं माना गया है। अत: शब्दाद्वैतवादियों को बताना चाहिए कि वे किस अनुमान को ब्रह्म का साधक मानते हैं[1]—

कार्यलिंग वाले अनुमान को ? अथवा

स्वभाव आदि लिंग वाले अनुमान को ?

कार्यलिंग वाले अनुमान को शब्दब्रह्म का साधक नहीं माना जा सकता, क्योंकि नित्य-एक-स्वभाव वाले शब्द ब्रह्म से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। वह न तो क्रम से कार्य की निष्पत्ति (अर्थक्रिया) कर सकता है और न युगपत् (एक साथ)।[1] जब उसका कोई कार्य नहीं है, तो उसके साधक अनुमान का हेतु किसे बनाया जाय ? अर्थात् कार्य के अभाव में कार्यलिंग वाले अनुमान से शब्दब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती।

स्वभावलिंग वाला अनुमान भी शब्दब्रह्म का साधक नहीं है, क्योंकि धर्मी रूप शब्दब्रह्म के सिद्ध होने पर ही उसके स्वभाव (स्वरूप) भूत धर्म वाले अनुमान से उसका अस्तित्व सिद्ध करना तर्कसंगत होता है। लेकिन जब शब्दब्रह्म नामक धर्मी ही असिद्ध है, तो उसका स्वभावलिंग भी असिद्ध होगा। अत. स्वभावलिंग वाला अनुमान शब्दब्रह्म का साधक ही नहीं हो सकता।[3] कार्य और स्वभाव लिंग को छोड़कर अन्य कोई ऐसा हेतु ही नहीं है, जो शब्दब्रह्म का साधक हो।

प्रभाचन्द्राचार्य कहते हैं कि शब्दाद्वैतवादियों का यह अनुमान भी ठीक नहीं है कि जो जिस आकार से अनुस्यूत होते हैं, वे उसी स्वरूप (तन्मय) के ही होते हैं। जैसे घट, शराव, उदचन आदि मिट्टी के आकार से अनुगत होने के कारण वे मिट्टी के स्वभाव वाले हैं और सब पदार्थ शब्दाकार से अनुस्यूत है, अत शब्दमय हैं। उस कथन के ठीक न होने का कारण यह है कि पदार्थ का शब्दाकार से अन्वित होना असिद्ध है।[4] शब्दाद्वैतवादियों का यह कथन तभी सत्य माना जाता, जब नील आदि पदार्थों को जानने की इच्छा करने वाला (प्रतिपत्ता) व्यक्ति प्रत्यक्ष प्रमाण से जानकर उन पदार्थों को शब्दसहित जानता। किन्तु ऐसा नहीं होता, इसके विपरीत वह उन पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से शब्दरहित ही जानता है।

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि पदार्थों का स्वरूप शब्दों से अन्वित न होने पर भी शब्दाद्वैतवादियों ने अपनी कल्पना से मान लिया है कि पदार्थों में शब्दान्वितत्व है, इसलिए भी उनकी मान्यता असिद्ध है। तात्पर्य यह है कि 'शब्दान्वितत्व' रूप हेतु कल्पित होने से शब्दब्रह्म की सिद्धि के लिए दिये गये अनुमान प्रमाण से शब्दब्रह्म की सिद्धि नहीं होती।[5]

घटादि रूप दृष्टान्त साध्य और साधन से रहित है--शब्दब्रह्म की सिद्धि हेतु प्रयोज्य अनुमान भी घटादि रूप दृष्टान्त में साध्य और साधन के न होने से निर्दोष नहीं है। क्योंकि, घटादि में सर्वथा एकमयत्व और एकान्वितत्व सिद्ध नहीं है।[6] समान और असमान रूप में परिणत होने वाले सभी पदार्थ परमार्थत: एकरूपता से अन्वित नहीं हैं।[7] इसलिए सिद्ध है कि अनुमान प्रमाण शब्दब्रह्म का साधक नहीं है।

---

१. (क) 'नाप्यनुमानतस्तत्सिद्धि यतोऽनुमान कार्यलिंगजम स्वभावहेतुप्रभवं वा तत्सिद्धये व्याप्रियते ?',

अभयदेवसूरि : स० त० प्र० टी०, तृ० वि०, गा० ६, पृ० ३८४

(ख) ' अनुमान हि कार्यलिङ्ग वा भवेत् स्वभावादिलिङ्ग वा ?', प्रभाचन्द्र प्र० क० मा०, १/३, पृ० ४५

(ग) 'नाप्यनुमानत । तथा ह्यनुमान भवत्कार्यलिङ्ग भवेत् स्वभावलिङ्ग वा ?', कमलशील त० स० पञ्जिका टीका, कारिका १४७-१४८, पृ० ६२-६३

२. (क) 'नाप्यनुमानतस्तत्सिद्धि · तत्सिद्धये व्याप्रियते ?', अभयदेवसूरि . स० त० प्र० टी, तृ० वि०, गा० ६, पृ० ३८४

(ख) '···अनुमान हि···भवेत् स्वभावादिलिङ्ग वा ?', प्रभाचन्द्र प्र० क० मा०, १/३, पृ० ४५

(ग) 'नाप्यनुमानत.···स्वभावलिङ्ग वा ?', कमलशील : त० स० पंजिका टीका, कारिका १४७-४८, पृ० ६२-६३

३. वही,

तुलना करें · 'धर्मिसत्वाप्रसिद्धेस्तु, स्वभाव प्रसाधक ।', त० स०, कारिका १४८

४. '···तदप्युक्तिमात्रम्, शब्दाकारान्वितत्वस्यासिद्धे'

(क) स्या० कु० च०, १/५, पृ० १४५

(ख) प्र० क० मा०, १/३, पृ० ४६

५. 'कल्पितत्वाच्चास्याऽसिद्धि ।', वही

तुलना के लिए द्रष्टव्य . त० स० टीका, पृ० ६१

६. 'साध्यसाधनविकलश्च दृष्टान्तो···।', वही

७. (क) 'न खलु भावाना परमार्थेनैकरूपानुगमोऽस्ति ।', वही

(ख) स० त० प्र० टीका, पृ० ३८३

आगम प्रमाण से शब्द-ब्रह्म की सिद्धि संभव नहीं है

आगम प्रमाण से शब्दब्रह्म की सिद्धि भी तर्कसंगत नहीं है। एतदर्थ विद्यानन्द कहते हैं कि यदि शब्दाद्वैतवादी जिस आगम से शब्दब्रह्म की सिद्धि मानेंगे, तो उसी आगम से भेद की सिद्धि भी क्यो नही मानेंगे ?[१] इस प्रकार आगम शब्दब्रह्म का साधक नही है।

निर्बाध आगम प्रमाणान्तर से सिद्ध नहीं है—शब्दाद्वैतवादियो का यह कहना कि निर्बाध (बाधारहित) आगम मे शब्द-ब्रह्म की सिद्धि होती है, ठीक नही है। अनुमान, तर्क आदि प्रमाणो के द्वारा उसकी निर्बाधता सिद्ध होने पर ही तर्कशास्त्री उसे निर्बाध आगम मान सकते हैं, लेकिन प्रमाणों से उसकी निर्बाधता सिद्ध नही होती। अनुमानादि से रहित उस आगम की निर्बाधता तर्कशास्त्रियो को मान्य नही है।[२]

शब्दब्रह्म से भिन्न आगम नहीं है—विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, वादिदेव सूरि विकल्प प्रस्तुत करते हुए पूछते है कि शब्दब्रह्म से आगम भिन्न है अथवा अभिन्न ?[३] शब्दाद्वैतवाद मे शब्द-ब्रह्म से भिन्न को आगम नही माना गया है। जब वह आगम उससे भिन्न नही है, तो उससे शब्दब्रह्म की सिद्धि नही हो सकती।[४] आगम को ब्रह्म से भिन्न मानने पर द्वैत की सिद्धि हो जाएगी।[५]

उपर्युक्त दोष से बचने के लिए शब्दाद्वैतवादी यह युक्ति दें कि आगम शब्दब्रह्म का विवर्त है, अतः उसमे उसकी सिद्धि हो जायेगी। इसके उत्तर मे विद्यानन्द का कथन है कि ऐसा मानने पर आगम अविद्या स्वरूप सिद्ध हुआ। जो अविद्या स्वरूप है, वह अविद्या की तरह अवस्तु अर्थात् असत् सिद्ध हुआ। अतः अवस्तुरूप आगम वस्तुभूत ब्रह्म का साधक नही हो सकता।[६]

आगम को शब्द-ब्रह्म से अभिन्न मानने में दोष—अब यदि शब्दाद्वैत-सिद्धान्ती माने कि आगम शब्दब्रह्म से अभिन्न है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योकि आगम को ब्रह्म से अभिन्न मानने पर तद्वत आगम भी असिद्ध हो जायेगा।[७] इस प्रकार सिद्ध है कि आगम प्रमाण भी शब्दब्रह्म का साधक नही है।

आगम को शब्दब्रह्म का साधक मानने से परस्पराश्रय नामक दोष भी आता है, क्योकि ब्रह्म का अस्तित्व हो तो आगम सिद्ध हो और आगम हो तो उससे ब्रह्म की सिद्धि हो। इस प्रकार सिद्ध है कि आगम और शब्दब्रह्म दोनो की सिद्धि परस्पर आश्रित है। अत प्रत्यक्ष-अनुमान की भाति आगम-प्रमाण से भी शब्दब्रह्म की सिद्धि नही होती। इन प्रत्यक्षादि प्रमाणो के अतिरिक्त कोई अन्य प्रमाण ऐसा नही है, जिससे उसकी सिद्धि हो सके। प्रमाणों के द्वारा सिद्ध न होने पर भी यदि किसी पदार्थ को सिद्ध मान लिया जाए, तो वह तार्किको के समक्ष जल के बुलबुले के समान अधिक समय तक स्थिर नही रह सकेगा।[८] तात्पर्य यह है कि जिस पदार्थ की सिद्धि प्रमाणो से नही होती, वह तर्कशास्त्रियो को मान्य नही होता। शब्दब्रह्म भी किसी प्रमाण से सिद्ध नही होता, इसलिए उसका अस्तित्व नही है।

जगत् शब्दमय नही

शब्दाद्वैतवादी सम्पूर्ण जगत् को शब्दमय मानते है। उनका यह मत तर्कसगत नही है, क्योकि जब उस पर विचार किया जाता है, तो तार्किक रूप से वह शब्दमय सिद्ध नही होता। सन्मतितर्कप्रकरण के टीकाकार अभयदेव सूरि, प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र के प्रणेता प्रभाचन्द्र और स्याद्वादरत्नाकरकार वादिदेवसूरि ने गम्भीरतापूर्वक विचार कर यह सिद्ध किया है कि जगत् शब्दमय नहीं है। तत्त्व-सग्रह और उसकी पजिका टीका मे भी जैन आचार्यों की भाति तार्किक रूप से जगत् के शब्दमय होने का निराकरण किया गया है।

उपर्युक्त आचार्य कहते है कि यदि सम्पूर्ण जगत् शब्दमय है तो शब्दाद्वैतवादियों को बताना होगा कि जगत् शब्दमय क्यो है ?

---

१. 'आगमादेव तत्सिद्धौ भेदसिद्धिस्तथा न किम् ॥', त० श्लो० वा०, १/३, सूत्र २०, श्लोक ९९
२. 'निर्बाधादेव चेत्तस्य न प्रमाणान्तरादृते ।
   तदागमस्य निश्चेतु शक्य जातु परीक्षकैः ।', वही, श्लोक ९९-१००
३. (क) त० श्लो० वा०, १/३, सू० २०, श्लोक १०, पृ० २४१
   (ख) प्र० क० मा०, १/३, पृ० ४६
   (ग) स्या० र०, १, ७, पृ० १०१-१०२
४. 'न चागमस्ततो भिन्नसमस्ति परमार्थत ॥', त० श्लो० वा०, १/३, सूत्र २०, श्लोक १००
५. (क) '···ब्रह्मणोऽर्थान्तरभावे—द्वैतप्रसगात् ।', प्रभाचन्द्र प्र० क० मा०, १/३, ४६
   (ख) वादिदेवसूरि ' स्या० र०, १ ७, पृ० १०१
६. 'तद्विवर्तस्त्वविद्यात्मा तस्य प्रज्ञापक' कथ ।', त० श्लो० वा०, १/३, सूत्र २०, श्लोक १०१
७. (क) 'अनर्थान्तरभावे तु तद्वदागमस्याप्यसिद्धिप्रसङ्ग ।', प्र० क० मा०, १/३, पृ० ४६
   (ख) स्या० र०, १, ७, पृ० १०२
८. 'न चाविनिश्चिते तत्त्वे फेनबुद्बुदवृद्भिदा ।', त० श्लो० वा०, १/३, सू० २०, का० १०१

क्या इसलिए उसे शब्दमय माना जाता है कि जगत् शब्द का परिणाम है या इसलिए कि वह शब्द से उत्पन्न हुआ है ?[1] इन दो विकल्पों के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नही है, जिससे जगत् को शब्दमय सिद्ध किया जा सके।

जगत् शब्द का परिणाम नहीं है —उपर्युक्त दो विकल्पों मे से शब्दाद्वैतवादी इस विकल्प को माने कि जगत् शब्द का परिणाम होने के कारण शब्दमय है, तो उनकी यह मान्यता न्यायसंगत नही है। क्योकि प्रथमत: निरंश और सर्वथा नित्य शब्द-ब्रह्म में परिणाम हो ही नहीं सकता।[2] शब्दब्रह्म मे जब परिणमन असम्भव है, तो जगत् शब्दब्रह्म का परिणाम कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता।

शब्दब्रह्म परिणमन करते समय अपने स्वाभाविक स्वरूप को छोड़ता है या नहीं ? —शब्दब्रह्म को परिणामी मानने पर प्रश्न होता है कि शब्दात्मक ब्रह्म जब नील आदि पदार्थ रूप से परिणमित होता है, तो वह अपने स्वाभाविक शब्दरूप स्वभाव का त्याग करता है अथवा नही ?[3] यदि उपर्युक्त विकल्पो मे से यह माना जाय कि शब्दब्रह्म परिणमन करते समय अपने स्वाभाविक स्वरूप को छोड देता है, तो ऐसा मानना ठीक नही है, क्योकि शब्दब्रह्म मे 'विरोध' नामक दोष आता है। शब्दब्रह्म का स्वरूप अनादिनिधन है और जब वह अपने पूर्व स्वभाव का त्याग कर जलादि रूप से परिणमन करेगा, तो उसके अनादिनिधनत्व (पूर्व स्वभाव) का विनाश हो जायेगा, जो शब्दाद्वैतवादियो को अभीष्ट नही है। अत: शब्दब्रह्म अपने पूर्व स्वरूप को त्याग कर जलादिरूप से परिणमन करता है, यह विकल्प ठीक नही है।[4]

उपर्युक्त दोष से बचने के लिए यह माना जाय कि शब्दब्रह्म अपने स्वाभाविक पूर्व स्वरूप को छोडे बिना जलादि पदार्थ रूप से परिणमन करता है तो उनकी यह मान्यता भी निर्दोष नही है। इस दूसरे विकल्प के मानने पर एक कठिनाई यह आती है कि नीलादि पदार्थ के संवेदन के समय बधिर (जिसे सुनाई नही पडता है) को शब्द का सवेदन होना चाहिए, क्योकि वह नील पदार्थ शब्दमय है[5] अर्थात् नील पदार्थ और नील शब्द अभिन्न हैं। इस बात की पुष्टि अनुमान प्रमाण से भी होती है कि जो जिससे अभिन्न होता है, वह उसका सवेदन होने पर सविदित हो जाता है। जैसे पदार्थों के नील आदि रग को जानते समय उससे भिन्न नील पदार्थ भी जान लिया जाता है।[6] शब्दाद्वैतवादियों के सिद्धान्तानुसार नील-पीत आदि पदार्थ से शब्द अभिन्न है। इसलिए जब बधिर पुरुष नील पदार्थ को जानता है, तो उसी समय अर्थात् नील पदार्थ जानते समय उसे शब्द का सवेदन अवश्य होना चाहिए। शब्दाद्वैतवादी कहते है कि शब्द का सवेदन बधिर मनुष्य को नही होता, तो प्रभाचन्द्र आदि आचार्य प्रत्युत्तर मे कहते हैं कि उसे नीलादि रग का भी सवेदन नही होना चाहिए, क्योकि नील पदार्थ के साथ जिस प्रकार रग तादात्म्य रूप से रहता है, उसी प्रकार शब्द का भी उसके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। दूसरे शब्दो मे नील रग और शब्द दोनो नील पदार्थ से अभिन्न है। यदि नील पदार्थ के नीले रग का अनुभव हो और उससे अभिन्न शब्द का अनुभव बधिर पुरुष को न हो तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक वस्तु मे दो विरुद्ध धर्म है। दो विरुद्ध धर्मों मे युक्त उस शब्द-ब्रह्म को नील पदार्थ से भिन्न मानना पडेगा। एक वस्तु का एक ही समय में एक ही प्रतिपत्ता (ज्ञाता) की अपेक्षा से ग्रहण और अग्रहण मानना ठीक नही है। इस प्रकार विरुद्ध धर्माध्यास होने पर भी नीलादि पदार्थ और शब्द मे भेद सिद्ध होता है। यदि उनमे भेद न माना जाय तो हिमालय और विन्ध्याचल आदि मे भी भेद असभव हो जायेगा। शब्दब्रह्म अपने पूर्व स्वभाव को छोडकर नीलादि पदार्थ रूप मे परिणमित होता है, ऐसा मानना भी निर्दोष नही है। अत. जगत् को शब्दमय मानना ठीक नही।

---

१. 'किमत्र जगत शब्दपरिणामरूपत्वाच्छब्दमयत्व साध्यते उत शब्दात् तस्योत्पत्ते शब्दमयत्व यथा अन्नमया प्राणा, इति हेतो'''।'
   (क) स० त० प्र० टीका, पृ० ३८०-३८१
   (ख) प्र० क० मा०, १, ३, पृ० ४३
   (ग) न्या० कु० च०, १ ५, पृ० १४५, स्या० र०, पृ० १००
   (घ) त० स० टीका, का० १२६, पृ० ८६
२. 'न तावदाद्य पक्ष परिणामानुपपत्ते ।', न्या० कु० च०, १।५, पृ० १४५
३. 'शब्दात्मक हि ब्रह्म नीलादिरूपता प्रतिपद्यमान स्वभाविक शब्दरूप परित्यज्य प्रतिपद्येत, अपरित्यज्य वा ?', वही
४. (क) 'प्रथमपक्षे अस्याऽनादिनिधिनत्वविरोध'''।', अभयदेवसूरि . स० त० प्र०, पृ० ३८१
   (ख) प्रभाचन्द्र : प्र० क० मा०, १, ३, पृ० ४३
   (ग) प्रभाचन्द्र : न्या० कु० च०, १ ५, पृ० १४६
   (घ) वादिदेवसूरि . स्या० र० १ ७, पृ० १००
   (ङ) 'न वा तथपि यद्याद्य पक्ष' सश्रीयते तदा।
   अक्षरत्ववियोग: स्यात् पौरस्त्यात्मविनाशात् ॥', त० स०, का० १३०,
   और भी देखे : टीका, पृ० ८७
५. '''रूपसवेदनसमये बधिरस्य शब्दसवेदनप्रसग:'''।', वही
६. 'यत्खलु यदव्यतिरिक्त तत्तस्मिन्सवेद्यमाने सवेद्यते''', नीलाद्यव्यतिरिक्तश्च शब्द इति।', वही
   तुलना करें : त० स०, का० १३१ एव पजिका टीका, पृ० ८७

प्रभाचन्द्र वादिदेव सूरि आदि जैन आचार्य शब्दाद्वैतवादियों से एक प्रश्न यह भी करते हैं कि शब्दब्रह्म उत्पत्ति और विनाश रूप परिणमन करता हुआ प्रत्येक पदार्थ में भिन्न परिणाम को प्राप्त होता है या अभिन्न ?[1] यदि यह माना जाय कि शब्दब्रह्म परिणमन करता हुआ, जितने पदार्थ हैं, उतने ही रूपों में होता है तो शब्दाद्वैतवादियों का ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि शब्दब्रह्म में अनेकता का प्रसंग आता है। जितने स्वभाव वाले विभिन्न पदार्थ हैं, उतने स्वभाव वाला ही शब्दब्रह्म को मानना पड़ेगा।[2] इस दोष से बचने के लिए ऐसा माना जाय कि शब्दब्रह्म जब अनेक पदार्थरूप में परिणमित होता है, तो वह प्रत्येक पदार्थ में भिन्न परिणाम को प्राप्त नहीं होता अर्थात् अभिन्न रूप से परिणमन करता है। इस सन्दर्भ मे प्रभाचन्द्रादि कहते है कि यह पक्ष भी निर्दोष नही है, क्योंकि ऐसा मानने से नील-पीत आदि पदार्थों में देश-भेद, काल-भेद, स्वभाव-भेद, अवस्था-भेद आदि का अभाव हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि जो एक स्वभाव वाले हैं, वे शब्द-ब्रह्म से अभिन्न हैं। जबकि प्रत्यक्ष रूप से सबको देश-भेद, काल-भेद, स्वभाव-भेद आदि भेदो का अनुभव होता है। अतः ऐसा मानना न्यायसंमत नहीं है कि शब्दब्रह्म परिणमन करता हुआ प्रत्येक पदार्थ में भिन्नता को प्राप्त नही होता। इस प्रकार दोनो विकल्प सदोष होने पर यह सिद्ध हो जाता है कि शब्द का परिणाम होने से जगत् शब्दमय नही है।[3]

शब्द से उत्पन्न होने के कारण जगत् शब्दमय सिद्ध नहीं होता—प्रभाचन्द्र, वादिदेव सूरि आदि जैनतर्कवादी कहते हैं कि शब्दाद्वैतवादियो का यह कथन भी ठीक नही है कि शब्दब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण जगत् शब्दमय है, क्योंकि उन्होने शब्दब्रह्म को सर्वथा नित्य माना है। सर्वथा नित्य होने से वह अविकारी है अर्थात् उसमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नही होता। नित्य शब्दब्रह्म से क्रमशः कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती।[4] अत सम्पूर्ण कार्यों की एक साथ एक ही समय में उत्पत्ति हो जायेगी, क्योंकि यह नियम है कि समर्थ कारण का अभाव (वैकल्य) होने पर कार्यों की उत्पत्ति में विलम्ब होता है। समर्थ कारण के उपस्थित रहने पर कार्यों की उत्पत्ति में विलम्ब नही होता। जब शब्दब्रह्म कारण अविकल्प (समर्थ) रूप से विद्यमान है, तब कार्यों को और किसकी अपेक्षा है, जिससे उनकी एक साथ उत्पत्ति न हो।[5] समर्थ कारण के रहने पर अवश्य ही समस्त कार्यों की उत्पत्ति हो जायेगी।

घटादि कार्य-समूह शब्दब्रह्म से भिन्न उत्पन्न होता है या अभिन्न ?—प्रभाचन्द्राचार्य और वादिदेव सूरि एक प्रश्न यह भी करते हैं कि घट, पटादि कार्य-समूह शब्दब्रह्म से भिन्न उत्पन्न होता है या अभिन्न ?[6] यदि शब्दाद्वैतवादी इसके उत्तर मे यह कहें कि घट, पटादि कार्य-समूह शब्दब्रह्म से भिन्न उत्पन्न होता है, तो प्रत्युत्तर मे जैन दार्शनिक कहते हैं कि शब्दाद्वैतवादी का 'शब्दब्रह्मविवर्तमर्थरूपेण' (शब्द-ब्रह्म अर्थरूप से परिणमन करता है) यह कथन कैसे बनेगा अर्थात् नही बनेगा। शब्दब्रह्म से जब घट-पटादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं और वे उनके स्वभावरूप नहीं हैं, तो यह कहना उचित नही है कि घट, पटादि पदार्थ शब्दब्रह्म की पर्याय हैं।

शब्दब्रह्म से घटादि कार्य भिन्न हैं, तो अद्वैतवाद का विनाश और द्वैतवाद की सिद्धि होती है। क्योंकि, शब्दब्रह्म से भिन्न कार्य की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध हो जाती है।[7] अतः घटादि कार्य समूह शब्दब्रह्म से भिन्न उत्पन्न होता है—यह मान्यता ठीक नही है।

घटादि कार्य की शब्दब्रह्म से अभिन्न उत्पत्ति मानने में शब्दब्रह्म में अनादिनिधनत्व का विरोध है—उपर्युक्त दोष से बचने के लिए शब्दाद्वैतवादी यह माने कि घटादि कार्य शब्दब्रह्म से अभिन्न रूप होकर उत्पन्न होता है, तो उनकी यह मान्यता भी ठीक नही है,

---

१. 'किंच असौ शब्दात्मा परिणाम गच्छन्प्रति पदार्थभेद प्रतिपद्यते, न वा ?'
   (क) प्र० क० मा०, १/३, पृ० ४४
   (ख) न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४६
   (ग) स्या० र०, १ ७, पृ० १०१
२. 'तत्राद्यविकल्पे शब्दब्रह्मणोऽनेकत्वप्रसग, विभिन्नानेकस्वभावार्थात्मकत्वात् तत्स्वरूपवत्।', वही
३. 'तन्न शब्दपरिणामत्वाज्जगत शब्दमयत्व घटते।', वही,
४ (क) प्रभाचन्द्र न्या० क० च०, १/५, पृ० १४६
   (ख) प्रभाचन्द्र · प्र० क० मा०, १/३, पृ० ४४
   (ग) वादिदेव सूरि स्या० र०, १/७, पृ० १०१
५. 'कारणवैकल्याद्धि कार्याणि विलम्बन्ते नान्यथा। तच्चेदविकल किमपर तैरपेक्ष्य येन युगपन्न भवेयु ?'
   (क) प्र० क० मा०, पृ० ४४
   (ख) न्या० कु० च० पृ० १४७
६. 'किंच अपरापरकार्यग्रामोऽस्तोऽर्थान्तरम् अनर्थान्तर वोत्पद्येत ?'
   (क) प्र० क० मा०, १/३, पृ० ४४
   (ख) स्या० र०, १/७, पृ० १०१
७. वादिदेव सूरि : स्या० र०, १/७, पृ० १०१

क्योंकि ऐसा मानने पर शब्दब्रह्म मे अनादिनिधनत्व का विरोध प्राप्त होता है[1] अर्थात् शब्दब्रह्म में अनादिनिधनता नही रहेगी। प्रत्यक्ष में हम देखते हैं कि शब्दब्रह्म से उत्पन्न होने वाले घटादि कार्य उत्पाद और विनष्ट स्वभाव वाले हैं और शब्दब्रह्म उनसे अभिन्न है। अतः उत्पत्ति और विनाशशील पदार्थों के साथ शब्दब्रह्म की एकता होने के कारण शब्दब्रह्म का एकत्व नष्ट हो जायेगा। अतः घटादि कार्य शब्दब्रह्म से उत्पन्न होकर उससे अभिन्न रूप रहते हैं, ऐसा मानना तर्कहीन है।[2]

इस प्रकार विशद रूप से विवेचन करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि सम्पूर्ण जगत् शब्दमय नही है।

ज्ञान शब्दानुविद्ध नही है

शब्दाद्वैतवादियो का यह कथन तर्कहीन है कि शब्द के बिना ज्ञान नही होता। प्रभाचन्द्राचार्य 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' मे उनसे प्रश्न करते हैं कि यदि ज्ञान मे शब्दानुविद्धत्व का प्रतिभास होता है अर्थात् ज्ञान शब्दानुविद्ध है, तो इसकी प्रतीति किस को होती है और किस प्रमाण से यह जाना जाता है कि ज्ञान मे शब्दानुविद्धता है, प्रत्यक्ष प्रमाण से या अनुमान प्रमाण से ?[3]

ज्ञान में शब्दानुविद्धता प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतीत नहीं होती—'ज्ञान शब्दानुविद्ध है' इसकी प्रतीति प्रत्यक्ष प्रमाण से मानने पर प्रश्न होता है कि ज्ञान मे शब्दानुविद्धत्व का प्रतिभास किस प्रत्यक्ष से होता है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष से अथवा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से।[4]

ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं है—इन्द्रिय प्रत्यक्ष से ज्ञान मे शब्दानुविद्धत्व का प्रतिभास नही हो सकता, क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति रूपादि विषयो मे होती है। ज्ञान उसका विषय नही है।

ज्ञान स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय नही है—स्वसंवेदन से भी शब्दानुविद्धत्व का प्रतिभास नही होता है, क्योंकि स्वसंवेदन शब्द को विषय नही करता। अतः सिद्ध है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से यह सिद्ध नही होता कि ज्ञान मे शब्दानुविद्धत्व है।

अनुमान प्रमाण से भी ज्ञान में शब्दानुविद्धत्व की प्रतीति नहीं होती—अब यदि माना जाय कि अनुमान प्रमाण से ज्ञान में शब्दानुविद्धत्व की प्रतीति होती है, तो ऐसा कहना भी तर्कसगत नही है। अविनाभावी लिंग के होने पर ही अनुमान अपने साध्य का साधक होता है। यहा पर कोई ऐसा लिंग नही है, जिससे यह सिद्ध हो सके कि ज्ञान मे शब्दानुविद्धत्व है। यदि ऐसा कोई हेतु संभव भी हो, तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से पक्ष के बाधित हो जाने के कारण प्रयुक्त हेतु वास्तविक कालात्ययापदिष्ट नामक दोष से दूषित हेत्वाभास हो जाएगा। अतः ज्ञान में शब्दानुविद्धत्व अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध नही होता।[5]

जगत् शब्दमय नहीं है, अतः ज्ञान भी शब्दमय नहीं है—शब्दाद्वैतवादियो का यह कथन भी ठीक नही है कि जगत् के शब्दमय होने से उसके अन्तर्वर्ती ज्ञान भी शब्दस्वरूप हो जाएंगे और इस प्रकार ज्ञान मे शब्दानुविद्धत्व सिद्ध हो जाएगा। इस कथन के ठीक न होने का कारण यह है कि जगत् मे शब्दमयत्व प्रत्यक्षादि से बाधित है।[6] सविकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा पद, वाक्यादि मे अनुस्यूत शब्दाकार से भिन्न गिरि वृक्ष, लता आदि अर्थ स्पष्ट (विशद) रूप मे प्रतीत होते हैं।

अनुमान प्रमाण से भी यह सिद्ध हो जाता है कि पदार्थ शब्दरहित हैं, यथा—"जो जिस आकार से पराङ्मुख (पृथक्) होते हैं, वे वास्तव में (परमार्थ से) भिन्न (अतन्मय) होते हैं, जैसे—जल के आकार से रहित (विकल) स्थास, कोश, कुशूलादि वास्तव मे तन्मय नही हैं, पद, वाक्यादि से भिन्न गिरि, तरु, लतादि वास्तव मे शब्दाकार मे पराङ्मुख हैं।" इस अनुमान से सिद्ध है कि पदार्थ शब्दरहित है।[7] शब्दाद्वैतवादियो का यह कथन भी तर्कसगत नही है कि जगत् शब्दमय है, इसलिए उसका अन्तर्वर्ती ज्ञान शब्दमय है। ज्ञान मे शब्दानुविद्धता (ज्ञान शब्दमय है) प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण मे सिद्ध नही होती, अत. शब्दाद्वैतवादियो की यह मान्यता खंडित हो जाती है कि ज्ञान शब्दमय है, इसी कारण से वह पदार्थों को प्रकाशित करता है।

---

१. (क) स्या० र०, १/७, पृ० १०१
   (ख) प्र० क० मा०, १ ३, पृ० ४४

२. 'अनर्थान्तरभूतस्य तु कार्यग्रामस्योत्पत्तौ शब्दब्रह्मणोऽनादिनिधनत्वविरोध । तदुत्पत्तौ तस्याप्यनर्थान्तरभूतस्योत्पद्यमानत्वादुत्पन्नस्य चावश्य विनाशित्वादिति ।'
   (क) स्या० र०, पृ० १०१
   (ख) प्र० क० मा०, पृ० ४४

३. 'तद्धि प्रत्यक्षेण प्रतीयते अनुमानेन वा ?', प्रभाचन्द्र प्र० क० मा०, १/३, पृ० ३९

४. 'प्रत्यक्षेण चेत्किमैन्द्रियेण स्वसवेदनेन वा ?', वही, १/३, पृ० ३९-४०

५. अनुमानात्चेत्···मनोरथमात्रम्, तदविनाभाविलिंगाभावात् ।', प्रभाचन्द्र : प्र० क० मा०, १/३, पृ० ४३

६. 'तदप्यनुपपन्नमेव, तत्तन्मयत्वस्याध्यक्षादिबाधितत्वात् ···।', वही, पृ० ४३

७. वही,

शब्दानुविद्धत्व क्या है ?

शब्दाद्वैतवादियों ने ज्ञान को शब्दानुविद्ध माना है। अतः प्रभाचन्द्राचार्य उनसे प्रश्न करते हैं कि शब्दानुविद्धत्व क्या है ?[1] निम्नांकित दो विकल्पों में से किसी एक विकल्प को शब्दानुविद्धत्व माना जा सकता है—

(क) क्या शब्द का प्रतिभास होना (जहां पदार्थ है, वहां शब्द है, ऐसा प्रतिभास होना) शब्दानुविद्धत्व है ? अथवा

(ख) अर्थ और शब्द का तादात्म्य होना ?

उपर्युक्त दोनो विकल्पो मे से किसी भी विकल्प को शब्दानुविद्धत्व मानना दोषविहीन नही है, अत शब्दानुविद्धत्व का स्वरूप ही निश्चित नही हो सकता।

(क) **क्या शब्द का प्रतिभास होना शब्दानुविद्धत्व है** - शब्दानुविद्धत्व का यह स्वरूप कि जिस स्थान पर पदार्थ रहते हैं, वही पर शब्द रहते हैं— यह मत तर्कसगत नही है, क्योकि प्रत्यक्ष प्रमाण से शब्दरहित पदार्थ की प्रतीति होती है।[2] पदार्थ शब्दानुविद्ध है, ऐसा किसी को कभी भी प्रत्यक्ष अनुभव नही होता। प्रत्यक्ष मे जिस प्रकार सामने स्थित नीलादि प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार तद्देश मे शब्द प्रतिभासित नही होता। शब्द श्रोता के कर्णप्रदेश मे प्रतिभासित होता है। इस प्रकार वाच्य (पदार्थ) और वाचक (शब्द) का देश भिन्न-भिन्न होता है। भिन्न देश में उपलब्ध शब्द को अर्थदेश मे नही माना जा सकता, अन्यथा अतिप्रसग नामक दोष आएगा। अत अर्थ के अभिन्न देश मे शब्द का प्रतिभास होना शब्दानुविद्धत्व नही है।

(ख) **शब्दानुविद्धत्व का अभिप्राय पदार्थ के साथ शब्द का तादात्म्य मानना ठीक नहीं है**—अर्थ और शब्द का तादात्म्य मानना भी ठीक नही है, क्योकि शब्द और अर्थ विभिन्न इन्द्रियो के द्वारा जाने जाते हैं, इसलिए उनमे तादात्म्य नही है।[3] अनुमान प्रमाण से भी शब्द और अर्थ मे तादात्म्य सिद्ध नही होता है. यथा—"जिनको विभिन्न इन्द्रियो के द्वारा जाना जाता है उनमें एकता नही रहती, जैसे —रूप चक्षुरिन्द्रिय से जाना जाता है और रस रसनेन्द्रिय से, इसलिए इनमे एकता नही है। इसी प्रकार शब्दाकाररहित नीलादिरूप और नीलादिरहित शब्द क्रमशः चक्षुरिन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय के विषय होने से उनमे एकता नही है। अत अर्थ और शब्द मे एकत्व न होने से उनके तादात्म्य को शब्दानुविद्धत्व नही माना जा सकता। अनुमान प्रमाण से इस बात का निराकरण हो जाता है कि शब्द और अर्थ मे तादात्म्य सम्बन्ध सम्भव नही है।[4]

शब्दाद्वैतवादी कहते है कि 'यह रूप है' इस प्रकार के शब्द रूप विशेषण से ही रूपादि अर्थ की प्रतीति होती है। इसी कारण से शब्द और रूपयुक्त पदार्थ मे एकत्व माना जाता है। इसके प्रत्युत्तर मे प्रभाचन्द्र आचार्य कहते है कि शब्दाद्वैतवादी का यह कथन भी ठीक नही है, क्योकि यहा प्रश्न हो सकता है कि "यह रूप है" इस प्रकार के ज्ञान से वाग्रूपता को प्राप्त (तादात्म्ययुक्त) पदार्थ जाने जाते है अथवा यह ज्ञान भिन्न वाग्रूपता विशेषण से युक्त पदार्थों को जानता है ?[5] इनमे से किसी भी विकल्प को मानना निर्दोष नही है।

यदि यह माना जाए कि जब नेत्रजन्यज्ञान रूप को जानता है, तो उसी समय वाग्रूपता के पदार्थ जाने जाते है अर्थात् शब्दरूप पदार्थ है, ऐसा ज्ञान होता है- - शब्दाद्वैतवादी का ऐसा मानना ठीक नही है। नेत्रजन्यज्ञान का विषय शब्द (वाग्रूपता) नही है। अत उसमे उसकी प्रवृत्ति उसी प्रकार नही होती, जिस प्रकार अविषयी रस मे चाक्षुष ज्ञान की प्रवृत्ति नही होती। यदि अपने विषय से भिन्न विषयो को चाक्षुष-ज्ञान जानने लगे, तो अन्य इन्द्रियो की कल्पना व्यर्थ हो जाएगी क्योकि चक्षुरिन्द्रिय ही समस्त विषयो को जान लेगी।[6]

अब यदि माना जाय कि पदार्थ से भिन्न वाग्रूपता है और इस प्रकार के विशेषण से युक्त पदार्थ को चाक्षुषज्ञान जानता है, तो प्रभाचन्द्र कहते है कि उनका यह दूसरा पक्ष भी ठीक नही है, क्योकि शुद्ध अर्थात् केवल रूप को जानने वाला और शब्द को न जानने वाला चाक्षुषज्ञान यह नहीं जान सकता कि यह पदार्थ शब्द रूप विशेषण वाला (भिन्न वाग्रूपता विशेषणयुक्त विषय के) है।[7] एक बात यह भी है कि जब तक विशेषण को न जाना जाय, तब तक विशेष्य को नही जाना जा सकता, जैसे—दण्ड को जाने बिना दण्डी को नही जाना जाता। इसी

---

१. 'ननु किमिदं शब्दानुविद्धत्व नाम—अर्थस्याभिन्नदेशे प्रतिभास तादात्म्य वा ?', प्रभाचन्द्र . प्र० क० मा०, १/३, पृ० ४०

२ तत्राद्यविकल्पोऽसमीचीन , तद्रहितस्यैवार्थस्याध्यक्षे प्रतिभासनात् ।', वही

३. (क) प्रभाचन्द्र प्र० क० मा०, १/३, पृ० ४०

(ख) न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४८

(ग) वादिदेव सूरि . स्या० र०, १/७, पृ० ६५

४. वही

५. '''रूपमिदमिति ज्ञानेन हि वाग्रूपता प्रतिपन्ना' पदार्था: प्रतिपद्यन्ते भिन्नवाग्रूपता विशेषणविशिष्टा वा ?', प्र० क० मा०, १/३, पृ० ४०

६. प्र० क० मा०, १, ३, पृ० ४०

७. 'द्वितीयपक्षेऽपि अभिधानेऽप्रवर्तमान शुद्धरूपमात्रविषय लोचनविज्ञान कथ तद्विशिष्टतया स्वविषयमुद्योतयेत् ?', वही

प्रकार जब शब्द रूप विशेषण को चाक्षुषज्ञान से नही जाना जाता, तो तद्युक्त पदार्थ अर्थात् विशेष्य का ज्ञान भी नहीं हो सकता।[1] ऐसा मानना भी ठीक नही है कि दूसरे ज्ञान (श्रोत्रज्ञान) मे शब्द विशेषणरूप से प्रतीत होने पर पदार्थ का विशेषण बन जाता है। यहां दोष यह है कि शब्द और अर्थ में भेद सिद्ध हो जाएगा,[2] यह पहले ही कहा जा चुका है कि जो-जो विभिन्न इन्द्रियो द्वारा जाने जाते हैं वे पृथक्-पृथक् होते हैं।

प्रभाचन्द्राचार्य कहते है कि शब्दाद्वैतवादी का यह कथन भी ठीक नही है कि शब्द से सम्बद्ध (मिले हुए) पदार्थ का स्मरण होने से उस पदार्थ को शब्द रूप मानते हैं। इस प्रकार शब्द से सम्बद्ध अर्थ का ज्ञान हो जायेगा। इस मान्यता मे अन्योन्याश्रय नामक दोष आता है। तात्पर्य यह है कि शब्द से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति होने पर वचनसहित पदार्थ के स्मरण की सिद्धि होगी और वचनसहित पदार्थ का स्मरण होने पर शब्द रूप अर्थ के दर्शन की सिद्धि होगी।[3] इस प्रकार विचार करने पर शब्दानुविद्धता का स्वरूप ही सिद्ध नही होता।

अर्थ की अभिधानानुषक्तता क्या है ?

शब्दाद्वैतवादी मे प्रभाचन्द्राचार्य एक प्रश्न यह भी करते हैं कि निम्नांकित विकल्पो मे से पदार्थ की अभिधानानुषक्तता क्या है ?[4]—

१. अर्थज्ञान मे शब्द का प्रतिभास होना। अथवा

२ अर्थ के देश (स्थान) मे शब्द का वेदन (अनुभव) होना। अथवा

३ अर्थज्ञान के काल मे शब्द का प्रतिभास (प्रतीत) होना।

१. अर्थज्ञान मे शब्द का प्रतिभास होना अर्थ की अभिधानानुषक्तता नही है, क्योंकि नेत्रजन्यज्ञान मे शब्द का प्रतिभास या प्रतीति नही होती।

२. इसी प्रकार अर्थ की अभिधानानुषक्तता का मतलब अर्थ के देश मे शब्द का अनुभव होना नही है, क्योंकि शब्द का श्रोत्र-प्रदेश मे अनुभव होता है और शब्द से सर्वथा विहीन रूपादि स्वरूप पदार्थ का अपने प्रदेश मे अपने विज्ञान से अनुभव होता है।

३ इसी प्रकार अर्थज्ञान के काल मे शब्द का प्रतिभास होना भी अर्थ की अभिधानानुषक्तता नही है, क्योंकि समान काल मे शब्द और अर्थ के होने पर भी समान काल शब्द का लोचनज्ञान मे प्रतिभास नही होता और भिन्न ज्ञान से जानने पर शब्द और पदार्थ भिन्न-भिन्न सिद्ध होते है।[5] इस प्रकार अर्थ की ही अभिधानानुषक्तता सिद्ध होती है।

एक बात यह भी है कि जो यह मानते है —प्रत्यक्ष ज्ञान मे अभिधानानुषक्त (शब्दसहित) पदार्थ ही प्रतिभासित होता है, उसके यहां बालक आदि को अर्थ के दर्शन की सिद्धि कैसे होगी, क्योंकि बालक मूक आदि शब्द को नही जानते।[6] इसी प्रकार मन मे 'अश्व' का विचार करने वाले को गो-दर्शन कैसे होगा, क्योंकि उस समय उस व्यक्ति को 'गो' शब्द का उल्लेख नही होता। ऐसा मानना भी ठीक नही है कि एक साथ अश्व का विचार और गो-दर्शन दोनो हो रहे है। इस मान्यता मे दोनो अर्थात् अश्व का विकल्प और गो-दर्शन असिद्ध हो जायेंगे, क्योंकि संसारी व्यक्ति मे एक साथ दो शक्तियां नही हो सकती।[7]

वैखरी आदि का लक्षण असत्य है -- शब्दाद्वैतवादी का यह कथन भी ठीक नही है कि ज्ञान मे वाग्रूपता शाश्वती है। यदि उसका उल्लंघन किया जायेगा, तो ज्ञानरूप प्रकाशित नही हो सकेगा। इस कथन के ठीक न होने का कारण यह है कि चाक्षुष-प्रत्यक्ष मे शब्द (वाग्रूपता) का संस्पर्श (संसर्ग) नही होता। श्रोत्र से ग्रहण करने योग्य वैखरी (वचनात्मक) वाग्रूपता का भी संस्पर्श चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं करता, क्योंकि वैखरी चाक्षुष-प्रत्यक्ष का विषय नही है। उसी प्रकार अन्तर्जल्पयुक्त मध्यमा वाक् को चाक्षुष-प्रत्यक्ष संस्पर्श नही करता, फिर भी (उसके बिना भी) शुद्ध रूपादि का ज्ञान होता है। जिसमे समस्त वर्णादि विभाग का संहार हो गया है, ऐसी पश्यन्ती (अर्थदर्शनरूपा) और आत्मदर्शन-रूपा सूक्ष्मा वाग्रूपता वाणीरूपा हो ही नही सकती। शब्दाद्वैतवाद मे पश्यन्ती और सूक्ष्मा को अर्थ एव आत्मा का साक्षात् (दर्शन) करने वाली माना है। जब उन दोनो मे शब्द नही है, तो वे वाणी कैसे कहलायेंगी, क्योंकि वाणी वर्ण, पद और वाक्यरूपा होती है।[8] अत. वागादि

---

१. प्र० क० मा०, १ २, पृ० ४०

२. 'तथा सति अनयोर्भेदसिद्धि ।', वही

३ 'अन्योन्याश्रयानुषंगात्'' ।', वही, १ ३, पृ० ४१

४. वही, १/३, पृ० ४१

५. वही

६. 'कथं चैववादिनो बालकादेरर्थदर्शनसिद्धि, तत्राभिधाना प्रतीते '' ।', वही

७. वही, १/३, पृ० ४१

८. वही

का लक्षण ठीक नहीं है।

शब्दब्रह्म में वैखरी आदि अवस्थायें विरुद्ध हैं—आचार्य विद्यानन्द कहते हैं कि नित्य, निरंश और अखण्ड शब्दब्रह्म में वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा ये चार भेद नहीं हो सकते। किसी सांश पदार्थ में ही भेद हो सकता है।[1] वे शब्दाद्वैतवादी से एक प्रश्न यह भी करते हैं कि क्या वैखरी आदि चार अवस्थायें सत्य हैं? सत्य मानने पर उनके सिद्धान्त विरोधी सिद्ध होते हैं, क्योंकि शब्दब्रह्म की तरह वैखरी आदि को सत्य मान लिया गया है, जिससे द्वैत की सिद्धि होती है।[2]

वैखरी आदि अविद्यास्वरूप नहीं हैं—शब्दाद्वैतवादी का यह कथन भी सत्य नहीं है कि एकमात्र शब्दब्रह्म सत्य है और वैखरी आदि चार अवस्थायें अविद्यास्वरूप होने से असत्य हैं। इस कथन के ठीक न होने का कारण यह है कि निरंश शब्दब्रह्म विद्यास्वरूप सिद्ध है। इसलिए उसकी अवस्थायें भी अविद्यास्वरूप न होकर विद्यास्वरूप ही होंगी। इस प्रकार वैखरी आदि को अविद्यास्वरूप मानना तर्कसंगत नहीं है।[3]

अर्थ शब्द से अन्वित है—यह कैसे जाना जाता है?—प्रभाचन्द्राचार्य न्यायकुमुदचन्द्र में शब्दाद्वैतवादी से कहते हैं कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध होने पर अर्थ शब्द से अन्वित है—यह किसी प्रमाण से जाना जाता है या नहीं?[4] यह तो माना नहीं जा सकता है कि किसी प्रमाण से नहीं जाना जाता है, अन्यथा अतिप्रसंग नामक दोष आयेगा अर्थात् सबके कथन की पुष्टि बिना प्रमाण के होने लगेगी। दूसरी बात यह है कि "जो जिससे असम्बद्ध होता है, वह उससे वास्तव में अन्वित नहीं होता, जैसे—हिमालय और विन्ध्याचल पर्वत असम्बद्ध हैं, इसलिए हिमालय से विन्ध्याचल अन्वित नहीं है। इसी प्रकार अर्थ से शब्द भी असम्बद्ध है अर्थात् अर्थ शब्द से अन्वित नहीं है।"[5] इस अनुमान से विरोध आता है।

शब्द और अर्थ में कौन-सा सम्बन्ध है?—अब यदि यह मान लिया जाय कि शब्द और अर्थ में परस्पर सम्बन्ध है, तो शब्दाद्वैतवादियों को यह भी बतलाना चाहिए कि उनमें कौन-सा सम्बन्ध है? उनमें निम्नांकित सम्बन्ध ही हो सकते हैं[6]:

(क) क्या शब्द और अर्थ में संयोग सम्बन्ध है? (ख) क्या उनमें तादात्म्य सम्बन्ध है?
(ग) क्या विशेषणीभाव सम्बन्ध है? (घ) क्या वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध है?

शब्द-अर्थ में संयोग सम्बन्ध नहीं है—शब्द और अर्थ दोनों मलय पर्वत और हिमाचल की तरह विभिन्न देश में रहते हैं अर्थात् शब्द श्रोत्र-प्रदेश में और अर्थ सामने अपने देश में रहता है, इसलिए उनमें उसी प्रकार से संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता, जैसे—मलय और हिमाचल में संयोग सम्बन्ध नहीं है। भिन्न देश में रहने पर भी यदि शब्द और अर्थ में संयोग सम्बन्ध माना जाय, तो अद्वैत सिद्ध नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि शब्द और अर्थ दोनों विभिन्न द्रव्य हो जायेंगे, क्योंकि संयोग सम्बन्ध दो पदार्थों में होता है।[7]

शब्द-अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है—शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि दोनों विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा जाने जाते हैं। वादिदेव कहते हैं कि शब्द-अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से उसका निराकरण हो जाता है।[8] चाक्षुष-प्रत्यक्ष पट, कुट आदि पदार्थों को शब्द से भिन्न जानता है। इसी प्रकार श्रोत्र-प्रत्यक्ष भी कुटादि से भिन्न शब्द को जानता है।

अनुमान भी शब्द-अर्थ के तादात्म्य सम्बन्ध का विरोधी है—प्रभाचन्द्र और वादिदेव कहते हैं कि शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि स्तम्भ (खम्बा) और कुम्भ की भांति शब्द और अर्थ भिन्न देश, भिन्न काल और भिन्न आकार वाले हैं।[9] इन दोनों का भिन्न होना असिद्ध नहीं है, क्योंकि शब्द कर्णकुहर में और अर्थ भूतल में उपलब्ध होता है। यदि दोनों अभिन्न देश में रहते, तो प्रमाता की शब्द के उपलब्ध करने में प्रवृत्ति होनी चाहिए, अर्थ में नहीं। किन्तु, अर्थ में ही उसकी प्रवृत्ति होती है, शब्द में नहीं। शब्द से पहले पदार्थ रहता है, इसलिए वे भिन्न काल वाले भी हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न आकार वाले भी शब्द-अर्थ सिद्ध हैं।[10]

एक बात यह भी है कि यदि अर्थ शब्दात्मक है तो शब्द की प्रतीति होने पर संकेत न जानने वाले को भी अर्थ में सन्देह नहीं

---

१. 'निरंशशब्दब्रह्मणि तथा वक्तुमशक्तेः।', त० श्लो० वा०, १/३/२०, पृ० २४०
२. 'तस्यावस्थानां चतसृणां सत्यत्वेऽद्वैतविरोधात्', वही
३. 'शब्दब्रह्मणोनंशस्य विद्यात्वसिद्धौ तदवस्थानामविद्यात्वाप्रसिद्धेः।', वही
४. '...शब्देनान्वितत्वमर्थस्य कुतश्चित् प्रमाणात् प्रतीयेत, असति वा?', प्रभाचन्द्र न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४४
५. वही
६. 'अथ सति सम्बन्धे, ननु कोऽस्य तस्य तेन सम्बन्धः संयोगः, तादात्म्यम्, विशेषणीभावः वाच्यवाचकभावो वा?', प्रभाचन्द्र. न्या० कु० च०, पृ० १४४
७ 'तत्सम्बन्धाभ्युपगमे च अनयोर्द्रव्यान्तरत्वसिद्धिप्रसंगात् कथं तदद्वैतसिद्धिः स्यात्?', वही
८. द्रष्टव्य. स्या० र०, १/७, पृ० ६४
९. (क) 'नास्ति शब्दार्थयोस्तादात्म्ये विभिन्नदेश-काल-आकारत्वात्।', प्रभाचन्द्र· न्या० कु० च०, पृ० १४४
(ख) वादिदेव स्या० र०, १/७, पृ० ६४
१०. वही

होना चाहिए। इसके अतिरिक्त अग्नि, पाषाण आदि शब्द सुनते ही कान में दाह, अभिघात आदि होना चाहिए।[1] अभयदेव सूरि और भद्रबाहु स्वामी ने भी यही कहा है।[2] लेकिन ऐसा नही होता। सिद्ध है कि शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध नही है। एक प्रश्न के उत्तर में प्रभाचन्द्राचार्य कहते हैं कि शब्द और अर्थ मे तादात्म्य सम्बन्ध के अभाव मे भी अर्थ की प्रतीति शब्दों मे रहने वाली संकेत और स्वाभाविक शक्ति से उसी प्रकार होती है, जैसे काष्ठादि में भोजन पकाने की शक्ति होती है।[3] श्री वादिदेव सूरि ने भी कहा है "स्वाभाविक शक्ति तथा संकेत से अर्थ के ज्ञान करने को शब्द कहते हैं।"[4] इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध भी नहीं है।

शब्द-अर्थ में विशेषणीभाव सम्बन्ध भी नहीं है—शब्द और अर्थ मे विशेषणीभाव भी सिद्ध नही होता, क्योंकि विशेषण-विशेष्य-भाव दो सम्बद्ध पदार्थों में ही होता है, जैसे—भूतल मे घटाभाव। सम्बन्धरहित दो पदार्थों मे विशेषणीभाव उसी प्रकार नहीं होता, जैसे मह्य और विन्ध्याचल मे नही है। इसी प्रकार शब्द और अर्थ के असम्बद्ध होने से उनमें विशेषणीभाव सम्बन्ध भी नहीं है।[5]

वाच्य-वाचक सम्बन्ध मानने पर द्वैत की सिद्धि—शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक-भाव मानना भी ठीक नही है, क्योंकि ऐसा मानने से वाच्य-पदार्थ और वाचक-शब्द इन दोनो मे भेद मानना होगा और ऐसा मानने पर अद्वैत का अभाव और द्वैत की सिद्धि होती है। इस प्रकार विचार करने पर शब्द और अर्थ मे कोई सम्बन्ध ही सिद्ध नही होता। अतः शब्दाद्वैतवादियो का यह सिद्धान्त ठीक नही है कि अर्थ शब्द से अन्वित है।[6]

शब्दाद्वैतवादी का यह कथन भी ठीक नही है कि "प्रतीति से ज्ञान में शब्दान्वितत्व की कल्पना की जाती है और ज्ञान के शब्दान्वित सिद्ध होने पर अन्यत्र भी कल्पना कर ली जाती है कि संसार के सभी पदार्थ शब्दान्वित हैं।" शब्दाद्वैतवादी का यह कथन ठीक न होने का कारण यह है कि कल्पना के आधार पर किसी बात की सिद्धि नही हो सकती।[7] दूसरी बात यह है कि ज्ञान और शब्द का द्वैत मानना पड़ेगा।[8] इसलिए 'न सोऽस्ति प्रत्ययोलोके' इत्यादि कथन ठीक नही है। एक बात यह भी है कि चाक्षुष-प्रत्यक्ष में शब्द-संस्पर्श के अभाव में भी अपने अर्थ का प्रकाशक होने से ज्ञान सविकल्प सिद्ध होता है।

शब्द से भिन्न पदार्थ नही—ऐसा कहना भी असंगत एवं दोषयुक्त है

शब्द से भिन्न (व्यतिरिक्त) पदार्थ नही है—शब्दाद्वैतवादी का यह कथन भी ठीक नही है; क्योंकि ऐसा कहना प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध है। हम प्रत्यक्ष से अनुभव करते है कि शब्द के देश से भिन्न स्थान मे अर्थ रहता है।[9] लोचनादिज्ञान के द्वारा शब्द का ज्ञान होने पर भी अर्थ की प्रतीति होती है।[10] इस प्रकार 'तत्प्रतीताविव प्रतीयमानत्वात्' इस अनुमान मे प्रतीयमानता हेतु असिद्ध है। यदि शब्द के प्रतीत होने पर ही अर्थ की प्रतीति होती हो, तो बधिर को चक्षु आदि प्रत्यक्ष के द्वारा रूप आदि की प्रतीति नही होनी चाहिए—यह पहले ही कहा जा चुका है। अतः शब्द से पदार्थ भिन्न है—यह सिद्ध है।

इस प्रकार शब्दाद्वैत का परिशीलन करने मे सिद्ध होता है कि इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए शब्दाद्वैतवादियो ने जो तर्क दिये हैं वे परीक्षा की कसौटी पर सही सिद्ध नही होते। अतः शब्दाद्वैतवादियों का मत युक्तियुक्त नही है। स्याद्वाद मत में शब्द के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की सत्ता सिद्ध की गई है। जैन-दर्शन मे द्रव्यवाक् और भाववाक् के भेद से वचन दो प्रकार के है। द्रव्यवाक् दो प्रकार की होती है—द्रव्य और पर्याय। श्रोत्रेन्द्रिय से जो वाणी ग्रहण की जाती है, वह पर्यायरूपवाक् है; उसी को शब्दाद्वैतवादियों ने वैखरी और मध्यमा कहा है। इस प्रकार सिद्ध है कि वैखरी और मध्यमा रूप शब्द पुद्गल-द्रव्य की पर्याय है। द्रव्यस्वरूप वाणी पुद्गल-द्रव्य है, जिसका किसी ज्ञान में अनुगम होने वाला है। भाववाक् जैन दर्शन मे विकल्पज्ञान और द्रव्यवाक् का कारण है। यह भाववाक् ही शब्दाद्वैतवाद मे पश्यन्ती कही गई है। इस भाव-वाणी के बिना जीव बोल नही सकते।

---

१. वादिदेव : स्या० र०, १/७, पृ० ६४, और भी देखे प्र० क० मा०, १/३, पृ० ४६

२. (क) 'शब्दार्थयोश्च तादात्म्ये क्षुराग्निमोदकादिशब्दोच्चारणे आस्यपाटनदहनपूरणादि प्रसक्ति।', अभयदेव सूरि स० त० प्र० टीका, पृ० ३८६

(ख) 'अभिहाण अभिहेयाउ होइ भिण्ण अभिण्ण च।
सुरअग्गि मोयणुच्चारणम्मि जम्हा वयणसवणाण॥', स्या० म०, पृ० ११८

३ 'ननु···तदभावेऽप्यस्याः संकेतसामर्थ्यादुपपद्यमानत्वात्।···शब्दानां सहजयोग्यतायुक्तानामर्थप्रतीतिप्रसाधकत्वम् काष्ठादीनां पाकप्रसाधकत्ववत्।',
प्रभाचन्द्र : न्या० कु० च०, पृ० १४४

४. प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार

५. 'नाऽपि विशेषणीभावः, सम्बन्धान्तरेण। ··सह्यविन्ध्यादिवत् तद्भावस्यानुपपत्तेः।', न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४४

६. 'तदेवं शब्दार्थयोः अद्वैताविरोधिनः सम्बन्धस्य कस्यचिदपि विचार्यमाणस्यानुपपत्तेः न शब्देनान्वितत्वमर्थस्य घटते।', प्रभाचन्द्र : न्या० कु०च०, १/५, पृ० १४५

७. वही

८. 'शब्दाद्वैतवादी हि भवान् न च तत्र शब्दो बोधश्चेति द्वयमस्ति।', वादिदेव सूरि स्या० र०, पृ० ९२

९. '···तत्र पक्षस्य प्रत्यक्षबाधा···।', न्या० कु० च०, १ ५, पृ० १४५

१०. '···इति हेतुश्चासिद्ध, लोचनादिज्ञानेन शब्दाऽप्रतीतावपि अर्थस्य प्रतीयमानत्वात्।', वही

आदिपुराण में जैन दर्शन के तत्त्व

डॉ० उदयचन्द जैन

पुराण का भारतीय संस्कृति में स्थान—प्राचीन भारतीय साहित्य मे पुराणो का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। ये हमारी सस्कृति एवं धर्म के सरक्षक और सर्वसाधारण जनो को नीति, चरित्र, योग, सदाचार आदि की शिक्षा देने वाले ग्रन्थ हैं। इनका एकमात्र उद्देश्य धार्मिक सस्कारो को दृढ करना तथा सरल, सुबोध भाषा मे अध्यात्म के गूढ़ तत्वो को समझाना रहा है, इसलिए ये ज्ञान-विज्ञान के कोश कहे जाते हैं। इनमे सभी वेद और उपनिषदो के ज्ञान को विभिन्न कथानको के माध्यमो से समझाने का प्रयास किया गया है।

पुराण-साहित्य का विकास आज से नही, अपितु प्राचीन काल से ही होता आया है। इनकी कथा, कहानी एव दृष्टात प्राचीन ही हैं। ये सर्वसाधारण के उपकार की दृष्टि से ही लिखे गये हैं। इनमे तत्त्वो का विवेचन लोकोपकारी कथानको तथा प्रभावशाली दृष्टान्तो द्वारा किया गया है। इसलिए इनका प्रभाव आज भी स्पष्ट है। यदि हम इनके विशिष्ट पहलुओ पर विचार करके देखें, तो इनकी शिक्षा को कभी भी किसी भी युग मे अस्वीकार नही किया जा सकता है। आज जो कुछ भी धार्मिकता हम देख रहे हैं, वह सब पुराण-साहित्य का ही योगदान कहा जा सकता है। अत यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि पुराण भारतीय सस्कृति एव सभ्यता के लोकप्रिय और अनुपम रत्न है।

जैन दर्शन का भारतीय दर्शन में स्थान—भारतीय सस्कृति की परम्परा अतिप्राचीन मानी जाती है। मनुष्य ने अपने जीवन की समस्याओ को सुलझाने के लिए किसी न किसी दृष्टिकोण का सहारा अवश्य लिया होगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सस्कृति की प्राचीनता के साथ दार्शनिक प्राचीनता अवश्य दिखलाई देती है। परन्तु इसका प्रारम्भ कब हुआ, इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है।

भारतीय दार्शनिक विचारधारा के आदि-स्रोत वेद और उपनिषद् माने गये हैं। उत्तरवर्ती काल मे इसमे न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, मीमासा दर्शन के साथ जैन-बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तो का भी समावेश हो गया। ये सभी दर्शन तथा जैन दर्शन स्वतन्त्र रूप से विकसित हुए हैं।

इनमे से जैन दर्शन एक बहुतत्त्ववादी दर्शन है, जिसने वस्तु को अनन्तधर्मात्मक बतलाकर **स्याद्वाद** की निर्दोष शैली को प्रतिपादित किया। अहिंसा की विचारधारा को जनसाधारण के जीवन के विकास के लिए उपयोगी कहा और कर्म के सिद्धान्त द्वारा व्यक्ति को महान् बतलाया।

जैन दर्शन के क्षेत्र में आदिपुराण का महत्त्व—आदिपुराण का नाम लेते ही सिद्ध हो जाता है कि यह जैन दर्शन का अनुपम रत्न है। साहित्याचार्य ने इसे जैनागम के प्रथमानुयोग ग्रन्थों मे सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ कहा है तथा इसे समुद्र के समान गम्भीर बतलाया है।[1]

जैन साहित्य का विकासक्रम तत्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वामी से माना जाता है। इन्होंने विक्रम की प्रथम शती मे नवीन शैली से दार्शनिक दृष्टि को सामने रखकर तत्वनिरूपण किया था। उसी के आधार पर पूज्यपाद, अकलक, विद्यानन्द आदि महान् आचार्यों ने सर्वार्थसिद्धि, तत्वार्थश्लोकवार्तिक, तत्वार्थराजवार्तिक आदि महाभाष्य लिखे। जैसे-जैसे विकास होता गया, वैसे-वैसे ही दार्शनिको ने जैन दार्शनिकता का अपनी-अपनी शैली में प्रतिपादन किया।

आठवी शती तक जैन दर्शन का परिष्कृत रूप सामने आ गया था। नवमी शती में जिनसेन ने भी पूर्वाचार्यों द्वारा जिन कथानको, तत्वो का (जिस रूप मे) वर्णन किया उसी का आधार लेकर काल-वर्णन, कुलकरो की उत्पत्ति, वशावली, साम्राज्य, अरहत अवस्था, निर्वाण और युग-विच्छेद[2] का वर्णन किया है।

आदिपुराण के विषय मे जिनसेन के शिष्य गुणभद्राचार्य ने पुराण तथा अपने गुरु की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि आगम रूपी समुद्र

---

१. आदिपुराण की प्रस्तावना,पृ० ४०

२. आदिपुराण, ३/१५९-१६२

से उत्पन्न हुए इस धर्म रूपी महारत्न को कौस्तुभ मणि से भी अधिक मानकर अपने हृदय में धारण करें, क्योंकि इसमें सुभाषित रूपी रत्नों का संचय किया गया है। यह पुराण रूपी समुद्र अत्यन्त गम्भीर है, इसका किनारा बहुत दूर है। इस विषय में मुझे कुछ भी भय नहीं है, क्योंकि सब जगह दुर्लभ और सबसे श्रेष्ठ गुरु जिनसेनाचार्य का मार्ग मेरे आगे है, इसलिए मैं भी उनके मार्ग का अनुगामी शिष्य प्रशस्त मार्ग का आलम्बन कर अवश्य ही पुराण पार हो जाऊंगा।[1]

जैन सिद्धान्त मे आत्मतत्व का विस्तृत विवेचन किया गया है। जैनाचार्यों ने भी आत्मतत्वज्ञान पर विशेष बल दिया है। इसी तत्वज्ञान के प्रचार-प्रसार की दृष्टि को रखकर जिनसेनाचार्य ने भी पुराण की रचना की, जिसमे उन सभी सिद्धान्तो का कथानकों के साथ समावेश हो गया, जिन्हे पूर्वाचार्यो ने लिपिबद्ध किया था। अतः प्रस्तुत पुराण जैनागमों और जैन दर्शन मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसलिए यह पुराण श्रेष्ठ कहा जाता है।

आदिपुराण का वर्ण्य-विषय- जैन धर्म के आद्य प्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव माने जाते हैं। इन्होने ही सर्वप्रथम अपनी पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी को क्रमश अक्षरलिपि और अंकलिपि का ज्ञान कराया। राज्य-व्यवस्था के लिए कर्म के अनुसार समाज का क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप मे विभाजन किया। वीर प्रकृति वालो को क्षत्रिय, व्यापार और कृषिप्रधान वृत्ति वालो को वैश्य और शिल्प, नृत्य, सगीत आदि कलाओ मे निपुणो को शूद्र वर्ण की सज्ञा दी। भगवान् ऋषभदेव के द्वारा श्रमण धर्म स्वीकार कर लेने के उपरान्त भरत चक्रवर्ती ने व्रत, ज्ञान और चारित्र मे निपुण व्यक्तियो को ब्राह्मण कहा। इस तरह गुण और कर्म के अनुसार वर्ण-व्यवस्था की।

ऋषभदेव ने असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छ कर्मों द्वारा प्रजा के लिए आजीविका करने का उपदेश दिया। तलवार आदि शस्त्र धारण कर सेवा करना **असिकर्म** है। लिखकर आजीविका करना **मसिकर्म** है। जमीन को जोतना, बोना **कृषिकर्म** है। शास्त्र पढाकर या नृत्य-गायन आदि के द्वारा आजीविका करना **विद्याकर्म** है। व्यापार करना **वाणिज्य** है और हस्त की कुशलता से जीविका करना **शिल्पकर्म** है। उस समय प्रजा अपने-अपने योग्य कर्मो को यथा-योग्य रूप से करती थी।

भगवान् ऋषभदेव कर्मभूमि व्यवस्था के अग्रदूत होने से आदिपुरुष[2] या आदिनाथ कहलाये। उन्होंने राज्य-व्यवस्था और समाज-कल्याण की भावना मे धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया। नृत्य करने वाली नीलाजना को नष्ट होते देख उन्होंने सोचा कि इस ससार मे सुख किंचित् भी नही है। मनुष्य का यह शरीर एक गाड़ी के समान है जो दु ख रूपी खोटे बर्तनों से भरी है, यह कुछ ही समय मे नष्ट हो जाएगी।

आदिपुराण मे तीर्थंकर, आचार्य और मुनियों के उपदेशो का सम्यक् विवेचन किया गया है। इन उपदेशों द्वारा व्यक्ति की आचरण सम्बन्धी महत्वपूर्ण बातो का ज्ञान कराया गया है तथा दार्शनिक तत्वज्ञान का विशेष उल्लेख किया गया है।

आदिपुराण के दार्शनिक विचार जगत् का अस्तित्व

सभी भारतीय दर्शन जगत् को सत्य मानते है। न्याय-वैशेषिक जगत् को सत्य मानकर दिक् मे अवस्थित मानते है। उनका कहना है कि जगत् की उत्पत्ति परमाणुओं से हुई है और ईश्वर ने ही इन जगत् के परमाणुओ की उत्पत्ति की है। इसलिए ईश्वर की तरह जगत् के परमाणु भी अनादि और अनन्त हैं। साख्य-योग सत्व, रजस् और तमस् - -इन तीन गुणो को प्रकृति के परिणाम कहते हैं। ये परिणाम सत्य रूप है। अत जगत् भी सत्य है। मीमासा दर्शन भी न्याय-वैशेषिक की तरह जगत् को सत्य मानता है और इसकी उत्पत्ति का मूल-कारण परमाणु और कर्म के नियम को बताता है। वेदान्त ने व्यावहारिक दृष्टि से जगत् को सत्य माना है। बौद्ध-जैन भी जगत् को सत्य मानते है।

जैन दर्शन जगत् को जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश औरकाल—छ द्रव्य रूप मानता है। ये छ. द्रव्य नित्य हैं, इसलिए यह जगत् भी नित्य है। इसे किसी ईश्वर ने नही बनाया, न ही इसका कभी नाश हो सकता है। न्याय-वैशेषिक की इस दृष्टि को अवश्य ध्यान मे रखा जा सकता है कि उन्होंने जगत् को परमाणुओ से निर्मित बतलाया है। जैन दर्शन भी परमाणुओ को मानता है पर पुद्गल परमाणुओ की उत्पत्ति ईश्वर ने की है यह उसे मान्य नही है। परन्तु इतना तो अवश्य माना जा सकता है यह दृश्यमान् जगत् किन्ही मूल पदार्थों के संयोग से अवश्य बना हुआ है।

विश्व (जगत्) के समस्त पदार्थ किसी न किसी रूप मे अवश्य बने रहते हैं, इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जगत् अवश्य है। इस जगत् मे जीव और पुद्गल की क्रियायें भी देखी जाती है, इनकी क्रियाओ के निमित्त-कारण धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य हैं। जैन दर्शन इन द्रव्यो के समूह को जगत्, लोक या विश्व कहता है।

विश्व के मूल : तत्व की परिभाषा --भारतीय साहित्य मे तत्व के विषय मे गम्भीर रूप से विचार किया गया है क्योंकि विश्व का निर्माण कुछ ही तत्वो के कारण होता है। दर्शन साहित्य के क्षेत्र मे तत्व का प्रयोग गम्भीर चिन्तन-मनन के लिए हुआ है। चिन्तन-मनन का प्रारम्भ ही तत्व-वस्तु स्वरूप के विश्लेषण से होता है। **किं तत्वम्**—तत्व क्या है ? यही मूलभूत जिज्ञासा दर्शन-क्षेत्र का विषय है। तत् शब्द से

१. उत्तरपुराण, ४३/३५-४०
२. आदिपुराण, १/१५

तत्व शब्द बना है। संस्कृत भाषा में तत् शब्द सर्वनाम है सर्वनाम शब्द सामान्य अर्थ के वाचक होते हैं। तत् शब्द से भाव अर्थ में त्व प्रत्यय लगाकर तत्व शब्द बना है जिसका अर्थ होता है उसका भाव—तस्य भावः तत्वम्, अतः वस्तु के स्वरूप को और स्वरूपभूत वस्तु को तत्व कहा जाता है।

लौकिक दृष्टि से तत्व शब्द का अर्थ है —वास्तविक स्थिति, यथार्थता, सारवस्तु, सारांश। दार्शनिक चिन्तकों ने परमार्थ, द्रव्य-स्वभाव, पर-अपर, ध्येय, शुद्ध, परम के लिए भी तत्व शब्द का प्रयोग किया है। वेदों में परमात्मा तथा ब्रह्म के लिए एवं सांख्यमत में जगत् के मूल कारण के लिए तत्व शब्द आता है।

जीवन मे तत्व का महत्वपूर्ण स्थान है। जीवन और तत्व—ये दोनो एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। तत्व मे जीवन पृथक् नही किया जा सकता है और तत्व के अभाव मे जीवन गतिशील नही हो सकता। जीवन मे से तत्व को पृथक् करने का अर्थ है-- आत्मा के अस्तित्व से इन्कार करना।

समस्त भारतीय-दर्शन तत्व के आधार पर खड़े हुए है। प्रत्येक दर्शन ने अपनी-अपनी परम्परा और अपनी कल्पना के अनुसार तत्व-मीमांसा और तत्व-विचार को प्रतिपादित किया है। भौतिकवादी चार्वाक दर्शन ने भी तत्व को स्वीकार किया है। वह पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि ये चार तत्व मानता है, आकाश को नही, क्योंकि आकाश का ज्ञान प्रत्यक्ष से न होकर अनुमान मे सिद्ध होता है। वैशेषिक दर्शन ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन मूलभूत तत्वो (पदार्थों) को स्वीकार किया है। न्याय-दर्शन मे प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान —ये सोलह पदार्थ माने गए हैं। सांख्य-योग दर्शन में प्रकृति, महत्, अहंकार, पाच ज्ञानेन्द्रिय, पाच कर्मेन्द्रिय, पाच तन्मात्रायें, मन, पचमहाभूत और पुरुष ये पच्चीस तत्व माने हैं। मीमांसा दर्शन वेदविहित कर्म को सत् और तत्व मानता है। वेदान्त दर्शन एकमात्र ब्रह्म को सत् मानता है और शेष सभी को असत् मानता है। बौद्ध दर्शन ने दु:ख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध और दुःख-निरोध के मार्ग का विश्लेषण किया है। जैन दर्शन इसे ही षड्द्रव्य और सप्ततत्व के रूप मे या नवपदार्थ के रूप मे स्वीकार करता है। द्रव्य, तत्व और पदार्थ---ये तीनो ही वस्तुस्वरूप की अभिव्यक्ति के साधन हैं। कुन्दकुन्द ने तत्व, अर्थ, पदार्थ और तत्वार्थ—इन शब्दो को एकार्थक माना है।[1]

सत्, सत्व, तत्व, तत्वार्थ, अर्थ, पदार्थ और द्रव्य पर्यायवाची है। सत् और द्रव्य को तत्व कहा गया है। जो सत् है वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप है। जो तत्व है, वह सत् और जो सत् है, वह द्रव्य है। यत्क्षणिकं तत्सत् —जो क्षणिक है, वही सत् या सत्य है, ऐसी बौद्ध की मान्यता है। वेदान्त ब्रह्म को सत् मानता है, इसके अलावा सभी मिथ्या है। परन्तु यह दृष्टि जैन दर्शन की नही। वह प्रत्येक द्रव्य को द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से देखता है। द्रव्य का कभी नाश नही होता, पर पर्याय-दृष्टि मे उत्पादव्ययरूप परिणमन होता रहता है। प्रत्येक वस्तु को समझाने के लिए इसी तरह की दृष्टि चाहिए। तत्व शब्द भाव-सामान्य का वाचक है। तत् यह सर्वनाम है जो भाव-सामान्य वाची है अतः तत्व शब्द का अर्थ है--जो पदार्थ जिस रूप में है, उसका उसी रूप मे होना।[2] 'जीवादीनां पदार्थानां याथात्म्यं तत्वमिष्यते' अर्थात् जीवादि पदार्थों का यथार्थस्वरूप ही तत्व कहलाता है। वह तत्व ही सम्यग्ज्ञान का अग अर्थात् कारण है।

तत्वों की संख्या - तत्व सामान्य की दृष्टि से एक है यह जीव और अजीव के भेद मे दो प्रकार का है। जीव के भी ससारी और मुक्त ये दो भेद माने गये हैं। संसारी जीव के दो भेद हैं - भव्य और अभव्य। इस प्रकार आचार्य जिनसेन ने तत्व के चार भेद बताये हैं जो अपने आप मे एक नवीन शैली को दर्शाते हैं- १. मुक्तजीव, २. भव्यजीव, ३. अभव्यजीव तथा ४ अजीव।

मूर्तिक और अमूर्तिक के रूप मे अजीव के दो भेद हो जाने के कारण प्रकारान्तर से तत्व के निम्न भेद[3] कहे जा सकते है—१. संसारी, २ मुक्त, ३. मूर्तिक और ४. अमूर्तिक।

इन तत्वो का विवेचन करते हुए आचार्य जिनसेन ने मोक्ष-मार्ग मे प्रवृत्त होने वाले मुनियो के रहन-सहन, आचार-विचार एव उनके गमनागमन के नियमो का भी वर्णन किया है।

इन मूल दो तत्वों का ही सात तत्वो के रूप मे विस्तार होता है- जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष। इसका मूल कारण यह है कि जीव ही अजीव की क्रियाओ का कर्त्ता है। जड क्रियाओं से कर्मों का आवागमन—आस्रव-बन्ध होता रहता है। जिस तरह नाव मे छिद्र होने से पानी आता रहता और एकत्रित होता रहता है, उसी तरह आस्रव-बंध कर्म भी आते और एकत्रित होते रहते हैं। इनके हटाने का कोई मार्ग भी तो होना चाहिए? संवर द्वारा कर्मों (नाव के छिद्र को बंद कर देने से पानी) का आना रुक जाता है। निर्जरा

---

१. पचास्तिकाय, गा० ११२-११६

२. तत्वार्थराजवार्तिक, १ २

३. आदिपुराण, २४/८६

४. आदिपुराण, २४/८८-२०८

द्वारा (नाव मे आये हुए पानी की तरह) कर्म अलग हो जाते हैं। प्रत्येक जीव का लक्ष्य दु:ख से निवृत्ति की ओर जाना है। इन कर्मों का अभाव हो जाने पर आनन्द का एक ही स्रोत रह जाता है जिसे मोक्ष (निर्वाण) कहते हैं।

तत्व क्रम—सर्वप्रथम जीव को ही क्यो स्थान दिया ? जीव ही ज्ञान-दर्शन है, कर्मों का भोक्ता, शुभ-अशुभ को भोगने वाला है। यदि जीव न हो तो पुद्गल का उपयोग नही हो सकता, जीव की गति, स्थिति एवं अवगाह में पुद्गल ही सहकारी है, अत अजीव आवश्यक हुआ। जीव-पुद्गल के सयोग से ही ससार है। ससार के कारण आस्रव-बन्ध हैं। सवर और निर्जरा मोक्ष के कारण हैं। अत तत्वों का उक्त क्रम से वर्णन किया है। यहाँ क्रम सयोग-वियोग और आध्यात्मिक दृष्टि से भी प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

कुशाग्र बुद्धि वाला इन जीव-अजीव तत्वो के आधार पर अपना गन्तव्य-पथ प्राप्त कर लेता है क्योकि वह समझता है कि जीव ही ज्ञानचेतनामय है और ज्ञान आत्म-गुण से युक्त है। जो आत्म-स्वरूप को जानता है वह सबकुछ जानता है। आत्म-स्वरूप ही परमात्मरूप है दूसरी ओर मन्दबुद्धि वाला जब तक सयोग-वियोग अर्थात् कर्म के कारणो को तथा मोक्ष के कारणो को नही समझ लेगा, तब तक वह गन्तव्य-पथ प्राप्त करने मे समर्थ नही हो सकता। आस्रव-बन्ध, शुभाशुभ, पुण्य-पाप के सयोग रूप कारण ससार मे परिभ्रमण कराने वाले है और संवर, निर्जरा और मोक्ष वियोग-रूप-कारण आनन्दस्वरूप मुक्ति-पथ की ओर ले जाने वाले हैं। इस तरह जीव-अजीव रूप समास शैली और आस्रव, बन्ध (पुण्य-पाप), सवर, निर्जरा रूप व्यास शैली का प्रयोग किया गया है। इससे जिज्ञासु भली-भांति इन तत्वो को समझकर मुक्ति-पथ को प्राप्त कर सकते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से भी जीव-अजीव तत्व ज्ञेय है। साधक (मुक्ति पथ की खोज करने वाले) के लिए इन दोनों तत्वो का ज्ञान आवश्यक है क्योकि ये ज्ञेय-स्वरूप हैं अर्थात् ज्ञान द्वारा जाने जाते हैं। आस्रव और बध संसार के कारण होने से हेय (छोडने योग्य), संवर, निर्जरा और मोक्ष उपादेय (ग्रहण करने योग्य) तत्व हैं। सात तत्वो मे जीव-अजीव (धर्म, अधर्म, आकाश और काल) द्रव्यो मे जीव अरूपी है तथा पुद्गल रूपी है, क्योंकि रूप, रस, गन्ध, वर्ण -- ये पुद्गल के स्वरूप है। द्रव्य-दृष्टि से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश—ये पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं और कालद्रव्य अस्तिकाय नही है, क्योकि कालद्रव्य प्रदेश-समूह नही है।

आत्मा और ब्रह्म - भारतीय दार्शनिक आत्मा को किसी न किसी रूप मे अवश्य स्वीकार करते है। न्याय-वैशेषिक आत्मा को नित्य मानता है और इसे ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता स्वीकार करता है। वह ज्ञान को आत्मा का आगन्तुक गुण भी मानता है। जैन दर्शन ज्ञान को आत्मा का सहज गुण मानता है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार जब आत्मा का मन और शरीर से संयोग होता है, तभी उसमे चैतन्य की उत्पत्ति होती है। मीमासा दर्शन का मत भी यही है। वह भी चैतन्य और ज्ञान को आत्मा का आगन्तुक गुण मानता है। सुख-दुःख का अत्यन्त विनाश होने पर आत्मा अपनी स्वाभाविक मोक्ष अवस्था को प्राप्त कर लेता है, इस समय आत्मा चैतन्यरहित हो जाता है। सांख्य-योग चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक धर्म नही मानता। पर इनका आत्मा (पुरुष) अकर्ता है, वह सुख-दुःख की अनुभूतियो से रहित है। प्रकृति अपने आपको तदाकार करने के कारण सुख-दुःख रूप और सतत क्रियाशील है, जबकि पुरुष शुद्ध-चैतन्य और ज्ञान स्वरूप है। वेदान्त दर्शन आत्मा को ही सत्य मानता है, जो सत्-चित्-आनद स्वरूप है। अवैदिक दर्शनो मे चार्वाक आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार ही नही करता है, वह तो केवल चैतन्य-युक्त शरीर को ही सबकुछ मानता है। बौद्ध अनात्मवादी है, वह आत्मा को अनित्य मानता है। शून्यवादी विज्ञानवादी का कहना है कि आत्मा क्षणिक है, विज्ञान-सन्तानमात्र है जो क्षण-क्षण मे जल के बबूले की तरह परिवर्तनशील है। लेकिन जैन दर्शन आत्मा को नित्य मानता है। यह अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य से युक्त है। जब तक यह बाह्य क्रियाओ के प्रति लगा रहता है तब तक उसके ये गुण आच्छादित ही रहते है और जब कर्मों का आवरण हट जाता है तब वही आत्मा इन गुणो से युक्त होकर परमात्मरूप को प्राप्त कर लेता है। आत्मा की उत्कृष्ट अवस्था को ही जैन दर्शन मे परमात्मा कहा है।

आदिपुराणकार ने आत्मा को ज्ञानयुक्त कहा है।[1] ज्ञान आत्मा का निज गुण है, आगन्तुक गुण नही है। तत्वज्ञ पुरुष उन्ही तत्वों को मानते है जो सर्वज्ञ देव के द्वारा कहे हुए हो।[2]

आचार्य जिनसेन अन्य भारतीय दर्शनो के समान ब्रह्मतत्व को भी स्वीकार करते हैं। पर वे इसे वेदान्त की तरह सबकुछ नही मानते। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु – इन पचपरमेष्ठियो को पचब्रह्मस्वरूप मानते हैं। जो योगिजन परमतत्व परमात्मा का बार-बार ध्यान करते है, वे ब्रह्मतत्व को जान लेते हैं। इससे आत्मा में जो परम आनन्द होता है, वही जीव का सबसे बडा ऐश्वर्य है।

आदिपुराण के अनुसार आत्मा ही ब्रह्मतत्व रूप है, प्रत्येक आत्मा ब्रह्मतत्व रूप है। इस ब्रह्मतत्व की शक्ति की अभिव्यक्ति का नाम परमात्मा या परमब्रह्म है। यह परमब्रह्म ही ऐश्वर्य गुणो से युक्त होने के कारण ईश्वर कहा जा सकता है, पर यह ईश्वर जगत्कर्ता

---

१. आदिपुराण, ५/६८
२. आदिपुराण, ५/८५

या हर्त्ता नहीं।

मोक्ष— भौतिकतावादी चार्वाक को छोडकर सभी भारतीय दर्शन मोक्ष के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। सभी दार्शनिकों ने दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति को मोक्ष कहा है। न्याय-वैशेषिक, साख्य-योग के अनुसार दुःख के आत्यन्तिक उच्छेद हो जाने का नाम मोक्ष है। यह तत्त्व-ज्ञान से ही होता है। मीमासा दर्शन भी दुःख के आत्यन्तिक अभाव को मोक्ष मानता है। वेदान्त दर्शन ने जीवात्मा और ब्रह्म के एकीभाव को मोक्ष कहा है। विशुद्ध सत्, चित् और आनन्द की अवस्था ही ब्रह्म है और यह अवस्था अविद्या रूप बंधन के कारण के समाप्त होने पर ही प्राप्त होती है। बौद्ध ने निर्वाण को माना है--यह सब प्रकार के अज्ञान के अभाव की अवस्था है। **धम्मपद**, २०२/३ में निर्वाण को एक आनन्द की अवस्था, परमानन्द, पूर्णशाति, लोभ, घृणा तथा भ्रम से मुक्त कहा है।

जैन दर्शन ने आत्मा की विशुद्ध अवस्था को मोक्ष कहा है। समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से अनन्त-सुख रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है और यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप साधन से प्राप्त होता है। इस अवस्था मे वह अनन्त-चैतन्यमय गुण से युक्त हो जाता है। इस अवस्था मे आत्मा का न तो अभाव होता है, न ही अचेतन। किसी भी सत् का विनाश नही होता इसलिए आत्मा का अभाव नही हो सकता। कर्म पुद्गल-परमाणुओ के छूट जाने पर ही मोक्ष होता है। इस अवस्था मे आत्मा निज-स्वरूप मे अवस्थित रहता है।

आचार्य जिनसेन ने जीव की अवस्था के लिए **स्वतन्त्रता** और **परतन्त्रता** - इन दो शब्दो का प्रयोग किया है जो अपने आप मे नवीनतम है। उन्होने बतलाया कि "ससार मे यह जीव किसी प्रकार स्वतन्त्र नही है, क्योकि कर्म-बन्धन के वश होने से यह जीव अन्य के आश्रित होकर जीवित रहता है, इसलिए वह **परतन्त्र** है। जीवो की इस परतन्त्रता का अभाव होना ही **स्वतन्त्रता** है। अर्थात् कर्म-बन्धन जीव की परतन्त्रता के कारण कहे जा सकते है और कर्म-बन्धन रूप परतन्त्रता (ससार) का अभाव जीव की स्वतन्त्रता (मोक्ष) का परिचायक है।

धर्म और दर्शन का सम्बन्ध --धर्म और दर्शन का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ है। ये मानव-जीवन के अनिवार्य अग माने गये हैं। मानव का जो विचारात्मक दृष्टिकोण है, वह है दर्शन और जब वह इसे अपने जीवन मे उतारने लगता है, तब वह धर्म कहलाने लगता है। दर्शन और धर्म एक दूसरे के पूरक साधन हैं या कहे जा सकते हैं। सत्य की खोज जीवन की गहराई मे है। दर्शन मानव की विचारात्मक शक्ति को जागृत करने के लिए है। यह मानव का अपने जीवन के मूल्याकन करने का साधन है। धर्म शाति, सामजस्य, दुःख की निवृत्ति आदि कारणो तक ही मानव को ले जाता है और दर्शन जीव, जगत्, ईश्वर आदि विशेष सैद्धान्तिक कारणो को तर्क-वितर्क की कसौटी पर कसकर बौद्धिक जगत् मे प्रयुक्त करके दिखला देता है।

जिनसेन ने इसी के अनुरूप अपने पुराण मे धर्म का कथन किया है--"हे राजन्! धर्म से इच्छानुसार सम्पत्ति मिलती है, इच्छानुसार सुख की प्राप्ति होती है, मनुष्य प्रसन्न रहते हैं, राज्य, सम्पदायें, भोग, योग्य कुल मे जन्म, सुन्दरता, पाण्डित्य, दीर्घ आयु और आरोग्य इसी के कारण हैं। हे विभो! जिस प्रकार कारण के बिना कभी कार्य की उत्पत्ति नही होती, दीपक के बिना किसी ने प्रकाश नही देखा, बीज के बिना अकुर नही होता, मेघ के बिना वृष्टि नही होती और छत्र के बिना छाया नही होती, उसी प्रकार धर्म के बिना उक्त सम्पदायें प्राप्त नही हो सकती। इतना ही नही जिस प्रकार विष खाने से जीवन नही होता, बजर जमीन से धान्य उत्पन्न नही होता और अग्नि से शीतलता नही मिलती, उसी प्रकार अधर्म से सुख की प्राप्ति सम्भव नही।"

धर्म स्वर्ग आदि अभ्युदय तथा मोक्ष पुरुषार्थ का साधन है।[1] समग्र कल्याण का कारण धर्म है। **धर्मो हि शरण परम**[2] अर्थात् धर्म ही परम शरण है। इस ससार मे वही पुरुष श्रेष्ठ है, वही कृतार्थ है और वही पण्डित है जिसने धर्म की वास्तविकता को पहचान लिया है।[3] इस ससार मे धर्म के बिना स्वर्ग कहा? स्वर्ग के बिना सुख कहा? इसलिए सुख चाहने वाले पुरुषो को चिरकाल तक धर्म रूपी कल्पवृक्ष की सेवा करनी चाहिए।[4] जिनसेन के अनुसार "**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थसिद्धिः सुनिश्चिता स धर्मः**[5] अर्थात् जिससे इहलोक और परलोक की निश्चित रूप मे सिद्धि होती है, वह धर्म कहलाता है। इसलिए प्राणीमात्र के प्रति अपना कर्तव्य समझ कर आत्मकल्याण और विश्व-शाति की दृष्टि से धर्म-पालन अवश्य करना चाहिए। यह समाज, देश एव राष्ट्र के गौरव का साधन है और हमारी संस्कृति-सभ्यता का भी यही रक्षक है।

---

१. आदिपुराण, ५ १५-२०
२. आदिपुराण, ६/२०
३. 'लब्ध तेनैव सज्जन्म, स कृतार्थ स पण्डित.।', आदिपुराण, ६/१३०
४. 'ऋते धर्मात् कुत स्वर्ग. कुत स्वर्गादृते सुखम्।
तस्मात् सुखार्थिना सेव्यो धर्मकल्पतरुश्चिरम्॥', आदिपुराण, ६/१८८
५. आदिपुराण, ५/२०

समन्वय का अमोघ दर्शन : अनेकान्त

उपाध्याय श्री अमर मुनि

भगवान् महावीर ने जितनी गहराई के साथ अहिंसा और अपरिग्रह का विवेचन किया, अनेकान्त-दर्शन के चिंतन मे भी वे उतने ही गहरे उतरे। अनेकान्त को न केवल एक दर्शन के रूप मे, किन्तु सर्वमान्य जीवन धर्म के रूप मे प्रस्तुत करने का श्रेय महावीर को ही है। अहिंसा और अपरिग्रह के चिन्तन मे भी उन्होने अनेकान्त-दृष्टि का प्रयोग किया। प्रयोग ही क्यो, यहा तक कहा जा सकता है कि अनेकान्त-रहित अहिंसा और अपरिग्रह भी महावीर को मान्य नही थे।

आप शायद चौकेंगे यह कैसे ? किंतु वस्तुस्थिति यही है। चूकि प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक सत्ता, प्रत्येक स्थिति और प्रत्येक विचार अनन्तधर्मात्मक है। उसके विभिन्न पहलू या विभिन्न पक्ष होते हैं। उन पहलूओ और पक्षों पर विचार किए बिना यदि हम कुछ निर्णय करते हैं, तो यह उस वस्तु-तत्त्व के प्रति स्वरूपघात होगा, वस्तुविज्ञान के साथ अन्याय होगा और स्वय अपनी ज्ञान-चेतना के साथ भी एक धोखा होगा। किसी भी वस्तु के तत्त्व-स्वरूप पर चिंतन करने से पहले हमे अपनी दृष्टि को पूर्वाग्रहों से मुक्त, स्वतत्र और व्यापक बनाना होगा, उसके प्रत्येक पहलू को अस्ति, नास्ति आदि विभिन्न विकल्पो द्वारा परखना होगा, तभी हम उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। अहिंसा और अपरिग्रह के विषय मे भी यही बात है, इसलिए मैंने कहा—महावीर के अहिंसा और अपरिग्रह भी अनेकातात्मक थे।

अहिंसात्मक अनेकातवाद का एक उदाहरण लीजिए। भगवान् महावीर ने साधक के लिए सर्वथा हिंसा का निषेध किया—**सव्वाओ पाणाइवायाओ विरमणं।** किसी भी प्रकार की हिंसा का समर्थन उन्होने नही किया। किंतु जनकल्याण की भावना से किसी उदात्त ध्येय की प्राप्ति के लिए तथा वीतराग जीवनचर्या मे भी कभी-कभी परिस्थितिवश अनचाहे भी जो सूक्ष्म या स्थूल प्राणिघात हो जाता है, उस विषय मे उन्होने कभी एकात निवृत्ति का आग्रह नही किया, अपितु व्यवहार मे उस प्राणिहिंसा को हिंसा स्वीकार करके भी उसे निश्चय मे हिंसा की परिधि से मुक्त माना। उन्होने अहिंसा की मौलिक तत्त्व-दृष्टि से बाहर दृश्यमान् प्राणिवध को नही, किंतु रागद्वेषात्मक अन्तर्वृत्ति को—प्रमत्तयोग **पमायं कम्ममाहंसु** को ही हिंसा बताया, कर्मबन्धन का हेतु कहा, यही उनका अहिंसा के क्षेत्र मे अनेकांतवादी चिंतन था।

परिग्रह और अपरिग्रह के विषय मे भी महावीर बहुत उदार और स्पष्ट थे। यद्यपि जहा परिग्रह की गणना की गई, वहा वस्त्र, पात्र, भोजन, भवन आदि बाह्य वस्तुओं को, यहा तक कि शरीर को भी परिग्रह की परिगणना मे लिया गया, किन्तु जहा परिग्रह का तात्त्विक पक्ष आया, वहा उन्होने मूर्च्छा भाव के रूप मे परिग्रह की एक स्वतत्र एव व्यापक व्याख्या की। महावीर वस्तुवादी नही, भाववादी थे, अत उनका अपरिग्रह का सिद्धान्त बाह्य जड-वस्तुवाद मे कैसे उलझ जाता ? उन्होने स्पष्ट घोषणा की—वस्तु परिग्रह नही, भाव (ममता) ही परिग्रह है। **मुच्छा परिग्गहो** मन की मूर्च्छा, आसक्ति और रागात्मक विकल्प—यही परिग्रह है, बन्धन है।

इसी प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे, चिन्तन के हर नए मोड पर महावीर 'हां' और 'ना' के साथ चले। उनका उत्तर अस्ति-नास्ति के साथ अपेक्षापूर्वक होता था। एकान्त अस्ति या एकान्त नास्ति जैसा निरपेक्ष कुछ भी उनके तत्त्व-दर्शन मे न था।

अपने शिष्यों से महावीर ने स्पष्ट कहा था—"सत्य अनन्त है, विराट् है। कोई भी अल्पज्ञानी सत्य को सम्पूर्ण रूप से जान नहीं सकता। जो जानता है वह भी उसका केवल एक पहलू होता है, एक अश होता है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी, जो सत्य का सम्पूर्ण साक्षात्कार कर लेता है, वह भी उस ज्ञान सत्य को वाणी द्वारा पूर्ण रूप से अविकल व्यक्त नही कर सकता।" इस स्थिति मे सत्य को संपूर्ण रूप से जानने का और समग्र रूप से कथन करने का दावा कौन कर सकता है ? हम जो कुछ देखते हैं, वह एकपक्षीय होता है और जो कुछ कथन करते हैं, वह भी एकपक्षीय ही है। वस्तुसत्य के सम्पूर्ण स्वरूप को न हम एक साथ पूर्ण रूप से देख सकते हैं, न व्यक्त कर सकते हैं, फिर अपने दर्शन को एकांत रूप से पूर्ण, यथार्थ और अपने कथन को एकांत सत्य करार देकर दूसरो के दर्शन और कथन को असत्य

घोषित करना, क्या सत्य के साथ अन्याय नहीं है ?

इस तथ्य को हम एक अन्य उदाहरण से भी समझ सकते हैं। एक विशाल एवं उत्तुंग सुरम्य पर्वत है, समझ लीजिए हिमालय है। अनेक पर्वतारोही विभिन्न मार्गों से उस पर चढते हैं और भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर से उसके चित्र लेते हैं। कोई पूर्व से तो कोई पश्चिम से, कोई उत्तर से तो कोई दक्षिण से। यह तो निश्चित है कि विभिन्न दिशाओं से लिए गए चित्र परस्पर एक दूसरे से कुछ भिन्न ही होंगे, फलस्वरूप देखने में वे एक दूसरे से विपरीत ही दिखाई देंगे। इस पर यदि कोई हिमालय की एक दिशा के चित्र को ही सही बताकर अन्य दिशाओं के चित्रों को झूठा बताये या उन्हें हिमालय के चित्र मानने से ही इन्कार कर दे, तो उसे आप क्या कहेंगे ?

वस्तुतः सभी चित्र एकपक्षीय हैं। हिमालय की एकदेशीय प्रतिच्छवि ही उनमें अंकित है। किन्तु हम उन्हें असत्य और अवास्तविक तो नहीं कह सकते। सब चित्रों को यथाक्रम मिलाइए तो हिमालय का एक पूर्ण रूप आपके सामने उपस्थित हो जायेगा। खण्ड-खण्ड हिमालय एक अखण्ड आकृति ले लेगा और इसके साथ हिमालय के दृश्यों का खण्ड-खण्ड सत्य एक अखण्ड सत्य की अनुभूति को अभिव्यक्ति देगा।

यही बात विश्व के समग्र सत्यों के सम्बन्ध में है। कोई भी सत्य हो, उसकी एकपक्षीय दृष्टि को लेकर अन्य दृष्टिकोणों का अपलाप या विरोध नहीं होना चाहिए, किन्तु उन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले दृष्टिकोणों के यथार्थ समन्वय का प्रयत्न होना चाहिए। दूसरों को असत्य घोषित कर स्वयं को ही सत्य का एकमात्र ठेकेदार बताना, एक प्रकार का अज्ञानपूर्ण अन्ध अहं है, दंभ है, छलना है। भगवान् महावीर ने कहा है—सम्पूर्ण सत्य को समझने के लिए सत्य के समस्त अंगों का अनाग्रहपूर्वक अवलोकन करो और फिर उनका अपेक्षापूर्वक कथन करो।

अनेकान्त और स्याद्वाद

भगवान् महावीर की यह चिंतन-शैली अपेक्षावादी, अनेकांतवादी शैली थी और उनकी कथनशैली स्याद्वाद या विभज्यवाद—**विभज्जवायं च वियागरेज्जा**—के नाम से प्रचलित हुई। अनेकान्त वस्तु में अनन्त-धर्म की तत्वदृष्टि रखता है, अतः वह वस्तुपरक होता है और स्याद्वाद अनन्तधर्मात्मक वस्तु के स्वरूप का अपेक्षाप्रधान वर्णन है, अतः वह शब्दपरक होता है। जनसाधारण इतना सूक्ष्म-भेद लेकर नहीं चलता, अतः वह दोनों को पर्यायवाची मान लेता है। वैसे दोनों में ही अनेकांत का स्वर है।

जन-सुलभ भाषा में एक उदाहरण के द्वारा महावीर के अनेकांत एवं स्याद्वाद का स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है—आप जब एक कच्चे आम को देखते हैं, तो सहसा कह उठते हैं—आम हरा है, उसको चखते हैं तो कहते हैं—आम खट्टा है। इस कथन में आम में रहे हुए अन्य गंध, स्पर्श आदि वर्तमान गुण-धर्मों की तथा भविष्य में परिवर्तित होने वाले पीत एवं माधुर्य आदि परिणमन-पर्यायों की सहज उपेक्षा-सी हो गई है, निषेध नहीं, उन्हें गौण कर दिया गया है और वर्तमान में जिस वर्ण एवं रस का विशिष्ट अनुभव हो रहा है, उसी की अपेक्षा से आम को हरा और खट्टा कहा गया है। आम के सम्बन्ध में यह सत्य कथन है, क्योंकि उसमें अनेकांतमूलक स्वर है। किन्तु यदि कोई कहे कि आम हरा ही है, खट्टा ही है, तो यह एकान्त आग्रहवादी कथन होगा। 'ही' के प्रयोग में वर्तमान एवं भविष्यकालीन अन्य गुण-धर्मों का सर्वथा निषेध है, इतर सत्य का सर्वथा अपलाप है, एक ही प्रतिभासित आंशिक सत्य का आग्रह है और जहां इस तरह का आग्रह होता है। वहां आंशिक सत्य भी सत्य न रहकर असत्य का चोला पहन लेता है। इसलिए महावीर ने प्रतिभासित सत्य को स्वीकृति देकर भी, अन्य सत्यांशों को लक्ष्य में रखते हुए आग्रह का नहीं, अनाग्रह का उदार दृष्टिकोण ही दिया।

लोक-जीवन के व्यवहार क्षेत्र में भी हम 'ही' का प्रयोग करके नहीं, किन्तु 'भी' का प्रयोग करके ही अधिक सफल और सतुलित रह सकते हैं। कल्पना करिए, आपके पास एक प्रौढ व्यक्ति खडा है, तभी कोई एक युवक आता है और उसे पूछता है—"भैया! किधर जा रहे हो ?" दूसरे ही क्षण एक बालक दौडा-दौडा आता है और पुकारता है—"पिताजी! मेरे लिए मिठाई लाना।" तभी कोई वृद्ध पुरुष उधर आ जाता है और वह उस प्रौढ व्यक्ति को पूछता है—"बेटा! इस धूप में कहां चले···?" इस प्रकार अन्य भी अनेक व्यक्ति आते हैं, और कोई उसे चाचा कहता है, कोई मामा, कोई मित्र और कोई भतीजा।

आप आश्चर्य में तो नहीं पड़ेंगे! यह क्या बात है ? एक ही व्यक्ति किसी का भाई है, किसी का भतीजा है, किसी का बेटा है और किसी का बाप है। बाप है तो बेटा कैसे ? और बेटा है तो बाप कैसे ? इसी प्रकार चाचा और भतीजा भी एक ही व्यक्ति एक साथ कैसे हो सकता है ? ये सब रिश्ते-नाते परस्पर विरोधी हैं, और दो विरोधी तत्व एक में कैसे घटित हो सकते हैं ? उक्त शंका एवं भ्रम का समाधान अपेक्षावाद में है। अपेक्षावाद वस्तु को विभिन्न अपेक्षाओं, दृष्टि-बिन्दुओं से देखता है। इसके लिए वह 'ही' का नहीं, 'भी' का प्रयोग करता है। जो बेटा है, वह सिर्फ किसी का बेटा ही नहीं, किसी का बाप भी है। वह सिर्फ किसी का चाचा ही नहीं, किसी का भतीजा भी है। यही बात 'मामा' आदि के सम्बन्ध में है। यदि हम 'ही' को ही पकड कर बैठ जाएंगे तो सत्य की रक्षा नहीं कर सकेंगे। एकान्त 'ही' का प्रयोग अपने से भिन्न समस्त सत्यों को झुठला देता है, जबकि 'भी' का प्रयोग अपने द्वारा प्रस्तुत सत्य को अभिव्यक्ति देता हुआ भी दूसरे

सत्यों को भी बगल मे मूक एव गौण स्वीकृति दिये रहता है। अतः किसी एक पक्ष एवं एक सत्याश के प्रति एकान्त अन्ध आग्रह न रखकर उदारतापूर्वक अन्य पक्षो एव सत्याशो को भी सोचना-समझना और अपेक्षापूर्वक उन्हें स्वीकार करना, यही है महावीर का अनेकान्त-दर्शन।

भगवान् महावीर ने कहा—किसी एक पक्ष की सत्ता स्वीकार भले ही करो, किन्तु उसके विरोधी जैसे प्रतिभासित होने वाले (सर्वथा विरोधी नही) दूसरे पक्ष की भी जो सत्ता है, उसे झुठलाओ मत। विपक्षी सत्य को भी जीने दो, चूंकि देश-काल के परिवर्तन के साथ आज का प्रच्छन्न सत्यांश कल प्रकट हो सकता है, उसकी सत्ता, उसका अस्तित्व व्यापक एवं उपादेय बन सकता है—अतः हमे दोनों सत्यों के प्रति जागरूक रहना है, व्यक्त सत्य को स्वीकार करना है, साथ ही अव्यक्त सत्य को भी। हा, देश, काल, व्यक्ति एव स्थिति के अनुसार उसकी कथंचित् गौणता, सामयिक उपेक्षा की जा सकती है, किन्तु सर्वथा निषेध नही।

भगवान् महावीर का यह दार्शनिक चिंतन, सिर्फ दर्शन और धर्म के क्षेत्र मे ही नही, किंतु सपूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला चिंतन है। इसी अनेकातदर्शन के आधार पर हम गरीबो को, दुर्बलो को और अल्पसख्यकों को न्याय दे सकते है, उनके अस्तित्व को स्वीकार कर उन्हें भी विकसित होने का अवसर दे सकते है। आज विभिन्न वर्गों मे, राष्ट्र-जाति-धर्मों मे जो विग्रह, कलह एवं सघर्ष हैं, उसका मूल कारण भी एक दूसरे के दृष्टिकोण को न समझना है, वैयक्तिक आग्रह एव हठ है। अनेकान्त ही इन सब मे समन्वय स्थापित कर सकता है। अनेकान्त संकुचित एव अनुदार दृष्टि को विशाल बनाता है, उदार बनाता है और विशालता, उदारता ही परस्पर सौहार्द, सहयोग, सद्भावना एवं समन्वय का मूल-प्राण है।

अनेकातवाद वस्तुत मानव का जीवन-धर्म है, समग्र मानव-जाति का जीवन-दर्शन है। आज के युग में इसकी और भी आवश्यकता है। समानता और सहअस्तित्व का सिद्धान्त अनेकात के बिना चल ही नही सकेगा। उदारता और सहयोग की भावना तभी बलवती होगी, जब हमारा चिंतन अनेकातवादी होगा। भगवान् महावीर के व्यापक चिंतन की यह समन्वयात्मक देन—धार्मिक और सामाजिक जगत् में, बाह्य और अन्तर्जीवन मे सदा-सर्वदा के लिए एक अद्भुत देन मानी जा सकती है। अस्तु, हम अनेकान्त को समग्र मानवता के सहज विकास की, विश्व-जनमंगल की धुरी भी कह सकते है।

जइ जिणमयं पवजह ता मा ववहारणिच्छये मुअह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण पुण तच्च॥
चरणकरणप्पहाणा ससमय परमत्थमुक्कवावारा।
चरणकरण ससार णिच्छयसुद्धं ण जाणंति॥
णिच्छय मालबता णिच्छयवो णिच्छयं अजाणंता।
णासिति चरणकरण बाहिरकरणालसा केई॥

आचार्यों ने कहा है – यदि तुम जिनमत को चाहते हो, तो व्यवहार और निश्चय मे से किसी भी नय को मत छोडो। व्यवहार के बिना तीर्थ का तथा निश्चय के बिना तत्त्व का लोप हो जाता है। यह न मानकर जो व्यक्ति केवल बाह्य-चरित्र को प्रधान मानता है, वह वास्तव मे आत्मकल्याण के व्यापार से रहित है। ऐसा व्यक्ति चरण-क्रिया को ही आत्म-सिद्धि का सार समझ लेता है। इसी प्रकार जो केवल निश्चयनय का ही अवलम्बन लेने वाला है यह निश्चय है कि वह निश्चयनय को नही समझता। ऐसा व्यक्ति स्वय बाह्य-चारित्र में आलसी हो जाता है और चारित्र-धर्म को नष्ट कर देता है।

भाव यह है कि निश्चयहीन-व्यवहार निराधार है और व्यवहारहीन-निश्चय अवास्तविक है अर्थात् सही दृष्टिकोण अपनाने के लिए व्यवहार और निश्चय—इन दोनो दृष्टियो में सन्तुलन रखना आवश्यक है।

(आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज कृत उपदेशसारसंग्रह, भाग-६, दिल्ली, वीरनि० स० २४६० से उद्धृत)

आगम-साहित्य में योग के बीज

मुनि श्री राकेश कुमार जी

योग शब्द का व्यापक प्रचलन संभवतः महर्षि पतंजलि के योगसूत्र के साथ हुआ है, किन्तु योग से जो उद्दिष्ट है, किसी न किसी रूप में उसका अस्तित्व पूर्ववर्ती साधना-क्षेत्र तथा लोक-जीवन में भी रहा है। अध्यात्म पर आधारित उस साधना के लिए तप शब्द का प्रयोग अधिक होता था। आत्मा में जो असीम शक्ति, अनुपम ओज मान्यता प्रारम्भ से रही है, उसके प्रकट हो जाने पर आत्मा में छिपी शक्ति उद्घाटित हो जाती है, साधक दुःखों से मुक्त हो जाता है, उसे यौगिक ऋद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। इन्ही कारणों से भौतिक सुविधामय जीवन को गौण मानकर तपश्चरण तथा नानाविध कष्ट का जीवन साधकों को अभिप्रेत हुआ। कष्ट सामान्य व्यवहार की भाषा है। जब कोई व्यक्ति विशेष-लक्ष्य में प्राणपण से जुट जाता है, तो उसके लिए कष्ट का भाव वहां नहीं रहता। वह एक विशेष भावनामय आनन्द में निमग्न होकर हर स्थिति में लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है।

इस तप-प्रधान साधना के लिए देहातीत स्थिति का विकास तथा बाह्य जगत् की क्रिया-प्रतिक्रिया से मुक्त होना अपेक्षित है। ऐसा होने से ही वासना का क्षय हो सकता है, भोग-लिप्सा अपगत हो सकती है। समय-समय पर बड़े-बड़े धनकुबेर तथा सत्ताधीश भी इस जीवन को सहर्ष अपनाते रहे हैं।

ऐसी घोर तपोमयी कृच्छ्साधना में अभिमत साधकों के लिए वैदिक-पौराणिक साहित्य में अवधूत शब्द का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है, अवधूत का शाब्दिक अभिप्राय 'सर्वथा कंपा देने वाला' या 'हिला देने वाला' है। अवधूत शब्द के साथ प्राचीन वाङ्मय में जो भाव जुड़ा है, उसमें भोग-वासना के प्रकम्पन की दृष्टि प्रमुख है। जिसने तपोमय जीवन द्वारा एषणाओं को झकझोर दिया, वह अवधूत है। भागवत में ऋषभदेव का एक अवधूत साधक के रूप में चित्रित किया गया है।[1]

भागवत के पांचवें स्कन्ध के सातवें, आठवें, नवें तथा दसवें अध्याय में भरत का, जो वैदिक-पौराणिक वाङ्मय में जड़भरत के नाम से प्रसिद्ध हैं, चरित्र है। भरत ऋषभदेव के पुत्र थे। ऋषभदेव उन्हें राज्य देकर स्वयं तप की साधना में समर्पित हो गये थे। भरत एक महान् शासक थे। वे प्रजा-पालन के साथ ही धर्माराधना, सदाचार व शिष्टाचार के परिशीलन में रत थे। उन्हें धर्म की अनुचिन्ता में सर्वाधिक रस था। उनकी भक्ति तथा धर्मनिष्ठा उत्तरोत्तर इतनी सम्बन्धित हो गई कि उन्होंने राज्य, सम्पत्ति, परिवारादि की ममता को त्यागकर तथा वंशक्रमागत वैभव का यथोचित रूप से पुत्रों में विभाजन कर स्वयं को ब्रह्माराधना में जोड़ दिया। आगे भरत के घोर तितिक्षामय जीवन का एक अवधूत साधक के रूप में वर्णन है। भागवत के ११वें स्कन्ध में दत्तात्रेय का एक अवधूत के रूप में विस्तृत आख्यान है।[2]

ऐसा लगता है, साधना के क्षेत्र में वह एक तप-प्रधान युग था। जैसी घोर, कृच्छ्र अवधूत-साधक की चर्या का वर्णन भागवत में हुआ है, बौद्ध साहित्य में भी उसी प्रकार के साधनामय जीवन से सम्बद्ध वर्णन प्राप्त होते हैं। मज्झिमनिकाय[3] में एक स्थान पर अपने प्रमुख शिष्य सारिपुत्र को सम्बोधित कर बुद्ध ने अपनी उस तपोमय कठोर साधना का विस्तार से वर्णन किया है, जो उन्होंने बोधि प्राप्त करने से पूर्व आचीर्ण की थी।

अवधूत साधक का जिस प्रकार का विवेचन भागवत में आया है। वह वैसा ही है, जैसा मज्झिमनिकाय में बुद्ध के तपश्चरण का वर्णन है। उसी सरणि का संस्पर्श करता हुआ वर्णन जैन-आगमों में प्राप्त होता है। जैन-आगमों में आचारांगसूत्र का विशेष महत्व है। वह

१. भागवत, ५/३/२०
२. वही, ११/७/२५-३०, ३२-३५
३. मज्झिमनिकाय, महासीहनादसुत्तन्त, १/२२

ऐतिहासिक तथा भाषाशास्त्रीय दृष्टि से भी सबसे प्राचीन माना जाता है। उसके नवम अध्ययन में भगवान् महावीर की चर्या का वर्णन है। वे जैसी कठोर साधना करते थे, वह वही कर सकता है, जो भौतिक सुख-सुविधा एवं लौकिक एषणा को मन से सर्वथा निकाल चुका हो, जिसके लिए शरीर बिलकुल गौण हो गया हो, जो आत्मभाव में ही सम्पूर्णतः अपने को खोये हुए हो। भगवान् महावीर की वह चर्या, अत्यन्त कठोरता, उपसर्ग-संकुलता व परमसहिष्णुता एक ऐसा अनिर्वचनीय रूप लिए हुए है जो अवधूत साधना को स्मरण करा देती है।

आचारांग का छठा अध्ययन धूताध्ययन है। अवधूत में से अव उपसर्ग निकाल देने पर धूत बचा रहता है। विसुद्धिमग्ग आदि बौद्ध-ग्रन्थों में भी धूतांगों के नाम से तपःसाधना का वर्णन है। भाषा-विज्ञान में प्रयत्नलाघव की एक प्रक्रिया है, जिसके अनुसार शब्द का, पद का एक अंश लुप्तकर उसे संक्षिप्त बना दिया जाता है। व्याकरण में यही प्रक्रिया एकशेषसमास के रूप में प्रचलित है, जहां दो शब्दों में से एक ही बचा रहता है, पर वह अर्थ दोनों का देता है। संभव है अवधूत शब्द के साथ भी कुछ ऐसा ही घटित हुआ हो और प्रयत्न-लाघववश संक्षिप्तीकरण की प्रक्रिया में धूत ही बचा रह गया हो।

जैन-परम्परा में तप शब्द द्वारा सूचित साधना का अपना एक इतिहास है। जैन-दर्शन-सम्मत नौ तत्त्वों में एक निर्जरा है, जिसका आशय आत्म-सपृक्त विशेष अनुष्ठान, जिससे कर्म निर्जीर्ण होते हैं, तप कहलाता है। निर्जरा-तपस्या के बारह भेद है— (१) अनशन, (२) ऊनोदरी, (३) भिक्षाचारी, (४) रसपरित्याग, (५) कायक्लेश, (६) प्रतिसंलीनता, (७) प्रायश्चित्त, (८) विनय, (९) वैयावृत्य, (१०) ध्यान, (११) व्युत्सर्ग।

इनमें आरम्भ के छः बाह्य-तप तथा अन्तिम आभ्यन्तर-तप कहलाते हैं। इन बारह भेदों में प्रतिसंलीनता, ध्यान तथा कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग का योग-साधना की दृष्टि से बहुत महत्त्व है।

महर्षि पतंजलि ने जिस अर्थ में योग शब्द का प्रयोग किया, जैन आगम-साहित्य में सीधे उस अर्थ में योग शब्द का प्रयोग नहीं रहा। वहां योग मन, वचन तथा शरीर की प्रवृत्ति के लिए प्रयुक्त रहा है। अध्यात्मपरक साधना, चैतसिक परिशुद्धि, अन्तःपरिष्कार, वृत्ति-सम्मार्जन, वृत्ति-निरोध जैसे अर्थ जैन-परम्परा में योग के साथ जुड़े, पर बहुत बाद में। हां, आगम-साहित्य में उस आत्मोन्मुख साधना के, जिसे जैन-योग के नाम से संबोधित किया गया, बीज रूप में प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है।

योग के आठ अंगों में ध्यान का बहुत बड़ा महत्त्व है। यह सातवां अंग है। एक ओर इसके पूर्ववर्ती छः अंग तथा दूसरी ओर केवल यह सातवां अंग ध्यान, यदि इन्हें तुलित किया जाय तो संभवतः ध्यान का पलड़ा भारी रहेगा। इसके बाद योग का अन्तिम आठवां अंग समाधि आता है, जिसके साथ जीवन का चरम-साध्य सध जाता है।

जैन आगम-साहित्य में ध्यान के अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—

आचारांगसूत्र के नवें अध्ययन में जहां भगवान् महावीर की चर्या का वर्णन है, वहां उनकी साधना का भी उल्लेख है। नितान्त असंग-भाव से विविध रूपों में उनके ध्यान करने के अनेक प्रसंग वहां वर्णित हैं।

एक स्थान पर लिखा है—'भगवान् प्रहर-प्रहर तक अपनी आंखें बिलकुल न टिमटिमाते हुए तिर्यक् भित्ति (तिरछी भीत) पर उन्हें केन्द्रित कर ध्यान करते थे। दीर्घकाल तक नेत्रों के निर्निमेष रहने से उनकी पुतलियां ऊपर को चढ़ जाती, उन्हें देखकर बच्चे भयभीत हो जाते, हन्त-हन्त कहकर चिल्लाने लगते और दूसरे बच्चों को बुला लाते।'[1] इस संदर्भ से प्रकट होता है कि भगवान् महावीर का यह ध्यान त्राटक-पद्धति से जुड़ा था।

एक अन्य प्रसंग में लिखा है—'भगवान् अपने विहार-क्रम के बीच यदि गृहस्थ-संकुल स्थान में होते तो भी अपना मन किसी में न लगाते हुए ध्यान करते। किसी के पूछने पर भी अभिभाषण नहीं करते। कोई उन्हें बाध्य करता तो चुपचाप दूसरे स्थान पर चले जाते, अपने ध्यान का अतिक्रमण नहीं करते।'[2]

आगे लिखा है—'भगवान् अपने साधना-काल में साढ़े-बारह वर्षों में जिन स्थानों में रहे, बड़े प्रसन्न-मन रहते थे। रात-दिन यतनाशील-स्थिर, अप्रमत्तप्रमादरहित, एकाग्र तथा समाहित-शान्त रहते हुए ध्यान में लीन रहते थे।'[3]

एक अन्य स्थान पर उल्लेख है—'जब भगवान् उपवन के अन्तर-आवास में कभी ध्यानस्थ हुए तब प्रतिदिन वहां आने वाले

---

१. 'अदु पोरिसिं तिरिय भित्तिं, चक्खुमासज्ज अंततो झाइ।
अह चक्खु-भीया सहिया, ते 'हंताहंता' बहवे कंदिंसु॥', आचारांग, ९/१/५

२. 'जे के इमे अगारत्था, मीसीभाव पहाय से झाति।
पुट्ठो वि णाभिभासिंसु, गच्छति णाइवत्तई अंजू॥', वही, ९/१/७

३. 'एतेहिं मुणी सयणेहिं, समणे आसी पतेरस वासे।
राइं दिवं पि जयमाणे, अप्पमत्ते समाहिए झाति॥', वही, ९/२/४

अधिकारियों ने उन्हें पूछा—यहां भीतर कौन है ? भगवान् ने उत्तर दिया—मैं भिक्षु हूं।'

उनके कहने पर भगवान् महावीर वहां से चले गये। श्रमण का यही उत्तम धर्म है। फिर मौन होकर ध्यान में लीन हो गए।[1]

सूत्रकृतांग में भगवान् महावीर को अनुत्तर सर्वश्रेष्ठ ध्यान के आराधक कहा गया है तथा उनके ध्यान को हंस, फेन, शंख और इन्दु के समान परमशुक्ल—अत्यन्त उज्ज्वल बतलाया है।[2]

भगवतीसूत्र का प्रसंग है। भगवान् महावीर गौतम से कहते है —'मैं छद्मस्थ अवस्था में था, तब ग्यारह वर्ष का साधु-पर्याय पालता हुआ, निरन्तर दो-दो दिन के (बेले-बेले) उपवास करता हुआ, तप व संयम से आत्मा को भावित करता हुआ, ग्रामानुग्राम विहरण करता हुआ सुंसुमार नगर पहुंचा। वहां अशोक वनखण्ड नामक उद्यान में अशोक वृक्ष के नीचे पृथ्वी पर स्थित शिलापट्ट के पास आया, वहां स्थित हुआ और तीन दिन का उपवास स्वीकार किया। दोनों पैर सहृत किये सिकोडे, आसनस्थ हुआ। भुजाओं को लम्बा किया-- फैलाया, एक पुद्गल पर दृष्टि स्थापित की, नेत्रों को अनिमेष रखा, देह को थोडा झुकाया, अंगों को —इन्द्रियों को यथ वत् आत्मकेन्द्रित रखा। एक रात्रि की महाप्रतिमा स्वीकार की। यह क्रम आगे विहार-चर्या में चालू रखा।'[3]

भगवान् के तपश्चरण का यह प्रसंग उनके ध्यान तथा मुद्रा, अवस्थिति, आसन आदि पर इंगित करता है। इसके आधार पर यह स्पष्ट है कि उनके ध्यान का अपना कोई विशेष क्रम अवश्य था, यद्यपि उसका विस्तृत वर्णन जैन-आगमों में हमें प्राप्त नहीं होता।

जैन-परम्परा की जैसी स्थिति आज है, भगवान् के समय में सम्भवत सर्वथा वैसी नहीं थी। आज अनशन, लम्बे उपवास आदि पर जितना जोर दिया जाता है, उसकी तुलना में मानसिक एकाग्रता चित्तवृत्तियों का नियन्त्रण, सम्मार्जन, ध्यान, समाधि आदि थोडे गौण हो गये हैं। परिणामत ध्यान सम्बन्धी अनेक तथ्यों तथा पद्धतियों का लोप हो गया है।

आगम-साहित्य में ध्यान आदि का कहीं संक्षेप में कहीं विस्तार से अनेक स्थानों पर विश्लेषण हुआ है। स्थानांगसूत्र में ध्यान का संक्षेप में विवेचन हुआ है। वहां आर्त्त, रौद्र, धर्म तथा शुक्ल के रूप में ध्यान के चार भेद बतलाए है। फिर उनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद, उनके लक्षण, आलम्बन तथा अनुप्रेक्षाओं की चर्चा है।[4]

इसी प्रकार औपपातिकसूत्र में भी ध्यान का वर्णन हुआ है।[5] समवायांग में नामरूप में संकेत हैं।[6]

भगवान् महावीर की साधना के सन्दर्भ में ध्यान के जो प्रसंग प्राप्त होते है, उनमें उन द्वारा अनेक आसनों में ध्यान किये जाने का उल्लेख है।

औपपातिकसूत्र में जहां भगवान् महावीर के अन्तेवासी श्रमणों के तपोमय जीवन का वर्णन है, वहां एक स्थान पर उल्लेख है — 'उन (श्रमणों) में कई अपने दोनों घुटनों को ऊंचा किए, मस्तक को नीचा किए, एक विशेष आसन में अवस्थित हो ध्यानरूप कोष्ठ में— कोठे में प्रविष्ट थे, ध्यान में संलग्न थे।'[7]

औपपातिकसूत्र के इसी प्रसंग में काय-क्लेश के विश्लेषण के अन्तर्गत आसनों की चर्चा है। दशाश्रुतस्कन्धसूत्र की सातवीं दशा में भिक्षु-प्रतिमाओं के वर्णन में विभिन्न आसनों में ध्यान करने का उल्लेख है।

आगम सबद्ध उत्तरवर्ती साहित्य में योग सम्बन्धी विषयों की चर्चा होती रही है। ओघनिर्युक्तिभाष्य में स्थान या आसन के तीन प्रकार बतलाये गये है — (१) ऊर्ध्व-स्थान, (२) निषीदन-स्थान एवं (३) शयन-स्थान।

खडे होकर किए जाने वाले स्थान-आसन उर्ध्व-स्थान कहे गये है। उनके साधारण सविचार, सन्निरुद्ध, व्युत्सर्ग, समपाद, एकपाद तथा गृध्रोड्डीन—ये सात भेद हैं।

---

१. 'आयमतरंसि को एत्थ, अहमंसिति भिक्खू आहट्टु।
अयमुत्तमे से धम्मे, तुसिणीए स कसाइए झाति॥', आचारांग, ९/२/१२

२. 'अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता अणुत्तरं झाणवरं झियाइ।
सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं, संखिंदुएगंतवदातसुक्कं॥', वही, १/६/१६

३. 'तेणं कालेणं समएणं अहं गोयमा। छउमत्थकालियाए एक्कारसवासपरियाए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे पुव्वाणुपुव्वि चरमाणे गामाणुगामं दुइज्जमाणे जेणेव सुंसुमारनगरे जेणेव असोयसंडे उज्जाणे जेणेव असोयवरपायवे पुढवी सिलावट्टाए, तेणेव उवागच्छामि, उवागच्छित्ता असोयवरपायवस्स हेट्ठा पुढवीसिला वट्टयंसि अट्ठमभत्तं पगिण्हामि, दो वि पाये सहट्टु, वग्घारिय पाणी, एगपोग्गलनिविट्ठदिट्ठी, अणिमिसणयणे, ईसिपब्भार-गएणं काएणं, अहापणिहिएहिं गतेहिं, सव्विदिएहिं गुत्तेहिं एगराइयं महापडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरामि।'

४. स्थानांगसूत्र, ४/१/६०-७२

५. औपपातिकसूत्र, ३०

६. समवायांगसूत्र, ४/२

७. 'अप्पेगइया उड्ढंजाणू अहोसिरा झाणकोट्ठोवगया संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति', औपपातिकसूत्र, ३१

इन उत्तरवर्ती उल्लेखो से प्रतीत होता है कि कभी जैन-परम्परा मे यह अभ्यासक्रम सुव्यवस्थित रूप मे विद्यमान था, पर आगे चलकर योग का यह अग अप्रचलित हो गया। फलत. आज स्थिति यह है कि ऊपर जिन आसनो की चर्चा की गई है, उनमे से कुछ को छोड़कर सबको क्रियात्मक रूप में उपस्थापित भी नही किया जा सकता।

औपपातिकसूत्र में बाह्य एव आभ्यन्तर तप का एक प्रसग है, जहां उनकी भेदोपभेद के साथ विस्तृत व्याख्या की गई है। वहां प्रायश्चित्त के दस भेद बताये गये हैं।[1] उनमे पाचवा व्युत्सर्गार्ह नामक भेद है उसका आशय कायोत्सर्ग से निष्पन्न होने वाला प्रायश्चित्त है। नदी पार करना, उच्चार-प्रतिष्ठापन मे अनिवार्य रूप में दोष होना आदि की शुद्धि हेतु यह प्रायश्चित्त है। भिन्न-भिन्न दोषों के लिए भिन्न परिणाम मे श्वासोच्छ्वासयुक्त कायोत्सर्ग का विधान है।

इस प्रसग मे सहज ही अनुमान होता है कि श्वास-प्रश्वासात्मक प्रक्रिया, जिसका प्राणायाम मे समावेश है, जैन-परम्परा मे यथा-वश्यक रूप मे प्रयुक्त होती रही है।

उपर्युक्त प्रसगों के अलावा कायोत्सर्ग, प्रतिसलीनता आदि तप मे सम्बद्ध और भी अनेक विषय है, जो औपपातिक आदि में विशेष रूप से व्याख्यात हुए हैं, जिनका जैन-योग के अध्ययन की दृष्टि से ध्यान, धारणा, प्रत्याहार आदि के सन्दर्भ मे विशेष महत्व है।

इस प्रकार आगम वाङ्मय मे विकीर्ण रूप मे जैन-योग के बीज पुष्कल मात्रा मे प्राप्य हैं, जिनके सचयन के लिए प्रचुर अध्यवसाय व गवेषणा-बुद्धि की आवश्यकता है।

ध्यान चार प्रकार का है—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान।

आर्त्तध्यान—इष्ट-वियोगज, अनिष्ट-सयोगज, निदान, वेदनाजनित—ये चार भेद **आर्त्तध्यान** के हैं।

> **प्रियभ्रंशेऽप्रियप्राप्तौ निदाने वेदनोदये।**
> **आर्त्तं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः॥** तत्त्वार्थसार, ३६

रौद्रध्यान - हिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द और विषयसंरक्षणानन्द—ये चार **रौद्रध्यान** के भेद हैं।

> **हिंसायामनृते स्तेये तथा विषयरक्षणे।**
> **रौद्रं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः॥** तत्त्वार्थसार, ३७

आर्त्तध्यान तथा **रौद्रध्यान** मे अशुभ-परिणति की ही प्रधानता है, अतः ये संसार के कारणरूप हैं। दूसरे शब्दो में अशुभोपयोग का नाम ही **आर्त्त-रौद्र-ध्यान** है।

धर्म्यध्यान—अशुभपरिणति का परित्याग करके प्राणी जब शुभ परिणति मे आता है, तब उसका सम्यग्दर्शन के साथ होने वाला शुभोपयोग ही **धर्म्यध्यान** कहलाता है। यह आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और सस्थानविचय के भेद से चार प्रकार का है।

> **आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम्।** तत्त्वार्थसूत्र

शुक्लध्यान—शुद्धोपयोगरूप ध्यान को **शुक्लध्यान** कहते हैं। **शुक्ल** का अर्थ है—स्वच्छ, श्वेत जिसमें भी प्रकार का विकार न हो अर्थात् इसमें एकमात्र वीतरागदशा का ही चिन्तन होता है। दशा से यहां पर्यायवान् द्रव्य तथा उसके गुण आदि सभी विवक्षित हैं। इसके आगमो मे चार भेद माने गए हैं—पृथक्त्ववितर्कविचार, एकत्ववितर्कविचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपत्ति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति।

(आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज कृत उपदेशसारसग्रह, भाग ५, राजस्थान, वी० नि० स० २४८५ से उद्धृत)

---

१. 'से किं तं पायच्छित्ते ? दसविहे पण्णत्ते। तजहा—(१) आलोयणारिहे, (२) पडिक्कमणारिहे, (३) तदुभयारिहे, (४) विवेगारिहे, (५) विउस्सग्गारिहे, (६) तवारिहे, (७) छेदारिहे, (८) मूलारिहे, (९) अणवट्ठप्पारिहे, (१०) पारंचियारिहे।', औपपातिकसूत्र, ३०

आचार्य कुन्दकुन्द और उनका दार्शनिक अवदान

डॉ० प्रभुदयालु अग्निहोत्री

उपनिषत्कालोत्तर दार्शनिक चिन्तको मे आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान मूर्धन्य है। वैदिक और अवैदिक दोनो दर्शन-मार्गों मे उनको श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है। जैन धार्मिक परम्परा मे वह भगवान् महावीर और गौतम के पश्चात् तृतीय स्थान पर प्रतिष्ठित है--

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमोगणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

प्राकृत पाहुडों के रचनाकार के रूप मे वह दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के सर्वाधिक सम्मानित आचार्य है। उनकी रचनाओ मे समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानी जाती हैं, यद्यपि जैनाचार-विचार के विवेचन की दृष्टि से नियमसार, रयणसार, अष्ट (दंसण, चारित्र, सुत्त, बोह, भाव, मोक्ख, लिंग, सील) पाहुड, दश (तीर्थंकर, सिद्ध, चारित्र, अनगार, आचार्य, निर्वाण, पंचपरमेष्ठि, नदीश्वर, शान्ति, श्रुत) भक्ति और बारसअणुवेक्खा का मूल्य भी कम नही है। यो परम्परा उन्हे ८४ पाहुडों का रचयिता मानती है।

आचार्य कुन्दकुन्द का मूल नाम अज्ञात है। देवसेनाचार्य के दर्शनसार से इनका दीक्षा नाम पद्मनन्दि ज्ञात होता है—

जइ पउमणंदि-णाहो सीमंधर सामि-दिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥२३॥

इनका कुन्दकुन्द नाम जन्म-ग्राम कोण्डकुण्ड (तमिलनाडु मे गुन्तकुल के पास) के नाम पर प्रसिद्ध हुआ। अन्य महान् दार्शनिको के समान इस आचार्य को जन्म देने का श्रेय भी दक्षिण भारत को प्राप्त है। भक्ति और दर्शन दोनो के आगमो और सूत्रो के निबन्धन का कार्य धुर दक्षिण मे हुआ। इनके पिता का नाम करमण्डु और माता का नाम श्रीमती बतलाया जाता है। अन्य महान् सन्तो और विद्वानो के समान कुन्दकुन्द के जीवन के साथ भी अनेक किंवदन्तियाँ जुडी हुई हैं। फिर भी इतना लगभग निर्विवाद है कि वह मूलसंघ के आदि प्रवर्तक थे जिसकी सत्ता चतुर्थ-पंचम शती ईस्वी मे प्राप्त होती है। इन्ही के ग्राम से प्रसूत मुनि परम्परा को कुन्दकुन्दान्वय के नाम से (जिसका अस्तित्व सप्तम ई० से मिलने लगता है) अभिहित किया जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतैक्य नही है। परम्परा उन्हे पहली या दूसरी ईस्वी शताब्दी मे जोडती है किन्तु उनके ग्रन्थो में प्रयुक्त भाषा एव तत्कालीन स्थिति पर उनके द्वारा की गयी टिप्पणियां एव श्वेताम्बरो पर उनके द्वारा किये हुए आक्षेपो तथा उनके द्वारा निरूपित अन्य धार्मिक एव दार्शनिक मतो को अन्य भारतीय साहित्य की पृष्ठभूमि मे देखने पर उनका समय चतुर्थ ईस्वी शताब्दी के पूर्व का नही जान पडता। वह सांख्यकारिका और प्रस्थानत्रयी के मध्यवर्ती विचारक है। समयसार की प्रथम कारिका उनसे पूर्व श्रुतकेवलियों की लम्बी श्रृंखला का आभास देती है। यह बात भी उक्त धारणा की पुष्टि करती है। चाहे वह द्वितीय शताब्दी मे रहे हो या चतुर्थ मे, इससे उनकी महत्ता में कोई अन्तर नही आता है। आद्य शंकराचार्य से तो पूर्ववर्ती वह थे ही।

कुन्दकुन्द की रचनाओ में समयसार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस पर आगे सविस्तार चर्चा की जायगी। **प्रवचनसार** मे २७५ गाथायें हैं जो ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र इन तीन श्रुतस्कन्धो मे विभाजित हैं। इसमे आत्मा के मूल गुण-ज्ञान के स्वरूप, सर्वज्ञता की सिद्धि, शुभ, अशुभ और शुद्धोपयोग तथा मोह, क्षय जैसे आत्मा से सीधे सम्बन्धित विषयो का विवेचन है। द्वितीय स्कन्ध मे ज्ञेय अर्थात् द्रव्य, गुण, पर्याय, सप्तभंगीनय, पुद्गल, निश्चय और व्यवहार आदि का निरूपण है। चारित्राधिकार मे श्रमणो की दीक्षा तथा उनकी कायिक-मानसिक साधनाओ पर प्रकाश डाला गया है। **पंचास्तिकाय** मे कुल १८१ गाथायें हैं जिनमे पांच अस्तिकायो—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश के स्वरूप की मीमांसा है। यह ग्रन्थ का प्रथम स्कन्ध है। द्वितीय स्कन्ध मे पुण्य, पाप, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा एव मोक्ष

की चर्चा है। समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय पर अमृतचन्द्र सूरि एवं जयसेन की बड़ी विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ उपलब्ध हैं। **नियमसार** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्ष का साधन बतलाते हुए उनके स्वरूप का विवेचन करता है। इसमें १८७ गाथाएँ हैं। इसकी ८१ गाथाओं में आवश्यकों के स्वरूप का विस्तार से कथन किया गया है। ये आवश्यक हैं—प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, कायोत्सर्ग, सामायिक एवं परमभक्ति। वह आवश्यक से हीन श्रमण को चारित्र-भ्रष्ट मानते है। पुराण-पुरुष यदि केवली हुए हैं तो आवश्यकों के अनुष्ठान से ही। अन्त मे मोक्ष के स्वरूप पर भी विचार किया गया है। कुन्दकुन्द योग-भक्ति को आवश्यक क्रिया का अग मानते हैं। उनके अनुसार ऋषभ आदि जिनेन्द्र योग-भक्ति के द्वारा ही निर्वाण के अधिकारी बने। इसी दृष्टि से उन्होने पृथक्-पृथक् रूप से दस भक्तियो की रचना की। ये भक्ति-रचनाएँ ७ से लेकर २७ तक गाथाओ मे उपलब्ध हैं और स्तवन-वन्दनपरक एवं भावनात्मक हैं। **सूत्रपाहुड** मे बतलाया गया है कि सूत्र को पकड कर चलने वाला ही पारमार्थ्य को प्राप्त करता है। सूत्र वे हैं जिनके अर्थ का उपदेश तीर्थंकर ने और ग्रन्थ-रचना गणधरो ने की है। सूत्रपाहुड से पता चलता है कि कुन्दकुन्द के समय में जिनागमसूत्र वर्तमान थे। इस ग्रन्थ मे उन्होने मुनि-नग्नत्व का निरूपण और स्त्रियो की प्रव्रज्या का निषेध किया है। सभव है यह तत्कालीन बौद्ध भिक्षुओ के पतन से जन्य प्रतिक्रिया का परिणाम हो जो धीरे-धीरे परिग्रही बन गये थे। इससे श्वेताम्बर और दिगम्बर प्रविभागो के न कवल अस्तित्व, अपितु उनकी परस्पर-स्पर्धा का भी पता चलता है। **चारित्रपाहुड** की ४४ गाथाओं मे ज्ञान और दर्शन के मेल से उत्पन्न सम्यक्चारित्र है। सम्यक्त्व चारित्र और सयम चारित्र के साथ, सम्यक्त्व के आठ अगों और सयम के सागार-अनगार भेदो तथा उनके धर्मों यथा— अणु-गुण और शिक्षाव्रतो, पचेन्द्रिय सवरो, पच्चीस क्रियाओ के साथ पाच व्रतो, पांच समितियो और तीन गुप्तियो का निरूपण इस पाहुड मे है। ६२ गाथाओ वाले **बोधपाहुड** मे आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, बिम्ब, मुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हत् और प्रव्रज्या इन ग्यारह के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या है। **भावपाहुड** का कलेवर कुछ बडा है। इसमे १६५ गाथाएँ हैं। इसमें चित्त-शुद्धि की महत्ता का वर्णन है। इसमे द्रव्यलिगी और भावलिंगी श्रमणों मे भेद करते हुए यह बतलाया है कि बिना परिणामो मे शुद्धि आये, राग-द्वेष आदि कषायो के छूटे और आत्म-रमण की स्थिति मे पहुचे आत्म-कल्याण सभव नही। तदर्थ लेखक ने अनेक सिद्ध और प्रसिद्ध मुनियो के उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। इस पाहुड का साहित्यिक मूल्य अन्य पाहुडो की अपेक्षा अधिक है। **लिंगपाहुड** की २२ गाथाओ मे उन प्रवृत्तियो की निन्दा की गयी है जो मुनि के पतन का कारण बनती हैं। यह पाहुड सामयिक परिस्थितियो का अच्छा चित्र भी प्रस्तुत करता है। भावनिष्ठ श्रमणो को 'पासत्थ' से भी निकृष्ट बतलाते हुए उन्हें तिर्यञ्चयोनिगामी कहा है। **शीलपाहुड** मे ४४ गाथाएँ हैं जिनमे शील को धर्मसाधना का प्रमुख अग बतलाया है। व्याकरण, छन्द, वैशेषिक, व्यवहार और न्याय-शास्त्र ये सब तभी सार्थक हैं जब उनके साथ शील भी हो। **दर्शनपाहुड** की २६ गाथाओ मे सम्यग्दर्शन को निर्वाण के लिए अनिवार्य बतलाया गया है और **मोक्षपाहुड** की १०६ गाथाओ मे मोक्ष के स्वरूप का वर्णन है। बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा—इन तीन आत्मरूपो के साथ मोक्ष के उपायो की व्याख्या इस पाहुड मे है। प्रश्न उठता है कि यदि आत्मा सारी उपाधियो से रहित शुद्ध-स्वभाव है तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र से उसका क्या सम्बन्ध ? उत्तर मे कुन्दकुन्द कहते हैं —

ववहारेणु वदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसण णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

ज्ञापक आत्मा शुद्ध है फिर भी व्यवहार-दृष्ट्या हम उसके चरित्र, दर्शन और ज्ञान का उपदेश करते हैं। शकराचार्य ने पारमार्थिकी सत्ता से पृथक् व्यावहारिकी सत्ता को स्वीकार किया है। विशुद्ध मुक्त-स्थिति का शब्दो मे वर्णन करना कठिन होता है क्योकि वह शब्दातीत स्थिति होती है। इसीलिए विश्व के प्राय सभी प्राचीन चिन्तको ने रूपकों के द्वारा इस स्थिति का चित्रण किया है। कुन्दकुन्द इसके लिये तर्क देते हैं—

जह णवि सक्कमणज्जो, अणज्जभासं विणाउ गाहेवं।
तह ववहारेण विणा परमत्थु वदेसणमसक्कं ॥८॥

जैसे—विदेशी व्यक्ति यदि हमारी भाषा को नही समझता तो हम उसे उसी की भाषा मे अपनी बात समझा देते हैं, इस तरह वह हमारी बात समझ लेता है। यही स्थिति सामान्यजनो की है जो निश्चय-नय को समझने मे अक्षम होते हैं, उनके लिए व्यवहार-नय का आश्रय लेना श्रुतकेवली की विवशता है। कुन्दकुन्द जानते थे कि सामाजिक जीवन मे व्यवहारनय को अस्वीकृत करना शक्य नही है। हर व्यक्ति की पहुंच तत्त्व की गहन पर्यायो तक सम्भव नही, कुछ स्थूल पर्यायो तक ही उसकी गति हो सकती है। भगवान् महावीर ने मोक्ष के जो चार मार्ग बतलाये थे—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—उनमे कुन्दकुन्द ने प्रथम तीन पर अधिक बल दिया। तप का अन्तर्भाव चारित्र मे हो जाता है। व्यवहारनय को स्वीकार करते हुए भी प्राय. उनकी व्याख्याएँ और स्थापनाएँ निश्चयनय पर आधारित हैं क्योकि निश्चयनय का दृष्टिकोण ही सूक्ष्म और आत्मगम्य है। इसीलिए दर्शन के क्षेत्र मे कुन्दकुन्द निश्चयनय के प्रवक्ता माने जाते हैं। उन्होने कहा ही है—

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१६॥

उनके मत में व्यवहारनय सत्यार्थ को पूर्णतया प्रकाशित नहीं कर सकता। यह काम शुद्धनय ही कर सकता है और बिना तत्त्वार्थ का आश्रय लिये जीव को सम्यग्दृष्टि की उपलब्धि संभव नहीं है—

ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥११॥

रयणसार में रत्नत्रय का विवेचन है। इसमें श्रावक और मुनि के आचार का भी वर्णन है। इसमें सम्यग्दर्शन के ७० गुणों और ४४ दोषों का भी कथन है। श्रुताभ्यास की आवश्यकता और स्वेच्छाचार का निषेध है। कुछ लोग इसके कुन्दकुन्द-कृत होने में संदेह प्रकट करते हैं। द्वादशानुप्रेक्षा की ९१ गाथाओं में अध्रुव, अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचिभाव, आस्रव, संवर, निर्जरा और धर्म —इन बारह भावनाओं की व्याख्या है।

ऊपर पाठकों की सुविधा के लिए ग्रन्थों के प्राकृत नामों का संस्कृत रूप दिया गया है। इन ग्रन्थों में सम्यक् दर्शन, शील, चारित्र आदि अर्थात् जीवन की शुद्धता, संयम एवं व्रतों के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति के उपायों पर बल है। उनमें स्थान-स्थान पर आवृत्तियाँ और पिष्टपेषण भी मिलेंगे। अनेक स्थानों में नीरसता भी उबा देने की सीमा तक है। फिर भी ग्रन्थकार की लोकोपकार और जीवनपावित्र्य की तीव्र इच्छा सर्वत्र प्रतिबिम्बित है।

कुन्दकुन्द की इस साधनग्रन्थमाला का सुमेरु है - समयसार, जो अपनी गम्भीर सूक्ष्मदृष्टि, मौलिकता एवं प्रतिपादन-शैली के लिए अजैन विद्वानों में भी बहुत समादृत है। समयसार जिसका ग्रन्थकार-प्रदत्त नाम समयपाहुड है, ४१५ गाथाओं में निबद्ध आत्मदर्शन का प्रतिपादक ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ने पाहुड शब्द का प्रयोग तत्त्व, सार के तथा समय शब्द का प्रयोग आत्मा के अर्थ में किया है और साथ ही यह भी स्वीकार किया है कि मैं जो कुछ रहा हूं उसमें मेरा कुछ नहीं, मैं तो श्रुतकेवली सिद्धों की बातों को ही दोहरा रहा हूँ—**सुयकेवली भणियं**। उन्होंने आत्मा के दो भेद किए—स्वसमय और परसमय। सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र में स्थित जीव का दूसरा नाम है—स्वसमय और जो पुद्गल से सम्बन्धित कार्यों और परिणामों से आबद्ध हो, वह परसमय कहा जाएगा—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तंहि समयं जाण।
पोग्गल कम्मुवदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥२॥

कुन्दकुन्द की यह गाथा योगदर्शन के **तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्** का स्मरण दिलाती है। आत्मा वास्तविक रूप में सारी उपाधियों से मुक्त शुद्धरूप है। यही उसका स्वरूप है। जैन और वेदान्ती दोनों ही आत्मा के इस रूप को अनादि काल से स्वीकार करते है, जिसका कारण दोनों को ज्ञात नहीं है, आत्मा को अविद्या या उपाधि से आवृत मानते हैं। इस अविद्या से, जो अनिर्वचनीय कारणों से जीव के साथ संपृक्त हो गयी है, मुक्ति पाना ही दोनों की दृष्टि में परम पुरुषार्थ है। शुद्धनय के अनुसार आत्मा सकल बन्धनों से हीन कार्मिक और अकार्मिक द्रव्यों से कमलपत्रवत् अस्पृष्ट और इस प्रकार जन्म-मृत्यु से रहित तथा विभिन्न गतियों और स्थितियों में भ्रमण करता हुआ भी 'स्वभावमात्र' रहता है, जैसे—सुवर्ण या मृत्तिका कटक-कुण्डल या घटपटादि आकार ग्रहण करते हुए भी सुवर्ण और मृत्तिका ही रहते है। विविध तरंगों से आन्दोलित दिखने पर भी जैसे समुद्र नियत (निश्चल) रहता है, ऐसे ही आत्मा भी नियत अर्थात् अपरिवर्तित और अक्षुब्ध रहता है। ज्ञान, दर्शन आदि मानसिक बौद्धिक विशेषताएं उसमें वैशिष्ट्य उत्पन्न नहीं करती। वह अविशेषक है—घट-बढ़-रहित। वह इच्छा, द्वेष, राग, विराग आदि प्रवृत्तियों से सर्वथा मुक्त-असंयुक्त है। कुन्दकुन्द का कथन है कि इस रूप में आत्मा को पहचानना ही शुद्धनय है -

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णय णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥

गीता ने इसे ही **आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठम्** कहा है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति का ज्ञान, दर्शन और चारित्र उस व्यक्ति से पृथक् अपना अस्तित्व नहीं रखता, ऐसे ही ये तीनों जीव से पृथक् अपना अस्तित्व नहीं रखते। वे जीव-रूप ही है। निश्चय नय में इस रत्नत्रयी का जीव से तादात्म्य प्रतिपादित किया जाता है, जबकि व्यवहार नय में ये साध्य रूप रहते हैं। कुन्दकुन्द का कथन है कि जैसे राजानुग्रह चाहने वाला व्यक्ति पहले छत्र, चमर तथा परिचरों को देखकर राजा की पहचान करता है और फिर उनकी दया बुद्धि पर विश्वास और आस्था। पश्चात् वह पूरे मनोयोग से उसकी सुश्रूषा करता है, वैसे ही मोक्ष की कामना करने वाले को जीव-राजा की ठीक जानकारी प्राप्त करनी चाहिए (णादव्वो), फिर उस पर श्रद्धा करनी चाहिए (सद्दहेदव्वो) और तब उसकी परिचर्या करनी चाहिए (अणुचरिदव्वो)—(गाथा १७-१८)। यह कथन उपनिषद् के इस वाक्य का स्मरण दिलाता है—**आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।**

परम्परा के अनुसार कुन्दकुन्द ने भी जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—इन नौ द्रव्यों का विवेचन किया है (गा० १३) और इनके ठीक-ठीक ज्ञान को सम्यक्त्व कहा है। इनमें जीव और अजीव ही प्रमुख हैं तथा शेष सात इन्हीं के परस्पर संसर्ग का परिणाम। कुन्दकुन्द देह और जीव के पार्थक्य के अवगम पर बार-बार जोर देते है। वह कहते हैं कि व्यवहारनय में जीव और देह को एक मान लिया जाता है किन्तु वस्तुतः वे दोनों कदापि एक नहीं हो सकते। मुनि लोग भी जीव से सर्वथा भिन्न पुद्गलमय देह की स्तुति कर

ऐसा मान लेते है कि हमने भगवान् केवली का स्तवन-वन्दन कर लिया। किन्तु जिस प्रकार नगर का वर्णन कर देने से राजा का वर्णन नही हो जाता, वैसे ही देह के गुणो की स्तुति कर देने से केवली के गुणो की स्तुति नही हो जाती—

इणमण्ण जीवादो देहं पोग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णवि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥२८॥
णयरम्भि वण्णिदे ज ह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देह गुणो थुव्वंते ण केवलि गुणा थुदा होंति ॥३०॥

जो इन्द्रियो को जीतकर आत्मा (स्वयम्) को ज्ञान-स्वभाव मानता है, वह जितेन्द्रिय कहलाता है। इसी प्रकार क्षीणमोह, जितमोह व्यक्ति आत्मा से भिन्न सारे भावो का प्रत्याख्यान करता चलता है। ज्ञानी जन आत्म-भिन्न सारे भावों का इसी प्रकार परित्याग कर देता है जैसे कोई पुरुष परद्रव्य का परित्याग करता है। तब उसकी यह भावना दृढ़ हो जाती है कि मैं एक, शुद्ध, दर्शन और ज्ञान स्वरूप और सदा अरूपी हू। अपने अतिरिक्त परमाणुमात्र भी अन्य कुछ मेरा नही है -

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाण मइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं वि ॥३८॥

कुछ लोग राग, द्वेष आदि (अज्झवसाण), कुछ इच्छादि के तीव्र, मन्द आदि अनुभाग को, कुछ नोकर्म (अकार्मिक पुद्गल) को, कुछ जीव और कर्म दोनो के युग्म को जीव बतलाते हैं। वस्तुत ये सब और अन्य अष्टविध कर्म पुद्गलमय है जो पच्यमान होकर दु ख के जनक होते हैं। जैसे सेना के प्रयाण करने पर लोग बोलते हैं—देखो ! राजा जा रहा है। जबकि सारी सेना राजा नही होती, राजा केवल एक होता है ऐसे ही अध्यवसानादि अन्य भावो (राग, द्वेष, इच्छा, प्रयत्न आदि) को देखकर लोग उन्हे ही जीव मान बैठते है। व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से ऐसे प्रयोग ठीक हो सकते है किन्तु वे परमार्थ-सत्य नही होते। वस्तुत जीव का न कोई वर्ण है, न गन्ध, न रस, न स्पर्श और न राग, द्वेष, मोह, कर्म, प्रत्यय, वर्ग, वर्गणा या स्पर्धक (अणु, अणुक्रिया और अणुसघात) ही। योग, बन्ध, उदय, मार्गणा, स्थिति, सक्लेश, विशुद्धि, सयम, लब्धि, जैविक स्थानो एव गुण स्थानो से पृथक् जीव अरस, अरूप, अगन्ध, अव्यक्त, अशब्द, अनुमानागम्य, अनिर्दिष्ट सस्थान (किसी विशेष शरीराकार से मुक्त) और केवल चेतनागुणमय है—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणा गुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठं संठाणं ॥

उपर्युक्त नकारात्मक विशेषणो से कुन्दकुन्द ने अपने समय मे प्रचलित विभिन्न दार्शनिक मान्यताओ का भी निराकरण किया है। वह राग-द्वेषादि प्रवृत्तियो के साथ जीव का सम्बन्ध क्षीरोदकवत मानते है। क्षीर मे मिले जल को भी लोग भ्रमवश क्षीर समझ लेते है, क्योकि वह क्षीर ही दिखता है। किसी घर मे डाका पडा सुनकर लोग कह उठते हैं कि अमुक घर लुट गया, जबकि परमार्थत घर नही, उसका मालिक लूटा गया होता है। व्यवहार मे ऐसे प्रयोग उपचार (लक्षणा) जन्य होते है। जीव के विषय मे भी ऐसा ही होता है यद्यपि जीव इन सबसे अलग उपयोगगुणाधिक्यवान् (दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय) है—

एदेहिय सम्बन्धो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
णय हुंति तस्स ताणि दु उवओग गुणाधियो जम्हा ॥५७ व ५८॥

यहा तक कुन्दकुन्द और शकर के मार्ग मे अन्तर नही है। प्राणी (जीव) एक, दो, तीन, चार और पाच इन्द्रियों वाले होते हैं। इनमे कुछ सूक्ष्म, कुछ बेर के आकार के, कुछ कम विकसित और कुछ पूर्ण विकसित (अपर्याप्त-पर्याप्त) होते है। इनके देह को, जो कर्म का परिणाम होता है, व्यवहार मे जीव कह दिया जाता है। जीव इनसे भिन्न है। उपयोग या शुद्ध चेतन जीव अनादिकाल से मोह (अविद्या) मे पडा हुआ तीन परिणामो (विकारो) को भोग रहा है। ये है मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिभाव (८९)। आत्मा जिस-जिस भाव या परिणाम को उत्पन्न करता है, उसका वह कर्ता होता है। उसके कारण पुद्गल द्रव्य स्वय ही उसमे कर्म की उत्पत्ति करता है जिससे जीव कर्म से सपृक्त बनता है—

जं कुणदि भावामावा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सय पोग्गल दव्व ॥ ९१॥

वस्तुत वह ज्ञानमय जीव कर्मों का करने वाला नही होता—

सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि ॥९३॥

वह घट, पट आदि समस्त द्रव्यों का उत्पादक है ही नही। ये सारे द्रव्य योग और उपयोग (जीव से सम्बद्ध शारीरिक हाथ-पाव आदि और बौद्धिक क्रियाओ) के सयोग से उत्पन्न होते है। अत योग और उपयोग इन सबके निमित्त-कर्ता है। जीव तो निमित्त-कर्ता भी नही है। व्यवहार मे जीव और उससे सबद्ध शरीरादि मे भेद न करके लोग जीव को निमित्त-कर्ता कह देते हैं—

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥१०५॥

जोधेहि कदे जुद्धे राएण कदंति जंपदे लोगो।
ववहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
जम्हा ते अचेदणा तेण ते तं चेदयंति ॥११०॥

जीवोत्ति करेदि जदं णेव पदं णेव से सये पच्चे।
जोगुण अोगा उप्पादगा य सो तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥

जैसे सेनाओं के लड़ने पर कह दिया जाता है कि राजा लड़ रहा है, वैसे ही जीव के पृष्ठभूमि मे रहने पर उसे हेतुभूत समझकर ज्ञानावरणीय आदि सारे कार्मिक-द्रव्य उपचार (लक्षणा) वशात् जीवकृत कह दिये जाते हैं (१०५-१०६)। वस्तुतः गुणसंज्ञक प्रत्यय इन सारे कर्मों की सृष्टि करते हैं। इसलिये जीव अकर्त्ता और गुण कर्त्ता ही है। देखिये-—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ गीता

तथा—

त्रिगुणमविवेकि विषय सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ सांख्यकारिका, ११

साख्य भी त्रिगुण को आत्मा का धर्म स्वीकार नही करता, यद्यपि नैयायिक ऐसा मानते है। वह गुणो को सृष्टि का कारण मानता है, जीव या पुरुष को नही।

कुन्दकुन्द के अनुसार पुद्गल-द्रव्य स्वय ही कर्मभाव मे परिणत होता है। तब प्रश्न उठता है कि यदि जीव स्वय कार्मिक बन्ध मे पडने या रागेच्छादि से सपृक्त होने मे अक्षम हो तो उसकी स्थिति साख्य के पुरुष के समान साक्षीमात्र की रह जायगी और ससार-प्रवाह के लिए अवकाश ही न रहेगा और यदि द्रव्य मे जीव को कार्मिक बन्ध मे लाने की क्षमता स्वीकार कर ली जाय तो प्रश्न उठेगा कि अचेतन द्रव्य अपने से भिन्नधर्मा चेतन-जीव मे किस प्रकार विकार उत्पन्न कर सकता है। इसलिये कुन्दकुन्द स्वीकार करते है कि निमित्त रूप मे क्रियाशील पुद्गल जीव मे रागादि उत्पन्न कर सकता है और जीव मे उन विकारो से प्रभावित होने की सभावना रहती है। कहा है—

कोहु वजुत्तो कोहमाणुवजुत्तो य माणमे वादा।
माउवजुत्तो मायालोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥१२५॥
ज कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ॥१२६॥

साथ ही उन्होने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि—**जीवे कम्मंबद्धं पुट्ठंचेदि ववहारणयभणिद**। पाप और पुण्य की चर्चा करते हुए वह कहते हैं कि कर्म चाहे शुभ हो या अशुभ- -अन्तत अर्गला ही हैं और अर्गला चाहे सोने की हो या लोहे की, बाधती ही है—

सोवण्णियपि णियलं बंधदि कालायसं च जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुह वा कद कम्मं ॥१४६॥

आसक्ति-युक्त कर्म बन्धन मे डालता है और विराग मुक्ति की ओर ले जाता है। इसलिए जिन का उपदेश है कि कर्म मे अनुरक्त मत बनो—

रत्तो बंधदिकम्मं मुंचदि जीवोविरागसंपण्णो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मारज्ज ॥१५०॥

जिस प्रकार पककर गिर जाने पर फिर वृन्त उस फल को नही बाध सकता ऐसे ही जीव के कर्मभाव के परिपक्व होकर गिर जाने पर वह फिर जीव को नही बाध सकता (१६८)। यो भी रागादि से युक्त ही भाव बन्धन का कारण होता है। रागादि से प्रविमुक्त नही (१६७)। अज्ञान के कारण रागादि भाव होते हैं जिनमे कार्मिक प्रवाह चलता है किन्तु अज्ञान के हटते ही जीव अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है और तब नवीन कर्मबन्ध को अवकाश नही रह जाता। प्राचीन कर्म पृथिवी के पिण्ड के समान निष्क्रिय भाव से कर्म-शरीर से प्रतिबद्ध बने रह जाते हैं (१६६)। उपनिषद् ने भी इसीलिये कहा है—**तस्य तावदेवचिरं यावन्नविजानाति**। कुन्दकुन्द का भी कथन है कि सम्यग्दृष्टि वाले जीव के लिये कोई कर्म बन्धक नहीं होता क्योकि आस्रव-भाव के न रहने पर कोई प्रत्यय बन्धनकारी नही होता—

आसवभावाभावेणपच्चया बंधगाभणिदा ॥१७६॥

ज्ञान और दर्शन आत्मा के नित्य गुण है और क्रोध, राग आदि का उसमे आकस्मिक सम्बन्ध है। ज्ञानादि आत्मा मे स्थित रहते हैं, अतः आत्मा ज्ञानादिमय है। क्रोधादि के आत्मधर्म न होने से क्रोध क्रोध मे, राग राग मे, इच्छा इच्छा मे लग्न होते है, उपयोग (ज्ञान, दर्शन आदि) से नही। कर्म और नोकर्म भी ज्ञानमय आत्मा से सबद्ध नही हैं (१८१-२)। जैसे सुवर्ण बहुत अधिक तपाये जाने पर भी सुवर्ण-भाव को नही छोडता ऐसे ही ज्ञानी कर्मसंघात से तप्त होकर भी ज्ञानित्व को नही छोडता। केवल अज्ञानी ही अपने स्वभाव को न जानने के कारण स्वय को अज्ञानान्धकार से आच्छादित मानता है (१८४-५)। जो दर्शन-ज्ञानमय जीव अन्यत्र आसक्त न होकर अपना ही ध्यान करता है वह स्वयं को अविलम्ब कर्म से निर्मुक्त पाता है (१८६)। जैसे विष-विद्या की जानकारी रखने वाला भिषक् विष खा लेने पर भी नही मरता, ऐसे ही कर्मफलोदय होने पर भी ज्ञानी उनका उपभोग तो करता है, किन्तु उनसे बद्ध नही होता। उसके लिए कर्मविपाक का दश निर्वीर्य सर्प के दंश के समान होता है (१६५)। इसलिए अपने ही शुद्ध ज्ञानमय रूप मे रत रहो। इसी मे सन्तोष-लाभ करो। विषयो मे अनासक्त

रहकर इसी से तृप्ति पाओ। सर्वोत्तम सुख का प्रकार यही है—

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं॥

ऐसा ज्ञानवान् जीव सारे द्रव्यो और कर्मों के मध्य रहता हुआ भी अनासक्त भाव के कारण कर्म मे लिप्त नही होता, जैसे कीचड में पडकर भी सुवर्ण उसमे नही सनता जबकि लोहे के समान अज्ञानी उसमे फसकर जंग खा जाता है। जैसे— जीवित, अजीवित और विविध प्रकार की मिश्र वस्तुओं को खाकर और पचाकर भी शख-कीट का रग सफेद ही रहता है, काला नही पडता, ऐसे ही ज्ञानी सचित्त (जीवित), अचित्त और मिश्र द्रव्यो का उपभोग करके भी अपना-ज्ञानस्वरूप नही छोडता (२२०-२१)। सम्यग्दृष्टि जीव विविध विचारो, वाणी और कर्मों मे प्रवृत्त होकर भी कर्मबन्ध मे नही पडता क्योकि वह इन सबको अनासक्त भाव से करता है, जैसे —कोई पुरुष शरीर मे तेल का अभ्यजन करके यदि धूल-भरे स्थान मे भी व्यायाम करे तो उस पर धूल नही चढती (२४२-४६)। जो यह समझता है कि मैं मारता हू या किसी के द्वारा मारा जाऊंगा, वह मूढ है, अज्ञानी है—

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो॥२४७॥

देखिये गीता—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

आचार्य कुन्दकुन्द ने उपर्युक्त सत्य को विविध सरल व्यावहारिक उदाहरणो के द्वारा समझाया है और वह भी बहुत विस्तार के साथ। उन्होने उन सारे खतरो और जोखिमो के प्रति साधक को सावधान भी किया है जिनमे सामान्यतः जीव पड जाता है। वह कहते हैं—

सत्थं णाणं ण हवइ जम्हा सत्थं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति॥३९०॥

शास्त्र ज्ञान का पर्याय नही है क्योकि शास्त्र स्वय कुछ नही जानता। इसीलिए जिन बतलाते है कि शास्त्र भिन्न है और ज्ञान भिन्न, किन्तु ज्ञान और ज्ञाता दोनो परस्पर अभिन्न हैं— **णाणं च जायणादो अव्वदिरित्तंमुणेयव्वं** ॥४०३॥ उन्होने बाहरी दिखावो और चिह्नो मे न फसने का परामर्श दिया है। सभवत उनके समय मे भी आज के समान कुछ धर्मध्वजी लोग वेष और लिगो के आधार पर लोगों को बरगलाते रहे होंगे। वे कहते हैं—

पासंडियलिंगाणि व गिहि लिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घित्तुं वदन्ति मूढालिंगमिणं मोक्ख मग्गोत्ति॥४०८॥
णवि एस मोक्खमग्गो पासंडी गिहमयाणि लिंगाणि।
दंसण--णाण—चरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति॥४१०॥

ये बाहरी चिह्न (तिलक, छाप, माला, काषायवस्त्र, श्वेतवस्त्र या दिगम्बरत्व) मोक्ष का मार्ग नही है। मोक्ष का साधन है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् आचरण और अन्त मे वह यह कहकर ग्रन्थ की समाप्ति करते हैं—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु॥४१२॥

स्वय को मोक्ष-मार्ग मे प्रतिष्ठित करो, उसी का, केवल उसी का ध्यान करो। मोक्षमार्ग में ही विहरण करो, अन्य द्रव्यो मे विहार मत करो।

इस प्रकार समयसार मे कुन्दकुन्द का प्रमुख प्रतिपाद्य है आत्मा और उसका ज्ञान अर्थात् मोक्ष। उमास्वाति के तत्वार्थसूत्र का पहला सूत्र भी यही है -- **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।** इन्ही तीन का नाम रत्नत्रय है जो बौद्धो के रत्नत्रय (बुद्ध, धम्म और संघ) से सर्वथा भिन्न है। उमास्वाति ने **तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्** अर्थात् तत्त्वार्थ पर आस्था को सम्यग्दर्शन कहा है। तत्त्वार्थ या वस्तु-सत्य सात हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष। जीव चेतन और अजीव जड पदार्थ है। जीव मे कर्म-प्रसृति का समिश्रण आस्रव है। बन्ध कार्मिक द्रव्य के सपर्क के कारण उत्पन्न अज्ञान, सवर कर्म प्रवाह की निरोधक क्रिया, निर्जरा कर्मप्रवाह और परिणामों की नाशक और मोक्ष कार्मिक उपाधियो से सर्वथा मुक्ति का नाम है। तत्त्व या सत् पदार्थ की परिभाषा जैन दर्शन मे अन्य दर्शनो से कुछ भिन्न है। जैन विचारक स्थायी, अनश्वर या ध्रुव पदार्थ को नही, **उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्** यह सत् की परिभाषा मानते हैं। रूपाकार-परिवर्तन-सह होकर भी जो ध्रुव हो, वह सत् है। यह वेदान्तियो के अपरिवर्तित्ववत् सत् और बौद्धो के क्षणिकत्व सत् से अधिक वैज्ञानिक है। परिवर्तनशीलता के रहते हुए भी ध्रौव्य की सत्सम्बन्धी कल्पना ने द्रव्य के प्रति भी नयी दृष्टि दी है। जैनो के अनुसार

गुणपर्ययवत् द्रव्यम् यह द्रव्य की परिभाषा है। जैनदर्शन के अनुसार गुण द्रव्य से और द्रव्य गुण से पृथक् नहीं रहता। सुवर्ण का पीत वर्ण, उसकी तेजस्विता तथा भूषणादि के रूप में उसके विविध आकार, आकारों में परिवर्तन ये सब एक द्रव्य के ही रूप हैं। इसलिए सत् जगत् में द्रव्य और गुण पर्यायों की पृथक् सत्ता सम्भव नहीं है। इसलिए जैनदर्शन निर्गुण द्रव्य का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता और न द्रव्य एवं गुण को संयुक्त करने वाले किसी तीसरे—पदार्थ समवाय को ही मानता है। यहां तक कि वह अन्य दर्शनों के समान यह भी नहीं मानता कि चेतना और आत्मद्रव्य दो पृथक् तत्त्व हैं जो किसी बाह्यपरिस्थितिजन्य प्रभाव से संयुक्त हो जाते हैं। जैन चिन्तन में आत्मा तक अपने चेतन तत्त्व को स्वयं से पृथक् नहीं कर सकता। सत् और द्रव्य सम्बन्धी मान्यता को समझ लेने के बाद जैन दर्शन के अस्ति-नास्ति-वाद को भी सरलता से समझा जा सकता है। यद्यपि यह बात देखने में परस्पर-विरोधी प्रतीत होती है तो भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है। मूलतत्त्व स्थिर रहता है किन्तु उसके रूपाकार बदलते रहते हैं। दृष्टि का यह अन्तर 'नय' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। कुन्दकुन्द ने इसी के (व्यवहार और निश्चय नय) आधार पर आत्मतत्त्व की व्याख्या की है। द्रव्यार्थिक और पारमार्थिक नय के बिना वस्तु का स्वरूप पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। जैन दर्शन प्रत्येक सत् पदार्थ की व्याख्या द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन दशाओं को दृष्टि में रखकर करता है। शंकर ने इस बात की सूक्ष्मता की ओर ध्यान न देकर इसे विक्षिप्त-प्रलाप मात्र कहकर उपेक्षित कर दिया है।

कुन्दकुन्द का जीव या आत्मा सांख्य के पुरुष से यद्यपि एकाकार लगता है तो भी दोनों में अन्तर है। सांख्य के अनुसार जीव न कर्त्ता है, न भोक्ता। वह न बद्ध होता है, न मुक्त, बद्ध और मुक्त तो प्रकृति होती है। सांख्यकारिका कहती है -

> **तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।**
> **संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥६२॥**

तब जो सांख्य कहता है कि —

> **तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।**
> **लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन॥५५॥**

जब तक लिंग (प्रकृति) की विनिवृत्ति नहीं होती तब तक चेतन पुरुष जरा-मरण के दुःख को प्राप्त होता रहता है। यह दुःख स्वाभाविक है। तब प्रश्न उठता है कि प्रकृति के कार्य का परिणाम पुरुष को क्यों भोगना पड़ता है? भोक्ता उसे होना चाहिए जो कर्त्ता हो। इसी प्रकार कुन्दकुन्द मीमांसकों और वैशेषिकों के इस मत से भी सहमत नहीं है कि ज्ञान आत्मा का गुण है और वह उससे पृथक् है तथा दोनों का संयोग बाह्य परिस्थितियों के द्वारा होता है। कुन्दकुन्द के अनुसार गुण और द्रव्य की पृथक् सत्ता सम्भव नहीं। ज्ञान के विषय में भी जैन दर्शन अन्यों से थोड़ा भिन्न है। वह इन्द्रियों द्वारा गृहीत ज्ञान को, जिसे अन्य दर्शन प्रत्यक्ष कहते हैं, परोक्ष की संज्ञा देता है क्योंकि वह उसे सीधे नहीं, अपितु पुद्गलरूप इन्द्रियों और परिवेश से प्राप्त होता है। बिना इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा को सीधा प्राप्त होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। फिर भी जैन दर्शन अवधि-ज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान, इन दो प्रकार के अतीन्द्रिय प्रत्यक्षों को मान्यता देता है। अतः जैन मत में आत्मज्ञान, कर्मबन्ध-मुक्ति ही प्रत्यक्ष (लोकोत्तर) ज्ञान है। इसी प्रकार जैन ईश्वरीय सृष्टि में विश्वास नहीं करते। वस्तुतः मीमांसा को छोड़कर अन्य किसी प्राचीन दर्शन ने सृष्टि-रचना के सिद्धान्त को मान्यता दी भी नहीं थी। इस बात में जैन तथा अन्य प्राचीन दार्शनिक एकमत प्रतीत होते हैं कि जीव और अजीव ये दो असृष्ट, नित्य और अविनाशी हैं। कुन्दकुन्द बार-बार इसका समर्थन करते हैं।

कुन्दकुन्द और शंकर इस बात में परस्पर सहमत हैं कि आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्व दोनों सर्वथा पृथक् हैं। इन दोनों का पृथक् अस्तित्व है। इसमें कहीं कोई साम्य नहीं, क्योंकि इनमें एक चेतन है और दूसरा अचेतन। आत्म-जिज्ञासा के प्रसंग में दोनों निश्चयनय और व्यवहारनय (पारमार्थिक और व्यावहारिक पक्ष) को स्वीकार करते हैं। दोनों ही संसार-प्रवाह का कारण अविद्या को मानते हैं जो अनादि है। इसी के कारण आत्मा स्वयं को भूलकर नश्वर जगत् के साथ सबद्ध मान लेता है। स्वरूप का ज्ञान होने पर जीव स्वयं को सारे भेदभावों से मुक्त शुद्ध ज्ञानस्वरूप के रूप में पहचान लेता है और कर्मबन्ध से मुक्त हो जाता है। शंकर और कुन्दकुन्द दोनों उपाधि विरहित आत्मा को परमात्मा कहते हैं। कुन्दकुन्द अन्य भारतीय धर्मों के समान आत्मा से पृथक् परमात्मा की सत्ता नहीं मानते। उनके अनुसार मुक्त आत्मा ही 'परमात्मा' है। शंकर के मत में भी, आत्मा और परमात्मा (ब्रह्म) के एकत्व का नाम ही अद्वैतावस्था है। दोनों के मत में अध्यास या मिथ्यारूप मूलभ्रान्ति ही संसार का कारण है। दोनों के अनुसार आत्मा की विभिन्न स्थितियों (दुःख-सुख, जरा-मरण एवं पुनर्भव) के लिए उसके कर्म ही उत्तरदायी हैं। शंकर और कुन्दकुन्द में अन्तर इतना है कि शंकर शरीर (आत्मा से भिन्न समग्र विश्व) को मिथ्या मानते हैं, किन्तु कुन्दकुन्द नहीं। कुन्दकुन्द अनात्म के प्रति आत्मदृष्टि को ही मिथ्या कहते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द भारत के मूर्धन्य दार्शनिक चिन्तकों में हैं। उनका अवदान गुणवत्ता और परिमाण दोनों की दृष्टि से ही विपुल है।

भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में जैन महाकाव्यों द्वारा विवेचित मध्यकालीन जैनेतर दार्शनिक वाद

डॉ० मोहनचन्द

वेद मूलत दार्शनिक ग्रन्थ नही है परन्तु भारतीय दर्शन की मूल समस्या —जगत, उसके निर्माता एव उसके कार्य-कारण की खोज — का प्रारम्भिक इतिहास सर्वप्रथम वेद मे ही उपलब्ध होता है। वैदिक मन्त्र-द्रष्टा अग्नि-साधना तथा देवोपासना की धार्मिक गतिविधियो मे केन्द्रित रहता हुआ भी दार्शनिक दृष्टि से जगत् एव उसके निर्माता की खोज करने के प्रति विशेष सावधान है। वह नाना प्रकार की आलकारिक कल्पनाओ द्वारा सृष्टि के रहस्य तक पहुचना चाहता है। वह पूछता है कि भला वह कौन सा वृक्ष होगा जिससे पृथ्वी और आकाश बने ?[1] यज्ञानुष्ठान करते हुए भी वह इस जिज्ञासा को नही छोड पाता है कि जिससे वह जान सके कि घृत, समिधा आदि हवन-सामग्री उसे किस मूल स्रोत से प्राप्त हुई होगी।[2] अग्नि, इन्द्र, सोम, वरुण, त्वष्टा आदि जिस किसी देव की स्तुति करने आदि का उसे अवसर मिला है, वह सृष्टि-निर्माता के रूप मे ही उनके महत्त्व को उभारना चाहता है।[3] परन्तु वैदिक चिन्तक अभी भी सृष्टि के रहस्य को नही समझ पाया। अन्ततोगत्वा वैदिक चिन्तक को एक शुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण द्वारा सृष्टि के मूल की खोज करनी पडी। सर्वप्रथम उसे ऐसा आभास हुआ कि सृष्टि से पूर्व न तो सत् था और न ही असत्।[4] फिर उसने पाया कि कुछ भौतिक तत्त्व सृष्टि से पूर्व भी रहे थे।[5] इस अनुसधान की प्रक्रिया मे उसे 'एक' ऐसा तत्त्व भी मिल गया जो अव्यक्त रूप से चेतन था परन्तु 'तपस्' की सहायता से सृष्टि की रचना कर सकता था।[6] वैदिक चिन्तक की इस दार्शनिक उपलब्धि ने उसे और आगे सोचने के लिए विवश किया तथा 'हिरण्यगर्भ' के रूप मे सृष्टि-निर्माता का एक दूसरा सूत्र भी उसके हाथ लग गया।[7] उसे अब यह भी अहसास हो चुका था कि जिन नाना देव-शक्तियो की विश्व-निर्माता के रूप मे वह पहले आराधना करता आया है, वह व्यर्थ था। हिरण्यगर्भ के रूप मे उसे एक ही शक्ति मिल चुकी थी जो उसका सर्वशक्तिमान आराध्य देव भी था और साथ ही वास्तविक सृष्टि का निर्माता भी।[8] दार्शनिक चिन्तन की उडान अब अपनी दिशा ले चुकी थी तथा इसी प्रक्रिया मे उसे एक 'सहस्रशीर्ष' पुरुष का दर्शन हुआ,[9] जो उसकी आकृति से भी मिलता-जुलता था, किन्तु वह अत्यन्त विराट् रूप वाला था, जिसके हजार सिर तथा हजार हाथ-पाव भी थे। वैदिक चिन्तक अब पूरी तरह से विश्वस्त हो चुका था कि ऐसा विराट् पुरुष ही इतने बडे जगत् का निर्माण कर सकता है।[10]

---

१. "कि स्विद्वन क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षु ।" ऋग्वेद, १०/३१/७
२. द्रष्टव्य— देवराज : पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, लखनऊ, १९५१, पृ० ४६
३. द्रष्टव्य—उमेश मिश्र : भारतीय दर्शन, लखनऊ, (चतुर्थ सस्करण), १९७५, पृ० ३५
४. 'नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम् ।" ऋग्वेद, १०/१२९/१
५. "तम आसीत् तमसा गूलहमग्रेऽप्रकेत सलिल सर्वमा इदम् ।", ऋग्वेद, १०,१२९/३
६. "आनीदवात स्वधया तदेक ।"·· "तुच्छ्येनाभ्वपिहित यदासीत् ।"
"तपस्तन्महिनाजायतैकम् ।" ऋग्वेद, १०,१२९/२-३
७. द्रष्टव्य— ऋग्वेदोक्त हिरण्यगर्भसूक्त, १०/१२१
८. 'ततो देवाना समवर्ततासुरेक कस्मै देवाय हविषा विधेम ।" ऋग्वेद, १०/१२१/७
९. द्रष्टव्य, ऋग्वेदोक्त पुरुषसूक्त, १०/९०
१०. "एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाश्च पूरुष: ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि ।।" ऋग्वेद, १०/९०/३

औपनिषदिक दार्शनिक चिन्तन

वैदिक मंत्र-द्रष्टा की उपर्युक्त दार्शनिक खोज के साथ ही भारतीय दर्शन का युक्तिसगत चिन्तन प्रारम्भ होता है। उपनिषद्-काल के चिन्तकों ने वैदिक पुरुषवाद का ही विकास करते हुए ब्रह्मवाद[1], आत्मवाद[2] तथा जगत्-सम्बन्धी मायावाद[3] आदि मान्यताओ को दार्शनिक शैली में प्रस्तुत किया। परन्तु वैदिक एव औपनिषदिक चिन्तन-परम्परा के अतिरिक्त कुछ प्रतिद्वन्द्वी अन्य दार्शनिको ने भी जगत् तथा उसके मूल कारण के सम्बन्ध में अपनी-अपनी मान्यताए स्थापित कर रखी थी। औपनिषदिक विचारकों के साथ सर्वप्रथम इनका टकराव हुआ, जिसकी पुष्टि 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' से होती है। यह उपनिषद् यह उल्लेख करता है कि वैदिक परम्परा के ब्रह्मवाद के सन्दर्भ में कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद आदि अन्य दार्शनिक मान्यताए भी उस समय प्रचलित हो चुकी थी जो क्रमशः काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत आदि को सृष्टि का मूल कारण स्वीकार करती थी।[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषद्-काल मे ही भारतीय दर्शन की मुख्य चिन्तन-समस्या यह रही थी कि सृष्टि के निर्माण मे किसी व्यक्त या अव्यक्त चेतन की सत्ता को स्वीकार किया जाए अथवा फिर काल, स्वभाव अथवा भौतिक पदार्थों द्वारा सीधे ही सृष्टि-निर्माण की सभावना कर ली जाए। जहा तक युक्तिपरकता का प्रश्न है, दोनो प्रकार की सभावनाए सबल जान पडती हैं, परन्तु कतिपय सामाजिक एव धार्मिक परिस्थितियो के बिखराव के कारण वैदिक पुरुषवाद की मान्यता को कुछ धक्का भी लगा। वैदिक कर्मकाण्डो मे होने वाली हिंसा तथा पौरोहित्यवाद जैसी सामाजिक कुरीतियों के कारण अनेक वेद-विरोधी शक्तियां सक्रिय हो चुकी थी। वेद-समर्थक एव वेद-विरोधी दार्शनिको ने एक-दूसरे पर आक्षेप-प्रत्याक्षेप भी किए जिसका एक मुख्य परिणाम यह निकला कि भारतीय दर्शन सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया। परवर्ती काल मे इन दार्शनिक सम्प्रदायो को दो मुख्य वर्गों मे रखने की परम्परा भी प्रकट हुई। **नास्तिको वेदनिन्दकः**—(मनुस्मृति, २.११) के आधार पर जैन, बौद्ध एव चार्वाक 'नास्तिक' दर्शनो के वर्ग मे रख दिए गए और शेष मौलिक परम्परा से सम्बद्ध दर्शनो को 'आस्तिक' की सज्ञा प्राप्त हुई।[5] इस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय है कि आठवी शताब्दी ईस्वी के जैन दार्शनिक हरिभद्र सूरि उपर्युक्त वर्गीकरण से असहमत होते हुए जैन एव बौद्ध दर्शनो को भी मूल दर्शन स्वीकार करते हैं।[6] दसवी शताब्दी ई० मे सोमदेवाचार्य द्वारा वेदो को प्रमाण मान लेने की जिस जैन मान्यता का समर्थन किया गया है[7], उससे भी यह तर्क निर्बल पड जाता है कि जैन दर्शन को वेद-विरोधी होने के कारण 'नास्तिक' सज्ञा दी जाए। सच तो यह है कि आस्तिक माने जाने वाले साख्य-वेदान्त आदि दर्शन भी अपनी तत्त्व-मीमासा के मूल्य पर वेदो के आप्तत्व की रक्षा कर पाये हो, सदिग्ध जान पडता है। साख्य दर्शन में वैदिक वचनो तथा वैदिक उपायो द्वारा आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति हेतु असमर्थता व्यक्त की गई है।[8] इसी प्रकार शकराचार्य आदि सिद्धान्ततः यह स्वीकार करते हैं कि कर्मकाण्डपरक वैदिक मन्त्रो की सार्थकता केवल अज्ञानी एव कर्मवादी मनुष्यो के लिए ही है, ज्ञान-मार्गी मुमुक्षु के लिए नही[9]। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि वेद को प्रमाण मानना अथवा न मानना विभिन्न दर्शनो के वर्गीकरण का कोई युक्तिसंगत आधार नही है।

प० दलसुख मालवणिया का विचार है कि भारतीय दर्शन की वैदिक परम्परा यज्ञ-क्रिया के चारो ओर चक्कर काटती जान पडती है तथा वह देवो के बिना एक कदम भी आगे नही बढ पाती है, जिसका यह परिणाम हुआ कि दार्शनिक विकास-क्रम मे मीमांसक विचारधारा का जन्म हुआ जो यज्ञादि कर्म से उत्पन्न होने वाले 'अपूर्व' नाम के पदार्थ की कल्पना करती हुई देवो के स्थान पर अदृष्ट कर्म को महत्त्व देती है।[10] प० मालवणिया जी के अनुसार जैन परम्परा प्राचीन काल से ही देववाद का विरोध करती आई है तथा कर्मवाद का

---

१. छान्दोग्योपनिषद्, ३.१४.१, बृहदारण्यक, २/५/१६, ४'४/५, ४/५/६
२. कठोपनिषद्, १/२/२३, केनोपनिषद्, १/४/६, प्रश्नोपनिषद्, ३/३
३. श्वेताश्वतरोपनिषद्, १/३, ईशावास्योपनिषद्, १
४. "काल' स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि पुरुष इति चिन्त्या।" श्वेताश्व०, १'२
५ उमेश मिश्र · भारतीय दर्शन, पृ० १७
६. "बौद्ध नैयायिक सांख्य जैन वैशेषिक तथा।
जैमिनीय च नामानि दर्शनानाममून्यहो।", षड्दर्शनसमुच्चय, ३, सम्पा० महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, १९७०
७. "द्वौ हि धर्मौ गृहस्थाना लौकिक., पारलौकिक",
"श्रुतिर्वेदमिह प्राहुर्धर्मशास्त्र स्मृतिर्मता।" यशस्तिलक चम्पू, पृ० २७३, ७८
८. सांख्य दर्शन, ८,९, सांख्यकारिका, २ पर गौडपादभाष्य
९. "अथेतरस्यानात्मज्ञतयात्मग्रहणाशक्तस्येदमुदिशति मन्त्र.।"
'पूर्वेण मन्त्रेण ससन्यासज्ञाननिष्ठोक्ता द्वितीयेन तदशक्तस्य
कर्मनिष्ठतेरयुच्यते।" ईशावास्योपनिषद्, २ पर शाकरभाष्य
१०. दलसुख मालवणिया . आत्ममीमासा, बनारस, १९५३, पृ० ८२-८३

समर्थन करती है। कर्मवादी इस जैन मान्यता के अनुसार सृष्टि अनादि काल से चली आ रही है । वे यह भी मानते हैं कि उपनिषदों मे भी कर्मवाद को स्वीकार करते हुए ससारी जीव के जिस अस्तित्व को स्वीकार किया गया है, वह जैन मान्यता का ही प्रभाव है—"जैन परम्परा का प्राचीन नाम कुछ भी हो, किन्तु यह बात निश्चित है कि वह उपनिषदो से स्वतन्त्र और प्राचीन है अत. यह मानना निराधार है कि उपनिषदों मे प्रस्फुटित होने वाले कर्मवाद-विषयक नवीन विचार जैन-सम्मत कर्मवाद के प्रभाव से रहित हैं । जो वैदिक परम्परा देवो के बिना एक कदम भी आगे नही बढती थी, वह कर्मवाद के इस सिद्धान्त को हस्तगत कर यह मानने लगी कि फल देने की शक्ति देवो मे नही, प्रत्युत स्वय यज्ञ-कर्म मे है ।"[1] मालवणिया जी के ये विचार भी उल्लेखनीय हैं कि "उपनिषदो से पहले जिस कर्मवाद के सिद्धान्त को वैदिक देववाद से विकसित नहीं किया जा सका, उस कर्मवाद का मूल (भारत के) आदिवासियों की पूर्वोक्त मान्यता से सरलतया संबद्ध है ।"[2] पूर्वोक्त मान्यता यह रही है कि आदिवासी यह मानते थे कि मनुष्य का जीव मरकर वनस्पति आदि के रूप में जन्म लेता है तथा आदिवासियो की इस विचारधारा को अन्धविश्वास नही माना जा सकता ।[3] अभिप्राय यह है कि मालवणिया जी कर्मवाद के मूल सिद्धान्त को आदिवासियो की दार्शनिक मान्यता बता रहे हैं तथा जैन धर्म-सम्मत जीववाद और कर्मवाद के साथ उसकी परम्परागत सगति बैठाने का प्रयास कर रहे हैं ।

प० मालवणिया जी की उपर्युक्त मान्यता की गम्भीरता से समीक्षा की जाए तो यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि ऋग्वेद के काल मे ही भारतीय आर्य यज्ञानुष्ठान की जिस प्रक्रिया को अपना चुके थे, उसके पीछे कर्मवाद का मनोविज्ञान कार्य कर रहा था । ऋग्वेद के प्राचीनतम माने जाने वाले मण्डलो मे ही 'कर्मवाद' के महत्त्व को स्वीकार किया गया है ।[4] पूर्व जन्म के पाप-कर्मों से छुटकारा मिलने के लिए देवताओ से प्रार्थना की गई है ।[5] संचित तथा प्रारब्ध कर्मों का वर्णन भी ऋग्वेद मे उपलब्ध होता है ।[6] वामदेव ने अपने अनेक पूर्व जन्मो का भी वर्णन किया है ।[7] अच्छे कर्मों द्वारा देवयान[8] मे ब्रह्मलोक जाने की तथा साधारण कर्मों द्वारा पितृयान[9] मार्ग से जाने की मान्यता भी ऋग्वेद-काल मे प्रचलित हो चुकी थी । पूर्व जन्मो के निम्न कर्मों के भोग के लिए ही जीव वृक्ष, लता आदि स्थावर शरीर मे प्रवेश करता है, जैसी मान्यता से भी ऋग्वेद का ऋषि परिचित है ।[10] एक जीव दूसरे जीव के द्वारा किए गए कर्मों का भोग कर सकता है, यह मान्यता भी ऋग्वेद मे उपलब्ध होती है जिससे बचने के लिए **मा वो भुजेमान्यजातमेनो,**[11] **मा व एनो अन्यकृतं भुजेम**[12] आदि मंत्रों का ऋग्वेद मे स्पष्ट उल्लेख आया है । इस प्रकार यह कहना अयुक्तिसगत होगा कि वैदिक मान्यता के अनुसार 'कर्मवाद' को अस्वीकार किया गया है । जहां तक प्रश्न इस तथ्य का है कि उपनिषद्-काल मे जैन परम्परा के प्रभाव मे वैदिक दर्शन प्रभावित हुआ था, या फिर आर्यों ने भारत के मूल आदि-वासियो मे 'कर्मवाद' को ग्रहण किया, विशुद्ध रूप से ऐतिहासिक छान-बीन की समस्या है । अभी तक के उपलब्ध ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह सिद्ध नही हो पाया है कि वस्तुत कर्मवाद आर्यों की निजी मान्यता नही थी तथा किसी अन्य सभ्यता से ही उन्होने इसे ग्रहण किया था ।

भारतीय दर्शन का परवर्ती विकास

अस्तु, वैदिक दर्शन के उपनिषद्-काल तक के विकास की चाहे जिस किसी भी मान्यता का समर्थन किया जाए, कतिपय दार्शनिक मान्यताएं भगवान् बुद्ध तथा महावीर के काल तक एक निश्चित वाद के रूप मे पल्लवित हो चुकी थी । बौद्ध दार्शनिको ने न तो वैदिक शाश्वत-वादियो का ही समर्थन किया है और न ही उच्छेदवादियो को प्रश्रय दिया है । उनके अनुसार पुद्गल को ही कर्त्ता और भोक्ता स्वीकार किया गया है जिसे 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का सिद्धान्त दार्शनिक दृष्टि प्रदान करता है अर्थात् एक नाम-रूप से दूसरा नाम-रूप उत्पन्न होता है। दूसरा नाम-

---

१ दलसुख मालवणिया . आत्ममीमासा, पृ० ८१-८२

२ वही, पृ० ८१

३. वही, पृ० ८१

४. ऋग्वेद, ३/३८/२, ३/५५/१५, ४/२६/२७, ६/५१/७, ७/१०१/६

५. ऋग्वेद, ६/२/११

६. "इमोत पृच्छ जनिमा कवीना मनोधृत सुकृतस्तक्षत द्याम् ।" ऋग्वेद, ३/३८,२
"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्व जाते ।
तयोरन्य. पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥" ऋग्वेद, १/१६४/२०

७. ऋग्वेद, ४/२६, ४/२७

८. "अस्यमच्च पिबत मादयध्व तृप्ता यात पथिभिर्देवयानै ।" ऋग्वेद, ७ ३८ ८

९. "पन्थामनु प्रविद्वान् पितृयाण द्युमदग्ने समिधानो वि भाहि ॥" ऋग्वेद, १० २ ७

१०. ऋग्वेद, ७/६/३, ७/१०१/६, ७/१०,२

११. "मा वो भुजेमान्यजातमेनो मा तत् कर्म वसवो यच्चयध्वे ।", ऋग्वेद, ७/५२/२

१२. "मा व एनो अन्यकृतं भुजेम मा तत् कर्म वसवो यच्चयध्वे ।" ऋग्वेद, ६/५१/७

रूप पहले द्वारा किए गए कर्मों को भोगता है।[1] बुद्ध ने इसी सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "आज से पहले ९१वें कल्प में मैंने एक मनुष्य का वध किया था, उसी कर्म के विपाक के कारण आज मेरा पाँव घायल हुआ",[2] परन्तु भगवान बुद्ध ने पुद्गल के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व रूप कार्यकारण-सम्बन्ध से कर्मवाद को जोड़ा है, न कि पूर्वजन्म तथा वर्त्तमान जन्म की आत्मा के सातत्य को सिद्ध करने की दृष्टि से। जैन दृष्टि के अनुसार अनेकान्तवादी दृष्टि को स्वीकार करते हुए काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म, पुरुषार्थ आदि मे से किसी एक को नही, बल्कि सभी को गौण-मुख्य भाव से सृष्टि के लिए कारण-स्वरूप माना गया है।[3] जैन सिद्धान्तानुसार, कर्म की कारणता केवल आध्यात्मिक सृष्टि में लागू मानी जाती है, जड सृष्टि मे नही। जड वस्तुओ की सृष्टि स्वयमेव होती है।[4] इस प्रकार भारतीय दर्शन की प्रारम्भिकावस्था में पूर्व-काल से चले आ रहे वैदिक पुरुषवाद की अवधारणा औपनिषदिक युग मे ब्रह्मवाद के रूप मे अवतरित हुई जो जड और चेतन, स्थावर एवं जंगम सभी की उत्पत्ति किसी चेतन तत्त्व द्वारा स्वीकार करती है, जबकि जैन परम्परा किंचित् प्रकारान्तर मे सृष्टि की सर्जन-प्रक्रिया का प्रतिपादन करती हुई 'कर्म' द्वारा आध्यात्मिक सृष्टि मानती है और जड वस्तुओ को स्वयमेव उत्पन्न स्वीकारा गया है। इस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय है कि बौद्ध-सम्मत सृष्टि 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के सिद्धान्तानुसार होती है। इन प्रमुख वादो के अतिरिक्त भी बौद्ध काल मे अनेक वाद प्रचलित थे जिनमें पूरणकाश्यप का अक्रियावाद, मंखली गोशालक का नियतिवाद जैन मतावलम्बियों से भी कुछ-कुछ मिलता-जुलता था तथा वर्द्धमान महावीर के साथ भी इनका सम्पर्क हुआ था। कालवादी, स्वभाववादी, यदृच्छावादी तथा भूतवादी भी अत्यन्त प्राचीन काल मे अपनी-अपनी सृष्टि-विषयक मान्यताएं स्थापित कर चुके थे। इन्ही वादो के मूल से कालान्तर मे विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय प्रादुर्भूत हुए।

उपनिषद्-काल के बाद भारतीय दर्शन अपने-अपने वादो के अनुरूप व्यवस्थित होने लगे थे। वैदिक परम्परा के आधार पर वेदान्त दर्शन की अवतारणा हुई तो दूसरी ओर परिणामवादी साख्य विचारधारा 'अद्वैत' के स्थान पर 'द्वैत' के रूप मे परिणत हुई। साख्यो के परिणाम की प्रतिक्रिया मे न्याय एव वैशेषिक दर्शनो का प्रादुर्भाव हुआ। इसी प्रकार बौद्ध दर्शनो की भी अनेक शाखाओ के दार्शनिक सिद्धान्त अस्तित्व में आये। इसी प्रक्रिया मे जैन दर्शन की मान्यताए भी एक व्यवस्थित दर्शन के रूप मे पल्लवित हुई। दार्शनिक स्थिरीकरण की इस अवस्था में बौद्ध तार्किक नागार्जुन, वसुबन्धु और दिङ्नाग की उपेक्षा नही की जा सकती, जिन्होने न केवल बौद्ध दर्शन को, अपितु समग्र भारतीय दर्शन को तर्क-प्रधान प्रवृत्ति की ओर उन्मुख किया। नागार्जुन ने शून्यवाद की स्थापना मे अन्य सभी दार्शनिको के समक्ष अनेक चुनौतिया प्रस्तुत की। असग और वसुबन्धु ने विज्ञानवाद की स्थापना कर भारतीय दर्शन मे प्रमाणशास्त्रीय दर्शन की नीव रखी। बौद्ध दार्शनिको की मान्यताओ का विरोध करने के लिए जहा एक ओर नैयायिक वात्स्यायन आगे आये, वहा दूसरी ओर मीमासक शबर ने भी बौद्ध दार्शनिको के मतो को निरस्त करने की चेष्टा की। साख्याचार्य भी इस क्षेत्र मे पीछे नही रहे। उन्होने अपने सिद्धान्तो की रक्षा हेतु अनेक प्रयत्न किए। जैन दार्शनिक इन सभी मतो का तटस्थ रूप से अवलोकन कर रहे थे। उन्होने स्थिति की अनिश्चितता तथा मत-विभिन्नता को अनेकान्तवाद के दार्शनिक सूत्र मे पिरोने का प्रयास किया। जैन दार्शनिको का सदुप्रयोजन यह था कि वे विवादो की कटुता से खिन्न दार्शनिक जगत को एक निश्चित तथा सर्वसम्मत दिशा की ओर उन्मुख कर सके। प्रसिद्ध जैन दार्शनिक सिद्धसेन ने इस ओर विशेष योगदान दिया। मालवणिया जी के शब्दो मे, "उन्होने तत्कालीन नाना वादो को नयवादो मे सन्निविष्ट किया। अद्वैतवादियों की दृष्टि को उन्होने जैन सम्मत 'सग्रह' नय कहा। क्षणिकवादी बौद्धो का समावेश 'ऋजुसूत्र' नय मे किया। साख्य दृष्टि का समावेश 'द्रव्यार्थिक' नय मे किया। कणाद के दर्शन का समावेश 'द्रव्यार्थिक' और 'पर्यायार्थिक' मे कर दिया।"[5] सिद्धसेन का मुख्य तर्क यह था कि संसार मे जितने भी दर्शन-भेद सम्भव हैं उन्हे जैनानुसारी विभिन्न नयो के माध्यम से अनेकान्तवाद द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। समन्तभद्र ने भी उन्ही की तरह एकान्तवादी आग्रह को दोषपूर्ण बताकर स्याद्वाद की सप्त भगियो के दार्शनिक रूप की पुष्टि की।[6] भारतीय दर्शन के सैद्धान्तिक विकास की इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे हम जैन महाकाव्यो मे पूर्व की जैन दार्शनिक परम्परा का मूल्याकन कर सकते है।

जैन महाकाव्यों के युग की दार्शनिक स्थिति

जैन सस्कृत महाकाव्यो का युग एक ऐसा विप्लवकारी युग रहा था जिसमे राजनैतिक अराजकता की पृष्ठभूमि के कारण धर्म-दर्शन तथा बौद्धिक चिन्तन की गतिविधिया भी नये मूल्यो मे अनुस्यूत रही थी।[7] इसी युग मे जैन धर्म तथा दर्शन की परिस्थितियो ने भी

---

१. सयुत्तनिकाय, १२,१७, १२ २४, विसुद्धिमग्ग, १७,१६८-६४
२. दलसुख मालवणिया आत्ममीमासा, पृ० ५६ मे उद्धृत कारिका
३. शास्त्रवार्त्ता, २ ७६-८०
४. दलसुख मालवणिया आत्ममीमांसा, पृ० ११६-१७
५. दलसुख मालवणिया . आगम युग का जैन दर्शन, आगरा, १९६६, पृ० २८६
६. वही, पृ० २८७
७. मोहनचन्द : सस्कृत जैन महाकाव्यो मे प्रतिपादित सामाजिक परिस्थितिया (शोध-प्रबन्ध, दिल्ली-विश्वविद्यालय) १९७६, पृ० ३५४-४१४

नया मोड़ ले लिया था। रविषेण-कृत पद्मचरित (७वीं शती ई०) तथा उसके बाद निर्मित होने वाले आदिपुराण आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि जैनाचार्य जैन धर्म को एक ऐसे उदार एवं लोकप्रिय धर्म का रूप देना चाहते थे जिससे वैदिक संस्कृति के मूल पर आधारित हिन्दू धर्म के साथ सौहार्द उत्पन्न किया जा सके और जैन धर्म के मौलिक तत्त्वों पर भी कोई आंच न आ सके। इस ओर सर्वप्रथम कार्य यह हुआ कि प्राकृत की ओर से ध्यान हटाकर संस्कृत भाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम चुना गया। रविषेण के पद्मचरित एवं उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र को छोडकर इससे पूर्व का लगभग समग्र साहित्य प्राकृत में ही लिखा गया था, परन्तु आलोच्य युग मे अधिकांश धार्मिक, दार्शनिक तथा साहित्यिक ग्रन्थ संस्कृत भाषा मे निबद्ध हैं। इतना ही नहीं, जैनाचार्यों ने ब्राह्मण संस्कृति की समाज-व्यवस्था, धार्मिक व्यवस्था आदि से सम्बद्ध अनेक मान्यताओ, रीति-रिवाजो आदि को ग्रहण करने मे कोई अनौचित्य नही देखा। इस सम्बन्ध मे यह भी उल्लेखनीय है कि वैदिक धर्म का परिवर्तित रूप इस युग मे जिस भागवत धर्म के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ, उसकी सर्वाधिक विशेषता यह रही थी कि प्राचीन समय में सम्पन्न होने वाले बलि-प्रधान यज्ञो के स्थान पर अब फल-पुष्प-तोय की विधा से पूजा-पद्धति का प्रचलन बढ़ गया। निश्चित रूप से जैन धर्म की अहिंसामूलक प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप ही एक सहज और पवित्र पूजा-पद्धति हिन्दू धर्म मे भी प्रचलित हुई। ब्राह्मण संस्कृति तथा जैन संस्कृति के इस पारस्परिक आदान-प्रदान की प्रवृत्ति के कारण दार्शनिक जगत् मे होने वाली कटुता मे भी पर्याप्त कमी आई। द्विसन्धान महाकाव्य के लेखक धनंजय ने जैन दर्शन की द्रव्य-परिभाषा के औचित्य की पुष्टि त्रिपुरुष—ब्रह्मा-विष्णु-महेश—के सन्दर्भ मे की है।[1] आठवी शती ई० के जटासिंह नन्दी ने वैदिक यज्ञानुष्ठानो, पुरोहितवाद, ईश्वरवाद आदि सृष्टि-विषयक अनेक मतों की आलोचना करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि पुरुष, ईश्वर, काल, स्वभाव, दैव, ग्रह, नियोग, नियति आदि से संसार की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय नही होती।[2] उक्त सभी मत आंशिक दृष्टिकोण को लिये हुए हैं। उनमें अनेकान्तवाद की योजना से ही सार्थकता बैठाई जा सकती है।

जैन दर्शन के विकास की दृष्टि से संस्कृत जैन महाकाव्यो का युग 'प्रमाण व्यवस्था' का युग रहा था। आगम प्रधान दर्शन को तथ्य-संग्राहक एवं तर्कानुप्राणित शैली मे उपस्थापित करने का काम इसी युग मे हुआ। हरिभद्र सूरि द्वारा षड्दर्शन समुच्चय की रचना कर दिए जाने के बाद जैन दार्शनिको के समक्ष भारतीय दर्शन का जैनानुसारी संस्करण भी तैयार हो चुका था। जैन संस्कृत महाकाव्यो के लेखक भी दार्शनिक क्षेत्र मे उतर आये तथा युग की परिस्थितियो के अनुसार उन्होने वाद-प्रतिवाद की परम्परा मे अपना भी योगदान दिया। जैन महाकाव्यों मे कथानक-योजना के अन्तर्गत ही कुछ ऐसे विशेष सर्ग केवल दार्शनिक विवेचन के लिए ही लिखे गए है, जिनमे प्राय. किसी जैन मुनि के द्वारा उपदेश देते हुए अथवा राजा की मन्त्रिपरिषद् मे विभिन्न राजपार्षदो के माध्यम से जैनेतर दार्शनिक वादो की चर्चा उपस्थित की गई है। वरांगचरित[3] (आठवी शती ई०), चन्द्रप्रभचरित[4] (१०वी शती ई०) तथा पद्मानन्द महाकाव्य[5] (१३वीं शती ई०) आदि महाकाव्य इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं कि इनमे आई दार्शनिक चर्चा अत्यन्त विस्तृत एवं सुव्यवस्थित है। वरांगचरितकार ने वैदिक धर्म-दर्शन एवं सांख्य मतो की आलोचना मे अधिक रुचि ली है, जबकि चन्द्रप्रभचरित मे बौद्ध एवं चार्वाक दर्शनो के खण्डन को विशेष महत्त्व दिया गया है। पद्मानन्द-महाकाव्य भी बौद्धों तथा तत्कालीन सभी लोकायत मतो का विस्तृत विवेचन करता हुआ उनकी आलोचना करता है। जयन्तविजय,[6] जैन कुमारसम्भव[7] आदि महाकाव्यो मे भी अनेक आस्तिक दर्शनो की आलोचना की गई है। इस सम्बन्ध मे यह भी उल्लेखनीय है कि जिनसेन के आदिपुराण में भी अनेक दार्शनिक वादो के खण्डन का वर्णन मिलता है।[8] जैन महाकाव्यो मे उपलब्ध दार्शनिक मतो की सामाजिक लोकप्रियता की दृष्टि से यदि विचार किया जाए तो ऐसा लगता है कि दसवी शती ई० तथा उसके उपरान्त लोकायत दर्शन समाज मे लोकप्रिय होते जा रहे थे। जैन महाकाव्यो मे दिए गए इन दर्शनो के प्रतिनिधि-तर्कों की सबलता उत्तरोत्तर वृद्धि पर थी। षड्दर्शनसम्मुचय के टीकाकार गुणरत्न सूरि ने लोकायत साधुओ का भी उल्लेख किया है। ये साधु कापालिको की भांति शरीर मे भस्म

---

१. "स्तुवे साधु साधु स्थितिजननिरोधव्यतिकर
सदा पश्यत्प्राहुस्त्रितयमिदमेव त्रिपुरुषम् ॥" द्विसन्धान, १२ ५० तथा तुलनीय
"त्रिपुरुष हरिहरहिरण्यगर्भम्, कि कुर्वत् ? पश्यत् अवलोकमानम्, कम् ?
स्थितिजननिरोधव्यतिकरम्, स्थिति ध्रौव्यम्, जन उत्पाद, निरोधो व्यय।", नेमिचन्द्रकृत पदकौमुदी टीका।

२. वरांगचरित (सर्ग २४-२५), माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९३८

३. वही

४. जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९७१

५ गायकवाड ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९३२

६. काव्यमाला, ग्रन्थांक ७५, निर्णयसागर, बम्बई, १९०२

७. जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत, १९४६

८. आदिपुराण (सर्ग ५, १८, २१), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९६३-६५

लगाते थे तथा जाति-प्रथा के विरुद्ध थे।[1] चार्वाकों का एक वर्ग 'आकाश' को पांचवां तत्त्व स्वीकार करता था।[2] शराब पीना, मांस खाना, तथा अगम्या स्त्री से भी व्यभिचार करने में ये नहीं चूकते थे।[3] चार्वाक मतानुयायियों की तत्कालीन गतिविधियों का उल्लेख करते हुए गुणरत्न ने यह भी सूचित किया है कि ये लोग वर्ष में एक बार सामूहिक रूप से एकत्र होकर जिस पुरुष का नाम जिस स्त्री के साथ निकल आये उसी क्रम में स्वच्छन्द रूप से रमण करते थे।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि सामन्तवादी भोग-विलास एवं ऐश्वर्य-सुख का उपभोग करने वाली मनोवृत्ति समाज में एक प्रभावशाली स्थान बना चुकी थी। जैन संस्कृत महाकाव्यों में इसी मनोवृत्ति को लोकायत जीवन-दर्शन के रूप में चित्रित किया गया है। लगभग सभी जैन महाकाव्यों में इस मनोवृत्ति का किसी न किसी रूप में अंकन हुआ है। चार्वाक दर्शन के रूप में जो मान्यताएं प्राचीन परम्परा से प्राप्त थीं, उनके ही विकसित रूप में जैन महाकाव्यों में प्रतिपादित मायावादी एवं तत्त्वोपप्लववादी लोकायत दर्शनों का सृजन अभी हो रहा था। इन साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर आज इस मान्यता पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता आ पड़ी है जिसके अनुसार प्रायः यह स्वीकार कर लिया जाता है कि चार्वाक-आदि नास्तिक दर्शन कालान्तर में दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में लुप्त हो चुके थे तथा आज केवल उनका ऐतिहासिक महत्त्व ही शेष रह चुका है।

आस्तिक परम्परा वाले दर्शनों के सृष्टिवादपरक विकास की दृष्टि से भी जैन महाकाव्यों में कतिपय ऐतिहासिक तथ्य संग्रहीत हैं। कालवाद-स्वभाववाद आदि प्राचीन वादों के तात्कालिक स्वरूप का निरूपण इन महाकाव्यों में तो हुआ ही है, इसके अतिरिक्त 'अज्ञानवाद'[5], 'वैनयिकवाद'[6] की चर्चा भी गुणरत्न की टीका में उपलब्ध होती है। मध्यकाल में पौराणिक देव-विज्ञान के विकास-स्वरूप सृष्टि-विषयक अनेक ऐसे वाद भी प्रचलित हो चुके थे जिनकी चर्चा षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में उपलब्ध है। गुणरत्न की इस टीका (१५वीं शती ई०) में शिव, विष्णु, ब्रह्मा, में से किसी एक को सृष्टि का कारण बनाने वाले वादियों के अतिरिक्त कुछ त्रिमूर्ति से तो कुछ विष्णु की नाभि के कमल से उत्पन्न, ब्रह्मा तथा उनसे जनित अदिति माताओं द्वारा भी सृष्टि-निर्माण होने का प्रतिपादन करते थे। इनके अतिरिक्त आश्रमी सृष्टि को अहेतुक, पूरण नियतिजन्य, पराशर परिणामजन्य तुरुष्क गोस्वामी नामक दिव्य पुरुषजन्य कहते थे। गुणरत्न ने कुल मिलाकर लगभग २७ वादों का उल्लेख किया है जो विभिन्न धर्मों तथा दर्शनों के द्वारा समर्थित थे।[7] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जैन संस्कृत महाकाव्यों में प्रतिपादित जैनेतर दार्शनिक वादों का भारतीय दर्शन के विकासपरक इतिहास की दृष्टि से भी विशेष महत्त्व रहा था।

जैन महाकाव्यों में प्रतिपादित विभिन्न जैनेतर दार्शनिक वाद

प्रस्तुत निबन्ध में जैन महाकाव्यों के युग में प्रचलित विविध जैनेतर वादों के दार्शनिक स्वरूप तथा महाकाव्यों के लेखक जैनाचार्यों द्वारा उनके सम्बन्ध में उठाई गई दार्शनिक आपत्तियों का एक संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है——

१ **कालवाद**——कालवादियों के अनुसार समस्त जगत् काल-कृत है। काल के नियमानुसार ही चम्पा, अशोक, आम आदि वनस्पतियों में फूल तथा फल आते हैं और ऋतु-विभाग से ही शीत-प्रपात, नक्षत्र-सचार, गर्भाधान आदि सम्भव होते हैं।[8] जटाचार्य ने काल-वादियों का यह कहकर खण्डन किया है कि वनस्पतियां आदि में असमय में भी फल-फूल आदि लगते हैं तथा मनुष्यों आदि की अकाल-मृत्यु

---

१ "कापालिका भस्मोद्धूलनपरा योगिनो ब्राह्मणाद्यन्त्यजाश्च केचन नास्तिका भवन्ति। न च जीवपुण्यपापादिकं न मन्यन्ते। चतुर्भूतात्मकं जगदाचक्षते।" षड्दर्शनसमुच्चय, ७६ पर गुणरत्न-टीका (ज्ञानपीठ-संस्करण), पृ० ४५०

२. "केचित्तु चार्वाकैकदेशीया आकाशं पञ्चमं भूतमभिमन्यमाना पञ्चभूतात्मकं जगदिति निगदन्ति।" वही, पृ० ४५०

३. "ते च मद्यमांसे भुञ्जते मात्राद्यगम्यागमनमपि कुर्वते।" वही, पृ० ४५१

४. "वर्षे-वर्षे कस्मिन्नपि दिवसे सर्वे संभूय यथानाम निर्गमं स्त्रीभि रमन्ते।" वही, पृ० ४५१

५. "ततः को जानाति जीवः सन्" इत्येको विकल्प, न कश्चिदपि जानाति तद्ग्राहकप्रमाणाभावादिति भाव। ज्ञानेन वा किं तेन प्रयोजनम् ज्ञानस्याभिनिवेशहेतुतया परलोकप्रतिपन्थित्वात्।", षड्दर्शनसमुच्चय, १ पर गुणरत्न की टीका, पृ० २८-२९

६ "तथा विनयेन चरन्तीति वैनयिका, वसिष्ठपराशरवाल्मीकिव्यासेला सुतसत्यदत्तप्रभृतयः" वही, पृ० २९

७. तुलनीय——"अथवा लोकस्वरूपेऽप्यनेके वादिनोऽनेकधा विप्रवदन्ते। तथाथा केचिन्नारीश्वरजं जगन्निगदन्ति। परे सोमाग्निसम्भवम्। वैशेषिका द्रव्यगुणादिषड्-विकल्पम्। केचित्काश्यपकृतम्। परे दक्षप्रजापतीयम्। केचिद् ब्रह्मादित्रिर्मूर्तिसृष्टम्। वैष्णवा विष्णुमयम्। पौराणिका विष्णुनाभिपद्मजब्रह्मजनितमातृजम्। ते एव केचिदवर्णं ब्रह्मणा वर्णादिभि सृष्टम्। केचित्कालकृतम्। परे क्षित्याद्यष्टमूर्तीश्वरकृतम्। ब्रह्मणा मुखादिभ्यो ब्राह्मणादिजन्मकम्। सांख्याः प्रकृतिप्रभवम्। शाक्यविज्ञप्तिमात्रम्। अन्य एकजीवात्मकम्। केचिदनेकजीवात्मकम्। परे पुरुषकृतम्। अन्ये स्वभावजम्। केचिदक्षरजातभूतोद्भूतम्। केचिदण्डप्रभवम्। आश्रमी त्वहेतुकम्। पूरणो नियतिजनितम्। पराशरः परिणामप्रभवम्। केचिद्यादृच्छिकम्। नैकधादिनानेकरूपम्। तुरुष्का गोस्वामिनामकदिव्यपुरुषप्रभवम्। इत्यादयोऽनेके वादिनो विद्यन्ते।" षड्दर्शनसमुच्चय, १ पर गुणरत्न की टीका, पृ० २०-२१

८. "कालवादिनश्च नाम ते मन्तव्या ये कालकृतमेव जगत्सर्वं मन्यन्ते। तथा च ते प्राहु —न कालमन्तरेण चम्पकाशोकसहकारादिवनस्पतिकुसुमोद्गमफलबन्धादयो हिमकणानुषक्तशीतप्रपातनक्षत्रचारगर्भाधानवर्षादयो.. घटन्ते।" वही, पृ० १४-१६

भी देखी जाती है।[1] वर्षा ऋतु के न होने पर भी धारासार वृष्टि होती है अतएव काल के कारण ससार को सुखी एवं दुखी मानना अनुचित है।[2] काल को सृष्टि का कारण मानने से कर्त्ता का कर्तृत्व गुण विफल हो जाता है।[3]

२. **नियतिवाद**—नियति से ही सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं अर्थात् जो जिस समय जिससे उत्पन्न होता है वह उससे नियत रूप मे ही उत्पत्ति-लाभ करता है।[4] जटासिंह नन्दी ने इस वाद का खण्डन करते हुए कहा है कि इस वाद के मान लेने पर कर्मों के अस्तित्व तथा तदनुसार फल प्राप्त होने मे व्यवधान उत्पन्न होगा। कृतकर्मों के अभाव से व्यक्ति सुख-दुःखहीन हो जाएगा। सुख मे हीन होना किसी भी जीव को अभीष्ट नही है।[5]

३ **स्वभाववाद**—स्वभाववादियो के अनुसार वस्तुओ का स्वत परिणत होना स्वभाव है। उदाहरणार्थ, मिट्टी से घडा ही बनता है, कपडा नही। सूत से कपडा ही बनता है, घडा नही। इसी प्रकार यह जगत् भी अपने स्वभाव से स्वय उत्पन्न होता है।[6] जटासिंह नन्दी ने इस वाद पर आपत्ति उठाते हुए कहा है कि स्वभाव को ही कारण मान लेने पर कर्त्ता के समस्त शुभ तथा अशुभ कर्मों का औचित्य समाप्त हो जाएगा। जीव जिन कर्मों को नही करेगा, स्वभाववाद के अनुसार उनका फल भी उसे भोगना पडेगा।[7] इन्धन से अग्नि का प्रकट होना उसका स्वभाव है परन्तु इन्धन के ढेर-मात्र से अग्नि की उत्पत्ति असभव है। इसी प्रकार स्वर्णमिश्रित मिट्टी या कच्ची धातु से स्वत ही सोना उत्पन्न नही हो जाता।[8] जटाचार्य के अनुसार स्वभाववाद मनुष्य के पुरुषार्थ को निष्फल सिद्ध कर देता है, जो अनुचित है।

४. **यदृच्छावाद**—यह वाद भी प्राचीन काल मे चला आ रहा वाद है। महाभारत मे इसके अनुयायियो को अहेतुवादी कहा गया है। गुणरत्न के अनुसार बिना सकल्प के ही अर्थ-प्राप्ति होना अथवा जिसका विचार ही न किया उसकी अतर्कित उपस्थिति होना यदृच्छावाद है। यदृच्छावादी पदार्थों की उत्पत्ति मे किसी नियत कार्य-कारण-भाव को स्वीकार नही करते। यदृच्छा से कोई भी पदार्थ जिस किसी से भी उत्पन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ कमलकन्द से ही कमलकन्द उत्पन्न नही होता, गोबर से भी कमलकन्द उत्पन्न होता है। अग्नि की उत्पत्ति अग्नि से ही नही, अपितु अरणि-मन्थन मे भी सभव है।[9] इस वाद को कभी स्वभाववाद अथवा नियतिवाद मे अभिन्न माना जाता है। वरागचरितकार जटासिंह ने इस वाद की चर्चा नही की है। अन्य महाकाव्यो मे भी इसके खण्डन का उल्लेख नही है।

५ **सत्कार्यवाद**—साख्यदर्शनानुसारी सत्कार्यवाद के अनुसार यह स्वीकार किया जाता है कि जैसा कारण होता है उससे वैसा ही कार्य उत्पन्न होता है।[10] साख्य दर्शन के इस वाद के सन्दर्भ मे जटासिंह नन्दी का आक्षेप है कि अव्यक्त प्रकृति से ससार के समस्त व्यक्त एव मूर्तिमान पदार्थ कैसे उत्पन्न हो सकेंगे ?[11] साख्यो के अनुसार जीव को जो 'अकर्त्ता' कहा गया है वह भी अनुचित है। वीर नन्दी कृत चन्द्रप्रभचरित मे इसका खण्डन करते हुए कहा गया है कि जीव को अकर्त्ता मान लेने पर उस पर कर्म-बन्ध का भी अभाव रहेगा तथा

---

१ "अथजीवगणेष्वकालमृत्यु फलपुष्पाणि वनस्पतिष्वकाले।
भुजगा दशनैदशन्त्यकाले मनजास्तु प्रमवन्त्यकालतश्च ॥" वरागचरित, २४/२६

२ "अथ वृष्टिरकालतस्तु दृष्टा न हि वृष्टि परिदृश्यते स्वकाले।
तत एव हि कालत. प्रजाना सुखदु खात्मकमित्यभाषणीयम् ॥" वरागचरित २४/३०

३. "यदि कालबलात्प्रजायते चेद्विफल कर्तृगुण परीक्ष्यमाण'।" वरागचरित, २४/२८

४. "नियतिर्नाम तत्त्वान्तरमस्ति यद्वशादेते भावा सर्वेऽपि नियतेनैव रूपेण प्रादुर्भावमश्नुवते नान्यथा।" षड्दर्शनसमुच्चय, १ पर गुणरत्न-टीका, पृ० १८

५ "नियतिनियता नरस्य यस्य प्रतिभग्नास्थितिकर्मणामभाव।
प्रतिकर्मविनाशनात्सुखी स्यात्सुखहीनत्वमनिष्टमात्तप्राज्ञम् ॥" वरागचरित, २४/४१

६. स्वभाववादिनो ह्येवमाहु इह वस्तुन स्वत एव परिणति स्वभाव सर्वे भावा स्वभाववशादुपजायन्ते। तथाहि—मृद: कुम्भो भवति न पटादि, तन्तुभ्योऽपि पट उपजायते न घटादि।" षड्दर्शन०, १ पर गुणरत्न टीका, पृ० १६

७ "अथ सर्वमिद स्वभावतश्चेन्ननु वैयर्थ्यमुपैति कर्मकर्तु।
अकृतागमदोषदर्शन च तदयस्य विदुषामचिन्तनीयम् ॥" वरागचरित, २४/३८

८ "स्वयमेव न भाति दपण सम वह्नि, स्वमुपैति काष्ठभार.।
न हि धातुरुपैति काञ्चनत्व न हि दुग्ध घतभावमभ्युपैत्यधीनाम् ॥" वरागचरित, २३ ३६

६. "ते ह्येवमाहु न खलु प्रतिनियतो वस्तूना कार्यकारणभावस्तथा प्रमाणेनाग्रहणात्। तथाहि—शालूकादपि जायते शालूको गोमयादपि जायते शालूक.। वह्नेरपि जायते वह्निररणिकाष्ठादपि।" षड्दर्शनसमुच्चय, १ पर गुणरत्न-टीका, पृ० २२

१०. "असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसभवात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥" साख्यकारिका, ६

११. "प्रकृतिर्महदादि भाव्यते चेत्कथमव्यक्ततमात्तमूर्तिमत्स्यात्।
इह कारणतो न कार्यमिष्ट किमु दृष्टान्तविरुद्धता न याति ॥" वरागचरित, २४/४३

उसके पाप पुण्य भी नहीं हो सकेंगे। 'बन्ध' के न होने पर 'मोक्ष' भी संभव नही है।[1] चन्द्रप्रभचरित-कार का कहना है कि कापिल मत में आत्मा को भोक्ता कहकर उसे मुक्ति-क्रिया का कर्त्ता तो मान लिया गया है परन्तु उसके कर्तृत्व को छिपाने की चेष्टा भी की गई है जो अनुचित है।[2] वीरनन्दी के अनुसार प्रधान प्रकृति के बन्ध होने की जिस मान्यता का सांख्य समर्थन करता है, वह भी अयुक्तिसगत है क्योंकि सांख्य दर्शन मे प्रकृति अचेतन मानी गई है और अचेतन का न बन्ध हो सकता है और न मोक्ष[3]। इस प्रकार हम देखते हैं कि जटासिंह नन्दी ने तथा वीर नन्दी ने सांख्य तन्त्र के परिप्रेक्ष्य में पुरुष तथा प्रकृति दोनो के बन्ध तथा मोक्ष की स्थिति को अयुक्तिसगत सिद्ध किया है।

६. **शून्यवाद**—बौद्ध दार्शनिको के एक सम्प्रदाय के अनुसार यह जगत् शून्य-स्वरूप है। अविद्या के कारण इसी शून्य से जगत् की उत्पत्ति मानी गई है। इस वाद पर आक्षेप करते हुए जटासिंह नन्दी का कहना है कि चल-अचल पदार्थों को शून्य की सज्ञा देने से न केवल पदार्थों का ही अभाव होगा, अपितु ज्ञान भी शून्य अर्थात् अभाव-स्वरूप हो जाएगा, जिसका अभिप्राय है ससार के समस्त जीवों को ज्ञानशून्य मानना। ऐसी स्थिति मे शून्यवादी तत्त्वज्ञान को ग्रहण करने के प्रति भी असमर्थ रह जाएगा।[4] इस सम्बन्ध मे टिप्पणी करते हुए जटाचार्य यह सुझाव देते हैं कि पदार्थों के किसी एक विशेष रूप मे न रहने से उस पदार्थ को सर्वथा शून्य मानना अनुचित है, क्योंकि पदार्थ किसी एक रूप में नष्ट हो जाने के बाद भी सत्तावान् रहते ही हैं।[5]

७. **क्षणिकवाद**—बौद्धों के एक दूसरे सम्प्रदाय की इस मान्यता का, कि सभी भाव एवं पदार्थ क्षणिक है, खण्डन करते हुए जटासिंह नन्दी कहते हैं कि शुभ तथा अशुभ कर्मों का भेद तब समाप्त हो जायगा। ससार के प्राणी जो अनेक गुणो को धारण करने की चेष्टा करेंगे वे निराश ही रह जाएंगे क्योंकि तब गुण तथा गुणी भिन्न क्षणो मे उदित होंगे।[6] पद्मानन्द महाकाव्य मे भी क्षणिकवाद की आलोचना करते हुए कहा गया है कि समस्त संसार के ज्ञानादि भी बौद्ध मतानुसार क्षणिक मान लिये जाने पर स्मरण, प्रत्यभिज्ञा आदि भाव; पिता-पुत्र, पति-पत्नी आदि सम्बन्ध तथा पाप-पुण्य आदि व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो जाएगी।[7] चित्त-सन्तान-ज्ञान की धारा को आत्मा सिद्ध करने की बौद्ध मान्यता का भी खण्डन किया गया है।[8]

८. **नैरात्म्यवाद**—बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध ने आत्मा का अस्तित्व नही स्वीकारा है। जटासिंह नन्दी के अनुसार तब भगवान् बुद्ध की करुणा का क्या होगा? क्योंकि आत्मा तथा चेतना के बिना करुणा कहा उत्पन्न होगी? इस प्रकार आत्मा का निराकरण करना स्वयं भगवान् बुद्ध के करुणाशील होने के प्रति ही सन्देह उत्पन्न करता है।[9]

९. **वैदिक एवं पौराणिक देववाद**—जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है, वेदमूलक ब्राह्मण सस्कृति मे पुरुष, ईश्वर द्वारा सृष्टि होने की मान्यता दार्शनिक वाद के रूप मे पल्लवित हुई थी। जैसे-जैसे वैदिक धर्म पौराणिक धर्म के रूप मे अवतरित हुआ, अनेक देवशक्तियो के साथ सृष्टि का सम्बन्ध जोड़ा जाने लगा। इसी विश्वास के कारण ब्राह्मण सस्कृति मे ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि आराध्य देव बन गए।

---

१. "न चाप्यकर्तृता तस्य बन्धाभावादिदोषत ।
कथ ह्यकुर्वन्बध्येत कुशलाकुशलक्रिया ॥" चन्द्रप्रभचरित, २/८१
२. "मुक्तिक्रियाया: कर्तृत्व भोक्तात्मेति स्वय वदन् ।
तदेवापह्नुवान सन्कि न जिह्रेति कापिल ॥" चन्द्रप्रभ०, २/८१
३. "अचेतनस्य बन्धादि· प्रधानस्याप्ययुक्तिक ।
तस्मादकर्तृता पापादपि पापीयसी मता ॥" चन्द्रप्रभ०, २/८३
४. "यदि शून्यमिद जगत्समस्त ननु विज्ञप्तिरभावतामुपैति ।
तदभावमुपागतोऽनभिज्ञो विमति केन स वेत्ति शून्यपक्षम् ॥" वरागचरित, २४/४४
५. "अथ सर्वपदार्थसप्रयोग: सुपरीक्ष्य सदसत्प्रमाणभावात् ।
न च सभवति ह्यसत्सुशून्य परिवृष्ट विगमे सतो महद्भि ॥" वरागचरित, २४/४५
६. "क्षणिका यदि यस्य सर्वभावा फलस्तस्य भवेदय प्रयास. ।
गुणिना हि गुणेन च प्रयोगो न च शब्दार्थमवैति दुर्मति: ॥" वरागचरित, २४/४६
७. पद्मानन्द, ३/१६०-६५
तुलनीय—"मन्त्रिन्! विमुञ्च क्षणिकत्ववादिता निरन्वय वस्तु यदीह दृश्यते।" पद्मानन्द, ३/१६०
८ चन्द्रप्रभ०, २/८४-८५
९. "नैरात्म्यशून्यक्षणिकप्रवादाद् बुद्धस्य रत्नत्रयमेव नास्ति।" वरागचरित, २५/८२
"मृषैव यत्नात्करुणाभिमानो न तस्य दृष्टा खलु सत्त्वसंज्ञा।" वरागचरित, २५/८३

आठवीं शताब्दी ई०में वरागचरित-कार ने इन सभी देव-सम्बन्धी वादों का खण्डन किया है।[1] जटासिंह नन्दी ने वैदिक देवताओं तथा यज्ञानुष्ठानों के औचित्य को भी नकारा है।[2] इनके खण्डन का मुख्य तर्क यह रहा है कि कर्म-सिद्धान्त की मान्यता को उपर्युक्त वाद असिद्ध ठहरा देते हैं। एक दुष्ट व्यक्ति तथा एक विद्वान् व्यक्ति जब एक ही देवता की आराधना से उसकी कृपा का लाभ उठाता है तो निश्चित रूप से उस देवता का महत्त्व भी कम होता है।[3] अनेक दृष्टान्तों द्वारा जटासिंह ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सभी देवता सामान्य मनुष्य की भांति अनेक प्रकार की त्रुटियो को लिये हुए हैं। इसी प्रकार ज्योतिष्क ग्रहो एवं नक्षत्रो के मानव-जीवन पर पडने वाले प्रभाव को भी जटासिंह उपेक्षा-भाव से देखते है।[4] उनके अनुसार बड़े से बड़े ग्रह तथा नक्षत्र स्वय ही अपनी रक्षा नही कर सकते तो भला दूसरो का वे कितना उपकार कर सकेंगे ?[5]

१० **भूतवाद**—चार्वाक-अनुयायी भूतवादी कहलाते हैं। इनके अनुसार जीव अथवा आत्मा नामक कोई सत्ता नही है जो परलोक जा सके। शरीर के अतिरिक्त आत्मा जैसी वस्तु को प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भी नही जाना जा सकता। गुड, अन्न, जल आदि के सयोग से जैसे कोई उन्मादिका शक्ति स्वयमेव उत्पन्न हो जाती है वैसे ही भूतचतुष्टय---पृथ्वी, अग्नि, जल और वायु के सयोग से देह-निर्माणात्मिका शक्ति स्वत. ही उत्पन्न होती है।[6] इस ससार के भोगो को छोडकर जो पारलौकिक सुखों की ओर आकृष्ट होता है, वह हस्तगत फल को छोड़कर स्वप्नदृष्ट फल की स्पृहा कर रहा होता है।[7] पाप-कर्मों तथा पुण्य-कर्मों का भी कोई औचित्य नही।[8] भूतवादी पूछता है कि जिस पत्थर की लोग कपूर-धूप आदि से पूजा करते है, तो क्या उस पत्थर ने पहले कोई पुण्य किया था ?[9] वैसे ही एक दूसरे पत्थर पर लोग मूत्रादि करते हैं, तो क्या उसने पहले कोई पाप किया था ?[10] अपनी इस प्रकार की तत्त्वमीमासा से भूतवादी सांसारिक भोग-विलासो को ही मानव-जीवन का लक्ष्य बताता है।[11]

आत्मा का निषेध करने वाले भूतवादियो की धारणाओ पर आक्षेप करते हुए कहा गया है कि ज्ञान-लक्षण-युक्त जीव शुभाशुभ कर्मों के कारण सुख एव दु ख को भोगने के लिए ससार मे जन्म लेता है।[12] जीव के पुनर्जन्म नही होने की मान्यता का खण्डन करते हुए कहा गया है कि नवजात शिशु पूर्वजन्म के सस्कारो से ही माता के स्तन-पान की ओर प्रवृत्त होता है।[13] भूत-चतुष्टय से जीवशक्ति की उत्पत्ति होने को असगत ठहराते हुए अमरचन्द्र सूरि का कहना है कि खाना पकाते समय बर्तन मे अग्नि, जल, वायु तथा पृथ्वी— इन चारों तत्त्वो का सयोग तो रहता ही है, फिर क्या कभी इस बर्तन मे जीव की उत्पत्ति हुई ?[14] ससार मे रूप-वैचित्र्य तथा गुण-वैचित्र्य तथा सुखो और दुःखो की व्यक्तिपरक विभिन्नता यह सिद्ध करती है कि पूर्व-सचित शुभाशुभ कर्मों का मनुष्य पर प्रभाव पडता ही है।[15]

११. **मायावाद**— पद्मानन्द महाकाव्य मे निर्दिष्ट प्रस्तुत मायावाद शकराचार्य के मायावाद से सर्वथा भिन्न है। मायावादी की यह मुख्य स्थापना है कि ससार मे कुछ भी तात्त्विक नही है। दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् माया से आच्छादित है तथा स्वप्न एव इन्द्रजाल की भांति

१. वरागचरित, २४/२२-३५
२ वरागचरित, २४/२४-२६
३ "पक्वान्नादन लाजगिरठपिण्ड परदत्त प्रतिभुज्यते च यत।
स परानगति कथ बिभर्ति धनतृष्णा-स्रज देवनरतु तस्मात् ॥" वरागचरित, २४/२७, २४/२३-२४
४. "रविचन्द्रमसौ: ग्रहपीडा परपीडन्वमथ-द्रमन्त्रिणश्च।
विदुषा च दरिद्रता भमीक्ष्य मतिमान्को-भिलषेद् ग्रहप्रवादम् ॥" वरागचरित, २४/३६
५. वरागचरित, २४/३२-३३
६ "सयोगवद्भ्यो गुडपिष्टधातकीतायादिकभ्यो मदशक्तिवद् ध्रुवम्।" पद्मा०, ३/१२३
७ 'विहाय भोगानिहलोकसगतान, क्रियेत यत्न परलोककाक्षया।
प्रत्यक्षपाणिस्थफलोज्झनादिय स्वप्नान्तभाव्यफलस्पृहा हहा ॥" पद्मा०, ३/१२१
८ "धर्मोऽप्यधर्मोऽपि न सौख्यदु खयोर्हेतू विना जीवमिमौ खपुष्पवत ॥", पद्मा०, ३/१२४
९. "कर्पूरकृष्णागुरुधूपधूपनै, सत्पूज्यत पुण्यमकारि तेन किम्।" पद्मा०, ३/१२५
१० "ग्रावण परस्योपरि मानवव्रजैर्न्यस्य क्रमौ मूत्रपुरीषमूत्रणा।
यद् रूप्यते चूर्णकृते च खण्ड्यते सन्दह्यते पापमकारि तेन किम् ॥" पद्मा०, ३/१२६
११. "ताभि. सुख खेलतु निर्भय विभुर्मरालरोमावलितूलिकाग्रक ॥" पद्मा०, ३/१२९
"भाज्यानि भोज्यान्यमृतोपमानि च पेयानि पेयानि यथारुचि प्रभो।" पद्मा०, ३/१३०
१२. पद्मा०, ३/१३७-३९
१३. "तज्जातमात्र कथमर्भको भृश स्तन जनन्या वदन निवेशयन् ?" पद्मा०, ३/१४४
१४. पद्मा०, ३/१४६-५१
१५. पद्मा०, ३/१५३-५५

अयथार्थ है।[1] संसार के सभी सम्बन्ध और पुण्य-पाप की व्यवस्था भी मिथ्या ही है।[2] मायावादी इस लोक में उपलब्ध सुखो से ही सन्तुष्ट रहने का उपदेश देते हैं तथा तपश्चर्या आदि द्वारा पारलौकिक सुखों की प्राप्ति भ्रम मानते हैं।[3] दृष्टान्त द्वारा अपनी मान्यता को स्पष्ट करते हुए मायावादी कहता है कि एक शृगाल मुंह मे मास के टुकड़े को दबाते हुए नदी-जल मे दिखाई देती हुई मछली को पाने के लिए लपका तथा मांस के टुकडे को नदी-तट पर ही छोड आया। परन्तु मछली जल के अन्दर घुस गई और मास का टुकडा भी गृध झपटा मारकर ले गया।[4]

मायावादी के तर्कों का खण्डन करते हुए कहा गया है, ससार मे वस्तु-सत्ता का अपलाप नही किया जा सकता है क्योंकि असत् वस्तु से कार्य-सम्पादन वैसे ही असम्भव है जैसे कि स्वप्नदृष्ट वस्तु से प्रयोजन-सिद्धि।[5] मायावाद के अनुसार इहलौकिक सुखो को पुरुषार्थ मानना और पारमार्थिक सुखो को हेय बताना उन्मत्तावस्था का द्योतक है।[6]

१२. **तत्त्वोपप्लववाद**—वीर नन्दी कृत चन्द्रप्रभचरित मे इस वाद का 'नास्तिकागममाश्रित' के रूप मे उल्लेख आया है।[7] तत्त्वोपप्लववादी चार्वाकों से भी एक कदम आगे थे। चार्वाक कम से कम चार भूतो तथा 'प्रत्यक्ष' प्रमाण को तो मानते थे, परन्तु तत्त्वोपप्लववादी इन सब पदार्थों को भी अस्वीकार कर देता है। जयराशि के 'तत्त्वोपप्लवसिंह' मे इस वाद की विशेष चर्चा आई है। तत्त्वोपप्लववादी जीव और अजीव की तात्त्विक स्थिति का ही अपलाप करते है, फलत जीव के धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष आदि स्वय ही बाधित हो जाते हैं।[8] चन्द्रप्रभचरित मे इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि बन्ध-मोक्ष आदि धर्म-धर्मी पर ही अवलम्बित हो सकते हैं, परन्तु जब जीव ही असिद्ध है तो उसके धर्मों की चर्चा करना व्यर्थ है।[9] तत्त्वोपप्लवादी की मान्यता है कि जीव-अजीव आदि तत्त्व पुरातन मनोवृत्ति के परिणाम-स्वरूप औचित्यहीन हो चुके हैं, ठीक वैसे ही जैसे पुराने वस्त्र की तह को खोलते समय वह जीर्ण-शीर्ण अवस्था मे ही छिन्न-भिन्न हो जाता है, वैसे ही जीव-अजीव आदि तत्त्ववादियो की मान्यताए भी विचारने पर छिन्न-भिन्न हो जाती है।[10]

तत्त्वोपप्लववादियो की उपर्युक्त मान्यताओ का खण्डन करते हुए कहा गया है कि ससार के सभी प्राणियो को प्रत्यक्ष-अनुभव द्वारा सुख-दुःख का स्वसवेदन यह सिद्ध करता है कि जीव की सत्ता होती है।[11] ज्ञान स्वसवेदी नही, बल्कि इसको जानने के लिए किसी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता होती है—इस प्रमाण-सम्बन्धी अनवस्था-दोष की सभावनाओ का निराकरण करते हुए कहा गया है कि ज्ञान वेद्य एव वेदक दोनो है।[12]

इस प्रकार जैन सस्कृत महाकाव्य के लेखकों ने भारतीय दर्शन की अनेक विवादपूर्ण मान्यताओं की युगानुसारी तर्क-शैली मे पुनर्विवेचना की है। महाकाव्यकारो का मुख्य उद्देश्य यह रहा है कि वे जैन दर्शन की युगीन प्रवृत्ति के अनुरूप विभिन्न जैनेतर वादो की स्याद्वादी पृष्ठभूमि में व्याख्या कर सकें। उन्होंने अनेक दर्शनो की मान्यताओं का यद्यपि खण्डन किया है, तथापि वे सिद्धान्तत. यह भी स्वीकार करते हैं कि उपर्युक्त वादो को विभिन्न नयो अथवा दृष्टियो के रूप मे अनेकान्तवादी तर्क-पद्धति में स्थान दिया जा सकता है। जैन दार्शनिको की अनेकान्तवादी एव स्याद्वादी इसी चेतना के पीछे सत्यावबोध का वह आग्रह छिपा हुआ है जिसके अनुसार प्रत्येक वाद के मन्थन से ही सत्य के दर्शन होते है—**वादे वादे जायते तत्त्वबोध**। भारतीय दार्शनिको ने भी यह मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है कि असत्य के मार्ग पर चलते हुए भी सत्य तक पहुचा जा सकता है—**असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततसत्य समीहते।**

१. "महामति प्राह न तत्त्वत किमप्यस्त्यत्र माययमहो विजृम्भते।
विलोक्यमान निखिल चराचर स्वप्नेन्द्रजालादिनिभ विभाव्यते॥" पद्मा०, ३/१६६
२. "शिष्यो गुरु पुण्यमपुण्यमात्मज पिता कलत्र रमण: परो निज।
इत्यादिक यद्व्यवहार इत्यसौ किञ्चित् पुनश्चकास्ति नैव तात्त्विकम्॥" पद्मा०, ३/१६७
३. पद्मा०, ३,१६६
४. "मास तटान्ते परिमुच्य जम्बुको मीनोपलम्भाय लघुप्रधावित।
मीनो जलान्त प्रविवेश सत्वर मास च गृध्रो हरति स्म तद् यथा॥" पद्मा०, ३/१६८
५. पद्मा०, ३/१७१
६. पद्मा०, ३,१७२
७. "केचिदित्थ यत प्राहुर्नास्तिकागममाश्रिता·।" चन्द्रप्रभ०, २/४४
८ "अजीवस्य कथ जीवापेक्षस्तस्यात्यये भवेत्।" चन्द्रप्रभ०, २/४५
९. "कथ च जीवधर्मा. स्युर्बन्धमोक्षादयस्तत।
सति धर्मिणि धर्मा हि भवन्ति न तदत्यये॥" चन्द्रप्रभ०, २/४६
१०. "तस्मादुपप्लुत सर्व तत्त्व तिष्ठतु सवृतम्।
प्रसार्यमाण शतधा शीर्यते जीर्णवस्त्रवत्॥" चन्द्रप्रभ०, २/४७
११. "प्रतिजन्तु यतो जीव स्वसवेदनगोचर.।
सुखदु खादिपर्यायैराक्रान्त. प्रतिभासते॥" चन्द्रप्रभ०, २/५५
१२. "न चास्वविदित ज्ञान वेद्यत्वात्कलशादिवत्।" चन्द्रप्रभ०, २/५६

Kundakunda on Sāṁkhya-Puruṣa

Dr. Shiv Kumar

Kundakunda occupies a unique position in Jaina tradition. His early date, the authoritative character of his works, the utility of his writings equally for all spiritual minded persons monks or laymen, Jaina or Non-Jaina, are some of the important features which raise him to the place of honour in the arena of Indian philosophy. His writings carry still more importance for history of Indian philosophy specially the Sāṁkhya system. At his age the philosophical doctrines of the Sāṁkhya were crystalised. However, the early works of Sāṁkhya are in oblivion and we know very little of the Sāṁkhya theories before Īsvarakṛṣṇa. Kundakunda's exposition of Sāṁkhya presents a picture of pre-Īsvarakṛṣṇa Sāṁkhya. His exposition is significant for the reconstruction of pre-Īśvarakṛṣna Sāṁkhya. The points of criticism raised by the early authors like Kundakunda surely help in the further clarification of the Sāṁkhya thought. The present paper purposes to study Kundakunda's comments on the Sāṁkhya concept of *Puruṣa* with the above view point.

Kundakunda finds following faults in the Sāṁkhya-explanation of the nature of *Puruṣa*.

The Sāṁkhyas do not hold that the molecules of *karmans* change into various modes of *karmans*. Therefore, Sāṁkhya theory implies the non-existence of worldly state and transmigration of soul.[1] The same defect will further result if it is again supposed that the soul does not undergo emotional modifications like anger, etc[2]

Kundakunda further finds fault with the theory that agency of all kinds belongs to *Prakṛti* and the *Puruṣa* is ever free, eternal, non-agent, not liable to any change and contamination. According to this theory *Puruṣa* is bound by *karmans* and the *karmans* are done and belong to *Prakṛti*, though the experiencing entity is the *Puruṣa*.[3] It implies that the acting entity and the entity experiencing the fruits of the *karmans* are different and, hence, the acting agent will not enjoy or suffer for the acts. Consequently, it will leave no utility for the prescription of ethical discipline. No one will suffer for the sin of co-habitting with other's wife because the soul, the experiencing entity, is not involved in such an act. The karmic material in man creating or longing for woman belongs to *Prakṛti* and the karmic material in woman longing for man also belongs to *Prakṛti* *Prakṛti* is not an experiencing entity.[4] Similarly, no one will experience the fruit of killing

1. 'कार्मणवर्गणासु चापरिणममानासु कर्मभावेन ।
   संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥,' *Samayasāra*, Kashi, 1950, 117
2. 'अपरिणममाने हि स्वयं जीवे क्रोधादिभिः भावैः ।
   संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥,' *Samayasāra*, 122
3. 'एवं सांख्योपदेशं ये तु प्ररूपयन्तीदृशं श्रमणाः ।
   तेषां प्रकृतिः करोत्यात्मानश्चाकारकाः सर्वे ॥,' *Samayasāra*, 340
4. *Samayasāra*, 335-37

others. The act of killing someone is the karmic material belonging to *Prakṛti* and the act of being killed also is the karmic material belonging to *Prakṛti*.[1] Therefore, the experiencing entity, viz., the *Puruṣa* is not affected at all.

Kundakunda's record of Sāṁkhya presents the pre-Īśvarakṛṣṇa stage of Sāṁkhya. On account of the non-availability of some work of that period we have no evidence to test the verasity of the account. The fundamental position of Sāṁkhya recorded by Kundakunda that *Puruṣa* is not an agent; the agency belongs to *Prakṛti* is in accordance with the Sāṁkhya position[2] The Sāmkhyas emphatically maintain that *Puruṣa* is inactive, though an experiencing entity.[3] The Sāmkhyas further emphasize as expressed by Kundakunda, that agency belongs to *Prakṛti*. Kundakunda, in accordance with the Jaina doctrine, assigns independent status of a category to karman and thinks that the karma-molecules should be regarded as causing some mode of *karmans* while the self undergoes emotional modifications. When Kundakunda states that the Sāṁkhyas do not believe in it; it implies that it is the presupposition of the Jainas while the Sāṁkhyas do not accept it. According to the Sāṁkhyas, *karmans* are not an independent category. It can be reduced by them to the substratum of activity through the maxim of non-difference between act and the agent. In case of an embodied being, according to the *Sāmkhyasūtra*,[4] agency belongs to *Ahamkāra* which, according to Vijñānabhikṣu, represents the internal organs[5] It is again right to say from Sāṁkhya point of view that the soul does not undergo any psychic change.

No post-Kundakunda Sāṁkhya author has tried to alleviate these objections. It will worthwhile, therefore, to evaluate them from Sāṁkhya point of view. The Sāṁkhyas do not consider acts as molecules or having substial existence. The acts cast their impressions on *Buddhi* and these impressions determine *Puruṣa's* future state of birth. In worldly existence *karmans* are erroneously ascribed to *Puruṣa*. Even though *Puruṣa* may appear active, yet he is not really so.[6] Activity is falsely attributed to him due to his association with *Buddhi* just as a brahmin being taken up along with the thieves is falsely considered to be a thief.[7] He can only be metaphorically considered to be active just as the lord of warriors is metaphorically called a warrior.[8] The Yuktidīpikā remarks that activity may be of seven kinds and *Puruṣa* does not have any of them. (i) It does not ascertain the objects through its contact with the external and the internal organs. (ii) It does not attain the state of subordination or principal through the qualities in the form of consciousness, etc, to the three *Guṇas*. Thus, *Puruṣa* does not act with the *Guṇas* as woman and a boy. (iii) It does not employ anyone to activity while situated at one place just as the one who sets a charriot, a cart or a machine in motion. (iv) It does not produce anything from itself like a lump of clay. (v) It does not act upon something like a potter. (vi) It does not get something done through mere order just as juggler. (vii) It does not produce something jointly like mother and father[9] The Yuktidīpikā further observes that *Puruṣa* cannot be active because it is conscious

1. 'तस्मान्न कोऽपि जीव उपघातकोऽस्ति युष्माकमुपदेशे ।
   यस्मात्कर्म चैव हि कर्म हन्तीति भणितम ॥,' *Samayasāra*, 339
2. *Sāmkhyakārikā* (with *Tattvakaumudī*), Delhi, 1967, 19.
3. *Sāṁkhyakārikā*, 11
4. 'अहङ्कार कर्ता न पुरुष ', *Sāmkhyasūtra* (with *Pravacanabhāṣya*), Delhi, 1977, 6।54
5. 'अहङ्कारः, स एव कृतिमान्,....... नदेकस्यैवान्तःकरणस्य वृत्तिमात्रभेदाशयेन ।', *Sāṁkhyapravacanabhāṣya*, 6।54
6. *Sāṁkhyasūtra*, 1।164
7. *Māṭharavṛtti* (with *Jayamaṅgalā*), Varanasi, 1920, 20
8. 'यथा स्वामी स्वयमयोद्धापि योधभृत्यसयोगाद् योद्धेति व्यपदिश्यते, तथा पुरुषोऽप्युपचारेण कर्तेति ।', *Jayamaṅgalā*, 20
9. *Yuktidīpikā*, Delhi, 1971, 19

in nature while activity is observed in unconscious objects only. Moreover, *Puruṣa* is pure and unmixed in nature and, hence, the activity is not possible in him. Activity is observed only in the objects which are mixable in nature as is the case with milk.[1] It suggests that the Sāṁkhyas admit contrast or opposition between conscious and unconscious and when the unconscious element is supposed to be active on account of its very constituents, the conscious principle is supposed to be inactive. The Sāṁkhyas hold that *Puruṣa* is above all kinds of agency to retain its immutability and eternality. Agency involves some change and the change ultimately amounts to non-eternity. Though the *Prakṛti* is accepted by the Sāṁkhyas as eternal even though liable to change also, but such a case is not possible with *Puruṣa*. Change is possible in case of an object having form and shape but *Puruṣa* is not so. Moreover, agency may be understood as producing something from itself or inducing others to activity. The former is not possible because *Puruṣa* is formless and unproductive, and the acceptance of second will lead to the further absurdities of admitting in *Puruṣa* the desire, aversion, effort, volition, etc., as also the power of inducing others to activity. Since no activity is possible in case of *Puruṣa*, the doership is also negated in him. In this way logically speaking from Sāṁkhya point of view the acts cannot bring any change in *Puruṣa*. Therefore, all types of reactions to *karmans* are negated in case of *Puruṣa*.

The crux of the problem lies in the supposition of the Sāṁkhyas that inspite of its non-agency *Puruṣa* is the experiencer of results of the acts done by *Prakṛti*. This, according to Kundakunda involves various absurdities. The major defect is that there remains no cause to bring *Puruṣa* to worldly state Further, it leaves no scope for the prohibition of transgression of ethical conduct. If *Purusa* is not an agent, there remains nothing to make him *bhoktā*. It is unreasonable to suppose that one experiences the result of the acts done by the other. The absolute uncompromising dualism of Sāṁkhya allowing no scope for any change in soul in empirical stage exposes Sāṁkhya for such a criticism. The Sāṁkhyas justify their theory on the basis of common experience. *Purusa* experiences the result of the acts though not doing the acts thinking itself identical with or owner of *Buddhi* which is the real agent just as the result of victory or defeat of the soldiers is experienced by the king when the king considers himself identical with or owner of the soldiers[2] The case is further exemplified as *Purusa* though inactive experiences the result done by other entity just as the king enjoyes the grains grown by others[3] The *Jayamangalā* states that *Puruṣa*, though inactive, is the enjoyer as a child, fire or a tree are enjoyer though doing nothing for themselves.[4] As a matter of fact, *bhoga* in real sense is not possible in *Puruṣa*. *Purusa* is devoid of all physical and mental faculties required for it Hence, he is considered to be an *experiencer* only as inactive spectator. Therefore, earlier authors of Sāṁkhya-Yoga like Īśvarakṛṣṇa[5] and Vyāsa[6] explain experience through *Puruṣa's* proximity or contact with *Buddhi*, through which the *Purusa* developes in himself a sense of pleasure or pain arising of the real experience by *Buddhi*. Due to its contact with *Buddhi* which is real enjoyer *Puruṣa* considers itself an owner of *Buddhi's* activities and experiences pleasure or pain really situated in *Buddhi*. Here, process of *Purusa's* experience remains unexplained.

---

1. 'कथमस्य निष्क्रियत्वमिति चेत् ? चैतन्यात् । ...... किंच अनामिश्ररूपत्वात् ।,' *Yuktidīpikā*, 19
2. 'ते च मनसि वर्तमाना. पुरुषे व्यपदिश्यन्ते । स हि तत्फलस्य भोक्तेति । यथा जय पराजयौ वा योद्धृषु वर्तमान: स्वामिनि व्यपदिश्यते ।,'
   Yogabhāṣya, Varanasi, 1970, 12:4

   also : *Sāṁkhyatattvakaumudī*, 62
3. 'अकर्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत्', *Sāṁkhyasūtra*, 1:105
4. 'बालहुताशतरव स्वयमकृतानां यथा हि भोक्तार: ।
   पुरुषोऽपि विषयफलानां स्वयमकृतानां तथापि भोक्ता ।,' *Jayamaṅgalā*, 19
5. *Sāṁkhyakārikā*, 20
6. 'चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिन ',' *Yogabhāṣya*, 1:4

Vācaspatimiśra[1] introduces his theory of *single reflection* and Vijñānabhikṣu[2] of *double reflection* to explain it. According to the former *Puruṣa* is reflected into *Buddhi* and according to the latter the *Buddhi* having *Puruṣa's* reflection is again reflected back into *Puruṣa*. It implies that the *bhoga* of *Puruṣa* is different from that of *Buddhi*. The *bhoga* understood in common parlance can be divided into two stages in Sāṁkhya. In the case of experience of taste, for example, the physiological organ of taste coveys its impression to *Buddhi* which assumes a state abounding in *Sattva*, *Rajas* and *Tamas* in accordance with the nature of the object. This is real *bhoga*. *Puruṣa* situated in contact with *Buddhi* as a witness feels himself the owner of the feeling. This is the *bhoga* of *Puruṣa*. *Puruṣa* develops this feeling as long as his sense of ownership is not dispelled by true knowledge of his unrelated nature.

Here also a question naturally arises if experience of *Puruṣa* is not real why *Puruṣa* is considered to be an enjoyer and not an apparent enjoyer as is the case with its being active. The real position of Sāṁkhya remains that the characteristics not demanding some change are supposed to really belong to *Puruṣa* while the others requiring some deviation from the real nature are negated in him. It clarifies why *Puruṣa* is not an agent, but is an experincer. The sufferings due to committing sin are actually experienced by *Buddhi* which accompanies *Puruṣa* as long as he is bound. The impressions of past acts – good or bad are stored in *Buddhi* while *Puruṣa* enjoys or suffers only through its association with *Buddhi*. The Sāṁkhyas can thus alleviate the objection raised by Kundakunda that the experience of suffering through transgressing the moral conduct cannot be satisfactorily explained in Sāṁkhya. As a matter of fact all experiences are unreal from *Puruṣa's* side but seem to be real due to ignorance. This is precisedly bondage. When this notion is dispelled, *Puruṣa* gets liberation.

The above discussion is concluded with the following remarks. Sāṁkhya is very close to Jainism in metaphysical position but some presuppositions of the two system introduce such differences. The Jainas consider *karmans* as molecules affecting the soul while the Sāmkhyas consider *karmans* to be the functioning of *Buddhi*. According to Jaina metaphysics soul reacts to the *karmans* and becomes the object of *vyavahāranaya*, while according to the Sāmkhyas there is no fundamental difference in *Purusa* in its *vyāvahārika* state from the *pārmārthika* state. Even in body *Puruṣa* remains uncontaminated and without change. The above defects may apply to Sāṁkhya if the whole situation is viewed in light of Jaina metaphysics, but the Sāṁkhyas may alleviate them in their own way, which may not be acceptable to the Jaina position. At the present state of our knowledge we cannot rise abovecertain presuppositions to explain the metaphysical problems, and hence the objections. Kundakunda has suggested the drawbacks in uncompromising absolute dualism of Sāṁkhya, which serves as a guideline for later authors. No Sāṁkhya text tries to alleviate these objection from Sāṁkhya point of view. It adds to the credit of Kundakunda that his discussion of the nature of *Puruṣa* presents picture more vivid than that presented by Sāṁkhya authors themselves.

1. *Sāṁkhyatattvakaumudī*, 5
2. *Sāṁkhyapravacanabhāsya*, 1.87

Some Less Known Verses of Siddhasena Divākara

Prof. M. A. Dhaky

The illustrious Jaina epistemologist, dialectician and poet of the calibre of Kālidāsa, namely Siddhasena Divākara (*c.* late 4th-early 5th cent. A.D.), had produced more than what today is extant Among his lost works was the treatise on Jaina logic, the *Nayāvatāra*[1]; a sentence perhaps from this very work[2] is cited by Siṁha Sūri kṣamāśramaṇa (*c.* A.D. 625-675) in his commentary[3] on Mallavādī kṣamāśramaṇa's *Dvādaśāra-nayacakra* (*c.* mid 6th cent A.D.).[4] And although his 20 *dvātriṁśikās* in Sanskrit are available (from the alleged 32 [5]), the existence of some of the unavailable can be inferred from the quotations therefrom by other writers.

The *Siddhasena-carita* inside the *Prabhāvaka-carita* (S. 1344/A.D. 1278) of Prabhācandrācārya of Rāja-gaccha[6] gives a legendary account of Siddhasena, the account at best can boast to contain only a few fragmented facts that could be historical.[7] Among the significant data preserved in this work are a few quotations whose utterance is ascribed to Siddhasena Divākara, though these are not traceable inside his currently known works.

Among such verses are the following which he is alleged to have composed in praise of, and recited before, king Vikramāditya (probably Candragupta II, A.D. 382-415) :

अपूर्वेय धनुर्विद्या भवता शिक्षिता कुतः ।
मार्गणौघ. समभ्येति गुणो याति दिगन्तरम् ॥

अमी पानकरकाभा· सप्तापि जलराशय· ।
यद्यशोराजहंसस्य पञ्जरं भुवनत्रयम् ॥

सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या संस्तूयसे बुधैः ।
नारयो लेभिरे पृष्ठ न वक्ष: परयोषित. ॥

---

1. *Cf.* Muni Jambuvijaya (editor), *Dvādaśāram-nayacakram*, pt. 1, Bhavanagar, 1966, Preface (Sanskrit) p. 10 and Introduction (Gujarātī) p. 48.
2 अस्ति-भवति-विद्यति-पद्यति-वर्तंतय: सन्निपातषष्ठा: सत्तार्था: इत्यविशेषेणोक्तत्वात् सिद्धसेनसूरिणा ।
3. Jambuvijaya : *Dvādaśāraṁ-nayacakram*, p. 324.
4. The style of the phrase under reference does remind of Siddhasenācārya.
5 The medieval and later medieval *prabandhas* and *caritas* so ever. There are at present no means available to confirm or contradict their statement.
6. *Ed.* Jinavijaya Muni, Singhi Jaina Series, No. 13, Ahmedabad-Calcutta, 1931.
7. I am discussing this question at some length in my paper "Was Siddhasena Divākara Yāpanīya ?"

भयमेकमनेकेभ्यः शत्रुभ्यो विधिवत्सदा ।
ददासि तच्च ते नास्ति राजन् चित्रमिद महत् ॥

These verses do not figure in Siddhasena's *Guṇavacana-dvātriṁśikā* (*Dvā.* 11) which evidently is addressed to a king.[1] The style of the aforenoted verses apparently is pre-medieval. They do possess wit, strength, kick and dynamism not unlike those that characterise stanzas in some of Siddhasena's known *dvātriṁśikās*. However, these verses are today not traceable in other known sources which otherwise show familiarity with one or the other of his works.[2] Under the circumstances Siddhasena's authorship of the verses can genuinely be doubted. Indeed, there were in the past several pre-medieval Sanskrit poets possessing considerable skill and virtuosity. And the medieval *prabandha*, *kathānaka* and *carita* writers possessed strong propensity for picking up quotable quotes from various sources and different authors and, regardless of the period, style and provenance, used them depending on what the situation demanded ! The case of the above-cited verses must, therefore, be kept open, even when one may grant the possibility of their being the product of Siddhasena Divākara.

The *Prabhāvaka-carita*, at one other place, introduces four verses in the context of Siddhasena,[3] which, judging by their style, cadence, content and colour can be unhesitatingly hailed as coming from the pen of none else but Divākara :

प्रकाशितं यथैकेन त्वया सम्यग्जगत्त्रयम् ।
समग्रैरपि नो नाथ परतीर्थाधिपैस्तथा ॥

विद्योतयति वा लोकं यथैकोऽपि निशाकरः ।
समुद्गतः समग्रोऽपि किं तथा तारकागणः ॥

त्वद्वाक्यतोऽपि केषाञ्चिदबोध इति मेऽद्भुतम् ।
भानोर्मरीचयः कस्य, नाम नालोकहेतवः ॥

न चाद्भुतमुलूकस्य, प्रकृत्या क्लिष्टचेतसः ।
स्वच्छा अपि तमस्त्वेन भासन्ते भास्वतः कराः ॥

However, the *Prabhāvaka-carita* is a work of a date late in the medieval period, for permitting an indubitable conclusion, a definite evidence for the indicated attribution from an earlier and a more reliable source is needed. For the first two verses the evidence comes from the *Dharmopadeśamālā-vivaraṇa* (S. 905/A.D. 859) of Jayasiṁha Sūri.[4] The author quotes these verses as of Siddhasena Divākara's by an unambiguous qualificatory statement to the effect :

---

1. For detailed discussion, see Charlotte Krause, "Siddhasena Divākara and Vikrmāditya," *Vikrama Volume*, Ujjain, 1948, pp. 213-280. Pt. Hiralal Jain wrote a paper in Hindi in which he places Siddhasena Divākara exclusively in Candragupta II's time instead of his predecessor Samudragupta as well as Candragupta II as was done by Krause :
   Cf. "A contemporary Ode to Chandragupta Vikramāditya", *Madhya Bhāratī*, No. 1, Jabalpur University, Jabalpur, 1962.
2. Perhaps the nature and content of these stanzas are such that the Jaina writers hardly had use of them in their commentatorial writings.
3. Jinavijaya Muni, p. 59.
4. *Ed.* Pt. L.B. Gandhi, Singhi Jaina Series, No. 28, Bombay, 1949.

Tad=uktaṁ ca Siddhasena Divākareṇa——(p. 37)

Jayasiṁha Sūri—disciple of Kṛṣṇarṣi—is a pre-medieval writer who wrote his *vivaraṇa* some 419 years before Prabhācandrācārya. There can, then, be absolutely no doubt that what he quotes is genuine Siddhasena.

The authenticity of the next two verses is upheld by an authority no less than Yākinīsūnu Haribhadra Sūri (active *c.* A.D. 745-785). In his *Āvaśyaka-vṛtti* (C *c.* A.D. 750) he cites those very verses as from *Vādimukhya*.[1] By 'Vādimukhya', at two other occasions, he also had meant Mallavādi Sūri and Samantabhadra,[2] the former a Śvetāmbara logician and dialecticiam (earlier referred to) and the latter his counterpart of the Digambara sect. However, in these latter two cases he specifically alludes to their names as well. In the case of the third "Vādimukhya", referred to in the above context, Haribhadra offers no such nomenic clarification, and, in this case, by *reductio ad absurdum*, the "Vādimukhya" has to be a third person, very plausibly Siddhasena Divākara. That it must be so is supported by another reference, in Haribhadra Sūri's *Prajñāpanā-sūtra-ṭīkā* (*Pradeśavyākhyā*), where he quotes a verse by "Vādimukhya,"[3] which is verse 13 in Siddhasena's *Dvātriṁśikā* 2. That Siddhasena Divākara was the author of these aforenoted four exquisite verses cited in the *Prabhāvaka-carita*, is thus beyond doubt established.

The *Dharmopadeśamālā-vivaraṇa*, after the first two verses, quotes the following one and not those two quoted in the *Prabhāvaka-carita* :[4]

त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।
आप्ताभिमानदग्धाना प्रे(स्वे)ष्ट दृष्टेन बाध्यते ॥

The style of this stanza surely is in agreement with that of other verses of Siddhasena. The question arises whether all the 4+1=5 verses discussed in the foregoing originate from the same *Dvātriṁśikā*, separate *Dvātriṁśikās* This problem cannot at present be resolved. Hopefully, some day the lost ones will come to light from some uncombed area when we possibly can identify the original lodgment of the verses under reference in Divākara's productions. Till then we may at least cherish these verses as a precious small addition to our Siddhasena possessions.

SUPPLEMENTUM

As an after thought, and indeed with some hesitance, I would suggest that, if the verses beginning from *Apūrveyaṁ dhanurvidyā* could be by Siddhasena Divākara, as they do not seem unlikely, they may have formed the part of the *Guṇavacanadvātriṁśikā* which today contains 28 verses, falling short by 4 more for making it a complete *dvātriṁśikā* How far the former verses fit in the *Guṇavacana*, and, if they do, where exactly their position could be is a point that can be settled by experts on Sanskrit poetics.

While searching for more verses by Siddhasena, I came across one more; it is possibly from one of his hitherto unknown *dvātriṁśikās*. The verse graphically describes, as it seems, the condition of a bad

1. *Cf.* Mohanlal Mehta, *Jaina Sāhitya kā Bṛhad Itihāsa*, pt. 3 (Hindi), Parshwanath Vidyashram Series, No. 11, Varanasi, 1967, p. 375, for quotation.
2. *Cf.* H.R Kapadia (*ed.*), *Anekāntajayapatākā*, Vol. II, Gaekwad's Oriental Series, No. CV, Baroda, 1947, Introduction, pp. LC, LCVI and LCVII.
3. Mehta, *Jaina Sāhitya.*, p. 370.
4. Gandhi, p. 37.

speaker in the assembly of erudites :[1]

तथा चाहुः श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादाः:

स्वैरं समुद्वहति जृम्भणमातनोति
निद्रायते किमपि जल्पति वस्तुशून्यम् ।
आस्ते विलोकयति खं पुनरेव याति
भूताभिभूत इव दुर्बलकः सभायाम् ॥

Since this verse does not figure inside his known *dvātriṁśikās*, it may have belong to a *dvātriṁśikā* treating the theme of *sabhā* and *sabhāsada*.

This verse has been quoted by Jinaprabha sūri of Kharatara-gaccha in his *Kātantra-Vibhrama-ṭīkā* (S. 1352/A.D. 1296), as of Siddhasena Divākara. The style, tone, proclivity, cadence and cunning doubtless are of Siddhasena Divākara. A diligent search inside the Jaina literature, particularly inside the āgamic *cūrṇis*, *vṛttis*, *ṭīkās*, and of course *kathānakas*, *caritas*, *Prabandhas* as well as *subhāṣita*-anthologies and works on poetics is likely to reward with the discovery of some more such stanzas. For Siddhasena's compositions glitter like jewel in any corner they lie hidden or undetected. They cannot be missed, nor can they be mistaken as anybody else's, by a perceptive eye.

---

1. Comp. Muni Shri Punyavijayji, *Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts Jesalmer Collection*, L.D. Series, 36, Ahmedabad, 1972, p. 207

The Style of Writing for Debate in Indian Philosophy

Sh Bishan Swarup Rustagi

The metaphysical truths, such as : "Brahman" or supreme soul, "Samsāra" or transmigration etc. are almost impossible to inquire. But, Indian scholars i.e. Rsis and Munis explored many ways for such inquiries. One way was to organise "Debates". The debates have been exhaustively dealt with in the "Nyāya-sūtra" of Nyāya philosophy. According to them the debate is called as ; Kathā. The "Kathā" or debate is of three kinds : Vāda, Jalpa and Vitaṇḍā.

Vāda : The main business of "Vāda" (discussion) was to ascertain the metaphysical truths, therefore, it rarely included the controversial subjects Generally, "Vāda" took place between a preceptor and his pupils and occasionally took the shape of a conference, including some "Prāśnikas" or doubters. In this "Vāda" own thesis is established by the evidences, the thesis of the opponent is refuted by the logic, but consistant according to the dogma of the componants and also consists all of the five-membered syllogism.[1] The discussion between Naciketas and Yama in "Kaṭhopaniṣat" is an example of "Vāda".

Jalpa : A debate, organised between the representatives of rival schools, to discuss the controversies for effect and victory, is called "Jalpa" (wrangling). In this, contestants depend upon the false means, like : Chala (quibble), Jāti (futile objection) and Nigraha-sthāna (point of defeat), other than the evidences and logic[2] The discussion between Yājñavalkya and other scholars, which took place in the court of Janakarāja, is described in Bṛhadāraṇyakopaniṣat as "Jalpa".

Vitaṇḍā : When the above said "Jalpa" converted into discredit and repudiate the rival's dogma and tenets as a main object of the contestants, without any direct effort to justify and fortify his own, is called "Vitaṇḍā" (cavil).[3] The repudiation of "Advaitic Upādhi" of "Māyāvāda" and "Mithyāvāda" by Śrī Madhva are known as "Vitaṇḍā".

In "Jalpa" and "Vitaṇḍā" the principle aim was to achieve effect and victory, therefore, the learned, impartial and unbiased interrogators were made compulsory to attend such debates with the rights to cross-question both of the parties and give the right judgement.

The ' Caraka-saṁhitā", a famous Āyurvedic work, also gives a detailed discussion about the debates.[4] The word "Saṁbhāṣā" is used for "Debate". It is divided into two parts : Sandhāya-saṁbhāṣā and Vigṛhya-saṁbhāṣā. The former one, also called as : Anuloma-saṁbhāṣā, can be translated as—friendly discussion and the latter as : aggressive debate According to Caraka, one should not enter into "Vigṛhya-saṁbhāṣā" with one's preceptor or men of similar position, "Sandhāya-saṁbhāṣā" with them is recommended for augmenting one's knowledge.

---

1. "Pramāṇa-tarka-sādhanopālambhah siddhāntāviruddhah pañcāvayavopapannaḥ pakṣa-pratipakṣa-parigraho vādaḥ", Nyāya-sūtra, 1 2.1.
2. "Yathoktopannas-chala-jāti-nigrahasthāna dohanosapālambho jalpah", Ibid., 1 2 2.
3. "Sa pratipakṣa-sthāpana hino vitaṇḍā", Ibid., 1.2.3.
4. See—Caraka-saṁhitā, Vimāna-sthāna, VIII.

Later, Jaina and Buddhist philosophers also came forward with their new concepts of debate. Buddhists refuted the Nyāya-theory of using "Chala", "Jāti" and "Nigraha-sthāna" in the debates. Simultenously, they themselves introduced two 'Nigraha-sthānas' i e. "Asādhanāṅga-vacana" and "adoṣodbhāvana".[1] But, Jainas refuted the whole concept of Nyāya and Buddhist philosophies. According to them proving one's dogma and tenets honestly is the right concept of "Vāda", not through Chala, Jāti and Nigraha-sthānas.[2]

Jainas classified "Debate" into two types : Vitarāga-kathā and Vijigīṣu-kathā. Here one thing is notable that Caraka accepts the whole description of "Vāda" under "Sandhāya-saṁbhāṣā" and of "Jalpa" and "Vitaṇḍā" under "Vigṛhya-saṁbhāṣā. According to Jainas ' Vāda" cannot be considered as "Vitarāga-kathā", therefore, Akalankadeva (8th cent. A.D.) has used the words "Vāda" and 'Jalpa" in the same meaning.[3] Prabhācandra (10th-11th cent. A D.) in his refutation, says that the eight points of defeat (Nigraha-sthāna)—"Apasiddhānta" by the word "Siddhāntāviruddha" and "Nyūna", "Adhika" and five fallacies (Hetvābhāsas) by the word "Pañcāvayavopapannah"—can be taken into account by the Naiyāyika definition of "Vāda".[4] So, "Vāda" is considered same as : ' Vijigīṣu-kathā". Further, "Vitarāga-kathā" must be free from all false means i e. Chala, Jāti and Nigraha-sthāna. "Vitaṇḍā" has been considered as "Vādābhāsa" or fallacy of Vāda.[5] According to them "Debate" must be having four components (caturaṅga). In other words, "Sabhāpati" i.e. chairman was made necessary for debate in addition to two contestants and interrogators.[6]

The peak of the 'aggressive debate' that how to achieve the effect and victory can also be seen in Jaina philosophy, when they introduced written debate. They decided the written style for it, called as "Patra" or letter. According to them the word "Patra" can be defined etymologically as : "Padāni trāyante gopyante rakṣyante parebhyaḥ svayaṁ vijigīṣuṇā yasmin vākye tat .... patram".[7] or such sentence is called "Patra", in which the inflected words (Padas) are hided by a disputant (desirous of victory) from his opponent. The hiding of inflected word means the hiding of its radical (prakṛti) and suffix (pratyaya) etc.[8] Such Patra-writing, so far, has not been seen in the available texts of other systems of Indian philosophy. But, Jainas refer to a "Patra" in the name of Yaugas i.e. Nyāya-Vaiśeṣikas, as :

Sainyalaḍbhāg nānantarānarthārthaprasvāpakṛdāśaitsyatonītkonenalaḍyu kkulādbhavo vaisopya-naiśyatāpastannanrraḍlaḍjut parāparatattvavittadanyonādiravāyanīyatvata evaṁ yadidṛktatsakalavidvargava-detaccaivamevaṁ tat.[9]

The above "Patra" can be understood as follows :

Pratijñā : Sainyalaḍbhāg nānatarānarthārthaprasvāpakrt āśaitsytonītkonenalaḍyukkulādbhavo vaisopya-naiśyatāpastan anrraḍlaḍjuṭ parāparatattvavittadanyah.........Dehaḥ prabodhakārīndriyādikāraṇakalāpaḥ āsamudrāt acalogirinikarah bhuvanasannivesaḥ vā sūryācandramasau prithivyādikāryadravyasamūhaḥ vā, partīyamānah samudrādih andhakārādiḥ ausṇyaṁ meghah na purusah, nimittakāraṇaṁasya, apitu buddhimatkāranaṁ.

---

1. Dharmakīrti : Vādanyāya, Bauddha-bhāratī, Vārāṇasī, 1972, pp. 4-5.
2. See—Akalaṅkadeva : Siddhiviniścaya-ṭīkā, pp. 315-17 ; Vidyānanda : Aṣṭasahasrī, p. 87 ; Prabhācandra : Prameya-kamala-mārtaṇḍa, p. 649.
3. "Samartha-vacanaṁ vādaḥ", Pramāṇa-saṁgraha (Akalankadeva), 51 ; "Samarthavacanaṁ Jalpaḥ", Siddhiviniścaya (Akalankadeva), 5.2.
4. Prameya-kamala-mārtaṇḍa, Nirṇaya Sāgara Press, Bombay, 1941, pp. 646-47.
5. "Tadābhāso vitaṇḍādirabhupeto vyavasthiteh", Nyāya-viniścaya (Akalaṅkadeva), 2.215.
6. Anantavīrya . Siddhiviniścayaṭīkā, 5.2.
7. Prameya-kamala-mārtaṇḍa, p. 685.
8. Ibid., p. 685.
9. Ibid., p. 686.

Hetu : Anādiravāyanīyatvataḥ............kāryatvāt,

Udāharaṇa : Evaṁ yadīdrktatsakalavidvargavat.........Evaṁ yatkāryaprakāraṁ tat tasmāt buddhimatkāraṇaṁ paṭavat.

Upanaya : Etat ca evaṁ...... ..Etat dehaḥ evaṁ kāryaprakārm.

Nigamana : Evaṁ tat.........Tasmāt buddhimatkāranaṁ.

This "Patra" is having all the five members of the syllogism i e Pratijñā (Proposition), Hetu (Middle-term), Udāharaṇa (Example), Upanaya (Application) and Nigamana (Deduction). Sainyalaḍbhāg– – – – tattvavittadanyah is proposition, anādiravāyanīyatvataḥ is middle-term, evam– – – vidvargavat is example, etaccaivaṁ is application and evaṁ tat is deduction.

"Sainyalaḍbhāg" stands for "Dehah" or body Here "Ina" means power or mightiness (prabhutva) what-so-ever exists with power or mightiness, is called "Sena" In this whole universe the soul (Ātmā) is considered as the extreme powerful or mighty, therefore, "Sena" stands for the soul (Ātmā). The word "Sainya" has been derived by adding the suffix "Ghyaṇa" to the "Sena" in its own meaning. Further, "Laḍ" means pastime (vilāsa) and "Bhāg" means 'to enjoy'. In this way, what-so-ever enjoys the pastime of the soul, is "Sainyalaḍbhāg" (body or dehaḥ).

In "Nānantarānarthārthaprasvāpakṛt". "Prasvāpa" means sleep. For which the object is the motive, called "Arthārtha" and its negative is "Anarthārtha". Similarly, "Anta" means destruction "Puruṣāya antaṁ rāti dadātīti antara" means to destruct some human-being is antara and opposite to it, is "Anantara". In the beginning, the particle (Nipāta) "Na" stands for negation. now, the whole phrase "Nānantarānarthārthaprasvāpa" means the sleep, which attributes the destruction to the human-being and also motive for some object. The last word "Kṛt" means 'to destroy'. Hence, what-so-ever destroys the sleep, which attributes the destruction to the human-being and also motive for some object is "Nānantarānarthārthaprasvāpakṛt". It stands for "Prabodhakārīndriyādikāranakalāpaḥ", i.e. the group of the senses having causal consciousness.

"Āśaiṭsyataḥ" stands for "Āsamudrāt", i.e. upto the limit of the ocean Here, for the word "Śaiṭ" Prabhācandra recommends the 'bhvādiganī dhātu (root) "Śisu" - to water.[1] After using the suffix "ghañ" root śiṣu converts into abstract noun "Śeṣaḥ". In its own meaning, suffix "an" is used, to form the word "Śaiṣaḥ". The suffix "nic" makes it "Śaiṣi". This word falls under the category of "dhu-saṁjñā"[2], by the effect of this "dhu-saṁjñā", prefix "Ā" is added to it,[3] which denotes the sense of 'all arround' and by the suffix "kvip" the ommission of its final 'i' and change of 's' to 'ṭ' comes into effect to make the word "Āśaiṭ". Further, "syatah" means flowing or moving. It means, which is watering the earth and also moving all arround the world, is called "āśaiṭsyatah". In other words "āsamudrāt" or upto the limit of the ocean.

The root "iṣ" with the prefix "ni" means to go or to move.[4] In the sense of its own meaning the suffix "kap" converts it into "nīṭka". So "nīṭka" means movable and opposite to it, is "anīṭka". Which stands for "Acalo girinikaraḥ" or unmovable mountains. Again, "a" is Lord Viṣṇu and "niṣ" to go, means what-so-ever goes towards Lord Viṣnu, is "anīṭka". Which stands for "Bhuvanasannivesaḥ", i e. the whole universe.

"Anā" means, which does not have the material cause (Samavāyī-kārana). That is "Inaḥ" or Sūrya (sun), "laṭ" or "laḍ" means "Kānti" or brightness and "yuk" means united. So, whatever is united with brightness, is "Candramas" (moon). In this way "Anenalaḍyuk" stands for "Sūryācandramasau" (The Sun and the Moon).

---

1. "Śiṣu ityayaṁ dhāturbhauvādikaḥ secanārthaḥ", Ibid., p. 687.
2. "Tadantā dhavaḥ", Jainendra-vyākaraṇa, 2.1.39.
3. "Prāgdhoste", Ibid., 1.2.148
4. See—"Iṣ gatihiṁsanayośca", Prameya-kamala-mārtaṇḍa, p 687.

Further, "Kula" stands for "Sajātīya-ārambhaka-avayayva-samūhaḥ" or the group of the similer originating constituants and "Kulāt udbhava" stands for "Ātmalābha" of the same or the origin of the same. Which is "Pṛithivyādikāryadravyā-samūhaḥ" or the group of the effects like earth etc. "Vā" stands for not spoken words, so the non-eternal quality (Guṇa) and action (kāraṇa) can be understood by it. "Eṣaḥ" stands for "Pratīyamānah" or being believed or trusted. "Apyaḥ" or which consists the water, is "Samudrādiḥ", i.e. ocean etc. The deed of night is "Naiśya", stands for "andhakāra" or darkness. "Tāpa" stands for "Auṣṇyaṁ" or heat. Which roars loudly is "Stan", stands for "Meghaḥ" or cloud.

"Rat" means discourse, "laḍ" means pastime and "juṭ" means to serve,[1] hence. "Raḍlaḍjuṭ" means which serves the pastime of discourse, i.e. "Nimittakārana" or instrumental cause. Consiquently, "Anṛraḍlaḍjuṭ" means "Na puruṣaḥ nimittakāraṇamasya" or the (ordinary) man is not a instrumental cause of the above-said things.

"Para" stands for the matter, in the form of cause like : "Pārthivādi", earthen etc. or "Parmāṇvādi", i.e atom etc, "Apara" stands for the matter in the form of effect, such as ; "Prithivyādi" or earth etc. and their "Tattva" means their form of shape. Having the knowledge of it, is "Parāparatattvavit" or the intellectual person, who has the knowledge of the matter in the form of cause and effect. "Tadanyaḥ" stands for "Abuddhimatkāraṇāt anyaḥ", i.e. other than cause in the form of non-intellectual person. Instead of this the word "Apitu" or but can be used. It means that "Parāparatattvavittadanyaḥ" stands for "Apitu buddhimatkāraṇaṁ", i.e. but, the intellectual person is the cause.

In this way, the proposition (Pratijñā) can be transformed as follows :

'Dehaḥ prabodhakārīndriyādikāranakalāpaḥ, āsamudrāt acalo-girinikaraḥ bhuvanasannivešaḥ vā sūryācandramasau pṛthivyādikāryadrvyasamūhaḥ vā, pratīyamānaḥ samudrādiḥ andhakārādiḥ auṣṇyam meghaḥ, na puruṣaḥ nimittakāraṇam asya apitu buddhimatkāraṇam."

The cause is present before the effect, so it is "Ādi". Other than "Ādi" is "Anādi", stands for "Kāryasandohaḥ" i.e. assemblage of effect and its "Ravah" or establishing stands for "Kārya", i.e. effect. Further, "Ayanīya" stands for "Pratipādya", i e. illustrating and its mode can be expressed by "tva". Hence, the middle-term (Hetu) "Anādiravāyanīyatvataḥ" can be transformed as "Kāryatvāt".

Similarly, "Yat" stands for "Anādiravāyanīyaṁ or Kāryaṁ", i.e. effect and "Īdṛk" for "Parāparatattvavittadanyah or Buddhimatkāraṇaṁ", i.e. the cause in the form of intellectual person. "Kalā" stands for "Avayava" or component. Which exists with its components, called "Sakala". The root "Vidlṛ" means —to gain.[2] Hence, "Vit" stands for "Ātmalābha" or origin. Which originates with its componants, called "Varga". Consequently, "Sakalavidvargavat" stands for "Paṭa" or cloth. So, the example (Udāharaṇa) "Evaṁ yadīdṛktatsakalavidvargavat" can be transformed as : "Evaṁ yat kāryaprakāraṁ tat tasmāt buddhimat kāraṇaṁ paṭavat".

"Etat" stands for "Dehaḥ" or body and "Evaṁ" for "Kāryaprakāram" or like the effect. So, the application (upanaya) "Etaccaivaṁ" can be understood as : "Etat dehaḥ evaṁ kāryaprakāraṁ".

Finally, the deduction (Nigamana) "Evaṁ tat" can be understood as "Tasmāt buddhimatkāraṇam".

In the view of Prabhācandra, the above mentioned "Patra" (letter) is an example of the fallacy of inference, because of the corrupted components of the inference i.e. Pratijña, Hetu and Udāharaṇa. The "Kālātyayāpadiṣṭa" like faults are there in it. Apart from this, the word "Prasvāpa", which is used in "Pratijñā-vākya", may create confusion with the concept of Buddhist "Prasvāpa" means "Mokṣa" or libera-

---

1. See—"Juṣī pritisevanayoḥ", Prameya kamala-mārtaṇḍa, p. 688.
2. See—"Vidlṛ lābhe", Ibid., p. 689.

-tion of soul.[1] In this way such sentences which are not able to covey their intended meaning, having corrupted or clearly manifested words, can not be considered as a faultless "Patra". Similarly, the poetical phrases, which are difficult to understand, because of having difficult verbal forms, can also not be considered as a "Patra".[2]

According to the Jaina scholar Vidyānanda (9th cent. A.D.)—"A consistent Patra is that, which can convey its intended meaning, having faultless and concealed group of words and also having the syllogism with its well-known components[3] Prabhācandra also defines "Patra" in the similar way.[4]

Vidyānand has given an example for "Patra" in the following way :

"Citrādyadantarāṇīyamārekāntātmakatvataḥ.
Yaditthaṁ na taditthaṁ na yathā-kinciditi trayaḥ.
Tathā cedamiti proktau catvārovayavā mataḥ.
Tasmāttatheti nirdeśe pañca patrasya kasyacit"[5]

Here, "Citra" means "Anekrupa" or having many forms. "At" means to go constantly. Which goes constantly by having many forms is "Citrāt", stands for "Anekāntātmakaṁ" i e. variable. Pronoun have been read in Sanskrit grammar as : sarva viśva yat etc. So, after which "Yat" exists, that is "Yadanta". means the word "Viśva". "Rāṇīyaṁ" means "Sabdanīyaṁ" or called. So, which is called by the word "Viśva" is known as "Viśvaṁ" i.e. universe or world. In this way the Pratijñā "Citrāt yadantarāṇīyaṁ" will be transformed as "Anekāntātmakaṁ viśvaṁ".

"Ārekā" means "Saṁśaya" or doubt. In the "Nyāya-sūtra" of Nyāya philosophy there is a aphorism "Pramāna-prameya-saṁśaya"[6] etc. So, concentrating on this aphorism, after which "Saṁśaya" is read, that is "Ārekānta". Of which this read word is the soul, that is "Ārekāntātmakaṁ", stands for "Prameya" and to express its mode "tva" is used. In this way the Hetu "Ārekāntātmakatvataḥ" can be transformed as "Prameyatvāt".

"Yaditthaṁ na (bhavati)" stands for "Yat anekāntātmakaṁ na (bhavati)", "Na taditthaṁ" for "Prameyatmakaṁ na (bhavati)" and "Yathākiñcit" for "Yathā na kiñcit". So, Udāharaṇa "Yaditthaṁ na taditthaṁ yathākiñcit" can be transformed as "Yat anekāntātmakaṁ na bhavati tat prameyātmakaṁ na bhavati yathā na kiñcit".

According to Vidyānanda the above mentioned three members i.e. Pratijñā, Hetu and Udāharaṇa are sufficient for the "Patra". But, if somebody wants to use the other two also, he can use them with his own convenience in the following way :

The Upanaya "Tathā cedaṁ" stands for "Prameyātmakaṁ ca idaṁ viśvaṁ" and in the similar way the Nigamana "Tasmāttathā" for "Tasmāt anekāntātmakaḥ".

---

1. Prameya-kamala-mārtaṇḍa, pp. 686-689.
2. Ibid., p. 584.
3. "Prasiddhāvayavaṁ vākyaṁ svetasyārthasya-sādhakaṁ.
   Sādhu gūdhapadaprāyaṁ patramāhuranākulaṁ.,
   ——Patra-parīkṣā (Vidyānanda), p. 1.
4. "Svābhipretārtha-sādhanānavadya-gūdha-pada-samūhātmakaṁ prasiddhāvayava-lakṣaṇaṁ vākyaṁ pramāṇaṁ", Prameya-kamala-mārtaṇḍa, p. 684.
5. Patra-parīkṣā p. 10 (V. 1.2).
6. Nyāya-sūtra, 1.1.1.

Prabhācandra also gave an example of "Patra" as :

"Svāntabhāsitabhūtyādyatryantātmatadubhāntavāk.

Parāntadyotitoddīptamitītasvātamakatvataḥ."[1]

This "Patra" stands for only two members of syllogism i.e. Pratijñā-"Utpādavyayadhrauvyātmakaṁ viśvaṁ" and Hetu – "Prameyatvāt". According to Prabhācandra these two components are sufficient for the "Patra" and the rest of the three components are optional to the use at the will of the contestants. This "Patra" can be explained as follows :

"Anta" and "Ānta" are same in the meaning because of the suffix "an" which is added to "Anta". According to the reading of the preffixes (Upasargas) in Sanskrit grammar – Praparāpasamanvādih-"Svāntaḥ" stands for the preffix "ut" The "Bhūti" lighted (bhāsita) by the preffix "ut" is "Udbhūti" (Utpāda or generation). At the beginning of which "Udbhūti" exists that is "Tryantāḥ". In Jaina philosophy "Tryantāḥ" stands for "Utpāda, Vyaya and Dhravya" the qualities of the matter. Of which these three are the soul, that is "Svāntabhāsitabhūtyādyatryantātma" stands for "Utpāda-vyaya-dhrauvyātmakaṁ". Which has "Vāk" on its both ends, that is "Ubhāntavāk", stands for "Visvaṁ" or universe. Further "Parānta" means "p", being followed by "r" and lighted by these "p" and "r" is "Parāntadyotita", stands for the suffix "Pra". "Miti" lighted by this suffix "Pra" is 'Pramiti" or true knowledge. "Itaḥ" means "to obtain". So, what so ever is obtained by this "Pramiti" as its own soul (Svātmā) is "Prameya" or the object of true knowledge. Its mode has been expressed by "tva". So, the whole phrase "Parāntadyotitoddīptamitītas-vātamakatvataḥ" change to "Prameyatvāt".

Conclusion

In modern days debates, especially the aggressive debates, are hardly seen. Although in India on rare occasions the aggressive debates are organised between two rival groups of same philosophical thought, the Patra-writing is no more in practice. In the ancient days too it used to take place only between 9th to 11th centuries A.D.. Nevertheless, the friendly discussions which used to occur between teacher and pupils can still be seen and the Patra-writing can also be seen in the form of modern examination system.

---

1. Prameya-kamala-mārtaṇḍa, p. 685.

The Ultimate Goal of Jaina Philosophy

Prof. J. L. Shastri

The ultimate goal of man's life in Jainism as in Buddhism and Brahmanism consists of release from the bondage of births and deaths. The contribution that Jainas have made to Indian Culture is something unique. Jainism aims at the realization of the soul (ātma-darśana) after emancipation of the same from the entanglement of the senses. Emanciption is in fact, the purgation of the soul through various processes observed by the emancipated Jainism is fortunate in having a vast literature on this topic. The series of processes are described in detail in the sacred books of the Jainas. They have been the kernal or the keynote of Jainism through the ages The attainment of the final goal is open to all people in the whole of this universe. Viewed from this point, Jainism has universal appeal and has impressed each and every religion it came in contact with, in one form or other. Its methodology for achieving the goal has been very successfully exploited by Indian leaders for realizing their political end.

Jainas believe in the teachings of spiritual guides (*Tīrthaṅkaras*) who had realized soul in their lifetime and who preached their experiences to mankind for their benefit. A Tīrthankara is defined as "one who is free from hunger, thirst, weakness due to old age, disease. birth, fear, pride, attachment, hatred, care, sweat, sleep etc" He is a spiritual guide to enable people to cross the ocean of existence." Twentyfour Tīrthaṅkaras are said to have appeared at long intervals during each half cycle of time to preach the doctrine of Jainism afresh for the benefit of humanity.

Mahāvīra possessed a clear vision of Reality ; he knew and saw all things in their right perspective. He claimed perfect knowledge of Dharma (righteousness) which he preached to mankind, irrespective of their status, caste and creed. His teaching is a path leading to the cessation of suffering, Central to this path is the practice of austerities. Austerities may be considered the heart of Jainism to which all the preliminary stages of the path lead and out of which higher stages flow. One of the most essential aspects of Jainism encountered repeatedly in the scriptural texts of early Jainism is a set of processes—prescriptions and restraints—the observance of which destroys the root-cause of suffering occasioned by series of birth and death. Mahāvīra practised and preached austerities for the annihilation of old Karm and the prevention of new Karma. For, he had the enlightenment that when Karma ceases, misery ceases. Thus the contribution of Mahāvīra to Jaina Religion and Philosphy is immense.

He laid stress on the purity of means to achieve nobler ends. Rather, he preached desirelessness for the attainment of desire, to be unsoldierly to become a soldier, non violence to oppose violence. He gave message of peace and good will, of universal brotherhood, bliss and happiness, not only for the land of its birth but for the world at large, not only for the individual but for the whole of mankind.

Mahāvrīa's concept of liberation is built upon old Jaina tradition "Treat others as thine own self" (*ātmvat sarvabhūteṣu*) which found resemblance in the Bhagavadgītā and the Vaiṣṇava Movement of the medieval age In India. The code of life propounded by Mahāvīra and followed by the Jainas inculdes love of all beings, love of truth, avoidance of falsehood, attachment, hatred, gambling, meat, wine, bribery, corruption,

debauchery, adultery, hunting and stealing and all sorts of vices which lead to a life in hell. To become a perfect Jaina one should observe all these prescirptions and restraints. Moreover, he should control anger by forgiveness, vanity by humility and fraud by straight-forwardness.

He laid emphasis on chastity. He said : "One who is a slave to lust forfeits human life". He preached nudity, as he observed nudity leads to abhorrence of lust. Moreover, nudity was a natural state as people were born nude and as they would go naked after death

Jainism is international and universal in character. It is a fundamental mistake to regard Jainism as the religion of any one particular caste or community. Shorn of ritual which it has imbibed from its neighbour—Hinduism, it is a religion of Yoga meaning realization (*ātmadarśana*), constant awareness of the self at all times and at all places. Being the primitive faith of all mankind it has its door open to all living beings. All ritual is but a prescription for the cure of physical and mental ills of suffering humanity. The conquest of suffering by annihilating Karma can be achieved by other means too but the means laid down in the Jaina Code of Morals and Religion are far superior as they hold out the promise of achieving the goal in the simplest and the easiest possible manner

Jaina Philosophy is much anterior to Vedānta and other systems of thought. Jainism is an original system quite distinct and independent from all others. But in spite of its individual traits, it possesses certain characteristics common with Hindu traits For instance, in Vedānta Brahman is not said to possess existence, intellect, joy (*sat, cit, ānanda*) as qualities of his nature but he is existence, intellect and joy itself. Similarly, the Jaina metaphysics treats merits and demerits as substratums rather than as qualities.

The atomic theory which is absent in the Vedānta, Sāṅkhya and Yoga systems of Hindu throught but has found its way in the Vaiśeṣika and Nyāya makes an integral part of the Jainas and Ajivikas.

The greatest contribution that Jainism has made to the field of Philosophy is their theory of *Syādvāda* or *Anekāntavāda* which declares that everything in the universe is related to everything. This assertion reconciles the opposites or the contraries and is the true characteristic of Jaina philosophical thought. In fact and indeed we cannot ignore the variety of things and their relations and say that the side of the sword that faces us is the all-in-all of the shield. Our mode of looking at a thing must take into account the multifarious variables with every change in time and space.

Being purely indigeneous and the earliest religious system of civilized man, Jainism has endured many hardships and persecutions, yet it has survived to the present day. From its very beginning it has been acting and reacting on all religious systems it came in contact with and influencing human thought and culture. Its contributions to Indian Culture and civilization are by no means small. It has the noblest and the most practical message of peace and good will It aims at universal brotherhood, bliss and happiness for the world at large
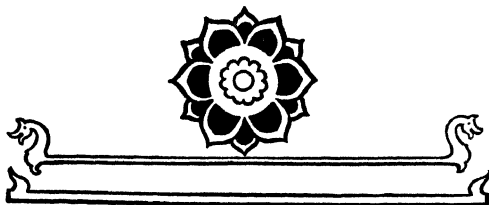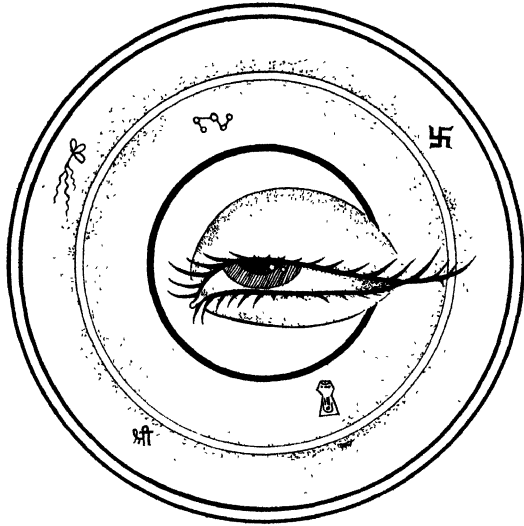
जैन तत्व चिंतन

आधुनिक सन्दर्भ

जैन तत्त्व चिन्तन : आधुनिक सन्दर्भ

सम्पादकीय

आधुनिक सन्दर्भ मे जैन धर्म तथा दर्शन की प्रासगिकता का प्रश्न विशुद्ध रूप से एक समाजशास्त्रीय प्रश्न है तथा युगीन परिस्थितियो के सन्दर्भ मे यह अनेक ज्वलत समस्याओ की ओर हमारा ध्यान केन्द्रित करता है। वर्तमान युग के वैज्ञानिक आविष्कारो तथा आधुनिक समाजदर्शन सम्बन्धी अवधारणाओ की दृष्टि से धर्म-दर्शन सम्बन्धी अनेक प्राचीन मान्यताओ को अब आधुनिक समाजशास्त्र सन्देह दृष्टि से देखता है फलत जैन धर्म-दर्शन ही नही बल्कि विश्व के सभी प्राचीन धर्मों और दर्शनों के समक्ष अनेक प्रकार की चुनौतिया आ खडी हुई है। आधुनिक विचारक इस सीमा तक पहुच चुका है कि वह प्राचीन धर्म और दर्शन को अज्ञान एव भय की मानवीय प्रतिक्रिया के रूप मे स्वीकार करता है।[1] धर्म और दर्शन को इतिहास मे पहले कभी इतनी तीखी आलोचना का सामना नही करना पड़ा जितना कि आज।[2] परिणामत आज सभी धर्मों और दर्शनो के पुनर्मूल्याकन की युगीन आवश्यकता आ पड़ी है। सभी धर्मों और दर्शनो के विद्वान् अपने-अपने धर्म-दर्शन में प्रासगिकता की गवेषणा में सलग्न हैं। कतिपय विचारक धर्म और दर्शन को आधुनिक विज्ञान की कसौटी में परखने की अवधारणा से अनुप्रेरित है तो ऐसे भी अनेक विद्वान् हैं जिनकी दृष्टि मे धर्म और दर्शन की सार्थकता तथा प्रासगिकता सामाजिक समस्याओ के समाधान करने पर निर्भर है। धर्म और दर्शन की प्रासगिकता से सम्बद्ध अभी अनेक प्रश्न अछूते भी रहे हैं। उदाहरणार्थ अभी इस समस्या का विश्लेषण नही किया गया है कि आधुनिक सन्दर्भ में धर्म और दर्शन को प्रासंगिक सिद्ध करने की आवश्यकता क्यो पडी ? धर्म और दर्शन यदि समाज चेतना मे जुड़े हुए है तो फिर युग-परिस्थितियों से उत्पन्न समस्याओ की विभीषिका को रोकने मे उनकी भूमिका शिथिल क्यो हुई ? ऐसा लगता है कि धर्म और दर्शन की मान्यताओ का युग चिन्तन की मौलिक समस्याओ के साथ सम्बन्ध टूट सा गया है। इसी सम्बन्ध विच्छेद के कारण आज सभी प्राचीन धर्मो और दर्शनो की तुलना संग्रहालय मे रखी उन प्राचीन एव गौरव पूर्ण वस्तुओ के साथ की जा सकती है जिनके प्रति प्रत्येक जन-मानस श्रद्धा एव गौरव के भाव से नतमस्तक रहता है परन्तु सामाजिक उपादेयता की दृष्टि से उनकी भूमिका उपेक्षित रहती है।

१. समसामयिक प्रासगिकता और धर्म-दर्शन :

सिद्धान्तत प्रत्येक धर्म-व्यवस्था मे कूटस्थ एव परिवर्तनशील मूल्यो का शास्त्रीय औचित्य बना ही रहता है फिर भी कूटस्थता के प्रति दृढ आग्रहो को लेकर चलने वाले धर्मों मे परिवर्तनशील मूल्यों के प्रति उदासीनता आ जाती है। इसी 'उदासीनता' का दूसरा समाजशास्त्रीय नाम है 'अप्रासगिकता'। इस दृष्टि से विचारकों के समक्ष मुख्य समस्या यह है कि धर्म और दर्शन को समसामयिक परिस्थितियो मे प्रासंगिक दिशाए प्रदान करने हेतु किस प्रकार के प्रयास अपेक्षित है। इस ओर प्रत्येक धर्म और दर्शन के प्रबुद्ध आचार्य, धर्म-साधना मे

---

१. "The modern man feels that religion, in the ancient days, had its origin in the feeling of 'fear'. Adam Gowans Whyte says in his book 'The Religion of the Open Mind' —"Science has proved that all those ideas which theologians imagined to be glimpses under the veil of Mystry are merely the visions of human ignorance and fear".

—G. N. Joshi, 'Religion its Relevence to the Modern Times' (article) Seminar on Validity and value of Religious Experience" Belgaum, 1968, पृ० ४१-४२

२. "In modern Philosophy and in Science there have been tendencies to discredit religion and mystical experience as an illusion and a mental aberration.", T. G. Kalghatgi, "Mysticism", (article), वही, पृ० १५

समर्पित साधुवर्ग तथा समाज व्यवस्था के प्रभावशाली व्यक्ति जब तक सक्रिय भूमिका का निर्वाह नही करेंगे तब तक धर्म और दर्शन की प्रासंगिकता की वैचारिक मीमांसा मात्र से कोई प्रयोजन सिद्ध होने वाला नही है। धर्म की कूटस्थता और शाश्वतता के एकान्तवादी आग्रह का समर्थक वर्ग अब भी यही मानता आ रहा है कि धर्म और दर्शन सदैव जीवन की शाश्वत समस्याओं को लेकर चलते हैं इसलिए किसी भी युग में इनकी प्रासंगिकता का प्रश्न ही नही उठता। परन्तु इतने मात्र से ही सन्तोष कर लेने पर धर्म-दर्शन की प्रासंगिकता युग सन्दर्भ मे अनालोचित ही रह जाती है।

प्रत्येक धर्म और दर्शन को युगानुसारी आवश्यक मूल्यो के अनुरूप बदलना ही पडा है। जैन धर्म-दर्शन के क्षेत्र मे यही धार्मिक समाजशास्त्र लागू हुआ है। जैन परम्परा के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने ही सर्वप्रथम असि-मसि-कृषि का उपदेश देकर समाज व्यवस्था को सयमित किया।[1] उन्होने ही भोजन पकाने, बर्तन बनाने, वस्त्र बुनने आदि की विधियों का सर्वप्रथम आविष्कार किया।[2] इस प्रकार आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का महत्त्वपूर्ण योगदान समाज-व्यवस्था को व्यवस्थित करने मे रहा है। जैन धर्म के तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ के काल तक चातुर्याम धर्म-प्रभावना (पाणातिपात वेरमण=अहिसा, मुसावायाओ वेरमण=सत्य, अदिन्नादानाओ वेरमण=अस्तेय; बहिद्धाओ वेरमण=अपरिग्रह) को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा था तथा अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने पंच महाव्रतो (अहिसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य) की उद्भावना करते हुए समग्र धर्म-व्यवस्था को नवीन दिशाए प्रदान की हैं। जैन तीर्थंकर परम्परा के आधार पर यह सिद्ध होता है कि धर्म के कूटस्थ मूल्य भी युग सन्दर्भ मे रूपान्तरित हो सकते है परिणमन शील मूल्यो का तो कहना ही क्या। भगवान् महावीर कालीन जैन धर्म की लगभग सभी व्यवस्थाओ को युग परिस्थितियो का परिणाम कहा जा सकता है। आज की भाति भगवान् महावीर के काल मे विज्ञान और तकनीकी शास्त्र उन्नत अवस्था मे पहुच चुका था तथा युग चिन्तन का स्वर अनेक प्रकार के वादो-प्रतिवादो से वैसे ही गुजायमान था जैसा आज। इन परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप धर्म चिन्तन की मुख्य धारा--वैदिक धारा के समकक्ष अन्य वेदेतर साम्प्रदायिक सगठनो ने ऐसी स्थिति लादी थी जिसके कारण वैदिक धर्म और दर्शन की अनेक मान्यताओ को सदिग्ध दृष्टि से देखा जाने लगा था। भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध ने युग चेतना के उस नवीन स्वर को सुना तथा युगीन चिन्तन के अनुरूप धर्म और दर्शन को नवीन आयाम दिए। महावीर युगीन धर्म चेतना का यदि समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया जाए तो इसकी दो प्रमुख विशेषताए रही थी--- (१) धर्म और दर्शन की मान्यताओ को युग के वैज्ञानिक चिन्तन के अनुरूप विश्लेषित करना तथा (२) समग्र युग चिन्तन के वादो-प्रतिवादो मे तालमेल बैठाने की सद्भावना का प्रसार करते हुए, सामाजिक न्याय की दृष्टि से सिद्धान्तों की स्थापना करना। इस प्रकार भगवान् महावीर का तत्त्वचिन्तन एक ओर विज्ञाननिष्ठ था तो दूसरी ओर युगीन समाज क्रान्ति की अवधारणा से वह सुवासित भी रहा था। ऐसी ही विशेषता तत्कालीन बौद्ध धर्म की भी थी। दोनो ही धर्मों ने धर्मक्रान्ति का ऐसा चक्र चलाया कि वैदिक धर्म के अन्धविश्वासो पर टिके हुए स्तम्भ ढहने लगे और कुछ ही समय मे बौद्ध तथा जैन धर्म अधिकाधिक लोकप्रिय होते चले गए। कारण यह था कि पुरोहित वर्ग के स्वार्थों पर निर्मित धार्मिक अन्धविश्वासो और शुष्क-कर्मकाण्डो से खिन्न जन मानस को भगवान् महावीर और बुद्ध के धर्मों में वह सब कुछ मिल गया जिसकी उसे उस समय तलाश थी और जो उसके तर्कवादी वैचारिक भूख को शान्त कर सकता था। भगवान् बुद्ध ने उद्घोषित किया कि सत्य को परीक्षा और अनुभव के आधार पर स्वीकार करो। इसी प्रकार भगवान् महावीर ने भी कहा है कि- **णो लोगस्स सेसणं चरे** अर्थात् किसी का अनुकरण न करो सत्य को स्वय जानो क्योंकि कोई उधार लिया गया सत्य मुक्त नही करता उल्टे वह परिग्रह बन जाता है।[3]

अन्य धर्मों की भाति उत्तरवर्ती जैन धर्म मे भी कभी कभी कूटस्थता के प्रति विशेष आग्रह रखने की स्थिति आई है। आचार्य कुन्दकुन्द के समय तक जैन धर्म अनागार धर्म के उपदेशो को ही वरीयता देता है तथा सागार धर्म के उपदेश को उपेक्षा दृष्टि से देखता है। परन्तु यह स्थिति अधिक नही चल पाई। 'धार्मिको के बिना धर्म नही' का नारा बुलन्द हुआ जिसके फलस्वरूप जैन धर्म मे नौवी-दसवी शताब्दी के लगभग नवीन मूल्य प्रविष्ट हुए।[4] श्रावक धर्म को अभिलक्ष्य कर ग्रन्थ लिखे जाने लगे तथा युगानुसारी अनेक धार्मिक मूल्यो के परिप्रेक्ष्य मे जैन धर्म ने ब्राह्मण सस्कृति के मूल्यो को भी अपने धर्म मे समाहित कर लिया। इस दृष्टि मे पहल करते हुए सर्वप्रथम आदि-पुराणकर जिनसेनाचार्य ने ब्राह्मण धर्म के सोलह सस्कारो को धार्मिक मान्यता प्रदान की।[5] इसी प्रकार सोमदेवाचार्य ने भी यह उद्घोषणा कर दी कि जिन जिन सिद्धान्तो, मान्यताओ आदि के स्वीकार करने पर जैन धर्म के सम्यक्त्व पर कोई दोष नही आता है उन्हे स्वीकार कर

---

१. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण मे प्रतिपादित भारत, वाराणसी, १९६८, पृ० १
२. जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज, वाराणसी, १९६५, पृ० ३
३. हरेन्द्र प्रसाद वर्मा, जैन दर्शन और आधुनिक सन्दर्भ, प्रस्तुत खण्ड
४. कैलाशचन्द्र शास्त्री, दक्षिण भारत मे जैन धर्म, वाराणसी, १९६७, पृ० १६५
५. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण मे प्रतिपादित भारत, पृ० १६५

लिया जाना चाहिए। परिणामत वैदिक धर्म के आप्त ग्रन्थो वेद, स्मृतियो आदि को भी जैन धर्म ने धार्मिक मान्यता प्रदान कर दी गई।[1] इस सम्बन्ध में पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री महोदय की धारणा है कि बहुसंख्यक हिन्दू समाज में रहने के लिए जैन धर्माचार्यों को उक्त परिवर्तन स्वीकार करने पड़े।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजशास्त्रीय दृष्टि से किसी भी धर्म और दर्शन की प्रासंगिकता इस तथ्य पर अधिक निर्भर नही रहती है कि उस धर्म और दर्शन के कूटस्थ मूल्य कितने नैतिक हैं या कितने विज्ञाननिष्ठ है अपितु इस तथ्य पर अधिक अवलम्बित है कि सामाजिक लोक चेतना को वह कितना प्रभावित कर सकती है। जैन धर्म ने प्रारम्भ से ही लोक चेतना के स्वर को सुना है। इसने धर्मोपदेश की भाषा को लोकभाषा के रूप में चुना है तथा इसके सभी धर्मशास्त्रीय मूल्य समाज-सापेक्ष अथवा लोक-सापेक्ष मूल्यो के रूप में अवतरित हुए है। जैन धर्म ने वर्ग-भावना, जाति-भावना, वर्ण-भेद आदि के विरुद्ध जाकर सर्वसाधारण के लिए धर्म के द्वार खोले। शूद्र-वर्ग, स्त्री-वर्ग जो समाज में दीर्घकाल तक धर्म साधना के पथ से च्युत कर दिए गए थे जैन धर्म ने उनके अधिकारो को सुरक्षा प्रदान की। इसी प्रकार ईश्वर के नाम पर अनुष्ठित कर्मकाण्डों तथा यज्ञ की आड़ में की जाने वाली पशुहिंसा का सर्वप्रथम विरोध जैन धर्म ने किया। वस्तुत इन सभी धर्म-सुधारो का औचित्य सामाजिक उपादेयता की दृष्टि से ही सार्थक है। जहा तक प्रश्न जैन धर्म की निवृत्ति मूलक प्रवृत्ति का है उसके सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि यदि जैन धर्माचार्य उपर्युक्त सामाजिक कुरीतियो मे हस्तक्षेप किए बिना भी धर्म-साधना के पथ पर अग्रसर रहते तो भी जैन धर्म साधना में इतना सामर्थ्य है कि वह समाज-निरपेक्ष होकर भी मुमुक्षु को मोक्ष मार्ग तक ले जाता है परन्तु भगवान् महावीर की धर्म साधना समाज-निरपेक्ष होकर चलने मे विश्वास नही करती। उनकी दृष्टि में व्यक्ति कल्याण की मूल आस्था लोक कल्याण पर टिकी हुई है। इस दृष्टि से जैन धर्म-दर्शन की प्रासंगिकता का प्रश्न आज विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हो गया है।

डॉ० दयानन्द भार्गव महोदय की धारणा है कि यदि धर्म और दर्शन को सदभिमुख होना हो असदभिमुख नही तो धर्म-दर्शन को केवल ध्रुव न होकर परिणमनशील भी होना होगा। जैन विचार परम्परा सत् को कूटस्थ एव परिणमनशील स्वीकार करते हुए ही सत् को उत्पाद-व्यय तथा ध्रुव के रूप मे पारिभाषित करती आई है, इसलिए सिद्धान्ततः उसे कूटस्थता और परिणमनशीलता दोनों का सम्मिश्रण धर्म मे स्वीकार करना होगा।[3] भगवान् महावीर की मूल भावना भी यही रही थी कि द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव की अपेक्षा से धर्म एव दर्शन सदैव परिवर्तन शील रहते हैं। इन्ही अपेक्षाओ से प्रत्येक युग मे जैन धर्म नवीन मूल्यो को अंगीकार करता आया है। आधुनिक युग मे भी जैन धर्म-दर्शन के समक्ष वैसी ही समस्याए हैं जैसी भगवान् महावीर के काल मे थी अन्तर केवल इतना है कि विचार-चिन्तन को नवीन प्रणाली के अनुसार भगवान् महावीर के काल मे जिसे 'धर्म क्रान्ति' कहा जाता था। आज उसे 'समाज क्रान्ति' की संज्ञा दे दी गई है। 'धर्म क्रान्ति', 'समाज क्रान्ति' के रूप मे कैसे परिवर्तित हुई है, आधुनिक सन्दर्भ मे इसका भी रोचक इतिहास रहा है। धर्म और दर्शन की प्रासंगिकता की समस्या को और अधिक वैज्ञानिक एव ऐतिहासिक दृष्टि से परखा जाए तो हमें आधुनिक विचार चिन्तन के इतिहास को देखना होगा तथा इस प्रश्न की गहराई को समझना होगा कि धर्म और दर्शन की स्वतन्त्र अध्ययन पद्धति का जो प्राचीन काल मे सवर्द्धन हुआ था आज वैसी ही पद्धति पाश्चात्य देशो मे पल्लवित हुई है परन्तु उसका नामकरण समाज शास्त्रीय पद्धति अथवा समाज वैज्ञानिक पद्धति के रूप में हुआ है। एतद्विषयक प्रासंगिक चर्चा भी इस सम्बन्ध मे ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है।

२. धर्म-दर्शन तथा समाजशास्त्र :

आधुनिक काल मे धर्म और दर्शन की प्रासंगिकता और इनकी सामाजिक उपादेयता के वैज्ञानिक अध्ययन की शाखा 'समाजशास्त्र' है। धर्म और दर्शन के अध्ययन की पुरातन परम्पराओ के समर्थक विद्वान् शायद अब भी धर्म और दर्शन की समाजशास्त्रानुसारी व्याख्या करने के विरोधी हो सकते है परन्तु आधुनिक शताब्दियो मे युग चिन्तन के बदले हुए मूल्यों की दृष्टि से धर्म और दर्शन का समाजपरक परिप्रेक्ष्य ही पारिभाषिक अर्थों मे 'समाजशास्त्र' है तथा इसी आग्रह विशेष के परिणामस्वरूप 'समाजशास्त्र' का जन्म हुआ जिसे आधुनिक काल की एक महत्त्वपूर्ण घटना के रूप मे स्वीकार किया जाता है।

समाजशास्त्र का आविष्कार सर्वथा पाश्चात्य विचारको की देन है तथा आधुनिक काल मे कोई भी ऐसी ज्ञान-विज्ञान की शाखा नही है जो इस शास्त्र के प्रभाव मे मुक्त हो। अठारहवी शताब्दी में पाश्चात्य विचारक ऑगस्ट कॉम्टे ने किन-किन परिस्थितियो मे समाजशास्त्र की स्थापना की, विश्व धर्म और दर्शन के इतिहास मे इसकी उपेक्षा नही की जा सकती है। वस्तुत: कॉम्टे धर्म और दर्शन की प्राच्य परम्पराओ से असहमत होते हुए इनकी प्रासंगिकता को नवीन रूप से प्रस्तुत करना चाहते थे। कॉम्टे धर्म-दर्शन की इस नवीन अध्ययन

---

१. गोकुलचन्द्र जैन, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, अमृतसर, १९६७, पृ० ५६

२. कैलाशचन्द्रशास्त्री, दक्षिण भारत मे जैन धर्म, पृ० १६५

३. दयानन्द भार्गव, आधुनिक सन्दर्भ में जैन दर्शन के पुनर्मूल्यांकन की दिशाएं, प्रस्तुत खण्ड

प्रणाली को सर्वप्रथम 'मैटाफिजिक्स' संज्ञा देते हैं। सुधारवादी दृष्टिकोण के कारण इसे 'पौजिटिविज्म' अर्थात् 'प्रत्यक्षवाद' की संज्ञा भी दी गई है। इस अध्ययन प्रणाली का मुख्य प्रयोजन था धर्म और दर्शन की प्रचलित मानव-गम्य तर्कप्रणाली के अनुरूप व्याख्या करना। कालान्तर में इसी प्रणाली को ऑगस्ट कॉम्टे ने 'समाजशास्त्र' की पारिभाषिक सज्ञा प्रदान की है। ऑगस्ट कॉम्टे ने ससार भर के सभी ज्ञान-विज्ञानो को एकीकृत कर उनका सम्बन्ध मानव व्यवहारो से जोडा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक 'समाजशास्त्र' धर्म और दर्शन की प्राच्य अध्ययन प्रणाली का नवीन रूप है, अन्तर केवल इतना है कि 'समाजशास्त्र' समाजगत मानव व्यवहारो को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करते हुए उसमे 'इतिहास' और 'मानवशास्त्र' के अध्ययन की आवश्यकता पर भी विशेष बल देता है। क्योकि धर्म और दर्शन के सिद्धान्तों की मात्र सिद्धान्तपरकता का कोई औचित्य नही यदि इन्हें मानव इतिहास के युगीन सन्दर्भों मे न परखा जाए।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से गत तीन हजार वर्षों के पाश्चात्य एव भारतीय इतिहास मे धर्म और दर्शन की ऐन्द्रिक तथा विचारात्मक संस्कृतियो में सदैव सघर्ष होता आया है। इस सघर्ष के सास्कृतिक उतार-चढाव की प्रक्रिया समरेखीय स्वीकार की गई है। समरेखीय का अभिप्राय है—एक समरेखा के रूप मे विकसित होने के पश्चात् चरमसीमा तक पहुचते पहुचते सस्कृति का दूसरी दिशा की ओर मोड ले लेना परन्तु यह मोड भी समरेखीय ही होता है तथा चरमसीमा तक पहुचने पर यह भी पुन. प्रतिकूल दिशा ग्रहण कर लेता है। कुल मिलाकर धार्मिक एव दार्शनिक संस्कृतियो के परिवर्तन की दिशा न तो उन्नत हो पाती है और न ही चक्राकार रेखा के समान मिल ही पाती है। प्राचीन भारतीय धर्मों और दर्शनो के उद्भव-विकास एव ह्रास की सीमा रेखाए भी ऐसी ही है। प्राग्वैदिक काल मे भारतीय मूल के निवासियो की सस्कृति के समकक्ष जिस वैदिक धर्मावलम्बी आर्य सस्कृति का उद्भव एव विकास हुआ, बुद्ध एव महावीर के काल तक वह अपनी चरम सीमा तक पहुच चुका था। तदनन्तर जैन एव बौद्ध धर्मों के विकास को समरेखीय दिशा प्राप्त हुई परन्तु इन धर्मों को ह्रासोन्मुखी सीमाओ को छूना पडा है।[1] धर्मों के इस पारस्परिक उत्थान-पतन का इतिहास यह बताता है कि किसी भी राष्ट्र की मुख्य धारा के के साथ धर्म और दर्शन की प्रासंगिकता ही उसका उत्कर्ष है, परन्तु धर्म-व्यवस्था मे उत्पन्न होने वाले दोषो तथा त्रुटियो के कारण धर्म ह्रास की ओर उन्मुख होता है। इसलिए हम देखते है कि एक धर्म जो किसी समय समाज मे अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त कर चुका होता है, कालान्तर में उसे अपने प्रतिद्वन्द्वी धर्म अथवा किसी अन्य नए धर्म के पुन लोकप्रिय होने पर ह्रास की ओर भी जाना पडता है।

भारतीय चिन्तक इसी धर्म प्रवृत्ति को अपनी कालवादी अवधारणा द्वारा स्पष्ट करते हैं। वैदिक मान्यता के अनुसार चतुर्युग की चक्राकार परिधि मे धर्म की निर्बाध गति मानी गई है, परन्तु उत्तरोत्तर युगो मे धर्म का शनैः-शनैः ह्रास बताया गया है। ऐसी ही मान्यता जैन धर्म की कालवादी धारणा मे समाविष्ट है। वर्तमान मे जैन धर्म की दृष्टि से अवसर्पिणी का पाचवा आरा चल रहा है। कलियुग के समान इस आरे मे धर्म ह्रासोन्मुखी है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय विचारक एव आधुनिक समाजशास्त्री इस तथ्य पर एकमत हैं कि सस्कृति अथवा धर्म के विकास की दिशाए समरेखीय होती हैं। यद्यपि काल विभाजन की सीमाए दोनो मे पृथक्-पृथक् हैं। भारतीय विचारधारा 'धर्म' को महत्त्व देती हुई आधुनिक सन्दर्भ मे उसके ह्रास का प्रतिपादन कर रही है जबकि पाश्चात्य समाजशास्त्रीय विचारधारा 'समाज' के विकास की बात करती है। वस्तुत तथ्य प्रतिपादन की दृष्टि मे दोनो विचारधाराओ मे पारस्परिक विरोध नही है, क्योंकि भारतीय दृष्टि से धर्म के ह्रास का अर्थ है भौतिकता का विकास एव पाश्चात्य दृष्टि मे भौतिक समाज की प्रगति का अर्थ है आध्यात्मिक धर्म साधना का ह्रास। एक विचारधारा 'धर्म' को महत्त्व दे रही है दूसरी 'समाज' को।

भारतीय परिवेश मे 'समाजशास्त्र' जैसे किसी प्राचीन शास्त्र का विकास नही हुआ परन्तु प्राचीन भारतीय समाजशास्त्र की मौलिक प्रवृत्तियां धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र मे सर्वाधित हुई है। भारतीय दृष्टि मे किसी भी विचार परम्परा ने 'धर्म' को किसी सम्प्रदाय या मत के रूप मे लक्षित नही किया है, बल्कि धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत जीवन की समग्र आचार सहिता को स्वीकार किया है। इस दृष्टि से आधुनिक सन्दर्भ मे भारत के 'धर्म-द्रष्टा', 'समाज-द्रष्टा' थे। धर्मशास्त्र ही 'समाजशास्त्र' था और 'धर्मक्रान्ति' ही 'समाजक्रान्ति' के रूप मे पल्लवित हुई है। अतएव आज धर्मों एव दर्शनो की प्रासगिकता की जब चर्चा की जाती है तो हमे भारतवर्ष की उसी व्यापक धर्मचेतना से जुडना होगा जिसकी सीमाए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के रूप मे उद्घाटित हुई हैं।

आधुनिक सन्दर्भ मे जैन धर्म के अनेक आचार्य धर्म की व्यापक रूप से परिभाषा करने मे विशेष रुचि ले रहे हैं। उदाहरणार्थ आचार्य श्री देशभूषण महाराज सिद्धान्ततः यह स्वीकार करते हैं कि अहिंसा की भावना सभी धर्मों का प्राणभूत तत्त्व है। इसलिए आचार्य श्री ने अपने प्रवचनो मे 'अहिंसा परमो धर्मः' की मान्यता को विशेष महत्त्व दिया है। इसी सम्बन्ध मे उनका कहना है—"किसीका भी धर्म श्रेष्ठ नहीं है। 'अहिंसा परमो धर्म' जहां है वह ही धर्म है और वही आत्मा का स्वरूप है। सभी प्राणीमात्र के लिए यही धर्म है।"[2] जैन धर्म की

---

१. आचार्य श्री देशभूषण, उपदेशसारसग्रह, प्रथम भाग, जयपुर, १९८२, पृ० ८७
२. वही पृ० ३

श्रेष्ठता के विषय में आचार्य श्री ने कहा है, "जैन धर्म सम्पूर्ण प्राणीमात्र का धर्म है। किसीका व्यक्तिगत धर्म नही है।"[1] परन्तु आचार्य श्री ने अनेक बार चिन्ता व्यक्त की है कि आज जैन धर्म का व्यापक प्रचार नही हो रहा है क्योंकि "भारतीय जैनेतर विद्वानों मे से अधिकांश जैन धर्म से अनभिज्ञ हैं। जैन सिद्धान्तो का साधारण परिज्ञान भी बिरलो को होगा। तब विदेशों मे तो जैन धर्म को कौन कितना समझता होगा। संसार के सबसे प्राचीन, सबसे प्रमुख, सिद्धान्त और आचार की दृष्टि से सबसे अग्रेसर धर्म प्रसिद्धि मे इतना पीछे! यह सब प्रचार की कमी का परिणाम है।"[2] श्री देशभूषण महाराज ने महावीर युगीन जैन धर्म के प्रचार की प्रशसा की है तथा आज दिनो-दिन घटती हुई साधक परम्परा का भी एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण किया है—"जैन धर्म का प्रचार भगवान् महावीर ने अपने समय मे इतना किया कि उनके नाम पर वर्द्धमान, वीर भूम, सिद्ध भूम, मान भूम आदि अनेक नगरो का नाम करण हुआ। भारत मे जैन धर्म राजधर्म के रूप मे बन गया। अहिंसा धर्म की ध्वजा समस्त भारत मे फहराने लगी। भगवान् महावीर के निर्वाण हो जाने पर उनकी शिष्य परम्परा ने भी जैन धर्म का बहुत भारी प्रचार किया। सम्राट चन्द्रगुप्त के शासन काल मे ४२ हजार जैन साधुओ का विशाल सघ तो केवल मालवा मे था। द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष आने से पहले श्री भद्रबाहु आचार्य की प्रमुखता मे हजारो जैन साधुओ का सघ दक्षिणभारत की ओर विहार कर गया। सम्राट चन्द्रगुप्त ने भी जैन साधु की दीक्षा लेकर उन्ही साधुओं के साथ दक्षिण की ओर विहार किया। हजारो साधुओ का मालवा मे रहना और हजारो साधुओं का सघ उत्तर भारत से विहार करता हुआ दक्षिण भारत को जाना इस बात का साक्षी है कि उस समय उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत में जैन धर्म का बहुत भारी प्रचार था, बहुत बडी सख्या मे जैन धर्मानुयायी भारत में उस समय थे तभी हजारो साधुओं के शुद्ध खान-पान, विहार, ठहरने आदि की सुव्यवस्था उस जमाने मे अनायास हो जाती थी।

किन्तु आज जब हम इस ओर दृष्टिपात करते हैं तब बहुत निराशा होती है। इस समय दिगम्बर साधु लगभग एक सौ हैं, उनमें भी क्षति होती जा रही है। शारीरिक, कालिक एव क्षेत्र सम्बन्धी कठिन परिस्थितियो के कारण नवीन साधुओ का होना दुर्लभ नजर आता है। अत: जैन धर्म का प्रचार बहुत कम हो गया है।"[3] इस प्रचार की कमी का कारण बताते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि "जैन धर्म के महान् प्रचार को सम्पन्न करने के लिए सम्यग्दर्शन के आठ अगो में से आठवा अग 'प्रभावना' बतलाया गया है 'प्रभावना' अग का मूल उद्देश्य जैन धर्म को व्यापक बनाना था। किन्तु जैन समाज ने इस ओर इतनी उपेक्षा की है कि हमारी पडोसी जनता भी अनभिज्ञ है कि जैन धर्म क्या वस्तु है? करोडो भारतीय स्त्री-पुरुष भी जैन धर्म से अपरिचित है।"[4]

३ धर्म और विज्ञान

धर्म-दर्शन की विज्ञानुसारी व्याख्या करने की ओर आधुनिक विचारक विशेष रुचि ले रहे हैं। ऐसी मान्यता सुदृढ होती जा रही है कि आधुनिक युग मे वही दर्शन और धर्म उपयोगी हो सकता है जो विज्ञान की मान्यताओ के अनुकूल हो। इस सम्बन्ध मे डा० महावीर सरन जैन का मन्तव्य है कि "आज विज्ञान ने हमे गति दी है, शक्ति दी है। लक्ष्य हमे धर्म एव दर्शन मे प्राप्त करने हैं। वैज्ञानिक उपलब्धियों के कारण जिस शक्ति का हमने सग्रह किया है उसका उपयोग किस प्रकार हो, गति का नियोजन किस प्रकार हो—आज के युग की जटिल समस्या है। इसके समाधान के लिए हमे धर्म एव दर्शन की ओर देखना होगा।"[5] परन्तु डॉ० महावीर यह मानते हैं कि मानव कल्याण के लिए विज्ञान एव धर्म-दर्शन के जिस पूर्ण सहयोग एव समन्वय की आवश्यकता है उसके लिए जरूरी है परम्परागत अन्धविश्वासो और विकृतियो पर आधारित मूल्यो का निराकरण कर दिया जाए—"भौतिक विज्ञानो के चमत्कारो से भयाकुल चेतना को हमे आस्था प्रदान करनी है। निराश एव सत्रस्त मनुष्य को आशा एव विश्वास की मशाल थमानी है जिन परम्परागत मूल्यों को तोड दिया गया है उन पर दुबारा विश्वास नही किया जा सकता क्योकि वे अविश्वसनीय एव अप्रासगिक हो गए हैं। परम्परागत मूल्यो की विकृतियो को नष्ट कर देना ही अच्छा है। हमे नये युग को नए जीवन मूल्य प्रदान करने है। इस युग मे जो बौद्धिक सकट एव उलझनें पैदा हुई हैं। हमें समाधान का रास्ता ढूढना है।"[6]

सिद्धान्ततः धर्म और विज्ञान का स्वतन्त्र महत्त्व है। दोनो ही सत्य तक पहुचने के माध्यम हैं। विज्ञान भौतिक प्रयोगशाला मे किसी वस्तु की सर्वभौमिक सत्यता को उद्घाटित करता है तो धर्म जिज्ञासा-अनुभव के आधार पर आत्म प्रयोगशाला मे सत्य को खोजता

---

१. आचार्य श्री देशभूषण, उपदेशसारसग्रह, (जयपुर), १९८२, प्रथम भाग, पृ० ३
२. वही, पृ० ८७
३. वही, पृ० ८७
४. वही, पृ० ८७
५. महावीर सरन जैन, विश्व धर्म के रूप मे जैन धर्म-दर्शन की प्रासगिकता, प्रस्तुत खण्ड
६. वही

है। दोनों का मार्ग तो एक ही है—सत्य को पहचानना-परखना किन्तु मार्ग अलग-अलग हैं।[1] इस प्रकार आज लगभग सभी विचारक इससे सहमत हैं कि धर्म और विज्ञान दोनों ही जीवनोपयोगी हैं और दोनो का लक्ष्य भी सत्यानुसन्धान है।

आधुनिक विचारकों ने जैन धर्म-दर्शन की अनेक मान्यताओ को वैज्ञानिकता की दृष्टि से विशेष पुष्ट किया है। विद्वानो का विचार है कि विज्ञान की प्रयोगशाला में जीन्स अध्ययन की जीव वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा टैस्ट-ट्यूब मे मानव-भ्रूण निर्माण की जो सभावनाए प्रकाश में आई हैं जैन धर्म दर्शन की जीव विषयक धारणा उनसे काफी मिलती है।[2] प्रस्तुत खड मे स्वामी वाहिद काजमी ने यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि आधुनिक भौतिक विज्ञान ने परमाणु के स्वरूप को बिन्दुगत तथा तरगगत रूप से जो सिद्ध किया है वह भगवान् महावीर की सापेक्ष-दृष्टि से सत्य सिद्ध हो रहा है। इसी सन्दर्भ मे मुनि महेन्द्रकुमार जी का पुनर्जन्म सम्बन्धी लेख विशेष रूप मे उल्लेखनीय कहा जा सकता है जिसमें जैन दर्शन की मान्यताओ के सन्दर्भ मे पुनर्जन्म से सम्बद्ध आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन की समीक्षा की गई है। डॉ० दुलीचन्द्र जैन की मान्यता के अनुसार यद्यपि आधुनिक विज्ञान जगत् मे ऐसा कोई भी प्रयोग नही हुआ है जिससे कर्म सिद्धान्त की पूर्णत वैज्ञानिक पुष्टि हो सके क्योंकि अभी तक विज्ञान आत्मा पर प्रयोग नही कर सका है। परन्तु विद्वान् लेखक ने आधुनिक विज्ञान की अनेक मान्यताओ तथा जैन कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी मान्यताओं की पारस्परिक अनुकूलता का विशेष रूप मे प्रतिपादन किया है।

उपर्युक्त सभी तथ्यो से यह सिद्ध होता है कि धर्म और दर्शन के सिद्धान्तो को आधुनिक विज्ञान के सन्दर्भ मे युक्तिसगत ठहराया जा सकता है परन्तु इस सम्बन्ध मे यह भी विशेष रूप से विचारणीय है कि क्या धर्म और विज्ञान के सत्यानुसन्धान की प्रक्रिया एक है? "जो निरीक्षण और प्रयोग के दायरे मे न आता हो और विवेक-सम्मत न हो उसे विज्ञान मानने को राजी नही है। आधुनिक युग मे विश्वास और आप्तोपदेश का कोई स्थान और महत्त्व नही है। विज्ञान ने मनुष्यो को इनके विरुद्ध विद्रोह करना सिखाया है।"[3] वस्तुत: विज्ञान और धर्म की प्रतिकूलता का प्रश्न यहीं से उठता है। विज्ञान जिन धार्मिक विश्वासो और मान्यताओं का विरोधी है अनेक धर्म सस्थाएं यह कदापि स्वीकार नहीं करेंगी कि विज्ञान उनके धार्मिक मामलो मे हस्तक्षेप करे। इसी प्रकार धर्म सस्था मे 'आप्त' मानने का आग्रह इतना प्रबल रहता है कि विज्ञान द्वारा प्रकटित सत्य यदि 'आप्त' के विरुद्ध जाए तो भी धार्मिक जगत् मे विज्ञान के हस्तक्षेप को सहन नही किया जाएगा। इन परिस्थितियों मे विद्वानो के लिए यह सिद्ध करना विशेष महत्त्व नही रखता कि अमुक धर्म और दर्शन के अमुक सिद्धान्त विज्ञानसम्मत हैं जब तक इस सम्भावना की पूरी छान-बीन नही कर ली जाती है कि धर्म सस्था मे विज्ञानसम्मत प्रगतिशील मूल्यों के जुडने का अवकाश भी है या नही? हमे इस वस्तुस्थिति की भी अनदेखी नही करनी चाहिए कि आधुनिक विज्ञान ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म सिद्धान्त, बन्ध, मोक्ष, आदि धर्म-दर्शन के कूटस्थ मूल्यो को सदिग्ध दृष्टि से देखता है तथा भौतिक जगत् तक ही अपने सत्यानुसन्धान-क्षेत्र को सीमित किए हुए है। धर्म और दर्शन ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म सिद्धान्त के मूलाधारो पर ही अवलम्बित है तथा भौतिक जगत् के तत्त्वो का वह उदासीन दृष्टि से विश्लेषण करता आया है। इस प्रकार धर्म और दर्शन जिन आध्यात्मिक मूल्यो को सत्य मानते हुए भौतिक जगत् के प्रति उदासीन है विज्ञान ठीक इसके विपरीत दिशा की ओर चलते हुए भौतिक तत्त्वो के प्रति आस्थावान् है और आध्यात्मिकता का विरोधी है। धर्म और विज्ञान का समन्वय करने मे सबसे बडी बाधा तब उपस्थित होती है जब ज्ञान की प्रामाणिकता के प्रश्न पर दोनो एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। विज्ञान जिसे 'प्रामाणिक' मानता है धर्म और दर्शन उसकी प्रामाणिकता को सदिग्ध दृष्टि से देखता है। डॉ० भार्गव ने इसी समस्या का विश्लेषण करते हुए कहा है कि "वैज्ञानिक की पद्धति ऐसी है कि उसमे नवीन उद्भावना के द्वार सदा खुले हैं। धर्म-दर्शन की पद्धति ऐसी है कि नवीन उद्भावना को भी किसी पुराने व्यक्ति या ग्रन्थ के नाम पर ही चलाया जा सकता है। नवीन उद्भावना की भी धर्म और दर्शन मे नवीनता स्वीकार नही की जा सकती। नवीनता का धर्म दर्शन के क्षेत्र मे अर्थ है 'अप्रामाणिकता' किन्तु विज्ञान के क्षेत्र मे 'नवीनता' का अर्थ है 'मौलिकता'।"[4]

ऐतिहासिकता की दृष्टि से भारतीय-धर्म-दर्शन मे 'नवीनता' अथवा 'मौलिकता' को हतोत्साहित करने की प्रवृत्ति का औचित्य पिछली नौ-दस शताब्दियो के दार्शनिक एव धार्मिक विचारको तक ही सीमित है समग्र धर्म-दर्शन के इतिहास की दृष्टि से नही। सभी भारतीय धर्मों एव दर्शनो के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि 'आप्तत्व' की समस्या ने भारतीय धर्म-दर्शन के मौलिक एव मुक्त चिन्तन को हतोत्साहित किया है। चाहे वे आस्तिक दर्शन हो या नास्तिक 'आप्तत्व' के आग्रह से मुक्त नही है। वस्तुत वेदापौरुषेयत्व का जैन धर्म-दर्शन द्वारा खण्डन करने का कोई औचित्य सिद्ध नही होता यदि वह भी 'सर्वज्ञता' के आग्रह मे जुडा हुआ रहता है। आस्तिक धर्मावलम्बियो के लिए ईश्वर के वचन जैसे अनिवार्यत अनुकरणीय हैं 'सर्वज्ञता' की अवधारणा मे भी वैसा ही आग्रह विद्यमान है। प० दलसुख मालवणिया

---

१. राजीव प्रचडिया, वैज्ञानिक आईने में जैन धर्म, प्रस्तुत खण्ड
२. प्रद्युम्न कुमार जैन, तीर्थंकर जीवन दर्शन, लखनऊ, १९७५, पृ० १०७
३. हरेन्द्र प्रसाद वर्मा, जैन दर्शन और आधुनिक सन्दर्भ, प्रस्तुत खण्ड
४. दयानन्द भार्गव, आधुनिक सन्दर्भ में जैन दर्शन के पुनर्मूल्यांकन की दिशाए, प्रस्तुत खण्ड

जी का विचार है कि सर्वज्ञता की अवधारणा भगवान् महावीर की देन नही अपितु परवर्ती दार्शनिकों की मान्यता है।[१] सम्भवत. मीमांसकों के आक्षेपों का उत्तर देने के लिए जैन दर्शन मे सर्वज्ञता की अवधारणा उत्पन्न हुई होगी। जहां तक भगवान् महावीर के धर्मोपदेशों का सम्बन्ध है उनमें ईश्वर के वचनो के समान अनुकरणीयता का आग्रह देखने मे नही आता। "जैन दर्शन विश्वास और अविश्वास सभी एकान्तिक दृष्टियों का विरोध करता है और साथ ही यह मानता है कि सत्य चाहे किसी स्रोत से आए हमे उसे ग्रहण करना चाहिए। इसमे आप्तोपदेश को आख मूंदकर मानने पर बल नही दिया जाता।"[२] जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है भगवान् महावीर सत्य को अनुकरण के आधार पर स्वीकार करने के विरोधी हैं और अनुभव एव परीक्षण के द्वारा ग्रहणाग्रहण के विवेक को ही महत्त्व देते हैं। स्वय भगवान् महावीर ने अपने से पहले तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के तत्त्वदर्शन को आत्म परीक्षण के द्वारा स्वीकार किया। यदि वे सर्वज्ञता की धारणा का समर्थन करते होते तो पार्श्वनाथ के धार्मिक सिद्धान्तो मे उनका किंचित् मात्र भी मतभेद नही रहता। परन्तु प्राचीन आगम ग्रन्थों के प्रमाण यह बताते हैं कि पार्श्वनाथ के शिष्यो मे एव महावीर के शिष्यो मे तात्त्विक मतभेद विद्यमान रहा था।[३] इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि कूटस्थता के प्रति एकान्तिक आग्रहो को लेकर चलने वाले धर्मों और दर्शनों मे जैन धर्म-दर्शन सम्मिलित नही है। अन्य धर्मों और दर्शनो के प्रभाव से उसमे जो कुछ विकृतिया आई हैं उनकी सत्यता का पुनर्मूल्याकन किया जाना अभी शेष है। जैन धर्म-दर्शन के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को कोई रोक नही सकता परन्तु इस प्रक्रिया को अपनाते हुए स्वीकार करना चाहिए कि अमुक प्राचीन सिद्धान्त का अतिक्रमण किया जा रहा है क्योकि आधुनिक परिस्थितियों मे उसकी सार्थकता लुप्त हो चुकी है। नवीन तथ्य को नवीन कहना आधुनिक दृष्टि होगी। "हमे चाहिए कि प्राचीन सिद्धान्त के मूलरूप को ईमानदारी से वैसा ही रहने दे जैसा वह है। तथा उस प्राचीन सिद्धान्त की द्रविड प्राणायाम द्वारा नवीन व्याख्या न करके नवीन सिद्धान्त का स्वतन्त्र ही प्रतिपादन करें। फिर भी प्राचीन की समयानुसार नवीन व्याख्या करने का अधिकार वहा तक है जहा तक वह नवीन व्याख्या सहज तथा स्वाभाविक हो।" सम्भवत· आधुनिक सन्दर्भ में धर्म और दर्शन की विज्ञान परक सार्थकता तभी मानी जाएगी जब हम विज्ञान सम्मत सत्यानुसन्धान की प्रक्रिया को भी स्वीकार कर लेगे धर्म और विज्ञान का समन्वय करने वाले विचारकों को इस समस्या की सम्भावनाओं और असम्भावनाओ पर भी विचार करना चाहिए।

४. धर्म-दर्शन में मौलिकता की समस्या ·

आधुनिक सन्दर्भ मे भारतीय धर्म-दर्शन के क्षेत्र मे नवीनता एव मौलिकता की समस्या पर विश्व चिन्तन के परिप्रेक्ष्य मे विचार किया जाना अपेक्षित हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पिछली आठ-नौ शताब्दियो की कालावधि मौलिक चिन्तन एव नवीन सिद्धान्तो से वंचित रही है तथा इन शताब्दियों मे प्रथम श्रेणी के दार्शनिको का भी अभाव रहा है। इन विगत शताब्दियों मे दार्शनिक योगदान के नाम पर शुष्क वितण्डावाद को प्रोत्साहन मिला है या फिर प्राचीन मान्यताओ का पिष्ट-पेषण हुआ है। अक्षपाद, कपिल, कणाद, नागार्जुन, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, कुन्दकुन्द, अकलक, सिद्धसेन, समन्तभद्र, कुमारिल, शकर, वाचस्पति जैसी प्रतिभाए उत्तरोत्तर के काल मे विरल होती गई हैं। इस सम्बन्ध मे प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० देवराज का कथन है कि "योरोप की पुनर्जागृति (रिनेसां) के बाद की सांस्कृतिक लब्धियो पर दृष्टिपात करें तो आखें चौंधियाये बिना नही रह सकतीं। डेकार्ट, स्पिनोजा, और लाइबनिज, लॉक, बार्कले, और ह्यूम; काण्ट, हेगेल और कार्लमार्क्स, गेलियो न्यूटन और डार्विन —इन तेजस्वी मनीषियो की तुलना मे बारहवीं से उन्नीसवी सदी तक के भारतीय लेखक-विचारक टिमटिमाते दीपकों से मालूम होते है।"[४] डॉ० देवराज की धारणानुसार आधुनिक भारतीय विचारक महात्मा गाधी, रवीन्द्र नाथ टैगोर, अरविन्द, राधाकृष्णन् आदि सब भारतीय सस्कृति के व्याख्याता हैं। इनमे से गांधी जी ने यद्यपि नैतिक और राजनैतिक क्षेत्रो मे वस्तुत: मौलिक विचारणाए दी किन्तु पारिभाषिक अर्थ मे गाधी जी एक दार्शनिक विचारक नही हैं। ऐसा ही रवीन्द्र, अरविन्द, आदि के सम्बन्ध मे भी कहा जा सकता है।[५]

किसी भी देश का साहित्यिक सृजन व दार्शनिक चिन्तन शून्य मे घटित नही होता अपितु कवि और दार्शनिक दोनो अपने देश और जाति के लिए लिखते सोचते है। इस दृष्टि से देखा जाए तो महात्मा गाधी की आधुनिक चिन्तन पद्धति विद्रोह मूलक सघर्ष का आह्वान करती हुई जहा एक ओर देश को स्वाधीनता दिलाने मे फलीभूत हुई है वहा दूसरी ओर उनके चिन्तन मे स्वदेशी धर्म-दर्शन के प्रति महान्

१. उज्जैन की अखिल भारतीय प्राच्यविद्यापरिषद् में दिया गया वक्तव्य
२. हरेन्द्र प्रसाद वर्मा, जैन दर्शन और आधुनिक सन्दर्भ, प्रस्तुत खण्ड
३. Sacred Books of the East, Vol XLV, पृ० ११६, Bool Chand, Jainism in Indian History, J. C. R.S., Banares, 1951, पृ० ३
४. देवराज, पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, लखनऊ, १६५१, पृ० २८७
५. वही, पृ० २८६

आस्था भी प्रकट हुई है। वस्तुतः गांधी जी ने वैदिक धर्म-दर्शन तथा जैन धर्म-दर्शन के उन सभी प्राचीन मूल्यों के सह् अस्तित्व को व्यवहार में उतारा है जिन्हें पुराने दार्शनिक एक-दूसरे का विरोधी बताते आए हैं। जैन दर्शनानुसारी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य के पंचमहाव्रतों के आचरण की राष्ट्रीय भूमिका का क्या स्वरूप हो सकता है तथा आधुनिक सन्दर्भ मे भी इनकी कितनी प्रासंगिकता हो सकती है—इसका यदि आदर्श देखना हो तो वह गाधी जी के जीवन दर्शन मे देखा जा सकता है। इस प्रकार गांधी जी के सन्दर्भ में योरोपीय दर्शनों की चकाचौंध के बावजूद भी भारतीय-धर्म-दर्शन की सार्थकता आज स्वय सिद्ध है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि सभी भारतीय धर्मों और दर्शनों की स्वस्थ मान्यताओ और नैतिक मूल्यों को सम्प्रदाय-भावना से मुक्त किया जाए। भारत जैसा देश जो सिद्धांतत सर्वधर्म-समभाव की चेतना से जुड चुका हो उसके सन्दर्भ मे सरकार पर ही यह दायित्व नहीं आता है कि वह सभी धर्मों के प्रति समान आदर अभिव्यक्त करे बल्कि उस देश के सभी धर्मानुयायियों का भी कर्तव्य है कि उनकी धार्मिक मान्यताए और दार्शनिक चिन्तन सर्वधर्म सहिष्णुता की सद्भावना से अनुप्रेरित रहे। पारस्परिक सद्भाव के बिना किसी भी धर्म और दर्शन की नैतिकता एव वैज्ञानिकता का कोई अर्थ नही रह जाता है तथा साम्प्रदायिकता के द्वेषवश इन्हे संदिग्ध दृष्टि से देखा जाता है। विगत शताब्दियो के दार्शनिक इतिहास पर यदि दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी धार्मिक एव दार्शनिक सम्प्रदायों ने एक दूसरे की मान्यताओ का खण्डन किया। परिणाम यह निकला कि सभी धर्मों और दर्शनो ने अपनी गरिमा खो दी और उनकी सामाजिक उपादेयता भी क्रमशः लुप्त होती चली गई। निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि योरोपीय समाज चिन्तन की प्रभावशालिता एव भारतीय धर्म-दर्शन की अप्रासगिकता का मुख्य कारण साम्प्रदायिक विकृति रही है। इसी विकृति के कारण भारतीयता को भी पर्याप्त आघात पहुंचा है। आज भारत मे पाश्चात्य जीवन पद्धति तथा पाश्चात्य जीवन दर्शन के व्यापक प्रचार होने का जहा यह कारण दिया जाता है कि अंग्रेजी-शासन की यह देन है वहां यह भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि भारतीय धर्म-दर्शन के सिद्धान्तों मे सामाजिक नियत्रण के प्रति शैथिल्य आया है। आज की बदली हुई समाज व्यवस्था की भी उपेक्षा नही की जा सकती है। योरोपीय दर्शनो की प्रभावशालिता को अभी न्यून नही किया जा सकता इस समय केवल भारतीय धर्म और दर्शन के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है।

योरोप के आधुनिक दर्शन विज्ञान की खोजो द्वारा उत्पन्न हुई नवीन मानवीय अनुभूतियो का विश्लेषण करने आ रहे है इसलिए बौद्धिक जगत् मे इन दर्शनो का औचित्य विश्व-चिन्तन की मुख्य धारा के साथ स्वीकार किया जाता है। इसके विपरीत भारतीय धर्म-दर्शन उर्वरता की उस पृष्ठभूमि को खो चुके हैं जिसमे आधुनिक मनुष्य की सवेदनाए पल्लवित हो सकें। भारतीय मनीषी आज भी धर्म-दर्शन के पुराने एव अर्थहीन विवादो को दुहराने मे अपने पाडित्य को सार्थक मानता है जिनकी प्रासगिकता आज क्षीण हो चुकी है। धर्म-दर्शन की प्राच्य-मान्यताओ--शब्द-नित्यता, पिठरपाकवाद अथवा पीलूपाकवाद, अन्धकार की स्वतत्र द्रव्यता, वेदापौरुषेयत्ववाद, सर्वज्ञतावाद की अवधारणाए आज या तो पुरानी पड गई हैं अथवा फिर आधुनिक दार्शनिक जगत् मे इनका औचित्य समाप्त हो चुका है। आज न्याय-वैशेषिक के आरम्भवाद साख्य के सत्कार्यवाद, वेदान्त के अध्यासवाद अथवा विवर्तवाद आदि भारतीय धर्म-दर्शन के सिद्धान्तो की तुलना मे डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त एव आइन्स्टाइन के सापेक्षवादी सिद्धान्त आधुनिक मनुष्य की तर्क प्रणाली के बहुत निकट हैं। जैन धर्म-दर्शन के अनेक सिद्धान्तों के सम्बन्ध मे भी यही सत्य लागू होता है।

५. अनेकान्तवाद तथा आधुनिक तर्क प्रणाली :

रिनेशां के उपरान्त योरोप मे जिन नवीन दर्शन पद्धतियो का विकास हुआ है उनके सन्दर्भ मे जैन धर्म-दर्शन के सभी सिद्धातो का मूल्यांकन यहां किया जाना असम्भव है। केवल जैन दर्शन के प्राणभूत सिद्धान्त अनेकान्तवाद की पुनर्समीक्षा की जा सकती है। इस सम्बन्ध मे डॉ० देवराज ने सुझाया है कि "कोई सत्य या कथन निरपेक्ष रूप मे सच्चा होता है या नही"—इस प्रश्न पर विचार करते हुए जहां हम स्याद्वादी जैन विचारकों की उक्तियो पर विचार करेंगे वहा योरोप के सगतिवादी ज्ञान-मीमासको के विमर्शों पर भी उतना ही ध्यान देना होगा।[1] इस सन्दर्भ मे हमे इस स्थिति की उपेक्षा नही करनी चाहिए कि भारतीय दर्शन की स्वतः प्रामाण्यवादी प्रवृत्ति की तुलना मे योरोपीय सगतिवाद स्वय को परत प्रामाण्यवादी कहने मे नही हिचकिचाता क्योकि उसके अनुसार ज्ञान-विशेष की सत्यता समष्टि की व्यापकता और सामञ्जस्य पर निर्भर करती है। इसके विपरीत भारतीय स्वत प्रामाण्य के अनुसार प्रत्येक ज्ञान खण्ड को एकाकी रूप से प्रमाण मानते हैं, यद्यपि जैन दार्शनिको ने प्रामाण्य को स्वत. एव परत दोनो रूपो मे स्वीकार किया है इसलिए योरोपीय सगतिवाद से जैन अनेकान्तवाद की यदि तुलना की जाती है तो विशेष विरोध नही पडता।

अध्यात्मवादी पाश्चात्य दार्शनिक हिगेल ने जिस सगतिवाद (कोहिरेन्स थियरी) का प्रतिपादन किया है उसके अनुसार उस ज्ञान

---

१. देवराज, पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, पृ० २६६

या ज्ञान व्यंजक वाक्य को सत्य कहना चाहिए जो एक समष्टि (सिस्टम) का अंग बन सकता है व्यक्तिगत रूप में किसी वाक्य को सत्य कहना अनुचित है।[1] ब्रेडले की मान्यता के अनुसार प्रत्येक वाक्य (जजमेन्ट) अंशतः सत्य होता है और अंशतः मिथ्या। पूर्ण सत्य किसी एक वाक्य या अनुभव मे नही पाया जा सकता। पूर्ण सत्य की वाहक केवल वह 'वाक्य समष्टि' है जो अपनी शब्दात्मक परिधि में अशेष विश्व को अपना विषय बना लेती है।[2] जैन अनेकान्तवाद की आधुनिक सन्दर्भ मे पाश्चात्य संगतिवाद से इस अर्थ मे साम्यता प्रतिपादित की जा सकती है कि वह भी यही स्वीकार करता है कि कोई भी कथन निरपेक्ष या पूर्ण रूप मे सत्य नहीं होता परन्तु जैन दार्शनिको ने इस वाद के समर्थन में जो युक्तियां दी हैं उसके कई पक्षो का आज नए सिरे से पुनर्मूल्यांकन किया जाने लगा है। संगतिवाद की ज्ञान-समष्टि के विविध अंग परस्पर एक-दूसरे पर अन्योन्याश्रित रहते हुए भौतिक विज्ञान की मान्यताओ पर आधारित हैं। इस दृष्टि से डा० देवराज ने अनेकान्तवाद के तत्त्व-दर्शन पर आपत्ति उठाई है कि जब "जैन दर्शन मे जीव, पुद्गल काल आदि पदार्थों मे कोई अन्तरंग (आन्तरिक) सम्बन्ध नही है फिर उनके बोधक सत्यो मे क्यो परस्पर सापेक्षता हो? इसके विपरीत संगतिवादी वास्तविकता का तत्त्व पदार्थ को विश्व की असख्य व्यक्तियो (रूपों) की समष्टि मानते हैं अतः उनके लिए समस्त सत्य भी स्वभावतः सम्बद्ध हैं।"[3] इसी प्रकार पाश्चात्य संगतिवाद के परिप्रेक्ष्य मे अनेकान्तवाद ने जो जिज्ञासा और सन्देह के सात ही प्रकार निश्चित किए है उनमे वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता को समाविष्ट करने की शास्त्रीय विनिगमकता क्या होगी? वस्तुतः आधुनिक विचारको को "स्याद्वाद की यह मान्यता कम समझ मे आती है कि 'घट' को जानने के लिए यह जानना क्यो जरूरी है कि घट क्या-क्या नही है? सुई से छेदे जाने का दुःख क्या होता है, यह समझने के लिए यह जानना क्यो जरूरी होना चाहिए कि दुःख क्या-क्या नही है?"[4]

अनेकान्तवाद के सन्दर्भ मे भी कभी-कभी यह स्वीकार किया जाता है कि सर्वज्ञ हुए बिना एक वस्तु का भी ज्ञान सभव नही। जो एक पदार्थ को सब दृष्टियो से जानता है वह सब पदार्थों को सम्पूर्णतया जानता है। जो सब को जानता है वही एक को जान सकता है—

एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावा सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥[5]

अनेकान्तवाद की उपर्युक्त तर्क-योजना आधुनिक विचारको के अनुसार अन्तर्दृष्टिजन्य ज्ञान अथवा आत्मज्ञान (इन्ट्यूटिव नॉलिज) के रूप मे तो स्वीकार की जा सकती है किन्तु बुद्धिवादी सामान्य तर्क प्रणाली की दृष्टि से इसका महत्त्व स्वीकार्य नही।[6]

आधुनिक योरोपीय दर्शन मे 'संगतिवाद' के विरुद्ध 'व्यवहारवाद' अथवा 'उपयोगितावाद' (प्रैगमैटिज्म) की भी अवतारणा हुई है, ठीक वैसे ही जैसे 'अनेकान्तवाद' के विरुद्ध 'एकान्तवाद' का नाम लिया जाता है। इस वाद के अनुसार तथ्य कथन अथवा सत्य का मापदण्ड है— उसके अनुसार कार्य करने की प्रेरणा अथवा प्रवृत्ति का औचित्य। इस सम्बन्ध में व्यवहार वाद के प्रबल समर्थक विलियम जेम्स का कहना है कि "हमारे विश्वास वास्तव मे कर्म करने का नियमन करते हैं अतएव सत्य हमारे कर्त्तव्यानुष्ठान को प्रभावित करते हैं।"[7] जिस सत्य कथन से हमारे व्यवहार पर कोई प्रभाव ही नही पडने वाला हो तो ऐसे कथन के सत्य अथवा असत्य होने की कोई उपयोगिता नही रह जाती है। इस व्यवहारवादी दर्शन के सन्दर्भ में जैनो के अनेकान्तवाद के अनुसार यह उपयोगितावादी आग्रह 'एकान्तवाद' के रूप मे प्रतिपादित किया जाता है। वस्तुस्थिति यह है कि आधुनिक पाश्चात्य दर्शनो के सन्दर्भ मे 'एकान्तवाद' के आग्रहवादी प्रवृत्ति की भी नए सिरे से पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता आ पडी है। इसके लिए यह देखना आवश्यक हो जाता है कि तर्कमूलक बुद्धिवादी ज्ञान की सीमाएं और प्रवृत्तियां क्या हैं?

पाश्चात्य दार्शनिक बर्गसां यह मानता है कि बुद्धि ठोस पिण्डो मे अर्थात् द्रव्यो मे ही स्वभावतः रमती है, गति और परिवर्तन

---

१ देवराज, पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, पृ० ६०
२. वही, पृ० ६१
३. वही, पृ० ६७
४. वही, पृ० ६८
५. तुलनीय "जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ। जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ॥
आचारांग श्रुत स्कन्ध १, अध्ययन ३, उद्देश ४, सूत्र १२२
६. "Where Jainism refers to complete absolute knowledge, it must be taken in the sense of intuitive knowledge of a 'Jina' or realised soul. But intuitive knowledge is not logical, though it may be supra logical. We are concerned with the logic of man and not with the logic of super man'-—M. N. Rastogi, 'The Theories of Implication in Indian and Western Philosophy', Delhi, 1982, पृ० ८३
७. "Our beliefs are really rules for action. All realities influence our practice". W. James, 'Pragmatism', 1907, पृ० ४६, ४८

को स्पष्ट कर सकना उसके बस की बात नहीं। बुद्धि का कार्य है वस्तु को टुकडे-टुकड़े करके समझाना।[1] न्यायदर्शन में तर्कशास्त्र की इन्ही बुद्धिवादी सीमाओं की ओर इंगित करते हुए कहा गया है कि सन्देह अथवा संशय की निवृत्ति तर्क का उद्देश्य है—नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते किं तर्हि संशयितेऽर्थे।[2] तर्क के इसी बुद्धिवादी धरातल पर अनेकान्तवाद के औचित्य को स्वीकार किया जाना चाहिए। जबकि जैन परम्परा में एवं उपनिषद् परम्परा मे इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि तत्त्वचिन्तन के सन्दर्भ में बुद्धिवादी तर्क प्रणाली प्रमेय-निरूपण में पूर्णत: सक्षम नही है। नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन[3] आदि मान्यताओ के सन्दर्भ मे जहां तत्त्व-दर्शन को एक दिव्य आत्मदर्शन की असहज सभावना प्रतिपादित किया गया है वहां दूसरी ओर 'केवल ज्ञान' की जैन अवधारणा भी यही घोषित करती है कि केवलज्ञानी ही ज्ञान के सभी द्रव्यो को अपनी सम्पूर्ण पर्यायो के साथ देख सकता है।[4] परन्तु जब हम बुद्धिवादी तर्क पद्धति की बात करते हैं तो हमे ज्ञान की 'अन्तर्दर्शन-पद्धति' तथा 'केवलज्ञान' की पद्धति को मिलाना नही चाहिए क्योंकि इन पद्धतियों की प्रवृत्ति तब होती है जब सामान्य इन्द्रिय गोचर बुद्धिबल द्वारा प्रमेय सिद्धि अनिर्वचनीय ही रहती हो। इस दृष्टि से देखा जाए तो जैन अनेकान्तवाद के अनुसार भंगो एवं नयों की अवतारणा से जिस सापेक्ष सत्य के उद्घाटन की उद्घोषणा की जाती है क्या वह वस्तुतः ज्ञान की सभी पर्यायों को बता सकता है ? उत्तर नकारात्मक ही होगा। ऐसी स्थिति मे तर्क प्रणाली चाहे एकान्तवादी हो या फिर अनेकान्तवादी वह सिद्धान्ततः वस्तु स्वरूप के एक अवयव का ही प्रतिपादन कर पाती है, समग्रता का नही। हा, इतना अवश्य है कि अनेकान्तवाद तर्क की इस विवशता को समझाने की चेष्टा कर रहा है। दूसरी ओर एकान्तवादी सत्य के आग्रह के औचित्य को भी महत्त्व देना चाहिए कि वह आधुनिक व्यवहारवाद अथवा उपयोगितावाद की मूल चेतना को लेकर सत्यानुसन्धान की ओर प्रवृत्त होता है। इन दोनो दृष्टियों के परिप्रेक्ष्य में आज अनेकान्तवाद के उद्भव एव विकास की विविध प्रवृत्तियो का ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वेक्षण किया जाना चाहिए। एकान्तवाद तथा अनेकान्तवाद वस्तुत विरोधीवाद हैं या परवर्ती दार्शनिको ने साम्प्रदायिक आग्रहो से इनकी ऐसी व्याख्या की है—आज के सन्दर्भ मे यह प्रश्न भी पुनर्विचारणीय हो गया है। वस्तुस्थिति यह है कि तथाकथित एकान्तवाद कुछ व्यावहारिक अपेक्षाओ से फलित हुआ है। सिद्धान्ततः भारतीय दर्शन के क्षेत्र मे 'एकान्तवाद' न तो कोई वाद के रूप मे पारिभाषित हुआ है और न ही किसी ऐसे दार्शनिक सम्प्रदाय का कोई नाम लिया जा सकता है जो इस वाद का समर्थक हो। प्राय जैन दार्शनिक ही अपने से भिन्न वैदिक एव बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तो को 'एकान्तवादी' सज्ञा दे देते हैं। हमे इस तथ्य की भी उपेक्षा नही करनी चाहिए कि शकराचार्य प्रभृति आचार्यों ने भी स्वय को एकान्तवाद का प्रतिनिधि स्वीकार कर अनेकान्तवाद का खण्डन किया है परन्तु वे यह भूल जाते है कि तदेजति तन्नैजति० आदि उपनिषद् वाक्यो पर भाष्य लिखते हुए उन्हे अनेकान्तवादी तर्क योजना का ही आश्रय लेना पडा है।[5] इस प्रकार भारतीय दर्शन की साम्प्रदायिक प्रवृत्तियो ने एकान्तवाद और अनेकान्तवाद के मध्य औचित्यानौचित्य की जो भेदक रेखा खीची है आधुनिक सन्दर्भ मे उसके पुनर्मूल्याकन की महती आवश्यकता आ पडी है। जैन अनेकान्तवाद की गम्भीरता तब और भी बढ़ जाती है जब हम यह देखते है कि वैदिक एव बौद्ध विचार प्रणालियो ने भी इसके तार्किक औचित्य को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है।

ऋग्वेद का ऋषि स्पष्ट उद्घोषणा करता है कि एक ही सत् विविध रूपो मे अभिव्यक्त होता है—एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।[6] ऋग्वेद का नासदीय सूक्त नासदासीन्नो सदासीत० की जिस तर्कप्रणाली द्वारा सृष्टि वर्णन की ओर प्रवृत्त हुआ है, प० दलसुख मालवणिया जी के मतानुसार वह महावीर कालीन अनेकान्त की प्रारम्भिक पृष्ठभूमि थी जिसे उपनिषदो के काल तक विशेष महत्त्व दिया जाने लगा था।[7] मालवणिया जी के अनुसार उपनिषदो के समय तक अनेकान्तवाद के चार पक्ष स्थिर हो चुके थे। वे पक्ष हैं—(१) सत् (विधि) (२) असत् (निषेध) (३) सदसत् (उभय) तथा अवक्तव्य (अनुभय)।[8] वैदिक एव औपनिषदिक चिन्तक के समक्ष जब कभी रहस्यात्मक एवं गम्भीर समस्याओ को सुलझाने का प्रश्न आया है तो वह एकान्तवाद से सर्वथा मुक्त रह कर वस्तुस्थिति की विविध सभावनाओ को उसी रूप मे अभिव्यक्त करता है जो अनेकान्तवाद को भी सम्मत है।

---

१. देवराज, पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, पृ० ७६
२. न्यायसूत्र, १.१.१ पर वात्स्यायन भाष्य
३. कठोपनिषद्, २.२३
४. तुलनीय "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" तत्त्वार्थसूत्र, १.२६
५. तुलनीय "न मन्त्राणां जामितास्तीति पूर्वमन्त्रोक्तमपि अर्थ पुनराह-तदात्मतत्त्व यत्प्रकृतमेजति चलति तदेव च नैजति स्वतो नैव चलति अचलमेव सच्च-लतीवेत्यर्थ.।" ईशावास्योपनिषद्, ५ पर शाकरभाष्य
६. ऋग्वेद, १. १६४. ४६
७. दलसुख मालवणिया, आगम युग का जैन दर्शन, आगरा, १९६६, पृ० ६४
८. वही, पृ० ६५

भगवान् महावीर एवं बुद्ध के काल तक स्थिति में पर्याप्त अन्तर आ चुका था वैदिक चिन्तन में भी आग्रहपूर्ण दृष्टि से तत्त्व-चिन्तन पर विशेष बल दिया जाने लगा जिसकी प्रतिक्रियास्वरूप अनेक अवैदिक मतमतान्तर दार्शनिक जगत् मे प्रसिद्ध हो चुके थे। भगवान् महावीर और बुद्ध ने इन परिस्थितियो मे विभज्यवाद का आश्रय लिया। दोनों ही सिद्धान्तत: सापेक्षवाद की अवधारणा से अनुप्रेरित हैं। बुद्ध ने जीव-जगत्, ईश्वर के नित्यत्व एवं अनित्यत्व की प्रासंगिकता को हेय मानते हुए इन्हें 'अव्याकृत' प्रश्न घोषित कर दिया जिसका अर्थ था दो विरोधी वादों के समकक्ष अस्वीकारात्मक तृतीय मार्ग का अवलम्बन लेना। जबकि भगवान् महावीर ने ऐसे प्रश्नो को भी विभज्यवाद द्वारा स्वीकारात्मक शैली में सुलझाने का प्रयास किया है। इसी विभज्यवाद को कालान्तर मे अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। महावीर कालीन विभज्यवाद का जो स्वरूप भगवती सूत्र में उपलब्ध होता है, उसके अनुसार लोक की नित्यानित्यता, जीव की सान्तानन्तता, शरीर का भेदाभेद, परमाणु की नित्यानित्यता जैसे गम्भीर एवं रहस्यपूर्ण समस्याओ को इस वाद द्वारा सुलझाने की चेष्टा की गई है।[1] आधुनिक सन्दर्भ मे महावीरकालीन विभज्यवाद का उचित मूल्यांकन यदि किया जाए तो यह कहना होगा कि विभज्यवाद युग चिन्तन के तनाव को शान्त करने हेतु उठाया गया एक ऐसा कदम था जिसमे उच्छेदवादियो एव शाश्वतवादियो का पारस्परिक बौद्धिक विवाद समाप्त हो जाता है। भगवान् बुद्ध ने भी विवादग्रस्त प्रश्नों को अव्याकृत कह कर जिस मध्यम मार्ग का सहारा लिया उसका उद्देश्य भी तनावपूर्ण वैचारिक स्थितियो मे समझौता करना ही रहा था। इस प्रकार आधुनिक व्यवहारवादी दृष्टिकोणानुसार भी भगवान् महावीर का विभज्यवाद अपनी सैद्धान्तिक प्रासगिकता को लिए हुए है। पाश्चात्य संगतिवादी आलोचक अनेकान्तवाद के प्रसंग मे जो आपत्तियां रखता है महावीरकालीन विभज्यवाद उनसे मुक्त है। इसी प्रकार व्यवहारवादी के अपेक्षा से वस्तुविश्लेषण का जो स्वरूप स्वीकार किया जाता है विभज्यवाद उसके भी अनुकूल है।

आधुनिक काल मे भी तर्क को उपयोगितावाद के आधार पर स्वीकार किये जाने की ओर विशेष बल दिया जा रहा है। आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज के शब्दो मे "तर्क अपने आप मे शून्य है। श्रद्धा का उत्कर्ष ही तर्क है। जिस वस्तु मे श्रद्धा रम जाती है, उसका समर्थन सूत्र ही तर्क है। आग कसौटी है सोना नही। तर्क है अनुभूति नहीं। अनुभूतिहीन तर्क का उतना ही मूल्य है जितना सोने के बिना कसौटी का।"[2] आचार्य श्री यह मानते है कि शुष्क तर्क हृदय हीन होता है एवं श्रद्धा सम्मत तर्क ही समाज मे अहिंसक समाज की आधार-शिला रखने में समर्थ है जबकि कूटनीति के छलावे से उत्पन्न तर्क हिंसा का ही प्रचार करता है।[3] इस प्रकार आचार्य देशभूषण महाराज ने भगवान् महावीर की मूलचेतना को पकडते हुए आधुनिक सन्दर्भ मे इसकी सार्थकता का प्रतिपादन किया है।

६ आधुनिक युग परिवेश एव वैचारिक सन्तुलन :

आचार्य श्री देशभूषण आज भी धार्मिक सद्भावना एव राष्ट्रीय एकता के प्रचार व प्रसार द्वारा जैन धर्म एव दर्शन के सिद्धान्तों को राष्ट्र की मुख्य धारा के साथ जोडने मे विश्वास रखते हैं। दिल्ली के प्रसिद्ध समाचार पत्र हिन्दुस्तान दैनिक ने आचार्य श्री के जन्म जयन्ती १९ दिसम्बर, १९८२ के उपलक्ष्य पर यह उद्गार प्रकट किया है कि "हिन्दू समाज के धर्म प्राण नेता स्व० श्री जुगलकिशोर बिरला के सान्निध्य मे आचार्य श्री देशभूषण जी ने सम्प्रदाय विशेष के पूर्वाग्रहो से ग्रसित व्यामोहो को त्यागकर नई दिल्ली में १९५३ मे श्री लक्ष्मी-नारायण जी मन्दिर गीता भवन मे धर्मोपदेश दिया था और उस दिन प्रतीत हुआ कि नारायण श्री कृष्ण के गीता पाठ का आचार्य श्री द्वारा किया गया भाष्य स्वतन्त्र भारत की चेतना के लिए सर्वधर्म-सद्भाव, अनेकान्तवाद एव निर्भयता के मगल उपदेश से परिपूर्ण है। और वह दिन वैचारिक कट्टरता को समाप्त करने मे सदैव प्रेरणा देता रहेगा।"[4] राष्ट्रीय एकता एव विश्व मानवता के प्रचार में आचार्य श्री की भूमिका का उल्लेख करते हुए पत्र लिखता है कि "आचार्य श्री देशभूषण ने विश्व मानवता का प्रचार करते हुए 'जय जवान जय किसान' के उद्घोषक प्रधानमन्त्री स्व० श्री लाल बहादुर शास्त्री को पूर्ण सहयोग दिया और पाक-युद्ध के दौरान राष्ट्रीय सुरक्षाकोष के लिए उनके सहयोग से एक लाख रुपये से अधिक की राशि व ३० किलो चांदी एव स्वर्णाभिलकार एकत्रित किए गए। और कई वर्ष पूर्व एक ज्वलंत समस्या के समाधान में माननीय प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरागांधी से ससद भवन मे उनकी भेंट सार्थक सिद्ध हुई है।"[5] इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी के अनुसार जैन धर्म-दर्शन के सिद्धान्तो की प्रासगिकता राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ के सन्दर्भ में भी निरूपित की जा सकती है।

---

१ दलसुख मालवणिया, आगम युग का जैन दर्शन, पृ० ६२-८७

२. आचार्य श्री देशभूषण, उपदेशसारसग्रह, प्रथम भाग, पृ० ३५५-५६

३. वही, पृ० ३५६

४. हिन्दुस्तान (हिन्दी दैनिक), १९ दिसम्बर, १९८२, पृ० ३

५. वही, पृ० ३

वर्तमान में व्याप्त साम्प्रदायिक तनावों का विश्लेषण करते हुए आस्ट्रेलियन मूल के हिन्दू सन्यासी डा० भारती का कहना है कि किन्हीं दो भिन्न-भिन्न धर्मों के मध्य व्याप्त पारस्परिक तनाव उन धर्मों के सिद्धान्तो से उत्पन्न तनाव नहीं हैं बल्कि वर्तमान मे प्रचलित सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओ के कारण उपजे हुए तनाव हैं ।[1]

आधुनिक विचारक एक ऐसे 'समाज-धर्म' (सोशल रिलिजन) की कल्पनाओ को सजोए हुए हैं जिसमें केवल मात्र व्यक्ति कल्याण को ही महत्त्व नही दिया जाना चाहिए बल्कि उसमे सामूहिक कल्याण एव सामाजिक प्रगति के लिए भी व्यवस्था रहनी चाहिए। सी० ए० एलवुड द्वारा निर्धारित ऐसे 'समाज-धर्म' की मूल चेतना वैचारिक उदारता, सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण तथा मानवमात्र के प्रति प्रेम भावना के द्वारा ही सभव है ।[2] भारतवर्ष का राष्ट्रीय महाकाव्य 'महाभारत' धर्म की इस आधुनिक परिभाषा के बहुत निकट आकर ही व्यक्तिगत कल्याण तथा सामाजिक सामजस्य की दृष्टि से धर्म-लक्षण का प्रतिपादन करता है—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यस्माद्धारणासंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥[3]

अर्थात् धारण करने के कारण धर्म नाम है, धर्म प्रजाओ को धारण करता है । जिससे लोक का धारण हो, लोक की स्थिति हो वही निश्चय रूप मे धर्म है । महाभारत प्रोक्त धर्म की इस उदार व्याख्या की पृष्ठभूमि मे जो मूल प्रेरणा निहित है वह अहिंसा की भावना है । इसी अहिंसा की प्रेरणा के कारण ही धर्म लोक-कल्याण का साधक कहा जा सकता है—

यस्त्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ।
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ॥[4]

जैन विचारकों ने 'अहिंसा परमो धर्म.' का जो प्रचार किया है उसकी सार्थकता और गम्भीरता हमें तब समझ मे आती है जब हम यह देखते हैं कि 'अहिंसा' सत्य से भी ऊपर के स्थान पर प्रतिष्ठित होती है । सभवत. किसी के प्राण यदि सकट मे हो तो उस समय असत्य बोलना भी 'धर्म' कहलाएगा इसलिए अहिंसा की अपेक्षा मे ही 'सत्य' का भी निर्धारण किया जाता है ।[5] अहिंसा की इस भावना को आज विश्वव्यापी समस्याओ के सन्दर्भ मे भी विशेष महत्त्व दिया जा रहा है । मार्टिन लूथर किंग की धर्मपत्नी श्रीमती कोरेटा ने महात्मा गाधी पर बनी फिल्म 'गांधी' के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि "प्राचीन समय की अपेक्षा आज अहिंसा का सिद्धान्त अधिक प्रासगिक है । महात्मा गाधी के अहिंसा-दर्शन ने अमरीकी समाज व्यवस्था मे भी क्रान्ति के बीज बोए है ।"[6] इसी अहिंसा के सिद्धान्त पर पूर्णत: अवलम्बित जैन धर्म और दर्शन की आधुनिक युग-परिवेश मे विशेष भूमिका हो सकती है ।

प्रस्तुत खण्ड मे आधुनिक युग चिन्तन के परिवेश मे जैन तत्त्व चिन्तन की प्रासगिकता को पुष्ट करने का प्रयास हुआ है । विभिन्न विचारकों ने जैन धर्म-दर्शन की सैद्धान्तिक मान्यताओ के सन्दर्भ में आज की मानव व्यवस्था से सम्बन्धित कतिपय ज्वलंत समस्याओ के समाधान भी प्रस्तुत किए हैं । कतिपय लेखको ने आधुनिक विज्ञानसम्मत मान्यताओ के अनुरूप जैन सिद्धान्तो की विज्ञानपरकता को स्पष्ट करने की चेष्टा की है । पुनर्जन्म, कर्म सिद्धान्त, अपरिग्रह अहिंसा, अनेकान्तवाद, आदि किसी एक पक्ष को लेकर विद्वानो ने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के साथ उसके तुलनात्मक अध्ययन की समीक्षा प्रस्तुत की है या फिर इन सिद्धान्तो के समाज-वैज्ञानिक औचित्य को सिद्ध करने का

---

१. The Hindustan Times, Dec. 31, 1982, पृ० ३

२. "A social religion that merely teaches service as an outward form is not enugh. Social religion must above all, cultivate the inner attitudes and motives which issue in service A genuinely social religion must teach emotional attitudes which naturally, spontaneously issue in social service It must touch the heart of man. It must kindle the sympathetic emotions. Service must be motivated by love to have the highest social value. Religion must become a great device to accumulate, diffuse and transmit altruism in society. It must inculcate the love of man as man It must develop a sense of human brotherhood throughout humanity." C. A. Ellwood, 'The Reconstruction of Religion', पृ० १६

३. महाभारत, कर्णपर्व, ६९/५८

४. वही, ६९/५७

५. महाभारत, शान्तिपर्व, ३२९ १३

६. The Hindustan Times, 3, Jan, 1983, पृ० ३

प्रयास किया है। अपरिग्रह, अहिंसा, अनेकान्तवाद आदि मान्यताओं के सन्दर्भ में सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं की विभीषिका के उपशम-नार्थ अनेक उपयोगी सुझाव प्रस्तुत किए गए हैं। इसी प्रकार आधुनिक समाज में बढ़ती हुई अपराध वृत्ति का मनोविश्लेषण प्रस्तुत करते हुए जैन सिद्धान्तों की उपादेयता पर प्रकाश डाला गया है साथ ही आधुनिक न्यायव्यवस्था के परिपेक्ष्य में जैन सिद्धान्तों के नैतिक मूल्यों का महत्त्व उभारा गया है।

जैन धर्म दर्शन की सामान्य प्रवृत्तियो के सन्दर्भ मे मानव समाज की व्यापक समस्याओ से केन्द्रित होते हुए अधिकांश लेखक यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि आज समाज मे विषमता, वर्गसंघर्ष, वैचारिक तनाव, परमाणु शक्ति के हिंसक प्रयोग आदि से सम्बन्धित जो विश्व स्तर की मानव-समस्याए रही हैं जैन धर्म और दर्शन के सिद्धान्त इस असन्तुलन को समाप्त करने मे सहायक हो सकते हैं। इन समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में विचारकों ने जैन धर्म और दर्शन के सिद्धान्तो की व्याख्या करने में जो उदारता एवं व्यापक दृष्टिकोण अपनाया है उससे ऐसा लगता है कि आज जैन धर्म और दर्शन शास्त्रीयता की दीवारो को तोडकर मुक्त चिन्तन के आयाम ले चुका है। आज का विचारक जैन धर्म और दर्शन को किसी परम्परा अथवा सम्प्रदाय की सीमाओ मे रखकर ही व्याख्यायित नही करना चाहता बल्कि समूचे राष्ट्र और विश्व की समस्याओ का समाधान भी उनमे देख रहा है। ऐसा लगता है जैन धर्म और दर्शन मे आज भी मौलिक चिन्तन गतिशील है।

मोहनचन्द

सस्कृत विभाग, रामजस कालेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

जैन दर्शन की सैद्धान्तिक मान्यताओं के सन्दर्भ में पुनर्जन्म के वैज्ञानिक अध्ययन की समीक्षा

मुनि श्री महेन्द्र कुमार

[विर्जिनिया (अमेरिका) के सुप्रसिद्ध मनश्चिकित्सक डॉ० ईयान स्टीवनसन पिछले पन्द्रह वर्षों से पुनर्जन्म के वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर अनुसधान-कार्य कर रहे है। इस सदर्भ मे उन्होने विश्व की अनेक बार यात्राए की हैं और पूर्वजन्म सम्बन्धी घटनाओ का अध्ययन किया है। प्रस्तुत लेख के लेखक ने उनके द्वारा किये गये कार्य का सर्वांगीण समावलोकन करते हुए जैन दर्शन की सैद्धान्तिक मान्यताओ के सदर्भ मे उसकी समीक्षा की है। जैन विद्या परिषद् के सप्तम अधिवेशन पर यह शोध-पत्र पढा गया था। —सम्पादक]

जैन दर्शन आत्मवादी और कर्मवादी दर्शन है।[1] आत्मा और कर्म के अस्तित्व के साथ जैन दर्शन पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भी स्वीकार करता है।[2] इधर परामनोविज्ञान के क्षेत्र मे गवेषणारत वैज्ञानिको के द्वारा पुनर्जन्म (Reincarnation) के विषय मे वैज्ञानिक पद्धतियो के आधार पर व्यवस्थित अध्ययन किया गया है।[3] प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य है— पुनर्जन्म-सम्बन्धी किये गये वैज्ञानिक अध्ययन को प्रस्तुत कर जैन दर्शन की सैद्धान्तिक मान्यताओ के संदर्भ मे उनकी समीक्षा करना।

तत्त्व दर्शन के क्षेत्र मे.

तत्त्व दर्शन (metaphysics) के क्षेत्र मे अस्तित्ववादी या आस्तिक दर्शन आत्माओ को चैतन्यशील, जड पदार्थ मे सर्वथा स्वतन्त्र एवं अनश्वर (अर्थात् मृत्यु के पश्चात् भी अपने अस्तित्व को बनाये रखने वाला) स्वीकार करते हैं, जबकि भौतिकवादी या नास्तिक दर्शन आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नही करते तथा मृत्यु के पश्चात भी उसके अस्तित्व को अस्वीकार करते है। न्याय-शास्त्र एव दर्शन-शास्त्र के ग्रन्थो मे इन दोनो अभिमतो के प्रतिपादको के पारस्परिक वाद-विवाद की विस्तृत चर्चाए उपलब्ध होती है। ये चर्चाए तर्क, अनुमान आदि प्रमाण के आधार पर की गयी हैं। दोनों पक्षो की ओर से अपने-अपने अभिमत को स्थापित कर विपक्ष को खण्डित करने की चेष्टा की गई है।

तार्किक आधारो पर खण्डन-मण्डन का यह क्रम प्राचीन काल मे ही नही, आधुनिक दार्शनिको मे भी चला है। आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक डॉ० मेकटेगार्ट जहा पुनर्जन्म के पक्षधर हैं, वहा प्रिंगलपेटिसन आदि उनके विपक्षी हैं।[4] डॉ० टी० जी० कलघटगी ने तो इसके तार्किक प्रामाण्य को असभव और अनपेक्षित माना है। उनके अनुसार यह विशिष्ट द्रष्टाओ के उच्चतम ज्ञान और अनुभूति के द्वारा व्यक्त सिद्धान्त है।[5] पर डा०मेकटेगार्ट ने पुनर्जन्म की वास्तविकता को तार्किक आधारो पर प्रमाणित करने की चेष्टा की है। उनके अनुसार यदि यह सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान जीवन के पूर्व और पश्चात् भी जीवन है, तो पुनर्जन्म के साथ अनश्वरता का सिद्धात भी अपने आप सिद्ध हो

१. से आयावाई, कम्मावाई, किरयावाई, लोयावाई।— आयारो, १/५

२. वही, १/१ से ४। सैद्धांतिक प्रमाणो के अतिरिक्त घटनाओ के उल्लेखो से जैन आगम भरे पडे हैं। युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी की मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर जाति-स्मरण-ज्ञान कराने की पद्धति से साधको को श्रद्धावान् बनाते थे। —आयारो, टिप्पणी, पृ० ५१

३. See Reincarnation—A Selected Bibliography—Compiled in the Division of Parapsychology, University of Verginia.

४. देखें, डॉ० टी० जी० कलघटगी, कर्म एण्ड रिबर्थ, पृ० ५४ से ६५, एल० डी० इस्टीट्यूट आफ इण्डोलोजिकल रिसर्च, अहमदाबाद।

५. वही, पृ० ७५ "The doctrine of Karma and consequent principle of Rebirth are expressions of highest knowledge and experience of the seers. Its logical justification is neither possible nor necessary".

जाता है।[1] पुनर्जन्म के विपक्षियों द्वारा सबसे प्रबल तर्क यही दिया गया है कि पुनर्जन्म की कोई स्मृति हमें नहीं है।[2] प्रिंगल-पेटिसन ने डॉ० मेकटेगार्ट की इस मान्यता को कि "आत्मा एक शाश्वत द्रव्य है जिसमें त्रैकालिक अस्तित्व सदा अमर बना रहता है; समर्थ तर्काधारित मानने से इसलिए इन्कार किया है कि पूर्वजन्म की स्मृति के अभाव में आत्मा की सततता की अनुभूति नहीं होती।[3] यदि पूर्वजन्म की स्मृति वास्तविक तथ्य के रूप में प्रमाणित हो जाती है, तो पुनर्जन्म का सिद्धान्त स्वतः सिद्ध हो जाता है। डा० कलघटगी ने पूर्वजन्म की स्मृति के प्रमाण को पुनर्जन्म की मान्यता को सिद्ध करने के लिए यथार्थ माना है।[4] इस प्रकार कहा जा सकता है कि पूर्वजन्मपरक स्मृति की वास्तविकता अस्तित्ववादी (आस्तिक) दर्शन के लिए एक ऐसा सबल एवं प्रत्यक्ष प्रमाण बन जाता है जिसके लिए फिर तर्क या अनुमान की आवश्यकता नहीं रह जाती।

वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर "पुनर्जन्मवाद" का प्रामाण्य दो बातों पर आधारित हो जाता है—

१. प्रथम तो पूर्वजन्म-स्मृति की घटनाएं वास्तविक हैं या नहीं—इसे प्रमाणित करना।

२. यदि ये घटनाएं वस्तुतः ही घटित हैं, तो इन घटनाओं की व्याख्या करने में पुनर्जन्मवाद की परिकल्पना (hypothesis) ही केवल सक्षम है, इसे प्रमाणित करना।

यदि इन दोनों बातों को सिद्ध कर दिया जाता है, तो आत्मा का स्वतन्त्र एवं शाश्वत अस्तित्व एक वैज्ञानिक तथ्य के रूप में स्थित हो जाता है।

परामनोविज्ञान के क्षेत्र में :

सर्वप्रथम तो हमें इस बात की ओर ध्यान देना होगा कि पूर्वजन्म-स्मृति की घटनाओं की वास्तविकता असन्दिग्ध है या नहीं। सौभाग्य से पिछले १५ वर्षों में इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया है। विश्व के वैज्ञानिकों का ध्यान काफी अर्से से इन घटनाओं की ओर खिंच चुका था। विश्व में अनेक स्थानों पर परामनोविज्ञान के क्षेत्र में वैज्ञानिक पद्धति से शोध कार्य करने के लिए जो शोध-संस्थान स्थापित हुए हैं, उनमें इन पूर्वजन्म-स्मृति की घटनाओं का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन किया जा रहा है। पेंसिलवेनिया विश्वविद्यालय, क्लार्क विश्वविद्यालय (वोरसेस्टर, मेसेच्यूसेट्स), स्टेण्डफोर्ड विश्वविद्यालय, हारवार्ड विश्वविद्यालय, ड्यूक विश्वविद्यालय, लिंडन विश्वविद्यालय, उट्रेष्ट विश्वविद्यालय (हॉलैण्ड), केम्ब्रिज विश्वविद्यालय, फ्राईबर्ग विश्वविद्यालय (प० जर्मनी), पिट्सबर्ग विश्वविद्यालय, सेंट जोसेफ्ज कॉलेज (फिलाडेल्फिया), वेलेण्ड कॉलेज (प्लेनव्यू, टेक्सास), नेशनल लिटोरल विश्वविद्यालय (रोजारियो, आर्जेन्टिना) लेनिनग्राड स्टेट विश्वविद्यालय (यू० एस० एस० आर०), किंग्स कॉलेज विश्वविद्यालय (हेलिफैक्स) तथा वर्जिनिया विश्वविद्यालय के अन्तर्गत विश्व के बीसों चोटी के वैज्ञानिक, मनोचिकित्सक एवं मनोविज्ञानविद् परामनोविज्ञान के क्षेत्र में शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से कार्य कर रहे हैं।[5]

पूर्वजन्म-स्मृति या ऐसी अन्य परा-सामान्य घटनाओं का सर्वेक्षण, सत्यता की जांच, तथ्यों का विश्लेषण, सम्बन्धित साक्षियों के परीक्षण आदि का निष्पक्ष एवं वस्तु-सापेक्ष (ऑब्जेक्टिव) अध्ययन किया जा रहा है।

---

१. Dr. T. M. Mctaggart, Some Dogms of Religion, पृ० ११२-१३, "The most effective way of proving that the doctrine of pre-existence is bound up with the doctrine of immortality would be to prove directly that the nature of man was such that it involved a life both before and after the present life."

२. See Mctaggart, वही पृ० १२४. "We have no memory of the past life and there seems to be no reason to expect that we shall remember our present life during subsequent lives. Now an existence that is cut off into separate lives, in none of which memory extends to previous life, may be thought to be of no practical value......Rebirth of a person, without a memory of the previous life would be equal to annihilation of that person."

३. Pringle-Pettison, 'Idea of Immortality' पृ० १२७ "Dr. Mctaggart's supposition that self is a metaphysical substitute in which personal identity dies is not an adequate explanation for the continuity of succesive lives, as continuity is never realised owing to the absence of memory."

४. Dr. Kalghatgi, 'Karma and Rebirth', पृ० ६० "Apart from the investigations of the modern psychical research and its implications on the problem of rebirth, we have evidence to show that in some cases there is not loss of memory of the past life"

५. 'Parapsychology : Sources of Information' (compiled under the auspices of the American Society for Psychical Research) by Rhea A. White and Laura A. Dale, The Scarecrow Press, Inc. Metuchen. N.J., U.S.A., 1973.

उदाहरणस्वरूप हम विर्जिनिया विश्वविद्यालय के अन्तर्गत चल रहे कार्य की चर्चा यहां कर रहे हैं। विर्जिनिया विश्वविद्यालय के अन्तर्गत 'स्कूल ऑफ मेडिसिन' में सायक्याट्री विभाग का 'परामनोविज्ञान संभाग' व्यवस्थित रूप से इस शोध कार्य मे लगा हुआ है। डॉ० ईयान स्टीवनसन, एम० डी०, स्वय एक सुप्रसिद्ध मनोचिकित्सक हैं, तथा 'कार्लसन प्रोफेसर ऑफ सायक्याट्री' के रूप में इस विभाग का निदेशन कर रहे हैं। डॉ० स्टीवनसन एवं उनके निदेशन में शोधरत दल विश्व के विभिन्न देशो मे घटित पूर्वजन्म-स्मृति की घटनाओं के सर्वांगीण अध्ययन एव शोध में सलग्न हैं। भारत के अतिरिक्त सिलोन, बर्मा, थाईलैण्ड, लेबनान, ब्राजील, अलास्का आदि देशों से उक्त प्रकार की घटनाओं की जानकारी उन्हें प्राप्त हुई हैं तथा इस सिलसिले मे अनेक बार इन देशो की यात्राएं की हैं।[1] डॉ० स्टीवनसन मनो-विज्ञान (सायकोलोजी) के अभिनव विश्लेषणो और सिद्धान्तों के प्रकाण्ड विद्वान् हैं। उनका समग्र अध्ययन एक गहरी और पैनी दृष्टि लिए हुए है। घटनाओं के जाच कार्य मे उनमे वकील का चातुर्य और तर्क की प्रबलता स्पष्ट परिलक्षित होती है। विभिन्न देशो की सस्कृति, धर्म, दर्शन, इतिहास, भूगोल आदि से सम्बन्धित अपेक्षित ज्ञान की मौलिक एव पूर्ण जानकारी भी वे रखते हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र मे डॉ० स्टीवनसन का इतना विस्तृत परिचय इस दृष्टि से दिया जा रहा है कि उनके द्वारा किया गया घटनाओ का विश्लेषणात्मक अध्ययन किस प्रकार के व्यक्ति द्वारा किया गया है, इससे पाठक परिचित हो सकें।

डॉ० स्टीवनसन ने इस विषय मे लिखना सन् १९६० मे प्रारम्भ किया था। वैसे, इस विषय पर अन्य गवेषक एव लेखक इससे पहले भी गवेषणा कर चुके हैं और काफी कुछ लिख चुके हैं। जैसे —ई० डी० वाकर (E. D. walker) द्वारा लिखित ग्रन्थ 'रिइनकारनेशन: ए स्टडी ऑफ फारगोटन ट्रुथ' का प्रकाशन इसमे सर्वप्रथम है, जो सन् १८८८ में पहली बार प्रकाशित हो चुका था। सन् १९११ तथा १९६५ मे इसे पुन: प्रकाशित किया गया। इसके बाद पिछले शतक मे बीसों ग्रन्थ तथा पचासो लेख इस विषय में प्रकाशित हो चुके हैं। डॉ० स्टीवनसन द्वारा लिखित "दी एविडंस फार सरवाइवल फ्रॉम क्लेइम्ड मेमोरिज ऑफ एट फॉर्मर इनकारनेशस" सन् १९६० मे जनरल ऑफ अमेरिकन सोसायटी ऑफ सायकिकल रिसर्च मे प्रकाशित होकर सन् १९६१ मे पुस्तक रूप मे इग्लेंड से प्रकाशित हुआ। इसके बाद सन् १९७६ मे बीस घटनाओ के सम्पूर्ण एव समीक्षात्मक अध्ययन पर आधारित उनका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "ट्वेण्टी कैसेज सजेस्टिव ऑफ रिइनकारनेशन" प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् भी समय-समय पर इस विषय मे उनके लेख एव पुस्तकें प्रकाशित होती रही है। इस दिशा में निरन्तर कार्य हो रहा है। घटनाओ मे भी काफी वृद्धि हुई है। सन् १९६९-७० मे दो वर्षों के अन्दर ही भारत मे १०८ एव बर्मा मे ९० घटनाए प्रकाश में आई हैं। उदाहरण स्वरूप ब्राजील की एक घटना का उल्लेख किया जा रहा है।

ब्राजील में अढ़ाई वर्ष की बालिका को पूर्वजन्म की स्मृति .

सन् १९१८, अगस्त की १४ तारीख को ब्राजील देश मे डोम फेलिसियानो नामक एक छोटे गाव मे रहने वाले एक परिवार मे एक बालिका का जन्म हुआ। पिता एफ० व्ही० लौरेंज तथा माता ईदा लौरेंज ने उसका नाम मार्टा रखा। मार्टा अढाई वर्ष की हुई थी, तब एक दिन वह अपनी बहिन लीला के साथ घर से थोडी दूर आए हुए एक नाले पर रह गई थी। यहा से वापिस घर लौटते समय उसने लीला से कहा—मुझे गोद मे उठाकर ले चलो। जब पहले तू छोटी थी और मैं बडी थी, मैं तुझे गोद मे उठाकर घुमाती थी। छोटी बहिन के मुह से इस प्रकार की बात सुनकर बडी बहिन को हसी आ गई। उसने पूछा – तुम बडी कब थी !

मार्टा ने कहा—उस समय मैं इस घर मे नही रहती थी। मेरा घर यहा से काफी दूर था। वहा अनेक गाय, बैल आदि हमारे घर पाले हुए थे तथा नारंगी के पेड थे। वहां कुछ बकरे जैसे पशु भी पाले हुए थे। पर वे बकरे नही थे।

इस प्रकार बातचीत करते हुए मार्टा और लीला जब घर पहुची, लीला ने सारी बात अपने माता-पिता से कही। पिता ने मार्टा से कहा—जिस घर की तुम चर्चा कर रही हो, वहा हम कभी नही रहे।

मार्टा ने तुरन्त उत्तर दिया - उस समय आप हमारे माता-पिता नही थे, वे दूसरे थे।

छोटी बच्ची की पागल की सी बातें सुनकर उसकी एक अन्य बहिन ने मजाक मे ही मार्टा से पूछा—तब फिर तुम्हारे घर एक छोटी हब्शी नौकरानी (लडकी) भी थी, जैसे अपने घर मे अभी है।

मार्टा इस मजाक से बिलकुल भी बैचेन नही हुई। उसने कहा—ना, हमारे घर मे जो हब्शी नौकरानी थी, वह काफी बडी थी। एक रसोईयन भी हब्शी थी तथा वह दूसरा एक हब्शी लडका भी काम करता था। एक बार वह लडका बेचारा पानी लाना भूल गया था, तब मेरे पिता ने उसे बहुत पीटा था।

---

१. डॉ० स्टीवनसन स्वय अनेक बार भारत आये हैं तथा इन यात्राओ में उनसे व्यक्तिगत रूप से लबी चर्चाएं भी हुई। उन्होंने अपने अध्ययन और गवेषणा के आधार पर जो साहित्य प्रकाशित किया है, उसे गहराई से अध्ययन करने का अवसर भी प्राप्त हुआ है।

पिता (एफ० ह्वी० लौरेंज) बोले —मेरी प्यारी बेटी मैंने तो कभी किसी हब्शी बच्चे को नहीं पीटा है।

मार्टा बोली—पर वह तो मेरे दूसरे पिताजी थे। ज्यो ही उस लडके को पिताजी ने पीटना शुरू किया, वह लड़का मुझे बुलाता हुआ चिल्लाने लगा—अरे सिन्हा-जिन्हा। मुझे बचाओ। मैंने तुरन्त पिताजी से निवेदन किया—उसे छोड़ दो और फिर वह पानी भरने चला गया।

एफ० ह्वी० लौरेंज ने पूछा—तो क्या वह नाले पर पानी भरने चला गया।

मार्टा ने कहा—न पिताजी ! वहा आसपास मे कही नाला नही था, वह कुए से पानी लाता था। पिता ने पूछा—बेटी, वह सिन्हा-जिन्हा कौन थी ! मार्टा ने कहा— वह तो मैं ही थी। मेरा दूसरा नाम भी था। मुझे मारिया भी कहते थे और एक नाम और भी था जो कि मुझे अभी याद नही है।

इसके पश्चात् तो मार्टा ने और भी अनेक बातें अपने पूर्वजन्म के सम्बन्ध मे बताई। उसने यह भी बताया कि उसको इस जन्म की माता ईदा लौरेंज उसके पूर्व जन्म मे सखी थी। वह (सिन्हा-जिन्हा) अपनी सखी के घर आती जाती रहती थी और उस दौरान वह लीला को खिलाती थी तथा उसे गोद मे उठाकर घुमाती थी। एफ० ह्वी० लौरेंज के पुत्र कार्लोस की वह (सिन्हा-जिन्हा) धर्म माता बनी थी। जब ईदा उसके घर आती तो वह उसके लिए काफी बनाती और फोनोग्राफ बजाती। उसके पूर्वजन्म के पिता आयु मे एफ० ह्वी० लौरेंज से बडे थे। लम्बी दाढी रखते थे तथा बडी कर्कश आवाज मे बोलते थे। उसकी शादी नही हुई थी, पर वह जिस पुरुष से प्रेम करती थी उसके पिताजी उसे पसन्द नही करते थे। उस पुरुष ने आत्म-हत्या कर ली। इसके बाद एक दूसरे व्यक्ति से उसका प्रेम हो गया। उसे भी उसके पिताजी पसन्द नही करते थे। इससे वह बहुत दु.खी और निराश हो गई। उसके पिता ने उसे खुश करने के लिए समुद्र-तटीय प्रदेश मे घूमने-फिरने का कार्यक्रम बनाया जहा उसने शरीर के प्रति लापरवाह होकर ठंडी और नम हवा मे अपर्याप्त वस्त्रो के साथ घूमना शुरू किया और उसके परिणाम-स्वरूप उसे टी० बी० की बीमारी हो गई। इस बीमारी के बाद कुछ ही महीनो मे उसकी मृत्यु हो गई। जब वह मृत्यु-शय्या पर थी, उसकी प्यारी सखी ईदा उसके पास थी। उस समय उसने ईदा से बताया कि मैं जान-बूझकर बीमार हुई थी, मैं मरना चाहती थी। मरने के बाद मे तुम्हारी पुत्री के रूप मे पुन जन्म लूगी और बोलने जितनी उम्र होनेपर पूर्वजन्म की बातें तुम्हे बताऊंगी, जिससे तुम्हे विश्वास हो जाएगा कि सिन्हा-जिन्हा ही तुम्हारी पुत्री बनी है।

सिन्हा-जिन्हा की मृत्यु सन् १९१७ अक्टूबर माह मे हुई थी, जिसके लगभग दस महीने पश्चात् अर्थात् १४ अगस्त १९१८ को मार्टा का जन्म हुआ था। मार्टा ने लगभग १२० बाते अपने पूर्वजन्म के सम्बन्ध मे बताई जिनमें से कुछ बातें तो ईदा (मार्टा की माता) और एफ०ह्वी०लौरेंज जानते थे। कुछ बाते ऐसी भी थी जिनका इनको पता नही था पर उसकी पुष्टि सिन्हा-जिन्हा के अन्य पारिवारिक सदस्यो ने की। सन् १९६२ मे जब एक मनश्चिकित्सक एव परामनोवैज्ञानिक डॉ० ईयान स्टीवनसन ने मार्टा से भेट की, उस समय भी उसे अपने पूर्व-जन्म की अनेक बातें याद थी।

ऐसी एक दो या दस बीस नही, बारह सौ से भी अधिक घटनाए विश्व भर मे विभिन्न देशो मे प्रकाश मे आई हैं।

डॉ० कलघटगी ने भी एक सन्त सद्गुरु केशवदासजी के द्वारा बताई गई दो घटनाओ का उल्लेख किया है। एक मे इटली के एक डेन्टिस्ट डॉ० गेस्टोन द्वारा अपना पूर्वजन्म भारत मे काचीपुरम स्थित किसी मन्दिर के पुजारी के रूप मे बताया तथा मन्दिर की सम्पूर्ण पूजा-विधि का ज्ञान होने का दावा किया तथा दूसरी घटना मे न्यूयार्क में एक नीग्रो व्यक्ति ने स्वामी केशवदासजी की सभा मे अपनी पूर्वजन्म की स्मृति के आधार पर "ललित सहस्रनाम" कण्ठस्थ रूप से सुनाना प्रारभ किया तथा उसने भी अपना पूर्वजन्म भारत मे बताया।[1] ऐसी ही दो घटनाए मेरे व्यक्तिगत अनुभव मे आई हैं। एक घटना मे अहमदाबाद के एक बालक मनोज द्वारा अपने पूर्वजन्म के समग्र परिवार को पहचानने की बात सामने आई। मनोज ने, जो कि सात वर्ष का बालक था, अपने पूर्वजन्म की पत्नी तथा दो बच्चो के विषय मे जानकारी दी तथा उन्हे इस जन्म मे पहचान लिया। और मनोज के शरीर पर गोली के चिह्न भी हमने देखे, जो उसके बयान अनुसार उसके पिछले जन्म मे लगी थी। मनोज का एक हाथ बड़े आदमी की तरह पूरी तरह मोटा और विकसित था तथा दूसरा हाथ साधारण बच्चे की तरह था। (गोली के निशान की चर्चा इसी पत्र मे आगे की गई है।)

एक दूसरी घटना मे जयपुर की एक लडकी अमिता (उम्र १० वर्ष) से साक्षात्कार हुआ जो अपनी छोटी उम्र से ही अपने को महारानी गायत्रीदेवी कॉलेज की एम० ए० की पोलिटिकल साइन्स विषय की छात्रा बताती थी। उसने अपने पुराने घर और परिवार को खोज निकाला तथा छत पर से गिरने के कारण अपनी मृत्यु का बयान दिया, जो जाच करने पर सही पाया गया।

---

१. टी० जी० कलघटगी, कर्म एण्ड रिबर्थ, पृ० ६०

गवेषणा की पद्धति :

सामान्य रूप से पूर्वजन्म की स्मृति छोटे बच्चों को होती है।[1] अढाई-तीन वर्ष की अवस्था से लेकर आठ-दस वर्ष की अवस्था के बच्चे ही आमतौर पर इस क्षमता के धनी पाये गये हैं। कहीं-कहीं तो दस महीने की आयु मे भी बच्चा यत्किंचित् अभिव्यक्ति देना शुरू कर देता है। आयु बढ़ने के साथ साधारणतया यह क्षमता क्षीण होती जाती है। अपवादरूप मे बडी आयु वालो मे भी पूर्वजन्म-स्मृति उपलब्ध होती हुई पाई जाती है।

आमतौर से पूर्वजन्म-स्मृति वाला बच्चा जिसे हम "जातक" (Subject) कह सकते हैं, जब बोलना सीख जाता है, तब वह अपने पूर्वजन्म के विषय में कुछ-कुछ बातें बताना शुरू कर देता है। प्राय: तो माता-पिता ऐसी बातो पर ध्यान ही नही देते या उसे केवल प्रलाप या बकवास समझ लेते हैं। पर, जब जातक अपनी बात को दोहराता ही रहता है या बल देता रहता है, तब माता-पिता या पारिवारिक लोगों का ध्यान उस ओर केन्द्रित होता है। बहुत बार तो स्वय ही पूर्वजन्म के घटना-स्थल पर पहुंच जाते हैं तथा जातक द्वारा बताई गई बातों की सत्यता की जांच करते हैं। कभी-कभी ऐसा नही हो पाता। गवेषक लोगो तक जब ऐसी बात पहुचती है, तब वे जाच हेतु जातक के घर पहुंच जाते हैं। वहां वे जातक का पूरा बयान ले लेते हैं। इसके अतिरिक्त भी जिन व्यक्तियों का सम्बन्ध घटना से होता है, उन सबके बयान ले लिए जाते हैं। फिर जिस स्थान में जातक अपना पूर्व जन्म आदि बताता है, वहां जाकर उन परिवार वालो के बयान लिए जाते हैं। बयानों के साथ-साथ गवेषक लोग प्रश्नो और प्रतिप्रश्नो के द्वारा भी तथ्य एकत्रित करते है। बयानो और साक्षियो के परीक्षण के पश्चात् जो तथ्य उभरते हैं, उन पर चिन्तन किया जाता है।

चिन्तन के लिए कई संभावनायें की जाती हैं। सबसे पहले तो धोखाधडी या पूर्व-नियोजित होने की सभावना को लेकर तथ्यों पर चिन्तन किया जाता है—सारे बयान, साक्षियो के उत्तर, घटनास्थलो की भौगोलिक परिस्थिति आदि के आधार पर यह निश्चित करना कठिन नही होता कि घटना वास्तविक है या धोखा देने के लिए घडी हुई है। अब तक जिन घटनाओ की जाच की गई है, उसमे धोखा-धडी की घटनाएं नगण्य संख्या मे पाई गई हैं।[2]

दूसरी संभावना यह की जाती है कि दोनो परिवारो के बीच प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी प्रकार का सबध है या नही। जहां इस प्रकार की सभावना होती है, वहां पूर्वजन्म सबधी बातो को इस कसौटी पर कसा जाता है कि ये बातें वस्तुत: पूर्वजन्म-स्मृति पर आधारित हैं या वर्तमान जन्म मे ही किसी माध्यम से ज्ञात की गई है। जहा दोनो परिवारो मे सामान्य मित्र, सबधी आदि होते हैं वहा इस बात को बहुत सूक्ष्मता से तोला जाता है।

जिन घटनाओ मे उक्त संभावना का भी कोई स्थान नही रह जाता, वहा यह भी एक सभावना की जाती है कि टेलीपैथी (विचार-संप्रेषण या दूरज्ञान) की सहायता से कोई दूसरे व्यक्ति के जीवन की बात बताता हो। इस प्रकार जो भी अन्य सामान्य सभावना की जा सकती है, उसे पहले ध्यान मे रखा जाता है, और उसके आधार पर ही अतिम निष्कर्ष निकाला जाता है।

अब तक की जांच की गई अधिकांश घटनाओ मे उक्त प्रकार की कोई भी सभावना सही नही पाई गई। इस आधार पर ही ऐसी घटनाओ को परासामान्य (पैरा नारमल) की कोटि मे माना गया है।

पूर्वजन्म की अद्भुत बातें :

अढ़ाई तीन या पांच साल के बच्चे, जो पूर्वजन्म की स्मृति के आधार पर बातें बताते है, उनमे बहुत सी बाते काफी अद्भुत और आश्चर्यकारक होती हैं। सामान्यतया ऐसे बच्चे अपने पूर्वजन्म का नाम, गाव का नाम, माता-पिता या निकट पारिवारिक लोगो के नाम, अपने निवास स्थान सबधी जानकारी आदि देते ही है, पर उसके साथ-साथ ऐसी गुप्त बातो का भी वे रहस्योद्घाटन करते है, जिसके विषय मे उस मृतात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति को कुछ भी ज्ञात नही होता। जैसे—एक घटना मे एक जातक (बिशनचद) ने अपने पूर्वजन्म मे पिता की ऐसी छिपी संपत्ति का पता बताया, जिसके विषय मे किसी को पता नही था।

कुछ घटनाओ मे ऐसी बातें भी जातक द्वारा बता दी जाती हैं, जिनकी जानकारी केवल एक ही अन्य व्यक्ति को होती है। जैसे अलास्का मे घटित एक घटना मे अपने पूर्वजन्म मे जातक (विलियम जार्ज) ने अपनी पुत्रवधु को एक घडी दी थी जिसके विषय मे और किसी को पता नही था। वर्तमान जन्म मे उस घडी को जातक ने पहचान लिया।

---

१. साधना द्वारा या हिप्नोसिस द्वारा भी पूर्वजन्म-स्मृति-ज्ञान उत्पन्न कराया जा सकता है, ऐसी घटनाए भो मिलती हैं। के० एन० जयतिलक ने बौद्ध त्रिपिटकों में प्राप्त जातिस्मृति की घटनाओ की प्रामाणिकता की पुष्टि मे उक्त घटनाओ का उल्लेख किया है। देखे--अर्ली बुद्धिस्ट थ्योरी ऑफ नॉलेज, पृ० ४५६

२. Twenty Cases Suggestive of Reincarnation, पृ० २१३

पूर्वजन्म की स्मृति वाले जातको में सामान्यतया असामान्य व्यवहार पाया जाता है। ऐसे अधिकांश जातक वर्तमान जन्म के वातावरण और पैतृक गुण-धर्मों के विपरीत वृत्तियो का प्रदर्शन करते हैं। जैसे—पूर्वजन्म मे धनसंपन्न किन्तु वर्तमान मे गरीब होने पर भी जातक धनसंपन्न व्यक्तियो की तरह व्यवहार करता है। पूर्वजन्म मे मांसाहारी वर्तमान जन्म मे निरामिष परिवार मे जन्म लेने पर भी मांसाहार की रुचि रखता है। धार्मिकता की पूर्वजन्म की प्रवृत्ति प्रायः वर्तमान जन्म मे भी असाधारण रूप से प्रकट होती हुई दिखाई देती है। शौकीनता और रुचि की विलक्षणता भी असामान्य रूप से वर्तमान जीवन मे देखी जाती है। इन सब असामान्य व्यवहारों का सामान्य एव ज्ञात तथ्यो के आधार पर व्याख्यात्मक विश्लेषण नही किया जा सकता। कभी-कभी भारत जैसे देश मे जहा जातिवाद का प्रबल प्रभाव है, जातक द्वारा अपनी पूर्वजन्म की जाति के सस्कार एव तदनुरूप व्यवहार व आचरण प्रस्तुत होता हुआ दिखाई देता है। जैसे—जसबीर नामक एक बालक जो वर्तमान मे 'जाट' है, अपने को पूर्वजन्म मे ब्राह्मण बताता है और ब्राह्मण की तरह खाने-पीने, शुद्धि आदि के लिए आग्रह करता है। यहां तक कि अपने जाट माता-पिता के हाथो बनाया हुआ खाना खाने से वह इंकार करने लगा।

कुछ जातको मे बचपन से ही कुछ ऐसे कला-कौशल, शैक्षिक ज्ञान एव भाषा ज्ञान पाये जाते हैं, जो स्पष्टतया उसके पूर्वजन्म मे अर्जित गुणो के साथ संबधित होते हैं। बिशनचद की घटना मे तबला बजाने की निपुणता तथा उर्दू का ज्ञान इसी बात का द्योतक है। इसी प्रकार ब्राजील की एक अन्य घटना मे पाउलो नामक बच्चा तीन चार वर्ष की आयु मे सिलाई कला मे असामान्य दक्षता रखता था, जिसका सबध उसके पूर्वजन्म के व्यक्तित्व के साथ जोडा जा सकता है, जिसमें वह एमिलिया नामक लडकी के रूप में था तथा इस कला मे दक्ष था।

इन सब बातो के अतिरिक्त धार्मिक श्रद्धा या विश्वास, भय, सेक्सुअल ज्ञान, वैर-विरोध आदि भावनाओ की असामान्य प्रबलता की विद्यमानता भी ऐसे जातको मे पाई जाती है, जिनका वर्तमान जीवन के किसी सामान्य घटनाप्रसग, वातावरण या जानकारी से कोई सबंध नही मिलता। जैसे रविशकर नामक बालक (जातक) अपने वर्तमान जन्म मे अपने पूर्वजन्म के हत्यारो से भय भी रखता है और उनके प्रति क्रोध भी करता है।

आधुनिक मनोविज्ञान जिन सिद्धातो के आधार पर मनुष्य की मानसिक वृत्तियो और भावनाओ की व्याख्या प्रस्तुत करता है, वह उक्त असामान्य मनोवैज्ञानिक तथ्यो का कोई समाधान नही देता। प्रत्युत इन असामान्य मनोवृत्तियो और विलक्षणताओ के लिए पूर्वजन्म के सस्कारों की परिकल्पना अपने आप पूर्ण और बुद्धिगम्य समाधान प्रस्तुत करती है।

यद्यपि सामान्य रूप से पूर्वजन्म और वर्तमान जन्म मे लैंगिक समानता पाई जाती है, फिर भी कुछ घटनायें (लगभग १० प्रतिशत) ऐसी भी सामने आई हैं, जिनमे जातक पूर्वजन्म मे स्त्री होता है और वर्तमान जन्म मे पुरुष बन जाता है या पूर्वजन्म मे पुरुष होता है और वर्तमान जन्म मे स्त्री बन जाता है। जैसे सिलोन मे घटित एक घटना मे ज्ञानतिलका नामक एक लडकी अपने को पूर्वजन्म मे तिलकरत्न नामक लडके के रूप मे बताती है। ब्राजील मे घटित एक घटना मे पाउलो नामक एक बच्चा अपने को एमिलिआ नामक लडकी का पुनर्जन्म बताता है। ऐसे लैंगिक परिवर्तनो मे जातक के वर्तमान जीवन मे अपने पूर्वजन्म की लैंगिक विलक्षणता भी पाई गई है, जो मनोवैज्ञानिको के लिए अवश्य ही प्रश्नचिह्न है।

सबसे अधिक आश्चर्यजनक एव अव्याख्येय बात ऐसी घटनाओ मे पाई जाती है, वह है—वर्तमान जीवन मे जातक के शरीर पर पाये जाने वाले विचित्र चिह्न या शारीरिक अपूर्णता जो जन्म से ही जातक के शरीर मे पाई जाती है और जिनका संबध उसके अपने पूर्वजन्म में घटित घटनाओ के साथ बताया जाता है। जैसे—रविशकर नामक बालक के शरीर मे गर्दन पर एक दो इच लबा और १/४ या १/८ इच चौडा घाव का चिह्न डॉ० स्टीवनसन ने स्वय सन् १९६४ मे देखा था, जिस समय रविशकर की आयु १३ वर्ष की थी। डा० स्टीवनसन को बताया गया कि यह घाव जन्म से ही रविशकर के शरीर पर है तथा जन्म के समय वह इससे भी अधिक लंबा था। घाव वाली जगह पर चमडी का रग आसपास की चमडी से और अधिक गहरा था तथा छुरी से किये हुए घाव की तरह स्पष्ट दिखाई देता था। रविशकर के कथनानुसार पूर्वजन्म मे उसकी शस्त्र द्वारा गर्दन काटकर हत्या की गई थी।

पूर्वजन्म मे शरीर पर हुए चिह्न वर्तमान जन्म मे शरीर पर उसी प्रकार और उसी स्थान पर पाये जायें—यह एक बहुत ही अद्भुत एव विचित्र बात है। ऐसे चिह्नो की शरीर-शास्त्र सबधी सामान्य वैज्ञानिक जानकारी के आधार पर कोई व्याख्या सभव नहीं है। ऐसी स्थिति मे पूर्वजन्म के साथ ही उसका सबध जुडता है। यह अवश्य शोध का विषय है कि किस प्रकार आत्मा अपने एक जन्म के शारीरिक चिह्नों को भी दूसरे जन्म मे ले जाती है।

जैन दर्शन द्वारा प्रदत्त कर्म-सिद्धात के आधार पर इस तथ्य की व्याख्या संभवत. इस प्रकार की जा सकती है—

जैन दर्शन मे शरीर सबधी समस्त निर्माण का मूल कारण नाम-कर्म है। नाम-कर्म की प्रकृतियो मे सघातननामकर्म, निर्माणनामकर्म तथा आनुपूर्वीनामकर्म के द्वारा उक्त तथ्य की व्याख्या हो सकती है। औदारिक आदि शरीरनामकर्म के उदय से औदारिक आदि वर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण होता है, बन्धननामकर्म के उदय से गृहीत पुद्गल के साथ गृह्यमाण पुद्गल का समीलन होता है, तथा सघातननामकर्म

के उदय से औदारिक आदि वर्गणा के पुद्गलों की औदारिकादि शरीर के रूप में विशेष रचना होती है।[1] आचार्य हरिभद्र के अनुसार—बद्ध पुद्गलों के परस्पर जतुकाष्ठन्याय से रचना-विशेष को सघात कहते हैं। यह पुद्गलविपाकी कर्म है, क्योंकि पुद्गल रचना के आकार-विशेष के द्वारा इसका परिपाक होता है।[2]

आनुपूर्वीनामकर्म के अर्थ के विषय में दो परम्पराएं प्रचलित है। एक के अनुसार विग्रहगति मे आत्म प्रदेशो के रचनाक्रम को, जोकि पूर्व-शरीर के अनुसार होता है, करने वाले कर्म को अनुपूर्वी नामकर्म कहा है।[3] दूसरी परम्परा के अनुसार—जिसके उदय से निर्माण-नामकर्म के द्वारा निर्मापित बाहु आदि अग तथा अगुली आदि उपागो की रचना की परिपाटी होती है, उसे आनुपूर्वीनामकर्म कहा जाता है।[4] पूर्वजन्म के शरीर के अनुसार विग्रहगति मे आत्म-प्रदेशो की आकार-रचना तो आनुपूर्वीनामकर्म के द्वारा होती ही है, पर उसके पश्चात् भी वर्त्तमान शरीर के निर्माण मे पूर्व-शरीराकार का प्रभाव भी आनुपूर्वीनामकर्म के माध्यम से कार्य करता है। उपघातनामकर्म शरीर के अगो-पांगो के उपघात का कारण है, उसकी भी पुनरावृत्ति दूसरे जन्म मे यथावत् हो सकती है।[5] इस प्रकार विग्रहगति के पश्चात् भी यदि आनुपूर्वीनामकर्म के द्वारा वर्तमान शरीर के निर्माण मे योगदान मिलता है, तो पूर्व-शरीर के चिह्नो की पुनर्जन्म मे भी विद्यमानता सभव हो जाती है।

मृत शरीर का अधिग्रहण

पूर्वजन्म की घटनाओ मे कुछ ऐसी घटनायें भी सामने आई हैं, जिनमे एक मृत व्यक्ति के शरीर मे दूसरे मृत व्यक्ति की आत्मा प्रवेश कर जाती है और वह मृत व्यक्ति पुन: जीवित हो जाता है, पर अब वह अपने आपको दूसरी आत्मा के रूप मे बताता है। जैसे—जसवीर नामक बालक की घटना मे घटित हुआ। रसूलपुर नामक गाव मे गिरधारीलाल जाट का पुत्र जसवीर लगभग साढे तीन वर्ष की आयु में चेचक की बीमारी से सन् १९५४ के गर्मी के मौसम (अप्रैल-मई) मे मृत्यु को प्राप्त हुआ। मृत बच्चे की अन्तक्रिया रात्रि का समय होने से प्रात:काल तक स्थगित रखी गई। मृत्यु के कुछ घण्टो बाद ही शव मे थोडी-सी हलचल नजर आई। कुछ क्षणो पश्चात् लडका पुन: जीवित हो गया। पर अब तक बोलने की स्थिति मे नही था। कुछ दिनो बाद जब वह बोलने की शक्ति को प्राप्त कर चुका था, उसने बताया कि—मैं वेहेदी ग्राम के निवासी शकर नामक ब्राह्मण का पुत्र हू और इसलिए मैं जाटो के हाथ का खाना नही खाऊगा। जसवीर ने यह भी बताया कि पिछले जन्म मे उसकी मृत्यु तब हुई थी जब वह दो बैलो के रथ पर किसी बरात मे जा रहा था जहा उसे विषैली मिठाई दे दी गई थी। वह मिठाई उसे उस व्यक्ति ने खिलाई थी जिसको उसने कुछ धन ऋण में दिया था। जब वह रथ मे बैठकर जा रहा था, अचानक उसे चक्कर आये, वह रथ से गिर गया और उसके सिर मे चोट आई जिससे कुछ घण्टो बाद उसकी मृत्यु हुई।

जसवीर द्वारा बताई गई इन बातो को गिरधारीलाल ने छिपाने की कोशिश की, पर उसके द्वारा ब्राह्मण के हाथो बनाया हुआ खाना खाने के आग्रह के कारण वह बात ब्राह्मणो में फैल गई। लगभग तीन वर्ष पश्चात् यह बात किसी माध्यम से वेहेदी गाव तक पहुची। बालक जसवीर द्वारा बताई गई बातें वेहेदी गाव के शकरलाल त्यागी नामक ब्राह्मण के पुत्र शोभाराम के जीवन से हूबहू मिलती थी। शोभाराम की मृत्यु सन् १९५४ मे मई महीने में ठीक उसी प्रकार रथ मे से गिर जाने के कारण सिर मे चोट आने से हुई थी, जैसे बालक

---

१. "सघातनामकर्म—औदारिकादि शरीरनामकर्मण औदारिकादिवर्गणा गृह्यन्त, बन्धनामकर्मोदयाच्च गृह्यमाणपुद्गला गृहीतपुद्गलै सह समील्यन्ते, सघातनाम-कर्मोदयात्- औदारिकादिपुद्गलानामौदारिकादिशरीरविशेषरचनासहतिर्भवति।" बधविहाण, खण्ड-६, पृ० ४४

२, "बद्धानामपि च पुद्गलाना परस्पर जतुकाष्ठन्यायेन पुद्गलरचनाविशेष सघात: सयोगेनात्मन गृहीताना पुद्गलाना यस्य कर्मण उदयाद् औदारिकादि तनुविशेष-रचना भवति, तत् सघातनामकर्म, पुद्गलरचना विपच्यत इति पुद्गलविपाकीन्युच्यते।"

३ "यत्पूर्वशरीराकाराविनाशा यस्योदयात् भवति, तदनुपूर्व्यनाम। यदा छिन्नायुर्मनुष्यस्तिर्यग वा पूर्वेण शरीरेण वियुज्यते, तदेव नरक-भव प्रत्यभिमुखस्य तस्य पूर्वशरीरसस्थानानिवृत्तिकारण विग्रहगतावुदेति, तन्नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व्यनाम। एव शेषेऽपि योज्यम्। ननु च तन्निर्माणनामकर्मसाध्य फल, नानुपूर्व्यनामो-दयकृतम् ? नैष दोष:, पूर्वायुरुच्छेदसमकाल एव पूर्वशरीरनिवृत्ता निर्माणनामोदयो निवर्तते तस्मिन्निवृत्तेऽष्टविधकर्म तैजसकार्मणशरीरसम्बधिन आत्मन: पूर्वशरी-रसस्थाना विनाशकारणमानुपूर्व्यनामोदयमुपैति, तस्य कालो विग्रहगतौ जघन्येनैक समय:, उत्कर्षेण त्रय, समय:, ऋजुगतौ तु पूर्वशरीराकारविनाशे सति उत्तर-शरीर-योग्यपुद्गलग्रहणान्निर्माणनामकर्मोदय व्यापार.।" इति। यात्र निर्माणनामकर्मण उदयनिवृत्तिरुक्ता सा चिन्त्या निर्माणकर्मणो ध्रुवोदयत्वात्।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक, बधविहाण, खण्ड ६, पृ० ४७

४. (क) "यदुदयाद् निर्माणनामकर्मणा निर्मापिताना बाहु-प्रत्यगना अगुल्याद्युपागना रचना निवेशपरिपाटी—उभयतो बाहू कटेरधो जानुनी इत्यादि, अत्रैव स्थाने इद विनिष्टव्यमित्येवरूपा जायते तदानुपूर्वीनाम।"

- बधविहाण, खण्ड ६, पृ० ४७

(ख) "जस्स कम्मसुदएण परिचत्तपुव्वसरीरस्स अ (ग) हिदु उत्तरसरीरस्स जीवपदेसाण रचणापरिवाडी होदि त कम्ममाणुपुव्वीणाम।',— धवलाकार। "धवला-कारस्तु विग्रहगता आत्मप्रदेशाना रचनाक्रममानुपूर्वीनाम प्रचक्षते।

—बधविहाण, खण्ड ६, पृ० ४७

५. "शरीरांगानामुपांगाना च यथोक्तानां यस्य कर्मण उदयात् परैरनेकधोपघात: क्रियते, तदुपघातनामेति।" —तत्त्वार्थसूत्रवृत्ति, बधविहाण, खण्ड ६, पृ० ४८

जसवीर ने बताया, हालांकि विषैली मिठाई और ऋण की बात का उसके परिवार वालों को कोई पता नहीं था।

डॉ० स्टीवनसन ने इस सारी घटना की बहुत ही सूक्ष्मता से जांच की है तथा सारी घटना की यथार्थता को असंदिग्ध माना है। शोभाराम और जसवीर की लगभग एक ही समय मे मृत्यु होना, और शोभाराम की आत्मा के द्वारा जसवीर के मृत शरीर में पुनर्जन्म लेना तथा शोभाराम के रूप मे अपने पूर्वजन्म की स्मृति को बनाए रखना---पुनर्जन्म सबंधी घटनाओ में एक विलक्षण घटना है। मृत्यु के पश्चात् नए जन्म के लिए सामान्य रूप से आत्मा स्वय अपने नए देह का निर्माण करता है और निश्चित समय तक गर्भस्थ रहने के पश्चात् ही माता के उदर से बाहर आकर अपने नये जीवन का प्रारम्भ करता है। उक्त घटना मे शोभाराम द्वारा सीधे ही जसवीर के मृत शरीर मे जन्म लेना---इस सामान्य क्रम से नितात भिन्न एव विलक्षण क्रम है। यद्यपि पुनर्जन्मवाद को स्वीकार करने वाले धर्म-दर्शनो मे भी ऐसे क्रम के विषय मे संभवतः कोई व्याख्या नही मिलती, फिर भी जैन आगम **भगवती सूत्र** में आये हुए प्रवृत्य परिहार (या पोट्ट परिहार) नामक सिद्धात मे इसकी चर्चा मिलती है। वहा आजीवक सम्प्रदाय के अधिनायक गोशालक द्वारा इसका प्रतिपादन किया गया है। गोशालक भगवान् महावीर के प्रवचनो का प्रतिवाद करता हुआ यह प्रतिपादित करता है कि वह गोशालक नही है, जिसने महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की थी, वरन् वह गोशालक के मृत शरीर मे जन्म लेने वाला गौतम-पुत्र अर्जुन है। भगवान् महावीर गोशालक के इस कथन को असत्य घोषित करते हैं,[1] यद्यपि गोशालक की अपनी बात असत्य थी, फिर भी इससे इस प्रकार की जन्म-प्रक्रिया की संभावना को सर्वथा निषिद्ध तो नहीं माना जा सकता। यह अवश्य गवेषणा का विषय है कि जैन दर्शन इस प्रकार के जन्म की व्याख्या किस प्रकार प्रस्तुत करता है।

वनस्पतिकाय मे पोट्ट परिहार होता है, यह सिद्धात तो स्वय भगवान् महावीर द्वारा माना गया है। गोशालक और तिल के पौधे की घटना के सदर्भ मे स्वय भगवान् महावीर कहते है 'गोशालक! यह तिल का पौधा फलित होगा, तथा ये सात तिलपुष्प के जीव मरकर इसी पौधे की एक तिलफली मे सात तिल होगे' "···वे सात तिलपुष्प के जीवन मरकर उसी पौधे की एक तिलफली मे सात तिल हो गये है। इस प्रकार हे गोशालक! वनस्पतिकाय के जीव 'प्रवृत्य परिहार' (पोट्ट-परिहार) का उपभोग करते है--मरकर पुन उसी शरीर मे उत्पन्न हो सकते हैं।[2]

भगवती सूत्र के उक्त प्रसग के सदर्भ मे आगे भगवान् महावीर कहते हैं---'तत्पश्चात् गोशालक ने मेरी बात पर विश्वास नही किया। वह तिल के पौधे के पास गया और उस फली को तोडकर तथा हथेली पर मसलकर तिल गिनने लगा। गिनने पर तिल सात ही निकले। इससे उसके उन मे विचार उत्पन्न हुआ-- "यह निर्विवाद बात है कि सर्व प्राणी मरकर पुनः उसी शरीर मे ही उत्पन्न होते हैं। गोशालक का यही 'प्रवृत्यपरिहारवाद' या परिवर्तनवाद है।"[3]

भगवती सूत्र मे केवल यही बताया गया है कि गोशालक ने सभी जीवो मे पोट्ट परिहार का सिद्धात बना लिया था जिसके अनुसार सभी जीवो के लिए निर्वाण से पूर्व सात जन्मो मे पोट्ट परिहार करना अनिवार्य माना गया। पर इससे यह अर्थ तो नही निकलता कि

---

१ जे ण स गोसाले मखलिपुत्ते तव धम्मंतेवासी सेण सुक्के सुक्काभिजाइए भवित्ता कालमासे काल किच्चा अण्णयरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववन्ने, अहण्ण उदाई नाम कुडियायणीए अज्जुणस्स गोयमपुत्तस्स सरीरग विप्पजहामि, विप्पजहित्ता गोसालस्स मखलिपुत्तस्स सरीरग अणुप्पविसामि, अणुप्पविसित्ता इम सत्तम पउट्टपरिहार परिहरामि।

से ण अह कासवा! तए ण अह आउसो कासवा! कौमारियपव्वज्जाए कोमारएण बमचेरवासेण अविद्धकण्णए चेव सखाण पडिलभामि, पडिलभित्ता इमे सत्त पउट्टपरिहारे परिहरामि, त जहा १. एणेज्जस्स २ मल्लरामस्स ३. मडियस्स ४. रोहस्स ५ भारद्दाइस्स ६. अज्जुणगस्स गोयमपुत्तस्स ७. गोसालस्स मखलिपुत्तस्स।

तए ण समणे भगव महावीरे गोसाल मखलिपुत्त एव वयासी---गोसाला! से जहानामए तेणए सिया, गामेल्लएहि परब्भमाणे परब्भमोणे कत्थ य गड्ड वा दरि वा दुग्ग वा णिण्ण वा पव्वय वा विसम वा अणस्सादेमाण एगेण मह उण्णालोमेण वा समलोमेण वा कप्पासपम्हेण वा तणसूएण वा अत्ताण आवरेत्ताण चिट्ठेज्जा, से ण अणावरिए आवरियमिति अप्पाण मण्णइ, अप्पच्छण्णे य पच्छण्णमिति अप्पाण मणइ, अणिलुक्के णिलुक्कामिति अप्पाण मणइ, अपलाए पलायमिति अप्पाण मण्णइ एवामेव तुम पि गोसाला। अणण्णेगते अण्णमिति अप्पाण उपलभसि त मा एव गोसाला! नारिहसि गोसाला! सच्चेव ते सा छाया, नो अण्णा।

—भगवती सूत्र, १५ १०१, १०२

२. गोसाला! एस ण तिलथभए णिप्फज्जिसइ, नो न निप्फज्जिसइ। एते य सत्ततिल पुप्फजीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता एयस्स चेव तिलथभगस्स एगाए तिलसगलियाए सत्त तिला पच्चायाइस्सति।"

ते य सत्त तिलपुप्फजीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता एयस्स चेव तिलथभगास्स एगाए तिलसगलियाए सत्त तिला पच्चायाया। एव खलु गोसाला! वणस्सइकाइया पउट्टपरिहार परिहरति। —भगवती सूत्र, १५/५८,७३

३. तए ण तस्स गोसालस्स मखलिपुत्तस्स से सत्त तिले गणमाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए चितिए पत्थिए मणोगए सकप्पे समुप्पज्जित्था एव खलु सव्वजीवा वि पउट्टपरिहार परिहरति-- "एस ण गोयमा! गोसालस्स मखलिपुत्तस्स पउट्टे, एस ण गोयमा! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स मम अतियाओ आयाए अवक्कमणे पण्णत्ते।" ---भगवती सूत्र, १५/७५

भगवान् महावीर वनस्पतिकाय के अतिरिक्त अन्य जीवों मे पोट्ट परिहार के सिद्धात को गलत मानते थे। भगवती सूत्र के आधार पर ये बातें स्पष्ट होती हैं—

१. गोशालक ने अपने आपको जो गोतमपुत्र अर्जुन के जीव का गोशालक के शरीर मे पोट्ट परिहार बताया था, वह असत्य था।

२. गोशालक ने सभी जीवों मे पोट्ट परिहार की अनिवार्यता बताई थी, वह असत्य था।

३. वनस्पतिकाय में पोट्ट परिहार की संभाव्यता को महावीर ने स्वीकार किया था।

४. अन्य जीवों मे भी पोट्ट परिहार संभव हो सकता है, इसका खण्डन महावीर ने कही नही किया।

उक्त तथ्यों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वनस्पतिकाय की तरह अन्य जीवयोनियो मे भी पोट्ट परिहार संभव है। इस बात की पुष्टि भगवती सूत्र के एक अन्य पाठ से इस प्रकार होती है—

भगवान् महावीर ने मनुष्यणी के गर्भकाल को जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट १२ वर्ष बताया है।[1] कायभवस्थ का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट चौबीस वर्ष बताया है।[2] वृत्तिकार इसकी व्याख्या मे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि एक जीव गर्भ मे १२ वर्ष तक रहकर मृत्यु को प्राप्त होकर पुन उसी शरीर मे उत्पन्न हो सकता है और दूसरी बार फिर १२ वर्ष और रह सकता है।[3] इस प्रकार मनुष्य शरीर मे भी पोट्ट परिहार को स्वीकार किया गया है। सिद्धात की दृष्टि से यदि वनस्पतिकाय मे पोट्ट परिहार हो सकता है, तो मनुष्य-शरीर मे भी हो सकता है।

अस्तु, यहा यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऐसी घटना मे भी सामान्य मनोविज्ञान के सिद्धात या अन्यान्य परिकल्पनाएं व्याख्या करने मे अक्षम ही रह जाते हैं। केवल पुनर्जन्मवाद ही इसकी व्याख्या न्यूनतम स्वय तथ्यो (Minimum assumptions) के आधार पर कर सकता है।

उपसंहार :

डॉ० स्टीवनसन ने अपने विशाल ग्रन्थ के उपसहार में लिखा है—

"I believe, however, that the evidence favouring reincarnation as a hypothesis for the cases of this type has increased since I published my review in 1960. This increase has come from severel different kinds of observations and cases, but chiefly from the observations of the behaviour of the children climing the memories and the study of cases with specific or idiosyncratic skills and congenital birthmarks and deformities."

"......In the cases of the present collection, we have evidence of the occurrence of patterns which the present personality is not known to have inherited or acquired after birth in the persent life. And in some instances these patterns match corresponding and specific features of an identified deceased personality. In such cases we have then in principle, I believe, some evidence for human survival of physical death."[4]

डॉ० स्टीवनसन के उक्त अभिमत के समर्थन में उनकी उक्त पुस्तक के भूमिका लेखक सी० जे० ड्यूकास[5] ने और भी अधिक स्पष्ट एव तर्कसगत शब्दो मे लिखा है[6]—

"If, then, one asks what would constitute genuine evidence of reincarnation, the only answer in sight seems to be same as to the question how any one of us now knows that he was living some days, months

---

१. "मणुस्सी गब्भे ण भते। मणुस्सी गब्भेत्ति कालओ केवच्चिर होइ?"
"गोयमा! जहन्नेण अतोमुहुत्त उक्कोसेण बारस सवच्छराइ।" —भगवती सूत्र, २/५/८३

२. "कायभवत्थे ण भते! कायभवत्थेत्ति कालओ केवच्चिर होइ?"
"गोयमा! जहन्नेण अतोमुहुत्त उक्कोसेण चउव्वीस सवच्छराइ।" —भगवती सूत्र (अभयदेववृत्ति सहित) २/५/१०२

३. काये—जनन्युदरमध्यव्यवस्थितनिजदेह एव यो भवो—जन्मो स कायभवस्तत्र तिष्ठति य: स कायभवस्थ., इति, एतेन पर्यायेणत्ययं। "चउव्वीस सवच्छराइ" त्ति स्त्रीकाये द्वादशवर्षाणि स्थित्वा पुनर्मृत्वा तस्मिन्नेवात्मशरीरे उत्पद्यते द्वादशवर्षस्थितिकतया, इत्येव चतुर्विंशति वर्षाणि भवन्ति। केचिदाहु—द्वादशवर्षाणि स्थित्वा पुनस्तत्रैवान्यबीजे न तच्छरीरे उत्पद्यते द्वादशवर्षस्थितिरिति —भगवती सूत्र, २/५/१०२ पर वृत्ति

४. Twenty Cases Suggestive of Reincarnation, पृ० ३५१, ३५३

५. अमेरिकन सोसायटी फॉर सायकिकल रिसर्च के प्रकाशन समिति के अध्यक्ष

६ Twenty Cases Suggestive of Reincarnation, Foreword, पृ० ४

or years before. The answer is that he now remembers having lived at that earlier times, in such a place and circumstances, and having done certain things then and had certain experiences."

"But does anybody now claim similarly to remember having lived on earth a life earlier than his present one ?"

"Although reports of such a claim are rare, there are some. The person making them is almost always a young child from whose mind these memories fade after some years. And when he is able to mention detailed facts of the earlier life he asserts he remembers, which eventual investigation verifies but which he had no opportunity to learn in a normal manner in his present life, then the question with which this confronts us is how to account for the veridicality of his memories, if not by supposing that he really did live the earliar life he remembers "

पूर्वभव स्मरण

शरीर ही मरता है और नया उत्पन्न होता है, आत्मा न मरता है न जन्म लेता है। वह तो जन्म लेने वाले नये शरीर मे नये किरायेदार की तरह रहने लगता है इसी कारण किसी-किसी मनुष्य को अपने पहले जन्म की अनेक बाते दूसरे जन्म मे स्मरण हो आती हैं।

लगभग १५-१६ वर्ष पहले दिल्ली मे एक ६-८ वर्ष की शान्तिदेवी नामक लडकी थी, वह अपने माता-पिता से कहा करती थी कि मैं शीतला घाटी पर मथुरा मे रहती थी, एक दिन दिल्ली मे आये हुए एक कथा वाचक ब्राह्मण को पहचान लिया कि आप हमारे शीतला घाटी मुहल्ले मे भी कथा करने आते थे। इस पर लोगो का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ। तब उस लडकी को मथुरा ले गये, स्टेशन पर उसे छोड दिया गया वह अपने आप शीतला घाटी पहुची और अपने पहले जन्म के मकान मे घुस गई। वहा उसने अपने पूर्वभव के पुत्र, पति आदि को पहचान लिया। और अपने कोठे के कोने मे कुछ रुपये गाड रखे थे वे भी खोदकर निकाल दिखाये। जिससे यह बात सिद्ध हो गई कि उस लडकी को अपने पहले जन्म की घटना सत्य याद थी।

ऐसे पूर्वभव के स्मरण वाली अनेक घटनायें प्रकाशित हुआ करती हैं। इससे सिद्ध होता है कि जीव अपने सचित किए हुए कर्मों के अनुसार दूसरे जन्म मे सुख दुःख भोगा करता है। इसी तरह ये जीव अनादि काल से जन्म मरण करते हुए चले आ रहे हैं।

अनेक स्त्री पुरुषो को कभी-कभी भूत, प्रेत, बाधा सताया करती है जिसमे वे अपने पूर्वभव की घटनायें बतलाते हैं तथा वर्त्तमान मे अपना जन्म व्यन्तर आदि देवो मे बतलाते हैं इससे यह बात प्रमाणित होती है कि मनुष्य और पशु योनि के सिवाय देवयोनि भी है।

इस प्रकार धार्मिक मनुष्य, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, मोक्ष, पुण्य, पाप, कर्म का फल आदि बातो मे अपनी आस्तिकता प्रकट करते हुए पाप कार्यों से बचते रहते हैं।

—आचार्य रत्न श्री देशभूषण, उपदेशसार संग्रह, द्वितीय भाग जयपुर, १९८२, पृ० १०० से उद्धृत

अपराधवृत्ति एवं जैन दृष्टिकोण से सम्बद्ध एक आधुनिक शोध कार्य की रूपरेखा

डॉ० रमेश भाई लालन

जीवन व्यवहार मे उत्तरोत्तर बढती हुई अपराधवृत्ति से न केवल आरक्षक-गण (पुलिस), दण्डाधिकारी, लोकसभा सदस्य, गृहमत्री, समाजशास्त्री, शिक्षाशास्त्री और अपराधशास्त्री ही चिंतित है, किन्तु समग्र विश्व के जन सामान्य भी अपने आपको असुरक्षित मानकर आतकित महसूस कर रहे हैं।

मनो-चिकित्सक (psychiatist) प्रोबेशन-आफिसर, रीहेबीलीटेशन आफिसर, कारागृह के अधिकारी, धाराशास्त्री और न्यायाधीशो की सेवा बडी कीमत चुकाकर अपराधी को दण्डित करने या सुधारने के लिए ली जा रही है। प्राण-दण्ड, द्रव्य-दण्ड, कारावास, तडीपार (हडपार) आदि प्रयोगो से जब अपराधवृत्ति का नियत्रण नही हो रहा है तब लगता है जरूर अपराधनिवारण के लिए अपराध के असली कारणो को जाचा जाय।

तीर्थंकर, केवलि-भगवान्, स्थविर, बहुश्रुत आचार्य जैन धर्म मे इतने प्रभावक हुए है कि बौद्ध धर्मग्रन्थो मे उल्लेख मिलता है कि निर्गन्थो के अनुयायीगण चोर, डाकू, लुटेरो और हत्यारो मे से थे।[1] व्यक्ति को पूर्वभव की घटनाओ का स्मरण कराके उसमे जातिस्मरण-ज्ञान पैदा होने पर सहज ही वह उद्यत होता था, पापाचरण का प्रत्याख्यान करने को, अपराधमय जीवन को समाप्त कर उग्र तपस्या स्वीकार करने को और यथाशक्ति महाव्रत और अणुव्रतो को स्वीकार करने को। व्रत अगीकार किये बिना अहिंसा, सयम और तप को चरितार्थ नही किया जा सकता।

जैन धर्म और जैन समाज में व्रत (सवर) को अनूठा स्थान मिला है। वह स्वच्छदता को रोकता है। विनय को पनपाता है। अपराध-स्थानो से बचाता है और जीवन को पावन करता है। डॉ० ए० एन० उपाध्याय यहा तक कहते हैं कि जो अणुव्रतो का पालन करता है उसे भारतीय दण्डसहिता मे घबराने की कोई जरूरत नही।[2]

ऐसा भी नही कि व्रतधारी कभी अपराध ही नही करता लेकिन जो भी दोष या स्खलन व्रतधारी करता है उसे वह प्रायश्चित के द्वारा गुरु के समीप आलोचनापूर्वक निवेदन करके सुधार लेता है और व्रत मे सुस्थिर होता है।

जैन धर्म और समाज की व्रतोच्चारण-विधि और प्रायश्चित-विधि अपने राष्ट्र की नही अपितु समूचे विश्व की अपराधवृत्ति को निर्मूल करने में सहायक बन सकती है। इसी विषय को लेकर एक शोध-प्रबन्ध, 'Penology and Jain Scriptures' (दण्डनीति और जैन आगम) को बम्बई विद्यापीठ से १९८० मे पी० एच० डी० के लिए मान्यता मिली है।

इस शोध-प्रबन्ध का लक्ष्य है जैन धार्मिक फिलॉसफी व समाजविज्ञान के अगभूत अपराधशास्त्र का समन्वय करने का प्रयासमात्र।

निबन्ध की भूमिका[3] मे दण्डनीति का मौलिक स्वरूप, अर्वाचीन रूपरेखा और अपेक्षित परिवर्तन को लक्ष्य मे रखते हुए सर्वग्राह्य नवीन व्याख्या दण्डनीति की दी गई है --'अपराध के मुकाबले की व्यूह रचना।' दण्ड का हेतु है सजा द्वारा व्यक्ति मे सुधार हो और समाज की सुरक्षा बनी रहे। अपराधशास्त्रियो ने मनोविज्ञान के प्रकाश मे अपराधी को रुग्ण व्यक्ति बताते हुए इस बात पर जोर दिया है कि उसे जरूरत है मनोचिकित्सा की, न कि सजा की। समाजवादी विचारधारा मे व्यक्ति को गौण मानकर समाज रचना को जवाबदार ठहराने का

---

१. सुत्तनिपात, मज्जिमनिकाय, पाली मूलपण्णासकम, चूलदुक्खक्खधसुत्तम् १४-२,२ पृ० १२९-१३१

२. Callette Caillat, A. N. Upadhye & Bal, Pub l, Jainism', 1975, पृ० ६८-६९

३. द्रष्टव्य, जैन जर्नल त्रैमासिक, भाग १५, अक २, अक्टूबर, १९८०, पृ० ६२

प्रयत्न हुआ है, और इसने प्रतिपादन किया है नई समाज पुनर्रचना का जिसमे किसी भी व्यक्ति को अपराध करने का मौका ही मिल न पाये। समाजवादी सिद्धान्त की कमी को महसूस करते हुए अपराधशास्त्रियों[1] ने स्वीकार किया है कि उन्होने अपराध और आत्मा के बारे में सोचा तक भी नही है। इस कबुलात की भित्ती पर प्रस्तुत निबन्ध की रचना मे यह बताया गया है कि अपराध और आत्मा के बारे मे संशोधन करने के लिए जैनियो का कर्मवाद—'सवरतत्त्व' कहा तक उपयोगी ठहर सकता है।

निबन्ध के पहले प्रकरण मे दण्डनीति के बारे मे जैन आगम साहित्य मे कहा-कहां स्रोत मिलते हैं - उसकी चर्चा करते हुए श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रन्थो की ओर अगुलिनिर्देश किया गया है। इस बात पर जोर दिया गया है कि भौतिकशास्त्र व समाज विज्ञान के लिए जैन आगम-साहित्य का मथन करने का उचित समय अब है।

निबन्ध के दूसरे प्रकरण मे दण्डनीति का उद्गम और विकास के बारे में जैन मान्यता को प्रस्तुत किया गया है, जिसमें कुलकरों के काल से प्रस्थापित 'हा' कार, 'मा' कार, और धिक्कार नीति से आगे चलकर परिभाषक, मडलबध, बध और घात का प्रादुर्भाव कैसे हुआ। भगवान् आदिनाथ प्रदत्त चार दण्डनीतियो मे भरतचक्रवर्ती महाराज ने 'चारक' आदि का प्रवर्तन कर कैसे सशोधन किया। सोमदेवसूरि के नीतिवाक्यामृतम् तक का विकास इस प्रकरण मे बताया गया है।

निबन्ध के तीसरे प्रकरण मे भगवान् आदिनाथ से लेकर भगवान् महावीर स्वामी तक का काल जो कि प्राग्-ऐतिहासिक काल माना जाता है और पौराणिक काल के नाम से भी पुकारा जाता है, उस काल के सन्दर्भ मे दण्डनीति के बारे मे जैन पुराणो से उल्लेख लिए गये हैं। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव और महापुरुषो के जीवनचरित्र कोई कल्पना नही है। इनके नामोल्लेख व भिन्न रूप से चरित्र अजैन पुराणो मे भी प्रस्तुत होने के कारण प्रमाणभूत है। इस कालावधि मे, उपालम्भ से लेकर मृत्युदण्ड तक की सजाओं का उल्लेख मिलता है।

निबन्ध के चौथे प्रकरण मे दण्डनीतिपरक आगमकथाए और दृष्टान्तो का जिक्र है। प्रचुर साहित्य से कुछ चुनकर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जो दण्डनीतिपरक होते हुए कर्मवाद की ओर इगित करते है। कथा मे उपकथाए—यह जैनियो की विशिष्टलाक्षणिकता है जिसमे पात्र के जीवन की घटनाओं को भवभव्यतर मे किये हुए कुछ-एक कार्य मे संकलित कर कर्म की सत्ता का निदर्शन कराया गया है।

निबन्ध के पाचवें प्रकरण मे दण्ड के स्वरूप और प्रकार का विवेचन है जो जैन आगम-ग्रन्थो मे उल्लिखित है। दुडि-बन्ध, निगड हत्थुदय, अदुबंध, बाल-रज्जुक, कुदड, परट्ट, लोहसंकुल, पत्तपट्ट, दामक आदि ५० से अधिक दण्ड के प्रकारो का उल्लेख किया है। नारक जीवो की यातना और कारागृहवास की यातनाओ के साम्य को नजरदाज नही किया जा सकता। चौरासी लक्ष 'जीवयोनियो मे परिभ्रमण' इसे ही सबसे कडी सजा मानने वाले जैनी किसी भी जीव को कोई भी अपराध के लिए सजा की हिमायत नही करते है। नरकावास व कारा-गृह की यातनाओ का वर्णन लोकस्थिति और लोकव्यवस्था के द्योतक है। उद्देश्य सिर्फ इतना है कि इन वर्णनो को सुनकर व्यक्ति अपराधो की ओर, पापाचार की ओर न मुडें। और अपराधवृति से अपने को बचाने का प्रयत्न करे।

निबन्ध के छठे प्रकरण मे अपराध के कारण और कर्मवाद की चर्चा है। कर्मों के मुकाबले की व्यूहरचना ही सही जैन दण्डनीति की व्याख्या है। कर्म का क्या स्वरूप है, कौन से प्रकार है कर्म सिद्धान्त, कर्म के नियम, कर्म का न्याय, कर्मों से आत्मा की मुक्ति आदि विषय पर जिस सूक्ष्मता से और वैज्ञानिक पद्धतियो से जैनधर्म मे विवेचन है, उसका प्रतिभास भी अन्य धार्मिक फिलासॉफियो मे नही पाया जाता। अध्यव्यवसाय, कषाय, लेश्या के अनुरूप कर्मबध के अनुभाग (रस) मे तीव्रता-मदता का होना। आश्रव तत्त्व मे अपराध के मूल कारणो की खोज। पच समवायकारण—काल, स्वभाव, कर्म नियति और उद्यम का निरूपण। परमाणुवाद, सापेक्षवाद, अनेकान्तवाद, नय, निक्षेप आदि के प्रकाश मे अपराधशास्त्री कर्मवाद का अभ्यास करके अपराध के मूल कारणो तक पहुंच सकते है।

निबन्ध के सातवे प्रकरण मे अपराध निवारण मे 'सवर-तत्त्व' के योगदान की चर्चा है। पाश्चात्य विद्वानो द्वारा व्यक्ति के चारित्र्य-सुधार मे धर्म के तत्त्वो को दी गई स्वीकृति। जैन दृष्टि से धम की व्याख्या। सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरित्र रूपी मोक्षमार्ग का विधान। दान, शील, भाव और तप से धर्म की आराधना। जीवन को शान्ति, मुक्ति, आर्जव, मार्दव, लाघव, अकिचन्य, सत्य, सयम, तप और ब्रह्मचर्य की ओर मोडने का विधान। व्यसनमुक्ति, देशविरति, सर्वविरति—अणुव्रत और महाव्रतो का स्वरूप व विवेचन। छह आवश्यक। समाज की पुनर्रचना यदि अहिसा, अनेकान्त व अपरिग्रह के सिद्धान्त पर की जाये तो अपराध-निवारण जैसी कोई समस्या ही न रहे।

निबन्ध के आठवें प्रकरण मे दश प्रायश्चित्तो की चर्चा है। जैन दण्डनीति के अभ्यास मे यह सीमाचिह्न रूप है। प्रायश्चित की होड, अपराध के निराकरण और चित्त की विशुद्धि है। पश्चाताप के कारण व्यक्ति अपने सूक्ष्म अपराध के लिए कडी सजा सहने को उत्सुक हो जाता है। जबकि रीढ़ा गुनाहगार व्यक्ति अपने बडे अपराध के लिए कम-से-कम सजा से भी छटकने की सोचता है या तो उस पर कडी सजा का भी कोई असर नही दिखाई देता। व्यक्ति की अपराधवृति और पश्चाताप की भावना को लक्ष्य मे रखकर योग्य दण्ड या प्रायश्चित देना

---

१. इयान टेलर, पॉल वॉल्टन और जेकयग, "द न्यू क्रिमनोलॉजी फॉर ए सोसल थियोरी ऑफ डेवीयन्स", लन्दन, पृ० ५२

कठिन काम है। अपराध की गुरुता-लघुता के अनुरूप दण्ड और प्रायश्चित दिये जाते है। दण्ड और प्रायश्चित का व्यक्ति पर कैसा प्रभाव पड़ेगा उसका परिणाम आदि का अभ्यास करने के बाद दण्ड और प्रायश्चित के मापदण्ड का निर्धारण करना आवश्यक है। प्रायश्चित देते समय गुरु या तो आचार्य ग्यारह बाबतो का ख्याल रखते हैं: (१) द्रव्य (२) क्षेत्र (३) काल (४) भाव (५) क्रिया (६) परिणाम (७) उत्साह (८) संघयण (९) पर्याय (१०) आगम और (११) पुरुषार्थ। प्रायश्चित द्वारा शुद्धिकरण की पद्धति का अभ्यास अपराधशास्त्रियो के लिए समाज के विविध स्तरो पर-- विद्यार्थी, कामदार, सगठनो के सभ्य, आदि-आदि - दण्ड के विकल्प में प्रायश्चित के प्रयोगो को अपनाने की ओर निर्देश कर सकता है। इस पद्धति से सही अर्थ मे अपराधनिवारण हो सकता है। और इसका गहरा आध्यात्मिक मूल्य भी है।

निबन्ध के नवें प्रकरण मे निबन्ध की समालोचना समाविष्ट है। दण्डनीति और जैन दण्डनीति के भेद चर्चित हैं। धार्मिक फिलासॉफी और समाज विज्ञान की एकता व भिन्नता को टटोलकर समन्वय कैसे किया जा सकता है, यह बताया है। धार्मिक शिक्षण, शिक्षा, संयम, प्रामाणिकता, नैतिकता आदि का राष्ट्रीय चारित्र्य-निर्माण मे योगदान समझाया है। संवर का पाठ ही अपराध से व्यक्ति और समाज को बचा सकेगा। भारत धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र होने के कारण सभी धर्मों के आचार्यो पर विशिष्ट जबाबदारी आ पड़ी है कि अपने धर्म-सिद्धान्त के आधार पर अनुयायियों का चरित्र उज्ज्वल और विकसित हो, न कि राष्ट्रीय नीतिमत्ता का स्तर ऊंचा उठे।[1]

जैन संस्कृति का सन्देश

जैन संस्कृति की संसार को जो सबसे बड़ी देन है, वह अहिंसा है। अहिंसा का यह महान् विचार, जो आज विश्व की शान्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है और जिसकी अमोघ शक्ति के सम्मुख संसार की समस्त संहारक शक्तियां कुण्ठित होती दिखाई देने लगी है, एक दिन जैन संस्कृति के महान् उन्नायकों द्वारा ही हिंसा काण्ड मे लगे हुए संसार के सामने रखा गया था।

जैन संस्कृति के महान् संस्कारक अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने तो राष्ट्रो मे परस्पर होने वाले युद्धों का हल भी अहिंसा के द्वारा ही बतलाया है। उनका आदर्श है कि प्रचार के द्वारा विश्व भर मे प्रत्येक मनुष्य के हृदय मे यह जचा दो कि वह स्व मे ही सन्तुष्ट रहे, पर की ओर आकृष्ट होने का कभी भी प्रयत्न न करे। पर की ओर आकृष्ट होने का अर्थ है कि दूसरो के सुख साधनों को देखकर लालायित हो जाना और उन्हे छीनने का दुःसाहस करना। जब तक नदी अपने पाट मे प्रवाहित होती रहती है तब तक उससे संसार को लाभ ही लाभ है, हानि कुछ भी नही। ज्योंहि वह अपनी सीमा से हटकर आस-पास प्रदेश पर अधिकार जमाती है, बाढ़ का रूप धारण करती है तो संसार मे हाहाकार मच जाता है, प्रलय का दृश्य आ खड़ा होता है। यही दशा मनुष्यो की है। जब तक सबके सब मनुष्य अपने स्व मे ही प्रवाहित रहते है तब तक कुछ अशान्ति नही, लड़ाई-झगड़ा नही, अशान्ति और संघर्ष का वातावरण नही पैदा होता है। जहां मनुष्य स्व से बाहर फैलना शुरू करता है, दूसरो के अधिकारो को कुचलता है, दूसरो के जीवनोपयोगी साधनो पर कब्जा जमाने लगता है, वहां संघर्ष, ईर्ष्या, द्वेष और कलह पनपने लगते हैं।

---आचार्यरत्न, श्री देशभूषण उपदेशसारसंग्रह, भाग-६, दिल्ली, वीर नि० सं० २४६०, पृ० १६५-६६ से उद्धृत

1. निबन्ध की भूमिका और समालोचना के लिए द्रष्टव्य—'तुलसी प्रज्ञा', जैन विद्या-परिषद् परिशिष्टांक, खण्ड ६ अंक १२, पृ० २८, मार्च, १९८१

वर्तमानयुग में अहिंसा का महत्त्व

श्री कामेश्वर शर्मा "नयन"

आजकल विज्ञान के चकाचौध मे सारा भूमण्डल किंकर्त्तव्य विमूढ सा हो गया है। विज्ञान के उत्कर्ष के कारण भौतिकवाद का बिगुलनाद इतना प्रखर हो गया है कि आज का मनुष्य उससे अधिक कुछ सोच ही नही पाता। फलत. आये दिन मानवीय मूल्यो का इतना बडा अवमूल्यन हो चुका है, कि ससार किस कगार पर जा रहा है, किसी को पता नही।

क्या भारत या ससार के अन्य बडे या छोटे देश, सभी के सभी स्वत जहा विज्ञान के चरमोत्कर्ष कूप मे गिरते जा रहे हैं, मानव को भ्रम सा हो रहा है कि वह उन्नयन के शिखर पर पहुच रहा है, पहुच चुका है। परन्तु वास्तविकता इससे सर्वथा दूर, अतिदूर है। आज मनुष्य का मापदण्ड उसकी मानवीय महत्ता से हटकर भौतिक उपलब्धियों तक ही सीमित है। भूतत्वहीन मनुष्य की गणना मात्र रह गयी है। ऐसे समय के विपर्यय मे पडकर मानव-मन-मस्तिष्क और हृदय शून्य मे दीख रहे हैं।

ऐसी विषम स्थिति मे जगद्गुरु भारत पुन एक नये जागरण का सन्देश देने को उद्यत न होगा तो ससार का कल्याण कथमपि न होगा।

हिंसा की विस्तृत क्रीडास्थली के रूप मे सारे ससार के साथ भारत के लोग भी परिगणित होते जा रहे हैं। इन्हे पुन. अपने ऋषियो महर्षियो की बातें याद करनी हैं।

आज भारत ही नही अपितु ससार के सभी देश विषम स्थिति से गुजर रहे है। भारत मे भी धार्मिक अवहेलना, राजनैतिक भ्रष्टता, पारस्परिक प्रेम का अभाव, स्वार्थान्धता, प्राचीनता के प्रति विद्रोह, नवीनता का अन्धानुकरण तथा वृद्ध युवाजन की विचार-धाराओ का असन्तुलन—ये सभी अकल्याणकारी भाव सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं। इन सबका एक मात्र कारण है अध्यात्मिकता का अभाव, मानवीय मूल्यो का अवमूल्यन, नैतिकता का पतन।

केवल भौतिकवाद और आधुनिक विज्ञान द्वारा मानव कभी भी सच्चा सुख और शान्ति नही प्राप्त कर सकता। विज्ञान की कुछ उपलब्धियो को कोई भी इनकार नही कर सकता किन्तु उसका यह अर्थ नही है कि मानवता की बलिवेदी पर विज्ञान के पौधे लहलहायें। ऐसा यदि होगा तो यह ससार शीघ्र ही विनाशलीला का क्षेत्र बनकर रह जाएगा। विज्ञान को सुन्दर रूप देने के लिए कला की कसीदाकारी अत्यावश्यक है। तभी तो किसी वैज्ञानिक ने भी कहा है कि विज्ञान कला के सद्भाव और अच्छी भावनाओ के द्वारा जटित और मंडित होकर ससार मे सदा आदर के साथ स्वीकृत होता है तभी वह ससार की शोभा बढा सकता है। अन्यथा विज्ञान की चरम उन्नति के साथ ही संसार का सत्यानाश भी ध्रुव है।

विज्ञान चन्द्रलोक के धरातल का ज्ञान भले प्राप्त कर ले किंतु आधिदैविक और आध्यात्मिक रहस्यो का पता उसे नही लग सकता।

अत भौतिकवाद और विज्ञान के साथ-साथ अध्यात्मवाद और धर्मनीति का समुचित समन्वय करके ही हम ससार के कल्याण की बातें सोच सकते हैं, उसे क्रियात्मक रूप दे सकते है।

भारत धर्मप्राण देश है। यहा बिना धर्म के किसी भी प्रकार का आचरण हो ही नही सकता। सभी धर्मो मे श्रेष्ठतम धर्म अहिंसा है। अतएव हमारे ऋषियो ने आदि काल मे 'अहिंसा परमो धर्म' का मन्त्र हमे दिया। अहिंसा के मार्ग पर चलकर हमारे मुनियो ने मन्त्र-द्रष्टा और स्रष्टा का काम किया था।

आदि देव 'ऋषभ देव' से लेकर भगवान् महावीर तीर्थंकर तक ने इस अहिंसा का व्रतपालन कर ससार को मुक्ति का मार्ग दिखलाया। भगवान् महावीर ने अठारह धर्मस्थानो मे सबसे पहला स्थान अहिंसा का बतलाया है। उन्होने तो यहा तक कहा है कि सभी जीवो के साथ संयमनियम से व्यवहार रखना सबसे बडी अहिंसा है। यही अहिंसा सभी सुखो को देने वाली है :—

तत्थिमं पठमं ठाणंमहावीरेणदेसियं
अहिंसा निउणादिट्ठा, सव्वभूयेसुसंजमो ।
जावन्ति लोए पाणा तसा अदुव थावए
ते जाणमजाण वा नहणे नोविघायए ॥

अहिंसा की सूक्ष्मतम परिभाषा देते हुए भगवान् महावीर ने कहा कि ससार में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उन सबको क्या जाने या अनजाने न खुद मारे और न दूसरो से मरवाये। जो मनुष्य प्राणियो की स्वयं हिंसा करता है या दूसरो से हिंसा करवाता है और हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है वह ससार मे अपने लिए वैर को ही बढावा देता है —

जावन्ति लोए पाणा तसा अदुवा थावए
ते जाणमजाण वा, न हणे णोवि घायए।
सय तिवायए पाणे, अदुवऽन्ने हि घायए
हणन्त वाऽणु जाणाइ, वेर वड्ढइ अप्पणो ॥

महावीर भगवान् ने मन या वचन से भी किसी के प्रति अहित भावना तक को हिंसा कहा है। उन्होंने कहा है कि ससार में रहने वाले त्रस और स्थावर जीवों पर मनुष्य मन या वचन से और शरीर से किसी भी तरह दण्ड का प्रयोग न करेंगे —

जगनिस्सिएहि भूएहिंतस नामेहि थावरेहिच।
नोतेसिमारमें दंडे, मनसा वयसाकायसचेव ॥

क्योकि सभी जीव जीना चाहते है, मरना कोई नही चाहता, इसलिए निर्ग्रन्थ घोर प्राणी वध का सर्वथा परित्याग करते हैं :—

सव्वे जीवाहि इच्छतिजीविउं न मरिजिउं।
तम्हा पाणिवह घोर निग्गथा वज्जयतिण ॥

भय और वैर से निवृत्त साधक जीवन के प्रति मोह ममता रखने वाले सब प्राणियो को सर्वत्र अपनी ही आत्मा के समान जानकर उनकी कभी भी हिंसा न करें :—

अज्झत्थं सव्वओ सव्वंदिस्स पाणेपियायए।
न हणे पाणियो पाणे भयवेराओ उवारए ॥

भगवान् महावीर ने अहिंसा को एक शब्द मे कहा है – वह है सयम। उनका कहना है कि अहिंसक वह है जो हाथो का सयम करे, पैरो का सयम करें, वाणी का सयम करें और इन्द्रियो का सयम करें। अर्थात् सयम ही अहिंसा है और वह आत्मनिष्ठा से फलित होती है।

मनुष्य का विवेक विचारशीलता और बुद्धि का विकास देखते हुए ऐसा लगता है कि उसमे अहिंसा की मात्रा कम है। इसका प्रमुख कारण है कि अहिंसा का ज्ञानी होना और साधक बनना दोनो मे बडा अन्तर है। केवल पाण्डित्य से अहिंसा का पालन या सचालन नही हो सकता उसके लिए साधना करनी पडेगी। मनुष्य को सर्वप्रथम इसके लिए पौद्गलिक परिणामो से ऊपर उठना पडेगा। उसे अपने स्व-पर की भावना से ऊपर उठना है क्योकि अहिंसा के विकास मे यदि सबसे बडी बाधा है तो वह है 'स्व' और 'पर' का ज्ञान। जब तक धरती पर इन भावनाओं से ऊपर उठकर मनुष्य आत्मबली नही होगा उसे सच्ची अहिंसा का पालन करना नही आएगा। अहिंसा के लिए शरीर-वस्त्र से कही ज्यादा जरूरत है आत्मबल की। भगवान् महावीर मे यदि आत्मबल नही होता तो वे ससार के एक मात्र प्रबल अहिंसक नही हुए होते। आत्मबल स्वय साधना का फल है। यह अहिंसा की रुचि से बढता है। इससे अहिंसा का विकास होता है। आत्मबल आने पर ही अहिंसक निर्भय रहता है। निर्भयता अहिंसा का प्राण है। भय से कायरता आती है। कायरता से मानसिक कमजोरी और उसमे हिंसा वृत्ति बढती है।

वर्तमान युग मे इसकी महती आवश्यकता है। आज का मानव अपने वैज्ञानिक सुसाधनों पर इतना अधिक विश्वास कर बैठा है कि उसके मन और मस्तिष्क में अहिंसक-भावनाओ की पृष्ठभूमि रहते हुए भी वह उस ओर अविश्वस्त होकर देखता है। उसे ज्ञान है किन्तु साधना कर नही पाता। अहिंसा साधना-साध्य है —यह बात सभी ऋषियों तत्त्वज्ञानियो और साधको ने कही है।

आज का ससार विनाश के कगार पर पहुच चुका है। अपने वैज्ञानिक विश्वास के कारण उसे अपने पौद्गलिक स्वरूप तक का ही विलोकन होता है। वह सूक्ष्मतम अहिंसा के प्रभाव को नही पहचान रहा है। जिस दिन उसे अहिंसा के इस विशेष स्वरूप का ज्ञान ही नही, प्रयोग करना आ जायगा उसी दिन मानव का विकास होगा यह निश्चित है। भौतिकवादी दृष्टिकोण रखकर भी वर्तमान युग मे महात्मा गाधी ने केवल अहिंसा के आशिक प्रयोग से भारत की स्वाधीनता के संग्राम में लाभ उठाया।

अतः पूर्णमानवीयता के ही नही, अपितु प्राणिमात्र के कल्याण के लिए यदि कोई एक ही मार्ग है तो वह है अहिंसा का प्रयोगात्मक स्वरूप, जिसे अपनाने पर ही आज का मानव कल्प कल्पान्तर तक सच्चिदानन्द को प्राप्त कर चिरसुखी हो सकता है।

अनेकान्तवाद और सर्वोदयवाद

डॉ० भागचन्द्र जैन

अनेकान्तवाद सत्य और अहिंसा की भूमिका पर प्रतिष्ठित तीर्थंकर महावीर का सार्वभौमिक सिद्धान्त है जो सर्वधर्म-समभाव के चिन्तन से अनुप्राणित है। उसमे लोकहित और लोकसंग्रह की भावना गर्भित है। धार्मिक, राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक विषमताओ को दूर करने का अमोघ अस्त्र है। समन्वयवादिता के आधार पर सर्वथा एकान्तवादियो को एक प्लेट-फार्म पर ससम्मान बैठाने का उपक्रम है। दूसरे के दृष्टिकोण का अनादर करना और उसके अस्तित्व को अस्वीकार करना ही सघर्ष का मूल कारण होता है। संसार में जितने भी युद्ध हुए है उनके पीछे यही कारण रहा है। अत सघर्ष को दूर करने का उपाय यही है कि हम प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र के विचारो पर उदारता और निष्पक्षता पूर्वक विचार करें। उससे हमारा दृष्टिकोण दुराग्रही अथवा एकागी नही होगा।

सर्वोदयवाद आधुनिक काल मे गांधीयुग का प्रदेय माना जाता है। गाधी जी ने रस्किन की पुस्तक "अन टू दी लास्ट" का अनुवाद "सर्वोदयवाद" शीर्षक से किया और तभी से उसकी लोकप्रियता मे बाढ आयी। यहा सर्वोदयवाद का तात्पर्य है—प्रत्येक व्यक्ति को लौकिक जीवन के विकास के लिए समान अवसर प्रदान किया जाना। इसमे पुरुषार्थ का महत्त्व तथा सभी के साथ स्वय के उत्कर्ष का सबध भी जुडा हुआ है। गाधी जी के इस सिद्धान्त को विनोबा जी ने कुछ और विशिष्ट प्रक्रिया देकर कार्य क्षेत्र मे उतार दिया।

सर्वोदयवाद वस्तुतः आधुनिक चेतना की देन नही। उसे यथार्थ मे महावीर ने प्रस्तुत किया था। उन्होने सामाजिक क्षेत्र की विषमता को देखकर क्रान्ति के तीन सूत्र दिये—१. समता २ शमता और ३. श्रमता। समता का तात्पर्य है सभी व्यक्ति समान हैं। जन्म से न तो कोई ब्राह्मण है, न क्षत्रिय, न वैश्य है, न शूद्र है। मनुष्य तो जाति नामकर्म के उदय से एक ही है। आजीविका और कर्म के भेद से अवश्य उसे चार वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है —

मनुस्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद् भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥—जिनसेनाचार्य, आदिपुराण

शमता कर्मो के समूल विनाश से सम्बद्ध है। इस अवस्था को निर्वाण कहा जाता है और श्रमता से मतलब है व्यक्ति का विकास उसके स्वयं के पुरुषार्थ पर निर्भर करता है, ईश्वर आदि की कृपा पर नही। ये तीनों सूत्र व्यक्ति के उत्थान के मूल सम्बल हैं। इनका मूल्याकन करते हुए ही अनेकान्तवाद—स्याद्वाद के प्रतिष्ठापक आचार्य समन्तभद्र ने तीर्थंकर महावीर की स्तुति करते हुए युक्त्यनुशासन मे उनके तीर्थ को सर्वोदयतीर्थ कहा है —

सर्वान्तवत्तद्‌गुणमुख्यकल्प
सर्वान्तशून्य च मिथोऽनपेक्ष्यम् ।
सर्वापदामन्तकर निरन्त
सर्वोदयं तीर्थमिद तवैव ॥

प्राचीन काल से ही समाजशास्त्रीय और अशास्त्रीय विसवादो मे जूझता रहा है, बुद्धि और तर्क के आक्रमणो को सहता रहा है, आस्था और ज्ञान के थपेडों को झेलता रहा है। तब कही एक लम्बे समय के बाद उसे यह अनुभव हुआ कि इन बौद्धिक विषमताओ के तीखे प्रहारो से निष्पक्ष और निर्वैर होकर मुक्त हुआ जा सकता है, शान्ति की पावन धारा मे सगीतमय गोते लगाये जा सकते हैं और वादो के विषैले घेरे को मिटाया जा सकता है। इसी तथ्य और अनुभूति ने अनेकान्तवाद को जन्म दिया और इसी ने सर्वोदयवाद की सरचना की।

वैयक्तिक और सामुदायिक चेतना शान्ति की प्राप्ति के लिए सदैव से जी तोड प्रयत्न करती आ रही है, यह एक ऐतिहासिक तथ्य

है। पर शान्ति वस्तुतः बाहर से खोजने की वस्तु नहीं। वह तो आन्तरिक समता, सहयोग, सयम और समन्वय से उद्भूत आनुभूतिक तथ्य है जो समाज के पारस्परिक व्यवहार को निर्मल स्पष्ट और प्रेममय बना देता है। माया, छल, कपट और प्रवचना मे पली-पुसी जिन्दगी अर्थहीन होती है। दानवता के क्रूर शिकजो मे दबे हुए आदर्शों के कगूरे उस जिन्दगी से कट जाते हैं। युद्धो और आक्रमणों की भाषायें सजीव हो उठती है। मानसिक शान्ति और सन्तुलन के तटो मे बहती आत्मिक शान्ति का सरित प्रवाह अपने तटो से निर्मुक्त होकर बहने के लिए उछलने लगता है। एक नया उन्माद मानवता के शान्त और स्थिर कदमो मे आघाती झझावात पठेल देता है। ऐसी स्थिति मे शान्ति का मार्ग-द्रष्टा समन्वय चेतना की ओर पग बढाता है और अपनी समतामयी विचार धारा से अशान्त वातावरण को प्रशान्त करने का प्रयत्न करता है।

मानवीय एकता, सह-अस्तित्व, समानता और सर्वोदयता धर्म के सभी अग है। तथाकथित धार्मिक विद्वान् और आचार्य इन अगो को तोड-मरोडकर स्वार्थवश वर्गभेद और वर्णभेद जैसी विचित्र धारणाओ की विषैली आग को पैदा कर देते हैं जिसमे समाज की भेडिया धसान वाली वृत्ति वैचारिक धरातल से असबद्ध होकर कूद पडती है। उसके मारे समीकरण झुलस जाते है। दृष्टि में हिंसक व्यवहार अपने पूरे शक्तिशाली स्वर मे गूजने लगता है, शोषण की मनोवृत्ति सहानुभूति और सामाजिकता की भावना को कुठित कर देती है। वैयक्तिक और सामूहिक शान्ति का अस्तित्व खतरे मे पड जाता है। इस दुर्वस्था की सारी जिम्मेदारी एकान्तवादी चिन्तको के सबल हिंसक कधो पर है जिसने समाज को एक भटकाव दिया है, अशान्ति का एक आकार प्राकार खडा किया है और पडौसी को पडौसी जैसा रहने मे संकोच वितृष्णा और मर्यादाहीन भरे व्यवहारो की लौहिक दीवाल को गढ दिया है।

अनेकान्तवाद और सर्वोदयवाद इन सभी प्रकार की विषमताओ मे आपादभग्न समाज को एक नई दिशा दान देता है। उसकी कटी पतंग को किसी तरह सम्हालकर उसमें अनुशासन तथा सुव्यवस्था की सुस्पष्ट, मजबूत और सामुदायिक चेतना से सनी डोर लगा देता है। आस्था और ज्ञान की व्यवस्था मे नया प्राण फूक देता है तब सघर्ष के स्वर बदल जाते हैं। समन्वय की मनोवृत्ति, समता की प्रतिध्वनि, सत्यान्वेषण की चेतना गतिशील हो जाती है। अपने शास्त्रीय व्यामोह से मुक्त होने के लिए अपने वैयक्तिक एक पक्षीय विचारो की आहूति देने के लिए और निष्पक्षता, निर्वैरता, निर्भयता की चेतना के स्तर पर मानवता को धूल धूमरित होने से बचाने के लिए।

पदार्थ है अनन्त और असीमित गुण--- पर्यायो का पुज और ससारी है सान्त और सीमित बुद्धि सम्पन्न। दोनो के गुणो में पूर्व पश्चिम का अन्तर है। दोनो के सदर्भ एक होते हुए भी अनन्त हैं। पर विडम्बना यह है कि सीमित असीमित को अपनी बाहो मे समेट लेना चाहता है अपने थोथे ज्ञान और बल के आधार पर, पाक्षिक भावना और तर्क के वश होकर। वह आखे मूद लेता है वैज्ञानिक तथ्य से और इकार कर देता है सार्वजनीन उपयोगिता को। बस यही अक्षर-अक्षर लडने भिडने लगते हैं। और तथ्य अनावृत्त होकर सुप्त हो जाते हैं। नई आस्थायें पुरानी आस्थाओ से टकराने लगती हैं। परिभाषाये बदलने लगती हैं। फलत स्वय की खोज कोसो दूर होकर सिसकने लगती है, जीवन का लक्ष्य कुछ और हो जाता है। जीवन-जीवन नही रहता। वह भार बन जाता है। अनैतिकता के साये मे।

इस प्रकार की अज्ञानता और अनैतिकता के अस्तित्व को मिटाने तथा शुद्ध-ज्ञान और चारित्र का आचरण करने की दृष्टि से अनेकान्तवाद और सर्वोदयवाद एक अमोघ सूत्र हैं। समता की भूमि पर प्रतिष्ठित होकर आत्मदर्शी होना इसके लिए आवश्यक है। समता मानवता की सही परिभाषा है। समन्वय वृत्ति उसका हर अक्षर है, निर्मलता और निर्भयता उसका फुल स्टाप है, निराग्रही वृत्ति और असाम्प्रदायिकता उसका पैराग्राफ है।

अनैकान्तिक और सर्वोदय चिन्तन की दिशा मे आगे बढने वाला समाज पूर्ण अहिंसक और आध्यात्मिक होगा। सभी के उत्कर्ष मे सहायक होगा। उसके साधन और साध्य पवित्र होगे। तर्क शुष्कता से हटककर वास्तविकता की ओर बढेगा। हृदय परिवर्तन के माध्यम से सर्वोदय की सीमा को छुएगा। चेतना, व्यापार के साधन इन्द्रिया और मन सयमित होगे। सत्य की प्रामाणिकता असन्दिग्ध होती चली जायेगी। सापेक्षित चिन्तन व्यवहार के माध्यम से निश्चय तक क्रमश. बढता चला जायेगा। स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर, बहिरग से अतरग की ओर, सांव्यावहारिक से पारमार्थिक की ओर, ऐन्द्रियक ज्ञान से आत्मिक ज्ञान की ओर।

शब्द वस्तु का प्रतिनिधित्व नही करते। वे तो हमारी अनुभूति को व्यक्त करते हैं। अनुभूति की परिधि भी ससीम और विविध होती है इसलिए उनकी क्रमिक अभिव्यक्ति होती है। वस्तु के अनन्त गुण पर्यायो की यह क्रमिक "स्यात्" या "कथचित्" शब्द के माध्यम से की जाती है। सत्य को खण्डश जानने का यह प्रमुख साधन है। वीतरागी होने पर यही सत्य अखण्ड और युगपत् अवस्थित व भाषित हो जाता है।

हम यह अनुभव करते हैं कि कभी-कभी शब्द कुछ और और उसका अर्थ कुछ और हो जाता है। वास्तविक अर्थ मूलार्थ से हटकर सन्दर्भ को भी छोड देता है। यही सामाजिक और वैयक्तिक सघर्ष का उत्स है। अभिव्यक्ति का मूल साधन भाषा तो है ही पर अपनी अनुभूति को अधिक से अधिक पूर्णता और विवादहीनता के साथ अभिव्यक्त किया जा सके, यह आवश्यकता उठ खडी हो जाती है। महावीर ने इसी समस्या को, सघर्ष के उत्स को **विभज्जयवाय च वियागरेज्जा** कह कर विभज्यवाद अथवा सापेक्षवाद की बात कह दी।

सापेक्षिक कथन दूसरो के दृष्टिकोण को समान रूप से आदर देता है। खुले मस्तिष्क से पारस्परिक विचारों का आदान-प्रदान करता है। प्रतिपाद्य की यथार्थवत्ता प्रतिबद्धता से मुक्त होकर सामने आ जाती है। वैचारिक हिंसा से व्यक्ति दूर हो जाता है। अस्ति-नास्ति के विवाद से मुक्त होकर नयो के माध्यम से प्रतिनिधि शब्द समाज और व्यक्ति को प्रेम पूर्वक एक प्लेट फार्म पर बैठा देते हैं। चिन्तन और भाषा के क्षेत्र मे न या सियावाय वियागरेखा का उपदेश समाज और व्यक्ति के अन्र्द्वन्द्वो को समाप्त कर देता है, सभी को पूर्ण न्याय देकर सरल, स्पष्ट और निर्विवाद अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त कर देता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने **उदधाविव समुदीर्णास्त्वयिवधि नाथ ! दृष्टय:** कहकर इसी तथ्य को अपनी भगवद् स्तुति मे प्रस्तुत किया है। हरिभद्र की भी समन्वयात्मक साधना इस सदर्भ मे स्मरणीय है---

भवबीजांकुरजनना, रागाद्या : क्षयमुपागता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

सघर्ष का क्षेत्र दर्शन ही नही, व्यवहार भी होता है। दोनो पक्षो मे समन्वय -साधना की अपेक्षा होती है सामाजिक साधना के लिए, विषमता को दूर करने के लिए। लोकेषणा के कारण धर्म का सयम किवा आचार पक्ष गौण हुआ तथा उपासना पक्ष प्रबल होता गया। उपासना में पारलौकिक विविध आश्वासनो का भण्डार रहता ही है पुरुषार्थ की भी उतनी आवश्यकता नही रहती। इसी क्रम मे धार्मिक चेतना कम होती चली जाती है, उपासना तत्त्व बढता चला जाता है, और हम मूल को छोडकर अन्यत्र भटक जाते हैं। कदाचित यही स्थिति देखकर सोमदेव ने समन्वय की भाषा मे गृहस्थ के लिए दो धर्मों की बात कह दी -लौकिक धर्म और पारलौकिक धर्म लौकिक धर्म लोकाश्रित है और पारलौकिक धर्म आगमाश्रित है।

व्यवहार की भाषा किवा अनुभूति की शास्त्रीय भाषा का जामा पहनाकर समाज को एक आन्तरिक सघर्ष से बचा लिया सोमदेव ने। यह उनकी समन्वय साधना थी। इसी साधना के बल पर साधक समत्व की साधना करता है चाहे वह सामाजिक क्षेत्र हो या राजनीतिक, अनेकान्त के अनुसार सर्वथा विरोध किसी भी क्षेत्र मे होता नही। इसलिए विरोध मे भी अविरोध का स्रोत उपलब्ध हो जाता है। मैं सप्त-भगियो को चिन्तन के क्षेत्र मे पडाव मानकर चलता हू। वे समन्वय की विभिन्न दिशायें हैं सर्वोदय की मूल भावना से उनका जुडाव बधा हुआ है।

अनेकान्तवाद और सर्वोदयवाद समाज के लिए वस्तुत एक सजीवनी है। वर्तमान सघर्ष के युग मे अपने आपको सभी के साथ मिलने-जुलने का एक अमोघ अनुदान है। प्रगति का नया एक साधन है। पारिवारिक विद्वेष को शान्त करने का एक अनुपम चिन्तन है, अहिसा और सत्य की प्रतिष्ठा का केन्द्र बिन्दु है। मानवता की स्थापना मे नीव का पत्थर है। पारस्परिक समझ और सह-अस्तित्व के क्षेत्र मे एक सबल लैंप-पोस्ट है। इनकी उपेक्षा विद्वेष और कटुता का आवाहन है। सघर्षों की कथाओ का प्लाट है। विनाश उसका क्लाइमेक्स है विचारो और दृष्टियो की टकराहट तथा व्यक्ति-व्यक्ति के बीच खडा हुआ एक लम्बा गेप वैयक्तिक और सामाजिक सघर्षों की सीमा को लाघकर राष्ट्र और विश्व-स्तर तक पहुच जाता है। हर सघर्ष का जन्म विचारो का मतभेद और उसकी पारस्परिक अव-मानना मे होता है। बुद्धिवाद उसका केन्द्र बिन्दु है।

अनेकान्तवाद बुद्धिवादी होने का आग्रह नही करता। आग्रह मे तो वह मुक्त है ही पर इतना अवश्य कहता है कि बुद्धिनिष्ठ बनो। बुद्धिवाद खतरावाद है विद्वानो का वाद है पर बुद्धिनिष्ठ होना खतरो और सघर्षों से मुक्त होने का अकथ्य कथ्य है। यही सर्वोदय-वाद है। इसे जैनवाद कहना सबसे बडी भूल होगी। यह तो मानवतावाद है जिसमे अहिसा, सत्य, सहिष्णुता, समन्वयात्मकता, सामाजिकता सहयोग, सद्भाव और सयम---जैन-आत्मिक गुणो का विकास सन्नद्ध है। सामाजिक और राष्ट्रीय उत्थान भी इसकी सीमा से बहिर्भूत नही रखे जा सकते। व्यक्तिगत परिवारगत, सस्थागत और सप्रदायगत विद्वेष की विषैली आग का शमन भी इसी के माध्यम से होना सभव है। अत सामाजिकता के मानदण्ड मे अनेकान्तवाद और सर्वोदयवाद खरे उतरे हैं।

इस प्रकार जीवन और सत्य के बीच अनेकान्तवाद एक धुरी का काम करता है और सर्वोदयवाद उसके पथ को प्रशस्त करता है। दोनो समस्यूत होकर जीवन को विशद, निश्छल, समास, निरूपद्रवी तथा निर्विवादी बना देता है। यही उसकी सार्वभौमिक उपयोगिता है।

जैन शास्त्रीय परम्परा एवं आधुनिक वैज्ञानिक मान्यता के सन्दर्भ में श्रोत्रेन्द्रिय की प्राप्यकारिता : एक समीक्षा

श्री नन्दलाल जैन

जैन शास्त्रों मे भौतिक जीवन से सम्बन्धित अनेक प्रकरण पाये जाते है। इन्द्रियो द्वारा अपने विषयो का ज्ञान किस प्रकार किया जाता है-- यह प्रकरण भी इनमे से एक है एव महत्त्वपूर्ण है। जैन मान्यता के अनुसार, चक्षु और मन को छोडकर सभी इन्द्रिया पदार्थ या वस्तु से सनिकृष्ट, स्पृष्ट या सपर्कित होने के बाद ही विषय ज्ञान कराती है। पूज्यपाद[1], अकलक,[2] प्रभाचद्र[3] तथा अन्य आचार्यो ने अपने ग्रंथो मे इस विषय पर तार्किक विचार किया है। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि आख की रचना और उसकी कार्य पद्धति के विषय मे प्राप्त वैज्ञानिक जानकारी के आधार पर चक्षु के अप्राप्यकारित्व की परिभाषा मे किंचित् सशोधन की आवश्यकता है।[4] इस लेख में श्रोत्र या कर्णेन्द्रिय की प्राप्यकारिता विषयक मत की समीक्षा का प्रयत्न किया जा रहा है। इस विषय मे न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, स्याद्वादरत्नाकर, रत्नाकरावतारिका, सन्मतितर्क टीका एव वीरसेन की धवला टीका मे भी प्रकाश डाला गया है। भगवती-सूत्र के शतक ५ उद्देशक ४ मे भी इसका उल्लेख है।

श्रोत्र की प्राप्यकारिता संबधी तर्क

श्रोत्र के विषय मे बौद्धो को छोडकर अन्य सभी दर्शन प्राप्यकारिता का सिद्धान्त मानते हैं। इसके अनुसार, श्रोत्र अन्य इन्द्रियो के समान ही शब्द या ध्वनि से सपर्कित होने के बाद ही शब्दज्ञान कराने मे सहायक होता है। जैन ध्वनि को मूर्त्त एव पुद्गल मानते हैं। यह ध्वनि पदार्थों के सघट्टन से उत्पन्न कपनो से उत्पन्न होती है और अपनी समुचित गति से चलकर कानो के परदे से टकराती है। यह सपर्क ही ध्वनि-ज्ञान मे सहायक होता है। इस टकराहट की तीव्रता, मदता में ध्वनियो की निकटता तथा दूरता का बोध होता है। बौद्धो के अनुसार, कान भी आख के समान दूर की ध्वनियो को सुनता है, अत. इसे बिना सपर्क के विषय ग्रहण करना चाहिए। कर्ण-पटल पर शब्द के तीव्र और मद अभिघात उसकी दूर-समीपता का आभास कराते हैं।

जैन अनेक उदाहरणो से बौद्धो के मत का खडन करते है। उनका कहना है कि कान के भीतर घुसे हुए समीपवर्ती मच्छर की आवाज को वह सुनता है, अत वह प्राप्यकारी है। यह सभव नही कि कोई भी इन्द्रिय दूरवर्ती और समीपवर्ती—दोनो प्रकार के पदार्थों का ज्ञान करा सके। दूरता-समीपता का ज्ञान तो घ्राणेन्द्रिय मे भी होता है, और वह प्राप्यकारी है। अत इस आधार पर श्रोत्र की प्राप्यकारिता सिद्ध नही की जा सकती। राजवार्तिक के अनुसार, शब्द पुद्गलो मे सूक्ष्मता के साथ पर्याप्त वेग होता है, वे चारो ओर से कानो मे प्रवेश कर सकते है और उनके आवागमन मे विशेष रुकावट भी नही होती है। ये तथ्य श्रोत्र की प्राप्यकारिता की क्रिया-पद्धति का समर्थन करते है।

श्रोत्र की प्राप्यकारिता के समर्थन मे प्रभाचद्र ने अनेक तर्क दिए हैं जिनमे शब्द की दूरवर्तिता का विश्लेषण किया गया है। शब्द क्या दूरवर्ती ही होता है ? अथवा वह दूरवर्ती कारणो से उत्पन्न होता है, दूर देश से आकर कान मे ध्वनि उत्पन्न करता है या दूर देश मे स्थित रहता है ? यदि शब्द केवल दूरवर्ती ही होता है, मच्छरादि की निकटवर्ती ध्वनियो मे शब्द-व्यवहार नही होता। दूरवर्ती कारणो से

१. पूज्यपाद आचार्य : सर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ, १९६४

२. अकलकदेव, तत्त्वार्थवार्तिक—१, वही, १९६४

३. प्रभाचद्राचार्य : (अ) प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, निर्णय सागर प्रेस, बबई, १९४१

(ब) न्यायकुमुदचन्द्र, माणिकचद्र ग्रन्थमाला, बबई, १९३८

४. नदलाल जैन, तुलसी प्रज्ञा (प्रेस मे)

गध भी उत्पन्न होती है, दूर देश से आने की बात भी गध के समान ही है। इसलिए श्रोत्र गंध के समान ही प्राप्यकारी सिद्ध होता है। यदि दूर देश मे स्थित और उत्पन्न शब्द ही कानों से सुना जाता है, तब फिर उसे निर्वात अवस्था के समान वायुपूर्ब अवस्था मे भी नही सुना जाना चाहिए। पुनश्च, जो शब्द वायु के कान के पास आने पर सुना जा सकता है, वही शब्द वायु की विपरीत दिशा के कारण क्यो नही सुना जाता ? क्या वायु कान का अभिघात करती है या शब्द को नष्ट कर देती है ? यदि वायु कान का अभिघात करती है, तब फिर निर्वात मे भी शब्द श्रवण होना चाहिए क्योंकि शब्द प्रदेश मे स्थित वायु कान का अभिघात कैसे कर सकती है ? यदि वायु शब्द को नष्ट करती है, तो सामान्य वायु-प्रवाह मे भी शब्द श्रवण नही होना चाहिए। यदि वह शब्द को प्रेरित कर श्रोत्र के पास पहुचाती है, तो श्रोत्र का प्राप्यकारित्व ही सिद्ध होता है। यदि शब्द उत्पत्ति स्थान पर ही वायु से नष्ट हो जाते होते, तो मच्छरो की भनभनाहट, नगाडे की आवाज तथा प्रतिध्वनि कैसे सुनाई देती ? शब्द सदैव दो वस्तुओ की टक्कर मे उत्पन्न होते हैं। फलत. विभिन्न देशों या स्थानो मे उत्पन्न नगाडे की आवाज से मच्छरो की भनभनाहट क्यो सुनाई नही देती ? लेकिन यह देखा जाता है कि नगाडे की आवाज के कारण मच्छरो की भनभनाहट सुनाई नही देती क्योकि ध्वनिया परस्पर व्यतिकरण (अभिभव) करती है।

सूर्य की चमक के कारण आखे, कभी-कभी, देखने मे असमर्थ होती हैं। इसी प्रकार तीव्र, शब्दो से भी श्रोत्र का अभिघात होने के कारण मच्छर की भनभनाहट सुनाई नही देती। यह तथ्य तभी सही हो सकता है जब शब्द प्रेरित वायु अभिघात करे। ऐसी स्थिति में निर्वात दशा मे भी शब्द सुनाई देने चाहिए क्योकि इस दशा मे अभिघातकर वायु नही होती। लेकिन शब्दो का अभिघात एव निर्वात मे शब्द का अश्रवण-दोनो ही प्रत्यक्षगम्य है क्योकि ध्वनि के प्रसारण के लिए माध्यम अनिवार्य है। इसीलिए शब्द दूर-देश मे उत्पन्न होकर गतिशील होता है और कर्ण पटल पर ध्वनि की अनुभूति कराता है। साथ ही, शब्द की दूरता दूर-देश के ग्रहण से ही सभव है जैसा चक्षु मे दूर-समीपस्थ वृक्षादि को देखने के लिए माना जाता है।

यह प्रश्न हो सकता है कि इस दूर-देश का ग्रहण श्रोत्र से होता है या अन्य इन्द्रियो से? शब्द ग्राही श्रोत्र मे तो यह हो नही सकता। यदि अन्य इन्द्रियों से देश का ग्रहण हो, तो उससे देश की दूरता ही प्रकट होगी, शब्द की नही। यह सभव नही है कि देशग्राही इन्द्रिय और शब्द ग्राही श्रोत्र दोनो के अनुभवो के बाद शब्द की प्रतीति हो क्योकि यह क्रमश. होगी जबकि वस्तुतः दूरवर्ती शब्द की प्रतीति एकसाथ ही होती है। इस प्रकार गध के समान शब्द भी प्राप्यकारी सिद्ध होता है। शब्द के उत्पत्ति स्थान या दूरता-समीपता सबधी सदेह कर्णविकार के कारण ही सभव होते है।

जैन मान्यता के निष्कर्ष उपरोक्त विवरण मे निम्न निष्कर्ष प्रकट होते है .

(१) शब्द मूर्त्त और पौद्गलिक (कणमय) है। वह कर्ण पटल से टकराकर ध्वनि की अनुभूति करता है।

(२) शब्द विविध पदार्थों की टकराहट से उत्पन्न होता है।

(३) शब्द मे अभिघात, अभिभव, क्रिया-स्पर्श, अल्प-महत्त्व, सयोगाश्रयता, परिमाण आदि गुण होते हैं, अत शब्द मूर्त्त है।

(४) शब्द कही भी उत्पन्न क्यो न हो, वह वायु के माध्यम से सचारित होता है। यह निर्वात सुनाई नही पडता।

(५) शब्द मे गतिशीलता होती है। यह दूर देश मे भी उत्पन्न होता है और समीप देश मे भी उत्पन्न होता है।

(६) शब्द सूक्ष्म होते हैं, अत उनके आवागमन मे रुकावट नही होती।

(७) कान में यह क्षमता पाई जाती है कि वह १२ योजन (१ योजन = ४ मील = ७ कि० मी०) अर्थात् ८४ किलोमीटर दूर उत्पन्न शब्द को भी सुन सकता है।

इन मान्यताओ मे श्रोत्र की प्राप्यकारिता से सम्बन्धित दो बाते ज्ञात होती हैं

(१) शब्द घटा-हथौडी के समान पदार्थों के सघट्टन मे उत्पन्न होता है।

(२) शब्द प्रचड वेग मे चलकर कर्णपटल से सपर्कित होता है और ध्वनि की अनुभूति कराता है।

हम इन दोनो तत्त्वों पर ही आधुनिक वैज्ञानिक मान्यताओ के परिप्रेक्ष्य मे विचार करेंगे।

कान की संरचना और कार्यविधि - शास्त्रीय मान्यताओ की समीक्षा से पूर्व हमे श्रोत्रेन्द्रिय तथा ध्वनि विषयक वैज्ञानिक मान्यताओं का सक्षिप्त ज्ञान आवश्यक है। वर्तमान शरीर विज्ञानी[1] यह मानते हैं कि हमारे कान की सरचना पर्याप्त जटिल है। इसमें मुख्यत. तीन अवयव (या गुहायें) होते है—बाह्य, मध्य और अतरंग। बाह्य अवयव कर्ण पल्लव से कर्ण-पटल तक माना जाता है। मध्यवर्ती अवयव बाह्य और अतरंग अवयव का सपर्क बिन्दु है और इसमे विभिन्न आकार की तीन अस्थियां होती हैं जिनमे अन्तिम अस्थि अन्त.कर्ण के अवयव से जुडी रहती है। अन्त:कर्ण की बनावट भूलभुलैया के समान होती है। इसमे गुप्त दीवारो तथा झिल्लियो वाली गुहायें होती हैं जिनमे एक विशेष प्रकार का द्रव भरा रहता है। यह अन्त कर्ण सिर की एक विशेष अस्थि के अस्थिकोष मे सुरक्षित रूप से स्थिर रहता है।

---

१. एच० एन० बैजल, जन्तु विज्ञान, यूनिवर्सल बुक डिपो, ग्वालियर, १९७८

इन दोनों के बीच भी एक विशिष्ट द्रव भरा रहता है। अस्थिकोष पर बाहर की ओर दो छिद्र होते हैं जिनमें से एक मध्यकर्ण से संपर्कित रहता है।

कोई भी शब्द ध्वनि तरंगों के रूप में संप्रसारित होकर सर्वप्रथम कर्ण पल्लव के माध्यम से कर्ण पटल पर आपतित होता है। इससे यह कंपित होने लगता है। इसके कंपन से मध्यकर्ण की अस्थियां भी कंपित होती हैं। ये कंपन अन्तिम अस्थि के माध्यम से अन्तःकर्ण के शंख में भरे हुए द्रव में कंपन उत्पन्न करते हैं। इन कंपनों से ग्राहक कोशिकाओं की झिल्ली में ग्रथित रोम कंपित होने लगते हैं जो उन्हें उद्दीप्त करते हैं। ये उद्दीपन शंख की नलिकाओं के माध्यम से मस्तिष्क में पहुंचते हैं और ध्वनि की अनुभूति कराते हैं।

कान की कार्य पद्धति से यह स्पष्ट है कि कर्ण पटल पर शब्द नहीं, अपितु उनके कारण उत्पन्न हुए माध्यम के कंपन आपतित होते हैं जो उसे अपनी विशिष्ट ऊर्जा के अनुरूप कंपित करते हैं। कर्ण पटल के कंपन कान की मध्य और अन्त गुहाओं में कंपन उत्पन्न करते हैं जो ग्राहक कोशिकाओं को उद्दीप्त कर ध्वनि की अनुभूति कराते हैं।

शब्द की उत्पत्ति-विधि- आधुनिक ध्वनिशास्त्री[1] यह मानते हैं कि ध्वनि विभिन्न पदार्थों के पारस्परिक संघटनों से उत्पन्न होती है। इनसे एक विशेष कोटि की ऊर्जा उत्पन्न होती है। इसमें संघटन के समीपवर्ती माध्यम (मुख्यतः वायु) के कंपन उत्पन्न होने लगते हैं। ये अपनी कंपन ऊर्जा से जल में पत्थर डालने पर उत्पन्न होने वाली लहरियों के समान एक ध्वनि उत्पादक तरंग-शृंखला उत्पन्न करते हैं। इस शृंखला को कुछ विशिष्ट संवेदी अवयव ही ग्रहण कर सकते हैं (जैसे कान, रेडियो, टेलीफोन आदि) जो इसे ध्वनि के रूप में अनुभव करते हैं या प्रकट करते हैं। संघटन-ऊर्जा से उत्पन्न यह कंपन-शृंखला ही हमारे कर्ण पटल को प्रभावित करती है। कंपन की यह ऊर्जा गतिक होती है। इसलिए इनके फलस्वरूप उत्पन्न ध्वनि को भी गतिक ऊर्जा का ही एक रूप मानना चाहिए। यह माना जाता है कि ध्वनि की अनुभूति के कंपनों का एक निश्चित परिसर (२०-२०,००० प्रति सेकंड) होता है। इससे कम या अधिक वेगवान कंपन हमारे कान की झिल्ली को या तो प्रभावित नहीं करते या उसे फोड़ सकते हैं। इस धारणा के आधार पर ध्वनि से संबंधित अभिभव, व्यतिकरण, परावर्तन, प्रतिध्वनि आदि सभी गुणों की तर्क संगत व्याख्या की जा सकती है।

श्रोत्र की प्राप्यकारिता की समीक्षा—ध्वनि की ऊर्जात्मक धारणा से इतना तो स्पष्ट है कि यदि ऊर्जा पौद्गलिक होती है, तो उसके गुण सामान्य पदार्थों से भिन्न होते हैं। उसके कण अनंत सूक्ष्म होते हैं और उसका भार भी मापनीय कोटि में नहीं आता। इसीलिए उसे प्राचीन काल में भारहीन माना गया था। साथ ही ऊर्जा गति और क्रिया की प्रतीक है। इस दृष्टि से ध्वनि की पौद्गलिकता अव्याख्यात कोटि की ही मानी जानी चाहिए। ध्वनि के स्पर्श आदि गुणों की मान्यता भी, वस्तुतः उसके संप्रसारण-माध्यम के गुणों को ही सूचित करती है। ध्वनि की भौतिकता की धारणा में भी उसके संघट्टन प्रत्यास्थ होने चाहिए। ऐसे संघट्टनों में इतनी ऊर्जा प्रायः नहीं पाई जा सकती जो ध्वनि की अनुभूति करा सके। फलतः व्यावहारिक दृष्टि से ध्वनि की अमूर्तता या अतिसूक्ष्मता ही अधिक उपयोगी प्रतीत होती है।

इस प्रकार ध्वनि उत्पादक प्रदेश से ध्वनि नहीं, अपितु ध्वनि-उत्पादी तरंग या कंपन वायु आदि के माध्यम से कर्ण पटल पर पहुंचते हैं। इन पटलों में यह विशेषता होती है कि वे कंपनों को पुनः ध्वनि के रूप में अनुभूति करा सकें। सभी झिल्लियां यह काम नहीं कर सकतीं। कान में बने विशेष प्रकार के घटक ही यह काम कर सकते हैं। इसे ठीक ऐसे ही समझना चाहिए जैसे प्रत्येक रेडियो से सभी स्टेशन नहीं सुने जा सकते। प्रत्येक स्टेशन की अपनी विशेषता होती है जिसका ग्रहण वही रेडियो कर सकता है जिसमें उसके लिए ग्रहण क्षमता हो। फलतः ध्वनि-ग्रहण या अनुभूति ऊर्जा के रूपान्तरण का ही एक रूप है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैसे चक्षु से रूप देखने के लिए आंख के कैमरे का प्रकाश की उपस्थिति में पदार्थ से दूर-संपर्क होता है (फलतः चक्षु को अप्राप्यकारी या ईषत् प्राप्यकारी माना जाता है), उसी प्रकार कान भी ध्वनि के उत्पत्ति स्थान से माध्यम में उठी तरंगों या कंपनों के माध्यम से अपने विभिन्न पर्दों और तरलों द्वारा ध्वनि की अनुभूति कराता है। यह प्रक्रिया कान में मच्छरों की भनभनाहट या दूरवर्ती घंटी की आवाज आदि प्रकरणों में समान रूप से लागू होती है। अन्तर केवल इतना है कि एक प्रकरण में कंपन काफी दूर तक गमन करते हैं जबकि दूसरे में ये कान में उपलब्ध वायु में ही होते हैं। इस प्रकार कान को भी चक्षु के समान ही अप्राप्यकारी या ईषत् प्राप्यकारी मानना चाहिए जैसा बौद्ध मानते हैं।

वस्तुतः प्रारंभिक जैन मान्यता में दो पदार्थों के स्पर्श होने पर भी शब्दोत्पत्ति मानी गई है। इनके संघट्टन और कंपन से शब्दोत्पत्ति की बात बाद में आई है। इसके विपरीत, न्यायमत[2] शब्द की उत्पत्ति तथा प्रसार वीचीतरंग या पुष्पकलिका न्याय से पूर्वतः ही मानता रहा है। वह तो शब्द को अमूर्त भी मानता रहा है। यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें कौन-सा मत प्राचीन है, पर जैनों ने इन दोनों ही मान्यताओं का खंडन किया है। यह खंडन उनकी अनेक विषयों में पाई जाने वाली सूक्ष्म दृष्टि एवं तीक्ष्ण निरीक्षण क्षमता के विपर्यास में जाता है।

---

१. जी० सी० रायचौधरी भौतिकी-२, साइंस बुक डिपो, कलकत्ता, १९४६
२. आनन्द झा : पदार्थशास्त्र, उ० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९६८

यद्यपि यह सही है कि श्रोत्र की प्राप्यकारिता गंध के समान व्याख्यात की जाती है। फिर भी, यह स्पष्ट है कि गंधोत्पादी अणु स्वयं वायवीय माध्यम से चलकर घ्राणेन्द्रिय से सपर्क कर गंधानुभूति कराते हैं। ऐसा चक्षु और श्रोत्र के विषय मे नही कहा जा सकता। यहा प्रत्यक्ष संपर्क का तो प्रश्न ही नही उठता। हा, यहा प्रकाश और वायवीय कपनो का माध्यम अवश्य परोक्ष रूप से कार्यकारी होता है। श्रोत्र के विषय मे तो यह भी स्पष्ट है कि इस पर पडने वाले कपन अनुभवगम्य वायु के माध्यम से आते हैं। चूंकि निर्वात में कपन नही होते या माध्यम के अभाव में उनमे गतिशीलता नही हो सकती, अत निर्वात मे ध्वनि प्रसारित नही होती। इस तथ्य का ज्ञान रहते हुए भी उसकी व्याख्या मे आधुनिक दृष्टि से अन्तर पड गया है। जहा शास्त्रीय पक्ष इसे श्रोत्र के प्राप्यकारिता का समर्थक मानता है, वही वैज्ञानिक पक्ष इसे माध्यम के अभाव मे कपनो के गतिहीन होने के कारण शब्द के परोक्ष प्राप्यकारित्व या अप्राप्यकारित्व का समर्थन करता है।

इस प्रकार, चक्षु और श्रोत्र दोनो की सरचना और कार्यविधि अब सुज्ञात हो चुकी है। इन दोनो की ही विषय-ग्राहिता एक ही विधि से पाई गई है। इनमें से यदि एक को अप्राप्यकारी माना जाता है, तो दूसरे को भी तदनुरूप ही मानना होगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि शास्त्रीय युग मे चक्षु के समान कर्णेन्द्रिय की आतरिक रचना का भी अच्छी तरह ज्ञान नही हो पाया था। उस समय कर्ण पटल मे मच्छर की भनभनाहट का ज्ञान अवश्य था। फलत इनके प्रत्यक्ष सपर्क से श्रोत्र की प्राप्यकारिता प्रस्तावित की गई। प्रारभ से लेकर अठारहवी सदी के अत तक सभी ऊर्जाओ (ऊष्मा, प्रकाश, ध्वनि आदि) को भी तरल (कणमय) ही माना जाता रहा है। इस आधार पर प्राप्यकारिता की धारणा सगत बैठती है। पर अब नए तथ्यों और घटनाओ के सूक्ष्म निरीक्षण और परीक्षण इस मान्यता मे सुधार की ओर सकेत करते है। सभवत इसी लिए आचार्य वीरसेन[1] ने धवला मे श्रोत्र को प्राप्यकारी तथा अप्राप्यकारी-दोनो रूप मे माना है। जैन मान्यतानुसार, शब्द की प्रकृति पर कुछ लेखको[2] ने प्रकाश डाला है पर उन्होंने भी कर्णेन्द्रिय द्वारा शब्द ग्राहिता की व्याख्या पर मौन रखा है।

श्रोत्रेन्द्रिय की प्राप्यकारिता और बौद्ध मत-समीक्षा

शरीर धारी जीव को जानने के साधन रूप स्पर्शनादि पाच इन्द्रिया होती हैं। मन को ईषत् इन्द्रिय स्वीकार किया गया है। ऊपर दिखाई देने वाली तो बाह्य इन्द्रिया हैं। इन्हे द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। इनमे भी चक्षुपटलादि तो उस इन्द्रिय के उपकरण होने के कारण उपकरण कहलाते हैं; और अन्दर मे रहने वाला आंख का व आत्म प्रदेशो की रचना विशेष निवृत्ति इन्द्रिय कहलाती है। क्योकि वास्तव मे जानने का काम इन्ही इन्द्रियों से होता है उपकरणो से नही। परन्तु इनके पीछे रहने वाले जीव के ज्ञान का क्षयोपशम व उपयोग भावेन्द्रिय है, जो जानने का साक्षात् साधन है। उपरोक्त छहों इन्द्रियो मे चक्षु और मन अपने विषय को स्पर्श किए बिना ही जानती हैं, इसलिए अप्राप्यकारी है। शेष इन्द्रिया प्राप्यकारी हैं।

प्रश्न-- बौद्ध कहते हैं श्रोत्र भी चक्षु की तरह अप्राप्यकारी है क्योंकि वह दूरवर्ती शब्द को सुन लेता है ?

उत्तर---यह मत ठीक नही, क्योकि श्रोत्र का दूर से शब्द सुनना असिद्ध है। वह तो नाक की तरह अपने देश मे आए हुए शब्द पुद्गलो को सुनता है। शब्द वर्गणाए कान के भीतर पहुचकर ही सुनाई देती हैं। यदि कान दूरवर्ती शब्द को सुनता है तो उसे कान के भीतर घुसे हुए मच्छर का भिनभिनाना नही सुनाई देना चाहिए, क्योकि कोई भी इन्द्रिय अति निकटवर्ती व दूरवर्ती दोनो प्रकार के पदार्थों को नही जान सकती।

प्रश्न --श्रोत्र को प्राप्यकारी मानने पर भी 'अमुक देश की अमुक दिशा में शब्द है' इस प्रकार दिग्देशविशिष्टता के साथ विरोध आता है ?

उत्तर नही, क्योकि वेगवान् शब्द परिणत पुद्गलो के त्वरित और नियत देशादि से आने के कारण उस प्रकार का ज्ञान हो जाता है। शब्द पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म हैं, वे चारो ओर फैलकर श्रोताओ के कानो मे प्रविष्ट होते हैं। कही प्रतिघात भी प्रतिकूल वायु और दीवार आदि से हो जाता है।

---श्री जिनेन्द्र वर्णी, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-१, पृ० ३१४, ३१८ से उद्धृत

---

१. फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री (वि०) तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), वर्णी ग्रन्थमाला, १९४९

२. जे० सी० सिकदर : जैन थ्योरी आव साउड, रिसर्च जर्नल आफ फिलासफी, १९७३

आधुनिक सन्दर्भ में जैन-दर्शन के पुनर्मूल्यांकन की दिशाएं

डॉ० दयानन्द भार्गव

१. परम्परा मानती है कि महावीर ने अपना उपदेश त्रिपदी में दिया—(१) पदार्थ उत्पन्न होते है, (२) नष्ट होते हैं तथा (३) ध्रुव रहते हैं। इसी त्रिपदी को लेकर तत्त्वार्थसूत्र में सत् की परिभाषा दी गई कि सत् उत्पाद-व्यय-ध्रुव युक्त होता है— **उत्पाद-व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्**। यदि धर्म-दर्शन को सदभिमुख होना हो असदभिमुख नही तो धर्म-दर्शन को केवल ध्रुव न होकर परिणमनशील भी होना होगा—यह स्वत: फलित होता है।

२. इस देश में एक परम्परा सत् को कूटस्थरूप मानती है, वह परम्परा यदि धर्म के सिद्धान्तों को भी सनातन माने तो आश्चर्य की बात नही है यद्यपि उस परम्परा मे भी सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग के पृथक्-पृथक् धर्म बतलाकर यह इंगित स्पष्ट कर दिया है कि धर्म को युगानुरूप परिवर्तन करना होता है। किन्तु जो परम्परा सत् का स्वरूप ही 'कूटस्थता' तथा 'परिणमनशीलता' दोनो का सम्मिश्रिण मानती हो तो वह परम्परा भी यदि धर्म के सिद्धान्तों के कूटस्थ ही होने का दावा करे तो आश्चर्य की बात है।

३. निष्कर्षरूप मे यह कहा जा सकता है कि यदि कहा जाये कि धर्मदर्शन के सिद्धान्तो मे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा सदा परिवर्तन की गुंजाइश बनी रहती है तो यह नियम महावीर की मूल भावना के सर्वथा अनुरूप ही होगा। इसके विपरीत यह मानना कि धर्म-दर्शन का स्वरूप अमुक व्यक्ति द्वारा इदमित्थमतया सदा सर्वदा के लिये अन्तिम रूप मे निर्धारित कर दिया गया है और उसमे किसी भी प्रकार के परिवर्तन की गुंजाइश नही है—धर्मदर्शन को स्वय महावीर द्वारा दी गयी सत् की परिभाषा से बाहर निकाल देना है, धर्मदर्शन को असत् अथवा जड बना देना है।

४. आज सभी धर्मों में—और जैनधर्म भी उनमे शामिल है - अपने-अपने धर्मों को वैज्ञानिक सिद्ध करने की होड सी लगी हुई है। धर्म को वैज्ञानिक कहने का क्या अभिप्राय है? कोई वैज्ञानिक आज यह घोषणा नही करेगा कि अमुक विज्ञान के सिद्धान्तों को अमुक वैज्ञानिक ने अन्तिम रूप दे दिया है और अब इस सम्बन्ध मे केवल उस वैज्ञानिक के वचनो की व्याख्या की जा सकती है किन्तु किसी नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन नही किया जा सकता। किन्तु सभी धर्म इस प्रकार के आशय की घोषणा करते है कि अमुक व्यक्ति द्वारा या अमुक ग्रन्थ मे उस धर्म के सिद्धान्त इदमित्थमतया अन्तिम रूप म प्रतिपादित किये जा चुके हैं और उन सिद्धान्तों म अब किसी प्रकार के परिवर्तन की गुंजाइश नही है। कम-से-कम ऐसे धर्मों को वैज्ञानिक होने का दावा तो नही करना चाहिये।

५. वैज्ञानिक की पद्धति ऐसी है कि उसमे नवीन उद्भावना के द्वार सदा खुले है। धर्मदर्शन की पद्धति ऐसी है कि नवीन उद्-भावना को भी किसी पुराने व्यक्ति या ग्रन्थ के नाम पर ही चलाया जा सकता है। नवीन उद्भावना की भी धर्मदर्शन में 'नवीनता' स्वीकार नही की जा सकती। 'नवीनता' का धर्मदर्शन के क्षेत्र मे अर्थ है 'अप्रामाणिकता' किन्तु विज्ञान के क्षेत्र मे 'नवीनता' का अर्थ है 'मौलिकता'। इसलिए धर्मदर्शन के क्षेत्र मे इस प्रकार का ऊहापोह बहुत हुआ है कि अमुक सिद्धान्त प्राचीन शास्त्रसम्मत है या नही। किसी सिद्धान्त की प्रामाणिकता इसी मे निहित है कि वह प्राचीन शास्त्रानुकूल हो। इस कारण प्राचीन शास्त्रो की व्याख्या में तोडमरोड भी बहुत की गयी है ताकि सभी नवीन सिद्धान्त प्राचीनशास्त्रानुकूल सिद्ध किये जा सकें। मेरी दृष्टि मे यह एक प्रकार से सत्य का अपलाप ही है।

६. यदि धर्मदर्शन के सिद्धान्तो की परिवर्तनशीलता मुक्त मन मे स्वीकार कर ली जाये तो प्राचीन शास्त्रों मे तोड-मरोड़ करने की आवश्यकता समाप्त हो जायेगी। ससार के प्रत्येक पदार्थ की परिवर्तनशीलता स्वीकार करने वाला जैनदर्शन सिद्धान्तों को कूटस्थ न मानने मे पहल कर सकता है। किसी सिद्धान्त के सत्य या असत्य होने का निर्णय उस सिद्धान्त के विश्लेषण पर आधारित न मानकर इस तथ्य पर आधारित माना जाता है कि वह सिद्धान्त अमुक ग्रन्थ मे या अमुक व्यक्ति द्वारा प्रतिपादित है या नही। विद्वानो को विचार करना होगा कि यह प्रणाली धर्मदर्शन के विकास मे साधक है या बाधक।

७. धर्मदर्शन की एक मान्यता है कि सत्य का साक्षात्कार एक अतिलौकिक घटना है। सत्य की अभिव्यक्ति या तो अपौरुषेय ग्रन्थों

में होती है या वह सत्य ईश्वर की ओर से किसी विशिष्ट व्यक्ति को प्राप्त होता है या कोई विशिष्ट व्यक्ति उस सत्य को समाधि के क्षणों मे प्राप्त करके सर्वज्ञ हो जाता है। अपौरुषेय, ईश्वरीय या सर्वज्ञकथित सत्य पूर्ण, अन्तिम तथा अतर्क्य है। जैनधर्म सत्य को सर्वज्ञो की वाणी में निहित मानता है और क्योंकि जैनधर्म का आधार सर्वज्ञो की वाणी है इसलिये जैन ग्रन्थो मे सर्वज्ञ का प्रतिपादन पूर्ण बलपूर्वक किया गया है।

८. आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध उपलब्ध जैनागमो का प्राचीनतम अश माना जाता है। इस ग्रन्थ मे महावीर की जीवनी तथा उनके उपदेश संगृहीत हैं। इस ग्रन्थ के अनुशीलन से कही भी ऐसा सकेत नही मिलता कि महावीर सर्वज्ञ हों। न ही कही महावीर के अवधि-ज्ञान या मन पर्यय ज्ञान का उल्लेख है। जीवन के अध्ययन मे महावीर कुछ सत्यो का उद्घाटन करते है किन्तु इन सत्यो का साक्षात् उन्हे किसी अलौकिकशक्ति से हुआ हो, इसका कोई उल्लेख नही। इससे यह सन्देह उत्पन्न होता है कि क्या सर्वज्ञता की बात मूलत महावीर की वाणी मे थी। 'जो एक को जानता है वह सबको जानता है तथा जो सबको जानता है वह एक को जानता है'—ऐसे वाक्य आचाराग मे उपलब्ध होते हैं किन्तु उनके आधार पर महावीर तीनो लोको के समस्त पदार्थों की समस्त पर्यायों को जानते थे—यह निर्णय नही लिया जा सकता। प्रोफेसर दलसुखभाई मालवणिया ने एक लेख उज्जैन की अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् मे प्रस्तुत किया था जिसमे यह अभिमत व्यक्त किया था कि सर्वज्ञता की अवधारणा परवर्ती है महावीर की नही।

९. सभी भारतीय दर्शनो के सामने अपने-अपने आगमो को प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रश्न था। नैयायिक ने कहा कि वेद मे दृष्ट विषय आयुर्वेदादि सम्बन्धी नियमो की प्रामाणिकता से अदृष्ट ज्योतिष्टोमादि सम्बन्धी नियमो की प्रामाणिकता का अनुमान किया जा सकता है। यही तर्क आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण-मीमासा मे जैनागमो की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये दिया है कि ज्योतिषादि दृष्ट विषयो के नियमो की सत्यता से जैनागमो की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। यह सब प्रयत्न आगमो को अचूक सिद्ध करने का है।

१० इसी दिशा मे आधुनिक काल मे जैनागमो मे उपलब्ध भौतिकी, रसायनशास्त्र तथा गणित सम्बन्धी मान्यताओ का विवरण देकर जैनागमो को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया है। जैनागमो में भौतिक विज्ञान के सम्बन्ध मे कुछ तथ्य मिलते है इसमें किसी को मतभेद नही है किन्तु यदि हम उन तथ्यो को इस रूप मे रखें कि मानो आधुनिक काल के विज्ञान की समस्त उपलब्धि जैनागमो में पहले से ही प्राप्त थी, तो यह विचारणीय बात है। विज्ञान का अपना इतिहास है। उस इतिहास मे विज्ञान का निरन्तर विकास हुआ है। जैनागमो मे उस समय की अपेक्षा से कुछ वैज्ञानिक तथ्यों का उद्घाटन हुआ -- यह ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व का है किन्तु इस तथ्य को आखो से ओझल नही किया जा सकता कि आज हम विज्ञान के क्षेत्र मे जैनागमो के काल की अपेक्षा बहुत आगे बढ चुके हैं और इस बात मे कोई परेशानी नही होनी चाहिए कि जैनागमो की या किसी भी अन्य शास्त्र की कोई बात आज के विज्ञान से मिथ्या सिद्ध हो जाये। किन्तु आगमो मे सर्वज्ञ की वाणी का सग्रह मानने वाला व्यक्ति ऐसी सम्भावना स्वीकार नही करेगा।

११. 'वस्तु अनन्तधर्मात्मक है'- यह अनेकान्त की मौलिक घोषणा है। अनन्तकर्मों के सागर को सान्त आगमो की गागर मे बन्द करने का आग्रह कहा तक उचित है? स्वय आगम भी यह मानते है कि जितना सत्य भगवान् को ज्ञात है उसका बहुत थोडा भाग आगमो मे कहा गया है। ऐसी स्थिति मे यदि कोई ऐसी बात कही जाती है जो युक्तियुक्त है किन्तु आगमो मे उपलब्ध नही है तो उसके मानने मे आपत्ति नही होनी चाहिये। यदि सत्य को देखने की अनन्त दृष्टिया स्वीकार की जाती है, तो सत्य के किसी अनुद्घाटित पक्ष के उद्घाटन की सम्भावना सदा बनी रहेगी। अनेकान्त को विरोधियो द्वारा निरन्तर सन्देहवाद के रूप मे रखा गया है। जैनाचार्यों ने बलपूर्वक इस आरोप का खण्डन किया। किन्तु इस शास्त्रार्थ मे हम यह भूल जाते हैं कि ज्ञान के विकास का मूल भी सन्देह ही है। पृथ्वी को केन्द्र मे मानकर सभी ग्रहो को इसके चारो ओर चक्कर लगाने का जिओसेण्ट्रिक (geocentric) सिद्धान्त था उसमे सन्देह ने इस हीलिओसेण्ट्रिक (heleo-centric) सिद्धान्त को जन्म दिया कि सूर्य केन्द्र मे है तथा पृथ्वी समेत सभी ग्रह उसका चक्कर लगाते है। विज्ञान का इतिहास इस प्रकार के उदाहरणो से भरा पडा है। किसी ज्ञान को अन्तिम मानने पर इस प्रकार के विकास की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। उपनिषद् के जिन ऋषियो ने यज्ञ की सार्थकता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाया वे ही ब्रह्मवाद की स्थापना कर सके। वस्तुत सन्देह वही हेय है जहा वह हमे निष्क्रिय बना दे, किन्तु जहां स्थापित मान्यता मे सन्देह नवीन स्थापना की ओर ले जाये वहा सन्देह का स्वागत ही करना चाहिये। अनेकान्त, मेरी दृष्टि में, सत्य को एक स्थिर जड तथ्य न मानकर सापेक्ष तरल गतिशील वस्तु मानता है। ज्ञान के क्रमिक विकास के लिये यही एक मात्र गतिशील मार्ग है।

१२. जो दर्शन सत्य को एकान्तिक मानते हैं तथा यह मानते है कि वस्तु मे परस्पर विरोधी-धर्म नही रह सकते, उनके लिए न तो शास्त्रोक्त कथन के अतिरिक्त कोई कथन किया जा सकता है न शास्त्रोक्त कथन के विरोधी कथन के सत्य होने की सम्भावना है। किन्तु यदि अनेकान्तवादी भी यही माने तो ज्ञान के प्रति दृष्टिकोण मे एकान्तवादी और अनेकान्तवादी के बीच का अन्तर ही नही रह जायेगा। शास्त्र के प्रति 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्' वाला दृष्टिकोण अनेकान्तवाद की मूल दृष्टि से मेल नही खाता। यदि जैन मनीषी इसे हृदयङ्गम कर सकें तो जैन धर्मदर्शन का गतिरोध समाप्त हो सकता है तथा दर्शन एक जीवित विद्या बन सकती है।

१३. सत्य के नित्य-नूतन पक्ष उद्घाटित करने मे तत्पर व्यक्ति तथा समाज को जागरूक तथा सृजनशील रहना होता है किन्तु पुराने सत्य को दोहराने मात्र मे न जागरूकता अपेक्षित है न सृजनशीलता। दर्शन की स्थिति आज पुराने सत्य को दोहराने मात्र की है। इस लिए दर्शन देश की प्रतिभाओं को आकृष्ट नही कर पा रहा। यह स्थिति दर्शन सहित सभी प्राच्य-विद्याओं की है। जो सत्य को जितनी ही नयी से नयी अपेक्षाओ से देख सकेगा वह सत्य की उतनी ही अनेकान्तात्मकता को उजागर कर पायेगा। इसके लिए सतत बौद्धिक गतिशीलता आवश्यक है।

१४. जैन दर्शन मानव की गरिमा का उद्घोषक है, श्रम का प्रतिष्ठापक है तथा समता का समर्थक है। इसके साथ ही अहिंसा और अपरिग्रह का युगल उसकी आचार-मीमासा का जागरूक प्रहरी है। मान, माया, क्रोध तथा लोभ पर विजय उसका लक्ष्य है। मन, वचन तथा काया का सयम उस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है। ये जैन दर्शन के कुछ ऐसे पक्ष हैं जिन्हे सनातन कहा जा सकता है। यह धर्म का कूटस्थ पक्ष है, शेष अश बहुत कुछ परिवर्तनशील है।

१५ ऊपर हमने आचाराङ्ग का उल्लेख किया। आचाराङ्ग मे न देवी-देवताओ का उल्लेख है, न स्वर्ग-नरक का, न यक्ष, गन्धर्व किन्नरो का, न महावीर के किन्ही अतिशयों का, न अवधिज्ञान का, न मन पर्यय ज्ञान का, न केवल ज्ञान का। इनकी चर्चा मैंने एक स्वतन्त्र निबन्ध मे की है। परवर्ती जैन साहित्य मे ये सब अतिलौकिक तत्त्व समाविष्ट हो गये। शायद इनका समावेश युग की माग रही होगी। किन्तु क्या इन्हे धर्म का शाश्वत पक्ष मानकर आज भी इनका प्रतिपादन करते रहना आवश्यक है? महावीर जैसे साधक के मानवीय रूप का देवी-करण कर देने से आज उनका स्वरूप उज्ज्वल होता है या धूमिल- -यह विचारणीय है।

१६. जैन धर्म जन्मना श्रेष्ठता के प्रतिपादन का विरोधी रहा। यही उसके वर्णव्यवस्था के विरोध का आधार था—**कम्मुणा बम्हणो होई कम्मुणा होई खत्तिओ**। किन्तु उसी जैन धर्म की परम्परा ने यह घोषणा कर दी कि तीर्थङ्कर केवल एक वर्ण विशेष—क्षत्रिय-वर्ण-- मे भी एक वर्गविशेष – राजवर्ग— मे ही उत्पन्न हो सकते हैं। यही नही, एक परम्परा के अनुसार महावीर का जन्म ब्राह्मण कुल मे इसलिए नही सम्भव हो सका कि ब्राह्मण का वश नीचगोत्र है और एक तीर्थङ्कर नीचगोत्र में उत्पन्न हो नही सकते। समझ मे नही आता कि जन्मना किसी की उच्चता तथा नीचता का विरोध करने वाली परम्परा मे यह मान्यता कैसे प्रश्रय पा सकी। वस्तुत. मानवस्वभाव वश-परम्परा को भी महत्त्व देता ही है अत जन्म की अपेक्षा पुरुषार्थ को ही श्रेष्ठता का सिद्धान्तत आधार मानने पर भी अनजाने में जैन-परम्परा जन्म को महत्त्व दे ही बैठी। किन्तु इसे धर्म का शाश्वत रूप मान लेना ठीक न होगा। एक बार इस परम्परा के प्रतिष्ठित हो जाने पर यह सम्भव है कि तीर्थङ्करो मे कुछ ऐसे व्यक्ति भी - -जो वस्तुत राजवश से न हो राजवश से जोड दिये गये हो। इसी प्रकार परम्परा के अनुसार सभी तीर्थङ्कर सुन्दर हैं। सयमी व्यक्ति का आध्यात्मिक सौन्दर्य होता है—यह सत्य है किन्तु उनकी नाक चपटी न होती हो या उसके अधर मोटे न हो सकें या उसका वर्ण काला न हो—ऐसा कोई नियम नही। राजकुमार---अर्थ और काम का पर्याय है। उसके सयम को एक सामान्य व्यक्ति के सयम की अपेक्षा अधिक महत्त्व देकर तीर्थङ्कर और केवली के बीच जो भेदक रेखा खीची गयी है उससे परोक्ष मे भोग को मूल्य मिलता है और प्रजातन्त्र तथा समाजवाद के इस युग मे सामान्य व्यक्ति का महत्त्व कम होता है।

१७ राजकुमार ही तीर्थङ्कर हो सकता है—यह घोषणा साहित्य क्षेत्र की इस घोषणा की प्रतिध्वनि है कि राजा ही नाटक का नायक हो सकता है। लेकिन आज का युग राजा रानियो का नही, प्रेमचन्द के होरी और धनिया का युग है। अपरिग्रह को महत्त्व देने वाला दर्शन तीर्थङ्कर बनने के लिए राजकुमार होने की शर्त लगाये-- यह सामन्तवादी युग का ही प्रभाव कहा जायेगा। इसी प्रभाव के अधीन ब्रह्म-चर्य की महिमा गाने वाले दर्शन ने अपने महापुरुषो शलाकापुरुषो -के अनेकानेक सहस्र रानियो की कल्पना की। ये सब धारणायें धर्म की समसामयिक व्याख्या हैं जो कदाचित् धर्म के मूलभूत रूप से मेल नही खाती।

१८ जैन धर्म के क्षेत्र मे एक विशेष चिन्तनीय विषय है -समाजदर्शन। जैन दर्शन का प्रादुर्भाव एक व्यक्तिनिष्ठ दर्शन के रूप मे हुआ या सम्भव है कि प्रागैतिहासिक काल मे उसका कोई सामाजिक पक्ष भी रहा हो क्योकि परम्परा मानती है कि ऋषभदेव ने असि, मसि, कृषि की भी व्यवस्था दी थी। किन्तु आज जैन धर्म के जो सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं उनसे कोई व्यवस्थित समाज की रूपरेखा सामने नही आती। किसी व्यक्तिगत आचारमीमासा के समाजोपयोगी पक्ष हो सकते है किन्तु इस कारण उस आचार मीमासा को समाज दर्शन नही कहा जा सकता। इस अभाव की पूर्ति के अनेक प्रयत्न हुए हैं किन्तु अनेक समस्याओ का समाधान अभी शेष है।

१९ इन समस्याओ मे एक समस्या का उल्लेख यहा इसलिए किया जा रहा है कि वह आज की प्रमुख समस्या है। समाजवाद सबको विकास का समान अवसर देना चाहता है। पूजीवादी व्यवस्था मे एक वर्ग-विशेष धन के बल पर अपने लिए कुछ विशेष सुविधा जुटा लेता है। इन दोनो विचारधाराओ के बीच जो सघर्ष है समाजवाद उसका अन्त करने के लिए हिंसा का भी प्रश्रय अनुचित नही मानता। धनी समाज का शोषण करके धन एकत्रित करता है—यह अन्याय है। इस अन्याय के विरुद्ध हिंसक क्रान्ति की जा सकती है—यह समाजवाद का मत है। कर्मवादी गरीब अमीर का भेद कर्मकृत मानता है मनुष्यकृत नही—कम से कम सामान्य धारणा यही है। समाजवाद समता तथा न्याय की स्थापना के सामूहिक लक्ष्य के लिए हिंसा को अनुचित नही मानता। अपरिग्रहवाद का सिद्धान्त समाज की आर्थिक विषमता को समाप्त नही

कर पाया—यह प्रत्यक्ष है। तब क्या इस विषमता को समाप्त करने का एक मात्र उपाय हिंसा ही शेष है ? क्या इस प्रकार की हिंसा विरोधी-हिंसा के समान गृहस्थ के लिए अनुमत होगी ? क्या कर्म सिद्धान्त आर्थिक विषमता का पोषक है ? इत्यादि समसामयिक प्रश्नों पर विस्तार से विचार की आवश्यकता है। किन्तु अहिंसा, अपरिग्रहादि सिद्धान्तों की चर्चा के समय इन प्रश्नों को न छूकर केवल इनके सिद्धान्त पक्ष की प्रशंसात्मक शब्दों मे चर्चा कर दी जाती है। अहिंसा और अपरिग्रह पर बल देने वाला दर्शन आर्थिक शोषण तथा विषमता के विरुद्ध एक सबल आन्दोलन बनता है या कि यथास्थितिवाद का समर्थक—यह एक ज्वलन्त प्रश्न है।

२०. मैं मानता हू कि जैन दर्शन मे एक गतिशील दर्शन होने के बीज उपस्थित है। उनमे सत्य के नित्य नवीन स्वरूप को उद्घाटित करने का पूर्णावकाश है। उसे मानवीय तथा तार्किक धरातल पर प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है। पौराणिक अतिलौकिकता उसका अनिवार्य अग नही है। आगमप्रामाण्यवादी होने पर भी जैन दर्शन सत्य को आगम से बधा हुआ नही मानता। महावीर जैन परम्परा मे उत्पन्न हुए किन्तु उन्होने सत्य को किसी गुरु या आगम से नही, अपने अनुभव से जाना। यह व्यक्तिस्वातन्त्र्य का ज्वलन्त प्रमाण है। जैन-धर्म का मूल है समता। इसके आधार पर जैन दर्शन ने कभी जन्मना श्रेष्ठता के सिद्धान्त का विरोध करते हुए वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध जाकर हरिकेशी जैसे चाण्डाल कुलोत्पन्न व्यक्ति के लिए अध्यात्म के द्वार खोले थे। आज वही दर्शन आर्थिक विषमता के विरोध में आवाज उठा कर सर्वहारा वर्ग के लिए सम्मानपूर्ण जीवन के द्वार खोल सकता है अन्यथा जब यही कार्य हिंसक क्रान्ति द्वारा होता है तो धर्म, दर्शन, संस्कृति तथा व्यक्ति-गरिमा की लाश पर भौतिक वैभव प्रतिष्ठित होता है— जो मानव जाति के लिए श्रेयस्कर नही है क्योकि उसमे एक ओर सहस्रो वर्षों का शोषण समाप्त होता है किन्तु दूसरी ओर सहस्रो वर्षों की मानव जाति की उपलब्धि भी उसके साथ ही समाप्त हो जाती है।

समीचीन धर्म

कोई भी धर्म चाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन, यदि समीचीन है तो ग्राह्य है, अन्यथा ग्राह्य नही है। और इसलिए प्राचीन अर्वाचीन से समीचीन का महत्व अधिक है, वह प्रतिपाद्य धर्म का असाधारण विशेषण है। उसकी मौजूदगी मे ही अन्य दो विशेषण अपना कार्य भली प्रकार करने मे समर्थ हो सकते हैं। अर्थात् धर्म के समीचीन (यथार्थ) होने पर ही उसके द्वारा कर्मों का नाश और जीवात्मा को संसार के दुःखों से निकालकर उत्तम सुख में धारण करना बन सकता है, अन्यथा नही। दूसरे, धर्म के नाम पर लोक मे बहुत सी मिथ्या बातें भी प्रचलित हो रही हैं उन सबका विवेक कर यथार्थ धर्मदेशना की सूचना देना भी समीचीन विशेषण का प्रयोजन है। इसके सिवाय, प्रत्येक वस्तु की समीचीनता (यथार्थता) उसके अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव पर अवलम्बित रहती है, दूसरे के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव पर नही। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव मे से किसी के भी बदल जाने पर वह अपने उस रूप मे स्थिर भी नही रहती और यदि द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की प्रक्रिया विपरीत हो जाती है तो वस्तु भी अवस्तु हो जाती है अर्थात् जो ग्राह्य वस्तु है वह त्याज्य और जो त्याज्य है वह ग्राह्य बन जाती है। ऐसी स्थिति में धर्म का जो रूप समीचीन है वह सबके लिए समीचीन ही है और सब अवस्थाओ मे समीचीन है—ऐसा नही कहा जा सकता, वह किसी के लिए किसी अवस्था मे असमीचीन भी हो सकता है। उदाहरण के रूप मे एक गृहस्थ तथा मुनि को लीजिए। गृहस्थ के लिए स्वदार-सन्तोष, परिग्रह परिमाण अथवा स्थूल रूप से हिंसादि के त्याग रूप व्रत समीचीन धर्म के रूप मे ग्राह्य हैं जबकि मुनि के लिए उस रूप मे ग्राह्य नही हैं। एक मुनि महाव्रत धारण कर यदि स्वदार गमन करता है, धन-धान्यादि बाह्य परिग्रहो को परिमाण के साथ रखता है और मात्र संकल्पी हिंसा के त्याग का ध्यान रखकर शेष आरम्भी तथा विरोधी हिंसाओ के करने में प्रवृत होता है तो वह अपराधी है। क्योंकि गृहस्थोचित समीचीन धर्म उसके लिए समीचीन नही है।

— आचार्य रत्न श्री देशभूषण, भगवान् महावीर और उनका तत्त्वदर्शन, दिल्ली, १९७३, पृ० ३ से उद्धृत

सामाजिक समस्याओं के समाधान में जैन धर्म का योगदान

डॉ० सागरमल जैन

यह सत्य है कि जैनधर्म मुख्यतया निवृत्ति प्रधान धर्म है, किन्तु इस आधार पर यह मान लेना कि उसमे सामाजिक समस्याओ के समाधान परिलक्षित नही होते है, एक भ्रान्त धारणा ही होगी। यद्यपि न केवल पाश्चात्य अपितु अनेक भारतीय विचारक भी इस बात का समर्थन करते हैं कि निवर्तक धर्म मूलत व्यक्तिपरक है, समाज परक नही। जैन विद्या के मर्मज्ञ विद्वान् स्व० पं० सुखलालजी का कथन है कि 'प्रवर्तक धर्म समाजगामी और निवर्तक धर्म व्यक्तिगामी है। निवर्तक धर्म समस्त समाज के कर्त्तव्यो से बद्ध होने की बात नही मानता। उसके अनुसार व्यक्ति के लिए मुख्य कर्तव्य एक ही है, और वह है कि जिस तरह भी हो आत्म साक्षात्कार का प्रयत्न करे और उसमे रुकावट डालने वाली इच्छा का नाश करे।'[1] किन्तु मेरी अपनी दृष्टि मे वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनो ही मानवीय 'स्व' के अनिवार्य अग है। पाश्चात्य विचारक ब्रैडले का कथन है कि 'मनुष्य नही है, यदि वह सामाजिक नही, किन्तु यदि वह मात्र सामाजिक ही है, तो वह पशु से अधिक नही है।'[2] मनुष्य की मनुष्यता वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनो का अतिक्रमण करने मे है। वस्तुत मनुष्य एक ही साथ सामाजिक और वैयक्तिक दोनो ही है। क्योकि मानव व्यक्तित्व मे राग-द्वेष के तत्त्व अनिवार्य रूप से उपस्थित है, राग का तत्त्व उसमे सामाजिकता का विकास करता है तो द्वेष का तत्त्व उसमे वैयक्तिकता या स्वहितवादी दृष्टि का विकास करता है, जब राग का सीमाक्षेत्र सकुचित होता है और द्वेष का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है तो व्यक्ति को स्वार्थी कहा जाता है, उसमे वैयक्तिकता प्रमुख होती है, किन्तु जब राग का सीमा क्षेत्र विस्तृत होता है और द्वेष का क्षेत्र कम होता है तब व्यक्ति परोपकारी या सामाजिक कहा जाता है। किन्तु जब वह वीतराग और वीतद्वेष होता है तो वह अति-सामाजिक होता है किन्तु अपने और पराये भाव का यह अतिक्रमण असामाजिक नही है। वीतरागता की साधना मे अनिवार्यरूप से 'स्व' की सकुचित सीमा को तोडना होता है अत- ऐसी साधना अनिवार्य रूप से असामाजिक तो नही हो सकती है। मनुष्य, जबतक मनुष्य है, वह वीतराग नही हुआ है स्वभावत ही एक सामाजिक प्राणी है। पुन: कोई भी धर्म सामाजिक चेतना से विमुख होकर जीवित नही रह सकता। यह सत्य है कि निवर्तक धर्म वैयक्तिक साधना पर बल देते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि उसमे सामाजिक चेतना का अभाव है और सामाजिक जीवन की समस्याओ के समाधान के सम्बन्ध मे उनमे कोई दिशा निर्देशक सिद्धान्त उपलब्ध नही होते हैं। यद्यपि यह माना जा सकता है कि निवर्तक धर्मों मे सामाजिक समस्याओ के समाधान के सन्दर्भ मे जो दृष्टिकोण उपलब्ध होता है वह विधायक न होकर निषेधा-त्मक है। किन्तु इससे उनकी मूल्यवत्ता मे कोई अन्तर नही आता है। वस्तुत मूल्यत· जैनधर्म और सामान्यतया सभी निवर्तक धर्मों की सामाजिक उपयोगिता (Social-utility) का सम्यक् मूल्याकन करने के लिए हमे उस समग्र इतिहास को देखना होगा जिसमे भारतीय चिन्तन मे सामाजिक चेतना का विकास हुआ है।

साथ ही हमे भारतीय चिन्तन मे सामाजिक चेतना के विकास की क्रमिक प्रक्रिया को भी समझना होगा। तभी हम जैन और बौद्ध धर्म जैसे निवर्तक धर्मों का सामाजिक समस्याओ के समाधानपरक सन्दर्भ मे क्या योगदान रहा, इसका सम्यक् मूल्याकन कर सकेंगे। प्राचीनकाल मे भारतीय चिन्तन मे सामाजिक चेतना के विकास के तीन स्तर मिलते है—(१) वैदिक युग, (२) औपनिषदिक युग और (३) श्रमण युग।

सर्वप्रथम वैदिक युग मे जनमानस मे सामाजिक चेतना को जागृत करने का प्रयत्न किया गया। वदिक ऋषि सफल एव सहयोगपूर्ण सामाजिक जीवन के लिए अभ्यर्थना करते हुए कहता था कि **सगच्छध्व सवदध्व स वो मनांसि जानताम्** (ऋग्वेद १०।१६१।२) "तुम

---

१. जैन धर्म का प्राण, पृ० ५६-५६

२. Ethical Studies, F H Bradely, पृ० २२३

मिलकर चलो, मिलकर बोलो, तुम्हारे मन साथ-साथ विचार करें" अर्थात् तुम्हारे जीवन व्यवहार मे सहयोग, तुम्हारी वाणी मे समस्वरता और तुम्हारे विचारो मे समानता हो। आगे पुन वह कहता है

समानो मन्त्रः समितिः समानी, समान मनः सहचित्तमेषाम्।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः॥
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ (ऋग्वेद १०।१९१।३-४)

"आप सबके निर्णय समान हो, आप सबकी सभा भी सबके लिए समान हो, अर्थात् सबके प्रति समान व्यवहार करें। आपका मन भी समान हो और आपकी चित्त-वृत्ति भी समान हो आपके संकल्प एक हो, आपके हृदय एक हो, आपका मन भी एक-रूप हो ताकि आप मिलजुल कर अच्छी तरह से कार्य कर सकें।" सम्भवत. सामाजिक जीवन एव समाज-निष्ठा के परिप्रेक्ष्य में वैदिक युग के भ रतीय चिन्तन के ये महत्त्वपूर्ण उद्गार हैं। वैदिक ऋषियो का कृण्वतो विश्वमार्यम् के रूप मे एक सुसभ्य एव सुसंस्कृत मानव-समाज की रचना का मिशन तभी सफल हो सकता था जबकि वे जन-जन मे समाज-निष्ठा के बीज का वपन करते। सहयोगपूर्ण जीवन-शैली उनका मूल मतव्य था। प्रत्येक अवसर पर शांति-पाठ के माध्यम से वे जन-जन मे समाजिक चेतना के विकास का प्रयास करते थे। वे अपने शाति-पाठ मे कहते थे.

ॐ सहनाववतु सह नो भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै,
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। (तैत्तरीय आरण्यक ८।२)

"हम सब साथ-साथ रक्षित हो, साथ-साथ पोषित हो, साथ-साथ सामर्थ्य को प्राप्त हो, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम आपस मे विद्वेष न करे।"

औपनिषदिक ऋषि 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा', 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' तथा 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' के रूप मे एकत्व की अनुभूति करने लगा। औपनिषदिकचिन्तन मे वैयक्तिकता से ऊपर उठकर सामाजिक एकता के लिए अभेद-निष्ठा का सर्वोत्कृष्ट तात्विक आधार प्रस्तुत किया गया। भारतीय दर्शन मे यह अभेद-निष्ठा ही सामाजिक एकत्व की चेतना एव सामाजिक समता का आधार बनी है। ईशावास्योपनिषद् का ऋषि कहता था

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्व-भूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

"जो सभी प्राणियो को अपने मे और अपने को सभी प्राणियों मे देखता है वह अपनी इस एकात्मा की अनुभूति के कारण किसी से घृणा नही करता है।" सामाजिक जीवन के विकास का आधार एकात्मता की अनुभूति है और जब एकात्मता की दृष्टि का विकास हो जाता है तो घृणा और विद्वेष के तत्त्व स्वत समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार जहा एक ओर औपनिषदिक ऋषियो ने एकात्मता की चेतना को जाग्रत कर सामाजिक जीवन के विनाशक घृणा एव विद्वेष के तत्त्वो को समाप्त करने का प्रयास किया, वही दूसरी ओर उन्होने सम्पत्ति के वैयक्तिक अधिकार का निरसन कर ईश्वरीय सम्पदा अर्थात् सामूहिक सम्पदा का विचार भी प्रस्तुत किया। ईशावास्योपनिषद् के प्रारम्भ मे ही ऋषि कहता है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मागृध कस्यस्विद्धनम्॥ (ईशा० १।१)

अर्थात् इस जगत् मे जो कुछ भी है वह सभी ईश्वरीय है, ऐसा कुछ भी नही है, जिसे वैयक्तिक कहा जा सके। इस प्रकार श्लोक के पूर्वार्द्ध मे वैयक्तिक अधिकार का निरसन करके समष्टि को प्रधानता दी गई है। श्लोक के उत्तरार्द्ध मे व्यक्ति के उपभोग एवं संग्रह के अधिकार को मर्यादित करते हुए कहा गया कि प्रकृति की जो भी उपलब्धिया हैं उनमे दूसरो (अर्थात् समाज के दूसरे सदस्यो) का भी भाग है। अत उनके भाग को छोडकर ही उनका उपयोग करो, सग्रह या लालच मत करो क्योकि सम्पत्ति किसी एक की नहीं है। सम्भवत सामाजिकता की चेतना के विकास के लिए इससे अधिक महत्त्वपूर्ण दूसरा कथन नही हो सकता था। गाधीजी ने इस श्लोक के सन्दर्भ में कहा था कि यदि भारतीय संस्कृति का सभी कुछ नष्ट हो जाये, किन्तु यह श्लोक भी बना रहे तो यह अकेला ही उसकी अभिव्यक्ति मे समर्थ है। 'तेन त्यक्तेन भुजीथा:' मे समग्र सामाजिक चेतना केन्द्रित दिखाई देती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहा वैदिक युग मे सामाजिक चेतना के विकास के लिए सहयोग एवं सहजीवन का संकल्प उपस्थित किया गया वहां औपनिषदिक युग में सामाजिक चेतना को सुदृढ बनाने हेतु दार्शनिक आधार प्रस्तुत किये गये।

उसे बौद्धिक आधार प्रदान किया गया और एकत्व की अनुभूति को अधिक व्यापक बनाया गया। किन्तु सामाजिक जीवन एक ऐसा जीवन है, जो यथार्थ की भूमि पर खड़ा होता है। जब तक सामाजिक चेतना पुष्ट करने हेतु समानुभूति में बाधक बनने वाले तत्त्वों को तथा सामाजिक संरचना को विखण्डित करने वाले तत्त्वों को दूर नहीं किया जाता, तब तक एक सफल सामाजिक जीवन की कल्पना यथार्थ की धरती पर नहीं उतरती। अत. जैन एवं बौद्ध परम्पराओं ने सामाजिक चेतना के विकास में जो योगदान दिया वह एक भिन्न प्रकार का था। उन्होंने सामाजिक सबंधों की शुद्धि का प्रयत्न किया तथा उन सब बातों को जो सामाजिक जीवन में बाधक थी या जिनके कारण सामाजिक जीवन में कटुता और टकराहट उत्पन्न होती थी, उन्हे दूर करने का प्रयत्न किया। चाहे उनके द्वारा प्रस्तुत आदेशों और उपदेशों की भाषा निषेधात्मक हो किंतु उन्होंने उन मूलभूत दोषों के परिमार्जन का प्रयत्न किया है जो सामाजिक जीवन को विषाक्त और कटुतापूर्ण बनाते थे। वस्तुत: उनका योगदान उस चिकित्सक के समान है जो बीमारी के मूलभूत कारणों का विश्लेषण कर उनके निराकरण के उपाय बताता है और इस प्रकार वे सामाजिक जीवन की बुराइयों का निराकरण कर एक स्वस्थ सामाजिक जीवन का आधार प्रस्तुत करते हैं।

क्या निवृत्ति सामाजिक विमुखता की सूचक है ?

वस्तुत जैन धर्म अथवा बौद्ध धर्म को निवर्तक परम्परा का पोषक मानकर इस आधार पर यह मान लेना कि उनमें सामाजिक जीवन की समस्याओं के समाधान की उपेक्षा की गई है, सबसे बड़ी भ्रांति होगी। चाहे वे इतना अवश्य मानते हों कि वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकाकी जीवन लाभप्रद हो सकता है, किन्तु उनकी स्पष्ट धारणा है कि उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग सामाजिक कल्याण की दिशा में ही किया जाना चाहिए। बुद्ध और महावीर का जीवन स्वयं इस बात का प्रमाण है कि ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् उन्होंने संघ की स्थापना की और जीवन पर्यन्त लोक मंगल के लिए कार्य करते रहे। वस्तुत महावीर की निवृत्ति, उनके द्वारा किये जाने वाले सामाजिक कल्याण में साधक ही बनी है, बाधक नहीं। वैयक्तिक जीवन में नैतिक स्तर का विकास लोकजीवन या सामुदायिक जीवन की प्राथमिकता है। महावीर सामाजिक कल्याण और सामाजिक सेवा की आवश्यकता तो मानते थे, किन्तु वे व्यक्ति-सुधार से समाज-सुधार की दिशा में आगे बढ़ना चाहते थे। व्यक्ति समाज की प्रथम इकाई है, वह सुधरेगा तो ही समाज सुधरेगा। व्यक्ति के नैतिक विकास के परिणामस्वरूप जो सामाजिक जीवन फलित होगा, वह सुव्यवस्था और शान्ति से युक्त होगा, उसमें संघर्ष और तनाव का अभाव होगा। जब तक व्यक्तिगत जीवन में निवृत्ति नहीं आती, तब तक सामाजिक जीवन की प्रवृत्ति विशुद्ध नहीं हो सकती। अपने व्यक्तिगत जीवन का शोधन करने के लिए राग-द्वेष के मनोविकारों और असत्कर्मी प्रवृत्ति से निवृत्ति आवश्यक है। जब व्यक्तिगत जीवन में निवृत्ति आयगी, तो जीवन पवित्र और निर्मल होगा, अंत करण विशुद्ध होगा और तब जो भी सामाजिक प्रवृत्ति फलित होगी वह लोकहितार्थ और लोकमंगल के लिए होगी। जब तक व्यक्तिगत जीवन में संयम और निवृत्ति के तत्त्व न होंगे, तब तक सच्चा सामाजिक जीवन फलित ही नहीं होगा। जो व्यक्ति अपने स्वार्थों और अपनी वासनाओं का नियंत्रण नहीं कर सकता, वह कभी सामाजिक हो ही नहीं सकता। उपाध्याय अमर मुनि के शब्दों में जैन दर्शन की निवृत्ति का मर्म यही है कि व्यक्तिगत जीवन में निवृत्ति और सामाजिक जीवन में प्रवृत्ति। लोकसेवक या जनसेवक अपने व्यक्तिगत स्वार्थों से दूर रहे, यह जैन दर्शन की आचार संहिता का पहला पाठ है। अपने व्यक्तिगत जीवन में मर्यादाहीन भोग और आकांक्षाओं से निवृत्ति लेकर ही समाज कल्याण के लिए प्रवृत्त होना जैनदर्शन का पहला नीति धर्म है।[1] सामाजिक नैतिकता और व्यक्तिगत नैतिकता परस्पर विरोधी नहीं है। बिना व्यक्तिगत नैतिकता को उपलब्ध किये सामाजिक नैतिकता की दिशा में आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। चरित्रहीन व्यक्ति सामाजिक जीवन के लिए घातक ही होगा। अत हम कह सकते हैं कि जैन दर्शन में निवृत्ति का जो स्वर मुखर हुआ है, वह समाजविरोधी नहीं है, वह सच्चे अर्थों में सामाजिक जीवन का साधक है। चरित्रवान व्यक्ति और व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठे हुए व्यक्ति ही किसी आदर्श समाज का निर्माण कर सकते हैं। वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति के निमित्त जो संगठन या समुदाय बनते हैं, वे सामाजिक जीवन के सच्चे प्रतिनिधि नहीं है, क्या चोर, डाकू और शोषकों का समाज, समाज कहलाने का अधिकारी है ? समाज जीवन की प्राथमिक आवश्यकता है। व्यक्ति अपने और पराये के भाव से तथा अपने व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठे, चूंकि जैन दर्शन हमें इन्हीं तत्त्वों की शिक्षा देता है, अत. वह सच्चे अर्थों में सामाजिक है, असामाजिक नहीं है। जैन दर्शन का निवृत्तिपरक होना सामाजिक विमुखता का सूचक नहीं है। अशुभ से निवृत्ति ही शुभ में प्रवृत्ति का साधन बन सकती है। वैयक्तिक जीवन में निवृत्ति ही सामाजिक प्रवृत्ति का आधार है।

तीर्थंकर नमस्कार सूत्र (नमोत्थुण) में तीर्थंकर के लिए लोकनाथ, लोकहितकर, लोकप्रदीप, अभय के दाता आदि विशेषणों का उपयोग हुआ है वे भी जैन दृष्टि की लोक मंगलकारी भावना को स्पष्ट करते हैं। तीर्थंकरों का प्रवचन एवं धर्म-प्रवर्तन प्राणियों के अनुग्रह के लिए होता है, न कि पूजा या सत्कार के लिए।[2] तीर्थंकर की मंगलमय वाक् धारा का प्रस्फुटन तो लोक की पीड़ा की अनुभूति में ही रहा

---

१. अमरभारती अप्रैल, १९६६, पृ० २

२. सूत्रकृतांग टीका, १,६,४

हुआ है सभिवच लोए वेयन्ने हिं पवेइए' में यह सुस्पष्ट रूप से कहा गया है कि समस्त लोक की पीड़ा का अनुभव करके ही तीर्थंकर की जनकल्याणी वाणी प्रस्फुटित होती है।[1] यदि ऐसा माना जाय कि जैन साधना केवल आत्महित, आत्म-कल्याण की बात कहती है तो फिर तीर्थंकर के द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन या सघ सचालन का कोई अर्थ ही नही रह जाता क्योंकि कैवल्य की उपलब्धि के बाद उन्हें अपने कल्याण के लिए कुछ करना शेष ही नही रहता है। अत मानना पड़ेगा कि जैन साधना का आदर्श मात्र आत्मकल्याण ही नही, वरन् लोककल्याण भी है।

जैन दार्शनिको ने आत्महित की अपेक्षा लोकहित की श्रेष्ठता को सदैव ही महत्त्व दिया है। जैन विचारणा के अनुसार साधना की सर्वोच्च ऊचाई पर स्थित सभी जीवनमुक्त आध्यात्मिक पूर्णता की दृष्टि से, यद्यपि समान ही होते हैं, फिर भी जैन विचारको ने उनकी आत्म-हितकारिणी और लोकहितकारिणी दृष्टि के तारतम्य को लक्ष्य मे रखकर उनमे उच्चावच्च अवस्था को स्वीकार किया है। एक सामान्य केवली (जीवनमुक्त) और तीर्थंकर मे आध्यात्मिक पूर्णताए तो समान ही होती हैं, फिर भी तीर्थंकर को लोकहित की दृष्टि के कारण सामान्य केवली की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। जीवनमुक्तावस्था को प्राप्त कर लेनेवाले व्यक्तियो के, उनकी लोकोपकारिता के आधार पर तीन वर्ग होते हैं १. तीर्थंकर, २. गणधर और ३. सामान्य केवली।

साधारणरूप मे क्रमश. विश्वकल्याण, वर्ग-कल्याण और वैयक्तिक कल्याण की भावनाओ को लेकर तदनुकूल प्रवृत्ति करने के कारण ही साधको की ये विभिन्न कक्षाए निर्धारित की गई है, जिनमे विश्वकल्याण के लिए प्रवृत्ति करने के कारण ही तीर्थंकर को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है।[2] जिस प्रकार बौद्ध विचारणा मे बोधिसत्व और अर्हत के आदर्शो मे भिन्नता है, उसी प्रकार जैन साधना मे तीर्थंकर और सामान्य केवली के आदर्शो मे तारतम्य है।

इन सबके अतिरिक्त जैन साधना मे सघ (समाज) को सर्वोपरि माना गया है। सघहित समस्त वैयक्तिक साधनाओ से भी ऊपर है, विशेष परिस्थितियो मे तो सघ के कल्याण के लिए वैयक्तिक साधना का परित्याग करना भी आवश्यक माना गया है। जैन साहित्य मे आचार्य भद्रबाहु एव कालक की कथाए उसका उदाहरण हैं।

स्थानाग सूत्र मे जिन दस धर्मो का निर्देश दिया गया है, उनमे सघ धर्म, गणधर्म, राष्ट्रधर्म, नगर धर्म, ग्रामधर्म और कुलधर्म की उपस्थिति इस बात का सबल प्रमाण है कि जैन दृष्टि न केवल आत्महित या वैयक्तिक विकास तक सीमित है, वरन् उसमे लोकहित या लोक-कल्याण का अजस्र प्रवाह भी प्रवाहित हो रहा है।[3]

यद्यपि जैन दर्शन लोकहित, लोकमगल की बात करता है, लेकिन उसकी एक शर्त है कि परार्थ के लिए स्वार्थ का विसर्जन किया जा सकता है, लेकिन आत्मार्थ का नही। उसके अनुसार वैयक्तिक भौतिक उपलब्धियो को लोक कल्याण के लिए समर्पित किया जा सकता है और किया भी जाना चाहिए क्योंकि वे हमे जगत् मे ही मिली है, वे वस्तुत ससार की हैं, हमारी नही, सासारिक उपलब्धिया ससार के लिए हैं, अत उनका लोकहित के लिए विसर्जन किया जाना चाहिए। लेकिन उसे यह स्वीकार नही है कि आध्यात्मिक विकास या वैयक्तिक नैतिकता को लोकहित के नाम पर कुठित किया जावे। ऐसा लोकहित, जो व्यक्ति के चरित्र पतन अथवा आध्यात्मिक कुठन से फलित होता हो, उसे स्वीकार नही है, लोकहित और आत्महित के सदर्भ मे उसका स्वर्णिम सूत्र है आत्महित करो और यथाशक्य लोकहित भी करो, लेकिन जहां आत्महित और लोकहित मे द्वन्द्व हो और आत्महित के कुठन पर ही लोकहित फलित होता हो तो वहा आत्मकल्याण ही श्रेष्ठ है।

आत्महित स्वार्थ नहीं है – यहा हमे यह ध्यान रखना चाहिए कि जैन धर्म का यह आत्महित स्वार्थवाद नही है। आत्म-काम वस्तुत निष्काम होता है, क्योंकि उसकी कोई कामना नही है अत उसका स्वार्थ भी नही होता। आत्मार्थी कोई भौतिक उपलब्धि नही चाहता है। वह तो उनका विसर्जन करता है। स्वार्थी तो वह है जो यह चाहता है कि सभी लोग उसकी भौतिक उपलब्धियो के लिए कार्य करें। स्वार्थ और आत्मकल्याण मे मौलिक अन्तर यह है कि स्वार्थ की साधना मे राग और रागद्वेष की वृत्तिया काम करती हैं जबकि आत्मकल्याण का प्रारभ ही राग-द्वेष की वृत्तियो को क्षीण करने मे होता है। यथार्थ आत्महित मे राग-द्वेष का अभाव है। स्वार्थ और परार्थ मे संघर्ष की सम्भावना भी तभी तक है जबकि उनमे राग-द्वेष वृत्ति निहित हो। रागादि भाव या स्वहित की वृत्ति से किया जानेवाला परार्थ भी सच्चा लोकहित नही है, वह तो स्वार्थ ही है। जिस प्रकार शासन के द्वारा नियुक्त एव प्रेरित समाज-कल्याण अधिकारी वस्तुत लोकहित का कर्त्ता नही है, वह तो वेतन के लिए लोकहित करता है। उसी प्रकार राग से प्रेरित होकर लोकहित करने वाला भी सच्चे अर्थो मे लोकहित का कर्त्ता नही है, उसके लोकहित के प्रयत्न राग की अभिव्यक्ति, प्रतिष्ठा की रक्षा, यश अर्जन की भावना या भावी लाभ की प्राप्ति के हेतु ही होते हैं। ऐसा परार्थ वस्तुत स्वार्थ ही है। सच्चा आत्महित और सच्चा लोकहित, राग-द्वेष से शून्य अनासक्ति की भूमि पर प्रस्फुटित होता है लेकिन उस अवस्था मे न तो अपना रहता है न पराया क्योंकि जहा राग है वही 'मेरा' है और जहा मेरा है वही पराया है। राग की शून्यता

---

१. आचाराग, १/४/१
२. देखिये—योगबिन्दु, २८५-२८८
३. स्थानाग, १०/७६०

होने पर अपने और पराये का विभेद ही समाप्त हो जाता है। ऐसी राग शून्यता की भूमि पर स्थित होकर किया जानेवाला आत्महित भी लोकहित होता है और लोकहित आत्महित होता है। दोनों मे कोई सघर्ष नही है, कोई द्वैत नही है। उस दशा में तो सर्वत्र आत्म-दृष्टि होती है जिसमें न कोई अपना है, न कोई पराया है। स्वार्थ-परार्थ की जैसी समस्या यहां रहती ही नही।

जैन विचारणा के अनुसार स्वार्थ और परार्थ के मध्य सभी अवस्थाओं मे संघर्ष रहे, यह आवश्यक नही। व्यक्ति जैसे-जैसे भौतिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन की ओर ऊपर उठ जाता है, वैसे-वैसे स्वार्थ परार्थ का सघर्ष भी समाप्त हो जाता है। जैन विचारको ने परार्थ या लोकहित के तीन स्तर माने हैं।

१. द्रव्य लोकहित, २. भाव लोकहित और ३. पारमार्थिक लोकहित

१. **द्रव्य लोकहित**— यह लोकहित का भौतिक स्तर है। भौतिक उपादानो जैसे भोजन, वस्त्र, आवास आदि तथा शारीरिक सेवा के द्वारा लोकहित सेवा करना द्रव्य लोकहित है। यह दान और सेवा का क्षेत्र है। पुण्य के नव प्रकारो मे आहार दान, वस्त्रदान, औषधि-दान आदि का उल्लेख यह बताता हैं कि जैन दर्शन दान और सेवा के आदर्श को स्वीकार करता है। जैन समाज के द्वारा आज भी जन-सेवा और प्राणी-सेवा के जो अनेक कार्य किये जा रहे है, वे इसके प्रतीक है। फिर भी यह एक ऐसा स्तर है जहा हितो का सघर्ष होता है। एक का हित दूसरे के अहित का कारण बन जाता है। अत. द्रव्य लोकहित एकान्त रूप मे आचरणीय भी नही कहा जा सकता। यह सापेक्ष नैतिकता का क्षेत्र है। भौतिक स्तर पर स्वहित की पूर्णतया उपेक्षा भी नही की जा सकती। यहा तो स्वहित और परहित मे उचित समन्वय बनाना, यही अपेक्षित है।

२. **भाव लोकहित**— लोकहित का यह भौतिक स्तर ऊपर स्थिर है, जहा पर लोकहित के जो साधन हैं वे ज्ञानात्मक या चैतनिक होते हैं। इस स्तर पर परार्थ और स्वार्थ मे सघर्ष की सम्भावना अल्पतम होती है। मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ की भावनाएं इस स्तर को अभिव्यक्त करती हैं।

३. **पारमार्थिक लोकहित**— यह लोकहित का सर्वोच्च स्तर है, जहा स्वहित और परहित मे कोई सघर्ष नही रहता, कोई द्वैत नही रहता। यहा पर लोकहित का रूप होता है - यथार्थ जीवन दृष्टि के सम्बन्ध मे मार्गदर्शन।

विषमता समस्या और समता समाधान :

(जैनागम साहित्य मे उपलब्ध निर्देश न केवल अपने युग की सामाजिक समस्याओ का समाधान प्रस्तुत करते हैं अपितु वर्तमान युग की सामाजिक समस्याओ के समाधान मे वे पूर्णतया सक्षम हैं। वस्तुस्थिति यह है कि चाहे प्राचीन युग हो या वर्तमान युग, मानव समाज की समस्याए सभी युगो मे लगभग समान रही और उनका समाधान भी समान रहा है। वस्तुत विषमता ही समस्या है और समता ही समाधान है। मानव समाज की सभी समस्याए विषमता जनित हैं। विषमताओ का निराकरण समता के द्वारा ही सभव है। इसीलिए जैन आगम आचाराग धर्म की व्याख्या करते हुए कहता है कि **समियाये धम्मे आरिये हि पवेइए** (१/८/३)। अर्थात् आर्यजन समता को ही धर्म कहते हैं। समता ही धर्म है और विषमता अधर्म है। क्योकि वह सामाजिक सन्तुलन को भग करती है। विषमता चाहे वह सामाजिक जीवन मे हो या वैयक्तिक जीवन मे, वह व्यक्ति और समाज दोनो के लिए दु ख और पीडा का कारण बनती है।

समाज जीवन के बाधक तत्त्व राग-द्वेष—यद्यपि यहा यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि इस विषमता का मूल क्या है, जैनागम उत्तराध्ययन मे विषमता का मूल राग और द्वेष के तत्त्वो को माना गया है। राग और द्वेष की प्रवृत्तिया ही सामाजिक विषमता और सामाजिक सघर्षों का कारण बनती है। सामाजिक सम्बन्धो की विषमता के मूल मे व्यक्ति की राग और द्वेष की भावनायें ही काम करती हैं।

सामान्यतया राग द्वेष का सहगामी होता है। जब तक सम्बन्ध राग-द्वेष के आधार पर खडे होते है, तब तक इन सम्बन्धो में विषमता स्वाभाविक रूप मे उपस्थित रहती है। जब राग का तत्त्व द्वेष का सहगामी होकर काम करने लगता है तो पारस्परिक सम्बन्धो में संघर्ष और टकराहट प्रारम्भ हो जाती है। राग के कारण 'मेरा' या ममत्व का भाव उत्पन्न होता है। मेरे सम्बन्धी, मेरी जाति, मेरा धर्म, मेरा राष्ट्र ये विचार विकसित होते हैं। परिणामस्वरूप भाई-भतीजावाद, जातिवाद, साम्प्रदायिकता और राष्ट्रवाद का जन्म होता है। आज के हमारे सुमधुर सामाजिक सम्बन्धो मे ये ही तत्त्व सबसे अधिक बाधक है। ये मनुष्य को पारिवारिक, जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय क्षुद्र स्वार्थों से हमे ऊपर उठने नही देते हैं। यही आज की सामाजिक विषमता के मूल कारण हैं।

सामाजिक सघर्षों का मूल 'स्व' की सकुचित सीमा है। व्यक्ति जिसे अपना मानता है, उसके हित की कामना करता है और जिसे पराया मानता है उसके हित की उपेक्षा करता है। सामाजिक जीवन मे शोषण, क्रूर व्यवहार, घृणा आदि सभी उन्ही के प्रति किए जाते हैं, जिन्हें हम अपना नही मानते है। हमे अपनी रागात्मकता या ममत्व वृत्ति का पूर्णतया विसर्जन किये बिना अपेक्षित नैतिक एवं सामाजिक

---

१. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ४, पृ० ६६७

जीवन का विकास नही हो सकता। व्यक्ति का 'स्व' चाहे वह व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन या राष्ट्र की सीमा तक विस्तृत हो, हमें स्वार्थ भावना से ऊपर नही उठने देता। स्वार्थ वृत्ति चाहे वह परिवार के प्रति हो या राष्ट्र के प्रति, समान रूप से नैतिकता एवं सामाजिकता की विरोधी ही सिद्ध होती है। उसके होते हुए सच्चा नैतिक एव सामाजिक जीवन फलित नहीं हो सकता। मुनि नथमलजी लिखते हैं कि "परिवार के प्रति ममत्व का सघन रूप जैसे जाति या राष्ट्र के प्रति बरती जाने वाली अनैतिकता का नियमन नही करता वैसे ही जाति या राष्ट्र के प्रति ममत्व अन्तर्राष्ट्रीय अनैतिकता का नियामक नही होता। मुझे लगता है कि राष्ट्रीय अनैतिकता की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय अनैतिकता कही अधिक है। जिन राष्ट्रो मे व्यावहारिक सच्चाई है, प्रामाणिकता है, वे भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे सत्य-निष्ठ और प्रामाणिक नही है।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति का जीवन जब तक राग या ममत्व से ऊपर नही उठता, तब तक सामाजिक सद्भाव और सामाजिक सघर्षों का निराकरण सम्भव ही नही होता। रागयुक्त नैतिकता चाहे उसका आधार राष्ट्र ही क्यो न हों, सच्चे अर्थों में नैतिकता नही हो सकती। सच्चा सामाजिक जीवन वीतराग अवस्था मे ही सम्भव हो सकता है और जैन दर्शन इसी वीतराग जीवन दृष्टि को ही अपनी साधना का आधार बनाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह सामाजिक जीवन के लिए एक वास्तविक आधार प्रस्तुत करता है। यही एक ऐसा आधार है जिस पर सामाजिक नैतिकता को खडा किया जा सकता है और सामाजिक जीवन वैषम्यो को समाप्त किया जा सकता है। सरागता कभी भी सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण नही कर सकती है। रागात्मकता के आधार पर खडा सामाजिक जीवन अस्थायी ही होगा। इस प्रकार जैन दर्शन ने वीतरागता को जीवन का आदर्श स्वीकार करके वस्तुतः एक सुदृढ़ सामाजिक जीवन के लिए एक स्थायी आधार प्रस्तुत किया है।

सभवत यहा यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि राग के अभाव मे सामाजिक सम्बन्धो को जोडने वाला तत्त्व क्या होगा? राग के अभाव मे तो सारे सामाजिक सम्बन्ध चरमरा कर टूट जाएंगे। रागात्मकता ही तो हमे एक दूसरे से जोडती है अत: राग सामाजिक जीवन का एक आवश्यक तत्त्व है। किन्तु मेरी अपनी विनम्र धारणा में जो तत्त्व व्यक्ति को व्यक्ति से या समाज से जोड़ता है वह राग नहीं है। तत्त्वार्थ सूत्र मे इस बात की चर्चा उपस्थित की गई है कि विभिन्न द्रव्य एक दूसरे का सहयोग किस प्रकार करते हैं। उनमे जहा पुद्गल द्रव्यो को जीव द्रव्य का उपकारक कहा गया है वही जीव को मात्र दूसरे जीवो का उपकारक कहा गया है। **परस्परोपग्रहो जीवानाम्** तत्त्वार्थ सूत्र ५/२१ चेतनसत्ता यदि किसी का उपकार या हित कर सकती है तो वह चेतन सत्ता का ही कर सकती है। इस प्रकार पारस्परिक हित साधन यह प्राणीय स्वभाव है और यह पारस्परिक हितसाधन की स्वाभाविक वृत्ति ही मनुष्य की सामाजिकता का आधार है। इस स्वाभाविक वृत्ति के विकास के दो आधार है एक रागात्मकता और दूसरा विवेक। रागात्मकता हमे कही जोडती है तो कही से तोडती भी है। इस प्रकार रागात्मकता के आधार पर जब हम किसी को अपना मानते हैं तो उसके विरोधी के प्रति 'पर' का भाव भी आ जाता है, राग द्वेष के साथ ही जीता है वे ऐसे जुडवा शिशु है एक साथ उत्पन्न होते है, एक साथ जीते हैं और एक साथ मरते भी हैं। जहा राग जोडता है तो द्वेष तोड़ता है। राग के आधार पर जो भी समाज खडा होगा तो अनिवार्य रूप से वर्गभेद और वर्णभेद रहेगा ही। सच्ची सामाजिक चेतना का आधार राग नही विवेक होगा। विवेक के आधार पर दायित्वबोध एव कर्तव्यबोध की चेतना जागृत होगी। राग की भाषा अधिकार की भाषा है जबकि विवेक की भाषा कर्त्तव्य की भाषा है। जहा केवल अधिकारो की बात होती है वहा केवल विकृत सामाजिकता होती है। स्वस्थ सामाजिकता अधिकार का नही, कर्त्तव्य का बोध कराती है और ऐसी सामाजिकता का आधार "विवेक" होता है, कर्त्तव्य बोध होता है। जैन धर्म ऐसी ही सामाजिक चेतना को निर्मित करना चाहता है। जब विवेक हमारी सामाजिक चेतना का आधार बनता है तो मेरे और पराये की चेतना समाप्त हो जाती है। सभी आत्मवत होते है। जैन धर्म ने अहिंसा को अपने धर्म का आधार माना है उसका आधार यही आत्मवत् दृष्टि है।

दूसरे इस सामाजिक सम्बन्ध मे व्यक्ति का अहकार भी बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। शासन की इच्छा या आधिपत्य की भावना इसके प्रमुख तत्त्व है, इनके कारण भी सामाजिक जीवन मे विषमता उत्पन्न होती है। शासक और शासित अथवा जातिभेद एव रंगभेद आदि की श्रेष्ठता के मूल मे यही कारण है। वर्तमान युग मे बडे राष्ट्रो मे जो अपने प्रभावक क्षेत्र बनाने की प्रवृत्ति है, उसके मूल में भी अपने राष्ट्रीय अह की पुष्टि का प्रयत्न है। स्वतन्त्रता के अपहार का प्रश्न इसी स्थिति मे होता है। जब व्यक्ति में आधिपत्य की वृत्ति या शासन की भावना होती है तो वह दूसरे के अधिकारो का हनन करता है। जैन दर्शन अहंकार (मान) प्रत्यय के विगलन के द्वारा सामाजिक जीवन मे परतन्त्रता को समाप्त करता है। दूसरी ओर जैन दर्शन का अहिंसा सिद्धान्त भी सभी प्राणियो के समान अधिकारो को स्वीकार करता है। अधिकारो का हनन एक प्रकार की हिंसा है। अत अहिंसा का सिद्धान्त स्वतन्त्रता के साथ जुडा हुआ है। जैन एव बौद्ध दर्शन जहा एक ओर अहिंसा के सिद्धात के आधार पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थन करते हैं, वही दूसरी ओर प्राणीय समता के आधार पर वर्णभेद, जातिभेद एव ऊच-नीच की भावना को समाप्त करते हैं।

---

१. नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ० ३-४

सामाजिक जीवन में विषमता से उत्पन्न होने के चार मूलभूत कारण होते हैं—(१) संग्रह (लोभ) (२) आवेश (क्रोध) (३) गर्व (बड़ा मानना) और (४) माया (छिपाना)। जिन्हें जैन धर्म मे चार कषाय कहा जाता है, यही चारो अलग-अलग रूप में सामाजिक जीवन में विषमता, संघर्ष एवं अशान्ति के कारण बनते हैं। (१) संग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण, अप्रामाणिकता, स्वार्थपूर्ण व्यवहार, क्रूर-व्यवहार, विश्वासघात आदि विकसित होते हैं। (२) आवेश की मनोवृत्ति के कारण संघर्ष, युद्ध आक्रमण एवं हत्याएं आदि होते हैं। (३) गर्व की मनोवृत्ति के कारण घृणा, और क्रूर व्यवहार होता है। इसी प्रकार माया की मनोवृत्ति के कारण अविश्वास उत्पन्न होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन में जिन्हें चार कषाय कहा जाता है, उन्ही के कारण सारा सामाजिक जीवन दूषित होता है। जैन दर्शन इन्हीं कषायो के निरोध को अपनी नैतिक साधना का आधार बनाता है। अत: यह कहना उचित होगा कि जैन दर्शन अपने साधना मार्ग के रूप में सामाजिक विषमताओ को समाप्त कर, सामाजिक समत्व की स्थापना का प्रयत्न करता है।[1] यदि हम जैन धर्म में स्वीकृत पाच महाव्रतों को देखें तो स्पष्ट रूपो से उनका पूरा सन्दर्भ सामाजिक जीवन है। हिंसा, मृषावचन, चोरी, व्यभिचार एव संग्रहवृत्ति सामाजिक जीवन की बुराइया हैं। इनसे बचने के लिए पाच महाव्रतो के रूप मे जिन नैतिक सद्गुणो की स्थापना की गई वे पूर्णत: सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं। प्रश्नव्याकरण सूत्र स्पष्ट रूप से कहता है कि पाचों महाव्रत सर्व प्रकार से लोकहित के लिए ही है (२।६।२२)।

जैन धर्म में समाज के आर्थिक वैषम्य के निराकरण का सूत्र—आर्थिक वैषम्य व्यक्ति और भौतिक जगत् के सम्बन्धों से उत्पन्न हुई विषमता है। चेतना का जब भौतिक जगत् से सम्बन्ध होता है तो उसे अनेक वस्तुए अपने प्राणमय जीवन के लिए आवश्यक प्रतीत होती हैं। यही आवश्यकता जब आसक्ति मे बदल जाती है तो एक ओर संग्रह होता जाता है, दूसरी ओर संग्रह की लालसा बढती जाती है, इसी से सामाजिक जीवन मे आर्थिक विषमता के बीज का वपन होता है। जैसे जैसे एक ओर संग्रह बढता है, दूसरी ओर गरीबी बढती है और परिणाम स्वरूप आर्थिक वैषम्य बढता जाता है। आर्थिक वैषम्य के मूल मे संग्रह भावना ही अधिक है। उपाध्याय अमरमुनि जी लिखते हैं कि "गरीबी स्वय मे कोई समस्या नही, किन्तु पहाडो की असीम ऊचाइयो ने इस धरती पर जगह-जगह गड्ढे पैदा कर दिये है। पहाड टूटेंगे तो गड्ढे अपने आप भर जायेंगे सम्पत्ति का विसर्जन होगा, तो गरीबी अपने आप दूर हट जाएगी।"[2] वस्तुत: आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति मे परिग्रह के विसर्जन की भावना उद्‌भूत हो। परिग्रह के विसर्जन से ही आर्थिक वैषम्य समाप्त किया जा सकता है। जब तक संग्रह की वृत्ति समाप्त नही होती, आर्थिक समता नही आ सकती।

आर्थिक वैषम्य का निराकरण असंग्रह की वृत्ति से ही सम्भव है और जैन दर्शन अपने अपरिग्रह के सिद्धान्त के द्वारा इस आर्थिक वैषम्य के निराकरण का प्रयास करता है। जैन धर्म मे गृहस्थ जीवन के लिए परिग्रह एव उपभोग-परिभोग के सीमाकन का विधान किया गया है, जो आर्थिक वैषम्य के निराकरण का एक प्रमुख साधन हो सकता है। आज हम जिस समाजवाद एव साम्यवाद की चर्चा करते है, उसका दिशा-सकेत महावीर ने अपने व्रत-विधान में किया था। जैन दर्शन सम्पदा के उत्पादन पर नही अपितु उसके अपरिमित संग्रह और उपभोग पर नियन्त्रण लगाता है।

आर्थिक वैषम्य का निराकरण अनाशक्ति और अपरिग्रह की साधना के द्वारा ही सम्भव है। यदि हम सामाजिक जीवन मे आर्थिक समानता की बात करना चाहते हैं तो हमें व्यक्तिगत उपभोग एव सम्पत्ति की सीमा का निर्धारण करना ही होगा। अपरिग्रह का विसर्जन ही आर्थिक जीवन मे समत्व का सृजन कर सकता है। जैन दर्शन का परिग्रह सिद्धान्त इस सम्बन्ध मे पर्याप्त सिद्ध होता है। वर्तमान युग मे मार्क्स ने आर्थिक वैषम्य को दूर करने का जो सिद्धान्त साम्यवादी समाज के रचना के रूप मे प्रस्तुत किया, वह यद्यपि आर्थिक विषमताओ के निराकरण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है, लेकिन उसकी मूलभूत कमी यही है कि वह मानव समाज पर ऊपर से थोपा जाता है, उसके अन्तर से सहज उभारा नही जाता है। जिस प्रकार बाह्य दबाओ से वास्तविक नैतिकता प्रकट नही होती, उसी प्रकार केवल कानून के बल पर लाया गया आर्थिक साम्य सच्चे आर्थिक समत्व का प्रकटन नही करता है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य मे स्वत: ही त्याग की वृत्ति का उदय हो और वह स्वेच्छा से ही सम्पत्ति के विसर्जनकी दिशा मे आगे आवे। भारतीय परम्परा और विशेषकर जैन परम्परा न केवल सम्पत्ति के विसर्जन की बात करती है वरन् उसके समवितरण पर भी जोर देती है। हमारे प्राचीन साहित्य मे दान के स्थान पर सविभाग शब्द का ही अधिक प्रयोग हुआ है। जो यह बताता है कि जो कुछ हमारे पास है, उसका समविभाजन करना है। महावीर का उद्‌घोष कि "असविभागी णाहु तस्स मोक्खो" स्पष्ट बताता है कि जैन दर्शन आर्थिक विषमता के निराकरण के लिए समवितरण की धारणा को प्रतिपादित करता है। जैन दर्शन के इन सिद्धान्तो को यदि उन्ही युगीन सन्दर्भों मे नवीन दृष्टि से उपस्थित किया जाय तो समाज की आर्थिक समस्याओ का निराकरण खोजा जा सकता है।

वर्तमान युग मे भ्रष्टाचार के रूप मे समाज के आर्थिक क्षेत्र मे जो बुराई पनप रही है, उसके मूल मे भी या तो व्यक्ति की

---

१. नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ० २

२. जैन प्रकाश, ८ अप्रैल १९६९, पृ० १

संग्रहेच्छा है या भोगेच्छा। भ्रष्टाचार केवल अभावजनित बीमारी नही है, वरन् वह एक मानसिक बीमारी है जिसके मूल मे संग्रहेच्छा एवं भोगेच्छा के कीटाणु रहे हुए हैं। वस्तुत वह आवश्यकताओ के कारण नही वरन् तृष्णा के कारण उत्पन्न होती है। आवश्यकताओ का निराकरण पदार्थों को उपलब्ध करके किया जा सकता है लेकिन इस तृष्णा का निराकरण पदार्थों के द्वारा संभव नही है। तृष्णाजनित विकृतिया केवल अनासक्ति द्वारा ही दूर की जा सकती हैं। हमारे वर्त्तमान युग की प्रमुख कठिनाई यह है कि हमे सामान्य जीवन जीने के साधन उपलब्ध नही अथवा उनका अभाव है, वरन् कठिनाई यह कि आज का मानव तृष्णा से इतना अधिक ग्रसित है कि वह एक अच्छा सुखद एव शान्तिपूर्ण जीवन नही जी सकता। किसी सीमा तक हम यह भी मान लें कि अभाव के कारण आर्थिक-भ्रष्टाचार का जन्म होता है तो जहा तक कृत्रिम अभाव का प्रश्न है वह कुछ व्यक्तियों के द्वारा किये गये अवैध सग्रह का परिणाम है। किन्तु जैन नीति दर्शन ने गृहस्थ साधक के अनर्थदण्ड विरमण व्रत मे उपभोग के पदार्थों के अनावश्यक सग्रह को निषिद्ध ठहराया है। दूसरे यदि अभाव वास्तविक भी हो तो उपभोग का नियन्त्रण करके दूर किया जा सकता है। जिसके लिए उपभोग-परिभोग मर्यादा नामक व्रत का विधान है। इस प्रकार जैन दर्शन परिग्रह और उपभोग के परिसीमन के द्वारा समाज मे व्याप्त आर्थिक विषमता की समाप्ति का सूत्र प्रस्तुत करता है।

(जैन धर्म हमारे सामाजिक जीवन से सम्बन्धित है। जैन आचार दर्शन उपर्युक्त तीनो विषमताओ के निराकरण के लिए अपने आचार दर्शन मे तीन सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। सामाजिक वैषम्य के निराकरण के लिये उसने अहिसा एव सामाजिक समता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। आर्थिक वैषम्य के निराकरण के लिए वह परिग्रह एव उपभोग के परिसीमन का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार बौद्धिक एव वैचारिक सघर्षों के निराकरण के लिए अनाग्रह और अनेकान्त सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। ये सिद्धान्त क्रमश सामाजिक समता आर्थिक समता और वैचारिक समता की स्थापना करते है।

इस प्रकार हम देखते है कि दर्शन सामाजिक जीवन मे विषमताओ के निराकरण और समत्व के सृजन के लिए एक ऐसी आचार विधि प्रस्तुत करता है जिसके सम्यक् परिपालन मे सामाजिक जीवन मे सच्ची शान्ति और वास्तविक सुख का लाभ प्राप्त किया जा सकता है। उसने सामाजिक जीवन मे सम्बन्धो के शुद्धिकरण पर अधिक बल दिया है। यही कारण है कि उसके द्वारा प्रस्तुत सामाजिक आदेश अपनी प्रकृति मे निषेधात्मक अधिक प्रतीत होते हैं यद्यपि विधायक सामाजिक आदेशो का उसमे पूर्ण अभाव नही है।) इसके कुछ प्रमुख सामाजिक आदेश निम्न हैं—)

(निष्ठा सूत्र

१ सभी आत्माये स्वरूपत समान है, अत. सामाजिक जीवन मे ऊच-नीच के वर्ग भेद या वर्ण भेद खडे मत करो। (उत्तराध्ययन १२।३७)

२. सभी आत्मायें समान रूप मे सुखाभिलाषि हैं, अत दूसरे के हितो का हनन, शोषण या अपहरण करने का अधिकार किसी को नही है। (आचाराग १।२।३) सभी के साथ वैसा व्यवहार करो जैसा तुम उनसे स्वय के प्रति चाहते हो (समणसुत्त २४)।

३. ससार मे प्राणियों के साथ मैत्री भाव रखो, किसी से भी घृणा एव विद्वेष मत रखो (समणसुत्त ८६)

४ गुणीजनो के प्रति आदर भाव और दुष्टजनों के प्रति उपेक्षाभाव रखो (सामायिक पाठ १)

५ ससार मे जो दु खी एव पीडित जन है, उनके प्रति करुणा और वात्सल्य भाव रखो और अपनी स्थिति के अनुरूप उन्हे सेवा सहयोग प्रदान करो (वही १)

व्यवहार सूत्र :

उपासक दशागसूत्र एव रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे वर्णित श्रावक के १२ व्रतो एव उनके अतिचारो से निम्न सामाजिक आचार-नियम फलित है---

१ किसी निर्दोष प्राणी को बन्दी मत बनाओ अर्थात् सामान्यजनो की स्वतन्त्रता मे बाधक मत बनो।

२ किसी का वध या अगभेद मत करो, किसी से भी मर्यादा से अधिक काम मत लो।

३. किसी की आजीविका मे बाधक मत बनो।

४. पारस्परिक विश्वास को भग मत करो। न तो किसी की अमानत हड़पो और न किसी के रहस्यो को प्रकट करो।

५. सामाजिक जीवन मे गलत सलाह मत दो, अफवाह मत फैलाओ और दूसरो के चरित्र-हनन का प्रयास मत करो।

६. अपने स्वार्थ की सिद्धि के हेतु असत्य घोषणा मत करो।

७. न तो स्वय चोरी करो, न चोर को सहयोग दो, चोरी का माल भी मत खरीदो।

८. व्यवसाय के क्षेत्र में नाप तौल मे अप्रामाणिकता मत रखो और वस्तुओ मे मिलावट मत करो।

९. राजकीय नियमो का उल्लघन और राज्य के करो का अपवचन मत करो।

१०. अपने यौन सम्बन्धो में अनैतिक आचरण मत करो। वैश्या-संसर्ग, वैश्यावृत्ति एव वैश्यावृत्ति के द्वारा धन अर्जन मत करो।

११. अपनी सम्पत्ति का परिसीमन करो और उसे लोकहितार्थ व्यय करो।

१२. अपने व्यवसाय के क्षेत्र को सीमित करो और वर्जित व्यवसाय मत करो।

१३. अपनी उपभोग सामग्री की मर्यादा करो और उसका अति संग्रह मत करो।

१४. वे सभी कार्य मत करो, जिनसे तुम्हारा कोई हित नही होता है किन्तु दूसरो का अहित सम्भव हो अर्थात् अनावश्यक गपशप, परनिन्दा, काम-कुचेष्टा, शस्त्र-सग्रह आदि मत करो।

१५ यथा सम्भव अतिथियों की, सन्तजनो की, पीडित एव असहाय व्यक्तियो की सेवा करो। अन्न, वस्त्र, आवास, औषधि आदि के द्वारा उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति करो।

कषाय चतुष्टय के निषेध से निम्न आचार नियम फलित होते है---

१६. क्रोध मत करो, सबसे प्रेम-पूर्ण व्यवहार करो।

१७ अहकार मत करो अपितु विनीत बनो, दूसरो का आदर करो।

१८ कपटपूर्ण व्यवहार मत करो वरन् व्यवहार मे निश्छल एव प्रामाणिक रहो।

१९. अविचारपूर्ण कार्य मत करो।

२०. लोभ या आसक्ति मत रखो।

उपर्युक्त और अन्य कितने ही आचार नियम हैं जो जैन नीति की सामाजिक सार्थकता को स्पष्ट करते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम आधुनिक सन्दर्भ मे उनकी व्याख्या एव समीक्षा करें तथा उन्हे युगानुकूल बनाकर प्रस्तुत करे।

आचार्य का शिष्य को उपदेश

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि । तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि । यान्यस्माकं सुचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि ॥

देवकार्य और पितृकार्यों से प्रमाद नही करना चाहिये। तू मातृदेव (माता ही जिसका देव है ऐसा) हो, पितृदेव हो, आचार्यदेव हो और अतिथिदेव हो। जो अनिन्द्य कर्म हैं उन्ही का सेवन करना चाहिये---दूसरो का नही। हमारे (हम गुरुजनो के) जो शुभ आचरण हैं तुझे उन्ही की उपासना करनी चाहिये॥

—तैत्तिरीयोपनिषद्, १/११/२

जैन दर्शन : आधुनिक सन्दर्भ

डॉ० हरेन्द्र प्रसाद वर्मा

आधुनिक युग निर्विवाद रूप से विज्ञान का युग है। अब धर्म और दर्शन का स्थान विज्ञान ने ले लिया है और वही ज्ञान और व्यवहार के क्षेत्र में अग्रगण्य और दिग्दर्शक बन गया है। वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति ने मानव-सभ्यता एवं संस्कृति को नयी दिशा दी है—उसे एक नया विश्व-दर्शन (Weltanschuung) दिया है। आधुनिक युग में वही दर्शन और धर्म उपयोगी हो सकता है जो विज्ञान सम्मत हो—विज्ञान की मान्यताओं के अनुकूल और विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरने में सक्षम हो। जैन-दर्शन या कोई भी धर्म-दर्शन तभी प्रभावशाली हो सकता है जब कि उसकी अभिवृत्ति वैज्ञानिक हो और उसे आधुनिक विज्ञान का समर्थन प्राप्त हो। अतएव आधुनिक सन्दर्भ में जैन-दर्शन की उपयोगिता पर विचार करते समय दो प्रश्न स्वभावत हमारे समक्ष उठते हैं—(१) क्या जैन-दर्शन आधुनिक विज्ञान की मान्यताओं के अनुकूल है या उसे विज्ञान का समर्थन प्राप्त है? (२) आधुनिक विज्ञान की जो बुराइयां हैं उनसे क्या यह धर्म-दर्शन मनुष्य को त्राण दिला सकता है? उसे चिन्ता और दुःख से मुक्त कर सकता है?

जैन-दर्शन की यह विशेषता मानी जा सकती है कि यह दर्शन अत्यन्त विशाल, सर्वग्राही एवं उदार (Catholic) दर्शन है, जो विभिन्न मान्यताओं के बीच समन्वय करने एवं सबों को उचित स्थान देने को तत्पर है तथा इसका दृष्टिकोण बहुत अंशों में वैज्ञानिक प्रवृत्ति (Spirit) से मेल खाता है। साथ ही साथ, यह बुराइयों को दूर कर विनाश के कगार पर खड़ी मानवता को सुख, शांति एवं मुक्ति का सन्देश भी देता है। यह धर्म-दर्शन इतना पूर्ण और समृद्ध है कि एक ओर विज्ञान के अनुकूल है और दूसरी ओर विज्ञान के अशुभ प्रतिफलों से मुक्त भी है। इसमें विज्ञान की सभी खूबियां वर्तमान हैं साथ ही यह उनकी खामियों से भी मुक्त है, बल्कि यह उसकी पूरक प्रक्रिया भी हो सकता है और विज्ञान को मानवतावादी और कल्याणकारी दृष्टिकोण भी दे सकता है। जैन-दर्शन की विशेषताएं निम्नलिखित दो मन्तव्यों में स्पष्ट है—

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थान नेत्रमिव गोपी ॥[1]

(जिस प्रकार ग्वालिन पहले अपने एक हाथ से मथनी की रस्सी के एक छोर को अपनी ओर खींचती है, फिर दूसरे हाथ की रस्सी के छोर को ढीला छोड़ देती है किन्तु उसे हाथ से सर्वथा छोड़ नहीं देती; फिर शिथिल छोड़े गये छोर को पुनः अपनी ओर खींचती है और इसी प्रकार की क्रिया-प्रतिक्रिया में मथकर मक्खन निकाल लेती है, उसी प्रकार जैनी विचार-मथन में विभिन्न दृष्टिकोणों को यथा प्रसंग कभी गौण कभी मुख्य स्थान देता हुआ समन्वय रूप नवनीत एवं यथार्थ सत्य उपलब्ध कर लेता है—यह जैनियों की अनेकान्त-वादी दृष्टि है।)

स्याद्वादो वर्त्तते यस्मिन् पक्षपातो न विद्यते ।
नास्त्यन्यपीडनं किंचिद् जैन धर्मः स उच्यते ॥[2]

(जिसमें स्याद् का सिद्धान्त है और किसी प्रकार का पक्षपात नहीं है, किसी को पीड़ा न हो—ऐसा सिद्धान्त जिसमें है, उसे जैन

१. श्री मधुकर मुनि द्वारा 'अनेकान्त दर्शन', मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर, राजस्थान, १९७४, पृ० १२ पर उद्धृत।
२. श्री मधुकर मुनि, जैन धर्म : एक परिचय, १९७४, पृ० ३२ पर उद्धृत।

धर्म कहते हैं।) अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, अहिंसा और अपरिग्रह ये जैन-दर्शन के चार आधार-स्तंभ हैं। विचार में अनेकान्त, वाणी में स्यात्, आचरण मे अहिंसा और जीवन में अपरिग्रह ये जैन-दर्शन के आध्यात्मिक चौखटे के चार कोण हैं।

प्रस्तुत सन्दर्भ में हम प्रथमत यह देखने का प्रयास करेंगे कि—(१) आधुनिक वैज्ञानिक युग की मुख्य प्रवृत्तियां क्या हैं और जैन-दर्शन कहां तक अनुकूल है? फिर यह भी देखेंगे कि—(२) आधुनिक युग की शोक-सन्तप्त एवं विनाश पर खड़ी मानवता के लिए यह धर्म दर्शन किस प्रकार उपयोगी हो सकता है?

आधुनिक विज्ञान और जैन-दर्शन :

आधुनिक विज्ञान की प्रवृत्तियां निम्नलिखित हैं--

(१) **अनुभववादी और प्रयोगवादी अभिवृत्ति** (Empericism and Experimentalism)—

आधुनिक युग एव विज्ञान की प्रवृत्ति अनुभववादी है। विज्ञान उन्ही चीजो को सत्य और प्रामाणिक मानने को तैयार है जो निरीक्षण और प्रयोग की कसौटी पर खरी उतरती हैं। जो निरीक्षण और प्रयोग के दायरे मे न आता हो और विवेक सम्मत न हो उसे विज्ञान मानने को राजी नही है। आधुनिक युग मे विश्वास (Dogma) और आप्तोपदेश (Authority) का कोई स्थान और महत्त्व नही है। विज्ञान ने मनुष्यो को इनके विरुद्ध विद्रोह करना सिखाया है क्योकि मान लेने वाला कभी जान नही सकता है। जानने की प्रक्रिया सन्देह और जिज्ञासा की प्रक्रिया है। जिसमे विश्वास और अविश्वास दोनों का निवारण आवश्यक है।[१] विज्ञान को वही स्वीकार्य है जो प्रयोग और जांच के योग्य हो। प्रामाणीकरण की क्षमता अर्थवत्ता की पहली शर्त है।[२] वैज्ञानिक जागरण के प्रारम्भिक काल मे ही रेने डेकार्ट (Rene Descartes) ने यह घोषणा की थी कि हमे किसी वस्तु को विश्वास के आधार पर आख मूद कर नही मान लेना चाहिए, बल्कि उसके सम्बन्ध मे सन्देह और जिज्ञासा करनी चाहिए और जब तक उसके सम्बन्ध मे स्पष्ट (Clear) और परिस्पष्ट (Distinct) ज्ञान न हो जाय उसे स्वीकार नही करना चाहिए।[३] आधुनिक युग मे प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक विटगेन्सटाइन (Wittgenstein) ने यह घोषणा की कि वैज्ञानिक भाषा को छोड कर अन्य किसी रूपमे सार्थक एव बोध गम्य रूप से कुछ नही कहा जा सकता है।[४] जो भी विज्ञान सम्मत नही है, वह निरर्थक है।

जैन-दर्शन मे भी विज्ञान की भाति खुले और निष्पक्ष चित्त से सत्यानुसधान पर जोर है। इसमे भी अधविश्वास के लिए कोई गुजाइश नही है। जैन-दार्शनिक मणिभद्र का स्पष्ट कथन है—'न मेरा महावीर के प्रति कोई पक्षपात है और न कापिल आदि अन्य दार्शनिकों के प्रति द्वेष ही है। मुझे युक्तिसगत वचन ही ग्राह्य हैं चाहे वे किसी के हों।'

न मे जिने पक्षपात न द्वेष कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य ग्राह्यं वचनं मम्॥[५]

जैन-दर्शन विश्वास और अविश्वास सभी एकान्तिक दृष्टियों का विरोध करता है और साथ ही यह मानता है कि सत्य चाहे किसी स्रोत से आवे हमें उसे ग्रहण करना चाहिये।

इसमें आप्तोपदेश को आख मूद कर मानने पर बल नही दिया जाता है। भगवान् महावीर ने स्वय कहा है--**णो लोगस्स सेसणं**

---

१. विटगेन्सटाइन, 'यदि कोई मुझसे यह प्रश्न करे "क्या विटगेन्सटाइन तुम "अन्तिम न्याय के दिन" मे विश्वास करते हो?" या "क्या तुम 'अन्तिम न्याय के दिन" में अविश्वास करते हो?" मैं कहूगा— "किसी मे नही।"—लेक्चर्स एण्ड कन्वर्सेसन ऑन साइकालाजी, एस्थेटिक्स एण्ड रिलीजस बिलीफ, बेसिल ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड, १९६७

२. A J. Ayer, "We say that a sentence is factually significant to any given person, if and only if, he knows how to verify the proposition which it purports to express."
—Language, Truth & Logic, Victor Gollancz, 2nd. Ed. 1960, पृ० ३५

3. Rene Descartes, Discourse on Method, in Philosophical Works of Descartes (tr) E S Haldan 1931, देखिए Rule IX of the Regular

४ देखिए विटगेन्सटाइन, ट्रैक्टेटस लाजिको-फिलोसॉफिकस, ६-५३ रॉटलेज एण्ड केगेन पॉल, लन्दन, १९२२, रसेल ने भी कहा है-
"Whatever can be known, can be know by means of Science"—History of Western Philosophy, George Allen & Unwin Ltd, Londan 1947, पृ० ७८९

५. देखिए, षड्दर्शनसमुच्चय, ४४ पर टीका, चौखम्बा सस्करण, पृ० ३९

चरे।[1] किसी का अनुकरण या अनुसरण न करो। सत्य को स्वयं जानो, क्योंकि उधार लिया गया सत्य मुक्त नहीं करता, उल्टे वह परिग्रह बन जाता है। इसी कारण महावीर ने शास्त्रीयता का विरोध किया। उन्होंने कहा है—**वेया अहीया न भवन्ति ताण।**[2] (वेद को रट लेना त्राण नहीं दे सकता है।) वेद—जिसका दृष्टिकोण निगमनात्मक (Deductive) है, क्योंकि उसमे उद्घाटित (Revealed) सत्यों को जीवन मे लागू करने पर जोर है - उसके विरोध मे भगवान् महावीर और बुद्ध ने आगमनात्मक विधि पर बल दिया और इस बात का समर्थन किया कि मनुष्य को स्वय अपने प्रयत्नो से सत्य को जानना चाहिए, क्योंकि सत्य की खोज, जैसा कि प्लोटिनस ने कहा है—'अकेले की अकेले की ओर उड़ान' (Flight of the alone to the alone) है। सत्य को स्वानुभव से ही जाना जा सकता है, जैसे स्वय भोजन करने से ही भूख मिटती है। इसलिए भगवान् बुद्ध ने कहा है—**आत्मदीपो भव।** और भगवान् महावीर ने भी कहा है—'अपने द्वारा ही अपना सम्प्रेक्षण-निरीक्षण करें।'

सपिक्खए अप्पगमप्पयणं।[3]

भगवान् बुद्ध ने कहा था मेरी बातो की परीक्षा करके ग्रहण करो, मेरे महत्त्व के कारण नही।

परीक्ष्य भिक्षवो ! ग्राह्यं मद्वाचो न तु गौरवात्।

भगवान् महावीर ने तो प्रयोग और परीक्षण पर पूरा जोर दिया है। उन्होंने कहा—'तत्त्वों का निश्चय करने वाली बुद्धि से धर्म को परखो!' बिना परखे किसी चीज़ को नही मानना चाहिए।

पण्ण समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्त-विणिच्छियं।[4]

इस प्रकार प्रयोग और प्रामाणीकरण की जो वैज्ञानिक दृष्टि है, जैन-दर्शन उसके सर्वथा अनुकूल है। यह बात दूसरी है कि इन्द्रियानुभव तक ही सीमित है, जबकि जैन-दर्शन के अनुसार अनुभव 'एकेन्द्रिय चेतना' से लेकर 'सर्वज्ञता' तक हो सकता है। इसका एक लम्बा विस्तार है जिसमें १° से लेकर १००° तक चेतना की सम्भावना है। इसी कारण जैन-दर्शन इन्द्रियानुभव के साथ ही साथ अन्य प्रकार के अनुभवो को भी महत्त्व देता है और मति, श्रुति, अवधि ज्ञान, मनः पर्याय, तथा केवल-ज्ञान सबो को ज्ञान का साधन मानता है।

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।[5]

(२) **भौतिकवादी विचारधारा** (Materialism)—आधुनिक युग भौतिकवादी है। विज्ञान की प्रवृत्ति ही भौतिकवादी है क्योंकि उसकी मान्यता है कि भौतिक पदार्थ (matter) ही मूल-सत्ता है और उसी से जगत् की सभी सत्ताओं का विकास हुआ है। सम्पूर्ण जीव एव चेतन जगत् का विकास पदार्थ से ही हुआ है।[6] आधुनिक युग मे कार्ल मार्क्स ने भौतिक पदार्थ को ही मूल सत्ता माना और भौतिक तत्त्व से ही चेतना की उत्पत्ति मानी।[7]

---

१. आचारांगसूत्र
२. उत्तराध्ययनसूत्र १४, १२
३ दशवैकालिकसूत्र, चूलिका २, १२
४. उत्तराध्ययनसूत्र, २३, २५
५. तत्त्वार्थसूत्र, १/९
६. John Keosin ."From the materialists view, the origin of life was no more accident, it was the result of matter evolving to higher levels through the inexorable working out at each level of its inherent potentialities to drive at the next level" -- The Origin of life, Chapman & Hall Ltd. London, 1964 पृ० ३
७ Marks and Engels, "Feuerbach opposition of Materialistic and Idealistic outlook." Selected Works, Vol 1, पृ० ३२ Engles ने स्पष्ट लिखा है – "Our consciousness and thinking, however suprasensuous they may seem, are the products of a material, bodily organ, the brain Matter is not a product of mind, but mind itself is merely higher product of nature" Ludwing Feuer bach, Ch—2, quoated by Maurice Conforth, Dialectical Materialism . The Theory of Knowledge, National Book Agency, Calcutta 1955, पृ० ३५

आपरेन (I. A. Oparin) ने भी १९२२ में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि धरती पर प्रथम जीव का विकास रासायनिक तत्वों के सयोग से हुआ।[1] अभी हाल ही में डा० हरगोविन्द खुराना ने रासायनिक तत्वो के सम्मिश्रण से सरलतम जीवाणु (D. N. A.) उत्पन्न करने का प्रयास किया है।[2]

जैन-दर्शन यद्यपि भौतिकवादी नहीं है, इसका जोर अध्यात्मवाद या आत्मावाद पर ही है, फिर भी यह भौतिकवाद को उचित स्थान और महत्त्व देता है। यह जीव और अजीव या आत्मा और पुद्गल (Matter) दोनो की सत्ता स्वीकार करता है। पुद्गल की इसकी धारणा आधुनिक विज्ञान के पदार्थ की धारणा से मिलती-जुलती है। पुद्गल वह है, जिसमे सगठन और विघटन होता है—जो टूटता और जुडता है (पूरयन्ति गलन्ति च।)।[3] आधुनिक विज्ञान भी मानता है कि पदार्थ वह है जिसमे सगठन (Fusion) और विघटन (Fission) होता है।

पुद्गल इन्द्रिय का विषय है और रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से युक्त है।[4] जैन-दर्शन भौतिकवादियो से इस सीमा तक सहमत है कि शरीर, वाक्, मन, प्राण आदि भौतिक हैं।

शरीर वाङ्मनः प्राणापानः पुद्गलानाम्।[5]

दूसरी ओर जीव या आत्मा वह है जिसमे चेतना है—**चेतना लक्षणो जीव**।[6] विज्ञान भी जीव और अजीव दो सत्ताओं को स्वीकार करता है। एक (जीव) जीव-विज्ञान का विषय है और दूसरा (अजीव) पदार्थ-विज्ञान का। जैन-दर्शन की जीव सम्बन्धी धारणा कुछ अशो में जीव-विज्ञान की धारणा से मिलती है। क्योंकि यह जीव को जीवनी-शक्ति (Vital force) मानता है।[7] इस कारण यह पहाड, वनस्पति, खनिज-द्रव्य आदि को भी सजीव मानता है। अकारण नही है कि आधुनिक वनस्पति शास्त्री पेड-पौधो को सजीव मानने लगे हैं। इस सदर्भ मे जगदीश चन्द्र बसु का प्रयोग प्रसिद्ध एव सर्वविदित है।

(३) **विश्लेषणवादी पद्धति** (Analytic Method)—विज्ञान की पद्धति विश्लेषण या विभाजन की पद्धति है। इसमे जटिल वस्तुओं को विभाजित कर सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वो मे पर्यवसित कर के मूल तत्त्वो का पता लगाने का प्रयास किया जाता है। १९वी सदी का विज्ञान पदार्थ का खड-खड करके परमाणु तक पहुचा था। २०वी सदी के विज्ञान ने परमाणु का भी विघटन कर डाला है और पाया है कि परमाणु भी यौगिक है और वह इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन, पॉजीट्रोन आदि वैद्युतिक शक्तियों का सगठन है, अतएव अब विज्ञान शक्तिवाद की ओर झुक रहा है।

जैन-दर्शन की पद्धति विश्लेषणात्मक और सश्लेषणात्मक दोनो है। विश्लेषण की प्रक्रिया से यह भी अणु तक पहुचा है—**भेदादणु**।[8] अणु की इसकी धारणा पाश्चात्य विज्ञान के अणु के समकक्ष नही है, क्योंकि अणु अविभाज्य तत्त्व है जबकि पदार्थ विज्ञान का अणु विभाज्य सिद्ध हो चुका है। फिर भी, पदार्थ का जो चरम अविभाज्य तत्त्व है, उसे ही जैन-दर्शन अणु मानता है।[9] जैन परमाणुवाद डाल्टन के परमाणुवाद के प्राय. समकक्ष है। परमाणुवाद के सबध मे जैन-दर्शन की जो महत्त्वपूर्ण देन है, वह है (१) परमाणुओ के सगठन का नियम। जैन-दर्शन मे परमाणुओ के सगठित होने के तीन नियम बताए गए हैं—(क) भेद, (ख) सघात, और (ग) भेद-सघात,[10] जो पदार्थ विज्ञान

---

१. Oparin, I. A , Life Its Nature, Origin and Development, Acadamic Pres, New York, 1962
२. Dr. H G Khorana, Pure and Applied Chemistry, 1968
३. सर्वदर्शनसग्रह, ३
४. रूपिण. पुद्गला। तत्त्वार्थसूत्र ५/५
रूपरसगन्धवर्णवन्त पुद्गला। तत्त्वार्थसूत्र ५/२३
रूपिण: पुद्गला रूप मूर्त्ति रूपादि सस्थानपरिणाम:।
रूपमेषामस्तीति रूपिण मूर्तिमन्त। सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ५
५. तत्त्वार्थसूत्र, ५/१९
६. उपयोगोलक्षणम्, तत्त्वार्थसूत्र, २/८
७. देखिए Sinclair Stevenson, The Hert of Jainism, Oxford University Press, London, 1915, पृ० ६५
८. तत्त्वार्थसूत्र, ५/२७
९. कुन्दकुन्दाचार्य, सव्वेसि खधाणं जो अन्तो ते वियाण परमाणू।
सो सस्सदो सस्सदो असद्दो, एक्को अविभाजी मुत्तिभवो॥ पचास्तिकाय, गाथा-७७
(अर्थात् स्कन्धों का जो अन्तिम भेद है, वह परमाणु है, वह अविनाशी शब्द रहित, विभाग रहित और मूर्त्तिक है।)
१०. उमास्वामी, भेदसघातेभ्य: उत्पद्यन्ते। तत्त्वार्थसूत्र, ५/२६

के 'इलेक्ट्रो वैलेन्सी,' 'को-वैलेन्सी' और 'को ऑर्डीनेट को-वैलेन्सी' की धारणा मे मिलते-जुलते हैं। जैन-दर्शन के अनुसार विषम गुण वाले परमाणु आपस में संगठित होते हैं। स्निग्ध और रूक्ष गुण वाले परमाणुओ का बन्धन होता है।[1] पदार्थ-विज्ञान भी मानता है कि विपरीत चार्ज वाले परमाणुओं का सयोग होता है। (२) जैन-दर्शन की मान्यता है कि समगुण वाले परमाणुओ का भी सगठन हो सकता है यदि उनकी शक्ति की मात्रा विषम हो, अर्थात् उनमे एक की अपेक्षा दूसरे मे कम से कम दो इकाई शक्ति अधिक हो (जैसे १:२, २ ४, ४·६, इत्यादि)।[2] पदार्थ-विज्ञान भी मानता है कि समान चार्ज वाले परमाणु भी सगठित हो सकते हैं बशर्ते उनका 'स्पिन' भिन्न हो। (३) जैन दर्शन के अनुसार जघन्य गुण या न्यूनतम शक्ति वाले परमाणुओ का सगठन नही हो सकता।[3] आधुनिक विज्ञान भी मानता है कि निम्नतम स्तर (Ground Level) के परमाणुओ का सगठन नही हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि जैन पदार्थ-विज्ञान कितनी दूर तक आधुनिक विज्ञान के समान्तर चल सकता है।[4]

अनिश्चयवाद बनाम स्याद्वाद एव अनेकान्तवाद :

(Principle of Uncertainty vs-Syadvada & Anekantavada)

१६वी शती के विज्ञान के लिए परमार्थ सत्ता के सम्बन्ध मे निरपेक्ष रूप से कुछ कहना सम्भव था। परन्तु आधुनिक विज्ञान के लिए ऐसा कुछ कहना सम्भव नही हो रहा है, क्योंकि विज्ञान यह अनुभव करने लगा है कि परमार्थ सत्ता का कोई एकान्तिक स्वरूप नही है। वह कभी कण (Particale) की भाति कार्य करता है तो कभी लहर या तरग (wave) की भाति। अतएव अब निरपेक्ष रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि 'पदार्थ परमाणु कण है' और न यह ही कहा जा सकता है कि 'पदार्थ लहर या शक्ति है।' पदार्थ की धारणा मे भूत (Matter) और शक्ति (Energy)- दोनो की धारणा निहित हो गई है। इसलिए 'एटम' के स्थान पर 'क्वाटम' शब्द का आविष्कार किया गया है। साथ ही, परमार्थ तत्त्व की स्थिति को जब ठीक-ठीक मापते हैं, तो उसका वेग ठीक से मापा नही जा सकता (क्योंकि वह बदल जाता है) और यदि वेग को ठीक से मापते है, तो स्थिति ठीक से नही मापी जा सकती है (क्योंकि स्थिति बदल जाती है)। यह तथ्य हाईजेनबर्ग (Heisenburg) के 'अनिश्चयता सिद्धान्त' (Principle of Uncertainty) मे व्यक्त हुआ है।

जैन दर्शन की पुद्गल की धारणा आधुनिक क्वान्टम पदार्थ-विज्ञान के क्वान्टम, (Quantum) की धारणा से मिलती-जुलती है, क्योंकि इसकी धारणा मे भी भूत (Matter) और शक्ति (Energy) दोनो की धारणा निहित है। साथ ही, आज विज्ञान जिस स्थिति मे आ पहुचा है, वह स्याद्वाद और अनेकान्त की स्थिति है। जैन दर्शन भी मानता है कि पदार्थ का स्वरूप एकान्तिक नही है। उसके अनन्त गुण धर्म हैं --अनन्तधर्मक वस्तु। फिर विज्ञान, परमार्थ सत्ता के सम्बन्ध मे निरपेक्ष निर्णय नही दे पा रहा है कि वह कण है या लहर। उसे कहना पड रहा है कि एक दृष्टिकोण से वह कण है, दूसरे दृष्टिकोण से लहर है, या एक प्रसग मे वह कण की भाति कार्य करता है और दूसरे प्रसग मे लहर की भाति। स्याद्वाद का प्रतिपादन भी इसी उद्देश्य से हुआ है। इसके अनुसार प्रत्येक निर्णय सापेक्षतः सत्य है, इसलिए किसी भी वस्तु के विषय मे 'ऐसा ही है' न कहकर 'स्यात् ऐसा है'—कहना अधिक समीचीन है। परमतत्त्व के विषय मे विज्ञान भी यही कह रहा है कि 'स्यात् यह कण है', 'स्यात् यह लहर है'। अतएव अब विज्ञान जैन दर्शन के स्याद्वाद के दर्शन की स्थिति मे आ गया है।

प्रतीतिवादी दर्शन (Phenomenalism) :

आधुनिक विज्ञान प्रतीतिवादी है। इसके अनुसार हमारा ज्ञान केवल प्रतीति (Phenomena) या जो घटित हो रहा है, उसी का हो सकता है। हम निरपेक्ष सत्ता को नही जान सकते है। आधुनिक दर्शन मानने लगा है कि निरपेक्ष की धारणा केवल कल्पना (Myth) या रिक्त शब्द है। हम केवल सापेक्ष सत्ताओं को ही जानते है। निरपेक्ष सत्ता (Absolute) की धारणा केवल भाषा के गलत प्रयोग से उत्पन्न हो जाती है।[5] जैन-धर्म की प्रवृत्ति भी निरपेक्ष सत्ता विरोधी है। इसके अनुसार निरपेक्ष सत्ता अधिक से अधिक विभिन्न सापेक्ष पहलुओं का योगफल है। यह सापेक्षता के परे जाकर किसी निरपेक्ष सत्ता मे विश्वास नही करता है।

---

१. स्निग्ध: रूक्षत्वाद्बन्ध.। तत्त्वार्थसूत्र, ५/३३

२. गुण साम्ये सादृशानम्।
द्वयधिकादिगुणानां तु। बन्धेऽधिको पारिणामिकौ। तत्त्वार्थसूत्र, ५/३६, ३७, ३८

३ न जघन्य गुणानाम्। तत्त्वार्थसूत्र, ५/३४

४ जैन धर्म और जीव विज्ञान मे समता के लिए देखिए,
Dr. H. P. Verma and Dr A. P. Jha, Jaina Vision and Genetic Research, 1975, ज्ञानम्, भागलपुर

५. देखिए A. J. Ayer, Language Truth and Logic, 2nd Ed., Victor Gollancz, London, 1946

विज्ञान केवल प्रतीति तक ही सीमित है। इसके अनुसार हम केवल छाया ही देख पाते हैं, द्रव्य नही। सर एडिंगटन ने लिखा है :

"The frank realization that physical science is concerned with the world of shadows is one of the most significant advances··· In the world of physics we watch a shadow-performence of the drama of familiar life. The shadow of my elbow rests on the shadow-table as the shadow-ink flows over the shadow-paper"[१]

जैन दर्शन का दृष्टिकोण सर्वग्राही है, यह द्रव्य और प्रतीति दोनो पहलुओं का समन्वय करता है। इसके अनुसार द्रव्य मे गुण और पर्याय दोनो हैं— **गुणपर्यायवद् द्रव्यं।**[२] गुण की दृष्टि से द्रव्य शाश्वत सत्ता है और पर्याय की दृष्टि से वह प्रतीति है। अतएव जैन-दर्शन सत्ता (Noumenon) और प्रतीति (Phenomena) दोनो को मानता है। एक दृष्टि से विज्ञान भी इन दो दृष्टियो को अपनाता है। एक दृष्टि से वह मात्रा और शक्ति को नित्य मानता है और दूसरी दृष्टि से जगत् को उनका प्रतिभाष मानता है। लव्हेजियर (Lavoisier) ने 'शक्ति-नित्यता नियम' की व्याख्या करते हुए लिखा है—"Nothing can be creatad and in every process there is just as much substanee (quantity of matter) present before and after the process has taken place. There is only a change or modification of matter"[३] जैन दर्शन भी मानता है कि जगत् के तत्त्व शाश्वत है और जगत् केवल उनके रूपान्तरण से उद्भूत होता है। अतएव द्रव्य की दृष्टि से यह अपरिवर्तनशील और सनातन है तथा लोक अकृत्रिम है—प्रकृत स्वभाव से ही उद्गम, विकास और विनाश होता है। 'मूलाचार' में कहा गया है—"यह लोक अकृत्रिम है—प्रकृत स्वभाव से उद्भूत है। जीव-अजीव द्रव्यो से भरा है और ताल वृक्ष के समान खडा है।"

> लोओ अकट्टिमो खलु अणाई णिहणो सहाव णिप्पणो।
> जीवाजीवोहिं भरोणिच्चो ताल सक्ख सठाणो॥"[४]

अतएव जगत सम्बन्धी जैन-दर्शन की धारणा वैज्ञानिक धारण के समकक्ष है।

नास्तिकवादी धर्म दर्शन (Atheistic Philosophy) :

विज्ञान के प्रभाव के कारण आधुनिक युग की प्रवृत्ति अनीश्वरवादी है। विज्ञान मानता है कि जगत् का स्रष्टा एव सचालक कोई ईश्वर नही है। वह प्राकृतिक नियमो से विश्व की व्याख्या करता है। यदि जगत् का कोई सृष्टिकर्त्ता माना जाय जो असृजित है, तो जगत् को ही असृजित और शाश्वत मानने में क्या हानि है ?[५] जैन-दर्शन की भी यही मान्यता है।

फ्रॉयड आदि मनोविश्लेषको ने माना है कि ईश्वर केवल हमारी अतृप्त इच्छा और भय की उपज है। ईश्वर की धारणा शैशव-कालीन पिता के अनुभव से आती है। ईश्वर केवल पिता का ही प्रक्षेपेण है- 'पिता की ही प्रतिमा है।' (God is nothing but father's image)[६]। मार्क्स ने ईश्वर को आर्थिक-प्रताडना की उपज माना है और यह मत प्रतिपादित किया है कि आर्थिक-सकट, अभाव और विपन्नता मे जीने वाला सामर्थ्यहीन मनुष्य एक अतिप्राकृतिक सहायक की कल्पना कर लेता है। अतएव "धर्म कठिन जीवन जीने वालो के लिए चैन की एक साम है, हृदयहीन ससार का हृदय है, अनात्मिक परिस्थितियो की आत्मा है। जनता के लिए अफीम है (Religion is opium of the people)[७]। इसके नशे मे वह अपना दुःख-दर्द भूलने का प्रयास करता है। शासक की प्रतिमा मे मनुष्य विश्व के एक शासक की प्रतिमा गढ लेता है। जैन दर्शन भी निरीश्वरवादी है। इसके अनुसार जगत् का सृष्टिकर्त्ता कोई ईश्वर नही है। ईश्वर की धारणा मनुष्य की सामर्थ्यहीनता

---

१ The Nature of the Physical World, quoted in Mahrishis Gospel, Book-I and II, Shri Ramanasharm, Tiruvarrnamalai

२. तत्त्वार्थसूत्र, ५ ३८

३. श्री दुलीचन्द्र जैन द्वारा "जैन दर्शन मे पुद्गल-द्रव्य और परमाणु-सिद्धान्त" चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, अ० भा० दि० जैन महिला परिषद्, १९५४, पृ० २६३ पर उद्धृत

४. मूलाचार, ८.२८

५. देखिए, बर्ट्रेन्ड रसेल का लेख
'The Existence of God', (Ed.) John Hick, Macmillan Co, New York, 1964, पृ० ४५

६. देखिए, Freud, 'Future of an Illusion', 1953 तथा 'Civilization and it's Discontents', 1930

७. मार्क्स, इन्ट्रोडक्शन टू ए क्रिटिक ऑफ हीगेल्स फिलॉसफी ऑफ लॉ। क्रिस्टोफर कॉडवेल द्वारा फर्दर स्टडीज इन डाइग कल्चर, मथली रिव्यू प्रेस, लन्दन १९७१, पृ० ७५ पर उद्धृत

और साहस के अभाव का द्योतक है। यह राजतन्त्र का परिणाम है।[1] राजा की उपमा पर ही मनुष्यों ने संसार के एक शासक की कल्पना कर ली है। आधुनिक युग की प्रवृत्ति स्वावलम्बन और मानवतावाद की प्रवृत्ति है। ऑगस्ट कॉमटे (August Comte) ने माना है कि विज्ञान का लक्ष्य केवल ज्ञान के लिए ज्ञान पाना नहीं, बल्कि उसका लक्ष्य मानवता की जो दुःखी और सन्तप्त है,—सेवा करना है, उसके कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना है।[2] हक्सले, फ्रायड, बर्ट्रेन्ड रसेल, मैक्स ओटो, आदि सभी विज्ञानवादी चिन्तकों का यही मत है।[3] कॉमटे ने माना है कि ईश्वरवाद मनुष्य के विकास में बाधक है, क्योंकि यह मनुष्य को आवश्यक रूप से लोभी बनाता है। जैन दर्शन में भी माना गया है कि ईश्वर की धारणा मनुष्य के विकास में बाधक है। आचार्य अमितगति ने लिखा है—"मनुष्य अपने कर्म के अनुसार शुभ-अशुभ फल पाता है। यदि दूसरे से कुछ प्राप्त हो सकता, तो अपना कर्म निरर्थक हो जाता है। निजार्जित कर्मों को छोड़कर कोई किसी को कुछ दे नहीं सकता, अतएव कोई दूसरा दे सकता है - इस धारणा को मन से निकाल देना चाहिए।"[4] भगवान महावीर ने कहा है - "मनुष्य स्वयं अपने सुख-दुःख का कर्त्ता है और स्वयं अपने सुख-दुःख का विनाशक। वह दुष्प्रवृत्ति और सुप्रवृत्ति के अनुसार स्वयं अपना शत्रु है, और स्वयं अपना मित्र।"

अप्पा कत्ताविकत्ता य दुक्खाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं य दुप्पट्ठिय सुपट्ठिय॥[5]

जैन दर्शन का लक्ष्य भी स्वावलम्बन, आत्मविकास और मानवता का कल्याण है। परस्पर एक-दूसरे का उपकार ही जीव का धर्म है।

परस्परोपग्रहो जीवानाम्।[6]

व्यक्तिवादी मनोवृत्ति (Individualistic Attitude)

विज्ञान की विश्लेषणवादी मनोवृत्ति ने पदार्थ के क्षेत्र में परमाणु की धारणा और समाज के क्षेत्र में व्यक्तिवादी विचारधारा को जन्म दिया जिसके अनुसार व्यक्ति ही सत्य है। व्यक्तिवाद का विकृत रूप स्वार्थवाद है जिसमें आधुनिक युग ग्रस्त है। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने खोलों में बन्द है। कोई अपना स्वार्थ दूसरे के लिए त्यागने को तैयार नहीं है। बेन्थम ने कहा है—'सम्भव है कि स्वर्ग का राज्य पृथ्वी पर उतर आए, पर सपने में भी मत सोचो कि कोई मनुष्य तुम्हारे लिए कानी उंगली भी हिलाएगा, यदि वैसा करने में भी उसका कुछ स्वार्थ निहित न हो' (It is possible that heaven may come down to the earth, but dream not that man will move even his little finger to serve you, unless in doing so some of his own gains be obvious to him) यह स्वार्थवाद का नाम ताण्डव है जिसमें हर व्यक्ति अपने को अकेला (Lonely) अनुभव कर रहा है। आधुनिक युग में यह भाव गहरा होता जा रहा है कि—'मैं किसी का नहीं हूँ। कोई मेरा नहीं है' और यह भावना मनुष्य के परम विषाद का कारण बन गई है। आज प्रत्येक मनुष्य एक-दूसरे के प्रति शंकालु है।

बात पराये की मत पूछो, हमें हाय अपनों से भय है।

डा० राम मनोहर लोहिया ने लिखा है—"स्वार्थ अपने-अपने कुटुम्ब के दायरे में तो उदार रहता है, लेकिन मानव कुटुम्ब की

---

१. देखिए, कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, जैन-धर्म, भा० दि० जैन संघ, मथुरा, पृ० ११६
२. Comte, 'The Philosophy of Positivism'
३. देखिए, रसेल- "A Free man's Worship", Mysticism and Logic, George Allen & Unwin Ltd 1951. "What I believe", The besic writings of Burtrand Russell, George Allen & Unwin, London, 1946
४. आचार्य अमितगति "स्वयं कृतः कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभं।
परेणदत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं सदा॥
निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कापि कस्यापि ददाति किंचन।
विचार यन्नेवमनन्यमानस परोददाति विमुच्य शेमुषी॥"
५. उत्तराध्ययनसूत्र, २०/३७
६. तत्त्वार्थसूत्र, ५/२१
जैन मानवतावाद की विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए मेरी पुस्तिका—'जीव से जिन की ओर', शामम्, भागलपुर, १९७४

विशालता के आगे संकीर्ण हो जाता है।"[1] अब तो स्थिति यह है कि मनुष्य कुटुम्ब के दायरे मे भी उदार नही रहा, वह अपने आप ही में बन्द है। परिणाम यह है कि परिवार भी विघटित होता जा रहा है। प्रत्येक मनुष्य एक अपरिचित और बाहरी व्यक्ति (Outsider) की तरह जी रहा है।[2]

भगवान् महावीर ने व्यक्तिवाद का स्वस्थ रूप प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार हर व्यक्ति का व्यक्तित्व मूल्यवान् है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में साध्य है और उसकी नियति वह बनना है, जो वह वास्तव में है। उसे किसी के समक्ष आत्म-समर्पण करने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि अपने आप पर विजय पाकर स्वस्थ और आत्मवान् होना है। भगवान् महावीर का दृष्टिकोण गणतान्त्रिक है अतएव वे 'साध्यों का साम्राज्य' (Kingdom of ends) बसाना चाहते हैं जिसमे सभी राजा हो—सभी ईश्वर हो—(अहमिन्द्र)। उनकी धारणा है कि प्रत्येक आत्मा परमात्मा है, किसी परमात्मा का खण्ड-अंश होने के कारण नही, बल्कि अपने अन्दर अनन्त शक्तियों (अनन्त चतुष्टय) की उपस्थिति के कारण। प्रत्येक व्यक्ति को उसी प्रकार विकसित हो जाना है जैसे किसी बगीचे मे अलग-अलग किस्म के फूल खिल जाते हैं और सबो के खिलने मे ही बगीचे की शोभा और सौन्दर्य है। यह व्यक्तिवाद मिल, काण्ट या सार्त्र के व्यक्तिवाद के समकक्ष है। मिल ने कहा था—'जबकि दस पागल व्यक्तियो मे नौ व्यक्ति निरीह मूर्ख होते है, वह दसवा अधिक महत्त्व का है, क्योंकि वह कोई सुकरात या जीसस हो सकता है - जिसे दुनिया ने न पहचाना हो।' अतएव प्रत्येक व्यक्ति का समान मूल्य है। किसी के व्यक्तित्व का अनादर नही होना चाहिए। काण्ट ने भी कहा था, 'मानवता चाहे तुम्हारे अन्दर हो या दूसरे में उसे सदा साध्य समझो साधन नही।'[3] सार्त्र के अनुसार 'प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है, नही - स्वतन्त्रता ही मनुष्य हैं।' (Freedom is man)। प्रत्येक व्यक्ति अनुपम है, अतएव किसी को दूसरे के ढाचे मे नही ढलना है। 'दूसरा ही नर्क है।' (The other is hell)।

वर्त्तमान विडम्बना (The Present Crisis)

यह सत्य है कि विज्ञान ने दिक् और काल पर विजय पा ली है। और वैज्ञानिक तकनीक ने मनुष्य को चन्द्रमा पर पहुचा दिया है। विज्ञान ने मनुष्य के हाथ मे परमाणु की असीम शक्ति दी है जिससे भौतिकता के मामले मे मनुष्य अत्यन्त समृद्ध हो गया है। परन्तु आत्मिकता और आत्मीयता के क्षेत्र मे वह अत्यन्त विपन्न हो गया है। उसकी महत्त्वाकाक्षा ने उसे भीतर से तोड कर रख दिया है। डा० राधाकृष्णन् ने लिखा है, "मनुष्य जो बनना चाहता है, और जो है, उसके बीच विनाशकारी असन्तुलन है। यह विरोध हमारी अशाति का कारण है। हम बात समझदार व्यक्तियों की तरह करते हैं, पर व्यवहार पागलो की तरह से।'"[4] मनुष्य ने बाह्य पदार्थ को तो अन्त तक जान लिया है, परन्तु उसे अपने अन्तर का अपने आपका कोई ज्ञान नही है। वह अपने सामने ही दीन-हीन हो गया है, वह अपने-आप से टूट गया है। आत्मा अज्ञान के कारण वह बाहर-बाहर शरण की तलाश मे भटकता है, परन्तु बाहर उसे कही शरण नही मिल सकती है। भगवान् महावीर के अनुसार बाहर की कोई भी वस्तु --धरा-धाम, धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्र कोई हमारा शरण नहीं हो सकते।[5] मनुष्य मात्र आत्मा मे, धर्म मे शरण पा सकता है।[6] परन्तु आधुनिक मनुष्य कभी भी अपने आप मे, धर्म मे है ही नहीं। वह सोते-जागते सदा बाहर है। प्रत्येक व्यक्ति खौलता हुआ इन्सान है, जिसने ढक्कन स्वरूप सभ्यता का मुखौटा पहन रखा है। यह खौलना जब तक ६६ ६ तक होता तब तक वह व्यक्ति सामान्य कहलाता है और यही जब १००° तक पहुच जाता है, तो वह विक्षिप्त या असामान्य करार दिया जाता है। वस्तुत तथाकथित सामान्य और पागल व्यक्ति मे अन्तर मात्र .१° का है। फ्रायड ने कहा है कि 'आधुनिक मनुष्य सैमसन की भाति जजीरो मे जकडा हुआ कराह रहा है, परन्तु एक दिन वह सभ्यता के खम्भो को उखाड फेंकेगा और पुनः बर्बर अवस्था मे लौट जाएगा। वर्त्तमान सभ्यता ने मनुष्य मे बहुत असनोष

---

१. सतीश वर्मा, "बड़े शहरों का प्रमाद बढता तनाव", धर्मयुग, ६ फरवरी १६७५, पृ० ७ पर उद्धृत

२. Colin Wlson, The Outsider, Pan Books Ltd, London, 1970

३. Kant, "Treat humanity either in thine own person or in others always as an end and never as a means."—The Critique of Practical Reason

४. सतीश वर्मा, धर्मयुग, ६ फरवरी, १६७५, पृ० ६ पर उद्धृत

५. "दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बधवा। जीवन्तमणु जीवन्ति, मय नाणुव्वयन्ति य॥" —उत्तराध्ययनसूत्र, १८/१४
"वित्त पसवो य नाइओ, त बाले सरण ति मन्नई। एते मम तेसुवि अह, नो ताण सरण न विज्जई॥" —सूत्रकृतागसूत्र, १, २/३/१६

६ "जरा मरण वेगेण, बुज्झमाणाण पाणिण।
धम्मो दीवो, पइट्ठा य, गई सरणमुत्तम॥"- उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय २३, गाथा ६८
अर्थात् जरा-मरण के तेज प्रवाह में बहते हुए जीव के लिए धर्म ही एकमात्र दीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है।

उत्पन्न कर दिया है।"[1] प्रत्येक व्यक्ति सदा द्वन्द्व, संघर्ष और आन्तरिक युद्ध मे जी रहा है। इसका प्रतिफल है—विगत सदी के दो विश्व-युद्ध ! वास्तव में बाह्य तो अन्तस् की प्रतिच्छाया मात्र है। विज्ञान ने मनुष्य को शक्ति तो दी है, परन्तु आत्मा छीन ली है; उसने सुख-सुविधा तो बढ़ाई है, परन्तु नींद, विश्राम, शान्ति और आनन्द छीन लिया है उसने दवाइया तो दी हैं, परन्तु मानवता को युद्ध और विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। शान्ति की परिभाषा करते हुए ब्रट्रेंड रसेल ने लिखा है—कि "एक युद्ध की समाप्ति और दूसरे युद्ध की तैयारी उन दोनों के बीच के अन्तराल को शान्ति कहते हैं।" आइन्सटीन ने कहा था, "मैं तीसरे विश्वयुद्ध के विषय में तो कुछ नही कह सकता, पर चौथे विश्वयुद्ध के विषय मे अवश्य ही निश्चय पूर्वक कह सकता हू कि वह पत्थर के हथियारो से लडा जाएगा।" यह है जगत् की वर्तमान परिस्थिति और मानव की वस्तु-स्थिति ! आज मानवता बीमार है, रुग्ण है, पागलपन की कगार पर खडी है। मनोविश्लेषक युग ने लिखा है—"मनोचिकित्सको को अवश्य स्वीकार करना होगा कि 'अहम्' बीमार है, क्योंकि वह समग्र से टूट गया है और मानवता के साथ ही साथ आत्मा से उसका सम्बन्ध विच्छेद हो गया है।"[2] वह भोग के पीछे दीवाना है, भोग से जब तृप्ति नही मिलती, तो वह दमन की ओर, आत्म-पीड़न की ओर, मुड़ता है और इस प्रकार द्वन्द्व-दु.ख का शिकार बना हुआ है। पहले इस द्वन्द्व से घबडा कर वह ईश्वर की शरण मे जाता है परन्तु आधुनिक विज्ञान ने वह काल्पनिक सहारा भी उससे छीन लिया है। अतएव मनुष्य निराधार है और अकेला बादल की भांति हवा पर डोल रहा है, जिसकी न धरती अपनी है, न आकाश ! निराशा मे वह अपने आप से झगड पडता है और अपने आप को ही तोडने लगता है। उसकी वृत्ति आत्मघाती हो गयी है। औद्योगीकरण ने जीवन को यान्त्रिक और असहज बना दिया है।

इस दुश्चक्र से निकलने का उपाय भगवान् महावीर के पास है। उनके अनुसार बाहर सहारे की तलाश निरर्थक है। जो भी 'पर' है, वह हमारा सहारा नही हो सकता, चाहे वह पदार्थ हो या परमात्मा। आत्मा ही एकमात्र सहारा है। स्वयं को छोडकर बाहर कोई भी सहारा नही हो सकता. अत सर्वप्रथम बाहर के सभी सहारों का भ्रम-भग आवश्यक है। दूसरी बात यह कि जीवन जो इतना असहज हो गया है, उसे सहज, स्वाभाविक रूप मे लाना आवश्यक है। इसके लिए महावीर ने 'प्रतिक्रमण' का रास्ता सुझाया है। जीवन मे जो इतना दु ख-द्वन्द्व है, वह गलत अभ्यास (कन्डिशनिग) का परिणाम है अतएव 'तप' के माध्यम से उसे मिटाकर, फिर सहज स्थिति मे लाने की आवश्यकता है। साथ ही, 'ध्यान' के माध्यम से अचेतन मन से उतरकर उसमें अज्ञान के कारण आश्रित सस्कारो, ग्रन्थियो का उच्छेद कर, ग्रन्थियों से मुक्त होना—'निर्ग्रन्थ' होना आवश्यक है और अन्तत आत्मा मे स्थित होना—'सामायिकी'—यही परम शान्ति आनन्द और मुक्ति का मार्ग है। धर्म का यह स्वरूप पूर्णत वैज्ञानिक है और विज्ञान के दोषो को दूर करने मे सक्षम है। यह धर्म प्रायोगिक है—इसका प्रयोग-स्थल आत्मा है। यह धर्म कर्मकाण्ड या विश्वास (Ritual & Dogma) नही, बल्कि मनोचिकित्सा (Psycho-Therapy) का साधन है जिससे पूर्व सस्कारो का क्षय (निर्जरा) और नवीन सस्कारो का आश्रव अवरुद्ध (सवर) हो जाता है, युग, आदि ने माना है कि अचेतन के प्रति सजग होकर उसे रिक्त करके ही मनुष्य मानसिक ग्रथियो से मुक्त हो सकता है, स्वस्थ, शान्त और आनन्दित हो सकता है। इस प्रकार आत्मानु-सन्धान ही एकमात्र मार्ग है। जब भीतर शान्ति और आनन्द हो, तो बाहर भी वही विकीर्ण होगा ही, अतएव युद्ध से निवृत्ति का भी यही एकमात्र उपाय है। महावीर के मार्ग पर चल कर ही मानवता युद्ध और विनाश से मुक्त हो शान्ति, शक्ति, आनन्द व मुक्तिलाभ कर सकती है।

---

१. S. Freud, Civilization and its Discontents, Hogarth Press, 1930

२ Jung, "The psychotherapist must even be able to admit that the ego is ill, for the very reason that it is cut-off from the whole, and has lost its connection with the mankind as well as the spirit."—Modern Man in Search of Soul, पृ० १४१

फिर देखिए, Ralph Harper, "There are two sources of solitude and its agony : being cut-off from other men and being cut-off from God " The Seventh Solitude, The John Hopkins Press, Baltimore, Marry Land, America. 1965, पृ० १

विश्व-धर्म के रूप में जैन धर्म-दर्शन की प्रासंगिकता

डॉ० महावीर सरन जैन

आज के विश्व को एक ऐसे धर्म-दर्शन की आवश्यकता है जो उसकी वर्तमान समस्याओं का समाधान कर सके।

आज भौतिक विज्ञानों ने बहुत विकास किया है। उनकी उपलब्धियों एवं अनुसंधानों ने मनुष्य को चमत्कृत कर दिया है। ज्ञान का विकास इतनी तीव्र गति से हो रहा है कि प्रबुद्ध पाठक भी उस ज्ञान से परिचय प्राप्त करने में असमर्थ एवं विवश है। ज्ञान की शाखा-प्रशाखा में विशेषज्ञता का दायरा बढ़ता जा रहा है। एक विषय का विद्वान् दूसरे विषय की तथ्यात्मकता एवं अध्ययन पद्धति से अपने को अनभिज्ञ पा रहा है। हर जगह, हर दिशा में नयी खोज, नया अन्वेषण हो रहा है। प्रतिक्षण अनुसंधान हो रहे हैं। जो आज तक नहीं खोजा जा सका, उसकी खोज में व्यक्ति संलग्न है। जो आज तक नहीं सोचा गया उसे सोचने में व्यक्ति व्यस्त है। जिन घटनाओं को न समझ पाने के कारण उन्हें परात्परब्रह्म के धरातल पर अगम्य रहस्य मानकर उन पर चिन्तन करना बन्द कर दिया गया था, वे आज अनुसंधेय हो गई हैं। सृष्टि की बहुत सी गुत्थियों की व्याख्या हमारे दार्शनिकों ने परमात्मा एवं माया की सृष्टि के आधार पर की थी। उन व्याख्याओं के कारण वे 'परलोक' की बातें हो गयी थीं। आज उनके बारे में भी व्यक्ति जानना चाहता है। अन्वेषण की पिपासा बढ़ती जा रही है। आविष्कार का धरातल अब भौतिक पदार्थों तक ही सीमित होकर नहीं रह गया है। अन्तर्मुखी चेतना का अध्ययन एवं पहचान भी उसकी सीमा में आ रही है। पहले के व्यक्ति ने इस संसार में कष्ट अधिक भोगे थे। भौतिक उपकरणों का अभाव था। उसने स्वर्ग की कल्पना की। भौतिक इच्छाओं की सहज तृप्ति की कल्पना ही उस लोक की परिकल्पना का आधार थी। आज की प्रगति उन्हीं दिव्यताओं को धरती के अधिक निकट लाने के प्रयास में रत है। पृथ्वी को ही स्वर्ग बना देने के लिए बेताब है।

इतना होने पर भी मनुष्य सुखी नहीं है। यह असंगति क्यों है? वह सुख की तलाश में भटक रहा है। धन बटोर रहा है, भौतिक उपकरण जोड़ रहा है। वह अपना मकान बनाता है। आलीशान इमारत बनाने के स्वप्न को मूर्तिमान करता है। फिर मकान सजाता है। सोफा सैट, कालीन, वातानुकूलित व्यवस्था, महंगे पर्दे, प्रकाश ध्वनि के आधुनिकतम उपकरण एवं उनके द्वारा रचित मोहक प्रभाव। सब कुछ अच्छा लगता है। मगर परिवार के सदस्यों के बीच जो प्यार, विश्वास पनपना चाहिए उसकी कमी होती जा रही है। पहिले पति-पत्नी भावना की डोरी से आजीवन बंधने के लिए प्रतिबद्ध रहते थे। दोनों को विश्वास रहता था कि वे इसी घर में आजीवन साथ-साथ रहेंगे। दोनों का सुख-दुःख एक होता था। उनकी इच्छाओं की धुरी 'स्व' न होकर 'परिवार' थी। वे अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं को पूरा करने के बदले अपने बच्चों एवं परिवार के अन्य सदस्यों की इच्छाओं की पूर्ति में सहायक बनना अधिक अच्छा समझते थे। आज की चेतना क्षणिक, संशयपूर्ण एवं तात्कालिकता में केन्द्रित होकर रह गयी है। इस कारण व्यक्ति अपने में ही सिमटता जा रहा है। सम्पूर्ण भौतिक सुखों को अकेला भोगने की दिशा में व्यग्र मनुष्य अन्ततः अतृप्ति का अनुभव कर रहा है।

भौतिक विज्ञानों के चमत्कारों से भयाकुल चेतना को हमें आस्था प्रदान करनी है। निराश एवं संत्रस्त मनुष्य को आशा एवं विश्वास की मशाल थमानी है। जिन परम्परागत मूल्यों को तोड़ दिया गया है उन पर दुबारा विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि वे अविश्वसनीय एवं अप्रासंगिक हो गये हैं। परम्परागत मूल्यों की विकृतियों को नष्ट कर देना ही अच्छा है। हमें नये युग को नये जीवन मूल्य प्रदान करने हैं। इस युग में जो बौद्धिक संकट एवं उलझनें पैदा हुई हैं, हमें समाधान का रास्ता ढूंढना है।

आज विज्ञान ने हमें गति दी है, शक्ति दी है। लक्ष्य हमें धर्म एवं दर्शन से प्राप्त करने हैं। लक्ष्य विहीन होकर दौड़ने से जिन्दगी को मंजिल नहीं मिलती।

वैज्ञानिक उपलब्धियों के कारण जिस शक्ति का हमने संग्रह किया है उसका उपयोग किसप्रकार हो; गति का नियोजन किस प्रकार हो—यह आज के युग की जटिल समस्या है। इसके समाधान के लिए हमें धर्म एवं दर्शन की ओर देखना होगा।

इसका कारण यह है कि धर्म ही ऐसा तत्त्व है जो मानव हृदय की असीम कामनाओं को सीमित करने की क्षमता रखता है, उसकी

दृष्टि को व्यापक बनाता है, मन में उदारता, सहिष्णुता एवं प्रेम की भावना का विकास करता है।

कोई भी समाज धर्महीन होकर स्थित नहीं रह सकता। समाज की व्यवस्था, शान्ति तथा समाज के सदस्यों में परस्पर प्रेम एवं विश्वास का भाव जगाने के लिए धर्म का पालन आवश्यक है।

धर्म कोई सम्प्रदाय नहीं है। धर्म का अर्थ है—'धञ् धारणे'—धारण करना। जिन्दगी में जो हमें धारण करना चाहिए—वही धर्म है। हमें जिन नैतिक मूल्यों को जिन्दगी मे उतारना चाहिए वही धर्म है।

मन की कामनाओं को नियंत्रित किए बिना समाज रचना सम्भव नहीं है। जिन्दगी में संयम की लगाम आवश्यक है।

कामनाओं के नियंत्रण की शक्ति या तो धर्म मे है या शासन की कठोर व्यवस्था मे। धर्म का अनुशासन 'आत्मानुशासन' होता है। व्यक्ति अपने पर स्वय नियत्रण करता है। शासन का नियत्रण हमारे ऊपर 'पर' का अनुशासन होता है। दूसरो के द्वारा अनुशासित होने में हम विवशता का अनुभव करते हैं, परतंत्रता का बोध करते हैं, घुटन की प्रतीति करते हैं।

मार्क्स ने धर्म की अवहेलना की है। वास्तव मे मार्क्स ने मध्ययुगीन धर्म के बाह्य आडम्बरो का विरोध किया है। जिस समय मार्क्स ने धर्म के बारे में चिन्तन किया उस समय उसके चारों ओर धर्म का पाखंड भरा रूप था। मार्क्स ने इसी को धर्म का पर्याय मान लिया।

वास्तव मे धर्म तो वह पवित्र अनुष्ठान है जिससे चेतना का शुद्धीकरण होता है। धर्म वह तत्त्व है जिससे व्यक्ति अपने जीवन को चरितार्थ कर पाता है। धर्म दिखावा नही, प्रदर्शन नही, रूढ़ियां नहीं, किसी के प्रति घृणा नही, मनुष्य, मनुष्य के बीच भेदभाव नहीं अपितु मनुष्य में मनुष्यता के गुणों के विकास की शक्ति है, सार्वभौम चेतना का सत्संकल्प है।

आज के विश्व के लिये किस प्रकार का धर्म एव दर्शन सार्थक हो सकता है?

मध्य युग मे विकसित धर्म एव दर्शन के परम्परागत स्वरूप एव धारणाओ मे आज के व्यक्ति की आस्था समाप्त हो चुकी है। इसके कारण हैं।

मध्ययुगीन चेतना के केन्द्र मे 'ईश्वर' प्रतिष्ठित था। हमारा सारा धर्म एवं दर्शन इसी 'ईश्वर' के चारों ओर घूमता था। सम्पूर्ण सृष्टि के कर्त्ता, पालनकर्त्ता, संहारकर्त्ता के रूप में हमने परम शक्ति की कल्पना की थी। उसी शक्ति के अवतार के रूप मे, या उसके पुत्र के रूप मे या उसके प्रतिनिधि के रूप मे हमने ईश्वर, ईसा या अल्लाह को माना उन्हीं की भक्ति में अपनी मुक्ति का मंत्र मान लिया। स्वर्ग की कल्पना, देवताओं की कल्पना, वर्त्तमान जीवन की निरर्थकता का बोध, अपने देश एव अपने काल की माया एव प्रपंचो से परिपूर्ण अवधारणा आदि बातें हमारे मध्ययुगीन धर्म एव दर्शन के घटक थे। वर्त्तमान जीवन की मुसीबतो का कारण हमने अपने विगत जीवन के कर्मों को मान लिया। वर्त्तमान जीवन मे अपने श्रेष्ठ आचरण द्वारा अपनी मुसीबतो को कम करने की तरफ ध्यान कम रहा। ईश्वर और मनुष्य के बीच के बिचौलियो ने मनुष्य को सारी मुसीबतो, कष्टो, विपदाओ से मुक्त होकर स्वर्ग, बहिश्त मे मौज की जिन्दगी बिताने की राह दिखायी और बताया कि हमारे माध्यम से अपने आराध्यो के प्रति तन, मन, धन से समर्पित हो जाओ—पूर्ण आस्था, पूर्ण विश्वास, पूर्ण निष्ठा के साथ भक्ति करो। तर्क को साधना पथ का सबसे बडा शत्रु मान लिया गया।

धर्म की उपर्युक्त धारणायें आज टूट चुकी हैं। विज्ञान ने हमें दुनिया को समझने और जानने का तर्कवादी रास्ता बताया है। विज्ञान ने यह स्पष्ट किया कि यह विश्व किसी की इच्छा का परिणाम नहीं है। विश्व तथा सभी पदार्थ कारण-कार्य भाव से बद्ध हैं। भौतिक विज्ञान ने सिद्ध किया है कि जगत् मे किसी पदार्थ का नाश नहीं होता केवल रूपान्तर मात्र होता है। इस धारणा के कारण इस जगत् को पैदा करने वाली शक्ति का प्रश्न नही उठता। जीव को उत्पन्न करने वाली शक्ति का प्रश्न नही उठता। विज्ञान ने शक्ति के संरक्षण के सिद्धान्त में विश्वास जगाया। पदार्थ की अनश्वरता के सिद्धान्त की पुष्टि की। समकालीन पाश्चात्य अस्तित्ववादी दर्शन ने भी ईश्वर का निषेध किया। उसने यह माना कि मनुष्य का स्रष्टा ईश्वर नही है। मनुष्य वह है जो अपने आपको बनाता है।

इस प्रकार जहां मध्ययुगीन चेतना के केन्द्र मे 'ईश्वर' प्रतिष्ठित था वहा आज की चेतना के केन्द्र मे 'मनुष्य' प्रतिष्ठित है। मनुष्य ही सारे मूल्यो का स्रोत है। वही सारे मूल्यो का उपादान है। आज के मनुष्य के लिए ऐसा धर्म एव दर्शन व्याख्यायित करना होगा जो 'ईश्वरवादी' नहीं होगा, भाग्यवादी नही होगा। उसके विधानात्मक घटक होंगे—(१) मनुष्य, (२) कर्मवाद की प्रेरणा, (३) सामाजिक समता।

आज के अस्तित्ववादी दर्शन मे, विज्ञान के द्वारा प्रतिपादित अवधारणाओ में तथा साम्यवादी शासनव्यवस्था में कुछ विचार-प्रत्यय समान हैं।

(१) तीनो ईश्वरवादी नहीं हैं। ईश्वर के स्थान पर मनुष्य स्थापित है।

(२) तीनों भाग्यवादी नही हैं। कर्मवादी तथा पुरुषार्थवादी हैं।

(३) तीनों में मनुष्य की जिन्दगी को सुखी बनाने का संकल्प है।

अस्तित्ववादी दर्शन में व्यक्तिगत स्वातंत्र्य पर जोर है तो साम्यवादी दर्शन मे सामाजिक समानता पर। इन समान एवं विषम विचार-प्रत्ययों के आधार पर क्या नये युग का धर्म एवं दर्शन निर्मित किया जा सकता है ?

हम देखते हैं कि विज्ञान ने शक्ति दी है। अस्तित्ववादी दर्शन ने स्वातन्त्र्य चेतना प्रदान की है, साम्यवाद ने विषमताओं को कम कराने पर बल दिया है फिर भी विश्व मे सघर्ष की भावना है, अशान्ति है; शस्त्रों की स्पर्धा एव होड है, जिन्दगी मे हैवानियत है। फिर यह सब क्यों ?

इसका मूल कारण है कि इन तीनो ने सघर्ष को मूल मान लिया है। मार्क्सवाद वर्गसघर्ष पर आधारित है। विज्ञान मे जगत्, मनुष्य एवं यंत्र का संघर्ष है। अस्तित्ववाद व्यक्ति एव व्यक्ति के अस्तित्व वृत्तो के मध्य सघर्ष, भय, घृणा आदि भावो की उद्भावना एव प्रेरणा मानता है।

आज हमे मनुष्य को चेतना के केन्द्र मे प्रतिष्ठित कर उसके पुरुषार्थ और विवेक को जागृत कर, उसके मन मे सृष्टि के समस्त जीवो एवं पदार्थों के प्रति अपनत्व का भाव जगाना है, मनुष्य एव मनुष्य के बीच आत्म-तुल्यता की ज्योति जगानी है जिससे परस्पर समझ-दारी, प्रेम, विश्वास पैदा हो सके। मनुष्य को मनुष्य के खतरे से बचाने के लिए हमे आधुनिक चेतना सम्पन्न व्यक्ति को आस्था एवं विश्वास का सन्देश प्रदान करना है।

प्रश्न उठता है कि हमारे दर्शन एवं धर्म का स्वरूप क्या हो ?

हमारा दर्शन ऐसा होना चाहिये जो मानव मात्र को सन्तुष्ट कर सके, मनुष्य के विवेक एव पुरुषार्थ को जागृत कर उसको शान्ति एव सौहार्द का अमोघ मत्र दे सकने मे सक्षम हो। इसके लिये हमे मानवीय मूल्यो की स्थापना करनी होगी, सामाजिक बंधुत्व का वातावरण निर्मित करना होगा, दूसरो को समझने और पूर्वाग्रहो से रहित मन स्थिति मे अपने को समझाने के लिये तत्पर होना होगा, भाग्यवाद के स्थान पर कर्मवाद की प्रतिष्ठा करनी होगी, उन्मुक्त दृष्टि से जीवनोपयोगी दर्शन का निर्माण करना होगा। धर्म एव दर्शन का स्वरूप ऐसा होना चाहिये जो प्राणीमात्र को प्रभावित कर सके एव उसे अपने ही प्रयत्नों के बल पर विकास करने का मार्ग दिखा सके। ऐसा दर्शन नही होना चाहिए जो आदमी, आदमी के बीच दीवारें खडी करके चले। धर्म और दर्शन को आधुनिक लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के आधार-भूत जीवन मूल्यो—स्वतन्त्रता, समानता, विश्व बधुत्व तथा आधुनिक वैज्ञानिक निष्कर्षों का अविरोधी होना चाहिए।

जैन दर्शन : आत्मानुसंधान का दर्शन

'जैन' साम्प्रदायिक दृष्टि नही है। यह सम्प्रदायो से अतीत होने की प्रक्रिया है। सम्प्रदाय मे बधन होता है। यह बधनों से मुक्ति होने का मार्ग है। 'जैन' शाश्वत जीवन पद्धति तथा जड एव चेतन के रहस्यो को जानकर आत्मानुसधान की प्रक्रिया है।

जैन दर्शन : प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्रता की उद्घोषणा :

भगवान महावीर ने कहा—'पुरिसा ! तुममेव तुम मित्त।'

पुरुष तू अपना मित्र स्वयम् है। जैन दर्शन मे आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है – 'अप्पा कत्ता-विकत्ता य दुहाण य सुहाण य' आत्मा ही दु ख एवं दु ख का कर्त्ता या विकर्त्ता है। यानी कोई बाहरी शक्ति आपको नियत्रित, सचालित नही करती, प्रेरित नही करती। आप स्वयं ही अपने जीवन के ज्ञान से, चरित्र से उच्चतम विकास कर सकते हैं। यह एक क्रान्तिकारी विचार है। इसको यदि हम आधुनिक जीवन-सन्दर्भों के अनुरूप व्याख्यायित कर सके तो निश्चित रूप से विश्व के ऐसे समस्त प्राणी जो धर्म और दर्शन से निरन्तर दूर होते जा रहे हैं, इनसे जुड सकते हैं।

भगवान् महावीर का दूसरा क्रान्तिकारी एव वैज्ञानिक विचार यह है कि मनुष्य जन्म से नही अपितु आचरण से महान् बनता है। इस सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने मनुष्य समाज की समस्त दीवारो को तोड फेंका। आज भी मनुष्य और मनुष्य के बीच खडी की गयी जितने प्रकार की दीवारें हैं, उन सारी दीवारो को तोड देने की आवश्यकता है। यदि हम यह मान लेते है कि "मनुष्य जन्म से नहीं आचरण से महान् बनता है।" तो जो जातिगत विष है, समाज की शान्ति मे एक प्रकार का जो जहर घुला हुआ है, उसको हम दूर कर सकते हैं। जो पढा हुआ वर्ग है उसे निश्चित रूप से इसको सैद्धान्तिक रूप से ही नही अपितु इसे अपने जीवन मे आचरण की दृष्टि से भी उतारना चाहिये।

प्रत्येक व्यक्ति परमात्मा बन सकता है

प्रत्येक व्यक्ति साधना के आधार पर इतना विकास कर सकता है कि देवता लोग भी उसको नमस्कार करते हैं। 'देवा वि तं नमंसन्ति जस्स धम्मे सया मणो।' महावीर ने ईश्वर की परिकल्पना नही की; देवताओ के आगे झुकने की बात नही की अपितु मानवीय

महिमा का जोरदार समर्थन करते हुए कहा कि जिस साधक का मन धर्म में रमण करता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। व्यक्ति अपनी ही जीवन-साधना के द्वारा इतना उच्चस्तरीय विकास कर सकता है कि आत्मा ही परमात्मा बन सकती है।

जैन तीर्थंकरो का इतिहास एवं उनका जीवन से पृथ्वी पर उतरने का क्रम नहीं अपितु पृथ्वी से ही आकाश की ओर जाने का उपक्रम है। नारायण का नर शरीर धारण करना नही है अपितु नर का ही नारायण बनना है। वे अवतारवादी परम्परा के पोषक नहीं अपितु उत्तारवादी परम्परा के तीर्थंकर थे। उन्होंने अपने जीवन की साधना के द्वारा, प्रत्येक व्यक्ति को यह प्रमाण दिया, उसे यह विश्वास दिलाया कि यदि वह साधना कर सके, राग-द्वेष को छोड सके तो कोई ऐसा कारण नही है कि वह प्रगति न कर सके। जब प्रत्येक व्यक्ति प्रगति कर सकता है, अपने ज्ञान और साधना के बल पर उच्चतम विकास कर सकता है और तत्त्वतः कोई किसी की प्रगति मे न तो बाधक है और न साधक तो फिर सघर्ष का प्रश्न ही कहा होता है ? इस तरह उन्होने एक सामाजिक दर्शन दिया।

प्रत्येक जीव में आत्म शक्ति

सामाजिक समता एव एकता की दृष्टि से श्रमण परम्परा का अप्रतिम महत्त्व है। इस परम्परा मे मानव को मानव के रूप में देखा गया है; वर्णों, सम्प्रदायो, जाति, उपजाति, वादों का लेबिल चिपकाकर मानव-मानव को बाटने वाले दर्शन के रूप मे नही। मानव महिमा का जितना जोरदार समर्थन जैन दर्शन में हुआ है वह अप्रतिम है। भगवान् महावीर ने आत्मा की स्वतन्त्रता की प्रजातन्त्रात्मक उद्घोषणा की। उन्होने कहा कि समस्त आत्मायें स्वतन्त्र हैं। विवक्षित किसी एक द्रव्य तथा उसके गुणो एव पर्यायो का अन्य द्रव्य या उसके गुणो और पर्यायो के साथ किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नही है।

इसके साथ-साथ उन्होने यह बात कही कि स्वरूप की दृष्टि से समस्त आत्मायें समान हैं। अस्तित्व की दृष्टि से समस्त आत्मायें स्वतन्त्र है, भिन्न-भिन्न हैं किन्तु स्वरूप की दृष्टि से समस्त आत्मायें समान हैं। मनुष्य मात्र में आत्म-शक्ति है। शारीरिक एव मानसिक विषमताओ का कारण कर्मो का भेद है। जीवन अपने ही कारण से ससारी बना है और अपने ही कारण से मुक्त होगा। व्यवहार से बध और मोक्ष के हेतु अन्य पदार्थ को जानना चाहिए किन्तु निश्चय से यह जीव स्वय मोक्ष का हेतु है। आत्मा अपने स्वयं के उपार्जित कर्मों से ही बधती है। आत्मा का दु.ख स्वकृत है। प्रत्येक व्यक्ति अपने ही प्रयास से उच्चतम विकास भी कर सकता है।

जैन दर्शन मे आत्मायें अनन्तानन्त हैं तथा परिणामी स्वरूप हैं किन्तु चेतना स्वरूप होने के कारण एक जीवात्मा अपने रूप मे रहते हुए भी ज्ञान के अनन्त पर्यायो का ग्रहण कर सकती है।

स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्मायें समान हैं। जीव के सहज गुण अपने मूल रूप में स्थित रहते हैं। पुरुषार्थ के परिणामस्वरूप शुद्धि-अशुद्धि की मात्रा घटती-बढती रहती है।

आत्मतुल्यता तथा सामाजिक समता·

भगवान् ने समस्त जीवो पर मैत्रीभाव रखने एव समस्त ससार को समभाव से देखने का निर्देश दिया। 'श्रमण' की व्याख्या करते हुए उसकी सार्थकता समस्त प्राणियो के प्रति समदृष्टि रखने में बतलायी। समभाव की साधना व्यक्ति को श्रमण बनाती है।

भगवान् ने कहा कि जाति की कोई विशेषता नही; जाति और कुल से त्राण नही होता। प्राणी मात्र आत्मतुल्य है, इस कारण प्राणियो के प्रति आत्मतुल्य भाव रखो; आत्मतुल्य समझो, सबके प्रति मैत्री-भाव रखो, समस्त ससार को समभाव से देखो। समभाव के महत्त्व का प्रतिपादन उन्होने यह कहकर किया कि आर्य महापुरुषो ने इसे ही धर्म कहा है।

आचार्य समन्तभद्र ने भगवान् महावीर के उपदेश को 'सर्वोदयतीर्थ' कहा है। आत्मतुल्यता की चेतना के विकास होने तथा समभाव की आराधना से व्यक्ति सहज रूप से धार्मिक हो जाता है। अहिंसा, अपरिग्रह एवं अनेकातवाद जीवन के सहज आचरण की भूमिकायें हो जाती हैं।

अहिंसा : जीवन का विधानात्मक मूल्य एवं भाव दृष्टि .

भगवान् महावीर ने अहिंसा शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया—मन, वचन, कर्म से किसी को पीडा न देना। यहा आकर अहिंसा जीवन का विधानात्मक मूल्य बन गया।

महावीर ने अहिंसा के प्रतिपादन द्वारा व्यक्ति के चित्त को बहुत गहरे से प्रभावित किया। उन्होंने ससार मे प्राणियों के प्रति आत्मतुल्यता-भाव की जागृति का उपदेश दिया, शत्रु एव मित्र सभी प्राणियो पर समभाव की दृष्टि रखने का शखनाद किया।

जब व्यक्ति सभी को समभाव से देखता है तो राग द्वेष का विनाश हो जाता है। उसका चित्त धार्मिक बनता है। रागद्वेष हीनता धार्मिक बनने की प्रथम सीढी है। इस कारण उन्होने कहा कि भव्यात्माओं को चाहिये कि वह समस्त संसार को समभाव से देखें। किसी को

प्रिय और किसी को अप्रिय न बनाए। शत्रु अथवा मित्र सभी प्राणियों पर समभाव की दृष्टि रखना ही अहिंसा है।

समभाव एव आत्मतुल्यता की दृष्टि का विकास होने पर व्यक्ति अहिंसक अपने आप हो जाता है। इसका कारण यह है कि प्राणी मात्र जीवित रहने की कामना करने वाले है। सबको अपना जीवन प्रिय है। सभी जीव जीना चाहते है, मरना कोई नही चाहता। जब सभी प्राणियो को दुःख अप्रिय है तो किसी भी प्राणी को दुःख न पहुँचाना ही अहिंसा है। अहिंसा केवल निवृत्तिपरक साधना नही है, यह व्यक्ति को सही रूप मे सामाजिक मानने का अमोघ मत्र है।

अहिंसा के साथ व्यक्ति की मानसिकता का सम्बन्ध है। इस कारण महावीर ने कहा कि अप्रमत्त आत्मा अहिंसक है। एक कृषक अपनी क्रिया करते हुए यदि अनजाने मे जीव हिंसा कर भी देता है तो भी हिंसा की भावना उसके साथ जुड़ती नही है। भले ही हम किसी का वध न करें, किन्तु किसी के वध करने के विचार के जन्मते ही उसका सम्बन्ध मानसिकता से सम्पृक्त हो जाता है।

इसी कारण कहा गया है कि रागद्वेष का अप्रादुर्भाव अहिंसा एव उसका प्रादुर्भाव हिंसा है।

हिंसा से पाशविकता का जन्म होता है, अहिंसा से मानवीयता एव सामाजिकता का। दूसरो का अनिष्ट करने की नही, अपने कल्याण के साथ-साथ दूसरों का भी कल्याण करने की प्रवृत्ति ने मनुष्य को सामाजिक एव मानवीय बनाया है। प्रकृति से वह आदमी है, नैतिकता बोध के सस्कारो ने उसमे मानवीय भावना का विकास कर उसके जीवन को सार्थकता प्रदान की है।

जब मनुष्य पशु जीवन जीता होगा तो रात दिन अपने अस्तित्व के लिए सघर्ष करता होगा। शक्तिमान निर्बल का वध कर देता होगा। विजयी होकर भी उसके जीवन मे अनिश्चयात्मकता रहती होगी। जिस दिन दो व्यक्तियो ने आपस मे मिलकर परस्पर सद्भाव एव प्रेम से रहने की बात सीखी उसी दिन परिवार एव समाज की सरचना की आधारशिला तैयार हुई। इस प्रकार अहिंसा व्यक्ति के चित्त को सामाजिक बनाती है।

अहिंसा से अनुप्राणित अर्थतत्र : अपरिग्रह

अहिंसा के साथ ही जुड़ी हुई भावनाए है अपरिग्रहवाद एव अनेकान्तवाद। परिग्रह से आसक्ति एव ममता का जन्म होता है। अपरिग्रह वस्तुओ के प्रति महत्त्वहीनता का नाम है। जब व्यक्ति अहिंसक होता है, रागद्वेष रहित होता है तो स्वयमेव अपरिग्रहवादी हो जाता है। उसकी जीवन दृष्टि बदल जाती है। भौतिक-पदार्थों के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है। अहिंसा की भावना से प्रेरित व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ को उसी सीमा तक बढाता है, जिसमें किसी अन्य प्राणी के हितो को आघात न पहुँचे।

बहुत अधिक उत्पादन मात्र करने से ही हमारी सामाजिक समस्याए नही सुलझ सकती। हमे व्यक्ति के चित्त को अन्दर से बदलना होगा। उसकी कामनाओं, इच्छाओ को सीमित करना होगा तभी हमारी बहुत सारी सामाजिक समस्याओ को सुलझाया जा सकेगा।

ऐसा नही हो सकता कि कोई सामाजिक प्राणी सम्पूर्ण पदार्थों को छोड़ दे। किन्तु हम अपने जीवन को इस प्रकार से ढाल सकते हैं कि पदार्थ हमारे पास रहे किन्तु उनके प्रति हमारी आसक्ति न हो, हमारा ममत्व न हो।

समाज मे इच्छाओ को सयमित करने की भावना का विकास आवश्यक है। इसके बिना मनुष्य को शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। 'पर कल्याण' की चेतना व्यक्ति की इच्छाओं को लगाम लगाती है तथा उसमे त्याग करने की प्रवृत्ति एव अपरिग्रही भावना का विकास करती है।

परिग्रह की वृत्ति मनुष्य को अनुदार बनाती है उसकी मानवीयता को नष्ट करती है। उसकी लालसा बढती जाती है। धन लिप्सा एव अर्थ-लोलुपता ही उसका जीवन-लक्ष्य हो जाता है। उसकी जिन्दगी पाशविक शोषणता के रास्ते पर बढना आरम्भ कर देती है। इसके दुष्परिणामो को भगवान् महावीर ने पहचाना था। इसी कारण उन्होने कहा कि जीव परिग्रह के निमित्त हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन का सेवन करता है और अत्यधिक मूर्च्छा करता है। परिग्रह को घटाने से ही हिंसा, असत्य, अस्तेय एव कुशील इन चारो पर रोक लगती है।

परिग्रह के परिमाण के लिए 'सयम' की साधना आवश्यक है। 'सयम' पारलौकिक आनन्द के लिए ही नही, इस लोक के जीवन को सुखी बनाने के लिए भी आवश्यक है। आधुनिक युग मे पाश्चात्य जगत् ने स्वच्छद यौनाचार एव निर्बाध इच्छा तृप्ति की प्रवृत्ति के कारण तथा व्यक्ति की स्वतत्रता के सिद्धान्त के नाम पर जो सयमहीन आचरण किया उसका परिणाम क्या हुआ? जीवन की लक्ष्यहीन, सिद्धान्त-हीन, मूल्य विहीन स्थिति एव निर्बाध भोगो मे निरत समाज की स्थिति क्या है? उनके पास पैसा है, धन दौलत है, साधन हैं किन्तु फिर भी जीवन मे सत्रास, अविश्वास, अतृप्ति, वितृष्णा एव कुठाये हैं। हिप्पी सम्प्रदाय क्या इसी प्रकार की सामाजिक स्थितियों का परिणाम नही हैं?

वैचारिक अहिंसा : अनेकान्तवाद

अहिंसक व्यक्ति आग्रही नही होता। उसका प्रयत्न होता है कि वह दूसरो की भावनाओ को ठेस न पहुंचावे। वह सत्य की तो खोज करता है, किन्तु उसकी कथन शैली मे अनाग्रह एव प्रेम होता है। अनेकांतवाद व्यक्ति के अहकार को झकझोरता है। उसकी आत्यन्तिक दृष्टि के सामने प्रश्नवाचक चिह्न लगाता है। अनेकान्तवाद यह स्थापना करता है कि प्रत्येक पदार्थ मे विविध गुण एवं धर्म होते हैं। सत्य का सम्पूर्ण साक्षात्कार सामान्य व्यक्ति द्वारा एकदम सम्भव नही हो पाता। अपनी सीमित दृष्टि से देखने पर हमें वस्तु के एकागी गुण-धर्म का ज्ञान होता है। विभिन्न कोणो से देखने पर एक वस्तु हमे भिन्न प्रकार की लग सकती है तथा एक स्थान से देखने पर भी विभिन्न दृष्टियो की प्रतीतिया भिन्न हो सकती हैं।

१६ फरवरी, १९८० को सूर्यग्रहण के अवसर पर काल के एक ही क्षण भारतवर्ष के विभिन्न स्थानो पर व्यक्तियो को सूर्यग्रहण के समान दृश्य की प्रतीति नही हुई। कारवार, रायचूर एव पुरी आदि स्थानो मे जिस क्षण सूर्यग्रहण हुआ जिसके कारण पूर्ण अधेरा छा गया, वही बम्बई मे सूर्य का ८५ प्रतिशत भाग, दिल्ली मे ५८ प्रतिशत भाग तथा श्रीनगर मे ४७ प्रतिशत भाग दिखाई नही दिया।

भारतवर्ष मे ही सूर्यग्रहण के आरम्भ एव समाप्ति के समय मे भी अन्तर रहा। कारवार मे सूर्यग्रहण मध्याह्न २.१७ २० बजे आरम्भ हुआ तो भुवनेश्वर मे २ ४२ १५ पर तथा कारवार मे ४.५२ १० पर समाप्त हुआ तो भुवनेश्वर मे ४.५६ ३५ पर। पूर्ण सूर्यग्रहण की अवधि रायचूर मे २ मिनट ४१ सेकड रही तो भुवनेश्वर मे यह अवधि केवल ४६ सेकड की ही रही।

'स्याद्वाद' अनेकातवाद का समर्थक उपादान है, तत्वो को व्यक्त कर सकने की प्रणाली है, सत्य कथन की वैज्ञानिक पद्धति है।

मिथ्या ज्ञान के बन्धनो को दूर करके स्याद्वाद ने ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह किया, एकातिक चिन्तन की सीमा बतलायी। आग्रहों के दायरे मे सिमटे हुए मानव की अन्धेरी कोठरी को अनेकातवाद के अनन्त लक्षण सम्पन्न सत्य-प्रकाश से आलोकित किया जा सकता है। आग्रह एव असहिष्णुता के बद दरवाजों को स्याद्वाद के द्वारा खोलकर अहिंसावादी रूप मे विविध दृष्टियो एवम् सन्दर्भों से उन्मुक्त विचार करने की प्रेरणा प्रदान की जा सकती है।

यदि हम प्रजातन्त्रात्मक युग मे वैज्ञानिक पद्धति मे सत्य का साक्षात्कार करना चाहते है तो अनेकात से दृष्टि लेकर स्याद्वादी प्रणाली द्वारा कर सकते है, विचार के धरातल पर उन्मुक्त चिन्तन तथा अनाग्रह, प्रेम एव सहिष्णुता की भावना का विकास कर सकते हैं।

इस प्रकार विश्व-धर्म के रूप मे जैन धर्म एव दर्शन की आधुनिक युग मे प्रासगिकता को आज व्याख्यायित करने की महती आवश्यकता है। यह मनुष्य एव समाज दोनो की समस्याओं का अहिंसात्मक समाधान है। यह दर्शन आज की प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था एव वैज्ञानिक सापेक्षवादी चिन्तन के भी अनुरूप है। आदमी के भीतर की अशाति, उद्वेग एव मानसिक तनावो को यदि दूर करना है तथा अन्ततः मानव के अस्तित्व को बनाये रखना है तो जैन दर्शन एव धर्म की मानव की प्रतिष्ठा, प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्रता तथा प्रत्येक जीव मे आत्म-शक्ति की स्थापना को विश्व के सामने रखना होगा। जैन धर्म एव दर्शन मानव-मात्र के लिए समान मानवीय मूल्यों की स्थापना करता है। सापेक्षवादी सामाजिक सरचनात्मक व्यवस्था का चिन्तन प्रस्तुत करता है, पूर्वाग्रह रहित उदार दृष्टि से एक-दूसरे को समझाने और स्वयं को तलाशने-जानने के लिए अनेकान्तवादी जीवन-दृष्टि प्रदान करता है, समाज के प्रत्येक सदस्य को समान अधिकार एव स्व-प्रयत्न से विकास करने का साधन जुटाता है।

अनेकान्तवाद, सत्य और अहिंसा

पहले मैं मानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान मे है। आज मैं विरोधियो को प्यार करता हूँ क्योंकि अब मैं अपने को विरोधियों की दृष्टि से देख सकता हूँ। मेरा अनेकान्तवाद, सत्य और अहिंसा इन युगल सिद्धान्तो का ही परिणाम है।

—महात्मा गांधी, हरिजन, २१ जुलाई, १९४६ से उद्धृत

श्रमण संस्कृति की विश्व मानवता को देन

श्री श्रीकृष्ण पाठक

श्रमण सस्कृति-कितनी शीलमयी, कितनी करुणामयी, कितनी ममतामयी, त्यागमयी, मानवतामयी, कोमलता, विनय और अनुरागमयी है कि मैं उसके हृदय मे, उसके अतरतम मे जितनी गहाराई तक प्रवेश करता हू उसे पूर्वापेक्षा अधिक से अधिक सुदर, अधिक से अधिक मंगलमय, शातिमय और मुक्तिमय पाता हू और वह भी मेरे व्यक्तित्व, कृतित्व एव अस्तित्व के रोम-रोम मे गहराइयो तक प्रविष्ट होती हुई मुझे निरतर हर पल, हर क्षण प्रभावित करती हुई मानव के महान् चरणो तक पहुचा देती है और मै वहा मत्रमुग्ध सा अपने आपको विश्व-मानवता के चरण-कमलो मे पूर्ण नत, पूर्ण समर्पित तथा उनकी वदना, उनकी अभ्यर्चना करता हुआ पाता हू - मेरे ऊपर इस प्रकार का प्रभाव डालने वाली केवल यह श्रमण-सस्कृति ही है -जो मेरा सर्वोपरि आराध्य है और जिसका मै अनुगामी, उपासक एव आराधक हूँ। मै उसके सुदर-सुदर, कोमल-कोमल और लोक पावन तीरो से पूरी तरह घायल हू फिर भी मुझे पीडा की नही आनन्द की अनुभूति होती है।

मैंने चिंतन, मनन एव अनुशीलन के पश्चात् यह पाया है कि विश्व-मानवता के जितनी समीप श्रमण-सस्कृति है उतनी दूसरी नही। अखिल मानव सृष्टि का जो कल्याण श्रमण-सस्कृति की सरस एव पुनीत सरिता मे अवगाहन करने मे हो सकता है वैसा कही और जाकर मज्जन करने से नही।

मानव की सनातन एव शाश्वत पीडा, उसकी व्यवस्था, उसका करुण-क्रन्दन, उसके अभावो की अथाह झील, सामतों एव श्रीमतो के अति कोमल ? अति महान् ? कर-कमलो से वीभत्सता, भयकरता और नग्नता के साथ सम्पादित होने वाला मानव का शोषण, उत्पीडन और उन्मूलन जितना अधिक श्रमण-सस्कृति के प्रवर्त्तको एव उन्नायको को दिखाई दिया उतना मेरी विनम्र दृष्टि मे किसी अन्य को नही। मानव के अधिकारो की लाशो के ढेर देखकर जितने व्यथित, विचलित एव विगलित श्रमण-सस्कृति के धारक हुये उतना कोई अन्य, शायद, नही।

श्रमण-सस्कृति-धारको के सर्वमान्य प्रतिनिधि, बहुश्रुत, बहुचर्चित, सर्वज्ञात तथा सामान्य से सामान्य व्यक्ति की आत्मा मे प्रतिष्ठित भगवान् महावीर तो मानव अधिकारो का हनन एव मानव की पीडा को देखकर अप्रतिम रूप से आन्दोलित, पीडित एव दुःखी हुये। उनके लिए गोस्वामी तुलसीदास की निम्नाकित पक्तिया पूर्णत सार्थक प्रतीत होती है :-

> संत हृदय नवनीत समाना।
> कहा कबिन पै कहइ न जाना॥
> निज परिताप द्रवै नवनीता।
> पर दुख दुखी संत सुपुनीता॥

महावीर की दृष्टि मे, महावीर के मस्तिष्क मे, महावीर के हृदय मे, उनकी आत्मा मे अधिक क्या कहू, महावीर के रोम-रोम मैं, उनकी नीद और भूख तक मे समा गई थी, प्रविष्ट हो गई थी, छा गई थी नगी, भूखी, गूगी, बहरी, निराश्रित, अनाथ और रोती और बिलखती हुई मानवता।

महावीर ने मानव की विपन्नावस्था, उसकी दुर्दशा एव उसकी पूर्ण अधिकार-हीन-स्थिति पर गंभीर चिंतन किया और निष्कर्ष निकाला कि इस निरीह, दीन-हीन मानव के साथ समरसता स्थापित किये बिना इसका उद्धार होने वाला नही, इसका कल्याण होने वाला नही, इसको इसके अधिकार वापस मिलने वाले नही अत उन्होंने इस ससार के समस्त भोगो, प्रलोभनो, सम्पदाओ, सुखो एव सुविधाओं को सदा-सर्वदा के लिए तिलांजली दे दी और वैसे ही हो गये जैसा था उनका धन-भूमि-भवन तथा अधिकार-हीन मानव।

महावीर को यह पक्की अनुभूति हो गई थी कि मानव के अधिकारो का हनन उन दानवो ने किया है जिनके मन मे धन-सचय भूमि-संचय, सुख-सचय, पद-संचय एव अधिकार-सचय (परिग्रह) की भावनायें गहराई तक घुसी हुई हैं साथ ही जिनके लिए अपनी उपरोक्त उपलब्धियो के सरक्षण एव सवर्धन की प्रक्रिया मे क्रूरतम, जघन्यतम हिंसा करना, भीषणतम, निकृष्टतम अपराध करना दैनिक जीवन की एक सरलतम बात हो गई है।

महावीर ने जब और भी सूक्ष्मता के साथ इन मानव-अधिकार-हन्ताओ (आततायियो) का नख से शिख तक अवलोकन किया तब उन्हे ऐसी प्रतीति हुई कि ये सब तो अब मानव भी नही रह गये अर्थात् मनुष्य का कोई भी सुन्दर लक्षण इनमे शेष नही रह गया है अतः उन्होने तय किया कि मानव अधिकारो की पुनर्स्थापना इनके साथ कठोर एव क्रूर व्यवहार के द्वारा न करते हुये कोमल एवं अक्रूर व्यवहार के द्वारा करना अधिक श्रेयस्कर रहेगा—इस तरह के व्यवहार से इनका भी कायाकल्प होगा और सर्व-अपहृत मानव के समस्त मूल्यवान् एव आवश्यक अधिकार भी उसे प्राप्त हो जायेगे और इस तरह मानव-अधिकारो के सौम्य युद्ध को विजयश्री भी प्राप्त होगी।

अस्तु, महावीर ने अधिकार-सम्पन्न एव अधिकार-शून्य वर्गों के मध्य टकराव की स्थिति का निर्माण न करते हुये, वर्ग-विद्वेष एव वर्ग-सघर्ष की शरण मे न जाते हुए तत्कालीन समग्र समाज को एक पूर्ण इकाई के रूप मे देखते हुए साथ ही साथ समाज के प्रत्येक घटक को लक्ष्य मे रखते हुये मन, वाणी और कर्म की अहिंसा, प्रत्येक वस्तु के सचय-मोह का त्याग, अपने से भिन्न के अस्तित्व एव अधिकारो की स्वीकृति, हर प्रकार के त्याग और बलिदान की तैयारी तथा दूसरो की समस्त लूटी हुई वस्तुओ से मुक्ति प्राप्त करने का विचार और इस तरह एक नये युग, एक नये समाज के निर्माण का सकल्प जिसके मूल मे "जिओ और जीने दो" का उदार सिद्धान्त प्रतिष्ठित हो—आदि बिन्दुओ के मधुर, कोमल और आत्मीयतापूर्ण उपदेश का मार्ग निश्चित किया तथा मानव-अधिकारो की पुनर्प्राप्ति एव स्थापना का अपना अभियान स्वय वीतराग होकर, निर्ग्रन्थ होकर प्रारम्भ किया।

मानव-अधिकारो की स्थापना के अपने इस अभियान मे उन्हे स्वय अनेक प्रकार के कष्ट, यातनायें और पीडाये सहनी पडी, अवर्णनीय कठिनाइयो का सामना करना पडा किन्तु वे कभी भी न तो क्रुद्ध हुये, न क्षुब्ध हुये और न ही विचलित, परिणामत उनके अभियान को विश्व-व्यापी विजय श्री प्राप्त हुई तथा बडे-बडे शोषक, उत्पीडक और वैभव-विजेता उनके कमल-कोमल तथा मोक्ष-दायक चरणो में दडवत् नत हो गये साथ ही साथ भारतवर्ष का सामान्य मानव भी उनकी शरण मे आकर पूर्णत: आश्वस्त एव कष्ट-मुक्त हो गया।

इस तरह हम देखते है कि श्रमण-सस्कृति ने मानव-अधिकारो की पुनर्स्थापना करके मानव की जो सेवा की है, उसके जीवन मे जो युगान्तर स्थापित किया है, उसका जो कायाकल्प और कल्याण किया है तथा उसे अपरिग्रह, अहिंसा और अनेकान्त आदि के नैसर्गिक एव देदीप्यमान रत्न प्रदान करके उसका जो उपकार किया है वह सम्पूर्ण वसुन्धरा मे एक बेजोड बात है।

अस्तु, यदि हम सब हृदय से यह चाहते है कि सम्पूर्ण मानव-समाज सागोपाग सुखी रहे तथा उसके प्रिय अधिकार अपनी अखंडित दशा मे उसी के पास रहें तो हमे श्रमण-सस्कृति को बिना किसी हिचक के, बिना किसी विलम्ब के, शुद्ध श्रद्धाभाव के साथ अंगीकार कर उसे व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुचाना चाहिये क्योंकि मानव के लिये जो ममता श्रमण-सस्कृति के रोम-रोम मे व्याप्त है वह शायद मा को छोडकर और कही भी प्राप्त नही होगी।

आत्मशुद्धि की कसौटी : तपस्या

शास्त्र मे शुद्ध आत्म-स्वरूप को पढकर कोई अपने आपको शुद्ध परमात्मा भ्रम से मान बैठे तो जन्म-मरण व्याधि से छूट नही सकता, इसके लिए तो उसे तपस्या का श्रम करना पडेगा। सोने की शुद्धि केवल कहने या समझ लेने से नही हुआ करती उसके लिए तो अग्नि पर तपाने का कठिन परिश्रम भी करना पडता है।

—मुनि श्री विद्यानंद, दिगम्बर जैन साहित्य में विकार, दिल्ली, १९६४, पृ० ८ से उद्धृत

जैनधर्म की विश्व को मौलिक देन : एक चिन्तन

डॉ० कस्तूर चन्द 'सुमन'

सासारिक स्थिति को देखते हुए सम्प्रति यही अनुभव किया जा रहा है, कि ससार शान्ति का पिपासु है। उसकी पिपासा-शान्ति अभयस्थिति मे है और अभयस्थिति का मूलाधार दिखाई देती है सुरक्षा, जिसका सद्भाव प्रेमाश्रित है, जिस प्रेम या हार्दिक स्नेह को हम अहिंसा कहकर पुकारते हैं, और उसे धार्मिक स्वरूप प्रदान करते हैं।

जैनधर्म मे अहिंसात्मक-भावो का अंकन जीवरक्षार्थ किया गया है। जीव हितैषी होने के कारण वे सर्व-ग्राह्य हो गए हैं। वैदिक और बौद्धादि अन्य धर्मों मे निर्देशित अहिंसा की अपेक्षा जैनधर्म की अहिंसा मे "सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया" के सर्वाधिक भावो का अकन दिखाई देता है। सूर्यास्त के पश्चात् भोजन-पानादि न करना, पानी छानकर पीना आदि क्रियाए जीवसुरक्षा-प्रधान अहिंसा धर्म की ही प्रतीक हैं।

अहिंसा प्रधान धर्मों मे जैनधर्म उच्चकोटि का धर्म माना गया है। इस धर्म मे जीव-हत्या की बात तो बहुत दूर है, जीव-हत्या की कल्पना को भी महापाप की सज्ञा दी गई है। अहिंसा धर्म के अनुयायी हिंसक-भाव न मन मे विचारते है, न वचन से उचारते है और न ही किसी को ऐसे निंद्य कर्म हेतु प्रोत्साहित करते या आज्ञा देते हैं।

अहिंसा का मार्मिक रहस्योद्घाटन करते हुए यथा धीवरकर्षको कहकर जैनधर्म ने ही सभवत सर्वप्रथम यह कहा था कि हिंसा-भावो से युक्त धीवर भले ही हिंसा न करे किन्तु हिंसागत पाप से अलिप्त नही रह पाता है, जबकि कृषक हिंसा करते हुए भी हिंसा-गत भाव न होने के कारण हिंसा-दोषो से अलिप्त बना रहता है।

इसी प्रकार सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए जैनधर्म ने ही सभवत सर्वप्रथम यह उद्घोषणा की थी कि अग्नि, जल, वायु, वनस्पति और पर्वतो मे भी आत्मा निवास करती है, वे सचेतन हैं तथा उनमे भी मनुष्यो के समान दु खानुभूति होती है। अत इन्हे भी पीड़ित नही करना चाहिए।

जीविका के सबध मे भी जैनधर्म का चिन्तन अनठा ही है। इस धर्म मे उपदेश दिया गया है कि श्रावकों को अपनी आजीविका मधुकरवृत्ति से करनी चाहिए। इसमे यही अर्थ फलित होता है कि जैनधर्म चाहता है कि जैसे भ्रमर फूल को हानि पहुचाए बिना ही पराग का पान करता है, वैसे ही जीवो को बिना कष्ट दिए सभी को अपनी आजीविका अर्जित करनी चाहिए।

इस प्रकार अहिंसात्मक सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप मे जैसा चिन्तन जैन धर्म मे प्रस्तुत किया गया है, वैसा अन्यत्र नही है। इतर धर्मों मे प्रेमोपदेश अवश्य उपलब्ध हैं, परन्तु उसका सबध केवल मनुष्यों से दर्शाया गया है, मनुष्येतर जीवो की उपेक्षा की गई है। अन्य धर्मों मे एक ओर दया को धर्म का मूल दर्शाया गया है तो दूसरी ओर यज्ञादि-सबधी उपदेश देकर विरोधाभास भी उत्पन्न कर दिया गया है, जबकि जैन धर्म मे ऐसे भाव कही भी नही दर्शाये गए है। सर्वत्र एक रूपता ही भावो मे प्राप्त होती है।

जैन धर्म का ही प्रभाव था जो कि जीव-दया से प्रेरित होकर भगवान् महावीर ने पशु बलिकारी यज्ञादि का अपने जीवन काल में कमर कसकर विरोध किया था, और "जियो और जीने दो" का नारा बुलन्द कर अहिंसा-धर्म की ओर समाज को आकृष्ट किया था। बीसवी सदी के महान् सत महात्मा गाधी ऐसे ही अहिंसा के पुजारी थे। अहिंसा परमो धर्मः की मान्यता जैन धर्म ने ही प्रस्तुत की। यही कारण है कि यह वाक्य आज जैन धर्म का पर्यायवाची नाम माना जाने लगा है।

इस प्रकार अहिंसात्मक चिन्तन जैन धर्म की विश्व के लिए एक ऐसी मौलिक देन है, जिसमे न केवल मनुष्यों को बल्कि मनुष्येतर सभी शान्ति पिपासु जीवधारियो को शान्ति प्राप्त हो सकेगी। सासारिक मरणभय दूर हो सकेगा और जीवन जी सकेंगे सभी सुख और शान्ति पूर्वक।

जैन धर्म की द्वितीय मौलिक देन है सत्य। बौद्ध-धर्म मे चार आर्य सत्यो के रूप मे जैसा सत्य का विभाजन किया गया है, जैन

धर्म में ऐसी कोई सत्य-संबंधी विभाजन रेखा परिलक्षित नही होती है। इस धर्म में सत्य का तात्पर्य केवल सत्य बोलने मात्र से नही है। यहा सत्य का तात्पर्य ऐसे सम्भाषण से होता है जिसमे सुन्दरता और मधुरता का समावेश रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हित-मित-प्रिय गुणो से पूर्ण होने पर ही कथन मे सत्यता कही जावेगी। अथवा सत्य का हितमित प्रिय होना परमावश्यक है।

ऐसे सत्य के लिए क्षमा, निर्भयता और निर्लोभता जैसे गुणो का सद्‌भाव जीवन मे आवश्यक है क्योकि क्रोध, भय, और लोभावस्था में सत्य का पालन नही हो पाता है। सस्कृत के विद्वानो ने भी हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः कहकर हित-मित-प्रिय गुणो की ओर ही संकेत किया है और परोक्ष रूप से उक्त अभिमत को ही मान्यता प्रदान की है।

ऐसे सत्यान्वेषी सासारिक कष्ट से भयभीत नही होते हैं। आत्म कल्याणार्थ सिंहवृति से जीवनयापन करते हुए आगे बढ़ते है तथा सत्य को समझ कर वे जीवन मे क्रिया रूप मे उसे परिणत करते हैं। सत्याचरणी मुनिजन यही कारण है कि निर्भयता पूर्वक विचरते है। क्योकि वे स्वहित तो करते ही है परन्तु जीवहित का भी पूर्ण ध्यान रखते हैं। सत्य की यथार्थता के दर्शन मुनियो मे ही होते हैं।

जैन धर्म मे समझाये गए जीवाजीवादिक सप्त तत्त्वों की यथार्थता का बोध ही सत्य प्रतीत होता है क्योकि तत्त्व-बोध मे जीव का कल्याण निहित है, जो कि सत्य का एक अग है। सत्याचरण अनुभव मे आता है कि बहुत कठिन है, फिर भी सत्य यह ही है कि सत्य जाने पहिचाने बिना जीव को शान्ति की उपलब्धि नही है। ऐसे कल्याणकारी सत्य का गहराई से निरूपण कर आदर्श प्रस्तुत करना जैन धर्म की द्वितीय मौलिक देन है।

सदाचरण सबधी चितन इस धर्म की तृतीय विशेषता है। सदाचारिता पर इतर धर्मों की अपेक्षा इस धर्म मे अधिक बल दिया गया है। इस हेतु इस धर्म ने अनेक ऐसे नियम एव आचार सबधी तथ्यों का समावेश किया है तथा उनकी गहराई मे प्रवेश कर बारीकी से विचार करते हुए पच-महाव्रत-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह का अतिचारो सहित वर्णन कर सामाजिक व्यवस्था एव शान्ति बनाये रखने मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। ये महाव्रत मनसा-वाचा-कर्मणा पालनीय बताये गए है।

सदाचारिता के लिए जैन धर्म ने जीवन मे—क्षमा, नम्रता, सौजन्यता, सत्य, स्वच्छता, आत्म सयम, पवित्रता, त्याग, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य गुणों का समावेश आवश्यक बताया है, तथा प्रत्येक को धर्म कहा है। सामायिक, प्रतिक्रमण, व्रतोपवास जैसे उपाय भी दर्शाये गए है जिनसे कि सदाचारिता मे स्थिरता बनी रहती है।

डॉ० विद्याधर महाजन ने स्पष्ट शब्दों मे अपनी कृति प्राचीन भारत का इतिहास (१९७३ ई०) के पृष्ठ १७४ मे लिखा है कि "जीवन की पवित्रता की दृष्टि से जैन धर्म, बौद्ध धर्म की अपेक्षा पर्याप्त आगे रहा है।" इस कथन से यह अर्थ निष्पन्न होता है कि जीवन को पवित्र बनाने मे अन्य धर्मों की अपेक्षा जैन धर्म ने अधिक गहराई से चितन प्रस्तुत किया है तथा समाज को सदाचरण की ओर प्रेरित कर तदनुकूल आचरण बनाये रखने की महती आकाक्षा प्रकट की है। इससे यह स्पष्ट है कि सदाचरण के अभाव मे सामाजिक अशान्ति उत्पन्न होती है और पग-पग पर समाज कष्ट का अनुभव करता है। अत कहा जा सकता है कि कल्याणकारी सदाचरण सबंधी उक्त नियमादि का गम्भीर चिन्तन जैन धर्म की मौलिक देन है, जो नियम सामाजिक सुख-शान्ति के स्रोत प्रमाणित हुए है।

चतुर्थ मौलिक देन है जैन धर्म की विश्व के लिए उसकी कर्म व्यवस्था, आत्मा और ईश्वर के सबध मे विचार। कार्मिक व्यवस्था का निर्माण कर जैन धर्म ने एक कल्याणकारी भूमिका का निर्वाह किया है। सुख-दुख, जीवन-मरण, रूप-रग, जाति-कुल, आदि स्वकृत कर्मों के फल दर्शाये गए है। जीवन मे प्राप्त विघ्न-बाधाए तथा ज्ञान-दर्शनादि साता-असाता कर्म जनित फल हैं। प्रत्येक प्राणी को इन्हे अनिवार्य रूपेण भोगना पडता है।

जैन धर्म चूकि आत्मा के अस्तित्व मे विश्वास करता है तथा उसकी यह मान्यता है कि प्रकाश की भाति इसका अस्तित्व होता है। यही सुख-दुख का अनुभव करती है और यह शरीर से पृथक् है तथा अजर, अमर, अरूपी, अनित्य है। इस धारणा से यह और प्रमाणित हो गया है कि जिन कर्मों का फल इस पर्याय मे प्राप्त नही हो सका है, वह फल आगामी पर्याय मे भोगना पडेगा।

इसी प्रकार ईश्वर को जैन धर्म ने मान्यता तो दी है किन्तु ईश्वर को कर्त्ता-हर्ता के रूप मे स्वीकार नही किया है। सुख-दुख दाता भी नही माना है। इस धर्म मे ईश्वर को वीतरागी कहा गया है। यही कारण है कि ईश्वर पूजा मे दया अथवा क्षमा के लिए इस धर्म मे याचना निर्देशित नहीं की गयी है। ईश्वर को निस्पृही, सासारिक बन्धनो से मुक्त बताया गया है।

ऐसा कहकर जैन धर्म ने, देवी देवताओ को प्रसन्न करने के लिए यज्ञादि मे या विविध रूप से जीव-वध किए जाने या बलि चढाये जाने से उत्पन्न पाप-फल भोगने मे अपने अनुयायियों को बचाकर धार्मिक सूझ बूझ का परिचय दिया है तथा इतर धर्मों के समक्ष जीव हितैषी भावना को प्रस्तुत किया है।

ऐसी ईश्वर सबधी धारणा मे स्वावलम्बन की भावना का निर्माण होता है तथा हीन भावनाओ का विनाश होता है। वर्णिक भेद को भी प्रश्रय नही मिल पाता है। समानता की भावना उदित होती है। इतर सामाजिक बुराइया भी उत्पन्न नही हो पाती है।

यदि यह मान्यता बनी रहती कि ईश्वर पापों को क्षमा कर सकता है, असद् कर्म जनित फल से बचा सकता है तो निश्चित ही आलस्य प्रवृत्तियों को प्रश्रय मिलता, अज्ञान के गर्त मे पडे रहने की ही प्रकृति बनी रहती और असद् प्रवृत्तियों की पुनरावृत्ति मे भी ऐसे लोग संकुचित न होते; फलस्वरूप सामाजिक-अशान्ति को प्रश्रय मिलता, परन्तु जैन धर्म की ईश्वर सबधी मान्यता ने यह प्रमाणित कर दिया है कि ऐसी धारणाएं दु खोत्पादक हैं,

मनुष्य अपना कल्याण करने के लिए स्वतंत्र है। पूजा अर्चना-आराधना कर अपने भावों को निर्मल बनाया जा सकता है और निर्मल भावो द्वारा निस्पृही बनकर, काषायिक भावों को जीतकर, निर्विषयी होकर वीतरागी साधना मे वह कर्मजनित दु खों का अन्त कर सकता है, यह उसकी आकाक्षा सामर्थ्य तथा विवेक पर आश्रित है- - "नर चाहे नर बना रहे, या बन जाये नारायण,"

इस प्रकार 'स्वावलम्बन' की भावना को जन्म देना जैन धर्म के गहन चिन्तन का परिणाम है, यह भावना विश्व के लिए जैन धर्म की मौलिक देन कही जा सकती है, क्योंकि मुक्त, सतर्क, हितैषी ऐसा गहन चिन्तन अन्य धर्मों मे न के बराबर ही उपलब्ध है,

ज्ञान की प्रधानता और मुक्ति की साधना—चिन्तन के अनुक्रम मे जब हम ज्ञान और मुक्ति की साधना के सबध मे विचार करते हैं तो साधना के विविध रूप दिखायी देते है। साधन हेतु बौद्ध धर्म मे जैसे मध्यम मार्ग की खोज की गई वैसे ही अन्य धर्मों ने भी साधना के सरलतम मार्ग को निर्देशित कर जन समूह को आकृष्ट किया। परन्तु जैन धर्म ने किसी भी प्रकार न केवल साधना के क्षेत्र में अपितु अपने मौलिक सिद्धान्तो में भी कभी कोई परिवर्तन नही किया। साधना के जैसे कठोर नियमों का जैन धर्म ने उल्लेख किया है, वैसे कठोर शारीरिक कष्टदायी नियमो का इतर धर्मों में समावेश नही किया गया है। नियमादि की कठोरता ही प्रधान कारण थी जो कि जैन धर्म कल्याणकारी धर्म होते हुए भी लोकधर्म न बन सका और भारतीय सीमाओ मे ही सीमित रह गया। कडवी गुणकारी भेषज के समान फिर भी यह धर्म विवेकवानो के बीच बना रहा है और यही कारण है कि आज भी उस धर्म का यथावत् अस्तित्व विद्यमान है।

जैन धर्म निवृत्ति प्रधान धर्म है। वीतरागता इस धर्म की आत्मा है। साधना भी वीतरागतामयी है। वीतरागता का ही प्रभाव है जो कि इस धर्म मे बाह्याडम्बर को किसी भी प्रकार से प्रश्रय नही मिल सका है, और अन्य तत्त्वदर्शियो को भी यह प्रभावित कर सका है। जैन धर्म से प्रभावित होने के कारण ही सभवत साधु कबीर इस धर्म की आलोचना करने मे असमर्थ रहे प्रतीत होते हैं। उन्हे इतर धर्मों के समान इस धर्म में ऐसी कोई बुराई समझ में नही आई जिसका कि वे समाज मे उल्लेख करते। यथार्थ मे यह धर्म बाह्य नग्नता को जितना महत्त्व देता है उससे कही अधिक वह आन्तरिक भावो को महत्त्वपूर्ण समझता है। यही कारण है कि अन्तरथ विचारों, भाषणो तथा शारीरिक विचरण पर नियत्रण रखते हुए भावो में वीतरागता का लाना ही साधना की सफलता का मूलाधार इस धर्म में बताया गया है।

ज्ञान का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए बताया गया है कि साधना का प्रधान साधन ज्ञान ही है। यह ज्ञान श्रद्धा के साथ-साथ ही उत्पन्न होता है। ज्ञान ही एक ऐसा साधन है त्रिगुप्ति पूर्वक जिसकी साधना मे सहज ही कर्मों का विनाश किया जा सकता है। अनुभव में भी यही आता है कि सद्ज्ञानी सहज ही त्याज्य वस्तुओं को त्याज्य समझकर त्याग कर देता है जबकि अज्ञानी त्याज्य समझते हुए भी मोहाधीन होकर वस्तुओं का परित्याग नही कर पाता है। यदि किसी प्रकार विवशता वश त्याग भी दे तो उसकी प्राप्त्याशा बनी ही रहती है जो कि दु ख का मूल कारण कहा गया है।

ज्ञान ही एक ऐसा साधन है जिसके होते ही क्रिया भी तदनुरूप परिणत होती है। मनसा वाचा-कर्मणा एक होना ही ज्ञान होने का प्रतीक है। यह ज्ञान इन्द्रियों और मन की सहायता से तथा तर्क द्वारा प्राप्त किया जाता है। जब कर्मो का आंशिक प्रभाव नष्ट हो जाता है तो अवधिज्ञान, तथा जब ईर्ष्या, घृणादि का नाश हो जाता है तब मन पर्यय ज्ञान होता है। और जब सभी कर्मबन्धन नष्ट हो जाते हैं तब तीन लोक के पदार्थो का एक साथ ज्ञान कराने वाला केवल ज्ञान उत्पन्न होता है। यथार्थ मे सम्यक् ज्ञान यही है। जो चरित्र हमे बन्धन से छुडाता है वह सम्यक्चारित्र कहा जाता है। इस दर्शन-ज्ञान-चरित्र को इस धर्म मे रत्नत्रय सज्ञा दी गई है और जिसे मुक्ति का मार्ग बताया गया है, जो मुक्ति अनन्त आनन्द का धाम सुखों का भडार है।

इस प्रकार ज्ञान की महत्ता प्रतिपादित कर विवेक बुद्धि उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है। हिताहित का ज्ञान कराने वाला विवेक ही है जिसके अभाव मे जीव दु ख सागर मे पडा हुआ है। और विवेक ही ऐसा साधन है जो असद् प्रवृत्तियों से मनुष्य को लौटा सकता है। तथा समाज मे शान्ति स्थापित कर सकता है।

ऐसी अनुपम निधि की महत्ता प्रतिपादित करना जैन धर्म की एक विशेषता है। यदि मुक्ति को असीम सुखो का भडार न कहा गया होता तो उसकी प्राप्ति के लिए कौन प्रयत्न करता। इसी प्रकार यदि ज्ञान मे उसकी प्राप्ति का साधन न बताया गया होता तो जन समूह उसकी ओर आकर्षित न होता जिसके अभाव मे विवेक शून्यता रहती और विवेक के अभाव मे असद् प्रवृत्तियो में पडकर यह मनुष्य न केवल सामाजिक शान्ति भग करता अपितु स्वय की शान्ति भी भग कर बैठता।

जैन धर्म की अनेकान्त और स्याद्वाद-दृष्टियां भी उसकी मौलिक देन है। ये ऐसी दृष्टियां है जिनसे विसवाद को सहज ही

निपटाया जा सकता है। विवादास्पद तथ्यो के प्रति समाधान की उपलब्धि भी सहज हो गई है।

इस प्रकार जैन धर्म एक वैज्ञानिक, जीव-कल्याणकारी एवं समाज सुधारवादी, विवेकाश्रित धर्म प्रतीत होता है। इसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त अनूठे है तथा अन्य धर्मों से पृथक् महत्त्व रखते हैं। इस धर्म की सैद्धान्तिक मौलिकता ही प्रधान कारण है जो कि राज्याश्रय प्राप्त न होने पर भी इस धर्म का स्थायित्व बना हुआ है। और ऐसे समाज से वह गौरवान्वित है जो सुखी और समृद्ध है। तथा समृद्धता से जो स्वय के विवेकवान् होने का प्रमाण दे रही है।

धर्म की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि "धर्म वह है जो समीचीन अर्थात् वादी प्रतिवादियों द्वारा निराबाधित हो, कर्म-बन्धनो का विनाशक हो, और जीवो को जो ससार के दु खो से निकालकर उत्तम सुख की ओर ले जावे।" इस धार्मिक व्याख्या से भी यही प्रतीत होता है कि जैन धर्म ही एक ऐसा धर्म है जो निस्पृही एव जीव हितैषी है, जिसे धर्म सज्ञा दी जा सकती है। जीवकल्याण की सर्वोपरि भावना इस धर्म की महत्त्वपूर्ण एव मौलिक देन है। अत तात्पर्य यही धर्म आचरणीय प्रतीत होता है।

धन का सदुपयोग

अन्यायोपार्जितं वित्तं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति॥

अन्याय से कमाया हुआ धन केवल दस वर्ष तक स्थिर रहता है और ग्यारहवां वर्ष प्रारम्भ होते ही वह समूल नष्ट हो जाता है। इसलिए न्यायपूर्वक धन कमाकर उसके चार भाग करने चाहिए। पहला भाग दान-धर्म मे खर्च करें, दूसरा कुटम्बियो के पालन-पोषण मे, तीसरा आपत्तिकाल के लिए कही सुरक्षित रूप से रख दे तथा चौथा भाग व्यापार मे लगाना चाहिए इस प्रकार का नियम बनाकर धर्मात्मा श्रावको को धर्म सचय करते रहना चाहिए। धर्म करने से हमारा धन कभी नही घटता। वह तो दिन प्रतिदिन बढता ही जाता है। कहा भी है कि—

प्यासे पक्षी के पिये घटे न सरिता नीर।
धर्म किए धन ना घटे जो सहाय जिन वीर॥

अर्थात् जिस प्रकार पक्षियो के पानी पीने से सरिता का नीर कम नही होता, उसी प्रकार जिनेश्वर भगवान् की शरण लेकर धर्म करने से धन कभी नही घटता। धन दौलत क्षणभगुर है। वह किसी के पास स्थिर होकर रहने वाली नही है। जिस प्रकार पानी के बुद-बुदे बरसात मे उठते है और थोडी देर बाद वे नष्ट हो जाते है उसी प्रकार हमारा धन-ऐश्वर्य क्षणिक है—

दौलत पाय न कीजिए सपने में अभिमान।
चंचल जल दिन चारि को ठाऊं न रहत निदान॥
ठाऊं न रहत निदान जियत जग में यश लीजे।
मीठे वचन सुनाय विनय सब ही को कीजे॥

— आचार्य श्री देशभूषण, उपदेशसारसग्रह, कोथली, १९७९, पृ० १३९, १४९, १६७ से उद्धृत

आधुनिक युग में जैन सिद्धान्तों की उपयोगिता

डॉ० विमल कुमार जैन

भारतवर्ष मे सहस्राब्दियो से दो संस्कृतियां प्रमुख रही है– वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति। वैदिक संस्कृति का मूलाधार प्रारम्भ मे सृष्टि वैभव से चमत्कृत हो ईश्वर के प्रति साश्चर्य प्रकृतिपरक रहा। अतः कर्मकाण्ड की प्रधानता रही। तदनन्तर एकान्तवासी आरण्यक ऋषियो ने चिन्तन को महत्त्व देकर ज्ञान का वैभव व्यक्त किया और कालान्तर मे इन दोनो ने जनमानस को भक्ति की ओर प्रेरित किया। पुनः विरोध को सामजस्य मे बदलने के लिए इनका समन्वय हुआ। यह प्रक्रिया वेद, आरण्यक उपनिषद्, दर्शन शास्त्र एवं पुराणो का अवलोकन कर सहज समझ मे आ जाती है। इससे भिन्न श्रमण संस्कृति प्रारम्भ मे ही निवृत्ति परक रही, जिसमे आत्म गुण उपयोग अर्थात् ज्ञान को साध्य मानकर भक्ति एवं क्रिया को साधन माना गया।

ये दोनों संस्कृतियां प्रारम्भ से ही एक-दूसरे को प्रभावित करती रही है। जैन निवृत्ति ने वैदिक विचार धारा को और वैदिक भक्ति ने जैन चिन्तन को प्रभावित किया। जैन धर्म शाश्वत सिद्धान्तो पर आधृत है अतः एक सनातन विचारधारा है। इन सिद्धान्तो का सर्व-प्रथम विवेचन आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव ने किया था। तदुपरान्त चौबीसवें तीर्थंकर महावीर से पूर्व बाईस तीर्थंकरो ने अपने समय मे इनका प्रतिपादन किया, वैदिक ग्रन्थो म ऋषभदेव के अतिरिक्त अजितनाथ एवं नेमिनाथ आदि का उल्लेख भी है तथा ऋषभदेव को तो अवतार माना गया है। अन्त मे उन सिद्धान्तो का निरूपण आज से लगभग पच्चीस सौ वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने किया, जो धर्म शास्त्रों में उपलब्ध है।

भगवान् महावीर श्रमण संस्कृति के प्रमुख उन्नायक थे। उनके समय मे छः महात्मा और थे, जो श्रमण संस्कृति के प्रवक्ता थे। पूरण काश्यप मक्खलि गोशाल, अजित केश कम्बल, प्रकुधकात्यायन, संजय बेलटिठपुत्र और गौतम बुद्ध। परन्तु उनमे से आज केवल भगवान् बुद्ध की वाणी ही ग्रन्थो मे संग्रहीत है और विश्व के अनेक देशो मे प्रचारित है।

भगवान् महावीर ने जिन सिद्धान्तो का निरूपण किया था, वे किसी वर्ग विशेष से सम्बद्ध न होकर सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक थे अतः कूपमण्डूकता की परिधि से परे 'जनहिताय' थे। यही कारण है कि वे जितने उस समय उपयोगी थे, आज भी है और भविष्य मे भी सदा रहेंगे।

महावीर की समकालीन परिस्थितियां सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से बड़ी विषमतापूर्ण थीं। समाज मे ब्राह्मणो की प्रमुखता थी, राजनीति समाज एवं शिक्षा आदि के संचालक वे ही थे। शासक क्षत्रिय अवश्य थे परन्तु मन्त्री, राजगुरु, राजवैद्य और राजज्योतिषि पदो पर वे ही आसीन थे। यद्यपि वे विद्वान् होते थे, उनमे त्याग भी था किन्तु ऊंच-नीच के भेदभाव मे उनका बहुत हाथ था। शासक उन्ही के संकेत पर चलते थे। उन्ही के कारण कर्मकाण्ड का अत्यधिक प्रचार था अतः यज्ञ प्रायः हुआ करते थे, जिनमे पशु बलि तो साधारण थी ही, नरबलियां भी दी जाती थीं। मध्यम और निम्न वर्ग आर्थिक विषमता से घुट रहा था तथा स्त्री समाज अनेक अधिकारों से वंचित था।

भगवान् महावीर ने इन भयंकर परिस्थितियो म मूक पशुओ और निस्सहाय लोगो की आह सुनी, आर्थिक विषमता के भार से दबे मध्यम एवं निम्न वर्ग की दुरवस्था को देखा तथा स्त्रियों की दयनीय स्थिति पर दृष्टिपात किया तो उनकी आत्मा कराह उठी और वे क्रान्तिदूत के रूप मे समाज के समक्ष आये तथा उन्होंने सहअस्तित्व का उपदेश दिया। सबल हाथो को इन बुराइयों का उन्नायक मानकर उन्होंने आध्यात्मिक क्रान्ति द्वारा ही इन्हे दूर करने का निर्णय लिया और वे त्यागी तपस्वी तथा ज्ञानी बनकर इस कार्य में अग्रसर हुए। महात्मा बुद्ध ने भी इसी मार्ग को अपनाया परन्तु कालान्तर मे अपनी भिन्न सारणी द्वारा उन्होने इस लक्ष्य के सम्पादन मे प्रयत्न किया।

यहां जैन धर्म के उन उपयोगी सिद्धान्तो पर प्रकाश डालना आवश्यक है जिनका तात्कालिक परिस्थितियो को देखकर जनहित के लिए भगवान् महावीर ने प्रतिपादन किया था और जो उस समय की भांति आज भी उतने ही उपयोगी हैं। जनहित के लिए सर्वप्रथम

आवश्यक है हनन प्रवृत्ति का परित्याग और इसके लिए अनिवार्य है सत्य, सन्तोष, सयम और त्याग का ग्रहण तथा दृष्टिकोण मे उदारता। ये ही है सुदृढ़ समाज के लिए रामबाण औषधिया, जिनके बिना विश्व की कोई प्रणाली न स्वस्थ हो सकती है और न पुष्ट। इसीलिए उन्होंने पांच व्रतों का सुविस्तृत विवेचन किया तथा दृष्टि की व्यापकता पर बल दिया।

ये पाच व्रत हैं अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। दृष्टि की व्यापकता या उदारता को उन्होने अनेकान्त या स्याद्वाद संज्ञा दी। **अहिंसा परमो धर्मः** अहिंसा को परम धर्म इसलिए कहा गया क्योंकि शेष उसके आचरण पर स्वयं अनुगमन करते हैं। अहिंसक की दृष्टि भी उदार हो जाती है। इसीलिए अहिंसा जैन दर्शन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

अहिंसा : समता: एवं विश्व शान्ति :

अहिंसा की धुरी समतातत्त्व पर घूमती है। आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने अहिंसा की व्याख्या इस प्रकार की है—

कुलजोणिजीवमग्गण-ठाणाइं सुजाणऊणजीवाणं।
तयेसारम्भणियत्तण-परिणामों होइ पढमवदं ।।

अर्थात् कुल, योनि और मार्गणा आदि द्वारा जीवो के स्थानो को जानकर भेदभाव के बिना उनमें आरम्भ वृत्ति से हटना अहिंसा है। इससे स्पष्ट है कि समस्त प्राणियों मे समभाव अहिंसा का आधार है।

श्रमणो के लिए जहा हिंसा का पूर्णत वर्जन है, वहा सामाजिक के लिए लोक-व्यवहार के पालनार्थ कुछ मर्यादायें हैं। वह सापराध को दण्ड दे सकता है। उसके लिए स्थूल रूप मे अहिंसा का पालन आचार्य उमास्वामी के शब्दो मे इस प्रकार हो सकता है —

मैत्रीप्रमोद कारुण्यमाध्यस्थ्यानि च-
सत्वगुणाधिक क्लिश्यमाना ऽविनयेषु।

अर्थात् सज्जनों के प्रति मैत्री, गुणी जनों के प्रति प्रमोद भाव क्लिष्ट प्राणियो के प्रति कारूण्य और विरोधवृत्ति वालो के प्रति माध्यस्थभाव (उदासीनता) रखना।

ससार के समस्त विप्लवों का मूल रागद्वेष है। इष्ट के प्रति राग और अनिष्ट के प्रति द्वेष क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या एव मात्सर्य आदि दुर्भावनाओ को प्राणियों मे जागृत करते हैं और ये विकार हिंसा के लिये प्रेरणा देते है। इन्ही के वशीभूत होकर व्यक्ति स्वार्थ से अन्धा हो जाता है और वह अन्य व्यक्तियो के प्रति अहित की बात सोचता है, अपशब्द कहता है, प्रतिशोधवश छेदन-भेदन एव मरण-मारण करता है, असत्य बोलता है, चौर्य कर्म करता है, बलात्कार तथा घात तक कर डालता है और धन धान्य—क्षेत्रादि का अधिकाधिक सग्रह कर दूसरे को उनके अधिकार से वचित करना चाहता है। इनके परिणाम स्वरूप ही वह भयकर लूटमार, अग्निकाण्ड और युद्धो का कारण बनता है। इस प्रकार वह विश्व के लिए एक महान् सकट का कारण होता है। अत विश्व शान्ति के लिए अहिंसा अनिवार्य है। महाभारत मे तो इसीलिए अहिंसा को परम धर्म, परम तप और परम सत्य ही नही, धर्म का प्रवर्तक भी माना है—

अहिंसा परमो धर्मः अहिंसा परमं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं, ततो धर्म प्रवर्त्तते।।

यह विश्वविदित एक तथ्य है कि सर्व प्रथम भगवान् महावीर ने ही अहिंसा का विशद विवेचन किया और उसका व्यापक प्रभाव विश्व के समस्त धर्म, दर्शन एव साहित्यो पर पड़ा। महात्मा बुद्ध स्वय प्रारम्भ में जैन दीक्षा लेकर त्यागी बने थे और भगवान् महावीर के समकालिक एव समक्षेत्रीय होकर उनके द्वारा प्रतिपादित अहिंसा एव मोक्ष मार्ग से प्रभावित हुए थे। उन्होने मज्झिम निकाय में भगवान महावीर के इस मार्ग की प्रशसा भी की है। महाभारतादि वेदानुयायी ग्रन्थो मे भी अहिंसा का प्ररूपण जैन अहिंसा के प्रभाव का ही परिणाम है। क्योकि उनमे पूर्व वैदिक धर्म मे यज्ञादि अनुष्ठानो मे हिंसा मान्य थी। आगे चलकर ईसाई और मुस्लिम धर्म भी इस प्रभाव से अछूते नही रहे। बाइबल मे तो यहा तक कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति तुम्हारे गाल पर थप्पड मारे तो दूसरा गाल और कर दो। कुरान मे भी स्थान स्थान पर रहम का गुणगान है, अल्लाह सबसे बडा रहिम है।

इनके अतिरिक्त विश्व के बडे-बडे दार्शनिक साहित्यकार एव नेता भी इससे प्रभावित हुए बिना न रहे। सर्वश्री टालस्टाय, रोम्यो रोला एवं महात्मा गांधी आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। महात्मा गाधी ने तो अहिंसात्मक सत्याग्रह से ही विश्व की महान् शक्ति अंग्रेजी सत्ता को भारत से निकल जाने के लिए विवश कर दिया।

अहिंसक व्यक्ति असत्य का आचरण नही कर सकता, दूसरो के पदार्थ और अधिकारो को नही छीन सकता, वासनावश अनाचार की प्रवृत्ति से रुकेगा और अधिक परिग्रह के लिए विधि-विरुद्ध कार्य न करेगा वरन् उदार हो समाज एव राष्ट्र की सहायता करेगा। इस

प्रकार अहिंसक के आधार मे सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की भावना स्वयं आ जाती है। इसीलिए अहिंसा को परम धर्म कहा है तथा विश्व शान्ति का प्रमुख कारण माना है।

अपरिग्रह: सर्वोदय एवं समाजवाद :

पाच व्रतो मे जनहित के लिए अपरिग्रह का बडा महत्त्व है। यो तो अहिंसा का पालन करने वाला अपरिग्रह का पालन न्यूनाधिक रूप में करेगा ही तो भी समाज से विषमता दूर करने के लिए जीवन मे इसका आचरण अत्यावश्यक है।

भगवान् महावीर के समय से जैन धर्म को निग्रन्थ धर्म भी कहा गया है। ग्रन्थ या ग्रन्थि मे तात्पर्य परिग्रह से है। अत परिग्रह-त्याग की महिमा होने से इसे निग्रन्थ सज्ञा दी गई। परिग्रह को मूर्च्छा भी कहते हैं क्योंकि ग्रहण मे आसक्ति होती है और वही प्रगाढ होकर मूर्च्छा का रूप धारण कर लेती है। मानव परिग्रह वश निजात्मभाव को भूल जाता है और परभाव मे लीन हो जाता है अत: वह स्वार्थवश जन, समाज एव राष्ट्रहित की चिन्ता नही करता वरन् अशान्ति के कारण जुटाता रहता है।

संग्रह की भावना वश व्यक्ति झूठ बोलता है, चोरी करता है, कम तोलता है--नापता है, छलकपट करता है, धोखा देता है, षड्यन्त्र रचता है, हत्याये करता और यहा तक कि वह भीषण युद्ध भी करता है। अत यदि समाज से इन दोषो को दूर करना है और विषमता हटाकर समता लानी है तो परिग्रह की भावना को सयत करना आवश्यक है, इसे मर्यादित करना होगा। जैन दर्शन के अनुसार व्यक्ति को अपनी आवश्यकता से अधिक द्रव्य, धन-धान्य और भूमि आदि को समाज एव राष्ट्र को सौपना होगा। इसी का नाम समाजवाद है और इसी मे सर्वोदय निहित है।

साम्यवाद के महान् व्याख्याता कार्ल-मार्क्स ने साम्यवाद की परिभाषा करते हुए लिखा है कि मानव समाज मे निर्धनता एक अभिशाप है। जब तक समाज मे विषमता रहेगी, शाति नही होगी और जब तक सम्पत्ति एव सुख-साधनों का कुछ लोगो के हाथो मे एकाधिकार है तब तक विषमता रहेगी अत विश्व शान्ति एवं सुख समृद्धि के लिए यह एकाधिकार समाप्त होना चाहिए यही तो अपरिग्रह है। परन्तु आज के साम्यवाद मे वर्ग-भावना घृणा एव हिंसा का प्राबल्य है अत अपरिग्रह सर्वोदयी समाजवाद के अधिक समीप है। इस सर्वोदयी समाजवाद का बडा ही विशद विवेचन अपरिग्रह के रूप मे जैन धर्म मे हुआ है।

यह अपरिग्रह नियम आभ्यन्तर और बाह्य रूप से दो प्रकार का है। आभ्यन्तर तो आत्मभावों मे त्याग से सम्बन्ध रखता है। और इसी के परिणाम स्वरूप बाह्य परिग्रह का त्याग होता है। आज के सन्दर्भ मे बाह्य परिग्रह को समझना आवश्यक है। बाह्य परिग्रह दस प्रकार की होती हैं—

बाहिर संगा खेत्तं वत्थु धणधण्णकुप्पभंडाणि।
दुपय-चउप्पय-जाणाणि चेव सयणासणे य तहा॥

अर्थात्, क्षेत्र—भूमि, पर्वत आदि, वास्तु-गृह, दुकान आदि, धन-रुपया, सोना, चादी, रत्न आदि धान्य-गेहू, चना आदि, कुप्य—सभी प्रकार के वस्त्र, भाण्ड—सभी प्रकार के बर्तन, यान सभी प्रकार के वाहन, शयनासन सोने और बैठने के सभी उपकरण, द्विपद—सभी पुत्रादि तथा दास-दासी आदि और चतुष्पद—हाथी-घोडा, गाय-भैंस आदि पशु।

इन सभी परिग्रहो को मर्यादित करना और शेष को समाज हित मे त्यागना ही अपरिग्रह है। इससे जाना जा सकता है कि जैन धर्म मे कितनी गम्भीरता से सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए अपरिग्रह का विवेचन हुआ। इतनी विस्तृत व्याख्या आज के समाजवादी अर्थशास्त्री भी नही कर पाये हैं। और विशेषता यह रही कि लोग इसका आचरण करे अत अपरिग्रह को धर्म का अग माना गया और है भी ऐसा ही क्योंकि आत्मस्वभाव या कर्त्तव्य का नाम ही धर्म है।

स्याद्वाद या अनेकान्त . उदार दृष्टिकोण

ससार में हठ या दुराग्रह प्राय सघर्ष का कारण हो जाता है। क्योंकि इसमे अहकार और परहीनता का भाव निहित रहता है। इसीलिए वर्ग, समुदाय एव धर्मों मे भेदभाव का विषबीज अकुरित होता है और वही समाज के विनाश का कारण बनता है। इतिहास मे वैदिक-बौद्ध, ईसाई-मुस्लिम, हिन्दू-मुस्लिम एव शैव-वैष्णव आदि के सघर्ष इसके प्रमाण है। इसके विपरीत समाज मे सर्वांगीण सामजस्य के लिए विश्व को भगवान् महावीर की सबसे बडी देन है स्याद्वाद या अनेकान्त सिद्धान्त। उन्होंने कहा कि पदार्थों को अनेक दृष्टिकोणो से देखो, वस्तु को एक ही रूप मे न देखकर उसे विविध रूपों से निहारो, जैसे—गाय पशु भी है, प्राणी भी है, चतुष्पद भी है, मनुष्य प्राणी भी है, पिता भी है, पुत्र भी है, चाचा भी है, भतीजा भी है, प्रोफेसर भी है और वकील भी है इत्यादि। एक व्यक्ति ने कहा कि यह वस्तु ऐसी है, महावीर ने कहा स्यात् ऐसी भी है और स्यात् ऐसी भी। इसलिए उन्होने नय और सप्तभगियो का निरूपण किया। आत्मा निश्चय नय मे शुद्ध चैतन्य रूप है परन्तु व्यवहार से वह प्राणी है, मानव है, गाय है और चीटी भी है। यह सापेक्ष सिद्धान्त है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ के रूप का विवेचन

उसकी विभिन्न पर्याय एव अन्य पदार्थों की अपेक्षा से होता है। आइंस्टीन का सापेक्षवाद इसी सिद्धान्त से प्रभावित है।

इस सिद्धान्त की विशेषता यह है कि जब विभिन्न दर्शन एक-दूसरे का खण्डन करते हैं जैन दर्शन इस सिद्धान्त के द्वारा यह कहकर सामजस्य ला देता है कि यह भी सत्य है और यह भी। केवल आवश्यकता है दृष्टिकोण बदलने की और दूसरे को समझने की। इस प्रकार इस सिद्धान्त ने सहिष्णुता, उदारता, सौहार्द, प्रेम को जन्म दिया और रक्तपिपासा को शान्त किया। यही कारण है कि जैन समाज सदा और सर्वत्र सघर्ष और विरोध से बची रही। इसी सिद्धान्त से उन्होंने ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय भी किया।

आचार्य कुन्दकुन्द ने पचास्तिकाय मे लिखा है —

ण वियप्पदि णाणादो णाणी णाणाणि होंति णेगाणि।
तम्हादु विस्सरूवं भणियं दवियं त्ति णाणीहि॥

अर्थात् आत्मा अपने गुण ज्ञान से भिन्न नही है और क्योकि ज्ञान अनेक हैं अत पदार्थ के रूप भी ज्ञानियो ने अनेक कहे हैं।

वास्तव मे यह सिद्धान्त विवाद, कलह एव सघर्ष के समय उसे शान्त करने के लिए अग्नि पर जल का कार्य करता है। विश्व के सभी विद्वानो ने इसकी भूरि-भूरि प्रशसा की है। जैन धर्म के प्रसिद्ध सिद्ध-णमोकार मन्त्र मे 'णमो लोए सव्वसाहूण' कहकर लोक मे विद्यमान सभी साधुओ को नमस्कार किया गया है। केवल जैन साधु को ही नही वरन् भाव से प्रत्येक साधु को नमस्कार है, चाहे वह कोई भी हो।

कतिपय क्रांतिकारी कदम

इन दार्शनिक सिद्धातो के अतिरिक्त भगवान् महावीर ने समाज मे वैषम्य और विरोध दूर करने के लिए कुछ क्रान्तिकारी और बातें भी कही, जैसे—समाज मे कोई ऊच-नीच नही है तथा सभी वर्ग समाज का एक सम्माननीय अग है। उस समय वर्ण व्यवस्था बडी कठोरता से प्रचलित थी तथा तथाकथित निम्न वर्ग के लोगो के साथ बडा दुर्व्यहार होता था और स्त्री वर्ग को हीन भावना से देखा जाता था। भगवान् महावीर ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई और ब्राह्मणादि वर्ण-भेद को जन्म से न मानकर कर्म से माना —

कम्मुणा होइ बम्भणो, कम्मुणा होइ खत्तियो इत्यादि।

आचार्य अमितगति ने स्पष्ट कहा है कि आचार-भेद से ही जाति-भेद की कल्पना हुई है, ब्राह्मणादि जाति कोई नियत और वास्तविक नही है —

आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनम्।
न जाति ब्राह्मणाद्यस्ति नियता क्वापि तात्त्विकी॥

उन्होंने **शीलवन्तो गताः स्वर्गं नीचजातिभवा अपि** कहकर नीचकुलोत्पन्न व्यक्तियो को शुद्धाचरण के पालन से स्वर्ग की प्राप्ति तक बतलाई है।

श्री देवसेनाचार्य ने तो यहा तक कहा कि जो भी व्यक्ति, चाहे वह ब्राह्मण हो या और कोई अन्य, इस जैन धर्म का पालन करता है वही श्रेष्ठ श्रावक है क्योकि श्रावक के सिर पर कोई ऐसी मणि तो लगी नही होती जो उसे श्रावक जताती हो —

एहु धम्मु जो आयरइ, बंभणु सुद्दवि कोइ।
सो सावहु किं सावयइं अण्ण किं सिरिमणि होइ॥

भगवान् महावीर ने कहा कि प्रत्येक भव्य आत्मा परमात्मा बन सकती है चाहे वह किसी जाति या वर्ग से सम्बन्ध रखती हो। जाति कुल, वर्ग, देश एव कालादि से परे प्रत्येक सद्व्यक्ति को मुक्ति का अधिकार है, वह स्वय ईश्वर हो सकता है—यह उनकी एक बडी स्तुत्य देन है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार मे 'ण हु होदिमोक्खमग्गो लिंग' कहकर श्रमण और श्रावको के लिए लिंग (वेष) का कोई महत्त्व नही बतलाया। उन्होंने सम्यग्दर्शन, ज्ञान एव चारित्र को ही महत्त्व दिया, साधक चाहे कोई हो।

इस प्रकार जहा उन्होंने समाज से ऊच-नीच के भेदभाव को मिटाया वहा नारी समाज के उत्थान पर भी बल दिया। महासती चन्दनबाला का वृत्त इसका उदाहरण है। जिनके उद्धारार्थ भगवान् स्वय उनके घर पधारे थे।

इन सिद्धान्तो एव सुधार की बातों से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् महावीर महान् तत्त्वदर्शी थे जिन्होंने सभी कालो एव क्षेत्रो मे विश्वहित की भावना से इनका प्रतिपादन किया। समाज की सुदृढ नीव यदि इन पर रखी जाय जैसा कि पहले दर्शाया जा चुका है तो वह पतन की ओर नहीं जा सकती, न उनमे विग्रह की दीमक लग सकती है और न सघर्ष के विविध कारणो की टाकी ढहा सकती है। अतएव यह विश्वास से कहा जा सकता है कि जैन धर्म के ये सिद्धान्त जितने उस समय उपयोगी थे, आज भी है और सदा रहेगे क्योकि आधुनिक युग महान् सघर्ष, भ्रष्टाचार एव ऊचनीच के भावो से ग्रसित है।

वैज्ञानिक आईने में जैन धर्म

श्री राजीव प्रचंडिया

राग और द्वेष अर्थात् कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) के विजेता जिन[1] तथा जिन के मार्ग का अनुसरण करने वाले व्यक्ति वस्तुतः जैन कहलाते हैं।[2] यथार्थतः जैन वह है जो रूढि परम्पराओं से दूर हटकर स्वतन्त्रता पूर्वक आत्मोदय में लीन रहता है। अनुरोध और विरोध परक परिस्थितियों में वह सर्वथा माध्यस्थभाव रखता है। सबके उदय में उसे प्रमोद पुलकन होती है।

धर्म के स्वरूप को स्थिर करते हुए भारतीय आचार्यों ने मूलतः दो व्याख्यायें स्थिर की हैं- एक महर्षि वेद व्यास की जिसमें कहा गया है कि "धारणाद्धर्म" जो धारण करता है, उद्धार करता है अथवा जो धारण करने योग्य हो, उसे धर्म कहा जाता है। दूसरी व्याख्या है जैन परम्परा की जिसमें कहा गया कि वस्तु का अपना स्वरूप ही धर्म है।[3] धर्म आत्मतत्त्व के वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित करता है। वस्तुतः धर्म मानव जीवन का मूलाधार है।

जीवन में उपयोगिता की दृष्टि से धर्म और विज्ञान दोनों का स्वतन्त्र महत्त्व है। ये दोनों ही सत्य तक पहुंचने के माध्यम हैं। विज्ञान भौतिक प्रयोग-शाला में किसी वस्तु की सार्वभौमिक सत्यता को उद्घाटित करता है। पर धर्म जिज्ञासा-अनुभव के आधार पर आत्म प्रयोग शाला में सत्य को खोजता है। दोनों का मार्ग्य तो एक ही है। सत्य को पहिचानना-परखना किन्तु मार्ग अलग-अलग हैं।

वैज्ञानिक आईने में जैन धर्म पर यहां चर्चा करना हमारा मूलाभिप्रेत है।

जैन धर्म प्रकृति के अनुरूप होने के कारण व्यावहारिक तथा जीवनोपयोगी धर्म है। इसकी मान्यतायें वास्तविकता की सुदृढ़ नींव पर अवस्थित और विज्ञान सम्मत है। अतएव यह एक वैज्ञानिक धर्म है। यह निर्विवाद सत्य है कि अणु, परमाणु, जीव, पुद्गल, वनस्पति आदि का जितना विशद और सूक्ष्म विश्लेषण जैन दर्शन करता है। उतना विज्ञान सम्मत दर्शन अन्य किसी धर्म का नहीं है। जैन धर्म का लक्ष्य पूर्ण वीतराग—विज्ञानिता की प्राप्ति है। यह वीतरागता सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूपी रत्नत्रय की समन्वित साधना से उपलब्ध होती है। श्रद्धा, ज्ञान और चरित्र का मिला जुला पथ ही व्यक्ति को मुक्ति या सिद्धि तक ले जाता है। क्योंकि ज्ञान से भावों (पदार्थों) का सम्यक् बोध होता है, दर्शन से श्रद्धा होती है।[4] जब तक यह आत्मा कर्म द्वारा आच्छादित है, तब तक उसका वास्तविक स्वरूप अप्रकट रहता है। यह निश्चित सिद्धान्त है कि आत्मा के बिना ज्ञान नहीं और ज्ञान के बिना आत्मा नहीं।[5] आत्मा और ज्ञान का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है, शाश्वत है। जैन धर्म स्वीकारता है कि आत्मा नित्य है, अविनाशी है एवं शाश्वत स्वतन्त्र द्रव्य है।[6] उत्पादन के अभाव में इसकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। जिसकी उत्पत्ति नहीं, उसका विनाश भी नहीं होता है।[7] अतः वह अनादि है तथा विभिन्न योनियों में अनन्त काल से परिभ्रमण करता रहता है।[8] जैन दर्शन की यह मान्यता विज्ञान सम्मत है। विश्व-विख्यात वैज्ञानिक सर डाल्टन का परमाणुवाद जैन दर्शन के आत्मवाद से साम्य रखता है।

---

१. "जिदकोहमाणमायाजिदलोहातेण ते जिणा होंति।"-- मूलाचार, गाथा सं० ५६१, अनन्तकीर्तिग्रन्थमाला, वि० सं० १९७६
२. "जिनस्य सम्बन्धीद जिनेन प्रोक्त वा जैनम्।" प्रवचनसार, गाथा सं० २०८
३. "वत्थु सहावो धम्मो।" —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा सं० ४७८, राजचन्द्र ग्रन्थमाला, सन् १९६७
४. "णाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चारित्तेण निगिण्हाई, तवेण परिसुज्झई॥" —उत्तराध्ययनसूत्र २८-३५
५. "अप्पाण विणु णाण, णाण विणु अप्पगो न संदेहो।" —नियमसार, गाथा सं० १७१
६. "णिच्चो अविणासि सासओ जीवो।" —दशवैकालिक, निर्युक्ति भाष्य, ४२
७. "नत्थि जीवस्स नासोत्ति।" —उत्तराध्ययनसूत्र, २-२७
८. "सव्वेसमकम्म कप्पिया।" —सूत्रकृताग, १-२-३-१८

सृष्टि रचना के सम्बन्ध मे विभिन्न मान्यतायें प्रचलित हैं। किन्तु वैज्ञानिक विकास के इस युग मे उनमें अधिकांशत: कल्पना मात्र प्रतीत होती हैं। इस सदर्भ में जैन धर्म की मान्यता विज्ञान की कसौटी पर खरी उतरती है। जैन धर्म के अनुसार ससार जड और चेतन का समूह है जो सामान्य रूप से नित्य और विशेषरूप से अनित्य है। जड और चेतन अनेक कारणो से विविध रूपो मे रूपान्तरित होते रहते हैं। रूपान्तर की इस अविराम परम्परा मे भी मूल-वस्तु की सत्ता का अनुगमन स्पष्ट है। इस अनुगमन की अपेक्षा से जड और चेतन अनादि है। सत् का शून्यरूप मे परिणमन नही हो सकता है, और शून्य से कभी सत् का प्रादुर्भाव नही हो सकता है किन्तु पर्याय की अपेक्षा से वस्तुओं का उत्पाद और विनाश अवश्य होता है। परन्तु उसके लिए देव, ब्रह्म ईश्वर, या स्वयभू की आवश्यकता नही होती, अतएव न तो जगत् का कभी सृजन होता है न विसर्जन। इस प्रकार ससार की शाश्वतता सिद्ध है। इसकी पुष्टि प्राणी शास्त्र के प्रसिद्ध विशेषज्ञ श्री जे० बी० सी० एस० हाल्डेन ने भी अपने सृष्टि विषयक मत मे की है कि "मेरे विचार में जगत् का कोई आदि नही है।" सृष्टि विषयक यह सिद्धान्त अकाट्य है और विज्ञान का चरम विकास भी कभी इसका विरोध नही कर सकता।

अवतारवाद के सम्बन्ध मे जैन धर्म का अपना अलग दृष्टिकोण है। वह अनन्त आत्मायें मानता है। वह प्रत्येक आत्मा को परमात्मा बनने का अधिकार प्रदान करता है तथा परमात्मा बनने का मार्ग भी प्रस्तुत करता है किन्तु यहां परमात्मा के पुन भवातरण को मान्यता नही दी गई है। इस धर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा कृत कर्मो का नाश करके परमात्मा बन सकती है।[1] स्वरूप दृष्टि से सब आत्मायें एक (समान) हैं।[2] यहा तक कि हाथी और कुथुआ दोनो मे आत्माये समान हैं।[3] वास्तव मे सब आत्माये अपने आप मे स्वतत्र तथा पूर्ण हैं। वे किसी अखण्ड सत्ता की अशभूत नही है। प्रत्येक नर को नारायण और भक्त को भगवान् बनने का यह अधिकार देना ही जैन धर्म की पहली और अकेली मान्यता है। इसी आधार पर जैन धर्म मे व्यक्ति विशेष की अपेक्षा यहा मात्र गुणो के पूजने का विधान है। उसका आद्य मन्त्र णमोकार मन्त्र (नमस्कार मन्त्र) है।[4] गुणों के व्याज से ही व्यक्ति को स्मरण किया जाता है। शरीर तो सर्वथा वन्दना के अयोग्य है।[5] क्योंकि किसी कार्य का कर्त्ता यहा परकीय शक्ति का नही माना गया है। अपने-अपने कर्मानुसार प्राणी स्वय कर्त्ता और उसका भोक्ता होता है।[6] इसीलिए पूजा की सामग्री जिसे जैन धर्म मे अर्घ्य और जैनेतर लोक मे भोग कही जाती है। वह यहा वस्तुत निर्माल्य होती है। यह अर्घ्य तो जन्मजरादि कर्मो का क्षय करके मोक्ष प्राप्त्यर्थ शुभ का प्रतीक है।[7] अतएव सर्वथा अग्राह्य-निर्माल्य होना है। सम्भवत: विश्व के किसी भी धर्म में ऐसी सर्वागीण तथा ममस्पर्शी भावनाऐ दृष्टि गोचर नही होती हैं।

जैन-धर्म कर्मवाद पर आधारित है। राग-द्वेष ये दो कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण ही वस्तुत. दु.ख है।[8] ससार का मूल कर्म है और कर्म का मूल कषाय है।[9] इन कषायो को क्षय किये बिना केवल ज्ञान (पूर्ण ज्ञान) की प्राप्ति नितान्त असम्भव है।[10] जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक प्राणी अपने ही कृत कर्मों से कष्ट पाता है।[11] आत्मा स्वय अपने द्वारा ही कर्मो की उदीर्णा करता है। स्वय अपने द्वारा ही उनकी गर्हा -- आलोचना करता है और अपने कर्मों के द्वारा ही कर्मो का सवर, आस्रव का निरोध करता है।[12] यह निश्चित है कि जैसा व्यक्ति कर्म करता है उसे वैसा ही फल भोगना पडता है।[13] ध्वनि सचालित यन्त्र मे जिस प्रकार की ध्वनि सचित की जाती है उसी क्रम मे ध्वनि का प्रसारण भी होता हैं। जैन धर्म का कर्म सिद्धान्त वैज्ञानिक यत्र-ध्वनि

---

१. "अप्पोविय परमप्पा कम्म विमुक्का य होई फुड।" भावपाहुड, गाथाक १५१

२ "एगे आया।" - समवायागसूत्र 1-1

३ "हत्थिस्स य कुथुस्स य समेचेव जीवा।" भगवतीसूत्र ७-८

४ "णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण, णमो आइरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्व साहूणं।" - षट्खण्डागम, पुस्तक स० १, खड स० १, पृ० स० १, सूत्र १-८

५. "णवि देहो वदिज्जइ, णवियकुलो ण विय जाइ सजुत्तो।"
को वंदे गुणहीणो णहू सवणो णेय सावओ होई।" --दसणपाहुड, गाथा २७

६ "अप्पाकत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पामित्त मित्त च, दुप्पट्ठिय सुप्पटिठओ॥" --उत्तराध्ययनसूत्र २०, ३७

७. "बाधीग रजस, शमाय पदयो सम्यक्प्रयुक्ताहित: सदगध स्तनुसौरभाय विभवाच्छेदाय सत्यक्षता, यष्टु स्रग्दिव्य-विजसृजेश्वरुरुमास्वाम्यायदीपहित्वे धूपो विश्वदृगुत्सुवाअफलमिष्टर्घाय चार्घोयम।" --सागारधर्मामृत, श्लोक स० ३०

८ "रागो य दोसोवि य कम्मवीय कम्म च मोहप्पभव वयति कम्म च जाई मरणस्म मूल, दुक्ख च जाई मरण वयति।" - उत्तराध्ययनसूत्र, ३२ ७ गाथाक।

९ "ससारस्स उ मूलकम्म तस्सवि हुति य कसाया।" - आचाराग-निर्युक्ति, गाथा १७९

१०. "केवलियनाणलम्भो, नन्नत्थ खए कसायाण।" - आवश्यक-निर्युक्ति, गाथा १०४

११. "सकम्मुणा विप्परिया सुवेइ।" --सूत्रकृताग, १-७-११

१२. "अप्पणा चेव उदीरेइ, अप्पणा चेव गरहइ, अप्पणाचेव सवरइ।', --भगवतीसूत्र, १-८

१३. जहा कड कम्म, तहासि भारे।" --सूत्रकृताग, १-५-१-२६

सचालित यन्त्र—के सिद्धान्त के अनुरूप ही है। जैन धर्म ने अणु-सिद्धान्त को सर्वप्रथम माना और उसका सूक्ष्म विवेचन किया है। उसके अनुसार कर्मवाद इस अणु सिद्धान्त पर अवलम्बित है। जैन धर्म की इस अणु सम्बन्धी मान्यता को वैज्ञानिक अत्यन्त प्राचीन तथा विज्ञान सम्मत मानते हैं।[1]

आत्मा और अणु की गति क्रिया का विश्लेषण करते हुए जैन आचार्यों ने एक उदासीन माध्यम के रूप मे धर्म द्रव्य का निरूपण किया। धर्म द्रव्य पदार्थ मात्र की गति का निष्क्रिय माध्यम, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श रहित अखण्ड सत्ता रूप है। जैन आगम में धर्म द्रव्य को धर्मास्तिकाय भी कहा गया है। धर्मास्तिकाय वर्ण, गन्ध रस, स्पर्श रहित, अरूपी, अजीव, शाश्वत, अवस्थित लोक व्याप्त द्रव्य है।[2] धर्मास्तिकाय न स्वय चलतो है और न किसी को चलाती है। वह तो केवल गति शील जीव व पुद्गल की गति का प्रसाधन है। मछलियों के लिए जल जैसे गति मे अनुग्रह शील है उसी प्रकार जीव पुद्गलों के लिए धर्म द्रव्य है।[3] यही बात ईथर के रूप मे विज्ञान कहता है। ईथर की स्थिति को समझने के लिए समय-समय पर विविध प्रयोग हुए है। अन्त मे यह निष्कर्ष निकला कि धर्म द्रव्य या ईथर अभौतिक, अपरमाणविक, अविभाज्य, अखण्ड, आकाश के समान व्याप्त, अरूप, गति का अनिवार्य माध्यम और अपने आप में स्थिर है। वास्तव मे जो धर्म द्रव्य है, वही ईथर है और जो ईथर है वही धर्म द्रव्य।

पृथ्वी किस आधार पर टिकी है। इस सम्बन्ध मे अनेक धर्म सन्तो ने विभिन्न उत्तर दिये हैं किन्तु इस सदर्भ मे इनके सारे दृष्टिकोण भौतिक युग मे कल्पना मात्र रह गये हैं। परन्तु जैन आगमो की मान्यता इस सम्बन्ध मे भी वैज्ञानिक है। उसके अनुसार इस पृथ्वी के नीचे घनोदधि (जमा हुआ पानी) है, उसके नीचे तनुवात है और तनुवायु के नीचे आकाश स्वप्रतिष्ठित है, उसके लिए किसी आधार की आवश्यकता नही है।[4]

जैन धर्म जीवो का सूक्ष्म तथा वैज्ञानिक वर्णन करता है। वनस्पति, पृथ्वी, जल, अग्नि मे जीव मान्यता भी जैन धर्म मे अनूठी और आदिकालीन है। उसके अनुसार प्रत्येक जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व है। जैन धर्म मे दो प्रकार के जीवो त्रस और स्थावर का वर्णन है।[5] स्थावर वे जीव होते है जिनमे केवल स्पर्शन इन्द्रिय होती है। अर्थात् केवल स्पर्श करने की शक्ति उनमे विद्यमान रहती है। जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और वनस्पति। त्रसजीव दो से पाच इन्द्रियो (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, तथा कर्ण) वाले होते हैं उदाहरणार्थ शख, सीप, चीउटी, मक्खी, मच्छर, कुत्ता, बिल्ली तथा मनुष्यादि। इतना ही नही जैन दर्शन ने तो वनस्पति काय के जीवो की आयु को भी स्पष्ट किया है उसके अनुसार इन वनस्पतिकाय के जीवो की उत्कृष्ट दश हजार वर्ष की आयु होती है। और अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु स्थिति है।[6] बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक डा० जगदीश चन्द्र वसु ने अपने विभिन्न प्रयोगो द्वारा वनस्पति मे जीवन है इस बात की पुष्टि कर सारे विश्व को आश्चर्य मे तो डाल ही दिया है साथ ही जैन धर्म को इस सदर्भ मे विज्ञान सम्मत बताया। श्री साइकस ने भूमि की एक क्यूबिक इच भाग मे पाच मिलियन जीवित कीटाणु सिद्ध किये है।[7] इस प्रकार विज्ञान ने समय-समय पर अनेक वैज्ञानिक यन्त्रो का आविष्कार कर यह स्वीकार किया जैन धर्म कोरा काल्पनिक नही अपितु एक वैज्ञानिक धर्म है। यह धर्म वास्तव में प्रामाणिकता पर आधारित है।

जैन धर्म सर्वांगीण दृष्टिकोण को लेकर चलता है। यह दृष्टिकोण विश्व के दर्शनो, धर्मों, सम्प्रदायो एव पन्थो का समन्वय

---

१. 'इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एड ईथिक्स भाग २, पृष्ठ १९९-२००, डा० जैकार्बी

२. "धम्मत्थिकाएण भन्ते कति वण्णे कति रसे कतिफासे ? गोयमा। अवण्णे अगन्धे अरसे अफासे अरूवी अजीवे सासए अवट्ठिए लोकदव्वे"—भगवतीशतक, २, उद्देशक १०

३. "न च गच्छतिधर्मास्ति का गमन न करोत्यन्य द्रव्यस्य।
भवति गते प्रसरो, जीवाना पुद्गलाना च॥
उदक यथा मत्स्याना, गमनानुग्रहकर भवति लोके।
तथा जीवपुद्गलाना, धर्मद्रव्य विजानीहि।' - पञ्चास्तिकाय, ८५ ८६

४. भगवतीसूत्र, श० १, उ० ६

५. "ससारत्था उजे जीवा, दुविहा ते वियाहिया।
तसायथावराचेव, थावरा तिविहातहि॥" --उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय ३६, गाथा ६८

६ "दस चेव सहस्साइ, वासाणुक्कोसिया भवे।
वणफईण आउ तु, अन्तोमुहुत्त जहन्नग॥" उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय ३६ गाथा १०२

७. "We find that the soil is life and that a living soil contains a mass of micro-organic existence the earth worm the fuongi and the micro-organisms, we learn that there is a minimum of five millions of these denizens to the cubic inch of living soil" —J Sykes the Sower, (Winter 1952-53)

करना है। जैन धर्म के सिद्धान्त पूर्वाग्रह से सर्वथा मुक्त हैं। उसका स्याद्वादी सिद्धान्त विज्ञान के धरातल पर खरा उतरता है। स्याद्वाद एक यौगिक शब्द है। यह स्याद् और वाद दो शब्दों के योग से बना है। स्याद् कथंचित् का पर्यायवाची संस्कृत भाषा का एक अव्यय है। इसका अर्थ है—किसी प्रकार से किसी अपेक्षा से। वस्तु तत्त्व निर्णय में जो वाद अपेक्षा की प्रधानता पर आधारित है, वह स्याद्वाद है। जैन दर्शन का यह सिद्धान्त वैज्ञानिक जगत् में सापेक्ष वाद से पूर्णत: साम्य रखता है। सापेक्षवाद के आविष्कर्ता सुप्रसिद्ध पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रो० अलबर्ट आइन्स्टीन है। सापेक्षवाद का वही अर्थ है जो स्याद्वाद का है। अपेक्षया सहितं सापेक्षं अर्थात् अपेक्षा करके सहित जो है वह सापेक्ष है। अपेक्षा से जो कुछ कहा जाये उसे सापेक्षवाद कहा जाता है। जैन धर्म में सृष्टि के मूलभूत सिद्धान्तों को सापेक्ष बताया गया है। प्राकृतिक स्थितियों के विषय में वैज्ञानिक आइस्टीन भी अपेक्षा प्रधान बात कहते हैं। सापेक्षवाद के प्रथम सूत्र के अनुसार 'प्रकृति ऐसी है कि किसी भी प्रयोग के द्वारा चाहे वह कैसा भी क्यों न हो वास्तविक गति का निर्णय असम्भव ही है।'[1] इस सूत्र से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक पदार्थ गतिशील भी है। और स्थिर भी है। यही बात स्याद्वादी कहते हैं कि परमाणु नित्य शाश्वत भी है और अनित्य भी. संसार शाश्वत भी है। द्रव्यत्व की अपेक्षा से वह नित्य है। वर्ण पर्याय, बाह्य स्वरूप आदि की अपेक्षा से अनित्य है, प्रतिक्षण परिवर्तन शील है[2] यही बात आत्मा के विषय में सुस्पष्ट है।[3]

स्याद्वाद अस्ति, नास्ति पर बल देता है। सापेक्षवाद भी है और नहीं (अस्ति-नास्ति) की बात करता है। जिस पदार्थ के विषय में यह कहा जाता है कि यह एक सौ चौउन पौण्ड का है। सापेक्षवाद कहता है कि यह है भी और नहीं भी। क्योंकि भूमध्य रेखा पर यह एक सौ चोउन पौण्ड है पर दक्षिणी या उत्तरी ध्रुव पर यह एक सौ पचपन पौण्ड है। गति तथा स्थिति आदि को लेकर वह और भी बदलता रहता है।[4] अनन्तधर्मात्मकं सत् अर्थात् वस्तु अनन्त धर्मात्मक है अर्थात् वस्तु अनन्त गुण व विशेषताओं को धारण करती है। जब किसी वस्तु के विषय में कुछ भी कहा जाता है तो साधारणत: एक धर्म को प्रमुख व अन्य धर्म को गौण कर दिया जाता है। इस प्रकार का सत्य आपेक्षिक होता है। अन्य अपेक्षाओं से वही वस्तु अन्य प्रकार की भी होती है। उदाहरणार्थ निम्बू के सामने नारंगी बड़ी होती है किन्तु पदार्थ धर्म की अपेक्षा से नारंगी में जैसा बड़ापन है वैसा ही छोटापन भी किन्तु वह प्रकट तब होता है जब खरबूजे के साथ उसकी तुलना की जाती है। गुरुत्व व लघुत्व जो हमारे व्यवहार में आते हैं। वे मात्र व्यावहारिक या आपेक्षिक है। वास्तविक (अन्त्य) गुरुत्व तो लोकव्यापी महास्कन्ध में है और अन्त्य लघुत्व परमाणु में।[5]

सापेक्षवाद और स्याद्वाद की इस समानता से यह स्पष्ट होता है कि जैन धर्म विज्ञान एवं जीवन-व्यवहार में उतरने वाला वास्तविक धर्म है।

जैन धर्म मानव समाज को अधिकाधिक सुखी बनाने हेतु अपरिग्रह पर बल देता है। अपरिग्रह का अर्थ है कि पदार्थ के प्रति आसक्ति का न होना। वस्तुत. ममत्व या मूर्च्छाभाव से संग्रह करना परिग्रह कहलाता है।[6] आसक्ति के कारण ही मानव अधिकाधिक संग्रह करता है परिग्रह को व्यक्ति सुख का साधन समझता है और उसमें आसक्त होकर वह सदा दु:खी रहता है। जबकि कामना रहित व्यक्ति ही सुखी रह सकता है।[7] क्योंकि मानव की इच्छायें आकाश के सदृश असीम है। और पदार्थ ससीम।[8] जैन धर्म का यह अपरिग्रहवाद समाजवाद का आधार माना है। यह सहज से ही कहा जा सकता है कि साम्यवादी या समाजवादी विचारधारा का मूल स्रोत सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री कार्लमार्क्स की अपेक्षा जैन धर्म के चौबीसवें तथा अन्तिम तीर्थंकर महावीर से प्रारम्भ होता है। इस अपरिग्रहवाद या समाजवाद से राष्ट्र की ज्वलन्त समस्याओं को समाप्त किया जा सकता है। निश्चय ही जैन धर्म का यह अपरिग्रहवाद आधुनिक युग की अर्थ-वैषम्य जनित सामाजिक समस्याओं का सुन्दर समाधान है। वास्तव में जैन धर्म के सिद्धान्त वैज्ञानिक शैली में निरूपित किये गये है।

---

१ "Nature is such that it is impossible to determine absobute motion by any experiment what ever".
- Mysterious Uuiverse, पृ० ७८

२. भगवतीशतक, १४-३४

३. भगवतीशतक, ७-२

४. Cosmology Old and New, पृ० २०५

५. "सौक्ष्म्य द्विविध अन्त्यमापेक्षिक च। तत्र अन्त्य परमाणा आपेक्षिक यथा नालिकेरापेक्षया आम्रस्य। स्थौल्यमपि द्विविध तत्र अन्त्य अशेषलोकव्यापि महास्कन्धस्य आपेक्षिक यथा आम्रापेक्षयानालिकेरस्य।" -श्रीजैनसिद्धान्तदीपिकाप्रकाश, सूत्र ११

६ "मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।" —दशवैकालिकसूत्र, ६-१९

७. "कामे कमाही कमियं खुदुक्खं।" -दशवैकालिकसूत्र २-५

८. 'इच्छा हु आगास समा अणन्तिया।" उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय ९, गाथा ४८

प्रत्येक धर्म के दो अंग होते हैं। आचार और विचार। जैन धर्म के आचार का मूलाधार अहिंसा और विचार का मूल अनेकान्त-वाद है। अहिंसा आत्मा का स्वभाव है।[1] अहिंसा का प्रतिपक्ष हिंसा है। हिंसा का अर्थ है दुष्प्रयुक्त मन, वचन काया के योगों से प्राण-व्यपरोपण करना।[2] जैन धर्म प्रमाद को हिंसा का मूल स्रोत मानता है। क्योंकि प्रमादवश अर्थात् असावधानी के कारण ही जीव के प्राण का हनन होता है।[3] जैन धर्म सन्देश देता है कि प्राणी मात्र जीना चाहता है कोई मरना नहीं चाहता। सुख सभी के लिए अनुकूल एवं दुःख अनुकूल है।[4] ज्ञान और विज्ञान का सार भी यही है कि प्राणी की हिंसा न की जाय।[5] जैन धर्म ने अहिंसा के सदर्भ में जितना सूक्ष्म और वैज्ञानिक विवेचन किया है उतना किसी अन्य धर्म में नहीं मिलता। यह धर्म मूलतः भावना पर आधृत है। यहां हिंसा को दो वर्गों में वर्गीकृत किया है भाव-हिंसा और द्रव्य-हिंसा। जिसमें भाव-हिंसा ही प्रधान है। जैन धर्म के अनुसार "अपने मन में किसी भी प्राणी के प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना रखने मात्र से ही अपने शुद्ध भावों का घात कर लेना हिंसा है। चाहे यह दुर्भावना कार्यान्वित हो या न हो और उसमें किसी प्राणी को कष्ट पहुंचे या न पहुंचे परन्तु इन दुर्भावनाओं के आने मात्र से व्यक्ति हिंसा का दोषी हो जाता है।" जैन धर्म की यह शिक्षा व्यक्ति को कायर नहीं अपितु वीर बनाती है। क्योंकि "क्षमा वीरस्य भूषणम्" अर्थात् क्षमा वीर का आभूषण है, कहा गया है। यह क्षमामय वीरता जीव मात्र को अभय प्रदान करती है। वास्तव में अहिंसा सर्वथा व्यावहारिक है। भौतिक युग में शक्ति तथा समता स्थिर करने के लिए अहिंसा की चरम अपेक्षा है। अहिंसा के द्वारा अनन्त आनन्द सहज में ही प्राप्त किया जा सकता है।

सात्विक जीवन निर्वाह हेतु मनुष्य को प्रेरित करना जैन धर्म का मुख्य लक्ष्य रहा है। अतः स्वास्थ्य-रक्षा एवं आरोग्य की दृष्टि से जैन धर्म आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अत्यन्त निकट है। जैन धर्म मानव शरीर को जल सम्बन्धी समस्त दोषों से मुक्त और शरीर को स्वस्थ तथा निरोग रखने की दृष्टि से शुद्ध ताजे, छने हुए और यथासम्भव उबालकर ठण्डा किये हुये जल के सेवन का निर्देश देता है।[6] स्वास्थ्य विज्ञान भी जैन धर्म के इस सिद्धान्त से पूर्णतः सम्मत है। भोजन (आहार) के सम्बन्ध में जैन धर्म का दृष्टिकोण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा वैज्ञानिक है। उसके अनुसार मानव जीवन एवं मानव शरीर को स्वस्थता प्रदान करने के लिए तथा आयुपर्यन्त शरीर की रक्षा के लिए निर्दोष परिमित सन्तुलित एवं सात्विक आहार ही सेवनीय होता है। वस्तुतः समस्त हिंसा के निमित्तों से रहित आहार ही योग्य है।[7] जैन धर्म की यह मान्यता है कि सूर्यास्त के पश्चात् रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिए।[8] इसका वैज्ञानिक महत्त्व एवं आधार यह है कि आस पास के वातावरण में अनेक रोग सूक्ष्म जीवाणु विद्यमान रहते है जो दिन में सूर्य प्रकाश में उपस्थित नहीं रहते। जिससे भोजन दूषित मलिन व विषमय नहीं हो पाता है। दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य है कि भोजन मुख से गले के मार्ग द्वारा सर्व प्रथम आमाशय में पहुंचाता हैं। जहां उसकी वास्तविक परिपाक प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। परिपाक हेतु वह भोजन आमाशय में रहता है तब मनुष्य को जागृत एवं क्रियाशील रहना चाहिए क्योंकि मनुष्य की जागृत एवं क्रियाशील अवस्था में ही आमाशय की क्रियासक्रिय रहती है। जिससे भुक्त भोजन के पाचन में सहयोग मिलता है। इसी आधार पर रुग्ण-व्यक्ति को रात्रि काल में पथ न लेने की व्यवस्था चिकित्सा शास्त्र में है। जैन धर्म भी सूर्योदय से दो घड़ी पूर्व तक और सूर्यास्त होने पर व्यक्ति को भोजन करने की अनुमति नहीं देता है।[9] आहार सम्बन्धी नियम की यह समानता निश्चय ही जैन धर्म की आधुनिक चिकित्सा विज्ञान को एक महत्वपूर्ण मौलिक देन है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान धूम्रपान व मद्यपान को अस्वास्थ्य कारक बताता है। शारीरिक तथा मानसिक दोनों दृष्टि से ये पदार्थ मानव स्वास्थ्य के सर्वथा अननुकूल है। इस सम्बन्ध में जैन धर्म का दृष्टिकोण व्यापक है। उसके अनुसार मद्यपान से द्रव्य तथा

---

१. "अहिंसा निउणादिट्ठा सव्वभूएसु संजमो।" - दशवैकालिकसूत्र, ६-९

२. "मणवयण काएहिं जोगेहिं दुप्पउत्तेहिं जं पाणववरोवण कज्जइ सा हिंसा।" जिनदासचूर्णि पृ० ६-६

३ "प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा।" तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय सूत्र ८

४. "सव्वे पाणा पिआउयासुहसाया, दुह पडिकूला अप्पियवहा।" - आचारांगसूत्र १-२-३

५ "एवं खु नाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसासमयं चेव एतावंतं वियाणिया॥" —सूत्रकृतांग, श्रुत १ अध्याय १ गाथा १०

६. "मुहूर्तयुग्मोर्ध्वमगालनं वा दुर्वाससा गालनमम्बुनोवा। अन्यत्र वागालितशेषितस्य न्यासो निपाने स्य न तद्व्रतेर्च्यः"

—सागारधर्मामृत, अध्याय ३, श्लोक सं० १६

७. "समस्तहिंसायतनशून्य एव हारो युक्ताहारः।" प्रवचनसार, २२६

८ "रागजीव वधापायभयस्त्वाजन्द्वदुत्सृजत्।
रात्रि भक्तं तथा युञ्ज्यान्नपानीयमगालितम्॥" सागारधर्मामृत, अध्याय २, श्लोक सं० १४

६. "मूहूर्तेऽन्त्ये तथाद्ये हो वल्लभानस्तमिताशिनः।
गदच्छिदेऽप्याम्र घृताद्युपयोगश्च दुष्यति॥" —सागारधर्मामृत, अध्याय ३, श्लोक सं० १५

भाव दोनो प्रकार की हिंसा होती है। मद्य (शराब) पीने से विचार सयम, ज्ञान, पवित्रता, दया, क्षमा आदि समस्त गुण उसी समय नष्ट हो जाते हैं। मद्य मे अनेक जीव उत्पन्न होते है और मरते रहते हैं, समय पाकर वे जीव उस मद्य के पीने वालो के मन मे मोहादि उत्पन्न करते हैं जिससे अभिमान आदि कुभाव उत्पन्न होते है।[1] यह अखाद्य और अपेय पदार्थ आत्मतत्त्व को अपकर्ष की ओर उन्मुख करते हैं। ऐसे खानपान से हृदय और मस्तिष्क दोनो ही प्रभावित होते है फलस्वरूप स्मृति-स्खलन तथा अशुचि एवं तामसी वृत्तिया उत्पन्न होती है।

उपर्यंकित विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म के सिद्धान्त केवल सैद्धांतिक या शास्त्रीय ही नही अपितु व्यावहारिक एव जीवनोपयोगी हैं। जैन धर्म वस्तुत. एक वैज्ञानिक धर्म है।

दहेज -एक सामाजिक अभिशाप

आजकल की परिस्थिति मे माधारण गृहस्थ के लिए विवाह करना मृत्यु के समान है। आजकल मोल-तोल होते हैं। दहेज का इकरार पहले हो चुकता है तब कही सम्बन्ध होता है। पूरा दहेज न मिलने पर सम्बन्ध टूट भी जाता है। दहेज के दुःख से व्यथित माता-पिताओ को देखकर बहुत सी सहृदया कुमारियाँ आत्महत्या कर समाज के इस बूचडखाने पर बलिया चढा रही है। अभी भी इस समाज मे बहुत सी कन्याओ का तिरस्कार होता है। उनके जीवन का मूल्य भी नहीं समझा जाता। बीमार होने पर उनका पूरा इलाज भी नही कराया जाता। यहा तक कि कन्या का जन्म होने पर माता-पिता रोने लग जाते है। इसका दहेज ही मुख्य कारण है। इस समय ऐसे धर्मभीरु साहसी सज्जनो की आवश्यकता है कि सबसे पहले अन्य बातों को छोडकर अपने सदाचार की रक्षा के लिए अथवा कुलाचार की रक्षा के लिए और सच्चे धर्म की प्राप्ति करनी हो तो जल्दी ही इस बुरी प्रथा को छोड दे और अपने लडको के विवाह मे दहेज के लेन-देन की प्रथा बन्द कर दें। यह कुप्रथा लडके वालो के स्वार्थ-त्याग स ही मिटेगी अन्यथा नही। यदि यह रिवाज चलता रहा तो समाज की भीषण स्थिति हो जाएगी।

आचार्य श्री देशभूषण, उपदेशसारसंग्रह, कोथली, १९७९, पृ० ३२-३३ से उद्धृत

---

१. "तन्मद्य व्रतयन्न धूर्तिलपरास्कदीव यात्यापद।
तत्पायी पुनरेक पादिव दुराचार चरन्मज्जति॥" —सागारधर्मामृत, अध्याय २, श्लोक स० ५

परम ज्ञानियों में एक वैज्ञानिक : महावीर

स्वामी वाहिद काज़मी

बुद्ध पुरुषों के समूचे इतिहास तथा जैन तीर्थंकरों की पूरी परम्परा मे महावीर अकेले ऐसे व्यक्ति ठहरते है, जिन्हे सर्वथा मौलिक व अनूठा ही नही अति साहसी बुद्धपुरुष कहा जा सकता है। साहसी इस अर्थ में कि वह जिसे हम परमसत्ता कहे, परमसत्य कहे, परमज्ञान कहें, मोक्ष कहे या निर्वाण, उस तक पहुचने का जो मार्ग उन्होने बताया, उसमे न किसी शास्त्र की आवश्यकता रखी, न पथ की, न गुरु की, न किसी और की, कही कोई 'पर' है ही नही, वह 'स्व' की उडान है, 'स्व' की ओर तथा 'स्व' की ही प्राप्ति हेतु बीच मे तनिक भी किसी का सहारा लिया तो भटकन फिर भटकन का प्रारभ होने मे देर नही लगती। अत उन्होंने साधना-जगत् मे साधक को सबसे पहले सही अर्थों मे मुक्त करने तथा स्व-अधीन रखने का प्रयास किया। तथ्य यही है कि जीवन मे जो भी अति मूल्यवान् है उसे स्वय मे ही और स्वय से ही प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् सत्य किसी अन्य मे नही स्वय मे ही निहित है। बस जिसे निरन्तर उघाडते चले जाना है। दूसरे के सहारे से जो प्राप्त हो सकता है, वह उधार का होगा बासी होगा, उसमे जीवतता नही होगी। वह 'उसका' सत्य होगा 'अपना' सत्य नही। सत्य का आविर्भाव और सत्य की परम अनुभूति स्वय मे ही हो सकती है। यह दृष्टि महावीर ने बडे साहस के साथ प्रस्तुत की है। इसीलिए उन्होने न तो खुद किसी के पीछे चलना पसद किया और न अपने पीछे किसी को चलाना। अत: अनुयायी अथवा गुरु-शिष्य जैसी कोई परम्परा उनके यहा प्रश्रय नही पा सकी, न पल्लवित हो सकी। उनके अनुसार कोई किसी को मोक्ष नही दे सकता कोई किसी का मोक्षदाता या मुक्तिदाता है ही नही। अत अनुकरण या अनुयायी का प्रश्न ही नही उठता। अनुगमन भी नही, अधिक से अधिक महावीर के साथ सहगमन हो सकता है और यह बडी क्रातिकारी बात थी। इसलिए उनके यहा अधिक से अधिक सभावना कल्याण-मित्र की ही पायी जा सकेगी। यानी न आगे न पीछे अपितु वह एक जो सग चलने को राजी हो सके। यहा तक कि उन्होने परम्पराओ मे चले आ रहे ईश्वर या परमात्मा को भी अपना इष्ट बनाने की आवश्यकता नही समझी। जो अब तक सभी साधना-मार्गों का एकमात्र लक्ष्य रहता आया था। यह स्वतत्र दृष्टि उन जैसा साहसी पुरुष ही दे सकता था। इसलिए मैं उन्हे परमसाहसी पुरुष कह रहा हू। यद्यपि उनकी इस स्वतत्र दृष्टि को कुछ का कुछ अर्थ देने की भ्रातिवशात् उन्हे नास्तिक मान लेने की बडी भारी भूल हो गयी और इस सकीर्ण-दृष्टिकोण का प्रबलतम दुष्परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण सस्कृति, श्रमण सस्कृति की विरोधी हो गयी और वह विरोध अब तक समूल नष्ट नही हो पाया। बावजूद इसके कि ये दोनो आर्य-दर्शन की दो धाराए थी किंतु विरोध के कारण एक दूसरे से बहुत दूर नजर आने लगी।

महावीर की एक और बहुत बडी खूबी जो उन्हे अन्य बुद्ध पुरुषो मे विशिष्टता प्रदान करती देखी जा सकती है। वह यह है कि सत्य की या ज्ञान की अनुभूति की पूर्णता को तो बहुतेरे महामानव प्राप्त हुए हैं और होते भी रहेंगे, मगर अनुभूति के साथ-साथ उतनी ही महत्त्व पूर्ण जो अभिव्यक्ति-क्षमता होती है उसने महावीर से बढकर शायद किसी अन्य ज्ञानी मे इतनी पूर्णता को प्राप्त नही किया बल्कि यह कहना अधिक उचित प्रतीत होता है कि अभिव्यक्ति की समग्रता और सपूर्णता यदि किसी ज्ञानी को प्राप्त रही तो वे महावीर हैं। इसके कारण भी है। मोटे तौर पर यह कि बुद्धत्व विषयक या परमज्ञान विषयक जो वैज्ञानिक दृष्टि, जो वैज्ञानिक चितना है, वह महावीर के समान किसी अन्य ज्ञानी मे नही है। उन्हे यदि बुद्धपुरुषो मे वैज्ञानिक या वैज्ञानिक बुद्धपुरुष कहा जाये तो गलत नही होगा। साधना तथा आत्मोपलब्धि से नि सृत महावीर की जो चितना, देशना या प्रक्रियाए हैं उनमे से कुछेक की ओर सकेत करना इस समय अति प्रासगिक प्रतीत होता है।

अब तक विश्व मे जो भी तर्क-प्रणालिया प्रचलित हैं वे दो ही है। एक है प्रख्यात विचारक अरस्तू की तर्क-पद्धति जो साफ है, सीधी है, बिल्कुल आसानी से और बडी जल्दी समझ मे आ जानेवाली है। मामला बडा हिसाबी है। उसके अनुसार दो और दो-चार होते ही हैं। इस कारण वह समूचे ससार मे प्रचलित है। यद्यपि अरस्तू की पद्धति प्रत्येक स्थिति मे और बहुत अधिक सत्य नही है। तथापि, मान्य है और हावी है। यानी अरस्तू के अनुसार (उदाहरणार्थ) 'क' क है और 'ख' ख है। 'क' कभी 'ख' और 'ख' कभी 'क' नही होता न हो सकता है। यानी उसकी विचारणा विश्लेषण पर आधारित है और किसी भी सत्य को तोडकर, पृथक्-पृथक्, खड-खड करके निष्कर्ष देती है। एक है

महावीर की तर्क-पद्धति या विचारणा जिसके अनुसार 'क' मे 'ख' की भी सभावना है और 'ख' मे 'क' की भी संभावना है—यह बात जरा साफ और सीधी नही रह जाती, इसलिए मान्यता नही मिल सकी और ससार इस तर्क से प्राय: अनभिज्ञ ही रहता चला आया है किंतु सत्य इसी में निहित है। वास्तव मे गहरी दृष्टि से देखा जाये तो जीवन या केंद्र अस्तित्व, इतना सरल और इतना ठोस (जड) नही है जितना अरस्तू ने समझ लिया है, समझा दिया है, और समझने वाले समझ भी गये हैं किंतु अरस्तू से कही अधिक गहरे जो पहुचे हैं उन्होने पाया है कि जीवन में, अस्तित्व मे, न कोई भी 'क' केवल 'क' है और न कोई 'ख' मात्र 'ख' है। वह चाहे कुछ भी हो। न तो प्रकाश केवल प्रकाश है न अधकार, केवल अधकार है न तो कोई पुरुष सिर्फ पुरुष है, न कोई स्त्री सिर्फ स्त्री है। किसी भी तथ्य के कोई भी दो पहलू किसी बहुत बडे सत्य के मानक दो पहलू हैं, जिन्हे तोडकर या एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् करके देखना एकागी दृष्टि का परिचायक तो हो सकता है, उस पूरे सत्य का परिचायक कभी नही हो सकेगा।

महावीर के अनुसार जीवन के किसी भी एक पक्ष को देख कर, मान कर अथवा ग्रहण कर जो दावा किया जाये वह एक पक्षीय है, उसे एकान्त कहा गया है, किसी एक कोने पर पहुचा, किसी एक कोने को देखने वाला व्यक्ति एकान्तवादी हुआ किंतु जीवन केवल उस एक कोने से देखे गए, उसी एक पहलू मे समाये किसी सीमित अस्तित्व का नाम नही है, जीवन उससे कही अधिक विराट् विस्तीर्ण तथा असीम है, उस एक के अतिरिक्त भी कई एक कोने, कई एक ऐसे पहलू शेष रह जाते है जो अनदेखे होगे, तब एकातवादी के लिए वे अज्ञात रह जाते हैं, अर्थात् किसी एक ही कोने से देखा या अनुभव किया गया सत्य बहुत छोटा पड जाता है, और अगर सही कहा जाये तो सत्य से बहुत दूर भी है, सकीर्ण है, जबकि सत्य कभी सकीर्ण नही, वह है विराट्, उसमे हर पक्ष, हर कोना, सब समाहित है,। इसलिए महावीर का आग्रह 'एक' पर नही है, वे 'अनेक' की पूरी सभावना पाते है, तो, उनके यहा न कोई विरोध है और न विरोधी दृष्टि और न नकार है। वहां तो सभी कुछ एक दूसरे का ठीक-ठीक परिपूरक है और एक ही सत्य का कोई कोना है। वे तो यहां तक कहते हैं कि यदि हम सभी पक्षो अथवा सभी दृष्टियो को जोड भी लें तो भी सत्य के बारे मे जो वक्तव्य होगा वह भी पूरा नहीं होगा। क्योकि उतने मे भी सत्य पूरा नही हो जाता। उसके सभी पहलू हमारे सामने नही आ जाते है, प्रत्येक अनुभव के अनन्त कोण है और हर कोण पर खडा आदमी बस उतने तक ही सही है जितने तक वह देख पा रहा है। अत उन्होने एक सर्वथा नूतन दृष्टि दी जिसे कहते हैं---अनेकान्त यानी जीवन के देखे-अनदेखे सभी पहलुओ की एकसाथ स्वीकृति।

महावीर ने जीवन को, सत्य को, इतने कोनो से देखा है जितना शायद किसी बुद्धपुरुष ने नही देखा होगा। यद्यपि उनसे पूर्व भी सत्य के सम्बन्ध मे तीन सभावनाओं की पुरानी स्वीकृति चली आती थी। जो मान्य भी थी, उदाहरणार्थ कोई वस्तु नही है, और वस्तु है भी, बस सत्य को इन्हीं तीन कोणो (है, नही है, अथवा दोनो याना है भी व नहीं भी) से देखा गया था। इसके बाद या इससे भिन्न किसी भी सभावना पर कोई विचारणा प्रस्तुत नही की गयी थी। पुरानी भाषा मे इस दृष्टि को त्रिभगी-दृष्टि कहते हैं और यह महावीर से पूर्व ही चली आती थी, महावीर वे प्रथम क्रातिकारी ज्ञानी पुरुष है जिन्होने इस त्रिभगी-दृष्टि का विस्तार और विकास बडे ही अनूठे ढग से किया, उन्होने इसे त्रिभगी से, उसी भाषा मे कहे तो, सप्तभगी कर दिया। क्योकि उनके अनुसार सत्य इन्ही तीन मे नही समाया हुआ। बहुत कुछ है जो इससे बाहर रह जाता है, तब उसका क्या होगा? अत: उन्होने एक नया शब्द जोडा—'स्यात्' (शायद या कदाचित् के अर्थ मे नहीं) उन्होंने इन सीधी-साधी तीन सभावनाओ मे चौथी सभावना की वृद्धि करके एक कडी यह जोडी कि—'स्यात् अनिर्वचनीय है? यानी जो हो भी सके, नही भी हो सके, पाचवी कडी जोडी कि- स्यात् है और अनिर्वचनीय है, छटी जोडी कि—'स्यात् है, नही है और अनिर्वचनीय है! और अत मे सातवी कडी जोडकर कहा कि – स्यात् है भी और नही भी है और अनिर्वचनीय है! इस प्रकार, उनके देखे, सत्य को इन सात कोणो से देखा जा सकता है, यह उनकी अभूतपूर्व और अद्भुत विचारणा है जो सत्य के सर्वाधिक समीप तक पहुचती है। अब अगर महावीर से प्रश्न किया जाये-- आत्मा है? (यह मैं उदाहरण दे रहा हू, प्रश्न कुछ भी पूछा जा सकता है) तो उनका उत्तर इस प्रकार होगा- स्यात् है भी, स्यात् नही भी है, स्यात् है भी —नही भी, स्यात् अनिर्वचनीय है, स्यात् है, और अनिर्वचनीय है, स्यात् नही है और अनिर्वचनीय है, स्यात् है भी —नही भी और अनिर्वचनीय है। प्रकट म यह बात सामान्य बुद्धि से परे भले ही पड़ जाये, किंतु इससे अधिक पूर्ण वक्तव्य नही हो सकता, सत्य के बारे मे इतना गहन दर्शन अपने आप में बडी क्रातिकारी चीज है, इसी को महावीर का स्यात्-दर्शन कहा जाता है, जिसका आधार है सापेक्ष-दृष्टि।

महावीर की इस अद्भुत विचारणा को तब तक न तो पूर्ण स्वीकृति मिल पायी और न इसे ठीक-ठीक समझा गया। जब तक कि इस शती के महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने सापेक्ष-सिद्धान्त के निष्कर्ष प्रस्तुत न कर दिये। क्या यह रोचक बात नही है कि आइन्स्टीन विज्ञान की भाषा में भौतिक शास्त्र के अन्तर्गत जो बात कर रहा है, अध्यात्म विज्ञान के अन्तर्गत महावीर उसे पच्चीस सौ वर्ष पहले ही कह चुके थे, अत: इस बात की बहुत बडी संभावना है कि महावीर का यह स्यात्-दर्शन भविष्य के लिए दिन ब दिन बड़ा कीमती हो जाने वाला है, आज के विज्ञान ने उसे बहुत बडी स्वीकृति दे दी है। भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत आइन्स्टीन की सापेक्ष-थ्योरी और अध्यात्म के अन्तर्गत महावीर की सापेक्ष-दृष्टि बहुत बडी सीमा तक समान है, अर्थात् विज्ञान-जगत् मे अब तक यही माना जाता था कि परमाणु (एटम) एक कण या बिंदु-

रूप ही है, जिसमें न लंबाई है न चौड़ाई, । किंतु वर्तमान खोजो ने यह साबित कर दिया कि परमाणु बिंदु ही नही बल्कि 'बिंदु भी है और तरंग भी' कभी उसका व्यवहार बिंदु की तरह होता है तो कभी तरंग की तरह, अब इसे किस प्रकार व्याख्यायित किया जाये ? यही न कि कहें—स्यात् अणु है, स्यात् तरंग है, मगर विज्ञान की भाषा मे ऐसा कहा नही जा सकता। अतः वैज्ञानिको को एक नया शब्द गढ़ना पड़ा। क्वांटा । क्वांटा अर्थात् वह जो एक ही समय मे बिंदु भी है और तरंग भी, विज्ञान की क्वाटा-थ्योरी का निचोड़ यही है कि दोनो ही स्थितियां हैं और एक साथ हैं । इस प्रकार विज्ञान के द्वारा एकान्त-दृष्टि का खंडन हुआ और महावीर द्वारा प्रस्तुत अनेकान्त-दर्शन या स्यात्-दर्शन को वैज्ञानिक स्वीकृति मिली, जो उनकी वैज्ञानिक विचारणा का सबसे बड़ा अकाट्य प्रमाण है ।

हां, एक बात और, महावीर की इस विचारणा को मैंने प्रचलित शब्द स्यात्वाद अथवा अनेकान्तवाद देना उचित नही समझा है। वह इसलिए कि उनके जैसे ज्ञानी की किसी भी विचारणा को किसी 'वाद' या 'इज्म' के चौखटे मे जड़ना उसे छोटा कर देना होगा। इसीलिए यहा मैंने 'स्यात्-दर्शन' और 'अनेकान्त-दर्शन' शब्द प्रयोग किये । दर्शन भी फिलासफी के अर्थ म नही, अपितु प्रत्यक्ष देखने के अर्थ मे।

अनेक दार्शनिक तथा धार्मिक धारणायें ऐसी मिल जायेंगी जिनके अनुसार पूर्वजन्म की बात महज एक परिकल्पना से अधिक प्रतीत नहीं होती । अत वे इसे कोई महत्त्व या मूल्य नही दे पाते है । किंतु भारत ने, जहा आध्यात्मिक-जगत् की बहुत ऊचाइया खोजी और बड़ी गहराइया पायी हैं, पूर्वजन्म को किसी परिकल्पना के तौर पर नही अपितु एक जीती-जागती सच्चाई के रूप मे खोजा तथा प्रतिष्ठापित भी किया। महावीर से पहले भी, अधिक सुलझे हुए तौर पर ब्राह्मण संस्कृति मे पूर्वजन्म विषयक सत्यो के रहस्योद्घाटन पर विस्तार से बहुत कुछ चर्चा मिलती है । किंतु महावीर, जैसा कि निवेदन कर चुका हू बड़े मौलिक और क्रांतिकारी ज्ञानी पुरुष है —ने पूर्वजन्म की विवेचना न केवल किसी सैद्धांतिक या दार्शनिक भूमि पर खड़े होकर की बल्कि पूर्वजन्म मे उतर सकने की एक बाकायदा प्रक्रिया भी विकसित की जिसका उन्होने भरपूर उपयोग भी किया । यहा तक कि अपने साधकों के लिए तो उन्होने उसे अनिवार्य भी कर दिया था। पूर्वजन्म मे उतर पाने की उनकी प्रक्रिया भी वैज्ञानिक है। उसे उन्होने नाम दिया —जाति स्मरण ।

वस्तुत: मानव-रचना मे प्रकृति की व्यवस्था बड़ी रहस्यपूर्ण है, किंतु जटिल नहीं है। हा, यह अलग बात है कि हम खुद अपने हाथो उसे जटिल बना लेते हैं, मान लेते हैं। प्रकृति ने बड़े ढग मे इस बात का पूरा बदोबस्त किया हुआ है कि वर्त्तमानजन्म मे पूर्वजन्म का स्मरण न आने पाये। यह हमारे ही हित मे इसलिये है कि यदि वह स्मरण आ सके तो फिर उस विस्मृत नही किया जा सकता। फिर यदि वह वर्त्तमान जन्म से हीन हुआ (और अधिकतर हीन होने की सभावना ही है। क्योकि मानव उत्तरोत्तर हीन स श्रेष्ठ की ओर यात्रा करता है) तो उसकी स्मृति सदैव ताजा रहने से आज का जीवन दुःखों से भर सकता है। जैसे कि अब कोई जो मखमली आसनो पर विराजता बड़ा सम्मानित व्यक्ति है, यदि यह देख पाये कि अब से एक ही कदम पहले वह एक कोढ़ी था, मक्खिया भिनभिनाती थीं। तो क्या हालत होगी ? अतः प्रकृति की पूरी व्यवस्था है कि पूर्वजन्म पुन. याद न आ सके। इसका मतलब यह हुआ कि पूर्वजन्म कही खो नही जाता, नष्ट नहीं हो जाता। बस हमारी स्मृति-प्लेट के आगे बढ़ जाने से वह टेप की तरह लिपट जाता है। सो हमे स्मरण नही रहता। अब यदि कोई ऐसी विधि हो कि उसे फिर से स्मरण मे लाया जा सके तो उसे आज भी देखा जा सकता है। महावीर ने इस विषय मे अपनी अद्वितीय और मौलिक दृष्टि का एक अभूतपूर्व प्रमाण दिया, जो शायद उनसे पूर्व किसी के यहा नही पाया जा सकता, और साधना-जगत् मे उन्होंने उसका बहुत ही अभिनव प्रयोग व उपयोग भी किया।

मिसाल के तौर पर उस व्यक्ति को, जो आज भी कभी धन के पीछे दौड़ रहा है तो कभी स्त्री के पीछे कभी प्रसिद्धि के पीछे तो कभी किसी और कामना के पीछे चाहे कितने ही शाब्दिक व्याख्यान घोट-घोट कर पिलाये जायें, कि इससे पूर्व भी वह यही सब कुछ करता चला आया है और परिणाम मे कुछ भी नही पाया है, तो वह कभी भी माननेवाला नही है प्रकट मे सिर हिलाकर और आखे मीचकर स्वीकार करने का अभिनय भले ही कर ले, और कहने वाले को यकीन दिलाता रहे कि वह मान गया है, किन्तु उसने यकीन किया तो नही है कही से सुनकर या पढ़कर आदमी विश्वास का लबादा भले ही ओढ ले विश्वास करता नही है फिर यदि जो कहा जा रहा है एक फिल्म के समान उसे प्रत्यक्ष दिखा भी दिया जाये तो फिर एक शब्द भी अलग से कहने की आवश्यकता नही रहेगी। अपनी खुली आखो से सब कुछ साफ-साफ देख लिया और बात समाप्त हो गयी, अब कैसा अविश्वास ! तो, महावीर ने एक अद्भुत ध्यान-पद्धति विकसित की -जाति स्मरण जिसके प्रयोग द्वारा कोई भी साधक अपने पिछले जन्म मे उतर सकता है तब उसे सहज ही यह पता चल जाता है कि वह क्या था और कैसा था। एक ही नही यदि खोज और प्यास गहरी हो तो कई जन्मों में भी उतर जाना असभव नही रहता। फिर यही आदमी जो अब तक जैसा था पूर्वजन्म में झाककर देख लेने के उपरान्त वैसा नही रह जाएगा। उसे ठीक-ठीक दिखाई दे जाएगा कि जो भी वह आज कर रहा है इस पूर्व भी और उससे पूर्व भी यही सब कुछ तो करता चला आया है, नतीजा कुछ भी नही पाया है। यही वह बिंदु है जहा से व्यक्ति के आंतरिक तल पर एक स्थाई परिवर्तन आ जाता है। आखें खुल जाती हैं। घूमते हुए एक चाक की सी अपनी स्थिति उसे साफ-साफ दीखने लगती है। कभी यह हिस्सा

ऊपर तो कभी वह हिस्सा नीचे आता जाता रहा है। किन्तु घूमता चलता रहा है, आज वह जो भी है उसका उल्टा भी रह चुका है। या पहले जो था उसका उल्टा आज कर रहा है। यानी कभी वह भोगी भी रहा है जिसकी प्रतिक्रिया मे आज वह त्यागी हो गया है। यदि कभी त्यागी रहा है तो अब भोगी हुआ बैठा है। फर्क क्या पडा ? उधर स्त्री के पीछे भागता रहा, तो इधर स्त्री से दूर भागता जा रहा है। ये वहां धन के लिए पागल रहा, तो यहां धन के कारण पागल है। और यही सब कुछ बहुत-बहुत बार होता रहा है।

जाति स्मरण का उद्देश्य यही है कि बहुत ही विरोधाभासी स्थितियो मे, अनेकानेक द्वन्द्वो मे, अनेक बार इसी प्रकार आते रहे हैं, जाते रहे हैं। आज हम जो भी कुछ कर रहे है भोग रहे हैं वह पता नही कितनी बार कर चुके, भोग चुके हैं। हम कुछ भी नया नही करते। वही-वही दोहराते भर हैं। अत' महावीर का यह अनूठा प्रयोग---जातिस्मरण—बडा ही कारगर उपाय है इस अधी दौड को एक बार प्रत्यक्ष दिखा देने की ओर यह अधापन दिखाई पडते ही व्यक्ति की पकड इस दौड पर से छूटने लगती है। उसे यह ठीक-ठीक समझ मे आ जाता है कि वह जो भी कर रहा है, कुछ भी नया या भिन्न नही कर रहा। पुनरावृत्ति के इस चक्र मे घूमता ही चला आया है। अतएव यह जातिस्मरण का अनूठा प्रयोग महावीर की जो बहुत ही मूल्यवान और बडी से बडी देन साधना जगत् में है उनमे से एक है। यद्यपि वैज्ञानिक ढग से अभी इस पर इतना कार्य नही हो सका जितना होना चाहिए। जब तक कोई साधक इस ध्यान पद्धति से—जाति स्मरण के प्रयोग से कम-से-कम एक बार न गुजर जाये तब तक वह जो कुछ भी रहा है उसका उल्टा, अथवा जो भी है आगे उसका उल्टा करने मे, होने मे, पडा रहेगा। संसारी रहा है तो सन्यास में रुचि लेने लगेगा। सन्यासी रहा है तो संसार में रस लेने लगेगा। रागी रहा है तो विरागी हो जाएगा। वैराग्य से लिप्त रहा है तो राग से बध जाएगा। क्योंकि एक से ऊब जाने के कारण व्यक्ति उसमे पीछा छुडा कर उसके विपरीत को पकड लेता है। यही उसकी मूर्छा है। जाति स्मरण के प्रयोग मे उसकी यही मूर्छा टूटने मे बडी कीमती सहायता मिलती है और तब व्यक्ति राग एव विराग दोनो के द्वन्द्वो मे छूटने लगता है। वासनाओं पर उसकी स्वनिर्मित जकडबदी शनै -शनै. ढीली पडती चली जाती है और फिर वह जिस स्थिति की ओर अग्रसर होता है उसे महावीर ने बहुत अद्भुत शब्द दिया है। वह स्थिति है---वीतरागता।

वीतराग शब्द ही बडा अनूठा है। महावीर से पूर्व यह शब्द प्राय नही था। वे ही इसे लेकर आये। और उनकी दी हुई साधनाएं, यदि गहरे से देखा जाये तो इसी की प्राप्ति के लिए हैं इससे पूर्व दो शब्द चलते थे। राग (शाब्दिक अर्थ रंग) और उसके विपरीत विराग। रागी यानी वह व्यक्ति जो रगा हुआ है ससार मे, सुख-सुविधाओ मे, भौतिकता मे पूरी तरह रत है वासनाओ-कामनाओं मे। विरागी ठीक इसके विपरीत खडा है। यानी रागी जिस ओर मुह किये है विरागी उस ओर से पीठ किये उधर मे विमुख हो गया है। स्मरण रहे ! विरागी छूट नही गया है, मुक्त नही हो गया है। बहुत सूक्ष्म मे राग और विराग एक ही सिक्के के दो पहलू है। यदि रागी संसार मे लिप्त है, दिन-रात भोगे चला जा रहा है तो विरागी वैराग्य या त्याग मे लिप्त है। यानी लिप्त दोनो ही हैं। अलिप्त या कहें निर्लिप्त कोई भी नही है। भोगी समझ रहा है स्त्री मे स्वर्ग है। विरागी उसका उल्टा समझ रहा है कि ये चीजें ही तो नरक हैं। भागो इनसे। बधे दोनों ही है। सही बात यह है कि राग से मुक्त हो जाने वाला व्यक्ति विरागी नही हो जाता। जैसा कि सामान्यत माना जाता है। विरागी की भी अपनी तरह की वासनायें है— स्वर्ग की, मोक्ष की। तो न रागी मुक्त हुआ न विरागी मुक्त हुआ। दोनो बधे हैं। केवल एक दूसरे की तरफ पीठ किये— विपरीत खडे है। अर्थात् या तो 'यह' अथवा 'वह' जो इसका उल्टा है। इस चुनाव इच्छा से दोनो आबद्ध है। यह या वह के चुनाव से बाहर नही हो गये। और कितने मजे की बात यह है। जैसा कि मनोवैज्ञानिक कहते हैं और सही कहते हैं कि यह जो सासारिक भोगों मे रत रागी है। उसके अचेतन मे ठीक इसके विपरीत चलता रहता है वहा आत्मा-परमात्मा की बातें होगी। अध्यात्म और धर्म की चर्चा होगी। और जो वैरागी है, उसके अचेतन मे राग विषयक बाते होगी। तात्पर्य यह कि जो राग से बधा है वह तो मुक्त है ही नही विरागी भी मुक्त नही है। तो फिर कौन है ऐसा जिसे मुक्त कहा जा सके ? उत्तर मे यही निवेदन है कि मुक्त वही व्यक्ति हो सकता है जो महावीर के अनुसार वीतरागता वाली स्थिति को प्राप्त हो गया हो।

साधारणत: वीतराग को भी विराग या वैराग्य का ही एक रूप मानने की भूल की जाती है। जो सही नही है। वीतराग बात ही कुछ और है। अर्थात् महावीर के अनुसार वह स्थिति जहा पहुचकर न 'यह' न 'वह', न 'इस पर' न 'उस पर' इन दोनो छोरो से जो पार हो जाये। इनके बाहर पहुंच जाए वह वीतराग है। राग और विराग अच्छे या बुरे ससार या स्वर्ग, सुख और दुःख आदि दोनो की वासना से जो छूट गया बाहर हो गया और अब उसका अपना कोई चुनाव कोई कामना शेष न रही वही वीतरागी हुआ। जीवन की परम उपलब्धि यदि किसी को कहा जा सकता है तो वह यही वीतराग है। जीवन-यात्रा का जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, बल्कि जिसे कहे परम बिंदु है, और अधिक गहरे अर्थ मे अन्तिम बिन्दु भी, तो वह यही है। अन्तिम इस कारण से कि फिर इसके पश्चात् ही मुक्ति की यात्रा का प्रारभ होता है। वीतरागता की स्थिति को प्राप्त किए बिना कोई मुक्ति-यात्रा सभव नही हो पाती। यह कतई विचारणीय नही कि रागी होना चाहिए या विरागी। विचारणीय यह होना चाहिए कि हम जो भी हैं उसके प्रति कितने जाग्रत हैं। कितने मूर्छित है। इन दोनो के प्रति जाग जाना, होश से, ध्यान से, भर जाना हमारी जन्मों-जन्मों की मूर्छा भंग करने मे सहायक होगा। फिर जब इन दोनों के प्रति मूर्छा टूटना प्रारंभ होगी तो वह न राग में ले

जाएगी न विराग में। वह वीतराग की ओर से आएगी जो अपने आप में बड़ी कीमती चीज है।

फ्रॉयड, युंग, एडलर आदि मनस्वियो ने तो अब आकर यह बात कही कि हम जो भी करते हैं ठीक उसके विपरीत हमारे अचेतन (मन) में छुटने लगता है, संग्रहीत होने लगता है। जिससे प्रेम हो तो उसी के प्रति घृणा भी पालते चले जाते हैं। घृणा करते हों तो बहुत संभावना है इसकी कि उसके प्रति मन के किसी न किसी कोने पर प्रेम भी सजोते रहे। जीवन के सभी तलो पर जो भी हैं, हम उसके विपरीत इकट्ठा करते रहने के पुराने मरीज हैं। महावीर ने पच्चीस सौ वर्ष पहले ही इस तथ्य को बता दिया था। और इसीलिए वे तमाम 'अतियों' से छूटने, तमाम द्वन्द्वो से मुक्त रहने की एक कीमती विधि लेकर खड़े हुए वह यही है -वीतरागता। अर्थात् आसानी के लिए कह सकते हैं कि एक ऐसी स्थिति जिसमें न क्रोध हो, न क्षमा, न हिंसा न अहिंसा, न सैक्स, न ब्रह्मचर्य, न प्रेम से घृणा, न शत्रुता न मित्रता। क्योंकि ये सारी चीजें एक ही टकसाल मे ढले अलग-अलग नामो वाले सिक्कों के दो पहलू है। जब एक सामने होता है दूसरा छुपा रहता है। इसलिए इन तमाम द्वन्द्वों के प्रति ज ग जाने से जो स्थिति प्राप्त होती है वहा कोई चुनाव कोई छोर, या कहे सिक्के के किसी भी पहलू के प्रति कुछ भी लगाव, नहीं रह जाता। तब एक तीसरी ही दशा का बोध पहली बार होता है जो न 'इधर' पहुचाती है न उधर, दोनो से पकड़ छूटने लगती है। महावीर के अनुसार 'इस' या 'उस' इन दोनो किनारो, दोनो अतियो पर डोलते रहने और घूमते रहने के इस दुष्चक्र से व्यक्ति का पीछा न छूटने के कारण ही हम विपरीत और विरोधी स्थिति मे बार-बार इन्ही द्वन्द्वो मे भटकते रहते हैं। अब यदि इन दोनो हालतो से जागकर एक ऐसी दशा पा लें जहा कोई अति, कोई द्वन्द्व न हो तो यह वही दशा है जिसे उन्होने वीतराग कहा है। उनकी यह दृष्टि बड़ी ही वैज्ञानिक दृष्टि है। और जातिस्मरण जैसी कीमती देन का सबसे बड़ा महत्त्व यही है कि उसके प्रयोग से व्यक्ति को वीतरागी होने मे बहुत बड़ी सहायता मिलती है। कदाचित् कुछ गलत न होगा यदि यह निवेदन करू कि जाति स्मरण का सबसे बड़ा सुफल जो है वह है- -वीतरागता। इस प्रकार इन दोनो का परस्पर गहरा सम्बन्ध भी माना जा सकता है।

मोटे तौर पर तीर्थंकर का शाब्दिक अर्थ है—पार कराने वाला। चौबीस तीर्थंकरो की सुदीर्घ शृंखला मे महावीर चौबीसवें तीर्थंकर हैं। प्रकटत. अन्तिम, किन्तु जिन्होने गहरे देखा व जाना है तो महावीर इस शृंखला के केन्द्र है। कुछ इसी तरह से जैसे पैगम्बरो और नबियो की सुदीर्घकालिक व सुपुष्ट शृंखला मे हजरत मोम्मद अन्तिम पैगम्बर होकर भी सबके केन्द्र है। प्रकारान्तर से पैगम्बरी-शृंखला मे जो स्थिति मुहम्मद की है लगभग वही स्थिति तीर्थंकरो मे महावीर की है। परमज्ञान या परम सत्य तो सभी तीर्थंकरो को उपलब्ध और बराबर ही उपलब्ध हुआ। उससे रत्ती भर कमीबेशी की गुंजाइश नही। किंतु महावीर की अभिव्यक्ति क्षमता का मुकाबला किसी से नही हो सकता। उन्होने सत्य को जितनी अभिव्यक्ति दी और जितने ढग, जितने पहलुओ से दी उसका न जवाब पाया जा सकता है, न जोड।

महावीर ने पार उतरने के जो उपाय या कहिए घाट, बताए है उनमे से एक है --श्रावक होना। बात बजाहिर कुछ अजीब-सी प्रतीत हो सकती है, कि श्रावक होना कौन बडी बात है। किंतु नही! बड़ी ही नही कठिन बात भी है। महावीर जैसा अद्भुत ज्ञानीपुरुष किसी शब्द का उपयोग यो ही या सामान्य अर्थों मे नही करता है। सुनने की क्षमता या श्रवण-शक्ति यो तो प्रत्येक मे होती ही है। तो किसी को भी जो सुन सकता हो श्रावक कहा जा सकता है। किंतु महावीर जिसे श्रावक कह रहे है वह मात्र सुनना या सुनने वाला ही नही। अपितु एक पूरी साधना ही है। यह तथ्य जरा समझ लेने जैसा प्रतीत होता है।

महावीर से पूर्व-चाहे वे चौबीस तीर्थंकरो वाली शृंखला के हो या उससे बाहर किसी अन्य परम्परा के। जो भी बुद्ध पुरुष आये और बुद्ध (गौतम), गोशाल, पूर्ण काश्यप आदि जो भी ज्ञानी पुरुष उनके समकालीन हुए उनमे से किसी न भी इस ओर दृष्टिपात नही किया कि कोई व्यक्ति श्रावक कैसे बने, सुनने वाला कैसे बने। किस प्रकार से वही सुन सके जो उससे कहा जा रहा है। उन सभी को केवल इस बात का विचार रहा कि जो उन्होने जाना है जो उनके अनुभव मे आया उसे वे किस प्रकार ठीक-ठीक अभिव्यक्ति दे सके। कह सके हैं, इसका कुछ भी विचार नही कि जिससे वे बोल रहे हैं, कह रहे है; वह भी ठीक ठीक सुन पा रहा है या नही। उनका ध्यान खुद पर और जो कहा जा रहा था उस पर था। वह जो उनके सामने बैठा उन्हे सुन रहा था उस पर नहीं था। महावीर वे पहले व्यक्ति है जिन्होने इस बात पर बहुत अधिक ध्यान दिया, कि वे जो कह रहे हैं उतना ही ठीक होना पर्याप्त नहीं। बल्कि सुनने वाला भी 'ठीक' होना चाहिए। उनके अनुसार ठीक-ठीक सुना जाना तभी सम्भव हो सकता है जब सुननेवाले के चित्त पर चलता सारा विचार-प्रवाह ठहर जाये, शान्त हो जाये, और जब ऐसी स्थिति जिसे कहते है निर्विचार-अवस्था पैदा हो जाती है तभी सुनना सार्थक हो पाता है। अन्यथा सुना तो कान से भी जाता है। किन्तु उसे श्रावक नही श्रोता कहते हैं। श्रावक कानों से नहीं प्राणो से सुनता है। चेतना से सुनता है। आत्मा से सुनता है। श्रावक बहुत ही उच्च श्रेणी है।

महावीर ने बड़ी गहरी दृष्टि और बडे श्रम के साथ आध्यात्मिक जगत् मे एक अभूतपूर्व कला का बीज डाला। जिसे कहा जाना चाहिए—श्रावक-कला। वे अकेले इस कला के आविष्कारक हैं, या कहें जन्मदाता है। सही अर्थों मे श्रावक वही है जो निर्विचार की स्थिति में सुनपाने की क्षमता पैदा कर लेता है। फिर उसके सुनने के लिए भाषा-शब्द या ध्वनि के माध्यम की अनिवार्यता नही रह जाती है। ऐसी

वाणी जो बोली ही नहीं गयी किन्तु सुनी जा सकती है। इसके लिए पुरानी भाषा में एक शब्द है—दिव्यध्वनि। यानी किसी बुद्ध पुरुष के भीतर से उठी और किसी में सम्प्रेषित हो गयी। ऐसा तभी सम्भव है जब कोई ध्यानस्थ बैठकर निर्विचार की स्थिति को पहुंच पाये। उसके मन पर विचार की कोई भी रेखा बनती-मिटती न हो, कोई शब्द, कोई भाव, कोई तरंग न हो। पूर्ण मौन होकर सुन सके। केवल सुननेवाला यानी श्रोता होने में और भीतर-बाहर पूर्ण मौन सुननेवाला ज्ञानी श्रावक होने मे जो बड़ा भारी अन्तर है उसे स्पष्ट करने के लिए महावीर एक बड़ा कीमती शब्द प्रयोग मे लाये—सम्यक् श्रवण।

श्रोता केवल सुन पाता है, सम्यक् श्रवण को प्राप्त नहीं हो पाता। श्रावक ही सम्यक् श्रवण को प्राप्त हो सकता है। साधना जगत् मे कोई व्यक्ति श्रोता से श्रावक कैसे हो सकेगा इसके लिए महावीर ने जो पद्धति प्रस्तुत की उसकी सबसे प्रथम सीढी है— प्रतिक्रमण। यह प्रतिक्रमण शब्द बड़ा युक्तियुक्त लाये हैं वे। 'आक्रमण' शब्द सर्वविदित है। प्रतिक्रमण ठीक उसका उल्टा है। हमारी चेतना, किसी भी जड या चेतन से, जहा जहा भी अपना एक लगाव रखे है, जिस-जिसके भी आसपास अटकी हुई है, जिन-जिनसे भी सम्बन्धित है, जुडी है, वह सब सूक्ष्म रूप से एक प्रकार का आक्रमण ही है। प्रतिक्रमण का मतलब है उन तमाम जगहो, वस्तुओ, केन्द्रो या बिन्दुओ मे चेतना को वापस लौटा लेना। पूरी तरह से समेट लेना। उस सारे फैलाव, बल्कि जाल, से वापस ले आना ही प्रतिक्रमण कहलाता है। इसी के द्वारा ही कोई व्यक्ति ठीक से मौन मे, निर्विचार मे उतर सकता है। और तभी वह सम्यक् श्रवण का पात्र होकर श्रावक बन सकता है। श्रावक-कला को प्राप्त कर लेना अपने आप मे एक बडी उपलब्धि इसलिए है कि अब जो मौन मे बोला गया उसे सुना ही नही पाया जा सकता है। बल्कि जो किसी स्थूल माध्यम मे कहा भी न जा सके बस समझा जा सके, अनुभव मे लिया जा सके उसे भी पाया जा सकता है। कोई बुद्ध पुरुष सामने हो और यदि वह चाहे कि उसके श्रावक तक वह पहुच जाये, जो देना अभीप्ट है तो वह उस तक एकदम पहुचाया जा सकता है। (स्मरण रहे कि यह पद्धति टैलीपैथी जैसी प्रक्रिया से नितान्त भिन्न है। क्योंकि टैलीपैथी मे विचार सम्प्रेषण ही चलता है जबकि इसमें स्थिति निर्विचार की होती है)। इस प्रकार महावीर जब श्रावक होना पार उतरने का एक उपाय, एक घाट कहते हैं तो एक बहुत कीमती प्रक्रिया दे रहे हैं जो साधना जगत् में उनकी एक अप्रतिम, अद्वितीय और अभूतपूर्व खोज है।

सभी तरह की साधनाओं मे एक प्रक्रिया चलती है। जिसके लिए एक शब्द है- ध्यान। चाहे वह योग हो, सूफी साधना हो, तन्त्र हो या भक्ति ही क्यों न हो। ध्यान किसी न किसी प्रकार विद्यमान पाया जाता है। भले ही नाम अलग हो या रूप तनिक भिन्न हो। ध्यानाचार्यों की एक बडी लम्बी, समृद्ध और बहुत विकसित परम्परा भारत मे रही है। महावीर द्वारा प्रतिपादित साधना-मार्ग भी वस्तुत: ध्यान-मार्ग ही है। किन्तु उनकी विशेषता यह है कि उन्होने इसे ज्यो का त्यो नही उठा लिया। बल्कि इसमें भी उन्होने अपनी वैज्ञानिक दृष्टि के साथ इसे एक अलग-सा रूप प्रदान किया जिसे उन्होंने नाम दिया है - सामायिक। यो इस शब्द को ध्यान का पर्याय माना जा सकता है। किन्तु इसमें और महावीर से पूर्व का यानी परम्परागत ध्यान-पद्धति मे फर्क है। उदाहरण के लिए जैसे ही ध्यान शब्द हमारे सामने आता है तो उसके साथ एक प्रश्न ध्वनित होता महसूस होता है। 'किसका ध्यान ?' अथवा 'किसके ध्यान मे ?' या 'किस पर ध्यान ?' या 'कहा ध्यान लगायें ?' इत्यादि (यह मैं साधना की दृष्टि से कह रहा हू) यानी प्रकारान्तर से ध्यान शब्द ही किसी न किसी रूप में 'पर-केन्द्रित' दिखाई पडता है। अत महावीर जो किसी भी पर के समर्थक हरगिज नही बल्कि 'स्व' के प्रबल पक्षधर हैं ने बजाय ध्यान के सामायिक शब्द देकर उसे 'पर' से सर्वथा मुक्त करने का साहसिक प्रयास किया। उनके अनुसार समय का मतलब है आत्मा। तो सामायिक का अर्थ हुआ समय अर्थात् आत्मा मे स्थिर होने की स्थिति। यह जो समय को उन्होने आत्मा की संज्ञा दी। यह बात जरा अजीब-सी लग सकती है और कोई परिकल्पना-सी प्रतीत होती है और बडा विस्तार चाहती है। किन्तु यहा मैं थोडे मे स्पष्ट करके आगे निवेदन करूगा।

अधिकतर विचारकों की दृष्टि में काल तथा क्षेत्र सदा से दो भिन्न चीजें मानी जाती रही हैं। यानी काल अलग है, क्षेत्र अलग है। किन्तु आइन्स्टीन के कारण एक अभूतपूर्व घटना घटी। यानी उसने अपने सापेक्ष-सिद्धान्त द्वारा यह साबित कर दिया कि ये दोनो अलग नहीं अभिन्न है। दोनो एक साथ और एक ही चीज के हिस्से हैं। विज्ञान-जगत् मे प्रथम बार यह क्रान्ति हुई कि काल व क्षेत्र को जोड लिया गया। मोटे तौर पर किसी चीज के अस्तित्व मे तीन बातें देखी जाती हैं, भौतिक शास्त्र के अनुसार। यानी लम्बाई, चौडाई व ऊचाई। किन्तु शनै. शनै: यह पाया गया कि इन तीनो मे से किसी मे भी उसका 'अस्तित्व' नही समा पाता है। तब इस अस्तित्व के बारे मे जो भी वक्तव्य दिया जाये वह अधूरा होगा कि कोई चीज कहा, किस स्थान पर व किस आकार की है। किन्तु प्रश्न उठता है —कब है ? और इसके उत्तर बिना अस्तित्व की व्याख्या अपूर्ण होगी। तो आइन्स्टीन ने अस्तित्व की सबसे पहली अनिवार्यता मानी है—समय या काल। भौतिक विज्ञान को उसकी यह देन बडी महत्त्वपूर्ण है। उधर आत्मा के विज्ञान मे और साधना-जगत् मे सबसे प्रथम महावीर को यह बोध हुआ कि समय जो है वही चेतना की दिशा है। दूसरे शब्दो में समय के बिना चेतना का अस्तित्व अनुभव मे नही आ सकता। अत समय का जो बोध है, भाव है, वही चेतना का सबसे अनिवार्य अग है, अतएव उन्होने आत्मा को समय ही कहना अधिक उचित समझा। और यह इसलिए भी कि एक ही तत्त्व (समय या काल) अनादि, अनन्त, शाश्वत, सनातन भी है। सदा से है और सदा रहने वाला है। बाकी जो भी आयेगा, चला

जायेगा, मिट जायेगा, खो जायेगा, और भी कारण है जिससे उन्होंने समय को आत्मा कहा। विस्तारभय से इस समय उनकी चर्चा नहीं करूंगा। तो, इस प्रकार समय को आत्मा कहा गया।

महावीर द्वारा प्रदत्त सामायिक-साधना अन्य ध्यान-साधनाओ की अपेक्षा कुछ अपनी-सी विशिष्टता रखती है। जो विज्ञान के काफी निकट है। इसके साथ ही यह शब्द सामायिक उनकी साधना पद्धति का सर्वथा केन्द्रीय शब्द भी है। महावीर द्वारा प्रदत्त समस्त साधनायत प्रक्रियाएं सामायिक तक पहुचाने का साधन प्रतीत होती हैं। सामायिक को उन्होने दो हिस्सो, कहे दो चरणो मे रखा। पहला है प्रतिक्रमण (जिसके बारे में निवेदन किया जा चुका है) अर्थात् जहा-जहा भी हमारी चेतना जिस-जिससे भी सम्बद्ध है, वहां-वहां से उसे असम्बद्ध कर लेना। चाहे वे जड पदार्थ हो या सचेतन। इससे कुछ फर्क नही पडता, उसे लौटा लेना है, सब तरफ से काटते हुए सिमटाते हुए वापस खीच लेना है। यह प्रथम हिस्सा यानी प्रतिक्रमण हुआ। किन्तु महावीर की दृष्टि हर मामले मे बडी ही गहरी है। उन्हे इस बात का पूरा पूरा ज्ञान है कि प्रतिक्रमण केवल एक प्रक्रिया है। स्वभाव नही है। अत: वही लौटी हुई चेतना जितनी शीघ्रता से सब ओर से खिचकर लौटती है। तो अगर उसे कोई ठौर-ठिकाना न मिले तो वापस वही-की वही फिर चली जाती है। इसलिए उन्होने उसके आगे का बहुत कीमती सूत्र दिया कि जब चेतना लौट आये तो फिर इससे आगे की बात यानी दूसरा चरण प्रारम्भ होता है---कि अब उसे 'स्व' में, अपने केन्द्र यानी आत्मा (लक्ष्य) मे स्थिर किया जाना चाहिए, रमा लिया जाना चाहिए। क्योकि यदि वह आत्मा पर न रुकी, न ठहरी, तो फिर किसी न किसी 'पर' से जाकर सम्बन्धित हो जायेगी। इस दूसरे चरण का नाम ही उन्होने दिया है - सामायिक। इन दोनों चरणों को पूरा करने से जो क्रिया सम्पन्न होती है महावीर ने उसे सम्यक् ध्यान कहकर इंगित किया है। तो सामायिक का अर्थ इस प्रकार हुआ आत्मा में स्थिर हो जाना। अब इस शब्द सामायिक मे कुछ ऐसा ध्वनित होता महसूस नही होता कि किसकी सामायिक ? बडी सुन्दरता और बडे वैज्ञानिक ढंग से उन्होने बात पूरी कर दी। उनका लाया गया यह शब्द और इसके पीछे दी हुई प्रक्रिया साधना-जगत् की तमाम भाषाओं में सबसे अधिक वैज्ञानिक और अद्भुत शब्द है, वह बेजोड है।

महावीर द्वारा प्रदत्त दर्शन-दृष्टि के अन्तर्गत उनका स्यात् तो अनेकान्त-दर्शन और साधना के अन्तर्गत जाति स्मरण, वीतरागता, श्रावक, कला तथा सामायिक। ये पाचो बाते मुझे सबसे अधिक अपील करती है और उनकी अद्भुत वैज्ञानिक दृष्टि का बडा गहरा परिचय देती हैं। इसीलिए मैंने इनकी ओर सकेत करने का यह छोटा-सा प्रयास भर किया है। इसके अतिरिक्त भी महावीर की बहुतेरी बातें ऐसी हैं जो भले ही उनके युग मे कीमती न भी समझी गयी हो किन्तु आज जब विज्ञान-मनोविज्ञान के इतने विकसित युग मे उन्हें देखने-परखने का प्रयास किया जाता है तब उनके सही मर्म की जानकारी मिलती है कि अध्यात्म-विज्ञान मे महावीर ढाई हजार वर्ष पूर्व ही इतनी वैज्ञानिक दृष्टि का बोध पा चुके थे, दे भी चुके थे, जो विज्ञान फिलहाल प्राप्त नही कर पाया है। लेकिन भावी विज्ञान महावीर को और भी अधिक स्वीकृति देगा इसमे अब सशय की सभावना नही रह गयी है।

जैनधर्म और विज्ञान

आजकल दुनिया मे विज्ञान का नाम बहुत सुना जाता है। इसने ही धर्म के नाम पर प्रचलित बहुत से ढोगो की कलई खोली है, इसी कारण अनेक धर्म यह घोषणा करते है कि धर्म और विज्ञान मे जबरदस्त विरोध है। जैन धर्म तो सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी जिनेन्द्र भगवान् का बताया हुआ वस्तुस्वभाव रूप है। इसलिए यह वैज्ञानिको की खोजो का स्वागत करता है।

भारत के बहुत से दार्शनिक 'शब्द' को आकाश का गुण बताते थे और उसे अमूर्तिक बताकर अनेक युक्तियो का जाल फैलाया करते थे, किन्तु जैन धर्माचार्यों ने शब्द को जड तथा मूर्तिमान बताया था। आज विज्ञान ने ग्रामोफोन रेडियो आदि ध्वनि सम्बन्धी यत्रो के आधार पर 'शब्द' को जैन धर्म के अनुसार प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया है। आज हजारो मील दूर से शब्दो को हमारे पास तक पहुचाने मे माध्यम रूप से 'ईथर' नाम के अदृश्य तत्त्व की वैज्ञानिको को कल्पना करनी पडी, किन्तु जैनाचार्यों ने हजारो वर्ष पहले ही लोकव्यापी 'महास्कन्ध' नामक पदार्थ के अस्तित्व को बताया है। इसकी सहायता से भगवान् जिनेन्द्र के जन्मादि की वार्ता क्षण भर मे समस्त जगत् में फैल जाती थी। प्रतीत तो ऐसा भी होता है कि नेत्रकम्प, बाहुस्पन्दन, आदि के द्वारा इष्ट अनिष्ट घटनाओ के सन्देश स्वत पहुचाने मे यही 'महास्कन्ध' सहायता प्रदान करता है।

—आचार्य श्री देशभूषण, भगवान् महावीर और उनका तत्त्व दर्शन, दिल्ली १९७३, पृ० ३८-३९ से उद्धृत

आधुनिक धार्मिक एकता के परिप्रेक्ष्य में तुलसी साहित्य व महावीर वाणी में भाव-साम्य

श्री जगत भंडारी

धर्म मानव को मानव से जोड़ता है तथा एक ऐसे अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचा देता है जहां सभी मतभेद समाप्त हो जाते हैं तथा साम्प्रदायिक घेरा बंदी छिन्न-भिन्न हो जाती है, यदि कुछ शेष बचता है तो वह है 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'। जैन धर्म की आधारशिला दर्शन के इन्हीं गहन विचारों पर आधारित है और इसका दर्शन तर्क की उस कसौटी से अनुप्राणित है जिसमें अनेकान्तवाद का सप्तरंगी इन्द्रधनुष अपनी आभा से स्वयं तो कांतिमान् है ही, समग्र दर्शन जगत् के भाव-वैविध्य को भी समता और एकता का आलोक प्रदान करता है। ऐसा कभी हो नहीं सकता कि वीतरागी की वाणी पक्षपात पूर्ण हो अथवा अल्पकालिक महत्त्व को लिए हुए हो। उसके पीछे केवल एक ही भावना रहती है—मानव-कल्याण हेतु मार्ग प्रशस्त करना। धार्मिक सद्भावना आज के युग की अत्यावश्यक मांग है। इतिहास के किसी युग में शायद ऐसा रहा था जब मतभेदों को उभारकर मानव-मानव के बीच कृत्रिम दीवारें खड़ी की गईं परन्तु आज बीसवीं सदी के चिन्तक एक ऐसे धर्म की कल्पना को संजोए हुए हैं जिसमें सभी धार्मिक विचारों का ऐक्य समाहित हो और साम्प्रदायिक तनाव को समाप्त किया जाए। इसी उद्देश्य से अनुप्रेरित होकर प्रस्तुत लेख में हिन्दू धर्म तथा जैन धर्म के धार्मिक सद्भाव एवं वैचारिक समता का दिग्दर्शन कराया गया है जो क्रमशः गोस्वामी तुलसी दास तथा भगवान् महावीर की वाणी पर आधारित है।

हिन्दी साहित्य-सरोवर में श्रीराम-काव्य रूपी 'कोर' के संयोजक गोस्वामी तुलसीदास ने —

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि, स्वान्तः सुखाय तुलसीरघुनाथगाथाभाषा निबद्धमति-मंजुलमातनोति कह कर अपने काव्य में वेद-शास्त्र-पुराणों, सभी राम काव्यों तथा 'कतिपय अन्य' के समावेश की घोषणा कर दी। यह 'क्वचिदन्यतोऽपि' इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय इसलिए है कि जिन 'अन्यों' से तुलसी का भावनात्मक सामंजस्य नहीं भी हो सका था उनकी भी विशेष भाव-कलियों को उन्होंने अपनी काव्य-वाटिका में सुसज्जित कर दिया। इस भाव से जब हम तुलसी साहित्य का, विशेष रूप से उनके ग्रन्थसम्राट् श्री रामचरितमानस का अध्ययन करते हैं तो हमें कई स्थलों पर महावीर वाणी के दर्शन होते हैं। वाणी का यह समावेश कई स्थलों पर तो प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है और कई स्थलों पर अप्रत्यक्ष रूप में। निश्चय ही इससे तुलसी की मानसिक विराटता और गुण ग्राहकता की पुष्टि होती है।

सर्व प्रथम अहिंसा को ही लें। प्रातः स्मरणीय भारत गौरव आचार्य रत्न १०८ श्री देशभूषण महाराज के कथनानुसार संसार के सभी धर्मों में परम व सर्व स्वीकार्य अहिंसा ही है। जब तक विषय कषाय में मानव प्राणों का उपभोग लगा रहेगा तब तक उनको पूर्ण अहिंसात्मक आत्म सुख की प्राप्ति कभी नहीं हो सकेगी। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी श्री रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में रामराज्य-प्रसंग में अहिंसा के इसी मत का अपने शब्दों में इस प्रकार वर्णन किया है—

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक संग गज पंचानन॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबहिं परस्पर प्रीति बढ़ाई॥
कूजहिं खग-मृग नाना बृन्दा। अभय चरहिं बन करहिं अनन्दा॥

तुलसी के विचार में पूर्ण अहिंसा भगवान् की कृपा से ही संभव है। वह केवल मनुष्यों में ही नहीं अपितु पशु-पक्षियों में भी उपज सकती है। आगे मानव-धर्म का निर्देश करते हुए तुलसी दास कहते हैं—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
नर शरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महा भव भीरा॥

करहिं मोहबस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना।
काल रूप तिन्ह कहं मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता॥
तुलनीय—**वसुधम्मि वि विहरंता पीडं ण करेंति कस्सइ कयाई।**
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु॥

मूलाचार के इस पद मे साधुजनो के जिस स्वभाव का वर्णन किया गया है उसे ही तुलसी ने अपने श्रीरामचरितमानस मे इस प्रकार कहा है--

बंदऊ सन्त समान चित हित अनहित नहिं कोउ।
अंजलि गत सुभ सुमन जिमि, सम सुगन्ध कर दोउ॥

महावीर वाणी मे जहां सन्तो को सभी पर वात्सल्य रखने की बात कहकर उन्हे माता की उपमा दी है वहां तुलसी ने उन्हें सुगन्धित पुष्प कहकर सारे वातावरण को सुगन्धित करने वाला बना दिया। बात एक ही है परन्तु मा का वात्सल्य तो केवल अपने ही पुत्र पर होता है किन्तु सुगन्धित पुष्प द्वारा पूरे समाज को सुगन्धित करने की बात मे निश्चय ही 'साधु' की 'साधुता' भली भांति प्रतिष्ठित कर दी गई है।

जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ॥

"भक्त परीक्षा" की इस उक्ति की तुलसी ने लोक भाषा मे कितनी मनोहारी व्यंजना की है!—

परहित सरिस धरम नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

पहले मे दूसरे का वध करना अपना वध और दूसरे पर दया करना अपने पर ही दया करना बताया गया है किन्तु तुलसी ने इसी बात को 'परहित' के समान कोई धर्म नही और 'परपीडन' के समान कोई पाप नही कहकर अप्रत्यक्ष रूप से महावीर के 'अहिंसा' सिद्धान्त का ही प्रतिपादन कर दिया है।

पावस्सागमदारं असच्चवयणं अर्थात् असत्य वचन पाप के आगमन के लिए द्वार के समान है-- महावीर जी की इसी वाणी के तुलसी-साहित्य मे इस प्रकार दर्शन होते है-

नहिं असत्य सम पातक पुंजा, अर्थात् असत्य के समान कोई पापो का समूह नही है। एक मे असत्य को पापों के आगमन का द्वार बताया गया है और दूसरे मे स्वय पाप-समूह।

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य जो होदि।

अर्थात् जो परद्रव्य से विरक्त होता है वही साधु वैरागी होता है इस महावीर वाणी का तुलसी ने कितना सुन्दर विवेचन किया है—

परधन पत्थर मानिये परतिय मातु समान।
इतने से हरि ना मिलें तुलसीदास जुबान॥

भक्त कवि की अपने 'हरि' के प्रति भावुकता सचमुच मनोहारी है।

जीवो बंभा जीवम्मि द्वारा महावीर वाणी मे जीव मे ब्रह्म का आरोपण किया गया किन्तु गोस्वामी जी ने--**ब्रह्म जीव इव सहज संघाती** कहकर दोनो का पृथक् अस्तित्व अक्षुण्ण रखकर उनके साहचर्य का भी निर्देश कर दिया है।

जो मण्णदि पर-महिलं जणणी-बहिणी-सुआइ सारिच्छं।
मण-वयणे काएण वि बंभ-वई सो हवे थूलो॥

अर्थात् जो मन, वचन और शरीर से पराई स्त्री को माता, बहिन और पुत्री के समान समझता है, वह श्रावक स्थूल ब्रह्मचारी है। महावीर-वाणी के इस भाव का तुलसी साहित्य मे अनेक स्थलो पर विशद वर्णन किया गया है। यथा—

अनुज वधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥
इन्हहिं कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधें कछु पाप न होई॥

एक की वाणी मे पराई स्त्री को माता, बहिन और पुत्री मानने वाला ब्रह्मचारी है तो दूसरे के विचार में ऐसा न मानने वाले को मार देने मे भी कोई पाप नही है। इतना ही नही अपितु तुलसी इस मामले मे कुछ और भी आगे बढ़ गए प्रतीत होते हैं—

परद्रोही परदार रत पर धन पर अपवाद।
ते नर पामर पापमय देह धरें मनुजाद॥

तुलसी ने पर स्त्री विषयक नैतिकता के साथ ही लोकाचार की कतिपय अन्य विविधताओं को भी इसमे जोड दिया। अर्थात् दूसरे से द्रोह, दूसरे की नारी मे आसक्ति, पर धन पर दृष्टि और दूसरो के विषय मे विवाद फैलाने वाला नीच, पशु, पापी है और केवल मानुष देह धारण कर उसे कलंकित कर रहा है।

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं—दुख काम-भोगो की अभिलाषा से उत्पन्न होता है।

महावीर जी की इस वाणी के दिग्दर्शन हमे तुलसीकृत रामचरित मानस के किष्किन्धाकाण्ड में होते हैं। यहा वानरराज सुग्रीव श्रीरामचन्द्र महाराज से कहते हैं—

नाथ विषय सम मद कछु नाहीं। मुनि मन मोह करम क्षण माहीं।।

इसी प्रकार—

जो अप्पाणं जाणदि असुइ-सरीरादु तच्चदो भिण्णं।
जाणग-रूव-सरुव सो सत्थं जाणदे सव्वं।।

अर्थात् महावीर वाणी के अनुसार जो अपनी आत्मा को इस अपवित्र शरीर से तत्त्वत: भिन्न तथा ज्ञायक स्वरूप जानता है, वह सब शास्त्रो को जानता है।

शरीर और आत्मा की इसी भिन्नता को तुलसी साहित्य मे और भी स्पष्ट कर दिया गया है—

तुलसी काया खेत है, मनसा भयो किसान।
पाप पुण्य दुइ बीज हैं, बुऐ को लीन्हें दान।।

शरीर को आत्मा से पृथक् मानने के सिद्धान्त की पुष्टि बाली-वध प्रसग मे भी होती है। वहा बाली के मृत शरीर के पास बैठी तारा को उपदेश देते हुए श्रीरामचन्द्र कहते है—

क्षिति जल पावक गगन समीरा। पंच रहित यह अधम शरीरा।।
प्रकट सो तनु तम आगे सोवा। जीव नित्य तुम केहि लगि रोवा।।

अर्थात् शरीर पाच तत्त्वो से निर्मित पदार्थ है किन्तु जीव यानि आत्मा नित्य और शाश्वत है।

ण जीवो जडसहावो। जीवो सचेयणो ति।।

जीव जड स्वभाव वाला नही है। जीव सचेतन है। तुलसी ने इसी बात को इस प्रकार व्यक्त किया है—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखरासी।।

'श्रमण' की जो-जो विशेषतायें महावीर वाणी मे व्यक्त की गई है वही विशेषतायें तुलसी के रामचरितमानस मे भगवान् के 'अनन्य सेवक' के लिए व्यक्त की गई हैं—

(१) **समणो सम सुह दुक्खो**—प्रवचनसार

अर्थात् जो सुख दुःख मे समता भाव रखता है वह श्रमण है।

(२) **सम सुह-दुक्ख सहे य जे स भिक्खू,**— दशवैकालिक सूत्र।

अर्थात् जो समान रूप से सुख-दुःख को सहन करता है, वह भिक्षु है।

(३) **समलोट्ठुकंचणो पुण जीविद मरणे समो समणो।**—प्रवचनसार—

अर्थात् जो मिट्टी के ढेले और स्वर्ण मे तथा जीवन-मरण मे समान भाव रखता है, वह श्रमण है।

श्रमण की उपरोक्त मूल चेतना श्रीरामचरितमानस के उत्तर काण्ड के निम्न पद मे अभिलक्षित है—

नहि राग न लोभ न मान मदा। तिनके सम वैभव वा विपदा।
यहि ते तव सेवक होत मुदा। मुनि त्यागत जोग भरोस सदा।।
करि प्रेम निरन्तर नेम लिए। पद पंकज सेवत शुद्ध हिए।
सम मानि निरादर आदरही। सब संत सुखी बिचरंत मही।।"

और

सोक मोह भय हरष दिवस-निसि देस-काल तहं नाहीं।
तुलसीदास यहि दशाहीन संसय निरमूल न जाही।।—विनय पत्रिका

महावीर वाणी के अनुसार श्रमण की कतिपय अन्य विशेषताओं का भी दर्शन-साम्य तुलसी-साहित्य में असंदिग्ध है---

(१) जुत्ताहार विहारो रहिदकसाओ हवे समणो ।—प्रवचनसार
अर्थात् उपयुक्त आहार-विहार से युक्त तथा कषायों से रहित श्रमण होता है।

(२) समे य जे सव्वपाणभूतेसु से हु समणे ---प्रश्नव्याकरण
अर्थात् जो सभी प्राणियों पर सम भाव रखता है वही श्रमण है।

(३) दंसणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ।--प्रवचनसार
अर्थात् दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण श्रमण को संयत कहा गया है।

(४) सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसण णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥—प्रवचनसार

अर्थात् शुद्धोपयोग को श्रमणत्व कहा गया है और शुद्ध को दर्शन तथा ज्ञान। शुद्ध को निर्वाण होता है और वही सिद्ध होता है। उस सिद्ध को नमस्कार है।

(५) सत्तू मित्ते य समा - बोधपाहुड
अर्थात् जो शत्रु और मित्र में समभाव रखता है, वह श्रमण है।

तुलसी की निम्नोक्त चौपाइयों में भक्त की जो विशेषतायें व्यक्त की गई हैं वे निश्चय ही श्रमण के उपरोक्त गुणों का ही पर्याय हैं—

सरल स्वभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ-सन्तोष सदाई।
बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी।
प्रीति सदा सज्जन-संसर्गा। तृन सम बिषय-स्व-अपवर्गा॥

महावीर-वाणी के अनुसार निर्मल मन वाले को श्रमण कहा गया है--तो समणो जय सुमणो---
और तुलसी भी कुछ इसी प्रकार सच्चे भक्त की पहचान बताते है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

तुलसी तो यहा तक कह गए है कि—

रसना सांपिनि बदन बिल जो न जपहिं हरिनाम।
तुलसी प्रेम न राम सों, ताहि बिधाता बाम॥

महावीर वाणी मे 'परिग्रह' त्याज्य माना गया है--

(१) लोभ-कलि-कसाय-महक्खधो, प्रश्नव्याकरण
परिग्रह रूपी वृक्ष के तने लोभ, क्लेश और कषाय हैं।

(२) णिग्गथो वि विसएसु—भगवती आराधना
अपरिग्रही होने से विषय अभिलाषाओं का अभाव हो जाता है।

(३) आचेलक्को धम्मो पुरिमचराण— मूलाराधना
साधु को सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करना चाहिए।

(४) सव्वत्तो वि विमुत्तो साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो ।—मूलाराधना
जो साधू सभी वस्तुओं की आसक्ति मे मुक्त होता है, वही जितेन्द्रिय तथा आत्मनिर्भर होता है।

(५) असज्जमाणो अपडिबद्धे या वि विहरइ—उत्तराध्ययनसूत्र
जो अनासक्त है, वह सर्वत्र निर्द्वन्द्व भाव से विचरण करता है।

(६) सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था— स्थानांगसूत्र
सर्वत्र भगवान् ने निष्कामता को श्रेष्ठ कहा है। 'परिग्रह' से विरक्ति की प्राप्ति होती है। इसी को भक्त का प्रमुख

लक्षण मानकर तुलसी ने अयोध्याकाण्ड मे महर्षि वाल्मिकि के श्रीमुख से कहलाया है—

काम मोह मद मान न मोहा। लोभ न क्षोभ न राग न द्रोहा॥
जिन्ह के कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह के हृदय बसहु रघुराया॥

'अपरिग्रह' के समर्थन मे तो तुलसी यहा तक कह गए कि—

जहां राम तहं काम नहिं, जहां काम नहिं राम।
एक सग निगसत नहीं, तुलसी छाया धाम॥

'द्रव्य अपरिग्रह' के सन्दर्भ मे भी तुलसी ने लोकैषणाओं को अत्यन्त सीमित करते हुए कहा है—

'तुलसी' इतना दीजिये जामें कुटुम्ब अघाइ। मैं भी भूखा ना रहूं, साधु न भूखा जाई॥

इस प्रकार तुलसी साहित्य में तथा जैनानुमार्गी अपरिग्रह भावना मे कई स्थलो पर एक रूपता दृष्टिगोचर होती है।

इसी प्रकार महावीर वाणी मे कई स्थानो पर 'सदाचार' की महिमा का बखान किया गया है। आचारहीन जन—भक्ति के क्षेत्र मे पदार्पण ही नही कर सकते हैं। इसी सदाचार को तुलसी ने श्रीरामचरित मानस मे 'गृहस्थ' के लिए 'मर्यादा' के रूप मे और भक्तों के लिए वैराग्य के रूपमे प्रतिष्ठित किया है।

(१) **उदधीव रदण भरि दो तव विणयं सीलदाणरयणाणं।**
सोहेतो य ससीलो णिव्वाण मणुत्तरं पत्तो॥ —शीलपाहुड

जैसे समुद्र अनेक प्रकार के रत्नों से भरा हुआ है, वैसे ही आत्मा मे तप, विनय, शील, दान रत्न है। किन्तु जैसे जल होने पर ही समुद्र कहा जाता है, वैसे शील सहित होने पर ही मनुष्य उत्तम पद-निर्वाण प्राप्त करता है।

(२) **णिज्जावगो य णाण वादो झाण चरित्तणावा हो।**
भव सागर तु भविया तरंति तिहि सण्णि पायेण॥ - मूलाचार

जहाज चलाने वाला ज्ञान है, ध्यान हवा है और चरित्र नाव है। इन तीनो के मेल मे भव्य जीव संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं।

(३) **भल्लाण वि णासंति गुण जहिं सहु संगु खलेहि**—पाहुडदोहा
दुष्ट जनों की संगति से भले पुरुषों के भी गुण नष्ट हो जाते है।

(४) **भिक्खाए वा गिहत्थे वा सुव्वए कम्मई दिव।** —उत्तराध्ययन
चाहे साधु हो या गृहस्थ, यदि सुव्रती व सदाचारी है तो दिव्य गति को प्राप्त होता है।

तुलसी ने भी अपने आराध्य श्रीराम मे आदर्श गुणों से युक्त पुरुष की कल्पना करते हुए लिखा है—

बारिउ रूप शील गुण धामा। तदपि अथक सुख सागर रामा॥

इस पद द्वारा तुलसी ने रूप, शील और गुणों का धाम बताकर मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम को शक्ति, शील और सौंदर्य की मूर्ति बना दिया है। इससे महावीर वाणी के मूल भाव की अभिव्यंजना भी स्वयमेव हो जाती है।

संसार समुद्र से पार जाने के लिए तुलसी ने उपरोक्त शील सागर श्रीराम के नाम और भक्ति को सुदृढ आधार माना है। राम-भक्ति के जहाज मे चढकर ही प्राणी भव सागर पार हो जाता है। अलबत्ता भक्ति के क्षेत्र मे तुलसी, ज्ञान की महत्ता को कम न आंकते हुए भावना को अधिक प्रतिष्ठापित करते है।

उन्होंने जीवन के नाट्य मंच पर आने वाले विभिन्न पात्रो के लिए अनेक स्थलों पर आचार-संहिता ही बना दी है। 'मुखिया' का आचरण तुलसी के मत से इस प्रकार का होना चाहिए—

मुखिया मुख सो चाहिये खान पान कहु एक।
पाले पोषे सकल अंग, तुलसी सहित विवेक॥

इस प्रकार हम देखते है कि तुलसी साहित्य मे अनेक स्थलो पर महावीर वाणी के दर्शन किए जा सकते है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि तुलसी ने महावीर जी की विभिन्न वाणियों एवं सिद्धान्तों की बेलों को अपने महाकाव्य के चौखटे मे आवेष्ठित 'श्रीराम-कथा' की पावन मूर्ति के साथ देश, काल और पात्रानुकूल 'सवलित' कर दिया है। लेकिन जहा भी ऐसे स्थल आए हैं वहा भगवान् महावीर और गोस्वामी तुलसीदास के वचनामृत उदारता और परोपकारिता के मानवीय मूल्यों से मुखरित हुए हैं।

गुजरात के इतिहास-निरूपण में आधुनिक जैनसाधुओं का योगदान

श्री रसेस जमींदार

प्राचीन काल से भारत मे धर्म के क्षेत्र मे दो परम्पराए चली आ रही है ब्राह्मण और श्रमण। श्रमण परम्परा मे जैन धर्म का समावेश होता है। जैन धर्म मे त्यागी भिक्षुसघ और गृहस्थी श्रावकसघ नाम से जाने जाते है। श्रावकसघ की तुलना मे सघ को कई विशेष नियमों का चुस्त-रूप से पालन करना होता है। इसमे पाच महाव्रत मुख्य है।[1] इन पाच महाव्रतो मे एक अपरिग्रह है। जैन आगम ग्रन्थ स्पष्ट सूचित करते हैं कि भिक्षुओ को पुस्तको का भी परिग्रह नही करना चाहिए। परन्तु धर्म और साहित्य के विकास के साथ भिक्षुओं को विस्तृत साहित्य याद रखना कठिन पडा। अत कालान्तर मे ज्ञान के अनिवार्य साधन के रूप मे पुस्तको को स्वीकार करना पडा। अब पुस्तकें भिक्षुओ के लिए अनिवार्य मानी जाने लगी। ज्ञान के साक्षात्स्वरूप मे पुस्तको की पूजा आरम्भ हुई और कार्तिक शुक्ला पचमी 'ज्ञान पचमी'[2] के नाम से मनाई जाने लगी। परिणामस्वरूप जैन-मन्दिरो मे पुस्तको का सम्मान होने लगा और समृद्ध पुस्तकालय अस्तित्व मे आने लगे। जैनो की शब्दावली मे पुस्तकालय 'ज्ञानभण्डार' के नाम से ख्यात है।

तन-मन की शुद्धि हेतु मानवजीवन मे तीर्थों का महात्म्य प्रत्येक धर्म मे स्वीकार्य है। जीवन की मुसीबतो एव परेशानियो मे विलग कर आत्म-शान्ति प्राप्त कराने वाली तीर्थयात्रा एक अमोघ औषधि है। जैन धर्म मे तीर्थयात्राओं का महत्त्व अधिक दृष्टिगत होता है। इस धर्म के भिक्षुसघ एव श्रावकसघ ने तीर्थों के रक्षण एव नवनिर्माण मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। तीर्थों के नवनिर्माण मे यह एक विशेषता है कि मन्दिरो के जीर्णोद्धार और मूर्तियो की प्रतिष्ठा जैनियो ने धार्मिक भावना से ही की है, इसमे पुरावशेषीय दृष्टि नही है। नई मूर्तियो की प्रतिष्ठा से पहले पुरानी मूर्त्तिया अप्रतिष्ठित न हो अत उनका सग्रह देखने मे नही आता। फिर भी तीर्थों के नवनिर्माण द्वारा धर्म के महात्म्य को सग्रहित किये रहना सचमुच प्रशसनीय कार्य है।

तीर्थों की नवरचना के साथ-साथ जैन समाज का महत्त्वपूर्ण योगदान पुस्तको का सग्रह और उनका रक्षण करना है। मात्र-पुस्तको को एकत्रित करना काफी नही उनका रक्षण करना भी उतना ही आवश्यक है। उल्लेखनीय है कि इन पुस्तकालयो मे मात्र जैन धर्म की ही पुस्तकें नही हैं। दुर्लभ एव अप्राप्त जैनेतर ग्रन्थ, हस्तलिखित प्रतियो आदि से आज भी समृद्ध है और विद्वानो के उपयोग की दृष्टि से ये सर्वमान्य भी बने है। यह इनकी अभ्यास निष्ठा एव उदारता का द्योतक है। जन सामान्य के उपयोग हेतु पुस्तकालयो की स्थापना के सचालन कार्य मे जैनियो ने महत्त्वपूर्ण एव प्रशसनीय कार्य किया है। भारत मे यह ही एक ऐसा धर्म है, जिसने पुस्तको को एकत्र करके पुस्तकालयों के माध्यम से उन्हे सगठित रूप देने मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। जैनो की सामान्य जनसख्या वाले प्रत्येक गाव मे यदि एक दो ज्ञानभण्डार न हो असम्भव है।[3] इसी से इतिहास के विद्वानो को इन ज्ञानभण्डारो मे से जैन एव जैनेतर अप्राप्त एव प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त हो जाते है यह इसकी ऐतिहासिक महत्ता को प्रकट करता है।

पुस्तको को एकत्रित करना, सरक्षण एव सगठित रूप देने मे ही इस समाज ने अपना कार्य पूरा नही माना। पुस्तक प्रकाशन प्रवृत्ति के महत्त्व को समझकर प्रकाशन का कार्य भी शुरू किया। इस प्रवृत्ति के द्वारा ही साधुओं के ज्ञान का लाभ सर्वसाधारण को मिला। आज जब कि विद्वान् लेखको को अपने लेख को छपवाने के लिए प्रकाशक की खोज मे निकलना पडता है, उसमे भी इतिहास, आलोचना या कविता की पुस्तकें प्रकाशक जल्दी छापते भी नही, जबकि वर्षों मे चल रही जैन समाज की पुस्तक-प्रकाशन-प्रवृत्ति जैनसमाज के लिए ही

१. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। श्रावक सघ भी इन व्रतो का यथाशक्ति पालन करता है जिन्हे 'अणुव्रत' कहते हैं।

२. दिगम्बर मान्यता में यह पर्व श्रुतपचमी (ज्येष्ठ सुदी पचमी) को प्राचीन काल से आयोजित किया जाता आ रहा है।—सम्पादक

३. भो० ज० साडेसरा 'इतिहासनी केडी', पृ० १५-१६

नही परन्तु मानव समाज के लिए आशीर्वाद स्वरूप है—कहना जरा भी गलत नही। इनकी पुस्तक प्रकाशन एव पुस्तकालयो के कार्य में भिक्षुसंघ की प्रेरणा एवं ज्ञान साथ ही श्रावक सघ की आर्थिक सहायता एवं उदारता का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

जैन साधु किसी भी स्थान मे लम्बे समय तक नहीं रह सकते मात्र वर्षा ऋतु मे ही वे नियत स्थानो मे रुकते हैं। इस प्रकार वर्ष मे अधिकाश समय जैन साधु भ्रमण मे व्यतीत करते हैं। उनके इस पैदल प्रवास मे वे एक गांव से दूसरे गांव, और एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाते हैं। इसमे वे विभिन्न स्थानो एव नगरो से परिचित होते हैं, विविध सस्कृतियो का मेल होता है। भ्रमणावसर पर राह में आने वाले शिल्प-स्थापत्य, प्राचीन अवशेष, ऐतिहासिक स्थलो को देखने का अवसर मिलता है। समाज के विभिन्न रहन-सहन, एव रीतिरिवाजो से परिचित होते हैं साथ ही मार्ग के गावो से ज्ञानभण्डारो का अलभ्य ज्ञान प्राप्त होता है जिससे नयी खोज मे अनुकूलता रहती है। वर्षाऋतु मे स्थायी निवास से लेखन एव सर्जनात्मक कार्य अच्छी तरह हो सकता है। जैन साधुओ को भ्रमण की अनुकूलता और वर्षाऋतु के स्थायी निवास का सुअवसर, अधिकाश साधुओ की जिज्ञासावृत्ति और कर्मशीलता एवं इतिहास के प्रति उनकी रुचि के लिए पोषक सिद्ध हुई है। परिणाम-स्वरूप तीर्थों का सामान्य परिचय, मन्दिर एव मूर्तियो का सूक्ष्म वर्णन, मन्दिर रचना एव प्रतिमा-स्थापना के लेखो का वाचन एवं सम्पादन जैसे इतिहास एव सस्कृति के अनेक ग्रन्थो के लेखन मे जैन साधुओ ने विशिष्ट योगदान दिया है विशेषत. तीर्थ एवं तीर्थस्थानो के वर्णन और उनके महात्म्य सबधी वर्णन इन ग्रन्थो मे अधिक है। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से भी इन ग्रन्थो का महत्त्व कम नही है। क्योकि उनमे केवल तीर्थों एव प्रतिमाओं का ही वर्णन नही साथ ही प्रतिमा लेखो या शिलालेखो का अध्ययन, स्थानो का भौगोलिक परिचय, स्थान, नामो के पूर्वकालिक-समकालीन परिचय, तत्कालीन राजनीति का वर्णन, सामाजिक जीवन का वर्णन और जैनेतर तीर्थों जैसी इतिहासोपयोगी सामग्री प्राप्त होती है। इसी प्रकार के यात्रा वर्णन के पुस्तको को मूल्याकन करते हुए मुनि श्री विद्याविजयजी लिखते हैं "किसी भी राष्ट्र के इतिहास निर्माण मे 'भ्रमण वृत्तान्त' अधिक प्रामाणिक माने जा सकते है। उन-उन समयों म चलने वाले सिक्के, शिलालेख और ग्रन्थों के अन्त मे दी गई प्रशस्तिया इन सभी वस्तुओं द्वारा किसी भी वस्तु का निर्णय करना कठिन होता है जब कि उन-उन समय के 'प्रवास वर्णन' इन कठिनाइयों को दूर करने के सुन्दर साधन के रूप मे काम आता है। इन्ही कारणो से आधुनिक लेखको को तत्कालीन स्थिति सम्बन्धी कोई भी निर्णय लेने मे स्वदेशी या परदेशी मुसाफिरो के 'भारत यात्रा वर्णन' पर अधिक ध्यान देना पडता है। साथ ही उन यात्रियो द्वारा लिखित सामग्री सत्य है, प्रामाणिक है, मानना पड़ता है।'[1] पूर्वकालिक जैन साधुओ ने गुजरात के इतिहास लेखन मे उत्कृष्ट योगदान दिया है। उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों को तीन भागों मे विभक्त किया जा सकता है :–

१ विविध तीर्थों का परिचय

२ निबन्ध

३ महान् पुरुषों का जीवन परिचय

वैसे ये सभी पुस्तके धार्मिक दृष्टि मे लिखी गई है फिर भी इनमे मुख्यत: गुजरात के सांस्कृतिक इतिहास से सम्बन्धित परिचय अच्छी तरह निकाला जा सकता है। साथ ही अनेक बार ये राजकीय परिचय भी दे सकते है। कभी-कभी तो राजकीय घटनाओं की सत्यता के समर्थन मे ये ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होते है। इन पूर्वकालिक जैन साधुओं के समग्र साहित्य के बारे मे पहले विस्तृत परिचय दिया जा चुका है।[2] भोगीलाल साडेसरा ने[3] और जिनविजय ने[4] उनके बाद के साधुओ का इतिहास निरूपण मे योगदान का वर्णन किया है। अत. अब यहा आधुनिक जैन साधुओं ने गुजरात के इतिहास निरूपण मे क्या योगदान दिया, वह देखे।[5]

आधुनिक जैन साधुओं की पुस्तकों को सामान्यत: तीर्थस्थानो का परिचय, अभिलेख, प्रभावकारियो के चरित्र, रास-सग्रह, इतिहास आदि विभागो मे रखा जा सकता है।

१. तीर्थ स्थानो का परिचय (यात्रा-वर्णन) :

आधुनिक जैन साधुओं के ग्रन्थो का बृहत्-भाग इसी के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार के पुस्तको के लक्षण देखने से कहा जा सकता

१ 'मारीकच्छ यात्रा', प्रस्तावना, पृ० ११

२. मनसुख कीरतचन्द मेहता, 'जैन साहित्य नो गुजराती साहित्य मा फाळो', द्वितीय गुजराती साहित्य परिषद् का विवरण और 'जैन साहित्य', तृतीय गुजराती साहित्य परिषद् का विवरण।

३. 'जैन आगम साहित्य मा गुजरात' (१९५२) और 'महामात्य वस्तुपालनु साहित्य मण्डल तथा सस्कृत साहित्य मा तेमनो फाळो' (१९५७)

४. 'प्राचीन गुजरात ना सास्कृतिक इतिहास नी साधन सामग्री' (१९३३), पृ० १० से ३६। इसमे विक्रम की ग्यारहवी सदी से उन्नीसवी सदी तक की अनेक जैन कृतियो का उल्लेख है।

५. इस लेख मे जैन साधुओ के प्रकाशित मात्र गुजराती पुस्तको का समावेश किया गया है।

है कि उनमें से विशेषत: सांस्कृतिक परिचय मिलता है। ये सभी पुस्तकें जैन धर्म को केन्द्रस्थ मान कर लिखी गई हैं। फिर भी उनमें से धार्मिकता के तत्त्व को निकाल देने के बाद भी इतिहासोपयोगी सामग्री पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो जाती है। जैन तीर्थों के वर्णनो के साथ आस-पास अवस्थित जैनेतर तीर्थों का परिचय देना उदारतापूर्ण है। तीर्थों का तत्कालीन इतिहास, स्थलनामों का तत्कालीन-समकालीन परिचय साथ ही क्रमिक रूपान्तरो का परिचय, उन तीर्थों की भौगोलिक स्थिति और वहा के आवागमन भागो का वर्णनो मे सूक्ष्म से सूक्ष्मतम विषयो का परिचय, विवादास्पद विषयो के समर्थन मे विद्वानो के मन्तव्य या तथ्य, शिल्प स्थापत्य लेख या मन्दिरो के चित्र, मन्दिरो की स्थापना या जीर्णोद्धार से जुडे राजा, मन्त्रियो एव राज्य का परिचय, मन्दिरो की रचना, जीर्णोद्धार या प्रतिमाप्रतिष्ठा के लेखो का अनुवाद सहित परिचय --ये सभी लक्षण इतिहास के प्रति उनकी अभिरुचि के द्योतक हैं।

प्राचीन तीर्थमाला-संग्रह भाग-१[1]	विजयधर्म सूरि	१६२२
भारी कच्छ यात्रा[2]	विद्या विजय जी	१६४२
शखेश्वर महातीर्थ भाग-१-२[3]	जयन्त विजय जी	१६४२
आबू भाग-३ (अचलगढ)[4]	जयन्त विजय जी[5]	१६४६
आबू भाग-४ (अर्बुदाचलप्रदक्षिणा)[6]	"	१६४८
उपरियाला तीर्थ	"	१६४८
आबू भाग-१ (तीर्थराज आबु, तृतीय सस्करण)	जयन्त विजय जी	१६५०
नाकोडा तीर्थ[7]	विशाल विजय जी[8]	१६५३
भोरोल तीर्थ[9]	"	१६५४
वे जैन तीर्थो (चारूप, मेत्राणा)[10]	"	१६५५
चार जैन तीर्थो (मातर, सोजित्रा, धोलका, खेडा)	"	१६५६
कावी-गधार-झगडिया[11] (तीन तीर्थ)		१६५७
भारत ना प्रसिद्ध जैन तीर्थो[12]	कनक विजय जी	१६५८

---

१ मुनि जी ने इस पुस्तक मे पच्चीस तीर्थमालाये दी हैं, आरभ मे प्रदेश का भौगोलिक विभागो के आधार पर सक्षिप्त परिचय दिया है, ये तीर्थ मालायें अनेक प्रकार का सास्कृतिक परिचय देती हैं।

२. विस्तार के साथ लिखी गई इस पुस्तक म अभिव्यक्त ऐतिहासिक सामग्री बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'कच्छ अे ना पुरावशेषोना छे' इसके महत्त्व को पहचान 'कच्छ ना पुरातत्त्व' विषय पर एक अलग प्रकरण दिया गया है। इसक बाद 'कच्छ' शब्द के विविध अर्थो का सक्षिप्त वर्णन, उनका भौगोलिक वर्णन, सामाजिक धार्मिक जीवन, पूर्वकालीन-अर्वाचीन राजकीय स्थिति, शिक्षण एव औद्योगिक जीवन का ज्ञान उल्लेखनीय है।

३. प्रथम भाग मे ऐतिहासिक वर्णन और परिशिष्ट म ६५ शिलालेखो को अनुवाद सहित दिया गया है, द्वितीय भाग म उस तीर्थ से सम्बन्धित जो कल्प स्तोत्र, स्तुति श्लोक मिले हैं वे दिये गये है।

४. अचलगढ के उच्च शिखर से तलहटी तक, उसके आसपास के मैदानो म तथा नजदीक के जैन, वैष्णव, शैव आदि धर्मो के तीर्थ तथा मन्दिर और प्राकृतिक एव कृत्रिम पूर्वकालिक दर्शनीय स्थलो का वर्णन इस ग्रन्थ मे दिया गया है।

५. मुनि जी ने आबू भाग १ से ५ मे आबू और आसपास के प्रदेशो मे अवस्थित जैन और जैनेतर तीर्थो का ऐतिहासिक परिचय दिया है। भाग २ और ५ मे अभिलेखो की विस्तृत छानबीन की है। उनकी इस पुस्तक मे चित्रो का भी काफी महत्त्व है। प्रथम भाग मे ही ७१ चित्र दिये गये हैं। इन ग्रन्थो मे मुनि जी की इतिहास के प्रति गहन सूझ-बूझ परिलक्षित होता है। आबू का ऐसा विस्तृत वर्णन शायद ही अन्यत्र देखने को मिले।

६. इस ग्रन्थ मे ९७ गावो का सक्षिप्त परिचय है। इनमे से ७१ गावो से अभिलेख मिले हैं। प्रत्येक गाव का सूक्ष्म वर्णन किया गया है। जैन पारिभाषिक शब्द एव अन्य शब्दो को भी समझाया गया है। अर्बुदाचल की बृहद् प्रदक्षिणा एव लघु प्रदक्षिणा के खाके दिये गये हैं जो अनुक्रमणिका म दिये गये है।

७. मारवाड मे प्राचीन जैन तीर्थ है, आरम्भ मे सुजपर, नोधणवदर और पचासर का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। इस तीर्थ का वर्तमान नाम महेवानगर है।

८. तीर्थो का वर्णन प्रस्तुत करने में इस मुनि का विशिष्ट योगदान है। परिभ्रमण मे जिन-जिन तीर्थों के अध्ययन का अवसर मिला उनका सक्षिप्त परन्तु सर्वग्राही परिचय के साथ इन्होने बारह पुस्तिकाये लिखी उनका यह कार्य अभी भी जारी है चित्रो का प्रमाण कम है यह ही एक कमजोरी है।

९. यह उमर गुजरात के बनासकाठा जिले मे है। इसके अलावा भीलडिया, थराद, ढिमावाव और दुआ तीर्थों का परिचय भी दिया गया है।

१०. चारूप पाटण के पास और मेत्राणा सिद्धपुर के पास है।

११. ये तीनो तीर्थ दक्षिण गुजरात मे हैं, कावी जम्बुसर तहसील मे, गन्धार भरुच से ४१ कि० मी० उत्तर-पश्चिम मे और झगडिया नादोद तहसील मे हैं।

१२. मुख्यत गुजरात-सौराष्ट्र-कच्छ के ७० से अधिक जैन तीर्थों का परिचय कराया है। कई नगरो का प्राचीन ऐतिहासिक माहिती भी दिया गया है।

घोघा तीर्थ[1]	विशाल विजय जी	१६५८
भीलडिया तीर्थ[2]	"	१६६०
मुडस्थल महातीर्थ (मूगथला)[3]	"	१६६०
राधनपुर (एक ऐतिहासिक परिचय)	"	१६६०
आरासणतीर्थ (कुमारियाजीतीर्थ)[4]	"	१६६१
सेरिया, भोयणी, पानसर अने बीजा तीर्थो[5]	"	१६६३
माडेराव (एक ऐतिहासिक परिचय)[6]	"	१६६३

२ अभिलेख :

जैन मुनियो के तीर्थ वर्णन के ग्रन्थो मे कभी-कभी अभिलेखो का उल्लेख हो ही जाता है साथ ही अभिलेखो पर स्वतन्त्र ग्रन्थ भी उन्होने दिये हैं।

प्राचीन जैन लेख सग्रह[7], भाग १-२	जिनविजयी जी[8]	१६२१
प्राचीन लेख सग्रह भाग १	विद्याविजयी जी (सम्पादक)	१६२६
आबू भाग-२ (अर्बुद प्राचीन जैन लेख सन्दोह)[9]	जयन्त विजय जी	१६३८
आबू भाग-५ (अर्बुदाचल प्रदक्षिणा जैन लेख सन्दोह)[10]	"	१६४६
राधनपुर प्रतिमा लेख सन्दोह[11]	विशाल विजय जी	१६६०

३ प्रकीर्ण-साहित्य

यहा प्रभावको के चरित्रो स्तुत्य सग्रह एव इतिहास विषयक पुस्तको का उल्लेख किया गया है।

---

१. भावनगर से २१ कि० मी० दूर यह स्थल वल्लभीपुर राज्यकाल मे महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह था।

२ उत्तर गुजरात मे अवस्थित इस स्थान का प्राचीन नाम भीमपल्ली था। भीमपल्ली का राजा अर्णोराज वाघेला राजा कुमारपाल का समकालीन था। सदर, पृ० २१

३. आबू पहाड के दक्षिणी भाग मे यह स्थान है इस पुस्तक मे आठ चित्र हैं, जिनमे एक अभिलेख का है।

४. आबू के दक्षिण-पूर्व मे आरासाण के पहाड है, इसमे आरभ मे आठ चित्र हैं जो शिल्प-स्थापत्य के अध्ययन के लिए उपयोगी हैं, परिशिष्ट मे १६१ प्रतिमा लेख दिये गये है जो तत्कालीन राजनैतिक इतिहास के लिए उपयोगी, हैं, पुस्तक काफी अच्छी है।

५. अहमदाबाद के नजदीक के छ, स्थल (तीन के अलावा वामज, उपरियाणा और वडगाम) का सक्षिप्त परिचय है।

६. राजस्थान के जोधपुर जिले मे है।

७ समय की दृष्टि से पुराना से पुराना लेख विक्रमी सवत् ६६६ का हस्त कुण्डी मे नये में नया वि० स० १६०३ का अहमदाबाद का है। इस प्रकार विक्रम की दसवी सदी मे बीसवी शताब्दी तक के (एक हजार वर्ष का) लगभग ५५७ लेखो का सग्रह इन दो भागो मे है।

८. मुनि जिनविजय जी गुजरात के महान् पुरातत्त्वविद थे, गुजरात के आलेखन मे उनका कार्य चिरस्मरणीय रहेगा। उनके सर्जन-सम्पादन कार्य का क्षेत्र काफी विस्तृत है। साधुजीवनकाल के उनके सजनात्मक ग्रन्थ उसके बाद के साधुचरित जीवन के प्रमुख सम्पादित एव सशोधित ग्रन्थो ने गुजरात के इतिहास निर्माण की चिनाई मे विशिष्ट योगदान दिया है।
'शत्रुजय तीर्थोद्धारप्रबन्ध' (१६१७), 'कुमारपाल प्रतिबोध' (१६२०), 'प्रभावक चरित' (१६३१), 'प्रबन्ध चिन्तामणि' (१६३३), 'विविधतीर्थकल्प', (१६३४) 'प्रबन्धकोश' (१६३५) 'पुरातनप्रबन्ध सग्रह (१६३६) आदि सम्पादन उनकी आजीवन विद्योपासना और अध्ययन शीलता का परिपाक है।

६. इस पुस्तक मे ६६४ लेखो का समावेश किया गया है। मूल लेखो के नीचे टिप्पणी में प्राप्ति स्थान का उल्लेख है। तदुपरान्त अनुवाद दिया गया है, पुस्तक के आरम्भ मे लेखो की स्थान सहित अनुक्रमणिका है और परिशिष्ट मे अध्ययनकर्ताओ की सुविधा हो सके, गच्छ, गोत्र, शाखा, गाव, देश, पर्वत, नदी, राजा, मत्री, गृहस्थ, जाति आदि का अकारादि क्रम से दिया गया है।

१०. उपर्युक्त लेखक की इस पुस्तक मे भी उपर्युक्त पुस्तक की तरह मूल लेखों की टिप्पणी और फिर अनुवाद दिया गया है। कुल ६४५ लेख वि० स० १०१७ से १६७७ तक के हैं। इन दोनो पुस्तको मे लेखक की गहनसूझ, सशोधन वृत्ति, और धैर्य प्रकट होता है।

११. मुनि जी ने आरम्भ मे राधनपुर का परिचय दिया है और फिर ४८६ लेख अनुवाद सहित दिये गये हैं। पादटिप्पणी मे प्रत्येक लेख के प्राप्ति स्थान का उल्लेख किया गया है परिशिष्ट मे राधनपुर से सम्बन्धित रचनायें उद्धृत की गई हैं।

सूरीश्वर अने सम्राट[1]	विद्या विजय जी	१६१६
ऐतिहासिक रास संग्रह भाग १-२ (द्वितीय संस्करण)	विजय धर्म सूरि[2] (संशोधक)	१६१६
ऐतिहासिक संग्रह भाग ३	विजय धर्म सूरि	१६२१
ऐतिहासिक रास संग्रह भाग ४	विजय धर्म सूरि और विद्याविजय जी	१६२२
प्राचीन गुजरात ना सांस्कृतिक इतिहासनी साधन-सामग्री[3]	जिन विजय जी	१६३३
भारतीय जैन श्रमण-संस्कृति अने लेखन कला[4]	पुण्यविजय जी[5]	१६३६
महाक्षत्रप राजा रुद्रदामा[6]	विजयेन्द्र सूरि	१६३७
जैन परम्परा नो इतिहास भाग १-२[7]	दर्शन विजय जी, ज्ञान विजय जी, और न्याय विजय जी	१६६०

उपर्युक्त पैंतीस ग्रन्थों के द्वारा आधुनिक जैन साधुओं ने गुजरात के इतिहास निरूपण में यथाशक्ति योगदान दिया है। इनके अतिरिक्त भी अनेक जैन साधुओं ने अपना-अपना योगदान संस्कृत-प्राकृत पुस्तकों के अन्वेषण-संशोधन-सम्पादन तथा विविध लेख एवं निबंधों के द्वारा दिया है। इस लेख में केवल गुजराती में प्रकाशित पुस्तकों की समालोचना की मर्यादा स्वीकृत करने से अनेक आधुनिक जैन साधुओं का उल्लेख नहीं किया जा सका।

पुस्तकालय संरक्षण और जैन परम्परा

पुस्तकालय का भारतीय नाम 'भारती भांडागार' था जो जैन ग्रन्थों में मिलता है। कभी-कभी इसके लिए 'सरस्वती भांडागार' शब्द भी मिलता है। ऐसे भांडागार मन्दिरों, विद्यामठों, मठों, उपाश्रयों, विहारों, संघारामों, राजदरबारों और धनी-मानी व्यक्तियों के घरों में हुआ करते थे। नैषधीय चरित की जिस प्रति के आधार पर विद्याधर ने अपनी प्रथम टीका लिखी थी वह चालुक्य वीसलदेव के भारती भांडागार की थी।

—जार्ज ब्यूलर कृत भारतीय पुरालिपि शास्त्र (हिन्दी अनुवाद) पृ० २०३ में उद्धृत

---

१. वैसे तो पूरी पुस्तक हीर विजय सूरीश्वर और अकबर के जीवन एवं कार्यों पर प्रकाश डालती है साथ ही तत्कालीन राजकीय एवं सांस्कृतिक परिचय भी देती है।

२. मुनि जी ने चारों भागों के आरम्भ में संगृहित रासों की कथा दी है। जिससे अपरिचित शब्दों के मन रासों का समझने में सरलता रहे। कथासार की पाद टिप्पणी में दी गई ऐतिहासिक टिप्पणी—उपयोगी जानकारी प्रदान करती है। अन्त में दी गई, कठिन शब्दार्थ संग्रह आगामी वाचकों के लिए सहायक होगी।

३. विक्रम की दसवीं सदी से उन्नीसवीं सदी तक के शकवर्ती ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है साथ ही लेखन पद्धति, ग्रन्थ प्रशस्तियां, सिक्के, शिलालेख, स्थापत्य और गुजरात के बाहर के राज्यों के इतिहास व गुजरात से सम्बन्धित विषय, विदेशी साहित्य, प्रसंगों की तिथि वर्ष के साथ आदि सामग्री संशोधन में उपयोगी मार्गदर्शन देती है।

४ मुख्यतः गुजरात की श्रमण संस्कृति का विस्तृत आलेखन किया गया है यह पुस्तक वास्तव में पठनीय है।

५. मुनि पुण्यविजय जी गुजरात के सम्माननीय प्राचीन विद्या के पण्डित थे। प्राकृत के गहन अध्ययनकर्ता एवं अनुसन्धानकर्ता मुनि जी लिपि के क्षेत्र में नागरी लिपि के असाधारण ज्ञाता थे। पुस्तकालयों के संशोधन एवं उन्हें व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने में इनका योगदान वास्तव में विशिष्ट है। हस्तलिखित ग्रन्थों की वर्णनात्मक सूची तैयार करने में उनकी धुन और धैर्य और अध्ययन शीलता व्यक्त होती है। संस्कृत-प्राकृत के उनके अनेक संपादन गुरुवर मुनि श्री चतुर विजय जी के साथ हुए हैं—'धर्माभ्युदय' (१६३६) और 'वसुदेव हिंडी' (१६३०-३१) आदि।

६. पूर्णतः ऐतिहासिक इस छोटी पुस्तक में प्राचीन काल में लम्बे समय तक शासन कर चुके क्षत्रप राजाओं में प्रमुख राजा रुद्रदामा के राजकीय व्यक्तित्व का जूनागढ का प्रसिद्ध शिलालेख आदि विषयों का घटनाओं के साथ वर्णन किया गया है।

७ इन दोनों भागों में १२०० वर्ष के जैन आचार्यों, जैन मुनियों, साध्वियों, राजाओं, सेठ-सेठानियों, विद्वानों, दानियों, विविध कला, साहित्य निर्माण, लेखनकला, तीर्थों, विविध घटनाओं आदि का प्रमाण सहित परिचय दिया गया है। जिससे तत्कालीन सांस्कृतिक प्रवाहों का सही ज्ञान मिलता है। अभी ग्रन्थ पांच भाग प्रकाशित होने वाले हैं। ये ग्रन्थ जब प्रकाशित होंगे, तब गुजराती भाषा में विशिष्ट नमूना प्रस्तुत करता यह भगीरथ कार्य सीमाचिह्न के समान बन जायेगा। ये भाग जल्दी से जल्दी प्रकाशित हों ऐसी इच्छा है।

The Survival of Jainism

Prof. Bansidhar Bhatt

Hardly any scholar has taken interest in investigating into the main underlying currents which helped Jainism survive through the ages since the time of Mahāvīra. Below, we offer our study of the problem of the survival of Jainism in a rather more general character; that is, without entering into its detailed characters of providing references from scholarly research-works and also from the texts of the Jaina literature. We will nevertheless supply a Bibliography of selected works with substantial research bearing on the subject in its wider scope. The interested readers will get sufficient material from the works which assisted in our study and further investigations. It should, however, be mentioned that in our present study we deal with some neglected issues relevant for studies in similar or related problems.

The term : "survival" in its special context with Jainism has two-fold function It suggests that Jainism (1) maintained its identity in Indian culture, (2) without being merged into the vast ocean of Brahmanism or Hinduism of the time The problem of the survival of Jainism should be evaluated from two different issues : (1) the teachings of the Jaina ascetics, and (2) their impact on the society as a whole;— i e. how the society formed a general impression from some striking features of the concepts in the teachings of the ascetics. The latter issue implies lay followers from the existing social communities.

The six ideals forming a code of conduct are the fundamentals of Jainism since its initial stage. They are, as rendered in later terminology . *ahiṃsā* (non-killing), *satya* (truth), *asteya* (non-stealing), *brahmacarya* (celibacy), *aparigraha* (non-possession), and *rātrī-bhojana-tyāga* (avoiding meals at night time). These ideals more or less belong to the ethico-social aspect and imply conformity with an elaborated ideal code of moral principles. The said ideals were prevalent among almost all natives of the *āryan* vernaculars of the time.

The ideal code of the time was expressed in one word as "*dharma*" ("duty", "good behaviour", "righteousness") which is often reflected in the ancient literary records, e.g Gṛhyasūtras, Dharmasūtras, Epics, Gītā, Aśokan Edicts, Jātakas, Dhammapadas, Āyāra, Uttar'ajjhāyā, etc. The ideal code with some of its elements was given a special treatment as a religious entity in Jainism.

Mahāvīra rendered a great service to the society in offering moral values to human beings as whole on par with spiritual progress. He considered full adherence to the code of conduct as a prerequisite for the spiritual uplift. He revived the code and reformed the religion of the time. His philosophy of life was simple for all to understand and live accordingly. He had hardly any great opponents except the Ājīvikas in matter of some doctrinal differences, and after overcoming them in disputes, he acquired for his teaching a free and wider field created of almost main hindrances.

Our contention is quite different. The matter of doctrinal disputes or differences with other thinkers of any category is not the *only* ground for attracting the masses. Doctrinal discourses existed among various reputed thinkers of even early upaniṣadic period, and their differences latter evolved as various systems like Nyāya, Vaiśeṣika, Sāṁkhya, Vedānta, etc. And it is worth mentioning that the holders of different views were honoured as *ṛṣis* (seers). Nor is the matter of non-Vedic or anti-Vedic approach of Mahāvīra (and the Buddha) was the main factor for getting popularity among the masses. The vast majority of the entire social communities including the thinkers like Mahāvīra and the Buddha and their followers showed a growing tendency not against the Vedas nor against the Vedic authenticity as such, but against only some of the *brāhmaṇas* who claimed supremacy of the Vedic ritualism over all other religions. They enjoyed their supremacy and cornered all social benefits. They also lengthened, rendered tedious, and secured thereby their monopoly in the ritualistic business. This class of the *brāhmaṇas* became *sanctum sanctorum* of the Vedic ritualism, and so-to-say, an agency in providing social and religious benefits.

Mahāvīra might have developed some differences with other thinkers of the time, but as a whole, his teaching was not anti-Vedic in form and spirit. In the early layers of the Śvetāmbara Jaina texts, e.g. Āyāra, Sūyagaḍa, Uttar'ajjhāyā, etc. we do not come across any statement going against the Vedas and Vedic authenticity, or even against the *brāhmaṇa* community as a whole In the Āyāra, a person endowed with wisdom is respected as *veda-vid* (knower of the Vedas); in the Uttar' ajjhāyā, virtues are connected with true *brāhmaṇa*-characters, the Āyāra-Nijjutti declares the Āyāra as Veda; on some occasion, Mahāvīra is referred to as *mahā-brāhmaṇa*. Such instances can be traced further and added to the list. In the Uttar' ajjhāyā, which contains early layers of some scattered stanzas further extended with younger layers of jainization, it is difficult to trace any sign of revolt against the entire Vedic cult. But there are some references opposing the supremacy of the Vedic ritualism. Such a revolt was common even in the early society as a whole which is evident also in the early literature, e.g, Nirukta, Epic, Gītā, Upaniṣads, Brahmasūtras, etc.

Whatever teachings Mahāvīra would have offered and which his followers would have later developed as a system,—all gradually centered around the code of conduct The ethico-social aspect of early period was now emerged as a religio-philosophical doctrine of the Jainas But so far it had not achieved an independent religious status, and the followers of Mahāvīra were not a distinct "religious" community in the early period. These followers were mostly from the growing mercantile community. Probably, they were attracted by the wandering mendicants around whom masses flocked together to receive religious sermons. And such a favourable situation would have benefited the mercantile classes in establishing contacts with various communities of the society and to widen the scope of their business from place to place.

The reasons for the mass-appealing character of Mahāvīra's teachings are clear he set forth a new reformed religion with higher evaluation of the code in opposition to the Vedic ritualism, and the religious need of an average man was equally fulfilled irrespective of his caste or class barriers The fundamentals of the code and strict adherence to them in Jainism had no clash with any institutions : social, religious, and philosophical as well. It acted as a principal factor that helped Jainism survive during its Prakrit-phase, the phase of Prakrit Jainism, i.e the Prakrit literature of the Jainas from the time of Mahāvīra roughly upto the end of the Gupta era.

The Classical era,—a creative period in Jainism started approximately from the 5th cent. A.D., The learned monks attempted to switch over their literary activities from Prakrit to Sanskrit. In this period, new dialectics—the Nayas and the Saptabhaṅgi—evolved and standardized. They are the unique contributions of the Jainas in the field of Indian philosophies. Both dialectics serve as tools to support the fundamental doctrine of Anekānta-vāda or Syād-vāda. The veteran Jaina monk-philosophers skilfully absorbed all existing systems

into the all-embracing frame-work of the Anekānta-vāda, but they did not refute the systems unlike the Buddhist thinkers. They first adjusted other systems into the new dialectical fold of the Nayas, analysed and judged them properly as positive ideology, on the contrary, the systems were never contradicted. The frame-work of Anekānta-vāda has an encyclopedic character; it concedes all other systems, and examines them with the dialectical tools of the Nayas and the Saptabhangi. It is a sum-total of all systems and stands still above all !

Almost all thinkers of the time offered full status to the intelligent Jaina thinkers and in their treatises granted the Jaina views a separate treatment for discussions. Siddhasena divākara, Umāsvāti, Jinabhadra, Devanandin, Akalaṅka, and such other scholiasts enjoyed the prestige they deserved as the elite thinkers of Jainism. On account of "Sanskritization" of the Jaina doctrines, Jainism won the distinction of an independent school of philosophy. Even an eclectic nature of the Classical Jaina philosophy has to be evaluated from a sociological perspective, it also contributed to the cause of survival of Jainism.

In the medieval period, Jainism could successfully pose itself also as a religion on par with Hinduism. by way of adopting within its fold, some Hindu rites, caste-system, *samskāras*, etc. The works like Ādipurāna of Jinasena and the synthesizing approach in some of the works of Haribhadra contributed to Jainism in firmly establishing it as a separate sect. Gradually, also some Hindu gods were accepted and given subsidiary status in the Jaina mythology and/or Pantheon; the *bhakti*-element was interwoven in the new Stotra literature. Thus, Jainism was hinduized in form, but maintained its independent identity This situation created a tremendous impact on the society. It made difficult to distinguish a Jaina from a Hindu. Even the matrimonial relation between Jainas and Hindus was allowed, if the Hindu family was vegetarian or followed Vaiṣṇavism.

It has, however, to be remembered that the code of conduct was *still in* the center of religious activities, which certified Jainism as a harmless institution in society. Followers of the Jaina faith acquired full scope for establishing their contacts with any community and business in any part of India The very nature of Jainism attracted even the great Mogul emporer Akbar in the 16th cent. A D.

One most important point regarding Jainism in contrast with Buddhism has to be borne in mind. The Jaina monk-scholars aspired after widening their horizon of knowledge even beyond the range of literary activities in their own religion and philosophy. They studied and contributed to other literature of non-sectarian nature, and satisfied the general needs of other classes in the society. They were masters of Pāṇinian Grammar and also of the Prakrit languages. They composed Campūs, Purāṇas, Poems, works on Astrology, commentaries on Romantic works and Grammar,—all irrespective of any barriers of caste and creed. Such literary activities of the intelligentsia from the Jaina ascetics have still remained simply a marvel in the field of Classical literature. Moreover, these scholiasts of the Middle Ages were enthusiastic to collect and preserve many valuable manuscripts mostly of the Brahmanical and also of non-sectarian/Romantic literature like dramas, poems, etc. Some of the manuscripts of Jaina and non-Jaina literature were even copied and preserved in the Jaina Bhaṇḍāras. The whole society is much indebted to the Jaina monks and the community for preserving the most valuable heritage of ancient India.

Thus, if the Jaina philosophers won reputation on account of their philosophical contributions, other Jaina monk-authors and scholiasts rooted deeply their social status by means of their contributions to the literary and scientific needs of the society.

We will now examine the other function of the term : "Survival" in its context with Jainism.

A reformer or a thinker when presenting his own views should also offer evaluation of views of others who are reputed on account of their brilliant achievements in the field of religion and philosophy. Such

intercommunication of ideas in course of time gains momentum in the direction of awarding the reformer or thinker a certain position and accepting or sanctioning his views in the literature of the upper class of the society.

The history of Indian religions and philosophies has still to notice this factor of "Sanskritization",—from down-to-upward movement of persons and gradation of their distinct achievements. Whenever any school of thought has resorted to sanskritization, it has a part of the wide-spread Brahmanical ideology. As a result, all existing ideologies, whether *āryan* or *non-āryan*, Vedic or non-Vedic or anti-Vedic,—all were sanskritized and merged into the Brahmanism Some of them retained their separate identity, e.g. Śaivism, Śākta cult, Sāṁkhya, etc. on account of their distinct views contributing to the Indian religions and philosophies of the time. And the *āryan* society as a whole honoured such sanskritized members as *ṛṣis* (seers), or incarnations of God. Also, some deities of the sanskritized faiths were offered places in the Hindu pantheon.

The Buddhists approximately from the 2nd cent. B.C. onward resorted mainly to the philosophical and logical discussions and simultaneously carried on criticism and evaluation of views of the Brahmanical schools of thought As a result, through intercommunication of ideas—sanskritization—the Buddhism as a philosophy, rich in logic, achieved an esteemed position as a distinct school of thought in the Brahmanical systems. Slowly, the Buddha also occupied a place in the Hindu literature, and was installed as one of the incarnations of Viṣṇu. However, real causes of gradual disappearance of Buddhism from the Indian soil are so far as yet not discovered, nor some views in this direction are satisfactorily accepted. Probably the Buddhists through centuries neglected the other,—the secular side of the social communities,—the literary and scientific wants of the general social life of the time. On the contrary, they engaged themselves in one-sided activities of philosophic discussions and theses not easily understandable to an average man. This factor created a void for them in the society.

And ever since the time of Mauryan emperor Aśoka, Buddhism enjoyed some status outside India; from similar events it seems most probable that the Buddhists had a tendency to go far beyond the boundary of India. It was a kind of missionary attitude developed since Aśoka.

But the case of Jainism is unique. It was neither merged into the existing streams of Brahmanism, nor Mahāvīra was admitted as an incarnation of God in Hinduism, and still Jainism survived and its followers lived harmoniously as a part of social community.

As a matter of fact, the Prakrit Jainism required intercommunication of ideas—a sort of sanskritization in society the sanskritization of Jainism started too late, approximately some seven centuries later than that of Buddhism. And when the Jaina philosophy acquired a distinct status in Indian philosophies, the Hinduism was deeply rooted and firmly established.

Mahāvīra limited his activities to only teachings to the masses. He was not serious about and gave no importance even to the Buddha or the Buddhist ascetics of his time, nor had he shown his inclination either to meet or to involve himself in any sort of discussions with the reputed thinkers of his surrounding regions. His meeting with Gosāla Maṅkhaliputta was but a mere accident. Some meetings of Mahāvīra with others as recorded in some Prakrit texts of the Jainas are of little significance The personalities with whom Mahāvīra had encounters on different occasions remain simply the narrative characters. They could hardly be merited as well-known thinkers of Brahmanism. In any case, it is indeed a strange event in the history that in Mahāvīra's life-time no meeting between him and any reputed thinker took place or has been recorded.

If Mahāvīra remained indifferent in such matters, his disciple Gotama remained alert and acted as one of the living media of intercommunication. He carried his master's message to the common man and mendicant whom he happened to see personally. He also informed Mahāvīra about the discussions or special

events which would have taken place during his casual meetings with someone. Majority of meetings between Mahāvīra and other thinkers had been materialized after they knew something attractive and important about Mahāvīra directly or indirectly through Gotama.

But it seems, later the followers of Jainism could not project the outstanding personality of Mahāvīra as a religious reformer or as a distinguished thinker of India. Before the firm establishment of Hinduism, the ascetics of the Prakrit Jainism could hardly produce any pioneer work in Sanskrit on philosophy, discussing various views of existing systems,—the work, which could stand in competition with Brahmanism and Buddhism of the time. It would have tended Hinduism to admit the founder of the Jaina faith—Mahāvīra as one of the incarnations of God ! Even the Sanskrit commentaries on the Tattvārthasūtra (the first so far available treatise of Jainism in Sanskrit language) were composed not before the 7th cent. A.D. ! The Jaina monks spent, on the contrary, much of their valuable time till the end of 6th or 7th cent. A.D. to codify their scattered literature, and also in rivalry—not with any other community,—but only with their own fellow-brethren !

BIBLIOGRAPHY OF SELECTED WORKS

Ācāra-Niryukti : *Ācārānga-Sūtrakṛtānga*, with their *Niryuktis*, and Śīlānka's commentaries on them. Motilal Banarsidass, Delhi, 1978.

ALSDORF, Ludwig :
1. *The Āryā Stanzas of the Uttarajjhāyā*, Mainz, 1960.
2. *Beitrage zur Geschichte von Vegetarismuṣ..... in Indien*, Mainz, 1961.
3. *Aśokas Separatedikte von Dhauli und Jaugaḍa*, Mainz, 1962.
   Kleine Schriften : articles on :—
4. *Uttarajjhāyā Studies*, Indo-Iran. Jrnl. Holland, 1962.
5. *Vessanatara-Jātaka*, 1957.
6. *Śaśa-Jātaka*, 1961.
7. *Sivijātaka*, Haag, 1968.
8. *Das Jātaka vom weisen Vidhura*, 1971.
9. *Aśoka's Schismen—Edikt*......Ind.-Iran. Jrnl. Holland, 1959.
   ...*and many articles on Aśokan Edicts*...

BARNETT, L.D. :
1. *The Antagaḍa-dasāo and the Aṇuttarovavāiya-Dasāo*, London, 1907.

BARTH, A. :
1. *The Religions of India*, Reprint, Delhi, 1978.

BASHAM, A.L.
1. *History and Doctrines of the Ājīvikas*, Reprint : Motilal Banarasidas, Delhi, 1980,
2. *The Background to the Rise of Buddhism*, *in* : Studies in Hist. of Buddhism, Delhi, 1980.
3. an article *on Indo-Aryan* in : Michign Uni. Jrnl. USA, 1979.

BHATT, B. :
1. *Tattvārtha Studies I-II*, Madras, 1974.
2. *Tattvārtha Studies III*, ZDMG, Wiesbaden 1977.
3. *On Kundakunda*...ZDMG, Wiesbaden, 1974.
4. *On structures in Bhagawatī*, Ind. Tur. Italy, 1983.
5. *The Story of Mahāvīra*, Baroda, 1983.
6. *Jainism-status nascendi*, AIOC Proceedings, 30, Session (Poona 1982).
7. *Presidential Address*, AIOC 30, Poona, 1982.

BHATT, B. and TRIPATHI, C.B. :
1. *The Bārasa-Aṇuvekkhā of Kundakunda*, *in* : Mahāvīra and His Teachings, Bombay, 1977.

BOLLEE, Willem B. : 1. *Studien zum Sūyagaḍa*, Wiesbaden, 1977.

BRUHN, K. 1. *Āvaśyaka Studies I*, in Studien zum Jainismus und Buddhismus, ANIS Hamburg, 1981.
2. *Āvaśyaka Studies II*, Baroda, 1983.
3. *On Jaina narratives*, Ind. Tur. Italy, 1983.

CAILLAT, C. : 1. *Deux etudes de moyen-indien*, Paris, 1960-61.
2. *Les expiations dans le rituel ancien des religieux Jaina*, Paris, 1965.

CHARPENTIER Jarl. : 1 *The Uttarādhyayanasūtra*, Uppsal (Sweden), 1922.

DELEU, J. : 1. *Viyāhapannatti*, *Gent*, Brügge, 1970.

GOKHALE, B.G. : 1. *Early Buddhism and the Brahmanas*, in : St. in Hist. of Buddhism, Delhi, 1980.

JACOBI, H. : 1. *Ācāra-Kalpa-Sūtra*, SBE, Moti. Banar. Delhi 1968.
2. *Uttarādhyayana—Sūtrakṛta*, SBE, 45, Moti. Banar. Delhi, 1968.
Kleine Scriften I-II...
...*many articles on early philosophical terms.*

JAINI, P.S. : 1. *The Jaina Path of Purification*, Moti. Banar. Delhi, 1979.
2. *The Disappearance of Buddhism and the Survival of Jainism*, in . St. in Hist. of Buddhism, Delhi, 1980.

LEUMANN, E. : 1. *Übersicht...Āvaśyaka-Literature*, ANIS Hamburg, 1934.
2. *Die alten Bericht von den Schismen*, Ind. St. 17. Leipzig, 1885.
3. *Upapātika*, Reprint Nandeln, 1966
4. *Daśavaikālika*, ZDMG, 1892.
5. *Mūlācāra*, in Übersicht. 1934.

METTE, A.: 1. *Indische Kulturstiftungsberichte...*, Mainz, 1973.

OETJENS, K. : 1. *Śivāryas Mūlārādanā,......*, Hamburg, 1976.

OKUDA, K. : 1. *Eine Digambara-Dogmatik*, *Mūlācāra* V, ANIS. Hamburg, 1975.

OLDENBERG, H. : 1. *Buddha*, Eng. Tr. Indo. Bk. House, Delhi 1971. Kleine Schriften I-II . ...many articles *on Indian philosophical terms*, and *Vedic interpretations.*

SCHRADER, F. Otto : 1. *Über den Stand der Ind. Phil. zur Zeit Mahāvīras und Buddhas*, Strassburg, 1902.

SCHUBRING, W.: 1. *Lehre...Jainas* (Eng. Tr : *The Doctrines of the Jainas*, Moti. Banar. Delhi Reprint, 1978).
2. *Ācāra I*, Reprint, Nandeln, 1966.
3. *Daśavaikālika*, in : Kleine Schriften.
4. *Worte Mahāvīras*, in Kl Sch , Gottingen, 1926.
5. his *Review on BASHAM's Ājīvikas* (see above), in Kl. Sch.
6 *Kundakunda echt and Unecht*, Kl. Sch ,
7. his *Review on Jaina Yoga* : R. Williams (see above), in : Kl. Sch.
...and *many articles on Jainism* in · Kleine Schriften

SIRCAR, D.C 1. *Studies in the Religious Life of Ancient and Medieval India*, Moti. Banar Delhi, 1971.

THIEME, P. . 1. ...*Kleine Schriften I-II* : ...many articles on :
ārya, Pāṇini, Upaniṣads, Indian Culture, Gītā, Mahābhārata, Review on The Sanskrit : T. Burrow, etc. etc.

WEBER, A. : 1. *Über die heiligen Schriften der Jaina*, Ind. St. 16-17, Leipzig 1883-85.
2 *Über ein Fragment der Bhagavatī*, Berlin, 1966-67.

WILLIAMS, R. . 1. *Jaina Yoga*, on Śrāvakācāras, London, 1963.

Studies in South Indian Jainism : Achievements and Prospects*

Dr. B. K. Khadabadi

With an humble beginning by the publication of a few reports about the Jaina community in the *Asiatic Researches* (Calcutta and London), *Vol. IX*, during the first quarter of the 19th century, and showing a notable progress with the rise of a host of scholars, both western and Indian, by the first quarter of the 20th century,[1] Jaina Vidyā or Jainology nowadays has become a vast distinct field of study comprising many aspects of Jainism—historical, philosophical, doctrinal, literary, inscriptional, scientific etc; and the 2500th Anniversary of Lord Mahāvīra's Nirvāna recently can be said to have given a new philip to the study of all these branches of the field all over India and abroad too. Now the organizers of this unique Seminar, I should say, have decided upon the most relevant topic for deliberation viz., The Various Branches of Jainology : Achievements and Prospects, and I have chosen to reflect on the Studies in South Indian Jainism : Achievements and Prospects.

It is quite possible that the first team of Jaina teachers entered South India viz., the Telugu country through Kalinga as early as 600 B C.; and were pioneers in bringing the teachings of Lord Mahāvīra to the South. But it is the second team, certainly a large one, headed by Bhadrabāhu and accompanied by his royal disciple Candragupta, which entered Karnataka in 400 B.C. and established its first colony at Kalbappu, that radiated those teachings more effectively and extensively to the Southern and nearby regions in South India. The study of this early phase of South Indian Jainism, which can be said to have its beginning with B.L. Rice in 1909,[2] progressed at the hands of scholars like Ramaswami Aiyagar and B. Sheshagiri Rao,[3] R Narasimhachar,[4] Vincent Smith[5] etc and the historicity of this south Indian tradition of the great Jain migration was almost established.

The next phase of studies in South Indian Jainism is found represented by the works of B.A. Saletore,[6]

---

* Paper Presented at the Seminar of Scholars in Jainology, held under the joint auspices of the Bhāratīya Jñānapītha (Delhi) and the Shāntisāgar Memorial Trust (Bombay), on 7th 8th, Sept., 1982, at Teen Murti, Podanpur, National Park, Bombay.

1. For further details vide 'A Short History of Jaina Research' in *The Doctrine of the Jains*, by Walther Schubring, Delhi, 1962, pp. 1-17.
2. *Mysore and Coorg from the Inscriptions*, London, 1909.
3. *Studies in South Indian Jainism*, Madras, 1922.
4. *Epigraphia Carnatica*, Vol. II, Bangalore, 1923.
5. *The Oxford History of India*, Oxford, 1923.
6. *Medieval Jainism*, Bombay, 1938.

S.R. Sharma,[1] P.B. Desai,[2] S.B. Deo,[3] Kailas Chandra Shastri[4] etc., wherein the religious history of South Indian Jainism with the corresponding political background, and based on tradition, inscriptions, monuments and literary evidence, has been very well depicted. Considerable light on the Yāpanīyas, the Kūrcakas, the Gommaṭa cult, the Yakṣiṇī cult, the innovations and adaptations etc., has been thrown in these works.

At this stage we can hardly forget the timely and relevant miscellaneous contributions, in different degrees, to this field by scholars like N. R. Premi, Hiralal Jain, A.N. Upadhye, Bhujabali Shastri, Jyoti Prasad Jain, B.R. Gopal, Sarayu Doshi, B.K. Khadabadi etc.[5]

Further, V.P. Johrapurkar's findings on the South Indian Bhaṭṭāraka tradition as a part of his whole work[6] and V.A Sangave's findings on the South Indian Jaina Community as a part of his novel work,[7] have added new dimensions to the studies in South Indian Jainism.

Moreover we have to remember with gratitude scholars like Robert Swell,[8] T.N. Ramachandran,[9] A .Chakravarti.[10] S. Vaiyapuri Pillai,[11] K.V. Ramesh[12] etc. for their varied contributions to the different aspects, of the hold of ancient and medieval Jainism, particularly in the Tamil country, as based on the Jaina inscriptions, monuments, vestiges, literature etc. Similarly we have to be proud of scholar like B. Sheshagiri Rao M. Somashekhara Sharma, S. Gopalkṛṣṇa Murthy etc. for enlightening us on the position of medieval Jainism particularly in the Telugu country as based on some Jaina living monuments, inscriptions, sculptures and vestiges.[13]

The latest works connected with South Indian Jainism, as far as I know, are two. One is by P. Gururaj Bhatt, *Studies in Tuluva History and Culture*.[14] which contains a separate Chapter (No XIV) on Jainism in Tuḷuva Country, wherein is given a brief interesting account of the late medieval Jainism along with its political, racial and cultural (including art and architectural) background The other one is by R.P.P. Singh, *Jainism in Early Medieval Karnatak*,[15] wherein the author has given a religious history of Jainism in Karnatak from 500 to 1200 A.D. Admitting his claim on some novel features in the treatment of the subject, I find that he has also confused himself by mixing the significant Bhaṭṭāraka tradition with the Digambara monarchism in the Karnataka of that period.

After taking, thus, a bird's eye-view of the salient achievements in the field of the Studies in South

---

1. *Jainism and Karnatak Culture*, Dharwad, 1940.
2. *Jainism in South India and Some Jaina Epigraphs*, Sholapur, 1957.
3. In the *History of Jaina Monachism* form *Inscriptions and Literature*, Poona 1960.
4. *Dakṣiṇa Bhārata meṁ Jaina Dharma*, Varanasi, 1967.
5. (i) These contributions are scattered in the form of various chapters of books and stray papers by these scholars, which are too many to be enumerated here.
   (ii) This list of scholars is not claimed as exhaustive.
6. *Bhaṭṭāraka Sampradāya*, Sholapur, 1958.
7. *Jaina Community*, Bombay, 1959.
8. *Historical Inscriptions of South India*, Madras, 1932.
9. As noted by S. Gopalkrishna Murthy in his preface to the *Jaina vestiges in Andhra*, Hydrabad, 1963.
10. *Jain Literature in Tamil*, Arrah, 1941.
11. *History of Tamil Language and Literature*, Madras, 1956.
12. The same as noted in No. 10, but re-edited by him with some additions and an introduction, Delhi, 1974.
13. For the contribution of the first two scholars, vide Preface to *Jaina Vestiges in Andhra* and for that of the third, this excellent monograph itself as a whole
14. Kallianapur, 1975.
15. Delhi, 1975.

Indian Jainism, I propose, now, to present to this galaxy of scholars a few outstanding prospects or tasks that strike my mind at this hour, so that the interested and capable scholars may note them and exert themselves to accomplish them too in the days to come. I would enlist them, with some observations, as follows :

(1) *The Yāpanīya Samgha : its Origin, Growth and Merger* : It is well known that numerous references to the Yāpanīya Saṁgha are found in inscriptions and literary works. It was N.R. Premi who particularly drew the attention of scholars on some fertures of this compromising Sect.[1] Then some historians, religious and political, furnished some further details about it.[2] A.N. Upadhye instituted a systematised study of this interesting Sect by contributing three valuable papers.[3] Recently B.K. Khadabadi presented some thoughts on Vijahaṇā, a characteristic feature of the Yāpanīyas.[4] But a thorough study of this important Sect, which is said to be a product of South Indian Jainism, particularly Karnatak Jainism, is a desideratum Some 25 years ago, V.S. Agarwal expressed that a detailed study of the Yāpanīyas could be presented in the form of an important research dissertation [5] Last year Muni Śrī Hastimallajī, who was staying at Raichur, had sent one of his follower-scholars to Dharwad to plan a line of study in this regard This shows the need as well as importance of this prospect.

(2) *Reconstruction of the History of Jainism in Andhra Pradesh* : We know that the Telugu country was rather the first in South India to receive the gospal of Lord Mahāvīra through the first team of Jaina teachers moving through Kalinga. Later Jaina teachings must have penetrated into this region from the Kalbappu centre too. Thus Jainism must have flourished in this region to a considerable degree. But unfortunately owing to the Buddhist rivalry in the early days and the Hindu revival in the later days, almost all the Jaina literary works most of the Jaina inscriptions and monuments appear to have been destroyed. As a result of this and on some other ground, scholars have just surmised the 9th and 10th centuries A D. as the possible Jaina period of prosperity in this region. But after going through the monograph entitled *Jaina Vestiges in Andhra* by S. Gopalkṛṣna Murthy,[6] I feel that a few more intensive and extensive efforts, after the manner of the one by this learned Professor, on the part of some enthusiastic archaeologists, epigraphists, and art specialists, would make some more material available for the primary reconstruction of the history of Jainism in Andhra Pradesh. I felt overwhelmed when I read about the existence of a Jaina University at Raydurg—a University in stone, with inscriptions mentioning the names of Jaina teachers belonging to the Mūlasaṁgha and the Yāpanīya Saṁgha which was contemporaneous with the Rāṣṭrakūṭas and the Western Cālukyas.[7]

---

1. Vide *Jain Sāhitya aur Itihāsa*, Bombay, 1956, pp. 55-73.
2. Scholars like B.A. Saletore, S.R. Sharma, P.B. Desai etc.
3. These three papers are .
   (i) Yāpanīya Saṁgha . A Jain Sect, *Journal of the Bombay University (Arts and Law)*, Vol. I, Part 6, 1933.
   (ii) On the Meaning of Yāpanīya, *Śrīkaṇṭhikā*, Mysore, 1973.
   (iii) More light on the Yāpanīya Saṁgha, *Annals of the Bhandarkar O.R.I.*, Vol. LX, 1975.
4. Some observations on Vijahaṇā, *Journal of the Karnatak University (Humanities)* Vol. XXIV, 1982.
5. *Jain Sāhitya aur Itihāsa*, Bombay, 1956, Paricaya, p. 16.
6. Already noted above.
7. Vide *op. cit.*, pp. 87-88.

(3) ***Reconstruction of the History of Jainism in the Western Coast of South India*** : Scholars like Saletore, Desai etc.[1] noted that several petty kings and chieftains patronised Jainism in the Tuḷuva country, and Mudabidri happened to be its last stronghold in the upper Western Coast of South India in the late medieval period. Then P. Gururaj Bhatt gave a better picture of this fact in this region.[2] On the strength of some inscriptions and antiquities found in the Kerala region, some scholars have postulated that the 9th to 11th Cent. A.D. constituted a glorious period of Jainism in the Kerala region.[3] But we do not have so far a good picture of Jainism that flourished in this region. It is learnt that the Bhāratīya Jñānapīṭha entrusted P. Gururaj Bhat to conduct this kind of study But unfortunately he expired suddenly and I have no idea of what were the fruits of his study and who has resumed his work.

(4) *Jaina Teachers and Social Uplift in South India* : Much of the work done in South Indian Jainism is regarding its religious and political aspects in the main. Now we can take up its social aspect and treat it thoroughly. The Jaina teachers, sermons, and the stories, illustrations etc. in them, were the most effective media of social education in the early and medieval periods[4] The Jaina teachers always struggled to eradicate the seven vices (*sapta-vyasanas*)[5] from the masses and cultivate among them social virtues like compassion, truth, honesty, charity etc. Moreover the remarkable adaptability of Jainism to the contemporary social trends and local environments (keeping its basic tenets intact) can also be highlighted here. Keeping these and such other things in view, a social historian can take up this work for the full growth of the knowledge of South Indian Jainism.

(5) *Contribution of Jainism to the Cultural Heritage of South India* : This is one of the most important desiderations, which can also partly include the one noted just above. The tolerant attitude, accomodative nature, vegetarianism etc available among the people of this part of the country, can be reasoned to owe much to the cultural impact of Jainism that gloriously flourished here. Tradition, political history, literature and above all the inscriptional wealth of this area, can be of great use in this task. S. Vaiyapuri Pillai observed "So far as Tamil Nadu is concerned, we may say that the Jainas were the real apostles of culture and learning."[6] Moreover, Saletore long back understood the need of this work in the following words : "The contribution of Jainism to the culture of Karnatak, Tamil Nadu and Andhra Pradesh can be given in a separate dissertation."[7]

(6) Lastly, I have to pose a small problem but not of less importance. It is, *Ṣaṭkhaṇḍāgama and Dṛṣṭivāda* : Seemingly this problem is of a literary nature, but it has full bearing on South Indian Jainism—its tradition and its history. So far we were, on the strength of authority of eminent scholars like Hiralal Jain and A.N Upadhye, under the impression that the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* Volumes are the only surviving pieces of the

---

1. In their respective works noted above.
2. *Op. cit*, pp 425 ff.
3. Vide P.B. Desai, Jainism in Kerala, *Journal af Indian History*, Vol. XXXV-2, 1957.
4 This is true even to this day.
5. Jaina teachers have told, and have been telling numerous stories to eradicate each one of these vices from the life of the masses
6. *Op. cit.*, p. 60
7. *Op. cit.*, p. 262.

lost *Dṛṣṭivāda*, the 12th Aṅga of the Jaina Canon.[1] But Ludwig Alsdorf, a few years ago, has opined that this is not so.[2] This sets aside not only our above noted impression, but also the important Dharasenācārya-Puṣpadanta-Bhūtabali tradition underlying the composition of the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* Volumes, a singular manuscript (in Kannada script) of which has been preserved at Mudabidri. Now unfortunately we do not have amongst us Hiralal Jain or A.N Upadhye to reconsider their view in the light of Alsdorf's opinion. Hence, I with due respect to Alsdorf (whom I knew by meeting him at Ujjain)[3] and to his valuable contribution to the Jaina studies, appeal to scholars like Kailasa Chandra Shastri to scrutinise this eminent German scholar's opinion in the light of the internal as well as external evidence of the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* Volumes, form their views and publish them.

दक्षिण भारत में जैन धर्म

जैन धर्म के प्रसार की दृष्टि से दक्षिण भारत को दो भागों में बांटा जा सकता है—तमिल तथा कर्नाटक। तमिल प्रान्त में चोल और पाण्डय नरेशों ने जैन धर्म को अच्छा आश्रय दिया। खारवेल के शिलालेख से पता चलता है कि सम्राट् खारवेल के राज्याभिषेक के अवसर पर पाण्डय नरेश ने कई जहाज उपहार भरकर भेजे थे। पाण्डयनरेश ने जैन धर्म को न केवल आश्रय ही दिया किन्तु उसके आचार और विचारों को भी अपनाया। इससे उनकी राजधानी मदुरा दक्षिण भारत में जैनो का प्रमुख स्थान बन गई थी। तमिल ग्रन्थ 'नलदियर' के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उत्तर भारत में दुष्काल पड़ने पर आठ हजार जैन साधु पाण्डय देश में आए थे। जब वे वहाँ से वापस जाने लगे तो पाण्डयनरेश ने उन्हे वहीं रखना चाहा। तब उन्होने एक दिन रात्रि के समय पाण्डय नरेश की राजधानी को छोड़ दिया किन्तु चलते समय प्रत्येक साधु ने एक-एक ताडपत्र पर एक-एक पद्य लिख कर रख दिया। इन्हीं के समुदाय से 'नलदियर' ग्रन्थ बना। तमिल साहित्य मे 'कुरल' नाम का नीति ग्रन्थ सबसे बढ़कर समझा जाता है। यह तमिलवेद कहलाता है। इसके रचयिता भी एक जैनाचार्य कहे जाते हैं जिनका एक नाम कुन्दकुन्द भी था। सर वाल्टर इलियट के मतानुसार दक्षिण की कला और कारीगरी पर जैनो का बड़ा प्रभाव है, परन्तु उससे भी अधिक प्रभाव तो उनका तमिल साहित्य के ऊपर पड़ा है। किन्तु जैन धर्म का सबसे महत्वपूर्ण स्थान तो कर्नाटक प्रान्त के इतिहास मे मिलता है। यह प्रान्त प्राचीन काल से ही दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का मुख्य स्थान रहा है। इस प्रान्त मे मौर्य साम्राज्य के बाद आन्ध्रवंश का राज्य हुआ, आन्ध्र राजा भी जैन धर्म के उन्नायक थे। आन्ध्रवंश के पश्चात् उत्तरपश्चिम मे कदम्बो ने और उत्तरपूर्व मे पल्लवों ने राज्य किया। चालुक्य भी जैन धर्म के प्रमुख आश्यदाता थे। चालुक्यो ने अनेक जैन मन्दिर बनवाए, उनका जीर्णोद्धार कराया, उन्हें दान दिया और कन्नडी के प्रसिद्ध जैन कवि पम्प आदि का सम्मान किया। इसके सिवाय इतिहास से यह भी पता चलता है कि कर्नाटक मे महिलाओ ने भी जैन धर्म के प्रचार में भाग लिया है। इन महिलाओं मे परमगूल की पत्नी 'कदाच्छिका', सत्तरस नागार्जुन की पत्नी 'जक्कियब्बे', मल्लपा की पुत्री 'अत्तिमब्बे', राजेन्द्र कोंगाल्व की माता 'पोचब्बरासि', कदम्ब नरेश कीर्तिदेव की पत्नी 'माललदेवी', सान्तरपरिवार से सम्बद्ध 'चट्टलदेवी' आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री सिद्धान्ताचार्य, जैनधर्म, वाराणसी, १९६६, पृ० ४८-५० से उद्धृत।

---

1. Vide Introduction to the *Ṣaṭkhaṇḍāgama*, *Vol. I*
2. Vide 'What were the contents of Dṛṣṭivāda'?, *German Scholars on India, Vol. I*. Varanasi, 1973.
3. At the 26th Session of the All India Oriental Conference, 1971.

Evolution, Agriculture and the Jain Philosophy

Dr. H. K. Jain

When Darwin put forward his theory of evolution in the middle of the 19th century, people all over the world reacted with a feeling of disbelief. They found it difficult to accept the proposition that man had evolved from other animals. Darwin's theory, however, is so well established now that few will question its general validity. What is perhaps more important, our common ancestry with the animals is no longer considered so derogatory. A false sense of pride has been replaced by a better understanding of our origin and of our relationship with other species of animals including the nature of our differences and similarities.

Man and the other species of animals do have a great deal in common in their physiological processes such as the key process of respiration. In spite of these basic physiological and anatomical similarities, we now understand more clearly than ever before that in some ways the human species is unique. The faculty of thinking, which makes it possible for us to conceive ideas and concepts including abstract thoughts, and to communicate them in time and in space, is characteristically a human trait not found in other species. It is this characteristic of the human species which makes us unique and it is this faculty which had led to the development of a trend of thought and action which is very different from anything observed in the course of evolution of millions of other species preceding man. And it is in this context that the Jain philosophy finds a particularly important place and conveys a particularly significant message for the survival and future evolution of man.

Evolution of Man and Human Thought

Man as a distinct species first appeared on earth nearly half a million years ago in the form of *Homo sapiens* neanderthalensis. The modern man, however, has relatively recent history going back only to 40,000 years when *Homo sapiens* first began to appear It is the cultural development of this latter species which is of the greatest interest to us today, specially when we consider the entire evolutionary period of more than 3 billion years. The greatest point of interest is that modern man has developed concepts which are in sharp contrast to the behavior of millions of other species of animals that preceded him. The basic Darwinian theory is based on struggle for existence and survival of the fittest. Although, the theory is often misunderstood, and it is not true that the world of animals is always full of strife, it is true that violent behavior is a common feature among animals and even in our immediate ancestors. The Neanderthal man was basically a hunter and gatherer of food. Also, modern man himself gave up hunting for food only about 10,000 years ago when he first started the process of domestication of plants and animals, which gave rise to agriculture.

It is important to recognise that most of the progress in human thought is a consequence of agriculture.

Once man had an assured source of food supply and was no longer forced to live a nomadic existence moving from one territory to another in search of food, and often fighting for it with the other tribes, he had time to sit back and think of more creative things. It is during this period following the birth of agriculture that some of the greatest men in the entire human history came out with ideas, which have had such a revolutionary impact on our behaviour and way of life and whose validity has not diminished with time. The Jain philosophers laid special stress on non-violence and renunciation of desire. Both these concepts are of the greatest significance to the human species as it prepares itself to enter the new century, following some of the most remarkable developments in science and technology.

Population and Human Nutrition

Paradoxically the very discovery of agriculture is now creating a serious problem in meeting the food needs of mankind. The problem basically arises from man's cultural and social evolution in the last hundred years. Our present day food need which have placed such a great strain on agricultural production are a function of two major factors First, the developing countries continue to maintain a very high birth rate even though this is no longer relevant to our species in the context of development of the last 50 years in the field of medicine and public health. Evolution favoured a high birth rate at a time when the young offspring of most animals including man were vulnerable to death from disease epidemics. The discovery of life saving drugs in recent years has drastically cut down the death rate and it is clear that man is no longer required to maintain a high birth rate for the survival of his species. While the western countries have accepted this message, the eastern societies by and large have ignored it with the result that human populations in their countries have expanded greatly in the last 30 years and will reach explosive proportions towards the end of the century. As if this was not enough to create a serious food problem, the western countries have increasingly adopted during the last 50 years the plant-animal-human food chain. There is little evidence to show that this is the best way to meet our dietary protein needs. There has been a great deal of discussion on the biological value of proteins from animal and plant sources. It is true that experiments have shown that proteins from plant sources are often effcient in one or more essential amino acids and, therefore, their contribution to body growth tends to be limited. However, when proteins from several different plant sources are combined, the deficiency of one is made up by the presence of some of the essential amino acids in another. The earlier view that some quantity of animal protein is necessary in the human diet is no longer considered scientifically valid. It has been fully established that mixed proteins of vegetable origin such as those from cereals and pulses are of high biological value and do not have to be supplemented with proteins of animal origin. Thus, the pulses are rich in lysine, while the cereal grains contain adequate amounts of methionine.

Significance of Vegetarian Diet

It is here that we find the Jain message of non-violence and vegetarian diet of very great practical value for a world which faces serious problems of food shortages for an expected population of 6 billion people by the end of the century. It has been estimated that India alone will require an additional quantity of nearly 100 million tonnes of foodgrains in the year 2000 A.D. The requirement of cereals for the world as a whole by this period, according to an estimate made by the OECD, would be 2307 million metric tonnes. While agricultural scientists are responding to this challenge by increasing crop yields, it is clear that a shift from the non-vegetarian diet can go a long way in meeting the future food need of man. This follows from the fact that while the consumption of food grains in most developing countries is less than 200 kg. per person in a year, the corresponding quantity in many of the western countries is nearly one tonne. A large part of this quantity is fed to animals for the production of meat and since animals are not good converters of food grains the efficiency of the non-vegetarian food chain is low. It has been suggested by many western scientists that the world food supplies in the years to come could be greatly increased by eliminating the consumption

of meal so that cereal grains can be saved for direct human consumption. It has been estimated that it takes about 8 kg. of vegetable proteins to produce 1 kg. of protein of animal origin. We have already seen that the vegetable proteins when mixed in the right proportion can help to meet all of our requirements of essential amino acids.

The wasteful implications of the non-vegetarian food chains can also be seen from the fact the 29% of the world population today is using 54% of the food resources of the world. It is not as if people in the western countries have a vastly greater calories intake. However, if we convert their calories intake into grain equivalent calories,the difference becomes very large. Thus, while the per capita per day consumption of grain equivalent calories in India is about 2580, the corresponding value in USA is 11040 and in USSR 7170. It has been estimated that if we were to consume directly the vegetable products required to produce calories of animal origin, then a total of 5,000 calories per day person would be available for the present human population of the world. This is double the amount which we need for meeting our present food needs.

It is clear from the above analysis that the concept of vegetarianism is not a fad or a narrow minded religious belief, it makes sense scientifically and also in the context of our socio-economic development.

India's Strategies for Increased Agricultural Production

India, faced with the task of feeding a population of nearly one billion people by the end of the century has planned one of the world's largest programmes of agricultural development. It was in the 1960's that the Government of India took the crucial decision to launch the high yielding varieties programme recognizing the role of improved seeds, chemical fertilization, irrigation, pesticides and other farm inputs for a more modern kind of agriculture. The reorganization and intensification of agricultural research which followed led to a number of important decisions. Basically, as a result of these decisions, India with its 22 Agricultural Universities and 40 Central Institutes has one of the world's largest network of experimental stations in agriculture. Also, the country in the last 20 years has become the fourth largest producer and consumer of fertilizer nitrogen in the world. A great deal of new irrigation potential has been created so that India today has the world's second largest irrigated area. It is these major efforts which have made it possible for India to achieve near self-sufficiency in meeting our food need at the current levels of consumption. The country today produces nearly 50 million tonnes of more food grains than the quantity produced 15 years ago. India's production technology in crops like wheat and sorghum is now recognized to be one of the finest in the world. However, the Indian Government is very conscious of the fact that this is no time for complascency as the population presure would continue to increase. The new technology which is now being generated and the enthusiasm with which farmers have responded to it hold considerable promise for continued self-sufficiency in the years to come. This would be possible only because India, unlike most other countries, would continue to have a greater proportion of foods of vegetable origin in the diet of most of its people. The emphasis to day is on production of food grains including pulses and oilseeds and dairy products like milk and butter. While increased animal production in India has been receiving attention, it is clear that the country will have to depend primarily on food grains for meeting its nutritional needs for many years to come.

Jain Philosophy and Diminishing Resources

Another basic concept of the Jains which is highly relevant to contemporary problems and which addresses itself to one of the most important issues relating to man's continued survival may now be briefly considered. The Jain philosophy has always laid a great deal of stress on curbing one's desires and having few worldly possessions. The Jain monks have been expected to set an example in this regard and they live a very spartan and simple life with no possessions of their own. The followers of the Jain faith are also exhorted to reduce their consumption of material goods, and even today, one can find a large number of people

of this faith who are strict about their diet. Many Jain women, for example, take a restricted diet, donig away with certain vegetables and other consumer items on specific days of the month. In sharp contrast to this, the last 50 years has seen rempant growth of consumer societies in the western world. The extreme growth of materialism in the western countries during this period, and in more recent years in our part of the world, as reflected in vastly increased industrial production, has bed to serious problems for the maintenance of the quality of human environment. Also, the indiscriminate patterns of consumption in many countries and the rising population pressures in the developing countries have led to virtual exhaustion of large parts of world's renewable and non-renewable resources. The first casualities have been the forests, the grasslands and the farm lands, including the rich soil cover—all of which have suffered from extreme pressures of urbanization. The second casuality is seen in the pollution of lakes, rivers, and in more recent years, the oceans. So high has been this pollution, that many lakes and rivers can no longer support fish and other forms of life. The third casuality and one which is causing the greatest concern is to be seen in the virtual exhaustion of many of our non-renewable resources, including many of the minerals, sources of energy like petrol and other products which have to be mined. The Document brought by the Club of Rome stressing the limits of future growth gives a vivid picture of the critical position in which the world finds itself today with regard to availability of many of the raw meterials.

Jain Concepts and Ecology

This realization about our deteriorating environment, as seen in a depleting ozone layer and increasing concentration of carbon dioxide in the atmosphere, increasing amounts of smoke and fumes in our cities and towns, contaminated water supplies and loss of vast resources' of mineral and other products, are now giving rise to a worldwide movement of recycling of resources and conservation of enviroment and energy, The ultimate answer, however, lies in accepting the message which was given nearly 2500 years ago that over-consumption and other attachment to material goods is not good for human soul. We now find that excessive materialism is not good for the human body also. Already, some diseases like cancer have seen unparalleled rise in the last 30 years in countries like USA. It is well-known that the increased incidences of cancer in the western countries is a *function of the widespread use of chemicals of various kinds* both in food and in other items of daily use. The world has no alternative except to listen to the kind of messages which the Jain philosophers have been stressing for time immemorial.

In conclusion, it is clear that the Jain religion is intended not merely to save man's soul, it is perhaps even more relevant to his life on this earth. The Jain philosophy relates to the very survival of man as a species.

Agriculture and Culture

The word *Culture* is equivalent to 'cultivation' or 'tillage of soil' which survives in the Latin words—*Agriculture* and *Horticulture*. According to *Oxford Dictionary*, for the first time in 1510 A.D. the Latin word *culture* was used in the sense of cultivation. In France, in the eighteenth century the word *culture* came in use in the sense of 'refinement of mind'. Marthew Arnold popularized this word in his work *Culture and Anarchy* in the modern sense. Thus, the term 'Culture' can be traced to 'Agriculture' which was an epoch-making discovery of human efforts. With the discovery of Agriculture the habits of the nomad people began to develop in institutionalized set-up.

Ancient Indian Culture and Literature (edited by Mohan Chand), Eastern Book Linkers, Delhi, 1980, pp. xxxv-xxxvi

How Karma Theory Relates to Modern Science

Dr. Dali Chandra Jain

INTRODUCTION

The *Karma* theory of the Jain religion is a unique, rational, scientific and complex theory. In its true conceptual form, it is unique to Jainism. It supports the features of the Jain religion which distinguish it from other religions of the world, viz., the concept of independence of each individual soul and the teaching that selfhelp is the means to achieve such independence. The theory of *Karma* is scientific in the sense that it conforms to the basic premises of science. However, it has not been established by modern scientific experiments. The *Karma* theory is complex and thus it is one of the least understood concepts of Jainism. In its simplest form, it is stated : As you sow, so you reap. It is interpreted that *Karma* rewards or punishes us for our past deed. It is construed to imply that all wealthy and powerful people of the world did good deeds in the past and that is why they are what they are. It has been distorted to indicate that *Karma* is powerful, even more powerful than the soul, our future is predestined and whatever has to happen to our soul will happen. On the one hand, people have the impression that one can avoid the consequences of undesirable *Karma* by religious rituals such as prayers, special worship, charitable contribution, etc. On the other hand, sometimes it is said that we should undergo sufferings which might be the consequences of past *Karma* so that we will not have to suffer in the future. A careful study of the *Karma* theory as described in the Jain scriptures, performed with a scientific viewpoint, leads to the conclusion that the above interpretations are only partially true ·

STATEMENT OF *KARMA* THEORY

Material (DRAVYA) and Abstract (BHĀVA) KARMA

There are two types of souls in this universe, the liberated souls (*Mukta Jīva*) which are the pure souls (*Siddhas*) having infinite perception, knowledge and bliss (*Ananta Darśana, Jñāna* and *Sukha*), and the worldly (impure) souls (*Saṁsārī Jīva*) which are involved in the mundane cycle of birth and death The worldly souls have ultrafine particles of matter known as *Karma* particles associated with them. The liberated souls have freed themselves from the bondage of *Karma* particles There are two basic types of *Karma*, the material (*Dravya*) *Karma* mentioned above which are particles of matter, and abstract (*Bhāva*) *Karma* which are the feelings of pleasure and pain, love and hatred, compassion and anger, etc. The relationship between material *Karma* and abstract *Karma* is that of cause and effect The material *Karma* give rise to the feelings and emotions (abstract *Karma*) in the worldly souls which in turn cause the influx (*Āsrava*) and bonding (*Bandha*) of fresh material *Karma*. Thus the relationship between the material and abstract *Karma*

can be described as one between plant and seed. It should be remarked that soul is an entity different from matter. Thus the transformations in a soul (abstract *Karma*) occur because of the intrinsic attributes of soul while the transformations (influx, bonding, etc.) in material *Karma* take place because of the intrinsic attributes of matter. Ācārya Kundakunda has written in *Pañcāstikāyasāra* :

bhāvokammaṇimitto kammam puṇ bhāvakāraṇaṁ havadi
ṇa du tesiṁ khalu kattā ṇa viṇā bhudā du kattāraṁ[1]

The emotional states of a living being are caused by the *Karma* particles and the *Karma* particles in their turn are caused by the emotional states. However, the soul is not the essential cause and still without essential cause these changes cannot occur.

kuvvam sagam sahāvaṁ attā kattā sagassa bhāvassa
ṇa hi poggalkammāṇam idi jiṇavayaṇam muṇeyavvam[2]

Soul which brings about changes in itself is the intrinsic cause of the mental states but the soul is not the intrinsic cause of the changes in the *Karma* particles which are material in nature. This is the teaching of *Jiva*.

kammaṁ pi sagam kuvvadi seṇa sahāveṇa sammamappāṇaṁ
jīvo vi ya tārisao kammasahāveṇa bhāveṇa[3]

The changes in *Karma* paricles occur due to the intrinsic nature of material particles. Similarly, the changes in any soul occur due to the intrinsic characteristics of the soul and through its own impure states of thought which are conditioned by *Karma*.

Eight Kinds of Material Karma

The material *Karma* are of eight kinds : Knowledge-obscuring (*Jñānāvarṇī*), perception-obscuring (*Darśanāvarṇī*), feeling-producing (*Vedanīya*), deluding (*Mohanīya*), life-span-determining, (*Āyu*), physique-determinig (*Nāma*), status-determinig (*Gotra*) and obstructing (*Antarāya*), knowledge-obscuring, perception-obscuring, deluding and obstructing *Karmas* obscure or obstruct the knowledge, perception, intrinsic conduct or bliss (*Sukha*) and power (*Vīrya*) of the soul and thus they are known as destructive (*Ghātīya*) karmas The remaining four *Karmas* are known as nondestructive (*Aghātīva*) because, for most part, they influence the body of living being. The feeling-producing *Karma*, however, may affect the soul like a destructive *Karma* It operates as a result of knowledge-obscuring and perception-obscuring *Karmas* and with the help of deluding *Karma*. In other words, if one does not have a rational outlook and knowledge (due to perception-obscuring and knowledge-obscuring *Karmas*), and has indulgence (*Rati*) and/or ennui (*Arati*) (due to deluding *Karma*), then feelings of physical pleasure and pain may lead to undesirable thoughts and emotions. Thereby the feeling-producing *Karma* may influence the soul. Thus the feeling-producing *Karma* has been placed between perception-obscuring and deluding *Karmas*. This has been described by Ācārya Nemicandra Siddhāntacakravartī in *Gommaṭasāra Karmakāṇḍa* .

---

1. भावोकम्मणिमित्तो कम्म पुण भावकारण हवदि ।
   ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तार । —*Pañcāstikāyasāra*, 60.
2. कुव्वं सगं सहावं अत्ता सगस्स भावस्स ।
   ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेयव्व —*Pañcā.*, 61
3. कम्मं पि सगं कुव्वदि सेण सहावेण सम्ममप्पाणं
   जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावेण । —*Pañcā.*, 62

Ghādimva veyaṇīyaṁ mohassa baleṇa ghādade jīvaṁ
idi ghādīṇaṁ majjhe mohassādimhi paḍhidaṁ tu[1]

The feeling-producing *Karma* by the force of deluding *Karma* destroys the soul like a destructive *Karma*. Therefore it is placed in the middle of destructive and before deluding *Karma*.

ṇaṭṭhā ya rāyadosā indiyaṇāṇam ca kevalimhi jado
teṇa du sādāsādaja suhadukkhaṁ ṇatthi indiyajaṁ[2]

Because in the Omniscient (*Kevali*), attachment and aversion, and sensual knowledge are destroyed, therefore in him there is no happiness or misery due to the feeling-producing *Karma* which causes the feelings of sensual pleasure and pain.

Each kind of *Karma* is further divided into a number of subclasses. For example, the feeling-producing (*Sātāvedanīya*) and unpleasant-feeling-producing (*Asātāvedanīya*). Similarly, the deluding *Karma* has been divided into two subclasses : Perception-deluding (*Darśanamohanīya*) and conduct-deluding (*Caritramohanīya*). It should be noted that the deluding *Karma* obscures the development of rationalism (*Samyaktva*). As the name implies, it prevents a person from having a rational perspective of reality (*Tattvārtha*). To quote from *Gommaṭa Sāra Jīvakāṇḍa* of Ācārya Nemicandra Siddhāntacakravartī.

michhodayeṇa michchhattamsaddahaṇam tu tacca atthāṇaṁ
eyantaṁ vibarīyam viṇayam samsayidamaṇṇāṇaṁ[3]

Delusion or irrationalism (*Mīthyātva*) is caused by the operation of perception-deluding *Karma*. It consists of not having a rational perspective (*Śraddhāna*) towards reality, i.e., the nature of things (*Tattvārtha*) Irrationalism is of five kinds · One-sided belief (*Ekānta*). perverse belief (*viparīta*), veneration (*Vinaya*), doubt (*Saṁśaya*) and indiscriminate belief (*Ajñāna*).

Influx (Āsrava) and Bonding (Bandha)

The influx (*Āsrava*) of *Karma* particles is caused by the activities (*Yoga*) of the body, the organs of speech and the mind as described by Ācārya Umāsvāmī in *Tattvārthasūtra* :

Kāyavāṅgmanaḥ karmayogaḥ| sa Asravaḥ[1]

It should be noted that all activities, desirable (*Śubha*) and undesirable (*Aśubha*), give rise to the influx of *Karma* particles It is only the intrinsic characteristic activities, infinite perception, knowledge and bliss (*Ananta darśana, Jñāna* and *Sukha*) of the soul which are known as *Śuddhopayoga*, that do not cause the

1. घादिव वेयणीय मोहस्स बलेण घाददे जीव
इदि घादीण मज्झे मोहस्सादिम्हि पढिद तु ।।
—*Gomaṭasāra, Karmakāṇḍa*, 19
2. णट्ठा य रायदोसा इंदियणाण च केवलिम्हि जदो
तेण दु सादासादज सुहदुक्खं णत्थि इंदियज ।
—*Gomaṭasāra, K K.*, 273.
3. मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहण तु तच्च अत्थाण
एयत विवरीय विणय ससयिदमण्णाण ।—*Gomaṭa., Jīvakaṇḍa*, 15
4. कायवाङ्मनःकर्मयोगः । स आस्रव ।—*Tattvārthasūtra*, 6.1-2

influx of *Karma* particles. The *Karma* particles which come to the soul as a result of influx then become associated with the soul. This process is known as bonding (*Bandha*). The bonding of *Karma* particles has four aspects : Nature (*Prakṛti*), i.e., the kind (knowledge-obscuring, deluding, etc.) of *Karma* quantity (*Pradeśa*), i.e, the number of *Karma* particles; duration (*Sthiti*), i.e., length of association; and, fruition (*Anubhāga*), i.e. the intensity of consequence of *Karma*. The nature and quantity of *Karma* that become associated with the soul depend on the nature and intensities of the activities (*Yoga*) which caused the influx In other words, the intensity of desire or thought-activity, intentional or unintentional character of activity, dependence of the act upon living and nonliving substances (*Adhikaraṇa*) and one's own position and power determine the kind of *Karma* and the number of *Karma* particles which are attracted towards the soul. This has been described by Ācārya Umāsvāmī in *Tattvārthasūtras* :

Tīvramandajñātājñatabhāvādhikaraṇavīśeṣebhyastadviśeṣaḥ[1]

The duration and fruition of *Karma* are determined by the passions (*Kaṣāya*) and the state of mind of the living beings This has been stated in *Gommaṭasāra Karmakāṇḍa* :

jogā payadipadesā ṭhidiaṇubhāgā kasāvado honti
aparinaduchhiṇṇesu ya bandhaṭṭhidikāraṇam ṇatthi[2]

The nature and quantity bonding of *Karma* are caused by thought-activity, and duration and fruition bonding, by passions. In the eleventh stage of subsided delusion (*Upaśāntamoha*), where the deluding *Karma* exists in a passive state and does not operate (i e., is not subject of modification), and in the twelfth delusionless (*Kṣīṇamoha*) stage and in the thirteenth stage of active omniscient conqueror (*Sayoga Kevalī*), where the passions have been destroyed, there is no cause for bonding In the fourteenth stage of inactive omniscient, there is no bondage. The fourteen spiritual stages have been described below.

There are thirty-nine different kinds of activities that lead to the influx and bonding of *Karma* particles. These include the activities of the five senses (of touch, taste, smell, sight and hearing), activities involving the four passions (anger —*Krodha*, pride—*Māna*, intrigue—*Māyā* and greed — *Lobha*), activities involving violence (*Himsā*), untruth (*Asatya*), stealing (*Steya*), unchastity (*Abrahmacarya*) and worldly attachment (*Parigraha*), and, rational activities (*Samyaktva*), irrational activities (*Mithyātva*), experimentation (*Prayogakriyā*), mental pain to oneself or others (*Paritāpikikriyā*), infatuated desire to see a pleasant or unpleasant object (*Darśanakriyā*), etc.[3] .

The activities of the worldly soul have also been classified in the following manner . There are 3 phases of each activity, determination (*Samārambha*), preparation (*Samārambha*) and commencement (*Ārambha*). Each one of these may involve the activity of mind, speech and body, giving 9 variations. A person can do the act himself, can get it done by others or can just give the approval for the act. Thus we get $9 \times 3 = 27$ types of activities. These 27 types multiplied by 4 different passions (anger, pride, intrigue and greed), yield 108 different shades of activities.

Thought-Activity and Spiritual Stages (Guṇasthāna) of Soul

A worldly soul can have the following five different kinds of thought-activities :

---

1. तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः । —*Tattvārtha.*, 6-6
2. जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति
   अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधट्ठिदिकारणं णत्थि । —*Gomaṭasāra Karmakāṇḍa*, 257
3. *See Bibliography, Reference No.* 2

1. **Subsidential (*Aupaśamika*) arising from the subsidence (*Upaśama*) of deluding *Karma*.**

2. **Destructive (*Kṣāyika*) arising from the shedding of destructive *Karma*.**

3. **Destructive-subsidential (*Kṣayopaśamika*) arising from the partial shedding, partial subsidence and partial operation of destructive *Karma*.**

4. **Operative (*Audāyika*) arising from the operation of *Karma*.**

5. **Intrinsic or natural (*Pariṇāmika*) which are the characteristic thought-activities (*Bhāva*) of a soul. These are not caused by *Karma*. Development of such thought-activity by a worldly soul leads to self-modification.**

There are fourteen spiritual stages (*Guṇasthāna*) which are distinguished by the kinds of thought-activities of the soul. These spiritual stages and the corresponding thought-activities are shown in the following table :

No.	Spiritual stage	Thought-activities
1.	Deluded or irrational (*Mithyātva*)	Operative
2.	Indifferent, neither rational nor irrational (*Sasādanā*	Natural or intrinsic
3.	Mixed, partially rational (*Miśra*)	Destructive-subsidential
4.	Vowless rational (*Avirata Samyaktva*)	Subsidential, Destructive.
5.	Partial vow (*Deśavirata*)	Destructive-subsidential
6.	Imperfect vow (*Pramāttavirata*)	Destructive-subsidential
7.	Perfect vow (*Apramattavirata*)	Destructive-subsidential
8.	New thought activity (*Apūrvakaraṇa*)	Subsidential
9.	Advanced thought activity (*Anivṛttikaraṇa*)	Subsidential Destructive
10.	Slight delusion (*Sūksmasamparāya*)	Subsidential, Destructive
11.	Subsided delusion (*Upaśāntamoha*)	Subsidential, Destructive
12.	Delusionless (*Kṣīṇamoha*)	Subsidential, Destructive
13.	Active omniscient conqueror (*Sayoga Kevalī Jina*)	Destructive
14.	Inactive omniscient (*Ayoga Kevalī*)	Destructive

The spiritual stages have been described in *Gommaṭasāra Jīvakāṇḍa* as follows .

jehiṁ dulakkhijjam te udavādisu sambhavehim bhāvehim
jīvā te guṇasaṇṇā ṇidiṭṭhā sabva darsihiṁ[10]

The thought-activities caused by the operation, etc , of *Karmas* determine the spiritual stages of the soul as has been stated by the omniscient

miccho sāsaṇa misso avirada sammo ya desvirado ya
viradā pamatta idaro apuvva aṇiyaṭṭhi suhamo ya[11]

The spiritual stages are · Delusion, downfal, mixed, vowless rationalism, partial vow, imperfect vow, perfect vow, new thought activity, advanced thought-activity, slight delusion, and ·

1. जेहिं दुलक्खिज्ज ते उदयादिसु सभवेहिं भावेहिं
जीवा ते गुण सण्णा णिदिठ्ठा सव्वदरसीहिं । – *Gomaṭa.*, *J.K.* 8

2. मिच्छो सासण मिस्सो अविरद सम्मो य देसविरदो य
विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्ठि सुहमो य । -*Gomaṭa.*, *J.K* , 9

ubasanta khīṇamoho sajogakevalijiṇo ajogī ya
caudāsa jīvasamāsā kameṇa siddhā ya ṇādavvā[1]

subsided delusion, delusionless, active omniscient conqueror and inactive omniscient. After the last spiritual stage, the soul becomes liberated (*Siddha*).

The fourteen spiritual stages are steps taken by a worldly soul to gradually change its thought-activities from those caused by *Karma* to its (soul's) natural characteristics ones. The *Karmas* of various kinds undergo subsidence, become inoperative and are destroyed gradually. The process is basically one of attaining rational perception, rational knowledge and rational conduct which ultimately results in salvation (*Nirvāṇa*). This process has been described in the above gāthā. (Also see *Karmakāṇḍa* gāthā 257 cited above).

Stoppage (Samvara) and Shedding (Nirjarā) of Karma

Absence of all desirable and undesirable thought-activities, achieved through self-modification, leads to the stoppage of influx of *Karma* particles Self-modification, meditation and penance also lead to the shedding of *Karma* particles by the soul. This type of shedding which is shedding without fruition is known as *Avipāka Nirjarā*. The *Karma* particle are shed by the soul after their fruition as well. Such shedding is known as *Savipāka Nirjarā*. It is evident from the discussion of the thought-activities (*Yoga*) that the thought-activities like mental pain to oneself or others (*Paritāpikīkriyā*) should be absent during penance, fasting and other religious observances. Otherwise, they will only lead to the influx of undesirable *Karma* Further, the religious observances should not involve any passion, pride, show, desire to accumulate good *Karma* (*Puṇya*), fear of undesirable *Karma*, etc.

Pseudo-Karma (Nokarma)

In addition to the *Karma* particles, there are pseudo-*Karma* (*Nokarma*). These basically constitute the environment and circumstances of a worldly soul such as home, school, temple, book, teacher, economic and political atmosphere, climatic conditions, medicine, etc. Sometimes, these prove to be the determining (*Nimitta*) in certain events in the life of a worldly soul. Some pseudo-*Karma* are part of the environment of a living being that happen to be present just by chance, in many instances. Some are accumulated by the worldly soul as stated in *Gommaṭasāra Karmakāṇḍa* :

deho dayeṇa sahio jīvo āharadī kammaṇo kammaṁ
padisamayaṁ savvangaṁ tattāyaspiṇḍa ovvajalaṁ[2]

Due to the association of the body, *Karma* and pseudo-*Karma* are attracted by the soul every moment towards the entire body like a hot ball of iron in water.

The pseudo-*Karma* have been described in detail in *Karmakāṇḍa gāthās* 69-89. The pseudo-*Karma* are not *Karmas* but they appear to play the role of *Karmas*. In other words, sometimes the course of events taking place in the presence of pseudo-*Karma* may lead to the delusion of fruition of *Karma* particles. Thus many events in the life of a living being could be caused just by pseudo-*Karma* and a person may incorrectly assume that such events are the consequences of *Karma*. Let us consider a few examples. In a train accident or a natural disaster, all the people involved may feel that it was caused by their *Karma* which may not be true. A student failing in examination may blame his undesirable *Karma*

1. उवसंत खीणमोहो सजोग केवलिजिणो अजोगी य
   चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा। —*Gomaṭa., J K.* 10
2. देहो दयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्मणो कम्म
   पडिसमय सव्वंग तत्तायसपिंड ओव्वजल। —*Gomaṭa., K. K.* 3

while it could be just the mood of the examiner which may be responsible for his failure. A businessman, making a profit or suffering a loss may feel that the profit or loss is the result of his *Karma* but it could be due to the change in the economic or political factors beyond his control or just by chance. In the case of a person arriving late for an interview and not getting the job, it could be the traffic or rain storm and not his *Karma*. A person may accumulate large amount of wealth as a result of a few intelligent decisions or some favorable chances or some shrude moves or even some dishonest deals. *Karma* does not have to be necessarily responsible for this. However, it is not possible for us to determine which event is the consequence of *Karma* and which event is caused by pseudo-*Karma* and that happiness is the state of mind which an individual can attain regardless of *Karma* and *Nokarma*. This is stated in *gāthās* 60-62 of *Pañcāstikāyasāra* quoted above. Happiness and grief are the results of thought-activities of the individual self, *Karma* and pseudo-*Karma* are only the external causes. It should be noted that the pleasant-feeling-producing (*Sātāvedanīya*) *Karma* can be changed into unpleasant-feeling-producing (*Asātāvedanīya*) *Karma* and vice versa as described below.

Transformations of Karma

From the above discussion, it is evident that there is an intimate relationship between the thought-activities (feelings, passion and emotions) of an individual and the influx, bonding, fruition, stoppage and shedding of *Karma* particles. The feelings and emotions also lead to the following transformations of *Karma* particles which are in the possession of the worldly soul, as described in *Gommaṭasāra Karmakāṇda*

> *vandhukkaṭṭhaṇakaraṇam saṅkamamokaṭṭudīraṇa sattam*
> *udayuvasāmaṇidhattī ṇikācaṇā hodi padipayadī*[1]

There are ten modes (*Karmas*) affecting each subclass of *Karma* which are as follows :

1. Bonding (*Bandha*)
2. Increase (*Utkarṣaṇa*) in the duration and fruition.
3. Decrease (*Apakarsaṇa*) in the duration and fruition.
4. Transferrence (*Saṅkramaṇa*) of one subclasses of *Karma* into another subclass of the same kind of *Karma*, for example, the pleasant-feelings producing (*Sātāvedanīya*) *Karma* can be transformed into unpleasant-feeling-producing (*Asātāvedanīya*) *Karma* and *Asātāvedanīya*, into *Sātāvedanīya Karma*.[2]
5. Premature operation (*Udīraṇa*).
6. Existence (*Sattā*)
7. Operation (*Udaya*).
8. Subsidence (*Upaśama*) *Karma* particles are prevented from operation for a limited time During this time, they may suffer transference and/or, increase or decrease of duration and fruition.
9. *Nidhattī*. This means that *Karma* particles are prevented from operation for a limited time. During this time, they are neither brought into operation prematurely, nor transformed into those of another subclass, but they may suffer increase or duration and fruition.
10. *Nikācaṇa*. In this case, the *Karma* particles are prevented from operation for a limited time during which premature operation, transference and increase or decrease in duration and fruition cannot occur.

---

1. बंधुक्कट्ठणकरणं संकममोकट्टुदीरणा सत्तं
   उदयुवसामणिधत्ती णिकाचणा होदि पडिपयडी । —*Gomaṭa., K.K.* 437
2. *See Bibliography, Reference No.* 5.

Transference is of five kinds :

uvvelaṇavijjhādo adhāpavatto guṇo ya savvo ya
saṅkamadi jehin kammaṁ pariṇāmavaseṇa jīvāṇaṁ[1]

There are the following five kinds of divisions (*Bhāgahāras*) by which *Karmas*, by the thought-activities of souls, are transformed into other *Karmas*.

1. *Udvelana Saṅkramaṇa*, the transference in which one type of material *Karma* is transformed into another without the following three kinds of thought-activities : *Adhaha* (downward), *Apūrva* (new) and *Anivṛtti* (advanced).
2. *Vidhyāta Saṅkramaṇa*, the transference occurring when the soul has slight purity of thoughts. In this case, the duration and fruition are reduced due to such thought-activities.
3. *Adhahapravṛtti Saṅkramaṇa*, the transference occuring in the material *Karma* from one type to another during their bonding.
4. *Guṇa Saṅkramaṇa*, the transference in which the number of material *Karma* particles changes by several orders of magnitude.
5. *Sarva Sankramaṇa*, the transference of all material *Karma* particles in the possession of the soul.

The above concepts indicate that the soul can modify the material *Karma* particles in its possession by by appropriate thought-activity. Thus it is the soul and not *Karma* which is more powerful. Details of transference have been described in the Jain scriptures.

MODERN SCIENCE AND THE THEORY OF KARMA

Modern Science

"Science is the product of man's attempt to understard himself and the world in which he lives; it embodies knowledge about the natural world and ourselves, and it is organized in a systematic fashion derived from experimentation and observation."[2] Science is the study of natural phenomena—matter, energy, life processes, etc. Thus science helps in unraveling the nature of things (*Vastusvarupa*). At present, there is no direct scientific experimental evidence which can support all aspects of the theory of *Karma*—it is no possible to perform any experiments on a soul. Nevertheless, many features of the theory of *Karma* have their parallel in modern science and the principles on which the Jain *Karma* theory is based are the same as the basic tenets of modern science.

According to modern science, all natural phenomena occur because of the intrinsic attributes of the substances involved. The gathas 60-62 of *Pañcāstikāyasāra* quoted above, conform to this principle of modern science. The theory of *Karma* may be considered as the interactions between soul and material particles which occur due to the thought-activities of a living being and due to the attributes of soul and the particles of matter. Let us consider a few natural phenomena. Water from rivers, lakes and oceans is evaporated by the rays of the sun. The water vapor rises, clouds are formed and it rains. Thus rain results from the interactions between water, solar energy, atmospheric particles, wind, etc. Such interactions occur due to the intrinsic properties of matter and energy. Charcoal burns because atoms of carbon have the capability of combining with atoms of oxygen, each atom of carbon combining with two atoms of oxygen to form carbon dioxide. When 6×10 atoms of carbon combine with $2 \times 6 \times 10$ atoms of oxygen

---

1. उव्वेलणविज्झादो अधापवत्तो गुणो य सव्वो य ।
   संकमदि जेहिं कम्मं परिणामवसेण जीवाणं । —*Gomaṭa.*, *K. K.*, 409

2. *See Bibliography*, *Ref. No.* 6

to form carbon dioxide, 94 kilocalories of heat are envolved and on one can change the amount of energy released in this process. However, if a limited supply of air is passed through hot coke (carbon and ash), carbon monoxide is formed in which one atom of carbon combines with one atom of oxygen. This is an example of a chemical reaction being affected by the environment. The phenomenon by the presence of some substances which themselves remain unchanged in the process, is another example of a chemical reaction being influenced by the environment. This may be compared with the concept of the pseudo-*Karmas* and *Karmas* creating the environment for the thought-activities (*Yoga*) of a living being and the innate transformations of the soul. However, it is not possible to draw an exact parallel because the innate transformations of the soul, and the mechanism of interaction between soul and material particles are beyond experimentation.

Living and Nonliving Beings in Modern Science

"Livings things have certain characteristics, none of which by itself is sufficient to define them as being alive, but which, when taken together, enable us to distinguish them from nonliving. The capacities for growth, maintenance and reproduction, movement, responsiveness, change—these are the properties of the living."[1] Science has not been able to determine what imparts all these characteristics to the living beings. It is the soul which does that according to Jainism Further, modern science says "Life is characterized by the capacity to perform a series of highly organized interacting processes that occur within a definite framework."[2] There are certain large molecules known as nucleic acid which are informational molecules. These are DNA (deoxyribonucleic acid) and RNA (ribonucleic acid). DNA can reproduce itself and it contains within it the information for directing the synthesis of proteins DNA is like a blueprint which resides in the nucleus of the cell. RNA is the transcriber and translator of the genetic code which is the symbolic message that directs the cell to produce specific substances. "A gene is a linear stretch of the DNA molecule that contains the information for producing a protein chain."[3] Genetic changes (mutations) are produced in a cell or an organism when one nucleotide (building block of the nucleic acid) is exchanged for another. These concepts are parallel to the Jain concept of the physique-determining *Karma*. However, there are some important differences between the two concepts. First according to the Jain concepts, the *Karma* particles cannot be detected by any means, and second heredity plays an important role in the case of genes but it does not play the same role in the case of *Karma* particles. Nevertheless, the parallelism between the concept of informational molecules and the theory of *Karma* is significant.

Influence of Feelings and Emotions on Life Processes

Our feeling and emotions have a profound influence on our body. Dr Martin Stein of Mount Sinai Medical Center of New York studied six men whose wives died of breast cancer. He found that each one of them "showed marked changes in their lymph cells, which help guard against disease. ...Thus the *grief* of their wives, illness and death had put them at a greater risk to developing some kind of illness themselves "[4] Scientists have also discovered "that our brains, which are responsible for making us feel the complicated sensation we call pain, contain endorphins, natural analgesics that are, milligram for milligram, several times more potent than morphine."[5] These natural pain-relieving substances, endorphins, are particularly concentrated in the limbic system which is located in that part of the brain which is closely linked with strong emotions.

The chemical system of our body is controlled by the brain The endocrine system consisting of about a dozen glands in our body, reacts to mental stress. When a man is under tension, adrenalin from his adrenal glands gets into his blood stream and hearts to beat faster. Some hormones from his pituitary gland at the base of the brain, raise his blood pressure. These effects can give him a heart attack or stroke. Even the

1,2,3. *See Bibliography, Ref. No.* 6
4. *Ibid, Ref. No.* 7

immune system of our body which protects us from infection, is influenced by our feelings and emotions. People in stressful situations are more likely to develop such problems as sore throat, influenza, etc. . Just as negative emotions like grief and anger produce adverse effects on our body, the positive emotions help in preventing and curing illness.[1] Thus the secret of good health, longevity and happiness lies in a life of nonviolence, being at peace with oneself and with our environment. The above discussion indicates the effect of our thoughts and emotions on the life processes which involve material particles (the various chemicals in the body). The Jain theory of *Karma* also involves the effect of our thought-activity and passions on material *Karma* particles. It should, however, be remarked that *Karma* particles are different from the chemical substances in the body.

Effect of Environment on our Feelings and Emotions

The fruition of *Karma* is the process involvin the effect of material particles on the living being. Again, it is beyond the realm of modern science to study such effects. However, there are many instances in which our environment, which is our pseudo-*Karma* according to the Jain principles, influences our thought-activities. Psychologists believe that our frame of reference and self-image are established early in life. These serve as guides in our later life. (This is like our past *Karma* affecting our present). Researchers have found that windowless classrooms and artificial lights are not conducive to learning. Sun light has been found to affect our mood and consequently the biological processes in our body.[2] The sight of a beautiful piece of art, the meeting with our relatives and friends, watching a horror movie, etc., give rise to different kinds of thoughts and feelings. However, a person can develop his inner strength and may not let the environment influence his thought-activity and feelings. Similarly, a person can develop the capability to control the effect of fruition of *Karma* on his thought-activity and feelings.

Some Parallels of Transformations of Karma

The Jain *Karma* theory implies that the material *Karma* particles associated with the soul of an individual contain information on the past thought-activity and passions of the individual. There could be some code for recording the nature (*Prakṛti*), duration (*Sthiti*), fruition (*Anubhāga*), etc.. and the transference could involve altering this coded information by means of the appropriate thought-activity This can be compared to the informational role of the nucleic acids, the functioning of our memory and the memory of a computer. Of these, so far, only the working of the memory of the computer is best understood. Modern computers store bits of information in extremely tiny cells Each cell can store one bit of information and is a two-state device, one state representing a zero (0) and the other state, a one (1) The different characters are represented by different sequences of 0's and 1's. For example, the sequence 11000001 represents the letter A and the sequence 11100011, the letter T. The contents of the memory of a computer can be easily changed by altering the sequences of 0's and 1's stored in the various cells. Very little is known about the functioning of the memory of a living being. "The task of RNA is to act as a copy of the genes and pass on this impressed blueprint for the correct construction of bodily proteins. In theory, therefore, the ability of RNA to handle information seemed to make it a suitable agent for the handling of memory.... Memory has three ingredients-registration, retention and recall...If RNA is the chemical that, by having its molecular pattern altered during registration, is the card index basis of memory, this fact does not explain how the card index is either maintained (retention) or used (recall)."[3] However, learning a new solution to a mathematical problem or the new address and telephone number of a friend, for setting something, etc, constitute changes in the information stored in our memory. The new and developing field of genetic engineering involves manipulation of the genes, i.e., modifying the information stored in them. These are some examples of modifications of

1. *See Bibliography, Ref. No.* 7
2. *Ibid, Ref. No.* 8
3. *Ibid, Ref. No.* 9

stored information. The mechanism of the various aspects (nature (*Prakṛti*), duration (*Sthiti*), fruition (*Anubhāga*), etc.) of bonding and of the various types of transference of *Karma* particles is not understood. However, the phenomena of bonding and transference of *Karma*, which involve storage and modification of information, seem to be similar to the working of the memory of computer, the modifications of the information retained by us and the techniques of genetic engineering.

CONCLUSIONS

It is evident from the above discussion that the Jain theory of *Karma* conforms to the fundamental concepts of modern science. A detailed scientific study of *Karma* theory and further researches in the field of biology are expected to reveal many more important similarities between the theory of *Karma* and scientific knowledge.

I am greatly indebted to my teachers of Jain religion. Pandit Kailash Chandra ji Jain Siddhāntācārya and Pandit Daya Chandra ji Jain Shastri of Ujjain. I also express my deepest gratitude to Pandit Phool Chandra ji Jain Siddhāntācārya for a number of valuable and highly illuminating discussions.

BIBLIOGRAPHY AND REFERENCES

(1) *Pañcāstikāyasāra* by Ācārya Kundakunda, Translated by Prof. A. Chakrvartinayanar and Dr. A. N. Upadhye, Published by Bhāratīya Jñānapīṭha, New Delhi.

(2) *Gommaṭasāra Karmakāṇḍa* by Ācārya Nemicandra Siddhāntacakravartī, Translated by J. L Jaini, Brahmachari Shital Prasad and Ajit Prasad Jain, Published by The Central Jain Publishing House, Ajitashram, Lucknow.

(3) *Tattvārthasūtra* by Ācārya Umāswāmī, Translation and Exposition by Pandit Phool Chandra Jain Siddhāntācārya, Published by Varṇī Granthamālā, Varanasi.

(4) *Gommaṭasāra Jīvakāṇḍa* by Ācārya Nemicandra Siddhāntacakravartī, Translated by J. L. Jaini and Brahmachari Shital Prasad Jain, Published by The Central Jain Publishing House, Ajitashram, Lucknow.

(5) *Tīrthankara Mahāvīra aur Unakī Ācārya Paramparā* by Dr. Nemi Chandra Jain Jyotiṣācārya, Published by Jain Vidwat Parishad, Sagar, M. P.

(6) *Biology—A Human Approach* by I. W. Sherman and V. G. Sherman, Second Edition, Published by Oxford University Press, New York, 1979.

(7) *How The Mind Affects Our Health* by Laurence Cherry, article published in The New York Times Magazine, November 23, 1980.

(8) *Fertility To Mood, Sunlight Found To Affect Human Biology* by Jane E. Brody, article published in The New York Times, June 23, 1981.

(9) *The Body by Anthony Smith*, Published by Walker and Company, New York, 1968.

Doctrine of Karma

*Almost all religions admit that gain or loss, pleasure and pain is the result of *Karmas* but Jainism has scientifically indicated how and why Karmic matter is attracted and bounded with soul. How *Karmas* can be stopped and destroyed ? *Bhagavān Mahāvīra Aura Unakā Tattva Darśana*, p. 882

*Combination of Karmic matter with *Jīva* is due to *Yoga*. *Yoga* is the action of mind, speech and body. The opportunity for combination is created by *Bhāvas* or the affective states and such affective states are due to desire, aversion and perverse cognition—*Pañcāstikāyasāra*, 148.

Aparigraha, its Relevance in Modern Times

Prof. Angraj Chaudhary

Satya (speaking truth), *Ahiṁsā* (non-violence), *Asteya* (non-stealing), *Brahmacarya* (celibacy) and *Aparigraha* (non-possession) are the cardinal principles of Jain Ethics and it is on them that the great edifice of Jain religion is built. One can be able to free oneself from the binding *karmas* (actions) and achieve *mokṣa* (liberation) if one practises them In all religions, a premium has been put on good conduct and virtue. The observance of *śīla* (virtue) is a *sine qua non* of spiritual life. Lord Buddha laid great emphasis on *śīla* (virtue) and regarded it as the pre condition for making any progress in spiritual journey According to him *śīla* (virtue) *samādhi* (concentration) and *prajñā* (insight) are the three important milestones on the road to *nirvāṇa* and without observing *śīla* one cannot be able to practise concentration of mind and develop insight. Lord Buddha in a famous *gāthā* shows the importance of *śīla* for developing higher spiritual life as also for being able to practise meditation and attain *prajñā* (insight).

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो, चित्तं पञ्ञं च भावयं
आतापी निपको भिक्खु, सो इमं विजटये जटत्ति।

Lord Mahāvīra also considered it absolutely essential to observe the five *mahāvratas* referred to above. These *mahāvratas* come under *śīla*, *hiṁsā* (violence), *steya* (stealing), and *abrahmacarya* (sexual indulgence) come under *kāya kamma* (physical actions) and refraining from them is a matter of *śīla*. Refraining from telling a lie and its positive side i.e. speaking the truth come under *vacīkamma* (vocal action). But under what category of action does *aprigraha* come ? Obviously under physical action, because *parigraha* the opposite of *aparigraha* means hoarding things and possessing them which are physical actions. All that one possesses are physical things. Therefore they come under physical actions.

Parigraha actually means, as I said above, possession of all kinds of property and so called means of comfort and pleasure Possession of things ironically leads one to desire for more of them and thus a tremendous amount of greed comes into being which binds a man to the cycle of birth and death. Lord Buddha regards *tṛṣṇā* (pāli-*taṇhā*) as the source of all kinds of sufferings.[1] In the famous *Dhammacakka-pavattana sutta tṛṣṇā* has been set down as the cause of suffering. Lord Mahāvīra also regards *parigraha* as the cause of our bondage to the world and *tṛṣṇā* lies at the root of *parigraha* (possession). Desire pollutes our souls. Impelled by our hydra-headed desires, we indulge in several activities which result in *leśyas*,[2] which, in turn, bind us to the wheel of *samsāra*.

1. याय तण्हा पोनोब्भविका नन्दिरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी सेय्यथीद—कामतण्हा, भवतण्हा, विभवतण्हा।

—*Mahāvagga* (Nalanda edition) p. 13

2. किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य।
सुक्कलेसा य छट्ठा य, नामाइं तु जहक्कमं॥

—*The Uittarādhyayana Sūtra*, Chapter 34, Verse 3

चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि ।
अन्नं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खाण मुच्चइ ॥[1]

It has been said again and again that wealth cannot give happiness and peace to man. One who amasses wealth with a view to achieving peace in life makes a terrible mistake. In fact, the more he amasses wealth, the more he is fettered. At long last, wealth does not come to his help and he goes away from this world leaving all his vast wealth behind.

जे पावकम्मेहि धणं मणूसा, समाययन्ती अमइं गहाय ।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे, वेराणुबद्धा णरयं उवेन्ति ॥[2]

Keeping this fact in mind that all the objects of the world are transitory and they cannot give real happiness and that one will leave this world without being accompanied by his wife and children or by his relatives let alone by wealth, he should never develop any attachment for them.

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पुत्तदारं च बन्धवा ।
चइत्ता णं इमं देहं, गन्तव्वमवसस्स मे ॥[3]

Man's desires are infinite, so infinite that they can never be satiated even if the world's wealth including gold and silver is placed at his disposal.

कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणाऽवि से न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥[4]

सुवण्णरूप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥[5]

Parigraha presupposes attachment to things of desire and attachment causes suffering. It is an obstacle for the soul in attaining liberation. St John of the Cross has got something very relevant to say about attachment. "The soul that is attached to anything, however much good there may be in it, will not arrive at the liberty of divine union For whether it be a strong wire rope or a slender and delicate thread that holds the bird, it matters not, if it really holds it fast, for until the cord be broken the bird cannot fly. So the soul held by the bonds of human affections, however slight they may be, cannot while they last, make its way to god."[6]

The principle of *Aparigraha*, therefore, must be practised not only by Jaina monks but also by others. It is true the practice of *aparigraha* will go a long way in enabling a Jaina monk to make progress in his spiritual journey but it will also help a layman develop what is called altruistic motive. If the members of a society practise *aparigraha*, the whole society will be benefitted.

Aparigraha does not mean to possess nothing. If a Jain monk has clothes and a bowl and a blanket, it does not mean that he is a *parigrahī* because these he possesses in order to live a moral life. Lord Buddha also allowed four requisites to a monk and rebuked those who indulged in earning wealth and storing it. In the *Brahmajāla sutta* of the *Dīgha nikāya* he has given a long list of professions through which the Buddhist monks earned wealth.[7]

1, 2, 3, 4, 5. All quoted from *Śrī Mahāvīra Vacanāmṛta*

6. Quoted from *Basic Writings of S. Radhakrishanan*, Jaico Publishing House

7. See *The Brahmajālasutta*

It is true that for making one's own spiritual development the observance of the said *mahāvratas* is essential. But they have a social dimension inasmuch as they have a direct bearing on social ethics. I shall only deal with the social ethics contained in *aparigraha*.

While defining *aparigraha* it has been said that it got two aspects viz. *bhāva pakṣa* and *dravya pakṣa*. The desire to hoard and possess constitutes what is called the *bhāva pakṣa* (motive) of *parigraha* and actual possession of things constitutes *dravya pakṣa*. Of the two (material aspeets), the first is real *parigraha*. Lord Mahāvīra says that actual possession of clothes and other items does not constitute *parigraha* but if they are possessed with a desire to own them for one's own comfort-this is real *parigraha*.

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥[1]

Lord Buddha also, like Lord Mahāvīra, says that the real spring of actions is mind i.e. all actions proceed from our mind, from our thought. The first verse of the Dhammapada very clearly explains it, "All our tendencies of character are the offspring of consciousness, dominated by consciousness and made up of consciousness."[2] At another place Lord Buddha says that consciousness gives rise to actions.[3] In fact consciousness is action. Thus it seems to be clear that both Lord Mahāvīra and Lord Buddha regard mind as the most important thing. Both of them regard intention of an action as the most important thing. But there is a fundamental difference between the two. Whereas the Buddhists put a greater premium on the purity of intention and do not refrain from eating even meat it is pure in three ways (*Tikoṭi pariśuddha*), the Jains put an equal premium on actual action. That is, in no case meat eating can be said to be justified. Whereas the Buddhists are mostly satisfied with only the *bhāva pakṣa*, the Jains consider both *bhāva pakṣa* and *dravya pakṣa* as equally important. If we analyse Buddhists' concept of *śīla*, it will be clear that only physical and vocal actions come under it. They do not bring in mental actions under *śīla*. Why dont they do so ? Because it is very difficult to know one's mind. Whether One's mind is pure or not can be judged by only his actions. The purity or otherwise of one's mind is perceptible only through his vocal and physical actions. Up to this both the Buddhists and the Jains see eye to eye with each other but in actual life the latter seem to give more importance not only to intentions but also to resultant actions. It is this *dravya pakṣa* of *śīla* which comes under social ethics. Ethics, for the most part, has a social dimension. Our actions have their repurcussions in the society in which we live. Therefore, our intention is not enough. It is our actions which will reflect our intention and character and will be the unfailing and sure yardstick of the purity or otherwise of our intention.

As far as *aparigraha mahāvrata* is concerned, it is not enough to say that one has no desire to possess things but he should not actually possess them. The only perceptible method of judging his intention is his action.

Parigraha does not mean that one should possess things but to cause others to possess both living things and other articles either for himself or for themselves or to advise others to do so also constitute *parigraha*.

---

1. The *Daśavaikālika Sūtra*, Chapter VI, Verse 20
2. मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
   मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा // The *Dhammapada*, Verse 1
3. चेतनाहं, भिक्खवे, कम्मं वदामि।

The importance of the principle of *aparigraha* is very great both in the life of an individual and in the life of a nation. If individuals and nations follow the principle of *aparigraha* and live up to its ideal the world will be a veritable paradise and there will not be so much hatred, jealousy, ill will and suffering in the world.

The attitude to possess material goods and other means of comfort is what pollutes one's life. What is important in life is not to increase one's desire but to reduce it to the minimum. Desire fulfilled begets further desires and there is no end to them, but happiness and peace in life follow a state of desirelessness.

Lord Mahāvīra, like Buddha has averred it again and again that annihilation of desire is the precondition of peace in life. This is amply proved in modern times also. In modern times there are hundreds and thousands of luxury items which constantly keep on attracting man's notice. He looks avidly in the show rooms and shop windows where several kinds of gadgets supposed to give him pleasure and comfort are displayed. With the development of science luxury goods and gadgets have multiplied in number and man's desires have grown many more times than ever. It is true, he possesses infinite means of comfort and pleasure but it is an irony that in spite of all his possessions he is not happy. His desires have increased in geometrical progression and for peace and happiness he seems to be running after a mirage. It is true, man's knowledge has increased many times. He can produce unlimited amount of grains in the limited field. Thanks to the development of science and technology he is now in possession of more dangerous and deadly weapons than ever before. But really speaking he feels more insecure than ever. Economic prosperity has not enabled him to get rid of diseases like hypochondria and paranoia The desire to make money has compelled him to be involved in rat race and he has lost his peace of mind. In modern times man is far more unhappy than ever before.

The importance of *aparigraha* in modern times, therefore, cannot be exaggerated both in the life of an individual or in the life of a nation. If an individual practises *aparigraha*, he cuts down his desires until he is satisfied with his bare necessity and that also he possesses without attachment. Thus he can make great progress in his spiritual journey and can attain liberation (*mokṣa*), *Aparigraha* practised even moderately enables one to live peacefully. Therefore one should practise it as a matter of habit. If he does so, he will do society a lot of good. He, at least, will not look at other's property with greedy eyes and live up to the ideals taught by Lord Mahāvīra and also up to the ideals contained in the Upaniṣads *Mā gṛdhaḥ kasys sviddhanam*). If he practises *aparigraha* it will do him good inasmuch as he will reduce the quantum of desire and cosequently he will enjoy peace and happiness of mind. Again if he practises *aparigraha*, the society in which he lives will be benefitted. If one does not possess more than his share in the society, the other members will not be robbed of their share and thus ill will among the members of society will not grow. Moreover the gap between the haves and the have-nots will be bridged in stead of becoming wide. If Lord Mahāvīra's teaching of *aparigraha* is put into practice seriously many social evils can be eradicated. Living up to the ideals of *aparigraha* will go a long way in cultivating peace and the class struggle which is assuming fierce proportion will be annihilated. If *aparigraha* is practised by nations the affluent nations will share their wealth with those nations which dont have much. If the powerful nations practise *aparigraha* they will not spend billions of dollars in manufacturing weapons and thus will not cause other nations to spend on collecting arms and ammunitions. As a result the people of the world will not be thinking of the horrors of war all the time.

There are some people who argue that if people will not possess what they produce, why should they take initiative to produce more ? Such objections can be met by asking counter questions such as 'aren't people members of a society ?' Don't they owe something to the society in which they live. They should take initiative for more production of wealth in order to make the whole society prosperous. But they should not have desires to possess it all by themselves. Desires of all kinds are bad. They corrode our mind and to desire for peace with a corroded mind is like trying to hold water in a sieve.

Lord Mahāvīra and Socialism

The Problem of Problems today is how to stop the struggle between the rich and the needy. The people of wealthy section have plenty of food, clothing and bank balances. Yet they are struggling hard to augment and increase what they have had struggling restlessly. On the other hand there is the sweating mass, toiling and moiting for scanty meals. There is again a third class of men, the so called middle class people, who have got to put up the appearance of the wealthy section whereas in reality they are as poor, if not poorer than the labour class, and their condition is really miserable. One view in this connection has been that the needy and hungry exploited mass should openly rise up and snatch away the riches of the rich by force. The other is to vest all wealth in the state to take away the excess wealth from the rich and distribute it in accordance with the needs of the people. The present day socialism suggests that every man at a certain stage of his life should stop to earn more.

The Life of the great Jain Teacher Lord Mahāvīra shows that from his very childhood, he was extremely unaggressive and of non-acquiring disposition, For one full year before his rununciation of the world, he was giving away all his wealth and at the time of ascetic life he distributed the very clothes and ornaments which he had on, his body and when he attained the final self realisation, he went on without any food. He gave away all that he did not want, not because he was compelled to do so but because of his own free will and choice. The life of Lord Mahāvīra thus teaches us a lesson, which the modern Socialism would profit by always remembering that in order that a human being may voluntarily consent for and equal distribution of wealth, his character and not merely external atmosphere should be built up in an appropriate manner.

Lord Mahāvīra, keeping nothing for himself reduced his necessaries to their barest minimum—in the words of Thomas Carlyle, made his "claim of wages a zero." It is true that the people of this materialistic age would not be able to practise renunciation to the extent and the manner done by Lord Mahāvīra, but unquestionably, He is the transcendent ideal to be followed as much faithfully and closely as possible. Some amount of renunciation or *Aparigraha* as it is called in the Jaina Ethics should be the fundamental principle of all the socialist philosophy and the motto of the socialist should be *Live and let live* like that of Lord Mahāvīra.

—Prof. H. S. Bhattacharya's article quoted in *Bhagavān Mahāvīra Aura Unakā Tattva Darśana*, pp. 869-73.

Importance of Morality in Jainism

Sh. J. B. Khanna

Morality is the basic value of Jainism so it is a priceless possession for the followers of Jain religion. To uphold the ethical principles of this religion the officers were equipped with wide ranging powers and absolute authority in order to deal effectively with the varied cases of dispute. As Jaina monks were not foolproof so they used to commit offences of various natures and to atone them different types of expiations and punishments were prescribed in the Jain scriptures. The leading proceedings initiated against the defaulter was known as *Vyavahāra* based upon one or more than one of the following norms (a) the canon, (b) the tradition, (c) the law, (d) the charge, (e) the custom and both together (expiation and punishment) was termed as *Prāyaścitta* (expiation) or (atonement) to be imposed as a penalty on the guilty monk. These atonements were ten in number, namely (a) condemnation, (b) confession, (c) confession and condemnation (d) discrimination (e) corporal punishment (f) penance (g) curtailment of seniority (h) Reconsecration, (i) suspension (j) expulsion. Any Jain monk could get himself absolved of the first enumerated six kinds by self-imposed penance. The presence of a preceptor was a prominent factor in such a critical situation as he had only the authority to guide the guilty to go through the prescribed mode of penalty in the form of penance and confession. The penalty imposed in the case of first of the last four *'Prāyaścittas'* was to deprive the offender from important powers of clergy order as held by him in past. The minimum penalty imposed on the guilty was of five days duration, determined by the erring monk's status in the monastery hierarchy. Besides this the loss incurred was also computed by the period during which the offence was committed by the offender.

The next *Prāyaścitta* known as *Parihāra* or purification of the transgressor was performed by isolating him or her from the others which lasted either for a month or for four months or for six months or even more depending upon the seriousness of the committed offence The guilty monk suffering the punishment was also subjected to social boycott to make him realise the intensity and degree of his offence.

Any Jain monk who due to the committing of offence completely lost his clergical or ecclesiastical position among his bretherns was subjected to bear rigorous penalty as imposed by the Head of the monastery and then only he or she could qualify himself or herself to be readmitted in the order Loss of ecclesiatical position by the offender implies the suspension of his clergical rights and privileges as well as putting such a person on probation period till he or she may justify by their right action their claim for fresh admission in the monastic order. Committing of an offence of grave nature entails expulsion and dismissal from monastery order for good. But later Jain administrators and upholders of morality took some other stringent measures to impose penalty on the transgressors by forcing him/her to observe expiatory fasts whose duration differs and depends upon the gravity of offence committed by the offender. Thus we see that the monastery order in Jainism has a galaxy of expiations and punishments. An offender was given a fair chance to defend himself or herself against the charges before the punishment was awarded and also given a free hand to choose the mode of punishment he would like to undertake. To conclude it can be justly remarked that the judiciary was guided by the truth during those hoary times than by self and power as we see prevelant in the courts of modern time.

आधुनिक भाषा विज्ञान के सन्दर्भ में जैन प्राकृत

राष्ट्रसन्त मुनिश्री नगराज जी डी॰ लिट्॰

आगमों की भाषा प्राकृत है। त्रिपिटको की भाषा पालि है। दोनो भाषाओ मे अद्भुत सांस्कृतिक ऐक्य है। दोनो भाषाओं का उद्गम-बिन्दु भी एक है। दोनो का विकास-क्रम भी बहुत कुछ समान रहा है। दोनो के विकसित स्वरूप मे भी अद्भुत सामजस्य है। जो कुछ वैषम्य है, उसके भी नाना हेतु हैं। प्राकृत और पालि के सारे सम्बन्धों व विसम्बन्धों को सर्वांगीण रूप से समझने के लिए भाषा मात्र की उत्पत्ति और प्रवाह-क्रम का समीक्षात्मक रूप मे प्रस्तुतीकरण आवश्यक होगा।

भाषाओ के विकास और प्रसार की एक लम्बी कहानी है। भाषाओ का विकास मानव के बौद्धिक और भावात्मक विकास के साथ जुड़ा है। मानव ने सस्कृति, दर्शन और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे महनीय अभियान चलाये। फलत: विश्व मे विभिन्न सस्कृतियों, दार्शनिक परम्पराओ, साहित्यिक अभियोजनाओ तथा सामाजिक विकास का एक परिनिष्ठित रूप प्रतिष्ठापन्न हुआ। भाषाओ मे इनसे सम्बन्धित आरोहो-अवरोहो का महत्त्वपूर्ण विवरण ढूढा जा सकता है; क्योकि मानव के जीवन में कर्म और अभिव्यक्ति का गहरा सम्बन्ध है। कर्म की तेजस्विता गोपित नही रहना चाहती। सूर्य की रश्मियो की तरह वह फूटना चाहती है। आकाश की तरह उसे अपना कलेवर फैलाने के लिए स्थान या माध्यम चाहिए। वह भाषा है, अत: भाषाओ के वैज्ञानिक अनुशीलन की बहुत बड़ी आवश्यकता है।

विभिन्न भाषाओं की आश्चर्यजनक निकटता

आश्चर्य होता है, सहस्रो मीलो की दूरी पर बोली जाने वाली फ्रेंच, अंग्रेजी आदि भाषाओं से भारत मे बोली जाने वाली हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी तथा राजस्थानी आदि भाषाओं का गहरा सम्बन्ध है, जबकि बाह्य कलेवर में वे उनसे अत्यन्त भिन्न दृष्टिगोचर होती है। दूसरा आश्चर्य यह भी होगा कि भारत में ही बोली जाने वाली तमिल, तेलगु, कन्नड तथा मलयालम आदि भाषाओ से उत्तर भारतीय भाषाओ का मौलिक सम्बन्ध नही जुड़ता।

भारत की प्राचीन भाषा सस्कृत, प्राकृत तथा पालि आदि का पश्चिम की ग्रीक, लैटिन, जर्मन आदि प्राचीन भाषाओं के साथ विशेष सम्बन्ध है। एक दूसरी मे सहस्रो मीलों की दूरी पर प्रचलित तथा परस्पर सर्वथा अपरिचित-सी प्रतीत होने वाली विश्व की अनेक भाषाओं का निकटता-पूर्ण सम्बन्ध है। ज्ञात होता है कि विश्व के विभिन्न मानव-समुदायो मे अत्यन्त प्राचीन काल से कोई पारस्परिक साम्य चला आ रहा है। भाषाओ के स्वरूप और विकास का वैज्ञानिक दृष्टि से तुलनात्मक तथा समीक्षात्मक रूप मे अध्ययन करने से ये तथ्य विशद रूप मे प्रकट होते हैं। इसी विचार-सरणि के सन्दर्भ मे भाषाओं का जो सूक्ष्म और गम्भीर अध्ययन-क्रम चला, वही भाषा-विज्ञान या भाषा-शास्त्र बन गया है।

भाषा-विज्ञान की शाखाएं

भाषा-विज्ञान में भाषा-तत्त्व का विभिन्न दृष्टिकोणो से विश्लेषण और विवेचन किया जाता रहा है, आज भी किया जाता है। ध्वनि-विज्ञान, रूप-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान, वाक्य-विज्ञान, व्युत्पत्ति-विज्ञान, आदि उसकी मुख्य शाखाएं या विभाग होते है।

ध्वनि-विज्ञान (Phonology)

भाषा का मूल आधार ध्वनि है। ध्वनि का ही व्यवस्थित रूप शब्द है। शब्दों का साकांक्ष्य या परस्पर-सम्बद्ध समवाय वाक्य है। वाक्यो से भाषा निष्पन्न होती है; अतएव ध्वनि-विज्ञान भाषा-शास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसके अन्तर्गत ध्वनि-यन्त्र,

स्वर-तन्त्री तथा ध्वनि को व्यक्त रूप में प्रस्फुटित करने वाले वागिन्द्रिय के मुख-विवर, नासिका-विवर, तालु, कण्ठ, ओष्ठ, दन्त, मूर्द्धा, जिह्वा आदि अवयव, उनसे ध्वनि उत्पन्न होने की प्रक्रिया, ध्वनि-तरंग, श्रोत्रेन्द्रिय से सस्पर्शन या सघर्षण, श्रोता द्वारा स्पष्ट शब्द के रूप में ग्रहण या श्रवण आदि के साथ-साथ ध्वनि-परिवर्तन, ध्वनि-विकास, उसके कारण तथा दिशाएं आदि विषयो का समावेश है।

रूप-विज्ञान (Morphology)

शब्द का वह आकार, जो वाक्य मे प्रयुक्त किये जाने योग्य होता है, रूप कहा जाता है। 'पद' का भी उसी के लिए प्रयोग होता है। सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने 'सुप्तिङन्तं पदम्' कहा है। अर्थात् शब्दो के अन्त मे सु, औ, जस् आदि तथा ति, अस्, अन्ति आदि विभक्तियों के लगने पर जो विशेष्य, विशेषण, सर्वनाम तथा क्रियाओ के रूप निष्पन्न होते हैं, वे पद हैं। न्यायसूत्र के रचयिता गौतम ने 'ते विभक्त्यन्ता पदम्' कहा है।

विभक्ति-शून्य शब्द (प्रातिपादिक) और धातुओ का यथावस्थित रूप मे प्रयोग नही होता। विभिन्न सम्बन्धो को व्यक्त करने के लिए उनके साथ भिन्न-भिन्न विभक्तियाँ जोड़ी जाती हैं। विभक्ति-युक्त प्रातिपादिक या धातु प्रयोग-योग्य होते हैं। सस्कृत के सुप्रसिद्ध काव्य-तत्त्व-वेत्ता कविराज विश्वनाथ ने पद की व्याख्या करते हुए लिखा है. 'वे वर्ण या वर्ण-समुच्चय, जो प्रयोग के योग्य हैं तथा अनन्वित रूप मे किसी एक अर्थ के बोधक है, पद कहे जाते है।"[1] रूप-विज्ञान मे इस प्रकार के नाम व आख्यात (क्रिया) पदो (रूपो) के विश्लेषण, विकास तथा अव्यय, उपसर्ग, प्रत्यय आदि का तुलनात्मक विवेचन होता है।

अर्थ-विज्ञान (Semantics)

शब्द और अर्थ का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। अर्थ-शून्य शब्द का भाषा के लिए कोई महत्त्व नहीं होता। शब्द बाह्य कलेवर है, अर्थ उसकी आत्मा है। केवल कलेवर की चर्चा से साध्य नही सधता। उसके साथ-साथ उसकी आत्मा का विवेचन भी अत्यन्त आवश्यक होता है। शब्दो के साथ संश्लिष्ट अर्थ का एक लम्बा इतिहास है। किन-किन स्थितियो और हेतुओ से किन-किन शब्दो का किन-किन अर्थों से कब, कैसे सम्बन्ध जुड़ जाता है, इसका अन्वेषण एवं विश्लेषण करते हैं, तो बड़ा आश्चर्य होता है। वैयाकरणो द्वारा प्रतिपादित 'शब्दाः कामदुघाः' इसी तथ्य पर प्रकाश डालता है। इसका अभिप्राय यह था कि शब्द कामधेनु की तरह हैं। अनेकानेक अर्थ देकर भोक्ता या प्रयोक्ता को परितुष्ट करने वाले हैं। कहने का प्रकार या क्रम भिन्न हो सकता है, पर, मूल रूप में तथ्य वही है जो ऊपर कहा गया है। उदाहरणार्थ, जुगुप्स शब्द को लें। वर्तमान मे इसका अर्थ घृणा माना जाता है। यदि इस शब्द के इतिहास की प्राचीन पर्तें उघाड़ें, तो ज्ञात होगा कि किसी समय इस शब्द का अर्थ 'रक्षा करने की इच्छा' (गोप्तुमिच्छा जुगुप्सा) था। समय बीता। इस अर्थ मे कुछ परिवर्तन आया। प्रयोक्ताओ ने सोचा होगा, जिसकी हम रक्षा करना चाहते हैं, वह तो छिपा कर रखने योग्य होता है। अत. 'जुगुप्सा' का अर्थ गोपन (छिपाना) हो गया। मनुष्य सतत मननशील प्राणी है। उसके चिन्तन एव मनन के साथ नये-नये मोड़ आते रहते हैं। उक्त अर्थ मे फिर एक नया मोड आया। सम्भवत सोचा गया हो, हम छिपाते तो जघन्य वस्तु को है, अच्छी वस्तुएं तो छिपाने की होती नही। इस चिन्तन के निष्कर्ष के रूप मे जुगुप्सा का अर्थ 'गोपन' से परिवर्तित होकर 'घृणा' हो गया। वास्तव मे शब्द स्रष्टा एव उसका प्रयोक्ता मानव है। प्रयोग की भिन्न-भिन्न कोटियो का मानव की मन: स्थितियो से सम्बन्ध है।

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध आदि पर विचार, विवेचन और विश्लेषण इस विभाग के अन्तर्गत आता है। वर्तमान के कुछ भाषा-वैज्ञानिक इसको भाषा-विज्ञान का विषय नही मानते। वे इसे दर्शन-शास्त्र से जोडने का प्रयत्न करते हैं। प्राचीन काल के कुछ भारतीय दार्शनिको ने भी प्रसगवश शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की चर्चा की है। पर, जहा स्वतन्त्र रूप से भाषा शास्त्र के सागोपाग विश्लेषण का प्रसग हो, वहा इसे अनिवार्यत: उसी को लेना होगा। उसके बिना किसी भी भाषा का वैज्ञानिक दृष्टि से परिशीलन अपूर्ण रहेगा। अर्थ-विज्ञान के अन्तर्गत वर्णनात्मक, समीक्षात्मक, तुलनात्क तथा इतिहासात्मक, सभी दृष्टियो मे अर्थ का अध्ययन करना अपेक्षित होता है। अर्थ-परिवर्तन, अर्थ-विकास, अर्थ-ह्रास तथा अर्थ-उत्कर्ष आदि अनेक पहलू इनमे सहज ही आ जाते हैं।

वाक्य-विज्ञान (Syntax)

भाषा का प्रयोजन अपने भावो की अभिव्यजना तथा दूसरे के भावो का यथावत् रूप मे ग्रहण करना है। दूसरे शब्दो में इसे (भाषा को) विचार-विनिमय का माध्यम कहा जा सकता है। ध्वनि, शब्द, पद ; ये सभी भाषा के आधार हैं। पर, भाषा जब वाक्य की भूमिका के योग्य होती है, तब उसका कलेवर वाक्यो से निष्पन्न होता है। पद वाक्य मे प्रयुक्त होकर ही अभीप्सित अर्थ

१. वर्णा: पद प्रयोगार्हान्वितैकार्थबोधका:। —साहित्यदर्पण; २.१

प्रकट करने मे सक्षम होते हैं। वाक्य मे पदों या शब्दो का स्थानिक महत्त्व भी होता है ; अतः अर्थ-योजन में स्थान-निर्धारण भी अपेक्षित रहता है। उदाहरणार्थ, I go to school अंग्रेजी के इस वाक्य में 'Go' क्रिया दूसरे स्थान पर है। Go to school इस वाक्य में भी 'Go' क्रिया का प्रयोग है। यहां Go पहले स्थान पर है। पर, स्थान-भेद के कारण इस क्रिया के अर्थ में भिन्नता आ गयी है। पहले वाक्य में यह क्रिया जहां सामान्य वर्तमान की द्योतक है, वहां दूसरे वाक्य मे आज्ञा-द्योतक है। वाक्य-विज्ञान से सम्बद्ध इसी प्रकार के अनेक विषय हैं, जो वाक्य-रचना की विविध अपेक्षाओ पर टिके हुए हैं। उन सबका इस विभाग के अन्तर्गत विवेचन और विश्लेषण किया जाता है।

निर्वचन-शास्त्र [व्युत्पत्ति-विज्ञान] (Etymology)

शब्दों की उत्पत्ति, उनका इतिहास आदि का इस विभाग में समावेश है। शब्दो की उत्पत्ति की अनेक कोटियाँ तथा विधाएं हैं, जिनके अन्वेषण से और भी अनेक तथ्य प्रकट होते हैं। मानव के सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन से उनका गहरा सम्बन्ध है। प्राचीन काल मे भाषा-विज्ञान का इस प्रकार का अध्ययन व्यवस्थित एव विस्तृत रूप मे नही हुआ। भारतवर्ष और यूनान मे एक सीमा तक इस सन्दर्भ में प्रयत्न चले थे। यूनान में बहुत स्थूल रूप मे इस पर चर्चा हुई। पर, भारतीय मनीषी उस समय की स्थितियों और अनुकूलताओं के अनुसार अधिक गहराई मे गये थे।

विश्व मे उपलब्ध साहित्य मे वैदिक वाङ्मय का ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्व है। वेदो में प्रयुक्त भाषा और तद्गत अर्थ व परम्परा सदा अक्षुण्ण बनी रहे, इसके लिए विद्वानो ने शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्दःशास्त्र, ज्योतिष और निरुक्त ६ शास्त्र और प्रतिष्ठित किये, जो वेदाग[1] कहे जाते है।

शिक्षा (ध्वनि-विज्ञान) का वेद की संहिताओ से गहरा सम्बन्ध है। वैदिक संहिताओ का शुद्ध उच्चारण किया जा सके, उनका स्वर-संचार यथावत् रह सके, इसके लिए अनेक नियम गठित किये गये। जिन ग्रन्थो मे इनका विशेष वर्णन है, वे प्रातिशाख्य कहलाते हैं। प्रातिशाख्य प्रतिशाखा मे बना है। पृथक्-पृथक् वेदों को भिन्न-भिन्न शाखाएं मानी गयी हैं। उन शाखाओं से सम्बद्ध संहिताओं के शुद्ध उच्चारण का भिन्न-भिन्न प्रातिशाख्य ग्रन्थो में उल्लेख है। प्रातिशाख्यो का सर्जन विश्व का प्राचीनतम भाषा-वैज्ञानिक कार्य है। इसका मुख्य उद्देश्य मात्रा काल, स्वराघात, उच्चारण की विशिष्टताओ का प्रदर्शन, संहिताओं के रूढ़िगत उच्चारण की सुरक्षा, वैज्ञानिकता एव सूक्ष्मता के साथ ध्वनियो का विवेचन तथा ध्वनि-अगों की जानकारी देना था। प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त कतिपय शिक्षा ग्रन्थ भी है, जो कलेवर मे छोटे हैं। वेद का यह अग भाषा-विज्ञान से बहुत अधिक सम्बद्ध है। ध्वनि-विज्ञानसम्बन्धी अनेक प्रश्नो का समाधान एक सीमा तक इसमे प्राप्त है। उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित के रूप में स्वरो के उच्चारण के विशेष क्रम भी ध्वनि-विज्ञान से सूक्ष्मतया सम्पृक्त हैं।

'कल्प' पारिभाषिक शब्द है, जो कर्म-काण्ड-विधि के लिए प्रयुक्त हुआ है। दूसरे से छठे तक पांच अंगो मे चौथा 'निरुक्त' भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। निरुक्त के रचयिता महान विद्वान् यास्क थे। उनका समय लगभग ई०पू० ८०० माना जाता है।

वैयाकरणों का अभिमत

निरुक्तकार यास्क—यास्क ने निरुक्त या व्युत्पत्ति-शास्त्र की रचना कर भारतीय वाङ्मय को वास्तव मे बड़ी देन दी। उनके द्वारा रचित व्युत्पत्ति-शास्त्र विभिन्न शब्दो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जो सूचनाएं देता है, वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। यास्क के सामने उस समय भाषा के दो रूप विद्यमान थे, वैदिक भाषा और लौकिक भाषा। वैदिक भाषा से उनका तात्पर्य उस संस्कृत से है, जिसका वेदों मे प्रयोग हुआ है। वे उसे निगम, छन्दस्, ऋक् आदि नाम भी देते हैं। लौकिक भाषा के लिए वे केवल 'भाषा' व्यवहृत करते हैं। उनके अनुसार वैदिक संस्कृत मूल भाषा है तथा लौकिक भाषाएं उससे निकली हैं।

आज के भाषा-वैज्ञानिक एक ऐसी भारोपीय परिवार की अत्यन्त प्राचीन मूलभाषा की भी कल्पना करते हैं, जो वैदिक संस्कृत तथा तत्समकक्ष अन्यान्य तत्परिवारीय प्राच्य व प्रतीच्य भाषाओं का उद्गम-स्थान थी। यास्क जिन परिस्थितियों मे थे, उनके लिए यहां तक पहुंच पाना सम्भव नही था। भौगोलिक कठिनाइयाँ भी थी, यातायात के साधन तथा अन्य अनुकूलताएं भी नहीं थी। ऐसी स्थिति में अपने निर्वचन में वे भारत से बाहर की भाषाओं को भी दृष्टिगत रख पाते, यह सम्भव नही था। उस समय यद्यपि उप भाषाओ का

---

१. शिक्षा व्याकरणं छन्दो निरुक्तं ज्योतिषं तथा।
कल्पश्चेति षडङ्गानि वेदस्याहुर्मनीषिणः ॥

प्रचलन पर्याप्त संख्या में था और यास्क ने भी उस प्रकार के संकेत किये हैं, पर, उनका व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में भावात्मक अनुसन्धान-कार्य उन्हीं प्रचलित भाषाओं की सीमा में है, जो उनके समक्ष थी। जो भी हुआ, जितना भी हुआ, उस समय की स्थितियों के परिपार्श्व मे स्तुत्य कार्य था। संसार के भाषा-शास्त्रीय विकास के इतिहास मे उसका अनुपम स्थान रहेगा।

निघण्टु के रूप मे यास्क के सामने वेद के शब्दो की सूची विद्यमान थी, जिसके पाँच अध्याय हैं। निरुक्त में निघण्टु में उल्लिखित प्रत्येक शब्द की पृथक् पृथक् व्युत्पत्ति प्रदर्शित की गई है। निरुक्तकार के निघण्टु के शब्दो का अर्थ स्थापित करने का वास्तव में सफल प्रयास किया है। उन्होंने अपने द्वारा स्थाप्यमान अर्थ की पुष्टि के हेतु स्थान-स्थान पर वैदिक संहिताओ को भी उद्धृत किया है। अर्थ-विज्ञान के सन्दर्भ में इस प्रकार के अध्ययन का विश्व मे यह पहला प्रयास था। भारतवर्ष मे यास्क के समय तक अर्थ-विज्ञान आदि से सम्बन्धित विषय चर्चित हो चुके थे। यास्क ने स्वयं औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, गार्ग्य, गालव, शाकटायन आदि अपने से पूर्ववर्ती या समसामयिक आचार्यों का उल्लेख करते हुए उनके मतों को उद्धृत किया है। उदाहरणार्थ, यास्क ने पद के चार भेद किये हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। उस प्रसंग मे उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्य औदुम्बरायण का मत उद्धृत करते हुए शब्द के नित्यत्व और अनित्यत्व जैसे गहन विषय की चर्चा की है। यास्क के अनुसार आख्यात भाव-प्रधान है। उसके सन्दर्भ मे उन्होंने भावविकार के विषय में आचार्य वार्ष्यायणि के विचार उपस्थित कर अपना अभिमत प्रदर्शित किया है। वास्तव मे यास्क का निरूपण-क्रम अनुसन्धानात्मक और समीक्षात्मक पद्धति पर आधृत है। उत्तरवर्ती भाषा-वैज्ञानिको के लिए वह नि:सन्देह प्रेरणादायक सिद्ध हुआ।

यास्क के व्यक्तित्व की महत्ता इससे और सिद्ध हो जाती है कि अस्पष्ट शब्दो के लिए उन्होंने आग्रह नहीं किया, अपितु उदारतापूर्वक स्वीकार कर लिया कि वे शब्द उनके लिए स्पष्ट नही हैं। उन्होने शब्दों पर विचार करते हुए भाषा की उत्पत्ति और गठन आदि पर भी जहां-तहां कुछ संकेत किया है। सबसे पहले उन्होने यह स्थापना की कि प्रत्येक संज्ञा की व्युत्पत्ति धातु से है। यद्यपि यह मत समालोचनीय है, पर, इसका अपना महत्त्व अवश्य है। आगे चलकर महान् वैयाकरण पाणिनि ने भी धातु-सिद्धान्त को प्रतिपादित किया।

यास्क द्वारा विवेचित व्युत्पत्ति-क्रम को जानने के लिए एक उदाहरण उपयोगी होगा। 'आचार्य' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए वे लिखते हैं : आचार्य: कस्मात् ? आचार्य आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति वा। जो आचार-ग्रहण करवाता है अथवा अर्थों का आचयन करता है, अन्तेवासी को पदार्थों का बोध करवाता है अथवा अन्तेवासी मे बुद्धि का चयन करता है, वह 'आचार्य' कहा जाता है।

'श्मशान' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए यास्क लिखते हैं : श्मशानम् श्मशयनम्। श्म=शरीरम्। शरीरं शृणाते। शम्नाते: वा। श्म—शरीर जहां शयन करता है, चिर निद्रा मे सोता है, वह 'श्मशान' कहा जाता है।

महान् वैयाकरण पाणिनि—यास्क के अनन्तर महान् वैयाकरण पाणिनि को भाषा-विज्ञान के विकास के सन्दर्भ मे सम्मान के साथ स्मरण किया जाता है। पाणिनि ने संस्कृत व्याकरण के गठन के अन्तर्गत पद-विज्ञान आदि का भी गम्भीर और वैज्ञानिक विवेचन किया। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणो आपिशलि, काशकृत्स्न आदि का भी उल्लेख किया। पाणिनि के पूर्ववर्ती एक बहुत बड़े वैयाकरण इन्द्र थे। तैत्तरीय-संहिता इन्हे प्रथम वैयाकरण सिद्ध करती है। वहा लिखा है : "देवताओ ने इन्द्र से कहा—हमे भाषा को व्याकृत कर समझाइए[1]।"

इन्द्र ने वैसा किया। इन्द्र का वैयाकरण-सम्प्रदाय पाणिनि के पूर्व एव पश्चात् भी चलता रहा। वर्तमान मे जो प्रातिशाख्य प्राप्त हैं, वे इसी सम्प्रदाय के हैं। वार्तिककार कात्यायन भी इसी सम्प्रदाय के थे।

पाणिनि ने पूर्ववर्ती वैयाकरणो के महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य का सार अष्टाध्यायी मे समाविष्ट किया। उन्होंने कतिपय प्रसगों मे उदीच्य और प्राच्य सम्प्रदायो की भी चर्चा की है। कथासरित्सागर मे सोमदेव ने लिखा है कि पाणिनि के गुरु का नाम उपाध्याय वर्ष था। कात्यायन, व्याडि और इन्द्रदत्त इनके सहपाठी थे। पाणिनि ने माहेश्वर सूत्रो के रूप मे व्याकरण एवं भाषा-विज्ञान के क्षेत्र मे बहुत बडी देन दी है। माहेश्वर सूत्रो की कुछ अनुपम विशेषताएं हैं। उनमे ध्वनियों का स्थान एवं प्रयत्न के अनुसार जो वर्गीकरण किया गया है। वह ध्वनि-विज्ञान का उत्कृष्ट उदाहरण है।

पाणिनि की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उन्होने केवल चौदह सूत्रो के आधार पर प्रत्याहार आदि के सहारे संस्कृत जैसी जटिल और कठिन भाषा को सक्षेप मे बाध दिया। ढाई हजार वर्ष के पश्चात् भी वह भाषा किंचित् भी इधर-उधर नहीं हो सकी अपने परिनिष्ठित रूप में यथावत बनी रह सकी। उन्होने नाम, आख्यात, उपसर्ग एव निपात के रूप मे यास्क द्वारा किये गये पद-विभागों

---

1. वाग्वै पराच्यव्याकृताऽवदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।

को नहीं माना। शब्द को सुबन्त और तिङन्त ; इन दो भागों में विभक्त किया है। आज तक संसार में भाषा-विज्ञान या व्याकरण के क्षेत्र में शब्दो के जितने भी विभाजन किये गये हैं, उनमे वैज्ञानिक दृष्टि से इस निरूपण का सर्वाधिक महत्त्व है। वर्णों के स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट संवृत, विवृत, अल्पप्राण, महाप्राण, घोष, अघोष आदि कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ आदि उच्चारण-स्थान प्रभृति अनेक ऐसे विषय हैं जो ध्वनि-विज्ञान के क्षेत्र मे पाणिनि की अद्‌भुत उपलब्धियां हैं।

वैदिक सस्कृत एवं लौकिक संस्कृत का तुलनात्मक विश्लेषण पाणिनि का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। उनके वर्णन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि छन्दस् कही जाने वाली वैदिक सस्कृत और भाषा कहलाने वाली लौकिक सस्कृत में परस्पर उस समय तक बहुत अन्तर आ गया था। सार रूप मे कहा जा सकता है कि पाणिनि विश्व के सर्वश्रेष्ठ वैयाकरण थे। अष्टाध्यायी जैसा उसका ग्रंथ आज तक किसी भी भाषा मे नही लिखा गया। उन्होंने व्याकरण को अनुपम सूक्ष्मता देने के साथ-साथ दर्शन का स्वरूप भी प्रदान किया। उनकी सूत्र-पद्धति ने व्याकरण की शुष्कता को सरस तथा कठिनता को सरल बना दिया।

आधुनिक भाषा-विज्ञान के जनक पाश्चात्य विद्वान् ब्लूम फील्ड Language पुस्तक में, जिसका आज के भाषा-विज्ञान में अत्यधिक महत्त्व है, पाणिनि के सम्बन्ध मे लिखते हैं · "पाणिनि का व्याकरण (अष्टाध्यायी) जिसकी रचना लगभग ई० पू० ३५०-२५० के मध्य हुई थी, मानवीय बुद्धि के प्रकर्ष का सबसे उन्नत कीर्ति-स्तम्भ है। आज तक किसी भी अन्य भाषा का इतने परिपूर्ण रूप मे विवेचन नही हुआ है।"[1]

हर्वर्ड विश्वविद्यालय के प्राध्यापक जॉन बी० केरोल ने लिखा है : "पाश्चात्य विद्वानों ने पहले पहल जैसे ही हिन्दू वैयाकरण पाणिनि की वर्णनात्मक पद्धतियो का परिचय पाया, वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उनसे प्रभावित हुए तथा उन्होंने भाषाओं का विवेचनात्मक एव ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करना प्रारम्भ किया।"[2]

आलोचक कात्यायन . पाणिनि के पश्चात् अन्य भी कई वैयाकरण हुए। कात्यायन उनमें बहुत प्रसिद्ध हैं। कथासरित्सागरकार ने इन्हे पाणिनि का सहपाठी बतलाया है। वह उचित नहीं जान पडता। कात्यायन का समय लगभग ई० पू० पांचवी-चौथी शताब्दी होना चाहिए। कात्यायन ने पाणिनि के सूत्रों की आलोचना की, उनमें दोष दिखलाया तथा शुद्ध नियम निश्चित किये। इस सम्बन्ध में विद्वानों का अभिमत है कि कात्यायन ने जिन्हें दोष कहा, वे वस्तुत: दोष नही थे। पाणिनि तथा कात्यायन के बीच लगभग १५० वर्ष का समय पडता है। उस बीच भाषा में जो परिवर्तन आया, उसे ही कात्यायन ने अशुद्ध या दुष्ट माना। इतना स्पष्ट है कि कात्यायन के वार्तिको से भाषा के विकास से सम्बद्ध कई तथ्य ज्ञात होते हैं, जो अर्थ-विज्ञान एवं ध्वनि-विज्ञान से जुड़े हैं।

महाभाष्यकार पतञ्जलि : कात्यायन के पश्चात् पतजलि आते हैं। उनका समय ई० पू० दूसरी शताब्दी है। वे पाणिनि के अनुयायी थे। उन्होने महाभाष्य की रचना की, जिसका उद्देश्य कात्यायन के नियमों मे दोष दिखाकर पाणिनि का मण्डन करना था। उन्होने जो नियम बनाये, वे इष्टि कहलाते है।

पतंजलि के महाभाष्य का महत्त्व नियम स्थापना की दृष्टि से बहुत अधिक नही है। उसका महत्त्व तो भाषा के दार्शनिक विश्लेषण मे है। उन्होंने ध्वनि के स्वरूप, वाक्य के भाग तथा ध्वनि-समूह व अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध आदि भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विषयो पर गहन चिन्तन उपस्थित किया। व्याकरण तथा भाषा-विज्ञान जैसे विषय को पतंजलि ने जिन सरल, सुघड और हृद्य शब्दो से वर्णित किया है, वह वास्तव में अद्‌भुत है। उनकी शैली अत्यन्त ललित तथा हेतुपूर्ण है। सरल, सरस व प्राजल भाषा तथा प्रसादपूर्ण शैली की दृष्टि से समग्र सस्कृत वाङ्मय मे आचार्य शंकर कृत शारीरिक भाष्य के अतिरिक्त ऐसा एक भी ग्रन्थ नही है, जो इस महाभाष्य के समकक्ष हो।

व्याकरण का उत्तरवर्ती स्रोत : महाभाष्यकार पतजलि के अनन्तर पाणिनीय शाखा के अन्तर्गत उत्तरोत्तर अनेक वैयाकरण होते गये, जिनमे जयादित्य तथा वामन (सातवी शती पूर्वार्ध), भर्तृहरि (सातवी शती), जिनेन्द्र बुद्धि (आठवी शती

1. This grammer which dates from some where round 350 to 250 B. C. is one of the greatest Monuments of human intelegence...No other language to this day has been so perfectly described.
2 Western scholars were for the first time exposed to the descriptive methods of the Hindu grammarian Pāṇini, influenced either directly or indirectly by Pāṇini, began to produce descriptive and historical studies.

पूर्वार्ध), कय्यट (ग्यारहवीं शती), हरदत्त (बारहवीं शती) मुख्य थे। उन्होंने पाणिनि की व्याकरण-परम्परा में अनेक स्वतंत्र ग्रन्थों तथा व्याख्या-ग्रन्थों का प्रणयन किया, जिनमे भाषा और व्याकरण के अनेक शब्दों पर तलस्पर्शी विवेचन है। उनके अनन्तर इस शाखा मे जो वैयाकरण हुए, उन्होंने कौमुदी की परम्परा का प्रवर्तन किया। व्याकरण पर इतने अधिक ग्रन्थ लिखे जा चुके थे कि उनको बोध-गम्य बनाने के लिये किसी अभिनव क्रम की अपेक्षा थी। कौमुदी-साहित्य इनका पूरक है। विमल सरस्वती (चौदहवी शती), रामचन्द्र (पन्द्रहवीं शती), भटोजि दीक्षित (सतरहवी शती) तथा वरदराज (अठारहवी शती) इस परम्परा के मुख्य ग्रन्थकार थे। भटोजि दीक्षित की सिद्धान्त कौमुदी और वरदराज की लघु कौमुदी का संस्कृत अध्येताओं मे आज भी सर्वत्र प्रचार है।

पाणिनि के व्याकरण के अतिरिक्त भारतवर्ष मे व्याकरण की कतिपय अन्य शाखाएँ भी प्रचलित थी, जिनमे जैनेन्द्र, शाकटायन, हेमचन्द्र, कातन्त्र, सारस्वत तथा वोपदेव आदि शाखाओ का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

व्याकरणोत्तर शास्त्रों में भाषा-तत्त्व : व्याकरण ग्रन्थो के अतिरिक्त संस्कृत मे रचे गये न्याय, काव्य-शास्त्र तथा मीमांसा आदि में भी भाषा के सम्बन्ध में प्रासगिक रूप मे विचार उपस्थित किये गये हैं। बंगाल में नदिया नैयायिको या तार्किको का गढ़ रहा है। वहा के नैयायिको ने अपने ग्रन्थो मे भाषा के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर विचार किया। श्री जगदीश तर्कालंकार के शब्दशक्तिप्रकाशिका ग्रन्थ मे शब्दों की शक्ति पर नैयायिक दृष्टि से ऊहापोह किया गया है। उससे अर्थ-विज्ञान पर कुछ प्रकाश पड़ता है। काव्य शास्त्रीय वाङ्मय मे काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक, चन्द्रालोक और साहित्य-दर्पण आदि ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमे शब्द-शक्तियों तथा अलंकारो के विश्लेषण के प्रसग में भाषा के शब्द, अर्थ आदि तत्त्वो पर सूक्ष्मता से विचार किया गया है।

भारतीय दर्शनो मे मीमासा दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मीमासा दर्शन का वर्ण्य विषय यद्यपि कर्मकाण्ड और यज्ञवाद है, पर, विद्वान् आचार्यों ने इनके विवेचन के लिए जो शैली अपनाई है, वह अत्यन्त नैयायिक या तार्किक है। उन्होने शब्द-स्वरूप, शब्दार्थ, वाक्यस्वरूप, वाक्यार्थ आदि विषयो पर गहराई से विमर्षण किया है।

भारतीय विद्वानो द्वारा किये गये भाषा-तत्त्व-सम्बन्धी गवेषणा-कार्य का यह सक्षिप्त लेखा-जोखा है, जो भारतीय प्रज्ञा की सजगता पर प्रकाश डालता है। प्राचीन काल मे जब समीक्षात्मक रूप मे परिशीलन करने के साधनो का प्राय. अभाव था और न आज की तरह गवेषणा-सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण ही समक्ष थे, तब इतना जो किया जा सका, कम स्तुत्य नही है। विश्व मे अपनी कोटि का यह असाधारण कार्य था।

यूनान व यूरोप में भाषा-विश्लेषण

पुरातन संस्कृति, साहित्य तथा दर्शन के विकास मे प्राच्य देशों मे जो स्थान भारत का है, उसी तरह पाश्चात्य देशो मे ग्रीस (यूनान) का है। भारतवर्ष के अनन्तर यूनान मे भी भाषा-तत्त्व पर कुछ चिन्तन चला। यद्यपि वह भारतवर्ष की तुलना में बहुत साधारण था, केवल ऊपरी सतह को छूने वाला था, पर पाश्चात्य देशो मे इस क्षेत्र मे सबसे पहला प्रयास था, इसलिए उसका ऐतिहासिक महत्त्व है।

सुकरात का इंगित : सुकरात (ई० पू० ४६९ से ई० पू० ३९९) यूनान के महान् दार्शनिक थे। उनका विषय तत्त्व ज्ञान था, अतः भाषा-शास्त्र के सम्बन्ध मे उन्होने लक्ष्यपूर्वक कुछ नहीं लिखा, पर, अन्य विषयो की चर्चा के प्रसंग मे इस विषय की ओर भी कुछ इंगित किया। सुकरात के समक्ष यह प्रश्न आया कि शब्द और अर्थ मे परस्पर जो सम्बन्ध है, वह स्वाभाविक है या इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि किसी एक वस्तु का जो नाम प्रचलित है, उस (नाम) के स्थान पर यदि कोई दूसरा नाम रख दिया जाए, तो क्या वह अस्वाभाविक होगा ? सुकरात का इस सन्दर्भ मे यह चिन्तन था कि किसी वस्तु और उसके नाम का, दूसरे शब्दो मे अर्थ और शब्द का कोई स्वाभाविक सम्बन्ध नही है। वह मानव द्वारा स्वीकृत सम्बन्ध है। यदि किसी वस्तु का उसके नाम से स्वाभाविक सम्बन्ध होता, तो वह शाश्वत होता, सर्वव्यापी होता, देश-काल के भेद से व्याहत नही होता। ऐसा होने पर ससार मे सर्वत्र जिस किसी भाषा का एक शब्द सभी दूसरी भाषाओ मे उसी अर्थ का द्योतक होता, जिस अर्थ का अपनी भाषा मे द्योतक है। अर्थात्, ससार मे सबकी स्वाभाविक भाषा एक ही होती।

प्लेटो : भाषा-तत्त्व. सुकरात के पश्चात् उनके शिष्य प्लेटो (४२९ ई० पू० से ३४७ ई० पू०) यूनान के बहुत बड़े विचारक हुए। उनका भी अपने गुरु की तरह भाषा-विज्ञान से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं था। उन्होंने यथा-प्रसंग भाषा तत्त्वो के सम्बन्ध मे जहा-तहां अपने विचार प्रकट किये हैं, जिनका भाषा-विज्ञान के इतिहास में कुछ-न-कुछ महत्त्व है। उन्होंने

ध्वनियों के वर्गीकरण का मार्ग दिखाया तथा ग्रीक भाषा की ध्वनियों को घोष और अघोष; इन दो भागो में विभक्त किया। यूरोप में ध्वनियों के वर्गीकरण का यह सबसे पहला प्रयत्न था।

प्लेटो ने भाषा और विचार के सम्बन्ध पर भी चर्चा की है। उसके अनुसार विचार और भाषा में केवल इतना ही ही अन्तर है कि विचार आत्मा का अध्वन्यात्मक या नि.शब्द वार्तालाप है और जब वह ध्वन्यात्मक होकर मुख-विवर से व्यक्त होता है, तो उसकी संज्ञा भाषा हो जाती है। साराश यह है कि प्लेटो के अनुसार भाषा और विचार मे मूलत ऐक्य है। केवल बाह्य दृष्टि से ध्वन्यात्मकता और अध्वन्यात्मकता के रूप में अन्तर है।

प्लेटो वाक्य-विश्लेषण और शब्द-भेद के सम्बन्ध मे भी कुछ आगे बढे हैं। उद्देश्य, विधेय, वाच्य, व्युत्पत्ति आदि पर भी उनके कुछ संकेत मिलते है, जो भाषा-विज्ञान सम्बन्धी यूनानी चिन्तन के विकास के प्रतीक है।

अरस्तू का काव्यशास्त्र

यूनान के तीसरे महान् दार्शनिक, काव्यशास्त्री और चिन्तक अरस्तू थे। उनका भी मुख्य विषय भाषा नही था, पर, प्रासंगिक रूप मे भाषा पर भी उन्होंने अपना चिन्तन दिया। अरस्तू का एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ पोयटिक्स (काव्यशास्त्र) है, जिसमे उन्होंने त्रासदी, कामदी आदि काव्य-विधाओ का मार्मिक विवेचन किया है। पोयटिक्स के दूसरे भाग मे अरस्तू ने जहा, शैली का विश्लेषण किया है, वहां भाषा पर भी कुछ प्रकाश डाला है। यद्यपि वह भाषा-विज्ञान से साक्षात् सम्बद्ध नहीं है, पर, महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार वर्ण अविभाज्य ध्वनि है। वह स्वर, अन्तस्थ और स्पर्श के रूप मे विभक्त है। दीर्घ, ह्रस्व, अल्पप्राण तथा महाप्राण आदि पर भी उन्होंने चर्चा की है। उन्होने स्वर की जो परिभाषा दी, वस्तुत वह कुछ दृष्टियो से वैज्ञानिक कही जा सकती है। उन्होंने बताया कि जिसकी ध्वनि के उच्चारण मे जिह्वा और ओष्ट का व्यवहार न हो, वह स्वर है।

उद्देश्य, विधेय, सज्ञा, क्रिया आदि पर भी अरस्तू ने प्रकाश डाला है। कारको तथा उनको प्रकट करने वाले शब्दो का भी उन्होने विवेचन किया है, जो यूरोप में इस कोटि का सबसे पहला प्रयास है। प्लेटो ने शब्दो के श्रेणी-विभाग (Parts of Speech) का जो प्रयत्न आरम्भ किया था, उसे पूरा कर आठ तक पहुचाने का श्रेय अरस्तू को ही है। उन्होंने लिंग (स्त्रीलिंग, पुल्लिग, नपुंसक लिंग) भेद तथा उनके लक्षणो का भी विश्लेषण किया।

ग्रीक, लैटिन और हिब्रू

ग्रीक वैयाकरणों ने तदनन्तर प्रस्तुत विषय को और आगे बढाया। जिनमे पहले थ्रैक्स (ई० पू० दूसरी शती) है। ग्रीस और रोम मे जब पारस्परिक सपर्क बढ़ने लगा, तब विद्याओ का आदान-प्रदान भी प्रारम्भ हुआ। फलत. रोमवासियो ने ग्रीस की भाषा अध्ययन-प्रणाली को ग्रहण किया और लैटिन भाषा के व्याकरणो की रचना होने लगी। लैटिन का सबसे पहला प्रामाणिक व्याकरण लोरेंशस वाल नामक विद्वान् द्वारा लिखा गया। वह ईसाई-धर्म के प्रभाव का समय था ; अत. ग्रीस और रोम में ओल्ड टेस्टामेंट (Old testament) के अध्ययन का एक विशेष क्रम चला। उस बीच विद्वानो को ग्रीक, लैटिन और हिब्रू भाषाओ के तुलनात्मक तथा समीक्षात्मक अध्ययन का विशेष अवसर प्राप्त हुआ।

ओल्ड टेस्टामेंट की भाषा होने के कारण उस समय हिब्रू को वहा सबसे प्राचीन तथा सब भाषाओ की जननी माना जाता था। फलतः विद्वानो ने यूरोप की अन्य भाषाओ के वैसे शब्दो का अन्वेषण आरम्भ किया, जो हिब्रू के तदर्थक शब्दो के सदृश या मिलते-जुलते थे। ऐसे कोश बनने लगे, जिनमे इस प्रकार के शब्दो का सकलन था। उन सभी शब्दो की व्युत्पत्ति हिब्रू से साध्य है, ऐसा प्रमाणित करने का भी प्रयास चलने लगा। इस सन्दर्भ मे तत्कालीन विद्वानो का अरबी तथा सीरियन आदि भाषाओ के परिशीलन की ओर भी ध्यान गया।

पन्द्रहवी शती यूरोप मे विद्याओ और कलाओं के उत्थान या पुनरुज्जीवन का समय माना जाता है। साहित्य, सस्कृति आदि के विकास के लिए जन-मानस जागृत हो उठा था तथा अनेक आन्दोलन या सबल प्रयत्न पूरे वेग के साथ चलने लगे थे। भिन्न-भिन्न देश वासियो का अपनी-अपनी भाषाओ के अभ्युदय की ओर भी चिन्तन केन्द्रित हुआ। परिणामस्वरूप भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन का जितना जैसा सभव था, उपक्रम चला। भाषा-अध्येताओ ने इस सन्दर्भ मे जो उपलब्धिया प्राप्त की, उनमें से कुछ थी :

—विद्वानो को ऐसा आभास हुआ कि ग्रीक और लैटिन भाषाएं सम्भवतः किसी एक ही स्रोत से प्रस्फुटित हुई हैं।

—भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण की दृष्टि से यह, चाहे अति साधारण ही सही, एक प्रेरक सकेत था।

—विद्वानों को चाहे हल्की ही सही, ऐसी भी प्रतीति हुई कि हो सकता है, शब्दों का आधार धातुएं हो।

भाषाओं के अध्ययन की ओर उस समय यूरोप में कितनी उन्मुखता हो चली थी, यह इसी से स्पष्ट है कि सुप्रसिद्ध दार्शनिक लिबनिज ने भी इस ओर ध्यान दिया। शासक वर्ग भी इससे प्रभावित हुआ। फलतः पीटर महान् ने तुलनात्मक शब्दों का संग्रह करवाया। रूस की महारानी कैथरिन द्वितीय ने भी पी० एस० पल्लस (१७४१-१८११) को एक तुलनात्मक शब्दावली तैयार करने की आज्ञा दी। फलतः उन्होंने यूरोप और एशिया; दोनों महाद्वीपों की अनेक भाषाओं के २८५ तुलनात्मक शब्द संकलित किये। इसके दूसरे संस्करण में कुछ और विकास हुआ। लगभग अस्सी भाषाओं के सादृश्य मूलक शब्दों का उसमें और समावेश किया गया।

पश्चिम में भाषा-तत्त्व पर हुए अध्ययन-अनुशीलन का यह संक्षिप्त विवरण है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाषा-वैज्ञानिकों की अगली पीढ़ी के लिए यह किसी-न-किसी रूप में प्रेरक सिद्ध हुआ।

निष्कर्ष

प्राच्य और प्रतीच्य दोनों भू-भागों में भाषा-तत्त्व पर की गयी गवेषणा और विवेचना की पृष्ठ-भूमि प्राप्त थी ही, जिस पर आगे चल कर भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भाषा के विविध पक्षों को लेते हुए सूक्ष्म तथा गहन अध्ययन-कार्य हुआ और हो रहा है। भाषा-विज्ञान इस समय मानविकी अध्ययन के क्षेत्र में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्वतन्त्र विषय के रूप में प्रतिष्ठित है। इस पर काफी गवेषणा और अनुसन्धान हुआ है, पर, यह विषय बहुत विस्तीर्ण है, जिसकी व्याप्ति सारे विश्व तक है। विश्व की विभिन्न प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं का ज्यों-ज्यों और अधिक तलस्पर्शितापूर्वक वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन-क्रम आगे बढ़ता जायेगा, भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में तो बड़ा काम होगा ही, विश्व के विभिन्न भागों में समय-समय पर प्रादुर्भूत सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक विकास, राजनैतिक व प्रशासनिक परिवर्तन, उतार-चढ़ाव आदि से जुड़े हुए अनेक अव्यक्त तथ्य भी प्रकट होंगे।

भाषा-विज्ञान की आधुनिक परम्परा

भाषा-विज्ञान शब्द आज जिस अर्थ में प्रचलित है, उस दृष्टि से भाषा के साथ संश्लिष्ट अनेक सूक्ष्म पक्षों का व्यापक और व्यवस्थित अध्ययन लगभग पिछली दो शताब्दियों से हो रहा है। अध्ययन की इस सूक्ष्म विश्लेषणपूर्ण व समीक्षात्मक परम्परा को आरम्भ करने का मुख्य श्रेय यूरोपीय विद्वानों को है, जिन्होंने पाश्चात्य भाषाओं के साथ-साथ प्राच्य भाषाओं का भी उक्त दृष्टिकोण से गहन अध्ययन किया। विशेषतः भारोपीय-भाषाओं के अध्ययन में तो इन विद्वानों ने जो कार्य किया, वह अत्यन्त प्रेरक और उद्बोधक है।

पाश्चात्य विद्वानों में नि.सन्देह अनुसन्धित्सा की विशेष वृत्ति है। पाश्चात्य मनीषी सर विलियम जॉन्स इसके मूर्त उदाहरण कहे जा सकते हैं। वे (१८वीं शती) कलकत्ता में भारत के सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश थे। भारतीय विधि-विधान, न्याय तथा प्रशासन आदि को सूक्ष्मता से जानने की उन्हें जिज्ञासा हुई, ताकि वे भारतीयों को उनकी अपनी परम्पराओं के अनुरूप सही न्याय दे सकें। इसके लिए संस्कृत का अध्ययन परम आवश्यक था। सर विलियम जॉन्स के मन में संस्कृत पढ़ने की उत्कट इच्छा जागृत हुई। उन्होंने संस्कृत के किसी अच्छे विद्वान् की खोज प्रारम्भ की, जो उन्हें पढ़ा सके। बड़ी कठिनाई थी। कोई विद्वान् उन्हें पढ़ाने को तैयार नहीं हो रहा था। उन दिनों ब्राह्मण विद्वानों में यह रूढ़ धारणा थी, किसी विधर्मी को देव-वाणी कैसे पढ़ाई जा सकती है? बहुत प्रयत्न से एक विद्वान् तैयार हुए, पर, उन्होंने कई शर्तें रखीं। जिस कमरे में वे पढ़ायेंगे, उसे प्रतिदिन पढ़ाई से पूर्व गंगा के जल से धोना होगा। उनके लिए पढ़ाते समय पहनने के हेतु रेशमी कपड़ों की व्यवस्था करनी होगी। जॉन्स महोदय भी पढ़ते समय रेशमी वस्त्र धारण करेंगे। भूमि पर बैठकर पढ़ना होगा।

सर विलियम जॉन्स ने यह सब सहर्ष स्वीकार किया। उन दिनों भारत के मुख्य न्यायाधीश के पद की गरिमा का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। पर, ज्ञान-प्राप्त करने की तीव्र उत्कण्ठा के समक्ष उस विदेशी अधिकारी ने किसी भी औपचारिकता को बिलकुल भुला दिया और अपने विद्वान् अध्यापक द्वारा निर्देशित व्यवस्था-क्रम का यथावत् पालन करते हुए पढ़ना आरम्भ कर दिया। जिस लगन, निष्ठा और तन्मयता से सर विलियम जॉन्स ने संस्कृत विद्या का अध्ययन किया, वह विद्यार्थियों के लिए वास्तव में अनुकरणीय है। समुद्रों पार का एक व्यक्ति, जिसे संस्कृत का कोई पूर्व संस्कार न था, न जिसके धर्म की वह भाषा थी, ऐसी तड़प और लगन से गम्भीर ज्ञान अर्जित करने में अपने आप को जोड़ दे, यह कम महत्त्व की बात नहीं थी। सतत अध्यवसाय और लगन के कारण संस्कृत विद्या की अनेक शाखाओं का सर विलियम जॉन्स ने तलस्पर्शी ज्ञान अर्जित किया। याज्ञवल्क्य आदि स्मृति-ग्रन्थों और मिताक्षरा प्रभृति टीका व व्याख्या-साहित्य का भी उन्होंने सांगोपांग पारायण किया।

भारतीय समाज और विधि-विधानों का तो सर विलियम जॉन्स ने विस्तीर्ण ज्ञान पाया ही, साथ ही एक फलित और हुआ, जिसका भाषा-विज्ञान के इतिहास में उल्लेखनीय स्थान है। सर विलियम जॉन्स ग्रीक, लैटिन, गाथिक आदि पुरानी पाश्चात्य भाषाओं के

भी विद्वान् थे। संस्कृत साहित्य की शाखाओं के परिशीलन के समय उनके समक्ष अनेक ऐसे शब्द आये, जिनका उन्हें ध्वनि, गठन आदि की दृष्टि से लैटिन, ग्रीक आदि से सूक्ष्म साम्य प्रतीत हुआ। उनके मन में बड़ा आश्चर्य और कुतूहल जागा। उन्होंने संस्कृत के ऐसे अनेक शब्द खोज निकाले, जिनका ग्रीक, लैटिन आदि प्रतीच्य भाषाओं के साथ बहुत सादृश्य था। गहन अध्ययन, विश्लेषण तथा अनुसन्धान के निष्कर्ष के रूप मे उन्होंने प्रकट किया कि मेरा अनुमान है कि शब्द, धातु, व्याकरण आदि की दृष्टि से संस्कृत, लैटिन, ग्रीक, गाथिक, काल्टिक तथा पुरानी फारसी का मूल या आदि स्रोत एक है।

सन् १७८५ में सर विलियम जॉन्स ने कलकत्ता में रायल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की। उस अवसर पर उन्होंने कहा : "संस्कृत भाषा की प्राचीनता चाहे कितनी ही रही हो, उसका स्वरूप निःसन्देह आश्चर्यजनक है। वह ग्रीक से अधिक परिपूर्ण, लैटिन से अधिक समृद्ध तथा इन दोनो से अधिक परिमार्जित है।"[1]

वैज्ञानिक एवं तुलनात्मक रूप मे भाषाओं के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करने वालों मे सर विलियम जॉन्स का नाम सदा शीर्षस्थ रहेगा। भाषा-विज्ञान के सूक्ष्म एव गम्भीर परिशीलन का लगभग उसी समय से व्यवस्थित क्रम चला, उत्तरोत्तर अभिनव उपलब्धियो की ओर अग्रसर होता रहा। यह क्रम विश्व के अनेक देशों में चला और आज भी चल रहा है। इस सन्दर्भ मे यह स्मरण करते हुए आश्चर्य होता है और साथ ही प्रेरणा भी मिलती है कि अनेक पाश्चात्य विद्वानो ने भारत की प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओ का गहन अध्ययन ही नहीं किया, अपितु उन भाषाओ का भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से तुलनात्मक एव समीक्षात्मक रूप मे सूक्ष्म विश्लेषण भी किया, जो भाषा-विज्ञान के क्षेत्र मे कार्य करने वाले मनीषियो, अनुसन्धित्सुओ और अध्येताओं के लिये सदैव उद्बोध-प्रद रहेगा।

प्राच्य मान्यताए :—भाषा का उद्भव कब हुआ, किस प्रकार हुआ और वह किन-किन विकास-क्रमो मे से गुजरती हुई वर्तमान अवस्था तक पहुंची, यह एक प्रश्न है; जो आज से नहीं, चिरकाल से है। वास्तव मे इसका सही-सही समाधान दे पाना बहुत कठिन है, क्योंकि भाषा भी लगभग उतनी ही चिरन्तन है, जितनी कि मानव-जाति। मानव-जाति अनादि है, उसी प्रकार भाषा भी अनादि है, इस प्रकार कहा जा सकता है। पर, बुद्धिशील मानव स्वभावत जिज्ञासु है, इतने मात्र से कैसे परितुष्ट होता? जीवन के साथ सतत सलग्न भाषा का उद्भव कैसे हुआ, वह विकास और विस्तार के पथ पर किस प्रकार अग्रसर हुई, यह जानने की उत्सुकता उसके मन मे सदा से बनी रही है। इस प्रश्न का समाधान पाने को वह चिन्तित रहा है। फलत· अनेक प्रयत्न चले। समाधान भी पाये, पर, भिन्न-भिन्न प्रकार के। आज भी भाषा की उत्पत्ति की समस्या का सर्वसम्मत समाधान नही हो पाया है। यहा प्रस्तुत प्रश्न पर अब तक हुए चिन्तन का विहगावलोकन करते हुए कुछ ऊहापोह अपेक्षित है। विभिन्न धर्मों के लोगों की उद्भावनाओ पर विचार करना पहली अपेक्षा होगी। समाधान खोजने वालो मे कई प्रकार के व्यक्ति होते हैं। उनकी अपनी कुछ पूर्व संचित धारणाएं होती हैं और अतिशय-प्रकाशन की भावना भी। भाषा के उद्भव के प्रश्न पर प्रायः विश्व के सभी धर्मों के अनुयायियो ने अपने-अपने मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं।

वैदिक मान्यता :—जो वेद में विश्वास करते हैं, उनकी मान्यता है कि वेद मानव-कृत नहीं हैं, अपौरुषेय हैं। ईश्वर ने जगत् की सृष्टि की, मानव को बनाया, भाषा की रचना की। ऋषियों के अन्तर्मन मे ज्ञान का उद्भाव किया, जो वेद की ऋचाओ और मन्त्रों में प्रस्फुटित हुआ। इनकी भाषा छन्दस् या वैदिक संस्कृत है, जो अनादि है, ईश्वरकृत है, इसलिए इसे वेद-भाषा कहा जाता है। संसार की सभी भाषाएं इसी से निकली है। यह मानव की ईश्वर-दत्त भाषा है।

संस्कृत के महान् वैयाकरण, अष्टाध्यायी के रचयिता पाणिनि ने भी भाषा की ईश्वर-कृतता को एक दूसरे प्रकार से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने व्याकरण के अइउण्[2] आदि सूत्रों के विषय में लिखा है . "सनक आदि ऋषियो का उद्धार करने के लिए अर्थात् उन्हे शब्द-शास्त्र का ज्ञान देने के लिए नटराज भगवान् शकर ने ताण्डव नृत्य के पश्चात् चौदह बार अपना डमरू बजाया, जिससे चौदह सूत्रों की सृष्टि हुई।"[3] इन्हीं चौदह सूत्रों पर सारा शब्द-शास्त्र टिका है।

---

१. The Sanskrit language, whatever be its antiquity, is of a wonderful structure; more perfect than the Greek, more copious than the Latin and more exquisitely refined than either.

२. अइउण् १ । ऋलृक् २ । एओङ् ३ । ऐऔच् ४ । हयवरट् ५ । लण् ६ । ञमङणनम् ७ । झभञ् ८ । घढधष् ९ । जबगडदश् १० । खफछठथचटतव् ११ । कपय् १२ । शषसर् १३ । हल् १४ ॥

३. नृत्तावसाने नटराजराजो, ननाद ढक्कां नवपंचवारम् ।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥

यास्क का सूक्ष्म चिन्तन :— पाणिनि से पूर्ववर्ती निरुक्तकार यास्क (ई० पू० ८००) के उस कथन पर इस प्रसंग में विचार करना उपयोगी होगा, जो शब्दों के व्यवहार के सम्बन्ध में है। भाषा की उत्पत्ति की समस्या पर भी इससे कुछ प्रकाश पड़ता है। नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात; इन चार पद-भेदों का विवेचन करते हुए प्रासंगिक रूप में उन्होंने शब्द की भी चर्चा की है। उन्होंने लिखा है: "शब्द अणीयान् है; इसलिए लोक में व्यवहार (काम चलाने) के लिए वस्तुओं का संज्ञाकरण (नाम या अभिधान) शब्द द्वारा हुआ।"[1] उन्होंने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे स्वतन्त्र रूप मे कुछ भी नही लिखा है। हो सकता है, उन्हें यह आवश्यक नहीं लगा हो। इस विषय मे वे किसी पूर्व कल्पना या धारणा को लिए हुए हों।

लौकिक जनो को पारस्परिक व्यवहार चलाने के लिए कोई एक माध्यम चाहिए। सकेत आदि उसके यथेष्ट पूरक नहीं हो सकते। तब मनुष्य विभिन्न वस्तुओं की भिन्न-भिन्न सज्ञाएं करना चाहता है। एतदर्थ वह शब्दों को निष्पन्न करता है। शब्द द्वारा "संज्ञाकरण" का जो कथन निरुक्तकार करते हैं, उससे यह स्पष्ट झलकता है कि उनकी आस्था किसी ईश्वर-कृत भाषा के अस्तित्व मे नहीं थी। यदि कोई भाषा ईश्वर-कृत होती, तो उसमे विभिन्न वस्तुओं के अर्थ-द्योतक शब्द होते ही। वैसी स्थिति में वस्तुओं के संज्ञाकरण या उन्हें नाम देने की मानव को क्या आवश्यकता पड़ती? व्यवस्थित और ईश्वर कृत भाषा मे किसी भी प्रकार की अपरिपूर्णता नहीं होती। वस्तुओं के नामकरण की तभी आवश्यकता पड़ती है, जब भाषा जैसा कोई प्रकार मानव को प्राप्त नहीं हो। यास्क का कथन इसी सन्दर्भ मे प्रतीत होता है।

भाषा के अनन्य अंग शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यास्क जो मानव-कृतता की ओर इंगित करते हैं, यह उनका वस्तुतः बड़ा क्रान्तिकारी चिन्तन है। उनके उत्तरवर्ती महान् वैयाकरण पाणिनि तक भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पुरातन बद्धमूल रूढ़ धारणा से आगे नही बढ़ सके, जब कि यास्क ने उनसे तीन शताब्दी पूर्व ही उपर्युक्त सकेत कर दिया था। इससे स्पष्ट है कि यास्क अपेक्षाकृत अधिक समीक्षक एव अनुसन्धित्सु थे।

यास्क के समक्ष उस समय संस्कृत भाषा थी, जो देव-भाषा कहलाती थी। आज भी कहलाती है। यास्क ने देव-भाषा की सिद्धि बड़े चमत्कारपूर्ण ढग से की है। वे लिखते हैं: "मनुष्य वस्तुओं के लिए जो नाम का प्रयोग करते हैं, देवताओं के लिए भी वे वैसे ही हैं।"[2] तात्पर्य है, मनुष्य की भाषा को देवता भी उसी रूप मे समझते हैं। इससे मानव-भाषा देव-भाषा भी है, ऐसा सिद्ध होता है। संस्कृत के लिए इसी कारण देव-भाषा शब्द व्यवहृत है, यहा यास्क का ऐसा अभिप्राय प्रतीत होता है।

बौद्ध मान्यता :—बौद्ध धर्म का त्रिपिटक के रूप मे सारा मूल वाङ्मय मागधी मे है, जो आगे चलकर पालि के नाम से प्रसिद्ध हुई। बौद्धो मे सिंहली परम्परा की प्रामाणिकता अबाधित है। सबसे पहले सिंहल (लका) मे ही विनय पिटक, सुत्त पिटक तथा अभिधम्म पिटक लिपिबद्ध किये गये। सिंहली परम्परा का अभिमत है कि सम्यक् सम्बुद्ध भगवान् तथागत ने अपना धर्मोपदेश मागधी (पालि) में किया। उनके अनुसार मागधी ससार की आदि भाषा है। आचार्य बुद्धघोष ने इस तथ्य का स्पष्ट शब्दो मे उद्घोष करते हुए लिखा है "मागधी सभी सत्त्वो—जीवधारियो की मूल भाषा है।"[3]

महावश के परिवर्धित अंश चूलवश का भी इसी प्रकार का एक प्रसंग है। रेवत स्थविर के आदेश से आचार्य बुद्धघोष लंका गये। वहा उन्होंने सिंहली अट्ठकथाओ का मागधी मे अनुवाद किया। उसका उल्लेख करते हुए वहा कहा गया है. "सभी सिंहली अट्ठकथाएं मागधी भाषा मे परिवर्तित—अनूदित की गयी, जो (मागधी) समस्त प्राणी वर्ग की मूल भाषा है।"[4]

मागधी या पाली के सम्बन्ध मे जो सिंहली परम्परा का विश्वास है, वैसा ही बर्मी परम्परा का भी विश्वास है। इतना ही नही, पालि त्रिपिटक मे विश्वास रखने वाले प्राय. सभी बौद्ध धर्मानुयायी अपनी धार्मिक भाषा पालि या मागधी को ससार की मूल भाषा स्वीकार करते है।

जैन मान्यता :—जैन परम्परा का भी अपने धर्म-ग्रन्थो की भाषा के सम्बन्ध मे ऐसा ही विश्वास है। जैनों के द्वादशांग-मूलक समग्र आगम अर्द्ध-मागधी मे हैं। उनकी मान्यता है कि जैन आगम तीर्थंकर महावीर के मुख से निकले उपदेशो का सकलन है,

१. अणीयस्त्वाच्च शब्देन सज्ञाकरण व्यवहारार्थंलोके। —निरुक्त; १,२

२ तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानम्। —निरुक्त; १,२

३. मागधिकाय सब्बसत्तानं मूलभासाय। —विसुद्धिमग्ग

४ परिवत्तेसि सब्बापि सीहलट्ठकथातदा।
सब्बेस मूलभासाय मागधाय निरुत्तिया॥
—चूलवस; परिच्छेद, ३७

जो उनके प्रमुख शिष्यों—गणधरों द्वारा किया गया था। उनके अनुसार अर्द्ध-मागधी विश्व की आदि भाषा है। सूत्रकृताग निर्युक्ति पर रचित चूर्णि मे उल्लेख है . "प्राकृत भाषा (अर्द्ध-मागधी) जीव के स्वाभाविक गुणो से निष्पन्न है।"[1] यही (अर्द्ध-मागधी) देवताओं की भाषा है, ऐसा जैनो का विश्वास है। कहा गया है: "अर्द्ध-मागधी आर्ष एवं सिद्ध वचन है, देवताओं की भाषा है।"[2]

तीर्थंकर जब धर्म-देशना करते हैं, उनके समवसरण (विराट् श्रोतृ-परिषद्) मे मनुष्यों देवताओ आदि के अतिरिक्त पशु-पक्षियों के उपस्थित रहने का भी उल्लेख है। तीर्थंकरों को देशना अर्द्धमागधी मे होती है। उस (तीर्थंकर भाषित-वाणी) का यह अतिशय या वैशिष्ट्य होता है कि श्रोतृ-वृन्द द्वारा ध्वन्यात्मक रूप मे गृहीत होते ही वह उनकी अपनी भाषा के रूप मे परिणत हो जाती है अर्थात् वे उसे अपनी भाषा मे समझते हैं। उपस्थित तिर्यंच (पशु-पक्षी-गण) भी उस देशना को इसी (अपनी भाषा मे परिणत) रूप मे श्रवण करते हैं। एक प्रकार से यह भाषा केवल मानव-समुदाय तथा देव-वृन्द तक ही सीमित नहीं है, पशु-पक्षियो तक व्याप्त है।

प्राकृत-विद्वानों का अभिमत—जैन शास्त्रकारों या व्याख्याकारो ने ही नही, अपितु कतिपय उत्तरवर्ती जैन-अजैन प्राकृत विद्वानों ने भी इस सम्बन्ध मे इसी प्रकार के उद्गार प्रकट किये हैं। ग्यारहवी शताब्दी के सुप्रसिद्ध अलकार शास्त्री नमि साधु ने प्राकृत की व्याख्या करते हुए लिखा है . "प्राकृत व्याकरण आदि के सस्कार से निरपेक्ष समस्त जगत् के प्राणियों का सहज वचन-व्यापार - भाषा है।···प्राकृत का अर्थ प्राक् कृत=पूर्व कृत अथवा आदि सृष्ट भाषा है। वह बालकों, महिलाओ आदि के लिए सहजत. बोधगम्य है और सब भाषाओ का मूल है।"[3]

भोज-रचित सरस्वती कण्ठाभरण के व्याख्याकार आजड ने भी इसी प्रकार का उल्लेख किया है। उनके अनुसार प्राकृत समस्त जगत् के प्राणियो का स्वाभाविक वचन-व्यापार है, शब्दशास्त्रकृत विशेष सस्कारयुक्त है तथा बच्चों, ग्वालो व नारियो द्वारा सहज ही प्रयोग मे लेने योग्य है। सभी भाषाओ का मूल कारण होने से वह उनकी प्रकृति है अर्थात् उन भाषाओं का वह (उसी प्रकार) मूल कारण है, जिस प्रकार प्रकृति जगत् का मूल कारण है।[4]

प्रसिद्ध कवि वाक्पति ने गउडवहो काव्य मे प्राकृत की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कहा है . "जैसे जल-नदिया समुद्र मे मिलती हैं और उसी से (वाष्प रूप मे) निकलती हैं, उसी तरह भाषाए प्राकृत मे ही प्रवेश पाती हैं और उसी से निकलती हैं।"[5]

रोमन कैथोलिक मान्यता:—ईसाई धर्म मे भी भाषा के विषय मे इसी प्रकार की मान्यता है। इस धर्म के दो सम्प्रदाय है—रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट। रोमन कैथोलिक प्राचीन है। उनका सर्वमान्य ग्रन्थ ओल्ड टेस्टामेंट है, जो हिब्रू मे लिखा गया है। उनके अनुसार परमात्मा ने सबसे पहले पूर्ण विकसित भाषा के रूप मे इसे आदम और हव्वा को प्रदान किया। उनका विश्वास है कि विश्व की यह आदि भाषा है। सभी भाषाओ का यह उद्गम-स्रोत है। स्वर्ग के देव-गण इसी भाषा में सम्भाषण करते हैं।

हिब्रू से सभी भाषाओ का उदगम सिद्ध करने के लिए ग्रीक, लैटिन आदि पाश्चात्य भाषाओ के ऐसे अनेक शब्द सकलित किये गये, जो उनसे मिलते-जुलते थे। इस प्रकार यूरोपीय भाषाओ के अनेक शब्दो की व्युत्पत्ति हिब्रू से सिद्ध किये जाने के भी प्रयास हुए। इसके लिये ध्वनि-साम्य, अर्थ-साम्य आदि को आधार बनाया गया। जो भी हो, तुलनात्मक अध्ययन का बीज रूप मे एक क्रम तो चला, जो उत्तरवर्ती भाषा-शास्त्रीय व्यापक अध्ययन के लिए किसी रूप में सही, उत्साहप्रद था।

इस्लाम का अभिमत—आदि भाषा के सम्बन्ध मे इस्लाम का मन्तव्य भी उपर्युक्त परम्पराओ से मिलता-जुलता है। इस्लाम के अनुयायियो के अनुसार कुरान, जो अरबी भाषा में है, खुदा का कलाम है।

मिस्र मे भी प्राचीन काल से वहा के निवासियो का अपनी भाषा के सम्बन्ध मे इसी प्रकार का विचार था। इस्लाम का प्रचार होने के अनन्तर मिस्र वासी अरबी को ईश्वर-दत्त आदि भाषा मानने लगे।

---

१. जीवस्स साभाविययुणेहिं से पागतभासाए।

२. आरिस वयणो सिद्ध देवाण अद्धमागहा वाणी।

३. सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसस्कार: सहजो वचनव्यापार: प्रकृति:, तत्र भव सैव वा प्राकृतम्। ·· ·····प्राक् कृत प्राकृत बालमहिलादिसबोध सकलभाषानिबन्धनभूत वचनमुच्यते।

४. सकलबालगोपालाङ्गनाहृदयसचारी निखिलजगज्जन्तूनां शब्दशास्त्रीकृतविशेषसस्कार: सहजो वचनव्यापार· समस्तेतरभाषाविशेषाणां मूलकारणत्वात् प्रकृति, रिवप्रकृति: तत्र भवा सैव वा प्रकृति:।

५. सयलाओ इम वायाविसंति एत्तो य णेंति वायाओ।
एंति समुद्द चिय णेंति सायराओ च्चिय जलाइ ॥ ९३ ॥

भाषा को लेकर पिछली शताब्दियों तक धर्म के क्षेत्र में मानव की कितनी अधिक रूढ़ धारणाएं बनी रहीं, मिस्र की एक घटना से यह विशेष स्पष्ट होता है। टेलीफोन का आविष्कार हुआ। संसार के सभी प्रमुख देशों में उसकी लाइनें बिछाई जाने लगीं। मिस्र में भी टेलीफोन लगने की चर्चा आई। मिस्रवासियों ने जब यह जाना कि सैकडों मील की दूरी से कही हुई बात उन्हीं शब्दों में सुनी जा सकेगी, तो उनको बडा आश्चर्य हुआ। मिस्र के मौलवियों ने इसका विरोध किया। उनका तर्क था कि इन्सान की आवाज इतनी दूर नहीं पहुंच सकती। यदि पहुंचेगी, तो वह इन्सान की आवाज नहीं, अपितु शैतान की आवाज होगी; अर्थात् इन्सान की बोली हुई बात को शैतान पकड़ेगा, आगे तक पहुंचायेगा।

जन-साधारण की मौलवियों के प्रति अटूट श्रद्धा थी। उन्होंने मौलवियों के कथन का समर्थन करते हुए कहा कि वे शैतान की आवाज नही सुनेंगे। उनके यहाँ टेलीफोन की लाइनें न बिछाई जायें। प्रशासन स्तब्ध था, कैसे करें? बहुत समझाया गया, पर वे नही माने। अन्त में वे एक शर्त पर मानने को सहर्ष प्रस्तुत हुए। उन्होंने कहा, कुरान की आयतें खुदा की कही हुई हैं। मनुष्य उनको बोल सकता है, शैतान उनका उच्चारण नहीं कर सकता। यदि दूरवर्ती मनुष्य द्वारा बोली हुई कुरान की आयतें टेलीफोन से सही रूप मे सुनी जा सकें, तो उन्हे विश्वास होगा कि वह शैतान की आवाज नही है, इन्सान की है। ऐसा ही किया गया। तदनन्तर मिस्रवासियों ने टेलीफोन लगाना स्वीकार किया।

प्लेटो जैसे दार्शनिक और तत्त्व-वेत्ता का भी इस सम्बन्ध में यह अभिमत था कि जगत् मे सभी वस्तुओं के जो नाम हैं वे प्रकृति-दत्त हैं। सारांश यह है कि दूसरे रूप मे सही, प्लेटो ने भी भाषा को दैवी या प्राकृतिक देन माना, क्योंकि वस्तु और क्रिया के नामों की समन्वित सकलना ही भाषा है।

भाषा के उद्भव के सम्बन्ध मे विभिन्न आस्थावादियों के मन्तव्यों से जिज्ञासा और अनुसन्धित्सा-प्रधान लोगों को सन्तोष नहीं हुआ। इस पर अनेक शकाएं उत्पन्न हुई। सबका दावा अपनी-अपनी भाषा की प्राचीनता और ईश्वर या प्रकृति की देन बनाने का है। यदि भाषा ईश्वर-दत्त या जन्मजात है, तो देश-काल के आधार पर थोडा-बहुत भेद हो सकता है, पर, ससार की भाषाओं म परस्पर जो अत्यन्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है, वह क्यों है? इस प्रकार के अन्य प्रश्न थे, जिनका समाधान नही हो पा रहा था।

मानव की मूल भाषा : कतिपय प्रयोग

अतिविश्वासी जन-समुदाय के मन पर विशेष प्रभाव पड़ा। वे मानने लगे, शिशु जन्म के साथ ही एक भाषा को लेकर आता है। पर, जिस प्रकार के देश, वातावरण, परिवार एव समाज मे वह बड़ा होता है, अनवरत सम्पर्क, सान्निध्य और साहचर्य के कारण वही की भाषा को शनैः-शनैः ग्रहण करता जाता है। फलत उसका संस्कार परिवर्तित हो जाता है और वह अपने देश मे प्रचलित भाषा को सहज रूप मे बोलने लगता है। स्वभावत. प्राप्त भाषा उसके लिए अव्यक्त या विस्मृत हो जाती है और वह जो कृत्रिम भाषा अपना लेता है, वह उसके लिए स्वाभाविक हो जाती है।

समय-समय पर उपर्युक्त तथ्य के परीक्षण के लिए कुछ प्रयोग किये गये। ई० पू० पाचवी शती के प्रसिद्ध लेखक हेरोडोटोस के अनुसार मिस्र के राजा समिटिकोस (Psammitochos) ने इस सन्दर्भ मे एक प्रयोग किया। जहा तक इतिहास का साक्ष्य है, भाषा के उद्भव के सम्बन्ध मे किये गये प्रयोगों मे वह पहला प्रयोग था। स्वाभाविक भाषा या आदि भाषा के रहस्योद्घाटन के साथ-साथ इससे प्राचीन या आदिम मानव-जाति का भेद खुलने की भी आशा थी। इस प्रकार सोचा गया कि बच्चे स्वाभाविक रूप मे जो भाषा बोलने लगेंगे, वही विश्व की सबसे प्राचीन मूल भाषा सिद्ध होगी और जिन लोगों की, जिस जाति के लोगो की वह भाषा होगी, निश्चित ही वह विश्व की आदिम जाति मानी जायेगी।

परीक्षण इस प्रकार हुआ। दो नवजात बच्चों को लिया गया। उनके पास आने-जाने वालो को कठोर आदेश था कि वहां वे कुछ न बोलें। उन शिशुओं के परिचारक को भी कडा आदेश था कि वह उनके खाने-पीने की व्यवस्था और देखभाल करता रहे, पर, मुंह से कभी एक शब्द भी न बोले। क्रम चलता रहा। बच्चे बडे होते गये। उन्हे कुछ भी बोलना नहीं आया। उनके मुंह से केवल एक शब्द सुना गया—'बेकोस' (Bekos)। यह शब्द फ्रीजियन भाषा का है। इसका अर्थ रोटी होता है। उन बच्चों के खान-पान की व्यवस्था करने वाला नौकर फ्रिजियन था ऐसा माना गया कि कभी रोटी देते समय भूल से नौकर के मुंह से 'बेकोस' शब्द निकल गया हो, जिसको बच्चों ने पकड लिया हो।

बारहवी शताब्दी में इसी प्रकार का प्रयोग फ्रेडरिक द्वितीय ने किया, पर, अपेक्षित परिणाम नही निकला। उसके अनन्तर पन्द्रहवीं शताब्दी में स्काटलैंड के राजा जेम्स चतुर्थ ने भी इसी तरह का प्रयोग किया, पर, कुछ सिद्ध नहीं हो पाया। भारत में सोलहवीं

शताब्दी में बादशाह अकबर ने भी परीक्षण किया। विशेष सावधानी बरती गई। बड़ी उत्सुकता से परिणाम की प्रतीक्षा रही। अन्त में यह देखकर सब चकित थे कि सभी बच्चे मूक रह गये। एक भी शब्द बोलना उन्हें नहीं आया।

प्रयोगों से स्पष्ट है कि संसार में कोई भी भाषा ईश्वर-कृत नहीं है और न जन्म से कोई किसी भाषा को सीखे हुए आता है। यह मान्यता श्रद्धा और विश्वास का अतिरेक है। महत्त्व की एक बात और है। यदि भाषा स्वाभाविक या ईश्वरीय देन होती, तो वह आदि काल से ही परिपूर्ण रूप में विकसित होती। पर, भाषा का अब तक का इतिहास साक्षी है कि शताब्दियों की अवधि में भिन्न-भिन्न भाषाओं के रूप क्या-से-क्या हो गये हैं। उनमे उत्तरोत्तर विकास होता गया है, जो किसी एक भाषा के शताब्दियों पूर्व के रूप और वर्तमान रूप की तुलना से स्पष्ट ज्ञात हो सकता है। इस दृष्टि से विद्वानों ने बहुत अनुसन्धान किया है, जिसके परिणाम विकास की शृंखला और प्रवाह का प्रलम्ब इतिहास है।

अठारहवीं शती में श्री जे० जी० हर्डर नामक विद्वान् हुए। उन्होने सन् १७७२ मे भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे शोधपूर्ण निबन्ध लिखा। भाषा की दैवी उत्पत्ति के बारे मे उन्होंने उसमे समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया और उसे युक्ति एव तर्कपूर्वक अमान्य ठहराया। पर, स्वय उन्होंने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में किसी ठोस सिद्धान्त की स्थापना नही की। दैवी सिद्धान्त का उन्होंने खण्डन तो किया, पर साथ ही यह भी कहा कि भाषा मनुष्य-कृत नहीं है। मनुष्य को उसकी आवश्यकता थी, स्वभावत: उसका विकास होता गया।

अज्ञात को ज्ञात करना प्रज्ञा का स्वभाव है। भाषा के उद्भव के सम्बन्ध मे दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रज्ञाशील मानव को समाधान नहीं दे सका। मानव से बुद्धि और अनुमान के आधार पर तब समाधान ढूंढ निकालने का प्रयत्न किया। यही ज्ञान के विकास का क्रम है। अपने प्रयत्न मे कौन कितना सफल हो सका, यह समीक्षा और विश्लेषण का विषय है, पर, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वे प्रयत्न जिज्ञासा की ओर आगे बढ़ने वालो के लिए बड़े प्रेरक सिद्ध हुए। सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि भाषा के उद्भव के सम्बन्ध मे अधिकाशत कल्पनाओ के आधार पर समाधान ढूंढे जाते रहे हैं, क्योंकि दूसरा कोई ठोस आधार नही था।

भाषा का उद्भव · मूलभूत सिद्धान्त

निर्णय सिद्धान्त —एक मत है, जब भाषा नही थी, तो लोग परस्पर में हाथ आदि के सकेतो से किसी तरह अपना काम चलाते थे। पर, इससे उनको सतोष नही था। उत्तरोत्तर जीवन विकास पाता जा रहा था। साधन-सामग्री मे विविधता और बहुलता आ रही थी। विकासमान परिस्थिति मन मे अनेक प्रकार के नये-नये भावो को उत्पन्न करती थी। पर इन सब के लिए अभिव्यक्ति के हेतु मानव के पास कुछ था नही। सबके लिए इसकी बडी खिन्नता थी। सब एकत्र हुए। अभिव्यक्ति के लिए कोई साधन ढूंढना था। विभिन्न वस्तुओ, क्रियाओ आदि के प्रतीक का संकेत के रूप मे कुछ ध्वनियां या शब्द निश्चित किये। उनके सहारे वे अपना काम चलाने लगे। शब्दों का जो प्रयोग-क्रम चल पडा, उसने और नये-नये शब्द गढ़ने तथा व्यवहार मे लाने की ओर मानव को उद्यमशील रखा। भाषा विज्ञान मे इसे 'निर्णय सिद्धात' कहा जाता है। प्रो० रूसो इसके मुख्य समर्थक थे। इसे प्रतीकवाद, संकेतवाद या स्वीकारवाद भी कहते हैं, क्योंकि इसमें शब्दो का प्रतीक या सकेत के रूप मे स्वीकार हुआ।

कल्पना सुन्दर है, पर, युक्तियुक्त नही है। यदि कोई भाषा नही थी, तो सबसे पहले यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वे एकत्र ही कैसे हुए ? एकत्र होने के लिए भी तो कुछ कहना समझाना पड़ता है। बिना भाषा के कहने की बात कैसे बनी ? एकत्र हो भी जाएं, तो विचार-विनिमय कैसे होता ? विचार-विनिमय से ही किसी निर्णय पर पहुंचा जाता है। विभिन्न वस्तुओ और क्रियाओं के लिए सकेत या ध्वनियो का स्वीकार या निर्णय भी बिना भाषा के सम्भव कैसे होता ? इस कोटि का विचारविमर्श भाषा के बिना केवल संकेतों से सम्भव नहीं था।

दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यदि वे एकत्र हो सके, ध्वनियों या शब्दों के रूप मे नामों का निर्णय कर सके, तो उनके पास, चाहे अपूर्ण, अविकसित या टूटी-फूटी ही सही, कोई भाषा अवश्य ही होगी। उसके अभाव में यह सब सम्भव नही था। यदि किसी भी प्रकार की भाषा का होना मान ले, तो फिर नामो की खोज के लिए एकत्र होने की आवश्यकता नहीं रहती। उसी अपूर्ण भाषा को पूर्ण या विकसित बनाया जा सकता था।

धातु सिद्धान्त —भाषा के उद्भव के सन्दर्भ में एक और विचार आया, जो बड़ा कुतूहल-जनक है। वह भाषा-विज्ञान में 'धातु-सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार ससार में जितनी भी वस्तुएं हैं, उनकी अपनी अपनी ध्वनियां हैं। उदाहरणार्थ

यदि एक कांसी की थाली पर डंडे से मारें तो झन-झन की ध्वनि होगी। पीतल की थाली पर मारने से जो ध्वनि होगी, वह कांसी की थाली से भिन्न प्रकार का होगी। लोहे के टीन पर या सन्दूक पर मारने से ध्वनि का दूसरा रूप होगा। इसी प्रकार कागज, काठ, कांच, कपड़ा, चमड़ा, पत्थर आदि भिन्न-भिन्न वस्तुओ से भिन्न-भिन्न ध्वनियां मिलेंगी। ऐसा क्यो होता है ? यह ध्वन्यात्मक भिन्नता क्यों है ? उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार ससार के प्रत्येक पदार्थ की अपनी एक स्वाभाविक ध्वनि है, जो सम्पर्क, संघर्ष, टक्कर या आघात से स्फुटित होती है। इतना ही नहीं, इस सिद्धान्त के पुरस्कर्ताओं ने यहां तक माना कि प्रत्येक मनुष्य मे एक विशेष प्रकार की स्वाभाविक शक्ति है। वह जब जिन वस्तुओ के सम्पर्क मे आता है, दूसरे शब्दो मे उनसे टकराता है या संस्पृष्ट होता है, तब सहसा सम्मुखीन या संस्पृष्ट वस्तुओ के अनुरूप उसके मुह से भिन्न-भिन्न ध्वनिया निकलती हैं। इस प्रकार समय-समय पर मानव के मुख से जो ध्वनियां प्रस्फुटित हुई, वे मूल धातुएं थी। प्रारम्भ में वे धातुए सख्या में बहुत अधिक थी। पर, सब सुरक्षित नही रह पाई। शनैः-शनैः लुप्त होती गईं। उनमे बहुत सी परस्पर पर्यायवाची थी। बहुसख्यक मे योग्यतमावशेष (Survival of the fittest) के अनुसार कुछ ही विद्यमान रह पाते हैं। इस प्रकार लगभग चारसौ-पाचसौ धातुए शेष रहीं। उन्ही से क्रिया, सज्ञा आदि शब्द निष्पन्न हुए और भाषा कि निर्मिति हुई। इस विचारधारा के उद्भावक और पोषक मानते थे कि धातुओ की ध्वनि और तद्गम्य अर्थ में एक रहस्यात्मक सम्बन्ध (Mystic Harmony) है। रहस्यात्मक कहने से सम्भवत. यह तात्पर्य रहा हो कि वह अनुमेय और अनुमान्य है, विश्लेष्य नही।

उपर्युक्त शक्ति के सम्बन्ध मे इस मत के समर्थको का यह भी मानना था कि मानव मे पुरातन समय मे जो ध्वन्यात्मक अभिव्यंजना की शक्ति थी, उत्तरवर्ती काल मे यथावत् रूप मे विद्यमान नही रह सकी, क्योंकि भाषा के निर्मित हो जाने के अनन्तर वह अपेक्षित नही रही; अत व्यवहार का उपयोग का विषय न रहने से वह क्रमश विलुप्त और विस्मृत होती गयी। आज के मानव में वह शक्ति किसी भी रूप मे नही रह पायी है।

प्रो० हेस, स्टाइन्थाल और मैक्समूलर —जर्मन प्रो० हेस ने पहले पहल इस सिद्धान्त का उद्घाटन किया था। प्रो० हेस ने लिखित रूप में इसे प्रकट नही किया। अपने किसी भाषण मे उन्होने इसकी चर्चा की थी। इसके बाद डा० स्टाइन्थाल ने इसे व्यवस्थित रूप मे लेख बद्ध किया और विद्वानो के समक्ष रखा। स्टाइन्थाल भाषा विज्ञान और व्याकरण के तो विशेषज्ञ थे ही, तर्क शास्त्र और मनोविज्ञान के भी प्रौढ विद्वान् थे। भाषा विज्ञान के क्षेत्र मे वे पहले विद्वान् थे, जिनका मत था कि मनोविज्ञान का सहारा लिए बिना भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हो सकता। उन्होंने अपनी एक पुस्तक मे व्याकरण, तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान के पारस्परिक सम्बन्धो का विशद विवेचन किया। भाषा के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर उन्होंने और भी कई पुस्तकें लिखी।

प्रो० मैक्समूलर ने भी इसी सिद्धान्त पर चर्चा की। वे सस्कृत के और विशेषत. वेदो के बहुत बडे विद्वान् थे। उनका मुख्य विषय साहित्य एवं दर्शन था। पर भाषा-विज्ञान पर भी उन्होने कार्य किया। वे भारतीय विद्याओ के पक्षधर थे। भारत की संस्कृति, साहित्य, तत्त्वज्ञान तथा भाषा की प्रकृष्टता से ससार को अवगत कराने मे उनका नाम सर्वाग्रणी है। उनकी विवेचन शैली अत्यन्त रोचक थी। सन् १८६१ मे भाषा-विज्ञान पर उन्होने कुछ भाषण दिये। भाषा-विज्ञान जैसे शुष्क और नीरस विषय को उन्होने इतने मनोरजक और सुन्दर प्रकार से व्याख्यात किया कि अध्ययनशील व्यक्ति इस ओर आकृष्ट हो उठे। तब से पूर्व भाषा-विज्ञान केवल विद्वानों तक सीमित था। सामान्य लोग इसमे सर्वथा अपरिचित थे। इसका श्रेय प्रो० मैक्समूलर को है कि उनके कारण इस ओर जन-साधारण की रुचि जागृत हुई।

प्रारम्भ मे प्रो० मैक्समूलर को धातु-सिद्धान्त समीचीन जचा और उन्होंने अपनी पुस्तको मे इसकी चर्चा भी की, पर, बाद मे अधिक गहराई मे उतरने पर विश्वास नही रहा और उन्होने इसे निरर्थक कहकर अस्वीकार कर दिया। ऐसा लगता है, भाषा के उद्भव के सम्बन्ध मे तब तक कोई सिद्धान्त जम नही पाया था। उपर्युक्त सिद्धान्त एक नये विचार के रूप मे विद्वानो के सामने आया, इसलिए सम्भवत. बहुत गहराई मे उतर कर सहसा उन्होने इसका औचित्य मान लिया, पर, वह मान्यता स्थायी रूप से टिक नही पाई।

सूक्ष्मता से विचार करें, तो यह कल्पना शून्य मे विचरण करती हुई सी प्रतीत होती है। कल्पना अभिनव चिन्तन की स्फुरणा है, पर, यहा कवितामूलक कल्पना नही है। उसके पीछे ठोस आधार चाहिए। भाषा का विकास वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर आधृत है। क्या था, कैसे था, कैसे हुआ, कैसा है, भाषा के सन्दर्भ मे इन सबका समाधान होना चाहिए। कविता मे ऐसा नही होता, जैसा कि विख्यात काव्यशास्त्री अरस्तू ने त्रासदी (Tragedy) और कामदी (Comedy) के प्रसग मे बतलाया कि जो नहीं है, कल्पना या अनुकृति द्वारा उसको उपस्थित करना काव्य है; अत. काव्य की सृष्टि जागतिक यथार्थ से परे होती है। पर, भाषा-विज्ञान मे ऐसा नहीं होता। धातुओं की कल्पना के माध्यम से भाषा के उद्भव का सिद्धान्त संगत नहीं लगता।

धातुओ के सन्दर्भ में कुछ और कथनीय है। शब्द जिनसे भाषा निष्पन्न होती है, केवल धातुओं से निर्मित नहीं होते। उप-सर्ग, प्रत्यय आदि की भी अपेक्षा रहती है, जिनकी इस सिद्धान्त मे कोई चर्चा नही है। भारोपीय, सामी आदि भाषा-परिवारों मे तो धातुओ का बोध होता है, पर, अनेक ऐसे भाषा-परिवार भी हैं, जिनमें धातुओं का पता ही नही चलता। यदि 'धातुवाद' के सिद्धान्त को स्वीकार भी कर लिया जाये, तो विश्व की अनेक भाषाओ की उत्पत्ति की समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी।

धातुओं की मान्यता के सम्बन्ध मे एक बात और बड़े महत्त्व की है। जिन भाषाओ मे धातुए हैं, उन भाषाओं के विकसित होने के बहुत समय बाद धातुओ की खोज हुई। वे स्वाभाविक नहीं हैं, कृत्रिम हैं। व्याकरण तथा भाषा-विज्ञान के पण्डितो के प्रयुज्यमान भाषा के सघटन को व्यवस्थित रूप देने के सन्दर्भ मे धातु, प्रत्यय, उपसर्ग आदि द्वारा शब्द बनाने का क्रम स्वीकार किया। यह प्रचलित भाषा को परिमार्जित और परिष्कृत रूप में प्रतिपादित करने का विधि-क्रम कहा जा सकता है, जो वैयाकरणो और भाषा-वैज्ञानिको ने सूक्ष्म तथा गम्भीर अनुशीलन के अनन्तर उपस्थापित किया। प्रो० मैक्समूलर जैसे प्रौढ़ विद्वान् ने इस सिद्धान्त को एक बार स्वीकार करके भी फिर अस्वीकार कर दिया। उसके पीछे इसी तरह की कारण-सामग्री थी, जो भाषा की उत्पत्ति के प्रसग में कोई ठोस पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत नही करती थी।

यास्क द्वारा आख्यात-चर्चा :—शब्दो की धातुओ से निष्पत्ति के सम्बन्ध में यास्क ने निरुक्त मे चर्चा करते हुए कहा—"नाम (शब्द) आख्यात—क्रिया (धातु) से उत्पन्न हुए हैं," यह निरुक्त-वाङ्मय है। वैयाकरण शाकटायन भी ऐसा ही मानते हैं। आचार्य गार्ग्य तथा अन्य कतिपय वैयाकरण नही मानते कि सभी शब्द धातुओ से बने हैं। उनकी युक्तियां हैं, जिस शब्द में स्वर, धातु, प्रत्यय, लोप, आगम आदि संस्कार-संगत हों, दूसरे शब्दो मे व्याकरण-शास्त्र की प्रक्रिया के अनुरूप हो, वे शब्द आख्यातज या धातु-निष्पन्न हैं। पर, जहा ऐसी संगति नही होती, वे शब्द सज्ञा-वाची हैं, रूढ़ हैं, यौगिक नहीं, जैसे—गो, अश्व, पुरुष, हस्ती।

"सभी शब्द यदि धातु-निष्पन्न हो, तो जो वस्तु (प्राणी) जो कर्म करे, वैसा (कर्म) करने वाली सभी वस्तुएं उसी नाम से अभिहित होनी चाहिए। जो कोई भी अध्व (मार्ग) का अशन-व्यापन करें, शीघ्रता से दौड़ते हुए मार्ग को पार करें, वे सब 'अश्व' कहे जाने चाहिएं। जो कोई भी तर्दन करें, चुभे, वे तृण कहे जाने चाहिएं। पर, ऐसा नही होता। एक बाधा यह आती है, जो वस्तु जितनी क्रियाओ मे सम्प्रयुक्त होती है, उन सभी क्रियाओ के अनुसार उस (एक ही) वस्तु के उतने ही नाम होने चाहिएं, जैसे—स्थूणा (मकान का खम्भा) दरशया (छेद मे सोने वाला—खम्भे को छेद मे लगाया जाता है) भी कहा जाये, किन्तु ऐसा नहीं होता।

एक और कठिनाई है, यदि सभी शब्द धातु-निष्पन्न होते, तो जो शब्द जिस रूप मे व्याकरण के नियमानुसार तदर्थ-बोधक धातु से निष्पन्न होते, उसी रूप मे उन्हे पुकारा जाता, जिससे अर्थ-प्रतीति मे सुविधा रहती। इसके अनुसार पुरुष पुरिशय कहा जाता, अश्व अष्टा कहा जाता और तृण तर्दन कहा जाता। ऐसा भी नहीं कहा जाता है।

अर्थ-विशेष मे किसी शब्द के सिद्ध या व्यवहृत हो जाने के अनन्तर उसकी व्युत्पत्ति का विचार चलता है, अमुक शब्द किसी धातु से बना। ऐसा नही होता, तो प्रयोग या व्यवहार से पूर्व भी उसका निर्वचन कर लिया जाना चाहिए था। पृथिवी शब्द का उदाहरण लें। प्रथनात् अर्थात् फैलाये जाने से पृथिवी नामकरण हुआ। इस व्युत्पत्ति पर कई प्रकार की शंकाए उठती हैं। इस (पृथिवी) को किसने फैलाया? उसका आधार क्या रहा अर्थात् कहा टिक कर फैलाया। पृथ्वी ही सबका आधार है। जिसे जो पुरुष फैलाये, उसे अपने लिए कोई आधार चाहिए। तभी उससे यह हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि शब्दो का व्यवहार देखने पर मानव व्युत्पत्ति साधने का यत्न करता है और सभी व्युत्पत्तिया निष्पादक धातु के अर्थ की शब्द के व्यवहृत या प्रचलित अर्थ मे संगति सिद्ध नही करती।

शाकटायन किसी शब्द के अर्थ के अन्वित—अनुगत न होने पर तथा उस (शब्द) की सघटना से संगत धातु से सम्बद्ध न होने पर उस शब्द की व्युत्पत्ति किसी-न-किसी प्रकार से साधने के प्रयत्न मे अनेक पदो से उस (शब्द) के अशो का सचयन कर उसे बनाते हैं। जैसे—'सत्य' शब्द का निर्माण करने मे 'इण्' (गत्यर्थक) धातु के प्रेरणार्थक (णिजन्त) रूप आयक के यकार को अन्त में रखा, अस् (होना) धातु के णिजन्त-रहित मूल रूप सत् को प्रारम्भ मे रखा, इस प्रकार जोड़-तोड़ करने से 'सत्य' शब्द निष्पन्न हुआ। यह सहजता नही है।

क्रिया का अस्तित्व या प्रवृत्ति द्रव्यपूर्वक है अर्थात् द्रव्य क्रिया से पूर्व होता है। द्रव्य के स्पन्दन आन्दोलन या हलन-चलन की अभिव्यंजना के हेतु क्रिया अस्तित्व मे आता है। ऐसी स्थिति मे बाद मे होने वाली क्रिया के आधार पर पहले होने वाले द्रव्य का नाम नही दिया जा सकता। यहाँ 'अश्व' का उदाहरण ले सकते हैं। व्युत्पत्ति के अनुसार शीघ्र दौड़ने के कारण एक प्राणी विशेष 'अश्व' शब्द से संज्ञित होता, तो यह संज्ञा उसकी (शीघ्र दौड़ना रूप) क्रिया के देखने के बाद उसे दी जाती, पर, वस्तु-स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। अश्वाभिध प्राणी के उत्पन्न होते ही, जब वह चलने मे भी अक्षम होता है, यह सज्ञा उसे प्राप्त है। ऐसी स्थिति मे उसकी व्युत्पत्ति की संगति घटित नही होती।

शब्दों की निष्पत्ति फलतः भाषा की संरचना मे धातु-सिद्धान्त का कितना योग है, इस पर यह सहस्राब्दियो पूर्व के तर्क-वितर्क का एक उदाहरण है। इससे जहां एक ओर भारत के मनीषियो के आलोचनात्मक चिन्तन का परिचय मिलता है, वहां दूसरी ओर भाषा और शब्द जैसे विषयों में, जिनकी गहराई मे जाने मे लोग विशेष रुचि नही लेते, उनके तलस्पर्शी अवगाहन का एक स्पृहणीय उद्योग दृष्टिगोचर होता है।

यद्यपि यास्क गार्ग्य की इन युक्तियो से परास्त नहीं हुए। उन्होने अपने समाधान प्रस्तुत कर अपनी ओर से आख्यात (धातु)-सिद्धान्त की स्थापना का पूरा प्रयत्न किया, जिसका उल्लेख यहा अपेक्षित नहीं है, पर, गार्ग्य के तर्क प्रभाव-शून्य नहीं हो सके। सहस्राब्दियो के बाद आज भी जब धातु-सिद्धान्त की समीक्षा और आलोचना की जाती है, तो गार्ग्य के तर्क अभेद्य दुर्ग की तरह सम्मुख खड़े दिखाई देते हैं। प्राकृत और पालि के सन्दर्भ मे किये जा रहे भाषा-वैज्ञानिक विवेचन के क्रम मे गार्ग्य की युक्तियो द्वारा सहस्रों वर्ष पूर्व की एक विचार-सरणि से अवगत हो सकें, इस प्रयोजन से कम प्रासगिक होते हुए भी इस विषय को यहा उपस्थित किया गया है। भाषा की उत्पत्ति मे जो मत, चाहे थोड़े ही सही, कार्यकर हुए, उनका संक्षेप मे समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत प्रसग के लिए उपयोगी होगा।

अनुकरण सिद्धान्त :—भाषा की उत्पत्ति किसी एक कारण या आधार से नही हुई है। उसका निर्माण कई प्रकार के आधारो की भूमि पर टिका है। उनमे एक सिद्धान्त 'अनुकरण' का है। पशु-पक्षी मनुष्य के निकट के साथी हैं। उनकी अपनी-अपनी बोली है, जो परस्पर एक-दूसरे से भिन्न है। पशु या पक्षी जब प्रसन्न मुद्रा मे होते हैं, तब जो आवाज करते है, वह सम्भवतः उस आवाज से भिन्न होती है, जो वे दुःख, पीड़ा या अवसाद मे करते हैं। अन्य भी अनेक भाव हो सकते हैं, जिनमे बहुत स्पष्ट न सही, पशु-पक्षियों की बोली में कुछ-न-कुछ भिन्नता सम्भावित है। एक प्रकार से इसे पशु-पक्षियो की भाषा कहा जा सकता है। भाषा-विहीन मनुष्य ने पशु-पक्षियों को बोलते हुए सुना। उनकी ध्वनि को पकडा। जिस पशु या पक्षी से जो ध्वनि आई, उसने उसका व उसकी बोली का वैसा नाम दे दिया। उसके आधार पर उससे मिलती-जुलती और भी ध्वनिया या शब्द आविष्कृत किये, जो उसके अपने जीवन की हलचल या प्रवृत्ति से जुड़े हुए थे। उदाहरणार्थ, मानव ने जब बिल्ली को बोलते सुना, तो 'म्याऊं' शब्द उसकी पकड मे आया। उसने 'म्याऊं' शब्द को बिल्ली की बोली मे सकेतित कर लिया और बिल्ली के लिए भी वह इसका प्रयोग करने लगा। हिन्दी मे इस शब्द का इसी रूप मे प्रचलन है। 'म्याऊं का मुह कौन पकडे' इत्यादि प्रयोग इसके साक्षी है। चीनी भाषा मे म्याऊ के स्थान पर 'मिआऊं' प्रयुक्त होता है। मिस्री भाषा मे बिल्ली के लिए 'माऊ' का व्यहार होता है। अन्य भी कई भाषाओं मे कुछ परिवर्तित उच्चारण के साथ इसके प्रयोग सम्भावित है। काक, घुग्घु, मेमे (भेड की बोली), बेंबें (बकरी की बोली), हिनहिनाना (घोड़े की बोली), दहाड़ना (सिंह की आवाज), फड़फड़ाना (पक्षी की आवाज) झीं-झीं (झींगुर की आवाज) आदि इसी प्रकार के शब्द हैं। 'मेमे' से मिमियाना, 'बेंबें' से बिबियाना आदि क्रियापद निष्पन्न कर लिये गये। देहाती बच्चा मोटर को 'पोंपों,' मोटर साइकिल को 'फटफटिया' कहते सुने जाते हैं। भोंपू भी इसी प्रकार का उदाहरण है, जिसका आधार ध्वनि ही है अंग्रेजी का Cuckoo शब्द इसी प्रकार का है। निरुक्तकार यास्क ने 'काक' की व्याख्या मे काक इति शब्दानुकृति (अर्थात् जो का-का करता है, वह काक है), जो उल्लेख किया है, वह इसी तथ्य को समर्थित करता है। इस सन्दर्भ में संस्कृत के अग्रांकित शब्द विशेष विमर्षणीय हैं। ऐसा अनुमान किया जा सकता है, सम्भवत ये अथवा इनमें से अधिकांश शब्द ध्वनि या आवाज के आधार पर बने हैं घूक, खजन, खजरीट, कक, बूक, कुकुट्ट, चटका, पिक, काक, क्रौंच, कोक, कुरर, चीरी, झिल्लका, झीरुका, मयूर, केकी, भृंग।

---

१. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके।
तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम्। संविज्ञातानि तानि, यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति।
अथ चेत् सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यः कश्च तत्कर्म कुर्यात्सर्वं तत्सत्त्वं तथाचक्षीरन्। यः कश्चाध्वानमश्नुवीताश्वः स वचनीयः स्यात् यत्किंचित्तृन्द्यात्तृणं तत्
अथापि चेत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यावद्भिर्भावैः सम्प्रयुज्येत तावद्भ्यो नामधेय प्रतिलम्भः स्यात्। तत्रैवं स्थूणा, दरशया वा सञ्जनी च स्यात्।
अथापि य एषां न्यायवान्कार्मनामिकः संस्कारो यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन्। पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन्, अष्टेत्यश्वं, तर्दनमिति तृणम्।
अथापि निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्ति। प्रथनात्पृथिवीत्याहुः क एनामप्रथयिष्यत्किमाधारश्चेति।
अथानन्वितेऽर्थे प्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्धान्संचस्कार शाकटायनः एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणमस्तेः शुद्धं च सकारादिं च।
अथापि सत्त्वपूर्वो भाव इत्याहुः। अपरस्माद् भावात्पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यत इति।

—निरुक्त; पाद ४

कुछ भाषा-वैज्ञानिकों द्वारा इस सिद्धान्त का विरोध हुआ। उनका कहना था कि उपर्युक्त शब्दों का आधार ध्वनियों का अनुकरण होता, तो संसार की सभी भाषाओं में इनके द्योतक शब्द एक जैसे होते; क्योंकि किसी देश-विशेष के पशुओं या पक्षियों की ध्वनि में अन्तर नहीं देखा जाता। तब उन (ध्वनियों) की अनुकृति पर बने शब्दों में भेद नहीं होना चाहिए। स्थिति इसके विपरीत है। भिन्न-भिन्न भाषाओं में उपर्युक्त ध्वनियों के आधार पर बने शब्दों में कुछ-न-कुछ भिन्नता है। पर, कुछ गहराई में उतरने पर यह विरोध यथार्थ नहीं लगता। ध्वनियों के अनुकरण में सर्वथा समानता होना कदापि सम्भव नहीं है। देश व जल-वायु का वागिन्द्रिय पर प्रभाव पड़ता है। इससे उच्चारण में भिन्नता आना स्वाभाविक है। ध्वनियों का भी अनुकरण सब सर्वथा एक रूप में कर सकें, यह अस्वाभाविक है। दूसरी बात यह है, अनुकरण अपने आप में कभी पूर्ण नहीं होता; इसलिए न यह सम्भव है और न आवश्यक ही कि निर्मीयमान शब्द ध्वनि के सर्वथा अनुगत हो। ध्वनि का जिसके द्वारा जितना साध्य होता है, उतना अथवा थोड़ा बहुत अनुकरण रहता है। शब्द-निर्माण में ध्वनि का आधार स्थिति के अनुरूप एक सीमा विशेष तक है, सम्पूर्ण नहीं। भाषा-विज्ञानविद् स्वीट का भी कहना था कि ध्वनियों के अनुकरण पर बनने वाले शब्द ध्वनि के सर्वथा अनुरूप हो, यह आवश्यक नहीं है।

प्रो० मैक्स मूलर को यह सिद्धान्त बड़ा अटपटा लगा। उन्होंने इस पर व्यंग्य कसते हुए इसे Bow-Wow Theory के नाम से सम्बोधित किया। अंग्रेजी में Bow-Wow कुत्ते की आवाज को कहते हैं। कुत्ते के पिल्ले को भी अंग्रेज इसी नाम से पुकारते हैं।' 'पापुवा' के पूर्वोत्तरी किनारे पर जो भाषा बोली जाती है, उसमें भी ध्वनि के आधार पर कुत्ते को Bow-Wow कहा जाता है। प्रो० मैक्स मूलर ने पापुवा की तटीय भाषा के इस शब्द के आधार पर उक्त परिहास किया, पर, यह वैसी निष्प्रयोज्य बात नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विश्व की अधिकांश भाषाओं में अनेक शब्द ऐसे हैं, जो उक्त प्रकार की ध्वनियों के आधार पर बने हैं। जो भाषा-वैज्ञानिक केवल ध्वनियों की अनुकृति पर बने शब्दों से ही समग्र भाषा की निष्पत्ति मानते हैं, वह तथ्यपूर्ण नहीं है। ध्वनि-निष्पन्न शब्दों के अतिरिक्त अनेक शब्द ऐसे हैं जिनका ध्वनि से कोई सम्बन्ध नहीं है। ध्वनि-निष्पन्न शब्दों से वे कई गुने अधिक हैं। साथ-ही-साथ यह भी ज्ञातव्य है कि कुछ भाषाएं ऐसी भी हैं, जिनमें ध्वनि-निष्पन्न शब्दों का सर्वथा अभाव है, जैसे उत्तरी अमेरिका की अथवस्कन भाषा।

अनुरणन-सिद्धान्त :—'अनुकरण-सिद्धान्त' के समकक्ष 'अनुरणन-सिद्धान्त' के नाम से एक अन्य विचारधारा की चर्चा भाषा-विज्ञान में और आती है। पानी, धातु, काठ, पेड़ के पत्ते आदि वनस्पति-जगत, धातु-जगत् और निर्जीव पदार्थों के संस्पर्श, सघर्ष, टक्कर, पतन आदि से जो ध्वनि निकलती है, उसके अनुकरण पर जो शब्द बनते हैं, उन्हें अनुरणन-निष्पन्न शब्द कहा जाता है। अनुकरण के स्थान पर यहां अनुरणन शब्द का उपयोग हुआ है। अर्थ की सूक्ष्मता की दृष्टि से अनुकरण और अनुरणन में परस्पर अन्तर है। पशु-पक्षी जैसा बोलते हैं, मानव अपने मुंह से उसी प्रकार बोलने का जो प्रयत्न करता है, वह अनुकरण है। जल-प्रवाह बहता है, 'नद्-नद्' नाद होता है। वह अनुरणन है। इस सिद्धान्त के आधार पर नद् (धातु) से नद या नदी शब्द बनते हैं। वृक्ष से पत्ता गिरता है (पतति), तब पत्-पत् के रूप में जो आवाज निकलती है, पत् धातु और पत्र शब्द का निर्माण उसी से होता है। कुत्ते के भौंकने के अर्थ में बुक् धातु का स्वीकार इसी कोटि का उदाहरण है कल-कल, छल-छल, झन-झन, खटपट आदि हिन्दी शब्द तथा Mur-Mer आदि अंग्रेजी शब्द इसी प्रकार के हैं। ऐसे शब्द संसार की प्राय सभी भाषाओं में प्राप्त होते हैं। इससे स्पष्ट है कि अनुकरण और अनुरणन में वास्तव में कोई मौलिक भेद नहीं है। केवल वस्तु-भेद मूलक स्थूल अन्तर है, जो नगण्य है। अनुकरण के कुछ और भी रूप हैं, जो इसी में आ जाते हैं। उदाहरणार्थ, दीपक जलने और तारे चमकने के दृश्यों के अनुकरण पर जगमगाहट, चमचमाहट आदि शब्द निर्मित हुए। इन सबका उपर्युक्त सिद्धान्त में समावेश हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि भाषा में शब्दों का एक ऐसा वर्ग है, जिसका आधार पशुओं व पक्षियों की ध्वनियों का अनुकरण, वस्तुओं का अनुरणन तथा दृश्यों का परिदर्शन है। वस्तुत. सभी अनुकरण के ही रूप हैं। भाषा के निर्मातृ-तत्त्वों में अंशत इस सिद्धान्त का भी स्थान है।

मनोभावाभिव्यंजकतावाद :—मनोभावाभिव्यंजकतावाद के अनुसार ऐसा माना जाता है कि आदिकाल या प्रारम्भ में मानव बुद्धि-प्रधान नहीं था, भाव-प्रधान था। पशु भी लगभग इसी कोटि के होते हैं। उनमें विचार-क्षमता नहीं होती, भावना होती है। आदि-मानव विवेक या प्रज्ञा की दृष्टि से पशुओं से विशेष ऊंचा नहीं था। विवेक और वितर्क की क्षमता भले ही न हो, प्राणिमात्र में भावों का उद्रेक निश्चय ही होता है। हर्ष, विषाद, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, विस्मय आदि का आधिक्य सहज ही मानव को भावावेश में ला देता है। प्राचीन काल का मानव जब इस प्रकार भावाविष्ट हो जाता, अनायास ही कुछ शब्द उसके मुख से निकल पड़ते। यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति थी, अतएव अप्रयत्न-साध्य थी। ओह, आह, उफ, छि., धत् आदि शब्द इसी प्रकार के हैं।

संस्कृत में आ:[1] (कोप, पीड़ा), धिक्[2] (निर्भर्त्सना, निन्दा), बत[3] (खेद, अनुकम्पा, सन्तोष), हन्त[4] (हर्ष, अनुकम्पा, विषाद), साभि[5] (जुगुप्सित), जोषम्[6] (नीरवता, सुख), अलम्[7] (पर्याप्त, शक्ति वारण-निषेध). हूम्[8] (वितर्क, परिप्रश्न), हा[9] (विषाद), अहह[10] (अद्भुतता, खेद), हिरुक्[11] (वर्जन), आहो, उताहो[12] (विकल्प), अहा, ही[13] (विस्मय) तथा ऊम्[14] (प्रश्न, अनुनय) इत्यादि आकस्मिक भावों के द्योतक हैं। इनकी उत्पत्ति मे भी उपर्युक्त सिद्धान्त किसी अपेक्षा से सगत हो सकता है।

अंग्रेजी मे Ah, Oh, Alas, (Surprise, fear or regret=विस्मय, भय या खेद), Rish (Contempt=अवज्ञा), Pooh (disdain or contempt=घृणा या अवज्ञा) तथा Fie (Disgurt=जगुप्सा) आदि का प्रयोग उपर्युक्त सन्दर्भ में होता है।

अंग्रेजी व्याकरण में ये Interjections (विस्मयादिबोधक) कहलाते हैं। इसी कारण यह सिद्धान्त (Interjectional Theory) के नाम से विश्रुत है। इस सिद्धान्त का अभिप्राय था कि शब्दों के उद्भव और विकास की यह पहली सीढ़ी है। इन्हीं शब्दों से उत्तरोत्तर नये-नये शब्द बनते गये, भाषा विकसित होती गयी। इस सिद्धान्त के उद्भावको मे कंडिलैक का नाम उल्लेखनीय है।

डा० भोलानाथ तिवारी ने इस सम्बन्ध मे विचार करते हुए लिखा है . "इस सिद्धान्त के मान्य होने मे कई कठिनाइयां हैं। पहली बात तो यह है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं में ऐसे शब्द एक ही रूप में नही मिलते। यदि स्वभावतः आरम्भ मे ये निःसृत हुए होते तो अवश्य ही सभी मनुष्यो मे लगभग एक जैसे होते। ससार भर के कुत्ते दुखी होने पर लगभग एक ही प्रकार से भौंक कर रोते हैं, पर, संसार भर के आदमी न तो दुःखी होने पर एक प्रकार से 'हाय' करते हैं और न प्रसन्न होने पर एक प्रकार से 'वाह'। लगता है, इनके साथ संयोग से ही इस प्रकार के भाव सम्बद्ध हो गये हैं और य पूर्णत यादृच्छिक हैं। साथ ही इन शब्दो से पूरी भाषा पर प्रकाश नहीं पड़ता। किसी भाषा मे इनकी सख्या चालीस-पचास से अधिक नही होगी। और वहां भी इन्हें पूर्णतः भाषा का अग नही माना जा सकता। बेनफी ने यह ठीक ही कहा था कि ऐसे शब्द केवल वहा प्रयुक्त होते हैं, जहा बोलना सम्भव नही होता। इस प्रकार ये भाषा नहीं हैं। यदि इन्हे भाषा का अंग भी माना जाये तो अधिक-से-अधिक इतना कहा जा सकता है, कुछ थोड़े शब्दो की उत्पत्ति की समस्या पर ही इनसे प्रकाश पडता है।"[15]

सूक्ष्मता से इस सिद्धान्त पर चिन्तन करने पर अनुमित होता है कि भाषा के एक अंश की पूर्ति मे इसका कुछ-न-कुछ स्थान है ही। भाषा के सभी शब्द इन्ही Interjectional (विस्मयादिबोधक) शब्दो से निःसृत हुए, इसे सम्भव नही माना जा सकता।

अज्ञात. इस सिद्धान्त का औचित्य प्रतीत होता है। वह इस प्रकार है—विभिन्न भावो के आवेश मे आदि मानव ने उन्हे प्रकट करने के लिए जब जैसी बन पड़ी, ध्वनिया उच्चारित की हो। भाषा का अस्तित्व न होने से भाव और ध्वनि का कोई निश्चित द्योत्य-द्योतक सम्बन्ध नही था। एक ही भाव के लिए एक प्रदेशवासी मानवो के मुख से एक ही ध्वनि निकलती रही हो, यह सम्भव नही लगता। भाषा के बिना तब कोई व्यवस्थित सामाजिक जीवन नही था। इसलिए यह अतर्क्य नही माना जा सकता कि एक ही भाव के लिए कई व्यक्तियो द्वारा कई ध्वनिया उच्चारित हुई हो। फिर ज्यो-ज्यो ध्वनियो या शब्दो का कुछ विकास हुआ, ध्वनियो की विभिन्नता या भेद अनुभूत होने लगा, तब सम्भवतः किसी एक भाव के लिए किसी एक शब्द का प्रयोग निश्चित हो गया हो।

---

१. आस्तु स्यात् कोपपीडयो: । — अमरकोश, तृतीय काण्ड, नानार्थ वर्ग, पृष्ठ २४०
२. धिङ् निर्भर्त्सननिन्दयो: । —वही, पृ० २४०
३. खेदानुकम्पा सन्तोषविस्मयामन्त्रणे बत । —वही, पृ० २४४
४. हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयो: । —वही, पृ० २४४
५. साभि त्वर्द्धे जुगुप्सिते । —वही, पृ० २४६
६. तूष्णीमर्थे सुखे जोषम् । —वही, पृ० २५१
७. अल "पर्याप्तशक्तिवारणवाचकम् । —वही, पृ० २५२
८. हुं वितर्के परिप्रश्ने । —वही, पृ० २५२
९. हा विषादशुगर्तिषु । —वही, पृ० २५६
१०. अहहेत्यद्भुते खेदे । —वही, तृतीय काड, अव्यय वर्ग, श्लो० ७
११. हिरुङ्नाना च वर्जने । —वही, श्लो० ७
१२. आहो उताहो किमुत विकल्पे किं किमुत च । —वही, श्लो० ५
१३. अहो ही च विस्मये । —वही, श्लो० ६
१४. ऊं प्रश्न ऽनुनये त्वयि । —वही, श्लो० १८
१५. भाषा विज्ञान, पृ० ३३

डा० तिवारी पशुओं की बोली की चर्चा करते हुए जो कहते हैं कि देशगत भेद उस (उनकी बोली) में कोई भिन्नता नहीं आ पाता, उसी प्रकार यदि ये आकस्मिक भाव-द्योतक ध्वनियाँ (Interjections) स्वाभाविक होतीं, तो संसार भर के मानव एक ही रूप में उनका प्रयोग करते, यह आलोच्य है। भाषा के सन्दर्भ में पशु और मानव को सर्वथा एक कोटि में नहीं लिया जा सकता। पशुओं की बोली का एक ससीम रूप है। हजारों-लाखों वर्ष पूर्व भी सम्भवतः वही था, जो आज है। पर, मानव एक विकासशील प्राणी है। विश्व-मानव भाषाओं की दृष्टि से कितना विकास कर चुका है, वह उसके द्वारा प्रयुक्त सहस्रों भाषाओं से स्पष्ट है। यह विकास का विस्तार है। उसका बीज मानव में पहले भी विद्यमान था।

विशेष रूप में तो शरीर-शास्त्र के मर्मज्ञ बतला सकते हैं, पर, स्थूल दृष्टि से अनुमान है कि मानव की वागिन्द्रिय तथा कुत्ते आदि पशुओं की वागिन्द्रिय में सम्भवतः स्वर-यन्त्र-सम्बन्धी तन्त्रियों या स्नायुओं में पूर्ण सादृश्य नहीं होता। तोता, कोयल आदि कुछ पक्षी सिखाये जाने पर मनुष्य की बोली का अनुकरण करते हैं। इससे लगता है, उनका मानव के साथ वागिन्द्रिय-सम्बन्धी कुछ-कुछ साम्य है। पर, उनके अतिरिक्त अन्य पक्षी या पशु में ऐसा नहीं है।

भिन्न देशों में रहने वाले लोगों की आकस्मिक भाव द्योतक ध्वनियां एक जैसी होतीं, यह कैसे सम्भव हो सकता है? जल-वायु आदि के कारण मनुष्य के स्वर-यन्त्र के स्पन्दन, प्रवर्तन, संकोच, विस्तार की तरतमता के अतिरिक्त यह भी सोचने योग्य है कि किस व्यक्ति ने किस परिप्रेक्ष्य, किस स्थिति, किस वातावरण और किस कोटि की भावनाओं से अभिभूत होकर सहसा किसी ध्वनि का उच्चारण किया। सहस्रों मीलों की दूरी पर रहने वाले मनुष्यों में नृवंशगत ऐक्य के उपरान्त भी न जाने अन्य कितनी भिन्नताएं हैं। क्या ध्वनि-निःसृति पर उनका स्वरूप भी प्रभाव नहीं होता?

प्रस्तुत चर्चा के आधार पर किसी एक देश में एक भाव के लिए कोई एक ही शब्द निकला हो, यह निश्चित नहीं है। भिन्न-भिन्न समय भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा जब जिस रूप में सम्भव हो पाया, एक भाव के लिए विविध ध्वनियां निःसृत हुई हों। वे आज सब कहां रह पाई हैं? जो रह पाई हैं, उनमें से बहुत थोड़ी-सी हैं। सारांश यह है, चाहे संख्या में कम ही सही, जो आकस्मिक भाव-द्योतक ध्वनियाँ भाषा में हैं, उनका भाषा की निर्मिति में एक स्थान है।

डा० भोलानाथ तिवारी ने इस सिद्धान्त के विषय में कुछ और सम्भावनाएं प्रकट की हैं। उनका अभिप्राय यह है कि ये Interjectional ध्वनियां यद्यपि सीमित थीं, टूटे-फूटे रूप में इनसे भाव व्यक्त किये जाते रहे होंगे, पर, इनके सतत प्रयोग से मानव को अन्य ध्वनियों के उच्चारण का भी अभ्यास हुआ होगा। इस क्रम से चलते रहने से भाषा के विकास में सहारा मिला होगा। इन ध्वनियों के प्रयोग से अन्य ध्वनियों के उच्चारण का अभ्यास बढ़ने की जो सम्भावना डा० तिवारी करते हैं, वह चिन्त्य है। वस्तुस्थिति यह है, अन्य ध्वनियां उन विविध स्थूल व सूक्ष्म पदार्थों तथा भावों से सम्बद्ध हैं, जिनका इनसे कोई तारतम्य नहीं जुड़ता। किसी ध्वनि का सहसा निकल पड़ना तथा चिन्तनपूर्वक उसका निष्कासन दोनों भिन्न-भिन्न हैं। दोनों में संगति नहीं है। प्रतीत होता है, अन्य ध्वनियों का उद्भव और विकास किन्हीं भिन्न स्थितियों और आधारों से हुआ है।

इंगित-सिद्धान्त —भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त परिकल्पित किये गये, उनमें इंगित-सिद्धान्त (Gestural Theory) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सबसे पहले पालिनेशियन भाषा के प्रमुख विद्वान् डा० राये ने इस ओर संकेत किया। विकासवाद (Theory of Evolution) के आविष्कर्ता डार्विन ने भी इस पर विचार किया। उन्होंने छः ऐसी भाषाएं लीं, जिनका परस्पर संबंध नहीं था। उनका तुलनात्मक अध्ययन किया और उसके आधार पर इस सिद्धान्त की प्रामाणिकता बताई। इस सिद्धान्त पर ऊहापोह वर्तमान शताब्दी तक चलता रहा। सन् १९३० के आस-पास रिचर्ड ने इस सिद्धान्त की पुनः रचना की। रिचर्ड की पुस्तक मानव की भाषा (Human Speech) है, जिसमें इस सिद्धान्त का मौखिक इंगित सिद्धान्त (Oral Gesture Theory) के नाम से उल्लेख किया है तथा इस ओर भाषा-विज्ञान के पण्डितों का ध्यान आकृष्ट किया है। प्रस्तुत विषय की महत्ता इसी से सिद्ध हो जाती है कि लगभग इसी समय आईसलैंडिक भाषा के विद्वान् अलेक्जेण्डर जॉनसन ने भी इस पर विचार किया। उन्होंने भारोपीय भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उस बीच इस नेसग (इंगित-सिद्धान्त) की चर्चा करते हुए उन्होंने इसकी सार्थकता स्वीकार की। तदनन्तर उन्होंने अपनी दूसरी पुस्तकों में इसका विस्तार से विवेचन किया। तथ्य-परीक्षण और समीक्षण के सन्दर्भ में जहां उन्होंने भारोपीय भाषाओं को आधार के रूप में लिया, वहां हिब्रू, (प्राचीन) तुर्की, चीनी तथा कतिपय अन्य भाषाओं को भी लिया। विवेच्य प्रसंग में उसकी चर्चा विशेष उपयोगी रहेगी।

जॉनसन का सिद्धान्त :—जॉनसन ने चार सोपान स्वीकार किये, जिनसे भाषा का विकास हुआ। उनके अनुसार पहला सोपान है—**भावव्यंजक ध्वनियां**। बुभुक्षा, तृषा, कामेच्छा, प्रसन्नता, अप्रसन्नता, भीति, कोप आदि भाव जब मनुष्य के मन में उभरते हैं, तब वह उन्हें व्यक्त करना चाहता है। भाषा उसे प्राप्त नहीं है, इसलिए बन्दर आदि पशु जैसे इन भावों को कुछ ध्वनियों से प्रकाशित करते हैं, मनुष्य भी इनकी अभिव्यक्ति के लिए कुछ मूल-ध्वनियों का उपयोग करता है। भाषा के विकास का यह आदि-चरण है। वे ध्वनियां अमुक-अमुक भावों की अभिव्यंजना की इंगित या प्रतीक बन जाती हैं।

पूर्व चर्चित मनोभावाभिव्यंजना (Intejectional Theory) से यह स्थापना पृथक् है। वहां आकस्मिक भावोद्रेकवश सहसा मुंह से निकल पड़ने वाली ध्वनियों का विवेचन है और यहां आवश्यकता, उत्सुकता, असहिष्णुता, कामैषणा आदि से अभिभूत होकर जब मानव ध्वनियां प्रकट करने का प्रयत्न करता है, परिणामस्वरूप उसके मुंह से जो ध्वनियां निःसृत होती हैं, उनका समावेश है। सहसा ध्वनि का निकल पड़ना और आवश्यक मान कर ध्वनियां निकालना; दोनों पृथक्-पृथक् हैं।

भाषा के विकास का दूसरा सोपान अनुकरणात्मक शब्दों का है। पशुओं की बोलियों के अनुकरण तथा निर्जीव वस्तुओं के अनुरणन के नाम से जो विवेचन किया गया है, जॉनसन का लगभग वही अभिप्राय है।

भाव-संकेत : इंगित :—जॉनसन तीसरा सोपान भाव-संकेतों या इंगितों का बतलाते हैं। इनका भी आधार अनुकरण ही है, पर, यह अनुकरण बाह्य पदार्थों, पशु-पक्षियों या वस्तुओं से सम्बद्ध नहीं है। यह अनुकरण जिह्वा आदि द्वारा अंगों का, अंग-संकेतों का, उनमें भी प्रमुखतः हाथों का है। जॉनसन इसे Unconscious Imitation कहते हैं, अर्थात् यह ऐसा अनुकरण है, जिसका अनुकर्ता को स्वयं भी कोई भान नहीं रहता। उनका ऐसा अभिप्राय प्रतीत होता है कि मन में जब-जब एक विशेष प्रकार का भाव उभार में आता है, देह के अंगों में एक विशेष प्रकार का स्पन्दन होता है। क्रोध और दुःसाहस की मनोदशा में मनुष्य तनकर खड़ा हो जाता है, उसका सीना तन जाता है, होठ फड़कने लगते हैं, भयाक्रान्त होने पर वह दुबक जाता है (सिकुड़ जाता है), उल्लासपूर्ण मिलन-मुद्रा में बाहें फैला देता है, दृढ़ निश्चय, प्रतिज्ञा या आक्रमण के भावावेश में भुजाएं उठा लेता है, चुनौती के भाव में सामने की वस्तु पर हथेली दे मारता है। ये आंगिक क्रिया-प्रक्रियाएं होती रहती हैं और उनके अनुकरण पर अननुभूत रूप में Unconsciously वागिन्द्रिय द्वारा कुछ शब्द उच्चारित होते रहते हैं। अनेक भावों के प्रकाशक शब्दों के उद्भव का यह प्रकार है। जॉनसन सम्भवतः यही कहना चाहते हैं।

सूक्ष्म-भावों की अभिव्यंजना :—सूक्ष्म भावों के द्योतक शब्दों के उद्भव के सम्बन्ध में जॉनसन का कहना है कि ज्यों-ज्यों मानव का उत्तरोत्तर मानसिक विकास होता गया, शनैः-शनैः सूक्ष्म भावों की अभिव्यंजना के लिए भी कुछ ध्वनियां या शब्द उद्भावित करता गया। भाषा के चार सोपानों में यह अन्तिम सोपान है।

जॉनसन ने भाषा के अनेक पहलुओं पर विस्तार से विचार करने का प्रयत्न किया है। स्वरों और व्यंजनों का विकास किस प्रकार हुआ, इस पर भी प्रकाश डाला है। ध्वनियों के साथ अर्थों के सम्बन्ध की स्थापना पर भी चर्चा की है। उदाहरणार्थ, उनके अनुसार जिन धातुओं के आरम्भ में ऋकार या रकार होता है, वे धातुएं गत्यर्थक होती हैं, क्योंकि ऋकार या रकार के उच्चारण में जिह्वा विशेष गतिशील होती है या दौड़ती है। इसी प्रकार और भी उन्होंने विश्लेषण किया है। एक विशेष बात जॉनसन यह कहते हैं कि आदि मानव ने अपने शरीर में तरह-तरह के Curves—आकुंचन—मोड़ देखे। उनका अनुकरण करते हुए उसने कतिपय मूल भावों को सूचित करने वाले शब्दों का सर्जन किया।

भाव-संकेतों का अभिप्राय :—प्रस्तुत प्रसंग में जानसन ने तीसरे सोपान में जो भाव-संकेतों की चर्चा की है, उस पर सूक्ष्मता से विचार करने की आवश्यकता है। मानव ने अपने देह के हाथ आदि अंगों के परिचालन के आधार पर विविध ध्वनियों की सृष्टि की, यह समझ में आने योग्य नहीं है। अंग-विशेष के हलन-चलन या स्पन्दन से ध्वनि-विशेष का सम्बन्ध जुड़ना कल्पनातीत लगता है। जैसे, यदि कोई व्यक्ति क्रोधावेश में हो, दांत पीसने लगे, आक्रमण की मुद्रा में हाथ उठा ले, तो समझ में नहीं आता, किसी ध्वनि द्वारा क्या इसे प्रकट किया जा सकता है? ध्वनि का अपना क्षेत्र है, देह-चालन से कोई विशेष आवाज तो निकलती नहीं, फिर किस रूप में उसका अनुकरण सम्भव है? जॉनसन ने अंग-परिचालन के साथ ध्वनि-उच्चारण का ताल-मेल बिठाने का जो प्रयत्न किया है, वह अपने-आप में नवीन अवश्य है, पर, युक्ति-संगत नहीं लगता।

धातुओं के आदि अक्षर : विशेष अर्थ : विसंगति —धातुओं के आदि अक्षरों का विशेष अर्थों के साथ ताल-मेल बिठाना भी सूक्ष्म पर्यालोचन करने पर यथार्थ सिद्ध नहीं होता। ऋकार या रकार से प्रारम्भ होने वाली धातुओं का जो उल्लेख गत्यर्थकता के सन्दर्भ में किया गया था, उनके समकक्ष जो दूसरी गत्यर्थक धातुएं है और जिनका प्रारम्भ ऋ या र से नहीं होता, उनका क्या होगा! गम् धातु गत्यर्थक है। वह 'ग्' से प्रारम्भ होती है। 'ग्' के उच्चारण में वागिन्द्रिय का कोई अंग 'र्' के उच्चारण की तरह दौड़ता नहीं, फिर उपर्युक्त स्थापना की संगति कैसी होगी? गम् की तरह अन्य भी कितनी ही धातुएं होंगी, जो गत्यर्थक हैं, जिनका प्रारम्भ ऋ या

या र् से नहीं होता। ऋ या र् से प्रारम्भ होने वाली ऐसी धातुएं भी हैं, जो गत्यर्थक नहीं हैं। संस्कृत की 'राज्' धातु, जो शोभित होने के अर्थ में है, र् से ही उसका आरम्भ होता है। ग्रीक आदि अन्य भाषाओं मे भी इसके उदाहरण मिल सकते हैं।

पूर्व-चर्चित धातु, प्रत्यय, उपसर्ग, नाम, सर्वनाम आदि के रूप मे भाषा का व्याकृत स्वरूप उसके विकसित होने के बाद का प्रयत्न है। जब भाषा के परिष्करण और परिमार्जन की अपेक्षा हुई, तब उसमें प्रयुक्त शब्दों की शल्य-चिकित्सा का प्रयत्न विशेष रूप से चला। व्याकरण-शास्त्र, व्युत्पत्ति-शास्त्र आदि के सर्जन का सम्भवतः वही प्रेरक सूत्र था। ये विषय मानव की तर्कणा-शक्ति पर आवृत हैं। आदिकाल के मानव मे तर्क-शक्ति इतनी विकसित हो पाई थी, यह सम्भव नही लगता। वस्तुत मानव का तार्किक और प्रातिभ विकास अनेक सहस्राब्दियो के अध्यवसाय और यत्न का फल है।

स्वीट का समन्वयात्मक विचार —स्वीट उन्नीसवी शती के सुप्रसिद्ध भाषा-विज्ञान-वेत्ता थे। उन्होंने भाषा की उत्पत्ति की समस्या का समाधान ढूढने का प्रयत्न किया। उन्होंने भाषा की उत्पत्ति किसी एक आधार मे नहीं मानी। उनके अनुसार कई कारणों या आधारों का समन्वित रूप भाषा के उद्भव मे साधक था। उन्होंने प्रारम्भिक शब्द-समूह को तीन श्रेणियो मे विभाजित किया। उसके अनुसार पहले वे थे, जिनका आधार अनुकरण था। उन्होने दूसरी श्रेणी मे उन शब्दो को रखा, जो मनोभावाभिव्यंजक हैं। उनके अनुसार तीसरी श्रेणी मे वे शब्द आते हैं, जिन्हे प्रतीकात्मक (Symbolic) कहा गया है। उनका मान्यता है कि भाषा मे प्रारम्भ मे इस श्रेणी के शब्द सख्या में बहुत अधिक रहे होगे।

शब्द · अर्थ : यदृच्छा : प्रतीक :—स्वीट के अनुसार प्रतीकात्मक शब्द वे हैं, जिनका अपना कोई अर्थ नहीं होता। संयोगवश जो किसी विशेष अर्थ के ज्ञापक या प्रतीक बन जाते हैं। उन अर्थों मे उनका प्रयोग चलता रहता है। फलत भाषा में उनके साथ उन विशेष अर्थों की स्थापना हो जाती है। उदाहरणार्थ, एक शिशु है। वह मां को देखता है। कुछ बोलना चाहता है। इस प्रयत्न मे उसके होंठ खुल जाते हैं। अनायास 'मा-मा' ध्वनि निकल पडती है। तब तक 'मा-मा' (Mama) ध्वनि का किसी अर्थ से सम्बन्ध नहीं है। संयोग वश शिशु के मुह से माता के सामने बार-बार यह ध्वनि निकलती है। इसका उच्चारण सरल है। माता इस ध्वनि को अपने लिए गृहीत कर लेती है। परिणामस्वरूप यह शब्द माता का ज्ञापक या प्रतीक बन जाता है। इस प्रकार इसके साथ एक निश्चित अर्थ जुड़ जाता है। यही 'पापा' (Papa) आदि की स्थिति है। सस्कृत के माता, पिता, भ्राता ग्रीक के Meter, Phrater, pater लेटिन के Mater, Pater, Frater, अंग्रेजी के Mother, Father, Brother फारसी के मादर, पिदर, बिरादर तथा हिन्दी के माता, पिता, चाचा, काका, दादा, भाई, बाई, दाई सम्भवत. मूल रूप मे इसी श्रेणी के शब्द रहे होगे। इन सायोगिक ध्वनियो मे से अधिकाश के आद्य अक्षर ओष्ठ्य हैं। सहसा कोई बच्चा कोई ध्वनि उच्चारित करने को ज्यो ही तत्पर होता है, होठ खुल जाते हैं। अनायास उसके मुह से जो ध्वनि निःसृत होती है, प्राय ओष्ठ्य होती है, क्योंकि वैसा करने मे उसे अपेक्षाकृत बहुत कम श्रम होता है।

स्वीट ने प्रतीकात्मक शब्दो को श्रेणी मे कतिपय सर्वनाम शब्दो को भी समाविष्ट किया है। उनकी निष्पत्ति सांयोगिक है, पर, उन अर्थों के लिए वे गृहीत हो गये। फलत. उनका एक निश्चित अर्थ के साथ ज्ञाप्य-सम्बन्ध स्थापित हो गया। उदाहरण के लिए सस्कृत के त्वम् (तुम) सर्वनाम को लिया जा सकता है। ग्रीक मे यह To, लैटिन मे Tu, हिन्दी में तू, अंग्रेजी मे Thow होता है। इसी प्रकार सस्कृत मे यह और वह वाचक सर्वनाम 'इदम्' और 'अदम्' हैं। अंग्रेजी मे इसके स्थान पर This और That हैं तथा जर्मन मे Dies और Das। स्वीट ने बहुत-सी क्रियाओं की निष्पत्ति के सम्बन्ध मे भी प्रतीकात्मकता के आधार पर विचार किया है।

निष्कर्ष —भाषा के सन्दर्भ मे यह मानव की आदिम अवस्था का प्रयास था। इसके अनुसार सम्भव है, आरम्भ मे 'प्रतीक' कोटि के अनेक शब्द निष्पन्न हुए होगे। उनका प्रयोग भी चलता रहा होगा। उनमे से जो शब्द अभीप्सित अर्थ की अभिव्यंजना मे सर्वाधिक सक्षम, उच्चारण और श्रवण मे समीचीन नहीं रहे होंगे, धीरे-धीरे वे मिटते गये होगे और जो (शब्द) उक्त अर्थ मे अधिक सक्षम एव संगत प्रतीत हुए होंगे, उन्होने भाषा मे अपना अमिट स्थान बना लिया होगा। जैसे, प्रकृति-जगत् और जीव-जगत् मे सर्वत्र Survival of the fittest=योग्यतमावशेष का सिद्धान्त लागू है, उसी प्रकार शब्दो के जगत् मे भी वह व्याप्त है। वहा भी योग्यतम या उपयुक्त का ही अस्तित्व रहता है, अन्य सब धीरे-धीरे अस्तित्वहीन होते जाते है। प्रतीकात्मक शब्द जो भाषा मे सुरक्षित रह पाये हैं, वे आदि सृष्ट शब्दो मे से थोडे से हैं।

स्वीट ने जिन तीन सोपानों का प्रतिपादन किया है, एक सीमा विशेष तक भाषा की संरचना मे उनकी उपयोगिता है। इस प्रसंग में इतना आवश्यक है कि स्वीट ने विभिन्न धातुओं तथा सर्वनामो के रूपो की प्रतीकात्मकता से जो संगति बिठाने का प्रयत्न किया है, वह यथार्थ का स्पर्श करता नही लगता। इसके अतिरिक्त एक बात और है, स्वीट द्वारा उक्त तीनो सोपानो के अन्तर्गत जिन शब्दो का उद्भव व्याख्यात हुआ है, उसके बाद भी उन (तीनो) से कई गुने शब्द और हैं, जिनके अस्तित्व मे आने की कारण-परम्परा अज्ञात रह जाती है। अनुकरण, मनोभावाभिव्यजन तथा प्रतीक, इन तीनों कोटियो मे वे नहीं आते। पूर्व चर्चित अनुकरण और आकस्मिक भाव

प्रसूत शब्द संख्या में थोड़े से हैं। उसी प्रकार प्रतीकात्मक शब्द भी प्राय: पारिवारिक सम्बन्धों की ज्ञापकता से बहुत दूर नहीं जाते वे भी संख्या मे सीमित ही हैं।

प्रतीकात्मक आदि प्रारम्भ में प्रयुज्यमान शब्दों के सादृश्य के आधार पर अन्यान्य शब्द अस्तित्व में आते गये, भाषा विकास की ओर गतिशील रही, ऐसी कल्पना भी सार्थक नहीं लगती। जैसे, प्रतीकात्मक शब्दों के विषय को ही लें। बच्चों का एक ससीम जगत् है। उनके सम्बन्ध और आवश्यकताएं सीमित हैं। उनकी आकांक्षाओं के जगत् का सम्बन्ध मात्र खाना, पीना, पहनना, ओढ़ना, सोना आदि निसर्गज मूल लिप्साओं से दूर नहीं है। इस स्थिति के परिप्रेक्ष्य मे जो सांयोगिक ध्वनियां या शब्द प्रादुर्भूत होते हैं, उनके द्वारा ज्ञाप्यमान अर्थ बहुत सीमित होता है। उनसे केवल अत्यन्त स्थूल पदार्थों और भावो का सूचन सम्भव है। सूक्ष्म भावों की परिधि में वे नहीं पहुंच पाते।

भाषा की उत्पत्ति : अवलम्बन : निराशा

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे इस प्रकार अनेक मत आविर्भूत हुए, चर्चित हुए, परिवर्तित हुए, पर, अब तक किसी सर्व-सम्मत निष्कर्ष पर पहुंचा नहीं जा सका। इसकी प्रतिक्रिया कुछ मूर्धन्य विद्वानों के मन पर बड़ी प्रतिकूल हुई। उन्हे लगा कि भाषा के उद्गम या मूल जैसे विषय की खोज करना व्यर्थ है; क्योकि अब तक की गवेषणा और अनुशीलन के उपरान्त भी किसी वास्तविक तथ्य का उद्घाटन नहीं हो सका।

कोलम्बिया विश्वविद्यालय के प्राध्यापक एडगर स्टूविण्ट ने लिखा है: "अत्यधिक निरर्थक तर्क-वितर्क के उपरान्त भाषा विज्ञान-वेत्ता इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि मानवीय भाषा के उद्गम के सम्बन्ध मे प्राप्त सामग्री कोई साक्ष्य उपस्थित नही करती।"[1]

इटली के सुप्रसिद्ध विद्वान् मोरियो-पाई का भी इस सम्बन्ध मे इसी प्रकार का विचार है। उन्होंने लिखा है : "वह एक तथ्य, जिस पर सभी भाषा वैज्ञानिक पूर्णतया सहमत हैं, यह है कि मानवीय भाषा के उद्गम की समस्या का अभी तक समाधान हो नही पाया है।"[2]

अमेरिकन भाषा-शास्त्री जे० कैण्ड्रिएस ने इसी बात को इन शब्दो मे प्रकट किया है "भाषा के उद्गम की समस्या का कोई भी सन्तोषजनक समाधान नही हो पाया है।"[3]

विद्वानो के उपर्युक्त विचार निराशाजनक है। किसी विषय पर एक दीर्घ अवधि तक अनवरत कार्य करते रहने पर भी जब अभीप्सित परिणाम नही आता, तब कुछ थकान का अनुभव होने लगता है। थकान के दो फलित होते हैं—एक वह है, जहा आशा मुरझा जाती है। उसके पश्चात् आगे उसी जोश के साथ प्रयत्न चले, यह कम सम्भव होता है। दूसरा वह है, जहा थकान तो आती है, पर जो अदम्य उत्साह के धनी होते है, वे थकान को विश्राम बना लेते हैं तथा भविष्य मे अधिक तन्मयता एव लगन से कार्य करते जाते है।

खोज पर प्रतिबन्ध : विचित्र निर्णय

लगभग एक शताब्दी पूर्व की एक घटना से ज्ञात होगा कि संसार के भाषा वैज्ञानिक भाषा की उत्पत्ति का आधार खोजते-खोजते कितने ऊब गये थे। बहुत प्रयत्न करते रहने पर भी जब भाषा की उत्पत्ति का सम्यक्तया पता नही चल सका, तो विद्वानो मे उस ओर से पराङ्मुखता होने लगी। कुछ का कथन था कि भाषा की उत्पत्ति-सम्बन्धी यह विषय भाषा-विज्ञान के क्षेत्र का नही है। यह नृवंश-विज्ञान या मानव-विज्ञान का विषय है। मानवजाति का विविध सन्दर्भों मे किस प्रकार विकास हुआ, उसका एक यह भी पक्ष है। कुछ का विचार दूसरी दिशा की ओर रहा। उनके अनुसार यह विषय प्राचीन इतिहास से सम्बद्ध है। कुछ विद्वानो का अभिमत था कि भाषा-विज्ञान एक विज्ञान है। भाषा की उत्पत्ति का विषय इससे सम्बद्ध है। इस पर विचार करने के लिए वह ठोस सामग्री और आधार चाहिए, जिनका वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सके। कल्पनाओ पर विज्ञान नही टिकता। इसके वैज्ञानिक परीक्षण और अनुसन्धान के लिए आज प्रत्यक्षत कोई सामग्री प्राप्त नही है। भाषा कब उत्पन्न हुई, कोई भी समय की इयत्ता नही बाध सकता। हो सकता है, यह लाखो वर्ष पूर्व की बात रही हो, जिसका लेखा-जोखा केवल अनुमानो के आधार पर कल्पित किया जा सकता है। वैज्ञानिक कसौटी पर

1. After much futile discussion linguists have reached the conclusion that the data with which they are concerned yield little or no evidence about the origin of human speech.—*An Introduction to Linguistic Science, p. 40, New Haven, 1948.*
2. If there is one thing on which all linguistics are fully agreed, it is that the problem of the origin of human speech is still unsolved.

—*The Story of Language, p.* 18, *London, 1952*,

3. ....The problem of the origin of language does not admit of only satisfactory solution.

—J. *Kendryes*, *Language, p.* 315, *London, 1952*

करते आ सकने योग्य आधार न होने के कारण भाषा की उत्पत्ति का विषय भाषा-विज्ञान का अंग नहीं माना जाना चाहिए। इस पर सोचने में और उपक्रम चलते जाने में कोई सार्थकता प्रतीत नहीं होती।

भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में उपर्युक्त विचारों ने एक सनसनी पैदा कर दी। पेरिस में ई० सन् १८६६ में भाषा-विज्ञान परिषद् की प्रतिष्ठापना हुई। उसके नियमोपनियम बनाये गये। आश्चर्य होगा, उसके अन्तर्गत यह भी था कि अब से भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न पर कोई विचार नहीं करना होगा। अर्थात् भाषा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में सोचने पर परिषद् के संस्थापकों ने प्रतिबन्ध लगा दिया। इस प्रकार एक तरह से इस प्रश्न को सदा के लिए समाप्त कर दिया गया। प्रतिबन्ध लगाने वाले साधारण व्यक्ति नहीं थे, संसार के दिग्गज भाषा-शास्त्री थे। सम्भव है, उन्हें लगा हो, जिसका कोई परिणाम नहीं आने वाला है, उस प्रकार के विषय पर विद्वान् वृथा श्रम क्यों करें ?

गवेषणा नहीं रुकी

यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है, प्रतिबन्ध लग गया, पर प्रस्तुत विषय पर अनवरत कार्य चालू रहा। इतना ही नहीं, प्रायः हर दस वर्ष के बाद भाषा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में कोई नया वाद या सिद्धान्त प्रस्फुटित होता गया। यह ठीक ही है। मानव स्वभावतः जिज्ञासा-प्रधान और मननशील प्राणी है। जिज्ञासा-प्रतिबन्ध से अवरुद्ध नहीं होती। वह प्रतिभा-सम्पन्न, उद्बुद्धचेता व्यक्ति को अभीष्ट की गवेषणा में सदा उन्मुख बनाये रखती है।

विज्ञान शब्द भौतिक विज्ञान के रूप में एक पारिभाषिक अर्थ लिए हुए है। भौतिक विज्ञान कार्य-कारण-परम्परा पर आधृत है। कारण की परिणति कार्य में होती है। कारण-सामग्री के बिना कार्य नहीं होता। कारण-सामग्री है, तो कार्य का होना रुकता नहीं। यह निर्बाध नियम है। विज्ञान के इस पारिभाषिक अर्थ में भाषा-विज्ञान एक विज्ञान (Science) नहीं है। पर, वह कल्पना-जनित नहीं है, इसलिए उसे कला (Art) भी नहीं कहा जा सकता। बड़ी उलझन है, कला भी नहीं, विज्ञान भी नहीं, तो फिर वह क्या है ? भाषा वैज्ञानिकों ने इस पहलू पर भी विचार किया है।

मन भाव-संकुल हुआ। अन्तःस्फुरणा जगी। कल्पना का सहारा मिला। शब्द-समवाय निकल पड़ा। यह कविता है भाव-प्रसून है, भाव-संस्पर्शी है, अतः मनोज्ञ है, सरस है, पर, इसका यथार्थ वस्तु-जगत् का यथार्थ नहीं है, कल्पना का यथार्थ है; अतएव यह कला है। इसमें सौन्दर्य पहले है, सत्य तदनन्तर। भाषा-विज्ञान इससे पृथक् कोटि का है। विज्ञान की तरह उसका टिकाव भौतिक कारण-सामग्री पर नहीं है, पर, वह कारण-शून्य एवं काल्पनिक भी नहीं है। शब्द भाषा का दैहिक कलेवर है। वे मुख से निःसृत होते हैं। पर, कल्पना की तरह जैसे-तैसे ही नहीं निकल पड़ते। शब्द अक्षरों का समवाय है। गलस्थित ध्वनि-यन्त्र, स्वर-तन्त्रियां, मुख-विवर-गत उच्चारण-अवयव आदि के साथ श्वास या मूलाधार से उत्थित वायु के संस्पर्श या संघर्ष से अक्षरों का उद्भव बहुत सूक्ष्म व नियमित कारण-परम्परा तथा एक सुनिश्चित वैज्ञानिक क्रम पर आधृत है। यह सरणि इतनी यांत्रिक व व्यवस्थित है कि इसमें तिल मात्र भी इधर-से-उधर नहीं होता। इसे एक निरपवाद वैज्ञानिक विधि-क्रम कहा जा सकता है।

भाषा का विकास यद्यपि शब्दोत्पत्ति की तरह सर्वथा निरपवाद वैज्ञानिक कारण-शृंखला पर तो नहीं टिका है, पर, फिर भी वहां एक क्रम-बद्धता, हेतुमत्ता तथा व्यवस्था है। वह सापवाद तो है, पर, साधारण नहीं है। ऐसे ही कुछ कारण हैं, जिनसे यह भाषाओं के विश्लेषण का शास्त्र भाषा-विज्ञान कहा जाता है, जो भौतिक-विज्ञान से पृथक् होता हुआ भी उसकी तरह कार्य-कारण-परम्परापूर्वक युक्ति और तर्क द्वारा विश्लेष्य और अनुसंधेय है।

निराशा क्यों ?

भाषा-विज्ञान को जब विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) मानते हैं, तो भाषा, जिसका यह विज्ञान है, उसके अन्तर्गत उससे सम्बद्ध सभी पक्षों का अध्ययन एवं अनुसन्धान होना चाहिए। उसके अब तक के इतिहास, विस्तार, विकास आदि के साथ-साथ उसके उद्भव पर भी विचार करना आवश्यक है। गवेषणा के हेतु अपेक्षित सामग्री व आधार नहीं प्राप्त हो सके, इसलिए उस विषय को ही भाषा-विज्ञान से निकाल कर सदा के लिए समाप्त कर दिया जाये, यह उचित नहीं लगता। वैज्ञानिक और अन्वेष्टा कभी किसी विषय को इसलिए नहीं छोड़ देते कि उसके अन्वेषण के लिए उन्हें उपकरण व साधन नहीं मिल रहे हैं। अनुशीलन और अन्वेषण कार्य गतिशील रहेगा, तो किसी समय आवश्यक सामग्री उपलब्ध होगी ही। सामग्री अभी नहीं मिल रही है, तो आगे भी नहीं मिलेगी, ऐसा क्यों सोचें ? इस प्रसंग में संस्कृत के महान् नाटककार भवभूति की यह उक्ति निःसन्देह बड़ी प्रेरणास्पद है : "कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी." अर्थात् यह काल निःसीम है और पृथ्वी बहुत विशाल है। इसमें न जाने कब, कौन उत्पन्न हो जाये, जो दुष्कर और दुःसाध्य कार्य साध लेने की क्षमता से सम्पन्न हो। भविष्य की लम्बी आशाओं के सहारे जो मनस्वी कार्यरत रहते हैं, वे किसी दिन सफल होते ही हैं। कार्य को रोक देना

का छोड़ देना तो भविष्य की सब सम्भावनाओ को मिटा देता है। उपर्युक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में सारूप मे भाषा के उद्भव पर कुछ और चिन्तन अपेक्षित होगा।

वाक्-प्रस्फुटन

मानव जैसे-जैसे जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे विकास की मंजिलों को पार करता हुआ आगे बढ़ता गया, वैसे-वैसे भाषा का भी विकास होता गया। वह ज्यों-ज्यो सघन भाव-संकुलता की स्थिति में आता गया, त्यो-त्यों अपने अन्तरतम की अभिव्यक्ति के लिए आकुलता या उतावलापन भी उसमें व्याप्त होता गया। "आवश्यकता आविष्कार की जननी है" के अनुसार अभिव्यक्ति का माध्यम भी जैसा बन पड़ा, आकलित होता गया। यह अनुकरण, मनोभावाभिव्यंजन तथा इंगित आदि के आधार पर ध्वनि-उद्भावना और (प्रथम) भाषा-संरचना की आदिम दशा का परिचय है।

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी

वागिन्द्रिय से वाक्-निःसृति के क्रम पर कुछ संकेत पूर्व पृष्ठो मे किया गया था। यहां उसका कुछ विस्तार से विश्लेषण किया जा रहा है। वैदिक वाङ्मय मे परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी, इन नामों से चार प्रकार की वाणी वर्णित हुई है। महाभाष्यकार पतंजली ने महाभाष्य के प्रारम्भ में ही ऋग्वेद की एक पंक्ति[1] उद्धृत करते हुए इस ओर इंगित किया है।

साहित्य-दर्पण के टीकाकार प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय प० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी ने वर्ण की व्याख्या के प्रसग मे परा, पश्यन्ती आदि वाक् रूपो का सक्षेप मे सुन्दर विश्लेषण किया है। उन्होंने लिखा है: "ज्ञान म आये हुए अर्थ की विवक्षा से आत्मा तद्बोधक शब्द के निष्पादन के लिए अन्तःकरण को प्रेरित करता है। अन्तःकरण मूलाधार स्थित अग्नि—ऊष्मा—तेज को सचालित करता है। अग्नि के द्वारा तत्स्थलवर्ती वायु स्पन्दित होता है। इस प्रकार स्पन्दित वायु द्वारा वहां सूक्ष्म रूप मे जो शब्द उद्भूत होता है, वह 'परा' वाक् कहा जाता है। तदनन्तर नाभि प्रदेश तक संचालित वायु के द्वारा उस देश के सयोग से जो शब्द उत्पन्न होता है, उसे 'पश्यन्ती' वाक् कहा जाता है। ये दोनों (वाक्) सूक्ष्म होती हैं, अत: ये परमात्मा या योगी द्वारा ज्ञेय हैं। साधारणजन उन्हे कर्ण-गोचर नहीं कर सकते। वह वायु हृदय-देश तक परिसृत होती है और हृदय के संयोग से जो शब्द निष्पन्न होता है, वह 'मध्यमा' वाक् कहलाता है। कभी-कभी कान बन्द कर सूक्ष्मतया ध्वनि के रूप मे जनसाधारण भी उसे अधिगत कर सकते हैं। उसके पश्चात् वह वायु मुख तक पहुंचती है, कण्ठासन्न होती है, मूर्द्धा को आहत करती है, उसके प्रतिघात से वापिस लौटती है तथा मुख-विवर मे होती हुई कण्ठ आदि आठ उच्चारण स्थानो मे किसी एक का अभिघात करती है, किसी एक से टकराती है। तब जो शब्द उत्पन्न होता है, वह 'वैखरी' वाक् कहा जाता है।"[2] पाणिनीय शिक्षा मे भी शब्द-स्फुटन का मूल इसी तरह व्याख्यात किया गया है।[3]

शब्द-निष्पत्ति का यह एक शास्त्रीय क्रम है। भौतिक विज्ञान के साधनो द्वारा इसका परीक्षण नही किया जा सकता, क्योंकि वैखरी वाक् से पूर्व तक का क्रम सर्वथा सूक्ष्म या अभौतिक है। फिर भी यह एक ऐसी कार्य-कारण परम्परा को लिए हुए है, जो अपने आप मे कम वैज्ञानिक नही है। भाषा विज्ञान मे यद्यपि अद्यावधि यह क्रम सम्पूर्णत. स्वीकृत नही है, तथापि यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है, जो दार्शनिक दृष्टि से शब्द-निष्पत्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। तात्पर्य यह है कि जब मानव (आत्मा) अन्त:स्थित विचार या भाव, जिसे उक्त उद्धरण में ज्ञात अर्थ कहा गया है, की विवक्षा करता है, उसे वाणी द्वारा प्रकट करना चाहता है, तो वह अपने अन्त करण (विचार और भावना के स्थान) को प्रेरित करता है और यह चिकीर्षा तत्क्षण उससे जुड़ जाती है। उसके बाद अनल और अनिल के प्रेरित एव चलित होने की बात आती है। यह एक सूक्ष्म आवयविक प्रक्रिया है। यह सर्व विदित है और सर्व-स्वीकृत भी कि ध्वनि-निष्पादन मे वायु का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पर, वायु को ऊर्ध्वगामी करने के लिए जोर लगाने की या धकेलने की आवश्यकता होती है। मूलाधार स्थित अग्नि (तेज, ओज) द्वारा वायु के नाभि देश की ओर चालन का यही अभिप्राय है। नाभि-देश

---

१ गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति। —ऋग्वेद; १।१६४।४५

२ वेदनेन ज्ञातार्थविवक्षया तद्बोधकशब्दनिष्पादनाय प्रेरितमन्तःकरणं मूलाधारस्थितमनलं चालयति, तच्चालितोऽनलस्तत्स्थलवर्तिवायुचालनाय प्रभवति, तच्चालितेन वायुना तत्रैव सूक्ष्मरूपेणोत्पादितः शब्दः परा वागित्यभिधीयते। ततो नाभिदेशपर्यन्तचलितेन तेन तद्देशसंयोगादुत्पादितः शब्दः पश्यन्तीति व्यवह्रियते। एतद्द्वयस्य सूक्ष्मसूक्ष्मतरत्वेनेश्वरयोगिमात्रगम्यता, नास्मदीयश्रुतिगोचरता। ततस्तेनैव हृदयदेशं परिसरिता हृदयसंयोगेन निष्पादितः शब्दो मध्यमेत्युच्यते। सा च स्वकर्णपिधानेन ध्यान्यात्मकतया सूक्ष्मरूपेण कदाचिदस्माकमपि समधिगम्या। ततो मुखपर्यन्तमाक्रामता तेन कण्ठदेशमासाद्य मूर्धानमाहत्य तत्प्रतिघातेन परावृत्य च मुख-विवरे कण्ठादिकेष्वष्टसु स्थानेषु स्वाभिघातेनोत्पादितः शब्द वैखरीति कथ्यते —साहित्य दर्पण, पृ० २१

३. आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥

से पवन या श्वास फिर ऊर्ध्वगामी होता है। वस्तुतः श्रवण-गम्य वाक् का मूल श्वास के उत्थान में है। वह (श्वास) ऊर्ध्वगमन करता हुआ ध्वनि-यन्त्र या स्वर-यन्त्र (Vocal Chord) से टकराता है।

स्वर-यन्त्र का आवयविक स्वरूप और प्रक्रिया

गले के भीतर भोजन और जल की नली के समकक्ष श्वास की नली का वह भाग, जो अभिकाकल—स्वरयन्त्रावरण (Epiglotis) से कुछ नीचे है, ध्वनि-यन्त्र या स्वर-यन्त्र कहा जाता है। गले के बाहर की ओर कण्ठमणि या घाटी के रूप मे जो उभरा हुआ, दुबले-पतले मनुष्यो के कुछ बाहर निकला हुआ कठोर भाग है, वही भीतर स्वर-यन्त्र का स्थान है। श्वास-नलिका का यह (स्वर-यन्त्र-गत) भाग कुछ मोटा होता है। प्रकृति का कुछ ऐसा ही प्रभाव है, जहा जो चाहिए, उसे वह सम्पादित कर देती है। स्वर-यन्त्र या ध्वनि-यन्त्र मे सूक्ष्म झिल्ली के बने दो लचकदार पर्दे होते हैं। उन्हें स्वर-तन्त्री या स्वर-रज्जू कहा जाता है। स्वर-तन्त्रियों के मध्यवर्ती खुले भाग को स्वर-यन्त्र-मुख या काकल (Glottis) कहते है। जब हम सांस लेते हैं या बोलते हैं, तब वायु इसी से भीतर-बाहर आती-जाती है। मानव इन स्वर-तन्त्रियो के सहारे अनेक प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करता है। तात्पर्य यह है, श्वास या पवन के सस्पर्श, या या सघर्ष से स्वर-तन्त्रियो या स्वर-यन्त्र के इन लचीले दोनो पर्दों मे कई प्रकार की स्थितियां बनती हैं। कभी ये पर्दे एक-दूसरे के समीप आते हैं, कभी दूर होते हैं। सामीप्य और दूरी मे भी तरतमता रहती है—कब एक पर्दा कितना तना, कितना सिकुडा, दूसरा कितना फैला, कितना सटा इत्यादि। इस प्रकार फैलाव, तनाव, कम्पन आदि की विविधता ध्वनियो के अनेक रूपो मे प्रस्फुटित होती है। जैसे, वीणा के भिन्न-भिन्न तार ज्यो ज्यो अगुली द्वारा सस्पृष्ट और आहत होते जाते हैं, भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वर उत्पन्न करते जाते हैं। वही बात स्वर यन्त्र के साथ है, जो एक व्यवस्थित और नियमित क्रम लिए हुए है।

स्वर-यन्त्र से निःसृत ध्वनिया मुख-विवर मे आकर अपने-अपने स्वरूप के अनुकूल मुखगत उच्चारण अवयव—कण्ठ, तालु, मूर्द्धा, दन्त, ओष्ठ, नासिका आदि को सस्पृष्ट करती हुई मुख से बाहर निःसृत होती हैं, वायु से टकराती हैं। जैसा-जैसा उनका सूक्ष्म स्वरूप होता है, वे वायु मे वैसे प्रकम्पन या तरंगें पैदा करती हैं। वे तरंगे ध्वनि का सवहन करती हुई उन्हे कर्णगोचर बनाती हैं।

शब्द के सूक्ष्मतम अभौतिक कलेवर की सृष्टि

ध्वनि की अभिव्यक्ति का व्यापार मूलाधार मे प्रारम्भ होकर मुख-विवर से निःसृत होने तक किन-किन परिणतियो में से गुजरता है, यह बडी सूक्ष्म प्रक्रिया है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के विवेचन के अन्तर्गत जो बतलाया गया है, उसका निष्कर्ष यह है कि जब अर्थ-विशेष का सस्फुरण या भावोद्वेलन व्यक्त होने के लिए शब्द की मांग करता है, अर्थ की बोधकता के अनुरूप उस शब्द का सूक्ष्मतम अभौतिक कलेवर तभी बन जाता है, जिसकी पारिभाषिक सज्ञा 'परा' वाक् अर्थात् वह बहुत दूरवर्ती वाणी या शब्द, जो हमारी पकड के बाहर है - तदनन्तर नाभि-देश के सयोग या सस्पर्श द्वारा जो शब्द उत्पन्न होता है, वह भी पहले से कुछ कम सही, सूक्ष्मावस्था मे ही रहता है। इस पवन-संश्लिष्ट सूक्ष्म वाक् का और विकास होता है। सूक्ष्म—अमूर्त शब्द मूर्तत्व अधिगत करने की ओर बढता है। सूक्ष्म शब्द का थोडा-सा स्थान स्थूल शब्द ले लेता है। पर, जैसा कि कहा गया है वह व्यक्त, स्फुट या इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होता। यह सूक्ष्म और स्थूल वाणी का मध्यवर्ती रूप है, जहा से सूक्ष्मता के घटने और स्थूलता के बढ़ने का अभियान आरम्भ होता है। इसीलिए सम्भवत इसे 'मध्यमा' कहा गया हो। 'मध्यमा' का उत्तरवर्ती रूप 'वैखरी'[1] है, जो मानव के व्यवहार-जगत् का अंग है। 'वैखरी' के प्रस्फुटित होने का अर्थ है—शब्द द्वारा एक आकार की प्राप्ति।

बहुत जटिल से प्रतीत होने वाले उपर्युक्त विवेचन का सक्षेप मे साराश यह है कि शब्दमात्र के प्रस्फुटन या प्रकट होने में मुख्य क्रियाशील तत्त्व पवन या श्वास है। मूलाधार मे उत्पन्न सूक्ष्मतम से प्रारम्भ होकर नाभिदेश मे उद्भूत सूक्ष्मतर में से गुजरते हुए हृदय-देश में प्रकटित—व्यक्त-अव्यक्त सूक्ष्म स्वरूप को प्राप्त शब्द के श्वास-संश्लिष्ट होने का ही सम्भवत यह प्रभाव होना चाहिए कि श्वास विभिन्न स्थिति, रूप, क्रम एव परिमाण मे स्वर-यन्त्र के पर्दों का संस्पर्श करता हुआ उनके विविधतया तनने, फैलने, सिकुडने, मिलने, अर्द्धमिलित, अल्पमिलित, ईषन्मिलित आदि अवस्थाए प्राप्त करने, फलतः तदनुरूप स्वर, व्यजन शब्द-गठन अक्षर परिस्फुट करने का हेतु बनता है।

वाणी के प्रादुर्भाव का जो क्रम प्रतिपादित हुआ है, वास्तव मे बड़ा महत्त्वपूर्ण है और वैज्ञानिक सरणि लिये हुए है। वागुत्पत्ति जैसे विषय पर भी भारतीय विद्वानो ने कितनी गहरी डुबकियां ली, इसका यह परिचायक है।

---

१. विशेषेण रव राति=रा+क+अण्+ङीप् अर्थात् जो विशेष रूप से आकाश को रव-युक्त करे—निनादित करे।

जैन दर्शन की दृष्टि से

जैन दर्शन तीन प्रकार की प्रवृत्तियां—योग स्वीकार करता है—मानसिक, वाचिक तथा कायिक। जब मनुष्य मनोयोग या या मन.प्रवृत्ति में संलग्न होता है, तो उस (मनोयोग) के द्वारा सूक्ष्म कर्म-पुद्गल (कर्म-परमाणु) आकृष्ट होते हैं। ये कर्म-परमाणु मूर्त होते हैं, पर, उनका अत्यन्त सूक्ष्म आकर होता है। मन की प्रवृत्ति या चिन्तन जिस प्रकार का होगा, उसी के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्माणु आकृष्ट होंगे।

मनोयोग या मानसिक चिन्तन किसी भी उद्भूयमान कर्म की प्रथम व सूक्ष्म सरचना है। चिन्तन के अनन्तर वाचिक अभिव्यक्ति का क्रम आता है, जिसके लिए शब्दात्मक भाषा की आवश्यकता होती है। मनोयोग जब वाक्-योग मे परिणत होना चाहता है, तो तो वे मन प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट कर्म-परमाणु ध्वनि-निष्पत्ति-क्रम पर विशेष प्रभाव डालते हैं। वह प्रभाव आकृष्ट या संचित कर्म-परमाणुओ की भिन्न-भिन्न दशाओ के अनुसार विविध प्रकार का होता है, जैसा होना स्वाभाविक है। फलत: विभिन्न मनोभावो के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनिया या शब्द वाक्-योग के रूप मे निकल पड़ते हैं।

स्थूल और सूक्ष्म की भेद-रेखा

अनुकरण, मनोभावाभिव्यजन, इगित या प्रतीक आदि सिद्धान्त जिनका पहले विवेचन किया गया है, स्थूल भाव-बोधक शब्दो की उत्पत्ति मे किसी-न-किसी रूप मे सहायक बनें, यह सर्वथा सम्भव प्रतीत होता है। सूक्ष्म भावो के परिस्फुरण का समय सम्भवत: मानव के जीवन मे तब आया होगा, जब वह मानसिक दृष्टि से विशेष विकसित हो गया होगा। वैसी दशा मे परा, पश्यन्ती आदि के रूप मे वाक्-निष्पत्ति के क्रम तथा जैन-दर्शन सम्मत वाक्-योग के क्रियान्वयन की सरणि से सूक्ष्म-भाव-बोधक शब्दो की उत्पत्ति के सन्दर्भ मे कुछ प्रकाश प्राप्त किया जा सकता है।

एक प्रश्न का उभरना स्वाभाविक है कि परा, पश्यन्ती आदि के उद्भव-क्रम के अन्तर्गत सृष्ट सूक्ष्म शब्दाकारो या मन: प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट विभिन्न पुद्गल-परमाणुओ से नि सार्यमाण ध्वनि या शब्द प्रभावित होते है, तो फिर समस्त जगत् के लोगों द्वारा प्रयुज्यमान शब्दों मे, भाषाओ मे परस्पर अन्तर क्यो है ?

तथ्य यह है कि ससार भर के मानव एक ही स्थिति, प्रकृति, जल-वायु, उपकरण, सामाजिकता आदि के परिवेश मे नही रहते। उनमे अत्यधिक भिन्नता है। उच्चारण-अवयव तथा उच्चार्यमाण ध्वनि-समवाय उसमे अप्रभावित कैसे रह सकता है ?

दूसरा विशेष तथ्य यह है कि उपर्युक्त वाक्-निष्पत्ति-क्रम का सम्बन्ध विशेषत सूक्ष्मार्थ-बोधक शब्दो की उत्पत्ति के साथ सम्भाव्य है, जबकि स्थूल भाव-ज्ञापक शब्द ससार की भिन्न-भिन्न भाषाओं मे बन चुके थे। जो-जो भाषाए अपना जिस प्रकार का स्थूल रूप लिए हुए थी, सूक्ष्म भाव-बोधक शब्दो की सरचना का ढलाव भी उसी ओर हो, ऐसा सहज प्रतीत होता है। इस प्रकार के अनेक कारण रहे होंगे, जिनसे भिन्न-भिन्न भू-भागो की भाषाओं के स्वरूप भिन्न-भिन्न साचो मे ढलते गये।

उपसंहृति

दार्शनिक पृष्ठभूमि पर वैज्ञानिक शैली मे किया गया उपर्युक्त विवेचन एक ऊहापोह है। वास्तव मे भाषा के उद्भव और विस्तार की कहानी बहुत लम्बी एव उलझन भरी है। भाषा को वर्तमान रूप तक पहुचाने में विकासशील मानव को न जाने कितनी मजिले पार करनी पड़ी हैं। मानव-मानव का पारस्परिक सम्पर्क, जन्तु-जगत् का साहचर्य, प्रकृति मे विहरण तथा अपने कृतित्व से उद्भावित उपकरणो का साहाय्य प्रभृति अनेक उपादान मानव के साथ थे, जिन्होने उसे प्रगति और विकास के पथ पर सतत गतिशील रहने मे स्फूर्ति प्रदान की। उदीयमान एव विकासमान भाषा भी उस प्रगति का एक अग रही। उसी का परिणाम है कि विश्व मे आज अनेक समृद्ध भाषाए विद्यमान हैं, जो शताब्दियो और सहस्राब्दियो के ज्ञान-विज्ञान की अमूल्य धारा को अपने मे सजोये हुए हैं।

भाषा वैज्ञानिक साधारणतया ऐसा मानते आ रहे है कि आर्य भाषाओ के विकास क्रम के अन्तर्गत वैदिक भाषा से सस्कृत का विकास हुआ और सस्कृत से प्राकृत का उद्भव हुआ। इसलिए भाषा वैज्ञानिक इसका अस्तित्व सस्कृत काल के पश्चात् स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध मे विस्तार से विवेचन अपेक्षित है —

प्राकृत का भाषा वैज्ञानिक विकास : एक ऐतिहासिक पर्यवेक्षण

भाषा-वैज्ञानिकों ने भारतीय आर्यभाषाओ के विकास का जो काल-क्रम निर्धारित किया है, उसके अनुसार प्राकृत का काल ई० पू० ५०० से प्रारम्भ होता है। पर, वस्तुत यह निर्धारण भाषा के साहित्यिक रूप की अपेक्षा से है। यद्यपि वैदिक भाषा की प्राचीनता में किसी को सन्देह नहीं है, पर, वह अपने समय मे जन-साधारण की बोलचाल की भाषा रही हो, ऐसा सम्भव नही लगता। वह ऋषियो, विद्वानों तथा पुरोहितों की साहित्य-भाषा थी। यह असम्भव नही है कि उस समय वैदिक भाषा से सामंजस्य रखने वाली अनेक बोलिया प्रचलित रही हों। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने प्रादेशिक दृष्टि से एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न रूपों के प्रयोग के सम्बन्ध में

महाभाष्य मे जो उल्लेख किया है, सम्भवत: वह इसी तथ्य को पुष्ट करता है कि कुछ प्रदेशो में वैदिक भाषा के कतिपय शब्द उन-उन प्रदेशो की बोलियों के संसर्ग से कुछ भिन्न रूप मे अथवा किन्ही शब्दों के कोई विशेष रूप प्रयोग में आने लगे थे। यह भी अस्वाभाविक नहीं जान पड़ता कि इन्ही बोलियो मे से कोई एक बोली रही हो, जिसके पुरावर्ती रूप ने परिमार्जित होकर छन्दस् या वैदिक संस्कृत का साहित्यिक स्वरूप प्राप्त कर लिया हो।

कतिपय विद्वानो का ऐसा अनुमान है कि वेदो का रचना-काल आर्यों के दूसरे दल के भारत मे प्रविष्ट होने के बाद आता है। दूसरे दल के आर्य पंचनद तथा सरस्वती व दृषद्वती के तटवर्ती प्रदेश मे होते हुए मध्यदेश मे आये। इस क्रम के बीच वेद का कुछ भाग पंचनद मे तथा सरस्वती व दृषद्वती की घाटी मे बना और बहुत सा भाग मध्यदेश मे प्रतीत हुआ। अथर्ववेद का काफी भाग, जिसके विषय में पूर्व इंगित किया गया है, जो परवर्ती माना जाता है, सम्भवत पूर्व में बना हो।

पहले दल के आर्यों द्वारा, जिन्हे दूसरे दल के आर्यों ने मध्यदेश मे खदेड दिया था, वेद की तरह किसी भी साहित्य के रचे जाने का उल्लेख नही मिलता। यही कारण है कि मध्यदेश के चारों ओर लोग जिन भाषाओ का बोलचाल मे प्रयोग करते थे, उनका कोई भी साहित्य आज उपलब्ध नही है। इसलिए उनके प्राचीन रूप की विशेषताओ को नही जाना जा सकता, न अनुमान का ही कोई आधार है। वैदिक युग मे पश्चिम, उत्तर, मध्यदेश और पूर्व मे जन-साधारण के उपयोग मे आने वाली इन बोलियो के वैदिक युग से पूर्ववर्ती भी कोई रूप रहे होगे, जिनके विकास के रूप में इनका उद्‌भव हुआ। वैदिक काल के पूर्व की ओर समवर्ती जन-भाषाओ को सर जार्ज ग्रियर्सन ने प्राथमिक प्राकृतों (Primary Prakrits) के नाम से उल्लिखित किया है। इनका समय ई० पू० २००० से ई० पू० ६०० तक माना जाता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये प्राथमिक प्राकृतें स्वरो एवं व्यंजनो के उच्चारण, विभक्तियो मे प्रयोग आदि मे वैदिक भाषा से बहुत समानताएं रखती थी। इन भाषाओ से विकास पाकर उत्तरवर्ती प्राकृतो का जो साहित्यिक रूप अस्तित्व मे आया, उससे यह प्रमाणित होता है।

महाभाष्यकार पतंजलि ने महाभाष्य के प्रारम्भ मे व्याकरण या शब्दानुशासन के प्रयोजनो की चर्चा की है। दुष्ट शब्दों के प्रयोग से बचने और शुद्ध शब्दो का प्रयोग करने पर बल देते हुए उन्होंने श्लोक उपस्थित किया है

यस्तु प्रयुंक्ते कुशलो विशेषे, शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ।[1]

अर्थात् जो शब्दो के प्रयोग को जानता है, वैसा करने में कुशल है, वह व्यवहार के समय उनका यथोचित प्रयोग करता है, वह परलोक मे अनन्त जय—उत्कर्ष—अभ्युदय प्राप्त करता है। जो अपशब्दो का प्रयोग करता है, वह दूषित—दोष-भागी होता है।

दुष्ट शब्दों या अपशब्दो की ओर संकेत करते हुए आगे वे कहते है: एक-एक शब्द के अपभ्रंश हैं। जैसे, गौ शब्द के गावी, गोणी, गोपोतलिका इत्यादि हैं।[2]

अपभ्रंश शब्द का यहा प्रयोग उन भाषाओ के अर्थ मे नही है, जो पाचवी शती से लगभग दशवी शती तक भारत (पश्चिम, पूर्व, उत्तर और मध्यमण्डल) मे प्रसृत रही, जो प्राकृतो का उत्तरवर्ती विकसित रूप थी। यहा अपभ्रंश का प्रयोग संस्कृतेतर लोक-भाषाओ के शब्दो के लिए है, जिन्हे उस काल की प्राकृतें कहा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है, तब लोक-भाषाओं के प्रसार और प्रयोग का क्षेत्र बहुत व्यापक हो चला हो। उनके शब्द सम्भवत: वैदिक और लौकिक संस्कृत मे प्रवेश पाने लग गये हो, अत: भाषा की शुद्धि के पक्षपाती पुरोहित विद्वान् उस पर रोक लगाने के लिए बहुत प्रयत्नशील हुए हो। पतंजलि के विवेचन की ध्वनि कुछ इसी प्रकार की प्रतीत होती है।

पतंजलि कुछ आगे और कहते हैं—"सुना जाता है कि "यर्वाण तर्वाण" नामक ऋषि थे। वे प्रत्यक्षधर्मा—धर्म का साक्षात्कार किये हुए थे। पर और अपर—परा और अपरा विद्या के ज्ञाता थे। जो कुछ ज्ञातव्य—जानने योग्य है, उसे वे जान चुके थे। वे वास्तविकता को पहचाने हुए थे। वे आदरास्पद ऋषि 'यद् वा न तद् वा न'—ऐसा प्रयोग जहा किया जाना चाहिए, वहा 'यर्वाण: तर्वाण:' ऐसा प्रयोग करते। परन्तु याज्ञिक कर्म में अपभाषण···अशुद्ध शब्दो का उच्चारण नही करते थे। असुरो ने याज्ञिक कर्म मे अपभाषण किया था, अत उनका पराभव हुआ।"[3]

---

1. महाभाष्य, प्रथम आह्निक, पृ० ७
2. एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा:। तद्यथा गौरित्येतस्य शब्दस्य गावी गोणी गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशा:। —महाभाष्य, प्रथम आह्निक, पृ० ८
3. एवं हि श्रूयते - यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवु: प्रत्यक्षधर्माण: परापरज्ञा विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्या:। ते तत्र भवन्तो यद्वा न इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते याज्ञे पुन: कर्मणि नापभाषन्ते। तै: पुनरसुरैर्याज्ञे कर्मण्यपभाषितम्, ततस्ते पराभूता:।
—महाभाष्य, प्रथम आह्निक, पृ० ३७-३८

पतंजलि के कहने का अभिप्राय यह है कि वैदिक परम्परा के विद्वान् पण्डित भी कभी-कभी बोलचाल में लोक-भाषा के शब्दों का प्रयोग कर लेते थे। इसे तो वे क्षम्य मान लेते हैं, परन्तु, इस पहलू पर जोर देते है कि यज्ञ मे अशुद्ध भाषा कदापि व्यवहृत नही होनी चाहिए। वैसा होने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। उनके कथन से यह अभिव्यंजित होता है कि इस बात की बड़ी चिन्ता व्याप्त हो गयी थी कि लोक-भाषाओ का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ प्रवाह याज्ञिक कर्म-विधि तक कही न पहुंच जाये। वे यहा तक कहते हैं : "याज्ञिको के शब्द हैं कि यदि आहिताग्नि (याज्ञिक अग्न्याधान किये हुए व्यक्ति) द्वारा अपशब्द का प्रयोग हो जाये, तो उसे उसके प्रायश्चित-स्वरूप सारस्वती—दृष्टि-सारस्वत (सरस्वती देवता को उद्दिष्ट कर) यज्ञ करना चाहिए।"[1]

एक स्थान पर पतंजलि लिखते हैं : "...... जिन प्रतिपादको का विधि-वाक्यो मे ग्रहण नही किया गया है, उनका भी स्वर तथा वर्णानुपूर्वी के ज्ञान के लिए उपदेश-संग्रह इष्ट है, ताकि शश के स्थान पर षष, पलाश के स्थान पर पलाष और मञ्चक के स्थान पर मञ्जक का प्रयोग न होने लगे।"[2]

पतंजलि के समक्ष एक प्रश्न और आता है। वह उन शब्दो के सम्बन्ध मे है, जो उनके समय या उनसे पहले से ही संस्कृत में प्रयोग मे नही आ रहे थे, यद्यपि वे थे संस्कृत के ही। ऊष, तेर; चक्र तथा पेच; इन चार शब्दो को उन्होने उदाहरण के रूप मे उपस्थित किया है। उन्होने ऊष के स्थान पर उषिताः, तेर के स्थान पर तीर्णा, चक्र के स्थान पर कृतवन्तः तथा पेच के स्थान पर पक्ववन्त. के रूप मे जो प्रयोग प्रचलित थे, उनकी भी चर्चा की है।[3]

इन शब्दो के अप्रयोग का परिहार करते हुए वे पुन. लिखते हैं : "हो सकता है, वे शब्द जिन्हे अप्रयुक्त कहा जाता है, अन्य देशो—स्थानो मे प्रयुक्त होते हो, हमे प्रयुक्त होते नही मिलते हो। उन्हे प्राप्त करने का यत्न कीजिए। शब्दो के प्रयोग का क्षेत्र बड़ा विशाल है। यह पृथ्वी सात द्वीपों और तीन लोको में विभक्त है। चार वेद हैं। उनके छह अंग है। उसके रहस्य या तत्त्वबोधक इतर ग्रन्थ है। यजुर्वेद की १०१ शाखाए हैं, जो परस्पर भिन्न हैं। सामवेद की एक हजार मार्ग—परम्पराए हैं। ऋग्वेदियो के आम्नाय—परम्परा-क्रम इक्कीस प्रकार के हैं। अथर्ववेद नौ रूपो मे विभक्त है। वाकोवाक्य (प्रश्नोत्तरात्मक ग्रन्थ) इतिहास, पुराण, आयुर्वेद इत्यादि अनेक शास्त्र हैं, जो शब्दो के प्रयोग के विषय है। शब्दो के प्रयोग के इतने विशाल विषय को सुने बिना इस प्रकार कहना कि अमुक शब्द अप्रयुक्त हैं, केवल दुःसाहस है।"[4]

पतंजलि के उपर्युक्त कथन मे मुख्यत दो बातें विशेष रूप मे प्रतीत होती है। एक यह है—संस्कृत के कतिपय शब्द लोक-भाषाओ के ढाचे मे ढलते जा रहे थे। उससे उनका व्याकरण-शुद्ध रूप अक्षुण्ण कैसे रह सकता? लोक-भाषाओ के ढाचे मे ढला हुआ—किंचित् परिवर्तित या सरलीकृत रूप संस्कृत मे प्रयुक्त न होने लगे, इस पर वे बल देते हैं, क्योकि वैसा होने पर संस्कृत की शुद्धता स्थिर नही रह सकती थी। शश—षष, पलाश—पलाष, मञ्चक—मञ्जक, जो उल्लिखित किये गये हैं, वे निश्चय ही इसके द्योतक हैं।

दूसरी बात यह है कि संस्कृत के कुछ शब्द लोक-भाषाओं मे इतने घुल-मिल गये होगे कि उनमे उनका प्रयोग सहज हो गया। सामान्यत. वे लोक-भाषा के ही शब्द समझे जाने लगे हो। संस्कृत के क्षेत्र पर इसकी प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई। वहा उनका प्रयोग बन्द हो गया। हो सकता है, आपाततः संस्कृतज्ञो द्वारा उन्हे लोक-भाषा के ही शब्द मान लिए गये हो या जानबूझकर उनमे दुराव की स्थिति उत्पन्न कर ली गयी हो।

पतंजलि के मस्तिष्क पर सम्भवत इन बातो का असर रहा हो, इसलिए वे इन शब्दो की अप्रयुक्तता के कारण होने वाली भ्रान्ति का प्रतिकार करने के लिए प्रयत्नशील प्रतीत होते हैं। शुद्ध वाक्-ज्ञान, शुद्ध वाक्-प्रयोग, शुद्ध वाक्-व्यवहार को अक्षुण्ण

---

१. याज्ञिकाः पठन्ति आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत। महाभाष्य, पृ० ८

२. ... यानि तर्ह्यगृहणानि प्रातिपदिकानि, एतेषामपि स्वरवर्णानुपूर्वीज्ञानार्थ उपदेशः कर्तव्यः। शशः षष इति मा भूत्। पलाशः पलाष इति मा भूत् मञ्चको मञ्जक इति मा भूत्। —वही, पृ० ४८

३. अप्रयोगः खल्वप्येषां शब्दानां न्याय्य.। कुतः प्रयोगान्यत्वात्। यदेषां शब्दानामर्थेऽन्याञ्छब्दान्प्रयुञ्जते। तद्यथा ऊषेत्यस्य शब्दस्यार्थे क्व यूयमुषिताः, तेरेत्यस्यार्थे क्व यूयं तीर्णाः, चक्रेत्यस्यार्थे क्व यूयं कृतवन्तः, पेचेत्यस्यार्थे क्व यूयं पक्ववन्त इति।

—महाभाष्य; प्रथम आह्निक, पृ० ११

४. सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते। न चैवोपलभ्यन्ते। उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महान्हि शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः सांगाः सरहस्याः, बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, नवधाऽऽथर्वणो वेदः, वाकोवाक्यम्, इतिहासः, पुराणम् वैद्यकमित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः। एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमननुनिशम्य सन्त्यप्रयुक्ता इति वचनं केवलं साहसमात्रमेव।
—वही, पृ० १२-१३

बनाये रखने की उनकी चिन्ता थी, यह उनके उस कथन से स्पष्ट हो जाता है, जिसमें उन्होंने अक्षर-समाम्नाय के ज्ञान को परम पुण्य-दायक एवं श्रेयस्कर बताया है उन्होंने लिखा है . "यह अक्षर-समाम्नाय ही वाक्समाम्नाय है अर्थात् वाक्—वाणी या भाषारूप में परिणत होने वाला है। इस पुष्पित, फलित तथा चन्द्रमा व तारा की तरह प्रतिमण्डित अक्षर-समाम्नाय को शब्द रूप ब्रह्म-तत्त्व समझना चाहिए। इसके ज्ञान से सब वेदों के अध्ययन से मिलने वाला पुण्य-फल प्राप्त होता है। इसके अध्येता के माता-पिता स्वर्ग में गौरवान्वित होते हैं।"[1]

साधारणतया भाषा-वैज्ञानिक प्राकृतों को मध्यकालीन आर्य-भाषा-काल में लेते हैं। वे ई० पू० ५०० से १००० ई० तक के समय का इसमे निर्धारण करते हैं। कतिपय विद्वान् ई० पू० ६०० से इसका प्रारम्भ तथा ११०० या १२०० ई० तक समापन स्वीकार करते हैं। स्थूल रूप मे यह लगभग मिलता-जुलता-सा तथ्य है। भाषाओं के विकास-क्रम मे काल का सर्वथा इत्थंभूत अनुमान सम्भव नहीं होता। मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा-काल को प्राकृत-काल भी कहा जाता है। यह पूरा काल तीन भागों में और बांटा जाता है—प्रथम प्राकृत-काल, द्वितीय प्राकृत-काल, तृतीय प्राकृत-काल। प्रथम प्राकृत-काल प्रारम्भ से अर्थात् ई० पू० ५०० से ई० सन् के आरम्भ तक माना जाता है। इसमे पालि तथा शिलालेखी प्राकृत को लिया गया है। दूसरा काल ई० सन् से ५०० ई० तक का माना जाता है।

वैदिक संस्कृत तथा प्राकृत का सादृश्य

प्राकृतों अर्थात् साहित्यिक प्राकृतों का विकास बोलचाल की जन-भाषाओं, दूसरे शब्दों मे असाहित्यिक प्राकृतों से हुआ, ठीक वैसे ही जैसे वैदिक भाषा या छन्दस् का। यही कारण है कि वैदिक संस्कृत और प्राकृत में कुछ ऐसा सादृश्य, खोज करने पर प्राप्त होता है, जैसा प्राकृत और लौकिक संस्कृत में नहीं है। उदाहरणार्थ, संस्कृत ऋकार के बदले प्राकृत में अकार[2], आकार,[3] इकार[4] तथा उकार[5] होता है। ऋकार के स्थान में उकार की प्रवृत्ति वैदिक वाङ्मय मे भी प्राप्त होती है। जैसे ऋग्वेद १.४६.४ मे कृत के स्थान पर कुठ का प्रयोग है। अन्य भी इस प्रकार के प्रयोग प्राप्य हैं।

प्राकृत मे अन्त्य व्यंजन का सर्वत्र लोप[6] होता है। जैसे—यावत्=जाव, तावत्=ताव, यशस्=जसो। तमस्=तमो। वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र ऐसी प्रवृत्ति दष्टिगोचर होती है। जैसे—पश्चात् के लिए पश्चा (अथर्ववेद संहिता १०.४.११), उच्चात् के लिए उच्चा (तैत्तिरीय संहिता २ ३.१४), नीचात् के लिए नीचा (तैत्तिरीय संहिता ४.५.६१)।

प्राकृत मे संयुक्त य्, र्, व्, श्, ष्, स् का लोप हो जाता है और इन लुप्त अक्षरों के पूर्व के ह्रस्व स्वर का दीर्घ[7] हो जाता है। जैसे—पश्यति=पासइ, कश्यप=कासवो, आवश्यकम्=आवसय, श्यामा=सामा, विश्राम्यति=वीसमई विश्रामः=विसामो, मिश्रम्=मीस, सस्पर्श=सफासो, प्रगल्भ=पगल्भ, दुर्लभ=दूलह। वैदिक भाषा में भी इस कोटि के प्रयोग प्राप्त होते हैं। जैसे—अप्रगल्भ=अपगल्भ (तैत्तिरीय संहिता ४ ५.६१), त्र्यच=त्रिच (शतपथ ब्राह्मण १.३.३.३३), दुर्लभ=दूलभ (ऋग्वेद ४ ६.८) दुर्णाश=दूणाश (शुक्ल यजु प्रातिशाख्य ३.४३)।

---

१. सो ऽ यमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नाय पुष्पित फलितश्चन्द्रतारकवत्प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः, सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति, मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयेते।

—महाभाष्य, द्वितीय आह्निक, पृ० ११३

२. ऋतोत् ॥ ८ । १ । १२६
आदेर्ऋकारस्य अत्व भवति। —सिद्धहैमशब्दानुशासनम्

३. आत्कृशामृदुक मृदुत्वे वा ॥ ८ । १ । १२७
एषु आदेर्ऋत आद् वा भवति। —वही

४. इत्कृपादौ ॥ ८ । १ । १२८
कृपा इत्यादिषु शब्देषु आदेर्ऋत इत्व भवति। —वही

५. उदृत्वादौ ॥ ८ । १ । १३२
ऋतु इत्यादिषु शब्देषु आदेर्ऋत उद्भवति। —वही

६. अन्त्यव्यंजनस्य । ८ । १ । ११
शब्दानां यद् अन्त्यव्यंजन तस्य लुक् भवति। —सिद्धहैमशब्दानुशासनम्

७. लुप्त य-व-र-श-ष-सां दीर्घः ॥ ८ । १ । ४३
प्राकृतलक्षणवशाल्लुप्ता याद्या उपरि अधो वा येषां शकारषकारसकाराणां तेषामादेः स्वरस्य दीर्घो भवति। —वही

प्राकृत मे संयुक्त वर्णों के पूर्व का दीर्घ स्वर ह्रस्व[1] हो जाता है। जैसे, ताम्रम्=तम्बं, विरहाग्नि:=विरहग्गी, आस्यं=अस्सं, मुनीन्द्र:=मुणिन्दो, तीर्थम्=तित्थं, चूर्ण:=चुण्णो; इत्यादि। वैदिक संस्कृत में भी ऐसी प्रवृत्ति प्राप्त होती है। जैसे—रोदसीप्रा=रोदसिप्रा (ऋग्वेद १०.८८.१०), अमात्र=अमत्र (ऋग्वेद ३.३६.४)।

प्राकृत मे संस्कृत द के बदले अनेक स्थानों पर ड[2] होता है। जैसे – दशनम्=डसण. दृष्ट:=डट्ठो, दग्ध:=डड्ढो, दोला=डोला, दण्ड=डण्डो, दर.=डरो, दाह=डाहो, दम्भ=डम्भो, दर्भ:=डब्भा, कदनम्=कडणं, दोहद:=डोहलो। वैदिक संस्कृत में भी यत्र-तत्र इस प्रकार की स्थिति प्राप्त होती है। जैसे—दुर्दभ=दूडभ (वाजसनेय संहिता ३.३६), पुरोदास=पुरोडा (शुक्ल यजु: प्रातिशाख्य ३.४४)।

प्राकृत मे संस्कृत के ख, घ, थ तथा भ की तरह ध का भी ह[3] होता है। जैसे—साधु.=साहू, बधिर.=वहिरो, बाधते=बाहइ, इन्द्रधनु:=इन्दहणू, सभा=सहा। वैदिक वाङ्मय मे भी ऐसा प्राप्त होता है। जैसे—प्रतिसधाय=प्रतिसंहाय (गोपथ ब्राह्मण २.४)।

प्राकृत (मागधी को छोड़ कर प्राय सभी प्राकृतो) मे अकारान्त पुंल्लिंग शब्दो के प्रथमा विभक्ति के एकवचन मे ओ[4] होता है। जैसे—मानुष.=माणसो, धर्म.=धम्मो। एतत् तथा तत् सर्वनाम मे भी विकल्प[5] मे ऐसा होता है। जैसे—स=सो, एष=एसो। वैदिक संस्कृत में भी कही-कही प्रथमा एकवचन मे औ दृष्टिगोचर होता है। जैसे—संवत्सरो अजायत (ऋग्वेद संहिता १०.१९०.२) सो चित् (ऋग्वेद संहिता १.१९१.१०-११)।

संस्कृत अकारान्त शब्दो मे ङसि[6] (पचमी) विभक्ति मे जो देवात्, नरात्, धर्मात् आदि रूप बनते हैं, उनमे अन्त्य त् के स्थान पर प्राकृत मे छ:[7] आदेश होते हैं। उनमे एक त का लोप भी है। लोप के प्रसग को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि पचमी विभक्ति मे एकवचन मे (अकारान्त शब्दो में) आ प्रत्यय होता है। जैसे—देवात्=देवा, नरात्=णरा, धर्मात्=धम्मा, आदि। वैदिक वाङ्मय में भी इस प्रकार के कतिपय पंचम्यन्त रूप प्राप्त होते हैं। जैसे—उच्चात्=उच्चा, नीचात्=नीचा, पश्चात्=पश्चा।

प्राकृत मे पचमी विभक्ति बहुवचन में भिस्[8] के स्थान पर हि आदि होते हैं। जैसे—देवेहि आदि। वैदिक संस्कृत मे भी इसके अनुरूप देवेभि, ज्येष्ठेभि:; गम्भीरेभि आदि रूप प्राप्त होते हैं।

प्राकृत मे एकवचन और बहुवचन ही होते है, द्विवचन नही होता। वैदिक संस्कृत मे वचन तो तीन है, पर इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते है, जहा द्विवचन के स्थान पर बहुवचन के रूपो का प्रयोग हुआ है। जैसे—इन्द्रावरुणो इन्द्रावरुणा:, मित्रावरुणौ=मित्रावरुणा:, नरौ=नरा, सुरथौ=सुरथा, रथितमौ=रथितमा:।

---

१. ह्रस्व: सयोगे ॥ ८। १। ८४
दीर्घस्य यथादर्शन सयोगे परे ह्रस्वो भवति। —वही

२. दशन - दष्ट - दग्ध - दोला - दण्ड - दर - दाह - दम्भ - दर्भ - कदन - दोहदे दो वा डा. ॥ ८। १। २१७
एषु दस्य डो वा भवति। —सिद्धहैमशब्दानुशासनम्

३ ख - घ - थ - ध भाम् ॥ ८। १। १८७
स्वरात्परेषामसयुक्तानामनादिभूताना ख घ थ ध भ इत्येतेषां वर्णानां प्रायो हो भवति। —वही

४. अत: सेर्डो: ॥ ८। ३। २।
अकारान्तान्नाम. परस्य स्यादे: सेः स्थाने डो भवति। —वही

५. वैतत्तद: । ८। ३। ३
एतत्तदोरकारात्परस्य स्यादे: सेर्डो भवति। —वही

६. स्वौजसमौट्छष्टाभ्याभिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्।
—अष्टाध्यायी ४। १। २

सु औ जस् इति प्रथमा। अम् औट् शस् इति द्वितीया। टा भ्याम् भिस् इति तृतीया। ङे भ्याम् भ्यस् इति चतुर्थी। ङसि भ्याम् भ्यस् इति पचमी। ङस् ओस् आम् इति षष्ठी। ङि ओस् सुप् इति सप्तमी।

७ ङसेस् त्तो - दो - दु - हि - हिन्तो - लुक्. ॥ ३। १। ८
अत: परस्य ङसे: त्तो दो दु हि हिन्तो लुक् इत्येते षडादेशा भवन्ति। जैसे—वत्सात्=वच्छत्तो, वच्छाओ, वच्छाउ, वच्छाहि, वच्छाहिन्तो वच्छा।

८. भिसो हि हिँ हिं ॥ ३। १। ७
अत. परस्य भिस: स्थाने केवल: सानुनासिक:, सानुस्वारश्च हिर्भवति।

—सिद्धहैमशब्दानुशासनम्

वर्तमान युग के प्राकृत के महान् जर्मन वैयाकरण डा० पिशल ने विशाल ग्रन्थ Comparetive Grammar of the Prakrit Language में संस्कृत से प्राकृत के उद्गम[1] का खण्डन करते हुए प्राकृत तथा वैदिक भाषा के सादृश्य के द्योतक कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

प्राकृत भाषा	वैदिक भाषा
तण	त्वन
स्त्रीलिंग षष्ठी के एकवचन का रूप 'आए'	आयै
तृतीया बहुवचन का रूप एहि	एभि:
बोहि (आज्ञावाचक)	बोधि
ता, जा, एत्थ	तात्, यात्, इत्था
अम्हे	अस्मे
वग्गूहि	वग्नुभिः
सद्धिं	सध्रीम्
विउ	विदु.
घिमु	घ्रंस
रुक्खव	रुक्ष

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि प्राकृतों का उद्गम वैदिक भाषा-काल से प्राग्वर्ती किन्हीं बोलचाल की भाषाओं या बोलियों से हुआ, जैसे कि उन्हीं में से किसी बोली के आधार पर वैदिक भाषा अस्तित्व में आई।

प्राकृत के प्रकार

प्राकृतें जीवित भाषाएं थीं। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बोले जाने के कारण स्वभावत. उनके रूपों में भिन्नता आई। उन (बोलचाल की भाषाओं या बोलियों) के आधार पर जो साहित्यिक प्राकृतें विकसित हुईं; उनमें भिन्नता रहना स्वाभाविक था। इस प्रकार प्रादेशिक या भौगोलिक आधार पर प्राकृतों के कई भेद हुए। उनके नाम प्राय: प्रदेश-विशेष के आधार पर रखे गये।

आचार्य भरत[2] ने नाट्यशास्त्र में प्राकृतों का वर्णन करते हुए मागधी, अवन्तिजा, प्राच्य सूरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका और दक्षिणात्या नाम से प्राकृत के सात भेदों की चर्चा की है। प्राकृत के उपलब्ध व्याकरणों में सबसे प्राचीन प्राकृतप्रकाश[3] के प्रणेता वररुचि ने महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची, इन भेदों का वर्णन किया है। चण्ड[4] ने मागधी को मागधिका और पैशाची को पैशाचिकी के नाम से उल्लिखित किया है।

छठी शती के सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री दण्डी ने काव्यादर्श[5] में प्राकृतों की भी चर्चा की है। उन्होंने महाराष्ट्री (महाराष्ट्राश्रया), शौरसेनी, गौडी और लाटी; इन चार प्राकृतों का उल्लेख किया है।

---

1. . . This Sanskrit was not the baris of the Prakrit dialects, which indeed dialect, which, on political or religious grounds, was rained to the states of a literary medium, But the difficulty is that it does not seem useful that all the Prakrit dialects sprang out from one and the same source. At least they could not have developed out of Sanskrit, as is generally held by Indian Scholars and Habber. Lassen, Bhandarkar and Jacoby. All the Prakrit languages have a series of comman grammatical and lexical characteristics with the vedic language and such are significantly missing from Sanskrit.

२. मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसेन्यर्धमागधी।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषा: प्रकीर्तिता:॥ —नाट्यशास्त्र; १७-१८

३. प्राकृतप्रकाश, १०. १-२, ११. १, १२. ३२

४. पैशाचिक्यां रणयोर्लनौ।
मागधिकायां रसयोर्लशौ॥ —प्राकृत-लक्षण ३, ३८-३९

५. महाराष्ट्राश्रयां भाषां, प्रकृष्टं प्राकृतं विदु:।
सागर: सूक्तिरत्नानां, सेतुबन्धादि यन्मयम्॥
शौरसेनी च गौडी च, लाटी चान्या च तादृशी।
याति प्राकृतमित्येवं, व्यवहारेषु सन्निधिम्॥ —काव्यादर्श, ३३४-३५

आचार्य हेमचन्द्र ने वररुचि द्वारा वर्णित चार भाषाओं के अतिरिक्त आर्ष, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश; इन तीनों को प्राकृत भेदों में और बताया है। आचार्य हेमचन्द्र ने अर्द्धमागधी को आर्ष कहा है।

त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर, सिंहराज और नरसिंह आदि वैयाकरणों ने आचार्य हेमचन्द्र के विभाजन के अनुरूप ही प्राकृत-भेदों का प्रतिपादन किया है। अन्तर केवल इतना-सा है, इनमे त्रिविक्रम के अतिरिक्त किसी ने भी आर्ष का विवेचन नही किया है। वस्तुतः जैन परम्परा के आचार्य होने के नाते हेमचन्द्र का, अर्द्धमागधी (जो जैन आगमों की भाषा है) के प्रति विशेष आदरपूर्णभाव था, अतएव उन्होंने इसे आर्ष[1] नाम से अभिहित किया।

मार्कण्डेय ने प्राकृत-सर्वस्व मे प्राकृत को सोलह भेदोपभेदो मे विभक्त किया है। उन्होने प्राकृत को भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाच; इन चार भागो मे बांटा है। इन चारो का विभाजन इस प्रकार है .

१ भाषा—महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी।

२. विभाषा—शाकारी, चाण्डाली, शबरी आभीरिका और टाक्की।

३. अपभ्रंश—नागर, व्राचड तथा उपनागर।

४. पैशाच—कैकय, शौरसेन एवं पांचाल।

नाट्यशास्त्र में विभाषा के सम्बन्ध मे उल्लेख है कि शकार, आभीर, चाण्डाल, शबर, द्रमिल, आन्ध्रोत्पन्न तथा वनेचर की भाषा द्रमिल कही जाती है।

मार्कण्डेय ने भाषा, विभाषा आदि के वर्णन के प्रसग मे प्राकृत चन्द्रिका के कतिपय श्लोक उद्धृत किये है, जिनमे आठ भाषाओ, छः विभाषाओ, ग्यारह पिशाच-भाषाओ तथा सत्ताईस अपभ्रशो के सम्बन्ध मे चर्चा की है इनमें महाराष्ट्री, आवन्ती शौरसेनी, अर्द्ध-मागधी, बाह्लीकी, मागधी, प्राच्या तथा दाक्षिणात्या, ये आठ भाषाए, छ विभाषाओ मे से द्राविड और ओड्रज; ये दो विभाषाएं, ग्यारह पिशाच भाषाओ मे से काञ्चीदेशीय, पाण्ड्य, पाचाल, गौड, मागध, व्राचड, दाक्षिणात्य, शौरसेन, कैकय और द्राविड; ये दश पिशाच-भाषाएं तथा सत्ताईस अपभ्रंशो मे व्राचड, लाट, वैदर्भ, बार्बर, आवन्त्य, पाञ्चाल, टाक्क, मालव, कैकय, गौड, उड्र, हैव, पाण्ड्य, कौन्तल, सिंहल, कालिग, प्राच्य, कार्णाट, काञ्च, द्राविड, गौर्जर, आभीर और मध्यदेशीय; ये तेईस अपभ्रश विभिन्न प्रदेशो के नामो से सम्बद्ध हैं। जिन-जिन प्रदेशो मे प्राकृतो की जिन-जिन बोलियो का प्रचलन था, वे बोलिया उन-उन प्रदेशो के नामों से अभिहित की जाने लगी। इतनी लम्बी सूची से आश्चर्यान्वित होने की आवश्यकता नही है। किसी एक ही प्रदेश की एक ही भाषा उसके भिन्न-भिन्न भागो मे कुछ भिन्न रूप ले लेती है और प्रदेश के नामो के अनुरूप उन उपभाषाओ या बोलियो के नाम पड जाते है। यद्यपि किसी एक भाषा की इस प्रकार की उपभाषाओ या बोलियो मे बहुत अन्तर नही होता, पर, यत्किंचित भिन्नता तो होती ही है। उदाहरण के लिए राजस्थानी भाषा को लिया जा सकता है। सारे प्रदेश की एक भाषा राजस्थानी है। पर, बीकानेर-क्षेत्र मे उसका जो रूप है, वह जोधपुर क्षेत्र से भिन्न है। जैसलमेर क्षेत्र की बोली का रूप उससे और भिन्न है। इसी प्रकार चित्तौड़, डूगरपुर, बासवाडा, अजमेर-मेरवाडा, कोटा-बूदी आदि हाडोती का क्षेत्र, जयपुर या ढूंढाड का भाग, अलवर सम्भाग, भरतपुर और धौलपुर मण्डल, इन सबमे जन-साधारण द्वारा बोली जाने वाली बोलिया थोडी-बहुत भिन्नता लिए हुए है। कारण यह है कि एक ही प्रदेश मे बसने वाले लोग यद्यपि राजनैतिक या प्रशासनिक दृष्टि से एक इकाई से सम्बद्ध होते है, परन्तु उस प्रदेश के भिन्न-भिन्न भूभागो मे पास-पडोस की स्थितियो के कारण अपनी क्षेत्रीय सामाजिक, सांस्कृतिक तथा भौगोलिक भिन्नताओ के कारण परस्पर जो अन्तर होता है, उसका उनकी बोलियों पर पृथक्-पृथक् प्रभाव पडता है और एक ही भाषा के अन्तर्गत होने पर भी उनके रूप मे, कम ही सही, पार्थक्य आ ही जाता है। पिशाच-भाषाओ और अपभ्रंशो के जो अनेक भेद उल्लिखित किये गये हैं, वे पैशाची प्राकृत के क्षेत्र तथा अपभ्रंश के क्षेत्र की अनेकानेक बोलियो और उपबोलियो के सूचक हैं।

प्राकृत के भिन्न-भिन्न रूपो या भाषाओ पर विस्तृत विचार आगे किया जाएगा। यहा तो केवल पृष्ठभूमि के रूप मे सूचन मात्र किया गया है।

प्राकृतों का विकास : विस्तार : पृष्ठभूमि

पूर्व और पश्चिम की संस्कृति तथा जीवन मे प्राचीन काल से ही कुछ भेद उपलब्ध होते हैं। पश्चिम के कृष्ण और पूर्व के जरासन्ध जैसे राजाओ के पुराण-प्रसिद्ध युद्धो की शृंखला इसकी परिचायक है। आर्यों के भारत में आगमन, प्रसार आदि के सन्दर्भ में विभिन्न प्रसंगों में अपेक्षित चर्चा की गयी है। उसके प्रकाश मे कुछ चिन्तन अपेक्षित है।

---

१ ऋषीणामिदमार्षम्।

भारत मे आने वाले आर्य पश्चिम मे टिके, मध्यदेश मे टिके, कुछ पूर्व मे भी खदेड दिये गये । पर सम्भवत: मगध तक उनका पहुंचना नही हुआ होगा। हुआ होगा तो बहुत कम। ऐसा प्रतीत होता है कि कौशल और काशी से बहुत आगे सम्भवत: वे नहीं बढ़े। मगध आदि भारत के पूर्वीय प्रदेशो मे वैदिक युग के आदिकाल मे यज्ञ-याग-प्रधान वैदिक संस्कृति के चिह्न नही प्राप्त होते । ऐसा अनुमान है कि वैदिक संस्कृति मगध प्रभृति पूर्वी प्रदेशो मे बहुत बाद मे पहुची, भगवान् महावीर तथा बुद्ध से सम्भवत कुछ शताब्दियों पूर्व ।

वेदमूलक आर्य संस्कृति के पहुचने के पूर्व मगध आर्यों की दृष्टि मे निन्द्य था। निरुक्तकार यास्क ने मगध को अनार्यों का देश कहा है। ऋग्वेद मे कीकट शब्द आया है, जिसे उत्तरकालीन साहित्य में मगध का समानार्थक कहा गया है। ब्राह्मण-काल के साहित्य में भी कुछ ऐसे संकेत प्राप्त होते है, जिनसे प्रकट है कि तब तक पश्चिम के आर्यों का मगध के साथ अस्पृश्यता का-सा व्यवहार रहा था। शतपथ ब्राह्मण मे पूर्व मे बसने वालो को आसुरी प्रकृति का कहा गया है। आर्य सम्भवत. अनार्यों के लिए इस शब्द का प्रयोग करते थे, जिनमे निम्नता या घृणा का भाव था।

पहले दल मे भारत मे आय मध्यदेश मे बसे आर्य जब दूसरे दल मे आये आर्यों द्वारा मध्यदेश से भगा दिये गये और वे मध्यदेश के चारो ओर विशेषत पूर्व की ओर बस गये, तो उनका भगाने वाले (बाद मे दूसर दल के रूप मे आये हुए) आर्यों से वैचारिक दुराव रहा हो, यह बहुत सम्भाव्य है। उनका वहा के मूल निवासियो से मेल-जोल बढा हो, इसकी भी सहज ही कल्पना की जा सकती है। मेलजोल के दायरे का विस्तार वैवाहिक सम्बन्धो मे भी हुआ हो, इस प्रकार एक मिश्रित नृवंश अस्तित्व मे आया हो, जो सांस्कृतिक और धार्मिक दृष्टि से पश्चिम के आर्यों से दूर रहा हो। वैदिक वाङ्मय मे प्राप्त व्रात्य शब्द सम्भवत: इन्ही पूर्व में बसे आर्यों का द्योतक है, जो सामाजिक दृष्टि से पूर्व मे बसने वाले मूल निवासियो से सम्बद्ध हो चुके थे। व्रात्य शब्द की विद्वानो ने अनेक प्रकार से व्याख्या की है। उनमे से एक व्याख्या यह है कि जो लोग यज्ञ-यागादि मे विश्वास न कर व्रतधारी यायावर सन्यासियो मे श्रद्धा रखते थे, व्रात्य कहे जाते थे। व्रात्यो के लिए वैदिक परम्परा मे शुद्धि की एक व्यवस्था है। यदि वे शुद्ध होना चाहते, तो उन्हे प्रायश्चित्तस्वरूप शुद्ध्यर्थ यज्ञ करना पडता। व्रात्य-स्तोम मे उसका वर्णन है। उस यज्ञ के करने के अनन्तर वे बहिर्भूत आर्य वर्ण-व्यवस्था मे स्वीकार कर लिए जाते थे।

भगवान् महावीर और बुद्ध से कुछ शताब्दिया पूर्व पश्चिम या मध्यदेश से वे आर्य, जो अपने को शुद्ध कहते थे, मगध, अंग, बग आदि प्रदेशों मे पहुंच गये हो व्रात्य-स्तोम के अनुसार प्रायश्चित के रूप मे याज्ञिक विधान का क्रम, बहिष्कृत आर्यो का वर्ण-व्यवस्था मे पुन ग्रहण इत्यादि तथ्य इसके परिचायक हैं।

पूर्व के लोगो को पश्चिम के आर्यों ने अपनी परम्परा से बहिर्भूत मानते हुए भी भाषा की दृष्टि से उन्हे बहिर्भूत नही माना। ब्राह्मण-साहित्य मे भाषा के सन्दर्भ मे व्रात्यो के लिए इस प्रकार के उल्लेख है कि वे अदुरुक्त को भी दुरुक्त[1] कहते हैं अर्थात् जिसके बोलने मे कठिनाई नहीं होती, उसे भी वे कठिन बताते हैं। व्रात्यो के विषय मे यह जो कहा गया है, उनकी सरलतानुगामी भाषा-प्रियता का परिचायक है। संस्कृत की तुलना मे प्राकृत मे वैसी सरलता है ही। इस सम्बन्ध मे वेबर का अभिमत है कि यहां प्राकृत-भाषाओं की ओर सकेत है। उच्चारण सरल बनाने के लिए प्राकृत मे ही संयुक्ताक्षरों का लोप तथा उसी प्रकार के अन्य परिवर्तन होते हैं।

व्याकरण के प्रयोजन बतलाते हुए दुष्ट शब्द के अपाकरण के सन्दर्भ में महाभाष्यकार पतंजलि ने अशुद्ध उच्चारण द्वारा असुरो के पराभूत होने का जो उल्लेख किया है, वहा उन्होने उन पर हे अरय: के स्थान पर हेलय:[2] प्रयोग करने का आरोप लगाया है अर्थात् उनकी भाषा मे र के स्थान पर ल की प्रवृत्ति थी, जो मागधी की विशेषता है। इससे यह प्रकट होता है कि मागधी का विकास या प्रसार पूर्व मे बहुत पहले हो चुका था। उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले के अन्तर्वर्ती सहगौरा नामक स्थान से जो ताम्र-लेख प्राप्त हुआ है, वह ब्राह्मी लिपि का सर्वाधिक प्राचीन लेख है। उसका काल ई० पू० चौथी शती है। यह स्थान पूर्वी प्रदेश के अन्तर्गत आता है। इसमे र के स्थान पर ल का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।

ऐसा भी अनुमान है कि पश्चिम के आर्यों द्वारा मगध आदि पूर्वी भूभागो मे याज्ञिक संस्कृति के प्रसार का एक बार प्रबल प्रयास किया गया होगा। उसमे उन्हे चाहे तथाकथित उच्च वर्ग के लोगो मे ही सही, एक सीमा तक सफलता भी मिली होगी। पर, जन-साधारण तक सम्भवत वह सफलता व्याप्त न हो सकी।

भगवान् महावीर और बुद्ध का समय याज्ञिक विधि-विधान, कर्म-काण्ड, बाह्य शौचाचार तथा जन्म-गत उच्चता आदि के प्रतिकूल एक व्यापक आन्दोलन का समय था। जन-साधारण का इससे प्रभावित होना स्वाभाविक था ही, सम्भ्रान्त कुलो और राज-

---

१. अदुरुक्तवाक्यं दुरुक्तमाहु: । ताण्ड्य महाब्राह्मण, पञ्चविंश ब्राह्मण

२ तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्त: पराबभूवु: तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै। म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्द: ।

—महाभाष्य, प्रथम आह्निक, पृ० १

परिवारों तक पर इसका प्रभाव पड़ा। महावीर और बुद्ध के समकालीन कुछ और भी धर्माचार्य थे, जो अपने आपको तीर्थंकर कहते थे। पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल, अजितकेसकंबलि, पकुध कच्चायन तथा संजयवेलट्ठिपुत्त आदि उनमें मुख्य थे। बौद्ध वाङ्मय में उन्हें अक्रियावाद, नियतिवाद, उच्छेदवाद, अन्योन्यवाद तथा विक्षेपवाद का प्रवर्तक कहा गया है। यद्यपि आचार-विचार में उनमें भेद अवश्य था, पर, वे सबके सब श्रमण-संस्कृति के अन्तर्गत माने गये हैं। ब्राह्मण-संस्कृति यज्ञ-प्रधान थी और श्रमण-संस्कृति त्याग-वैराग्य और संयम प्रधान। श्रमण शब्द की विद्वानों ने कई प्रकार से व्याख्या की है। कुछ विद्वानों ने इसे श्रम, सम और शम पर आधृत माना है। फलतः तपश्चर्या का उग्रतम स्वीकार, जातिगत जन्मगत उच्चत्व का बहिष्कार तथा निर्वेद का पोषण; इन पर इसमें अधिक बल दिया जाता रहा है। श्रमण-परम्परा के अन्तर्वर्ती ये सभी आचार्य याज्ञिक तथा कर्मकाण्ड-बहुल संस्कृति के विरोधी थे। यह एक ऐसी पृष्ठभूमि थी, जो प्राकृतों के विकास और व्यापक प्रसार का आधार बनी। भगवान् महावीर और बुद्ध ने लोक-भाषा को अपने उपदेशों का माध्यम बनाया। सम्भव है, उपर्युक्त दूसरे धर्माचार्यों ने भी लोक-भाषा में ही अपने उपदेश दिये होंगे। उनका कोई साहित्य आज प्राप्त नहीं है।

महावीर और बुद्ध द्वारा लोक-भाषा का माध्यम स्वीकार किये जाने के मुख्यतः दो कारण सम्भव हैं। एक तो यह हो सकता है, उन्हें आर्यक्षेत्र में व्याप्त और व्याप्यमाण, याज्ञिक व कर्मकाण्डी परम्परा के प्रतिकूल अपने विचार 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' जन-जन को सीधे पहुंचाने थे, जो लोक-भाषा द्वारा ही सम्भव था। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि संस्कृत के प्रति भावात्मक उच्चता किंवा पवित्रता का भाव था, जो याज्ञिक परम्परा और कर्म-काण्ड के पुरस्कर्ता पुरोहितों की भाषा थी। उसका स्वीकार उन्हें संकीर्णतापूर्ण लगा होगा, जो जन-मानस को देखते हुए यथार्थ था।

प्राकृतों को अपने उपदेश के माध्यम के रूप में महावीर और बुद्ध द्वारा अपना लिए जाने पर उन्हें (प्राकृतों को) विशेष वेग तथा बल प्राप्त हुआ। उनके समय में मगध (दक्षिण विहार) एक शक्तिशाली राज्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। उत्तर विहार में वज्जिसंघ के कतिपय गणराज्य स्थापित हो चुके थे और कोशल के तराई के भाग में भी ऐसी ही स्थिति थी। महावीर वज्जिसंघ के अन्तर्वर्ती लिच्छवि गणराज्य के थे और बुद्ध कोशल के अन्तर्वर्ती मल्लगणराज्य के। यहां से प्राकृतों के उत्तरोत्तर उत्कर्ष का काल गतिशील होता है। तब तक प्राकृत (मागधी) मगध साम्राज्य, जो मगध के चारों ओर दूर-दूर तक फैला हुआ था, में राज-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो चुकी थी। प्राकृतों का उत्कर्ष केवल पूर्वीय भूभाग तक ही सीमित नहीं रहा। वह पश्चिम में भी फैलने लगा। लोग प्राकृतों को अपनाने लगे। उनके प्रयोग का क्षेत्र बढ़ने लगा। बोलचाल में तो वहां (पश्चिम में) भी प्राकृतें पहले से थी ही, उस समय वे धार्मिक क्षेत्र के अतिरिक्त अन्यान्य लोकजनीन विषयों में भी साहित्यिक माध्यम का रूप प्राप्त करने लगी। वैदिक संस्कृति के पुरस्कर्ता और संस्कृत के पोषक लोगों को इसमें अपने उत्कर्ष का विलय आशंकित होने लगा। फलतः प्राकृत के प्रयोग की उत्तरोत्तर संवर्द्धनशील व्यापकता की संस्कृत पर एक विशेष प्रतिक्रिया हुई। तब तक मुख्यतः संस्कृत का प्रयोग पौरोहित्य, कर्मकाण्ड, याज्ञिक विधि-विधान तथा धार्मिक संस्कार आदि से सम्बद्ध विषयों तक ही सीमित था। उस समय उसमें अनेक लोकजनीन विषयों पर लोकनीति, अर्थनीति, सदाचार समाज-व्यवस्था, लोक-रंजन, प्रभृति जीवन के विविध अंगों का संस्पर्श करने वाले साहित्य की सृष्टि होने लगी। प्राकृत में यह सब चल रहा था। लोक-जीवन में रची-पची होने के कारण लोक-चिन्तन का माध्यम यही भाषा थी, अतः उस समय संस्कृत में जो लोक-साहित्य का सृजन हुआ, उसमें चिन्तन-धारा प्राकृत की है और भाषा का आवरण संस्कृत का। उदाहरण के रूप में महाभारत का नाम लिया जा सकता है। महाभारत समय-समय पर उत्तरोत्तर संवर्द्धित होता रहा है। उसमें श्रमण संस्कृति और जीवन-दर्शन के जो अनेक पक्ष चर्चित हुए हैं वे सब इसी स्थिति के परिणाम हैं। भाषा-वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अन्वेष्टाओं के लिए गवेषणा का एक महत्त्वपूर्ण विषय है।

एतन्मूलक (संस्कृत) साहित्य प्राकृत-भाषी जन-समुदाय में भी प्रवेश पाने लगा। इस क्रम के बीच प्रयुज्यमान भाषा (संस्कृत) के स्वरूप में भी कुछ परिवर्तन हुआ। यद्यपि संस्कृत व्याकरण में इतनी कसी हुई भाषा है कि उसमें शब्दों और धातुओं के रूपों में विशेष परिवर्तन का अवकाश नहीं है, पर, फिर भी जब कोई भाषा अन्य भाषा-भाषियों के प्रयोग में आने योग्य बनने लगती है या प्रयोग में आने लगती है, तो उसमें स्वरूपात्मक या संघटनात्मक दृष्टि से कुछ ऐसा समाविष्ट होने लगता है, जो उन अन्य भाषा-भाषियों के लिए सरलता तथा अनुकूलता लाने वाली होती है। उसमें सादृश्यमूलक शब्दों का प्रयोग अधिक होने लगता है। उसका शब्द-कोश भी समृद्धि पाने लगता है। शब्दों के अर्थों में भी यत्र-तत्र परिवर्तन हो जाता है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है, वे नये-नये अर्थ ग्रहण करने लगते हैं। विकल्प और अपवाद कम हो जाते हैं। साथ-ही-साथ यह घटित होता है, जब अन्य भाषा-भाषी किसी शिष्ट भाषा का प्रयोग करने लगते हैं, तो उनकी अपनी भाषाओं पर भी उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता।

सब कुछ होते हुए भी भगवान महावीर और बुद्ध के अभियान के उत्तरोत्तर गतिशील और अभिवृद्धिशील होते जाने के कारण संस्कृत उपर्युक्त रूप में सरलता और लोक नवीनता ग्रहण करने पर भी प्राकृतों का स्थान नहीं ले सकी। अतएव तदुपरान्त संस्कृत में जो साहित्य प्रणीत हुआ, वह विशेषतः विद्वद्भोग्य रहा, उसकी लोक-भोग्यता कम होती गयी। लम्बे-लम्बे समास, दुरूह सन्धि-प्रयोग, शब्दालंकार या शब्दाडम्बर, कृत्रिमतापूर्ण पद-रचना और वाक्य-रचना से साहित्य जटिल और क्लिष्ट होता गया। सामान्य पाठकों की पहुंच उस तक कैसे होती?

Values, Education and Jainism

—Sh. Som Pal Sharma

The quest after values and the attainment there of constitute the very core of human life. This is so because human life is basically finite and imperfect and man always strives towards overcoming those imperfections and limitations. That is why, consciously or unconsciously, value-concepts, value-discrimination, and value-judgements figure prominently in his life

There is a necessary connection between educational objectives and value-seeking. Actually, the process of value-realization is basically an educational one. Education must have some objectives, if it is to be effective and of any worth. It necessitates a sort of value-thinking, for it is value-decisions alone which can provide valid and adequate objectives of education.

Value considerations are heavily involved in all educational objectives. In teaching and learning every problem demands a proper value-consideration. We notice that the more the teacher or educator is aware of the realm of values, so much more, he or she opens the vision, understanding and perspective of the pupil. In all subjects of studies as well as in all problems of life perceptably or imperceptably valuational questions are involved. And, therefore, the more unripe the learner so much the more responsible should be the teacher It is always a serious danger for the youth if the teachers valuational pereception is too narrow, as the consequence is a premature forcing into a one-sided, limited or even biased interpretation of life. So we are in need of philosophy of education which could reflect over the field of education. But here one can raise the following questions :

(*i*) What is philosophy ?

(*ii*) What is education ?

(*iii*) In what way can philosophy contribute to education ?

Let these above-mentioned questions be replied first :

(*i*) ***What is Philosophy ?***

Etymologically, philosophy means love of wisdom, but functionally it means both, the seeking of wisdom and the wisdom sought Philosophy, thus, stands both, for theoretical knowledge of the nature of life and its conditions, and the practical knowledge of principles of conduct for actual guidance of life. It is systemetic reflection over the entire reality with a view to fathom its misteries. Human life is the most important facet of reality and, therefore, it is one of the most important task of philosophy to solve the riddles of human life.

Philosophy, undoubtedly, according to some philosophers has its own importance for conceptical clearity, but that is not the end-all and be-all of philosophy. Infact, it is just a preliminary task. Phosophliy

has to do something deeper and more serious. It has to address itself to the immanent problems facing the mankind

Against this background we can formulate three important tasks of philosophy, namely,

(i) to study the nature and phenomenology of our knowledge, and to formulate the norms and criteria of its truth and validity;

(ii) to ascertain in the light and by the means of the equipment and instrument so developed, the nature of reality, and

(iii) finally on the basis of the knowledge so acquired to formulate and develop, for life's guidance, the goals or values and the ways of life.

(ii) *What is Education ?*

Education is a purposeful, deliberate conscious and systemetic process of modification of the natural development of man. Man is imperfact by nature. His life is a process of development that tends towards something which is more perfect. This results in the modification of his behaviour pattern.

In order that this modification may not fall short of its goal, it must be well engineered. Education, moreover, is a medium through which the society transmits its heritage of past experiences and modifications, systems of values, and the modes of skills of acquiring it.

Thus, all education is a means for the attainment of human life. It is the fruitful utilization of the knowledge attained by the mankind for the enhencement of human-existence.

(iii) *In what why Philosophy can contribute to Education ?*

If a general philosophy is a systemetic reflection over the entire life to understand its nature then educational philosophy is also a systemetic reflection comprehending the phenomenon of education in its entirety. Every system of education has to base itself on certain ends and policies, and it is the business of philosophy to provide these ends and policies to education. The framing up of the educational ends and policies presuppose value-considerations and value-judgements The science of education because of its positive nature cannot make normative decisions. Hence, there is the need of a philosophical frame-work.

All the major issues of education are at bottom philosophical. We cannot examine the existing philosophical ideals and policies, or suggest new ones, without considering such general philosophical problems, as

(i) the nature of good life, to which the education should lead,

(ii) of man himself, because it is man we are educating,

(iii) of society, because education is a social process, and

(iv) of the ultimate structure of reality which all knowledge seeks to penetrate.

Thus, philosophy is helpful to education in three important ways, viz.,

(i) in suggesting the ends and means of educational system,

(ii) in providing the theories of the nature of man, and

(iii) in examining the rationality of our educational ideals, their consistency, and the part played in them by wishful or unexamined thinking, in testing the logic of our concepts and their adequacy in explaining the facts they seek to explain, and in demonstrating the consistencies among our

theories and indicating the precise range of the theories that are left when the inconsistencies are removed.

Values in Education and Jainism

Every system of education must have its footing on the solid basis of a systemetic reflection about the nature of reality, knowledge and values. Of the three foundations of
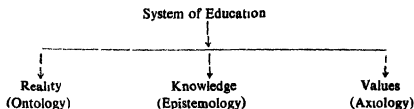
of education, namely, ontological, epistemic, and axiological, it is the axiological which is the most significant because it is the value which constitutes the very culmination of the process of existence and knowledge. Philosophy is concerned among other things with the other problems of values. That is why, human values become a very significant area of philosophical inquiry. All questions about values are intimately connected with questions of knowledge, and, therefore, of education. A way of looking at values needs to look to education, as well as to philosophy of education.

Like other philosophical systems Jainism can also provide a solid footing for value-system in the scheme of education of today If it is so, we must know, first, what is Jainism ?

What is Jainism ?

A critical and dispassionate study of Jaina literature enables one to understand the Jaina outlook of life which is sanctioned by Jainism as apparent from an objective and judicious interpretation of fundamentals of Jaina metaphysics and ethics and not the outlook on life which the followers of Jainism generally have today.

Metaphysically speaking, all souls, according to their stage of spiritual progress have a legitimate place on the path of religion.

Secondly, God's place in Jainism is like a 'Spiritual Ideal' and a 'Perfect Being'. To attain the same status by by worshipping and cultivating 'His Virtues' is a must

Thirdly, everyone is the architect of his fortune. Not only monks or religious persons but even a criminal also can attain self-realization at one moment, if he follows the process of Jaina-Sādhnā.

Fourthly, as a social being without any consideration of his spiritual attainment or standard one can enjoy his life as a member of society, but the duties of a house-holder are in miniature those of a monk and he may rise himself steadly to the status of a monk according to the process.

Fifthly, Ahiṁsā is the most important principle of Jainism. Every living-being has a sanctity and dignity of its own and one has to respect it as one expects one's own dignity to be respected.

Sixthly, life is sacred irrespective of species, caste, colour, creed and nationality etc.

Seventhly, our hearts should be free from baser impulses like anger, pride, hypocricy, greed, envy and contempt.

Good neighbourhood, truth, respect for others, consistency in words, thoughts and actions, individual kindness, mutual confidence and reciprocal security are essential for good social, moral and political life.

Lastly, A study and progressive restraint on yearning for sensual or sex pleasure or for equisition of property is also an important virtue of Jainism. A religious person is expected to limit his property upto his physical body only. But it does not mean that others are quite free in this respect. They are also expected to have limits on the property owned by them and no weeding out the weak and poor. Thus, an enlightened society can gradually be developed.

Nayavāda and Syādvāda

Jainism has presented two instruments of understanding and expression . one is Nayavāda and the other is Syādvāda. Nayavāda is a particular approach of analysis of a comlex question, synthesis of different view-points is an imperative necessity. Every view-point must retain its relative position and this need is fulfilled by Syādvāda. According to Syādvāda, truth is not monopoly of any one individual, religion, or society. Intellectual tolerence is one of the fundamental tenets of Jainism. Ahiṁsā, truth and toleration were fostered by Jainas for their opponents also.

Value Oriented Education and Jainism

Self-realisation

Self-realisation is a supereme value of life according to Jaina philosophy. So pupil should be made to realise his own self as he is a part and parcel of divinity. Philosophy of Syādvāda is a guarantee that emphasis on individuality will not undermine the general interests and the general welfare of the society. Every-one is the architect of his own fortune So to achieve the goal of life and education (i.e self-realisation) one should proceed keeping this in view. The teacher's role is also much essential in this process of self-realisation.

Five Principles of conduct as great values of life

Ahiṁsā, satya, asteya, brahmacarya and aprigraha are the five principles of conduct which are accepted as the disciplines of education according to Jainism It is the duty of every teacher and pupil to give importance to these principles in education apart from bookish knowledge Such an integrated approach in study and training would be valuable not only for the spiritual growth of the individual or pupil but for the general progress and the welfare of humanity also.

Knowledge as a value

Jainism gives immense value to the knowledge (i e. Samyagjñāna), which is acquired in stages .

(i) The first stage of knowledge is Mati or the knowledge acquired by the senses.

(ii) The second stage of knowledge is that of Śruta or the knowledge gained through the scriptures.

(iii) The third stage is that of Avadhi or the extra sensory knowledge, which is acquired by the soul without the activity of mind or senses

(iv) The fourth stage is manahparyaya the knowledge of the ideas or thoughts of others, and

(v) The final stage of knowledge is the Kevala which connotes the supereme knowledge.

These stages represent the standard of development of self-purification and are more relevant and justified in jaina view of reality than degree oriented stages of knowledge Accoding to these stages of knowledge an aspirant evaluates his knowledge on the basis of enlightenment not on the basis of degrees. However, the coordination of the two systems (stage oriented system and degree oriented system) can be helpful to solve some value-problems in the educational field to a large extent.

Value of interest

At the first two stages teacher can use lecture-method of teaching according to jaina-system of education. But it must be made interested by giving beautiful illustrations and similies (dṛṣṭāntas) while explaining the complexities of knowledge. Thus the pupils take much interest in their studies and never feel boredom.

Discipline

The idea of self-discipline is infused in the life of pupil through the five principles of conduct No external force is required for this purpose Indiscipline, stealing, killing and soon are disvalues according to Jainism.

Universality in Education

We notice that there is no distinction on the basis of caste, colour, creed, etc. in Jainism universal education. Jaina ācāryas always believed in the enlightenment of every individual on the basis of equal opportunity for all.

Secondly, there is no problem of language as a medium of instruction because they use mother tongue for this purpose and no foreign language is used by Jaina ācāryas in teaching activity. So the pupil has not to waste his energy in learning a foreign language only for the sake medium of instruction as we notice in our education-system of today The camel of English has entered the camp of language and has accupied the whole space.

Value of 'Jap', 'Tap' or 'Vratas'

'Jap', 'Tap' or 'Vratas' are the sources for self-control. There is no provision for corporal punishment They believe in self-punishment for self-purification by the means of 'Jap', 'tap', etc. as the occasion demands Thus, we notice that this type of punishment is self-imposed and not imposed by any external authority like teacher or police etc like today

Social and moral values in Educational sphere

Mutual affection and respect are regarded the basis of teacher-pupil relationships Faith, love, freedom, equality, justice modesty, devotion, and soon are the different types of value which lay the foundation of education which is in a way character building The teacher's duty of teaching is not confined for livelihood only as is the case today, but his mission should be well up in his heart out of sheer love, compassion and feeling of the sacrifice for the sake of learner On the other hand, pupil must also be an embodiment of modesty and devotion Thus, Jain a guru believes in personal relation with the pupil (who is always submissive to him). The acārya must be fit physically, mentally and intellectually for propograting education. Moreover, the guru is expected to be a man of very high moral character

Three Great Ideals (Samyagdarśana, Samyag jñāna and Samyak cāritra) are great values also

Viewed from this point, "the three jewels" of the right faith, the right knowledge and the right conduct which have been described as the ways of attaining the liberation, put on a different significance. They are not practices nor instruments in the hands of the self; and it is not that the self attains liberation with their

help. The soul secures its emancipation through itself and the 'jewels' are not phenomena, extraneous to it but are a part and parcel of its very nature.

Self-knowledge is the cause of its liberation. In the Niścaya view, the Samyag darśana is the 'Vitarāga-samyaktva', an innate faith and the natural joyfulness of the pureself is alone to be sought after (Upādeya), the Samyagjñāna is the intensive knowledge of the self and it is in the itself, a knowledge wnich is inseparable from the nature of the self; and the Samyak cāritra is the pure activity of the self and for itself.

Nivrtti, samiti's, Gupti's and all other moral practices are also interpreted in a similar way.

By the above, it is to be understood that the religious and moral values are always to be backed up the best of motives—not simply utilitarian but purely spiritual. In fact, this must be the foundation of all true religions and true ethics; and may well serve as the basis of value-scheme of any educational system.

The above-mentioned discussion gives a clear and distinct picture of values, education and Jainism. It must be admitted that the process of value-realisation is basically an educational one and we have noticed it in Jainism also. Moreover, it is also quite evident that the value system in Jainism is of immense value in preparing a suitable value scheme for present educational system also, as it requires a drastic change to iredicate the problems like, student unrest, indiscipline, unemployment and admission problems etc. in the sphere of education and hoarding, black marketing and adultration etc. in the society

Now, tne essay can be summed up in the main points given below :

(i) The values of life and education are interrelated.

(ii) There is a need of philosophy of education which may reflect over.

(iii) Jainism provides a guide-line for preparing a suitable value-scheme for modern educational system.

जैन
प्राच्य विद्याएँ

सम्पादकीय

विगत कुछ शताब्दियो मे पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान और समाजशास्त्रीय अवधारणाओ ने 'धर्म' की परिभाषा को सीमित दायरे में स्वीकार कर उसके विकृत स्वरूप को ही उभारने का प्रयास किया है। उधर मानवीय सभ्यता के इतिहास की दृष्टि से पिछली अनेक शताब्दियों मे मानवीय धर्म चेतना साम्प्रदायिक द्वेष का कोपभाजन बनती आई है। इसलिए इतिहास-निष्ठ पाश्चात्य समाज विज्ञान ने हमे वैचारिक स्तर पर पूरी तरह आश्वास्त सा कर दिया है कि 'धर्म निरपेक्ष' समाज व्यवस्था और 'धर्म निरपेक्ष' चिन्तन ही उत्कृष्ट मानवीय चिन्तन है। स्पष्ट है आधुनिक चिन्तक 'धर्म' को 'सम्प्रदाय' और उसकी प्रेरणा को 'साम्प्रदायिकता' स्वीकार कर चुका है। विश्व की समग्र 'धर्म' संस्थाओ के लिए यह महान् चुनौती है और आधुनिक विज्ञान के नवीन चमत्कारों ने इस भावना को और अधिक मजबूत किया है और आध्यात्मिकता को नकारा है। धर्म के वास्तविक और कूटस्थ रूप को भी हमे देखना चाहिए। ऐसा कूटस्थ रूप जो आधुनिक युग द्रष्टा महात्मा गाँधी द्वारा व्यवहार मे चरितार्थ कर दिखाया गया और जिसे वे सभी धर्मों का 'धर्म' कहते हैं। गाधी जी ने अपार चिन्ता व्यक्त की है कि 'धर्म' साधना को अध्यात्म के उच्च स्तर पर पहुचाने वाले भारतवर्ष मे ही धर्मचेतना का आज निरन्तर ह्रास होता जा रहा है।[1]

'धर्म' सापेक्ष ज्ञान-विज्ञान की भारतीय परम्परा

अनादिकाल से भारतीय धर्म चिन्तक मनीषी धर्मानुसन्धान और उसकी जागतिक अनुप्रेरणाओं पर मनन और निदिध्यासन करते आए हैं। आर्य-अनार्य, वैदिक-श्रमण, आस्तिक-नास्तिक, प्रवृति-निवृत्ति, ज्ञान-कर्म, द्वैत-अद्वैत के द्वन्द्वो मे मथित भारतीय 'धर्म चेतना' मानवीय चिन्तन के इतिहास की सबसे महान् उपलब्धि है और समस्त ज्ञान-विज्ञानो की परम्पराए इसकी अनुचर हैं। 'धर्म के शाश्वत, सार्वभौमिक एव सार्वकालिक वास्तविक रूप को कोई यदि देखना चाहता है तो उसे भारतीय तत्त्व-चिन्तको की शरण मे ही जाना होगा। 'धर्म' का दुरुपयोग भी किया जाता रहा है यह इतिहासविदो की समस्या है। परन्तु ज्ञान-विज्ञान एव भारतीय प्रज्ञा के मूल्याङ्कन की ओर जैसे ही हम प्रवृत होते हैं तो हमे 'धर्म सापेक्ष' चिन्तन के दर्शन होते हैं।

धर्म यद्यपि देश और काल की सामान्य सीमाओ से ऊपर है परन्तु उसकी उद्भावना देश काल और परिस्थितियो की सीमाओं मे ही सभव है। इसी प्रतिबद्धता के कारण जैन, बौद्ध एव वैदिक परम्पराओ ने एक निश्चित देश-काल की परिस्थितियो से अनुप्रेरित होकर तत्त्व-चिन्तन को जो स्वर दिया वह मानवीय समग्रता की सद्भावना—"वसुधैव कुटुम्बकम्" से मुखरित है। भारतीय धर्म चिन्तको मे शायद इस बात पर मतभेद हो सकता है कि "धर्म कैसा होना चाहिए" ? परन्तु ये ही धर्म चिन्तक जब "धर्म क्या है ? पर केन्द्रित होते हैं तो एक मत हो जाते हैं। धर्म की अविभाज्यता का यही अर्थ है। "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" की भावना हो या "अहिंसा-परमो धर्मः" की या फिर "प्रतीत्यसमुत्पाद" को ही धर्म मानने की मान्यता—तीनो ही 'अध्यात्म' के उस प्रस्थान बिन्दु पर टिकी हैं जहां से धर्म की 'भारतीयता' का प्रारम्भ होता है और केवल 'भारतीयता' का।

भारतीय सन्दर्भों मे जैन, बौद्ध और वैदिक तीन परम्पराओ ने समान रूप से समानान्तर धाराओ में धर्म के उद्भव और विकास के मनोविज्ञान को समझाने का प्रयास किया है। तीनो धाराओ में तीर्थङ्कर, ऋषि-मुनि आदि धर्मप्रवर्तकों ने जिस किसी भी 'धर्म' की उद्भावना की वे सामान्य चिन्तक न होकर असामान्य 'आप्त' व्यक्ति थे तीनो परम्पराओं का इतिहास यही बताता है कि तपस्या से परिपूत धर्मप्रवर्तक राग-द्वेष-पक्षपात आदि से विरत होकर-दिव्य-ज्ञान से सवलित थे। उन्होंने स्वय धर्म का साक्षात्कार किया था। जैन-दर्शन इसे केवल ज्ञान की स्थिति मान सकता है और बौद्ध धर्म के अनुसार यह 'अर्हत्' की स्थिति संभव है। धर्म का साक्षात्कार करने

---

१. हिन्द स्वराज्य, अनु० अमृतलाल ठाकोरदास, नाणावटी, १६७३, अहमदाबाद, पृ० २६

वाले आप्त पुरुषों से सुनकर उत्तरवर्तीकाल मे ऋषि परम्परा, शिष्य परम्परा या आचार्य परम्परा ने जिस ज्ञान का प्रचार व प्रसार किया वह बुद्धि और तर्क के स्तर पर जाना हुआ ज्ञान था फलतः बुद्धि के नानात्व एवं तर्क वैचित्र्य की अपेक्षा से श्रुतज्ञान मत मतान्तरो, वाद-प्रतिवादो, आग्रह पूर्वाग्रहो से ग्रस्त होने के कारण सम्प्रदायवाद की ओर बढ़ने लगा। इससे धर्म और सत्य दोनों विभाजित होते चले गए तथा तत्त्व चिन्तन के क्षेत्र मे "नैको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणम्" की अनिश्चयात्मक स्थिति भी उत्पन्न हो गई। ऐसी निराशापूर्ण स्थिति मे जैन दार्शनिकों की सराहना करनी होगी कि उन्होने 'सत्यानुसन्धान' की ऐसी प्रक्रिया का आविष्कार किया जो 'अनेकान्तवाद अथवा 'स्यादवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। इस वैचारिक चिन्तन प्रक्रिया में बिखरे हुए या पूर्वाग्रहो से ग्रस्त सत्यांशो को समेटने की नीयत है और यह विचार सहिष्णुता की उदारता से भी अनुप्रेरित है।

जैन तत्त्वचिन्तन और सत्यान्वेषण

जैन तत्त्व चिन्तको ने 'धर्म' के शाश्वत रूप को अत्यन्त वैज्ञानिक ढग से समझाने का प्रयास किया है। अन्य धर्मों की भांति जैन शास्त्रो में भी 'धर्म' के अनेक लक्षण हैं। उनमे एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लक्षण है—"धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम्"[1] अर्थात् 'धर्म' मनुष्य को निम्नता से उच्चता की ओर ले जाता है। निम्न पद से यहा अभिप्राय संसार और उसकी 'लौकिकता' है तो उच्चपद 'मोक्ष' और उसकी आध्यात्मिकता का द्योतक है। अन्य प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान के समान जैन ज्ञान-विज्ञान 'धर्म' लक्षण की इसी परिभाषा को चरितार्थ करते हुए उत्कृष्ट लौकिक ज्ञान की शिक्षा भी देता है और उच्चस्तरीय आध्यात्मिक ज्ञान-विज्ञान की ओर भी मानवीय चिन्तन की दिशाओ का उद्घाटन करता है। अविद्या से मृत्यु को जीतकर विद्या द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति भारतीय तत्त्व चेतना का मुख्य स्वर रहा है—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।"[2] भारतीय तत्त्व चिन्तक यह मानते रहे हैं कि केवल लौकिक अभ्युदय से मानव का कल्याण सम्भव नही और न ही केवल आध्यात्मिकता का एकाङ्गी सेवन करने से ही मानवता का कल्याण संभव है। इसलिए वैदिक चिन्तक सावधान करते हुए कहते है कि जो केवल 'अविद्या' अर्थात् लौकिक अभ्युदय की ओर ही केन्द्रित हैं वे गहन अन्धकार मे प्रविष्ट होते हैं और जो केवल आध्यात्मिक 'विद्या' की आराधना करते है वे उससे भी अधिक अंधकार मे प्रवेश करते हैं। तात्त्विक रूप से ससार और लौकिक विद्याएँ निकृष्ट है और अध्यात्म से अनुप्राणित 'मोक्ष' ही विद्या या ज्ञान का चरम लक्ष्य है—"सा विद्या या विमुक्तये' परन्तु लौकिक विद्याए आध्यात्मिक विद्याओं की प्राप्ति के माध्यम हैं दोनो मे साधन-साध्य सम्बन्ध है। यदि साधन ही न होगा तो साध्य तक हम नहीं पहुच सकेंगे और साध्य बिना साधन से प्राप्त नही किया जा सकता। भारतीय मनीषियो ने लौकिक और आध्यात्मिक आयामो को सतुलित रखने की ओर विशेष बल दिया है यही कारण है कि प्राच्य ज्ञान-विज्ञान एव नाना प्रकार की विद्याओ का स्वरूप और क्षेत्र आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की तुलना मे कही अधिक व्यापक और मानवोपयोगी है। उपनिषदों में लौकिक विद्याएँ 'अविद्या' और 'अपराविद्या' कही गई हैं जबकि आध्यात्मिक विद्याओं को 'विद्या' और 'पराविद्या' की सज्ञाओ से अभिव्यक्त किया गया है। इनमे निषेधपरकता का स्वर 'विरोधी भाव' का सूचक न होकर साधन-साध्यभाव या निकृष्ट-उत्कृष्ट भाव की सहकारिता को ही अभिव्यक्त करता है। यदि ऐसा न होता तो भारतीय चिन्तक यह नही कहते कि 'विद्या' और 'अविद्या' दोनो को साथ-साथ जानना चाहिए। इसी प्रकार 'अपरा' और 'परा' दोनो विद्याएँ जानने योग्य है। असत्य के मार्ग पर चलकर भी सत्य को जानने की परम्परा भारतीय तत्त्व चिन्तन की वह महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है जिसके रहस्य को पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान नही समझ सकता क्योकि वह 'समाज विज्ञान' और 'इतिहास' की उस धुरा को ही सत्य मानकर चल रहा है जो भारतीय सन्दर्भों मे असत्य है। बाह्य वस्तुजगत् के भ्रमपूर्वक ज्ञान की चकाचौध से मानो कि 'सत्य' का मुख ढक गया है इसलिए वैदिक ऋषि आत्मज्ञान के आधार तत्त्व सूर्य से प्रार्थना कर रहा है कि वह आध्यात्मिक तत्त्व चेतना से सत्य का मुख उद्घाटित कर दे।[3]

जैन तत्त्व चिन्तकों ने तो 'सत्य' और 'असत्य', 'धर्म' और 'अधर्म' मे परस्पर विरोधी-भावो को ही निर्मूल कर दिया। जैन तत्त्वावबोध वस्तुस्वरूप के वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित करने की प्रतिज्ञा को लेकर तत्त्व चर्चा मे प्रवृत होता है। 'धर्म' का विरोधी 'अधर्म' नहीं हो सकता इस बात को जैन दर्शन ही कह सकता है।[4] जब हम तत्त्व-चर्चा मे 'करणीयता' या एक विशेष प्रकार के आचरण की अनिवार्यता को जोड देंगे तो शायद 'धर्म' और 'अधर्म' विरोधी हो जाए क्योंकि तब वह आचरण करने वाले का स्वभाव बन जाएगा।

---

१. पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, ७१५

२. ईशावास्योपनिषद्, ११

३. तु० "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्। तत्त्व पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥" ईशा०; १५

४. तु "धर्माऽधर्मयो कृत्स्ने" तत्त्वार्थसूत्र ५.१३ पर भास्करनन्दि की सुखबोधाटीका—"मूर्तिमन्तोऽपि केचिज्जलभस्मसिकतादय एकत्राविरोधेनावतिष्ठन्ते किमुतामूर्तीनि धर्माऽधर्माकाशानीति नास्त्येषां परस्परं विरोधः।"

'धर्म' और 'अधर्म' की तात्त्विक स्थिति और है और आचारपरक और । जैन दर्शन के षट्द्रव्य विवेचन में 'धर्म-अधर्म' की, की गई व्याख्या इस तथ्य को पुष्ट कर देती है । जैन शास्त्रकारों के अनुसार 'धर्म' और 'अधर्म' दोनो से ही लोकालोक का विभाजन हुआ है । 'धर्म' गति रूप से और 'अधर्म' स्थिति रूप से इस सम्पूर्ण लोकालोक को धारण किये हुए है ।[1] जैसे जल मछली के तैरने मे उपकारक है । जल के अभाव में मछली का तैरना सम्भव नही वैसे ही जीव और पुद्गलों की प्रायोगिक और स्वाभाविक गति तथा स्थिति का नियमन क्रमशः 'धर्म' और 'अधर्म' से ही होता है ।[2] धर्म सम्बन्धी इस जैन दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में हम महाभारतोक्त "धारणाद्धर्मं इत्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः" के आशय को भी भली-भांति समझ सकते हैं । वर्तमान खण्ड मे जैन दर्शनानुसारी 'धर्म' और 'अधर्म' की अवधारणाओ को आधुनिक विज्ञान के सन्दर्भ मे व्याख्यायित करने वाले प्रो० जी० आर० जैन के विचार इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं ।[3]

जैन धर्म सृष्टि विज्ञान को अनादि और अनन्त मानता है । आधुनिक विज्ञान के 'सतत उत्पत्ति' के सिद्धान्त से भी यह मिलता-जुलता है । जैन दर्शन मे धर्मास्तिकायो एव अधर्मास्तिकायों के सद्भाव के कारण ही लोकालोक का विभाजन स्वीकार करना पड़ता है और जीव एव पुद्गलो के नियमन का औचित्य भी तभी सभव है । इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन तत्त्व चिन्तन सत्यानुसधान की वैज्ञानिक मान्यताओ पर अवलम्बित है । परवर्ती आचार्य परम्परा द्वारा सत्यानुसन्धान की इस प्रक्रिया को समृद्ध एवं चिन्तन-प्रधान बनाने की ओर विशेष प्रयत्न किए गए । जैन स्याद्वाद प्रणाली मतभेदों एव पूर्वाग्रहो से ग्रस्त विरोधी ज्ञानो के मध्य सामजस्य बैठाने की एक वैज्ञानिक विधि मानी जाएगी । मनुष्यो द्वारा अभिव्यक्त किए जाने वाले कथनात्मक ज्ञान वस्तुस्थिति के एक अश को ही अभिव्यक्त कर पाते हैं परन्तु उस कथन का वक्ता सत्य के समग्र रूप को जान लेने का दम्भ करने लगता है और दूसरे विरोधी कथन को असत्य मान लेता है । ऐसी विरोधात्मक स्थिति मे अनेकान्तवाद की विचार सरणि द्वारा सत्यानुसन्धान की एक स्वस्थ एवं उदार परम्परा का उदय हुआ ।

जैनानुमोदित ज्ञान की अवधारणा और श्रुतज्ञान

जैनधर्म मूलतः एक आध्यात्मिक धर्म है जिसमे दर्शन की प्रक्रिया द्वारा ज्ञानार्जन की शक्ति के विकास को वैज्ञानिक ढंग से निरूपित किया गया है । 'दर्शन' से आत्मा का सर्वप्रथम बोध होता है । तदनन्तर उससे उत्पन्न 'ज्ञान' बाह्य पदार्थों का अवबोधन कराता है । 'दर्शन' और 'ज्ञान' दोनो परस्पर कारण-कार्य सम्बन्ध से व्यवहृत होते हैं । अर्थात् जब तक आत्मावधान नही होगा तब तक बाह्य पदार्थों का इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर भी बोध शक्ति उत्पन्न नही हो सकती । आत्मा के स्तर पर होने वाला बोध 'दर्शन' होता है जिसे आध्यात्मिक कहते हैं और बाह्य पदार्थों के स्तर पर होने वाला बोध 'ज्ञान' कहलाता है जिसे 'लौकिक' माना जाता है । आत्मा के स्तर पर होने वाले ज्ञान की भी उत्तरोत्तर चार स्थितिया जैन दर्शन मे स्वीकार की गई हैं चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवल-दर्शन । प्रथम दो सामान्य स्तर के दर्शन हैं । 'अवधिदर्शन' मे यद्यपि इन्द्रियातीत और दूरस्थ पदार्थों का ज्ञान सभव है परन्तु वह भी कुछ सीमाओ मे आबद्ध होने के कारण पूर्ण-दर्शन नही बन पाता । 'केवल दर्शन' ज्ञान की वह सर्वोत्कृष्ट अवस्थिति है जिसमे आत्मावधान के द्वारा समस्त ज्ञेय को ग्रहण करने की शक्ति जागृत होती है । जैनदर्शन मे बाह्य पदार्थों के ज्ञान की अपेक्षा से 'ज्ञान' के पांच भेद माने गए हैं—'मतिज्ञान', 'श्रुतज्ञान', 'अवधिज्ञान', 'मनः पर्यय ज्ञान' और 'केवल ज्ञान' ।[4] इन पाचों ज्ञानो मे 'केवल ज्ञान' सर्वोच्च ज्ञान है जिसके द्वारा केवल ज्ञानी विश्व के समस्त रूपी और अरूपी पदार्थों और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों को युगपत् रूप से जान लेता है ।[5]

अनुयोग-चतुष्टय एवं जैन प्राच्य विद्याएं

जैन प्राच्य विद्याओ के संदर्भ मे श्रुतज्ञान की सारस्वत धारा प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग नामक अनुयोग-चतुष्टय के रूप मे भी प्रवाहित हुई है । विद्वानों के अनुसार 'षट्खण्डागम' की परम्परा से इसका सूत्रपात हुआ है । यद्यपि इन चारों अनुयोगो मे 'द्रव्यानुयोग' को ही प्रधानता दी जाती है तथापि अन्य तीन अनुयोग भी 'सम्यग्ज्ञान' के सूत्र से सग्रथित हैं अतएव एक

---

१. तु० "धर्मद्रव्ये गतिहेतुत्वममूर्तत्वमचेतनत्वमेते त्रयो गुणा. । अधर्मद्रव्ये स्थितिहेतुत्वममूर्तत्वमचेतनत्वमिति ।" आलाप पद्धति, २

२. तु० राजवार्तिक, ५.१७.४६०.१४

३. प्रो०जी० आर० जैन, जैन जगत-उत्पत्ति और आधुनिक विज्ञान, वर्त्तमान जैन प्राच्य विद्या खण्ड, पृ० १२-१३

४. तु० "मतिश्रुतावधिमन' पर्ययकेवलानि ज्ञानम् ।" तत्त्वार्थसूत्र १.९

५. तु० "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ।" तत्त्वार्थसूत्र, १.२९

अनुयोग के बिना दूसरा अधूरा रह जाता है। वास्तविकता यह है कि साधक जब तक त्रिषष्टिशलाका पुरुषों के चरित, युग एवं काल परिवर्तन के नैसर्गिक रूप, सागार एवं अनागर धर्माचरण को नहीं जान लेता तब तक जीवाजीव तत्वचर्चारूप-द्रव्यानुयोग में उसकी प्रवृत्ति असंभव है। वैदिक परम्परा में 'अविद्या' के बाद 'विद्या' की जो स्थिति है वैसा ही दृष्टिकोण जैन चिन्तकों का प्रथमानुयोग आदि के सम्बन्ध में रहा है। इस सम्बन्ध में 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष' प्रथमानुयोग के प्रयोजन पर प्रकाश डालते हुए कहता है कि मिथ्यादृष्टि, अव्रती, विशेषज्ञान रहित अल्पज्ञ व्यक्ति को जिसका सर्वप्रथम ज्ञान दिया जाये उसे प्रथमानुयोग कहते हैं—

प्रथमानुयोग प्रथम मिथ्यादृष्टिमविरतिकमव्युत्पन्न वा प्रतिपाद्यमाश्रित्य प्रवृत्तोऽधिकार: प्रथमानुयोग:।[1]

प्रथमानुयोग में ६३ शलाका पुरुषों एवं परमार्थ ज्ञान से सम्बन्धित विषय आते हैं। **करणानुयोग** का प्रयोजन पदार्थों का यथार्थ ज्ञान कराना है। लोक-अलोक का विभाग, युग परिवर्तन की स्थिति तथा चतुर्गति की दिशाएँ इसके प्रतिपाद्य विषय हैं। गणित और ज्योतिष विद्या से यह मुख्यतया अनुप्रेरित है। त्रिलोक सार, त्रिलोक प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति आदि जैनशास्त्र इससे सम्बद्ध ग्रंथ हैं। **चरणानुयोग** व्यक्ति को पापाचरण से हटाकर धर्माचरण की ओर उन्मुख करता है। मुनि आचार एवं श्रावकाचार इसके विषय हैं। रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, मूलाचार, ज्ञानार्णव आदि इस अनुयोग के सिद्धान्त ग्रन्थ हैं। **द्रव्यानुयोग** मोक्षधर्मी अनुयोग है जिसका उद्देश्य तत्त्वसन्धान, नय प्रमाणादि के द्वारा जीवाजीव तत्त्वों की चर्चा करना है। जैन दर्शन की समग्र तत्त्व-मीमांसा इसका विषय है तत्त्वार्थसूत्र, गोमट्टसार, समयसार, पंचास्तिकाय आदि ग्रंथ इसके अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुयोग-चतुष्टय की परम्परा ने पुराण, इतिहास, आचार, नीतिशास्त्र, गणित, ज्योतिष, सृष्टिविज्ञान एवं दर्शन आदि अध्ययन शाखाओं को शास्त्रीय आयाम दिए।

जैन शास्त्रों में विद्याओं का स्वरूप

जैन प्राच्य विद्याओं से हमारा तात्पर्य है ज्ञान-विज्ञान की वे प्राचीन परम्पराएँ हैं जिनका जैन धर्म के मनीषियों द्वारा संवर्धन किया गया। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम हमें जैनानुमोदित 'विद्या' की मान्यताओं से अवगत होना भी आवश्यक है। जैनशास्त्रों के अनुसार "यथावस्थित वस्तु के स्वरूप का अवलोकन करने की शक्ति" को 'विद्या' कहा गया है। तुलनीय—**विद्यया—यथावस्थितवस्तुरूपावलोकनशक्त्या**[2] जैनदर्शन के सन्दर्भ में 'सम्यग्दर्शन' और 'सम्यग्ज्ञान' दो महत्त्वपूर्ण अवधारणाएँ हैं। इनमें 'दर्शन' प्रत्येक जीव में स्व-सत्ता के अनुभवन की शक्ति को उत्पन्न करता है तो ज्ञान बाह्य वस्तु जगत् के पदार्थों को जानने समझने की शक्ति प्रदान करता है। जैन 'विद्या' का सम्बन्ध 'ज्ञान' से अधिक है। जैन विद्याएं बहुविध कही गई हैं। जैन परम्परा ने इन्हें समाज शास्त्रीय दृष्टि से कई वर्गों में विभक्त किया है जैसे 'जातिविद्या', 'कुलविद्या', 'तपविद्या' आदि। 'जातिविद्या' को मातृ पक्ष से प्राप्त कहा गया है और 'कुलविद्या' पितृ परम्परा से सम्पुष्ट मानी जाती है। 'तपविद्या' साधुओं के पास होती है जिन्हें वे व्रतों उपवासों आदि से सिद्ध करते हैं। इनके अतिरिक्त 'महाविद्या'-'अल्पविद्या' आदि विद्याओं का तन्त्र-मन्त्र अनुष्ठान आदि से सिद्ध किया जा सकता है। जैन पौराणिक मान्यताओं के अनुसार विद्याधरों की एक विशेष श्रेणि का भी उल्लेख मिलता है जो अनेक प्रकार की विद्याओं में सिद्धहस्त होते हैं। विद्या विषयक विज्ञान में निपुण होने के कारण इन्हें 'विद्याधर' संज्ञा दी गई है। जैन साहित्य में विद्या देवियों का भी उल्लेख आता है। प्रतिष्ठा सारोद्धार के वर्णनानुसार—रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रश्रृंखला, वज्रांकुश, जाम्बूनदा, पुरुषदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गान्धारी, ज्वालामालिनी, मानसी, वैरोटी, अच्युता, मानसी, महामानसी आदि विद्यादेवियां हैं। हरिवंश पुराण के एक वर्णनानुसार नमि और विनमि को अदिति देवी द्वारा विद्याओं के आठ निकाय और गन्धर्व सेनक नामक विद्या कोष के दान देने का उल्लेख मिलता है। आठ-आठ विद्याओं के दो निकायों का जैन शास्त्रों में उल्लेख मिलता है जिनमें (क) मनु, मानव, कौशिक, गौरिक, गान्धार, भूमितुण्ड, मूलवीर्यक, शंकुक तथा (ख) मालंक, पाण्डु, काल, स्वपाक, पर्वत, वंशालय, पांशुमूल, वृक्षमूल, नामक १६ विद्याएं परिगणित हैं जो (क) आर्य, आदित्य गन्धर्व, व्योमचर तथा (ख) दैत्य पन्नग मातंग आदि संज्ञाओं से भी प्रचलित रहे थे।[3] महानिमित्तज्ञान नामक विद्या निकाय में जो विद्याएं पठित हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—**अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यञ्जन और छिन्न** (१) **अन्तरिक्ष-ज्ञान**—यह नक्षत्रों आदि के अस्त और उदय से भूत भविष्यत् सम्बन्धी ज्ञान कहलाता है। (२) **भौम ज्ञान**—भूमि और दिशाओं के आधार पर जय-पराजय एवं भूमिगत प्रच्छन्न धन के ज्ञान को कहते हैं। (३) **अंग ज्ञान**—अंग उपांगों को देखकर सुख दुःखादि की

---

१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग १, पृ० १०३

२. न्याय विनिश्चय, १.३८.२८२.६

३. विशेष द्रष्टव्य—जै. सि. को., भाग ३, पृ०, ५५२

स्थिति के ज्ञान को कहते हैं। (४) स्वर ज्ञान—अक्षरात्मक शुभाशुभ शब्द-ज्ञान कहलाता है। (५) स्वप्न ज्ञान—स्वप्न दर्शन द्वारा सुख-दुःख जीवनमरण का ज्ञान कहलाता है। (६) व्यंजन ज्ञान—मस्तक-ग्रीवा आदि में तिल-मशक आदि लक्षणों के द्वारा त्रिकाल सम्बन्धी हिताहित का ज्ञान है। (७) लक्षण ज्ञान—स्वस्तिक, कलश आदि लक्षणो से मान, ऐश्वर्य आदि का ज्ञान है। तथा (८) छिन्न (चिह्न) ज्ञान—देव, दानव, राक्षस, मनुष्य आदि द्वारा छेदे गए शास्त्र एव वस्त्रादिक चिह्नों को देखकर शुभाशुभ का ज्ञान कहलाता है।[1] महाबन्ध मे ऋद्धिधारी जिनो को प्रणाम करते हुए अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, कामरूपित्व आदि जिन ऋद्धियो का उल्लेख आया है वे भी दिव्य विद्याओ का विविध रूप रही थी।

भगवान् महावीर से पूर्ववर्ती ज्ञान-विज्ञान के पूर्वोक्त चौदह पूर्वों मे जैन विद्याओ से सम्बद्ध जो विषय तालिका आई है उससे भी यह अनुमान लगाना सहज है कि जैन प्राच्य विद्याओ के प्राचीनतम रूपो मे दर्शन, तर्क, आचार, समाज, लिपि, गणित, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि से सम्बद्ध मानवीय चिन्तन का इतिहास समाविष्ट रहा था। चौदह पूर्वों मे "विद्या प्रवाह" के अन्तर्गत आने वाली विद्याओं-महाविद्याओ को परवर्ती काल मे निषिद्ध भी माना जाने लगा। क्योकि इन महाविद्याओ विद्याओं के ज्ञान से मुनियो को सासारिक लोभ व मोह उत्पन्न हो सकता था और वीतरागता की ओर बढने मे रुकावट भी आ सकती थी।[2]

जैन परम्परा के प्राचीन ग्रन्थो मे विद्याओ-महाविद्याओ की जो समृद्ध परम्परा रही थी आज टूटे हुए कुछ सूत्रो के कारण उन विद्याओं के वास्तविक स्वरूप को भली भाति जानने मे अनेक कठिनाइया आती हैं। इन विद्याओ पर गवेषणात्मक रूप से कार्य करने की आज बहुत आवश्यकता है। सच तो यह है कि ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित लोक-विद्याओं के स्वरूप को जैन साहित्य मे सुरक्षा प्राप्त हुई है। मानवीय मस्तिष्क के प्रारम्भिक इतिहास की आदिम-विद्याओ के बारे मे यदि जानना हो तो हमे जैन साहित्य की ही शरण में जाना पडेगा।

चामत्कारिक जैन विद्याएँ

जैन परम्परा मत्र तत्र जादू टोने से सिद्ध की जाने वाली विद्याओं को जैन मुनियो के लिए निषिद्ध मानती है। परन्तु संकटकालीन स्थिति मे लोककल्याण की भावना व स्वरक्षा की विवशता से इन विद्याओं के प्रयोग का औचित्य भी मान लिया गया था। जैन आगमो के उल्लेख यह बताते है कि समाज मे अनेक प्रकार की चामात्कारिक विद्याओ का विशेष प्रचलन था। मंखलि गोशाल अष्ट महानिमित्तों के ज्ञाता थे और हानि-लाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण सम्बन्धी भविष्यवाणी करते थे। कालकाचार्य के द्वारा भी सातवाहन की सभा मे चामत्कारिक विद्या के प्रदर्शन का उल्लेख मिलता है। आर्य खपुट को विद्याबल, बाहुबली, औरस्य, बल, ब्रह्म-बल-तेजोलब्धि और हरिकेश-तेजोलब्धि,[3] तथा श्री गुप्त आचार्य को वृश्चिक, सर्प, मूषक, मृगी, वाराही, काकी, और शाकुनिका नामक विद्याए सिद्ध थी।[4] आचार्य रोहगुप्त को मयूरी, नकुली, बिडाली, व्याघ्री, सिंही, उलूकी और उलावकी विद्याए सिद्ध थी तो आचार्य सिद्धसेन योनिप्राभृत के चमत्कार मे अश्व उत्पन्न कर सकते थे।[5] जैन आगमों मे ऐसे दो क्षुल्लको का उल्लेख भी आता है जिन्होंने अपनी आंखो मे अजन लगाकर अदृश्य रूप से चन्द्रगुप्त के साथ भोजन किया।[6] नगर मे यदि उपद्रव फैल जाए तो जैन मुनि द्वारा जनता के अनुरोध पर विद्या-प्रयोग से उपद्रव शान्त करने का जैन आगमो मे उल्लेख आया है।[7] डा० जगदीश चन्द्र जैन ने अपने शोध ग्रन्थ—जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज मे आगमोक्त अनेकानेक चामत्कारिक विद्याओ पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है।[8] उपर्युक्त विद्याओ के अतिरिक्त जैन आगमो मे जिन अनेक चमत्कारपूर्ण विद्याओ का उल्लेख आया है वे इस प्रकार हैं—कायोत्सर्ग विधि से वन देवता को कम्पित कर मार्ग पूछा जा सकता था। अभियोग्या विद्या-साधुओ पर किए गए अपकार का प्रतिकार कर सकती थी। स्तम्भनी से प्राकृतिक आपदाओ को शान्त किया जा सकता था। अपद्रावण सर्प आदि को भगा सकती थी। आभोगनी से दूसरे के मन को जाना जा सकता था। प्रश्न, निमित्त और देवता नामक विद्याएं चार का पता लगा लेती थी। अवनामनी और उन्नामनी वृक्ष की शाखाओं को

---

१. महाबन्ध, प्रथम भाग, पृ० १३
२. डा० हीरा लाल जैन, भारतीय सस्कृति मे जैन धर्म का योगदान, पृ० ५३
३. निशीथचूर्णी, १०.२८६०
४. उत्तराध्ययन टीका, ३, पृ० ७२ तथा निशीथ भाष्य, १६.५६०२'४
५. बृहत्कल्प भाष्य, १-२-६-८१, निशीथ चूर्णी, ४, पृ० २८१
६. पिण्ड नियुक्ति, ४९७-५११
७. निशीथचूर्णी पीठिका, १६७.
८. डा० जगदीश चन्द्र जैन, आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ३३९-३४७

क्रमशः झुका या उठा सकती थी। तालोद्घाटिनी से ताला खुल जाता था। अवस्वापिनी-सुला देती थी। अन्तर्धान विद्याओं से अदृश्य हुआ जा सकता था। वेगवती अपहरण कर सकती थी तो आकाश गामिनी से आकाश में गमन किया जा सकता था। शबरी शत्रु से रक्षा करती थी तो वैताली अचेतन को चेतन बना सकती थी।

लौकिक जैन विद्याएँ

ज्ञान की समग्र चेतना के सन्दर्भ में जिस विद्या से मनुष्य का तृतीय नेत्र खुल जाता है और वह अपनी आत्मा का स्वयं दर्शन कर लेता है आध्यात्मिक विद्या या 'दर्शन' कहलाती है। किन्तु यह ज्ञानार्जन प्रक्रिया की अन्तिम स्थिति है। उससे पूर्व लौकिक या व्यावहारिक विद्याओं का प्रसंग आता है। भौतिक या पदार्थ विज्ञान सम्बन्धी विद्याएं लोक व्यवस्था के प्रवृत्तिपरक सत्य का विश्लेषण करने में सहायक होती हैं। उसके साथ ही शिल्प एवं कलापरक विद्याओं का विशेष महत्त्व है जो प्रवृत्ति के वैभव की नकल करने का प्रशिक्षण प्रदान करती हैं। ललित एवं उपयोगी कलाओं की सहायता से मनुष्य के जीविकोपार्जन की समस्या भी हल होती है।

जैन परम्परा ने आध्यात्मिक-लौकिक दोनों प्रकार की विद्याओं को प्रोत्साहित किया। आध्यात्मिक चिन्तन के क्षेत्र में जैन दर्शन का कितना महत्त्वपूर्ण योगदान रहा था इसकी एक संक्षिप्त झलक लेख के पूर्वार्ध में दिखाई गई है। दर्शन और ज्ञान की स्पष्ट अवधारणाओं से जैन चिन्तकों ने मानवीय चिन्तन के इतिहास को एक मौलिक दिशा प्रदान की है। लौकिक विद्याओं के क्षेत्र में जैनों ने सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक दोनों दिशाओं में योगदान देते हुए 'भारतीय प्रज्ञा' को विशेष समृद्ध बनाया है।

जैन परम्परा के अनुसार ऋषभदेव प्रथम राजा थे जिन्होंने भारत की प्रथम राजधानी इक्ष्वाकुभूमि (अयोध्या) में राज्य किया। इससे पूर्व न राजा था और न राज्य। ऋषभदेव ने ही सर्वप्रथम समाज को व्यवस्थित करने के उद्देश्य से असि-मसि-कृषि की शिक्षा दी। शिल्प आदि विविध कलाओं का उपदेश दिया। आदि पुराण के अनुसार ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अर्थशास्त्र, नृत्यशास्त्र; वृषभसेन को गान्धर्व विद्या; अनन्त विजय को चित्रकला, वास्तुकला और आयुर्वेद, बाहुबलि को कामशास्त्र, लक्षण शास्त्र, धनुर्वेद, अश्व-शास्त्र, गजशास्त्र, रत्न परीक्षा, तन्त्र-मन्त्र सिद्धि आदि विद्याओं की शिक्षा दी। उन्होंने अपनी पुत्रियों को लिपि शास्त्र, अंक गणित आदि का भी परिचय कराया।जैन आगमिक साहित्य में 'चतुर्दश विद्याओं' की मान्यता को विशेष महत्त्व दिया गया है।[1]

प्राचीन जैन आगमों एवं मध्यकालीन जैन पुराणों, महाकाव्यों आदि में ७२ कलाओं के शिक्षण की मान्यता को विशेष बल दिया गया है। लौकिक विषयों में दक्षता एवं निपुणता प्राप्त करना इन कलाओं का उद्देश्य रहा था। बौद्धिक ज्ञान-विज्ञान, रहन-सहन, लोक व्यवहार, लोक व्यवस्था एवं व्यावसायिक मूल्यों की दृष्टि से इन ७२ कलाओं की विशेष भूमिका रही थी। समग्र जैन विद्याएं, और कलाएं मानवीय व्यवहार के विविध पहलुओं को शिक्षण-प्रशिक्षण द्वारा सार्थक बनाती हैं।

भारतीय शिक्षा संस्था के इतिहास में व्यावसायिक शिक्षा से सम्बन्धित विद्या के लिए 'शिल्प' का प्रयोग होता आया है। बौद्ध एवं जैन शिक्षा व्यवस्था ने व्यावसायिक एवं औद्योगिक विषयों के अध्ययन को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया है। जैन पुराणों एवं महाकाव्यों की विद्या विषयक चेतना से इस तथ्य की पुष्टि होती है पद्मानन्द, चन्द्रप्रभचरित आदि महाकाव्यों के अनुसार राज-कुमारों को युद्ध कला इत्यादि के अतिरिक्त व्यावसायिक शिक्षा से सम्बन्धित कलाओं का भी ज्ञान कराया जाता था। चन्द्रप्रभचरितकार ने 'राज विद्या' को विद्या तथा ६४ कलाओं की शिक्षा को 'उपविद्या' कहा है। विज्ञान-टैक्नॉलोजी की दृष्टि से भी जैन विद्याओं का अपेक्षित विकास हुआ है। स्वर्ण, लौह, पारस आदि धातुओं के शोधन, खनिज पदार्थों के परिज्ञान, द्रव्य मिश्रण आदि अनेक क्षेत्रों में जैन लेखकों एवं विद्वानों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता आया है।

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—भाग ५ की ओर दृष्टि डालें तो हम देखते हैं कि जैन मनीषियों ने लगभग २७ विषयों पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे तथा विभिन्न बौद्धिक आयामों को अपनी मौलिक प्रतिभा से आलोकित करते आए। वे विषय हैं :—

(१) व्याकरण (२) कोश (३) अलंकार (४) छन्द (५) नाट्य (६) संगीत (७) कला (८) गणित (९) ज्योतिष (१०) शकुन शास्त्र (११) निमित्त शास्त्र (१२) स्वप्न विज्ञान (१३) चूडामणि (१४) सामुद्रिक शास्त्र (१५) रमल विद्या (१६) लक्षणशास्त्र (१७) आय (१८) अर्घ (१९) कोष्ठक (२०) आयुर्वेद (२१) अर्थशास्त्र (२२) नीतिशास्त्र (२३) शिल्प शास्त्र (२४) रत्न शास्त्र (२५) मुद्रा शास्त्र (२६) धातु विज्ञान और (२७) प्राणि विज्ञान।

जैन प्राच्य विद्याओं के आधुनिक विकासपरक आयाम

वर्तमान खण्ड में विद्वान् लेखकों ने ज्योतिष, आयुर्वेद, संगीतशास्त्र, व्याकरण शास्त्र, सृष्टि विज्ञान, गणित शास्त्र आदि से सम्बद्ध प्राच्य जैन विद्याओं पर अनुसन्धानात्मक दृष्टि डाली है। किसी लेख में शास्त्र विशेष के इतिहास और परम्परा को विशद किया गया है तो अनेक लेखों में की आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सन्दर्भ में जैन विद्याओं गुणवत्ता का मूल्याङ्कन भी किया गया है। अमेरिका के

१. आदि पुराण, २.४८

विद्वान् प्रो० डेविड पिंगरे महोदय ने सुमतिहर्ष गणि नामक जैन ज्योतिषाचार्य के व्यक्तित्व-कृतित्व पर गवेषणात्मक तथ्य प्रस्तुत किए हैं। सोवियत विद्वान् डॉ० अलेक्जेंडर वोलोदार्स्की महोदय ने महावीराचार्य के गणितीय सिद्धान्तों के योगदान परक पक्षों को उद्घाटित किया है। उन्होंने हमें इस तथ्य से भी अवगत कराया कि विभाजन के नियम, सख्या को वर्ग और घन मे बदलने की विधिया, भिन्न के घन और घनमूलों को प्राप्त करने की विधि अनुपात के नियम आदि कुछ ऐसे फार्मूले थे जो सर्वप्रथम महावीराचार्य की ही देन थे। सृष्टि विज्ञान परक आधुनिक वैज्ञानिक मान्यताओ का उल्लेख करते हुए प्रो० जी० आर० जैन महोदय ने जैन एव हिन्दू सृष्टि विज्ञान की वैज्ञानिकता को विशेष रूप से पुष्ट किया है। जैन आयुर्वेद की यह विशेषता रही है कि वह मधुमद्यमास से वर्जित औषधिशास्त्र का निर्माण कर सका है। इसी पृष्ठभूमि में आयुर्वेद की जैन परम्परा का विश्लेषण करते हुए आचार्य राजकुमार जैन, डा० राजेन्द्र प्रकाश भटनागर, डा० तेज सिह गौड़ आदि विद्वानो ने रोगोत्पत्ति और उनके वर्गीकरण, आदि पर रोचक प्रकाश डाला है। श्री वाचस्पति मौद्गल्य ने दिगम्बर जैनाचार्य पार्श्वदेव कृत 'सगीतसमयसार' के सन्दर्भ मे गायक के गुण-व दोषो से सम्बन्धित सगीत शास्त्रीय पक्ष का निरूपण किया है। जैन व्याकरण की शास्त्रीय विद्या का मूल्याकन करते हुए डा० सूर्यकान्त बाली महोदय की धारणा रही है कि जैन व्याकरणों ने एक ओर जैनेन्द्र व्याकरण को केन्द्र मानकर व्याकरण शास्त्र को विकसित किया तो दूसरी ओर उन्होने जैनेतर व्याकरणो पर भी ग्रन्थ प्रणयन कर इस क्षेत्र को समृद्ध बनाया। डा० बाली ने इस तथ्य को विशेष रूप से रेखाङ्कित किया है कि जैन मनीषी अपने तत्त्व चिन्तन के पूर्वाग्रहो को लेकर व्याकरण शास्त्र की ओर उन्मुख नही हुए बल्कि एक तटस्थ भाषाशास्त्री के रूप मे वे व्याकरण का अध्ययन करना चाहते थे। सस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत-अपभ्रंश के व्याकरण पर भी उन्होने विशेष ध्यान दिया है।

प्राच्य विद्याओं के अध्ययन की आधुनिक दिशाएं

आधुनिक सन्दर्भ मे जैन विद्याओं तथा अन्य भारतीय प्राच्य विद्याओ के सवर्धन एव विकास परक बौद्धिक गतिविधियो मे विराम आ गया है। मध्यकालीन सङ्कीर्ण ज्ञान प्रवृतियो ने जहाँ इसके विकासात्मक परिप्रेक्ष्य को अवरुद्ध किया है वहाँ दूसरी ओर ब्रिटिश कालीन शिक्षा चेतना ने भी भारतीय विद्याओ के प्रचार-प्रसार को हतोत्साहित कर पश्चिमी चिन्तन को ही भारतीय बुद्धिजीवियो पर थोपने के षडयन्त्र किए हैं। आज भी भारत वर्ष मे जो ज्ञानार्जन की पद्धति प्रचलित है पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान से पूरी तरह समाहित है। भारतवर्ष के अनेक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयो के उच्चस्तरीय अध्ययन के पाठ्यक्रम और अनुसन्धान की प्रवृतिया यूनान आदि मृत सभ्यताओ एवं पश्चिमी जीवन दर्शन को सर्वोच्च स्थान दे रही है। भारतवर्ष के आर्यभट, ब्रह्मगुप्त, महावीराचार्य, कौटिल्य, कामन्दक, मनु, याज्ञवल्क्य आदि की विचार सरणियाँ उच्चस्तरीय ज्ञान-विज्ञान मे सर्वथा उपेक्षित हैं। आधुनिक बुद्धिजीवी उत्कृष्ट भारतीय चिन्तन को सम्प्रदायगत मूल्यो एव वर्ग चेतना के पूर्वाग्रहो से ग्रस्त मानते की भूल कर रहा है और इस ऐतिहासिक तथ्य से अनभिज्ञ है कि यूनान आदि के अरस्तू, पैथागोरस आदि विद्वानो ने भारतीय विश्वविद्यालयो से शिक्षा प्राप्त करके ही अपना चिन्तन प्रस्तुत किया था। आज इस तथ्य की भी सर्वथा उपेक्षा की जा रही है कि विश्व के लगभग सभी देशों ने विश्वविद्यालयीय स्तर पर भारतीय विद्याओ को प्रोत्साहित करने के लिए ठोस योजनाए अपना ली हैं। प्राच्य भारतीय विद्याओ की लगभग सभी अध्ययन शाखाओ मे विदेशी विद्वान् युद्ध स्तर पर कार्य कर रहे है। जनसत्ता (६ सितम्बर १९८६) के सन्दर्भ मे एक प्रसिद्ध सोवियत विद्वान् डा० ए० ए० गोरबोवस्की ने अपने ग्रन्थ "बुक ऑफ हाइपोथीसिस" मे ब्रह्मास्त्र (एटमबम) के विकास की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि को भारतीय विज्ञान के सन्दर्भ मे देखा है। उन्होंने लिखा है "कि ब्रह्मास्त्र से उत्पन्न जिस प्रचड तापमान का महाभारत में उल्लेख आया है उससे लगता है कि प्राचीन भारत के लोग 'एटमबम' से अनजान नहीं थे।" डा० गोरबोवस्की ने यह भी सभावना व्यक्त की है कि भारतीय वैज्ञानिक विमान बनाने की विद्या को भी जानते थे। 'समराङ्गण सूत्र धार' के उल्लेख इस तथ्य की पुष्टि करते है। जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ५ के सन्दर्भ में एक अग्रेज विमान शास्त्री (एयरोनौटिक इन्जीनियर) हर्वाले विमानविद्या के 'सकोचन रहस्य' को जानकर हतप्रभ हो गए—अर्थात् यदि आकाश मे आपका विमान शत्रुओं के विमानो से घिर जाए तो आप अपने विमान की सात नम्बर की कील को चलाइए आपके विमान का प्रत्येक अंग सिकुड़ कर छोटा हो जाएगा और आप शत्रु विमानो की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से उड़कर बच जाएंगे—

संकोचनरहस्यो नाम—यन्त्राङ्गोपसंहाराधिकोक्तरीत्या अतरिक्षे अतिवेगात् पलायमानानां विस्तृतखेटयानानामपायसम्भवे विमानस्थसप्तमकीलीचालनद्वारा तदङ्गोपसंहारक्रियारहस्यम्।

अमेरिका के लब्ध प्रतिष्ठित वैज्ञानिक पाणिनी द्वारा रचित अष्टाध्यायी सूत्रो की गणितीय चेतना से अनुप्रेरित होकर 'कम्प्यूटर प्रणाली,' को आधुनिक रूप देने के लिए विशेष प्रयत्नशील है (टाइम्स आफ इण्डिया, ११-९-१९८६)। ये सभी तथ्य भारतीय प्राच्य विद्याओं की आधुनिक सन्दर्भ में उपादेयता को रेखाङ्कित कर देते हैं।

'अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों से पाश्चात्य जगत् में भारतीय विद्याओं का जो प्रचार व प्रसार हुआ है उससे मानवीय चिन्तन के इतिहास को नवीन दिशाएं मिली हैं परन्तु भारतवर्ष मे ये प्राच्य विद्याएं 'पात्रता' के अभाव मे सिसक रही हैं। भारतवर्ष के बुद्धिजीवियों को चाहिए कि पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ भारतीय ज्ञान-विज्ञान को भी ज्ञानार्जन की प्रक्रिया के साथ इस प्रकार नियोजित किया जाए जिससे प्राच्य विद्याओं के संवर्द्धन व विकास को प्रोत्साहन मिल सके। भारतीय विद्या को पृथक् एवं स्वतन्त्र रूप से विकसित करने का दायित्व संस्कृत आदि प्राच्य भाषाओं के विद्वानो पर ही छोड़ दिया गया है और ज्ञान-विज्ञान की राष्ट्रीय प्रतिभाएं इस ओर उदासीन हैं। गणित, भौतिक विज्ञान, समाज विज्ञान की अवधारणाओ से अनभिज्ञ संस्कृतज्ञ प्राच्य तकनीकी विद्याओं का कैसे उद्धार कर सकेंगे ? और प्राच्य भाषा और साहित्य से अनभिज्ञ वैज्ञानिक, समाज वैज्ञानिक भी प्राच्य विद्याओं का क्या उपकार कर सकेंगे ? यह एक राष्ट्रीय प्रश्न चिह्न बन कर उभर गया है। ज्ञान-विज्ञान की संतुलित अध्ययन पद्धति ही इसका कोई समाधान ढूंढ सकती है।

प्रस्तुत खण्ड में पाठ-संशोधन

प्रेस कॉपी तैयार करने तथा प्रूफ संशोधन आदि के प्रति यद्यपि पूर्ण सावधानी रखी गई फिर भी अनेक तकनीकी कारणों से कुछ त्रुटियाँ भी रह गई हैं। प्रूफ संशोधन की दृष्टि से कुछ भूल सुधार अपेक्षित हैं। डा० मुकुट बिहारी लाल अग्रवाल के प्रारम्भिक जैनग्रन्थों में बीज गणित नामक लेख की पृष्ठ संख्या १६ पंक्ति ६ में a^{m+m} के स्थान पर $a^{m \cdot m}$ छप गया है। पंक्ति १४ मे $a^{\frac{1}{4}}$ के स्थान पर $a\frac{1}{4}$ और पंक्ति १५ मे $a^{\frac{1}{2^n}}$ के स्थान पर $a\ \frac{1^n}{2}$ छप गया है। उसी लेख के पृष्ठ 21 मे अन्तिम फार्मूले का सही रूप है—

$$x = \frac{b(c+d) \times p}{(c+d)\,b-(a+b)c}$$

पृ० २५ पंक्ति ६ मे शुद्ध फार्मूला इस प्रकार पढ़ा जाना चाहिए—

$$x = \frac{1}{2}\left[\frac{b}{a} \pm \sqrt{\frac{b^2}{a^2} - 4c\frac{b}{a}}\right]$$

पृ० २५ की अन्तिम पंक्तियो का समीकरणीय शुद्ध रूप इस प्रकार है—

$$(1/4)\ x \times 2\sqrt{x+15} = x$$
$$(3/4)\ x - 2\sqrt{x-15} = 0$$

सम्पादकीय दायित्व

प्रस्तुत खण्ड के तकनीकी विद्याओ गणित, ज्योतिष शास्त्र आदि से सम्बद्ध लेखो का सम्पादन कार्य प्राचीन भारतीय गणित के विशेषज्ञ प्रो० पी० सी० जैन द्वारा सम्पन्न हुआ है। उन्ही के द्वारा संकेतित भूल सुधारो की ऊपर चर्चा कर दी गई है। ग्रन्थ के प्रधान सम्पादक डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त ने शेष प्राच्य विद्या सम्बन्धी लेखो के सम्पादकीय दायित्व को पूरा किया है।

मोहन चन्द

संस्कृत विभाग, रामजस कालेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

जैन जगत्-उत्पत्ति और आधुनिक विज्ञान

प्रो० जी० आर० जैन

"तारीफ उस खुदा की जिसने जहाँ बनाया"

उर्दू के किसी शायर ने उपरोक्त शब्द कहे हैं और यही भावना मानव जाति के लगभग सभी व्यक्तियों ने व्यक्त की है। अपने चारों ओर इस विचित्र संसार को देख कर हर मनुष्य के मन में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस संसार को किसने बनाया और कैसे बनाया ? प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई बनाने वाला होता है, बिना बनाये कोई चीज नहीं बन सकती। इस भव्य संसार को बनाने और धारण करने वाली अनन्त शक्ति की धारक, सर्वज्ञ और सर्वव्यापी कोई महान् शक्ति होगी, जिसे सर्वसाधारण ने खुदा, परमात्मा या भगवान का नाम दिया। किन्तु कुछ ज्ञानियों के मन में यह प्रश्न भी उठा कि वह महान् शक्ति कहाँ से आयी ? उस शक्ति को बनाने वाला कौन था ? उस शक्ति ने कहाँ बैठ कर संसार की रचना की ? कब रचना की और किस पदार्थ से रचना की, और वह पदार्थ कहाँ से आया ? (शून्य से तो पदार्थ की उत्पत्ति होती नहीं)। इन सब समस्याओं का हल जैन धर्म के आचार्यों ने किस प्रकार किया, यह विवेचना करना इस लेख का उद्देश्य है।

हिन्दू शास्त्रों में काल की गणना इस प्रकार की गयी है—

कलियुग	4,32,000 × 1 = 4,32,000 वर्ष
द्वापरयुग	4,32,000 × 2 = 8,64,000 वर्ष
त्रेतायुग	4,32,000 × 3 = 12,96,000 वर्ष
सतयुग	4,32,000 × 4 = 17,28,000 वर्ष

इस प्रकार 1 महायुग = 4,32,000 × 10 = 43,20,000 वर्ष (टोटल)

71 महायुग = 1 मन्वन्तर = 30,67,20,000 वर्ष

14 मन्वन्तर = 4,29,40,80,000 वर्ष

प्रत्येक मन्वन्तर के प्रारम्भ में और उसके बीत जाने पर बाद में, सतयुग में जितने वर्ष होते हैं, उतने वर्षों तक अर्थात् 4,32,000 × 4 = 17,28,000 वर्षों तक पृथ्वी जल में डूबी रहती है। इसे आजकल के विज्ञान की भाषा में Glacial Epoch कहते हैं। अतएव 14 मन्वन्तरों में पृथ्वी 15 बार पानी में डूबी रही, अर्थात् 17,28,000 × 15 = 2,59,20,000 वर्षों तक पानी में डूबी रही। 14 मन्वन्तर के सम्पूर्ण काल को सामान्य कल्पकाल कहते हैं।

अतः एक सामान्य कल्पकाल के वर्षों की संख्या = 14 मन्वन्तरों की वर्ष-संख्या + पृथ्वी के 15 बार पानी में डूबे रहने की वर्ष-संख्या = 4,29,40,80,000 + 2,59,20,000 = 4,32,00,00,000 वर्ष (चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष)

= 43,20,000 (महायुग) × 1000

अर्थात् एक सामान्य कल्पकाल एक हजार महायुगों के बराबर होता है। इसे ब्रह्मा का एक 'अहोरात्र' भी कहा जाता है। और इसी गणना से अनुमान ब्रह्मा की आयु 100 वर्ष है (एक वर्ष = 360 दिन)।

12 सामान्य कल्पकाल	= 1 देव-युग
2,000 देव-युग	= 1 ब्रह्म-अहोरात्र
360 ब्रह्म-अहोरात्र	= 1 ब्रह्म-वर्ष
43,20,000 ब्रह्म-वर्ष	= 1 ब्रह्म-चतुर्युगी

2,000 ब्रह्म-चतुर्युगी	=1 विष्णु-अहोरात्र
360 विष्णु-अहोरात्र	=1 विष्णु-वर्ष
43,20,000 विष्णु-वर्ष	=1 विष्णु-चतुर्युगी
2,000 विष्णु-चतुर्युगी	=1 शिव-अहोरात्र
360 शिव-अहोरात्र	=1 शिव-वर्ष
43,20,000 शिव वर्ष	=1 शिव-चतुर्युगी
2,000 शिव-चतुर्युगी	=1 परमब्रह्म अहोरात्र
3 60 पर मब्रह्म अहोर	=1 परमब्रह्म-वर्ष
43,20,00 परमब्रह्म वर्ष	=1 परमब्रह्म चतुर्युगी
1,000 परमब्रह्म चतुर्युगी	=1 महाकल्प
1,000 महाकल्प	=1 महानकल्प
1,00,000 महान कल्प	=1 परमकल्प
1,00,000 परमकल्प	=1 ब्रह्म-कल्प

उपर्युक्त परिमाण के अनुकूल गणित फैलाने पर एक 'ब्रह्मकल्प' के वर्षों की संख्या 77 अंक प्रमाण है [22 अंकों पर 55 शून्य (बिन्दु) लगाने से जो संख्या बनती है वह संख्या 'ब्रह्मकल्प' के वर्षों का संख्या है]। शुरू के अंक इस प्रकार हैं —

4852102490441335701504

जैनाचार्यों के अनुसार काल की गणना निम्न प्रकार से की गयी है।

100 वर्ष	=1 शताब्दी
84 सहस्र शताब्दी या 84 लाख वर्ष	=1 पूर्वांग
84 लाख पूर्वांग	=1 पूर्व
84 लाख पूर्व	=1 पर्वांग
84 लाख पर्वांग	=1 पर्व
84 लाख पर्व	=1 नियुनाग
84 लाख नियुनाग	=1 नियुन
84 लाख नियुन	=1 कुमुदाग
84 लाख कुमुदाग	=1 कुमुद
84 लाख कुमुद	=1 पद्माग
84 लाख पद्माग	=1 पद्म
84 लाख पद्म	=1 नलिनाग

(एक 'नलिनाग' की वर्ष-संख्या 22 अंक और 55 शून्य से मिल कर बनता है। 22 अंक इस प्रकार है—
1469170321634239709184)

84 लाख नलिनाग	=1 नलिन
84 लाख नलिन	=1 कमलाग
84 लाख कमलाग	=1 कमल
84 लाख कमल	=1 त्र्याग
84 लाख त्र्याग	=1 त्र्य
84 लाख त्र्य	=1 अटटांग
84 लाख अट्टाग	=1 अटट
84 लाख अटट	=1 अममांग
84 लाख अममाग	=1 अमम
84 लाख अमम	=1 ऊहाग

84 लाख ऊहांग	=1 ऊह
84 लाख ऊह	=1 लतांग
84 लाख लतांग	=1 लता
84 लाख लता	=1 महालतांग
84 लाख महालतांग	=1 महालता
84 लाख महालता	=1 शिर.प्रकम्पित
84 लाख शिरः प्रकम्पित	=1 हस्त-प्रहेलिका
84 लाख हस्त-प्रहेलिका	=1 चर्चिक

1 'चर्चिक' मे वर्षों की अंक-संख्या 201 है, जिसमे 56 अंक और 145 शून्य हैं। आजकल स्कूलों मे पढाई जाने वाली गिनती की सीमा 10 शंख है, इसमें 19 अंक होते हैं।

हमारे मतानुसार एक कल्पकाल, एक अवसर्पिणी और एक उत्सर्पिणी काल को मिलाकर बनता है। अवसर्पिणी काल में धर्म, कर्म और आयु सब का क्रमशः ह्रास होता जाता है और उत्सर्पिणी काल मे इसके विपरीत सब बातों की क्रमश. वृद्धि होती जाती है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनो की वर्ष-संख्या बराबर है। उसको निकालने की विधि यह है—

413452630308203177749512192 के आगे 20 शून्य लगाने से जो संख्या बनती है, उतने वर्षों का एक व्यवहार-पल्योपमकाल होता है (1 व्यवहार पल्योपम काल के कुल अंकों की संख्या 47 है)।

असंख्यातकोटि व्यवहारपल्योपम काल	=1 उद्धारपल्योपम काल
असंख्यातकोटि उद्धारपल्योपम काल	=1 अद्धापल्योपम काल
10 कोडाकोडी (1 पद्म) व्यवहारपल्योपम काल	=1 व्यवहारसागरोपम काल
10 कोडाकोडी (1 पद्म) उद्धारपल्योपम काल	=1 उद्धारसागरोपम काल
10 कोडाकोडी (1 पद्म) अद्धापल्योपम काल	=1 अद्धासागरोपम काल
10 कोडाकोडी (1 पद्म) व्यवहारसागरोपम काल	=1 उत्सर्पिणी काल
10 कोडाकोडी (1 पद्म) व्यवहारसागरोपम काल	=1 अवसर्पिणी काल
20 कोडाकोडी (2 पद्म) व्यवहारसागरोपम काल	=1 अवसर्पिणी काल और 1 उत्सर्पिणी काल
	=1 कल्पकाल

उपर्युक्त मान से गणना करने पर 1 कल्पकाल के वर्षों की संख्या 826905260616406355499024384 (27 अंक) के आगे 50 शून्य लगाने से बनती है। (कुल अंक 77)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दुओं द्वारा की गयी कल्प की गणना और हमारी कल्प की गणना दोनों ही 77 अंक प्रमाण है। यद्यपि अंकों में कुछ विभिन्नता पायी जाती है, तथापि अंकों की 'स्थान-संख्या' 77 दोनो मे समान होने से परस्पर कोई बड़ा अन्तर नही है।

यह तो हुई काल-गणना की बात। अब हम पहले हिन्दू मतानुसार सृष्टि-संवत् की ओर आते हैं। हिन्दुओं का सृष्टि-संवत् उनके संकल्प-मन्त्र में दिया हुआ है। संकल्प-मन्त्र इस प्रकार है—

"ॐ तत्सत्ब्रह्मणे द्वितीये परार्द्धे, श्री श्वेत वाराहकल्पे, वैवस्वत मन्वन्तरे, अष्टाविंशतितमे युगे, कलियुगे, कलिप्रथम चरणे इत्यादि।"

अर्थात्—मैं अमुक शुभ कार्य का कर्ता सत्ब्रह्म के दूसरे प्रहर मे, श्वेत वाराह नामक कल्प में, वैवस्वत मन्वन्तर के अट्ठाईसवें युग मे, कलि के पहले चरण मे (इत्यादि), अपने कार्यारम्भ का संकल्प करता हूँ।

चौदह मन्वन्तर होते हैं, जिनमें वैवस्वत नामक यह सातवाँ मन्वन्तर बीत रहा है। इसलिए छ. मन्वन्तर बीत चुके हैं और एक मन्वन्तर 71 महायुग का होता है, जिनमे से 27 महायुग बीत चुके हैं। 28वें महायुग के तीन युग अर्थात् सतयुग, द्वापर और त्रेता के बीत जाने पर कलियुग के प्रथम चरण मे संकल्प करता हूँ।

उपर्युक्त बातों से संकल्प का वर्ष, कल्प के आरम्भ से इस प्रकार मालूम हो जाता है —

बिना प्रलयकाल के मन्वन्तर का प्रमाण=30,67,20,000 वर्ष

क्योंकि छः मन्वन्तर बीत चुके हैं इसीलिए छ मन्वन्तरो का समय—

=30,67,20,000 × 6 = 1,84,03,20,000 वर्ष

प्रलय-काल 17,28,000 वर्ष का होता है । 6 मन्वन्तर बीत कर 7 वें मन्वन्तर के आरम्भ के पूर्व 7 प्रलय बीत चुके।

इसीलिए प्रलय का कुल समय = 17,28,000 × 7 = 1,20,96,000 वर्ष ।

इसलिए 1,84,03,20,000 × 1,20,96,000 = 1,85,24,16,000 वर्षों के पश्चात् वैवस्वत मन्वन्तर आरम्भ हुआ ।

एक मन्वन्तर 71 महायुगो का होता है, जिसके 27 महायुग बीत चुके हैं । एक महायुग 43,20,000 वर्ष का होता है ।

इसीलिए 27 महायुगों का समय = 43,20,000 × 27 = 11,66,40,000 वर्ष ।

अर्थात् 1,85,24,16,000 × 11,66,40,000 = 1,96,90,56,000 वर्ष सातवें मन्वन्तर के 28 वें महायुग के प्रारम्भ के पूर्व बीत चुके हैं ।

अब 28वें महायुग के कलियुग का समय यह है—

सतयुग का मान = 17,28 000 वर्ष
त्रेता का मान = 12,96,000 वर्ष
द्वापर का मान = 8,64 000 वर्ष

ये तीनों युग बीत चुके, इसलिए इन तीनो का योग = 38,88,000 वर्ष

अर्थात् 1,96,90,56,000 + 38,88,000 = 1,97,29,44,000 वर्ष के बाद वैवस्वत मन्वन्तर के 28वें महायुग मे कलियुग का प्रारम्भ हुआ ।

भाद्रपद कृष्ण 13 रविवार को अर्द्धरात्रि के समय कलियुग की उत्पत्ति हुई थी ।

ईस्वी सन् 1980 तक कलिगत वर्ष = 5,081

सबों का योगफल = 1,97,29,44,000 + 5,081 = 1,97,29,49,081 वर्ष

कल्प के प्रारम्भ से आज के दिन तक उपर्युक्त वर्ष बीत चुके हैं । इसे ही सृष्टि-सवत् कहा जाता है । मोटे शब्दो मे वर्तमान कल्पकाल मे लगभग दो अरब वर्ष सृष्टि को बने हो चुके हैं ।

इंगलेंड के प्रसिद्ध भौतिकी विज्ञानी 'सर जेम्स जीन्स' ने भी अपनी पुस्तक 'The Mysterious Universe' मे पृथ्वी की आयु 2 अरब वर्ष ही अनुमान की थी । उनकी गणना का आधार निम्न प्रकार था ।

प्रारम्भ में जब हाइड्रोजन और ऑक्सीजन मिल कर जल रूप हुए तो वह जल शुद्ध जल था । उसमे किसी प्रकार के Salts (नमक) मिश्रित नही थे । ससार की हजारों नदियाँ प्रत्येक वर्ष समुद्रो मे जो जल ले जाती हैं उसमे नमक मिश्रित होते हैं । पहले तो यह हिसाब लगाया गया कि ससार की समस्त नदियाँ समुद्र मे प्रति वर्ष कितना नमक ले जाती है । फिर यह हिसाब लगाया गया कि ससार के समस्त समुद्रो मे लवण की कितनी मात्रा है । ये दोनो बातें जानकर सहज ही यह हिसाब लगाया जा सकता है कि इतना नमक नदियाँ कितने वर्षों मे लायी होंगी । उत्तर मिला—लगभग दो अरब वर्ष मे ।

किन्तु आजकल जो नयी खोजें हुई हैं, उनसे वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि पृथ्वी की आयु दो अरब वर्ष नही, चार अरब साठ करोड वर्ष है जो ब्रह्मा के एक अहोरात्र (चार अरब बत्तीस करोड वर्ष) के बहुत सन्निकट है । जब चन्द्रमा पृथ्वी से अलग हुआ था तो उसकी गति भिन्न थी और यह गति अब घट गयी है और जिस गति मे यह घट रही है, उसका हिसाब लगाने से सृष्टि की आयु चार अरब साठ करोड वर्ष निश्चित होती है ।

जैन मान्यता के अनुसार यह लोक छः द्रव्यो का समुदाय है, अर्थात् यह ब्रह्माण्ड छः पदार्थों से बना है—जीव, अजीव (Matter and Energy), धर्म (Medium of Motion) वह माध्यम जिसमे होकर प्रकाश की लहरें एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचती हैं, अधर्म (Medium of Rest) यानी Field of force, आकाश और काल (Time) । जैन ग्रन्थो मे जहां जहा धर्म द्रव्य का उल्लेख आया है वहा-वहा धर्म शब्द का एक विशेष पारिभाषिक अर्थ मे प्रयोग किया गया है । यहां धर्म का अर्थ न तो कर्त्तव्य है और न उसका अभिप्राय सत्य, अहिंसा आदि सत्कार्यों से है । 'धर्म' शब्द का अर्थ है एक अदृश्य, अरूपी (Non-Material) माध्यम, जिसमे होकर जीवादि भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थ एव ऊर्जा गति करते हैं । यदि हमारे और तारों के बीच में यह माध्यम नही होता तो वहा से आने वाला प्रकाश, जो लहरो के रूप मे धर्म द्रव्य के माध्यम से हम तक पहुँचता है, वह नही आ सकता था और ये सब तारे अदृश्य हो जाते ।

यह माध्यम विश्व के कोने-कोने में और परमाणु के भीतर भरा पड़ा है । यदि यह द्रव्य नहीं होता, तो ब्रह्माण्ड में कहीं भी गति नजर नही आती । यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि किसी भी वस्तु के स्थायित्व के लिए उसकी शक्ति अविचल रहनी चाहिए ।

यदि उसकी शक्ति शनैः शनैः नष्ट होती जाये या बिखरती जाये, तो कालान्तर में उस वस्तु का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। इस ब्रह्माण्ड को कुछ लोग तो ऐसा मानते हैं कि इसका निर्माण आज से कुछ अरब वर्ष पहले किसी निश्चित तिथि पर हुआ। दूसरी मान्यता यह है कि यह ब्रह्माण्ड अनादि काल से ऐसा ही चला आ रहा है और ऐसा ही चलता रहेगा। आइन्सटाइन का विश्व-सम्बन्धी बेलन सिद्धान्त (Cylindrical Theory of the Universe) में इसी प्रकार की मान्यता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यह ब्रह्माण्ड तीन दिशाओं (लम्बाई, चौडाई और ऊँचाई) में सिलिण्डर (बेलन) की तरह सीमित है किन्तु समय की दिशा में अनन्त है। दूसरे शब्दों में, हमारा ब्रह्माण्ड अनन्त काल से एक सीमित पिण्ड की भांति विद्यमान है। आइन्सटाइन के मतानुसार यह ब्रह्माण्ड चार आयामों (Dimnsions) का पिण्ड (Four dimensional Universe) है। (तीन आयाम तो लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई के हैं तथा चौथा आयाम समय का है)।

वैसे तो अगर हम यह सोचने लगें कि यह आसमान कितना ऊँचा होगा, तो इसकी सीमा की कोई कल्पना नही की जा सकती। हमारा मन कभी यह मानने को तैयार नही होगा कि कोई ऐसा स्थान भी है जिसके आगे आकाश नही है। जैन शास्त्रो में भी विश्व को अनादि-अनन्त बताया है और उसके दो विभाग कर दिये हैं – एक का नाम 'लोक' रखा है जिसमे सूर्य, चन्द्रमा, तारे आदि सभी पदार्थ गर्भित हैं और इसका आयतन 343 घनरज्जु है। आइन्सटाइन ने भी लोक का आयतन घन-मीलो मे दिया है। एक मील लम्बे, एक मील चौडे और एक मील ऊँचे आकाशीय खण्ड को एक घनमील कहते हैं। इसी प्रकार एक रज्जु लम्बे, एक रज्जु चौड़े और एक रज्जु ऊँचे आकाशीय खण्ड को एक घनरज्जु कहते हैं। आइन्सटाइन ने ब्रह्माण्ड का आयतन 1037×10^{63} घनमील बताया है अर्थात् 1037 लिखकर उसके आगे 63 बिन्दु लगाने से जो सख्या बनेगी (कुल अकों की सख्या 67), उतने घनमील विश्व का आयतन है। इसको 343 के साथ समीकरण करने पर एक रज्जु, 15 हजार शखमील के बराबर होता है।

ब्रह्माण्ड के दूसरे भाग को 'अलोक' कहा गया है। लोक से परे, सीमा के बन्धनो से रहित अलोकाकाश लोक को चारो ओर से घेरे हुए है। यहा आकाश के सिवाय जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल किसी द्रव्य का अस्तित्व नही है।

लोक और अलोक के बीच की सीमा का निर्धारण करने वाला द्रव्य धर्म अर्थात् 'ईथर' है। चूँकि लोक की सीमा से परे ईथर का अभाव है इसलिए लोक मे विद्यमान कोई भी जीव या पदार्थ अपने सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप मे अर्थात् एनर्जी के रूप में भी लोक की सीमा से बाहर नही जा सकता। इसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि विश्व के समस्त पदार्थ और उसकी सम्पूर्ण शक्ति लोक के बाहर नही बिखर सकती और लोक अनादि काल तक स्थायी बना रहता है। यदि विश्व की शक्ति शनैः शनैः अनन्त आकाश मे फैल जाती तो एक दिन इस लोक का अस्तित्व ही मिट जाता। इसी स्थायित्व को कायम रखने के लिए आइन्सटाइन ने 'कर्वेचर ऑफ स्पेस' की कल्पना की। इस मान्यता के अनुसार आकाश के जिस भाग मे जितना अधिक पुद्गल द्रव्य (matter) विद्यमान रहता है, उस स्थान पर आकाश उतना ही अधिक गोल हो जाता है। इस कारण ब्रह्माण्ड की सीमाएँ गोलाईदार हैं। शक्ति जब ब्रह्माण्ड की गोल सीमाओ से टकराती है तब उसका परावर्तन हो जाता है और वह ब्रह्माण्ड से बाहर नही निकल पाती। इस प्रकार ब्रह्माण्ड की शक्ति अक्षुण्ण बनी रहती है और इस तरह वह अनन्त काल तक चलती रहती है।

पुद्गल की विद्यमानता से आकाश का गोल हो जाना एक ऐसे लोहे की गोली है जिसे निगलना आसान नही। आइन्सटाइन ने इस ब्रह्माण्ड को अनन्त काल तक स्थायी रूप देने के लिए ऐसी अनूठी कल्पना की। दूसरी ओर जैनाचार्यों ने इस मामले को यो कह कर हल कर दिया कि जिस माध्यम न हो कर वस्तुओ, जीवो और शक्ति का गमन होता है, लोक से परे वह है ही नही। यह बडी युक्तिसंगत और बुद्धिगम्य बात है। जिस प्रकार जल के अभाव म कोई मछली तालाब की सीमा से बाहर नही जा सकती, उसी प्रकार लोक से अलोक में शक्ति का गमन, ईथर के अभाव के कारण, नही हो सकता। जैन शास्त्रो का धर्मद्रव्य मैटर या एनर्जी नही है, किन्तु विज्ञान वाले ईथर को एक सूक्ष्म पौद्गलिक माध्यम मानते चले आ रहे है और अनेकानेक प्रयोगो द्वारा उसके पौद्गलिक अस्तित्व को सिद्ध करने की चेष्टा कर रहे हैं, किन्तु वे आज तक इस दिशा मे सफल नही हो पाये हैं। हमारी दृष्टि से इसका एक-मात्र कारण यह है कि ईथर अरूपी पदार्थ है। कही तो वैज्ञानिको ने ईथर को हवा से भी पतला माना है और कही स्टील से भी अधिक मजबूत। ऐसे परस्पर-विरोधी गुण वैज्ञानिको के ईथर मे पाये जाते हैं और चूँकि प्रयोगों के द्वारा वे उसके अस्तित्व को सिद्ध नही कर सके हैं इसलिए आवश्यकतानुसार वे कभी उसके अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं और कभी इन्कार। वास्तविकता यही है जो जैनागम मे बतलायी गयी है कि ईथर एक अरूपी द्रव्य है जो ब्रह्माण्ड के प्रत्येक कण मे समाया हुआ है और जिसमे से होकर जीव और पुद्गल का गमन होता है। यह ईथर द्रव्य प्रेरणात्मक नही है, यानी किसी जीव या पुद्गल को चलने की प्रेरणा नही करता बरन् स्वयं चलने वाले जीव या पुद्गल की गति में सहायक हो जाता है, जैसे इंजन के चलने मे रेल की पटरी (लाइनें) सहायक हैं। इस द्रव्य के बिना किसी द्रव्य की गति सम्भव नही है।

सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? विज्ञान के क्षेत्र में इस सम्बन्ध में मुख्यत: दो सिद्धान्त हैं—(1) महान् आकस्मिक विस्फोट का सिद्धान्त (Big Bang Theory) और (2) सतत उत्पत्ति का सिद्धान्त (Continuous Creation Theory)।

महान् आकस्मिक विस्फोट का सिद्धान्त, जिसे सन् 1922 में रूसी वैज्ञानिक डॉ० फ्रैडमैन ने जन्म दिया, हिन्दुओं की कल्पना से मेल खाता है। इसके अनुसार ब्रह्माण्ड का जन्म हिरण्यगर्भ (सोने का अण्डे) से हुआ। सोना धातुओं में सबसे भारी है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जिस पदार्थ से इस विश्व की रचना हुई है वह बहुत भारी था। उसका घनत्व सबसे अधिक था। फैलते-फैलते यही अण्डा विश्वरूप हो गया।

अमेरिका के प्रोफेसर चन्द्रशेखर ने गणित के आधार पर बतलाया है कि विश्व-रचना के प्रारम्भ मे पदार्थ का घनत्व लगभग 160 टन प्रति घनइंच था। जबकि एक घनइंच सोने का तोल केवल पाच छटांक होता है। दूसरे शब्दों में वह पदार्थ अत्यन्त भारी था।

आजकल के वैज्ञानिक इस प्रश्न पर दो समुदायो में बँटे हुए है—एक वे हैं जिनका मत है कि यह ब्रह्माण्ड अनादि काल से अपरिवर्तित रूप मे चला आ रहा है और दूसरे वे हैं जो यह विश्वास करते है कि आज से अनुमानत 10 या 20 अरब वर्ष पूर्व एक महान् आकस्मिक विस्फोट के द्वारा इस विश्व का जन्म हुआ। हाइड्रोजन गैस का एक बहुत बडा धधकता हुआ बबूला अकस्मात् फट गया और उसका सारा पदार्थ चारों दिशाओ मे दूर-दूर तक छिटक पडा और आज भी वह पदार्थ हम से दूर जाता हुआ दिखाई दे रहा है। ब्रह्माण्ड की सीमा पर जो क्वैसर नाम के तारक पिण्डो की खोज हुई है जो सूर्य से भी 10 करोड गुने अधिक चमकीले हैं, वे हमसे इतनी तेजी से दूर भागे जा रहे हैं कि इनमे आकस्मिक विस्फोट के सिद्धान्त की पुष्टि होती है (भागने की गति 70,000 से 1,50,000 मील प्रति सैकिण्ड है। किन्तु भागने की यह क्रिया भी एक दिन समाप्त हो जायेगी और यह सारा पदार्थ पुनः पीछे की ओर गिर कर एक स्थान पर एकत्रित हो जायेगा और फिर विस्फोट की पुनरावृत्ति होगी। इस सम्पूर्ण क्रिया मे 80 अरब वर्ष लगेंगे और इस प्रकार के विस्फोट अनन्त काल तक होते रहेगे। जैनाचार्यों ने इसे परिणमन की क्रिया कहा है। इसमें षट्गुणी हानि और वृद्धि होती रहती है।

दूसरा प्रमुख सिद्धान्त सतत उत्पत्ति का सिद्धान्त है, जिसे अपरिवर्तनशील अवस्था का सिद्धान्त भी कहा जाता है। इसके अनुसार यह ब्रह्माण्ड एक घास के खेत के समान है जहाँ पुराने घास के तिनके मरते रहते हैं और उनके स्थान पर नये तिनके जन्म लेते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि घास के खेत की आकृति सदा एक-सी बनी रहती है। यह सिद्धान्त जैन धर्म के सिद्धान्त से अधिक मेल खाता है। जिसके अनुसार इस जगत् का न तो कोई निर्माण करने वाला है और न किसी काल-विशेष मे इसका जन्म हुआ। यह अनादि काल से ऐसा ही चला आ रहा है और अनन्त काल तक ऐसा ही चलता रहेगा। हमारी मान्यता गीता की उस मान्यता के अनुकूल है, जिसमे कहा गया है—

"न कर्तृत्वं न कर्माणि, न लोकस्य सृजति प्रभु ।"

एम० आई० टी० (अमरीका) के डॉ० फिलिप मोरीसन इस सम्बन्ध में कहते हैं—"ज्योतिषियो ने जो अब तक परीक्षण किये हैं उनके आधार पर यह निर्णय नही किया जा सकता कि खगोल-उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तो मे से कौन-सा सिद्धान्त सही है। इस समय इनमे से कोई सा भी सिद्धान्त सम्पूर्ण रूप मे वस्तुस्थिति का वर्णन नही करता।"

इस सम्बन्ध मे हम ससार के महान् वैज्ञानिक प्रोफेसर आइन्सटाइन का सिद्धान्त ऊपर वर्णन कर चुके हैं, जिसके अनुसार यह ससार अनादि एव अनन्त सिद्ध होता है।

जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लेख का निष्कर्ष यह निकलता है कि महान आकस्मिक विस्फोट-सिद्धान्त के अनुसार इस ब्रह्माण्ड का आरम्भ एक ऐसे विस्फोट के रूप मे हुआ, जैसा आतिशबाजी के अनार मे होता है। अनार का विस्फोट तो केवल एक ही दिशा मे होता है। यह विस्फोट सब दिशाओ मे हुआ और जिस प्रकार विस्फोट के पदार्थ पुन: उसी बिन्दु की ओर गिर पडते हैं, इस विस्फोट मे भी ऐसा ही होगा। सारा ब्रह्माण्ड पुन अण्डे के रूप मे सकुचित हो जायेगा। पुन. विस्फोट होगा और इस प्रकार की पुनरावृत्ति होती रहेगी। इस सिद्धान्त के अनुसार भी ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति शून्य मे से नही हुई। पदार्थ का रूप चाहे जो रहा हो, इसका अस्तित्व अनादि-अनन्त है।

दूसरा सिद्धान्त सतत उत्पत्ति का है। इसका तो यह मान्यता है हां कि ब्रह्माण्ड-रूपी चमन अनादि काल से ऐसा ही चला आ रहा है और चलता रहेगा। इस सिद्धान्त को आइन्सटाइन का आशीर्वाद भी प्राप्त है। अतएव जगत्-उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जैनाचार्यों का सिद्धान्त सोलहो आने पूरा उतरता है।

इस लेख की समाप्ति हम यह कह कर रहे हैं कि 343 घनरज्जु के इस लोक मे इलैक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रॉन आदि मूलभूत कणो की सख्या 10^{72} से लेकर 10^{75} तक है, अर्थात् 1 का अक लिखकर 72 या 75 बिन्दु लगाने से यह सख्या बनेगी।

अणोरणीयान् महतो महीयान् !

Some Strange Notions in Jaina Cosmology

Dr Sajjan Singh Lishk*

1. Notion about the shape of the earth

Man everywhere had been continuously striving for a formulation of concepts which will permit description of the real world around in mathematical terms. Consequently any such scientific persuits rendered the development of some wonderous types of cosmological and cosmographical notions among all ancient nations. Ancient Greek intellectuals[1] had developed certain peculiar notions The earth was supposed to be cake-shaped by Anaximander (611-546 B C) and to be surrounded by a sphere of air outside which there was a sphere of fire. Pythagoreans supposed the universe to consist of separate concentric spheres of crystal which respectively carried along by their rotation Moon, Sun, each of five planets and the whole body of fixed stars; and these spheres in their rapid motion emitted a music to be perceived only by those of the most exalted faculties. Anaxagoras (C. 500-428 BC) of Klazomenae believed that the Sun was a mass of blazing metal as big as Greece and the other heavenly bodies are alike masses of rock. It is also said that Anaximander (611-546 B. C.) of Miletus had suggested about 550 B. C. that men lived on the surface of a cylinder that was curved north and south[2]. Egyptians[3] believed that the earth was rectangular like their country.

The cosmic view-points most popular among the Japanese intellectuals at the beginning of Tokugawa regime (Sixteenth Century A D.) were the Confucian Ten'en-Chih-o-ron i.e. the theory that heaven is round and the earth is square This theory was upheld by Japanese people even upto the middle of seventeenth century A. D[4] According to the Chinese view-points[5], the earth is square and the heaven is like a hen's egg and the earth in it is like the yoke.

Similar notions were also prevalent among Vedic people According to Rigveda (X. 89) the earth was regarded circular like a wheel and also according to some other verses of Rigveda (III. 55) in the earth has the shape of a bowl and also the heaven has an alike one, the two great bowls being face to face with each other[6] Likewise Jainas had also a different cosmological scheme and believed that the earth was made

*Dr S. S Lishk reported some results in his public lecture at JVB Ladnun (Sept. 1977) under the presidentship of Acharya Tulsi and some results in his public lecture at Unjha (June, 1978) under the presidentship of Panyasa Abhaya Sagar Ji

1. Taylor, F (1940). A Short History of Science, pp. 34-35
2. Asimov, I. (1971) The Universe, p. 5.
3. Vaucouleurs, G. D (1957). Discovery of the Universe 2nd ed. p. 18.
4. Hirose. Hideo (1964) The European Influence upon Japanese Astronomy. Reprint from 'Acceptance of Western Cultures in Japan from the Sixteenth to Mid-Nineteenth century" pp 61-80.
5. Jaggi, O P. (1969) Dawn of Indian Sciences Vol. 2. p. 47
6. *Ibid*, p. 43.

up of a series of flat concentric ocean rings. The central island of the earth was called Jambūdvīpa (an isle of Jambū tree) and the mount Meru was placed at its centre[1]. Jainas might have perceived that maṇḍalas[2] (diurnal circles) of the Sun are almost concentric. Consequently they perceived the mount Meru placed at the common centre of these circles such that the Sun and the Moon etc moved in their diurnal circles round the mount Meru[3]. The increasing diameters of maṇḍalas (diurnal circles projected over the surface of the earth) of the Sun on its southern journey and vice versa were measured along the surface of the earth ; 65 solar maṇḍalas are stretched over 180 Yojanas[4] in Jambūdvīpa and 119 solar maṇḍalas over 330 Yojanas in salt ocean. Probably because of the strong impact of circularity of solar maṇḍalas, Jainas might have been led to conceive that they lived on a circular land mass surrounded by salt ocean. Consequently they might have further envisaged as if the earth was made up of circular land masses alternatively surrounded by ocean rings This invariably implies the concept of flat earth.

It is worthy of note that Aristotle (384-322 B C.) put forward the idea that the earth was not flat[5] But the Greek philosopher. Philolaus of Tarenturm (480—? B C.) is also said to have first suggested about 450 B. C. that the earth was a sphere[6]. Notion of spherical earth has not been at all found in Jaina canonical literature whose present recension is traditionally ascribed to the council of Valabhi which met during the reign of Dharuvasena I (Ca. A D. 519-549)[7]. It is, however. worthy of note that Jaina Monk Abhay Sagar[8] has very logically argued that the earth cannot be a sphere. His inferences are based on archaeological and geographical evidences, e g. the earth distance in one latitudinal degree goes on increasing as one moves from the equator towards south pole where it should not have been so had the earth been a sphere Even modern space observation has also led us to conclude that the earth is not spherical but oval-shaped.[9] In Sthānāṅga Sūtra, third aṅga (limb) of Jaina Canon of sacred literature[10], as Jaina Monk Nathmal[11] has

1 Bose, D. M, Sen, S. N. and Subrayappa, B. V. (1971). A Concise History of Science in India, p 80
2. For more details about the concept of maṇḍala, see our paper 'Notion of Declination Implied in the Concept of Maṇḍala (Diurnal Circle) in Jaina School of Astronomy. See also Lishk, S. S. (1978) Mathematical Analysis of Post-Vedāṅga Pre-Siddhantic Data in Jaina Astronomy. Ph. D Thesis. Library, Panjabi University, Patiala.
3. For more details about the concept of mount Meru, see our paper 'Notion of Obliquity of Ecliptic Implied in the Concept of the Mount Meru in Jambūdvīpa Prajñapti—Jaina Journal, Vol. 12 No 3. pp. 79-92.
   See also Singhal B. M., Sharma, S D. and Lishk, S. S. Concept of Mount Meru in Ancient Indian Geography (To appear).
4. For length-units, see our paper. 'Length Units in Jaina Astronomy'. Jaina Journal, Vol. 13, No. 4, pp 143-154.
   See also our paper 'The Evolution of Measures in Jaina Astronomy' Tirthankar, Vol. 1 Nos. 7-12 pp. 83-92.
5. Nicolson, Lain (1970). Astronomy, p. 10.
6. Asimov, I Op Cit p. 7.
7. For more details. see our paper 'Sources of Jaina Astronomy' The Jaina Antiquary, Vol. 29. No. 1-2 pp 19-32.
8 Sagar, Abhaya (a Jaina monk) ·
   (i) What others say and a questionnaire.
   The Earth Rotation Research Series, No 1 (Mehsana).
   (ii) Vijñānavāda Vimarśah (in Sanskrit).
   The Earth Rotation Research Series No 2, (Mehsana).
   (iii) Bhugola Bhrama Bhañjanī (in Sanskrit-Gujarati). The Earth Rotation Research Series, No.16.
9. Ramanathan, A. N (1978) Is the Earth Pear-Shaped ? Science Today, Oct. issue pp. 24-48.
10. See ref No 13
11. Private discussion with Yuvācārya

pointed out that the shape of earth is like Jhallarī (an earthern pot for cooking pulse) which is somewhat near the oval shaped body. Our researches are in progress and very interesting results are expected in future.

2. Theory of two Suns and two Moons

The notion of counter bodies existed in several civilizations. Chinese had imagined from ancient times the existence of a 'Counter-Jupiter' which moved round diametrically opposite to the planet itself ; Greeks had also a parallel to this in the strange pythagorean theory of the counter earth apparently due to Philolaus of Tarentum (480-? B C.), which was devised either to bring the number of planets upto a perfect number ten or to explain lunar eclipses.[1] Jainas had also a peculiar theory of two Suns, two Moons and two sets of Nakṣatras (asterisms) which were assumed to move in circles parallel to earth's surface round the mount Meru It is worthy of note that because of notion of flatness of earth, Jainas could not solve the mystery of the theory of two Suns and two Moons etc Jambūdvīpa (an isle of Jambū tree) is divided into four quarters and four directions. As the Sun should make the day in succession of the regions south, west, north and east of Meru, Sun's diurnal orbit is also divided into four quarters ; the same Sun making day over Bhāratavarṣa in the southern quarter cannot reappear on the following morning as it still has three quarters to travel. To obviate this difficulty, the theory supposes two Suns, Bhārata and Airāvata, separated from each other by half the orbit, to describe the whole orbit.[2] This theory is quite confusing these days, but it certainly depicts peculiar thinking of Jaina scholars. L. C. Jain opines that the mystery of the real and counter bodies existent in the Jaina Prakrit texts, China and Greece have not yet been unearthed, although it has been a theory for certain calculations.[3] In the light of fore-going discussion it may be contemplated that Jainas might have not necessarily believed in the actual existence of two Suns etc. For mathematical calculations, only one Sun, one Moon and one set of nakṣatras suffice. But this theory had served their purposes like those of tentative astronomical model of cosmos. This theory fairly worked over many centuries together for solving the practical problems Jainas encountered in formulizing the description of the real world around. More researches are being made in this direction and it is envisaged that since the actual length of a solar year does not exactly correspond to an integral number of solar maṇḍalas (diurnal circles), therefore the Sun on completion of its southern journey does not begin its northern journey at the beginning of a solar maṇḍala ; in other terms as the northern journey of the Sun does not commence at the time of sunrise as the southern journey of the Sun does, so there is a phase difference in southern and northern journeys of the Sun. To obviate this difficulty, it appears that the same Sun was called by two different names—Bhārata and Airāvata—in different contexts respectively. More researches are still in progress in this direction.[4]

3. The Theory that the Moon is 80 Yajanas higher than the Sun

According to Sūrya Prajñapti[5] (S. P. 18) it is stated that.

'The lowest star moves at a height of 790 Yojanas above the most plane portion of the earth. The Sun moves at a height of 800 Yajanas. The Moon moves at a height of 880 Yojanas. The uppermost star moves at a height of 900 Yojanas.'

Mahāprajña Muni Nathmal, follower of Jaina Achrya Tulsi, leader of the Tera sect.
See also our paper "Shape of the Earth in Jaina Cosmography" (in press).

1. Needham, J. and Wang, L. (1959). Science and Civilisation in China, Vol. 3, p. 228.
2. See ref. No. 7.
3. Jain, L. C. (1975) Kinematics of the Sun and the Moon in Tiloya Paṇṇatti, Tulsi Pragya, Vol 1 No 1, pp. 60-67.
4. Sūrya Prajñapti. Sanskrit and English commentaries are in progress under the supervision of principal Investigator Dr. S.D. Sharma, Reader in Physics, Punjabi University, Patiala, Sponsored by Vardhamana Kendra, Ahmedabad.
5. Sūrya Prajñapti (=SP) Sanskrit commentary by Malaya Giri. Hindi translation by Amolak Rishi. The SP is the 5th upāṅga of Jaina canonical literature. For more details, See ref. No. 13.

Other explicit references are

1. **Jivābhigama Sūtra**[1] (=JS) .3.68.11
2. **Jambūdvipa Prajñapti**[2] (=JP) .10.6

Evidently the Moon is stated to be 80 Yojanas higher than the Sun. Dixit[3] advocates in his Bhāratiya Jyotiṣa Śāstra that no stars are visible during day time when the Sun shines, but on the other hand, the Moon moves among the stars at night. Hence it was but natural for the people to believe that because the stars are higher than the Sun and the Moon moves in their region, so the Moon is also higher than the Sun. Nemichandra Śāstri[4] also agrees with this hypothesis. The Siddhāntic astronomers were not attracted to solve the mystery of this peculiar notion. As a matter of fact, we have to delve deep into the secrets of Jaina astronomical system so as to comprehend the concept of height in its true perspective.

It was conventional to measure celestial north south angular distances in terms of corresponding distances over the surface of the earth[5]. Here the distances of astral bodies have been measured from plane portion of the earth (Samatala Bhūmi, a technical term in Jaina astronomy). Height of the Sun is always 800 Yojanas above Samatala Bhūmi. This suggests that Samatala Bhūmi denotes an area bounded by the locus of a point that remains always at a distance of 800 Yojanas from the Sun's apparent path, the ecliptic, and the plane of Samatala Bhūmi is parallel to the plane of ecliptic. Therefore the centre of Samatala Bhūmi lies at the projection of pole of ecliptic, over the surface of the earth

It may be noted that the lunar orbit is inclined to the plane of ecliptic When the Moon lies at its ascending or descending node, its height above Samatala Bhūmi is the same as that of the Sun ; however, the Moon on its journey from descending node to ascending node remains higher than the Sun with respect to Samatala Bhūmi Thus it appears that the concept of height of the Moon over that of the Sun above Samatala Bhūmi implies a notion of maximum celestial latitude of the Moon.[6] Therefore, it is evident that the concept of the word 'height' has to be properly understood in the given context Such a view has also been expressed in Madanpal's commentary on Sūrya Siddhānta [7] Such an idea of north or south position of the Moon relative to that of the Sun is also found in Goladīpikā[8] (2.31-32).

---

1. The JS is the third upāṅga of Jaina canonical literature For more details, see ref. No. 13.
2. The JP is the sixth upāṅga of Jaina canonical literature. For more details, see ref. No. 13.
3. Dixit, S. B. Bhāratīya Jyotisa Śāstra. Vol I Part-I Eng. Tr. by R V. Vaidya, (1969), p. 6
4. Shastri, N C (1973) Bhāratiya Jyotiṣa (in (Hindi) pp 45-46.
5. Lishk, S S and Sharma S D, (1974).
   Post-Vedānga Pre-Siddhāntic Indian Astronomy. Paper presented at Summer School on History of Science (INSA New Delhi). To appear in K. C. Shastri Memorial Volume (Jabalpur).
6. For more details, see our paper
   Latitude of Moon as Determined in Jaina Astronomy.
   Shramana, Vol. 27, No 2, pp 28-35
7. Private correspondence with
   Dr. K S. Shukla, Professor and Head,
   Department of Mathematics and Astronomy,
   Lucknow University. Lucknow.
8. The Goladīpikā by Parameśvara.
   Edited with introduction, translation and notes by K. V. Sharma,
   Adyar Library Pamphlet Series No. 32.
9. Acknowledgement . The authors are grateful to Prof. L. C Jain and Dr. K. S. Shukla for helpful discussions and valuable suggestions Thanks are also due to Rev. Munishree Abhay Sagar Ji for his active interest in preparation of this work and Vardhamana Kendra, Ahmedabad, for financial support.

प्रारम्भिक जैन ग्रन्थों में बीजगणित

डॉ० मुकुटबिहारी लाल अग्रवाल

'स्थानांग-सूत्र'[1] (300 ई० पू० लगभग) मे अज्ञात राशि के लिए 'यावत्-तावत्' शब्द प्रयोग किया है। 'उत्तराध्ययन-सूत्र' (लगभग 300 ई० पू०) मे ज्ञात अथवा अज्ञात राशि की घात के लिए प्राचीनतम हिन्दू नाम उपलब्ध होते हैं।[2] इसमें दूसरी घात (अर्थात् a^2) के लिए 'वर्ग' तीसरी घात (अर्थात् a^3) के लिए 'घन', चौथी घात (अर्थात् a^4) के लिए 'वर्ग-वर्ग' [जिसका अर्थ है वर्ग का वर्ग अर्थात् $(a^2)^2$], छठी घात (अर्थात् a^6) के लिए 'घन वर्ग' [अर्थात् $(a^3)^2$] तथा बारहवी घात (अर्थात् a^{12}) के लिए 'घन-वर्ग-वर्ग' [अर्थात् $\{(a^3)^2\}^2$] शब्द प्रयोग किये गये हैं। इन शब्दों की रचना मे सिद्धान्त $(a^m)^2=a^{m\times m}$ का प्रयोग किया गया है। इस ग्रन्थ में तीन से अधिक विषम घात के लिए कोई शब्द नहीं मिलता। परन्तु बाद के ग्रन्थो मे पाचवी घात (अर्थात् a^5) के लिए 'वर्ग घन घात' (अर्थात् $a^2\times a^3$), सातवी घात (अर्थात् a^7) के लिए 'वर्ग-वर्ग घन घात' (अर्थात् $a^2\times a^2\times a^3$) आदि शब्द मिलते हैं। इसमे घात-सिद्धान्त (अर्थात $a^m\times a^n=a^{m+n}$) का प्रयोग है। इससे स्पष्ट है कि उस समय निम्न घात सिद्धान्त ज्ञात थे।

(1) $(a^m)^2=a^{m\times m}$ (2) $a^m\times a^n=a^{m+n}$

'अनुयोगद्वारसूत्र' मे, जो ईसा-पूर्व मे लिखा हुआ ग्रन्थ है, उच्च घातो के लिए, चाहे वे पूर्णांक हो अथवा भिन्नात्मक, विशेष शब्द मिलते हैं।[3] इस ग्रन्थ मे किसी राशि a के प्रथम वर्ग का आशय a^2 से है, a के द्वितीय वर्ग से आशय $(a^2)^2=a^4$ और a के तृतीय वर्ग का आशय $[(a^2)^2]^2=a^8$ से है। इसी प्रकार और आगे की घातो के लिए है।

समान्यतः a के n वें वर्ग का आशय $a^{2\times2\times2\cdots\cdots n \text{ बार}}=a^{2^n}$ है।

इसी प्रकार a के प्रथम वर्गमूल का आशय $\sqrt{a}$ है। a के द्वितीय वर्गमूल का आशय $\sqrt{(\sqrt{a})}=a^{\frac{1}{4}}$ है। सामान्यतः a का n वां वर्गमूल $a^{\frac{1}{2}^n}$ है।

चिह्नों के नियम—'गणितसारसंग्रह' मे धन और ऋण-चिह्नो के विषय मे नियम इस प्रकार मिलता है।[4]: "धनात्मक और ऋणात्मक राशि के जोडने पर प्राप्त फल इनका अन्तर होता है। परन्तु दो ऋणात्मक अथवा दो धनात्मक राशियो का योग क्रमशः ऋणात्मक और धनात्मक राशि होता है।"[5]

घटाने के समय चिह्नो के बारे मे 'गणितसारसंग्रह' मे नियम इस प्रकार हैं—"किसी दी हुई संख्या में से धनात्मक राशि घटाने के लिए उसे ऋणात्मक कर देते है, और ऋणात्मक राशि घटाने के लिए उसे धनात्मक कर देते हैं। इसके बाद दोनो को जोड लेते हैं।"[6]

गुणा करते समय चिह्नो के बारे मे इस ग्रन्थ मे नियम इस प्रकार है—"दो ऋणात्मक अथवा दो धनात्मक राशिया, एक-दूसरे से गुणित करने पर, धनात्मक राशि उत्पन्न करती हैं, परन्तु दो राशियाँ, जिनमे एक धनात्मक तथा दूसरी ऋणात्मक हो, एक-दूसरे से गुणा करने पर ऋणात्मक राशि उत्पन्न करती हैं।"[7]

---

1. स्थानांग सूत्र, सूत्र 747
2. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय 30, सूत्र 10-11
3. अनुयोगद्वारसूत्र, सूत्र 142
4. गणितसारसंग्रह अध्याय 1, गाथा 50-51
5. वही, अध्याय 1, गाथा 50 (ii)
6. वही, अध्याय 1, गाथा 51
7. वही, अध्याय 1, गाथा 50 (i)

भाग के सम्बन्ध में, महावीराचार्य ने 'गणितसारसंग्रह' में चिह्नों के बारे में निम्नलिखित नियम दिया है—"दो ऋणात्मक अथवा दो धनात्मक राशियाँ एक-दूसरे से भाजित होने पर धनात्मक राशि उत्पन्न करती हैं; परन्तु दो राशियाँ, जिनमें एक धनात्मक और दूसरी ऋणात्मक हो, एक-दूसरे से भाजित करने पर ऋणात्मक राशि उत्पन्न करती हैं।"[1]

वर्ग तथा वर्गमूल ज्ञात करते समय चिह्नों के विषय में आचार्य महावीर निम्नलिखित नियम का उल्लेख करते हैं—"धनात्मक अथवा ऋणात्मक राशि का वर्ग धनात्मक होता है, तथा उस वर्ग राशि के वर्गमूल क्रमशः धनात्मक और ऋणात्मक होते हैं। चूँकि ऋणात्मक राशि देखने में ही अवर्ग है, इसलिए ऋणात्मक राशि का कोई वर्गमूल नहीं होता।"[2]

समीकरण के प्रकार—समीकरणों को चार भागों में विभक्त किया गया है।[3] (1) एक वर्ण समीकरण, जो केवल एक-घातीय होते हैं। इन्हें 'यावत्-तावत्' भी कहते हैं। द्विघातीय समीकरण, जिन्हें वर्ग समीकरण कहते हैं।[4] अनेक वर्ण समीकरण, जिनमें अनेक वर्णों का प्रयोग होता है।[4] भावित समीकरण, जिसमें दो वर्णों के गुणन का प्रयोग होता है।

एक वर्ण समीकरण—ऐसे समीकरणों को जैन साहित्य में 'यावत्-तावत्' के नाम से पुकारा है। अरब और योरोप के गणितज्ञों द्वारा इन सरल समीकरणों को 'Rule of false position' के नाम से सम्बोधित किया गया है। इस प्रकार के प्रश्न तथा हल करने की विधि का वर्णन 'बख्शालीगणित' में मिलता है। आर्यभट्ट प्रथम (499 ई०) ने भी इस प्रकार के प्रश्न हल करने का नियम दिया है जो इस प्रकार है[4]—

"ज्ञात राशियों के अन्तर को अज्ञात राशि के गुणकों के अन्तर से भाग देने पर अज्ञात राशि का मान ज्ञात हो जाता है।"

यथा—

$$ax+c=bx+d \qquad \therefore \quad x=\frac{d-c}{a-b}$$

आचार्य महावीर ने भी 'गणितसारसग्रह' में इस विधि पर अनेक उदाहरण एवं हल करने की विधि का वर्णन किया है, जो इस प्रकार है—

यदि किसी राशि का $\frac{1}{8}$, $\frac{1}{3}$ का $\frac{1}{4}$, $\frac{1}{2}$ का $\frac{1}{5}$ और $\frac{1}{6}$ का $\frac{3}{4}$ का $\frac{1}{5}$ का योग $\frac{1}{2}$ है, तो बतलाओ कि वह अज्ञात राशि क्या है?[5]

इस प्रकार के प्रश्न में अज्ञात राशि ज्ञात करने के लिए आचार्य ने निम्नलिखित नियम दिया है—

अज्ञात राशि के स्थान पर एक रखकर, प्रश्न के अनुसार फल ज्ञात करो और फिर प्राप्त फल से दिए हुए फल को भाग दो। इस प्रकार प्राप्त भजनफल ही अज्ञात संख्या का मान होगा।[6]

$$1 \text{ का } \frac{1}{8} = \frac{1}{8}$$

$$1 \text{ का } \frac{1}{3} \text{ का } \frac{1}{4} = \frac{1}{12}$$

$$1 \text{ का } \frac{1}{2} \text{ का } \frac{1}{5} = \frac{1}{10}$$

$$1 \text{ का } \frac{1}{6} \text{ का } \frac{3}{4} \text{ का } \frac{1}{5} = \frac{1}{40}$$

$$\frac{1}{8}+\frac{1}{12}+\frac{1}{10}+\frac{1}{40}=\frac{1}{3}$$

$$\frac{1}{2} \div \frac{1}{3} = \frac{3}{2}$$

अतः वह अज्ञात राशि $\frac{3}{2}$ है।

---

1. गणित-सारसंग्रह, अध्याय 1, गाथा 50
2. वही, अध्याय 1, गाथा 52
3. स्थानांग सूत्र, सूत्र 747
4. आर्यभट्टीय ii, 30
5. गणितसारसग्रह, अध्याय 3, गाथा 108
6. वही, अध्याय 3, गाथा 107

(3) अनेक वर्ण समीकरण—

एकघातीय युगपत् समीकरण का भी आचार्य महावीर ने उल्लेख किया है। उदाहरणों के साथ-साथ उनको हल करने के लिए नियम भी दिए हैं। यथा—

"9 मातुलुंग और 7 सुगन्धित कपित्थ फलों की कीमत 107 है। पुनः 7 मातुलुंग और 9 सुगन्धित कपित्थ फलों की कीमत 101 है। हे गणितज्ञ ! एक मातुलुग और एक सुगन्धित कपित्थ का कीमत अलग-अलग क्या है ?"[1]

माना कि एक मातुलुग की कीमत x और एक कपित्थ की कीमत y है

$9x+7y=107$ और $7x+9y=101$

समान्य रूप से इसको इस प्रकार लिख सकते हैं—

$ax+by=m$ और $bx+ay=n$

इसके लिए महावीराचार्य ने निम्न हल दिया है[2]—

$a^2x+aby=am$ और $b^2x+aby=bn.$

$\therefore\ (a^2-b^2)x=am-bn$

या $x=\dfrac{am-bn}{a^2-b^2}$

तथा $abx+b^2y=bm$ और $abx+a^2y=an$

$\therefore\ (b^2-a^2)y=bm-an$

या $y=\dfrac{bm-an}{b^2-a^2}$

इसका प्रयोग करने पर उपर्युक्त उदाहरण का हल निम्न प्रकार है—

$$x=\frac{9\times107-7\times101}{9^2-7^2}=8$$

$$y=\frac{7\times107-9\times101}{7^2-9^2}=5$$

अत. एक मातुलुग की कीमत 8 और एक कपित्थ की 5 है।

उदाहरण 2—"मन्त्र और औषधि की शक्ति वाले किसी महापुरुष ने मुर्गों की लड़ाई होती हुई देखी, और मुर्गों के स्वामियों से अलग-अलग रहस्यमयी भाषा में मन्त्रणा की। उसने एक से कहा—यदि तुम्हारा पक्षी जीतता है, तो तुम मुझे दाँव में लगाया हुआ धन दे देना और यदि तुम हार जाओगे, तो मैं तुम्हें लगाये हुए धन का $\frac{2}{3}$ दे दूगा। वह फिर दूसरे मुर्गे के स्वामी के पास गया जहाँ उसने उन्ही दशाओं मे लगाये गये धन का $\frac{3}{4}$ भाग देने की प्रतिज्ञा की। प्रत्येक दशा में उसे दोनों से केवल 12 स्वर्ण-टुकड़े लाभ के रूप में मिले। बतलाओ कि प्रत्येक मुर्गे के स्वामी के पास दाँव पर लगाने के लिए कितना-कितना धन था ?"[3]

उपर्युक्त प्रश्न का हल निम्न प्रकार दिया गया है।[4]

$$x=\frac{b\ (c+d)}{(c+d)b-(a+b)c}p \text{ और } y=\frac{d(a+b)\times p}{d(a+b)-(c+d)a}$$

यहाँ x और y दोनों मुर्गों के स्वामियों के हाथ की रकमें हैं। $\frac{a}{b}$ तथा $\frac{c}{d}$ उनसे लिये गये भिन्नीय भाग हैं और p लाभ है।

1. गणितसारसंग्रह, अध्याय 6, गाथा 140 $\frac{1}{2}$-142$\frac{1}{2}$
2. वही, अध्याय 5, गाथा 139$\frac{1}{2}$
3. वही, अध्याय 6, गाथा 270—272 $\frac{1}{2}$
4. वही, अध्याय 6, गाथा 268$\frac{1}{2}$—269$\frac{1}{2}$

कई अज्ञात राशियों वाले एकघातीय समीकरण के भी उदाहरण 'गणितसारसंग्रह' मे मिलते हैं। यथा—"चार व्यापारियों ने मिलकर अपने धन को व्यापार में लगाया। महसूल पदाधिकारी ने उन लोगों में से प्रत्येक से अलग-अलग व्यापार में लगायी गई वस्तु के मान के विषय में पूछा। उनमें से एक श्रेष्ठ वणिक ने अपनी लगायी गई रकम को घटाकर 22 बतलाया। दूसरे ने 23, तीसरे ने 24 और चौथे ने 27 बतलाया। इस प्रकार कथन करने में प्रत्येक ने अपनी-अपनी लगायी हुई रकमों को वस्तु के कुल मान में से घटा लिया था। बतलाओ कि प्रत्येक का उस पण्यद्रव्य मे कितना-कितना हिस्सा था ?"[1]

उपर्युक्त प्रश्न का हल निम्न प्रकार दिया गया है—"वस्तुओ के संयुक्त शेषों के मानों के योग को एक कम मनुष्यों की संख्या द्वारा भाग देने पर भजनफल, समस्त वस्तुओ का कुल मान होगा। इस कुल मान में से विशिष्ट मानों को अलग-अलग घटाने पर संगत साझेदार का हिस्सा ज्ञात हो जाता है।"[2]

कल्पना की कि चार व्यापारियों के हिस्से क्रमशः x_1, x_2, x_3 और x_4 हैं।

$$\therefore \quad x_1+x_2+x_3+x_4=\frac{22+23+24+27}{4-1}$$

$$=\frac{96}{3}$$

$$=32$$

$$x_1=32-22=10$$

$$x_2=32-23=9$$

$$x_3=32-24=8$$

$$x_4=32-27=5$$

अतः उन व्यापारियों में से प्रत्येक का अलग-अलग हिस्सा क्रमशः 10, 9, 8 और 5 है।

कई अज्ञात राशियों वाले एकघातीय समीकरण का एक अन्य प्रकार का उदाहरण 'गणितसारसंग्रह' मे उपलब्ध होता है। इसका नामकरण आचार्य महावीर ने 'विचित्र कुट्टीकार विधि' नाम से किया जिसका उद्धरण अधोवर्णित है—

"तीन व्यक्तियों ने एक-दूसरे से, उनके पास की रकमों में से, रकमे माँगी। पहला व्यापारी दूसरे से 4 और तीसरे से 5 माँगकर शेष के कुल धन से दुगना धन वाला बन जाता है। दूसरा व्यापारी पहले से 4 और तीसरे से 6 माँगकर शेष के कुल धन से तिगुना धन वाला बन जाता है। तीसरा व्यापारी पहले से 5 और दूसरे से 6 माँगकर उन दोनो से पाँच गुना धन वाला बन जाता है। बतलाओ, उनके हाथों की रकमे क्या हैं ?"[3]

उक्त प्रश्न को हल करने का ढंग निम्न प्रकार दिया गया है—

"माँगी हुई रकमो के योग को, अभीष्ट व्यक्ति के अपवर्त्य मे एक जोड़कर प्राप्त राशि से गुणा करते हैं। इन गुणनफलो से थैली की रकम प्राप्त करने वाले नियम द्वारा, हाथो की रकमें प्राप्त कर लेते हैं।"[4] थैली की रकम प्राप्त करने वाला नियम इस प्रकार है—"जिस व्यक्ति के हाथ का धन निकालना हो, उसके भिन्न वाले भाग मे उसी की अपवर्त्य राशि को अन्य व्यक्तियो के भिन्न वाले भाग मे गुणा करके जोड लेते हैं, और इस प्रकार प्राप्त योगो मे क्रमशः अन्य व्यक्तियो के अपवर्त्य मे एक जोड़कर योगफल का भाग देते हैं। फिर प्राप्त लब्धियों को जोड़कर योग मे से, व्यक्तियो की संख्या मे से 2 घटाकर इसी व्यक्ति के भिन्न वाले भाग से गुणा करके घटा देते हैं। अब प्राप्त राशि को इसके अपवर्त्य मे एक जोड़कर भाग देते हैं।" अब प्रश्न को निम्न प्रकार हल किया गया है।

1. गणितसारसंग्रह, अध्याय 6, गाथा 160—162
2. वही, अध्याय 6, गाथा 159
3. वही, अध्याय 6, गाथा 253½—255½
4. वही, अध्याय 6, गाथा 251½—252½
5. वही, अध्याय 6, गाथा 241

कल्पना की कि प्रथम व्यापारी पर x, दूसरे व्यापारी पर y, और तीसरे व्यापारी के हाथ में z हैं।

$$\therefore \quad x+4+5 = 2(y+z-4-5)$$
$$y+4+6 = 3(z+x-4-6)$$
$$z+5+6 = 5(x+y-5-6)$$

अथवा

$$2(x+y+z) \quad -3z \quad =27$$
$$3(x+y+z) \quad -4y \quad =40$$
$$5(x+y+z) \quad -6z \quad =66$$
$$\tfrac{2}{3}(x+y+z) \quad -x \quad = 9$$
$$\tfrac{3}{4}(x+y-z) \quad -y \quad =10$$
$$\tfrac{5}{6}(x+y+z) \quad -z \quad =11$$

तीनो को जोड़ने पर $\left(\frac{2}{3}+\frac{3}{4}+\frac{5}{6}\right)(x+y+z)-(x+y+z)=30$

अथवा $\left(\frac{2}{3}+\frac{3}{4}+\frac{5}{6}\right) \qquad (x+y+z)=30$

$$\frac{15}{12}(x+y+z) \qquad =30$$

$$x+y+x \qquad =30 \times \frac{12}{15}=24$$

उपरोक्त तीनों समीकरणो मे $x+y+z$ का मान रखने पर

$$x = 7$$
$$y = 8$$
$$z = 9$$

अतः पहले व्यापारी पर 7, दूसरे व्यापारी पर 8 और तीसरे व्यापारी के पास 9 हैं।

ब्याज सम्बन्धी कई प्रश्न भी, जिनमें अनेक अज्ञात राशि के युगपत् समीकरण बनते हैं, महावीराचार्य द्वारा वर्णित किये गये हैं। यथा—विभिन्न ब्याज की राशियाँ निकालने के लिए उदाहरण इस प्रकार हैं—

"एक प्रश्न मे दिये गये मूलधन 40, 30, 20 और 50 हैं, और मास क्रमश 5, 4, 3 और 6 हैं। ब्याज की राशियों का योग 34 है। प्रत्येक ब्याज-राशि निकालो।"[1]

इसका हल इस प्रकार दिया गया है।[2]

यदि $i_1+i_2+i_3+\ldots\ldots = I$ हो तो $i_1 = \dfrac{I\,C_1\,t_1}{C_1\,t_1+C_2\,t_2+C_3\,t_3+\ldots\ldots}$

जहाँ पर $i_1, i_2, i_3 \ldots\ldots$ विभिन्न मूलधनों पर ब्याज, $t_1, t_2, t_3 \ldots\ldots$ विभिन्न अवधियाँ तथा $C_1, C_2, C_3 \ldots$ विभिन्न मूलधन हैं।

विभिन्न मूलधन निकालने के लिए उदाहरण निम्न प्रकार दिया गया है—

"दिये गये विभिन्न ब्याज 10, 6, 3 और 15 हैं तथा सवादी अवधियाँ क्रमश 5, 4, 3 और 6 मास हैं। विभिन्न मूलधनों की रकमों का योग 140 है। ये मूलधन की रकमें कौन-कौन सी हैं?"[3]

1. गणितसारसंग्रह, अध्याय 6, गाथा 38
2. वही, अध्याय 6, गाथा 37
3. वही, अध्याय 6, गाथा 37

उपर्युक्त प्रश्न को निम्न ढंग से हल किया गया है[1] —

यदि $C_1+C_2+C_3+\ldots\ldots\ldots = C$ हो तो $C_1 = \dfrac{C\, i_1/t_1}{i_1/t_1+i_2/t_2+i_3/t_3+\ldots\ldots\ldots\ldots}$

विभिन्न अवधियाँ ज्ञात करने का उदाहरण इस प्रकार है—

इस प्रश्न में दिये गये मूलधन 40, 30, 20 और 50 हैं तथा सवादी ब्याज-राशियाँ क्रमश: 10, 6, 3 और 15 हैं। विभिन्न अवधियों का मिश्रयोग 18 है। बतलाओ कि ये अवधियाँ कौन-कौन सी हैं ?[2]

इसका हल इस प्रकार है[3] –

यदि $t_1+t_2+t_3+\ldots\ldots\ldots = t$ हो तो $t_1 = \dfrac{t,\, i_1/C_1}{\dfrac{t_1}{C_1}+\dfrac{t_2}{C_2}+\ldots\ldots}$

(2) **वर्ग समीकरण** – वर्ग समीकरण का नियम बहुत प्राचीन है। इसका प्रयोग वैदिक रचनाओं में हुआ है। सरल वर्ग समीकरण $4x^2-4dx=-C^2$ का ज्यामितीय हल 500 ई०पू० से 300 ई०पू० के प्राचीन जैन ग्रन्थों में तथा उमास्वाति (150 ई०पू०) के 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' में इस इस प्रकार दिया है[4]—

$$x=\frac{1}{2}\left(d-\sqrt{d^2-C^2}\right)$$

'बक्षालीहस्तलिपि' (200 ई०) मे भी वर्ग समीकरण का उल्लेख मिलता है। 'गणितसारसग्रह' में भी वर्ग समीकरण के उदाहरण मिलते हैं। यथा—

"ऊँटो के झुड का $\frac{1}{4}$ भाग वन मे देखा गया। उस झुड के वर्गमूल का दुगुना भाग पर्वत के उतारों मे देखा गया। 5 ऊँटो के तिगुने नदी के तीर पर देखे गये। ऊँटों की कुल संख्या क्या है ?"[5]

यदि झुड मे ऊँटो की संख्या x है तो, प्रश्नानुसार

$$\frac{1}{4}x+2\sqrt{x}+15=x$$

या $$\left(1-\frac{1}{4}\right)x-2\sqrt{x}-15=0$$

इसका हल इस प्रकार दिया गया है[6]—

यदि समीकरण $\left(1-\frac{a}{b}\right)x-C\sqrt{x}=d$ हो, तो

$$x=\left[\frac{C/2}{1-a/b}+\sqrt{\left(\frac{C/2}{1-a/b}\right)^2+\frac{d}{1-a/b}}\right]^2$$

वर्ग समीकरण के दो मूल—वर्ग समीकरण के दो मूल होते हैं, यह बात महावीराचार्य भली-भाँति जानते थे। उनके ग्रंथ में उद्धृत उदाहरणो से यह बिल्कुल स्पष्ट है। यथा –

"झुड के $\frac{1}{16}$ वें भाग द्वारा गुणित मयूरों के झुड का $\frac{1}{16}$ वाँ भाग आम के वृक्ष पर पाया गया। शेष के $\frac{1}{9}$ वें भाग द्वारा गुणित शेष का $\frac{1}{4}$ वाँ भाग तथा शेष 14 मयूरों को तमाल के वृक्ष पर देखा गया। बतलाओ, वे कुल कितने हैं ?"[7]

---

1. गणितसारसग्रह, अध्याय 6, गाथा 39
2. वही, अध्याय 6, गाथा 43
3. वही, अध्याय 6, गाथा 42
4. Dalta, Geometry in the jain cosmography, Quellen and Studien zur Gas. d math Ab & Bd, (1931) pp. 224-254
5. गणितसारसंग्रह, अध्याय 4, गाथा 34
6. वही, अध्याय 4, गाथा 33
7. वही, अध्याय 4, गाथा 59

हल—यदि मयूरों की संख्या x है, तो प्रश्नानुसार निम्नलिखित वर्ग समीकरण बनता है—

$$\frac{x}{16} \times \frac{x}{16} + \frac{15x}{16\times9} \times \frac{15x}{16\times9} + 14 = x$$

सरल करने पर इसका सामान्य रूप इस प्रकार होगा—

$$\frac{a}{b}x^2 - x + C = 0$$

इसको हल करने के लिए आचार्य ने निम्न नियम[1] प्रतिपादित किया है।—

$$x = \frac{\frac{b}{a} \pm \sqrt{\left(\frac{b}{a} - 4C\right)^2 b/a}}{2}$$

'गणितसारसंग्रह' में वर्ग समीकरण के अन्य प्रकार के उदाहरण भी मिलते हैं। यथा—

(1) "कुल झुंड के $\frac{1}{8}$ वें भाग के पूर्ण वर्ग से एक कम, भैंसों का झुंड वन में क्रीडा कर रहा है। शेष 15 पर्वत पर घास चरते हुए दिखाई दे रहे हैं। तो बताइये, कुल कितने भैंसे हैं ?"[2]

(2) "कुल झुंड के $\frac{1}{10}$ वें भाग से दो कम प्रमाण, उसी प्रमाण द्वारा गुणित होने से लब्ध हस्ति झुंड-राशि सल्लकी वन में क्रीडा कर रहा है। शेष हाथी, जो संख्या में 6 की वर्ग राशि-प्रमाण हैं, पर्वत पर विचर रहे हैं। बतलाओ, वे कुल कितने हैं ?"[3]

(3) "कुल झुंड के $\frac{1}{16}$ भाग में 2 अधिक राशि को स्व द्वारा गुणित करने से प्राप्त राशि प्रमाण मयूर जम्बू वृक्ष पर मनोरम क्रीडा कर खेल रहे हैं। शेष गर्वीले $2^2 \times 5$ मयूर आम वृक्ष पर प्रसन्नतापूर्वक उछल रहे हैं। हे मित्र ! इस मयूर-झुंड के कुल मयूरों की संख्या बताओ !"[4]

उपर्युक्त प्रश्नों से निम्न प्रकार का समीकरण बनता है—

$$\left(\frac{a}{b}x \pm d\right)^2 + C = x$$

इस प्रकार का समीकरण हल करने की विधि आचार्य ने इस प्रकार बतलाई है[5]—

$$x = \left\{(b/2a \pm d) \pm \sqrt{(b/2a + d)^2 - d^2 - C}\right\} \div \frac{a}{b}$$

इसके अतिरिक्त 'गणितसारसंग्रह' में और भी अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनसे बिलकुल स्पष्ट है कि वर्ग समीकरणों के दो मूलों की महावीराचार्य को पूर्णतः जानकारी थी।

परन्तु 'गणितसारसंग्रह' में कुछ ऐसे भी प्रश्न मिलते हैं, जिनमें आचार्य ने केवल एक ही मूल निकाला है। यथा—

"ऊँटों के झुण्ड का $\frac{1}{4}$ भाग वन में देखा गया। उस झुण्ड के वर्गमूल का दुगुना भाग पर्वत के उतारों पर देखा गया। 5 ऊँटों के तिगुने नदी के किनारे पर देखे गये। ऊँटों की कुल संख्या क्या है ?"[6]

इसका समीकरण इस प्रकार बनता है—

$$1/4x + 2\sqrt{x} + 15 = x$$

या $$3/4x - 2\sqrt{x} - 15 = 0$$

---

1. गणितसारसंग्रह, अध्याय 4, गाथा 57
2. वही, अध्याय 4, गाथा 62
3. वही, अध्याय 4, गाथा 63
4. वही, अध्याय 4, गाथा 64
5. वही, अध्याय 4, गाथा 61
6. वही, अध्याय 4, गाथा 34

या $\sqrt{x} = 4/3 \pm \sqrt{\left(\frac{4}{3}\right)^2 + \frac{4 \times 15}{3}}$

$= \frac{4}{3} \pm \frac{14}{3}$

$= 6$ या $- \frac{10}{3}$

या $x = 36$

वर्गमूल का मान ऋणात्मक नही हो सकता है। अतः वर्गमूल की ऋणात्मक राशि को छोड़ दिया गया है।

उच्चघातीय समीकरण—महावीराचार्य ने कुछ उच्चघातीय सरल समीकरणो का भी गुणोत्तर श्रेणी के सम्बन्ध में उल्लेख किया है। वे समीकरण निम्न प्रकार हैं—

(1) $ax^n = q$

(2) $a\left(\frac{x^n-1}{x-1}\right)=p$

यहाँ पर a गुणोत्तर श्रेणी का प्रथम पद, q उसका गुणधन अर्थात् $(n+1)$ वाँ पद है, p उसका योग तथा x अज्ञात गुणोत्तर निष्पत्ति है।

पहले समीकरण को हल करने के लिए आचार्य ने निम्न नियम दिया है—

"गुणधन जब प्रथम पद द्वारा विभाजित होता है, तो भागफल ऐसी स्वगुणित राशि के गुणनफल के बराबर होता है, जिसमें वह राशि, पदों की संख्या बार प्रकट होती है।"[1]

अर्थात् $x = n\sqrt{\frac{q}{a}}$

दूसरे प्रकार का समीकरण हल करने के लिए आचार्य ने इस नियम का उल्लेख किया है—"वह राशि जिसके द्वारा श्रेणी के योग को प्रथम पद द्वारा विभाजित करने से प्राप्त हुई राशि मे से एक घटाने पर उत्पन्न राशि मे कथित भाजन सम्भव हो (जबकि समय-समय पर सब उत्तरोत्तर भजनफलों मे से एक घटाने के बाद भाग देने की यह विधि की जाती हो), तो वह राशि साधारण निष्पत्ति है।"[2]

यथा— $a\left(\frac{x^n-1}{x-1}\right) \div a = \frac{x^n-1}{x-1}$

तथा— $\frac{x^n-1}{x-1} - 1 = \frac{x(x^{n-1}-1)}{x-1}$

जो कि स्पष्टतः x द्वारा भाज्य है।

इसके हल करने की विधि को इस प्रकार कह सकते हैं—योग को प्रथम पद से भाग देकर भजनफल मे से एक घटाओ। फिर किसी जाँच-भाजक द्वारा शेष फल को भाग दो। प्राप्त भजनफल मे से पुनः एक घटाकर फिर उसी जाँच-भाजक से भाग दो। यह क्रिया बार-बार दोहराने से यदि अन्त मे भजनफल एक आ जाये, तो जाँच-भाजक ही गुण का मान होता है। अतः जाँच-भाजक ऐसा चुनना चाहिए कि अन्त में भजनफल एक आवे।

निम्नलिखित उदाहरण द्वारा उपर्युक्त विधि सरलता से समझ में आ जावेगी।

"यदि गुणोत्तर श्रेणी में प्रथम पद 3, पदों की संख्या 6, तथा श्रेणी का योग 4095 है, तो उसकी साधारण निष्पत्ति बताओ।"[3]

हल— $4095 \div 3 = 1365$

$1365 - 1 = 1364$

1. गणितसारसंग्रह, अध्याय 2, गाथा 97
2. वही, अध्याय 2, गाथा 101
3. वही, अध्याय 2, गाथा 102

अब जाँच-भाजक 4 चुनकर

$\frac{1364}{4}=341,\ 341-1=340,\ \frac{340}{4}=85,\ 85-1\ =84$

$\frac{84}{4}=21,\ 21-1=20,\ \frac{20}{4}=5,\ 5-1=4,\ \frac{4}{4}=1$

अत: अभीष्ट साधारण निष्पत्ति 4 है।

महावीराचार्य ने निम्न प्रकार के कुछ समीकरणों का भी उल्लेख किया है—

$a_1\ \sqrt{b_1x}+a_2\ \sqrt{b_2(x-a_1\sqrt{b_1x})}+a_3\ \sqrt{b_3\{(x-a_1\sqrt{b_1x})-a_2\sqrt{b_2(x-a_1\sqrt{b_1x})}\}}+\cdots+R=x$

या $(x-a_1\sqrt{b_1x})-a_2\sqrt{b_2(x-a_1\sqrt{b_1x})}\ -a_3\ \sqrt{b_3\{(x-a_1\sqrt{b_1x})-a_2\sqrt{b_2(x-a_1\sqrt{b_1x})}\}}-\cdots=R$

यदि बाईं ओर r पद हों तो परिमेयकरण करने पर x की $2r$ वीं घात का समीकरण बन जाता है। उचित प्रतिस्थापन करने पर उपरोक्त समीकरण निम्न प्रकार के एक साधारण वर्ग समीकरण में बदल जाता है—

$$x-A\sqrt{Bx}=R$$

इसका फल महावीराचार्य ने इस प्रकार दिया है[1]—

$$x=\left[\frac{A+\sqrt{A^2+4A/B}}{2}\right]^2\times B$$

इस फल को आचार्य ने 'सार' कहा है। उपरोक्त समीकरण पर आधारित दो प्रश्न भी 'गणितसारसंग्रह' में मिलते हैं। यथा—

(1) "हाथियों के झुण्ड में से, उनकी संख्या के $\frac{2}{3}$ भाग के वर्गमूल का 9 गुणा प्रमाण और शेष भाग के $\frac{3}{5}$ भाग के वर्गमूल का 6 गुणा प्रमाण और अन्त में शेष 24 हाथी वन में ऐसे देखे गये, जिनके चौड़े गण्डस्थलों से मद झर रहा था। बतलाओ, कुल कितने हाथी हैं ?"[2]

हल—माना कि झुण्ड में हाथियों की संख्या x है।

अत: दिये हुए प्रश्नानुसार—

$$9\sqrt{\frac{2}{3}x}\ +6\sqrt{\frac{3}{5}\left(x-9\sqrt{\frac{2}{3}x}\right)}+24=x$$

$y=x-9\sqrt{\frac{2}{3}x}$ रखने पर,

$$y-6\sqrt{\frac{3y}{5}}=24$$

$$\therefore\ y\ =60,\ \frac{48}{6}$$

जब $x-9\sqrt{\frac{2}{3}x}\ =60$

तो $x=150,\ 24$

और जब $x-9\sqrt{\frac{2}{3}x}=\frac{48}{5}$

तो $x=\frac{3}{5}\left(61\pm3\ \sqrt{385}\right)$

1. गणितसारसंग्रह, अध्याय 4, गाथा 52
2. वही, अध्याय 4, गाथा 54-55

अतः x के इन चार मानों में से केवल $x=150$ ही ऐसा मान है जो प्रश्न की प्रत्येक शर्त को पूरा करता है। x के अन्य मान सम्भव नहीं हैं। इसलिए आचार्य ने मूल का केवल धनात्मक चिह्न ही लिया है।

(2) "वाराहों के झुण्ड के अर्द्धभाग के वर्गमूल की चौगुनी राशि जंगल में गई, जहाँ शेर क्रीड़ा कर रहे थे। शेष झुण्ड के दसवें भाग के वर्गमूल की आठ गुनी राशि पर्वत पर गई। शेष के अर्द्धभाग के वर्गमूल की नौ गुनी राशि नदी के किनारे-किनारे गई और अन्त में 56 वाराह वन में देखे गये। बताओ कि कुल कितने वाराह थे?"[1]

हल—कल्पना की कि यदि झुण्ड में वाराहों की संख्या x है तो,

$$4\sqrt{\frac{x}{2}}+8\sqrt{\frac{1}{10}(x-4\sqrt{x/2})}+9\sqrt{\frac{1}{2}\left\{(x-4\sqrt{x/2})-8\sqrt{\frac{1}{10}(x-4\sqrt{x/2})}\right\}}+56=x$$

अब $y=x-4\sqrt{x/2}$ रखने पर,

$$y=8\sqrt{y/10}-9\sqrt{\frac{(y-8\sqrt{y/10})}{2}}=56$$

पुनः $z=y-8\sqrt{y/10}$ रखने पर

$\therefore$ $z=9\sqrt{z/2}=56$

अतः $z=\left(\frac{9+\sqrt{81+4.2.56}}{2}\right)^2\times\frac{1}{2}=128$

तथा

$$y=\left(\frac{8+\sqrt{64+10\ 4.128}}{2}\right)^2\times\frac{1}{10}=160$$

और

$$x=\left(\frac{4+\sqrt{16+4.2\ 160}}{2}\right)^2\times\frac{1}{2}=200$$

युगपत् वर्गसमीकरण—महावीराचार्य द्वारा निम्नलिखित प्रकार के युगपत् वर्गसमीकरण का उल्लेख किया गया है—

$x+y=a$ और $xy=b$

इसको हल करने के लिए आचार्य ने निम्नलिखित नियम बताया है[2]—

$$x=\frac{1}{2}(a+\sqrt{a^2-4b})\ \text{तथा}\ y=\frac{1}{2}(a-\sqrt{a^2-4b})$$

इसके अतिरिक्त महावीराचार्य ने निम्न प्रकार के युगपत् वर्ग समीकरण पर भी विचार किया है—

$x^2+y^2=C$ तथा $xy=b$

इसको हल करने के लिए निम्नलिखित नियम भी दिया है[3]—

$$x=\frac{1}{2}(\sqrt{C+2b}\times\sqrt{C-2b})$$

तथा $y=\frac{1}{2}(\sqrt{C+2b}-\sqrt{C-2b})$

आचार्य ने $x^2+y^2=C$ तथा $x+y=a$ प्रकार के वर्ग समीकरण को हल करने का भी नियम दिया है[4]—

$$x=\frac{a+\sqrt{2C-a^2}}{2}\ \text{और}\ y=\frac{a\ \ \sqrt{2C-a^2}}{2}$$

1. गणितसारसंग्रह, अध्याय 4, गाथा 56
2. वही, अध्याय 7, गाथा 129½
3. वही, अध्याय 7, गाथा 127½
4. वही, अध्याय 7, गाथा 125½

विषम संक्रमण का नियम—दो विशेष प्रकार के युगपत् वर्ग समीकरणों को हल करने की विधि को हिन्दू गणितज्ञों ने 'विषमकर्म' के नाम से सम्बोधित किया है। परन्तु महावीराचार्य ने इसके लिए 'विषम संक्रमण' शब्द का प्रयोग किया है। वे विशेष प्रकार के युगपत् वर्ग समीकरण इस प्रकार के हैं—

$x^2 - y^2 = m$ तथा $x - y = n$ ······1

$x^2 - y^2 = m$ तथा $x + y = p$ ······2

इनको हल करने के लिए आचार्य ने इस प्रकार नियम दिया है[1]—

(1) $x = \frac{1}{2}\left(\frac{m}{n} + n\right)$ और $y = \frac{1}{2}\left(\frac{m}{n} - n\right)$

(2) $x = \frac{1}{2}\left(p + \frac{m}{n}\right)$ और $y = \frac{1}{2}\left(p - \frac{m}{p}\right)$

महावीराचार्य ने व्याज सम्बन्धी कुछ ऐसे प्रश्नों का भी उल्लेख किया है, जिनमें युगपत् वर्ग समीकरण का प्रयोग होता है[2]—

$u + x = a, \quad u r w = \alpha x$

तथा

$u + y = b \quad u r w = \alpha y$

$\because \quad \frac{r}{s} = \frac{x}{y} = \frac{a-u}{b-u}$

$\therefore \quad u = \frac{rb - sa}{r - s}$

और $x = \left(\frac{a-b}{r-s}\right) r, \ \ y = \left(\frac{a-b}{r-s}\right)$ और $w = \left(\frac{a-b}{rb-sa}\right)\alpha$

उपर्युक्त समीकरणों में u धन, r तथा s अवधि के लिए, क्रमशः x और y व्याज हैं तथा w व्याज की दर प्रति α के लिए है। इसके अतिरिक्त ऐसे प्रश्न भी हैं, जिनमें निम्नलिखित समीकरणों का प्रयोग होता है[3]—

$u + x = p, \quad u x w = \alpha m$

$u + y = q, \quad u y w = \alpha n$

यहाँ पर x व y अवधियाँ हैं। u मूलधन, w व्याज की दर प्रति α और m व n व्याज की रकमें हैं।

$\frac{m}{n} = \frac{x}{y} \qquad = \frac{P-u}{q-u}$

$\therefore \quad u = \frac{mq - np}{m - n}$

और $x = \left(\frac{p-q}{m-n}\right)m; \ y = \left(\frac{p-q}{m-n}\right)n$ और $w = \frac{\alpha(m-n)^2}{(p-q)(mq-np)}$

(4) **भावित**— $xy = ax + by + C$ जैसे समीकरण को भावित कहते हैं। 'गणितसारसंग्रह' में इन समीकरणों की चर्चा नहीं है परन्तु ब्रह्मगुप्त और भास्कर द्वितीय में इन समीकरणों को हल करने की विधियाँ वर्णित की हैं।

एकघात अनिर्णीत समीकरण

अनिर्णीत समीकरणों का अध्ययन आर्यभट्ट से प्रारम्भ हो गया था, और उनके बाद के सभी भारतीय गणितज्ञों ब्रह्मगुप्त, महावीर, भास्कर आदि ने भी इस विषय का विवेचन किया है। भारतीय गणितज्ञों ने इस प्रकार के समीकरण 'कुट्टक', 'कुट्टाकार' 'कुट्टीकार' और 'कुट्टक' के नाम से सम्बोधित किये हैं। भास्कर प्रथम (522 ई०) ने इसके लिए 'कुट्टाकार' और 'कुट्ट' नाम दिये। ब्रह्मगुप्त ने इसके लिए 'कुट्टक', 'कुट्टाकार' और 'कुट्ट' शब्द प्रयोग किये हैं। महावीर ने इसको 'कुट्टीकार' के नाम से सम्बोधित किया है।[4]

1. गणितसारसंग्रह अध्याय 6, गाथा 2
2. वही, अध्याय 6, गाथा 47
3. वही, अध्याय 6, गाथा 51
4. गणितसारसंग्रह, अध्याय 6, गाथा 79½

कुट्ट, कुट्टक, कुट्टाकार ये समस्त शब्द कुट्ट से बने हैं जिसका आशय कूटना या कुचलना है। महावीराचार्य ने एक स्थान पर बतलाया है कि विद्वानों के अनुसार 'कुट्टीकार' शब्द 'प्रक्षेपक' का ही दूसरा नाम है, जिसका अर्थ छोटे-छोटे भागों में विभाजित करना है।[1]

आर्यभट्ट ने एकघात अनिर्णीत समीकरण $ax+c=by$ को हल करने के लिए इस प्रकार नियम दिया है—

"अधिक शेष वाले भाजक को कम शेष वाले भाजक से विभाजित करो। प्राप्त शेष से फिर कम शेष वाले भाजक को विभाजित करो। इस तरह अन्त मे जो शेष बचे उसको मन से चुनी हुई ऐसी संख्या द्वारा गुणा करो कि गुणनफल में यदि समीकरण में स्थिरांक जोड़ा जावे (जबकि भागफलों की संख्या सम हो) अथवा घटाया जावे (जब कि भागफलो की सख्या विषम हो), तो प्राप्त राशि अन्तिम भाजक द्वारा पूर्णत: विभाजित हो जाये। इसके बाद भजनफलो को एक-दूसरे के नीचे एक स्तम्भ में लिखो। उसके नीचे मन से चुनी हुई सख्या तथा सबसे नीचे अन्तिम क्रिया में प्राप्त भजनफल लिखो। इस स्तम्भ मे अन्तिम सख्या से ठीक एक ऊपर की सख्या को उसके ऊपर की संख्या से गुणा करके नीचे की सख्या जोड देते हैं। (और अन्तिम सख्या को मिटा देते हैं।)

इस क्रिया की पुनरावृत्ति तब तक होनी है जब तक कि स्तम्भ मे केवल दो पद नहीं रह जाते। यही पद नीचे से क्रमश: x और y के मान होते हैं।[2]

यह क्रिया निम्न उदाहरण से स्पष्ट है—

उदाहरण—$137x+10=60y$

```
60) 137 (2
    120
    ---
    17) 60 (3
        51
        --
         9) 17 (1
             9
             -
             8) 9 (1
                8
                -
                1
```

अत भजनफलों का स्तम्भ इस प्रकार बना।

2
3
1
1

पहले भजनफल को छोडने पर भजनफलो की सख्या 3 रह जाती है। अत: हमको ऐसी संख्या चुननी है कि जिसको अन्तिम शेष अर्थात् एक से गुणा करने पर, तथा गुणनफल मे से 10 घटाने पर, शेषफल अन्तिम से एक पहले शेष अर्थात् 8 से पूर्णत: विभाजित हो जावे। माना, वह सख्या 18 चुनी, ताकि $1\times18-10=8\times1$ अब प्रथम स्तम्भ मे नीचे 8 और फिर उसके नीचे एक लिखा।

अब 18 को उमसे ऊपर की सख्या अर्थात् एक से गुणा किया और गुणनफल में 18 से नीचे की संख्या एक को जोडा। इस प्रकार $18\times1+1=19$, दूसरे स्तम्भ की नीचे मे दूसरी सख्या हो गई। दूसरे स्तम्भ की शेष संख्या वही होती है, जो प्रथम स्तम्भ की नीचे से तीन सख्याओ को छोडकर है। यही क्रिया दोहराने पर तीसरे, चौथे और पाचवें स्तम्भ की नीचे से दूसरी सख्याएँ क्रमश.—

$19\times1+18=37$, $37\times3+19=130$ और $130\times2+37=297$

हुई। प्रत्येक स्तम्भ की अन्य सख्याओ को लिखने पर निम्न तालिका बनी—

2	2	2	2	297
3	3	3	130	130
1	1	37	37	
1	19	19		
18	18			

1. गणितसारसग्रह, अध्याय 6, गाथा $79\frac{1}{2}$
2. अधिकाग्रभागहार छिद्यादूनाग्रभागहरिणा
   शेषपरस्परभक्त मतिगुणमग्रान्तरे क्षिप्त
   अधउपरि गुणितमन्त्ययुगूनाग्रच्छेद भाजिते शेष
   अधिकाग्रच्छेदगुण द्विच्छेदाग्रमधिकाग्रयुतम् — आर्यभट्टीय, गाथा 32-33

अतः दिए हुए समीकरण का हल निम्न हुआ—

$x=130, y=297$

परन्तु $297=137\times2+23$ और $130=60\times2+10$

$\therefore$ समीकरण का सरल हल निम्न हुआ—

$x=10, y=23$

और समीकरण का सामान्य हल निम्न हुआ—

$x=10+60^{m}$ और $y=23+137^{m}$

महावीर का हल—महावीराचार्य ने समीकरण $\frac{ax+c}{b}=y$ को हल करने के लिए निम्न नियम दिया है—"अज्ञात राशि के गुणक को दिये गये भाजक द्वारा विभाजित करते हैं। फिर प्रथम भागफल को अलग कर देते हैं। इसके बाद विभिन्न परिणाम-शेषों द्वारा विभिन्न परिणामी भाजकों के उत्तरोत्तर भाग से प्राप्त विभिन्न भजनफलों को एक-दूसरे के नीचे रखते हैं। जब शेषफल बहुत छोटी संख्या रह जाती है तो उसको मन से चुनी हुई एक संख्या द्वारा गुणा करते हैं। इस गुणनफल को प्रश्नानुसार दी गई ज्ञात संख्या द्वारा बढ़ाते अथवा ह्रासित करते हैं और तब उपर्युक्त उत्तरोत्तर भाग की विधि में प्राप्त अन्तिम भाजक द्वारा विभाजित करते रहते हैं। इस मत से चुनी हुई संख्या और अभी प्राप्त भजनफल को भी उपर्युक्त भजनफलों के नीचे लिखते हैं। इस प्रकार बेलि जैसी अंकों की श्रृंखला प्राप्त होती है। इस श्रृंखला की निम्नतम संख्या को, इसके ठीक ऊपर की संख्या में ऊपर के ठीक ऊपर की संख्या का गुणन करने से प्राप्त गुणनफल मे जोड़ते हैं। यह रीति तब तक जारी रखते हैं जब तक कि पूरी श्रृंखला समाप्त नहीं हो जाती है। इस योग में पहले ही दिये हुए भाजक का भाग देते हैं। जो शेषफल मिलता है, वही अज्ञात राशि का मान होता है।"[1]

उपर्युक्त विधि निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगी—

"केलों की 63 ढेरियां और 7 केले के फल 23 व्यक्तियों में बराबर-बराबर बाँट दिये गए, जिससे कुछ भी शेष न बचा। बताओ, एक ढेरी में कितने फल थे?"[2]

उपर्युक्त प्रश्न का समीकरण इस प्रकार हुआ—

$$\frac{63x\times7}{23}=y$$

अब नियमानुसार अज्ञात राशि के गुणक 63 को ज्ञात भाजक 23 द्वारा विभाजित करते हैं और जिस प्रकार दो संख्याओं का महत्तम समापवर्तक निकालते है, उसी प्रकार की भाग-विधि यहाँ जारी रखते हैं।

```
23) 63 (2
    46
    ---------
    17) 23 (1
        17
        --------
         6) 17 (2
            12
            -------
             5) 6 (1          1
                5             2
                ------
                1) 5 (4       1
                   4          4
                   ---
                   1
```

1. गणितसारसंग्रह, अध्याय 6, गाथा 115½

2. वही, अध्याय 6, गाथा 117½

यहाँ प्रथम भजनफल 2 को छोड़कर अन्य भजनफल बाजू के स्तम्भ में एक पंक्ति में लिख लिये गये हैं। अब हमको एक संख्या ऐसी चुननी है, जिसको यदि अन्तिम शेष एक द्वारा गुणा करें और फिर 7 जोड़ें, तो योगफल अन्तिम भाजक एक के द्वारा पूर्णत: भाजन के योग्य हो। माना, वह संख्या 1 चुनी ताकि $1\times1+7=1\times8$ इस चुनी हुई संख्या एक को शृंखला के अन्तिम अंक के नीचे लिखते हैं। फिर इस चुनी हुई संख्या के नीचे, चुनी हुई संख्या की सहायता से उपर्युक्त भाग में प्राप्त भजनफल लिखा जाता है। इस प्रकार प्रथम स्तम्भ के अंको की पूर्ण शृंखला प्राप्त हो जाती है। अब शृंखला के नीचे से उप अन्तिम अंक अर्थात् एक को उसके ऊपर के अंक 4 द्वारा गुणा करते हैं और गुणनफल में एक के नीचे की संख्या 8 को जोड़ते हैं। इस प्रकार प्राप्त परिणामी $1\times4+8=12$ को दूसरे स्तम्भ में इस प्रकार लिखते हैं कि वह प्रथम स्तम्भ के अंक 4 के संवादी स्थान में हो। इसके बाद इस 12 को प्रथम स्तम्भ मे 4 के ऊपर के अंक एक द्वारा गुणा करके 4 के नीचे के अंक को जोड़ते हैं। इस प्रकार प्राप्त परिणामी $12\times1+1=13$ को दूसरे स्तम्भ मे 12 के ऊपर लिखते हैं। इसी प्रकार क्रिया जारी रखने से हमको 38 और 51 भी प्राप्त होते हैं जो क्रमश: 2 और 1 के संवादी स्थान पर रखे जाते हैं। इस 51 में भी 23 द्वारा भाग दिया जाता है, शेष 5 बचता है। यही 5 एक ढेरी मे केलो की अभीष्ट संख्या है।

स्तम्भ इस प्रकार है—

1	—	51
2	—	38
1	—	13
4	—	12
1		
8		

इस प्रकार $x=5$ या $5+23m$ हुआ। समीकरण मे x का मान रखकर $y=14$ प्राप्त हो जाता है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचनोपरान्त यह स्पष्टत: कहा जा सकता है कि जैन साहित्य में निहित बीजगणित अपनी महत्ता को समाहित किए हुए है। जैनाचार्यों ने बीजगणित के प्रतिपादन पर प्रत्येक दृष्टिकोण से गहनतम विचारात्मक परिवेशो को प्रस्तुत करके उसकी समृद्धि का महत्त्वांकन किया है। जैनाचार्यों के स्तुत्य प्रयासो से बीजगणित की प्राचीनता तो आती ही है, साथ ही उसकी, आधुनिकता भी हमको सुस्पष्टत ज्ञात हो जाती है। अन्तत: कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों ने बीजगणित पर विस्तृत विचार प्रस्तुत करके बीजगणित की स्वरूपता, सैद्धान्तिकता एव व्यावहारिकता रूपी त्रिवेणी को प्रवाहित किया है।

भारतीय गणित की मौलिकता एवं प्राचीनता

एन्साइक्लोपीडिया आफ ब्रिटानिका (जिल्द 17, पृ० 626, नवम संस्करण) मे लिखा है—"इसमे कोई सन्देह नही कि हमारे (अंग्रेजी मे) वर्तमान अंक-क्रम की उत्पत्ति भारत से है। सम्भवत खगोल संबधी उन सारणियो के साथ, जिनको एक भारतीय राजदूत 773 ई० मे बगदाद मे लाया था, इन अंको का प्रवेश अरब मे हुआ। फिर ईसवी सन् 9वी शताब्दी के प्रारम्भिक काल मे प्रसिद्ध अबू जफर मोहम्मद अल् ख्वारिज्मी ने अरबी मे उक्त अंक-क्रम का विवेचन किया और उसी समय से अरब मे उसका प्रचार बढने लगा। योरोप में शून्य-सहित सम्पूर्ण अंक-क्रम ईसवी सन 12वी शताब्दी मे अरबों मे लिया गया और इस क्रम मे बना हुआ अंकगणित 'अल्गोरिट्मस' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

अलबरूनी ने भी अपनी भारत-यात्रा' मे यहा के गणित एव ज्योतिष की मुक्तकठ से सराहना की है। उसके अनुसार, जिन भिन्न-भिन्न जातियों से मेरा सम्पर्क रहा, उन सबकी भाषाओं मे संख्यासूचक अंको के नामो (इकाई, दहाई, सैकडा आदि) का मैंने अध्ययन किया है, जिससे मालूम हुआ है कोई भी जाति एक हजार से आगे नही जाती। अरब लोग भी एक हजार तक (नाम) जानते हैं। हिन्दू अपने संख्या-सूचक क्रम को अठारहवें स्थान तक ले जाते हैं, जिसको परार्द्ध' कहते हैं।

[डॉ० मुकुटबिहारी लाल के शोध-प्रबन्ध 'गणित एवं ज्योतिष के विकास मे जैनाचार्यों का योगदान' के आधार पर]

Contribution of Ancient Jaina Mathematicians

Dr. B.S. Jain

1. INTRODUCTION

The subject is so wide that volumes can be written on it and hence no single paper can deal with the subject matter comprehensively Anyhow, in the present paper, starting with a brief history of ancient mathematics, an attempt has been made to touch upon certain aspects of some of the contributions of Jaina mathematicians.[1] It may be noted here that there may be certain controversy regarding the dates and the authority of certain mathematical works, but the facts stated here refer to the standard published works.

Mathematics occupied a very high place in the intellectual life of India in ancient times In fact mathematics in ancient India was the highest in the world India was at the top in mathematics in the world uptil the beginning of the 17th century In northern India, the progress made by Indian mathematicians came to an end in the 12th century, on account of certain historical reasons. In south India, the mathematicians, however, continued the progress up to the beginning of the 17th century. Till then India was leading all the countries of the world in mathematics

2. IMPORTANCE OF MATHEMATICS IN JAIN RELIGION

Jainas of ancient India attached great importance and took keen interest in the study of mathematics and this subject was regarded as an integral part of their religion The study of mathematics formed one of the four *anuyogas* or auxillary sciences indirectly servicable for the attainment of the solution of soul's liberation known as *moksa*. *Ganitanuyoga* (or the exposition of the principles of mathematics) is one of the four *anuyogas*, required in the Jainism The knowledge of *Samkhyana* (literally the science of numbers, meaning arithmatic and astronomy) is stated to be one of the principal accomplishments of the Jaina priest.[2] This knowledge was required by him for finding out the proper time and place for the religious ceremonies[3]

1. About Ganita Sara Samgraha of the world fame Jaina mathematician Mahâvîracârya (850 A. D.), see author's paper—
   "On the Ganita Sar Samgraha of Mahâvîra (850 A. D.)" I. J. H. S. 1977.
2. (1) See : Bhagwati Sutra. Sutra 90.
   With the commentary of Abhayadeva Suri (c. 1050).
   Ed. by Agamodaya Samiti of Mahesana, 1919.
   (2) Uttara Dhayana Sutra.
   Eng. Trans. by H. Jacobi, Oxford 1895. Chap. XXV. Sutra 7, 8, 38.
3. See the remarks of Santi Candra Gani (1595 A. D.) in the preface to his commentary on the Jambu Dvipa Prajnapti.

According to Jainas, a child should be taught firstly writing, then arithmetic as most important of the seventy two sciences or arts.[1] According to the Jaina legand, their first tirthankar Rishabnath, taught the Brahmi script to his daughter Brahmi and mathematics to his other daughter Sundari. The sacred literature of the Jainas is called *Siddhanta* or *Agama* and is very ancient. This literature is equally important for their work on Scientific concepts. In fact, Jainas evolved their own theories and made notable contributions to the science of medicine, mathematics, physics, astronomy, Cosmology, the structure of matter and energy and even the atom, the fundamental structure of living beings, the concept of space and time, and the theory of relativity.

Ganita sara Samgraha (collection of essence of mathematics) of Mahavira (850 A.D.) is the only treatise on arithmetic and algebra, by a Jaina Scholar, that is available at present. Surya prajnapti and the Chandra prajnapti are two astronomical treatises. The other mathematical treatises by the early Jainas have been lost.

3. AN APPRECIATION OF MATHEMATICS in the words of Mahavira (850 A. D.)

The Indian name for mathematics is *Ganita*. It literally means the science of calculation or computation. The following appreciation of mathematics is given by Mahavira, in his work 'Ganita Sara Samgraha' (GSS).

"In all those transactions which relate to wordly, vedic or (other) similar religious affairs, calculation is of use. In the science of love, in the science of wealth, in music and in the drama, in the art of cooking and similarly in medicine and in things like the knowledge of architecture.

In prosody, in poetics and poetry, in logic and grammar and such other things, and in relation to all that constitutes the peculiar value of (all) the (various) arts, the science of computation is held in high esteem.

In relation to the movements of the Sun and other heavenly bodies, in connection with eclipses and the conjuction of planets, and in connection with the *triprasna** and the course the moon—indeed in all these (connections) it is utilised

The number, the diameter and the perimeter of islands, oceans and mountains, the extensive dimensions of the rows of habitants and halls belonging to the inhabitants of the (earthly) world of the interspace (between the worlds), of the world of light, and of the world of the gods, (as also the dimensions of those belonging) to the dwellers in hell and (other) miscellaneous of all sorts—all these are made out by means of computation

The configuration of living beings therein, the length of their lives, their eight attributes and other similar things, their progress and other such things, their staying together and such other things—all these are dependent upon computation (for their due measurement and comprehension).

What is the good of saying much in vain? Whatever there is in all the three worlds, which are possessed of moving and non-moving beings—all that indeed cannot exist as apart from measurement.

1. Antagada Dasao and Anuttaro. Vavaya Dasao. Eng. Trans. by L D. Bernett. 1907, p. 30.

*The triprasana is the name of a chapter in Sanskrit astronomical works, and the fact that it deals with three questions is responsible for that name. The questions dealt with are Dik (direction), Disa (position) and Kala (time) as appertaining to the planets and other heavenly bodies.

With the help of the accomplished holy sages, who are worthy to be worshipped by the lords of the world, and of their disciples and disciples' disciples, who constitute the well known jointed series of preceptors, I glean from the great ocean of the knowledge of numbers a little of its essence, in the manner in which gems are (picked up) from the sea , gold is from the stony rock and the pearl from the oyster shell ; and give out, according to the power of my intelligence, the *Sara Samgraha*, a small work on arithmetic, which is (however) not small in value".[1]

The author of the GSS has always held the great Mahavira, the founder of the Jain religion, to have been a great mathematician.[2] Amongst the religious works of the Jainas, that are important from the view point of mathematics are :

(1) Surya Prajnapti (2) Jambu Dvipa Prajnapti	About 500 B. C.
(3) Sthananga Sutra (4) Uttaradhyayana Sutra (5) Bhagwati Sutra (6) Anuyoga-dvara Sutra	About 300 B. C.

4. THERE IMPORTANT SCHOOLS OF MATHEMATICS

In the Sulva Sutra period (750 B. C. to 400 A. D.) there existed three important schools of mathematics :

(1) The Kusumpura or Pataliputra school near modern Patna (latitude 25,37°N, longitude 85.13°E) in Bihar (ancient Magadha) which was a great centre of learning. The famous University of Nalanda was situated in modern Patna, and this was a centre of Jaina scholars in ancient times. Bhadra Bahu (4th Cent. B. C.) and Umaswati (2nd Cent. B C) belonged to this school.

(2) The Ujjain School
Brahmagupta (7th Cent. A D) and Bhāskaracārya (12th Cent A. D) belonged to this school.

(3) The Mysore School
Mahaviracārya (9th Cent. A. D.) or briefly Mahavira belonged to this school.

There was a close contact between the three schools and the mathematicians of one school visited the other schools frequently.

4. 1. KUSUMPURA SCHOOL OF MATHEMATICS

The culture of mathematics and astronomy in the Kusumpura school survived upto the end of the 5th Century of the christian era when flourished the famous algebraist Aryabhata (476 A D.) who made many innovations in Hindu astronomy Aryabhata was the Kulpati of the University of Nalanda. He was unanimously acknowledged by the later indian mathematicians as father of the Hindu algebra

India's first scientific satellite launched on 19th April 1975 at 1 P M. (I. S. T.) from Moscow is named after this great Indian astronomer and mathematician. India celebrated Aryabhata's 1500th birth anniversary in November 1976 at Indian National Science Academy New Delhi, where many leading

1. See G. S. S. Slokas 9—19. p. 2-3
2. Compare Chapter 1-2.

mathematicians of the world participated in the deliberations. On this occasion a critical edition of Aryabhata's remarkable work 'Aryabhatiya', with associated commentaries as edited by Dr. Kirpa Shankar Shukla of Lucknow, was released.

The influence of this school continued unabated for several centuries after Aryabhata.[1]

BHADRA BAHU

Bhadrabahu came down from Bihar (Magadha) in 4th century B. C. and settled down at Sarvana Belgola in the Mysore state On his way he passed through Ujjain and halted there for some time He was one of the great preceptors of the Jainas and at the same time an astronomer and a mathematician too. He could reproduce from memory the entire canonical literature of the Jainas and was befittingly called a Srutakevalin. Bhadrabahu is the author of two astronomical works :

1. A commentary of the Surya Prajnapti (500 B. C.) ,[2] and
2. An original work called the Bhadra bahavi Samihita [3]

UMASWATI

Umaswati was a reputed Jaina metaphysician. According to Swetambar Jains, he was born at a place called *Nyagrodhika* and lived in the city of Kusumpura in about 150 B. C. According to this sect, his name is said to be a combination of the names of his parents, the father Swati and the mother Uma. But Digambar Jains' version is that his name was *Umaswami* and not *Umaswati* and that he lived in the years 135 A. D.—219 A D In the present paper Swetambar Jains' version is taken as accepted. The earliest commentator of Umaswati is Siddhasena Gani or Divakara who lived in 56 B C

Tattvartha-dhigama—Sutra-Bhâshya is an important work of Umaswati. In this text, an attempt has been made to explain the nature of things and the authority of this work is acknowledged both by the Swetambaras and the Digambaras Umaswati was also the author of another work known as *Ksetra Samasa* ("Collection of places") This work is also known as *Jambudvipa samasa.* This work deals with geography and mensuration. It may be noted that *Ksetra samasa* and *Karana bhavana* are two classes of works that give in a nutshell the mathematical calculations employed in Jaina canonical works. The earliest *Kestra samasa* was by Umaswati. It is noteworthy that Umaswati was not a mathematician. The mathematical results and formulae as quoted in his work, it seems, were taken from some treatise on mathematics known at his time

5. TOPICS IN MATHEMATICS

According to the Sthanaga Sutra,[4] (before 300 B. C) the topics of discussion in mathematics (Sankhyana or the "Science of Numbers") are ten in number .

---

1 At Kusumpura there was another astronomer and mathematician of the name of Aryabhata who was anterior to the Aryabhata of 476 A. D.
See : "Two Aryabhatas of Al-Biruni"
Bull Cal Math Sc Vol XVII, 1926, p 68
2. Sutra 11 Commentary on Surya Prajnapti by Malayagiri (c 1150).
3 This work was found by Buhler.
See report on Sanskrit manuscripts 1874—1875 A. D p. 20
About this work it has not been established that it belonged to the Bhadrabahu in question.
4. See Sutra 747.
"Parikammam vavaharo rajju rasi Kalasavamme ya
Javantavati vaggo ghano tataka vaggavaggo vikappo ta".

1. Parikarma ("fundamental operations")
2. Vyavahara ("subjects of treatment")
3. Rajju ("rope" meaning "geometry")
4. Rasi ("heap" meaning "mensuration of solid bodies")
5. Kala Savarnama ("fraction")
6. Yavat-tavat ("as many as" meaning "simple equations")
7. Varga ("square" meaning "quadratic equations")
8. Ghana ("cube" meaning "cubic equations")
9. Varga-varga (biquadratic equations")
10. Vikalpa or bhong ("permutations and combinations")

The exact meaning of some of the above terms is not known and this has been a subject matter of controversy for the mathematicians. However, in the light of the available text and the usage of the above terms in later Hindu mathematics, we can define the above terms as below :

Parikarma means the four fundamental operations of arithmetic *viz.* addition, subtraction, multiplication and division ***Vyavahara*** means applied arithmetic It is the application of arithmetic to concrete problems. ***Kalasavarnama*** refers to operations with fractions. Mahavira (850 A. D.) has used these three terms in exactly this sense in his GSS The first two terms appear indeed in the works of all the Hindu mathematicians from Brahmagupta (7th Cent A. D) onwards

Rajju is the ancient Hindu name for geometry. It was called Sulva in the vedic period. ***Rassi*** means a heap in general and it may refer to the section on the treatment of the mensuration of solid bodies.

Yavat-tawat is the symbol for an unknown quantity in Hindu algebra. According to Abhayadeva Suri (11th cent A D), the commentator of the Sthananga Sutra (before 300 B. C) this term refers to multiplication or to the summation of series (samkalita) But obviously multiplication is included in the fundamental operations

Varga means both square and square-root, and it refers to quadratic equations. ***Ghana*** means both cube and cube-root, and it refers to cubic equations ***Varga-varga*** refers to biquadratic equations. It may be noted here that Abhayadeva Suri (11th cent A.D.) thought that varga, ghana, varga-varga refer respectively to the rules for finding out the square, cube and fourth power of a number But in Hindu mathematics from earliest times, these operations were regarded as fundamental operations and hence they are coverd under the first term viz. ***Parikarma.*** Thus the inference of Abhayadeva Suri is not correct.

Vikalpa or bhong is the Jaina name for permutations and combinations. This topic has been accorded a separate mention on account of its importance in mathematics.

6. MULTIPLICATION AND DIVISION BY FACTORS

In the Tattvartha dhigama-sutra-Bhāshya[1] of Umaswati (150 B.C), a reference has been made of two methods of multiplication and division In one method, the respective operations are carried on with the two numbers considered as a whole. In the second method, the operations are carried on in successive stages by the factors, one after another, of the multiplier and the divisor The former method is our ordinary method, and the later is a shorter and a simpler one. The method of multiplication by factors has been mentioned by

1. See Chap. II, p. 52.

all the Indian mathematicians from Brahmgupta[1] (7th cent. A.D.) onwards. The division by factors is found in *Trisatika*[2] of Sridhara (8th cent. A.D.). This method reached Italy in the middle ages through the Arabs and was called the "*Modo per rekiego*".

7. CERTAIN MENSURATION FORMULE

The following formulae for the mensuration of a circle were stated by Umaswati (150 B.C.) in his Tattvartha Dhigama-Sutra-Bhashya[3] :

(*i*) Circumference of a circle $= \sqrt{10 \text{ (diameter of the circle)}^2}$

(*ii*) Area of a circle $= \frac{1}{4}$ (circumference) $\times$ (diameter)

If a denotes the arc of a segment of a circle less than a semi circle, c its chord, h its height or arrow, and d the diameter of the circle, then

(*iii*) $c = \sqrt{4h(d-h)}$

(*iv*) $h = \frac{1}{2}(d - \sqrt{d^2 - c^2})$

(*v*) $a = \sqrt{6h^2 + c^2}$

(*vi*) $d = \frac{1}{h}(h^2 + \frac{1}{4}c^2)$

All the above formulae, except the formula (*v*) for finding the arrow, are restated in the Jambudvipa samasa of Umaswati. In this work, the formula corresponding to (*v*) is

$$h = \sqrt{\tfrac{1}{6}(a^2 - c^2)},$$

which is the same as (*v*) in another form.

As stated earlier, the above mensuration formulae given in the work of Umaswati were not discovered by him. In fact most of these formulae were known in India, centuries before him. In the Surya Prajnapti[4] (500 B.C.) and other early Jaina works, are stated the length of the diameter and the circumference of certain circular bodies. These texts have used some of the above formulae for the computation of the circumference of the Jambudvipa (the earth) from its given diameter. According to the Jain cosmography,[5] the Jambudvipa is a circle of diameter 100,000 yojana and is divided into seven parts by a system of six mountain ranges running parallel, east to west, at regular intervals. The sacred books[6] of the Jainas (of about 500 B.C.) give the dimensions of the Jambudvipa as :

---

1. See Brahma-Sphuta-Siddhanta (B. S S.) Chap XII, p. 55.
   Brahmagupta calls it Bheda method, while others call it Vibhaga-gunana. Compare H T Colebrooke "Algebra with arithmetic and mensuration from the Sanskrit of Brahmagupta and Bhashkara." London 1817, p. 61.
2. See Rule 9
3. Tattvārtha-Dhigama-Sutra-Bhāṣhya with the commentary of Umaswati and notes of Siddhasena Gani (c. 56 B. C.) Part I.
   Edited by H R. Kapadia. Bombay 1926, p. 258-260.
4. Surya Prajnapti. See Sutra 20
5. Datta "Geometry in the Jaina Cosmography".
   Quellen Und Studien Zur Ges D. Maths Ab B Ed -1 (1931) p, 245-254.
   Also See Tattvārtha Dhigama-Sutra-Bhāṣhya
6. See 1. Jambudvipa Prajnapti Sutra 3
   Ed A N Upadhaya and Hira Lal Jain
   Jain Sanskrit Sanskşha Sangha Solapur 1958

circumference=316,227 yojana, 3 gavyuti, 128 dhanu, 13½ angula and a little over ; and area=790,569 41,50 yojana, 1 gavyuti, 1515 dhanu, 60 angula nearly,

where 1 yojana=4 gavyuti
1 gavyuti=2000 dhanu
1 dhanu=100 angula.

It may be observed here that in calculating the above values of the circumference and the area of the Jambudvipa from the formule (*i*) and (*ii*), there has been followed a principle of approximation to the value of a surd which may be expressed as

$$\sqrt{N}=\sqrt{a^2+\varepsilon}=a+\frac{\varepsilon}{2a}$$

The modern historians of mathematics, by mistake have attributed the credit of this approximate square-root formula to Heron of Alexendra[1] (3rd Cent. A.D.), but the credit for its first discovery should very rightly go to the Indians.

In Jaina work, we notice another kind of approximation. In a mixed number, the fractional part greater then ½ is replaced by 1, while the fractional part less than ½ is ignored. For practical purposes, the value of a quantity is often times given in round figures and the true value of that quantity is either a little more (*Kincidviśeṣā dhika*) or a little less (*Kincidvi seṣoṇa*).

As stated earlier, according to Jain cosmography, the Jambudvipa is divided into seven parts. The Jambudvipa Prajnapti (500 B.C.) gives the linear dimensions of each of these parts.[2] The southern most segment of the Jambudvipa[3] is called the Bhāratavarsa (India) The dimentions of this segment, as stated in Jambudvipa Prajnapti, are :

the breadth *i e* the height of the circular segment is

$$=526\frac{6}{19}\text{ Yojana}$$

the length *i e* the chord of the segment is

$$=14471\frac{6}{19}\text{ Yojana and a little over.}$$

the length of the southern boundary of the segment *i e* the arc

$$=14528\frac{11}{19}\text{ Yojana.}$$

2. Jivabhigama Sutra Sutra 82, 124.
3 Anuyogadwara Sutra. Sutra 146.
4. Jambudvipa Samasa of Umaswati (150 B. C) Ch. I.
5. Ttrailokya dipika and Laghu Ksetra Samasa of Ratna Sekhara Suri. (1449 A. D.).

1. See Smith History II. p. 254.
2. W. Kirfel, Die Kosmographie der Inder. Bonn. 1920. p. 216.
3. See Jambudvipa Prajnapti. Sutra 10-12, 16.
With the commentary of Santi Candra Gani.
Ed. by Agamodaya Samiti of Mahasana. 1918.

A mountain called *Vaitadhya*, of the depth of 50 Yojana, runs through the middle of the Bharatvarsa parallel to its length. The northern and southern sides of the mountain are $10720\frac{12}{19}$ and $9748\frac{12}{19}$ yojana respectively. Further, the portions of the bounding arc and cut off by two parallel sides are given to be $\left(488\frac{16}{9}+\frac{1}{38}\right)$ yojana each. All these numerical calculations establish that most of the mensuration formulae as recorded by Umaswati were well known to the author of the Jambudvipa Prajnapti

In the Uttra dhyana-sutra (300 B.C), the description of *Isutpragbhara*, which resembles in form an open umbrella, *i e.* the segment of a sphere, is :

"It is forty five hundred thousand yojana long, and as many broad, and it is somewhat more than three times as many in circumference. Its thickness is eight yojana, it is greatest in the middle and decreases towards the margin, till it is thinner than the wing of a fly" [1]

The Aupapatika-sutra[2] further specifies the circumference to be 14239800 yojana and it is also said that the depth decreases an angula for every yojana This description suggests that the early Jains had a knowledge of mensuration of a spherical segment.

The relation between *a, h* and *c i e.* the formula (*v*) is given in the GSS[3] of Mahavira (850 A.D) and the Maha Siddhanta[4] of Aryabhata II (10th cent A D) They have given an alternative formula which varies slightly only in the coefficient of h^2

According to Mahavira,

$$a\ (\text{gross}) = \sqrt{5h^2+c^2}$$

$$a\ (\text{net}) = \sqrt{6h^2+c^2}$$

According to Aryabhata,

$$a\ (\text{gross}) = \sqrt{6h^2+c^2}$$

$$a\ (\text{net}) = \sqrt{\frac{288}{49}h^2+c^2}$$

The Greek Heron of Alexandria[5] (c 200) has taken

$$a = \sqrt{4h^2+c^2}+\tfrac{1}{4}h$$

$$= \sqrt{4h^2+c^2}+\left[\sqrt{4h^2+c^2}-c\right]\frac{h}{c}$$

The Chinese ch'en Huo (died 11th cent A D) used the formula[6]

$$a = c + 2\frac{h^2}{d}$$

But the Indian value of 'a' is older and more accurate than the other two.

---

1 Uttara-Dhyana-Sutra Chap XXXVI. p 59-60
2. Aupapatika Sutra Ed by Leumann p 163-7
3. Chap. VI Sutra 43, 73½.
4 Maha Siddhanta of Aryabhata
Ed. by Sudhakara Dividi. Banaras 1910 Chap XV p 90, 94, 95
5. T. Heath. History of Greek Mathematics Oxford 1921 Vol II p. 331
6. Y. Mikami "The development of Mathematics in China and Japan" Leipzig 1913 p 62.
Hereafter referred to as Mikami's Chinese Mathematics

The formula (*iii*) *viz.* $c = \sqrt{4h(d-h)}$ refers to the theorem on the geometrical properties of circles *viz.*,

"the square on the chord=the rectangle contained by the segments of the diameter perpendicular to the chord."

The formula (*iv*) is obtained by solving the quadratic equation $c^2 = 4dh - 4h^2$. This clearly explains that the early Jainas knew how to solve quadratic equations.

8. JAINA VALUE OF $\pi (= \sqrt{10})$

The formula (1), *viz.* circumference of a circle $= \sqrt{10\,(\text{diameter})^2}$, gives $\sqrt{10}$ as value of π. Surya Prajnapti[1] (500 B.C), gives two values of π *viz.* $\pi = 3$ and $\pi = \sqrt{10}$. The former value was given by the early writers and the later one was adopted through the early Jain literature In the Uttaradhyayana-sutra[2] (300 B.C.), the circumference of the Jambudvipa is given to be little over three times its diameter. According to the Jivabhigama-sutra[3], corresponding to an increment of 100 in the diameter, the circumference increases by 316. This gives $\pi = 3.16$. All the medieval Jaina works[4] from 500 B.C till the 15th century A.D used $\sqrt{10}$ as the value of π, althogh by that time more accurate value of π had been discovered by the Indians[5] It may be observed here that Professor Mikami's statement "that the value of $\pi = \sqrt{10}$ is found recorded in a Chinese work by Chong Heng (78-139 A D) before it appeared in any Indian work" is not correct[6].

9. THEORY OF NUMBERS

Jaina works refer to a very large number of names giving the positions (sthana or place) in the numeral system. Mahavira[7] (850 A D.) has stated twenty-four notational places, while all other Indian mathematicians have given names for only eighteen places The twenty-four notational places, according to Mahavira, are given below. Here the value of each succeeding place is taken to be ten times the value of the immediately preceding place.

Eka (for 1), dasa(for 10), shata(10^2), sahasra (10^3), dasa sahasra (10^4), laksa (10^5), dasa laksa (10^6), koti (10^7), dasa koti (10^8), sata koti (10^9), arbuda (10^{10}), nyarbuda (10^{11}), kharva (10^{12}), maha kharva (10^{13}), padma (10^{14}), maha padma (10^{15}), ksoni (10^{16}), maha ksoni (10^{17}), sankha (10^{18}), maha sankha (10^{19}), ksiti (10^{20}), maha ksiti (10^{21}), ksobha (10^{22}), and finally maha ksobha (for 10^{23}).

Thus in the Jain literature, the terminology above the fourth denomination have been coined by a system of grouping and regrouping We may note here the deviation from the vedic terminology.[8] In vedas

1. Surya Prajnapti. Sutra 20.
2. Uttara-dhayana-sutra Chap XXXVI, p. 59.
   Compare also Jambudvipa Prajnapti Sutra 19.
   Trigunam Savisesam (a little over three times).
3. Jivabhigama-sutra. Sutra 112
4. Jivabhigama-Sutra Sutra 82, 109, 112, etc.
   Jambudvipa Prajnapti. Sutra 3
   Bhagwati-sutra. Sutra 91,
   Tattavārtha Dhigama-Sutra-Bhāshya.
5. See Laghu Ksetra Samasa Prakarma of Ratna Sekhasa Suri (1440 A D.) included in the Prakarma Ratnakara.
   Ed. by Bhimaseiha Maraka Bombay 1881 Verse 187.
6. Mikami's Chinese Mathematics p. 70
7. See G. S S. Chap I p. 63-68
8. See Yajurveda Samhita Chap XVII 2

(about 3000 B.C. or probably much earlier), distinct and special names for each of the units of different denominations have been taken, *viz*. eka (for 1), dasa (10), shata (10^2), sahasra (10^3), ayuta (10^4) niyuta (10^5), prayuta (10^6), arbuda (10^7), nyarbuda (10^8), somudra (10^9), madhya (10^{10}), anta (10^{11}), and parardha (10^{12}).

The combination terms used by the Jainas indicate that sufficiently large numbers were of frequent usage and that is the reason why the combination terms were preferred over the distinct terms as given in the vedas.

The Jainas and the Buddhists employed fantastically large numbers in the measurement of space and time. No nation has used such large numbers By the conception of 'Shirsha Prahelika' the Swetamber[1] Jains suggested a number of the order of $(8400,000)^{28}$ for a certain measurement of time Bhaskara Hema Chandra[2] (b. 11th Cent. A.D,), the commentator of Anuyoga dwara-sūtra (about 100 B.C.), has stated that this number *viz*. $(8400,000)^{28}$ or $(84^{28} \times 10^{140})$ occupies 194 notational values. The Jainas used 1 Samaya as the smallest unit of time.

The following table[3], according to the Swetamber Jains*, exhibits the complete series of 36 other units of time between one Samaya and one Shirsha Prahelika, the smallest and the greatest units respectively.

TABLE OF THE UNITS OF TIME (BY SWETAMBARA JAINS)

An infinite number of Samayas = 1 aylika
$4446\frac{2458}{3773}$ aylika = 1 pran
7 prans = 1 stoka
7 stoka = 1 lava
38½ lava = 1 ghari
2 ghari = 1 muhurta (= 48 minutes)
30 muhurta = 1 ahoratra
30 ahoratra = 1 masa (month)
12 masa = 1 varsh (year)
8400,000 varsh = 1 poorvang
,, poorvang = 1 poorva
,, poorva = 1 trutitang
, trutitang = 1 trutit
,, trutit = 1 addaang
,, addaang = 1 ad
,, ad = 1 avvang

35. See Anuyoga-dwara-sutra. Chap on Samaya
36. See Anuyoga-dwara-sutra. Sutra 116.
37. See Bhagwati Sutra. Sutra 6, 7 p, 246-7
*See Vishwa Prahilika by Muni Shri Mahandra Kumar Ji Jain. Jan. 1969.

„ avvang = 1 avava
„ avava = 1 hoohookang
„ hoohookang = 1 huhuk
„ huhuk = 1 utplang
„ utplang = 1 uptal
„ utpal = 1 padmang
„ padmang = 1 padma
„ padma = 1 nalinang
, nalinang = 1 nalin
„ nalin = 1 arth nipurang
„ arth nipurang = 1 arth nipur
„ arth nipur = 1 ayutang
„ ayutang = 1 ayuta
„ ayuta = 1 prayutang
„ prayutang = 1 prayuta
„ prayuta = 1 nyutang
„ nyutang = 1 nyuta
„ nyuta = 1 chulikang
„ chulikang = 1 chulika
„ chulika = 1 shirsha prahelikang
„ shirsha prahelikang = 1 shirsha prahelika

According to the Digambar Jains, there is a change in the units of time after the 'Varsh'. However, the complete table of the units of time as given by the Digambar Jains is given below. It may be observed here that according to the Digambar Jains, the greatest unit of time is 'achlatma' and its value is $84^{31} \times 10^{90}$, and that there are 39 other units in between the smallest and the largest units of time.

TABLE OF THE UNITS OF TIME (BY DIGAMBAR JAINS)

An infinite number of samayas = 1 aylika

$4446\frac{2458}{3773}$ aylika = 1 pran

7 pran = 1 stoka

7 stoka = 1 lava

$38\frac{1}{2}$ lava = 1 ghari

2 ghari = 1 muhurat (= 48 minutes)

30 muhurat = 1 ahoratra

30 ahoratra = 1 maas

12 maas = 1 varsh

8400,000 varsh = 1 poorvang

8400,000 poorvang = 1 poorva

84 poorva = 1 parvang*

8400,000 parvang = 1 parva*

84 parva = 1 nyutang

8400,000 nyutang = 1 nyuta

84 nyuta = 1 kumudang

8400.000 kumudang = kumud

84 kumud = 1 padmang

8400,000 padmang = 1 padma

84 padma = 1 nalinang

8400,000 nalinang = 1 nalin

84 nalin = 1 kamlang

8400,000 kamlang = 1 kamal

84 kamal = 1 trutitang

8400,000 trutitang = 1 trutit

84 trutit = 1 attang

8400,000 attang = 1 attat

84 attat = 1 ammong

8400,000 ammong = 1 ammom

84 ammom = 1 hahang

8400,000 hahang = 1 haha

84 haha = 1 huhang

8400,000 huhang = 1 huhu

84 huhu = 1 latang

8400,000 latang = 1 lata

84 lata = 1 mahalatang

---

*It seems that these two terms were left out in Triloya Pannati.

See :	Triloya Pannati	4-293, 307
	Adipuran	3-218, 227
	Lok Vibhag	5-139, 148

8400,000 maha latang	= 1	maha lata
,, maha lata	= 1	shri kalpa
,, shri kalpa	= 1	haste prahelit
,, haste prahelit	= 1	achlatma

9.1. CLASSIFICATION OF NUMBERS

The introduction of such large numbers led the Jainas to the conception of infinity. The Jainas, like the Greece,[1] do not consider 'unity' a number (*Eko* gananâsamkhyâ *na upeti*). In Anuyogadwara-sutra[2] (about 100 B.C.), the whole set of numbers is divided into three groups :

1. Sankhyeya ("numerable")
2. Asankhyeya ("in-numerable")
3. Ananta ("infinite")

and the highest numberable number is defined as :

"Consider a trough of the size of Jambudvipa, whose diameter is 100,000 Yojana and the circumference is 316227 Yojana, 3 gavyuti, 128 dhanu, 13½ angula and a little over Now fill up this trough with white mustard seeds counting them one after another. In the same manner fill up with mustard seeds other troughs of the sizes of the various lands and seas of the Jain Cosmography and count the seeds one after another. The total number of mustard seeds will still be less than the highest numerable number Thus it is difficult to reach the highest number amongst the numerables The highest numberable number of the early Jainas corresponds to what is called Aleph Zero or Aleph-Null in modern mathematics."

Let N be the highest numerable number as defined above. For numbers beyond that, the Anuyoga-dwara-Sutra suggests the following sequence of operations :

$$\begin{array}{ll}
2, 3, \ldots & \ldots N, \\
(N+1), (N+2), \ldots & [(N+1)^2-1], \\
(N+1)^2, (N+2)^2, \ldots & [(N+1)^4-1], \\
(N+1)^4, (N+2)^4, \ldots & [(N+1)^8-1], \\
(N+1)^8, (N+2)^8, \ldots & \ldots[(N+1)^{16}-1], \\
(N+1)^{16}, (N+2)^{16}, \ldots & \ldots[(N+1)^{32}-1], \\
(N+1)^{32}, \ldots &
\end{array}$$

It may be observed here, that in the above classification of numbers there is an attempt to defin numbers beyond Aleph-Zero The theory of such numbers was fully developed by George Canter in 1883. The fact that an attempt was made in India by the Jaina mathematicians to define such numbers in the 1st century of the Christian era is really commendable.

The Sthananaga-Sutra[3] before (300 B.C.) gives the following interesting classification of infinity (ananta) :

"Know that infinity is of five kinds, such as infinite in one direction, infinite in two directions, infinite in superficial expanse, infinite in all expanse, infinite in eternity."

---

1. See Smith's History of Mathematics. Vol. II. P, 26
2. See Sutra 146.
3. ,, ,, 462.

This shows that the Jainas combined the idea of infinity with that of division, defining infinity in one, two or three and infinite directions.

10. LAWS OF INDICES

In Anuyogadwara-Sutra[1], one finds certain interesting terms for higher powers, integral as well as fractional, particularly the successive squares (Varga) and square-roots (Varga mula). According to this sutra, for a quantity 'a'

the prathma-varga (first square) of 'a' means a^2,

the dvitiya-varga (second square) of 'a' means $(a^2)^2$ *i.e.* a^4.

the tritya-varga (third square) of 'a' means $(a^4)^2$ *i.e.* a^8.

In general, the nth varga of 'a' means $a^{2 \times 2 \times 2 \times \ldots n \text{ times}}$ *i.e.* a^{2^n}

Again, the prathma-varga-mula (first square-root) of 'a' means $\sqrt{a}$ *i.e.* $a^{\frac{1}{2}}$,

the dvitiya-varga-mula (second square root) of 'a' means $\sqrt{\sqrt{a}}$ *i.e.* $a^{\frac{1}{4}}$,

the tritya-varga-mula (third square root) of 'a' means $\sqrt{\sqrt{\sqrt{a}}}$ *i. e.* $a^{\frac{1}{8}}$

In general, the nth varga-mula of 'a' means $a^{\frac{1}{2} \times \frac{1}{2} \times \frac{1}{2} \times \frac{1}{2} \ldots n \text{ times}}$ *i.e.* $a^{\frac{1}{2^n}}$

The Anuyogadwara-sutra (about 100 B C) gives only in positive or negative powers of 2. But the Uttaradhyana-sutra[2] (300 B.C.) gives the other powers. In the later sutra is used the multiplicative instead of the additive principle Thus the second power is called varga ("square"), the third power as ghana ("cube"), the fourth power as varga-varga ("square-square"), the sixth power as ghana-varga ("cube-square"), and the twelfth power is called ghana-varga-varga ("cube-square-square").

In Anuyogadwara-sutra[3], we come across with statements such as

1. "the first square-root multiplied by the second square-root, or the cube of the second square-root." Expressed in symbols, this means

$$a^{\frac{1}{2}} \times a^{\frac{1}{4}} = (a^{\frac{1}{4}})^3.$$

2 "the second square-root multiplied by the third square-root, or the cube of the third square-root" Expressed symbolically, this means

$$a^{\frac{1}{4}} \times a^{\frac{1}{8}} = (a^{\frac{1}{8}})^3.$$

According to Anuyogadwara-sutra[4], the total population of the world is a number which in terms of the denominations koti-koti etc, occupies twenty-nine places (sthana). It is a number which will be obtained on multiplying the sixth square (of two) by the fifth square, or a number which can be divided (by two) ninety-six times.

1. See Sutra 142.
2. „ Chap. XXX 10, 11
3. „ Sutra 142.
4. „ „ 142

Thus the total population of the world is $2^{64} \times 2^{32} = 2^{96}$

$= 79, 228, 162, 514, 264, 337, 593, 543, 950, 336.$

This figure has twenty-nine digits and is divisible (by two) ninety-six times.

All the above is conclusive to establish that the early Jainas knew the law of indices *viz* :

$$a^m \times a^n = a^{m+n}$$

$$(a^m)^n = a^{mn},$$

where *m, n* may be integral or fractional.

11. Permutations and Combinations

It is a very important topic in mathematics. Its earlist use, as one of the several topics for discussion in mathematics, is traceable only from the time of the Jaina canon Sthananga-sutra[1] (before 300 B.C.), The general formulae were given later by Mahavira (850 A.D.) in his GSS. In fact Mahavira[2] is the world's first mathematician to give the general formulae

$$^nC_r = \frac{n(n-1)(n-2) \;..\; ..(n-r+1)}{1.2.3 \;.\; ..\; r} = \frac{n!}{r!\,(n-r)!}$$

$$^nP_r = n\,(n-1)\,(n-2) \qquad (n-r+1).$$

for the total number of combinations of *n* things taken *r* at a time and for the total number of permutations of the *n* things taken *r* at a time respectively.

In Anuyogadwara-sutra[3] (about 100 B.C.), the number of permutations of six things is given by $1 \times 2 \times 3 \times 4 \times 5 \times 6$. Silanka[4] (9th cent. A.D.), the Jain commentator of the Anuyogadwara-sūtra, has reproduced, from some mathematical texts, the rules for the permutations and combinations. The rule for determining the total number of transpositions that can be made with a specific number of things (bhede-samkhya-parijnanaya) is. "Beginning with unity upto the number of terms, multiply successively the (natural) numbers : That should be known as the result in the calculation of permutations and combinations (vikalpa-gaṇita)"

Thus the total number of permutations that can be made from *r* given different thing taken all at a time is

$$^rP_r = 1.\,2,\,3.\,4\;5 \quad .. \quad (r-1) = r!.$$

The other rules for finding the actual spread or representation (***prastārānayanopāya***) are : "The total number of permutations being divided by the last term, the quotient should be divided by the rest : They should be placed successively by the side of the initial term in the calculation of permutations and combinations."

Simple problems are stated in the Bhagwati-sūtra[5] (300 B.C.). The corresponding Indian expressions used for the modern terms 'taken one at a time', 'taken two at a time', 'taken three at a time' etc. are respec-

1. See Rule 747.
2. „ GSS Chap. VI Rule 218, p. 94
3. „ Rule 103, 115, 116 and others
4. „ Vide his Commentary on the Sutra.
   Krtanga-sutra, Samaya dhyayana.
   Anuyogadwara. Vers. 28.
5. See Sutra 314.

tively Eka samyoga, dvika samyoga, trika samyoga etc. Although some methods of finding out the permutations and combinations of certain things were known by the time the Bhagwati-sutra was written, yet the definite formulation of any mathematical rule is traceable only from the time of the Anuyogadwara-sutra (about 100 B.C.).

In Sushrutas[1] medicinal work (about 600 B C.), it is stated that out of six different rasas (*viz.* sweet, bitter, sour, saltish, hot, astrigent) 63 combinations can be obtained by taking the rasas one at a time, two at a time, three at a time etc. This gives the respective number of combinations 6, 15, 20, 15, 6 and 1, which obviously sum upto 63.

There are similar calculations of the groups that can be found out of the different instrument of senses (karanas), or of the selections that can be made out of a number of males, females and eunchs, of the permutations and combinations in various other things[2] In all the cases the results are given as could be obtained with the help of the above general formulae given by Mahavira (850 A D.)

Thus the word vikalpa for combinations is traceable before the advent of Jainism. Although the notion of permutations and combinations is traceable in India even prior to Jainism, yet the credit goes to the early Jainas for the simple two reasons—firstly for treating the subject as a separate topic in mathematics and secondly for working out the general formulae by the time of Mahavira (850 A D.)

12. CONCLUDING REMARKS

The original mathematical works of the Jains have not come to light and a considerable amount of search and research about the Jaina manuscripts is, therefore necessary In fact, there are three main difficulties in the study of ancient Indian mathematics *viz*

1. the difficulty of getting original works, some of which are not available in India,
2. the difficulty of the language—ancient mathematical works are in Sanskrit, and most of them are in poetry and not in prose, which makes it all the more difficult to understand them and lastly
3. the writers of original scientific treatises are generally very brief.

Their aim was to just indicate the general outline of procedure and to leave the details to be worked out by the interested worker in the field Some writers have given bare rules without demonstrations or examples, and the whole thing is so condensed that it is often difficult to interpret their meaning by one who is not a mathematician and a Sanskritist at the same time

---

1. See Sushruta Samhita, Chap. LXIII.
   Rasabheda Vikalpadhaya.
2. See Jambudvipa Prajnapti. XX, Sutras 4, 5
   Anuyogadwara-Sutra. Sutras 76, 96, 126.

AKNOWLEDGEMENTS : The author has the blessing of H. H. Rashtra Sant Muni (Dr.) Nagraj Ji D. Litt., and also of reverend Muni Shri Mahandra Kumar Ji. He is grateful to Professor D. S. Kothari, Chancellar Jawahar Lal Nehru University, New Delhi, for his altruistic concern in giving kind and valuable suggestions thereby adding to the quality of the present venture The author is indebted to Dr. Raghu Nath Sharma, Department of Sanskrit, University of Delhi, for some discussions concerning the above paper.

The Jaina Ulterior Motive of Mthematical Philosophy

Prof. L. C. Jain
And
Shri C. K. Jain

"WHEN ACTUAL OBJECTS ARE COUNTED, OR WHEN GEOMETRY AND DYNAMICS ARE APPLIED TO ACTUAL SPACE OR ACTUAL MATTER, OR WHEN, IN ANY OTHER WAY, MATHEMATICAL REASONING IS APPLIED TO WHAT EXISTS, THE REASONING EMPLOYED HAS A FORM NOT DEPENDENT UPON THE OBJECTS TO WHICH IT IS APPLIED BEING JUST THOSE OBJECTS THAT THEY ARE, BUT ONLY UPON THEIR HAVING CERTAIN GENERAL PROPERTIES "

— Bertrand Russell,
'The Principles of Mathematics'
London. 1956, xvii.

1. INTRODUCTION

Mathematics, today, stands as a science which is in some sense a single connected whole Philosophy (Gr. philein, to love—sophia, wisdom) stands both for seeking of wisdom and the wisdom sought. According to Aristotle, Philosophy is the science which considers truth Now it means that Mathematical Philosophy is a science of sciences.

The Jaina philosophy, essentially a philosophy of Karma (action) phenomena in nature, sought the solutions and exposition through mathematical manoeuvres. Various research papers have appeared[1] on the mathematical contents and aspects of the Jaina philosophy.

---

1 (a) Datta, B. B, The Jaina School of Mathematics, B. C. M S., 21, (1929), 115-145.
(b) Datta, B B, Mathematics of Nemicandra, Jaina Antiquary, I, no ii, (1935), 25-44.
(c) Singh, A N, Mathematics of Dhavalā-I, Ṣatkhaṇḍāgama, book iv, Amaraoti, (1942), v-xxi.
(d) Singh, A. N, History of Mathematics in India from Jaina Sources, The Jaina Antiquary, 15, no. ii (1949), 46-53 ; and 16, no. ii (1950), 54-69, Arrah.
(e) Roy, D. M., The Culture of Mathematics among the Jainas of Southern India, etc, Annals of the B. O R I., Poona, 8, (1926-27), 145-157.
(f) Smith, D. E., The Gaṇita Sāra Saṃgraha of Mahāvīrācārya, B. M. (Leipzig), 3, 9 (1908-09), 106-110.
(g) Jain, B. S., On the Ganita Sāra Samgraha of Mahāvīra (c. 850 A. D.) I J. H. S., 12, no. 1, (1977), 17-32.
(h) Jain, L. C, Tiloyapaṇnattī Kā Ganita, JGM, Sholapur, 1958, 1-109
(i) Jain, L C, GSS of Mahāvīrācārya, Sholapur (1963).
(j) Jaina, L. C., On the Jaina School of Mathematics, C L Smriti Grantha, Calcutta, (1967), 265-292 (eng. Sec.).

The theory of Karma, upto the ninth century, A. D., starting from Guṇadhara (c. 1st century B. C.), entering into the era of Vīrasena, the compiler of the Dhavalā and the Jayadhavalā commentaries, makes use of seven types of linguistic universes : naigama, saṃgraha, vyavahāra, ṛjusutra, śabda, samabhirūḍha and evambhūta : the channels into which flow the description of the objects and their events. In the eleventh century, however, Nemicandra takes recourse to two universes alone (in the Dravya-Saṃgraha), as also followed in the third century, A. D., by Kundakunda : niścaya (determinant) schema and the vyavahāra (usage) schema, into which is laid out the whole theory of Karma. The union of the universes of nayas (schema) is the universe of pramāṇa (measure).

The basic approach of the theory was mathematical, in the sense that it was set—theoretic and system-theoretic, alongwith the application of logic. Nemicandra highlighted this approach through his Gommaṭasāra and Labdhisāra (including Kṣapaṇāsāra), and the commentaries of the succeeding centuries added to them symbolic material for various types of measures of sets (Rāśis), through cardinals or ordinals of fluents, field, time and phase (dravya, kṣetra, kāla, and bhāva).

The system of the Karmic world is defined through postulated soul, non-souls, influx-input, bond restraint-input, decay-output, and emergence output (jīva, ajīva, āsrava, bandha, saṃvara, nirjarā and mokṣa)[1]. The objects and events of the system were installed through four types of recognition : name,

---

(k) Jain, L. C, Mathematical Foundations of Karma : Quantum System Theory, I, Anusandhan Patrika, Ladnun, (1973), 1-19.

(l) Jain, L. C., Set Theory in Jaina School of Mathematics, I. J. H. S., 8.1, (1973), 1-27.

(m) Jain, L. C., The Kinematic Motion of Astral Real and Counter Bodies in Trilokasāra, I. J. H. S., 11.1, (1976), 58-74.

(n) Jain, L. C., On Certain Mathematical Topics of Dhavalā Texts, I. J. H. S, 11.2, (1976), 85-111.

(o) Jain, L. C., Principle of Relativity in Jaina School of Mathematics, Tulsi Prajna, JVB, Ladnun, 5, (1976), 20-28.

(p) Jain, L. C., The Jaina Theory of Ultimate Particles, (Jaina Darśana evam Saṃskṛti-Ādhunika Saṃdarbha men), Indore University, (1976), 43-55.

(q) Jain, L. C., Divergent Sequences Locating Transfinite Sets it Trilokasāra, I. J. H. S., 12.1 (1977), 57-75.

(r) Jain, L. C., On certain Physical Theories in Hindu Astronomy, Pracya Pratibha, Bhopal, Vol. V. no. 1, 1977, 75-86.

(s) Jain, L. C., Perspectives of System Theoretic Technique in India between 1400-1800 A. D., Jain Journal, Calcutta, 13.2 (1978), 49-66.

(t) Lishk, S. S. and Sharma, S. D, The Evolution of Measures in Jain Astronomy, Tirthankara, 1(7-12), *1975, 83-92.

(u) ———and ———, Role of Pre-Aryabhata Jaina School of Astronomy in the Development of Siddhāntic Astronomy, I. J. H. S., 12.2 (1977), 106-113.

(v) Sikdar, J. C., Eclipses of the Sun and the Moon according to Jaina Astronomy, I. J. H. S., (ibid), 127-136.

(w) Sikdar, J. C., Jaina Atomic Theory, I. J H. S., 5.2, (1970), 199-218.

(x) Volodarsky, A. I, About Treatise of Mahāvira, (P. M.), Moscow, (1968), 98-130.

(y) Jain, L. C., On the Contributions, Transmissions and Influences of the Jaina School of Mathematical Sciences, Tulsi Prajna, 3.4., (1977), Ladnun, 121-134.

Note : For a comparative study, Cf. Russell, B., Introduction to Mathematical Philosophy, London, 1960.

1. Tattvārthasūtra, 1 4.

representation, fluent and phase (nāma, sthapanā, dravya and bhāva)[1]. This system was ascertained through description, ownership, means, substratum, life-time and principle (nirdeśa, svāmitva, sādhana, adhikaraṇa, sthiti and vidhāna)[2] The system was also ascertained through the recognition of existence, number, field, contact, time, interval phase and comparability (sat, saṃkhyā, kṣetra, sparśana, kāla, antara, bhāva, and alpabahutva)[3].

Yatıvṛṣabha (c. 5th century A. D.), in his Tıloyapaṇṇattī, uses several mathematical expressions, whereas Vīrasena uses sentential logic and mathematics for many interesting calculations, yet symbolism seems to have taken a leading role only after Nemicandra systematized ultimately by Ṭoḍaramala (1720-1767) Ṭoḍaramala calls arthasaṃdṛṣṭi (symbolic norm) as the symbol for the measure etc. of fluent, quarter, time and phase. Artha may be interpreted as norm and the saṃdṛṣṭi may mean symbolic representation. Two chapters on the arthasaṃdṛṣṭi were compiled by Ṭoḍaramala to explain in details the symbolic and mathematical expressions occurring in the jīvatattvapradīpikā commentary of the Gommaṭasāra and that of the Labdhisāra In his samyakjñāna candrikā commentary, the material produced was as far as possible, without symbolic manipulation Thus the studies were diverted in two directions : one for a mathematician and the other for a non-mathematician. Nemicandra had divided the śruta jñāna into śabdaja and lingaja. Words are numerate, but the events are numerate, innumerate and infinite, hence the use of a linga (symbol) as well (tattvārtha vārtikam, 1/26. Linga is also called a hetu.

2. THE MATHEMATICO-PHILOSOPHIC DEVELOPMENT

There are reasons to believe that from the period of Vardhamāna Mahāvīra, the theory of action gained a greater impetus for inevitable resistance against the demeritorious propensities The scientific explanation of the theory needed extension in the universe of the contemporary knowledge and the universes of the objects, events and various unobservable processes in nature demanded deeper explanation through some unified theory unfolding the universes of bios and the non-bios as well as interaction between bios and matter. The periodicity in nature was already observed through the astral-phenomena and it was the theory of the non-observables which demanded a mathematical cosmology which appeared to have been brought in as treated in the Tıloyapannattī of Yatıvṛsabha[4].

Herein the measure was introduced in form of simile sets and number sets and the ranges of the finite were extended to the numerable and the innumerable The infinite was treated by an additional idea of inexhaustion in time of a set which was under the process of exhaustion by finite elements or members of the set[5] The finite process or operation in finite time could not produce an infinite set. Whenever an infinite number in ordinal was required to be generated, it was done so by adding to the finite result a postulated infinite set as per definition of an infinite set given by Vīrasena in the Dhavalā texts.[6] Eleven kinds of

1. *Ibid*, 1.5.
2. *Ibid*. 1.7.
3. *Ibid*, 1.8.
4. Cf. 1 (h), *op cit* (a) Cf also Saraswati, T A., The Mathematics of the First Four Mahādhikāras of the Trılokaprajñapti, J G. R. I. 18 (1961-62), 27-51 (b) Cf. also Saraswatı, T. A, Development of Mathematical Ideas in India, I. J. H. S., 4 1, 4 2, (1969), 59-78. (c) Cf. Jain, G R, Cosmology, Old and New, Indore, (1942). (d) Cf. Muni M Kumar, II, Viśva Prahelikā, Bombay, (1969). (e) Cf ch. 1, 2, 3, 5, 7, 8, 9 in Bose, D M., Sen, S. N, Subbarayappa, B V., A. A concise History of Science in India, New Delhi, 1971 (f) Cf Zaveri, J S, Theory of Atom in the Jaina Philosophy, Ladnun, 1975.
5. Cf 1 (j) and 1 (l)
6. Cf. 1 (h)

infinities were defined and the mathematical infinity was elaborated in detail[1]. The important observation is that all types of mathematical and non-mathematical sets were to be treated only through the set of integers or natural numbers alone.

An important treatment of the infinities in the Trilokasāra[2], deserving special attention of the historians of mathematics, is about the fourteen divergent sequences which help to locate (topologically) finite and transfinite sets of various types of objects needed for the exposition of the Karma (action) theory. This records a means of the topological studies comparable to that adopted by Georg Cantor, and those which are indispensable in mathematical sciences. Apart from this, one also gets introduced to the several types of postulated fluents, their properties, and enumeration of their events and interactions through various types of units coglomerated as the fluent sets, the space-point sets, the time-instant sets, and the phase sets. The abstract three mathematical universes accomodate many types of universes of the bios and matter. Thus a philosophical unified universe is introduced mathematically to include all natural phenomena of the astral, human, and the sub-human universes[3].

3 THE SET THEORETIC DEVELOPMENT

For the treatment of any unified system theory, one needs a set-theoretic approach which has gained an unparalleled support of the modern methodology in the development of technology and theoretical as well as practical sciences. About two and a half thousand years ago, this necessity was realized in India in the Jaina School and sufficient material is now available in the Ṣaṭkhaṇḍāgama, Dhavalā, Jayadhavalā Gommatasāra, Labdhisāra, and their detailed commentaries wherein only the set-theoretic material could be traced with mathematical and logical treatment[4]. They give out the secrets of their approaches which may be precisely exposed here as follows :

(A) The basic word for set is 'RĀŚI', akin to Latin, 'RATIO' meaning reason ; the Greek equivalent being, 'horos' (LOGOS), meaning a 'word' and also the 'mind' behind a word. Ṣaṭkhaṇḍāgama exposes its synonym in samūha, ogha, puñja, vṛnda, sampāta, samudaya, piṇḍa, avaśeṣa, abhiṇṇa and sāmānya. Vīrasena has made use of the rāśi practically in every mathematical sentence Cosmological sets are related in the Tiloyapaṇṇattī and the Trilokasāra, whereas philosophical sets are found based in the Ṣaṭkhaṇḍāgama texts. In the book three of the Dhavalā, the sets of souls in various control and rummage stations are exposed through their measures in fluent, quarter, time and phase They find symbolic expressions in the commentaries of the Gommatasāra Jīvakāṇḍa. All types of sets of ultimate particles and their relations among themselves and those with the soul in Karmic bonds are depicted in various details in the Mahābandha and Gommatasāra Karmakāṇḍa texts and the symbolic treatment in the commentaries.[5] These also include statistical details, forming the steel framework of the bios-machine systems described in system-theoretic details in other texts.

---

1. Cf. *ibid.*
2. Cf. 1 (r).
3. (a) Vid. Tiloyapaṇṇatti of Yativṛṣabha, Pt. I (1943), Pt. II (1951), Sholapur. (b) Trilokasāra of Nemicandra, Sri Mahaviraji (1976). (c) Vid. also other texts on Karanānuyoga Group.
4. (a) Satkhaṇḍāgama of Puspadanta and Bhūtabali, ed. Shaha Sumati Bai, Phaltan (1965). (b) Vid. also Saṭkhaṇḍāgama, alongwith Dhavalā commentaries by Vīrasena, books 1-16, Amaraoti and Vidisha, 1939-1959. (c) Vid. also Gommaṭasāra, alongwith Jīvatattva Pradīpikā and Samyakjñānacandrikā commentaries ed by G L. Jain and S. L Jain, Calcutta, (c. 1919) ; (i) Jīvakāṇḍa, pp. 1329, (ii) Karmakāṇḍa, pp 1200 . (d) Mahābandha by Bhūtabali, books 1-7, Kashi, 1947-1958.
5. Vid. Arthasamdṛṣṭi chapter on Gommaṭasāra Jīvakāṇḍa and Karmakāṇḍa in 308 pages, (12c), *op. cit*

(B) Under classification of the sets there are unitary elements of sets, fundamental measure units of sets, fixed fluent sets, point sets, instant sets, smallest, biggest and intermediary sets, null set, concept, indivisible-corresponding-sections sets of controls etc., transfinite sets, sets of vector-group of matter, sets in relation to Karma structures and functions, and variable sets.[1]

(C) Under the treatment of sets are the analytical methods, the method of reductio-ad-absurdum being very common. The method of one-one correspondence for comparing transfinite sets has been used by Vīrasena (c. ninth century), appearing again in works of Galileo and Cantor. Vīrasena also used the methods of measure, reason, explanation, abstraction, cut, division, spread and removal for illustrating and exposing the measure of sets, leading to norms applications in the theory of Karma. Apart from the above, in the Dhavalā, one could find the applications of the laws of indices, the theory of logarithms to finite and infinite types of bases, the continued fractions and squarepiling (vargana-saṃvargaṇa), etc [2]

(D) Comparability is the modern mothod applied in syntopology. In Saṭkhaṇḍāgama texts, this is called alpabahutva which studies into the knowledge of the order of smallness or largeness of sets in neighbourhoods in relation to seven tautos (tattvas) or nine syllable-norms (padārthas), at various locations of natural phenomena. This method is also called the very nature of the numbers and is of three types : that about souls, non-souls and mixed, as well as of no-āgama types. The comparabilities are detailed into one's own place, in other place and in general. The relations used in comparabilities are as follows : small, equal, smallest, non-existent, distinctly great, distinctly small, summable times, non-summable times, infinite times, numerable or innumerable part, decrease and increase, least passive and most intense and so on[3].

(E) Out of the fourteen topological sequences, the three dyadic sequences are very important as they make use of the well-ordering theorem and certain other postulates which are comparable to the Cantor's works under contrast[4]. Sequential relations in the sets are found through comparison and logarithms.

(F) The various treatment of the sequences and comparabilities appear to lead to certain antinomical, paradoxical and fallacious results which are contrasting to the world of the finite results, yet the method of their postulation saves them from the trouble and the results are without contradictions. The paradoxes of Eleatic Zeno can be easily explained away through the Jaina mathematical principles of the existence of the finite space-points and time-instants in finite segments of space and time,[5] although in a finite segment in analytical methods, transfinite and finite sets could be established under abstract representation[6] Most of the paradoxes could be explained away from the universe of the infinities through the methods of the alpabahatva and the sequences (dhārās). The set of instants in the future time is infinite times that of set in the past time, appears to be paradoxical, yet it has been postulated. The axiomatic method has been adopted in the statement of comparability of sixteen sets[7] and this appears to be pursued in exposing the comparability of many other sets.

The above leads to the conclusion that even ordinary operations of mathematics over sets also found extension[8] and extended definitions. Not only the notations in digits and alphabets but also geometrical figures were used for depicting the sets in equations and such developments[9]. It appears that the contradictory

---

1. Cf. 1 (l), *op cit*
2. Cf 1 (n), *op cit*
3. Cf. 1 (l), *op. cit.*
4. Cf. 1 (q), *op cit.*
5. Cf. 1 (i), intr. pp. 1-34, *op. cit.*
6. Cf. 1 (n), *op cit*
7. Cf. 1 (n), *op. cit.*
8. Cf. 1 (c), 1 (d), and 1 (n), *op cit.*
9. Cf. 1 (s), *op cit.*

universes of their semantical expressions got consistency in their naya system needed for the set-theoretic and system-theoretic approaches, and the concepts of the union, intersections and disjointness of sets are all implied in the descriptions of the Ṣaṭkhaṇḍāgama texts. Even the biggest set of Omniscience was kept as supremum and adaptable to any onset of inclusion of any knowledge of any number of universes of objects and events of processes of interactions between bios and matter or independently of them.[1] The source material on sets in the Jaina School surpasses the modern material so much so that the results obtained in the former appear to be consistent and complete in so far as they have been applied to their model of the Karma theory, an appealing abstract approach today yet perhaps applied in the past.[2]

4. THE MATHEMATICO—SYSTEM—THEORETIC DEVELOPMENT

In the modern technological world, this development has been quite late and during the last thirty years or more, the concepts of a bios-system or an engineering system for remote controls or optimality, realizability, controllability and observability have been based on consistent set theories and mathematical models[3]. The Karma theory detailed in the Mahābandha, Kasāyapāhuḍa, Gommaṭasāra and Labdhisāra[4] is based on the set-theoretic approach · there are Karma structural sets, universes and operators, operands, and transforms. The instant-effective-bond (Samayaprabaddhavarga, vargnā, spardhaka, gunahādi, nānāguṇahāhi, anyonyābhyasta set, are well-defined for Karmic particle sets and their controls measured in sets of indivisible-corresponding-sections (avibhāgi-praticched). For a comparison of the Karma theory with that of the present system theory the author has already contributed a paper on the system theory[4]. The essentials of the Karma theory may be precisely exposed as follows :

(i) The Yoga and Moha as operators, having norms

(ii) The tetrad of measures of configurations (prakṛtis), points (pradeśas) or particles, transformed into Karmic phenomena, life-time (sthiti) and energy-level of impartation (anubhāga) of the nisusus (niṣekas) in Karma-stay-structure (Karma sthiti racanā).

---

1. Cf 1 (k), 1 (w), and 1 (s), *op cit.*
2. Vid. (a) Wilder, R. L., Introduction to the Foundations of Mathematics, New York, 1952.
   (b) Kneebone, G. T., Mathematical Logic and the Foundations of Mathematics, an introductory survey, London, 1963
   (c) Fraenkel, A. A., and Bar-Hillel, Y., Foundations of Set Theory, Amsterdam, 1958.
   (d) Fraenkel, A. A., Abstract Set Theory, Amsterdam, 1953
   (e) Ākos Csaszār, Foundations of General Topology, Oxford, 1963.
   (f) Mathematics in the Modern World, ch iv, The Foundations of Mathematics, San Francisco, 1968.
3. Vid. (a) Kalman, R E., Lectures on Controllability and Observability, Luglio, 1968.
   (b) Kalman, R. E., Falb, F L, Arbib, M. A, Topics in Mathematical System Theory, T. M. H., Bombay, 1969.
   (c) Harmon, L. D., and Lewis, E R, Neural Modelling, Physiological Reviews, vol 46, (July 1966), 513-591.
   (d) System Theory in Jaina School of Mathematics, I. J. H S, 14.1, (1979), pp. 29-63.
   (e) Cf. 24 (f) *op cit.*, ch. v.
4. (a) Kasāya Pāhuḍa of Guṇadhara, Jaya Dhavalā Commentary, Mathura, (1944), vols. 1 13
   (b) Kasāya Pāhuda, Cūrṇisūtra of Yativṛṣabha, Calcutta, 1955
   (c) Labdhisāra of Nemicandra, commentary by Toḍaramala, (c 1919), Calcutta, including Artha-Saṃdṛṣti Chapter

(iii) The causality concept of simultaneity of events connected with bios and Karmic particles sets.

(iv) Yoga operator being responsible for configuration and particle bonds and the Moha operator being responsible for life-time and energy-level bonds.

(v) The order-bound phenomena of events of instantaneous nature in the time set of the past, present and future.

(vi) The bio-phase-rise and its dual phase-rise of the Karmic nisusus simultaneously, working for the mutual feed-back of each other prolong the life-system, constituting input values, and input functions every instant.

(vii) Before rise of karmic display there is a proportionate time-lag, except that for longevity configuration (āyu prakṛti).

(viii) There are norms of mathematical objects corresponding to inputs of Yoga and Moha structures.

(ix) There is state-existence of the tetrad of the Karma totality of the past, and the present instant corresponds to the transition of state, depending upon the action of input of Yoga or Moha phases. The niṣeka structure is transformed during this process, time also being an independent operator.

(x) There are output values and output functions, every instant. These are also variables depending upon the decrease or increase in the norms of the Yoga and Moha.

(xi) Impedance (samvara) also works as an input, in so far as it reduces the Yoga and the Moha quantities.

(xii) The fluent measure, quarter measure, time measure and phase measure of the universe souls, non-souls, soul's merits and demerits, influx of the Karmic matter, its impedance, disintegration, bond and emergence in relation to the eight types of karmas, forms the statistical data of the karmic universe, apart from other details of various Karmic universal set[1].

(xiii) There are ten operational phases of bonds, namely, bonding, state-transition, rise, premature-rise, uptraction (in state matrix), downtraction, transmutation, subsidence, nidhatti and nikācita.

(xiv) There is an order in which ending of the tetrad of bond occurs.

(xv) There is a sequence of annihilation of state, and a rule of life-time cut for life-time state.

(xvi) There is a law for the down-tract and a law for reduction of impulse (energy-level)

(xvii) The three operators (the low-tended, the unprecedent and the invariant) are responsible for attainment of correct vision, similar to that in the Omniscient.

(xviii) The complete emergence results in Omniscience and infinite controls.

The above constitutes the essence of hundreds of pages of mathematical theory of the Karma system and its equation of motion. The philosophical treatment might have invited a lot of doubts, yet solved through doubt-explanation method of discourse. Here again one finds axiomatic method of postulating an existence of the Karmic bond of a bios as being ab-aeterno. The bios and the bond Karmic matter being independent, in so far as their transformation depend upon the phase in which they pass through. They appear as inter-related for interactions, yet transforming according to their own controls, own thresholds and limits and so on, at the simultaneity of their absolute scale of time[2]. The existence being the property of a

1. Cf. Artha Saṃdṛṣṭi I GKK, p. 190, *op. cit.* and pp. 215-230.
2. Sikdar, J C, The Jaina Concept of Time, Research Journal of Philosophy, Ranchi, 4.1 (1972), 75-88.

fluent, it manifests in its free forms during an indivisible instant, generating, annihilating and eternal in itself. The fluent itself is the cause and effect of its own transformations due to its own phase.

Similarly the astronomical system in the Tiloyapaṇṇatti appears to be based on the following principles[1] :

(i) Divisibility ad infinitum of space and time units in practice is impossible.[2]

(ii) By virtue of motion an ultimate particle of matter could be existent at more than a single space-point within an indivisible instant.[3]

(iii) In nature, the physical phenomena as well as bios phenomena, has the frequency of occurence[4].

(iv) A closed path when deformed topologically does not lose its invariant property.[5]

(v) The implicit cosmological principle that no system has any special position and as such the relativistic kinematics holds invariance for the derivation of the dynamical laws of the universe from kinematically equivalent geometrical path. The general formula of the orbits appears to be[6] $r = \frac{f+g\,\theta}{h+k\cos\theta}$

(vi) Seasons change with precession of equinoxes[7]

The above marks the system as a principle theory which adopts the analytical method, its basic elements not being constructed hypothetically, but discovered emperically. The basic concepts and principles form the general characteristic of the natural process. Such a theory has the advantage of being logically perfect and have a secured foundation. However if a single principle fails or if an inconsistency arises the whole structure has to be remoulded for it is impossible to retain its originality The principles require to be powerfully supported by experience and should be logically reconcileable[8]

The Greeks and later the Indians appear to have evolved the constructive theory which follow the synthetic method in which attempts are made to find out a simple and formal scheme to construct a representation of more complex phenomena. The success obtained in understanding a group of natural phenomena, means that the process has been covered through the constructive theory which is complete, adaptable, clear and could be remodelled without shattering the whole structure

5. THE MATHEMATICO—LOGICAL DEVELOPMENT

Now the Syadvada system of predication will be discussed. The system[9] worked very deep in evolving the method of expressing and exposing the Karma system as a statistical tool, side by side, the

1. C. 1 (r), *op cit*
2. Cf. 1 (h), intr. Cf. also 1 (i), intr. *op cit.*
3. Cf. 1 (0), *op cit.*
4. Gommaṭasāra, Jīvakāṇḍa, vv. 557-660. Cf Sarvārthasiddhi of Pūjyapāda, (reality), Calcutta, (1960), 56-60.
5. Cf 1 (d), 1 (m), *op cit*
6. Jain, L. C , On the Spiro-Elliptic Motion of the Sun implicit in the Tiloyapaṇṇatti, I J. H. S , 13.1, (1978), 42-49.
7. Jain, N. C., Jaina Pañcāṅga, Jaina Siddhanta Bhaskar, 8.2., (1941). Arrah, 74-80.
8. Vid. "What is the Theory of Relativity ?" The London Times, November, 28, 1919, (Einstein, Ideas and Opinions, London, 1956, 227-232).
9. (a) Vid. Haldane, J. B. S , The Syādvāda System of Predication, Sankhya, The Indian Journal of Statistics, vol. 18, parts 1 and 2, (paper received, nov. 1956), pp. 195-200.
   (b) Mahalanobis, P. C., The Foundations of Statistics, Dialectica, vol. 8.2, 15/6/19:4 & Sankhya, I J. S., 18.1 and 2, 183-194.

mathematical pursuits, before the development of symbolic expressions, at the time when sentenial and syncopated expressions found their place in texts as well as in lectures[1]. The works of Yativṛṣabha and Vīrasena are testimony to this According to Yativṛṣabha, the suborder of third prābhṛta of the tenth vastu, in the fifth pūrva, called Jñāna Pravāda, is of five types : ānupūrvī, nāma, pramāṇa, vaktavyatā, and arthādhikāra. Vaktavyatā (assertoriality)-sub-order is of three types : svasamaya, parasamaya, and tadubhaya[2]. A quotation by Vīrasena asserts, 'Relative to controls and events, that fluent is one without leaving its various-own-forms and positively it is many, relative to its own controls and events, without leaving its one-ness. Thus, O, Jaina, the object in infinite forms is stated in sentences, in order, through part acceptance phase[3]. He further exlains, 'Relative to dravyārthika naya, there is one-ness in one and many. Relative to paryāyārthika naya, from an arbitrary 'one' number, the remaining 'one' numbers are different, therefore there is many-ness in them. Relative to naigama naya, the dvitva (duality) etc., phase comes into being, which leads to acceptance of number-division.'[4] In this style Vīrasena puts up the doubt, "The past time is ab-aeterno, how can its measure be established ?" The explanation is, ' No, because, if its measure is not recognized, its non-existence will be infered. But the knowledge of its being ab-aeterno happens to be, hence it will be having beginning, and as this is also not so, because there is contradiction in such a recognition."[5]

Further the mathematical import of the following logic for fineness decision is worthy of attention. Vīrasena mentions, "Many preceptors state that it is fine, that which is accumulation of many points. It has also been stated—Time measure is fine, and quarter measure is finer, because in an innumerable part of a finger, there are innumerable kalpas. But this assertion is not eventuated, because on such a recognition, fluent description will follow the quarter description. Doubt . How is this ? Explanation : Because, in a fluent finger, composed of infinite point-like ultimate particles, relative to embedding, there is only one quarter finger, but relative to counting, there are infinite quarter fingers. Hence quarter is fine and fluent is finer, because there are infinite quarter-fingers in a fluent finger."[6]

Thus Syādvāda appears to show relational universes and not the probable universes. Due to relation, an object may be small or great, or both, or a combinatorial situation of all these. As a theory of relations Syādvāda is also a theory of dynamic and static functional structures with constructibility, consistency, and completeness. It was beyond Boole's logic and Russell's symbolic logic. It formed a complete system of universes of assertions negations and unassertoriality. This formed a landmark in the logical foundations of the 'post-universal' mathematics, providing mathematical properties of one-ness and manyness as well as intermediary-ness to the object. For example : logarithm of two to the base two was given as one, that of four as two, and that of three was regarded as unassertorial for it had a value in between one and two, although it was not needed to be calculated in approximation the school dealt with.

(c) Mehta, M. L , Psychological Analysis of Jaina Karma Philosophy, Thesis, B. H. U., Amritsara (1954).

(d) Kothari, D. S , Reality and Physics : Some Aspects, Jour. of Phys. Edn., 8.2, Jan. 1978, pp. 1-6.

(e) Barlingay, S. S., A Modern Introduction to Indian Logic, New Delhi, (1976), pp. 4, 5, 6-7, 9, 62, 72, 73, 88.

(f) Muni Nathmal, Jaina Nyāya Kā Vikāsa, Raj. Univ., Jaipur, 1977. For bibliography, vid. pp. 175-179.

1. Cf. 1 (s), *op. cit.*
2. Cf. 26 (b) *op. cit.*
3. Cf. 12 (b), Book 3, p. 6, v. 5.
4. Cf. *ibid*, p. 30.
6. Cf. *ibid*, pp. 27-28.

The use of the word "ARTHA SAMDRṢṬI" shows that it meant the introduction of symbolic norm and not the symbolic logic. The symbolic norm then paved the way to post-universal mathematics due to introduction of the relations in all perspectives. Logic brings forth contradictions, whereas the norms introduced by Syādvāda removes them, extending the symbolic logic to symbolic norms, or mathematics to extended 'post-universal' (lokottara) mathematics of measures and norms. According to Godel, in any system broad enough to contain all the formulas of a formalized elementary number theory, there exist theorems (formulas) that can neither be proved nor disproved within the system. Syādvāda system allows such a situation in the karma system where assertorial and non-assertorial phenomena occur in nature For example, a free soul or a free particle could travel a distance of fourteen rājus within an indivisible instant, implying its existence in a stretch of fourteen rājus within the indivisible instant—a paradoxical situation.'

In addition to the above, Mahalanobis found in Syādvāda a close relevance to the concepts of probability, and the phrases used in Syādvāda to have a special significance in relation to the logic of statistical inference. 'Syāt' means relative, 'Vāda' means assertion The seven predicates may be described as follows : 1 Relatively, it is ; 2 Relatively, it is not , 3 Relatively, it is and it is not ; 4. Relatively, it is non-assertorial ; 5. Relatively, it is and yet is non-assertorial ; 6 Relatively it is and it is not as well as it is non-assertorial. The above form the dialectic of seven-fold predications, save that the word 'is' above may be replaced by 'is existent'. The word 'non-assertorial' has been used by other authors as indeterminate, indescribable, inexpressible and indefinite. The situation is comparable also to the propositional and non-propositional statements of Russell.

The above seven universes are necessary and sufficient to exhaust the possibilities of all knowledge in forms of norms of measures (pramāna) and schema (naya) and many-ended-ness (anekānta) of a variable object.[1] According to Mahalanobis, the fourth category, being a synthesis of three basic modes, the third denoting inexpressibility, indefiniteness or indeterminateness, supplies the logical foundations of the modern concept of probability. But the fact, that the positivity of the statement leads to statistics and not to probability, has urged many scholars to deny the inclusion of the probabilistic situation asserted by Mahalanobis.

The methodology of the Syādvāda system seems to have motivated the trend of symbolization of the relational semantic material of Karma theory, and after Vīrasena, imperfect attempts may be traced in the later commentaries.[2]

The system theoretic approach demands causality in practical schema, whereas the determiniastic schema in Jainology may be put up in words of Satkari Mookerjee, and may be said to have an important hearing on modern scientific attitude, " ...neither synchronism nor succession is believed by the Jaina to be essential characteristic of causal relation. Causality is a relation of determination. The effect is that whose coming into being is necessarily determined by the being of another. The determinant is called the cause and the determinatum is called the effect. The determinant may be synchronous with the determined or may be separated by an interval . .[3]" He further states, "What is the organ of the knowledge of

1. (a) Nyāyāvatāra of Siddhasena Divākara (c. 480-550 A. D.)
   (b) Āpta Mīmānasā of Samantabhadra (c. 600 A. D.).
   (c) Syādvāda Mañjarī of Mallisena (1292 A. D.).
   (d) For a comprehensive bibliography, cf. Jaina, H. L., Bhāratīya Samskṛti men Jaina Dharma Kā Yogadāna, Bhopal, 1962.
2. Cf. 12 (c), and 27. *op cit*
3. Mookerjee, S., The Jaina Philosophy of Non-Absolutism, Calcutta, 1944, p. 190.

causality ? The Jaina answers that it is the perception of the concommittance in agreement and difference . . . The Jaina takes the observance of concommittance in agreement and in difference to be one observation. . . . The Jaina posits a twofold cause for the perception of universal relation—an internal and an external condition . . ."[1] Samantabhadra asserts. "Yadvastu bāhyam gunadoṣa sūte rnimitta mabhyantaramūla hetuḥ, adhyātmavṛttasya tadangabhūvta—mabhyantaram kevalamapyalam te "[2] The absolute time scale in Jainology is governed by the concept of the indivisible instant interval postulate, and it seems to have caused the above understanding of reality, plurality, and multiforms as well as infinitely diversified aspects of the universal omniscience which comprises of many comparable infinities of Karmic and other structural and functional equations of natural phenomena in individual and statistical details, of the unified system theory of bios and matter as well as of other fluents.

Mahalanobis commented upon the probability implication of the Syādvāda system through the example of a coin, whereas the indeterminate type of implication of the system has been put forth by Haldane in the quantitative aspect of the indeterminate solutions of equations under enquiry. He says that solutions like square root of minus one are non-assertorial so far as imaginary numbers are not taken into being (as was asserted by Mahāvīrācārya in the ninth century). This aspect leads to the many truth values logical system of the Syādvāda, which is without uncertainty. Existence without assertion are found in many mathematical situations, as existence of curves without tangents, or tangent to a circle from a point within a circle, or else expressibility of square root of two through decimals, or else also the existence of the principle of generation of infinite limit numbers postulated by Cantor In technology as well, situations arise where circuits for the intermediary of yes and no contacts are indispensable for go ahead matters, and they are dealt with without assertorial commands, automatically. It thus seems that there are biological as well as material situations and events which go on automatically without assertorial cognizance, without being interrupted by silence, and it may be said that the bios-technology of the future will have to take into account such eventual contacts for reproducing types of machines having ingenious feed-back generators as well as annihillators.

6. CONCLUDING REMARKS

Indeterminacy and uncertainty are two different aspects, and the former does not ensure the certainty of knowledge, although one may not be aware of that universe of its measure The motive of the Jaina School, thus had an ulterior aspect, for a philosophical attitude with mathematical determinacy of an Einsteinian approach.

The knowledge of the subsets of indivisible-corresponding-sections of all knowledge (Omniscience or Kevala Jñāna), must have had a great bearing on the mathematico-philosophic pursuits of the School, and the challenge of several types of indeterminacy, paradoxes, contradictions, antinomies and fallacies might have been boldly faced in that ancient era of scientific awakening, in India The Greeks, as it appears in history, paced back, and it was due to the unparalleled attempts and invincible struggle of George Cantor that he could introduce the theory of sets in spite of great opposition and introduction of several antinomies and paradoxes etc

The study into the foundation of Jaina mathematical philosophy, thus requires a revision of its symbolic material through a team of interdisciplinary scholars for the fact that the progress into the deeper investigations has suffered in the absence.

---

1. *ibid.*, p 190.
2. Vṛhadsvayambhūstotra of Samantabhadra, v. 59.

जिनभद्रगणि के एक गणितीय सूत्र का रहस्य

डॉ० राधाचरण गुप्त

श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण जैनियों के दसवें युग-प्रधान कहे गये हैं। इनका समय ईसवी सन् 600 के आसपास था। वलभी नरेश मैत्रक के अधीन रहकर उन्होंने शक 531 (अर्थात् 609 ई०) में **आवश्यकसूत्र** के सामयिकाध्ययन खण्ड पर अपने **विशेषावश्यक भाष्य** की रचना की थी जिसमें लगभग 3600 प्राकृत गाथाएँ हैं। **विशेषावश्यक भाष्य** पर कोट्याचार्य ने एक टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त जिनभद्रजी को अनेक अन्य ग्रन्थों व टीकाओं का भी रचयिता माना गया है जिनमें निम्नलिखित शामिल हैं—

1. **क्षेत्रसमास या बृहत्क्षेत्रसमास।**
2. **बृहत्संग्रहणी।**
3. **जीतकल्प।**
4. **ध्यानशतक।**
5. **निशीथभाष्य।**
6. **प्रज्ञापनासूत्र की टीका।**
7. **शरीरपाद की टीका।**

यहाँ हम जिनभद्र के केवल **बृहत्क्षेत्रसमास** की चर्चा करेंगे, जोकि 637 गाथाओं में है। इसपर निम्नलिखित विद्वानों ने टीकाएँ लिखी हैं·

1. हरिभद्र (लगभग 1128 ई०)
2. देवगुप्त सूरि के शिष्य सिद्धसूरि (लग० 1135 ई०)
3. मलयगिरि (लग० 1150 ई०)।
4. विजयसिंह (लग० 1158 ई०)।
5. देवभद्र (लग० 1176 ई०)?
6. जिनेश्वर के शिष्य आनन्दसूरि (लग० 1225 ई०)
7. पद्मप्रभ के शिष्य देवानन्द (लग० 1398 ई०) ?
8. पद्मानन्द सूरि (?)

इनके अतिरिक्त कुछ अज्ञात लेखकों की टीकाओं का भी वर्णन मिलता है जैसे **लघुवृत्ति** तथा **बालबोध** (प्राचीन राजस्थानी में)। इन सब में से केवल मलयगिरि की टीका के साथ जिनभद्र का **क्षेत्रसमास** भावनगर से संवत् 1977 (अर्थात् सन् 1920-21 ई०) में जैन धर्म प्रसारक सभा द्वारा प्रकाशित हुआ है।

इस लेख में हम जिनभद्रगणि के केवल उस एक गणितीय सूत्र का विवेचन करेंगे, जिसको उन्होंने अपने **बृहत्क्षेत्रसमास** (अ० 1, गाथा 122) में उद्धृत किया है। यह सूत्र उन्होंने एक वृत्त में दो समानान्तर जीवाओं (chords) के बीच के वृत्तीय खण्ड (अर्धवृत्त से कम) का क्षेत्रफल निकालने के लिए दिया है। उसका उपयोग जम्बूद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों (भारतवर्ष से ऐरावत वर्ष तक के क्षेत्रफलों (areas) को प्राप्त करने में किया जा सकता है।
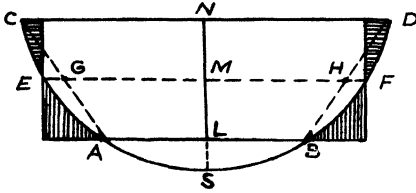
चित्र (*figure*) में मान लो कि
छोटी जीवा AB=a,
समानान्तर बड़ी जीवा CD=b,
तथा जीवाओं के बीच की दूरी LN=h.
जिनभद्र द्वारा कथित नियम के अनुसार हमे निम्न गणितीय सूत्र प्राप्त होता है—
वृत्तीयखण्ड ABFDCEA का क्षेत्रफल

$$K=\left[\sqrt{\frac{1}{2}(a^2+b^2)}\right]\times h\ldots\ldots(1)$$

सूत्र (1) अपने ढंग का अनूठा है जोकि अन्यत्र देखने में नहीं आया। विद्वानों को अभी तक उसकी उपपत्ति कठिन प्रतीत होती रही है। लेकिन हम यहाँ उसकी एक सरल उपपत्ति देंगे जो इस प्रकार है—

हम जानते हैं कि उपर्युक्त वृत्तीय खण्ड के अन्तर्निहित समलम्ब चतुर्भुज (trapezium) ABHDCGA का सही क्षेत्रफल होगा—

$$T=\frac{1}{2}(a+b)h\ldots\ldots(2)$$

यद्यपि जिनभद्र ने वृत्तीय खण्ड के सन्दर्भ में सूत्र (2) का भी उल्लेख किया है (बृहत्क्षेत्रसमास, अ० 1, गा० 64), किन्तु उसका उपयोग नहीं किया, क्योंकि वे जानते थे कि सूत्र (2) का उपयोग करने पर हमें वृत्तीयखण्ड के वास्तविक क्षेत्रफल से कही न्यून फल मिलेगा। अत वे एक ऐसे सूत्र की खोज मे थे जो सूत्र (2) मे अधिक फल दे। और सूत्र (1) ऐसा ही है क्योंकि—

$$\left(\frac{a+b}{2}\right)^2=\frac{1}{2}\left(a^2+b^2\right)-\left(\frac{a-b}{2}\right)^2$$

अर्थात्

$$(GH)^2=\frac{1}{2}(a^2+b^2)-\left(\frac{a-b}{2}\right)^2\ldots\ldots\ldots(3)$$

लेकिन प्रश्न यह उठा होगा कि क्या सूत्र (1) वास्तविक क्षेत्रफल से भी अधिक फल नहीं देता? इसका विवेचन इस प्रकार है।

किसी भी वृत्त में उसकी एक जीवा (chord, c) तथा उसके बाण (height of the segment, g) में यह प्राचीन सूत्र सर्वविदित था –

$$4g\ (2R-g)=C^2\cdots\cdots(4)$$

यहाँ R वृत्त की त्रिज्या (radius) का मान है। यह सूत्र (4) जिनभद्र को भी ज्ञात था (बृहत्क्षेत्रसमास, अ० 1, गाथा

36)। इसी सूत्र (4) का उपयोग करके उपर्युक्त दो जीवाओ (AB तथा CD) के ठीक बीचोंबीच की जीवा E F (जोकि मध्यान्तर LN के मध्यबिन्दु M से होकर जायगी) की लम्बाई सरलता से प्राप्त की जा सकती है। हम पायेंगे कि

$$(EF)^2 = \frac{1}{2}(a^2+b^2)+h^2 \ldots\ldots(5)$$

अब चित्र में ऐसा स्पष्ट पता चलता है कि वांछित क्षेत्रफल निकालने के लिए यदि हम यहाँ औसत लम्बाई (effective average length) की जगह जीवा GH लेते हैं तो फल वास्तविक फल से न्यून आयेगा, और यदि जीवा EF लेते हैं तो फल अधिक आयेगा। अत: GH और EF की लम्बाइयों के बीच का मान (intermediate value) लेना उचित होगा। सूत्र (3) और (5) को ध्यान से देखने पर एक ऐसा ही मान होगा—

$$\sqrt{\tfrac{1}{2}(a^2+b^2)}$$

जिसको चौड़ाई या ऊँचाई h से गुणा करने पर जिनभद्र का सूत्र (1) प्राप्त हो जाता है और साथ में उनकी गणितीय प्रतिभा का परिचय भी।

करणानुयोग के विषयो यथा लोक-अलोक के विभाग, युगो के परिवर्तन तथा चारो गतियों के विवेचन में जैनाचार्यों ने गणित का विशेषरूप से प्रयोग किया है। धर्मग्रन्थ धवला, तिलोयपण्णत्ति, राजवार्तिक एवं त्रिलोकसार इत्यादि में कितनी ऊंची श्रेणी का गणित प्रयुक्त हुआ है, इसका संक्षिप्त जानकारी श्रुतदेवता भगवन्त भूतबलि (ई० 66-156) द्वारा प्रणीत धवला में संख्या की अपेक्षा द्रव्य-प्रमाण-निर्देश के एक उदाहरण में ही सहज रूप से मिल जाती है --

(ध ५/प्र./२२)

१. एक	१	१६ निरब्बुद	$(१०,०००,०००)^{९}$
२ दस	१०	१७ अहह	$(१०,०००,०००)^{१०}$
३ शत	१००	१८ अबब	$(१०,०००,०००)^{११}$
४ सहस्र	१०००	१९ अटट	$(१०,०००,०००)^{१२}$
५ दस सहस्र	१०,००	२० सोगन्धिक	$(१०,०००,०००)^{१३}$
६ शत सहस्र	१००,०००	२१ उत्पल	$(१०,०००,०००)^{१४}$
७. दसशत सहस्र	१,०००,०००	२२ कुमुद	$(१०,०००,०००)^{१५}$
८ कोटि	१०,०००,०००	२३ पुण्डरीक	$(१०,०००,०००)^{१६}$
९. पकोटि	$(१०,०००,०००)^{२}$	२४ पदुम	$(१०,०००,०००)^{१७}$
१०. कोटिप्पकोटि	$(१०,०००,०००)^{३}$	२५ कथान	$(१०,०००,०००)^{१८}$
११ नहुत	$(१०,०००,०००)^{४}$	२६. महाकथान	$(१०,०००,०००)^{१९}$
१२. निन्नहुत	$(१०,०००,०००)^{५}$	२७ असंख्येय	$(१०,०००,०००)^{२०}$
१३. अखोभिनी	$(१०,०००,०००)^{६}$	२८ पणट्ठी	$=(२५६)^{२}=६५५३६$
१४ बिन्दु	$(१०,०००,०००)^{७}$	२९ बादाल	$=पणट्ठी^{२}$
१५. अब्बुद	$(१०,०००,०००)^{८}$	३०. एकट्ठी	$=बादाल^{२}$

(श्री जिनेन्द्र वर्णी-रचित जैनेन्द्र सिद्धान्त-कोष, भाग २, पृ० २१४ के आधार से

REFERENCES (संदर्भ-ग्रन्थ)

1. *Jinaratnakos'a* (जिनरत्नकोश) Vol. I, by H. D. Velankar B O R I, Poona, 1944
2. *New Catalogus Catalogorum*, Vols. 5 and 7 University of Madras, 1969, 1973,
3. *Census of the Exact Sciences in Sanskrit*, Series A, Vol. 3, by D. Pingree, Philadelphia, 1976.
4. "Hindu Geometry" by B. Datta and A. N. Singh (revised by K. S. Shukla), *Indian J. Hist. Science*. Vol. 15 (1980), pp. 161-162.

Contribution of Mahaviracharya in the development of theory of Series

Dr. R. S. LAL

In the present paper, an attempt has been made to summarize some of the salient features of the work of the great ancient Indian Mathematician Mahaviracharya (850 A.D.) on the development of theory of series as evinced from his renowned mathematical text Ganita Sarasangraha. No doubt his predecessors Aryabhata I (476 A.D.) and Brahmagupta (599 A.D) had their contributions to the subject, yet Mahaviracharya can be named as the first amongst them who put the subject elaborately using lucid methods and charming language.

The text GSS consists of nine chapters but it is only chapters II, III and VI which contain the sutras regarding series. In chapters II the A P and G P. are given in detail. For example, the following sutra gives the sum of the A P. whose first term, common difference and number of terms are known.[1]

रूपेणोनो गच्छो दलीकृत प्रचयताडितो मिश्र ।
प्रभवेण पदाभ्यस्त. सङ्कलित भवति सर्वेषाम् ॥

Algebraically if a=first term, d=common difference and n=number of terms and s=the sum of the series then

$$s = \frac{n}{2}\left[(n-1)\,d+2a\right]$$

The above formula has been given in three ways[2,3,4] In the following sutra the method is given to find out the number of terms of the series if the first term, common difference and the sum of the series be known.[5]

अष्टोत्तरगुणराशेर्द्विगुणाद्युत्तरविशेषकृतिसहितात् ।
मूल चययुतमथितमाद्यून चयहृत गच्छ ॥

Symbolically, if a=first term, d=common difference, S=sum of the series and n=number of terms then

$$n = \frac{\sqrt{(2a-d)^2+8d^2s}-2a+d}{2d^2}$$

Note :—For references See Ganita Sarasangraha by Sh L C. Jain

		Ch.	p	Sloka
1.	GSS	2	20	61
2.	GSS	2	20	62
3.	GSS	2	21	63
4.	GSS	2	21	64
5.	GSS	2	22	69

Apart from the above formula, methods are given [1], [2], [3], [4] to find the common difference and the first term if the remaining term are known. Quite a good number of examples [5], [6] are also given whose solution by the above formula can easily be done. Three rules giving stanzas for splitting up (into the component elements) such as sum of the series (in A. P) as is combined with the first term (आदि मिश्रधन or with the common difference (उत्तर मिश्रधन) or with the number of terms (गच्छमिश्रधन) or with all these (सर्वमिश्रधन) are given below :—

उत्तरधनेन रहित गच्छेनैकेन संयुतेन हृतम् ।
मिश्रधनं प्रभव स्यादिति गणकशिरोमणे विद्धि ।।

"O crest jewel of calculators, understand that misradhana diminished by the Uttardhana and (then) divided by the number of terms increased by one, gives rise to the first term."[7]

Symbolically, if S=sum, a=first term, d=C. D. and n=number of terms then

$$a=\frac{S'-\frac{n\,(n-1)}{2}d}{n+1} \qquad \text{where } S'=S+a$$

Now in the second stanza

आदिधनोन मिश्र रूपोनपदार्धगुणितगच्छेन ।
सैकेन हृतं प्रचयो गच्छविधानान्पद मुखे सैके ।।

"The misradhana diminished by the ādidhana, and then divided by the (quantity obtained by the) addition of *one* to the (product of the) number of terms multiplied by the half of the number of terms lessened by *one* (gives rise to the common difference). (In splitting of the number of terms from the misradhana) the (required) number of terms (is obtained) in accordance with the rule for obtaining the number of terms, provided that the *first term* is taken to be increased by *one* (so as to cause a corresponding increase in all the terms)".[8]

Algebraically if S″=S+d=Uttardhana and na=adidhana then

$$d=\frac{S''-na}{\frac{n(n-1)}{2}+1}$$

1.	GSS	2	23	73
2.	GSS	2	23	74
3.	GSS	2	23	75
4.	GSS	2	24	76
5.	GSS	2	23	71
6.	GSS	2	24	77
7.	GSS	2	24	80
8.	GSS	2	25	81

And in the third stanza

मिश्रादपनीतेष्टौ मुखगच्छौ प्रचयमिश्रविधिलब्धः ।
यो राशिः स चयः स्यात्करणमिदं सर्वसंयोगे ॥

"The misradhan is diminished by the first term and the number of terms, both (of these) being optionally chosen ; (then) that quantity, which is obtained (from this difference) by applying the rule for (splitting up) the Uttarmisradhana happens to be the common difference (required here). This is the method of work in (splitting up) the all combined (misradhana)".[1]

Symbolically, if $\overline{S}=S+n$

$$S=a+(a+d)+(a+2d)+\ldots\ldots \text{to n terms.}$$

then $$\overline{S}=(a+1)+(a+1+d)+(a+1+2d)+\ldots\ldots \text{to n terms}$$

$$=\frac{n}{2}\Big[2(a+1)+(n-1)\,d\Big]$$

which is a quadratic equation and hence n can be found. Now according to the above rule, a and n can be chosen in any way. This method is the same as the previous one.

Example[2] :

द्वित्रिकपंचदशाग्रा चत्वारिंशन्मुखादिमिश्रधनम् ।
तत्र प्रभवं प्रचयं गच्छं सर्वं च मे ब्रूहि ॥

Forty, exceeded by 2, 3, 5 and 10, represents (in order) the adimisradhana and the other (misradhanas). Tell me what (respectively) in these cases happens to be the first term, the common difference, the number of terms and all (these three)."

This means

(i) find a when $S'=42$, $d=3$, $n=5$.

(ii) find d when $S'=43$, $a=2$, $n=5$.

(iii) find n when $\overline{S}=45$, $a=2$, $d=3$, and

(iv) find a, d, n when $S=50$.

From the formulae given above the results can be obtained easily. In the following sutra the rule is given for finding, in relation to two (series), the number of terms wherein are optionally chosen their mutually interchanged first terms and common difference as also their sums which may be equal or (one of which may be) twice, thrice, half or one-third or any such (multiple or fraction of the other) :[3]

व्येकात्महृतो गच्छः स्वेष्टघ्नो द्विगुणितान्यपदहीन· ।
मुखमात्मोनान्यकृतिर्द्विकेष्टपदघातवर्जिता प्रचयः ॥

---

1. GSS 2 25 82
2. GSS 2 25 83
3. GSS 2 26 86

"The number of terms (in one series), multiplied by itself as lessened by *one* and then multiplied by the chosen ratio between the sums of the two series, and then diminished by twice the number of terms in the other series gives (rise to the interchangeable) first term of one (of the series). The square of the (number of terms in the) other (series) diminished (again) by the product of two (times the) chosen (ratio) and the number of terms (in the first series) gives (rise to the interchangeable common difference (of that series)."

Symbolically if S, S_1 be the sums, a, a_1 the first terms and d, d_1 the common differences of the two given series then $a_1 = \frac{S_1}{S} a$ and $d_1 = \frac{S_1}{S} d$. Now if $\frac{S_1}{S} = r$ and n, n_1 be the respective number of terms in the two series, then according to the above formula

$$a = n(n-1) \times r - 2n_1$$

and

$$d = (n_1)^2 - n_1 - 2rn$$

Example[1]:

पचाष्टगच्छपुसोर्व्यस्तप्रभवोत्तरे समानधनम् ।
द्वित्रिगुणादिघन वा ब्रूहि त्व गणक विगणय्य ॥

"In relation to two men (whose wealth is measured) respectively by the sums of two series in A.P. having 5 and 8 for the number of terms, the first term and the common difference and both these series be interchangeable (in relation to each other), the sums (of the series) being equal or the sum (of one of them) being twice, thrice, or any such (multiple of that of the other), 'O arithmetician, give out the (value of these) sums and the interchangeable first term and common difference after calculating (them all) well."

Solution : If $S = S_1$ then $r = 1$

so in the above case where $n = 5$ and $n_1 = 8$ we have

$$a = n(n-1) \times 1 - 2n_1$$
$$= 5(5-1) \times 1 - 2 \times 8 = 20 - 16 = 4$$

and

$$d = (n_1)^2 - n_1 - 2rn$$
$$= (8)^2 - 8 - 2 \times 1 \times 5 = 64 - 8 - 10 = 46$$

Then

$$S = \frac{5}{2}\left(2 \times 4 + (5-1) \times 46\right) = 5(4+92) = 480$$

and

$$S_1 = \frac{8}{2}\left(2 \times 46 + (8-1) \times 4\right) = 4(9+28) = 480$$

which proves that

$$r = \frac{S_1}{S} = 1$$

1. GSS 2 27 87

Partial Sums

The sum of any part of a series is known as the partial sum of the series In the following verse, the method is given for finding the partial sum of a given series :[1]

सपदेष्ट स्वेष्टमपि व्येकं दलितं चयाहतं समुखम् ।
शेषेष्टगच्छगुणितं व्युत्कलितं स्वेष्टवित्तं च ॥

"(Take) the chosen off number of terms as combined with the total number of terms (in the series) and (take) also your own chosen off number of terms (simply) diminish (each of) these (resulting products) and these (resulting quantities) when multiplied by the remaining number of terms (respectively), give rise to the sum of the remainder series and to the sum of the chosen off part of the series (in order)"

Symbolically, Vyutkalita$=S_v$

$$=\left[\frac{n+p-1}{2}d+a\right](n-p)$$

and the sum of the chosen part$=S_p$

$$=\left[\frac{p-1}{2}d+a\right]p.$$

where p is the number of terms of the chosen part of the series. Another form of the same formula is given in a different verse.[2]

In the following sutra is given the rule for finding the sum of a series in arithmetic progression in which the common difference is either positive or negative .[3]

व्येकार्धपदोनाधिकचयघातोनान्वित: पुन. प्रभव: ।
गच्छाभ्यस्तो हीनाधिकचयसमुदायसंकलितम् ॥

"The first term is either decreased or increased by the product of the negative or the positive common difference and the quantity obtained by halving the number of terms in the series as diminished by one. (Then), this is (further) multiplied by the number of terms of the series and (thus), the sum of series of terms in arithmetical progression with positive or negative common difference is obtained."

Symbolically, $S=\left(\pm\frac{n-1}{2}d+a\right)n$

where a, d, n and S have their usual meanings.

Example[4] :

चतुरुत्तरदश चादिर्हीनचयस्त्रीणि पञ्च गच्छ. किम् ।
द्वावादिवृं द्विचय: षट् पदमष्टौ धन भवेदत्र ॥

---

1. GSS 2 32 106
2. GSS 2 33 107
3. GSS 6 165 290
4. GSS 6 165 291

The first term is 14, the negative common difference is 3 and the number of terms is 5 ; the first t erm is 2 ; the positive common difference is 6 and the number of terms is 8. What is the sum of the series in (each of) these cases ?

Solution : (i) $a=14, d=-3, n=5.$

$$\therefore S_1=5\left[\frac{5-1}{2}\times(-3)+14\right]=5(-6+14)=5\times 8=40$$

(ii) $a=2, d=6, n=8$

$$\therefore S_2=8\left[\frac{8-1}{2}\times(6)+2\right]=8(21+2)=8\times 23=184$$

In the following sutra the rule is given for finding the time of arrival of two persons at a common terminus when one, who is moving (with successive velocities representable) in arithmetical progression and another moving with steady unchanging velocity, may meet together again (after starting at the same instant of time) :[1]

ध्रुवगतिरादिविहीनश्चयदलभक्त: सरूपक. काल ।
द्विगुणो मार्गस्तद्गतियोगहृतो योगकाल. स्यात् ॥

''The unchanging velocity is diminished b y the first term (of the velocities in series in A. P.) and is (then) divided by the half of the common difference On adding *one* (to the resulting quantity), the required time (of meeting) is arrived at. (Where two persons travel in opposite directions, each with a definite velocity) twice (the average distance to be covered by either of them) is the (whole) way (to be travelled).

This when divided by the sum of their velocities gives rise to the time of (their) meeting."

Symbolically, if V = the unchanging velocity

a = first term of changing vel.

d = common difference

t = time taken.

then $t = (V-a) \div \frac{d}{2} + 1.$

Example[2] :

कश्चिन्नर: प्रयाति त्रिभिरादा उत्तरैस्तथाष्टाभि. ।
नियतगतिरेकविंशतिरनयो: क प्राप्तकाल स्यात् ॥

"A certain person goes with velocity 3 in the beginning increased (regularly) by 8 as the (successive) C. D. The steady unchanging velocity (of another person) is 21. What may be the time of their meeting (again if they start from the same place, at the same time, and move in the same direction)?"

---

1. GSS 6 173 319
2. GSS 6 174 320

Solution : $V = 21, \quad a = 3, \quad d = 8$

then $\quad t = (V - a) \div \frac{d}{2} + 1$

$$= (21 - 3) \div \frac{8}{2} + 1$$

$$= 18 \div 4 + 1 = \frac{11}{2}.$$

In the following stanza the rule is given for arriving at the time and distance of meeting together (when two persons start from the same place, at the same time and travel) with (varying) velocities in A. P.[1]

उभयोराद्यो शेषश्चयशेषहृतोद्विसङ्गुण: सैक: ।
युगपत्प्रयाणयो स्यान्मार्गे तु समागम: काल. ॥

"The difference between the first two terms divided by the difference between the two common differences when multiplied by *two* and increased by *one*, gives rise to the time of coming together on the way by the two persons travelling, simultaneously (with two series of velocities varying in A. P.)"

Symbolically, if a, a_1 be the velocities in beginning and d, d_1 be their respective common differences then the time of meeting is given by

$$t = \frac{a_1 \sim a_2}{d_1 - d_2} \times 2 + 1$$

The same formula has been given in another stanza[2] too.

Example[3] :

पंचाद्यष्टोत्तरत प्रथमो नाथ द्वितीयनर: ।
आदि पञ्चघ्ननव प्रचयो हीनोऽष्ट योगकाल. क· ॥

"The first man travels with velocity beginning with 5, and increased (successively) by 8 as the common difference. In the case of the second person, the starting velocity is 45, and the common difference is *minus* 8. What is the time of meeting ?"

Solution : $t = \frac{5 \sim 45}{8 - (-8)} \times 2 + 1 = 5 + 1 = 6.$

In the following sutra the rule is given for arriving at the number of bricks to be found in structures made up of layers (of bricks one over the other).[4]

तरवर्गो रूपोनस्त्रिभिर्विभक्तस्तरेण संगुणित: ।
तरसंकलिते स्वेष्टप्रताडिते मिश्रत सारम् ॥

1. GSS 6 174 322½
2. GSS 6 175 324½
3. GSS 6 175 325½
4. GSS 6 176 330½

"The square of the number of layers is diminished by *one*, divided by *three*, and (then) multiplied by the number of layers. On adding (to quantity so obtained) the product, obtained by multiplying the arbitrarily chosen number (representing) the bricks in (the topmost layer) by the sum of the (natural numbers beginning with one and going upto the given) number of layers, the required answer is obtained".

Symbolically, if n be the number of layers, and a number arbitrarily chosen representing the bricks in the topmost layer, then

$$\text{Total number of bricks} = \frac{n^2-1}{3} \times n + a \times \frac{n(n+1)}{2}$$

Example[1] :

पञ्चतरंकेनाग्र व्यवघटिता गणितविन्मिश्रे ।
समचतुरश्रश्रेढी कतीष्टकाः स्युर्ममाचक्ष्व ॥

"There is constructed an equilateral quadrilateral structure consisting of 5 layers. The topmost layer is made up of one brick. O' you, who know the calculation tell me how many bricks there are (in all)".

Solution : $n = 5, \ a = 1.$

So total number of bricks $= \frac{5^2-1}{3} \times 5 + 1 \times \frac{5(5+1)}{2}$

$= \frac{25-1}{3} \times 5 + \frac{5 \times 6}{2}$

$= 40 + 15$

$= 55$ bricks.

Now we shall consider the work of Mahavira on Geometrical progressions In the following sutra is given the rule for finding gunadhana (गुणधन) and the sum of a G. P. if the first term, common ratio and the number of terms of the series are known :[2]

पदमितगुणहतिगुणितप्रभव स्याद्गुणधनं तदाद्यूनम् ।
एकोनगुणविभक्तं गुणसङ्कलित विजानीयात् ॥

The product of the first term with the common ratio multiplied to itself as many times as the number of terms gives the gunadhana. It be known that the gunadhana lessened by the first term and divided by one less than the number of terms gives the gunasankalita.

Symbolically, if n = the number of terms

a = first term

and r = common ratio then

gunadhana $= ar^n = (n+1)^{th}$ term

and gunasankalita (sum of the series) $= S = \frac{ar^n - a}{r-1}$

---

1. GSS 6 177 331½
2. GSS 2 28 93

In the following sutra another rule is given to find out the sum of a series in G. P.[1]

समदलविषमखरूपो गुणगुणितो वर्गताडितो गच्छः ।
रूपोनः प्रभवघ्नो व्येकोत्तरभाजितः सारम् ॥

"The number of terms in the series is caused to be marked (in a separate column) by *zero* and by *one* (respectively) corresponding to the even (value) which is halved and to the uneven (value from which *one* is substracted till by continuing these processes *zero* is ultimately reached), then this (representative series made up of zero and one is used in order from the last *one* there in, so that this *one* multiplied by the common ratio is again) multiplied by the common ratio (wherever *one* happens to be the denoting item) and multiplied so as to obtain the square (wherever *zero* happens to be the denoting item). When (the result of) this (operation) is diminished by *one* and (is then) multiplied by the first term, and (is then) divided by the common ratio lessened by *one* it becomes the sum (of the series)."

Example[2] :

स्वर्णद्वयं गृहीत्वा त्रिगुणधन प्रतिपुरं समार्जयति ।
य. पुरुषोऽष्टनगर्यां तस्य कियद्वित्तमाचक्ष्व ॥

"Having obtained 2 gold coins (in some city), a man goes on from city to city, earning (everywhere) three times (of what he earned immediately before). Say how much he will make in the eighth city."

Solution : Here $n = 7$, $r = 3$, $a = 2$

$7 =$ an odd number, hence *one* is subtracted from it and also it is denoted by *one*.

$7 - 1 = 6 =$ an even number, hence it is divided by 2 and 0 denotes it

$\frac{6}{2} = 3 =$ an odd number, it is diminished by *one* and 1 denotes it

$3 - 1 = 2 =$ an even number, it is divided by 2 and 0 denotes it

$\frac{2}{2} = 1 =$ an odd number, it is diminished by *one* and 1 denotes it

$1 - 1 = 0 =$, where the operation ends.

Now the whole is put in the side column Since in the column, 1 is in the last hence it is multiplied by the common ratio 3, then comes zero so 3 is squared and we get 3^2, then comes 1 above it so it is multiplied by 3 i.e. we get 3^3, then comes zero above it so it is squared and we get 3^6, then in the end there is *one* above it so it is multiplied by 3 and get 3^7. So the guradhana $= ar^n = 2 \times 3^7 = 2 \times 2187 = 4374$ coins, will be the amount obtained by the man in eighth city.

1
0
1
0
1

The rules for finding out the last term and the sum of series in G. P. have also been given in stanza[3] There are other sutras in which rules have been given to find out the first term, common ratio and the number of terms of the series in G. P. [4], [5], [6], [7].

1.	GSS	2	29	94
2.	GSS	2	30	96
3.	GSS	2	30	95
4.	GSS	2	30	97
5.	GSS	2	30	98
6.	GSS	2	30	101
7.	GSS	2	32	103

In the following sutras the rules have been given to find out the sum of a series in geometrical progression, wherein the terms are either increased or decreased (in a specified manner by a given known quantity).[1]

गुणचितिरन्याविहृता विपदाधिकहीनसंगुणा भक्ता ।
व्येकगुणेनान्या फलरहिता हीनेऽधिके तु फलयुक्ता ॥

Algebraically, if S = sum of the series, a = first term

n = number of terms, r = common ratio and

m = the quantity to be added or subtracted from each term of the series in G. P., and

S' = the sum of the series in G. P., then

S = sum of the resulting series

$$= \pm \frac{\left(\frac{S'}{a} - n\right) m}{r-1} + S'$$

Proof : *Theorem* : Let

$$S = a + (ar \pm m) + [(ar \pm m) r \pm m] + \ldots \text{ to } n \text{ terms}$$

and $S' = a + ar + ar^2 + ar^3 + \ldots$ to n terms

Now

$$S = [a + ar + ar^2 + ar^3 + \ldots \text{ to } n \text{ terms}]$$
$$+ m[(r + r^2 + \ldots \text{ to } \overline{n-1} \text{ terms})]$$
$$+ m[(r + r^2 + r^3 + \ldots \text{ to } \overline{n-2} \text{ terms})] + \ldots + m$$

$$= a\frac{r^n - 1}{r-1} + m\frac{r^{n-1} - 1}{r-1} + m\frac{r^{n-2} - 1}{r-1} + \ldots + m\frac{r-1}{r-1}$$

$$= S' + \frac{m}{r-1}[(r^{n-1} - 1) + (r^{n-2} - 1) + (r^{n-3} - 1) + \ldots + (r-1)]$$

$$= S' + \frac{m}{r-1}[(r + r^2 + r^3 + \ldots + r^{n-1}) - 1 \times (n-1)]$$

$$= S' + \frac{m}{r-1}\left[r . \frac{r^{n-1} - 1}{r-1} - (n-1)\right]$$

$$= S' + \frac{m}{r-1}\left[\frac{r^n - 1}{r-1} - 1 - n + 1\right]$$

$$= S' + \frac{m}{r-1}\left[\frac{S'}{a} - n\right]$$

1. GSS 6 172 314

which can be generalised as $S = \pm \dfrac{\left(\frac{S'}{a} - n\right) m}{r-1} + S'$

Now we shall discuss the contribution of Mahavira in the development of the series which can be put in another category called miscellaneous series. This work no doubt, is quite voluminous and it can be said without any hesitation that no other Hindu mathematician contributed so much.

In the following stanza a rule is given for finding the sum of the squares of natural numbers.[1] He has not given any formula for the sum of natural numbers like others.

सैकेष्टकृतिद्विघ्ना सैकेष्टोनेष्टदलगुणिता ।
कृतिघनचितिसंघातस्त्रिकभक्तो वर्गसंकलितम् ॥

Algebraically, if n = number of terms and

$$\sum n = \frac{n(n+1)}{2} = \text{sum of first } n \text{ natural nos.}$$

Σn^2 = sum of the squares of n natural nos.

then

$$\frac{1}{3}\left[\ 2(n+1)^2 - (n+1)\ \right]\frac{n}{2} = \left[\ n^2 + n^3 + \frac{n(n+1)}{2}\ \right]\frac{1}{3} = \sum n^2$$

$$= \frac{n \times (n+1) \times (2n+1)}{6}.$$

In the following sutra a rule is given for finding the sum of the squares of numbers which are in A. P. This is most general form of the rule which can be applied broadly.[2]

द्विगुणैकोनपदोत्तरकृतिहतिषष्ठांशमुखचयहतयुति ।
व्येकपदघ्ना मुखकृतिसहिता पदताडितेष्टकृतिचितिका ॥

Algebraically, if a = first term, d = common diff.

n = number of terms

and s = sum of the squares of the terms which are in A P. then

$$S = \sum\left[a + (n-1)d\right]^2 = n\left[\left\{\frac{(2n-1)d^2}{6} + ad\right\}(n-1 + a^2\ \right]$$

which can easily be substantiated by taking LHS

$i.e.\ \Sigma[a + (n-1)d]^2 = \Sigma[(a-d)^2 + 2nd(a-d) + n^2 d^2]$

$$= n(a-d)^2 + 2d(a-d)\Sigma n + d^2 \Sigma n^2$$

we know that $\sum n = \frac{n(n+1)}{2}$ and $\sum n^2 = \frac{n(n+1)(2n+1)}{6}$

Hence by substituting these values we get the result

1.	GSS	6	167	296
2.	GSS	6	167	298

$$S = n\left[\left\{\frac{(2n-1)\,d^2}{6} + ad\right\}\ (n-1) + a^2\right]$$

which is in its most general form. Another method of the same formula is given in[1] of the text.

Now comes the rule for finding the sum of the cubes of first n natural numbers which has been given to be equal to square of the sum of first n natural numbers.[2]

गच्छार्धवर्गराशीरूपाधिकगच्छवर्गसङ्गुणितः ।
घनसङ्कलितं प्रोक्तं गणितेऽस्मिन् गणिततत्त्वज्ञैः ॥

"The square of half of the number of terms is multiplied by the square of (the number of term increased by one) which gives rise to the sum of cubes of first n natural numbers as stated by mathematicians."

Algebraically, $\sum n^3 = \left\{\frac{n\,(n+1)}{2}\right\}^2$

In the following stanza he has given a rule for finding out the sum of the cubes of the terms which are in A. P. This formula is in its most general form.[3]

चित्यादिहतिर्मुखचयशेषघ्ना प्रचयनिघ्नचितिवर्गे ।
आद्यौ प्रचयादूने वियुता युक्ताधिके तु घनचितिका ॥

Algebraically, if S = sum of terms in A. P.

a = first term, d = common difference

n = number of terms

S_n = sum of the given series then

$$S_n = \Sigma[a + (n-1)\,d]^3 = S^2d \pm Sa\,(a-d)$$

where $S = \frac{n}{2}\left[\ 2a + (n-1)\ d\right]$

or specifically (*i*) when $a > d$, $S_n = +\,Sa\,(a-d) + S^2d$

(*ii*) when $a < d$, $S_n = -\,Sa\,(a-d) + S^2d$

In the following stanza a rule has been given for finding out the sum of such a series whose each term is the sum of an A. P. of natural nos. having the number of terms equal to the term itself.[4]

द्विगुणैकोनपदोत्तरकृतिहतिरङ्गाहृता चयार्धयुता ।
आदिचयाहतियुक्ता व्येकपदघ्नाद्विगुणितेन ॥
सैकप्रभवेन युता षट्दलगुणितैव चितिचितिका ॥

---

1. GSS 6 168 299
2. GSS 6 168 301
3. GS3 6 169 303
4. GSS 6 169 305-305½

Symbolically we can write, it $S_a = \frac{a(a+1)}{2}$, $S_{a+d} = \frac{(a+d)(a+d+1)}{2}$ etc,

$$S = S_a + S_{a+d} + S_{a+2d} + \ldots + S_{a+(n-1)d}$$

$$= \left[\left\{\frac{(2n-1)\, d^2}{6} + \frac{d}{2} + ad\right\} \times (n-1) + a(a+1)\right] \times \frac{n}{2}$$

In the following stanza[1] a rule has been given for finding of the sum of the series which can be written symbolically in the form

$1+(1+2)+(1+2+3)+\ldots+(1+2+3+\ldots+n)$, n^2, n^3 and Σn.

i.e. $S = \Sigma n + \Sigma \frac{n(n+1)}{2} + n^2 + n^3$.

सैकपदार्धपदाहृतिरश्वैर्निहृता पदोनिता त्र्याप्ता ।
सैकपदघ्ना चितिचितिचितिकृतिघनसंयुतिर्भवति ॥

Algebraically,

$$S = \frac{\frac{n(n+1) \times 7}{2} - n}{3} \times (n+1)$$

which can be proved easily by substituting values

$$\Sigma\, n = \frac{n(n+1)}{2}, \quad \frac{1}{2}\Sigma(n^2+n) = \frac{1}{2}\Sigma n^2 + \frac{1}{2}\Sigma n$$

$$= \frac{n(n+1)(2n+1)}{12} + \frac{n(n+1)}{4}.$$

Lastly, in the following stanza a rule has been given for finding out a single formula for the sum of the four above mentioned series[2]

गच्छस्त्रिरूपसहितो गच्छचतुर्भागताडित सेक ।
सपदपदकृतिविनिघ्नो भवति हि सघातसकलितम् ॥

Symbolically, the above formula takes the form

$$\Sigma n^2 + \Sigma n^3 + \Sigma S_n + \Sigma n = \left[(n+3) \times \frac{n}{4} + 1\right](n^2+n)$$

---

1. GSS 6 170 307½
2. GSS 6 171 309½

where $\quad S_n = S_1 + S_2 + S_3 + S_4 + \ldots + S_n$

and $\quad S_n = \dfrac{n(n+1)}{2} = \Sigma n$

i.e. $\quad \Sigma S_n = \Sigma\Sigma n = \left[\left\{ \dfrac{(2n-1)}{6} + \dfrac{1}{2} + 1 \right\}(n-1)+1\,(1+1)\right] \dfrac{n}{2}$

Since $a = d = 1$ in the formula $\dfrac{n}{2}\left[\left\{\dfrac{(2n-1)\,d^2}{6} + \dfrac{d}{2} + ad\right\}(n-1)+a(a+1)\right]$

Example[1] **:**

सप्तकृते. षट्षष्ट्यास्त्रयोदशानां चतुर्दशानां च ।
पंचाग्रविंशतीनां किं स्यात् सघातसंकलितम् ॥

"What would be the (required) collective sum in relation to the (various) series represented by (each of) 49, 66, 13, 14 and 25 ?"

Solution :

The above given values are the number of terms in the five series. Hence for the first series in which $n = 49$.

Required sum $= \left(\dfrac{(n+3)\,n}{4} + 1\right)(n^2 + n)$

$= \left(\dfrac{(49 + 3) \times 49}{4} + 1\right)(49^2 + 49)$

$= \left(\dfrac{52 \times 49}{4} + 1\right) \times 49\,(49 + 1)$

$= [\,13 \times 49 + 1\,] \times 49 \times 50$

$= [\,637 + 1\,] \times 2450$

$= 638 \times 2450$

$= 1563100.$

1. GSS 6 171 310½

महावीराचार्य कृत 'गणितसार-संग्रह'*

—डॉ० अलेक्जेंडर वोलोदार्स्की

मध्यकालीन भारतीय गणित के विकास मे महावीराचार्य कृत 'गणितसारसग्रह' का विशिष्ट स्थान है जिसकी ओर विज्ञान के इतिहास विषयक ग्रथो मे पर्याप्त ध्यान नही दिया गया है। (उदाहरण के लिये दे० सन्दर्भ साहित्य स० [1])। इस लेख मे महावीराचार्य की विषय-वस्तु का विश्लेषण तथा मूल्याकन प्रस्तुत किया गया है।

महावीराचार्य के जीवन की बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। स्वयम् उन्होंने अपने जन्मकाल, जन्म-स्थान और माता-पिता तथा गुरुओं के विषय मे कुछ नही लिखा है। 'गणितसारसग्रह' के पहले अध्याय मे लेखक ने किसी भारतीय शासक को सबोधन किया है जिसने सन् 814-815 से लेकर सन् 877-878 तक शासन किया था। चूकि महावीर ने भविष्य मे भी उक्त शासक की सफलता की कामना प्रकट की है इसलिये ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि इस ग्रथ की रचना नवी शताब्दी के मध्य मे हुई होगी (दे० सन्दर्भ साहित्य स० [1], [2], [3], [6] [7], [8], [9])।

यह कहना कठिन है कि महावीर भारत के किस भाग मे रहते थे। अधिसख्य विद्वान् उन्हे दक्षिण भारत का निवासी मानते हैं। इसका कारण यह है कि 'गणितसारसग्रह' की सस्कृत के अतिरिक्त तीन अन्य पाण्डुलिपियो मे प्रश्नो की व्याख्या तथा उनके उत्तर कन्नड मे दिए गए हैं जिसका दक्षिण भारत मे मध्य युग मे बहुत प्रचार था। इस धारणा के पक्ष मे एक तर्क यह भी है कि महावीर जैन धर्म के अनुयायी थे जो मुख्यत दक्षिण भारत मे अधिक प्रचलित है।

'गणितसारसग्रह' मे अकगणित तथा रेखागणित पूरी तरह से दिए गए है, साथ ही बीजगणित तथा सख्या सिद्धात के भी बहुत-से प्रश्नो पर प्रकाश डाला गया है।

'गणितसारसग्रह' की विशेषता यह है कि यह पूर्णतया गणित का ग्रथ है जबकि महावीर से पहले के आचार्यों ने गणित को ज्योतिष की रचनाओ मे मिला दिया है। महावीर से पहले की रचनाओ मे प्रमुख नियम तो मिलते है परन्तु उदाहरण और प्रश्न नगण्य है।

महावीराचार्य ने नियम, उदाहरण और प्रश्न सब दिए है परन्तु प्रमाण इसमे भी नही है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ अनेक मध्ययुगीन भारतीय, अरबी और पाश्चात्य ग्रन्थो मे भिन्न नही है जिनमे विषय का सताध निरूपण किया जाता था।

गणित के अधिकाश भारतीय ग्रन्थो मे तीन भाग होते हैं—मुख्य भाग जिसमे नियम और प्रश्नो की शर्ते दी रहती है; विशेष भाग जिसमे प्रश्नो की शर्तो तथा उदाहरणो को इस तरह दिया जाता है कि परिकलन मे आसानी हो; और अत मे परवर्ती आचार्यों की टीका दी जाती है। प्रत्येक भाग की अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं। ग्रन्थ का मुख्य भाग पद्य मे होता है जिसमे लय नही होती परन्तु छद का ध्यान रखा जाता है। गणित के चिह्न, रेखाचित्र और सूत्र नही दिए जाते हैं, सख्याओ का भी शब्दो के द्वारा व्यक्त किया जाता है। दूसरे भाग मे प्रश्नो के प्रतिबधो (शर्तों) और उदाहरणो को सारणियों या पट्टिकाओ के रूप मे दिया जाता है। इस भाग मे चिह्नो का व्यापक प्रयोग होता है, रेखागणित के प्रश्नो मे रेखाचित्र भी दिए रहते है। अंतिम भाग मे टीका के साथ प्रश्नो के विस्तृत हल तथा उदाहरण दिए जाते हैं और साथ मे अन्य ग्रन्थो के सदर्भ और उद्धरण भी।

महावीराचार्य के ग्रन्थ मे नौ अध्याय तथा 1131 श्लोक है। इनमे से 452 श्लोक नियमो के है तथा 679 श्लोको में उदाहरण तथा प्रश्न दिए गए है।

---

*इस संक्षिप्त अनुवाद में अकगणीत के भाग को छोड़ दिया गया है।

'गणितसारसंग्रह' मध्ययुगीन भारतीय गणित के ग्रन्थो मे सबसे बड़ा है। इसका एक कारण यह है कि इसमें उदाहरणो का अंश मुख्य ग्रन्थ का 3/5वां भाग है। दूसरा कारण यह है कि महावीर ने नियम अधिक विस्तार से दिए हैं। सामान्य नियमो के अतिरिक्त महावीर ने विशिष्ट परिस्थितियो के लिये अलग-अलग नियम भी दिए हैं जो अन्य ग्रन्थो मे नही मिलते।

संख्याओ के लिये प्रयुक्त शब्द-चिह्न इस प्रकार हैं—

0—आकाश

1—चन्द्र

2—नेत्र, हस्त

3—अग्नि, शिव के नेत्र

4—सागर

5—ज्ञानेन्द्रियाँ, बाण

6—ऋतु

7—शिखर, अश्व

8—सेना, हस्ति, दिशाएँ, शरीर

9—सख्याएँ, ग्रह, पदार्थ

यह शब्द-प्रणाली केवल सख्याओं को व्यक्त करने के लिये थी। इसके द्वारा पूरा प्रश्न हल करना असभव है। इस प्रणाली को समझने के लिये प्राचीन भारतीय साहित्य, धर्म और मिथको को अच्छी तरह जानना आवश्यक था।

भारत मे गणित को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त था। अपने इस ग्रन्थ के आरम्भ मे सज्ञाधिकार प्रकरण मे गणितशास्त्र की प्रशसा मे महावीराचार्य ने इस प्रकार लिखा है—

लौकिके वैदिके वापि तथा सामायिकेऽपि य।
व्यापारस्तत्र सर्वत्र सख्यानमुपयुज्यते ॥

कामतन्त्रेऽर्थशास्त्रे च गान्धर्वे नाटकेऽपि वा।
सूपशास्त्रे तथा वैद्ये वास्तुविद्यादिवस्तुषु ॥

छन्दोऽलकारकाव्येषु तर्कव्याकरणादिषु।
कलागुणेषु सर्वेषु प्रस्तुत गणितं परम् ॥

सूर्यादिग्रहचारेषु ग्रहणे ग्रहसयुतौ।
त्रिप्रश्ने चन्द्रवृत्तौ च सर्वत्रागीकृत हि तत् ॥

द्वीपसागरशैलाना सख्याव्यासपरिक्षिप।
भवनव्यन्तरज्योतिर्लोककल्पाधिवासिनाम् ॥

नारकाणा च सर्वेषा श्रेणीबन्धेन्द्रकोत्करा।
प्रकीर्णकप्रमाणाद्या बुध्यन्ते गणितेन ते ॥

बीज गणित

संस्कृत मे बीज गणित के लिए कई नाम है। उनमे से एक है अव्यक्त गणित अर्थात् अज्ञात राशि की गणना की कला। अक गणित मे, जिसे व्यक्त गणित भी कहते हैं, ज्ञात राशि की गणना की जाती है।

ऋण सख्याओ के क्रिया नियम जो ब्रह्मगुप्त की रचनाओ मे भी मिलते हैं, महावीर ने इस प्रकार दिये हैं :—"यदि ऋण राशि को ऋण राशि से या धन राशि को धन राशि मे गुणा किया जाए या उन्हें विभाजित किया जाये तो उनका फल धन राशि ही होगा।

यदि दो मे से एक राशि धन हो और दूसरी ऋण तो फल ऋण आएगा। यदि धन राशि और ऋण राशि का योग किया जाए तो फल उनके अंतर के बराबर होता है। [9,I,50]*

"दो ऋण या दो धन राशियों का योगफल क्रमश: ऋण या धन होगा। धन राशि, जिसे किसी राशि से घटाना हो ऋण बन जाती है जबकि किसी राशि से घटाई जाने वाली ऋण राशि धन हो जाती है।" [9,I,51]

धन और ऋण राशियो का वर्ग धन होता है। इन वर्गों के वर्गमूल क्रमश धन और ऋण होते हैं। चूकि ऋण राशि का वर्ग नहीं होता इसलिए इसके वर्गमूल भी नही बनाए जा सकते । [9,I, 52]

इसी तरह के कई नियम महावीर के बाद के भारतीय गणितज्ञों ने भी दिये हैं।

विज्ञान के इतिहास मे ऋण संख्याओं का सर्वप्रथम उल्लेख चीनी ग्रन्थ "गणित के नौ अध्याय" के आठवें खण्ड मे मिलता है। इस ग्रन्थ में ऋण संख्याओ के जोडने और घटाने के नियम भी दिए गए हैं। इसमें ऋण संख्याओ के लिए 'फू' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है—ऋण, उधार, कमी। इस दृष्टि से दोनो भाषाओ के शब्द समान ही हैं। भारत मे ऋण संख्याओं की शुरुआत ईसा की आरंभिक शताब्दियो में हुई। परतु, यह स्पष्ट रूप से नही कहा जा सकता है कि ऋण संख्याएँ भारतीय गणितज्ञो की ही देन हैं या उन्होने इन्हे चीन से ग्रहण किया।

रैखिक समीकरण

प्रतिशत, गति, मूल्य की अदायगी आदि के प्रश्नो का हल करते समय या उनके नियम बनाते समय अक्सर रैखिक समीकरण का उपयोग किया जाता है। अनेक प्रकार के प्रश्नो और समस्याओ का हल अज्ञात राशि वाले रैखिक समीकरणो की मदद से निकल सकता है। उदाहरण के लिए —"यदि किसी राशि के $\frac{1}{8}$, $\frac{1}{4}\cdot\frac{1}{3}$, $\frac{1}{5}\cdot\frac{1}{2}$, $\frac{1}{5}\cdot\frac{1}{3}\cdot\frac{1}{6}$ अशो का योगफल $\frac{1}{2}$ है तो वह राशि क्या है ?" [9,III,108]

इस प्रश्न को कल्पित नियम के सिद्धात से हल किया जाता है। "अज्ञात राशि को 1 मानकर इन अंशों का योगफल निकालना चाहिए। अब यदि भागफल को इस ज्ञात योगफल से विभाजित किया जाए तो वह अज्ञात राशि मालूम की जा सकती है। [9,III,107]

एक कल्पित नियम का सिद्धात उन प्रश्नो के लिए उपयुक्त है जो $ax=b$ तरह के समीकरणों में बदले जा सकते हैं; विशेषकर जबकि कुछ भिन्नो का योगफल 'a' हो। इस स्थिति में x_1 के रूप मे वह सख्या चुनी जा सकती है जो कि हर का गुणज हो। यदि समीकरण $ax_1=b_1$ हो, तो हल इस प्रकार होगा

$$x=x_1\frac{b}{b_1}$$

उपरोक्त नियम परवर्ती अरब और यूरोपीय गणित साहित्य मे भी मिलते हैं। सातवी-आठवीं शताब्दी मे बक्षाली हस्तलिपि ग्रंथ मे ऐसी समस्याओ के हल दिये गए हैं जिनका समीकरण $ax+b=p$ होता है। यदि समीकरण $ax_1+b=p_1$ हो, तो उसका हल

$x=x_1+\frac{p-p_1}{a}$ होगा। [5, पृष्ठ 371]

आर्यभट्ट प्रथम (10, II, 30), ब्रह्मगुप्त (11, XVIII, 43) श्रीपति, भास्कर द्वितीय और नारायण (6, अध्याय 2, पृष्ठ 40-41) ने निम्नलिखित रैखिक समीकरणो को हल करने के नियम दिये है :—

$ax+c=bx+d$

ब्रह्मगुप्त का नियम इस प्रकार है :—"एक अज्ञात राशि वाले रैखिक समीकरण मे विपरीत क्रम से लिए गए ज्ञात पदों के अतर को यदि अज्ञात पदों के गुणको के अंतर से विभाजित किया जाए तो अज्ञात राशि मालूम की जा सकती है।" [6, अध्याय 2; पृष्ठ 40]

$x\left(\frac{a}{b}+\frac{c}{d}+\ldots+\frac{e}{f}\right)+m=x$, इस तरह के समीकरण से संबंधित एक प्रश्न इस प्रकार है —

१. श्री एम० रंगाचार्य की पुस्तक के सदर्भ अंग्रेजी अनुवाद के अंक के हैं। अनुवादक —अनु०

"यदि एक स्तंभ का $\frac{1}{8}$ भाग जमीन के अंदर है, $\frac{1}{3}$ पानी में, $\frac{1}{4}$ काई में और स्तभ और 7 हाथ दिखाई दे रहा है तो स्तंभ की लम्बाई क्या होगी ? [9, IV, 5]

इस प्रश्न का हल महावीराचार्य ने इस प्रकार दिया है —

$$x = \frac{m}{1-\left(\frac{a}{b}+\frac{c}{d}+\quad+\frac{e}{f}\right)}$$ [9, IV, 4]

"एक राजा ने कुल आमो का $\frac{1}{6}$ भाग लिया, रानी ने शेष का $\frac{1}{5}$, तीन राजकुमारो ने प्रत्येक के शेष भाग का क्रमश $\frac{1}{4}$, $\frac{1}{3}$, $\frac{1}{2}$ और नन्हे राजकुमार ने बचे हुए 3 आम लिए। जिसे मिश्रित भिन्न के प्रश्न हल करना आता हो वह आमो की कुल सख्या बताए ? [9, IV, 29-30]

इस प्रश्न को निम्नांकित रैखिक समीकरण द्वारा हल किया जा सकता है

$x-a_1x-a_2(x-a_1x)-a_3[x-a_1x-a_2(x-a_1x)]-\ldots=b,$

इसी प्रश्न को हल करने के लिए महावीराचार्य ने निम्नलिखित नियम दिया है —

$$x=\frac{b}{(1-a_1)\ (1-a_2)\ldots(1-an)}$$ [9, IV, $4\frac{1}{2}$]

निम्न प्रकार के प्रश्नो को हल करने के लिए दो अज्ञात राशियो वाली दो रैखिक समीकरणो की पद्धति उपयोग मे लाई जाती है :

"यदि 9 नीबू और 7 सेबो का मूल्य 107 (पैसे) है, 7 नीबू और 9 सेबों का मूल्य है 101 (पैसे), तो बताओ कि एक नीबू और एक सेब का मूल्य क्या होगा ?" [9, VI, $140\frac{1}{2}$ – $142\frac{1}{2}$]

नीबू के मूल्य को यदि x माना जाए और सेब के मूल्य को y तो निम्नलिखित समीकरण प्राप्त होते हैं —

$$\begin{cases} 9x+7y=107 \\ 7x+9y=101 \end{cases}$$

इन समीकरणो का सामान्य रूप इस प्रकार होगा —

$$\begin{cases} ax+by=c \\ bx+ay=d \end{cases}$$

महावीराचार्य की पद्धति पर आधारित एक और प्रश्न नीचे दिया गया है।

"कुल फलों की अधिकतम संख्या से गुणा किये गये कुल फलों के अधिकतम मूल्य मे से फलो की न्यूनतम संख्या से गुणा किये गये फलों के न्यूनतम मूल्य को घटाया जाता है। शेष को अधिकतम और न्यूनतम फलो की संख्या के वर्ग के अंतर से विभाजित करने पर अधिकतम फलों का मूल्य ज्ञात होता है। अन्य फलो का मूल्य कुल फलो की संख्या के मूल्य को विपरीत क्रम से गुणा करने पर ज्ञात होता है।" [9, VI, $139\frac{1}{2}$]

इसका हल इस प्रकार है —

$$x=\frac{ac-bd}{a^2-b^2},\quad y=\frac{ad-bc}{a^2-b^2}$$

छठे अध्याय के श्लोक सख्या 270-272 $\frac{1}{2}$ में एक रोचक प्रश्न दिया गया है "मुर्गों की लडाई के समय एक दर्शक ने दोनों मुर्गों के मालिको से एक समझौता किया। पहले से उसने कहा कि यदि तुम्हारा मुर्गा जीतेगा तो तुम मुझे जीती हुई राशि दोगे और उसके हारने पर मैं तुम्हे जीती हुई राशि का $\frac{2}{3}$ दूंगा। दूसरे मालिक से उसने कहा कि यदि तुम्हारा मुर्गा जीतेगा तो तुम मुझे जीती हुई राशि दोगे और उसके हारने पर मैं तुम्हे तुम्हारी जीती हुई राशि का $\frac{3}{4}$ दूंगा। दोनों ही स्थितियों में दर्शक को 12 स्वर्ण मुद्राएं मिलेंगी। प्रत्येक मालिक को कितना-कितना पुरस्कार मिलेगा ?"

दोनो मालिको की राशियों को x और y मानते हुए निम्नलिखित समीकरण बनते है —

$$\begin{cases} x - \frac{3}{4} y = 12 \\ y - \frac{2}{3} x = 12, \end{cases}$$

या सामान्यत

$$\begin{cases} x - \frac{c}{d} y = m \\ y - \frac{a}{b} x = m. \end{cases}$$

महावीराचार्य के अनुसार इस पद्धति का हल इस प्रकार है —

$$x = \frac{b(c+d)}{(c+d) \cdot b - (a+b) \cdot c} m \qquad [9, \text{VI}, 268\tfrac{1}{2} - 269\tfrac{1}{2}].$$

$$y = \frac{d\,(a+b)}{(a+b).d - (c+d).a} m$$

इसी प्रकार का प्रश्न भास्कर द्वितीय के ग्रथ मे भी दिया गया है। "एक व्यक्ति ने कहा कि यदि तुम मुझे 100 रुपये दो तो मैं तुमसे दुगुना अमीर हो जाऊगा। दूसरे ने कहा कि यदि तुम मुझे 10 रुपये दो तो मैं तुमसे छ गुना अमीर हो जाऊंगा। प्रत्येक के पास कितनी पूंजी थी ?" [1, पृष्ठ 137-138]

महावीराचार्य के ग्रथ के 6-वें अध्याय मे श्लोक सख्या $90\frac{1}{2} - 91\frac{1}{2}$ का यह निम्नलिखित प्रश्न तीन अज्ञात राशियो वाली तीन समीकरणो की पद्धति से हल होता है।

"अनार, आम और सेब, प्रत्येक के 3 नगो का मूल्य 2 पन, 5 नगो का 3 पन और 7 नगो का 5 पन है। गणित जानने वाले मेरे मित्र जल्दी से यह बताओ कि 76 पन मे कितने फल खरीदोगे जिसमे आम सेब से 3 गुना और अनार से 6 गुना अधिक हों।"

प्रश्न के हल के लिए समीकरण इस प्रकार है —

$$\begin{cases} \frac{2}{3} x + \frac{3}{5} y + \frac{5}{7} z = 76 \\ y = 3z \\ x = 6z \end{cases}$$

x, y, z-क्रमश अनार, आम और सेब की सख्या बताते है। यह पद्धति बडी आसानी से एक अज्ञात राशि वाले समीकरण मे बदली जा सकती है।

$$228z = 2660$$

इस प्रश्न का उत्तर है —कुल खरीदे गये अनार, आम और सेबो की सख्या क्रमश. 70, 35 और $11\frac{2}{3}$ है।

द्विघात समीकरण

महावीराचार्य के ग्रन्थ मे द्विघात समीकरण पर अलग से कोई अध्याय नही है। फिर भी कई प्रश्नों का हल केवल द्विघात समीकरणों के मूल ज्ञात करने से निकल सकता है। इस तरह का एक प्रश्न है. "ऊंटो के झुड का $\frac{1}{4}$ भाग जंगल में है, 15 ऊँट नदी के किनारे और शेष ऊँट जो कुल संख्या के वर्गमूल का दुगुना हैं, पहाडी पर हैं। ऊँटो की सख्या क्या है ?" [9, IV, 34].

झुड मे ऊँटों की सख्या x मानने पर निम्नलिखित समीकरण प्राप्त होगा

$$\frac{1}{4} x + 2\sqrt{x} + 15 = x.$$

अथवा

$$\frac{a}{b} x + c\sqrt{x} + p = x$$

या फिर,

$$\left(1 - \frac{a}{b}\right) x - c\sqrt{x} = p$$

महावीराचार्य इस द्विघात समीकरण को निम्नलिखित नियम से हल करते हैं .

"वर्गमूल के गुणाक के आधे भाग और मुक्त पद को भिन्न रहित इकाई मे विभाजित करना चाहिए। इस प्रकार प्राप्त मुक्त पद के वर्ग के कुल योग के वर्गमूल को प्राप्त गुणाक मे जोडना चाहिए। इस राशि का वर्ग ही अज्ञात राशि है। मूल सबधी प्रश्नो को हल करने की रीति यही है। [9, IV, 33]

इस नियम के अनुसार हल इस प्रकार निकलेगा

$$x = \left[\frac{\frac{c}{2}}{1-\frac{a}{b}} + \sqrt{\left(\frac{\frac{c}{2}}{1-\frac{a}{b}}\right)^2 + \frac{p}{1-\frac{a}{b}}}\right]^2$$

ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मगुप्त को भी ज्ञात था कि द्विघात समीकरण के दो मूल होते हैं। टीकाकार पृथुदकस्वामी (सन् 860) के अनुसार इस प्रश्न पर निर्भर करता है कि मूल को जोडा जाए या घटाया जाए। [6, खंड 2, पृष्ठ 75).

परंतु ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ मे मूलों के इस दोहरे अर्थ का उल्लेख नही है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, महावीराचार्य को वर्गमूलो के दोहरे अर्थ मालूम थे। इसका उपयोग निम्नलिखित प्रश्न को हल करने के नियम मे किया गया है

"मोरो के झुड का $\frac{1}{16}$ वा भाग, जो अपनी ही सख्या से गुणा किया हुआ है, आम के पेड पर बैठा है। शेष का $\frac{1}{9}$ वाँ भाग, स्वय की सख्या से गुणा किया हुआ अन्य 14 मोरों के साथ 'तमाल' के पेड पर है। मोरो की कुल सख्या क्या है ?

[9, IV, 59]

मोरो की कुल सख्या यदि हम x मान लें तो निम्नलिखित समीकरण प्राप्त होगा —

$$\frac{x}{16} \cdot \frac{x}{16} + \frac{15x}{16\,9} \cdot \frac{15x}{16\,9} + 14 = x.$$

या सामान्य रूप मे

$$\frac{a}{b} x^2 - x + p = 0$$

इस तरह के समीकरण को हल करने का नियम है .—"अपने ही अंश से विभाजित हर तथा मुक्त पद के चौगुने के अंतर को इस हर से, जो कि अंश से विभाजित हो, गुणा किया जाता है। इसके वर्गमूल को अंश से विभाजित इस हर से जोडा और घटाया जाता है। इसका आधा ही अज्ञात राशि है।" [9, IV, 57]

इस तरह,

$$x = \frac{\frac{b}{a} \pm \sqrt{\left(\frac{b}{a} - 4p\right)\frac{b}{a}}}{2}$$

कुछ परिस्थितियो मे जबकि द्विघात समीकरण के मूलो मे से कोई एक मूल प्रश्न के उपयुक्त नही होता है, महावीराचार्य केवल वही मूल चुनते हैं जिसके द्वारा सही हल प्राप्त किया जा सकता है।

उच्चतम क्रम के समीकरण

कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका हल एक अज्ञात राशि वाले द्विघात समीकरणों से उच्चतर समीकरणो के द्वारा निकलता है। जैसे ज्यामिति श्रेढ़ी के हर 'q' को ज्ञात करने के लिए समीकरण को हल करना होगा।

$$S = aq^n$$

श्रेढी का हर q, $\sqrt[n]{\frac{s}{q}}$ के बराबर है।

$$q = \sqrt[n]{\frac{S}{a}}$$ [9, II, 97]

N—घात के मूल निकालने के नियम महावीराचार्य ने नही दिये हैं। स्पष्टत ऐसे मूलो की एक चुनी हुई सूची दी जाती थी। "ज्यामिति श्रेढ़ी का पहला पद 3 है, कुल पदो की सख्या 6 है और योगफल है 4095। ज्यामिति श्रेढ़ी का हर क्या है ?" [9, II, 102] यह प्रश्न पंचम घात के समीकरण से हल होता है।

$$3\ \frac{x^6-1}{x-1} = 4095$$

या,

$$3\,(x^5 + x^4 + x^3 + x^2 + x + 1) = 4095.$$

यह समीकरण निम्नलिखित नियम से हल किया जाता है। "योगफल को पहले पद से विभाजित करो। प्राप्त भागफल मे से प्रत्येक बार एक इकाई घटाओ। इस सख्या मे जितने का भाग दिया जाएगा वही सख्या ज्यामिति श्रेढ़ी का हर होगी।" [9, II, 101].

वास्तव मे यदि श्रेढ़ी के हर को x मानें तो n—1 घात का समीकरण इस प्रकार होगा

$$a\ \frac{x^n-1}{x-1} = S.$$

दोनो भागो को पहले पद से विभाजित करने पर और उसमे घटाने पर निम्नलिखित समीकरण प्राप्त होता है .

$$x\ \frac{x^{n-1}-1}{x-1} = S_1$$

x से काटने पर और 1 घटाने पर जो समीकरण बना वह इस प्रकार है :—

$$x\ \frac{x^{n-2}-1}{x-1} = S_2.$$

श्रेढी का अज्ञात हर जिससे अनुक्रम राशि $S, S_1, S_2, \ldots S_{n-1}$, को विभाजित किया जाता है, वरण सिद्धांत के द्वारा ज्ञात हो सकता है। इस उदाहरण में $x=4$

चौथे अध्याय के श्लोक संख्या 54-55 में एक बहुत रोचक प्रश्न दिया गया है। "जंगल में काम कर रहे हाथियों की संख्या है · कुल हाथियों की संख्या के $\frac{2}{3}$ भाग के वर्गमूल के 9 गुणे और शेष हाथियों की संख्या के $\frac{3}{5}$ के वर्गमूल के 6 गुणे का योग। अब यदि इस संख्या में 24 और जोड़ा जाये तो हाथियों की कुल संख्या ज्ञात हो सकती है। वह संख्या क्या है ?

यदि मान लें कि हाथियों की कुल संख्या x हो तो चौथे घात का निम्नलिखित समीकरण प्राप्त होता है

$$9\sqrt{\frac{2x}{3}}+6\sqrt{\frac{3}{5}\left(x-9\sqrt{\frac{2}{3}x}\right)}+24=x$$

महावीराचार्य के अनुसार इसका हल निकालने के लिए दो द्विघात समीकरणों का आश्रय लेना पड़ता है।

यदि $y=x-9\sqrt{\frac{2}{3}x}$, हो तो द्विघात समीकरण होगा

$$y-6\sqrt{\frac{2}{3}y}=24$$

$$y_1=60,\quad y_2=\frac{48}{5}$$

y_1 के मूल्य को पहले समीकरण में रखने पर निम्नलिखित समीकरण प्राप्त होता है

$$x-9\sqrt{\frac{2}{3}x}=60$$

$$x_1=150;\ x_2=24$$

द्विघात समीकरण,

$$x-9\sqrt{\frac{2}{3}x}=\frac{48}{5}$$

के पूर्ण मूल नहीं है। केवल $x=150$ ही उपयुक्त है।

चौथे अध्याय के 56 वें श्लोक में दिया गया प्रश्न 8वें घात के समीकरण से हल होता है। "सुअरों की एक निश्चित संख्या—झुंड के $\frac{1}{2}$ भाग के वर्गमूल की चौगुनी—जंगल में है। झुंड का एक हिस्सा—शेष संख्या के $\frac{1}{10}$ भाग के वर्गमूल के दुगुने का 4 गुना—पहाड़ी पर है। दूसरे हिस्से के सुअर नदी की तरफ जा रहे है जिनकी संख्या है शेष के आधे के वर्गमूल का 9 गुणा। इसके अलावा झुंड में 56 सुअर और है। कुल कितने सुअर है ?"

सुअरों की कुल संख्या को x मानते हुए समीकरण बनेगा

$$4\sqrt{\frac{x}{2}}+8\sqrt{\frac{1}{10}\left(x-4\sqrt{\frac{x}{2}}\right)}$$

$$+9\sqrt{\frac{1}{2}\left[x-4\sqrt{\frac{x}{2}}-8\sqrt{\frac{1}{10}\left(x-4\sqrt{\frac{x}{2}}\right)}\right]}+56=x.$$

महावीराचार्य के अनुसार, इस समीकरण का क्रमिक हल तीन द्विघात समीकरणों से निकलता है।

यदि $y=x-4\sqrt{\frac{x}{2}}$

तो, $y-8\sqrt{\frac{y}{10}}-9\sqrt{\frac{1}{2}\left(y-8\sqrt{\frac{y}{10}}\right)}=56.$

यदि $z=y-8\sqrt{\frac{4}{10}}$

तो $z-9\sqrt{\frac{z}{2}}=56$

अत मे x का मान निकला 200.

श्रेढ़ी

भारतीय गणित साहित्य मे अकगणित श्रेढी और ज्यामिति श्रेढ़ी का प्रमुख स्थान रहा है। कुछ तरह के प्रश्न असाधारण तौर पर लोकप्रिय हुए, जैसे शतरंज के आविष्कार से संबधित प्रश्न, जिससे कि ज्यामिति श्रेढी के योगफल निकाले गये जिनमें हर का मान संख्या 2 था। यही नहीं, इस तरह के ज्यामिति श्रेढी के योगफल निकालने संबंधी प्रश्नो का उल्लेख प्राचीन चीनी ग्रन्थ "गणित के नौ अध्याय" मे भी है।

श्रेढी का उल्लेख बहुत सी गणित की पुस्तको तथा नक्षत्रविद्या के ग्रन्थो के गणित संबंधी अध्यायो मे मिलता है। इन ग्रन्थो मे कभी-कभी श्रेढी के नियम और प्रश्न इतनी अधिक मात्रा मे हो जाते थे कि उनके लिए "श्रेढी व्यवहार" का एक विशेष खंड अलग से दिया जाता था।

अकगणित श्रेढी के प्रश्नो को हल करने के नियम महावीराचार्य के अनुसार इस प्रकार थे —

$$a_1=\frac{S-\frac{(n-1)}{2}d.n}{n},\qquad [9, II, 73]$$

$$a_1=\frac{S}{n}-\frac{n-1}{2}.d\qquad [9, II, 74]$$

$$a_1=\frac{\frac{2S}{n}-(n-1).\ d,}{2}\qquad [9, II, 76]$$

$$d=\frac{\frac{S}{n}-a}{\frac{n-1}{2}}=\frac{\frac{2S}{n}-2a}{n-1}\qquad [9, II, 75]$$

अंकगणित श्रेढ़ी के योगफल और पदो की संख्या ज्ञात करने के नियम, जो उनसे पहले के गणितज्ञो ने बनाए थे, महावीराचार्य ने इस प्रकार दिये हैं —

$$S=\left[\frac{n-1}{2}.d+a_1\right].n,\qquad [9, II, 61]$$

$$S=\frac{[(n-1)d+2a_1].n.}{2}\qquad [9, II, 62]$$

$$S=\left(\frac{a_1+a_n}{2}\right).n,\qquad [9, II, 64]$$

$$n=\frac{\sqrt{2dS+\left(\frac{d}{2}-a\right)^2}+\frac{d}{2}-a}{d}\qquad [9, III, 33]$$

निम्नलिखित नियम बहुत ही रोचक ढग से बनाया गया है। किसी भी सख्या वाले अकगणित श्रेढ़ी के पदो के पहले पद के लिए संख्या 1 ली जाती है। पहले पद से घटाई हुई पदों की संख्या को पदो की संख्या और 1 के अंतर के आधे से विभाजित करने पर जो संख्या प्राप्त होती है उसे श्रेढ़ी का अतर मान सकते हैं। योगफल पदो की कुल सख्या के वर्ग के बराबर हुआ। यह संख्या, जिसे पदो की संख्या से गुणा किया जाता है, पदो की सख्या के घन के बराबर होती है। [9, 31C, 3।]

स्पष्टत: यहाँ महावीराचार्य अकगणित श्रेढ़ी की बात कर रहे है।

$$S=\sum_{k=1}^{n}(2k-1)=n^2,$$

$$S.\ n=n^2.\ n=n^3.$$

ज्यामिति श्रेढ़ी के नियम और प्रश्न आर्यभट्ट और ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थो मे नही मिलते है। ज्यामिति श्रेढ़ी के योगफल और पद निकालने के नियम सबसे पहले महावीर ने दिये। उसके बाद श्रीधर और भास्कर द्वितीय ने इन्हे इस प्रकार प्रस्तुत किया —

$$a_{n+1}=a.q^n$$

[9, II, 93]

$$S=\frac{aq^n-a}{q-1}.$$

महावीराचार्य के ग्रथ मे इन नियमो और उनके विविध प्रकारो के उदाहरण दिये गये है।

संचय विन्यास

छठे अध्याय के 218वें श्लोक मे मिश्रित सख्याओ के सचय ज्ञात करने का सूत्र दिया गया है जो इस प्रकार है —

$$C^m_n=\frac{n(n-1)\ (n-2)\ [n-(m-1)]}{1.2\ 3\ ..m}$$

इसी नियम के 3 उदाहरण हैं जिनमे से एक इस प्रकार है —"हीरा, नीलम पन्ना, मूगा और मोतियो के विविध प्रकार के कितने हार बनेंगे ?" [9, VI, 220]

ऐसा ही सूत्र और ऐसे ही उदाहरण श्रीधर और नारायण ने भी दिये हैं।

संख्या शृंखलाओं का योगफल

छठे अध्याय मे महावीर ने सख्या शृखला के योगफल निकालने के कुछ नियम दिय है। प्राकृतिक सख्या शृखला के वर्गो का योगफल इस प्रकार हुआ —

$$\sum_{k=1}^{n} k^2=\frac{[2\ (n+1)^2-(n+1)]\frac{n}{2}}{3}$$ [9, IV, 296]

अकगणित श्रेढ़ी के पदो के वर्गों का योगफल है —

$$\sum_{k=1}^{n}\ [a+(k-1)\ d]^2=n\left\{\left[\frac{(2n-1)d^2}{6}+ad\right](n-1)\ +a^2\right\}$$ [9, VI, 298]

प्राकृतिक संख्या शृंखला के घनो का योगफल इस प्रकार है :—

$$\sum_{k=1}^{n} k^3 = \left(\frac{n}{2}\right)^2 (n+1)^2$$ [9, VI, 301]

अंकगणित श्रेढी के पदो के घनो का योगफल है —

$$\sum_{k=1}^{n}[a+(k-1)d]^3 = S\,a(a-d)+S^2 d,$$ [9, VI, 303]

इसमे S का मान इसी श्रेढी के पदो का योगफल है।

पहली n प्राकृतिक सख्या शृखला के वर्ग और घनो को निकालने की विधि का उल्लेख आर्यभट्ट प्रथम से लेकर नारायण आदि सभी भारतीय आचार्यों के ग्रथो मे मिलता है। यह विधियाँ बाबीलोन और मिस्र के निवासियो यूनानियो और चीनियो को भी ज्ञात थी। बाद मे इन विधियो का उल्लेख अरब और पश्चिम यूरोप के गणित साहित्य मे भी मिलता है। यही नियम बाद में श्रीधर और नारायण के ग्रन्थो मे भी मिलते हैं। [4, पृ० 233, 255]

संख्या सिद्धांत

भारतीय गणितज्ञो ने सपूर्ण धन सख्याओ की एल्गोरिदम विधि बनाई जिसका उद्देश्य पहले और दूसरे घात के अनिश्चित समीकरणो का हल निकालना था। महावीर के अनुसार सपूर्ण धन सख्याओ मे अनिश्चित समीकरणो को हल करने का नियम इस प्रकार है :—

$$a\,x \pm C = b\,y$$ [9, VII, $115\frac{1}{2}$, $136\frac{1}{2}$]

हल निकालने की यह विधि आर्यभट्ट प्रथम, ब्रह्मगुप्त और भास्कर द्वितीय के नियमों पर आधारित है। यह विधियाँ विस्तारपूर्वक युश्क्येविच की पुस्तक में दी गई हैं। (1, पृ० 144-147)

सामान्य नियमो के अलावा महावीर ने कुछ विशिष्ट परिस्थितियो में हल निकालने की विधि भी बताई।

"दो सोने की छडो में, जिनका भार क्रमश 16 और 10 है, सोने की मात्रा अज्ञात है। लेकिन दोनो को मिला देने पर सोने की मात्रा 4 है। प्रत्येक छड मे सोने की मात्रा क्या है ?" [9, VI, 188]

यह प्रश्न निम्नलिखित अनिश्चित समीकरण में बदला जा सकता है —

$16x+10y=4\ (16+10)$

यहाँ x और y छडो में सोने की मात्रा है।

सामान्य समीकरण इस प्रकार हुआ,

$$ax+by=c\,(a+b)$$

या,

$$a(x-c)=b(c-y)$$

इनका हल है,

$$x=C\pm\frac{1}{a},$$

$$y=C\pm\frac{1}{b}.$$

इस समीकरण को हल करने का नियम इस प्रकार है —

"सोने को दो अलग-अलग स्थानो पर रखें। छडो में सोने के ज्ञात भार को एक से विभाजित करके बारी-बारी से एक घटाने और एक जोडने पर सोने की मात्रा ज्ञात की जा सकती है।" इससे आगे महावीर लिखते हैं कि यदि स्वेच्छ सख्या को पहली छड में सोने की मात्रा मानें तो दूसरी छड में सोने की मात्रा पहले की तरह मालूम की जा सकती है। [9, VI, 189]

प्रतिशत, क्रय, विक्रय और कुछ दूसरी प्रकार के प्रश्नों के लिए अज्ञात पदो वाले रैखिक समीकरण प्रयोग में लाये जाते हैं। छठे अध्याय के 160 से 162वें श्लोको में दिये गये प्रश्न से निम्नलिखित समीकरण बनता है :—

$x_1+x_2+x_3+x_4=\frac{a+b+c+d}{3}$. यहाँ a, b, c, d—ज्ञात राशियाँ हैं। महावीर के अनुसार इस प्रश्न का हल इस प्रकार है :—

$$x_1=\frac{a+b+c+d}{3}-a$$

$$x_2=\frac{a+b+c+d}{3}-b$$

$$x_3=\frac{a+b+c+d}{3}-c \qquad [9, VII. 159]$$

$$x_4=\frac{a+b+c+d}{3}-d$$

आर्यभट्ट प्रथम और नारायण द्वारा दिये गये हल भी ऐसे ही है। ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दि के मध्य में लिखे गये "रज्जू नियमों" में समीकरण $x^2+y^2=z^2$ के परिमेय हल दिये गये है। सम्पूर्ण संख्याओ के हल सबसे पहले ब्रह्मगुप्त और फिर महावीर ने निकाले, जो इस प्रकार है :—

$p^2-q^2,\ 2pq,\ p^2+q^2$ यहाँ p, q स्वेच्छ संख्याएँ है जो कि प्राचीन यूनानियो के भी पहले ज्ञात थी।

"दो और तीन तत्त्वो से एक आकृति बनाओ।" [9, VII, $92\frac{1}{2}$]

समीकरण $x^2+a^2=z^2$ के परिमेय हल महावीर के अनुसार इस प्रकार हैं :—

$$a,\ \frac{1}{2}\left(\frac{a^2}{p^2}-p^2\right),\ \frac{1}{2}\left(\frac{a^2}{p^2}+p^2\right),$$

$$a,\ \frac{a^2}{4p^2}-p^2,\ \frac{a^2}{4p^2}+p^2 \qquad [9, VI, 95\tfrac{1}{2},\ 97\tfrac{1}{2}]$$

यहाँ p स्वेच्छ संख्या है।

समीकरण $x^2+y^2=c^2$ के परिमेय हल इस प्रकार हुए —

$$p^2, \sqrt{c^2-p4},\ c$$

$$p, \sqrt{c^2-p^2},\ c. \qquad (9, VII, 95\tfrac{1}{2}, 97\tfrac{1}{2}]$$

चूंकि संख्या p का चुनना कठिन न था इसलिए महावीर ने एक और हल ढूंढ निकाला।

$$\frac{m^2-n^2}{m^2+n^2}\cdot c,\ \frac{2mn}{m^2+n^2}\cdot c,\ c. \qquad [9, VII, 122\tfrac{1}{2}]$$

सातवें अध्याय के $112\frac{1}{2}$वें श्लोक मे महावीर ने समीकरण प्रणाली

$$\begin{cases} x^2+y^2=z^2 \\ mx+ny+pz=rxy \end{cases}$$

को हल करने की विधि बताई। यहाँ $m, n, p, r(\neq 0)$ स्वेच्छ संख्याएँ हैं।

यदि तीनो राशियाँ, जो कि $x_1^2+y_1^2=z_1^2$ समीकरण के उपयुक्त हो, तब समीकरण इस प्रकार होगा :—

$$mx_1+ny_1+pz_1=R$$

इस स्थिति मे प्रणाली का हल इस प्रकार है :—

$$\begin{cases} x=x^1\dfrac{R}{rx_1y_1}=\dfrac{R}{ry_1} \\ y=y_1\cdot\dfrac{R}{rx_1y_1}=\dfrac{R}{rx_1} \\ z=z^1\cdot\dfrac{R}{rx_1y_1}. \end{cases}$$

इसी विधि से महावीर निम्नलिखित प्रश्न हल करते हैं। "एक आयत का क्षेत्रफल उसके परिमाप के बराबर है। उसकी भजाओ का माप बताओ।" [9, VII, 115]

"एक आयत का क्षेत्रफल उसके विकर्णों के माप के बराबर है। उसकी भुजाएँ किसके बराबर हैं ?"

[9, VII, $115\frac{1}{2}$]

पहले प्रश्न में प्राप्त समीकरण प्रणाली इस प्रकार है —

$$\begin{cases} x^2+y^2=z^2 \\ 2x+2y=xy, \end{cases}$$

दूसरे मे,

$$\begin{cases} x^2+y^2=z^2 \\ z=xy \end{cases}$$

a^2-b^2, $2ab$, a^2+b^2 को पाइथेगोरस सख्याएँ मानते हुए पहली समीकरण प्रणाली का हल इस प्रकार होगा —

$$\frac{2(a^2-b^2)+4ab}{2ab},\quad \frac{2(a^2-b^2)+4ab}{a^2-b^2},$$

$$\frac{2(a^2-b^2)+4ab}{2ab(a^2-b^2)}\cdot(a^2-b^2),$$

और दूसरी प्रणाली का हल,

$$\frac{a^2+b^2}{2ab},\quad \frac{a^2+b^2}{a^2-b^2},\quad \frac{(a^2+b^2)}{2ab\,(a^2-b^2)}$$

महावीर, भास्कर द्वितीय और नारायण ने कई उदाहरण दिये हैं जो कि तीसरे घात के अनिश्चित समीकरण बनाते हैं। उदाहरण के लिए, महावीर के अनुसार अंकगणित श्रेढी के योगफल से पहले पद, पदों की संख्या और श्रेढ़ी का अंतर ज्ञात किया जा सकता है। इस प्रश्न का हल 3 अज्ञात राशियो वाले अनिश्चित समीकरणो से प्राप्त होगा ।

$$S=\left[a+\frac{d(n-1)}{2}\right].n.$$

हल करने का नियम इस प्रकार है —

योगफल को उसके किसी भी भाजक से, जो कि पदो की संख्या होगा, विभाजित करो। स्वेच्छ संख्या को भागफल से घटाओ, घटाने पर जो सख्या आएगी वह पहला पद होगी। प्राप्त अतर कुल पदो की संख्या के आधे से विभाजित, जो कि 1 से घटाया गया हो, श्रेढ़ी का अतर कहलाता है। [9, VII, 78]

क्षेत्रफल का माप

ज्यामिति के अध्याय के आरंभ मे महावीर लिखते हैं कि क्षेत्रफल का माप दो प्रकार का होना चाहिए—व्यावहारिक आवश्यकताओं के लिए सन्निकट माप और यथार्थ माप ।

गणित मे पारंगत विद्वान् कई प्रकार की आकृतियो से परिचित है जिनमे त्रिकोण, चतुर्भुज और वक्र रेखाओ से बनी आकृतियाँ शामिल हैं। [9, VII, 2-3]

इसके बाद आकृतियो के प्रकार का विवरण दिया गया है जैसे, त्रिकोण तीन प्रकार के होते है, चतुर्भुज 5 प्रकार के और वक्र रेखाओ से बनी आकृतियाँ 8 प्रकार की होती हैं। बाकी सभी आकृतियाँ इन्ही आकृतियो से बनती है। गणितज्ञो के अनुसार त्रिकोण तीन प्रकार के होते हैं—समबाहु, समद्विबाहु और विषमबाहु। चतुर्भुज समबाहु, दो बराबर भुजाओ वाले, दो विपरीत बराबर भुजाओ वाले, तीन बराबर भुजाओ वाले और विषमबाहु होते हैं। वृत्त, अर्धवृत्त, आयतवृत्त, कम्बुकावृत्त, निम्नवृत्त, उन्नतवृत्त, बाह्य वलय और भीतरी वलय—यह वक्र रेखाओ से बनी आकृतियो के प्रकार है। [9, VII, 4—6]

इसके बाद महावीर ने प्रत्येक सन्निकट और यथार्थ आकृतियो के लिए सूत्र बनाए ।

त्रिकोण और चतुर्भुज के सन्निकट क्षेत्रफल ज्ञात करने का नियम इस प्रकार है—"विपरीत भुजाओ के योगफल के आधे का गुणनफल, त्रिकोण और चतुर्भुज के क्षेत्रफल के बराबर होना है। [9 VII, 7]

ब्रह्मगुप्त ने त्रिकोण और चतुर्भुज के क्षेत्रफल ज्ञात करने के लिए सन्निकट सूत्र बनाये जो क्रमश इस प्रकार है .—

$$S=\frac{a}{2}\cdot\frac{b+c}{2}$$

और,

$$S=\frac{a+c}{2}\cdot\frac{b+d}{2}$$

चतुर्भुज का सन्निकट क्षेत्रफल ज्ञात करने का सूत्र मिस्र के विद्वानो को भी ज्ञात था।

इसी सूत्र के लिए महावीर ने 11 उदाहरण दिये हैं जिनमे मे कुछ इस प्रकार है —

"एक त्रिभुज की पार्श्व भुजा, विपरीत भुजा और आधार का माप है 8 दड। बताओ उसका सन्निकट क्षेत्रफल क्या है ?"

[9, VII, 8]

"दो समान भुजाओ वाले एक त्रिभुज की समान भुजाओ की लबाई है 77 दड। आधार की लबाई है 22 दड और 2 हस्त। त्रिभुज का क्षेत्रफल क्या है ?" [9, VII, 9]

"3 समान भुजाओ वाले एक चतुर्भुज की प्रत्येक समान भुजा का माप 100 दड है, आधार का माप है 8 दंड और 3 हस्त। चतुर्भुज का क्षेत्रफल बताओ।" [9, VII, 15]

चतुर्भुज का यथार्थ क्षेत्रफल है,

$$S=\sqrt{(p-a)(p-b)(p-c)(p-d)},$$

$$S=h\,\frac{a+c}{2}.$$

[9, VII, 50]

a

p q b

c
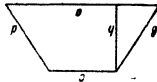
चित्र · 1

महावीर कहते हैं कि यदि चतुर्भुज विषमबाहु है तब दूसरे सूत्र का उपयोग नही किया जा सकता । पहला सूत्र ब्रह्मगुप्त और श्रीधर ने दिया । [4, पृ० 239]

छठे अध्याय के 84वें श्लोक मे चतुर्भुज के विकर्ण निकालने के सूत्र दिये गये हैं ।

$$\text{विकर्ण} = \sqrt{\frac{(ac+bd)(ab+cd)}{ad+bc}}$$

$$\text{विकर्ण} = \sqrt{\frac{(ac+bd)(ad+bc)}{ab+cd}} \qquad [9, \text{VII}, 54]$$

यह सभी सूत्र चक्रीय चतुर्भुजो के लिए उपयुक्त है । इन सूत्रो को समझने के लिए निम्नलिखित उदाहरण दिये गये हैं :

"एक समान भुजाओ वाले चतुर्भुज की भुजाओ का माप 5 है । बताओ कि विकर्ण का माप और यथार्थ क्षेत्रफल क्या है ?" [9, VII, 55]

"तीन समान भुजाओं वाले एक चतुर्भुज की प्रत्येक भुजा का माप है 13 का वर्ग, और आधार 407 है । विकर्ण, ऊँचाई और क्षेत्रफल बताओ ।" [9, VII, 58]

"एक वृत्त की परिधि का माप उसके व्यास का 3 गुना है । उसके अर्धव्यास के वर्ग का तिगुना वृत्त का क्षेत्रफल है । गणितज्ञो के अनुसार अर्धवृत्त का क्षेत्रफल और अर्धपरिधि का माप उपर्युक्त परिणामो का आधा होता है ।" [9, VII, 19]

इस तरह,

$$l = 3d, \quad S = \frac{3d^2}{4},$$

चित्र 2

यहा $\pi \approx 3$ है । यदि $\pi \approx \sqrt{10}$ हो तो महावीर सही सूत्र इस तरह बताते है —

$$l = \sqrt{10d^2}, \; S = \sqrt{10\left(\frac{d}{2}\right)^4} \qquad [9, \text{VII}, 60]$$

बहुत-से उदाहरण इन्ही सूत्रो से हल किये जाते हैं । आयतवृत्त का परिमाप और क्षेत्रफल निकालने का नियम इस प्रकार है —लघुव्यास के आधे से बढ़ाया हुआ और 2 से गुणा किया हुआ दीर्घव्यास ही आयतवृत्त का परिमाप होता है । परिमाप से गुणा किया हुआ लघुव्यास का चौथा भाग आयतवृत्त का क्षेत्रफल होता है । [9, VII, 21]
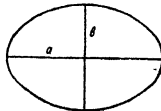
चित्र · 3

दीर्घव्यास को a और लघुव्यास को b मानते हुए महावीर के अनुसार परिमाप हुआ $2a+b$, और आयतवृत्त का क्षेत्रफल होगा

$$S = \frac{b}{4}(2a+b)$$

परिमाप और क्षेत्रफल निकालने के सही सूत्र निम्नलिखित नियम से प्राप्त किये जा सकते हैं :—

"लघुव्यास के वर्ग के छ गुने और दीर्घव्यास के वर्ग के दुगुने को जोडो। इसका वर्गमूल वृत्त के परिमाप के बराबर हुआ। परिमाप को लघुव्यास के चौथे भाग से गुणा करने पर आयतवृत्त का सही क्षेत्रफल निकाला जा सकता है। [9, VII, 63]

$$l=\sqrt{6b^2+4a^2}$$

$$S=\frac{b}{4}\sqrt{6b^2+4a^2}$$

यह स्पष्ट है कि आयतवृत्त का क्षेत्रफल निकालने का सूत्र वत्त के क्षेत्रफल निकालने के सूत्र से ही बना है।

$$S=\frac{d}{4}\,l,$$

वृत्त की परिधि और आयतवृत्त की परिधि निकालने के सूत्रो मे भी साम्य है।

$$l=\sqrt{10d^2}=\sqrt{6d^2+4d^2}$$

महावीर निम्नलिखित उदाहरण देते हैं :—

"एक आयतवृत्त के दीर्घव्यास की लंबाई है 36 और लघुव्यास की लंबाई 12 है। उसका परिमाप और क्षेत्रफल बताओ।"
[9, VII, 64]

म० रंगाचार्य [9] और उनके बाद जी० सारटोन [8, खंड 1, पृष्ठ 570] के अनुसार एक आयतवृत्त दीर्घवृत्त ही होता है। इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हुआ जा सकता है।

सीप के आकार की आकृति (कम्बुकावृत्त) का, जो कि दो जुड़े हुए विभिन्न व्यास वाले अर्धवृत्तो से बनती है, सन्निकट परिमाप और क्षेत्रफल वृत्त के लिए बने नियमों से निकाले जा सकते हैं।
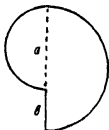
चित्र 4

"अधिकतम चौडाई से सीप के मुह की चौडाई का आधा घटाने पर और 3 से गुणा करने पर आकृति का परिमाप ज्ञात होता है। इस परिमाप के आधे के वर्ग के एक तिहाई को यदि सीप के मुह की चौडाई के आधे के वर्ग के $\frac{3}{4}$ से गुणा किया जाय तो सीप का क्षेत्रफल ज्ञात होगा।" [9, VII, 23]

अधिकतम चौडाई अर्थात् दीर्घवृत्त के व्यास को a और सीप के मुह की चौडाई को b मानते हुए परिमाप होगा,

$$l=3\left(a-\frac{1}{2}b\right),$$

और क्षेत्रफल,

$$S=\frac{1}{3}\left[\frac{3\left(a-\frac{1}{2}b\right)^2}{2}\right]\ \frac{3}{4}\left(\frac{b}{2}\right)^2$$

इस सूत्र के लिए निम्नलिखित उदाहरण दिया गया है ·

'सीप के दीर्घव्यास का माप है 18 हस्त और सीप के मुह की चौड़ाई है 4 हस्त। उसका परिमाप और क्षेत्रफल बताओ।"

[9, VII, 24]

यदि $\pi\approx\sqrt{10}$ हो तो सही सूत्र इस प्रकार होगा,

$$l=\left(a-\frac{1}{2}b\right)\sqrt{10}$$

$$S=\left[\left(\frac{a-\frac{1}{2}b}{2}\right)^2+\left(\frac{b}{4}\right)^2\right]\sqrt{10}$$

[9, VII, 65 $\frac{1}{2}$]

निम्न और उन्नत वृत्त की सतह (जैसे कि यज्ञ-कुण्ड और कछुए की पीठ की सतह होती है) का क्षेत्रफल निकालने का सूत्र है —"परिधि के एक चौथाई को यदि व्यास से गुणा किया जाये तो निम्न और उन्नत वृत्त की सतह का क्षेत्रफल ज्ञात होता है।"

[9,VII,25]
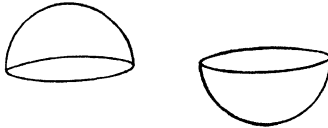
चित्र 5

$$S=\frac{l}{4}d$$

यह सूत्र आयत या चपटे गोलार्ध के लिए है क्योंकि सामान्य गोलार्ध का क्षेत्रफल होगा

$$S=\frac{l}{2}d$$
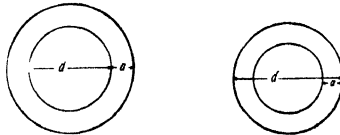
चित्र : 6

भीतरी और बाहरी वलय के क्षेत्रफल इस प्रकार होंगे :—"भीतरी व्यास को वलय की चौड़ाई से जोड़ने पर और फिर 3 तथा वलय की चौड़ाई से गुणा करने पर बाहरी वलय का क्षेत्रफल ज्ञात होता है। यदि व्यास से वलय की चौड़ाई को जोड़ने की बजाय घटाया जाए तो भीतरी वलय का क्षेत्रफल प्राप्त होगा।" [9, VII, 28]

$$S_{\text{बाहरी}} = 3\,(d + a)\,a$$

$$S_{\text{भीतरी}} = 3\,(d - a)\,a$$

यहाँ d = व्यास, a = वलय की चौड़ाई और $\pi \approx 3$ है। यदि $\pi \approx \sqrt{10}$ हो तो यथार्थ क्षेत्रफल ज्ञात किया जा सकता है।

[9, VII, 67 $\frac{1}{2}$].

जौ, मुरज, पणव और वज्र की तरह की आकृतियों का क्षेत्रफल प्राप्त करने के लिए उनके मध्य भाग की चौड़ाई और किनारों से ली गई चौड़ाई के योग के आधे को लंबाई से गुणा किया जाता है। [9, VII, 32]
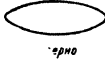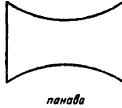
चित्र : 7

यदि a_1 = आकृति के मध्य की चौड़ाई, a_2 = एक किनारे से ली गई चौड़ाई और b = लंबाई हो तो

$$S = \frac{a_1 + b_2}{2}\, b.$$

अर्थात् सभी आकृतियाँ आयताकार रूप में बदल दी जाती है जिनमें प्रत्येक की औसत चौड़ाई और आरंभिक लंबाई ली जाती है।

यह नियम और चतुर्भुज का क्षेत्रफल ज्ञात करने के नियम में परस्पर संबंध है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह दोनों ही नियम समान परिस्थितियों में बनाये गये हैं। श्रीधर कृत "पतिगणित" के एक अज्ञात टीकाकार ने वज्र के आकार की आकृति को दो बराबर समलंबों के रूप में दिखाया है जो कि एक दूसरे के साथ निम्नतम आधारों के द्वारा जुड़े हैं। [4, पृष्ठ 238]

चार उदाहरण इसी नियम के लिए दिये गये है। "जौ के आकार की आकृति की लंबाई है 80, और मध्य भाग की चौड़ाई 40 है। जौ का क्षेत्रफल क्या होगा ?" [9, VII, 33]

"मुरज के आकार की आकृति का क्षेत्रफल बताओ यदि उसकी लंबाई 80 दंड, किनारों से ली गई चौड़ाई 20 दंड और मध्य भाग की चौड़ाई 40 दंड हो।" [9, VII, 34]

"पणव के आकार की आकृति का क्षेत्रफल क्या होगा यदि उसकी लंबाई है 77 दंड, दो किनारों में से प्रत्येक से ली गई चौड़ाई हो 8-8 दंड, और मध्य भाग की चौड़ाई हो 4 दंड।" [9, VII, 35]

"यदि वज्र के आकार की आकृति की लंबाई है 96 दंड, मध्य भाग सुई की नोक के बराबर है और किनारों से ली गई

चौड़ाई है 13 $\frac{1}{3}$ दड तो उसका क्षेत्रफल बताओ ।" [9, VII, 36]

"धनुष के समान आकृति का क्षेत्रफल बाण और प्रत्यचा की लबाई को जोड़ने और फिर बाण की लंबाई के आधे से गुणा करने पर प्राप्त होता है। बाण की लबाई के वर्गमूल के पाँच गुने मे प्रत्यचा की लंबाई के वर्ग को जोडने से धनुष की लंबाई पता चलती है।" [9, VII, 43]

इस सूत्र मे वृत्त खड और इसी वृत्तखड से प्राप्त जीवा की लबाई प्राप्त करने के निकट सूत्र दिये हुए है जहा धनुष, प्रत्यचा, बाण क्रमश वृत्त के चाप, जीवा और व्यास के खड है। व्यास का यह खड वृत्तखड के भीतर होता है और जीवा पर लंब होता है।
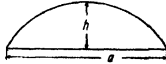
चित्र : 8

"धनुष और प्रत्यचा की लबाई के वर्गों का अंतर पाँच से विभाजित करने पर और फिर इसका वर्गमूल निकालने पर बाण की लंबाई ज्ञात करने के लिए बाण की लबाई के वर्ग को 5 से गुणा करके, धनुष की लबाई के वर्ग से घटाओ और फिर इस अंतर का वर्गमूल निकालो।" [9, VII, 45

$$S_{\text{वृत्त खड}} = (a+h)\frac{h}{2},$$

$$l = \sqrt{Sh^2 + a^2},$$

$$h = \sqrt{\frac{l^2 - a^2}{5}},$$

$$a = \sqrt{l^2 - 5h^2},$$

l, a, h क्रमश चाप, जीवा और व्यास का खड हैं।

इन सूत्रो से निम्नलिखित प्रश्न हल किये जा सकते हैं,

"धनुष के समान आकृति मे प्रत्यचा की लबाई है 26 और बाण की लंबाई 13 है। क्षेत्रफल और धनुष की लंबाई बताओ।" [9, VII, 44]

"यदि इसी धनुष के बाण की लबाई अथवा प्रत्यचा की लबाई अज्ञात हो तो दोनो का मान बताओ।" [9, VII. 46]

सही सूत्र इस प्रकार होंगे,

$$l = \sqrt{6h^2 + a^2},$$

$$h = \frac{\sqrt{l^2 - a^2}}{6}, \qquad [9, VII, 70\tfrac{1}{2}, \quad 73\tfrac{1}{2}, \; 74\tfrac{1}{2}]$$

$$a = \sqrt{l^2 - 6h^2},$$

$$S_{\text{वृत्तखड}} = \frac{ah}{4}\sqrt{10}$$

"पहिए के रिम की जैसी आकृति का क्षेत्रफल भीतरी और बाहरी परिधि के जोड के आधे को पहिए की चौडाई से गुणा करने पर ज्ञात होता है। इसका आधा अर्धचंद्र आकृतियो का क्षेत्रफल होगा।" [9, VII, 7$\frac{1}{2}$].
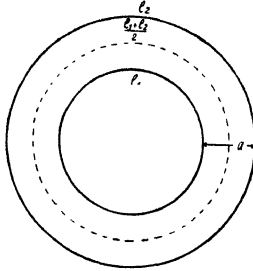
चित्र . 9

यदि l_1, l_2 और a क्रमश भीतरी परिधि, बाहरी परिधि और पहिए की चौडाई हो तो क्षेत्रफल होगा,

$$S = \frac{l_1 + l_2}{2} a$$

महावीर सही क्षेत्रफल दूसरी तरह से प्राप्त करते हैं। [9, VII, 80 $\frac{1}{2}$]

$$S = \frac{l_1 + l_2}{6} a \sqrt{10}.$$

यदि $l = 3d$ हो तो ऊपर दिया गया सूत्र आसानी से समझा जा सकता है।

"एक वृत्त का क्षेत्रफल व्यास के वर्ग से घटाने पर उस आकृति का क्षेत्रफल प्राप्त होता है जो कि चार बराबर परस्पर सटे हुए वृत्तो के भीतरी भाग मे बनती है। [9, VII, 82 $\frac{1}{2}$]

इस तरह, यदि d = व्यास हो तो वक्र आकृति $ABCD$ का क्षेत्रफल होगा,

$$d^2 - \pi \frac{d^2}{4}.$$

वास्तव मे, d^2=वर्ग $EFGH$ का क्षेत्रफल है, $d^2 - \pi \frac{d^2}{4}$ =4 बराबर वक्र आकृतियो (AEB, BFC, CGD,DHA) का क्षेत्रफल है। यह आकृतियाँ क्रमश AOB, BOC, COD और DOA के बराबर हैं अर्थात् यह क्षेत्रफल उन चार बराबर परिधियो वाली भीतर बनी आकृतियों का है जो एक दूसरे को छू रही है।

निम्नलिखित उदाहरण इस सूत्र से हल किया जाता है

यदि वृत्तो का व्यास 4 हो तो चार समान परस्पर सटे हुए वृत्तो के बीच के भाग की आकृति का क्षेत्रफल बताओ।"

[9, VII, 83 $\frac{1}{2}$]
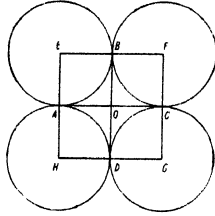
चित्र 10

महावीर के ग्रन्थ के आठवें खंड मे परम्परा से चली आ रही भारतीयों की गणना करने की कला का विवरण है जो कि कई कार्यों से संबंधित हैं, जैसे कुआँ खोदना, लकडी की चिराई, शहतीरों के ढेर मे उनकी कुल संख्या ज्ञात करना, आदि। इसी संदर्भ मे प्रिज्म और गोले के आयतनों का भी उल्लेख किया गया है। प्रिज्म के आकार मे खोदे गये एक गड्ढे का आयतन उसके आधार के क्षेत्रफल को गहराई से गुणा करने पर प्राप्त होगा। चोटी से आधार तक की ऊँचाई को इस आयतन मे जोड़ने पर और उसे मापों की संख्या से विभाजित करने पर प्रिज्म के आयतन का औसत मान प्राप्त होता है। [9, VIII, 4]

इसी सूत्र से हल होने वाले चार प्रश्नों में से एक निम्नलिखित है। "एक गड्ढे के आधार का आकार त्रिकोण है। इस त्रिकोण की प्रत्येक भुजा का माप 32 हस्त और गहराई 36 हस्त और 6 अंगुल है। आकृति का आयतन बताओ। [9, VIII, 6]

गोले का आयतन निम्नलिखित सूत्र से निकाला जा सकता है। अर्धव्यास के घन के आधे को 9 से गुणा करने पर गोले का सन्निकट आयतन प्राप्त होता है। इस प्राप्त संख्या को 9 से गुणा करने पर और 10 से विभाजित करने पर गोले का यथार्थ आयतन प्राप्त होता है। $\left[9, \text{VIII } 88\frac{1}{2}\right]$ इस तरह गोले का सन्निकट आयतन होगा,

$$V = \frac{9}{2} \left(\frac{d}{2}\right)^3,$$

और यथार्थ आयतन

$$V = \frac{81}{20} \left(\frac{d}{2}\right)^3$$

महावीर का सूत्र भास्कर द्वारा लिखे गये सूत्र की अपेक्षा इस सही हल से अधिक मिलता है

$$V = \frac{a}{2} R^3$$

लेकिन श्रीधर के सूत्र से अधिक सही हल निकाला जा सकता है—

$$V = 4R^3 \left(1 + \frac{1}{18}\right)$$ [4, पृष्ठ 154].

उपसंहार

भारतीय गणित मे महावीर का क्या स्थान है ? जैसे कि पहले ज्ञात हो चुका है कि महावीर का ग्रन्थ उससे पहले की नक्षत्र विद्या संबंधी कृतियों मे लिखे गए गणित के खण्डों से बड़ा है। ऐसा संभव है कि महावीर के ग्रन्थ मे दी गई बहुत सी बातें आर्य-भट्ट प्रथम, ब्रह्मगुप्त और भास्कर प्रथम को ज्ञात थी। परन्तु बहुत से नियमों की रचना और उनके उदाहरणों की जानकारी हमे महावीर द्वारा प्राप्त होती है।

"गणितसारसंग्रह" पहला ग्रंथ है जिसमे निम्नलिखित नियम दिये गए हैं :—

विभाजन के नियम

संख्या को वर्ग और घन मे बदलने की विशिष्ट परिस्थितियाँ,

भिन्न के घन और घनमूलो को प्राप्त करने की विधि,

अनुपात के नियम, और

प्रतिशत और सोने की शुद्धता ज्ञात करने के नियम ।

महावीर उन आरंभिक गणितज्ञो मे से है जिन्होंने दो अज्ञात राशि वाली दो रैखिक समीकरणो की प्रणाली, अनिश्चित रैखिक समीकरणो की प्रणाली, और दूसरे घात की अनिश्चित समीकरण प्रणाली को हल करने के नियम बनाए। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई अज्ञात राशि वाले रैखिक समीकरणो को हल करने की मौलिक विधियाँ, चौथे और आठवे घात के समीकरणो के मूल निकालने की विधि, अंकगणित श्रेढ़ी के पहले पद और श्रेढ़ी का अंतर ज्ञात करने की विधि और ज्यामिति श्रेढ़ी के किसी भी पद और योगफल को प्राप्त करने की विधि भी बनाई।

भारतीय गणित के इतिहास मे महावीर ने सबसे पहले बताया कि लघुत्तम समान गुणज क्या है। महावीर ने ही धन संख्याओ के वर्गमूलो के दोहरे अर्थ बताए और यह भी बताया कि ऋण सख्याओ के वर्गमूल नही प्राप्त किए जा सकते है।

महावीर और उनके बाद के गणितज्ञो के ग्रंथो मे गहरा सबध है। विशेषकर श्रीधर पर महावीर का बहुत प्रभाव है। श्रीधर ने "गणितसारसग्रह" से कई नियम और प्रश्न लिए हैं। वैसे ही प्रश्न और नियम आर्यभट्ट प्रथम, श्रीपति, भास्कर द्वितीय और नारायण के ग्रन्थो मे भी मिलते है। सातवी-नवी शताब्दी मे ब्रह्मगुप्त के बाद महावीर के शिष्यो ने जो काम किया वह अभी तक अज्ञात है।

रूसी से अनुवाद—सुश्री मंजरी सहाय

अनुवाद संशोधन—प्रो० हेमचन्द्र पांडे

— ० —

संदर्भ साहित्य

१. अ० प० युश्क्येविच, इस्तोरिया मातेमातिकी व सरयेदनिये वेका, मास्को, १९६१

२ ह० या० व्होइक, कात्की ग्रोचेर्क इस्तोरी मातेमातिकी, इ० ब० पोग्रेबिस्स्की द्वारा जर्मन से अनूदित और सवर्द्धित, मास्को, १९६८.

३. क० अ० रिब्निकोव, इस्तोरिया मातेमातिकी, खण्ड १, मास्को, १९६०

४. श्रीधर, पतिगणित, प्रो० फ० वोल्कोवा तथा अ० इ० वोलोदार्स्की द्वारा सस्कृत से अनूदित, अ० इ० वोलोदार्स्की द्वारा परिचयात्मक लेख और टिप्पणियां
"फीजिको—मतेमातीचेस्किये नऊकि व स्त्रानाख वोस्तोका" १९६६, विपु०, I (IV), पृ० १४१-२४६.

५. अ० प० युश्क्येविच और ब० अ० रोजेन्फ्येल्द, मातेमातिका व स्त्रानाख वोस्तोका व सरयेदनिये वेका—"ईज इस्तोरी नऊकि इ तेख्निकि व स्त्रानाख वोस्तोका," १९६०, विपु० I, पृ० ३४९-४२१.

६. B. Datta, A N Singh, *History of Hindu Mathematics*, Vol. 1—2, Bombay, 1962

७. D E Smith, *History of Mathematics*, Vol 1—2, Boston—London, 1930

८. G. Sarton, *Introduction to the History of Science*, Vol 1—3, Baltimore, 1927—1947.

९. M. Rangācārya, *The Ganita-Sāra-Sangraha of Mahāvīrācārya*, Ed with English translation and notes, Madras, 1912.

१०. W.E. Clark, *The Āryabhatiya of Āryabhata*, An Ancient Indian Work on Mathematics and Astronomic, Chicago, 1930.

११. "*Algebra with Arithmatics and Mensuration from the Sanskrit of Brahmagupta and Bhascara*" Translated by H.T. Colebrooke, London, 1817.

१२. "*The Mahā-Bhāskarīya by Bhāskara I*" Ed. and translated into English with notes and comments by K.S. Shukla, Lucknow, 1960

१३. "*The Mahā-Siddhānta by Āryabhata II*", Ed with explanatory notes by Sudhakara Dwivedi, Benaras, 1910:

१४. "*The Ganita-tilaka by Śripati*", Ed. with comment of Simhatilaka Suri by H.R. Kapadia, Baroda, 1935.

१५. "*The Ganita-Kaumudi by Nārāyana*", Pt. 1, Ed. by Padmakara Dwvedi Jyautishacharya, Benaras, 1936.

Sumatiharṣa Gaṇi and Some Other Jaina Jyotiṣis

—Prof David Pingree

Sumatiharṣa Gaṇi was a member of the Añcalagaccha[1] who flourished in Rajasthan in the early seventeeth century. Between about 1610 and 1621 he composed commentaries on a number of jyotiṣa texts; in this paper, which is based on the information given at the beginning and end of the surviving commentaries, on a perusal of those manuscripts presently accessible to me, and on the colophons, an attempt is made to elucidate the history of his life and to establish his relationships to other members of the Añcalagaccha.

His surviving works are the following :

I. A vṛtti on the *Vivāhapaṭala* composed by Brahmārka or Brahmāditya of the Vālalya family before 1605, the date of the oldest known manuscript;[2] this Brahmāditya may be identical with the author of the *Praśnajñāna*, also named Brahmārka or Brahmāditya, who was the son of Mokṣeśvara and the grandson of Jyotiḥsūdana;[3] he belonged to the Bālambha (read Bālalya ?) family. For the *Vivāhapaṭalavṛtti* I have used the fragmentary manuscript at Harvard, Sanskrit 405, which consists of ff. 5-16 and 18-19 containing I 14-III 41 and III 45-V 10. The colophons to this manuscript, which begin : ity āṃcalikamahopādhyāyaśrī 5 śrīharṣaratnagaṇīnām śiṣyapaṃḍitavādirājasumatiharṣaratnagaṇiviracitāyāṃ, inform us of the fact that Sumatiharṣa's teacher was the obscure Mahopādhyāya Harṣaratna Gani. The only indication of a date in this manuscript is a horoscope which can be dated 5 October 1576 and provides an early terminus post quem; one wonders if it is the horoscope of Sumatiharṣa himself (it is entitled simply śrījanmalagnam).

Planets	*Text (sidereal)*	*Computation (tropical)*
Saturn	Sagittarius	Sagittarius 26°
Jupiter	Leo	Virgo 6°
Mars	Capricorn	Aquarius 7°
Sun	Libra	Libra 22°
Venus	Libra	Libra 25°
Mercury	Libra	Libra 25°
Moon	Pisces	Pisces 27°
Node	Aries	Aries 30°

1. This gaccha, founded in 1166, had branches at Jaisalmer, Udayapura, Jirāualā in Sirohi, and Nagara in Marwar, as well as at other localities in Rajasthan; see K.C. Jain, *Jainism in Rajasthan*, Sholapur 1963, p. 59.
2. D. Pingree, *Census of the Exact Sciences in Sanskrit* (henceforth *CESS*), Philadelphia 1970 and following, A4, 261b.
3. *CESS*, A4, 261b-262b

Note that the ayanāṃśa in 1576 was about 14°, which places all of the tropical longitudes within the sidereal longitudes indicated in the text.

II. The *Subodhā*, a vṛtti on the *Jātakakarmapaddhati* composed by Śrīpati in about 1050.[1] The final verses are edited below on the authority of manuscripts in this British Library (Or. 5208) and in the LD Institute (2538):

śrīmadañcalagaṇo'sti vivekacchedako bhuvi munīśasarojaḥ ı
mānasaḥ pravitatāgamapakṣo dūrato gatakubodhavipakṣah ıı
jayanti hi cidānandā mahānandapradāyinah ı
śrīmanto 'traikakalyāṇasagarā mānasaukasah ıı
āsaṃś ca tacchāsanakāriṇo budhāh
śrīharsaratnābhidhapāthakottamāḥ ı
siddhāntapāṭīganitādikāgama-
jñānapravīṇā viditā yaśasvinaḥ ıı
siddhāntabrahmatulyādigrahasādhanahetave ı
sukhopāyaḥ krto yaiḥ suśiṣyāṇām anukampayā ıı
tacchisyena vinirmame sumatiyuggharṣena satpaddhateḥ
vṛttair daivavidāṃ sukhārthajananī śrīmadguror bhāvataḥ ı
śrīmatpārśvaśivaprasattimibhṛtā padmavatī pattane
varse rāmamunīśasodaśamite subhre 'śvaṣaṣthīdine ıı

These verses begin by extolling the Añcalagaccha and its leader, the well-known and prolific author, Kalyāṇasāgara Sūri, one of whose patrons was Bhoja, Mahārāja of Kaccha from 1631 to 1645.[2] There still survive a number of manuscripts copied during his spiritual rule of the Añcalagaccha, which I list below in chronological order. Praśāsti refers to Amṛtalāla Maganalāla Śāha, *Śrīpraśastisaṅgraha*, Ahmedabad 1936, Vol. 2.

1. Praśasti p. 173 no. 690. *Śāntināthacaritra*. Copied for Māṇikyalābha, pupil of Jayalābha Gaṇi, pupil of Gajalābha Gaṇi, on Thursday 7 November 1611 during rule of Kalyāṇasāgara.

2. LDI 2631. *Punyapālakathānaka* Copied by Kalyāṇasāgara's pupil, Matinidhāna, in 1614.

3. Berlin or. fol. 2591.[3] *Camdapannatti*. Copied by Rājasika, a resident of Navyanagara, at the command of Kalyāṇasāgara on 21 February 1620.

4. LDI 5692. *Jyotiṣaratnamālā* of Śrīpati. Copied by Jñānśekhara, the pupil of Kalyāṇasāgara's pupil, Saubhāgyasāgara Sūri, at Bhujadraṅga in 1620.

5. Praśasti p. 187 no. 745. *Daśavaikālikasūtra*. Copied for Sāṅgāka, a resident of Bhujanagara, in 1621 during the reign of Kalyāṇasāgara.

6. Praśasti p. 188 no. 748. *Simhāsanadvātrimśikā*. Copied by Jñānasāgara, pupil of Vīracandra, at Māṇḍavī on Friday 14 September 1621 during the reign of Kalyāṇasāgara.

7. Praśasti p. 188 no. 749. *Uttarādhyayanasūtra*. Copied for Hīrajīka, a resident of Pattananagara, and given to Lāvanyasāgara by Kalyāṇasāgara on Thursday 3 October 1622.

---

1. The *Jātakakarmapaddhati* was also commented on by Sumatiharṣa's contemporary, Kṛṣṇa, at Kāśī, this was published by J.B Chaudhari, Calcutta 1955. See also *CESS* A2, 55a-55b, and A4, 59b-60a.
2. *NCC* vol 3, pp. 259-260.
3. *CESS* A4, 387a.

8. LDI 7836. *Uttarādhyayanasūtra* Copied for Kastūrāi, wife of Sūrā, a resident of Bhinnamāla, and given to Viśalakīrti Gani by Kalyāṇasagara in 1625.

9. Praśasti p. 195 no. 682. *Uttarādhyayanasūtra*. Given to Ratnasiṃha Gaṇi by Kalyāṇasāgara at Rādrahānagara on Wednesday 20 June 1627.

10 Praśasti p. 209 no. 748. *Candarājāno rāsa*. Copied for Devamūrti, pupil of Premajī Gaṇi, at Bhujanagara in 1641 during the rule of Kalyāṇasāgara.

11. LDI 6255. *Līlāvatī* of Bhāskara[1] with a vṛtti Copied by Bhuvanasekhara Gaṇi, pupil of Bhāvaśekhara Gani, at Bhujanagara in 1652 during the rule of Kalyānasāgara.

12. LDI 3181. *Subhāṣitaślokasaṅgraha* of Sakalakīrti. Copied by Amīmuni 1656 during the rule of Kalyānasāgara

13 LDI 8402. *Sūtrakṛtānga*. Copied Bhavaśekhara Gani, pupil of Vivekaśekhara Gani, at Navānagara in 1657 during the rule of Kalyānasāgara.

14 Prasasti p 226 no 834 *Upadeśacintāmani* with a vrtti Copied by Bhāvaśekhara Gaṇi, pupil of Vivekaśekhara Gani, at Añjāra on 5 November 1660 during the rule of Kalyānasāgara.

These 14 manuscripts establish the fact that Kalyānasāgara was the head of the Añcalagaccha for about 50 years, nos 3 4, and 11 further confirm his interest (and that of the Añcalagaccha) in jyotiḥśāstra. The scribe of nos. 13 and 14, Bhāvasekhara Gani, copied another manuscript of the *Śrīpatipaddhati* with Sumatiharsa's *Subodhā* in the LD Institute (8911) for Bhuvanaśekhara, the scribe of no 11, at Śivapurīnagara in 1693.

The next pādas extol Sumatiharsa's guru, Harsaratna, as a teacher of astronomy (sidhānta) and mathematics (pātīganita) and as the commentator on, among other, unnamed works, the *Brahmatulya* or *Karanakutūhala* of Bhāskara.[2] Unfortunately, no copy of the commentary has yet been located, nor is any other work of Harṣaratna known to be extant.

Finally, Sumatiharṣa states that he completed his vrtti on the *Śrīpatipaddhati* at Padmāvati on 6 October 1616. This Padmāvatī probably the same as that in which Dhanarāja wrote, as we shall see shortly; it has been identified with Puṣkara near Ajmer[3] The epithet śrīmatpārśvaśivaprasattinibhṛtā makes one think it possible that Padmāvatī is Vindhyāvalī (modern Bijauliā) on the Revā River in the Ūparamāla range between Chitor and Bundi; for it was a center of the worship of Pārśvanātha and of Śiva,[4] but so also was Puṣkara More will be said of this below.

III. The *Kārikā*, a tīkā on the *Tājikasāra* composed by Haribhadra or Haribhaṭta, apparently in 1523. I have used manuscript 2541C of the India Office Library, the following edition of the final verses is based on that manuscript together with others at Gottingen (Kielhorn 121) and the LD Institute (6664) :

subodhā śrīpatīmahādevībrahmārkaparvaṇām ।
etasyā vṛttayo jñeyāḥ svasārā hṛdayaṃgamāḥ ॥
varṣe śailahayāṅgabhūparimite māse tathā phālgune
pakṣe śuklatare tithau daśamite śrīkheravāpūrvare ।
rājye śrīmati viṣnudāsanrpater vairībhavṛnde harer
vṛttiṃ śrīguruharsaratnakṛpayā sāmantanāmākarot ॥
gurubāndhavaratnāhvadīrghāyurdhanarājayoḥ ।
nirantarāgrahād eṣā racitā tanutāc ciram ॥

---

1. *CESS* A4, 300b.
2. *CESS* A4, 322a-326a
3. K C. Jain, *Ancient Cities and Towns of Rajasthan*, Delhi 1972, p. 104
4. *Ibid*. pp 400-404.

Sumatiharṣa here lists his previous commentaries as being on the *Śrīpatipaddhati* (no. II), the *Mahādevī* composed by Mahādeva in 1316,[1] the *Vivāhapaṭala* of Brahmārka (no I), and the *Bṛhatparvamālā* composed by Puruṣottama before 1490.[2] It is regrettable that two of these four are no longer in existence. He then states that he completed the *Kārikā* at Kheravā on 21 February 1621 during the reign of Viṣṇudāsa Nṛpati, a ruler of whom I have so far succeeded in discovering no other trace. Sumatiharsa himself here assumes the title Sāmanta or feudatory Finally, he claims to have written this tikā upon the insistence of Ratna, a relative of his guru, Harṣaratna, and of Dhanarāja, whom we will discuss later. The colophon to the *Kārikā* names Harṣaratna's guru Mahopādhyāya Udayarāja Gani, this information is also given in the colophon of the next work.

In the text itself Sumatiharṣa uses as his example the horoscope of an individual born on 7 May 1535 and his fifty-ninth anniversary horoscope, dated 7 May 1594.

Planets	*Text*	*Computation (7 May 1535)*	*Text*	*Computation (7 May 1594)*
Saturn	Cancer	Leo 4°	Cancer	Leo 6°
Jupiter	Aquarius	Pisces 5°	Aquarius	Aquarius 26°
Mars	Pisces	Aries 12°	Gemini	Cancer 5°
Sun	Taurus	Taurus 26°	Taurus	Taurus 26°
Venus	Taurus	Gemini 10°	Taurus	Taurus 23°
Mercury	Taurus	Gemini 6°	Taurus	Gemini 11°
Moon	Cancer	Cancer 25°	Aries	Aries 26°
Node	Cancer	Cancer 21°	Taurus	Taurus 20°

IV. The *Ganakakumudakaumudī*, a commentary on the *Karanakutūhala* composed by Bhāskara in 1183[3] This is the only work of Sumatiharsa's to have been printed; the edition by Mādhava Śāstrī Purohita was published at Bombay in 1901. I have also consulted the two Harvard manuscripts, Sanskrit 37 and 1105. The eighth introductory verse is :

śrīśrīpatīviditakeśavapaddhatī dve
brahmārkaśīghrakhagasiddhim atho vivrtya ।
mālā ca parvasahitā bṛhatīti tasyāh
sārasya tājikadhuro vivṛtī anudyām ॥

This adds to the previously known commentaries on the *Śrīpatipaddhati*, the *Vivāhapatala*, the *Mahādevī* (śīghrakhagasiddhi), the *Bṛhatparvamālā*, and the *Tājikasāra*, one on the *Jātakapaddhati* of Keśava[4] as is the case with so many other of Sumatiharsa's works no manuscript of this one is presently available.

At the end of the ṭikā are the following verses :

vindhyādriṃ nikasā purī suviditā sarvarddhi vṛddhyānvitā
tannetāsti bhaṭah svavaṃśatilakaś caulukyavaṃśodbhavaḥ ।
suśrīvīramade sunītinipuno hemādrir evāparo
yo 'bhūd yāvanabhūpatīn sthiratarān pronmūlya rājanyake ॥

1. *CESS*, A4, 374a-376b.
2. *CESS*, A4, 209b.
3. *CESS*, A4, 322a-326a
4. *CESS*, A2, 66b-70b; A3, 24a; and A4, 64a-65a.

velākhye khalu mantrını prıyavṛṣe dāna prasaktau satı
māṅgalyādrıkalāmite gatavatı śrīvikramāt saṃvatı ।

māse prauṣṭhapade vınāyakatıthau daityejyavāre vare
cakre śrīgurubhāvatah sumatıyuggharṣeṇa caiṣā mudā ॥

The city near the Vindhyādrı one might again guess to be Vindhyavalī, the modern Bijolia in Mewar, this, however, was ruled by the Paramāras, whereas Sumatiharṣa's lord claimed to be a Caulukya. This chieftain, Vīramadeva, a second Hemādrı who beat the Muslims, remains totally obscure to me, though several Rajput rulers bearing this name are known. The date given for the completion of the *Gaṇakakumudakaumudī* is Friday 10 August 1621. Within the text are examples for Saturday 21 February 1596; Thursday 11 March 1596; Monday 13 October 1600, Saturday 20 June 1601; Friday 26 September 1617; Tuesday 11 November 1617; Friday 14 November 1617, Wednesday 29 November 1620; and Tuesday 17 July 1621

V. A vṛtti on the *Horāmakaranda* of Guṇākara[1] Of this unusual work (it seems to be the only extant commentary on the *Horāmakaranda*) there is only one extant manuscript, no. 3368 in the Oriental Institute, Baroda, which is incomplete and which I have not as yet been able to consult. Sumatiharṣa's interest in the *Horāmakaranda* is attested to by his citations from it in his vṛtti on the *Śrīpatipaddhati*; it should also be noted that Rājaśekhara, the pupil of Buddhiśekhara Gaṇi, the pupil of Bhāvśekhara Gaṇı (who is probably the Bhāvaśekhara Gani connected with manuscripts 11, 13, and 14 in the list of manuscripts associated with Kalyānasāgara Gaṇı), copied one of the LD Institute's manuscripts (6510) of Guṇākara's work in 1678—perhaps from Sumatiharṣa's copy.

This raises again the possibility--already apparent in the list of Kalyāṇasāgara manuscripts—of the existence of a "School" of jyotiḥśāstrıns in the Añcalagaccha during the seventeenth century. Further evidence in this direction is provided by the *Mahādevīdīpikā*, a vṛtti on Mahādeva's *Mahādevī* (also commented on by Sumatiharsa, though his vṛtti is lost) composed by Dhanarāja[2] of the Añcalagaccha at Padmāvatī in 1635. This Dhanarāja is undoubtedly the scholar who urged Sumatiharṣa to compose his *Kārikā* on Haribhadra's *Tājikasāra*, and Padmāvatī then is identical with the locality in which Sumatiharṣa wrote his *Subodhā*. For the *Mahādevīdīpikā* I have used manuscript 689 at the Oriental Institute, Baroda.

The upasaṃhāra gives the date, place, and circumstances of Dhanarāja's composition :

varse netranavāṅgabhūparimite jyeṣṭhasya pakṣe site
'ṣṭamyām sadguṇapṛkthamannarayute padmāvatīpattane ।

rājā hy utkaṭavairımāgadamano rāṣṭroḍavaṃśodbhavaḥ
śrīmān śrīgajasiṃhabhūpatıvaro 'stı śrīmaror maṇḍale ॥

jaine śāsana evam añcalagane satsajjanaiḥ saṃstute
kalyāṇodadhısūrayaḥ śubhakarā nandantu bhūmaṇḍale ।

tatsevākarabhojarājaganayo vidvadvarā vācakā
āsan sarvasudhīmanaḥkamalinīsaṃbodhane bhānavaḥ ॥

kheṭānāṃ kı purā kṛtā budhamahadevena yā sāraṇı
tasyā daivavidāṃ sukhārthajananīṃ vṛttiṃ varāṃ vistarām ।

tacchiṣyo dhanarāja evam akarod dharṣeṇa bahvādarair
bahvarthaiḥ sahitāṃ ca paṇḍitapadād āptaprasakter guroḥ ॥

In these verses Dhanarāja informs us that he was the pupil of Bhojarāja Gaṇı (called Bhuvanarāja Gaṇı in the colophon), who honoured Kalyāṇasāgara Sūrı, the ruler of the Añcalagaccha, and that he

1. *CESS* A2, 127b-128b; A3, 31b; and A4, 81a.
2. *CESS*, A3, 124a-124b, and A4, 117b.

completed the *Mahādevīdīpikā* at Padmāvatī on 13 May 1635 while the Rāstroḍa Gajasimha was ruling Marwar (1619-1638); the word harsena in the last verse may be an oblique reference to Sumatiharṣa or to Harṣaratna.

It is necessary now to consider again the question of the identification of Padmāvatī. That Puṣkara was called by this name in Jaina circles seems to be well attested; and Puskara, like Vindhyāvalī, had both Jaina and Śaiva temples. However, Ajmer (and Puṣkara almost certainly went with it) was in the possession of the Moghuls from 1556 till 1720, and this fact makes it difficult to explain Dhanarāja's claim to be writing under Gajasimha in 1635, unless some sort of control over it had been granted to Gajasimha as a faithful supporter of the Moghuls Vindhyāvalī, on the other hand, has some famous Śaiva temples dating back to the period of the Cauhānas, and an image of Pārśvanātha was manifested there in the twelfth century; this fits in very well with the epithet given to Padmāvatī by Sumatiharṣa in the *Subodhā* but neither is it known that Vindhyāvalī was called Padmāvatī nor was it ever in Marwar territory. Thus, the identification of Puṣkara with Padmāvatī must remain the more likely explanation of the facts though Dhanarāja's mention of Gajasimha remains a problem

This is not the only problem of the *Mahādevīdīpikā* For in this work not only does Dhanarāja refer to Thursday 9 March 1637, but also in several different places computations are given for Sirohī in 1663 (the Baroda manuscript was copied a year earlier, in 1662). This date--Śaka 1585 is confirmed by the statement that it is 480 years from Śaka 1105, the epoch of Bhāskara's *Karaṇakutūhala*. The explanation for its occurrence must lie in the fact that 480 years is eight cycles of sixty years, though none of them begins with Mahādeva's epoch, 1318 (Śaka 1240) What Dhanarāja's connections with Sirohī might be are not as yet evident.

But we do possess some remnants of his activities as a teacher of jyotiṣa in the form of manuscripts copied by his successors in the Añcalagaccha· these are listed in the *Śrīpraśastisaṅgraha* utilized previously.

1. p. 238 no. 888. The *Saṭpañcāśikā* of Pṛthuyaśas[1] with the vṛtti of Bhaṭṭotpala.[2] Copied by Subhāgyarāja the pupil of Harsarāja, the pupil of Dhanarāja on Sunday 25 April 1669. The same scribe had the *Jambūcaritra* copied on Saturday 27 March 1669; p 239 no. 884

2. p. 277 no 1061. The *Vasantarājaśakuna* of Vasantarāja with a vṛtti[3] Copied by Jinarāja, the pupil of Hīrānanda, the pupil of Dhanarāja on Wednesday 18 September 1706

One final monument that these Jaina jyotisis of Añcalagaccha have left is one of the manuscripts of Dhanarāja's *Mahādevīdīpikā* preserved at the LD Institute (7129). For it was copied by Buddhiśekhara Gaṇi, the pupil of Bhāvaśekhara Gani, at Rājanagara in 1672 for Rājaśekhara Gani of the Añcalagaccha; Rājaśekhara, as we have seen, was the scribe of a manuscripts of the *Horāmakaranda* and the pupil of Buddhiśekhara. I have little doubt that future explorations of jyotiṣa manuscripts from Rajasthan will reveal much more concerning the activities of these teachers, commentators, and scribes of jyotiṣa works, though Sumatiharṣa will undoubtedly remain their outstanding representative.

1. *CESS*, A4, 212b-221b
2. *CESS*, A4, 277b-281b
3. Probably that of Bhānucandra: see *CESS*, A4, 292a-292b.

Survey of the Work Done on Jain Mathematics

Sh. ANUPAM JAIN

ABSTRACT—In this article the author has drawn the attention of Scholars on the history of Mathematics towards the original source books on ancient Jain Mathematics. Attempt has been made to compile an almost upto-date list of the works done by various researchers on the subject.

The Jain literature, both religious as well as otherwise is indeed extremely vast and varied In line with the corresponding literature of the vedic Hindus and the Buddhists, the Jainas have contributed a great deal to different branches of knowledge such as Grammar, Poetics, Koshas, Stories, Religion, Cosmology, Cosmography and indeed all the physical and social sciences known to us today Language and Literature, Philosophy and Ethics, Fine Arts and Science, History and Culture of India inherited the rich literature of Jainism through the course of development of the original canon over the centuries

Jain philosophy has propounded not only a unique theory of the soul and karma, but its contribution in the field of Science (Mathematics, Physics, Chemistry, Zoology, Botany, Astronomy etc.) is also very significant. The ancient Jain literature composed in Prakrit (Shorshaini & Ardhamagdhi) and Apbhransha languages contains significant material about the traditional as well as modern Mathematics. A systematic development of mathematical thought may be traced in the available Jain literature inspite of the fact that so many mathematical and conanical texts have either been lost or are still lying unexplored it.[1]

Early Jaina Texts[2] Sūrya prajnapti, Sūtrakritānga, Sthānānga Sūtra (Thānam), Bhagwati, Sūtra (Vyākhyā Prajnapti), Jivābhigama Sūtra Uttarādhyayan Sūtra, Anuyogadvara Sūtra, Jamboodvipa Prajnapati and its commentaries written by Shilānka (9th C. A. D.), Abhaideva Sūri (11th C A D.), Hemchandra Sūri (11th C A D.) and Malaigiri (12th C A. D) contain many important rules and descriptions about eight fundamental operations, frictions, combinations and permutations, law of indices, numbers, decimal place value system etc A lot of material about plane as well as solid geometry is also available Tattvārtha Sutra of Umāswami (Umaswati ") is the first authentic religious work of the Jainas composed in Śanskrit Some available commentaries, namely, tattvārtha-dhigama Bhāsya (Umāswati), Sarvārtha Siddhi (Pujyapāda) Tattvārtha Rājvārtka (Akalank), Tattvārtha Shloka Vartic (Vidyānand) etc, contain many Geometrical formula and list of measurement. Concepts of Newton's first law of motion and law of conservation of energy are also available in rough form

1. An idea of the un-explored Jain Mathematical Works can be had from the Author's Article on 'Some unknown Jain Mathematical Works' (Hindi) Ganita Bharti (Bulletin of Indian Soc. for History of Mathematics) 4 (1, 2) PP. 61-71 Jan-Apr.-1982.
2. The Dates of these texts are controversial but in any way it can't be prior than 500 B.C. and later than 500 A.D.

Kasāyapāhuda of Gunadhara (150 B. C.), Shatakhandagama of Pushpadanta and Bhuta Bali (Ist C. A. D.) together with Mahabandha, Tilloyapannatti of Yativrashabha (2nd-5th C. A D), Dhawala of Virasen (9th C.A.D.) Jaidhawala of Jinasen (9th C.A.D.), Gommatsāra, Triloksāra & Khapanasara of Nemichandra Siddhanta Chakravarti (10-11th C.A.D.), Samyaggyan Chandrika with Artha Sandristhi Adhikars of Todarmals (17th C.A.D.) contain not only traditional mathematics, but also a detailed description of set theory, theory of transfinite and transidental numbers, theory of relativity etc. in quite a different terminology. The efforts of Prof L. C. Jain to expose the mathematical aspect of Karma theory, which is parallel to recently developed system, theory are particularly noteworthy.[1]

The work of Jain mathematicians Sridhara[2] (750 A D. ?), Mahavira (850 A.D.) and Simhatilak Suri (13th C.A.D) etc. has been considered very significant in the field of Indian Mathematics So many other mathematical texts and commentries written by Rajaditya (11th C.A.D), Thakkar Feru (1372 A.D.), Shrasthi Chandra, Mahimodaya, Lalchandra, Madhav Chandra, Hemrāja etc. are yet to catch the attention of research workers in this field. In my opinion all these texts or commentaries are of much significance and may help to solve many historical problems. The details about all these manuscripts have been given by the author in another article.[3]

Evidently ancient Jain literature has considerable materials for the research scholars of History of Mathematics.

In the last fifty years lot of work has been done in this subject by known as well as unknown scholars. Not all this has unfortunately appeared in standard Mathematical publication or in the Journals on History of Mathematics. Major portion of this work is spread over various such magzines and souvenirs etc. which are generally not known to most of the scholars in the mathematical world. Hence the beginners in this field have to waste their valuable time and energy in collecting the information about the previous work done in this direction. In the absence of such information about the availability of relevant literature many researchers lose their interest and thus society in deprived of the knowledge gained by their predecessors. It is with this idea in mind that I have made an humble attempt to prepare a list of the works done by different workers and to present the same here for the convenience of other scholars.

The list as such has no claim for completeness. Any suggestions for fresh additions to this list would be most welcome by the author.

1. **Agrawal, M.B. Lal—**

I "महावीराचार्य की जैन गणित को देन"
जैन सि॰ भा॰ (आरा)-24-1 पृ॰ 42-47 (1964)

II. "गणित एवं ज्योतिष के विकास मे जैनाचार्यों का योगदान"
आगरा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत-शोध प्रबन्ध-पृ॰ 377, (1972)

III. "जैन साहित्य में गणितीय एकेतन"
श्री जैन दिवाकर स्मृति ग्रंथ-बीकानेर (1979)

IV. "जैन साहित्य मे सख्या सकलनादि सूचक संकेत"—सिद्धा॰ पं॰ कैलाश चन्द्र शास्त्री अभि॰ ग्रन्थ-रीवा—पृ॰ 402-410 (1980)

1. See Jain, L.C.—Article No. XXIII in the list.
2. His religious belief is still controversial.
3. Jain, Anupam—Articles Nos. V, VI and VIII in the attached list.

V. "जैन गणित में श्रेणी व्यवहार" आ० श्री धर्मसागरजी अभिनन्दन ग्रन्थ-कलकत्ता-पृ० 646-662 (1982)

2. Bag, A.K.
I. 'Mathematics in Ancient and Medievel India Chaukhamba Orientalia—Varanasi p. 344 (1979)

3. Bell, E.T.
I. 'Development of Mathematics' Macgraw hill—New York 1940
II. 'Mahavira's Diophantine System B.C.M.S. (Calcutta) 28 pp. 121-122 (1946)

4. Boyer, C.B.
I. 'A History of Mathematics' John Wiley & Sons—New York 1968

5. Cajori, F.
I. 'History of Mathematics' (IInd revised and enlarged) Macmillan New York—P. 1958

6. Chakravarti, Guru Govind
I 'Growth and Development of combination & Permutation in India' B.C.M S. (Calcutta)—24 pp 7 -88 (1932)
II. 'Surds in Hindu Mathematics' Jou. of Department of Letters—Calcutta Univ. 24 pp 9-58 (1934)

7. Das, S.R.
I. 'Origin and Development of Hindu Numerals' I H O. (Poona)-3, pp. 97-120, 365-75 (1927)

8. Dikshit, S.B.
I "भारतीय ज्योतिष" मूल मराठी कृति का हिन्दी अनुवाद, अनु०—शिवनाथ झारखंडी, हिन्दी साहित्य ग्रन्थमाला, प्रकाशन ब्यूरो—उ० प्र० शासन लखनऊ, पृ० 713 1957

9. Dutt, B.B.
I. 'On the Mahavira's Solution of Rational Traingles and Quadrilaterals' B.C.M.S. (Calcutta) 20-pp. 267-294 (1928)
II. 'The Jaina School of Mathematics' B.C.M.S. (Calcutta) 21—pp. 115-143 (1929)
III. 'Geometry in Jain Cosmography' Quellin and Studien Zur Geschichte der Mathematic-Abtolung B Sec-1 pp. 245-254 (1930)
IV. 'Mathematics of Nemichandra' The Jain Antiquary 1-II pp. 25-44 (1935)
हिन्दी अनुवाद-"नेमिचन्द्राचार्य का गणित" अनु०-अज्ञात, जैन दर्शन पृ० 1-7,एवं 50-54
V. 'A Lost Jaina Treatise on Arthematics' The Jain Antiquary (Arrah) 2-II pp. 38-41 (1936)
VI. 'Sabda Sankhya Pranali' (Bengali) B.S.P.P.—(Bangiya Sahitya Parisad Patrika) B.S. pp 8-30 (1930)
VII. 'Aksara Samkhya Pranali (Bengali),B.S.P.P. B.S. pp. 22-50 (1936)
VIII. 'Jain Sahitya Nama-Samkhya' (Bengali) Bangiya Sahitya Parishada Patrika (B S.P.P) B S. pp. 28-39 (1937)
IX. 'Nama-Samkhya' (Bengali) B.S.-P.P.-B.S. pp. 7-27 (1937)
X. Ankânâm Vamto Gatih (Bengali) B.S.-PP.-B.S. pp. 7-30 (1937)

Dutt B B. & Singh, A.N.
XI. 'History of Hindu Mathematics' (2 Vols) Motilal Bonarsidas-Lahore 1935-1937 IInd ed (Combined) Asia Publishing House New Delhi-1962
प्रथम भाग का हिन्दी अनुवाद. अनु०-डा० कृपाशंकर शुक्ला, प्रकाशन ब्यूरो—उ० प्र० शासन-लखनऊ 1967
XII. 'Hindu Geometry' (ed. by K.S. Shukla) 1. J.H.S.-15 2 pp. 121-199 1980

10. Divedi, Sudhakar
I. "गणित का इतिहास" वाराणसी 1910
II "गणक तरंगिणी" 1889,प० पद्माकर द्विवेदी द्वारा संशोधित संस्करण-वाराणसी 1933

11. Eves, Harward
'An Introduction to History of Mathematics' Holt, Rienholt and Winston—New York. 1964

12. Gupta, R.C.
I. Mahaviracharya on the Premeter and Area of an Ellipse' M.E. (Shiwan) VIII-1 pp. 17-19 (1974)
II. 'Circumference of the Jambuduipa in Jaina Cosmography' I.J.H.S.(Calcutta)-10 1 pp. 38-44 (1975)
III. Mahâvirâcârya's Bule for the Surface Area of a Spherical Segment—A new Interpretation' Tulsi Prajna (Ladnu)-I-2 pp. 63-64 (1975)

IV. 'Jaina Formula for the Area of a Circular Segment, Jain Journal (Calcutta)-XIII-3 pp. 89-94 (1979)

13. Jaggi, O.P.
I. 'Science and Technology in Medieval India Atma Ram & Sons—Delhi pp. 136-209 1977

14. Jain, Anupam
I. "गणित के विकास में जैनाचार्यों का योगदान" (एम० फिल्० योजना विवरण का सारांश—मेरठ वि० वि०, मेरठ) गणित भारती (दिल्ली)-3 (112) पृ० 43-44 (1981)
II. "प्राचीन भारतीय गणितज्ञ" अभिव्यक्ति (मलाबा)-2 पृ० 47-51 (1981)
III. "महावीराचार्य व्यक्तित्व एवं कृतित्व"-जैन सन्देश (मथुरा) शोधांक-47 दिस० पृ० 258-260 (1981)
IV. "षट्त्रिंशिका या षट्त्रिंशतिका" जैन सिद्धान्त भास्कर (आरा)-34 (2) दिस० पृ० 31-40 (1981)
V. "कतिपय अज्ञात जैन गणित ग्रंथ"-गणित भारती (दिल्ली)-4 (1, 2) पृ० 61-71 (1982)
VI. "कन्नड़ साहित्य एवं गणित" सन्मति वाणी (इन्दौर)-11 (10) जून पृ० 8-12 (1982)
VII "जैन गणित के अध्ययन की आवश्यकता एवं उपयोगिता" सेठ सुनहरी लाल जैन अभि० ग्रंथ-पृ० 356-361 (1983)
VIII. 'जैन गणितीय साहित्य' तुलसी प्रज्ञा (लाडनूं) में प्रकाशनार्थ प्रेषित
IX. 'Mahāvirāchārya the men & the Mathematician' Accepted for Publication in Acta Ciencia India (Meerut)

15. Jain, B.C.
I "गणित"—अन्तर्गत भारतीय संस्कृति के विकास में जैन तीर्थों का योगदान" अखिल विश्व जैन मिशन—अलीगंज (एटा) (1961)

16. Jain, B.S.
I. 'On the Ganita-Sar-Sangrah of Mahavira (850 A.D.) I J.H S. (Calcutta)-12 1 pp 17-32 1977

17. Jain, G.R.
I. 'Cosmology Old and New' (2nd Revised) Bhartiya Jnanpith, New Delhi 1974

18. Jain, H.L
I. "भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान" मध्य प्रदेश शासन, साहित्य परिषद्—भोपाल 1962

19. Jain, L C
I. "तिलोयपण्णत्ति का गणित" जम्बूद्वीपपण्णत्ति संग्रहो के साथ प्रकाशित, जीवराज ग्रंथमाला-शोलापुर-पृ० 1-109 (1958)
II "लोकोत्तर गणित विज्ञान के शोध पथ"-भिक्षु स्मृति ग्रंथ—कलकत्ता पृ० 222-231 (1961)
III. "गणितसारसंग्रह (महावीराचार्य कृत) विस्तृत प्रस्तावना, पाठ टिप्पणियों, परिशिष्टों सहित [श्री एम० रंगाचार्य के अंग्रेजी संस्करण (1912) के आधार पर] संपादित एवं अनूदित हिन्दी संस्करण-जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर (1963)
IV. 'On the Jaina School of Mathematics' छोटे लाल स्मृति ग्रंथ—कलकत्ता अंग्रेजी विभाग पृ० 266-292 (1967)
V. 'Researches on Jain Mathematics' Jnanpith Patrika—Sodha Visheshank (N. Delhi) Oct Nov.—pp 33-41 (1969)
VI. 'भारतीय गणित शास्त्र एवं जैन लोकोत्तर गणित" अनुसंधान पत्रिका—जैन विश्वभारती (लाडनूं) अप्रैल-जून, पृ० सं० 20-37 (1973)
VII. 'Mathematical Foundation of Karma : Quantum System Theory' I Anusandhan Patrika, J.V B (Ladnu) Oct-Dec pp 1-12 (1973)
VIII 'Set Theory in Jaina School of Mathematics' I J H S (Calcutta) 8-I pp. 1-27 (1973)
IX. 'Role of Mathematics in Jainology' Jou of Birla Inst of Arts & Music-Prachya Pratibha (Bhopal) 2-1 pp 5-52 (1975)
X. 'Norms of Truth and non-violence for Karma Optimality' Tirthankar (Indore)-1-6 pp. 11-15 (1975)

XI. 'Jaina School of Mathematics (A study in Chinese Influence and Tronsmission)' Contribution of Jainism to Indian Culture-Motilal Bonarsidas-Varanasi pp. 206-220 (1975)

XII. 'Scientific Socio Political Control and Karma System Theory' Tirthankar (Indore)-1-4 pp. 12-15 (1975)

XIII. 'Zero's and Infinities of Ancient India' Tirthankar (Indore)-1-7-12 pp. 93-97, 106 (1975)

XIV. 'On analytic Treatment of Transfinite Numbers in Dhavali' Chainsukh Das Nyaytirth Smriti Granth—Jaipur, pp. 173-188 (1976)

XV. 'On certain Mathematical Topics of Texts' I.J H.S. (Calcutta)-11-2 pp. 85-111 (1976)

XVI. 'Principle of Relativity in Jaina School of Mathematics' Tulsi Prajna (Ladnu)-5 pp 20-28 (1976)
Tirthakar (Indore)-2-1 pp. 13-20, 21 (1976)

XVII. 'The Jaina Theory of Ultimate Particles'
"जैन दर्शन एवं सम्कृति आधुनिक सदर्भ मे" इन्दौर वि०वि०, इन्दौर द्वारा प्रकाशित पत्रिका मे pp. 53-55(1976)

XVIII. 'Distinct Features of Indian Astronomy upto Aryabhatta I' Prachya Pratibha (Bhopal)-IV-2 PP. 118-222 (1976)

XIX. 'Mathematical Foundation of Karma System' Bhagwan Mahavir and his Relevence in Modern Times – Bikaner pp. 132-150 (1976)

XX. "आधुनिक शोध के सन्दर्भ मे जैन गणित"-सन्मति वाणी (1976)

XXI Divergent Sequences Locating Transfinite sets in Triloksar' I. J.H.S (Calcutta)-12-1 pp 59-75 (1977)

XXII. "जैन गणित विज्ञान की शोध दिशायें"-महावीर जयन्ती स्मारिका—ग्वालियर-पृ० 281-290 (1977)

XXIII. 'On the Contributions Transmissions and Influences of the Jaina School of Mathematical Sciences' Tulsi Prajna (Ladnu)-3-4 pp. 121-134 (1977)

XXIV. 'Mathematical Contributions of Todarmala of Jaipur' The Jain Antiquary (Arrah) 30-1 pp 10-122 (1977)

XXV "जैन ज्योतिष एवं ज्योतिष शास्त्री"-मुनि द्वय अभि० ग्रंथ—जोधपुर पृ० 392-399 (1977)

XXVI. 'Crisis in Mathematics Tirthakar (Indore)-3-1 pp. 16-18 (1977)

XXVII "पद्धति परम्परा और जैन गणित विज्ञान" तीर्थंकर (इन्दौर)-6-3 पृ० 73-78 (1978)

XXVIII. "समयसार सप्तदशांगी टीका मे गणितीय न्याय एवं दर्शन" श्रमण (वाराणसी) 29-9 पृ० 6-11 (1978)

XXIX. 'Perspective of System Theoretic Technique in Jaina School of Mathematics between 1400-1800 A.D' I. Jain Journal (Calcutta)-13-2 pp. 49-66 (1978)

XXX. 'System Theory in Jaina School of Mathematics-I I. J.H.S. (Calcutta) 14-1 p. 29-63 (1979)

XXXI "आगमो में गणितीय सामग्री तथा उसका मूल्यांकन-तुलसी प्रज्ञा (लाडनू) खंड-6, अंक-9 पृ० 35-69 (1980)

XXXII. "विज्ञान के परिप्रेक्ष्य मे जैन सिद्धान्त"-पं० बाबूलाल जैन जमादार अभि० ग्रन्थ, बड़ौत पृ० 165-169 (1981)

XXXIII. "सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य का गणितीय उपक्रम"-भ० बाहुबली प्रतिष्ठापना सहस्राब्दि महोत्सव, महाभिषेक स्मारिका, नई दिल्ली पृ०सं० 209-212 (1981)

XXXIV. System Theory in Jainism and Science Paper Readin Jain Vidya Sangosthi Bombay 7-8 Sep. (1982)

XXXV. 'The Jaina School of Exact Science' (Five Volume) Due for Publication

XXXVI. 'The Jaina School of Exact Science' (Five volume) Due for Publication

Jain, L.C & Ved. Prakash

XXXVII. 'आधुनिक गणितीय शोध के सन्दर्भ में जैन गणित का पूर्वेक्षण'-तुलसी प्रज्ञा (लाडनू) 6 पृ० 67-78 (1976)

Jain, L.C. & Jain C.K. XXXVIII. 'Contribution of Jainology to Indian Karma Structure Theory' Tulsi Prajna (Ladnu) 7-5, 6, pp. 1-10 (1982)

XXXIX. "जैनाचार्यों द्वारा कर्म सिद्धान्त के गणित का विकास" आ० श्री धर्मसागरजी अभिनन्दन ग्रंथ, कलकत्ता पृ० 663-672 (1982)

20. Jain, N.C. (Shashtri)

I. "आचार्य नेमिचन्द्र एवं ज्योतिष शास्त्र" जैन सि० भा० (आरा) पृ० 6-11 (1940)

II. "जैन गणित की महत्ता"-नाथूराम प्रेमी अभि० ग्रंथ—इन्दौर पृ० 713-723 (1945)

III. "श्रीधराचार्य" जैन सि० भा० (आरा) 14-1 पृ० 31-42 (1948)

IV "भारतीय ज्योतिष का पोषक जैन ज्योतिष"-वर्णी अभि० ग्रंथ-सागर-पृ० 478-484 (1950)

V. "ग्रीक पूर्व जैन ज्योतिष विचारधारा"-ब्र० चन्दाबाई अभि० ग्रंथ—आरा पृ० 462-466 (1954)

VI, "भारतीय ज्योतिष"-भारतीय ज्ञानपीठ—काशी प्रथम सस्करण 1958

VII. "जैन ज्योतिष साहित्य"-आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रंथ—कलकत्ता पृ० 210-221 (1961)

VIII. "आचार्यकल्प टोडरमल्ल की गणितीय उपलब्धि"-वीरवाणी (जयपुर) टोडरमल्ल विशेषांक-मार्च पृ० 40-53 (1967)

IX. "जैनाचार्यों द्वारा प्रस्तुत गणित की मौलिक उद्भावनायें"-महावीर जयन्ती स्मारिका—जयपुर पृ० 197-216 (1968)

X. 'तिलोयपण्णत्ति में श्रेणी व्यवहार गणित सम्बन्धी दस सूत्रों की उत्पत्ति" जैन सि० भा० (आरा)-22-II पृ० 42-50 (1968)

21. Jain, P. S. I. "अंक लिपि" ब्राह्मी विश्व की मूल लिपि पुस्तक—वीर निर्वाण ग्रंथ प्रकाशन समिति, इन्दौर पृ० 120-127 (1974)

22. Jha, G.S. I. 'Analytical Geometory in Ancient-Hindu Mathematics, M.E. (Shiwan) 12-Sec. B B pp. 25-27, 38 (1978)

23. Jha, P. I. 'A Critical study of Brahmagupta and Mahavira and their contribution in the field of Mathematics' M.E.-12 (Shiwan) Sec. B. pp. 66-69 (1978)

24. Kapadia, H. R.

I. 'Jain Hymns & Magic Square' I.H.Q. (Poona) 10 pp. 148-154 (1936)

II. 'Introduction of Ganit Tilak' Gaikwad Oriental Series-Baroda (1937)

III. 'History of Nagri Numerals' A.B.O.R.I. (Poona)-19 pp. 386-94 (1938, 39)

25. Kaye, G.R. I. 'Indian Mathematics' Thakar Sprink & Co. Calcutta 1925

26. Kline, M. I. 'Development of Mathematical thoughts from Ancient to modern Time' Oxford University - Oxford 1972

27. Kumari, Gaytri

I 'Scope and Development of Mathematics in Ancient India' Doctoral thesis—L.N Mithila Univ. Darbhanga P. 1978

II. 'Some significant Results of algebra in pre Aryabhatian Era' M.E. (Shiwan)-14-B P P. (1980)

28. Lal, R.S. & Sinha, S.R. I. 'Contribution of Mahāvirā Chārya in the Development of Theory of Series' M.E.—(Shiwan)—15-B P.P. (1981)

29. Lishk, S.S. & Sharma S.D.

I. 'The Evaluation of Measures in Jain Astronomy' Tirthankar(Indore)-1-7-12 pp 83-92 (1975)

II. 'Time units in Ancient Indian Astronomy' Tulsi Prajna (Ladhu)-2-7-8 pp. 100-108 (1976)

III. 'Length units in Jaina Astronomy' Jain Journal (Calcutta)-13-4 pp. 143-154 (1979)

IV. 'On Application of Law of Combination in Early Jain Philosophy' Jain Journal (Calcutta) 15-2 pp. 71-73 (1980)

30. Misra, R. D.
I. "वृत्त का गणित"-जै० सि० भा० (आरा)-15-II पृ० 105-111 (1948)
II. 'Positive Integral kinds of Numbers According to the Jaina Concept' The Jain Antiquary (Arrah)-15-I pp. 32-40 (1949)
III. "जैन ग्रन्थों में क्षेत्रमिति"-जैन सि० भा० (आरा)-17-1 पृ० 17-23 (1951)
IV. "जैन गणित की मौलिक उद्भावनायें"-जैन सि० भा० (आरा)-19-I (1953)

31. Mohan, B.
I "गणित का इतिहास"-उ० प्र० हिन्दी ग्रंथ अकादमी-लखनऊ 1965

32. Muni Mahendra Kumar I
I. "प्रक स्मृति के प्रकार"-आत्मा राम एण्ड संस-दिल्ली पृ० 35 1961

33. Muni Mahendra Kumar II
I. "विश्व प्रहेलिका"-जवेरी प्रकाशन-बम्बई पृ० 17—363 1969

34. Munshi, R. L. I
I 'Geological Clock and Time Concept in Jain Mythology' Tulsi Prajna (Ladnu)-2 pp 59-62 (1975)

35. Ramanujacarya N.
I. 'The Trisatika of Sridharacharya' B.M. 13, pp. 203-217 (1913)

36. Roy, D M.
I. 'The Culture of Mathematics among Jainas of Southern India in the 9th Century' A.B.O. R. I (Poona) 8-pp. 143-147 (1927)

37. Sardha, Srinivansan
I. 'Mensuration in Ancient Ind ia' Ajanta Publication—Delhi-P. 1979

38. Saraswati, T.A.
I. 'The Mathematics in First Four Mahadhikars of Trilok Prajnapti' J. of Ganganath Research Institute—8 pp. 27-51 (1961)
II 'Srediksetras or Diagramatical Representation of Mathematical Series' J.O.R 1-Madras-28-1.4 pp. 74-85 (1961)
III. 'Mahavira's Treatment of Series J. of Ranchi Univ. (Ranchi) pp. 39-50 (1967)
IV. 'Development of Mathematical ideas in India' I.J.H.S (Calcutta)14 pp. 59-78 (1974)
V. 'Geometry in Ancient and Medieval India' Motilal Banarsidas-Delhi. 1979

39 Sen, S N.
I. 'Mathematics' A concise History of Sciences in India ed—By D. M. Bose—I.N.S A (Delhi) pp 136-212 (1971)

Sen, S. N. Bag. A.K. & Sharma, S.R.
II. 'A Bibliography of Sanskrit Works on Astronomy and Mathematics' Indian National Science Academy—New Delhi p. 23-226 1966

40. Shah, Amba Lal
I "गणित"-जैन साहित्य का वृहद इतिहास-भाग-5 "लाक्षणिक साहित्य" पा० वि० शो० स०-वाराणसी पृ० 160-166 (1969)

41. Shastri, Srikant
I. 'Date of Sridharacharya' The Jain Antiquary (Arrah)-13-II pp. 12-17 (1947)

42. Shukla, K S.
I. 'On Sridhar's Rational Solutions of $NX^2+1=Y^2$ Ganita (Lucknow)—1-II pp. 1-12 (1950)
II. 'Introduction of Patiganita : Patiganita of Sridhara (ed with note, com ment and English translation by himself)—Lucknow University—Lucknow (1959)
III. 'Mathematics in India in the Seventh A.D. as found in Bhaskara-I Commentary on Aryabhatiya' Ganita-22-2 pp 61-78 23-1 pp. 57-72 (1971-1972)
IV. 'Hindu Geometry By B.B. Dutt & Singh A.N. I. J.H.S. (Calcutta)-15-2 pp 121-188 (1980)

43. Singh, A.N.

I. 'On the Hindu Method of Root Extra B.C.M.S (Calcutta)-18 pp. 123-140 (1926)

II. 'Mathemaitcs of Dhawala : Shatkhandagma (with Dhawala Tika) Book—IV —Amarooti pp I-XXIV (1942)
हिन्दी अनुवाद 'धवला का गणित" षट्खण्डागम (धवला टीका सहित) भाग 5, अमरावती, पृ० 1-28

III. 'History of Mathematics in India from Jaina Sources' The Jain Antiquary (Arrah)-15-11 pp. 46-53, 16-11 pp. 55-69 (1949)
हिन्दी अनुवाद—"भारतीय गणित इतिहास के जैन स्रोत"-वर्णी अभि० ग्रन्थ, सागर, पृ० 485-504 (1950)

44. Sinha, S.R.

I. 'Contribution of Ancient Indian Mathematician' M E. (Shiwan) XV-Sec B-pp. 69-81 Sec-28-1 (1980)

45. Smith, D.E.

I. 'Ganit Sar—Sangrah of Mahaviracharya' 'Bibliotheca Mathematica' 3, pp. 106-109 1908

II. 'Introduction of G.S.S G S S-English Edition-Madras Hindi Edition-Sholapur(1912)

III. 'History of Mathematics—2 Vols. Dowar Publication-New York—Reprinted (1925-1958)

46. Srinivasiengar, C.N.

I. 'The History of Ancient Indian Mathematics' World Press—Calcutta 1967

47. Swami, S.P.

I. "आचार्य महावीर की रेखागणितीय उपलब्धियां"-पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री अभि० ग्रन्थ, रीवा पृ० 417-425 (1980)

48. Thibout, G.

I. 'On the Surya Prajnapati' J of Asiatic Soc. of Bengal-49 pp. 7-27, 181-206 (1908)

49. Upadhyaya, B L.

I. "प्राचीन भारतीय गणित"-विज्ञान भारती-दिल्ली 1971

50. Varni, Jinendra

I "गणित"-जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-भाग-2, भारतीय ज्ञानपीठ-काशी (1974)

51. Vijai Raghvan, T.

'Jaina Magic Square' M S —2, pp. 97-102 (1941)

52. Volodarsky, A. I

I. 'Remarks on Treatise of Sridhara's' Physico Mathematicheski Nauiki Va Stranakh Vastoka Vipusk—Moscow—I-(IV)—pp. 160-181, 182-246 (1966)

II. 'About Treatise of Mahavira' Physics Mathematiches Nauki va strankh Vastoka—Vipusk II (V) Mascow pp 98-130 (1968)

53. Zaveri Z.S.

I. 'Theory of Atom in Jain Philosophy' Jain Vishva Bharti—Ladnu 1974

संस्कृत व्याकरण को जैन आचार्यों का योगदान

—डॉ० सूर्यकान्त बाली

भूमिका :—भारतीय विद्या के विविध पक्षो के वैज्ञानिक विवेचन मे प्रारम्भ से ही दो धारायें सक्रिय एवं प्रभावशाली रही हैं—ब्राह्मणधारा और श्रमणधारा[1]। इनमे से ब्राह्मणधारा न्याय, साख्य, वेदान्त आदि अनेक प्रकार के मतवादों तथा उन मतवादों द्वारा भारतीय विद्याओ पर डाले गये सूक्ष्म किन्तु अत्यन्त निर्णायक प्रभाव के रूप में परिलक्षित होती है, दूसरी ओर श्रमणधारा की अभिव्यक्ति मुख्यत दो प्रकार के वादो मे घनिष्ट रूप से जुडी हुई है—बौद्ध मत और जैन मत।[2] इन दोनो मतो मे से यदि जैन मत को श्रमणधारा का वास्तविक प्रतिनिधि एव उत्तराधिकारी माना जाये तो इसमे कोई विसंगति नही मानी जानी चाहिए। इसके दो कारण हैं: एक कारण यह है कि प्राचीनता की दृष्टि मे जैन परम्परा काल के उस खण्ड को स्पर्श करती है जिसे अद्यावधि उपलब्ध ऐतिहासिक खोजो के सदर्भ मे इतिहासातीत कहा जा सकता है[3] जबकि बौद्ध परम्परा की शुरुआत काफी विलम्ब से हुई। दूसरा कारण यह है कि निरन्तरता की दृष्टि मे भी जैन परम्परा ने बिना किसी विराम के प्रत्येक काल म भारतीय विद्या को अपना निश्चित और निरन्तर योगदान किया है जो अभी तक जारी है जबकि एक विशेष काल के बाद बौद्ध परम्परा धार्मिक दृष्टि से प्रसारवादी और भारतीयता की दृष्टि से तटस्थता-वादी हो गयी।[4] इसलिए जहाँ जैन परम्परा भारतीय विद्याओं के सवर्धन मे सम्पृक्तता और गुणवत्ता के साथ सहस्राब्दियो से लगी हुई है वहा बौद्ध परम्परा इन दोनो विशेषताओ का दावा शायद नही कर पाती।

सस्कृत व्याकरण के विकास मे जैन आचार्यों के योगदान का यदि अध्ययन किया जाय तो इसमे सपृक्तता और गुणवत्ता इन दोनो गुणो की निरन्तर प्राप्ति होती है। इस विशिष्ट योगदान का ऐतिहासिक अध्ययन करने से पूर्व कुछ प्रारम्भिक बातो का विमर्श कर लेने से हमारा अध्ययन अधिक प्रासगिक और दिशा-निर्दिष्ट हो जायेगा।

किसी भी विद्वान का किसी भी विद्या से जुडना दो दृष्टियो मे हो सकता है। एक दृष्टि यह हो सकती है कि वह विद्वान उस विद्या के प्रति इसलिए आकृष्ट हो कि वह अपने विशिष्ट जीवन दर्शन के सदर्भ मे उस विद्या का अध्ययन करना चाहता है। भार-तीय काव्य शास्त्र मे अनेक आचार्यों ने अपने विशिष्ट जीवन दर्शन के सन्दर्भ मे इस शास्त्र का अध्ययन किया और उसे अपनी दार्शनिक दृष्टि के अनुसार परिवर्तित करना चाहा।[5] अभिनवगुप्त, महिमभट्ट आदि के नाम इस दृष्टि मे प्रख्यात नाम हैं।[6] व्याकरण मे भर्तृहरि द्वारा भाषाई चिन्तन को शब्द-ब्रह्मवाद की ओर मोड देना उनकी अद्वैत वेदान्त के प्रति निष्ठा के परिणामस्वरूप सम्भव हो पाया।[7] व्याकरण मे नागेश के अपने योगदान पर उसकी तन्त्रनिष्ठा का स्पष्ट प्रभाव माना जाता है।[8] अश्वघोष द्वारा "सौन्दरनन्द" और "बुद्धचरित" के माध्यम से काव्य क्षेत्र मे पदार्पण महात्मा बुद्ध के विचारो के प्रसार की एकान्त इच्छा के परिणाम स्वरूप ही किया गया प्रतीत होता है।[9] दूसरी दृष्टि यह हो सकती है कि उस विद्वान का उस विशिष्ट विद्या के प्रति सम्मान शुद्ध रूप से वस्तुपरक विद्यानुराग

---

१. तु० भारतीय दर्शन में आस्तिक, नास्तिक शब्दों पर विचार— डा० सूर्यकान्त, सस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास १९७२ पृ० ३८२

२ तु० दासगुप्त, एम० एन० भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग एक, १९७८, पृ० १७८.

३. तु० मिश्र, उमेश भारतीय दर्शन १९६४, पृ० ९८

४ Majumdar, R.C. History and Culture of Indian People. Vol II 1968 p. 390-91.

५ कृष्णकुमार, अलंकार शास्त्र का इतिहास १९७५, पृ० ३२-३४

६ वही, पृ० १५७.

७. त्रिपाठी रामसुरेश, संस्कृत व्याकरण दर्शन १९७२ पृ० ४८.

८ शुक्ल कमलेश प्रसाद, परमलघुमंजूषा १९६१, सस्कृत भूमिका भाग पृ० १२, १३

९. कृष्ण चैतन्य, सस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास १९६५ पृ० २६३-६४.

के कारण ही सम्भव हो पाया हो। पाणिनि, पतंजलि, वामन-जयादित्य, भट्टोजिदीक्षित सदृश विद्वानों का व्याकरण अध्ययन इसी दृष्टि-कोण से किया गया प्रतीत होता है।

इस दृष्टि से जैन वैयाकरण किस वर्ग मे रखे जाने चाहिए यह अध्ययन का एक रोचक विषय हो सकता है। जैन सम्प्रदाय अपनी विशिष्ट दार्शनिक मान्यताओं तथा नैतिक निष्ठाओ के कारण एक विशिष्ट प्रकार के चरित्र का स्वामी है . अनेकान्तवाद जैन विचारधारा में धुरीभूत स्थान रखता है। परन्तु यह एक आश्चर्य का विषय है कि किसी भी जैन वैयाकरण ने जैन जीवन दर्शन को सुप्रमाणित करने के लिए व्याकरण के क्षेत्र मे प्रवेश किया हो इसके तात्विक प्रमाण प्राप्त नही होते। जिस प्रकार अभिनव गुप्त ने अपनी काश्मीर शैवमत की सम्बन्धी मान्यताओ के अनुरूप भरत के नाट्यरस का कायाकल्प कर दिया, या भर्तृहरि ने अपने वेदान्ती जीवन दर्शन को शब्द शास्त्र में ढाल दिया, उसी प्रकार पूज्यपाद देवनन्दी, पाल्यकीर्ति या हेमचन्द्र ने भी जैन जीवन दशन को जीवन की एक प्रमुख विद्या, भाषाई चिन्तन मे, अर्थात् व्याकरण मे आरोपित कर दिया हो, इसके प्रमाण नही मिलते। विशिष्ट जीवन दर्शन के अनुसर्ता होते पर भी जैन आचार्यों ने व्याकरण दर्शन मे इस प्रकार का परिवर्तन करने का विचार क्यो नही किया, यह विद्वानों के लिए एक खोज का विषय हो सकता है। प्रमुख रूप से यही कहा जा सकता है कि जैन आचार्यों ने व्याकरण का जो गहन अध्ययन किया है वह व्याकरण विद्या के तटस्थ अध्ययन के विचार से ही किया है।

इसी स्थान पर प्रश्न उठ सकता है कि यदि उपर्युक्त पृष्ठभूमि के महत्त्व को मान लिया जाये तो संस्कृत व्याकरण को जैन आचार्यों के योगदान का पृथक अध्ययन करने की क्या आवश्यकता है। अर्थात इस योगदान में ऐसा कौन सा जैन तत्व है जिसके आधार पर उसका पृथक अध्ययन होना चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन बातें महत्त्वपूर्ण हैं—

१. भारत मे जैन लेखकों ने बौद्धो के समय एक विशिष्ट भाषा शैली और पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण किया। जैन आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थो मे इसके दिग्दर्शन स्पष्ट प्राप्त होते है। यद्यपि व्याकरण शास्त्र मे विशिष्ट भाषा शैली प्रस्तुत कर पाना या समग्र रूप से ही नूतन पारिभाषिक शब्दावलि दे पाने का अवकाश लगभग नही था क्योंकि पाणिनि द्वारा इन दोनों दृष्टियों से इतनी अधिक परिपक्वता प्रदान कर दी गई थी और परवर्ती टीकाकारो द्वारा उसका परिपोषण इतना अधिक कर दिया गया था कि उसमे नवीनता न तो सम्भव थी और न ही विशेष वांछनीय रह गई थी। फिर भी जैन आचार्यों ने उसे एक विशिष्ट रूप देने का प्रयास किया।

२. जैन आचार्य, बौद्धो के समान, वेद-विरोधी थे। इसी आधार पर उनका वैदिक भाषा मे भी कोई लगाव न था। संस्कृत से विशेष अनुराग न होने पर भी संस्कृत भाषा का अध्ययन करना उनकी विवशता थी क्योंकि प्राचीन समय मे भारत के बौद्धिक जगत पर संस्कृत का पूर्ण आधिपत्य था। संस्कृत का बहिष्कार कर देने मे जैन आचार्यों का स्वय बहिष्कृत हो जाने का खतरा विद्यमान था। पाणिनीय व्याकरण पढ़ने से वैदिक भाषा का अध्ययन स्वभावत करना ही पडता था। अत संस्कृत के, वैदिक भाषा के नियमो की रचना से विहीन, व्याकरण की रचना करना जैन वैयाकरणो का मुख्य उद्देश्य रहा। इस विशिष्ट कारण के प्रति समर्पित होने से जैन संस्कृत व्याकरण एक पृथक वर्ग उचित ही माना जा सकता है।

३ जैन विद्वानो मे जहाँ संस्कृत के प्रति वैराग्य था वहाँ प्राकृत अपभ्रंश के प्रति उनके मन मे विशेष अनुराग था। संस्कृत व्याकरण की रचना के माध्यम से जैन आचार्यों की प्रवृत्ति प्राकृत अपभ्रंश के व्याकरण की रचना की ओर शनैः शनैः पर निश्चित रूप से हुई। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने सिद्ध हैम शब्दानुशासन मे संस्कृत भाषा के नियमो के बाद अन्तिम आठवे अध्याय मे प्राकृत अपभ्रंश भाषा के नियम दिये हैं। प्रथम प्रयास न होने पर भी इस दिशा-निर्देश के बाद मानो जैन आचार्यों को संस्कृत व्याकरण न लिखने और प्राकृत अपभ्रंश व्याकरण लिखने का सुअवसर मिल गया। इस दिशा निर्देशक प्रवृत्ति के कारण जैन संस्कृत वैयाकरणो का स्कूल अपने पृथक अस्तित्व का उचित दावा कर सकता है।

इस प्रसंग मे एक प्रश्न और भी उभर कर सामने आता है। केवल वैदिक भाषा के प्रति वैराग्य के कारण पाणिनीय व्याकरण का आश्रय लेना जैन आचार्यों को रुचिकर न लगता था, यह पर्याप्त कारण प्रतीत नही होता। जैन आचार्यों द्वारा पृथक् व्याकरण सम्प्रदायो की स्थापना मे एक और कारण भी माना जा सकता है। ब्राह्मण धारा और जैन धारा के विद्वानो मे परस्पर बौद्धिक मतभेद प्राय: एक दूसरे के ऊपर व्यंग्यबाण फेंकने की सीमा तक भी पहुँच जाया करते थे। प्रारम्भ मे विभिन्न विद्याओं पर जैन ग्रन्थो के अभाव के कारण जैन विद्वान ब्राह्मण धारा के ग्रन्थों को पढ़ने के लिए विवश थे जिसके लिए उन्हे प्राय इस प्रकार की कहानियां सुननी पड़ती थी कि जैन विद्वानो के पास अपने ग्रन्थ नही है। इस प्रकार की धारणा जैन वैयाकरण बुद्धिसागर सूरि ने 11 वी सदी मे रचित अपने पंचग्रन्थी व्याकरण (अपर नाम शब्द लक्ष्म) मे व्यक्त की है[1]। जहां वे लिखते है . -

१. प्रभावकचरित, ४०३, ४०४.

"शैरवधीरिति यत्तु प्रवृत्तिराययोरिह ।
तत्र दुर्वचवाक्यानि प्रवृत्तेः सन्निबन्धनम् ।।
शब्दलक्ष्म प्रमालक्ष्म यदेतेषां न विद्यते ।
नादिमन्तस्ततो ह्येते परलक्ष्मोपजीविनः ।।

इस श्लोक से यही तात्पर्य निकलता है कि ब्राह्मणों के द्वारा किये जाने वाले तिरस्कार को निरस्त करने के दृष्टिकोण से जैन आचार्यों की संस्कृत व्याकरण रचना मे प्रवृत्ति हुई ।

जैन संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किस प्रकार से किया जाना चाहिए यह भी विमर्श का एक आवश्यक विषय है । जैसा कि प्रायः प्रत्येक सम्प्रदाय के साथ होता ही है, जैन सम्प्रदाय के विद्वानो ने भी जैन आचार्यों द्वारा संस्कृत व्याकरण लिखे जाने की प्राचीनता को बहुत दूर तक ले जाने का प्रयास किया है । यह प्रयास तथ्यपूर्ण है या नही यह विवाद का विषय हो सकता है; परन्तु इतना निर्विवाद है कि जैन सम्प्रदाय का प्रथम उपलब्ध प्रामाणिक व्याकरण छठी शताब्दी ई० मे जैनेन्द्र व्याकरण के रूप मे सामने आता है । जैनेन्द्र से पूर्व भी जैन व्याकरण की कोई न कोई परम्परा निश्चित रूप से रही होगी और जैनेन्द्र के उपरान्त तो यह परम्परा निश्चित रूप से है । इसलिए जैनेन्द्र को केन्द्र बिन्दु मानकर जैन संस्कृत व्याकरण की रचना तीन वर्गों में रखकर की जा सकती है । **जैनेन्द्र पूर्ववर्ती जैन व्याकरण, जैनेन्द्र व्याकरण और जैनेन्द्र परवर्ती जैन व्याकरण।** इन तीन वर्गों मे रखकर अध्ययन करने से जैन संस्कृत व्याकरण का अध्ययन एक निश्चित परिधि मे रहकर तथ्यपूर्ण ढग से किया जा सकता है ।

संस्कृत व्याकरण को जैन आचार्यों का योगदान दो प्रकार से हुआ है । एक इस रूप मे कि स्वयं जैन आचार्यों ने व्याकरण सम्प्रदायों की यथासम्भव प्रतिष्ठा की । इन व्याकरण ग्रन्थों को हम विशुद्ध रूप से जैन व्याकरण कह सकते हैं । जैनेन्द्र, शाकटायन, हैम सम्प्रदाय इस कोटि के जैन व्याकरण है । दूसरे रूप मे जैन आचार्यों का संस्कृत व्याकरण को योगदान इस प्रकार रहा है कि अनेक जैन आचार्यों ने जैनेतर व्याकरण सम्प्रदायो मे टीका, वृत्ति, भाष्य आदि के रूप मे अनेक ग्रन्थ लिखे हैं । इन ग्रन्थो का अपना महत्व है । विशेष रूप से कातन्त्र और सारस्वत व्याकरणो पर जैन आचार्यो के विविध प्रकार के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं । निष्कर्षतः जैन आचार्यों के संस्कृत व्याकरण को योगदान का अध्ययन दो प्रकार से हो सकता है (क) जैन व्याकरण, जिसमे जैनेन्द्र व्याकरण को केन्द्र मानकर पूर्ववर्ती और परवर्ती, इस प्रकार त्रिविध अध्ययन हो सकता है, तथ. (ख) जैनेतर व्याकरण सम्प्रदायो पर जैन आचार्यों के ग्रन्थ । प्रस्तुत निबन्ध मे अध्ययन के लिए यही आधार अपनाया गया है ।

(क) जैन व्याकरण

(१) जैनेन्द्र पूर्ववर्ती जैन व्याकरण

आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी द्वारा रचित जैनेन्द्र व्याकरण से पूर्व जैन व्याकरणो की एक लम्बी परम्परा रही थी । दुर्भाग्य से इस परम्परा का एक भी व्याकरण ग्रन्थ आज उपलब्ध नही होता । इसलिए कुछ विद्वानों ने ऐसी मान्यता रखी है कि ऐसी किसी भी परम्परा का कोई भी अस्तित्व कभी नही रहा ।[१] परन्तु जिस प्रकार के उल्लेख एवं सन्दर्भ इस परम्परा के विषय में प्राप्त होते हैं उससे इस परम्परा की प्रामाणिकता ही सिद्ध होती है ।

आचार्य देवनन्दी ने अपने जैनेन्द्र व्याकरण मे अपने से पूर्ववर्ती छह वैयाकरणो के मत नामोल्लेख पूर्वक उद्धृत किये हैं । वे हैं—श्रीदत्त,[२] यशोभद्र,[३] भूतबलि,[४] प्रभाचन्द्र[५], सिद्धसेन[६] और समन्तभद्र.[७] । इसी प्रकार आचार्य पाल्यकीर्ति ने अपने शाकटायन व्याकरण में इन्द्र[८] सिद्धनन्दी[९] और आर्यवज्र[१०] के मतो का नामोल्लेखपूर्वक प्रयोग किया है ।

१. प्रेमी नाथूराम, जैन साहित्य और इतिहास, प्रथम संस्करण पृ० १२०
२. गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् १,४ ३४
३. कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य २,१,९९
४. राद् भूतबलेः ३,४,८३.
५. रात्रेः कृतिप्रभाचन्द्रस्य, ४,३,१८०.
६. वेत्तेः सिद्धसेनस्य, ५,१,७
७. चतुष्टयं समन्तभद्रस्य, ५, ४, १४०
८. जरायां इस् इन्द्रस्याचि, १, २, ३७.
९. शेषात् सिद्धनन्दिनः, २, १, २२९.
१०. ततः प्राग् आर्यवज्रस्य, १, २, १३

इन प्राचीन वैयाकरणों के नामों के बारे मे नाथूराम प्रेमी ने अपने ग्रन्थ जैन साहित्य और इतिहास[1] में लिखा है कि इनमें से किसी ने व्याकरण की रचना की होगी इसमे संदेह है। इस बारे मे तर्क देते हुए उन्होने लिखा है कि सम्भवत. इन विद्वानों ने कुछ विशेष प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया होगा जिन्हें जैनेन्द्र आदि मे आदरपूर्वक उद्धृत कर दिया गया है। परन्तु यह विचार वैज्ञानिक प्रतीत नहीं होता। देवनन्दी और पाल्यकीर्ति ने जिस प्रकार से शब्द रचना के सन्दर्भ मे इन नामो का उल्लेख किया है, वे निश्चित रूप से वैयाकरणों के नाम ही सिद्ध होते है। किसी साहित्यकार द्वारा प्रचलन से हटकर प्रयुक्त किये गये रूपो का इस प्रकार से नामोल्लेख पूर्वक प्रयोग करने की परम्परा सस्कृत व्याकरण मे नही है, इसके विपरीत वैयाकरणो के मतान्तरो को आदर पूर्वक प्रस्तुत करने के लिए उनके नामों का उल्लेख करने की स्वस्थ परम्परा सस्कृत व्याकरण मे है। पाणिनि ने ऐसे अनेक नाम उद्धृत किये हैं जो केवल वैयाकरणों के नाम हैं। अत. प० मीमासक[2] के साथ-साथ हम भी इस बात से सहमत है कि ये नाम प्राचीन वैयाकरणों के हैं। पर दुर्भाग्यवश जैनेन्द्र पूर्ववर्ती व्याकरण की यह परम्परा अब पूर्णतया लुप्त हो चुकी है। इसमे भी कोई सन्देह नही कि ये सभी आचार्य जैन परम्परा के ही वैयाकरण हैं। जैनेतर व्याकरण ग्रन्थो मे उनका उल्लेख न होना यह सिद्ध करता है कि ये सभी जैनेन्द्र पूर्ववर्ती वैयाकरण जैन परम्परा के आचार्य थे। सस्कृत व्याकरण की परम्परा मे अब तक की खोजो मे ऐसा ज्ञात होता है कि अतिप्राचीन काल से भारत मे वैयाकरणों के दो वर्ग थे —ऐन्द्र और माहेश्वर। इन दोनो सम्प्रदायो की स्थापना क्रमश इन्द्र और महेश्वर नामक वैयाकरणो ने की थी।[3] इन दोनों सम्प्रदाय प्रवर्तक वैयाकरणों के नाम शनै शनै इन नामो वाले देवताओ के साथ इस प्रकार घुलमिल गये कि ये दोनो नाम ऐतिहासिक नामो के स्थान पर काल्पनिक नाम प्रतीत होने लगे। परन्तु व्याकरण की परम्परा मे ये नाम किसी न किसी रूप मे सम्प्रदाय प्रवर्तक वैयाकरणो के रूप मे उद्धृत होते रहे।[4]

ऐसा माना जाता है कि पाणिनि माहेश्वर सम्प्रदाय के आचार्य थे और वार्तिककार कात्यायन ऐन्द्र सम्प्रदाय के वैयाकरण थे।[5] पाणिनि द्वारा चौदह महेश्वर सूत्रो को यथावत् ग्रहण करना इसी तथ्य का पोषक है। विद्वानो की ऐसी धारणा बनी है कि माहेश्वर सम्प्रदाय के अनुयायी पाणिनि के सूत्रो पर ऐन्द्र सम्प्रदाय के अनुयायी कात्यायन द्वारा वार्तिको की रचना सम्भवत दोनो सम्प्रदायो को एक करने का प्रयास था।[6] कुछ विद्वान ऐन्द्र व्याकरण को जैन व्याकरण का आदि ग्रन्थ सिद्ध करते है।[7] ऐसा कहा जाता है कि भगवान् महावीर ने इन्द्र के लिए जिस व्याकरण की रचना की थी उसे उपाध्याय लेखाचार्य ने ग्रहण किया और लोक मे उसका प्रचलन ऐन्द्र व्याकरण के रूप मे किया। एक विशेष कारिका[8] के आधार पर इस धारणा को पुष्ट करने का प्रयास जैन परम्परा मे किया जाता रहा है—

"सक्को अतस्समक्खं भगवत आसणे निवेसित्ता।
सहस्स लक्खणं पुच्छ वागरणं अवयवा इद ॥"

ऐन्द्र व्याकरण की रचना कब हुई इस सम्बन्ध मे कुछ भी निश्चित रूप से कहना कठिन है। दिगम्बर जैनाचार्य सोमदेवसूरि ने इन्द्र व्याकरण का उल्लेख किया है।[9] १७ वी सदी मे हुए विनयविजय उपाध्याय और १८ वी सदी मे हुए लक्ष्मीवल्लभमुनि ने जैनेन्द्र व्याकरण को ही ऐन्द्र व्याकरण मान लिया है।[10] परन्तु यह मत प्राय स्वीकार नही किया गया है। इसका कारण यह है कि महावीर स्वामी का जो काल प्राय स्वीकार कर लिया गया है, अब तो पाणिनि का व्याकरण ही उसका समकालीन माना जा सकता है, हालांकि मीमासक ने पाणिनि का काल भी २९०० ई० पू० स्वीकार किया है।[11] इन्द्र प्रोक्त व्याकरण पाणिनि से कही प्राचीन है इसमे किसी भी विद्वान् ने

---

१ प्रथम सस्करण पृ० १२०

२ मीमांसक, सस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १, वि० स० २०२०, पृ० ५००-५०१.

३. मिश्र वेदपति, व्याकरण-वार्तिक —एक समीक्षात्मक अध्ययन, १९७०, पृ० ६

४. (क), बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्य वर्षसहस्र प्रतिपदोक्ताना शब्दाना शब्दपारायण प्रोवाच। नान्त जगाम। महाभाष्य, पस्पशाह्निक।
(ख) इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि।
भट्टोजिदीक्षित सिद्धांतकौमुदी सज्ञा प्रकरण।

५. मिश्र, वेदपति, व्याकरण वार्तिक—एक समीक्षात्मक अध्ययन, १९७०, प्रामुख पृ० १.

६. वही, प्रामुख पृ० १

७ डा० शाह, अम्बालाल, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, १९६९ पृ० ५.

८. "आवश्यकहरिनियुक्ति" और 'हरिभद्रीयवृत्ति" भाग १, पृ० १८२

९ यशस्तिलकचम्पू, आश्वास, १, पृ० ९०

१० शाह, अम्बालाल, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-५, १९६९ पृ० ६ पा० टि० १

११ मीमांसक, यु०, सस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग-१, वि० स० २०२०, पृ० १८५ से।

सन्देह नहीं व्यक्त किया है। पतंजलि के महाभाष्य मे बृहस्पति द्वारा इन्द्र को व्याकरण पढ़ाये जाने का उल्लेख है।[1] जिससे ऐसा ज्ञात होता है कि ऐन्द्र व्याकरण प्रतिपद व्याकरण था। उसके अतिरिक्त ऐन्द्र व्याकरण की ऐतिहासिकता के विषय मे और भी अधिक उल्लेख मिलते हैं।[2] ये सभी उल्लेख जहा ऐन्द्र व्याकरण की ऐतिहासिकता सिद्ध करते है वहा उसके आदि जैन व्याकरण होने पर कुछ भी निश्चित प्रकाश नही डालते। हा, इस सम्बन्ध मे एक अनुमान परक निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है। प्राचीनकाल में जहां माहेश्वर व्याकरण ब्राह्मण धारा का प्रतिनिधि व्याकरण था, वहां ऐन्द्र व्याकरण जैन धारा का प्रतिनिधि व्याकरण रहा होगा। वार्तिककार कात्यायन द्वारा, जो स्वयं ऐन्द्र सम्प्रदाय के थे, माहेश्वर सम्प्रदाय के पाणिनि सूत्रो पर वार्तिको की रचना कर देने से दोनों सम्प्रदायो मे जो भी विभेद रहा होगा वह पूरी तरह समाप्त हो गया।

जैनेन्द्र पूर्ववर्ती जैन व्याकरण मे शब्दप्राभृत का स्थान महत्वपूर्ण माना जाता है। यह सम्भवत संस्कृत भाषा में लिखा हुआ संस्कृत व्याकरण ग्रन्थ था जिसके सम्बन्ध मे सिद्धसेन गणि ने कहा है कि "पूर्वों में जो शब्द प्राभृत है, उसमे से व्याकरण का उद्भव हुआ है।"[3] यह ग्रन्थ इस समय नही मिलता। इस सम्भाव्य ग्रन्थ के विषय में इतना और जानने योग्य है कि यह स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर एक ग्रन्थ समुदाय का अंग था। "जैन आगमो का १२वा अंग दृष्टिवाद के नाम से था, जो अब उपलब्ध नही है। इस अंग में १४ पूर्व सन्निविष्ट थे। प्रत्येक पूर्व का वस्तु और वस्तु का अवान्तर विभाग प्राभृत के नाम से जाना जाता था। आवश्यक चूर्णि अनुयोगद्वार चूर्णि सिद्धसेन गणिकृत तत्वार्थसूत्र भाष्य टीका और मलधारी हेमचन्द्रसूरिकृत अनुयोगद्वारसूत्रटीका में शब्द प्राभृत का उल्लेख मिलता है।" इस विवरण से अनुपलब्ध शब्द प्राभृत का महत्व इस दृष्टि से ज्ञात होता है कि एक विशेष समय मे व्याकरण शास्त्र को जैन सम्प्रदाय के ग्रन्थो मे अतरंग स्थान मिल गया था।

जैन परम्परा मे क्षपणक का वैयाकरण के रूप मे बहुत अधिक महत्व है। क्षपणक कौन थे, इस बारे मे कोई निश्चित जानकारी नही मिलती। विद्वानो ने वैयाकरण क्षपणक को विक्रम के नवरत्नो मे उल्लिखित क्षपणक से अभिन्न माना है जिनके विषय मे कालिदास ने अपने ज्योतिर्विदाभरण नामक ग्रन्थ मे लिखा है।[4] यदि इस ग्रन्थ मे उल्लिखित क्षपणक वैयाकरण क्षपणक से अभिन्न है तो इस आचार्य का समय ईसा की प्रथम शताब्दी सिद्ध होता है। जैन परम्परा मे एक और व्याकरण भी इसी शताब्दी में हुए है—आचार्य सिद्धसेन दिवाकर। सिद्धसेन अपने समय के महान् विद्वान थे और जैनेन्द्र व्याकरण मे नामोल्लेख पूर्वक इनका मत उद्धृत किया गया है। जिससे इनका एक लब्धप्रतिष्ठ वैयाकरण होना सिद्ध होता है। समकालिकता और विद्या-क्षेत्र की समानता होने के कारण ऐसी धारणा भी व्यक्त की गई है कि ये दोनो नाम एक ही व्यक्ति के हैं।[5]

क्षपणक द्वारा लिखित व्याकरण आज उपलब्ध नही है परन्तु जिस प्रकार के उल्लेख क्षपणक के व्याकरण के विषय मे मिलते है उनसे स्वाभाविक रूप से यह निष्कर्ष प्राप्त हो जाता है कि क्षपणक ने अनेक प्रकार के व्याकरण-पाठ लिखे थे और सम्भवत. उसने व्याकरण-सम्प्रदाय की स्थापना की थी। मैत्रेयरक्षित द्वारा रचित तन्त्रप्रदीप मे क्षपणक व्याकरण के अनेक उल्लेख मिलते है। तन्त्रप्रदीप १.४.५५ मे क्षपणक-व्याकरण ४.१.१५५. मे क्षपणक महान्यास उज्ज्वलदत्त मणि के उणादि-पाठ मे क्षपणक के उणादि पाठ के उल्लेख मिलते है। महान्यास शब्द मे किसी न्यास या लघु न्यास की रचना सम्मिलित प्रतीत होती है। इस उल्लेख परम्परा से क्षपणक के शब्दानुशासन के अनेक पाठो तथा उसके विपुल प्रभाव का परिचय मिल जाता है।

जैनेन्द्र पूर्ववर्ती जैन व्याकरण मे एक आयाम उन आचार्यों का है, जिनका नामोल्लेख पूर्वक मत का उद्धरण देवनन्दी और पाल्यकीर्ति ने किया है, परन्तु जिनके ग्रन्थ थे या नही—इस सम्बन्ध मे मतभेद है। दूसरा आयाम ऐन्द्र व्याकरण का है जिसे कतिपय विद्वान् आदि जैन व्याकरण मानने के पक्ष मे हे। तीसरे आयाम के अन्तर्गत शब्दप्राभृत और क्षपणकशब्दानुशासन आते हैं जिनकी ऐतिहासिक निश्चितता जैनेन्द्रपूर्ववर्ती जैन व्याकरण मे सबसे अधिक है, पर ये दोनो ग्रन्थ भी अद्यावधि उपलब्ध नही हो पाये हैं। इस प्रकार जैनेन्द्र पूर्ववर्ती जैन व्याकरण की परम्परा लम्बी होने हुए भी ऐतिहासिक निश्चितता और उपलब्धि की अपेक्षा अभी रखती है।

---

१. "बृहस्पतिरिन्द्राय" इत्यादि, महाभाष्य, पस्पशाह्निक (अ० १, पा० १, आह्निक १)
२. मीमांसक, स० व्या० शा० का इतिहास, भाग १, पृ० ८३-८८.
३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, १९६९, पृ० ६.
४. धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंह शंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः। ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायाम् ।
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥" ज्योतिर्विदाभरण, २०, १०.
५. मीमांसक, यु०, स० व्या० शा० का इतिहास, भाग १, पृ० ५२९-३०.

(२) जैनेन्द्र व्याकरण

ऊपर बताया जा चुका है कि पूज्यपाद देवनन्दी द्वारा लिखित जैनेन्द्र व्याकरण परम्परा का प्राचीनतम नियमित व्याकरण है। जैन परम्परा में जैनेन्द्र व्याकरण की प्रतिष्ठा इस पर लिखी गई टीका सम्पत्ति और स्वय इस व्याकरण का अपना स्वरूप—सब मिलाकर जैनेन्द्र व्याकरण को ऐसा रूप प्रदान कर देते हैं जो किसी सम्प्रदायप्रवर्तक वैयाकरण द्वारा लिखित व्याकरण को प्राप्त होना चाहिए। जैन परम्परा में जैनेन्द्र व्याकरण की महती प्रतिष्ठा निम्नलिखित लोकप्रिय श्लोक से स्पष्ट हो जाती है "सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिप: श्रीपूज्यपाद: स्वयम्।" जैनेन्द्र व्याकरण का महत्व इसी बात से स्पष्ट है कि बोपदेव ने जिन प्राचीन आठ वैयाकरणों का उल्लेख किया है उनमे जैनेन्द्र का नाम भी है—

"इन्द्रश्चन्द्र: काशकृत्स्नापिशली शाकटायन:।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा: जयन्त्यष्टादिशाब्दिका:॥"

जैनेन्द्र व्याकरण के सम्बन्ध मे जैन परम्परा मे यह विश्वास प्रचलित है कि उसकी रचना स्वय महावीर स्वामी ने की थी। यह विश्वास सम्भवत "जैनेन्द्र" इस नाम के प्रति श्रद्धातिरेक म प्रेरित है। वास्तव मे इसकी रचना महावीर ने नही अपितु उनसे सहस्राब्दी से भी अधिक बाद मे हुए आचार्य देवनन्दी ने की थी जिनका नाम जिनेन्द्रबुद्धि है तथा जैन परम्परा उन्हे उनके उद्भट पाण्डित्य के कारण पूज्यपाद भी कहती है। पूज्यपाद, देवनन्दी और जिनेन्द्र बुद्धि—ये तीनों नाम एक ही जैन आचार्य के है, इसका पोषक एक श्लोक श्रवणबेलगोल के शिलालेख में प्राप्त होता है।

"यो देवनन्दी प्रथमाभिधानं बुद्धया महात्मा स जिनेन्द्रबुद्धि।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत् पूजितं पादयुगं यदीयम्॥"

इन्हे लोकप्रियतावश "देव" और "नन्दी" इन सक्षिप्त नामो से भी स्मरण किया जाता रहा है। यहा यह ज्ञातव्य है कि ये जिनेन्द्रबुद्धि उस बौद्ध आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि से पृथक् है जिन्होंने ८ वी सदी ई० मे काशिकावृत्ति पर न्यास की रचना की थी।

आचार्य पूज्यपाद के परिचय के विषय मे कुछ सामग्री प्राप्त होती है। कर्नाटक प्रान्त के अनेक शिलालेखो मे इनका सादर स्मरण किया गया है। इससे विद्वानो ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वे सम्भवत कर्नाटक प्रांत के थे। चन्द्रय्य नामक एक कर्नाटक कवि ने कन्नड भाषा मे पूज्यपाद का परिचय देते हुए कहा है कि इनके पिता माधवभट्ट और माता श्रीदेवी दोनो प्रारम्भ मे वैदिक मतानुयायी थे। बाद मे दोनो ने जैन मत स्वीकार कर लिया। पूज्यपाद ने जब एक दिन किसी उद्यान मे साप के मुह मे पडे मेढक को देखा तो इन्हें वैराग्य हो गया।[1] बाद मे ज्ञान प्राप्ति के बाद इन्हे जिनके समान कामहन्ता माना गया—"जिनवद् बभूव यदनङ्गचापहृत् जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधु वर्णित।"[2]

वर्धमान ने इन्हे "दिग्वस्त्र" अर्थात् दिगम्बर जन कहा है—

"शालातुरीय शकटाङ्गजचन्द्रगोमि-दिग्वस्त्र-भर्तृहरि-वामन-भोजमुख्या।"[3]

आचार्य पूज्यपाद का काल छठी शताब्दी ई० माना जाता है। अनेक प्रमाणो के आधार पर अब उनका यह काल प्राय सर्व-सम्मत सा हो गया है। आचार्य ने अपने व्याकरण मे सिद्धसेन दिवाकर के मत को उद्धृत किया है।[4] इससे सिद्ध होता है कि पूज्यपाद का आविर्भाव सिद्धसेन के बाद हुआ। सिद्धसेन दिवाकर का समय ५ वी सदी ई० माना जाता है। ऊपर बता आये है कि क्षपणक ही सिद्धसेन दिवाकर माने जाते है। यदि यह मान्यता प्रामाणिक है तो भी सिद्धसेन चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के नवरत्नो मे से एक होने के कारण उसके समकालीन अर्थात् ५वी सदी ई० के ही सिद्ध होते है। सिद्धसेन से परवर्ती होने के कारण पूज्यपाद छठी शताब्दी ई० के माने जा सकते हैं जिसका पोषक प्रमाण निम्नलिखित है। जैनेन्द्र व्याकरण मे किसी महेन्द्र द्वारा मथुरा की विजय का संकेत है।[5] भूतकाल के लिए लङ् का प्रयोग अनतिदूर भूत के लिए, यहा तक कि प्रयोक्ता के दर्शन विषय भूतकाल के लिए होता है।[6] इस आधार

१ मीमांसक यु०, संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४९३
२ श्रवणबेलगोल का शिलालेख।
३ गणरत्नमहोदधि।
४. वेत्ते: सिद्धसेनस्य, जै० व्या० ५, १, ७.
५. उपाध्याय, बलदेव, संस्कृत शास्त्रो का इतिहास, पृ० ५७८.
६. अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्, जै० व्या० २, २, ९२.
७. "परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये ?"
महाभाष्य ३. २, १११ में वार्तिक

पर पं० मीमांसक[1] ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पूज्यपाद अपने ग्रन्थ मे महेन्द्र गुप्त विक्रमादित्य की उस विजय का उल्लेख कर रहे हैं जिसमें, तिब्बती साक्ष्य के आधार पर, महेन्द्र ने दो लाख सेना की सहायता से तीन लाख यवन सैनिको के साथ मथुरा मे युद्ध कर उन्हें देश से बाहर निकाल दिया था। तब महेन्द्र गुप्त युवराज था। यह घटना ५वी सदी ई० मे घटी थी। अत विशिष्ट भूतकालिक प्रयोग के आधार पर पूज्यपाद का काल ६ठी शताब्दी ई० का प्रथमार्ध होना चाहिए। एक अन्य प्रमाण के अनुसार पूज्यपाद और समन्तभद्र समकालीन है। पूज्यपाद ने समन्तभद्र का मत उद्धृत किया है।[2] समन्तभद्र ने जैनेन्द्र के मगल श्लोक की व्याख्या मे ग्रन्थ लिखा था। समन्तभद्र का समय छठी सदी ई० का प्रथमार्ध निश्चित माना जाता है। अत पूज्यपाद देवनन्दी का वही समय माना जाना चाहिए।

इस समय जैनेन्द्र व्याकरण के दो पाठ मिलते है। एक पाठ मे ३०३६ सूत्र है और दूसरे मे सूत्रो की सख्या ७०० अधिक है। शेष पाठ भी कही-कही परिवर्तित तथा परिवर्धित रूप मे मिलता है। ३०३६ सूत्रो वाला पाठ "औदीच्यपाठ" और दूसरा अधिक सूत्रो वाला परिवर्तित-परिवर्धित पाठ "दाक्षिणात्यपाठ' कहा जाता है। इस बारे मे कुछ मतभेद रहा है कि पूज्यपाद ने इन दोनो पाठो मे से किस पाठ की रचना की थी। विद्वानो की प्राय धारणा है कि "औदीच्यपाठ" ही आचार्य पूज्यपाद का अपना मौलिक पाठ है तथा दूसरा पाठ किसी परवर्ती वैयाकरण ने बढाया है। दाक्षिणात्य पाठ के सम्पादक प० श्री लालशास्त्री ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि बृहद् दाक्षिणात्य पाठ ही जैनेन्द्र की अपनी कृति है पर प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध नही हो पाया है।[3] इसका प्रमुख कारण यह माना जाता है कि पूज्यपाद ने अपने ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद मे ही यह स्पष्ट कर दिया है कि उनके व्याकरण मे एकशेष के लिए कोई स्थान नही है।[4] जहा औदीच्यपाठ मे एकशेष का पूर्ण अभाव है वहा दाक्षिणात्यपाठ की स्थिति वैसी नही है। इससे स्पष्ट है कि ३०३६ सूत्रो वाला औदीच्यपाठ ही पूज्यपाद का मौलिक जैनेन्द्र व्याकरण है।

यहा प्रश्न उठता है कि दाक्षिणात्यपाठ की रचना किसने और कब की थी। ऐसा माना जाता है कि आचार्य गुणनन्दी ने इस पाठ का परिवर्धन किया। इस परिवर्धित सस्करण की ख्याति जैन परम्परा मे शब्दार्णव के नाम से है। परिवर्धित सस्करण पर अपनी चन्द्रिका नामक टीका से टीकाकार सोमदेवसूरि ने इस ग्रन्थ का नाम शब्दार्णव लिखा है और इसे स्पष्ट ही गुणनन्दी द्वारा परिवर्धित बताया है।[5] गुणनन्दी के इस शब्दार्णव पर जैनेन्द्र परवर्ती शाकटायन व्याकरण का प्रभाव माना जाता है। शाकटायन का समय अमोघवर्ष के शासन काल[6] मे रचा होने के कारण नवम शती ई० का पूर्वार्ध माना जाता है। शाकटायन से परवर्ती होने के कारण गुणनन्दी का काल नवम शती का उत्तरार्ध माना जाता है। इस परिवर्धित दाक्षिणात्य सस्करण पर सोमदेव सूरि की शब्दार्णवचन्द्रिका तथा किसी अज्ञात नामा लेखक की शब्दार्णवप्रक्रिया ये दो टीकायें मिलती है। सौभाग्यवश ये दोनो ही टीकायें प्रकाशित हैं।

औदीच्यपाठ वाले जैनेन्द्र व्याकरण की व्याकरणिक विशेषतायें निम्नलिखित है—

१ इस व्याकरण मे पाच अध्याय है। अत इस व्याकरण को पचाध्यायी भी कहा गया है। प्रत्येक अध्याय मे चार पाद है और २० पादो मे कुल ३०३६ सूत्र हैं।

२ इस पचाध्यायी मे पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्र प्रकारान्तर और भाषान्तर के साथ समाविष्ट कर दिये गये हैं। अध्यायो के सूत्रो का पाच अध्यायो मे ही समाविष्ट हो जाने का प्रमुख कारण यह है कि पाणिनीय शास्त्र के वैदिक सस्कृत सम्बन्धी सूत्रो को निकाल दिया गया है क्योकि जैन व्याकरण मे वे अनुपयोगी माने गये। इसलिए सूत्रो की सख्या भी लगभग एक हजार कम हो गई है।

३ जैनेन्द्र व्याकरण (और पाणिनीय व्याकरण) के अनेक सूत्रो मे कोई अन्तर नही है। उदाहरणतया:, निम्नलिखित तालिका मे दिये गये सूत्र दोनो व्याकरणो मे पूर्ण समानता के साथ प्राप्त होते है—

---

१ इतिहास, भाग १, पृ० ४१६.

२. चतुष्टयं समंतभद्रस्य, जै० व्या० ५, ४, १४०.

३ मीमासक, यु० इतिहास, भाग १, पृ० ४३२-३३.

४. स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः, जै० व्या० 1.1 97

५. सैषा श्री गुणनन्दितनितवपुः शब्दार्णवनिर्णय......"

—चन्द्रिका टीका।

६ Majumdar (ed) History and Culture of Indian people Vol, V 1964, p. 8.

सूत्र	जैनेन्द्र व्या०	पाणिनीय व्या०
स्थानेऽन्तरतम:	१-१-४७	१-१-५०
उपान्मन्त्रकरणे	१-२-२०	१-३-२५
धारेरुत्तमर्ण:	१-२-१११	१-४-३५
साधकतमं करणम्	१-२-११३	१-४-४२
अभिनिविशश्च	१-२-११८	१-४-४७
अकथितं च	५-२-१२०	१-४-५१
स्वतन्त्र कर्ता	१-२-१२४	१-४-५४
समर्थ. पदविधि	१-३-१	२-१-१
नदीभिश्च	१-३-१७	२-१-२०
पात्रे समितादयश्च	१-३-४३	२-१-४८
कर्मण्यण्	२-२-१	३-२-१
तुन्दशोकयो परिमृजापनुदो	२-२-१०	३-२-५
षिद्भिदादिभ्योऽङ्	२-३-८६	३-३-१०४
स्वौजसमौट्	३-१-२	४-१-२
अजाद्यतष्टाप्	३-१-४	४-१-४

इत्यादि ।

४. इसी प्रकार अनेक सूत्र दोनो व्याकरण ग्रन्थो मे ऐसे है जिनमे नाममात्र की असमानता है । जैसे—

जैनेन्द्र व्या०	पाणिनीय व्या०
हृत्वोऽनन्तरा स्फ १-१-३	हलोनन्तरा सयोग १-१-७
उच्चनीचावुदात्तानुदात्तौ १-१-१३	उच्चैरुदात्त १-२-२९
	नीचैरनुदात्त १-२-३०
क्तक्तवतुत १-१-२८	क्तक्तवतू निष्ठा १-१-२६
डाज्लोहितात् क्यष् २-१-११	लोहितादिडाज्भ्य क्यष् ३-१-१३
गुपूधूपविच्छिपणिपनि आय २-१-२६	गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आय ३-१-२८
स्पृशोऽनुदके क्वि २-२-५६	स्पृशोऽनुदके क्विन् ३-२-५५
वयस्यनंत्ये ३-१-२४	वयसि प्रथमे ४-१-२०
पतिवत्न्यन्तर्वत्न्यौ ३-१-३२	अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक् ४-१-३२

इत्यादि ।

५. जैनेन्द्र और पाणिनीय दोनों व्याकरणो के अनेक सूत्र केवल अमहत्वपूर्ण वर्ण विपर्यय अथवा विभक्ति सक्षेप आदि के अतिरिक्त पूर्ण समानता रखते हैं । जैसे—

जैनेन्द्र व्या०	पाणिनीय व्या०
सर्वादि सर्वनाम १-१-३५	सर्वादीनि सर्वनामानि १-१-२७
निरनेकाजनाङ् १-१-२२	निपात एकाजनाङ् १-१-१४
पूर्वादयो नव १-१-४२	पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ७-१-१६
यथासंख्य समा १-२-४	यथासख्यमनुदेश समानाम् १-३-१०
भूवादयो धु १-२-१	भूवादयो धातव १-३-१
निविश १-२-११	नैर्विश १-३-१७
परिव्यवक्रिय १-२-१२	परिव्यवेभ्य· क्रिय: १-३-१८
विपराजे १-२-१३	विपराभ्यां जे १-३-१९

इत्यादि ।

६. सूत्रों के समान जैनेन्द्र और पाणिनीय व्याकरण की संज्ञाओं का भी तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है। पूज्यपाद द्वारा प्रयुक्त कुछ संज्ञायें पाणिनि की सज्ञाओं की अपेक्षा बहुत स्वल्पाकार हैं। "अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सव मन्यंते वैयाकरणा". की उक्ति जैनेन्द्र व्याकरण पर शतप्रतिशत चरितार्थ होती है। उदाहरणतया—पा० अव्यय जै०प्र०, अनुनासिक ङ०, अव्ययीभाव = प्रादेश, धातु = धु, तद्धित = हृत, प्रत्यय = त्य, निष्ठा = त, प्रातिपादिक = मृत ह्रस्व-दीर्घ प्लुत = प्रदीप, समास = स, सवर्ण = स्व, संयोग = स्फ, लुक् = उप्, गुण = एप, वृद्धि = ऐप्, इत्यादि। यद्यपि पूज्यपाद ने अपने व्याकरण मे बहुत ही स्वल्पकाय सज्ञायें दी है, पर इनके कारण ग्रन्थ में दुरूहता और क्लिष्टता का समावेश हो गया है। बिना पाणिनीय सज्ञाओं को याद रखे इन्हे याद रख पाना बहुत ही कठिन है। एक और बात भी उल्लेखनीय है। पाणिनीय व्याकरण मे समास, सवर्ण, सयोग, गुण, वृद्धि आदि कई सज्ञाये अन्वितार्थ है जिससे व्याकरण को समझने मे अधिक सहायता मिलती है, इसके विपरीत जैनेन्द्र व्याकरण मे यह सुविधा कम हो गई है।

७, संज्ञाओं मे प्रयत्नपूर्वक अन्तर करने के साथ ही आचार्य पूज्यपाद ने कुछ सज्ञायें पाणिनीय व्याकरण से यथावत् ग्रहण कर ली है। उदात्त (जै० व्या० १,१,१३), अनुदात्त (१-१-१३,), स्वरित (१-१-१४), द्वि (१-१-२०), संख्या (१-१-३३), सर्वनाम (१-१-३५), पद (१-१-१०२), कारक (१-१-१०२), अपादान (१-१-१०६), सम्प्रदान (१-१-११०), करण (१-१-११३), अधिकरण (१-१-१५), कर्ता (१-१-२४), आदि सज्ञाये इसी कोटि मे आती हैं। पाणिनि ने भी इसी प्रकार कुछ नूतन सज्ञाओं की रचना की थी और अनेक सज्ञायें पूर्वाचार्यों से ही ग्रहण कर ली थी।

८. जैनेन्द्र ने अपने व्याकरण मे कही-कही सूक्ष्मता लाने के लिए तथा विलक्षणता दिखाने के लिए सरलता को बिल्कुल छोड़ दिया है। उदाहरणतया, "विभक्ती शब्द के प्रत्येक वर्ण को अलग करके स्वर के आगे प् तथा व्यजन के आगे आ जोडकर सातो विभक्तियो की सख्या निर्दिष्ट की है। जैसे—वा (प्रथमा), इप् (द्वितीया), भा (तृतीया), अप् (चतुर्थी), का (पचमी), ता (षष्ठी), तथा ईप् (सप्तमी)।"[१] विद्वानो ने इसे शाब्दिक चमत्कार माना है।

९. जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता का दर्शन यह प्रतीत होता है कि परम्परित शब्दावलि को कम से कम छोडा जाये और जहा आवश्यक हो तथा सम्भव एव उपयोगी हो वहा नवीनता लाई जाये। यही स्थिति व्याकरण के नियमो के लागू होने की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे भी सत्य प्रतीत होती है। इसलिए जैनेन्द्र ने पाणिनि के परिभाषा सूत्रो को प्रकारान्तर से पुन उपस्थित कर पाणिनि की व्याकरणिक प्रक्रिया को यथावत् ग्रहण कर लिया है। उदाहरणतया, निम्नलिखित परिभाषा सूत्र पाणिनि के परिभाषा सूत्रों के समान ही व्याकरणिक प्रक्रिया का स्वरूप उपस्थित करते है—स्थानेऽन्तरतम (जै० व्या० १-१-४७), रत्तोण उ (१-१-४८), अन्तोऽल. (१-१-४९), ङित् (१-१-५०), परस्यादे (१-१-५१), शित्सर्वस्य (१-१-५२), टिदादि (१-१-५३), किदन्त (१-१-५४), परोऽचो मित् (१-१-५५), स्थानीवादेशोनल्विधौ (१-१-५६), परेच पूर्वविधौ (१-१-५७), न पदान्तद्वित्ववरेयूखस्वानुस्वार दीर्घचर्विधौ (१-१-५८), द्वित्वेऽचि (१-१-५९), येनालि विधिस्तदन्ताधो (१-१-६७), इत्यादि।

१० पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे महेश्वर सम्प्रदाय के चौदह-प्रत्याहार सूत्रो को यथावत् ग्रहण कर लिया था। उनकी सहायता से जिन प्रत्याहारो की रचना होती है उससे पाणिनीय तन्त्र मे सक्षेप लाने मे अत्यधिक सहायता मिली थी। जैनेन्द्र व्याकरण मे इन प्रत्याहारो को यथावत् ग्रहण कर लिया गया है। इन प्रत्याहारो को पूज्यपाद ने इतनी स्वाभाविकता से अपने व्याकरण का अंग बना लिया है कि आचार्य ने चौदह प्रत्याहार सूत्रो को देने की भी आवश्यकता अनुभव नही की। अकालोऽच् प्रदीप: (जै० व्या १-१-११), इग्यणो जि (१-१-४५), अदेङेप् (१-१-१६), इकस्तौ (१-१-१७), सदृश सूत्रो मे पाणिनीय तन्त्र के प्रत्याहारो का सहजता से प्रयोग कर लिया गया है।

११ व्याकरण मे उत्सर्ग-अपवाद शैली की सहायता से विषयो के उपस्थापन मे जैनेन्द्र व्याकरण मे पाणिनीय अष्टाध्यायी मे प्रतिपादित क्रम का यथावत् उपयोग किया गया है। अष्टाध्यायी के समान जैनेन्द्र व्याकरण मे भी क्रमश· सज्ञा, परिभाषा, धातु, लकार, कारक, निपात, समास प्रत्यय, कृत् सम्बन्धी सूत्रो की रचना की गई है। यहा तक कि पाणिनि के समान जैनेन्द्र ने भी कारक विमर्श का प्रारम्भ अपादान के साथ प्रारम्भ किया है।

१२. पाणिनि की अष्टाध्यायी के समान जैनेन्द्र व्याकरण मे भी अन्तिम दो अध्यायो के सूत्रो के लिए असिद्ध व्यवस्था करने के लिए पाचवें अध्याय के दूसरे पाद के अन्त में "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र रखा गया है।

---

१. उपाध्याय, बलदेव, संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृ० ५७७.

१३. पाणिनीय सूत्रों, सूत्रो पर लिखे आवश्यक वार्तिकें तथा पंतजलि की इष्टियो—सभी के सूत्र बना कर इस सारी व्यवस्था को अधिक एकरूपता देने का प्रयास पूज्यपाद ने अपने व्याकरण मे किया है।

१४. जैसा कि हम ऊपर कह आये है—पाणिनि की अष्टाध्यायी की अपेक्षा पूज्यपाद के व्याकरण की विशेषता यह है कि इसमे एकशेष प्रकरण का अभाव है। अपने व्याकरण से एक शेष प्रकरण को पूरी तरह से निकालने के पीछे आचार्य के पास क्या हेतु था—इसके अतिशय अध्ययन की आवश्यकता निश्चित रूप से है। क्या ऐसा माना जा सकता है कि जैन दर्शन के अनेकान्तवाद के महान् सिद्धान्त को व्याकरणिक अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए एकशेष प्रकरण को ही समाप्त कर दिया गया ? वैसे पूज्यपाद ने अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ "सिद्धिरनेकान्तात्"। (जैसे व्या० १-१-११) इस मगलवाची सूत्र के साथ किया है।

जैनेन्द्र व्याकरण पर चार महत्वपूर्ण टीकाये लिखी गई जो उपलब्ध हैं। आचार्य की स्वोपज्ञवृत्ति के अतिरिक्त उपर्युक्त चार टीकाये इस प्रकार हैं—अभयनन्दि कृत् महावृत्ति, प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्करन्यास, श्रुतिकीर्तिकृत पचवस्तुप्रक्रिया और महाचन्द्रकृत लघुजैनेन्द्र। इनमे से प्रत्येक वृत्ति का अपना महत्व है। इनमे सबसे अधिक महत्व की वृत्ति अभयनन्दि कृत महावृत्ति है। इसमे दो तत्वो का सुन्दर सम्मिश्रण है। एक ओर इसमे अष्टाध्यायी, वार्तिकपाठ, महाभाष्य, काशिका आदि की व्याकरण सामग्री का पूरा उपयोग उठाते हुए कुछ वार्तिक जोडने का प्रयास किया गया है। दूसरी ओर उदाहरणो के लिए इसमे जैन इतिहास, धर्म, दर्शन, नीतिशास्त्र, परम्परा आदि का स्रोत के रूप मे उपयोग किया गया है। अनुसमन्तभद्र तार्किका, उपसिद्धसेन वैयाकरणा, प्राभृतपर्यन्तमधीते, आकुमारं यशः समन्तभद्रस्य सदृश उदाहरण पूरे ग्रन्थ को जैन आकार देने मे समर्थ है।

शब्दाभोजभास्करन्यास उपर्युक्त महावृत्ति से कलेवर मे विशाल है, पर वृत्ति के विषय मे प्रभाचन्द्र ने अभयनन्दि का अधिक सहारा लिया है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है श्रुतकीर्ति की टीका जैनेन्द्र का प्रक्रिया रूपान्तर है जबकि महाचन्द्र का लघुजैनेन्द्र बाल बोध के लिए है।

(३) जैनेन्द्रपरवर्ती जैन व्याकरण

आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी द्वारा सुव्यवस्थित ढग मे एक व्याकरण दे देने के बाद जैन आचार्यों मे व्याकरण लेखन की एक विशिष्ट परम्परा चल पडी जिसके अन्तर्गत जैन शाकटायन और हैम ये दो व्याकरण बहुत अधिक प्रसिद्ध हुए। यद्यपि इस परम्परा मे अन्य अनेक व्याकरण भी लिखे गये तथापि एक उल्लेखनीय और विचित्र तथ्य यह है कि शास्त्रीय दृष्टि से कोई एक जैन व्याकरण पूरे जैन सम्प्रदाय मे मान्यता प्राप्त न कर सका। इस पर आगे चलकर निष्कर्ष स्वरूप हम विस्तार से लिखेंगे। जैनेन्द्र परवर्ती जैन व्याकरण मे वामन, पाल्यकीर्ति, बुद्धिसागरसूरि, भद्रेश्वर सूरि, वर्धमान, हेमचन्द्रसूरि के नाम महत्वपूर्ण है। इस प्रसंग में हम इन्ही का विवेचन करेंगे।

वामन— जैनेन्द्र परवर्ती जैन व्याकरण परम्परा मे सबसे प्रथम नाम वामन का लिया जा सकता है। वामन के सम्बन्ध मे दो बातें विचारणीय हैं . १ जिस वामन की चर्चा हम यहा कर रहे है वह उस वामन से पृथक् हैं जिसका नाम "वामन-जयादित्य" इस वैयाकरण-युगल मे काशिकाकार के रूप में आता है। २ इस सम्बन्ध मे कुछ निश्चित नही है कि वामन जैन मतानुयायी वैयाकरण थे अथवा नही। चूकि वामन द्वारा लिखित ग्रन्थ इस समय नही है अत यह निश्चित कर पाना और भी अधिक कठिन हो गया है। प० अम्बालाल शाह[1] ने वामन को स्पष्ट रूप से जैनेतर विद्वान् माना है जबकि प० मीमांसक[2] ने इसे "जैन व्याकरण का कर्ता" माना है। जिस प्रकार से जैन ग्रन्थो मे इस आचार्य का उल्लेख किया गया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वामन जैन वैयाकरण थे। जैन विद्वान् वर्धमान ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "गणरत्नमहोदधि" मे वामन को "सहृदय चक्रवर्ती" कहा है "सहृदय चक्रवर्तिना वामनेन तु हेम्न इति सूत्रेण" इत्यादि।[3] अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही वर्धमान ने वामन के व्याकरण ग्रन्थ का उल्लेख किया है—"वामनो विश्रान्तविद्याधरकर्ता"। इससे ज्ञात होता है कि वामन ने 'विश्रान्तविद्याधर" नामक ग्रन्थ लिखा था जो आज उपलब्ध नही है। इसी ग्रन्थ पर श्वेताम्बर जैन संघ के प्रसिद्ध विद्वान मल्लवादी ने 'न्यास" नामक टीका लिखी थी। यह टीका भी आज उपलब्ध नही है। पर इसका संकेत प्रभावकचरितान्तर्गत मल्लवादिचरित[4] मे निम्न प्रकार से मिलता है—

---

१. *जैन साहित्य का बृहद् इतिहास*, भाग ५, १९६९. पृ० ४८.
२. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४०५.
३. पृ० १९८
४ निर्णयसागर संस्करण, पृ० ७८.

"शब्दशास्त्रे च विश्रान्तविद्याधर वराभिधे।
न्यासं चक्रेऽल्पधीवृन्दबोधनाय स्फुटार्थकम्॥"

महान् जैन आचार्य हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन मे मल्लवादी के "न्यास" मे से उद्धरण दिए है। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण की बृहती टीका मे[1] भी इस मल्लवादी को स्मरण किया है। इससे प्रतीत होता है कि जैन परम्परा मे वामन और उसके श्वेताम्बर टीकाकार मल्लवादी का गौरवपूर्ण स्थान था जो सिद्ध करता है कि वामन स्वयं भी जैन थे। दुर्भाग्य से वामन का व्याकरण ग्रन्थ "विश्रान्तविद्याधर" और उस पर मल्लवादी का "न्यास" दोनो ही उपलब्ध नही है। वामन का समय ५वी सदी ई० और मल्लवादी का समय छठी सदी ई० के आस-पास का माना जाता है। वर्धमान के गणरत्नमहोदधि के साक्ष्य[2] पर ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वामन ने अपने ग्रन्थ पर स्वयं ही "बृहत्वृत्ति" और "लघुवृत्ति" ये दो टीकाए लिखी थी। वामन के गणपाठ का उल्लेख भी वर्धमान ने किया है।[3]

पाल्यकीर्ति—जैन परम्परा मे यापनीय सम्प्रदाय के आचार्य पाल्यकीर्ति ने एक प्रसिद्ध जैन व्याकरण की रचना की थी जो "जैन शाकटायन व्याकरण" के नाम से प्रसिद्ध है। मूलत पाल्यकीर्ति रचित व्याकरण का नाम "शब्दानुशासन" है। इस व्याकरण को जैन परम्परा मे एवं समग्र व्याकरण परम्परा मे कितना महत्वपूर्ण स्थान मिला था, इसके दो उदाहरण देने पर्याप्त रहेगे। एक यह कि पाल्यकीर्ति यापनीय सम्प्रदाय के आचार्य थे। यापनीय सम्प्रदाय दिगम्बर जैन और श्वेताम्बर—इन दोनो का मध्यवर्ती सम्प्रदाय माना जाता था। जब जैन समाज मे इस सम्प्रदाय का प्रचलन समाप्त हो गया तो दिगम्बर और श्वेताम्बर—इन दोनो सम्प्रदायो ने पाल्यकीर्ति को अपना-अपना सम्प्रदायानुवर्ती सिद्ध करने का प्रयास किया। दूसरा यह कि समग्र सस्कृत व्याकरण की परम्परा मे पाल्यकीर्ति के ग्रन्थ को इतना अधिक सम्मान मिला कि प्राचीन काल मे पाणिनिपूर्ववर्ती महान् व्याकरण-निरुक्तकार शाकटायन के स्तर का वैयाकरण मानते हुए पाल्यकीर्ति के व्याकरण को भी "शाकटायन" अथवा "जैन शाकटायन" के नाम से अभिहित किया गया। पाल्यकीर्ति के शाकटायन व्याकरण के महत्व का प्रतिपादन इस व्याकरण पर यशोवर्मा द्वारा लिखित टीका मे एक श्लोक के माध्यम से किया गया है—

"इन्द्रचन्द्रादिभिः शाब्दैर्यदुक्तं शब्दलक्षणम्।
तदिहास्ति समस्त च, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।"

आचार्य पाल्यकीर्ति ने अपने व्याकरण की स्वोपज्ञवृत्ति मे 'अदहदमाघवर्षोऽरातीन्", "अरुणद्देव पाण्ड्यान्" आदि दृष्टान्तो के माध्यम से राष्ट्रकूट वश के राजा अमोघवर्ष की इन घटनाओ की ओर सकेत किया है जो लेखक के अपने जीवन मे घटी। उसने अपनी वृत्ति का नाम भी अमोघा वृत्ति रखा है। इससे स्पष्ट होता है कि पाल्यकीर्ति राजा अमोघवर्ष के समसामयिक किंवा उसके सभारत्न है। अमोघवर्ष का राज्यकाल ८१४ ई० से माना जाता है।[4] इस आधार पर पाल्यकीर्ति का समय ईसा की 9 वी सदी स्थिर किया जाता है।

यद्यपि पाल्यकीर्ति यापनीय जैन सम्प्रदाय के अग्रणी आचार्य माने जाते है, पर उनके व्याकरण के एक सूत्र "घोषनादेर्वृच्" (३, ३, १७८) के आधार पर प० युधिष्ठिर मीमामक[5] ने उन्हे प्रारम्भ मे वैदिक मतानुयायी माना है जिनका गोत्र शाकटायन रहा होगा और जो सम्भवत तैत्तिरीय शाखा के अध्येता ब्राह्मण थे।

पाल्यकीर्ति का शाकटायन व्याकरण शास्त्रीय दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण व्याकरण है। इसकी कुछ विशेषताए इस प्रकार है —

१. जहा जैनेन्द्र व्याकरण पाच अध्यायो मे है वहा यह व्याकरण चार अध्यायो मे ही है। प्रत्येक अध्याय मे चार-चार पाद होने के कारण पूरे व्याकरण मे कुल सोलह पाद है और सूत्रो की कुल सख्या ३२३६ है।

२ कुछ सशोधनो के साथ पाल्यकीर्ति ने पाणिनीय व्याकरण की विशिष्टताओ का पूरा-पूरा उपयोग किया है। पाणिनि के प्रत्याहार सूत्र "ऋलृक्" को "ऋक्" कर दिया गया है क्योकि ऋ और लृ एक ही हो गए है। सस्कृत भाषा मे लृ का प्रयोग वैदिक साहित्य के बाद नाममात्र को भी नही हुआ है। इसी प्रकार 'हयवरट्' और 'लण्' इन दो सूत्रो को मिला कर एक कर दिया गया है।

---

१. "अनुमल्लवादिन तार्किका:" हेम, २. २ ३६.
२. "वामनस्तु बृहद्वृत्ती यथाभावेति पठति" — गणरत्नमहोदधि।
३. मीमांसक, यु० स० व्या० शा० का इतिहास भाग-२, स० २०१६, पृ० १४६
४. Majumdar (ed) History and Culture of Indian people, Vol V, 1964, p. 8.
५. सस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग २, १९६२ पृ० स० १९७-८.

३. पाल्यकीर्ति ने अपने व्याकरण में संज्ञाओ के नामकरण मे जैनेन्द्र की नई किन्तु दुरूह शैली का अनुसरण न करके पाणिनि की अनेक अन्वर्थ (यद्यपि महती) संज्ञाओ को यथावत् ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार की संज्ञाओं में संयोग, अनुनासिक, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, प्रत्यय, अव्यय, धातु, तद्धित, आदेश, सदृश संज्ञाएं उल्लेखनीय हैं।

४. जहा जैनेन्द्र के व्याकरण मे पाणिनि के प्रत्याहार सूत्रो को आधार मान लिया गया है, वहां उसी व्याकरण के शब्दार्णव (बृहत्पाठ) पर शाकटायन के प्रत्याहारसूत्रो का प्रभाव माना गया है।

५ इस व्याकरण की विशेषता का प्रतिपादन करते हुए टीकाकार यक्षवर्मा का कथन है कि पाल्यकीर्ति ने अपने सूत्रों में ही पतंजलि की इष्टियो, उपसंख्यानो और वक्तव्यो (अर्थात् वार्तिको) का समावेश कर लिया है अत उन्हें अलग से पढ़ने की आवश्यकता नही है—

"इष्टिर्नेष्टा न वक्तव्यं वक्तव्यं सूत्रतः पृथक्।
संख्यातं नोपसंख्यातं यस्य शब्दानुशासने॥"

६. यद्यपि पाल्यकीर्ति का पूरा व्याकरण उत्सर्ग-अपवाद शैली पर ही लिखा हुआ है, तथापि लिंग और समासान्त प्रकरण को समास में तथा एकशेष को द्वन्द्व प्रकरण मे रखकर प्रक्रिया शैली का एक सीमा तक अनुसरण किया जिसका बीजवपन कातन्त्र व्याकरण मे हो चुका था परवर्ती काल मे हैम व्याकरण मे जिसको और अधिक आगे बढ़ाया गया।

शाकटायन व्याकरण पर मुख्य रूप से दो वृत्तिया हैं। एक वृत्ति स्वय पाल्यकीर्ति ने अपने आश्रयदाता अमोघवर्ष के नाम से लिखी और उसे अमोघा नाम दिया जिस का संकेत हम ऊपर कर आए है। यह बहुत महत्वपूर्ण वृत्ति है जिसके बारे मे पाल्यकीर्ति के व्याकरण के दूसरे वृत्तिकार यक्षवर्मा का मत है कि इसमे गणपाठ, धातुपाठ, लिंगानुशासनपाठ और उणादि के अलावा सम्पूर्ण व्याकरण आ गया है—"गणधातुपाठयोगेन धातून् लिंगानुशासने लिंगगतम्। औणादिकानुणादौ शेष निश्शेषमत्र वृत्तौ विद्यात् अमोघावृत्ति पर प्रभाचन्द्र ने एक न्यास लिखा जो वृत्ति को सक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत करने का एक प्रयास था—"तस्यातिमहती वृत्ति संहृत्येयं लघीयसी।" यक्षवर्मा द्वारा लिखित चिन्तामणि वृत्ति भी सक्षेप पर अधिक बल दे रही है—"समस्त वाङ्मयं वेत्ति वर्षेणैकेन।"

इनके अतिरिक्त आचार्य अभयचन्द्र ने पाल्यकीर्ति के व्याकरण के आधार पर "प्रक्रियासग्रह" नामक ग्रन्थ की रचना की जिसका अनुकरण भावसेन ने "शाकटायन-टीका" और दयालपाल मुनि ने "रूपसिद्धि" नामक ग्रन्थ मे किया।

प० अम्बालाल शाह[1] की सूचना के अनुसार पाल्यकीर्ति ने सूत्रपाठ के अतिरिक्त धातुपाठ और लिगानुशासनपाठ की भी रचना की थी। जहाँ धातुपाठ का प्रकाशन प० गौरीलाल जैन ने कुछ समय पूर्व करवाया था, वहाँ लिंगानुशासनपाठ अभी तक अप्रकाशित है। इसकी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है जिसमे ७० पद्य है।

बुद्धिसागर सूरि—ऐसा माना जाता है कि श्वेताम्बर जैन आचार्यों की परम्परा मे बुद्धिसागर सूरि प्रथम विद्वान् है जिन्होंने व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है। बुद्धिसागर सूरि अपने समय के श्रेष्ठ विद्वान थे जिन्होने व्याकरण के अतिरिक्त छन्द शास्त्र की भी रचना की थी। बुद्धिसागर सूरि के जीवन के सम्बन्ध मे कोई विशेष परिचय प्राप्त नही होता। पर उनके द्वारा लिखित व्याकरण के अंत मे एक श्लोक मिलता है[2] जिसके आधार पर प० मीमासक[3] ने यह निष्कर्ष निकाला है कि आचार्य बुद्धिसागर सूरि का समय विक्रम की ग्यारहवी सदी का उत्तरार्ध है। यदि उपर्युक्त श्लोक प्रामाणिक है तो इसकी सहायता से हम यह निष्कर्ष भी निकाल सकते है कि बुद्धिसागर की कर्मस्थली मध्यभारत का जाबालिपुर (वर्तमान जबलपुर) रही होगी।

आचार्य बुद्धिसागर सूरि का व्याकरणग्रन्थ आजकल अप्रकाशित अवस्था मे उपलब्ध है।[4] परन्तु इसके मौलिक होने मे सन्देह माना जाता है। आचार्य के नाम से ही इनके ग्रन्थ को "बुद्धिसागर व्याकरण" कहा जाता है, पर "पञ्चग्रन्थी" और "शब्दलक्ष्म" इसके

---

१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ५ पृ० २१.

२ श्री विक्रमादित्यनरेन्द्रकालात्
साशीतिके याति समासहस्रे
सश्रीकजाबालिपुरे तदाद्यं
दृब्धं मया सप्तसहस्रकल्पम्।

३ संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ५६१।

४. जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग ५, पृ० २७, पा० टि० ३.

अन्य दो नाम भी हैं। ऊपर (भूमिका भाग मे) कहा जा चुका है कि बुद्धिसागर सूरि ने जैन व्याकरण ग्रन्थों की रचना का कारण ब्राह्मणों द्वारा किए जाने वाले व्यग्य बाणो मे निहित अपमान को माना है। इन उपर्युक्त श्लोकों के आधार पर कह सकते हैं कि आचार्य को अपने ग्रन्थ का नाम "शब्दलक्ष्म" विशेष प्रिय रहा होगा। "प्रमालक्ष्मप्रान्त" मे यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि बुद्धिसागर सूरि ने अपने व्याकरण ग्रन्थ की रचना पूर्ववर्ती वैयाकरणो के ग्रन्थो के आधार पर की थी तथा साथ ही आचार्य ने धातुपाठ, गणपाठ और उणादिपाठ की भी रचना की थी—"श्री बुद्धिसागराचार्य. पाणिनि-चन्द्र-जैनेन्द्र विश्रान्त-दुर्ग टीकामवलोक्य धातु सूत्रगणोणादि-वृत्तबन्धै: सह कृत व्याकरण संस्कृतशब्द-प्राकृतशब्द सिद्धये।" इसके अतिरिक्त आचार्य ने लिंगानुशासनपाठ की भी रचना की थी जिसका संकेत आचार्य हेमचन्द्र ने दो बार किया है।[1] प्रभावकचरित मे लिखा है कि इस व्याकरण का परिमाण आठ सहस्र श्लोक था। विद्वानों की धारणा है कि यह परिमाण आचार्य द्वारा लिखित सभी पाठो से युक्त सम्पूर्ण व्याकरण का माना जाना चाहिए।

भद्रेश्वर सूरि—जैनेन्द्र-परवर्ती जैन वैयाकरणो मे सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ, लिंगानुशासनपाठ—इस प्रकार पंचांग व्याकरण के निर्माण की परम्परा के प्रति बहुत अधिक श्रद्धा प्रतीत होती है। "शाकटायन व्याकरण" मे ये पाँचो पाठ थे या नही ऐसा कुछ निश्चित रूप से कह पाना कठिन प्रतीत होता है। आचार्य बुद्धिसागर सूरि ने सम्भवत. पांचो पाठों की रचना की थी। आचार्य भद्रेश्वर सूरि द्वारा रचित व्याकरण का कोई भी पाठ इस समय उपलब्ध नही होता। इनके व्याकरण का नाम दीपक था ऐसा वर्धमान के गणरत्नमहोदधि से ज्ञात होता है।[2] परन्तु यह व्याकरण आजकल उपलब्ध नहीं होता है।

आचार्य भद्रेश्वरसूरि ने सूत्रपाठ के अतिरिक्त **धातुपाठ, गणपाठ, और लिंगानुशासनपाठ** की भी रचना की थी ऐसा अन्य उल्लेखों से ज्ञात होता है। सायणविरचित माधवीयाधातुवृत्ति के प्रामाण्य से ऐसा माना जाता है कि श्री भद्रेश्वर सूरि ने धातुपाठ की रचना थी। दूसरी ओर वर्धमान के ही साक्ष्य मे ऐसा माना जाता है कि भद्रेश्वर सूरि ने गणपाठ और लिंगानुशासनपाठ की रचना की थी। भद्रेश्वर सूरि का काल वर्धमान से पूर्व ११वी सदी और १२वी सदी ई० के मध्य मे माना जाता है। आचार्य भद्रेश्वर सूरि बुद्धिसागर सूरि के समान श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

आचार्य हेमचन्द्र सूरि—जैनेन्द्र परवर्ती जैन व्याकरण मे ही नही अपितु सम्पूर्ण जैन व्याकरण परम्परा और सम्पूर्ण सस्कृत व्याकरण के इतिहास मे आचार्य हेमचन्द्र सूरि का नाम स्वर्णाक्षरो मे लिखा जाने योग्य है। व्याकरण और व्याकरणेतर—दोनो निकायों मे हेमचन्द्र का योगदान इतना अद्भुत रहा है कि कृतज्ञ विद्वज्जगत् उन्हे "कलिकाल सर्वज्ञ" के नाम मे जानता है। अपने आश्रयदाता राजा सिद्धराज जयसिंह के आदेश से उन्होने जिस व्याकरणग्रन्थ की रचना की उसका सयुक्त नाम उन्होने रखा—सिद्ध-हैमशब्दानुशासन।

आचार्य हेमचन्द्र के जीवन और काल के सम्बन्ध मे कुछ सामग्री प्राप्त होती है। इनका जन्म कार्तिक पूर्णिमा विक्रम स० ११४५ मे हुआ माना जाता है। हेमचन्द्र के पिता चाच अथवा चच्चि वैदिक मतावलम्बी थे जबकि माता पाहिनी जैनमतावलम्बिनी थी। मा की कृपा एव आशीर्वाद से हेमचन्द्र ने श्वेताम्बर जैन आचार्य चन्द्रदेवसूरि का शिष्यत्व ग्रहण किया। विद्या-अध्ययन करने के बाद हेमचन्द्र ने जिन ग्रन्थो की रचना की उनका सम्बन्ध व्याकरण, न्याय, धर्म, काव्य, छन्द आदि से है। आचार्य हेमचन्द्र सूरि का देहावसान ८४ वर्ष की आयु मे हुआ।

आचार्य हेमचन्द्र का शब्दानुशासन कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। सम्पूर्ण जैन सस्कृत व्याकरण मे जो तीन सम्प्रदाय अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते है—जैनेन्द्र, शाकटायन और हैम—इनमे से इसका महत्त्व सबसे अधिक है। यह एकमात्र जैन व्याकरण है जिसके बारे मे निश्चित रूप मे कह सकते है कि यह "पचाग व्याकरण" था क्योकि यह उसी रूप मे आज भी उपलब्ध है। प्रबन्धचिन्तामणि[3] मे इसका स्पष्ट सकेत बहुत ही विचित्र ढग मे प्राप्त होता है कि आचार्य ने पचाग-व्याकरण की रचना एक ही वर्ष मे पूरी कर ली थी "हेमचन्द्राचार्य श्रीसिद्धहेमाभिधानामिध पचागमपि व्याकरण सपादलक्षपरिमाणं सवत्सरेण रचयाचक्रे। यदि श्री सिद्धराज सहायीभवति तदा कतिपयैरेव दिनै पचागमपि नूतन व्याकरण रचयामहे।" यदि यह सत्य है तो हेमचन्द्र की विलक्षण प्रतिभा की हम केवल कल्पना ही कर सकते हैं।

---

१. उदरम् जठरव्याधि युद्धानि। जठरे त्रिलिंगमिति बुद्धिसागर:।
(उद म्) त्रिलिंगोऽयमिति बुद्धिसागर ॥

२. "श्री बुद्धिसागरसूरिश्चक्रे व्याकरण नवम्।
सहस्राष्टकमान तद् श्रीबुद्धिसागराभिधम्।"

३. मेधाविन: प्रवरदीपककर्तृयुक्ता: "—गणरत्न महोदधि, पृ० १. इसकी व्याख्या में स्वय वर्धमान लिखते हैं—" दीपक कर्ता भद्रेश्वरसूरि:। प्रवरश्चासौ दीपक कर्ता च प्रवरदीपककर्ता। प्राधान्य चास्याधुनिक वैयाकरणापेक्षया।"

४. पृ० १६०.

हैमशब्दानुशासन की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह व्याकरण पाणिनीय उत्सर्ग अपवाद शैली पर आधारित न होकर विशुद्ध प्रक्रिया शैली पर आधारित है। यद्यपि अष्टाध्यायी के समान हैम व्याकरण मे भी आठ अध्याय हैं पर इसमे सूत्रों का क्रम विषयानुसार है। इस अनुशासन मे क्रमश सज्ञा, स्वरसन्धि, व्यजनसन्धि, नाम, कारक, स्त्रीप्रत्यय, समास, आख्यात, कृदन्त और तद्धित प्रकरणो का विवेचन है।[1]

हैम व्याकरण मे, अन्य जैन व्याकरणो के समान, स्वर,वैदिक प्रकरण का अभाव है। परन्तु हैम अनुशासन में जिस नई पद्धति का प्रारम्भ किया गया है वह यह है कि इसके अन्तिम अध्याय मे प्राकृत एव अपभ्रश भाषा के नियमो का विवेचन किया गया है। यद्यपि हेमचन्द्र द्वारा लिखा गया यह व्याकरण प्रथम प्राकृत व्याकरण नही है, पर हेमचन्द्र सदृश महान् वैयाकरण आचार्य द्वारा सस्कृत भाषा के व्याकरण मे प्राकृत भाषा का व्याकरण जोड देना जहा एक ओर प्राकृत भाषा के महत्त्व को विद्वज्जगत् मे सुप्रतिष्ठित करता है वहा आचार्य की तुलनात्मक व्याकरण दृष्टि को भी परिपुष्ट करता ही है।

अपने व्याकरण को सर्वग्राह्य बनाने की दृष्टि से हेमचन्द्र ने अपने से पूर्ववर्ती प्राय सभी महत्वशाली व्याकरण ग्रन्थो से सहायता ली है। पाणिनि व्याकरण से सहायता लेना हेमचन्द्र की उदार व्याकरण दृष्टि का परिचायक है। इसके अतिरिक्त शर्ववर्मा के कातन्त्र व्याकरण, भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण सदृश जैनेतर तथा जैनेन्द्र और शाकटायन सदृश जैन व्याकरणो का प्रभूत योगदान सिद्ध-हैमशब्दानुशासन के निर्माण मे माना जाता है। जैनेन्द्र की महावृत्ति और शाकटायन की अमोघावृत्ति से हेमचन्द्र ने पर्याप्त नियमो को यथावत् ग्रहण कर लिया है। उदाहरणतया पाणिनि के "नित्य हस्ते पाणावुपयमने" (१. ४ ७७) शाकटायन के "नित्यं हस्ते पाणौ स्वीकृतौ" (१. १. ३६) और हैम के "नित्य हस्ते पाणो पाणावुद् वाहे" (३ १ ५५) मे समानता स्पष्ट है।

सिद्धहैमशब्दानुशासन आठ अध्यायो मे विभक्त सूत्रपाठ है। प्रत्येक अध्याय मे चार पाद है। प्रारम्भ के सात अध्यायो मे सस्कृत भाषा के तथा अंतिम आठवें अध्याय मे प्राकृत और अपभ्रश भाषाओ के नियम है। इस प्रकार सूत्रो की सख्या एक से सात अध्यायो तक ३५६६ तथा आठवें अध्याय मे १११९ और कुल मिलाकर ४६८५ है जो पाणिनीय अष्टाध्यायी के ३९९६ सूत्रो से लगभग छह सौ अधिक है। इस सूत्रपाठ पर आचार्य की स्वोपज्ञ वृत्तिया है। ये वृत्तिया अनेक प्रकार की है। इनमे से एक लघ्वी वृत्ति छह सहस्र श्लोक परिमाण की, दूसरी मध्यावृत्ति बारह सहस्र श्लोक परिमाण की तथा तीसरी बृहती वृत्ति अठारह सहस्र श्लोक परिमाण की मानी जाती है। ऐसा स्वाभाविक रूप से कहा जा सकता है कि ये वृत्तिया अलग-अलग स्तर के पाठको के लिए लिखी गई होगी। इन तीन वृत्तियो के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने नब्बे सहस्र श्लोक परिमाण का शब्दमहार्णवन्यास अथवा बृहन्न्यास भी लिखा था जो अब अशत ही उपलब्ध और प्रकाशित है। इस समय यह न्यास प्रारम्भ के नौ पादो तक ही प्रकाशित रूप मे मिलता है।[2] हेमचन्द्र के अतिरिक्त अन्य कतिपय विद्वानो ने भी इस शब्दानुशासन पर वृत्तिया लिखी थी। बेल्वाल्कर ने[3] इन वृत्तिकारो के नाम धनचन्द्र, जिनसागर, उदयसौभाग्य, देवेन्द्रसूरि, विनयविजयगणि, मेघविजय गिनवाए है। पर आज इन सबके ग्रन्थ अनुपलब्ध है। आचार्य ने अपने ग्रन्थ मे अपने से पूर्ववर्ती प्राय सभी प्रमुख वैयाकरणो का नाम सादर स्मरण किया है जिनमे पाणिनि, पाल्यकीर्ति सहित जैन-अजैन सभी वैयाकरण हैं।

भट्टोजि दीक्षित ने जिस प्रकार पाणिनीय अष्टाध्यायी का पूर्ण प्रक्रिया रूपान्तर अपने विख्यात ग्रन्थ सिद्धातकौमुदी मे किया है, उसी प्रकार सिद्ध हैमशब्दानुशासन का पूर्णप्रक्रिया रूपान्तर उपाध्याय मेघविजय ने सन् १७०० मे चन्द्रप्रभा नामक ग्रन्थ मे किया था। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम हेमकौमुदी भी है। इस ग्रन्थ मे कुछ शब्दरूपो की सिद्धि पाणिनीय तन्त्र के आधार पर भी कर दी गई है।

प्राचीन काल मे किसी वैयाकरण को अपना सम्प्रदाय स्थापित करने के लिए व्याकरण के पाचो पाठो की रचना करनी पडती थी ऐसा हम ऊपर कह आए है। इस दृष्टि से, उपलब्ध ग्रन्थो के आधार पर, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि पाणिनि के बाद हेमचन्द्र ही वास्तविक अर्थो मे सम्प्रदाय प्रवर्तक वैयाकरण हुए है। पूर्ण वैज्ञानिकता और मौलिकता के बावजूद हेमचन्द्र का सम्प्रदाय पाणिनि सम्प्रदाय के समान उत्तराधिकारियो की एक श्रेष्ठ परम्परा मे मण्डित क्यो न हो सका, इसके कारणो का विवेचन आवश्यक होने पर भी प्रस्तुत निबन्ध की सीमाओ मे नही हो पाएगा। पर इतना निश्चित है कि हेमचन्द्र ने सूत्रपाठ के अतिरिक्त धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ और लिंगानुशासन पाठ की रचना पूर्ण विमर्श के साथ की थी।

---

१. प्रथम शताब्दी ई० म कातन्त्र व्याकरण मे जिस विषयानुसारी क्रम को प्रारम्भ किया गया था, कम-अधिक मात्रा में आगे बढ़ते-बढ़ते वह क्रम हैम अनुशासन मे अधिक परिपक्व रूप में देखने को मिलता है।

२. उपाध्याय, बलदेव, सस्कृत शास्त्रों का इतिहास, १९६९, पृ० ५८९.

३. Belvalkar, Systems of Sanskrit Gramnar, p. 75.

हेमचन्द्र के धातुपाठ का नाम हेमधातुपारायण है। समस्त धातुपाठ नौ गणों मे विभक्त है। पाणिनि के दस गणों में से जुहोत्यादिगण को अदादिगण मे समाविष्ट कर लिया गया है। समस्त धातुओं की संख्या १९८० है। हेमचन्द्र ने दो प्रकार की धातु स्वीकार की हैं—शुद्ध और प्रत्ययान्त। जहा शुद्ध धातुओ मे भू, गम्, पठ् आदि का समावेश होता है वहा कारि, चोरि, भावि, जुगुप्स्, कण्डूय सदृश धातु प्रत्ययान्त हैं। हेमचन्द्र ने फक्क् (निर्माण), खोड् (घात), क्षिम् (खाना), पूली (तृणोच्चय करना) सदृश धातु भी कल्पित की जो जनसामान्य मे प्रयुक्त शब्दो के सस्कृतीकरण का प्रयास कही जा सकती है। धातुपाठ पर हेमचन्द्र की स्वोपज्ञ वृत्ति के अतिरिक्त गुणरत्नसूरि ने भी एक वृत्ति की रचना की थी।

हेमचन्द्र का लिखा गणपाठ स्वय आचार्य द्वारा लिखे शब्दानुशासन पर स्वोपज्ञ बृहतीवृत्ति मे संकलित उपलब्ध होता है। जो गण वहां नही आ पाए हैं उनका सकलन विजयनीति सूरि ने अपनी सिद्धहेम-बृहत्प्रक्रिया" मे कर दिया है। आचार्य के गणपाठ पर आक्षेप करते हुए बेल्वाल्कर ने[1] लिखा है कि उसमें पाल्यकीर्ति के शब्दानुशासन और उसकी अमोघावृत्ति का अन्धानुकरण की सीमा तक आश्रय लिया गया है। जबकि पं० मीमासक का[2] कथन है कि हैम गणपाठ मे पाल्यकीर्ति के अनुकरण के बावजूद मौलिकता है।

हेमचन्द्र का उणादिपाठ सबसे अधिक विस्तृत पाठ माना जाता है। इस पाठ मे १००६ सूत्र हैं। इस पर आचार्य की स्वोपज्ञ वृत्ति भी है।

हेमचन्द्र का लिगानुशासन पाठ १३८ श्लोको मे है जो बहुत अधिक विस्तृत माना जाता है। इसमे शब्दो के लिंगनिर्देश कई आधारो पर निश्चित किए गए हैं जबकि पाणिनि के पाठ मे केवल प्रत्ययो को ही लिंगनिर्धारण का आधार माना गया है। इस नवीनता का कारण भी स्पष्ट है। हेमचन्द्र अपने समय के महान् कोशकार थे और उनका विभिन्न शब्दो और प्रयोगो का ज्ञान अद्भुत था। उसी का प्रभाव उनके लिंगानुशासनपाठ पर भी है।

हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन के अनुकूल एक परिभाषापाठ भी लिखा था जिसमे ५० परिभाषाएँ सकलित हैं। इनके अतिरिक्त हैम सम्प्रदाय के एक अन्य आचार्य हेमहंसगणि ने ८४ अन्य परिभाषाओं का एक पूरक परिभाषासग्रह लिखा है। हैमव्याकरण मे परिभाषाएँ न्यायसूत्रों के नाम से जानी जाती हैं।

आचार्य हेमचन्द्र के पचाग व्याकरण पर विशाल टीका-उपटीका सम्पत्ति प्राप्त होती है। इस समस्त सामग्री का विश्लेषण निबन्ध की स्वाभाविक सीमाओ को देखते हुए सम्भव नही है।

वर्धमान—१२वी सदी के विख्यात जैन आचार्य वर्धमान अपने एकमात्र व्याकरणग्रन्थ गणरत्नमहोदधि के कारण सस्कृत व्याकरण निकाय मे अत्यधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हुए है। वर्धमान का सम्बन्ध श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के साथ माना जाता है। पर उनका ग्रन्थ किसी विशेष जैन व्याकरण सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता हो ऐसा प्रतीत नही होता। कुछ संशोधको ने ऐसा सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पाल्यकीर्ति के शाकटायन-व्याकरण मे जो धातु आते है उनका सकलन वर्धमान ने किया है। ऐसा मान लेने पर गणरत्नमहोदधि की सर्वस्वीकृत आकरता संदिग्ध हो जाती है। वस्तुत वर्धमान के ग्रन्थ मे शाकटायन और हैम सदृश जैन सम्प्रदायो के गणपाठो का, चन्द्रगोमि सदृश बौद्ध व्याकरण सम्प्रदाय के गणपाठ का तथा पाणिनि और कात्यायन के स्वरवैदिक प्रकरण से व्यतिरिक्त गणपाठ का महान् संकलन कर दिया गया है। इस पर वर्धमान की स्वोपज्ञ टीका भी है। इन प्रमुख वैयाकरणो के अतिरिक्त अन्य जिन वैयाकरणों का उल्लेख वर्धमान ने किया है उनके नाम हैं—अभयनंदी, अरुणदत्त, भद्रेश्वर, सुधाकर, वामन, भोज आदि। वर्धमान के गणरत्नमहोदधि की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) इस ग्रन्थ मे उपर्युक्त अनेक प्रकार के व्याकरणसम्प्रदायो के गणपाठो का सकलन है, पर प्रमुख रूप से यह जैन सम्प्रदाय का ही गणपाठ सग्रह है क्योंकि पाणिनि के स्वरवैदिक सम्बन्धी गणो को सम्मिलित न करके वर्धमान ने अपनी जैन दृष्टि का स्पष्ट परिचय दिया है।

(२) इस ग्रन्थ मे उद्धृत विभिन्न गणो के अनेक पाठान्तर भी दिए गए हैं जिनका उल्लेख "एके"; "अन्ये", "अपरे" आदि की सहायता से किया गया है।

(३) गणपाठो का सकलन करते समय वर्धमान ने अनेक प्रयोगो के उदाहरण भी दिए हैं। इस प्रक्रिया मे वर्धमान ने अनेक कवियो के श्लोको को भी उद्धृत किया है।

---

१. Belvalkar, Systems of Sanskrit Grammer. p 76.
२. मीमांसक, सं॰ व्या॰ शा॰ का इतिहास भाग २, पृ॰ १५७।

(४) वर्धमान ने पाणिनि के कुछ लम्बे सूत्रों को गणरूप मे परिवर्तित कर दिया है।

गणरत्नमहोदधि पर स्वयं वर्धमान की एक स्वोपज्ञावृत्ति है। इसके अतिरिक्त गगाधर और गोवर्धन ने भी इस पर टीकाएँ लिखी थी।

वर्धमान सिद्धराज जयसिंह के आश्रय मे रहे। ये वही सिद्धराज है जो हेमचन्द्र के आश्रयदाता थे। इससे वर्धमान आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन सिद्ध होते हैं। हेमचन्द्र का समय विक्रम की बारहवी सदी का उत्तरार्ध है। अत यही समय वर्धमान का भी माना जा सकता है। अपने आश्रयदाता की स्तुति में वर्धमान ने "सिद्धराजवर्णन" नामक ग्रन्थ लिखा था जिसके पद्यो को उसने अपने गणरत्नमहोदधि मे उदाहरणस्वरूप भी प्रस्तुत किया है।

जैनेन्द्र परवर्ती जैन व्याकरण की परम्परा मे हेमचन्द्र के बाद वर्धमान को छोडकर कोई उल्लेखनीय नाम सामने नही आता है। इस प्रसग मे कुछ विद्वान् आचार्य मलयगिरि सूरि विरचित मुष्टिका व्याकरण, सहजकीर्ति गणि के शब्दार्णव व्याकरण, जयसिंहसूरि का "नूतनव्याकरण" मुनि प्रेमलाभ का "प्रेमलाभव्याकरण", दानविजय का का "शब्दभूषण व्याकरण" आदि व्याकरणग्रन्थो का नाम लेते हैं। ये सभी व्याकरण किसी भी रूप मे अपने अस्तित्व की छाप नही छोड पाए और किसी न किसी रूप मे हैमव्याकरण से प्रभावित रहे। इस प्रकार हैमतन्त्र के साथ ही जैन परम्परा मे मौलिक व्याकरण ग्रन्थो की शृखला मे विराम सा आ जाता है।

(ख) जैनेतर व्याकरण एवं जैन आचार्य

जैसा कि इस निबन्ध की भूमिका मे ही कहा जा चुका है जैन वैयाकरणो ने जैन-इतर वैयाकरण सम्प्रदायो की श्रीवृद्धि मे भी अपना बहुमूल्य योगदान किया है। यहाँ उसका सक्षेप मे अध्ययन किया जा रहा है।

पाणिनीय व्याकरण—पाणिनीय व्याकरण पर जैन आचार्यों का भाष्य वृत्ति सम्बन्धी कार्य बहुत कम उपलब्ध होता है, और ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिनीय व्याकरण पर जैन आचार्यों ने बहुत कम लिखा है। विभिन्न उल्लेखो से ऐसा प्रमाणित होता है कि जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता पूज्यपाद देवनन्दी ने पाणिनि व्याकरण पर "शब्दावतार न्यास" की टीका लिखी थी। यह टीका इस समय उपलब्ध नही है। शिमोगा जिले की "नगर" तहसील के एक सस्कृत शिलालेख (४३वां लेख) मे स्रग्धरा छन्द मे बने एक श्लोक मे पूज्यपाद के ग्रन्थों का उल्लेख है जिसके पहले पाद मे आचार्य के "पाणिनीयन्यास" का स्पष्ट उल्लेख है—"न्यास जैनेन्द्रसज्ञ" सकलबुधनत पाणिनीयस्य (भूय)।" इसी प्रकार वृत्तविलास ने धर्मपरीक्षा नामक कन्नड काव्य मे इस प्रकार के एक ग्रन्थ का सकेत दिया है।

१७वी सदी मे विश्वेश्वर सूरि नामक एक जैन विद्वान् ने भी अष्टाध्यायी पर एक टीका लिखी थी जो आज अशत (केवल प्रारभ के तीन अध्याओं तक) ही उपलब्ध है। इस व्याख्या पर भट्टोजि दीक्षित का नाम स्थान-स्थान पर उद्धृत किया गया है जिससे सिद्ध होता है कि व्याख्याकार भट्टोजि से प्रभावित है।

इन व्याख्याओ के अतिरिक्त पाणिनीय तन्त्र पर अन्य किसी महत्वपूर्ण जैन प्रयास के प्रमाण प्राप्त नही होते।

कातन्त्र व्याकरण—जैन आचार्यों द्वारा जैनेतर सस्कृत व्याकरण सम्प्रदायो मे से कातन्त्र और सारस्वत व्याकरणो को बहुत अधिक योग दिया गया है। इसका कारण सम्भवत यह माना जा सकता है कि वैदिक भाषाओं के नियमो की भी प्रतिपादिका होने के कारण यहां पाणिनीय अष्टाध्यायी के प्रति जैन आचार्यों मे उत्साह की कमी थी वहा कातन्त्र और सारस्वत इन दो महत्वपूर्ण पाणिनि-परवर्ती व्याकरण सम्प्रदायो मे वैदिक भाषा के नियमो को कोई विशेष स्थान प्राप्त न था। इसलिए जैन आचार्यों ने इन दो व्याकरणो पर विशेष टीका सम्पत्ति प्रदान की।

जहाँ तक कातन्त्रव्याकरण का सम्बन्ध है, कुछ सशोधक इसे भी एक जैन व्याकरण ही मानना चाहते है, यद्यपि परम्परा एवं प्रमाणो से यह बात पुष्ट नही होती। प० अम्बालाल शाह के शब्दो मे[1]—"सोमदेव के कथासरित्सागर के अनुसार (कातन्त्रकार) अजैन सिद्ध होते है, परन्तु भावसेन त्रैविद्य रत्नमाला मे इनको जैन बताते है।" वस्तुत सभी प्रमाण कातन्त्रव्याकरण को जैनेतर ही सिद्ध करते हैं। (१) कातन्त्रकार शर्ववर्मा ने स्वय को किसी भी रूप मे जैन नही कहा है। (२) सम्पूर्ण सस्कृत वाङ्मय मे शर्ववर्मा जैन नही कहे गए हैं। (३) इसके विपरीत अग्निपुराण और स्कन्दपुराण मे इस व्याकरण को कार्तिकेय की कृपा से प्राप्त माना जाता है जिसके आधार पर इसे कालाप और कौमार व्याकरण भी कहा जाता है। (४) व्याकरण की परम्परा मे इसे काशकृत्स्न व्याकरण (का=काशकृत्स्न) का संक्षेप

---

१. जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग ५, पृ० ५०.

माना गया है। (५) इस व्याकरण मे वैदिक सस्कृत के नियमो का अभाव शर्ववर्मा के ही शब्दो मे "क्षिप्रप्रबोधार्थ" है न कि वेदो से वैराग्य के कारण है।(६)इस व्याकरण का प्रचलन-क्षेत्र बंगाल रहा है(और एक सीमा तक अभी भी है)जो कभी भी जैन विद्या का केन्द्र नहीं रहा। (७) श्रमण परम्परा मे प्रारभ मे यह व्याकरण केवल बौद्धों मे ही लोकप्रिय रहा है जिसके परिणामस्वरूप इसका धातुपाठ आज भी तिब्बती भाषा मे प्राप्त होता है।

कातन्त्रव्याकरण के लेखक शर्ववर्मा स्वय चाहे जैन न हो, पर इस व्याकरण की परिपूर्णता मे जैन आचार्यों का भी पूरा योगदान रहा है। शर्ववर्मा इस व्याकरण के आख्यातान्त भाग तक के ही रचयिता माने जाते है।[१] जबकि उसके कृदन्त भाग के कर्ता कात्यायन माने जाते हैं। दुर्गसिह की कातन्त्रवृत्ति के प्रारम्भ मे ही लिखा है—

"वृक्षादिवदमी रूढा न कृतिना कृता कृत ।
कात्यायनेन ते सृष्टा विबुद्धप्रतिबुद्धये ॥

कात्यायन भी अजैन ही थे। परन्तु इस व्याकरण की महत्ता के सवर्धन मे जैन विद्वान् विजयानन्द के कातन्त्रोत्तर-व्याकरण तथा वर्धमान के कातन्त्रविस्तर का प्रभूत योगदान रहा है। जैन पुस्तक प्रशस्तिसग्रह (पृ० १०८) मे विजयानन्द का दूसरा नाम विद्यानन्द कहा गया है—"इति विजयानन्द विरचिते कातन्त्रोत्तरे विद्यानन्दापरनाम्नि— ।" दूसरी ओर कातन्त्रविस्तर के लेखक वर्धमान का सम्बन्ध गुजरात के राजा कर्णदेव से जोड़ा जाता है।

इन दो महत्वपूर्ण जैन विस्तरग्रन्थो के अतिरिक्त कातन्त्रव्याकरण पर कुछ अन्य जैन आचार्यों ने भी ग्रन्थ लिखे। इन ग्रथों को हम तीन वर्गों मे बाँटकर देख सकते है। कुछ ग्रन्थ शुद्ध रूप से कातन्त्र पर विस्तरग्रन्थ है। ऊपर लिखे दो ग्रन्थों के अतिरिक्त धर्मघोषसूरि द्वारा लिखित चौबीस सहस्र श्लोक प्रमाणवाला कातन्त्रभूषण भी इसी कोटि का ग्रन्थ है जो कातन्त्र पर आधारित है और उसी को रूपान्तर मे प्रस्तुत करता है। दूसरे प्रकार के ग्रन्थ वे ग्रन्थ है जो शर्ववर्मा के व्याकरण पर वृत्ति अथवा व्याख्या के रूप मे है। इनमे हर्षचन्द्र के लेखकत्व से ज्ञात कातन्त्रदीपकवृत्ति तथा सोमकीर्ति द्वारा लिखित कातन्त्रवृत्तिपञ्जिका के नाम उल्लेखनीय हैं। कातन्त्र व्याकरण मे पाणिनि के समान उत्सर्ग-अपवाद विधि का शिथिल अनुकरण करने पर भी सूत्रों का क्रम विषयानुसार रखा गया है। अत कुछ जैन विद्वानो को कातन्त्र पर प्रक्रियाग्रन्थ लिखने का आकर्षण स्वाभाविक ही हुआ। ऐसे ग्रन्थो मे दिगम्बर मुनि भावसेन की कातन्त्ररूपमाला तथा उसी पर किसी अन्य जैन मुनि की लघुवृत्ति के नाम उल्लेखनीय है। कुछ जैन विद्वानो ने कातन्त्र पर लिखी दुर्गसिह की टीका का पृथक् से ग्रन्थ रूप मे अध्ययन किया है।

सारस्वत व्याकरण—यह एक आश्चर्य का विषय है कि कातन्त्रव्याकरण न तो किसी जैन आचार्य द्वारा लिखा गया था और न ही जैन विद्या के किसी ज्ञात केन्द्र मे प्रचलित रहा है। उस पर भी इस व्याकरण पर इतनी अधिक सख्या मे जैन आचार्यों द्वारा विविध प्रकार के ग्रन्थो का लिखा जाना आश्चर्यजनक है। इस दृष्टि से अनुभूतिस्वरूपाचार्य द्वारा १५वी सदी मे लिखे गए सारस्वत व्याकरण पर और भी अधिक जैन विद्वानो द्वारा ग्रन्थों का लिखा जाना इसलिए कम आश्चर्य का विषय है क्योकि यह व्याकरण जैन विद्या के प्रमुख केन्द्र गुजरात मे प्रचलित रहा है और जैनो मे इस व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन प्राय होता रहा है। प० अम्बालाल शाह ने इस व्याकरण पर तेईस जैनग्रन्थ गिनवाए है। ये सभी ग्रन्थ अनेक प्रकार के है। इनमे से कुछ ग्रन्थ सारस्वत व्याकरण पर वृत्ति या टीका के रूप मे है जिनमे मालज्ञातीय मन्त्री का सारस्वत मण्डन, यशोनन्दीरचित यशोनन्दिनी टीका मेघरत्न की दीपिका, और चन्द्रकीर्तिसूरि की सुबोधिनी प्रसिद्ध है। कुछ ग्रन्थ विशुद्ध रूप से प्रक्रिया शैली मे लिखे गए है जिनमे सारस्वत व्याकरण को आधार बनाया गया है। इनमे पद्मसुन्दरगणि की सारस्वतरूपमाला तथा नयसुन्दरमुनि की रूपरत्नमाला उल्लेखनीय है। कुछ ग्रन्थ सारस्वत व्याकरण के कुछ अशो पर लिखे गए। उदाहरणतया, सारस्वत व्याकरण के सन्धिभाग पर सोमशीलमुनि की पचसन्धि टीका परिभाषाओ पर दयारत्नमुनि की न्यायरत्नावली, हर्षकीर्तिसूरि की धातुतरगिणी तथा उपाध्याय राजसी का पचसंधि बालावबोध के नाम लिए जा सकते है। इन सबके अतिरिक्त १८वी सदी मे मुनि आनन्द विधान ने सारस्वत व्याकरण पर भाषाटीका की भी रचना की थी। ये सभी ग्रन्थ प्राय अप्रकाशित अवस्था मे विभिन्न पुस्तकालयो मे हस्तलिखित रूप मे है और १५वी से १८वी सदी के मध्य लिखे गए।

उपसंहार—निबन्ध की कुछ सहज सीमाएँ होती है जिनमे विश्लेषण एक परिधि मे आगे हो पाना सम्भव नही हो पाता; विश्लेषणयोग्य ग्रन्थो की अधिकता हो जाने पर उनका कोटिश विवरण मात्र ही हो पाता है। इस निबन्ध मे भी संस्कृत व्याकरण को

१. कथासरित्सागर, लम्बक, १, तरग ६, ७.
२ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ५५ से।

जैन आचार्यों द्वारा जो प्रभूत योगदान हुआ है उसकी कोटियाँ बनाकर विवरण शैली में ही विश्लेषण हो पाया है। परन्तु इसके आधार पर हम कुछ निश्चित निष्कर्षों तक पहुंचने की स्थिति में आ जाते हैं। उपसंहार रूप में यहाँ दो निष्कर्षों तक निरपेक्ष भाव से पहुंचने का प्रयास किया जा रहा है—

(१) इसमें सन्देह नहीं है कि विद्वान् जैन आचार्यों ने संस्कृत व्याकरण की समृद्धि में प्रभूत योगदान किया है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में से तीन जैन व्याकरण इस उच्च कोटि के सिद्ध होते हैं कि उनके प्रवर्तकों को सम्प्रदाय प्रवर्तक कहा जा सकता है। जैनेन्द्र, शाकटायन और हैम—ये तीन व्याकरण केवल व्याकरण मात्र ही नहीं रह गए अपितु व्याकरण-सम्प्रदाय के स्तर को प्राप्त कर गए। इनमें से भी आचार्य हेमचन्द्र का व्याकरण, अपने पांचों व्याकरण-पाठों की उपलब्धि के कारण, मौलिकता और व्याकरणिक गुणवत्ता के सर्वश्रेष्ठ जैन व्याकरण सम्प्रदाय माना जा सकता है। परन्तु इस सम्पूर्ण श्रेष्ठता के रहते भी यह विचित्र वास्तविकता है कि कोई भी एक जैन व्याकरण सम्प्रदाय, यहां तक कि सिद्ध हैम भी, जैन समुदाय में सर्वस्वीकृत न हो सका। इसके विपरीत ये सभी व्याकरण, जैनेतर सारस्वत व्याकरण के साथ, जैन समुदाय में स्थान स्थान पर अध्ययन-अध्यापन के लिए प्रचलित रहे। यह एक निष्कर्ष जैन समुदाय के उदार, असंकीर्ण बौद्धिक चेतना का परिचायक है। अपने समुदाय के विद्वानों द्वारा लिखित व्याकरणों की परिधि में उन्होंने स्वयं को परिसीमित नहीं कर लिया।

(२) इस सामान्य दृष्टिकोण परक निष्कर्ष के अतिरिक्त जैन व्याकरण के सम्बन्ध में एक विशिष्ट तकनीकपरक निष्कर्ष भी महत्वपूर्ण है। जैन व्याकरण की एक लम्बी परम्परा से हमारा परिचय हो चुका है। उस लम्बी परम्परा में तकनीक सम्बन्धी दो बातें उभर कर सामने आती हैं

(क) पाणिनि की सम्पूर्ण व्याकरणिक प्रक्रिया का आधार प्रकृति-प्रत्यय प्रणाली है। सम्पूर्ण जैन व्याकरण में भी इस प्रणाली को यथावत् स्वीकार किया गया है। एक पुरानी परम्परा के उत्तराधिकारी के रूप में पाणिनि ने जिस विधि को पूर्ण परिपक्वता और वैज्ञानिकता प्रदान की, उस विधि का विकास इस पाली भाषाई दृष्टि से इसलिए सम्भव नहीं था क्योंकि जहां एक ओर यह विधि विश्लेषण की दृष्टि से संस्कृत व्याकरण का सहज अंग बन गई थी, वहाँ दूसरी ओर एक पुरानी भाषा के लिए, जो बोलचाल की भाषा नहीं रह गई थी, विश्लेषण की नूतन विधि प्रतिपादित करना भाषाई दृष्टि से न तो सम्भव था और न ही आवश्यक।

(ख) जिस प्रकार पाणिनि ने अपने व्याकरण में कुछ संज्ञाएं पूर्वाचार्यों से ग्रहण की थीं तथा कुछ नई संज्ञाओं का निर्माण किया था उसी प्रकार जैन व्याकरण-शास्त्र ने अनेक संज्ञाएं पाणिनि से यथावत् ग्रहण की और अनेक संज्ञाओं का नव-निर्माण किया। इन दोनों पक्षों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि जैन आचार्यों ने संस्कृत व्याकरण का विश्लेषण पूरी परम्परा के अन्तर्गत रह कर करते हुए विशिष्ट वैज्ञानिक तकनीक का परिचय दिया।

व्रतचर्या क्रिया में अध्ययन सम्बन्धी निर्देश

सम्राट भरत ने द्विजों के लिए गर्भाधान से अग्रनिर्वृति अर्थात गर्भ से लेकर निर्वाण पर्यन्त तक महापुराण ३८/५०—३०९) में तिरेपन क्रियाओं का उल्लेख किया है। आवश्यक नियमों के पालन के उपरान्त महापुराणकार ने व्रतचर्या नामक क्रिया के अन्तर्गत ब्रह्मचारी बालक के अध्ययन के निमित्त इस प्रकार का प्रावधान किया है —

सूत्रमौपासिकं चास्य स्यादध्ययं गुरोर्मुखात्।
विनयेन ततोऽन्यच्च शास्त्रमध्यात्मगोचरम् ॥
शब्दविद्यार्थशास्त्रादि चाध्येयं नास्य दुष्यति।
सुसंस्कारप्रबोधाय वैयात्यख्यातयेऽपि च ॥
ज्योतिर्ज्ञानमथच्छन्दोज्ञानं ज्ञानं च शाकुनम्।
संख्याज्ञानमितीदं च तेनाध्येयं विशेषतः ॥

विद्यार्थी को सर्वप्रथम गुरु के मुख से श्रावकाचार पढ़ना चाहिए और फिर विनयपूर्वक अध्यात्मशास्त्र पढ़ना चाहिए। उत्तम संस्कारों को जागृत करने एवं विद्वत्ता को प्राप्त करने के लिए व्याकरण आदि शब्दशास्त्र और न्याय आदि अर्थशास्त्र का भी अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि आचार-विषयक ज्ञान होने पर इनके अध्ययन करने में कोई दोष नहीं है। इसके बाद, ज्योतिषशास्त्र, छन्दशास्त्र, शकुनशास्त्र और गणितशास्त्र आदि का भी उसे विशेष रूप से अध्ययन करना चाहिए।

—सम्पादक

पूज्यपाद देवनन्दी का संस्कृत-व्याकरण को योगदान

—डा० प्रभा कुमारी

पाणिनि के परवर्ती वैयाकरणो मे जैन विद्वानो की प्रधानता रही है। जैनाचार्यों द्वारा रचित व्याकरण-ग्रन्थो मे चार व्याकरण ग्रन्थ प्रमुख हैं—

१. जैनेन्द्र-व्याकरण
२ शाकटायन-व्याकरण
३ सिद्धहैम-शब्दानुशासन
४ मलयगिरि-शब्दानुशासन

जैनाचार्यों द्वारा रचित उपलब्ध व्याकरण-ग्रन्थों मे काल की दृष्टि से जैनेन्द्र-व्याकरण सर्वप्रथम है। इस व्याकरण ग्रन्थ के रचयिता पूज्यपाद देवनन्दी है। वे कर्नाटक के निवासी थे।[1] उनका समय ईसा की ५ वी शताब्दी है।[2] जैन सम्प्रदाय के विद्वान् की कृति होने के कारण जैन सम्प्रदाय मे तो जैनेन्द्र-व्याकरण की प्रसिद्धि थी ही, साथ ही अन्य धर्मानुयायी विद्वानो ने भी इस ग्रन्थ के कर्ता का आदरपूर्वक स्मरण किया है। मुग्धबोध के रचयिता बोपदेव (१३ वी शताब्दी ई०) ने उनको पाणिनि आदि महान् वैयाकरणो की कोटि मे रखा है—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायन ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥[3]

उनके द्वारा रचित यह श्लोक १३वी शताब्दी ई० मे पूज्यपाद देवनन्दी की ख्याति का परिचायक है।

पूज्यपाद देवनन्दी-कृत व्याकरण विषयक रचनाएं—

जैनेन्द्र-व्याकरण के अतिरिक्त पूज्यपाद देवनन्दी ने उस पर जैनेन्द्र-न्यास की रचना की जो सम्प्रति अनुपलब्ध है। प० युधिष्ठिर मीमासक ने पूज्यपाद देवनन्दी द्वारा रचे गए व्याकरण-विषयक ग्रन्थो का उल्लेख किया है, जिनके नाम इस प्रकार है—[4]

१ धातुपाठमूल
२ धातुपारायण
३. गणपाठ
४ उणादिसूत्र
५ लिङ्गानुशासन
६ लिङ्गानुशासन-व्याख्या

---

१. प्रेमी, नाथूराम, जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, १९५६, पृष्ठ ५०-५१. उपाध्याय, बलदेव, संस्कृत शास्त्रो का इतिहास, वाराणसी, १९६९, पृ० ५७७-५७८. शर्मा, एस० आर०, जैनिज्म एन्ड कर्नाटक कल्चर, धारवार, १९४०, पृ० ७०.

२ पाठक, के०बी०; जैन शाकटायन कन्टम्परेरी विद अमोघवर्ष-I, इन्डियन एन्टीक्वेरी, खण्ड ४३, बम्बई, १९१४, पृ० २१०-२११. अभ्यंकर, के० वी०, ए डिक्शनरी ऑफ संस्कृत ग्रामर, बडौदा, १९६१, पृ० १५०. बेल्वाल्कर, एस० के०, सिस्टम्स ऑफ संस्कृत ग्रामर, भारतीय विद्या प्रकाशन, १९७६, पृ० ५३. अग्रवाल, वासुदेवशरण, जैनेन्द्र महावृत्ति, सम्पा० शम्भुनाथ त्रिपाठी, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५६, भूमिका, पृ०७ शास्त्री, महामहोपाध्याय, हरप्रसाद ए डेस्क्रिप्टिव केटेलग ऑफ द संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, ख० ६, कलकत्ता, १९३१, प्राक्कथन, पृ०५२ मीमासक, युधिष्ठिर, संस्कृत-व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, हरयाणा, विक्रम संवत्, २०३०, पृ० ४४६—४५१

३. बोपदेव, कविकल्पद्रुम, सम्पा० गजानन बालकृष्ण पलसुले, पूना १९५४, पृ० १

४. मीमासक, युधिष्ठिर, जै०म०वृ० भूमिका, पृ० ५१

७. वार्तिक-पाठ

८. परिभाषापाठ, और

९. शिक्षा सूत्र

जैनेन्द्र-व्याकरण का परिमाण, संस्करण तथा स्वरूप—

जैनाचार्यों द्वारा रचित उपलब्ध व्याकरण-ग्रन्थो मे जैनेन्द्र-व्याकरण सबसे प्राचीन है। इस व्याकरण के दो प्रकार के सूत्रपाठ उपलब्ध होते हैं—

१ लघुपाठ (औदीच्य संस्करण)

२ बृहत्-पाठ (दाक्षिणात्य सस्करण)

लघुपाठ ही मूल सूत्रपाठ है तथा इसके रचयिता पूज्यपाद देवनन्दी है। इस लघु सूत्रपाठ मे ५ अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय मे ४ पाद हैं। इन २० पादो मे ३०६३ सूत्र हैं। लघुपाठ पर अभयनन्दी ने महावृत्ति की रचना की है, जो भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से प्रकाशित हुई है। इस सूत्रपाठ पर श्रुतकीर्ति ने पचवस्तु नामक प्रक्रिया लिखी।

जैनेन्द्र-व्याकरण की रचना के लगभग ५०० वर्ष पश्चात गुणनन्दी ने जैनेन्द्र-व्याकरण के मूल सूत्रपाठ को परिवर्तित एव परिवर्धित करके बृहत-पाठ का रूप दिया जिसमे ३७०० सूत्र है। इस सूत्रपाठ पर सोमदेवमुनि ने शब्दार्णवचन्द्रिका (१२०५ ई०) नामक टीका की रचना की तथा इस बृहत् पाठ पर किसी अज्ञातनामा लेखक द्वारा रची गई शब्दार्णव-प्रक्रिया भी उपलब्ध है।

पूज्यपाद देवनन्दी का मूल उद्देश्य जैन मतानुयायियो को अपने व्याकरण-ग्रन्थ के माध्यम से सस्कृत-भाषा का शब्द प्रयोग सिखाना था। जैन मतानुयायियों के लिए वैदिक भाषा तथा स्वर-सम्बन्धी नियमो का अनुशासन आवश्यक न था। यही कारण है कि जैनेन्द्र-व्याकरण मे उपर्युक्त नियमो का अभाव है। उन्होने कृत्य प्रत्ययो के अन्तर्गत छादस प्रयोगो को भी लौकिक मानकर सिद्ध किया है। इस व्याकरण-ग्रन्थ मे जैनेन्द्र महावृत्ति के अन्तर्गत निर्दिष्ट वार्तिको की सख्या ४६१ है।

पूज्यपाद देवनन्दी ने जैनेन्द्र-व्याकरण मे अपने से पर्ववर्ती श्रीदत्त,[1] यशोभद्र,[2] भूतबलि,[3] प्रभाचन्द्र[4] सिद्धसेन[5] तथा समन्तभद्र[6] नाम के छ आचार्यों के मतो को उद्धृत करते हुए उनका नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया है। यह व्याकरण-ग्रन्थ अष्टाध्यायी के आधार पर रचित एक लक्षण-ग्रन्थ है। इस व्याकरण-ग्रन्थ मे सिद्धान्तकौमुदी तथा इसी प्रकार के अन्य ग्रन्थो जैसा सूत्रो का प्रकरणानुसारी वर्गीकरण उपलब्ध नही होता है। प्रत्येक प्रकरण के सूत्र सम्पूर्ण व्याकरण-ग्रन्थ मे बिखरे हुए हैं। जैनेन्द्र-व्याकरण के स्वतन्त्र व्याकरण-ग्रन्थ होने पर भी पूज्यपाद देवनन्दी ने इस ग्रन्थ मे पाणिनीय सूत्रो की रक्षा का पूर्ण प्रयत्न किया है और इसमें वे अधिकतर सफल भी हुए हैं। पूज्यपाद देवनन्दी ने अष्टाध्यायी का अनुकरण करते हुए भी सूत्रो मे अपेक्षाकृत सक्षिप्तता, सरलता एव मौलिकता लाने का प्रयास किया है। एकशेष प्रकरण से सम्बद्ध सूत्रो का इस व्याकरण-ग्रन्थ मे सर्वथा अभाव है।[7] जैनेन्द्र-व्याकरण के अधिकतर सूत्र अष्टाध्यायी के आधार पर लिखे गए हैं। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार "देवनन्दी ने अपनी पचाध्यायी मे पाणिनीय अष्टाध्यायी के सूत्रक्रम मे कम से कम फेरफार करके उसे जैसे का तैसा रहने दिया है। केवल सूत्रो के शब्दो मे जहाँ-तहाँ परिवर्तन करके सन्तोष कर लिया है।"[8] जैनेन्द्र व्याकरण मे अनेक ऐसे सूत्र विद्यमान है जो अष्टाध्यायी के एक सूत्र के दो भाग करके व्याकरण मे समाविष्ट किए गए हैं। इस प्रकार की विधि का प्रयोग करके पूज्यपाद देवनन्दी ने सूत्रों को सरल एव स्पष्ट कर दिया है। कहीं-कहीं पर अष्टाध्यायी के दो या दो से अधिक सूत्रों का एक सूत्र में समावेश करने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है, जैसा कि निम्न तालिका मे स्पष्ट है—

---

१. गुणे श्रीदत्तस्याऽस्त्रियाम्, जैनेन्द्र व्याकरण १/४/३४.
२. कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य, वही, २/१/९९.
३. राद् भूतबले:, वही ३/४/८३.
४. रात्रे: कृति प्रभाचन्द्रस्य, वही, ४/३/१८०
५ वेत्तेः सिद्धसेनस्य, वही, ५/१/७.
६. चतुष्टयं समन्तभद्रस्य, वही, ५/४/१४०
७. स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भ, जै० व्या० १/१/१००
८. अग्रवाल, वासुदेवशरण, जै० म० वृ०, भूमिका, पृ० १२.

१. एक सूत्र के दो भाग—

जैं० व्या०		अष्टा०
१	केरेङ्, ४/३/५७. प्रात्, ४/३/५८	एङ् ह्रस्वात्सम्बुद्धे, ६/१/६६
२	क्षिज्यो, ४/३/६८ शक्तौ, ४/३/६६	क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे, ६/१/८१
३	ज्ञ, १/२/५३ नानो, १/२/५४	नानोर्ज्ञः, १/३/५८.
४.	टिदादिः, १/१/५३ किदन्त, १/१/५४.	आद्यन्तौ टकितौ, १/१/४६
५	परिमाणाद्धुदुपि, ३/१/२६ न बिस्ताचितकम्बल्यात्, ३/१/२७	अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धित लुकि, ४/१/२२

२. दो सूत्रों का एक सूत्र —

जैं० व्या०		अष्टा०
१	ईप्केन्यव्यवाये पूर्वपरयो, १/१/६०	तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य, १/१/६६. तस्मादित्युत्तरस्य, १/१/६७.
२.	प्रमाणासत्यो, २/४/३६	समासत्तौ, ३/४/५०. प्रमाणे च, ३/४/५१.
३.	भक्ष्यान्नाभ्यामिश्रणव्यञ्जने, १/३/३०	अन्नेन व्यञ्जनम्, २/१/३४ भक्ष्येण मिश्रीकरणम्, २/१/३५
४	भूषाऽपरिग्रहेऽलमन्त, १/२/१३५	भूषणेऽलम्, १/४/६४. अन्तरपरिग्रहे, १/४/६५.
५	यावद्यथावधृत्यसादृश्ये, १/३/६	यथाऽसादृश्ये, २/१/७. यावदवधारणे, २/१/८.

३ जैनेन्द्र-व्याकरण मे कही-कही पर वार्तिको का ही प्रयोग किया है एवं कही-कही पर कात्यायन के वार्तिको को सूत्र रूप मे परिवर्तित कर दिया है। इस सदर्भ मे निम्नलिखित सूत्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं —

जैं० व्या०		अष्टा०
१	किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणे १/२/३३	किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणेष्विति वक्तव्यम् १/३/२१ वा०.
२	कृति, १/३/७१.	कृद्योगा च षष्ठी समस्यत इति वक्तव्यम्, २/२/८ वा०.
३.	ग्रहेर, २/२/१३.	अच्प्रकरणे शक्तिलांगलांकुशयष्टितोमरघटघटीधनुष्षु ग्रहेरुपसंख्यानम्, ३/२/६ वा०
४	न प्रतिपदम्, १/३/७३	प्रतिपदविधाना च षष्ठी न समस्यत इति वक्तव्यम्, २/२/१० वा.

जै० व्या०	अष्टा०
५. श्वाश्मचर्मणां सङ्कोचविकारकोशेषु, ४/४/१३२.	अश्मनो विकार उपसंख्यानम्, चर्मण कोश उपसंख्यानम्, शुनः सकोच उपसंख्यानम्, ६/४/१४४ वा०

४. कभी-कभी पूज्यपाद देवनन्दी ने अष्टाध्यायी के सूत्र और उस पर कात्यायन द्वारा रचित वार्तिक को मिलाकर एक नए सूत्र का रूप दिया है —

जै० व्या०	अष्टा०
१. परस्परान्योन्येतरेतरे, १/२/१०.	इतरेतरान्योन्योपपदाच्च, १/३/१६. परस्परोपपदाच्चेति वक्तव्यम्, १/३/१६ वा०.
२. पूर्वावरसदृशकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णसमै . १/३/२८	पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः , २/१/३१. पूर्वादिष्ववरस्योपसंख्यानम्, २/१/३१ वा०
३. मध्यान्ताद्गुरौ, ४/३/१३०.	मध्याद्गुरौ, ६/३/११ अन्ताच्चेति वक्तव्यम्, ६/३/११ वा०.
४ रुजर्थस्य भाववाचिनोऽज्वरिसन्ताप्योः . १/४/६१	रुजार्थानां भाववचनानामज्वरे, २/३/५४ अज्वरिसताप्योरिति वक्तव्यम्. २/३/५४ वा०
५ वा निष्कघोषमिश्रशब्दे ४/३/१६७	वा घोषमिश्रशब्देषु, ६/३/५६ निष्के चेति वक्तव्यम्. ६/३/५६ वा०

५ अष्टाध्यायी में अनेक ऐसे शब्द हैं जिनकी सिद्धि के लिए पाणिनि ने नियमों का विधान किया है। पूज्यपाद देवनन्दी ने उनमें से कुछ शब्दों को निपातन से सिद्ध माना है। जैसे—

जै० व्या०	अष्टा०
१. कर्मठ, ३/४/१५६	कर्मणि घटोऽठच् ५/२/३५
२. पत्नी, ३/१/३३	पत्युर्नो यज्ञसंयोगे, ४/१/३३
३ भूयहत्ये, २/१/६०	भुवो भावे, ३/१/१०७ हनस्त च, ३/१/१०८
४ सब्रह्मचारी, ४/३/१६३	चरणे ब्रह्मचारिणी, ६/३/८६
५. स्थण्डिल . ३/२/१०	स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते, ४/२/१५

६ पाणिनि ने जिन शब्दों को निपातन से सिद्ध माना है उनमें से कुछ शब्दों को पूज्यपाद देवनन्दी ने नियमानुकूल माना है और उनके लिए विस्तृत सूत्रों का उल्लेख किया है। जैसे—

जै० व्या०	अष्टा०
१ दण्डिहस्तिनो फे, ४/४/१६४ वाशिजिह्माशिनो फे ढे, ४/४/१६५	दाण्डिनायनहास्तिनायनाथर्वणिकजैह्माशिनेयवासिनायनि-भ्रौणहत्यधैवत्यसारवैक्ष्वाकमैत्रेयहिरण्मयानि, ६/४/१७४.
२ वस्सदिणो वर्मुलिम्पम्, २/२/८८	उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च, ३/२/१०९
३ सो प्रातर्दिवाश्वस , ४/२/१२०. चतुश्शारेरक्षिकुक्षे , ४/२/१२२.	सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रेणी-पदाजपदप्रोष्ठपदा , ५/४/१२०

७ अष्टाध्यायी के अनेक सूत्रों को तो पूज्यपाद देवनन्दी ने बिना किसी परिवर्तन के अपने व्याकरण-ग्रन्थ में समाविष्ट किया है और इस प्रकार अष्टाध्यायी के सूत्रों की अविकल रक्षा की है। जैसे —

	जै० व्या०	अष्टा०
१.	ऋत्यक, ४/३/१०५.	ऋत्यक, ६/१/१२८
२	एङि पररूपम्, ४/३/८१	एङि पररूपम्, ६/१/९४.
३.	एचोऽयवायाव, ४/३/६६	एचोऽयवायाव., ६/१/७८
४.	झला जश् झशि, ५/४/१२८	झला जश् झशि, ८/४/५३
५	समर्थ पदविधि, १/३/१	समर्थ पदविधि, २/१/१.

८. अष्टाध्यायी के अनेक सूत्रो का पूज्यपाद देवनन्दी ने किंचिद परिवर्तन के साथ जैनेन्द्र-व्याकरण मे समावेश किया है। जैसे—

	जै० व्या०	अष्टा०
१	अन्तेऽल, १/१/४९.	अलोऽन्त्यस्य, १/१/५२.
२	इड्विज, १/१/७६	विज इट्, १/२/२
३	परस्यादे, १/१/५१	आदे परस्य, १/१/५४.
४	प्रसहनेऽधे, १/२/२८	अधः प्रसहने, १/३//३३
५	वमोऽनुपाध्याङ, १/२/११८	उपान्वध्याङ्वस १/४/४८.

९. पूज्यपाद देवनन्दी ने जैनेन्द्र-व्याकरण मे बीजाक्षरी सज्ञाओ का प्रयोग किया है। इन सज्ञाओ के प्रयोग का प्रभाव जैनेन्द्र-व्याकरण के अधिकाश सूत्रो पर पड़ा है। जिस प्रकार माहेश्वर सूत्रो के ज्ञान के बिना अष्टाध्यायी के सूत्रो को समझना दुरूह है उसी प्रकार जैनेन्द्र-व्याकरण की बीजाक्षरी सज्ञाओ के ज्ञान के बिना जैनेन्द्र-व्याकरण के सूत्रो को समझ पाना अत्यन्त कठिन है। निम्नलिखित उदाहरणो मे यह सुस्पष्ट है—

	जै० व्या०	अष्टा०
१.	कृद्धृत्सा, १/१/६	कृत्तद्धितसमासाश्च, १/२/४६
२	खौ, /३/३८	सज्ञायाम्, २/१/४४
३.	गोऽपित्, १/१/७८	सार्वधातुकमपित्, १/२/४
४	त, १/३/१०२	निष्ठा, ३/२/३६
५	धे, १/२/२१	अकर्मकाच्च, १/३/२६.
६	न धुखेऽगे, १/१/१८	न धातुलोप आर्द्धधातुके १/१/४.
७.	न बे, १/१/३७	न बहुव्रीहौ, १/१/२९
८.	भार्थे, १/४/१४.	तृतीयार्थे, १/४/८५.
९.	वागमिङ्, १/३/८२	उपपदमतिङ्, २/२/१९
१०.	वा गौ, १/४/६६	विभाषोपसर्गे, २/३/५९

१०. पूज्यपाद देवनन्दी ने अष्टाध्यायी का अनुकरण करते हुए भी कुछ सूत्रो मे मौलिकता लाने का प्रयत्न किया है। इसके लिए उन्होने सूत्रो मे कही पर सरल एवं कही पर सक्षिप्त पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग किया है। ऐसा करने से सूत्र सहजगम्य एव सक्षिप्त बन गए है। उदाहरणस्वरूप—

	जै० व्या०	अष्टा०	शा० व्या०
१	अद्रौ त्रिककुद्, ४/२/१४७.	त्रिककुत्पर्वते, ५/४/१४८७	त्रिककुत्पर्वते, ४/४/१३५.
२.	अधीत्याऽदूराख्यानाम् १/४/८१.	अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम्, २/४/५.	सन्निकृष्ट पाठानाम्, २/२/५२.
३.	काला मेयै, १/३/६७.	काला परिमाणिना, २/२/५.	—
४.	क्षुद्रजीवा, १/४/८४.	क्षुद्रजन्तव, २/४/८.	क्षुद्रजन्तूनाम्, २/२/६०

	जै० व्या०	अष्टा०	चा० व्या०
५.	तदस्मिन्युद्धेयोद्धृ प्रयोजनात्, ३/२/४८.	संग्रामे प्रयोजन-योद्धृभ्य ४/२/५६	योद्धृप्रयोजनात् संग्रामे, ३/१/३४.
६.	दृश्यर्थे विज्ञ‍्यायाम्, ५/३/२१	पश्यार्थैश्चानालोचने, ८/१/२५	दृश्यर्थेऽनालोचने, ६/३/२३.
७.	यथातथयथापुरयो क्रमेण, ५./२/३५.	यथातथयथापुरयो पर्यायेण, ७/३/३१	
८.	सस्थानक्रियं स्वम्, १/१/२.	तुल्यास्यप्रयत्न सवर्णम्, १/१/६	—
९.	सिवृधौ भा १/४/५.	अपवर्गे तृतीया,, २/३/६	—
१०	स्पर्धे परम्, १/२/६०.	विप्रतिषेधे पर कार्यम्, १/४/२	विप्रतिषेधे, १/१/१६.

११ संस्कृत वैयाकरणो ने अर्धमात्रा लाघव को अत्यन्त महत्त्व दिया है।[1] इसी तथ्य को दृष्टि मे रखते हुए पूज्यपाद देवनन्दी ने जैनेन्द्र-व्याकरण मे अनेक ऐसे सूत्रो को प्रस्तुत किया है जो कि अष्टाध्यायी एव चान्द्र-व्याकरण के सूत्रो से भी अधिक संक्षिप्त प्रतीत होते है। संक्षेपण के इस प्रयास मे अष्टाध्यायी एव चान्द्र-व्याकरण के सूत्रो मे विद्यमान बहुवचन के स्थान पर पूज्यपाद देवनन्दी ने जैनेन्द्र-व्याकरण के सूत्रो मे एकवचन का प्रयोग किया है। संक्षिप्त-सूत्रो के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

	जै० व्या०	अष्टा०	चा० व्या०
१.	अर्श आदेर, ४/१/५०	अर्शआदिभ्योऽच्, ५/२/१२७	अर्श आदिभ्योऽच्, ४/२/४७
२.	इष्टादे, ४/१/२२	इष्टादिभ्यश्च, ५/२/८८	इष्टादिभ्य, ४/१/६४
३	उगवादेर्य, ३/४/२	उगवादिभ्यो यत्, ५/१/२	उगवादिभ्यो यत्, ४/१/२
४	कण्ड्वादेर्यक्, २/१/२५	कण्ड्वादिभ्यो यक्, ३/१/२७	कण्ड्वादिभ्यो यक्, १/१/३६.
५	छेदादेर्नित्यम्, ३/४/६२	छेदादिभ्यो नित्यम्, ५/१/६४	छेदादिभ्यो नित्यम्, ४/१/७५.
६.	प्रज्ञादे, ४/२/४४	प्रज्ञादिभ्यश्च, ५/४/३८	प्रज्ञादिभ्यो वा. ४/४/२२
७.	शाखादेर्य, ५/१/१५७.	शाखादिभ्यो यत्, ५/३/१०३	शाखादिभ्यो य ४/३/८१
८	सिध्मादे, ४/१/२५	सिध्मादिभ्यश्च, ५/२/९७	सिध्मादिभ्य ४/२/१००
९	सुखादे, ४/१/५४	सुखादिभ्यश्च, ५/२/१३१	सुखादिभ्य, ४/२/१२८.
१०	हविरपूपादेर्वा, ३/४/३	विभाषा हविरपूपादिभ्य ५/१/४	वा हविरपूपादिभ्य, ४/१/३.

जैनेन्द्र-व्याकरण की टीकाएँ—

पूज्यपाद देवनन्दी-कृत जैनेन्द्र-व्याकरण पर अनेक विद्वानो ने टीकाओ की रचना की है। श्रुतकीर्ति (१२वी शताब्दी ई०) द्वारा रचित पचवस्तु प्रक्रिया के अन्त मे जैनेन्द्र-व्याकरण की एक विशाल राजमहल से उपमा दी गई है और उसी प्रसंग मे १२वी शताब्दी ई० तक जैनेन्द्र-व्याकरण पर लिखे गए न्यास, भाष्य, वृत्ति, टीका आदि की ओर भी निर्देश किया गया है।[2]

जैनेन्द्र-व्याकरण के दोनो सूत्रपाठो (लघुपाठ एव बृहत्-पाठ) पर टीकाओ की रचना की गई जिनमे से कुछ टीकाएं सम्प्रति उपलब्ध हैं तथा कुछ अनुपलब्ध है। टीकाओ का विवरण इस प्रकार है—

उपलब्ध टीकाएँ — (लघुपाठ की टीकाएँ) —

---

१. अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सव मन्यन्ते वैयाकरणा ॥१२२॥ नागोजीभट्ट, परिभाषेन्दुशेखर, प्र० भा०, सम्पा०—के० वी० अभ्यकर, पूना, १९६२, पृ० १९८.

२. सूत्रस्तम्भसमुद्धृत प्रविलसन्न्यासोरुरत्नक्षितिश्रीमद्वृत्तिकपाटसपुटयुत भाष्योऽथ शय्यातलम्।
टीकामालमिहारुरुक्षुरचितं जैनेन्द्रशब्दागम प्रासाद पृथुपचवस्तुकमिद सोपानमारोहतात्॥
प्रेमी, नाथूराम, जै० सा० इ०, पृ० ३३ पर उद्धृत।

टीका का नाम	टीकाकार का नाम	टीका ग्रंथ सम्बन्धी विवरण
१. जैनेन्द्र-महावृत्ति	अभयनन्दी	६वीं शताब्दी ई० में रचित यह टीका जैनेन्द्र-व्याकरण पर लिखी गई टीकाओ मे सबसे प्राचीन है। यह टीका भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित हुई है।[1]
२. शब्दाम्भोजभास्करन्यास	प्रभाचन्द्र	प्रभाचन्द्र ने ११वीं शताब्दी ई० में जैनेन्द्र-व्याकरण पर इस न्यास की रचना की जो अभयनन्दी की महावृत्ति से भी अधिक विस्तृत है तथा अपूर्ण उपलब्ध है। बम्बई के सरस्वती भवन मे इसकी दो अपूर्ण प्रतियां विद्यमान हैं।[2]
३. पञ्चवस्तु प्रक्रिया	श्रुतकीर्ति	श्रुतकीर्ति ने १२वी शताब्दी ई० मे इस प्रक्रिया-ग्रन्थ की रचना की। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ पूना के भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट मे है।[3]
४ अनिट्कारिकावचूरि	मुनि विजय विमल	जैनेन्द्र-व्याकरण की अनिट्कारिका पर श्वेताबर जैन मुनि विजयविमल ने १७वी शताब्दी मे अनिट्कारिकावचूरि की रचना की है। इसकी हस्तलिखित प्रति छाणी के भडार मे (सख्या ५७८) है।[4]
५ जैनेन्द्र-व्याकरण-वृत्ति	मेघविजय	जैनेन्द्र-व्याकरण पर मेघविजय नामक किसी श्वेताबर मुनि ने १८वी शताब्दी ई० मे वृत्ति की रचना की।[5]
६. लघु जैनेन्द्र	प० महाचन्द्र	दिगम्बर जैन प० महाचन्द्र ने अभय-नन्दी की महावृत्ति के आधार पर जैनेन्द्र-व्याकरण पर २०वी शताब्दी ई० मे लघुजैनेन्द्र नामक वृत्ति लिखी है जो महावृत्ति की अपेक्षा सरल है। इसकी एक प्रति अकलेश्वर के दिगम्बर जैन मंदिर मे और दूसरी अपूर्ण प्रति प्रतापगढ़ (मालवा) के पुराने जैन मंदिर मे है।[6]

१. जैनेन्द्रमहावृत्ति, सम्पा० शम्भुनाथ त्रिपाठी, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५६.
२. शाह, अम्बालाल प्रे०, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, पचम भाग, वाराणसी, १९६६, पृ० ११.
३. वही, पृ० १२.
४. वही, पृ० १५.
५. वही, पृ० १५.
६. शाह, अम्बालाल, प्रे० जै० सा० बृ० इ०, प० भा०, पृ० १३.

टीका का नाम	टीकाकार का नाम	टीका-ग्रन्थ सम्बंधी विवरण
७. जैनेन्द्र प्रक्रिया	पं० वंशीधर	पं० वंशीधर ने २०वीं शताब्दी ई० में इस प्रक्रिया ग्रंथ की रचना की है। इसका केवल पूर्वार्ध ही प्रकाशित हुआ है।[1] डॉ० हीरालाल जैन के अनुसार।
८. प्रक्रियावतार	नेमिचन्द्र	नेमिचन्द्र ने प्रक्रियावतार तथा पं० राजकुमार ने जैनेन्द्र-लघु वृत्ति की रचना की।[2]
९. जैनेन्द्र-लघुवृत्ति	पं० राजकुमार	

शब्दार्णव-संस्करण (बृहत्-पाठ) की टीकाएँ—

शब्दार्णव संस्करण के रचयिता गुणनन्दी हैं। इस संस्करण की दो टीकाएँ उपलब्ध हैं जो सनातन-जैन ग्रन्थमाला में छप चुकी हैं[3]—

टीका का नाम	टीकाकार का नाम	टीका ग्रंथ सम्बन्धी विवरण
१० शब्दार्णव-चन्द्रिका	सोमदेवसूरि	सोमदेवसूरि ने १३वी शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में इस टीका की रचना की। इसकी एक बहुत ही प्राचीन तथा अतिशय जीर्ण प्रति भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट में है।[4]
११. शब्दार्णव-प्रक्रिया	—	प० युधिष्ठिर मीमासक के अनुसार "किसी अज्ञातनामा पंडित ने शब्दार्णव-चन्द्रिका के आधार पर शब्दार्णव प्रक्रिया ग्रंथ लिखा है। इस प्रक्रिया के प्रकाशक महोदय ने ग्रंथ का नाम जैनेन्द्र-प्रक्रिया और ग्रन्थकार का नाम गुणनन्दी लिखा है, ये दोनो अशुद्ध है।"[5]

अनुपलब्धटीका-ग्रंथ—

टीका का नाम	टीकाकार का नाम	टीका-ग्रंथ सम्बन्धी विवरण
१२. जैनेन्द्र-न्यास	पूज्यपाद देवनन्दी	दक्षिण प्रान्त के जैन तीर्थ हुम्मच में स्थित पद्मावती मन्दिर के १५३० ई० के शिलालेख (संख्या ६६७) के अनुसार पूज्यपाद देवनन्दी (५ वी शताब्दी ई०) ने जैनेन्द्रन्यास की रचना की थी।[6] यह न्यास ग्रंथ सम्प्रति अनुपलब्ध है।

---

१. मीमांसक युधिष्ठिर, स० व्या० शा० इ०, प्र० भा०, पृ० ५८८.

२. जैन, हीरालाल, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, भोपाल, १९६२, पृ० १८५.

३. प्रेमी, नाथूराम, जै० सा० इ०, पृ० ३८.

४. वही.

५. मीमांसक, युधिष्ठिर, स० व्या० शा० इ०, प्र० भा०, पृ० ५९१.

६. न्यासं जिनेन्द्र-सज्ञ सकल-बुध-नुतं पाणिनीयस्य भूयो-
न्यासं शब्दावतार मनुजततिहित वैद्यशास्त्रं च कृत्वा।
यस्तत्त्वार्थस्य टीका व्यरचयदिह ता भात्यसौ पूज्यपाद-
स्वामी भूपाल-वन्द्य: स्वपरहितवच: पूर्ण-दृग्बोध-वृत्त:। —जैन शिलालेखसग्रह, तृतीय भाग, सग्रहकर्ता-विजयमूर्ति, बम्बई, १९५७, पृ० ५१९.

१३. भाष्य	—	श्रुतकीर्ति ने "भाष्योऽथ शय्यातलम" शब्दों के द्वारा जैनेन्द्र-व्याकरण पर लिखे गए भाष्य की ओर संकेत किया है।[1] पञ्चवस्तु प्रक्रिया (१२वी शताब्दी ई०) मे भाष्य का उल्लेख होने से इतना स्पष्ट है कि इस भाष्य की रचना १२वी शताब्दी ई० से पूर्व ही हो चुकी थी।

जैनेन्द्र-व्याकरण के खिलपाठ तथा तत्सम्बद्ध टीकाएँ—

प्रत्येक व्याकरण के चार खिलपाठ होते हैं—धातुपाठ, उणादिपाठ, लिङ्गानुशासनपाठ एव गणपाठ। उपर्युक्त चारों पाठो से युक्त व्याकरण-ग्रन्थ पञ्चाङ्गपूर्ण कहलाता है। पाणिनि के पश्चात् लिखे गए जैनेन्द्र-व्याकरण के पाँचों अंगो की रचना की गई थी उनमें से कुछ तो उपलब्ध हैं एवं कुछ अनुपलब्ध हैं।

धातुपाठ—

जैनेन्द्र-व्याकरण के औदीच्य एवं दाक्षिणात्य ये दो संस्करण हैं। औदीच्य-संस्करण पूज्यपाद देवनन्दी की कृति है। दाक्षिणात्य संस्करण जो कि शब्दार्णव नाम से भी प्रसिद्ध है गुणनन्दी की कृति है। पं० युधिष्ठिर मीमासक के अनुसार काशी से प्रकाशित शब्दार्णव-व्याकरण के अन्त मे छपा हुआ धातुपाठ गुणनन्दी द्वारा संस्कृत है। उन्होने अपने मत की पुष्टि के लिए निम्न प्रमाण प्रस्तुत किए हैं—[2]

जैनेन्द्र-महावृत्ति (१/२/७३) मे मित्संज्ञाप्रतिषेधक "यमोऽपरिवेषणे" धातुसूत्र उद्धृत किया गया है। पूज्यपाद देवनन्दी द्वारा दिए गए धातुपाठ मे न तो किसी मित्संज्ञाविधायक सूत्र का निर्देश किया गया है और न ही प्रतिषेधक सूत्र का। प्राचीन धातु-ग्रन्थो मे "नन्दी" के नाम से प्राप्त धातु-निर्देशो का धातुपाठ मे उसी रूप मे उल्लेख नही मिलता। इससे यही सिद्ध होता है कि वर्तमान जैनेन्द्र-धातुपाठ आचार्य गुणनन्दी द्वारा परिष्कृत है।

पं० युधिष्ठिर मीमासक के निर्देशानुसार भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित जैनेन्द्र-महावृत्ति के अन्त मे गुणनन्दी द्वारा संशोधित पाठ ही छपा है।[3] इस धातुपाठ के अन्त मे निर्दिष्ट श्लोक मे भी गुणनन्दी जैनेन्द्र धातुपाठ के परिष्कर्ता सिद्ध होते हैं।[4] जैनेन्द्र-धातुपाठ मे वैदिक प्रयोगो से सम्बद्ध धातुओ का अभाव है। आत्मनेपदी धातुओ से 'ङ' एवं 'ए' अनुबधो का निर्देश किया गया है। 'ञ्' अनुबन्ध उभयपदी धातुओ का द्योतक है तथा अनुबन्धरहित धातुए परस्मैपदी है। धातुपाठ मे परस्मैपदी धातुओ को "मवंत" कहा गया है। जैनेन्द्र-धातुपाठ मे भ्वादिगण के आरम्भ मे आत्मनेपदी (ईदित्) धातुओ का पाठ है तथा तत्पश्चात् परस्मैपदी (मवन्त) एवं उभयपदी (ञित्) धातुएँ पढी गई है। ऐसा होते हुए भी परम्परा का अनुसरण करते हुए √भू धातु को धातुपाठ के आरम्भ मे ही स्थान दिया गया है। धातुपाठ मे ह्वादिगण की धातुओ का अदादिगण की धातुओ मे पहले निर्देश किया गया है। अन्य गणो का क्रम पारम्परिक ही है। यहाँ "औ" अनुबन्ध अनिट् धातुओ का सूचक है। जैनेन्द्र-धातुपाठ मे सभी पित्[5] एव ओदित्[6] धातुओ को क्रमश 'ष्' एवं 'ओ' अनुबन्धो सहित पढा गया है। जबकि अष्टाध्यायी के धातुपाठ मे धातुओ को कही तो उपर्युक्त अनुबन्धों सहित पढा है तथा कही उन धातुओ से उपर्युक्त अनुबन्धो का निर्देश न करते हुए उनको उन अनुबन्धो से युक्त घोषित किया है। उदाहरण के लिए पाणिनि ने घटादि धातुओ को षित्[7] तथा स्वादि धातुओ को ओदित्[8] घोषित किया है। जैनेन्द्र धातुपाठ मे चुरादिगण की धातुएँ दो वर्गो मे विभक्त की गई हैं। प्रथम वर्ग[9] के

---

१. भाष्योऽथ शय्यातलम्, प्रेमी, नाथूराम, जैन० सा० इ०, पृ० ३३ पर उद्धृत।

२. मीमांसक, युधिष्ठिर, स० व्या० शा० इ०, द्वितीय भाग, हरयाणा, वि० स० २०३०, पृ० ११८.

३. वही.

४. पादाम्भोजाममम्मानवपतिमकुटानर्घ्यमाणिक्यतारानीकासंसेविताग्रद्युतिललितनखानीकशीतांशु बिम्बः।
दुर्वारानङ्गबाणाम्बुवहहिमकरोद्ध्वस्तमिथ्यान्धकारः शब्दब्रह्मा स जीयाद्गुणनिधिगुणनन्दिव्रतीशस्सुमीक्ष्य ॥
—(जैनेन्द्र-धातुपाठ के अत मे दी गई पुष्पिका), जै० म० वृ०, पृ० ५०५.

५. वही, पृ० ४९२.

६. वही, पृ० ४९६.

७. घटादयः षितः, क्षीरस्वामी, क्षीरतरङ्गिणी, सम्पा० युधिष्ठिर मीमासक, रामलाल कपूर, ट्रस्ट, वि० स० २०१४, पाणिनीय धातुपाठ १/५२२.

८. स्वादय ओदितः, पा० धा०, ४/३१.

९. जै० म० वृ०, पृ० ५०२-५०५, (१—११२ तक की धातुएँ)

अन्तर्गत उन धातुओं का निर्देश है जो कि केवल चुरादिगण की ही धातुएँ हैं। इस वर्ग की धातुओं का परस्मैपदी[1] आत्मनेपदी[2] एवं उभयपदी[3] में विभाजन किया गया है। द्वितीय वर्ग[4] में वे धातुएँ निर्दिष्ट हैं जो विकल्प से चुरादिगण की धातुएँ हैं। इन धातुओं का भी परस्मैपदी,[5] आत्मनेपदी[6] तथा उभयपदी[7] की दृष्टि से विभाजन किया गया है। संक्षिप्तता, स्पष्टता तथा मौलिकता की दृष्टि से जैनेन्द्र धातुपाठ में कुछ धातुओं के अर्थों को अष्टाध्यायी के धातुपाठ में निर्दिष्ट धात्वर्थों से किञ्चिद् भिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। संक्षिप्तता के उद्देश्य से अष्टाध्यायी के धातुपाठ में विद्यमान धात्वर्थों के स्थान पर जैनेन्द्र धातुपाठ में संक्षिप्त पर्यायवाची शब्दों को रखा गया है। उदाहरणतः —अष्टाध्यायी के धातुपाठ में निर्दिष्ट वदनैकदेश[8], अवगमने[9] रक्षणे[10] तथा संमब्दने[11] शब्दों के लिए जैनेन्द्र-धातुपाठ में क्रमशः मुखैकदेशे[12], बोधने[13], गुप्ति[14] तथा आख्याने[15] शब्दों का प्रयोग किया गया है।

अष्टाध्यायी के धातुपाठ में स्त्रीलिंग में निर्दिष्ट धात्वर्थों का जैनेन्द्र-व्याकरण के धातुपाठ में कहीं-कहीं पर पुल्लिंग में निर्देश किया गया है। उदाहरण के लिए अष्टाध्यायी के धातुपाठ में उल्लिखित ज्ञीप्सायाम्[16], हिंसायाम्[17] तथा कुत्सायाम्[18] शब्दों के स्थान पर जैनेन्द्र-धातुपाठ में क्रमशः ज्ञीप्सने[19], हिंसने[20] एवं कुत्सने[21] शब्दों का प्रयोग किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैनेन्द्र-धातुपाठ में उपर्युक्त धात्वर्थों का निर्देश संक्षिप्तता को दृष्टि में रखते हुए ही किया गया है। कहीं-कहीं पर जैनेन्द्र-धातुपाठ में अष्टाध्यायी के धात्वर्थों को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट किया गया है। उदाहरण के लिए अष्टाध्यायी के धातुपाठ में दिए गए "शब्दे तारे"[22] धात्वर्थ के स्थान पर जैनेन्द्र-धातुपाठ में "उच्चैः शब्दे"[23] धात्वर्थ का निर्देश स्पष्टता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

जैनेन्द्र-धातुपाठ में धात्वर्थों को प्रस्तुत करने में "ति" से अन्त होने वाले शब्दों का अनेक स्थानों पर प्रयोग किया गया है। उदाहरणस्वरूप अष्टाध्यायी के धातुपाठ में निर्दिष्ट दर्शने[24], आदाने[25] तथा विलेखने[26] धात्वर्थों के स्थान पर जैनेन्द्र-धातुपाठ में क्रमशः दृष्टौ[27], गृहीतौ[28] एवं विलिखितौ[29] धात्वर्थों का निर्देश किया गया है।

---

१. वही, पृ० ५०२-५०४ (१—२६३ तक की धातुएं)
२. वही, पृ० ५०५, (२६४—३११ तक की धातुएँ).
३. वही, पृ० ५०५, (३१२ वीं धातु).
४. वही, पृ० ५०५, (३१३—३५१ तक की धातुएं)
५. वही, पृ० ५०५, (३१३—३४२ तक की धातुएँ).
६. वही, पृ० ५०५, (३४३—३४८ तक की धातुएं)
७. वही, पृ० ५०५, (३४९—३५१ तक की धातुएं)
८ गडि वदनैकदेशे, पा० धा०, १/२५३.
९. बुध अवगमने, वही, १/५९७.
१०. गुपू रक्षणे, वही, १/२८०.
११. कृत संशब्दने, वही, १०/१०१
१२. गडि मुखैकदेशे, जै० म० वृ०, पृ० ४६४.
१३. बुधञ् बोधने, वही, पृ० ४६२.
१४. गुपोङ् गुप्तौ, वही, पृ० ४६०.
१५. कृत आख्याने, वही, पृ० ५०३.
१६. प्रछ ज्ञीप्सायाम्, पा० धा० ६/११७.
१७. रुश रिश हिंसायाम्, वही, ६/१२४.
१८. णिदि कुत्सायाम्, वही, १/५४.
१९. प्रच्छो ज्ञीप्सने, जै० म० वृ०, पृ० ५००
२०. रुशो, रिशो हिंसने, वही.
२१. णिदि कुत्सने, वही, पृ० ४६३.
२२. कुच शब्दे तारे, पा० धा०, १/११५
२३. कुच उच्चैः शब्दे, जै० म० वृ० ४६३.
२४. दृशिर् दर्शने, पा० धा०, १/४०३.
२५. कुक वृक आदाने, वही, १/७३
२६. कृष विलेखने, वही, १/७१७.
२७. दृशि दृष्टौ, जै० म० वृ०, पृ० ४६१.
२८. कुकै, वृकै गृहीतौ, वही, पृ० ४८६.
२९. कृषी विलिखितौ, वही, पृ० ४९६.

जैनेन्द्र-व्याकरण मे कुछ सूत्रो मे "स्वार्थ" शब्द निर्दिष्ट है।[1] इस शब्द के प्रयोग का विशेष प्रयोजन है। जैनेन्द्र-धातुपाठ में कुछ धातु अनेकार्थक हैं तथा जहाँ धातु के अर्थ-विशेष का निर्देश आवश्यक होता है वहाँ पूज्यपाद देवनन्दी ने "स्वार्थ" शब्द का प्रयोग किया है। अभयनन्दी ने स्वार्थ शब्द से अभिप्रेत अर्थ को तत्तत्-सूत्र की वृत्ति में स्पष्ट कर दिया है।

जैनेन्द्र-धातुपाठ की टीकाएँ—

१. हैमलिङ्गानुशासन-विवरण मे प्रयुक्त "नन्दि धातुपारायण"[2] तथा "नन्दिपारायण"[3] शब्दों के आधार पर पं० युधिष्ठिर मीमासक का कथन है कि पूज्यपाद देवनन्दी ने धातुपाठ पर कोई वृत्तिग्रन्थ लिखा था जिसका नाम धातुपारायण था। धातुपारायण नाम का धातुव्याख्यान ग्रन्थ पाणिनीय धातुपाठ पर भी था। अन्त मे उनका कथन है कि "ऐसी अवस्था में हम निश्चयपूर्वक नही कह सकते कि आचार्य देवनन्दी का धातुपारायण पाणिनीय धातुपाठ पर था, अथवा जैनेन्द्र-धातुपाठ पर।"[4]

२. श्रुतपाल (वि० की ६वी शताब्दी) ने जैनेन्द्र-धातुपाठ पर किसी व्याख्यान ग्रन्थ की रचना की थी।[5]

३. आचार्य श्रुतकीर्ति (वि० की १२वी शताब्दी) ने जैनेन्द्र-व्याकरण पर पञ्चवस्तु नामक प्रक्रिया-ग्रन्थ की रचना की जिसमे जैनेन्द्र-धातुपाठ का भी व्याख्यान किया गया है।[6]

४ शब्दार्णव पर किसी अज्ञातनामा विद्वान् ने एक प्रक्रिया-ग्रन्थ की रचना की जिसमें जैनेन्द्र -धातुपाठ की व्याख्या की गई है।[7]

गणपाठ—

पूज्यपाद देवनन्दी ने जैनेन्द्र-व्याकरण से सम्बद्ध गणपाठ की भी रचना की थी यह निश्चित है। उनके द्वारा रचित गण-पाठ पृथक् रूप से उपलब्ध न होकर अभयनन्दी-विरचित महावृत्ति मे उपलब्ध होता है। जैनेन्द्र-व्याकरण के गणपाठ में निम्न तथ्य उल्लेखनीय हैं—

१ स्वर एवं वैदिक प्रकरणो के सूत्रों के अभाव के कारण तत्सम्बद्ध गणो का इस गणपाठ मे सर्वथा अभाव है।

२. इस गणपाठ मे प्राय तालव्य "श" के स्थान पर दन्त्य "स" का प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए अष्टाध्यायी के "किशर"[8] पाठ के स्थान पर जैनेन्द्र -व्याकरण के गणपाठ मे चान्द्र-व्याकरण के अनुकरण पर[9] 'किसर' शब्द का पाठ मिलता है।[10] अष्टाध्यायी[11] तथा चान्द्र-व्याकरण[12] के "शकुलाद' पाठ के स्थान पर जैनेन्द्र-व्याकरण में सकुलाद पाठ मिलता है।[13]

३ कहीं-कही पर दन्त्य 'स' के स्थान पर तालव्य 'श' का भी प्रयोग मिलता है। उदाहरण के लिए अष्टाध्यायी के 'कौसल्य'[14] शब्द के स्थान पर जैनेन्द्र -व्याकरण मे चान्द्र-व्याकरण (कौशल) के समान[15] 'कौशल्य' शब्द का पाठ है।[16]

---

१. द्र०-जै० व्या० १/१/६३, १/२/३७. १/२/१५३, २/१/४२, २/१/७२, ४/३/७१, ५/१/१०२ इत्यादि।
२. तत्र तत्रम्-उदश्वित्। नन्दिधातुपारायणे। हेमचन्द्र, श्री हैमलिङ्गानुशासन-विवरण, सम्पा०—विजयक्षमाभद्रसूरि, बम्बई, १९४०, पृ० १३२.
३. रणाजिर च नन्दिपारायणे। वही, पृ० १३३.
४. मीमांसक, युधिष्ठिर, स० व्या० शा० इ०, द्वि० भा०. पृ० ११८-११९.
५. वही, प्र० भा० पृ० ५६५.
६. वही, द्वि० भा० पृ० १२०.
७. वही।
८. किशर। नरद। ······ ······ हरिद्रायणी। किशरादि:। काशिका (प्र० भा०) ४/४/५३, सम्पा०—नारायण मिश्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९६९.
९. किसर। नलद। ·· ·· ······ ·पर्णी। चन्द्रगोमी, चान्द्र-व्याकरण, प्र० भा० ३/४/५५ वृ० सम्पा० क्षितीशचन्द्र चटर्जी, पूना, १९५३.
१०. किसर। नलद। ········ ·· ··हरिद्रुपर्णी। जै० व्या० ३/३/१७२ वृ०.
११. काशि। चेदि। ·· · ···· शकुलाद। ····· देवराज। का० ४/२/११६.
१२. काशि। काशि। ····· ····शकुलाद·········देवराज। चा० व्या० ३/२/३३ वृ०.
१३. काशि। चेदि। ············संकुलाद। ····· · देवराज। जै० व्या० ३/२/६२ वृ०
१४. कौसल्यकार्मार्याभ्यां च, अष्टा० ४/१/१५५.
१५. वृत् कौशल कर्मारच्छागवृषाद् युट् च, चा० व्या० २/४/८७.
१६. कौशल्येभ्य: ; जै० व्या० ३/१/१४२.

४. पूज्यपाद देवनन्दी ने कतिपय विभिन्न गणों का एकीकरण भी किया है। उदाहरण के लिए अष्टाध्यायी[1] एवं चान्द्र-व्याकरण[2] के 'पिच्छादि' एवं तुन्दादिगणों को उन्होने तुन्दादिगण का रूप दिया है।[3]

५. पूज्यपाद देवनन्दी ने गणपाठ में उपलब्ध शब्दों मे कही-कही किञ्चिद् भिन्नता की है। उदाहरणस्वरूप अष्टाध्यायी[4] एव चान्द्र-व्याकरण[5] के गणपाठो मे विद्यमान छात्रव्यंसक तथा भिन्धिलवणा पाठो के स्थान पर उन्होने क्रमश: छत्रव्यंसक तथा भिन्धिप्रलवणा पाठों का निर्देश किया है।[6]

६. अष्टाध्यायी के गणपाठ मे उपलब्ध अनेक गणसूत्र जैनेन्द्र-व्याकरण मे वार्तिको के रूप मे दिए गए है। उदाहरण के लिए—

जै० व्या०	अष्टा०
१. संभूयोऽम्भसो: सख च, ३/१/८५ वा०	सभूयोम्भसो: सलोपश्च, का० ४/१/९६ (ग० सू०)
२. अर्हतो नुम्च, ३/४/११४ वा०	अर्हतो नुम् च, का० ५/१/१२४ (ग० सू०)
३ ईरिकादीनि च वनोत्तरपदानि संज्ञायाम्, ५/४/११७ वा०	इरिकादिभ्यो वनोत्तरपदेभ्य सज्ञायाम्, का० ८/४/३९ (ग० सू०) इत्यादि।

उणादि पाठ

पूज्यपाद देवनन्दी द्वारा रचित उणादिपाठ स्वतन्त्र रूप से इस समय उपलब्ध नही है। किन्तु अभयनन्दी की महावृत्ति मे निम्ननिर्दिष्ट कुछ 'उणादिसूत्र' उद्धृत है—

१. 'तनेर्डउ सन्वच्च', जै० म० वृ०, पृ० ३
२ 'अस् सर्वधुभ्य' वही, पृ० १७
३ 'कृ वा पा जिमि स्वदि साध्यशूभ्य उण्', वही पृ० ११८
४ 'बृतृ वदिहनि कमि कापिभ्य म', वही पृ० ११८
५ 'अण्ड । जृ कृसृवृड'[7], वही, पृ० ११९[8]
६ 'गमेरिन्', वही, पृ० ११९
७ 'आङि णित्' वही, पृ० ११९
८ 'भुवश्च', वही, पृ० ११९

ये उणादि सूत्र पूज्यपाद देवनन्दी की ही रचना है। इसका मुख्य प्रमाण यह है कि अनेक उणादिसूत्रो मे जैनेन्द्र-व्याकरण की ही सज्ञाओ का प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए—'अस् सर्वधुभ्य' उणादिसूत्र मे धातुसंज्ञा के लिए जैनेन्द्र-व्याकरण की धुसंज्ञा[9] का प्रयोग किया गया है।

---

१. लोमादिपामादिपिच्छादिभ्य: शनेलच., तुन्दादिभ्य: इलच्च,—अष्टा० ५/२/१००, ५/२/११७.
२. पिच्छादिभ्यश्चेलच्, चा० व्या० ४/२/१०३ तथा द्रष्टव्य—४/२/११९ वृ०.
३. तुन्दादेरिल जै० व्या० ४/१/४३.
४. मयूरव्यंसक:। छात्रव्यंसक:। काम्बोजमुण्ड:। · भिन्धिलवणा।··· पचप्रकूटा। का० २/१/७२.
५. द्र०—चा० व्या० २/२/१८ वृ०.
६. मयूर व्यंसक:। छत्रव्यंसक:।··· ··· भिन्धिप्रलवणा। ·· ····प्रोदनपाणिनीया। जै० व्या० १/३/६६ वृ०.
७. पं० युधिष्ठिर मीमांसक के मतानुसार जैनेन्द्र-महावृत्ति का उपर्युक्त मुद्रित पाठ (अण्ड:। जृ. कृ सृवृक:।) अशुद्ध है तथा शुद्ध पाठ अण्डो जृ. कृ सृ वृक: है।—द्र० —जै म० वृ०, भूमिका, पृ० ४८.
८. जै० म० वृ०, पृ० १७.
९. जै० व्या०, १/२/१.

पं० युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार जैनेन्द्र-व्याकरण से पूर्व पंचपादी एवं दशपादी उणादिपाठ विद्यमान थे। पंचपादी के प्राच्य, औदीच्य एवं दाक्षिणात्य, तीनो पाठ जैनेन्द्र-व्याकरण से पूर्व रचे जा चुके थे। पं० युधिष्ठिर मीमासक ने जैनेन्द्र-महावृत्ति में उपलब्ध 'अस् सर्वधुभ्य.' उणादिसूत्र की पंचपादी के प्राच्य, औदीच्य, दाक्षिणात्य पाठ तथा दशपादी उणादिपाठ के सूत्रों से तुलना की है—[1]

जै०म०वृ०	—	अस् सर्वधुभ्य, जै० म० वृ० १/१/७५
पंचपादी प्राच्यपाठ	—	सर्वधातुभ्योऽसुन् । ४/१८८
पंचपादी औदीच्यपाठ	—	असुन्/क्षीरतरङ्गिणी, पृ० ६१
पंचपादी दाक्षिणात्यपाठ	—	असुन्/श्वेत० ४/१६४
दशपादी पाठ	—	असुन्/९/४६

उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि 'सर्वधातुभ्य' अश केवल पचपादी के प्राच्यपाठ मे ही है तथा जैनेन्द्र-महावृत्ति मे विद्यमान 'सर्वधुभ्य' अंश पर इसका पूर्ण प्रभाव है। उपर्युक्त आधार पर प० युधिष्ठर मीमांसक का कथन है कि "जैनेन्द्र उणादिपाठ पंचपादी के प्राच्यपाठ पर आश्रित है।"[2]

लिङ्गानुशासन पाठ—

जैनेन्द्र-व्याकरण का लिङ्गानुशासन-पाठ सम्प्रति अनुपलब्ध है। पूज्यपाद देवनन्दी ने जैनेन्द्र-व्याकरण पर लिङ्गानुशासन की रचना की थी। इस विषय मे प० युधिष्ठिर मीमासक ने निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किए हैं—[3]

(क) प्राचीन आचार्यों के लिङ्गानुशासनो की ओर सकेत करते हुए वामन ने अपने लिङ्गानुशासन का भी उल्लेख किया है (व्याडिप्रणीतमथ वाररुच सचान्द्रं जैनेन्द्र लक्षणगतं विविध तथाऽन्यत् लिङ्गस्य लक्ष्म·········इहार्या ॥३१॥)।

(ख) अभयनन्दी की महावृत्ति मे कहा गया है कि गोमय आदि शब्दो मे दोनों लिङ्ग मिलते हैं, तथा उनका ज्ञान पाठ से करना चाहिए (गोमयकषायकार्षापण कुतपकवाटशंखादिपाठादवगमः कर्तव्य —जै० म० वृ० १/४/१०८)।

प० युधिष्ठिर मीमासक के मतानुसार उपर्युक्त उद्धरण मे पाठ शब्द लिङ्गानुशासन पाठ का ही द्योतक है क्योकि 'पुंसि चार्धर्चा' (जै० व्या० १/४/१०८) सूत्र पर अष्टाध्यायी के समान जैनेन्द्र-व्याकरण मे कोई गण न होने के कारण इसका पाठ लिङ्गानुशासन से ही सभव हो सकता है।

(ग) हेमचन्द्र ने स्वीय लिङ्गानुशासन के स्वोपज्ञ-विवरण मे नन्दी के नाम से एक उद्धरण दिया है "भ्रामर तु भवेच्छुक्लं क्षौद्र तु कपिल भवेत्" इति नन्दी। (श्रीहैमलिङ्गानुशासनविवरण, पृ० ८५)

पं० युधिष्ठिर मीमासक के मतानुमार उपर्युक्त पाठ पूज्यपाद देवनन्दी के लिङ्गानुशासन का ही है। उपर्युक्त उद्धरण से यह सुस्पष्ट है कि पूज्यपाद-देवनन्दी-कृत लिङ्गानुशासन छन्दोबद्ध था।

हेमचद्र के लिङ्गानुशासन-विवरण मे उपलब्ध—"नंदिन गुणवृत्तेस्त्वाश्रयलिङ्गता स्वादुरोदन, स्वाद्वी पेया, स्वादु पय ॥"[4] उद्धरण के आधार पर पं० युधिष्ठिर मीमांसक का कथन है कि पूज्यपाद देवनन्दी ने अपने लिङ्गानुशासन पर कोई व्याख्या भी लिखी थी तथा हेमचंद्र ने उपर्युक्त पक्तियो में जैनेन्द्रलिङ्गानुशासन की व्याख्या की ओर ही सकेत किया है।[5]

पूज्यपाद देवनंदी ने इष्टदेवता स्वयम्भू को नमस्कार करते हुए जैनेन्द्र-व्याकरण का आरम्भ किया है।[6] प्रथम सूत्र मे जैन धर्म के प्रसिद्ध सिद्धान्त 'अनेकान्तवाद' का उल्लेख पूज्यपाद देवनंदी के जैन-मतावलम्बी होने का प्रत्यक्ष

---

१. मीमांसक, युधिष्ठिर, स० व्या० शा० इ०, द्वि० भा, पृ० २४४.
२. वही।
३. मीमांसक, युधिष्ठिर, जै० म० वृ०, भूमिका, पृ० ४६.
४. हेमचन्द्र, श्रीहैमलिङ्गानुशासन विवरण, पृ० १०२.
५. मीमांसक, युधिष्ठिर, जै० म० वृ०, भूमिका, पृ० ४६.
६. लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य निरवद्याऽवभासते।

प्रमाण है।[1] उक्त व्याकरण-ग्रन्थ मे अनेक ऐसी विशेषताए है जो कि व्याकरण के क्षेत्र मे इसको महत्त्वपूर्ण सिद्ध करती हैं।

प्रत्याहार-सूत्र—

पूज्यपाद देवनंदी द्वारा रचित जैनेन्द्र-व्याकरण के आरम्भ मे प्रत्याहार-सूत्र उपलब्ध नही होते किन्तु निम्न प्रमाणो के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि प्रारम्भ मे जैनेन्द्र-व्याकरण के आरम्भ मे प्रत्याहार-सूत्र रहे होगे—

(क) अष्टाध्यायी की भाँति जैनेन्द्र-व्याकरण मे भी सक्षेप के लिए प्रत्याहारो का प्रयोग उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए अच्[2], इक्[3], एड्[4], ऐच्[5], झल्[6], यण्[7] तथा हल्[8] आदि प्रत्याहार यहा प्रयुक्त हुए है।

(ख) जैनेन्द्र-व्याकरण मे प्रत्याहार बनाने की विधि का निर्देशक सूत्र "अन्त्येनेतादि" (जै० व्या० १/१/७३) उपलब्ध है।

(ग) जिस प्रकार अष्टाध्यायी मे "हयवरट्" प्रत्याहार सूत्र का "र्" लेकर तथा "लण्" प्रत्याहार सूत्र का "अ" लेकर 'र' प्रत्याहार बनाया गया है उसी प्रकार यहाँ पर 'र' प्रत्याहार का निर्माण किया गया है। इस तथ्य की पुष्टि जैनेन्द्र-व्याकरण के 'रन्तोऽणु.' (जै० व्या० १-१-४८) सूत्रपर अभयनन्दी के निम्न कथन से होती है—

"रन्त इति लणो लकाराकारेणप्रश्लेषनिर्देशात् प्रत्याहारग्रहणम्।"

(घ) जैनेन्द्र-व्याकरण के 'कार्यार्थोऽप्रयोगीत्, (जै० व्या० १/२/३)सूत्र की वृत्ति मे अभयनन्दी ने 'अइ उण् णकार कहकर 'ण्' को इत् संज्ञक कहा है।

(ङ) जैनेन्द्र-व्याकरण के 'अणुदित् स्वस्यात्मनाऽभाव्योऽतपर' (जै० व्या० १/१/७२) सूत्र मे प्रयुक्त 'अण्' प्रत्याहार का स्पष्टीकरण अभयनन्दी ने उसी सूत्र की वृत्ति मे इस प्रकार किया है—"इदमणग्रहण परेण णकारेण।"

जैनेन्द्र-महावृत्ति के आरम्भ मे दी गई भूमिका मे प० महादेव चतुर्वेदी ने जैनेन्द्र-व्याकरण के दोनो सूत्रपाठो से सम्बद्ध प्रत्याहार-सूत्रो का उल्लेख किया है।[9] पचाध्यायी के सूत्रपाठ तथा अष्टाध्यायी के सूत्रपाठ मे पर्याप्त साम्य है। इसी तथ्य को दृष्टि मे रखते हुए प० महादेव चतुर्वेदी ने जैनेन्द्र-व्याकरण के प्रत्याहार-सूत्रो को भी अष्टाध्यायी के प्रत्याहार-सूत्रो के समान माना है। उनके अनुसार जैनेन्द्र-महावृति के आधार से उपलब्ध पचाध्यायी के सूत्रपाठ से सम्बद्ध प्रत्याहार सूत्र ये है—

"अ इ उण् १। ऋ लृक् २। एओड् ३। ऐ औच् ४। हय वर ट् ५। लण् ६। ञ म ङ ण न म् ७। झ भ ञ् ८। घ ढ ध ष् ९। ज ब ग ड द श् १०। ख फ छ ठ थ च ट त व् ११। क प य् १२। श ष स र् १३। हल् १४।

उल्लेखनीय है कि इन प्रत्याहार-सूत्रो का अष्टाध्यायी के प्रत्याहार-सूत्रो से पर्याप्त साम्य है। शब्दार्णव-चन्द्रिका के प्रत्याहार-सूत्र इस प्रकार हैं—

"अ इ उ ण् १। ऋक् २। ए ओड् ३। ऐ औच् ४। ह य व र ल ण् ५। ञ म ङ ण न म् ६। झ भ ञ् ७। घ ढ ध ष् ८। ज ब ग ड द श् ९। ख फ छ ठ थ च ट त व् १०। क प य् ११। श ष स अ ⌒क ⌒प र् १२। हल् १३।"

देवमन्वितपूजेशंनमस्तस्मै स्वयम्भुवे ॥ —मगल श्लोक, जै० व्या०, पृ० १.

१. सिद्धिरनेकान्तात्, वही, १/१/१.
२. आकालोऽच् प्र-दी-प:, वही, १/१/११
३. इकस्तौ, वही, १/१/१७.
४. अदेङेप्, वही, १/१/१६
५. आदैगैप्, वही, १/१/१५
६. झलिक:, जै० व्या०, १/१/८३.
७. इग् यणो जि:, वही, १/१/४५.
८. हलोऽनन्तरा: स्फ:, वही, १/१/३.
९. चतुर्वेदी, महादेव, जै० म० वृ०, भूमिका, पृ० १४.

पंचाध्यायी एवं शब्दार्णवचन्द्रिका के सूत्रपाठ मे भिन्नता होने के कारण प्रत्याहार-सूत्रो मे निम्नलिखित अन्तर है :

(क) पंचाध्यायी के "ऋलृक्' प्रत्याहार सूत्र के स्थान पर शब्दार्णवकार ने 'ऋक्' प्रत्याहार सूत्र दिया है।

(ख) शब्दार्णवकार ने अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का भी शर प्रत्याहार के अन्तर्गत समावेश किया है।

(ग) "ह य व र ट् । लण्" इन दो प्रत्याहार-सूत्रो के स्थान पर शब्दार्णवकार ने "ह य व र ल ण्" प्रत्याहार सूत्र दिया है।

पं० युधिष्ठिर मीमासक के मतानुसार भी जैनेन्द्र-व्याकरण मे प्रत्याहार सूत्र थे तथा अभयनन्दी उन प्रत्याहार सूत्रों से परिचित थे। जैनेन्द्र-महावृत्ति के आरम्भ में प्रत्याहार-सूत्रो की अनुपलब्धि के विषय मे उनका विचार है कि या तो अभयनन्दी ने उन सूत्रो पर टीका लिखना आवश्यक न समझा अथवा प्रत्याहार सूत्रो की व्याख्या नष्ट हो गई तथा बाद मे जैनेन्द्र-व्याकरण मे उन प्रत्याहार सूत्रो का भी अभाव हो गया।[1]

जैनेन्द्र-व्याकरण में प्रयुक्त संज्ञाएँ—

जैनेन्द्र-व्याकरण मे उपलब्ध संज्ञाएँ अत्यन्त जटिल हैं। अनेक संज्ञाएँ सांकेतिक हैं। जैनेन्द्र-व्याकरण के सूत्रो मे अष्टाध्यायी के सूत्रों से समानता होते हुए भी कई स्थानो पर संज्ञाओ की दृष्टि से नूतनता देखी जाती है। इन संज्ञाओ के कारण ही जैनेन्द्र-व्याकरण अन्य व्याकरणो से भिन्न मौलिक व्याकरण-ग्रन्थ कहा जाता है। जैनेन्द्र-व्याकरण की कतिपय संज्ञाएँ एकाक्षरी तथा बीजगणितीय है। अष्टाध्यायी मे अधिकांश संज्ञाएँ अन्वर्थक है किन्तु यहाँ पर ये संज्ञाएँ सार्थक या अन्वर्थक नही है। साधारण अध्येता के लिए इन संज्ञाओ को प्रथम दृष्टि मे ही समझना कठिन है। इन्ही संज्ञाओ के कारण यह व्याकरण-ग्रन्थ क्लिष्ट बन गया है। पूज्यपाद देवनन्दी ने "अपृक्त" एवं "कर्मप्रवचनीय" संज्ञाओ को अनावश्यक जानकर जैनेन्द्र-व्याकरण मे स्थान नही दिया है। जैनेन्द्र-व्याकरण मे प्रयुक्त संज्ञाओ को निम्ननिर्दिष्ट पाँच वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है—

१. परम्परा से प्राप्त संज्ञाएँ—

पूज्यपाद देवनन्दी ने प्रातिशाख्यो से अनुदात्त[2], अनुस्वार[3], उदात्त[4], कृन्[5], ति[6], द्वन्द्व[7], पद[8], विभक्ति[9], विराम[10], विसर्जनीय[11] एवं स्वरित[12] संज्ञाओ का ग्रहण किया है तथा अष्टाध्यायी मे प्रयुक्त अधिकरण[13], अपादान[14], इत्[15], करण[16], कर्ता[17], कर्म[18], टि[19], भ[20], युवा[21],

---

१, मीमासक, युधिष्ठिर, जै० म० वृ०, भूमिका, पृ० ४४-४५

२. तुलना करें—जै० व्या० १/१/१३, ऋग्वेद प्रातिशाख्य ३/१, सम्पा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, वाराणसी, १९७०.

३. तु०—वही, ५.४.७; वही, १.५.

४. तु०—वही, १.१.१३; वही, ३ १.

५. तु०—वही, २.१.८०; वाजसनेयि प्रातिशाख्य १ २७, सम्पादक—वी० वेङ्कटराम शर्मा, मद्रास, १९३४.

६. तु० वही, १.२,१३१; ऋक्तन्त्र २९, सम्पादक – सूर्यकान्त, देहली, १९७०.

७. तु०—वही, १.३.९२; वा० प्रा० ३.१२७.

८. तु —वही, १.२.१०३; वही, ३.२,, ८ ४६

९. तु०—वही, १.२.१५७; वही ५.११.

१०. तु०—वही, ५.४.१९; ऋक्त० ३६

११. तु०—वही, ५.४.१९; अथर्ववेद प्रातिशाख्य १.५ सम्पा०-ह्विटनी-१८६२.

१२. तु०—वही, १ १ १४; ऋक्प्राति० ३.१

१३. तु०—वही, १.२.११६; अष्टा० १.४ ४५.

१४. तु०—वही, १.२.११०, वही, १.४।२४.

१५. तु०—वही, १.२.३; वही, १.३.२.

१६. तु०—वही, १.२.११४; वही, १.४ ४२.

१७. तु०—वही, १ २,१२५; वही, १ ४.५४.

१८. तु०—वही, १.२.१२०; वही, १.४ ४९.

१९. तु०—वही, १.१ ६५; वही, १ १ ६४.

२० तु०—वही, १.२.१०७; वही. १ ४,१८.

२१. तु०—वही, ३.१.८१; वही, ४.१.१६३.

संख्या[1], सत्[2], सम्प्रदान[3], सर्वनाम[4] एवं हेतु[5] संज्ञाओं का उसी स्वरूप में प्रयोग किया है। पूज्यपाद देवनन्दी ने उपरिनिर्दिष्ट संज्ञाओं में से अनुस्वार, विराम तथा विसर्जनीय संज्ञाओं को परिभाषित न करके, जैनेन्द्र-व्याकरण के सूत्रों में उनका प्रयोग किया है। चन्द्रगोमी का अनुकरण करते हुए पूज्यपाद देवनन्दी ने एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन के लिए क्रमश. एक, द्वि तथा बहु संज्ञाओं का प्रयोग किया है।[6]

२. जैनेन्द्र-व्याकरण में प्रयुक्त नवीन संज्ञाएँ—

पूज्यपाद देवनन्दी ने व्याकरण का मौलिक स्वरूप प्रस्तुत करने के लिए अपने से पूर्ववर्ती व्याकरण-ग्रन्थों में विद्यमान अधिकांश संज्ञाओं के स्थान पर भिन्न संज्ञाओं का प्रयोग किया है जो इस प्रकार हैं—

	जै० व्या०	अष्टा०	का० व्या०
१.	अग, २/४/६४.	आर्धधातुक, ३/४/११४.	—
२.	अन्य, १/२/१५२.	प्रथम, १/४/१०१.	प्रथम, आ० प्र० ३.
३.	अस्मद्, १/२/१५२.	उत्तम, १/४/१०१	उत्तम, वही, ३.
४	इल्, १/१/३४.	षट्, १/१/२४.	—
५.	उक् १/१/६६.	उपधा, १/१/६५	उपधा, च० प्र० ११.
६.	उज्, १/१/६२.	श्लु, १/१/६१.	—
७.	उप्, १/१/६२.	लुक्, १/१/६१.	—
८.	उस्, १/१/६२.	लुप्, १/१/६१	—
९.	एप्, १/१/१६	गुण, १/१/२.	गुण, आ० प्र० ४३८.
१०.	ऐप् १/१/१५.	वृद्धि, १/१/१	वृद्धि, वही, ४३९
११.	कि, १/४/५६.	सम्बुद्धि, २/३/४९	सम्बुद्धि, च० प्र० ५.
१२.	खम्, १/१/६१	लोप, १/१/६०	—
१३	ग, २/४/६३	सार्वधातुक, ३/४/११३.	सार्वधातुक, आ० प्र० ३४.
१४.	गि, १/२/१३०.	उपसर्ग, १/४/५९.	—
१५.	गु, १/२/१०२.	अङ्ग, १/४/१३.	—
१६.	घि, १/२/९९	लघु, १/४/१०.	—
१७.	ङ, १/१/४.	अनुनासिक, १/१/८.	अनुनासिक, स० प्र० १३.
१८.	च, ४/३/६.	अभ्यास, ६/१/४	अभ्यास, आ० प्र० ८५.
१९.	जि, १/१/४५.	सम्प्रसारण, १/१/४५.	सम्प्रसारण, आ० प्र० ४३७.
२०.	झ, ४/१/११७.	घ, १/१/२२	—
२१.	झि, १/१/७४.	अव्यय, १/१/३७.	अव्यय, च० प्र० २१०.
२२.	त, १/१/२८.	निष्ठा, १/१/२६.	निष्ठा, कृ० प्र० ८४,
२३.	घ, ४/३/४	अभ्यस्त, ६/१/५	अभ्यस्त, आ० प्र० ८६.
२४.	दि, १/१/२०.	प्रगृह्य, १/१/११	प्रकृत्या, स० प्र० ४२.
२५	दु, १/१/६८.	वृद्ध, १/१/७३	—
२६.	द्वि, ४/२/९.	तद्राज, ५/३/११९	—
२७.	घ, १/१/३१.	सर्वनामस्थान, १/१/४२.	घुट्, च० प्र० ३.
२८.	न्यक्, १/३/९३	उपसर्जन, १/२/४३.	—
२९.	प्र, १/१/११	ह्रस्व, १/२/२७.	ह्रस्व, स० प्र० ५.

१. तु०—वही, १/१/३३; वही, १/१/२३.
२. तु०—वही, २/२/१०५; वही, ३/२/१२७.
३. तु०—वही, १/२/१११; वही, १/४/३२.
४. तु०—वही, १/१/३५; वही, १/१/२७.
५. तु०—वही, १/२/१२६; वही १/४/५५.
६. तु०—वही, १/२/१५२; चा० व्या० १/४/१४८.

जै० व्या०	अष्टा०	का० व्या०
३०. बोध्यम्, १/४/५५.	आमन्त्रित, २/३/४८.	आमन्त्रित, च० प्र० ५.
३१. भु, १/१/२७.	घु, १/१/२०.	दा, आ० प्र० ८.
३२. मु, १/२/९२.	नदी, १/४/३.	नदी, च० प्र० ६.
३३. मृत्, १/१/५.	प्रातिपदिक, १/२/४५.	लिङ्ग, च० प्र० १.
३४. म्रि, ५/३/२.	आम्रेडित, ८/१/२.	—
३५. युष्मद्, १/२/१५२.	मध्यम, १/४/१०१.	मध्यम, आ० प्र० ३.
३६. र[1]. १/३/४७.	द्विगु, २/१/५२.	द्विगु, च० प्र० २६४.
३७. वाक्, २/१/७९.	उपपद, ३/१/९२.	उपपद, कृ० प्र० ८६.
३८. वृद्ध, ३/१/७८.	गोत्र, ४/१/१६२.	—
३९. व्य[2], २/१/८२.	कृत्य, ३/१/९५.	कृत्य, कृ० प्र० १३०
४०. सु, १/२/९७.	घि, १/४/७.	अग्नि, च० प्र० ८.
४१. स्फ, १/१/३	सयोग, १/१/७	—
४२ स्व[3], १/१/२.	सवर्ण, १/१/६.	सवर्ण, सं० प्र० ४.
४३. ह, १/३/४.	अव्ययीभाव, २/१/५.	अव्ययीभाव, च० प्र० २७२
४४. हृत्, ३/१/९१.	तद्धित, ४/१/७६.	—

३. **पाणिनीय संज्ञाओं के संक्षिप्त रूप—**

जैनेन्द्र-व्याकरण मे उपलब्ध कुछ संज्ञाएँ तो बिलकुल अष्टाध्यायी की सज्ञाओ के संक्षिप्त रूप प्रतीत होती हैं। पाणिनीय संज्ञाओ के आदि, मध्य अथवा अन्तिम भाग को हटाकर नवीन सज्ञाओ का निर्माण किया गया है। नीचे दी गई तालिका से यह सुस्पष्ट है—

जै० व्या०	अष्टा०	का० व्या०
१. त्य, २/१/१.	प्रत्यय, ३/१/१.	प्रत्यय, आ० प्र० ३५.
२. द[4], १/२/१५१.	आत्मनेपद, १/४/१००.	आत्मनेपद, वही, २.
३. दी, १/१/११	दीर्घ, १/२/२७.	दीर्घ स० प्र० ६
४ धु, १/२/१	धातु, १/३/१.	धातु, आ० प्र० ६
५. नप्, १/१/७.	नपुंसक, १/२/४७	—
६. नि, १/२/१२७.	निपात, १/४/५६	निपात, स० प्र० ४२
७. प, १/१/११	प्लुत, १/२/२७.	—
८. ब, १/३/८६	बहुव्रीहि, २/२/२३.	बहुव्रीहि, च० प्र० २६७.
९ म[5], १/२/१५०	परस्मैपद, १/४/९९	परस्मैपद, आ० प्र० १.
१०. य, १/३/४४.	कर्मधारय, १/२/४२	कर्मधारय, च० प्र० २६३.
११. रु, १/२/१००	गुरु, १/४/११	—
१२ ष, १/३/१९	तत्पुरुष, २/१/२२.	तत्पुरुष, च० प्र० २६५.
१३. स, १/३/२	समास, २/१/३	समास, वही, २५६.

४. **विभक्ती शब्द का विभाजन करके प्राप्त संज्ञाएँ—**

जैनेन्द्र-व्याकरण मे ईकारान्त 'विभक्ती' शब्द के प्रयोग का प्रयोजन इप् (द्वितीया) एवं ईप् (सप्तमी) सज्ञाओ मे भिन्नता लाना है। 'विभक्ती' शब्द के स्वर एवं व्यजनो को पृथक्-पृथक् करके 'तामामाप्परास्तद्धलच' (जै० व्या० १/२/१५८) सूत्र के आधार पर स्वरों

---

१. ऋक्तन्त्र में पर, रेफ एव स्वर के लिए 'र' का प्रयोग किया गया है। द्र०-ऋक्त० २७०, १०७, २६.
२. ऋक्तन्त्र में 'तालव्य' के लिए 'व्य' का प्रयोग किया गया है। द्र०—वही, २४१.
३. ऋक्तन्त्र में 'ह्रस्व' के लिए 'स्व' का प्रयोग मिलता है। द्र०—वही, २५, १५०.
४. ऋक्तन्त्र में 'पद' के लिए 'द' का प्रयोग किया गया है। द्र०—ऋक्त० ९९.
५. ऋक्तन्त्र में 'विराम' के लिए 'म' का प्रयोग उपलब्ध है। द्र०—वही, ५४.

के आगे 'प्' तथा व्यंजनों के आगे 'आ' लगाकर प्रथमा आदि विभक्तियों की नवीन संज्ञाएँ प्रस्तुत करना पूज्यपाद देवनन्दी की विलक्षणता है। संस्कृत भाषा के किसी भी वैयाकरण ने इस प्रकार से "विभक्ती" शब्द के आधार पर प्रथमा आदि विभक्तियों के नाम नहीं दिए हैं। व्याकरण के क्षेत्र में यह पूज्यपाद देवनन्दी की एक उत्कृष्ट देन है—

	जै० व्या०	अष्टा०
१.	वा, १/२/१५८.	प्रथमा, २/३/४६.
२.	इप्, १/२/१५८.	द्वितीया, २/३/२.
३.	भा, १/२/१५८.	तृतीया, २/३/१८.
४.	अप्, १/२/१५८.	चतुर्थी, २/३/१३.
५.	का, १/२/१५८.	पंचमी, २/३/२८.
६.	ता, १/२/१५८.	षष्ठी, २/३/५०.
७.	ईप्, १/२/१५८.	सप्तमी, २/३/३६.

५. मौलिक संज्ञाएँ—

अनेक व्याकरण-विषय अन्वर्थक यौगिक शब्दो के लिए पूज्यपाद देवनन्दी ने नई संज्ञाओ का प्रयोग करके मौलिकता और पाणिनीय व्याकरण से भिन्नता दर्शाने का प्रयत्न किया है। जैसे—

	जै० व्या०	अष्टा०
१.	खु, १/१/२६.	संज्ञा, २/१/२१
२.	ङि, १/१/३०.	भावकर्म, १/३/१३.
३.	द्यु, १/३/१०५.	उत्तरपद, २/१/५१.
४.	धि[1], १/२/२.	अकर्मक, १/३/२६

'द्यु' संज्ञा के विषय में यह निश्चित नहीं है कि यह मौलिक संज्ञा है अथवा नहीं। हो सकता है कि महाभाष्य में विद्यमान 'द्यु' पाठ[2] अशुद्ध हो एवं इसके स्थान पर 'द्यु' पाठ ही शुद्ध हो। ऐसी अवस्था में सम्भव है कि इस संज्ञा को पूज्यपाद देवनन्दी ने महाभाष्य से लिया हो। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार—"जैनेन्द्र सूत्र १/३/१०५ में उत्तरपद की द्यु-संज्ञा मानी गई है। पतंजलि के महाभाष्य में सूत्र ७/३/३ पर श्लोकवार्तिक में द्यु पाठ है और वहाँ 'किमिदं घोरिति उत्तरपदस्येति' लिखा है। सूत्र ७/१/२१ के भाष्य में अघु को अनुत्तरपद का पर्याय माना है पर कीलहार्न का सुझाव था कि घु का शुद्ध पाठ द्यु होना चाहिए। वह बात जैनेन्द्र के सूत्र १/३/१०५ 'उत्तरपद द्यु' से निश्चयेन प्रमाणित हो जाती है। और अब भाष्य में भी द्यु ही शुद्ध पाठ मान लेना चाहिए।"[3]

परिभाषा सूत्र—

अष्टाध्यायी एवं जैनेन्द्र-व्याकरण के परिभाषा सूत्रों में पर्याप्त समानता है। परिभाषा सूत्रों में पूज्यपाद देवनन्दी ने केवल ऐसे दो सूत्र दिए हैं जिनका कि पूर्ववर्ती व्याकरण-ग्रन्थों में अभाव है। ये दो सूत्र पूज्यपाद देवनन्दी की विद्वत्ता के परिचायक हैं। ये सूत्र हैं— "नब्बाध्य आसम्" (जै० व्या० १/२/६१) एवं "सूत्रेऽस्मिन् सुब्विधिरिष्ट" (जै० व्या० ५/२/११४)। "नब्बाध्य आसम्" सूत्र में पूज्यपाद देवनन्दी ने जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्रों के विनियोग की ओर निर्देश किया है। इस सूत्र के अनुसार पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिङ्ग में निर्दिष्ट संज्ञा से नपुंसकलिङ्ग में निर्दिष्ट संज्ञा का बोध होता है। उदाहरणत 'प्रो धि च' (जै० व्या० १/२/६६) सूत्र के अनुसार 'कुण्डा' शब्द के 'उ' की 'धि' संज्ञा है तथा 'धि' शब्द नपुंसकलिंग में है किन्तु 'स्फे रु' (जै० व्या० १/२/१००) सूत्र में 'रु' शब्द पुल्लिङ्ग

---

१. वाजसनेयिप्रातिशाख्य में प्रत्येक वर्ग के अन्तिम तीन वर्णों तथा य र ल व एवं ह की (कुल २० वर्णों की) 'धि' संज्ञा की गई है। —द्र० वा० प्रा० १/५३.

२. यत्र वृद्धिरचामादेस्तद्वृद्धं चावत्र घोर्हि सा।, महाभाष्य, तृतीय खण्ड, मोतीलाल बनारसीदास, १९६७, पृ० १६४

३. अग्रवाल, वासुदेवशरण, जै० म० वृ०, भूमिका, पृ० १२.

में है तथा इस पुल्लिग 'द' संज्ञा के द्वारा नपुंसकलिग में निर्दिष्ट 'घि' संज्ञा का बोध होता है। इस प्रकार 'कुण्डा' शब्द में विद्यमान 'उ' की 'द' (गुरु) संज्ञा होने के कारण 'सरोर्हल:' (जै० व्या० २/३/८५) सूत्र से अस् प्रत्यय एवं 'अजाद्यतष्टाप्' (जै० व्या० ३/१/४) सूत्र से टाप् प्रत्यय होकर 'कुण्डा' रूप सिद्ध हुआ है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण परिभाषासूत्र 'सूत्रेऽस्मिन् सुब्विधिरिष्ट.' (जै० व्या० ५/२/११४) है। यह सूत्र जैनेन्द्र-व्याकरण के सूत्रों में विद्यमान शब्दों के वचनों एवं कारकों पर प्रभाव डालता है। जिस शब्द के प्रसंग में इस सूत्र की प्राप्ति होती है वहाँ उस शब्द के मौलिक वचन अथवा कारक का लोप होकर तद्भिन्न अन्य वचन एवं कारक का प्रयोग किया जाता है, किन्तु सूत्र के अर्थ को समझने के लिए उसके मौलिक कारक एवं वचन को ही स्वीकार करना पड़ता है। यह सूत्र जैनेन्द्र-व्याकरण के सूत्रों में विद्यमान शब्दों के वचनों पर किस प्रकार प्रभाव डालता है, यह निम्न उदाहरणों से सुस्पष्ट है—

(क) 'आकालोऽच् प्रदीप·' (जै० व्या० १/१/११) सूत्र में 'प्र दी प' के पश्चात् प्रथमा विभक्ति बहुवचन के 'जस्' प्रत्यय का प्रयोग होना चाहिए किन्तु 'सूत्रेऽस्मिन् सुब्विधिरिष्ट' (जै० व्या ५/२/११४) सूत्र के अनुसार प्रथमा विभक्ति एकवचन के 'सु' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है।[1]

(ख) 'आदैचैप्' (जै० व्या० १/१/१५) सूत्र में 'आदैच्' के पश्चात् प्रथमा विभक्ति बहुवचन के 'जस्' प्रत्यय के स्थान पर प्रथमा विभक्ति एकवचन के 'सु' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है।[2]

(ग) 'किरश्च पञ्चभ्य' (जै० व्या० ५/१/१३४) सूत्र में 'किरादिभ्य' शब्द के 'आदि' अंश का लोप करके पंचमी विभक्ति बहुवचन के 'भ्यस्' प्रत्यय के स्थान पर पंचमी विभक्ति एकवचन के 'ङसि' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है।[3]

(घ) 'स्त्रीगोर्नीच (जै० व्या० १/१/८) सूत्र में 'गो' शब्द के पश्चात् षष्ठी-विभक्ति बहुवचन के 'आम्' (नाम्) प्रत्यय के स्थान पर षष्ठी-विभक्ति एकवचन के 'ङस्' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है।[4] किन्तु सूत्र की व्याख्या करते समय 'गो' शब्द के पश्चात् षष्ठी विभक्ति बहुवचन के प्रत्यय का ही प्रयोग इष्ट है।

यह सूत्र जैनेन्द्र-व्याकरण के सूत्रों में विद्यमान शब्दों के कारकों पर भी प्रभाव डालता है। निम्न उदाहरण इसके प्रमाण हैं—

(क) 'अतोऽह्न' (जै० व्या० ५/४/६१) सूत्र में 'अहन्' शब्द षष्ठी विभक्ति एकवचन में निर्दिष्ट है किन्तु व्याख्या करते समय 'अहन्' शब्द को प्रथमान्त ही मानकर व्याख्या करनी चाहिए।[5]

(ख) 'अतोयेय्' (जै० व्या० ५/१/१३६) सूत्र में विद्यमान 'या' के परे षष्ठी विभक्ति एकवचन के 'ङस्' प्रत्यय का प्रयोग होना चाहिए किन्तु 'सूत्रेऽस्मिन् सुब्विधिरिष्ट' सूत्र के प्रभाव के कारण 'ङस्' प्रत्यय का लोप हो गया है।[6]

(ग) 'तदर्थं विकृते· प्रकृतौ' (जै० व्या० ३/४/११) सूत्र में विद्यमान 'तदर्थं' शब्द 'प्रकृति' शब्द का विशेषण है तथा ऐसा होने पर 'तदर्थं' शब्द से स्त्रीलिङ्ग एवं सप्तमी विभक्ति की प्राप्ति होती है, किन्तु 'सूत्रेऽस्मिन् सुब्विधिरिष्ट सूत्र के

---

१. प्र-दी-प इति 'सूत्रेऽस्मिन् सुब्विधिरिष्ट:' (५/२/११४) इति जस स्थाने सु। जै० म० वृ० १/१/११.
२. 'आदैचैप्' (१/१/१५) इत्यत्र 'सूत्रेऽस्मिन् सुब्विधिरिष्ट' इति जस स्थाने सु। वही, १/१/१५
३. किर इति आदिशब्दस्य खे 'सूत्रेऽस्मिन् सुब्विधिरिष्ट' (५/२/११४) इति भ्यस: स्थाने ङसि। जै० म० वृ० ५/१/१३४.
४. उदाहरणम्—'स्त्रीगोर्नीच' (१/१/८) स्त्रीगूनामिति प्राप्त सुब्विधिरयम्। वही, ५/२/११४.
५. 'सूत्रेऽस्मिन् सुब्विधिरिष्ट:' (५/२/११४) इति तास्थाने वानिर्देशात् व्याख्येय:। वही, ५/४/६१.
६. या इत्येतस् 'सूत्रेऽस्मिन्' (५/२/११४) इति ङस. खम्। वही, ५/१/१३६.

प्रभाव के कारण प्रथमा विभक्ति एकवचन का ही प्रयोग किया गया है।[1] इस सूत्र की व्याख्या करते समय 'तदर्थायां प्रकृतौ' ही अभिप्रेत है।

(च) 'मिर्ङ्कार्ये वा' (जैं० व्या० १/४/५४) सूत्र मे विद्यमान 'वा' (प्रथमा विभक्ति) के परे युक्त प्रथमा विभक्ति एकवचन के 'सु' प्रत्यय का 'हल्ङ्यापो बा सुतिस्यलच्' (जैं० व्या० ४/३/५६) सूत्र से लोप होना चाहिए पर 'सूत्रेऽस्मिन् सुब्विधिरिष्ट.' सूत्र के प्रभाव के कारण 'सु' का लोप नही हुआ। 'सुप्' प्रत्ययो के अन्तर्गत 'टाप्' प्रत्यय भी सम्मिलित है तथा सुब्विधि इष्ट होने के कारण हलन्त 'व्' के पश्चात् 'टाप्' प्रत्यय युक्त किया गया है।[2] 'वा' (प्रथमा) के परे विसर्जनीय के प्रयोग का प्रयोजन 'वा' (विभाषा) की सन्देह-निवृत्ति भी है।[3]

(छ) 'सेऽङ्गुले सङ्ग' (जैं० व्या० ५।४।६२) सूत्र मे सङ्ग शब्द के पश्चात षष्ठी विभक्ति एकवचन के स्थान पर प्रथमा विभक्ति एकवचन के सु प्रत्यय का प्रयोग किया गया है।[4]

इस प्रकार उपर्युक्त दो परिभाषा-सूत्रो का जैनेन्द्र-व्याकरण की सूत्र-व्यवस्था की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है।

सन्धि-सूत्र—

पूज्यपाद देवनन्दी ने जैनेन्द्र-व्याकरण के चतुर्थ अध्याय के तृतीय पाद[5] तथा पचम अध्याय के चतुर्थपाद[6] के अधिकाश सूत्रो में सन्धि नियमों को प्रस्तुत किया है। अन्य कुछ सन्धि नियम जैनेन्द्र-व्याकरण के पंचम अध्याय के तृतीय पाद मे भी उपलब्ध होते हैं।[7] सन्धि नियमो का प्रतिपादन करते हुए पूज्यपाद देवनन्दी ने पूर्ण रूप से पाणिनि का ही अनुकरण किया है। सन्धि प्रकरण के अनेक सूत्र जैनेन्द्र-व्याकरण में अष्टाध्यायी से बिना किसी परिवर्तन के उद्धृत किए गए हैं। उदाहरण के लिए—

	जैं० व्या०	अष्टा०
१.	एङि पररूपम ४/३/८१.	एङि पररूपम्, ६/१/६४
२	एचोऽयवायाव:, ४/३/६६.	एचोऽयवायाव:, ६/१/७८
३.	झलां जश् झशि, ५/४/१२८	झला जश् झशि, ८/४/५३
४.	नपरे न:, ५/४/११.	नपरे न, ८/३/२७.
५.	नश्चापदान्तस्य झलि, ५/४/८.	नश्चापदान्तस्य झलि, ८/३/२४.
६.	शश्छोऽटि, ५/४/१३७.	शश्छोऽटि, ८/४/६३
७.	ष्टुना ष्टु:, ५/४/१२०	ष्टुना ष्टु, ८/४/४१.

सुबन्त सूत्र—

जैनेन्द्र-व्याकरण के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद[8] तथा पचम अध्याय के प्रथम[9] तथा तृतीय[10] पादो मे अधिकाश सुबन्त सूत्र उपलब्ध होते हैं। जैनेन्द्र-व्याकरण के चतुर्थ अध्याय के ही तृतीय[11] तथा पचम अध्याय के द्वितीय[12] एवं चतुर्थ[13] पादो मे सुबन्त सबधी सूत्रो की सख्या अपेक्षाकृत कम है। प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद मे भी दो सुबन्त सबधी सूत्र उपलब्ध होते है।[14]

---

१. तदर्थमित्येतत्प्रकृतेर्विशेषणम्। तदर्थायां प्रकृताविति। यद्येवं स्त्रीलिङ्गमीप् च प्राप्नोति। 'सूत्रेऽस्मिन् सुब्विधिरिष्ट' (५/२/११४) इत्यं पा (इतोपो) बाया एकेन च निर्देश:। जैं० म० वृ० ३/४/११.

२. 'मिर्ङ्कार्ये वा:' (१/४/५४) हल्ङ्याविता सुख प्राप्तम्। सुपो विधिरयम्। अथ विति हलन्तान् कथं टाप्। अयमपि सुपो विधिरिष्ट। आ कप: पकारेण सुपो ग्रहणात्। वही, ५/२/११४.

३. विसर्जनीयो विभाषा सन्देहनिवृत्त्यर्थम्। वही, १/४/५४.

४. सङ्ग इत्यत्र 'सूत्रेऽस्मिन् सुब्विधिरिष्ट' (५/२/११४) इति ङस स्थाने सु.। वही, ५/४/६२.

५ जैं० व्या० ४/३/६०-७३, ७५-९०, ९२-१०९, २१६.

६. वही, ५/४/१-३६, ११९-१२३, १२५-१४०.

७. वही, ५/३/५७, ७६, ७८, ९०-९४.

८. वही, ४/४/१, ३-१२, ७२, ७४, ७५, ७८-८०, ११८-१२२, १२४-१२७, १२९.

९. वही, ५/१/८/२९, ३४-३६, ४९-७३, १४३-१७१.

१०. वही, ५/३/१४-२९, २८-३०, ४२, ४६-५१, ५३, ५८, ७५, ७७, ७९,८३, ८५, ८६, ८८, ८९.

११. वही, ४/३/५६-५८, १९७-२०१, २१५, २२९, २३३.

१२. वही, ५/२/९७-११३, १५०.

१३. वही, ५/४/२४, ३७, ३८, ३९, ८५, ८६,९६.

१४. वही, १/२/१५६, १५७.

अष्टाध्यायी में उपलब्ध 'प्रातिपदिक' संज्ञा[1] के स्थान पर जैनेन्द्र-व्याकरण में 'मृत्'[2] संज्ञा का प्रयोग किया गया है। जैनेन्द्र-व्याकरण मे दी गई कृत्[3] हृत्[4] आदि संज्ञाओं के समक्ष यह संज्ञा उचित ही है।

अष्टाध्यायी में 'सुप्' एवं 'तिङ्' प्रत्ययो की 'विभक्ति' संज्ञा की गई है।[5] जैनेन्द्र-व्याकरण मे 'विभक्ति' शब्द के स्थान पर ईकारान्त 'विभक्ती' शब्द का प्रयोग किया गया है।[6] 'विभक्ती' शब्द के व्यंजनो तथा स्वरो के आगे क्रमश. आकार तथा पकार के योग से प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पचमी, षष्ठी एव सप्तमी विभक्तियो के स्थान पर क्रमशः वा, इप्, भा, अप्, का, ता एवं ईप् संज्ञाएँ प्रस्तुत की गई हैं।[7]

पूज्यपाद देवनन्दी ने 'सु' आदि प्रत्ययो का उल्लेख जैनेन्द्र-व्याकरण के तृतीय अध्याय के आरम्भ मे एक ही सूत्र मे किया है।[8]

प्राय सभी सुबन्त रूपों की सिद्धि में पूज्यपाद देवनन्दी ने पाणिनि का ही अनुकरण किया है। पूज्यपाद देवनन्दी ने केवल चत्वारः, अनड्वान्, अनड्वाहौ, अनड्वाह एवं अनड्वाहम् शब्दो की सिद्धि अष्टाध्यायी, कातन्त्र एवं चान्द्र-व्याकरण से भिन्न विधि से की है। 'चतुर' एवं 'अनडुह्' शब्दो मे सर्वनामस्थान प्रत्यय परे रहते पाणिनि[9] तथा चन्द्रगोमी[10] ने आम् आगम का विधान किया है। तत्पश्चात् आम् आगम को अन्तिम 'अच्' के पश्चात् ही युक्त करने का नियम है। (चतुर्+जस्=चतु आ (म) र् जस्—, अनडुह्+सु, औ, जस्, अम् औट्-अनडु आ (म्) ह्-सु औ इत्यादि। उसके पश्चात् ही उपर्युक्त शब्दो के 'उ' को यणादेश करके (चत् व् आ र् जस्, अनड् वा ह्-सु औ——————) चत्वारः, अनड्वान्, अनड्वाहौ, अनड्वाह तथा अनड्वाहम् रूपो की सिद्धि की गई है। शर्ववर्मा ने चत्वार् एवं अनड्वाह् शब्दो का ही ग्रहण किया है।[11] जैनेन्द्र-व्याकरण मे स्वर सबंधी नियमो का अभाव होने के कारण पूज्यपाद देवनदी ने उदात्त 'आम्' का परित्याग कर दिया है तथा चतुर् एव अनडुह् के 'उ' के स्थान पर 'ध' (सर्वनाम स्थान) परे रहते 'वा' आदेश करके (चत् वा र् जस्, अनड् वाह्-सु औ ——————) उपर्युक्त रूपो की सिद्धि की है।[12]

इसी प्रकार सम्बुद्धि[13] मे 'चतुर' एव 'अनडुह्' शब्दो को पाणिनि[14] एव चन्द्रगोमी[15] ने अम् आगम का विधान किया है। तत्पश्चात् पूर्ववत् मित् होने के कारण 'अम्' आगम को 'अन्त्य' अच् के पश्चात् युक्त किया गया है। (चतु अ (म्) र् जस्, अनडु अ (म्) ह्-सु) तथा यणादि सन्धि करके हे चत्व तथा हे अनड्वन् रूप सिद्ध किए हैं (चत् व् अ र् जस्, अनड् व् अह् सु)। शर्ववर्मा ने चत्वार् एवं अनड्वाह शब्दो के दीर्घ स्वर (आ) को ह्रस्वादेश किया है।[16] इसके विपरीत पूज्यपाद देवनन्दी ने सम्बुद्धि में चतुर् एवं अनडुह् शब्दों के 'उ' को 'व' आदेश किया है।[17] ——— (चत् व् र् जस्, अनड् व ह्-सु)। इस प्रकार उपर्युक्त रूपो की सिद्धि में पूज्यपाद देवनन्दी ने तीन सूत्रो के स्थान पर एक सूत्र से ही कार्य चलाकर सरलता लाने का प्रयास किया है। प्रक्रिया मे सरलता एवं संक्षेप की दृष्टि से सुबन्त प्रकरण मे यह पूज्यपाद देवनन्दी की एक उपलब्धि मानी जाएगी।

---

१. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्, अष्टा० १/२/४५.
२. मृद् मृत्, जै० व्या० १/१/५.
३. कृर्दामङ्, वही. २/१/८०.
४. हृतः, वही, ३/१/६१.
५. विभक्तिश्च, अष्टा० १/४/१०४.
६. 'विभक्ती', जै० व्या० १/२/१५७.
७. तासामाप्परास्तद्व्यलच, जै० व्या० १/२/१५८.
८. स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्, वही, ३/१/२.
९. चतुरनडुहोरामुदात्त: मिदचोऽन्त्यात्पर, इको यणचि; अष्टा० ७/१/९८; १/१/४७, ६/१/७७.
१०. चतुरनडुहोराम्; मिदचोऽन्त्यात् परः; इको यणचि, चा० व्या० ५/४/५०; १/१/१४; ५/१/७४.
११. चतुरो वाशब्दस्योत्वम्; अनडुहश्च, कातन्त्र-व्याकरण, चतुष्टय प्रकरण. ११८; ११९.
सम्पा० गुरुनाथ विद्यानिधि भट्टाचार्य. कलकत्ता, बङ्गाब्द, १३१६.
१२. चतुरनडुहोर्वा, जै० व्या० ५/१/७२
१३. एकवचनं संबुद्धिः, अष्टा० २/३/४९.
१४. अम्संबुद्धौ; मिदचोऽन्त्यात्परः; इको यणचि; वही, ७/१/९९, १/१/४७; ६/१/७७.
१५. अम् सौ सम्बुद्धौ; मिदचोऽन्त्यात् परः, इको यणचि; चा० व्या० ५/४/५१; १/१/१४; ५/१/७४.
१६. सम्बुद्धावुभयोर्ह्रस्वः; का० व्या०, च० प्र० १२१.
१७. वः कौ, जै० व्या० ५/१/७३

स्त्रीप्रत्यय—

पूज्यपाद देवनन्दी ने जैनेन्द्र-व्याकरण के तृतीय अध्याय के प्रथम पाद के आरम्भिक सूत्रों में स्त्रीप्रत्ययों का निर्देश किया है।[1] जैनेन्द्र-व्याकरण के अन्य कुछ सूत्रों मे भी 'स्त्रीप्रत्ययान्त' शब्द बनाने के नियम उपलब्ध होते हैं।[2]

अष्टाध्यायी मे पुल्लिग से स्त्रीलिंग शब्द बनाने के लिए टाप्[3], डाप्[4], चाप्[5], ङीप्[6], ङीष्[7], ङीन्[8], ऊङ्[9] एवं ति[10] प्रत्ययो का ही विधान किया गया है। चान्द्र-व्याकरण में प्रयुक्त स्त्रीप्रत्यय चाप्[11], डाप्[12] ङीप्[13], ङीष्[14], ऊङ्[15] एवं ति[16] हैं।

संक्षेप की दृष्टि से पूज्यपाद देवनन्दी ने अष्टाध्यायी की अपेक्षा जैनेन्द्र-व्याकरण के स्त्री-प्रत्ययो मे कमी की है। उनके द्वारा प्रयुक्त स्त्री-प्रत्यय छ हैं—

आप्[17], टाप्[18], डाप्[19], ङी[20], ऊ[21] तथा ति।[22] अष्टाध्यायी के ङीप्, ङीष्, ङीन् एवं चान्द्र व्याकरण के ङीप् एवं ङीष् स्त्रीप्रत्यय अनुबन्धों की दृष्टि से भिन्न हैं। उपर्युक्त व्याकरण-ग्रन्थो मे प्, ष् एवं न् अनुबन्धो का स्वर संबंधी नियमो के कारण ही प्रयोग किया गया है।

स्वर प्रकरण से संबंधित नियमो का अभाव होने के कारण ही पूज्यपाद देवनन्दी ने अनुबन्ध-रहित ङी प्रत्यय का प्रयोग किया है।

पाणिनि ने 'पति' शब्द के इकार के स्थान पर 'न' आदेश करके एवं 'ङीप्' प्रत्यय के योग मे यज्ञ के विषय मे 'पत्नी' शब्द की रचना की है। पाणिनि के अनुसार 'पत्नी' शब्द यज्ञ के प्रसग मे ही बनता है।[23]

चान्द्र-व्याकरण मे √ वह् धातु से क्त एवं टाप् प्रत्यय के योग से निष्पन्न ऊढा (विधिवत् विवाहित) शब्द के अर्थ मे पत्नी शब्द का निर्माण किया गया है।[24]

---

१. जै० व्या० ३/१/३-६६.
२. वही, ४/२/१३२, ४/४/१३६-१४०, ५/२-५०-५३.
३. अजाद्यतष्टाप्, अष्टा० ४/१/४.
४. डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्, वही, ४/१/१३.
५. यङश्चाप्, वही, ४/१/७४.
६. ऋन्नेभ्योङीप्, वही, ४/१/५.
७. अन्यतो ङीष्, वही, ४/१/४०.
८. शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्, वही, २/१/७३.
९. ऊङुतः, वही, ४/१/६६.
१०. यूनस्तिः, वही, ४/१/७७.
११. यङश्चाप्; चा० व्या० २/३/८०.
१२. ताभ्यां डाप्, वही २/३/१८,
१३. ऋन्नो ङीप्, वही, २/३/२.
१४. षितो ङीष्, वही, २/३/३६.
१५. ऊङ् उतः, वही, २/२/७५
१६. यूनस्तिः, वही, २/३/८१.
१७. आबद्यात्, जै० व्या० ३/१/५.
१८. अजाद्यतष्टाप्, वही ३/१/४
१९. मनो डाप् च, वही ३/१/६
२०. उगिदृन्नान्ङी, वही, ३/१/६.
२१. ऊतः, वही, ३/१/५६.
२२. यूनस्तिः, वही, ३/१/६२.
२३. पत्युर्नो यज्ञसंयोगे, अष्टा० ४/१/३३.
२४. पत्युर्नेऊढायाम्, चा० व्या० २/३/३०

पूज्यपाद देवनन्दी के अनुसार 'पत्नी' शब्द निपातन से सिद्ध है।[1] पूज्यपाद देवनन्दी ने पाणिनि एवं चन्द्रगोमी के समान किसी अर्थ विशेष मे पत्नी शब्द की व्युत्पत्ति की ओर निर्देश नही किया है। अभयनन्दी ने इसी सूत्र की वृत्ति मे पत्नी को पुरुष की वित्तस्वामिनी कहकर व्याख्या की है।[2]

कारक सूत्र—

पूज्यपाद देवनन्दी ने जैनेन्द्र-व्याकरण के प्रथम अध्याय के द्वितीय[3] तथा चतुर्थ[4] पादो मे कारक संबंधी नियमो का प्रतिपादन किया है। "कारक" शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अष्टाध्यायी मे कारक के प्रसंग मे अधिकार सूत्र के अन्तर्गत उपलब्ध होता है।[5] पाणिनि का अनुकरण करते हुए पूज्यपाद देवनन्दी ने भी कारक शब्द को जैनेन्द्र-व्याकरण मे अधिकार सूत्र मे ही स्थान दिया है।[6] पूज्यपाद देवनन्दी ने कर्ता, करण एवं अधिकरणकारको की परिभाषाएँ अष्टाध्यायी मे दी गई परिभाषाओ के समान ही दी हैं।[7]

जैनेन्द्र-व्याकरण मे सम्प्रदान[8] एवं अपादान[9] कारको की परिभाषाओं का क्षेत्र अष्टाध्यायी की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। इन कारको की परिभाषाओ के द्वारा पूज्यपाद देवनन्दी ने अष्टाध्यायी मे विद्यमान् चतुर्थी[10] एवं पचमी[11] विभक्ति का भिन्न अर्थों मे विधान करने वाले अनेक सूत्रों का ग्रहण किया है।

अष्टाध्यायी मे अपादान कारक की परिभाषा 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' (अष्टा० १/४/२४) है। पूज्यपाद देवनन्दी ने अपादान कारक से सम्बद्ध सूत्र के अर्थ को विस्तृत रूप देने की दृष्टि से 'धी' शब्द का भी सूत्र में ग्रहण किया है। जिसके परिणामस्वरूप कायिक विश्लेष के साथ-साथ बुद्धिपूर्वक विश्लेष मे भी जो ध्रुव हो उसकी अपादान संज्ञा की है। अभयनन्दी ने उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या मे सूत्र के अर्थ को और भी स्पष्ट कर दिया है।[12] इस प्रकार सूत्र मे 'धी' शब्द को स्थान देकर पूज्यपाद देवनन्दी ने कात्यायन के वार्तिक 'जुगुप्साविराम-प्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' (अष्टा० १/४/२४ वा०) का ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार 'धी' शब्द के ग्रहण मात्र से ही सूत्र के आकार में वृद्धि का निवारण करते हुए अपादान कारक की परिभाषा को अर्थ की दृष्टि से विस्तृत रूप दिया है।

'नब्बाध्य आसम्' (जै० व्या० १/२/९१) सूत्र को दृष्टि में रखते हुए पूज्यपाद देवनन्दी ने अपादान[13] एवं कर्म[14] शब्दों का नपुसकलिंग मे प्रयोग किया है।

---

१. पत्नी, जै० व्या० ३/१/३३.

२. अस्य पुंस: वित्तस्य स्वामिनीत्यर्थ:, जै० म० वृ० ३/१/३३.

३. जै० व्या० १/२/१०९—१२५.

४. वही, १/४/१—७७.

५. कारके, अष्टा० १/४/२३.

६. कारके, जै० व्या० १/२/१०९.

७. तु०—जै० व्या० १/२/१२५, अष्टा० १/४/५४.
वही, १/२/११४ वही १/४/४२.
वही, १/२/११६, वही, १/४/४५.

८. कर्मणोपेय: सम्प्रदानम्, जै० व्या० १-२-१११.

९. ध्यपाये ध्रुवमपादानम्, वही, १/२/११०.

१०. द्र०—अष्टा० १/४/३२-३४, ३६, ३७, ३९-४१.

११. द्र०—वही १/४/२८-३१.

१२. धीर्बुद्धि:। प्राप्तिपूर्वको विश्लेषोऽपाय:। धिया कृतो अपायो ध्यपाय:। धीप्राप्तिपूर्वको विभाग इत्यर्थ:। धीग्रहणे ह्यसति कायप्राप्तिपूर्वक एवापाय: प्रतीयेत धीग्रहणेन सर्व: प्रतीयते। जै० म० वृ० १/२/११०.

१३. ध्यपाये ध्रुवमपादानम्, जै० व्या० १/२/११०.

१४. धिव: कर्म, वही, १/२/११५.

'नब्बाध्य आसम् (जै० व्या० १/२/९०) सूत्र के आधार पर पुल्लिंग मे निर्दिष्ट करण, अधिकरण तथा कर्तृ संज्ञाओ से नपुंसकलिंग में निर्दिष्ट अपादान संज्ञा का बाध होता है। अभयनन्दी की वृत्ति से उपर्युक्त तथ्य सुस्पष्ट है।[1] 'दिव कर्म' (जै०व्या०१/२/११५) सूत्र के अनुसार 'अक्षान् दीव्यति' प्रयोग उचित है किन्तु 'नब्बाध्य आसम्' सूत्र के आधार पर नपुंसकलिंग मे निर्दिष्ट कर्म संज्ञा का पुल्लिंग में निर्दिष्ट करण संज्ञा से बाध होता है तथा अक्षै दीव्यति प्रयोग की भी प्राप्ति होती है।[2]

जैनेन्द्र व्याकरण मे दी गई करण कारक की परिभाषा मे 'करण' शब्द नपुंसकलिंग मे निर्दिष्ट है।[3] ऐसी स्थिति में नपुंसक करण संज्ञा का 'नब्बाध्य आसम्' सूत्र के आधार पर अनवकाश सम्प्रदान संज्ञा[4] मे निश्चय ही बाध होना चाहिए किन्तु अभयनन्दी ने 'साधकतमं करणम्' (जै० व्या० १/२/११४) सूत्र की वृत्ति मे कहा है—पुल्लिंग निर्देश किमर्थं ? परिक्रयणमित्यनवकाशया सम्प्रदान-सञ्ज्ञया बाधा मा भूत्। 'ध्यपायेध्रुवमपादानम्' (जै० व्या० १/२/११०) सूत्र की वृत्ति मे भी अभयनन्दी ने 'पुल्लिंगया करण-संज्ञया बाधात्' कहा है। अभयनन्दी के उपर्युक्त कथनो से यह सुस्पष्ट है कि प्रारम्भ में जैनेन्द्र व्याकरण मे 'साधकतम करण' सूत्रपाठ था जो कालान्तर मे विकृत होकर 'साधकतम करणम्' हो गया। 'करण' शब्द के पुल्लिंग मे निर्दिष्ट होने पर ही अनवकाश सम्प्रदान संज्ञा से करण-संज्ञा का बाध नही होगा तथा 'शताय परिक्रीत' प्रयोग के साथ-साथ 'शतेन परिक्रीत' प्रयोग भी उचित होगा।

समास सूत्र—

पूज्यपाद देवनन्दी ने जैनेन्द्र-व्याकरण के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद,[5] चतुर्थ अध्याय के द्वितीय[6] तथा तृतीय पादो[7] मे अधिकाश समास सम्बन्धी नियमो को प्रस्तुत किया है। समास-सम्बन्धी अन्य कुछ नियम जैनेन्द्र-व्याकरण के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद,[8] चतुर्थ पाद,[9] चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद[10] तथा पचम अध्याय के द्वितीय[11] तथा चतुर्थ पादो[12] मे भी उपलब्ध होते है।

जैनेन्द्र व्याकरण के समास सूत्रो का आरम्भ 'समर्थ पदविधि (जै० व्या० १/३/११) परिभाषा सूत्र से होता है। अष्टाध्यायी एवं जैनेन्द्र-व्याकरण के अधिकाश समास सूत्रो मे पर्याप्त साम्य है किन्तु संक्षेप तथा सरलता के उद्देश्य से जैनेन्द्र-व्याकरण के कुछ समास-सूत्र विशिष्ट है।

जैनेन्द्र-व्याकरण की रचना के समय पूज्यपाद देवनन्दी ने संक्षेप की ओर अत्यधिक ध्यान दिया है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होने अन्य सूत्रो के समान समास-सूत्रो मे भी लघु-सज्ञाओ का प्रयोग किया है। उदाहरणत उन्होने समास के लिए स,[13]

---

१. नपा निर्देश: किमर्थ:। वक्ष्यमाणाभि: सञ्ज्ञाभिर्बाधा मा स्यात्। धनुषा विध्यति पुल्लिंगया करणसञ्ज्ञया बाधात्। कास्यपात्र्यां भुङ्क्ते। पुंलिङ्गाऽधिकरण सञ्ज्ञैव। धनुर्विध्यतीति कर्तृसंज्ञा इहगां दोग्धि पय इति परत्वात्कर्मसंज्ञा। जै० म० वृ० १/२/११०.

२. नपा निर्देशात् करणत्वमपि। वही, १/२/११५.

३. साधकतम करणम्, जै० व्या० १/२/११४.

४. परिक्रयणम्, वही, १/२/११३.

५. जै० व्या० १/३/१-१०५.

६. वही, ४/२/६५, १३१, १३३-१५९.

७. वही, ४/३/९, १०, ११६, १२०-१७५, १७९-१९६, २०२-२१४, २१८-२२४, २२७, २२८, २३०-२३२, २३४.

८. वही, १/२/१३२-१४८.

९. वही, १/४/७८-१०८, १५१-१५३.

१०. वही, ४/४/१२८, १३०-१३३.

११. वही, ५/२/१२५-१२७.

१२. वही. ५/४/६२-६८, ७२, ७५, ८७-९५, ९७, ११६-११८.

१३. स:, वही, १/३/२.

अव्ययीभाव के लिए है,[1] तत्पुरुष के लिए लिए ष,[2] द्विगु के लिए र,[3] बहुव्रीहि के लिए ब,[4] तथा कर्मधारय के लिए य, संज्ञाएँ दी है।[5]

पूज्यपाद देवनन्दी ने समास सूत्रों की सख्या मे भी यथासंभव कमी की है। जो बात स्वभावतः सर्वविदित है उसको कहने की उन्होने आवश्यकता नही समझी है। यही कारण है कि जैनेन्द्र-व्याकरण मे एकशेष समास से सबंधित सूत्रो का अभाव है। एकशेष से संबंधित सूत्रो का अभाव होने का कारण भी पूज्यपाद देवनन्दी ने अपने व्याकरण-ग्रन्थ मे निर्दिष्ट किया है।[6]

सूत्रो में भिन्नता लाने के उद्देश्य से पूज्यपाद देवदन्दी ने अनेक समासान्त पदो का विधान अष्टाध्यायी, कातन्त्र एव चान्द्र व्याकरण से भिन्न समासान्त प्रत्ययां की सहायता से किया है।

	जै० व्या०	अष्टा०	का० व्या० (च० प्र०)	चा० व्या०
१.	अ, ४/२/११६	अप्, ५/४/११६	अत्, ४१४.	अप्, ४/४/९९.
२.	अ, ४/२/११७	अप्, ५/४/११७.	अत्, ४१५.	अप्, ४/४/१०१.
३.	अन्, ४/२/१२५.	अनिच्, ५/४/१२४	—	अनिच्, ४/४/११३.
४.	अस्, ४/२/१२४	असिच्, ५/४/१२२	—	असिच्, ४/४/१०७.
५	ट, ४/२/१०९	टच, ५/४/१०७	अत्, ३९८	टच्, ४/४/९०.
६.	ट, ४/२/११३.	षच्, ५/४/११३	अत्, ४१०	षच्, ४/४/९६.
७	ट, ४/२/११५	ष, ५/४/११५	अत्, ४१२	षच्, ४/४/९८.
८.	ड, ४/२/९९.	डच्, ५/४/७३	अत्, ४२०.	डच्, ४/४/९५.

समासान्त-प्रत्ययो की उपर्युक्त सूची से यह सुस्पष्ट है कि जैनेन्द्र व्याकरण के समासान्त-प्रत्ययो मे स्वर-संबधी अनुबन्धों का अभाव है।

समास सूत्रों के प्रसग मे जिसकी पाणिनि ने प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट करके उपसर्जन सज्ञा[7] की है उसकी पूज्यपाद देवनन्दी ने न्यक् सज्ञा की है।[8]

समास सूत्रों मे पूज्यपाद देवनन्दी ने अनेक स्थानो पर एक मात्रा के प्रयोग मे भी कमी करने का प्रयत्न किया है—

	जै० व्या०	अष्टा०	का० व्या०	चा० व्या०
१	आयामिना, १/३/१३.	यस्य चायाम, २/१/१६	—	अनु सामीप्यायामयो, २/२/९
२.	परिणाऽक्षशलाकासख्या, १/३/८	अक्षशलाकासंख्या परिणा, २/१/१०	—	सख्याक्षशलाका परिणा द्यूतेऽन्यथा वृत्तौ, २/२/६.

---

१. हः, जै० व्या० १/३/४.

२. षम्, वही, १/3/१९.

३. सख्यादी रश्च, वही, १/३/४७

४. अन्यपदार्थेऽनेक षम्, वही, १/३/८६.

५. पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवल यश्चैकाश्रये, वही, १/३/४४.

६. स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः, वही, १/१/१००.

७. प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्, अष्टा० १/२/४३.

८. बोक्तं न्यक्,, जै० व्या०, १/३/९३.

जै० व्या०	अष्टा०	का० व्या० (च० प्र०)	चा० व्या०
३. यत्समयाऽनु., १/३/१२.	अनुर्यत्समया, २/१/१५	—	अनु सामीप्यायामयो , २/२/६.
४. लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रती, १/३/११.	लक्षणेनाभिप्रती अभिमुख्ये, २/१/१४.	—	लक्षणेनाभिप्रती २/२/८

अष्टाध्यायी के 'यस्य चायाम' (अष्टा० २/१/१६) एवं चान्द्र-व्याकरण के 'अनुः सामीप्यायामयो' (चा०व्या० २/२/६) सूत्र के स्थान पर जैनेन्द्र-व्याकरण मे समास के उदाहरण की दृष्टि से 'आयामिना' (जै० व्या० १/३/१३) सूत्र की उपस्थिति युक्ति-संगत है।

कुछ समस्त पदो की सिद्धि की विधि मे जैनेन्द्र-व्याकरण मे, अष्टाध्यायी, कातन्त्र एवं चान्द्र-व्याकरण की अपेक्षा भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

उदाहरणतः—पाणिनि[1] एवं चन्द्रगोमी[2] ने सर्वप्रथम नञ् शब्द का सुबन्त के साथ समास किया है। तत्पश्चात् नञ् के नकार का लोप होकर (न (ञ्) ब्राह्मण —अब्राह्मण) अब्राह्मण रूप सिद्ध हुआ है। शर्ववर्मा ने 'न्' का लोप करके रूपसिद्धि (अ ब्राह्मण) की है।[3] पूज्यपाद देवनन्दी ने इस समस्त पद की सिद्धि भिन्न विधि से की है। उनके अनुसार 'नञ्' पद का सुबन्त पद के साथ 'समास' होता है तथा यह समास 'नञ् तत्पुरुष' समास कहलाता है (नञ् ब्राह्मण)।[4] तदुपरान्त उन्होने 'नञ्' को 'अन' आदेश किया है।[5] (अन् ब्राह्मण[6]) तथा 'अन्' के नकार का लोप विधान करते हुए (अ ब्राह्मण) उपर्युक्त पद की सिद्धि की है।[6]

पाणिनि[7] तथा चन्द्रगोमी[8] ने अजादि पद परे रहते 'नञ्' के 'न्' का लोप करके (अ अश्व) तथा अजादि पद के आदि अच् से पूर्व नुडागम लगाकर (अ+नुट्+अश्व) 'अनश्व' समस्त पद की सिद्धि की है। शर्ववर्मा ने अक्षर विपर्यय (न् अ अश्व· अ न्·अश्व) करके 'अनश्व' शब्द की सिद्धि की है।[9] पूज्यपाद देवनन्दी ने 'नुट्' आगम का 'प्रयोग' नही किया है। उन्होने अजादि उत्तरपद परे रहते हुए 'नञ्' को 'अन्' आदेश का ही विधान किया है (नञ् अन्त अन् अन्त)।[10] यहाँ 'अन्' आदेश का पुन निर्देश 'अन्' के नलोप की निवृत्ति के लिए ही किया गया है।[11] अतः 'अनन्त' समस्त पद का निर्माण हुआ है।

उपर्युक्त भिन्न विधि के फलस्वरूप जैनेन्द्र-व्याकरण मे 'नञोऽन्' (जै० व्या० ४/३/१८१) एवं अचि (जै० व्या० ४/३/१८२) सूत्र नवीन प्रतीत होते हैं।

तिङन्त सूत्र—

जैनेन्द्र-व्याकरण के प्रथम अध्याय के द्वितीय[12] एवं चतुर्थ पाद[13], द्वितीय अध्याय के प्रथम[14], तृतीय[15] एवं चतुर्थ पाद[16] तथा चतुर्थ

१. नञ्, नलोपो नञः; अष्टा० २/२/६; ६/३/७३.
२. नञ्; नञो नः, चा० व्या २/२/२०; ५/२/६१.
३. नस्य तत्पुरुषे लोप्य, का० व्या०, च० प्र० २८०.
४. नञ्, जै० व्या० १/३/६८.
५. नञोऽन्, वही, ४/३/१८१.
६. नञ सुबन्तस्यान्तो, वही ५/३/३०
७. नलोपो नञः; तस्मान्नुडचि, अष्टा० ६/३/७३, ६/३/७४
८. नञो नः; ततोऽचि नुट्; चा० व्या० ५/२/६१, ५/२/६३.
९. स्वरेऽक्षरविपर्ययः, का० व्या०, च० प्र० २८१.
१०. अचि, जै० व्या०, ४/३/१८२
११. पुनर्वचन नरवनिवृत्त्यर्थम्, जै० म० वृ० ४/३/१८२.
१२. जै० व्या० १/२/६-८६, १४६-१५५.
१३. वही. १/४/१०६-१२६, १४२-१५०, १५४.
१४. वही, २/१/१-७८।
१५. वही, २/३/१-७, १०७-१५२.
१६. वही, २/४/१-३, ५४, ६३-६६.

अध्याय के तृतीय[1] एवं चतुर्थ पाद[2] तथा पंचम अध्याय के प्रथम[3], द्वितीय[4] तथा चतुर्थ पादों[5] में अधिकांश तिङन्त संबंधी नियम उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त प्रथम अध्याय के प्रथम पाद,[6] द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद[7] तथा पंचम अध्याय के तृतीय पाद[8] में भी कतिपय तिङन्त संबंधी नियम प्रस्तुत किए गए हैं।

क्रियापदों के निर्माण में पूज्यपाद देवनन्दी ने अधिकतर स्थलों पर पाणिनि का ही अनुकरण करते हुए कहीं-कहीं पर मौलिकता लाने का प्रयास किया है।

अष्टाध्यायी[9] एवं चान्द्र-व्याकरण[10] मे 'लट्' आदि लकारो के स्थान पर तिप् तस् झि, सिप् तस् थ, आदि आदेशो का विधान किया गया है। कातन्त्र-व्याकरण में उपर्युक्त प्रत्ययों का सूत्र मे उल्लेख नहीं किया गया है, किन्तु दुर्गसिंह ने वृत्ति मे उन प्रत्ययों का निर्देश किया है।[11]

जैनेन्द्र-व्याकरण मे अष्टाध्यायी में निर्दिष्ट तिप्, तस्, झि इत्यादि प्रत्ययो का ही परिगणन किया गया है, किन्तु क्रम बिल्कुल विपरीत है। सूत्र मे उत्तमपुरुष, मध्यमपुरुष तथा प्रथमपुरुष के प्रत्ययो का क्रमश समावेश किया गया है।[12]

भारतीय व्याकरण साहित्य मे उपरिनिर्दिष्ट प्रत्ययों को इस क्रम से अन्य किसी वैयाकरण ने प्रस्तुत नहीं किया है। प्रत्ययो के इसी क्रम के परिणामस्वरूप पाणिनि के द्वारा निर्दिष्ट तिङ् प्रत्याहार के स्थान पर जैनेन्द्र व्याकरण मे मिङ् प्रत्याहार का प्रयोग उपलब्ध होता है।[13] मिङ् प्रत्याहार बनाने के उद्देश्य से पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट महिङ् प्रत्यय के 'ङ्' को पूज्यपाद देवनन्दी ने अन्तिम प्रत्यय 'झ' के साथ युक्त किया है।

पूज्यपाद देवनन्दी ने परस्मैपद का म[14] तथा आत्मनेपद का द[15] संज्ञा से निर्देश किया है। उपर्युक्त १८ प्रत्ययों मे से प्रथम ६ प्रत्यय म संज्ञक तथा अन्तिम ६ प्रत्यय द संज्ञक हैं। उन्होने आत्मनेपद तथा परस्मैपद के प्रत्येक वर्ग के नौ प्रत्ययो को अस्मद् युष्मद् तथा अन्य संज्ञाएँ दी है[16] तथा उन प्रत्ययो का एकवचन, द्विवचन एव बहुवचन की दृष्टि से विभाजन किया है।[17]

जैनेन्द्र व्याकरण मे पारम्परिक नौ लकारो का उल्लेख मिलता है। ये नौ लकार हैं—लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लोट् लङ्, लिङ् लुङ् एव लृङ्। वैदिक शब्दो से सम्बद्ध नियमो का अभाव होने के कारण लेट् लकार का यहा सर्वथा अभाव है।

---

१. वही, ४/३/१-५४. ११०-११७.
२. वही ४/४/२, १३-७१, ७३, ७६, ७७, ८१-११७.
३ जैं० व्या० ५/१/३-७, ३०, ३२, ३३, ३८-४३, ४८, ७४-७६, ७८-१४०.
४. वही, ५/२/३६-४९, ५९-६३, ६९-९६, ११५-१४९, १५१-१६४.
५. वही, ५/४/४०-६१, ६८, ७८-८४, ९८-१०७.
६. वही, १/१/७५-९७.
७. वही, २/२/९१-१०१.
८. वही, ५/३/३६-३९, ४३-४५, ५२, ५५,५६, ८०-८२, ८७.
९. तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ्, अष्टा० ३/४/७८.
१०. लस्तिप्तस् झिसिप्थस्थमिप्वस्मस्तातां झथासाथाध्वमिट् वहिमहिङ्, चा० व्या० १/४/१.
११. का० व्या०, आख्यात प्रकरण २८-३३ (दुर्गसिंह कृत) वृ०, सम्पा० गुरुनाथ विद्यानिधि भट्टाचार्य, कलकत्ता, शकाब्द. १८५५.
१२. मिब्वस्मस्सिप्थस्थसिप्तस्झीड्वहिमहिथासाथा ध्वतातांझङ् , जैं० व्या० २/४/६४.
१३. मिङ् मिङ्गः, वही. २/४/९३.
१४. मो मम् वही, १/२/१५०.
१५. इडाद्य दः, वही, १/२/१५१.
१६. मिङस्त्रिशोऽस्मद्युष्मदन्याः. वही, १/२/१५२.
१७. एकद्विबहुवस्त्रैकशः. वही, १/२/१५५.

जैनेन्द्र व्याकरण में धातुओ को दस गणो मे विभक्त किया गया है। वे गण तथा उनके विकरण इस प्रकार हैं—

	गण	जै० व्या०	अष्टा०	का० व्या० (आ० प्र०)	शा० व्या०
१.	भ्वादिगण	शप् २/१/६४	शप्, ३/१/६८	अन्, ६६	शप्, १/१/८२
२.	हृ्वादिगण	उज्, १/४/१४५.	श्लु २/४/७५.	अन, ६६.	लुक्, १/१/८४
३.	अदादिगण	उप्, १/४/१४३.	लुक्, २/४/७२.	—	लुक् १/१/८३.
४.	दिवादिगण	श्य, २/१/६५	श्यन्,३/१/६६.	यन्, ६७	श्यन्, १/१/८७
५.	स्वादिगण	श्नु २/१/६६	श्नु, ३/१/७३	नु, ६८.	श्नु, १/१/६५.
६.	तुदादिगण	श, २/१/७३	श, ३/१/७७	अन्, ६६.	श, १/१/६२
७.	रुधादिगण	श्नम्, २/१/७३.	श्नम्, ३/१/७८.	न, ७०	श्नम् ११/६२
८.	तनादिगण	उ, २/१/७४.	उ, ३/१/७६	उ, ७१.	उ, १,१,६४.
९	क्र्यादिगण	श्ना, २/१/७६	श्ना, ३/१/८१	ना, ७२	श्ना, १/१/१०१
१०.	चुरादिगण	णिच्, २/१/२२.	णिच्, ३/१/२५.	इन, ४५.	णिच्, १/१/४५

इस प्रकार अष्टाध्यायी मे प्रयुक्त 'श्लु' एव लुक् विकरणो के स्थान पर जैनेन्द्र व्याकरण में 'उज्' एव 'उप्' विकरणो का प्रयोग किया गया है। उदात्तादि नियमो का अभाव होने के कारण अष्टाध्यायी के 'श्यन्' विकरण के स्थान पर जैनेन्द्र व्याकरण में 'श्य' विकरण का प्रयोग किया गया है।

पूज्यपाद देवनन्दी ने तिङन्त सबधी नियमो को प्रस्तुत करते हुए प्राय सर्वत्र ही पाणिनि का अनुकरण किया है। केवल एक-दो स्थलो पर मौलिकता लाने का प्रयास किया है। लुङ् लकार के प्रसग मे उन्होंने पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट च्लि आगम का निर्देश नही किया है। पाणिनि ने सर्वप्रथम लुङ् परे रहते धातु से च्लि आगम का विधान किया है।[1] तत्पश्चात् च्लि को सिच् आदेश किया है।[2] शर्ववर्म[3] की भांति पूज्यपाद देवनन्दी ने भी लुङ् परे रहते धातु से च्लि का आगम तथा च्लि को 'सिच्' आदेश न करके मौलिकता एव सक्षिप्तता की दृष्टि से धातु से सि आगम का ही विधान किया है।[4]

इसी प्रकार पाणिनि ने कर्तृवाची लुङ् परे रहते ण्यन्त धातुओ तथा श्रि, द्रु एव स्रु धातुओं से परे च्लि आगम को चङ् आदेश का विधान किया है तथा अचीकरत्, अशिश्रियत्, अदुद्रुवत् एव असुस्रुवत् क्रियारूपो की सिद्धि की है।[5] इसी लुङ् लकार के प्रसग मे पाणिनि ने √ पद् धातु से लुङ् लकार के त प्रत्यय के परे रहने लुङ् लकार म च्लि आगम का 'चिण्' आदेश का विधान किया है।[6] चन्द्रगोमी ने भी कर्तृवाची लुङ् परे रहते उपर्युक्त धातुओं से चङ् आगम का विधान किया है[7] तथा √ पद् धातु से लुङ् लकार मे त प्रत्यय परे रहते 'चिण्' आगम का विधान किया है।[8] शर्ववर्मा ने उपर्युक्त दोनो आगमो के स्थान पर क्रमश: 'चण्' एव 'इच्' आगमो का विधान किया है।[9] पूज्यपाद देवनन्दी ने सूत्रो मे मौलिकता लाने के उद्देश्य से उपर्युक्त रूपो की सिद्धि के लिए क्रमश: 'कच एव 'ञि' आगमो का विधान किया है।[10]

---

१. च्लि लुङि, अष्टा० ३/१/४३.

२. च्लेः सिच्, अष्टा० ३/१/४४.

३. सिजद्यतन्याम्, का० व्या०, आ० प्र० ५८

४. सिर्लुङि, जै० व्या० २/१/३८.

५. णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ् अष्टा० ३/१/४८.

६. चिण् ते पद., वही, ३/१/६०.

७. णिश्रिद्रुस्रुकम. कर्तरि चङ्. चा० व्या० १/१/६८.

८. चिण् ते पद, वही, १/१/७६.

९. श्रिद्रुस्रुकमिकारितान्तेभ्यश्चण् कर्तरि; इजात्मने पदे: प्रथमैकवचने, का० व्या०, आ० प्र० ६०, ६३.

१०. णिश्रिद्रुस्रुकमेः कर्तरि कच्; ञिस्ते पद ; जै० व्या० २/१/४३, २/१/५१.

नामधातुओं की रचना मे पूज्यपाद देवनन्दी ने क्यच्[1] काम्य[2], क्यङ्[3] क्यष्[4], णिङ्[5] एव णिच्[6] प्रत्ययों का प्रयोग किया है। नामधातुओ के प्रसग मे पाणिनि[7] तथा चन्द्रगोमी[8] ने क्षीर एव लवण शब्दो से क्यच् प्रत्यय परे रहते असुक् आगम का विधान किया है तथा पररूप सन्धि करके क्षीरस्यति एव लवणस्यति रूपो की सिद्धि की है। पूज्यपाद देवनन्दी ने उपर्युक्त शब्दो से क्यच् परे रहते 'सुक्' आगम का विधान किया है।[9] जिसके परिणामस्वरूप पररूप सन्धि करने की आवश्यकता नही पड़ती।

कृत सूत्र

पूज्यपाद देवनन्दी ने जैनेन्द्र व्याकरण के द्वितीय अध्याय के अधिकाश सूत्रो मे[10] कृत् प्रत्ययो का उल्लेख किया है। जैनेन्द्र व्याकरण के प्रथम अध्याय के प्रथम[11] तथा चतुर्थ पाद[12] चतुर्थ अध्याय के तृतीय[13] एव चतुर्थ पाद[14], तथा पचम अध्याय के प्रथम[15] द्वितीय[16], तृतीय[17], तथा चतुर्थ[18] पादो के कतिपय सूत्रो मे भी कृत् सबधी नियम उपलब्ध होते हैं।

पाणिनि ने तिङ् प्रत्ययो से भिन्न प्रत्ययों की कृत् सज्ञा की है।[19] पूज्यपाद देवनन्दी ने लकारो के स्थान पर आने वाले तिप् तस्, झि ... इत्यादि आदेशो को अष्टाध्यायी की अपेक्षा विपरीत क्रम से रखा है।[20] तथा यही कारण है कि जैनेन्द्र व्याकरण मे 'तिङ्' प्रत्याहार के स्थान पर 'मिङ्' प्रत्याहार का प्रयोग किया गया है।[21] इसी के परिणामस्वरूप पूज्यपाद देवनन्दी ने मिङ् प्रत्ययो से भिन्न प्रत्ययों की कृत्सज्ञा की है।[22]

अष्टाध्यायी मे निर्दिष्ट 'कृत्य'[23] प्रत्ययो की जैनेन्द्र व्याकरण मे 'ध्य'[24] सज्ञा की गई है। जैनेन्द्र-व्याकरण मे निर्दिष्ट अनेक कृत्प्रत्ययों का (कुछ प्रत्ययो के अतिरिक्त) अष्टाध्यायी के कृत्प्रत्ययो से पूर्ण साम्य है। जैनेन्द्र व्याकरण के कुछ कृत् प्रत्यय अष्टाध्यायी,

---

१. स्वेप. क्यच्,, जै० व्या० २/१/६.
२. काम्यः, वही २/१/७.
३. कस्त्° क्यङ् सख विभाषा, वही २/१/६
४ डाज्लोहितात् क्यष्, वही २/१/११.
५ पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ्, वही २/१/१७
६. मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवणव्रतवस्त्रहलकलकृततूस्तेभ्यो णिच्, वही,२/१/१८.
७. अश्वक्षीर वृषलवणानामात्मप्रीतौ क्यचि, अतो गुणे, अष्टा० ७/१/५१ ; ६/१/६७.
८ असुक् चान्तम् , अतोऽदेङि , चा० व्या० ६/२/६१, ५/१/१०१.
९ क्षीरलवणयोर्लौल्ये, जै० व्या० ५/१/३३.
१० वही, २/१/८०-१२३, २/२/१-६१, ६१, ६३-९०; १०२-१६६, २/३/८-१०६, १३४, १३९. १४३, १४५-१४८, १५०, २/४/४-६१.
११ वही, १/१/८०, ८१, ९२-९७.
१२. वही, १/४/११०, १११, १२९.
१३, वही, ४/३/१७-२५, ३४-३७, ४०, ४३-४५, ५९, १७६-१७८, २२५.
१४ वही, ४/४/१६, २७, २८, ३०, ३१, ३८-४१, ४७, ५४, ५९-६०, ६४, ६८. ६९, ८७-९२.
१५ जै० व्या ५/१/३१, ४४-४७, ९५, ९८-१०४, ११६, ११७, १२०, १२२, १२४-१२८, १४१, १४२.
१६. वही, ५/२/५६, ५८, ६४-६८, १४४-१४९, १८६.
१७ वही, ५/३/४०, ५९-७४.
१८. वही. ५/४/५७, ७०, ७१, ७५, ८०, १०८-११४.
१९. कृदतिङ्, अष्टा० ३/१/९३.
२०. मिप्वस्मस्सिप्थस्थतिप्तस्झीड् वहिमहि थासाथां ध्वतातां झङ्। जै० व्या० २/४/६४.
२१. मिङ्मिङ्गः वही, २/४/९३
२२. कृदमिङ्., वही, २/१/८०.
२३. कृत्या; प्राक् ण्वुलः, अष्टा० ३/१/९५.
२४. ध्योर्थाः, जै० व्या० २/१/८२.

कातन्त्र व्याकरण एवं चान्द्र व्याकरण में उपलब्ध कृत्प्रत्ययों से स्वरूप की दृष्टि से भिन्न है। निम्नलिखित तालिका से यह सुस्पष्ट है—

जै० व्या०	अष्टा०	का० व्या० (कृ० प्र०)	चा० व्या०
१. अ, २/२/१४.	अच्, ३/२/६.	अच्, १६१.	अच्, १/२/३ वृ०
२. अप्, २/३/५२.	अप्, ३/३/५८	अल्, ३५८.	अप्, १/३/४८,
३. अतृ, २/२/८७.	अतृन्, ३/२/१०४.	अन्तृन्, २४५	अतृन्, १/२/७२.
४. इष्णु, २/२/११४.	इष्णुच्, ३/२/१३६.	इष्णुच्, २६१	इष्णुच्, १/२/६०.
५. क्मर, २/२/१४३.	क्मरच् ३/२/१६०.	मरक्, २८५	क्मरच्, १/२/१०६.
६. क्लुक, क्रुक, २/२/१५३.	क्लुकन्, क्रुकन् ३/२/१७४, ३/२/१७४. वा०	रुक, लुक ३०१.	क्रु, कन, १/२ १२१.
७. क्वि, २/२/५६.	क्विन्, ३/२/५८.	क्विप्, २२०.	क्विन्, १/२/४८.
८. ख, २/३/१०४.	खल्, ३/३/१२६.	खल्, ४१६	खल्, १/३/१०३.
९. ञ, २/३/७६.	णच्, ३/३/४३	णच्, ३५७.	णच्, १/३/७६
१०. ञिन्, २/३/६६	इनुण्, ३/३/४४.	इनुण्, ३५६	इनुण्, १/३/७३.
११. टाक, २/२/१३८	षाकन्, ३/२/१५५.	षाक, २८०.	षाकन्, १/२/१०३
१२. ट्वु, २/१/११९	ष्वुन ३/१/१४५.	वुष्, १४५.	ष्वुन्, १/१/१५७.
१३. ण्य, २/१/१०२	ण्यत्, ३/१/१२५.	घ्यण्, १२१.	ण्यत्, १/१/१३२.
१४. ण्यु, थक, २/१/१२०.	थकन्, ण्युट् ३/१/१४६, १४७	थक, ण्युट्, १४६, १४७,	थकन् ण्युट् १/१/१५४ १५५,
१५. ण्वु, २/१/१०६	ण्वुल्, ३/१/१३३.	पुण्, १३१	ण्वुल्, १/१/१३९
१६ त्र, ४/४/९२.	त्रन्, ६/४/९७.	त्रन्, १९	त्रन्, ६/१/६०.
१७. त्रट्, २/२/१६०.	ष्ट्रन्, ३/२/१८२.	ष्ट्रन्, ३०६.	—
१८. प्य, ५/१/३१.	ल्यप्, ७/१/३७.	यप्, ४८५.	ल्यप्, ५/४/६.
१९. वन्, २/२/६२.	वनिप्, ३/२/७४.	वनिप्, २१६.	वनिप् १/२/५१.
२०. वनिप्, २/२/८६.	ङ्वनिप्, ३/२/१०३.	ङ्वनिप् २४४.	क्वनिप् वनिप् १/२/७१. वृ०
२१. वसु, २/२/८८.	क्वसु- ३/२/१०८.	क्वसु, २४६.	क्वसु, १/२/७४.
२२. वुण्, २/३/९०.	ण्वुल् ३/३/१०९.	वुञ् ४०५	ण्वुच्, १/३/९१
२३. वुण् २/३/९२.	ण्वुच्, ३/३/१११.	वुञ्, ४०६.	ण्वुच्, १/३/९१.
२४. शान, २/२/१०२	शानच्, ३/२/१२४.	आनश्, २४७	—
२५. शान, २/२/१०६	शानन्, ३/२/१२८	शानङ्, २५३	शानच्, १/२/८६
२६. शान, २/२/१०७.	चानश्, ३/२/१२९.	शानङ्, २५४.	शानच्, १/ /८७:
२७. स्नुख, २/२/५४.	खिष्णुच्, ३/२/५७	खिष्णु, २०८.	खिष्णुच्, १/२/४६.

कृत्प्रत्ययो की उपर्युक्त तुलनात्मक सूची से सुस्पष्ट है कि पूज्यपाद देवनन्दी ने पाणिनि के द्वारा उदात्तादि स्वरों की दृष्टि से निर्दिष्ट अनुबन्धो का सर्वत्र निराकरण किया है। यही कारण है कि जैनेन्द्र व्याकरण के कुछ कृत्प्रत्यय अष्टाध्यायी मे निर्दिष्ट कृत्प्रत्ययो की अपेक्षा स्वरूप की दृष्टि से भिन्न हैं। अष्टाध्यायी मे प्रत्ययों के अनुबन्धो का स्वरादि की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। उदाहरण के लिए अष्टाध्यायी का 'ण्यत्'[1] कृत् प्रत्यय तित् होने के कारण स्वरित है[2] तथा 'खल्'[3] प्रत्यय के लित् होने के कारण उससे

१ ऋहलोर्ण्यत्, अष्टा० ३/१/१२४

२. तित् स्वरितम्, वही, ६/१/१८५.

३. ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्, वही, ३/३/११६.

पूर्ववर्ती वर्ण उदात्त होता है।[1] जैनेन्द्र व्याकरण मे उदात्तादि संबंधी अनुबन्धो की आवश्यकता न होने के कारण उपरिनिर्दिष्ट 'ण्यत्' एवं 'खल्' प्रत्ययों के स्थान पर क्रमश: 'ण्य'[2] एवं 'ख'[3] प्रत्ययों का ही निर्देश किया गया है। जैनेन्द्र-व्याकरण मे उदात्तादि संबंधी अनुबंधों के निराकरण से कृत्प्रत्ययो की संख्या मे पर्याप्त कमी हुई है। उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि अष्टाध्यायी के शानच्, शानन् एवं चानश् कृत्प्रत्ययो के स्थान पर जैनेन्द्र व्याकरण में शान प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। अष्टाध्यायी के ण्वुल् एव ण्वुच् प्रत्ययों के स्थान पर जैनेन्द्र व्याकरण मे 'वुण्' प्रत्यय निर्दिष्ट है। इस प्रकार पाणिनि ने जिन शब्दों की सिद्धि भिन्न भिन्न प्रत्ययो के योग से की है उनकी सिद्धि के लिए पूज्यपाद देवनन्दी ने एक ही प्रत्यय का निर्देश किया है। उदाहरण के लिए पाणिनि ने 'पचमान:' की सिद्धि शानच्,[4] पवमान: एव यजमान: की सिद्धि शानन्[5] तथा भुञ्जान: (भोग भुञ्जान.) एवं बिभ्राण: (कवच. बिभ्राण:) की सिद्धि चानश् प्रत्यय के योग से की है।[6] किन्तु पूज्यपाद देवनन्दी ने उपर्युक्त शब्दरूपों की सिद्धि केवल एक ही प्रत्यय 'शान' के योग से की है।[7]

एक ही शब्द की सिद्धि के हेतु अष्टाध्यायी, कातन्त्र व्याकरण, चान्द्र व्याकरण एवं जैनेन्द्र व्याकरण में भिन्न-भिन्न प्रत्ययों का प्रयोग किया गया है। किन्तु सभी व्याकरण-ग्रन्थो मे शब्दरूप समान ही निष्पन्न हुआ है। उदाहरण के लिए—

१. अल्पाक, भिक्षाक:, कुट्टाक प्रभृति कृदन्त रूपो की सिद्धि मे पाणिनि[8] एवं चन्द्रगोमी[9] ने 'षाकन्' प्रत्यय का प्रयोग किया है। कातन्त्र व्याकरण मे षाक प्रत्यय का प्रयोग किया गया है।[10] जबकि पूज्यपाद देवनन्दी ने उपर्युक्त शब्दों की सिद्धि 'टाक' प्रत्यय के योग से की है।[11]

२. नर्तक, खनक, रजक. प्रभृति कृदन्त रूपो की सिद्धि पाणिनि[12] एव चन्द्रगोमी[13] ने 'ष्वुन्' प्रत्यय के योग से की है। कातन्त्र-व्याकरण मे उपर्युक्त रूपो की सिद्धि 'वुष्' प्रत्यय के योग से की गई है।[14] पूज्यपाद देवनन्दी ने उपर्युक्त शब्दो को ट्वु प्रत्यय के योग से सिद्ध किया है।[15]

३. इसी प्रकार दात्रम, नेत्रम्, शस्त्रम् आदि कृदन्त शब्दो की सिद्धि मे अष्टाध्यायी[16] एव कातन्त्र व्याकरण[17] मे 'ष्ट्रन्' कृत्प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। चन्द्रगोमी ने (ष्ट्रन् उणादि प्रत्ययान्त) उपर्युक्त शब्दो का वृत्ति मे निर्देश किया है।[18] जबकि पूज्यपाद देवनन्दी ने उपर्युक्त शब्दों को 'त्रट्' प्रत्यय के योग मे निष्पन्न किया है।[19]

---

१. ञिति, वही, ६।१।१९१.
२. ण्य:, जै० व्या० २/१/१०१.
३. स्वीषद्दुसि कृच्छ्राकृच्छ्रे ख, वही, २/३/१०४.
४. लट: शतृ शानचावप्रथमासमानाधिकरणे, अष्टा० ३/२/१२४.
५. पूङ् यजो: शानन्, वही, ३/२/१२८.
६. ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्, वही, ३/२/१२९.
७. तस्य शतृशानावप्रैकार्थे; पूङ् यजो: शान:, वय: शक्तिशीले; जै० व्या० २/२/१०२, २/२/१०६; २/२/१०७.
८. अल्प-भिक्षकुट्टलुण्टवृङ: षाकन्, अष्टा० ३/२/१५५.
९. अल्प भिक्षकुट्टलुण्टवृङ : षाकन्, चा० व्या० १/२/१०३.
१०. वृङ् भिक्षि लुण्टि-जल्पि कुट्टां षाक:, का० व्या०, कृत् प्रकरण २८०, सम्पा० गुरुनाथ विद्यानिधि भट्टाचार्य, कलकत्ता, बङ्गाब्द, १३४४.
११. अल्पभिक्षकुट्टलुण्टवृङष्टाक:, जै० व्या० २/२/११८.
१२. शिल्पिनि ष्वुन्, अष्टा० ३/१/१४५.
१३. नृतिखनिरञ्ज: शिल्पिनि ष्वुन्, चा० व्या० १/१/१५७.
१४. [illegible] वुष्, का० व्या०, कृ० प्र० १४५.
१५. शिल्पिनि ट्वु:, जै० व्या० २/१/११९.
१६. दाम्नीशसयुयुजस्तु तुदसिसिच मिहपतदश नह : करणे, अष्टा० ३/२/१८२.
१७. नी दाप्-शसु-यु-युज स्तु तुद-षि-सिच मिह्-पत दन्श-नहो करणे, का० व्या०, कृ० प्र० ३०६.
१८. चा० वृ० १/२/१२१.
१९. दाम्नीशसयुयुज स्तुतुदसिसिचमिहपतदशनह: करणे त्रट्, जै० व्या० २/२/१६०.

८. व्यावलेखी, व्यावहारी प्रभृति कृदन्त शब्दो की सिद्धि अष्टाध्यायी[1], कातन्त्र व्याकरण[2] एवं चान्द्र व्याकरण[3] में णच् प्रत्यय के योग से की गई है । पूज्यपाद देवनन्दी ने उपर्युक्त रूपो की सिद्धि 'ञ' प्रत्यय द्वारा की है ।[4]

अष्टाध्यायी[5] एवं कातन्त्र व्याकरण[6] में 'णम्' (णमुल्) प्रत्ययान्त रुक्षपेष शब्द की सिद्धि की गई है । चान्द्रवृत्ति में भी 'रुक्षपेषम्' शब्द निर्दिष्ट है ।[7] पूज्यपाद देवनन्दी ने 'रुक्षपेष' शब्द का निर्देश न करके उसके स्थान पर (णम् प्रत्ययान्त) भक्षपेषं शब्द की सिद्धि की है ।[8] सम्भव है कि पूज्यपाद देवनन्दी के समय मे उक्त शब्द भाषा मे प्रयुक्त होता था ।

हृत् (तद्धित) सूत्र

अन्य सूत्रो की अपेक्षा जैनेन्द्र-व्याकरण मे तद्धित से सबधित सूत्रो की सख्या अधिक है । पूज्यपाद देवनन्दी ने जैनेन्द्र-व्याकरण के ३/१/६३ सूत्र से लेकर सम्पूर्ण तृतीय अध्याय, चतुर्थ अध्याय के सम्पूर्ण प्रथम पाद एव द्वितीय पाद के ६४वें सूत्र तक तद्धित से सबधित नियमो को प्रस्तुत किया है । तद्धित सबंधी अन्य कुछ नियम जैनेन्द्र-व्याकरण के प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद[9], चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद[10], पंचम अध्याय के द्वितीय[11] तथा तृतीय पादो[12] के कुछ सूत्रो मे निर्दिष्ट हैं ।

'तद्धित' के लिए जैनेन्द्र-व्याकरण में 'हृत्' सज्ञा का प्रयोग किया गया है ।[13] जैनेन्द्र-व्याकरण के तद्धित प्रत्यय अष्टाध्यायी, कातन्त्र एवं चान्द्र-व्याकरण के तद्धित प्रत्ययो से अनुबन्ध की दृष्टि से भिन्न हैं । नीचे दी गई प्रत्यय-सूची से यह स्पष्ट है —

जै० व्या०	अष्टा०	का० व्या०	चा० व्या०
१. अ, ४/१/५०	अच्, ५/२/१२७	—	अच्, ४/२/१४७
२. अ, ४/१/७८	अत्, ५/३/१२	—	—
३. अ, ३/३/८.	अल्, ४/३/३४ वा०	—	—
४. अक. ४/१/१३०.	अकच्, ५/३/७१	—	अकच्, ४/३/६०
५ अञ्, नुगागम, ३/१/७२.	नञ्, स्नञ् ४/१/८७.	—	नञ्, स्नञ् २/४/१३.
६ अड, वु, ४/१/१३६.	अडच्, वुच्, ५/३/८०	—	ड, अकच् ४/३/६५
७. अण्, ३/२/८५	अञ्, ४/२/१०८	-	ञ, ३/२/१६
८ अण्, ञ, ४/२/२२	णच्, अञ्, ५/४/१४	—	णच्, अण्, ४/४/२१.
९ अतस्, ४/१/६४.	अतसुच्, ५/३/२८	—	तस्, ४/३/३८
१० अस्तात्, ४/१/६२.	अस्ताति, ५/३/२७.	—	अस्ताति, ४/३/२८.
११. आकिन्, ४/१/११३.	आकिनिच्, ५/३/५२	—	आकिनिच्, ४/२/६७
१२. आल, आट ४/१/४६.	आलच्, आटच्, ५/२/१२५	—	आलच्, आटच् ४/२/१४६.
१३. इत, ३/४/१५७	इतच्, ५/२/३६	—	इतच्, ४/२/३७.

१. कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्, अष्टा० ३/३/४३
२. कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्, का० व्या०, कृ० प्र० ३५७.
३. व्यतिहारे णच्, चा० व्या० १/३/७६.
४. कर्मव्यतिहारे ञ , जै० व्या० २/३/७६.
५. शुष्कचूर्णरूक्षेषु पिष , अष्टा० ३/४/३५.
६. शुष्कचूर्णरूक्षेषु पिष , का० व्या०, कृ० प्र० ४४७.
७. चा० वृ० १/३/१३५
८. शुष्कचूर्णभक्षेषु पिष., जै० व्या० २/४/२०
९. वही, १/४/१३०-१४१.
१०. जै० व्या०, ४/४/१२३, १३०-१३५, १४१-१६६.
११. वही, ५/२/५-३५, ५४, ५५.
१२. वही, ५/३/१—११, ३१-३५.
१३. हृत:, वही, ३/१/६१.

जै० व्या०	अष्टा	का० व्या०	शा० व्या०
१४. इन्- कट्य, ३/२/४४	इनि, कट्यच्, ४/२/५१	—	इनि, ३/१/५७
१५. इन्, कण्, ३/२/६०.	इनि, कक्, ४/२/८०	—	इनि, कक्, २/१/६८.
१६. इल, पिट, ३/४/१५३-१५४.	इलच् पिटच् ५/२/३३	—	—
१७. इम, ३/३/१४३,	मप्, ४/४/२०	—	इमप्, ३/४/२०.
१८. इमन्, ३/४/११२.	इमनिच्, ५/१/१२२	—	इमनिच्, ४/१/१३६
१९. इल, ४/१/२६	इलच्, ५/२/९९.	—	इलच्, ४/२/१०३.
२०. ईर, ४/१/३७.	ईरन्, ईरच्, ५/२/१११.	—	ईरच्, ४/२/११५.
२१. एन, ४/१/९९	एनप्, ५/३/३५	—	एनप्. ४/३/४१.
२२. क, ३/२/१०९	कन्, ४/२/१३१	—	कन्, ३/२/४६.
२३. क, ३/३/५.	वुन्, ४/३/२८.	—	कन् ३/३/२
२४. कट्, ३/४/७१.	ष्कन्, ५/१/७५	—	ष्ठन्, ४/१/८७
२५. कट, ३/४/१४९.	कटच्, ५/२/२९	—	कटच्, ४/२/३०.
२६ कण्, ३/३/१४६.	कक्, कन्, ४/४/२१	—	कक्, कन्, ३/४/२१.
२७. कप्, ३/४/३०	ईकन्, ५/१/३३.	—	ईकन्, ४/१/१४२.
२८. कुटार, ३/४/१५०	कुटारच्, ५/२/३०.	—	कुटारच्, ४/२/३१.
२९, कुण, जाह, ३/४/१४४	कुणप्, जाहच् ५/२/२४	—	कुणप्, जाहच् ४/२/२४
३०. ग्मिन्, ४/१/४८.	ग्मिनि, ५/२/१२४	—	ग्मिनि, ४/२/१४५.
३१. घ, ३/२/२१	घन्, ४/२/२६.	—	घन्, ३/१/२३.
३२. चुञ्चु, चण, ३/४/१४६.	चुञ्चुप्, चणप्, ५/२/२६	—	चुञ्चुप्, चणप्, ४/२/२७
३३ छण्, ३/१/१२१	छण्, ४/१/१३२.	—	छण्, २/४/६७
३४. जातीय, ४/१/१२८.	जातीयर्, ५/३/६९	—	जातीयर्, ४/३/२६,
३५. ञित् वुन्, ३/३/९४	वुञ्, ४/३/१२६	—	वुञ्, ३/३/९४
३६. ञिन्, ४/२/२१.	इनुण्, ५/४/१५.	—	इनुण्, ४/४/२१
३७. फ, ३/१/८७	ष्फञ्, ४/१/९८.	आयनण्, २९०.	फयञ्, २/४/२३.
३८. य, ३/१/१५३.	ञ्यङ्, ४/१/१७१	—	ञ्यङ्, २/४/९८.
३९. य. ३/१/१५३.	ण्य, ४/१/१७२.	—	ण्य, २/४/१०१.
४०. टीकण्, ३/३/१७७.	ईकक्, ४/४/५९	—	टीकक्, ३/४/६०
४१. टीट, नाट, भ्रट्, ३/४/१५१.	टीटच्, नाटच्, भ्रटच, ५/२/३१.	—	टीटच्, नाटच्, भ्रटच्, ४/२/३२.
४२. टेण्यण्, ३/३/८८ वा०.	बेण्यण्, ४/३/१२० वा०	—	बेण्यण्, ३/३/१०२.
४३. ट्फण्, ३/३/७८.	ष्फक्, ४/२/९९	—	ष्फक्, ३/२/८.
४४. ट्यण्, ३/४/११४.	ष्यञ्, ५/१/१२४	यण् ३०१.	ष्यञ् ४/१/१४०
४५. ठ, ३/२/६०	ठञ्, ४/२/८०	—	ठञ्, ३/१/६८
४६. ठ, ३/३/२.	ठप्, ४/३/२६.	—	ठप्, ३/३/१.
४७. ठ, य, ३/४/१८	ठन्, यत, ५/१/२१.	—	ठन्, यत्,, ४/१/३१.
४८. ठञ्, ३/२/१७.	ठक्, ४/२/२२.	—	ठक् ३/१/१९
४९. ठट्, ३/३/१११.	ष्ठन्, ४/४/१०.	—	ष्ठन् ३/४/८.
५०. ठट्, ठ, ३/३/११४.	ष्ठन्, ष्ठच्, ४/४/३१.	—	ष्ठन्, ३/४/३८.

जै० व्या०	अष्टा०	का० व्या० (च० प्र०)	शा० व्या०
५१. ठण्, ३/२/३०	ठञ्, ४/२/३५.	—	ठञ्, ३/१/३२.
५२. ठण्, ३/३/१२७.	ठक, ४/४/२.	इकण्, २९५	ठक्, ३/४/२.
५३. ठट्, ३/३/४५.	ष्ठन्, ४/३/७०	—	ष्ठन्, ३/३/४२.
५४. ठन्, ३/४/२२.	टिठन्, ५/१/२५.	—	ठट्, ४/१/२६.
५५. ड, ४/२/६९.	डच्, ५/४/७३.	—	डच्, ४/४/६५.
५६. डतम, ४/१/१४८.	डतमच्, ५/३/९३	—	डतमच्, ४/३/७६
५७. डतर, ४/१/१४७	डतरच्, ५/३/९२.	—	डतरच् ४/३/७२.
५८. डित् मतु, ३/२/६७.	ड्मतुप्, ४/२/८७	—	—
५९. डित् वल, ३/२/६९	ड्वलच्, ४/२/८८.	—	—
६०. डुप, ४/१/१४४.	डुपच्, ५/३/९९	—	—
६१ ड्वु, ३/४/२१.	ड्वुन्, ५/१/२४	—	ड्वुन्, ४/१/३७.
६२ ढण्, ३/१/१०९	ढक्, ४/१/१२०	एयण्, २९१	ढक्, २/४/५०.
६३. ढण्, ३/२/१५	ढञ्, ४/२/२०	—	ढञ्, ३/१/१७
६४ टिनिण्, ३/३/८०	ढिनुक्, ४/३/१०९	—	ढिनुक्, ३/३/७६
६५. ढ्ण्, ३/१/११९	ढ्क्, ४/१/१२९	—	एरग्, २/४/६२.
६६ णार, ३/१/११८.	आरग्, ४/१/१३०	—	आरग्, २/४/६१.
६७. णिन्, ३/३/७७	णिनि, ४/३/१०६	—	णिनि, ३/३/७२.
६८ णैर, ३/१/११७	णेरक्, ४/१/१२८	—	णेरक्, २/४/५८
६९. ण्य, ३/२/८३	ञ, ४/२/१०६	—	ञ, ३/२/१८
७०. ण्य, ३/३/६९	यक्, ४/३/९४	—	—
७१. ण्य, ३/४/११८	यक्, ५/१/१२८	—	ण्यञ्, ४/१/१४४ वृ०.
७२. तनट्, ३/२/१३९	ट्यु, ट्युल्, तुट् ४/३/२३	—	ट्यु, तुट् ३/२/७६
७३. तरट्, ४/१/१४५	ष्टरच्, ५/३/९०	—	ष्टरच्, ४/३/७३
७४. तस्, ३/३/८२	तमि, ४/३/११३	—	--
७५. तिक, ४/२/४५	तिकन् ५/४/३९	—	निकन्, ४/४/२३
७६. तुट्, य, ३/२/८१	त्यप्, ४/२/१०४	—	त्यप्, ३/२/१३.
७७ त्यण ३/२/७७	त्यक्, ४/२/९८	—	त्यक्, ३/२/७
७८ त्वन, ३/४/११०	त्व, ५/१/११९	त्व, ३००	त्व, ४/१/१३६
७९. थम्, ४/१/९०	थमु, ५/३/२४-२५.	थमु, ३२६	—
८०. ध्य, ३/४/६	ध्यन्, ५/१/८	--	ध्यन्, ४/१/८
८१. फट्, ३/१/२०.	ष्फ, ४/१/१७	—	ष्फ, २/३/१९
८२. फण्, ३/१/७६	फक्, ४/१/९१	—	फक्, २/४/११९
८३. बहु, ४/१/१२७	बहुच्, ५/३/६८.	—	—
८४. विड, विरीस, ३/४/१५२.	बिडच्, विरीसच्, ५/२/३२	—	—
८५. मतु, ४/१/२३.	मतुप्, ५/२/९४.	मन्तु, ३०२	मतुप्, ४/२/९८
८६. य, ३/२/४२.	यन्, ४/२/४२	—	यञ्, ३/१/५०.
८७. य, ३/४/७८	यत्, ५/१/८१.	—	यत्, ४/१/९६.

जै० व्या०	अष्टा०	का० व्या० (च० प्र०)	चा० व्या०
८८. ल, ४/१/२४	लज्, ५/२/९६	—	लज्, ४/२/९९.
८९. वत्, ३/४/१०६	वति, ५/१/११७.	वति, २९९.	वति, ४/१/१३५.
९०. वतु, ३/४/१६०.	वतुप्, ५/२/३९	—	वतुप्, ४/२/४३
९१. वल, ३/२/६८.	वलच्, ४/२/८९	—	—
९२. विध, भक्त, ३/२/४७	विधल्, भक्तल्, ४/२/५४	—	विधल्, भक्तल् ३/१/६३.
९३. वुञ्, ३/२/९८	वुक्, ४/२/१०३	—	वुक्, ३/२/१२.
९४. व्य, २/१/१३३.	व्यत्, ४/१/१४४	—	व्यत्, २/४/६४.
९५. शाल, शङ्कट् ३/४/१४८.	शालच्, शङ्कटच् ५/२/२८.	—	शालच् शङ्कटच्, ४/२/२९
९६. ष्ट्लञ्, ३/३/१०७	ट्लञ् ४/३/१४२.	—	ष्ट्लञ्, ३/३/११६.
९७. ष्य, ३/१/६२	ष्यङ्, ४/१/७८.	—	ष्यङ्, २/३/८२.
९८. सात्, ४/२/५७	साति, ५/४/५२.	साति, ३४६.	साति,४/४/३७.

उपर्युक्त तद्धित प्रत्ययों के तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि—

१. स्वर की दृष्टि से पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट तद्धित प्रत्ययो के अनुबन्धो को पूज्यपाद देवनन्दी ने हृत, (तद्धित) प्रत्ययो मे कोई स्थान नही दिया है। उदाहरण के लिए अष्टाध्यायी का एनप्[1] प्रत्यय पित् होने के कारण अनुदात्त है[2] किन्तु जैनेन्द्र व्याकरण मे अनुबन्ध रहित एन[3] प्रत्यय विहित है। पाणिनि के अनुसार चित् (बहुच्)[4] तद्धित प्रत्यय से निर्मित शब्द का अन्त्य वर्ण उदात्त होता है।[5] किन्तु पूज्यपाद देवनन्दी ने अनुबन्ध रहित 'बहु'[6] प्रत्यय का विधान किया है।

२. पूर्ववर्ती वैयाकरणो द्वारा निर्दिष्ट 'क्' एव 'ञ्' अनुबन्धो के स्थान पर पूज्यपाद देवनन्दी ने 'ण्' अनुबन्ध दिया है (फक, त्यक्, ढञ् एव यक्, के लिए क्रमश फण्, त्यण्, ढण् एव ण्य तद्धित प्रत्ययो का निर्देश किया है)। कहीं-कहीं पर तद्धित प्रत्ययों मे विद्यमान 'क्' एव 'ण्' अनुबन्धों के स्थान पर पूज्यपाद देवनन्दी ने 'ञ्' अनुबन्ध दिया है (वुक्, ण्य, अञ, (ञ) के लिए क्रमश वुञ्, ञ्य एव अण् प्रत्ययो का निर्देश किया है)।

३. पाणिनि एव चन्द्रगामी द्वारा प्रयुक्त 'ष्' अनुबन्ध के स्थान पर पूज्यपाद देवनन्दी ने 'ट्' अनुबन्ध का प्रयोग किया है (ष्फक्, षेण्यण् एव ष्फ के लिए क्रमश ट्फट्, टेन्यण् एव फट् का निर्देश किया है)।

सायतनम्, चिरतनम्, प्राह्णेतन, प्रगेतन, आदि तद्धितान्त शब्दो की सिद्धि जैनेन्द्र-व्याकरण मे सरल रूप मे प्रस्तुत की गई है। साय, चिर, प्राह्णे, प्रगे एव कालवाची अव्ययो मे परे पाणिनि ने ट्यु एवं ट्युल् प्रत्ययों तथा 'तुट्' आगम का विधान किया है (सायं+ट्यु=सायं+तुट्+यु)।[7] तत्पश्चात् 'यु' को अनादेश (साय+त्+अन)[8] करके साय तनम् आदि शब्दों की सिद्धि की है। चन्द्रगोमी ने 'ट्यु' प्रत्यय एव 'तुट्, आगम की सहायता से सायतनम् आदि शब्दो की रचना की है।[9] चन्द्रगोमी ने भी यु को अनादेश किया

---

१. एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्या., अष्टा० ५/३/३५.

२. अनुदात्तौ सुप्पितौ, वही, ३/१/४.

३. एनोऽदूरेऽकाया :, जै० व्या० ४/१/९९.

४. विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु, अष्टा० ५/३/६८.

५. तद्धितस्य, वही, ६/१/१६४.

६. वा सुपो बहु : प्राक्तु, जै० व्या० ४,१/१२७.

७. सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्यु ट्युलौ तुट् च, अष्टा० ४/३/२३.

८. युवोरनाकौ, वही, ७/१/१.

९. प्राह्णेप्रगेसायचिरमसरव्याद् ट्युः, चा० व्या० ३/२/७६.

है ।[1] इस प्रकार अष्टाध्यायी एवं चान्द्र-व्याकरण दोनों ही ग्रन्थों मे उपर्युक्त रूपो की सिद्धि मे 'यु' को 'अन' आदेश करने की आवश्यकता पड़ती है । पूज्यपाद देवनन्दी ने प्रक्रिया में सरलता एव संक्षिप्तता लाने के उद्देश्य से उपर्युक्त रूपो की सिद्धि तनट् प्रत्यय के योग से की है ।[2] तथा पाणिनि एवं चन्द्रगोमी द्वारा दो सूत्रों की सहायता से सिद्ध किए गए शब्दो को एक ही सूत्र से सिद्ध किया है ।

पूज्यपाद देवनन्दी ने 'नञ् उपपद' पूर्वक चपल शब्द को ञित्, णित् तद्धित प्रत्यय परे रहते नित्य वृद्धि (ऐप्) का विधान किया है तथा पूर्वपद नञ् (अ) को विकल्प से वृद्धि का 'विधान' करके 'अचापलम्' एव 'आचापलम्' तद्धितान्त शब्दो की सिद्धि की है ।[3] पूज्यपाद देवनन्दी से पूर्ववर्ती वैयाकरणों ने उपर्युक्त दोनो शब्दो के लिए कोई नियम नही दिया है । इससे यह सर्वथा अनुमेय है कि पूज्यपाद देवनन्दी के समय मे 'अचापलम्' एव 'आचापलम्' दोनो शब्द भाषा मे प्रयुक्त होते थे ।

जैनेन्द्र-व्याकरण में वैदिक प्रयोग संबंधी नियमों का स्वरूप

जैनेन्द्र-व्याकरण लौकिक भाषा का व्याकरण है । पूज्यपाद देवनन्दी ने स्वर एव वैदिक प्रक्रिया सबधी नियमो को जैनेन्द्र-व्याकरण मे स्थान न देते हुए भी वैदिक साहित्य मे प्रयुक्त होने वाले कुछ शब्दो को 'कृत्प्रत्ययो के प्रसग मे प्रस्तुत किया है । इस प्रकार के शब्द सान्नाय्य, धाय्या, आनाय्य[4], कुण्डपाय्य, सञ्चाय्य, परिचाय्य, उपचाय्य, चित्य, अग्निचित्ये[5] एव ग्रावस्तुत[6] हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि पूज्यपाद देवनन्दी के समय मे लौकिक संस्कृत मे इन शब्दो का प्रयोग होता था । प० अबालाल प्रेमचन्द्र शाह के अनुसार जैनेन्द्र-व्याकरण एक लौकिक-व्याकरण है तथा इसमे छान्दस् प्रयोगो को भी लौकिक मानकर सिद्ध किया गया है ।[7]

पूज्यपाद देवनन्दी ने 'सास्य देवता'[8] प्रकरण के अन्तर्गत शुक्र, अपोनप्तृ, अपान्नप्तृ महेन्द्र, सोम वायु, उषस्, द्यावापृथिवी, सुनाशीर, मरुत्वत्, अग्नीषोम, वास्तोष्पति, गृहमेध आदि देवताओं के नामो का उल्लेख किया है ।[9] जैनेन्द्र-व्याकरण मे 'तेन प्रोक्तम्' (जै० व्या० ३।३।७६) सूत्र के प्रसंग में वैदिक शाखाओ एव ब्राह्मण-ग्रन्थो के नामो का भी निर्देश उपलब्ध होता है ।[10] यद्यपि उपर्युक्त नामो का जैन साहित्य के लिए किञ्चिद् मात्र भी उपयोग न था तथापि अष्टाध्यायी की सामग्री की रक्षा करने के उद्देश्य से पूज्यपाद देवनन्दी ने उन नामो को जैनेन्द्र व्याकरण मे स्थान दिया है ।

जैनेन्द्र-व्याकरण मे 'कौ वेतौ (जै० व्या० १।१।२४), 'उञः' (जै० व्या० १।१।२५) एव 'ऊम्' (जै० व्या० १।१।२६) सूत्र दिए गए हैं । प० युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार उपर्युक्त सूत्रो के पाठ एव वृत्ति से यह प्रतीत होता है कि इनके प्रयोग का विषय लोकभाषा है किन्तु प्रतिपाद्य विषय वैदिक है। उनका कथन है कि जिस प्रकार पूज्यपाद देवनन्दी ने अष्टाध्यायी के 'मे' (अष्टा० १।१।१३) तथा 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' (अष्टा० १।१।१६) सूत्रों के प्रतिपाद्य विषय के लिए सूत्रो की रचना नही की वैसे ही उपर्युक्त शब्दों के लिए भी न करते । प० युधिष्ठिर मीमासक के अनुसार उपर्युक्त सूत्रो के उल्लेख से यह सुस्पष्ट है कि पूज्यपाद देवनन्दी ने इन सूत्रो को लौकिक भाषा से सम्बद्ध माना है, किन्तु यह उचित नही है क्योकि लोक मे ऐसे प्रयोग उपलब्ध नही होते ।[11]

---

१. युवोरनाकावस:, चा० व्या० ५/४/१.
२. सायञ्चिरम्प्राह्णे प्रगेऽव्ययस्तनट्, जै० व्या० ३/२/११६.
३. नञः : शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशल चपल निपुणानाम्, वही, ५/२/३४.
४. पाय्यसान्नाय्यनिकाय्य धाय्याऽऽनाय्या प्रणाय्या मानहविर्निवाससामिधेन्यनित्याऽसम्मतिषु, वही, २/१/१०४.
५. कुण्डपाय्या सचाय्यपरिचाय्योपचाय्य चित्याग्निचित्या:, वही, २/१/१०१.
६. ग्रावस्तुव: क्विप्, वही, २/२।१५६.
७. शाह, अबालाल प्रे०, जै० सा० बृ० इ०, प० भा०, पृ० ९.
८. सास्य देवता, जै० व्या० ३/२/१६.
९. द्र० —वही, ३/२/२१-२७.
१०. द्र०—वही; ३/३/७६-८०
११. मीमांसक, युधिष्ठिर, जै० म० वृ०, भूमिका, पृ ४६.

अष्टाध्यायी के सभी वैदिक प्रयोग सबंधी नियमों के लिए पूज्यपाद देवनन्दी ने सूत्र नहीं दिए हैं, किन्तु कुछ वैदिक नियमों के समकक्ष सूत्र जैनेन्द्र-व्याकरण मे उपलब्ध होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार के प्रयोग उस समय लोक-भाषा में प्रचलित थे। इस प्रकार के सूत्रों की सूची निम्न निर्दिष्ट है—

जै० व्या०	अष्टा०
१ अनन्तस्यापि प्रश्नाख्यानयो, ५।३।१०३.	अनन्तस्यापि प्रश्नाख्यानयो, ८।२।१०५
२. एचोऽदे. पूर्वस्यात्परस्येदुतौ, ५।३।१०४	एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्याद्र्धस्यादुत्तरस्येदुतौ, ८।२।१०७.
३ ओमभ्यादाने, ५।३।९५.	ओमभ्यादाने, ८।२।८७
४. कोपाऽसूयासम्मतौ त्रौ वा, ५।३।१०१	स्वरितमाम्रेडिते सूयासमतिकोप कुत्सनेषु, ८।२।१०३
५. क्षियाशी: प्रैषेषु मिङाकाङ्क्षम् ५।३।१०२	क्षियाशी प्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम्, ८।२।१०४.
६ चिदित्युपमार्थे, ५।३।१००	चिदिति चोपमार्थे प्रयुज्यमाने, ८।२।१०१
७ पूजिते, ५।३।९९	अनुदात्त प्रश्नान्ताभिपूजितयो, ८।२/१००.
८ प्रतिश्रवणे ५/३/९८	प्रतिश्रवणे च, ८/२/९९
९. बाह्वन्तकद्रुकमण्डलुभ्य, ३/१/६०	कद्रुकमण्डल्वोश्छन्दसि, ४/१/७१
१०. मन्वन्क्वनिविच क्वचित् २/२/६२	आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च, ३/२/७४
११. यवावचि सन्धौ ५/३/१०५	तयोर्य्वावचि संहितायाम् ८/२/१०८
१२ वा हे पृष्टप्रत्युक्तौ ५/३/९६	विभाषा पृष्टप्रतिवचने ८/२/९८
१३. विचार्यं पूर्वम्, ५/३/९७	पूर्वं तु भाषायाम्, ८/२/९८
१४ हेमन्तात्तखम् ३/२/१३८	हेमन्ताच्च ४/३/२१

अभयनंदी ने उपर्युक्त सूत्रों के वैदिक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। अष्टाध्यायी के सूत्रों मे निर्दिष्ट 'छन्दसि' शब्द का पूज्यपाद देवनन्दी ने निराकरण किया है।

जैनेन्द्र व्याकरण का परवर्ती इतिहास—

जैन विद्वान् की कृति होने के कारण जैनेन्द्र व्याकरण मे जैन-प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि जैनेन्द्र व्याकरण ब्राह्मणवाद के प्रभाव से सर्वथा मुक्त है। उक्त-व्याकरण ग्रन्थ पर लिखी गई टीकाओं से इस व्याकरण की प्रसिद्धि सहज ही अनुमेय है। अभयनन्दी कृत महावृत्ति जैनेन्द्र व्याकरण की एक विस्तृत एवं श्रेष्ठ टीका है। उक्त टीका मे पाणिनीय व्याकरण की सामग्री की रक्षा करने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। जैनेन्द्र महावृत्ति पर काशिकावृत्ति का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। ऐसा होते हुए भी अभयनन्दी-कृत जैनेन्द्र महावृत्ति मे ऐसी सामग्री भी उपलब्ध है, जिसको काशिकावृत्ति मे स्थान नही दिया गया है। उदाहरणस्वरूप सूत्रों के उदाहरणो मे जैन तीर्थंकरों, महापुरुषों तथा जैन-ग्रन्थो के नाम उपलब्ध होते हैं। इसके साथ ही साथ कात्यायन के वार्त्तिक और पतञ्जलि-कृत महाभाष्य की इष्टियों में सिद्ध किए गए नए रूपों को पूज्यपाद देवनन्दी ने सूत्रों मे अपना लिया है। इसलिए भी यह व्याकरण ग्रन्थ जैन सम्प्रदाय में विशेष लोकप्रिय रहा होगा। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार 'इसमे सन्देह नही कि आचार्य पूज्यपाद पाणिनीय व्याकरण, कात्यायन के वार्त्तिक और पतंजलि के भाष्य के पूर्ण मर्मज्ञ थे, एवं जैन धर्म और दर्शन पर भी उनका असामान्य अधिकार था। वे गुप्त युग के प्रतिभाशाली महान् साहित्यकार थे जिनका तत्कालीन प्रभाव कोकण के नरेशो पर था, किन्तु कालान्तर मे जो सारे देश की विभूति बन गए।'[1] अनेक विद्वानों ने किसी आचार्य की व्याकरण-शास्त्र में निपुणता को दर्शाने के लिए पूज्यपाद देवनन्दी को उपमान रूप मे ग्रहण किया है। श्रवणबेलगोल ग्राम के उत्तर में स्थित चन्द्रगिरि पर्वत के शक् संवत् १०३७

१. अग्रवाल, वासुदेवशरण, जै० म० वृ, भूमिका, पृ० १२.

के शिलालेख (संख्या ४७) तथा शक् सवत् १०६८ के शिलालेख (सख्या ५०) के अनुसार व्याकरण-विषयक ज्ञान में मेघचन्द्र की पूज्यपाद देवनन्दी से उपमा देते हुए पूज्यपाद देवनन्दी को सभी वैयाकरणो मे शिरोमणि कहा गया है।[1] श्रवणबेल्गोल ग्राम के ही शक संवत् १०२२ के शिलालेख (संख्या ५५) के अनुसार जिनचन्द्र के जैनेन्द्र व्याकरण विषयक ज्ञान को स्वय पूज्यपाद देवनन्दी के ज्ञान का ही समरूप बतलाया है।[2] श्रुतकीर्ति (१२ वी शताब्दी ई०) ने पचवस्तु प्रक्रिया में जैनेन्द्र-व्याकरण पर लिखे गए न्यास, भाष्य, वृत्ति, टीका आदि की ओर निर्देश किया है।[3] मुग्धबोध के रचयिता वोपदेव (१३ वी शताब्दी ई०) ने पूज्यपाद देवनन्दी को पाणिनि प्रभृति महान् वैयाकरणो की कोटि मे रखा है।[4] मुग्धबोध की पारिभाषिक (एकाक्षरी) सज्ञाओ पर जैनेन्द्र व्याकरण की पारिभाषिक संज्ञाओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। उपरिनिर्दिष्ट प्रभावों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि १३ वीं शताब्दी ई० तक जैनेन्द्र व्याकरण का पठन-पाठन प्रचलित रहा। परन्तु १३ वी शताब्दी ई० के उपरान्त उक्त व्याकरण के पठन-पाठन के विशेष प्रमाण नही मिलते।[5] इसके निम्ननिर्दिष्ट कारण हैं —

१ (लौकिक सस्कृत भाषा के प्रसंग मे) जैनेन्द्र-व्याकरण का मूल आधार अष्टाध्यायी है। जैनेन्द्र व्याकरण मे वैदिक और स्वर प्रक्रिया सम्बन्धी नियमो का प्रतिपादन नही किया गया है, जबकि अष्टाध्यायी वैदिक और लौकिक सस्कृत दोनो भाषाओ के लिए उपयोगी व्याकरण ग्रन्थ है। सम्भवत इसी कारण से विद्वानो को अष्टाध्यायी के अतिरिक्त अन्य व्याकरण ग्रन्थ को पढ़ने की आवश्यकता प्रतीत नही हुई।

२. संस्कृत विद्वानो मे त्रिमुनि व्याकरण के लिए आदर की भावना थी तथा अष्टाध्यायी को सम्पूर्ण भारत मे पठन-पाठन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया तथा जैनेन्द्र व्याकरण जैन सम्प्रदाय तक ही सीमित रह गया।

३ पूज्यपाद देवनन्दी ने जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्रो मे सक्षिप्तता लाने की दृष्टि से एकाक्षरी सज्ञाओ का प्रयोग किया। परिणामस्वरूप सूत्रो में संक्षिप्तता का समावेश तो हुआ किन्तु सूत्र क्लिष्ट बन गए। साधारण पाठको को सज्ञाओ की दृष्टि से अष्टाध्यायी की तुलना मे जैनेन्द्र व्याकरण अपेक्षाकृत क्लिष्ट प्रतीत हुआ।

४ शाकटायन व्याकरण के प्रकाश मे आने के उपरान्त तो जैनेन्द्र व्याकरण का महत्त्व और भी कम हो गया। धार्मिक भावना से अभिभूत होकर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुयायियो ने शाकटायन व्याकरण को ही अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से महत्त्व दिया।

५ रामचन्द्र, भट्टोजि दीक्षित प्रभृति विद्वानो द्वारा प्रक्रिया ग्रन्थो की रचना के उपरान्त शिक्षा संस्थानो मे प्रक्रिया विधि से ही पठन-पाठन होने लगा। अतएव शिक्षा सस्थानो मे जैनेन्द्र व्याकरण की उपादेयता को महत्त्व नही दिया गया।

आधुनिक काल मे जैनेन्द्र व्याकरण का अध्ययन केवल दक्षिणी भारत के दिगम्बर जैन सम्प्रदाय तक ही सीमित है।[6] भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित जैनेन्द्र महावृत्ति ही उक्त व्याकरण का उत्तम सस्करण है।

---

१. सर्व-व्याकरणे विपश्चिदधिप श्री पूज्यपादस्स्वयं त्रैविद्योत्तममेघचन्द्रमुनिपो वादीभपञ्चानन :॥ जैन शिलालेखसग्रह, प्र० भा०, सम्पा०—हीरालाल जैन, बम्बई, १९२८ पृ० ६२, ७५.

२. जैनेन्द्रे पूज्य (पाद:)'' ………… । वही, पृ० ११९.

३. सूत्रस्तम्भसमुद्धृत प्रविलसन्न्यासोरुरत्नक्षितिश्रीमद्वृत्तिकपाटसपुटयुत भाष्योऽथ शय्यातलम् ।
टीकामालमिहारुरुक्षुरचित जैनेन्द्रशब्दागम प्रासाद पृथुपचवस्तुकमिद सोपानमारोहृतात् ॥
प्रेमी, नाथूराम, जै० सा० इ०, पृ० ३३ पर उद्धृत.

४. इन्द्रश्चन्द्र: काशकृत्स्नापिशली शाकटायन : ।
पाणिन्यमर जैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिका : ॥ वोपदेव, कविकल्पद्रुम, पृ० १.

५. बेल्वाल्कर, एस० के०, सि० ई० ग्रा०, पृ० ५६.

६. बेल्वाल्कर, एस० के०, सि० स ग्रा०, पृ० ५६.

आयुर्वेद के विषय में जैन दृष्टिकोण और जैनाचार्यों का योगदान

—आचार्य राजकुमार जैन

आयुर्वेद एक शाश्वत जीवन विज्ञान है। जीवन के प्रत्येक क्षण की प्रत्येक स्थिति आयुर्वेदीय सिद्धान्तो मे सन्निहित है। आयुर्वेद मानव जीवन से पृथक् कोई भिन्न वस्तु या विषय नही है। अपितु दोनों मे अत्यधिक निकटता और कही-कही तो तादात्म्य भाव है। सामान्यत मनुष्य के जीवन की आद्यन्त प्रतिक्षण चलने वाली शृ खला ही आयु है, वह आयु जीवन है, उस आयु (जीवन) का वेद (ज्ञान) ही आयुर्वेद है, अत आयुर्वेद एक सम्पूर्ण जीवन विज्ञान है। यह आयुर्वेद अनादि काल से इस भूमडल पर प्रवर्तमान है। जब से सृष्टि का आरम्भ और मानव जाति का विकास इस भूमडल पर हुआ है तब ही से उसके जीवन मे अनुरक्षण और स्वास्थ्य-रक्षा हेतु नियमो का उपदेश एव रोगोपचार हेतु विविध उपायो का निर्देश करने के लिये यह आयुर्वेद शास्त्र सतत प्रवर्तित रहा है। इसकी नवीन उत्पत्ति नही होती है, अपितु अभिव्यक्ति होती है, अत. यह अनादि है। इसका विनाश नही होता है, अपितु कुछ काल के लिए तिरोभाव होता है, अत. यह अनन्त है। अनाद्यनन्त होने से यह शाश्वत है।

आयुर्वेद मे प्रतिपादित सिद्धान्त इतने सामान्य, व्यापक, जनजीवनोपयोगी एव सर्वसाधारण के लिए हितकारी हैं कि सरलता पूर्वक उन्हे अमल मे लाकर यथाशीघ्र आरोग्य लाभ किया जा सकता है। आयुर्वेद शास्त्र केवल शारीरिक स्वास्थ्य के लिए ही उपयोगी नही है अपितु मानसिक एव बौद्धिक स्वास्थ्य के लिए भी हितावह है। इसमे प्रतिपादित सिद्धान्त चिकित्सा के अतिरिक्त ऐसे नियमो का प्रतिपादन करते हैं जो मनुष्य के आध्यात्मिक आचरण, मानसिक प्रवृत्ति और बौद्धिक जगत के क्रियाकलापो को भी पर्याप्त रूप से प्रभावित करते हैं। अत यह केवल चिकित्सा शास्त्र ही नही है, अपितु शरीर विज्ञान, मानव विज्ञान, मनोविज्ञान, तत्व विज्ञान, दर्शन शास्त्र एव धर्मशास्त्र का एक ऐसा अद्भुत समन्वित रूप है जो सम्पूर्ण जीवन के अन्यान्य पक्षो को व्याप्त कर लेता है। अत. नि सदेह यह एक सपूर्ण जीवन विज्ञान है।

वर्तमान मे उपलब्ध वैदिक आयुर्वेद साहित्य के अनुसार भारतीय सस्कृति के आद्य स्रोत वेद और उपनिषद के बीज ही आयुर्वेद मे प्रसार को प्राप्त हुए हैं। यही कारण है कि आयुर्वेद शास्त्र केवल भौतिक तत्वों तक ही सीमित नही है, अपितु आध्यात्मिक तत्वो के विश्लेषण मे भी अपनी मौलिक विशेषता रखता है। इसके अतिरिक्त समकालीन होने के कारण दर्शन शास्त्र एव धर्म शास्त्र ने आयुर्वेद के अध्यात्म सबधी कतिपय सिद्धान्तो को पर्याप्त रूप मे प्रभावित किया है। यही कारण है कि आयुर्वेद का अध्यात्म पक्ष भी उतना ही सबल एव परिपुष्ट है जितना उसका भौतिक तत्व विश्लेषण सबधी पक्ष है। इसी का परिणाम है कि भारतीय सस्कृति के विकास मे जहा धर्म-दर्शन-नीति शास्त्र-आचार शास्त्र-व्याकरण-साहित्य-संगीत-कला आदि का महत्वपूर्ण योगदान रहा है वहा आयुर्वेद शास्त्र ने भी अपनी जीवन पद्धति तथा शरीर, मन और बुद्धि को आरोग्य प्रदान करने वाले विशिष्ट सिद्धान्तो के द्वारा उसके स्वरूप को स्वस्थ और सुन्दर रखने के लिए अपनी विचारधारा से सतत आप्यायित किया है।

इस सदर्भ मे यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि चाहे अभ्युदय प्राप्त करना हो या नि श्रेयस्, दोनो की प्राप्ति के लिए मानव शरीर की स्वस्थता नितान्त अपेक्षित है। स्वस्थ शरीर ही समस्त भोगोपभोग अथवा मन शान्तिकारक या आत्म-अभ्युन्नतिकारक देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, सयम, तप, त्याग, दान आदि धार्मिक क्रियाए करने में समर्थ है। विकारग्रस्त अथवा अस्वस्थ शरीर न तो भौतिक विषयों का उपभोग कर सकता है और न ही धर्म का साधन। इसीलिए चतुर्विध पुरुषार्थ का मूल आरोग्य को प्रदान करने और विकारग्रस्त शरीर की विकाराभिनिवृत्ति करने मे एक मात्र आयुर्वेद ही समर्थ है। यही कारण है कि आयुर्वेद को ही भारतीय सस्कृति का अभिन्न अंग माना गया है। भारतीय संस्कृति मे जो स्थान धर्म-दर्शन आदि का है वही स्थान आयुर्वेद का भी है। आयुर्वेद शास्त्र की यह एक

मौलिक विशेषता है कि इसमें मनुष्य की शारीरिक स्थिति के साथ-साथ उसकी मानसिक एवं आध्यात्मिक स्थिति के विषय मे भी पर्याप्त गम्भीर विचार किया गया है। शरीर के साथ-साथ प्राण तत्व का विवेचन, आत्मा और मन के विषय मे स्वतंत्र दृष्टिकोण तथा शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक विकास क्रम का यथोचित वर्णन आयुर्वेद की वैज्ञानिकता एवं प्रामाणिकता के सबल प्रमाण हैं। उसकी वैद्यक विद्या अपनी पृथक् पद्धति एवं चिकित्सा सम्बन्धी व्यापकता के कारण विशिष्ट महत्वपूर्ण है। पोषण सम्बन्धी तत्वो एव रासायनिक पदार्थों का उसमे विशिष्ट रूप से विभक्तीकरण किया गया है जो पूर्णत: मात्रा और गुण पर आधारित है। विशिष्ट विधिपूर्वक निर्मित रस-रसायन-पिष्टी-भस्म-वटी-लेप-घृतपाक-तैलपाक-अवलेह मोदक आदि कल्पनाएं और समस्त वनौषधियों के प्रयोग ने इस विज्ञान को निश्चय ही मौलिक स्वरूप प्रदान किया है। अपनी सरलता और रोगमुक्त करने की क्षमता के कारण आयुर्वेद की अनेक प्रक्रियाओ ने ग्रामीण जन जीवन मे इतनी आसानी से प्रवेश पा लिया है कि आज भी गाव मे किसी के व्याधित या रोग पीडित हो जाने पर विभिन्न काढो, (क्वाथ), लेपो आदि के द्वारा ग्रामीण जन उपचार करते देखे जाते हैं। इसका मूल कारण यही है कि आयुर्वेद मानव जीवन के अत्यधिक सन्निकट है।

आयुर्वेद द्वारा प्रतिपादित रोग निदान और चिकित्सा सम्बन्धी सिद्धान्तो मे रोगी के आन्तरिम प्राण बल के अन्वेषण पर ही बल दिया गया है। रोग के मूल कारण को मिथ्या आहार-विहार जनित बतला कर जिस प्रकार सयम द्वारा आहारगत पथ्य के नियम बनाए गए हैं वे अत्यन्त उत्कृष्ट एव व्यावहारिक हैं। जो लोग एलोपैथी, होम्योपैथी, प्राकृतिक चिकित्सा आदि मे विश्वास रखते है वे भी आज आहार के महत्व को समझने लगे हैं और रोग निवारण के लिए रोगी के चिकित्सा क्रम मे सयम द्वारा विनिर्मित आहारगत पथ्य क्रम को महत्व देने लगे हैं।

आयुर्वेद शास्त्र को जिस प्रकार वैदिक विचारधारा और वैदिक तत्वो ने प्रभावित किया है उसी प्रकार जैनधर्म और जैन विचारधारा ने भी उसे पर्याप्त रूप से प्रभावित कर अपने अनेक सिद्धान्तो से अनुप्राणित किया है। यही कारण है कि जैन वाङ्मय मे भी आयुर्वेद शास्त्र का स्वतन्त्र स्थान है। अन्य विषयो या अन्य शास्त्रो की भांति वैद्यक शास्त्र की प्रामाणिकता भी जैन वाङ्मय मे प्रतिपादित है। जैनागम मे आयुर्वेद को भी आगम के अंग रूप मे स्वीकार किया गया है। जैनागम मे केवल उसी शास्त्र या विषय की प्रामाणिकता प्रतिपादित है जो सर्वज्ञ द्वारा कथित हो। सर्वज्ञ कथन के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय को कोई भी स्थान या महत्व नही है। सर्वज्ञ तीर्थंकर के मुख से जो दिव्य ध्वनि खिरती है उसे श्रुतज्ञान के धारक गणधर अविकल रूप मे ग्रहण करते हैं। गणधर द्वारा गृहीत वह दिव्य ध्वनि (जो ज्ञान रूप होती है) उनके द्वारा आचाराग आदि बारह भेदो मे विभक्त की गई। गणधर द्वारा निरूपित बारह भेदो को द्वादशाग की सज्ञा दी गई है। इन द्वादशागो मे प्रथम आचराग है और बारहवा "दृष्टिवाद" नाम का अग है। उस बारहवे दृष्टिवादाग के पाच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग पूर्वगत और चूलिका। इनमे जो 'पूर्व' या 'पूर्वगत' नामक भेद है उसके चौदह भेद है। उन चौदह भेदो मे एक 'प्राणावाय' या 'प्राणावाद' नामक भेद है। इसी प्राणावाय नामक अग मे अष्टाग आयुर्वेद का कथन अत्यन्त विस्तारपूर्वक किया गया है। जैन मतानुसार आयुर्वेद या वैद्यक शास्त्र का मूल द्वादशाग के अन्तर्गत यही 'प्राणावाय' नामक भेद है। इसी के अनुसार अथवा इसी के आधार पर जैनाचार्यों ने लोकोपयोगी वैद्यक शास्त्र की रचना की या आयुर्वेद प्रधान ग्रथो का निर्माण किया। जैनाचार्यों ने 'प्राणावाय' की विवेचना इस प्रकार की है—"कायचिकित्साद्यष्टाग आयुर्वेद भूतकर्मजांगुलिप्रक्रम प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत्प्राणावायम्।"

अर्थात् जिस शास्त्र मे काय, तद्गत दोष और उनकी चिकित्सा आदि अष्टाग आयुर्वेद, पृथ्वी आदि पंचमहाभूतो के कर्म, विषैले जीवजन्तुओ के विष का प्रभाव और उसकी चिकित्सा तथा प्राण-अपान वायु का विभाग विस्तारपूर्वक वर्णित हो वह 'प्राणावाय' होता है।

द्वादशाग के अन्तर्गत निरूपित प्राणावाय पूर्व नामक अग मूलत अर्धमागधी भाषा मे लिपिबद्ध है। इस प्राणावाय पूर्व के आधार पर ही अन्यान्य जैनाचार्यों ने विभिन्न वैद्यक ग्रथो का प्रणयन किया है। श्री उग्रादित्याचार्य ने भी प्राणावाय पूर्व के आधार पर 'कल्याण कारक' नामक वैद्यक ग्रन्थ की रचना की है। इसका उल्लेख आचार्य श्री ने स्थान-स्थान पर किया है। ग्रन्थ के अन्त मे वे लिखते हैं—

> सर्वार्धाधिकमागधीयविलसद् भाषापरिशेषोज्वलान्
> प्राणवायमहागमादवितथ सगृह्य सक्षेपत:।
>
> उग्रादित्यगुरुर्गुरुगुणैरुद्भासि सौख्यास्पद
> शास्त्र सस्कृतभाषया रचितवानित्येष भेदस्तयो.॥
>
> —कल्याणकारक, अ० २५, श्लो० ५४

अर्थात् सम्पूर्ण अर्थ को प्रतिपादित करने वाली सर्वार्धमागधी भाषा में जो प्राणावाय नामक महागम (महाशास्त्र) है उससे यथावत् संक्षेप रूप से संग्रह कर उग्रादित्य गुरु ने उत्तम गुणों से युक्त सुख के स्थान भूत इस शास्त्र की रचना संस्कृत भाषा में की। इन दोनो (प्राणावाय अंग और कल्याणकारक) में यही अन्तर है। याने प्राणावाय अंग अर्धमागधी भाषा में निबद्ध है और कल्याणकारक संस्कृत भाषा में रचित है। दोनों में बस यही अन्तर है।

जैन मतानुसार आयुर्वेद रूप सम्पूर्ण प्राणावाय के आद्य प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव हैं। इसके विपरीत वैदिक मतानुसार आयुर्वेद शास्त्र के आद्य प्रवर्तक या आद्युपदेष्टा ब्रह्मा हैं जिन्होंने सृष्टि की रचना से पूर्व ही उसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र की अभिव्यक्ति की जिस प्रकार बालक के जन्म से पूर्व ही माता के स्तनों में स्तन्य (क्षीर) का आविर्भाव हो जाता है। किन्तु जैन मतानुसार यह सृष्टि अनादि और अनन्त है। अतः इसकी रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रथम और द्वितीय काल में यहां भोग भूमि की उत्कृष्ट दशा थी जिसमें सभी मनुष्यों में पारस्परिक सौहार्दभाव था। ईर्ष्या और द्वेष भाव से पूर्णत रहित वे एक दूसरे को अत्यन्त स्नेह की दृष्टि से देखते थे। उनकी सभी अभिलाषाएँ कल्पवृक्षों से पूर्ण होती थीं, वे कल्पवृक्ष सभी प्रकार के मनोवांछित सुख के प्रदाता थे। अभिलषित सुख का उपभोग करने वाले भोग भूमि में उत्पन्न वे पुण्यात्मा मनुष्य यावज्जीवन उत्कृष्ट से उत्कृष्ट सुखोपभोग कर अपने आयुकर्म के क्षय के अनन्तर ही स्वर्ग को प्राप्त होते थे। इस प्रकार भोग भूमि में मनुष्यों को किसी भी प्रकार का कोई दुःख नहीं था और न ही वे किसी व्याधि से पीड़ित होते थे।

भोग भूमि के पश्चात् इस क्षेत्र में कर्मभूमि का प्रारंभ हुआ। फिर भी उपपाद शय्या में उत्पन्न होने वाले देवगण, चरम व उत्तम शरीर को प्राप्त करने वाले पुण्यात्मा अपने पुण्य प्रभाव से विष-शस्त्रादि के द्वारा होने वाले अपघात से सुरक्षित दीर्घायु शरीर को ही प्राप्त करते थे। किन्तु उस समय शनैः शनैः कालक्रम में ऐसे मनुष्य भी उत्पन्न होने लगे जो विष-शस्त्रादि द्वारा घात होने योग्य शरीर को धारण करने वाले होते थे। उन्हें वात-पित्त-कफ के उद्रेक से महाभय उत्पन्न होने लगा। ऐसी स्थिति में भरत चक्रवर्ती आदि भव्य जन भगवान ऋषभदेव के उस समवसरण में पहुँचे जो अशोकवृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, छत्र, चामर, रत्नजडित सिंहासन, भामण्डल और देव दुन्दुभि अष्ट महाप्रातिहार्य तथा बारह प्रकार की सभाओं से वेष्टित था। वहाँ पहुँचकर उन्होंने प्रभु से निम्न प्रकार निवेदन किया।

देव ! त्वमेव शरणं शरणागतानामस्माकमाकुलधियामिह कर्मभूमौ।
शीतातितापहिमवृष्टिनिपीडितानां कालक्रमात्कदशनाशनतत्पराणाम् ॥
नानाविधामयभयादतिदुःखितानामाहारभेषजनिरुक्तिमजानतां न।
तत्स्वास्थ्यरक्षणविधानमिहातुराणां का वा क्रिया कथयतामथ लोकनाथ ॥ —कल्याणकारक, अ० १/६-७

अर्थात् हे देव ! इस कर्मभूमि में अत्यधिक ठंड, गर्मी और वर्षा से पीड़ित इस कालक्रम से मिथ्या आहार-विहार के सेवन में तत्पर व्याकुल बुद्धिवाले शरणागत हम लोगों के लिए आप ही शरण है। हे तीन लोक के स्वामिन् ! अनेक प्रकार की व्याधियों के भय से अत्यन्त दुःखी तथा आहार औषधि के क्रम को नहीं जानने वाले हम व्याधितों (पीड़ितों) के लिए स्वास्थ्य रक्षा के उपाय और रोगों का नाश करने वाली क्रिया (चिकित्सा) बतलाने की कृपा करें।

इस प्रकार भगवान से निवेदन करने के पश्चात् वृषभसेन आदि प्रमुख गणधर और भरत चक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुष अपने-अपने स्थान पर मौन होकर अवस्थित हो गए। तब उस महान् सभा रूप समवसरण में भगवान की उत्कृष्ट देवी (साक्षात पट्टरानी) रूप सरस वाग्देवी दिव्य ध्वनि से युक्त प्रसरित हुई। उस दिव्य ध्वनि रूप सरस्वती ने सर्वप्रथम पुरुष लक्षण, रोग लक्षण, औषधियां एवं सम्पूर्ण काल रूप सकल वस्तु-चतुष्टय का संक्षेपतः वर्णन किया जो सर्वज्ञत्व का सूचक है।

इस प्रकार आयुर्वेद शास्त्र का आविर्भाव आद्यतीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के मुखारविन्द से निःसृत दिव्य ध्वनि के द्वारा हुआ। इससे स्पष्ट है कि आयुर्वेद शास्त्र के आद्युपदेष्टा भगवान ऋषभदेव हैं। उनसे उपदिष्ट आयुर्वेद की परम्परा किस प्रकार से प्रसार को प्राप्त हुई, इसका विवेचन श्री उग्रादित्याचार्य ने अपने ग्रंथ कल्याणकारक में निम्न प्रकार से किया है—

दिव्यध्वनिप्रकटितं परमार्थजातं साक्षात्तथा गणधरोऽधिजगे समस्तम्।
पश्चात् गणाधिपनिरूपितवाक्प्रपञ्चमष्टार्धनिर्मलधियो मुनयोऽधिजग्मुः ॥
एवं जितान्तरनिबन्धनसिद्धमार्गादायातमायतमनाकुलमर्थगाढम्।
स्वायम्भुवं सकलमेव सनातनं तत्साक्षाच्छ्रुतं श्रुतकेवलिभ्यः ॥ —कल्याण कारक, अ० १/९-१०

अर्थात् इस प्रकार भगवान की दिव्य ध्वनि द्वारा प्रकट हुआ परमार्थ रूप से उत्पन्न सम्पूर्ण आयुर्वेद शास्त्र को गणधर परमेष्ठी ने साक्षात् रूप से जान लिया। तत्पश्चात गणधर प्रमुख द्वारा निरूपित उस वस्तु स्वरूप को मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान को धारण करने वाले निर्मल बुद्धि वाले मुनियों ने जाना। इस प्रकार यह आयुर्वेद शास्त्र अन्य तीर्थंकर द्वारा भी प्रतिपादित होने से

चला आया है। याने आद्य तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर पर्यन्त सभी तीर्थंकरो के मुखारविन्द से नि.सृत दिव्य ध्वनि द्वारा इसका प्रतिपादन किया गया है। अत अन्य तीर्थंकरो द्वारा कथित सिद्ध मार्ग से आया हुआ यह आयुर्वेद शास्त्र अत्यन्त विस्तृत, दोषरहित एवं अर्थगाम्भीर्य से युक्त है। तीर्थंकरो के मुखकमल से स्वत समुद्भूत होने से स्वयम्भु हैं और बीजांकुर न्याय से (पूर्वोक्त क्रम से) अनादि काल से सतत चले आने के कारण सनातन है। ऐसा यह आयुर्वेद शास्त्र गोवर्धन, भद्रबाहु आदि श्रुतकेवलियों के मुख से अल्पाग ज्ञानी या आगम ज्ञानी मुनिवरो द्वारा साक्षात् रूप से सुना हुआ (सुनकर ग्रहण किया हुआ) है। तात्पर्य यह है कि श्रुतकेवलियो ने अन्य मुनियो को इस शास्त्र का उपदेश दिया।

अल्पागज्ञानी या अगांगज्ञानी उन मुनिवरो ने अपने शिष्यो, अन्य मुनियो को इस शास्त्र का उपदेश दिया और उन्होने उस ज्ञान के आधार पर पृथक्-पृथक् रूप से ग्रंथो के रूप मे उसे निबद्ध कर लोकहित की दृष्टि से उसे प्रचारित किया। इस प्रकार आयुर्वेद सम्बन्धी अनेक ग्रथो का प्रणयन कालान्तर मे करुणाधारी मुनिजनो द्वारा किया गया। कालक्रम, आलस्य और उपेक्षा के कारण आज अनेक ग्रंथ कालकवलित या विलुप्त हो चुके हैं। जो बचे है उनके सरक्षण की ओर समुचित ध्यान नही दिया जा रहा है और न ही इसके लिए कोई उपाय किए जा रहे हैं। अत शनै शनै: शेष बचे हुए ग्रन्थो के भी विलुप्त होने की सभावना है।

आयुर्वेद शास्त्र का मनोयोग पूर्वक अध्ययन करने वाले और उसमे निष्णात व्यक्ति को "वैद्य" कहा जाता है—ऐसा कथन तज्ज्ञ मुनिजनो ने किया है। वैद्यो का शास्त्र होने से इसे 'वैद्य शास्त्र' या 'वैद्यक शास्त्र' भी कहते हैं। श्री उग्रादित्याचार्य ने वैद्य एव आयुर्वेद शब्द को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है—

विद्येति सत्प्रकटकेवललोचनाख्या तस्या यदेतदुपपन्नमुदारशास्त्रम्।
वैद्य वदन्ति पदशास्त्रविशेषणज्ञा एतद्विचिन्त्य च पठन्ति च तेऽपि वैद्या.॥
वेदोऽयमित्यपि च बोधविचारलाभात्तत्वार्थसूचकवच· खलु धातुभेदात्।
आयुश्च तेन सहपूर्व निबद्धमुद्यच्छास्त्राभिधानमपर प्रवदन्ति तज्ज्ञा ॥—कल्याण कारक, अ० १/१८-१९

अर्थात् अच्छी तरह से उत्पन्न केवल ज्ञान रूपी चक्षु को विद्या कहते हैं। इस विद्या से उत्पन्न उदारशास्त्र को व्याकरण शास्त्र के विशेषज्ञ 'वैद्यशास्त्र' कहते हैं। उस उदार शास्त्र को जो लोग अच्छी तरह मनन पूर्वक पढते है वे 'वैद्य' कहलाते हैं। यह आयुर्वेद भी कहलाता है। इसमे "वेद" शब्द विद्धातु से निष्पन्न है। विद् धातु बोध (ज्ञान), विचार और लाभ अर्थ वाली है। यहाँ वेद शब्द का अर्थ वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बतलाने वाला है। याने तत्त्व के अर्थ का प्रतिपादित करने वाले वचन। इस वेद शब्द के पहले "आयु" शब्द जोड दिया जाय तो "आयुर्वेद" शब्द निष्पन्न होता है। अत उस वैद्यकशास्त्र के ज्ञाता उस शास्त्र का अपर (दूसरा) नाम आयुर्वेद शास्त्र कहते हैं।

आयुर्वेद के विशिष्टार्थ एव विस्तृत व्याख्या के सदर्भ मे यह ज्ञातव्य है कि जिस शास्त्र मे आयु का स्वरूप प्रतिपादित किया गया हो, जिस शास्त्र का अध्ययन करने से आयु सम्बन्धी विस्तृत ज्ञान प्राप्त होता है अथवा जिस शास्त्र के विषय मे विचार करने से हितकर आयु, अहितकर आयु, सुखकर आयु और दु खकर आयु के विषय मे जानकारी प्राप्त होती है अथवा जिस शास्त्र मे बतलाए हुए नियमो का पालन करने से दीर्घायु प्राप्त की जा सकती है उसका नाम आयुर्वेद है। इसी प्रकार स्वस्थ और अस्वस्थ मनुष्य की प्रकृति, शुभ और अशुभ बतलाने वाले दूत एव अरिष्ट लक्षण इत्यादि के उपदेशो से जो शास्त्र आयु का विषय अर्थात् यह स्वल्पायु है अथवा मध्यमायु है या दीर्घायु है—इन सब विषयो का ज्ञान करा देता है वह आयुर्वेद है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि आयु शब्द का अर्थ 'वय' नही करना चाहिये। आयु और वय मे पर्याप्त भिन्नता है। आयु शब्द याव-ज्जीवन काल का द्योतक है, जबकि वय शब्द जीवन की एक निश्चित कालावधि का द्योतक है। अत आयु शब्द का व्यापक अर्थ ग्रहण करते हुए आयुर्वेद के सदर्भ मे उसकी जो विवेचना मनीषियो द्वारा की गई है वह सार्थक है। तदनुसार आयु के लिए कौन-सी वस्तु लाभदायक है अथवा किस वस्तु या विषय के सेवन से आयु की हानि हो सकती है? किस प्रकार की आयु हितकर है और किस प्रकार की आयु अहितकर है? यह सम्पूर्ण विषय जिस शास्त्र मे वर्णित होता है तथा आयु को बाधित करने वाले रोगो का निदान और उनका प्रतिकार करने के उपायों (चिकित्सा) का वर्णन जिस शास्त्र मे किया गया है उसे विद्वानो ने आयुर्वेद सज्ञा से अभिहित किया है। इस शास्त्र के द्वारा पुरुष चूंकि आयु को प्राप्त करता है तथा आयु के विषय मे जान लेता है, अत मुनिश्रेष्ठो द्वारा इसे "आयुर्वेद" कहा गया है। तात्पर्य यह है कि इस शास्त्र का विधिपूर्वक अध्ययन करके यदि समुचित ज्ञान प्राप्त कर लिया जाता है तो मनुष्य को दीर्घायु प्राप्त करने और अपनी आयु का संरक्षण करने का उपाय सहज ही ज्ञात हो जाता है। क्योकि इस शास्त्र मे प्रतिपादित आहार-विहार सम्बन्धी नियमो और अन्य सदाचारों का पालन करने से दीर्घायु की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए मुनिवरो, ऋषियो और आचार्यों ने इसे आयुर्वेद के नाम से कहा।

यह वैद्य शास्त्र लोकोपकार के लिए प्रतिपादित किया गया है। इसका प्रयोजन द्विविध है—

1—स्वस्थ पुरुषों के स्वास्थ्य की रक्षा करना, और 2—रोगी मनुष्यों के रोग का प्रशमन करना। श्री उग्रादित्याचार्य ने वैद्य शास्त्र के ये ही दो प्रयोजन बतलाए है। यथा—

लोकोपकरणार्थमिदं हि शास्त्रं
शास्त्रप्रयोजनमपि द्विविधं यथावत्।
स्वास्थ्यस्य रक्षणमथामयमोक्षणं च
संक्षेपत सकलमेव निरूप्यतेऽत्र ॥ —कल्याणकारक, अ० १/२४

इस शास्त्र मे भगवान जिनेन्द्र देव के अनुसार दो प्रकार का स्वास्थ्य बतलाया गया है—पारमार्थिक स्वास्थ्य और व्यवहार स्वास्थ्य। इन दोनो मे पारमार्थिक स्वास्थ्य मुख्य है। परमार्थ स्वास्थ्य का निम्न लक्षण बतलाया गया है—

अशेषकर्मक्षयज महाद्भुत यदेतदात्यन्तिकमद्वितीयम्।
अतीन्द्रियं प्रार्थितमर्थवेदिभि तदेतदुक्त परमार्थनामकम् ॥ —कल्याणकारक, अ० २/३

अर्थात् आत्मा के सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने से उत्पन्न, अत्यन्त अद्भुत, आत्यन्तिक एव अद्वितीय विद्वानो द्वारा अपेक्षित जो अतीन्द्रिय मोक्षसुख है उसे ही पारमार्थिक सुख कहते हैं।

व्यवहार स्वास्थ्य का लक्षण निम्न प्रकार बतलाया गया है—

समाग्निधातुत्वमदोषविभ्रमो मलक्रियात्मेन्द्रियसुप्रसन्नता।
मन प्रसादश्च नरस्य सर्वदा तदेवमुक्त व्यवहारजं खलु ॥ —कल्याणकारक, अ० २/४

अर्थात् मनुष्य के शरीर मे सम अग्नि (अविकृत जठराग्नि) होना, धातुओ का सम होना, वात-पित्त-कफ तीनों दोषो का विषम (विकृत) नही होना, मलो (स्वेद, मूत्र-पुरीष) की विसर्जन क्रिया यथोचित रूप से होना, आत्मा, इन्द्रिय और मन की प्रसन्नता सदैव रहना यह व्यवहारिक स्वास्थ्य का लक्षण है।

इस प्रकार द्विविध स्वास्थ्य का लक्षण कहने का आशय यह है कि पहले मनुष्य सम्यक् आहार-विहार द्वारा व्यावहारिक स्वास्थ्य याने शारीरिक स्वास्थ्य का लाभ और उसका अनुरक्षण करे। तत्पश्चात् स्वस्थ शरीर द्वारा अशेष कर्म क्षयकारक तपश्चरण आदि क्रियाओं से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके अक्षय, अविनाशी सुख रूप पारमार्थिक स्वास्थ्य का लाभ लेवे। इसे ही अन्य शास्त्रों मे आध्यात्मिक सुख भी कहा गया है। मनुष्य जब उस परम सुख को प्राप्त कर लेता है तो उसके लिए और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। उसे चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है और उसका जीवन सफल एव सार्थक हो जाता है। यही इस आयुर्वेद शास्त्र का मूल प्रयोजन है और इसी प्रयोजन के लिए वह प्रवर्तित है।

इससे स्पष्ट है कि जैन धर्म मे लोकोपकार और आत्म-कल्याण को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। क्योंकि परोपकार के कारण मनुष्य एक ओर तो दूसरो का हित करता ही है, दूसरी ओर पुण्य संचय के कारण अपना भी हित करता है। आयुर्वेद शास्त्र चूंकि परोपकारी शास्त्र है, अत जैन धर्म के अन्तर्गत वह उपादेय है। यही कारण है कि धर्म-दर्शन आचार-नीति-ज्योतिष आदि अन्यान्य विद्याओं की भांति वैद्यक विद्या भी जैन धर्म के अन्तर्गत प्रतिपादित है। सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र देव द्वारा जिस प्रकार अन्य विद्याओं का कथन किया गया है उसी प्रकार आयुर्वेद विद्या का कथन भी सागोपाग रूप मे विस्तार पूर्वक किया गया है। अपने लोकोपकारी स्वरूप के कारण आयुर्वेद शास्त्र की व्यापकता इतनी अधिक रही है कि वह शाश्वत रूप से विद्यमान है। सर्वज्ञ वीतराग की वाणी द्वारा मुखरित होने के कारण अनेक प्रभावी जैनाचार्यों ने इसे अपनाया और गहन रूप से उसके गूढतम तत्त्वो का अध्ययन किया। जैनधर्म के ऐसे अनेक आचार्यों की एक लम्बी परम्परा प्राप्त होती है जिन्होने अपने प्रखर पाण्डित्य के अधीन आयुर्वेद शास्त्र को भी समाविष्ट किया। इसका एक प्रमाण तो यही है कि आचार्यों ने सर्वज्ञ वाणी का मथन कर आयुर्वेदामृत को निकाला, उसे उन्होने अपनी महिमामयी लेखनी द्वारा लिपिबद्ध कर जगत् हितार्थ प्रसारित किया। उन आचार्यों द्वारा लिखित आयुर्वेद विषयक ऐसी अनेक कृतियों का उल्लेख अन्यान्य ग्रंथो मे मिलता है। इससे इस तथ्य की तो पुष्टि होती है कि जैन धर्म मे अन्य विद्याओ की भाँति आयुर्वेद का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

यहाँ इस तथ्य को ध्यान मे रखना आवश्यक है कि धर्म और दर्शन शास्त्र ने जिस प्रकार जैन संस्कृति के स्वरूप को अक्षुण्ण बनाया है, आचार शास्त्र और नीति शास्त्र ने जिस प्रकार जैन संस्कृति की उपयोगिता को उद्भावित किया है उसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र ने भी स्वास्थ्य प्रतिपादक सिद्धान्तों एव संयम पूर्वक आहार चर्या आदि के द्वारा जैन धर्म और संस्कृति को व्यापक तथा लोकोपयोगी बनाने में अपना अपूर्व योगदान किया है। सद्वृत्त का आचरण तथा आहारगत संयम का परिपालन मनुष्य को आत्म कल्याण के सोपान

पर आरूढ़ करता है। जैन धर्म में भी आत्म कल्याण हेतु प्रवृत्ति का निर्देश दिया गया है। अतः लक्ष्य साधन मे समानता की स्थिति एक महत्वपूर्ण तथ्य है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जैन संस्कृति के लोकोपकारी स्वरूप निर्माण में अन्य विद्याओ और कलाओ का जो योगदान रहा है वही योगदान आयुर्वेद शास्त्र का भी समझना चाहिए। आयुर्वेद शास्त्र मे कुछ विशेषताऐं तो ऐसी हैं जो अन्य शास्त्रो में बिल्कुल भी नहीं हैं। मनुष्य के दैनिक जीवन में आचरित अनेक बातें ऐसी हैं जिसके नियम और उपयोगी सिद्धान्त आयुर्वेद शास्त्र मे वर्णित हैं। गर्भधारण से लेकर मरणपर्यन्त की विभिन्न स्थितियो का उल्लेख एव वर्णन आयुर्वेद शास्त्र मे मिलता है। इसीलिए इसे जीवन विज्ञान कहा जाता है। मानव जीवन के साथ निकटता एवं तादात्म्य भाव इस शास्त्र की मौलिक विशेषता है। जैनधर्म के परिप्रेक्ष्य मे यह उपयोगी एव महत्वपूर्ण है। आयुर्वेद की परिधि मे आने वाली ऐसी अनेक बाते है जो जैनधर्म की दृष्टि से उपयोगी हैं। इसी प्रकार जैन धर्म की अनेक ऐसी बातें हैं जो आयुर्वेद की दृष्टि से भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी धार्मिक दृष्टि से है।

इस संदर्भ मे "उपवास" को ही लिया जाय। आत्म कल्याण की दृष्टि से जैन धर्म मे इस प्रक्रिया को अति महत्वपूर्ण माना गया है। क्योकि उपवास के द्वारा जहा अहारगत सयम का पालन होता है वहा अन्त करण मे विकार भावो का विनाश होकर शुद्धता आती है, जिसका प्रभाव मानसिक भावो एवं परिणामो पर पडता है। उधर आयुर्वेद शास्त्र मे भी उपवास की अतिशय महत्ता स्वीकार की गई है। इसका कारण यह है कि उपवास के द्वारा जिह्वा की लम्पटता, रसों की लोलुपता तथा अति भक्षण आदि अहितकारी प्रवृत्तियो पर अंकुश लगता है और उदर शुद्धि के साथ-साथ उदरगत क्रियायो को विश्राम मिलता है, जिससे वे अपनी प्राकृत स्थिति बनाए रखती है। आयुर्वेद शास्त्र मे अनेक रोगो का मूल उदर विकार माना गया है जो आहार की अनियमितता और आहार सम्बन्धी नियमो के उल्लघन से होता है। उपवास के द्वारा दूषित, मलिन, विकृत, अहित, परस्पर विरुद्ध तथा अशुद्ध आहार से तो शरीर की रक्षा होती ही है, उदर मे सचित दोषो और विकारो का शमन भी होता है। उपवास के द्वारा शारीरिक आरोग्य सम्पादन के साथ-साथ आत्मा को बल और अन्त.करण को पवित्रता प्राप्त होती है।

उपवास को आयुर्वेद मे "लघन" कहा जाता है। अनेक रोगो के शमनार्थ लघन की उपयोगिता सुविदित है। ज्वर मे सर्व-प्रथम लघन का निर्देश दिया गया है। अजीर्ण, अतिसार, आमातिसार, आमवात तथा श्लेष्माजनित विभिन्न विकारो मे लघन का स्पष्ट निर्देश दिया गया है। विभिन्न रोगो मे लघन का निर्देश यद्यपि स्पष्टत विकारोपशमन के लिये किया गया है और उपवास के साथ उसका कोई तादात्म्य भाव नही है, तथापि दोनो की प्रकृति एक समान होने से दोनो मे निकटता तो है ही इसके अतिरिक्त लघन के द्वारा जब विकाराभिनिवृत्ति होती है तो उस प्रकृति-स्थापन एव शुद्धिकरण की प्रक्रिया का पर्याप्त प्रभाव मानसिक स्थिति पर पडता है और मन मे विकारो के प्राबल्य मे निश्चित रूप से कमी होती है। उपवास का प्रयोजन भी अन्त करण की शुद्धि करना है। लघन के पीछे यद्यपि धार्मिक प्रवृत्ति या आध्यात्मिक भाव नही होता, तथापि विवेक एव नियमानुसार उसका भी आचरण किया जाय तो विकारोपशमन के साथ-साथ उपवास का फल भी अर्जित किया जा सकता है। उपवास के द्वारा तो निश्चय ही आध्यात्मिक पुण्य फल की उपलब्धि के साथ-साथ शारीरिक व मानसिक स्वस्थता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त एक तथ्य यह भी है कि लघन के द्वारा जो आरोग्य लाभ होता है वह व्यवहारज स्वास्थ्य कहलाता है। यह व्यवहारज स्वास्थ्य पारमार्थिक स्वास्थ्य की लब्धि मे सहायक साधन है, अत आध्यात्मिक निःश्रेयस् की दृष्टि से लघन भी एक उपयोगी एव महत्वपूर्ण साधन है।

आध्यात्मिक अभ्युन्नति, आत्मकल्याण यथा अन्त करण की शुद्धि की दृष्टि से जैन धर्म मे दस लक्षण धर्मों का विशेष महत्त्व है। उन दस लक्षण धर्मों मे 'त्याग धर्म' को अन्त करण की शुद्धि तथा आत्म कल्याण हेतु विशेष उपयोगी एव महत्वपूर्ण निरूपित किया गया है। उत्तम त्याग धर्म के अन्तर्गत गृहस्थ जनो के लिए चार प्रकार का दान बतलाया है, जिसमे एक औषध दान भी है। जैनधर्म मे अन्य दानो की भांति "औषध दान" की महिमा भी बतलाई गई है। औषध दान के द्वारा दानकर्ता को पुण्य का सचय तो होता ही है, औषध दान का लाभ लेने वाला व्यक्ति आरोग्य लाभ करता है। औषध का समावेश चिकित्सा के अन्तर्गत है और चिकित्सा का सर्वांगपूर्ण विवेचन आयुर्वेद शास्त्र मे विहित है। यही कारण है कि जैन समाज द्वारा स्थान-स्थान पर जैन धर्मार्थ दातव्य औषधालय खोले गए हैं जो केवल समाज के दान से ही चलते है और प्रतिदिन असख्य आर्तजन उनसे लाभ उठाते है। यह परम्परा समाज मे कई दिनो से चली आ रही है। अत यह निसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि जैनधर्म का आयुर्वेद से निकट सम्बन्ध है।

जैन धर्म के अनुसार मनुष्य के शरीर मे रोगोद्भव अशुभकर्म के उदय से होता है। मनुष्य द्वारा पूर्वजन्म मे किए गए पाप कर्म का उदय जब इस जन्म मे होता है तो अन्यान्य कष्टो अथवा रोगोत्पत्ति रूप कष्ट भी उसे होता है। उसका निवारण तब तक संभव नही है जब तक उस अशुभ कर्म का परिपाक होकर उसका क्षय नही हो जाता। धर्माचरण से पाप का शमन होता है, अत. पापकर्मजनित रोग का शमन धर्म सेवन से ही सभव है। यही भाव जैन धर्म मे निम्न प्रकार से प्रतिपादित है —

सर्वात्मना धर्मपरो नर: स्यात्तमाशु सर्व समुपैति सौख्यम् ।
पापोदयात्ते प्रभवन्ति रोगा धर्मश्च पापा. प्रतिपक्षभावात् ।।
नश्यन्ति, सर्वे प्रतिपक्षयोगाद्विनाशमायान्ति किमत्र चित्रम् । —कल्याणकारक, ७/२६

अर्थात् जो मनुष्य सर्वप्रकार से धर्मपरायण रहता है उसे शीघ्र ही सभी प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं। पाप के उदय से विविध रोग उत्पन्न होते हैं तथा पाप और धर्म मे परस्पर प्रतिपक्ष (विरोधी) भाव होने से धर्म से पाप का नाश होता है, अत: धर्म के प्रभाव से पाप जनित रोग का नाश होता है। प्रतिपक्ष की प्रबलता होने से (धर्म के प्रभाव से) यदि रोग समूह विनाश को प्राप्त होते है तो इसमे आश्चर्य की क्या बात है ?

धर्म के प्रभाव से पाप रूप रोग का जो विनाश होना है उसमे धर्म तो वस्तुत आभ्यन्तर कारण होता है और बाह्य कारण विविध औषधोपचार होना है। बाह्य कारण के रूप मे प्रयुक्त औषधोपचार को ही चिकित्सा कहा जाता है, जबकि आभ्यन्तर कारण के रूप मे सेवित धर्म को धर्माचरण ही माना जाता है। किन्तु चिकित्सा के अन्तर्गत धर्म का भी उल्लेख होने से उसे सात्विक चिकित्सा के रूप मे स्वीकार किया गया है। रोगोपशमनार्थ बाह्य और आभ्यन्तर चिकित्सा के रूप मे धर्म आदि की कारणता निम्न प्रकार से बतलाई गई है —

धर्मस्तथाभ्यन्तरकारण स्याद्रोगप्रशान्त्यै सहकारिपूरम् ।
बाह्य विधानं प्रतिपद्यतेऽत्र चिकित्सित सर्वमिहोभयात्म ।।

—कल्याण कारक, ७/३०

अर्थात् रोगो की शान्ति के लिए धर्म आभ्यन्तर कारण होता है जबकि बाह्य चिकित्सा सहकारी पूरक कारण होता है। अत सम्पूर्ण चिकित्सा बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार की होती है।

चिकित्सा कर्म के द्वारा लोगो के व्याधिजनित कष्ट का निवारण ही नही होता है, अपितु कई बार भीषण दु साध्य व्याधि से मुक्त हो जाने के कारण जीवन दान भी प्राप्त होता है। ऐसे अनेक उदाहरण देखे गए है जिनसे ज्ञात होता है कि कई व्यक्ति अपनी व्याधि की भीषणता एव जीर्णता के कारण अपने जीवन से निराश हो गए थे, जिन्हे अपना जीवन बचने की कोई आशा नही थी उन्हे समुचित चिकित्सोपचार द्वारा रोग से छुटकारा मिला तो उन्होने अनुभव किया कि उन्हे जीवनदान ही नही मिला, अपितु नवीन जीवन प्राप्त हुआ। इस प्रकार चिकित्सा द्वारा लोगो का जीवन निर्वाह का अवसर प्रदान करना अतिशय पुण्य का कार्य है। किन्तु इसमे एक महत्वपूर्ण बात यह है कि जो चिकित्सा की जाती है उसके मूल मे परोपकार और नि स्वार्थ की भावना कितनी है ? इस पर पुण्य की मात्रा निर्भर है। क्योकि धन के लोभ से स्वार्थवश किया गया चिकित्सा कार्य पुण्य का हेतु नही माना जा सकता। धन लिप्सा के कारण वह लोभ वृत्ति एव परिग्रह वृत्ति का परिचायक है। ये दोनो ही भाव अशुभ कर्म के बन्ध का कारण माने गए हैं। अत: ऐसी स्थिति मे वह परलोक के सुख का कारण कैसे बन सकती है ? चिकित्सा कार्य वस्तुत अत्यन्त पवित्र कार्य है और वह परहित की भावना से प्रेरित होकर ही किया जाना चाहिये। तब ही वह धर्माचरण माना जा सकता है और तब ही उसके द्वारा पापों (अशुभ कर्मों) का नाश एव धर्म की अभिवृद्धि होकर आत्मा के कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है।

पापो का विनाशक होने के कारण जैनाचार्यों ने चिकित्सा को उभयलोक का साधन निरूपित किया है। चिकित्सा कार्य भी एक प्रकार की साधना है, जिसमे सफल होने पर रोगी को कष्ट से मुक्ति और चिकित्सक को यश और धन के साथ पुण्य फल की प्राप्ति होती है। श्री उग्रादित्याचार्य ने चिकित्सा कर्म की प्रशसा करते हुए लिखा है —

चिकित्सितं पापविनाशनार्थं चिकित्सित धर्म विवृद्धये च ।
चिकित्सित चोभयलोकसाधनं चिकित्सितान्नास्ति पर तपश्च ।।

—कल्याणकारक, ७/३२

अर्थात् रोगियो की चिकित्सा पापों का विनाश करने के लिए तथा धर्म की अभिवृद्धि करने के लिए की जानी चाहिये। चिकित्सा के द्वारा उभय लोक (यह लोक और परलोक दोनो) का साधन होता है। अत चिकित्सा से अधिक श्रेष्ठ कोई और तप नहीं है।

चिकित्सा का उद्देश्य मुख्यत परहित की भावना होना चाहिये। इस प्रकार की भावना वैद्य के पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय करने के कारण होती है। अन्य किसी प्रकार के स्वार्थ भाव से प्रेरित होकर किया गया चिकित्सा कर्म आयुर्वेद शास्त्र के उच्चादर्शों से सर्वथा विपरीत है। चिकित्सा के उच्चतम आदर्शमय उद्देश्य के पीछे निम्न प्रकार का स्वार्थ भाव गर्हित बतलाया गया है—

तस्माच्चिकित्सा न च काममोहान्न चार्थलाभान्न च मित्ररागात् ।
न शत्रुरोषान्न च बंधुबुद्ध्या. न चान्य इत्यन्यमनोविकारात् ।।
न चैव सत्कारनिमित्ततो वा न चात्मन सद्यशसे विधेयम् ।
कारुण्यबुद्ध्या परलोकहेतो कर्मक्षयार्थं विदधीत विद्वान् ।।

—कल्याण कारक, ७/३३-३४

इसलिए वैद्य के लिए उचित है कि उसे काम और मोह के वशीभूत होकर, अर्थ (धन) के लोभ से, मित्र के प्रति अनुराग भाव से, शत्रु के प्रतिरोध (क्रोध) भाव से, बंधुबुद्धि (ममत्वभाव) से तथा इसी प्रकार के अन्य मनोविकार से प्रेरित होकर अथवा अपने सत्कार के निमित्त या अपने यश अर्जन के लिए चिकित्सा नही करना चाहिये। विद्वान् वैद्य कारुण्य बुद्धि (रोगियो के प्रति दया भाव) से परलोक साधन के लिए तथा अपने पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय करने के लिए चिकित्सा कार्य करे।

जिन शासन मे ऐसी भी क्रिया विधि उपादेय मानी गई जो कर्म का क्षय करने से साधन भूत हो। अन्य शुभ कर्म भी आचरणीय बतलाए गए हैं, किन्तु उनसे मात्र शुभकर्म का बध होकर पुण्य का सचय होता है और उससे परलोक मे सुख प्राप्ति होती है। उससे कर्मों का क्षय नही होने से बन्धन से मुक्ति या आत्म कल्याण नही होता है। चिकित्सा कार्य मे यदि कारुण्य भाव निहित हो तो उससे कर्म क्षय होता है—ऐसा विद्वानो का अभिमत है, जैसा कि उपर्युक्त वचन से सुस्पष्ट है।

कोई भी वैद्य अपने उच्चादर्श, चिकित्सा कार्य मे नैपुण्य, शास्त्रीय ज्ञान की गभीरता, मानवीय गुणो की सम्पन्नता, नि स्वार्थ सेवा भाव आदि विशिष्ट गुणो के कारण ही समाज मे विशिष्ट एव महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता है। यही उसकी स्वय की प्रतिष्ठा, उसके व्यवसाय की प्रतिष्ठा और समष्टि रूपेण देश की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है। वैद्यत्व की सार्थकता भी वस्तुत इसी मे निहित है। जिसका वैद्यत्व एव वैद्यक व्यवसाय परोपकार की पवित्र भावना से प्रेरित न हो उसका वैद्य होना ही निरर्थक है। क्योकि वैद्य का उच्चादर्श रोगी को भीषण व्याधि से मुक्त कराकर उसे आरोग्य लाभ प्रदान करना है। महर्षि अग्निवेश ने भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है—

दारुणै कृष्यमाणाना गदैर्वैवस्वतक्षयम् ।
छित्वा वैवस्वतान् पाशान् जीवित य प्रयच्छति ।।
धर्मार्थदातासदृशस्तस्य नेहोपलभ्यते ।
न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते ।।

—चरकसहिता, चिकित्सास्थान १/४/६०-६१

अर्थात् भयकर रोगो द्वारा यमपुरी की ओर बलात् ले जाते हुए प्राणियो के प्राण को जो वैद्य यमराज के पाशो को काटकर बचा लेता है उसके समान धर्म-अर्थ को देने वाला इस जगत् मे दूसरा कोई नही पाया जाता है क्योकि जीवनदान से बढकर कोई दूसरा दान नही है। अर्थात् सभी प्रकार के दानो मे जीवन (प्राण) का दान करना (बचाना) सबसे बडा दान बताया गया है। जैनधर्म मे प्राणदान को अभयदान की सज्ञा दी गई है। वैद्य के द्वारा चूकि रोगी को जीवन दान मिलता है, इसलिए ससार मे धर्म और अर्थ को देने वाला सबसे बडा वैद्य ही है।

आयुर्वेद शास्त्र के प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है कि आयुर्वेद मे जीवन दान को कितना विशिष्ट माना गया है। उसके अनुसार जीवन दान से बढकर कोई दूसरा दान नही है। जीवन दान मे जहा परहित का भाव निहित है वहा वैद्य का उच्चतम आदर्श भी प्रतिबिम्बित होता है। दूसरो के प्राणो की रक्षा करना जैन सस्कृति का मूल है, क्योकि इसी मे लोक कल्याण की उत्कृष्ट भावना निहित है। इस दृष्टि से जैनधर्म और आयुर्वेद मे निकटता सुस्पष्ट है। परहित की पावन भावना से प्रेरित होने के कारण इस आयुर्वेद शास्त्र मे जहां दूसरो की प्राण रक्षा को विशेष महत्व दिया गया है वहा आजीविका के साधन के रूप मे इसे अपनाए जाने का पूर्ण निषेध किया गया है। वर्तमान समय में यद्यपि आयुर्वेद का अध्ययन और अध्यापन पूर्णत स्वार्थ प्रेरित होकर आजीविका के निमित्त से किया जाता है। अब तो यह आजीविका के साधन के अतिरिक्त पूर्णत व्यापारिक रूप को धारण कर चुका है जो आयुर्वेद चिकित्सा के उच्चादर्शों के सर्वथा प्रतिकूल है। महर्षि चरक ने आयुर्वेद चिकित्सा के जो उच्चादर्श प्रतिपादित किए हैं वे उभय लोक हितकारी होने से निश्चय ही अनुकरणीय हैं और जैनधर्म की दृष्टि से अनुशसित है। उन आदर्शो मे प्राणि मात्र के प्रति दया का भाव प्रदर्शित करते हुए नि स्वार्थ भाव से चिकित्सा करने की प्रेरणा दी गई है।

यह सुविदित है कि जैनाचार्यों ने धर्म-दर्शन-साहित्य और कला के क्षेत्र मे अपने अद्वितीय योगदान के द्वारा भारतीय संस्कृति के स्वरूप को तो विकसित किया ही है, मानव मात्र के प्रति कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त किया है। उन्होने लोकहित की भावना से जो

साहित्य सृजन किया है उसमे उनकी अद्वितीय प्रतिभा की सुस्पष्ट झलक मिलती है। संस्कृत साहित्य का ऐसा कोई विषय या क्षेत्र नहीं बचा है जिस पर जैनाचार्यों ने अपनी लेखनी न चलाई हो। अभी तक जैनाचार्यों द्वारा रचित जो ग्रन्थ प्रकाशित किए गए हैं वह उनके द्वारा रचित उस विशाल साहित्य का अंश मात्र ही है। अभी ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जो विभिन्न मन्दिरो के शास्त्र भण्डारों मे सुरक्षित पडे हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जिनका उल्लेख आचार्यों की अन्यान्य कृतियो तथा विभिन्न माध्यम से मिलता है, किन्तु वर्तमान में वे उपलब्ध नहीं हैं। जैनाचार्यों के ऐसे ग्रन्थो को प्रकाश मे लाकर उनके सम्पादन व प्रकाशन की समुचित व्यवस्था किया जाना नितान्त आवश्यक है।

समग्र जैन साहित्य का परिशीलन करने से ज्ञात होता है कि बहुमुखी प्रतिभा, प्रकाण्ड पाण्डित्य और विलक्षण वैभव के धनी जैनाचार्य केवल एक विषय के ही अधिकारी नही थे, अपितु वे प्रत्येक विषय मे निष्णात थे और उस विषय का अधिकार पूर्वक व्याख्यान करने की उनमे अपूर्व क्षमता थी। अत उनके विषय मे यह कहना सभव नही था कि वे किस विषय के अधिकार सम्पन्न विद्वान है अथवा उनका अधिकृत विषय कौनसा है? उन्होने जिस किसी भी विषय पर लेखनी चलाई उसी मे उन्होने अपने वैदुष्य की गहरी छाप छोडी। दीर्घकालीन अध्ययन, मनन और चिन्तन के परिणाम स्वरूप ग्रंथ निबन्धन के रूप मे जो नवनीत उनकी लेखनी से समुद्भूत हुआ वह स्वार्थ साधन हेतु नही था, अपितु लोक कल्याण की भावना उसके मूल मे निहित थी। परमार्थ उनके चिन्तन का केन्द्र बिन्दु था और उसी भावना से वे प्रेरित थे। इसका एक कारण यह था कि अधिकाश ग्रथकर्ता दिगम्बर जैन निर्ग्रंथ साधु थे और सासारिक आसक्ति से सर्वथा शून्य होने के कारण आत्म कल्याण के साथ-साथ परमार्थ साधन ही उनके साहित्य सृजन का मूल उद्देश्य था। अपने ज्ञान और अनुभव से नि:सृत विचार कणों को ग्रथित कर उन्होंने समग्र मानव समाज, देश और संस्कृति का जो उपकार किया वह अकथनीय है।

जैनाचार्यों को यद्यपि मूलत अध्यात्म विद्या ही अभीष्ट रही है, तथापि धर्म, दर्शन, न्याय आदि विषय भी उनकी ज्ञान परिधि में व्याप्त रहे है। यही कारण है कि जिस प्रकार उन्होंने उक्त विषयो पर आधारित विविध उत्कृष्टतम ग्रथो की रचना की उसी प्रकार उन्होंने व्याकरण, कोष, काव्य-छद, अलकार, नीति शास्त्र, ज्योतिष और आयुर्वेद विषयो पर भी साधिकार ग्रंथों का प्रणयन कर अपने चरम ज्ञान और अद्भुत बुद्धि-कौशल का परिचय दिया। उपलब्ध अनेक प्रमाणो से अब यह स्पष्ट हो चुका है कि जैनाचार्यों ने प्रचुर मात्रा में स्वतंत्र रूपेण आयुर्वेदीय ग्रथो का निर्माण कर न केवल आयुर्वेद साहित्य की वृद्धि मे अपना योगदान किया है, अपितु जैन वाङ्मय को भी एक लौकिक विषय के रूप मे साहित्यिक विधा से अलकृत किया है। अत यह कहना सर्वथा न्यायसगत है कि आयुर्वेद साहित्य के प्रति जैनाचार्यों द्वारा की गई सेवा भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी अन्य साहित्य के प्रति। उनके द्वारा रचित साहित्य मे कतिपय मौलिक विशेषताएँ विद्यमान है जो अन्य साहित्य मे उपलब्ध नही हैं। उनके द्वारा रचित वैद्यक ग्रथ आयुर्वेद सम्बन्धी कतिपय ऐसे तथ्यो को उद्घाटित करते है जो वैदिक कालीन आयुर्वेद के ग्रथो मे नही मिलते हैं। इस विषय पर व्यापक तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

प्राचीन भारतीय अध्ययन पद्धति की यह विशेषता रही है कि उसमे एक शास्त्रज्ञता की अपेक्षा बहुशास्त्रज्ञता पर अधिक जोर दिया गया है। क्योंकि एक शास्त्राभ्यासी अपने अधिकृत विषय मे नैपुण्य प्राप्त नही कर सकता। आचार्य कहते हैं—

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्।
तस्माद्बहुश्रुत शास्त्रं जानीयात्॥ —सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान ४/७

अत विषय या शास्त्र की पूर्णज्ञता एवं शास्त्र के विनिश्चय के लिए अन्य शास्त्रों का अध्ययन और साधिकार ज्ञान अपेक्षित है। यही कारण है कि जिन जैनाचार्यों ने धर्म, दर्शन, न्याय, काव्य, अलंकार, व्याकरण, ज्योतिष आदि विषयो को अधिकृत कर विभिन्न ग्रन्थों का प्रणयन किया, उन्ही आचार्यों ने वैद्यक विषय को अधिकृत कर अन्यान्य आयुर्वेदीय ग्रन्थों की रचना कर अपनी बहु शास्त्रज्ञता का तो परिचय दिया ही, अपनी अलौकिक प्रतिभा का भी परिचय दिया है। प्रात स्मरणीय पूज्यपाद स्वामी, जैन साधु जगत् के देदीप्यमान नक्षत्र परमपूज्य स्वामी समन्तभद्र, आचार्य जिनसेन, गुरू वीरसेन, उद्भट मनीषि कुमदेन्दु, आचार्य प्रवर सोमदेव, महापण्डित आशाधर आदि दिव्य विभूतियो की विभिन्न कृतियो पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो यह देखकर महान् आश्चर्य होता है कि किस प्रकार उन्होने विभिन्न विषयों पर अपनी अधिकार पूर्ण लेखनी चलाकर अपनी अद्भुत विषय प्रवणता और ज्ञानगांभीर्य की व्यापकता का परिचय दिया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि उन्हे सभी विषयों में प्रौढ प्रभुत्व प्राप्त था, उनका निरभिमानी पाण्डित्य सर्वदिगन्त व्यापी था और उनका ज्ञान-रवि अपनी प्रखर रश्मियों से सम्पूर्ण साहित्य जगत को आलोकित कर रहा था। उनके द्वारा रचित ग्रन्थ रत्नों में जो ज्ञानराशि संचित है वह अब भी मानव समाज का उपकार कर रही है।

जैनाचार्यों ने आयुर्वेद के जिन ग्रन्थों की रचना की है उनमे पूर्णत: जैन सिद्धान्तो का अनुकरण तथा धार्मिक नियमों का परिपालन किया गया है जो उनकी मौलिक विशेषता है। ग्रन्थ रचना में व्याकरण सम्बन्धी नियमों का पालन करते हुए रस, छन्द, अलंकार आदि काव्यांशों का यथा सम्भव प्रयोग किया गया है जिससे ग्रंथकर्ता के बहुमुखी वैदुष्य का आभास सहज ही हो जाता है। ग्रंथो मे प्रौढ़ एवं प्रांजल भाषा का प्रयोग होने से ग्रन्थो की उत्कृष्टता निश्चय ही द्विगुणित हुई है। अत यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि जिन विद्वद् श्रेष्ठ द्वारा उन ग्रन्थो की रचना की गई है वे न केवल सर्वशास्त्र पारगत थे, अपितु आयुर्वेद मे कृताभ्यासी और अनुभव से परिपूर्ण थे। अनेक ऐसे भी जैनाचार्य हुए हैं जिन्होंने स्वतन्त्र रूप से तो किसी वैद्यक ग्रंथ का निर्माण नही किया, किन्तु अपने अन्य विषयक ग्रन्थों में यथा प्रसंग आयुर्वेद सम्बन्धी अन्यान्य विषयों का प्रतिपादन किया है। जैसे श्रीमत्सोमदेव सूरि ने यशस्तिलक चम्पू में अत्यन्त विस्तार पूर्वक प्रसंगोपात्त आयुर्वेदीय विभिन्न विषयों एव सिद्धान्तो का समीचीन प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार अपने अन्य ग्रंथ नीतिवाक्यामृत मे भी उन्होंने अनेक स्थलों पर आयुर्वेदीय विषयों को उद्धृत किया है। श्री प० आशाधर जी ने स्वतन्त्र रूपेण किसी वैद्यक ग्रंथ का निर्माण नहीं किया, किन्तु आयुर्वेद के एक प्रमुख ग्रन्थ "अष्टाग हृदय" पर विद्वत्तापूर्ण टीका लिखकर अपनी विद्वत्ता एव आयुर्वेद सबंधी अपने अगाध ज्ञान का परिचय दिया है। इसी प्रकार अन्य अनेक आचार्यों ने भी आयुर्वेद के विभिन्न ग्रथो पर अपनी ओजपूर्ण एव विद्वत्ता पूर्ण टीकाए लिखकर आयुर्वेद जगत् का महान् उपकार किया है। इस प्रकार आयुर्वेद के प्रति जैनाचार्यों के योगदान को तीन प्रकार से विभाजित किया जा सकता है—एक स्वतत्र ग्रन्थ रचना के रूप मे, दूसरा अपने अन्य विषयो वाले ग्रथो मे प्रसगोपात्त वर्णन के रूप में और तीसरा आयुर्वेद के ग्रन्थों की टीका के रूप में।

यह जैनाचार्यों के गहन वैदुष्य का ही परिणाम है कि जैन सिद्धान्त, दर्शन और अध्यात्म जैसे विषयो पर ग्रन्थ रचना करने वाले मनीषियो ने आयुर्वेद जैसे लौकिक विषय पर भी व्यापक रूप से लिखा और जन कल्याण हेतु अपने आयुर्वेद सबंधी ज्ञान को प्रसारित किया। अत यह एक निर्विवाद तथ्य है कि आयुर्वेद वाङ्मय के प्रति जैनाचार्यों द्वारा की गई सेवा भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी अन्य साहित्य के प्रति। किन्तु दुःख इस बात का है कि जैनाचार्यों द्वारा जितने भी वैद्यक ग्रन्थो की रचना की गई है उसका शतांश भी अभी तक प्रकाश मे नही आया है। इसका एक कारण तो यह है कि उनके द्वारा लिखित अनेक वैद्यक ग्रन्थ या तो लुप्त हो गए हैं अथवा खण्डित रूप मे होने से अपूर्ण हैं। काल कवलित हुए अनेक वैद्यक ग्रथो का उल्लेख विभिन्न आचार्यों की वर्तमान मे उपलब्ध अन्यान्य कृतियो में मिलता है। विभिन्न ग्रन्थ भण्डारो तथा जैन मदिरो मे खोजने पर अनेक वैद्यक ग्रन्थो के प्राप्त होने की सभावना है। अत विद्वानो द्वारा इस दिशा मे अनुसधान कार्य अपेक्षित है। प्रयत्न किए जाने पर इस दिशा मे निश्चय ही सफलता प्राप्त हो सकती है।

दूसरा कारण यह है कि समाज तथा समाज के सम्पन्न श्रेष्ठी वर्ग ने इस प्रकार के ग्रन्थो के प्रकाशन के प्रति उपेक्षा या उदासीनता का भाव रखा। आयुर्वेद के ग्रन्थो के प्रकाशन के प्रति उनमे कोई रुचि नही थी अत यह कार्य उपेक्षित-सा रहा। समाज के सम्पन्न वर्ग एवं विभिन्न सस्थाओ ने यद्यपि अन्य ग्रथो के सशोधन, सम्पादन, मुद्रण एव प्रकाशन मे अत्यधिक रुचि एव उत्साह प्रदर्शित किया तथा आर्थिक व अन्य सभी प्रकार का सहयोग प्रदान किया, किन्तु आयुर्वेद के ग्रन्थो के प्रति कोई रुचि प्रदर्शित नही की गई। वर्तमान में जैन साहित्य की विभिन्न विधाओ मे शोध कार्य के प्रति अत्यधिक उत्साह है। अनेक संस्थाए इस दिशा मे प्रयत्नशील हैं। अत विलुप्त वैद्यक ग्रथो की भी खोज की जानी चाहिए और उनके प्रकाशन की व्यवस्था की जानी चाहिये। सभव है कि लुप्त वैद्यक ग्रंथो के प्रकाशन मे आने से आयुर्वेद के उन महत्वपूर्ण तथ्यो एव सिद्धान्तो का प्रकाशन हो सके जो आयुर्वेद के प्रचुर ग्रथो के काल कवलित हो जाने से विलुप्त हो गए हैं। जैनाचार्यों द्वारा लिखित वैद्यक ग्रथो के प्रकाशन से आयुर्वेद के विलुप्त साहित्य और इतिहास पर भी प्रकाश पडने की सम्भावना है। आशा है समाज, विद्वद वर्ग और शोधकर्ता गण इस दिशा मे भी प्रयत्नशील रहेंगे, ताकि असूर्यम्पश्य इस विषय पर अधिकाधिक सामग्री सकलित की जा सके और उसे समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सके। विभिन्न शोध संस्थानो एवं अध्ययन-अनुसधान केन्द्रो तथा सरस्वती भवनो से इस दिशा मे अपेक्षित सहयोग एव दिशा निर्देश प्राप्त किया जा सकता है ताकि जैन वाङ्मय के अंगभूत आयुर्वेद विषयक ग्रन्थो को प्रकाश मे लाया जा सके और जैनाचार्यों के योगदान का समुचित मूल्यांकन किया जा सके।

जैनाचार्यों द्वारा लिखित आयुर्वेद के ऐसे ग्रथो की सख्या अत्यल्प है जिसका प्रकाशन किया गया है। अब तक जो ग्रंथ प्रकाशित किए गए हैं उनमे श्री उग्रादित्याचार्य द्वारा प्रणीत "कल्याणकारक" और श्री पूज्यपाद स्वामी द्वारा कथित औषध योगो का संकलन "वैद्यसार" ये दो ग्रथ महत्वपूर्ण हैं। इनमे से प्रथम कल्याणकारक का हिन्दी अनुवाद एव सम्पादन श्री प० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, सोलापुर द्वारा किया गया है और प्रकाशन श्री सेठ गोविन्दजी राव जी दोशी, सोलापुर द्वारा १ फरवरी १६४० को किया गया। द्वितीय वैद्यसार नामक ग्रंथ जैन सिद्धान्त भवन द्वारा प्रकाशित किया गया। इसका सम्पादन और हिन्दी अनुवाद आयुर्वेदाचार्य प० सत्यन्धर कुमार जैन, काव्यतीर्थ द्वारा किया गया है। इस ग्रथ मे चिकित्सा सम्बन्धी जो विभिन्न औषध योग वर्णित हैं उनमे से अधिकांश में पूज्यपादै: कथितं, पूज्यपादोदितं आदि

उल्लेख मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि पूज्यपाद स्वामी का कोई चिकित्सा विषयक ग्रन्थ पूर्वकाल में विद्यमान था जिसमे से ये योग उद्धृत कर संकलित किए गए हैं। अतः यह तो स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ पूज्यपाद द्वारा रचित नहीं है। इसकी भाषा शैली भी पूज्यपाद की विद्वत्ता के अनुरूप नहीं है। अतः ये योग अविकल रूप से उद्धृत किए गए हों यह भी नहीं कहा जा सकता। यह भी अभी तक अज्ञात ही है कि इस ग्रन्थ का वास्तविक रचयिता या संग्रहकर्ता कौन है ?

उपर्युक्त ग्रथों के अतिरिक्त हर्षकीर्ति सूरि विरचित योग चिन्तामणि, हस्तिरुचि द्वारा लिखित वैद्य बल्लभ, अनन्तदेवसूरिकृत रस चिन्तामणि, श्री कण्ठसूरिकृत हितोपदेश वैद्यक, हसराज कृत हंसराज निदान, कवि विश्राम द्वारा लिखित अनुपान मजरी आदि ग्रन्थों के प्रकाशित होने की जानकारी भी प्राप्त हुई है। कन्नड़ भाषा मे भी आयुर्वेद के एक ग्रथ के प्रकाशित होने की सूचना प्राप्त हुई है। यह ग्रथ है श्री मंगराज द्वारा रचित खगेन्द्रमणिदर्पण। इस ग्रन्थ को मद्रास विश्व विद्यालय ने कन्नड भाषा एव कन्नड लिपि मे कन्नड सीरीज के अन्तर्गत प्रकाशित किया था। किन्तु मुद्रणातीत होने से वर्तमान मे यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार उपर्युक्त प्रकाशित ग्रन्थो मे से अधिकांश ग्रन्थ मुद्रणातीत हो जाने के कारण वर्तमान मे उपलब्ध नही है। पुनः उनका प्रकाशन किया जाता है अथवा नही, यह कह सकना कठिन है। अत इस दिशा मे भी पर्याप्त ध्यान दिया जाना अपेक्षित है।

इसमें कोई सदेह नही है कि जैनाचार्यो द्वारा लिखित आयुर्वेद के ग्रथो की सख्या प्रचुर है। किन्तु उन ग्रथो की भी वही स्थिति है जो जैनाचार्यों द्वारा लिखित ज्योतिष के ग्रंथो की है। विद्वद्जनो, समाज एवं संस्थाओ की उपेक्षा के कारण जैनाचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थो की प्रचुरता होते हुए भी यह सम्पूर्ण साहित्य अभी तक अन्धकारावृत है। अब तो स्थिति यह होती जा रही है कि जैनाचायो द्वारा प्रणीत जिन ग्रंथो की रचना का पता चलता है उनमे से अधिकाश का अस्तित्व ही हमारे सामने नही है। सभव है किसी ग्रन्थ भण्डार मे किसी ग्रंथ की एकाध प्रति मिल जाय। अनेक स्थानो पर स्वामी समन्तभद्र के वैद्यक ग्रंथ का उल्लेख मिलता है, किन्तु वह ग्रंथ अभी तक अप्राप्य है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ योगरत्नाकर मे भी पूज्यपाद के नाम से अनेक योग उद्धृत हैं। किन्तु आज पूज्यपाद का वह ग्रंथ उपलब्ध नही है। इसी प्रकार "बसव राजीयम्" नामक आयुर्वेदीय ग्रंथो मे भी पूज्यपाद के नाम से अनेक योग उल्लिखित हैं। किन्तु अत्यधिक प्रयत्न किए जाने पर भी पूज्यपाद द्वारा रचित चिकित्सा योग सम्बन्धी कोई ग्रंथ हस्तगत नही हुआ है। कुछ वर्तमान कालीन विद्वानो ने जैनाचार्यों द्वारा रचित कुछ ग्रथो का विवरण तो दिया है, किन्तु यह उल्लेख उन्होंने नही किया कि वह ग्रथ वर्तमान मे कहा है और उसकी जानकारी का स्रोत क्या है ? इससे ग्रन्थ को खोजने मे परेशानी होना स्वाभाविक है।

भाषा की दृष्टि से भी जैनाचार्यों का योगदान अति महत्वपूर्ण है। जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि तत्कालीन लोकभाषा को ध्यान में रखकर ही उन्होने ग्रथों की रचना की है ताकि उनके द्वारा रचित ग्रन्थ लोकोपयोगी हो सके और जनसामान्य भी उससे लाभ उठा सके। वर्तमान मे जिन ग्रन्थो की जानकारी प्राप्त हुई है उसके अनुसार चार भाषाओ मे जैनाचायो ने आयुर्वेद के ग्रन्थों का प्रणयन किया है। यथा—प्राकृत, सस्कृत, कन्नड और हिन्दी। इनमे से कन्नड भाषा मे रचित ग्रन्थो मे कन्नड लिपि का प्रयोग किया गया है और शेष तीन भाषाओ प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी के ग्रन्थो मे देवनागरी लिपि व्यवहृत है। सभव है बंगाली, पंजाबी, तमिल, संस्कृत, तेलगु, मलयालम आदि भाषाओ मे भी ग्रन्थ रचना हुई हो, किन्तु अभी उसकी कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। एक यह जानकारी आवश्यक प्राप्त हुई है कि मेघमुनि रचित 'मेघ विनोद' की एक मूल प्रति मोतीलाल बनारसी दास प्रकाशन सस्था के मालिक श्री सुन्दरलाल जी जैन के पास गुरमुखी लिपि (पजाबी भाषा) मे थी, जिनका उन्होंने हिन्दी मे अनुवाद कराकर अपने यहां से प्रकाशन कराया है।

श्री अगरचन्द नाहटा ने जैनाचार्यों द्वारा लिखित आयुर्वेद के ग्रन्थो की एक विशाल तालिका तैयार की है जो जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग-४, किरण-२ मे प्रकाशित हुई है। उस तालिका के द्वारा अनेक कृतियो की जानकारी प्राप्त होती है। तालिका निम्न प्रकार है—

श्वेताम्बर जैन वैद्यक ग्रन्थ

ग्रन्थनाम	ग्रन्थकार	भाषा	रचनाकाल
१ योग चिन्तामणि	मूल हर्षकीर्ति सूरि भाषा टीका नरसिंह खरतर	सस्कृत	सं० १६६२
२. वैद्यक सारोद्धार	हर्ष कीर्तिसूरि	संस्कृत	सं० १६६२
३. ज्वरपराजय	जयरत्न	सस्कृत	——
४. वैद्यवल्लभ	हस्तिरुचि	सस्कृत	——
५. सुबोधिनी वैद्यक	लक्ष्मीचन्द्र	हिन्दी	——

ग्रन्थनाम	ग्रन्थकार	भाषा	रचना काल
६. वैद्यकसार रत्न चौपाई	लक्ष्मी कुशल	गुजराती	सं० १६६४ फा०
७. लंघन पथ्योपचार	दीपचन्द्र	सस्कृत	सं० १७८२
८. बालचिकित्सा निदान	—	—	—
९. योगरत्नाकर चौपाई	नयन शेखर	गुजराती	—
१०. डम्भ क्रिया	धर्मसिंह धर्मवर्धन	हिन्दी	—
११. पथ्यापथ्य	महो० रामलाल जी	—	वीर स० २४३९
१२ रामनिदान टबासहित	उपर्युक्त	—	—
१३. कोकशास्त्र चौपाई	अर्बुदाचार्य	कामशास्त्र में प्रासगिक चिकित्सा (प्रकाशित)	
१४. रसामृत	माणिक्य देव		

जैनेतर वैद्यक ग्रंथों पर टीकाएं

ग्रन्थनाम	ग्रन्थकार	भाषा	रचना काल
१. योगरत्नमाला वृत्ति	गुणाकार श्वे०	—	स० १२९६
२. अष्टांगहृदय टीका	पं० आशाधर दि०	—	—
३. पथ्यापथ्य टबा	चैनसुख मुनि	—	स० १८३५
४. माधव निदान टबा	ज्ञानमेरु	—	—
५. सन्निपात कलिका	हेम निधन	—	सं० १७३३
६. योगशतक टीका	मूल वररुचि संप्रतभद्र (समन्तभद्र)		सं० १७३१

श्वेताम्बर हिन्दी वैद्यक ग्रन्थ

ग्रन्थनाम	ग्रन्थकार	भाषा	रचना काल
१. वैद्य मनोत्सव	नयनसुख		सं० १६४९ सीहन नगर
२. वैद्य विलास तिब्बसहाबा	मलूकचन्द्र		—
३. रामविनोद	रामचन्द्र	—	स० १७२० शक्की नगर
४. वैद्यविनोद	रामचन्द्र		स० १७२६ मराठ
५. कालज्ञान	लक्ष्मीवल्लभ	—	सं० १७४१
६. कवि विनोद	मानकवि		स० १७५३ लाहौर
७. कवि प्रमोद	मानकवि		सं० १७४६ कार्तिक सु० २
८. रसमंजरी	समरथ		स० १७६४
९. मेघ विनोद	मेघमुनि		सं० १८३५ फगवाड़ा
१०. मेघ विलास	मेघमुनि		—
११. वैद्य जीवन (लोलिम्बराजभाषा)	यति गंगाराम		स० १८८२ अमृतसर
१२. सूरजप्रकाश भावदीपक	यति गंगाराम		स० १८८३ अमृतसर
१३. भाव निदान	यति गंगाराम		सं० १८८८ अमृतसर

दिगम्बर जैन वैद्यक ग्रंथ

ग्रन्थनाम	ग्रन्थकार
१. वैद्यसार	पूज्यपाद
२. निदानमुक्तावलि	पूज्यपाद
३. मदनकामरत्न	पूज्यपाद
४. कल्याणकारक	उग्रादित्याचार्य
५. सुकरयोगरत्नावलि	पार्श्वदेव
६. बालग्रह चिकित्सा	देवेन्द्रमुनि
७. वैद्य निघन्टु	अमृतनन्दिमुनि

ग्रन्थनाम	ग्रन्थकार	भाषा	रचना काल
८. वैद्यामृत	श्रीधरदेव		
९. खगेन्द्रमणि दर्पण	मंगराज		
१०. हयशास्त्र	अभिनवचन्द्र		
११. कल्याणकारक	सोमनाथ		
१२. गोवैद्य	कीर्तिवर्म		

श्री नाहटा जी द्वारा प्रस्तुत इस सूची के पश्चात् "जैन सिद्धान्त भास्कर" के मनीषी सम्पादक श्री पं० के भुजबलि शास्त्री ने अपना सम्पादकीय नोट भी प्रस्तुत किया है जो निम्न प्रकार है—

श्री युत् नाहटा जी ने इस जैन ज्योतिष और वैद्यक की ग्रन्थतालिका में दिगम्बर जैन ज्योतिष एवं वैद्यक ग्रन्थो के जो नाम दिए हैं वे भास्कर में धारा प्रवाह रूप से प्रकाशित होते हुए मेरे प्रशस्ति सग्रहगत कतिपय ग्रन्थों के ही नाम मात्र हैं। इनके अतिरिक्त दि० जैन साहित्य मे एतद्विषयक रचनाओं का जहा तहा अधिकतर उल्लेख मिलता है। सावकाश होकर अन्वेषण करने पर दिगम्बर जैन ज्योतिष और वैद्यक ग्रन्थो की एक बृहत्-सूची तैयार की जा सकी है। अभी तत्क्षण मेरी नजरो से ही जो कुछ नाम गुजरे हैं वे नीचे दिए जाते हैं। ये पं० नाथूराम प्रेमी जी द्वारा सग्रहीत दि० जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ-आदि पर से सग्रहित हुए हैं—

ग्रन्थनाम	ग्रन्थनाम	भाषा	रचना काल
१. कनक दीपक	उग्रादित्य	संस्कृत	अनुपलब्ध
२. भिक्षु प्रकाश	उग्रादित्य	सस्कृत	अनुपलब्ध
३. रामविनोद	उग्रादित्य	संस्कृत	अनुपलब्ध
४. वैद्यगाता	कुन्द-कुन्द	प्राकृत	अनुपलब्ध
५. गुणपाक	चिक्कण कवि	सस्कृत	,,
६. वैद्यक निघन्टु	धनजय	,,	,,
७. वैद्यक निघन्टु	पद्मनन्दि	,,	,,
८ वैद्यक निघण्टु	पदम सेन	संस्कृत	अनुपलब्ध
९. कल्याण कारक	पूज्यपाद	,,	,,
१० वैद्य निघण्टु	रैवण सि	,,	,,
११. अष्टांग हृदय	वाग्भट	,,	उपलब्ध
१२. वैद्य निघण्टु	वाग्भट्	,,	,,
१३. वैद्य निघण्टु	अभिनव	,,	अनुपलब्ध
		—(दि० जैन ग्रंथकर्ता और उनके ग्रंथ से सकलित)	
१४. योग चिन्तामणि	हर्षकीर्ति	संस्कृत	उपलब्ध
१५ विद्या विनोद	अकलक	संस्कृत	अनुपलब्ध
१६. अकलंक संहिता	अकलंक	संस्कृत	,,
१७ बालग्रह चिकित्सा	मल्लिषेण	,,	,,
१८. मेरुतन्त्र	मेरुतुंग	,,	,,
		(भवन की सूची से संकलित)	
१९. अश्ववैद्य	बाचरस	कन्नड	—
२०. वैद्यसांगत्य	साल्व	कन्नड़	—
२१. वैद्य निघण्टु	लक्ष्मण पण्डित	कन्नड़	—
		(कन्नड़ कविचरिते से)	
२२. सिद्धान्त रसायनकल्प	समन्तभद्र	प्राकृत	अनुपलब्ध
२३. जगतसुन्दरी	उग्रादित्य	संस्कृत	अनुपलब्ध
२४. कल्याणकारक	उग्रादित्य	,,	उपलब्ध

ग्रन्थनाम	ग्रन्थकार	भाषा	रचनाकाल
२५. वैद्यक निघण्टु	धनमित्र	संस्कृत	अनुपलब्ध
२६. वृद्ध वाग्भट्	वाग्भटाचार्य	,,	,,
२७. रससार	शिवघोष	,,	,,
२८. वैद्यक योग संग्रह	पूज्यपाद	,,	,,
२९. रसतंत्र	पूज्यपाद	,,	,,
३०. प्रयोग संग्रह	शिवनन्दि	,,	,,
३१. प्रयोग चन्द्रिका	रामचन्द्र	,,	,,

(आदर्श जैन चरितमाला, वर्ष २, अंक ७-८ से)

उपर्युक्त सूची में उल्लिखित ग्रंथो के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रंथो की प्रामाणिक जानकारी मुझे और मिली है, जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

ग्रंथ	ग्रंथकार	भाषा	रचनाकाल
१ वैद्य शास्त्र	पं० हरपाल	प्राकृत	—
२. सार संग्रह	विजयण्ण	संस्कृत	उपलब्ध
३. जगतसुन्दरी प्रयोगशाला	यश· कीर्ति	प्राकृत	,,
४. रस चिन्तामणि	अनन्तदेव सूरि	संस्कृत	उप०/मुद्रित
५ हितापदेश वैद्यक	श्री कण्ठसूरि	संस्कृत	उप०/मुद्रित
६. रसावतार	माणिक्य चन्द्र जैन	,,	अनुपलब्ध
७. योगरत्नाकर	नारायण शेखर जैन	संस्कृत	अनुपलब्ध
८. वैद्यवृन्द	,,	,,	,,
९. वैद्यामृत	,,	,,	,,
१०. ज्वरनिर्णय	,,	,,	,,
११. ज्वरत्रिशती की टीका	,,	,,	,,
१२. रत्नाकर औषधयोग ग्रंथ	,,	,,	,,
१३. भैषज्य गुणार्णव	पूज्यपाद	,,	उपलब्ध ?
१४. निघण्टु समय	धनंजय	,,	,, ?
१५. निघण्टु शेष	,,	,,	/अनु०
१६. विद्या विनोद	पूज्यपाद	—	उपलब्ध
१७. पूज्यपाद वैद्यक	,,	,,	,,
१८. वैद्यकशास्त्र	पूज्यपाद	,,	,,
१९ कालज्ञान विधान	—	—	—
२०. वैद्यकाल	—	—	—
२१. वैद्य संग्रह	—	—	—
२२. निघण्टु शेष	हेमचन्द्राचार्य	—	मुद्रित/अनु

इन तीनो तालिकाओ से स्पष्ट है कि आयुर्वेद विषय पर जैनाचार्यों द्वारा लिखित साहित्य विपुल है। प्रयत्न पूर्वक खोज करने पर और भी अनेक ग्रंथों तथा महत्वपूर्ण सामग्री का पता चल सकता है। उस सामग्री एवं ग्रंथो के प्रकाश मे आने पर जैन साहित्य की ऐसी विलुप्त विद्या का पुनरुद्भव हो सकेगा जिसे चतुर्दश पूर्व के अन्तर्गत नष्टप्राय: समझ लिया गया है। अत इस दिशा में शोध और अनुसंधान परक पर्याप्त प्रयत्न अपेक्षित है। आशा है विद्वद्जन एव संस्थाए इस दिशा मे अपेक्षित ध्यान देगी।

दक्षिण में जैन-आयुर्वेद (प्राणावाय) की परम्परा

—डॉ० राजेन्द्र प्रकाश भटनागर

तीर्थङ्करो की वाणी का संग्रह-संकलन कर जैन 'आगमो' की रचना की गई। इनके १२ भाग हैं, जिन्हें 'द्वादशांग' कहते हैं। इन बारह अंगों में अंतिम भाग 'दृष्टिवाद' कहलाता है।

'दृष्टिवाद' के पांच भेद हैं—१ पूर्वगत, २ सूत्र, ३ प्रथमानुयोग, ४ परिकर्म, और ५ चूलिका। 'पूर्व' चौदह हैं। इनमें से बारहवें 'पूर्व' का नाम 'प्राणावाय' है। इस 'पूर्व' मे मनुष्य के आभ्यन्तर अर्थात् मानसिक और आध्यात्मिक तथा बाह्य अर्थात् शारीरिक स्वास्थ्य के उपायों, जैसे—यम, नियम, आहार, विहार और औषधियों का विवेचन है। साथ ही, इसमे दैविक, भौतिक, आधिभौतिक, जनपदोध्वंसी रोगो की चिकित्सा का विचार किया गया है।

दिगम्बर आचार्य अकलंकदेव (८वीं शती) के 'तत्त्वार्थवार्तिक' (राजवार्तिक) मे 'प्राणावाय' की परिभाषा बताते हुए कहा गया है—"कायचिकित्साद्यष्टांग आयुर्वेद भूतिकर्म जांगुलिप्रक्रम प्राणापान विभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत् प्राणावायम्।" (अ०१, सू०२०)—जिसमें कायचिकित्सा आदि आठ अंगो के रूप मे संपूर्ण आयुर्वेद, भूतशांति के उपाय, विषचिकित्सा और प्राण-अपान आदि वायुओं के शरीर धारण की दृष्टि से विभाग (योगक्रियाएं) का प्रतिपादन किया गया है, उसे 'प्राणवाय' कहते हैं।

उग्रादित्य कृत 'कल्याणकारक'

दक्षिण के जैनाचार्यों द्वारा रचित 'आयुर्वेद' या 'प्राणावाय' के उपलब्ध ग्रन्थो में उग्रादित्य का 'कल्याणकारक' सबसे प्राचीन, मुख्य और महत्वपूर्ण है।[1] प्राणावाय की प्राचीन जैन-परम्परा का दिग्दर्शन हमे एकमात्र इसी ग्रन्थ से प्राप्त होता है। यही नहीं, इसका अन्य दृष्टि से भी बहुत महत्व है। ईसवी ८वी शताब्दी मे प्रचलित चिकित्सा प्रयोगो और रसौषधियो से भिन्न और सर्वथा नवीन प्रयोग हमे इस ग्रन्थ मे देखने को मिलते हैं।

सबसे पहले १९२२ मे नरसिंहाचार्य ने अपनी पुरातत्व संबंधी रिपोर्ट में इस ग्रन्थ के महत्व और विषयवस्तु के वैशिष्ट्य पर निम्नांकित पंक्तियो में प्रकाश डाला था, तब से अब तक इस पर पर्याप्त ऊहापोह किया गया है।

"Another manuscript of some intest is the medical work 'KALYNAKARAKA of Ugraditya, a Jaina author, who was a contemporary of the Rastrakuta king Amoghavarsha I and of the Eastern Chalukya king kali Vishnuvardhan V. The work opens with the statement that the science of Medicine is divided into two parts, namely prevention and cure, and gives at the end a long discourse in Sanskrit prose on the uselessness of a flesh diet, said to have been delivered by the author at the court of Amoghvarsha, where many learned men and doctors had assembled." (*Mysore Archaeological Report*, 1922, page 23)

अर्थात्—'अन्य महत्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थ, उग्रादित्य का चिकित्साशास्त्र पर 'कल्याणकारक' नामक रचना है। यह विद्वान जैन लेखक और राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष प्रथम तथा पूर्वी चालुक्य राजा कली विष्णुवर्धन पंचम का समकालीन था। ग्रंथ के प्रारंभ में कहा गया है कि चिकित्साविज्ञान दो भागों मे बंटा हुआ है—जिनके नाम है 'प्रतिबंधक चिकित्सा' और 'प्रतिकारात्मक चिकित्सा'। तथा, इस ग्रंथ के अंत मे संस्कृत गद्य मे मांसाहार की निरर्थकता संबंध में विस्तृत सम्भाषण दिया गया है, जो, बताया जाता है कि, अमोघवर्ष की राजसभा में लेखक ने प्रस्तुत किया था, जहां पर अनेक विद्वान और चिकित्सक एकत्रित थे।

१. 'कल्याणकारक' ग्रंथ का प्रकाशन सोलापुर से सेठ गोविंदजी रावजी दोशी ने सन् १९४० में किया है। इसमें मूल संस्कृत पाठ के अतिरिक्त पं० वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री कृत हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित किया गया है। इसके संपादन हेतु चार हस्तलिखित प्रतियों की सहायता ली गयी है।

ग्रन्थकार-परिचय—ग्रन्थ 'कल्याणकारक' में कर्ता का नाम उग्रादित्य दिया हुआ है। उनके माता-पिता और मूल निवास आदि का कोई परिचय प्राप्त नहीं होता। परिग्रहत्याग करने वाले जैन साधु के लिए अपने वंश-परिचय को देने का विशेष आग्रह और आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती। हाँ, गुरु का और अपने विद्यापीठ का परिचय विस्तार से उग्रादित्य ने लिखा है।

गुरु—उग्रादित्य ने अपने गुरु का नाम श्रीनन्दि बताया है। वह सम्पूर्ण आयुर्वेदशास्त्र (प्राणावाय) के ज्ञाता थे। उनसे उग्रादित्य ने प्राणावाय मे वर्णित दोषों, दोषज उपरोगो और उनकी चिकित्सा आदि का सब प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर इस ग्रन्थ (कल्याणकारक) मे प्रतिपादन किया है।[1]

इससे ज्ञात होता है कि श्रीनन्दि उस काल मे 'प्राणावाय' के महान् विद्वान् और प्रसिद्ध आचार्य थे।

श्रीनन्दि को 'विष्णुराज' नामक राजा द्वारा विशेष रूप से सम्मान प्राप्त था। कल्याणकारक मे लिखा है[2]—

"महाराजा विष्णुराज के मुकुट की माला से जिनके चरणयुगल शोभित हैं अर्थात् जिनके चरण कमल मे विष्णुराज नमस्कार करता है, जो सम्पूर्ण आगम के ज्ञाता है, प्रशसनीय गुणो से युक्त हैं, मुनियो मे श्रेष्ठ है, ऐसे आचार्य श्रीनन्दि मेरे गुरु हैं और उनसे ही मेरा उद्धार हुआ है।

उनकी आज्ञा से नाना प्रकार के औषध-दान की सिद्धि के लिए (अर्थात् चिकित्सा को सफलता के लिए) और सज्जन वैद्यो के वात्सल्यप्रदर्शनरूपी तप की पूर्ति के लिए, जिन-मत (जैनागम) से उद्धृत और लोक मे 'कल्याणकारक' के नाम से प्रसिद्ध इस शास्त्र को मैंने बनाया।"

'विष्णुराज' के लिए यहाँ 'परमेश्वर' का विरुद लिखा गया है।

यह परमश्रेष्ठ शासक का सूचक है। यह विष्णुराज ही पूर्वी चालुक्य राजा कलि विष्णुवर्धन पचम था, जो उग्रादित्य का समकालीन था, ऐसा नरसिंहाचार्य का मत उनके उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है।[3] परन्तु पूर्वी चालुक्य राजा कलि विष्णुवर्धन पंचम का शासनकाल ई० ८४७ से ८४८ तक ही रहा। एक वर्ष की अवधि मे किसी राजा द्वारा महान् कार्य सम्पादन कर पाना प्राय सभव ज्ञात नही होता।

श्री वर्धमान शास्त्री का अनुमान है—"यह विष्णुराज अमोघवर्ष के पिता गोविंदराज तृतीय का ही अपर नाम होना चाहिए। कारण महर्षि जिनसेन ने 'पार्श्वाभ्युदय' मे अमोघवर्ष का परमेश्वर की उपाधि मे उल्लेख किया है। हो सकता है कि यह उपाधि राष्ट्रकूटो की परंपरागत हो।"[4]

---

१. (अ) क. का. प. २१, श्लोक ८४—
'श्रीनंद्याचार्यविशेषागमज्ञाद् ज्ञात्वा दोषान् दोषजानुपरोगान्।
तद्भैषज्यक्रम चापि सर्वं प्राणावायादुद्धृत्य नीतम् ॥
(आ) क. का., प. २१, श्लोक ३—
श्रीनंदिप्रभवोऽखिलागमविधिः शिष्याश्रयः सर्वदा।
प्राणावायनिरूपितमर्थमखिल सर्वज्ञसभाषित ॥
सामग्रीगुणता हि सिद्धिमधुना शास्त्र स्वय नान्यथा।
२. क. का., प. २५, श्लोक ५१-५२
"श्रीविष्णुराजपरमेश्वर मौलिमाला—
संलालिताङ्घ्रियुगल: सकलागमज्ञ:।
आलापनीयगुणसोन्नत सन्मुनीन्द्र:
श्रीनंदिनंदितगुरुर्गुरुर्जितोऽहम् ॥
तस्याज्ञया विविधभेषजदानसिद्ध्यै
सद्वैद्यवत्सलतप: परिपूरणार्थम्।
शास्त्रं कृतं जिनमतोद्धृतमेतदुदार
कल्याणकारकमिति प्रथित धरायाम् ॥
३. Narasinghacharya—Mysore Archaeological Report, 1922, Page 23.
४. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, कल्याणकारक, उपोद्घात, पृ० ४२.

यह मत मान्य नहीं, केवल अनुमान पर आधारित है क्योंकि पहले राष्ट्रकूटों का वेंगि पर अधिकार नहीं था। अमोघवर्ष प्रथम ने उस पर सबसे पहले अधिकार किया था।

यह विष्णुराज, जो वेंगि का शासक था, निश्चय ही कलि विष्णुवर्धन और अमोघवर्ष प्रथम से पूर्ववर्ती विष्णुवर्धन चतुर्थ नामक अत्यंत प्रभावशाली और जैन मतानुयायी पूर्वी चालुक्य राजा था। इसका शासनकाल ई० ७६४ से ७९९ तक रहा।

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन ने भी यही उल्लिखित किया है कि विष्णुवर्धन चतुर्थ चालुक्य राजा के काल में श्रीनन्दि सम्मानित हुए थे।[1]

निवासस्थान और काल—

उग्रादित्य की निवासभूमि 'रामगिरि' थी, जहाँ उन्होंने श्रीनन्दि गुरु से विद्याध्ययन तथा 'कल्याणकारक' ग्रंथ की रचना की थी।

कल्याणकारक में लिखा है—

> **"वेंगीशत्रिकलिंगदेशजननप्रस्तुत्यसानूत्कटः**
> **प्रोद्यद्वृक्षलताविताननिरतैः सिद्धैश्च विद्याधरैः ।**
> **सर्वे मंदिर कंदरोपमगुहाचैत्यालयालंकृते**
> **रम्ये रामगिरौ मया विरचितं शास्त्रं हितं प्राणिनाम् ॥**
> (क० का० परि० २०, श्लोक ८७)।[2]

'रामगिरि' की स्थिति के विषय मे विवाद है। श्री नाथूराम प्रेमी का मत है कि छत्तीसगढ (महाकौशल) क्षेत्र के सरगुजा स्टेट का रामगढ ही यह रामगिरि होगा। यहाँ गुहा, मंदिर और चैत्यालय हैं तथा उग्रादित्य के समय यहाँ सिद्ध और विद्याधर विचरण करते रहे होंगे।[3]

उपर्युक्त पद्य मे रामगिरि को त्रिकलिंग प्रदेश का प्रधान स्थान बताया गया है। गंगा से कटक तक के प्रदेश को उत्कल या उत्तरकलिंग, कटक से महेन्द्रगिरि तक के पर्वतीय भाग को मध्यकलिंग और महेन्द्रगिरि से गोदावरी तक के स्थान को दक्षिण कलिंग कहते थे। इन तीनो की मिलित संज्ञा 'त्रिकलिंग' थी।

कालिदास द्वारा वर्णित रामगिरि भी यही स्थान होना चाहिए जो लक्ष्मणपुर से १२ मील दूर है। पद्मपुराण के अनुसार यहाँ रामचन्द्र ने मंदिर बनवाये थे। यहाँ पर्वत मे कई गुफाएं और मंदिरो के भग्नावशेष हैं।[4]

वस्तुत यह 'रामगिरि', विजगापट्टम जिले मे रामतीर्थ नामक स्थान है। यहाँ पर 'दुर्ग पंचगुफा' की भित्ति पर एक शिलालेख भी है। इसमे किसी एक पूर्वीय चालुक्यराजा के संबंध मे जानकारी दी हुई है। यह शिलालेख ई० १०११-१२ का है। इससे यह प्रकट होता है कि रामतीर्थ जैनधर्म का एक पवित्र स्थान था और यहाँ अनेक जैन अनुयायी रहते थे। उक्त शिलालेख मे 'रामतीर्थ को 'रामकोंड' भी लिखा है। पं० कैलाशचन्द्र के अनुसार—"ईसवीसन् की प्रारंभिक शताब्दियों मे रामतीर्थ बौद्धधर्म के अधिकार मे था। यहाँ से बौद्धधर्म के बहुत अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह उल्लेखनीय है कि बौद्धधर्म के पतनकाल मे कैसे जैनो ने इस स्थान पर कब्जा जमाया और उसे अपने धर्मस्थान के रूप मे परिवर्तित कर दिया।'"[5]

---

१. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन · भारतीय इतिहास, एक दृष्टि पृष्ठ २६०

२ नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २१२ 'स्थान रामगिरिगिरीन्द्रसदृश सर्वार्थसिद्धिप्रद' (क. का., प० २१, श्लोक ३)

३. नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृ. २१२

४ वही, पृ २१२

५. पं० कैलाशचंद्र, "दक्षिण मे जैनधर्म" पृ. ७०-७१.

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन ने रामतीर्थ की वैभवपूर्ण कहानी को ११वीं शताब्दी के मध्य तक स्वीकार किया है।

"रामतीर्थ (रामगिरि) ११वीं शताब्दी के मध्य तक प्रसिद्ध एवं उन्नत जैन सांस्कृतिक-केन्द्र बना रहा जैसा कि वहां के एक शिलालेख से प्रमाणित होता है। विमलादित्य (१०२२ ई०) के भी एक कन्नडी शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसके गुरु त्रिकालयोगी सिद्धान्तदेव तथा सम्भवतया स्वयं राजा भी जैन तीर्थ के रूप मे रामगिरि की वन्दना करने गये थे।"[1]

उग्रादित्य के काल मे रामगिरि अपने पूर्ण वैभव पर था। उसका समकालीन शासक वेंगि का पूर्वी चालुक्य राजा विष्णुवर्धन चतुर्थ (७६४-७९९ ई०) था। "विष्णुवर्धन चतुर्थ जैनधर्म का बडा भक्त था। इस काल मे विजगापट्टम (विशाखापत्तनम्) जिले की रामतीर्थ या रामकोंड नामक पहाडियो पर एक भारी जैन सांस्कृतिक-केन्द्र विद्यमान था। त्रिकलिंग (आन्ध्र) देश के वेंगि प्रदेश की समतल भूमि मे स्थित यह रामगिरि पर्वत अनेक जैनगुहामन्दिरो, जिनालयो एव अन्य धार्मिक कृतियो से सुशोभित था। अनेक विद्वान् जैनमुनि वहाँ निवास करते थे। विविध विद्याओ एव विषयों की उच्च शिक्षा के लिए यह सस्थान एक महान् विद्यापीठ था। वेंगि के चालुक्य नरेशों के सरक्षण एव प्रश्रय मे यह सस्थान फल-फूल रहा था। इस काल मे जैनाचार्य श्रीनन्दि इस विद्यापीठ के प्रधानाचार्य थे। वह आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयो मे निष्णात थे। स्वय महाराज विष्णुवर्धन उनके चरणो की पूजा करते थे। इन आचार्य के प्रधान शिष्य उग्रादित्याचार्य थे जो आयुर्वेद एव चिकित्साशास्त्र के उद्भट विद्वान् थे। सन् ७९९ ई० के कुछ पूर्व ही उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थ कल्याणकारक की रचना की थी। ग्रथप्रशस्ति से स्पष्ट है कि मूलग्रथ को उन्होंने नरेश विष्णुवर्धन के ही शासनकाल और प्रश्रय मे रचा था।"[2]

'त्रिकलिंग' देश ही आजकल तैलगाना या तिलगाना कहलाता है, जो इस शब्द का बिगडा हुआ रूप है। वेंगि राज्य इसी क्षेत्र के अन्तर्गत था।

"वेंगी राज्य की सीमा उत्तर मे गोदावरी नदी, दक्षिण मे कृष्णा नदी, पूर्व मे समुद्रतट और पश्चिम मे पश्चिमीघाट थी। इसकी राजधानी वेंगी नगर थी, जो इस समय पेड्डवेंगी (गोदावरी जिला) नाम से प्रसिद्ध है।"[3]

अत: निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उग्रादित्याचार्य मूलत तैलगाना (आध्रप्रदेश) के निवासी थे और उनकी निवास-भूमि 'रामगिरि' (विशाखापट्टम जिले की रामतीर्थ या रामकोंड) नामक पहाडिया थी। वही पर जिनालय मे बैठकर उन्होंने कल्याणकारक की रचना की थी। उनका काल ८वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध था।

उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य भी प्रगट होता है कि उग्रादित्याचार्य को वास्तविक सरक्षण वेंगी के पूर्वी चालुक्य राजा विष्णुवर्धन चतुर्थ (७६४-७९९ ई०) से प्राप्त हुआ था।

६१५ ई० मे चालुक्य सम्राट् पुलकेशी द्वितीय ने आध्रप्रदेश पर अधिकार कर वहा अपने छोटे भाई कुब्जविष्णुवर्धन को प्रान्तीय शासक नियुक्त किया था। इस देश की राजधानी 'वेंगी' थी। पुलकेशी के अंतिमकाल मे वेगी का शासक स्वतन्त्र हो गया और उसने वेंगी के पूर्वी चालुक्य राजवश की स्थापना की। इस राजवश के नरेशो मे जैनधर्म के प्रति बहुत आस्था थी। इसी वश मे पूर्वोक्त विष्णुवर्धन चतुर्थ (७६४-७९९ ई०) हुआ। राष्ट्रकूटो के साथ इसके अनेक युद्ध हुए थे। विष्णुवर्धन चतुर्थ जैनधर्म का अनुयायी था। इसकी मृत्यु के बाद इस वश मे जो राजा हुए वे दुर्बल थे। राष्ट्रकूट सम्राट गोविन्द तृतीय (७९३-८१४ ई०) और उसके पुत्र सम्राट अमोघवर्ष प्रथम (८१४-८७८ ई०) ने अनेक बार वेगि पर आक्रमण कर पूर्वी चालुक्यो को पराजित किया। अत यह सभावना उचित ही प्रतीत होती है कि चालुक्य सम्राट् विष्णुवर्धन चतुर्थ की मृत्यु के बाद जब पूर्वी चालुक्यो का वैभव समाप्त होने लगा और राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम की प्रसिद्धि और जैनधर्म के प्रति आस्था बढने लगी तो उग्रादित्याचार्य ने अमोघवर्ष प्र० की राजसभा मे आश्रय प्राप्त किया हो। सभव है, अमोघवर्ष की मद्य-मासप्रियता को दूर करने के लिए उन्हे उसकी राजसभा मे उपस्थित होना पडा हो अथवा उन्हे सम्राट् ने आमत्रित किया हो। अत "कल्याणकारक" के अत मे नृपतुग अमोघवर्ष का भी उल्लेख है।

ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है कि उग्रादित्याचार्य "कल्याणकारक" की रचना रामगिरि मे ही ७९९ ई० तक कर चुके थे। परन्तु बाद मे जब अमोघवर्ष प्रथम की राजसभा मे आये तो उन्होंने मद्य-मांस-सेवन के निषेध की युक्तियुक्तता प्रतिपादित करते हुए उसके अत मे 'हिताहित' नामक एक नया अध्याय और जोड दिया।

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन का भी यही विचार है—

---

१. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, "भारतीय इतिहास एक दृष्टि," पृ० २९१.

२. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय इतिहास, एक दृष्टि, पृ० २८९-९०

३. नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ८६.

"आचार्य उग्रादित्य ने अपने कल्याणकारक नामक वैद्यक ग्रंथ की रचना ८०० ई० के पूर्व ही कर ली थी किंतु अमोघवर्ष के आग्रह पर उन्होंने उसकी राजसभा में आकर अनेक वैद्यों एवं विद्वानों के समक्ष मद्य-मांस-निषेध का वैज्ञानिक विवेचन किया और इस ऐतिहासिक भाषण को 'हिताहित अध्याय' के नाम से परिशिष्ट रूप में अपने ग्रंथ में सम्मिलित किया।"[1]

इस प्रकार आचार्य उग्रादित्य का उत्तरकालीन जीवन दक्षिण के राष्ट्रकूटवंशीय सम्राट अमोघवर्ष प्रथम का समकालीन रहा।[2] इस शासक का शासनकाल ८१४ से ८७८ ई० रहा था।

सम्राट अमोघवर्ष प्रथम को नृपतुंग, महाराजशर्व, महाराजशण्ड, वीरनारायण, अतिशयधवल, शर्ववर्म, वल्लभराय, श्रीपृथ्वीवल्लभ, लक्ष्मीवल्लभ, महाराजाधिराज, भटार, परमभट्टारक आदि विरुद प्राप्त थे।[3] यह गोविन्द तृतीय का पुत्र था। जिस समय सिंहासन पर बैठा, उस समय उसकी आयु ९-१० वर्ष की थी अतः गुर्जरदेश का शासक, जो उसके चाचा इन्द्र का पुत्र था, कर्कराज उसका अभिभावक और संरक्षक बना। ८२१ ई० में अमोघवर्ष के वयस्क होने पर कर्कराज ने विधिवत् राज्याभिषेक किया।

अमोघवर्ष के पिता गोविन्द तृतीय ने एलौरा और मयूरखंडी (नासिकबागस) से हटाकर राष्ट्रकूटों की नवीन राजधानी मान्यखेट (मलखेड) में स्थापित की थी। परंतु उसके काल में इसकी बाहरी प्राचीर मात्र निर्माण हो सकी। अमोघवर्ष ने अनेक सुंदर भव्य-प्रसादों, सरोवरों और भवनों के निर्माण द्वारा उसका अलंकरण किया।

अमोघवर्ष एक शांतिप्रिय और धर्मात्मा शासक था। युद्धों का संचालन प्रायः उसके सेनापति और योद्धा ही करते रहे। अतः उसे वैभव, समृद्धि और शक्ति को बढ़ाने का खूब अवसर प्राप्त हुआ।

"८५१ ई० में अरब सौदागर सुलेमान भारत आया था। उसने 'दीर्घायु बलहरा' (वल्लभराय) नाम से अमोघ का वर्णन किया है और लिखा है कि उस समय संसार-भर में जो सर्वमहान् चार सम्राट् थे वे भारत का वल्लभराय (अमोघवर्ष), चीन का सम्राट्, बगदाद का खलीफा और रूम (कुस्तुन्तुनिया) का सम्राट् थे।"[4]

स्वयं वीर, गुणी और विद्वान् होने के साथ उसने अनेक विद्वानों, कवियों और गुणियों को अपनी राजसभा में आश्रय प्रदान किया था। इसके काल में संस्कृत, प्राकृत, कन्नडी और तमिल भाषाओं के विविध विषयों के साहित्य-सृजन में अपूर्व प्रोत्साहन मिला।

सम्राट् अमोघवर्ष दिगम्बर जैनधर्म का अनुयायी और आदर्श जैन श्रावक था। वीरसेन स्वामी के शिष्य आचार्य जिनसेनस्वामी का वह शिष्य था। जिनसेन स्वामी उसके राजगुरू और धर्मगुरू थे।[5] जैसाकि गुणभद्राचार्य कृत "उत्तर-पुराण" (८९८ ई०) में लिखा है—

"यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भव-
त्पादाम्भोजरजः पिशंगमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः।
संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोहमद्येत्यलम्
स श्रीमाज्जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मंगलम्॥"

आचार्य जिनसेन द्वारा रचित 'पार्श्वाभ्युदय' नामक महान् काव्य में सर्ग के अंत में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है—

इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरुश्रीजिनसेनाचार्यविरचिते मेघदूतवेष्टिते पार्श्वाभ्युदये भगवत्कैवल्यवर्णनम् नाम चतुर्थ सर्गः इत्यादि।"

अतः आचार्य जिनसेन का अमोघवर्ष का गुरू होना प्रमाणित है।

---

१. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय इतिहास, एक दृष्टि, पृ० ३०२
२. भारत के प्राचीन राजवंश, भाग ३, पृ० ३८.
३. प्रो० सालेतोर, Mediaval Jainism, p. 38· पं० कैलाशचन्द्र दक्षिण भारत में जैनधर्म, पृ० ९०
४. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय इतिहास: एक दृष्टि, पृ० ३०१.
५. प्रोफेसर सालेतोर, Mediaval Jainism, p. 38.

अमोघवर्ष ने जैन विद्वानों को भी महान संरक्षण प्रदान किया और अनेक जैन मुनियो को दान दिये। वह स्याद्वादविद्या का प्रेमी था। इसके आश्रित प्रसिद्ध गणिताचार्य महावीराचार्य ने अपने जैन गणित ग्रन्थ 'गणितसार संग्रह' में अमोघवर्ष को स्याद्वादसिद्धांत का अनुकरण करने वाला कहा है।

इसके शासनकाल और आश्रय मे 'सिद्धान्तग्रन्थ' की 'जयधवला' नामक टीका (ई० ८३७) की पूर्ति जिनसेन स्वामी ने की। इस टीका का लेखन प्रारम्भ उनके गुरु वीर सेन स्वामी ने किया था। इसके अतिरिक्त आचार्य शाकटायन पाल्यकीर्ति ने 'शब्दानुशासन' व्याकरण और उसकी अमोघवृत्ति की रचना की। स्वयं सम्राट् अमोघवर्ष ने संस्कृत मे 'प्रश्नोत्तररत्नमाला' नामक नीतिग्रन्थ और कन्नडी में 'कविराजमार्ग' नामक छंद अलकार का शास्त्रग्रन्थ रचा था।

'प्रश्नोत्तररत्नमाला' से ज्ञात होता है कि अमोघवर्ष ने अपने पिता के समान ही जीवन के अन्तिमकाल में राज्य त्याग दिया था।[1] ६० वर्ष राज्य करने के बाद ८७५-७६ ई० के लगभग अपने ज्येष्ठपुत्र कृष्ण द्वितीय को राज्य सौंप कर अमोघवर्ष श्रावक के रूप मे जीवन यापन करने लगे।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, यही अमोघवर्ष प्रथम नृपतु ग वल्लभराय आचार्य उग्रादित्य का समकालीन शासक था। इसका प्रमाण हमे 'कल्याणकारक' की निम्न पंक्तियो मे मिलता है —

"ख्यातः श्रीनृपतुंगवल्लभ-महाराजाधिराजस्थितः ।
प्रोद्यद्भूरिसभांतरे बहुविधप्रख्यातविद्वज्जने ।।

मांसाशिप्रकरेन्द्रताखिलभिषग्विद्याविदामग्रतो ।
मांसे निष्फलतां निरूप्य नितरां जैनेन्द्रवैद्यस्थितम् ।।"

इत्यशेषविशेषविशिष्टदुष्टपिशिताशिवैद्यशास्त्रेषु मामनिराकरणार्थमुग्रादित्याचार्यैर्नृपतु गवल्लभेंद्रसभायामुद्‌घोषितं प्रकरणम्।" (कल्याणकारक, हिताहिताध्याय, समाप्तिसूचक अंश)।

अर्थात् 'प्रसिद्ध नृपतु ग वल्लभ (राय) महाराजाधिराज की सभा मे, जहाँ अनेक प्रकार के प्रसिद्ध विद्वान् थे, मास भक्षण की प्रधानता का पोषण करने वाले वैद्यकविद्या के विद्वानो (वैद्यो) के सामने इस जैनेन्द्र (जैन मतानुयायी) वैद्य ने उपस्थित होकर मास की निष्फलता (निरर्थकता) को पूर्णतया सिद्ध कर दिया। इस प्रकार, सभी विशिष्ट, दुष्ट मास के भक्षण की पुष्टि करने वाले वैद्य शास्त्रो मे मास का निराकरण करने के लिए उग्रादित्याचार्य ने इस प्रकरण को नृपतु ग वल्लभ राजा की सभा मे उद्‌घोषित किया।

इस वर्णन मे जिस राजा के लिए उग्रादित्याचार्य ने 'नृपतु ग', 'वल्लभ', 'महाराजाधिराज' 'वल्लभेन्द्र' विरुदो का प्रयोग किया है, वह स्पष्टरूप मे राष्ट्रकूटवंशीय प्रतापी सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम (८१४-८७७ ई०) ही था। क्योंकि, ये सभी विरुद उसके लिए ही प्रयुक्त हुए हैं, जैसा कि हम पूर्व में लिख चुके हैं। अतएव श्री नाथूराम प्रेमी का यह कथन उचित प्रतीत नही होता—'उग्रादित्य राष्ट्रकूट अमोघवर्ष के समय के बतलाये गये है, परन्तु इसमें सदेह है। उसकी प्रशस्ति की भी बहुत-सी बातें सदेहास्पद हैं।'[2]

कृति-परिचय

उग्रादित्याचार्य की एक मात्र वैद्यककृति 'कल्याणकारक' मिलती है। इसमें कुल २५ 'परिच्छेद' (अध्याय) है और उनके बाद परिशिष्ट के दो अध्याय है—१ रिष्टाध्याय, और २ हिताहिताध्याय। इन परिच्छेदों के नाम इस प्रकार हैं—

(अ) **स्वास्थ्यरक्षणाधिकार** के अतर्गत परिच्छेद—

१. शास्त्रावतार, २ गर्भोत्पत्तिलक्षण, ३ सूत्रव्यावर्णनम् (शरीर का वर्णन), ४ धान्यादिगुणागुण-विचार, ५. अन्नपानविधि, ६. रसायनविधि।

---

१. विवेकात्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।
"रचिताऽमोघवर्षेण सुधियां सदलंकृति" ।।" (प्र० र० मा०)
२. श्री नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ११.

(आ) चिकित्साधिकार के अंतर्गत परिच्छेद—

७. व्याधिसमुद्देश, ८. वातरोगचिकित्सित, ९. पित्तरोगचिकित्सित, १०. श्लेष्मव्याधिचिकित्सित, ११. महामयचिकित्सित, (प्रमेह, कुष्ठ, उदर), १२ महामयचिकित्सित (वातव्याधि, मूढगर्भ, अर्श), १३. महामयचिकित्सित (अश्मरी, भगंदर) तथा क्षुद्ररोग-चिकित्सित (वृद्धि) १४. क्षुद्ररोगचिकित्सित (उपदंश, शूकदोष, श्लीपद, अपची, गलगंड, नाडीव्रण, अर्बुद, ग्रन्थि, विद्रधि, क्षुद्ररोग) १५ क्षुद्ररोग चिकित्सित (शिरोरोग, कर्णरोग, नासारोग, मुखरोग, नेत्ररोग), १६ क्षुद्ररोग चिकित्सित (श्वास, काम, विरस, तृष्णा, छर्दि, अरोचक, स्वर भेद, उदावर्त, हिक्का, प्रतिश्याय), १७ क्षुद्ररोगचिकित्सित (हृद्रोग, क्रिमिरोग, अजीर्णरोग, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, योनिरोग, गुल्म, पाण्डुरोग, कामला, मूर्च्छा, उन्माद, अपस्मार), १८ क्षुद्ररोगचिकित्सित (राजयक्ष्मा, मसूरिका, बालग्रह, भूततन्त्र), १९ सर्वविष चिकित्सित, २० शास्त्रसंग्रहतन्त्रयुक्ति।

(इ) इसके बाद 'उत्तरतन्त्र' प्रारम्भ होता है। इसके अंतर्गत परिच्छेद २१ कर्मचिकित्साधिकार (चतुर्विधकर्म-चिकित्सा-क्षार, अग्नि, शस्त्र, औषध; जलौका, शिराव्यध) २२. भेषजकर्मोपद्रवचिकित्साधिकार (स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, बस्ति-अनुवासन-निरूह, के असम्यक् प्रयोग से होने वाली आपत्तियो के भेद व प्रतीकार), २३ सर्वौषधकर्मव्यापच्चिकित्साधिकार (उत्तरबस्ति, वीर्यरोग, शुद्धशुक्र, शुद्धार्तव, गर्भादानविधि, गर्भिणीचर्या, प्रसव, सूतिकोपचार, धूम, कवलग्रह, नस्यविधि, व्रणशोथ-शोथ, पूतिनाशक लेप, केशकृष्णीकरण योग) २४ रसरसायनसिध्यधिकार (रस, रससंस्कार, मूर्च्छन, मारण, बधन, रसशाला, रसनिर्माण, रसप्रयोग), २५ कल्पाधिकार (हरीतकी, आमलक, त्रिफला, शिलाजतु, वाम्येषा ? कल्प, पाषाणभेदकल्प, भल्लातपाषाणकल्प, खर्परीकल्प, वज्रकल्प, मृत्तिकाकल्प, गोमृ त्र्यादिकल्प, एरंडादिकल्प, नाग्यादिकल्प, क्षारकल्प, चित्रककल्प, त्रिफलादिकल्प)।

अंतिम दो परिशिष्टाध्यायो में प्रथम 'रिष्टाध्याय' में मरणसूचक लक्षणो व चिह्नो का निरूपण किया गया है। द्वितीय, 'हिताहितोध्याय' में मांसभक्षण निषेध का युक्तियुक्त विवेचन है। इस अध्याय मे स्वयं आचार्य उग्रादित्य की संस्कृत टीका भी उपलब्ध है।

ग्रंथ का उद्देश्य—

उग्रादित्याचार्य ने लिखा है—"स्वयं के यश के लिए या विनोद के लिए या कवित्व के गर्व के लिए या हमारे पर लोगो की अभिरुचि जागृत करने के लिए मैंने इस ग्रंथ की रचना नही की है, अपितु यह समस्त कर्मों का नाश करने वाला जैनसिद्धांत है, ऐसा स्मरण करते हुए इसकी रचना की है।"

"जो विद्वान् मुनि आरोग्यशास्त्र को भलीभाँति जानकर उसके अनुसार आहार-विहार करते हुए स्वास्थ्य-रक्षा करते हैं वह सिद्धसुख को प्राप्त करता है। इसके विपरीत जो आरोग्य की रक्षा न करते हुए अपने दोषो से उत्पन्न रोगो, शरीर को पीडा पहुचाते हुए, अपने अनेक प्रकार के दुष्परिणामो के भेद से कर्म से बध जाता है।"

"बुद्धिमान् व्यक्ति दृढ मन वाला होने पर भी यदि रोगी हो, वह न धर्म कर सकता है, न धन कमा सकता है और न मोक्षसाधन कर सकता है। इन पुरुषार्थों की प्राप्ति न होने मे वह मनुष्य कहलाने योग्य ही नही रह जाता।"

"इस प्रकार उग्रादित्याचार्य द्वारा प्रणीत यह शास्त्र कर्मो के मर्मभेदन करने के लिए शस्त्र के समान है। सब कामो मे निपुण लोग इसे जानकर (अर्थात् इस शास्त्र मे प्रवीण होकर) और इसके अनुसार आचरण-आरोग्यसम्पादन कर धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष इन चारो पुरुषार्थों को प्राप्त करते है।[1]

---

१. (अ) क. का, प २०, श्लोक ८८.

न ह्यात्मयशसे विनोदननिमित्ततो वापि सत्कवित्वनिजगर्वतो न च जनानुरागाशयात्।
कृतं प्रथितशास्त्रमेतदुरुजैनसिद्धान्तमित्यहर्निशमनुस्मराम्यखिलकर्मनिर्मूलनम् ॥

आरोग्यशास्त्रमधिगम्य मुनिर्विपश्चित् स्वास्थ्यं स साधयति सिद्धसुखैकहेतुम्।
अन्यस्स्वदोषकृतरोगनिपीडिताङ्गो बध्नाति कर्म निजदुष्परिणामभेदात् ॥८९॥

न धर्मस्य कर्ता न चार्थस्य हर्ता न कामस्य भोक्ता न मोक्षस्य पाता।
नरो बुद्धिमान् धीरसत्त्वोऽपि रोगी यतस्तद्विनाशाद्भवेन्नैव मर्त्यः ॥९०॥

इत्युग्रादित्याचार्यवर्यप्रणीतं शास्त्रं शस्त्रं कर्मणां मर्मभेदी।
ज्ञात्वा मर्त्यैस्सर्वकर्मप्रवीणैः लभ्यन्तेके धर्मकामार्थमोक्षाः ॥९१॥

(आ) क. का १-११-१२

ग्रंथारम्भ में उग्रादित्य ने लिखा है—

"महर्षि लोग स्वाध्याय को ही तपस्या का मूल मानते हैं। अत वैद्यों के प्रति वात्सल्यभाव से ग्रन्थ रचना करने को मैं प्रधान तपश्चर्या समझता हूं। अतः मैंने इस पर कल्याणकारी तपश्चरण ही यत्नपूर्वक प्रारम्भ किया है।"[1]

ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय—

जैन तीर्थंकरो की वाणी को विषयानुसार बांटकर उनके बारह विभाग किये गये है। इन्हें आगम के 'द्वादश-अंग' कहते हैं। इनमें बारहवां 'दृष्टिवाद' नामक अंग है, उसके ५ भेदो मे एक भेद 'पूर्व' या 'पूर्वगत' कहलाता है। पूर्व के भी १४ भेद है। इनमे 'प्राणावाय' नामक एक भेद है। इसमे विस्तारपूर्वक अष्टाग आयुर्वेद अर्थात् चिकित्सा और शरीर शास्त्र का प्रतिपादन किया गया है। यही इस ग्रन्थ का मूल या प्रतिपाद्य विषय है।

रामगिरि मे श्रीनदि से 'प्राणावाय' का अध्ययन कर उग्रादित्य ने इस ग्रन्थ की रचना की थी।

प्राणावाय सम्पूर्ण मूल का प्राचीनतम साहित्य अर्धमागधी भाषा मे निर्मित हुआ था। ध्यान रहे कि जैन परम्परा का समग्र आगम-साहित्य महावीर की मूल भाषा अर्धमागधी मे ही रचा गया था। हर प्रकार से सुखकर इस शास्त्र प्राणावाय के उस विस्तृत विवेचन को यथावत् सक्षेप रूप मे सस्कृत भाषा मे उग्रादित्य ने इस ग्रन्थ मे वर्णित किया है। अर्धमागधी भाषा उनके समय तक सभवत कुछ अप्रचलित हो चुकी थी। देशभर मे सर्वत्र सस्कृत की मान्यता और प्रचलन था। अत उग्रादित्य का अपने ग्रथ को सर्वलोक-भोग्य और सम्मान्य बनाने हेतु सस्कृत मे रचना करनी पडी।[2]

स्वय ग्रथकार की प्रशस्ति के आधार पर—"यह कल्याणकारक नामक ग्रथ अनेक अलकारो मे युक्त है, सुन्दर शब्दो से ग्रथित है, सुनने मे सुखकर है, अपने हित की कामना करने वालो की प्रार्थना पर निर्मित है, प्राणियो के प्राण, आयु, सत्त्व, वीर्य, बल को उत्पन्न करने वाला और स्वास्थ्य का कारणभूत है। पूर्व के गणधरादि द्वारा प्रतिपादित 'प्राणावाय' के महान् शास्त्र रूपी निधि से उद्भूत है। अच्छी युक्तियो या विचारो से युक्त है, जिनेन्द्र भगवान् (तीथकर) द्वारा प्रतिपादित है। ऐसे शास्त्र को प्राप्त कर मनुष्य सुख प्राप्त करता है।"

"जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ यह शास्त्र विभिन्न छदो (वृत्तो) मे रचित प्रमाण, नय और निक्षेपो का विचार सार्थक रूप से दो हजार पांच सौ तेरासी छदो मे रचा गया है और जब तक सूर्य, चन्द्र और तारे मौजूद है तब तक प्राणियो के लिए सुखसाधक बना रहेगा।"[3]

---

१. क. का. १-१२

स्वाध्यायमाहुरपरे तपसां हि मूल मन्ये च वैद्यवरवत्सलताप्रधानम्।
तस्मात्तपश्चरणमेव मया प्रयत्नादारभ्यते स्वपरसौख्यविधायि सम्यक्॥

२ क. का. प. २५-५४

'सर्वार्धाधिकमागधीयविलसद्भाषाविशेषोज्ज्वलात्।
प्राणावायमहागमादवितथ सगृह्य सक्षेपत॥
उग्रादित्यगुरुगुंरुगुणैरुद्भासि सौख्यास्पद।
शास्त्र सस्कृतभाषया रचितवानित्येष भेदस्तयो:॥

३. क. का. २५-५५-५६.

सालकार सुशब्द श्रवणसुखमथ प्रार्थित स्वार्थविद्भि।
प्राणायुस्सत्ववीर्यप्रकटबलकर प्राणिना स्वस्थहेतुम्॥
निध्युद्भूत विचारक्षममिति कुशला: शास्त्रमेतद्यथावत्।
कल्याणाख्य जिनेन्द्रैर्विरचितमधिगम्याशु सौख्य लभते॥५५॥
अध्यर्धद्विसहस्रकैरपि तथाशीतिप्रयैरसोत्तरै वृंत्तैस्सचारितैरिहाधिकमहावृत्तैर्जिनेन्द्रोदित:।
प्रोक्त शास्त्रमिद प्रमाणनयनिक्षेपैर्विचार्यार्थवज्जीयात्तद्रविचन्द्रतारकमल सौख्यास्पद प्राणिनाम्॥५६॥

'प्राणावाय' का प्रतिपादक होने का प्रमाण देते हुए उग्रादित्य ने कल्याणकारक में प्रत्येक परिच्छेद के अंत में लिखा है—"जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं जिसके इहलोक-परलोक के लिए प्रयोजन-भूत अर्थात् साधनरूपी दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्री जिनेन्द्र के मुख से बाहर निकले हुए शास्त्ररूपी सागर की एक बून्द के समान यह शास्त्र (ग्रन्थ) है। यह जगत् का एकमात्र हित-साधक है (अतः इसका नाम 'कल्याणकारक' है)।"[1]

शास्त्र की परम्परा—

'कल्याणकारक' के प्रारंभिक भाग (प्रथम परिच्छेद के आरम्भ के दस पद्यों में) आचार्य उग्रादित्य ने मर्त्यलोक के लिए जिनेन्द्र के मुख से आयुर्वेद (प्राणावाय) के प्रकटित होने का कथानक दिया है।[2]

भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे। उनके समवसरण मे भरत चक्रवर्ती आदि ने पहुंचकर लोगों के रोगो को दूर करने और स्वास्थ्य रक्षा का उपाय पूछा। तब प्रमुख गणधरो को उपदेश देने हेतु भगवान् ऋषभदेव के मुख से सरस शारदादेवी बाहर प्रकटित हुई। उनकी वाणी मे पहले पुरुष, रोग, औषध और काल—इस प्रकार संपूर्ण आयुर्वेद शास्त्र के चार भेद बताते हुए इन वस्तुचतुष्टयो के लक्षण, भेद, प्रभेद आदि सब बातो को बताया गया। इन सब तत्त्वो को साक्षात रूप से गणधर ने समझा। गणधरों द्वारा प्रतिपादित शास्त्र को निर्मल, मति, श्रुति, अवधि व मनःपर्यय ज्ञान को धारण करने वाले योगियो ने जाना।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण आयुर्वेदशास्त्र ऋषभनाथ तीर्थंकर के बाद महावीर पर्यंत तीर्थंकरो तक चला आया। यह अत्यंत विस्तृत है, दोषरहित है, गंभीर वस्तु-विवेचन से युक्त है। तीर्थंकरो के मुख से निकला हुआ यह ज्ञान **'स्वयंभू'** है और अनादिकाल से चला आने के कारण **'सनातन'** है। गोवर्धन, भद्रबाहु आदि श्रुतकेवलियो के मुख से, अल्पांग ज्ञानी या अगांग-ज्ञानी मुनियो द्वारा साक्षात् सुना हुआ है। अर्थात् श्रुतकेवलियो ने अन्य मुनियो को इस ज्ञान को दिया था।

इस प्रकार प्राणावाय (आयुर्वेद) संबंधी ज्ञान मूलतः तीर्थंकरो द्वारा प्रतिपादित है अतः यह 'आगम' है। उनसे इसे गणधर प्रतिगणधरो ने, उनसे श्रुतकेवली, और उनसे बाद मे होने वाले अन्य मुनियो ने क्रमशः प्राप्त किया।

इस तरह परंपरा से चले आ रहे इस शास्त्र की सामग्री को गुरु श्रीनन्दि से सीखकर उग्रादित्य ने 'कल्याणकारक' ग्रन्थ की रचना की। अतः कल्याणकारक परम्परागत ज्ञान के आधार रचित शास्त्र है।[3]

---

१ (अ) क. का. प्रत्येक परिच्छेद के अंत मे—
"इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहाम्बुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥"
(आ) "प्राणावायित जिनवरैरधुना मुनीन्द्रोग्रादित्य—पण्डितमहागुरुभिः प्रणीतम् ।"
(क. का. २५/५३)

२ क. का. प. १/६-१०

शास्त्रपरम्परागमनक्रम—
दिव्यध्वनिप्रकटितं परमार्थजातं साक्षात्तथा गणधरोऽधिजगे समस्तम् ।
पश्चात् गणाधिपनिरूपितवाक्प्रपंचमष्टार्धनिर्मलधियो मुनयोऽधिजग्मुः ॥ ९ ॥
एवं जिनान्तरनिबन्धनसिद्धमार्गादायातमायतमनाकुलमर्थगाढम् ।
स्वायंभुवं सकलमेव सनातनं तत् साक्षाच्छ्रुतं श्रुतदलैः श्रुतकेवलिभ्यः ॥ १० ॥

३. क. का. २१/३
स्थानं रामगिरिर्गिरीन्द्रसदृशः सर्वार्थसिद्धिप्रदः ।
श्रीनन्दिप्रभवोऽखिलागमविधिः शिक्षाप्रदः सर्वदा ॥
प्राणावायनिरूपितार्थमखिलं सर्वज्ञसंभाषितं ।
सामग्रीगुणता हि सिद्धिमधुना शास्त्रं स्वयं नान्यथा ॥

'कल्याणकारक' आधारभूत जैन-आयुर्वेद ग्रंथ—

'कल्याणकारक' की रचना से पूर्व जिन जैन आयुर्वेदज्ञों ने ग्रन्थो का प्रणयन किया था, उनका उल्लेख उग्रादित्य ने निम्न पंक्तियों मे किया है—

> **"शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकं शल्यतंत्रं च पात्र-**
> **स्वामिप्रोक्तं विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः ।**
>
> **काये या सा चिकित्सा दशरथगुरुभिर्मेघनादैः शिशूनां**
> **वैद्यं वृष्यं च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनादैर्मुनीन्द्रैः ।। (क० का० २०/८५)**

आयुर्वेद के आठ अंग हैं। आठ अंगो पर पृथक्-पृथक् जैन आयुर्वेद ग्रंथ रचे गये थे। इन ग्रंथों के नाम व उनके प्रणेता के नाम निम्नानुसार हैं

(१) शालाक्यतंत्र	पूज्यपाद
(२) शल्यतंत्र	पात्रस्वामि
(३) विष और उग्रग्रहशमनविधि (अगदतंत्र और भूतविद्यापरक)	सिद्धसेन
(४) कायचिकित्सा	दशरथगुरु
(५) शिशुचिकित्सा (कौमारभृत्य)	मेघनाद
(६) दिव्यामृत (रसायन) और वृष्य (वाजीकरण)	सिंहनाद (पाठांतर-सिंहसेन)

इनके अतिरिक्त समंतभद्राचार्य ने इन आठो अंगो को एक साथ पूर्ण रूप से विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करने वाले वैद्यग्रंथ की रचना की थी। उसी के आधार पर उग्रादित्य ने संक्षेप मे वर्णन करते हुए 'कल्याणकारक' नामक ग्रन्थ की रचना की थी—

> **"अष्टांगमप्यखिलमत्र समन्तभद्रैः प्रोक्तं**
> **सविस्तरवचोविभवैर्विशेषात् ।**
> **संक्षेपतो निगदितं तदिहात्मशक्त्या**
> **कल्याणकारकमशेषपदार्थयुक्तम् ।। (क० का० प्र० २०/८६)**

इस शास्त्र (प्राणावाय) का अध्ययन उग्रादित्य ने श्रीनंदि से किया था। वे उस काल के प्राणावाय के महान् आचार्य थे।

ग्रन्थगत विशेषताएँ—

प्राणावाय-परम्परा का उल्लेख करने वाला यह एकमात्र ग्रन्थ उपलब्ध है। संभवत इसके पूर्व और पश्चात् का एतद्विषयक साहित्य काल-कवलित हो चुका है। इसमे 'प्राणावाय' की दिगम्बर सम्मत परम्परा दी गई है। अपने पूर्वाचार्यों के रूप मे तथा जिन ग्रन्थो को आधार-भूत स्वीकार किया गया है उनके प्रणेताओ के रूप मे उग्रादित्य ने जिन मुनियो और आचार्यो का उल्लेख किया है, वे सभी दिगम्बर-परम्परा के हैं। अत यह निश्चित रूप से कह सकना संभव नही कि इस संबंध मे श्वेताम्बर-परम्परा और उसके आचार्य कौन थे। फिर भी ग्रन्थ की प्राचीनता (८वी शती मे निर्माण होना) और रचनाशैली व विषयवस्तु को ध्यान मे रखते हुए कल्याणकारक का महत्त्व बहुत बढ जाता है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से जो विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे निम्न हैं—

(१) **ग्रंथ के उपक्रम भाग में आयुर्वेद के अवतरण**—मर्त्यलोक की परम्परा का जो निरूपण किया गया है, वह सर्वथा नवीन है। इस प्रकार के अवतरण संबंधी कथानक आयुर्वेद के अन्य प्रचलित एवं उपलब्ध शास्त्रग्रन्थो, जैसे चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, काश्यपसंहिता, अष्टाग संग्रह आदि मे प्राप्त नही होता। कल्याणकारक का वर्णन 'प्राणावाय'-परम्परा का सूचक है। अर्थात् प्राणावाय' संज्ञक जैन-आगम का अवतरण तीर्थंकरो की वाणी मे होकर जन-सामान्य तक पहुंचा—इस ऐतिहासिक परम्परा का इसमे वर्णन है।

चरक आदि ग्रन्थों में आयुर्वेद के अवतरण का जो निरूपण है, उसका क्रम इस प्रकार है—
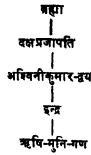
आयुर्वेद के इन ग्रन्थो मे आयुर्वेद को वैदिक आस्तिक शास्त्र माना गया है। अत इसका उद्भव अन्य वैदिक आस्तिक शास्त्रों (कामशास्त्र, नाट्यशास्त्र आदि) की भाति ब्रह्मा से स्वीकार किया गया है। वस्तुत ब्रह्मा, वैदिकज्ञान का सूचक प्रतीक है।

'प्राणावाय' परम्परा मे ज्ञान का मूल तीर्थंकरो की वाणी को माना गया है। यह परम्परा इस प्रकार चलती है—
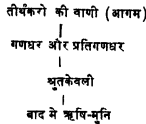
इस प्रकार वैदिक आयुर्वेद की मान्यपरम्परा और प्राणावाय-परम्परा मे यह अन्तर है।

२. कल्याणकारक मे कही पर भी चिकित्सा मे मद्य, मास और मधु का प्रयोग नही बताया गया है। जैन-मतानुसार ये तीनों वस्तुए असेव्य है। मास और मधु के प्रयोग मे जीव-हिंसा का विचार भी किया जाता है। मद्य जीवन के लिए अशुचिकर, मादक, और अशोभनीय माना जाता है, आसव-अरिष्ट का प्रयोग तो कल्याणकारक मे आता है। जैसे प्रमेहरोगाधिकार मे आमलकारिष्ट आदि।

आयुर्वेद के प्राचीन सहिताग्रन्थो मे मद्य, मास और मधु का भरपूर व्यवहार किया गया है। चरक आदि मे मास और मासरस से सबधित अनेक चिकित्सा प्रयोग दिये गये है।

मद्य को अग्निदीप्ति कर और आशु प्रभावशाली मानते हुए अनेक रोगो मे इनका विधान किया गया है। राजयक्ष्मा जैसे रोगो में तो मास और मद्य की विपुल-गुणकारिता स्वीकार की गई है। मधु अनुपान और सहपान के रूप मे अनेक औषधियो के साथ प्रयुक्त होता है तथा मधूदक, मध्वासव आदि का पानार्थ व्यवहार वर्णित है।

३. चिकित्सा मे वानस्पतिक और खनिज द्रव्यो के प्रयोग वर्णित है। वानस्पतिक द्रव्यो से निर्मित स्वरस, क्वाथ, कल्क, चूर्ण, वटी, आसव, आरिष्ट, घृत और तैल की कल्पनाए दी गई है। क्षारनिर्माण और क्षार का स्थानीय और आभ्यतर प्रयोग भी बताया गया है। अग्निकर्म सिरावेध और जलौकावचारण का विधान भी दिया गया है।

अनेक प्रकार के खनिज द्रव्यो का औषधीय प्रयोग कल्याणकारक मे मिलता है।

४. यदि इस ग्रन्थ का रचनाकाल ८वी शती सही है, तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रस (पारद) और रसकर्म (पारद का मूर्च्छन, मारण और बध, इस प्रकार त्रिविधकर्म, रससस्कार) का प्राचीनतम प्रामाणिक उल्लेख हमे इस ग्रन्थ मे प्राप्त होता है। इस पर एक स्वतंत्र अध्याय ग्रन्थ के 'उत्तरतत्र' मे २४वा परिच्छेद 'रसरसायनविध्य धिकार' के नाम से दिया गया है। कुल ५६ पद्यो में पारद सम्बधी 'रसशास्त्रीय' सब विधान वर्णित हैं।

५. जैन सिद्धात का अनुसरण करते हुए कल्याणकारक मे सब रोगो का कारण पूर्वकृत "कर्म" माना गया है।

सहेतुकास्सर्वविकाररूपातास्तेषां विवेको गुणमुख्यभेदात् ।
हेतुः पुनः पूर्वं कृतं स्वकर्म ततः परे तस्य विशेषणानि ॥११॥

स्वभावकालग्रहकर्मदैव विधात् पुण्येश्वरभाग्यपापम् ।
विधिः कृतांतो नियतिर्यमश्च पुराकृतस्यैव विशेषसंज्ञा ॥१२॥

न भूतकोपान्न च दोषकोपान्न चैव सांवत्सरिकोपदिष्टात् ।
ग्रहप्रकोपात्प्रभवंति रोगाः कर्मोदयोदीरणभावतस्ते ॥१३॥

(क का, प-७, ११-१३)

अर्थात् शरीर मे सब रोग हेतु के बिना नही होते। उन हेतुओं को गौण और मुख्य भेद से जानने की आवश्यकता होती है। रोगो का मुख्य हेतु पूर्वकृत कर्म है। शेष सब उसके विशेषण अर्थात् निमित्तकारण है या गौण हैं।

'स्वभाव, काल, ग्रह, कर्म, दैव, विधाता, पुण्य, ईश्वर, भाग्य, पाप, विधि, कृतात, नियति, यम—ये सब पूर्वकृत कर्म के ही विशेष नाम हैं।'

'न पृथ्वी आदि महाभूतो के कोप से, न दोषो के कोप से, न वर्षफल के खराब होने से और न ग्रहों (शनि, राहु आदि) के कोप से—रोग उत्पन्न होते हैं। अपितु, कर्म के उदय और उदीरण से ही रोग उत्पन्न होते हैं।"

फिर 'चिकित्सा' क्या है ? और इसका प्रयोजन क्या है ? इन प्रश्नों का भी आचार्य उग्रादित्य ने रोग-निदानानुरूप ही उत्तर प्रस्तुत किया है। यथा

'कर्म की उपशमनक्रिया को चिकित्सा या रोगशाति कहते हैं।

तस्मात्स्वकर्मोपशमक्रियाया व्याधिप्रशांति प्रवदंति तज्ज्ञाः।"

(क-का, ७/१४) 'अपने कर्म का पाक' दो प्रकार से होता है—१. समय पर स्वय पकना, २. उपाय द्वारा पकना। इनकी सुन्दर विवेचना आचार्य ने की है—

स्वकर्मपाकोद्विविधो यथावदुपायकालक्रमभेदभिन्नः ॥१४॥
उपायपाकोवरघोरवीरतप प्रकारैस्सुविशुद्धमार्गैः।
सद्यः फलं यच्छति कालपाकः कालांतरात्स्वयमेव दद्यात् ॥१५॥
यथा तरूणां फलपाकयोगो मतिप्रगल्भैः पुरुषैर्विधेयः।
तथा चिकित्सा प्रविभाग काले दोषप्रकोपो द्विविध प्रसिद्ध ॥१६॥
आमघ्नसद्भेषजसंप्रयोगादुपायपाकं प्रवदंति तज्ज्ञाः।
कालांतरात्कालविपाकमाहुर्मृगद्विजामायजनेषु दृष्टम् ॥१७॥

(१) **उपायपाक**—श्रेष्ठ, धीर, वीर, तपश्चादि विशुद्ध उपायो से कर्म का जबरन उदय कराना (उदयकाल न होने पर भी) इसे 'उपायपाक' कहते हैं जिससे वह तत्काल फल देता है।

(२) **कालपाक**—कालातर मे यथा समय जो पाकर स्वयं उदय मे आकर फल देता है। वह 'कालपाक' है।

जिस प्रकार वृक्ष के फल स्वय पकते है और बुद्धिमान व्यक्तियो द्वारा पकाये भी जाते है उसी प्रकार दोषो का पाक भी '**उपाय (चिकित्सा)**' और '**कालक्रम**' से दो प्रकार से पक्व होते हैं। दोष या रोग के आमत्व को औषधियो द्वारा पकाना 'उपायपाक' कहलाता है और कालातर मे (अपने पाक काल मे) स्वय ही (बिना किसी औषधि के) पकना 'कालपाक' कहलाता है।

इसलिए लिखा है—'जीव (आत्मा) अपने कर्म से प्राप्त होने वाले पापपुण्य रूपी फल को बिना प्रयत्न के अवश्य ही प्राप्त करता है। पाप और पुण्य के कारण ही दोषो का प्रकोप और उपशम होता है। क्योंकि ये दोनो ही मुख्य कर्म हैं। अर्थात् रोग के प्रति दोष प्रकोप व दोषशमन गौण (निमित्त) कारण है।

जीवस्स्वकर्मार्जितपुण्यपापफलं प्रयत्नेन विनापि भुंक्ते।
दोषप्रकोपोपशमौ च ताभ्यामुदाहृतौ हेतुनिबंधनौ तौ ॥ (क का. ७।१०)

(६) कल्याणकारक में शारीर विषयक वर्णन विस्तार से नही मिलता, किन्तु २० वें परिच्छेद मे भोजन के बारह भेद, बल, अभ्यवकाश, स्नेहपाक आदि, रिष्टों का वर्णन करने के साथ शरार के मर्मों का वर्णन किया गया है।

(७) इस शास्त्र (प्राणावाय या आयुर्वेद) के दो प्रयोजन बताये गये हैं—स्वस्थ का स्वास्थ्यरक्षण और रोगी का रोगमोक्षण। इस सबको संक्षेप से इस ग्रन्थ मे कहा गया है—

"लोकोपकारकरणार्थमिदं हि शास्त्रं शास्त्रप्रयोजनमपि द्विविधं यथावत् ।
स्वस्थस्य रक्षणमथामयमोक्षणं च संक्षेपतः सकलमेवनिरूप्यतेऽत्र ॥ (क०का० १।२४)

चिकित्सा के आधार जीव हैं। इनमे भी मनुष्य सर्वश्रेष्ठ जीव है।

'सिद्धान्ततः प्रथितजीवसमासभेदे पर्याप्तसंज्ञिवरपंचविधेन्द्रियेषु ।
तत्रापि धर्मनिरता मनुजाः प्रधानाः क्षेत्रे च धर्मबहुले परमार्थजाता' ॥ (क० का० १।२६)

जैनसिद्धातानुसार जीव के १४ भेद हैं—१ एकेंद्रिय सूक्ष्म पर्याप्त, २ एकेन्द्रियसूक्ष्म् अपर्याप्त, ३ एकेंद्रिय बादरपर्याप्त, ४ एकेंद्रिय बादर अपर्याप्त, ५ द्वीन्द्रियपर्याप्त ६ द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, ७ त्रीन्द्रियपर्याप्त, ८ त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, ९ चतुरीन्द्रिय पर्याप्त, १० चतुरीन्द्रिय अपर्याप्त, ११ पचेन्द्रिय असज्ञी पर्याप्त, १२ पचेन्द्रिय असज्ञी अपर्याप्त, १३ पचेंद्रिय सज्ञी पर्याप्त, १४ पचेंद्रिय सज्ञी अपर्याप्त।

(१) जिनको आहार शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छवास, भाषा व मन—इन ६ पर्याप्तियो मे यथासभव पूर्ण प्राप्त हुए हो उन्हें 'पर्याप्तजीव' कहते हैं। जिन्हे ये पूर्व प्राप्त न हुए हो, उन्हे 'अपर्याप्त जीव' कहते हैं। अपर्याप्त जीवो की अपेक्षा पर्याप्त जीव श्रेष्ठ है।

(२) जिनको हित-अहित, योग्य-अयोग्य, गुण-दोष आदि का ज्ञान होता है उन्हे 'सज्ञी' कहते हैं, इसके विपरीत 'असज्ञी' हैं। असज्ञियो से सज्ञी श्रेष्ठ है।

पचेन्द्रिय संज्ञी जीवों मे मनुष्य श्रेष्ठ हैं। उनमे भी धर्माचरण करने वाले मनुष्य प्रधान हैं, क्योकि उन्होने धर्ममय क्षेत्र (शरीर) में जन्म लिया है।

(८) ग्रन्थ-योजना भी वशिष्ट्यपूर्ण है। सपूर्ण ग्रन्थ के मुख्य दो भाग हैं—मूलग्रन्थ (१ से २० परिच्छेद) और उत्तरतंत्र (२१ से २५ परिच्छेद)। 'प्राणावाय' (आयुर्वेद) सबधी सारा विषय मूलग्रथ मे प्रतिपादित किया गया है। मूलग्रन्थ भी, स्पष्ट तया दो भागो में बटा हुआ है—स्वास्थ्यपरक और रोगचिकित्सापरक। प्रथम परिच्छेद मे आयुर्वेद (प्राणावाय) के अवतरण की ऐतिहासिक परम्परा बतायी गयी है और ग्रन्थ के प्रयोजन को लिखा गया है। द्वितीय परिच्छेद से छठे परिच्छेद तक स्वास्थ्य-रक्षणोपाय वर्णित है। स्वास्थ्य दो प्रकार का बताया गया है, १. पारमार्थिक स्वास्थ्य (आत्मा के सपूर्ण कर्मों के क्षय से उत्पन्न आत्यंतिक नित्य अतीन्द्रिय मोक्ष रूपी सुख) २ व्यवहार स्वास्थ्य (अग्नि व धातु, की समता दोषविभ्रम न होना, मल-मूत्र का ठीक से विसर्जन, आत्मा-मन-इंद्रियो की प्रसन्नता)।[1] छठे परिच्छेद मे दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, वाजीकरण और रसायन विषयो का वर्णन है) क्योकि ये सभी स्वास्थ्यरक्षण के आधार हैं।

सातवें परिच्छेद में रोग और चिकित्सा की सामान्य बाते, निदान पद्धति का वर्णन है।

आठवे से अठारहे तक विभिन्न रोगो के निदान चिकित्सा का वर्णन है। रोगो के मोटे तौर पर दो वर्ग किए गए हैं—१ महामय, २ क्षुद्रामय। महामय आठ प्रकार के हैं—प्रमेह, कुष्ठ, उदररोग, वातव्याधि, मूढगर्भ, अर्श, अश्मरी और भगदर। शेष सब रोग क्षुद्र-रोगों की श्रेणी मे आते हैं। क्षुद्र रोगो के अतर्गत ही 'भूतविद्या' सबधी विषय—बालग्रह और भूतो का वर्णन है। उन्नीसवें परिच्छेद मे

---

१. अशेषकर्मक्षयजं महाद्भुत यदेतदात्यंतिकमद्वितीयम् ।
अतीन्द्रियं प्रार्थितमर्थवेदिभि तदेतदुक्तं परमार्थनामकम् ॥ ३ ॥
समाग्निधातुत्वमदोषविभ्रमो मलक्रियात्मेंद्रियसुप्रसन्नता ।
मन: प्रसादश्च नरस्य सर्वदा, तदेवमुक्तं व्यवहारजं खलु ॥ ४ ॥ (क. का. २/३-४)

विपरीत—अगद तंत्र संबंधी विषय दिये गये हैं। मद्य को विष वर्ग मे ही माना गया है। अंतिम बीसवें परिच्छेद में सप्तधातूत्पत्ति, रोग-कारण और अधिष्ठान, साठ प्रकार के उपक्रम व चतुर्विधकर्म, भोजन के बारह भेद, दश औषधकाल, स्नेहपाकादि की विधि, रिष्ट-वर्णन, और मर्मवर्णन हैं।

उत्तरतंत्र में क्षारकर्म, अग्निकर्म, जलौकावचारण, शस्त्र कर्म, शिराव्यध, स्नेहनादि कर्मों के यथावत् न करने से उत्पन्न आपत्तियों की चिकित्सा, उत्तरबस्ति, गर्भाधान, प्रसव, सूतिकोपचार, धूम्रपान, कवल-गंडूष, नस्य, शोथ-वर्णन, पलित-नाशन, केशकृष्णीकरण उपाय, रसविधि विविध, कल्पप्रयोग हैं। अंत में दो परिशिष्टाध्याय हैं।

दक्षिण भारत के अन्य जैन-आयुर्वेद ग्रंथ

अष्टाग आयुर्वेद के प्रतिपादक और 'प्राणावाय' परम्परा के मुख्य उपलब्ध मौलिक ग्रन्थ 'कल्याणकारक' पर विस्तार से विवेचन देने के पश्चात् यहां दक्षिण भारत मे लिखित दिगंबर आचार्यों के अन्य वैद्यक-ग्रन्थो का उल्लेख किया जाता है।

समंतभद्र—(३-४ शताब्दी) कर्नाटक में इनका लिखा हुआ 'पुष्प आयुर्वेद' नामक ग्रन्थ मिलता है, वह संदिग्ध है। उग्रादित्य ने इनके अष्टाग संबधी विस्तृत ग्रन्थ का उल्लेख किया है।

पूज्यपाद—(५वी शताब्दी)—इनका प्रारम्भिक नाम देवनदि था। बाद मे बुद्धि की महत्ता के कारण यह 'जिनेन्द्रबुद्धि' कहलाये तथा देवों ने जब इनके चरणो की पूजा की, तब से यह 'पूज्यपाद' कहलाने लगे। मानवजाति के हित के लिए इन्होंने वैद्यकशास्त्र की रचना की थी। यह ग्रन्थ अप्राप्य है। 'कल्याणकारक' मे अनेक स्थानो पर 'पूज्यपादेन भाषित' ऐसा कहा गया है। आन्ध्रप्रदेश में रचित १५ वी शती के 'वसवराजीय' नामक ग्रंथ मे पूज्यपाद के अनेक योगो का उल्लेख मिलता है। पूज्यपाद के अधिकाश योग धातु-चिकित्सा संबंधी हैं। इनका ग्रंथ 'पूज्यपादीय' कहलाता था। यह सस्कृत मे रचा होगा। कर्नाटक मे पूज्यपाद का एक कन्नड मे लिखित पद्यमय वैद्यकग्रन्थ मिलता है। 'वैद्यसार' नामक ग्रन्थ भी पूज्यपाद का लिखा बताया जाता है, जो 'जैन-सिद्धात भवन' (आरा) से प्रकाशित हो चुका है, परन्तु ये दोनों ही ग्रन्थ पूज्यपाद के नही हैं।

कन्नड-ग्रंथ—संस्कृत के ग्रन्थो के अतिरिक्त कन्नड भाषा मे भी जैन आयुर्वेद के ग्रन्थ रचे गये।

जैन मंगलराज—ने स्थावरविष की चिकित्सा पर 'खगेन्द्रमणिदर्पण' नामक एक बडा ग्रन्थ लिखा था। यह प्रारम्भिक हिन्दू विजयनगर साम्राज्यकाल मे राजा हरिहर-राज के समय मे विद्यमान था। इनका काल ई० सन् १३६० के आसपास माना जाता है।

देवेन्द्रमुनि—ने 'बालग्रहचिकित्सा' पर ग्रन्थ लिखा था।

श्रीधरसेन—(१५०० ई०) ने 'वैद्यामृत' की रचना की थी।

इसमे २४ अधिकार हैं, जो चौबीस तीर्थंकरो के नामोल्लेख से प्रारभ होते हैं।

बाचरस—(१५०० ई०) मे 'अश्ववैद्यक' की रचना की। इसमे अश्वो की चिकित्सा का वर्णन है।

पद्मरस या पद्मण्ण पण्डित ने १६२७ ई० मे 'हयसारसमुच्चय' (अश्वशास्त्र) नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसमे घोड़ों की चिकित्सा बतायी गई है।

रामचन्द्र और **चन्द्रराज** ने 'अश्ववैद्यक', **कीर्तिमान** ने 'गोचिकित्सा', **वीरभद्र** ने पालकाप्य कृत हस्त्यायुर्वेद की कन्नड टीका, **अमृतनन्दि** ने 'वैद्यकनिघण्टु' नामक शब्दकोश, **साल्व** ने 'रसरत्नाकर' और 'वैद्यसागत्य, **जगद्देव** ने 'महामन्त्रवादि' नामक वैद्यक ग्रन्थो की रचना की थी।

दक्षिण की अन्य तमिल आदि भाषाओ मे जैन वैद्यक ग्रथो का सग्रह नही हो पाया है।

उपसंहार—यह सुनिश्चित है कि 'प्राणावाय' (जैन आयुर्वेद) की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने में दक्षिण भारत का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आठवी शती मे रचित 'कल्याणकारक' इसका ज्वलत उदाहरण है। परन्तु उत्तरी भारत मे तो वर्तमान में एक भी प्राणावाय का प्रतिपादक प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त नही होता। इससे ज्ञात होता है कि यह परम्परा उत्तर मे बहुत काल पूर्व मे ही लुप्त हो गई थी। इस दृष्टि से 'दृष्टिवाद' के लुप्त साहित्य का, विशेषकर 'प्राणावाय' का, दक्षिणी जैन दिगम्बर-परम्परा मे उपलब्ध होना, एक ऐतिहासिक-सास्कृतिक वैशिष्ट्य को सूचित करता है।

———

आयुर्वेद को जैन संतों की देन

—डॉ० तेज सिंह गौड़

जैन संतो ने प्राय: सभी विषयों पर अपनी कलम चलाई है। जहाँ तक आयुर्वेद का प्रश्न है, इस विषय पर भी जैन संतों द्वारा रचित साहित्य विपुल मात्रा मे मिलता है किन्तु यह नही कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम कौन से आयुर्वेद ग्रथ की रचना हुई और उसका रचनाकार कौन था ? यदि आगम ग्रथ का अध्ययन किया जाये तो भी आयर्वेद सम्बन्धी सामग्री पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हो जाती है। प्रस्तुत निबंध में केवल उन्ही संतों का सक्षिप्त परिचय देने का प्रयास किया जायेगा जिन्होंने आयुर्वेद के स्वतंत्र ग्रंथों की रचना की है।

उग्रादित्याचार्य कृत 'कल्याणकारक' में कुछ पूर्ववर्ती आयुर्वेदाचार्यों का विवरण मिलता है जिसके अनुसार सर्वप्रथम समन्तभद्र का नाम आता है जो पूज्यपाद के भी पूर्व हुए बताये जाते हैं। इन्होंने 'सिद्धान्त रसायन कल्प' नामक वैद्यक ग्रथ की रचना की जो अठारह हजार श्लोको मे समाप्त हुआ था। सम्पूर्ण ग्रंथ तो उपलब्ध नही है किन्तु इसके दो-तीन हजार श्लोक ही उपलब्ध हैं। इस ग्रंथ में पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग तथा उनके सकेत भी दिये गये हैं। इसलिये अर्थ करते समय जैनमत की प्रक्रियाओं-परम्पराओ को ध्यान मे रखकर अर्थ करना पडता है। समन्तभद्र द्वारा रचित दूसरा ग्रथ 'पुष्पायुर्वेद' बताया गया है। गर्व के साथ यह कहा जा सकता है कि अभी तक पुष्पायुर्वेद का निर्माण जैनाचार्यों के अतिरिक्त और किसी ने भी नही किया है। आयुर्वेद ससार मे यह एक अद्भुत वस्तु है। इस ग्रंथ मे अठारह हजार जाति के कुसुम (पराग रहित) पुष्पो से ही रसायनौषधियो के प्रयोगों को लिखा है।

दूसरे क्रम पर पूज्यपाद देवनदी का विवरण है। ये अनेक रसायन, योगशास्त्र और चिकित्सा की विधियो के ज्ञाता थे। साथ ही शल्य एव शालाक्य विषय के भी विद्वान आचार्य थे। पूज्यपाद द्वारा 'वैद्यसार' ग्रथ की रचना की गई, ऐसी जानकारी मिलती है। आपके जीवन की विशिष्ट घटनाओ को देखने से भी आपके आयुर्वेद ज्ञान को जानकारी मिलती है।[1] कुछ अन्य ग्रथ भी आपके द्वारा रचे गये मिलते हैं जिन पर अध्ययन-अन्वेषण अपेक्षित है।

पूज्यपाद के बाद श्री गुम्मट देवमुनि हुए हैं जिन्होंने मेरुतंत्र नामक वैद्यक ग्रथ की रचना की है। इन्होने प्रत्येक परिच्छेद के अत में पूज्यपाद स्वामी का बहुत ही आदरपूर्वक स्मरण किया है।

पूज्यपाद के भानजे सिद्धनागार्जुन ने नागार्जुन कल्प, नागार्जुन कक्ष पुट आदि ग्रंथो का निर्माण किया। इन्होने 'वज्रखेचर गुटिका' नामक स्वर्ण बनाने का रत्नगुटिका भी तैयार की थी।

ये कुछ आयुर्वेदाचार्य हैं जिनका विवरण उग्रादित्याचार्य ने अपने कल्याणकारक मे दिया है। इनका यह ग्रथ वि० स० ८७१ अर्थात् ई० सन् ८१५ का लिखा हुआ है। इनके गुरु का नाम श्रीनदि था और इनका अधिकाश समय एक चिकित्सक के रूप मे व्यतीत हुआ।

इनका कल्याणकारक नामक ग्रथ पच्चीस परिच्छेदो के अतिरिक्त अत मे परिशिष्ट रूप मे अरिष्टाध्याय और हिताध्याय से परिपूर्ण है। आयुर्वेद की दृष्टि से यह ग्रथ अत्यन्त उपयोगी एव महत्वपूर्ण है। इस ग्रथ में औषध मे मांस की निरुपयोगिता को सिद्ध किया है और आचार्य ने स्वय नृपतुग वल्लभेन्द्र की सभा में इस प्रकरण का प्रतिपादन किया है। कल्याणकारक एक उपयोगी और

1. समाधितत्र और इष्टोपदेश, प्रस्तावना, पृष्ठ ५ से ८ एव १३, १४ देखें।

महत्वपूर्ण ग्रंथ है। रोग, रोगी, चिकित्सक आदि पर भी इस में विस्तृत रूप से विचार किया गया है। ग्रथ मुद्रित हो चुका है तथा उपलब्ध भी है।

महाकवि धनंजय :—

इनका समय वि० स० ९६० है। इन्होने **धनंजय निघण्टु** लिखा है जो वैद्यक के साथ कोश ग्रथ है। इस ग्रंथ का दूसरा नाम **'नाममाला'** भी है। इनका दूसरा ग्रंथ 'विषापहार स्तोत्र' है। इसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि कवि के पुत्र को सर्प ने डस लिया था अतः सर्प विष को दूर करने के लिये ही इस स्तोत्र की रचना की गई।

सोमदेव सूरि :—

इन्होंने आयुर्वेद के स्वतत्र ग्रथ की रचना नहीं की किन्तु इनके **'यशस्तिलक'** मे आयुर्वेद विषयक सामग्री पर्याप्त रूप से मिलती है जिससे इनके आयुर्वेद ज्ञान का पता चलता है। इन्हे वनस्पति शास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था। इनका समय दसवी शताब्दी है।

कीर्तिवर्मा :—

यह चालुक्यवंशीय महाराज त्रैलोक्य मल का पुत्र था। त्रैलोक्यमल ने सन् १०४४ से १०६८ तक राज्य किया। कीर्तिवर्मा के बनाये हुए ग्रंथो मे से **'गोवैद्य'** ग्रथ उपलब्ध होता है। इसमे पशुओ की चिकित्सा पर विस्तार से विचार किया गया है।

कवि मंगराज :—

इनका ग्रथ **'खगेन्द्रमणि दर्पण'** विष शास्त्र सम्बन्धी ग्रंथ है। इनका जन्म स्थान वर्तमान मैसूर राज्यान्तर्गत मुगुलिपुर था। इन्हें उभय कवीश, कविपद्मभास्कर और साहित्य वैद्यविद्याम्बुनिधि की उपाधिया प्राप्त थी। स्वर्गीय आर० नरसिहाचार्य के मतानुसार इनका समय ई० सन् १३६० है। खगेन्द्रमणि दर्पण मे सोलह अधिकार है। कवि का कहना है कि ये सोलह अधिकार तीर्थंकर पुण्यकर्म के निदान स्वरूप षोडश भावनाओ के स्मृति चिन्ह हैं। इस ग्रथ के वर्ण्य विषयो को देखते हुए प्रमाणित होता है कि विष चिकित्सा के लिये कन्नड का यह ग्रंथ **खगेन्द्रमणि दर्पण** महत्वपूर्ण ग्रथ है।

आशाधर :—

जैन साहित्य में यह अपने समय के दिगम्बर सम्प्रदाय के बहुश्रुत प्रतिभा सम्पन्न और महान् ग्रथकर्ता के रूप मे प्रकट हुए हैं। धर्म और साहित्य के अतिरिक्त न्याय, व्याकरण, काव्य, अलकार, योग, वैद्यक आदि अनेक विषयो पर इनका अधिकार था और इन विषयों पर इनका विशाल साहित्य भी मिलता हैं। इनके जीवनवृत्त पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। अतः उस पर यहां लिखना आवश्यक प्रतीत नही होता है। इन्होने वाग्भट के प्रसिद्ध ग्रन्थ **'अष्टांगहृदय'** पर **'उद्योतिनी'** या **'अष्टांगहृदयद्योतिनी'** नामक टीका लिखी थी। यह ग्रन्थ अब अप्राप्य है। इसका उल्लेख हरिशास्त्री पराडकर और पी के गोडे ने किया है। यह टीका बहुत महत्वपूर्ण थी। पीटर्सन ने इसकी हस्तलिखित प्रति का उल्लेख नही किया है, परन्तु यदि इसकी कही कोई प्रति मिल जाए तो अष्टाग हृदय के व्याख्या साहित्य मे महत्वपूर्ण वृद्धि होगी। आशाधर की ग्रन्थ प्रशस्ति मे इसका उल्लेख है—

> आयुर्वेदविदामिष्ट व्यक्तु वागभटसहिता।
> अष्टागहृदयोद्योत निबंधमसृजच्च य ॥[1]

भिषक् शिरोमणि हर्षकीर्ति :—इनका समय ठीक-ठीक ज्ञात नही। ये नागपुरिया तपागच्छ के चन्द्रकीर्ति के शिष्य थे और मानकीर्ति इनके गुरु थे। इनके दो ग्रन्थ मिलते हैं—१ योग चितामणि, और २ व्याधिनिग्रह। ये दोनो ही ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। दोनों ही ग्रन्थ चिकित्सा के लिये उपयोगी भी हैं। इनमें कुछ नवीन योगो का मिश्रण है जो इनके स्वय के चिकित्सा ज्ञान की महिमा के द्योतक हैं। ग्रन्थ जैन आचार्य की रक्षा हेतु लिखा गया है।[2]

लेखक ने ग्रन्थ के अंत मे अपने को प्रवरसिह (सभवतः कोई राजा) के शिर का अवतस कहा है तथा गुरु का नाम

---

१. पं० चैनसुखदास स्मृति ग्रन्थ, पृ० २७१-८१.

२. जैन जगत नवम्बर १९७५ पृ० ५२.

चन्द्रकीर्ति बतलाया है। अंत में यह कामना की है कि जिस प्रकार योगप्रदीप और योगशत है उसी प्रकार योगचिंतामणि है। इससे पता चलता है कि हर्षकीर्ति के समय ये दो ग्रन्थ अत्यन्त प्रचलित थे।

लेखक ने ग्रन्थ रचना मे आत्रेय, चरक, सुश्रुत, वाग्भट, अश्विन, हारीत वृन्द, चिकित्साकलिका, भृगु, भेद निदान (माधव), कर्मविपाक ग्रन्थों का उपयोग किया है। इस सम्बन्ध में वह लिखता है कि नूतन पाठ विधान का पण्डितगण आदर नही करेंगे इस कारण आर्ष वचनों को निबद्ध कर रहा हूं न कि सामर्थ्य के अभाव से।

"योगचिंतामणि" नामक ग्रन्थ वैद्यवरा प्रगण्य श्री हर्षकीर्तिजी ने निर्मित किया। इसमे प्रत्येक रोग का निदान-पूर्व रूप का अच्छे प्रकार से कथन कर उनके ऊपर कषाय, रसायन, मात्रा, पाक, चूर्ण, तेल, गुटिका, अवलेह इत्यादि सर्वरोगो की औषधि विचारपूर्वक वर्णन की है और समस्त औषधि भी सुगमता से कही है।"[1] इस ग्रथ मे सात अधिकार हैं।

देवेन्द्रमुनि —इनकी रचना बालग्रह चिकित्सा है।

इसमे बालकों की ग्रह पीडा की चिकित्सा का वर्णन है। ग्रन्थ प्राय वाक्यरूप मे है। इनका समय लगभग १२०० ई० है। इनके विषय मे अधिक कोई जानकारी उपलब्ध नही है।

श्री हस्तिरुचि —श्री हस्तिरुचि तपागच्छ के प्राज्ञोदयरुचि के शिष्य हितरुचि के शिष्य थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'वैद्यवल्लभ' की ई० स० १६७० मे रचना की।[2]

आचार्य प्रियव्रत शर्मा ने लिखा है—"हस्तिरुचि कवि विरचित ग्रन्थ मे आठ विलास हैं। अनेक योगो में एतद् हस्तकवेर्मतम्, कारितं कविना, कविना कथित आदि का निर्देश होने से ये योग लेखक के अनुभूत हैं। ऐसा प्रतीत होता है। स्त्रियो के लिये गर्भपात तथा गर्भनिवारण के अनेक योग हैं। स्त्रियो का धातुरोग (२/१७) सम्भवत श्वेत प्रदर है। सोरा (४/१६) सूर्यक्षार के नाम से है। विजया (५।४), अहिफेन (४।२०, ५।४) और अकरकरा (४।२३) भी हैं। इच्छाभेदी, सर्वकुष्ठारि आदि अनेक रस प्रयोग भी हैं। अहिफेन, सोमल (शंखिया), रक्तिका, धत्तूर आदि के विष को शान्त करने के उपाय कहे गये हैं। पादव्रण में एक लेप का विधान है जिसमे मोम, राल, साबुन और मक्खन है। (८।२६)।[3]

हस्तिरुचि के समय के सम्बन्ध मे आचार्य श्री प्रियव्रत शर्मा ने लिखा है.—"ग्रन्थ के अंत मे एक वटी मुरादिसाह वटी है, जिससे लेखक मुरादशाह का समकालीन या परवर्ती प्रतीत होता है। मुराद औरंगजेब का भाई था जो १६६१ ई० मे मारा गया। पूना की एक पाण्डुलिपि मे प्रदत्त सूचना के अनुसार लेखक महोपाध्याय हितरुचिगणि का शिष्य था और तपागच्छ का निवासी था। इसमे ग्रन्थ रचना का काल सं० १७२६ (१६०३ ई०) दिया है। यह स्मरणीय है कि तपागच्छ का निवासी योगचिंतामणि प्रणेता हर्षकीर्ति भी था। सम्भवत दोनों समकालीन हो किन्तु योगचिंतामणि पहले बना होगा, क्योकि उसका एक श्लोक तत्रस्थ दूसरी पाण्डुलिपि (सं० २८२) में उद्धृत है।"[4] आचार्य प्रियव्रत शर्मा ने यहा पर भी तपागच्छ के सबध मे भ्रमोत्पादक बात कही है। तपागच्छ स्थान न होकर श्वेताम्बर जैन धर्मावलम्बियो का एक गच्छ है। ऐसा लगता है कि आचार्य प्रियव्रत शर्मा जैन परम्पराओ से परिचित नही हैं, अन्यथा वे ऐसा नही लिखते। आयुर्वेद के क्षेत्र में हस्तिरुचि का योगदान महत्वपूर्ण माना जाता है। वैद्यवल्लभ के वर्ण्य विषयों को देखते हुए पुस्तक बहुत उपयोगी लगती है।

वीरसिंह देव—जैन ग्रथावली मे इनके द्वारा रचित 'वीरसिंहावलोक' का उल्लेख है।[5] डा० हरिश्चन्द्र जैन ने अपने लेख 'आयुर्वेद के ज्ञाता जैनाचार्य' के अंतर्गत वीरसिंह का उल्लेख करते हुए लिखा है—वे १३वी शताब्दी ए० डी० मे हुए हैं। इन्होने चिकित्सा की दृष्टि से ज्योतिष का महत्त्व लिखा है। 'वीरसिंहावलोक' इनका ग्रथ है।[6]

नयनसुख—इनके द्वारा रचित निम्नलिखित वैद्यक ग्रथो का उल्लेख मिलता है—वैद्यमनोत्सव, सन्ताननिधि, सन्निपात-कलिका; मालोन्तरराम।

वैद्यमनोत्सव ग्रथ पद्यमय रूप से निबद्ध है और दोहा, सोरठा व चौपाई छन्दो मे इसकी रचना की गई है! ग्रन्थ की रचना सवत १६४१ मे की थी। श्री अगरचन्द नाहटा के अनुसार इस ग्रन्थ को सवत् १६४६ वि० की चैत्र शुक्ला द्वितीया को अकबर के राज्य मे सीहनद नगर मे समाप्त किया गया।[7]

१. योग चिंतामणि—लक्ष्मीवेंकेश्वर प्रेस बम्बई—प्रस्तावना।
२. The Jaina Artiquary Vol xiii N. 1 July, 1947, page 100 & 355.
३. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास, पृ० २९९
४. वही, ४९९.
५. पृ० ३६०
६. जैन जगत पृ. ४१ नवम्बर, १९७५
७. हिन्दुस्तानी में प्रकाशित उनका लेख।

कविवर मलूकचन्द्र—इनके द्वारा रचित '**वैद्यहुलास**' या '**तिब्बसाहावी**' है। यह ग्रन्थ लुकमान हकीम के '**तिब्बसाहावी**' का हिन्दी पद्यानुवाद है। इस ग्रन्थ में 'श्रावक धर्मकुल को नाम मलूकचन्द्र' इन शब्दों के द्वारा अनुवादक ने अपने नाम का उल्लेख किया है। ग्रन्थ का रचनाकाल व रचना-स्थान दोनों अज्ञात है। इनका समय १८वी शती के लगभग माना गया है। सम्भवत: ये बीकानेर के आसपास के निवासी थे और खरतरगच्छ से सम्बन्धित थे।

कविवर रामचन्द्र—इनके द्वारा दो वैद्यक ग्रन्थ रचे गये ऐसा पता चलता है—(१) **रामविनोद**, तथा (२) **वैद्यविनोद**। दोनों ग्रन्थ हिन्दी मे हैं।

रामविनोद की रचना संवत् १७२० मे मार्गशीर्ष शुक्ला त्रयोदशी बुधवार को अवरगशाह (औरगजेब) के राज्यकाल मे पंजाब के बन्नू देशवर्ती शक्की नगर मे की गई। ग्रन्थ सात समुद्देशो मे विभक्त है तथा इसमे १६८१ गाथाएँ हैं।

वैद्यविनोद की रचना स० १७२६ मे वैशाख सुदी १५ को मरोटकोट नामक स्थान मे की गई थी जो उस समय औरगजेब के राज्य मे विद्यमान था।

ये खरतरगच्छीय यति थे। इनके गुरु का नाम पद्मरंग गणि था। इनका समय वि० स० १७२०-५० माना जाता है। इनके तीन और वैद्यक ग्रन्थो का उल्लेख मिलता है—(१) **नाड़ी परीक्षा**, (२) **मान परिमाण**, और (३) **सामुद्रिक भाषा**।

कविवर लक्ष्मीवल्लभ—कविवर लक्ष्मीवल्लभ द्वारा रचित '**कालज्ञान**' एक अनुवाद रचना है जो वैद्य शम्भुनाथ-कृत ग्रन्थ का पद्यानुवाद है। इस ग्रन्थ से आपके वैद्यक विषय के सम्बन्धी गभीर ज्ञान की झलक सहज ही मिल जाती है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल स० १७४१ है। इनका जन्म सवत् १६६० और १७०३ के बीच होना ज्ञात होता है। इन्होंने स० १७०७ के आसपास दीक्षा ली थी। इनकी अधिकाश रचनाएँ स० १७२० से १७५० के बीच लिखी गई थी। इनकी छोटी-बडी लगभग पचास से भी अधिक रचनाएँ हैं।

कविवर मान—ये खरतरगच्छीय भट्टारक जिनचद्र के शिष्य वाचक सुमति सुमेर के शिष्य थे। ये बीकानेर के रहने वाले थे। वैद्यक पर इनकी दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—**कविविनोद** और **कविप्रमोद**। '**वैद्यक सार संग्रह**' भी इनकी अन्य रचना बताई जाती है। दोनो ग्रन्थो से लेखक के वैद्यक ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है। कविविनोद का रचनाकाल १७४१ है। कवि प्रमोद स० १७४५ वैशाख शुक्ला ५ को लाहौर मे रची गयी।

समरथ—इनके द्वारा रचित ग्रन्थ **रसमञ्जरी** है। इसका रचनाकाल स० १७६४ है। ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति श्री अगरचन्द नाहटा के संग्रह मे है। ग्रन्थ की पूर्ण प्रति उपलब्ध नही है। उपलब्ध प्रति अपूर्ण है। ग्रन्थ मे कुल दस अध्याय बताये जाते हैं।

मुनिमेघ—इनका ग्रन्थ '**मेघविनोद**' आयुर्वेद की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ की रचना फाल्गुन शुक्ला १३ सं० १८३५ मे हुई। मुनि मेघविजय यति थे। इनका उपाश्रय फगवाडा नगर मे था। इस ग्रन्थ की रचना का स्थान फुगुआनगर है जो फगवाडा के अन्तर्गत ही था। फगवाड़ा नगर तत्कालीन कपूरथला स्टेट के अन्तर्गत आता था।

यति गंगाराम—इन्होंने **लोलिम्बराज** नामक वैद्यक ग्रन्थ लिखा है। इसके अध्ययन मे ज्ञात होता है कि यह इसी नाम के संस्कृत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम '**वैद्यजीवन**' है। ग्रन्थ का रचनाकाल स० १८७२ है। इनका दूसरा ग्रन्थ '**सूरतप्रकाश**' है जिसका रचनाकाल सं० १८८३ है और जिसे '**भाव-दीपक**' भी कहा जाता है। इसमे विभिन्न रोगो के चिकित्सार्थ अनेक योगो का उल्लेख है। इनका तीसरा ग्रन्थ '**भाव-निदान**' है। यह आयुर्वेदीय निदान पद्धति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल स० १८८८ है। ग्रन्थो मे लेखक ने अपना कोई परिचय नही दिया है।

श्री यशकीर्ति—ये बागड सघ के रामकीर्ति के शिष्य विमलकीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने **जगत्सुन्दरी प्रयोगमाला**' नामक वैद्यक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ मे ४२ अध्याय है। ग्रन्थ प्राकृत मे है और औषधियो के मूत्र, जादू-टोना, वशीकरण तथा जन्म-मंत्र के समान अन्य विषयो से सम्बन्धित जानकारी विश्वज्ञान-कोश की भांति प्रदान करता है।

श्रीहंसराज मुनि—ये खरतरगच्छ के वर्द्धमान सूरि के शिष्य थे। इनका समय १७वी सदी ज्ञात होता है। इनका '**भिषक्चक्र-चित्तोत्सव**' जिसे '**हंसराज निदान**' भी कहते है, चिकित्सा-विषयक ग्रन्थ है। ग्रन्थारम्भ मे 'श्री पार्श्वनाथायनम' लिखकर सरस्वती प्रभृति और धन्वन्तरि की वंदना है। ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।

इनके अतिरिक्त कुछ उल्लेखनीय विद्वानो के नाम इस प्रकार है जिन्होंने आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थो की रचना की है —

विनयमेरुगणि, रामलाल महोपाध्याय, दीपकचन्द्रवाचक, महेन्द्र जैन, जिनसमुद्रसूरि, जोगीदास चैनसुख यति, पीताम्बर, ज्ञानसागर, लक्ष्मीचद जैन, विश्राम, जिनदास वैद्य, धर्मसी, नारायणशेखर जैनाचार्य, गुणाकर और जयरत्न। यदि विशेष शोध कार्य किया जाए तो इस विषय पर बहुत सामग्री उपलब्ध हो सकती है। इस दिशा मे विद्वानो को आवश्यक प्रयास करना चाहिये।

आयुर्वेद और जैन धर्म : एक विवेचनात्मक अध्ययन

डा० प्रमोद मालवीय, डा० शोभा मोवार, डा० यज्ञदत्त शुक्ल, प्रो० पूर्णचन्द्र जैन

आयुर्वेद भारतीय दर्शनो पर आधारित विज्ञान है। भारतीय दर्शन-परम्परा को दो भागो मे विभाजित किया जाता है। प्रथम वे परम्पराए हैं जिसके अनुयायी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं, और उसे ही कर्त्ता एवं भोक्ता कहते हैं। और दूसरी परम्परा वह है जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नही करती। प्रथम को आस्तिक दर्शन-परम्परा और दूसरी को नास्तिक दर्शन-परम्परा की संज्ञा प्रदान की गयी है।

जैन, बौद्ध और चार्वाक मतानुयायी दर्शनो का समावेश नास्तिक दर्शनो के अन्तर्गत किया जाता है। आयुर्वेद के सन्दर्भ मे इन दोनों ही परम्पराओ मे पर्याप्त साम्यता है, तथा दोनो ही सम्प्रदायों के मानने वाले दार्शनिक आयुर्वेद को दुःखो की निवृत्ति के हेतु उत्पन्न विज्ञान के रूप मे मानते हैं।

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउ न मरिज्जिउं। (दशवैकालिक ६/११)

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।

अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्।
उर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा। (अथर्ववेद, १६/६०/१-२)

अश्मा भवतु नस्तनूः (यजुर्वेद, २६/४६)
जीवेम शरदः शतम्। अथर्ववेद, १६/६७/२)

चिकित्सा रोगहरणलक्षणा सा तदैव जाता। (आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति, १३१/१)

चिकित्सा नाम रोगापहारः रोगापहारक्रिया, सापि तदैव भगवदुपदेशात् प्रवृत्ता—(ऋषभ-चरित्र)

जैन धर्म का प्रारम्भ उसके इतिहास के अनुसार भगवान् ऋषभ से हुआ है। इस मत के मानने वालो के अनुसार वे ही आयुर्वेद के उपदेशक माने गये हैं। जैन मतावलम्बियो की मान्यता है कि भगवान् ऋषभदेव से पूर्व सृष्टि या लोक में दुःखो या रोगों का अभाव था। मानवसमाज पूर्ण स्वास्थ्य का सेवन कर रहा था। सम्पूर्ण जैन-आगम साहित्य को द्वादशांग के रूप में बारह भागों में विभाजित किया गया है। उसका अन्तिम अंग दृष्टिवाद है। दृष्टिवाद पुन. परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, प्रथमानुयोग और चूलिका—इन ५ भागों मे विभक्त होता है। पूर्वगत १४ पूर्वों से निर्मित है। उसमें से १२ वां 'पूर्व' प्राणानुवाद पूर्व है। प्राणानुवाद 'पूर्व' में इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, आयु और प्राण का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही साथ शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, यम-नियम, आहार-विहार एवं रसरसायनादि का सन्दर्भ भी मिलता है। व्यक्तिगत स्वास्थ्य के साथ-साथ जनपदध्वंस के प्रति उत्तरदायी परिस्थितियों एवं व्याधियों एवं उनके निराकरण का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसके साथ ही साथ दैविक, भौतिक व्याधियां भी चिकित्सा-सहित इस शास्त्र में वर्णित है। इसी 'प्राणानुवाद पूर्व' को जैन धर्मावलम्बियों ने आयुर्वेद का मूल कहा है। उत्तर काल के जन आचार्यों ने इसी आधार पर आयुर्वेद-सम्बन्धी बृहद् साहित्य की रचना की है। 'पूर्व' के उद्देश्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि जिस प्रकार तीव्र हवा के

झोंकों से दीपक को बचाने के लिए आवरण का उपयोग न किया जाय, तो वह ज्योतिहीन हो जाता है, उसी प्रकार सन्निपातादिरोगग्रस्त पुरुष की उचित निदान-सहित यदि चिकित्सा न हो तो उसकी मृत्यु अवश्यमेव सभावित है। इनके अनुसार आयुशेष होने पर चिकित्सा द्वारा प्राणों की रक्षा की जा सकती है। भगवान् श्रीऋषभदेव ने पुरुषों को रोग-मुक्त करने के उद्देश्य से एव उनके स्वास्थ्य-संरक्षण हेतु श्री भरत को आयुर्वेद उपदिष्ट किया। उत्तरकाल मे इसे ही 'प्राणायु' की सज्ञा प्रदान की गई है।

जैन धर्म-निर्दिष्ट उपर्युक्त आयुर्वेदोत्पत्ति-सबंधी विचारो का समर्थन वैदिको एव आयुर्वेद के आचार्यों ने भी किया है। उनके अनुसार भी मानव के पूर्ण नियमित जीवन-यापन के पश्चात् भी, उसके शरीर मे उत्पन्न होने वाले रोगो या दुखों का उद्भव हुआ, तब तत्कालीन महर्षियो ने किसी जगह एकत्र होकर इस समस्या पर विचार किया और सामान्य मनुष्य-मात्र के कल्याण-हेतु आयुर्वेद का ज्ञान देवताओ से प्राप्त किया। वैदिक परम्परानुसार आयुर्वेद की उत्पत्ति इन्द्र द्वारा भारद्वाज को उपदेश-प्राप्ति के आधार पर मानी गयी है। दोनो ही (वैदिक एव जैनधर्म) परम्परावादियो ने आरोग्य को ही मानवता का सार बताया है। इसके अभाव में धन-धान्य या कोई भी साधन अप्रभावकारी होते हैं। आरोग्य को ही अध्ययन करने मे भी प्रधान सहायक कारण माना गया है।

आरोग्याद् बलमायुश्च, सुखं च लभते महत् ।
इष्टांश्चाप्यपरान् भावान्, पुरुषः शुभलक्षणः ॥ (चरक सहिता)

अह पंचहि ठाणेहि जेहिं सिक्खा न लब्भई ।
थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥ (उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ११, गाथा ३)

इन उपर्युक्त संदर्भों में भी जैन धर्मावलम्बियो ने आरोग्य को मानवता का सार बताया है। मनुष्य धन के अभाव मे भी जीवन-यापन सुख-पूर्वक कर सकता है, किन्तु आरोग्य की अनुपस्थिति मे नही, अत आरोग्य जीवन का शुभ लक्षण है, आदि मान्यताओं को स्वीकार किया गया है। भगवान महावीर ने स्वय भी सुख को दस भागों मे विभक्त किया है और आरोग्य को उसमें प्रथम स्थान प्रदान किया है :—

दसविहे सोक्खे पण्णत्ते, तं जहा—आरोग्गं दीहमाउं
अड्ढेज्जं कामभोगसंतोसे। अत्थिसुहभोगनिक्खम्ममेव तत्तो अणाबाहे (स्थानांग—१०/८३)

रोगो के सबन्ध में विवेचना करते हुए इन आचार्यों ने भी आरोग्य के अनुकूल होने से सुख की स्थिति होती है और रोग के प्रतिकूल होने से दुःख की स्थिति होती है—ऐसा बताया है।

अनुकूलवेदनीयं सुखं प्रतिकूल-वेदनीयं दुःखम् । (पातजल योगदर्शन)

आयुर्वेदीय आचार्य चरक एवं सुश्रुत ने भी पतञ्जलि के इस कथन के आधार पर ही आरोग्य को सुख, और शरीर से व्याधि के संयुक्त होने को दु:ख कहा है।

सुखसंज्ञकमारोग्यं, विकारो दुःखमेव च । (चरक सहिता)

अस्मिन् शास्त्रे पंचमहाभूतशरीरिसमवाय पुरुष इत्युच्यते, तत् दुःखसंयोगव्याप्त इत्युच्यते। (सु० सू० १)

इन आचार्यों ने शरीर की धातुओं को जिस क्रिया द्वारा समता की स्थिति मे रखा जा सकता है उसे चिकित्सा कहा है, क्योंकि धातुओं की विषमता रोग का, और समता आरोग्य का कारण होती है। इस विवेचन के अनुसार, जिस क्रिया द्वारा आरोग्य की स्थिति को बनाये रखा जा सके या धातुओ की विषमता होने पर उसे पुन समावस्था मे स्थापित किया जा सके—वही चिकित्सा कहलायेगी। ऋषभ-चरित्र आदि मे भी इन आचार्यों के समर्थन मे उक्तियो की प्राप्ति होती है—

चिकित्सा रुक्-प्रतिक्रिया। (अमर कोष)

रोगहरणं तिगिच्छा (चिकित्सा)—(ऋषभ चरित्र)

इन रोगों के शरीर और मन—इन दो अधिष्ठानों का उल्लेख प्राप्त होता है। आत्मा निर्विकार होने के कारण या शुद्ध होने के कारण इस मे सम्मिलित नहीं की जा सकती है। मानसिक रोगों की उत्पत्ति प्रज्ञापराध द्वारा, तथा शारीरिक रोग इन्द्रियार्थों के अयोग, अतियोग एवं मिथ्या योग द्वारा होती है। इनकी शान्ति के लिए क्रमश सम्यग् ज्ञान, और शारीरिक शुद्ध स्पर्शादि का समयोग आवश्यक होता है। आयुर्वेद मे दोषज, कर्मज और दोष कर्मज—इन तीन प्रकार के रोगों का उल्लेख उपलब्ध होता है। इन मे से दोषज रोग मिथ्या आहार-विहारादि द्वारा, कर्मज रोग नियमित दिन-चर्या, रात्रिचर्या एव ऋतुचर्या का पालन करते हुए भी, पूर्वकृत कर्म के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होते हैं, जबकि दोष-कर्मज व्याधियां दोनो ही कारणो के सन्निपात से उत्पन्न होती हैं। कर्म द्वारा उत्पन्न रोग चिकित्सा से भी दूर नही होते क्योकि कर्म चिकित्सा के प्रभाव को भी नष्ट कर देते हैं। कर्मों के फल का भोग करना ही होता है—'कडाण कम्माणण मोक्ख अत्थि' (उत्तराध्ययन)—इस तथ्य को जैन धर्म के अनुयायियो ने भी स्वीकार किया है। उनके अनुसार भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप मे चार प्रकार के कर्म-बन्ध होते हैं।

चउव्विहे णिगाइये पण्णत्ते तं जहा—
पगइ-णिगाइये, ठिइणिगाइये, अणुभावणिगाइये, पएसणिगाइये। (स्थानाग ४/२/२९९)

जैनाचार्यों ने भी रोगों का वर्गीकरण दोषों के आधार पर चार प्रकार (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक) से किया है :—

चउव्विहा वाही पण्णत्ते तं जहा—वाइये, पित्तिए, सिंभिए, सन्निवाइये। (स्थानाग ४/४/५१५)

आचार्य भद्रबाहु ने रोगो के इन चार वर्गों में कुल पांच करोड़ अडसठ लाख निन्यानवे हजार पाच सौ चौरासी रोग कहे हैं। इनमें से प्रमुख १६ रोगो का उल्लेख जैन साहित्य मे किया गया है। (१) गंडी (गडमाला) (२) कुष्ठ (३) राजयक्ष्मा (४) अपस्मार (५) काणिय—काण्य अक्षिरोग (६) झिमिय-जडता (७) कुणिय-हीनांगत्व (८) खुज्जिय—कुबडापन (९) उदररोग (१०) मूकता (११) सूणीय—सर्वशरीरगतशोथ (१२) गिलासणि- (१३) वेवई—कप (१४) पीठसप्पि—पगुत्व (१५) सिलिवय—श्लीपद (१६) मधुमेह।

व्याख्या :—

"अतीवबाधाहेतव. कुष्ठादयो रोगा: ज्वरादय." उत्तराध्ययन टीका के इस कथन के अनुसार सामान्य कार्य-संपादन मे अत्यधिक बाधा उत्पन्न करने वाले कुष्ठादि को व्याधि और ज्वरादि को रोग कहा जा सकता है। इन उपयुक्त प्रमुख १६ रोगो के अतिरिक्त भी कुलरोग, ग्रामरोग, नगररोग, मडलरोग आदि का भी वर्णन उपलब्ध होता है।

जैनाचार्यों ने रोगोत्पत्ति के—अत्यासन (अधिक देर तक बैठना), अहितासन (विरुद्ध आसन से बैठना), अतिनिद्रा, उच्चार-निरोध, प्रस्रवण-निरोध, अतिगमन, विरुद्ध आहार तथा विषय-वासना में अत्यधिक लिप्ति—आदि ९ कारण परिगणित कराये हैं। इस संदर्भ में वेगों का धारण अर्थात् किसी भी कार्यवश वेगो को रोकना अनुचित कहा गया है। मल-मूत्रादि के वेगो के धारण करने से तेजनाश, तेज-शक्ति-ह्रास के साथ-साथ मृत्यु की भी सभावना व्यक्त की गई है। वायु वेग के धारण से कुष्ठ रोग की उत्पत्ति, और वीर्य-वेग धारणा से पुरुषत्व का नाश कहा गया है। बृहत्कल्प भाष्य मे इस सम्बन्ध में विश्लेषणात्मक पक्ष प्रस्तुत किया गया है, जिसके अनुसार .—

पुरीष-वेग धारण से— - —मृत्यु
मूत्र-वेग-धारण से———दृष्टि क्षय, और
वायु-वेग धारण से – ——कुष्ठ

इन अधारणीय वेगों का विवेचन चरक व अष्टाग-हृदय संहिताओ मे वर्णित अधारणीय वेगों के समान ही हैं।

आयुर्वेद में वैद्य, औषधि, रोगी और परिचारक—ये चिकित्सा के चार प्रमुख अग स्वीकार किये गये हैं। जैन साहित्य मे भी

इसी विवेचन के समर्थन में कथन प्राप्त होता है—

चउव्विहा तिगिच्छा पण्णत्ता तं जहा—

विज्जो, ओसहाइं आउरे, परियारए। (स्थानांग ४/४/५१६)

आयुर्वेद के कायचिकित्सा, शल्य, शालक्य, भूतविद्या, कौमार्य भृत्य, अगदतंत्र, रसायन एवं वाजीकरण व रसायन—आदि प्रकारों का भी उल्लेख जैन साहित्य मे उपलब्ध है :—

अट्ठविहे आउव्वेए पण्णत्ते, तं जहा कुमारभिच्चे, कायतिगिच्छा, सालाई, सल्लहत्ता, जंगोली, भय विज्जा, खारतंते रसायणे। (स्थानाग-८/२६)।

जिन प्रात:स्मरणीय पूज्यपाद जैन साधुओ ने आयुर्वेदीय साहित्य को जैन सिद्धान्तो का अनुगमन करते हुए तथा धार्मिक नियमों का पालन करते हुये, अभिवृद्ध किया है, उनमे, परमपूज्य स्वामी समन्तभद्र, आचार्य जिनसेन, वीरसेन आचार्य, सोमदेव, महापंडित आशाधर आदि प्रमुख हैं। इन आचार्यों ने स्वतंत्र रूप से आयुर्वेदीय साहित्य की सर्जना करने के साथ आयुर्वेदीय साहित्य के निर्माण करने की चेष्टा की है। जैन धर्मावलम्बियो के द्वारा आयुर्वेदीय ग्रन्थो का प्रकाशन भी किया गया है। इनमे उग्रादित्य आचार्य द्वारा लिखित कल्याण-कारक, श्री पूज्यपाद स्वामी द्वारा संकलित वैद्यसार आदि प्रमुख हैं। निदान चिकित्सा आदि विषयो पर जैनाचार्यों ने अनेक ग्रन्थ-राजों का प्रणयन किया है। इस सदर्भ मे हर्षकीर्ति सूरि, अनन्तदेव सूरि, श्रीकण्ठ सूरि और वैद्यक कण्ठराज के नाम उल्लेखनीय हैं। स्वामी समन्तभद्र के वैद्यक ग्रन्थ के अनेको उद्धरण योगरत्नाकर मे प्राप्त है, किन्तु यह पुस्तक अप्राप्य है। जैनाचार्यों ने इन आयुर्वेदीय ग्रंथों की रचना प्राकृत, संस्कृत, कन्नड और हिन्दी आदि सभी भाषाओ मे की है। इसके अतिरिक्त बगाली, पजाबी, तमिल आदि भाषाओं में भी इन आचार्यों द्वारा आयुर्वेदीय साहित्य सृजन के उदाहरण प्राप्त होते हैं।

इस समस्त उपर्युक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य मे यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि जैन आचार्यों ने अध्यात्म-विद्या तक ही अपने आपको सीमित नही किया, वरन् धर्म, अर्थ, दर्शन, न्याय एव आयुर्वेद—इन सभी के क्षेत्रो मे अपने को प्रकाशित किया है। उनके इस भारतीय सस्कृति को किये गये अद्वितीय योगदान ने लोकहित एव स्वपरकल्याण—इन दोनो ही मार्गों को प्रशस्त किया है।

प्राचीन भारत में चिकित्सा

चिकित्सको को भारतीय समाज मे सदैव आदर की दृष्टि मे देखा गया है। वेदो में अश्विनीकुमारों के सम्बन्ध मे अनेक मंत्र हैं। अश्विनीकुमार उस युग के प्रमुख वैद्य थे और लोककल्याण के निमित्त चिकित्सा किया करते थे। वैदिक युग की चिकित्सा-पद्धति कितनी विकसित थी—इसका अनुमान अश्विनीकुमारो की स्तुति मे प्रयुक्त इस ऋचा से लगाया जा सकता है, "वृद्ध कलि नामक स्तोता को तुमने यौवन से युक्त किया था। तुम लोगों ने लंगडी विश्वपला को लोहे का चरण देकर उसे गतिसमर्थ बना दिया था।" अश्विनीकुमारो की तरह ऋभुगण भी वैद्य थे और इनकी पूजा भी आर्य श्रद्धा से किया करते थे।

पश्चिमोत्तर भारत के तक्षशिला मे जो एक विश्वप्रसिद्ध विश्वविद्यालय था उसमे चिकित्सा शास्त्र पर विशेष रूप से अध्ययन कराया जाता था। जो वैद्य यहा से चिकित्सा-शास्त्र मे पारगत होकर निकलते थे उनका समाज मे विशेष स्थान होता था। ऐसे प्रकरण मिलते है कि जब कभी भ० बुद्ध बीमार पड़ते थे, तब उनके भक्त ऐसे प्रसिद्ध वैद्य को उपचार के निमित्त बुलाते थे जो कि तक्षशिला का स्नातक हो।

जैनाचार्यों ने अपनी परमकारुणिक दृष्टि के कारण ऐसी औषध विधियो का धर्म ग्रन्थो मे उल्लेख किया है जिसमे मधु, मद्य एव माँस का अनुपान न हो। आचार्य समन्तभद्र ने 'सिद्धान्तरसायनकल्प' एव 'पुष्पायुर्वेद' जैसे बृहद् मौलिक ग्रन्थो की सरचना कर चिकित्सक समाज को अनेक प्रयोगो की सामग्री प्रदान की थी। उन्होने अपने ग्रन्थ मे १८००० प्रकार के परागरहित पुष्पो का उल्लेख किया है। जैनधर्म के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'पद्मानन्दमहाकाव्य' मे ऐसी शल्यचिकित्सा की विधि का उल्लेख है, जिसमें शरीरस्थ रोग के कीटाणुओ को जीवित रखते हुए कुष्ठ रोग की चिकित्सा की जाती थी।

आचार्य सुश्रुत एव चरक ने औषध-शास्त्र एव शल्य-चिकित्सा का जो कीर्तिमान स्थापित किया था वह लगभग १५५० ई० तक निरन्तर प्रवहमान रहा। भवमिश्र ने उपदश के उपचार का उल्लेख किया है। यह रोग भारत मे पुर्तगालवासियो के जरिये आया था। भारतीय चिकित्सकों ने समय-समय पर उत्पन्न हुई बीमारियों पर अपने सफल निदान देकर मानव-कल्याण में सहयोग दिया है। यहा के वैद्यो ने रोग-निवारण के लिए औषधियो के अति-रिक्त चीर-फाड मे भी सफल प्रयोग किए थे। शल्यचिकित्सा मे यहा पर सवा नौ सौ प्रकार के औजार प्रचलित थे और सुप्रसिद्ध चिन्तक गेरिसन के अनुसार, "ऐसा कोई भी बडा आपरेशन नहीं था, जिसे प्राचीन हिन्दु सफलतापूर्वक नही कर सकते थे"।

बौद्ध धर्म ग्रन्थो में जीवक नामक एक वैद्य ने एक सेठ के मस्तक का आपरेशन किया था। हैवेल ने लिखा है कि खलीफा हारू-अल-रसीद ने अपने राज्य मे, अस्पतालो का संगठन करने के लिए भारतीय वैद्यों को आमन्त्रित किया था। लार्ड एम्पथिल के अनुसार तो मध्यकालीन तथा अर्वाचीन यूरोप को चिकित्सा-सम्बन्धी सारा ज्ञान अरबों से मिला था और अरबो को भारत से।

(पं० जवाहर लाल नेहरू, श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' एवं अन्य लेखकों के निबन्धों के आधार पर प्रस्तुत)

—सम्पादक

संगीतसमयसार के सन्दर्भ में गायक-गुण-दोष-विवेचन

श्री वाचस्पति मौद्गल्य

संगीतसमयसार दिगम्बर जैनाचार्य पार्श्वदेव, जिनका समय तेरहवी शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है[1], के द्वारा विरचित संगीत-विषयक अद्भुत ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ अपने आप मे पूर्वाचार्यों के मतो के साथ-साथ समसामयिक मतों को भी समाहित किए हुए है। गम्भीर, विस्तृत तथापि रोचक शैली, ग्रन्थकर्ता की विशेषता मानी जानी चाहिये। अपने प्रकाण्ड-पाण्डित्य के कारण लेखक ने यत्र तत्र पूर्वाचार्यों के साथ विमत प्रकट करते हुए अपने मतो को जिस प्राजल तथा सुस्पष्ट विधि से प्रस्थापित किया है वे अपने में निदर्शनभूत स्थल बन पड़े हैं। इन्होंने पूर्वाचार्यों के मत का अनुसरण भी किया है, परन्तु वहा अपने कर्तृत्व तथा विद्वत्ता की छाप अवश्य छोड़ी है। प्रस्तुत लेख मे ऐसे ही प्रकरण का अध्ययन उपस्थित है जो स्वय ग्रन्थकर्ता के अनुसार महान् सगीताचार्य मतगमुनि (बृहद्देशीकार) के द्वारा वर्णित विषय था[2] परन्तु भारतीय-साहित्य के दुर्भाग्य से मतगमुनिप्रणीत प्रख्यात ग्रन्थ बृहद्देशी खण्डित रूप में ही उपलब्ध है तथा उसके उपलब्धभाग मे प्रस्तुत प्रकरण का कहीं भी उल्लेख नही है अत: सागीतिक कलाकारो के गुण-दोषानुसार उनकी वरीयता-निर्धारण के मानदण्ड जानने के लिये संगीतसमयसार एकमात्र प्रामाणिक-ग्रंथ है। प्रस्तुत लेख मे उन्ही मानदण्डो के अनुसार, पूर्वाचार्यों एव स्वयं आचार्य पार्श्वदेव के अनुसार वर्णित गायको के गुणावगुण के आधार पर गायकों की उत्तममध्यमाधम श्रेणियों का विश्लेषण प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास किया गया है।

मानव के स्वभावानुसार जीवन के प्रत्येक-क्षेत्र में मानवो में परस्पर प्रतिस्पर्धा दृष्टिगोचर होती है। सगीत का क्षेत्र भी इस जन्मजात, ईर्ष्यालु तथा प्रतिस्पर्धात्मक-प्रवृत्ति से अछूता नही है। अधिक धन-सपत्ति की इच्छा, ईर्ष्या, स्वामिविनोद, निजी गोष्ठियो मे पराजय अथवा कारणान्तर से वैर, मतभिन्नता, स्पृहा, असूया, यशस्कामिता अथवा विद्यामद आदि कुछ मूल कारण हैं जिनके लिये दो गायक-कलाकार परस्पर परीक्षा के लिये उद्यत हो जाते है।[3] इस प्रकार के उद्यम को आचार्यों ने तीन भागो मे विभाजित किया है वे हैं, (१) वाद (२) जल्प (३) वितण्डा।[4] इन परीक्षण-विधाओ में निर्णायक की भूमिका अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। निर्णायक स्वयं विवेकशील होते हुए भी निर्णयार्थ वादसभा मे कुछ सहायको की अपेक्षा रखता है। निर्णायक सहित इन सहायको आदि को वाद के अङ्ग नाम से अभिहित किया गया है।[5] वाद के (१) वादी, (२) प्रतिवादी, (३) सभापति, एव (४) सभ्य नाम से चार आवश्यक घटक दीख पडते हैं जिनकी परिभाषा निम्न रूप मे दी जा सकती है :—

वादी :—

प्रतिपक्षी की बात को तत्क्षण अनूदित कर सकने वाला, सुबुद्धि, शास्त्र का अधिकारी विद्वान् तथा प्रतिपक्षी के दूषणों का तत्काल निराकरण करके स्वपक्ष को सिद्ध करने वाला 'वादी' कहलाता है।[6]

प्रतिवादी :—

सुवक्ता, शास्त्रज्ञ, सुबुद्धि, बहुश्रुत एवं वादिपक्ष का खण्डन कर सकने वाला प्रतिवादी कहा जा सकता है। सामान्यत: वादी में उपलब्ध सभी गुण प्रतिवादी में भी उपलब्ध होने चाहियें।[7]

१. आचार्य बृहस्पति, संगीतसमयसार भूमिका पृष्ठ-१२.१९७७ संस्करण, कुन्दकुन्द भारती दिल्ली द्वारा प्रकाशित।
२. संगीतसमयसार ९.१.
३. वही ९.२२-२३.
४. न्यायसूत्र १/२. १-३। तुलनीय काव्यमीमांसा द्वितीयाध्याय (चौखम्बा १९६४ सं० गङ्गासागरराय)
५. संगीतसमयसार ९.१
६. वही ९.२०.
७. वही ९.२१.

सभापति :—

परम्परा तथा उपलब्ध वृत्तान्तों के आधार पर सभापति साधारणतया राजा ही होता है। सम्भवतः इसलिये क्योंकि राजा का निर्णय सर्वमान्य होता है तथा निर्णय के उल्लंघन की धृष्टता करने वाले के प्रति राजा दण्डपात भी कर सकता है। लेकिन सभापति एवं निर्णायक-मण्डल-अध्यक्ष के रूप में राजा मे कुछ गुण वाछनीय हैं जिनके अनुसार राजा, चित्रविचित्र-सुन्दर-वितानों से आच्छादित सुगन्धित सभास्थल में पूर्वाभिमुख-सिंहासन पर आरूढ़ हो श्रीमान्, दाता, गुणग्राहक, मावज्ञ, कीर्तिलम्पट, सत्यवक्ता, शृंगार करने वाला, मार्गी एवं देशी द्विविध संगीत का सम्यक् ज्ञाता, बुद्धिमान्, सर्वकलाढ्यक्ष, पारितोषिक देने वाला संगीतादिगुणदोषज्ञ, सर्व-भाषाभिज्ञ एवं प्रियवक्ता हो।[1]

सभ्य :—

सभ्यों में अनेकविध दर्शक एवं विद्वान् अभीष्ट हैं। वे हैं .—

(१) महारानी, (२) विलासिनी नारियां, (३) सचिव, (४) दर्शक, (५) कवि, (६) रसिक। इनका विवरण अधः-प्रकार से किया जा सकता है।

१. महारानी

राजा के वामभाग में स्थित, रूपयौवनसंपन्ना सदाशृंगारशोभिनी, सौभाग्यवती, पति के मन तथा नेत्रों के भावों के अनुसार आचरण करने वाली।[2]

२. विलासिनी नारियां

रूप यौवन सम्पन्न, सर्वविधाभूषणों से विभूषित, हाव-भाव-विलासों से भरपूर, रतिक्रीडादिनिपुण, विलासिनी नारियां सभापति के आसन पर उपविष्ट राजा के पृष्ठ भाग में बैठाई जाए।[3]

३. सचिव

कार्याकार्यविभागज्ञ, नीतिशास्त्रविशारद, सर्वविधकार्यों के निष्पादन मे निष्णात, चतुर और स्वामिभक्त हो।[4]

४. दर्शक

सामान्यतः सभ्यापरपर्यायवाची इन दर्शकों अथवा श्रोताओं में निम्न गुण अपेक्षित हैं—वे संगीतशास्त्रज्ञ, लक्ष्यलक्षण-शास्त्रज्ञ, अनुद्धत, मध्यस्थ तथा गुणदोषनिरूपणसमर्थ हों।

५. कवि

ऐसे कवि जो रसभावज्ञ, छन्दालंकारज्ञ, तीव्रबुद्धि, प्रतिभासम्पन्न तथा रीतिनिर्वाह में निपुण हो।

६. रसिक

काव्यनाटकादि से उद्भूत रस के आस्वादन की दृढ़ेच्छा वाले तथा गूढ़भावों और अर्थों के ज्ञान से आनन्दित मन वाले हों।

यह सभी यथायोग्य राजा के दक्षिण भाग मे बैठाए जाए।

इनके अतिरिक्त राजा के वामभाग की ओर अन्य वाग्गेयकार, कविनाटककार, नर्तक आदि तत्तद्विद्यापारीण विद्वान् राजा के समीपवर्ती आसनों पर यथोचित उपविष्ट हो। यह सब भी लक्ष्यलक्षण शास्त्रज्ञ एव संगीतांगों म निष्णात हों।[5]

इस प्रकार की सभा मे उपविष्ट सभापति को चाहिये कि वह स्त्री-पुरुष, वृद्ध-युवा, दरिद्र-धनी, विनयशील-उद्धत, दुःखी-प्रसन्न, शिष्य-गुरु, परस्पर असमान विद्यावाले, भीरु-वीर आदि जनों को वाद करने की अनुमति न दे चाहे इनके कितने भी ठोस कारण अथवा आधार उपस्थित क्यों न हों क्योंकि धन, विद्या, वय तथा सम्प्रदाय-परम्परा आदि मे समानजनो का ही परस्पर वाद अभीष्ट है।[6]

---

१. संगीतसमयसार ९.८—९.
२. वही ९.१०-११.
३. वही ९.११-१२.
४ वही ९.१३.
५. वही ९.१४-१९.
६ वही ९.२४-२६

वादियों द्वारा किया जाने वाला वाद परस्पर पणबन्ध से (शर्त बांध कर) होता है। प्राय: वादी-प्रतिवादी वादकाल में किए गए पणबन्ध में अत्युक्ति, देहदण्ड, सर्वस्वहरण, अभद्रवाक्य आदि सभ्यव्यवहारानुचित ऐसी विधियों का आलम्बन कर बैठते हैं जो वाद में नहीं अपितु जल्प अथवा वितण्डा आदि शास्त्रार्थ-प्रकारों में सन्निहित की जा सकती हैं। यह जल्प अथवा वितण्डादि शास्त्रार्थ-प्रकार जैनाचार्यों को परम्परया अभीष्ट नहीं हैं।[1] जैन-परम्परा मूलत: शान्तिप्रिय रही है अत: उस परम्परा के आचार्य भी परस्परशास्त्रार्थ काल में पूर्णत: शान्तिपरक ज्ञानतत्त्वान्वेषिणी विधा का अवलम्बन करके केवल वाद नामक शास्त्रार्थपरम्परा के माध्यम से ही शास्त्रार्थनिर्णय की स्वीकृत देते हैं। इन कारणों को ध्यान में रखकर ही सभापति को वादनिर्णय करते समय कलाकारों के गुण-दोषों का तारतम्य जानकर न केवल जय-पराजय-निर्णय करना चाहिये अपितु पणबन्ध में किये गए अत्युक्ति, देहदण्ड, सर्वस्वहरण और अभद्रवाक्य आदि का निवारण भी सपदि कर देना चाहिये।[2]

संगीतशास्त्र में "संगीत" पद से गीत, वाद्य एवं नृत्त इन तीनों का ग्रहण किया जाता है। इनमें नृत्त को वाद्य तथा वाद्य को गीत का अनुवर्ती मान कर गीत अर्थात् गायनविधा को श्रेष्ठ माना गया है। संगीतशास्त्र में प्राय: सर्वत्र गायन का महत्व एवं उपयोग सुवर्णित है।[3] अत गायन के माध्यमभूत "गायकों" में संगीतशास्त्रियों ने विभिन्न विशेष आकांक्षाओं को परिकल्पित किया है जिन्हें परत: 'गायक-वादनिर्णय' के आधाररूप में भी स्वीकार किया गया।

इन विशेषताओं में प्रथमत: गायक में "सुशारीर" ध्वनि की आकांक्षा की जाती है। इसका महत्व इसके लक्षण से ही स्पष्ट है जो सभी आचार्यों में निर्विवाद तथा एक-सा ही है—

"बिना किसी अभ्यास के ही, प्रारम्भिक एवं मुख्यादि स्वरसनिवेश से युक्त तत्तद् रागों को, विस्वरता और संकरता प्रभृति दोषों से बचाकर प्रकट करने की सामर्थ्य से युक्त ऐसी ध्वनि जो शरीर के साथ ही उद्भूत होती है, शारीर के नाम से जानी जाती है।[4] उपर्युक्त सामर्थ्य एक विशिष्ट सस्कार का नाम है जो रागाभिव्यक्ति का बीज है जिसके बिना या तो राग का प्रकाशन ही नहीं हो पायेगा अथवा यथाकथंचित प्रकाशन होने पर निश्चित रूप में वह हास्य का कारण होगा। यह सामर्थ्य अभ्यास से प्राप्त नहीं हो सकती लेकिन विकसित अवश्य हो सकती है।[5]

इस शारीर ध्वनि में जब तारस्थान में भी माधुर्य, स्निग्धता, गाम्भीर्य, मार्दव, रजकता, पुष्टता, कान्तिमत्त्व एवं अनुरणनात्मकता आदि गुण विद्यमान रहे तो इसे ही सुशारीर[6] के नाम से जाना जाता है। यह सुशारीर ध्वनि, विद्या के दान से तपस्या से अथवा पार्वतीपति भगवान् शंकर की भक्ति से उत्पन्न अत्यधिक भाग्योदय के कारण ही प्राप्त हो सकती है।[7] अन्यथा सामान्यत: संसार में अनुरणनरहितता, रूक्षता, रजकताराहित्य, निर्बलता, विस्वरता, काकित्व (कौए सी आवाज होना), मन्द्रमध्यतारादि स्थानों में से किसी एक में गायन न कर सकना, ध्वनि का कृश एवं कर्कश होना आदि दोषों से युक्त "कुशारीर" ध्वनि वाले अनेकश: गायक दृष्टिगोचर होते हैं। यह निश्चित रूप में त्याज्य ही माने जाते हैं।

आचार्य पार्श्वदेव ने भी इन सभी विशेषताओं अथवा दोषों को माना है परन्तु इनका वर्गीकरण पृथक्-पृथक् किया है जो पूर्वाचार्यों से निश्चित ही इनका मतवैभिन्य दर्शाता है। उनके अनुसार शारीरध्वनि के चार भेद हैं (i) कडाल, (ii) मधुर, (iii) पेशल (iv) बहुभङ्गी। इनका विवरण निम्न प्रकार से दिया गया है—

---

१. द्रष्टव्य-प्रमेयकमलमार्तण्ड, जय-पराजय व्यवस्था प्रकरण (१९४१) निर्णयसागर प्रेस।

२. संगीतसमयसार-९ २०९.

३. संगीतरत्नाकर—१९७६ सस्करण, अड्यार लाईब्रेरी मद्रास, स्वरगताध्याय पदार्थसंग्रहप्रकरण २४-३०.

४. संगीतरत्नाकर ३ ८२.
तुलनीय संगीतदर्पण, १९५२ मद्रास गवर्नमेन्ट ओरियण्टल सीरिज ३१७-३१८.
तथा संगीतसमयसार २.१२.

५. संगीतरत्नाकर ३.८२ पर कल्लिनाथी टीका

६. संगीतरत्नाकर ३.८३-८४.
तुलनीय संगीतदर्पण ३१८-३१९.

७. संगीतरत्नाकर ३.८६
तुलनीय संगीतदर्पण ३२१.

८. संगीतरत्नाकर—३.८४-८५
तुलनीय संगीतदर्पण ३२०-३२१.

(i) कडाल—मन्द्र, मध्य एवं तार इन तीनों स्वरस्थानों में तीक्ष्णता युक्त ध्वनि,

(ii) मधुर—मन्द्र एवं मध्य स्वरस्थानों में मधुरतायुक्त,

(iii) पेशल—तार में राग प्रकाशक ध्वनि,

(iv) बहुभङ्गी—उपर्युक्त तीनों प्रकारों का मिश्रण ।

उपर्युक्त चारों प्रकारों में से बहुभङ्गी नामक चतुर्थ प्रकार के पुनः चार भेद हैं—

(i) कडालमधुर, (ii) मधुरपेशल, (iii) कडालपेशल एवं (iv) शारीरत्रयमिश्रक ।

"बहुभङ्गी" ध्वनि को ही कण्ठगत गुणों अथवा दोषों के आधार पर पुनः अष्टप्रकारक कहा गया है । वे आठ प्रकार हैं—

(i) माधुर्य्य, (ii) श्रावकत्व, (iii) स्निग्धत्व, (iv) घनत्व,(v) स्थानकत्रयशोभा,(vi) खेटि, (vii) खेणि, (viii) भग्न शब्द ।

इनमें से पूर्व पांच कण्ठ के गुण तथा परवर्ती तीन कण्ठ के दोष कहे गए हैं ।[1] इन उपर्युक्त वर्गीकृत शारीर भेदों को पूर्वाचार्यों द्वारा वर्णित गुण-दोषों में सनिहित किया जा सकता है । मात्र ईषत् प्रयास तथा तात्त्विक विवेचन ही इसके लिए अपेक्षित है । अतिविस्तारभय से इस प्रसंग को यहाँ नहीं कहा जा रहा है परन्तु आचार्य पार्श्वदेव द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण इसे एक नया रंग देता है ।

इसके अतिरिक्त अन्यस्थानों पर भी आचार्य पार्श्वदेव गायकों के गुण-दोषों का वर्गीकरण प्रस्तुत करते समय पूर्वाचार्यों से मतवैभिन्य प्रस्तुत करते हैं । पूर्वाचार्यों में भरत-मुनि के पश्चात् हुए संगीत के सर्वमान्य आचार्य शार्ङ्गदेव (१३वीं शती) का भी आचार्य पार्श्वदेव यथावत् अनुसरण नहीं करते हैं । संगीत की, आचार्य पार्श्वदेव से पूर्ववर्ती परम्परा, जिसका पालन संगीतरत्नाकर तथा संगीतदर्पण आदि ग्रन्थों के ख्यातनामा रचयिताओं ने भी किया है, मे गायक के गुणदोषों का वर्णन एक क्रम से प्राप्त होता है । इस परंपरा का पालन करने वाले चतुरदामोदर पंडित (१६वीं शती) आदि विद्वानों के होने पर भी संगीतरत्नाकर सदृश महान् ग्रंथ की विख्यात "सुधाकर" टीका के रचयिता सिंहभूपाल (१४वीं शती) तथा "कलानिधि" टीका के रचयिता कल्लिनाथ द्वारा संगीतसमयसारकृत् के उद्धरणों को अपनी टीका में उद्धृत करते हुए आचार्य पार्श्वदेव द्वारा विवृत गुण-दोषों आदि विषयों को इन परम्परावादी आचार्यों के मत के साथ-साथ अन्य मत के रूप में स्थापित करना, इनके द्वारा प्रस्थापित वर्गीकरण पर स्वीकृति की मोहर लगाने सदृश कार्य माना जाना चाहिये। पूर्वाचार्यों द्वारा स्वीकृत गुण निम्नक्रम से हैं :

गायकों में आकांक्षित गुण :—

(१) हृद्यशब्द (२) सुशारीर, (३) ग्रहमोक्षविचक्षण, (४) रागरागाङ्गभाषाङ्गक्रियाङ्गोपाङ्गकोविद, (५) प्रबन्धगाननिष्णात, (६) विविधालप्तितत्त्ववित्, (७) सर्वस्थानोत्थगमकेष्वनायाससदगति, (८) वश्यकण्ठ, (९) तालज्ञ (१०) सावधान, (११) जितश्रम, (१२) शुद्धच्छायालगाभिज्ञ, (१३) सर्वकाकुविशेषवित् (१४) अनेकस्थायसंचार, (१५) सर्वदोषविवर्जित, (१६) क्रियापर, (१७) युक्तलय, (१८) सुघट, (१९) धारणान्वित, (२०) स्फूर्जन्निर्जवन: (२१) हारि,(२२) रह कृत्,(२३)भजनोद्धर, (२४) सुसंप्रदाय ।[2]

इन पारिभाषिक-पदों का विवरण निम्नप्रकार से क्रमशः प्रस्तुत है

(१) हृद्यशब्द —

हृद्य, अर्थात् रमणीय शब्द अर्थात् ध्वनि है जिसकी । यहाँ शब्द से ध्वनि ही अभिप्रेत है । वैयाकरण भी मतान्तर में ध्वनि को शब्द मानते हैं ।[3]

(२) सुशारीर —

प्रस्तुत लेख में इसका सर्वमुख्य मानते हुए वर्णन पूर्व ही किया जा चुका है । उस आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि सुशारीर—ध्वनि से विरहित गायक अच्छा गायक हो ही नहीं सकता ।

(३) ग्रहमोक्षविचक्षण —

ग्रह तथा मोक्ष से क्रमशः गीत को आरंभ करने वाला स्वर तथा गीत को समाप्त करना, अभीष्ट अर्थ हैं । यही अर्थ संगीतरत्नाकर के दोनों टीकाकारों को भी इष्ट है । इनमें विचक्षणता अर्थात् ग्रहन्यासादि के अनुसार गीत का निर्वाह कर सकना ।[4]

---

१. संगीतसमयसार—२ ३३-४३.

२. संगीतरत्नाकर ३,१३-१८.

३. द्रष्टव्य पातंजल व्याकरणमहाभाष्य पस्पशाह्निक "शब्द कुरु । मा शब्द कार्षीः । शब्दकार्य य माणवकः । इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते तस्माद्ध्वनिः शब्दः ।"

४. द्रष्टव्य संगीतरत्नाकर पर कल्लिनाथीय तथा सिंहभूपालीय टीकाएं क्रमशः संगीतरत्नाकर भाग दो पृष्ठ-१५३ तथा १५५.

(४) रागरागाङ्गभाषाङ्गक्रियाङ्गोपाङ्गकोविद :—

"राग" पद को सामान्यत रजन करने वाला राग है (रंजनाद्रागः) इस लक्षण से अभिहित किया गया है। बृहद्देशीकार आचार्य-मतङ्ग द्वारा कृत "राग" की शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार—

"स्वरों तथा वर्णों (गान क्रिया) आदि से विभूषित जनचित्तरजक ध्वनिविशेष को राग कहा गया है।" "रञ्जन करने के कारण राग है" यह इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है।[1]

आचार्य पार्श्वदेव के अनुसार :—

"सज्जन उसे राग मानते हैं जो स्वरवर्णादि के वैशिष्ट्य अथवा ध्वनिभेद के कारण सज्जनमनोरंजन कर सके।[2] "रागाङ्ग" पद मूल-रागों के अवयवैकदेश का वाचक है क्योंकि इनमें ग्रामप्रकरण में उक्त रागों की छायामात्र दृष्टिगोचर होती है।"[3]

"जिसमे समान भाषाओं की छाया का आश्रय कर लिया जाता है वह स्तुतिकारादिको के द्वारा गेय "भाषाङ्ग" कहे जाते हैं।[4]

जिनमें करुण, उत्साह, शोकादि से उद्भूत क्रिया होती है वह क्रियाङ्ग[5] तथा—

रागाङ्ग की छाया का अनुसरण करने वाले "उपाङ्ग" कहे जाते हैं।

वास्तव में उपर्युक्त रागाङ्ग आदि सभी राग ही माने जाते हैं परन्तु इनका वर्गीकरण में भेद है राग पद से ग्रामरागों का ग्रहण किया गया अथवा "मार्ग"[6] संगीत मे गाए जाने वाले मूलराग "राग" इस अभिधा से अभिहित हैं जबकि रागाङ्ग आदि, इन रागों पर आश्रित होते हैं परन्तु इनके ही भेद होकर यह मात्र देशी[7] संगीत पद्धति में गाए जाते हैं।[8] इनको "रंजनाद्रागः" इस सामान्य परिभाषा के अन्तर्गत संनिहित करके राग माना जाता है।[9] इसी प्रसग मे यह स्पष्ट करना भी समीचीन होगा कि मतंगाचार्य ने उपाङ्गों का अन्तर्भाव रागाङ्गों में ही करके उपाङ्गों का पृथक परिकल्पन नही किया है जबकि सगीतरत्नाकरकार आचार्य शार्ङ्गदेव तथा उनकी परवर्ती परम्परा के आचार्यों ने उपाङ्गो का पृथक् परिकल्पन कर इन्हे रागभेद माना है।[10]

इन सभी उपर्युक्त मार्गी एवं देशी रागो तथा रागभेदों के प्रयोग मे निष्णात।

(५) प्रबन्धगानचतुर :—

संगीतशास्त्र परम्परा में 'रजकस्वर-संदर्भ वाला" गीत माना जाता है। इसके (i) गान्धर्व, तथा (ii) गान यह दो भेद माने गए हैं। (i) जो अनादिकालिक संप्रदाय-परम्परा से युक्त है, निश्चित रूप में कल्याण करता है वह गन्धर्वों द्वारा प्रयोज्य गीत "गान्धर्व" कहलाता है। इसे ही मार्ग-गीत भी कहते हैं।[11] (ii) जो वाग्गेयकार (सगीत तथा भाषाविद् कवि) के द्वारा लक्षणानुसार जनरजनार्थ देशी रागादिको मे विरचित रचना होती है उसे "गान" कहा जाता है। इस गान के पुन (i) निबद्ध-गान, तथा (ii) अनिबद्धगान के नाम से दो भेद किये जाते हैं (i) सामान्यत भाषाबद्ध सांगीतिक रचना को निबद्धगान, तथा (ii) बन्धन-हीन को अनिबद्धगान अथवा आलप्ति भी कहा जाता है। निबद्धगान के तीन नाम कहे जाते हैं (i) प्रबन्ध (ii) वस्तु, तथा (iii) रूपक। इनमे प्रबन्ध का लक्षण सर्वत. स्पष्ट रूप में संगीतसमयसार मे कहा गया है। तदनुसार—

चतुर्विध धातुओ तथा षड्विध अगो से बाधा जाने के कारण विद्वानो ने इसे प्रबन्ध कहा है। इन चार धातुओ के नाम हैं—
(१) उद्ग्राह, (२) मेलापक, (३) ध्रुव, (४) आभोग, तथा छह अगो के नाम हैं, (१) स्वर, (२) पद, (३) बिरुद, (४) पाट (पाठ) (५) तेनक, (६) ताल।

१. बृहद्देशी २८१ तथा २८३.
२. सगीतसमयसार १ ५८
३. सगीतरत्नाकर भाग दो पृष्ठ १५ पर उद्धृत यह पद्य उपलब्ध बृहद्देशी में अनुपलब्ध है। तुलनीय सगीतसमयसार ४. १-३.
४. वही,
५. वही
६. रागविबोध—१.६, आड्यारसंस्करण १९४५
७. वही १.७.
८. संगीतरत्नाकर (भाग दो) पृष्ठ १५, पृष्ठ १५५ पर उद्धृत सगीत सुधाकर टीका भी द्रष्टव्य है।
९. वही पृष्ठ १५।
१०. वही भाग दो पृष्ठ १५ पर कल्लिनाथी टीका।
११. वही प्रबन्धाध्याय, २ पर कल्लिनाथी टीका।

इन सब से युक्त प्रबन्ध कहीं-कहीं मेलापक तथा आभोग से रहित भी दृष्टिगोचर होता है। इस प्रबन्ध की पांच जातियाँ होती हैं जिनके नाम हैं (१) मेदिनी (२) आनन्दिनी (३) दीपनी (४) भावनी, तथा (५) तारावली। यह प्रबन्ध (१) अनिर्युक्त, एवं (२) निर्युक्त इन दो भेदों वाला माना जाता है। (१) छन्द ताल आदि के नियमों से विहीन प्रबन्ध अनिर्युक्त तथा (२) इनके नियमों में बंधा हुआ प्रबन्ध निर्युक्त कहलाता है। प्रबन्ध के पुन: तीन भेद हैं। (१) सूडस्थ, (२) आलिसश्रय, एवं (३) विप्रकीर्ण।[1] संक्षेप में वर्णित इन प्रबन्धों के गायन में निष्णात।

(६) विविधालप्तितत्त्ववित् :—

विविध आलप्तियों के तत्त्व को जानने वाला। आलप्ति का तात्पर्य है राग का आलपन अर्थात् प्रकटीकरण। इसके मूलत: दो भेद हैं—(१) रागालप्ति, तथा (२) रूपकालप्ति।

(१) "रागालप्ति" के स्वरूप का वर्णन करते हुए शास्त्रकारो का कहना है कि जिसमे "रूपक" नामक प्रबन्ध की अनपेक्षा करते हुए चार "स्वस्थानों" का प्रयोग किया जाय उसे रागालप्ति कहते है। इन स्वस्थानो का विवरण देना आवश्यक है।

षड्जादि स्वरों मे से जिस किसी स्वर मे राग की स्थापना की जाती है उसे स्थायी अथवा अंशस्वर कहते हैं। अंशस्वर से चतुर्थस्वर को "द्वयर्ध" नाम से जाना जाता है तथा स्थायिस्वर से अष्टम स्वर को द्विगुण कहा जाता है। द्वयर्ध तथा द्विगुणस्वरों के मध्यवर्ती स्वर अर्धस्थित संज्ञक होते हैं जब स्थायी अथवा अंशस्वर से प्रारम्भ करके द्वयर्धस्वर से नीचे ही मुखचालन करके राग का प्रकटन किया जाय तो प्रथमस्वरस्थान कहा जाता है। द्वयर्धस्वर पर्यन्त मुखचालन से राग प्रकटन के पश्चात् स्थायी पर न्यास (आलपन-समाप्ति) द्वितीयस्वरस्थान कहलाता है। द्वयर्ध तथा द्विगुण स्वरो के मध्यस्थित "अर्धस्थित" नामक स्वरो मे आलपन के पश्चात् स्थायी पर न्यास से तृतीयस्वरस्थान कहलाता है, इसमे द्विगुण स्वर का स्पर्श नही किया जाता।

द्विगुण स्वर सहित "अर्धस्थित" स्वरो मे मुखचालन द्वारा राग-प्रकटन करके स्थायी स्वर पर न्यास कर देना चतुर्थ-स्वरस्थान कहलाता है। इस प्रक्रिया का पालन करते समय यह ध्येय होता है कि छोटे-छोटे रागावयव रूपी स्थायो[2] द्वारा बहुविधचातुर्य से अंशस्वर की मुख्यता से युक्त करके राग की स्थापना की जाय।

(२) रूपकालप्ति—रूपक प्रबन्ध का ही अपर नाम है। रूपक मे विद्यमान राग तथा ताल के अन्तर्गत की गई आलप्ति को रूपकालप्ति कहा जाता है। इसके (१) प्रतिग्रहणिका, तथा (२) भजनी यह दो भेद हैं। भजनी के पुन: दो भेद हैं—(i) स्थायभंजनी, एवं (ii) रूपकभंजनी। इन सभी प्रकार की आलप्तियों में यह बात ध्यान रखने योग्य होती है कि इनको वर्ण, अलंकार, स्थाय, गमक आदि विविध भङ्गिमाओ से चित्रित करके प्रयुक्त करना चाहिये।[3] ऐसा करने वाला ही अच्छा गायक माना जाता है।

(७) सर्वस्थानोत्थगमकेष्वनायासलसद्गति :—

"गमक" पद से स्वर के विशिष्ट ढंग से कम्पन का ग्रहण किया जाता है। यह श्रोतृचित्त को सुख देने वाला माना गया है। उसके पन्द्रह भेद हैं—(१) तिरिप, (२) स्फुरित, (३) कम्पित, (४) लीन, (५) आन्दोलित, (६) वलि, (७) त्रिभिन्न,(८) कुरुल (९) आहत, (१०) उल्लासित, (११) प्लावित, (१२) हुम्फित, (१३)मुद्रित,(१४) नामित, तथा(१५) मिश्रित, यह मुख्य भेद हैं। इनमें से मिश्रित के बहुत से भेद सम्भव है।[4] संक्षेप मे यह कहा जाना उचित होगा कि वह गायक जो अपने गायन में सर्वस्थानों अर्थात् मन्द्रमध्यतारसप्तकरूपी स्वरस्थानों से उद्भूत गमकों में बिना प्रयत्न के गति कर सकता है वह गुणी गायक है।

(८) आयत्तकण्ठ-वश्यकण्ठ :—

जो गायक अपने कण्ठ से जब जैसी चाहे वैसी ही गायन-विद्या का प्रयोग कर सके, कल्लिनाथ के अनुसार स्वाधीनध्वनि।[5]

---

१. संगीतरत्नाकर प्रबन्धाध्याय १-२३ तथा इन पर कल्लिनाथ तथा सिंहभूपाल की टीकाएं।

२. वही, प्रकीर्णकाध्याय ६७.

३. वहीं—१८९-२०२.

४. वही, ८७-८६.

५. संगीतरत्नाकर भाग दो पृष्ठ-१५४.

(९) तालज्ञ :—

ताल का सम्बन्ध लय से है। इसमें निपुणता गायन के सर्वप्रमुख गुणों में से अन्यतम है। याज्ञवल्क्य का कहना है कि वीणावादन तत्त्वज्ञ, श्रुतिजातिविशारद तथा ताल का ज्ञाता बिना प्रयास के ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

"वीणावादनतत्त्वज्ञ:, श्रुतिजातिविशारदः
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं प्रयच्छति।"

अतः ताल अर्थात् लय मे निपुणता गायक का गुण माना गया है।

(१०) सावधान :—

सावधानता को भी गायक का गुण माना गया है। इसका भाव स्पष्ट करते हुए सिंहभूपाल कहते हैं कि सावधानता का तात्पर्य है श्रुतिनियम का ज्ञाता।[1] भावार्थ यह है कि किस-किस राग मे किस-किस श्रुति का प्रयोग होगा यह निश्चित जानने वाला ही "सावधान" पद से अभिहित होगा।

(११) जितश्रम :—

अनेक प्रकार के प्रबन्धों का गायन करने के पश्चात् भी जिसके कण्ठ में से थकावट का चिह्न प्रकट न हो वह गुणी गायक "जितश्रम:" नाम से अभिहित है।

(१२) शुद्धच्छायालगाभिज्ञ :—

साधारणतया वह राग जिस पर किसी अन्य राग का प्रभाव नहीं होता शुद्ध तथा जिनपर अन्य राग का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है वह छायालग के नाम से जाने जाते हैं। परन्तु यहाँ सिंहभूपाल के अनुसार[2] शुद्ध का तात्पर्य मार्गीसूड तथा छायालग का तात्पर्य सालग सूड से है। सूड प्रबन्ध का ही एक भेद माना गया है जो एला, करण, ढेंकी, वर्तनी, झोम्बड, लम्भ, रासक एकताली आदि अंगों से युक्त होता है[3] जिनको विस्तारभय से यहाँ कहना उचित न होगा। लेकिन यदि शुद्ध को अन्य राग की छाया से रहित एवं छायालग को अन्य राग की छाया से युक्त यह साधारण अर्थ मान लिया जाय तो भी सिंहभूपाल के द्वारा उक्त मत उचित है क्योंकि मार्गी संगीत ही पूर्णतः शुद्धस्वरूप मे उपलब्ध होता है एवं रागाङ्ग आदि के रूप मे उपलब्ध देशी संगीत, मूलसंगीत (मार्गी) की छायाओं को अन्तर्निहित किए हुए जनमनरंजनकारकत्व की सामान्यता से रागपदभाजक होता है। इन दोनों के विषय को सम्यक् प्रकार से जानने वाला शुद्धच्छायालगाभिज्ञ कहलाता है।

(१३) सर्वकाकुविशेषवित् :—

"काकु" भारतीय शास्त्रों विशेषतः साहित्यशास्त्र में अति प्रसिद्ध तकनीकी पद है जिसका वहाँ अर्थ होता "भिन्नकण्ठध्वनित्व"। अर्थात् कण्ठ के द्वारा इस प्रकार से शब्द का व्यवहार करना जिससे वह अभिधेयार्थ से अन्य किसी विशिष्ट अर्थ का बोध कराने लगे। इसे ध्वनिविकार भी कहा जाता है। संगीतशास्त्र मे इसे इसी अर्थ मे जाना जाता है।[4] काकु का अन्तर्भाव संगीतशास्त्र में स्थायों मे किया जाता है। इसे छाया[5] भी कहा जाता है। इसके छह भेद कहे गए हैं। वे हैं —(१) स्वरकाकु, (२) रागकाकु, (३) रागान्यकाकु, (४) देशकाकु, (५) क्षेत्रकाकु, (६) यन्त्रकाकु। सामान्यतया संक्षेप मे विचार करने पर यह नाद का वह गुण है जिसके द्वारा व्यक्तियों तथा यन्त्रों आदि की ध्वनि को सुनकर हम यह ज्ञान कर लेते है कि यह "राग है अथवा यह सितार बज रही है, आदि इसी के द्वारा हम तत्तद्देशीय उच्चारणों का भी अनुमान कर लेते हैं।

(१४) अनेकस्थायसंचार :—

राग के अवयवों को "स्थाय"[6] कहा जाता है। इनके प्रयोग में भी न्यासादि पर विश्रमण से युक्तता तथा अंशी स्वर आदि सहित कुछ स्वरों का समूहत्व ध्यातव्य होता है। इनके संकीर्ण तथा असंकीर्ण कोटिपरक छयानवे भेद माने गए हैं। इनमें से अनेकों में संचरण कर सकने वाला, गुणी गायनाचार्य माना जाता है।

---

१. संगीतरत्नाकर भाग दो पृष्ठ १५५.
२. वही।
३. संगीतरत्नाकर प्रबन्धाध्याय २३ का उत्तरार्ध २४ का पूर्वार्ध।
४. वही, प्रकीर्णकाध्याय कल्लिनाथी टीका, पृष्ठ १७५.
५. वही, १२० के उत्तरार्ध से १२६ के पूर्वार्ध तक।
६. वही, प्रकीर्णकाध्याय. ९७-११२ पूर्वार्ध तक।

(१५) सर्वदोषविवर्जित :—

प्रायः शास्त्रकारों ने गायन में पच्चीस दोष माने हैं वे संदष्ट उद्घुष्ट आदि दोष आगे वर्णित किए जायेंगे उन सर्वविध दोषों से रहित।

(१६) क्रियापर :—

कल्लिनाथ एवं सिंहभूपाल[1] इन दोनों के अनुसार क्रियापर से तात्पर्य अभ्यासलग्न गायक से है जो सदा अभ्यास करने में त्यक्तालस्य हो परन्तु आचार्य सिंहभूपाल ने इस विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए संगीतसमयसार का भी उद्धरण[2] देते हुए कहा है कि :—

"मार्गी तथा देशी द्विविध संगीत का शास्त्रानुसार निर्दोष गायन करने वाला क्रियापर है।[3] वास्तव में तो अभ्यास के बिना व्यक्ति संसार में साधारण पठन-पाठन में भी क्रमश: जडत्व को प्राप्त करता जाता है फिर संगीत जैसी नादब्रह्मात्मक विधा का तो कहना ही क्या है। इसमें तो अभ्यास ही सर्वप्रकारक-पाण्डित्य अथवा चातुर्य का मूल है, परन्तु कल्लिनाथ तथा संगीतसमयसार इन दोनों के द्वारा प्रस्तुत "क्रियापर" पद की व्याख्या में मूलभूत अन्तर है। यदि शब्द से उद्भूत व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का ग्रहण किया जाय तो "क्रियायां पर:" इस विग्रह से क्रिया अर्थात् गायनक्रिया में सदा लीन यह कल्लिनाथाभिमत अर्थ ही अधिक सगत प्रतीत होगा। अस्तु क्रियापर होना सुगायन माना जाता है इसमे कोई विवाद नही है।

(१७) युक्तलय :—

संगीतशास्त्र मे ताल को कालक्रियामान अर्थात् काल या समय की गति का मापन कहा जाता है (१) यह मनगत, तथा (२) हस्तगत भेदों से द्विविध है।[4] काल का मापन करने के लिये प्रत्यक्षत: हस्तगत क्रिया का आलम्बन मृदङ्गादि के द्वारा अथवा मात्र हस्त से ही किया जाता है। हस्त के आघातो में जो अन्तराल बन जाता है उसे लय कहते हैं क्योंकि वह दो आघातों के अन्दर लीन हो जाता है[5] इसके तीन भेद हैं। (१) द्रुत, (२) मध्य, एव (३) विलम्बित। "युक्तलय" पद के शब्दार्थ का विवेचन करने पर जो लय मे युक्त अर्थात् जुटा हुआ है अथवा लय से युक्त है यह सामान्यार्थ प्राप्त होता है जिसके अनुसार सर्वविध तालगति में निष्णात गायक युक्तलय माना जायगा। परन्तु सिंहभूपाल[6] के अनुसार "गायक की प्रसिद्धि मे रंजनकारी गायन" युक्तलयता का तात्पर्य है। विचार करने पर इससे उपर्युक्त शाब्दिक अर्थ की संगति इस प्रकार बैठती है कि जो गायक विभिन्न कालगतियो अर्थात् लयो (दोगुण तिगुन आदि) का प्रदर्शन अत्यंत निष्णातता से एव प्रसिद्ध्यनुसार करे वह "युक्तलय" गुणान्वित गायक कहा जायेगा।

(१८) सुघट :—

जिस भी विधि से गायन मे सौन्दर्य आ सके ऐसा प्रयत्न करने वाला सुघट कहलाता है। इसे ही भाषा मे "सुघड" कहते है।[7] कल्लिनाथ के इस मान्य अर्थ के अतिरिक्त संगीतसमयसार का शास्त्रीय पक्ष भी देखना उचित होगा जिसके अनुसार—

वह गायक जो स्वर, वर्ण तथा ताल इन तीनो गीत के अंगो को स्पष्ट रूप से घटित-व्यक्त करता है तथा सुन्दर ध्वनि से युक्त कण्ठ वाला (हृद्यशब्द:) भी होता है।[8] तत्त्वत: इन दोनो मतों मे कोई अन्तर नही। संगीतसमयसार में सुघटत्व मे वांछनीय सुन्दरध्वनि को संगीतरत्नाकर मे हृद्यशब्दत्व के द्वारा पहले ही कहा जा चुका है। मूल बात तो गायन के सुन्दर रूप से संघटन की है जो दोनों मतों मे समान है।

(१९) धारणान्वित :—

धारणा शक्ति का संगीतशास्त्रीय अर्थ संगीतसमयसारकृत् आचार्य पार्श्वदेव ने निम्न प्रकार से दिया है कि—

---

१. संगीतरत्नाकर भाग दो पृष्ठ १५४ तथा १५५.
२. वही, पृष्ठ १५५
३. तुलनीय संगीतसमयसार, ९.५६ उत्त०, ५७ पूर्वार्ध।
४. संगीतसमयसार, ८.२.
५. वही, ८. १७.
६. संगीतरत्नाकर भाग दो, पृष्ठ १५५.
७. वही, पृष्ठ १५४, कल्लिनाथी टीका।
८. संगीतसमयसार, ९.५९—६०.

"अनुतार से परवर्ती स्वरों में एक श्रुतिप्रस्खलन (स्वर का कम रह जाना) आदि होने पर भी जिस गायक की ध्वनि की गाढ़ता-सघनता कम नहीं होती है उसे धारणा शक्ति के नाम से संगीतशास्त्रियों ने स्वीकार किया है।"[1]

सामान्य रूप में यदि इसे यूं कहा जाय कि जिस गायक की "अनुतार" गायन में भी ध्वनि कमजोर न पड़े वह धारणान्वित गायक होता है। चाहे इस गायन में राग का अभीष्ट स्वर न लग रहा हो !

(२०) स्थूर्जन्निर्जवन :—

"निर्जवन" पद की व्याख्या दो प्रकार से प्राप्त होती है। सामान्यत: जो अर्थ सर्वमान्य है वह है "अप्रतिहतगतित्व"।[2] इसका एक अपर स्वरूप संगीतसमयसार ने दिया है वह है "श्वास पर विजय प्राप्त करके गाना निर्जवन कहलाता है।"[3] ये दोनों व्याख्याएं गायकनिष्ठ हैं। शास्त्रनिष्ठ अथवा प्रबन्धनिष्ठ व्याख्या के अनुसार "वे स्थाय जिनमें स्वर क्रमशः अतिसूक्ष्मस्वरूप को प्राप्त करता जाता है, सरलता, कोमलता तथा रक्तिमत्व गुणों से युक्त होता है, निर्जवनान्वित स्थाय कहे जाते हैं।"[4]

तत्त्वदृष्ट्या विचार करने पर यह भी गायकनिष्ठ वस्तु हो जाती है—"जो गायक स्थायों का प्रयोग करते समय स्वर में सरलता, कोमलता तथा रक्तिमत्व को बनाए रखकर स्वर को क्रमशः अतिसूक्ष्मता की ओर ले जाता है वह निर्जवनान्वित है और यह कार्य श्वाससाध्य है अत: इस कार्य के लिये अप्रतिहतगतित्व एवं जितश्वासत्व आवश्यक हैं।

(२१) हारि :—

जिसका गायन मन को हरण कर लेने वाला हो।

(२२) रहःकृत् :—

इस पद की व्याख्या मे संगीतरत्नाकर के दोनों टीकाकारों का मत भिन्न है। सिंहभूपाल के अनुसार "रह.कृत्" का तात्पर्य वेग से गायन करना है।[5] जो वास्तव मे "निर्जवन" के वर्णन के प्रसग मे कल्लिनाथ द्वारा स्वीकृत अर्थ है। कल्लिनाथ के अनुसार "रह." पद का तात्पर्य श्रोतृजनमोहन[6] है अत. श्रोतृजनमोहनकारक गायक को रह.कृत् कहना चाहिये। वास्तव मे यह अर्थ भी मूल में उक्त "हारि" पद के द्वारा प्रकट हो चुका है। या तो कल्लिनाथ ने हारि को पृथक् न मानते हुए "हारिरहःकृत्" यह एक पद मानकर इसका तात्पर्यार्थ श्रोतृजनमोहन ले लिया है अन्यथा "हारि" का भी अर्थ मनोहारि करना तथा पुनः रहःकृत् से भी श्रोतृजनमोहन अर्थ प्रकट करना सभवतः ग्रन्थकार आचार्य शार्ङ्गदेव तथा अन्य आचार्यो को भी अभीष्ट न होगा क्योंकि यह मात्र पिष्टपेषण ही है। इसी प्रकार 'निर्जवन" तथा "रहःकृत्" इन दोनों पदो का अर्थ वेग से गायन करना भी पिष्टपेषण ही है। इन सभी प्रकार के अर्थों को एक तरफ रखकर यदि हम एक अन्य दृष्टि से विचार करें तो पाते हैं कि रहस् का तात्पर्य मैथुन अथवा रति होता है।[7] अत: जिस प्रकार कोई मानव रत्यर्थ उपस्थित स्त्री के साथ स्नेह से व्यवहार करता है उसी प्रकार गायनविधा के प्रकटन के समय स्वरो, वर्णो आदि के साथ स्नेहिल व्यवहार करने वाला "रहःकृत्" हो सकता है। भावार्थ यह है कि गायक को गायन के समय सान्द्रध्वनि का प्रयोग करना चाहिये।

(२३) भजनोद्धुर :—

सुशारीर ध्वनि के कारण राग की सुन्दर समभिव्यक्ति को भजन कहा जाता है।[8] इसमे उत्कट अर्थात् प्रचंड प्रवीणता वाला। इसी भजन का उपलक्ष्य सगीतसमयसार मे भजकता के नाम से उल्लेख किया गया है।[9]

(२४) सुसंप्रदाय :—

जिसका सुप्रतिष्ठित सप्रदाय से सबंध हो। यही सप्रदाय परम्परा सभवत परवर्ती एव आधुनिक काल मे घरानों के नाम से अभिहित की गई है।

---

१. संगीतसमयसार, ३.६२ (धरणि के नाम से उक्त है)
२. सगीतरत्नाकर भाग दो, पृष्ठ १५४ कल्लिनाथी टीका।
३. सगीतसमयसार, ३.८८ (निजवण के नाम से उक्त है)
४. संगीतरत्नाकर प्रकीर्णकाध्याय, १४५-४६.
५. संगीतरत्नाकार भाग दो, पृष्ठ १५६ सिंहभूपाल की टीका।
६. वही, पृष्ठ १५५, कल्लिनाथी टीका.
७. इंग्लिश हिन्दी डिक्सनरी द्वारा गोवे और कर्वे।
८. संगीतरत्नाकर भाग २. सिंहभपाल टीका, पृष्ठ १५६.
९. संगीतसमयसार, ३.८८,

इन गुणों वाले गायकों को श्रेष्ठ, इनमें से कुछ गुणों से हीन परन्तु दोषरहित गायकों को मध्यम तथा एक भी दोष से युक्त गायक चाहे सर्वगुणसम्पन्न क्यों न हो उसे अधम गायक माना जाता है।[१]

गायक के मूलतः पांच भेद हैं।[२] (१) शिक्षाकार, (२) अनुकार, (३) रसिक, (४) रंजक तथा (५) भावक। इनका विवरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(१) शिक्षाकार—बिना किसी न्यूनता के सर्वविध गायन विधाओं को सपदि शिक्षित कर सकने वाला[३]। इसी को इस प्रकार भी विवृत किया जा सकता है कि जो—

"शुद्ध अर्थात् मार्गी तथा मालग अर्थात् देशी सूडों को शीघ्रता से विषम एवं प्रांजल गीत को सिखा सकता है"।[४]

(२) अनुकार—दूसरे गायकों की गान भङ्गिमाओं का अनुकरण करने वाला।

(३) रसिक—गायन समय में गीत के रस से आविष्ट होकर रसपूर्ण गायन करने वाला[५]। ऐसे समय में वह आनन्दाश्रु संकीर्ण तथा पुलकित भी हो सकता है।[६]

(४) रंजक—जनमनरञ्जन करने वाला।[७] संगीतसमयसार में इसका सुविस्तृत वर्णन यों किया गया है कि जो—

"मनभावन गीत के द्वारा श्रोता का मनोभाव समझकर गीत में नाट्य के अंश को भी सम्मिलित करके उसे अधिकतर रंजक बना देता है वास्तव में उसे रंजक कहते हैं।[८]

भावक

श्रोता के अभिप्राय को जानकर नीरस को सरस तथा भावहीन को भावान्वित करके गाने वाला भावक कहलाता है।[९]

द्रष्टव्य है कि इस सम्पूर्ण गायक भेद प्रसंग में कल्लिनाथ तथा सिंहभूपाल इन दोनों की टीका उपलब्ध नहीं है। सिंहभूपाल इस प्रकरण में मात्र संगीतसमयसार को उद्धृत करके व्याख्या करते हैं।[१०]

गायन की क्षमता के अनुसार गायक को पुनः तीन भेदों में बांटा गया है : (१) एकलगायक, (२) यमलगायक, (३) वृन्दगायक। इनका विवरण[११] नामानुसारी है—

(१) एकलगायक—वह गायक जो एकाकी गायन में सक्षम है, इसी को आंग्लभाषा में Solo Singer कहते हैं।

(२) यमल—जो दो गायक मिल कर गा सकते हों उन्हें यमलगायक कहते हैं। आंग्लभाषा में आजकल इस विधा को Duet कहा जाता है।

(३) वृन्दगायक—जो गायक समूह के साथ गायन में सक्षम हो। गायन की इस विधा को आंग्लभाषा में Choral Singing कहा जाता है।

गायन में सृष्टि के आरम्भ से ही स्त्रियां भी प्रमुखतः भाग लेती रही हैं। अतः गायकों के उक्त वर्णित गुण अथवा वर्ज्य दोष गायिकाओं में भी यथावत् समझे जाने चाहियें परन्तु गुणों की संख्या करने पर जो गुण उनमें अधिक होने चाहियें वे हैं—

---

१. संगीतरत्नाकर प्रकीर्णकाध्याय, १८-१९.
२. वही, १९-२०
३. वही, २०.
४. संगीतसमयसार, ६. ६१-६२.
५. संगीतरत्नाकर, प्रकीर्णकाध्याय-२१.
६. संगीतसमयसार, ६. ६२ ६३.
७. संगीतरत्नाकर, ३.२१.
८. संगीतसमयसार, ६. ६४-६५.
९. वही, ६. ६३-६४.
१०. संगीतरत्नाकर भाग-२, पृष्ठ १५६.
११. वही, प्रकीर्णकाध्याय-२२, २३.

(१) रूपरेखिता, (२) यौवन, (३) माधुर्यमधुरीणता, (४) चतुराई, (५) चतुरप्रियत्व, ।[१] सभी गायिकाएं उत्तम कही जा सकती हैं।

इन ग्राह्य गुणों की पूर्वाचार्यपरम्परानुसार परिगणना के पश्चात् आचार्य पार्श्वदेव के द्वारा स्वीकृत गुणगणना का विवेचन करने पर हम यह पाते हैं कि प्राय: इन्हीं, कुछ इनसे अतिरिक्त तथा कुछ इन्हीं में से अन्य नामों से गुण आचार्य पार्श्वदेव ने स्वीकार किये हैं। उदाहरणार्थ—

क्रियापरत्व, सुघटत्व, भावकत्व, शिक्षाकारत्व, रसिकत्व, रंजकत्व, ग्रहमोक्षदक्षता, स्थानत्रयप्रयोगदक्षता, विविधालप्ति-चातुर्य, तालज्ञता, गम्भीरमधुरध्वनित्व, रागरागाङ्गभाषाव्यवहारकौशल, जितश्रमत्व, वश्यकण्ठत्व, अवधारणाशक्तिमत्व, सदुपाध्यायप्राप्त-शिक्षात्व (सुसम्प्रदायत्व) आदि कुछ गुण दोनों ओर समान रूप में प्राप्त हैं, जबकि निम्न विशेषताएं संगीतसमयसार में अधिक गिनाई गई हैं वे हैं—सुरेखता, क्रमस्थत्व, गतिस्थत्व, सुसघत्व, पररीतिज्ञत्व, गीतालत्व (वितालत्व), सुगन्धत्व, अनियमत्व, चौपटत्व, विबन्धत्व, मिश्रत्व। इन अतिरिक्त विशेषताओं का वर्णन करना अत्यन्त आवश्यक है :—

सुरेखता—सम्भवत विविधस्वरसमूहों (स्थायों) के प्रयोग के द्वारा श्रोतृचित्त में विभिन्न प्रकार के रेखाचित्र उत्पन्न कर देना अथवा सुन्दर रेखा अर्थात् शरीर वाला होना अर्थात् नेत्रानन्दकारक शरीर वाला होना ही सुरेखता से अभिप्रेत है क्योंकि आचार्य पार्श्वदेव ने इसका मात्र परिगणन ही किया है, विवरण नहीं दिया है।

क्रमस्थत्व—उत्तमोत्तमसूड आदि सर्वविधसूडों को क्रमश प्रतिरूपकपर्यन्त गाने की क्षमता होना। इस लेख में प्रबन्ध का वर्णन करते हुए उसके तीन भेद कहे गए हैं—सूडस्थ, आलिसंश्रय, विप्रकीर्ण। सूड का लक्षण निम्न प्रकार से किया जाता है—

एला, करण, ढेङ्की, वर्तनी, झोम्बड, लम्भ, रासक, एकताली, इन आठ प्रकार के गायन प्रबंधों को सूड के नाम से अभिहित किया जाता है।[२]

अन्य आचार्यों द्वारा अनिर्दिष्ट एक विशिष्ट वर्गीकरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य पार्श्वदेव ने सूड के पांच भेद कहे हैं।[३] (१) अतिजघन्य, (२) जघन्य, (३) मध्यम, (४) उत्तम तथा (५) अत्युत्तम अथवा उत्तमोत्तम। विस्तारभय से इन सबका सङ्ख्यापन मात्र किया जा रहा है। इन सभी प्रकार के सूडस्थ प्रबंधों को रूपक (प्रबंध के एक भेद) तक गाने की क्षमता रखने वाला क्रमस्थ कहलाता है।[४]

गतिस्थ—कण्ठ के वश में होने के कारण जो गायक सर्वाधिक गमकों को पृथक्-पृथक् लक्षणानुसार प्रदर्शित कर सके।[५]

सुसंघ—प्रशस्त-शारीर ध्वनि का स्वामी होने के कारण तत्रागों की आलप्ति करने में समर्थ जो गायक अनायास ही गीत को जान लेता है वह सुसंघ कहलाता है।[६]

पररीतिज्ञ—गीत तथा शरीर ध्वनि की चेष्टाओं का आलप्ति में अनुकरण करने वाला एवं गीत सम्बन्धी उत्तम गुणों वाला पररीतिज्ञ कहलाता है।[७]

---

१. संगीतरत्नाकर प्रकीर्णकाध्याय-२४.
२. वही, प्रबन्धाध्याय, २३-२४.
३. संगीतसमयसार, ५. ६०-६२.
४. वही, ६. ५७, ५८.
५. वही, ६. ५८, ५९.
६. वही, ६. ६०-६१.
७. वही, ६. ६५-६६.

रीताल (विताल)—जिसके ध्वनि एवं शरीर में नानादेशीयरीतियां (स्वरव्यवहारप्रकार) प्राप्त होते हैं वह रीताल कहा जाता है।[1]

सुगन्ध—विषम तथा प्रांजल प्रकार के गान प्रबंधो का चिरकाल तक गाते हुए भी जिसके कंठ का माधुर्य क्षीण नहीं होता उसे सुगन्ध कहते हैं।[2] यह गुणप्रकार वास्तव मे सुशारीरध्वनि से संयुक्त व्यक्ति मे प्रबन्धगाननिष्णातता, वश्यकण्ठत्व, हृद्यशब्दत्व आदि गुणों की समष्टिरूप मे उपस्थिति की कल्पना है—ऐसा मानना उचित होगा।

अनियम—यद्यपि आचार्य पार्श्वदेव ने अनियम का परिगणन तो किया है परन्तु उपलब्ध ग्रन्थ मे इसका विवरण नहीं दिया गया है। फिर भी सभी गुणो का तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर अनियम से यह समझा जा सकता है कि जो गायक किसी निश्चित गायन प्रकार (प्रबंध, जाति, आलप्ति आदि) के भीतर बंधा न रहे तथा समय एवं वातावरण के अनुसार गायनरस आदि का विचार करके राग एव गायन प्रकार का चयन करे वह अनियम से अभिहित किया जाना चाहिये (स्वमत)।

चौपट—शुद्ध एवं छायालग श्रेणी के रागो मे आलप्तिपूर्वक गीत गा सकने वाला।[3]

निबद्ध—ध्वनि मे (गायनकाल मे) विभिन्न गतिमार्गों का चिन्तन करने वाला।[4] इससे निश्चित रूप से भावार्थ यह है कि जो गायन समय मे विभिन्न लयों का प्रदर्शन करता है तथा विभिन्न छन्द जिसके गायन से कट-कट कर उभर रहे हो (आधुनिक काल में यही शब्द संगीतज्ञों तथा रसिकों मे प्रयुक्त किया जाता है)।

मिश्र—बिना किसी दोष का अवकाश दिये जो एक राग मे अन्य राग की छाया को मिश्रित कर सकता है वह अत्यन्त चातुर्ययुक्त गायक मिश्र के नाम से जाना जाता है।[5] यहा यह ध्यातव्य है दोषवर्णन प्रकरण मे सभी आचार्यों मे मिश्रक नाम से अधम गायक की कल्पना की है। मिश्रत्व नामक गुण एव मिश्रकत्व नामक दोष होता है, यह यहा स्पष्ट करना आवश्यक है। दोनो की प्रक्रिया में कोई अन्तर नहीं है। अपितु मिश्रण की कोटि का अन्तर है। यदि मिश्रण इतना अधिक कर दिया जाय कि मूलराग की अपेक्षा मिश्रित, राग प्रधान हो जाय तो वह गर्हणीय-दोष है परन्तु यदि राग मे रागान्तर की छायामात्र चातुर्य से मिश्रित करके रसिक, श्रोतृवृन्द को चमत्कृत कर दिया जाय तो वह मिश्रण एक प्रशस्य गुण होगा।

स्त्रियों मे इन सभी गुणो अथवा वर्ण्य-दोषो की यथावत् कल्पना करके आचार्य पार्श्वदेव उनमे कुछ अतिरिक्त विशेषताओं को अत्यन्त मुखरित लेखनी से निरूपित करते हुए कहते हैं कि,

"पुरुषो एवं स्त्रियों की प्रधानता का निर्णय करते समय यह निश्चित जान लेना चाहिये कि गायन मे सदा ही स्त्रियो का प्राधान्य है तथा पुरुष तो अपवादरूपेण स्त्रियों से अधिक प्रशस्य हो सकते हैं।[6] स्त्रियो की चेष्टाएं प्रीतिकर होती हैं, उनकी गानपाठादि क्रियाओं में विस्वरता नहीं होती तथा अङ्गविचेष्टित एव कठमाधुर्य भी स्त्रियो मे ही स्वभावत. विद्यमान रहता है जबकि पुरुषों में सर्व-विधसौष्ठव व्यायाम एव अभ्यास के नित्यकरण तथा नैरन्तर्य से अर्जित होता है इसलिये स्त्रियों मे पुरुषाश्रित प्रयोग बाहुल्य से करने चाहियें।[7] इसी प्रसंग मे आदिभरत के मत का भी उल्लेख किया गया है। जिसके अनुसार विशेष बात यह है कि यदि स्त्रियो मे वाद्य अथवा पाठ गुण तथा पुरुषों में गान-मधुरत्व दिखाई दें तो यह समझना चाहिये कि यह उनका अलङ्कारभूत गुण है न कि स्वाभाविक।[8]

प्राय देखा गया है कि देवमन्दिर, पार्थिव, सेनापति तथा मुख्य-मुख्य अन्य पुरुषो के भवनो मे पुरुषविहित एवं स्त्री समाश्रित प्रयोग होते हैं।[9]

---

१. संगीतसमयसार, ६. ७०-७१.
२. वही, ६.६६-६७.
३. वही, ६.६६-७०.
४. वही, ६.७१-७२.
५. वही, ६. ७३.
६. वही, ६. १०६-१०७.
७. वही, ६. ११२-११५.
८. वही, ६. १०६.
९. वही, ६. १११.

इस सम्पूर्ण उपर्युक्त विवरण से उत्तम गायक के ग्राह्य गुणों की परिगणना के अनन्तर वर्ज्य-दोषों का भी विवरण आवश्यक है अतः सभी आचार्यों ने अपने मत इस विषय पर प्रस्तुत किये हैं। इन आचार्यों मे गुणों की भांति दोषों की संख्या पर भी मतभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। एक ओर तो संगीतरत्नाकर की परम्परा वाले आचार्य दोषों की संख्या निम्न प्रकार से पच्चीस मानते हैं :[1]

(१) संदष्ट, (२) उद्घुष्ट, (३) सूत्कारि, (४) भीत, (५) शङ्कित, (६) कम्पित, (७) कराली, (८) विकल, (९) काकी, (१०) वितल, (११) करभ, (१२) उद्भट, (१३) झोम्बक, (१४) तुम्बकी, (१५) वक्री, (१६) प्रसारी, (१७) विनिमीलक, (१८) विरस, (१९) अपस्वर, (२०) अव्यक्त, (२१) स्थानभ्रष्ट, (२२) अव्यवस्थित, (२३) मिश्रक, (२४) अनवधान, (२५) सानुनासिक।

दूसरी ओर आचार्य पार्श्वदेव ने उपर्युक्त मे से,

(१) विकल, (२) करभ, (३) तुम्बकी, (४) विरस, (५) अपस्वर, (६) अव्यक्त, तथा (७) स्थानभ्रष्ट—इन सात दोषों का नामाकन नहीं किया है, अन्य अठारह को भी यथावत् न मानते हुए उनके विवरण मे कहीं-कहीं अन्तर करते हुए उप्दकी नामक एक नवीन दोष का उल्लेख किया है। संगीतरत्नाकरकार आदि ने जिस दोष को तुम्बकी के नाम से माना है उसी विवरण वाले दोष को संगीतसमयसारकृत ने झोम्बक के नाम से स्वीकार किया है। संगीतरत्नाकरकार द्वारा स्वीकृत उद्भट नामक दोष को आचार्य पार्श्वदेव ने उद्भड नाम से विवृत किया है।

इस प्रकार आचार्य पार्श्वदेव ने दोषों की संख्या मात्र उन्नीस मानी है।[2] सम्प्रति उपर्युक्त सर्वविध दोषो का विवरण प्रस्तुत है—

१. संदष्ट—दांत पीस कर गाने वाला,

२. उद्घुष्ट—नीरस उद्घोष करने वाला,

नोट :—संगीतरत्नाकर के "आड्यार संस्करण" में "विसरोद्घोषः" पाठ दिया गया है जो उचित प्रतीत नहीं होता। तुलना किये जाने पर "मद्रास सरकार ओरियण्टल सीरीज" से प्रकाशित संगीतदर्पणकार के द्वारा दिये गए विवरण से ज्ञात होता है कि वास्तव मे "विरसोद्घोषः" पाठ समुचित है तथा प्रस्तुत प्रकरण मे सगत भी है।

३. सूत्कारि—गायन समय मे सू-सू शब्द करने वाला,

४. भीत—भय युक्त होकर गाने वाला,

५. शंकित—बहुत शीघ्रता मे गाने वाला,

६. कम्पित—स्वभावतः ही कण्ठ, मुख एवं शब्दों को कम्पन कराते हुए गाने वाला। यहाँ विशेष बात जान लेनी चाहिये कि कम्पन गमक को भी कहते हैं परन्तु यह सार्वत्रिक नहीं अपितु स्थानसापेक्ष होनी चाहिये।

७. कराली—विकराल रूप मे मुख का उद्घाटन करके गायन करने वाला,

८. विकल—स्वर की निश्चित श्रुतियों से कम अथवा अधिक श्रुतियो को गाने वाला,

९. काकी—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है—कौए के समान रूक्ष गायन करने वाला,

१०. वितल—ताल से विच्युत हो जाने वाला=बेताल,

११. करभ—कन्धे तथा गर्दन ऊंची करके गाने वाला,

---

१. संगीतरत्नाकर, ३. २५-२७.
तुलनीय संगीतदर्पण, १२७.

२. संगीत समयसार, ९.७९ (पूर्वार्ध).

१२. उद्भट—आरोही अथवा अवरोही स्वरों में कम्पन होना "वहनी" नामक स्थान का लक्षण है।[1] वहनी का गायन अज की तरह ठोड़ी हिला-हिलाकर करने वाला अधम कोटि का गायक उद्भट के नाम से जाना जाता है। इसी को आचार्य पार्श्वदेव ने उद्घट कहा है। उनके अनुसार यह गायक उपहास के योग्य है।[2]

१३. झोम्बक—गायन समय मे जिसके माथे, मुख एव ग्रीवा की शिराएं फूल जाए तथा मुखादि रक्ताभ लाल हो जाए,

१४. तुम्बकी—तुम्बे के समान ग्रीवा फुलाकर गाने वाला। आचार्य पार्श्वदेव ने इसी को झोम्बक के नाम से माना है। उन के अनुसार जिसका गला, नासिका एव नयन गायन समय मे फूल जाए वह झोम्बक होता है।[3] संगीतशास्त्र के अनुसार प्रत्येक सप्तक स्थान के स्वरो के उद्भावन का स्थान शारीरवीणा मे निश्चित है। इस क्रम के अन्यथा हो जाने पर व्यर्थ ही शारीरिक बल का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। शारीरिक बल का अतिप्रयोग जब गायन मे होने लग जाता है तब गायक के गले, नासिका, भाल आदि की नस-नाड़िया फूल जाती है जो देखने मे अच्छा नही लगता। अत: इन्हे दोष माना गया है। आचार्य पार्श्वदेव इन दोनो दोषो को एक मे ही समाहित करना चाहते है, ऐसा तत्त्वदृष्ट्या विचार करने पर उनकी भावना ज्ञात होती है।

१५. वक्री—गले को टेढा करके गाने वाला,

१६. प्रसारी—संगीतरत्नाकरकार के अनुसार हाथ-पाव अधिक फैला-फैला कर तथा गीतादि का अत्यधिक प्रसार करके गाने वाला प्रसारी कहलाता है। सगीतदर्पणकार ने मात्र शरीर के प्रसार से प्रसारी दोष का मन्तव्य किया है तथा संगीत-समयसारकार के अनुसार गीत का इतना अधिक प्रसार कर देने वाला कि गेय वस्तु सुन्दर तथा सरस होते हुए भी "सीमात उपयोगिता" के द्वारा अन्त मे श्रोता को उबाने वाली बन जाय 'प्रसारी" दोषयुक्त गायक है।[4]

१७. विनिमीलक—गायनकाल मे नेत्र मूंद लेने वाला,

१८. विरस—रसहीन गायन करने वाला। यहा यह स्पष्ट करना अपेक्षित है कि "उद्घुष्ट" नामक दोष मे गायक की कण्ठानुध्वनि नीरस होती है जबकि "विरस" नामक दोष मे गायक द्वारा प्रस्तूयमान गायन किसी अन्य कारणवश बहुतर श्रोतृवर्ग को नीरस प्रतीत होता है।

१९. अपस्वर—राग के प्रयोग मे राग मे वर्जित विवादी-स्वर जो राग के शत्रु के समान माना जाता है[5] का प्रयोग कर देने वाला,

२० अव्यक्त—गद्गदध्वनि से अव्यक्त वर्णों वाला अर्थात् जिसके शब्दादि समझ न आ सके,

२१. स्थानभ्रष्ट—जो मन्द्र, मध्य तथा तार इन तीनो सप्तकस्थानो का प्रयोग करने मे सक्षम न हो,

२२. अव्यवस्थित—स्थानको का अव्यवस्थित प्रयोग करने वाला,

२३. मिश्रक—शुद्ध अथवा छायालग रागों का परस्पर अत्यधिक एव अवाछनीय सीमा तक मिश्रण कर देने वाला,

२४. निरवधानक—राग के अवयवभूत स्थायो के प्रयोग मे सावधान न रहने वाला,

२५. सानुनासिक—गेय वस्तु के गान मे नासिका का अत्यधिक साहाय्य लेने वाला।

---

१. संगीतरत्नाकर, ३. ११४-११५.
२. संगीतसमयसार—६. ८५.
३. वही, ६ ८१.
४. वही, ६. ८२.
५. रागविबोध, १. ३८.

उपर्युक्त क्रम से वर्णित दोषों के अतिरिक्त आचार्य पार्श्वदेव द्वारा पृथक् रूप में उद्भावित "उष्ट्रकी" नामक दोष का विवरण निम्न है—

उष्ट्रकी—गायन-समय में उष्ट्र की तरह बैठा हुआ गायक[1]। उष्ट्र बैठते समय अपनी चारों टांगो को उल्टा मोड़ कर बैठता है। मनुष्य के लिये ऐसे बैठना न केवल अस्वास्थ्यकर है अपितु कुछ लोग इसे अपशकुन भी मानते हैं।

आचार्य पार्श्वदेव के अनुसार सर्वगुणयुक्त गायक उत्तम, द्वित्र गुणों से हीन मध्यम एवं चार या पाच गुणों से हीन अधम कहलाता है।[2] यहां संगीतरत्नाकरकारादि से पार्श्वदेव का मत भिन्न है। अधम गायक की कल्पना करते हुए संगीतरत्नाकर आदि ग्रन्थों में दोषयुक्त गायक को अधम कहा गया है[3] चाहे अन्यथा वह सर्वगुणसम्पन्न ही क्यो न हो। इस विषय में तत्त्वदृष्ट्या विचार करने पर उन दोनो मतों मे एक मूलभूत अन्तर दृष्टिगोचर होता है। जहा संगीतरत्नाकरकारादि के द्वारा एक आदर्शस्थिति की कल्पना की गई है वहाँ संगीतसमयसार ने उस आदर्श को व्यवहार का स्पर्श देते हुए गुणो के आधिक्यन्यौन्य के द्वारा ही उत्तममध्यमाधम गायकों की परिकल्पना कर दी है।[4] अर्थात् यह आवश्यक नही कि दोषयुक्त गायक ही अधम होगा।

जैसा कि प्रस्तुत लेख मे पहले कहा जा चुका है कि प्रस्तुत सदर्भ में उपर्युक्त गुण-दोषो को दृष्टिगत रखते हुए गायन-क्षमता के अनुसार गायकों का यह वर्गीकरण ही आचार्य पार्श्वदेव की स्वयं मे एक अनूठी देन है। इस गायन-क्षमता के अनुसार ही एकल, यमल एवं वृन्दगायको मे से एकल गायक को प्रशस्यतम, यमल को प्रशस्यतर एव वृन्दगायक को प्रशस्य मात्र ही माना गया है।[5] इस गायन-क्षमता के आधार पर ही पूर्वोक्त उत्तममध्यमाधम श्रेणी के गायकों का पुन तीन-तीन भागों मे विभाजन किया गया है। वह विभाजन विवरण पूर्वक निम्न रूप में प्रस्तुत है—

(१) उत्तमोत्तम, (२) उत्तममध्यम, (३) उत्तमाधम, (४) मध्यमोत्तम, (५) मध्यममध्यम, (६) मध्यमाधम, (७) अधमोत्तम, (८) अधममध्यम, (९) अधमाधम।[6]

(१) **उत्तमोत्तम**—शुद्ध तथा छायालग द्विविध गीत का आलप्तिपूर्वक मन्द्रमध्यतार इन तीनो स्वरसप्तकस्थानो में गा सकने वाला,

(२) **उत्तममध्यम**—उपर्युक्त प्रकारक गीतो को किन्ही दो स्वरस्थानो मे ही आलप्तिपूर्वक गा सकने वाला,

(३) **उत्तमाधम**—इन्ही गीतो को आलप्तिपूर्वक केवल एक ही स्वरस्थान मे गाने की क्षमता वाला,

(४) **मध्यमोत्तम**- शुद्ध रागो के गीतो को आलप्तिपूर्वक तीनो स्वरस्थानो मे गा सकने वाला,

(५) **मध्यममध्यम**—शुद्ध रागो के गीतो को आलप्तिपूर्वक किन्ही दो ही स्वरस्थानो मे गा सकने वाला,

(६) **मध्यमाधम**—शुद्धरागीय गीत को आलप्तिपूर्वक किसी एक ही स्वर स्थान मे गा सकने वाला,

(७) **अधमोत्तम**—छायालग प्रकार के राग मे सम्यक् आलप्तिपूर्वक गीत का तीनो स्वरस्थानों में गायक,

(८) **अधममध्यम**—इसी प्रकार के गीत को मात्र दो स्वरस्थानो में गा सकने वाला,

(९) **अधमाधम**—इसी प्रकार के गीत को केवल एक ही स्वरस्थान मे गा सकने वाला।[7]

---

१. संगीतसमयसार ९. ८४.
२. वही, ९. ९३-९५
३. संगीतरत्नाकर, ३. १९.
४. संगीतसमयसार, ९. ९०
५. वही, ९. ८९.
६. वही, ९. ९५.
७. वही, ९. ९५—१०१.

इस विवरण से स्पष्ट है कि ''स्थानभ्रष्ट' नामक दोष (जिसमें गायक तीनों स्वरस्थानों का प्रयोग करने में असमर्थ होता है) से युक्त गायक भी उत्तम कहला सकता है चाहे उत्तमता में उसकी कोई भी श्रेणी क्यों न हो। अतः गायन की क्षमतामात्र से ही उत्तममध्यमाधमत्वनिर्धारण आचार्य पार्श्वदेव को अभीष्ट है।

इन सम्पूर्ण गुणों, दोषों, क्षमता आदि का तारतम्य सम्यक् प्रकार से जानकर वादी-प्रतिवादियो में से जो अधिक गुणवान् अथवा प्रशस्यतर हो उसे विजयी घोषित करना सभापति का कार्य है।[1] उस तारतम्य का निश्चय करने के लिये गायको के पारस्परिक वाद में उभय पक्षी गायकों को शुद्ध रागों में गायन के लिये एलादिविषमसूड, तादृशीहीआलप्ति तथा एकादशाङ्गुल स्थाय का प्रयोग करने के लिये कहना चाहिये। छायालग रागो में ध्रुवादि तथा विषम सूड, तादृशी आलप्ति एवं दशाङ्गुलस्थाय का प्रयोग करने के लिये निदश देना चाहिये।[2] गायिकाओं के पारस्परिकवाद में इन क्षमताओं का ध्यान रखते हुए भी उनके लिये पृथक् परीक्षण-प्रबन्ध निर्धारित किए गए हैं। तदनुसार उन्हें शुद्ध राग में सूड, आलप्ति आदि पूर्ववत् देकर स्थायी परीक्षण के लिये चतुर्दशाङ्गुल स्थायी देनी चाहिये। छायालग में भी सूड एवं आलप्ति गायको के समान ही देकर द्वादशाङ्गुलसम्मत स्थायी प्रयोगार्थ देना अभीष्ट माना गया है।[3]

अन्त मे वादी-प्रतिवादियों को एक चेतावनी देनी आवश्यक है कि वह इस प्रकार के गायन से बचें जो ऐसे बेढब गीत से युक्त हो जिसमे ताल एवं पाट अलक्षित हो, गमक की अधिकता हो, रूक्षता हो या विषमता हो। इस प्रकार के गीत प्रतियोगी को अत्यन्त प्रिय होते हैं क्योकि यह प्रयोक्ता की छवि को बिगाड़कर प्रतियोगी की विजय का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं।

निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत लेख द्वारा वादी-प्रतिवादियो के मध्य उद्भूयमान विवाद का निर्णय करने के जो निर्देश, आचार्य पार्श्वदेव सम्मत अथवा अन्य पूर्वाचार्यों द्वारा वर्णित विषयों पर आधारित स्वरूपानुसार प्रस्तुत किये गए हैं वह निश्चय ही किसी भी संगीत के रसिक तथा जिज्ञासु अथवा अधिकारी विद्वान् के द्वारा अवश्य ही ज्ञातव्य है इसमे किंचिन्मात्र सन्देह का अवकाश नही होना चाहिये, ऐसा मेरा मत है।

संगीत और साहित्य

संगीत और साहित्य मे घना सम्बन्ध है। साहित्य सगीत को वाणी देता है। सगीत उसे अपनी लय पर तरंगित कर विश्रांति को भर देता है। साहित्य शब्द और चिन्तन प्रधान है, सगीत स्वर और नादप्रधान। साहित्य को संगीत मुखरित करता है, परन्तु संगीत की समीक्षित विवेकाविवेक की भूमि साहित्य प्रस्तुत करता है, उसे शास्त्रीय व्याकरण और विधान प्रदान करता है। सगीत का प्राण उसका नाद है, परन्तु साहित्य उसका कलेवर है। नाद वाणी की रूपरेखा मे, उसकी मधुर सीमाओ मे बँधता है। वाणी साहित्य का विलास है।

ध्वनि मात्र को संगीत नही कहते। श्रवण उसका माध्यम होता हुआ भी उसके परिचयात्मक अवयव साहित्य प्रदत्त हैं। भजन, कीर्तन, मार्ग, देशी, दरबारी, ग्राम, ध्रुपदीय, फिल्मी, धार्मिक, कामुक, उत्तरी, कर्नाटकी सब प्रकार के गीतो को साहित्य ने शब्द और वाणी की काया दी है। ललित पदावलियाँ उनकी शब्दभूमि हैं। भक्ति और तसव्वुफ ने भारत की संस्कृति मे मध्य काल मे एक क्रांति उपस्थित कर दी थी। उस काल के सामाजिक समन्वय द्रष्टा ऋषियो के पद से भक्ति और तसव्वुफ के आन्दोलन मुखरित हुए। कबीर और रैदास, भिखारी और दादू, मीरा और सूर, तुलसी और सिक्ख गुरु सभी ने अपनी-अपनी रीति से समाज, रहस्य और अनुचित के प्रतिकार के उपाय को देखा, वाणी में ध्वनित किया और सगीत उसे अपने पंख पर डाल दिगन्त को ले उड़ा। चैतन्य और चंडीदास उतने ही ध्वनि-सम्पन्न पदकार थे जितने जयदेव और विद्यापति रहे थे। कालिदास ने विक्रमोर्वशीय के चौथे अंक मे अपभ्रंश के गीत लिखकर उसके गाने के राग भी सुझा दिये। जयदेव ने गीतगोविन्द के प्रत्येक गीत पर राग को सूचित कर दिया। विद्यापति ने बाहरमासे गाये, खुसरू ने खयाल, रहीम खानखाना ने बरवै। तीनो साहित्य के प्रबल स्तम्भ थे। मीरा, सूर और तुलसी के पद गाने के ही लिए थे। अनेक साहित्यकार और कवि स्वयं गीतकार भी थे, गायक भी। खुसरू, मीरा और तानसेन, हुसेनशाह शर्की, रूपमती और बाजबहादुर इसी परम्परा के थे। और जैसे उत्तर मे हुआ वैसे ही दक्षिण में भी हुआ। विशेषकर वैष्णव भक्तो ने तो अपने पदों के संगीत से दक्षिण का वायुमडल भर दिया। लवारो ने दक्षिण मे वही किया जो उत्तर मे भक्त पदकारों ने किया। साहित्य और संगीत एक प्राण दो काया हुए। □डॉ० भगवतशरण अध्याय, भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, १५०-१५२ से साभार

१. संगीतसमयसार, ६. १०४-१०५.
२. वही, ६. १०१-१०४.
३. वही, ६. ११६-११७.

जैन साहित्यानुशीलन
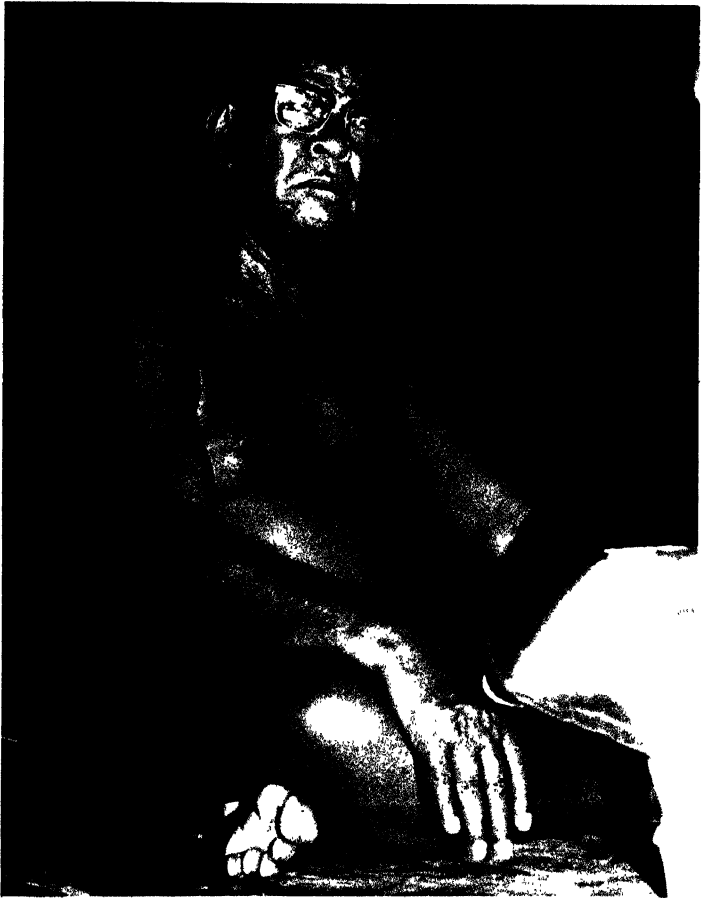
दिगम्बरत्व के प्रतिमान
आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

जैन साहित्यानुशीलन

सम्पादकीय

भगवान् श्री जिनेन्द्र देव के मुखारविन्द से निःसृत और गणधर के द्वारा स्मृति के माध्यम से निबद्ध जिनवाणी को ही श्रुत कहते हैं। जैनधर्म की सैद्धान्तिक मान्यताओ मे श्रुत-पूजन को प्रकारान्तर से श्री जिनेन्द्रदेव के पूजन के समान माना गया है। जैन मन्दिरो के दैनिक पूजा-विधान के अन्तर्गत श्रुत साहित्य की भावपूर्वक वन्दना की जाती है। श्रुत साहित्य की प्राचीन परम्परा और उसके विराट् रूप का बोध जैन श्रावको द्वारा श्री मन्दिर जी मे पूजा के समय प्रयुक्त निम्नलिखित स्तुतिपरक गाथा से लगाया जा सकता है—

पयाणि सुबारह कोडि सयेण । सुलक्ख तिरासिय जुत्ति-भरेण ।।
सहस अट्ठावण पंच वियाणि । सया पणमामि जिणिदह वाणि ।।
इक्कावण कोडिउ लक्ख अठेव । सहस चुलसीदिय सा छक्केव ।।
सढाइगबीसह गन्थ-पयाणि । सया पणमामि जिणिदह वाणि ।।

अर्थात् द्वादशांग वाणी मे एक सौ बारह करोड़ तिरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच पद हैं, जिसके एक-एक पद मे इक्यावन करोड़ आठ लाख चौरासी हजार छह सौ साढ़े इक्कीस ग्रन्थपद (३२ अक्षरप्रमाण अनुष्टुप श्लोक) हैं—मैं उस जिनवाणी को सदा नमस्कार करता हूँ। कालप्रवाह मे अधिकांश आगम-साहित्य विच्छिन्न अथवा लुप्त हो गया। मनुष्य की बुद्धि के क्रमिक ह्रास का अनुभव करते हुए आचार्यप्रवर धरसेन स्वामी (ई० ३८-१०६) ने श्रुतज्ञान की कंठगत परम्परा को लिपिबद्ध कराने का निर्णय किया और अपने विश्वासपात्र शिष्य मुनि द्वय श्री पुष्पदन्त (ई०६६-१०६) और भूतबली (ई० ६६-१५६) को गुरु-परम्परा से प्राप्त एकदेश अग के ज्ञान मे पारंगत किया और तदनन्तर उन्हें परम्परा से प्राप्त श्रुतज्ञान को लिपिबद्ध करने का आदेश देकर आगम साहित्य की लेखन परम्परा का शुभारम्भ कराया। प्रस्तुत लेख मे विशाल जैन वाङ्मय के प्रथमानुयोग से सम्बन्धित साहित्य के कतिपय पक्षों पर सक्षेप मे विचार-विमर्श किया जायेगा।

श्रमण संस्कृति लोककल्याणमयी रही है। इसीलिए परमकारुणिक भगवान् महावीर ने अपनी धर्मदेशना के लिए जनसाधारण की भाषा अर्धमागधी का चयन किया। उनके द्वारा प्रणीत धर्म को जन-मानस मे लोकप्रिय बनाने के लिए प्रारम्भिक जैन सन्तों ने लोकभाषा प्राकृत को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। इसीलिए प्राचीन जैन साहित्य की अधिकांश रचनाए प्राकृत भाषा में उपलब्ध होती हैं। भारतीय संस्कृति, साहित्य एव इतिहास की दृष्टि से प्राकृत साहित्य के महत्त्व पर अपने सारगर्भित विचारो को अभिव्यक्त करते हुए भारतीय गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने २३ अप्रैल १९५६ को वैशाली मे 'प्राकृत अनुसन्धानशाला' के शिलान्यास के अवसर पर राष्ट्र के विद्वानो का मार्गदर्शन करते हुए कहा था—

"प्राकृत साहित्य के महत्त्व और उसकी विशालता के सबध मे दो शब्द कह देना आवश्यक जान पड़ता है। जहा पालि साहित्य की परम्परा अधिक से अधिक सात शताब्दियों तक चली, वहा प्राकृत की परम्परा की अवधि करीब पन्द्रह शताब्दियो तक चलती रही। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि इंडो-आर्यन परिवार की भारतीय भाषाओं का पालि की अपेक्षा प्राकृत से कहीं अधिक निकट का संबंध है। वास्तव मे इस देश की आधुनिक भाषाएं पूर्व मध्य युग मे प्रचलित विभिन्न प्राकृतो तथा अपभ्रंश की ही उत्तराधिकारिणी हैं। हिन्दी, बंगला, मराठी आदि किसी भी भाषा को लीजिए, उसका विकास किसी न किसी प्राकृत से ही हुआ है। विकास काल मे कुछ ऐसे ग्रन्थों की रचना भी हुई जिनका वर्गीकरण निहायत कठिन है, अर्थात् जिनके संबंध मे सहसा यह कह देना कि उनकी भाषा प्राकृत है अथवा किसी आधुनिक भाषा का पुराना रूप, आसान काम नही। इस दृष्टि से देखा जाय तो आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति और पूर्ण विकास समझने के लिये प्राकृत साहित्य का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। अपनी परम्परा के अनुसार जैन आचार्य एक स्थान में तीन-चार महीनो से अधिक नही ठहरते थे और बराबर भ्रमण करते रहते थे। उन्होंने जो उपदेश दिये और जिन ग्रन्थों की रचना की वे देश भर मे बिखरे पड़े हैं। सौभाग्य से उनमें से अधिकांश हस्तलिखित आलेखों के रूप मे भंडारों मे आज भी सुरक्षित हैं। ये ग्रन्थ सौराष्ट्र-गुजरात, राजस्थान, कर्नाटक और उत्तर तथा पूर्व में अनेक स्थानो में पाए गये हैं। इन सबको एकत्र करना और आवश्यक अनुसन्धान के बाद आधुनिक ढग से उनके प्रकाशन की

व्यवस्था करना एक आवश्यक कार्य है। जैन आचार्यों और विद्वानो की एक और विशेषता उनकी रचनाओं की व्यापकता है। प्राय सभी की भाषा प्राकृत है, परन्तु उनकी साहित्यिक परिधि महावीर स्वामी के उपदेश और धार्मिक विषयो के विवेचन तक ही सीमित नहीं। जैन श्रमणो ने लोक भाषा को साहित्य का वाहन बनाया था। उन युगो की देश की लोकभाषा प्राकृत थी। इस कारण प्राकृत भाषा मे आज विपुल साहित्य मिल रहा है, शिलालेख मिल रहे हैं, सिक्के मिल रहे हैं। सुनते है कि इस भाषा मे छोटे-बडे, प्रत्येक विषय के मिलाकर एक हजार के करीब ग्रन्थ हैं। महावीर के उपदेश सबधी धार्मिक ग्रन्थसूत्र निर्युक्तिया, चूर्णिया, भाष्य, महाभाष्य, टीका आदि के ३०० से ३५० ग्रन्थ हैं। धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त लौकिक साहित्य भी, जैसे काव्य, छन्द, नाटक, कोष, गणित, मुद्राशास्त्र, रत्नपरीक्षाशास्त्र, ऋतुविज्ञान, जातीय विज्ञान, भूगोल, ज्योतिष, शिल्प कहानियाँ, चरित्र कथानक, प्रवास कथा आदि मानव जीवन मे सबध रखने वाले सभी विषयों पर उत्तम-उत्तम ग्रन्थ जैन श्रमणों ने प्राकृत भाषा मे लिखे हैं, और जो भी उन्होने लिखा, बडी बारीक छानबीन के साथ विस्तार से लिखा है।"

संस्कृत की भाति प्राकृत भाषा को सस्कारित करने के लिए व्याकरण शास्त्र की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा। ऐसी स्थिति मे लोकभाषा अपभ्रंश ने किन्ही कारणो से राष्ट्रीय भाषा का रूप ग्रहण कर लिया। जैन साधको ने धर्मप्रचार के लिए अपभ्र श को उदारतापूर्वक मान्यता दी और इस प्रकार जैन मुनियो की पावन वाणी एव मेधा का सस्पर्श पाकर अपभ्र श समग्र राष्ट्र की साहित्यिक भाषा बन गई। मध्यकालीन भारतीय समाज मे अपभ्र श भाषा एव काव्य की लोकप्रियता का अनुमान डॉ० हरिवश कोछड के निबन्ध 'अपभ्र श नाट्य साहित्य' की प्रस्तुत पक्तियो से लगाया जा सकता है—

"राजशेखर (१०वी शताब्दी) ने राजसभा मे सस्कृत और प्राकृत कवियो के साथ अपभ्र श-कवियो के बैठने की योजना भी बताई है। इससे स्पष्ट होता है उस समय अपभ्र श कविता भी राज-सभा मे आदृत होती थी। उसी प्रकरण मे भिन्न-भिन्न कवियो के बैठने की व्यवस्था बताते हुए राजशेखर ने सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश कवियो के साथ बैठने वालो का भी निर्देश किया है। अपभ्र श कवियो के साथ बैठने वाले चित्रकार, जौहरी, सुनार, बढई आदि समाज के मध्यम कोटि के मनुष्य होते थे। इससे प्रतीत होता है कि सस्कृत कुछ थोडे-से पण्डितो की भाषा थी, प्राकृत जानने वालो का क्षेत्र अपेक्षाकृत बडा था। अपभ्र श जानने वालो का क्षेत्र और अधिक विस्तृत था एव उसका सम्बन्ध जन-साधारण के साथ था। राजा के परिचारक वर्ग का 'अपभ्र श भाषण प्रणव' होना भी इसी बात की ओर सकेत करता है।"

अपभ्रंश भाषा की जीवन क्षमता, उदारता, विशिष्टता, व्यापकता, लोकप्रियता आदि को दृष्टिगत करते हुए गुजराती के सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ३३वें अधिवेशन (उदयपुर सन् १९४६) के अवसर पर अध्यक्षीय भाषण मे यह सुझाव दिया था कि "जैसे अपभ्र श के सत्ताईस रूप थे, वैसे ही शुरू मे इसके (हिन्दी के) भी सत्ताईस रूप हो।"

ऐतिहासिक एव साहित्यिक साक्ष्यो के आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि अपभ्र श का साहित्य किसी समय प्रचुर मात्रा मे रहा होगा। वर्तमान मे उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य का अधिकाश भाग जैन साहित्यकारो की देन है, अत यह मानना उचित होगा कि अपभ्रंश के साहित्यकारो का प्रधान लक्ष्य धर्म के प्रचार-प्रसार का रहा है।

धर्मप्राण अपभ्र श कवि प्राय. सिद्धपुरुष रहे हैं। सासारिक सुखो एव प्रलोभनो से वे बहुत दूर थे। इस सम्बन्ध मे महापुराण की पूर्व-पीठिका मे एक सुन्दर कथानक मिलता है·

महापुराण के रचयिता महाकवि पुष्पदन्त नन्दनवन मे विश्राम कर रहे थे। दो धर्मानुरागी श्रावको ने वन्दना करते हुए निवेदन किया—"हे पाप के अश को नष्ट करने वाले महाकवि, आप इस उपवन मे एकान्तवास क्यों करते हैं?" यह सुनकर महाकवि पुष्पदन्त ने आत्मवैभव मे मडित दिगम्बर मुनि के अनुरूप उत्तर दिया—"पहाड की गुफा मे घास खा लेना अच्छा है किन्तु कलुषभाव से अकित दुर्जनो की टेढ़ी भौंहे देखना अच्छा नही है!"

स्वाभिमान मेरु महाकवि पुष्पदन्त का सटीक उत्तर तत्कालीन अपभ्र श साहित्यकारो की विशिष्टता का द्योतक है। महापडित राहुल साकृत्यायन ने महाकवि स्वयम्भू के अगाध पाडित्य एवं कवित्व शक्ति की मुक्त कठ से सराहना करते हुए 'मेरी जीवन यात्रा' (सन् १९४४) मे एक स्थल पर लिखा है—

"पुराने कवियो की कृतियो को देखते-देखते मैं ८वी सदी के महान् कवि स्वयभू की रामायण (पउमचरिउ) को पढने लगा। मुझे पढते-पढते बहुत आश्चर्य और क्षोभ होने लगा। आश्चर्य इसलिए कि इतने बडे महान् कवि को मैं जानता नही था—पिछले तेरह सौ वर्षों के हिन्दी काव्य क्षेत्र मे स्वयभू के जोड का कोई कवि नही हुआ—सूरदास और तुलसीदास को लेते हुए भी। मैं तो समझता हूँ, भारतीय वाङ्मय के १२ कवि-सूर्यों मे स्वयभू एक हैं।"

किन्तु महाकवि स्वयंभू ने विनम्रतापूर्वक अपनी अल्पज्ञता को पउमचरिउ संधि १/३ में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—"मैंने व्याकरण तो कभी जाना ही नहीं; और न मैंने वृत्ति, सूत्रों की व्याख्या की है। और न ही मैंने प्रत्याहारों में पूर्णता प्राप्त की है। सन्धियों के ऊपर भी मेरी बुद्धि कभी स्थिर नहीं रह सकी। न तो मैंने सात प्रकार की विभक्तियां सुनी और न छह प्रकार की समास उक्तियां। मैंने छह कारक, दस लकार, बीस उपसर्ग और बहुत से प्रत्ययों को भी नहीं सुना। मैं सामान्य भाषा मे यत्नपूर्वक कुछ आगम-युक्ति गढ़ता हू और चाहता हूं कि ग्रामीण-भाषा से हीन, मेरे यह सुवचन सुभाषित वचन हों।" शास्त्रीय परम्परा एव व्याकरण शास्त्र का समुचित पालन करते हुए भी अपभ्रंश के कवियों ने अपनी रचना को भी जिनेन्द्रदेव की कृपा का प्रसाद माना है। महाकवि पुष्पदन्त ने महापुराण (सन्धि ३८/६) में भक्तिपूर्वक निवेदन किया है—

'मज्झु कइत्तणु जिणपयभत्तिहि पसरइ णाउ णियजीवियवित्तिहि।' अर्थात् जिनपद भक्ति मेरा कवित्व है, अपनी जीविका-वृत्ति के लिए वह प्रसारित नही होता।

अपभ्रंश भाषा द्वारा साहित्यिक रूप ग्रहण कर लेने पर हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओ— राजस्थानी, पजाबी, गुजराती, ब्रज, अवधी आदि का उदय हुआ। हिन्दी भाषा एव साहित्य के क्रमिक विकास की वास्तविक जानकारी के लिए अपभ्रंश भाषा की साहित्यिक गतिविधियों का परिज्ञान अत्यावश्यक है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल पर जैन एवं बौद्ध प्रभाव को स्वीकार करते हुए सुप्रसिद्ध साहित्यकार एवं चिन्तक डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—

"वस्तुतः आरम्भिक हिन्दी साहित्य मे जो भी मिल जाता है, उसके पीछे निश्चित रूप से एक दीर्घ परम्परा रही है। बौद्धो और जैनो के बिखरे हुए अपभ्रंश साहित्य मे उन बातो का मूल पाया जा सकता है, जो आगे चलकर योगपरक रूपको, प्रहेलिका जैसी लगने वाली उलटबांसियो, निर्गुण और निराकार देवता की स्तुति गाने वाले पदो, जाति-पाति की सकीर्णता का खण्डन करने वाले दोहो और गानो मे उन मूल तत्वो का मिल जाना कोई आश्चर्यजनक घटना नही है। निर्गुण संतो की साधना यद्यपि भक्ति द्वारा प्रभावित हो गई थी तथापि मूलतः वह ब्राह्मण-विरोधी सम्प्रदायो मे प्राप्त होने वाली साधना का ही विकसित रूप है। इसी प्रकार सगुण भक्तो के साहित्य मे जितनी भी शैलियां, जितने भी काल-रूप और जितने भी छदो-विधान पाए जा सकते हैं, उन सब का कुछ-न-कुछ मूल पूर्ववर्ती साहित्य मे मिलना चाहिए।"[1]

योगपरक जैन साधना का नाथ सम्प्रदाय के सन्तो पर प्रभाव पडना स्वाभाविक था। इसीलिए नाथ सम्प्रदाय के साहित्य मे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से जैन प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। नाथ सम्प्रदाय का ऐतिहासिक विवेचन करते हुए डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—

"चांदनाथ सम्भवतः वह प्रथम सिद्ध थे जिन्होंने गोरक्षमार्ग को स्वीकार किया था। इसी शाखा के नीमनाथी और पारसनाथी नेमिनाथ और पार्श्वनाथ नामक जैन तीर्थंकरो के अनुयायी जान पडते हैं। जैन साधना मे योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नेमिनाथ और पार्श्वनाथ निश्चय ही गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती हैं। उनका यह सम्प्रदाय गोरक्षनाथ योगियो मे अन्तर्भुक्त हुआ है। यह कहना व्यर्थ है कि जैन मत वेद और ब्राह्मण की प्रधानता नही मानता।"[2]

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल पर अपभ्रंशकालीन जैन कवियो के प्रभाव का साधिकार विवरण देते हुए सुप्रसिद्ध समालोचक डॉ० रामसिह तोमर ने महादेवी वर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ मे सकलित अपने 'अपभ्रंश के चरित काव्य' शीर्षक निबन्ध मे ज्ञानवर्धक एव उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

"(अपभ्रंशकालीन) चरित काव्यों को दृष्टि मे रखकर हिन्दी साहित्य का अध्ययन करते समय हमारा ध्यान हिन्दी के प्रारम्भिक काल मे लिखे गए इस प्रकार के चरित काव्यों की ओर जाता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास मे इस प्रकार की कृतिया कुतुबन की 'मृगावती', मझन की 'मधुमालती', और जायसी की 'पद्मावती' हैं।···प्रेम, चमत्कारपूर्ण वर्णन, सरल और सरस काव्यमय वर्णन तथा कही-कही आध्यात्मिक सकेत इन रचनाओं की विशेषता है। बाह्यावरण (अर्थात् छंदक्रम) इनमें समान हैं। तीनो के विषय मे बहुत समानता है।" ××××
जायसी ने 'श्री पचमी' व्रत का उल्लेख किया है, जैन कृतिया प्रायः किसी-न-किसी व्रत के माहात्म्य के दृष्टात के रूप मे लिखी कही गयी हैं। भविष्यदत्त कथा 'श्रुतपचमी' व्रत का दृष्टान्त है। सुदर्शन चरित भी पंचमी व्रत का दृष्टान्त है। और भी रचनाए इस प्रकार की अनेक हैं। ××

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्य का सांस्कृतिक महत्त्व' शीर्षक लेख, मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ९४१
२. नाथ सम्प्रदाय, पृ० १५५

अपभ्रंश चरित काव्यों एवं मध्यकालीन चरित काव्यों मे कुछ बाह्य समानताएं भी रोचक हैं। अपभ्रंश काव्यों मे मंगलाचरण, देश, नगर तथा राजा-रानी के वर्णन बड़े सरस रूप मे मिलते हैं। देश, नगर के वर्णन ग्राम्य सरलता को लिए हुए बहुत ही मौलिक कल्पनाओ से युक्त होते हैं। जसहर चरित और पद्मावती के इस प्रकार के वर्णन एक समान ही सुन्दर हैं। दुर्जन तथा भाषा के सबध मे अपभ्रंश कवियों ने कृतियों के आदि में लिखा है और यह हमे तुलसी के 'मानस' मे भी मिलता है। × × × × इनके अतिरिक्त सबसे बड़ा प्रभाव जो अपभ्रंश चरित काव्यो का हिन्दी के चरित-काव्यो पर पड़ा है वह है काव्य के परिधान छन्दों के प्रयोग मे। × × × ×

अपभ्रंश चरित काव्यो मे पज्झटिका, अडिल्ला, रड्डा तथा अन्य कई छन्दों का प्रयोग हुआ है, प्रधानता पज्झटिका की है। इन छन्दों की कुछ पंक्तियां रखकर एक घत्ता जोडकर एक कडवक पूरा होता है। कभी-कभी कडवक के प्रारम्भ मे हेला, दुवई, वस्तु आदि छन्द भी प्रयुक्त हुए हैं। ऐसे कडवक एक सन्धि मे कई होते हैं। प्राय 'चतुष्पदी' वर्गों के छन्दो का प्रयोग हुआ है लेकिन अपभ्रंश कवियो ने द्विपदी के समान उनका प्रयोग किया है। ज्यों-का-त्यो इस पद्धति को हिन्दी के चरित-काव्य रचयिताओ ने अपना लिया है। घत्ता के स्थान पर दोहा रखा है, लय तथा लोकप्रियता के कारण तथा सिद्ध-अपभ्रंश-साहित्य के प्रभाव स्वरूप भी।"

लोक भाषाओ के अतिरिक्त जैनाचार्यों ने प्राजल, प्रौढ, उदात्त सस्कृत और नाना जनपदीय भाषाओ— तमिल, कन्नड, गुजराती एव तेलुगु मे विशाल साहित्य की रचना की है। आचार्य जिनसेन स्वामी का आदिपुराण सस्कृत साहित्य की उत्कृष्ट रचनाओं मे माना जा सकता है। आदिपुराण (पर्व १/७४) मे रससिद्ध कवियो से अपेक्षा करते हुए आचार्य जिनसेन ने लिखा है कि बुद्धिमानो को शास्त्र और अर्थ का अच्छी तरह अभ्यास कर तथा महाकवियो की उपासना करके ऐसे काव्य की रचना करनी चाहिए जो धर्मोपदेश से युक्त हो, प्रशंसनीय हो और यश को बढ़ाने वाला हो। इस प्रसंग मे महाकवि के यशस्वी स्वरूप का विवेचन करते हुए आचार्य जिनसेन ने जो प्रशस्ति की है उसका भाव यह है—

प्रतिभा जिसकी जड है, माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुण जिसकी उन्नत शाखाएं हैं और उत्तम शब्द ही जिसके उज्ज्वल पत्ते हैं ऐसा यह महाकविरूपी वृक्ष यशरूपी पुष्पमजरी को धारण करता है। बुद्धि ही जिसके किनारे हैं, प्रसाद आदि गुण ही जिसकी लहरें हैं, जो गुणरूपी रत्नो से भरा हुआ है, उच्च और मनोहर शब्दो से युक्त है, तथा जिसमें गुरुशिष्य परंपरा रूप विशाल प्रवाह चला आ रहा है ऐसा यह महाकवि समुद्र के समान आचरण करता है।

जैन साहित्यकारो ने युगीन परिस्थितियो का अनुभव करते हुए संस्कृत मे उत्कृष्ट साहित्य की रचना की और अनेक प्राकृत ग्रन्थो का संस्कृत मे पद्यानुवाद किया। इसके विपरीत जैनेतर समाज ने एक भी सस्कृत धर्मग्रन्थ का प्राकृत मे अनुवाद नही किया।

अनेक जनपदीय भाषाएं—कन्नड, तमिल, तेलुगु, गुजराती आदि जैनाचार्यों की ऋणी हैं। उपरोक्त सभी भाषाओ के आरंभिक काल की अधिकाश रचनाए जैन कवियो की देन हैं। *कन्नड साहित्य के स्वर्णयुग मे महाकवि पम्प, पोन्न, रन्न, नागवर्मा का अविस्मरणीय योगदान* रहा है। इन कवियो ने रामायण एव महाभारत के कथानको को लेकर कन्नड साहित्य का अभूतपूर्व शृगार किया है। प्रतिपक्ष के कर्ण एवं दुर्योधन का इतना सजीव चित्रण भारतीय साहित्य मे अन्यत्र नही मिलता। महाकवि पंप की कृति 'विक्रमार्जुन विजय' को कर्ण रसायन भी कहा जाता है। इस ग्रन्थ के अध्याय १२/२१७ मे कर्ण की प्रशस्ति मे कहा गया है कि महाभारत के पात्रो मे यदि किसी का स्मरण करना है तो वह कर्ण का ही चरित्र है। कर्ण की सच्चाई, त्याग और वीरता का उत्कृष्ट रूप अन्यत्र नही मिलेगा। कन्नड साहित्य के स्वर्ण युग की परपरा को प्राणवान् बनाने मे जैन साहित्यकार दुर्गसिंह, नयसेन, नागचन्द्र, नेमिचन्द्र, जन्न, रत्नाकर वर्णी का विशिष्ट योग रहा है। कन्नड साहित्य की भाति तमिल साहित्य की प्रारम्भिक साहित्यिक गतिविधियो का श्रेय भी जैनाचार्यों को है। जलप्लावन से पूर्व सघकाल की एकमात्र उपलब्ध रचना तोलकाप्पियर कृत व्याकरण 'तोलकाप्पियम' एक जैन मुनि की ही देन है। कुरल काव्य मे प्रयुक्त 'मलरमिसइ योगिनान' और 'येनगुनत्तान' जैन शब्दावली है, जिनका अर्थ क्रमश: 'जो कमल पर चलता है' (भगवान् का एक अतिशय) और 'आठ गुणसहित' है। विदेशी विद्वान् जेम्स डी० वी० ग्रिवल ने सन् १८७५ मे प्रकाशित 'तमिल काव्य' मे तिरुवल्लवर को जैन कवि माना है। तमिल साहित्य की महत्त्वपूर्ण रचना 'नालडियार' भी सन्तो की देन है। तमिल साहित्य मे पाच महाकाव्य हैं—शिलप्पदिकारम्, वलयापति, चिन्तामणि, कुण्डलकेशी और मणिमेखले। इनमें प्रथम तीन जैन लेखको की कृतिया मानी जाती हैं। *तमिल के पाच विख्यात लघुकाव्य भी जैन साहित्यकारो की देन हैं*— नीलकेशी, चूडामणि, यशोधर कावियम्, नागकुमार कावियम् तथा उदयणन कथै। प्राचीन जैन तमिल कृतियो मे मेरुमन्दर पुराण, श्रीपुराण, कलिंगुत्तुप्परनि, याप्परुगलम्कारिकै, नेमिनाथम्, नन्नूलू, तिरुनूत्तदि, तिरुक्कलम्बगम आदि उल्लेखनीय हैं।

तमिल और कन्नड की भाति तेलुगु भाषा के आरम्भिक साहित्य की अधिकाश रचनाएं जैन मुनियो की थी, किन्तु धार्मिक विद्वेष के कारण इन रचनाओ को जला दिया गया। श्री बालशौरि रेड्डी ने 'तेलुगु साहित्य' नामक पुस्तक मे उपयोगी जानकारी देते हुए अनेक जैन साहित्यकारो का श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया है। उनकी दृष्टि मे महाकवि नन्नय भट्ट के द्वारा महाभारत के प्रणयन से पूर्व निश्चित रूप से

तेलुगु में उत्तम काव्यों की रचना हुई होगी। आज उस साहित्य के उपलब्ध न होने के कारण का विवरण देते हुए उन्होंने लिखा है—

"मौर्य युग के पश्चात् आन्ध्र मे बौद्ध एवं जैन धर्मों का उत्कर्ष हुआ। उस समय तेलुगु में जैन तथा बौद्ध साहित्य रचा गया। किन्तु धार्मिक विद्वेष के कारण वह सब जला दिया गया।" गुजराती काव्य के प्रथम चरण मे भी जैनाचार्यों का विशिष्ट योग रहा है। डॉ० के० पी० पटेल ने अपने 'गुजराती काव्य साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा' शीर्षक निबन्ध मे लिखा है कि, "१२५० से १६५० तक पुरानी गुजराती का प्रवाह बहता ही रहा। इसका यश जैन मुनियों को है। × × × ×जैनो का सर्जन धर्मनमी रहा है। फिर भी उन्होंने तत्कालीन समाज का दर्शन कराया है। शालिभद्र कृत 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' वीररस का प्रबन्ध काव्य है। 'जम्बुसामि चरित' और 'नेमिनाथ चतुष्पदिका' उस युग की विशेष उल्लेखनीय रचनाएं हैं। गुजराती भाषा मे विनयचन्द्र का 'नेमिनाथ चतुष्पादिका' सबसे पहला ऋतु काव्य है। इन कवियो ने अपनी रचनाओं मे धर्मयुक्त सांसारिक चित्र, शृंगारिक वर्णन, प्राकृतिक दृश्यो का वर्णन किया है। अनेको ने 'रासो' लिखे हैं और कई ने ज्ञान, नीति एवं वैराग्य के गान रचे हैं। जैन मुनियो ने गुजराती के साहित्य प्रवाह की धारा अखड रूप से बहाई।"

जैन धर्म के प्रथमानुयोग के साहित्य मे त्रेसठ शलाका पुरुषो की कथा का विवेचन मिलता है—२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ वासुदेव और ९ प्रति वासुदेव। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम की गणना बलभद्र मे की जाती है। पौराणिक मान्यताओ के अनुसार बलभद्र ऊर्ध्वगामी होते हैं और मोक्ष जाते हैं। भगवान् राम के दिव्य गुणो का स्मरण करके राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने सहज रूप से कहा था—

राम तुम्हारा चरित स्वय ही काव्य है।
कोई कवि बन जाए सहज सम्भाव्य है!!

महाकवि मैथिलीशरण गुप्त द्वारा व्यक्त की गई इस भावना को जैन साहित्यकारो ने शताब्दियो पूर्व सार्थक कर दिया था। ग्यारहवीं शती के कन्नड कवि नागचन्द्र (अभिनव पम्प) ने एक पद्य मे कहा है—

नायक नन्यमागे कृति विश्रुतभागदुदात्त राघव
नायकनागे विश्रुतमनेय्दु विस्मय कारियसतु का।
लायसदि विनिर्मिसिद कठिके कांचनमालेयंतुपा
देय मेनिक्कुमे विषयमोघ दोडाबुदुमोप्पलार्कुम।।

अर्थात् नायक यदि दूसरा हो तो कृति विश्रुत नही होगी, यदि राघव नायक हो तो विश्रुत होगी। लोहे की कठी कांचनमाला बनेगी। विषय उत्तम हो तो कृति भी उत्तम होगी।

राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक भगवान राम के आदर्शों के प्रति श्रद्धा समर्पित करने की भावना से जैन पुराणकारो ने सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श, कन्नड आदि भाषाओ मे महाकाव्य, महापुराण एव चरिउ का प्रणयन किया है। श्री विमलसूरि कृत प्राकृत 'पउमचरिउ' ११८ अधिकारो मे विभक्त है जिनमे कुल मिलाकर ८६५१ गाथाए हैं जिनका मान १२ हजार श्लोक प्रमाण है। आचार्य रविषेण कृत संस्कृत 'पद्मपुराण' मे १२३ पर्व हैं जिनमे अनुष्टुप मान १८०२३ श्लोक हैं। स्वयभू कृत अपभ्र श 'पउमचरिउ' मे १२ हजार ग्रन्थाग्र हैं, जो १२६९ कडवको, ९० सन्धियो और पाच कांडों मे विभाजित हैं।

जैन रामकथा की विशेषता उसके चरित्रो के मानवीय चित्रण मे है। इन कवियो ने रामायण के उपेक्षित अथवा अप्रसिद्ध पात्रो के चरित्र-चित्रण मे भी सहृदयता दिखाई है। जैन रामायण मे प्रतिपक्ष के प्रधान योद्धा रावण के चरित्र के साथ न्याय करते हुए उसकी राक्षस-वृत्ति की प्रचलित मान्यता का खण्डन किया गया है। इन कवियो की दृष्टि मे रावण एक महत्त्वपूर्ण पात्र है और उसमे अनेक विशिष्ट गुण हैं। इस दृष्टि से उनके द्वारा रावण के लिए प्रयुक्त विशेषण—'आदित्यमण्डलोपमदर्शन', 'कोऽपि महान् नर', 'साधूना प्रणत:', 'प्रणतेषु दयाशील', 'सम्यग्दर्शनभावित:' आदि अवलोकनीय हैं। जैन रामकथा के वैविध्यपूर्ण विवरण से भारतीय रामकथा का साहित्य निश्चित रूप से प्रभावित हुआ है। प्रसिद्ध आलोचक डॉ० नामवर सिंह ने जैन कवि स्वयंभू के 'पउमचरिउ' के संबंध में रोचक जानकारी देते हुए राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन ग्रथ के अन्तर्गत 'अपभ्रंश का राम-साहित्य' शीर्षक लेख मे लिखा है—

"हिन्दी रामकथा के अध्येताओ के लिए विशेष रूप से स्वयभू की रामायण मे पर्याप्त सामग्री मिल सकती है। जो लोग रामकथा की केवल ब्राह्मण-परंपरा तथा उस परंपरा मे भी केवल एक टुकड़े से परिचित हैं, वे यदि अपभ्र श की जैन रामकथा से परिचय प्राप्त करें, तो उनकी आंख खुल जायेंगी और आखो के सामने पौराणिक आख्यानो के क्रमिक निर्माण की सारी प्रक्रिया तथा उसके पीछे काम करने वाली प्रवृत्तियों का सम्पूर्ण चित्र स्पष्ट हो जायेगा।"

जैन राम साहित्य का भारतवर्ष की विभिन्न भाषाओं में लिखे गए राम-काव्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। डॉ० जगदीश गुप्त ने 'गुजरात में राम की परम्परा तथा रामभक्ति का प्रचार' शीर्षक लेख में स्वीकार किया है कि "मध्यकाल से पूर्व गुजरात में जो भी महत्त्वपूर्ण राम-काव्य प्राप्त होते हैं, वे सभी जैन-विचारधारा से सम्बद्ध हैं और उनमे वर्णित रामकथा वाल्मीकि रामायण पर आधारित होते हुए भी अनेक अंशों में उससे भिन्न है। इसी प्रकार श्री दिनेश चन्द्र सेन ने कलकत्ता से प्रकाशित 'बंगला रामायण' मे जैन रामायणकारों का बंगाल के राम काव्य पर विशिष्ट प्रभाव का उल्लेख किया है।

स्वतन्त्र भारत मे जैन राम काव्य के विविध पक्षो पर पर्याप्त शोध कार्य हुआ है। विद्वान् अब यह अनुभव करने लगे हैं कि जैन साहित्य में रत्नों का भण्डार भरा पड़ा है। हिन्दी साहित्य के इतिहास मे जैन साहित्यकारो और उनकी कृतियो के प्रति धार्मिक एव साम्प्रदायिक साहित्य कहकर उपेक्षा करने वाले सुधी समालोचको के दृष्टिकोण मे भी परिवर्तन आया है। प्रथमानुयोग से सम्बन्धित जैन राम काव्य की विशेषता एवं गुणवत्ता को दृष्टिगत करते हुए हिन्दी के मूर्धन्य समालोचक डॉ० नगेन्द्र ने 'जैनाचार्य कृत-पद्मपुराण और तुलसी-कृत रामचरित मानस' ग्रन्थ की प्रस्तावना मे लिखा है—"जैनकाव्य के पुनर्मूल्यांकन मे अब साम्प्रदायिक दृष्टि अवरोध उपस्थित नही करती। उसके प्रति विद्वानो का दृष्टिकोण मात्र साम्प्रदायिक न रहकर गहन अनुसन्धान और जिज्ञासा का बनता जा रहा है। × × × ×जैन-परम्परा के अनुसार रामायण के पात्रो का जो स्वरूप सम्मुख आता है वह आस्था एव परंपरा मे पोषित विचारको को किञ्चित् भिन्न एवं अग्राह्य भी प्रतीत हो सकता है—किन्तु सशय की भावभूमि मे पल्लवित आधुनिक मनीषा को वह कुछ अधिक आकृष्ट करता है। प्रति पात्रो मे नायकीय महद् गुणो की परिकल्पना तथा उपेक्षित पात्रो के प्रति सहानुभूति, जो आधुनिकता का गुण कहा जा सकता है, जैन रामकाव्य परपरा मे इन दोनो तत्त्वो का स्पष्ट आभास मिलता है।"

जैन साधुचर्या मे पदयात्रा का विशेष विधान है। पदयात्राओ के माध्यम से जैन साधु लोक सस्कृति से परिचय प्राप्त कर लेता है। देशाटन के द्वारा साधु को देश-देशान्तरो की भाषा को समझने का अवसर मिलता है। जैन साधु परपरा से श्रावको के कल्याण के निमित्त उपदेश देते आए हैं। उनके उपदेशो मे कथा साहित्य एव लोकगीतो का अद्भुत सम्मिश्रण है। सुप्रसिद्ध कथाकार द्वय—सघदास गणि और धर्मदास गणि की धर्मकथा "वसुदेव हिण्डी' के १०० लम्भक मे २८००० श्लोक प्रमाण सामग्री है। इस कथा ग्रन्थ मे कृष्ण के पिता वसुदेव की १०० वर्ष तक कठिन भ्रमण यात्रा और १०० रानियो से विवाह का उल्लेख मिलता है। जैन कथा साहित्य का उद्देश्य धार्मिक है और इसीलिए कथाकारो ने जैन धर्म शास्त्र मे निहित कर्मवाद, सयम, व्रत, उपवास, दान, पर्व, तीर्थ आदि के माहात्म्य का गुणगान करने के लिए अगणित कहानियो की कल्पना की है। जैन कहानियो का कथानक भी वैविध्यपूर्ण है जिसमे नीतिकथा, पशुपक्षी कथा, परीकथा, लोककथा, धर्मकथा, पुरातन कथा, दृष्टान्त कथा आदि विभिन्न विषयो का समावेश है।

(कथा साहित्य की भांति लोक अनुग्रह की भावना से जैनाचार्यों ने रास साहित्य एव लोकगीतो के स्वरूप को निर्धारित करने मे भी महत्त्वपूर्ण योग दिया है। डॉ० दशरथ ओझा ने 'पुरानी हिन्दी मे रास साहित्य' शीर्षक लेख मे जैन मुनियो के अवदान की चर्चा करते हुए लिखा है—

"जन-भाषा मे रचना करने वाले जैन मुनि सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के परम विद्वान् होते हुए भी चरित्राकांक्षी बाल, स्त्री, मूढ़ और मूर्खों पर अनुग्रह करके जन-भाषा मे रचना करते थे। रास ग्रन्थ उन्ही जन-कृपालु सर्वहिताकांक्षी मुनियो और कवियो के प्रयास का परिणाम है। अत: इसकी भाषा जन-भाषा थी जिसका स्वरूप अपभ्रंश, पश्चिमी राजस्थानी एवं ब्रज भाषा के सम्मिश्रण से निर्मित हुआ था।")

जैन धर्म की श्रावक सहिता मे चार प्रकार के दान का उल्लेख है—आहार, अभय, औषध और शास्त्र। शास्त्रदान से जिनवाणी के प्रचार-प्रसार को बल मिलता है। आज से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व तैलप नरेश के महादण्डनायक नागदेव की धर्मपत्नी अतिमब्बे की जिनेन्द्र भक्ति एव शास्त्रदान की प्रवृत्ति को इस सन्दर्भ मे एक उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। इस धर्मपरायण नारी की उपमा एक कवि ने गंगा और बर्फ-सी सफेद रुई से की है। धवलकीर्ति से युक्त इस महिला ने जिन शासन की वृद्धि के लिए स्वर्ण, हीरे तथा माणिक्यो की १५०० प्रतिमाएं बनवाकर विभिन्न जिनालयो मे प्रतिष्ठित कराईं, दानशालाएं खुलवाईं तथा कन्नड महाकवि पोन्न के शान्ति-पुराण की एक हजार प्रतिलिपिया कराकर विविध शास्त्र भडारो मे वितरित कराईं। शास्त्र दान की यह गौरवशाली परम्परा जैन समाज मे लोकप्रिय रही है। इसी कारण भारतवर्ष के जैन मन्दिरो मे आज भी प्राचीन हस्तलिखित धर्म ग्रन्थ बड़ी सख्या मे उपलब्ध हैं।

जैन समाज को परपरा से प्राप्त इन समृद्ध शास्त्र भडारो के लिए अपने पूर्वजो का ऋणी होना चाहिए। किन्तु देखने मे यह आता है कि वर्तमान जैन समाज अपनी साहित्यिक सम्पदा की समुचित सुरक्षा के प्रति उदासीन है। विगत दो शताब्दियों मे समुचित रख-रखाव की

कमी एवं असावधानी के कारण अनेक अमूल्य कृतियां नष्ट हो गई हैं और कितनी ही महत्त्वपूर्ण रचनाएं दीमक एवं चूहों का आहार बन गई हैं। जैन समाज की इस उदासीनता को दृष्टिगत करते हुए माननीय श्रीधर रामकृष्ण भाण्डारकर ने अपनी पुस्तक 'राजस्थान में संस्कृत साहित्य की खोज' में लिखा है—

"श्री ए० कनिंघम ने १८७२ में बीकानेर के निकट एक गद्दी में १० या १२ फीट लम्बा और ६ फीट चौडा कमरा हस्तलिखित ग्रन्थों से आधा भरा हुआ देखा था। १८७४ में श्री बूहलर को उस स्थान पर ताडपत्रीय हस्तलिखित ग्रन्थो का सग्रह नही मिला, फिर भी उन्हे ८०० हस्तलिखित ग्रन्थो का सग्रह दिखाया गया।"

प्रो० श्रीधर रामकृष्ण भाण्डारकर ने सन् १९०४-५ में इस स्थान का निरीक्षण किया। शास्त्र भण्डार की अव्यवस्था को देखकर वह दुःखी हो गए। उन्होने अपने विचारो को लेखबद्ध करते हुए कहा है—

"मैंने यहा जो कुछ देखा वह एक बडी सन्दूक थी जो कागज पर लिखे हस्तलिखित ग्रन्थो से भरी हुई थी। कुछ पुस्तकें कपडे मे बधी थी, कुछ खुली हुई और अव्यवस्थित रूप मे थी। यह गद्दी बिलकुल बुरी अवस्था मे है। × × × × किले मे जहा सन्दूक रखी थी वह स्थान भी बिलकुल गन्दा और भ्रष्ट-सा था। इस हस्तलिखित ग्रन्थ सग्रहालय का उत्तराधिकारी एक छोटा बालक है जो कि मैं समझता हूं पटियाला मे पढ रहा है।" इसी प्रकार उज्जैन एव मन्दसौर के शास्त्र भण्डारो का निरीक्षण करने के उपरान्त उन्होने अपनी अन्तर पीड़ा को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"एक मे बहुत पुरानी हस्तलिखित पुस्तकें होने पर भी उनका क्रम बहुत अस्तव्यस्त था। हस्तलिखित ग्रन्थो मे एक का भी पृष्ठ पूरा नही था। उसका मालिक जो बहुत वृद्ध था इसी वजह से लज्जा के मारे पहले तो हस्तलिखित पुस्तक दिखलाने मे सकोच करता था, दूसरा, संग्रहालय चूहों, दीमको जैसे पुस्तकभक्षी कीटको की दया पर आश्रित था।"

भारतवर्ष का जैन समाज, विशेषत दिगम्बर जैन समाज, बीसवी शताब्दी से पूर्व के कुछ समय मे जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के प्रति उदासीन रहा है। एक रूढिवादी समाज की भांति जैन धर्मानुयायियो ने निष्काम भाव से समर्पित अपने धर्म प्रचारको के प्रति भी न्याय नही किया। भारतीय नवजागरण के अग्रदूत स्वामी विवेकानन्द अमरीका मे जैन धर्म के प्रचार मे सलग्न श्री वीरचन्द गांधी की धर्मप्रभावना से सन्तुष्ट थे। किन्तु उन्होने नवम्बर १८९४ मे श्री हरिदास बिहारीदास देसाई को एक पत्र लिखकर जैन समाज द्वारा धर्मप्रचारको की उपेक्षा के दृष्टिकोण की इस प्रकार से आलोचना की थी—

"श्री वीरचन्द गाधी शीतकाल मे निरामिष भोजन करते हैं और अपने देशवासियो एवं धर्म का दृढता से समर्थन करते हैं। यहा के लोगों को वे बहुत अच्छे लगते हैं, परन्तु जिन लोगों ने उन्हें भेजा, वे क्या कर रहे हैं?—वे उन्हे जातिच्युत् करने की चेष्टा मे लगे हैं।"

भारतवर्ष का दिगम्बर जैन समाज अपने धर्मग्रन्थो के मुद्रण एव प्रकाशन का प्रारम्भ से ही विरोधी रहा है। हमारे देश मे सर्वप्रथम सन् १५५६ मे पुर्तगाली उपनिवेश गोआ मे छापेखाने का प्रवेश हुआ। किन्तु जैन समाज की उदासीनता के कारण ३०० वर्षों तक कोई भी धर्म ग्रन्थ प्रकाश मे नही आ पाया। कुछ प्रगतिशील तत्त्वो के प्रयास से सन् १८५० मे श्री बनारसीदास कृत 'साधु वन्दना' का प्रकाशन सम्भव हो पाया। आरम्भ मे प्रकाशित जैन साहित्य को दिगम्बर जैन समाज ने अपने मन्दिरो के पुस्तकालयों मे स्थान भी नही दिया। मुद्रित पुस्तको द्वारा श्री मन्दिर जी मे दैनिक पूजा-पाठ करने वाले श्रावको को हेय दृष्टि से देखा जाता था। इसके विपरीत श्वेताम्बर जैन समाज ने अपने धर्म ग्रन्थो के मुद्रण मे उदारता दिखलाई। सन् १८७० से १८९० के मध्य मे अनेक श्वेताम्बर ग्रन्थ प्रकाश मे आए। उन्नीसवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध भारतीय साहित्य के इतिहास मे चेतना के युग के रूप मे स्मरण किया जाता है। उन दिनो मे अनेक पाश्चात्य विद्वान् एव प्राच्यविद् भारतीय विद्याओं के सांस्कृतिक मूल्यांकन के लिए समर्पण भाव से काम कर रहे थे। दिगम्बर जैन समाज द्वारा अपने धर्मग्रन्थो का मुद्रण एवं प्रकाशन न कराए जाने के कारण विदेशी विद्वानो को जैनधर्म सबधी जानकारियो के लिए मुद्रित श्वेताम्बर साहित्य पर निर्भर रहना पड़ा और उनके सभी निष्कर्ष श्वेताम्बर साहित्य के आधार पर ही प्रस्तुत किये गए। इस प्रकार दिगम्बर जैन समाज ने अपना प्रकाशित साहित्य न होने के कारण सम्यक् मूल्याकन और धर्म-प्रचार का स्वर्णिम अवसर गवा दिया।

जैन धर्मानुयायियो ने अपने आचरण एव जीवन सबंधी व्यवस्थाओं के विकास म उदार दृष्टिकोण अपनाया है। राष्ट्र की मुख्यधारा को अनुप्राणित करने में उन्होने सदैव सहयोग दिया है। जैनधर्म एव दर्शन मे ईश्वर के अस्तित्व और वेदो को भगवान् की वाणी न मानने के कारण उन्हें यदा-कदा अवहेलना का शिकार भी होना पड़ा है। भारतीय विद्याओ के महान् केन्द्र काशी मे कुछ कट्टरपथियो ने जैन धर्मानुयायियों को नास्तिक एवं वेद विरोधी मानकर उनके साहित्य एवं जिनालयो के प्रति उपेक्षा भाव दिखाया था। सन् १७९९ मे लेफ्टिनेन्ट विल्फर्ड महोदय को 'त्रिलोक दर्पण' नामक जैन ग्रन्थ की पांडुलिपि कही से मिल गयी थी। उन्होने उस पुस्तक के सार को समझने के लिए

ब्राह्मण पंडितों की सेवाएं आमन्त्रित कीं किन्तु साम्प्रदायिक द्वेष के कारण पंडितों ने ग्रन्थ का सार बताने से अस्वीकार कर दिया। तदुपरान्त विल्फर्ड महोदय ने स्वयं संस्कृत भाषा का अभ्यास किया और 'त्रिलोक दर्पण' पर एक सारगर्भित निबन्ध लिखा जो किसी भी विदेशी लेखक का जैनधर्म की कृति पर सम्भवतया सर्वप्रथम निबन्ध है। काशी मे जैनधर्म विरोधी वातावरण को प्रत्यक्ष रूप में अनुभव करते हुए राष्ट्रभाषा हिन्दी के महाकवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ३६ पद्यों मे 'जैन-कुतूहल' नामक काव्य की रचना करके ब्राह्मण एव जैन समाज मे परस्पर सद्भाव स्थापित करने पर बल दिया था।

भारतीय साहित्य, भाषा एवं लेखन कला के समग्र इतिहास को प्रस्तुत करने के लिए जैन साधको द्वारा रचित विशाल साहित्य का पुनर्मूल्यांकन अत्यावश्यक है। जैन धर्म की विशाल ग्रन्थ राशि की अब तक धार्मिक एवं साम्प्रदायिक साहित्य कहकर घोर उपेक्षा की गई है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भारतीय भाषाओ विशेषत हिन्दी भाषा के प्राचीन स्वरूप की जानकारी के लिए जैन शास्त्र भंडारों में प्रतिष्ठित साहित्य के अध्ययन पर बल दिया है। उन्होने 'मेरी जीवन यात्रा भाग-४' मे अनुसन्धाताओ का मार्ग-दर्शन करते हुए लिखा है—
"मेरी धारणा है, सभी जैन बस्तियो मे अनिवार्य से रहने वाले पुस्तक भण्डारो के हस्तलिखित ग्रथो मे हिन्दी गद्य-पद्य की रचनाओं के मिलने की सम्भावना है, अपभ्रंश के भी अज्ञात ग्रंथ वहा हो सकते हैं। यहा के लक्ष्मी पुस्तकालय मे साढे चार हजार ग्रंथों मे से अधिकांश हस्तलिखित हैं। × ×"खड़ी बोली के अपने क्षेत्र मेरठ और अम्बाला कमिश्नरी तथा बिजनौर जिले की जैन-बस्तियो के पुस्तक-भडारो से हिन्दी के प्राचीन गद्य-पद्य मिलने की सम्भावना है। बहुत सम्भव है, वह खड़ी बोली के साहित्य को १३वी-१४वी शताब्दी तक ले जाएं। बौद्ध और जैन लोक-भाषा को अपने धर्म के प्रचार का सबसे बड़ा साधन मानते रहे। पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की इतनी ग्रंथ राशि जो मिली है, वह इसी प्रेम के कारण। अपभ्रंश के बाद जब खडी बोली कुरु-जागल के जिलो मे आ उपस्थित हुई, तो उन्होने उसमे भी धार्मिक ग्रन्थ लिखे होंगे।"

भारतवर्ष के जैन समाज के लिए यह गौरव का विषय है कि जैन साधको द्वारा रचित अनेक दुर्लभ पाडुलिपिया आज देश-विदेश के संग्रहालयों एवं पुस्तक भण्डारो की शोभा बढा रही हैं। रूसी विद्वान ग० बोदार्ग-लेविन तथा अ० विगासिन ने 'भारत की छवि' नामक पुस्तक मे लेनिनग्राद स्थित राजकीय पब्लिक लाइब्रेरी मे १४० जैन पाडुलिपियो की विद्यमानता का उल्लेख किया है।

इसी प्रकार जैन विद्या विशारद श्री छोटेलाल जैन ने देश-विदेश के सग्रहालयो मे उपलब्ध जैन शास्त्रों के विषय मे ज्ञानोपयोगी जानकारी दी है। वीर सेवा मन्दिर, दरियागज, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित जैन बिबलियोग्राफी (भाग एक) की तालिका सख्या ५० से १४४ के अन्तर्गत देश-विदेश मे उपलब्ध हजारो महत्त्वपूर्ण पाडुलिपियो का साधिकार उल्लेख किया गया है।

वस्तुत: भारतवर्ष के सांस्कृतिक इतिहास के निरूपण के लिए जैन धर्म ग्रन्थो मे उपलब्ध विपुल सामग्री की उपादेयता अब निर्विवाद रूप से स्वीकार की जाने लगी है। हमारे महान् देश के गौरवमय अतीत को उद्घाटित करने के लिए जैन साहित्य की व्यापक पृष्ठभूमि पर विचार-विमर्श करना आज के सन्दर्भ मे अत्यन्त आवश्यक है। प्रस्तुत 'जैन साहित्यानुशीलन' खंड मे इस दृष्टि से जिज्ञासुओ को रोचक जानकारी मिलेगी। इस खंड के सम्पादन मे डॉ० पुष्पा गुप्ता का भरपूर सहयोग मिला है।

३ सी-१४ नई रोहतक रोड,
करौल बाग़, नई दिल्ली-११०००५

—डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त
सुमतप्रसाद जैन

संस्कृत में प्राचीन जैन साहित्य

डॉ० शिवचरणलाल जैन

वास्तव मे बीसवी शताब्दी से पहले जैन संस्कृत-साहित्य विद्वानो की दृष्टि से बिल्कुल ओझल था। किसी को मालूम ही नही था कि जैन साहित्य मे सस्कृत ग्रन्थों के रूप मे अमूल्य निधियां छिपी पड़ी हैं। सबसे पहले जैन सस्कृत ग्रन्थो को प्रकाश मे लाने का श्रेय जर्मन विद्वान् डॉ० जेकोबी को है, जिन्होने अथक परिश्रम करके जैन सस्कृत ग्रन्थो को जैन शास्त्र-भण्डारो से खोज कर निकाला और उनका गम्भीर अध्ययन करके मूल्याकन किया। इसके बाद डा० हर्टल, कीथ और विण्टरनिट्ज आदि पाश्चात्य विद्वानो ने भी जैन ग्रन्थों का अपने ग्रन्थो मे वर्णन किया है। इसका कारण जैनियो मे सस्कृत विद्वानो की कमी थी, क्योकि ब्राह्मण विद्वान् जैनियो को नास्तिक समझ कर सस्कृत नही पढाते थे। बाद मे श्री पूज्यपाद गणेशप्रसादजी वर्णी ने बनारस मे तथा पूज्यवर गुरु गोपालदास बरैया ने मोरैना (ग्वालियर स्टेट) मे जैन संस्कृत विद्यालय स्थापित किये, जिनमे पढ-पढकर अनेक जैन विद्वान् निकले और उन्होने जैन ग्रन्थो का सम्पादन करके उन्हें प्रकाशित करवाया। यद्यपि अब तक अनेक जैन सस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है, फिर भी अनेक ग्रन्थ-रत्न अप्रकाशित हैं।

(भगवान् महावीर ने भी बुद्ध भगवान् के समान 'सर्वजनहिताय' की भावना से प्रेरित होकर अपना उपदेश सारे उत्तर भारत मे समझी जाने वाली अर्धमागधी भाषा मे दिया था और उन्ही का अनुसरण करने वाले जैन आचार्यों ने अपने ग्रन्थ अर्धमागधी भाषा मे लिखे थे, किन्तु जिस प्रकार महायानी बौद्धाचार्यों ने बाद मे मागधी या पाली भाषा को छोड़कर सस्कृत को ग्रन्थ-रचना के लिए अपनाया, उसी प्रकार छठी शताब्दी से लेकर जैनाचार्यों ने भी अपने ग्रन्थो के लिए सस्कृत को अपना लिया और अपनी सुन्दर तथा महत्त्वपूर्ण रचनाओ से सस्कृत-साहित्य की समृद्धि मे अपना योगदान किया।)

यद्यपि (साहित्य शब्द सस्कृत मे केवल काव्य, नाटक, चम्पू, आख्यायिका, कथा, गेयपद, स्तोत्र तथा सूक्ति-ग्रन्थों के लिए ही प्रयुक्त होता है, किन्तु आधुनिक समय मे साहित्य के अन्तर्गत वे सब पुस्तकें आ जाती हैं जो उस भाषा मे लिखी गई हो। इसलिए प्राचीन जैन संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत वे सभी ग्रन्थ आते है, जिनको जैन आचार्यों ने अथवा जैन विद्वानो ने प्राचीन काल मे लिखा था—चाहे वे काव्य-नाटकादि हो अथवा जैन दर्शन, सिद्धान्त, व्याकरणादि विषयों के हो। इसलिए इस लेख मे भी पहले प्राचीन जैन काव्यादि का और तत्पश्चात् अन्य प्राचीन जैन सस्कृत ग्रन्थो का वर्णन किया जाएगा।)

(सस्कृत साहित्य की कोई भी ऐसी विधा नही है, जिसमे प्राचीन जैन विद्वानो ने रचना नही की।) यद्यपि उन सम्पूर्ण ग्रन्थो का परिचय इतने छोटे लेख मे नही दिया जा सकता, फिर भी सक्षेप मे दिग्दर्शन कराया जाता है।

(प्राचीन जैन संस्कृत काव्यो के अन्तर्गत महाकाव्य, खण्डकाव्य, आख्यायिकाए, कथाए, नाटक, चम्पू, पुराण, स्तोत्र तथा सूक्ति-ग्रन्थ आते है। प्राचीन जैन सस्कृत काव्यो में श्री हरिश्चन्द्र महाकवि द्वारा रचित धर्मशर्माभ्युदय, आचार्य श्री वीरनन्दि द्वारा रचित चन्द्रप्रभ-चरितम्, श्री विजय सूरि द्वारा रचित मल्लिनाथचरितम् तथा मुनिसुव्रतचरितम्, श्री कमलप्रभ सूरि रचित प्रद्युम्नचरितम्, पार्श्वनाथ-चरितम्, पुण्डरीकचरितम् आदि जैन सस्कृत महाकाव्य नैषध, शिशुपालवध, किरातार्जुनीय, कुमारसम्भव, रघुवंश आदि सस्कृत काव्यो के समकक्ष हैं। इनमे काव्य के भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनो का ही सुन्दर समन्वय है। इनमे बहुत ही सुन्दर वर्णन-शैली तथा काव्यांगों का अनुसरण किया गया है।) इसी श्रेणी के अन्य महाकाव्यो मे श्री हेमचन्द्राचार्य का आदिनाथचरितम्, शुभशील गणी का विक्रमचरितम्, जयशेखर सूरि का जैनकुमारसम्भव, जिनहर्ष सूरि का वस्तुपालचरितम्, कुमारपालचरितम् तथा अन्य जैन कवियो द्वारा रचित जम्बूस्वामिचरितम् तथा शान्तिनाथचरितम् आदि अनेक जैन संस्कृत महाकाव्य उल्लेखनीय हैं।

(खण्ड-काव्यों मे पार्श्वाभ्युदय, विदग्धमण्डन, युधिष्ठिरविजय, द्रौपदी-स्वयवर, क्षत्रचूडामणि, पवनदूत, जैन मेघदूत आदि अनेक खण्ड-काव्य गिनाये जा सकते हैं।) नेमिचरित अथवा नेमिनिर्वाण काव्य मे तो प्रसिद्ध मेघदूत काव्य के प्रत्येक श्लोक के प्रत्येक चरण की समस्या-पूर्ति बड़े रोचक तथा वर्णनीय विषयानुकूल ढग से की गई है।

प्राचीन जैन संस्कृत काव्यों में द्वयस्मय अथवा द्वयर्थक काव्यो का अपना निराला ही स्थान है। श्री धनञ्जय महाकवि द्वारा रचित द्विसन्धान महाकाव्य मे रामायण तथा पाण्डवकथा श्लिष्ट रूप मे साथ-साथ वर्णन की गई है। इसी प्रकार श्री हरिदत्त सूरि के राघव-नैषधीय महाकाव्य में श्रीराम और महाराज नल—दोनों कथाओ का श्लिष्ट रूप मे वर्णन है। तथा राघवपाण्डवीय काव्य मे श्रीराम और पाण्डवों की कथाए साथ-साथ श्लिष्ट रूप मे चलती हैं। यद्यपि महाकाव्यो मे दो-चार सर्गों मे यमकालकार का प्रदर्शन अवश्यभावी है, किन्तु पार्श्वाभ्युदय काव्य का कोई भी श्लोक ऐसा नही है जिसमे यमकालकार न हो। यही नही, श्री मेघविजय सूरि के सप्तसंधान नामक महाकाव्य में सात कथाएं श्लिष्ट रूप से वर्णित की गई हैं।

जैन साहित्य में प्राचीन संस्कृत आख्यायिको की गणना मे जैनकवि श्री वादिराजसूरि रचित गद्यचिन्तामणि तथा श्री धनपाल कवि-रचित तिलकमञ्जरी, कादम्बरी तथा दशकुमारचरित की समकक्ष रचनाए हैं। इनके अतिरिक्त नर्मदासुन्दरीचरित, श्रीशान्तिनाथचरित, चंद्र-केवलिचरितम्, भुवनभानुकेवलिचरितम्, पृथ्वीचरित, शीलव्रत कथा, प्रियंकर नृपकथा, आदिभरतेश्वर वृत्ति, बृहत्कथाकोष, चन्द्रधवलभूप-कथा आदि गद्यमय आख्यायिका-ग्रन्थ जैन कवियो के द्वारा रचे गये है और वे संस्कृत गद्यकाव्य के भण्डार को सुशोभित करते हैं।

जैन साहित्य मे गद्यमय कथा-साहित्य की भी कमी नही है। अपराजितकथानकम्, जैनकथाकोष, चित्रसभूति कथा, पर्वकथा संग्रह, भविष्यदत्तकथा, मूलदेवकथा आदि कथाग्रन्थ जैन साहित्य के संस्कृत पद्यमय कथा-साहित्य के उदाहरण हैं। गद्य-पद्यमय सुन्दर शैली मे लिखे गये चम्पू-काव्यो की भी प्राचीन जैन संस्कृत साहित्य मे बडी ही सुन्दर रचनाए हुई हैं। श्री सोमदेवसूरि-रचित यशस्तिलक चम्पू, श्री हरिश्चन्द्र महाकवि विरचित जीवन्धर चम्पू तथा अन्य जैन संस्कृत कवियो के द्वारा रचित पुरुदेव चम्पू आदि ग्रन्थ जैन चम्पू-काव्यो के सुन्दर नमूने हैं और तुलना मे ये जैनेतर संस्कृत चम्पूकाव्य—नलचम्पू, भारतचम्पू—आदि के समकक्ष रखे जा सकते हैं। बल्कि यशस्तिलक चम्पू तो राज-नीति का सुन्दर काव्य समझा जाता है।

(प्राचीन जैन संस्कृत-साहित्य मे सुन्दर जैन संस्कृत-नाटक भी विद्यमान हैं, किंतु संख्या मे काफी कम हैं। श्री हस्तिमल्ल कवि द्वारा रचित—विक्रान्तकौरव तथा मैथिलीकल्याण नाटक बहुत ही सुन्दर नाटक है। इसी प्रकार कवि नागदेव का मदनपराजय तथा अन्य जैन कवियो के मकरध्वज-पराजय, मुक्तिबोध, मुदित कुमुदचन्द्र, प्रबोध-चन्द्रोदय आदि नाटक मनोभावो का मानवीयकरण बडे ही सुन्दर रूप मे प्रस्तुत करते हैं।)

(प्राचीन जैन संस्कृत साहित्य मे सुभाषित-रत्नसन्दोह, नीति-वाक्यामृत, उपदेशतरंगिणी आदि नीति-ग्रन्थ भी विद्यमान हैं, जिनको हम सूक्तिकाव्यो मे रख सकते हैं।

प्राचीन जैन कवियो ने सुन्दर काव्यमय शैली मे जैन स्तोत्र भी रचे हैं, जिनमे श्री समन्तभद्राचार्य का देवागमस्तोत्र तथा स्वयंभू-स्तोत्र बडी ही सुन्दर दार्शनिक शैली के स्तोत्र हैं। देवागमस्तोत्र के ऊपर तो आप्तमीमासा वृत्ति तथा अष्टसाहस्री महाभाष्य लिखे गये हैं। इसमें जिनेन्द्र भगवान् को सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है। इनके अतिरिक्त भक्तामर, कल्याणमन्दिर एकीभाव, विषापहार, ऋषि मडलस्तोत्र, जिन चतुर्विंशतिस्तोत्र, अकलकस्तोत्र आदि अनेक स्तोत्र काव्यमय शैली मे लिखे गये हैं।)

यदि यहा जैन पुराणो का परिचय नही दिया जाय तो यह लेख अधूरा ही समझा जायेगा। प्राचीन जैनाचार्यों ने जैन पुराणो को लिखने में भी काव्यमय शैली का ही अनुसरण किया है। सबसे पहला जैन संस्कृतपुराण पद्मपुराण है जिसे हम जैन रामायण भी कह सकते है। इस पुराण को श्री रविषेणाचार्य ने श्री विमल सूरि के प्राकृत महाकाव्य 'पउम-चरिअ' के आधार पर संस्कृत मे श्लोकबद्ध किया था। इसमें श्रीराम और रावण की वंशावलि का इतिहास भी दिया गया है। तत्पश्चात् जिनसेनाचार्य ने हरिवंश पुराण की रचना की और इसके बाद काव्यमय शैली मे महापुराण लिखा गया। आचार्य श्री जिनसेन ने इसे प्रारम्भ किया और वे इसके आदिपुराण भाग को ही पूरा कर पाये। इसके शेष भाग को इनके प्रधान शिष्य श्री गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण के रूप मे पूरा किया। आदिपुराण मे प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव तथा उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती का वर्णन है तथा उत्तरपुराण मे शेष २३ तीर्थंकरो, चक्रवर्तियो, नारायण, प्रतिनारायण तथा बलभद्रो का वर्णन है। इनके अतिरिक्त पाण्डवपुराण, पार्श्वपुराण आदि अन्य पुराण भी जैन आचार्यों ने संस्कृत पद्यों मे लिखे।

उपर्युक्त जैन संस्कृत काव्य-साहित्य के अतिरिक्त जैनाचार्यों ने अलंकार-ग्रन्थ भी लिखे, जिनमे श्री धनञ्जय कवि का दशरूपक नाटकों के ऊपर तथा श्री अजितसेनाचार्य रचित 'अलकारचिन्तामणि' अलकारो के ऊपर सुन्दर ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त श्री वाग्भट्टाचार्य का काव्यानुशासन तथा वाग्भट्टालंकार, श्री हेमचन्द्राचार्य का काव्यानुशासन आदि अलंकार-ग्रन्थ भी बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके साथ-साथ काव्य-कल्पलतावृत्ति, प्रबन्धचिन्तामणि, प्रबन्धकोष आदि ग्रन्थ काव्यरचना के शिक्षा-ग्रन्थ हैं। श्री धनंजय कवि की 'धनजयनाममाला' नाम का जैन कोष-ग्रन्थ भी जैन संस्कृत साहित्य मे विद्यमान है।

प्राचीन जैनाचार्यों ने संस्कृत व्याकरण-ग्रन्थ भी लिखे। इनमे श्री शाकटायनाचार्य का शाकटायन व्याकरण, श्री गुणनन्दि आचार्य का जैनेन्द्र व्याकरण तथा उसके ऊपर शब्दार्णवचन्द्रिका, जैनेन्द्र-महावृत्ति तथा जैनेन्द्र-प्रक्रिया आदि संस्कृत-व्याकरण के सुन्दर ग्रन्थ हैं। जैन सिद्धान्त के ऊपर प्राचीन ग्रन्थ यद्यपि मूलरूप में अर्धमागधी प्राकृत भाषा मे रचे गये थे, किन्तु बाद में उनकी गाथाओं को संस्कृत छायारूप

में परिणत कर दिया गया; इसलिए इन छाया-ग्रन्थों की गणना संस्कृत ग्रन्थो मे की जा सकती है। ऐसे ग्रन्थो मे गोमट्टस्वामि द्वारा रचित गोमट्टसार जीवकाण्ड मे जीवों का तथा गोमट्टसार कर्मकाण्ड मे कर्मों का विस्तृत वर्णन है। नेमिचन्द्राचार्य के 'द्रव्यसंग्रह' मे षड्द्रव्यों का, पञ्चास्तिकाय मे कालद्रव्य के अतिरिक्त पांच द्रव्यो का वर्णन है। 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' मे तीनो लोको का भौगोलिक वर्णन दिया गया है।

जैन संस्कृत आचार-ग्रन्थो में श्री समन्तभद्राचार्य का रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्री अमितगति आचार्य का पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्री आशाधर स्वामी का सागरधर्मामृत तथा अनगारधर्मामृत आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों मे श्रावको के तथा मुनियो के आचरण-सम्बन्धी विधिनिषेधमय नियमो, आचारो तथा क्रिया-कलापो का वर्णन है। इनके साथ-साथ जैनाचार्यों ने संस्कृत मे आध्यात्मिक ग्रन्थो की भी रचना की जिनमे आत्मा-परमात्मा का, अनित्यादि भावनाओ का समाधिमरणादि का चिन्तन है। ऐसे ग्रन्थों मे स्वामि-कार्तिकेयानुप्रेक्षा, आत्मानुशासन, समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। तत्त्वार्थसूत्र अथवा मोक्षशास्त्र जैन सिद्धान्त का संस्कृत सूत्र-शैली मे लिखा गया मूल ग्रन्थ है। भिन्न-भिन्न विषयों के ऊपर इसमे दस अध्याय हैं जिनमे सारा जैन सिद्धान्त विषय समाविष्ट है। इसके ऊपर सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि बडे-बडे भाष्य भी संस्कृत मे लिखे गये हैं। संस्कृत भाषा मे लिखे गये जैन दर्शनशास्त्रों की तो जैन साहित्य मे बहुलता है। जैन न्यायदीपिका, आप्तमीमांसा, आप्तपरीक्षा, जैन तत्त्वानुशासन, अष्टसाहस्री आदि अनेक जैन दर्शन-शास्त्र ओजस्वी भाषा मे लिखे गये, जिनमे अन्य दर्शनो की मान्यताओ तथा सिद्धान्तो का खण्डन और अपने सिद्धान्तों का मण्डन अकाट्य युक्तियो द्वारा किया गया है। विशेषत. इनमे बौद्ध सिद्धान्तो का खण्डन है।

जैन तर्कशास्त्र का मूल, सूत्ररूप मे लिखा गया संस्कृत-ग्रन्थ 'परीक्षामुख' है। इसके ऊपर प्रमेयरत्नमाला छोटा तथा प्रमेयकमल-मार्तण्ड बडा भाष्य है।

इसके अतिरिक्त जैन साहित्य मे अनेक मन्त्रशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र तथा औषधिशास्त्र भी संस्कृत मे लिखे गये हैं।

इस प्रकार साहित्य शब्द के व्यापक रूप में जैन संस्कृत ग्रन्थो का यहा पर संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है, जिससे हमे ज्ञात होता है कि जैनाचार्यों तथा विद्वानो का संस्कृत भाषा तथा साहित्य मे कितना बडा और व्यापक योगदान है।

सांसारिक वैभव की असारता का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं—

आयुर्वायुतरत्तरंग तरलं लग्नापदः संपदः
सर्वेऽपीन्द्रिय गोचराश्च चटुलाः संध्याभ्ररागादिवत्।
मित्र स्त्री स्वजनादिसंगमसुखं स्वप्नेन्द्रजालोपमं
तत्किं वस्तु भवे भवेदिह मुदामालम्बनं यत्सताम्॥

मनुष्य का जीवन हवा के झोकों से लहराती हुई लहरो के समान चचल है। सम्पत्ति विपत्तियो से घिरी हुई है। सुख दुःख से लगा हुआ है। जीवन का हर नाटक दु खान्त है। कान-नाक-जीभ आदि इन्द्रियो को सुखद प्रतीत होने वाले विषय सध्या-काल के आकाश की अरुणिमा (लालिमा) की भाँति कुछ क्षण-भर ही टिकने वाले हैं। और मित्र-स्त्री-स्वजन-पुत्र आदि विषयो के मिलन का सुख ऐसा है जैसे जादूगर का खेल हो, या कोई मधुर स्वप्न हो। ससार की प्रत्येक वस्तु जब ऐसी क्षण-विनाशिनी है, अनित्य है, तब विवेकी पुरुष के लिए, वस्तु के परिणाम को समझने वाले ज्ञानी के लिए, ससार मे ऐसा क्या है, जिसके सहारे, जिसके आलम्बन से, उसे कुछ शाश्वत सुख की अनुभूति हो?—अर्थात् ऐसा कुछ भी नहीं है जो हमे शाश्वत सुख दे सके।

अत. भव्य जीवो को अपने एक-एक पल का सदुपयोग करते हुए श्री जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित धर्म को धारण करके नित्य-निरन्तर आत्म-कल्याण की भावना करनी चाहिए।

(—आचार्यरत्न श्री देशभूषणजी महाराज-कृत उपदेशसारसंग्रह, प्रथम भाग, पृ० ११)

जैन संस्कृत महाकाव्यों में रस

डॉ० (श्रीमती) पुष्पा गुप्ता

यद्यपि काव्यशास्त्रियों मे 'काव्य' की परिभाषा के विषय मे पर्याप्त मतभेद है, फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि काव्य मे 'रस' की प्रधानता है।

प्रस्तुत लेख मे जैन संस्कृत महाकाव्यों मे 'रस' का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। जैन कवियो द्वारा संस्कृत मे लिखे गए महाकाव्यो को उनकी भाषा-शैली के आधार पर निम्नलिखित श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है।

(१) वे महाकाव्य जिन्हे पुराण कहा गया है लेकिन चूकि उनमे महाकाव्य के सभी लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, अत. महाकाव्य की शृखला मे सम्मिलित किए गए हैं जैसे रविषेणाचार्य का पद्मपुराण, जिनसेनाचार्य का हरिवशपुराण और आदिपुराण तथा गुणभद्राचार्य का उत्तरपुराण। इनके लेखक भी अपनी रचनाओ को 'महाकाव्य' ही सज्ञा देते थे,[1] परवर्ती विद्वानो ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।[2]

(२) वे काव्य जिनकी भाषा अलकृत है और जिनके शीर्षक में भी 'महाकाव्य' शब्द जुडा हुआ है जैसे धनञ्जयकृत द्विसधान महाकाव्य, वीरनन्दिकृत चन्द्रप्रभचरितम्,[3] महासेनाचार्यकृत प्रद्युम्नचरितम्, हरिश्चन्द्रकृत धर्मशर्माभ्युदयमहाकाव्यम्, वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरितम् एव यशोधरचरितम्, वाग्भट्टकृत नेमिनिर्वाणमहाकाव्यम्, अभयदेवसूरिकृत जयन्तविजयमहाकाव्यम्, बालचन्द्र सूरिकृत वसन्तविलास महाकाव्यम्, अर्हद्दासकृत मुनिसुव्रतमहाकाव्यम् और अमरचन्द्रसूरिकृत पद्मानन्दमहाकाव्यम्।

(३) वे काव्य जो महाकाव्य कहलाते हैं परन्तु उनकी भाषा-शैली पौराणिक है जैसे विनयचन्द्रसूरिकृत मल्लिनाथचरितम्, उदयप्रभसूरिकृत धर्माभ्युदय महाकाव्यम्, भावदेवसूरिकृत पार्श्वनाथचरितम् और मुनिभद्र कृत शान्तिनाथचरितम्।

सुविधा के लिए प्रस्तुत लेख मे इन महाकाव्यो का इनकी श्रेणी के द्वारा उल्लेख किया गया है।

यद्यपि जैन सस्कृत महाकाव्यो मे शान्त रस का प्राधान्य है और यह अस्वाभाविक भी नही है क्योकि इन काव्यो के लेखको का मुख्य उद्देश्य जैन दर्शन के तत्त्वों को रोचक, सरल व सरस शैली मे जनसाधारण के लिए प्रतिपादित करना ही था। लेकिन फिर भी यह जैन कवियों की काव्य-प्रतिभा को ही इंगित करता है कि अन्य सभी रसो का चित्रण भी उन्होंने उसी कुशलता से किया है। जैसा कि निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट हो जाएगा।

शृंगार रस

जैन सस्कृत महाकाव्यो में संभोग और विप्रलम्भ दोनो ही प्रकार का शृगार दृष्टिगोचर होता है।

संभोग शृंगार

संभोग शृंगार का वर्णन प्राय: तीर्थंकरो के पूर्वजन्म के प्रसगो व राजाओ के वर्णनो मे प्राप्त होता है। नायक और नायिकाओ के विषय में यह तब प्राप्त होता है जब वे हिन्दू पौराणिक कथाओ से लिये गए हैं। दूसरी श्रेणी के महाकाव्यो मे नायक-नायिकाओ के प्रेम का

---

१. महापुराणसम्बन्धि महानायकगोचरम्।
त्रिवर्गफलसन्दर्भं महाकाव्यं तदिष्यते ॥ आदिपुराण, १/९९

२. (क) 'पद्मचरित' एक सस्कृत पद्यबद्ध चरित-काव्य है। इसमे महाकाव्य के सभी लक्षण हैं। परमानन्द शास्त्री, जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भाग २, पृ० १५७
(ख) हरिवशपुराण न केवल कथाग्रन्थ है अपितु महाकाव्य के गुणो से युक्त उच्च कोटि का महाकाव्य भी है। हरिवशपुराण, प्रस्तावना, पृ० ६, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९६२
(ग) आदिपुराण उच्च दर्जे का सस्कृत महाकाव्य है। परमानन्द शास्त्री, जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग २, पृ० १८०

३. 'चरितम्' शब्द महाकाव्य का ही द्योतक है।

वर्णन व्यक्तिगत रूप से न करके सामूहिक रूप से, उनके नामों का उल्लेख किए बिना ही किया गया है।

'त्रिषष्टिशलाकापुरुष' की श्रेणी में आने वाले महापुरुषों के बारे में शृंगार रस यत्र-तत्र ही मिलता है। इसका कारण सम्भवत: जैन कवियों द्वारा उनको आदर की दृष्टि से देखा जाना था। इन कवियों द्वारा तीर्थंकरों के प्रेम का बहुत सीमित वर्णन व्यञ्जना शक्ति द्वारा ही किया गया है, अभिधा द्वारा नही।

आचार्य जिनसेन ने अपने आदिपुराण मे आदि तीर्थंकर वृषभध्वज का अपनी प्रियाओं, सुनन्दा और यशस्वती के प्रति प्रेम का व्यंग्यात्मक चित्रण बहुत ही सुन्दर 'उत्प्रेक्षा' द्वारा किया है।[1] यहा पर कवि ने रानी सुनन्दा और यशस्वती के शरीर के रूप में कामदेव के दुर्ग की कल्पना करके अपनी मौलिक प्रतिभा का ज्वलन्त उदाहरण दिया है! 'दुर्गाश्रित' पद मे श्लेष ध्वनित है। पहले भी कामदेव ने 'शिव' पर आक्रमण करने के लिए 'दुर्गा' (पार्वती) का आश्रय लिया था और अब भी वृषभध्वज को अपने पुष्पसायकों द्वारा बीधने के लिए 'दुर्ग' (किले) का आश्रय लिया है।

इसी प्रकार भावदेवसूरि ने अपने पार्श्वनाथचरित में पार्श्वनाथ तीर्थंकर की अपनी प्रिया प्रभावती के साथ तुलना बादल और बिजली से की है,[2] जो उनके पारस्परिक चिरस्थायी प्रेम को ध्वनित करता है। इतना ही नही, जिस प्रकार बादल स्वय ही सुन्दर होता है और यदि अनायास बिजली भी उसमे कौंध जाए तो उसकी सुन्दरता में चार चाँद लग जाते हैं, उसी प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ यद्यपि स्वय लावण्ययुक्त हैं परन्तु प्रभावती के साथ तो उनका सौन्दर्य अवर्णनीय ही हो जाता है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार विद्युतयुक्त बादल सबको प्रसन्नता देता है, उसी प्रकार उन दोनो का विवाह सबको आनन्द व सुख देने वाला था। और भी बिजली और बादल की उपमा उन दोनो के पवित्र और निर्मल प्रेम को भी इंगित करती है। एक छोटे से 'अनुष्टुप्' द्वारा इतनी अधिक बातो को ध्वनित कर कवि ने अपनी काव्य-प्रतिभा को द्योतित किया है।

अन्य त्रिषष्टिशलाकापुरुषों का प्रेम भी इसी प्रकार बहुत सुरुचिपूर्ण ढग से चित्रित किया गया है।

पद्मपुराण मे रविषेणाचार्य द्वारा राम और सीता के पुनर्मिलन का निरूपण अत्यन्त सरस मधुर लेकिन ओजस्वी पदावली द्वारा किया गया है।[3] यहा पर राम और सीता की तुलना शची और शक्र, रति और कामदेव, अहिंसा और धर्म एव सुभद्रा और भरत से की गई है जो क्रमश. उनकी सुख-सम्पत्ति, रूप-लावण्य, पवित्रता और परस्पर निष्ठा का निदेश करता है। यहाँ पर कवि ने बखूबी एक आदर्श वर और वधू के गुणों को प्रतिपादित किया है। यह सर्वविदित है कि कन्या सुन्दर, माता धनी, पिता शिक्षित और सगे-सम्बन्धी कुलीन वर की आकाक्षा करते हैं जबकि अन्य लोग केवल मिष्टान्न आदि की इच्छा करते हैं।[4] यहां यह उल्लेखनीय है कि पद्मपुराण के प्रस्तुत उदाहरण में ऐश्वर्य शची और इन्द्र के द्वारा तथा लावण्य रति और कामदेव के द्वारा ध्वनित किया गया है लेकिन यहा शिक्षा के बदले धर्म और अहिंसा के अर्थात् सच्चरित्रता पर अधिक बल दिया गया है क्योंकि सच्चरित्रता के बिना ऐश्वर्य और सौन्दर्य का क्या लाभ? इस प्रकार रविषेणाचार्य ने वर और वधू के सबसे महत्त्वपूर्ण गुण का समावेश भी करके अपनी व्यावहारिकता का परिचय दिया है।

यह उल्लेखनीय है कि दूसरी श्रेणी के महाकाव्यों ने जैन पुराणो (प्रथम श्रेणी के महाकाव्य) की अपेक्षा शृंगार रस के वर्णन मे परम्परा का अधिक निर्वाह किया है क्योकि इनमे ऋतु, पुष्पावचय, जलक्रीडा, दोलाक्रीडा, चन्द्रोदय आदि का परम्परागत रूप में विस्तृत वर्णन किया है। सम्भवत: इन्होने काव्यशास्त्रियो द्वारा दी गई महाकाव्य की परिभाषा की शर्तों को पूरा करने के लिए ही ऐसा किया है। जबकि दूसरी ओर पुराणो के लेखको ने नायक-नायिकाओ के प्रेम का सामूहिक रूप से आवश्यक वर्णन न करके परम्परा का अन्धानुकरण नही किया है। इन्होंने संभोग शृगार का प्रसगानुकूल ही समावेश किया है और वह भी बहुत ही सक्षिप्त ढग से।

दूसरी श्रेणी के महाकाव्यों मे सभोग शृगार का बहुत ही अनावश्यक, अवाञ्छित और विस्तृत वर्णन तीन-चार सर्गों में किया गया है। कभी-कभी तो यह वर्णन बहुत ही अशिष्ट, अरुचिकर, अश्लील और मर्यादारहित भी हो गया है और इससे कथानक का विकास भी अवरुद्ध हो गया है। इस विषय मे पुराणों के लेखक वास्तव मे श्रेय और प्रशंसा के पात्र हैं। इनमे केवल त्रिषष्टिशलाकापुरुषो का ही नही,

---

१. अनगत्वेन तन्नूनमेनयो. प्रविशन् वपु: ।
दुर्गाश्रित इवानगो विव्याधैन स्वसायकै. ।। आदिपुराण, १५/६८

२. जातोद्वाह इति स्वामी नीलरत्ननिभस्तया ।
गौरांग्या शुशुभेऽत्यन्त विद्युतेव नवाम्बुद. ।। भावदेवसूरिकृत पार्श्वनाथचरित, ६/४८

३. शचीव सगता शक्र रतिर्वा कुसुमायुधम् ।
निजधर्ममहिंसा नु सुभद्रा भरतेश्वरम् ।। पद्मपुराण, ७९/४७

४. कन्या वरयते रूप माता वित्त पिता श्रुतम् ।
बान्धवा: कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जना ।।
कालिदासकृत कुमारसम्भव, सर्ग ५ के श्लोक ७१वें पर मल्लिनाथ-भाष्य ।

अन्य पात्रों का भी प्रेम-वर्णन बहुत मर्यादित एवं सुरुचिपूर्ण है।[1]

दूसरी श्रेणी के महाकाव्यों में सर्वप्रथम धनञ्जय ने अपने द्विसन्धान महाकाव्य मे संभोग शृंगार का वर्णन करने के लिए पुष्पावचय, जलक्रीड़ा, चन्द्रोदय, चुम्बन, आलिंगन, अधरपान और अन्य प्रेम-क्रीड़ाओ का तीन सर्गों मे विस्तृत वर्णन किया है।[2] मद्यपान जो जैन दर्शन में व्यसन माना गया है, उसका भी संकेत यहा प्राप्त होता है।[3] यद्यपि चन्द्रप्रभचरित के रचयिता वीरनन्दि ने इस परम्परागत वर्णन को प्रसंगानुकूल बनाने का प्रयत्न किया है लेकिन तत्पश्चात् यह भी परम्परागत ही हो गया है।[4] धर्मशर्माभ्युदय के लेखक हरिश्चन्द्र ने तो २१ में से ५ सर्गों मे परम्परागत शृंगार रस का अनावश्यक रूप से विस्तृत वर्णन[5] किया है। यहां तक कि ऊर्ध्व और अधोवस्त्रों के उतारने का वर्णन भी बिना किसी हिचकिचाहट के, बेरोकटोक किया गया है और मद्यपान का वर्णन तो बहुतायत से प्राप्त होता है। सम्भवत: इस विषय मे जैन कवि अजैन कवियो द्वारा प्रभावित हुए हो। और यह भी सम्भव है कि इस प्रकार का अमर्यादित, उच्छृंखल व अश्लील वर्णन लेखको ने शायद जनसाधारण मे शृंगार के प्रति अरुचि उत्पन्न करने के लिए किया हो, जो प्राय. जैन दर्शन मे इच्छित है। इसी प्रकार के वर्णन वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरित,[6] वाग्भट्ट के नेमिनिर्वाण,[7] बालचन्द्र सूरि के वसन्तविलास[8] मे भी प्राप्त होते हैं। इसी कारण इन काव्यो का कथानक भी अवरुद्ध हो गया है।

यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि इन कवियो ने भी किसी व्यक्ति विशेष के प्रेम का वर्णन सीमागत, आकर्षक, रोचक और शिष्ट भाषा मे ही किया है। केवल अर्हद्दास ने ही अपने मुनि सुव्रत महाकाव्य मे प्रेम-प्रसगो मे गीत, नृत्य और वीणावादन का भी निर्देश किया है।[9]

तीसरी श्रेणी के महाकाव्य के रचयिता भी प्रेम-प्रसगो का विस्तृत और परम्परागत वर्णन करने के पक्ष मे नही थे। इन्होने सभोग शृगार का समुदाय रूप मे वर्णन नही किया है। जहा भी इसका उल्लेख है, वह औचित्यपूर्ण और प्रसग के अनुकूल ही है, अत: कथानक बिना किसी बाधा के नदी-प्रवाह रूप मे प्रवाहित होता है। विनयचन्द्र सूरि ने अपने मल्लिनाथचरित मे पद्मलोचना का अपने प्रेमी रत्नचन्द्र के प्रति प्रेम का आकर्षक ढग से व्यग्यात्मक वर्णन एक सुन्दर उपमा द्वारा किया है।[10]

विप्रलम्भ शृंगार

जैन सस्कृत महाकाव्यो मे केवल करुणाख्य विप्रलम्भ शृगार को छोडकर पूर्वरागाख्य, मानाख्य और प्रवासाख्य तीनो ही प्रकार का विप्रलम्भ शृंगार प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त इनमे विप्रलम्भ शृगार का एक अन्य प्रकार 'अपहरण' के कारण भी पर्याप्त रूप मे मिलता है, लेकिन इस प्रकार के विप्रलम्भ का निर्देश किसी भी काव्यशास्त्री द्वारा नही किया गया है।

यह उल्लेखनीय है कि विप्रलम्भ शृंगार महाकाव्यो की अपेक्षा पुराणो मे अधिक प्रभावशाली और हृदयस्पर्शी है। पद्मपुराण के लेखक रविषेणाचार्य तो पूर्वरागाख्य विप्रलम्भ के चित्रण मे अद्वितीय हैं। जब हरिश्चन्द्र नागवती को देख लेने पर उसे प्राप्त नहीं कर पाता तो उसे कही भी शान्ति नही मिलती। रविषेणाचार्य ने बडी सुन्दरता से उसकी विरही-अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है कि कमल भी उसे दावाग्नि के समान और चन्द्रकिरण भी उसे वज्रसूची के समान प्रतीत होते थे।[11]

---

१. पद्मपुराण ७ / १६७-१६८, आदिपुराण ७/२४६-२५०, उत्तरपुराण ५८/६४

२ द्विसधान महाकाव्य, १५ से १७ सर्ग

३ वही, १७/५८-५६

४ चन्द्रप्रभचरित, ८ से १० सर्ग

५. धर्मशर्माभ्युदय, ११ से १५ सर्ग

६ वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरित, ६ से ८ सर्ग

७ नेमिनिर्वाण, ६ से १० सर्ग

८ वसन्तविलास, ६ से ८ सर्ग

६ अगायदेषा स ततान तानमनृत्यदेषा स तताड तालम्।
अवादयद्वल्लकिकामथैषा स वल्लकीवानुजगौ द्वितीया ॥ मुनिसुव्रत, २/२७

१० चन्द्राश्मप्रतिमेवास्य सुधांशोरिव दर्शनात्।
सिस्विदे सर्वत. पद्मा निश्छद्मप्रेममन्दिरम् ॥
आलम्व्यचञ्चलैर्लज्जानिर्जितैर्नयनोत्पलै:।
पपौ पद्मा मुहु: प्रेमरस नालैरिवोच्चकै: ॥ मल्लिनाथचरित, १/१५०-१५१

११. दावाग्निसदृशास्तेन पद्मखण्डा निरीक्षिता।
वज्रसूचीसमास्तस्य बभूवुश्चन्द्ररश्मय ॥ पद्मपुराण, ८/३११

रविषेणाचार्य ही एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने विप्रलम्भ शृंगार की दसों अवस्थाओं का काव्यात्मक वर्णन पवंजय की विरही अवस्था में किया है जबकि वह अपनी प्रिया अंजना से नही मिल पाता।[1] आदिपुराण मे जब श्रीमती को अपने पूर्वभव के पति ललितांग का स्मरण होता है तो उस समय का वर्णन कवि जिनसेन द्वारा मौलिक तथा प्रसंगानुकूल बहुत ही सुन्दर उत्प्रेक्षा द्वारा किया गया है।[2]

नेमिनिर्वाण महाकाव्य के रचयिता वाग्भट्ट का नेमिनाथ के अलग होने पर राजीमती की विरहावस्था का वर्णन बहुत ही हृदय-स्पर्शी, मार्मिक व यथार्थ है।[3] 'मूर्च्छना' शब्द पर श्लेष का प्रयोग वर्णन में चार चांद लगा देता है।

अपने धर्माभ्युदय महाकाव्य मे कवि उदयप्रभसूरि, धनवती के अपने प्रियतम 'धन' से वियोग-वर्णन मे अद्वैतवाद से प्रभावित हुआ परिलक्षित होता है।[4]

वस्तुपाल मन्त्री की मृत्यु का प्रतीकात्मक वर्णन वसन्तविलास महाकाव्य के रचयिता बालचन्द्र सूरि द्वारा अनुपम, मौलिक व काव्यात्मक ढग से किया गया है। प्रतीकात्मक वर्णन करते हुए कवि कहता है कि किस प्रकार धर्म की पुत्री सद्गति वस्तुपाल की कीर्ति को स्वर्ग में गाये जाते हुए देखकर कामदेव के बाणों द्वारा पीड़ित की जाती है।[5] यहा पर कवि वास्तव में श्रेय का पात्र है कि शार्दूल-विक्रीडित जैसे लम्बे छन्द का प्रयोग करके भी भाषा मे ओज, माधुर्य व प्रसाद गुण है। इस प्रकार का वर्णन इतनी रोचकता से केवल इसी कवि द्वारा किया गया है।

धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य में कवि हरिश्चन्द्र ने मानाख्य विप्रलम्भ एक दूती के कथन द्वारा ध्वनित किया है। दूती क्रोधित नायक को शान्त करने के लिए नायिका की विरह-अवस्था का वर्णन करती है।[6] रमते, स्मयते, भाषते, स्वपिति, अस्ति, वेत्ति और स्मरति मे लट् लकार का प्रयोग मधुर व सगीतमय है।

जैन सस्कृत महाकाव्यो मे 'अपहरण' से उत्पन्न विप्रलम्भ शृंगार के अनेको काव्यात्मक उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं। जब रावण सीता का अपहरण कर लेता है तो राम का विलाप, जहा वह लताओ, पर्वतो, पशु-पक्षियो, वायु और अन्य वस्तुओ से सीता के बारे मे पूछते हैं, बहुत ही करुण व हृदयस्पर्शी है। मनुष्य का तो कहना ही क्या, पत्थर भी उसमे द्रवित हो जाए।[7] विभिन्न प्राकृतिक वस्तुएं नायक को नायिका के वियोग मे उसके अग-प्रत्यग के आंशिक सौन्दर्य की याद दिलाकर विरहाग्नि को बढा तो देती हैं, परन्तु कोई भी एक वस्तु अथवा जीव उसे ऐसा नही मिलता जो नायिका के सम्पूर्ण सौन्दर्य का प्रतीक बनकर, नायक की वियोग-पीडा शान्त कर सके।[8] जैन कवियो ने कभी-कभी नायक नायिकाओ के अगो का सौन्दर्य वर्णन करके भी शृगार रस को ध्वनित किया है। कवि हरिश्चन्द्र ने अपने धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य मे रानी सुव्रता के मुख की सुन्दरता का चित्रण एक नवीन और काव्यमयी कल्पना की सहायता से किया है।[9]

इसी प्रकार रानी प्रभावती की वाणी, मुख, रूप और नेत्रो का आलकारिक वर्णन भावदेवसूरि द्वारा यथासख्यालकार का प्रयोग कर किया गया है।[10]

आदिपुराण मे रानी सुलोचना के मुख-सौन्दर्य को 'व्यक्तिरेकालंकार' द्वारा कमल और चन्द्रमा से भी कही बढकर बतलाया गया है।[11]

---

१. पद्मपुराण, १५/८५-१००

२ इमेऽश्रुबिन्दवोऽजस्रं निर्यान्ति मम लोचनात्।
मद्दुःखमक्षमा द्रष्टुं तमन्वेष्टुमिवोद्यता ॥ आदिपुराण, ६/१६५

३. स्मृत्वा स्मृत्वा नेमिमुद्गाढकामा कामोद्रेकाद्दाढवैद्याप्रगल्भा।
सद्भूजन्त्या केवलं नो विपञ्च्यास्तत्क्वे बाला मूर्च्छनामात्मनोऽपि ॥ नेमिनिर्वाण, ११/७

४. त्वदेकतानचित्तेयमपि व्यापारितेन्द्रिया।
त्वया व्याप्तं जगद् वेत्ति योगिनीव परात्मना ॥ धर्माभ्युदय, १०/३९

५. वसन्तविलास, १४/१६/३१

६ न रमते स्मयते न न भाषते स्वपिति नास्ति न वेत्ति न किंचन।
सुभग केवलमस्मितलोचना स्मरति सा रतिसारगुणस्य ते ॥ धर्मशर्माभ्युदय, ११/४२

७. पद्मपुराण, ४४/११६-१३८

८. पद्मपुराण, ४८/१४-१८

९. कपोलहेतोः खलु लोलचक्षुषो विधिर्व्यधात्पूर्णसुधाकरं द्विधा।
विलोक्यतामस्य तथाहि लाञ्छनच्छलेन पश्चात्कृतसीवनव्रणम् ॥ धर्मशर्माभ्युदय, २/५०

१०. तद्वाक्यमुखरूपाक्षिजिता इव ययुर्भ्रमम्।
सुधा पाताल इन्दुः खे दिवि रम्भा जलेऽम्बुजम् ॥ भावदेवसूरिकृत पार्श्वनाथचरितम्, ५/१५७

११. राकाविन्दुर्विदाम्भोजं जयीन्दुर्म्लानिवारजम्।
पूर्णमेव विकास्येव तद्वक्त्रं भात्यहर्दिवम् ॥ आदिपुराण, ४३/१६४

वज्रजंघ की नाभि का वर्णन करने मे तो कवि जिनसेनाचार्य ने कमाल ही कर दिया है।[1] प्रसंगानुकूल 'उत्प्रेक्षा' का प्रयोग वर्णन की सुन्दरता मे चार चांद लगा देता है।

इसी प्रकार अक्षि, ओष्ठ, भुजाओ आदि का भी अलकृत वर्णन प्राप्त होता है।

शृंगार रस के सन्दर्भ मे जैन कवियों ने कान्त कमनीय पदावलि का ही प्रयोग किया है। प्रसाद, माधुर्य व ओज गुण का समावेश है। अभिधा की अपेक्षा व्यजना शक्ति का ही अधिक आश्रय लिया गया है। परिणामस्वरूप इन महाकाव्यो में शृंगार रस का निरूपण ललित एवं मधुर है।

हास्य रस

जैनेतर महाकाव्यो की भाति जैन सस्कृत महाकाव्यो मे भी हास्य रस यत्र-तत्र ही प्राप्त होता है।

असंगति के कारण उत्पन्न हास्य रस का सुन्दर उदाहरण जिनसेनाचार्य के आदिपुराण मे प्राप्त होता है।[2] यहां पर कवि ने एक ओर तो वृद्ध लोगो की कामभावना का उपहास किया है तो दूसरी ओर युवा भी धैर्यहीन और जल्दबाज होते हैं। अतः कवि द्वारा 'जरद्हंस' और 'हंसयूना' शब्द का साभिप्राय प्रयोग किया गया है।

हास्य का एक बहुत ही रोचक उदाहरण महासेनाचार्य के प्रद्युम्नचरित मे है जहा एक पत्नी (सत्यभामा) अपनी ही सपत्नी (रुक्मिणी) को देवी समझकर उससे वरदान मागती है कि उसका पति उसकी सौत से विमुख हो जाए।[3]

स्वामी नेमिनाथ के रूपावलोकन से भावविह्वल युवतियो की प्रतिक्रियाओ का हास्यपूर्ण वर्णन कवि वाग्भट्ट द्वारा नेमिनिर्वाण महाकाव्य मे सुन्दर ढग से दिया गया है।[4] यहां 'असगति' अलकार का प्रयोग प्रशसनीय है।

दूसरे की मूर्खतापूर्ण बातें भी पाठको मे हास्य रस का सञ्चार करती हैं। हरिवशपुराण मे रुद्रदत्त द्वारा अपने मित्र चारुदत्त को गम्भीरतापूर्वक स्वर्णद्वीप पहुँचने का सुझाव अत्यन्त हास्यप्रद है।[5]

जैन सस्कृत महाकाव्यो मे हास्य रस-वर्णन मे भ्रान्ति से उत्पन्न अतिशयोक्ति अलकार अधिकतया प्राप्त होता है। भ्रान्तियुक्त अतिशयोक्ति का एक नवीन प्रयोग धर्मशर्माभ्युदय मे प्राप्त होता है, जहा ऐरावत हाथी सूरज को लाल कमल की भ्रान्ति से पकडना चाहता है लेकिन उष्ण पाकर उसे तुरन्त छोड देता है।[6]

प्रद्युम्नचरित मे महासेनाचार्य ने श्रीकृष्ण द्वारा अपनी पत्नी सत्यभामा से किए गए परिहास का अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण दिया है।[7] कृष्ण का इस प्रकार ताली बजा-बजा कर हँसना 'अतिहसित' हास्य की श्रेणी मे आता है और प्रायः निम्न कोटि के ही पात्रो में दिया जाता है। कवि ने श्रीकृष्ण के हर्षातिरेक को प्रदर्शित करने के लिए ही इस प्रकार का वर्णन दिया है।

---

१ सरिदावर्तगम्भीरा नाभिर्मध्येऽस्य निर्बभौ।
नारीदृक्करिणीरोधे वारिखातेव हृद्भुवा॥ आदिपुराण, ६/३८

२ हसयूनाब्जकिञ्जल्करज पिञ्जरिता निजाम्।
वधू विधूता सोऽपश्यच्चक्रवाकीविशकया॥
तरगैर्धवलीभूतविग्रहा कोककामिनीम्।
व्यामोहादनुधावन्स स जरद्हसमैक्षत॥ आदिपुराण, २६/६८-६९

३ देवतास्तुतिविधायक वच सनिशम्य विपुलो रसोन्नत।
गुल्ममध्यगहनादसौ हसन् निर्ययौ खचरराजकन्यकाम्॥ प्रद्युम्नचरित, ३/६७

४ अञ्जनीकृत्य कस्तूरी कुकुमीकृत्य यावकम्।
काचिन्निर्मितनेपथ्या सखीना हास्यतामगात्॥ नेमिनिर्वाण, १२/५१

५. अभिलषय समा प्राह रुद्रदत्तोऽन्वितादर।
चारुदत्त! पशून् हत्वा कृत्वा भस्त्राप्रवेशनम्॥
आस्वहे नव नौ द्वीपे भ. रुण्डाखण्डतुण्डका।
गृहीत्वाऽऽमिषलोभेन पक्षिण प्रक्षिपन्ति हि॥ हरिवशपुराण, २१/१०४-१०५

६. रक्तोत्पल हरितपत्रविलम्बि तीरे त्रिस्रोतस स्फुटमिति त्रिदशद्विपेन्द्र।
बिम्ब विकृष्य सहसा तपनस्य मुञ्चन्धुन्वन्कर दिवि चकार न कस्य हास्यम्॥ धर्मशर्माभ्युदय, ६/४४

७. सा प्रणीध्य तदल मृगेक्षणा माधव प्रति लिलेप सुन्दरम्।
स्व वपुस्तदवलोक्य केशवस्ता अहास करतालमुच्चकै॥ प्रद्युम्नचरित, ३/४७

जैन महाकाव्यों में कई विस्तृत वर्णन कवि द्वारा परिहास के लिए न देकर पूर्ण गाम्भीर्य से दिए गए हैं परन्तु आधुनिक पाठक इन विवरणों को केवल कवि की कल्पनामात्र मानकर हास्यपूर्ण समझ सकता है। क्योंकि वर्तमान परिस्थितियां और समय सर्वथा भिन्न है। उदाहरणार्थ, पद्मपुराण में कुम्भकर्ण की निद्रा का वर्णन[1] और हरिवंशपुराण में गौतम और कालोदधि द्वीप के निवासियों का वर्णन।[2]

वास्तव में ये काव्य जैन कवियों ने जैन दर्शन के गूढ़ तत्त्वों को, सरल और सुबोध भाषा में, जनसाधारण तक पहुंचाने के लिए ही लिखे थे। परिणामस्वरूप हास-परिहास का प्रश्न ही नहीं उठता था। फिर भी कवियों ने यत्र-तत्र हास्य रस का समावेश करके अपने मौलिक ज्ञान और काव्य-प्रतिभा का प्रमाण दिया है।

करुण रस

जैन संस्कृत महाकाव्यों में करुण रस अन्य रसों की अपेक्षा कहीं अधिक स्वाभाविक व यथार्थ है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन कवियों के कण्ठ से यह करुण वाणी स्वयं अनायास ही फूट पड़ी। इसका कारण सम्भवतः यह भी हो सकता है कि जैन धर्म भी, ब्राह्मण और बौद्ध धर्म के समान इस संसार के विषय-भोगों को दुःखमय ही मानता है।[3]

इन काव्यों में पुत्राभाव से उत्पन्न अनल्प दुःखों का वर्णन कवियों द्वारा अत्यन्त विस्तृत, प्रभावशाली और काव्यात्मक ढंग से किया गया है। यहां यह उल्लेखनीय है कि जैन दर्शन में संतानाभाव कभी भी कष्टदायक नहीं समझा गया है। लेकिन जैन कवियों ने दर्शन की इस भावना की उपेक्षा की है। परन्तु पुराणों के लेखक इसके अपवाद हैं। इसका कारण पुराणों की रूढ़िवादिता ही है जो जैन दर्शन से अधिक सामीप्य रखती है।

चन्द्रप्रभचरित में रानी श्रीकान्ता पुत्र न होने के कारण स्वयं को ही दोषी मानती है।[4] उसकी मानसिक व्यथा की प्रतीति कवि वीरनन्दि ने फलरहित लता-वर्णन के द्वारा कराई है।

धर्मशर्माभ्युदय में कवि हरिश्चन्द्र ने एक पुत्र का महत्त्व सुन्दर, यथार्थ, प्रभावोत्पादक और सजीव उपमाओं द्वारा निरूपित किया है।[5] यहां चार अलग-अलग उपमान, जो चार अलग-अलग उपमेय में प्राप्त होते हैं, उन सबको एक पुत्र के अनिवार्य गुण (प्रताप, लक्ष्मी, बल, कान्ति) बतलाकर यह 'मालोपमा' और भी प्रभावशाली व हृदयस्पर्शी कर दी गई है। इसका व्यंग्यार्थ यह है कि उपरिलिखित चार गुणों से युक्त पुत्ररहित कुल उतना ही दुर्भाग्यशाली है जितना कि ऊपर दी गई चारों घटनाओं का एक साथ ही घटित हो जाना।

जयन्तविजय महाकाव्य में राजा विक्रम की दृष्टि में पुत्र ही सबसे बड़ी सम्पत्ति है।[6] कवि ने बहुत ही आकर्षक ढंग से पुत्ररहित कुल की तुलना अग्नियुक्त वृक्ष से करके यह स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार अग्नियुक्त वृक्ष दूर से व बाह्य रूप से चाहे कितना भी फल, फूल, पत्तों आदि से युक्त क्यों न हो, उसका विनाश निश्चित ही है, इसी प्रकार पुत्ररहित कुल की—सुख-सम्पत्ति एवं धन-धान्य-ऐश्वर्यादि से युक्त होने पर भी—समाप्ति निश्चित ही है।

इसी प्रकार मुनिसुव्रतमहाकाव्य में पुत्राभाव में रानी पद्मावती की पीड़ा कई उपमाओं द्वारा प्रकट की गई है।[7] सभी उपमाएं रानी की व्यथा का मनोवैज्ञानिक, स्वाभाविक व यथार्थवादी चित्रण करती हैं।

शान्तिनाथचरित में कवि विनयचन्द्र सूरि ने भी पुत्राभाव में धनदत्त की मनोव्यथा का बहुत ही चित्ताकर्षक वर्णन किया है।[8]

---

१ पद्मपुराण, २/२३२-२३६

२ हरिवंशपुराण, ५/४७१-४७६

३. दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। योगसूत्र, २/१५

४. या मद्विधा पुनरसञ्चितपूर्वपुण्याः पुष्पं सदा फलविवर्जितमुद्वहन्ति।
सा सर्वलोकपरिनिन्दितजन्मलाभा वन्ध्या लता इव भृशं न विभान्ति लोके॥ चन्द्रप्रभचरित, ३/३१

५ नभो दिनेशेन नयेन विक्रमो वनं मृगेन्द्रेण निशीथमिन्दुना।
प्रतापलक्ष्मीबलकान्तिशालिना विना न पुत्रेण च भाति नः कुलम्॥ धर्मशर्माभ्युदय, २/७३

६ अनन्यसाधारणवैभवोद्भवं सुखं सदा दुर्ललितोऽपि मानवः।
अपुत्रजन्मप्रभवाधिबाधितो न कोटराग्निर्विटपीव नन्दति॥ जयन्तविजय, २/२२

७ आपुष्पितापि विफलेव रसालयष्टिः सेनेव नायकगतापि जयेन शून्या।
काले स्थितापि घनराजिरवर्षणेव मिथ्या दधामि हतकुक्षिमदृष्टतोका॥ मुनिसुव्रत, ३/२

८ नेपथ्यजातमखिलं तिलकं विनेव शीलं विनेव विनयं सुभगं कलत्रम्।
प्रासादसर्जनमिदं कलशं विनेव काव्यं सुबद्धमपि चारुरसं विनेव॥
पुत्रं विना न भवनं सुषमां दधाति चन्द्रं विनेव गगनं समुदग्रतारम्।
सिंहं विनेव विपिनं विलसत्प्रतापं क्षेत्रं स्वरूपकलितं पुरुषं विनेव॥ शान्तिनाथचरित, ४/७०-७१

यद्यपि सभी उपमाएं दैनिक जीवन से ही ली गई हैं, लेकिन सबका अपना-अपना महत्त्व है। सबमें कुछ न कुछ नवीनता है और सभी चनदत्त के हार्दिक दुःख को प्रकट करती हैं। ये उपमाएं साहित्यिक और दार्शनिक भी नहीं हैं अतः एक साधारण व्यक्ति भी इन्हें समझकर आनन्द प्राप्त कर सकता है।

कभी-कभी जैन कवियों पर ब्राह्मण धर्म का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है जैसा कि अभयदेव सूरिकृत 'जयन्तविजय' से प्रमाणित होता है।[1]

जैन कवियों ने करुण रस का बहुत ही सुन्दर, मार्मिक व हृदयस्पर्शी वर्णन किसी प्रिय व्यक्ति से वियोग हो जाने पर भी किया है। जब रुक्मिणी के नवजात पुत्र प्रद्युम्न का अपहरण हो जाता है, तो उसके विलाप का वर्णन गुणभद्राचार्य ने अपने उत्तरपुराण में बहुत ही मर्मस्पर्शी व हृदयावर्जक ढंग से किया है।[2]

प्रद्युम्नचरित मे केवल रुक्मिणी ही नही, बल्कि श्रीकृष्ण भी, जो ब्राह्मण-साहित्य मे 'भगवान्' और जैन साहित्य मे 'नारायण' माने गए हैं, अपने पुत्र के अपहरण पर फूट-फूटकर रोते हैं।[3]

उत्तरपुराण मे अपनी पुत्रवधू सुतारा के अपहरण पर स्वयम्प्रभा का करुण क्रन्दन नवीन और मर्मस्पर्शी उपमाओं का प्रयोग कर गुणभद्राचार्य ने किया है।[4] चार उपमाएं स्वयम्प्रभा के दुःख की चार अवस्थाओ की प्रतीति करवाती हैं। प्रथम उपमा स्वयम्प्रभा के दुःख और उसके परिणामस्वरूप उसकी क्रियाविहीनता, दूसरी उसके हृदय की अवर्णनीय पीड़ा और कान्तिविहीनता, तीसरी उसकी बेचैनीयुक्त भावविह्वलता और अन्तिम उसकी पूर्ण विवशता की तरफ संकेत करती है।

१६ वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी प्रद्युम्न के न आने पर कवि उदयप्रभ सूरि ने धर्माभ्युदय महाकाव्य मे रुक्मिणी के विलाप का सुन्दर वर्णन किया है।[5] यथास्थान अनुप्रास का प्रयोग वर्णन के सौन्दर्य मे और भी वृद्धि कर देता है। 'वेष' और 'विष' मे 'ए' का अभाव है। 'आभरण' और 'रण' मे 'आ' की अनुपस्थिति है तथा 'भवन' और 'वन' मे 'भ' नही है। अत यह अनुप्रास स्वय ही किसी अभाव (पुत्रवियोग) का संकेत करता है। शब्दो द्वारा ही अर्थ को प्रकट करने के कारण कवि निस्सदेह प्रशसा का पात्र है।

जैन सस्कृत महाकाव्यो मे किसी प्रिय व्यक्ति की मृत्यु पर बहुत ही सजीव व स्वाभाविक करुण वर्णन प्राप्त होते है। पद्मपुराण में अपने भाई लक्ष्मण की मूर्च्छा पर राम का विलाप बहुत ही हृदयस्पर्शी व करुणास्पद है। वह अपना सारा विवेक खो देते हैं और उन्मत्त लोगो की तरह विलाप करते हैं।[6]

इसी प्रकार हरिवंशपुराण में अपने अनुज श्रीकृष्ण की मृत्यु के बारे मे सुनकर बलदेव अपने कानो पर भी विश्वास नही कर पाते। जिनसेनाचार्य का यह वर्णन बहुत ही कारुणिक, यथार्थ, सजीव, स्वाभाविक व मर्मस्पर्शी है।[7] वह भी पागलो की तरह इस प्रकार की क्रियाएं करते हैं जो पाठको के हृदय को भी बीध देती हैं।[8]

---

१ अनेऽप्यपुत्रस्य गतिर्न विद्यते क्षय प्रयाति क्रमशश्च कीर्तनम्।
इति प्रवाद. खलु तु सह सनामपुत्रिणा भूप विलोप्य सम्पदाम्॥ जयन्तविजय, २/२४

२ सम्पत्तिर्वा चरित्रस्य दयाभावविवर्जिता।
कार्याकार्यविचारेषु मन्दमन्देव शेमुषी॥
मेघमालेव कालेन निर्गलज्जलसञ्चया।
नावभासे गते प्राणे क्व भवेत्सुप्रभा तनो॥ उत्तरपुराण, ७२/६३-६४

३. प्रद्युम्नचरित, ५/११-१२

४ तद्वार्तकर्णनाद्दावपरिम्लानलतोपमा।
निर्वाणाभ्यर्णदीपस्य शिखेव विगतप्रभा॥
भुतप्रावृड्घनध्वानकलहसीव शोकिनी।
स्याद्वादादिविध्वस्त-दु श्रुतिर्वाकुलाकुला॥ उत्तरपुराण, ६२/२५८-२५६

५ अशन व्यसन वेषो विषमाभरणम् रणम्।
भवन च वन जात विना वत्सेन मेऽमुना॥ धर्माभ्युदय, १३/१४४

६. पद्मपुराण, ११६-११८ सर्ग

७ मार्ष्टि मार्दवगुणेन पाणिना सन्मुख मुखमुदीक्षते मुदा।
लेढि जिघ्रति विमूढधीर्वच श्रोतुमिच्छति धिगात्ममूढताम्॥ हरिवंशपुराण, ६३/२२

८ हरिवंशपुराण, ६३ सर्ग

रावण की मृत्यु पर लंकावासियों के शोक का वर्णन आचार्य रविषेण ने बहुत ही सुन्दर उत्प्रेक्षा द्वारा किया है।[1]

इसी प्रकार के अनेको वर्णन आदिपुराण[2], उत्तरपुराण[3], धर्माभ्युदय महाकाव्य[4], पद्मानन्द महाकाव्य[5], शान्तिनाथचरित[6] तथा मल्लिनाथचरित[7] में भी प्राप्त होते हैं।

इन काव्यों में कई ऐसे करुणास्पद वर्णन भी प्राप्त होते हैं जो पाठको के हृदय को भी द्रवित कर देते हैं। पद्मपुराण में गर्भवती अञ्जना, किसी गलतफहमी के कारण न केवल अपने पति द्वारा ही; बल्कि सब सम्बन्धियों द्वारा भी त्याग दी जाती है, तो रविषेणाचार्य द्वारा किया गया यह वर्णन कि किस प्रकार असहाय और कान्तिहीन होकर वह वनो मे नंगे पैर घूमती है, सभी पाठको को अश्रुपूरित कर देता है।[8] एक स्थल पर कवि ने वास्तव मे एक ही व्यक्ति (अञ्जना) में एक साथ अग्नि, जल, आकाश तथा पृथ्वी के गुणो का वर्णन कर अपनी मौलिक काव्यात्मक प्रतिभा को प्रदर्शित किया है।[9] इस प्रकार एक बहुत ही सुन्दर व नूतन उत्प्रेक्षा द्वारा उसके असीम दुःख का वर्णन मार्मिक ढग से किया गया है।

कवि धनंजय ने अपने द्विसधान महाकाव्य मे राम और युधिष्ठिर की, वन मे रहते हुए, दिन व्यतीत करने की अवस्था के वर्णन को, भूतकालिक अवस्था से तुलना करके और भी अधिक कारुणिक बना दिया है।[10]

केवल जैन सस्कृत महाकाव्यो में ही नही, अपितु अन्य संस्कृत साहित्य मे भी विनयचन्द्र सूरिकृत मल्लिनाथचरित मे राजा हरिश्चन्द्र का अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने वर्णन बहुत ही हृदयावर्जक है। एक राजा की बेबसी, जो अत्यधिक भूख से पीडित अपने छोटे से पुत्र राजकुमार रोहिताश्व को लड्डू भी न दे सका, पाठको के हृदय में भी हाहाकार उत्पन्न कर देती है।[11] इसी प्रकार महारानी सुतारा भी अपने मालिक से अपने पुत्र को भी साथ ले चलने की प्रार्थना और याचना का, और उसके मालिक का उसके बेटे को पैर मार कर पृथ्वी पर गिराए जाने का वर्णन कठोर से कठोर हृदय को भी द्रवित कर देता है।[12]

इसी घटना का भावदेव सूरि ने अपने पार्श्वनाथचरित मे और भी अधिक मार्मिक और हृदयविदारक रूप से वर्णन किया है।[13] एक छोटे और भोले-भाले बच्चे का भूखे होने पर भी मोदक की अपेक्षा अपनी मा के साथ रहना अधिक पसन्द करना सारे वर्णन को और भी अधिक करुण बना देता है।[14] कवि ने यहा बखूबी बहुत स्वाभाविक व सजीव ढंग से एक बच्चे की मनःस्थिति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है।

---

१ लकाया सर्वलोकस्य बाष्पदुर्दिनकारिण ।
शोकेनैव व्यलीयन्त महता कुट्टिमान्यपि ॥ पद्मपुराण, ७८, ४५]

२. आदिपुराण, ४४/२९३-२९९

३. उत्तरपुराण, ४८/६२

४. धर्माभ्युदय महाकाव्य, ६/४८-४९ और ९/६८-६९

५. पद्मानन्द महाकाव्य, ४/७६-१००

६. शान्तिनाथचरित, ५/१०१-१०३

७. मल्लिनाथचरित, १/१६९-१७२

८ पद्मपुराण, १६-१७ सर्ग

९. तेजोमयीव सतापाज्जलात्मेवाश्रुमन्तते ।
शून्यत्वाद् गगनात्मेव पार्थिवीवाक्रियात्मत ॥ पद्मपुराण, १६/१९

१० अपि वीरिकया द्विषोऽभवन्ननु चामीकरदाश्च्युतोजस ।
कुसुमैरपि यस्य पीडना शयने शार्करमभ्यशेत स ॥
घनसारसुगन्धयाचित हृदयशैश्वपकेऽम्बु पायित ।
स विमृश्य वनेष्वनापिवानटनीवातमसुत्थित पपौ ॥ द्विसधान, ४/३९-४०

११. रोहिताश्वस्तत: प्राह तात ! तात ! क्षुधार्दित' ।
अथोचे पूर्ववत् राजा देहि पुत्राय मोदकम् ॥
देवी सुतारा क्षुब्धेदमन्तर्दाहकर वच: ।
किमिद भाषसे स्वामिन् स्वप्नदृष्टसम हहा ॥ मल्लिनाथचरित, १/२६०-६१

१२. मल्लिनाथचरित, १/२६२/६४

१३. सबाष्प पट्टदेव्यूचे तात ! पुत्र विना मम ।
भविता हृदय द्वेधा पक्वेर्वारुफल यथा ॥
मम प्रसादमाधाय गृहाणैन महाग्रहात् ।
अथिना प्रार्थना सन्तो मोघया कुर्वते यत: ॥ भावदेवसूरिकृत पार्श्वनाथचरित, १/४०१-२

१४ भावदेवसूरिकृत पार्श्वनाथचरित, ३/७७१-७३

इसी प्रकार रोहिताश्व की मृत्यु हो जाने पर सुतारा द्वारा श्मशान का 'कर' दिए जाने की असमर्थता का चित्रण भी बहुत हृदय-स्पर्शी है।[1]

करुण रस के प्रसंग में जैन कवियों ने बहुत ही सरल, सरस सुबोध और प्रसादयुक्त शैली का प्रयोग किया है। कान्त कमनीय पदावली का प्रयोग वर्णनों में चार चांद लगा देता है। पहली बार पढ़ने से ही सारा अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

अन्त में यह कहना आवश्यक है कि तीर्थंकर के विषय मे करुण रस कहीं भी प्राप्य नही है क्योंकि वे दुःख और सुख की अनुभूति से ऊपर हैं।

रौद्र रस

जैन संस्कृत महाकाव्यो मे रौद्र रस प्राय राजाओं के वर्णन मे ही दृष्टिगोचर होता है। जब एक राजा दूसरे राजा के ऊपर किसी भी प्रकार अपना प्रभुत्व जमाना चाहता है और दूसरा राजा इसका विरोध करता है तो इस प्रकार के वर्णनो में इस रस की निष्पत्ति होती है। एक राजा का दूसरे राजा से 'कर' मागना या उसकी भूमि को हड़पना या उसकी पत्नी या पुत्री का अपहरण कर लेना या उसका निरादर करना रौद्र रस के मुख्य प्रेरक हैं।

पद्म पुराण में कुम्भकर्ण द्वारा वैश्रवण की नगरी को लूटने पर और वैश्रवण द्वारा रावण से उसकी शिकायत करने पर रावण के कोपयुक्त उत्तर का वर्णन रविषेणाचार्य द्वारा 'श्येनायते', 'शरभायते', 'इन्द्रायते' जैसी नामधातु क्रियाओं के प्रयोग से और भी प्रभावशाली हो गया है।[2]

आदिपुराण मे कवि ने बहुत ही आकर्षक ढंग से भरत चक्रवर्ती के अन्धे क्रोध का प्रभावशाली वर्णन किया है जब उसके अपने भाई ही उसके स्वामित्व को अपने ऊपर स्वीकार नही करते।[3]

इसी प्रकार जब राजा मधुसूदन, सुप्रभ बलभद्र व नारायण के ऊपर अपना अधिकार जमाना चाहता है तो उनकी क्रोधाग्नि का वर्णन उत्तरपुराण मे सरल भाषा मे होने पर भी बहुत ओजस्वी व प्रभावशाली बन पड़ा है।[4]

रावण द्वारा सीता का अपहरण कर लिये जाने पर रावण के प्रति राम का प्रदीप्त क्रोध गुणभद्र द्वारा बहुत ही प्रभावोत्पादक व ओजस्वी ढंग से प्रस्तुत किया गया है।[5] कठोर व सयुक्त शब्दो का तथा लम्बे समासो का प्रयोग रौद्र रस के अनुरूप है।

धर्माभ्युदय महाकाव्य मे 'कवि उदयप्रभसूरि' ने भरत चक्रवर्ती की दिग्विजय के प्रसंग मे उसके द्वारा स्व-नामांकित बाण को मगध नरेश के राज्य मे गिराये जाने पर, मगध नरेश की मन स्थिति की प्रक्रिया को बहुत ही सुन्दर ढग से प्रस्तुत किया है। कवि ने दो सक्षिप्त श्लोको मे ही कई उपमाओ का प्रयोग किया है। अन्तिम उपमा बहुत ही मौलिक व प्रभावशाली है।[6]

इसी प्रसग का वर्णन कवि अमरचन्द्र सूरि द्वारा अपने पद्मानन्द महाकाव्य मे भी बखूबी किया गया है। शब्दो द्वारा ही मगध

---

१. भावदेवसूरिकृत पार्श्वनाथचरित, ३/६६०-६८

२. कोऽसौ वैश्रवणो नाम को वेन्द्रः परिभाषते।
अस्मद् गोत्रक्रमायाता नगरी येन गृह्यते॥
सोऽद्य श्येनायते काक शृगाल शरभायते।
इन्द्रायते स्वभृत्यानां निस्त्रप पुरुषाधमः॥ पद्मपुराण, ८/१८१-१८२

३. आदिपुराण, ३४/५८-६०

४. सुप्रभोऽपि प्रभाजाल विकिरन् दिक्षु चक्षुषोः।
ज्वालावलिमिव क्रोधपावकार्चिस्ततान्तरम्॥
न ज्ञातः क करो नाम किं करो येन भुज्यते।
स दास्याम स्फुरत्खड्ग शिरसाऽसौ प्रतीच्छतु॥ उत्तरपुराण, ६०/७४-७५

५. पितुर्लेखार्थमाध्याय रुद्धशोक क्रुधोद्धत।
अन्तकस्याकमारोढु स लकेश किं मिच्छति॥
शशस्य सिंहपोतेन किं विरोधेऽस्ति जीविका।
सत्यमासन्नमृत्यूनां सद्यो विध्वसन मते॥ उत्तरपुराण, ६८/२६२-६३

६. जिघृक्षु. को हरेर्दंष्ट्रां ? क क्षेप्ता ज्वलने पदम् ?
ध्वान्तारघट्टचक्रारमध्ये क. कुरुते करम् ?
क एष मयि नि शेषशस्त्रविस्तृतकौशले।
अक्षिपन्मार्गण मृत्युमार्गमार्गणद् तवत्॥ धर्माभ्युदय ४/२२-२३

नरेश के क्रोध को ध्वनित किया गया है भाषा में महाप्राण, संयुक्त और कठोर शब्दों का तथा लम्बे समासों का प्रयोग वर्णन की शोभा को द्विगुणित कर देता है।[1]

वादिराज सूरिकृत पार्श्वनाथचरित में केवल मगध नरेश ही नहीं, बल्कि उनके सिपाही भी क्रोधाग्नि में जलने लगते हैं।[2]

जैन संस्कृत महाकाव्यो मे अज्ञानवश उपेक्षित किए जाने पर नारद मुनि के क्रोध का वर्णन अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है—पद्मपुराण में सीता के प्रसंग में[3], हरिवंशपुराण मे सत्यभामा के प्रसंग मे[4], तथा उत्तरपुराण में अपराजित और अनन्तवीर्य के प्रसंग में नारद मुनि का क्रोध रूपक, उत्प्रेक्षा तथा उपमाओ द्वारा चित्रित किया गया है। उत्तरपुराण मे कवि ने तीन उपमाओ द्वारा नारद के क्रोध की तीन अवस्थाओं का निरूपण बहुत कुशलता से किया है।[5] पहली उपमा में क्रुद्ध नारद मुनि की बाह्य आकृति का, दूसरी मे उनकी मानसिक अवस्था का तथा तीसरी उपमा मे उनके चेहरे की भाव-भंगिमाओं व प्रतिक्रियाओ का वर्णन कवि की काव्य-प्रतिभा का परिचय देता है।

केवल पद्मपुराण में ही हनुमान द्वारा, अपने पिता वज्रायुध का नाश किए जाने पर लंकेश सुन्दरी के क्रोध का स्वाभाविक एवं विस्तृत वर्णन किया गया है।[6] केवल इसी उदाहरण में किसी स्त्री का युद्ध में रौद्र रूप दिखलाया गया है।

क्रमश: अपने शत्रु राम और कृष्ण के समीप आने पर क्रमश. रावण और जरासन्ध के क्रोध का एक साथ वर्णन कवि धनञ्जय ने अपने द्विसंधान महाकाव्य में किया है।[7] रावण और जरासन्ध की मुखाकृति में तुरन्त ही घटित होने वाले शारीरिक परिवर्तनों का वर्णन कवि की मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने की प्रतिभा को सूचित करता है।

पुन: इसी काव्य में कवि ने द्व्यर्थक शब्दों द्वारा राम/कृष्ण के दूत हनुमान/श्रीशैल के द्वारा राम/कृष्ण के साथ युद्ध न करने का संदेश दिए जाने पर रावण और जरासन्ध की कोपवह्नि का वर्णन अत्यन्त काव्यात्मक व सुन्दर ढंग से किया है। समास-बहुला व महाप्राण सयुक्त अक्षर-युक्त भाषा वर्णन के सौंदर्य को बढ़ा देती है।[8]

आदिपुराण मे जब राजा अकम्पन की पुत्री सुलोचना स्वयंवर में जयकुमार का वरण कर लेती है तो एक अन्य चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति का क्रोध भडक उठता है। कवि के द्वारा प्रयुक्त सभी शब्द व उपमाएँ उसके मिथ्या घमण्ड व अन्धक्रोध को ध्वनित करती हैं।[9]

इन काव्यो मे रौद्र रस असहाय व कमजोर व्यक्तियों की सहायता करने के प्रसग में भी चित्रित किया गया है। द्विसधान महाकाव्य मे साहसगति के अत्याचारो तथा क्रूरताओ को सुनकर राम का क्रोध प्रदीप्त हो जाता है। कवि धनञ्जय ने बहुत ही सक्षिप्त लेकिन प्रभावशाली ढंग से राम को यम, ग्रीष्मर्तु, अग्नि तथा सूर्य से भी अधिक पराक्रमी बतलाया है।[10] सारा वर्णन ओजगुण से युक्त है।

१. धूमोर्णापरिवृढदण्डवत् प्रचण्डापात त विशिखमवेक्ष्य मागधेन्द्र ।
साटोपभृकुटिकरालभालपट्ट प्राकुप्यत् कलितवपू रसो नु रौद्र ॥
कुञ्जान्त शयमजुष सुख मुखे क सिंहस्य प्रणिहितवान् हठेन यष्टिम् ।
ज्वालाभिर्ज्वलति वने भृश कृशानौ कश्चके चरणनिवेशन विसञ्ज ॥
तस्याह हरिरिवहस्तिन प्रभूत प्रोद्भूत मदमपहर्तुमुद्यतोऽस्मि ।
इत्येष स्फुरदधर क्रुधा प्रजल्पन्नुत्तस्थौ पुरत इव स्थिते विपक्षे ॥ पद्मानन्द, १५/७१-७३

२ वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरित, ७/५५-६०

३. पद्मपुराण, २८/१७-१८

४. हरिवंशपुराण, ४२/२७-३२

५. सूर्याचन्द्रमसौ सैंहिकेयो वा अमिताशुभ ।
नृत्तासक्तात्कुमाराभ्यां क्रूर सोऽविहितादर ॥
आज्वलत्यमानकोपाग्निशिखासतप्तमानस ।
चण्डांशुरिव मध्याह्ने जज्वाल मुनिसत्तमात् ॥ उत्तरपुराण, ६२/४३२-३२

६. पद्मपुराण, ५२/३१-३४

७. तत समीपे नवमस्य विष्णोः श्रुत्वा बल सभ्रमदष्टमस्य ।
क्रुधा दशन्नोष्ठमरि मनस्य गाढ जिघत्सन्निव सनिगृह्य ॥
तद्दृक्प्रभीताधररागसगाद्विवारुणाक्षस्तदुपाश्रयेण ।
पिण्योष्ठ्रं बोधद्गतधूमराजिर्भ्राजिष्णुरिन्द्रायुधमध्यकेतु: ॥ द्विसधानमहाकाव्य, १६/१-२

८. द्विसधानमहाकाव्य, १३/२१-२२

९. आदिपुराण, ४४/१४-१६

१० पश्यन्निव पुर: शत्रुमुत्पतन्निव च मुहु. ।
निगलन्निव दिक्चक्रमुद्गिरन्निव पावकम् ॥
संहरन्निव भूतानि कृतान्तो विहरन्निव ।
ग्रीष्माग्न्यर्कपदार्थेषु चतुर्थ इव कश्चन ॥ द्विसधान, ६/३१-३२

कभी-कभी द्वेष-ईर्ष्याभाव भी रौद्र रस को प्रेरित करते हैं। हरिवंशपुराण मे जरासन्ध की क्रोधाग्नि अपने शत्रु यादवों की समृद्धि को सुनकर भड़क जाती है।[1]

जयन्तविजय मे सिंहलनरेश अपने ही दूत के मुख से राजा विक्रमसिंह के पराक्रम को सुनकर तुरन्त आगबबूला हो जाता है।[2]

कभी-कभी परिवार मे सदस्यो का मतवैमत्य भी क्रोध भड़का देता है। पद्मपुराण मे वन जाते समय एक ब्राह्मणी राम, लक्ष्मण और सीता को भोजन व आश्रय देती है लेकिन उसके पति को यह बिल्कुल भी पसन्द नही आता और वह केवल उनको ही नही निकाल देता, बल्कि अपनी पत्नी पर भी अत्यधिक क्रुद्ध होता है।[3]

इसी प्रकार का उदाहरण मुनिभद्र-रचित शान्तिनाथचरित मे भी प्राप्त होता है जहां रत्नसार वणिक् अपने पुत्र धनद से इस कारण रुष्ट है क्योकि उसने सहस्र सुवर्ण-मुद्राएं देकर एक श्लोक-पत्र खरीद लिया था।[4]

लापरवाही के कारण एक बहुत ही विस्मयोत्पादक और असाधारण क्रोध का उदाहरण वादिराजसूरि के यशोधरचरित मे मिलता है। यहां राजा यशोधर का हस्तिपालक, अपने ऊपर आसक्त उसकी महारानी अमृतवती के साथ, उसके पास निश्चित समय से थोड़ा विलम्ब से आने के कारण, उस पर (रानी पर) अविश्वसनीय रूप से क्रोधित होता है। उसके द्वारा रानी के साथ किया गया दुर्व्यवहार उसके रौद्र रूप को प्रकट करता है।[5]

पद्मपुराण मे रविषेणाचार्य ने एक नवीन प्रकार के क्रोध का वर्णन किया है। जब राम को ज्ञात होता है कि सीता दीक्षा ले रही है और देवताओ ने इस कार्य में उसकी सारी बाधाएं दूर कर दी हैं, तो वे देवताओ पर अत्यधिक क्रुद्ध होते हैं।[6] किसी अन्य जैन साहित्य मे भी इस प्रकार का वर्णन प्राप्त नही होता।

वृषभध्वज के तीर्थंकर के जन्म पर स्वर्गलोक मे जब इन्द्र का सिंहासन हिलता है, तो उस समय इन्द्र किस प्रकार कोपवह्नि मे जलने लगता है—इसका काव्यात्मक व प्रभावोत्पादक वर्णन पद्मानन्द महाकाव्य मे किया गया है।[7] नेत्रो का लाल हो जाना, भृकुटियों का तन जाना, दांतों द्वारा अधर को काटना, शरीर मे कम्पन हो जाना, पसीने का बहना आदि सभी अनुभावो का एक साथ समावेश अमरचन्द्रसूरि द्वारा इस वर्णन मे बड़ी चातुरी से किया गया है।

रौद्र रस के अनगणित उदाहरण इन काव्यो मे दृष्टि-पथ आते हैं, लेकिन यहा पर केवल कुछ की ही समीक्षा की गई है।

उपरिलिखित उदाहरणो से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि जैन कवियो ने, एक साधारण मनुष्य की मन:स्थिति का मनोवैज्ञानिक अध्ययन कर, अपने काव्यो के मुख्य पात्रो मे रौद्र रस चित्रित किया है, जो जैन दर्शन के सर्वथा विपरीत है। यहा यह उल्लेखनीय है कि इसी

---

१. हरिवंशपुराण, ५०/४

२. जयन्तविजय, ६/५०

३ दृष्ट्वा तान् कुपिताऽत्यन्तभृकुटीकुटिलानन ।
उवाच ब्राह्मणी वाचा तक्षन्निव सुतीक्ष्णया ॥
अयि पापे किमित्येषामिह दत्त प्रवेशनम् ।'
प्रयच्छाम्यद्य ते दुष्टे बन्ध गोऽपि दुस्सहम् ॥ पद्मपुराण, ३५/१३-१४

४ शान्तिनाथचरित, ६/२६-३०

५ विलम्ब्य काल नरनाथपत्नीमुपस्थिता प्रत्युदितप्रकोप: ।
आकृष्य कचग्रहणेन घोर जघान जार: स वरत्रमुष्ट्या ॥
निकृष्यमाणा भुवि तेन पद्भ्यां मलीमसेनाकुलविप्रलापा ।
इतस्ततोऽगाममसेव काले निपात्यमाना दिवि चन्द्रकान्ति ॥ यशोधरचरित, २/५२-५३

६. पद्मपुराण, १०५/८७-८८

७. तत कम्प ततो कम्पमानपञ्चाननासनात् ।
सक्रान्तमिव सक्रुद्ध सौधर्माधिपतिर्वपी ॥
सहस्रनयनस्यासन् शोणा नयनरश्मय: ।
ज्वाला इवान्तरुद्दीप्तकोपाग्नेर्निर्गता बहि ॥
स्वान्ते समन्तत कोपज्वलने ज्वलिते द्रुतम् ।
अभिमानतरोस्तस्य चकम्पेऽधरपल्लव: ॥
रक्तो ललाटपट्टोऽस्य स्वेदबिन्दुकुटुम्बित ।
अभिसृत्य भृकुट्याऽऽशु श्लिष्ट कलितकम्पया ।
अये कोऽयमकालेऽपि कालेनाथ कटाक्षित' ।
यो ममाकम्पयन्मृत्यूत्कण्ठी कण्ठीरवासनम् ॥ पद्मानन्द, ७/४१२-४१६

कारण से साहित्यिक दृष्टि से कथानक का अभिन्न अग होने पर भी काव्य के अध्ययन के पश्चात्, उसका विवेचनात्मक विश्लेषण करने पर पाठक कुछ असाधारण-सा अनुभव करता है।

वीर रस

जैन संस्कृत महाकाव्यों मे युद्धवीर, धर्मवीर और दानवीर के साथ-साथ दयावीर के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं।

युद्धवीर

इन काव्यों मे युद्धवीर प्राय: राजाओ के वर्णनो मे ही प्राप्त होता है। ये राजा यद्यपि अहिंसात्मक दृष्टिकोण रखते थे, लेकिन फिर भी अपनी और अपने राज्य की रक्षा के लिए हमेशा युद्ध-तत्पर रहते थे। यद्यपि वे स्वयं युद्ध मे पहल नही करते थे लेकिन शत्रु द्वारा युद्ध के आह्वान पर ईंट का जवाब पत्थर से देने में अटूट विश्वास रखते थे। एक योद्धा का युद्ध मे विजय प्राप्त करना या लडते-लडते मृत्यु की गोद में सो जाना, परम कर्त्तव्य समझा जाता था।[1]

यह उल्लेखनीय है कि महाकाव्यों की अपेक्षा पुराणो मे वीर रस का वर्णन अधिक विस्तृत तथा प्रभावशाली है। जैन महाकाव्यो मे युद्धवीर के उदाहरण कवियों द्वारा, किसी राजा के पराक्रम-वर्णन, उसकी सेना के वर्णन, युद्ध मे वीरता-प्रदर्शन तथा युद्ध-क्षेत्र के वर्णन में अधिकतर प्राप्त होते हैं।

वैश्रवण द्वारा लका पर आधिपत्य जमा लेने पर विभीषण द्वारा अपनी निराश और निरुत्साहित माता कैकसी को, अपने भाई रावण के पराक्रम का वर्णन कर सांत्वना दी गई है।[2] यहा प्रयुक्त रूपकालकार रविषेणाचार्य की अद्भुत कल्पनाशक्ति का उद्घोष करता है।

केवल पद्मपुराण मे ही एक स्त्री के युद्धकौशल का वर्णन दिया गया है। अपने पति नघुष की अनुपस्थिति मे सिंहिका न केवल आक्रामक राजाओ को ही पराजित करती है बल्कि अन्य राजाओ को भी अपने वश मे कर लेती है।[3]

रविषेणाचार्य ने 'सांगरूपकालकार' का प्रयोग करके, सरल भाषा में एक छोटे-से 'अनुष्टुप्' द्वारा युद्धक्षेत्र मे रावण के पराक्रम का विस्तृत वर्णन किया है।[4]

कवि धनञ्जय ने एक ही श्लोक मे रावण और जरासन्ध की, युद्धक्षेत्र में वीरता का वर्णन किया है। यह कवि की आशातीत कल्पनाशक्ति और प्रतिभा का सूचक है।[5]

दूसरी श्रेणी के महाकाव्यो मे कवियो द्वारा दिए गए अपने नायको के पराक्रम-वर्णन मे अनेक प्रकार की मौलिक और नवीन कल्पनाओ का कुशलता से प्रयोग किया गया है।

राजा महासेन के पराक्रम का वर्णन कवि हरिश्चन्द्र ने अपने धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य मे बहुत ही अलंकारिक भाषा में किया है।[6]

कवि पुन: महासेन की तलवार का वर्णन करने मे कल्पनाम्बर मे उडता हुआ सा प्रतीत होता है। विस्तृत तथ्यो का वर्णन इतने अल्प शब्दो मे करना, सस्कृत भाषा के प्रयोग पर उसका आधिपत्य प्रमाणित करता है।[7]

पुन यह सीधा-सादा सा वर्णन करने के लिए कि महासेन राजा के शत्रु उसकी तलवार द्वारा किस प्रकार छोटे-छोटे टुकड़ो में काट दिए गए, कवि पुन. नवीन कल्पना का आश्रय लेता है। 'द्विज' शब्द पर श्लेष है। इस वर्णन मे कवि ने कृत्रिम और दुर्बोध भाषा का

---

१. सग्रामे शस्त्रसपातजातज्वलनजालके।
बर प्राणपरित्यागो न तु प्रतिनरानति: ॥ पद्मपुराण, २/१७७

२. राजमार्गो प्रतापस्य स्तम्भो भुवनवेश्मन:।
अकुरौ दर्पवृक्षस्य न ज्ञातावस्य ते भुजौ ॥ पद्मपुराण, ७/२४६

३. पद्मपुराण, २२/११६-११८,

४. प्रेरित कोपवातेन दशाननतनूनपात्।
शस्त्रज्वालाकुल: शत्रुसैन्यकक्षे व्यजृम्भत ॥ पद्मपुराण, ८/२१६

५. एभि शिरोभिर्नतिपीडितपादपीठ सग्रामरगशवनर्तनसूत्रधार:।
त कंसमातुल इहारिगण कृतान्त दन्तान्तर गमितवान्न समन्वभास्य ॥ द्विसधान, ११/३८

६. नियोज्य कर्णोत्पलवज्जयश्रिया कृपाणमस्योपगमे समिद्गृहे।
प्रतापदीपा शमिता विरोधिनामहो सलज्जा नवसगमे स्त्रिय ॥ धर्मशर्माभ्युदय, २/१२

७. निपीतमातगघटाग्रशोणिता दृढावगूढा सुरतार्थिभिर्भटे।
किम प्रतापानलमासदत्समित्समृद्धमस्यासिलताऽत्मशुद्धये ॥ धर्मशर्माभ्युदय, २/१५

प्रयोग किया है।[1]

लेकिन ऐसा नहीं है कि कवि ने हमेशा अलंकारिक और कठिन भाषा का ही प्रयोग किया है। कभी-कभी कवि की भाषा सरल और सुबोध होने पर भी ओजस्वी और प्रभावशाली है। कवि ने युद्धक्षेत्र का वर्णन नवीन कल्पना द्वारा किया है।[2] यहां 'पुण्डरीक' और 'शिलीमुख' पर श्लेष है। लेकिन एक सुन्दर श्लेष का प्रयोग करने की उत्सुकता मे कवि यह भूल गया कि कमल समुद्र में उत्पन्न नहीं होते।

नेमिनिर्वाण महाकाव्य में कवि वाग्भट्ट ने राजा समुद्रविजय की वीरता का वर्णन उसके अनुरूप ही भाषा-शैली में किया है। इसमे श्रुतिकटु, संयुक्त, अर्द्धरेफ, कठोर और महाप्राण अक्षरो का प्रयोग हुआ है। लम्बे-लम्बे समासो तथा ओज गुण का प्रयोग वर्णन के सौन्दर्य में चार चांद लगा देता है। कवि, शब्दों द्वारा ही अर्थ की प्रतीति कराने मे सफल हुआ है।[3]

अभयदेवसूरि ने अपने जयन्तविजय महाकाव्य मे राजा विक्रमसिंह के पराक्रम का वर्णन एक उपमा द्वारा किया है। उसकी कृपाण की यम की जिह्वा से तुलना, कवि की मौलिक प्रतिभा का उदाहरण है।[4]

धर्माभ्युदय में कवि उदयप्रभसूरि ने बाहुबलि की वीरता का वर्णन एक निराले व्यतिरेक द्वारा दिया है। कवि वास्तव में प्रशंसा का पात्र है कि इतनी सरल और और प्रवाहमयी भाषा का प्रयोग करके भी उसने इतना ओजस्वी और प्रभावशाली वर्णन किया है।[5]

पद्मानन्द महाकाव्य में अमरचन्द्रसूरि का, अद्वितीय और नवीन 'मालोपमा' की सहायता से, बाहुबलि के अनुपम बल का वर्णन, उसके विस्तृत अनुभव और काव्यचातुरी का सूचक है।[6]

शत्रु द्वारा चुनौती दिए जाने पर, इन काव्यो के नायक स्वाभिमान को प्रदर्शित करने के लिए आत्म-प्रशंसा करने मे भी नहीं हिचकिचाते थे। आदिपुराण मे जब भरत चक्रवर्ती अपने भाई बाहुबलि के पास या तो उसका आधिपत्य स्वीकार करने या युद्ध करने का संदेशा भेजता है, तो बाहुबलि का स्वाभिमान तुरन्त जाग्रत हो जाता है। वह या तो युद्ध में लडते हुए वीरगति प्राप्त करने मे या विजय प्राप्त करने में ही विश्वास रखता है। एक राजा के लिए इन दो मार्गों में से एक को ही चुनना शोभा देता है।[7]

इसी प्रकार 'चन्द्रप्रभचरित' मे वीरनन्दी कवि ने, राजकुमार अजितजय के मुख द्वारा ही उसकी अद्भुत वीरता का परिचय करवाया है, जब वह अज्ञानवश एक पर्वत पर चढ़ जाता है और पर्वत देवता उसे डराने-धमकाने का प्रयत्न करता है।[8] अल्पायु होने पर भी वीरता उसमें कूट-कूट कर भरी हुई है।

वसन्तविलास महाकाव्य मे जब राजा शंख का दूत, वस्तुपाल मन्त्री को चुनौती देता है तो उसके उत्तर में मन्त्री, 'रूपकालकार'

---

१. तदीयनिस्त्रिंशमसद्विषु तुदे बलाद्विगलत्पृथुतराजमण्डलम्।
निमज्ज्य धारासलिले स्वमुज्ज्वलैर्दुद्विजेभ्य प्रविभज्य विद्विषः॥ धर्मशर्माभ्युदय, २/१६

२. उद्दण्ड यत्र यशासीत्पुण्डरीक रणाम्बुधौ।
निपेतुस्तव योधाना तत्र तत्र शिलीमुखा.॥ धर्मशर्माभ्युदय, १६/६५

३ झलज्झलद्दिग्गजकर्णकीर्णवातैरिवाशासु सदा प्रदीप्त।
यस्यारिभूभृद्वनदाहे प्रतापवह्नि. पटुता बभार॥ नेमिनिर्वाण, १/६०

४. यस्याहवे वैरिकगेन्द्रकुम्भस्थलीगलत्तारकरम्बिताग।
रेजे कृपाणोऽरिकुल जिगीषोर्यमस्य जिह्वेव सदन्तपंक्ति॥ जयन्तविजय, १/६१

५. पटाञ्चलेन चेद् भानुश्छाद्यः स्यात् तरुणच्छवि।
यदि ज्वालाकुलो वह्निर्भवेद् ग्राह्यश्च मुष्टिना॥
तथानुजस्तथाप्येष स्वामिन्! षट्खण्डभूपते।
उत्कर्षिपौरुषो नान्यैर्जेतु शक्य सुरैरपि॥ धर्माभ्युदय, ४/२६५-६६

६. पञ्चाननस्येभघटामभित्वा पराक्रम को मृगमर्दनेन?
प्रचण्डवायोरचलानकृत्वा चलान बल कि तृणकर्षणेन?
अर नरस्यानभिभूय लोभ किमद्भुत दोषविमोषणेन?
देवस्य कि दिग्विजयेन बाहुबल न चेद् बाहुबलिर्जितोऽसौ॥ पद्मानन्द, १७/१५-१६

७. स्वदोर्द्रुमफल श्लाघ्य यत्किञ्चन मनस्विनाम्।
न चातुरन्तमप्यैश्य परभ्रूलतिकाफलम्॥
पराज्ञोपहता लक्ष्मीं यो वाञ्छेत् पार्थिवोऽपि सन्।
सोऽपपार्थयति तामुक्ति सर्पोच्छिष्टमिव कुण्डुभ.॥ आदिपुराण, ३५/११२-१३

८. चन्द्रप्रभचरित, ६/२१-२२

९. दूत! रे वणिगह रणहट्टे विश्रुतोऽसि तुलया कलयामि।
मौलिभाण्डपटलानि रिपूणां स्वर्गवेतनमथो वितरामि॥ वसन्तविलास, ५/४४

द्वारा जो कुछ भी कहता है, वह कवि की अपनी ही मौलिक कल्पना है। इस प्रकार का अद्वितीय, अनुपम, दुर्लभ व आशातीत काल्पनिक वर्णन न तो किसी अन्य जैन और न ही किसी जैनेतर साहित्य मे प्राप्त होता है।

जैन संस्कृत महाकाव्यों में युद्धो के वर्णन मे भी वीर रस अधिकता से प्राप्त होता है। पद्मपुराण मे सरल भाषा के प्रयोग के बावजूद यह वर्णन कि किस प्रकार एक योद्धा दूसरे योद्धा को प्रेरित कर रहा है, बहुत ही आकर्षक, हृदयग्राही और प्रभावशाली है।[1] मध्यम पुरुष, लोट् लकार का प्रयोग वर्णन-शोभा को बढाता है। छिन्धि, भिन्धि, क्षिप, उत्तिष्ठ, तिष्ठ, दारय, धारय, चूर्णय, नाशय, सहस्व, दत्तस्व उच्छ्रय कल्पय मे 'अनुप्रास' भाषा को संगीतमय बनाकर श्रुतिमय भी बना देता है। लेकिन ऐसा नही कि यह वीर रस के अनुचित है। क्योकि ओज गुण उसी प्रभावशाली ढग से विद्यमान है।

जिनसेनाचार्य ने जयकुमार की दुर्लंघ्य युद्ध-शक्ति को बहुत यथार्थ व सजीव उपमा द्वारा चित्रित किया है।[2] तिरोहित सर्प, निस्संदेह छिपे हुए शत्रु सैनिकों की तरफ सकेत करता है।

चन्द्रप्रभचरित के रचयिता वीरनन्दि का राजा पद्मनाभ और राजा पृथ्वीपाल के युद्ध का चित्रण एक साथ चलनै:, बलनै:, स्थानै:, वल्गनै: और वञ्चनै· के प्रयोग से और भी सुन्दर बन पडा है।[3]

मल्लिनाथचरित मे विनयचन्द्रसूरि द्वारा प्रस्तुत युद्ध-वर्णन संक्षिप्त होते हुए भी बहुत प्रभावशाली है। कवि ने अल्प शब्दों मे ही युद्ध की समस्त बातो का वर्णन कर 'गागर मे सागर' की उक्ति को चरितार्थ किया है। यहा दन्तादन्ति, खड्गाखड्गि तथा तुण्डातुण्डि का प्रयोग दर्शनीय है।[4]

कवि बालचन्द्रसूरि ने वसन्तविलास महाकाव्य मे राजा शख और वस्तुपाल मन्त्री के मध्य हुए युद्ध का विस्तृत वर्णन इतने प्रभावशाली ढग से किया है कि केवल पढने मात्र से युद्ध-क्षेत्र का समस्त दृश्य हमारी आखो के सामने ज्यो का त्यो घूम जाता है। लम्बे-लम्बे समासो, श्रुतिकटु, महाप्राण और सयुक्त शब्दो तथा ओज गुण की उपस्थिति वर्णन की शोभा को चौगुना कर देती है।[5]

इन महाकाव्यो मे सेना के प्रस्थान के वर्णन मे भी वीररस प्राप्त होता है। धनञ्जय ने रावण/ जरासन्ध की सेना का राम/कृष्ण की सेना के प्रति प्रयाण का बहुत ही सुन्दर चित्रण अपनी अद्भुत काव्य-प्रतिभा से किया है।[6]

इसके विपरीत गुणभद्राचार्य ने राम की सेना का लका के प्रति प्रयाण का वर्णन विस्तृत रूप मे किया है।[7] इसके प्रत्युत्तर मे रावण के सैनिक भी उतने ही शौर्य और उत्साह से आगे बढे।[8]

जैसा कि पहले भी निर्देश किया जा चुका है कि वीर रस के वर्णन मे कवि वीरनन्दि ने अपनी अद्भुत कल्पना शक्ति और प्रतिभा का प्रकाशन किया है। इसी प्रकार का एक वर्णन राजा पद्मनाभ के सैनिको के विषय मे दिया गया है जब उन्हें पता चलता है कि उन्हें पुनः युद्ध के लिए प्रस्थान करना है।[9]

इसी प्रकार बालचन्द्रसूरि द्वारा अपने वसन्तविलास महाकाव्य मे विराधबल की सेना के पराक्रम तथा उत्साह का चित्रण बखूबी

---

१ गृहाण प्रहरागच्छ जहि व्यापादयोद्गिर ।
छिन्धि भिन्धि क्षिपोत्तिष्ठ तिष्ठ दारय धारय ॥
बधान स्फोटयाकर्ष मुञ्च चूर्णय नाशय ।
सहस्व दत्स्व नि सर्पं सन्धत्स्वोच्छ्रय कल्पय ॥ पद्मपुराण, ६२, ४०-४१

२. तदा रणागणे वर्षन् शरधारामनारतम् ।
स रेजे धृतसन्नाह प्रावृषेण्य इवाम्बुद ॥
तन्मुक्ता विशिखा दीपा रेजिरे समराजिरे ।
द्रष्टु तिरोहितान्नागान् दीपिका इव बोधिता ॥ आदिपुराण, ३२, ६६-७०

३. चलनैर्बलनै. स्थानैर्वल्गनैर्मर्मवञ्चनै ।
तयोरभूद्मनुर्युद्ध दृप्तदोर्दण्डचण्डयो ॥ चन्द्रप्रभचरित, १५, १२३

४. गजा गजैर्युध्यन्त योधा योधै रथा रथै ।
दन्तादन्ति खड्गाखड्गि तुण्डातुण्डि यथाक्रमम् ॥ मल्लिनाथचरित, २/१६६

५. वसन्तविलास महाकाव्य, ५/५०-५३

६. द्विसधान महाकाव्य, १६/८

७. उत्तरपुराण, ६८/४७१-४७२

८. उत्तरपुराण, ६८/५५७-५५८

९. हृष्यद्गतया सद्य स्फुटत्पूर्व रणव्रणै. ।
वीरैर्वीररसाविष्टै समदृशुपचक्रमे ॥ चन्द्रप्रभचरित, १५/५

किया गया है।[1]

युद्ध के पश्चात् युद्ध-क्षेत्र के दृश्य का वर्णन चन्द्रप्रभचरित मे कवि बहुत ही आकर्षक और सजीव ढंग मे करता है।[2]

एक सुन्दर रूपक के प्रयोग से कवि उदयप्रभसूरि का युद्ध-क्षेत्र-वर्णन बहुत ही नवीन व प्रभावशाली बन गया है।[3]

जैन संस्कृत महाकाव्यों में वीर रस के प्रसग में अस्त्र और शस्त्र दोनो का ही उल्लेख मिलता है। युद्ध मे प्रायः धनुषबाण और तलवार का ही प्रयोग किया जाता था। कभी-कभी दण्ड, चक्र, गदा, कृपाण, तोमर, मुद्गर, खड्ग व तुण्ड का निर्देश भी मिलता है। केवल हाथी और घोडो का ही युद्ध-क्षेत्र मे प्रयोग किये जाने का उल्लेख अनेकश. मिलता है।

धर्मवीर

इन काव्यो मे श्रेष्ठ लोग अपने प्राणो को देकर भी अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने मे विश्वास करते थे।

सीता का पतिव्रत धर्म सर्वविदित ही है। पद्मपुराण मे जब रावण साम और दान द्वारा भी सीता का मन राम से विमुख नही कर पाता तो वह 'दण्ड' का आश्रय लेता है। विभिन्न कष्टप्रद और असहनीय यातनाओ को भी सीता हँसते-हँसते सह जाती है, लेकिन अपने पति राम के अतिरिक्त किसी भी अन्य पुरुष के विषय मे सोचना भी पाप समझती है।[4]

इसी प्रकार गुणभद्राचार्य ने भी सीता का अपने पतिव्रत में दृढ विश्वास का वर्णन इतनी सुन्दरता से किया है कि रावण की बहिन शूर्पणखा भी सीता का उत्तर सुनकर आश्चर्य-चकित हो जाती है।[5] जब विद्याधरी उसको बार-बार रावण से विवाह के लिए अनेको लालच भी देती है, डराती-धमकाती भी है और अनेक यातनाए भी देती है, तो सीता न तो बोलने और न ही अन्न-जल ग्रहण करने की प्रतिज्ञा कर लेती है।[6]

महान् लोग अपने कुल के यश की रक्षा के लिए अपने प्रिय व्यक्ति या वस्तु का त्याग करने मे भी नही हिचकिचाते। यद्यपि राम का सीता के प्रति अगाध प्रेम और विश्वास है, लेकिन फिर भी रावण के यहा रहने के कारण, चूकि कुछ लोगो ने उसकी पवित्रता की तरफ उगली उठाना प्रारम्भ कर दिया, अत राम ने अपने कुल-मर्यादा की रक्षा के लिए उसे जगलो मे निष्कासित कर दिया।[7]

धर्माभ्युदय महाकाव्य मे किसी विशेष सिद्धि को प्राप्त करने के लिए, अपराजिता देवी को प्रसन्न करने के लिए, एक योगी, अनंगवती नामक राजकुमारी की जब बलि देना चाहता है, तो राजा अभयकर अचानक वहा पहुच जाता है और उस अजनबी राजकुमारी को योगी के चगुल से छुडाने के लिए, वह स्वय को समर्पित कर देता है। जैसे ही वह अपना सिर स्वय काटने के लिए तत्पर होता है, उसके हाथ निश्चेष्ट हो जाते हैं। देवी प्रसन्न हो उसे एक वरदान मागने को कहती है। इस पर राजा जो उत्तर देता है, वह वास्तव मे अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने का नवीन, अनूठा और अद्वितीय उदाहरण है, जो अन्यत्र किसी भी साहित्य मे दुर्लभ है।[8]

कही-कही निम्न कोटि के पात्रो मे भी धर्मवीर प्राप्त होता है। उत्तरपुराण मे एक किरात मास न खाने की प्रतिज्ञा भग करने की अपेक्षा अपने प्राणो का त्याग करना ज्यादा अच्छा समझता है।[9]

दानवीर

इन महाकाव्यो मे इस प्रकार का वीर रस दो प्रसगों मे प्राप्त होता है। एक तो कवियो द्वारा दिए गए राजाओ के दान देने के

---

१. वसन्तविलास महाकाव्य, ५/१७

२. क्वचित्पतितपत्त्यश्व क्वचिद्भग्नमहारथम्।
क्वचिदभिन्नेभमासीत्तद्दु सचार रणाजिरम् ॥ चन्द्रप्रभचरित, १५/६०

३. भुजाभृतां भुजादण्डै शिरोभिश्च क्षितिच्युतै·।
कृतान्तकिंकराश्चक्रुर्दण्डकन्दुककौतुकम् ॥ धर्माभ्युदय, ४/२६४

४. पद्मपुराण, ४६/६४-१०१

५. उत्तरपुराण, ६८/१७५-१७८

६. उत्तरपुराण, ६८/२१६-२२४

७. पद्मपुराण, ६७/१८-२१

८. यदि भग्नप्रतिज्ञोऽपि जीवलोकेऽत्र जीवति।
वद तद्देवि ! को नाम मृत इत्यभिधीयताम् ॥
ततस्त्व यदि तुष्टाऽसि तत्प्रयाहि यथाऽऽगतम्।
शिरश्छेदाक्षमोऽप्येष विधास्यन्नी यथा स्वयम् ॥ धर्माभ्युदय, १/२७६-२७७

९. उत्तरपुराण, ७४/३६७-४००

गुण-वर्णन मे और दूसरे जहां कोई अपनी अभीष्ट वस्तु को भी बिना हिचकिचाहट के दूसरे के द्वारा मांगे जाने पर दे देता है। धर्माभ्युदय में राजा अभयंकर अपने मंत्री सुमति के बार-बार मना करने पर भी, बहुत प्रयत्नपूर्वक प्राप्त की गई अपनी 'खड्गसिद्धि विद्या' राजा नृसिंह को दे देता है और अपने अमात्य को भी दान का महत्त्व बतलाता है।[1]

शान्तिनाथचरित में मेघरथ एक चिड़िया को शिकारी के चंगुल से बचाने के लिए अपने शरीर का मांस उसे दे देता है।[2]

'दानवीर' का दूसरी प्रकार का उदाहरण धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य मे राजा महासेन के दान-पक्ष को उजागर करने के लिए दिया गया है।[3]

महासेनाचार्य ने यही वर्णन राजा उपेन्द्र के विषय मे अधिक काव्यात्मक तथा अलंकारिक ढग से किया है।[4]

दयावीर

इन काव्यो मे 'दयावीर' एक ही प्रसग मे मिलता है जबकि कोई महान् पुरुष अजनबी लोगो की आपत्ति को देखकर दयार्द्र हो जाते हैं और अपने जीवन को भी खतरे मे डालकर, उसकी रक्षा करते है। इस प्रकार का एक उदाहरण पद्मपुराण मे प्राप्त होता है जहां रत्नचूला विद्याधरी अञ्जना और वनमाला के ऊपर, एक भयानक सिंह द्वारा आक्रमण किये जाने पर, दयाद्रवित हो, अपने पति मणिचूल से उनको बचाने की प्रार्थना करती है, यद्यपि उन दोनो स्त्रियो से वह बिलकुल अपरिचित है।[5]

इसी प्रकार नेमिनाथ तीर्थंकर, अपने विवाह के अवसर पर मारे जाने वाले पशुओ के कारुणिक रोदन को सुनकर करुणाभिभूत हो जाते हैं और विवाह किए बिना तुरन्त ही दीक्षा ले लेते हैं।[6]

अनुरूप भाषा-शैली, पदावली तथा ओज गुण का प्रयोग करने के कारण, वीर रस का सौन्दर्य कही अधिक बढ़ गया है।

भयानक रस

जैन सस्कृत के महाकाव्यो मे भयानक रस प्रायः पशुओ, ऋतुओ, वनो, युद्धो, भयानक आकृतियो, प्रेतात्माओ और नरक के प्रसंग में चित्रित किया गया है।

रविषेणाचार्य ने बहुत ही स्वाभाविक और सजीव चित्रण द्वारा एक शेर की भयकरता का वर्णन किया है जो वन मे अचानक ही अञ्जना और उसकी सखी वनमाला के समक्ष भय की साक्षात् मूर्ति बन कर उपस्थित हुआ। कवि द्वारा प्रयुक्त 'सदेहालंकार' का प्रयोग वास्तव मे बहुत ही सुन्दर है। कवि का यह वर्णन इतना सजीव और यथार्थ है कि पाठक का मन भी भय से काप उठता है। श्रुतिकटु, संयुक्त महाप्राण वर्णों का तथा लम्बे-लम्बे समासो का प्रयोग वर्णन की शोभा मे और भी अधिक वृद्धि कर देता है।[7]

एक अन्य स्थल पर भी एक भयकर शेरनी का वर्णन उतना ही सजीव तथा भयोत्पादक है। कवि की कल्पना भी प्रसंगानुकूल है।[8]

विद्युतक्ष द्वारा एक बन्दर को मार दिए जाने पर इसी प्रकार का भयप्रद व स्वाभाविक वर्णन पुन. कवि ने अन्य बन्दरो द्वारा

---

१. धर्माभ्युदय, २/१५०-१५२

२. शान्तिनाथचरित, १२/२०

३. असक्तमाकारनिरीक्षणादपि क्षणादभीष्टार्थकृतार्थितार्थिन ।
कुतश्चिदातिथ्यमियाय कर्णयोर्न तस्य देहीति दुरक्षरद्वयम् ।। धर्मशर्माभ्युदय, २/१३

४. मनोरथानामधिक विलोक्य त्याग यदीय जगते हिताय ।
कल्पद्रुमैर्व्रीडितया विलिल्ये तथा यथाद्यापि न जन्मलाभ ।। प्रद्युम्नचरित, १/४३

५. पद्मपुराण, १७/२४४-२४५

६. हरिवंशपुराण, ५५/८८-८९; उत्तरपुराण, ७१/१६१-१६४

७. अथ धूतेभकीलालशोणकेसरसचय: ।
मृत्युपर्णांगुलिच्छायां भृकुटिं कुटिलां दधत् ।। पद्मपुराण, १७/२२४

× × ×

जीवाकर्षांकुशाकारां दष्ट्रां तीक्ष्णाग्रसंकराम् ।
कुटिलां धारयन् रौद्रां मृत्योरपि भयकराम् ।। पद्मपुराण, १७/२२७

× × ×

मृत्युरस्य कृतान्तो नु प्रेतेशो नु कलि: क्षय ।
अन्तकस्यान्तको नु स्यात् भास्करो नु तनूनपात् ।। पद्मपुराण, १७/२३०

८. पद्मपुराण, २२/८६-८८

बदला लेने के प्रसंग में भी किया है।[1]

कवि गुणभद्र द्वारा उत्तरपुराण मे दिया गया कालीय नाग का वर्णन भी बहुत औचित्यपूर्ण तथा पाठक के हृदय को भी दहला देने वाला है।[2]

पुराणों की अपेक्षा महाकाव्य में पशुओ की भयंकरता का वर्णन कम है। चन्द्रप्रभचरित मे 'गजकेलि' नामक हाथी का वर्णन कवि वीरनन्दि द्वारा किया तो गया है, लेकिन यह हृदय पर अमिट छाप छोडने वाला नही कहा जा सकता।[3]

धर्माम्युदय महाकाव्य मे कवि उदयप्रभसूरि ने लम्बे समासों, कठोर, सयुक्त व महाप्राण अक्षरो का प्रयोग कर एक शेर की भयानकता का वर्णन अधिक कुशलता से किया है।[4]

ऋतुओ की प्रचण्डता का वर्णन पुराणो मे कही भी प्राप्त नही होता। वादिराज सूरि ने ग्रीष्म ऋतु की प्रचण्डता का काव्यात्मक और प्रवाहमय वर्णन किया है। वर्णन पढने मात्र मे ही सबके द्वारा अनुभव किए जाने वाले, ग्रीष्म ऋतु के दुःखो, कष्टो व पीडाओ का अहसास हो जाता है।[5]

अभयदेव सूरि ने प्रसगानुकूल भाषा व समासो का प्रयोग कर ग्रीष्म ऋतु के वर्णन को साहित्यिक दृष्टि से भी अधिक प्रभावशाली बना दिया है।[6]

भरत चक्रवर्ती की सेना को पीडित करने के लिए किरातो द्वारा की गई भीषण शर-वर्षा का वर्णन कवि उदयप्रभसूरि ने बहुत ही स्वाभाविक और सजीव रूप से प्रस्तुत किया है।[7] इसी प्रकार वषा की भयकरता का वर्णन भावदेव सूरिकृत पार्श्वनाथचरित मे भी प्राप्त होता है। यहां कवि की कल्पना अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर है।[8]

कवि रविषेण ने हृदय को कंपा देने वाला, वन की भयकरता का चित्रण अपने पद्मपुराण मे किया है।[9] इसी प्रकार एक-दूसरे स्थल पर भी दुर्गम वन मे रहने वाले, अनेको भयकर पशुओं की भयकरता का निरूपण भी कवि द्वारा काव्यात्मक रूप मे दिया गया है। शब्दो द्वारा ही कवि अर्थ की प्रतीति कराने मे सफल हुआ है।[10]

कवि धनञ्जय ने अपने द्विसधान महाकाव्य मे 'अतिशयोक्ति अलंकार' प्रयोग कर एक तरफ राम-लक्ष्मण और खर-दूषण मे होने वाले और दूसरी ओर अर्जुन, भीम और कौरवो के मध्य होने वाले युद्ध की भयकरता का बहुत ही सुन्दर वर्णन, एक नवीन व प्रसंगानुकूल उपमा द्वारा किया है।[11]

युद्ध समाप्त हो जाने पर, सेनाओं द्वारा किए गए भारी विनाश का वर्णन भी उसी काव्य मे दिया गया है। कवि की कल्पना और उचित विशेषणो के प्रयोग से वर्णन के सौन्दर्य मे वृद्धि हो गई है।[12]

---

१ पद्मपुराण, ६/२४५-४७

२. उत्तरपुराण, ७०/४६७-६६

३. चन्द्रप्रभचरित, ११/८२-८३

४. धर्माभ्युदय, ११/४१६-१८

५. वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरित, ५/६७-६८

६. गिरिदवानलदग्धवनोद्भव भ्रमति भस्मसित वितताकृतम्।
जगति बन्दिजनैरिव वायुभिर्यश इवोष्ण ऋतोरवनीपते ॥
खरकरै रचिभि परितापितै प्रकुपितैरिव मण्डलमादधे।
अनिलतो विततैर्विवरेणुभि कलितपाकपलाशदलोपमम् ॥ जयन्तविजय, १८,१३-१४

७. रसन्तो विरस मेघा मुक्त वार्धे अमी समम्।
उद्वमन्तो व्यलोक्यन्त वाडवाग्नि तडिच्छलात् ॥
धारामुशलपातेन खण्डयन्त इव क्षितिम्।
राक्षसा इव तेऽभूवन् घना भीषणमूर्तय ॥ धर्माभ्युदय, ४/८३-८४

८. भावदेवसूरिकृत पार्श्वनाथचरित, २/१५६-५८

९. पद्मपुराण, ७/२५८-६१

१०. वही, ३३/२३-२६

११. द्विसधान महाकाव्य, ६/१६-१७

१२. पतितसकलपत्रा तत्र कीर्णारिभेदा वनतविरिव रणा सामजैभू मिरासीत्।
निहतनिरवशेषा स्वागशेषावतस्थे कथमपि रिपुलक्ष्मीरेकमूला लतेव ॥ द्विसधान, १६,८५

प्रद्युम्नचरित में महासेनाचार्य द्वारा युद्धक्षेत्र की भयानकता कुशलतापूर्वक पूर्ण रूप से चित्रित की गई है।[1]

हरिवंशपुराण में श्रीकृष्ण को मारने के लिए अचानक प्रकट हुई ताण्डवी नामक राक्षसी का भयोत्पादक वर्णन बहुत कुशलता से, कवि जिनसेन ने किया है।[2]

इसी प्रकार एक प्रेत की भयानक आकृति का वर्णन शान्तिनाथचरित में भी प्राप्त होता है।[3]

रावण के कठोर तप को देखकर, यक्षो द्वारा उस पर ढाई गई भयानक विपत्तियों का वर्णन रविषेणाचार्य ने पद्मपुराण मे बखूबी किया है।[4]

उत्तरपुराण मे गुणभद्र ने राजा वसु के झूठ बोलने पर, चारो तरफ हाहाकार और भय उत्पन्न करने वाली प्राकृतिक दुर्घटनाओ एवं राजा पर आई हुई विपत्तियो और उसके सहित उसके सिंहासन का रसातल को चले जाने का वर्णन बहुत ही हृदयस्पर्शी व सुन्दर ढग से किया है।[5]

जैन संस्कृत महाकाव्यों मे महापुरुषो द्वारा दिए गए उपदेश मे जनसाधारण को अनुचित कार्य करने से रोकने के लिए, नरक की भयानकताओं व यातनाओं का वर्णन, कवियो द्वारा बहुत ही रोमञ्चकारी ढग से दिया गया है। पद्मपुराण मे नरक मे दिए जाने वाली असख्य यातनाओ का वर्णन कवि रविषेण द्वारा इतने विशद, स्पष्ट और प्रभावोत्पादक ढग से किया गया है कि कोई स्वप्न मे भी नरक मे ले जाने वाले कार्यों को करने के लिए सोचेगा भी नही।[6]

जिनसेनाचार्य के आदिपुराण मे भी इस प्रकार का नरक का भयोत्पादक वर्णन प्राप्त होता है।[7]

महाकाव्यो मे इस प्रकार के वर्णन बहुत कम प्राप्त होते है। तीर्थंकर जब उपदेश के दौरान विभिन्न गतियों का वर्णन करते हैं तो उसमे प्रसगवश नरक निवासियों का भी वर्णन सक्षेप से करते हैं। इसी कारण, प्रद्युम्नचरित, वसन्तविलास, जयन्तविजय और धर्माभ्युदय महाकाव्यो मे चूकि जैन दर्शन के सिद्धान्तो का प्रतिपादन नहीं किया गया है। अत इस प्रकार के वर्णन भी प्राप्त नही होते।

धर्मशर्माभ्युदय मे नरक-वर्णन सक्षिप्त होने पर भी प्रभावशाली है। एक ही अनुष्टुप् मे पाययन्ति, घ्नन्ति, बध्नन्ति, मथ्नन्ति तथा दारयन्ति का प्रयोग दर्शनीय है।[8]

सीता की अग्नि-परीक्षा के लिए प्रज्वलित प्रचण्ड अग्नि का वर्णन 'सदेहालकार' के द्वारा रविषेणाचार्य ने इतने सुन्दर ढग से किया है कि उसके पढने मात्र से ही पाठक के दिल मे भी भय का समावेश पूर्ण रूप से हो जाता है। कवि की कल्पनाएं भी नवीन हैं।[9]

हरिवश पुराण मे मद्य के नशे मे जब यादव राजकुमार तपस्यालीन मुनि द्वैपायन को पीट देते हैं तो बदला लेने की इच्छा से मुनि किस तरह सारी द्वारका नगरी को उसके निवासियो सहित, क्रूरतापूर्वक अग्नि मे भस्म कर देते हैं, इसका सजीव, यथार्थ व भयोत्पादक वर्णन कवि जिनसेन द्वारा अपने हरिवशपुराण मे दिया गया है।[10]

त्रिषष्टि शलाका-पुरुषो मे भयानक रस का वर्णन कही भी प्राप्त नही होता। इस रस की निष्पत्ति प्रायः भयोत्पादक वर्णनों मे ही हुई है। किसी व्यक्ति विशेष मे, व्यक्तिगत रूप मे इस रस का वर्णन बहुत कम है। भाषा-शैली का प्रयोग भी इस रस के अनुरूप ही है।

---

१. शैलेन्द्राभै पातितै कुञ्जरौघैर्द् मञ्चारै स्यन्दनैश्चापि भग्नै।
भल्लूकाना फेत्कृतैर्गृध्रभूर्वेतालैस्तद्भीममासीन्नटद्भि ॥ प्रद्युम्नचरित, १०/१६

२. हरिवशपुराण, ३५/६६

३. शान्तिनाथचरित, १६,११७-१२०

४. पद्मपुराण, ७/२८६-३०८

५. उत्तरपुराण, ६७/४२६-४३३

६. विच्छिन्ननासिकाकर्णस्कन्धजघादिविग्रहा।
कुम्भीपाके नियुज्यन्ते वांतशोणितवर्षिण ॥
प्रपीड्यन्ते च यन्त्रेषु कूरारावेषु विह्वला।
गुन शैलेषु भिद्यन्ते तीक्ष्णेषु विरसस्वरा ॥ पद्मपुराण, २६/८७-८८
और भी देखिए पद्मपुराण, २६/९१-९३

७. आदिपुराण, १०/३६-४७

८. पाययन्ति च निस्त्रिशा प्रतप्तकलल मुहु।
घ्नन्ति बध्नन्ति मथ्नन्ति ककचैर्दारयन्ति च ॥ धर्मशर्माभ्युदय, २१/३०

९. पद्मपुराण, १०५/१७-२०

१०. हरिवशपुराण, ६१/७४-७६

बीभत्स रस

जैन संस्कृत महाकाव्यो में बीभत्स रस प्राय: श्मशान-भूमि के वर्णन और युद्धोपरान्त युद्धक्षेत्र के वर्णन मे ही प्राप्त होता है। कहीं-कहीं किसी घृणास्पद आकृति के वर्णन मे भी बीभत्स रस को चित्रित किया गया है।

पद्मपुराण में रविषेणाचार्य ने श्मशान-भूमि का प्रभावशाली वर्णन किया है।[1] इसी प्रकार का वर्णन एक-दूसरे स्थल पर भी प्राप्त होता है।[2] वर्णन को पढने मात्र से पाठक के मन मे भी घृणा उत्पन्न हो जाती है।

आदिपुराण मे श्मशान-भूमि के वर्णन के प्रसग मे आचार्य जिनसेन ने नाचते हुए कबन्धो, इधर-उधर घूमती हुए डाकिनियों, उल्लू, गीदड आदि अशुभ जीवो के चिल्लाने का भी वर्णन किया है।[3]

नि.सन्देह अभयदेवसूरि ने अपने जयन्तविजय महाकाव्य मे श्मशान-भूमि में प्राप्त होने वाली प्रत्येक वस्तु का अत्यन्त प्रभावशाली वर्णन कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। लम्बे समासो व सयुक्त अक्षरो का प्रयोग बीभत्स रस के पूर्णतया अनुरूप है। यहा कवि ने गन्ध, चिल्लाहट व भूत-प्रेतो का वर्णन किया है जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियो नाक, कान व चक्षु से है। इस प्रकार कवि ने एक व्यक्ति मे उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रियाओ को नूतन ढंग मे ध्वनित किया है।

इसी प्रकार का विशद, स्पष्ट और सभी मे घृणा उत्पन्न करने वाला श्मशान-भूमि का वर्णन भावदेव सूरिकृत पार्श्वनाथचरित मे किया गया है। सयुक्त, श्रुतिकटु और महाप्राण अक्षरो का प्रयोग शब्दो द्वारा ही अर्थ का बोध करवाता है।[4]

मल्लिनाथचरित में भी कवि विनयचन्द्र सूरि ने श्मशान-भूमि का सरल भाषा मे सुन्दर वर्णन किया है।[5]

युद्धोपरान्त युद्धभूमि का प्रभावशाली घृणोत्पादक वर्णन पद्मपुराण मे रविषेणाचार्य ने सुन्दर ढग से किया है।[6]

द्विसधान महाकाव्य मे एक तरफ राम-लक्ष्मण और खरदूषण के और दूसरी तरफ भीम, अर्जुन और कौरव सेना के मध्य हुए भीषण युद्ध के उपरान्त युद्धक्षेत्र के बीभत्स दृश्य का कवि धनञ्जय ने रोमाचकारी वर्णन किया है।[7] किस प्रकार राक्षसिया अपने बच्चो को पैरों पर लिटाकर, मृत योद्धाओ के खून और मास का अवलेह बनाकर उनको खिला रही थी, कवि की यह कल्पना नवीन है व वर्णन को और भी घृणास्पद बना देती है।[8]

इसी प्रसंग में कवि ने पुन: नवीन कल्पना करते हुए युद्धक्षेत्र का बीभत्स दृश्य पाठको के नेत्रो के सम्मुख चित्रित कर दिया है।

---

१. पद्मपुराण, २२/६७-७०

२. वही, १०६/६३-६५

३. आदिपुराण, ३४/१८१-८२

४. मृतककोटिककरालकलेवरप्रचुरदुःखसहगन्धभरावहे।
अभिमुखागतगन्धवहैर्मुहुर्यदतिदूरविवर्त्यपि सूच्यते ॥
मिलदसंख्यशिवाकृतफेत्कृतैर्यदनुकम्पकृदुद्धितमूर्द्धजम्।
अधिकघूकघनार्तिदघूत्कृतैः स्खलितकातरजन्तुगतागति ॥
भूतदिगन्तरदुःश्रवहुङ्कृतैर्विकृतवेषवपुर्मुखनर्तनैः।
प्रचुरराक्षसभूतपिशाचकैर्भयकुलैरिव दुर्गपथं नृणाम् ॥
विपुलमांसवसामदिरोन्मद विततमुत्कलकेशमवस्त्रभृत्।
भ्रमति यत्र सताण्डवडाकिनीकुलमकालमृतेरिव सादरम् ॥ जयन्तविजय, ४/१-१२

५. भावदेवसूरिकृतपार्श्वनाथचरित, ३/६०४-७

६. मल्लिनाथचरित, १/३५७-४५८

७ विच्छिन्नार्धभुजान्कांश्चित्कांश्चिदर्धोरुवर्जितान्।
निःसृतान्त्रचयान् कांश्चित्कांश्चिद्दलितमस्तकान् ॥
गोमायुप्रावृतान् कांश्चित् कांश्चिन्निर्भेदितान्।
रुदिता परिवर्गेण कांश्चिच्छादितविग्रहान् ॥ पद्मपुराण, ४७/४-५

८. निपीय रक्त सुरपुष्पवासित सित कपाल परिपूर्य सूनृताम्।
नृतां प्रसस्म्यनयोर्नर्तवाननर्तवाचोर्युधि रक्षसा तति ॥
प्रसार्य पादावधिरोप्य बालक विधाय वक्त्रेऽङ्गुलिमग्रमङ्गना ॥
प्रवेशयामास वसा महीक्षितां प्रकल्प्य पीथ पिशिताशिनां शनैः ॥ द्विसधान, ६/३७-३८

यद्यपि 'खग' साधारण पक्षियों का निर्देश करता है लेकिन कवि ने यहां 'खग' शब्द का गिद्ध, चील आदि के लिए प्रयोग किया है।[1]

जिनसेनाचार्य द्वारा आदिपुराण में युद्धक्षेत्र का वर्णन करने के लिए यद्यपि एक नवीन और सुन्दर उपमा का प्रयोग तो किया है लेकिन कवि यह भूल गया कि नाव कीचड़ मे कदापि नही चल सकती।[2]

चन्द्रप्रभचरित में कवि वीरनन्दि ने भी राजा पृथ्वीपाल और राजा पद्मनाभ के युद्ध के पश्चात्, युद्ध-क्षेत्र का वर्णन एक उत्प्रेक्षा द्वारा किया है।[3]

कवि बालचन्द्र सूरि ने भी अपने वसन्तविलास महाकाव्य में युद्ध की समाप्ति पर, मृत योद्धाओ के मांस को खाने वाले गिद्ध और चीलो का तथा खून की नदियो मे जलक्रीडा करती हुई पिशाचिनियो का चित्रण कर बीभत्स रस का वर्णन और भी प्रभावशाली बना दिया है।[4]

पद्मपुराण में रविषेणाचार्य के, कुलवन्ता नामक लडकी की बीभत्स आकृति के वर्णन मे पाठको मे भी उसके प्रति असीम घृणा उत्पन्न हो जाती है।[5]

गुणभद्र ने अपने उत्तरपुराण में वसिष्ठ नामक मुनि का अत्यन्त बीभत्स वर्णन दिया है, जो अन्य लोगो के मन मे भी घृणा की भावना उत्पन्न करता है।[6]

रविषेणाचार्य ने गर्भस्थ शिशु के वर्णन मे भी बीभत्स रस का चित्रण किया है।[7]

वादिराज सूरि ने अपने यशोधरचरित मे चण्डमारी देवी को बलि देने के स्थान का भी प्रभावशाली ढग मे घृणास्पद वर्णन दिया है।[8]

इन महाकाव्यो मे बीभत्स रस का वर्णन यत्र-तत्र ही प्राप्त होता है, लेकिन जहा भी प्राप्त होता है, वही कथानक का एक अभिन्न अग बन जाता है। इस रस के प्रसग मे पिशाच, राक्षस, प्रेतात्मा, गीदड, गिद्ध, उल्लू, कुत्ते, साप, मुण्ड, अर्धदग्ध शरीर, रक्त, मांस, दुर्गन्ध आदि सभी का वर्णन इस रस को और भी सजीव, प्रभावशाली और काव्यात्मक बना देता है।

अद्भुत रस

जैन सस्कृत महाकाव्यो मे अद्भुत रस प्राय: त्रिषष्टि शलाकापुरुषो, अलौकिक और पौराणिक वर्णनो के अतिरिक्त, अत्यधिक सौन्दर्य के प्रसंग मे भी प्राप्त होता है।

जैन दर्शन मे तीर्थंकर अद्भुत अलौकिक शक्ति से युक्त माने गए हैं, जो मनुष्यो के दु खो और कष्टो को दूर करने मे समर्थ है।

हरिवशपुराण मे नेमिनाथ तीर्थंकर के आशीर्वाद से अन्धे देखने लगते हैं, बधिर सुनने लगते है, मूक बोलने लगते है और पगु चलने लगते है। उनकी उपस्थिति मात्र से ही सर्वत्र कल्याण ही कल्याण व्याप्त हो जाता है।[9]

पुन. कवि ने वृषभदत्त भक्त द्वारा, मुनि सुव्रत तीर्थंकर के हाथ पर खीर रखे जाने का वर्णन किया है जो उनके असख्य शिष्यो के

---

१. बभौ महल्लोहितसम्भृत सर प्रपीयमान तटवर्तिभि खगै।
यमन रक्त विनिगीर्य देहिनामजीर्णमुद्गीर्णमिवासिपातत ॥ द्विसधान, ६ ४२

२. चक्रसघट्ट सपिष्टशवासृग्मासकर्दमे।
रथकट्यास्खलन्ति स्म नवाब्धौ मन्दपोतवत् ॥

३. चन्द्रप्रभचरित, १५/४७-५३

४. वसन्तविलास, ५/६०-६१

५. सा चिल्ला चिपिटा व्याधिशतसकुलविग्रहा।
कथचित्कर्मसयोगाल्लोकोच्छिष्टेन जीविता ॥
दुर्वेला दुर्भगा रूक्षा स्फुटितांगा कुमूर्धजा।
उत्त्रास्यमाना लोकेन लेभे सा शर्म न क्वचित् ॥ पद्मपुराण, १३/५७-५८

६. जटाकलापसम्भूतलिक्षायूकाभिघट्टनम्।
सम्लतस्नानसंलग्नजटान्तम् तमीनकान् ॥ उत्तरपुराण, ७० ३२६

७. पद्मपुराण, ३६/११५-१६

८. रक्तसमाजिता रक्ता नित्य यस्याजिरक्षिति।
प्रसारितेव जिह्वोच्चैर्देव्या रक्तासवेच्छया ॥
मांसस्तूपा स्वय यत्र मक्षिकापटलावृता।
छदितास्वण्डमार्येव बहुमक्षणदुर्जरा ॥ यशोधरचरित, १/४२-४३

९. हरिवशपुराण, ५६/७७-७८

द्वारा भरपेट खा लेने के बाद भी समाप्त नही हुई ।[1] इसी प्रकार का वर्णन महाभारत में भी प्राप्य है ।

आदिपुराण में कुबेरप्रिय व्यापारी के वक्षःस्थल पर तलवार से किया गया प्रहार भी मणिहार में परिवर्तित हो जाता है ।[2]

गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण में भी अपहृत एवं प्रताडित, राजा चेटक की पुत्री चन्दना, महावीर स्वामी के आने मात्र से केवल उनकी भक्त होने के कारण, सभी यातनाओ से मुक्त हो गई ।[3]

तीर्थंकरो की अलौकिक शक्ति केवल मनुष्यो को नही, अपितु पशु-पक्षियों को भी प्रभावित करती है । इसका सुन्दर और सजीव वर्णन जिनसेनाचार्य ने अपने आदिपुराण मे वृषभध्वज स्वामी के सदर्भ मे दिया है ।[4]

केवल चेतन प्राणी ही नहीं अपितु अचेतन प्रकृति भी तीर्थंकरो की उपस्थिति से प्रभावित होती है ।[5]

तीर्थंकर, अन्तर्यामी व तीनों कालों के द्रष्टा होते हैं । प्रद्युम्नचरित काव्य मे जन्म होने के तीन घण्टे पश्चात् ही अपहृत प्रद्युम्न के विषय मे, नेमिनाथ स्वामी पहले ही बतला देते हैं कि वह 16 वर्ष पश्चात् स्वय ही आ जाएगा और उसके आने पर प्रकृति मे भी चारों तरफ अद्भुत घटनाएं घटेंगी ।[6]

तीर्थंकरो की भांति मुनि भी पंचपरमेष्ठी माने गए हैं । वे भी अद्भुत दैविक शक्तियो से युक्त होते हैं । पद्मपुराण में किसी मुनि के 'चरणोदक' के द्वारा एक हंस की काया ही पलट गई ।[7]

'आदिपुराण' में बाहुबलि मुनि के आने मात्र से हो सर्वत्र बहार ही बहार छा गई ।[8] इसी प्रकार 'श्रीधर' मुनि के आगमन से चारो ओर कितना विचित्र, निराला और शान्त वातावरण व्याप्त हो गया, इसका सुन्दर वर्णन वीरनन्दी ने अपने चन्द्रप्रभचरित में दिया है ।[9]

इतना ही नही, किसी पवित्रात्मा द्वारा किए गए कार्य भी विस्मयोत्पादक होते है । पद्मपुराण मे, अपने बीमार पति 'नघुष' को सिंहिका द्वारा अपने पतिव्रत धर्म के कारण ही स्वस्थ करने का विवरण दिया गया है ।[10]

रावण के घर में रहने के पश्चात् अपनी पवित्रता को प्रमाणित करने के लिए, पतिव्रता सीता द्वारा दी गई अग्नि-परीक्षा तो सर्वविदित ही है ।[11]

गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण मे श्रीकृष्ण के जेल में जन्म से लेकर उनके नन्द के घर पहुचने तक का वर्णन सुदरता से किया है ।[12]

भावदेवसूरि कृत पार्श्वनाथचरित मे, अपनी सत्यता की परीक्षा मे सफल होने के बाद सब कुछ पूर्ववत् पाकर राजा हरिश्चन्द्र के विस्मयातिरेक का वर्णन 'सन्देहालकार' द्वारा काव्यात्मक व प्रतिभाशाली ढग से प्रस्तुत किया गया है ।[13]

---

१. हरिवंशपुराण, १६/६१

२. तस्य वक्ष स्थले तत्र प्रहारो मणिहारताम् ।
प्राप शीलवतो भक्तस्याहंत्परमदैवते ॥ आदिपुराण, ४६/३२५

३. उत्तरपुराण, ७४/३४४-४६

४. कण्टकालग्नबालाग्राश्चमरीश्च मरीमृजा ।
नरवरे स्वैरहो व्याघ्रा: सानुकम्प व्यमोचयन् ॥
प्रस्नुवाना महाव्याघ्रीरुपेत्य मृगशावका ।
स्वजनन्यास्थया स्वैर पीत्वा स्म सुखमासते ॥ आदिपुराण, १८/८३-८४

५ आदिपुराण, १३/८

६. प्रद्युम्नचरित, ५/६४-६६

७. पादोदकप्रभावेण शरीर तस्य तत्क्षणम् ।
रत्नराशिसम जात परीत विस्तेजसा ॥
जातौ हेमप्रभौ पक्षौ पादौ वैडूर्यसन्निभौ ।
नानारत्नच्छविर्देहश्चञ्चुर्विद्रुमविभ्रमा ॥ पद्मपुराण, ४१/४५-४६

८. आदिपुराण, ३६/७४-१७६

९. चन्द्रप्रभचरित, २/१३-२३

१०. पद्मपुराण, २२/१२४-१२६

११. वही, १०५/२६-४६

१२. उत्तरपुराण, ७०/३६१-६७

१३. प्रतीहारमुखप्राप्तान् विजिज्ञपयिषून् जनान् ।
दूरतो नमत: प्रेक्ष्य किमित्येतदचिन्तयत् ॥
किं नु स्वप्नो मया दृष्ट: किं वा मे मनसो भ्रम ।
किं वा कस्याऽपि देवस्य विलसितद् विजृम्भितम् ॥ पार्श्वनाथचरित, ३/१०१०-११

इन महाकाव्यो में अप्रत्यक्ष अलौकिक शक्तियों द्वारा किए गए कार्य भी अद्भुत रस का संचार करते हैं। पद्मपुराण में रावण ने तपस्या के द्वारा अपने को किसी भी रूप में परिवर्तित करने की अद्भुत शक्ति प्राप्त कर ली थी।[1]

भ्रामरी विद्या की सहायता से, उत्तरपुराण में, राजा अशनिघोष ने स्वय को अनेकानेक प्रतिबिम्बो मे दर्शा कर, शत्रु को विस्मित कर, सरलता से पराजित कर दिया।[2]

जयन्तविजय महाकाव्य में 'पचपरमेष्ठी' मन्त्र के स्मरणमात्र से ही राजा विक्रमसिंह का भयंकर जंगली जानवर, दावानल एव राक्षस आदि भी कुछ अहित नहीं कर पाए।[3]

मल्लिनाथचरित में किसी देवी द्वारा दिए गए रत्न के प्रभाव से सारी शत्रु-सेना युद्ध-क्षेत्र में ही गहरी नीद मे सो गई।[4]

धर्माभ्युदय महाकाव्य मे देवी अपराजिता की अद्भुत शक्ति के अद्भुत प्रभाव का उल्लेख, दृढप्रतिज्ञ राजा अभयकर के प्रसग मे प्राप्त है।[5]

पौराणिक वर्णनो के प्रसग मे अद्भुत रस पुराणो में ही अधिक प्राप्त होता है।

जिनसेनाचार्य द्वारा रचित हरिवशपुराण मे, बलि को वश मे करने के लिए विष्णुकुमार मुनि द्वारा बौने का रूप धारण कर, तीन पगो मे तीनों लोकों को नाप लेने का पौराणिक वर्णन सर्वज्ञात है।[6]

पुन. कवि ने जम्बू वृक्ष का अद्भुत वर्णन किया है।[7]

पद्मानन्द महाकाव्य मे कवि अमरचन्द्र सूरि ने, अपने पुण्य कार्यों द्वारा श्रीप्रभ विमान मे पहुच जाने पर, राजा महाबल के विस्मय का वर्णन 'शुद्ध सन्देहालकार' का प्रयोग करके दिया है।[8]

आदिपुराण मे जिनसेन के इच्छापूर्ति करने वाले कल्पवृक्षो का वर्णन दिया है।[9]

इन काव्यो मे भावी तीर्थंकरो के जन्म से पहले ही इन्द्र द्वारा, उनकी गर्भवती माताओ की सेवा-शुश्रूषा हेतु भेजी गईं अप्सराओ का वर्णन अनेक बार मिलता है। धर्मशर्माभ्युदय मे कवि हरिश्चन्द्र ने स्वर्ग से नीचे उतरती हुई अप्सराओ का सुन्दर वर्णन, राजा महासेन और उसके राजकर्मचारियो के तर्क-वितर्क मे 'निश्चयगर्भ सन्देहालकार' द्वारा किया है।[10]

आदिपुराण में वृषभध्वज तीर्थंकर के जन्म पर इन्द्र द्वारा रूप बदलकर किए गये नृत्य का सुन्दर वर्णन है।[11]

मुनिसुव्रतमहाकाव्य मे कवि अर्हद्दास ने ऐरावत हाथी का बिल्कुल नवीन और आश्चर्योत्पादक वर्णन किया है।[12] इसमे एकावली अलकार दर्शनीय है।

अत्यधिक सौंदर्य-वर्णन के प्रसग मे अद्भुत रस पुराणो की अपेक्षा महाकाव्यो मे अधिक प्राप्त होता है। हरिवशपुराण मे

---

१. पद्मपुराण, ८, ८७-८६

२' उत्तरपुराण, ६२, २७८-७६

३. जयन्तविजय, २ २७

४. मल्लिनाथचरित, १/२७२-७४

५. अथाकस्माद् द्विषच्छेददक्षिणाऽपि न दक्षिण ।
बाहुर्बभूव भूभर्तु खड्गव्यापारणक्षम ॥
बाहुस्तम्भेन तेनाथ विस्मितसन्तापवान् नृप ।
मन्त्राग्निग्रहमापन्न पन्नगेन्द्र इवाभवत् ॥ धर्माभ्युदय, २, २४७-४८

६. हरिवशपुराण, २०/५३-५४

७ वही, ५ १७७-८३

८. सुप्तोत्थित इव पश्यन्निति चित्ते सोऽथ चिन्तयामास,
किं स्वप्न ? किं माया ? किमिन्द्रजालम् ? किमीदृगिदम् ?
मामुद्दिश्य किमेतत् प्रवर्तते प्रीतिकारि सगीतम् ?
परिवारोऽय विनयी स्वामीयति मां समग्र किम् ॥ पद्मानन्द, ४, १२-१३

६. आदिपुराण, ६/४१-४८

१०. तारका क्व नु वियोदितद्युतो विद्युतोऽपि न वियन्यनम्बुदे ।
क्वाप्यनेधसि न वह्नयो महस्तत्किमेतदिति दत्तविस्मया: ॥ धर्मशर्माभ्युदय, ५ २

११. आदिपुराण, १४/१३०-१३१

१२. द्वात्रिंशदास्यानि मुखेऽस्य दता दतेऽब्धिपरध्यौ बिसिनी बिसिन्याम् ।
द्वात्रिंशदब्जानि दलानि चाब्जे द्वात्रिंशदित्रिद्विरदस्य रेजु ॥

जिनसेनाचार्य ने वृषभध्वज तीर्थंकर के शारीरिक सौन्दर्य की अपेक्षा गुणों पर अधिक महत्त्व दिया है।[1]

चित्र में चित्रित रुक्मिणी के सौन्दर्य को देखकर श्रीकृष्ण के विस्मय का वर्णन, महासेनाचार्य ने अपने प्रद्युम्नचरित में 'सन्देहालंकार' द्वारा किया है।[2]

इसी प्रकार 'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्य मे अपनी भावी पुत्रवधू को चित्र-लिखित देखकर राजा महासेन के आश्चर्य का चित्रण, कवि हरिश्चन्द्र ने 'घुणाक्षरन्याय' की कल्पना द्वारा किया है।[3]

पुन: स्वामी धर्मनाथ के सौन्दर्य को देखकर विदर्भ स्त्रियो मे उनके चन्द्रमा/कामदेव/कृष्ण और कुबेर होने का सन्देह उत्पन्न होता है। लेकिन चूंकि ये सभी दोषयुक्त हैं और धर्मनाथ दोष-रहित हैं, अत उनके प्रति इन सबके सन्देह का निवारण कर दिया गया है।[4] यद्यपि ये चारो क्रमश: पवित्रता, सौन्दर्य, पराक्रम और ऐश्वर्य के प्रतीक हैं, लेकिन कवि ने इनके लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो इनके दोष को स्वय ही सूचित करते हैं। यहा पर 'व्यतिरेकालंकार' वर्णन की शोभा को बढा देता है।

वसन्तविलास महाकाव्य मे वसन्तपाल मन्त्री का असाधारण सौन्दर्य वनदेवताओ मे भी उसके इन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा या कामदेव होने का भ्रम उत्पन्न कर देता है।[5]

शान्तिनाथचरित मे कनकश्री को गुणवर्मा स्वय 'ब्रह्मा' द्वारा 'घुणाक्षरन्याय' की भाति रचित रचना प्रतीत होता है।[6]

उसी काव्य मे इन्दुषेण और बिन्दुषेण 'श्रीकान्ता' की अतुलनीय सुन्दरता को देखकर उसे उर्वशी, पार्वती और लक्ष्मी समझ बैठते हैं।[7]

कवि वीरनन्दि ने अपने चन्द्रप्रभचरित में राजा अजितसेन के सौन्दर्य के वर्णन मे अपनी अद्भुत कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है। 'उत्प्रेक्षालकार' का प्रयोग अद्वितीय एवं मौलिक है।[8]

धर्माभ्युदय महाकाव्य मे कवि उदयप्रभसूरि ने, कुबडे होने पर भी राजा नल द्वारा एक भयकर और मदमस्त हाथी को वश मे करने के वर्णन मे अद्भुत रस का सचार किया है।[9]

केवल पद्मपुराण मे ही कला-चातुरी के प्रसग मे अद्भुत रस दृष्टिगोचर होता है। शत्रुओ मे भ्रम उत्पन्न करने के लिए कलाकारो ने राजा जनक और राजा दशरथ के पुतले इतनी कुशलता और सूक्ष्मता से बनाये कि वे और वास्तविक राजा सभी दृष्टियों से बिल्कुल एक-जैसे थे, सिवाय इसके कि एक सजीव थे तो दूसरे निर्जीव।[10]

भाषा की सुबोधता और प्रसंगानुकूल उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति और मन्देहालकार का प्रयोग रस के सौन्दर्य को द्विगुणित कर देता है।

शान्त रस

जैन दर्शन के अनुसार विषय-भोगो का भोग किए बिना कोई 'रत्नत्रय' प्राप्त नही कर सकता। अत: अन्य रसो का भी जैन कवियो ने विस्तृत चित्रण तो किया है लेकिन फिर भी ये काव्य शान्तरस-प्रधान ही है। पहले वर्णित रस मनुष्य-जीवन के पूर्वपक्ष को द्योतित करते हैं तो शान्तरस उत्तरपक्ष को।

---

१. हरिवंशपुराण, ६/१४८-५

२. सुरेन्द्ररामा किमु किन्नरांगना किमिन्दुकान्ता प्रमदाथ भूभृताम्।
नभ'सदां स्त्री उत यक्षकन्यका धृति क्षमाश्रीरथ भारती रति॥
किमगकीर्ति. किमु नागनायका जितान्यकाताजनिकाति बिभ्रती।
वपु कृता भेक्ष्यपद विकल्पिनो ममेति केय वद तात सुन्दरी॥ प्रद्युम्नचरित, २/५१-५२

३. धर्मशर्माभ्युदय, ६/३४-३५

४ किमेणकेतु किमसावनग कृष्णोऽथवा किं किमसौ कुबेर।
लोकेऽथवामी विकलांगशोभा कोऽप्यन्य एवैष विशेषितश्री:॥ धर्मशर्माभ्युदय, १७/१०१

५. वसन्तविलास, १३/३८

६. शान्तिनाथचरित, १६/५३-५६

७. वही, २/६३-६६

८. अन्योन्यसहतकरांगुलिबाहुयुग्ममन्या निधाय निजमूर्धनि जृम्भमाणा।
तद्दर्शनात्प्रविशतो हृदये स्मरस्य मांगल्यतोरणमिवोत्क्षिपती रराज॥ चन्द्रप्रभचरित, ७/८७

९. धर्माभ्युदय, ११/४३१-४३३

१०. पद्मपुराण, २३/४१-४४

रविषेणाचार्य ने बहुत ही सुन्दर ढंग से विषय-भोगो के स्वभाव का चित्रण करते हुए कहा है कि वे बाह्य रूप में चाहे कितने ही मधुर और मीठे क्यों न प्रतीत होवें, परन्तु अन्त में भयकर परिणाम वाले ही होते हैं ।[1]

आदिपुराण में आचार्य जिनसेन ने बहुत ही काव्यात्मक ढंग से विषय-भोगों की आकर्षण-शक्ति के बारे में बतलाया है कि किस प्रकार वे मनुष्य को अपनी तरफ आकर्षित कर उसे अनुचित मार्ग पर ले जाते हैं ।[2]

कवि ने पुन: मौलिक व प्रसगानुकूल 'मालोपमा' का प्रयोग कर सांसारिक विषय-भोगों में आसक्त मनुष्य की कटु आलोचना की है ।[3]

पुन कवि द्वारा व्यावहारिक, सजीव व यथार्थ उपमा देकर मनुष्यो की विषय-भोगो के पीछे भागने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को सुन्दर ढग से चित्रित किया है ।[4]

धर्मशर्माभ्युदय में कवि हरिश्चन्द्र ने इन सासारिक भोगों की तुलना मृगमरीचिका से करके यह प्रमाणित किया है कि केवल एक मूर्ख ही इनमे आकर्षित हो सकता है, बुद्धिमान् नही ।[5]

कवि अमरचन्द्रसूरि ने स्वाभाविक और सुन्दर 'मालोपमा' द्वारा प्रारम्भ मे सुन्दर लगने वाले, लेकिन बाद में मनुष्य को नष्ट करने वाले विषय-भोगो का चित्रण किया है ।[6]

कभी शान्त न होने वाली मनुष्य की तृष्णा, अभयदेवसूरि के अनुसार, केवल वैराग्य का आश्रय लेकर ही शान्त की जा सकती है, अन्यथा नही ।[7]

इन महाकाव्यो मे लक्ष्मी की कटु आलोचना की गई है। वह तो एक वेश्या के समान अविश्वसनीय एव मनुष्य को प्रताडना देने वाली है ।[8]

धर्माभ्युदय महाकाव्य मे कवि उदयप्रभसूरि ने बहुतो के द्वारा भोग कर छोडी गई लक्ष्मी के स्वभाव का अनुप्रास-मिश्रित उपमा द्वारा बहुत सुन्दर, सजीव व काव्यात्मक वर्णन किया है ।[9]

अमरचन्द्रसूरि ने अपने पद्मानन्द महाकाव्य मे लक्ष्मी की चञ्चलता व अस्थिरता का एवं किसी के द्वारा भी उसे वश मे न किए जा सकने का वर्णन बहुत प्रभावशाली ढंग से किया है ।[10]

शान्त रस के प्रसग मे जैन कवियों द्वारा स्त्रियों की भी कटु आलोचना की गई है। पद्मपुराण में रविषेणाचार्य ने एक सुन्दर 'रूपक' द्वारा स्त्रियो की भर्त्सना की है ।[11]

उत्तरपुराण मे भी गुणभद्राचार्य ने स्त्रियो के मध्य मे स्थित जम्बूकुमार की मानसिक अवस्था का वर्णन सुन्दर और प्रभावशाली

---

१. असिधारामधुस्वादसम विषयज सुखम् ।
दग्धे चन्दनवह्निव्य चक्रिणा सविषान्नवत् ॥ पद्मपुराण, १०५/१८०

२. आदिपुराण, ५/१२८-२९

३. वही, ११/१७४-२०३

४. प्रार्पितोऽप्यसकृद्दु.ख भोगैस्तानेव याचते ।
धत्तेऽवसादितोऽप्यङ्घ्रि मातास्या एव बालक: ॥ आदिपुराण, ४६/२०३

५. अहेरिवापातमनोरमेषु भोगेषु न विश्वसिम: कथचित् ।
मृग: सतृष्णो मृगतृष्णिकासु प्रतार्यते तोयधिया न धीमान् ॥ धर्मशर्माभ्युदय, ४/५४

६. कैवर्तको मांसकणैर्झषानिव व्याध. सुगीताधिगमैर्मृगानिव ।
सूनाधिपो ग्रासलवैरजीनिव क्रूरो मृदूक्तिप्रकरैर्नरानिव ॥
मूर्ख: कुपथ्यैरिव रोगयोगिनो मूढ कुबोधैरिव मुग्धधीयुताम् ।
आपातरम्यै: परिणामदारुणै. क्लिश्नाति मोहो विषयै: शारीरिण: ॥ पद्मानन्द, ३/४०-४१

७. विविधविषयभोगभूरितृष्णा ज्वरलहरीव भवाब्धिप्ररूढा ।
जनयति हृदि तापमित्यमन्द प्रशमय निस्पृहतासुधारसैस्ताम् ॥ जयन्तविजय, १२/५५

८. वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरित, २/९८

९. बहुमस्या. पति: सेव ममैवेत्यभिमानिन ।
युवा भोगार्थिन. के वा वेश्ययेव न वञ्चिता ॥
पक्वपाकीव धात्रीय भुक्त्वा त्यक्ता महात्मभि ।
विमृश्य गृह्यते लुब्धै: कुक्कुरैरिव ठक्कुरै ॥

१०. पद्मानन्द, ६/२७-३१

११. पद्मपुराण, १५/१७९-८०

'मालोपमा' द्वारा यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि एक बार स्त्रियों के चंगुल मे फसा मनुष्य, अपना नाश किए बिना, बाहर नहीं निकल सकता ।[1]

'जयन्तविजय' मे अभयदेवसूरि ने स्त्री की तुलना पतंगों का विनाश करने वाली शमा से की है ।[2] 'मल्लिनाथचरित' में विनयचन्द्र सूरि द्वारा, वे बाह्य रूप मे ही सुन्दर बतलाई गई हैं ।[3]

प्रद्युम्नचरित में महासेनाचार्य ने उपमाओं द्वारा विषय-भोगो की निरर्थकता को दर्शाया है। सभी उपमाए इन भोगो की क्षण-भंगुरता, सारहीनता और निरर्थकता की ओर सकेत करती हैं। कवि ने एक सक्षिप्त से श्लोक द्वारा इतनी अर्थयुक्तियो को ध्वनित किया है।[4]

कवि हरिश्चन्द्र ने 'धर्मशर्माभ्युदय' में उल्का-पात देखकर राजा महासेन का राज्य में विमुख हो जाने का वर्णन नवीन और अनूठे ढंग से ही किया है।[5]

नेमिनिर्वाण महाकाव्य मे वाग्भट्ट द्वारा स्वामी नेमिनाथ के मुखारविन्द से जनसाधारण को विषय-भोगों मे दूर रहने का उपदेश करवाया गया है।[6]

हरिवंशपुराण मे जिनसेनाचार्य ने सब सासारिक वस्तुओ की क्षणभगुरता का वर्णन किया है। जब पुण्यात्मा देवता भी अपने प्रियजनों से बिछुड जाते हैं तो मनुष्य का तो कहना ही क्या ?[7]

कवि धनञ्जय ने तो अपने 'द्विसधान' महाकाव्य मे विषय-भोगो, लक्ष्मी और आयु की अस्थिरता और चञ्चलता का वर्णन मौलिक, सजीव और प्रभावशाली उपमाओ द्वारा किया है, जो अन्य किसी भी साहित्य मे दुर्लभ है।[8]

'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्य मे कवि हरिश्चन्द्र ने एक बहुत ही अनूठी और काव्यात्मक उपमा देकर युवावस्था की अस्थिरता का वर्णन बहुत ही रोचक ढग से किया है।[9] यहा 'आकर्णपूर्ण' शब्द का अपना महत्त्व है। यह अत्यधिक सौन्दर्य को ध्वनित करता है। वृद्धावस्था की झुर्रियों की तुलना सरिताओ से की गई है क्योकि वे आकृति व रूप मे उनके समान होती है। सरिताओं के निरन्तर प्रवाह से, वृद्धावस्था के आने पर सौन्दर्य का शीघ्र ही नष्ट हो जाना द्योतित होता है।

'शान्तिनाथचरित' मे मुनिभद्राचार्य दो सक्षिप्त पद्यो मे सासारिक विषय-भोगो के अस्थायी, क्षणिक और नश्वर स्वरूप को चित्रित करते हैं।[10]

सब उदाहरण जैन दर्शन मे वर्णित बारह भावनाओं मे से 'अनित्यभावना' के अन्तर्गत समाविष्ट हैं।

इन काव्यो मे शान्त रस के कुछ ऐसे भी उदाहरण प्राप्य हैं जिनमे जैन दर्शन की 'ससार-भावना' परिलक्षित होती है।

रविषेणाचार्य ने एक छोटे से अनुष्टुप् द्वारा ससार के स्वरूप का सुन्दर चित्रण अपने 'पद्मपुराण' मे किया है।[11] 'उपमा' अपने आप में अनेक बातो को सूचित करती है। जिस प्रकार अरघट्ट मे कुछ बाल्टियाँ पूरी भरी होती है तो कुछ आधी भरी होती है तो कुछ अन्य

---

१. कन्यकानां कुमार न तासा मध्यमधिष्ठितम् ।
विजृम्भमाणसद्बुद्धि पञ्जरस्थमिवाण्डजम् ॥
जाललग्नैणपोत वा भद्र वा कुञ्जराधिपम् ।
अपारकर्दमे मग्न सिंह वा लोहपञ्जरे ॥ उत्तरपुराण, ७६/६४-६५

२. जयन्तविजय, १२/५४

३. मल्लिनाथचरित, ५/१९८-२०१

४ स्वप्नेन्द्रजालफेनेन्दुमृगतृष्णेन्द्रचापवत् ।
सर्वेषा सम्पदत्यर्तजीवित च शरीरिणाम् ॥ प्रद्युम्नचरित, १२ ५९

५. नियम्य यद्राज्यतृणेऽपि पालित तवोदयात्प्राग्महनैकसत्त्ववत् ।
विबन्धन तद्विषयेषु निःस्पृह मनो वनायैव ममाद्य धावति ॥ धर्मशर्माभ्युदय, १८/७

६. नेमिनिर्वाण, १३/२४

७. हरिवंशपुराण, १६/३७-३८

८. तथाहि भोगा स्तनयित्नुसन्निभा गजाननाधूननचञ्चला. श्रिय. ।
निशादिनाऽविभ्रमकण्ठनाडिकञ्चलाचल न स्थिरमायुरगिनाम् ॥ द्विसधान, ६/४५

९ आकर्णपूर्णं कुटिलालकोर्मि रराज लावण्यसरो यदगे ।
बलिच्छलात्सारणिधोरणीभिः प्रवाह्यते तज्जरसा नरस्य ॥ धर्मशर्माभ्युदय, ४ ५८

१०. शान्तिनाथचरित, १३/४४१

११ अरघट्टघटीयन्त्रसदृशा प्राणधारिण. ।
शश्वद्भवमहाकूपे भ्रमन्त्यत्यन्तदु:खिता ॥ पद्मपुराण, ६/८२

पूरी ही खाली होती हैं और उनका यह क्रम निरन्तर चलता ही रहता है। यहां मृत्यु की तुलना खाली बाल्टियों से की जा सकती है और और भरी हुई की जीवन से। जिस प्रकार ये बाल्टियां खाली होती रहती हैं और फिर भरती रहती हैं, उसी प्रकार इस ससार-रूपी कुएं मे मनुष्य जन्म और मृत्यु के चक्कर में निरन्तर ही घूमता रहता है।

कवि ने पुन: 'परम्परित रूपकालंकार' का प्रयोग कर संसार-रूपी समुद्र के सभी पक्षो को सुन्दरता से उभारा है।[1]

स्वामी वृषभनाथ के मुखारविन्द से उदयप्रभसूरि ने 'धर्माभ्युदय' महाकाव्य में संसार की तुलना एक वन से करवाई है।[2]

कवि ने पुन: उसी काव्य मे ससार को वन-सदृश मानकर उसमे व्याप्त जन्म-मृत्यु, कषाय, यम, बीमारी, आयु, विषय-भोगो आदि सबका परम्परित रूपको द्वारा कलात्मक वर्णन किया है।[3]

जो उत्पन्न हुआ है, उसकी मृत्यु भी अवश्य ही होगी। इन काव्यो मे इस प्रकार के उदाहरण जैन दर्शन की 'अशरण भावना' के अन्तर्गत सम्मिलित किए जा सकते हैं।

पद्मपुराण मे जब राजा सगर अपने पुत्रो के भस्म कर दिए जाने पर कारुणिक विलाप करते हैं तो उनके अमात्य यम के चगुल से किसी के भी न बचने का वर्णन कर सान्त्वना देते हुए उन्हे शोकमुक्त करने का प्रयास करते हैं।[4]

जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण मे यम व उसकी सेना का वर्णन करने मे निस्सदेह अपनी कल्पना-शक्ति का अद्भुत परिचय दिया है।[5]

प्रद्युम्नचरित मे महासेनाचार्य का यम द्वारा विवेकरहित होकर सभी को ग्रसित करने का वर्णन प्रभावशाली बन पडा है।[6] इसी प्रकार का समान वर्णन हरिश्चन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य मे भी किया है।[7]

इन काव्यो मे धर्म की प्रशंसा करने वाले पद्य जैन दर्शन की 'धर्म-भावना' मे आते हैं। धर्म ही इस संसार को धारण कर रहा है और निर्वाण-प्राप्ति करवाता है। जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण मे धर्म को ही सर्वस्व माना है।[8]

अमरचन्द्रसूरि के अनुसार तो धर्मयुक्त मनुष्य ही वास्तव मे मनुष्य कहलाए जाने योग्य है।[9] सभी उपमाओ का अपना-अपना महत्त्व है। सरल भाषा एव कमनीय तथा कान्त पदावली का प्रयोग वर्णन को और भी रोचक बना देता है।

यद्यपि धर्म मे दस गुणो का समावेश किया जाता है।[10] परन्तु इन काव्यो मे विशेष रूप से सत्य, संयम और तप पर ही अधिक बल दिया गया है।

मल्लिनाथचरित मे विनयचन्द्रसूरि ने सत्य का महत्त्व एक 'मालोपमा' द्वारा दर्शाया है।[11]

निर्वाण-प्राप्ति के लिए अपनी इन्द्रियो और मन को वश मे रखना अत्यावश्यक है। रविषेणाचार्य ने एक सुन्दर 'रूपक' का प्रयोग

---

१. पद्मपुराण, ३१/८६-८८

२ मोहभिल्लेशपल्लीव तदिद भवकाननम्।
पुण्यरत्नहरं क्रूरैश्चौरै रागादिभिर्वृतम्॥ धर्माभ्युदय, ३/३४२

३. धर्माभ्युदय, ८/१७४-७६

४. पद्मपुराण, ५/२७१-७२

५. असेमनी जरातका. पाष्णिग्राहास्तरस्विन।
कषायाटविकैः सार्द्धं यमराड्डमरोद्यमी॥ आदिपुराण, ८/७२

६. बाल कुमारमतिरूपयुत विदग्ध मेधाविन विषमशीलमथो सुशीलम्।
शूर न कातरनर गणयन्त्यकाण्डे नेनीयते निखिलजन्तुगण हि मृत्यु॥ प्रद्युम्नचरित, १३/१३

७. धर्मशर्माभ्युदय, २०/२०

८. आदिपुराण, ५/१७-१८

९. तोयेनेव सर: श्रियेव विभुता सेनेव सुस्वामिना
जीवेनेव कलेवर जलधरश्रेणीव वृष्टिश्रिया।
प्रासादस्त्रिदशार्चयेव सरसत्वेनेव काव्य प्रिय:
प्रेम्णेव प्रतिभासते न हि विना धर्मेण जन्तु क्वचित्॥ पद्मपुराण, १४/१९६

१०. उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्म। तत्त्वार्थसूत्र, १/६

११. यथा पुण्ड्रेण रामाया वक्त्राम्भोज विभूष्यते।
यथा गगाप्रवाहेण पूयते भुवनत्रयम्॥
यथा च शोभते काव्य सार्थया पदशय्यया।
तथा सत्येन मनुज इहाऽमुत्र विराजते॥ मल्लिनाथचरित, ७/६३-६४

कर इन्द्रियों को नियन्त्रण मे रखने का उपदेश दिया है।[1] यहां कवि पर कठोपनिषद् का प्रभाव परिलक्षित होता है।[2]

पद्मपुराण में तप और संयम को निर्वाण-प्राप्ति का साधन बतलाया गया है।[3] तो प्रद्युम्नचरित मे तप को संसार-रूपी भवसागर को पार करने का साधन बतलाया गया है।

अहिंसा पर इन काव्यों में प्रभूत बल दिया गया है। यहां तक कि हिंसा के बारे मे सोचने-मात्र से ही मनुष्य के सारे पुण्य नष्ट हो जाते हैं।[4]

'रत्नत्रय' जैन दर्शन की अपनी अनुपम देन है। यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र व सम्यग्ज्ञान का प्रतीक है। जैन संस्कृत महाकाव्यों मे भी 'रत्नत्रय' को अनन्त सुख और मोक्ष को देने वाला माना गया है। लेकिन ये तीनो एक-दूसरे के पूरक ही हैं। पहले के बिना दूसरा अधूरा है तो दूसरे के बिना तीसरा।[5]

इन महाकाव्यो मे अनेक स्थलो पर भौतिक शरीर के प्रति घृणित भाव परिलक्षित होते हैं जो जैन दर्शन की 'अशुचि-भावना' के अन्तर्गत आते हैं। पद्मपुराण में लक्ष्मण की मृत्यु हो जाने पर, विभीषण राम को शरीर की अपवित्रता के बारे मे बतलाकर ढाढ़स बंधाते हैं।[6]

आदिपुराण मे जिनसेनाचार्य ने शरीर के प्रति अपने जुगुप्सित भावो को काव्यात्मक रूप से प्रस्तुत किया है।[7]

इसी प्रकार धर्माभ्युदय महाकाव्य मे भी इस नश्वर शरीर को मलमूत्र-आदि घृणित पदार्थों का सग्रह बतलाया गया है।[8]

इन काव्यों में चार कषायों की आलोचना भी की गई है। चन्द्रप्रभचरित मे कवि वीरनन्दि ने इन कषायो के स्वरूप तथा इनको दूर करने के उपाय का वर्णन एक सुन्दर रूपक द्वारा किया है।[9]

पद्मानन्द महाकाव्य मे भी स्वामी वृषभध्वज ने इन कषायो का तथा इनसे प्राप्त होने वाली गतियो का वर्णन किया है।[10] प्रत्येक पंक्ति में 'चतु' का प्रयोग दर्शनीय है।[11]

इसी काव्य मे कवि अमरचन्द्रसूरि ने पुन. सासारिक विषय-भोगो और वास्तविक सुखो का परस्पर विरोध रोचक शैली द्वारा प्रतिपादित किया है।[12]

इन महाकाव्यों मे शान्त रस के प्रसंग मे, अपने आस-पास के वातावरण से अनभिज्ञ, तप मे लीन महात्माओं का भी सुन्दर व सजीव वर्णन प्राप्य है। आदिपुराण मे तपोलीन राजा महाबल केवल 'परमात्मा' को ही देखता है, सुनता है व उसी के नाम का उच्चारण करता है।[13]

---

१. परस्त्रीरूपसस्येषु विप्राणा लोभमुत्तमम् ।
अमी हृषीकतुरगा धृतमोहमहाजवा. ॥
शरीररथमुन्मुक्ताः पातयन्ति कुवर्त्मसु ।
चित्तप्रग्रहमत्यन्त योग्य कुरुत तद्दृढम् ॥ पद्मपुराण, ३६/१२३-२४

२. कठोपनिषद्, १/३/३-४

३. पद्मपुराण, ३६/१२६

४. प्रद्युम्नचरित, १३/२४

५. तनोतु जन्तुः शतशस्तपासि ददातु दानानि निरन्तराणि ।
करोति चेत् प्राणिवधेऽभिलाष व्यर्थानि सर्वाण्यपि तानि तस्य ॥ नेमिनिर्वाण, १३/१८

६. चन्द्रप्रभचरित, ७/५१-५२

७. पद्मपुराण, ११७/१३

८. निरन्तरस्रवोत्कोथमवद्वारशरीरकम् ।
कृमिपुञ्जचिताभस्मविष्ठानिष्ठ विनश्वरम् ॥ आदिपुराण, ४५/१६०

९. धर्माभ्युदय, ६/७५-७६

१०. कषायसारेन्धनवद्धपद्धतिर्भवाग्निरुत्तुगतरः समुत्थितः ।
न शान्तिमायाति भृश परिज्वलन्न यावद ज्ञानजलैर्निषिच्यते ॥ चन्द्रप्रभचरित, ११/१६

११. चतुष्कषायैः स्खलिता. पृथक् पृथक्
चतुर्विधैः सञ्ज्वलनादिभेदतः ।
चतुर्गतीतस्वप्रभवा भवेऽगिन.
प्रयान्ति नानन्तचतुष्टय पदम् ॥ पद्मानन्द, १२/४०

१२. तृष्णातिरस्कारिण्येव पिहितोऽस्ति सुखोदयः ।
यावत्युल्सार्यते सेय तावानयमवेक्ष्यते ॥ पद्मानन्द, १६/२६६

१३. चक्षुषी परमात्मानमद्राष्टामस्य योगतः ।
अभीष्टां परम मन्त्र श्रोत्रे जिह्वा तमापठत् ॥ आदिपुराण, ५/२४६

धर्मशर्माभ्युदय में कवि हरिश्चन्द्र द्वारा तपस्यालीन धर्मनाथ स्वामी का वर्णन सजीव होने के साथ-साथ काव्यात्मक भी है।[1] इसी प्रकार का वर्णन बाहुबलि के प्रसंग मे, अमरचन्द्र सूरि द्वारा पद्मानन्द महाकाव्य में भी दिया गया है।[2]

इन महाकाव्यों की एक विशेषता यह भी है कि सांसारिक भोगों से विरक्ति का कारण अचानक ही किसी घटना का घटित हो जाना है। इनमे से 'उल्कापात' वैराग्य उत्पन्न करने का मुख्य प्रेरक बना है।

धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य में स्वामी धर्मनाथ अचानक 'उल्कापात' को देखकर संसार से विमुख हो जाते हैं। यहां जीवन की क्षणभंगुरता की तुलना पद्मपत्र की नोक पर स्थित पानी की बूद से करके, कवि ने अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रमाण दिया है।[3]

कभी-कभी आकाश मे लुप्त होता हुआ बादल[4], वृद्धावस्था[5] तथा कमल मे बन्द मृत भौंरा[6] भी विरक्ति का कारण बना है। चन्द्र-ग्रहण और अनलकृत शरीर भी वैराग्य का प्रेरक बना है।

केवल पद्मानन्द महाकाव्य मे ही कवि अमरचन्द्रसूरि ने 'मोक्षावस्था' का वर्णन किया है।[7] यह पद्य जैनदर्शन की 'निर्वाण-भावना' के अन्तर्गत आता है।

इस प्रकार यद्यपि शान्त रस का वर्णन भरत द्वारा अपने नाट्यशास्त्र मे नही किया गया था, लेकिन बाद मे इसे जोड दिया गया। इससे शान्त रस की स्वीकृति मे बौद्ध और जैन दर्शन का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

जैन महाकाव्यो के कवियो ने शान्त रस के प्रसग मे, जैन दर्शन मे वर्णित लगभग सभी १२ अनुप्रेक्षाओ या भावनाओ का वर्णन अपने काव्यो में किया है।

इन महाकाव्यों मे सभी रसो का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके लेखको ने मनुष्य-जीवन के चारो पुरुषार्थों पर समान बल दिया है, यद्यपि प्रधानता शान्त रस की ही है।

प्रस्तुत लेख मे उन्नीस जैन संस्कृत महाकाव्यों का रस की दृष्टि से आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यहा पर कुछ इने-गिने पद्यों को ही उद्धृत किया गया है। स्थानाभाव के कारण, सभी रसो का अलग-अलग विभाग-उपविभाग बनाकर उल्लेख किया जाना सम्भव नही हो सका। लेकिन इन काव्यो मे किस प्रकार सभी रसो का काव्यात्मक निरूपण जैन कवियो द्वारा कितनी सुन्दरता से किया गया है, इसका केवल दिग्दर्शन मात्र ही पाठको को करवाया गया है। विस्तृत जानकारी, समीक्षा व आलोचना के लिए लेखिका द्वारा लिखित शोध-प्रबन्ध पढें।[8]

---

१. धर्मशर्माभ्युदय, २०/४१

२. पद्मानन्द, १७/३६३

३. वातान्दोलत्पद्मिनीपल्लवाम्भो बिन्दुच्छायाभगुर जीवितव्यम्।
तत्ससारासारसौख्याय कस्मात्जन्तुस्ताम्यत्यश्रिवीचीचलाय ॥ धर्मशर्माभ्युदय, २०/१४

४. हरिवंशपुराण, १६/४५, वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरित, २/६५-६८

५. पद्मपुराण, २६/७३ एव ३२/६६; द्विसधान, ४/१-६
जयन्तविजय, १८/५२, चन्द्रप्रभचरित, १/६८

६. पद्मपुराण, ५/३११, आदिपुराण, ८/७२

७. मोक्षाप्तौ न जरा नाधिर्न व्याधिर्न क्षुधो न भी:।
न मृत्युर्न परावृत्ति. प्राप्यन्ते पुनरात्मना ॥ पद्मानन्द, १४/२०३

8. "Rasa in the Jaina Sanskrit Mahakauyas" From 8th to 15th Cent. A.D;
Deptt. of Sanskrit, University of Delhi, 1977
(इस शोध-प्रबन्ध का प्रकाशन अपेक्षित है।)

The Jaina Contribution to Indian Poetics

Dr K Krishnamoorthy

I

A number of studies are available giving an idea of the number of Jaina authors on *Alankāraśāstra.* The object of this paper is not to add to their number by mechanically cataloging them in a historical order. I would like to highlight a few points which are solid contributions by Jaina thinkers to the mainstream of Indian thought on poetry and which are in the nature of new watersheds or new turns given to conventional ideas.

II

It is long known to scholars that the earliest reference to nine *rasas* of "kavya" (*nava kāvyarasa*) is to be found in *Anuogaddāra*, an early cononical text. It is also realised that the first mention of *śānta* under the name *pasānto* (Skt. *praśānta*) is to be had here ; and *Velanao* (Skt *vrīḍanaka*) is reckoned here in place of *bhayānaka* (Vide, Āgamodaya Samiti Series Edition, p 134) But what is not usually emphasized is the fact that *Kaluno* (Skt *Karuna*) is used here in a special sense, viz. that of *Karunā*, i.e. pity or compassion and *not* in the usual sense of 'sorrow' (*śoka*). The word has a masculine ending as it agrees in gender with its substantive in masculine gender, viz. *rasa*. But its meaning was not 'sorrow' as it was commonly understood in the tradition of Bharata's *Nāṭyaśāstra*. That is why, while listing the names of *rasas* in the chapter on *Nāṭya* in his famous lexicon *Amarakosa*, the Buddhist lexicographer states the following synonyms all of which refer to 'pity', 'pathos', 'compassion' etc. and *not even one* which means 'sorrow' or 'suffering' :

Kārunyam karuṇā-ghṛṇā
kṛpā dayā-anukampā syāt
anukrośo'pi (Loc. cit. VIII. 226)

This new tradition is corroborated by the first Jaina author in Kannada on poetics, viz. *Kavirājamārga* (9th century A D.), who more than once, uses the expression *karunā-rasa* instead of *karuṇa-rasa* ; and who recommends the literary quality of *Mṛduta* or 'softness' of heart' as most appropriate for its delineation in poetry. That he was following the Jaina tradition is clear also by his use of the name '*praśānta*' instead of *śānta* in his enumeration of *rasas* (Loc. cit. II. 100). The example cited for *karuṇā rasa* by this author, (Nṛpatuṅga or his protege, Śrīvijayadeva, as sometimes averred) describes the love-lorn condition of a heroine and calls upon the hero to show pity on her (III. 191) ; there is no question of eternal 'sorrow of bereavement' consequent upon death of the beloved here.

The Jaina shift in emphasis from downright misery of characters to situations involving human sympathy or pity is a major turn from the perspective of literary criticism.

It is a major turn because it changes the very goal of literature too, centred on man. The Jaina view of worldly life or *saṁsāra* is such that it encourages the rise of renunciation (*vairāgya*) conducive to *praśānta-rasa* on the one hand and to pity (*karuṇā-rasa*) on the other. 'Poetry for poetry's sake' is ruled out; only poetry for religion's sake gets priority. The Jainas have an infinitely vast story-literature in Sanskrit, Prākṛta, Apabhraṁśa and modern Indian languages. But they are always *dharma-kathās* or religious stories or legends; and they inculcate the highest spiritual value in a sugar-coated way through. This point is made explicit in the very invocatory verse of Hemacandra's *Kāvyānuśāsana* :—

Akṛtrima-svādu-padām
paramārthābhidhāyinīm
sarvabhāṣāpariṇatāṁ
Jainīṁ Vācamupāsmahe

In explaining the above verse in his auto-commentary, Hemacandra further observes :—

Vairāgyopajananamitivṛttam prastūyate
ityavadātakathanena vairāgyahetutvād
dharmakathāyāḥ parama puruṣārthābhi
dhāyaktvam asti.

The religious myth or story or poem contributes indirectly to the achievement of the *summum bonum* or ultimate enlightenment as it engenders a sense of revulsion to worldly pleasures. This view may be puritan; but that is the Jaina view of man. Man deserves pity of the wise or the Enlightened saints for his indulgences due to ignorance! This reminds us of the famous English remark :—"Life is a tragedy to those who think and a comedy to those who feel!"

III

The Jaina idea of the Goddess of learning or Sarasvatī also deserves our consideration. We have already seen her description by Hemacandra as *sarvabhāṣā-parinatā* or embodiment of all languages on earth. Māṇikyacandra, the Jaina author of the earliest commentary, viz *Sanketa* on Mammaṭa's *Kāvyaprakāśa* makes this, much more explicit According to him, the speech of *Arhat* Himself is that Sarasvatī, not any other goddess associated with any individual god as in Hindū mythology. She dwells in the mouth of Arhat and is the Mother of all humanity. Without her grace, nothing can dawn upon the minds of even the learned! Hence though people widely differ on the issue of praiseworthy divinities, there is an exceptionally complete concensus among one and all about the praiseworthiness of Sarasvatī! Nor is it surprising, because *She* upholds Wisdom :—

Stutyam tannāsti nūnaṁ
jagati na janatā yatra bādhāṁ vidadhyāt
anyonya-spardhino'pi
tvayi tu nuti-vidhān vādino nirvivādāḥ
yat tatcitram na kiṁcit
sphurasi matimatām mānase viśvamātaḥ
brāhmi tvam yena dhatse
sakalanayamayam rūpam arhanmukhasthā
(Op. cit. Mysore edn., 1974, p. 7)

Thus it is that we can appreciate Namisādhu (writer of a prestigious commentary on Rudraṭa's *Kāvyālaṅkāra* when he postulates 'ultimate wisdom' (*samyagjñāna*) as the *sthāyībhāva* of *śānta-rasa* (Op. cit. XVI. 15). This idea came to be adopted later by the highest Hindū authorities also like Abhinavagupta. Bhoja in his *Sarasvatīkaṇṭhābharaṇa* (Kāvyamālā series, Bombay, 1925, p. 524-5) regards a *dhīra-śānta* (Lit. 'heroically tranquil') type of hero in this light itself when he postulates *dhṛti* or "steadiness of heart" as the ruling sentiment fostered by reflection of the highest Truth :

Kasyacidupaśāntaprakṛteḥ
dhīra-śānta-nāyakasya
vastutattvālocanādibhih uddipyamānah...

This is why the Jaina pontiff (chief priest) pālyakīrti is quoted by Rāja-śekhara in his *Kāvya-mīmāṁsā* (Gaekwad Oriental Series Edn., 1934, p. 46) as saying that 'to a lover sporting in his beloved's company and passing the whole night like a moment, the moon might appear cool ; while to another man love-lorn and suffering pangs of separation from his sweetheart, the same moon light be veritably a scorching fire like a comet. But to a monk like me, who has no wife, and no separation either, the moon is but a round mirror in shape, neither hot nor cold :—

Yeṣām vallabhayā samaṁ
ksanamıva sphārā kṣapā kṣīyate
teṣāṁ śītataraḥ śaśi
virahimāmulkeva santāpakṛt
asmākaṁ na tu vallabhā
na virahah tenobhayabhraṁśinām
indū rājati darpanā
kṛtirayaṁ noṣno na vā śītalah

IV

Jaina writers like Māṇikyacandra also furnish authentic information about lost works in Indian poetics. We know that all works on poetics before Bhāmaha's *Kāvyālankāra* have been lost by the ravages of time. When Bhāmaha refers to a view of earlier thinkers as in—

Rūpakādimalankāram
bāhyamācakṣate pare... (I. 14)

"Others observe that figures of speech like metaphor are 'external', because they hold grammatical accuracy of nouns and verbs to be the first norm of figurative beauty !".
How are we to know who these 'others' are ? Mānikyacandra in his *Saṅketa* (*Kāvya-prakāśa*, Mysore edn., pt. I, p. 485) states unambiguously :—

Gauḍa matametat
'This is the view of Gauḍas'.

That this is not a wild surmise, but a statement of fact is proved by Bānabhaṭṭa's testimonia to this very view :—

Gauḍeśvakṣaraḍambaraḥ
(*Harṣacarita* 1.7)

Similarly, when Mammaṭa quotes a Prākṛta Gāthā (Kāvyaprakāśa, VII. 218, Mysore edn., pt. II p. 80)—

Jam parihariuṁ tīrai...

Māṇikyacandra, like a modern scholar, adds the source in all detail :—

Ānandavardhanīya-pañcabāṇalīlākathāgāthheyam

In one word, he has told us that it is a verse in Prakrit *gāthā* metre ; the name of the poem is *Pañca-bāṇa-līlā* ; and that it belongs to the literary form of *Kathā* or verse-poem. The value of such precise information to research scholars is inestimable.

V

Jaina writers have also given us very objective literary judgements. We might cite here one impartial judgement of the prestigious biography of Harṣa by Bāṇabhaṭṭa who is usually adorated as an incarnation of Sarasvati Herself! Māṇikyacandra states that having introduced the topic of Harṣa's warlike glory in the work, Bāṇa had no business to stray far away into a long irrelevant excursion on his autobiography. This has spoilt the unity of the work :—

Harṣākhyāyikāyāṁ 'jayati jvalad...' ityādinā Harsotkarsavad-vijaya-bījamupakṣipya anupayogi-Bāṇānvayasya Varnanam.

(Loc. cit., II, p. 177)

VI

We might close this article by indicating a line of critical survey of concepts, thoroughly attempted only by Jaina writers, on Poetics, like Hemacandra and Māṇikyacandra. The development in the concept of *gunas* from Bharata to Mammaṭa, undergoing substantial variations in Bhāmaha, Daṇḍin, Udbhaṭṭa, Vāmana and Mangala—is laid bare at great length in the works of both these authors. Judging from the style of this first-hand material, it appears as if they have given us the lost chapter of Rājaśekhara himself on the subject of *gunas* from his *Kāvyamīmāṁsā*. It is only a hypothesis, yet to be proved on more solid evidence.

Yet the foregoing considerations would show how the contribution of Jainas to the development of Indian poetics is both substantial and significant.

जैनाचार्य एवं जनभाषा

जैनाचार्य जहां भी गये, उन्होंने वहां की जनभाषा को अपनाया और उसे प्रभावकारी माध्यम के रूप में समृद्ध किया। उनके लिए भाषा एक माध्यम मात्र थी। उन्होंने भाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। उनका उद्देश्य, सामाजिक जन-मानस को सद्-आचरण के लिए शिक्षित करना था ताकि समाज को स्थिर आधार मिले। इसीलिए उन्होंने अपनी शक्ति को ऐसे साहित्य के निर्माण मे लगाया जो समाज के आचार-विषयक स्तर और नैतिक मूल्यों को उन्नत करे।

— स्व० डॉ० आ० ने० उपाध्ये

Exposition of Śabda-Śaktis by Siddhicandragani

Dr. Satyapal Narang

Siddhicandra, a contemporary of the Emperor Akbar received an epithet 'Khushfaham' from the king due to his extraordinary intelligence. He was not only a renowned commentator on the classical works like Kādambarī, Jain Stotra literature, dictionaries, roots etc. but also wrote original works like Bhānucandra caritam etc. and compiled anthologies of Sanskrit and Prākṛta literature.

His work Kāvyaprakāśakhaṇḍana, although not original in nature, refutes the renowned work by Mammaṭa i e. Kāvyaprakāśa. While refuting Kāvyaprakāśa he has refuted the uncertain power of words viz. vyañjanā. This refutation is based on logical ground which has a harmony with Jain thought and philosophy.

After accepting three categories of meaning viz. vācya, laksya and vyaṅgya. Siddhicandra skips over to saṅketa viz (साक्षात्संकेतित योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः। सकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा) VII. (2) and VIII. Siddhicandra does not quote the original). He has quoted a verse that vācakatva has a power and this power is found in the genus (and not in individual (व्यक्ति) शक्तिमत्त्व वाचकत्वं शक्तिर्जातौ पर मता: । The Abhidhā as it is explained by some that it is a desire of the God. That a particular word should convey a particular meaning, in the opinion of Siddhicandra, is incorrect He thinks that it is absolutely a different substance. (ईश्वरेच्छाविशेषोऽथ पदार्थान्तरमेव सा) ।

Individual or genus : The discussion raised by Siddhicandra is that of connotation of individual or genus. In his opinion, the power should lie with expression that conveys the meaning (वाचकत्वम्). Following this logic the power should lie with individual which expresses the meaning and not with genus. But transgressing this norm of logic he supports the lātivāda and thinks that individual is qualified by the genus. By accepting power in individual, three defects come into existence :

i. Multiplicity of Individuals.

ii Infinitude.

iii Fallacious argument.

But where anantya (infinitude) and vyabhicāra defects do not exist, it may be accepted in individual also e.g. the sky where both these defects do not appear. It appears Siddhicandra does not believe in comprehension qualified by genus because it involves a long procedure of comprehension through lakṣaṇā or ākṣepa or vyañjanā which in itself requires a fiction of cause and effect relationship without which it is impossible. Siddhicandra believes in direct comprehension of words and not the indirect fictitious procedure The follower of the direct procedure, *Siddhicandra lays a stress on abhidhā.* He accepts the traditional

definition of abbidhā viz. this word shall express this meaning which is associated with the desire of God or a natural and direct meaning associated with the word.

Another problem raised by Siddhicandra pertains to the words which express their meaning through Lakṣaṇā only. Following these two categories of the words i.e. the abhidhā and Lakṣaṇā, there shall be no consistency in reasoning But in the opinion of Siddhicandra when the word Gaṅgā (e.g in Gaṅgāyām ghoṣaḥ) expresses the meaning 'stream', it is also the wish of God (iśvarecchā) which is qualified with special form (viśeṣarūpā). Such like words are corroborated by the use of technical grammatical terms also. For example, the terms ghu, ghi ṭi etc. in grammar have no meaning through Abhidhā but their direct meaning is conveyed by the real meaning i.e. dādhāghvadāp (Pāṇ 1.2 20) which qualifies the abhidhā. Similarly the word काकेभ्य : in the notion काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् does not express crow at it first meaning but all the other animals from whom the protection is sought. The word used in plural expresses all of them at first instance and the meaning of the word kāka becomes secondary. Siddhicandra's approach is not to widen the semantic categories of words but to delimit it to the meaning which is desired by the speaker. This approach resembles those of Mīmāṁsakas who associate a new power tātparya (purport) with the word and reject the other powers viz. lakṣaṇā and vyañjanā. But in nomenclature Siddhicandra accepts abhidhā whereas Mīmāṁsakas accept tātparya.

Siddhicandra gives only casual remarks about the categories of Lakṣanā.

Process of eomprehension in 'Gaurvāhīkah'

There is a difference of vocabulary in the comprehension of 'Gaurvāhīkaḥ' between Mammaṭa and Siddhicandra Mammata has quoted the opinion of some scholars (Kecit) in whose opinion the cow qualified by foolishness etc. (Jāḍyamāndya) identifies itself with Vāhīka. The instrumentality of identity are the qualities foolishness etc. Siddhicandra has also quoted the opinion of a few scholars. The cow qualified by the qualities of foolishness etc. equates itself with Vāhika consisting of similar qualities Siddhicandra almost follows Mammaṭa verbatim.

Another opinion quoted by Mammaṭa (*ityanye*) is that in procedure both cow and Vāhīka eliminate from the picture and the only remenant object is foolishness. But in the opinion of Siddhicandra cow and Vāhīka are not eliminated but it is only through their existence that the word cow expresses Vāhīka It is not only the quality foolishness etc but the really existent substance that is qualified by the quality foolishness To illustrate he has quoted another example मुखं चन्द्रः where beauty is expressed and the substance face and moon do not disappear from the picture.

Another opinion quoted by Mammaṭa is that only the qualities like foolishness exist and not the real substance which is an instrument only and does not exist on the picture at all.

In the opinion of Siddhicandra juxtaposition (yogyatā) is a pre-requisite qualification for the identity of knowledge. To join cow with Vāhīka, the joining substance is foolishness. Otherwise there shall be no relationship of cow and Vāhīka which are absolutely separate entities. Moreover, to elaborate his thesis, Siddhicandra has taken the resort of a dictim (nyāya) that the comprehension of knowledge can be created by the word even if the exact meaning is not communicated by it.[2] It means the words cow and

1. Siddhicandra (K. P. Kh. p. 7.) gives only the line तत्रैवानुशासनादि प्रमाणसत्त्वाच्च ।
2. K P. Khaṇḍana, p. ४. अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति ।

Vāhika definitely communicate their own meaning ; they may or they may not communicate the desired meaning of foolishness which is desired from it. Hence the existence of the substance which is an instrument for the expression of meaning does not at all eliminate from the picture.

Refuting Lakṣaṇā, Siddhicandra has first taken an argument about Sādṛśya which was used in the Kārikā of Kāvyaprakāśa (II. 12). In his opinion the substitute of Laksanā is "imposition of meaning" (सादृश्यारोपात् वा तत्संभवात्). It is not necessary that the possibility of Lakṣaṇā is through "Similarity" (sādṛśya) only. Beyond similarity or non-similarity, there exists another relationship of cause and effect etc. For example in 'Āyurghṛtam' or Āyurevedam, the relationship of Āyu and ghṛta is that of cause and effect relationship. Their relationship comes into existence not due to an uncertain power but due to an extraordinary definite power.[1]

It appears that Siddhicandra is in favour of a definite word power which is related to the words and has its logical and rational explanation. It is not an arbitrary power, which, when applied, conveys any meaning desired by the speaker. This arbitrariness which is communicated by Lakṣaṇā has been refuted by Siddhicandra on the ground of uncertainty in it

Vyañjanā : Why ? Siddhicandra has refuted vyañjanā on the ground that it has no logical evidence (Pramaṇābhāvāt). The need of vyañjanā has been negated *ab initio* on the ground that wheresoever Lakṣanāmūladhvani exists, there will be no rational explanation of the words which will result in the expression of a special meaning, e.g. in गङ्गायां घोष the coldness and sacredness which is related to the words through denotation (Lakṣanā) shall appear automatically and will express its deeper meaning. If the meaning is communicated through Laksanā, what is the need of the assumption of Vyañjanā ?

The second ground of refutation of vyañjanā is its application in dramatic literature "For the suggestion of Rasa, Vyañjanā must be accepted" is the opinion in *prima-facie*.[2]

In the opinion of Siddhicandra, it is a very weak argument Infact, aesthetic enjoyment comes into existence from the pleasure of dramas etc. directly and has no indirect channel like vyangya interferes in it. The perceptive object is not to be interpreted by an inferential logic.[3]

In the interpretation of the verses like भम धम्मिअ वीसत्थो and इय गन सम्प्रति शोचनीयताम्, etc., the meaning that this place is not worth walking shall be obtained by inference (अनुमान) and hence there is no need of vyañjanā. Moreover, in his opinion, the indirect channels like inference and suggestions are not to be brought in this context because the meaning is directly obtained. Moreover, Siddhicandra has corroborated his argument by the Mīmāṁsakas who accept tātparya (purport) as the power of the word and in his opinion there is no contradiction of tātparya with lakṣyārtha. Refuting that vyañjakatā exists in the gestures etc., Siddhicandra propounds that the gestures express their meaning only through inference because each and every gesture has a definite meaning which is attributed to it and is comprehended through inference at a later stage. Siddhicandra does not accept any other power called vyañjanā. Infact, he accepts only six categories of lakṣanā which are propunded by Mammaṭa (KP. II. 12). In his opinion vyañjanā is such a deep imagination that may attract the objects other than desired. The argument in

1. *ibid*, p. 8 अत्रान्यवैलक्षण्येन चाव्यभिचारेण च नत्कारित्व फलम् ।
2. K. P. Khandana, p. 9. रसव्यञ्जकतया व्यञ्जनाऽवश्यमाश्रयणीयेति ।
3. *ibid*, p. 9. रसव्यञ्जकतया व्यञ्जकताऽवश्यमाश्रणीयेति तदनीवतुच्छम् अनभ्युपगपगन्तित्वात् । वस्तुगस्तु नाट्यादिदर्शन-जन्यमुख विशेषस्यैव रसत्वस्य वक्ष्यमाणत्वेन तस्य व्यङ्ग्यत्वाभावात् । अपितु साक्षात्कारविषयत्वात् ।

prima facie that the power which generates sacredness in the phrases like Gaṅgāyāṁ ghoṣaḥ is vyañjanā. It is different from Abhidhā ; it consists of a relationship of meaning viz. comprehension through binding (bādhitabodhakatva) which is not present in abidhā.

But Siddhicandra refutes it on the ground that the relationship of 'Bādhitabodhakatva' may be derived from the abhidhā itself. The dictum that the imagination of characteristics (धर्मकल्पना) should be lesser than the object itself (धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसीति न्यायात्). Only the change of nomenclature cannot prove the different object (नामान्तरकरणस्य वस्त्वन्तरासाधकत्वात्)

Another argument laid down to prove vyañjanā is that when we use two different expressions "Anenedamuktam" i.e. it has been said by this or vyañjitam i.e. suggested, both of them express different meanings (Pratītyorvailakṣaṇyāt). In other words we have to accept both Abhidhā and vyañjanā as different powers

But in the opinion of Siddhicandra, in both the above cases viz. anenedamuktam or vyañjitam, there is no difference in the comprehension of the meaning. The same meaning can be comprehended if we apply the power *Lakṣaṇā* or *Inference.*

Another argument put forth by *prima facie* that if there is no need of vyañjanā and everything is proved by inference (anumāna), the whole of the procedure of comprehension of knowledge should be different. The comprehension is, "ghaṭam ānaya" (bring the jar) should not be through Ākāṅkṣā, yogyatā etc but should have a full procedure following inference only. To explain, the procedure should not be directly related to comprehension of 'a jar' through perception but should be comprehended through inference only in order to establish the harmony in the system.

Siddhicandra has accepted this challenge in order to establish inference. In his opinion juxtaposition (yogyatā) has no special definition and it communicates only an unqualified doubtful knowledge.[1] For the comprehension of knowledge, doubt is an obstruction. Inference in one of the means of removing the doubt when the words are the referents, there is no need of any type of application of vyāpti. In agninā siñcati, there is no semantic juxtaposition and we can infer the incorrectness of the use although grammatically it is correct. In the opinion of Siddhicandra, even by the application of inference we do not reach a different conclusion. So the validity of the comprehension of words through inference is also correct. Hence there is no need of far-fetched power vyañjanā.

Conclusion :

Siddhicandra believes in the direct and definite meaning of speech. The uncertainty of speech in vyaṅgya does not suit him. In his opinion words express definite meaning The meaning through inference is nearer to the denotative meaning because it has a relevance to the words used whereas vyañjanā has no certainty. The uncertainty in meaning would perhaps, bring anarchy not only in the language but also in the society which would apply it for its own profit and would defeat the fundamental purpose of language by false and incorrect subjective interpretations. It was against the norms of 'satya' in Jain ethics. It appears in order to bring harmony of language with Jain ethics, Siddhicandra preferred to accept 'inference' as the medium for correctness of words and gave up the conceitful expression vyañjanā.

---

1. K. P. Khaṇḍana p. 11.
   संशयसाधारणज्ञानस्य करणत्वात् ।

The Rāmāyana of Vālmīki and the Jaina Purānas

– Dr. Upendra Thakur

I

Although there is no sanction for the Brāhmanical way of life in Jainism, the epics nevertheless exert considerable influence on ideas and messages, legends and myths and moral of Jaina mythology. A study of the early texts of Jainism would show that the epics occupied a prominent position among the Jainas during the period of the redaction of the Jaina canons. They served them not only as guides in mundane affairs but also as perennial sources of inspiration on ethical and spiritual planes. This resulted in the influx of a number of non-Jaina customs and practices into the Jaina society. The popular appeal of these elements was so great that the Jaina savants had to formally sanction them towards the end of the first millennium A.D.[1] In fact, the epics exerted such a tremendous influence on the minds of the adherents of the faith that it became difficult for the Jaina preachers to win them over, to pure Jainism. They found the epics more inspiring than the Jaina works,[2] which is confirmed by the fact that the first Jaina Purāna, by such a staunch advocate of Jainism as Vimalasūri, relates to the life-story of Rāma, and the Jaina versions of Rāma-biography, by far, outnumber the Purānic works on any individual *Śalākāpurusa*.[3]

The influence of the epics has been so great with the protagonists of the Jaina faith that they, directly or indirectly, recognised it "by way of reactions shown against these works in the introductory portions of their Purānas".[4] A close analysis of the reactions of the Jaina authors would make it clear that the Jaina Purāṇas have been considerably enriched by the ideas and plots taken from the epics. The circumstances leading to the borrowing of various ideas and themes by the Jaina authors may be explained by the fact that the majority of the Jainas were converts from the Brahmanical faith, brought up in the Brāhmanical epic-Purānic environment,[5] which is further testified by the elaborate *Dīksānvayakriyās* to be performed by the converts before they were received into the Jaina faith. Infact, an impartial analysis of the Jaina customs and manners, beliefs and superstitions would clearly prove that they were chiefly moulded by the ideals set forth by the two great epics.[6] Difference in their religious practices resulting from the change of faith made

1. *Yaśastilaka*, BK. VIII, Sec 34 ; K K Handiqui, *Yaśastilaka and Indian Culture*, p. 332.
2. Cf. Ayodhya Prasad Goyaleya, *Rāma and Mahāvīra* in *Śrī Mahāvīra Comm. Vol*, Vol. I (1948-49).
3. V.M. Kulakarni, Introduction to *Paümacariya* (PTS ed), Canto. II, pp. 5-7.
4. S D. Jha, *Aspects of Brahmanical Influence on the Jaina Mythology*, p 15 ; Also see ***Paümacariyā***, Canto. II, 105-117 ; *Padmacarita*, *Parva* 2, verses 230-35 , *JVH* , 45. 150-57 ; ***SPC***, 1-10, 1-9 ; ***PMP***, LXIX, 3 3-13.
5. *Mahāpurāna*, 39. 1-80.
6. R.C. Majumdar, *The Age of Imperial Unity*, p. 252

no significant change in their age-old mental frame, and for centuries the epics remained their principal guides which served as a suitable outlet for their emotions and aspirations. This necessitated incorporation of some myths and legends of universal appeal in their corpus, though in somewhat Jainised way.[1]

It was probably this state of affairs that led to the inclusion ot the *Rāmāyaṇa* and the *Mahābhārata* in the Jaina curriculum of education before the compilation of the Jaina canons.[2] In the *Anuyogadvāra* the recitation of the two epics is referred to as a compulsory rite to be performed without fail.[3] But, the introduction of "that hybrid education produced a reaction which was not conducive to the progress and popularity of the faith, for it began to dampen people's conviction in the Jaina religion in which, the lay adherents could not find any scope for the realisation of their ideals."[4]

A close examination of the methods by the Jaina thinkers to counteract the ascendancy of the epics and "to ensure the unswerving adherence of the lay to the faith".[5] would show that the Jaina authors adopted the very method of the great epics—the *Rāmāyaṇa* and the *Mahābhārata* which in the beginning they had condemned. The same epican ideas and plots, under the garb of Jainism were reproduced by the Jaina authors, showing clearly that they endeavoured "to provide the common people with some such documents as could serve as suitable substitutes for the Brāhmaṇical epics and Purāṇas''.[6] Thus, they utilised the epic-Purāṇic tradition in their own pantheon with necessary modifications with the result that almost all the epic-Purāṇic gods and goddesses, Gandharvas and Yakṣas and a host of other mythical figures as well as myths and legends connected with them were fully assimilated in the Jaina religious beliefs and the Purāṇas.[7] The nature and contents of the Jaina *Caritas* and *Purāṇas* as well as the tone and technique are strikingly similar to those of the epics. "It has been rightly said that with the exception of the *Purāṇas* written in *Prākṛta* and *Apabhraṁśa*, all the *Purāṇas* are composed mainly in *anuṣṭubha* metre—a favourite metre of the epics—with occasional introduction of later *Kāvya* diction."[8]

II

Coming to the Rāmāyaṇa, we find that Vimalasūri's *Paümacariya* (c.100 A.D.) is the earliest existant non-canonical literary Śvetāmbara work written, according to the poet himself, 530 years after the emancipation (siddhi) of Lord Mahāvīra This Jaina Purāṇa narrates the story of the *Vālmīki-Rāmāyaṇa* though "in a Jainised way".[9] As regards the details there are many points of difference, nevertheless the general run of the narrative makes no significant departure from the traditional accounts of Rāma's exploits. A study of this work, in between the lines, would show that even where changes have been introduced, the similarities are really "far more striking than the differences".[10] The introductory portion of this Jaina

---

1. S.D. Jha, *op cit.*, p. 16 ; Also cf. *Uttarādhyāyanasūtra* which is replete with such references.
2. Cf. *Anuyogadvāra*, Su. 25.
3. J C. Jain, *Life in Ancient India as depicted in the Jain Canons*, p. 171.
4. S.D. Jha, *op cit.*, p 16.
5. *Ibid*, p. 16.
6. S.D. Jha, *op cit*, pp. 16-17.
7. *Ibid*. p. 17.
8. *Ibid*, p. 17.
9. V.M. Kulkarni, *Paümacariya*, Intro. pp. 5-6 ; "The Origin and Development of the Rāma-Story in Jaina Literature" in *Journal of the Oriental Institute*, Vol. IX, No. 2.
10. S.D. Jha, *op. cit*, p. 18.

Purāṇa is quite interesting as it shows how the Jaina authors reacted against the *Rāmāyaṇa* of Vālmīki despite the fact that they have drawn heavily from the great Indian epic [1]

This celebrated poem of Vimalasūri is also known as *Rāghavacaritam*. A study of a few verses of the second chapter of this work marks out clearly his attitude towards the Brāhmaṇical Rāma-story, represented by Vālmīki. The work undoubtedly shows Vimala's deep familiarity the original *Rāmāyaṇa* of Vālmīki to which he has referred by name, and has also mentioned events, "described in the original version, using almost the same language" [2] His description of Kumbhakaraṇa and his undisturbed sleep for six months is on the same pattern as we have in the *Vālmīki Rāmāyaṇa* [3] But, as a devout Jaina and a firm believer in the doctrine of non-violence he is not prepared to believe that the demons (Rākṣasas) of Laṅkā consumed animal flesh. He calls these Rākṣasas as Vidyādharas, "though sometimes he forgetfully calls them also Rākṣasas"[4] who are throughout his work protrayed as staunch Jainas Although he writes the story of Padma (Rāma), he actually eulogises, in the first half of his story, Rāvana who "like Naravāhanadatta, appears in this poem as perfect knight-errant. As a matter of fact, the ghost of Naravāhanadatta looms large in all the literary works beginning from Vimalasūri down to Hemacandra."[5]

Vimala not only shows his full acquaintance with the events narrated in the Sanskrit *Rāmāyaṇa*, he was also thoroughly conversant with its language Although he criticises the earlier poets by contemptuously calling them *Kukavi* (bad poets), *mūḍhaḥ* (fools), he actually follows in their footsteps and freely borrows phrases and expressions of the original *Rāmāyana*. Moreover, while telling the story of Rāma and Rāvaṇa he also brings in something about different Jaina tīrthankaras and other interesting details, obviously a product of his own imagination.[6]

A comparative study of the Sanskrit *Rāmāyana* and the Prākrta poem of Vimala leaves us in no doubt that the latter, (Ist century A.D.), has deliberately followed the original Rāma-story although he has shown his Jaina bias here and there [7] However, the work of Vimalasūri forms the foundation on which later Jaina writers such as Raviṣena, Svayambhū and others "built lofty edifices"

The *Vasudevahiṇḍī* is another non-canonical Śvetāmbara text written by Saṅghadāsagaṇi Vācaka and Dharmasenagaṇi in the Gupta period. It is probably the earliest imitation of the famous *Bṛhatkathā* written by Guṇāḍhya in the Paiśācī language in the time of the Sātavāhanas The story of Rāma, as given in this text, is almost entirely taken from the original *Rāmāyana* though, like the *Padmacarita* we come across deviations in respect of certain characters such as Lakṣmaṇa, not Rāma, killing Rāvaṇa. Similarly, a perusal of Haribhadra's *Samarāic-chakahā* leads us to conclude that his only purpose was to ridicule the stories of the Hindu epics and Purānas.[8]

The second great work belonging to this category in chronological order, is the *Padmacarita* or

---

1. *Paümacariya*, 2. 107-117 , 3 8-16
2. A.K. Chatterjee, *A Comprehensive History of Jainism*, p. 274.
3. *VR*. VI. 60. 27-63 & VI. 61.28.
4. *Rāghavacaritam*, 2.105 ; 7 92 , A.K Chatterji, *op cit.*, p 275 ; For details see Hiralal Jain, *Bhāratīya Sanskriti men Jainadharma Kā Yogadāna*, pp 120-134, 153
5. A.K. Chatterjee, *op cit*, p 275
6. For other details see *Ibid*, pp 274-77.
7. For details see *Ibid.*, p 278 ; Nathuram Premi, *Jaina Sāhitya aura Itihāsa* (Hindi), Bombay, 1956, pp 87-101 ; Jagadish Chandra Jain, *Prākṛta Sāhitya Kā Itihāsa*, p. 527ff.
8. For other details see Jagadish Chandra Jain, *Prākṛta Sāhitya Kā Itihāsa* (Hindi), Varanasi, 1961, pp. 390 ff

Padma-Purāṇa (A. D. 678) of Raviṣena,[1] which is a faithful Sanskrit version of the Prākṛta *Paümacariya* of Vimalasūri. However, the interesting point to take note of in this connection is that Raviṣena imitates Vimalasūri wholesale but makes no acknowledgement of his indebtedness to the latter anywhere, probably because the former was a staunch Digambara, and the latter a devout Śvetāmbara. The introductory chapter of this work also betrays the same critical attitude[2] towards the *Rāmāyana* of Vālmiki as in the *Paümacariya*. It has been rightly suggested that "the way, in which the reflection is found, is an obvious evidence of the author's anxiety for minimising the fame and popularity of the Vālmiki *Rāmāyana* among the Jaina lay. This undoubtedly proves that the *Rāmāyaṇa* was fairly popular and accurately known and widely studied among the Jainas during this period. As regards the accounts of the families of Rāma and Rāvaṇa the Jainas had no well-established tradition howsoever to fall back upon. Vimalasūri himself says that the Rāma-story existed in the form of a list of names and was handed down from teacher to his pupil in regular succession.[3] The Jaina authors although claim a very old tradition for their legendary narratives, yet there seems to have been an earnest desire on their part to invest their versions with an element of antiquity and authenticity with a view to proving an ancient tradition of the Rāma-story in Jaina mythology

It seems that before the advent of Raviṣena on the literary scene, there flourished one Kirtidhara who attempted to translate the Prākṛta *Kāvya* of Vimala, but the popularity of Raviṣena's work completely overshadowed the poem of Kīrtidhara which was almost foregotten in subsequent years The *Padma-Purāṇa* or *Padmacarita* is not a mere translation, it is a brilliant piece of poetical fervour, and the description of war-preparations and love-scenes remind us of Bāna's style which seems to have inspired all his writings.

The *Rāghava-Pāṇḍavīya* or *Dvisandhāna*, an epic in eighteen cantos, was composed by the well-known Dhanañjaya about whose personal life we know nothing except that his father was one Vāsudeva and his mother one Śrīdevī. This work has been highly spoken of by many eminent poets including Rājaśekhara. The theme of this work is based on the two Hindu epics—The *Rāmāyana* and *Mahābhārata* and "unlike most Jaina works the characters are not represented as embracing the religion of the Jinas".[4] Dhananjaya was inspired by the writings of the great Sanskrit poets such as Kālidāsa, Bhāravi and Māgha, and he in turn inspired the later Jaina poets and philosophers from 800 A. D. which is evident from a study of their works

The *Harivaṁśa Purāna* of Jinasena (A. D. 783) is another great work in this field and is considered to be the earliest known Jaina version of the Brāhmanical *Harivaṁśa* It is true, Jinasena has introduced many changes as regards the detailed description of the exploits of the members of the Hari-dynasty, nevertheless the main theme does not in the least betray any departure from the original account given by Vālmiki in his *Rāmāyana*. This is particularly true of the gnomic-didactic and descriptive passages containing both idealogical and phraseological parallelisms : for instance, verse 77 of the eighth *parvan* of the *Ādi-Purāna*[5] of Jinasena which describes the utter impermanence of the worldly objects is somewhat akin to

---

1. R. C. Majumdar (ed.), *The Age of the Imperial Guptas*, p 292.
2. *Padmacarita*, 3 17-27 ; 8.146-49.
3. *Paümacariya.* :

    नामावलियनिबद्ध आयरिय परंपरागय सव्वं ।
    वोच्छामि पउमचरियं अहाणुपुव्विं समासेण ॥

4. A K. Chatterjee, *op cit* , p 303.
5. *Ādi-Purāṇa*, 8 77 :

    सुखं दु:खानुबन्धीदं सदा सनिधनं धनम् ।
    संयोगा विप्रयोगान्ता विपदन्ताश्च सम्पद: ॥

the one, found in the *Vālmiki-Rāmāyaṇa*.[1] When Jinasena describes poetically the autumnal moon-lit night, the influence of Vālmīki can be clearly discerned. Like Vālmīki he also conceives "the starry night with the brilliantly shining moon as a lake abounding in lilies and occupied by a swan".[2] In fact, the description of the autumn by Jinasena is "an ingenious imitation of the *VR* which has given the former not only a powerful vocabulary of literary terms but also whetted his imaginative brain for the graphic description of several situations".[3] The pen-sketch presented by Jinasena of the autumnal bellowing of the excited bulls—enraged at the right of the counterparts and ready for fight, "with reddened eyes, and scratching ground with their hoofs" is almost similar to the one given by Vālmīki in his Rāmāyaṇa.[4] In other words, if we make a close and careful comparative study of all the Jaina *Purāṇas* on the one hand and the *Rāmāyaṇa* on the other, we shall come across several cases of verbal agreement between them[5] Besides the Hari-dynasty, Jinasena, while describing the exploits of Vāsudeva, shows his "ingenuity in inventing new situations by blending together the materials borrowed from the *Vasudevahiṇḍi* and the *Bṛhatkathā*".[6]

Guṇabhadra, like his great preceptor Jinasena, was also an accomplished poet who had composed the last portion of his teacher's great work, the *Ādipurāṇa* and the whole of the *Uttara Purāṇa*.[7] But, he has also deliberately distorted the story of Vālmīki as given in chapters 67-68 of his work which depicts Daśaratha, like the *Daśaratha Jātaka*, as king of Vārāṇasī, Sītā as daughter of Rāvaṇa and Mandodarī, one Subālā as Rāma's mother, and Lakṣmana as son of Kekayī. This story of Guṇabhadra follows closely

1. *VR*. II. 105.16 :

सर्वे क्षयान्ता निचया: पतनान्ता समुच्छ्रया: ।
सयोगा-विप्रयोगान्ता मरणान्त च जीवितम् ।।

2. Cf. the following two verses :

तारकाकुमुदाकीर्णे नभः सरसि निर्मले ।
हंसायते स्म शीतांशुर्विक्षिप्तकरपक्षति· ।।
(*Ādi-Purāna*, 26 27).

सुप्तैकहंसं कुमुदैरुपेत महाह्रदस्थ सलिल विभाति ।
घनैर्विमुक्ते निशिपूर्णचन्द्र तारागणाकीर्णमिवान्तरिक्षम् ।।
(*Rām. Kiṣk* 30.48).

3. S. D. Jha, *op. cit.*, p. 4.
4. Cf. the following verses :

दर्पोद्धुरा. क्षुरोत्खातभुवः ताम्रीकृतेक्षणा ।
वृषा: प्रतिवृषालोककुपिता: प्रतिसस्वनु: ।।
(*Mahāpurāna* of Ādiṣena, 26 42).

शरद्गुणाप्यायितरूपशोभा प्रहर्षिता पासुसमुक्षिताङ्गा. ।
मदोत्कटा: सम्प्रति युद्धलब्धा वृषा गवां मध्यगता नदन्ति ।।

(*Rām-Kiṣki*. 30.38). Also cf. *Rām. Kiṣk*. 30.47 ff and *Mahāpurāṇa* 26.35 ff.

5. Cf. the following :

न च सकुचित· पन्था येन वाली हतो गत. ।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगा. ।।
(*Rām*. IV. 30.81).

ना साहसगतेर्मार्ग राम. सकुचितो न स: ।।

(*Triṣastiśalākāpurusacarita* of Hemacandra, 7 6. 189 b).

6. S. D. Jha, *op. cit.*, p. 19.
7. Edited published : Bharatiya Jñānapītha, Varanasi, 1954. An earlier edition of this work was published from Indore in V S. 1975.

the story told in the *Adbhuta-Rāmāyaṇa*. Similarly he has brought in many changes while treating the story of the *Mahābhārata*. But, unlike other Jaina poets, Guṇabhadra has the frankness and sincerity to advise his readers to consult the original text for details.[1]

The *Dhūrtākhyāna*[2] of Haribhadra is an interesting composition containing five *ākhyānas* or stories which are full of satirical remarks on the various characters in the *Rāmāyaṇa, Mahābhārata* and *Purāṇas*, true to the Jaina tradition of ridiculing the Hindu epics.

Svayambhū's *Paümacaria*[3] (C. 700-900 A. D.)[4] is the third known work on the life-story of Rāma. Written in *aprabhaṁśa*, the work follows Vālmīki more closely than those of his predecessors, and like Vālmīki he has also divided his work into five books, called *Kāṇḍas* which, with the exception of the first *Kāṇḍa*, bear the same names as in the *Vālmīki-Rāmāyaṇa*. As to the nomenclature of the first *Kāṇḍa* it has been rightly suggested that the author has, like the earlier Jaina *Purāṇakāras*, followed the novel tradition of absolving the *Rākṣasas* of the *Vālmīki-Rāmāyaṇa* from their abominable *Rākṣasa*-hood by portraying them as the off-springs of the Vidyādhara race. As the first book deals with the origin of the Vidyādharas, it has been styled as *Vidyādhara-kāṇḍa*. The five *Kāṇḍas* as named by Svayambhū are as follows :

(i) *Vijjāhara-kāṇḍa* (*Vidyādhara-kāṇḍa*).
(ii) *Ujjhā-kāṇḍa* (*Ayodhyā-kāṇḍa*).
(iii) *Sundara-kāṇḍa* (*Sundara-kaṇḍa*).
(iv) *Jujjha-kāṇḍa* (*Yuddha-kāṇḍa*)
(v) *Uttara-kāṇḍa* (*Uttara-kāṇḍa*).

Except in the first *Kāṇḍa*, there is no remarkable difference in details so far as other *Kāṇḍas* are concerned. The spirit of the age, which accepted one Supreme Soul of the universe, the Highest Reality (*Parātpara*), effected emotional integerity among the various sects of Hinduism, and this trend also seems to have influenced Svayambhū to a large extent. Inspired by the idea of essential unity among the divergent god-concepts, he applies to the Jinas all the popular names and epithets of the gods such as Nārāyaṇa, Dinakara, Śiva, Varuṇa, Hari, Brahmā, Hara, Buddha etc., and these have been used to suggest one Absolute Reality, *albeit* in the form of the *Jina*.[5]

The *Mahāpurāṇa* of Puṣpadanta (950-965 A D.),[6] also known as *Triṣaṣṭimahāpuruṣaguṇālaṅkāra*[7] is a voluminous book written in *apabhraṁśa* and follows closely the *Mahāpurāṇa* of Jinasena-Guṇabhadra. As the title shows, the book deals with the life-stories of all the sixty-three great men of Jaina mythology, but the most remarkable thing about the author is that Puṣpadanta, unlike his predecessors, does not criticise Vyāsa : on the other hand, he shows high regards for his reputed literary achievements and his list enumerates the works of Patañjali as well as the *Itihāsa-Purāṇas*, Bhāravi, Bhāsa, Vyāsa, Kālidāsa, Caturmukha, Svayambhū, Harṣa, Droṇa, Bāṇa[8] and others whose thorough study is unavoidably indispensible for one who

1. *Uttara-Purāṇa*, 25.115 For other details see A. K. Chatterjee, "The Bharata Tradition in Jaina Literature, in *JAIH*, Vol. VII, p. 159 ff.
2. Jagadish Chandra Jain, *Prākṛta Sāhitya Kā Itihāsa*, p. 412 ff.
3. Critically edited by H. C. Bhayani and published by Bhāratīya Vidyā Bhavan, Bombay.
4. *Ibid*, Intro pp. 7-9.
5. S.D Jha, *op cit.*, p. 27.
6. P.L. Vaidya (ed). *Mahāpurāṇa*, Intro. pp. XXXI-XXXV.
7. Ed. P.L. Vaidya and pub. by Manikchand Digambara Jainagranthamala, Bombay.
8. *Mahāpurāṇa* of Puṣpadanta, 1.9.3-5.

wants to become a good poet. This shows that Puṣpadanta must have been quite conversant with the works of these great authors. "However the sense of spontaneous acknowledgement of Vyāsa's importance later gives way to sectarian prejudices against the immortal poet",[1] as Puṣpadanta, in the introductory part of his version of the Rāma-Story, betrays the same reaction as is found in the works of other Jaina authors. Surprisingly all his praise for Vyāsa turns into hatred for him and, along with Vyāsa, Vālmīki also becomes his principal target of attack "for deluding people with their (false) teachings".[2] But, all the popular Epic-Purāṇic names and epithets of the Brāhmanical trio given by Jinasena to the first *Jina* further shows how greatly he was influenced by the Indian classics in general and the *Rāmāyana* in particular.

But, Śīlāṅka, author of the first known Śvetāmbara Purāṇa[3] (868 A.D.), entitled *Caüppannamahāpurisacariya,* makes a pleasant departure from his great predecessors in this respect. He does not criticise either Vālmīki or Vyāsa, and shows high regards for the *Mahābhārata* to which he alludes as the *Bhāratakathā.*[4] While telling his Rāma-story, he follows Vālmīki more closely than his Jaina predecessors.[5] Hemacandra has in most cases hinged together different tales of the epic-origin to suit the taste of the faithfuls. Some of the epican and Purāṇic episodes have been interspersed with the purpose of illustrating some points and a few others, mentioned with a view to lending "charm and colour to the contextual description."

In the twelfth century Hastimalla wrote four plays such as *Vikrānta-Kaurava, Subhadrā-Maithilīkalyāṇa* and *Añjanā-Pavanañjaya.* The first two are based on the themes from the *Mahābhārata* and the last two on the *Rāmāyana* of Vāmīki. The narrative and characters as depicted in this work are modelled on the same pattern as in Guṇabhadra's *Uttara-Purāṇa,* and as such need no detailed mention.

However, we shall be badly mistaken if we believe that this influence was one-sided. As we know, various faiths developed side by side and derived the sap of life from the same sections of people, who also professed the same cult and creed. It is, therefore, natural to expect these religious faiths exercising mutual influences in the field of religion and ethics. In the present study we have simply tried to discuss mainly those elements which were either unknown to, or neglected or even ridiculed by the compilers of the Jaina canons, but were later incorporated into the corpus of the Jaina Purāṇic literature "under the pressing influences of the Brāhmanical Epic-Purāṇic tradition."[6]

के चिदर्थस्य सौन्दर्यमपरे पदसौष्ठवम् ।
वाचामलंक्रिया प्राहुस्तद्द्वयं नोमतं मतम् ॥
सालंकारमुपारूढ-समुद्भूत-सौष्ठवम् ।
अनुच्छिष्टं सतां काव्यं सरस्वत्या मुखायते ॥

कितने ही विद्वान् अर्थ की सुन्दरता को वाणी का अलंकार कहते हैं और कितने ही पदों की सुन्दरता को, किन्तु हमारा मत है कि अर्थ और पद दोनों की सुन्दरता ही वाणी का अलंकार है। सज्जन पुरुषों का जो काव्य अलंकार सहित, शृंगारादि रसों से युक्त, सौन्दर्य से ओत-प्रोत और उच्छिष्टतारहित अर्थात् मौलिक होता है वह सरस्वती देवी के मुख के समान आचरण करता है।

आचार्यजिनसेन, आदिपुराण, पर्व १, श्लोक ९५-९६

1. S.D. Jha, *op cit* p. 29
2. *Mahāpurāna,* LXIX. 3.11 :
"वम्मीय-वास वयणिहिं णडिउ अण्णाणु कुमग्गकूवि पडिउ ।"
3. Ed. Amritdak Bhojak and published by Prākrt Text-Society, Varanasi.
4. *Cauppannamahāpurisacariya,* p. 111.
5. V.M. Kulkarni, "The Rāmāyana Version ...." in *ABORI,* Vol. XXXVI, pp. 46-53.
6. S.D. Jha, *op cit.,* p. 13.

जैन-साहित्य में राम-भावना

डॉ० शशिरानी अग्रवाल

भारत मे जैन और बौद्ध दर्शन वेद को प्रमाण न मानने वाले दर्शनो मे सबसे प्राचीन तथा विशिष्ट हैं। "बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन-धर्म अधिक, बहुत अधिक प्राचीन है, बल्कि यह उतना ही पुराना है जितना वैदिक धर्म।"[1]

राम-कथा केवल हिन्दू धर्म मे ही प्रचलित नही, बल्कि बौद्ध और जैन साहित्य मे भी बहुत लोकप्रिय रही। वाल्मीकीय रामायण की रचना के उपरान्त राम को केन्द्र बनाकर सस्कृत में विपुल धार्मिक और ललित साहित्य रचा जाने लगा। उसकी लोकप्रियता से बौद्ध और जैन धर्मावलम्बी भी इस ओर आकृष्ट हुए। हिन्दू धर्म की प्रतिद्वन्द्विता मे अपने धर्म का प्रचार और प्रसार करने के लिए उन्होने पौराणिक चरित-काव्यो की रचना आरम्भ की, जिनमे उन्होने नूतन धार्मिक चरितो और आख्यानो की उद्‌भावना की और साथ ही हिन्दू धर्म मे प्रतिष्ठित राम और कृष्ण को अपनाया। हिन्दू धर्म की अपेक्षा अपने धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए उन्होने इन चरित-नायको को जैनमतावलम्बी के रूप में प्रस्तुत किया। इन कवियो का उद्देश्य जैन धर्म के प्रति समाज मे श्रद्धा उत्पन्न करना तथा विविध देवताओं को ऋषभदेव की शक्ति के रूप मे मानना था। उनकी यह नीति बृहत् धार्मिक योजना का एक अंग थी।

जैन साहित्य मे राम-कथा की दो धाराएँ मिलती हैं—एक विमल सूरि की और दूसरी आचार्य गुणभद्र की। पहली परम्परा का अनुकरण रविषेण और स्वयम्भू ने किया है। कन्नड में भी विमल सूरि की कथावस्तु को आधार बनाकर रामकथा का निरूपण किया गया।[2] यह वाल्मीकि की रामकथा के बहुत निकट है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में विमल सूरि की राम-कथा ही प्रचलित है, लेकिन दिगम्बर सम्प्रदाय में विमल सूरि की परम्परा को अधिक महत्ता देते हुए भी गुणभद्र की परम्परा भी मान्य है। गुणभद्राचार्य की परम्परा मे पुष्पदन्त ने 'पद्म-पुराण' की रचना की। विमल सूरि की परम्परा में जैन रामकाव्य प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रंश, राजस्थानी[3] और कन्नड भाषा में[4] प्रणीत हुए हैं। विमलसूरि की धारा पउमचरिय के रचना-काल (प्रथम शताब्दी-पश्चात्) से लेकर लगभग बीसवी शताब्दी के अन्त तक प्रवहमान रही[5] और गुणभद्र की परम्परा ९वी शताब्दी ई० से प्रारम्भ होकर १३वी शताब्दी ई० तक गतिशील रही।[6] जैन साहित्य की राम-कथा अपने विस्तार की विशेषता के साथ-साथ अन्य अनेक विशेषताओ को सजोये हुए है। जैन मान्यता के अनुसार निरन्तर गति-शील कालचक्र की प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी मे त्रिषष्टि शलाका-पुरुषो का जन्म हुआ करता है। जैन-पुराण मे चरित-वर्णन के लिए ये त्रिषष्टि शलाकापुरुष ही मान्य हैं। ये त्रिषष्टि शलाकामहापुरुष ऋषभदेव से लेकर महावीर तक चौबीस तीर्थंकर, भरत से ब्रह्मदेव तक बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ वासुदेव और नौ प्रतिवासुदेवो के रूप मे प्रत्येक कल्प मे होते हैं। पूर्व जन्मो के कर्मों के कारण इनके आगामी जन्म की परिस्थितिया, क्रिया-कलाप, शारीरिक लक्षण और रूप-रंग भी निश्चित रहते हैं। वर्तमान अवसर्पिणी के ६३ शलाकापुरुषों का जन्म हो चुका है। अब अगली उत्सर्पिणी के आने तक कोई शलाकापुरुष नही उत्पन्न होगा।[7] इस मान्यता के अनुसार राम, मुनिसुव्रत तीर्थं-

---

१. दिनकर, रामधारीसिंह सस्कृति के चार अध्याय, पृ० १२६

२. प्रो० मुगलि : कन्नड साहित्य, पृ० १२७

३. (विशेष विवरण के लिए देखिए- -राजस्थानी भाषा मे राम-कथा—मै०श० गुप्त अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ८४०-८४१) श्री अगरचन्द नाहटा ने श्वेताम्बर विद्वानो द्वारा रचित १४ और दिगम्बर विद्वानो द्वारा प्रणीत ८ रचनाओं का उल्लेख किया है।

४. हिरण्मय . कन्नड़-साहित्य में राम-कथा-परम्परा,(मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन ग्रन्थ), पृ० ७५१

५. आचार्यश्री तुलसी · 'अग्नि-परीक्षा' स० २०१७ में लिखित इसी परम्परा की जैन रामायण है।

६. उपरिवत्, पृ० ७८

७ उपाध्याय, डा० सकटाप्रसाद महाकवि स्वयंभू, पृ० ४४

कर के तीर्थ-काल में हुए थे।[1]

राम-कथा के प्रमुख तीन पात्र-- राम, लक्ष्मण, रावण- --क्रमश. आठवें बलदेव, वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव माने जाते हैं।[2] ये तीनों सदैव समकालीन रहते हैं। ध्यान देने योग्य है कि जैन-परम्परा मे रावण राम के विपरीत प्रति-बलदेव नही, बल्कि लक्ष्मण के विपरीत प्रति-वासुदेव है। इसीलिए जैन-ग्रन्थो में रावण का वध राम द्वारा न होकर लक्ष्मण द्वारा होता है। इसी भांति ब्राह्मण-परम्परा में वासुदेव संज्ञा जहा विष्णु के अवतार कृष्ण और संभवत: राम को दी गई है[3] तथा बलदेव सज्ञा लक्ष्मण की हो सकती है, वहा जैन-परम्परा मे इस क्रम को उलट दिया गया है। जैन-ग्रन्थों मे राम ही बलदेव हैं और लक्ष्मण वासुदेव। इस नाम-विपर्यय के साथ ही वर्ण-विपर्यय भी हो गया है। फलस्वरूप जैन लक्ष्मण श्याम-वर्ण है और राम का 'पद्म' नाम रूढ हो गया। जैन-परम्परा मे राम पद्म-वर्ण अर्थात् गौर-वर्ण माने गए हैं जबकि ब्राह्मण-परम्परा उन्हें बराबर नील-कमल की तरह श्याम-वर्ण मानती आई है। डॉ० रमेश कुन्तल मेघ के अनुसार वर्ण, प्रेम और कृपा----तीनों दृष्टियों मे राम मेघ-धर्मा हो गए हैं।[4]

जैन-परम्परा मे राम-कथा का सबसे प्राचीन क्रम-बद्ध वर्णन 'पउमचरिय' मे मिलता है, जिसके प्रणेता नागिलवंशीय स्थविर आचार्य राहुप्रभ के शिष्य स्थविर श्री विमल सूरि हैं। ईसा से प्रथम शताब्दी पश्चात् इस ग्रन्थ की रचना हुई। पउम-चरिय के आरम्भ मे ही कवि का कथन है कि "उस पद्म-चरित को मैं आनुपूर्वी के अनुसार सक्षेप मे कहता हूँ जो आचार्यों की परम्परा मे चला आ रहा है और नामावली निबद्ध है।"[5] 'णामावलियनिबद्ध' शब्द से प्रतीत होता है कि विमलसूरि के पूर्व जैन-समाज मे राम का चरित पूरी तरह विकसित नही हो पाया था।[6] यहा एक बार पुन: यह तथ्य उल्लेख्य है कि जिस समय विमलसूरि ने जैन राम-कथा का सविस्तार वर्णन प्रथम बार किया, उनके सामने न केवल जैन साधु-परम्परा मे प्रचलित 'णामावलिय निबद्ध' राम-कथा का रूप था, वरन् पूर्ववर्ती वाल्मीकि रामायण, बौद्ध जातको और महाभारत के रामोपाख्यान मे वर्णित राम-कथा के रूप भी अवश्य वर्तमान रहे होंगे। किन्तु विमलसूरि और परवर्ती जैन कवियों ने न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ ही पूर्ववर्ती राम-कथा को स्वीकार किया। यह परिवर्तन नामों से आरम्भ होता है।

जैन राम-काव्यो मे राम 'पद्म' हो जाते हैं। उनकी मा का नाम भी कौशल्या नही रह जाता। पउम-चरिय[7] के अनुसार पद्म (राम) की माता का नाम अपराजिता था और वह असहस्थल के राजा सुकोशल तथा अमृतप्रभा की पुत्री थी। शुक्ल जैन रामायण में भी पद्म की माता अपराजिता दर्भस्थल के राजा सुकोशल और अमृतप्रभा की पुत्री कही गयी है।[8] गुणभद्र के उत्तरपुराण तथा पुष्पदन्त के महापुराण मे पद्म की माता का नाम सुबाला माना गया है। पूर्व-जन्म-विषयक कथाओ के अनुसार कौशल्या पहले अदिति[9], शतरूपा[10] और कलहा[11] थी। राम के पिता का नाम जैन-परम्परा मे भी दशरथ है। वाल्मीकीय रामायण, रघुवश तथा हरिवशपुराण के अनुसार अज और दशरथ मे पिता और पुत्र का सम्बन्ध है किन्तु पउमचरिय (पर्व २१-२२) मे दशरथ की जो विस्तृत वशावली उल्लिखित है, उसके अनुसार अनरण्य के दो पुत्र थे—अनन्तरथ और दशरथ। अनन्तरथ अपने पिता अनरण्य के साथ जिन-दीक्षा ले लेते हैं, जिससे दशरथ को राज्याधिकार मिलता है। मुनिश्री शुक्लजी महाराज की रामायण मे दशरथ के पिता का नाम वर्णान्तर होकर अणरन्य हो गया है।[12]

जैन धर्म-ग्रन्थों में राम-कथा के प्रधान पात्रो के पूर्वजन्म की कथाओ को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया गया है। पउमचरिउ मे राम के तीन पूर्व जन्मों का उल्लेख है। जिसके अनुसार राम क्रमश: वणिक-पुत्र धनदत्त, विद्याधर राजकुमार नयनानन्द तथा राजकुमार श्री चन्द्रकुमार थे। लक्ष्मण किसी पूर्व-जन्म मे धनदत्त (राम) का भाई वसुदत्त था, बाद मे वह हरिण के रूप मे प्रकट हुआ तथा अन्य

---

१. जैन, डा० देवेन्द्रकुमार : अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृ० ८७
२. दिनकर, रामधारीसिंह संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ३७६, पादटिप्पणी ७
३. सिंह, नामवर मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ६८९
४. तुलसी : आधुनिक वातायन से, पृ० ३०६
५ णामावलियनिबद्ध आयरिय परागय सव्व ।
वोच्छामि पउमचरिय अहाणु पुव्वि समासेण ॥१/८
६ प्रेमी, नाथूराम : जैन साहित्य और इतिहास पृ० ९२
७. विमलसूरि, २२/१०६-७
८. प शुक्लचन्द्र महाराज शुक्ल जैन रामायण, पृ० १५८
९. विभिन्न ग्रन्थो में तपस्या द्वारा अदिति के विष्णु की माँ बनने का उल्लेख है—मत्स्यपुराण, अ० ७४३/९ तथा महाभारत, ३/१३५/३ तथा वाल्मीकीय रामायण (दाक्षिणात्य पाठ) १/२९ १०-१७
१०. पद्मपुराण, उत्तरकाण्ड, अ० २६९
११. उपरिवत्, अ० १०९
१२. शुक्ल जैन रामायण, पृ० १५८

जन्म में वह दशरथ-पुत्र हुआ।[1]

गुणभद्र के उत्तरपुराण में राम-लक्ष्मण अपने पूर्व जन्म में अन्तरंग मित्र थे, भाई नहीं। लक्ष्मण राजा प्रजापति का पुत्र चन्द्रचूल था तथा राम राजमंत्री का विजय नामक पुत्र था। दुराचरण के कारण राजा ने दोनों को प्राणदण्ड की आज्ञा दी थी, किन्तु मन्त्री उनको एक महाबल नामक साधु के पास ले गया। साधु ने भविष्यवाणी की कि वे वासुदेव तथा बलदेव होंगे, जिसे सुनकर चन्द्रचूल तथा विजय दीक्षा लेकर तप करने लगे और स्वर्ग मे क्रमशः मणिचूल तथा स्वर्णचूल देवता बन गए। अगले जन्म मे वे लक्ष्मण तथा राम के रूप मे प्रकट हुए।[2]

पुष्पदन्त द्वारा रचित 'महापुराण' या 'तिसट्ठि-महापुरिस गुणालंकार'[3] तीन खण्डों में विभक्त है। द्वितीय खण्ड में ६९ से ७९वीं संधि तक रामायण की कथा है। इसी को जैन मतावलम्बी पउम-चरिय या पद्म पुराण कहते हैं। 'महापुराण' (९५९-९६५ ई०) के राम और लक्ष्मण की पूर्वजन्म-विषयक कथा पूर्ववर्ती रचना गुणभद्र के उत्तरपुराण (नवीं शताब्दी) से पूर्णतः साम्य रखती है। स्वयंभूदेव के पउमचरिय (७००-८०० ई०) में भी राम-लक्ष्मण का भवान्तर कथन जैन मान्यतानुसार ही है। इसमे स्वयंभू का अपने पूर्ववर्ती कवियो से कोई उल्लेख्य पार्थक्य नहीं है। राम-लक्ष्मण के अतिरिक्त हनुमान, रावण आदि प्रमुख पात्रों के भी पूर्व भावो का वर्णन जैन-रामायणो में विस्तार से मिलता है। इस प्रकार विमल सूरि, रविषेण, जिनसेन, गुणभद्र, हरिभद्र आदि सभी जैन कवियों ने पुनर्जन्म और जन्मचक्र का विस्तृत वर्णन किया है। पूर्ववर्ती जन्म-वर्णन मे राम-लक्ष्मण का चरित्र भी अत्यन्त सामान्य मनुष्यो की तरह मानवीय दुर्बलताओं से युक्त दिखाया गया है।

समस्त जैन-साहित्य में राम-जन्म के पूर्व उनकी माताओ के स्वप्नों को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। पउमचरियं के पच्चीसवें पर्व मे इन स्वप्नो का विस्तार से वर्णन है। राम की माता से स्वप्न सुनकर दशरथ ने कहा था कि ये स्वप्न उत्तम पुरुष का जन्म सूचित करते हैं (इमे वरपुरिसं सुन्दरि पुत्तं निवेएन्ति)। पद्म-चरित के अनुसार भी ये स्वप्न 'महापुरुष-वेदी' (महापुरुष का जन्म सूचित करने वाले) थे। गुणभद्र के उत्तरपुराण में भी राम की माता के शुभ स्वप्नो का तथा कैकेयी के पाँच महाफल देने वाले स्वप्नो का उल्लेख किया गया है। इससे भी प्रमाणित होता है कि जैन धर्म मे राम को अवतारी रूप मे नही, महापुरुष के रूप मे ही चित्रित किया गया है। अवतारवाद के अभाव के कारण ही जैन रामकथाओ में दशरथ के किसी यज्ञ का निर्देश नही मिलता है।

जैन ग्रन्थों में पात्रों के पारस्परिक सम्बन्ध भी वाल्मीकि से भिन्न हैं। विमलसूरि के पउमचरियं में सर्वप्रथम भरत और शत्रुघ्न यमल माने गये हैं।[4] परवर्ती कुछ रामकथाओ में भी भरत और शत्रुघ्न सहोदर कहे गये हैं; उदाहरण के लिए संघदास की वसुदेव हिण्डी और गुणभद्र का उत्तरपुराण देखें। जैन उत्तरपुराण मे भरत लक्ष्मण के अनुज माने गये हैं। इसी प्रकार सीता भी पउमचरिय तथा अन्य अधिकांश जैन रामायणो मे भूमिजा न होकर जनकात्मजा हैं किन्तु गुणभद्र के उत्तरपुराण और वसुदेव हिण्डी मे वे रावणात्मजा हैं। जैन साहित्य के अनुसार जनक की पुत्री में गुण-रूपी धान्य (गुणशस्य) का बाहुल्य था, अतः भूमि की समानता होने के कारण उसका नाम सीता रखा गया —'भूमिसाम्येन सीता' (पद्म-चरित २६/१६६)।

जहाँ वाल्मीकि के राम 'स्वदार-निरत' हैं और लक्ष्मण सीता के चरणो तक अपनी दृष्टि सीमित रखते हैं, वहां जैन मान्यता के अनुसार राम के अनेक विवाह हुए थे। पुष्पदन्त की राम-कथा में राम की सीता के अतिरिक्त सात और लक्ष्मण की सोलह रानियां हैं। गुणभद्र के उत्तरपुराण मे राम की आठ हजार रानियां बताई गई हैं।[5] विमलसूरि के 'पउमचरिय' मे भी राम की आठ हजार पत्नियों में से सीता, प्रभावती, रतिनिभा तथा श्रीदामा प्रधान हैं। इन दोनो ग्रन्थो में लक्ष्मण की सोलह हजार पत्नियों का (जिनमें से विशल्या आदि आठ पटरानियां हैं) उल्लेख किया गया है। यहा पर राम और लक्ष्मण का चरित्र उन क्षत्रिय राजाओं का है जो युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् शत्रु-देश की सभी कुमारियो को अपनी पत्नी बना लेते थे। ऐसे स्थलों पर प्रायः राम स्वय को पीछे रख लक्ष्मण को आगे कर देते हैं; इसी से लक्ष्मण की रानियों की संख्या राम की अपेक्षा बहुत अधिक है। राम के गृहस्थी रूप का वर्णन भी किया गया है। गृहस्थ धर्म सब धर्मों का परम धर्म कहा गया है।(पउमचरिय, २/१३)। गुणभद्र के उत्तरपुराण में राम का १८० पुत्रो के साथ साधना करने का उल्लेख है।

१. पउमचरिय, पर्व १०३

२. गुणभद्र : उत्तरपुराण, सन्धि ६७, ६० आदि

३. जैन साहित्य में 'पुराण' प्राचीन कथा और 'महापुराण' प्राचीन काल की महती कथा का सूचक शब्द है। पुराण में प्राय एक ही महापुरुष का जीवनांकन होता है, महापुराण में ६३ शलाकापुरुषों का चरित्र-वर्णन होता है। पुष्पदन्त ने इसी विशिष्टता को दर्शाने के लिए अपने ग्रन्थ को 'महापुराण' या 'तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार' कहा है।

४. विमल सूरि : पउमचरियं, २५/१४

५. उत्तरपुराण, ७०/११/९-१०

विमलसूरि के 'पउमचरियं' मे सीता के दो पुत्रों के नाम लवण (अथवा अनग लवण) तथा अकुश (अथवा मदनांकुश) माने गये हैं (पर्व ९७)।

राम के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता उनके आचरण की सरलता और निष्कपटता है। परम जिन और जैन धर्म मे उनकी अपार श्रद्धा है। जैन धर्म के अनुसार मुनियो के दर्शन-लाभ और उन्हे आहार देने मे राम की विशेष रुचि दिखाई गई है। विमलसूरि के राम और लक्ष्मण वनवास की अवधि मे वंशस्थद्युति नगर मे जाकर देशभूषण और कुलभूषण मुनियों के दर्शन करते हैं तथा उन पर अग्नि-प्रभदेव के द्वारा किये हुए उपसर्ग को दूर करते हैं। राम वंशगिरि के शिखरो पर सहस्रों जिन-मन्दिरों का निर्माण करते हैं जिससे पर्वत का नाम वंशगिरि के स्थान पर रामगिरि हो जाता है। आगे चलकर वे सुगुप्ति और गुप्ति नामक दो मुनियो को आहार देकर पंचाश्चर्य की प्राप्ति करते हैं। गिद्ध पक्षी का पूर्वभव जानकर उसे 'जटायु' नाम देते हैं और रावण द्वारा आहत मरणासन्न जटायु को णमोकार मन्त्र सुनाकर मोक्षपथ-गामी बना देते हैं। राम और सुग्रीव की मैत्री-शपथ भी जिनालय मे जिन धर्म के अनुसार होती है।

राम की वन-यात्रा के सम्बन्ध मे इन परिवर्तनो से स्पष्ट है कि जैन धर्म का प्रभाव बढ़ाने के लिए ही इन कवियों ने वाल्मीकि से भिन्नता उत्पन्न की है।

पउमचरिय के अहिंसावादी राम कुम्भकर्ण को बन्दी बनाकर (पर्व ६१) युद्धोपरान्त मुक्त कर देते हैं। इसी प्रकार इन्द्रजित को भी बन्दी बनाकर (पर्व ६१) युद्ध के अन्त मे मुक्त कर देते हैं (पर्व ७५)। रामचरित-कथा मे ये परिवर्तन मुख्यत: दो कारणों से किये गए हैं—

१. जनश्रुतियों का प्राधान्य, तथा

२. सकल समाज को ऋषभदेव की शिष्य-परम्परा मे परिगणित करने का लक्ष्य।

इसलिए आधिकारिक कथा मे यत्र-तत्र जैन धर्म-शिक्षा, जैन दर्शन, साधु धर्म, कर्म-सिद्धान्त और पूर्वभव के वृत्तान्तो का विवेचन मिलता है। उदाहरणार्थ, वनवास मे राम सीता को उन सभी वृक्षो का नामपूर्वक सकेत करते हैं जिनके नीचे तीर्थंकरो को केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ था।[1]

जैन राम अहिंसक अवश्य हैं किन्तु भीरु नही। पउमचरिय के अनुसार राम तथा लक्ष्मण ने उन म्लेच्छो को हरा दिया था, जो जनक के राज्य पर आक्रमण करने की तैयारियां कर रहे थे (पर्व २७)। बचपन से ही उनमे अपार शक्ति और पराक्रम है।[2] स्वयम्भू के राम भी पवन की भांति थे जिन्होंने अग्निसदृश लक्ष्मण को साथ लेकर शत्रुसेना को ध्वस्त किया था।[3] इसी प्रकार सीता-स्वयंवर के अवसर पर एकत्र असंख्य अभिमानी राजाओ का मान-मर्दन प्रत्यञ्चा चढ़ाकर किया था। उन्होने वनवास के घटना-संकुल जीवन मे अनेक दुष्टो[4] का दलन और मान-मत्सर भंग किया था। अनेक सज्जनों[5] का परित्राण भी परोपकारी राम ने किया था।

किन्तु इन कवियो ने राम को देव-रूप में नही, वरन् मानव-रूप मे चित्रित किया है। पम्प रामायण के राम भी उच्चस्तरीय जीव हैं।[6] वे मानवीय गुणो और दुर्बलताओं से युक्त हैं। इसलिए सीता-हरण के अवसर पर सामान्यत: बहुत शान्त, धीर-गभीर दिखाई देने वाले राम के स्त्री-परायण हृदय का कोमल पक्ष उद्घाटित होता है। पउमचरिय के राम कुटिया मे सीता को न पाकर मूर्च्छित हो जाते हैं।[7] पउमचरिउ मे भी राम की ऐसी ही करुण स्थिति दर्शायी गई है।[8] लक्ष्मण के शक्ति लगने पर भी भ्रातृ-वियोग की आशंका उन्हे मूर्च्छित कर देती है।[9] पुष्पदन्त के राम भी वनस्पति और वन्य जीवो से सीता के विषय मे प्रश्न करते हुए विलाप करते हैं।[10] पउमचरिय (पर्व ९२-९४) के राम को, जनता से सीता की निन्दा सुनकर उसके चरित्र पर सन्देह हुआ और जिन-मन्दिर दिखलाने के बहाने अपने सेनापति कृतान्तवदन से उन्हें भयानक वन में छुड़वा दिया। परवर्ती जैन साहित्य मे—भद्रेश्वर की 'कहावली' (११ वी श० ई०), हेमचन्द्र की जैन रामायण (१३ वीं श० ई०), देव विजयगणि की जैन रामायण (१९५६ ई०) मे—सीता के त्याग का कारण सपत्नियों के अनुरोध पर

---

१. विमलसूरि . पउमचरिय, ३२/४-५

२. उपरिवत्, २१/५

३. स्वयम्भू : पउमचरिउ, २१/७

४. वज्रभूति, कपिल ब्राह्मण, महीधर, अनतवीर्य, अरिदमन, उत्पाती, यक्षादि, विटसुग्रीव, राक्षसादि, (पउमचरिय)।

५. वज्रकर्ण, बालिखिल्य, मुनिवर्ग, जटायु, सुग्रीव, विराधित (पउमचरिय)।

६. नागचन्द्र : पम्प रामायण

७. विमलसूरि, पर्व ४४

८. स्वयम्भू, ३९/२/९

९ वही, ६७/२

१०. महापुराण, ७३/४

सीता द्वारा बनाया गया रावण-चित्र माना गया है। स्वयंभू ने पहले राम में लोकमत के प्रति आदरभाव सीता-अपवाद के प्रसंग से दिखाया है किन्तु भूल ज्ञात होने पर राम के अनुताप का चित्रण भी सुन्दर किया है।[1] इसी प्रकार आचार्य तुलसी के राम भी बाद में पश्चाताप की अग्नि में झुलसते दिखाए गए हैं।[2] जैन साधु ब्रह्म जिनदास, गुणकीर्ति और विनयसमुद्र ने भी इस परम्परा मे राम का चरितांकन अपने काव्यों मे किया है। हिन्दू सम्प्रदाय में रावण आदि को राक्षस कहकर उन्हें निन्दा और भर्त्सना का पात्र ठहराया गया है। रावण के बाह्य और आन्तरिक रूपो में जो कुरूपता आ गई थी, जैन कवि उससे अत्यन्त क्षुब्ध थे। इसलिए पुष्पदन्त ने कहा है कि वाल्मीकीय रामायण और व्यास के वचनों पर विश्वास करने वाले लोग कुमार्ग-रूपी कुए मे गिर पड़ते हैं (महापुराण, ६९/३/११)। इन कुरूपताओं को दूर करते हुए कुछ जैन कवियों ने तो रावण को नायक पद पर प्रतिष्ठित करते हुए काव्य-रचनाएं कीं। जिनराज सूरि और मुनि लावण्य ने पृथक्-पृथक् 'रावण-मन्दोदरी-संवाद' नामक ग्रन्थों का प्रणयन रावण-चरित्र की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए ही किया। असंगतियों को यथासभव अपने ग्रन्थों मे दूर रखने के प्रयास ने और धार्मिक उदार दृष्टिकोण ने जैन रामकाव्यो को अनुपम विशिष्टता प्रदान की है। विद्याधर राक्षस और वानर-वश के प्रति जैनाचार्यों का दृष्टिकोण हिन्दुओ से अधिक सहानुभूतिपूर्ण प्रतीत होता है। इस विषय में जैन धर्म की उदारता की प्रशसा डॉ० हीरालाल जैन ने मुक्तकंठ से की है।[3] वाल्मीकि ने जहा इनके वशों का वर्णन अपनी कथा के उत्तरकांड मे किया है, वहा जैन कवियो ने राम-कथा का प्रारम्भ ही इनके विशद वर्णन से करना समीचीन समझा है। विमलसूरि ने पउमचरिय के ११८ उपदेशकों मे से २० मे, रविषेण ने पद्मपुराण के प्रथम १६ पर्वों में और स्वयभू ने प्रथम १६ सधियो मे राक्षसों, वानरो और विद्याधरों का वर्णन किया है।

इन्होंने राक्षसों और वानरो को विद्याधर वश की दो भिन्न मनुष्य जातिया कहा है। उन्हें कामरूपता एव आकाशगामिनी विद्याएं सिद्ध थी। विद्याधरो की उत्पत्ति के विषय मे पउमचरिय मे युक्तियुक्त वृत्तान्त मिलता है—श्री वृषभ (प्रथम तीर्थंकर) ने तपस्या करने के उद्देश्य से सौ पुत्रों मे से भरत को राज्य सौंपकर दीक्षा ली थी। बाद मे नमि और विनमि उनके पास पहुँचे और राजलक्ष्मी मागने लगे। विविध विद्याएं देकर ऋषभनाथ ने उन्हें वैताढ्य पर्वत (रविषेण के अनुसार विजयार्ध) अर्थात् विन्ध्य प्रदेश मे अपना राज्य स्थापित करने का परामर्श दिया। ये नमि और विनमि राजकुमार ही विद्याधरो के पूर्वज हैं। ध्वजाओ और भवन-शिखरो पर वानर-चिह्न रहने के कारण ही विद्याधर वानर कहलाए। मेघवाहन नामक एक विद्याधर की दीर्घ सन्तान-परम्परा मे राक्षस नामक ऐसा प्रभावशाली पुत्र हुआ कि उस वश का नाम ही राक्षस वश पड गया। हरिभद्र ने धूर्त्तायनम् (८वी शताब्दी ई०) मे तथा अमितगति ने 'धर्म-परीक्षा' (११वीं श०ई०) में वाल्मीकीय रामायण मे वर्णित हनुमान के समुद्र-लघन जैसी घटनाओ को असंभव और हास्यास्पद बताया है। ब्रह्म जिनदास ने हनुमतरास तथा सुन्दरदास ने हनुमान-चरित को नया स्वरूप प्रदान किया। इन तर्कसंगत आख्यानो को लक्ष्य करके ही श्री मुनि पुण्यविजय ने कहा है—"रामायण के विषय मे जैनाचार्यों ने अपनी लेखनी ठीक-ठीक चलाई है।"[4]

रामकथा-सम्बन्धी घटनाओ को लौकिक रूप मे चित्रित करने का प्रयास करते हुए जैनाचार्यों ने विद्याधर, राक्षस और वानर को एक ही मानवकुल की विभिन्न शाखाए बताया। ये आपस मे वैवाहिक सम्बन्ध भी करते है।[5] इनके वर्णनो में हिन्दू देवताओ जैसे इन्द्र आदि के नाम भी आए हैं—किन्तु जैन रामायणकारो ने उन्हे भी मनुष्य ही माना है और प्रत्येक को कभी न कभी जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण करते दिखाया है। पउमचरिय (पर्व १०८) मे हनुमान दीक्षा लेकर निर्वाण प्राप्त करते है एव विभीषण अपने पुत्र सुभूषण को राज्य सौंपकर जैन दीक्षा लेते हैं (पर्व ११४)। बालि भी दशानन के साथ जीव-नाशक युद्ध न कर, सुग्रीव को राज्य सौपकर दीक्षा ले लेता है।[6] रावण की धार्मिक प्रवृत्ति जैन रामकाव्यों मे कही-कही तो राम से भी बढी हुई है। युद्ध-काल मे राम जिन-पूजा भूल जाते है, पर रावण नही भूलता। पम्परामायण का रावण जिन-भक्त है। उसके महल मे जिनेश्वर की पूजा प्रतिदिन होती है। इसके रचयिता ने रावण को महापुरुष के रूप मे चित्रित किया है।[7] देव और दानव कुल का वर्णन करने पर यह सभव न होता। इसलिए इन कवियों ने अपने धर्म के प्रधान लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए हिन्दुओ के देव और दैत्य कुलो को भी मानव जाति मे परिवर्तित करके उनका वर्णन किया है।

इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए जैन राम-कथाकारों ने पात्रो के चित्रण मे जिन-वन्दना और जैनधर्मोपदेश-कथन के अवसर बार-बार ढूंढ निकाले हैं। सीता भी बाल्यकाल से ही जिन-भक्त हैं। जैनमतावलम्बी राम की सहधर्मिणी होने के कारण अनेक अवसरो पर वह जिन-

---

१. पउमचरिउ, ८३/१६/४
२. आचार्यश्रीतुलसी : अग्नि-परीक्षा, पृ० ८६
३. जैन, डा० हीरालाल . भारतीय संस्कृति मे जैनधर्म का योगदान, पृ० ४-५
४. मुनि पुण्यविजय · रामायण का अध्ययन, 'मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन-ग्रन्थ', पृ० ६७५
५. डॉ० कामिल बुल्के · रामकथा, पृ० ६४०
६. स्वयंभू पउमचरिउ, १२/११ २
७. नागचन्द्र : पम्परामायण

अर्चना करती हुई दिखाई गई हैं। अन्ततः केश-लुंचन करके (सिर के बाल नोंचकर) मुनि से दीक्षा ग्रहण करती हैं। विमल सूरि की सीता के दीक्षा-गुरु सर्वगुप्त नामक मुनि हैं और स्वयंभू की सीता सर्वभूषण से दीक्षा लेती हैं। नायक राम के चरित से भी ऐसे अनेक उदाहरण लिये जा सकते हैं। सीताहरण के पश्चात् घर लौटने पर राम की जिन-वंदना (पउमचरिउ २२/१), वन-गमन की पूर्व रात्रि में जिनाराधना (पउम चरिउ २३/१०/१), वनवास में चन्द्रप्रभु की प्रतिमा का दर्शन (पउम चरिय २५/७/६), दशरथ नगर में मुनियों का उपसर्ग-निवारण आदि ऐसी ही घटनाएं हैं। पत्नी-वियोग से व्याकुल राम अपने को सांत्वना देने के लिए भी जिन-मन्दिर में प्रार्थना करते हैं। (पउमचरिउ, ४०/१८), सीता की प्राप्ति के पश्चात् भी शान्तिनाथ की स्तुति करते हैं। सीता के जिन-दीक्षा लेने के पश्चात् वे तपस्वी हो जाते हैं। रत्न-चूल और मणिचूल नामक दो देवताओं द्वारा ली गई परीक्षा में उत्तीर्ण हो वे केवली हो जाते हैं और सत्रह हजार वर्ष तक जीवित रहकर निर्वाण प्राप्त करते हैं।[1] गुणभद्र के राम सुग्रीव, विभीषण आदि पांच सौ राजाओं तथा १८० पुत्रों के साथ साधना करते हैं और ३६५ वर्ष बीतने पर उन्हें निर्वाण प्राप्त होता है। स्वयम्भू के राम लक्ष्मण-वियोग से आतुर हैं। वे कोटिशिला पर तपश्चरण करते हैं और निर्वाण को प्राप्त होते हैं।[2] 'पउमचरिउ' की मन्दोदरी ने सीताहरण के पश्चात् रावण को समझाते हुए जो कुछ कहा है वह समस्त जैन धर्म का निचोड़ है। वास्तविकता यह है कि जैन साहित्य में 'राम-कथा' एक माध्यम मात्र है, जिसके द्वारा काव्य-प्रणेताओं ने जैन दर्शन के मूल-सिद्धान्तों का, सातों तत्त्वों (जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष) का सम्यक् निरूपण किया है। जैन रामकाव्यों में रावण-वध की भांति शम्बूक-वध भी राम द्वारा नहीं, लक्ष्मण द्वारा होता है (पउमचरिय, पर्व ४३)। बालि-वध भी लक्ष्मण ही तीक्ष्ण बाण से सिर काटकर करते हैं।[3] वध करने के कारण ही लक्ष्मण चतुर्थ नरक में जाते हैं। इस कल्पना में जैन अहिंसावाद का प्रभाव स्पष्ट है। इससे राम की महत्ता कम नहीं होती। लक्ष्मण की प्रेरक शक्ति और मार्गदर्शक राम ही हैं। सफलता लक्ष्मण को मिलती है, आशीर्वाद राम का होता है। धर्मचर्या और निःस्वार्थ कर्त्तव्य-परायणता में राम लक्ष्मण से आगे रहते हैं। धीरोदात्त नायक के समस्त गुण राम में पाये जाते हैं। राम के चरित्र को एक महान् आदर्श जिन-भक्त के रूप में चित्रित किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि रामकथा और राम का चरित्र जैन परम्परा में अवतारवाद की आदर्श भावना से मुक्त, यथार्थ एवं युक्तिसंगत कथा-प्रसंगों पर आधारित, कर्मफलवाद और पुनर्जन्मवाद से पोषित ऐसी शुद्ध मानवीय गाथा है जिसके रूप-स्वरूप में अनेक धार्मिक, दार्शनिक व साहित्यिक धारणाएं सम्बद्ध हैं। जैन धर्म-ग्रन्थों में राम वर्तमान अवसर्पिणी के त्रेसठ शलाका-पुरुषों में आठवें बलदेव के रूप में समादृत हैं। मुनि महेन्द्रकुमार प्रथम का यह कथन पूर्णतः सत्य प्रतीत होता है कि आज के बुद्धि-प्रधान युग में जैन रामायणें बुद्धिगम्यता की दिशा में अधिक प्रशस्त मानी गई हैं; वहां अधिकांश घटनाएं स्वाभाविक और सम्भव रूप में मिलती हैं।[4]

१. विमलसूरि पउमचरिय पर्व ११०-११८
२. स्वयम्भू : पउमचरिउ, सन्धि, ८८/१३
३. गुणभद्र : उत्तरपुराण, ६८/४६३
४. मुनि, महेन्द्रकुमार : अग्नि-परीक्षा, भूमिका, पृ० ७

महाकवि स्वयम्भू

हिन्दी-साहित्य की चर्चा अन्य प्रमुख भारतीय भाषाओं की भांति अपभ्रंश-काल से आरम्भ होती है। यह अपभ्रंश-काल ईसा की छठी शती से लेकर ११वीं शती तक माना जाता है। आचार्य चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक निबन्ध में पहली बार प्रतिपादित किया कि हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं—राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, ब्रज, अवधी आदि—की मां अपभ्रंश है, संस्कृत नहीं। फिर तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'बुद्ध-चरित' की भूमिका में और पं० केशवप्रसाद मिश्र ने 'कीथ ऑन अपभ्रंश' (इंडियन एण्टीक्वेरी, १९३१) लेख में इसी सिद्धान्त को व्यापक रूप से समझाने की चेष्टा की। दूसरी ओर श्री राहुल सांकृत्यायन ने 'हिन्दी काव्य-धारा—१९५५' लिखकर अपभ्रंश का साहित्य भी प्रस्तुत कर दिया। हिन्दी में भाषा की दृष्टि से महाकवि स्वयम्भू-कृत 'पउम-चरिउ' का नाम सबसे पहले आता है। डॉ० नामवरसिंह के अनुसार वर्तमान हिन्दी की उत्पत्ति समझने के लिए पीछे स्वयम्भू-काल तक जाना अनिवार्य है। साहित्य की दृष्टि से स्वयम्भू निश्चित रूप से अपभ्रंश का सर्वश्रेष्ठ महाकवि था (पउमचरिउ—प्र० भारतीय विद्या-भवन, बम्बई)। भारतीय साहित्य में उसका स्थान वाल्मीकि, कालिदास, चन्द, सूर और तुलसी की परम्परा में है। श्री राहुल सांकृत्यायन स्वयम्भू को तुलसी से ऊंचे स्तर का कवि मानते हैं।

श्री कृष्णाचार्य के निबन्ध 'हिन्दी पुस्तक जगत' से साभार
(—राष्ट्रकवि 'मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन-ग्रन्थ' पृ० ६८७)

जैन राम-कथा की विशिष्ट परम्परा

डॉ० योगेन्द्रनाथ शर्मा 'अरुण'

रामकथा जैन कवियों द्वारा विशेष सम्मान के साथ गृहीत हुई है। बौद्ध धर्मानुयायियों ने राम-विषयक मात्र 'तीन' जातक लिखे, किन्तु जैन धर्मानुयायियों ने अत्यन्त व्यापक रूप मे संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं मे 'राम-कथा' को निबद्ध किया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वाल्मीकि से आरम्भ होकर रामकथा सबसे अधिक विस्तार के साथ 'जैन साहित्य' मे ही अपनायी गयी। अपभ्रंश मे तो राम एवं कृष्ण के पावन चरित्रों को केवल जैन कवियो द्वारा ही कथा-ग्रन्थो का आधार बनाया गया, तथा यह तथ्य विशेष उल्लेखनीय है कि प्रबन्ध-शैली मे लिखा गया अपभ्रंश का पहला महाकाव्य 'पउमचरिउ' है, जिसके प्रणेता महाकवि स्वयम्भूदेव जैन मतानुयायी थे और 'यापनीय संघ' से सम्बद्ध थे।

जैन-साहित्य मे 'त्रिषष्टि शलाकापुरुषो' का स्थान सर्वोच्च है, जिनमे २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ वासुदेव तथा ६ प्रतिवासुदेव माने गये हैं। जैन-मान्यता के अनुसार निरन्तर गतिमान सृष्टि-चक्र की प्रत्येक 'उत्सर्पिणी' तथा 'अवसर्पिणी' मे इनका जन्म हुआ करता है। प्रत्येक 'बलदेव' का समकालीन एक 'वासुदेव' और उसका विरोधी 'प्रतिवासुदेव' होता है। वासुदेव अपने अग्रज बलदेव के साथ मिलकर प्रतिवासुदेव से युद्ध करके उसका वध करते हैं और इसी 'पाप' के कारण वासुदेव 'मरकर' नरक मे जाते हैं और अनुज के शोक मे बलदेव 'जैनधर्म की दीक्षा' लेकर अन्तत: मोक्ष प्राप्त करते हैं। जैन मतानुसार 'राम' वर्तमान अवसर्पिणी के त्रिषष्टि शलाकापुरुषों में ८वें बलदेव के रूप में समादृत हैं और लक्ष्मण तथा रावण क्रमश: ८वें वासुदेव और ८वें प्रतिवासुदेव हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन धर्म एवं संस्कृति में 'राम' को महत्त्वपूर्ण स्थान देकर हिन्दू-परम्परा का पोषण किया गया है।

राम का नाम 'पद्म' क्यों ?

प्राकृत एवं अपभ्रंश मे रचित राम-विषयक कथा-ग्रन्थों का नाम संस्कृत की परम्परा के अनुसार 'रामायण' आदि नहीं मिलता, प्रत्युत प्रत्येक भाषा मे रचित जैन-रामकथा मे 'राम' का नाम 'पद्म' (पउम) है और जैन रामायण का नाम तदनुसार 'पउम-चरिउ' (पद्म-चरित)है। ऐसा एक 'विशिष्ट' कारण से करना पड़ा है। ६३ शलाकापुरुषो के क्रम में ६वें बलदेव हैं 'बलराम' तथा वासुदेव एवं प्रतिवासुदेव हैं क्रमश: कृष्ण एवं जरासंध। चूंकि ८वें बलदेव 'राम' हैं तथा ६वें बलदेव हैं 'बलराम', अत: नाम-साम्य से सम्भावित गलतफहमी से बचने के कारण ही जैन कवियो ने 'रामचरित' को 'पउमचरियं' (पद्मचरितं) कहा है।

इस विशिष्ट परिवर्तन से जैन राम-कथा का रूप प्रचलित हिन्दू रामकथा से पूर्णत: पृथक् हो गया है। यहा राम के द्वारा रावण का वध नही होता, प्रत्युत लक्ष्मण के हाथों रावण की मृत्यु होती है तथा राम जैन धर्म की दीक्षा ले लेते हैं। स्वाभाविक है कि राम के 'शील-शक्ति-सौन्दर्य' वाले रूप की अवधारणा जैन राम-काव्यों में नहीं हो सकी; प्रत्युत उन्हें 'सामान्य मानव' के रूप में 'सौन्दर्य' का ही अधिष्ठाता दिखाया गया है। यही कारण सम्भवत. जैन राम-कथा के प्रचार-प्रसार मे भी बाधक बना होगा, क्योंकि 'मानस' की लोकप्रियता के मूल में राम का शील-शक्ति-सौन्दर्य वाला रूप है।

जैन कवियों को 'राम-कथा' अत्यन्त प्रिय रही है और इसे श्वेताम्बर एवं दिगम्बर, दोनो ही मतावलम्बियों ने व्यापक रूप से अपनाया है। जैन राम-कथा की दो धाराएं मिलती हैं—(१)—महाकवि विमलसूरि प्रणीत 'पउमचरियं' की परम्परा, तथा (२)—गुण-भद्राचार्य प्रणीत 'उत्तरपुराण' की परम्परा। महाकवि विमल सूरि ने प्राकृत में अत्यन्त विस्तार के साथ 'रामकथा' को लिया, जिसका संस्कृत छायानुवाद रविषेणाचार्य ने 'पद्मचरितं' के नाम से किया है। गुणभद्र की परम्परा अधिक नही चल सकी और अपभ्रंश में महाकवि पुष्प-दन्त के पश्चात् कोई समर्थ महाकवि इस परम्परा को लेकर नहीं चल पाया।

जैन साहित्य में अनेक विश्रुत कवियों की कृतियां संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में उपलब्ध हैं, जिनमें रामकथा को जैनधर्म, दर्शन

एवं संस्कृति के प्रकाशन का आधार बनाया गया है। कतिपय श्रेष्ठ कृतिया निम्नोक्त है—

कृति एवं कृतिकार	रचना-काल	भाषा
१. विमलसूरि-कृत पउमचरिय	(तीसरी शती)	—प्राकृत भाषा
२. रविषेणाचार्य-कृत पद्म-चरित	(६६० ईसवी)	—संस्कृत
३. स्वयंभूदेव-कृत पउमचरिउ	(८वी शती)	—अपभ्रंश
४. हेमचन्द्र-कृत जैन रामायण	(१२वी शती)	—संस्कृत
५. जिनदास-कृत राम पुराण	(१५वी शती)	—संस्कृत
६. पद्मदेव विजयगणि-कृत रामचरित	(१६वी शती)	—संस्कृत
७. सोमसेन-कृत रामचरित	(१६वी शती)	—संस्कृत

उपर्युक्त विवरणिका से स्पष्ट है कि लगभग १५ सौ वर्षों तक जैन कवियों द्वारा 'राम-कथा' का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ है। इतना ही नही, अपभ्रंश मे रचित महाकवि स्वयभूदेव कृत 'पउमचरिउ' का तो महाकवि तुलसी-प्रणीत 'रामचरितमानस' पर विशद प्रभाव राहुल सांकृत्यायन, डा० रामसिंह तोमर, डा० नामवरसिंह, डा० 'अरुण' एव डा० सकटाप्रसाद आदि ने अपने शोध-ग्रन्थों मे सिद्ध किया ही है, जो वस्तु एव शिल्प दोनो के ही पक्षो पर बहुत गहरा प्रभाव है, तुलसी द्वारा जैन परम्परा के ज्ञापन एव ग्रहण का सूचक है।

जैन साहित्य में 'राम' का रूप

प्राय: सभी जैन कवियो ने 'राम' को जैन धर्मावलम्बी के रूप मे चित्रित किया है। महाकवि स्वयभूदेव ने राम को दशरथ एवं उनकी पटरानी 'अपराजिता' का पुत्र माना है। इन काव्यो मे राम के 'ब्रह्मत्व' का तो प्रश्न ही नही उठता, प्रत्युत वे 'सहज मानवीय पात्र' के रूप में चित्रित किए गये हैं। यहा राम के चरित्र की सबसे मुख्य विशेषता उनके आचरण की शुद्धता, सरलता, निष्कपटता एवं निर्भीकता रही है। अत्यन्त वीर एव पराक्रमी राम मे अभिमान नही है। बल्कि उन्हे सर्वत्र ही त्याग, विनय तथा सौम्यता जैसे दिव्य सद्‌गुणो से मण्डित दिखाया गया है। प्रथम तीर्थकर 'ऋषभ जिन' मे राम की दृढ आस्था दिखाकर जैन कवियो ने सहज ही 'परम जिन' का महत्त्व सर्वोपरि रखा है। राम के माध्यम से 'अहिंसा' के सिद्धान्त को जैन साहित्य मे अक्षुण्ण रखा गया है और उन्हे धीरोदात्त नायक के रूप मे रखकर 'सम्मान' प्रदान किया है। राम-कथा को 'वद्धमाल-मुह-कुहर विणिग्गय' कहकर विशुद्ध रूप से जैन.धर्म के साचे मे ढाल दिया गया है। जैन-रामकथा मे राम-चरित के सभी प्रमुख पात्र 'जिन-वन्दना' करते है और जैनत्व की दीक्षा ग्रहण करते हैं।

जैन धर्म एवं दर्शन की पीठिका

प्रत्येक युग मे राम-कथा तत्कालीन धर्म, दर्शन एव संस्कृति के स्वरूप को व्यंजित करने का सबलतम माध्यम बनाकर प्रस्तुत की जाती रही है। इसी क्रम के अनुसार प्राकृत एव अपभ्रंश मे रचित राम-काव्यो मे कवियो ने आरम्भिक मगलाचरण के रूप में आदि तीर्थंकर 'ऋषभ जिन' एवं अन्तिम तीर्थंकर 'वर्धमान महावीर' के विशिष्ट सम्मान सहित सभी तीर्थंकरो की वन्दना की है। यदि विमल सूरि तथा रविषेणाचार्य ने भगवान् महावीर की वन्दना मे काव्यारम्भ किया है, तो महाकवि स्वयभूदेव ने ऋषभ जिन की अभ्यर्थना की है—

णमह णव-कमल-कोमल-मणहर-वर-वहल-कंति-सोहिल्लं।
उसहस्स पाय-कमल स-सुरासुर वन्दियं सिरसा॥

"अर्थात् मैं नवकमल से कोमल, सुन्दर तथा श्रेष्ठतम कान्ति से युक्त, देवों तथा असुरो द्वारा वन्दित भगवान् ऋषभ के चरण-कमलों में सिर झुकाता हूं।"

वद्धमाण-मुह-कुहर विणिग्गय। राम कहा-णइ एह कमागय॥

"और वर्धमान के मुख-कुहर से निकलकर यह राम-कथा रूपी नदी चली है।" इस उद्धरण से पूर्णत. स्पष्ट हो जाता है कि जैनियो द्वारा राम-कथा को पूरी तरह जैनत्व से जोडा गया है।

अपभ्रंश भाषा के वाल्मीकि महाकवि स्वयभू ने 'पउमचरिउ' मे जैन धर्म की मान्यताओं के आचारगत एवं विचारगत दोनों ही पक्षों का सम्यक् दिग्दर्शन कराया है। स्वयभूदेव जैन धर्म की 'यापनीय शाखा' से सम्बन्धित थे, यह उल्लेख महाकवि पुष्पदन्त ने "सयंभु: पद्धडी-बद्धकर्त्ता आपली सधाय:" कहकर किया है। श्वेताम्बर तथा दिगम्बर धाराओ के बीच 'समन्वय' कराने वाली 'यापनीय शाखा' इन दोनों की उत्पत्ति के ६०-७० वर्ष के बाद हुई थी, जिसमे स्वयंभू हुए, अत: उन्होंने 'सहिष्णुता' एवं 'समन्वय' का मार्ग अपनाया था।

जैन दर्शन के सात तत्त्वों—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष—का निरूपण 'रामकथा' के माध्यम से हुआ है। आदि तीर्थंकर द्वारा 'कैवल्य' प्राप्त करने के प्रसंग में आत्मसंयम, आत्मानुशासन, आत्मनिग्रह, साधना एवं त्याग आदि का महत्त्व बताया गया है। स्वयंभू जहां अवसर पा जाते हैं, जैन धर्म के तत्त्व की चर्चा कर देते हैं या किसी पात्र से 'जिनवन्दना' या ऋषि-संघ मे उपदेश करा देते हैं।

सीता-हरण के पश्चात् रावण को मन्दोदरी के माध्यम मे स्वयम्भू देव जो कुछ कहलाते हैं, उसमें जैनत्व का सार निहित है—

"जिणवर-सासणे पंच विरुद्धइ। दुग्गइ जाइ जिन्ति अविसुद्धइ॥
पहिलउ बहु छज्जीय-णिकायहुं। बीयउ गम्मइ मिच्छावायहुं॥
तइयउ जं पर-दव्वु लइज्जइ। चउथउ पर-कलत्तु सेविज्जइ॥
पंचमु णउ पमाणु घरबारहुं। आर्यांहि गम्मइ भव-संसारहुं॥

"जिन शासन में पांच बातें वर्जित हैं, प्रथम छः निकायो के जीवो की हत्या, दूसरी मिथ्यापवाद लगाना, तीसरी परद्रव्यापहरण, चौथी पर-स्त्रीगमन तथा पांचवी अपने गृहद्वार का अपरिमाण। इनसे दुर्गति और संसार के कष्ट मिलते हैं।"

उपर्युक्त उद्धरणों द्वारा यह सुस्पष्ट हो जाता है कि जैन कवियों ने 'राम-कथा' को अपने धर्म, दर्शन तथा संस्कृत आदि के प्रकाशन का समर्थतम माध्यम बनाकर ग्रहण किया।

वस्तुतः राम का पावन चरित्र देश-काल की सीमाओ से सदा अप्रभावित ही रहा और सस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी के साथ असमिया, बंगला, उड़िया, तमिल एव कन्नड आदि भाषाओं के कवियों ने 'राम-कथा' को अपने-अपने मतो के प्रचार-प्रसार का माध्यम बनाया है। यह विलक्षण बात है कि 'राम-कथा' का विस्तार कृष्ण-कथा की अपेक्षा बहुत अधिक हुआ है और जैन साहित्य में तो कवियों ने रामकथा को अत्यन्त श्रद्धा एव आदर के साथ ग्रहण किया है। डा० कामिल बुल्के के शब्दो मे—"बौद्धो की भांति जैनियो ने भी रामकथा अपनायी है। अन्तर यह है कि जैन कथा-ग्रन्थो मे हमें एक अत्यन्त विस्तृत राम-कथा-साहित्य मिलता है।"

जैन साहित्य मे राम-कथा के स्वरूप को अभी शोधकर्त्ताओ ने कम देखा है। आवश्यकता इस बात की है कि सस्कृत एव हिन्दी के मध्य सेतु बनने वाले, प्राकृत-अपभ्रंश मे उपलब्ध विस्तृत राम-कथा-साहित्य का अनुशीलन-प्रकाशन हो। इसके लिए प्राचीन जैन ग्रन्थागारों की धूल छाननी पड़ेगी। देखें, हम धूल मे छिपे दिव्य ग्रन्थ-रत्नो का उद्धार कब कर पाते हैं!

कन्नड़-साहित्य में रामकथा-परम्परा

युग-युग से भारतीय जीवन को राम व कृष्ण के कथा साहित्य ने जितना प्रभावित किया है, उतना शायद ही किसी साहित्य ने किया हो। यद्यपि राम तथा कृष्ण-कथाओ का उद्‌गम और विकास पहले-पहल संस्कृत-साहित्य मे हुआ था, तो भी अन्य भारतीय भाषा-साहित्यो में उनकी व्याप्ति कुछ कम नही हुई है। तमिल-कन्नड जैसी आर्येतर भाषाओं की समृद्धि मे इन अमर चित्रो की देन इतनी है कि यदि इन साहित्यो मे से राम और कृष्ण-कथा सम्बन्धी साहित्य को अलग कर दिया जाये, तो शेष बचा साहित्य सत्त्वहीन हो जायेगा। कन्नड़ में साहित्य का निर्माण ईसा की लगभग ७वीं शताब्दी से शुरू होता है, फिर निरन्तर उत्कर्ष को प्राप्त होता है। तब से आज तक कन्नड़ मे राम-कथा संबंधी साहित्य का सृजन बराबर जारी है। आरंभिक काल मे विशेषतः जैन धर्मावलम्बी ही साहित्य-निर्माता रहे। क्योंकि उस समय कर्नाटक मे जैन धर्म का विशेष प्रचार हो चला था।

१८वीं शताब्दी के लगभग वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ। उसके साथ ही वैदिक मतावलम्बियों ने साहित्य-निर्माण की ओर भी ध्यान दिया। लेकिन संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य के कन्नड़-रूपान्तर का श्रेय जैन कवियों को ही जाता है। जैन कवियों ने प्रायः दो प्रकार के काव्यों की रचना की—१. धार्मिक काव्य, २. लौकिक काव्य। लौकिक काव्यो में वैदिक साहित्य की कथावस्तुओ का अन्तर्भाव इस कौशल से सम्पन्न हुआ कि संस्कृत भाषा, शैली, रचना-वैविध्य, वस्तु-विधान आदि के वैभव से कन्नड-भाषा तथा साहित्य परिपुष्ट व सत्त्वशाली बना।

(—राष्ट्रकवि 'मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन-ग्रंथ' में मुद्रित श्री हिरण्मय के लेख से उद्धृत)

राम-कथा का विकास : प्रमुख जैन काव्यों तथा आनन्दरामायण के परिप्रेक्ष्य में

डॉ० अरुणा गुप्ता

यस्मिन् रामस्य सस्थानम् रामायणमथोच्यते ।

जिस काव्य में राम का आद्योपान्त चरित वर्णित किया जाए वह रामायण कहलाता है। राम-कथा सम्बन्धी साहित्य की रचना सर्वप्रथम इक्ष्वाकु वंश के सूतो द्वारा आख्यान काव्य के रूप मे हुई थी जिन्हें आधार बनाकर वाल्मीकि ने रामायण नामक प्रबन्ध-काव्य की रचना की। इस प्रबन्ध-काव्य मे अयोध्याकाण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक की कथावस्तु का वर्णन था। किन्तु कालान्तर मे जनता की (राम कौन थे, सीता कौन थी, उनका जन्म, विवाह कैसे हुआ, रावण-वध के बाद सीता का जीवन कैसे बीता, आदि) जिज्ञासा की पूर्ति के लिए बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड का समावेश इसमे कर लिया गया, जिससे रामायण की कथावस्तु (राम+अयन अर्थात् राम का चरित्र) न होकर पूर्ण राम-चरित के रूप मे विकसित हुई।[1] उत्तरकाल मे सस्कृति के परिवर्तन के फलस्वरूप राम-कथा का विभिन्न रूपो मे विकास हुआ जिससे आदि काव्य के आदर्श पुरुष रूप मे कल्पित राम को भिन्न-भिन्न धर्मों मे पृथक्-पृथक् स्थान प्राप्त हुआ—यथा ब्राह्मणधर्म मे विष्णु के अवतार-रूप मे, बौद्ध धर्म मे बोधिसत्त्व के रूप में तथा जैन धर्म मे आठवें बलदेव के रूप मे। जैन ग्रन्थो (यथा पउमचरियम्, जैन रामायण, उत्तर पुराण) में राम-लक्ष्मण को जैनमतावलम्बी तथा तीर्थंकरो का उपासक ही नही माना गया, वरन् इन्हे जैनो के त्रिषष्टि महापुरुषो मे भी स्थान दिया गया।[2] जैन ग्रन्थो मे राम-कथा के पात्रो की जैन प्रव्रज्या एवं दीक्षा, जैन व्रतो के पालन तथा उनके द्वारा श्रमणो के किए गए सम्मान आदि का स्थल-स्थल पर वर्णन किया गया।

ब्राह्मण-धर्म-प्रधान ग्रन्थ आनन्दरामायण मे कथा का परिवर्तन ब्राह्मण (वैदिक) सस्कृति की छत्रछाया मे समय के परिवर्तन के फलस्वरूप हुआ। वाल्मीकीय रामायण मे राम को आदर्श पुरुष मानकर कथा का स्वरूप प्रस्तुत किया गया था, लेकिन आनन्दरामायण मे राम को पूर्ण परब्रह्म, विष्णु का पूर्णावतार, लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न को इनका अशावतार, सीता को लक्ष्मी एव शक्ति का रूप, हनुमान को ग्यारहवा रुद्र तथा देवताओ को वानर मानकर कथा का स्वरूप परिवर्तित कर दिया गया।[3] इस ग्रन्थ मे केवल पात्रो को दैव रूप ही प्रदान नही किया गया वरन् इनकी भक्ति (विष्णु-पूजा, हनुमत्पूजा, लिग-पूजा, शक्ति-पूजा) का प्रचार हुआ तथा इनके हाथ से मृत्यु-प्राप्ति को सायुज्य मुक्ति का साधन कहा गया। उपर्युक्त देवो की स्थापना के साथ-साथ कृष्ण-भक्ति का प्रचार होने के कारण कृष्ण के माधुर्य रूप का आरोपण राम पर किया गया जिससे कृष्णवत् राम की बाल-लीलाओं, राम-सीता का विलास[4] एव माधुर्य-भक्ति (अनेक स्त्रियों का राम के पास आकर क्रीड़ा का प्रस्ताव रखना तथा राम द्वारा कृष्ण-जन्म मे क्रीडा करने का आश्वासन देना[5]) का प्रचार हुआ।

प्रमुख जैन काव्यों (पउमचरियम्, गुणभद्र-कृत उत्तर पुराण, जैन रामायण) तथा आनन्द रामायण में राम-कथा के परिवर्तन व परिवर्धन का अवलोकन करने के लिए उन धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एव साहित्यिक कारणो पर दृष्टिपात करना अत्यन्त आवश्यक है जिन पर राम-कथा का विकास आधृत है।

---

१. बुल्के, डॉ० कामिल-कृत रामकथा, पृ० ७३७-३८
२. वही, पृ० ७२१
३. आनन्दरामायण, सारकाण्ड, सर्ग २
४. वही, विलासकाण्ड
५. वही, राज्यकाण्ड

धर्मशब्द आचार तथा कर्मकाण्ड दोनो के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैनधर्म मे अनागार (मुनि-धर्म) तथा सागार-धर्म (गृहस्थ धर्म) का अभिप्राय आचार से है किन्तु जिनेन्द्र-पूजा आदि के सन्दर्भ मे धर्म का स्वरूप कर्मकाण्डपरक रहता है। सागार धर्म (गृहस्थ धर्म) के पालन में बारह व्रतो—पांच अणुव्रतों (अहिंसाणु व्रत, सत्याणु व्रत, अचौर्याणु व्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रह-परिमाणानुव्रत); तीन गुण व्रतो (दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत); चार शिक्षाव्रतो (सामायिक, प्रोषध उपवास, भोगोपभोग-परिमाण, अतिथि-संविभाग आदि) का प्रमुख स्थान है।[1] अहिंसाणु व्रत का तात्पर्य है देवताओ को प्रसन्न करने, अतिथि-सत्कार करने तथा औषधि-सेवन आदि किसी भी निमित्त से मास प्राप्त करने के लोभ से प्राणियों की हिंसा न करना।[2] इस व्रत के पालन के लिए जैनधर्म में हिंसामूलक यज्ञो का निषेध किया गया है। वाल्मीकि रामायण मे दशरथ पुत्र-प्राप्ति के लिए ऋष्यशृंग द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ करवाते हैं तथा यज्ञोत्थ पायस का वितरण पत्नियों में कराते हैं। जिससे राम, लक्ष्मण आदि पुत्रो की उत्पत्ति होती है।[3] जैन ग्रन्थ पउमचरिय (जैन रामायण) मे यज्ञोत्थ पायस का वितरण नही है अपितु जिनेन्द्रो के शान्तिस्नान के गन्धोदक का वितरण है।[4]

ब्रह्मचर्याणुव्रत का तात्पर्य है विवाहित पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियो को माता, बहिन तथा पुत्री समझ कर व्यवहार करना तथा अपनी पत्नी से ही सन्तुष्ट रहना।[5] इस व्रत के पालन के लिए यद्यपि जैन ग्रन्थो मे प्रयास किया गया है तथापि परस्त्री आसक्ति रूप चारित्रिक पतन कतिपय पात्रों मे दृष्टिगत होता है यथा पउमचरिय एव जैन रामायण मे साहसगति नामक विद्याधर द्वारा सुग्रीव का रूप धारण कर तारा के साथ काम-क्रीडा की चेष्टा।[6] लक्ष्मण का चन्द्रनखा (शूर्पणखा) के प्रति आसक्त होकर उसके पीछे-पीछे जाना[7] तथा उत्तरपुराण मे नारद से सीता के अद्वितीय सौंदर्य के विषय मे सुनकर रावण द्वारा राम का रूप धारण कर सीता का हरण करना।[8]

आनन्दरामायण मे व्यावहारिक जीवन मे हिंसा का निषेध किया गया है लेकिन (जैन ग्रन्थो के समान) देवताओ को प्रसन्न करने के लिए किये गये हिंसामूलक यज्ञो (पुत्रेष्टि यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ) एव मृग-मास-बलि का निवारण नही किया गया है।[9] ब्रह्मचर्याणुव्रत के पालन की शिक्षा भी यत्र-तत्र ग्रन्थ मे दी गयी है लेकिन (फिर भी) कतिपय पात्र इसके पालन मे शिथिल दृष्टिगत होते हैं। हनुमान यद्यपि ग्रन्थ मे ब्रह्मचारी एव अविवाहित वर्णित किये गये है, लेकिन सीता-खोज के समय लका मे जाकर राक्षसियो के साथ उनकी अनैतिक चेष्टाए उनके चारित्रिक पतन को प्रकट करती है।[10]

कर्मकाण्डपरक धर्म का तात्पर्य इष्टदेव की उपासना से है। ब्राह्मण धर्म मे सृष्टि के रचयिता, पालनकर्ता एव सहारकर्ता के रूप मे ब्रह्मा, विष्णु, महेश को सर्वश्रेष्ठ देव माना गया है तथा अवतारवाद का प्रचलन होने के कारण भक्तो की रक्षा के लिए विष्णु के समय-समय पर राम, कृष्ण आदि के रूप मे अवतार लेने का वर्णन किया गया है किन्तु जैन धर्म में मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य माना जाने के कारण देवो की अपेक्षा उन महापुरुषों को श्रेष्ठ माना गया है जो अपने श्रेष्ठ कर्मों के द्वारा स्वर्ग मे स्थान प्राप्त करते हैं तथा पुन: पृथ्वी पर आकर श्रेष्ठ मानव के रूप मे प्रजा को मुक्ति-मार्ग का उपदेश देते हुए मोक्ष प्राप्त करते हैं।[11] वाल्मीकि रामायण मे राम को आदर्श पुरुष माना गया है लेकिन परवर्ती काल मे उन्हे विष्णु का अवतार माना गया है। जैन ग्रन्थ पउमचरिय (जैन रामायण) तथा उत्तर-पुराण मे काव्य के प्रमुख पात्रो राम, लक्ष्मण तथा रावण को साधारण पुरुष न मानकर त्रिषष्टिशलाकापुरुषो (२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव) मे शामिल किया गया है जिनमे राम को आठवां बलदेव, लक्ष्मण को नारायण तथा रावण को प्रति-नारायण माना गया है।[12] महापुरुषो की तरह ही इनके जन्म के पहले इनकी माताओं द्वारा देखे गये शुभ स्वप्नो का वर्णन किया गया है।[13]

---

१. मोहनचन्द्र जैन सस्कृत महाकाव्यो मे प्रतिपादित सामाजिक परिस्थितियां, पृ० ३७८
२. वही, पृ० ३७६
३ वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, सर्ग १६
४. विमलसूरि पउमचरियम्, पर्व २६, हेमचन्द्र-कृत 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पृ० २०५
५. मोहनचन्द्र : जैन सस्कृत महाकाव्यो में प्रतिपादित सामाजिक परिस्थितियां, पृ० ३८०
६. पउमचरियम्, पर्व ६, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पृ० २४६-५२
(नोट—जैन ग्रन्थों में बालि-सुग्रीव की शत्रुता न होकर साहसगति तथा सुग्रीव की शत्रुता है।)
७. पउमचरियम्, ४३.४८
८. उत्तरपुराण, ६८/६३-१०४
९. आनन्द रामायण, सारकाण्ड, सर्ग १, यागकाण्ड, यात्राकाण्ड
१०. वही, ६/२६-२७
११. Jain Manju "Jain Mythology as depicted in Digambar Literature", p. ४७
१२. पउमचरियम्, ५/१५४-५६
१३. वही, २६/१-६; ७/७६-७८

वनवास-आदि प्रसंगों में भी इनका सम्मान वाल्मीकि रामायण के उल्लेख के समान साधारण पुरुषवत् न करके शलाकापुरुषवत् किया गया है तथा इनके निवास के लिए यक्षाधिप द्वारा भवन का निर्माण भी किया गया है।[1]

उक्त ग्रन्थों में बलदेव तथा नारायण के सम्बन्ध की तरह ही राम को लक्ष्मण का बड़ा भाई माना गया है तथा नारायण-प्रतिनारायण की तरह ही लक्ष्मण व रावण को एक-दूसरे का शत्रु माना गया है। काव्य के अन्त में जहां वाल्मीकि रामायण में राम द्वारा रावण का वध होता है वहां उक्त ग्रन्थों में लक्ष्मण द्वारा रावण का वध होता है।[2] बालि का वध भी ग्रन्थ में लक्ष्मण द्वारा ही कराया गया है।[3]

ब्राह्मण धर्म-प्रधान होने पर भी वाल्मीकि रामायण से परवर्ती होने के कारण आनन्द रामायण में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शक्ति तथा गणेश को प्रधान देव माना गया है तथा अवतारवाद का प्रचलन होने के कारण राम को विष्णु का पूर्ण अवतार माना गया है। आनन्द-रामायण में जन्म के समय राम विष्णु के रूप में, लक्ष्मण शेषनाग के रूप में, भरत शंख के रूप में तथा शत्रुघ्न चक्र के रूप में प्रकट होते हैं,[4] तथा माता कौशल्या द्वारा प्रार्थना करने पर बालभाव धारण करते हैं।[5] काव्य के अन्य प्रसंग यथा विष्णु-रूप राम के चरण-स्पर्श से अहल्या का मूर्त रूप धारण करना,[6] राम द्वारा किए गए शम्बूक-वध से अकाल मृत्यु को प्राप्त ब्राह्मण पुत्र का जीवित हो जाना,[7] (वनवास के लिए) नारद द्वारा वन गमन की सूचना देना,[8] दण्डकारण्य में ऋषियों द्वारा उनकी उपासना,[9] वन से प्रत्यागमन के समय अनेक रूप धारण कर प्रजा से मिलना,[10] अनेक रूप धारण कर वाल्मीकि तथा विश्वामित्र के यज्ञ में एक साथ जाना[11] उनके विष्णु रूप को प्रकट करते हैं। काव्य में कुछ ऐसे प्रसंग भी हैं जो लक्ष्मण के शेषनाग-रूप को प्रकट करते हैं। यथा बालि-वध के प्रसंग में राम की बल परीक्षा करते हुए सर्प के ऊपर उगे हुए सात ताल वृक्षों को काटने में शेषावतारी लक्ष्मण के अंगूठे को दबाकर सर्प को सीधा करना,[12] तथा मेघनाद-वध के बाद उसकी (मेघनाद की) भुजा का पृथ्वी पर यह लिखना कि शेष के हाथ से मरकर मैंने मुक्ति पाई है,[13] लक्ष्मण के शेषनाग रूप को प्रकट करते हैं।

राम-लक्ष्मण के अतिरिक्त अन्य पात्रों यथा सीता को शक्ति का प्रतीक तथा लक्ष्मी का अवतार[14] (राजा पद्माक्ष लक्ष्मी को पुत्री के रूप में प्राप्त करने के लिए तप करते हैं तथा पद्मा (सीता) के रूप में लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं) तथा हनुमान को ग्यारहवां रुद्रावतार माना गया है।[15] लक्ष्मी का अवतार होने के कारण सीताहरण तथा त्याग के समय वास्तविक सीता-हरण या त्याग नहीं होता[16] अपितु तामसी सीता का हरण तथा तमोगुणमयी एवं रजोगुणमयी सीता का त्याग होता है और सात्त्विक सीता राम के वामांग में विलीन हो जाती है।[17] काव्य के प्रसंग यथा सीता द्वारा शतस्कन्ध रावण एवं मूलकासुर के वध में सीता को शक्ति (चण्डी) का प्रतीक माना गया है।[18] लक्ष्मी का अवतार होने के कारण आनन्द रामायण में रावण द्वारा सीता के समक्ष काटे गये राम के मायामय शीर्ष की सूचना ब्रह्मा द्वारा सीता को पहले से दी जाती है।[19] जबकि वाल्मीकि रामायण में उक्त घटना के बाद सरमा द्वारा सीता से रहस्य प्रकट किया जाता है।[20] रुद्र-अवतार होने के कारण लंका दहन के समय राक्षसों द्वारा पूर्ण बल प्रयोग करने पर भी हनुमान की पूंछ को काटने में असमर्थ होना तथा कठिनाई से जला पाना,[21]

---

१ पउमचरिय, ३५।२२-२६
२. (क) वही, पर्व ७३, (ख) उत्तरपुराण, ६८/६२७-३०, (ग) जैन रामायण में वर्णित हेमचन्द्र कृत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पृ० २६४-६६
३. गुणभद्र कृत उत्तरपुराण ६८/४४०-४६३
४ आनन्दरामायण, १/२/४
५. वही, १/२/५
६. वही, १/३/२१
७ वही, ७/१०/१०३-२०
८. वही, १/६/१-३
९ वही, १/७/१९-२३
१०. वही, १/१२/८४
११. वही, राज्यकाण्ड, २१/४३-७९
१२ वही, सारकाण्ड, ८/३५-३६
१३. वही, सारकाण्ड, ११/२०७-८
१४ वही, सारकाण्ड, ३/११८-६६
१५ वही, सारकाण्ड, सर्ग ११, १/१२/१४७-४८ राज्यकाण्ड सर्ग, १३, १६
१६. वही, जन्मकाण्ड, ३/१७, १/७/६७-६८
१७ वामांगे मे सत्त्वरूपा। आनन्दरामायण, १/७/६८
१८. वही, राज्यकाण्ड, सर्ग ६
१९ वही, सारकाण्ड, ११/२२१
२० वाल्मीकीय रामायण, युद्धकाण्ड
२१ आनन्दरामायण, १/८/१७८-८८

लक्ष्मण-मूर्छा के समय हिमालय पर्वत पर कालनेमि तथा ग्राही आदि पर विजय प्राप्त करना इत्यादि प्रसंगो का वर्णन कर उसके पराक्रम को बढ़ा दिया गया है।[1]

जैन धर्म में तीर्थंकरो (जो त्रिषष्टि शलाकापुरुषो मे सर्वश्रेष्ठ है) को आराध्य माना गया है तथा पउमचरिय (जैन रामायण) तथा उत्तरपुराण आदि ग्रन्थो के सभी पात्र चाहे वे राम (बलदेव) हो, लक्ष्मण (नारायण) हो, रावण (प्रतिनारायण) हो, जिनदेवो का उपासक कहा गया है। जिनदेव की भक्ति मे उपसर्ग-सहित तपश्चरण के कारण अनगधार चक्रवर्ती की पुत्री विशल्या ने रोगविनाशक सामर्थ्य प्राप्त किया था।[2] लक्ष्मण की मूर्छा विशल्या के अभिषेक जल से ही दूर हुई थी।[3] रावण ने जिनदेव की उपासना से ही वरदान-स्वरूप अमोघविजया शक्ति तथा चन्द्रहास खड्ग प्राप्त की थी।[4] जिनदेव अर्थात् तीर्थंकरो का निरादर करने पर महान् दुख का सामना करना पड़ता था। जिनपूजा को भग करने के कारण महस्रकिरण (रावण के विरुद्ध)[5] तथा रावण (बालि के विरुद्ध) पराजय के पात्र बने।[6] जिनमूर्ति को घर से बाहर निकालने के कारण अजना (हनुमान की माता) को गृह-निर्वासन का दु.ख भोगना पडा।[7]

आनन्द रामायण मे ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा शक्ति को आराध्य मान कर पात्रो द्वारा विष्णु-पूजा, शिव-पूजा, लिंग-पूजा आदि का स्थल-स्थल पर वर्णन किया गया है। रुद्र-पूजा के प्रचलन के कारण स्थल-स्थल पर हनुमद्भक्ति, स्तोत्र एव कवच का वर्णन किया गया है।[8] भक्ति के पल्लवित होने पर उक्त ग्रन्थ में कथा को भक्ति के साचे मे ढाला गया है जिसमे सीताहरण को रावण द्वारा राम के हाथ से मरकर मोक्ष प्राप्त करने का प्रयास माना गया है।[9] भक्ति के प्रचलन के कारण विभीषण, शुक तथा सारण को राम का भक्त कहा गया है।[10] रावण तथा विराध के शरीर से दिव्य तेज का निकल कर राम मे समाना, राम के हाथ से मर कर रावण की सायुज्य मुक्ति[11] तथा उसका (रावण का) राम से सर्वदा स्मरण रहने का वरदान प्राप्त करना[12] आदि वृत्तान्त विष्णु-भक्ति के प्रचलन को सूचित करते है। उपर्युक्त देवो की उपासना के अतिरिक्त राम-कथा एव कृष्ण-कथा (वध के अनन्तर बालि द्वारा द्वापर मे भील रूप मे जन्म लेकर राम (कृष्ण) के पैर को छेदना, राम द्वारा प्रेम-निमित्त आई हुई स्त्रियों को कृष्णावतार मे क्रीडा करने का आश्वासन देना) का सम्बन्ध स्थापित कर कृष्णभक्ति का प्रचलन भी प्रदर्शित किया गया है।[13]

जैन धर्म मे सागार धर्म जहा गृहस्थो के लिए है वहा अनागार धर्म का विधान मुनियों के लिए है। मुनिवृत्ति प्रव्रज्या-ग्रहण से प्रारम्भ होती है। जैन धर्म मे प्रव्रज्या-ग्रहण का द्वार यद्यपि प्रत्येक के लिए खुला था तथापि कुछ अपवाद नियम थे। बाल, वृद्ध, जड, व्याधि-ग्रस्त, स्तेन, उन्मत्त, अदर्शन, दास, दुष्ट, गुर्विणी को प्रव्रज्या देने का निषेध किया गया है।[14] जैन ग्रन्थ पउमचरिय (जैन रामायण) मे बालक होने के कारण भरत को प्रव्रज्या मे रोका गया है। प्रव्रज्या से रोकने के लिए कैकेयी उसका विवाह करती है तथा दशरथ से वरदान स्वरूप भरत के लिए राज्य मागती है।[15] भरत को बाल-प्रव्रज्या मे निवृत्त करने के लिए राम-लक्ष्मण स्वेच्छा से दक्षिण की ओर प्रस्थान करते हैं।[16] आनन्द रामायण मे राम का वनवास पिता की आज्ञा या भरत के बाल-प्रव्रज्या-निषेध के लिए नही है। वरन् राम देवताओ के वचन पालन (पहले राक्षसो का नाश कर बाद मे राज्य करें)[17] रूप मे वन-गमन करते है।

जैन ग्रन्थो —पउमचरियम्, जैन रामायण, उत्तर पुराण मे जीवन के अन्तकाल मे पात्रो (दशरथ, राम, भरत, शत्रुघ्न, वेदवती,

---

१ आनन्दरामायण, १/११ ४६-६०
२ पउमचरियम्, पर्व ६३, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, २८६-९१
३ पउमचरियम्, पर्व ६४, वही, पृ० २८६-९१
४ पउमचरियम्, पर्व ६४, वही, पृ० ११५-३६
५ वही, पर्व १०, वही, पृ० १३७-४१
६. वही, पर्व ८, वही, १३१-३५
७ पउमचरियम्, पर्व १५-१८, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित पृ० १७३
८. आनन्दरामायण, सारकाण्ड, १२/१४७-४९, ८ १३-१६, सर्ग ७,५ ५
९. आनन्दरामायण, राज्यकाण्ड, १४ १-२७, १,११ २४४, १३ १२०-२१
१०. वही, १/१०/२१५-१६
११ वही, १,७/१५-१७. १/११/२८३
१२ वही, राज्यकाण्ड, सर्ग २०
१३. वही, सारकाण्ड ८,६६-६८, राज्यकाण्ड, ४ ४४-४७
१४ जगदीशचन्द्र जैन 'जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज', पृ० ३८४
१५. पउमचरियम्, पर्व ३१,५७-७१ तक, जैन रामायण त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पृ० २०६
१६. पउमचरियम, पर्व ३१, वही, पृ० २०१-१०
१७. आनन्दरामायण, १/६/१-३

बालि आदि) के जैन धर्म में दीक्षा लेने का वर्णन किया गया है। जैन धर्म के अनुसार सासारिक प्रलोभनों से विरक्त होने के लिए कतिपय कारणों का उपस्थित होना आवश्यक है। दशरथ की विरक्ति के लिए कचुकी की वृद्धावस्था[1], वेदवती की विरक्ति के लिए स्वयम्भू (भावी रावण) द्वारा उसका अपमान[2], सीता की विरक्ति के लिए सीता-त्याग, राम की विरक्ति के लिए लक्ष्मण की मृत्यु को कारण रूप मे प्रस्तुत किया गया है।[3] हिंसा-प्रतिपादित कार्यों, कामभोग की तृष्णा के कारण लक्ष्मण (नारायण) तथा रावण (प्रतिनारायण) की दीक्षा का उल्लेख ग्रन्थ मे नहीं है। इन्हें कवि ने मृत्यु द्वारा नरक की प्राप्ति कराई है।[4] जैन ग्रन्थो—पउमचरियम् (जैन रामायण) मे मेघनाद, कुम्भकर्ण आदि पात्रो की वाल्मीकीय रामायण मे लिखित वर्णन के समान मृत्यु न कराकर उन्हे बन्दी बनाया गया है, जो बाद मे बन्धन से मुक्त होकर जैन धर्म में दीक्षा ले लेते है।[5] दीक्षा को ही जीवन का आदर्श माना गया है। यही कारण है कि पउमचरियम् मे हनुमान के द्वारा सीता के पास सन्देश भेजते समय राम अन्तकाल मे सासारिक प्रलोभनो से विरक्त होकर जैन धर्म मे दीक्षा लेने की शिक्षा देते है।[6]

आनन्द रामायण मे जीवन के अन्त मे साधारण पात्रो (कुम्भकर्ण, मेघनाद, रावण, दशरथ, बालि आदि)[7] की मृत्यु तथा दैवी पात्रों (राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता, हनुमान आदि) के दैव रूप धारण करने का उल्लेख है।[8]

भारतीय सस्कृति ब्राह्मण (वैदिक) तथा श्रमण दोनो प्रकार की सस्कृतियो मे सम्मिश्रित है। वैदिक अर्थात् ब्राह्मण सस्कृति मे कर्मकाण्ड एव सहिष्णुता की प्रवृत्ति है लेकिन श्रमण सस्कृति अर्थात् मुनि सस्कृति मे अहिंसा, निरामिषता तथा विचार-सहिष्णुता का प्राधान्य है। वैदिक सस्कृति मे याज्ञिक कर्मकाण्ड द्वारा विभिन्न देवताओ को प्रसन्न करने तथा उनसे सासारिक याचना करने के विधान पाये जाते हैं। याचना करना ब्राह्मणो का धर्म है अत. यह परम्परामूलक ब्राह्मण सस्कृति है। श्रमण सस्कृति मे श्रमण शब्द की व्याख्या मे ही इसका आदर्श सन्निहित है जो श्रम करता है, तपस्या करता है, पुरुषार्थ पर विश्वास करता है वह श्रमण कहलाता है। अपने पुरुषार्थ पर विश्वास करने वाले तथा पुरुषार्थ द्वारा आत्म-सिद्धि करने वाले क्षत्रिय होते है। अत श्रमण सस्कृति पुरुषार्थमूलक श्रमण सस्कृति है।[9] वैदिक एव श्रमण सस्कृति के वैभिन्न्य के कारण वाल्मीकीय रामायण मे ब्राह्मणो, ऋषियो को प्राधान्य दिया गया है लेकिन जैन ग्रन्थो-पउमचरियम्, जैन-रामायण तथा उत्तर पुराण मे श्रमणो को प्राधान्य दिया गया है। वाल्मीकि रामायण मे अहल्या तथा इन्द्र गौतम ऋषि द्वारा शापग्रस्त होते हैं।[10] लेकिन पउमचरियम् एवम् जैन रामायण मे इन्द्र श्रमण रूप मे स्थित नन्दिमाली को बाधने के कारण रावण द्वारा पराजित होते हैं।[11] इसी प्रकार वाल्मीकीय रामायण मे सगर के पुत्र कपिल मुनि की क्रोधाग्नि[12] से भस्म होते है। जबकि जैन ग्रन्थ पउमचरियम् एव जैन रामायण मे नागेन्द्र की क्रोधाग्नि से।[13] वाल्मीकीय रामायण मे राजा दण्डक भार्गव ऋषि की पुत्री मे बलात्कार करने के कारण भार्गव ऋषि द्वारा शाप ग्रस्त होते हैं।[14] जैन ग्रन्था-पउमचरियम् (जैन रामायण) मे दण्डक तथा जटायु की अभिन्नता का प्रतिपादन किया गया है, जो श्रमणो को यन्त्रो मे पेर कर अनादर करने के कारण उनका (श्रमणो का) कोप भाजन बनता है।[15]

जैन धर्म मे लोग केवल श्रमणो का सम्मान ही नही करते थे वरन् उनके पास लिए गए व्रत का आजीवन पालन करते थे। वाल्मीकि रामायण मे रावण रम्भा के शाप (न चाहने वाली स्त्री के साथ रमण करने से उसके सात टुकडे हो जायेंगे) के कारण सीता के साथ रमण नही करता[16] लेकिन जैन ग्रन्थ पउमचरियम् तथा जैन रामायण मे रावण अनन्तवीर्य नामक मुनि के पास न चाहने वाली स्त्री के साथ रमण

---

१. पउमचरियम्, पर्व २६, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित पृ० २०५-०७
२. पउमचरियम्, पर्व १०३
३. पउमचरियम्, पर्व ११०-१८
४ पउमचरियम्, पर्व ११४, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पृ० ३५०, उत्तरपुराण, पर्व ६८
५ वही, पर्व ६१, वही पृष्ठ २६७-६६
६. वही, पर्व ४६/३२-३४
७ आनन्दरामायण, सारकाण्ड, सर्ग ६,८,११,
८. वही, पूर्णकाण्ड, सर्ग ६
९ जैन साहित्य का इतिहास, भाग १, पृ० ५,६,
१०. आनन्दरामायण, सारकाण्ड, ३/१९-२१
११ पउमचरियम्, पर्व १३, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पृष्ठ १६०-६१
१२ वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ३८-४४
१३ पउमचरियम्, ५/१७२-७३
१४. वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग ७३-८१
१५. पउमचरियम्, पर्व ४१
१६. वा०रा०, उत्तरकाण्ड, सर्ग २१

न करने का व्रत लेता है[1], तथा व्रत के पालन के लिए उपर्युक्त अनिष्ट कार्य नहीं करता।

वाल्मीकीय रामायण में इष्टसिद्धि के लिए हवनादि का आश्रय लिया गया है, लेकिन जैन ग्रन्थों पउमचरियम् (जैन रामायण), उत्तर पुराण में अवलोकना, आकाशगामिनी, बहुरूपिणी आदि विद्याओं की सिद्धि का आश्रय लिया गया है। वाल्मीकि रामायण में इन्द्रजित् वध के उपरान्त रावण विजय-निमित्त हवन करने लगा है[2] जबकि जैन ग्रन्थों पउमचरियम्, उत्तरपुराण में वह जैन तीर्थंकर के पास बहुरूपिणी विद्या सिद्ध[3] करने जाता है। इसी प्रकार सीताहरण के लिए रावण अवलोकना विद्या की सहायता लेता है।[4] विद्या सिद्धि में उपस्थित हुआ विघ्न महान् अनिष्ट का कारण बनता था इसलिए लोग विद्या-सिद्धि के लिए आत्म-संयम रखते थे तथा सिद्ध विद्या की रक्षा के लिए प्रतिक्षण तत्पर रहते थे। काव्यों का प्रमुख पात्र रावण आकाशगामिनी विद्या के नष्ट होने के भय से सीता के पास (प्रेम-विषयक प्रस्ताव रखने) नहीं आता।[5] आनन्दरामायण वाल्मीकीय रामायण की तरह ही ब्राह्मण संस्कृति-प्रधान है इसलिए उपर्युक्त कथाप्रसंगों, (इन्द्र तथा अहल्या का शाप, सगर-पुत्रों की मृत्यु, दण्डक को भार्गव ऋषि द्वारा शाप, इष्ट-सिद्धि के लिए हवन आदि) में वाल्मीकीय रामायण का ही आनन्द रामायण में अनुकरण किया गया है।

वाल्मीकीय रामायण में राम, लक्ष्मण आदि को एकपत्नीव्रती तथा हनुमान को ब्रह्मचारी वर्णित किया गया है, जबकि जैन ग्रन्थों में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव आदि त्रिषष्टि महापुरुषों तथा विद्याधरों का चरित अधिकांशतः वर्णित होने के कारण उनके बहुपत्नीत्व का वर्णन किया गया है क्योंकि अधिक पत्नियां रखना उनके धन, सम्पत्ति, यश एवं सामाजिक गौरव का प्रतीक समझा जाता था। राजा-महाराजाओं के बहुविवाह तत्कालीन सुदृढ़ता के महत्त्वपूर्ण साधन बने हुए थे। जैन ग्रन्थ पउमचरियम्, जैन रामायण, उत्तरपुराण में राम की आठ हजार, लक्ष्मण की सोलह हजार[6] तथा हनुमान की एक सहस्र पत्नियों का उल्लेख है।[7] हनुमान की पत्नियों में वरुण की कन्या सत्यवती, चन्द्रनखा की पुत्री अनंगकुसुमा, नलनंदिनी, हरिमालिनी, सुग्रीव की पुत्री पद्मराजा आदि प्रधान हैं। रावण, जो लक्ष्मण (नारायण) के शत्रु अर्थात् प्रतिनारायण हैं, वे भी छः हजार से अधिक पत्नियों से युक्त वर्णित किए गए हैं।[8]

आनन्द रामायण में यद्यपि राम-लक्ष्मण को एकपत्नी-व्रती तथा हनुमान को ब्रह्मचारी वर्णित किया गया है, लेकिन राम के पास अनेक स्त्रियों का आकर काम-क्रीडा का प्रस्ताव रखना स्थल-स्थल पर वर्णित है। राम भी उन स्त्रियों से विवाह न करके कृष्णावतार में क्रीडा का आश्वासन दे देते है।[9] उक्त प्रसंग में सामाजिक दृष्टि से राम का एकपत्नी-व्रत रूप आदर्श कतिपय शिथिल दृष्टिगत होता है लेकिन उक्त ग्रंथ में राम साधारण पुरुष न होकर विष्णु है, सीता लक्ष्मी है, संसार के समस्त पुरुष राम के अंश हैं[10] तथा स्त्रियां सीता का अंश है।[11] राम (विष्णु) द्वारा उन स्त्रियों के साथ क्रीडा करना या उन्हें स्वीकार करने का आश्वासन देना उनके आंशिक रूप का उनमें समावेश हो जाता है।

सामाजिक जीवन का वर्णन करते हुए जैन ग्रंथों तथा आनन्दरामायण में कथा के स्वरूप को परिवर्तित कर दिया गया है। सीता-हरण को वाल्मीकीय रामायण में स्त्री (शूर्पणखा) द्वारा पर-पुरुष (राम-लक्ष्मण) के प्रति आसक्ति रूप अनैतिक कार्यों के प्रभाववश वर्णित किया है।[12] लेकिन जैन ग्रंथों पउमचरियम् एवं जैन रामायण में (लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा के पुत्र शम्बूक के वध द्वारा) इसे सामाजिक परिवेश प्रदान किया गया है।[13]

आनन्द रामायण में सीता-हरण को सामाजिक तथा धार्मिक[14] दोनों परिवेश प्रदान किए गए हैं। सामाजिक परिवेश के सन्दर्भ में

---

१ पउमचरियम्, पर्व १४/५१३
२. वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग ८२
३. पउमचरियम्, पर्व ६६-६८, उत्तरपुराण, ६८ ५१६-२६
४. पउमचरियम्, पर्व ४४, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पृ० २४२-४५
५. (क) पउमचरियम्, पर्व १४ १५३, ४४/४५, ४६/३१-३२, (ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पृ० २४६-७२
(ग) उत्तरपुराण, ६८/२१३
६. पउमचरियम्, पर्व ३३-४०, उत्तरपुराण, पर्व ६८
७ (क) वही, पर्व १६, पर्व ४२, (ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पृष्ठ २१७-२६
८ पउमचरियम्, पर्व ८
९. आनन्दरामायण, राज्यकाण्ड, सर्ग ४, ११ और १२
१०. 'पौरुषम् दृश्यते यच्च तच्च सर्वम् ममांशजम्।' आ०रा०, ७/१६/१२६
११. यच्च विश्वे स्त्रीरूपं दृश्यते तत्तांशजम्। आ०रा० ७/१६/१२८
१२. वा०रा० अरण्यकाण्ड, सर्ग १७, १८
१३. पउमचरियम् पर्व ४३, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पृ० २४०-४२
१४. धार्मिक : रावण द्वारा राम के हाथ से मरकर मोक्ष प्राप्त करने का प्रयास सीताहरण है।

यद्यपि वह जैन ग्रंथों से साम्य रखता है लेकिन उक्त ग्रथ मे शम्बूक के स्थान पर शूर्पणखा के साम्ब नामक पुत्र के वध का वर्णन है ।[1]

वाल्मीकीय रामायण मे लव द्वारा राम के अश्वमेध के घोड़े को बाधने के कारण लव-कुश व राम-लक्ष्मण का युद्ध होता है ।[2] लेकिन जैन ग्रंथो पउमचरियम् (जैन रामायण) मे लव-कुश तथा राम-लक्ष्मण के युद्ध को सामाजिक परिवेश प्रदान किया गया है तथा जिसमे सीता के त्याग के प्रतिकार को कारण रूप मे प्रस्तुत किया गया है ।[3]

आनन्द रामायण मे लव-कुश तथा राम-लक्ष्मण के युद्ध मे (माता सीता के त्याग के प्रतिकार का वर्णन कर) जैन कथाओ का अनुकरण किया गया है ।[4]

सीता-त्याग का वर्णन नारी की परिवर्तित स्थिति के कारण वाल्मीकीय रामायण, जैन ग्रथो तथा आनन्दरामायण मे पृथक्-पृथक् वर्णित है : वाल्मीकि रामायण मे उक्त कार्य राम द्वारा राजकर्तव्य के पालन के लिए किया गया है ।[5] लेकिन पउमचरियम् मे राम जनप्रवाद को सुनकर स्वयं भी सीता पर चरित्र-दोष की आशका करते हैं ।[6] जैन रामायण मे सीता-त्याग स्त्रियों के पारिवारिक क्लिष्ट सम्बन्धो के कारण है, जिसमे सपत्निया सीता से द्वेषवश रावण का चित्र बनवाती हैं तथा राम से सीता के चरित्र-दोष के विषय मे कहती हैं ।[7]

आनन्द रामायण मे वर्णित सीता-त्याग का प्रसग वाल्मीकि रामायण तथा जैन रामायण दोनो से प्रभावित है, जिसमें पहले राम जनापवाद सुनते हैं, तत्पश्चात् कैकेयी सीता से रावण का चित्र बनवाती है ।[8] उक्त ग्रथ मे राम मात्र सीता का त्याग ही नही करते, वरन् जिस भुजा से सीता ने रावण का चित्र बनाया है, उसे काटने का आदेश भी दे देते हैं ।[9]

वाल्मीकीय रामायण मे जीवन के अन्त मे नारी पात्रो की मृत्यु का वर्णन है जबकि जैन ग्रथो पउमचरियम्, जैन रामायण, उत्तर पुराण मे इनके जैन धर्म मे दीक्षा लेने[10] तथा आनन्द रामायण मे इनके सती होने का वर्णन है ।[11]

राजनीतिक कारण की दृष्टि से कथा के परिवर्तन पर दृष्टिपात करने के लिए जिन घटनाओं को प्रस्तुत किया गया है वे वाल्मीकीय रामायण तथा आनन्द रामायण मे समान रूप मे (एक जैसी) वर्णित है लेकिन जैन ग्रथो में किञ्चित् परिवर्तित रूप मे वर्णित है । वाल्मीकीय रामायण तथा आनन्द रामायण मे राम-लक्ष्मण के प्रारम्भिक (वीर्य-प्रधान) कार्यों के रूप मे मरीच एव सुबाहु आदि राक्षसो के वध का उल्लेख है[12] जबकि जैन ग्रथो पउमचरियम् (जैन रामायण), उत्तरपुराण आदि मे म्लेच्छो से युद्ध करने का वर्णन है ।[13] अनुमान है कि उस काल मे राजनीतिक दृष्टि से म्लेच्छो के विरुद्ध युद्धो का प्राधान्य होने के कारण कवि ने ऐसा वर्णन किया हो ।

जैन साहित्य के काल मे सामन्तवादी प्रवृत्ति का प्रचलन था । अत. एक राजा अपने राज्य-विस्तार के लिए दूसरे राजाओ से कर लेता हुआ अपने वैभव की वृद्धि कर उसे अपने अधीन कर लेता था । उक्त प्रवृत्ति के प्रचलन के कारण वाल्मीकीय रामायण तथा आनन्द रामायण मे जो राम लक्ष्मण राक्षस-नाश के लिए वन मे जाते है वे जैन ग्रथो— उत्तरपुराण, पउमचरियम् जैन रामायण मे वैभव वृद्धि एव राज्य-विस्तार के लिए दक्षिण या वाराणसी की ओर प्रस्थान करते हुए वर्णित किए गए है ।[14]

---

१. आनन्दरामायण, १/७/४१-४५
२. कामिल बुल्के : रामकथा, पृ० ७०८
३ पउमचरियम्, पर्व ९७-१००
४. आ०रा०, सर्ग ५/६-८
५ वा०रा० . उत्तरकाड, सर्ग ४२-५२
६. पउमचरियम, ९४/१९
७. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पृ० ३१५-१८
८. आ०रा०, जन्मकाड, सर्ग ३
९. वही, ३/३६
१०. (क) पउमचरियम्, पर्व ११०-११८
   (ख) उत्तरपुराण, पर्व ६८
   (ग) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पृ० ३४०-४२
११ आ०रा० १/११/२०५-१७, २८६
१२. (क) वा०रा०, बालकाड, सर्ग १९-२०
   (ख) आ०रा०१/३/७-११
१३. पउमचरियम्, पर्व २७
१४. (क) पउमचरियम्, पर्व ३२
   (ख) उत्तरपुराण, पर्व ६८
   (ग) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पृ० २१०-२१६

राम-लक्ष्मण तथा बालि का युद्ध वाल्मीकीय रामायण तथा आनन्द रामायण में बालि-सुग्रीव की शत्रुता के कारण है जो उनके पारिवारिक अनैतिक सम्बन्धो (बालि का सुग्रीव की पत्नी मे लिप्त रहना)[1] तथा राज्याधिकार विषयक कलह[2] (बालि दुन्दुभि के पुत्र मायावी या दुर्मद राक्षस से युद्ध करते समय, उसका वध करने गुफा में जाता है तथा सुग्रीव भी पीछे-पीछे जाता है। दुन्दुभि द्वारा गुफा का द्वार बन्द कर दिया जाता है। बालि दुन्दुभि का वध कर देता है जिससे रक्त गुफा से बाहर निकलता है। लेकिन बालि के गुफा से न लौटने पर सुग्रीव उसे मरा समझ लेता है, तथा लोगो द्वारा कहने पर राज्य पर बैठ जाता है। इस पर बाद में बालि आकर सुग्रीव से झगडा करता है तथा नगरी से निकाल देता है) के कारण है परन्तु जैन ग्रंथ उत्तरपुराण मे इस शत्रुता को नवीन रूप प्रदान किया गया है जो कतिपय राजनीति से प्रभावित प्रतीत होता है। उक्त वर्णन मे लक्ष्मण रावण को मारना चाहते हैं। बालि तथा रावण में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध हैं। अतः लक्ष्मण की रावण के विरुद्ध युद्ध मे विजय तब ही सम्भव है जब वह शत्रु (रावण) के मित्र (बालि) का नाश कर दे।[3] बालि मे स्थापित करने के लिए वे अपने दूत के द्वारा (बालि से) महामेघ नामक हाथी मगाते हैं जिसे देने से बालि इन्कार कर देता है।[4]

धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक कारणो से हुए परिवर्तन के अतिरिक्त जैन ग्रंथों व आनन्द रामायण मे किंचित् ऐसे भी परिवर्तन हैं जो मूल साहित्य (वा० रा०) मे न लेकर अन्य साहित्य के प्रभाव मे ग्रन्थ मे वर्णित किए गए हैं। जैन साहित्य तथा आनन्द रामायण मे वर्णित सीता-जन्म, सीता-त्याग एव लव-कुश युद्ध का प्रसग वाल्मीकीय रामायण से अर्वाचीन साहित्य से प्रभावित प्रतीत होता है। जैन ग्रंथ पउमचरियम्, जैन रामायण मे सीता तथा भामण्डल का जनक तथा विदेहा से जन्म[5] वाल्मीकीय रामायण के प्रभाववश नही है, वरन् ब्रह्माण्ड पुराण, विष्णु पुराण, वायु पुराण मे भानुमान जनक का पुत्र कहा गया है।[6] अनुमान है, उसीके प्रभाव से ग्रन्थ मे ऐसा वर्णन किया गया हो।

गुणभद्र-कृत उत्तरपुराण मे वर्णित सीता की जन्म-कथा जिसमे सीता को रावण की पुत्री कहा गया है[7], का विकास वाल्मीकीय रामायण की राम-कथा मे नही है, वरन् उक्त वृत्तान्त सर्वप्रथम वसुदेवहिण्डि मे उल्लिखित है जिसका विकास उत्तर पुराण मे है।[8]

जैन रामायण तथा आनन्द रामायण मे सीता-त्याग के प्रसग मे सपत्नियों[9] अथवा कैकेयी के आग्रह करने पर सीता द्वारा बनाए गए रावण के चित्र को देखकर राम द्वारा उसके (सीता के) त्याग का उल्लेख[10] सर्वप्रथम हरिभद्रसूरि-कृत उपदेश-पद नामक सग्रह-गाथा मे मिलता है[11], उसीके प्रभाववश उपर्युक्त ग्रन्थो मे इसका वर्णन किया गया है। आनन्द रामायण मे इसी प्रसग में धोबी के कथन[12] का समावेश कथा-सरित्सागर के प्रभाववश किया गया है।[13]

लव-कुश युद्ध का उल्लेख करते हुए आनन्द रामायण मे कहा गया है कि लव माता (सीता) त्याग के प्रतिकार के लिए राम से शत्रुता स्थापित करने तथा सीता के सौभाग्यशयन व्रत की पूर्ति के लिए राम के बगीचे से स्वर्ण-कमल तोडकर लाता है।[14] उक्त कथा का उल्लेख कथासरित्सागर से प्रभावित[15] प्रतीत होता है जिसमे वाल्मीकि द्वारा पूजित शिवलिंग से खेलने के कारण लव कुश को प्रायश्चित्त-स्वरूप कुबेर के सरोवर से स्वर्ण कमल तथा उनकी वाटिका से मन्दार-पुष्प लाकर उससे शिवलिंग-पूजा की आज्ञा वाल्मीकि द्वारा दी जाती है।

राम-कथा के परिवर्तन व परिवर्धन मे उपर्युक्त कारणो के अतिरिक्त कतिपय गौण कारण भी है। गौण कारणो मे वाल्मीकीय

---

१. (क) वा०रा०, किष्किन्धा कांड, सर्ग १०
   (ख) आ०रा०, सारकाण्ड, सर्ग ८
२. वही, सर्ग ९
३ गुणभद्रकृत उत्तरपुराण, ६८/४४४-४८
४. वही, ६८ ४४९-५८
५. पउमचरियम्, पर्व २६
६ ब्रह्माण्डपुराण, ३-६४/१८
   (ख) विष्णुपुराण, ४,५ ३०
   (ग) वायुपुराण, ८९.१८
७ गुणभद्रकृत उत्तरपुराण, पर्व ६८
८ बुल्के कामिल रामकथा, पृ० ३६६
९ जैन रामायण, पृ० ३१५-१८
१०. आनन्द रामायण, सर्ग ५/२
११ कामिल बुल्के 'रामकथा', पृ० ६९५
१२ आनन्द रामायण, ३,२८-३०
१३ कथासरित्सागर, ९/१/६६
१४. आनन्द रामायण, जन्मकांड, सर्ग ६-८
१५. कथासरित्सागर, ९/१/९५-११२

रामायण तथा आनन्द रामायण मे वर्णित कथा-पात्रो के उन नामो एव परिचय को लिया गया है जो जैन ग्रन्थो मे किंचित् वैभिन्न्य के साथ वर्णित है।

वाल्मीकीय रामायण तथा आनन्द रामायण मे दशरथ की तीन रानियां कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी तथा उनके चार पुत्र राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न वर्णित हैं।[1] जैन ग्रन्थ-पउमचरियम् (जैन रामायण), उत्तरपुराण मे दशरथ की चार रानियां (अपराजिता, कैकेयी (सुमित्रा), कैकेया, सुप्रभा)[2] कही गयी हैं। जिसमे पउमचरियम् मे कौशल्या के स्थान पर अपराजिता तथा उत्तरपुराण मे (कौशल्या के स्थान पर) सुबाला नाम रखा गया है।[3] लक्ष्मण की माता का नाम जैनग्रन्थो मे कैकेयी (सुमित्रा) वर्णित है। अनुमान है कि पात्रो के नामो का उक्त परिवर्तन त्रिषष्टिशलाकापुरुषो की माताओ के नाम पर आधृत है। इन महापुरुषो मे आठवे बलदेव की माता का नाम अपराजिता तथा नारायण की माता का नाम कैकेयी था, अत: जैन परम्परा के अनुकूल कथा मे नाम-परिवर्तन किया गया हो। राम को यद्यपि पउमचरियम् जैन-रामायण मे राम, राघव, रामदेव आदि नामो मे भी अभिहित किया गया है लेकिन इनका मौलिक नाम पद्म रखा गया है। पद्म नाम का कारण है कि अपराजिता ने 'पउमसरिसमुह' पुत्र को उत्पन्न किया तथा दशरथ ने 'पउमुप्पलदलच्छो' (पद्म-कमल दल-सदृश नेत्र वाले पुत्र को) देखकर उसका नाम पउम (पद्म) रखा।[4]

भरत तथा शत्रुघ्न का महापुरुषो मे स्थान नही है। अत इनकी माताओं के नामों को महत्त्व नही दिया गया है। लेकिन अनुमान है कि शत्रुघ्न की माता का नाम सुप्रभा तथा भरत की माता का नाम कैकेया तीर्थंकरो की माताओ के नाम की प्रसिद्धि के कारण रखा गया हो।

वाल्मीकीय रामायण तथा आनन्द रामायण मे विभीषण, रावण, विराध, खरदूषण आदि को राक्षस-योनि मे जन्म लेने के कारण राक्षस तथा सुग्रीव, बालि, हनुमान आदि को वानर कहा गया है। किन्तु जैन ग्रन्थो मे वानर तथा राक्षस दोना विद्याधर वश की भिन्न-भिन्न शाखाएं माने गये हैं।[5] जैनों के अनुसार विद्याधर मनुष्य ही होते है, उन्हे कामरूपता, आकाशगामिनी आदि अनेक विद्याए सिद्ध होती हैं।[6] वानरवशी विद्याधरो की ध्वजाओ, महलों तथा छतो के शिखरो पर वानरो के चिह्न विद्यमान होने के कारण उन्हे वानर कहा जाता है।[7] विद्याधरो को जैन धर्म में तीर्थंकरो के भक्त रूप मे चित्रित किया गया है। जैन ग्रन्थो के काल मे इन विद्याधरो तथा मानवो के बीच सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध थे। उनमे शादी-विवाह भी होते थे। रावण का विवाह सुग्रीव की बहिन श्रीप्रभा से[8], हनुमान का विवाह चन्द्रनखा (शूर्पणखा) की पुत्री अनगकुसुमा तथा सुग्रीव की पुत्री पद्मरागा से हुआ था,[9] लक्ष्मण ने वनमाला, जितपद्मा, पद्मरागा, मनोरमा आदि अनेक विद्याधर कन्याओ से विवाह किया था।[10] विराधित नामक विद्याधर (जिसको आनन्द रामायण तथा वाल्मीकीय रामायण मे विराध राक्षस कहा गया है) ने खरदूषण के विरुद्ध लक्ष्मण की युद्ध मे सहायता की थी।[11]

यद्यपि विद्याधरो मे परस्पर वैमनस्यपूर्ण सम्बन्ध भी दृष्टिगत होते है, लेकिन वे उनके पारस्परिक कलह एव द्वेष के कारण हैं—यथा, लक्ष्मण तथा रावण का युद्ध सीताहरण के कारण, सुग्रीव तथा साहसगति का युद्ध तारा से दुर्व्यवहार की चेष्टा के कारण।

वाल्मीकीय रामायण तथा आनन्दरामायण मे खर तथा दूषण को पृथक्-पृथक् व्यक्ति कहा गया है जिसमे खर शूर्पणखा का मौसेरा भाई है तथा दूषण उसका सेनापति है लेकिन जैन ग्रन्थो म खरदूषण एक ही व्यक्ति है जो चन्द्रनखा (शूर्पणखा) का पति है।[12] इसी प्रकार वाल्मीकीय रामायण तथा आनन्द रामायण मे रावण, कुम्भकर्ण, शूर्पणखा, विभीषण आदि विश्रवा मुनि एव कैकसी की सन्तान हैं, जबकि जैन ग्रन्थो मे इन्हें सुमाली के पुत्र रत्नश्रवा तथा कैकसी की सन्तान कहा गया है[13] जिनके नाम इस प्रकार हैं दशग्रीव, भानुकर्ण, चन्द्रनखा, विभीषण।

---

१ वा०रा० बालकाड, आनन्द रामायण, सर्ग १/२
२. पउमचरियम्, २२/१०६-०८, २५/१-१३, पर्व २४
३. उत्तरपुराण, ६७/१४८-५२
४. पउमचरियम्, २५/७-८
५. (क) वही, पर्व ६, (ख) उत्तरपुराण ६८/२७१, २७५-८०
६ कामिल बुल्के रामकथा, पृ० ६४
७. पउमचरियम्, ६/८६
८. वही, पर्व १०
९. वही, पर्व १९/४२
१०. वही, पर्व ६२
११. (क) वही पर्व ४५, (ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पृ० २४६-४८
१२. वही, पर्व ४४/८ ६
१३. (क) वही, पर्व ७, (ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पृ० ११६-१७

वाल्मीकीय रामायण तथा आनन्द रामायण मे अहल्या ब्रह्मा द्वारा निर्मित होकर गौतम ऋषि को पत्नी रूप से दी जाती है किन्तु जैन ग्रन्थ पउमचरियम् मे उसे ज्वलनसिंह एवं वेगवती की पुत्री कहा गया है।[1] वाल्मीकीय रामायण तथा आनन्द रामायण में हनुमान का नामकरण इन्द्र द्वारा वज्र से प्रहार करने पर (हनुमान की) हनु (ठोढी) के टेढे होने के कारण रखा जाता है।[2] जैन ग्रन्थ पउमचरियम्, जैन रामायण में हनुरुह पर्वत पर रहने के कारण,[3] उत्तरपुराण मे त्रसरेणु जैसा छोटा रूप बनाने के कारण हनुमान या अणुमान् नाम रखा गया है।[4]

वाल्मीकीय रामायण तथा आनन्द रामायण मे सीता के पुत्रो के नाम लव तथा कुश हैं जो सीता-त्याग के उपरान्त वन में वाल्मीकि ऋषि के संरक्षण मे रहते हैं। लेकिन पउमचरियम् में इन्हें वन मे राजा वज्रकर्ण की अध्यक्षता मे वर्णित किया गया है तथा इनके नाम लवण व अंकुश रखे गये हैं।[5] जैन रामायण मे इनके नाम अनग लवण तथा मदनांकुश वर्णित किए गये हैं।[6] गुणभद्र-कृत उत्तरपुराण मे सीता के विजय, राम आदि आठ पुत्रो का वर्णन किया गया है।[7] उपर्युक्त कथा की विभिन्नता अवान्तर कथाओ के पृथक्त्व के कारण है।

वाल्मीकीय रामायण तथा आनन्द रामायण मे नल-नील आदि वानरो द्वारा लका-यात्रा के समय सेतुबन्ध का वर्णन है, किन्तु जैन ग्रन्थो पउमचरियम्, जैन रामायण तथा उत्तरपुराण मे नल द्वारा समुद्र तथा सेतु नामक दो राजाओ की पराजय का वर्णन है।[8] सम्भवत: विद्याधर होने के कारण नल, नील आदि राजाओ ने आकाश-मार्ग से समुद्र पार किया हो तथा समुद्र पर सेतुबन्ध की आवश्यकता न पड़ी हो, या कवि ने समुद्र तथा सेतु का राजाओ के रूप मे मानवीकरण कर, उनकी पराजय का वर्णन कर कथा-परम्परा का निर्वाह किया हो।

राम-कथा के उपर्युक्त विकास को दृष्टिगत रखते हुए कहा जा सकता है कि जैन ग्रन्थों मे कथा का परिवर्तन संस्कृति तथा समय दोनो के परिवर्तन के प्रभाववश है जबकि आनन्द रामायण में मात्र समय की परिस्थितियों के प्रभाव से। वाल्मीकीय रामायण तथा आनन्द रामायण ब्राह्मण सस्कृति-प्रधान हैं। लेकिन जैन ग्रन्थ श्रमण सस्कृति-प्रधान। वाल्मीकीय रामायण तथा आनन्द रामायण में देवी-देवताओ, ब्राह्मणो एव यज्ञो की श्रेष्ठता है लेकिन जैन ग्रन्थो में वैदिक देवी-देवताओ का स्थान तीर्थंकरो ने ले लिया है, मुनियो का स्थान श्रमणो ने, हिंसामूलक यज्ञों का स्थान अहिंसा-प्रधान जैन प्रव्रज्या तथा दीक्षा ने, हवन का स्थान जैन व्रतो ने यथा एकपत्नीव्रत रूप आदर्श का स्थान त्रिषष्टिशलाकापुरुषो के बहुपत्नीत्व ने ले लिया है।

कन्नड-साहित्य पर प्रारम्भ से ही जैन साहित्य का विशिष्ट प्रभाव पडा है, और उसे हम रामायण साहित्य मे अत्यत स्पष्ट रूप से देखते हैं। जैन रामायण 'पउमसिरी चरियं' के आधार पर ही कन्नड मे सर्वप्रथम रामायण महाकाव्य की रचना हुई है। 'अभिनव पप' श्री नागचन्द्र ने राम को 'अरहत' के रूप मे चित्रित करते हुए सहार का सपूर्ण कार्य लक्ष्मण पर डाल कर अपनी रामायण की रचना की है। यह 'पप-रामायण' के नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्यारहवी शताब्दी की रचना मानी जाती है। वाल्मीकि के आदर्श राम न होने पर भी अभिनव पप के आदर्श राम अहिंसा के दृष्टिकोण से अनुपम व अलौकिक ठहरते हैं और संपूर्ण कथावस्तु यथानुकूल परिवर्तन के साथ उपस्थित की गई है। 'पप रामायण' कन्नड-साहित्य का एक अनमोल रत्न है। वर्तमान जीवित भाषाओं मे से किसी मे भी इस अहिंसात्मक भाव्य भावना को प्रधानता देते हुए 'पप रामायण' जैसा कोई महाकाव्य नही लिखा गया है। अत: भारतीय साहित्य मे इसका एक अनुपम स्थान है।

सु० शकर राजू नायुडु के लेख 'कविचक्रवर्ती कम्बर' से साभार
(राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० स० ६८६)

---

१. पउमचरियम्, पर्व १३
२. वाल्मीकीय रामायण, ४/६६ आनन्दरामायण १/१२
३. पउमचरियम्, पर्व १५-१८, (ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पृ० १६१-८१
४. उत्तरपुराण, ६८/२७५-८०
५. पउमचरियम्, पर्व ६५
६. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पृ० ३२१
७. उत्तरपुराण, पर्व ६८
८. पउमचरियम्, पर्व ५४, (ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पृ० २७३-७४

जैन रामायण 'पउमचरिउ' का व्यावहारिक महत्त्व

डॉ० देवनारायण शर्मा

वस्तुत. किसी भी काव्य का सिद्धान्त-पक्ष उसके व्यवहार-पक्ष मे कदापि भिन्न नही हो सकता। कवि जिस विशेष दृष्टि को लेकर चलता है, वह दृष्टि जीवन के व्यवहार पक्ष को छूए बिना नही रह सकती, उसको आधार माने बिना वह नही टिक सकती। क्योकि अन्तर्जगत् और बाह्य जगत्, अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल, ने ऐसे लोक-प्रबन्धो की रचना की है, जो लोक-जीवन अर्थात् व्यवहार पक्ष का मार्ग विस्तीर्ण कर अतीत की कडी को अनागत से जोड सकें। वस्तुत स्थूल जगत् का जो अर्थ है, उसकी जो व्यजना है, वही व्यवहार-पक्ष का वास्तविक स्वरूप है। यद्यपि मानव की भावनात्मक दृष्टि उसके व्यवहार पक्ष से अधिक सबल और शक्तिशाली है, किन्तु उसकी सफलता स्थूल जगत् की व्यावहारिकता को चरितार्थ करने मे ही है। जीवन का यह व्यवहार-पक्ष ही किसी भी प्रबन्धकाव्य की धरोहर है।

वस्तुत श्रेष्ठ प्रबन्ध काव्य वही है, जिसमे जीवन के व्यवहार-पक्ष अपने आप सुलझते स्पष्ट होते चले गये है। वे पक्ष चाहे धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक हों अथवा पारिवारिक। इन सबो को लेकर ही काव्य के अन्तर्जगत् का स्थूल जगत् से सम्बन्ध बैठ पाता है। सच्चे अर्थ में उसका व्यावहारिक रूप साकार हो पाता है, अन्यथा नही। यद्यपि कवि कोई धर्मोपदेशक, समाजशास्त्री, राजनीतिज्ञ अथवा समाज-सुधारक नही, किन्तु उसका व्यक्तित्व इन सबो से महान् और उपादेय है। वह इन सबो के समवेत-समन्वित व्यक्तित्व वाला प्राणी है। वह किसी एक काल का नही, एक देश का भी नही। उसके विचार सार्वदेशिक और सार्वकालिक होते हैं और चिरन्तन सत्य को व्यक्त करते है। कवि द्वारा चित्रित तथ्य अनश्वर होता है, सनातन होता है, चिरनवीन होता है। कभी भी आदिकवि वाल्मीकि, विमल, स्वयभू और तुलसी की वाणी पुरानी नही पड सकती। ससार उनकी वाणी को वर्तमान सत्य के रूप मे तो देखता ही है, साथ ही उसकी अनागत सत्यता मे भी पूर्ण आशान्वित है।

जहाँ तक सत्य को स्वय देखने का प्रश्न है, कवि का वह कर्त्तव्य अपने तक सीमित है, वहाँ वह एकान्त साधक है; किन्तु जहा उसकी दृष्टि दूसरो को दिखाने की दिशा मे अग्रसर होती है, वह सामाजिक हो जाता है और उसका व्यवहार-पक्ष प्रबल हो पडता है। उस स्थिति मे वह सिद्धान्त और व्यवहार का समवेत मूर्तरूप बन बैठता है। उस समय वाणी विधिवाक्य बन जाती है और उसका एक-एक शब्द लोक-सग्रह की ध्वनि मे ओत-प्रोत सुना जाता है।

हमारे कविराज स्वयभू तो इस पक्ष मे 'पूर्णत अग्रगण्य' कहे जा सकते है। इन्होने अपनी जैन रामायण 'पउमचरिउ' के अन्तर्गत तो राजनीति, समाजनीति, धर्म-नीति एव परिवार-नीति का ऐसा आदर्श व्यावहारिक पक्ष सामने रखा है, जिसकी तुलना तत्कालीन अन्य कवियो के साथ सुकर नही। हम निर्देशन रूप मे इन्हे निम्न प्रकार देख सकते हैं—

राजनीति—इसमे कविराज की लेखनी निर्बाध अपने लक्ष्य की ओर बढती गई है। वे अपने राजा को सभी राज-गुणो से सम्पन्न देखना चाहते हैं। चाहे वह उसकी योग्यता का परिचायक हो, चाहे उसके राज्याभिषेक-प्रसग का सूचक हो, अथवा उसके द्वारा प्रजापालन, करोट-ग्रहण, युद्ध मे शत्रु राजा के साथ व्यवहार अथवा सन्धि-विग्रह आदि जो भी हो, वहाँ अवश्य वह एक आदर्श मान-दण्ड खडा करता हुआ दिखाई पडता है।

स्वयभू देव का राजा सर्वांगपूर्णता मे शकर, विष्णु, सूर्य, चन्द्र तथा इन्द्रादि देवो से भी आगे है। वह राजा तीनो शक्तियो (प्रताप, मन्त्र और उत्साह) से युक्त, चारो विद्याओ (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति) मे निष्णात, छह गुणो (सधि, विग्रह, यान, आसन, सश्रय और द्वैधीभाव) का निधान, छह बलो (मूलबल, भृत्यबल, श्रेणिबल, मित्रबल, अमित्रबल और आटविकबल), तथा सात प्रकृतियों (स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सैन्य) का यथार्थ ज्ञाता, सप्तव्यसनो (द्यूत, मद्य, मास, आखेट, वेश्या-गमन, परस्त्रीगमन, और चौर्य) से सर्वथा रहित, छह अन्तरग शत्रुओ (काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष) का विनाशक और अठारह प्रकार के तीर्थों (मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, दौवारिक, अन्तर्वेशिक, प्रशास्ता, समाहर्ता, सविधाता, प्रदेष्टा, नायक, व्यावहारिक, कर्मान्तिक, मन्त्रि-

परिषद्, दण्ड, दुर्गान्तपाल और आटविक) का पालक है। इतना ही नहीं, वह अपने दिन-रात का समय राजोचित विविध कृत्यों के अनुसार यथाकाल विभाजित करके व्यतीत करता है। इस प्रकार 'पउमचरिउ' के अन्तर्गत राजा को एक असाधारण शक्ति-सम्पन्न व्यक्तित्व के रूप में स्वीकार किया गया है।

राज्याभिषेक की रीति कविराज को राजतन्त्र के अनुरूप ही स्वीकार्य है। उदाहरणार्थ हम चक्रवर्ती भरत तथा बाहुबलि एवं राम तथा भरत के प्रसंगों को ले सकते हैं। यहा प्रथम पुत्र भरत को तो पिता ऋषभ भूखण्ड का राज्य समर्पित कर देते हैं, किन्तु, द्वितीय को मात्र पोदनपुर का एक नगण्य छोटा भूखण्ड। इसी तरह राजा दशरथ अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को तो बनवास जाने का आदेश दे देते हैं, पर, छोटे भरत को अयोध्या के राजसिंहासन पर आसीन होने का आदेश। इस प्रकार कवि "जेहि पितु देइ सो पावइ टीका" की परम्परा का ही समर्थन करता हुआ दीखता है। यद्यपि राजा की निरकुशता उसे कदापि पसन्द नही।

प्रजा-पालन के लिए करोट-ग्रहण की प्रणाली कवि की दृष्टि मे अति आवश्यक है। वह भूखण्ड के अधिकारी अपने सहोदर से भी कर-ग्रहण का पक्षपाती है, किन्तु, वह सम्पत्ति के मात्र दशाश ग्रहण को ही न्यायपूर्ण मानता है।[1]

युद्ध मे शत्रु राजा के साथ व्यवहार करते समय भी 'पउम-चरिउ' का कवि नैतिकता पर पूरी दृष्टि रखता है। उसके विचार में केवल उसी शत्रु पर प्रहार करना न्यायसगत है, जो प्रहार का उत्तर प्रति-प्रहार द्वारा दे सकता है। निर्विष सर्प पर प्रहार करने से कोई लाभ नही। एक के साथ बहुतों तथा पैदल के साथ यानारूढ का युद्ध करना अनीति कहा गया है। इसी प्रकार युद्ध का काल भी दिन के प्रकाश में ही मर्यादित कर दिया गया है।

रात्रि के अधकार मे तो आदर्श योद्धा को अपने प्रतियोद्धा के साथ मित्रवत् व्यवहार करने को कहा गया है। यद्यपि 'पउमचरिउ' का कवि प्रबल शत्रु को पराजित करने मे यत्र-तत्र छल के प्रयोग को भी लोक-मान्यता प्रदान करता हुआ दीखता है, किन्तु, पराजित राजा की राज-सम्पत्ति पर विजयी राजा की लोभवृत्ति को आदर्श नही माना गया है। उससे सेवा स्वीकार कराकर उसकी सम्पत्ति को उसे ससम्मान समर्पित कर देना ही आदर्श विजय है।

अपने शत्रु राजा के साथ सन्धि और विग्रह दोनो की ही स्थितिया उत्पन्न हो जाने पर कविराज इनमे प्रथम पर ही अधिक बल देते पाये जाते हैं। क्योकि, अनेकान्त-गर्भित अहिसामूलक धर्म के सरलतम ढग से निर्वाह करने का एकमात्र सुगम उपाय सन्धि ही है, विग्रह नही। उदाहरण के लिए हम राम-रावण युद्ध के प्रसग को ले सकते हैं. जब लका से ससैन्य प्रवश कर जाने एव विभीषण तथा भामण्डल के स्वय आ मिलने जैसे सुयोग की प्राप्ति के बाद भी राम, सग्राम को लोक-हित के विरुद्ध मानते हुए, अपने मूढ प्रतिपक्षी रावण के पास भी युवराज अगद को सन्धि-दूत बनाकर भेजते है। इस प्रकार 'पउमचरिउ' के अन्तर्गत कविराज की राजनीति को मूलत. हम सामनीति से प्रेरित पाते हैं।

समाजनीति—'पउमचरिउ' के अन्तर्गत समाज के सुव्यवस्थित सचालन के लिए समाजोपयोगी विविध कर्मों का भी उल्लेख है। उदाहरणार्थ समाज की सुरक्षा के लिए शस्त्र-धारण—सचालन (असि-कर्म), समाज मे ज्ञान के प्रसार-प्रचार के लिए शास्त्रो का लेखन तथा पठन-पाठन (मसि-कर्म) तथा समाज को धनधान्य मे समृद्ध रखने के लिए कृषि-वाणिज्यादि (कृषि-कर्म) कर्मों के समुचित सचालन के निर्देश मिलते है. किन्तु, इसके धारक—सचालक किसी वर्ग विशेष पर बल नही दिया गया है। यो प्रसगानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि वर्गों के नाम मिल जाते हैं, पर, इससे इनके किसी वर्ग अथवा इनकी विशिष्ट कार्य-सीमा का पता नही चलता। सभवतया कवि की दृष्टि मे समाज के लोग अपनी-अपनी योग्यतानुसार उक्त सामाजिक कर्तव्यो का चुनाव स्वय ही करते है।

समाज के अन्तर्गत स्त्रियो का आदर्श अत्युच्च वर्णित हुआ है। वे युद्धस्थल मे पति के रथ का सारथ्य करती है। पति के शस्त्राहत हो जाने की स्थिति मे अपने अद्भुत उपचार के द्वारा उन्हें नवजीवन प्रदान करती हैं। इतना ही नही, पति का सकेत पाकर अपना सम्पूर्ण जीवन शून्य वन मे—पर्वतो पर व्यतीत कर डालती है। इसी कारण कविराज ने सती स्त्रियो के चित्त को दुर्लघ्य कहा है।

धर्म-नीति—इस रामायण काव्य मे धर्म के विधि-निषेधात्मक उभयपक्षो को स्पष्ट समर्थन मिला है। कविराज अहिसा को परम धर्म स्वीकार करते है। किन्तु, उनका यह परम धर्म हिसा से व्यक्ति को विरत ही नही करता, अपितु उसे जीवो के प्रति करुणा-दया की दृष्टि करने की ओर भी प्रेरित करता है। वह भूखों को अन्न देने, उन्हे भोजन मे तृप्त करने को ही अहिसा धर्म का व्यवहार पक्ष मानता है। कविराज की धर्म-नीति सदा अहिसामय-करुणामय है—जीव-दया-मय है। वस्तुत उनकी दृष्टि मे श्रमण वे ही हैं, जो जीवो को भय से, कष्ट से मुक्त करते हैं। सच्चे अर्थ मे श्रमण वे ही हैं, जो पर्वतराज सुमेरु की तरह अकम्प, समुद्र की तरह अक्षोभ्य, पृथ्वी की तरह क्षमाशील, मध्याह्न के सूर्य की तरह विशिष्ट तेज-युक्त तथा अज्ञान-अन्धकार से सर्वथा रहित है।

---

१. पउमचरिउ : सधि ८०, कडवक ६, पक्ति १०

अहिंसा-प्रधान धर्मनीति का व्यास रूप इसके दश भेदो (उत्तम, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्य) में प्रकट हुआ है एव समास रूप पांच भेदो (अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) मे। इसी प्रकार ठीक उपर्युक्त के प्रतिकूल आचरण, उदाहरणार्थ—जीवनिकायो के वध, मिथ्या वचन के प्रयोग, परधन के हरण, परस्त्री-सेवन तथा गृह-गृहस्थी के अपरिसीमन को अधर्म कोटि मे रखा गया है। कविराज ने प्रसगानुसार धर्म-अधर्म के शुभाशुभ फलो की ओर भी पाठको का ध्यान आकृष्ट किया है। वे धर्म से ही अभीष्ट फलों की प्राप्ति जैसे परिवार-परिजनो का अनुकूल आचरण, राजोचित अशन-पान, भव्य भवन एव सेवा में रत रहने वाली सुन्दरी कामिनियों का भोग, मनुजत्व-देवत्व आदि उच्चगतियो की प्राप्ति आदि वर्णित करते है। इतना ही नही, धर्म से ही बलदेव, वासुदेव, अर्हन्त, सिद्ध (तीर्थंकर) तथा चक्रवर्ती के पद प्राप्त होते हैं। किन्तु ठीक इसके विपरीत अधर्म मे परिवार-परिजनो की विमुखता, समाज में अत्यन्त घृणित स्थिति, अकाल-मृत्यु, रोग-शोक, दुर्भाग्य, दरिद्रता तथा मरणोपरान्त नरकादि दुःख प्राप्त होते हैं।

परिवार-नीति—इसके अन्तर्गत 'पउमचरिउ' का कवि प्रमुख रूप से पिता-पुत्र, भाई-भाई, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, स्वामी-सेवक, चाचा-भतीजा, देवर-भाभी आदि के परस्पर सम्बन्धो का आदर्श व्यवहार-पक्ष प्रस्तुत करता है।

वह पिता-पुत्र के सम्बन्ध को आत्मीय सम्बन्ध के रूप मे प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि पुत्र अपने पिता के हर्ष को अपना हर्ष और विषाद को अपना विषाद मानता है। इसी प्रकार पिता भी पुत्र के क्लेश से क्लिष्ट और प्रसन्नता से प्रसन्न हो उठता है। वह पिता गृही हो अथवा विरक्त, उसके पुत्र-प्रेम में कोई अन्तर नही आता। उदाहरण रूप मे कवि ने सहस्रकिरण के पिता शतकर तथा राम के पिता दशरथ का बडा ही मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। इस प्रसग मे पिता और पुत्र दोनो के चरित्र अत्यन्त अनुकरणीय बन पडे है।

भाई-भाई का परस्पर प्रेम-सम्बन्ध तो राम, भरत, लक्ष्मण आदि के चरित्रो में अपूर्व निखार को प्राप्त हुआ है। ऐसा उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है, जिसमे भ्रातृ-प्रेम के कारण वनवासी, सहवासी तथा गृहवासी सभी भाइयो की दशा समान ही चित्रित हुई है। राम, भरत और लक्ष्मण मे कोई किसी से कम नही। इसी कारण 'पउमचरिउ' का कवि ससार मे सबसे बढकर दुर्लभ सच्चे भाई[1] को मानता है। वह किसी भी भाई के लिए सर्वत्र 'सहोदर' शब्द का ही प्रयोग करता है, जो 'पउमचरिउ' के भ्रातृ-सम्बन्ध का एक आदर्श एव उदार प्रयोग कहा जा सकता है।

पति-पत्नी के सम्बन्ध को तो कविराज परस्पर अन्योन्याश्रित मानते है। पति के बिना पत्नी का जीवन यदि निरर्थक है, तो पत्नी के बिना पति का जीवन निष्फल। यह आदर्श सम्बन्ध इस रामायण काव्य के अन्तर्गत अक्षरश चरितार्थ हुआ है। पत्नी मात्र घर तक ही नही, युद्ध की विभीषिका मे भी पति का साथ देती है, उसे विजयी बनाती है और इसके बदले मे पति भी अपना सर्वस्व, अपना जीवन-धन उस पत्नी पर न्यौछावर कर देता है। इसमें से एक का वियोग दूसरे के लिए असह्य हो जाता है। इस प्रसग मे हम 'पउमचरिउ' के अन्तर्गत राम-सीता तथा पवनजय एव अजना सुन्दरी की परस्पर वियोग-दशाओ को देख सकते हैं।

माता-पुत्र के भावात्मक सम्बन्धो की गम्भीरता का पता तो केवल राम की इसी उक्ति से लग जाता है कि "जननी के साथ जन्म-भूमि मे रहने का सुख स्वर्ग मे भी दुर्लभ है। माता की गोद पुत्र के लिए स्वर्ग के सिंहासन से भी बढकर है।"[2]

राजा हरिषेण की मातृ-भक्ति का उल्लेख भी कविराज ने बडे ही गर्व के साथ किया है। इसी प्रकार पुत्र-प्रेम का दृष्टान्त भी पुत्र पवनंजय के वियोग मे माता केतुमती के विलाप तथा राम के वन-गमन समाचार से माता कौशल्या की अतिशय व्याकुलता में दर्शनीय है।

बडे भाई की पत्नी को माता के समान माना गया है। कुमार लक्ष्मण माता सुमित्रा की अपेक्षा माता सीता की याद अधिक रखते थे। इसी प्रकार सीता का भरोसा भी लक्ष्मण पर सबो की अपेक्षा अधिक था, यहा तक कि राम से भी बढकर।[3]

इसी प्रकार 'पउमचरिउ' के अन्तर्गत हम अन्य पारिवारिक सम्बन्धो को भी देख सकते हैं, क्योंकि यह भाषा-काव्य कौटुम्बिक आदर्श सम्बन्धो का तो मानो आकर ही है।

इस तरह हमे सक्षेप मे कविराज की अनुपम कृति 'पउमचरिउ' के व्यावहारिक पक्ष के महत्त्व का स्पष्ट निदर्शन मिल जाता है, जो किसी भी महान् काव्य का जीवन है।

---

१ पउमचरिउ सधि ६९, कडवक १२, पक्ति ६

२ वही, सधि ७८, कडवक १७, पक्ति ४

३. वही, „ ५०, „ १३ „ ८-१०

स्वयंभू-रचित 'पउमचरिउ' में वर्णित राम का व्यक्तित्व

प्रो० हुकमचन्द जैन

भारतीय साहित्य मे जिन महापुरुषो ने जन-मानस को अधिक प्रभावित किया है, उनमें राम का व्यक्तित्व प्रमुख है। राम-कथा जन-जीवन मे प्रारम्भ से ही इतनी प्रचलित रही है कि विभिन्न युगो के कवियों ने विभिन्न भाषाओ मे उनके व्यक्तित्व को कई दृष्टिकोणो से प्रस्तुत किया है।

राम-कथा सस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्र श आदि भाषाओ मे बहु-प्रचलित रही है। आदिकवि वाल्मीकि ने राम को आदर्श मानव, जैन कवियो ने उन्हे भव्य पुरुष एवं तुलसीदास ने मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् के रूप मे स्वीकार किया है। अत राम का व्यक्तित्व बहुआयामी हो गया है।

जैन परम्परा मे राम-कथा को सर्वप्रथम प्रस्तुत करने वाले महाकवि विमलसूरि हैं। उन्होने अपने प्राकृत ग्रंथ 'पउमचरिउ' मे राम को एक साधारण मानव की दृष्टि से चित्रित किया है।[1] आचार्य रविषेण ने सस्कृत-ग्रंथ पद्म-पुराण मे राम के सर्वांगीण सौन्दर्य को चित्रित किया है। उन्हें दया, करुणा, प्रेम, शील व शक्ति का खजाना माना है।[2] पउमचरिउ मे स्वयभू ने इसी जैन परम्परा को अपनाया है। अत: उन्होने राम के व्यक्तित्व मे लगभग यही गुण वर्णित किए हैं।[3] किन्तु उनकी शैली एव दृष्टि में विशिष्टता है।

पराक्रमी बालक

पउमचरिउ मे राम के व्यक्तित्व का विकास उनकी युवावस्था मे प्रारम्भ होता है। कौमार जीवन मे वे जब पिता के स्थान पर स्वय जनक की सहायता के लिए चल पडते हैं और यह कहते हैं—हे तात ! मेरे रहते हुए आपका युद्ध मे जाना उचित नही है—तो उनके इस कथन से एक ओर पिता के प्रति अगाध प्रेम का पता चलता है और दूसरी ओर उनके पराक्रम और उत्साह का।

आदर्श पुत्र

राम एक आदर्श पुत्र के रूप मे दिखाई देते हैं, पिता की आज्ञा-पालन विकट से विकट परिस्थिति में भी करते हैं। राम-वनवास के वचनो को सुनकर लक्ष्मण क्रोध से तिलमिला उठते है, तब दशरथ किंकर्त्तव्य-विमूढ हो जाते हैं। इस पर राम दशरथ को आदर्श पुत्र के लक्षण बताते हुए कहते हैं—

"पुत्र का पुत्रत्व इसी मे है कि वह कुल को सकट-समूह मे नही डालता, वह अपने पिता की आज्ञा धारण करता है और विपक्ष का प्राण-नाश करता है। गुणहीन और हृदय को पीडा पहुचाने वाले पुत्र शब्द की पूर्ति करने वाले पुत्र से क्या ? लक्ष्मण हनन नही करता। आप तप साधें, शक्ति को प्रकाशित करें, हे पिता ! मैं वनवास के लिए जाता हूं।"[4]

स्नेही गृहस्थ

पारिवारिक जीवन मे राम परिवार के सभी सदस्यो से स्नेह करने वाले हैं। पिता के समान ही राम अपनी माता अपराजिता

1. रविषेणाचार्य-कृत पद्मपुराण, भाग १, प्रस्तावना
2. डा० जगदीशचन्द्र जैन · प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५३४
3. महाकवि स्वयभू . डा० सकटाप्रसाद उपाध्याय
4. पुत्तहो पुत्तत्तणु एत्तिउ जे। ज कुलु ण चडाइ वसण-पुञ्जें ॥
   ज पिय-वयणहों आणा-विहेउ। ज करइ विवक्खहो पाण-छेउ ॥
   किं पुत्तें पुप्पु पयपूरणेण। गुण-हीणें हियय-विसूरणेण ॥ प० चरिउ भाग २, सधि २२, ६ का ६-७-८ (कडवक)

और दशरथ की सभी रानियों से स्नेह रखते हैं। कैकेयी ने जब राम के लिए वनवास मांगा तो राम के मन मे उसके प्रति तनिक भी आक्रोश नही हुआ। वे सहर्ष पिता के वचनों का पालन करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसी तरह राम अपनी माता अपराजिता को भी बहुत स्नेह करते हैं। वे वनवास जाते समय मां को ढाढ़स बधाकर तथा अनजाने में की गई भूलो के लिए क्षमा माग कर वनवास के लिए रवाना होते हैं।

राम का अपने भाइयों के प्रति भी बहुत स्नेह है। इसीलिए उन्होने भरत को राज्य-सिहासन सहर्ष दिया था। उनके हृदय में क्षण मात्र भी रोष या ईर्ष्या नहीं थी कि मेरे छोटे भाई को राज्य मिल रहा है।

भरत जगल मे राम से वापस चल कर राज-सिहासन पर आसीन होने के लिए अनुनय-विनय करते हैं किन्तु राम उन्हें मर्यादा का उपदेश देते हुए लौटा देते हैं। राम दूसरी बार भी उन्ही के सिर पर राजपट्ट बाधते हैं।[1]

लक्ष्मण के प्रति तो उनका अथाह प्रेम है। लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम विलाप करते हुए कहते हैं—"प्रिय! यम ने तुम्हारा और हमारा क्या कुछ नही किया? कहा तो माता गई और नही मालूम, पिता जी कहा गए? हे हतभाग्य विधाता, तुम्ही बताओ, इस प्रकार हम भाइयो का विछोह कराकर तुम्हे क्या मिला? तुम्हारी कौन-सी कामना पूरी हो गई?"[2]

राम का यह विलाप लक्ष्मण के प्रति उनके अगाध प्रेम का द्योतक है।

सबसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग यह है कि लक्ष्मण की मृत्यु का समाचार जब राम को मिलता है तो राम लक्ष्मण के शव को अपने कधे पर डालकर घूमते रहते हैं।[3]

इससे बढ़कर राम का स्नेह क्या हो सकता है? ये विचार सभी जैन राम-कथाओं मे मिलते हैं, किन्तु जैनेतर कथाओं में नही मिलते, जो भ्रातृ-प्रेम के रूप मे राम के व्यक्तित्व को निखारता है।

पत्नी के प्रति भी राम के व्यक्तित्व मे अपनी आदर्श मर्यादा और असीम प्रेम के साथ लोकापवाद के कारण नफरत या हेय भावना भी दिखाई देती है। किन्तु यह हेय भावना जैन राम-कथाकारो ने ही दर्शायी है, जिसके मूल मे लोकापवाद प्रसग का निराकरण है। दूसरे सभी विचार वैदिक एव बौद्ध ग्रन्थो मे समान रूप से दिखाई देते है। जब रावण सीता का हरण कर ले जाता है, तब राम सीता की खोज मे जो करुण-क्रन्दन करते हैं वह निम्न प्रकार है. "अरे मेरी कामिनी के समान सुन्दर गति वाले गजराज, क्या तुमने मेरी मृगनैनी सीता को देखा है?"[4]

रामचरितमानस के राम भी इसी तरह पूछते हुए व्याकुल है—

"हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम देखी सीता मृगनैनी॥"

सीता के प्रति अगाध प्रेम का एक प्रसग और है। लक्ष्मण के पूछने पर राम के मुह से केवल इतना निकलता है—

"सीता वन मे नष्ट हो गई है। उसकी वार्ता और कोई नही जानता।"[5]

मर्यादा-रक्षक

राम के सीता-प्राप्ति के लिए किए गए करुण-क्रन्दन मे जहा प्रेम है, वहा दूसरी तरफ 'पउमचरिउ' के सीता-निर्वासन और अग्नि-परीक्षा के प्रसग मे राम के व्यक्तित्व मे कठोरता, आदर्शवादिता, नैतिकता एव मर्यादा आदि गुण उनके व्यक्तित्व मे श्रेष्ठता लाते हैं।

राम निष्ठुर बनकर सीता को राजभवन मे निर्वासित कर भयकर जगल मे छुडवा देते हैं। इसलिए कि अयोध्या की कुछ दुराचारिणी स्त्रियो ने अपने पतियों के सामने यह तर्क प्रस्तुत किया कि "यदि इतने दिनों तक रावण के यहा रहकर आनेवाली सीता राम को ग्राह्य हो सकती है तो एक-दो रात अन्यत्र बिताकर अपने घर लौटने मे पतियों को आपत्ति क्यों हो?"[6]

इस बात को लेकर नगर मे सीता-विषयक अपवाद फैलता है। राम कुल-मर्यादा की रक्षा के लिए सीता का निर्वासन कर देते हैं।

---

१. एउ वयणु भणेप्पिणु सुह-समिद्धु। सइ हत्थे भरहहो पट्टु बद्धु॥ पउमचरिउ, भाग २ (२४-१०/६) कडवक

२. कहिं तुहुँ कहिं हउँ कहिं पियमम कहिं जणेरि कहिं जणणु गउ।
हय-विहि विच्छोउ करेप्पिणु कवण मणोरह पुण्ण तउ॥ पउमचरिउ, भाग ४, ६७वी सन्धि, ३-१३ (कडवक)

३. तहो आयहें अवरहें वि करन्तहं णिय-खन्धे हरि-मडउ वहन्तहं।
भाइ विओय-जाय-अइ-खामहें अद्धु वरिसु वोलीणउ रामहें॥ पउमचरिउ, भाग ५, ८८वीं सन्धि १-१२

४. हे कुञ्जर कामिणि-गइ-गमण। कहे कहिं मि दिटि्ठ अइ मिगणयण॥ प०च०, भाग २, ३९वी सन्धि, १२-४ (कडवक)

५. वणे विणट्ठ जाणई। न को वि वत्त जाणई॥ प०च०, भाग २, ४०वी सन्धि, १२-९

६. पर-पुरिस रमेवि दुम्महिलउ देन्ति पडुत्तर पइ-यणहो।
किं रामु ण भुञ्जइ जणय-सुअ वरिसु वसेवि घरें रावणहो॥ प०च०, भाग ५, ८१वी सन्धि, ३-१० (कडवक)

उनका चरित्र और भी अधिक उजागर तब होता है जब राम का मन स्त्री-भावना से दूषित हो जाता है। उसी समय राम स्त्री-विषय मे सोचते हैं—

"स्त्री का क्या विश्वास ? वह परिणीता किसी की होती है, प्रेयसी किसी अन्य की। ध्यान किसी का करती रहती है, लेकिन मन में कोई दूसरा ही बसा रहता है; उसकी वाणी में अमृत होता है, लेकिन हृदय मे विष और नेत्रों में मृत्यु। स्त्री-चरित्र को कौन जान सकता है। वह नदी की तरह दोनों तटो का विनाश करती है।"[1]

राम के मानस-पटल पर अन्तर्द्वन्द्व की रेखाए उभर आती हैं। वे सोचते हैं—वह बडी कठिनाई में हैं, यदि सीता सती हो, तो भी लांछन को कौन टाल सकता है कि वह रावण के घर रहकर आयी हैं ?"[2]

फिर भी राम दृढ़तापूर्वक विचार को स्थिर करते हैं, "नही, नही, राम सीता को घर मे नही रख सकता, चाहे लक्ष्मण कितना ही प्रतिवाद करें।" राम लक्ष्मण को आदेश देते हैं—"इसे घर से निकालो, रघुवश मे यह पाप-पुज नही रह सकता है। ससार मे उसके अपयश का ढिंढोरा नही बज सकता।"[3]

इस प्रकार राम के व्यक्तित्व मे अन्तर्द्वन्द्व एव दृढ़ता स्वयम् की मौलिक देन है जो मानस एवं रामायण के राम मे नही मिलते हैं। ऐसे विचार इसलिए रखे हैं कि व्यभिचारिणी स्त्रियों मे सुधार हो सके एव लोकापवाद की शान्ति हो।

शरणागत-वत्सल

राम के व्यक्तित्व मे शरणागत-वत्सलता भी एक बहुत बडा गुण है, जिसके पुट मे दया का सागर तरगित है। विभीषण भाई को छोडकर राम की शरण में आता है, तो राम उसे गले लगाकर कहते हैं- "मैं तुम्हें लज्जित नही होने दूगा और समग्र लका का राज्य तुम्हें दूगा। रावण का सिर तोडकर मैं उसे कृतान्त का अतिथि बनाऊंगा।"[4]

मानस एव रामायण के विभीषण को राम से यह स्पष्ट आश्वासन नहीं मिलता कि मैं रावण को मारकर राज्य-श्री तुम्हारे हाथो मे सौंपूगा। यह 'पउमचरिउ' मे राम के व्यक्तित्व का विशेष गुण है जो उनके व्यक्तित्व को आलोकित करता है।

राम हनुमान, अगद, सुग्रीव आदि के प्रति कृतज्ञ हैं : यह नही मानकर कि ये सब अपने-अपने कर्तव्य निभा रहे हैं बल्कि ये बेचारे अपनी शक्ति की सीमा को पार कर मुझ पर उपकार कर रहे हैं। इसीलिए सीता की सूचना पर राम हनुमान को गले लगाते हैं। "जब राम वन-मार्ग में बढते हैं तो उन्हें सुरति-युद्ध दिखायी देता है। राम उसे देखकर हँस देते हैं किन्तु उनके मन में किसी प्रकार के कुविचार नही आते हैं। यह उनके आत्म-सयम की कठोर परीक्षा है।"[5]

उपकार, दया और सोचने की क्षमता उनके व्यक्तित्व का विकास करते हैं। वे मार्ग में गिरे हुए गृद्ध-पक्षी का उद्धार करते हैं। सुग्रीव की मित्रता निभाने के लिए उसके भाई बालि को मारते हैं। छल-कपट, दाव-पेंच, धोखा-धडी आदि से वे लाखो कोस दूर हैं।

सीता-निर्वासन के समय राम जितने कठोर एव शकास्पद हैं उससे कई गुने सरल, मृदु एव क्षमाशील भी हैं। सीता के निर्दोष प्रमाणित होने पर वे उससे क्षमा-याचना करते हुए कहते हैं—

"क्षुद्र निन्दको के छल-छन्द में पडकर मुझ से बडी भूल हो गई है। मैंने तुम्हारा अपमान किया है और बहुत दु ख दिया है। हे परमेश्वरी, एक बार मुझ पर दया करके मेरा यह अपराध क्षमा कर दो।"[6]

इस प्रकार सामाजिक क्षेत्र मे राम ने कदम-कदम पर मर्यादा एव आदर्श का निर्वाह किया है।

---

१. अण्णु णिएइ अणु अणु बोल्लावइ। चिन्तइ अण्णु अण्णु मणें भावइ ॥
हियं वइणिवसइ विसु हालाहलु। अमिउ वयण दिट्ठिहें जमु केवलु ॥
महिलहें तणउ चरिउ को जाणइ। उभय-तडइ जिह खणइ महा-णइ ॥ प०च०, भाग ५, ८१वी सन्धि, ५-२, ३, ४

२. णिय-गेह-णिवद्धउ आवइ, जइ वि महा-सइ महु मणहें।
को फेडवि सक्कइ लच्छणउ ज घर णिवसिय रावणहें ॥ प०च०, भाग ५, ८१वी सन्धि, ५-१०

३. मं रहु-कुल कलङ्कु-उप्पज्जउ। तिहुअणें अयस-पडहु म वज्जउ ॥ प०च०, भाग ५, ८१वी सन्धि, ८-४

४. भणइ रामु णउ पइ लज्जावमि णीसावण्ण लक भुञ्जावमि।
सिरु तोडमि रावणहें जियन्तहें। संपेसमि पाहुणउ कयन्तहें ॥ प०च०, भाग ४, सन्धि ५७, १२/२-३,

५. प०च०, २१वी सन्धि, ११, १ से ७

६. जं अविमर्ष्वे मइँ अवमाणिय। अण्णु वि दुहु एवड्ड पराणिय ॥
तं परमेसरि महु मरुसेज्जहि। एक्क-वार अवराहु खमेज्जहि ॥ प०च०, भाग ५, सन्धि ८३वी १६/२-३

साहसी एवं पराक्रमी

युद्ध के पूर्व राम अंगद को दूत बनाकर भेजते हैं ताकि नीति के विरुद्ध कोई कार्य न हो। राम का समुद्र से रास्ते के लिए प्रार्थना करना यह भी नीति एवं मर्यादा के अनुरूप है। यदि वे चाहते तो बलात् ये कार्य करवा सकते थे। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। ऐसा करने से मर्यादा, धैर्य एव नीति का निर्वाह नही किया जा सकता था और इससे राम का व्यक्तित्व दब जाता, किन्तु अधिकतर राम-कथाकारों ने राम के व्यक्तित्व को दबने से बचाया है। लक्ष्मण पर जब शक्ति का प्रहार होता है उस समय राम का हृदय तिलमिला उठता है; किन्तु धैर्य का अवलम्बन लेते हुए लक्ष्मण को पुन: जीवित करते हैं। वे लक्ष्मण की प्रेरक शक्ति के रूप में दिखाई देते हैं। वे कभी भी अनुचित मंत्रणा नही देते। इस प्रकार युद्ध-क्षेत्र में राम नीति, मर्यादा एवं धैर्य के अथाह समुद्र हैं।

रावण की मृत्यु होने पर राम के व्यक्तित्व की एक और महानता यह है कि साधारण व्यक्ति तो अपने शत्रु के नष्ट होने पर अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भागते हैं किन्तु राम ऐसा नही करते। वे लपक कर सीता के लिए नहीं जाते, अपितु भाई के बिछोह पर विभीषण के आसू पोछते हैं, भविष्य के लिए आश्वस्त करते हैं, रावण की अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न कराते हैं। मन्दोदरी एव अन्य जनों को राम उपदेश देते हैं तथा वैराग्य धारण कर लेते हैं। मेघनाद-कुम्भकर्ण ये सभी दीक्षित हो जाते है। यह विचारधारा समस्त राम-कथा में किसी न किसी रूप में अवश्य पाई जाती है। किन्तु जैनेतर राम कथाओ में पात्रो का दीक्षित होना नही पाया जाता।

इस प्रकार युद्ध-क्षेत्र में राम में मर्यादा, आदर्शवादिता, धैर्य, उत्साह, वीरता एव सहिष्णुता आदि वे गुण झिलमिलाते रहते हैं जिनकी कान्ति सम्पूर्ण राम कथा-साहित्य में व्याप्त है।

धर्मपरायणता

धर्म के क्षेत्र में राम लक्ष्मण से हमेशा आगे रहते है। मुनियो पर किए गए उपसर्गों को दूर करने में भी राम अधिक क्रियाशील दिखाई देते हैं।

पुराण-कथाओं में भी उनकी अधिक जानकारी एव रुचि है। वह स्थल बडा ही सुन्दर है जहा राम सीता को वट वृक्ष से प्रारम्भ करके उन सभी वृक्षो का नामपूर्वक संकेत करते है, जिनके नीचे तीर्थंकरो ने केवल-ज्ञान प्राप्त किया था।[1]

किसी भी कार्य को करने के पूर्व या बाद में राम जिन-पूजा या जिन-स्तुति में सलग्न दिखाई देते है। वीटसुग्रीव का विनाश एव सुग्रीव से मित्रता स्थापित करने के तुरन्त पश्चात् जिनस्तुति इन शब्दो में करते है--

"जय हो, तुम्ही मेरी गति हो, तुम्ही मेरी मति हो, तुम्ही मेरी शरण हो, तुम्ही मेरे मा-बाप हो, तुम्ही मेरे बन्धु हो।"[2]

इस प्रकार राम प्रत्येक कदम पर जिन-वन्दना करते हुए दिखाई देते हैं। जब सागर मार्ग नही देता है तब भी जिन पूजा करते हैं। तुलसी के राम भी शिव-पूजा करते हैं। इस प्रकार विभिन्न धर्मों के राम अपने-अपने धर्म की पूजा अवश्य करते हैं।

राम के व्यक्तित्व मे कही-कही अज्ञानता एव मोह भी दिखाई देता है जैसे लक्ष्मण की मृत्यु पर छः माह तक उनका शव लेकर पागल की तरह भटकना। अग्नि-परीक्षा के उपरान्त सीता का राम के साथ आने मे आनाकानी करने से उनका मूर्च्छित होना। सीता के साध्वी बनने पर राम द्वारा मुनि पर क्रोधित होकर झपटना, इत्यादि। शीघ्र ही राम को ज्ञान प्राप्त हो जाता है और वे वैराग्य की ओर अग्रसर हो जाते हैं। राम के व्यक्तित्व को अत्यधिक उन्नत करने के लिए आसक्तिजन्य भाव दर्शाये गये है। चन्द्रमा कलक से युक्त होने पर भी अधिक सुन्दर है। उसी प्रकार राम का व्यक्तित्व अनेक गुणो मे सुशोभित है, भले ही उसमें कुछ मानवीय कमजोरियां भी सम्मिलित हों।

रावण के दशानन कहलाने के लिए स्वयम्भू ने अत्यन्त काव्यात्मक युक्ति दी है। बचपन मे खेलते-खेलते रावण एक बार भांडार मे पहुच गया और वहा तोयदवाहन का हार मिल गया। इस हार मे नौ मणियां जडी हुई थी, जिनमे से प्रत्येक मे पहनने वाले का मुख प्रतिबिम्बित होता था। रावण ने भी उसे गले में पहन लिया और तभी से लोग उसे दशानन कहने लगे।

> परिहिउ णव-मुहइं समुट्ठियइं। णं गहबिम्बइं सु-परिट्ठियइं।
> पेक्खेप्पिणु ताइं वहाणणइ थिर-तारइं तरलइं लोयणइं।
> तें दहमुहु दहसिरु जणेण किउ पंचाणणु जेम पसिद्धि गउ ॥--१।६।८

डॉ० नामवर सिंह के निबन्ध 'अपभ्रंश का राम साहित्य' से साभार
(राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० स० ६६१)

---

१. पउमचरिउ, भाग २, ३२वीं सन्धि, ४-५ कडवक

२. जय तुहुं गइ तुहुं मइ तुहुं सरणु। तुहुं माय बप्पु तुहुं बधु-जणु ॥ प०च०, भाग ३, ४३वी सन्धि, १६ कडवक, ५

जैन धर्म तथा दर्शन के संदर्भ में उत्तरपुराण की राम कथा

श्रीमती वीणा कुमारी

भारत मे वाल्मीकीय रामायण को जो लोकप्रियता एव प्रसिद्धि मिली है वह सम्भवत किसी अन्य ग्रन्थ को प्राप्त नही हुई। यह महान् ग्रन्थ अपने रचना-काल से लेकर आज तक देश के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करता रहा है। आदिकवि वाल्मीकि के पूर्व की रामकथा-विषयक गाथाओं तथा आख्यान-काव्य की लोकप्रियता तथा व्यापकता को निर्धारित करना असम्भव है। बौद्ध त्रिपिटक मे एक-दो रामकथा सम्बन्धी गाथाए मिलती हैं और महाभारत के द्रोणपर्व तथा शान्तिपर्व मे जो संक्षिप्त रामकथा पाई जाती है, वह प्राचीन गाथाओं पर ही समाश्रित है।[1] इस प्रकार सामग्री की अल्पता का ध्यान रखकर यह अनुमान दृढ़ हो जाता है कि जिस दिन वाल्मीकि ने इस प्राचीन गाथा साहित्य को एक ही कथासूत्र मे ग्रथित कर आदि रामायण की रचना की थी, उसी दिन से रामकथा की दिग्विजय प्रारम्भ हुई। प्रचलित वाल्मीकीय रामायण के बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड में इसका प्रमाण मिलता है कि काव्योपजीवी कुशीलव समस्त देश मे जाकर चारो ओर आदिकाव्य का प्रचार करते थे। वाल्मीकि ने अपने शिष्यो को रामायण सिखलाकर उसे राजाओ, ऋषियो तथा जनसाधारण को सुनाने का आदेश दिया था।

वाल्मीकि ने रामायण मे श्रीराम के गौरवशाली उदात्त चरित्र का ऐसा चित्रण किया है कि वह सबके लिए आकर्षक बन गया। फलत रामकथा भारतीय साहित्य की सबसे अधिक लोकप्रिय कथा रही है।[2] समाजशास्त्रीय दृष्टि से रामविषयक कथाए शौर्यपूर्ण गाथा का वह प्रारंभिक रूप है, जिसके कारण परवर्ती महाकाव्यो को आधार मिला। चाहे वह ब्राह्मण हो अथवा जैन अथवा बौद्ध— तीनो ही परम्पराओ मे रामकथा का स्वतन्त्र रूप मिलता है। जो मूलत तो एक है, किन्तु स्वरूपत भिन्न है। राम धार्मिक दृष्टि से जितने लोकप्रिय हैं, उतने ही साहित्यिक दृष्टि से भी।[3] इन्हे काव्य की प्रेरणाशक्ति माना गया है। मैथिलीशरण गुप्त ने ठीक ही कहा था—

राम! तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है।[4]

आदिरामायण के बाद यह कथा महाभारत मे उपलब्ध है। महाभारत मे रामकथा का चार स्थलो पर वर्णन उपलब्ध होता है।[5] तदनन्तर यह कथा ब्रह्मपुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण आदि ग्रन्थो मे अल्पान्तर के साथ उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त यह कथा विभिन्न विद्वानों की लेखनी से निकलकर आंशिक या पूर्ण रूप से समाज के सामने आई। इनकी अग्रलिखित कृतियां उल्लेखनीय हैं— कालिदास-कृत रघुवंश, भवभूति-कृत उत्तररामचरित, तुलसी-कृत रामचरितमानस, केशव-कृत रामचन्द्रिका एव मैथिलीशरण गुप्त-कृत साकेत आदि।[6]

वाल्मीकीय रामायण के पश्चात् तो रामायणों की एक परम्परा ही चल पडी। अध्यात्मरामायण, आनन्दरामायण, काकभुशुण्डि रामायण आदि। रामायण की कथा ने इतनी लोकप्रियता प्राप्त की है कि देश की सीमाओं को लाघकर यह अनेक देशो में पहुंची और वहां के साहित्यकारो ने काल और देश की परिस्थिति के अनुरूप कथा-कलेवर देकर इसे विविध रूपों मे चित्रित किया। इन्ही के आधार पर खेतानी रामायण, हिन्देशिया की प्राचीनतम रचना 'रामायण काकविन', जावा का आधुनिक 'सेरतराम' तथा हिन्दचीन, श्याम, ब्रह्मदेश एवं तिब्बती तथा सिंहल आदि देशों में भी रामकथाएं लिखी गई हैं।

---

१. डॉ० कामिल बुल्के . रामकथा, पृ० ७२१
२. तुलनीय, एम० विण्टरनिट्ज ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर, कलकत्ता १९२७, भाग-१, पृ० ४७६
३. डा० रामाश्रय शर्मा : ए सोशियो पोलिटिकल स्टडी आफ दि रामायण, दिल्ली १९७१, पृ० १
४. मैथिलीशरण गुप्त : साकेत, आमुख, साहित्य सदन, चिरगाँव (झांसी), २०१४
५. डॉ० कामिल बुल्के . रामकथा, पृ० ४३
६. राजेन्द्रप्रसाद दीक्षित : उत्तरप्रदेश पत्रिका, लखनऊ १९७७, पृ० ३३

भारत में बौद्ध और जैन दोनों ही सम्प्रदाय पूर्वप्रचलित रूढ़ मान्यताओ के प्रति क्रान्तिरूप मे उद्भूत हुए। अपने दार्शनिक सिद्धांत तथा धार्मिक मान्यताओं के महत्त्व के कारण अत्यधिक प्रसिद्ध हुए। इन दोनों ही सम्प्रदायो के विकास के युग में भी रामकथा सम्भवत: जन-सामान्य मे अति प्रचलित एवं लोकप्रिय बन चुकी थी। यही कारण है कि इसकी लोकप्रियता से प्रभावित होकर रामकथा को उन्होने भी अपना लिया और अपने सिद्धान्तों के अनुरूप उसे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। बौद्ध सम्प्रदाय मे 'दशरथजातक' की रचना इसी दृष्टि से हुई। दशरथजातक से ज्ञात होता है कि पूर्वजन्म में राजा शुद्धोधन (राजा दशरथ), रानी महामाया (राम की माता), राहुल (माता सीता), बुद्धदेव (रामचन्द्र), उनके प्रधान शिष्य आनन्द (भरत) एवं सारिपुत्र (लक्ष्मण) थे।[1]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि बौद्धो ने कई शताब्दियो पहले राम को बोधिसत्त्व मानकर रामकथा को अपने जातक-साहित्य में स्थान दिया था। आगे चलकर बौद्धो मे रामकथा की लोकप्रियता घटने लगी। अर्वाचीन बौद्ध साहित्य मे रामकथा का उल्लेख नहीं मिलता।[2]

बौद्धों की अपेक्षा जैनानुयायियों ने बाद मे रामकथा को अपनाया, लेकिन जैन साहित्य मे इसकी लोकप्रियता शताब्दियो तक बनी रही, जिसके फलस्वरूप जैन कथा-ग्रन्थो मे एक विस्तृत रामकथा-साहित्य पाया जाता है। इसमे राम, लक्ष्मण और रावण केवल जैन धर्माव-लम्बी ही नही माने जाते प्रत्युत् उन्हें जैनियो के त्रिषष्टिशलाकापुरुषो मे भी स्थान दिया गया है। इस प्रकार रामकथा भारतीय संस्कृति मे इतने व्यापक रूप से फैल गई कि राम को उसके तीन प्रचलित धर्मों मे एक निश्चित स्थान प्राप्त हुआ— ब्राह्मण धर्म मे विष्णु के अवतार के रूप में, बौद्ध धर्म में बोधिसत्त्व के रूप मे तथा जैनधर्म मे आठवें बलदेव के रूप मे।

आचार्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण की रामकथा के कलेवर मे जैनधर्म के पौराणिक विश्वासो तथा दार्शनिक सिद्धान्तो की स्थापना करने की सफल चेष्टा की है। अनेक ऐसे अवान्तर प्रसगो के अवसर पर रामकथा को जैनानुमोदित रूप देने की पूर्ण चेष्टा की गई है। इस दृष्टि से रामकथा का धार्मिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि रामकथा से सम्बद्ध तीनो प्रमुख पात्र राम, रावण और लक्ष्मण केवल जैन धर्मावलम्बी ही नही हैं अपितु त्रिषष्टिशलाकापुरुषो मे भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। त्रिषष्टि महापुरुषों का वर्णन सर्वप्रथम महापुराण मे मिलता है। जिसमे कुल ७६ पर्व हैं। इसके दो भाग है आदिपुराण और उत्तरपुराण। १ मे ४६ पर्वों तक की रचना जिनसेनाचार्य ने की थी तथा यह भाग आदिपुराण के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जबकि शेष पर्वों की रचना जिनसेन के शिष्य गुणभद्राचार्य द्वारा की गई और यह उत्तरपुराण के नाम से प्रचलित हुआ। और ये दोनो भाग 'महापुराण' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

जैन देवशास्त्र

जैन धर्म के अनुसार त्रिषष्टिशलाकापुरुष इस प्रकार हैं—२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव। प्रत्येक कल्प के त्रिषष्टिमहापुरुषो में से ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव होते हैं, ये तीनो सदैव समकालीन होते हैं।[3] इनकी जीवनिया जैन धर्म मे पुराणो के रूप में दी गई हैं। राम, लक्ष्मण और रावण क्रमश आठवें बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव माने जाते है।[4] जैन धर्म मे ईश्वर को सृष्टि का कर्ता, भर्ता और सहर्ता नही माना गया है। इन्होने ईश्वर को सर्वोच्च नहीं माना है। 'सिद्धि' और 'मुक्ति' को ही सर्वोच्च स्थान दिया है। यही कारण है कि अवतारवाद का जैन धर्म मे कोई स्थान नही है। जैन राम एक आदर्श माने गए हैं। जैन परम्परा मे सभी त्रिषष्टिमहापुरुष लक्ष्मी से युक्त अपार सम्पदा के स्वामी होते हैं। बलदेव चार रत्नो के स्वामी होते है। ये रत्न ही इनकी शक्तिया हैं। पृथक-पृथक् यक्ष इनकी रक्षा करते हैं, इन्ही शक्तियो के बल पर ही वे दुष्टो का सहार किया करते है।

राम तथा लक्ष्मण क्रमश: आठवे बलभद्र एवं आठवे नारायण के रूप मे

जैन धर्मानुसार राम को आठवां बलभद्र और लक्ष्मण को आठवां नारायण[5] मानकर ही रामकथा का जैन रूपातर किया गया है। राम और लक्ष्मण के केवल एक ही नही अपितु पूर्वभवों का भी वर्णन किया गया है। उत्तरपुराण के अनुसार राम का जीव पहले मलयदेश के मन्त्री के पुत्र चन्द्रचूल के मित्र विजय नाम से प्रसिद्ध था। फिर तीसरे स्वर्ग मे दिव्य भोगो से लालित कनकचूल नामक प्रसिद्ध देव उत्पन्न हुआ और फिर सूर्यवश मे अपरिमित बल को धारण करने वाला रामचन्द्र हुआ।[6]

---

१. राजेन्द्रप्रसाद दीक्षित उत्तरप्रदेश पत्रिका, पृ० ११
२. डॉ० कामिल बुल्के · रामकथा, पृ० ६५
३. वही, पृ० ६५
४. एम० विण्टरनित्स हि०इ०लिट्०, भाग १, पृ० ४९७
५. 'बलानामष्टम राम लक्ष्मण चार्धचक्रिणाम्।' उत्तरपुराण, ६८/४९२
६. वही, ६८/७३१

इसी प्रकार लक्ष्मण का जीव पहले मलयदेश में चन्द्रचूल नामक राजपुत्र था, जो अत्यन्त दुराचारी था। जीवन के पिछले भाग में तपश्चरण कर वह स्वर्ग मे सनतकुमार नाम से उत्पन्न हुआ और फिर वहां से यहां आकर अर्धचक्री लक्ष्मण बना।

जैन धर्मानुसार वासुदेव और बलदेव दोनों की उत्पत्ति शुभ स्वप्नो के फलस्वरूप होती है। राम और लक्ष्मण की उत्पत्ति भी शुभ स्वप्नो के परिणामस्वरूप हुई थी।[1] गुणभद्र ने जैन धर्म के अनुकूल रामकथा को ढालने का प्रयास किया है। जैनधर्मानुसार नारायण और बलभद्र दोनों भाई होते हैं तथा एक ही राजा की दो भिन्न-भिन्न रानियो से उत्पन्न पुत्र होते हैं। बलदेव हमेशा बड़ा भाई होता है और वासुदेव हमेशा छोटा भाई बलदेव राजा की ज्येष्ठ महिषी से उत्पन्न पुत्र होता है। वाराणसी के राजा दशरथ के भी चार पुत्र होते हैं। ज्येष्ठ पुत्र राम रानी सुबाला के गर्भ से उत्पन्न होता है[2] तथा लक्ष्मण कैकेयी के गर्भ से उत्पन्न होता है।[3] भरत व शत्रुघ्न की माता का नामोल्लेख नही किया गया है।

जैन मान्यतानुसार त्रिषष्टिमहापुरुषों की आयु कई हजार वर्ष होती है तथा वे कई धनुष ऊचे होते हैं। राम की आयु तेरह हजार वर्ष[4] तथा लक्ष्मण की आयु १२ हजार वर्ष[5] थी तथा दोनो भाई पन्द्रह धनुष ऊचे थे।[6]

बलदेव और वासुदेव दोनो ही भाई अपरिमित शक्ति से युक्त होते थे।[7] दोनो मे से बडा भाई बलदेव हमेशा श्वेत वर्ण होता था तथा नारायण सर्वदा नीलवर्ण। राम का शरीर हमवत् श्वेत तथा लक्ष्मण का नीलकमल के समान नीलकाति वाला था।[8]

बलदेव अर्धचक्रवर्ती होते हैं तथा भारतवर्ष के तीन खण्डो के स्वामी होते हैं। वे सौम्य प्रकृति के होते हैं जबकि वासुदेव उग्र प्रकृति के होते हैं। इसीलिए बलदेव शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं जबकि वासुदेव को नरक में बहुत से दु:खों को भोगने के बाद ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है। जैन धर्मानुसार नारायण सर्वदा अपने बडे भाई बलदेव के साथ मिलकर प्रतिवासुदेव से युद्ध करते थे और अन्त मे सदैव उसका वध करते थे। प्रतिनारायण या प्रतिवासुदेव जिस चक्र द्वारा वासुदेव पर प्रहार करना चाहता था, वही चक्र नारायण के हाथ में स्थिर हो जाता था और उसे ही वापिस भेजकर वह प्रतिवासुदेव का वध करता था।

आठवें प्रतिवासुदेव रावण ने भी लक्ष्मण व राम दोनो भाइयों से अत्यधिक कुपित होकर अपने विश्वासपात्र चक्ररत्न के लिए आदेश दिया था। वही चक्ररत्न मूर्तिधारी पराक्रम के समान प्रदक्षिणा करके लक्ष्मण के दाहिने हाथ पर स्थिर हो गया था। तदनन्तर लक्ष्मण ने उसी चक्ररत्न से तीन खण्ड के स्वामी रावण का सिर काटकर अपने आधीन कर लिया था।[9]

प्रतिनारायण का वध करने के उपरान्त नारायण बलदेव के साथ-साथ दिग्विजय करके भारत के तीन खण्डो पर अधिकार प्राप्त करते थे, और इस प्रकार अर्धचक्रवर्ती बन जाते थे। रावण का वध करने के बाद लक्ष्मण ने भी सोलह हजार पट्टबन्ध राजाओ को, एक सौ दस नगरियों के स्वामी विद्याधरो को और तीन खण्ड के स्वामी देवो को आज्ञाकारी बनाया था। उसकी यह दिग्विजय ४२ वर्ष मे पूर्ण हुई थी।[10]

जैन परम्परानुसार नारायण अपने पुण्य के क्षीण हो जाने पर चतुर्थ नरक को प्राप्त होता था। लक्ष्मण भी असातावेदनीय कर्म के उदय से प्रेरित महारोग मे अभिभूत हो गया और उसी असाध्य रोग के कारण चक्ररत्न का स्वामी लक्ष्मण पंकप्रभा नामक पृथ्वी अर्थात् चतुर्थ नरक मे गया था।[11]

रावण आठवे प्रतिनारायण के रूप मे

जैन परम्परानुसार रावण आठवां प्रतिनारायण था। गुणभद्र ने आठवें प्रतिनारायण रावण के भी पूर्व तीन भवो का वर्णन किया है।

---

१. उत्तरपुराण, ६७/१४८-५१
२. 'सुत सुबालासज्ञायां शुभस्वप्नपुरस्सरम्।' उ०पु०, ६७/१४८
३. उ०पु०, ६७/१५०
४. 'त्रयोदशसहस्राब्दो रामनामानताखिल:।' उ०पु०, ६७/१५०
५. उ०पु०, ६७ १५२
६. 'तौ पञ्चदशचापोच्चौ।' उ०पु०, ६७/१५३
७. उ०पु०, ६७/१५४
८. वही,
९. 'चक्रेण विक्रमेणेव मूर्तीभूतेन चक्रिणा।
तेन तेन शिरोऽग्राहि त्रिखण्ड वा वशेशितु।' उ०पु०, ६८/६२९
१०. 'द्वाचत्वारिंशदब्दाते परिनिष्ठतदिग्जय....' उ०पु०, ६८/६५९
११. 'बभूव क्षीणपुण्यस्य तत: कतिपयैर्दिनै.......दिने तेनागमच्चक्री पृथ्वी पंकप्रभाभिधाम्।' उ०पु०, ६८/७०१

प्रतिनारायण रावण का जीव पहले 'सारसमुच्चय' नामक देश में नरदेव नामक राजा था। फिर सौधर्म स्वर्ग मे सुख का भण्डार स्वरूप देव हुआ और तदनन्तर वहां से च्युत होकर इसी भरत क्षेत्र के राजा विनमि विद्याधर के वंश मे, समस्त विद्याधरो के देदीप्यमान मस्तकों की माला पर आक्रमण करने वाला, स्त्री-लम्पट, अपने वंश को नष्ट करने के लिए केतु के समान तथा दुराचारियो मे अग्रसर 'रावण' नाम से प्रसिद्ध हुआ।[1]

प्रतिनारायण सदा नारायण का विरोधी होता था। वह हमेशा उनके विरुद्ध युद्ध करता था। अंत में अपने ही चक्ररत्न द्वारा नारायण के हाथ से मृत्यु को प्राप्त करता था। जैन परम्परानुसार वह सातवें नरक मे जाता था। रामकथा का प्रतिनारायण रावण भी लक्ष्मण द्वारा मृत्यु को प्राप्त करने के उपरान्त नरक-गति को प्राप्त हुआ था।[2] इस प्रकार आचार्य गुणभद्र का यह कथन कि पापी मनुष्यों की यही गति होती है,[3] सत्य ही प्रतीत होता है।

जैन धर्म तथा आचार

उत्तरपुराण के रामकथा-सम्बन्धी अंश के अध्ययन से जैन धर्म तथा आचार-विषयक बहुत-सी बातो का ज्ञान होता है। रामकथा से सम्बन्धित सभी प्रमुख पात्र जैन आचरण करते हैं तथा निर्वाण आदि को प्राप्त करते है।

श्रावकव्रत ग्रहण—उत्तरपुराण के अनुसार राम एक बार शिवराज गुप्त जिनराज से धर्म-विषयक प्रश्न पूछते हैं। शिवराज गुप्त जिनराज विविध प्रकार के धर्म-सम्बन्धी पदार्थों का विवेचन करते हैं। इस प्रकार धर्म के विशेष स्वरूप को सुनने के बाद राम श्रावकव्रत ग्रहण करते हैं।।[4] जैन परम्परानुसार भगवान् जिनेन्द्र की पूजा की जाती है। उत्तरपुराण मे भी राम के साथ-साथ जितने भी अन्य लोग श्रावक व्रत ग्रहण करते है, वे सभी भगवान् जिनेद्र के चरणयुगल को अच्छी तरह से नमस्कार करते हैं। उसके बाद वे लोग नगरी मे प्रविष्ट होते हैं।[5]

दीक्षा-ग्रहण—नारायण की मृत्यु के बाद बलभद्र शोकाकुल होकर जैनधर्म मे दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। लक्ष्मण की मृत्यु के बाद बलभद्र राम ने भी लक्ष्मण के पुत्र को राजा बनाया तथा अपने पुत्र को युवराज बनाकर स्वय ससार, शरीर तथा भोगो से विरक्त हो गए तथा संयम धारण किया।[6]

श्रुत केवली बनना—लक्ष्मण के शोक से विरक्त होने के बाद राम अयोध्या नगरी के सिद्धार्थ नामक वन मे पहुचते है जो कि भगवान वृषभदेव का दीक्षा-कल्याण का स्थान था। वही पर जाकर राम सयम धारण करते है तथा एक महाप्रतापी केवली शिवगुप्त के पास जाकर ससार और मोक्ष के कारण तथा फल को भली प्रकार समझते हैं।

आचार्य गुणभद्र ने कथा को जैनधर्मानुरूप ढालने के लिए उत्तरपुराण मे राम के लिए 'राम मुनि' शब्द का प्रयोग किया है। बाद मे वे विधिपूर्वक मोक्षमार्ग का अनुसरण कर श्रुतकेवली बन जाते हैं।[7]

केवल-ज्ञान उत्पन्न होना—उत्तरपुराण मे वर्णित रामकथा के अनुसार, राम छद्मावस्था मे--अर्थात् श्रुतकेवली की दशा मे--३९५ वर्ष व्यतीत करते हैं। ३९५ वर्ष व्यतीत हो जाने पर शुक्ल ध्यान के प्रभाव से घातिया कर्मों का क्षय करने वाले मुनिराज राम को सूर्य बिम्ब के समान केवल-ज्ञान की उत्पत्ति होती है।[8] इस प्रकार राम जैन परम्परानुसार कैवल्य ज्ञान प्राप्त करते है।

सिद्ध क्षेत्र प्राप्त करना—कैवल्यज्ञान की अवस्था मे ६०० वर्ष व्यतीत करने के बाद फाल्गुन मास की शुक्ल चतुर्दशी को प्रात.काल मुनिराज राम सम्मेदाचल के शिखर पर तीसरा शुक्लध्यान धारण करते हैं। तथा तीनो योगो का निरोध करते है। उसके बाद समुच्छिन्न क्रिया प्रतिपाती नामक चौथे शुक्लध्यान के आश्रय से समस्त अघातिया कर्मों का क्षय करते है। इस प्रकार औदरिक, तैजस और कार्मण इन

---

१. उ०पु०, ६८/७२८
२. 'सोऽपि प्रागेव बद्धायुर्दुराचारादधोगतिम्।
प्रापदापत्करी घोरां पापिनां का परा गति ।' उ०पु०, ६८/६३०
३. उ०पु०, ६८/६३०
४. 'सर्वे रामादयोऽभूवन् गृहीतोपासकव्रता.।' उ०पु०, ६८/६८६
५. उ०पु०, ६८/७१३
६. 'अशीतिशतपुत्रैश्च सह सयममाप्तवान्।' उ० पु०, ६८/७११
७. उ० पु०, ६८/७१४
८. 'रामस्य केवलज्ञानमुदपादर्कबिम्बवत्। उ० पु०, ६८/७१६

तीन शरीरों का नाश हो जाने के बाद उन्नत पद को प्राप्त करते हैं।[1]

रामायण के अन्य पात्रों के धार्मिक आचरण

अणुमान (हनुमान) की उन्नत पद-प्राप्ति—राम के साथ ही साथ हनुमान भी संयम धारण करते हैं। उन्हें भी राम के समान ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। उसके बाद वे भी राम के साथ औदरिक, तैजस और कार्मण इन तीनों प्रकार के शरीरो का नाश कर उन्नत पद प्राप्त करते हैं।[2]

सुग्रीव का संयमधारण—राम-हनुमान आदि के साथ ही सुग्रीव भी संयम धारण करते हैं।[3] इस प्रकार उत्तरपुराण के अनुसार ये सभी पात्र जैन धर्मावलम्बी माने गये हैं।

विभीषण की अनुदिश प्राप्ति—आचार्य गुणभद्र-कृत उत्तरपुराण के अनुसार विभीषण भी सर्वप्रथम जैन धर्मानुरूप राम, सुग्रीव, हनुमान आदि अनेक राजाओ एवं विद्याधरों के साथ मिलकर संयम धारण करते हैं। बाद मे राम व हनुमान को तो सिद्ध क्षेत्र की प्राप्ति हो जाती है, परन्तु विभीषण अनुदिश को प्राप्त करते हैं।[4]

सीता द्वारा दीक्षाधारण व अच्युत स्वर्ग में उत्पत्ति - जैन धर्मानुसार सीता तथा पृथ्वी सुन्दरी आदि अनेक देवियां भी श्रुतवती के समीप जाकर दीक्षा धारण करती हैं।[5] दीक्षा धारण करने के उपरान्त वे अच्युत स्वर्ग मे उत्पन्न होती हैं।[6]

लक्ष्मण का मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करना—जैन परम्परानुसार जीवो मे कई प्रकार की विचित्रताएं मानी गई हैं। इसी को ध्यान में रखते हुए लक्ष्मण के विषय मे कहा गया है कि वह चतुर्थ नरक से निकलकर क्रमशः संयम धारणकर मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त करते हैं।[7]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि आचार्य गुणभद्र ने जैन परम्परानुसार ही सम्पूर्ण रामकथा का वर्णन कर रामकथा का जैन रूपान्तर प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार राम जैन धर्म के एक महानपुरुष थे, राम के माध्यम से जैन समाज के लोगो को उपदेश देना ही उनका प्रमुख उद्देश्य प्रतीत होता है। जैनीकरण के माध्यम से जैन कवियो ने रामकथा मे प्राचीन समय से विद्यमान अनेक अस्वाभाविक व कृत्रिम बातों को भी स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न किया है। उन्होने रामकथा को व्यावहारिक बनाया है। अनेक प्रकार के जैन सिद्धान्तो का पोषण रामकथा के माध्यम से करने का प्रयास किया है। रामकथा का जैनीकरण करके उन्होंने जैन समाज के लोगो को यह उपदेश देने का प्रयत्न किया है कि जो व्यक्ति जैसा कार्य करता है परिणामस्वरूप उसे वैसे ही कर्म भोगने पड़ते हैं। सदाचारी व्यक्ति अन्त मे सिद्धि को प्राप्त करता है तथा दुराचारी व्यक्ति अन्त मे दुःखो को भोगता हुआ नरक की प्राप्ति करता है। जैन लेखकों ने राम-लक्ष्मण व रावण को अपने धर्म मे आठवा बलदेव, नारायण व प्रतिनारायण मानकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। राम अर्थात् बलदेव सदाचारी व शान्त प्रकृति का होने के कारण अपने लक्ष्य को प्राप्त करने मे सफल होता है लक्ष्मण चतुर्थ नरक को प्राप्त करता है क्योकि वह पूर्वजन्म मे दुराचारी था तथा उसके पुण्य भी क्षीण हो जाते हैं। इसी प्रकार प्रतिनारायण रावण का भी दुराचारी होने के कारण नारायण के द्वारा वध किया जाता है तथा वह सप्तम नरक को प्राप्त करता है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि जैन धर्म के अनुयायी कर्म तथा जीवों की विचित्रता मे विश्वास रखते हैं। इनका विश्वास है कि अपने कर्मों के अनुसार ही मनुष्य भिन्न-भिन्न जन्मो मे फलो का भोग करता है। राम जैसे आदर्श पात्र को अपने धर्म मे स्थान देने के लिए ही इन्होने त्रिषष्टिशलाकामहापुरुषो मे राम, लक्ष्मण व रावण को स्थान दिया है ताकि जैन समाज के लोग भी राम जैसे आदर्श पात्र का अनुसरण कर अपने जीवन के अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति कर सके। जैन परम्परानुसार 'निर्वाण' ही जीवन का अंतिम लक्ष्य है। सदाचारी व्यक्ति ही क्रमशः इसे संयम धारण द्वारा प्राप्त कर पाता है। राम-जैसा पुण्यशील मानव ही इसे प्राप्त करने मे समर्थ हो सकता है। इसी दार्शनिक पृष्ठभूमि मे गुणभद्र ने राम-कथा का जैन रूपान्तर किया है।

जैन धर्म-दर्शन के सिद्धान्त

आचार्य गुणभद्र-कृत उत्तरपुराण मे वर्णित रामकथा का अध्ययन करने से जैन धर्म तथा दर्शन-सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तो का ज्ञान

---

१. 'श·ीरत्रितयापायात्प्रापत्पदमुत्तमम् ।' उ०पु०, ६८/७२०
२. उ०पु०, ६८/७२०
३. 'वेदात्प्रादुर्भवद्बोधि सुग्रीवाणुमदादिभि ।' उ०पु०, ६८/७१०
४. उ०पु०, ६८/७२१
५. वही, ६८/७१२
६. 'रामचन्द्राद्यदेव्याद्याः काश्चिदीयुरितोऽच्युतम् ।' उ०पु०, ६८/७२१
७. उ०पु०, ६८/७२२

भी प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे आचार्य गुणभद्र त्रिषष्टिमहापुरुषो के चरित्र-वर्णन द्वारा जैन धर्म के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करके अपने समाज के लोगों के लिए आदर्श शिक्षा प्रदान करना चाहते हैं।

(क) वेद-प्रामाण्य—जैन दर्शन एक नास्तिक दर्शन कहा जाता है। यद्यपि यह भी उसी मार्ग का पथिक है जिससे होकर आस्तिक दर्शनों की विचारधारा बहती है। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति या परम सुख की प्राप्ति इसका भी परम लक्ष्य है। कठोर तपस्या-साधना आदि के द्वारा कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओ का नियन्त्रण कर अन्त करण को शुद्ध कर निर्वाण प्राप्त करना इनका भी चरम उद्देश्य है। इसीलिए जैन लोग 'सम्यक्दर्शन', 'सम्यक्ज्ञान' एव 'सम्यक्चारित्र' इन तीन रत्नो के लिए जीवन भर प्रयत्न करते है।[1] ये सभी बातें आस्तिक दर्शनो में भी हैं। अन्तर केवल यह है कि जैन दर्शन ईश्वर की सत्ता मे विश्वास नही करता[2] और न ही वेदों को प्रमाण मानता है। उत्तरपुराण की रामकथा का अध्ययन करने से इस मत की पुष्टि हो जाती है। आचार्य गुणभद्र ने स्पष्ट रूप से वेद का विरोध किया है। वे कहते हैं, "वेद का निरूपण करने वाले परस्पर-विरुद्धभाषी है। यदि विरुद्धभाषी न होते तो उसमे एक जगह हिंसा का विधान और दूसरी जगह हिंसा का निषेध, दोनों प्रकार के वाक्य न मिलते।"[3] वेद का विरोध करते हुए तथा जैन दृष्टिकोण की पुष्टि करते हुए वे कहते है कि यदि यह मान भी लिया जाए कि 'वेद स्वयम्भू है, अत परस्पर-विरोधी होने पर भी इसमे दोष नही मानना चाहिए'[4] तो यह बात भी उचित नही प्रतीत होती, क्योंकि यदि हम यह मानें कि किसी भी बुद्धिमान मनुष्य के हलन-चलन रूपी व्यापार के बिना ही वेद रचे गए है, तो मेघो की गर्जना और मेढको की टर्र-टर्र आदि मे भी स्वयम्भूत्व आ जाएगा,[5] क्योकि ये सब भी तो अपने आप ही उत्पन्न होते है।

इसीलिए आगम वही है, शास्त्र वही है, जो सर्वज्ञ के द्वारा कहा गया हो तथा समस्त प्राणियो का हित करने वाला हो और सब दोषो से रहित हो।[6] इस प्रकार उत्तरपुराण मे जैन दृष्टिकोण के अनुसार वेद-प्रामाण्य का स्पष्ट रूपेण विरोध किया गया है।

(ख) यज्ञानुष्ठान तथा उसमें होने वाली पशु-हिंसा का विरोध—वैदिक कर्मकाण्डानुमोदित 'यज्ञ' का जैन धर्म मे कोई स्थान नही है। जैनधर्मावलम्बी 'यज्ञानुष्ठान' आदि में विश्वास नही रखते। उत्तरपुराण मे वर्णित रामकथा का अध्ययन करने मे इस मत की पुष्टि हो जाती है। राजा जनक के माध्यम से आचार्य गुणभद्र यज्ञानुष्ठान पर व्यग्य कसते है। राजा जनक का यह कथन, 'पहले राजा सगर, रानी सुलसा तथा घोडा आदि अन्य कितने ही जीव यज्ञ मे होम किये गये थे। वे सब शरीर-सहित स्वर्ग गये थे, यह बात सुनी जाती है। यदि आज कल भी यज्ञ करने से स्वर्ग प्राप्त होता हो तो हम लोग भी यथायोग्य रीति से यज्ञ करें'[7] -यज्ञानुष्ठान पर स्पष्ट प्रहार है। इससे स्पष्ट होता है कि जैन धर्म मे यज्ञ का कोई स्थान नहीं है। जैन मान्यतानुसार यज्ञ करना धर्म नही है क्योकि यह प्रमाण-कोटि को प्राप्त नही है। राजा जनक के पूछने पर अतिशयमति नामक मन्त्री कहता है कि बुद्धिमान लोग यज्ञ-कार्य मे प्रवृत्त नही होते।[8] जैन धर्म मे यज्ञ का स्पष्ट विरोध किया गया है। आचार्य गुणभद्र के अनुसार वचन की सिद्धि सप्रमाणता से होती है।[9] जिनमे समस्त प्राणियो की हिंसा का निरूपण किया गया है, ऐसे यज्ञ-प्रवर्तक आगम के उपदेश करने वाले विरुद्धभाषी मनुष्य के उपदेश उसी प्रकार प्रामाणिक नही हो सकते, जिस प्रकार पागल मनुष्य के वचन प्रमाण नही हो सकते।[10]

जैन धर्म मे यज्ञ के साथ-साथ पशु-हिंसा का भी विरोध किया गया है। जैन धर्मानुयायी 'यज्ञ' का अभिप्राय 'हिंसा' नही मानते। जैन परम्परानुसार 'यज्ञ' शब्द दान देना तथा देव और ऋषियो की पूजा करना आदि अर्थों मे प्रयुक्त होता है। आचार्य गुणभद्र कहते है कि यदि 'यज्ञ' का अर्थ हिंसा करना मानें तो जो लोग यज्ञ नही करते, उनको नरक मे जाना चाहिए—और यदि ऐसा मानें कि हिंसक व्यक्ति भी स्वर्ग जाता है तो फिर जो व्यक्ति हिंसा नही करता, उसे नरक मे जाना चाहिए।[11]

व्याकरण की दृष्टि से 'यज्ञ' शब्द का अर्थ बतलाकर वे अपने मत की पुष्टि करते हैं। वे कहते हैं कि यदि 'यज्ञ' शब्द का अर्थ 'हिंसा'

१. डॉ० उमेश मिश्र . भारतीय दर्शन, पृ० ६८
२. एच०सी० भयानी रामायण-समीक्षा, श्री वेंकटेश्वर यूनिवर्सिटी, तिरुपति, १९६७, पृ० ७६
३. उ०पु०, ६७/८८
४. उ०पु०, ६७/१९०
५. वही, ६७/१९१
६. वही, ६७/१९१-९२
७. 'स्वर्लोक: क्रियतेऽस्माभिरपि यागो यथोचितम्।' उ०पु०, ६७/१७२
८. 'धर्मो यागोऽयमित्येतत्प्रमाणपदवीं वच: । न प्राप्तोत्यत एवास्य न वर्तन्ते मनीषिण ।' उ०पु०, ६७/१८६
९. उ०पु०, ६७/१८७
१०. वही, ६७/१८८
११. वही, ६७/१९९

मानें तो फिर धातुपाठ में जहां धातुओं के अर्थ बतलाए हैं, वहां यज् धातु का अर्थ हिंसा क्यों नहीं बतलाया गया ?[1] वहां तो मात्र 'यज् देव-पूजासंगतिकरणदानेषु' यही कहा गया है। इसीलिए यज्ञ का अर्थ 'हिंसा करना' कभी नहीं हो सकता।

अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि यदि यह माना जाए कि यज्ञ का अर्थ हिंसा नहीं है तो आर्य पुरुष प्राणि-हिंसा से युक्त यज्ञ क्यों करते हैं ? यह वाक्य अशिक्षित तथा मूर्ख व्यक्ति का लक्षण है, क्योंकि यह आर्य और अनार्य के भेद से दो प्रकार का होता है।[2] जैन परम्परानुसार इस कर्मभूमि-रूपी जगत् के आदि में होने वाले परब्रह्म श्रीवृषभदेव तीर्थंकर के द्वारा कहे हुए वेद मे जीवादि छह द्रव्यो के भेद का यथार्थ उपदेश दिया गया है।[3]

सतत विद्यमान रहने वाले तथा वस्तु-सत्ता के लिए नितान्त आवश्यक धर्म को 'गुण' कहते हैं तथा देशकालजन्य परिणामशाली धर्म 'पर्याय' कहलाते हैं। गुण तथा पर्याय विशिष्ट वस्तु को जैन न्याय के अनुसार 'द्रव्य'[4] कहा जाता है। जैन धर्म मे क्रोधाग्नि, कामाग्नि और उदराग्नि ये तीन अग्निया बतलाई गई हैं। इनमे क्षमा, वैराग्य और अनशन की आहुतिया देने वाले जो ऋषि, यति, मुनि और द्विज वन में निवास करते हैं, वे आत्मयज्ञ कर इष्ट अर्थ को देने वाली अष्टमी पृथ्वी-मोक्ष को प्राप्त करते हैं।[5]

इसके अतिरिक्त तीर्थंकर, गणधर तथा अन्य केवलियों के उत्तम शरीर के संस्कार से पूज्य एव अग्निकुमार इन्द्र के मुकुट से उत्पन्न हुई तीन अग्नियां हैं जिनमे अत्यन्त भक्त तथा दान आदि उत्तमोत्तम क्रियाओं को करने वाले तपस्वी गृहस्थ परमात्म-पद को प्राप्त हुए। अपने पिता तथा प्रपितामह को उद्देश्य कर ऋषि-प्रणीत वेद मे कहे मंत्रो का उच्चारण करते हुए, जो अक्षत-गन्ध-फल आदि की आहुति दी जाती है, वह दूसरा 'आर्ष यज्ञ' कहलाता है।[6] जो लोग निरन्तर यह यज्ञ करते हैं, वे इन्द्र के समान माननीय पदो पर अधिष्ठित होकर 'लोकान्तिक' नामक देवब्राह्मण होते हैं और अंत मे समस्त पापो को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त करते हैं।[7]

इस प्रकार जैन परम्परा में यज्ञ का गृहस्थ और मुनि के आश्रय से दो प्रकार का निरूपण किया गया है। इनमे से पहला मोक्ष का साक्षात् कारण है और दूसरा परम्परा से मोक्ष का कारण है।[8] इस प्रकार देवयज्ञ की यह विधि परम्परा से चली आई है, यही दोनो लोको का हित करने वाली तथा निरन्तर विद्यमान रहने वाली है।

उत्तरपुराण की रामकथा के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि कभी-कभी यज्ञो का दुरुपयोग भी किया जाता था। मुनि सुव्रतनाथ तीर्थंकर के तीर्थ मे, सगर राजा से द्वेष करने वाले महाकाल नामक असुर ने यज्ञानुष्ठान का दुरुपयोग कर हिंसा यज्ञ का उपदेश दिया था।[9] उसने अपने क्रूर असुरों को राजा सगर के राज्य मे तीव्र ज्वर आदि के द्वारा पीडा उत्पन्न करने को कहा। महाकाल के मित्र पर्वत ने राजा सगर से कहा कि मैं मंत्रसहित यज्ञो के द्वारा इस घोर अमंगल को शान्त कर सकता हूं। वह उसे हिंसात्मक यज्ञ करने के लिए प्रेरित करता हुआ कहता है कि 'विधाता ने पशुओ की सृष्टि यज्ञ के लिए ही की है', अत उनकी हिंसा से पाप नहीं होता, किन्तु स्वर्ग के विशाल सुख प्रदान करने वाले पुण्य ही होते हैं।[10] इस प्रकार के वचनों द्वारा विश्वास दिलाकर, उसने राजा सगर से ६० हजार[11] पशु तथा यज्ञ-योग्य अन्य पदार्थों का संग्रह करने के लिए कहा। राजा सगर ने भी सब सामग्री उसे सौंप दी। इधर पर्वत ने भी यज्ञ आरम्भ कर प्राणियों को आमन्त्रित कर मन्त्रोच्चारणपूर्वक उन्हें यज्ञ-कुण्ड मे डालना प्रारम्भ किया। उधर महाकाल ने उन्हे विमानो पर बैठाकर स्वर्ग जाते हुए दिखलाया। इसी बीच उन्होने सगर के राजा के सब अमगल भी दूर कर दिए। अंत मे एक घोडा और रानी सुलसा को भी होम में आहुति रूप मे डाल दिया गया, जिससे राजा सगर अत्यन्त दु खी हुआ। उसने यतिवर मुनि से अपने द्वारा किए गए कार्य के विषय मे पूछा।

मुनि ने कहा कि यह कार्य धर्मशास्त्र से बहिष्कृत है।[12] इससे आपको सातवें नरक की प्राप्ति होगी। नारद भी इस कार्य की

१. 'हिंसायामिति धात्वर्थपाठे किं न विधीयते।
न हिंसा यज्ञशब्दार्थो यदि प्राणवधात्मकम् ॥' उ०पु०, ६७/१६६
२. उ०पु०, ६७/२००
३. वही, ६७/२०१
४. 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।' तत्त्वार्थसूत्र, ५/३७
५. उ०पु०, ६७/२०२-३
६. उ०पु०, ६७/२०४-६
७ वही, ६७/२०७
८. वही ६७/२१०
९. वही, ६७/२१२
१०. वही, ६७/३५७
११. वही, ६७/३५८
१२. वही, ६७/३६७

भर्त्सना करते हुए कहते हैं कि 'राजा सगर को परिवार सहित नष्ट करने की इच्छा करने वाले किसी मायावी ने यह उपाय रचा है।'[1] बाद में नारद के कहने पर विद्याधरों द्वारा यज्ञ मे विघ्न उपस्थित किए गए। पर महाकाल ने पर्वत आदि को जिनेन्द्र के आकार की सुन्दर प्रतिमाओं में परिवर्तित कर दिया और उनकी पूजा करने और तदनन्तर यज्ञ की विधि को प्रारम्भ करने के लिए कहा, क्योकि जहा जिन बिंब होते हैं, वहा विद्याधरों की शक्तियां भी क्षीण हो जाती हैं।'[2] तदनन्तर विद्याधर कुमार दिनकर देव यज्ञ मे विघ्न करने की इच्छा से आया, परन्तु जिन प्रतिमाएं देखकर वापिस लौट गया। इस प्रकार यज्ञ की समाप्ति निर्विघ्न हो गई और पर्वत आदि आयु के अन्त मे मृत्यु को प्राप्त कर चिरकाल के लिए नरक मे दुःख भोगने लगे।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म मे पशु-हिंसा का कठोर विरोध किया गया है तथा 'यज्ञानुष्ठान' आदि को कोई स्थान नही दिया गया है। इस धर्म मे जिनेन्द्र देव की पूजा को ही महत्त्व दिया जाता है और 'यज्ञ' शब्द इसी अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

अनेकान्तवाद या स्याद्वाद

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक परामर्श के पहले उसे सीमित तथा सापेक्ष बनाने के विचार से 'स्यात्' विशेषण का जोडना अत्यन्त आवश्यक है। 'स्यात्' (कथंचित्) शब्द अस् धातु के विधिलिंग के रूप का तिडन्त प्रातिपदिक अव्यय माना जाता है। घडे के विषय में हमारा परामर्श 'स्यादस्ति=कथंचित् यह विद्यमान है' इसी रूप मे होना चाहिए।[3] जैन दर्शन प्रत्येक परामर्श वाक्य के साथ 'स्यात्' पद का योग करने के लिए आग्रह करता है। यही सुप्रसिद्ध स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है जो जैन दर्शन की प्रमाणमीमासा के इतिहास मे एक महत्त्वपूर्ण देन माना जाता है।[4] जैन दर्शन का यह प्रथम सिद्धान्त है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक हुआ करती है।[5] जैन दर्शन वस्तु के अनन्त धर्मों मे से एक धर्म के ज्ञान को 'नय' के नाम से पुकारते हैं।[6] नय सिद्धान्त जैन दर्शन का एक मुख्य विषय माना जाता है। इसका विवेचन जैन ग्रन्थो में बड़े विस्तार से किया गया है।[7]

भगवती सूत्र मे स्वय महावीर ने 'स्यादस्ति', 'स्यान्नास्ति' तथा 'स्याद् अव्यक्तम्' - इन तीन भगो का स्पष्ट उल्लेख किया है। आगे चलकर इन्ही मूल भगो के पारस्परिक मिश्रण से 'सप्तभगी' की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ।[8]

जैन न्यायानुसार किसी भी पदार्थ के विषय मे 'स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्याद् अवक्तव्यम्, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति च अवक्तव्य च, स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्य च' आदि इतने ही प्रकार का ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। अत. सात प्रकारो को धारण करने के कारण यह 'सप्तभगीनय' कहलाता है।[9]

उत्तरपुराण मे वर्णित रामकथा का अध्ययन करने से 'अनेकान्तवाद' या 'स्याद्वाद' के सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है, उत्तरपुराण मे प्रसगवश वर्णित 'पर्वत' और 'नारद' के आख्यान मे इस मत की पुष्टि करने का प्रयत्न किया गया है। एक बार पर्वत के पिता अपने पुत्र और शिष्य नारद, दोनो को आटे का एक बकर[illegible] नाकर देते है और कहते हैं कि जहा कोई भी न देख सके [illegible] स्थान मे जाकर चन्दन तथा माला आदि मांगलिक पदार्थों मे इसकी पूजा करो [illegible] फिर कान काटकर इसे आज ही वापिस ले आओ।[10] पर्वत सोचता है कि इस वन मे कोई भी नही देख रहा है, इसलिए वह बकरे के दोनो कान काटकर वापिस लौट आता है।[11] लेकिन नारद[12] सोचता है कि अदृश्य स्थान तो यहां कोई भी नही है। चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, तारे आदि सब देख रहे हैं। पक्षी तथा हरिण आदि अनेक जीव भी समीप मे उपस्थित हैं। अत ऐसा विचारकर वह वापिस लौट आता है और सम्पूर्ण वृत्तान्त अपने गुरु को निवेदित कर देता है।

---

१. वही, ६७/३६६
२. वही, ६७/४५१
३. बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, वाराणसी १९७१, पृ० १०३
४. प्रमाणमीमासा (सिन्धी जैन ग्रन्थमाला : १९३६) प्रस्तावना, पृ० १८
५. बलदेव उपाध्याय . भारतीय दर्शन, पृ० १०१
६ 'एकदेशविशिष्टो यो नयस्य विषयो मत ।' न्यायावतार, २९
७. तत्त्वार्थसूत्र, १/३४-३५
८. प्रमाणसमुच्चय · प० सुखलालकृत प्रस्तावना, पृ० १८-२८
९. बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० १०५-६
१०. उ० पु०, ६७/३०५-६
११. वही, ६७/३०८-९
१२. वही, ६७/३१४

नारद के वचनों को सुनकर पुत्र की मूर्खता पर विचार करते हुए गुरु कहते हैं कि "जो एकान्तवादी कारण के अनुसार कार्य मानते हैं, वही एकान्तवाद है।" यह मिथ्या है क्योंकि सर्वदा कारण के अनुसार ही कार्य हो, ऐसा नही होता। गुणभद्र आचार्य ने ब्राह्मण के मुख से इस बात की पुष्टि की है। वह कहता है कि मैं सदा दया से आर्द्र हू, परन्तु मुझसे उत्पन्न पुत्र अत्यन्त निर्दयी है।[1] इस प्रकार कारण के अनुरूप कार्य कहा हुआ ? इस प्रकार 'एकान्तवाद' का खण्डन करने का प्रयत्न किया गया है। दूसरी ओर कही कार्य कारण के अनुसार होता है, और कही उसके विपरीत भी होता है।[2] यही 'स्याद्वाद' है। यही वास्तव मे सत्य है। इसी को 'अनेकान्तवाद' भी कहा जाता है।

अत मे निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि जैन दर्शन मुख्य रूप से आचार-विचार से अनुप्रेरित है। पूर्व मे इन लोगो का विशेष ध्यान देह-शुद्धि, अन्तःकरण-शुद्धि आदि पर ही था। जैन धर्म में 'तीर्थंकर' का पद सबसे बडा है। इस अवस्था को प्राप्त कर जीव सम्यक् ज्ञान, सम्यक् वाक् तथा सम्यक् चारित्र से युक्त होकर 'साधु' हो जाते हैं। किसी प्रकार का रोग एव भय इन्हे नहीं सताता। इनमे 'मतिज्ञान', 'श्रुतज्ञान', 'अवधिज्ञान' एवं 'मन.पर्यायज्ञान' स्वभावतः होते है। कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर ये 'केवलज्ञानी' भी हो जाते हैं।[3] इस प्रकार जैन देवशास्त्र मे 'तीर्थंकर' ही सर्वोपरि माने जाते हैं। त्रिषष्टिशलाकापुरुषो मे २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव होते हैं। (इनकी जीवनिया जैन धर्म में रामायण, महाभारत व पुराणो के तुल्य महत्त्व रखती हैं।) राम और लक्ष्मण क्रमशः आठवें बलदेव और आठवें वासुदेव है। जैन धर्म मे ईश्वर की सत्ता को सर्वोच्च नही माना गया है। 'तीर्थंकरो' को ही ईश्वर के समान माना गया है जो अन्त मे निर्वाण प्राप्त कर जन्म मृत्यु के चक्कर से मुक्त हो जाते है।[4]

अनेकान्तवाद या स्याद्वाद को भी जैन धर्म मे स्थान मिला है। इनके अनुसार, प्रत्येक वस्तु अनन्त-धर्मात्मक होती है। जैन दर्शन वस्तु के अनेक धर्मों में से एक धर्म के ज्ञान को 'नय' के नाम से पुकारता है। 'नय सिद्धान्त' जैन दर्शन का एक मुख्य विषय माना जाता है। जैन दर्शन मे प्रत्येक परामर्श-वाक्य के साथ 'स्यात्' पद जोडा जाता है। यही 'स्याद्वाद' है।

उत्तर पुराण में वर्णित रामकथा मे प्रसगवश वर्णित पर्वत व नारद के आख्यान से इस मत की पुष्टि की गई है। एकान्तवादी कारण के अनुसार कार्य मानते हैं। इस प्रकार आचार्य गुणभद्र ने रामकथा के माध्यम से जैन धर्म और दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तो को पुष्ट करने का प्रयत्न किया है।

मुख्य रूप से जैन धर्म और दर्शन मे कर्म सिद्धान्त, किए हुए कर्मों के अनुसार ही पुनर्जन्म-प्राप्ति, वेदो की अप्रामाणिकता, यज्ञो की अनुपादेयता, एकान्तवाद के खण्डन, स्याद्वाद या अनेकान्तवाद की स्थापना, तीर्थंकरो की सर्वोच्चता तथा अन्त में रत्नत्रय (सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान तथा सम्यग् चारित्र) की प्राप्ति कर निर्वाण पर ही बल दिया गया है और सक्षेप मे ये ही जैन धर्म और दर्शन के प्राण हैं, जो गुण-भद्राचार्य द्वारा अपने उत्तर पुराण मे रामकथा द्वारा पुष्ट किए गए हैं।

गुजरात मे प्राचीन साहित्य की परम्परा बहुत कुछ अखड रूप मे मिलती है। प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाओ का तो उसमे अक्षय भडार उपलब्ध होता है। उसका सम्बन्ध मुख्यतया जैन-धर्म से है, क्योंकि भारत के इस पश्चिमी भूभाग, लाट-गुर्जर-सौराष्ट्र प्रदेश मे जैन-मतावलबियो का प्रभुत्व प्राय ईस्वी सन् के प्रारम्भ मे ही मिलने लगता है। मध्यकाल से पूर्व गुजरात मे जो भी महत्त्वपूर्ण रामकाव्य प्राप्त होते हैं, वे सभी जैन-विचारधारा से सम्बद्ध हैं और उनमे वर्णित रामकथा वाल्मीकिरामायण पर आधारित होते हुए भी अनेक अशों मे उससे भिन्न है। राम, सीता, लक्ष्मण और रावण आदि रामायण के सभी मुख्य पात्र जैनधर्मानुयायी चित्रित किए गए है और कथागत भिन्नताओ का कारण भी साहित्यिक न होकर धार्मिक एव सैद्धांतिक ही अधिक प्रतीत होता है। ऐसी रचनाओ मे प्राकृत मे रचित विमलसूरि कृत 'पउमचरिउ' (तीसरी-चौथी शती ई०), सस्कृत मे रचित रविषेण कृत 'पद्मचरित' (सातवी शती ई०), अपभ्रंश मे रचित स्वयंभूदेवकृत 'पउमचरिउ' (आठवी शती ई०), सस्कृत मे रचित गुणभद्रकृत 'उत्तरपुराण' (नवीं शती ई०) तथा हेमचंद्रकृत 'जैन-रामायण' (बारहवी शती ई०) इत्यादि ग्रंथो के नाम उल्लेखनीय हैं। गुजरात मे जैन राम-कथा के दो भिन्न रूप प्रचलित मिलते हैं, जो विमलसूरि और गुणभद्र की रचनाओ पर आधारित हैं।

—श्री जगदीश गुप्त के निबन्ध 'गुजरात मे राम-काव्य की परम्परा तथा राम-भक्ति का प्रचार' से साभार
(राष्ट्र-कवि मैथलीशरण गुप्त अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० सं० ८४६)

१. उ०पु०, ६७/३१६
२. उ० पु०, ६७/३१५
३. हार्ट ऑफ जैनिज्म : पृ० ३२-३३, पन्द्रह पूर्व भागो की भूमिका, भाग १, पृ० २४
४. उमेश मिश्र . हिस्टरी ऑफ इडियन फिलासफी, भाग १, पृ० २२८, हार्ट ऑफ जैनिज्म, पृ० ५६-५७

जैन राम-कथाओं में धर्म

डॉ० सुरेन्द्रकुमार शर्मा

राम-कथा-मन्दाकिनी मे अवगाहन करके अनेक कवियो को पुण्यार्जित करने का शुभावसर प्राप्त हुआ है। बौद्ध एव जैन मतानुयायी भी राम-कथा के प्रबल पुण्यमय प्रवाह के सम्मुख तटस्थ न रह सके और उन्होंने नतमस्तक होकर इसके कथा-सीकरो मे अपने काव्यो को अभिसिंचित किया। जैन साहित्य की राम-कथा सम्बन्धी कृतियो मे अनेक उपाख्यान मिलते है। इनमे प्राकृत कवि विमलसूरि का पउमचरिउ, संस्कृत जैन-कवि रविषेण का पद्मपुराण, गुणभद्र का उत्तरपुराण, हेमचन्द्र का त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित आदि प्रमुख रचनाए हैं। इन काव्यों के राम-कथा सम्बन्धी उपाख्यानो मे से हिन्दू राम-कथा के उन अशो को निकाल दिया गया है या परिवर्तित कर दिया गया है जो जैन धर्म के सिद्धान्तो से मेल नही खाते।

जैन राम-कथा साहित्य कथाओ का अतुल भंडार है। जैन कथाकारो ने प्रायः धार्मिक विचारो की अभिव्यक्ति के लिए कथाओ का सुगम मार्ग ग्रहण किया। चाहे महाकाव्य हो या खण्डकाव्य, पुराण हो या चरितकाव्य, सर्वत्र पुष्प मे परागकणो के समान इनकी छटा बिखरी हुई दृष्टिगत होती है। प्राय: दिगम्बर सम्प्रदाय के पुराण और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के चरित-ग्रन्थ दोनो प्रकार की रचनाओ में कथा-बाहुल्य है। जैन आचार्यों एव कवियो ने धार्मिक परम्पराओ, विचारो और सिद्धान्तो के प्रचार व प्रसार के लिए तथा अपनी बात को जनता के हृदय तक पहुचाने के लिए कथाओ का आश्रय लिया। इन कथाओ मे सरसता, रोचकता, मनोरजन, जिज्ञासा, विस्मय, कौतूहल आदि का सहज समावेश है।

यद्यपि जैन साहित्य के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न युगो मे सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं मे कथाओ का निर्माण हुआ, परन्तु भाषा-वैविध्य और काल-भिन्नता के होने पर भी जैन कथा-साहित्य की प्रवृत्तियो अथवा धार्मिक विचारो पर कोई प्रभाव नही पड़ा। विचारो एवं प्रवृत्तियो मे एकरूपता होने के कारण समग्र साहित्य सुव्यवस्थित, परम्पराबद्ध एव सशक्त रूप मे दृष्टिगत होता है।

जैन कथा-साहित्य का प्राण एकमात्र धर्म है। जैन कवि धर्म-प्रवण समाज की रचना करना चाहते थे। अत. चाहे तो पुराण हो, चाहे चरित-काव्य या कथात्मक कृतिया हो, चाहे प्रेम कथा हो चाहे साहसिक कथा हो और चाहे सदाचार सम्बन्धी कथा हो, सर्वत्र धर्म तत्त्व अनुस्यूत मिलता है। धर्म की प्रधानता होते हुए भी पात्रो के चरित्र को अतिमानवीय रूप नहीं दिया गया है क्योंकि इन कवियो का जीवन और जगत् के प्रति स्वस्थ एव सतुलित दृष्टिकोण रहा है। अत जहा कथा साहित्य मे परलोक के प्रति आकर्षण है वहा इहलोक के प्रति भी अनासक्ति नही है।

जैन कृतियो मे कर्म सिद्धान्त या पुनर्जन्मवाद के प्रति अटूट आस्था प्रकट की गई है। ईश्वर या अदृष्ट शक्ति के स्थान पर पूर्वजन्म के कर्मों को महत्त्व दिया गया है। शुभ या अशुभ कर्मों के अनुरूप ही प्राणी नवीन शरीर का अधिकारी बनता है। जहा कही पात्रो के असाधारण कार्यों मे अतिमानवीय (यक्ष, विद्याधर आदि की सहायता) शक्ति की चर्चा की जाती है वहा भी वह शक्ति केवल निमित्त मात्र होती है, मुख्य कारण तो मनुष्य के सचित कर्म ही होते हैं। पुनर्जन्म की अवश्यम्भाविता और कर्मविपाक के सिद्धान्त की सुदृढ़ आधारशिला तैयार करने के लिए इन कथाकारो द्वारा इतिहास की भी उपेक्षा कर दी गई है। एक ही पात्र के उतार-चढ़ाव को प्रकट करने के लिए जन्म-जन्मान्तरो की कथाओं का जाल-सा बिछा रहता है। कर्म-बन्धन एव जन्म-मरण के आवागमन मे मुक्ति तब तक नही मिल सकती, जब तक सद्गति प्राप्त न हो जाए।

इन कथा-काव्यो के नायक वीरता, शृंगार और वैराग्य इन तीन सोपानो को पार करते हुए अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचते हैं। यह इनके लिए अनिवार्य नियम-सा है। भोगासक्ति के गुरुत्वाकर्षण से हटकर विरक्ति की सीमा तक पहुचने पर फिर लौट पाना असम्भव है। भोग और योग के मध्य तालमेल करने का प्रयास नही किया गया है। कही-कही नायक की त्रिसगतियों, अतर्द्वन्द्वो अथवा कठिन परिस्थितियों को उभारने के लिए प्रतिनायक या प्रतिनायिका की कल्पना की जाती है। जैन कवियों ने मनुष्य-जीवन के नैतिक स्तर को समुन्नत करने के लिए

विविध प्रकार की उपदेशात्मक कथाओं की संयोजना की है। इनका उद्देश्य विद्वत्समाज को ही प्रभावित करना नहीं था, अपितु उस साधारण समाज को भी जीवन प्रदान करना था जो विवेक और चरित्र मे सर्वथा अपरिचित था। जैन कथाकारो का एकमात्र उद्देश्य सद्भाव, सद्धर्म और सन्मार्ग-प्रेरक सत्कर्म का जनसमुदाय मे प्रचार करके नैतिक और सदाचार-युक्त जीवन-स्तर को ऊंचा करना था। इस उच्चता द्वारा व्यक्ति लौकिक और पारलौकिक सुख का भोक्ता बन सकता है। इन कथाकारो ने व्यक्ति के जीवन विकास के लिए सद्धर्म और सन्मार्ग के जिन प्रकारो का उल्लेख किया है वे सर्वसाधारण के लिए हैं। कोई व्यक्ति किसी धर्म को मानने वाला, किसी विचारधारा का, किसी देश या जाति का हो, आस्तिक हो या नास्तिक, धनी हो या दरिद्र, सबके लिए यह मार्ग लाभप्रद और कल्याणकारी सिद्ध होता है। मानव के नैतिक स्तर को ऊचा उठाने की दृष्टि मे इन कथा-ग्रन्थो का अधिक महत्त्व है।

जैन कृतियो की कथावस्तु लोक-कथाओ पर आधारित है परन्तु जैन कवियो ने औत्सुक्यपूर्ण, कौतूहलयुक्त, काल्पनिक और धार्मिक कथाओं को सर्वथा नवीन रूप मे प्रस्तुत किया है। इनके पात्र दैविक शक्ति से सम्पन्न न होकर साधारण समाज से गृहीत होते हैं, जो सुख-दुःख से अनुप्राणित तथा आशा-निराशा, धैर्य-अधैर्य, हर्ष-विषाद और भय एव साहस के हिंडोलो मे झूलते हुए दिखाई देते है। जहा उनके जीवन मे अन्धकार है वही प्रकाश की किरणें भी मुस्कराती हुई परिलक्षित होती हैं और अनुराग से रंजित प्रकृति सहानुभूति प्रकट करती हुई जान पडती है। जैन कथा के धर्मानुप्राणित नायक जहा एक ओर अदम्य साहस, दृढ वीरता, अद्भुत धैर्य और प्रबल पराक्रम का परिचय देते है वही दूसरी ओर उनके चरित्र मे दया, करुणा, परोपकार, सहज स्नेह इत्यादि मानवीय गुणों की झाकी भी देखने को मिलती है। अतः जैन कथाकारो ने धर्म और सदाचार की भित्ति पर मानव-प्रासाद के निर्माण मे सक्रिय सहयोग दिया है।

अतः चाहे भले ही जैन राम-कथा मे भौतिक विचारधारा को समुचित स्थान न मिल पाया हो परन्तु धर्म एव नैतिक विचारधारा के प्रचार-प्रसार मे जो इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, वह निस्सदेह सराहनीय है।

स्वयभू-रामायण के कथा प्रसग से एक बहुत ही मनोरजक तथ्य पर प्रकाश पडता है और वह है सुन्दरकाण्ड नाम पड़ने के कारण पर। बाल, युद्ध और उत्तर तथा अयोध्या, अरण्य और किष्किन्धाकाण्डो के नामकरण का कारण तो समझ मे आ जाता है, क्योंकि वह काफी स्पष्ट है। परन्तु 'सुन्दरकाण्ड' के नामकरण का कारण बहुत कुछ रहस्य ही है। लोगो की सामान्यत यही धारणा है कि यह काण्ड दूसरो की अपेक्षा अधिक सुन्दर है, इसलिए इसका नाम सुन्दरकाण्ड पडा। परन्तु यह व्याख्या किसी प्रकार सन्तोषजनक नही कही जा सकती, क्योंकि अन्य काण्डो के साथ इस व्याख्या वाले नाम का मेल नही बैठता।

सही व्याख्या की कुजी स्वयभू-रामायण के 'विद्याधर' काण्ड मे मिलती है—

> 'संदर' अगे सुंदर भणेवि, 'सिरिसयलु' सिलायलु चुण्णिउ।
> हणुरुह-दीवे पवड्ढियउ, 'हणुवन्तु' णामु तें तासु किउ॥'—१।१६।११

हनुमत के अनेक नामो मे मे एक नाम 'सुन्दर' भी था। इसलिए जिस काण्ड मे सुंदर के शौर्य का वर्णन हो, उसका 'सुदरकाण्ड' नाम न होगा, तो क्या होगा? रामकथा के पाठक जानते हैं कि 'सुदरकाण्ड' मे आदि से लेकर अत तक हनुमान के ही पराक्रम का वर्णन है। हनुमान का लका-प्रवेश, सीता का पता लगाना, सीता को आश्वासन देना, लंका को उजाडना, रावण को दहलाना, विभीषण से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करना आदि सभी कार्यों के नायक हनुमान हैं और रामकथा में इन कार्यों का कितना महत्त्व है इसे बतलाने की जरूरत नही है। ऐसे पराक्रमपूर्ण कार्यों के नायक सुदर के नाम पर एक संपूर्ण काण्ड का नामकरण उचित ही कहा जायेगा।

—डॉ० नामवरसिंह के निबन्ध 'अपभ्रंश का राम-साहित्य' से साभार
(राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० सं० ६६३-६४)

प्राकृत कथाकारों का अहिंसात्मक दृष्टिकोण

डॉ० प्रेमसुमन जैन

प्राकृत, संस्कृत एव अपभ्रंश भाषाओ की प्राचीन कथाओं मे अहिंसा के स्वरूप, महत्त्व एव अहिंसा-पालन के परिणामो को प्रतिपादित किया गया है। तीर्थंकरो के जीवन-चरित एव महापुरुषो की कथाओ मे अहिंसा के कई प्रसग उपलब्ध होते हैं। वस्तुत: सिद्धान्त-ग्रन्थो मे प्राप्त अहिंसा के स्वरूप का व्यावहारिक रूप जैन कथा-साहित्य मे देखा जा सकता है। यह कथा-साहित्य विशाल है। अत प्राकृत की कुछ प्रतिनिधि कथाओ के आधार पर ही अहिंसा के स्वरूप को समझने का यहा प्रयत्न किया जा सकता है।

तीर्थंकरों द्वारा अहिंसा की प्रतिष्ठा

प्राकृत कथा साहित्य मे तीर्थंकरो के जीवन की कई घटनाए वर्णित है। अहिंसा से सम्बन्धित कुछ प्रसग यहा विचारणीय हैं। भगवान् ऋषभदेव के समय में मानव की आवश्यकताए कम थी। अत हिंसा का वातावरण भी कम था। लेकिन जैसे-जैसे मानव सामाजिक प्राणी होने लगा तो उसे सहिष्णुता, अनुकम्पा आदि अहिंसक गुणो की अधिक आवश्यकता पडी। कल्पवृक्षो की कमी अर्थात् वनसम्पदा का जीवन के लिए अपर्याप्त होना कही प्राणियो के परस्पर वध को बढ़ावा न दे, मासाहार की प्रमुखता न हो जाय, इस दृष्टि मे ऋषभदेव ने सामाजिकता की ओर बढते हुए उस समय के मानव को कृषि एव जीविका के अन्य साधनो की शिक्षा प्रदान की थी।[1] मनुष्य जगली, क्रूर एवं असुन्दर ही न बना रहे, इसलिए उन्होने विभिन्न कलाओ और शिल्पो की ओर मानव को प्रेरित किया था। अत मनुष्य की आध्यात्मिकता की समझ को जाग्रत करने के लिए भगवान् ऋषभदेव के ये अहिंसक प्रयत्न थे।

तीर्थंकर नेमिनाथ की प्राणियो के प्रति अनुकम्पा इतिहास-प्रसिद्ध है। उनके जीवन की कथा तो मात्र इतना कहती है कि पशुओ के बाडे को देखकर उनके अकारण वध की सूचना से उन्होंने तपस्वी जीवन धारण कर लिया। किन्तु नेमिनाथ के जीवन मे इतना बडा परिवर्तन अचानक और अकारण नही हुआ है। इस घटना के द्वारा कृष्ण उन्हे कुछ सिखाना चाहते थे। किन्तु नेमिनाथ अपने अहिंसक चिन्तन द्वारा सारे जगत् को ही इस घटना द्वारा बहुत-कुछ सिखा गये। जन-जन के अन्तर्मानस मे प्राणियों की पीड़ा की अनुभूति इतनी तीव्रता के साथ शायद पहली बार ही अनुभव की गई होगी। मासाहार के विरोध मे नेमिनाथ का यह एक अहिंसक प्रयोग था।[2] और सम्भवत: उसका ही यह प्रभाव था कि नेमिनाथ के समय मे साधुओ का जब चातुर्मास होता था तो राजा कृष्ण ने चातुर्मासो मे राज्य सभा के आयोजन करने बन्द कर दिये थे ताकि आवागमन, भीड़-भाड आदि के कारण प्राणियो की अधिकतम हिंसा से बचा जा सके।[3]

पार्श्वनाथ का जीवन अहिंसा का जीता-जागता उदाहरण है। उन्होने अपने पूर्वजन्म और तपस्वी जीवन मे क्षमा की साकार मूर्ति को उपस्थित किया है। वध, क्रोध, वैर, बदला आदि अनेक हिंसा के कार्यों का सामना उन्होने अहिंसात्मक साधनो से किया है। तपस्वी द्वारा यज्ञ मे होम किये जा रहे नाग की रक्षा उन्होने अपने कुमार जीवन मे ही की थी।[4] यह एक ऐसा प्रतीक है जो अहिंसा के सूक्ष्म भावो को व्यक्त करता है। यदि नेमिनाथ ने जगल के तृण खाने वाले मूक प्राणियो को हिंसा से बचाया था तो पार्श्वनाथ ने एक कदम आगे बढ़कर विषैले नाग की रक्षा भी अहिंसक दृष्टि से आवश्यक मानी, क्योकि प्राणी का स्वभाव कैसा भी हो, अकारण उसका वध करने का अधिकार किसी बडे से बडे और धार्मिक व्यक्ति को भी नही है।

---

१. अहिंसा का तत्त्वदर्शन : मुनि नथमल, ऋषभदेव—एक परिशीलन : देवेन्द्र मुनि।

२. उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२, गाथा १४-२०

३. कर्मयोगी कृष्ण— एक अनुशीलन देवेन्द्र मुनि।

४. सिरिपासनाहचरियं, १४-३०

भगवान् महावीर का जीवन-चरित अहिंसा के स्वरूप को और अधिक गहरा बनाता है। उन्होंने सर्प या संगम देवता द्वारा निर्मित विषधर नाग पर सहजता से और निर्भयता पूर्वक विजय प्राप्त कर यह स्पष्ट कर दिया था कि शक्तिशाली व्यक्ति और प्राणी की भी हिंसात्मक आकृति टिकाऊ नहीं है, बनावटी है। अहिंसक चित्त निरन्तर विजयी रह सकता है।[१] महावीर अहिंसा के विस्तार के लिए उसके मूलभूत कारणों तक पहुंचे हैं। उनके जीवन की हर घटना दूसरे के अस्तित्व की रक्षा करते हुए एवं मन को न दुखाते हुए घटित होती है। सम्भवतः परिग्रह (अनावश्यक संग्रह) दूसरो को पीडा पहुंचाने मे सबसे बडा कारण है। यही कारण है कि महावीर ने पांचवें व्रत अपरिग्रह को एक नई दिशा प्रदान की है।[२] अनेकान्तवाद द्वारा उन्होने मानसिक हिंसा को भी तिरोहित करने का प्रयत्न किया है और वीतरागता द्वारा वे आत्मिक अहिंसा के प्रतिष्ठापक बने हैं।

हिंसा के विभिन्न रूप

प्राकृत-कथा-साहित्य मे युद्ध, प्राणी-वध एव मनुष्य-हत्या आदि के अनेक प्रसग प्राप्त होते हैं। इनको पढते समय यह प्रश्न उठता है कि अहिंसक समाज द्वारा निर्मित इस साहित्य मे हिंसा का इतना सूक्ष्म वर्णन क्यों और किसलिए है ? प्राकृत के प्राचीन आगम-ग्रन्थो—सूत्रकृताग आदि मे मास-विक्रय के विभिन्न उल्लेख हैं।[३] विपाकसूत्र में अण्डे के व्यापार, मछली के व्यापार आदि की विस्तृत जानकारी दी गई है।[४]

आवश्यक चूर्णि, बृहत्कल्पभाष्य, राजप्रश्नीय सूत्र आदि ग्रन्थो से पता चलता है कि ईर्ष्या, क्रोध, अपमान आदि के कारण माता पुत्र की, पत्नी पति की, बहू सास की, मन्त्री राजा की हत्या करने मे सकोच नही करते थे।[५] प्राकृत कथाओ मे वर्णित प्राणि-वध, मनुष्य-हत्या, शिकार, युद्ध आदि के ये प्रसग इस बात की सूचना देते हैं कि तीर्थंकरो ने जिस अहिंसा धर्म का प्रतिपादन किया है, उसे यदि यथार्थ रूप मे नही समझा गया तो ये उपर्युक्त परिणाम ही होने हैं। हिंसा और अहिंसा मे अधिक दूरी नही है। सिक्के के दो पहलुओ के समान इनका अस्तित्व है। केवल व्यक्ति की भावना ही हिसा और अहिसा के बीच सीमा-रेखा खीचने मे सक्षम है। अतः प्राकृत कथा-साहित्य मे वर्णित हिंसात्मक वर्णनो की बहुलता इस बात की द्योतक है कि महावीर के बाद अहिंसक समाज सर्वव्यापी नही हुआ था। किन्तु उस अन्धकार में उसके हाथ मे अहिंसा का दीपक अवश्य था जिसकी कुछ किरणें जैन साहित्य मे यत्र-तत्र उपलब्ध होती हैं।

अहिंसा के प्रकाश-स्तम्भ

जैन कथा-साहित्य में सम्भवतः भरत-बाहुबली की कथा सर्वाधिक प्रभावकारी अहिंसक कथा है। भरत और बाहुबली के जीवन-चरित मे यह पहली बार पता चलता है कि युद्ध की भूमि मे भी कोई अहिंसक संधि-प्रस्ताव हो सकता है। दोनो की सेनाओ मे हजारो प्राणियों के वध के प्रति उत्पन्न करुणा इस कथा मे साकार हो उठी है। दो राजाओ के व्यक्तिगत निपटारे के लिए लाखों व्यक्तियो के मरण के आंकडों से नही, अपितु व्यक्तिगत भावनाओ और शक्ति-परीक्षण मे भी उनकी हार-जीत स्पष्ट की जा सकती है। दृष्टि-युद्ध, मल्लयुद्ध और जलयुद्ध का प्रस्ताव इस कथा मे अहिंसा का प्रतीकात्मक घोषणा-पत्र है।[६]

नायाधम्मकहा की दो कथाए अहिंसा के सम्बन्ध मे बहुत प्यारी कथाए है। मेघकुमार के पूर्वभव के जीवन के वर्णन-प्रसग मे मेरुप्रभ हाथी की कथा वर्णित है। यह हाथी आग से घिरे हुए जगल मे एकत्र छोटे-बड़े प्राणियो के बीच में खडा है। हर प्राणी सुरक्षित स्थान खोज रहा है। इस मेरुप्रभ हाथी ने जैसे ही खुजली के लिए अपना एक पैर उठाया कि उसके नीचे एक खरगोश का बच्चा छाया देखकर आकर बैठ गया। हाथी खुजली मिटाकर अपना पैर नीचे रखना है, किन्तु जब उसे पता चला कि एक छोटा प्राणी उसके पैर के संरक्षण मे आ गया है तो उसकी रक्षा के लिए मेरुप्रभ हाथी अपना वह पैर उठाये ही रखता है और अतत तीन दिन-रात वैसे ही खडा रहकर वह स्वयं मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, किन्तु वह उस छोटे-से प्राणी खरगोश तक धूप और आग की गर्मी नही पहुचने देता।[७] अहिंसा का इससे बड़ा उदाहरण और क्या होगा !

इसी प्रकार ज्ञाताधर्म कथा मे धर्मरुचि साधु की प्राणियो के प्रति अनुकम्पा का उत्कृष्ट उदाहरण है। यह कथा हिंसा और अहिंसा

१. महावीरचरियं : नेमिचन्द्र सूरि ८,२२.
२. भगवान् महावीर : एक अनुशीलन : देवेन्द्रमुनि।
३. सूत्रकृतांगसूत्र, २,६,१,२.
४. विपाकसूत्र १, पृ० २२, ८ पृ० ४६.
५. जैन आगम-साहित्य में भारतीय समाज : डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, पृ० ५६-८४.
६. आदिपुराण : जिनसेन, ऋषभदेव-कथा।
७. तं ससय अणुपविट्ठ पाससि, पासित्ता पाणाणुकपाए... से पाए अंतरा चैव सधारिए नो चेव णं निक्खित्ते—नायाधम्मकहा, प्र० अ० १८३.

के दोनो पक्षों को उजागर करती है। नागश्री जैसी स्वार्थी गृहस्थिन ने विषाक्त भोजन को केवल इसलिए साधु के पात्र मे डाल दिया कि उसकी निंदा न हो कि उसके द्वारा बनाया गया भोजन (शाक) कडवा है अथवा विषाक्त है। किन्तु दूसरी ओर धर्मरुचि को जब यह पता लगा कि उसे भिक्षा मे प्राप्त शाक कडवा और विषाक्त है तो गुरु-आज्ञा से वह उसे निर्जन स्थान पर फेंकने को उद्यत हुआ। किन्तु यही उसकी अनुकम्पा सामने आ गई और उस साधु ने देखा कि इस एक बूद शाक के लिए हजारो चीटियां यहा एकत्र हो गई हैं। यदि पूरा शाक यहां डाल दिया गया तो हजारो-लाखो प्राणियो का अनायास वध हो जायगा। अत वह करुणामय साधु उस शाक को स्वय पी गया।[१] करोडो प्राणियो के प्राण-वध से एक का प्राणान्त होना उसे अधिक श्रेयस्कर लगा। यह इस बात का ज्वलत उदाहरण है कि जीवन की दृष्टि से सभी प्राणियो का मूल्य बराबर है। इसीलिए प्राकृत कथाओ का यह प्रमुख स्वर है कि अहिसा का यथासम्भव अधिक से अधिक पालन किया जाये। हिंसा के वातावरण को शान्त किया जाये।

अहिंसक समाज-निर्माण के प्रयोग

प्राकृत कथाओ मे अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए कई प्रयोग किये गये हैं। मानव के जीवन मे अहिंसा के महत्त्व की इतनी भावना थी कि व्यक्ति यह प्रयत्न करता था कि यथा-सम्भव हिंसा का निषेध किया जाए। सूत्रकृतांग सूत्र मे आर्द्रकुमार साधु की कथा वर्णित है। उन्होने हिंसा के मूलकारण मास-भक्षण का युक्तिपूर्वक निषेध किया है।[२] आवश्यकचूर्णि म अरहमित्त श्रावक के पुत्र जिनदत्त की कथा है। वह एक बार भयकर रोग से पीडित हो जाता है। वैद्य उसे औषधि के साथ मास-भक्षण आवश्यक बताते है। किन्तु वह अपने स्वास्थ्य के लिए अन्य प्राणियो के वध से प्राप्त होने वाले मास का भक्षण करना स्वीकार नही करता है।[३] वसुदेवहिण्डी की एक कथा मे चारुदत्त अपनी यात्रा के लिए बकरे को मारकर उसकी खाल लेना पसन्द नही करता,[४] जबकि उसका मित्र उस दुर्गम प्रदेश मे उसे आवश्यक बताता है।[५]

आगम भाष्य साहित्य मे कालक कसाई के पुत्र सुलस की कथा प्रसिद्ध है। उसका पिता प्रतिदिन पाच सौ भैंसे मारता था। अत पिता के मर जाने पर सुलस को भी जब कुल की परम्परा का निर्वाह करने के लिए कहा गया कि वह परिवार के मुखिया का दायित्व किसी पशु पर तलवार का एक बार करके स्वीकार करे तो सुलस ने इस अकारण हिंसा का विरोध किया एव कहा कि इस हिंसा के पाप का भागी केवल मुझे होना पडेगा। तब परिवार वालो ने कहा कि तुम पशु को काटो। उसमे हम सब हिस्सेदार होंगे। सुलस ने उन्हे शिक्षा देने के लिए तलवार उठाकर उसका वार अपने पैर पर ही कर लिया। यह देखकर सब आश्चर्य-चकित हो गये। तब सुलस ने कहा अब आप सब मेरे पैर की इस पीडा को थोडी-थोडी बाट लें ताकि मुझे कष्ट न हो। परिवार वाले निरुत्तर हो गये क्योंकि किसी की पीडा को कौन बाट सकता है। सुलस ने उन्हें समझाया कि इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी को मारने पर उसे पीडा होती है। अत हिंसा कभी सुखदायी नही हो सकती।[६]

बलि मे होने वाले पशुवध को रोकने के लिए भी जैन कथा-साहित्य मे अनेक प्रसग आये है। अजमेर के पास हर्षपुर नामक स्थान पर बकरे की बलि को रोकने के लिए राजा पुष्यमित्र के समय मे आचार्य प्रियग्रन्थ ने श्रावको की प्रेरणा से बकरे पर मन्त्र का प्रयोग कर उसे बलि से बचाया तथा उसकी वाणी मे अहिंसा के महत्त्व को प्रतिपादित कराया है।[७] पशुओं को अभयदान देने की यह बडी मार्मिक कथा है। इसी तरह भाष्य-साहित्य मे वर्णित मातग यमपाश की कथा जीववध-निषेध की प्रसिद्ध कथा है। चाडाल कुल मे जन्म लेने पर यमपाश पर्व के दिनो मे जीववध नही करता।[८] उसकी यह प्रतिज्ञा कई प्राणियो को जीवन प्रदान करती है और अन्तत राजा को भी जीव-वध की निषेध-आज्ञा प्रसारित करनी पडती है।

प्राणि-वध की निषेधाज्ञा

प्राकृत कथाओ मे अहिंसा के प्रचार-प्रसार के लिए राजा द्वारा अपने राज्य मे अमारि-पडह बजवाये जाने के भी उल्लेख मिलते

---

१ णायाधम्मकहा, अहिंसाठ्ठनित्तालाउय-भक्खणपद, अ० १६
२. सूत्रकृताग, २, ६, २७-४२
३. आवश्यकचूर्णि, २. पृ० २०, २
४. वसुदेवहिण्डी एव वर्धमानदेशना में वर्णित कथा।
५ प्राकृत का जैन कथा-साहित्य डा० जगदीशचन्द्र जैन।
६. जैन कहानिया · मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम', भाग २,कथा ६
७. कल्पसुखबोधिका, टीका २, अधि० ८, जैनकथामाला भाग १५ मुनि मधुकर
८. जैन कहानियां, भाग २१.

हैं। अमारि-घोषणा हो जाने पर कोई भी व्यक्ति किसी प्राणी का वध नहीं कर सकता था। उन दिनों मांस आदि की दुकानें भी बन्द कर दी जाती थीं। उपासकदशांग मे वर्णित महाशतक श्रावक की कथा से ज्ञात होता है कि राजगिरि नगर मे अमारि-घोषणा हो जाने से रेवती को मांस मिलना बन्द हो गया था।[1] एक कथा से ज्ञात होता है कि राजा सौदास ने अष्टाह्निका पर्व पर आठ दिन तक अमारि की घोषणा करायी थी।[2] राजस्थान में मध्ययुग तक राज्य द्वारा ऐसी अमारि-घोषणा किये जाने के उल्लेख मिलते हैं।[3] उपदेशमाला मे कहा गया है कि सारे संसार में अमारि-घोषणा किये जाने का फल उस व्यक्ति को प्राप्त होता है जो किसी एक दुखी प्राणी को भी जिनवचन में प्रतिबोधित कर देता है।[3अ]

हिंसा के दुष्परिणाम

जैन कथा-साहित्य ने प्राणि-वध को रोकने एवं दूसरे को न सताने की भावना को दृढ़ करने के लिए एक कार्य यह भी किया है कि हिंसक कार्यों मे लिप्त व्यक्तियो को जन्म-जन्मान्तरों मे मिलने वाले फल की सही तस्वीर खींची है। विपाकसूत्र की कथाए बताती हैं कि अंडे के व्यापारी निम्नक, प्राणि-वध करने वाले छणिक कसाई एवं मूरदत्त मच्छीमार को अपने हिंसक कार्यों के द्वारा कितनी यातनाएं सहनी पडती हैं।[4] बृहत्कल्पभाष्य आदि ग्रन्थो मे हत्या करने वाले के लिए अनेक प्रकार की सजाए दिये जाने का उल्लेख है। कर्मपरिणाम एव सजा की कठोरता ने भी हिंसक भावना को क्रमश: कम करने मे मदद की है। एक हिंसा दूसरी हिंसा को जन्म देती है। अत वैर की लम्बी परम्परा विकसित हो जाती है। इस बात को कई प्राकृत कथाओ ने सोदाहरण स्पष्ट किया है।[5]

अभय से हृदय-परिवर्तन

प्राकृत की कुछ कथाए अहिंसा के अभय तत्त्व को उजागर करती हैं। कितना ही भयकर एव क्रोधी हत्यारा क्यो न हो, उसकी यह स्थिति अधिक समय तक नहीं टिक सकती। उसके हृदय मे भी किसी घटना विशेष द्वारा परिवर्तन लाया जा सकता है। मोग्गरपाणि अर्जुन की कथा बहुत प्रसिद्ध है। वह अपनी पत्नी के अपमान का बदला लेने के लिए प्रतिदिन पाँच पुरुष तथा एक स्त्री की हत्या करता था। उसके इस उत्पात के कारण लोगो का जीना मुश्किल हो गया था। किन्तु अहिंसा और अभय के पुजारी सुदर्शन साधक ने इस अर्जुन के हृदय को भी परिवर्तित कर उसे साधक बना दिया। अर्जुन क्षमा की मूर्ति बन गया।[6] इसी तरह दृढ़प्रहारी की कथा भी बडी मार्मिक है। उसने क्रोध के कारण पति, पत्नी तथा उनकी गाय को तलवार के एक ही वार से समाप्त कर दिया। किन्तु गर्भवती गाय के तडपते हुए बछडे को देखकर दृढ़प्रहारी काप उठा और हिंसा के चरम उत्कर्ष ने उसे अहिंसक बना दिया। वह प्रायश्चित्त के लिए साधु बन गया।[7] अहिंसा का अर्थ केवल हिंसा से बचना ही नहीं है अपितु अहिंसा के अतिचारो से भी दूर रहना है। प्राकृत कथाओ मे यह स्पष्ट हुआ है कि वध, बन्धन, छेदन, अतिभारारोपण एवं खान-पान-निरोध आदि क्रियाए भी हिंसा के ही रूप हैं, इनसे बचकर ही अहिंसा का पालन हो सकता है। कहारयणकोश मे इनकी सुन्दर कथाए दी हैं।[8] प्राणी-वध तो दुःख देने वाला है ही, किन्तु यदि किसी को कष्ट पहुचाने एव किसी के वध करने की बात मन में भी लायी जाय अथवा किन्ही प्रतीकों के द्वारा वध की क्रिया पूरी कर ली जाय, तो भी अनेक जन्मो तक उसके दुष्परिणाम भोगने पडते हैं।[9] कालक कसाई को ५०० भैंसो का वध करने के कारण तो कुए मे बन्दी बनाकर दुःख दिये गये, किन्तु वहा पर उसने अपने शरीर के मैल के

---

१. तए ण रायगिहे नयरे अण्णदा कदाइ अमाघाए घुट्ठयावि होत्था—अ० ८, उपासगदसाओ, अमाघायपद।

२. जैन कहानिया, भाग ७, कथा ६

३. मज्झमिकानगरी का शिलालेख

३(अ) सयलम्मि वि जियलोए तेण इहघोसिओ अमाघाओ।
इक्क पि जो दुहत्त सत्त बोहेइ जिणवयणे ॥ २६८ ॥

४. विपाकसूत्र, ८

५. (i) समराइच्चकहा का सांस्कृतिक अध्ययन . डा० झिनकू यादव।
(ii) हरिभद्र के प्राकृत कथा-साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन · डा० नेमिचन्द्र शास्त्री।
(iii) कुवलयमाला कहा का सांस्कृतिक अध्ययन डा० प्रेमसुमन जैन।

६. अन्तकृद्दशांग, अध्ययन ३, वर्ग ६

७. जैन कहानिया, भाग २, कथा ३

८. कहारयणकोस, भाग २, कथानक ३४, जैनकथामाला, भाग ३८, मधुकर मुनि।

९. (i) यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन : डा० गोकुलचन्द्र जैन।
(ii) यशस्तिलक एड इंडियन कल्चर : डा० हिन्दकी।

५०० भैंसे बनाकर जो उनकी हत्या करने का संकल्प किया उसके कारण उसे नरकों की यातना सहनी पडी।[1] फिर सचमुच का प्राणिवध तो दुःखदायक है ही।

रक्षात्मक हिंसा का दायरा

प्राकृत कथाओ मे अहिंसा के उस दूसरे पक्ष को भी छुआ गया है, जहा कई कारणो से आत्मरक्षा के रूप मे विरोधी हिंसा करना आवश्यक हो जाता है। भाष्य कथा साहित्य से ज्ञात होता है कि सघ की रक्षा के लिए सघ मे धनुर्धर साधु भी होते थे।[2] कोकणक साधु ने जगल में संघ की रक्षा करते हुए एक रात मे तीन शेर मार डाल थे।[3] आचार्य कालक की कथा प्रसिद्ध ही है कि उन्होने साध्वी के सतीत्व की रक्षा के लिए राजा के महल पर दूसरे राजा से चढाई करवा दी थी।[4] पार्श्वनाथ ने भी यवनराज से प्रभावती की रक्षा के लिए युद्ध स्वीकार किया था। गृहस्थ श्रावक तो ऐसी आरम्भी एव विरोधी हिसा जीवन मे करते ही रहते है। इस प्रकार के प्रसग यह स्पष्ट करते हैं कि अहिंसा का सिद्धान्त भावना और क्रिया की बडी सूक्ष्म कगार पर टिका हुआ है। इसे समझने के लिए ही जैन दर्शन के अन्य सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया जाना सार्थक होता है।

प्राकृत कथाओ के उपर्युक्त कुछ प्रसगो से स्पष्ट होता है कि अहिंसा किसी जाति या वर्ग विशेष की बपौती नही है। जीवन के किसी भी स्तर और कोटि का प्राणी अहिंसा मे विश्वास रख सकता है। यथाशक्ति उसे अपने जीवन मे उतार सकता है। पशु जगत् भी अहिंसा, अनुकपा, परपीडा आदि का अनुभव रखता है। अत उसका जीवन रक्षणीय है। ये कथाए यह भी उजागर करती हैं कि हिंसा की परिणति दुःखदायी ही होती है, चाहे वह किसी भी स्तर या उद्देश्य से की जाये। किन्तु हिंसक कार्यों मे लिप्त व्यक्ति इतना दयनीय भी नही है कि उसे सुधारने का अवसर न हो। वह किसी भी क्षण अपनी हिसा की ऊर्जा को अहिंसा की ओर मोड सकता है। निर्ममता और प्रेम से उसे कोई प्रेरित करने वाला मिलना चाहिए। कथाओ का केन्द्र-बिन्दु यह जान पडता है कि आत्मा के स्वरूप के प्रति उदासीनता एव अज्ञान ही हिंसक भावनाओ को जन्म देता है तथा वही परपीडा का कारण है। अत कायिक अहिंसा के परिपालन के लिए अपरिग्रही, सयमी एवं अप्रमादी होना आवश्यक है। अनेकान्त एव स्याद्वाद को जीवन में उतारने मे मानसी अहिंसा का पालन किया जा सकता है तथा आत्मिक अहिंसा की उपलब्धि तो वीतरागता की ओर बढने से ही होगी।

श्री कृष्ण ने कहा, सबसे उत्तम यज्ञ वह है जिसमे किसी भी जीव की हत्या नही होती, प्रत्युत, जिस यज्ञ के द्वारा मनुष्य अपना जीवन परोपकार मे लगा देता है। यह पुरुष-यजन-विद्या (दूसरो के निमित्त जीने की विद्या) श्री कृष्ण ने अपने गुरु घोर आगिरस से सीखी थी और उसकी दीक्षा उन्होंने अर्जुन को भी दी थी। उस यज्ञ की दक्षिणा धन नही, वरन्, तपश्चर्या, दान, ऋजुभाव, अहिंसा और सत्य था। यह ध्यान देने की बात है कि जैन-ग्रन्थो में, प्रायः श्री कृष्ण जैन माने गए है और उनके गुरु का नाम नेमिनाथ बताया गया है। श्री कृष्ण के समय से आगे बढे, तब भी, बुद्धदेव से कोई ढाई सौ वर्ष पूर्व हम जैन तीर्थङ्कर श्री पार्श्वनाथ को अहिंसा का विमल सन्देश सुनाते पाते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि पार्श्वनाथ के पूर्व अहिंसा केवल तपस्वियो के आचरण मे सम्मिलित थी, किन्तु पार्श्व मुनि ने उसे सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह के साथ बाधकर सर्वसाधारण की व्यवहार-कोटि में डाल दिया।

जैन धर्म का हिन्दू-धर्म पर क्या प्रभाव पडा, इसका उत्तर अगर हम एक शब्द मे देना चाहे तो वह शब्द 'अहिंसा' है, और यह अहिंसा शारीरिक ही नही बौद्धिक भी रही है। शैव और वैष्णव धर्मों का उत्थान जैन और बौद्ध धर्मों के बाद हुआ, शायद यही कारण है कि इन दोनो मतो (विशेषत. वैष्णवमत) मे अहिंसा का ऊचा स्थान है। दुर्गा के सामने कूष्माण्ड की बलि चढाने की प्रथा भी जैन और बौद्ध मतो के अहिंसावाद से ही निकली होगी।

(श्री रामधारी सिह 'दिनकर' कृत सस्कृति के चार अध्याय के पृ० स० १०५, १०६ एव ११६ से सकलित)

---

१. जैन कहानियां, भाग २, कथा ६.
२. बृहत्कल्पभाष्य, १-३०१४.
३. निशीथ, पृ० १००, भाष्यकहानियां मुनि कन्हैयालाल।
४. निशीथचूर्णि १०,२८६० की चूर्णि।

प्राकृत-जैन कथा-साहित्य का महत्त्व

सुधा खाब्या

मानव प्रारम्भ से ही कथा-प्रेमी रहा है। भारतीय साहित्य का अधिकाश भाग कथा-साहित्य है जिसमे एक से एक सुन्दर कथाएं वर्णित है। इस साहित्य मे जहा लोक-सस्कृति, लोक-जीवन आदि की झलक देखने को मिलती है वहा तत्कालीन बोल-चाल की भाषा का आस्वादन भी प्राप्त होता है। बच्चे से लेकर वृद्ध तक सभी के लिए यह मनोरजक एव ज्ञानवर्धक है क्योकि इनको समझने मे मानसिक कसरत की आवश्यकता नही होती, ये सहज रूप से समझ मे आ जाती हैं। विश्व के सम्पूर्ण साहित्य का अधिकाश भाग कथा-साहित्य के रूप मे है। लौकिक साहित्य के क्षेत्र मे ही नही, अपितु धार्मिक साहित्य के क्षेत्र मे भी कथा-साहित्य की बहुलता है। जैन साहित्य का लोक-दृष्टि मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साहित्य कथा-साहित्य ही है।

जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए जैनाचार्यों ने नीति-कथाओ की परम्परा का प्रारम्भ किया। भारतीय लोक-कथा साहित्य मे भी प्राकृत-कथा-साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके विषयो मे मौलिकता है तथा ये भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर ले जाती है जिससे वैराग्य भावना एव सदाचार का विकास होता है। ये कथाए ऐसा मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालती हैं जिससे मानव वैसा ही करने के लिए प्रेरित होता है। जीवन के उतार-चढावो एव पुनर्जन्मो का वर्णन जैनाचार्यों द्वारा कथा के माध्यम से इस ढग से किया जाता है जिसे सुनते ही व्यक्ति ससार को असार समझने लगता है। तात्पर्य यह है कि कथाविचारो को अभिव्यक्त करने की ऐसी विधा है जिससे कथा कहने वाला व्यक्ति श्रोता पर अपनी इच्छानुसार प्रभाव डालने मे सफल हो जाता है। जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने अपनी पुस्तक 'कहानी का रचना-विधान' मे कथा की सर्वजनप्रियता के कारण मे कहा है—"साहित्य के माध्यम से डाले जाने वाले जितने प्रभाव हो सकते हैं; वे रचना के इस प्रकार मे अच्छी तरह से उपस्थित किए जा सकते हैं। चाहे सिद्धान्त प्रतिपादन अभिप्रेत हो, चाहे चरित्र-चित्रण की सुन्दरता इष्ट हो, चाहे किसी घटना का महत्त्व निरूपण करना हो अथवा किसी वातावरण की सजीवता का उद्घाटन ही लक्ष्य हो या क्रिया का वेग अकित करना हो या मानसिक स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण करना हो—सभी कुछ इसके द्वारा सभव है।"

कथा-साहित्य का प्रारम्भ कब से हुआ यह बताना उतना ही कठिन है जितना यह बताना कि मानव का जन्म कब हुआ। फिर भी विद्वानो ने इसके प्रारम्भ को जानने का प्रयत्न किया है। डॉ० याकोबी ने इसके उद्भव को बताते हुए लिखा है कि कथा-साहित्य का उद्भव ईसा की प्रथम शताब्दी पश्चात् के उत्तरार्द्ध मे माना जाता है।

प्राकृत-कथा-साहित्य का प्रारम्भ

प्राकृत-कथा-साहित्य का मूल हमे आगम ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है। जैन सिद्धान्तो के प्रसार के लिए सुन्दर एव प्रेरणास्पद अग व उपांग साहित्य मे प्राप्त होते है। इसमे ऐसे अनेक आख्यान है जो मानव के नैतिक, सामाजिक एव धार्मिक जीवन को ऊचा उठाने मे सहायक है। निर्युक्ति, चूर्णि आदि व्याख्या साहित्य मे सैकडो शिक्षाप्रद आख्यान हैं जिनके माध्यम से दर्शन, सिद्धान्त एव तत्त्व सम्बन्धी गूढ समस्याओ को बहुत अच्छे ढंग से सुलझाया गया है।

आगम-साहित्य मे प्राकृत कथाओ का बीज विद्यमान है किन्तु इसमे कथाओ का विस्तार नही है। जिस प्रकार बोने के बाद खाद-पानी आदि पर्याप्त मात्रा मे देने पर बीज धीरे-धीरे वृक्ष का रूप धारण करता है, उसी प्रकार प्राकृत कथाओ का बीज आगम-साहित्य रूपी भूमि मे बोया गया है जो कि धीरे-धीरे घटना, पात्र, कथोपकथन, शील निरूपण के लिए आवश्यक वातावरण आदि की संयोजना करने पर चूर्णि, भाष्य, टीका आदि साहित्य के रूप में विस्तृत हुआ है। जैनागमो मे दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तो को स्पष्ट करने के लिए छोटी-बडी कई कथाओं का सहारा लिया गया है। इन आगम-ग्रन्थो मे ऐसे अनेक दृष्टान्त, रूपक आदि प्रयुक्त हुए हैं जो कि आगे चलकर प्राकृत कथा-साहित्य को पुष्पित एवं पल्लवित करने मे सहायक हुए हैं। प्राकृत कथा साहित्य की दृष्टि से नायाधम्म कहा, उवासग दसाओ, विपाक सूत्र

आदि आगम ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें कथाएं उपमा, प्रतीक आदि के रूप मे ग्रथित हैं जिससे हम कह सकते हैं कि प्राकृत कथा साहित्य की उत्पत्ति उपमा, प्रतीक, संवाद, दृष्टान्त, रूपक आदि के रूप में हुई।

प्राकृत-कथा-साहित्य के विकास का दूसरा चरण आगमो पर लिखा गया टीका-साहित्य है। इस युग को टीका-युग कहा जाता है। इसमें आगमों में उल्लिखित उपमाओं को पूर्ण कथाओ का रूप दिया गया है। आगम मे कथाए 'वण्णओ' से बोझिल थी किन्तु टीका-युग में यह प्रवृत्ति नही रही तथा कथाओं के सुन्दर वर्णन होने लगे एव एकरूपता का स्थान विविधता एव नवीनता तथा सक्षेप का स्थान विस्तार ने ले लिया। इस युग में कथा का परिवेश धीरे-धीरे विस्तृत होता गया क्योकि कथा का रूप वातावरण एव आवश्यकता पर आधारित होता है। ये कथाएं आवश्यक भाष्य या व्याख्या के सिलसिले मे नीति-विचार या तथ्य की पुष्टि के रूप मे ग्रहण की गई हैं। टीका-साहित्य की कथाओं मे धीरे-धीरे रस का समावेश भी हो गया। डॉ॰ विण्टरनित्स ने अपने ग्रन्थ 'ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर' मे कहा है—"प्राचीन भारतीय कथा-शिल्प के अनेक रत्न जैन टीकाओ मे कथा-साहित्य के माध्यम से हमे प्राप्त होते हैं। टीकाओ मे यदि इन्हें सुरक्षित न रखा जाता तो ये लुप्त हो गए होते। जैन-साहित्य ने असख्य निजधरी कथाओ के ऐसे भी मनोरजक रूप सुरक्षित रखे हैं जो दूसरे स्रोतो मे जाने जाते हैं।" आगम टीका-साहित्य मे व्यवहार भाष्य, बृहत् कल्प भाष्य, उत्तराध्ययन टीका तथा अन्य निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य साहित्य मे अनेक प्राकृत कथाएं प्राप्त होती हैं।

प्राकृत-कथाओं के भेद

मोटे तौर पर कथा-साहित्य को दो भागो मे बांटा जाता है—१ लोक-कथा साहित्य, २ अभिजात्य कथा-साहित्य। लोक-कथाओ मे लोक-मानस, लोक-जीवन आदि की स्वाभाविक अभिव्यक्ति रहती है। लोक-कथाए लोक-भाषा मे निबद्ध होने के कारण तथा जनसाधारण से सम्बन्धित होने के कारण लोगो को अपनी ओर शीघ्र ही आकृष्ट कर लेती हैं। इनमे लोक-तत्त्वो एव विश्वासो का वर्णन होता है। अभिजात्य कथाएं मिश्रित, सुसस्कृत तथा उच्चस्तरीय समाज से सम्बन्धित होती है। ये न तो जनसामान्य से सम्बन्धित होती हैं न ही जन-भाषा मे निबद्ध होती हैं। ये परिष्कृत भाषा मे लिखी जाती है। सस्कृत भाषा मे निबद्ध कथाए अभिजात्य वर्ग से सम्बन्ध रखती हैं। इनमे जनसाधारण का चित्रण नही होता।

प्राकृत कथाएं लोक-कथाओ मे आती हैं। इनकी भाषा जन-भाषा है। इनके पात्र समाज के मध्यम या निम्नवर्गीय हैं। ये जन-सामान्य से जुड़ी हुई हैं। इनमे मानव को अपने ही प्रयत्नो से सिद्ध बनने की प्रेरणा दी गई है। कोई भी व्यक्ति एक भव मे मुक्त नही होता। अतः इनमे जन्म-जन्मान्तरो, अच्छे-बुरे कर्मों के फल, आत्म-शुद्धि, व्रत-साधना, तपश्चरण आदि का चित्रण किया गया है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए कई जन्मों तक प्रयत्न करना पड़ता है। बैर-विरोध आदि का फल जन्मान्तरो तक भोगना पड़ता है।

प्राकृत आगम एव टीका-साहित्य मे मात्र कथाओ का ही नही, अपितु कथाओ के स्वरूप का भी निरूपण किया गया है। 'दशवैकालिक' मे सामान्य कथा के भेद बताते हुए कहा गया है कि—

"अकहा कहा य विकहा हविज्ज पुरिसंतरं पप्प।"

कथाएं तीन प्रकार की होती हैं—अकथा, कथा एव विकथा। मिथ्यात्व के उदय से अज्ञानी व्यक्ति जिस कथा का उन्मेष करता है वह अकथा है। जिस कथा मे तप, संयम, ध्यान आदि का निरूपण होता है वह सत्कथा है तथा जिसमे प्रमाद, कषाय, राग-द्वेष आदि समाज को विकृत करने वाली कथाए हो वह विकथा है। प्राकृत साहित्य मे सत्कथा को ही अपनाया गया है।

प्राकृत कथा-साहित्य के विभिन्न रूपो को देखते हुए इसे वर्ण्य-विषय, पात्र, शैली एव भाषा की दृष्टि से अनेक भागों मे बांटा गया है—

१. **वर्ण्य विषय की दृष्टि से**—वर्ण्य विषय की दृष्टि से दशवैकालिक सूत्र मे कथाओ को चार भागों मे बांटा गया है—

"अत्थकहा कामकहा धम्मकहा चेव मीसिया य कहा।
एत्तो एक्केक्कावि य णेगविहा होइ नायव्वा॥" (गा. ११८)

अर्थात् अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और मिश्रित कथा—इन चारो प्रकारो की कथाओ मे से प्रत्येक प्रकार की कथाओं के अनेक भेद हैं।

समराइच्चकहा मे भी इन्ही भेदो को मानते हुए कहा है—

"तं जहा—अत्थकहा, कामकहा, धम्मकहा संकिण्ण कहा य।" (पृ० २)

जम्बूदीव पण्णत्ति मे भी कहा है—

"अत्थकहा कामकहा धम्मकहा वह य संकिण्णा।" (जम्बू० प० उ० गा० २२)

२. **पात्रों के प्रकारों की दृष्टि से**—इस आधार पर समराइच्चकहा में कथा के तीन भेद करते हुए कहा है—

"दिव्वं, दिव्वमाणुसं माणुसं च।" (पृ० २)

अर्थात् दिव्य, दिव्यमानुष एव मानुष ये तीन भेद हैं।

लीलावईकहा में भी कहा है—

"तं जह-दिव्वा तह दिव्वमाणुसीं माणुसीं तहच्चेय।" (गा० ३५)

३. **शैली के आधार पर**—उद्योतन सूरि ने कुवलयमाला कहा मे शैली के आधार पर कथा के प्रकारो को अभिव्यक्त करते हुए कहा है—

"तओ पुण पंच कहाओ। तं जहा-सयलकहा, खंडकहा, उल्लावकहा, परिहासकहा।
तहावरा कहियत्ति-संकिण्णकहत्ति।" (पृ० ४, **अनुच्छेद** ७)

अर्थात् सकल कथा, खण्ड कथा, उल्लापकथा, परिहास कथा एवं संकीर्ण कथा।

४. **भाषा के आधार पर**—लीलावईकहा में भाषा के आधार पर स्थूल रूप से कथाओ के सस्कृत, प्राकृत, मिश्र—ये तीन भेद बताए गए हैं :—

"अण्णं सक्कय-पायय-संकिण्ण-विहा सुवण्ण-रइयाओ।
सुव्वंति महा-कइपुंगवेहिं विविहाउ सुकहाउ॥" (गा० ३६)

इस प्रकार प्राकृत-कथा के उपरोक्त प्रकार बताये गए हैं। प्राकृत भाषा मे लिखित कथा-साहित्य विस्तार एवं गुण दोनों दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। इसमें कई कथाए निबद्ध है। इनकी सख्या इतनी अधिक है कि एक स्थान पर इनका सकलन अत्यन्त कठिन ही नही, असम्भव-सा है।

प्राकृत के प्रमुख कथा-ग्रन्थ

आगम-साहित्य एव टीका-साहित्य मे प्राकृत कथा-साहित्य प्रारम्भ हो चुका था तथा उसने अपना स्वरूप भी निश्चित कर लिया था। यद्यपि ये कथाएं विशिष्ट उद्देश्य को ध्यान में रखकर लिखी गई किन्तु उनमे कथा के सभी तत्त्व प्राप्त होते हैं। डॉ० नेमिचन्द शास्त्री एव डॉ० जगदीशचन्द्र जैन ने अपनी पुस्तको मे इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

प्राकृत कथा-साहित्य के अन्तर्गत अनेक स्वतंत्र ग्रन्थ ईसा की प्रथम शती से लेकर आधुनिक युग तक लिखे गए, जिन्हे तीन भागों में बांटा गया है और जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. हरिभद्रपूर्व-युगीन स्वतंत्र प्राकृत-कथा-साहित्य

इस साहित्य से हमारा अभिप्राय उस कथा-साहित्य से है जो हरिभद्र के पूर्व लिखा गया। इसका समय प्रथम शताब्दी से लेकर आठवी शताब्दी के मध्य का है। इस युग के प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

(क) **तरंगवई**—यह एक प्राचीन कृति है। इसके रचयिता पादलिप्त सूरि है। यह कथाग्रन्थ आज अनुपलब्ध है। इसका संक्षिप्त रूप तरगलोला के नाम से प्राप्त होता है। इसका समय विक्रम संवत् १५१ से २१९ के मध्य है।

(ख) **वसुदेव हिण्डी**—भारतीय कथा-साहित्य में ही नही विश्व कथा-साहित्य मे भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह दो खण्डो में विभक्त है। प्रथम खण्ड के रचयिता संघदास गणि एवं द्वितीय के रचयिता धर्मदास गणि हैं। इसका समय तीसरी शताब्दी है।

२. हरिभद्रयुगीन प्राकृत कथा-साहित्य

इसे पूर्व से चली आती कथा-परम्परा का सघात युग भी कहते हैं। इस युग के प्रमुख कथाकार हरिभद्र हैं। इन्होने छोटी-छोटी रचनाओ के अतिरिक्त दो विशालकाय कथाग्रन्थो की रचना भी की है। इस युग के प्रमुख कथाग्रन्थ निम्न हैं—

(क) **समराइच्चकहा**—यह धर्म-कथा है। इसके रचयिता हरिभद्र सूरि हैं, जिनका समय ७३० से ८३० ईस्वी माना जाता है। इसमे समरादित्य के नौ भवो की कथा वर्णित है।

(ख) **धूर्ताख्यान**—इसके रचयिता भी हरिभद्र सूरि हैं। व्यग्य-प्रधान कथा-साहित्य मे यह प्रथम कृति है। इसमें रामायण आदि की असंगत बातो पर व्यंग्य है।

(ग) **लीलावईकहा**—प्रेमाख्यानक आख्यायिका में इसका स्थान महत्त्वपूर्ण है। इसके रचनाकार महाकवि कोऊहल हैं। इसका रचनाकाल ८वीं शताब्दी है।

३. हरिभद्रउत्तरयुगीन प्राकृत-कथा-साहित्य

हरिभद्र के पश्चात् प्राकृत-कथा-साहित्य निरन्तर विकास के मार्ग पर बढ़ता गया तथा नाना रूपो को ग्रहण कर,समृद्ध रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इस युग की प्रमुख कृतिया निम्न हैं—

(क) **कुवलयमालाकहा**—इसकी रचना आचार्य हरिभद्र के शिष्य उद्योतन सूरि ने की। इनका समय ८वी शताब्दी है। यह कथा साहित्यिक स्वरूप की दृष्टि से चम्पू विधा के अन्तर्गत आती है, यद्यपि यह एक कथा-ग्रन्थ है। इसमे पाच कषायो—काम,क्रोध, मान, माया, लोभ--को पात्र रूप में उपस्थित किया गया है।

(ख) **निव्वाण लीलावईकहा**— जिनेश्वर सूरि ने इसकी रचना वि० स० १०८० और १०९५ के मध्य की। इसका मूल रूप अनुपलब्ध है, संस्कृत में सक्षिप्त रूप प्राप्त होता है।

(ग) **कहाकोसपगरण**—इसके रचयिता भी जिनेश्वर सूरि हैं जिन्होने वि० स० ११०८ मे इसकी रचना की।

(घ) **संवेग रंगशाला**—जिनेश्वर सूरि के शिष्य जिनचन्द्र सूरि इस कथा-ग्रन्थ के रचयिता है। इसकी रचना वि० सं० ११२५ मे की गई।

(ङ) **नाणपंचमीकहा**—वि० स० ११०९ से पूर्व महेश्वर सूरि ने इसकी रचना की।

(च) **कहारयणकोस**— इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० ११५८ में की गई। इसके रचयिता देव भद्रसूरि या गुणचन्द्र है।

(छ) **नम्मया सुन्दरीकहा** – महेन्द्रसूरि ने वि० स० ११८७ मे इसकी रचना की।

(ज) **कुमारवाल पडिबोह**—चारित्रिक निष्ठा को जाग्रत करने के लिए सोमप्रभ सूरि ने इस कथा-ग्रन्थ की रचना की। इसका रचना-काल वि० स० १२४१ है।

(झ) **आख्यानमणिकोस**— इसमे लघु कथाओ का सकलन किया गया है। इसके रचयिता नेमिचन्द सूरि हैं। आम्रदेव सूरि ने ईस्वी सन् ११३४ मे इस पर टीका लिखी।

(ञ) **जिनदत्ताख्यान**— इसके रचनाकार आचार्य सुमति सूरि हैं जिन्होने इसकी रचना वि० स० १२४६ से पूर्व की।

(ट) **सिरिसिरिवालकहा**— इसके रचयिता रत्नशेखर सूरि हैं। इसका रचना-काल वि० स० १४२८ है।

(ठ) **रयणसेहरनिवकहा**—जिनहर्ष सूरि ने चित्तौड मे वि० स० १४८७ मे इसकी रचना की। यह जायसी के पद्मावत का पूर्व रूप है। इसमे पर्व की तिथियो पर किये गये धर्म का फल वर्णित है।

(ड) **महिवालकहा**—इसके रचयिता वीरदेव गणि ने इस कथा-ग्रन्थ की रचना १५वी शताब्दी के मध्य मे की।

(ढ) **पाइअकहासगहो**—पद्मचन्द्र सूरि के अज्ञात नामा शिष्य ने इस ग्रन्थ की रचना की, जिसका समय वि० स० १३९८ से पूर्व का है।

इन उपरोक्त कथा-ग्रन्थो के अतिरिक्त भी कई कथा-ग्रन्थ प्राकृत भाषा मे रचे गये। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्राकृत-कथा-साहित्य पर्याप्त समृद्ध है। यह भारतीय कथा-साहित्य के इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण कडी है।

प्राकृत-कथा-साहित्य का महत्त्व

रचनाओ की दृष्टि से प्राकृत कथा-साहित्य जितना विशाल है उसमे शैली एव विषय-वैविध्य भी उतना ही है। प्राकृत-कथा-साहित्य प्राचीन सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषा, कला आदि का एक अक्षय कोश है जिसमे भाषा, कला, साहित्य, सस्कृत, भूगोल आदि से सम्बन्धित जो सामग्री उपलब्ध होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। ज्यो-ज्यो हम इस साहित्य का मन्थन करते है त्यो-त्यो हमे इसमे से एक से एक अमूल्य एवं अलभ्य रत्नो (सामग्री) की उपलब्धि होती है। प्राकृत-कथा-साहित्य का महत्त्व सक्षिप्त रूप से इस प्रकार है—

१. **प्रेमकथाओं के विकास का आधार** —प्राकृत कथाओ मे ही अन्य--सस्कृत, अपभ्र श, हिन्दी--भाषाओ मे प्रेम-कथाओ का विकास हुआ। 'नायाधम्मकहाओ' मे मल्ली का एक आख्यान मिलता है जिसमे छ राजकुमार प्रेम करते हैं। 'तरगवती' प्रेमाख्यानक काव्य में चित्र के माध्यम से प्रेमी की प्राप्ति होती है। 'लीलावईकहा' भी एक उत्कृष्ट प्रेम-कथा है। 'रयणसेहरनिवकहा' भी एक सुन्दर प्रेम-कथा है जो कि पद्मावत का पूर्व रूप है। इनके अतिरिक्त निर्युक्ति, टीका, भाष्य, चूर्णि आदि मे एक से एक सुन्दर कथाए निबद्ध हैं जिनके आधार पर पंचतंत्र इत्यादि लिखे गये। इन कथाओं मे प्रेम का उदय स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन, रूप-श्रवण, गुण-श्रवण आदि के द्वारा दिखाया गया है। सामान्यत: इन कथा-काव्यो के नायक एव नायिका उच्चवर्गीय न होकर मध्यवर्गीय है।

२. **चम्पूकाव्य के स्वरूप का प्रतिनिधि**—गद्य-पद्य मिश्रित काव्य को चम्पूकाव्य कहते हैं। इसमे भावो का निरूपण पद्य एव विचारों का निरूपण गद्य मे किया जाता है जिनका सम्बन्ध क्रमश हृदय एव मस्तिष्क से है। प्राकृत-कथा-साहित्य की अधिकाश कृतियो में यह गुण विद्यमान है। प्राप्त कथा-ग्रन्थो मे कथाओ को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए कथाकारो ने गद्य मे पद्य एव पद्य मे गद्य का मिश्रण किया है।

संस्कृत मे चम्पू विधा का प्रारम्भ भी प्राकृत कथा-काव्यो से मानना न्यायसगत है क्योंकि सस्कृत मे मदालसा चम्पू एवं नल चम्पू के पूर्व कोई भी चम्पू काव्य उपलब्ध नहीं है। यद्यपि दण्डी ने चम्पू का उल्लेख किया है किन्तु प्राकृत में दण्डी से पूर्व भी गद्य-पद्य मिश्रित कथाएं उपलब्ध होती हैं। इनका अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि दण्डी ने भी चम्पू की परिभाषा इन्ही के आधार पर दी है। तरंगवती, समराइच्चकहा, कुवलयमालाकहा, कहाकोस पगरण, संवेग रगशाला, णाणपचमीकहा, कहारयणकोस, रयणचूडारायचरिय, जिनदत्ताख्यान, रयणसेहरनिव-कहा आदि प्राकृत कथाएं गद्य-पद्य मिश्रित हैं। इससे ज्ञात होता है कि चम्पू काव्य की दृष्टि से भी प्राकृत-कथा-साहित्य महत्त्वपूर्ण है तथा संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी आदि अन्य भाषाओ के लिए उपजीव्य रहा है।

३. **प्रतीक काव्य का मूल**—प्रतीक काव्य की दृष्टि से प्राकृत-कथा-साहित्य मे महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है। प्रतीक रूप मे धार्मिक शिक्षा प्राकृत कथा काव्य की ही देन है। इसमे कथा के पात्र प्रतीक रूप मे होते हैं। जैसे 'कुवलयमालाकहा' के पात्र क्रोध, मान, माया, लोभ व मोह हैं। इन चार भवो की कथा द्वारा इन कषायो के दुष्परिणामो का विस्तार से वर्णन किया गया है। कही-कही कथा के अन्त में प्रतीको की सैद्धान्तिक व्याख्या की गई है जैसे 'वसुदेवहिण्डी' का इब्भपुत्तकहाणग। इस प्रकार ज्ञाता धर्म कथा, सूत्र कृतांग, ठाणांग आदि आगम ग्रन्थो से लेकर कुवलयमालाकहा, वसुदेवहिण्डी आदि कथा-काव्य प्रतीक-काव्य की दृष्टि मे महत्त्वपूर्ण हैं। इन्ही के आधार पर प्रतीक काव्यों का विकास हुआ।

४. **व्यंग्यप्रधान काव्य का प्रणेता**—व्यग्य-प्रधान काव्य प्राकृत-कथा-साहित्य की देन है। प्रथम व्यग्यप्रधान काव्य धूर्ताख्यान है जिसमे रामायण, महाभारत, पुराण आदि की असम्भव एवं अविश्वसनीय बातो पर तीव्र एवं तीखा व्यग्य करते हुए उनका प्रत्याख्यान किया गया है। यह प्राकृत-कथा-साहित्य की अनुपम कृति है। इसमे अनाचार पर व्यंग कर सदाचार की ओर मानव को प्रवृत्त किया गया है।

५. **लोकतत्त्व से समृद्ध**—साहित्य का सम्बन्ध जन-साधारण से बना रहे, इसके लिए प्राकृत कथाकारो ने जो कुछ भी कहा है, जन-साधारण से सम्बन्धित है एव उन्ही की भाषा मे कहा है। इसीलिए लोक-कथा के सभी तत्त्व इसमे विद्यमान हैं। प्राकृत कथाकारों का मूल उद्देश्य जन-सामान्य के जीवन को उत्तरोत्तर ऊचा उठाना है इसीलिए इसमें लोक-कथाओ को प्रचुर मात्रा मे ग्रहण किया गया है। प्रारम्भ से ही प्राकृत कथाओ मे लोक-कथाओं का प्रयोग किया गया है। प्राकृत कथा-साहित्य को लोक-कथाओ का सागर कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। लोक-कथाओ के प्रसार मे इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है। पैशाची भाषा मे गुणाढ्य द्वारा रचित 'बृहत्कथा' लोक-कथाओ का विश्वकोश है। टीका-युग की कथाओ मे लोक-कथा के तत्त्व प्रचुर परिमाण मे मिलते हैं। 'आवश्यक चूर्णि' मे लालच बुरी बलाय, पण्डित कौन, चतुराई का मूल्य, पढ़ो और गुनो आदि कथाए, 'दशवैकालिक चूर्णि' मे ईर्ष्या मत करो, गीदड़ की राजनीति इत्यादि कथाएं; 'व्यवहार भाष्य' की भिखारी का सपना आदि कथाएं लोक-कथाओ के सुन्दर नमूने हैं।

स्वतत्र प्राकृत कथाओ मे भी लोक-कथाओ का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग किया गया है जैसे वसुदेवहिण्डी मे शीलवती, धनश्री, विमलसेना आदि की कथाएं। इसके अतिरिक्त तरगवती, समराइच्चकहा, ज्ञानपचमी कहा, रत्नशेखर कहा आदि कथा-साहित्य लोक-कथाओ से भरा पडा है।

६. **कथानक रूढ़ियां**—प्राकृत-कथा-साहित्य कथानक रूढियो की दृष्टि से भी समृद्ध है। इसमे कई कथानक रूढियों का प्रयोग किया गया है। 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' नामक पुस्तक मे प्राकृत-कथा-साहित्य के महत्त्व को बतलाते हुए कहा गया है कि—"अपभ्रंश तथा प्रारम्भिक हिन्दी के प्रबन्ध काव्यो मे प्रयुक्त कई लोक कथात्मक रूढियो का आदिस्रोत प्राकृत कथा साहित्य ही रहा है। पृथ्वीराज रासो आदि आदिकालीन हिन्दी काव्यो मे ही नही बाद के सूफी प्रेमाख्यानक काव्यो मे भी ये लोककथात्मक रूढियां व्यवहृत हुई हैं तथा इन कथाओ का मूल स्रोत किसी न किसी रूप मे प्राकृत-कथा-साहित्य मे विद्यमान है।" कथानक रूढियो का प्रयोग प्रायः सभी प्राकृत कथा-ग्रन्थो मे किया गया है। कुछ कथानकरूढिया द्रष्टव्य हैं जैसे काल्पनिक रूढियां, तंत्र-मत्र सम्बन्धी रूढिया, पशुपक्षी सम्बन्धी रूढिया इत्यादि।

७. **कथाकल्प**—प्राकृत-कथा-साहित्य भारतीय जनता के प्रत्येक वर्ग के अचार-विचार-व्यवहार का यथार्थ एव विस्तार से वर्णन करता है। किसी कथा का नायक मध्यमवर्गीय परिवार का है तो किसी का निम्नवर्गीय। इनमे जिस प्रकार राजा-महाराजाओ का वर्णन है उसी प्रकार सेठ-साहूकार, जुआरी, चोर इत्यादि का भी।

८. **पशु-पक्षी की कथाओं का मूलाधार**—सर्वप्रथम प्राकृत-कथा-साहित्य मे पशु-पक्षी-कथाए प्राप्त होती है। आगम-युग से ही प्राकृत मे पशु-पक्षी कथाए मिलती है। 'नायाधम्म कहाओ' मे कुए का मेढक, दो कछुए आदि कई पशु-पक्षी कथाए है जिनके माध्यम से आचार व धर्म के उपदेश दिये गये हैं। निर्युक्तियो, टीकाओं, भाष्यो आदि मे भी पशु-पक्षी कथाए मिलती हैं। तरगवती, रत्नशेखर कथा, कहा-कोश प्रकरण, कुवलयमालाकहा आदि कथा ग्रन्थो मे पशु-पक्षी सम्बन्धी कथाए ग्रहण की गई हैं। डॉ० ए० बी० कीथ ने 'सस्कृत साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक मे कहा है कि "पशु कथा क्षेत्र मे प्राकृत की पूर्व स्थिति के पक्ष की पुष्टि मे और भी कम कहा जा सकता है।"

संस्कृत-साहित्य में पशु-पक्षी कथाएं गुप्त साम्राज्य के बाद रची गईं। अतः कहा जा सकता है कि पंचतंत्र आदि में पशु-पक्षी कथाएं प्राकृत-कथा-साहित्य से ही ग्रहण की गई हैं।

९. **भौगोलिक सामग्री से भरपूर**—प्राकृत-कथा-साहित्य मे भौगोलिक ज्ञान का भण्डार भरा पडा है जिसका आधार जैन साहित्य है। प्राकृत-कथा-साहित्य में जो भौगोलिक उल्लेख प्राप्त होते हैं उनका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इनमे बिहार, राजस्थान, आसाम, मालव, गुर्जरदेश, लाट, वत्स, सिन्ध, सौराष्ट्र, महिला राज्य आदि जनपदों का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त जम्बूद्वीप, चीनद्वीप, सिंहलद्वीप, स्वर्ण-द्वीप, महाकटाह, स्वर्णभूमि, महाविदेह क्षेत्र, रत्नद्वीप आदि द्वीपो का उल्लेख किया गया है। नगरो मे अयोध्या, वाराणसी, प्रभास, हस्तिनापुर, राजगृह, मिथिला, पाटलिपुत्र, प्रतिष्ठान आदि का उल्लेख कुवलयमालाकहा मे प्राप्त होता है। कुवलयमालाकहा भौगोलिक साहित्य का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त अटवी, वृक्ष, पर्वत आदि के उल्लेख भी प्राप्त होते है। समरादित्यकथा, धूर्ताख्यान, नर्मदासुन्दरी कथा, वसुदेव हिण्डी आदि कथा-ग्रन्थो मे प्रचुर मात्रा मे भौगोलिक सामग्री प्राप्त होती है।

१०. **सांस्कृतिक महत्त्व**—तत्कालीन राजतन्त्र एव शासन-व्यवस्था की जानकारी के लिए प्राकृत-कथा-साहित्य महत्त्वपूर्ण है। राजा का चुनाव, मन्त्री परिषद् का चुनाव, शासन-व्यवस्था, उत्तराधिकार आदि का विस्तृत वर्णन प्राकृत-कथा-साहित्य मे प्राप्त होता है। समस्त राज-कार्य मन्त्री-मण्डल की सहायता से होता था। देश व नगर की सुरक्षा के लिए महासेनापति एव सेना की व्यवस्था होती थी। इनके अतिरिक्त महा-पुरोहित, कन्या अन्तःपुर पालक, अन्तःपुर महत्तरिका आदि राज कर्मचारियो की नियुक्ति होती थी। राज-सभा में बड़े-बड़े विद्वानो को स्थान प्राप्त था। दूसरे देश के आक्रमण से सुरक्षा के लिए सेना को विभिन्न शस्त्रास्त्रों—असि, कत्तिय, करवाल आदि—को चलाने की पूर्ण शिक्षा दी जाती थी। कुवलयमालाकहा, समरादित्यकथा आदि कथा-ग्रन्थों मे तत्कालीन युद्ध-प्रणाली, शासन-व्यवस्था आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। जनता की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखना राजा का कर्तव्य था। अपराधियों को कठोर दण्ड दिया जाता था। समरादित्य कथा में चोर की सजा का उल्लेख है जिससे ज्ञात होता है कि चोर के शरीर पर कालिख लगाकर डिंडिमनाद के साथ तथा घोषणा करते हुए वध्य-स्थल की ओर ले जाया जाता था।

११ **सामाजिक जीवन**—प्राकृत कथाओ मे प्राय मध्यमवर्गीय पात्रो के जीवन को प्रस्तुत किया गया है। प्राकृत-कथा-साहित्य मे प्राय संयुक्त परिवारों का ही चित्रण प्राप्त होता है। परिवार के सभी सदस्य साथ रहते थे। स्त्रिया गृहकार्य करती थी। गरीब एवं मध्यमवर्गीय परिवारों के सजीव और यथार्थ अभावों, कठिनाइयो आदि का जैसा चित्रण प्राकृत-कथा-साहित्य मे है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। ज्ञानपंचमी कथा मे भी दरिद्र व्यक्ति की दुःखी अवस्था का वर्णन किया गया है—

> **"गोट्ठी बिसुद्ठ मिट्ठा वालिद्दविडंबियाण लोएहिं।**
> **वज्जिज्जइ दूरेणं सुसलिलचंडाल कूवं व ॥"**

जिसकी बात बहुत मधुर हो लेकिन जो दरिद्रता की विडम्बना से ग्रस्त है, ऐसे पुरुष का लोग दूर से ही त्याग कर देते हैं, जैसे मीठे जल वाला चाण्डाल का कुआ दूर मे वर्जनीय होता है।

'कहारयणकोस' मे भी दरिद्र व्यक्ति की मार्मिक स्थिति का चित्र खीचा गया है—

> **"परिगलइ मई मइलिज्जइ जसो नाऽदरंति सयणावि।**
> **आलस्सं च पयट्टइ विप्फुरइ मणम्मि रणरणओ ॥**
> **उच्छरइ अणुच्छाहो पसरइ सव्वंगिओ महादाहो।**
> **किं किं व न होइ दुहं अत्थविहीणस्स पुरिसस्स ॥'**

धन के अभाव मे मति भ्रष्ट हो जाती है, यश मलिन हो जाता है, स्वजन भी आदर नही करते, आलस्य आने लगता है, मन उद्विग्न हो जाता है, काम मे उत्साह नही रहता, समस्त अग मे महादाह उत्पन्न हो जाता है। अर्थविहीन पुरुष को कौन-सा दुःख नहीं होता?

कन्याओ का विवाह माता-पिता की इच्छा एव स्वयंवर के माध्यम से किया जाता था। वर-कन्या के योग्य संयोग को ही महत्त्व दिया जाता था। रत्नशेखरकथा मे इसका विस्तार से वर्णन किया गया है।

इनके अतिरिक्त प्राकृत-कथा-साहित्य पुत्र-जन्म, विवाह, धार्मिक अनुष्ठान आदि रीति-रिवाजो एव वसन्तोत्सव, राज्या-भिषेकोत्सव आदि पर्व-उत्सवो के वर्णनो से भरा पडा है। कुवलयमालाकहा, प्राकृतकथा संग्रह, समराइच्चकहा, कथाकोश प्रकरण, प्राकृत कथाकोश आदि कथा-ग्रन्थो मे सामाजिक जीवन, रीति-रिवाज आदि का विस्तृत वर्णन है।

१२. **धर्म के विभिन्न आयाम**—प्राकृत-कथा-साहित्य धार्मिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक कथा धार्मिक कथा है। जैन धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों के तत्त्वो का भी इनमे समावेश किया गया है। धार्मिक शिक्षा कथाओ के माध्यम से दी गई है जिससे आबालवृद्ध सभी धर्मों के स्वरूप व सिद्धान्तो को जान सकें तथा उनका प्रयोग कर सकें।

प्राकृत कथा संग्रह में कर्म की प्रधानता बताते हुए कहा है—

"अहवा न दायव्वो दोसो कस्सवि केण कइयावि।
पुव्वज्जियकम्माओ हवंति जं सुक्खदुक्खाइं ॥"

अथवा किसी को कभी भी दोष नही देना चाहिए, पूर्वोपार्जित कर्म से ही सुख-दुःख होते हैं।

इसी प्रकार अन्य कथाओ मे भी भिन्न-भिन्न कथाओं के माध्यम से धार्मिक सिद्धान्त, दर्शन, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि के बारे मे विस्तार से बताया गया है। तरगवती, वसुदेव हिण्डी, समरादित्य कथा, कुवलयमाला कथा, रयणसेहरीकहा, ज्ञान पंचमी कथा आदि सभी कथा-ग्रन्थ धार्मिक हैं तथा जैन धर्म के मूलभूत सिद्धान्तो से भरपूर हैं। प्राकृत कथा साहित्य के आधार पर ही अन्य धर्मों मे भी धार्मिक शिक्षा कथाओं के माध्यम से दी गई है।

विभिन्न भारतीय दर्शनो का उल्लेख भी इस कथा-साहित्य मे हुआ है जैसे बौद्ध, चार्वाक, सांख्य, योग, मीमासा, न्याय आदि दर्शनो के स्वरूप व सिद्धान्तो का विस्तार से वर्णन किया गया है। जैसे रत्नशेखर कथा मे योग के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। जैन दर्शन की सामग्री प्रचुर मात्रा मे इस साहित्य मे उपलब्ध होती है। जैसे—सात तत्त्व, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, अष्टकर्म आदि जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तो का विस्तार से उल्लेख किया है।

१३. शिक्षा—जीवन के हर क्षेत्र मे शिक्षा की आवश्यकता है। शिक्षा के बिना कोई भी कार्य सही ढग से नही हो पाता। प्राकृत कथाओं में भी स्थान-स्थान पर शिक्षा की पद्धति, विषय आदि का उल्लेख उपलब्ध होता है। स्त्री व पुरुषो के लिए शिक्षा की पूर्ण व्यवस्था थी। उस समय सहशिक्षा पद्धति थी। लडके-लडकियाँ साथ-साथ पढते थे। शिक्षा मठ, गुरुकुल आदि मे दी जाती थी। कुवलयमाला-कहा में इसका विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इसमे बताया है कि विद्यार्थियो को व्याकरण-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र आदि सभी विशिष्ट कलाओं एवं शास्त्रों की शिक्षा दी जाती थी। ज्योतिष-शास्त्र, स्वप्न विद्या, सामुद्रिक-विद्या, निमित्तशास्त्र की शिक्षा भी दी जाती थी तथा ऐसे उल्लेख भी प्राप्त होते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि बाहर से भी विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए आते थे। इसके अतिरिक्त समरादित्य कथा तथा अन्य कथा-काव्यों में भी शिक्षा के साधनों, विषयो आदि का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। ज्ञान पचमी कथा मे पुस्तको के महत्त्व को वर्णित किया है।

१४. भाषा—भाषा विचारो के आदान-प्रदान का साधन है। इसके माध्यम से हम अपने विचारों को लिख या बोलकर दूसरों पर प्रकट कर सकते हैं। प्राकृत जैन साहित्य मे संस्कृत, अपभ्रश, पुरानी हिन्दी, पुरानी गुजराती आदि के शब्द एव उद्धरण स्थान-स्थान पर प्राप्त होते हैं। कुवलयमालाकहा मे १८ देशों की बोलियों एवं भाषाओं का प्रयोग व्यापारियो की बातचीत के प्रसग में किया गया है। इनके अतिरिक्त द्रविड भाषा, दक्षिणी भारतीय भाषा, राक्षसी एव मिश्र भाषा आदि के स्वरूपो आदि का उल्लेख भी कथा मे किया गया है। कुवलयमाला में लगभग २५० शब्द ऐसे प्रयुक्त किये गये हैं जो कि बिल्कुल नवीन हैं तथा शब्दकोश के लिए उपयोगी हैं। इस कथा के अतिरिक्त समराइच्चकहा, वसुदेव हिण्डी आदि कथा-ग्रन्थ भाषा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। यदि प्राकृत, सस्कृत आदि भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो पता चलेगा कि प्राकृत शब्द ही सस्कृत, अपभ्रश आदि मे जाकर कितना बदल जाता है। शब्दो के अर्थ-परिवर्तन को समझने के लिए ये कथाए महत्त्वपूर्ण हैं। देशी शब्दो के प्रयोग का भी बाहुल्य है।

यह साहित्य लोकोक्तियो, मुहावरो, कहावतो, सूक्तियों आदि से समृद्ध है। ज्ञानपचमी कथा मे प्रयुक्त लोकोक्ति देखिये—

"हत्थठियं कंकणयं को भण जोएह आरिसए।"

कहावतो का एक उदाहरण देखिये—

"मरइ गुडेनं चिय तस्स विसं दिज्जए किं व।"

सूक्तियो का आख्यानमणि कोश मे एक उदाहरण दृष्टव्य है—

"किर कस्स थिरा लच्छी, कस्स जए सासय पिए पेम्मं।
कस्स व निच्चं जीयं, भण को व ण खंडिओ विहिणा॥" (गा० ५५२)

१५. समुद्र-यात्रा एवं वाणिज्य—प्राकृत-कथा-साहित्य मे समुद्र-यात्राओ एव वाणिज्य का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। प्राकृत कथा के पात्र अधिकांशतः मध्यमवर्गीय तथा सेठ-साहूकार आदि हैं जिनका व्यापार देशान्तरो तक फैला हुआ था। व्यापारी लोग समुद्र-मार्ग से स्वर्णद्वीप, सिंहल द्वीप आदि स्थानो पर जाते थे तथा व्यापार करते थे एव विपुल धन कमाकर लाते थे। समराइच्चकहा, कुवलयमालाकहा, नम्मयासुन्दरीकहा, णाण-पचमीकहा, कहारयणकोस आदि कथाओ मे समुद्र-यात्रा एव वाणिज्य का वर्णन किया गया है।

इसके अतिरिक्त धनोपार्जन के अन्य अनेक साधनो का वर्णन इस साहित्य मे किया गया है। उस समय व्यक्ति जुआ, चोरी, गांठ काटकर ठगी करके भी धनार्जन करते थे, किन्तु यह अच्छा नही माना जाता था। कुवलयमालाकहा मे निर्दोष धन-प्राप्ति का उपाय बताते हुए कहा है—

"अत्थस्स पुण उवाया दिसिगमणं होइ मित्तकरणं च।
नरवर सेवा कुसलत्तणं च माणप्पमाणेसु॥
धातुव्वाओ मंतं च देवयाराहणं च केसिं च।
सायरतरणं तह रोहणम्मि खणणं वणिज्जं च॥
णाणाविहं च कम्मं विज्जासिप्पाइ णेयरूवाइं।
अत्थस्स सहयाइं अणिंदियाइं च एयाइं॥"

दिशागमन, दूसरो से मित्रता करना, राजा की सेवा, मानप्रमाणो मे कुशलता, धातुवाद, मन्त्र, देवता की आराधना, समुद्र-यात्रा, पहाड खोदना, वाणिज्य तथा अनेक प्रकार के कर्म, विद्या और शिल्प—ये अर्थोत्पत्ति के निर्दोष साधन हैं।

धन-प्राप्ति के लिए व्यक्ति परदेश मे नीच कर्म भी कर लेता था क्योकि वहा स्वजन न होने मे लज्जा नही आती थी—

"उच्चं नीय कम्म कीरइ देसंतरे धणनिमित्तं।
सहवड्ढियाण मज्झे लज्जिज्जइ नीयकम्मेण॥" (नम्मया० गा० ६१४)

इनके अतिरिक्त धातुवाद एव रस-विद्या द्वारा भी अर्थोपार्जन किया जाता था।

१६. **रोग एव प्रतीकार**—रोग एव उपचार का प्राकृत-कथा-साहित्य मे प्रचुर मात्रा मे उल्लेख मिलता है। समराइच्चकहा मे शिरोकथा, कुष्ठ विसूचिका, मूर्च्छा, मारि, तिमिर, बधिरता आदि रोगो का उल्लेख है। शिरोव्यथा राजघरानो का प्रचलित रोग था। गुणसेन की शिरोकथा क वर्णन मे कहा है—वैद्य चिकित्सा शास्त्रो को देख रहे थे तथा विचित्र रत्नलेप लगाये जा रहे थे। रोगो के उपचार के लिए आरोग्यमणि का भी उल्लेख मिलता है। चर्म रोगो को दूर करने के लिए महलपाक का प्रयोग किया जाता था। कुवलयमाला मे सर्प का विष उतारने के लिए नाभि मे राख रगडना, बाईं ओर के नथुने मे चार अगुल की डोरी फिराना, मस्तक ताडित करना आदि उपाय बताये गए हैं। इसी तरह प्राकृत-कथा-साहित्य मे अग्सिा, अक्षिरोग, उदररोग, जलोदर, भगदर, सर्पदश आदि रोगो का उल्लेख तथा इनके लक्षणो का भी वर्णन मिलता है। रोगों के उपचार के लिए विरेचन, विभिन्न औषधियो आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। रयणसेहरकहा मे दाहज्वर के उपचार के लिए उचित जल-पान का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त अन्य कथाओं मे इस विषय की प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है।

१७. **कला**—प्राकृत-कथा-साहित्य का स्थान कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमे मृदग, वीणा, वेणु, झल्लरी, डमरुक, शख, मृदग, ताल, ढक्का, तूर आदि वादित्रो का वर्णन पाया जाता है। सगीत कला की तरह ही चित्रकला, स्थापत्यकला, मूर्तिकला आदि लौकिक कलाओ की दृष्टि से भी यह साहित्य महत्त्वपूर्ण है। कुवलयमालाकहा, समराइच्चकहा आदि प्राकृत कथाकाव्यो मे कला-सामग्री अत्यधिक मात्रा में मिलती है।

प्राकृत जैन कथाओ का देशाटन

मानव के आवागमन के साधनो का जैसे-जैसे विकास होता गया, वैसे-वैसे कथा-साहित्य भी एक देश से दूसरे देश मे पहुचता गया। जैन आचार्य भी उपदेश देने एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते थे तथा उस स्थान की भाषा मे ही उपदेश देते थे जिससे कथाए सभी स्थानो पर जाने लगी तथा श्रोता उन्हे श्रवण कर अपने अनुसार अन्य लोगो से कहने लगे जिससे ये कथाए अलग-अलग भाषाओ मे अनूदित होती गई और इसी प्रकार देशाटन करती हुई विदेशो मे भी पहुची जहा उनका स्वागत किया गया तथा वहा स्वरूप बदल दिए जाने पर भी उनका मूल भाव ज्यो का त्यो रहा। एक ही कथा ने भिन्न-भिन्न नाम एव रूप ग्रहण कर लिये। कई कथाए जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओ मे अनूदित हुईं। मेक्समूलर एव हर्टले ने अपने अध्ययनो के माध्यम से यह सिद्ध कर दिया है कि भारतीय कथा साहित्य का यह प्रवाह निरतर पाश्चात्य देशो की ओर प्रवाहित रहा है।

सुप्रसिद्ध यूरोपीय विद्वान् श्री सी० एच० टान ने अपने ग्रन्थ 'ट्रेजरी ऑफ स्टोरीज' की भूमिका मे स्वीकार किया है कि जैनो के कथाकोषो मे सग्रहीत कथाओ एव यूरोपीय कथाओ मे अत्यन्त निकट साम्य है।

पूर्व मध्य काल मे ही अनेक जैन कथाए भारत के पश्चिमी तट से अरब पहुची, वहा से ईरान, ईरान से यूरोप। अनेक प्राकृत जैन कथाओं को तिब्बत, हिन्द एशिया, रूस, यूनान, सिसली व इटली के तथा यहूदियो के साहित्य की अखिल भारतीय सस्कृति का प्रतीक माना जाना चाहिए और यथार्थतः है भी यही। श्री टाने, बल्हर, ल्यूमेन, तिस्सितौर, जेकोबी आदि अनेक यूरोपीय प्राच्यविदो ने जैन प्राकृत कथा

साहित्य के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण गवेषणाएं की हैं। विश्व लोक कथा साहित्य के परिशीलन से ज्ञात होता है कि अनेक प्राकृत जैन कथाए सागर-पार विदेशो मे गईं तथा वहा की मान्यताओ के अनुरूप वेशभूषा धारण कर उपस्थित हुईं किन्तु अपनी आत्मा ज्यों की त्यो रखी। इस प्रकार अगर तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो हजारो प्राकृत जैन कथाए उपलब्ध होगी जो सामान्य परिवर्तन के साथ पाश्चात्य कथा-साहित्य मे गुम्फित हैं।

सुभाषितों से भरपूर

प्राकृत-कथा-साहित्य मे सुभाषितो का विशाल भण्डार भरा पड़ा है। इसमें पग-पग पर एक से एक बढ़कर सुन्दर सुभाषित बिखरे मिलते हैं। वसुदेवहिण्डी मे कहा गया है कि विषयो से विरक्त व्यक्ति सुख प्राप्त करता है—

"उक्कामिव जोइमालिणि, सुभुयंगामिव पुप्फियं लतं।
विबुधो जो कामवत्तिणि, मुयई सो सुहिओ भविस्सइ॥"

—अग्नि से प्रज्वलित उल्का की भांति और भुजगी से युक्त पुष्पित लता की भांति जो पण्डित कामवर्तिनी का त्याग करता है वह सुखी होता है।

कथाकोश प्रकरण मे प्रयुक्त सुभाषित देखिये—

"अणुरूवगुण अणुरूवजोव्वणं माणुसं न जस्सत्थि।
किं तेण जियंतेण पि मामि नवरं मओ एसो॥"

--जिस स्त्री के अनुरूप गुण-यौवन वाला पुरुष नही है उसके जीने से क्या लाभ ? उसे तो मृतक ही समझना चाहिए।

णाणपचमीकहा की प्रथम जयसेन कथा मे प्रयुक्त सुभाषित—

"वरि हलिओ विहु भत्ता अनन्नभज्जो गुणेहि रहिओ वि।
मा सगुणो बहुभज्जो जइ राया चक्कवट्टी वि॥"

– अनेक पत्नी वाले सर्वगुण-सम्पन्न चक्रवर्ती राजा की अपेक्षा गुण-विहीन एक पत्नी वाला किसान कही श्रेष्ठ है।

आख्यान मणिकोष मे प्रयुक्त सुभाषित—

"थेवं थेवं धम्मं करेह जइ ता बहुं न सक्केह।
पेच्छइ महानईओ बिंदूहि समुद्दभूयाओ॥"

- —यदि धर्म बहुत नही कर सकते हो तो थोडा-थोडा करो। महानदियो को देखो, बूंद-बूंद कर समुद्र बन जाता है।

इसी तरह कुमारपालप्रतिबोध, जिनदत्ताख्यान, रयणसेहरकहा आदि कथा-ग्रन्थो मे सुभाषितो का कोष भरा पडा है।

नैतिक आदर्शों का खजाना

प्राकृत-कथा-साहित्य उपदेशात्मक तथा नीति-प्रधान है। इसमे स्थान-स्थान पर नीति, सदाचार आदि से सबधित उपदेश मिलता है तथा यह साहित्य नैतिक आदर्शों से भरपूर है। इसमे स्वहित के स्थान पर सर्वभूतहिताय की भावना मिलती है तथा हिंसा, चोरी आदि से विरति सबको समान समझना आदि नैतिक आदर्शों का उपदेश प्राप्त होता है। इन सभी नैतिक आदर्शों का उपदेश कथाकार ने स्वयं न देकर पात्रो के आचरण, जीवन के उतार-चढाव आदि के माध्यम से दिया है।

नाणपचमीकहा से उद्धृत एक नीति गाथा देखिए—

"नेहो बंधणमूलं नेहो लज्जाइनासओ पावो।
नेहो दोग्गइमूलं पइदियहं दुक्खहो नेहो॥" (१/७५)

—समस्त बन्धनो का कारण स्नेह है। स्नेहाधिक्य से ही लज्जा नष्ट हो जाती है, स्नेहातिरेक ही दुर्गति का मूल है और स्नेहाधीन होने से ही मनुष्य को प्रतिदिन दुःख प्राप्त होता है।

प्राकृत कथा सग्रह मे भी कहा है—

"नीयजणेण मित्ती कायव्वा नेव पुरिसेण।"

— सज्जन पुरुषों के द्वारा नीच व्यक्ति के साथ मित्रता नही की जानी चाहिए।

"महिलाए विस्सासो कायव्वो नेव कइया वि।"

—महिलाओं का विश्वास कभी नही करना चाहिए।

इसी प्रकार कुवलयमाला, रयणसेहरकहा आख्यान, मणिकोष आदि कथा-काव्य अहिंसा, अचौर्य, सज्जन-संगति आदि नैतिक आदर्शों से भरपूर हैं।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, सामाजिक एव नैतिक जीवन आदि का वास्तविक एव सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राकृत-कथा-साहित्य अत्यन्त उपयोगी है। निम्नवर्गीय व्यक्ति से लेकर उच्चवर्गीय व्यक्ति तक के चरित्र का जितना विस्तृत तथा सूक्ष्म वर्णन प्राकृत कथाओ मे मिलता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। उपदेशात्मक होते हुए भी कला का अत्यधिक समावेश है। मानव-विश्वास, देवी-देवता, वेश-भूषा, व्यवसाय आदि का विशुद्ध चित्रण इन कथाओ मे ही मिलता है। इनमे जैन लोक सस्कृति के विरक्ति, करुणा, उदारता, सेवा आदि के मधुर स्वर ध्वनित होते हैं। ये प्राकृत कथाए भूत को वर्तमान से जोडती हुई सीधा उपदेश नही देती बल्कि कथानक स्वय ही अपना उद्देश्य प्रकट करते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राकृत कथा-साहित्य हर दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है तथा यह साहित्य अन्य भाषाओ के साहित्य के लिए उपजीव्य रहा है। प्राकृत कथाओ के महत्त्व को स्वीकार करते हुए विण्टरनित्स ने 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर' मे कहा है —"जैनों का कथा साहित्य सचमुच विशाल है। इसका महत्त्व केवल तुलनात्मक परिकथा साहित्य के विद्यार्थी के लिए ही नही है, बल्कि साहित्य की अन्य शाखाओं की अपेक्षा हमे इसमे जन साधारण के वास्तविक जीवन की झाकिया मिलती है। जिस प्रकार इन कथाओ की भाषा और जनता की भाषा मे साम्य है, उसी प्रकार उनका वर्ण्य विषय भी विभिन्न वर्गों के वास्तविक जीवन का चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है। केवल राजाओं और पुरोहितो का जीवन ही उस कथा साहित्य मे चित्रित नही है अपितु साधारण व्यक्तियो का जीवन भी अकित है।"

प्रो० हर्टले ने 'आन दी लिट्रेचर आफ दी श्वेताम्बराज ऑफ गुजरात' नामक पुस्तक मे कहा है—"कहानी कहने की कला की विशिष्टता जैन कहानियो मे पाई जाती है। ये कहानिया भारत के भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगो के रस्म-रिवाज को पूरी सच्चाई के साथ अभिव्यक्त करती हैं। ये कहानिया जन साधारण की शिक्षा का उद्गम स्थान ही नही है वरन् भारतीय सभ्यता का इतिहास भी हैं।"

इस प्रकार उपरोक्त विवरण, विद्वानो के विचारो तथा प्राकृत-जैन-कथा-साहित्य के विदेशो में प्रचार-प्रसार को देखने से ज्ञात होता है कि प्राकृत-जैन-कथा-साहित्य ने भारत मे ही नही अपितु विदेशो मे भी अपना गौरवपूर्ण स्थान बनाया है। इसने भारतीय साहित्य, संस्कृति, सभ्यता आदि को ही प्रभावित नही किया है बल्कि विदेशी साहित्य, सस्कृति, सभ्यता आदि को भी प्रभावित किया है तथा यह मात्र भारतीय साहित्य का ही नही, अपितु पाश्चात्य-साहित्य का भी उपजीव्य रहा है।

इस देश की भाषागत उन्नति के भी जैन मुनि सहायक रहे हैं। ब्राह्मण अपने धर्मग्रन्थ संस्कृत मे और बौद्ध पालि मे लिखते थे, किन्तु, जैन-मुनियों ने प्राकृत की अनेक रूपो का उपयोग किया और प्रत्येक काल एव प्रत्येक क्षेत्र मे जब जो भाषा चालू थी, जैनो ने उसी के माध्यम से अपना प्रचार किया। इस प्रकार, प्राकृत से अनेक रूपो की उन्होने सेवा की। महावीर ने अर्ध-मागधी को इसलिए चुना था कि मागधी और शौर सेनी, दोनो भाषाओ के लोग उनका उपदेश समझ सकें। बाद को, ये उपदेश लिख भी लिये गए और उन्ही के लेखन मे हम अर्ध-मागधी भाषा का नमूना आज भी पाते हैं। हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओ के जन्म लेने से पूर्व, इन प्रान्तो मे जो भाषा प्रचलित थी उसमे जैनो का विशाल साहित्य है जिसे अपभ्रंश साहित्य कहते हैं। भारत की भाषाओ मे एक ओर तो प्राचीन भाषाएँ, सस्कृत और प्राकृत हैं तथा दूसरी ओर, आज की देश-भाषाएँ। अपभ्रंश भाषा इन दोनो भाषा-समूहो के बीच की कडी है। इसलिए, भारत के भाषा-विषयक अध्ययन की दृष्टि से अपभ्रंश का बडा महत्त्व है। जैन विद्वानो ने सस्कृत की भी काफी सेवा की। सस्कृत मे भी जैनों के लिखे अनेक ग्रन्थ हैं जिनमें से कुछ तो काव्य और वर्णन हैं तथा कुछ दर्शन के सबध मे। व्याकरण, छन्दशास्त्र, कोष और गणित पर भी संस्कृत मे जैनाचार्यों के ग्रन्थ मिलते हैं।

—श्री रामधारीसिंह दिनकर संस्कृति के चार अध्याय, पृ० १२१ से उद्धृत

जैन अपभ्रंश कथा-साहित्य का मूल्यांकन

श्री मानमल कुदाल

मध्यकाल की साहित्यिक प्रवृत्तियो के उद्भव तथा भारतीय सभ्यता एव संस्कृति को खोजने की जिज्ञासा से अनेक विद्वानों ने अपभ्रंश साहित्य का गूढ अध्ययन किया है। इनमे प्रमुख रूप से श्री नाथूराम प्रेमी, डा० हीरालाल जैन, डा० हरिवंश कोछड, डा० नामवर सिंह, डा० देवेन्द्रकुमार जैन, डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, डा० ए० एन० उपाध्याय, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, डा० हरिवल्लभ भायाणी डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

अपभ्रंश साहित्य का विकास ई० पूर्व ३०० से १८ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक होता रहा है।

अपभ्रंश भाषा मे प्रचुर साहित्य की रचना हुई है। अपभ्रंश काव्य को मुख्य रूप से दो भागो में विभक्त किया गया है[१]—
१. प्रबन्ध काव्य, २ मुक्तक काव्य।

प्रबन्ध काव्य को तीन भागो मे बाटा गया है—(१) महाकाव्य, (२) एकार्थ काव्य, और (3) खण्ड काव्य।

महाकाव्य को चार भागो में बाटा गया है—(क) पुराणकाव्य, (ख) चरितकाव्य, (ग) कथाकाव्य, और (घ) ऐतिहासिक काव्य।

कथाकाव्य को तीन भागो मे बाटा गया है—(१) प्रेमाख्यान कथाकाव्य, (२) वृत्तमाहात्म्यमूलक कथाकाव्य, (३) उपदेशात्मक कथाकाव्य।

मुक्तक-काव्य को चार भागों मे बाँटा गया है—(१) गीति-काव्य, (२) दोहा-काव्य, (३) चउपई-काव्य, (४) फुटकर काव्य (स्तोत्र-पूजा आदि)।

अपभ्रंश साहित्य प्रधान रूप से धार्मिक एव आध्यात्मिक है। उसमे वीर और शृगाररस की भी यथोचित अभिव्यक्ति हुई है। शान्तरस का जैसा निरूपण अपभ्रंश साहित्य मे मिलता है, वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। विशेष रूप से जैन-मुनियो के साहित्य में शान्त रस का स्वानुभूत वर्णन मिलता है। अपभ्रंश मे लौकिक रस का भी अच्छा निरूपण हुआ है।

यहा हमारा प्रतिपाद्य विषय अपभ्रंश के कथा-साहित्य का ही मूल्याकन करना है। अतः सक्षेप में अपभ्रंश के कथा-काव्य पर ही प्रकाश डाला जाएगा।

काव्य की भाव-भूमि पर अपभ्रंश के कथा-काव्यो मे लोक-कथाओ का साहित्यिक रूप मे किन्ही अभिप्रायों के साथ वर्णन किया गया लक्षित होता है। लोक-जीवन के विविध तत्त्व इन कथाकाव्यो मे सहज ही अनुस्यूत है। क्या कथा, क्या भाव और क्या छन्द और शैली सभी लोकधर्मी जीवन के अग जान पडते है। अतः कथा-काव्य का नायक आदर्श पुरुष ही नही, राजा, राजकुमार, वणिक, राजपूत आदि कोई भी साधारण पुरुष अपने पुरुषार्थ से अग्रसर हो अपने व्यक्तित्व तथा गुणो को प्रकट कर यशस्वी परिलक्षित होता है। एक उभरता हुआ व्यक्तित्व सामान्य रूप से सभी कथा-काव्यो मे दिखाई पडता है। अपभ्रंश के इन कथा-काव्यो के अध्ययन से जहां सामाजिक यथार्थता का परिज्ञान होता है, वही धार्मिक वातावरण मे तथा इतिहास के परिप्रेक्ष्य मे जातीयता और परम्परा का भी बोध होता है।

अपभ्रंश के विशुद्ध प्रमुख कथा-काव्य निम्नलिखित हैं[२] :—

१. भविसयत्तकहा —(धनपाल)
२. जिनदत्तकथा —(लाखू)
३. विलासवती कथा — (सिद्ध साधारण)

---

१. डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री . "भविसयत्तकहा तथा अपभ्रंश कथा काव्य", पृ० ६१.
२. देवेन्द्रकुमार शास्त्री "अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तिया", पृ० ३४.

४. श्रीपाल कथा —(रइधू)
५. सिद्धचक्र कथा —(नरसेन)
६. सप्तव्यसन वर्जन कथा— (प० माणिक्यचन्द्र)
७. भविष्यदत्त कथा —(विबुध श्रीधर)
८. सुकुमाल चरित्र —(श्रीधर)
९. सनत्कुमार चरित्र —(हरिभद्र सूरि)
१०. श्रीपाल चरित्र —(दामोदर)
११ हरिषेण चरित्र। इत्यादि

अपभ्रंश का कथा-साहित्य प्राकृत की ही भाँति प्रचुर तथा समृद्ध है। अनेक छोटी-छोटी कथाए व्रत-सम्बन्धी आख्यानो को लेकर या धार्मिक प्रभाव बनाने के लिए लोकाख्यानो के आधार पर रची गयी हैं। अकेली रविव्रत-कथा के सबध मे अलग-अलग विद्वानो की लगभग एक दर्जन रचनाए मिलती हैं। केवल भट्टारक गुणभद्र रचित सत्रह कथाए उपलब्ध हैं। इसी प्रकार प० साधारण की आठ कथाएं तथा मुनि बालचन्द्र की तीन एव मुनि विनयचन्द्र की तीन कथाए मिलती हैं। अपभ्रंश कथा कोष के अन्तर्गत कई अज्ञात रचनाए देखने को मिलती हैं। श्रीचन्द का कथा-कोष प्रसिद्ध ही है। इसके अतिरिक्त आगरा-स्थित दि० जैन-मन्दिर, धूलियागज मे, जयपुर तथा दिल्ली मे भी अज्ञात-नामा अपभ्रंश कथा-कोष मिलते हैं। यदि इन सबकी छानबीन की जाए तो लगभग एक सौ से भी अधिक स्वतन्त्र कथात्मक रचनाए उपलब्ध होती हैं। इनके अतिरिक्त आचार्य नेमिचन्द्र सूरि विरचित 'आख्यानमणिकोष' मे वर्णित तथा महेश्वर सूरि कृत 'सगममञ्जरी' की टीका मे एव मानसूरि कृत 'मनोरमा चरित्र' मे भी अपभ्रंश की प्राकृत-अपभ्रंश मिश्रित कई कथाए हैं। अभी तक इस समग्र कथा साहित्य का सर्वेक्षण तथा अनुशीलन नहीं किया गया है। भारतीय सस्कृति की अनुसन्धानात्मक दिशा मे प्रवृत्त विद्वानो को इन कथाओं का अध्ययन भी करना चाहिए, जिससे मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एव सस्कृति के कतिपय नवीन तथ्य भी प्रकाशित हो सकेंगे।

अब हम अपभ्रंश के उपरोक्त कथा-काव्यो के माध्यम से साहित्य के विभिन्न सोपान—वस्तु-वर्णन, रस-सिद्धि, अलकार-योजना, छन्द-योजना, प्रकृति-चित्रण आदि का वर्णन करते हुए साहित्य मे वर्णित समाज और सस्कृति की दृष्टि से इसका मूल्याकन करेंगे।

अपभ्रंश कथा-काव्यों का वस्तु-वर्णन—अपभ्रंश के कथा-काव्यो मे वस्तु-वर्णन कई रूपो मे मिलता है। कही परम्परायुक्त वस्तु-परिगणन, वृत्तात्मक शैली को अपनाया है, कही लोकप्रचलित शैली मे भी जन-जीवन का स्वाभाविक चित्रण कर लोक-प्रवृत्ति का परिचय दिया है। परम्परागत वर्णनो मे नगर-वर्णन, नखशिख-वर्णन, वन-वर्णन, प्रकृति-वर्णन दृष्टिगोचर होते हैं। कही-कही सश्लिष्ट योजना द्वारा सजीवता सहज रूप मे प्रतिबिम्बित है। कई मार्मिक स्थलो की यथोचित सयोजना कथा-काव्य मे रसात्मकता से ओत-प्रोत है। घटना-वर्णनो के बीच अनेक मार्मिक स्थलो की नियोजना स्वाभाविक रूप से हुई है।

कुछ कथा-काव्यो के उदाहरण दृष्टव्य हैं—

भविसयत्तकहा में युद्ध-वर्णन

कवि धनपाल ने भविसयत्तकहा मे युद्ध-वर्णन अत्यन्त विस्तार से किया है। घनघोर युद्ध का सजीव वर्णन नीचे की पक्तियो मे अत्यन्त सजल है—

'हरिखरखुरणखोणी खणंतु गयपायपहारि धरधरमलंतु।
हणु रारि रारि करयलु करालु सण्णद्धबद्ध भडथडवमालु।
तं णिइवि सघण अहिमुहु चलंतु धाइउ कुरुनराहणु पडिखलंतु। (भ क १४, १३)

विलासवती कथा में सग्राम की स्थिति मे दोनो (हस और हसी) विरह के वेग से करुण स्वर मे कूकते है। उनका खाना-पीना छूट जाता है और चिन्ता से विकल होकर मृत्यु का आलिगन करने के लिए तत्पर हो जाते हैं—

'ता गरुय विरह वेयण वसेण, कूवंति दोवि करुणइ सरेण।
आहारन न इच्छाहिं मरणहं बछाहि खणु अच्छाहिं चिंताविवइं। (११, १५)

जिनदत्ताख्यान मे प्रकृति-वर्णन के अन्तर्गत रात्रि के वर्णन का एक दृश्य द्रष्टव्य है—

"जं णिसा णिसायरीहिं फुल्लसोह णं रईहिं।
गेहि गेहि दिव्वयंति दीव जे तमोह हंति।
ताव चंदिया समेउ चंद उग्गउ सतेउ।
लोयणाण ते असोहु भजि घल्लिउ तमोहु।"

भाव-व्यञ्जना

भाव-व्यञ्जना की दृष्टि से मानवीय प्रेम की प्रतिष्ठा तथा लोकव्यापी सुख-दुःखमय घात-प्रतिघातों के बीच संयोग और वियोग की निवृत्ति एवं परमपद की प्राप्ति समान रूप से सभी कथा-काव्यों में वर्णित है। भविसयत्तकहा में यदि माता और पुत्र का अमित स्नेह आप्यायित है तो विलासवती कथा में नायक और नायिका के सच्चे एवं पवित्र प्रेम की उत्कृष्टता तथा श्रीपाल और सिद्धचक्रकथा में मनुष्य की भोग-लिप्सा और नारी के अवदान प्रेम की कथा वर्णित है। अतएव संयोग और वियोग की विभिन्न स्थितियों में मानसिक दशाओं का सहज चित्रण हुआ है। आत्मगर्हा, ग्लानि, पश्चात्ताप, विस्मय, उत्साह, क्रोध, भय आदि अनेक भावों का संचरण विभिन्न प्रसंगों में लक्षित होता है।

पति श्रीपाल के समुद्र में गिरा दिये जाने पर वियुक्त रत्नमंजूषा जहां पति के गुणों का स्मरण कर उनकी याद करती है, वहीं माता-पिता और अपने भाग्य को कोसती है। वह कहती है—"मेरे पिता ने निमित ज्ञानी के कहने से मेरा विवाह परदेश में क्यों किया ?"

अकेली भविसयत्त कहा में मनोवैज्ञानिक चरित्र, नाटकीयता, प्रवाह एवं क्षिप्रता तथा हाव-भावों का प्रदर्शन संवादों में सुनियोजित है। किसी-किसी कथा-काव्य में स्थानीय रंगीनी भी देखी जाती है—

"कउण काज वेरी आरडवि, काहे कारणि पलावे करहि।
किसि कारणि दुख धरहि सरीरन, वेगि कहेहि इउ जंपइ वीरन।" (जिन० चउ० २०६)

अंलकार-योजना

अपभ्रंश के कथा-काव्यों में उपमा, सन्देह, भ्रांतिमान, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, निदर्शना, श्लेष, स्मरण, रूपक, व्यतिरेक, प्रतिवस्तूपमा, उदाहरण, स्वभावोक्ति, विनोक्ति, अर्थान्तरन्यास, अनुमान, काव्यलिंग, परिसंख्या, विभावना, विशेषोक्ति, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, यथासंख्य आदि अलंकार दृष्टिगत होते हैं।

कुछ अलंकारों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

"हट्टमग्गु कुलसील जिउतहि सोह ण देइ रहिउ बणिउत्तहिं' (भ०क० विनोक्ति)
'सउतडिय तरलविज्जुल सणेहि नं पलयकालु गज्जिउ घणेहिं।(विला. क. ६,२४)' स्वरूपोत्प्रेक्षा
'वुण्णयणय चक्कासणि सचक्क पणवेवि चक्केसरि णयणिचक्क (जिनदत्त कथा—यमक)
'पाविउ मइं विण्णिवि उसवेसहं कहि कण्ण दिण्ण पर एसह।
तेण कहिउ ण कहिउ णिमित्तिय तो मइ तुज्झु विहायउ पुत्तिय" (सि. क. नरसेन) १,४२

चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण में अपभ्रंश कथा-काव्यों के लेखकों में धनपाल, लाखू और साधारण सिद्धसेन को जितनी सफलता मिली है, उतनी अन्य किसी कथाकाव्यकार को नहीं। कथाकाव्य के लेखकों ने सामान्य व्यक्ति को नायक बनाकर उसके जीवन के चरम उत्कर्ष की सरणि प्रदर्शित की है। कथा काव्यों में जहां यथार्थ से आदर्श की ओर बढ़ने तथा जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति का सन्देश निहित है, वहीं जनसामान्य की मांगलिक भावनाओं की मधुर अभिव्यञ्जना है। सामान्य रूप से इन कथा-काव्यों में जीवन के घोर दुःखों के बीच उन्नति का मार्ग प्रदर्शित है, जिस पर चलकर कोई भी व्यक्ति सुख एवं मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

संवाद-संरचना

अपभ्रंश के कथाकाव्यों में संवाद-संरचना कई रूपों में मिलती है। यदि जिनदत्त-कथा के संवाद अलंकृत हैं और गीति-शैली में कहीं कहीं वर्णित है तो भविसयत्तकहा में सरल, स्वाभाविक और सजीव हैं। प्रायः सभी कथाकाव्यों में संवादों की मधुरता और सरसता लक्षित होती है। बड़े और छोटे दोनों प्रकार के संवाद इन कथा-काव्यों में मिलते हैं। सभी कथाकाव्यों में वातावरण तथा दृश्यों के बीच संवादों की योजना हुई है।

छन्द योजना

अपभ्रंश के कथा-काव्यों में मुख्य रूप से मात्रिक छन्द प्रयुक्त है। यद्यपि वैदिक छन्द ताल और संगीत पर आधारित है, पर उनमें अक्षर प्रधान हैं। उनका आधार गण, मात्रा और स्वराघात है। और इसीलिए नियत अक्षरों में आकलित होने से उसे 'वृत्त' कहा जाता

है। किन्तु नियत मात्रा वाला पद्य 'जाति' में कहा गया है। आचार्य हेमचन्द्र के मत मे छन्द का अर्थ बन्ध और एक अक्षर से लेकर छब्बीस अक्षर तक की जाति की सामान्य संज्ञा 'छन्द' है।

यदि साहित्यिक रचना-शैलियो की दृष्टि से विचार किया जाय तो कई प्राकृत की तथा लोक-प्रचलित गीत एवं संवादमूलक शैलियाँ अपभ्रंश के इन कथा-काव्यों में देखी जा सकती हैं। अपभ्रंश के प्रत्येक कथा-काव्य मे कई प्रकार के गीत मिलते हैं जो लोक प्रचलित शैली में लिखे गये जान पडते हैं। अतएव इस प्रकार के गीतो में भाव और भाषा की बनावट न होकर लोकगीतो का माधुर्य और प्रवाह लय पर आधारित है। उदाहरण के लिए—

'रसत कंत सारसं रमंत नीर माणुसं
सु उच्छलंत मच्छयं विसाल नील कच्छयं
विलोल लोल नक्कयं कुरंत चारु चक्कयं
खुडंत पत्त केसरं पलोइयं महासरं' (विला० कहा ५,१५)

संस्कृत के विक्रमोर्वशीय नाटक में अपभ्रंश के प्रसिद्ध चर्चरी गीत का उल्लेख ही नही, उदाहरण भी मिलते हैं, जैसे—

'गन्धुम्माइ अमहुअर गोएँहि
वज्जतेंहि परहुतूरेंहि ।
पसरिअ पवणुव्वेलिअ पल्लवणिअरु,
सुललिअ विविह पआरेंहि णच्चइ कप्पअरु।' (४, १२)

ललिताछन्द का एक उदाहरण दृष्टव्य है—

'सिंदूरारुणवण्णो विणयरु अत्थमियउ,
महयल रक्खह नाइ पक्कउ फलु पनियउ।' (विलासवती-कथा)

भाषा

जिनदत्त कथा को छोड़ कर अपभ्रंश के कथाकाव्यो की भाषा सरल तथा शास्त्र और लोक के बीच की मिश्रित भाषा है। प्रयुक्त भाषा मे बोलचाल के शब्द, मुहावरे, लोकोक्तियो एव सूक्तियो के समावेश के साथ ही संस्कृतनिष्ठ अथवा संस्कृत से बने या बिगडे हुए शब्दो की प्रचुरता है। जिनदत्त कथा मे शब्दो की तोड-मरोड अधिक मिलती है लेकिन विकृत शब्दो मे संस्कृति से आगत शब्दो का ही बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए निम्न शब्द देखे जा सकते हैं—

सप्पसूणु (सप्रसून), इच्छाइ (इत्यादि), णिसाडय (चन्द्रमा), अडइ (अटवी), समत (सभ्रान्त), इगिव (इगित), वत्थु (वस्त्र), कोय (कोक) आदि।

इसके अलावा शब्द-रूप और वाक्य-रचना तथा सर्वनाम-शब्दो पर भी संस्कृत का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि अपभ्रंश के कथाकाव्यो मे जहा एक ओर संस्कृत मे प्रभावित भाषा मिलती है, वहीं दूसरी ओर बोलचाल की भी बानगी मिलती है, जिसे देखकर सहज मे ही यह निश्चय हो जाता है कि अपभ्रंश समय-समय पर लोक-बोलियो का आंचल पकडकर विकसित हुई है। अपभ्रंश युग मे संस्कृत और प्राकृत साहित्य की बहुमुखी उन्नति होने स यह स्वाभाविक ही था कि अपभ्रंश के कवि संस्कृत के शब्द-रूपो से अपभ्रंश को समृद्ध बनाकर उसका साहित्य संस्कृत-साहित्य के समकक्ष रचते। वस्तुत. अपभ्रंश भाषा मे तत्सम शब्दो की अपेक्षा तद्भव और देशज शब्दो का प्राधान्य है।

शैली

अपभ्रंश के कथा काव्य प्रबन्ध काव्यों की भांति सन्धिबद्ध है। कम से कम दो तथा अधिक से अधिक २२ सन्धियो मे निबद्ध कथा-काव्य उपलब्ध होते है। इनमे सन्धियो की रचना कडवकों मे हुई है। कडवक के अन्त मे घत्ता देने का विधान मिलता है। यद्यपि अपभ्रंश काव्य सन्धियो में कडवकबद्ध मिलते हैं, किन्तु कडवको की रचना मे नियत पंक्तियो का परिपालन नही देखा जाता है। आचार्य स्वयंभू के अनुसार एक कडवक मे ८ यमक एव १६ पंक्तिया होनी चाहिए। लेकिन ८ पंक्तियो से लेकर २४ पंक्तियो तक के कडवक कथा काव्यो मे प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार प्रबन्ध काव्य के लिए कडवको की संख्या का न तो कोई नियम मिलता है और न विधान ही। किन्तु सामान्यत: एक सन्धि मे १० से १४ के बीच कडवको की संख्या मिलती है। अपभ्रंश के कथा-काव्यो मे कम से कम ११ और अधिक से अधिक ४६ कडवक प्रयुक्त हैं।

लोक-जीवन और संस्कृति

(क) **धार्मिक विश्वास**—अपभ्रंश के सभी कथा-काव्य जैन-कवियो द्वारा रचित हैं। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि इनमे २४ तीर्थंकरों का स्तवन तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट धर्म का स्वरूप एवं मोक्ष-प्राप्ति का उपाय वर्णित है। किन्तु मध्यकालीन देवी-देवता विषयक मान्यताओं का उल्लेख भी इन काव्यो मे मिलता है। यही नही, जल (वरुण) देवता का पूजन, जल देवता का प्रत्यक्ष होना, सकट पडने पर देवी-देवताओ द्वारा सकट-निवारण आदि धार्मिक-विश्वास कथाओ मे लिपटे हुए परिलक्षित होते है।

(ख) **शकुन-अपशकुन**—अपभ्रंश के कथा-काव्यो मे शकुन-अपशकुन तथा स्वप्न सम्बन्धी विश्वास लगभग सभी रचनाओं मे मिलते हैं। भविसयत्त कथा मे जब भविष्यदत्त मेनागद्वीप मे अकेला छोड दिया जाता है, तब वह वन मे भटकता हुआ थककर सो जाता है। दूसरे दिन वह फिर आगे बढता है तभी उसे शुभ शकुन होने लगते हैं (भ० क० ३, ५)।

विलासवइ कथा मे भी शकुन का वर्णन है—

> "एतहि सारसु णु वित्थरियउ।
> इय चिंततहं सुमिण पओयणु-दाहिण बाहु फुरिउ तह लोयणु।
> सहणु सत्थु अणुकूलउ दीसइ, रन्ने वि कन्नय लाहु पयासइ॥" (५, २४)

(ग) **जाति-सम्बन्धी**—अपभ्रंश की इन कथाओ मे जाति-विषयक सामान्य विश्वास भी मिलते हैं। इन विश्वासों मे मुख्य हैं—रात को भोजन न करना, देव-दर्शन एव पूजन के बिना सुबह उठकर भोजन न करना, विविध देव-देवियो की पूजा करना और वृत्त-विधान का पालन करना आदि।

(घ) **सामाजिक आचार-विचार**—अपभ्रंश कथा-काव्यो मे सामाजिक आचार-विचारो का जहा-तहा समावेश हुआ है। दोहला होने पर सभी की मनोकामनाए पूर्ण की जाती थी। बालक-जन्म का महोत्सव किया जाता था। विवाह का कार्य प्राय ब्राह्मण लोग करते थे। प्रेम-विवाह भी होते थे। विलासवती का सनत्कुमार के साथ ऐसा ही प्रेम-विवाह हुआ था। विवाह-कार्य प्रमुख सामाजिक उत्सव के रूप मे किये जाते थे। जल-विहार, जल-क्रीडा, वन-विहार होते थे। राजपूतकालीन प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। आखेट-क्रीडा करना, बलि देना, शूली पर चढाना आदि बातें अपभ्रंश के कथा-काव्यो में नही मिलती।

अपभ्रंश साहित्य हिन्दी के लिए अमृत की घूट के समान है। इसका कारण स्पष्ट है। भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश साहित्य प्राचीन हिन्दी का एक महत्त्वपूर्ण मोड प्रस्तुत करता है। जब प्राकृत भाषा के अति उत्कर्ष के बाद जनता का सम्पर्क जनपदीय संस्कृति से हुआ और उसे साहित्यिक मान्यता प्राप्त हुई, तब अपभ्रंश भाषा साहित्यिक रचना के योग्य कर ली गई। अपभ्रंश एवं अवहट्ट भाषा ने जो अद्‌भुत विस्तार प्राप्त किया उसकी कुछ कल्पना जैन भंडारो मे सुरक्षित साहित्य से होती है। अपभ्रंश भाषा के कुछ ही ग्रन्थ मुद्रित होकर प्रकाश में आये हैं। और भी सैकडों ग्रन्थ अभी तक भडारों मे सुरक्षित हैं एव हिन्दी के विद्वानो द्वारा प्रकाश मे आने की बाट देख रहे हैं। अपभ्रंश साहित्य ने हिन्दी के न केवल भाषा रूप साहित्य को समृद्ध बनाया, अपितु उनके काव्यरूपो तथा कथानको को भी पुष्पित एवं पल्लवित किया। इन तत्त्वो का सम्यक् अध्यापन अभी तक नही हुआ है, जो हिन्दी के सयोगपूर्ण साहित्य के लिए आवश्यक है क्योंकि प्राचीन हिन्दी सहस्रो शब्दों की व्युत्पत्ति और अर्थ अपभ्रंश भाषा मे सुरक्षित है। इसी के साथ-साथ अपभ्रंश कालीन समस्त साहित्य का एक विशद इतिहास लिखे जाने की आवश्यकता अभी बनी हुई है।

(डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल : पं० परमानन्द जैन शास्त्री की पुस्तक जैन-ग्रंथ-प्रशस्ति-संग्रह के प्राक्कथन के अंशो से सकलित।)

जैनभक्त कवि बनारसीदास के काव्य-सिद्धान्त

डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त

हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल मे चौदहवी शती से सत्रहवी शती तक भक्ति और नीति विषयक काव्य-रचना मे अनेक जैन कवियों ने योग दिया था। इनमें सधारु और शालिभद्र सूरि ने प्रबन्धकाव्य-रचना मे और पद्मनाभ, ठाकुर सी, बनारसीदास, राजसमुद्र तथा कुशलबीर ने मुख्यतः नीतिकाव्य-रचना मे भाग लिया। कवित्व-गुण की दृष्टि से इनमे बनारसीदास का स्थान सर्वप्रमुख है।

कवि बनारसीदास का जन्म १५८६ ई० मे उत्तरप्रदेश मे जिला जौनपुर मे हुआ था। वे जहांगीर और शाहजहाँ के समकालीन थे और दोनो के दरबार मे उनका विशेष सम्मान था। सत्य, अहिंसा, क्षमा, शील आदि नैतिक गुणो पर पद्य-रचना के साथ ही उन्होने जैन धर्म के अनुरूप भक्तिकाव्य की भी मनोयोग से रचना की थी। उनके चिंतन मे मानववाद पर बल रहता था, फलस्वरूप उनकी रचनाओ को पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त थी। इसी सन्दर्भ मे उन्होने मुख्यत काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु और काव्य-वर्ण्य पर तथा सक्षेप मे काव्य-शिल्प और सहृदय के विषय मे विचार व्यक्त किए है, जो भक्तिकालीन चिन्तन-परम्परा के सर्वथा अनुरूप है।

आलोच्य कवि की तीन रचनाएँ, सुप्रसिद्ध हैं—नाटक समयसार, बनारसीविलास, अर्धकथानक। 'नाटक समयसार' स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य की प्राकृत-रचना 'समयपाहुड' के अमृतचन्द्र सूरि कृत सस्कृत-रूपान्तर पर आधारित है। 'बनारसीविलास' मे 'सूक्त-मुक्तावली (सोमप्रभ सूरि के काव्य 'सिन्दूर प्रकर' का अनुवाद), 'अध्यात्म बत्तीसी', 'मोक्षपैडी', 'सिन्धु चतुर्दशी', 'नाममाला', 'कर्मछत्तीसी', 'सहस्रनाम', 'अष्टकगीत', 'वचनिका' आदि अड़तालीस कृतियाँ सकलित है। इनमे से काव्य-सिद्धान्तो का निरूपण विशेषत 'नाटक समयसार' मे हुआ है। यह उल्लेखनीय है कि इस कृति की 'उत्थानिका' और ग्रन्थान्त के कुछ छन्द ही बनारसीदास द्वारा रचित हैं।

काव्य-प्रयोजन

बनारसीदास ने काव्य-रचना के प्रयोजनों पर सुसम्बद्ध रूप मे विचाराभिव्यक्ति नही की है, तथापि उनके स्फुट विचारो का समन्वय करने पर यह कहा जा सकता है कि अध्यात्म मार्ग का प्रतिपादन करने के कारण उन्होंने मनोविकार-नाश और मोक्षलाभ को भक्ति-काव्य के सहज परिणाम कहा है और 'नाटक समयसार' तथा कर्मप्रकृतिविधान' नामक ग्रन्थो मे सम्यक् ज्ञान से विभूषित एव चरित्रबल-प्रेरक सामग्री के समावेश का उल्लेख इन शब्दो मे किया है

(अ) ग्यानकला उपजी अब मोहि, कहौं गुन नाटक आगम केरो।
जासु प्रसाद सधै सिवमारग, वेगि मिटै भवबास बसेरो॥

(नाटक समयसार, उत्थानिका, पृष्ठ १२)

(आ) मोख चलिबे को मौन करम कौ करै बौन,
जाके रस-भौन बुध लौन ज्यौं घुलत है।
गुन को गरंथ निरगुन को सुगम पंथ,
जाको जसु कहत सुरेश अकुलत है।
याही के जु पच्छी ते उड़त ग्यान गगन में,
याही के विपच्छी जगजाल में रुलत हैं।
हाटक सौ विमल विराटक सौ बिसतार,
नाटक सुनत हीये फाटक खुलत हैं। (नाटक समयसार, उत्थानिका, पृष्ठ १६)

(इ) ऐसी परमागम बनारसी बखानै जामैं,
ग्यान को निदान सुद्ध चारित की चोप है। (नाटक समयसार, उत्थानिका, पृष्ठ २१)

(ई) जो ज्ञान भेद बखान सरदहि, सब्द अर्थ विचारसी।
सो होय कर्मविनाश निर्मल, शिवस्वरूप बनारसी। (बनारसीविलास, पृष्ठ १२४)

इन उक्तियों पर विचार करने के पूर्व द्वितीय अवतरण का स्पष्टीकरण अभीष्ट है। इसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि 'समयसार' नाटक मोक्ष-मार्ग की ओर प्रवृत्त कर कर्मजनित विकारों के वमन (बौन) अर्थात् नाश की प्रेरणा देता है, इसके रस-क्षेत्र में विद्वज्जन लवण की भाँति लीन हो जाते हैं, इसमे सम्यक् दर्शन आदि गुणो और मुक्ति-मार्ग की सहज अभिव्यक्ति है, इसकी महिमा को प्रकट करने में इन्द्र भी संकुचित होता है, इसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण करनेवाले व्यक्ति पक्षी की भाँति ज्ञान-गगन में उड़ते हैं, इससे विरत प्राणी भव-जाल में उलझ जाते हैं, इसमें स्वर्ण-जैसी कान्तिवाले भाव हैं और विराट् प्रभु की महिमा इसमे विस्तारपूर्वक वर्णित है, जिसे सुनने पर मन के रुद्ध द्वार खुल जाते हैं। इस प्रकार उन्होने विकारनाश, ज्ञान-प्रेरणा और मोक्ष-प्राप्ति को भक्तिकाव्य की सहज सिद्धियां स्वीकार किया है। बनारसीदास के दृष्टिकोण के सम्यक् परिचय के लिए 'ग्यानकला', 'नाटक आगम', 'सिव-मारग', 'शिवस्वरूप', 'करम कौ करै बौन', 'रस-भौन बुध लीन ज्यों घुलत हैं', 'हीये फाटक खुलत है', 'सरदहि' और 'शब्द अर्थ विचारसी' प्रयोग व्याख्यासापेक्ष हैं :

(१) प्रथम उद्धरण मे 'ग्यानकला' शब्द कवि के रचना-विवेक का परिचायक है। विवेक-सम्पन्न कवि की कृति मे ही उन गुणो का समाहार सम्भव है जिनसे सहृदय के ज्ञान-क्षितिज का विस्तार होता है—'याही के जु पच्छी ते उड़त ग्यान गगन मे' से यही अभिव्यंजित है। 'नाटक आगम' मे भी अध्ययनजनित ज्ञान-साधना को साहित्य-क्षेत्र की सहज प्रवृत्ति माना गया है। 'नाटक' साहित्य की विधा-विशेष है और 'आगम' शास्त्र का पर्याय है; इन दोनों के सहभाव का अर्थ है—साहित्य के लालित्य और शास्त्र की ज्ञानधारा में समन्वय की स्थापना। इस प्रकार बनारसीदास विचार-क्षेत्र की कोरी सिद्धान्तवादिता के समर्थक प्रतीत नहीं होते, उन्होने भावांचल-परिवेष्टित विचार-सामग्री को ही महत्त्व दिया है। प्रमाता की भावप्रवणता और काव्यानुशीलन से विचारोद्दीपन को उन्होने एक ही मन स्थिति की विकास-शृंखला माना है।

(२) 'सिवमारग' का प्रयोग लोकमगल की सिद्धि के अर्थ मे हुआ है। इस लक्ष्य की उपलब्धि तभी सम्भव है जब रचयिता विकार-मुक्त होकर सद्भावभावित काव्य की रचना मे प्रवृत्त हो, क्योंकि आत्मपरिष्कार के अभाव मे लोक-परिष्कार की प्रेरणा देना सामान्यत सरल नही है; और यदि वाक्छल का आश्रय लेकर कोई ऐसा मुखौटा धारण कर भी ले तो उसकी कृति मे अनुभूति की गहनता और प्रेषणीयता का समावेश नही हो पाएगा। शुक्ल जी के शब्दो मे, "कविता मनुष्य के हृदय को स्वार्थसम्बन्धो के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोकसामान्य भावभूमि पर ले जाती है···उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारो का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।" (चिन्तामणि, पहला भाग, पृष्ठ १४१) बनारसीदास द्वारा विकार-वमन —करम को करै बौन— पर बल देना मनोविकारों के परिष्कार से कुछ भिन्न है। उन्होंने भक्तिकाव्य को विकारो के उच्छेदन का साधन माना है तथा अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त के अनुरूप उसे विकारग्रस्त मन के परिशोधन में सहायक स्वीकार किया है।

(३) आलोच्य कवि ने 'रस-भौन बुध लीन ज्यो घुलत है' मे काव्यशास्त्रीय विवेक का सम्यक् परिचय दिया है। वर्ण्य की दृष्टि से उनके काव्य की परिधि मे शान्त रस की सामग्री का प्राधान्य है, फलत: प्रस्तुत काव्यांश मे सहृदय की रसोन्मुखता का अर्थ हुआ —काव्यगत नैतिक मूल्यों के प्रति भावक के चित्त का द्रवीकरण। 'बुध' से उनका अभिप्राय ऐसे प्रमाता से है जो अपनी तत्त्वाभिनिवेशी दृष्टि से सत् और असत् के द्वन्द्व का निराकरण कर सके; शान्त रस की कविता मे अवगाहन से ऐसे प्रमाता का आनन्दाभिभूत होना स्वाभाविक है। 'नाटक सुनत हीये फाटक खुलत है' द्वारा भी इसी मन्तव्य की पुष्टि होती है। सौन्दर्य-तत्त्व और नैतिक मूल्यो की समवेत अभिव्यक्ति का दृष्टिकोण उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी-कवियो को भी इतना ही मान्य रहा है।

(४) भक्तिकाव्य की रचना से मोक्ष-प्राप्ति के विश्वास का भक्तिशास्त्रज्ञ कवियों ने प्रबल समर्थन किया है —बनारसीदास की उक्ति 'वेगि मिटै भववास बसेरौ' भी इसी परम्परा मे आती है। किसी-किसी विद्वान् ने ऐसी काव्योक्तियों के सन्दर्भ मे यह शंका प्रकट की है कि "इस प्रयोजन की प्राप्ति काव्य द्वारा सम्भव नहीं है, श्रौत-स्मार्त ग्रन्थो द्वारा भले ही मानी जा सके।" (हिन्दी-रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, डॉ० सत्यदेव चौधरी, पृष्ठ ११५) किन्तु, भक्तिकाव्य की रचना के समय समाधि-सुख जैसे आनन्द का अनुभव करनेवाले भक्त कवियों के कृतित्व की पृष्ठभूमि में यह मत ग्राह्य नही है।

(५) अन्तिम उद्धरण में संसार-चक्र मे लिप्त व्यक्तियों के लिए ज्ञानराशि के साक्षात्कार को पापनाशक कहा गया है, किन्तु

इसके लिए उनके चित्त में श्रद्धा (सरदहि) तथा अध्यात्म-चिन्तन की क्षमता का होना आवश्यक है। भक्तिकाव्य के अनुशीलन में भावना और विवेक के समंजन पर बल देना निश्चय ही विवेच्य कवि के प्रौढ़ काव्य-विवेक का परिचायक है।

बनारसीदास ने इसी से सम्बद्ध एक अन्य प्रयोजन 'बालबोध' अर्थात् लोकशिक्षार्थ सरल ग्रन्थ-रचना को भी मान्यता दी है—उनके 'कर्मप्रकृतिविधान' नामक ग्रन्थ के मूल में सिद्धान्त-ग्रन्थों की सुबोध व्याख्या का भाव ही निहित है। पूर्ववर्ती कवियों में नन्ददास, केशव और ग्वाल ने काव्य-रचना के इस प्रयोजन को स्वीकृति दी है।

काव्य-हेतु

बनारसीदास ने कवि-वाणी के उन्मेष में वाग्देवी की अनुकम्पा को महत्त्वपूर्ण माना है। 'बनारसीविलास' में 'अजितनाथ जी के छन्द' के आरम्भ में उन्होंने लिखा है : "सरसुति देवि प्रसाद लहि, गाऊँ अजित जिनन्द।" यद्यपि अजितनाथ जी की महिमा के वर्णनार्थ वाग्देवी की कृपा के आह्वान में हेतु की दृष्टि से कोई मौलिकता नहीं है, तथापि वर्ण्य विषय की नवीनता अवश्य ध्यान आकृष्ट करती है। इसी सन्दर्भ में कवि की निम्नलिखित उक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं जिनमें काव्य-प्रवृत्ति को शिव, शिव-पंथ, पार्श्वनाथ, जिनराज और जिन-प्रतिमा का कृपा-फल माना गया है .

(अ) बंदौं सिव अवगाहना अरु बंदौं सिव पंथ।
जसु प्रसाद भाषा करौं नाटकनाम गरंथ॥ (नाटक समयसार, पृष्ठ १२)

(आ) तेई प्रभु पारस महारस के दाता अब।
दीजै मोहि साता दृगलीला की ललक मैं॥ (नाटक समयसार, पृष्ठ ५)

(इ) जिन-प्रतिमा जिन-सारनी, नमै बनारसि ताहि।
जाकि भक्ति प्रभाव सौं, कीनौ ग्रन्थ निवाहि॥ (नाटक समयसार, पृष्ठ ४६८)

भक्ति रस (महारस) की अभिव्यक्ति के निमित्त कवि के लिए यह स्वाभाविक ही है कि वह शान्ति (साता) अर्थात् समाहितचित्तदशा की भी कामना करे। शिव और जिनराज के अनुग्रह से काव्य-विवेक की स्फूर्ति तभी सम्भव है जब कवि में संश्लेषण-दृष्टि, आत्मसाक्षात्कार की प्रवृत्ति, अतीन्द्रिय ज्ञान को ग्रहण करने की क्षमता आदि का समुचित अन्तर्भाव हो। कवि का कर्तृत्व उसकी समाधि-दशा पर निर्भर करता है, जिसके लिए प्रबल आस्था और दृढ़ संकल्प-शक्ति आवश्यक हैं। शिवार्चन के रूप में बनारसीदास ने जिस *आस्था और आस्तिकता को व्यक्त किया है, वह परम्परागत संस्कारों का फल है, जिसकी काव्य-जगत् में प्रायः अभिव्यक्ति मिलती है। यथा :*

(अ) सम्भु प्रसाद सुमति हिमं हुलसी, रामचरितमानस कवि तुलसी। (रामचरितमानस, पृष्ठ १८)

(आ) काटे संकट के कटक, प्रथम तिहारी नाथ।
मोहि भरोसो है सही, दै बानी गननाथ॥ (छत्रप्रकाश, लाल, पृष्ठ १)

जैन धर्मावलम्बी होने के कारण वे मात्र इसी से सन्तुष्ट नहीं हुए, पार्श्वनाथ जिनराज के प्रति भी उन्होंने वैसी ही श्रद्धा दिखाई है।

प्रतिभा की अवतारणा में दिव्य प्रेरणा का चाहे कितना भी योग हो, उसके लिए पौरुषेय प्रयत्न भी उतने ही अपेक्षित हैं—देवतादि की वन्दना तो मन सघटन के लिए निमित्त-मात्र है। यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि आस्तिकता-प्रेरित कवि-प्रतिभा के मूल में विवेक की प्रबलता रहती है या भावुकता की? सामान्यतः भक्तिकाव्य में भाव-प्रवणता का प्राबल्य रहता है, किन्तु उसकी पृष्ठभूमि में कहीं-न-कहीं विवेक की भूमिका भी अवश्य रहती है। जब कवि द्वारा रचना के आरम्भ में देवविशेष की आराधना की जाती है, तब उसके ज्ञान और भावना का उत्तरोत्तर आधार-आधेय-क्रम से विकास होता है। भक्त की भाँति वह केवल भावुकता के अंचल से नहीं लिपटा रहता, अपितु कृतविद्य होने के कारण उसकी प्रज्ञा में कला, धर्म, दर्शन और विज्ञान भी सन्निहित रहते हैं।

विवेकाश्रयी होने पर भी कवि अन्ततः भाव-लोक-विहरण का अभिलाषी होता है, इसीलिए भावुक और सहृदय कवि प्रायः अहंकार-मति से परिचालित नहीं होते। उन्हें अपनी काव्य-कला और वर्णन-क्षमता पर अभिमान नहीं होता :

(अ) मैं अल्प बुद्धि नाटक आरंभ कीनौ। (नाटक समयसार, पृष्ठ १३)

(आ) अलप कवीसुर की मतिधारा। (नाटक समयसार, पृष्ठ ५२५)

(इ) तुच्छ मति थोरी तामैं कविकला थोरी। (नाटक समयसार, पृष्ठ ५२६)

(ई) समयसार नाटक अकथ, कवि की मति लघु होई। (नाटक समयसार, पृष्ठ ५२६)

उपर्युक्त उक्तियों में बनारसीदास ने जिस विनम्रता को प्रकट किया है उसके मूल में उनकी भाव-प्रवणता असन्दिग्ध है। वाच्यार्थ में अल्प, तुच्छ और लघु कवि-प्रतिभा की सीमाओं के द्योतक हो सकते हैं, किन्तु वस्तुतः यहाँ प्रतिभा की अवमानना नहीं हुई है क्योंकि कवि-कृति की विमलता सदैव विवेक और अनुभूति-वैशद्य के विनयपूर्ण समन्वय पर निर्भर करती है।

प्रतिभा के उन्मेष में गुरु-कृपा का अवलम्बन भी प्रसिद्ध काव्य-हेतु है। बनारसीदास ने गुरु के मार्ग-दर्शन की महिमा को इन शब्दों में प्रकट किया है :

ज्यों नरेंद्र को अरथ कह्यौ गुरु त्यौंहि,
हमारी मति कहिबे कौं सावधान भई है। (नाटक समयसार, पृष्ठ १४)

बनारसीदास के पूर्ववर्ती जैन कवि वसुनन्दि ने भी आचार्य श्री नन्दि से नेमिचन्द्र तक की गुरु-परम्परा का श्रद्धापूर्ण स्तवन किया है। (देखिए 'वसुनन्दि श्रावकाचार', पृष्ठ १४२) ऐसे स्थलों पर गुरु के महत्त्व की स्वीकृति के दो कारण सम्भव हैं—एक तो यह कि ज्ञान-साधना और तत्सम्बद्ध समस्याओं के समाधान के लिए गुरु की सहायता अपेक्षित होती है और दूसरे यह कि निरन्तर साहचर्य के परिणाम-स्वरूप उनके गुणों के प्रति आस्था-बुद्धि विकसित हो जाती है। इनमें से प्रथम पक्ष उपयोगितावादी दृष्टिकोण पर आधारित है और दूसरा परम्परागत संस्कारों की देन है—एक का सम्बन्ध बुद्धि से अधिक है, तो दूसरे का हृदय से। काव्य-सर्जना में इन दोनों का प्रत्यक्ष योग रहता है।

पूर्ववर्ती श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं के मनोयोगपूर्ण अनुशीलन, आध्यात्मिक ग्रन्थों में श्रद्धापूर्वक अवगाहन आदि भी कवि-प्रतिभा के प्रेरक और संस्कारक साधन हैं—कल्पना-सामर्थ्य तथा उक्ति-कौशल का समुचित विन्यास करने पर इनके माध्यम से प्रभावी काव्य-सृष्टि असंदिग्ध है। बनारसीदास की उक्तियों में इसी तथ्य का संकेत मिलता है :

(अ) इनके नाम भेद विस्तार, वरनहुँ जिनवाणी अनुसार। (बनारसीविलास, मार्गणा विधान, पृष्ठ १०४)

(आ) जिनवाणी परमाण कर, सुगुरु सीख मन आन।
कहुक जीव अरु कर्म को, निर्णय कहौं बखान॥ (बनारसीविलास, कर्मछत्तीसी, पृष्ठ १३६)

बनारसीदास द्वारा जिनवाणी को प्रमाण मानना वैष्णव भक्त कवियों की वेदादि ग्रन्थों के प्रति आस्था के समकक्ष है—प्रथम उद्धरण में जैन मत के चौदह मार्गों तथा बासठ शाखाओं में निर्धारणार्थ तथा द्वितीय उक्ति में कर्म-निर्णय के लिए जिनवाणी सम्बन्धी ग्रन्थों के उपयोग का परामर्श काव्य-चक्र का स्वाभाविक अंग है; आगम का अनुसरण करनेवाले ऐसे कवियों को राजशेखर ने 'शास्त्रार्थ कवि' की संज्ञा दी है। (देखिए 'काव्य मीमांसा', पंचम अध्याय, पृष्ठ ४२, ४७)। साहित्य में धार्मिक मतवाद की अभिव्यक्ति पर्याप्त विवादास्पद रही है, फिर भी धार्मिक आस्थाओं और प्रचलित सामाजिक संस्कारों का कवि-कर्तृत्व पर प्रभाव अवश्य पड़ता है।

काव्य-वर्ण्य

काव्य में वर्णनीय विषयों के सन्दर्भ में बनारसीदास ने अनुभूत सत्य की अभिव्यक्ति पर बल दिया है। वस्तुतः काव्य-वर्ण्य की दीप्ति विषय की प्रामाणिक प्रस्तुति पर निर्भर करती है। यह प्रामाणिकता लोकदर्शनादि के आधार पर स्वतः अनुभूत भी हो सकती है और आप्त वाक्यों के कारण श्रद्धाप्रेरित भी। बनारसीदास ने सत्काव्य में इन दोनों दृष्टियों के निर्वाह पर बल दिया है और काव्य में आरोपित मिथ्या स्थितियों, दुराग्रह, अभिमान आदि को स्थान देने का विरोध किया है। उनका लक्ष्य सत्य की तटस्थ अभिव्यक्ति करना था, फलस्वरूप उन्होंने उसके साक्षात्कार में बाधा पहुँचानेवाले कल्पना-विलास के प्रति अनास्था प्रकट की है :

(अ) कलपित बात हियै नहिं आनै, गुरु परम्परा रीति बखानै।
सत्यारथ सैली नहिं छंडै, मृषावाद सौं प्रीति न मंडै॥ (नाटक समयसार, पृष्ठ ५३०)

(आ) मृषाभाव रस बरनै हित सौं, नई उकति उपजावै चित सौं। (नाटक समयसार, पृष्ठ ५३०)

(इ) ऐसे मूढ़ कुकवि कुधी, गहै मृषा मग दौर।
रहै मगन अभिमान में, कहै और की और॥ (नाटक समयसार, पृष्ठ ५३२)

(ई) वस्तु सरूप लखै नहीं बाहिज द्रिष्टि प्रवांन।
मृषा विलास विलोकि कै करै मृषा गुनगान ॥ (नाटक समयसार, पृष्ठ ५३३)

(उ) मिथ्यावंत कुकवि जे प्रानी, मिथ्या तिनकी भाषित बानी। (नाटक समयसार, पृष्ठ ५३४)

भक्त कवि होने के नाते बनारसीदास ने काव्य मे नैतिक मूल्यों के निर्वाह पर विशेष बल दिया है; उन्होंने उन कवियों की भर्त्सना की है जो बाह्य दृष्टि के फलस्वरूप कल्पनाविलास मे मग्न रहते हैं और मिथ्या वर्णन को ही 'नई उकति' मान बैठते हैं। ये सन्दर्भ कवि की उपयोगितावादी दृष्टि के परिचायक हैं और इनके आधार पर साहित्य का अध्ययन एकांगी ही रहेगा। साहित्य के आस्वादन में सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि भी इतनी ही अपेक्षित है। काव्य-क्षेत्र मे अध्ययन की ये दोनो सरणियाँ समानान्तर रूप से प्रचलित रही हैं, किन्तु कवि-कर्तृत्व का सम्यक् मूल्यांकन इनके समन्वय पर ही निर्भर करता है।

अनुभूत सत्यो और नैतिक मूल्यो पर बल देने के फलस्वरूप बनारसीदास ने काव्य मे भक्ति-निरूपण का भी समर्थन किया है। भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति कभी आरती के रूप मे और कभी सुन्दर वाणी द्वारा ईश्वर के प्रति सश्रद्ध नमन के रूप मे होती है.

"कबहू आरती ह्वैं कै प्रभु सनमुख आवै,
कबहू सुभारती ह्वैं बाहरि बगति है।" (नाटक समयसार, पृष्ठ १५)

इसीलिए बनारसीदास ने ब्रह्म-महिमा-वर्णन और परमार्थ-पथ-निरूपण मे ही भक्त कवि के कृतित्व की सार्थकता मानी है। 'जिनसहस्रनाम,' 'वेदनिर्णयपंचासिका', और 'ध्यानबत्तीसी' में उन्होने भक्ति-तत्त्व की वर्णनीयता को इन शब्दो में प्रकट किया है :

(अ) महिमा ब्रह्मविलास की, मो पर कही न जाय।
यथाशक्ति कछु बरणई, नामकथन गुण गाय॥ (बनारसीविलास, पृष्ठ १६)

(आ) जिनके नाम अनन्त, ज्ञानगर्भित गुनगूझे।
मैं तेते बरनये, अरथ जिम जिनके बूझे॥ (बनारसीविलास, पृष्ठ १००)

(इ) यह परमारथ पंथ गुन अगम अनन्त बखान।
कहत बनारसि अल्पमति, जथासकति परवान॥ (बनारसीविलास, पृष्ठ १४३)

यद्यपि यहाँ कवि ने विनम्रतावश स्वयं को 'अल्पमति' कहा है, तथापि आत्मसाक्षात्कारजनित भाव-वर्णन और ज्ञानगर्भित तत्त्व-चिन्तन में उनकी प्रवृत्ति असन्दिग्ध है। इसीलिए उन्होने मुक्ति-मार्ग की ओर प्रवृत्त करनेवाले शुद्ध सकल्प और शुद्ध व्यवहार की अनुभवप्रेरित अभिव्यक्ति पर बल दिया है और परम तत्त्व की व्याख्या के सदर्भ मे 'समयपाहुड' में शिवमार्ग के कारणभूत गुण-सस्थानों का वर्णन न पाकर 'नाटक समयसार' में इस प्रकरण का समावेश किया है :

परम तत्त परचे इस मांही, गुनथानक की रचना नाहीं।
यामैं गुनथानक रस आवै, तो गरंथ अति सोभा पावै॥
इह विचारि संछेप सों, गुनथानक रस चोज।
बरनन करै बनारसी, कारन सिव-पथ खोज॥ (नाटक समयसार, पृष्ठ ४७०-४७१)

भक्ति-भाव की प्रबल प्रेरणा के फलस्वरूप बनारसीदास ने शृगार-काव्य की प्रत्यक्ष अवमानना की है—किशोरावस्था में लिखित शृंगारप्रधान रचना के सन्दर्भ में, जिसे बाद में नष्ट कर दिया था, उन्होने स्वय को 'कुकवि' और 'मिथ्या ग्रन्थकार' कहकर यही भाव प्रकट किया है :

तामैं नवरस रचना लिखी, पै बिसेस बरनन आसिखी।
ऐसे कुकवि बनारसि भए, मिथ्या ग्रन्थ बनाए नए॥ (अर्ध कथानक, पृष्ठ १७)

शृंगार-काव्य का निषेध करने पर भी बनारसीदास ने प्रशस्तिकाव्य का समर्थन किया है, जो उन-जैसे संकल्पमना भक्त के लिए सर्वथा विचित्र प्रतीत होता है, किन्तु विशेषता यह है कि उन्होंने स्वार्थप्रेरित राजप्रशस्ति के स्थान पर चित्तवैशद्य पर आधारित मित्रप्रशस्ति को गौरव दिया है। व्यवसाय-क्षेत्र मे सहायता करनेवाले स्नेही मित्र नरोत्तमदास के लिए भाट-वृत्ति अपनाने मे भक्त कवि बनारसीदास को कोई संकोच नही है :

रीझि नरोत्तमदास को, कीनो एक कवित्त ।
पढ़ै रैन दिन भाट सौ, घर बजार चित हित ॥ (अर्धकथानक, पृष्ठ ४४)

काव्य-शिल्प

बनारसीदास ने काव्य-शिल्प के संयोजक तत्त्वो के विवेचन में बहुत कम रुचि ली है—उनका विवेचन काव्य-भाषा और छन्द के विषय मे संक्षिप्त प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष विचार-प्रस्तुति तक सीमित है।

(क) **काव्य-भाषा** : आलोच्य कवि ने काव्य-भाषा के सन्दर्भ मे वर्णविन्यास, शब्द-सौष्ठव, अर्थ-गरिमा आदि के महत्त्व का प्रत्यक्ष कथन किया है। यथा :

(अ) छंद सबद अच्छर अरथ कहै सिद्धान्त प्रवांन ।
जो इहि विधि रचना रचै सो है सुकवि सुजान ॥ (नाटक समयसार, पृष्ठ ५३०)

(आ) बरन भंडार पंच बरन रतन सार,
और ही भंडार भाववरन सुछंदजू ।
बरन तें भिन्नता सुबरन में प्रतिभासे,
सुगुन सुनत ताहि होत है अनंद जू । (बनारसीविलास, ज्ञान बावनी, पृष्ठ ८१)

(इ) एकारथवाची सबद अरु द्विरुक्ति जो होय ।
नाम कथन के कवित में, दोष न लागे कोय ॥ (बनारसीविलास, जिनसहस्रनाम, पृष्ठ ३)

प्रथम उद्धरण में शब्द-विन्यास-कौशल पर बल देने के साथ ही कवि ने द्वितीय उक्ति मे भी वर्ण-लालित्य एवं काव्य-गुणो के संयोजन पर बल दिया है। 'गुण' से उनका अभिप्राय शब्द-गुण और अर्थ-गुण दोनो से प्रतीत होता है क्योकि उनके कृतित्व मे सामान्यतः जितना बल अर्थ-गाम्भीर्य पर रहा है, भावानुसारिणी भाषा के प्रति भी वे प्रायः उतने ही सजग रहे हैं—यह दूसरी बात है कि उनका प्रमुख विषय अध्यात्म-तत्त्व-निरूपण है और उसकी अभिव्यक्ति सर्वत्र काव्य की सहज-परिचित सरस शब्दावली मे नही हो सकी है। द्वितीय अवतरण में "पंच बरन रतन सार' प्रयोग भी ध्यान देने योग्य है जिससे उनका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि मानव-मन के विभिन्न भावों को रूपायित करने में विभिन्न वर्णों के समाहार से निर्मित भावपोषक शब्दावली का उल्लेखनीय योग रहता है। तृतीय उद्धरण मे भी कवि की भाषा-विषयक सजगता का स्पष्ट संकेत विद्यमान है। ईश्वर-गुणगान-सम्बन्धी कविता मे द्विरुक्ति अर्थात् अर्थगत पुनरुक्ति के दोषत्व का परिहार मानकर उन्होंने प्रकारान्तर से यह भाव व्यक्त किया है कि काव्य में सामान्यतः पुनरुक्त दोष का समावेश नहीं होना चाहिए। इस उक्ति में केवल भक्ति-भावना का प्रभाव स्वीकार करना उचित नही होगा, सन्दर्भ-विशेष मे पुनरुक्त की अदोषता का प्रतिपादन रुद्रट आदि आचार्यों ने भी किया है। यथा :

यत्र्ययमर्थोऽन्यस्मिंस्तत्पर्यायोऽथवा प्रयुज्येत ।
वीप्सायां च पुनस्तन्न दुष्टमेवं प्रसिद्धं च ॥ (काव्यालंकार, ६।३२, पृष्ठ १७२)

(ख) **काव्यगत छन्द-योजना** : छन्द के सम्बन्ध मे बनारसीदास का मत-प्रतिपादन अत्यन्त सीमित है। उन्होंने कवित्त आदि छन्दों के प्रयोग द्वारा वाणी की विविधतापूर्ण अभिव्यक्ति में ही कवि-कर्म की सार्थकता मानी है :

कौरपाल बानारसी मित्र जुगल इकचित्त ।
तिन्हहिं ग्रन्थ भाषा कियो, बहुविधि छन्द कवित्त ॥ (बनारसीविलास, सूक्त मुक्तावली, पृष्ठ ७१)

'समयसार' नाटक में भी उन्होंने छन्द-वैविध्य की ओर समुचित ध्यान दिया है और ग्रंथान्त मे अपने द्वारा प्रयुक्त छन्दों (दोहा, सोरठा, चौपाई, कवित्त, सवैया, छप्पय, कुंडलिया आदि) का विवरण अंकित किया है। (देखिए 'नाटक समयसार', पृष्ठ ५४१)। इसी प्रकार "छन्द भुजंगप्रयात में अष्टक कहौं बखान" (बनारसीविलास, शारदाष्टक, पृष्ठ १६५) जैसी उक्तियो द्वारा भी उन्होंने विविध छन्दों के प्रति अपनी अभिरुचि का संकेत दिया है।

काव्य के अधिकारी सहृदय

काव्य-रचना के अधिकारी कवि और काव्यानुशीलन के अधिकारी सहृदय के गुणावगुणों का तुलनात्मक विश्लेषण काव्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। कवि की कारयित्री प्रतिभा जो रचना-विधान करती है, सहृदय की भावयित्री प्रतिभा उसी के मूल्यांकन में प्रवृत्त होती है। काव्यानुभूति को ग्रहण करने में असमर्थ अविवेकी पाठक के समक्ष कवि का सम्पूर्ण कृतित्व अरण्यरोदन के समान निष्प्रयोजन होता

है। बनारसीदास ने 'बावन सतसैया,' 'वेदनिर्णय पंचासिका,' और 'कर्मप्रकृति विधान' मे क्रमशः इसी दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है :

(अ) बावन कवित्त एती मेरी मति बाल भए।
हंस के सुभाव ग्याता गुण गहि लीजियो॥
(आ) भवथिति जिन्हकी घटि गई तिनको यह उपदेस।
कहत बनारसिदास यौं मूढ़ न समुझें लेस॥
(इ) अल्पबुद्धि जैसी मुझ पाँहि, तैसी मैं बरनी इस माँहि।
पंडित गुनी हँसो मत कोय, अल्पमती भाषा कवि होय॥

यहाँ काव्यास्वाद में सात्त्विकी बुद्धि की भूमिका को विशेष महत्त्व दिया गया है। प्रथम और तृतीय उद्धरणों में बनारसीदास ने प्रमाता में जिस नीरक्षीर-विवेकी प्रवृत्ति की कामना की है उसके अभाव मे अनधिकारी व्यक्ति कवि के अभिप्राय की गम्भीरता को समझने मे असमर्थ रहते हैं—'मूढ़ न समुझें लेस' से उनका यही तात्पर्य है। भक्तिक्षेत्र मे तत्त्व-बोध के इच्छुक साधक जिस प्रकार सांसारिक विषयों से विरत रहते हैं, उसी प्रकार नैतिक-आध्यात्मिक अनुभूतियो से सम्पन्न कविता का अध्ययन करनेवालों से भी यह अपेक्षित है कि वे वर्ण्य के अनुरूप विवेकपूर्ण अर्थ-ग्रहण और औचित्य-दृष्टि को सर्वोपरि महत्त्व दें। 'मेरी मति' और 'ग्याता' के समानान्तर प्रयोग से यह भी लक्षित होता है कि हंसवत् विवेक कवि और सहृदय का समान गुण है—विमल ज्ञान के अभाव मे न तो कवि की अनुभूति और अभिव्यक्ति मे तारतम्य सम्भव होगा और न सहृदय की अर्थग्रहण-क्षमता का सम्यक् विकास हो सकेगा। आरम्भ मे सभी सहृदय विवेकी नहीं होते, विवेक का उदय होने पर जब बुद्धि का क्रमशः परिष्कार होता है तभी वे रचना के ग्राह्य-अग्राह्य गुणावगुणों की समीक्षा में सफलतापूर्वक प्रवृत्त होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बनारसीदास की काव्य-दृष्टि सन्त कवियो की भांति स्वानुभूति और अध्यात्म-तत्त्व से अनुप्राणित रही है। उन्होंने काव्य में अनुभूत सत्य और मर्यादाबद्ध भाव-वर्णन पर बल दिया है और मनोविकार-नाश तथा मोक्ष-लाभ को सत्काव्य के सहज फल स्वीकार किया है। आस्तिक बुद्धि के कारण उन्होने अपनी काव्य-प्रतिभा का श्रेय स्वयं को न देकर उसे देवी सरस्वती और पार्श्वनाथ जिनराज की अनुकंपा से स्फूर्त माना है। इसमें संदेह नहीं कि संक्षिप्त और स्फुट रूप मे उपलब्ध होने पर भी उनके विचार संगत और महत्त्वपूर्ण हैं।

महाकवि बनारसीदास साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहो से मुक्त सन्त स्वभाव के पुरुष थे। उस महाप्राण की सरलता एवं शालीनता के कारण अनेक किंवदन्तियाँ उनके विषय में प्रचलित हो गई हैं। जैन धर्म की शास्त्र सभाओं मे प्रायः धर्माचार्यों से लेकर विद्वत् समाज तक उनके जीवन की अनेक घटनाओ को प्रेरक कथाओ के माध्यम से प्रस्तुत किया करता है।

सरल एवं सौम्य व्यक्तित्व के धनी कवि श्री बनारसीदास जी का जन्म श्वेताम्बर जैन से सम्बन्धित श्रीमाल कुल मे हुआ था। भारतीय भक्ति साहित्य के प्रेरक स्वरों से प्रभावित होकर उन्होने अपने को सीमित दायरे से बाँधे नहीं रखा। अपनी काव्य-साधना में उन्होने दिगम्बर मुनि के २८ मूल गुणों का वर्णन चौपाइयों और दोहों में किया है। दिगम्बर मुनियों की झांकी उनके काव्य मे दृष्टिगोचर होती है·

"उत्तम कुल श्रावक संचार, तासु गेह प्रासुक आहार।
भुंजै दोष छियालिस टाल, सो मुनि बन्दौं सुरति सँभाल॥
भूमि शयन मंजन तजन, वसन त्याग कच लोच।
एक बार लघु असन, थिति-असन दंतवन मोच॥
द्विविधि परिग्रह, दशविधि, ज्ञान, संग, असंख्य अनन्त बखान।
सकल संग तज होय निरास, सो मुनि लहै मोक्ष पद वास॥
लोक लाज विगलित भयहीन, विषय वासना रहित अदीन।
नगन दिगम्बर मुद्राधार, सो मुनिराज जगत सुखकार॥
सघन केस गर्भित मलकीच, तत असंख्य उतपति लघु बीच।
कच लुंचै यह कारन जान, सो मुनि नमहुं जोर जुग पान॥

जैन हिन्दी-पूजा-काव्य में अष्टद्रव्य और उनका प्रतीकार्थ

डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

पूजनं इति पूजा। पूजा शब्द 'पूज' धातु से बना है जिसका अर्थ है अर्चन करना।[1] जैन शास्त्रों में सेवा-सत्कार को वैयावृत्य कहा है तथा पूजा को वैयावृत्य माना है। देवाधिदेव चरणों की वंदना ही पूजा है।[2]

जैन धर्मानुसार पूजा-विधान को दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है[3] यथा—

(क) भाव पूजा

(ख) द्रव्य पूजा

मूल में भाव पूजा का ही प्रचलन रहा है। कालान्तर में द्रव्यरूपा का प्रचलन हुआ है। द्रव्यरूपा में आराध्य के स्थापन की परिकल्पना की जाती है और उसकी उपासना भी द्रव्यरूप में हुआ करती है। जैन दर्शन कर्म प्रधान है। समग्र कर्म-कुल को यहां आठ भागों में विभाजित किया गया है। इन्हीं के आधार पर अष्टद्रव्यों की कल्पना स्थिर हुई है।[4]

जैन-धर्म में पूजा-सामग्री को अर्घ्य कहा गया है। वस्तुतः पूजा द्रव्य के सम्मिश्रण को अर्घ्य कहते हैं। जैनेतर लोक में इसे प्रभु के लिए भोग लगाना कहते हैं। भोग्य सामग्री का प्रसाद रूप में सेवन किया जाता है पर जिन वाणी में इसका भिन्न अभिप्राय है। जैन पूजा में अर्घ्य निर्माल्य होता है। वह तो जन्म जरादि कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्ति के लिए शुभ संकल्प का प्रतीक होता है।[5] अतएव अर्घ्य सर्वथा अखाद्य होता है। जैन-हिन्दी-पूजा-काव्य में इस कल्पना का मौलिक रूप सुरक्षित है।

जैन भक्ति में पूजा का विधान अष्टद्रव्यों से किया गया है। पूजा काव्य में प्रयुक्त अष्टद्रव्य अग्रांकित हैं—यथा—१. जल, २. चन्दन, ३. अक्षत, ४. पुष्प, ५. नैवेद्य, ६. दीप, ७. धूप, ८. फल। इन द्रव्यों का क्षेपण अलग-अलग अष्ट फलों की प्राप्ति के लिए शुभ संकल्प रूप है। यहाँ पर इन्हीं अष्ट द्रव्यों का विवेचन करना हमारा मूलाभिप्रेत है।

जल—'जायते' इति 'ज', 'जीयते' इति 'ज' तथा 'लीयते' इति 'ल'। 'ज' का अर्थ जन्म, 'ल' का अर्थ लीन। इस प्रकार 'ज' तथा 'ल' के योग से जल शब्द निष्पन्न हुआ जिसका अर्थ है—जन्म मरण।

लौकिक जगत् में 'जल' का अर्थ पानी है तथा ऐहिक तृषा की तृप्ति हेतु व्यवहृत है। जैन दर्शन में 'जल' का अर्थ महत्त्वपूर्ण है तथा उसका प्रयोग एक विशेष अभिप्राय के लिए किया जाता है। पूजा प्रसंग में जन्म, जरा, मृत्यु के विनाशार्थ प्रासुक जल का अर्घ्य आवश्यक है। जैन-हिन्दी-पूजा में अनंत ज्ञानी तथा अनंत शक्तिशाली, जन्म, जरा, मृत्यु से परे, स्वयं मुक्त तथा मुक्ति मार्ग के निर्देशक महान्

---

१. राजेन्द्र अभिधानकोश, भाग ४, पृ० १०७३

२. देवाधिदेव चरणे परिचरणं सर्वदुःख निर्हरणम्।
   कामदुहिकामदाहिनि परिचिनुयादाहतो नित्यम्॥
   समीचीन धर्मशास्त्र, सम्पादक आचार्य समन्त भद्र, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, पृ० १५५, श्लोक संख्या, ५/२६

३. हिन्दी का जैन पूजा काव्य, डा० महेन्द्र सागर प्रचण्डिया, संगृहीत ग्रन्थ—भारतवाणी, तृतीय जिल्द, एशिया पब्लिशिंग हाउस, ७-न्यूयार्क, पृ० ५१८

४. जैन कवियों द्वारा रचित हिन्दी पूजा काव्य की परम्परा और उसका आलोचनात्मक अध्ययन, आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', आगरा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत पी-एच०डी० का शोधप्रबन्ध, सन् १९७८, पृ० १८४

५. सागार धर्मामृत, आशाधर, प्रकाशक—मूलचंद किसनदास कापड़िया, सूरत, प्रथम संस्करण वीर सं० २४४१, पृ० १०१, श्लोक सं० ३०

परमात्मा की अपने आत्मा पर लगे कर्म फल को साफ़ करने के लिए पूजा में जल का उपयोग किया जाता है।[1]

जैन-हिन्दी-पूजा-काव्य में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ-व्यञ्जना में हुआ है। अठारहवीं शती के पूजा कवि द्यानतराय ने 'श्री देवशास्त्र गुरु पूजा' नामक रचना में 'जल' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में सफलतापूर्वक किया है।[2]

उन्नीसवीं शती के कविवर वृन्दावन द्वारा रचित 'श्री वासुपूज्य जिन पूजा' नामक कृति में जल शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है।[3]

बीसवीं शती के पूजाकार राजमलपवैया विरचित 'श्री पंचपरमेष्ठी पूजन' नामक काव्य कृति में 'जल' शब्द इसी अर्थ की स्थापना करता है।[4]

चन्दन—'चदि आल्हादने' धातु से चन्दयति अह्लादयति इति चन्दनम्। लौकिक जगत् मे चंदन एक वृक्ष है जिसकी लकड़ी के लेपन का प्रयोग ऐहिक शीतलता के लिए किया जाता है। जैन दर्शन में 'चन्दन' शब्द प्रतीकार्थ है। वह सांसारिक ताप को शीतल करने के अर्थ में प्रयुक्त है।[5] जैन-हिन्दी-पूजा में सम्पूर्ण मोह रूपी अंधकार को दूर करने के लिए परम शान्त वीतराग स्वभावयुक्त जिनेन्द्र भगवान की केशर-चन्दन से पूजा की जाती है। परिणामस्वरूप हार्दिक कठोरता, कोमलता और विनयप्रियता मे परिवर्तित होकर प्रकट हो। ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर भक्त के लिए सम्यग् दर्शन का सन्मार्ग प्रशस्त हो सकेगा।[6]

जैन-हिन्दी-पूजा-काव्य मे चन्दन शब्द का प्रयोग उक्त अर्थ मे हुआ है। १८ वी शती के कवि द्यानतराय रचित 'श्री नंदीश्वर द्वीप पूजा' नामक रचना में चन्दन शब्द का व्यवहार परिलक्षित है।[7]

उन्नीसवीं शती के पूजा कवि रामचन्द्र प्रणीत 'श्री अनन्तनाथ जिन पूजा' नामक पूजा कृति में 'चंदन' शब्द उल्लिखित है।[8] बीसवीं शती के पूजा काव्य के रचयिता सेवक ने 'चंदन' शब्द का प्रयोग 'श्री आदिनाथ जिन पूजा' नामक पूजा रचना में इसी अभिप्राय से सफलतापूर्वक किया है।[9]

अक्षत—न क्षतं अक्षतं। अक्षत शब्द अक्षय पद अर्थात् मोक्ष पद का प्रतीक है। अक्षत का शाब्दिक अर्थ है वह तत्त्व जिसकी क्षति न हो। अक्षत का क्षेपण कर भक्त अक्षय पद की प्राप्ति कर सकता है।

जिस प्रकार अक्षत या चावल में उत्पाद-व्यय रूप समाप्त हो जाता है उसी प्रकार जीवात्मा भी रत्नत्रय[10] का पालन करता हुआ अक्षत द्रव्य का क्षेपण कर आवागमन से मुक्ति या अक्षय पद की प्राप्ति का शुभ सकल्प करता है। प्राकृत ग्रन्थ 'तिलोय पण्णत्ति' में अक्षत शब्द का प्रयोग नही करके तंदुल रूप का प्रयोग किया है[11] तथा उसी भाषा का अन्य ग्रंथ 'वसुनंदि श्रावकाचार' में अक्षत शब्द का व्यवहार इसी अर्थ-व्यञ्जना में व्यञ्जित है।[12] जैन हिन्दी पूजा में आत्मा को पूर्ण आनद का विहार केन्द्र बनाने के लिए परम मंगल भाव युक्त जिनेन्द्र के सामने अक्षत से स्वस्तिक बनाकर भव्यजन चार गतियो (मनुष्य, देव, तिर्यंच, नरक गति) का बोध कराते हैं। स्वस्तिक के ऊपर तीन

---

१ ओउम् ह्रीं परम परमात्मने अनन्तानन्त ज्ञान शक्तये जन्म जरा मृत्यु निवारणाय श्रीमज्जिनेन्द्राय जल यजामहे स्वाहा।
जिनपूजा का महत्त्व, श्री मोहनलाल पारसान, सार्द्धशताब्दि स्मृति ग्रंथ, सार्द्ध शताब्दी महोत्सव समिति, १३६, काटन स्ट्रीट, कलकत्ता-७, सन् १९६५, पृ० ५४।

२. द्यानतराय, श्री देवशास्त्र गुरु पूजा।

३. श्री वासुपूज्य जिन पूजा, वृ दावन।

४. श्री पचपरमेष्ठीपूजन, राजमल पवैया।

५. सागार धर्मामृत, ३०-३१, जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग ३, जिनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, सवत् २०२९, पृ० ७९

६. सकल मोह तमिस्र विनाशन,
परम शीतल भावयुत जिन।
विनय कुकुम चदन दर्शनै
सहज तत्त्व विकास कृतेऽर्चये।
जिन पूजा का महत्त्व, श्री मोहनलाल पारसान, सार्द्ध शताब्दि स्मृति ग्र थ, सार्द्ध शताब्दी महोत्सव समिति, १३६, काटन स्ट्रीट, कलकत्ता-७, सन् १९६५, पृ० ५४

७. श्री नदीश्वर द्वीप पूजा, द्यानतराय।

८. श्री अनन्तनाथ जिनपूजा, रामचन्द्र।

९. श्री आदिनाथ जिनपूजा, सेवक।

१०. रत्नत्रय-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।
तत्त्वार्थसूत्र, प्रथम श्लोक, प्रथम अध्याय, उमास्वामि।

११. तिलोयपण्णत्ति २२४, जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग ३, जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, २०२९, पृ० ७८

१२. वसुनदि श्रावकाचार ३२१, जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग ३, जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, २०२९, पृ० ७८

बिन्दुओं से सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्र का, ऊपर चन्द्र से सिद्धशिला का तथा बिन्दु से सिद्धों का बोध कराते हैं। इस प्रकार सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चरित्र ही भव्य जीव को मोक्ष प्राप्त कराते हैं।[1] जैन वाङ्मय में अक्षत से पूजा करने वाले भक्त का मोक्ष प्राप्त हो जाने का कथन प्राप्त होता है।[2]

प्राकृत और अपभ्रंश से होता हुआ 'अक्षत' शब्द अपना यही अर्थ समेटे हुए हिन्दी में भी गृहीत है। जैन-हिन्दी-पूजा-काव्य में १८वीं शती के कवि द्यानतराय प्रणीत 'श्री अथ पंचमेरु पूजा' नामक कृति में अक्षत शब्द उल्लिखित है।[3] उन्नीसवीं शती के पूजाकार मनरंगलाल विरचित 'श्री नेमिनाथ जिन पूजा' नामक रचना में अक्षत शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है।[4] बीसवीं शती के पूजा काव्य के प्रणेता कुंजिलाल विरचित 'श्री पार्श्वनाथ जिन पूजा' नामक कृति में अक्षत शब्द का व्यवहार इसी अभिप्राय से हुआ है।[5]

पुष्प—पुष्यति विकसति इह पुष्पः। पुष्प कामदेव का प्रतीक है। लोक में इसका प्रचुर प्रयोग देखा जाता है। जैन काव्य में पुष्प का प्रतीकार्थ है। पुष्प समग्र ऐहिक वासनाओं के विसर्जन का प्रतीक है। पुष्प से पूजा करने वाला कामदेव सदृश देह वाला होता है तथा इसके क्षेपण से सुन्दर देह तथा पुष्पमाला की प्राप्ति का उल्लेख मिलता है।[6] संस्कृत, प्राकृत वाङ्मय में पुष्प शब्द के प्रतीकार्थ की परम्परा हिन्दी जैन काव्य में भी सुरक्षित है। यहां पुष्प कामनाओं के विसर्जन के लिए पूजा काव्य में गृहीत है।

जैन-हिन्दी-पूजा में खिले हुए सुन्दर सुगन्ध युक्त पुष्पों से केवलज्ञानी जिनेन्द्र भगवान् की पूजा कर मन-मंदिर को प्रसन्नता से खिला दो। मन पवित्र-निर्मल बन जाने से ज्ञान-चक्षु खुल जाएंगे व विशुद्ध चेतन स्वभाव प्रकट होगा जिससे अनुभव रूपी पुष्पों से आत्मा सुवासित हो जाएगा।[7] जैन-हिन्दी-पूजा-काव्य में १८वीं शती के पूजा कवि द्यानतराय प्रणीत 'श्री चारित्र पूजा' नामक रचना में पुष्प शब्द इसी अर्थ-व्यञ्जना में व्यवहृत है।[8] उन्नीसवीं शती के पूजा कवि बख्तावररत्न प्रणीत 'श्री पार्श्वनाथ जिन पूजा' नामक पूजा कृति में पुष्प शब्द उक्त अर्थ में प्रयुक्त है।[9] बीसवीं शती के पूजा रचयिता हीराचंद रचित 'श्री चतुर्विंशति तीर्थंकर समुच्चय पूजा' में पुष्प शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है।[10]

नैवेद्य—निश्चयेन वेद्यं गृह्ठी यम क्षुधा निवारणाय। नैवेद्य वह खाद्य पदार्थ है जो देवता पर चढ़ाया जाता है।[11] किन्तु जैन

१.

सकल मगल केलिनिकेतन,
परम मंगल भावमय जिन।
श्रयति भव्यजनाइति दर्शयन्,
दधतु नाथ पुरोऽक्षत स्वस्तिक॥

जिनपूजा का महत्त्व, श्री मोहनलाल पारसान, सार्द्ध शताब्दि स्मृति ग्रंथ, प्रकाशक—सार्द्ध शताब्दि महोत्सव समिति, १३६, काटन स्ट्रीट, कलकत्ता-७, सन् १९६५, पृ० ५५

२ वसुनंदि श्रावकाचार, ३२१, जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग ३, जिनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, २०२६, पृ० ७८

३. श्री अथ पंच मेरुपूजा, द्यानतराय।

४. श्री नेमिनाथ जिनपूजा, मनरंगलाल।

५. श्री पार्श्वनाथ जिनपूजा, कुंजिलाल।

६. वसुनंदि श्रावकाचार, ४८५, जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग ३, जिनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, २०२६, पृ० ७८

७. विकच निर्मल शुद्ध मनोरमैः,
विशद चेतन भाव समुद्भवैः।
सुपरिणाम प्रसून घनैर्नवैः,
परम तत्त्वमयं हियजाम्यह॥

जिनपूजा का महत्त्व, श्री मोहनलाल पारसान, सार्द्ध शताब्दि स्मृति ग्रंथ, सार्द्ध शताब्दी महोत्सव समिति, १३६, काटन स्ट्रीट, कलकत्ता-७, सन् १९६५, पृ० ५५

८. श्री रत्नत्रय पूजा, द्यानतराय।

९. श्री पार्श्वनाथ जिनपूजा, बख्तावररत्न।

१०. श्री चतुर्विंशति तीर्थंकर समुच्चय पूजा, हीराचंद।

११. सागार धर्मामृत ३०-३१

वाङ्मय में यह विशेष रूप से प्रतीकार्थ रूप में प्रचलित है। वहा आर्ष ग्रथो मे कान्ति, तेज, सम्पन्नता के लिए यह शब्द व्यवहृत है। जैन-हिन्दी-पूजा-काव्य में क्षुधा रोग को शान्त करने के लिए चढ़ाया गया मिष्ठान्न वस्तुतः नैवेद्य कहलाता है।[1]

जैन-हिन्दी-पूजा मे समस्त पुद्गल भोग एव सयोग से मुक्त होने के लिए अपने सहज आत्म स्वभाव का स्वाद लेते रहने के लिए हे भगवान् ! हम सरस भोजन आपके सामने चढाते हैं फलस्वरूप हमे समस्त विषय-वासनाओ, भोग की इच्छा से निवृत्ति प्राप्त हो।[2]

नैवेद्य शब्द अपने इसी अभिप्राय को लेकर जैन-हिन्दी-पूजा-काव्य मे अठारहवी शती के पूजा कवि द्यानतराय प्रणीत 'श्री बीस तीर्थंकर पूजा' नामक रचना मे व्यवहृत है।[3] उन्नीसवी शती के पूजा कवि बख्तावररत्न विरचित 'श्री कुंथुनाथ जिन पूजा' नामक कृति में नैवेद्य शब्द परिलक्षित है।[4] बीसवी शती के पूजा कवि दौलतराम विरचित 'श्री पावापुर सिद्ध क्षेत्र पूजा' नामक रचना मे नैवेद्य शब्द इसी अभिप्राय से व्यवहृत है।[5]

दीप—दीप्यते प्रकाश्यते मोहान्धकार विनश्यति इति दीर्घं। दीप का अर्थ लोक मे 'दिया' प्रकाश का उपकरण विशेष के लिए व्यवहृत है। जैन-हिन्दी-पूजा-काव्य मे इस शब्द का प्रयोग प्रतीकार्थ मे हुआ है। मोहान्धकार को शान्त करने के लिए दीप रूपी ज्ञान का अर्घ्य आवश्यक है। भवि जीव निर्मल आत्मबोध के विकास के लिए जिन मंदिर मे घृत दीपक जलावे फलस्वरूप उनके मन-मंदिर में सद्गुण (अहिंसा, संयम, इच्छारोध तप) रूपी दीप का प्रकाश फैल जाय।[6] पूजा मे आवश्यक सामग्री मे गोले (नारियल) के श्वेतशकल 'दीप' का प्रतीकार्थ लेकर दीप शब्द प्रयोग में आता है।[7]

अठारहवी शती के पूजाकार द्यानतराय ने 'श्री निर्वाण क्षेत्र पूजा' नामक पूजा कृति मे 'दीप' शब्द का उक्त अर्थ के लिए व्यवहार किया है।[8] उन्नीसवी शती के पूजा रचयिता मल्ल जी रचित 'श्री क्षमावाणी पूजा' नामक रचना मे 'दीप' शब्द इसी अभिप्राय से गृहीत है।[9] बीसवी शती के पूजाकार भविलालजू कृत 'श्री सिद्ध पूजा भाषा' नामक रचना मे 'दीप' शब्द व्यञ्जित है।[10]

धूप—धूप्यते अष्ट कर्मणा विनाशो भवति अनेन अतोधूप.। धूप गन्ध द्रव्यों से मिश्रित एक द्रव्य-विशेष है जो मात्र सुगंधि के लिए अथवा देव-पूजन के लिए जलाया जाता है। जैन दर्शन में यह सुगन्धित द्रव्य 'धूप' शब्द प्रतीकार्थ है तथा पूजा प्रसग मे अष्ट कर्मों का विनाशक माना गया है।

जैन-हिन्दी-पूजा मे अशुभ पाप के संग से बचने के लिए समस्त कर्म रूपी ईंधन को जलाने के लिए प्रफुल्लित हृदय से जिनेन्द्र भगवान् की सुगंधित धूप-पूजा की जाती है ताकि शुद्ध सवर रूप आत्मिक शक्ति का विकास हो जिससे कर्मबध रुक जाए।[11]

---

१. वसुनदि श्रावकाचार, ४८६

२. सकल पुद्गल सग विवर्जन,
सहज चेतन भाव विलासक।
सरस भोजन नव्य निवेदनात्,
परम तत्त्वमय हियजाम्यह ॥
जिनपूजा का महत्त्व, श्री मोहनलाल पारसान, सार्द्ध शताब्दी स्मृति ग्रथ, पृ० ५५

३. श्री बीस तीर्थंकर पूजा, द्यानतराय।

४. श्री कुंथुनाथ जिनपूजा, बख्तावररत्न।

५. श्री पावापुर सिद्ध क्षेत्र पूजा, दौलतराम।

६. भविक निर्मल बोध विकाशक,
जिनगृहे शुभ दीपक दीपन।
सुगुण राग विशुद्ध समन्वित,
दधतुभाव विकाशकृते जना:।
जिनपूजा का महत्त्व, श्री मोहनलाल पारसान, सार्द्ध शताब्दि स्मृति ग्रथ, पृ० ५७

७. सागारधर्मामृत—३०-३१

८. श्री निर्वाण क्षेत्र पूजा, द्यानतराय।

९. श्री क्षमावाणीपूजा, मल्लजी।

१०. श्री सिद्धपूजा भाषा, भविलालजू।

११. सकल कर्म्म महेधन दाहन,
विमल सवर भाव सुधूपन।
अशुभ पुद्गल सग विवर्जित,
जिनपतेः पुरतोऽस्तुसुहर्षितः ॥
जिनपूजा का महत्त्व, श्री मोहनलाल पारसान, सार्द्ध शताब्दि स्मृति ग्रथ, पृ० ५५

जैन-हिन्दी-पूजा-काव्य में अठारहवी शती के पूजाकार द्यानतराय प्रणीत 'श्री रत्नत्रय पूजा' नामक रचना मे 'धूप' शब्द का उल्लेख मिलता है।[1] उन्नीसवी शती के पूजा कवि कमलनयन प्रणीत 'श्री पंचकल्याणक पूजा पाठ' नामक कृति मे 'धूप' शब्द का व्यवहार दृष्टिगोचर होता है।[2] बीसवी शती के पूजा रचयिता जिनेश्वर दास विरचित 'श्री चन्द्र प्रभु पूजा' नामक रचना मे 'धूप' शब्द इसी आशय से गृहीत है।[3]

फल — फल मोक्षं प्रापयति इति फलम्। फल का लौकिक अर्थ परिणाम है। जैन धर्म में फल शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में हुआ है। पूजा प्रसग मे मोक्ष पद को प्राप्त करने के लिए क्षेपण किया गया द्रव्य वस्तुत. फल कहलाता है।[4]

जैन-हिन्दी-पूजा मे दु.खदायी कर्म के फल को नाश करने के लिए मोक्ष का बोध देने वाले वीतराग प्रभो के आगे सरस, पके फल चढ़ाते हैं फलस्वरूप भक्त को आत्मसिद्धि रूप मोक्ष फल प्राप्त हो।[5]

जैन-हिन्दी-पूजा-काव्य मे अठारहवी शती के पूजा कवि द्यानतराय ने फल शब्द का व्यवहार 'श्री सोलह कारण पूजा' नामक रचना मे किया है।[6] उन्नीसवी शती के पूजाकार मल्लजी रचित 'श्री क्षमावाणी पूजा' नामक रचना मे फल शब्द उक्त अभिप्राय से अभिव्यक्त है।[7] बीसवी शती के पूजा प्रणेता युगल किशोर 'युगल' द्वारा विरचित 'श्री देवशास्त्र गुरु पूजा' नामक रचना मे फल शब्द का प्रयोग इसी अर्थ-व्यञ्जना मे हुआ है।[8]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन भक्त्यात्मक प्रसंग मे पूजा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। द्रव्य पूजा मे अष्ट द्रव्यो का उपयोग असंदिग्ध है। यहा इन सभी द्रव्यो मे जिस अर्थ अभिप्राय को व्यक्त किया गया है, हिन्दी-जैन-पूजा-काव्य में वह विभिन्न शताब्दियों के रचयिताओ द्वारा सफलतापूर्वक व्यवहृत है। जैन-हिन्दी-पूजा-काव्य मूल रूप मे प्रवृत्ति से निवृत्ति का सदेश देता है साथ ही भक्त को सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरणा देता है।

बौद्ध धर्म मे बोधिचित्तोत्पाद के बिना कोई व्यक्ति बोधिसत्त्व की चर्या अर्थात् शिक्षा ग्रहण का अधिकारी नही होता। बोधिचित्त-ग्रहण के लिए सबसे पहले बुद्ध, सद्धर्म तथा बोधिसत्त्वगण की पूजा आवश्यक है। यह पूजा मनोमय पूजा है। शान्तिदेव मनोमय पूजा का हेतु देते हैं

> **अपुण्यवानस्मि महादरिद्रः पूजार्थमन्यन्मम नास्ति किञ्चित्।**
> **अतो ममार्थाय परार्थचित्ता गृह्णन्तु नाथा इदमात्मशक्त्या।** बोधि० परि० २, ६

अर्थात् मैने पुण्य नही किया है, मैं महादरिद्र हूँ, इसीलिए पूजा की कोई सामग्री मेरे पास नही है। भगवान् महाकारुणिक हैं, सर्वभूत-हित मे रत है। अत: इस पूजोपकरण को नाथ! ग्रहण करे। अकिंचन होने के कारण आकाशधातु का जहां तक विस्तार है, तत्पर्यन्त निखशेष पुष्प, फल, भैषज्य, रत्न, जल, रत्नमय पर्वत, वन-प्रदेश, पुष्पलता, वृक्ष, कल्पवृक्ष, मनोहर तटाक तथा जितनी अन्य उपहार वस्तुएँ प्राप्त हैं, उन सबको बुद्धो तथा बोधिसत्वों के प्रति वह दान करता है, यही अनुत्तर दक्षिणा है। यद्यपि वह अकिंचन है, पर आत्मभाव उसकी निज की सम्पत्ति है, उस पर उसका स्वामित्व है। इसलिए वह बुद्ध को आत्मभाव समर्पण करता है। भक्तिभाव से प्रेरित होकर वह दासभाव स्वीकार करता है। भगवान् के आश्रय मे आने से वह निर्भय हो गया है। वह प्रतिज्ञा करता है कि अब मैं प्राणिमात्र का हित साधन करूँगा, पूर्वकृत पाप का अतिक्रमण करूँगा, और फिर पाप न करूँगा।

आचार्य नरेन्द्रदेव कृत बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृ० १८६-१८७ से साभार

---

१. श्री रत्नत्रयपूजा, द्यानतराय।
२. श्री पचकल्याणक पूजा पाठ कमलनयन।
३. श्री चन्द्रप्रभुपूजा, जिनेश्वरदास।
४. वसुनंदि श्रावकाचार, ४८८
५. कटुककर्मविपाकविनाशन,
   सरस पक्वफल व्रज ढौकन।
   वहति मोक्षफलस्य प्रभो पुर,
   कुरुत सिद्धिफलाय महाजना॥
   जिनपूजा का महत्त्व, श्री मोहनलाल पारसान, सार्द्ध शताब्दी स्मृति ग्रथ, पृ० ५५
६. श्री सोलहकारणपूजा, द्यानतराय।
७. श्री क्षमावाणीपूजा, मल्लजी।
८. श्री देवशास्त्र गुरुपूजा, युगलकिशोर 'युगल'।

हिन्दी के विकास में जैन विद्वानों का योगदान

☐ डॉ० प्रेमचन्द्र रांवका

हिन्दी भारतवर्ष की प्रधान भाषा है। इस विशाल देश की बहुत बडी सख्या हिन्दी भाषा के किसी न किसी रूप का व्यवहार करती है। जन-जन की भाषा होने से इसे झोपडी से लेकर महलों तक आदर प्राप्त हुआ है। इस भाषा मे विपुल परिमाण मे साहित्य रचा गया है। अब तक सैकडो ही नही अपितु हजारों कवियो ने इस भाषा में अपनी विविध कृतियो मे मा भारती के भण्डार को भरा है। वस्तुत: इस भाषा का साहित्य लोक-भाषा का साहित्य है।

भारतीय सस्कृति के पिछले हजार वर्षों के रूप को समझने के लिए हिन्दी एकमात्र तो नही लेकिन सर्वप्रधान साधन अवश्य है। हिन्दी भाषा की उत्पत्ति के साथ ही भारतीय संस्कृति एक विशेष दिशा की ओर मुडती है। भारतीय सस्कृति की जो छाप प्रारम्भ की हिन्दी भाषा पर पडी है वह इतनी स्पष्ट है कि केवल भाषा के अध्ययन से ही हम भारतीय सस्कृति के विभिन्न रूपो का अनुमान लगा सकते हैं। हिन्दी भाषा मे उपलब्ध साहित्य का मूल्य केवल साहित्यिक क्षेत्र मे ही नही है, वह हमारे पिछले हजार वर्षों के सास्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक अवस्थाओ के अध्ययन का भी सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है। समूचे मध्य युग के अध्ययन के लिए सस्कृत की अपेक्षा इस भाषा का साहित्य कही अधिक उपादेय और विश्वसनीय है। यह लोक-जीवन का सच्चा और सर्वोत्तम निर्देशक है।

सस्कृत, प्राकृत एव अपभ्रंश की भाति हिन्दी भाषा मे भी विशाल परिमाण मे जैन साहित्य रचा गया है। जैनाचार्यों, सतो एव कवियों का भाषा-विशेष के प्रति कभी आग्रह नही रहा। उन्होने तो जन सामान्य की उपयोगिता की दृष्टि से अपने समय की लोकभाषा को अपने काव्य-सृजन का माध्यम बनाया। यही कारण है कि भारत की सभी प्रसिद्ध भाषाओ मे जैन कवियो द्वारा रचित साहित्य मिलता है।

सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन मे जैन साहित्य सामाजिक, सास्कृतिक एव धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है। यह साहित्य भारतीय वाङ्मय का अपरिहार्य अग है। जर्मन विद्वान् डॉ० एम० विण्टरनिट्ज का कथन है कि भारतीय भाषाओं के इतिहास की दृष्टि से भी जैन साहित्य बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योकि जैन सदा इस बात का ध्यान रखते थे कि उनका साहित्य अधिक से अधिक जनता को प्रभावित करे। इसी कारण जैन विद्वानो ने हिन्दी भाषा मे भी प्रचुर साहित्य रचा। परन्तु खेद है कि हिन्दी म सातवी से चौदहवी शताब्दी तक लोक भाषा मे जिस साहित्य का सृजन हुआ, उसकी उपेक्षा ही रही, जिसका परिणाम परवर्ती जैन साहित्य पर भी पडा।

जैन कवियो द्वारा रचित साहित्य को धार्मिक साहित्य की सज्ञा देकर वर्षो तक उसे साहित्य की परिधि मे परिगणनीय नही समझा गया। यही कारण है कि समूचे हिन्दी साहित्य के इतिहास मे इस तरह के कुछ कवियो को छोडकर शेष कवि अछूते ही रहे। परन्तु क्या जैन साहित्य मात्र धार्मिक साहित्य ही है ? क्या वह साहित्य की परिसीमा मे परिगणनीय नही है ? इस सबध मे अपने 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' मे आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी न जो तथ्य प्रस्तुत किये है वे उल्लेखनीय हैं। उनके अनुसार धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्य की सज्ञा से वचित नही हो सकती। साहित्य मे धार्मिकता एव आध्यात्मिकता कोई बाधा नही है। यह तो उसका अपना वैशिष्ट्य है। हिन्दी साहित्य का आदिकाल जैन कवियो की रचनाओं मे परिपुष्ट ही नही, उसके बिना अपूर्ण ही रहेगा। इस काल के अनेक उच्च कोटि के कवियो में स्वयभू, पुष्पदन्त, योगीन्द्र, धनपाल, हरिभद्र सूरि, हेमचन्द्र, रामसिह, सोमप्रभ सूरि, मेरुतुग, देवसेन आदि हैं। इनके काव्य मे मानव जीवन का पूर्ण चित्र प्राप्त होता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रथम भारतीय लेखक श्री शिवसिह सेंगर जैन कवि 'पुष्पदत' को हिन्दी का आदिकवि मानकर हिन्दी साहित्य का प्रारंभ सन् ७७० से मानते है और पुष्पदत के अलंकार-ग्रन्थ को हिन्दी की प्रथम रचना। 'हिन्दी काव्यधारा' के लेखक श्री राहुल साकृत्यायन ने 'स्वयम्भू' को आदि कवियो मे श्रेष्ठ माना है। राहुल जी का कथन है कि इन जैन कवियों का विस्मरण करना हमारे लिए हानि की वस्तु होगी। ये कवि हिन्दी काव्य-धारा के प्रथम स्रष्टा थे। वे जैनेतर कवि अश्वघोष, भास, कालिदास और बाण की जूठी पत्तलें नही चाटते रहे, बल्कि उन्होने एक योग्य पुत्र की तरह हमारे काव्य-क्षेत्र मे नया सृजन किया है। नये चमत्कार, नये भाव पैदा किये। यह

स्वयंभू आदि की कविताओं से प्रमाणित होता है। दोहा, सोरठा, चौपाई, छप्पय आदि कई सौ ऐसे नये-नये छन्दों की सृष्टि की जिन्हें हिन्दी कवियों ने बराबर अपनाया। हमारे विद्यापति, कबीर, सूर, जायसी, तुलसी आदि के ये कवि ही उपजीव्य और प्रेरक रहे हैं। उन्हें भुलाकर मध्य काल में हमें बहुत क्षति हुई। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार यह काल भारतीय विचारों के मथन का काल है और इसीलिए महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी के काव्य-रूपो के उद्भव और विकास का आरम्भ यही काल है। ये कवि और काव्य नाना दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण हैं।

जैन साहित्यकारो का प्रथम ध्येय यद्यपि अपने मत के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करना था; तथापि वे साहित्य तत्त्व से पूर्ण थे। इन कवियो ने पुराणो से, अनुश्रुतियों से और लोककथाओ से आख्यान लेकर अपने काव्यो की रचना की। स्वयमू की सर्वोत्कृष्ट रचना पउमचरिउ है जिसमे कथा-प्रसंगो की मार्मिकता, चरित्र चित्रण की पटुता, प्रकृति वर्णन की उत्कृष्टता और अलंकारिक तथा हृदय + स्पर्शी उक्तियो की प्रचुरता है। इनकी राज-स्तुतियां तो ज्यो-की-त्यों आदि काल की प्रमुख प्रवृत्ति ही बन गई। स्वयमू की अन्य कृतियों मे रिट्ठणेमि चरिउ, पचमी चरिउ, स्वयमू छन्द आदि हैं। पुष्पदन्त का णयकुमार चरिउ, जसहर चरिउ, महापुराण, तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार, धनपाल की भविसयत्त कहा, योगीन्द्र का परमात्मप्रकाश, हेमचन्द्र का शब्दानुशासन, मेरुतुग की प्रबध चितामणि, देवसेन का पाहुड दोहा आदि मुख्य कृतियां है।

इन कवियो ने मुक्तक और प्रबध दोनो प्रकार की रचनाए की जिनमे परवर्ती भाषा-काव्य की अनेक प्रवृत्तियों का बीज निहित था। रासोबंध नामक काव्य के विविध छद समन्वित रूप का प्रयोग भी इसी काल मे आरम्भ हुआ जिससे वीर गाथा का वर्णन करने वाले पृथ्वीराज रासो जैसे रासो काव्यो की परम्परा चली। हिन्दी साहित्य के इतिहास मे जितनी रासो-सज्ञक रचनाए जैन कवियो ने रची उतनी किसी ने नही।

जैन विद्वानो एव कवियों ने फाग और चर्चरी जैसे अनेक लोक-प्रचलित गानो का भी उपयोग किया है। कबीरदास के चाचर और तुलसीदास के सोहर आदि इसके प्रमाण हैं। आदिकाल के विभिन्न सम्प्रदायो के आचार्य लोकप्रचलित काव्यो को धर्म-प्रचार के लिए अपनाते थे। हिन्दी काव्य मे निर्गुणोपासक सतो के जिस प्रकार के दोहे मिलते हैं उनका ठीक वही रूप जैन कवि योगीन्द्र के परमात्म प्रकाश तथा योगसार और मुनि रामसिह के पाहुड दोहे मे मिलता है। जैन कथा काव्यो की प्रविधि की अनेक विशेषताएं भी परवर्ती हिन्दी काव्य मे संक्रमित हुई हैं।

हिन्दी का आदिकालीन साहित्य अपभ्रंश साहित्य से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है कि इसकी पृष्ठभूमि के बिना हिन्दी साहित्य का अध्ययन पूर्ण नही हो सकता। हिन्दी के कतिपय विद्वान् तो अपभ्रंश साहित्य को भी 'पुरानी हिन्दी' 'प्राकृताभास हिन्दी' कहकर हिन्दी साहित्य मे ही सम्मिलित कर लेते हैं। अपभ्रंश का ८० प्र. श. साहित्य जैन कवियो द्वारा प्रणीत है। इस प्रकार हिन्दी के आरम्भिक आदिकाल में जैन कवियो का योगदान उल्लेखनीय है।

हिन्दी के भक्तिकाल की समृद्धि मे भी जैन कवियों, सतो एवं आचार्यों का उल्लेखनीय योगदान रहा। इस काल मे भट्टारक सकल कीर्ति, भ० भुवन कीर्ति, भ० ज्ञान भूषण, ब्रह्म जिनदास, ब्रह्मरायमल्ल, भ० शुभचन्द्र, बनारसीदास, समयसुन्दर, भूधरदास, द्यानतराय, ज्ञानसागर, जिन हर्ष आदि ने भक्ति की सरल रीति की भी अजस्र धाराए प्रवाहित की। इन कवियो ने जन सामान्य की आवश्यकतानुसार साहित्य की विविध विधाओं का सृजन कर लोक-मानस को परितृप्त किया। इन कवियो का साहित्य जन सामयिक जीवन से कटा हुआ नही रहा। जन-सामान्य के निकट होने से इस काल के जैन कवियो द्वारा रचित साहित्य आध्यात्मिकता के साथ सामाजिक एव सास्कृतिक पक्ष को भी अपने मे समाविष्ट करता है। काव्य के विविध रूपो के विकास और उस समय की चिन्तना का ज्ञान भी इसी के द्वारा प्राप्त होता है।

भक्तिकाल मे १५वी शताब्दी के महाकवि ब्रह्म जिनदास ऐसे जैन कवि हैं जिन्होने अपनी ७० से भी अधिक रचनाओ से मां भारती की सेवा की। इनके 'राम रास' और 'हरिवंश पुराण रास' हिन्दी की प्रसिद्ध एवं प्राचीनतम जैन रामायण और जैन महाभारत हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में ब्रह्म जिनदास अकेले ऐसे कवि हैं जिन्होने विविध विषयक लगभग ५० रास सज्ञक काव्यो का सृजन किया। लोक भाषा में तुलसी से पूर्व 'राम रास' (र० का० स १५०८) की रचना कर ब्रह्म जिनदास ने हिन्दी राम काव्य परम्परा का सूत्रपात और नेतृत्व किया। रूपक काव्य परम्परा में 'परम हंस रास' की अपनी विशिष्ट छवि और भगिमा है।

अन्य कवियों मे भ० कुमुदचन्द्र, ब्र० जयसागर, रत्नकीर्ति, सुरेन्द्रकीर्ति, दौलतराम कासलीवाल, टोडरमल, छीहल आदि है। इन कवियो ने हिन्दी साहित्य के विकास मे जो कार्य किया वह स्वर्णाक्षरो मे उल्लेखनीय है। जैन कवियो की हिन्दी सेवा प्रशसनीय है। जैन कवियो के साहित्य में भारतीय अध्यात्म-धारा का प्रवाह देखा जाता है। हिन्दी साहित्य की आध्यात्मिक चेतना को आज तक जाग्रत और क्रमबद्ध रखने में जैन साहित्य की दार्शनिक संवेदना की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास मे आदिकाल से आज तक जैन कवियो की हिन्दी सेवा कथ्य और शिल्प, भाव-भाषा दोनो ही दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है।

जैन दर्शन में वीर भाव की अवधारणा

डॉ० नरेन्द्र भानावत

जैन दर्शन अहिंसा-प्रधान दर्शन है। अहिंसा को 'न मारने' तक सीमित करके लोगों ने उसे निष्क्रियता और कायरता समझने की भ्रामक कल्पनाएँ की हैं। तथाकथित आलोचकों ने अहिंसा धर्म को पराधीनता के लिए जिम्मेदार भी ठहराया। महात्मा गाधी ने वर्तमान युग मे अहिंसा की तेजस्विता को प्रकट कर यह सिद्ध कर दिया है कि अहिंसा वीरों का धर्म है, कायरों का नही। इस सदर्भ मे सोचने पर सचमुच लगता है कि अहिंसा धर्म के मूल मे वीरता का भाव है।

वीरभाव का स्वरूप

काव्यशास्त्रियो ने नवरसो की विवेचना करते हुए उनमे वीररस को एक प्रमुख रस माना है। वीररस का स्थायीभाव उत्तम प्राकृतिक उत्साह कहा गया है। किसी कार्य को सम्पन्न करने हेतु हमारे मानस मे एक विशेष प्रकार की सत्वर क्रिया सजग रहती है, वही उत्साह है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उत्साह मे प्रयत्न और आनन्द की मिली-जुली वृत्ति को महत्व दिया है। उनके शब्दो मे—"साहस-पूर्ण आनन्द की उमग का नाम उत्साह है।" मनोविज्ञान की दृष्टि से वीरभाव एक स्थायी भाव (Sentiment) है, जो स्नेह, करुणा, धैर्य, गौरवानुभूति, तप, त्याग, रक्षा, आत्मविश्वास, आक्रोश, प्रभुता आदि सवेगों (Emotions) के सम्मिलित प्रभाव का प्रतिफल है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'वीर' शब्द मे मूल धातु 'वृ' है जिसका अर्थ छाँटना, चयन करना, वरण करना है अर्थात् जो वरणकर्ता है, वह वीर है। इसी अर्थ में वर का अर्थ 'दूल्हा' होता है क्योंकि वह वधू का वरण करता है, वरण कर लेने पर ही वर वीर बनता है। इसमें श्रेष्ठता का भाव भी अनुस्यूत है। इस दृष्टि से वीर भाव एक आदर्श भाव है जिसमे श्रेष्ठ समझे जाने वाले मानवीय भावों का समुच्चय रहता है।

वीरभाव और आत्मस्वातन्त्र्य

वीरभावना के मूल मे जिस उत्साह की स्थिति है वह पुरुषार्थ प्रधान है। पुरुषार्थ की प्रधानता व्यक्ति को स्वतन्त्र और आत्म-निर्भर बनाती है। वह अपने सुख-दुख, हानि-लाभ, निन्दा-प्रशसा, जीवन-मरण आदि मे किसी दूसरे पर निर्भर नही रहता। आत्मकर्तव्य का यह भाव जैन दर्शन का मूल आधार है—

अप्पा, कत्ता, विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुपट्ठिय सुपट्ठिओ ॥[1]

अर्थात् आत्मा ही सुख-दुख करने वाली तथा उनका नाश करने वाली है। सत् प्रवृत्ति मे लगी हुई आत्मा ही मित्र रूप है जबकि दुष्प्रवृत्ति मे लगी हुई आत्मा ही शत्रु रूप है।

इस वीर भावना का आत्मस्वातन्त्र्य से गहरा सम्बन्ध है। जैन मान्यता के अनुसार जीव अथवा आत्मा स्वतन्त्र अस्तित्व वाला द्रव्य है। अपने अस्तित्व के लिए न तो यह किसी दूसरे द्रव्य पर आश्रित है और न इस पर आश्रित कोई अन्य द्रव्य है। इस दृष्टि से जीव को अपना स्वामी स्वय कहा गया है। उसकी स्वाधीनता और पराधीनता उसके स्वय के कर्मों के अधीन है। रागद्वेष के कारण जब उसकी आत्मिक शक्तिया आवृत्त हो जाती हैं तब वह पराधीन हो जाती है। अपने सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप द्वारा जब वह ज्ञानावरण, दर्शना-वरण, मोहनीय, और अन्तराय कर्मों का नाश कर देता है तब उसकी आत्मशक्तियाँ पूर्ण रूप मे विकसित हो जाती हैं और वह जीवन-मुक्त अर्थात् अरिहंत बन जाता है। अपनी शक्तियो को प्रस्फुटित करने मे किसी की कृपा, या दया कारणभूत नहीं बनती। स्वयं उसका

१. उत्तराध्ययन २०/३७

पुरुषार्थ या वीरत्व ही सहायता बनता है। अपने वीरत्व और पुरुषार्थ के बल पर साधक अपने कर्मफल में परिवर्तन ला सकता है। कर्म परिवर्तन के निम्नलिखित चार सिद्धान्त इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं।

१. उदीरणा—नियत अवधि से पहले कर्म का उदय मे आना।

२. उद्वर्तन—कर्म की अवधि और फल देने की शक्ति मे अभिवृद्धि होना।

३. अपवर्तन—कर्म की अवधि और फल देने की शक्ति मे कमी होना।

४ संक्रमण—एक कर्म प्रकृति का दूसरी कर्म प्रकृति मे सक्रमण होना।

उक्त सिद्धान्त के आधार पर साधक अपने पुरुषार्थ के बल से बधे हुए कर्मों की अवधि को घटा-बढा सकता है और कर्मफल की शक्ति मन्द अथवा तीव्र कर सकता है। यही नही, नियत अवधि से पहले कर्म को भोगा जा सकता है और उनकी प्रकृति को बदला जा सकता है।

वीरता के प्रकार

वीर भावना का स्वातन्त्र्यभाव से गहरा सम्बन्ध है। वीर अपने पर किसी का नियंत्रण और शासन नही चाहता। मानव सभ्यता का इतिहास स्वतन्त्र भावना की रक्षा के लिये लडे जाने वाले युद्धो का इतिहास है। इन युद्धों के मूल मे साम्राज्य-विस्तार, सत्ता-विस्तार, यशोलिप्सा, और लौकिक समृद्धि की प्राप्ति ही मुख्य कारण रहे हैं। इन बाहरी भौतिक पदार्थों और राज्यो पर विजय प्राप्त करने वाले वीरो के लिए ही कहा गया है—"वीरभोग्या वसुन्धरा।" ये वीर शारीरिक और साम्पत्तिक बल मे अद्वितीय होते हैं। जैन मान्यता के अनुसार चक्रवर्ती चौदह रत्नो के धारक और छह खण्ड पृथ्वी के स्वामी होते हैं। वासुदेव भरत क्षेत्र के तीन खण्डो और सात रत्नों के स्वामी होते हैं इनका अतिशय बतलाते हुए कहा गया है कि वासुदेव अतुल बली होते है। कुएँ के तट पर बैठे हुए वासुदेव को जंजीर मे बाँध कर हाथी, घोडे, रथ और पदाति रूप चतुरंगिणी सेना सहित सोलह हजार राजा भी खीचने लगें तो वे उसे नही खीच सकते। किन्तु उसी जंजीर को बाये हाथ से पकडकर वासुदेव अपनी तरफ बडी आसानी से खीच सकता है। वासुदेव का जो बल बतलाया गया है उससे दुगुना बल चक्रवर्ती मे होता है। तीर्थंकर चक्रवर्ती से भी अधिक बलशाली होते है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वीरता के दो प्रकार हैं—एक बहिर्मुखी वीरता, और दूसरी अन्तर्मुखी वीरता। बहिर्मुखी वीरता की अपनी सीमा है। जैन दर्शन मे उसके कीर्तिमान माने गये हैं चक्रवर्ती जो भरत क्षेत्र के छह खण्डो पर विजय प्राप्त करते हैं। लौकिक महाकाव्यों मे रामायण, महाभारत, पृथ्वीराज रासो मे बहिर्मुखी वीरों के अतिरंजनापूर्ण यशोगान भरे पडे हैं। जैन साहित्य मे भी ऐसे वीरो का उल्लेख और वर्णन मिलता है। पर उनकी यह वीरता जीवन का ध्येय या आदर्श नही मानी गई है। जैन इतिहास में ऐसे सैकडो वीर राजा हो गये है, पर वे वन्दनीय-पूजनीय नही हैं। वे वन्दनीय-पूजनीय तब बनते हैं जब उनकी बहिर्मुखी वीरता अन्तर्मुखी बनती है। इन अन्तर्मुखी वीरो मे तीर्थंकर, केवली, श्रमण, श्रमणियाँ आदि आते हैं। बहिर्मुखी वीरता के अन्तर्मुखी वीरता मे रूपान्तरित होने का आदर्श उदाहरण भरत बाहुबली का है। भरत चक्रवर्ती बाहुबली पर विजय प्राप्त करने के लिए विराट् सेना लेकर कूच करते हैं। दोनों सेनाओ मे परस्पर युद्ध होता है। अन्तत. भयकर जन-सहार से बचने के लिये दोनो भाई मिलकर निर्णायक द्वन्द्व-युद्ध के लिये सहमत होते हैं। दोनों मे दृष्टियुद्ध, वाक्‌युद्ध, बाहुयुद्ध होता है और इन सबमे भरत पराजित हो जाते हैं। तब भरत सोचते हैं क्या बाहुबली चक्रवर्ती है जिससे कि मैं कमजोर पड रहा हू ? इस विचार के साथ ही वे आवेश मे आकर बाहुबली के सिरच्छेदन के लिए चक्ररत्न से उस पर वार करते हैं। बाहुबली प्रतिक्रिया स्वरूप क्रुद्ध हो चक्र को पकडने का प्रयत्न करते हुए मुष्टि उठाकर सोचते है—मुझे धर्म छोडकर भ्रातृवध का दुष्टकर्म नही करना चाहिये। ऋषभ की सन्तानो की परम्परा हिंसा की नही, अपितु अहिंसा की है। प्रेम ही मेरी कुल-परम्परा है। किन्तु उठा हुआ हाथ खाली कैसे जाये ? उन्होने विवेक से काम लिया, अपने उठे हुए हाथ को अपने ही सिर पर दे मारा और बालों का लुचन करके वे श्रमण बन गये। उन्होंने ऋषभदेव के चरणो में वही से भावपूर्वक नमन किया, कृत अपराध के लिये क्षमा-प्रार्थना की और उग्र तपस्या कर अहं का विसर्जन कर, मुक्ति रूपी वधू का वरण किया।

भगवान् ऋषभ, अरिष्टनेमि आदि तीर्थंकर अन्तर्मुखी वीरता के सर्वोपरि आदर्श हैं। भगवान् महावीर के समय मे वर्ण-व्यवस्था विकृत हो गयी थी। ब्राह्मणो और क्षत्रियो का आदर्श अत्यन्त संकीर्ण हो गया था। ब्राह्मण यज्ञ के नाम पर पशु-बलि को महत्त्व दे रहे थे तो क्षत्रिय देश-रक्षा के नाम पर युद्ध-जनित हिंसा और सत्ता-लिप्सा को बढावा दे रहे थे। महावीर स्वयं क्षत्रिय कुल में पैदा हुए थे। उन्होंने क्षत्रियत्व के मूल आदर्श रक्षा भाव को पहचाना और विचार किया कि रक्षा के नाम पर कितनी हिंसा हो रही है, पीडा-मुक्ति के नाम पर कितनी पीडा दी जा रही है। सच्चा क्षत्रियत्व दूसरे को जीतने में नही, स्वय अपने को जीतने मे है, पर-नियन्त्रण नही स्वनियन्त्रण ही सच्ची विजय है। उन्होने सम्पूर्ण राज्य-वैभव और शासन-सत्ता का परित्याग कर आत्मविजय के लिए प्रयाण किया। वे सन्यस्त होकर कठोर ध्यान

साधना और उग्र तपस्या में लीन हो गए। साढ़े बारह वर्षों तक वे आन्तरिक विकारों—शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए संघर्ष करते रहे। अन्ततः वे आत्मविजयी बने और अपने महावीर नाम को सार्थक किया। सच्चे क्षत्रियत्व और सच्चे वीर को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा "एस बीरे प्रसंसिए, जे बद्धे पडिमोयए।" अर्थात् वह वीर प्रशंसनीय है जो स्वयं बन्धनमुक्त तो है ही, दूसरों को भी बन्धन-मुक्त करता है। वीर है वह जो स्वयं तो पूर्णतः स्वतन्त्र है ही दूसरों को भी स्वतन्त्र करता है, वीर वह है जो दूसरों को भयभीत नहीं करता अपनी सत्ता से, बल्कि उनको सत्ता के भय से ही सदा के लिए मुक्त कर देता है, चाहे वह सत्ता किसी की भी हो, कैसी भी हो।

वीर का व्यवहार और मनःस्थिति

वीरता के स्वरूप पर ही वीर का व्यवहार और उसकी मनःस्थिति निर्भर है। बहिर्मुखी वीर की वृत्ति आक्रामक और दूसरों को परास्त कर पुनः अपने अधीन बनाने की रहती है। दूसरों पर प्रभुत्व कायम करने और लौकिक समृद्धि प्राप्त करने की इच्छा का कोई अन्त नहीं। ज्यों-ज्यों इस ओर इन्द्रियां और मन प्रवृत्त होते हैं त्यों-त्यों इनकी लालसा बढ़ती जाती है, हिंसा है, प्रतिहिंसा मे बदलती है, क्रोध वैर का रूप धारण करता है और युद्ध पर युद्ध होते चलते हैं। युद्ध और सत्ता मे विश्वास करने वाला वीर प्रतिक्रियाशील होता है, क्रूर और भयंकर होता है। दूसरों को दुःख, पीड़ा और यन्त्रणा देने मे उसे आनन्द आता है। बाहरी साधनों सेना, अस्त्र-शस्त्र, राजदरबार, राजकोष आदि को बढ़ाने मे वह अपनी शौर्यवृत्ति का प्रदर्शन करता है। उसकी वीरता का मापदण्ड रहता है दूसरों को मारना न कि बचाना, दूसरों को गुलाम बनाना न कि गुलामी से मुक्त करना, दूसरों को दबाना न कि उबारना। ऐसा वीर आवेगशील होने के कारण अधीर और व्याकुल होता है। वह अपने पर किसी क्रिया के प्रभाव को झेल नहीं पाता और भीतर ही भीतर संतप्त और त्रस्त बना रहता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से ऐसा वीर सचमुच कायर होता है, कातर होता है; क्रोध, मान, माया और लोभ की आग मे निरन्तर दग्ध बना रहता है। बाहरी वैभव और विलास मे जीवित रहते हुए भी आन्तरिक चेतना और संवेदना की दृष्टि से वह मृतप्राय होता है। उसके चित्त के संस्कार कुंठित और संवेदनारहित बन जाते हैं।

जैन दर्शन मे बहिर्मुखी वीर भाव को आत्मा का स्वभाव न मानकर मन का विकार और विभाव माना है। अन्तर्मुखी वीर ही उसकी दृष्टि मे सच्चा वीर है। यह वीर बाहरी उत्तेजनाओं के प्रति प्रतिक्रियाशील नहीं होता। विषम परिस्थितियों के बीच भी वह प्रसन्न-चित्त बना रहता है। वह संकटों का सामना दूसरों को दबाकर नहीं करता। उसकी दृष्टि मे सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति का कारण कहीं बाहर नहीं, उसके भीतर है। वह शरीर से सम्बन्धित उपसर्गों व परीक्षाओं को समभावपूर्वक सहन करता है। उसके मन मे किसी के प्रति घृणा, द्वेष और प्रतिहिंसा का भाव नहीं होता। वह दूसरों का दमन करने के बजाय आत्मदमन करने लगता है। यह आत्मदमन और आत्म-संयम ही सच्चा वीरत्व है। भगवान् महावीर ने कहा है—

> **अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बुज्झओ।**
> **अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए॥**[1]

अर्थात् आत्मा के साथ ही युद्ध कर, बाहरी दुश्मनों के साथ युद्ध करने से तुझे क्या लाभ? आत्मा को आत्मा के द्वारा ही जीत-कर मनुष्य सच्चा सुख प्राप्त कर सकता है।

जिन वीरों ने मानवीय रक्त बहाकर विजय-यात्रा आरम्भ की, अन्त मे उन्हें मिला क्या? सिकन्दर जैसे महान् योद्धा भी खाली हाथ चले गये। वस्तुतः कोई किसी का स्वामी या नाथ नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र के 'महानिर्ग्रन्थीय' नामक २०वें अध्ययन मे अनाथी मुनि और राजा श्रेणिक के बीच हुए वार्तालाप मे अनाथता का प्रेरक वर्णन किया गया है। राजा श्रेणिक मुनि से कहते हैं—मेरे पास हाथी, घोड़े, मनुष्य, नगर, अन्तःपुर तथा पर्याप्त द्रव्यादि समृद्धि है। सब प्रकार के काम-भोगों को मैं भोगता हूं और सब पर मेरी आज्ञा चलती है, फिर मैं अनाथ कैसे? इस पर मुनि उत्तर देते हैं—सब प्रकार की भौतिक सामग्री मनुष्य को रोगों और दुखों से नहीं बचा सकती। क्षमा-वान और इन्द्रिय-निग्रही व्यक्ति ही दुःखों और रोगों से मुक्त हो सकता है। आत्मजयी व्यक्ति ही अपना और दूसरों का नाथ है—

> **जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।**
> **एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥**[2]

जो पुरुष दुर्जय संग्राम मे दस लाख सुभटों पर विजय प्राप्त करता है और एक महात्मा अपनी आत्मा जीतता है। इन दोनों में उस महात्मा की विजय ही श्रेष्ठ विजय है।

---

१. उत्तराध्ययन ९/३५
२. उत्तराध्ययन ९/३४

आदर्श वीरता का उदाहरण क्षमा वीर है। क्षमा पृथ्वी को भी कहते हैं। जिस प्रकार पृथ्वी बाहरी हलचल और भीतरी उद्वेग को समभावपूर्वक सहन करती है, उसी प्रकार सच्चा वीर शरीर और आत्मा को अलग-अलग समझता हुआ सब प्रकार के दुःखों और कष्टों को समभावपूर्वक सहन करता है। सच तो यह है कि उसकी चेतना का स्तर इतना अधिक उन्नत हो जाता है कि उसके लिये वस्तु, व्यक्ति और घटना का प्रत्यक्षीकरण ही बदल जाता है। तब उसे दुःख दुःख नहीं लगता, सुख सुख नहीं लगता। वह सुख-दुःख से परे अक्षय, अव्याबाध, अनन्त आनन्द में रमण करने लगता है। वह क्रोध को क्षमा से, मान को मृदुता से, माया को सरलता से और लोभ को संतोष से जीत लेता है—

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायमज्जवभावेण, लोभ संतोसओ जिणे ॥[2]

यह कषाय-विजय ही श्रेष्ठ विजय है। क्षमावीर निर्भीक और अहिंसक होता है। प्रतिशोध लेने की क्षमता होते हुए भी वह किसी से प्रतिशोध नहीं लेता। क्षमा धारण करने से ही अहिंसा वीरो का धर्म बनती है। 'उत्तराध्ययन' सूत्र के २९ वें 'सम्यकत्व-पराक्रम अध्ययन में गौतम स्वामी भगवान् महावीर से पूछते हैं—खमावणयाएणं भन्ते। जीवे किं जणयइ ?

हे भगवन्! अपने अपराध की क्षमा माँगने से जीव को किन गुणों की प्राप्ति होती है ?

उत्तर में भगवान् कहते हैं—खमावणयाएणं पल्हायण भाव जणयई, पल्हायण भावमुवगए य सव्वपाणभूय जीव सत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएई, मित्ती भावमुवगए यावि जीव भावविसोहिं काऊण निब्भए भवई ॥ १७ ॥

अर्थात् क्षमा माँगने से चित्त मे आह्लाद भाव का सचार होता है, अर्थात् मन प्रसन्न होता है। प्रसन्न चित्त वाला जीव सब प्राणी, भूत, जीव और सत्वो के साथ मैत्रीभाव स्थापित करता है। समस्त प्राणियों के साथ मैत्री भाव को प्राप्त हुआ जीव अपने भावों को विशुद्ध बनाकर निर्भय हो जाता है।

निर्भीकता का यह भाव वीरता की कसौटी है। बाहरी वीरता मे शत्रु से हमेशा भय बना रहता है, उसके प्रति शासक और शासित, जीत और हार, स्वामी और सेवक का भाव रहने से मन मे संकल्प-विकल्प उठते रहते हैं। इस बात का भय और आशका बराबर बनी रहती है कि कब शासित और सेवक विद्रोह कर बैठें। जब तक यह भय बना रहता है तब तक मन बेचैनी और व्याकुलता से घिरा रहता है। पर सच्चा वीर निराकुल और निर्वैर होता है। उसे न किसी पर विजय प्राप्त करना ध्येय रहता है और न उस पर कोई विजय प्राप्त कर सकता है। वह सदा समताभाव-वीतरागभाव में विचरण करता है। उसे अपनी वीरता को प्रकट करने के लिये किन्हीं बाहरी साधनों का आश्रय नही लेना पडता। अपने तप और संयम द्वारा ही वह वीरत्व का वरण करता है।

जैनधर्म वीरों का धर्म

जैन धर्म के लिये आगम ग्रन्थो मे जो नाम आये हैं, उनमे मुख्य हैं जिन धर्म, अर्हंत धर्म, निर्ग्रन्थ धर्म और श्रमण धर्म। ये सभी नाम वीर भावना के परिचायक है। 'जिन' वह है जिसने अपने आन्तरिक विकारो पर विजय प्राप्त कर ली है। 'जिन' के अनुयायी जैन कहलाते हैं। 'अर्हत' धर्म पूर्ण योग्यता को प्राप्त करने का धर्म है। अपनी योग्यता को प्रकटाने के लिये आत्मा पर लगे हुए कर्म पुद्गलो को ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप की साधना द्वारा नष्ट करना पडता है। 'निर्ग्रन्थ' धर्म वह धर्म है जिसमे कषाय भावो से बँधी गाँठों को खोलने, नष्ट करने के लिये आत्मा के क्षमा, मार्दव, आर्जव, त्याग, सयम, ब्रह्मचर्य जैसे गुणो को जागृत करना होता है। 'श्रमण' धर्म वह धर्म है, जिसमे अपने ही पुरुषार्थ को जागृत कर, विषम भावो को नष्ट कर, चित्त की कुकृतियो को उपशात कर समता भाव मे आना होता है।

स्पष्ट है कि इन सभी साधनाओ की प्रक्रिया मे साधक का आन्तरिक पराक्रम ही मुख्य आधार है। आत्मा से परे किसी अन्य परोक्ष शक्ति की कृपा पर यह विजय—आत्मजय आधारित नही है। भगवान् महावीर की महावीरता बाहरी युद्धो की विजय पर नहीं, अपने आन्तरिक विकारो की विजय पर ही निर्भर है। अत. यह वीरता युद्धवीर की वीरता नही, क्षमावीर की वीरता है।

---

१. उत्तराध्ययन ९।१४
२. दशवैकालिक ८।३९

जैन रास काव्य : एक अध्ययन

—डा० विजय कुलश्रेष्ठ

हिन्दी साहित्य का आदिकाल पं० रामचन्द्र शुक्ल के साहित्येतिहास[1] के कालविभाजन से ही विचारविमर्श का कारण नहीं रहा है अपितु इसलिए भी रहा है कि आदिकाल की सम्पूर्ण सामग्री का पूर्णत विवेचन नहीं हो पाया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रणीत साहित्येतिहास के काल-विभाजन के अनुसार हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल को वीरगाथाकाल का नाम दिया गया था और परवर्ती विद्वान् शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत इस नामकरण को उपयुक्त नही मानते थे। शुक्लजी ने इस आदिकाल अथवा उन्हीं के शब्दो में वीरगाथा काल का समय सम्वत् १०५० से सम्वत् १३७५ (सन् ९९३ ई०—१३१८ ई०) माना है।

शुक्लजी का इतिहास कई कारणो से महत्त्वपूर्ण है और आज भी आदिकाल विषयक विवाद के इतर भी उसका अपना स्थान विशिष्ट है। शुक्लजी ने इस इतिहास लेखन मे यह स्पष्ट घोषणा की थी कि 'सिद्धो' और योगियो की रचनाएँ साहित्य कोटि में नही आतीं और योगधारा काव्य या इतिहास की कोई धारा नही मानी जा सकती। इसी प्रकार उन्होंने जैन यतियों-मुनियों की रचनाओं को धार्मिक कह दिया तथा स्वीकार किया कि—"इस काल की जो साहित्यिक सामग्री प्राप्त है, उसमे कुछ तो असंदिग्ध हैं और कुछ संदिग्ध। असंदिग्ध सामग्री जो कुछ प्राप्त है, उसकी भाषा अपभ्रंश अर्थात् प्राकृताभास (प्राकृत की रूढ़ियो से बहुत कुछ बद्ध) हिन्दी है।" इस कालावधि में ऐसी अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं जो तत्कालीन अपभ्रंश मे लिखी गई हैं तथा जिन्हें आचार्य शुक्ल ने धार्मिक और साम्प्रदायिक रचनाएँ कहकर साहित्य के अंग के रूप मे उन्हें अस्वीकार कर दिया है।

आचार्य शुक्ल की मौलिक दृष्टि और साहित्येतिहास के क्षेत्र मे उनके विद्वत्तापूर्ण योगदान को अस्वीकार नही किया जा सकता। यह उनकी अपनी विवशता और सीमा थी कि वे अपभ्रंश आदि मे उपलब्ध जैन रचनाओं को धार्मिक और साम्प्रदायिक कहकर अस्वीकार करते हैं। परन्तु कालान्तर मे जैन काव्य की विशुद्ध साहित्यिक परम्परा का भी परिचय मिलता है। हिन्दी साहित्य के इस आदि काल और उसके पूर्व एवं परवर्ती काल मे जैन रचनाओ की एक सुदीर्घ परम्परा उपलब्ध होती है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि मे विविध काव्य रूपो के आधार पर हिन्दी के काव्य रूपो का अध्ययन भी आज हो चुका है। उसी दिशा मे हिन्दी के तथा उसके पूर्ववर्ती काल में काव्य रूप मे रास या रासो काव्य रूप का प्रचलन उपलब्ध होता है। आदिकाल मे प्रमुख काव्य रूप के स्तर पर 'रासो' काव्य रूप की बहुलता रही है।

हिन्दी मे 'रास' या 'रासो' काव्य-परम्परा का एक विशिष्ट रूप है और 'रास' या रासो' की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'रासक' से मानी जाती है, पर यह निर्विवाद है कि रासो काव्यधारा के विषय मे आज भी विद्वानो का ध्यान अधिक नही गया। डॉ० हरीश ने 'आदिकाल के अज्ञात रासकाव्य' नामक कृति मे कतिपय रास रचनाओ का उल्लेख किया है। रास और रासान्वयी काव्य मे भी कतिपय रासो रचनाओ पर विचार किया गया है। डॉ० सुमन राजे के शोधप्रबन्ध मे पहली बार दो सौ से ऊपर रासो रचनाओ का उल्लेख मिलता है। इसके इतर इन पंक्तियो के लेखक ने अपने अध्ययन की अवधि मे हो पौन सात सौ रास ग्रंथो की सूचना एकत्रित की और अपने शोधप्रबन्ध की पृष्ठभूमि मे उक्त पौने सात सौ रासो रचनाओ को काल क्रमानुसार क्रम देकर प्रस्तुत किया, यद्यपि यह शोध का मूल नही था फिर भी शोधार्थियों के सम्मुख रास काव्यो की एक सुदीर्घ परम्परा का उल्लेख समीचीन समझा गया था[2]।

---

१. सन् १९२९ में नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' की भूमिका रूप में लिखा गया था और उसी वर्ष उसी भूमिका का आदि और अन्त परिवर्द्धित करके उसे हिन्दी साहित्य के इतिहास के रूप में प्रकाशित किया गया।

२. विस्तृत अध्ययन के लिये देखिए लेखक के अप्रकाशित शोध प्रबन्ध 'पृथ्वीराज रासो का लोकतात्त्विक अध्ययन' १९७३ (राजस्थान विश्वविद्यालय) का अध्याय 'हिन्दी रासो काव्य परम्परा और पृथ्वीराज रासो' पृष्ठ १-७३ तक।

रासोकाव्य धारा आदिकालीन साहित्य की जैन धर्म की प्रवृत्तियों से प्रभावित रहते हुए लौकिक साहित्य अथवा लोकसाहित्य गत प्रवृत्तियों से अपना प्राणतत्व ग्रहण करती है। उक्त प्रकार से रास काव्यों में दो स्पष्ट धाराएँ परिलक्षित होती हैं :—

(i) जैन रास काव्य-धारा

(ii) जैनेतर रास काव्य-धारा

जैन रास काव्यधारा में भी कई भेद किये जा सकते हैं। जैन साहित्य आचार्य शुक्ल के मतानुसार मात्र धार्मिक या सम्प्रदायपरक नहीं है। विशेषकर जैन साहित्य को विविध स्तरो पर रख सकते हैं ताकि हम अपने अध्ययन की दिशा को स्पष्ट कर सकें। इस क्रम में जैन कवियो की रासविषयक रचनाओ की गणना उचित होगी जो इस प्रकार है—

	रास रचना	रचनाकाल	रचयिता
१.	राम रासो	१०४३	समय सुन्दर
२.	मुंज रास	११५०	अज्ञात
३.	उपदेश रसायन रास	११७१	जिनदत्त सूरि
४.	बाहुबलि रास	११८४	शालिभद्र सूरि
५.	कुमारपाल प्रतिबोध रास	११८५ (१२४१)	सोमप्रभ
६.	आबूरास या नेमि जिणन्द रास	१२०६	पाल्हण
७.	भरतेश्वर बाहुबलि घोर रास	१२२५	वज्रसेन सूरि
८.	भरतेश्वर बाहुबलि रास	१२३१	(i) जिनदत्त सूरि (ii) शालिभद्र सूरि
९.	बुद्धिरास	१२४१	(i) जिनदत्त सूरि (ii) शालिभद्र सूरि
१०.	चन्दन बाला रास	१२५७	आसगु
११.	जीवदया रास	१२५७	आसगु
१२.	जम्बूस्वामी रास	१२६६	धर्म सूरि
१३.	थूलिभद्र रास (स्थूलिभद्र रास)	१२६६	जिनधर्म सूरि
१४.	नेमिनाथ रास	१२७०	(i) सुमति गणि (ii) जिनप्रभ
१५.	शान्ति नाथ देव रास	१२७४(१३१३)	लक्ष्मीतिलक उपाध्याय
१६.	रेवन्त गिरि रास	१२८८	विजयसेन सूरि
१७.	नेमि रास	१२९५	सुमति गणि
१८.	गयसुकुमाल रास	—	जिनराज सूरि
१९.	गुण सागर रास	—	—
२०.	गुणावली रास	—	—
२१.	गिरिनार रास (जम्बू रास)	—	—
२२.	महावीर रास	१३०७	अभयतिलक गणि
२३.	अन्तरंग रास	१३१६	जिनप्रभ सूरि

रचना काल के साथ कोष्ठक में उस नाम की रचना का परवर्ती काल दिखाया गया है।

रासो रचना	रचनाकाल	रचयिता
२४. तीर्थमाला रास	१३२३	आनंद सूरि (प्रेम सूरि)
२५. सप्तक्षेत्रि रास	१३२७	(i) जगड (ii) विजय भद्र
२६. जिनेश्वर सूरि दीक्षा विवाह वर्णन रास	१३३१	—
२७. जिनेश्वर सूरि संयमश्री विवाह वर्णन रास	१३३२	सोममूर्ति
२८. शालिभद्र रास	१३३२	राजतिलक गणि
२९. गौतम रास	१३३३	विनयचन्द्र सूरि
३०. बारहव्रत रास	१३३८	विनयचन्द्र सूरि
३१ जिन चन्द्र सूरि वर्णन रास	१३४१	श्रावक लक्खम सिंह
३२. कच्छूली रास	१३६३	प्रज्ञातिलक सूरि
३३. बीस बिरहमान रास	१३६८	वस्तिग
३४. समरा रास या संघपति समरा रास	१३७१	अम्बदेव सूरि
३५. श्रावक विधि रास	१३७१	(i) गुणाकर सूरि (ii) धनपाल
३६. जिनकुशल सूरि पट्टाभिषेक रास	१३७७	मुनि धर्मकलश
३७. जिनपद्म सूरि पट्टाभिषेक रास	१३८८	सारमूर्ति
३८. जिनदत्त सूरि पट्टाभिषेक रास	१३८९	धर्मकलश
३९. क्षेमप्रकाश रास	१४१०	जयानंद सूरि
४०. पचपंडव (चरित्र) रास	१४१०	शालिभद्र सूरि
४१. कलावती (कमलापति) रास	१४११	विजयभद्र सूरि
४२ मयण रेहा रास	१४१३ १४२५	(i) हरसेवक मुनि (ii) जिनप्रभ सूरि (iii) रयणु
४३. त्रिविक्रम रास	१४१५	जिनोदय सूरि
४४. जिनोदय सूरि पट्टाभिषेक रास	१४१५	ज्ञानकलश
४५. शिवदत्त रास	१४२३	सिद्ध सूरि
४६. कलिकाल रास	१४२९ १४६० १४८६	(i) शालि सूरि (ii) नयचंद सूरि (iii) हीरानंद सूरि
४७. कुमारपाल रास	१४३०	देवप्रभ गणि
४८. देवसुन्दरि रास	१४४५	कवि चांप
४९. शालिभद्र रास	१४५५	साधु हंस
५०. जिनभद्र सूरि पट्टाभिषेक रास	१४७५	समयप्रभ गणि
५१. वस्तुपाल तेजपाल रास	१४८४ —	(i) शालि सूरि (ii) हीरानंद सूरि
५२. विद्याविलास रास	१४८५	हीरानन्द सूरि
५३. वेज्रर स्वामी गुरु रास	१४८६	जयसागर उपाध्याय
५४. परदेशी राजा नो रास	१४९२	सहज सुन्दर
५५. सागर दत्त रास	१४९३	शान्तिसूरि

रास रचना	रचनाकाल	रचयिता
५६. दशार्णभद्र रास	१४९५	(i) शालि सूरि (ii) हीरानंद सूरि
५७. सिद्धचक्र श्रीपाल रास	१४९८	माण्डण कवि
५८. विक्रम चरित कुमार रास	१४९९	साधु कीर्ति
५९. सोलहकारण रास	१४९९	(i) सकल कीर्ति (ii) चन्द्र कीर्ति
६०. प्रसन्नचन्द्र राजर्षि रास	—	सहजसुन्दर
६१ चूनडी रास	—	विनय चद्र
६२. द्रव्य गुण पर्याय नो रास	—	यशोविजय गणि
६३ समाधि रास	—	चरित सेन
६४. ईर्यावली रास	—	सहज सुन्दर
६५. रोहिणीय प्रबन्ध रास	—	मुनि सुन्दर सूरि
६६. गेहिणिया चोर रास	—	देपाल
६७. जीराउल पार्श्वनाथ रास	—	—
६८. सुदर्शन श्रेष्ठि रास	१५०१	मुनि सुन्दर सूरि
६९. नलदवदन्ती रास	१५०८ १५१२ १५३३	(i) ब्रह्म जिनदास (ii) ऋषिवर्धन सूरि (iii) महीराज
७० धन्ना रास	१५१४	मतिशेखर वाचक
७१ नागश्री रास	१५१६	ब्रह्म जिनदास
७२. हरिवंश रास	१५२०	ब्रह्म जिनदास
७३. सिद्ध चक्र रास	१५३१	ज्ञानसागर
७४. आत्मराज रास	१५३३	सहज सुन्दर
७५. यशोधर रास	१५३६	(i) ब्रह्म जिनदास (ii) सोम कीर्ति
७६. करकण्डु चरित रास	१५३७	मतिशेखर वाचक
७७. मयणरेहा (सती) रास	१५३७	मतिशेखर वाचक
७८. वस्तुपाल तेजपाल रास	१५३८	पार्श्वनाथ सूरि
७९. सारसिखामण रास	१५४८	(i) संवेग सुन्दर (ii) सकल कीर्ति
८०. हरिबल राजर्षि रास	१५५२	कुशल संयम
८१. नेमिनाथ रास	१५५८	(i) जिनसेन (ii) हेम सार
८२. कुमारपाल रास	१५५९	(i) ऋषभ दास (ii) वल्लभ गणि
८३. अजापुत्र रास	१५६१	धर्मदेव
८४. बक चूल नो पवाडउ रास	१५६५	ज्ञानचद सूरि
८५. सुदर्शन रास	१५६७-८० — —	(i) धर्म समुद्र गणि (ii) मेलिग (iii) ब्रह्म जिनदास

रास रचना		रचनाकाल	रचयिता
८६.	शकुन्तला रास	१५६७	धर्मसमुद्र गणि
८७	सुमित्रकुमार रास	१५६७	धर्मसमुद्र गणि
८८.	विमल मंत्री रास	१५६७	धर्मसमुद्र गणि
८९.	विमल मंत्री रास	१५६८	लावण्य समय गणि
९०.	रत्नचूड को रास	१५७१	शिवसुख
९१.	पुण्यसागर गुण रास	१५७१	विमलमूर्ति
९२.	ऋषिदत्ता रास	१५७२	(i) सहज सुन्दर (ii) जयवन्त सूरि
९३.	जम्बूअन्तरंग रास	१५७२	सहजसुन्दर
९४.	श्रावकाचार रास	१५७४	प्रतापकीर्ति
९५.	चतुःपर्वी रास	१५७४	मुनिचन्द्र लाभ
९६.	करसम्वाद रास	१५७५	लावण्य समय गणि
९७	रत्नसार रास	१५८२	सहज सुन्दर
९८.	विक्रम प्रबन्ध रास	१५८३	विनय समुद्र
९९.	अगडदत्त रास	१५८४	हरचन्द
१००	कुलध्वज कुमार रास	१५८४	धर्मसमुद्र गणि
१०१	विजय कुंवर रास	१५९०	रिख लालचंद
१०२.	तैतली मंत्री रास	१५९५	सहज सुन्दर
१०३	श्रीपाल रास	१५९६	(i) विनय विजय
		—	(ii) ब्रह्म जिनदास
		—	(iii) ब्रह्म राय मल्ल
		—	(iv) गुण रत्न
१०४.	जम्बूस्वामी रास	—	(i) ब्रह्म जिनदास
		—	(ii) भुवन कीर्ति
१०५.	अभयकुमार श्रेणिक रास	—	मुनि सुन्दर सूरि
१०६	अजितनाथ रास	—	ब्रह्म जिनदास
१०७.	अनन्तव्रत रास	—	,, ,,
१०८.	अणत्रीस मूल गुण रास	—	,, ,,
१०९.	अम्बिका रास	—	,, ,,
११०	रोहिणी रास	—	,, ,,
१११	ज्येष्ठ जिनवर रास	—	,, ,,
११२.	जीवन्धर रास	—	,, ,,
११३.	दस लक्षण रास	—	,, ,,
११४	धन्य कुमार रास	—	,, ,,
११५.	धनपाल रास	—	,, ,,
११६	धर्मपरीक्षा रास	—	,, ,,
११७.	नेमिश्वर रास	—	,, ,,
११८.	पुष्पाञ्जलि रास	—	,, ,,

	रास रचना	रचनाकाल	रचयिता
११९.	परमहंस रास	—	ब्रह्म जिनदास
१२०.	प्रद्युम्न रास	—	" "
१२१.	अंकचूल रास	—	" "
१२२.	भविष्यदत्त रास	—	" "
१२३.	भद्रबाहु रास	—	" "
१२४.	श्रेणिक रास	—	" "
१२५.	समकित रास	—	" "
१२६.	समकित मिथ्या तत्त्व रास	—	" "
१२७	सुकौशल स्वामी रास	—	" "
१२८.	सुभौम चक्रवर्ती रास	—	" "
१२९	होली रास	—	" "
१३०	हनुमत रास	—	" "
१३१.	हितशिक्षा रास	—	" "
१३२	चारुप्रबन्ध रास	—	" "
१३३.	नागकुमार रास	—	" "
१३४.	कर्म विपाक रास	—	" "
१३५.	करकण्डु रास	—	" "
१३६,	इलापुत्र रास	--	विनय समुद्र
१३७.	रतन कुमार रास	—	सहज सुन्दर
१३८.	शुक सहेली कथा रास	-	सहज सुन्दर
१३९	रात्रि भोजन रास	—	धर्मसमुद्र गणि
१४०	जावड-भावड रास	—	देपाल
१४१.	पार्श्वनाथ जी राउला रास	—	देपाल
१४२.	श्रेणिक राजा नो रास	—	देपाल
१४३	जलगालण रास	—	ज्ञान भूषण
१४४.	नागद्रा रास	—	ज्ञान भूषण
१४५.	षटकर्म रास	—	ज्ञान भूषण
१४६	कल्याणक रास या पंच कल्याणक रास	-	विनयचंद्र मुनि
१४७.	शत्रुंजय रासो	—	जिनहर्ष गणि
१४८	सुकुमाल स्वामी को रास	—	ब्रह्म धर्मरुचि
१४९	शील रास	१६०४	विनय समुद्र
१५०.	रोहिणेय रास	१६०४	(i) विनय समुद्र
		१६६२	(ii) ऋषभदास
१५१	चित्रसेन पद्मावती रास	१६०४	विनय समुद्र
१५२.	कुट्टनी रासक	१६०५	तिल्हण
१५३.	अमरदत्त मित्रानंद रास	१६०६	देवगुप्त चन्द्र सूरीश्वर
१५४.	प्रद्युम्न रास	१६०६	(i) ब्रह्म गुणराज
			(ii) कृष्ण राय
१५५.	सागर दत्त रास	१६०७	शान्ति सूरि
१५६.	मृगांक पद्मावती रास	१६१२-१४	मालदेव
१५७.	पद्मावती पद्मश्री रास	१६१२	मालदेव

	रास रचना	रचनाकाल	रचयिता
१५८.	चन्दनबाला रास	१६१४	विनय समुद्र
१५९.	नल दवदन्ती रास	१६६५	नय सुन्दर
		१६७३	समय सुन्दर
		१६१४	(i) विनय समुद्र
		१६६१	(ii) मेघराज
१६०.	माधवानल कामकन्दला चुपई रास	१६१६	कुशल लाभ
१६१.	माल्होला रास	१६१६	कुशल लाभ
१६२.	पूंजा मुनि रास	१६१७	ऋषि दल भट्ट
१६३.	महातपस्वीश्री पूंजा मुनि रास	१६१७	समय सुन्दर
१६४.	रोहिणीव्रत रास	१६२०	(i) विशाल कीर्ति
			(ii) भगवती दास
१६५.	हंसराज बच्छराज रास	१६२१	(i) जिनोदय सूरि
		१६७५	(ii) मानसिंह मान
			(iii) अगणि विजय
१६६.	श्रेणिक रास	१६२१	(i) धर्मशील
			(ii) ऋषभदास
१६७.	तेजसार रास	१६२४	(i) कुशल लाभ
			(ii) महीराज
१६८.	सम्यकत्व कौमुदी रास	१६२४	हीर कलश
१६९.	पार्श्वनाथ रास	१६२४	(i) विनय समुद्र
		१६५६	(ii) ब्रह्म वस्तुपाल
		१६९७	(iii) ब्रह्म कपूरचंद
१७०.	धर्मपरीक्षा रास	१६२५	(i) सुमतिकीर्ति
		१६६७	(ii) सहजकीर्ति
१७१.	जम्बूस्वामी रास	१६२५	(i) त्रिभुवनकीर्ति
		१६४२	(ii) राजपाल
		१६६१	(iii) भुवनकीर्ति पाठक
१७२.	अगडधत्त रास	१६२५	(i) कुशललाभ
		१६४१	(ii) गुणविनय
		१६८१	(iii) सुन्दरवाचक
१७३	प्रद्युम्न रासो	१६२५	ब्रह्मरायमल्ल
१७४.	श्रीपाल रास	१६२६	(i) पद्मविजय
		१६७५	(ii) ज्ञान सागर
		—	(iii) गुण रत्न
१७५.	लोकनिराकरण रास	१६२७	रतन भूषण या राजभूषण
१७६	अकबर प्रतिबोध रास	१६२८	(i) समय प्रमोद
			(ii) जिनचन्द्र सूरि
१७७.	सुदर्शन रास	१६२९	(i) ब्रह्म रायमल्ल
			(ii) रूपचंद पाण्डे
१७८.	शील रक्षा रास	१६२९	नय सुन्दर

	रास रचना	रचनाकाल	रचयिता
१७९.	श्रीपाल चरित्र रास	१६३०	ब्रह्म रायमल्ल
१८०.	शील रासा	१६३०-३२	(i) जैत राम
		१६३३	(ii) ब्रह्मराय मल्ल
		१६८३	(iii) विद्याभूषण सूरि
		१६४४	(iv) विजयदेव सूरि
१८१.	जिनपालित जिन रक्षित रास	१६३२	कनक सोम
१८२.	भविष्यदत्त रास	१६३३	(i) ब्रह्मराय मल्ल
			(ii) विद्याभूषण सूरि
१८३.	विक्रम रास	१६३८	मगल माणिक्य
१८४.	आवण्ड विद्याधर रास	१६३९	मंगल माणिक्य
१८५.	हरिकेशी रास	१६४०	कनक सोम
१८६.	योगी (जोगी) रासा	१६४२	(i) पाण्डे जिन दास
			(ii) भगवती दास
१८७	माली रासा	१६४२	पाण्डे जिनदास
१८८	मृगावती चरित रास	१६४३	सकलचंद
१८९	समर प्रबन्ध रास	१६४३	नरेन्द्रकीर्ति भट्टारक
१९०.	नेमिनाथ शील रास	१६४४	विजय सूरि
१९१.	अमरसेन वयरसेन रास	१६४४	(i) रंगकलश
			(ii) जयरंग
		१६५७	(iii) राज सुन्दर
१९२	सुर सुन्दरी रास	१६४४	नय सुन्दर
१९३.	वल्कलचीरी रास	१६४७	(i) प्रसन्न चद्र
		१६८१	(ii) समयसुन्दर
१९४.	मंगल कलश रास	१६४९	(i) कनकसोम
			(ii) सर्वानन्द सूरि
१९५.	बुद्धि रासो	१६५०	जल्ह
१९६	भोजचरित्र रास	१६५१	(i) परमाल
		१६५४	(ii) हेमानन्द
१९७	युग प्रधान निर्वाण रास	१६५२	समय प्रमोद
१९८.	नेमिनाथ रास	१६५२	(i) कनककीर्ति
		१६८४	(ii) पाण्डे रूपचंद
		१६९२	(iii) भाऊ
१९९.	अंजना सुन्दरी रास	१६५२	(i) भट्टारक महेन्द्र कीर्ति
		१६६२	(ii) गुण विनय
		१६६१	(iii) महानंद
		१६६३	(iv) मालमुनि
		१६६३	(v) विमलचरित्र
२००.	रत्नसिंह रास	१६५२-८४	ऋषि सूजा
२०१.	बारहव्रत रास	१६५५	गुण विनय
२०२.	कर्मचन्द्र वंशावली रास	१६५६	गुण विनय

	रास रचना	रचनाकाल	रचयिता
२०३.	प्रद्युम्न कुमार रास	१६५६	श्रीभूषण
२०४.	श्री शील रास	१६५७	विजयदेव सूरि
२०५.	हरिश्चन्द्र रास	१६५७	कनक सुन्दर
२०६.	शाम्ब प्रद्युम्न रास	१६५६	समय सुन्दर
२०७.	सुदर्शन श्रेष्ठि रास	१६६१	सहजकीर्ति
२०८.	सेल सेली नो रास	१६६१	मेघराज
२०९.	उपदेश रास	१६६४	हीराचंद श्रावक
२१०.	चार प्रत्येक बुद्ध रास	१६६५	समय सुन्दर
२११.	पृथ्वीचंदकुमार रास	१६६७	गुणसागर
	कलावती रास	१६६७	सहजकीर्ति
२१३.	दानशील तपभावना रास	१६६८	(i) समय सुन्दर
			(ii) कृष्णदास
२१४.	विक्रमचरित रास	१६६९	विमलेन्द्र
२१५.	आदित्यवारकथा रास	१६७०	पृथ्वीपाल अग्रवा
२१६.	प्रियमेलक तीर्थ प्रबन्ध रास	१६७२	समय सुन्दर
२१७.	नेमि कुमार रास	१६७३	वीर चन्द्र
२१८.	लीलावती रास	१६७३	हेमरत्न सूरि
२१९.	धन्नाचरित्र रास	१६७५	मतिशेखर वाचक
२२०.	धन्ना शालिभद्र रास	१६७९	समयसुन्दर
२२१.	मनकरहा रास	१६८०	भगवती दास
२२२	ऊदर रासो	१६८०	राजसाम गणि
२२३	जिनराज सूरि रास	१६८१	(i) जयकीर्ति गणि
२२४.	शत्रुंजय रासो	१६६३	(ii) श्री सार
		१६८२	(i) सकलचंद
		१६८४	(ii) समय सुन्दर
२२५	वस्तुपाल तेजपाल रास	१६८२	समय सुन्दर
२२६.	शत्रुंजय उद्धार रास	१६८२	(i) समय सुन्दर
			(ii) नय सुन्दर
२२७	आद्रकुमार कुमार रास	१६८३	मुनि नारायण
२२८.	विजय सिंह सूरि विजय प्रकाश रास	१६८३	गुण विजय
२२९.	रामयशो रसायन रास	१६८३	केशराज
२३०.	पवनजय अंजना सुन्दरी हनुमत चरित रास	१६८४	पुण्य भवन
२३१.	सिद्धचक्र रास	१६८५	ज्ञान सागर
२३२.	विजयतिलक सूरि रास	१६८६	दर्शन विजय
२३३.	अमरतेज राजा धर्म बुद्धि मंत्री रास	१६९०	रतन विमल
२३४.	चारुदत्त रास	१६९२	कल्याण कीर्ति
.	श्रुतपंचमी रास	१६९२	पृथ्वीपाल अग्रवाल
२३६.	नवकार रास	१६९२	(i) रिख कदम
			(ii) कनक कीर्ति

	रास रचना	रचनाकाल	रचयिता
२३७.	क्षुल्लक कुमार रास	१६९४	सहज सुन्दर
२३८.	मोक्षगामी रास	१६९८	शील सुवर्ण
२३९.	पुंजरत्न ऋषि रास	१६९८	समय सुन्दर
२४०.	गजसुकुमाल रास	१६९९	समय सुन्दर
२४१.	वणिजारो रास	१६९९	रूपचंद
२४२.	हरिषेण श्रीषेण रास	—	महिमा निधि
२४३.	आदित्यव्रत रासा	—	भगवती दास
२४४.	टण्डाला रास	—	" "
२४५.	दसलक्षण रास	—	" "
२४६.	पखवाड़ा रास	—	" "
२४७.	खिचड़ी रास	—	" "
२४८.	साधु समाधि रास	—	" "
२४९.	आसाढ़भूति रास	—	" "
२५०.	राम सीता रास	—	ब्रह्मगुण कीर्ति
२५१.	नेमि राजमती रास	—	विनयदेव सूरि
२५२.	नेमिसर राजमती रास	—	रतन मुनि
२५३.	मत्स्योदर कुमार रास	—	पुण्यकीर्ति
२५४.	मेघकुमार रास	—	कविपुण्यो
२५५.	महावीर रास	—	रामदास
५५६.	नागिला भवदेव रास	—	समय सुन्दर
२५७	रात्रिभोजन वर्जन रास	—	भुवनकीर्ति
२५८.	विक्रमादित्य पंचदण्ड रास	—	(i) लक्ष्मी वल्लभ (ii) मालमुनि
२५९.	कयवन्ना रास	—	जिनराज सूरि
२६०.	वासुपूज्य पुण्य प्रकाश रास	—	सकल चंद
२६१.	हीर बलमाक्षी रास	—	कुशल संयम
२६२.	सुरसुन्दरी चरित्र रास	—	विनय सुन्दर
२६३.	पोषहरास	—	ज्ञान भूषण
२६४.	छोति रास	—	पातु
२६५.	स्त्री रासो	—	गद्द कवि
२६६.	विबुध विमल सूरि रास	—	—
२६७.	श्रीवीर विजय निर्वाण रास	—	—
२६८.	पल्य विधान रास	१७०६	अनन्तनाथ
२६९.	चन्दराजा रास	१७०७	(i) तेज मुनि सेवक (ii) मल्हसिंह
२७०.	चन्दन मलयगिरि रास	१७०९	क्षेम हर्ष
२७१.	पुण्यसार रास	१७०९	मुनि पद्म
२७२.	त्रिभुवनकुमार रास	१७१२	उत्तमसागर
२७३.	चम्पनृप रास	१७१३	लब्धरुचि
२७४.	मृगावती रास	१७१६	गजकुशल

	रचना	रचनाकाल	रचयिता
७५.	सूरपाल चरित्र रास	१७१७	सकल चंद
२७६.	श्रीचंद केवली रास	१७१७	देव विजय
२७७.	इलायची रास	१७१६	ज्ञान सागर
२७८.	मंगलकलश रास	१७१६	दीप्ति विजय
२७९.	जोगी रासो	१७२०	(i) जिनदास पाण्डे
			(ii) भगवती दास
२८०.	धर्म रासो	१७२३	अचल कीर्ति
२८१.	पालकुमार रास	१७२३	नरसिंह गणि
२८२.	रत्नचूड व्यवहारी रास	१७२४	कनक निधान
२८३.	नंदिसेन रास	१७२५	ज्ञान सागर
२८४.	साम्ब प्रद्युम्न रास	१७२७	(i) ज्ञान सागर
			(ii) ऋषि हेतराम
२८५.	चन्दलेहा रास	१७२८	मतिकुशल
२८६.	कर्मविपाक रास	१७२८	वीरचन्द्र मुनि
२८७.	राजाभोज चरित्र रास	१७२९	कुशल धीर
२८८.	धन्ना रास	१७३२	(i) मुनि खेता
		१७७२	(ii) भावरत्न
२८९.	रत्नपाल रासो	१७३२	(i) सुरचन्द्र
		१७७६	(ii) सूर विजय
२९०.	जितारी रास	१७३४	तेजमुनि तेजल
२९१.	सुरसुन्दरी रास	१७३५	धर्मवर्द्धन
२९२.	अमर कुवर सुर सुन्दरी रास	१७३६	विजय हर्ष
२९३.	श्रीपाल नृप रास	१७४३	जिनहर्ष सूरि
२९४.	गुणमाला रास	१७४३	कहानजी कीर्ति सुन्दर
२९५.	सीताचरित रास	१७४३	रायचन्द्र
२९६.	हरिचंद रास	१७४४	जिनहर्ष
२९७.	उत्तम चरित्रकुमार रास	१७४५	जिनहर्ष
२९८.	कन्हड़ कठियार रास	१७४६	मानसागर
२९९.	रत्नचूड मणिचूड रास	१७४९	लब्धोदय
३००.	श्री शत्रुंजय तीर्थ रास	१७५५	जिनहर्ष
३०१.	माकड रासो	१७५७	कीर्तिसुन्दर
३०२.	जीवसिखामण रास	१७५८	प्रभु चन्द्र
३०३.	सुभद्रा रास	१७५९	(i) उदय रत्न
		१७९२	(ii) भाव प्रभ
३०४.	अभयकुमारादि पांच साधु रास	१७५९	कीर्ति सुन्दर
३०५.	णमोकार रास	१७६०	किशनसिंह
३०६.	मानतुंग मानवती रास	१७६०	मोहनविजय
३०७.	आरामशोभा रास	१७६१	जिनहर्ष
३०८.	अभयकुमार मन्त्रीश्वर रास	१७६१	लक्ष्मी विनय
३०९.	लीलावती सुमति विलास रास	१७६७	उदय रत्न
३१०.	यशोधर रास	१७६७	दीप्तिविजय

	रास रचना	रचनाकाल	रचयिता
३११.	जलविमान रास	१७६७	दौलतराम संगही
३१२.	पापबुद्धि धर्मबुद्धि रास	१७६८	उदयरत्न
३१३.	षोडशकारण रास	१७६९	सकलकीर्ति
३१४.	आनंद मंदिर रास	१७७०	ज्ञानविमल सूरि
३१५.	मलय सुन्दरी रास	१७७५	कान्ति विजय
३१६.	सुदर्शन सेठ रास	१७७५	हीर मुनि
३१७.	द्रोपदी रास	१७८०	(i) समय सुन्दर
			(ii) कनक कीर्ति
३१८.	मानवती रास	१७८२	गुलाब विजय
३१९.	ध्वद रास	१७८३	मोहन विजय
३२०.	केसरिया जी री रास	१७८३-८४	सौह विजय
३२१.	निम्ब रास	—	भीखा जी
३२२.	चूड़लो रास	१७८६	प० रघुनाथ
३२३.	विक्रमपंच दण्ड रास	१७९२	नरपति
३२४	कंध रास	१७९५	पं० रघुनाथ
३२५.	अष्ट प्रकार पूजा रास	१७९५	उदयरत्न
३२६	पन्द्रहवी विद्या (कला) रास	१७९८	वीरचन्द्र
३२७.	नयमासुन्दरी रास	—	मोहन विजय
३२८.	अमरकुमार रास	—	लक्ष्मी वल्लभ
३२९.	त्रयोदश मार्गी रास	—	धर्म सार
३३०.	अठाई रास	—	विनयकीर्ति
३३१.	ऋषभ रास	—	गुणरत्न सूरि
३३२.	भावदेवसूरि रास	—	जयरूप
३३३.	विद्याविलास रास	—	हीरानंद सूरि
३३४.	सगलशा रास	—	कनक सुन्दर
३३५.	सप्तव्यसन रास	—	वीरचन्द्र
३३६	मृगावती रास	—	समय सुन्दर
३३७.	माणिक देवी रास	—	निहाल सिंह
३३८.	पुण्डरीक कण्डरीक रास	—	मुनि नारायण
३३९.	विजय रास	—	लाभवर्द्धन
३४०.	अयवन्ता मुणिन्द रास	—	जेमल
३४१.	आत्म-सम्बोधि रास	—	बनारसी
३४२.	विमल मंत्री रास	—	लावण्य समय
३४३.	शकुन्तला रास	—	धर्म समुद्र
३४४.	सारसिखावण रास	—	सम्वेग सुन्दर
३४५.	हीर सूरि रास	—	ऋषभदास
३४६.	बुद्धि सागर निर्वाण रास	१८०५	दीपो
३४७.	विनयचट रास	१८१०	ऋषभ सागर
३४८.	उत्तम कुमार रास	१८१०	(i) विनय चन्द्र
		१८६५	(ii) जिनहर्ष
३४९.	प्रद्युम्नकुमार रास	१८१८	मयाराम भोजक

	रास रचना	रचनाकाल	रचयिता
३५०.	आर्द्रकुमार रास	१८१९	मानकवि
३५१.	शील स्वाध्याय रास	१८२५	जिनहर्ष
३५२.	रत्नपाल रास	१८२७	(i) सेवक सूर
		१८६७	(ii) मोहनविजय
३५३.	अष्ट प्रकार रास	१८२९	उदय रत्न
३५४.	राम रासा	१८३२	(i) सुज्ञान सुन्दर
		१८६५	(ii) आनन्द नगर मणि
३५५.	शील विषय विजय सेठ विजयासती को रास	१८३३-४३	राय चंद्र
३५६.	रूपसेन रास	१८५०	महानन्द
३५७.	खेमासानो रास	१८५७	लक्ष्मीरत्न
३५८.	गौतम रासो	१८६१	रिखि रायचंद्र
३५९.	अजापुत्र रास	१८७०	धर्मदेव
३६०.	मयनरेहा रास	१८७०	(i) विनय चन्द्र
			(ii) हरसेवक
३६१.	पद्मावती जीव रास	१८७०	मुनिपद्म
३६२.	अष्टानीवतंनो रास	१८७१	शुभचंद्र
३६३.	अनन्त व्रत रास	१८७१	जिनरास
३६४.	पोश्ती रास	१८७!	—
३६५.	जम्बू चरित्र रास	१८७२	मुनिपद्म
३६६.	सभाविलास रास	१८७३	लालकवि
३६७.	गुणकरंड गुणावली रास	१८७४	दीपो
३६८.	सनतकुमार चक्री रास	१८७५	लब्धि विजय
३६९.	जती (यती) रास	१८७६	(i) ऋषभदेव
			(ii) जैन जुहार
			(iii) भीख चद
३७०.	रात्रि भोजन रास	१८७७	गम्मे कवि
३७१.	शंकापद निराकरण प्रतिमा स्थापन रास	१८७७	सुमतिकीर्ति
३७२.	गोडा रासो	१८८०	ज्ञानदास सेवक
३७३.	श्रुत पंचमी रास	१८९९	धर्मदास
३७४.	आदिनाथ रास या निरमलो रास	—	(i) ब्रह्म जिनदास
			(ii) भुवनकीर्ति
३७५.	अम्बरीषी रास	—	माई दास
३७६.	शत्रुंजय गिरिवर रास	—	जिनहर्ष
३७७.	सुदामा चरित्र रास	—	ब्रह्मदास
३७८.	रुक्मिणीहरण रास	—	मुनि पद्म
३७९.	पोषह रास	—	ज्ञानभूषण
३८०.	नाना नाना रास	—	दलपत राम
३८१.	मधु रास	—	जयाचार्य
३८२.	समेत शिखर रासो	—	—
३८३.	शालिभद्र धनना (रा) स	—	—
३८४.	शान्तिनाथ रास	—	—
३८५.	राजसिंह रतनवती पंच कथा रास	—	—
३८६.	कलजुग चलन रस रास	—	—
३८७.	जवाई राजा रास	२०००	आचार्य तुलसी
३८८.	गौतमस्वामी रास	२००९	विनय चन्द्र
३८९.	वृज रासो	—	वेणुह

	रास रचना	रचनाकाल	रचयिता
१६०.	बाणियां रासो	—	भानुदास टंगू
१६१.	पोस्ती रासो	—	बखतो बार्पालिया

इसके अतिरिक्त रास काव्य रूप के ही अनुरूप अन्य काव्य रूप संज्ञक रचनाएं और उपलब्ध होती हैं—

१६२.	भविष्यदत्त कहा	(धनपाल)
१६३.	कुवलयमाला कहा	
१६४.	लीलावई कहा	
१६५.	सुन्दसण चरिउ	
१६६.	करकण्डु चरिउ	
१६७.	जिणदत्त चरिउ	
१६८.	णायकुमार चरिउ	(पुष्पदन्त)

मुख्य रूप से उक्त सभी जैन रास संज्ञक रचनाओं को हम निम्न रूप में वर्गीकृत कर सकते हैं—

(क) चरित्र काव्य—
 (i) यतियों, मुनियों के चरित्राख्यानक रास काव्य।
 (ii) तीर्थंकरों के चारित्र्याख्यानक रास काव्य।
 (iii) तीर्थ-स्थलों के माहात्म्य विषयक रास काव्य

(ख) नीति एवं आचार विषयक रास काव्य

(ग) व्रत एवं उपासना के विधि-विधानपरक रास काव्य

(घ) पौराणिक कथा-सम्मत रास काव्य—
 (i) राम चरित्रपरक
 (ii) कृष्ण चरित्रपरक

(ङ) रोमांचक रास काव्य

(च) व्यंग्य-विनोदपरक रास काव्य

उक्त वर्गीकरण के आधार पर उपर्युक्त अंकित सभी रचनाओं का पुनर्प्रस्तुतीकरण यहां समीचीन नहीं होगा। मुनि जिन विजय महाराज ने जैन रास की परम्परा का विकास शालिभद्र सूरि प्रणीत भरतेश्वर बाहुबलि रास सम्वत् १२४१ विक्रम (सन् ११८४ ई०) से माना है। हमारी सूचना के अनुसार यह रचना १२३१ विक्रम की है[1] लेकिन इससे पूर्व भी अब कुछ रचनाओं का उल्लेख मिल जाता है। जैन साहित्य में जहां रासो संज्ञक रचनाओं की प्रचुरता है, वहीं जैन कवियों ने आचार, फागु, चरिउ, कहा, चर्चरी आदि काव्य रूपों की शैली में भी रचनाएं प्रस्तुत की हैं। जैन साहित्यकारों, विशेषकर जैनसाधुओं ने, 'रास' काव्य रूप को प्रभावशाली काव्य शैली के रूप में अपनाया और प्रशस्त किया तथा ऊपर किये गये वर्गीकरण के अन्तर्गत उन्होंने अपने तीर्थंकरों के जीवन-चरित तथा वैष्णव अवतारों की कथाओं को भी जैन आदर्शों के आवरण में 'रास' काव्य रूप में प्रस्तुत किया है।

जैन रास काव्यों की एक विशिष्ट भूमिका रही। जैन मंदिरों में श्रावकगण इन रास रचनाओं को रात्रि के समय ताल देते हुए और अंग संचालन के साथ गाया करते थे। चौदहवीं शताब्दी तक इस प्रकार की प्रवृत्ति का प्रचलन रहा। लेकिन बाद में इसे प्रतिबन्धित कर दिया गया और वे मात्र गेय रूप में ही प्रस्तुत किये जाने लगे। यह कहना अधिक समीचीन होगा कि जैन साहित्य में सबसे अधिक लोकप्रिय सर्जनात्मक विधा 'रास' ही थे। कुछ जैन कवियों ने रामायण और महाभारत की कथाओं के विशिष्ट पात्र राम और कृष्ण के चरित्रों को अनेक धार्मिक सिद्धान्तों और विश्वासों के अनुरूप चित्रित किया है।

अन्त में यह कहना अधिक तर्क-सम्मत और आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रस्तुत रास ग्रन्थों के काव्यकलागत मूल्यांकन की आज आवश्यकता है और यदि किसी सूत्र से व्यवस्था की जा सके तो यह शोध परियोजनात्मक अध्ययन की नवीन दिशा दे सकता है। सैद्धान्तिक आचार-व्यवहार तथा रीतिनीति के इतर इन रासो कृतियों में रोमांचक शैली की कतिपय रचनाएं अच्छे कलात्मक मूल्यों से परिपूर्ण हैं।

---

१. द्रष्टव्य—(१) रास और रासान्वयी काव्य
 (२) लेखक के शोध प्रबन्ध 'पृथ्वीराज रासो का लोकतात्विक अध्ययन' का प्रथम अध्याय (राज० विश्वविद्यालय, १९७१)

जैन हिन्दी-काव्य में व्यवहृत संख्यापरक काव्य-रूप

—डॉ० महेन्द्रसागर प्रचंडिया

वैदिक तथा बौद्ध धाराओं के समान ही जनजीवन को जैन संस्कृति और साहित्य ने प्रभावित किया है। जैन आचार्यों और मुनियों ने विश्वमंगल और लोक कल्याण के निमित्त अनुभूति का जो उपदेश दिया है, जीवन और जगत् की निगूढ़तम समस्याओं पर जो समाधान दिया है और आत्मलीन होकर शास्त्र-स्वाध्याय से जो वाणी विविध काव्यरूपों में प्रस्फुटित हुई है उनका समवाय हमें जैन हिन्दी कवियों की काव्यकृतियों में सहज ही उपलब्ध होता है। भाव अथवा विचार अभिव्यक्त होकर जो रूप अथवा आकार ग्रहण किया करते हैं कालान्तर में वही रूप काव्यरूप की संज्ञा प्राप्त करता है। पन्द्रहवीं शती से लेकर उन्नीसवीं शती तक हिन्दी साहित्य में अनेक काव्यरूपों का प्रयोग हुआ है। यहां हम संख्यापरक काव्यरूपों की स्थिति पर संक्षेप में विचार करेंगे।

भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से हम काव्य रूप को दो प्रमुख भेदों में विभाजित कर सकते हैं। यथा—

1. निबद्ध काव्यरूप
2. मुक्तक काव्यरूप

संख्या और छन्द मुक्तक काव्यरूप के दो प्रमुख अंग हैं। विवेच्य काव्य में जिन संख्यापरक काव्यरूपों का प्रयोग हुआ है, उन्हें अकारादि क्रम से इस रूप में व्यक्त किया जा सकता है—अष्टपदी, चतुर्दशी, चालीसा, चौबीसी, छत्तीसी, पचीसी, पंचासिका, पंचशती, बत्तीसी, बहत्तरी, बारहमासा, बावनी, शतक, षट्पद, सतसई और सत्तरी नामक सोलह प्रमुख काव्यरूपों का प्रयोग-प्रसंग द्रष्टव्य है। अब यहाँ इन काव्यरूपों का क्रमशः अध्ययन करेंगे।

अष्टपदी—अष्टक और अष्टपदी नामक संज्ञाओं में व्यवहृत यह काव्यरूप आठ की संख्या पर आधृत है। विवेच्य काव्य में स्तवन की भाँति मुक्तक रूप में यह काव्यरूप प्रयुक्त है। अठारहवीं शती के यशोविजय उपाध्याय[1], श्री विद्यासागर[2] तथा भगवतीदास[3] द्वारा रचित हिन्दी काव्यकृतियों में अनेक बार अष्टपदी नामक काव्यरूप प्रयुक्त हुआ है।

चतुर्दशी—इस काव्यरूप में चौदह की संख्या का महत्त्व है। किसी स्वतंत्र भावना की काव्यात्मक अभिव्यक्ति जब चौदह छन्दों में पूर्ण हो जाती है तब उसे चतुर्दशी कहा जाता है। सत्रहवीं शती के प्रसिद्ध आध्यात्मिक कवि बनारसीदास के द्वारा प्रणीत एक चतुर्दशी का उल्लेख मिलता है।[4]

चालीसा—चालीसा काव्यरूप में चालीस की संख्या होती है। भक्त्यात्मक काव्यकृतियां मुख्यतः इस काव्यरूप में रची गई हैं। लोक में हनुमानचालीसा सुप्रसिद्ध भक्तिकाव्य है। अठारहवीं शती में जैन हिन्दी कवि भवानीदास द्वारा रचित आध्यात्मिक चालीसा प्रसिद्ध है।[5]

चौबीसी—इस काव्यरूप का मूलाधार चौबीस संख्या है। चौबीस छन्दों की संख्या वस्तुतः चौबीसी कहलाती है। विवेच्य काव्य में मुख्यतः चौबीस तीर्थंकरों से सम्बन्धित भक्त्यात्मक काव्यरचना चौबीसी काव्यरूप में व्यवहृत हुई है। अठारहवीं शती के जिनहर्ष[6], भैया भगवती दास[7] तथा बुलाकी दास[8] की चौबीसियां प्रसिद्ध हैं।

छत्तीसी—छत्तीसी का मूलोद्गम अपभ्रंश भाषा में सन्निहित है।[9] जैन हिन्दी काव्य में यह काव्यरूप सत्रहवीं शताब्दी में व्यवहृत है। कुशल लाभ[10] और उदयराज जती[11] द्वारा रचित छत्तीसियां उल्लिखित हैं। अठारहवीं शती के जिनहर्ष[12] और भवानीदास[13] विरचित छत्तीसियां भी प्रसिद्ध हैं।

पच्चीसी—पच्चीसी का अपर नाम पचीसीका भी प्राप्त है। इस काव्यरूप में पचीस की संख्या रहती है पर कवियों द्वारा दो-तीन अधिक पद्यों का लिखना प्रायः प्रचलित है। इसमें धार्मिक, दार्शनिक तथा उपदेशपरक बातों का विवेचन होता है। सत्रहवीं शती के कवि बनारसीदास द्वारा रचित पचीसी काव्य उपलब्ध है। अठारहवीं शती के कविवर रामचन्द्र, भैया भगवतीदास, द्यानतराय, भूधरदास तथा उन्नीसवीं शती के कवि विनोदी लाल द्वारा रचित अनेक पचीसियां उपलब्ध हैं।

पंचासिका—इस काव्यरूप में पचास पद्यों का समावेश रहता है। इसमें नीति, उपदेश तथा कल्याणकारी बातों का चित्रण हुआ है। विवेच्य काव्य में यह सत्रहवीं शती में सर्वप्रथम कविवर सुन्दरदास द्वारा रची गई है। अठारहवीं शती के कविवर द्यानतराय और विहारीदास ने स्वतंत्र पंचासिका काव्यरूप का व्यवहार किया है।

पंचशती—इस काव्यरूप में पांच सौ पद्यों अथवा छन्दों का प्रयोग हुआ करता है। इस काव्यरूप का प्रयोग-प्रचलन प्रायः अवरुद्ध हो गया। उन्नीसवीं शती के कविवर छत्रपति द्वारा पंचशती का प्रयोग हुआ है।

बत्तीसी—इस काव्यरूप में बत्तीस संख्या का प्रयोग होता है। जैन कवियों ने तीर्थंकरों, मुनियों के गुणों पर आधृत बत्तीसियां लिखी हैं। सत्रहवीं शती के कविवर हरिकलश तथा बनारसीदास द्वारा बत्तीसी का प्रयोग उपलब्ध होता है। अठारहवी शती के कविवर अजयराज पाटनी, भवानीदास, लक्ष्मीवल्लभ, भैया भगवतीदास, अचलकीर्ति तथा मनराम द्वारा विभिन्न बत्तीसियां रची गई हैं।

बहुत्तरी—बहुत्तरी काव्यरूप में बहत्तर संख्या को महत्त्व दिया जाता है। इसका प्रयोग अठारहवी शती में प्रचलित रहा है। आनन्दघन तथा जिनरंगसूरि द्वारा विरचित बहुत्तरियां उल्लेखनीय हैं।

बारहमासा—बारहमासा संख्यापरक लोक काव्यरूप है। इसमें वर्ष के बारह महीनों का प्रयोग होता है। इस काव्यरूप द्वारा विप्रलम्भ शृंगार का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त संयोग शृंगार, षट्ऋतु वर्णन, भक्ति तथा सिद्धान्त, पुत्र-वियोग, समाज-सुधार, नीति तथा अनुभव की बातों के लिए इस काव्यरूप का व्यवहार द्रष्टव्य है। यह काव्यरूप हिन्दी में बारहवीं शती से प्रयुक्त हुआ है। विनय चन्द्रसूरि हिन्दी बारहमासा काव्यरूप के आदि कवि माने जाते हैं। सत्रहवीं और अठारहवीं शती में इस काव्य का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। सत्रहवीं शती के कविवर रत्नकीर्ति, कुमुदचन्द्र, भगवतीदास द्वारा बारहमासा रचे गए हैं। अठारहवीं शती के जिनहर्ष, लक्ष्मी वल्लभ, विनोदी लाल तथा भवानीदास विरचित बारहमासा उल्लेख्य हैं। उन्नीसवीं शती के कान्तिहर्ष तथा नयनसुखदास विरचित बारहमासा काव्य भी महत्त्वपूर्ण हैं।

बावनी—इस काव्यरूप में बावन छन्दों का व्यवहार होता है। पन्द्रहवीं शती से यह काव्यरूप वर्णों के आधार पर लिखने के कारण ककका तथा मातृका नामों से व्यवहृत होता रहा है। हिन्दी में तब इस प्रकार की कृतियों को 'अखरावट' कहा जाता था। पन्द्रहवीं शती के जयसागर विरचित बावनी काव्यकृति उल्लेखनीय है। सोलहवीं शती के छीहल, सत्रहवीं शती के उदयराजजती, हीरानन्दमुनि द्वारा रचित काव्य प्रसिद्ध हैं। अठारहवीं शती में यह काव्यरूप सर्वाधिक व्यवहृत हुआ है। कविवर बनारसीदास हेमराज, मनोहरदास, जिनहर्ष, जिनरंगसूरि, केशव, लक्ष्मीवल्लभ द्वारा रचित काव्यकृतियों में इस काव्यरूप का व्यवहार हुआ है।

शतक—शतक एक संख्यापरक काव्यरूप है। इसमें सौ की संख्या का महत्त्व है। यह काव्यरूप संस्कृत से अपभ्रंश भाषा में होता हुआ हिन्दी मे अवतरित हुआ है। हिन्दी जैन शतक काव्य की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। सत्रहवीं शती में कविवर जिनभद्र, रूपचन्द्र पाण्डे द्वारा रचित शतक उल्लिखित हैं। अठारहवीं शती मे भवानीदास, भूधरदास, भैया भगवतीदास, हेमराज, यशोविजय तथा उन्नीसवीं शती में कविवर वृन्दावनदास, बुधजन तथा चासी लाल कृत शतक काव्य उल्लेखनीय हैं। यह काव्यरूप बीसवीं शती में भी समादृत रहा है। कवयित्री चम्पाबाई तथा पद्मचन्द्र जैन भगतजी कृत शतक बहुर्चित हैं। इन सभी शतक काव्य कृतियों में जैन-दर्शन तथा संस्कृति की विशद व्यंजना हुई है।

षट्पद—अष्टक की भांति षट्पदों की रचना को षट्पद नामक काव्यरूप संज्ञा से सम्बोधित किया गया है। अठारहवीं शती के कविवर विद्यासागर कृत षट्पद उल्लेखनीय हैं।

सतसई—यह संख्यापरक काव्य है। यह भी अपभ्रंश से हिन्दी में गृहीत हुआ है। इसमें सात सौ से अधिक छन्दों का व्यवहार होता है। गाथा सप्तशती के आधार पर हिन्दी में यह सतसई कहलाया। सत्रहवीं शती में कविवर सुन्दरदास तथा उन्नीसवी शती में कविवर बुधजन द्वारा इस काव्यरूप का व्यवहार हुआ है। इन काव्यों मे नीति, उपदेश तथा आध्यात्मिक चर्चाएं अभिव्यक्त हुई हैं।

सतसरी—यह लोक का संख्यापरक काव्यरूप है। इसमें सत्तर की संख्या का प्रयोग होता है। सत्रहवीं शती में कविवर सहज-कीर्ति[77] द्वारा इस काव्यरूप का प्रयोग हुआ है। इसमें सप्त व्यसनों का सुन्दर विवेचन मिलता है।[78]

इस प्रकार हिन्दी के जैन कवियों द्वारा अपनी भक्त्यात्मक, आध्यात्मिक, नीति और उपदेशपरक भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए उपर्युक्त अनेक संख्यापरक काव्यरूपों का प्रयोग हुआ है। इनमें अनेक काव्यरूप परम्परानुमोदित हैं किन्तु अनेक काव्यरूपों के व्यवहार का दायित्व इन जैन कवियों व आचार्यों पर निर्भर करता है जिन्होंने जनसाधारण में कल्याणकारी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए इन्हें गृहीत किया। उनके इस प्रयत्न से काव्यरूप परम्परा भी प्रोन्नत हुई है।

---

१. आनन्दघन अष्टपदी (श्री यशोविजय उपाध्याय), २. दर्शनाष्टक (श्री विद्यासागर), ३. मूढ़ाष्टक (भगवतीदास), ४. भवसिन्धु चतुर्दशी (बनारसीदास), ५. ज्ञानछन्द चालीसा (भवानीदास) ६. चौबीसी (जिनहर्ष), ७. सुबिद्धि चौबीसी (भैया भगवतीदास), ८. जैन चौबीसी (बुलाकी दास), ९. हिन्दी काव्यरूपों का अध्ययन, पृष्ठ १२५ (डा० रामबाबू शर्मा), १०. स्थूलभद्र छत्तीसी (कुशल लाभ), ११. भजन छत्तीसी (उदयराज जती), १२. उपदेश छत्तीसी (जिनहर्ष), १३. सूरधा छत्तीसी (भवानी दास), १४. शिव पचीसी (बनारसीदास), १५. समाधि पचीसी (रामचन्द्र), १६. वैराग्य पचीसिका (भैया भगवतीदास), १७. धर्म पचीसी (ध्यानतराय), १८. हुक्का पचीसी (भूधरदास), १९. राजुल पचीसी तथा फुलमाला पचीसी (विनोदी लाल), २०. पाखंड पंचासिका (सुन्दरदास), २१. आध्यात्मिक पचासिका (ध्यानतराय), २२. संबोधि पचासिका (बिहारीदास), २३. मदनमोहन पचशती (छत्रपती), २४. सिंहासन बतीसी (हरिकलश), २५. ध्यान बत्तीसी (बनारसीदास), २६ कक्का बत्तीसी (अजयराज पाटनी), २७. कक्का बत्तीसी (भवानीदास), २८. चेतन बत्तीसी तथा उपदेश बत्तीसी (लक्ष्मीवल्लभ), २९. मन बत्तीसी और स्वप्न बत्तीसी (भैया भगवतीदास), ३०. कर्म बत्तीसी (अचलकीर्ति), ३१. बत्तीसी (मनराम), ३२ हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ० २०४ (डा० प्रेम सागर जैन), ३३. आनन्दघन बहत्तरी (आनन्दघन), ३४ रग बहत्तरी (जिनरंग सूरि), ३५. हिन्दी का बारहमासा साहित्य : उसका इतिहास तथा अध्ययन, पृष्ठ १० (डा० महेन्द्रसागर प्रचंडिया), ३६ जैन कवियो के हिन्दी काव्य का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन, पृष्ठ ५१ (डा० प्रचंडिया), ३७. नेमिनाथ बारहमासा अर्थात् नेमिनाथ चतुष्पदिका (विनयचन्द्र सूरि), ३८. नेमिनाथ बारहमासा (रत्नकीर्ति), ३९. नेमिनाथ बारहमासा (कुमुदचन्द्र), ४०. लघु सीता बारहमासा (भगवतीदास), ४१. राजमती बारहमासा (जिनहर्ष), ४२. नेमिराजुल बारहमासा (लक्ष्मीवल्लभ), ४३. नेमिराजुल बारहमासा (विनोदीलाल), ४४. अध्यात्म बारहमासा और सुमति कुमति बारहमासा, नेमिनाथ बारहमासा (भवानी दास), ४५. नेमिनाथ बारहमासा (शान्ति हर्ष), ४६ वजरत्न मुनिवर का बारहमासा (नैनसुखदास), ४७. हिन्दी काव्यरूपों का अध्ययन, पृष्ठ १२२ (डा० रामबाबू शर्मा) ४८. प्राचीन काव्यों की परम्परा, पृष्ठ १३ (श्री अगरचन्द्र नाहटा), ४९. अष्टापद तीर्थ बावनी (जयसागर), ५०. नाम बावनी (छीहल कवि), ५१. गुण बावनी (उदयराज जती), ५२. अध्यात्म बावनी (हीरानन्द सूरि), ५३. ज्ञान बावनी (बनारसीदास), ५४. हितोपदेश बावनी (हेमराज), ५५. चिन्तामणि मान बावनी (मनोहरदास), ५६. जसराज बावनी (जिनहर्ष), ५७ प्रबोध बावनी (जिनरंग सूरि), ५८. बावनी (केशव कवि), ५९. दूहा बावनी (लक्ष्मीवल्लभ), ६०. पदम शतक, भूमिका पृष्ठ ५ डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया), ६१. चन्द्र शतक (त्रिभुवन), ६२. परमार्थी शतक (रूपचन्द्र पाँडे), ६३. फुटकर शतक (भवानीदास), ६४. जैन शतक (भूधरदास), ६५. परमात्म शतक (भैया भगवतीदास), ६६. उपदेश दोहा शतक (हेमराज), ६७. साम्य शतक (यशोविजय), ६८. छन्द शतक (वृन्दावनदास), ६९. देवानुराग शतक (बुधजन), ७०. देवानुराग शतक (बासी लाल), ७१ चम्पा शतक (चम्पाबाई), ७२. पदम शतक (पदमचन्द्र जैन भगत जी), ७३. जिन जन्ममहोत्सव षट्पद (विद्यासागर), ७४. जैन कवियों के हिन्दी काव्य का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन, पृष्ठ ६४ (डा० महेन्द्रसागर प्रचंडिया), ७५. सुन्दर सतसई (सुन्दरदास), ७६. बुधजन सतसई (कविवर बुधजन), ७७ व्यसन सतरी (सहजकीर्ति), ७८. जैन कवियों के हिन्दी काव्य का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन, पृ० ६४ (डा० महेन्द्रसागर प्रचंडिया)।

१६वीं शताब्दी का अचर्चित हिन्दी-कवि ब्रह्म गुणकीर्ति

—डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल

संवत् १५०१ से १६०० तक के काल को हिन्दी साहित्य के इतिहास में दो भागों में विभक्त किया गया है। मिश्रबन्धु विनोद में १५६० तक के काल को आदि काल माना है तथा संवत् १५६१ से आगे वाले काल को अष्टछाप कवियों के नाम से सम्बोधित किया है। रामचन्द्र शुक्ल ने भी इस काल को अष्टछाप नामकरण दिया है। लेकिन यह काल भक्ति युग का आदि काल था। एक ओर गुरु नानक एवं कबीर जैसे सन्त कवि अपनी कृतियों से जन-जन को अपनी ओर आकृष्ट कर रहे थे तो दूसरी ओर जैन कवि अपनी कृतियों के माध्यम से जन-जन मे अर्हद् भक्ति, पूजा एवं प्रतिष्ठाओं का प्रचार कर रहे थे। समाज में भट्टारक परम्परा की नींव गहरी हो रही थी। जगह-जगह उनकी गादिया स्थापित हो रही थीं। भट्टारक एवं उनके शिष्य अपने आप को भट्टारक के साथ-साथ आचार्य, उपाध्याय, मुनि एवं ब्रह्मचारी सभी नामों से सम्बोधित करने लगे थे। साथ ही, संस्कृत के साथ-साथ राजस्थानी एवं हिन्दी भाषा को भी अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बना रहे थे। देश पर मुसलमानो का राज्य था, जो अपनी प्रजा पर मनमाने जुल्म ढा रहे थे। ऐसी स्थिति मे भी भट्टारको एवं उनके शिष्यो ने समाज के मानस को बदलने के लिए लोक भाषा में छोटे-बड़े रास काव्यों, पद एवं स्तवनो का निर्माण किया। इन १०० वर्षों मे होने वाले पचासो हिन्दी जैन कवियों में निम्न कवियों के नाम विशेषत: उल्लेखनीय हैं—

१.	ब्रह्म जिनदास	संवत् १४६० से १५२०
२.	ब्रह्म बूचराज	संवत् १५३० से १६०० तक
३.	छीहल	संवत् १५७५ से
४.	ठक्कुरसी	संवत् १५२० से १५६०
५.	चतरूमल	संवत् १५७१ से
६.	गारवदास	संवत् १५८१ से
७.	धर्मदास	संवत् १५७८
८.	आचार्य सोमकीर्ति	संवत् १५१८ से ३६ तक
९.	कविवर साधु	संवत् १५४०
१०.	ब्रह्म गुणकीर्ति	संवत् १४६० से १५५०
११.	ब्रह्म यशोधर	संवत् १५२० से १५८५

उक्त ग्यारह कवियों को १६ वीं शताब्दी का प्रतिनिधि कवि कहा जा सकता है। इन कवियों ने अपनी अनगिनत रचनाओं के माध्यम से देश में जो साहित्यिक एवं सांस्कृतिक जागृति पैदा की वह इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों में सदा अंकित रहेगी। ब्रह्मचारी जिनदास[1] तो महाकवि थे जिन्होंने राजस्थानी भाषा में ७० से भी अधिक रचनायें लिख कर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। इनका अकेला रामरास ही ब्रह्म जिनदास के व्यक्तित्व को महान् बनाने के लिये पर्याप्त है। इसी तरह छीहल[2], ठक्कुरसी एवं बूचराज ने अपनी विभिन्न कृतियों के माध्यम से राजस्थानी साहित्य को नया रूप प्रदान किया एवं इसमें पंच सहेली गीत, कायणजुज्झ, चेतन पुद्गल धमाल, पंचेन्द्रिय बेलि जैसी कृतियां निबद्ध करके इसे लोकप्रिय बनाने में अपना पूर्ण योगदान दिया।

---

१. देखिये, "महाकवि ब्रह्म जिनदास—व्यक्तित्व एवं कृतित्व" —डॉ० प्रेमचंद रांवका, प्रकाशक —श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
२. देखिये "कविवर बूचराज एवं उनके समकालीन कवि" —डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल, प्रकाशक—वही।

आचार्य सोमकीर्ति अपने समय के प्रभावशाली भट्टारक एवं राजस्थानी मनीषी थे, जिन्होंने दो बड़ी एवं पांच छोटी रचनायें निबद्ध की थीं। ब्रह्म यशोधर का समस्त जीवन ही साहित्य सेवा के लिये समर्पित था।[1] इन्होंने बुपई संज्ञक काव्य लिखा, नेमिनाथ, वासपूज्य एवं अन्य तीर्थंकरों के स्तुतिपरक गीत लिखे। ये सभी कवि जैन साहित्य के तो जगमगाते नक्षत्र हैं, साथ ही हिन्दी के भी जाज्वल्य तारागण हैं।

ब्रह्म गुणकीर्ति १६ वीं शताब्दी के ऐसे सन्त कवि हैं जिनके सम्बन्ध मे साहित्यिक जगत् अभी तक अनजान-सा है। राजस्थानी कवि होते हुए भी उनकी साहित्यिक सेवायें उपेक्षित बनी हुई हैं। प्रस्तुत लेख मे उन्ही के सम्बन्ध मे परिचय दिया जा रहा है।

ब्रह्म गुणकीर्ति महाकवि ब्रह्म जिनदास के कनिष्ठतम शिष्य थे। अपने गुरु के अन्तिम समय में ये उनके सम्पर्क में आये थे लेकिन अपनी अद्‌भुत काव्य-प्रतिभा के कारण अल्प समय में ही उन्होंने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। स्वयं ब्रह्म गुणकीर्ति ने अपने गुरु का निम्न प्रकार स्मरण किया है—[2]

श्री ब्रह्मचार जिणदास तु, परसाद तेह तणो ए।
मनवांछित फल होइ तु, बोलीइ किस्युं घणु ए॥

कविवर ब्रह्म गुणकीर्ति की अभी तक एक ही कृति हमारे देखने मे आई है, और वह है 'रामसीता रास' जो एक लघु प्रबन्ध काव्य है। उक्त कृति के अतिरिक्त कवि ने और कितनी कृतियां निबद्ध की थी इसके सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता लेकिन इनकी काव्य-प्रतिभा को देखते हुए इनकी और भी कृतियां होनी चाहिए। ब्रह्म जिनदास ने सम्वत् १५०८ में विशालकाय रामरास की रचना की थी लेकिन उस युग में पाठकों की रामकथा के अध्ययन की ओर विशेष रुचि थी इसलिये ब्रह्म गुणकीर्ति को लघु रूप में 'रामसीतारास' को निबद्ध करना पड़ा।

'रामसीतारास' एक खण्ड काव्य है जिसमे राम और सीता के जन्म से लेकर लंका विजय के पश्चात् अयोध्या प्रवेश एवं राज्याभिषेक तक की घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। इसमे १२ ढालें हैं जो ११ अध्यायों का काम करती हैं। जैन कवियों ने प्राचीन काल में अपनी सभी काव्यकृतियों में इसी परम्परा को निभाया था। 'रामसीतारास' एक गीतात्मक काव्य है जिसकी ढालों को गा करके पाठकों को सुनाया जाता था।

समय

प्रस्तुत काव्य का रचना-काल तो मिलता नहीं जिससे स्पष्ट रूप से किसी तथ्य पर पहुंचा जा सके लेकिन ब्रह्म जिनदास का शिष्य होने के कारण 'रामसीतारास' की रचना संवत् १५४० के आसपास होनी चाहिए। जिस गुटके में 'रामसीतारास' का संग्रह किया हुआ है वह भी संवत् १५८५ का लिखा हुआ है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म जिनदास का संवत् १५२० तक का समय माना जाता है। प्रस्तुत कृति उनकी मृत्यु के पश्चात् की रचना होने के कारण इसका संवत् १५४० का ही समय उचित जान पड़ता है। इस तरह प्रस्तुत कृति के आधार पर ब्रह्म गुणकीर्ति का समय भी संवत् १४९० से १५५० तक का निर्धारित किया जा सकता है।

भाषा

रास की भाषा राजस्थानी है। यद्यपि गुजरात के किसी प्रदेश में इसकी रचना होने के कारण इस पर गुजराती शैली का प्रभाव भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है लेकिन क्रियापदों एवं अन्य पदों को देखने से यह तो निश्चित ही है कि कवि को राजस्थानी भाषा से अधिक लगाव था। विचारीउ (विचार कर), मांडीइ (मांडे), आवीमाये (आये), जानकी (जानकी), घणी (बहुत), पाणी (हाथ), आपणा (अपना), बालपि (डालना), जाणुए, बोलए, लीजइ, वापडी जैसे क्रियापदों एवं अन्य शब्दों का प्रयोग हुआ है।

---

१. देखिये "आचार्य सोमकीर्ति एवं ब्रह्म यशोधर" —डॉ० कासलीवाल, प्रकाशक—वही।
२. —वही—, पृष्ठ संख्या १२९.

सामाजिक स्थिति

'रामसीतारास' छोटी-सी राम-कथा है। कथा कहने के अतिरिक्त कवि को अन्य बातों को जोड़ने की अधिक आवश्यकता भी नहीं थी। उसके बिना भी जीवन-कथा को कहा जा सकता था लेकिन कवि ने जहां भी ऐसा कोई प्रसंग आया वहीं पर सामाजिकता का अवश्य स्पर्श किया है। प्रस्तुत रास में रामसीता के विवाह के वर्णन में सामाजिक रीति-रिवाजों का अच्छा वर्णन मिलता है। राम के विवाह के अवसर पर तोरण द्वार बांधे गये थे। मोतियों की बांदरवाल लटकाई गई थी। सोने के कलश रखे गये। गंधर्व एवं किन्नर जाति के देवों ने गीत गाये। सुन्दर स्त्रियों ने लवांछना लिया। तोरण द्वार पर आने पर खूब नाच-गान किये गये। चंवरी के मध्य वर-वधू द्वारा बैठने पर सौभाग्यवती स्त्रियों ने बधावा गाया। लगन वेला में पंडितों ने मंत्र पढ़े। हथलेवा किया गया। खूब दान दिया गया।[1]

नगरों का उल्लेख

राम, लक्ष्मण एवं सीता जिस मार्ग से दक्षिण में पहुंचे थे उसी प्रसंग में कवि ने कुछ नगरों का नामोल्लेख किया है। ऐसे नगरों में चित्तुड़गढ़ (चित्तौड़), नालछिपाटण, अरुणग्राम, वंशस्थल, मेदपाट (मेवाड़) के नाम उल्लेखनीय हैं। कवि ने मेवाड़ की तत्कालीन राजधानी चित्तौड़ का अच्छा वर्णन किया है।[2]

लोकप्रियता

कवि ने रामकथा की लोकप्रियता, जन सामान्य में उसके प्रति सहज अनुराग एवं अपनी काव्य-प्रतिभा को प्रस्तुत करने के लिये 'रामसीतारास' की रचना की थी। महाकवि तुलसी के सैकड़ों वर्षों पूर्व जैन कवियों ने रामकथा पर जिस प्रकार प्रबन्ध काव्य एवं खण्ड काव्य लिखे वह सब उनकी विशेषता है। जैन समाज में रामकथा की जितनी लोकप्रियता रही उसमें महाकवि स्वयम्भु, पुष्पदन्त, रविषेणाचार्य जैसे विद्वानों का प्रमुख योगदान रहा। तुलसी ने जब रामायण लिखी थी उसके पहिले ही जैन कवियों ने छोटे-बड़े बीसियों रामकाव्य लिख दिये थे। ब्रह्म गुणकीर्ति का रामकाव्य भी इसी श्रेणी का काव्य है।

रास समाप्ति

कवि ने रास समाप्ति पर अपनी लघुता प्रकट करते हुए लिखा है कि रामायण ग्रन्थ का कोई पार नहीं पा सकता। वह स्वयं मतिहीन है इसलिये उसने कथा का अति संक्षिप्त वर्णन किया है।

> ए रामायण ग्रन्थ तु, एह नु पार नहीं ए।
> हुं मानव मतिहीण तु, संखेपि गति कही ए॥
> विद्वांस जे नर होंउ तु, विस्तार ते करिए।
> ए राम भास सुणेवि तु, मुझ परि दया धरा ए॥

प्रस्तुत रास मे १२ ढालें हैं जो अध्याय का कार्य करती हैं। पूरी ढालों में २०७ पद्य हैं जो अलग-अलग भास रागों में विभक्त हैं जिनमें भास श्री हीं, भास मिथ्यात्व मोडनी, भास बणजारानी, भास नरेसूवानी, भास सही की, भास तीन चुवीसीनी, भास सहिल्डानी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कवि को चोटक छन्द भी अत्यधिक प्रिय था इसलिये आरम्भ में उसका भी अच्छा प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार ब्रह्म गुणकीर्ति हिन्दी जैन साहित्य के एक ऐसे जगमगाते नक्षत्र हैं जिनकी राजस्थान, उत्तरप्रदेश, देहली, मध्यप्रदेश एवं गुजरात के दिगम्बर जैन शास्त्र भण्डारों में विस्तृत खोज की आवश्यकता है। आशा है विद्वान मेरे इस निवेदन पर ध्यान देंगे।

---

१. विवेह्या कलशनु कीधं, लाडू वर पुंखणु कीधु।
   वर चमरी माहि आव्या, सोहागणीनि वधाव्या ॥५॥
   पंडित बोलए मन्त्र, लगन तणा जाण्या मन्त्र।
   हथ लेवा तिहाँ कीद्ध, वरतिउ मंगल सोह ॥६॥
   कन्या दान तव दीधा, जगत सवी ऊत कीधा।
   बाइ बाप होव आणंद, जाण्यू कसेनु कन्द ॥७॥

२. नगराज सिंह समान मेदपाट देश मोई वर, ११/५

भगवान् नेमिनाथ एवं राजमती से संबंधित हिन्दी-रचनाएँ

—श्री वेदप्रकाश गर्ग

जैन धर्म भारत का प्राचीनतम धर्म है। इस धर्म के २४ तीर्थंकर भारत के विभिन्न भागों में जन्मे, साधना करके सर्वज्ञ बने और अनेक प्रदेशों में घूमकर धर्म-प्रचार किया। उन तीर्थंकरों में सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव हुए, जिनके ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। भारत भूमि के 'भोगभूमि' रूप को 'कर्मभूमि' रूप में परिणत करने के कारण वर्तमान सभ्यता और संस्कृति, शिक्षा और कला के प्रथम पुरस्कर्ता भगवान् ऋषभदेव ही माने जाते हैं।

आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव की परम्परा में २२वें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ[1] (अन्य नाम अरिष्टनेमि) हुए। ये जैन परम्परा के अत्यन्त मान्य एवं लोकप्रिय तीर्थंकर हुए हैं। इनका जन्म ब्रज प्रदेश के शौरीपुर[2] नामक नगर में हुआ था, जो आज भी जैन तीर्थ के रूप में विख्यात है और समय-समय पर जैन यात्री भगवान् नेमिनाथ जी की इस जन्मभूमि की यात्रा करके अपना अहोभाग्य मानते हैं। उनके कारण ही यह प्रदेश सभी जैन धर्मावलम्बियों द्वारा सदा से पुण्य स्थल माना जाता रहा है। इनके पिता यदु-वंश के राजा समुद्रविजय थे[3] और इनकी माता का नाम शिवादेवी था। इनकी बाल्यावस्था में ही यादवगण पश्चिमी समुद्र के किनारे सौराष्ट्र में द्वारकापुरी में चले गये थे। वासुदेव कृष्ण इनके चचेरे भाई थे।

नेमिप्रभु बड़े पराक्रमी थे। इनका विवाह राजा उग्रसेन[4] की बेटी राजमती (राजुल)[5] से होना निश्चित हुआ था, किन्तु जब बारात लेकर वे राजुल को ब्याहने पहुंचे तो बहुत-से पशु-पक्षियों को एक बाड़े में चीत्कार करते देखकर अपने साथियों से पूछा कि इतने पशु-पक्षियों को यहां क्यों एकत्र किया गया है और ये क्रन्दन क्यों कर रहे हैं? तब सारथी ने कहा कि ये मांस-प्रेमी बरातियों के भोजनार्थ एकत्रित किये गये हैं और मरने के भय से चीत्कार कर रहे हैं। यह सुनकर नेमिनाथ जी का परम अहिंसक हृदय तड़प उठा। वे संसार की इस मांसाहारी वृत्ति और भोग-लिप्सा के इस नारकीय दृश्य को देखकर लोकोत्तर विरक्ति से भर गये। उन्होंने अपने पिता

१. इन्होंने 'शंख' के भव में तीर्थंकरत्व की साधना की थी। यही शंख जन्मान्तर में तीर्थंकर नेमिनाथ हुए। इनकी जन्म-तिथि किसी ने श्रावण पंचमी और किसी ने कार्तिक कृष्णा द्वादशी लिखी है। आषाढ़ शुक्ला अष्टमी इनकी निर्वाण तिथि मानी जाती है। निर्वाण स्थल 'उर्जयन्त' गिरनार (जिसे रैवतगिरि भी कहते थे), चैत्य वृक्ष वेतस तथा चिह्न शंख है।

२. बटेश्वर नामक ग्राम से लगभग एक मील दूर यह शौरीपुर जैन तीर्थ दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों संप्रदायों को मान्य है। दोनों के यहां मन्दिर बने हुए हैं जिनमें से दिगम्बर मंदिर में कई प्राचीन मूर्तियां और अवशेष प्राप्त हैं। पुरातत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण अनेक प्राचीन वस्तुएं शौरीपुर ध्वंसावशेषों से प्राप्त हुई हैं। कनिंघम ने वहां से ऐसी अनेक वस्तुओं का संग्रह किया था। किसी-किसी ने द्वारावती में ही इनका जन्म होना लिखा है।

३. ५वीं शती के लगभग गणिवाचक संघदास द्वारा रचित 'वसुदेव हिंडि' नामक प्राचीन कथा-ग्रंथ में लिखा है कि हरिवंश में शौरी और वीर नामक दो भाई हुए। जिनमें शौरी ने शौरीपुर और वीर ने सौवीर नामक नगर बसाया। शौरी के पुत्र अन्धक वृष्णि के महारानी से समुद्रविजय आदि १० पुत्र हुए और कुन्ती व माद्री दो कन्यायें हुईं। वीर के पुत्र भोज वृष्णि हुए। उनका पुत्र उग्रसेन हुआ और उग्रसेन के बन्धु, सुबन्धु एवं कंस आदि ६ पुत्र हुए। इनमें से समुद्रविजय ने शौरीपुर में और उग्रसेन एवं कंस ने मथुरा का राज्य किया। समुद्रविजय के पुत्र अरिष्टनेमि या नेमिनाथ हुए, जो आगे चलकर २२वें तीर्थंकर कहलाये। समुद्रविजय के छोटे भाई वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण हुए जिन्होंने कंस को मार कर मथुरा का राज्य लिया, किन्तु मगध के पराक्रमी राजा जरासंध के भय से कृष्ण और समुद्रविजय को यादवों के साथ वहां से प्रयाण करना पड़ा। वे पश्चिमी समुद्र तटवर्ती सौराष्ट्र प्रदेश में पहुंचे और वहां द्वारिका नगरी बसाकर यादवों सहित श्रीकृष्ण ने लम्बे समय तक राज्य किया।

समुद्रविजय के पश्चात् अरिष्टनेमि ही यादव राज्य के वास्तविक उत्तराधिकारी थे किन्तु युवावस्था में ही विरक्त हो जाने के कारण इन्होंने राज्याधिकार का त्याग किया था। उसके फलस्वरूप वसुदेव और फिर कृष्ण बलराम शौरीपुर के अधिपति हुए थे।

४. उग्रसेन को किसी ने मथुरा का राजा लिखा है और किसी ने उन्हें जूनागढ़ का अधिपति बतलाया है।

५. किसी-किसी ने इन्हें भोज-पुत्री भी लिखा है अर्थात् उग्रसेन की बहन।

से कहा कि "मेरे विवाह के निमित्त इतने पशु-पक्षी मारे जायें, ऐसा विवाह मुझे नहीं करना है। अब विवाह करूंगा तो बस मुक्ति-वधू से।" सभी लोगों ने उन्हें बहुत समझाया, पर दयालु नेमिनाथ जी ने जो निश्चय किया, वह कह दिया, उससे टस से मस नहीं हुए। उन्होंने विवाह-परिधान उतार फेंके। वे उन निरीह जीवों की हिंसा की आशंका से इतने द्रवीभूत हुए कि वे उसी समय विरक्त होकर और राजमती को अनब्याही छोड़कर बिना किसी की प्रतीक्षा किये द्वारका की ओर मुड़ चले तथा उर्जयन्त गिरि पर जा दीक्षा लेकर तपस्या करने लगे। चौवन दिन तक तपस्या करने के बाद उन्हें कैवल्य की प्राप्ति हो गई।[1] उनकी धर्म-सभाओं का आयोजन होने लगा। बहुत वर्षों तक धर्मोपदेश देकर अन्त मे गिरनार पर्वत पर सुदीर्घ तपश्चरण के पश्चात् तीर्थंकर नेमिनाथ[2] जी ने मोक्ष प्राप्त किया। इस प्रकार उन्होंने जैन धर्म के मूल सिद्धान्त 'अहिंसा' और 'तप' को चरितार्थ कर श्रमण परम्परा की पुष्टि की थी।

राजमती सच्चे मन से नेमिनाथ को वर चुकी थी। वह परम पतिव्रता थी। अतः जब उसे अपने भावी प्राणनाथ की विरक्ति का पता चला तो बहुतों के समझाने पर भी वह दूसरे से विवाह करने के प्रस्ताव से सहमत नहीं हुई और नेमिनाथ के पास गिरनार पहुंचकर उन्हीं से दीक्षा ग्रहण कर तपस्विनी बन गई। इस प्रकार राजमती ने एक बार मन से निश्चित किये हुए पति के अतिरिक्त किसी से भी विवाह न कर अपने पति का अनुगमन करके महान् सती का आदर्श उपस्थित किया। जैन समाज मे जिस तरह भगवान् नेमिनाथ का स्मरण व स्तवन किया जाता है, उसी प्रकार २४ महासतियो मे राजमती का पवित्र नाम भी प्रातःस्मरणीय है।

अब से कुछ समय पूर्व तक इतिहासकार श्री नेमिनाथ जी की ऐतिहासिकता पर विश्वास नहीं करते थे, किन्तु ऐसा नहीं है। कितने ही इतिहासज्ञ एवं पुरातत्वज्ञ अब उनके ऐतिहासिक होने में सन्देह नहीं करते। नेमिनाथ श्रीकृष्ण के ताऊजात भाई थे और श्रीकृष्ण की ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। अतः नेमिनाथ जी को ऐतिहासिक महापुरुष न मानने का कोई कारण-विशेष प्रतीत नहीं होता। वे भी अपने चचेरे भाई कृष्ण की तरह ही ऐतिहासिक महापुरुष हैं। दोनो का समय महाभारत-युद्ध-पूर्व है[3], उसे ही कृष्ण-काल कहा जाता है।

श्रीकृष्ण किस काल मे विद्यमान थे, इस विषय में विद्वानों मे मतैक्य नहीं है। आधुनिक विद्वान् इतिहास और पुरातत्व के जिन अनुसंधानों के आधार पर कृष्ण-काल को ३५०० वर्ष से अधिक पुराना नही मानते वे एकांगी और अपूर्ण हैं।[4] भारतीय मान्यता के अनुसार वह ५००० वर्ष से भी अधिक प्राचीन है। यह मान्यता कोरी कल्पना अथवा किंवदंती पर आधारित नही है, अपितु इसका वैज्ञानिक और ऐतिहासिक आधार है। ज्योतिष, पुरातत्व और इतिहास के प्रमाणों से परिपुष्ट इस भारतीय मान्यता को न स्वीकारने का कोई कारण नही है। अतः नेमिनाथ जी का समय भी यही है।

नेमिनाथ जी की ऐतिहासिकता का एक पुरातात्विक प्रमाण भी प्राप्त हुआ है। डा० प्राणनाथ विद्यालंकार ने १९ मार्च, १९३५ के साप्ताहिक 'टाइम्स आफ इण्डिया' में काठियावाड़ से प्राप्त एक प्राचीन ताम्र शासन पत्र का विवरण प्रकाशित कराया था। उनके अनुसार इस दान-पत्र पर अंकित लेख का भाव यह है कि सुमेर जाति में उत्पन्न बाबुल के खिल्डियन सम्राट् नेबुचेद नजर ने जो रेवा नगर (काठियावाड़) का अधिपति है, यदुराज की इस भूमि (द्वारका) में आकर रेवाचल (गिरनार) के स्वामी नेमिनाथ की भक्ति की तथा उनकी सेवा में दान अर्पित किया।" इस पर उनकी मुद्रा भी अंकित है। उनका काल ११४० ई० पू० अनुमान किया जाता है। इस दान पत्र की उपलब्धि के पश्चात् तो नेमिनाथ जी की ऐतिहासिकता एवं समय पर सन्देह करने का कोई कारण ही शेष नहीं रहता।[5]

---

१. कैवल्य-प्राप्ति के बाद अरिष्टनेमि ही नेमिनाथ कहलाये और उन्हें तीर्थंकर माना गया। इनके कारण शूरसेन प्रदेश और कृष्ण का जन्मस्थान मथुरा नगर जैन धर्म के तीर्थ-स्थल माने जाने लगे।

२. आध्यात्मिक विकास के उच्चतम शिखर पर पहुंचने वाले महापुरुषों को जैन धर्म में तीर्थंकर कहा जाता है। तीर्थंकर राग-द्वेष, भय, आश्चर्य, क्रोध, मान, माया, लोभ, चिन्ता आदि विकारों से सर्वथा रहित होते हैं तथा केवलदर्शन और केवलज्ञान से युक्त होते हैं।

३. कुछ महानुभावों का अनुमान है कि जिन अरिष्टनेमि का नामोल्लेख वेदों में हुआ है, वे ये ही २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ जी हैं। इसी प्रकार का अनुमान कुछ विद्वान् श्रीकृष्ण के संबंध में भी करते हैं, किन्तु ऐसा सोचना ठीक नहीं है। ऋग्वेद में उल्लिखित अरिष्टनेमि तथा कृष्ण २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ तथा उनके चचेरे भाई श्रीकृष्ण नहीं हो सकते, क्योंकि इन दोनो का समय महाभारतकालीन है और ऋग्वेद भारत का ही नहीं समस्त संसार का प्राचीनतम ग्रंथ है। जब उसके सूक्तों की रचना नेमिनाथ एवं कृष्ण से पहले हुई तब उसमें परवर्ती इन दोनों का नामोल्लेख कैसे संभव हो सकता है। अतः ऋग्वेद के अरिष्टनेमि तथा कृष्ण इन दोनों से भिन्न कोई वैदिक ऋषि जान पड़ते हैं।

४. इस बात की पूरी संभावना है कि ऐसे अनुसंधानों के पूर्ण होने पर वे भी इस संबंध में भारतीय मान्यता का ही समर्थन करेंगे।

५. कुछ लोगों का अनुमान है कि तीर्थंकर नेमिनाथ जी के ही समय में 'ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती' भी हुए। अतः विद्वानों को इस संबंध में शोधात्मक प्रकाश डालना चाहिये।

नेमिनाथ जी[1] के माध्यम से भारतीय जीवन में अहिंसक वृत्ति का ऐतिहासिक परिधि के अन्तर्गत प्राप्त होने वाला वह उत्तम उदाहरण है।

नेमिनाथ और राजुल के इस वैवाहिक प्रसंग को लेकर जैन मुनियों और विद्वानों ने विपुल साहित्य का निर्माण किया है। राजमती के विरह की कल्पना को लेकर साहित्य के 'चउपई' 'विवाहला' 'वेलि', 'रासो', 'फाग' आदि विभिन्न काव्य-रूपों में पचासों बारहमासे, सैकड़ों गीत, भजन, स्तवन, स्तुति आदि रचे गये। उन दोनों से संबंधित सभी जैन काव्य विरह काव्य हैं। उनमें राजुल के विरह का वर्णन है। राजुल विरहिणी थी उस पति की जो सदा के लिए वैराग्य धारण कर तप करने गिरिनार पर्वत पर चला गया था। अतः उसका विरह काम का पर्यायवाची नहीं था। उसमें विलासिता की गंध भी नहीं है।

भगवान् नेमिनाथ और सती राजुल के प्रसंग को लेकर शृंगार रस की रचनायें भी जैन कवियों ने रचीं, परन्तु उनमें संयम-पूर्ण मर्यादा का ही पुट देखने को मिलता है। उनका उद्देश्य भी मानव को आत्मज्ञानी बनाने का था। इसीलिए उन दोनों को लेकर लिखे गये मंगलाचरण सात्विकता से संयुक्त हैं। साहित्य-शास्त्र ग्रन्थों में विरह की जिन दशाओं का निरूपण किया गया है, वे सभी राजुल के जीवन में विद्यमान हैं। विरह में प्रिय से मिलने की उत्कण्ठा, चिन्ता अथवा प्रियतम के इष्ट-अनिष्ट की चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन आदि सभी नैसर्गिक ढंग से दिखलाये गये हैं।

भगवान् नेमिनाथ का चरित्र आरम्भ से ही कवियों के लिए अधिक आकर्षक रहा है। इनके जीवन पर आधारित विपुल एवं विशिष्ट साहित्य उपलब्ध है। नेमिनाथ एवं राजुल के विवाह प्रसंग और दीक्षित होने के बाद राजमती को परीक्षा का विशिष्ट प्रसंग प्राचीन जैनागम 'उत्तराध्ययन सूत्र' के २२ वें 'रहनेमिज अध्ययन' में पाया जाता है। यह सर्वाधिक प्राचीन और प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके ही कथानक आकार से जैन पुराणों का प्रणयन हुआ है, जिनमे जिनसेन प्रथम का 'हरिवंश पुराण' तथा गुणभद्र का 'उत्तरपुराण' नेमिनाथ जी के जीवन-वृत्त से संबंधित मुख्य स्रोत हैं। इन मुख्य आधारग्रन्थों के अतिरिक्त और भी उपजीव्य ग्रन्थ हैं, जिनमें नेमि-चरित्र की प्रमुख रेखाओं के आधार पर भिन्न-भिन्न शैली मे उनके जीवनवृत्त का निर्माण किया गया है। यही कारण है कि जैनसाहित्य में नेमिनाथ-राजमती के उपाख्यान से संबंधित अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं।[2]

नेमि प्रभु एवं राजुल के लोकविख्यात चरित पर आधारित प्राकृत, संस्कृत एव अपभ्रंश मे अनेक ग्रन्थों का प्रणयन विभिन्न काव्यरूपों में हुआ है। इन भाषाओं के काव्यरूपों की सामान्य पृष्ठभूमि को रिक्थ रूप मे ग्रहण करते हुए प्रारम्भ से ही देश भाषा हिन्दी में भी इस प्रसंग-विशेष को लेकर अनेक रचनायें काव्यबद्ध हुईं। यद्यपि प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश के अनेक कवि इस प्रसंग को अपने काव्यों का विषय बना चुके थे, किन्तु हिन्दी रचनाकारों को भी पूर्व कवियों की तरह ही यह कथानक अत्यधिक प्रिय एवं रुचिकर रहा है।[3]

हिन्दी साहित्य के आदि काल से ही नेमिनाथ एवं राजुल के इस प्रसंग विशेष[4] से संबंधित विभिन्न काव्यरूपों में निबद्ध रचनायें मिलनी प्रारम्भ हो जाती हैं और यह कथानक-परम्परा अपने अक्षुण्ण रूप में आधुनिक काल तक पहुँचती है। वर्तमान काल में इस रोचक प्रसंग को लेकर पद्यात्मक रचनाओं के साथ-साथ गद्यात्मक रचनायें भी लिखी गई हैं। इन सभी रचनाओं का कथानक परम्परा-गत रूप में प्राप्त वही सुप्रसिद्ध लोकप्रिय चरित है, जिसमे २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ जी का जीवन अत्यधिक रोचक ढंग से निबद्ध है तथा राजमती की विरहवेदना का करुण कथन हुआ है।

इन समस्त कृतियों में जिनेश्वर नेमिनाथ काव्य-नायक हैं। उनका सम्पूर्ण चरित्र पौराणिक परिवेश में आबद्ध है और विरक्ति के केन्द्रबिन्दु के चारों ओर घूमता है। वे वीतरागी हैं। यौवन की मादक अवस्था में भी वैषयिक सुख उन्हें आकृष्ट एवं अभिभूत

---

१. २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ के नाम पर नेमि सम्प्रदाय भी प्रचलित हुआ था जो कभी समूचे दक्षिण भारत में फैला था किन्तु कालान्तर में यह नाम संप्रदाय में अन्तर्भुक्त हो गया। वैसे उसका नाममात्र का प्रचार एवं उल्लेख अब तक मिलता है।

२. तीर्थंकर होने के नाते नेमिनाथ विषयक तथा महासती के नाते राजुल संबंधी स्तवन, मंगलाचरण आदि स्तुतिपरक विभिन्न रचनोल्लेख भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। किन्तु इस लेख में मात्र ऐसे उल्लेख को शामिल नहीं किया गया है।

३. भारत की अन्य भाषाओं में भी नेमिनाथ एवं राजुल के इस वैवाहिक प्रसंग को लेकर प्रचुर मात्रा में साहित्य-सर्जन हुआ है।

४. इस प्रसंग-विशेष को लेकर गीतिकाव्य अधिक रचे गये, यद्यपि प्रबंध काव्य भी रचे गये किन्तु उनकी संख्या अल्प है। हिन्दी के जैन खण्डकाव्य अधिकांशतया नेमि और राजमती की कथा से संबद्ध हैं। उनके जीवन से संबंधित खण्डकाव्य में प्रेम-निर्वाह को पर्याप्त अवसर मिला है। इन्हें लेकर जैन कवि प्रेमपूर्ण सात्विक भावों की अनुभूति करते रहे हैं।

नहीं कर पाते। विवाहोत्सव में भोजनार्थ बध्य पशुओं का आर्त्त क्रन्दन सुनकर उनका निर्वेद प्रबल हो जाता है और वे वैवाहिक कर्म को बीच में ही छोड़ कर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते हैं। अवश्य काम-शत्रु को पराजित कर उनकी साधना की परिणति कैवल्य प्राप्ति में होती है और वे तीर्थंकर पद को प्राप्त करते हैं।

इसी प्रकार राजमती दृढ़निश्चयी सती नायिका है; वह शीलसम्पन्न तथा अतुल रूपवती है। उसे नेमिनाथ की पत्नी बनने का सौभाग्य मिलने वाला था, किन्तु क्रूर विधि ने निमिष मात्र में ही उसकी नवोदित आशाओं पर पानी फेर दिया। विवाह में भावी व्यापक हिंसा से उद्विग्न होकर नेमिनाथ दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। इस अकारण निराकरण से राजुल स्तब्ध रह जाती है। बन्धुजनों के समझाने-बुझाने से उसके तप्त हृदय को सान्त्वना तो मिलती है; किन्तु उसका जीवन-कोश रीत चुका है। वह मन से नेमिनाथ को सर्वस्व अर्पित कर चुकी थी, अतः उसे संसार में अन्य कुछ भी ग्राह्य नहीं। जीवन की सुख-सुविधाओं तथा प्रलोभनों का तृणवत् परित्याग कर वह तप का कंटीला मार्ग ग्रहण करती है और केवलज्ञानी नेमि प्रभु से पूर्व परम पद पाकर अद्भुत सौभाग्य प्राप्त करती है।

प्रस्तुत लेख में नेमिनाथ एवं राजमती से संबंधित यथासंभव ज्ञात सभी हिन्दी-रचनाओं का विवरण देना भी अप्रासंगिक न होगा। कृतियों का यह विवरण विक्रम-शती के काल-क्रमानुसार है—

भगवान् नेमिनाथ एवं राजमती के जीवन प्रसंग पर आधारित देश भाषा (हिन्दी) में लिखी संभवतः सबसे पहली रचना कवि श्री विनयचन्द्र सूरि द्वारा विक्रम की १४ वीं शताब्दी के मध्य में रचित[1] 'नेमिनाथ चउपई' मिलती है। इसमें राजमती के वियोग का वर्णन कवि ने अपूर्व तल्लीनता एवं काव्यात्मकता के साथ किया है। आदिकालीन हिन्दी साहित्य की यह अत्यन्त प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण कृति है। कवि पाल्हण ने विक्रम १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 'नेमिनाथ बारहमासा रासो' की रचना की थी। यह रचना अपूर्ण प्राप्त है।[2] रचना की भाषा सरल, सरस और व्यवहृत भाषा है। प्राप्त पद्यों से पता चलता है कि कवि ने रचना में बारह मासों का स्वाभाविक एवं सुन्दर वर्णन किया होगा। १४ वीं शताब्दी में ही 'पद्मकवि' द्वारा रचित 'नेमिनाथ फागु'[3] नामक एक रचना का और उल्लेख मिलता है। संभवतः यह राजस्थानी हिन्दी की रचना है। इसी शताब्दी में कवि समुधर कृत 'नेमिनाथ फागु' की प्रति भी संप्राप्य है।

श्री राजशेखर सूरि ने 'नेमिनाथ फागु' नामक कृति को छन्दोबद्ध किया। इसका रचना काल विक्रमी सम्वत् १४०५ के लगभग माना जाता है। इसमें नेमिनाथ और राजुल की कथा का काव्यमय निरूपण हुआ है। यह २७ पद्यों का छोटा-सा खण्डकाव्य है। कवि कान्ह द्वारा विक्रमी १५ वीं शताब्दी में फागरूप में 'नेमिनाथ फाग बारह मासा' नामक रचना उपलब्ध होती है। इसमें फाग और बारहमासा दोनों काव्यरूपों के गुण विद्यमान हैं। रचना काव्यात्मक तथा पर्याप्त सरस है। पूरा काव्य बड़ा ही करुण बन पड़ा है। श्री हीरानन्द सूरि ने भी विक्रमी १५ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एक 'नेमिनाथ बारहमासा' की रचना की थी, जिसकी प्रति अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर में सुरक्षित होना बतलाया जाता है।

भट्टारक सकल कीर्ति (जन्म सम्वत् १४४३ मृत्यु सम्वत् १४९९) की 'नेमिश्वर गीत' नामक एक रचना सुलभ है, जिसमें राजमती एवं नेमिनाथ के वियोग का वर्णन है। यह संगीत-प्रधान रचना है। श्री सोमसुन्दर सूरि (रचनाकाल वि० सं० १४५०-१४९९) ने 'नेमिनाथ नवरस फागु' नामक रचना का प्रणयन संभवतः स० १४८१ में किया था। इसकी भाषा संस्कृत, प्राकृत और गुजराती मिश्रित हिन्दी है। यह एक छोटा काव्य है। उपाध्याय जयसागर (रचनाकाल वि० सं १४७८-१४९५) जिन्होंने जिनराज सूरि से दीक्षा ली थी, ने नेमिनाथ विवाहलों की रचना की थी।[4] ब्रह्म जिनदास भट्टारक सकलकीर्ति के प्रमुख शिष्य थे। इन्होंने 'नेमीश्वर रास' नामक रचना लिखी है जिस पर गुजराती का प्रभाव है। इनका समय १५वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और १६वी का पूर्वार्द्ध है।

---

१. इसका रचना-काल विवादास्पद है। इसका समय सं० १३५१ से स० १३५८ के बीच कहीं हो सकता है। इस रचना से पहले की एक और रचना सुमतिगणि द्वारा स० १२९० में रचित 'नेमिनाथ रास' मिलती है किंतु इसकी भाषा के संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कोई इसे देश भाषा की रचना कहता है और कोई अपभ्रंश की रचना मानता है। नेमिनाथ चउपई का प्रकाशन सन् १९२० में 'प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह' में हुआ था।

२. इस रचना की प्रति १५वीं शताब्दी की उपलब्ध है और श्री अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर में सुरक्षित है। रचना में सिर्फ पौने सात पद्य हैं।

३. 'फागु' एक प्रकार का लोकगीत है जो बसंत ऋतु में गाया जाता था। आगे चलकर उसका प्रयोग आनन्द-वर्णन और सौन्दर्यनिरूपण में होने लगा।

४. १५वीं शताब्दी की इन रचनाओं का उल्लेख भी प्राप्त होता है—जयसिंहसूरि कृत 'प्रथम एवं द्वितीय नेमिनाथ फागु,' जयशेखर कृत 'नेमिनाथ फागु', रत्नमण्डन गणि कृत 'नेमिनाथ नवरस फागु', समराकृत, 'नेमिनाथ फागु,' समधर कृत, 'नेमिनाथ फागु', जिनरत्न सूरि कृत 'नेमिनाथ स्तवन', सोमसुन्दर सूरि शिष्य कृत 'नेमिनाथ नवभव स्तवन', जयशेखरसूरि कृत 'नेमिनाथ प्रबन्ध,' माणिक्यसुन्दर सूरि कृत 'नेमिश्वर चरित फाग बंध'

विवाह के वर्णन-प्रधान काव्यों की संज्ञा 'विवाहु,' 'विवाहलउ,' 'विवाहलो' और 'विवाहला' पाई जाती है किन्तु अधिकतर कृतियों में लौकिक विवाह 'विवाहला' नहीं कहलाता। जब आराध्य देव दीक्षाकुमारी संयमश्री या मुक्तिवधू का वरण करता है, तो वह इन संज्ञाओं से अभिहित होता है।

कवि ठक्कर[1] (रचना काल सं० १५७५ से १५९० तक) की 'नेमिराजमति बेलि'[2] नामक एक हिन्दी राजस्थानी की रचना प्राप्त होती है। रचना लघु होते हुए भी भाषा एवं वर्णन शैली की दृष्टि से उत्तम है। वाचकमति शेखर (समय १६ वीं शताब्दी) ने 'नेमिनाथ बसन्त फुलड़ा फाग' (गाथा १०८) तथा 'नेमिगीत' नामक दो कृतियों की रचना की। लावण्य (जन्म स० १५२१ मृत्यु सं० १५८९) ने 'नेमिनाथ हमचडी' की रचना सं० १५६२ में की थी। इसके अतिरिक्त 'रंग रत्नाकर नेमिनाथ प्रबन्ध' नामक एक अन्य रचना भी इनकी मिलती है। ब्रह्म बूचराज (रचनाकाल सं० १५३० से १६०० तक) कृत 'नेमिनाथ वसंतु' तथा 'नेमीश्वर का बारहमासा' नामक दो हिन्दी रचनायें मिलती हैं। दोनों कृतियां सुन्दर हैं। ब्रह्म यशोधर (समय सं० १५२० से १५९० तक) ने नेमिनाथ पर 'नेमिनाथ गीत' नाम से तीन गीत लिखे हैं, किन्तु तीनों ही गीतों में अपनी-अपनी विशेषतायें है। इनकी काव्य शैली परिमार्जित है। इनमे से एक 'नेमिनाथ गीत' का रचना काल सं० १५८१ है।

चतरूमल कवि[3] ने सं० १५७१ में 'नेमीश्वरगीत' की रचना की थी। यह एक छोटा-सा गीत है। इस गीत का संबंध भगवान् नेमीश्वर और राजुल के प्रसिद्ध कथानक से है। ब्रह्म जयसागर, भ० रत्नकीर्ति के प्रमुख शिष्यो मे से थे। इनका समय सं० १५८० से १६६५ तक का माना जाता है। इनकी 'नेमिनाथगीत' नामक एक महत्वपूर्ण रचना प्राप्य है।

ब्रह्म रायमल १७ वीं शती के विद्वान् हैं। इनकी सं० १६१५ मे रचित 'नेमिश्वर रास'नामक रचना प्राप्त है। यह गीतात्मक शैली मे लिखी हुई है। स० १६१५ में ही रचित ब्रह्म विनयदेव सूरि की कृति 'नेमिनाथ विवाहला' (धवलढाल ४४) नामक एक अन्य रचना भी प्राप्त होती है। भट्टारक शुभचन्द्र भट्टारक विजयकीर्ति के शिष्य थे। ये स० १६१३ तक भट्टारक पद पर बने रहे थे। 'नेमिनाथ छन्द' नामक इनकी रचना मिली है। साधुकीर्ति के गुरुभ्राता कनकसोम (रचना काल वि० १७ वीं शती का पूर्वार्द्ध) जो अच्छे कवि थे, की 'नेमिनाथ फाग' नामक एक रचना प्राप्त है। हर्षकीर्ति राजस्थान के जैन संत थे। ये आध्यात्मिक कवि थे। 'नेमि राजुल गीत' तथा 'नेमीश्वर गीत' नामक कृतियाँ इनकी आध्यात्मिक रचनायें हैं।

भट्टारक वीरचन्द्र प्रतिभासम्पन्न विद्वान् थे। ये भ० लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य थे। इनका समय १७ वीं शती का उत्तरार्द्ध है। 'वीर विलास फाग' नामक खण्ड काव्य में तीर्थंकर नेमिनाथ जी की जीवनघटना का वर्णन किया गया है। इसमे १३७ पद्य हैं। इसके अतिरिक्त 'नेमिकुमार रास' (रचना सं० १६७३) नामक एक अन्य रचना नेमिनाथ जी की वैवाहिक घटना पर आधारित एक लघु कृति है। कवि मालदेव (रचना काल सं० १६६८) कृत 'राजुल नेमि धमाल' (पद्य ६३) और 'नेमिनाथ नवभव रास' (पद्य २३०) नामक दो रचनायें प्राप्त हैं। कवि मालदेव आचार्य भावदेव सूरि के शिष्य थे।

भट्टारक रत्नकीर्ति (रचना काल सं० १६०० से १६५६ तक) भट्टारक अभयनन्दि के पट्ट शिष्य थे। इनकी 'नेमिनाथ फागु' नामक रचना जिसमें ५१ पद्य हैं, नेमीश्वर-राजुल के इसी प्रसिद्ध कथानक से संबंधित है। इन्हीं की 'नेमि बारहमासा' नामक एक और लघु कृति है, जिसमे १२ त्रोटक छन्द हैं। इसमें राजुल के विरह का वर्णन हुआ है। इनके अतिरिक्त उनके रचे ३८ पद भी इसी कथानक से संबंधित हैं।

कुमुदचन्द्र (रचनाकाल स० १६४५ से १६८७ तक) भट्टारक रत्नकीर्ति के शिष्य थे। ये अच्छे साहित्यकार थे। इनका 'नेमिजिन गीत' नेमीश्वर और राजुल के प्रसिद्ध कथानक से सम्बन्धित है। इसके अलावा 'नेमिनाथ बारहमासा' प्रणय गीत और 'हिण्डोलना गीत' भी उसी कथानक पर आधारित हैं, जिनमे राजुल का विरह मुखर हो उठा है। इसी कथानक पर ८७ पद्यों की इनकी 'नेमीश्वर हमची' नामक एक और रचना मिलती है।

हेमविजय (उपस्थितिकाल स० १६७०) विजयसेन सूरि के शिष्य थे। ये हिन्दी के भी उत्तम कवि थे। 'नेमिनाथ के पद' उनकी प्रौढ़ कवित्व-शक्ति को प्रकट करने में समर्थ है। उनके पदों में हृदय की गहरी अनुभूति है। पाण्डे रूपचन्द्र (रचना काल सं० १६८० से १६९४ तक) कृत 'नेमिनाथ रासा' एक सुन्दर कृति है। ये हिन्दी के एक सामर्थ्यवान कवि थे। उनकी भाषा का प्रसाद गुण आनन्द उत्पन्न करता है, जो सीधे-सीधे भाव-मर्म का रसविभोर बना देता है। महिम सुन्दर ने भी स० १६६५ में 'नेमिनाथ विवाहलो' नामक एक कृति की रचना की थी।

---

1. कवि ठक्कुर अपभ्रंश के एक अन्य कवि ठकुरसी से भिन्न है।
2. 'बेलि' शब्द संस्कृत के 'वल्ली' और प्राकृत के 'वेल्लि' से समुद्भूत हुआ है। यह वृत्तात्मवाची है। जैनों का वेलिसाहित्य बहुत ही समृद्ध है।
3. कवि यह गोपाचल का रहने वाला था। उस समय वहाँ मानसिंह तोमर का राज्य था।

हर्षकीर्ति, (रचनाकाल सं० १६८३) हिन्दी के कवि थे। इन्होंने छोटी-छोटी मुक्तक रचनाओं का निर्माण किया है। उनमें सरलता एवं गतिशीलता है। 'नेमिनाथ राजुल गीत', 'मोरड़ा' तथा 'नेमिश्वर गीत' इन सभी में नेमिनाथ और राजुल को लेकर विविध भावों का प्रदर्शन हुआ है। ये सभी भगवद्विषयक रति से संबंधित गीत-काव्य हैं।

जिन समुद्र सूरि[1] कृत 'नेमिनाथ फाग' नामक रचना सं० १६९७ की मिलती है। यह कवि की सर्वप्रथम रचना है जिसमें नेमिनाथ का जीवन अत्यधिक रोचक ढंग से निबद्ध है। कविवर जिनहर्ष[2] (काल सं० १७०४ से १७६३ तक) कृत 'नेमि चरित्र' नामक एक रचना का उल्लेख प्राप्त होता है। इन्हीं कविवर के नाम से 'नेमि राजमती बारहमास सवैया' तथा 'नेमि बारहमासा' नामक दो बारहमासे भी मिलते हैं। इनके पदों में 'जसराज' नाम की छाप मिलती है। 'जसराज' कविवर का पूर्व नाम है, और 'जिनहर्ष' दीक्षित अवस्था का नाम है।

पाण्डे हेमराज (रचना काल सं० १७०३ से १७३० तक) कृत 'नेमि राजमति जखड़ी' नामक एक रचना मिलती है। विश्वभूषण जी (रचना काल सं० १७२९) का रचा हुआ 'नेमिजी कामंगल' मिलता है। कवि ने इसकी रचना सं० १६९८ में सिकन्दराबाद के 'पार्श्व जिन देहुरे' में की थी। यह एक छोटा-सा गीतिकाव्य है। भट्टारक धर्मचन्द्र का पट्टाभिषेक मारोठ में स० १७१२ मे हुआ था। ये नागौर गादी के भट्टारक थे। इन्होंने संस्कृत के साथ-साथ हिन्दी में भी काव्य-रचना की है। इनकी 'नेमिनाथ बीनती' नामक रचना मिलती है। कवि भाऊ द्वारा रचित 'नेमिनाथ रास' एक उत्तम कृति है। इसमें १५५ पद्य हैं। कवि का समय सं० १६९६ से पूर्व का है। इस रास का संबन्ध नेमिनाथ की वैराग्य लेने वाली घटना से है।

लक्ष्मीवल्लभ (समय १८ वीं शती का दूसरा पाद) लक्ष्मी कीर्ति जी के शिष्य थे। उनकी 'नेमि-राजुल बारह मासा' एक प्रौढ़ रचना है, जो सवैयों में लिखी गई है। इसमें कुल १४ पद्य हैं। रचना भगवान् के प्रति दाम्पत्य विषयक रति का समर्थन करती है। कवि बिनोदीलाल (र० काल सं० १७५०) भगवान् नेमीश्वर के परम भक्त थे। उनका अधिकांश साहित्य नेमिनाथ के चरणों में ही समर्पित हुआ है। इस संबन्ध में उनकी रचनायें विशिष्ट हैं। उनकी कृतियों में प्रसाद गुण तो है ही, चित्रांकन भी है। एक-एक चित्र हृदय को छूता है। कवि को जन्म से ही भक्त हृदय मिला था। उनकी कृतियों में शृंगार और भक्ति का समन्वय हुआ है तथा तन्मयता का भाव सर्वत्र पाया जाता है। 'नेमि-राजुल बारहमासा' 'नेमि-ब्याह' 'राजुल-पच्चीसी', 'नेमिनाथ जी का मंगल' (रचना काल १७४४), 'नेमजी का रेखता' आदि उनकी रचनायें नेमिनाथ-राजुल के प्रसिद्ध कथानक से संबन्धित हैं। रामविजय दयासिंह के शिष्य थे। उनका समय १८ वीं शती विक्रम है। उनकी राजस्थानी हिन्दी की 'नेमिनाथ रासो नामक रचना प्राप्त है।[3]

कवि भवानीदास (रचना काल सं० १७९१ से सं० १८२८ तक) की 'नेमिनाथ बारहमासा' (१२ पद्य), 'नेमिहिण्डोलना' (८ पद्य), 'राजमति हिण्डोलना' (८ पद्य) और 'नेमिनाथ राजीमती गीत' (८ पद्य) नामक रचनायें इस कथानक से संबंधित मिलती हैं। अजयराज पाटनी की भी 'नेमिनाथ चरित' नामक एक रचना मिलती है। इसकी रचना सं० १७९३[4] में हुई थी। २६४ पद्यों की यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है। जिनेन्द्र भूषण ने सं० १८०० में इसी कथानक को लेकर 'नेमिनाथ पुराण' की रचना की थी। इसी प्रकार झुमकलाल ने सं० १८४३ मे 'नेमिनाथ विवाहलों' (गरबा ढाल २२), कवि मनरंगलाल ने सं० १८८३ में 'नेमि चन्द्रिका'[5], ऋषभविजय ने सं० १८८६ में 'नेमिनाथ विवाहलो', भागचन्द्र जैन ने सं० १९०७ में 'नेम पुराण की कथा वचनिका', पं० बखतावर मल, दिल्ली निवासी ने स० १९०९ मे 'नेमिनाथ पुराण भाषा' तथा केवलचन्द्र ने सं० १९२९ में 'नेमिनाथ विवाह' नामक रचना का प्रणयन किया।

---

१. इनकी साधु अवस्था का नाम महिम समुद्र था और इनकी कृति का अन्य नाम 'नेमिनाथ बारहमासा' भी है।

२. इन कविवर के श्री अगरचन्द नाहटा तथा डॉ० प्रेमसागर जैन द्वारा दिये गये परिचयों में कुछ अन्तर है। वस्तुतः यह वाचक शांति हर्ष के ही शिष्य थे।

३. १८वीं शती की निम्न रचनाओं का और उल्लेख प्राप्त होता है—कवि केसवदास कृत नेमिराजुल बारहमासा' (सं—१७३४), ब्रह्मनाथ कृत नेमीश्वर राजमती को व्याहुलो' (सं० १७२८) तथा 'नेमजी की लूहरि', नेमिचन्द्र कृत 'नेमिसुर राजमती की लूहरि', 'नेमिसुर को गीत' तथा 'नेमिश्वर रास (सं० १७६६), सेवक कवि कृत 'नेमिनाथ जी का दस भव वर्णन', धर्मवर्धन कृत 'नेमि राजुल बारहमासा' तथा विनयचन्द्र कृत 'नेमि राजीमती बारहमासा और 'रहनेमि राजुल सज्झाय' नामक दो कृतियां।

४. एक लेखक महोदय ने इसका रचना काल सं० १७१५ दिया है जो निश्चय ही अशुद्ध है।

५. किसी अज्ञात रचयिता की 'नेम चन्द्रिका' नामक सं० १७६१ में रचित एक अन्य कृति भी मिलती है।

२० वीं शती के ही विनयचन्द्र ने 'नेमजी को ब्यावलो' एवं 'नेमनाथ बारह मासियां', खेतसी साह ने 'नेमजी की लूहरि', यतीन्द्र सूरि के सुयोग्य शिष्य विद्याचन्द्र सूरि ने 'भगवान् नेमिनाथ' नामक महाकाव्य, पं० काशीनाथ जैन ने 'राजीमती' एवं 'नेमिनाथ चरित्र' और दौलतसिंह अरविन्द ने 'राजीमति' नामक कृतियों की रचना की। आदर्श महासती राजुल ('मुनी महेन्द्रकुमार 'कमल') करुणासिन्धु नेमि नाथ और पतिव्रता राजुल (मैन मल जैन,') नेमि राजुल संवाद (पं० गुलाबचन्द जैन) 'सती राजमती' (जवाहर लाल जी महाराज) आधुनिक समय की प्रसिद्ध रचनाएँ है।

कुछ अन्य रचनाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु उनके संबन्ध मे आवश्यक जानकारी का अभाव है। 'राजिल पचीसी' (आनन्द जैन कृत), 'राजुल पचोमा' (रचयिता अज्ञात), 'राजुलपच्चीसो' (रचयिता अज्ञात लि० का० सं० १८८६), 'नेमनाथ जी के कड़े' (रचयिता अज्ञात), 'नेमिनाथ विवाहलो' (रचयिता अज्ञात), 'नेमनाथ ब्याहला' (मोहनलाल कृत), 'नेमनाथ राजमती मंगल' (जिनदास कृत लि० का० सं० १८०६), 'नेमनाथ की धमाल' (गजानन्दकृत) आदि ऐसे ही ग्रन्थ हैं। इन रचनाओ के अलावा 'नेमिनाथ एवं राजुल' के विवाह-प्रसग को लेकर और भी कृतियों का रचा जाना सभाव्य है। उनकी भी खोज होनी चाहिए। साथ ही, इन रचनाओ के अतिरिक्त कुछ ऐसा रचनायें भी है, जो सीधे नमिनाथ एव राजमती के चरित्र से तो संबन्धित नहीं है किन्तु उनमें प्रसंग-वश नेमिनाथ तथा राजुल के चरित्र का भी पर्याप्त उल्लेख हुआ है। ऐसे ग्रन्थ 'पाण्डव पुराण', 'हरिवंश पुराण' तथा वरांग चरित्र, आदि की परम्परा मे प्राप्त होते हैं। ये प्रासगिक ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण है।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि नेमीश्वर और राजुल के कथानक को लेकर हिन्दी के जैनभक्त कवि विप्रलम्भ के उस स्वरूप का प्रकट करते रहे है जिसमे वैराग्य की प्रधानता है। उन्होंने हिन्दी जैन साहित्य म प्रेम की रीति का निर्वाह इसी प्रसंग-विशेष को आधार बनाकर किया है, जो अपने मे विलक्षणता से युक्त है।

राससाहित्य एवं जनभाषा

भारतीयरास साहित्य के मर्मज्ञ अध्येता डॉ० दशरथ ओझा के अनुसार राससाहित्य का निर्माण भारत के एक बड़े विस्तृत भू-भाग में होता रहा। आसाम से राजस्थान तक न्यूनाधिक एक सहस्र वर्ष तक इस साहित्य का सृजन साधुमहात्माओं एवं मेधावी कवि समाज द्वारा हुआ। वैष्णव संतो ने रास का संबंध कृष्ण और गोपियो से स्थापित किया और जैन मुनियों ने रास की रचना भगवान् महावीर और उनके उपासकों के पावन-चरित्र के आधार पर की।

रास साहित्य मे जनसाधारण के प्रयोग मे आनेवाली भाषा को ही प्रमुखता दी गई है। डॉ० दशरथ ओझा के अनुसार तो जनभाषा में रचना करने वाले जैन मुनि सस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश के परम विद्वान् होते हुए भी चरित्राकांक्षी बाल, स्त्री, मूढ़ और मूर्खों पर अनुग्रह करके जनभाषा मे रचना करते थे। रासग्रन्थ उन्हीं जन-कृपालु सर्वहिताकांक्षी मुनियो और कवियो के प्रयास का परिणाम है।

डॉ० दशरथ ओझा के अनुसार रास साहित्य की भाषा, छंद एवं वर्ण्य विषय का अध्ययन हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक नया अध्याय जोड सकता है। उनकी दृष्टि में जन-साधारण की काव्य रुचि, उसकी भाषा के स्वरूप, उसके जीवन-विवेचन आदि का बोध कराने वाला यह प्रचुर साहित्य ज्यों-ज्यो प्रकाश मे आता जायेगा, त्यो-त्यो हमारा साहित्य समृद्ध बनता जायगा।

☐सम्पादक

१. 'चीन राता' और 'चुनड़ीगीत' जैसी रूपकात्मक कृतियों में भी नेमिनाथ—चरित्र को माध्यम बनाया गया है। यह एक रूपक गीत है। चूनड़ी (राजस्थान का विशेष वस्त्र) नामक उत्तरीय वस्त्र को रूपक बनाकर गीत-काव्य के रूप में रचना की जाती है। 'चीन राता में राजुल के माध्यम से शील के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

कवि-कंकण छीहलः पुनर्मूल्यांकन

—डॉ० कृष्ण नारायण प्रसाद 'मागध'

(क) कवि-कंकण छीहल के सम्बन्ध में अद्यावधि प्राप्त विवरण

जैन भक्त एवं मर्मी संत 'कवि-कंकण' छीहल के सम्बन्ध में अद्यावधि समस्त प्रकाशित सामग्री दो प्रकार की है। प्रथम प्रकार की सामग्री सामान्यतः खोज-रिपोर्टों और साहित्येतिहासों की है। यह सामग्री सूचनात्मक है। इस प्रकार की अधिकांश सामग्री सूचना, विश्लेषण और मूल्यांकन की दृष्टि से संदिग्ध और अप्रामाणिक है जिसका ऐतिहासिक महत्त्व भर रह गया है। इनमें से कतिपय का उल्लेख किया जाता है। यथा :

१. जैन गुर्जर कविओ, भाग-३, पृष्ठ २११६

गुजराती के इस ग्रन्थ में मोहन चन्द दलीचन्द देसाई ने छीहल का उल्लेख सोलहवीं शती के जैनेतर कवियों (सं० १४) के अन्तर्गत किया है एवं 'पंच-सहेली' का परिचय (पृ० ५७१) उपस्थित करते हुए उसके तीन दोहों (१, २, ६८) को उद्धृत किया है। श्री देसाई की यह धारणा कि छीहल जैनेतर कवि थे, आज असिद्ध हो गयी है।

२. खोज-रिपोर्ट (नागरी-प्रचारिणी-सभा)

हिन्दी-माध्यम से छीहल विषयक पहली सूचना यहीं मिलती है। खोज-रिपोर्ट, सन् १९०० ई०, संख्या ९३ एवं सन् १९०२ ई०, संख्या ३५ में छीहल और उनकी 'पंच-सहेली' की सूचना है। इनमें छीहल राजपूताना के निवासी और 'पंच-सहेली' डिंगल की रचना मानी गयी है।

३. मिश्रबन्धु-विनोद (प्रथम भाग), पृष्ठ २२३

मिश्रबन्धुओं ने छीहल का उल्लेख (सं० १४५) सौर काल के अन्तर्गत करते हुए 'पंच-सहेली' का परिचय दिया है। सम्भवतः इसका आधार 'प्राचीन गुर्जर कविओ' ही है।

४. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १९०

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छीहल को भक्तिकाल के फुटकल कवियों में रखा है। उनके अनुसार छीहल "राजपूताने की ओर के थे। सं० १५७५ में इन्होंने 'पंच-सहेली' नाम की एक छोटी-सी पुस्तक दोहों में राजस्थानी मिली भाषा में बनायी, जो कविता की दृष्टि से अच्छी नहीं कही जा सकती।......एक 'बावनी' भी है जिसमें ५२ दोहे हैं।" कहना नहीं होगा कि आचार्य शुक्ल की 'बावनी' विषयक सूचना और 'पंच-सहेली' का मूल्यांकन 'कविता की दृष्टि से अच्छी नहीं' किसी भ्रान्त सूचना पर आधारित होने के कारण मिथ्या और भ्रामक है। उन कृतियों को यदि वे स्वयं देख लेते, तो ऐसा वे कदापि नहीं लिखते। इस सम्बन्ध में आगे विचार किया जायेगा।

५. हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ५८८

डॉ० रामकुमार वर्मा ने आचार्य शुक्ल को दोहराया भर है। उन्होंने छीहल को कृष्ण-काव्य के कवियों के साथ रखा है, किन्तु छीहल न तो जैनेतर थे और न कृष्णभक्त।

६. हिन्दी-साहित्य : उद्भव और विकास, पृष्ठ २८१

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'लौकिक प्रेमकथानक' के अन्तर्गत 'पंच-सहेली' का केवल एक वाक्य में उल्लेख किया है : "फिर छीहल कवि की 'पंच-सहेली' नाम की रचना है जिसमें पाँच सहेलियों के विरह का दोहों में वर्णन है।" ज्ञातव्य है कि 'पंच-सहेली' लौकिक नहीं, धार्मिक प्रेमकथात्मक रचना है।

७. हिन्दी-साहित्य कोश (द्वितीय भाग), पृष्ठ १८३

इसमें 'मिश्रबन्धु-विनोद' एवं आचार्य शुक्ल के इतिहास पर सूचनाएं आधारित होने के कारण भ्रामक हैं। नया कुछ नहीं है।

८. राजस्थानी भाषा और साहित्य (डॉ० मेनारिया), पृ० १४९-१५०

डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने छीहल को राजस्थानी कवि मान कर 'पंच-सहेली' का संक्षिप्त परिचय उपस्थित करते हुए उसके आठ दोहों को उद्धृत किया है। वैचारिक नवीनता नहीं है, पर 'पंच-सहेली' उनकी दृष्टि मे 'अनूठी' रचना है।

९. राजस्थानी भाषा और साहित्य (डॉ० माहेश्वरी), पृष्ठ २५६

डॉ० हीरालाल माहेश्वरी ने अपने शोध ग्रन्थ में 'पंच-सहेली' और 'बावनी' पर चलते ढग की सूचना देकर संतोष कर लिया है। कोई नवीनता नहीं है।

१०. राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थसूची, भाग २ एवं ३

अन्य कवियों के साथ इनमे छीहल की 'पंच-सहेली' और 'बावनी' के अतिरिक्त पहली बार 'आत्मप्रतिबोध जयमाल' की सूचना मिलती है।

११. हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, पृष्ठ ५१७

डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त ने नीति-काव्यकारों के अन्तर्गत छीहल की 'बावनी' पर विचार करते हुए उसे सफल नीतिकाव्य कहा है। 'बावनी' विषयक यह मूल्यांकन उत्तम है, किन्तु छीहल की अन्य कृतियों का उन्होंने उल्लेख नही किया है।

प्रथम प्रकार की सामग्री का यही लेखा-जोखा है। इसके आधार पर छीहल के सम्बन्ध में सही जानकारी बिल्कुल नहीं मिलती है। यह सामग्री एक सीमा तक पाठकों को भ्रान्त ज्ञान देने में भी समर्थ है।

द्वितीय प्रकार की सामग्री के अन्तर्गत वे कृतियाँ आती हैं जिनमें छीहल की किसी रचना आदि का शोधपूर्ण मूल्यांकन हुआ है। यथा :

१. पंच-सहेली (सन् १९४३ ई०)

एक हस्तलेख के आधार पर 'पंच-सहेली' का मूल पाठ जुलाई, १९४३ ई० (भारतीय-विद्या, भाग २, अंक ४) में प्रकाशित हुआ था। प्रकाशित पाठ पर राजस्थानी छाप है। पाठ के सम्बन्ध में किसी प्रकार की सूचना का अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि भावी अनुसंधित्सुओं की दृष्टि से 'पंच-सहेली' का यह प्रकाशित पाठ अनदेखा ही रहा है। किसी भी अध्येता ने इसका कहीं उल्लेख नहीं किया है।

२. सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य (सन् १९५८ ई०)

डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने अपने इस शोधग्रंथ में छीहल को पहली बार अपेक्षित महत्त्व दिया है एवं उनकी 'पंच-सहेली' एवं 'बावनी' पर अनेकविध विचार किया है। साथ ही दो अन्य रचनाओं—पन्थी-गीत एवं आत्मप्रतिबोध जयमाल की सूचना भी यहां दी गयी है। इस निबन्ध में मैंने डॉ० शिवप्रसाद सिंह का अनेकत्र यथावसर उल्लेख किया है।

३. हिन्दी में नीति काव्य का विकास (सन् १९६० ई०)

डॉ० रामस्वरूप ने अपने इस शोधग्रन्थ में (पृष्ठ १८५) 'बावनी' पर विचार करते हुए उसे 'बोलचाल की राजस्थानी' की कृति माना है। इससे सबका सहमत होना आवश्यक नहीं। यदि डॉ० रामस्वरूप डॉ० शिवप्रसाद सिंह के शोध-निष्कर्षों से परिचित होते तो शायद वे ऐसा नहीं लिखते। डॉ० रामस्वरूप ने तीन अन्य कृतियों—पन्थी-गीत, उदर-गीत और फुटकर-गीत के भी नाम गिनाये हैं।

४. हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि (सन् १९६५ ई०)

छीहल और उनकी कृतियों के सम्बन्ध में डॉ० शिवप्रसाद सिंह के पश्चात् डॉ० प्रेमसागर जैन ने निश्चय ही विचारों को आगे बढ़ाया है। उन्होंने अपने इस शोधग्रन्थ में (पृष्ठ १०१-१०६) छीहल की चार कृतियों- पंच-सहेली, पन्थी-गीत, उदर-गीत और पंचेन्द्रिय वेलि पर अपेक्षित विचार किया है और पाँचवी कृति बावनी की सूचना दी है। कहना नहीं होगा कि यहाँ पहली बार छीहल की तीन कृतियाँ (पन्थी-गीत, उदर-गीत और पंचेन्द्रिय वेलि) विचारणीय बनी हैं।

५. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद (सन् १९६५ ई०)

डॉ० वासुदेव सिंह ने अपने इस शोध-ग्रन्थ में छीहल के आत्मप्रतिबोध जयमाल पर विचार करते हुए उसे "आत्मा का प्रतिबोधन या सम्बोधन" स्वीकार किया है। इन्होंने उनकी दो अन्य कृतियों—'रे मन गीत' और 'जग सपना गीत' की सूचना भी दी है, किन्तु यह सूचना भ्रामक है। इन नामों की छीहल की कोई रचना नहीं है। छीहल की अन्य रचनाओं में भी रहस्यवाद है, पर पता नहीं क्यों डॉ० सिंह ने उनकी चर्चा नहीं की है।

६. 'बावनी' के मुद्रित पाठ (सन् १९६६ ई०)

अब तक छीहल पर पाठकों का ध्यान जा चुका था। अतः 'साहित्य-संस्थान', उदयपुर के शोध-सहायक श्री कृष्णचन्द्र शास्त्री ने छीहल की 'बावनी' पर संक्षिप्त विचार उसकी एक प्रति के आधार पर मूल पाठ का प्रकाशन (शोध-पत्रिका, वर्ष १७, अंक १-२; जनवरी-अप्रैल, १९६६, संयुक्तांक) कराया। वह पाठ कई दृष्टियों से त्रुटित और अशुद्ध था। अद्यावधि 'बावनी' अप्रकाशित थी, किन्तु एक बार उसके त्रुटित और अशुद्ध पाठ के प्रकाशित हो जाने पर गड़बड़ी की सम्भावना के बढ़ जाने के भय से प्रस्तुत लेखक ने विभिन्न पाण्डुलिपियों के आधार पर उसका अपेक्षाकृत शुद्ध पाठ 'मरु भारती' (जुलाई, १९६६ ई०) में प्रकाशित कराया। वहीं उसके पद्य-क्रम, भाषा इत्यादि पर भी संक्षिप्त विचार कर लिया गया था।

७. हिन्दी बावनी काव्य (सन् १९६८ ई०)

प्रस्तुत लेखक ने ही पुनः अपने पी-एच० डी० शोध ग्रन्थ में अन्य बावनियों के साथ छीहल की 'बावनी' पर भी विचार किया। इस प्रकार 'बावनी' के विवेचन-विश्लेषण को प्रायः पूर्णता मिली।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त पं० परमानन्द शास्त्री का 'कवि छीहल' शीर्षक निबन्ध (अनेकान्त, अगस्त १९६८ ई०) भी छीहल विषयक योग्य सूचना प्रस्तुत करने में समर्थ है। इधर मैंने छीहल की उपलब्ध सभी रचनाओं का पाठ विभिन्न पाण्डुलिपियों के आधार पर सम्पादित तो किया है, किन्तु आज व्यावसायिक प्रकाशनों की भागदौड़ में मेरी यह अव्यावसायिक कृति किसी उदारमना साहित्यिक संस्कार सम्पन्न प्रकाशक की बाट जोह रही है। यहाँ सभी उद्धरण निजी सम्पादित प्रति से ही रखे गये हैं।

(ख) छीहल की जीवनी

छीहल की जीवनी अद्यावधि अज्ञात है। 'बावनी' के तिरपनवें छप्पय में कवि के सम्बन्ध में मात्र निम्नांकित सूचना मिलती है :

> नाल्हिग बंस सिनाथु सुतन, अगरवाल कुल प्रगट रवि।
>
> बावनी बसुधा विस्तरी, कवि-कंकण छीहल कवि॥

अर्थात् कवि-कंकण छीहल नाल्हिग वंश के अग्रवाल-कुल में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम सिनाथु (साह नाथू ?) था। इस उद्धरण के प्रथम चरण के निम्नांकित पाठ-भेद भी प्राप्त होते हैं :

क. नाल्हिग बंस नाथू सुतन — अनूप० एवं अभय० प्रति।
ख. नातिग बंस सिनाथु सुतनु — लूणकरण प्रति।
ग. नाल्हि वांव नाथू सुतन — ठोलियान प्रति।
घ. नाल्गि बंस नाथू सुतन — शोध-प्रति।

उपर्युक्त पाठ-भेद के आधार पर निम्नांकित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :

क. छीहल के वंश का नाम — नाल्हिग (क), नातिग (ख), नाल्गि (घ)।
ख. छीहल के गाँव का नाम — नाल्हि (ग), नालि'।
ग. छीहल के पिता का नाम — सिनाथु (ख), नाथू (क, ग, घ)।

इनमें कौन पाठ शुद्ध है, निर्णय करना दुष्कर है। समाहार करते हुए मात्र इतना ही कहा जायेगा कि छीहल ना:ल्हग (नातिग/

---

१. क. पुरानी ब्रज भाषा और उसका साहित्य, पृष्ठ-१९९
ख. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन-रहस्यवाद, पृष्ठ-९७

नालिग ?) वंश के अथवा नाल्हि (नालि ?) गांव के अग्रवाल-कुल में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम सिनाथू (साहु नाथू ?) या नाथू था। वे अपने कुल के सूर्य थे। काव्यकारिता मे उन्हें इतना यश मिला कि वे लोक में 'कवि-कंकण' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार की सूचना नहीं मिलती है। कवि की गुरु परम्परा अथवा जीवन की घटनाओं के सम्बन्ध में किसी प्रकार की सूचना का अभाव है। यह अन्त: साक्ष्य मात्र है। बहि:साक्ष्य का सर्वथा अभाव है।

छीहल की रचनाओं मे वर्णित भौगोलिक परिवेश एव उनकी रचनागत विशिष्टताओ के आधार पर भी कुछ अनुमान किये गये हैं। 'पंच-सहेली' में तालाबों आदि के उल्लेख के आधार पर मिश्रबन्धुओ ने अनुमान किया है कि "ये मारवाड की तरफ के" थे (मिश्र-बन्धु-विनोद, प्रथम भाग २२३)। आचार्य शुक्ल ने भी इन्हे "राजपूताने की ओर का" स्वीकार किया है, पर उन्होने अपने अनुमान के कारणों का उल्लेख नहीं किया है। भाषा पर राजस्थानी प्रभाव के कारण डॉ० मोतीलाल मेनारिया, डॉ० हीरालाल माहेश्वरी, डॉ० राम कुमार वर्मा और डॉ० प्रेमसागर जैन ने भी इन्हें राजपूताना का निवासी मानना चाहा है। वस्तुत ऐसा अनुमान किया जाना अनुचित प्रतीत नहीं होता। समस्त रचनाओं की भाषा-शैली के आधार पर इनका सम्बन्ध राजस्थान से जोडना सगत है: भले ही इनका जन्म किसी अन्य क्षेत्र में हुआ हो पर इन्होंने अपनी कर्मस्थली राजस्थान को अवश्य बनाया होगा।

श्री मोहनचन्द दलीचन्द देसाई ने छीहल को जैनेतर कवि माना था (जैन गुर्जर कविओ, पृष्ठ २११६), पर 'पंच-सहेली' के अतिरिक्त शेष रचनाओं में छीहल ने अरिहन्तों एव जैन देवों का स्तवन किया है जो उनके जैन मतानुयायी होने के साक्ष्य उपस्थित करते हैं। अत: श्री देसाई का अनुमान (जैनेतर होना) अब मिथ्या प्रतीत होता है। उनकी कृतियां उन्हे जैन कवि ही सिद्ध करती हैं। पुन: केवल जैन-शास्त्र भाण्डारों में ही छीहल की कृतियो के हस्तलेखों का मिलना भी इसी तथ्य को पुष्ट करता है। अस्तु, छीहल को जैनेतर कवि कहने का भ्रम अनुचित है।

(ग) छीहल का समय

छीहल की दो रचनाओं में उनके रचना-काल का उल्लेख है। यथा—

क. पंच सहेली (विक्रमाब्द १५७५)

> पनरह सइ पचहत्तरउ, पूनिम फागुण मास।
> पंच-सहेली वरनवी, कवि छीहल परगास ॥६८॥

ख. बावनी (विक्रमाब्द १५८४)

> चउरासी अग्गला सइ जु पनरह संवच्छर।
> सुकुल पक्ख अष्टमी मास कातिग गुरुवासर ॥५३॥

इन रचनाओ के रचनाकाल के आधार पर अनुमित किया जायगा कि छीहल विक्रमाब्द १५७५-१५८४ मे कविता रच रहे थे। और किसी भी कृति मे रचनाकाल उल्लिखित नहीं है। सभी रचनाओ के अध्ययन-अनुशीलन से ऐसा निश्चय होता है कि 'पंच-सहेली' कदाचित पहली रचना है। 'पंच-सहेली' के रूप मे 'मीठा मन कू भावता' का जो 'सरस बखान' कवि ने किया है, वह उसके भावुक किशोर-मानस का सहज उच्छल प्रकाशन भी है। इस आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि कवि ने उसकी रचना बीस-बाईस वर्ष की अवस्था मे की होगी। अस्तु, छीहल का जन्म अनुमानत: विक्रमाब्द १५५५ के आस-पास हुआ होगा। वह कितने वर्षों तक जीवित रहा, यह जानने के लिए कोई स्पष्ट आधार नहीं है, पर विक्रमाब्द १५८४ तक वह अवश्य जीवित था।

अस्तु, मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि छीहल विक्रम की सोलहवीं शती उत्तरार्द्ध मे वर्तमान थे और उनका रचनाकाल कम-से-कम विक्रमाब्द १५७५-१५८४ अवश्य था।

(घ) छीहल की रचनाएं

अद्यावधि छीहल की निम्नाकित रचनाओ की हस्तलिखित प्रतियां विभिन्न जैन-शास्त्रभाण्डारो मे उपलब्ध हुई हैं :

१. पंच-सहेली—रचनाकाल १५७५ वि० सं०
२. बावनी — ,, १५८४ वि० सं०
३. उदर-गीत
४. पन्थी-गीत
५. पचेन्द्रिय वेलि
६. आत्म प्रतिबोध जयमाल

कुछ अध्येताओं ने इनके अतिरिक्त तीन अन्य रचनाओं—(१) रे मन गीत, (२) जग सपना गीत, और (३) फुटकर गीत, की भी सूचनाएँ दी हैं। हमारे देखने में ये रचनाएँ नहीं आई हैं। सम्भवतः प्रथम दोनो रचनाएं क्रमश. 'पन्थी-गीत' और 'पंचेन्द्रिय बेलि' के ही भिन्न नाम हैं। जो भी हो, किन्तु बहरहाल ये सूच्य मात्र हैं। आगामी पंक्तियों मे प्रत्येक रचना पर आवश्यक विचार किया जाता है।

घ/१ पंच-सहेली

रचना-क्रम की दृष्टि से 'पंच-सहेली' छीहल की कदाचित् प्रथम रचना है। यह कुल अड़सठ दोहो मे पूर्ण हुई है। अन्तिम दोहे मे रचना काल उल्लिखित है जिससे विदित होता है कि विक्रमाब्द १५७५ की फाल्गुण-पूर्णिमा को कवि ने इसे पूर्ण किया था (द्रष्टव्य.पूर्व उद्धृत दोहा)। दो पाण्डुलिपियो मे प्राप्त पाठ-भेद से इसका रचना-वर्ष १५७४ विक्रमाब्द भी माना जा सकता है। यथा—

क. सम्वत पनरह चहुत्तरइ — आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर की प्रति।

ख. सम्वत पनरह चहुतरइ — अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर की प्रति।

प्रस्तुत लेखक ने 'पनरह सइ पचहुत्तरउ' (अधिकांश प्रतियों के पाठ) के आधार पर ही रचना-वर्ष १५७५ विक्रमाब्द स्वीकार किया है।

'पंच-सहेली' की कथा अथवा घटना का केन्द्र चंदेरी नामक नगर है। चंदेरी बड़ा सुहावना नगर है। शोभा मे वह साक्षात् सुरलोक है। वहाँ स्थान-स्थान पर मन्दिर बने हैं। मन्दिरो के कंगूरे स्वर्णजटित हैं। वहाँ स्थान-स्थान पर निर्मल जल से परिपूर्ण कुँए, बावडी और तालाब हैं जिनकी सीढ़ियाँ स्फटिक निर्मित हैं। वहाँ के निवासी गुणज्ञ, विद्वान्, रसिक और चारो पुरुषार्थों से सम्पन्न है। उनका जीवन आनन्द और मोदपूर्ण है। नारियाँ रूप-गुण सम्पन्न हैं; वे साक्षात् रम्भा के समान हैं।

वसन्त ऋतु आ गयी है। नारियां वस्त्राभूषण से सज्जित हो, मुँह मे पान-बीटक रख, थाल मे चोवा-चन्दन और सुगन्धित पुष्प ले वसन्त खेलती हैं। कोई मधुर स्वर में वसन्त गाती है, कोई रास दिखाती है, कोई हिण्डोले को पेंग देती है। वे विविध प्रकार से हास-विलास करती हैं, किन्तु उनमे पाँच सहेलियाँ—मालिन, तम्बोलिन, छीपीन, कलालिन और सोनारिन एकदम अलग-थलग गुम-सुम बैठी हैं। वे न हँसती हैं, न गाती हैं। उन्होने शृंगार प्रसाधन भी नही किया है। उनके केश रुक्ष हैं और वस्त्र मलिन। वे दुखित हैं, रह-रह कर बिलख उठती हैं, लम्बी साँसें लेती है। उसी रास्ते से गुजरता हुआ कवि छीहल जब उनके कुम्हलाए मुखड़े और शुष्क अधरो को देखता है, तो सहानुभूतिवश वह उनके निकट जाता है और उनके दुःख का कारण पूछता है।

कवि द्वारा पूछे जाने पर उन पाँचों ने अपने-अपने परिचय तो दिये ही, दुःख का कारण भी बताया। मालिन, तम्बोलिन, छीपीन, कलालिन और सोनारिन—ये भोली ग्रामबालाएँ अपनी-अपनी मार्मिक व्यथा अपने जीवन की सुपरिचित एवं घरेलू वस्तुओ एवं उनके प्रति आन्तरिक लगाव के माध्यम से प्रकट करती हैं।

सर्वप्रथम मालिन अपनी पीड़ा का वर्णन करते हुए कहती है: मेरा कान्त मुझे भरे यौवन मे छोड़ कर अन्य देश चला गया है। विरह-माली ने मेरी हृदय-क्यारी को दुःख-जल से आपूरित कर रखा है। मेरा कमल-वदन मुरझा गया है और वनराजि-सा शरीर सूख गया है। प्रियतम के बिना मुझे एक-एक क्षण एक-एक वर्ष के बराबर लगता है। तन-तरुवर पर यौवन-रस से पूर्ण जो स्तन-सन्तरे (नारंगी) लगे, वे अब सूखने लगे हैं; इन्हे सींचने वाला अब भी दूर जो है। शरीर-वाटिका मे मेरा मन-प्रसून प्रस्फुटित तो हुआ, पर उसका सुवास लेने वाला प्रियतम है नही, अतः मुझे रात-दिन पीड़ित करते हैं। चम्पे की कलियो से मैंने एक हार गूँथा, किन्तु प्रियतम के अभाव मे पहनने पर यह अंगो को अंगार-सा प्रतीत होता है (दोहा १७-२२)।

तम्बोलिन ने बताया कि जबसे प्रियतम बिछुड़ गया है, तब से मेरे सारे सुख समाप्त हो गये हैं। विरह मेरी चोली के भीतर प्रविष्ट हो मुझे जला रहा है। मेरा मन सदा तड़पता रहता है, नेत्र निर्झर बने रहते हैं। शरीर-वृक्ष के पत्ते झुलस गये हैं और देह-लता कुम्हला गयी है। वसन्त की ये रातें मेरे लिए दुबल हो गयी हैं, काटे नहीं कटतीं। और ये संतप्त दिन, छाया-प्रदायक प्रियतम के अभाव में और अधिक जलाते हैं। विरहाग्नि हृदय मे प्रविष्ट हो गयी है, प्रियतम-पानी के अभाव मे बुझती नहीं, धू-धू कर जलाती रहती है। हे चतुर! दुःख का वर्णन करूँ तो कैसे, कुछ कहा भी तो नही जाता (दोहा २४-२९)।

अश्रुपूरित नेत्रोवाली छीपीन (दर्जी की पत्नी) ने बताया कि मेरे हृदय की पीड़ा को कोई नहीं जानता। मेरे तन रूपी कपड़े को विरह रूपी दर्जी दु.ख रूपी कतरनी (कैंची) से दिनानुदिन काटता चला जाता है; पूरा ब्योंत भी नहीं लेता (दोहा ३२)। आगे वह कहती है :

दुःख का धागा बीटिया, सार सुई कर लेइ।
चीनजि बखइ काय करि, नह नह बखिया देइ ॥३३॥

विरह रँगारै रगहीं, दइ मजीठ सुरंग।
रस लीयौ अवेटाय करि, बा कस कीयौ अंग ॥३४॥

यद्यपि विरह ने छीपीन के सुख को नष्ट कर दुःख का संचार कर दिया है, तथापि उससे एक उपकार भी हो गया है कि विरह-ताप से उसके शरीर के जल कर क्षार हो जाने से अब वह दुखों से मुक्ति पा गयी है (दोहा ३६)।

कलालिन ने अपने दुख का वर्णन करते हुए बताया कि प्रियतम ने मेरे शरीर को विरह-भाठी पर चढ़ा कर अर्क बना डाला है :

मो तन भाठी ज्युं तपइ, नयन चुवइ मदधार।
जिनही अवगुन मुझ सूं, कस करि रहा भतार ॥३९॥

इस विरहा के कारणे, बहुत बार कीव।
चित कू चेस न बाहुरइ, गयउ पिया लै जीव ॥४१॥

हियरा भीतर हउं जलउं, करउं घनेरो सोस।
बइरी हुवा बल्लहा, विरह किसा सूं दोस ॥४२॥

कलालिन की देह पर मदमाते यौवन की फाग-ऋतु छिटक आयी है, किन्तु प्रियतम दूर है, वह फाग किसके साथ खेले ? ऐसी स्थिति में उसे केवल 'विसूरि-विसूरि' कर मरना ही शेष रह गया है (दो० ४२)।

पाँचवी विरहिणी सोनारिन ने बताया . मै विरह-सागर मे ऐसी डूब रही हू कि थाह भी नही पाती। मेरे प्राणो को मदन-सोनार ने हृदय-अंगीठी पर जला-जला कर कोयला बना दिया है—मेरा 'सुहाग' (सुहागा, सौभाग्य) ही गल गया है। विरह ने मेरा 'रूप' (रूपा; सौन्दर्य) और 'सोन' (स्वर्ण; सोना=नींद) दोनो चुरा लिये, प्रियतम घर मे है नही, अत रक्षार्थ मैं किसकी पुकार लगाऊँ। मेरे शरीर के काँटे (तुला) पर तौलने से, पता नही, प्रियतम का क्या सुख मिलता है (दोहा ४५-४९)।

कवि ने पाँचो विरहिणियो की विरह-व्यथा को सहानुभूतिपूर्वक सुना और उन्हे सान्त्वना दे वह वहाँ से चला गया। कुछ दिन पश्चात् वह उस नगर मे पुन. आया। उस समय वर्षा ऋतु थी, आकाश मेघाच्छादित था, बिजली लुका-छिपी कर रही थी। धरती पर सर्वत्र हरीतिमा थी। वह उस स्थान विशेष पर गया जहा पहले पाचों विरहिणियो से मिला था। सयोगवश इस बार भी वे पाचों वहाँ उपस्थित थी। इस बार पूरा समा ही बदला हुआ था। उनका मुख-मण्डल प्रसन्न था। वे सजी-धजी, आनन्दमग्न हो मल्हार गा रही थीं, तरह-तरह की क्रीडा कर रही थी। उन्हे देखते ही छीहल ने उनसे पूछा .

मै तुमि भामिनी दुक्खिणी, देखी थी उणि बार।
अबहीं देखउं हंसमुखी, मो सूं कहउ विचार ॥५५॥

परिवर्तित स्थिति इसकी सूचक थी कि उनके दिन अब सुखपूर्वक बीत रहे हैं। कवि के पूछने पर उन्होने बताया :

गयउ बसन्त वियोग में, ग्रीषम काला मास।
पावस ऋतु पिय आवियउ, पूजी मन की आस ॥५७॥

आगे प्रत्येक ने अपने-अपने सुखमय जीवन का एक-एक दोहे मे कथन किया है। रचना समाप्त करने के पूर्व कवि ने उप-संहार स्वरूप मगल-कामना की है :

धनि वे मन्दिर धनि दिवस, धनि सो पावस एहु।
धनि बालम घर आवियउ, धनि सो बरसिइ मेहु ॥६५॥

उपरिलिखित अध्ययन से स्पष्ट है कि 'पंच-सहेली' सोलहवीं शती का एक विशिष्ट शृंगार-काव्य है। हिन्दी-साहित्येतिहास-कारों ने इसके मूल्यांकन में प्राय. न्याय नहीं किया है। अधिकाश ने प्राय पिटी-पिटायी सूचनाओं के आधार पर पुस्तक को बिना देखे सामान्य कोटि का घोषित कर दिया है। मिश्रबन्धु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं डॉ० रामकुमार वर्मा के मत इसी को पुष्ट करते हैं। इसका पहली बार सही मूल्य आंकते दिखायी पडते हैं डॉ० शिवप्रसाद सिंह। उन्होंने इसे "सोलहवी शताब्दी का अनुपम शृंगार काव्य" घोषित करते हुए लिखा . "इस प्रकार का विरह-वर्णन, उपमानो की इतनी स्वाभाविकता और ताजगी अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।"[1] साथ ही उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण स्थापना यह भी की—"यदि कवि छीहल की शृंगारिक रचनाओ का विवेचन हुआ होता तो रीतिकालीन शृंगार-चेतना के उद्गम के लिए अधिक ऊहापोह करने की जरूरत न हुई होती।"[2] ध्यातव्य है कि डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने इसका मूल्याकन मात्र-शृंगार-काव्य के रूप मे—रीतिकालीन शृंगार-काव्य की पूर्वपीठिका के रूप मे किया है, उनका ध्यान जैन-भक्तिकाव्य के रूप मे इस पर नही गया है।

इसमे वैमत्य नही कि 'पच-सहेली' कवि के किशोर-मानस की उच्छल और उद्दाम किन्तु अनुपम अभिव्यक्ति है। इसमें शृंगार के उभय पक्षो का स्वाभाविक वर्णन हुआ है। सयोग की अपेक्षा वियोग के वर्णन मे कवि का हृदय अधिक रमा है। विद्यापति के विरह गीतो के पश्चात् हिन्दी मे विरह का इतना सजीव, स्वाभाविक और विश्वसनीय वर्णन इसके पूर्व किसी अन्य रचना मे नहीं हुआ है। ऐसी रचनाओ ने भावी शृंगार-काव्य के लिए यदि मार्ग प्रशस्त किया हो तो आश्चर्य कैसा ? इसका महत्त्व एक अन्य दृष्टि से भी है। एक ओर यह जहा फुटकल दोहो का संग्रह है, मुक्तक-कोश है, वही इसमे कथा का एक निश्चित क्रम होने से इसे एकार्थ काव्य का स्वरूप भी प्राप्त हो गया है। विशुद्ध काल्पनिक कथानक पर रचा जाने वाला इस प्रकार का कोई भी काव्य हिन्दी मे इसके पूर्व का अद्यावधि उपलब्ध नही हुआ है। इसमे कल्पना-प्रसूत कथा था, चाहे वह कितनी ही क्षीण क्यो न हो, विधान स्वीकृत है। कदाचित् इसी कारण आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे 'लौकिक प्रेम-कथानक' मानना चाहा है। कहना नही होगा कि इस दृष्टि से छीहल हिन्दी में विशिष्ट महत्त्व के अधिकारी है और 'कवि-कंकण' की इनकी उपाधि सार्थक है।

छीहल मात्र कवि नही, जैन भक्त कवि हैं। भक्त छीहल को मद्देनजर रखकर 'पंच-सहेली' पर विचार करने से कतिपय अन्य विशेषताएँ भी प्रत्यक्ष होती हैं। भक्ति और अध्यात्म की दृष्टि से 'पंच-सहेली' एक रूपक काव्य (Allegorical Narative) हो गया है। पच सहेलियाँ हैं जीवात्माएँ और प्रियतम हैं परमात्मा। प्रियतम-वियुक्ता सहेलियो ने जिस विरह का वर्णन किया है, वह परमात्मा-प्रियतम का विरह है। साधना की सिद्धि, प्रेम की अनन्यता आदि के अभाव में जीवात्माएँ विरहिणी बनी हैं। विरह प्रेम का पोषक और वर्द्धक है, मारक नही। जीवात्माओ का प्रेम विरह मे परिपक्व बनता है, साधना सिद्धावस्था को प्राप्त करती है और प्रियतम-परमात्मा मिल जाता है। परमात्मा की प्राप्ति ही प्रिय-मिलन है। सयोगावस्था ही परमानन्द और चरम अनुभूति की अवस्था है। अनेक जैन भक्त कवियों ने परमानन्द की इस स्थिति का निरूपण आंगिक मिलन के रूप मे किया है। इस दृष्टि से रामसिंह का 'पाहुड दोहा' देखा जा सकता है। अस्तु, पंच-सहेलियो के प्रियतम से आंगिक मिलन के वर्णनो (दोहा ५६, ६०, ६१ इत्यादि) मे रहस्यवाद की पाँचवी और अन्तिम अवस्था (मिलन) का रूप उपस्थित हुआ है। वस्तुत आंगिक मिलन का निम्नांकित वर्णन भी यही है :

बोली बोलि तंबोलिनी, काढया गात्र अपार।
रग किया बहु पीव सूं, नयन मिलाये तार ॥५६॥

इसे ही 'रभस' की स्थिति भी स्वीकार की जा सकती है। अस्तु, कहना चाहिए कि 'पंच-सहेली' न केवल एक अनुपम शृंगार-काव्य है, वरन् अपने-आप मे एक सफल रूपक काव्य भी है। इसमे जैन रहस्यवाद को बड़ी सूक्ष्मता और कुशल कलात्मकता से कवि ने उपस्थित कर दिया है।

ख/२ बावनी

छीहल कृत 'बावनी' को आचार्य रामचद्र शुक्ल ने चलते ढंग से बावन दोहो की रचना कहा है, किन्तु इसमे बावन दोहे नहीं, तिरपन छप्पय (अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर, ग्रन्थ सं० २८३/२ (ब) मे चौवन छप्पय) हैं और है भी ये बड़े महत्त्व के।

---

1. सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृष्ठ १७०
2. वही, पृष्ठ ११८

इसकी रचना कवि ने विक्रमाब्द १५८४ के कार्तिक मास में की थी (द्रष्टव्य—पूर्व उद्धृत पंक्तियां)। इसी पुस्तक के तिरपनवें छप्पय में कवि की उपाधि 'कवि-कंकण' भी प्रयुक्त हुई है। इससे सहज ही अनुमित होता है कि इस समय तक छीहल काव्यकारिता की दृष्टि से प्रख्यात हो चुके थे एवं उन्हें 'कवि-कंकण' की उपाधि प्राप्त हुई थी।,

आरम्भ के प्रथम पाच छप्पयो मे 'ॐ नमः सिद्धः' का क्रम है और तदुपरान्त सभी छप्पय नागराक्षर-क्रम से रचित हैं। क्रम-निर्वाह मे दो स्वर (ओ, औ) और तीन व्यजन (क्ष, त्र, ज्ञ) छोड दिये गये हैं। पचमाक्षरो के लिए 'न' एव 'ऋ', 'ॠ', 'ऌ', 'ॡ', 'य', 'ब', 'श' के लिए क्रमश. 'रि', 'री' 'लि', 'ली', 'ज', 'ओ', 'स' के प्रयोग हुए हैं। कई अन्य जैन कवियो ने भी बावनियो में नागराक्षर का यह परिवर्त्तित रूप पद्य-क्रम के लिए ग्रहण किया है।[1] 'बावनी' का प्रथम छप्पय मगलाचरणात्मक है जिसमे ॐकार और जैन देवों की वन्दना की गयी है। अन्तिम छप्पय मे 'बावनी' का रचनाकाल और कवि-वश इत्यादि उल्लिखित हैं। शेष छप्पयो मे नीति और उपदेश के विषय वर्णित हैं।

'बावनी' का प्रतिपाद्य विषय जैन मतानुसार व्यावहारिक नीति का प्रतिपादन करना है। इसमे सामान्यतः इन्द्रिय-निग्रह, ईश्वर-स्मरण, शील, कीर्त्ति, समय की परिवर्तनशीलता, उत्तम कार्यों के शीघ्र सम्पादन, पूर्व लेख, अकरणीय कार्य, कर्म रेखा, उपकार, भाव, विवेक, गर्व की व्यर्थता, स्वभाव, कर्म, संसार की स्वार्थपरायणता, स्वार्थी मित्र, वज्रमूर्ख, अवगुण-त्याग और गुण-ग्रहण, सतोष, कृपणता का विरोध, उपकारीजन की रक्षणीयता, नीचो की सगति का त्याग, धन की व्यर्थता, अवसर बीतने पर दिये गये दान की व्यर्थता[2], इत्यादि के सम्बन्ध में बड़े भावपूर्ण छप्पय कहे गये हैं। वर्णित नीति और उपदेश के विषय हैं तो प्राचीन और परम्परीण, किन्तु प्रस्तुतीकरण की मौलिकता, प्रतिपादन की विशदता एव दृष्टान्तचयन की सूक्ष्मता इसमे सर्वत्र वर्तमान है। यही कारण है कि यह रचना उत्तम बन गयी है। डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने भी स्वीकार किया है कि "नीति और उपदेश को मुख्यत विषय बनाते हुए भी रचनाकार कभी काव्य से दूर नही हुआ है, इसीलिए प्राय. उसकी कविता मे नीति भी एक नय ढग से तथा नये भावो के साथ अभिव्यक्त हुई है।[3]" विषय के चयन और प्रतिपादन हेतु कवि सस्कृत के सुभाषितो, नीति-ग्रन्थो आदि का भी ऋणी है। इसके बावजूद कवि ने अपने छप्पयों को सस्कृत के अनुवदन का अनुधावन होने से बचा लिया। इस दृष्टि से निम्नांकित छप्पय देखे जा सकते हैं। यथा :

क. पच्चीसवां छप्पय

> चैत मास बनराइ फलइ फूलइ तरुवर सहु।
> तो कसु दोस बसन्त पत्त होवे करीर नंहु॥
> दिवस उलूक जु अन्ध ततो रवि को नहि अवगुन।
> चातक नीर न लहइ नव्वि दूषण बरसत घन॥
> दुख सुख दईव जो निर्मयो लिखि ललाटा सोइ लहइ।
> विष वाद न करि रे मूढ नर, कर्म दोस छीहल कहइ॥

तुलनीय

> पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किं—
> नोलूकोप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम्।
> धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणं—
> यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः॥
> —नीति शतक (भर्तृहरि)

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य—प्रस्तुत लेखक कृत 'हिन्दी बावनी काव्य'

२. बावनी, छप्पय स० क्रमश· २, ३, ५, ६, ७, ८, ९, ११, १४ (१७, २३, ४४), १६, २१, २२ (२४, २६, ३४), २५, २७, २६, ३१, ३३; ३५, ३७ ४०, ४१, ४५ और ५१

३. सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृष्ठ १७१

ख. एकतीसवां छप्पय—

ठाकुर मित्त जु आणि मूढ़ हरखइ जे चित्तह।
अरु तिय तणउ विसास करइ जिय माँहिं जे नित्तह॥
सरप सुनार जुआर सरिस जो प्रीति लगावइ।
वेस्या अपणी आणि छयल जो छंदउ छावइ॥
चिरचन्त बार इनकहु नहीं, मूरिख मन जो रुचिया।
छीहल्ल कहइ संसार महि, ते नर अन्ति विगूचिया॥

तुलनीय

दुर्जनेन समं सख्यं प्रीतिं चापि न कारयेत्।
उष्णो दहति चाङ्गार. कृष्णायते करम्॥

—सुभाषित रत्न भाण्डागार, पृष्ठ ५५।

ग. तैंतालीसवां छप्पय—

भ्रमर इक्क निसि भ्रमै परिउ पंकज के संपुटि।
मन मँहि मडइ आस रयणि खिण माँहि जाइ घटि॥
करिहै अलज विकास सूर परभात उदय जब।
मधुकर मन चितवइ मुक्त ह्वै है बंधन तब॥
छीहल्ल द्विरद ताही समय, सर मो आयउ दइव वसि।
अलि कमल पत्र पुरइणि सहित, निमिष माँहि सो गयउ ग्रसि॥

तुलनीय

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनी गज उज्जहार॥

—संस्कृत सुभाषित।

इन उदाहरणो से छीहल के भाव-ग्रहण-चातुर्य, कवि-कौशल और काव्य-मर्म को पहचानने की क्षमता का पता तो चलता ही है, यह भी अनुमित होता है कि उन्होने संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया होगा। निश्चय ही विषय-निरूपण, भाव-प्रतिपादन, दृष्टान्त-चयन, अनुकूल भाषा-शैली आदि की दृष्टि से छीहलकृत 'बावनी' हिन्दी नीति-काव्य की अनूठी निधि है। इसमे निरूपित नीति के विषय जितने वैयक्तिक महत्त्व के हैं, उतने ही सामाजिक महत्त्व के भी। वे पारिवारिक और सामाजिक दृष्टि से जितने मूल्यवान हैं, उतने ही धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी। वस्तुत उनका क्षेत्र बड़ा व्यापक है। पिछले कवियों की नीति विषयक रचनाओ को भी 'बावनी' ने पर्याप्त प्रेरित और प्रभावित किया है। यहाँ छीहल केवल नीतिकार नही, अपितु योग्य नीतिकाव्यकार हैं।

घ/३. उदर-गीत

'उदर-गीत' मे केवल चार पद्य हैं। चारो पद्य उत्कृष्ट भक्ति-गीत के उदाहरण हैं। इन गीतो में कवि ने बताया है कि मानव अपनी माता के गर्भ मे पिण्डरूप में वास करने से लेकर मृत्यु पर्यन्त अज्ञानी और विषयासक्त बना रहता है, वह जिन (अथवा परब्रह्म) की भक्ति नही करता है; इसीलिए वह जीवन्मुक्त नही हो पाता। रचना मे उपक्रम और उपसहार का अभाव है, जो इसके गीत-सकलन होने का प्रमाण है।

छीहल कहते हैं कि जीव दस मास गर्भस्थ रहता है। गर्भ में पिण्ड रूप मे उसे अधोमुख रहना पड़ता है—अत्यधिक कष्ट सहना पड़ता है। कष्टपूर्ण स्थिति मे वह सोचता है कि इस बार कष्ट से उद्धार पाने के निमित्त जिनेन्द्र की भक्ति करूँगा। वह जन्म पाता है। जन्म पाते ही, संसार की हवा लगते ही, वह मूर्ख सब कुछ भूल जाता है (गीत-१)।

जीव बालक के रूप में जन्म लेता है। जन्म लेते ही वह अचैतन्य हो जाता है। वह धरती पर लोटता और गिरता-पड़ता रहता है। भूख लगने पर रोता है और माता का दूध पीकर शांत हो जाता है। उसके मुख से लार टपकती रहती है। उसे न मूत्र-विष्ठा का ज्ञान होता है और न भक्ष्याभक्ष्य का, वह लक्ष्य-अलक्ष्य भी भूल जाता है। इसी कारण वह जिनवर की भक्ति नहीं कर पाता और इसी प्रकार उसका बचपन समाप्त हो जाता है (गीत-२)।

बालक युवा बनता है। यौवन की मस्ती में वह चारों दिशाओ मे लक्ष्यहीन घूमता रहता है। पर-धन और परतिय मे ही उसका मन लगा रहता है। ऐसा करने में उसे आनन्द तो मिलता है, पर उसका चित्त सदा अस्थिर और चचल बना रहता है। उसकी समझ में आता ही नहीं कि यह 'विष-फल' है। 'अमीफल' तो जिनवर की सेवा मात्र है जिसे उसने सर्वथा छोड दिया है। परब्रह्म को बिसार देने से काम, माया, मोहादि उस पर अधिकार कर लेते हैं, परिणामत: वह यौवन मे भी जिनवर की पूजा नहीं कर पाता है। इस प्रकार यौवन भी व्यर्थ ही व्यतीत हो जाता है (गीत-३)।

अन्तत. बैरी बुढ़ापा आया। सुधि-बुद्धि नष्ट होने लगी तब उसे पश्चाताप हुआ। कानो की श्रवण-शक्ति क्षीण होने लगी; आंखों की ज्योति धूमिल पडने लगी, किन्तु जीवन की लालसा मे किसी प्रकार की कमी नहीं आयी—जीवन के प्रति आसक्ति और अधिक बढ़ गयी। छीहल प्रबोधित करते हुए कहते हैं कि नर! तू भ्रम मे पड कर भटक क्यो रहा है? यदि तू युक्तिपूर्वक जिनेन्द्र की भक्ति करेगा, तो भवसागर को लीलावत् पार कर जायेगा (गीत—४)।

गीतो के उपरिविश्लेषण से विदित होता है कि ये उत्कृष्ट भक्ति-गीत है। इनमे छीहल का मरमी संत सहज रूप में खुला-खिला है। इस विषय से सम्बन्धित हिन्दी मे अनेक जैन एव जैनेतर कवियो ने गीत लिखे हैं। तुलसीदास की 'विनय-पत्रिका' मे ऐसे अनेक गीत हैं जिनसे छीहल के इन गीतों की तुलना सहज ही की जा सकती है। ये गीत मात्र आत्म अभिव्यजनात्मक ही नही, स्वसवेदन-ज्ञान से भी युक्त हैं। यही इनकी उपलब्धि है।

ख/४. पन्थी-गीत

'पन्थी-गीत' मे कुल छह पद्य हैं। यह एक लघु किन्तु उत्तम रूपक काव्य है जिसके द्वारा सासारिक प्राणी को सांसारिकता के मिथ्यात्व का उपदेश किया गया है। इस रूपक का मूल स्रोत 'महाभारत'[1] है जो जैन-ग्रन्थो मे स्वीकृत हुआ है। महाभारतीय दृष्टान्त जैन-ग्रन्थों में किंचित् भिन्न रूप मे स्वीकृत हुआ है। छीहल के इस रूपक की महाभारतीय दृष्टान्त से तुलना करने पर भी वह भिन्नता स्पष्ट हुए बिना नहीं रहती है। स्पष्ट है कि छीहल ने इस रूपक को जैन-स्रोत से ही ग्रहण कर काव्य का रूप दिया है।

'पन्थी-गीत' के प्रथम चार पद्यो मे रूपक को कथात्मक पूर्णता मिली है। पाचवें पद्य मे कवि ने रूपक को स्पष्ट किया है और छठा पद्य उपदेशपरक है। रूपक एक लोकप्रिय कथा के रूप मे उपस्थित किया गया है। कथा निम्नांकित है

एक पथिक चलते-चलते सिंहो के घने अरण्य में पहुँचा। वहा पहुँच वह रास्ता भूल कर इधर-उधर भटकने लगा। तभी सामने से एक मदोन्मत्त हाथी आता हुआ दिखा। हाथी का रूप रौद्र था। वह क्रोधाभिभूत हो प्रचण्ड शुण्ड को इधर-उधर घुमा रहा था। उसे देख पथिक भयभीत हो गया, वह डर से कांपने लगा (पद्य-१)।

हाथी से बचने के लिए पथिक भाग चला। हाथी ने उसका पीछा किया। आगे घास-फूस से ढँका एक कूप था। जीवन-रक्षा की आतुरता के कारण भागते पथिक को कूप का अन्दाज नहीं हुआ और वह उसमे गिर पडा। गिरते हुए पथिक के हाथ मे सरकण्डों का एक गुच्छा पकडा गया, जो कूप की दीवार में ही उग आया था। वहा और कुछ था नहीं, अत सरकण्डे का गुच्छा मात्र ही अब पथिक का अवलम्ब था (गीत-२)।

कूप में सरकण्डो के गुच्छे के सहारे झूलता हुआ पथिक कठिन दुख झेलने लगा। ऊपर हाथी खड़ा था। चारों दिशाओं मे चार फणिधर कुण्डली मार कर जमे थे और नीचे कूप के तल मे अजगर मुँह खोले पड़ा था। साथ ही श्वेत और श्याम वर्ण के दो चूहे सरकण्डों की जड़ें खोद रहे थे। ऐसी स्थिति में पथिक सोच रहा था कि अब इस सकट से उद्धार नहीं होगा (पद्य-३)।

कूप के पास बरगद का एक वृक्ष था। उसकी डालियो मे मधुमक्खियों के छत्ते थे। हाथी ने बरगद को झकझोर दिया।

१. महाभारत, स्त्री-पर्व, राजा धृतराष्ट्र को विदुर का उपदेश : संसार-अरण्य का निरूपण।

फलतः असंख्य मधुमक्खियाँ उड़ पड़ी और पथिक को काटने लगी। पथिक का कष्ट और अधिक बढ़ गया। तभी छत्ते से मधु की बून्दें भी टपकी जो पथिक के मुँह में पड़ीं। पथिक की जिह्वा ने उन मधु-बून्दो का आस्वाद्य पाया। मधु-बून्दों के आस्वाद से प्राप्त क्षणिक सुख में पथिक अपने सभी दुख भूल गया (पद्य-४)। रूपक-कथा इतनी ही है। पाँचवें पद्य मे कवि ने रूपक को स्पष्ट किया है। यथा—

१ पथिक	— जीव,	४. कूप	— संसार,	७. अजगर	— निगोद,
२. जंगल	— अज्ञान,	५ सरकण्डा	— जीवन की आशा,	८. मधु-बून्द	— विषय-सुख,
३. हाथी	— यम,	६. फणिधर	— गति (दिशा),	९ मूषकद्वय	— रात-दिन

रूपक को स्पष्ट करने के पश्चात् अन्तिम (छठे) पद्य में छीहल ने संसारी जीव को उपदेश दिया है कि संसार का यही व्यवहार है। अतः, हे गँवार ! तू चेत जा। जो मोह-निद्रा मे सोये हैं, वे असावधान है, यही कारण है कि वे जिनेन्द्र को भूल गये हैं। शरीर-सुख और इन्द्रियो के रस मे भटक जाना मानव-जीवन को व्यर्थ नष्ट कर देना है। हे आत्मन् ! अब तक तू नाना प्रकार के दीर्घ दुखों को सहन करता रहा है, जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित मुक्ति मार्ग की युक्तियो का अवलम्बन कर तू अब भी मुक्ति-पद प्राप्त कर सकता है (पद्य-६)।

स्पष्ट है कि रूपक के मिस छीहल ससारी जीव को जिनेन्द्र की भक्ति की ओर ही उन्मुख करना चाहते हैं। जैन मरमी सतों को यह रूपक अधिक प्रिय रहा है। छीहल के परवर्ती अनेक जैन कवियो ने इस पर पद्य-रचना की है। भैया भगवतीदास की 'मधु-बिन्दुक चौपाई' इस दृष्टि से देखी जा सकती है। छीहल की यह रूपक-रचना अपनी सीमाओ मे एक उत्तम लघु रूपक काव्य है। यो इसका सम्पूर्ण स्वर बोधपरक है, पर भक्ति-काव्य की यही सीमा और शक्ति रही है।

घ/५. पंचेन्द्रिय बेलि

'पचेन्द्रिय बेलि' चार पद्यो की भक्तिपरक रचना है। पद्यों मे आत्मसम्बोधन और जिनेश्वर की भक्ति के उपदेश निहित हैं। आगे प्रत्येक पद्य का कथ्य उपस्थित किया जाता है।

मन को उपदेश करते हुए छीहल कहते है . हे आत्मन् ! तू भ्रमवश विषय-वासना के वन मे क्यो भटक रहा है ? तू ममत्व में क्यो भूल गया है ? तुम्हारी मति कैसी हो गयी है ? सारे सासारिक विषय मृगजल की तरह हैं। इनसे कभी तृप्ति नही मिलती। घर, शरीर, सम्पत्ति, पुत्र, बन्धु—सभी नश्वर हैं। उन्हें अनश्वर जान कर ही तू अब तक जिनेश्वर की सेवा से विमुख रहा है। तू सच-मुच मूर्ख और अज्ञानी है। अब भी समय है, सँभल जाओ (पद्य-१)।

हे आत्मन् ! अनेक योनियो मे भ्रमण करने के पश्चात् तुझे यह मानव-जीवन मिला है। यह देवो के लिए भी दुर्लभ है। तू इस जीवन को व्यर्थ मत नष्ट कर—काग को उडाने के लिए चिन्तामणि को नष्ट करना व्यर्थ है। जिनेश्वर की सेवा के बिना सब व्यर्थ है। सासारिक सुख स्वप्नवत् असार हैं। जीवन की सार्थकता जिनेश्वर की भक्ति करने मे ही है (पद्य-२)।

हे आत्मन् ! मरते समय केवल धर्म ही तुम्हारी सहायता करेगा। अत, शरीर मे जब तक प्राण है तब तक सुकृत कर धर्म अर्जित करले। संसार मे सर्वोत्तम धर्म है जीवो पर दया करना। इस धर्म का तू दृढतापूर्वक पालन कर। अरिहत का ध्यान करते हुए संयम-भावना को धारण कर, परधन, परस्त्री और परनिन्दा का परित्याग कर सदा परोपकार मे लगा रह। परोपकार ही धर्म का सार है (पद्य-३)।

हे आत्मन् ! जिनवर के नाम-स्मरण से कलियुग के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। अत, पवित्रात्मा बन उनका चिन्तन कर। आराध्य देव को हृदय मे स्थापित करने के लिए हृदय का पवित्र होना आवश्यक है। यदि हृदय-घट अपवित्र है, तो जप, तप और तीर्थादि के भ्रमण, सब व्यर्थ है। यदि परद्रोह, लम्पटता, ऐन्द्रिक सुख इत्यादि मिथ्या कृत्य नही छूटते, तो जीवन व्यर्थ है। छीहल कहते है कि हे बावरे मन! तू इस सयानी सीख को ध्यान मे रख कि जिनवर के चिन्तन करने से भवसागर का सतरण किया जा सकता है। ससार से मुक्त होने के लिए और कोई उपाय नही है (पद्य-४)।

उपरिविश्लेषण से स्पष्ट है कि इन चारो पद्यो मे छीहल ने ऐन्द्रिक माया और उसके आकर्षण से बचे रहने के लिए उपदेश किया है। पद्य प्रबोधनात्मक ही नही आत्मसम्बोधनात्मक भी हैं। मन चचल है, भटक जाता है। अपने चंचल मन को आराध्य-देव जिनवर की ओर उन्मुख करने के लिए मरमी सत छीहल प्रयत्नशील हैं। छीहल के ये गीत कबीर के 'चेताउणी को अंग' अथवा -

तुलसीदास की 'विनय-पत्रिका' के कतिपय विनयगीतों का स्मरण कराते हैं। वेलि के इन गीतो में कुण्डलिया छन्द प्रयुक्त हुआ है। कहीं-कहीं लोकप्रचलित रूपक और दृष्टान्त भी रखे गये हैं। निश्चय ही वेलि के ये गीत श्रेष्ठ भक्तिगीत हैं।

ब/६. आत्म प्रतिबोध जयमाल

'आत्म प्रतिबोध जयमाल' हिन्दी की नहीं, अपभ्रंश की रचना है। शब्द रूपो और क्रिया पदो मे 'काफी सरसता' के कारण डॉ० वासुदेव सिंह इसे पुरानी हिन्दी की रचना मानना चाहते हैं।[1] सरसता तो कालिदास इत्यादि अनेक संस्कृत कवियो की रचनाओं मे भी है, तो क्या इस आधार मात्र पर उनकी रचनाएँ हिन्दी की मानी जायेंगी ? कहना नही होगा कि डॉ० वासुदेव सिंह का तर्क लचर है एवं अपभ्रंश को हिन्दी कहना अनावश्यक मोह का परिचायक है।

'आत्म प्रतिबोध जयमाल' में कुल तेंतीस कडवक हैं। आरम्भिक कडवक मे कवि छीहल ने अरिहन्तो, निर्ग्रन्थो, केवलियो और सिद्धों की वन्दना की है :

> पणविवि अरहन्तहं गुरु णिरगन्थह, केवलणाण अणन्तगुणी।
> सिद्धहं पणवेप्पिणु करम उलेप्पिणु, सोह सासय परम मुणी ॥१॥

नाम से ही स्पष्ट है कि इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय आत्मा का प्रतिबोधन-सम्बोधन और उपदेश है। इसमे आत्मा के स्वरूप पर कवि ने विस्तारपूर्वक विचार किया है। यहा कवि का मन आत्मा और परमात्मा के चिन्तन एवं कतिपय विधि-निषेधों के निरूपण में खूब रमा है। आत्मग्लानि से प्लावित हो कवि पश्चाताप करता है कि वह विषयो मे आसक्त होकर पुत्र-कलत्र के मिथ्या-मोह में फँस कर भव-वन में भटकता रह गया और सत्य का सन्धान नही कर सका। इसी कारण वह आत्मज्ञान से भी वंचित रह गया :

> भव वन हिंडन्तहं विषयासत्तहं, हा मो किम्पि ण जाणियउ ।
> लोहावल सत्तइ पुत्त कलत्तइ, मों वचिउ अप्पाणउ ॥६॥

कवि ने स्वीकार किया है कि विषय-वासनाओ मे लिप्त हो वह आत्मस्वरूप को भूल गया है। आत्मा का स्वरूप तो समस्त पौद्गलिक पदार्थों से भिन्न है। इसीलिए उसने आत्मस्वरूप का विस्तृत निरूपण किया है। उसका निरूपण मुख्यत. यही है कि "मैं दर्शन-ज्ञान चरित्र हूँ, देह-प्रामाण्य हूँ, मैं ही परमानन्द मे विलास करने वाला ज्ञान-सरोवर का परम हंस हूँ। मैं चैतन्यलक्षण ज्ञान-पिण्ड हूँ, मैं परम निरंजन गुण-पिण्ड हूँ, मैं सहजानन्द स्वरूप-सिन्धु हूँ, मैं ही शुद्ध-स्वभाव [शिव] और अखण्ड बुद्ध हूँ। मैं क्रोध और लोभ से रहित वीतराग हूँ, मैं केवल ज्ञान और अखण्ड रूप हूँ। मैं ही परम ज्योति स्वरूप हूँ। मैं ही चौबीस तीर्थंकर, नव हलधर और कामदेव हूँ।" यथा—

> हउं दंसण णाण चरित्त सुद्धु, हउ देह पमाणिवु गुण समिद्धु ।
> हउ परमाणन्दु अखण्ड वेसु, हउ णाण सरोवर परम हंसु ॥२॥
> हउ चेयण लक्खण णाण पिण्ड, हउं परम णिरंजण गुण पयण्ड ।
> हउ सहजाणन्द सरूव सिन्धु, हउं सुद्ध सहाव अखण्ड बुद्धु ॥३॥
> हउ णिक्कल हउं पुणु णिक्कसाय, हउं कोह लोह गय वीयराय ।
> हउं केवलणाण अखण्ड रूव हउ परम जोयि जोई सरूव ॥४॥
> हउ रयणत्तय चउविह जिणन्दु, हउं बारह चक्केसर णरिन्दु ।
> हउं णव पडिहर णव वासुदेव, हउं णव हलधर पुणु कामदेव ॥५॥

जीव जब आत्मस्वरूप को विस्मृत कर देता है तभी वह नाना प्रकार के कष्टो को भोगता है। इसीलिए कवि जिनवर की भक्ति करने के लिए अपने मन को विभिन्न कडवको मे प्रबोधित करता है। आत्मप्रबोधन ही पुस्तक का मूल प्रतिपाद्य है। पुस्तक की समाप्ति भी अरिहन्तो इत्यादि के स्तवन से ही हुई है। यथा—

---

१. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृष्ठ-६८.

छाण्डिहु गुण साधक बहु गुण विनायक, आचिरिहु छत्तीस गुण।
पचवहु सासणु धम्म पयासणु हुव, अयबीस गुण सहिय मुणि ॥३३॥

अन्य रचनाओं की अपेक्षा इसमें आध्यात्मिक तत्त्व ज्ञान का पुट अधिक है, किन्तु रचना का मुख्य उद्देश्य तत्त्व-निरूपण करना नहीं, सरल-सहज ढंग से मन को प्रबोधित कर जिनेन्द्र की भक्ति के लिए उन्मुख करना ही है। अपने प्रतिपाद्य और उद्देश्य में रचना सफल है। अन्य रचनाओं की अपेक्षा इसमें छीहल की साम्प्रदायिक मान्यताएँ अधिक स्पष्ट और मुखर हैं। इसके बावजूद रचना सर्व उपयोगी है।

ङ/सौष्ठव और उपलब्धि

पूर्व पृष्ठों में रचनाओं के परिचयात्मक विश्लेषण के क्रम में उनके सौष्ठव का भी उद्घाटन होता गया है। अस्तु, यहां उनकी केवल कतिपय विशेषताओं की ओर संकेत कर देना अलम् है।

छीहल जैन भक्तकवि थे, मरमी सन्त कवि थे। उनकी कविता का हिन्दी काव्येतिहास में वही महत्त्व है जो कबीर, दादू इत्यादि संतों अथवा तुलसी, सूर इत्यादि भक्तों की कविता का है। वर्ण्य-विषय की व्याप्ति के आधार पर उनकी कविता भक्तिप्रधान है। उसे भक्ति, अध्यात्म, नीति, आचार, वैराग्य, स्वकर्तव्य-निरूपण, आत्मतत्त्व की प्रेयता, शृंगार इत्यादि कोटियों में भी वर्गीकृत कर समझा-परखा जा सकता है। अधिकांश पद्यों में आत्मालोचन के साथ मन, शरीर और इन्द्रियों की सहजवृत्ति का निरूपण करते हुए कवि ने मानव-मन को प्रबोधित किया है। वह पग-पग पर मन को सावधान करता चलता है। छीहल ने कोई भी पद्य मात्र कल्पना-विलास के लिए नहीं लिखा है। प्रत्येक पद्य में वैयक्तिक अनुभूति की गहराई निहित है। स्वानुभूत एवं भोगी गई अनुभूतियां होने के कारण ही पद्य प्राय: कवि के आत्मदर्शन के उदाहरण बन सके हैं।

रस और भाव की व्याप्ति की दृष्टि से छीहल की कविता में केवल भक्ति रस अथवा भक्ति-भाव का प्राधान्य होना अस्वाभाविक नहीं। 'पन्थी-गीत', 'उदर-गीत', 'पंचेन्द्रिय वेलि' और 'आत्म प्रतिबोध जयमाल' में विनय भाव की प्रधानता है। इसीलिए इन रचनाओं में अपने कर्मों के लिए पश्चाताप है। इनमें कवि के आकुल प्राण शान्ति और संसार-सागर से सन्तरित होने के लिए छटपटा रहे हैं। वह चैतन्य हो गा उठता है :

क. चितवनि परब्रह्म कीजे तो, भवसागर कूं तरिये ॥—वेलि, ४

ख. करि धर्म जिन भाषित जुगतिस्यौं, ज्यौं मुकुति पदवी लहै।—पन्थी गीत, ६

ग. करि भगति जिन की जुगति स्यौं, भवसागर लीलइ तिरौ।—उदरगीत, ४

'बावनी' के पद्यों में भी भक्ति भाव ही है, पर यहां विनय-भाव की जगह शांत-भाव ने ले ली है। साथ ही यहां धर्म-अध्यात्म, नीति-आचार, विधि-निषेध सम्बन्धी कथनों को प्रमुखता भी मिली है। इसकी संज्ञा इसीलिए भक्तिकाव्य नहीं, नीति-काव्य है। शांत-भाव को जितना विस्तार 'बावनी' में मिला है, उतना अन्यत्र नहीं।

'पंच सहेली' में तिय-पिय भाव अथवा शृंगार है। यहां पंच सहेलियां (जीवात्माएं) हैं 'तिय' और परमात्मा 'पिय'। तिय-पिय यानी दाम्पत्य भाव रहस्यवाद की अभिव्यक्ति के लिए सर्वप्रचलित सहज प्रतीक है। अन्य जैन मरमी संतों ने इसे ही 'सुमति' और चेतन के 'प्रतीक' के रूप में स्वीकार किया है। 'पंच-सहेली' में रहस्यवाद की व्यंजना तिय-पिय भाव के माध्यम से ही हुई है। इसकी अन्य विशेषता है शृंगार की सहज मांसल अभिव्यक्ति। इस दृष्टि से यह हिन्दी के शृंगार-काव्येतिहास में विद्यापति की 'पदावली' के पश्चात् विशिष्ट स्थान और महत्त्व की अधिकारिणी है।

काव्य-बन्ध की दृष्टि से छीहल की रचनाएं मुक्तक कही जायेंगी, किन्तु 'पंच सहेली' और 'पन्थी-गीत' के सम्बन्ध में भी यही निर्णय देना सर्वयुक्त नहीं होगा। उन दोनों में कथा का झीना अंश वर्तमान है। वस्तुत: वे दोनों सफल रूपक काव्य हैं। दोहा छंद में रचित 'पंच सहेली' का स्वरूप एकार्थक काव्य के समान हो गया है। उसे मुक्तक प्रबन्ध कहना समीचीन भले ही न हो, पर स्वरूप है बहुत कुछ वैसा ही।

छीहल सीमित छन्दों के प्रयोक्ता हैं। दोहा (पंच-सहेली), छप्पय (बावनी) और कुण्डलिया (पन्थी-गीत एवं पंचेन्द्रिय वेलि) इनके प्रिय छन्द हैं। कुण्डलिया में कहीं-कहीं मात्राओं की घट-बढ़ भी हो गई है। 'आत्म प्रतिबोध जयमाल' में अपभ्रंश के कड़वक प्रयुक्त हुए हैं। गीतों में दो-तीन अन्य छन्द भी प्रयुक्त हुए हैं। यथा—

क. चौरासिया—

उदर उदधि में/दस मासहिं रह्यौ ।
पिण्ड अधोमुखि/ बहु संकटि पड़्यौ ॥

ख. हरिगीतिका—

मन रम्यौ पर धन देखि परतिय चित्त ठौर न राखियौ ।
छण्डिय अमीफल सेव जिण की विषय विषफल चाखियौ ॥

ग. रस-उल्लाल—

पछतायौ जब सुधि नाहीं/श्रवण सबद ना बूझए ।
जीवन कारण करइ लालच/नयन मग्ग ना सूझए ॥

घ. शुभगीता—

बहु सह्यौ संकटि उदर अन्तरि/चिन्तवै चिन्ता घणी ।
उबरौं अबकी बार ज्योहिं/भगति जिण करिहौं तणी ॥

अलंकार प्रयोग की दृष्टि से विचार करने से स्पष्ट होता है कि छीहल को सादृश्यमूलक अलंकार अधिक प्रिय है। 'पंच सहेली' इस दृष्टिसे अधिक महत्त्व की है। उसमें प्रयुक्त उपमान अपेक्षाकृत नवीन और मौलिक सूझ-बूझ के उदाहरण हैं।

छीहल की काव्य-भाषा पर अद्यावधि दो प्रकार के विचार आये है। सूचना देनेवालो ने छीहल की काव्यभाषा को राजपूतानी पुराने ढर्रे की (मिश्रबन्धु), 'राजस्थानी मिली भाषा' (आचार्य शुक्ल), 'बोलचाल की राजस्थानी' (डॉ० मेनारिया) इत्यादि कहा है। इसके विपरीत छीहल की रचनाओ के विशिष्ट अध्येताओ के विचार हैं। 'पंच-सहेली' और 'बावनी' का भाषिक दृष्टि स अध्ययन करने के उपरान्त डॉ० शिवप्रसाद सिंह इस निष्कर्ष पर आये कि "पंच सहेली" की भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा है एवं 'बावनी' की "भाषा ब्रज है"। 'हिन्दी बावनी काव्य' में मैंने घोषित किया "बावनी" की भाषा शुद्ध ब्रजी है। छप्पय छन्द होने के कारण प्राचीन प्रयोग भी कम नहीं हुए हैं। वर्तनी पर राजस्थानी की छाप दिखती है।" श्री कृष्ण चन्द्र शास्त्री ने 'बावनी' की भाषा को 'पिंगल' माना है। अन्य रचनाओं की भाषा भी ब्रज ही है। केवल 'आत्म प्रतिबोध जयमाल' की भाषा अपभ्रंश है। इतना संकेत कर देना अनावश्यक नहीं कि 'पंच सहेली' के केवल कुछ हस्तलेखो पर ही राजस्थानी की छाप अधिक मिलती है, सब पर नहीं। कई हस्तलिखित प्रतियां राजस्थानी छाप, प्रभाव और मिश्रण से प्राय मुक्त हैं। वस्तुत, 'पंच सहेली' की भाषा है ब्रज ही, किन्तु कवि की आरम्भिक रचना होने के कारण ही कदाचित् उस पर राजस्थानी का रंग आ अवश्य गया है। कतिपय क्रियापदो तक का राजस्थानी होना भी यही सोचने को विवश करता है। कहना चाहिए कि छीहल की काव्य-भाषा है तत्युगीन स्तरीय हिन्दी ही जो पिंगल और ब्रजी के नाम से अधिक परिचित है; उस पर राजस्थानी के यत्किंचित प्रभाव स्थानीय प्रयोग के परिणाम भर माने जायेंगे। यह प्रवृत्ति केवल छीहल की नहीं, बरन् उस युग के अधिसंख्य कवियो मे पाई जानेवाली एक सामान्य प्रवृत्ति है। प्राय: सभी कवियो की काव्यभाषा पर क्षेत्रीय या आंचलिक प्रयोग का प्रभाव मिलता ही है। यह दोष नहीं क्षेत्रीय वैशिष्ट्य है। पुन राजस्थानी प्रभाव भी मुख्यत: वर्तनी तक ही सीमित है। वस्तुत:, छीहल की काव्यभाषा सूर-पूर्व हिन्दी की मानक काव्य-भाषा के सर्वथा निकट है, वह सूर-पूर्व हिन्दी यानी ब्रजी है। सूर-पूर्व ब्रजी की उसमे सारी विशेषताएं वर्तमान हैं।

जैन मतानुयायी होने के बावजूद छीहल ने रचनाओ मे जैनेतर इतिहास पुराण की कथाओ, उक्तियो इत्यादि का नि:संकोच भाव से उपयोग किया है। यह उनकी साम्प्रदायिक सहिष्णुता, धार्मिक उदारता और बहुज्ञता का परिचायक है। अधिकांश वर्णन-निरूपण जैन-मतवाद के परिप्रेक्ष्य मे किये जाने के कारण रचनाओ मे जैन दर्शन की शब्दावली, जैन-कथाओं और जैन-देवी-देवताओं का इतस्तत: उल्लेख होना सर्वथा स्वाभाविक ही माना जायेगा। यदि 'आत्म प्रतिबोध जयमाल' के अतिरिक्त अन्य रचनाओ पर विचार किया जाये, तो कहना पड़ेगा कि कवि की अपेक्षा वे अधिक उदार और भक्त कवि मात्र रहे हैं। भाव सम्पत्ति को रूपायित करने की मूल प्रेरणा कवि को सदा अन्तर्मन से प्राप्त हुई प्रतीत होती है। उसके समस्त अनुभव वैयक्तिक हैं, जो सार्वजनिक बनने के क्रम में छन्दोबद्ध हो गये हैं। अस्तु, सभी रचनाओ का एकमात्र उद्देश्य आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति ही स्वीकार किया जायेगा। समग्रत: कहा जायेगा कि छीहल अपने युग के श्रेष्ठ भक्तकवि हैं। इस दृष्टि से उनकी उपाधि 'कवि कंकण' न केवल उचित है, बल्कि वही उनकी तत्युगीन सर्वजनप्रियता का प्रमाण भी है।

प्रबुद्ध रौहिणेय—समीक्षात्मक अनुशीलन

—डॉ॰ रामजी उपाध्याय

छः अंकों मे प्रबुद्ध रौहिणेय नामक प्रकरण के रचयिता रामभद्र मुनि हैं। रामभद्र के गुरु जयप्रभ सूरी वादिदेव के शिष्य थे। इनका समय ईसा की बारहवी शती का अन्तिम भाग है।

नाट्यकथा के अनुसार रौहिणेय के पिता लोहखुर नामक डाकू ने मरते समय उसे शिक्षा दी कि महावीर स्वामी की वाणी कान मे कहीं न पड जाये— इसका प्रयत्न करना, क्योंकि वह वाणी हमारे कुलाचार का विध्वंस कर देने वाली है। एक दिन रौहिणेय ने देखा कि वसन्तोत्सव के अवसर पर नागरिक प्रेयसियो के साथ मकरन्दोद्यान मे क्रीडा कर रहे हैं। उसने निर्णय किया कि सर्वाधिक सुन्दरी का अपहरण करूँ, क्योंकि—

वणिग्वेश्या कविर्भट्टस्तस्करः कितवो द्विज.।
यत्रापूर्वोऽर्थलाभो न मन्यते तदहर्वृथा ॥१.१३॥

उसने छिपकर किसी धनी की रमणीयतम सुन्दरी को अपने उपपति से बातें करते देखा। सुन्दरी मदनवती अपने निजी भाग्य से परम सन्तुष्ट थी। उसका उपपति उसके लिए निरवग्रह सौभाग्य की सृष्टि कर रहा था। नायिका ने नायक से कहा कि पहले पुष्पावचय कर लें और फिर शीतल कदली गृह मे क्रीडारस का आनन्द लें। उन दोनों में स्पर्धा हुई कि हम अलग-अलग दिशाओं में जाकर पुष्पावचय करते हुए देखें कि कौन अधिक फूल तोड लाता है। रौहिणेय ने नायिका को फूल तोडते हुए देखा—

पुष्पार्थं प्रहिते भुजेऽनिलचलन्नीलांशुकाविष्कृतः
सत्त्वाविष्कृतसत्प्रभापरिधिभिर्दोर्मूललग्नः कुचः।
ईषन्मेघविमुक्तविस्फुर दुरुज्योत्स्नाभरभ्राजित—
व्योमाभोगमृगाङ्कमण्डलकलां रोहत्यमुष्याः स्तन: ॥१.२६॥

रौहिणेय ने उपपति के दूर चले जाने पर नायिका का अपहरण करने की योजना बनाई और अपने साथी शबर से कहा कि इसके उपपति को किसी बहाने रोककर फिर आना। नायिका ने डाकू रौहिणेय का उससे परिचय पाकर शोर मचाना चाहा। डाकू ने कहा कि यदि ऐसा किया तो तुम्हारा सिर काट डालूंगा।[1] उसके बाहर निकलने पर वह उसे कन्धे पर उठाकर भाग निकला कि उसे यथाशीघ्र पर्वत के गह्वर मे प्रवेश कराऊं।

उपपति ने लौटकर ढूढने पर भी जब नायिका को नहीं पाया तो उसे रौहिणेय के सेवक शबर से पूछने पर ज्ञात हुआ कि परिजनों से घिरा कोई क्रोधी पुरुष वृक्ष की ओट मे निकट ही कुछ मन्त्रणा कर रहा है। उपपति ने समझा कि वह नायिका का पति है और मुझे मार डालने की योजना बना रहा है। वह डर कर भाग गया।

दूसरे दिन राजगृह मे किसी का अपहरण करना था। रौहिणेय के चर शबर ने पहले से ही ज्ञात कर लिया था कि कहां, क्या और कौन है। रौहिणेय भी घटनास्थली एक बार देख चुका था। सुभद्र सेठ, मनोरमा सेठानी और मनोरथ वर हैं।

रात्रि के समय रौहिणेय शबर के साथ सेठ के घर के समीप पहुँचा। वर-वधू गृह प्रवेश के मुहूर्त की प्रतीक्षा में थे। गन्धर्व-अर्घापनक उत्सव में सोत्साह लगे हुये थे। पहले शबर उनके बीच आकर नाचने लगा। सेठानी घर के भीतर सज्जा करने चली गई। फिर वामनिका का सतूर्य नृत्त हुआ। अन्त में रौहिणेय स्त्री बनकर आया। वह वेशभूषा से सेठानी के समान था। उसने वर से

---

१ त्वरितमवसो भव। नो चेदम् असिधेनुकया शिर कूष्माण्डपातं पातयिष्यामि।

२. कुसुमकुड्मलोपचितापद्वीकृतमीरहिकामलंका कुंकुमस्तबकाञ्चितवनराटा युवतिः कल्पान्तरेऽप्यस्मीरितार्पणा।

कहा कि कन्धे पर बैठो, तुम्हें लेकर नाचूंगी। उसका नृत्य होने लगा। एक अन्य अनुचरी वधू को कंधे पर रखकर नाचने लगी। वामनिका भी बबर के कंधे पर आ बैठी और वह नाचने लगा। उसने गन्धर्वों से कहा कि तारस्वर से वाद्य बजाओ।

ऐसी तुमुल स्वर-लहरी के बीच रौहिणेय ने अपनी कांख से एक चीरिका सर्प गिरा दिया। उसे वास्तविक सर्प समझकर लोग भाग चले। रौहिणेय भी वर को लेकर भागा। थोड़ी दूर पर उसने अपना स्त्रीवेश उतार फेंका। वर उसे देखकर रोने लगा। रौहिणेय ने कहा कि यदि रोते हो तो इसी छुरी से तुम्हारे कान काट लूँगा। वह अपने गिरि-गह्वर की ओर चलता बना।

सेठ ने समझा कि वह सांप ही है। उसकी परीक्षा करने पर ज्ञात हुआ कि वह कृत्रिम है। उसी समय उसे अपने लड़के की चिन्ता हुई। उसे माँ कन्धे पर ले गई होगी। माँ ने कहा मैं तो घर से निकली ही नहीं। तब ज्ञात हुआ कि सेठ के लड़के का अपहरण हो गया है।

उस समय मगध का राजा श्रेणिक राजगृह मे विराजमान था। नगर के सभी महाजन उपायन लेकर राजा से मिलने आये। उन्होंने पूछने पर बताया कि—

रुग्णश्चोरहितेन पौरकलयो निम्बो यथा लम्भितः ॥३.२१॥

चोर सुन्दर पुरुष, स्त्री, पशु और धन-दौलत का अपहरण करता है। राजा ने आरक्षक को बुलवाया। उसने कहा कि चोर को पकड़ने में मेरे सारे प्रयास व्यर्थ गये। फिर अभय कुमार मन्त्री आये। राजा ने मन्त्री को भी डांटा और कहा कि मैं स्वयं चोर को दण्ड दूंगा। मन्त्री ने कहा कि मैं ही पांच-छः दिनों में चोर को पकड़ लूँगा।

उसी समय राजा को समाचार मिला कि महावीर स्वामी उद्यान मे आये हुये हैं। राजा ने अग्र पूजा की सामग्री ली और महावीर का व्याख्यानामृत सुना।

रौहिणेय ने निर्णय किया कि राजा उग्रदण्ड प्रचण्ड है। इससे क्या? मुझे तो आज उसी के घर से स्वर्णराशि चुरानी है।[1]

सन्ध्या होने वाली थी। रौहिणेय ने देखा कि महावीर स्वामी कहीं परिषद् में आये हुये हैं। वह पिता की आज्ञानुसार दोनों हाथों से दोनों कान बन्द कर चलने लगा। तभी पैर में कांटा चुभ गया। वह कांटे को हाथ से निकाल नहीं सकता था, क्योंकि तभी कानों में महावीर की वाणी प्रवेश कर जाती। फिर भी कान से हाथ हटाकर कांटा निकालना पड़ा। उसके कानों में महावीर की देवलक्षण वाणी पड़ी।[2]

रात्रि मे राजदण्ड उस व्यक्ति के लिए घोषित हुआ, जो एक पहर रात के पश्चात् बाहर निकले। आधी रात का समय होने को आया। यही समय रौहिणेय के चोरी करने का था। वह आया और राजप्रासाद के निकट पहुँच गया। वहाँ प्रहरी के बुलाने पर वह चण्डिकायतन में घुस गया। नगर-रक्षकों ने चण्डी मन्दिर को घेर लिया। वह कोने मे जा छिपा और हाथ मे छुरी लेकर आरक्षकों के बीच से भाग निकला। उसके पीछे लोग दौड़े। उसने प्राकार का लङ्घन किया, पर कहीं जाल में फँस गया और पकड़ लिया गया। दूसरे दिन रौहिणेय राजा के समक्ष लाया गया तो उसने उसे सूली चढ़ाने का दण्ड दिया। फिर तो—

चूर्णेनाग्रथवीनभूषिततनुः कज्जलाम्बुलिप्तानन:
प्रोत्कृत्केशभरः कुकाहलबाहूतप्रजावेष्टितः ।
आरूढः खरमेकरक्तकुसुमस्रक्छोभितोरः स्थिति—
र्वातस्तस्त्वनु कालरात्रिवनिताभिव्यङ्गरंगोत्सुक. ॥५.१५॥

---

१. मावाग्मायदि भूपतेर्भवनतः प्राज्यं हिरण्यं हरे ।
   तन्मे मोहगुरुः पिता परमतः स्वर्गस्थितो लज्जते ॥४.७॥

२. निःस्वेदाङ्गा श्रमविरहिता नीरजोऽम्लानमाल्या
   त्वक्पुष्टोर्वीविलय चलना निर्निमेषाक्षिरम्या ।
   छायाहीनैऽध्वमलवसना विस्मयव्याप्तमुक्ता—
   श्चिन्तामात्रोपजनितमनोवाञ्छितार्थाः सुराः स्युः ॥४.६॥

अभयकुमार ने कहा कि इसे सूली पर चढ़ाना ठीक दण्ड नहीं। इसके पास चोरी का सामान नहीं पकड़ा गया। वह गधे से उतारा गया। उससे पूछताछ हुई। उसने बताया कि मैं शालिग्राम का रहने वाला दुर्गचण्ड किसान हूँ। काम से यहाँ आया था। नगर में किसी सम्बन्धी के न होने से चण्डिकायतन में सोया था। तभी आरक्षकों द्वारा घेर लिया गया और मुझे प्राकार लाँघना पड़ा। वहीं पकड़ लिया गया। एक दूत शालिग्राम भेजा गया। वहा के ग्रामवासियों ने कहा कि दुर्गचण्ड यहां रहता है। आज काम से बाहर गया है। उस दिन रौहिणेय का न्याय टल गया।

अभयकुमार ने एक नाटक का आयोजन कराया। पहले तो रौहिणेय को सुरापान कराकर प्रमत्त कर दिया गया और उसके चारों ओर ऐसी व्यवस्था की गई कि वह स्वर्गलोक में है। नाट्याचार्य भरत के तत्त्वावधान में वेश्याकुमारें अप्सराओं की भूमिका में थीं। चन्द्रलेखा और वसन्तलेखा रौहिणेय के दाईं ओर बैठीं, और ज्योतिप्रभा और विद्युत्प्रभा उसके बाईं ओर बैठीं। शृङ्गारवती नृत्य करने लगी। गन्धर्वों ने सङ्गीत प्रस्तुत किया। तब तक रौहिणेय चेतना प्राप्त कर चुका था। सभी अभिनेता उसे चेतनापूर्ण देख चिल्ला उठे—आज देवलोक धन्य है कि स्वामी-रहित हम लोगों को आप स्वामी प्राप्त हुये।[1] 'चन्द्र लेखा'[2] और विद्युत्प्रभा'[3] ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये।

तभी प्रतिहार ने आकर कहा कि तुम लोगों ने स्वर्लोकाचार किये बिना ही अपना कौशल दिखाना आरम्भ कर दिया। पूछने पर बताया कि जो कोई यहां नया देवता बनता है, वह अपने पूर्व जन्म सुकृत-दुष्कृत को पहले बताता है। उसके पश्चात् वह स्वर्गोचित भोगो का अधिकारी होता है। उसने रौहिणेय से कहा कि मुझे इन्द्र ने भेजा है। आप अपने मानव जन्म के उपार्जित शुभाशुभ का विवरण दें।

रौहिणेय ने सारी परिस्थिति भांप ली कि मेरे चारों ओर के लोग देव नहीं हैं क्योंकि उन्हें पसीना आ रहा है, वे भूतल का स्पर्श कर रहे हैं, उनकी मालायें मुरझा रही हैं। यह सारा कैतव है। उसने मिथ्या उत्तर दिया।[4]

प्रतिहार ने कहा कि ये तो शुभकर्म हैं, अशुभ बतायें।

रौहिणेय ने उत्तर दिया कि दुष्कर्म तो उसके द्वारा कभी किए ही नहीं गए।[5]

प्रतिहारी ने कहा कि स्वभावत: मनुष्य परस्त्री संग, परधन हरण, जुआ आदि दुष्प्रवृत्तियों से ग्रस्त होता है। आपने इनमें से क्या किया ? रौहिणेय ने उत्तर दिया कि यह तो मेरी स्वर्गगति से ही स्पष्ट है कि मैं इन दुष्प्रवृत्तियो से सर्वथा दूर रहा हूँ।

तभी राजा श्रेणिक और अमात्य अभय प्रकट हुए। प्रतिहारी की बात सुनकर अभयकुमार ने राजा से कहा कि इसको दण्ड नही दिया जा सकता। यह डाकू है। पर प्रमाणाभाव के कारण दण्ड देना राजनीति के विरुद्ध है। उसे अभय प्रदान करके वास्तविकता पूछकर छोड़ दिया जाय[6]।

---

१. अस्मिन् महाविमाने त्वमुत्पन्नास्त्रिदशोऽधुना ।
अस्माकं स्वामिभूतोऽसि त्वदीयाः किङ्करा वयम् ॥६.५॥

२. यज्जातस्त्वं मञ्जुमञ्जुलमहो अस्माकं नु प्राणप्रियः ॥६.१३॥

३. जाता ते दर्शनात् सुभग समधिक कामधुः स्वामवस्था ॥६ १६॥

४. दत्त पार्श्वे नु दानं नवनिचितधनैश्चक्रिरे शैलकल्पा—
न्युच्चैश्चैत्यानि चित्राः शिवसुखफलदाः कल्पितास्तीर्थयात्राः ।
चक्रे सेवा गुरूणामनुपमविधिना ताः सपर्या जिनानां
बिम्बानि स्थापितानि प्रतिकलममलं ध्यानमर्हत्प्रणम्य | ६ १६ |

५. दुश्चरितं मया कदापि कदाचिदपि नो कृतम् | ६.२० |

६. प्रपञ्चचतुरोऽप्यूर्ध्वीरहूमेतेन वञ्चितः;
कल्पवल्ली वञ्चनायां वेश्या अपि कदाचन ॥६.२४॥

राजाज्ञा से सभी लोग वहाँ से चले गए। केवल राजा और अभयकुमार की उपस्थिति मे रौहिणेय को लाया गया। राजा ने कहा कि रौहिणेय, तुम्हारे सब अपराध मैंने क्षमा किये, पर तुम निःशङ्क होकर बताओ कि यह सब तुमने कैसे किया ? डाकू ने कहा—

निःशेषमेतन्मुषितंचसनं भवतो मया

नान्वेषणीयः कोऽप्यन्यस्तस्करः पृथिवीपते ।६.२८।

आज जो कुछ किया उसमें हेतु महावीर स्वामी हैं—

वन्द्यो वीरजिनः कुर्वंस्ततिस्तत्र हेतुः परः ।६.३०।

डाकू ने अपनी बात बताई कि महावीर की वाणी कान मे न पड जाये, अतः उसने हाथ से कान बन्द कर लिये, पर कांटा निकालने के लिये हाथ कान से हटाना पड़ा तो हमें देवलक्षण सुनाई पडा, जिसके आधार पर मैंने जान लिया कि मेरे चारों ओर जो देव-लोक बना था, वह वास्तविक नहीं था। मैंने इतने समय तक पिता की बात मानकर महावीर की वाणी नहीं सुनी। वस्तुतः—

इहाप्यास्वाद्यानि प्रवररसपूर्णानि सहहो

कृता काकेनेव प्रकटकटुनिम्बे रसिकता ।६.३४।

अब मैं महावीर के चरण कमलो की सेवा मे रहूँगा। उसने मंत्री से कहा कि मेरे द्वारा चुरायी गयी सभी वस्तुयें दे दी जायें। रौहिणेय उन सबको चण्डिकायतन में ले गया वहां उसने उस कपाट को खोला, जिस पर कात्यायनी का रूप उत्कीर्ण था। वहां मदनवती और मनोरथकुमार तथा अतुलित स्वर्णराशि मिली। सबको उनकी चोरित वस्तुयें मिल गयीं। राजा से अनुमति मांगने पर रौहिणेय का अभिनन्दन किया गया।[1]

प्रबुद्ध रौहिणेय का कथानक संस्कृत नाट्यसाहित्य में अनूठा ही है। इस डाकू को प्रकरण का नायक बनाकर उसके चारो ओर की नृत्य-सङ्गीत की दुनियाँ में संस्कृत का कोई रूपक इतना मनोरञ्जन नहीं करा सका है।

नाटक में कूट घटनाओं का संभार है। इस युग मे अन्य कई नाटको मे कूट घटनाओं और कूट पुरुषों की प्रचुरता मिलती है। सेठ ने डाकू को पकड़ने के लिए अनेकों कापटिक कर्मों की योजना बनाई।[2]

लेखक जैन है किन्तु उसने पूरे कथानक में कहीं भी जैनधर्म का प्रचार नहीं किया। गौण रूप से जैनधर्म की उत्तमता प्रतिपादित करने से इस नाटक की कलात्मकता अक्षुण्ण रह सकी है।

इस नाटक में देवभूमि से लेकर गिरि गुफा तक का दृश्य तथा न्यायालय, वसन्तोत्सव, समवसरण आदि की प्रवृत्तियों का दृश्य वैचित्र्यपूर्ण है।

रामभद्र की प्रसादगुणोत्पन्न शैली सानुप्रास-सङ्गीत निर्भर है।[3]

कवि की गद्य शैली भी थिरकती हुई नर्तनमयी प्रतीत होती है।[4]

इनमें स्वरो का अनुप्रास उल्लेखनीय है।

---

१. त्वं धन्यः सुकृती त्वमद्भुततमस्त्वं विश्वविश्वोत्तम—
स्त्व श्लाघ्योऽखिलकल्मषं च भवता प्रक्षालितं चौर्यजम्।
पूज्यैः सर्वजनीनतापरिगतो श्री भूभुजःस्त्वोऽर्चितो
यस्त्वौ वीरजिनेश्वरस्य चरणौ लीनः शरण्यो भवान् ।६.४।

२. तैस्तैर्बहुघटकूटकोटिघटनैस्तं वद्धुमिच्छे तथा । ३.२२ ।

३. क्वचिन्मल्लीवल्लीतरल मुकुलोद्भासितवना
क्वचित् पुष्पामोदभ्रमदलिक् झांकारमधुरा।
क्वचिन् मत्तकोकिल परभृतवधूभ्राममुखरा
क्वचित् कूजत्पारावतविलसनोत्सा सुललिता । १.१ ।

४. ध्वस्तसमस्तशोकाः सततविहितविव्वोकाः सफलीकृत जीवलोकाः कान्तमयमी लोकाः ।

अप्रस्तुत प्रशंसा के कतिपय वाक्य भाव प्रवणता की दृष्टि से सटीक हैं—

१. मरुमण्डले तृष्णावत्पथिकस्य बकविस्तारितमेघाम्भःप्रतियेयं, पुनरन्तरा पिशाचेन पीतम् ।

२. अहो अजकुट्टया गुडेन सार्धं प्रतिस्पर्धा ।

३. पिचुमन्दकन्दल्या रसालरसस्य च कीदृशस्त्वया संयोगः ।
श्लेष्मे विकारा अपि यत्समदारम्भाणां भङ्गमाधास्यन्ति ।

कहीं व्यञ्जना का प्रयोग हास्यरसोचित है–

यद्येतादृशाः सुरूपा नृत्यकलाकुलास्तत्र किमस्मादृशां नर्तितु योग्यं ।

हास्य रस के अन्य प्रयोग द्वितीय अंक मे मनोरञ्जक हैं । इस अंक में हास्य का परम प्रकर्ष है। कवि की प्रतिभा प्रस्तुत परम्परित रूपक से स्पष्ट है—

स्थाले स्मेरसरोरुहे हिमकणान् मुक्ताग्निशाधायातो—
स्तद्रेणु मलयोद्भव मधुकरान् दूर्वाप्रवालावली: ।
हंसो सद्धविकेसरोत्करमपि प्रेङ्खन्निका वीचिकाः
सव्याकूर्मानिनो रवे रचयितु' प्रातस्त्यमारात्रिकम् ॥३.२॥

चरित नायक के चरित्र का विकास नाट्यकला की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। महावीर की वाणी सुनने के पश्चात् रौहिणेय का चरित्र सद्वृत्तियो से आपूरित होता है। डाकू होने पर भी नायक का व्यक्तित्व कुछ-कुछ कवियों जैसा है। वासन्तिक सौरभ को देखकर उसका हृदय नाच उठता है और वह कह उठता है—

केचिद् कोकिलवल्लभाभुजलताश्लेषोल्लसन्मन्मथाः
केचित् प्रीतिरस प्रकृष्टपुलका कुर्वन्ति गीतध्वनिम् ।
केचित् कामित नायिकाधर दलं प्रेम्णा पिबन्त्यादरात्
किञ्चित कूपित लोललोचनपुरः पद्मं द्विरेफा इव ॥१.१०॥

प्रबुद्ध रौहिणेय मे एक कूटघटनात्मक गर्भनाटक का समावेश छठे अंक में किया गया है। इस युग में नाटक के किसी अंक में छोटा-सा उपरूपक समाविष्ट करने की रीति कतिपय कवियो ने अपनाई है।

किसी पात्र का छिपकर या अकेले ही रहकर रङ्गमञ्च पर दूसरों के विषय मे अपनी भावनायें प्रकट करना नाटकीय दृष्टि से रुचिकर होता है, क्योंकि ऐसी स्थिति मे किसी अन्य पात्र की उपस्थिति के कारण गोपनीयता की सीमा नहीं रह जाती। रौहिणेय ऐसी स्थिति मे प्रच्छन्न रहकर मदनवती को देखकर तर्क करता है—

किं शृङ्गारमयी किमु स्मरमयी किं दुर्ललक्ष्मीमयी ।

रामभद्र ने इस नाटक मे नृत्य, गीत और वाद्य का लोकोचित सम्यक् का अंकन प्रासंगिक रूप से द्वितीय अंक में प्रस्तुत कराया है।

प्रबुद्ध रौहिणेय में नाट्यालंकारों का विशद सन्निवेश मनोरम है। तृतीय अंक का उद्देश्य ही नाट्यालंकार-प्रस्तुति है। इस नाटक के आद्यन्त अंकों मे दृश्य सामग्री है, सूच्य अपवाद रूप से अंक में गर्भित हैं।

डाकू-क्षेत्र में सद्वृत्तपरायण सन्तो के आने-जाने से बहुत-से डाकुओं की मनोवृत्ति में परिवर्तन हो सकता है। १९७२ ई० में जयप्रकाश नारायण के प्रयास से डाकुओं का हृदय-परिवर्तन हुआ है, उसका प्रबुद्ध रौहिणेय पूर्वरूप प्रस्तुत करता है।

आधुनिक हिन्दी जैन महाकाव्य: सीमा और सम्भावना

—डॉ० इन्दु राय

महाकाव्य किसी भी वाङ्मय की सर्वाधिक समुन्नत और समृद्ध विधा है। आकार-प्रकार की महार्घता, चिंतन की गम्भीरता और रचनात्मक गरिमा में यह विधा विशिष्ट है। महाकाव्य विश्वजनीन मानवीय आदर्शों, संवेदनाओं तथा मानवीय चेतना के विकास को रूपायित करने वाला महत् काव्य है। अपने महत् उद्देश्य के कारण ही वह कवि-यश का मलाधार होता है। महाकाव्य के सृजन के मूल मे लक्ष्य की महत्ता तो रहती ही है उसके व्यापक रचना-फलक मे युगजीवन के समस्त सन्दर्भ स्वत: अन्तर्भूत हो जाते है। आधुनिक युग मे हिन्दी महाकाव्यों का उदय जिस पृष्ठभूमि में हुआ है उसे राजनैतिक तथा धार्मिक नवजागरण का प्रभाव कहा जा सकता है। भारत मे राजनीति का स्वरूप भी धर्म से सम्बद्ध रहा है, इसीलिए राजनीति को भी राजधर्म कहा गया है। धार्मिक चेतना का ही व्यापक रूप भारतीय नवजागरण के मूल में सक्रिय रहा है और हिन्दी के अधिकाश महाकाव्यो की रचना इसी धार्मिक चेतना से अनुप्राणित है। इस रत्नराशि में जैन महाकाव्यो का स्थान पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि जैन साहित्य की पृष्ठभूमि एक विशिष्ट धर्म पर अवलम्बित है किन्तु उसका काव्यतात्विक मूल्य उपेक्षणीय नही है। दुर्भाग्य से अनुसंधित्सुओं व आलोचकों का ध्यान जैन साहित्य की ओर बहुत कम गया है। उनकी धारणा यही रही है कि वह साम्प्रदायिक साहित्य है, अतएव उसके सौन्दर्योद्‌घाटन के प्रयास भी विरल रूप से हुए हैं। जैनेतर हिन्दी महाकाव्यों पर तो महत्त्वपूर्ण शोध कार्य हुए हैं, किन्तु आधुनिक हिन्दी जैन प्रबन्ध काव्यो, उपन्यासो, कहानियों आदि का शोधपरक अध्ययन अपेक्षित है।

महाकाव्य विधा को परिभाषित करना कठिन है। परिभाषाए या तो अतिव्याप्त होती हैं अथवा अव्याप्त। फिर प्रतिभावान् कवि परिभाषाओं या पूर्वनिर्दिष्ट लक्षणो की सीमा स्वीकार नही करता। महाकाव्य मे युगीन चेतना व्याप्त रहती है अत: उसकी रचना-प्रक्रिया और स्वरूप में भी युगानुरूप परिवर्तन होता रहता है। तदपि हम कह सकते हैं कि महाकाव्य प्रगतिशील, सर्गबद्ध, प्रबन्धात्मक रचना होती है जिसका साध्य अथवा महत् उद्देश्य युगजीवन की समस्याओ का समाधान प्रस्तुत करना-तथा सामाजिक, धार्मिक या मनोवैज्ञानिक आदि विविध क्षेत्रीय अपेक्षाओ को पूर्ण करना होता है। बृहदाकारता एवं अलंकृतिपूर्ण रचना विन्यास ही महाकाव्यत्व का द्योतक नहीं वरन् पर्याप्त भावगाम्भीर्य, सुगठित कथ्य, सामाजिक व सांस्कृतिक चेतना का सर्वांगीण सुमधुर प्रस्फुटन, विख्यात नायक (जो किसी भी जाति, वर्ण या लिंग का हो सकता है) का आदर्शोन्मुख जीवन-चित्रण लघु आकार के काव्य को भी महाकाव्य पद का अधिकारी बना देता है। अत. महाकाव्य मे वह प्राणवत्ता, प्रभावान्विति और रसोद्रेक-क्षमता होनी चाहिए जो उसे सर्वआस्वादनीय, सर्वजनीन और सर्वयुगीन बना सके।

महाकाव्य-लेखन गुरुतर कार्य है। महती काव्य प्रतिभा के अतिरिक्त उसके सृजन को वर्षों की अपेक्षा होती है। आज के त्वरित युग में कवि को अपने प्रयास का फलीभूत रूप देखने के लिए वर्षों की प्रतीक्षा प्रीतिकर नहीं लगती। यही कारण है कि विगत कुछ वर्षों से प्रदीर्घ कविताएं लिखी जाने लगी हैं। इन प्रलम्बित कविताओ द्वारा कवि चतुर्दिक परिवेश को मूर्तिमंत कर सकने के साथ ही युगीन समस्याओं के चित्रण और समाधान प्रस्तुत कर देता है। अत: अभीष्ट की अभिव्यक्ति हेतु महाकाव्य-रचना की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। इस 'त्वरा' प्रवृत्ति के अतिरिक्त जैन महाकाव्यकारो की एक अन्यतम कठिन सीमा है—कथ्य मे रागात्मक घात-प्रतिघात व्यंजित कर सकने की दुर्वहता। किसी भी तीर्थंकर (विशेषकर बाल यति) के जीवनवृत्त पर महाकाव्य-प्रणयन अत्यंत कठिन कार्य है, क्योंकि जहाँ मात्र शान्त रस ही है और किसी अन्य जागतिक स्थिति की कोई सम्भावना नही, वहाँ काव्य के लालित्य व उसकी सुषमा का सम्यक् निर्वाह कैसे सम्भव हो सकता है? इसके अतिरिक्त तीर्थंकरो की जीवनी जिस रूप में उपलब्ध है उसमें ऐतिहासिकता एवं मानवीय संवेदनाओं तथा रागात्मक वृत्तियो का संघर्ष गौण है। वस्तुत. जैनागमो में शलाका पुरुषो की साधना और मोक्ष प्राप्ति के प्रयत्न की कथा ही मुख्यरूप से वर्णित है।

सफल, उत्कृष्ट महाकाव्य में अपेक्षित शृंगार, वीर आदि रसों की निष्पत्ति के अनुकूल प्रसंग सभी तीर्थंकरों के जीवन में उपलब्ध नहीं होते, अत: प्राचीन जैन महाकाव्यकारों ने जब कुमारावस्था में दीक्षा धारण कर लेने वाले तीर्थंकरो की जीवन-गाथा रची

तो उन्हें शृंगार रस की व्यंजना के लिए मुक्ति को नायिका बनाना पड़ा तथा कामदेव, संगमदेव आदि को प्रतिद्वन्द्वी बनाकर वीर रस के उपादान जुटाने पड़े। सदसत् कर्मों का फल चित्रित करने के लिए प्रमुख पात्रों के पूर्व भव-भवान्तरों का विस्तृत वर्णन तथा महत्त्वपूर्ण घटनाओं से पूर्व तत्सम्बन्धी स्वप्नों व स्वप्नफलों का उल्लेख जैन महाकाव्यों की कथानकगत सीमा ही कही जा सकती है, तथापि कई आधुनिक महाकाव्यकारों ने इन सीमाओं, आक्षेपों व चुनौतियों को अविकल झेलकर, तीर्थंकरों के जीवन को सम्पूर्ण गरिमा प्रदान करते हुए सरल तथा मार्मिक रूप में अभिव्यक्त किया है। इन प्रबुद्ध महाकाव्यकारों ने परम्परा का पालन अवश्य किया है पर परम्परा की रूढ़ियों का नहीं। वैसे भी आधुनिक हिन्दी महाकाव्य अपने नवीन परिपार्श्वों में, पाश्चात्य प्रतिमानों के प्रभाव के अनन्तर भी पौराणिकता एवं भारतीयता से दूर नहीं रह सके हैं। उनकी इतिवृत्त योजना पर पौराणिक साहित्य का प्रभूत प्रभाव स्पष्ट है तथा उनकी सर्गबद्धता, वर्णन शैली, शैलीगत संयोजना, भावात्मक अलंकृति, उद्देश्य (धर्म एवं मोक्ष पुरुषार्थ की प्राप्ति), पात्र-परिकल्पना आदि पर प्राचीन भारतीय प्रबंधों का प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में देखा जा सकता है। आधुनिक हिन्दी जैन महाकाव्य भी अपनी समृद्ध पौराणिक व ऐतिहासिक पीठिका से अविच्छिन्न रूप से जुड़े हैं। जिस प्रकार आर्षग्रन्थ 'रामायण' व 'महाभारत' अधिकांश हिन्दी प्रबन्धकाव्यों के उपजीव्य हैं उसी भांति जैन महाकाव्यों के मूलाधार प्रथमानुयोगगत पुराण ग्रन्थ हैं।

जैन काव्य-साहित्य की उपलब्ध सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि उसका निर्माण ईसा की प्रथम शताब्दी से प्रारम्भ हो गया था और दसवीं शती पर्यंत संस्कृत व उसके समानान्तर प्राकृत भाषाओं में अनेकों उत्कृष्ट जैन प्रबन्धो की रचना हुयी। इसी मध्य अपभ्रंश जनमानस मे स्थान ग्रहण करती जा रही थी, अत: लगभग १६वी शती तक अपभ्रंश भाषा मे प्रभूत जैन प्रबन्धकाव्य लिखे गए। १५ वीं शती में कवि साधारुकृत 'प्रद्युम्नचरित्र' (परदवणु चउपई) को प्रथम हिन्दी जैन प्रबंधकाव्य माना जाता है, तदपि उन्नीसवी शताब्दी तक के प्रबंधों की भाषा पर अपभ्रंश, राजस्थानी, गुजराती तथा अन्य प्रांतीय बोलियों का प्राधान्य स्पष्टत: देखा जा सकता है। खड़ीबोली हिन्दी का साहित्यिक रूप बीसवीं शती में ही हमारे समक्ष आया। बीसवी शताब्दी के भी प्रथम पाँच दशक हिन्दी जैन महाकाव्य लेखन की दृष्टि से उदासीन रहे। कदाचित् कवि इसी धारणा से आक्रान्त रहे कि तीर्थंकर के जीवन पर आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों के आधार पर महाकाव्य रचना सम्भव नहीं, परन्तु पण्डित अनूप शर्मा ने 'वर्द्धमान' जैसे सरस महाकाव्य का सृजन करके अवरुद्ध मार्ग उद्घाटित कर दिया।

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से सन् १९५१ मे प्रकाशित 'वर्द्धमान' १७ सर्गों तथा कुल १९६७ वर्ण वृत्तो मे निबद्ध कलात्मक कोटि का महाकाव्य है जिसमें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर का जीवनवृत्त क्षीण कथा-कलेवर के रूप मे अत्यधिक संस्कृतनिष्ठ, समस्त शैली में वर्णित है। महाकाव्यकार ने महावीर (काव्य-नायक) के इतिवृत्त वर्णन मे श्वेताम्बर तथा दिगम्बर मान्यताओं में समन्वय-स्थापन की चेष्टा के साथ ही कल्पना का भी आश्रय लिया है, पर समन्वयवादी दृष्टि के अनन्तर भी जैन मान्यताओं की पूर्ण सुरक्षा नहीं हो सकी है। कवि का संस्कारगत ब्राह्मणत्व स्थान-स्थान पर मुखर है। काव्य के आरम्भिक छ: सर्गों में नायक के माता-पिता (त्रिशला-सिद्धार्थ) के पारस्परिक प्रेम के विस्तृत चित्रण द्वारा राग पक्ष के अभाव को दूर करने का प्रयास किया गया है पर ये वर्णन राज-दम्पत्ति की गरिमा के बहुत अनुकूल नहीं हैं।

सन् १९५९ मे कवि वीरेन्द्र प्रसाद जैन द्वारा रचित लघु आकार का महाकाव्य 'तीर्थंकर भगवान् महावीर' प्रकाशित हुआ। छ वर्षों के बाद कुछ परिवर्द्धन के साथ उसका दूसरा संस्करण श्री अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगंज, एटा मे प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत महाकाव्य मे सात सर्ग तथा कुल ११११ पद्य हैं। कवि ने सर्गान्त में छन्द परिवर्तन के नियम का निर्वाह किया है और लोकरंजक भगवान् महावीर के सम्पूर्ण जीवनवृत्त को सरल, आडम्बररहित भाषा में सरस रूप मे चित्रित किया है।

कवि धन्यकुमार जैन 'सुधेश' ने सन् १९५४ मे 'परम ज्योति महावीर' महाकाव्य का सृजन प्रारम्भ किया था जो सन् १९६१ मे श्री फूलचन्द जवरचन्द गोधा जैन ग्रन्थमाला, इन्दौर से प्रकाशित हुआ। कवि ने स्वयं अपनी कृति को "करुण, धर्मवीर एवं शान्त रस प्रधान महाकाव्य" कहा है। २३ सर्गों वाले इस बृहत्काय महाकाव्य मे कुल २५१६ पद्य है जिनका नियमपूर्वक विभाजन किया गया है। प्रत्येक सर्ग में १०८ पद्य हैं तथा ३३ पद्य प्रस्तावना मे पृथक् रूप से निबद्ध हैं। 'सुधेश' जी ने भगवान् महावीरकालीन राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थिति के चित्रण का सफल प्रयास किया है, जैन दार्शनिक मान्यताए भी अक्षुण्ण रही है। तीर्थंकर महावीर के सभी चातुर्मासो के वर्णन से कथानक में पूर्णता अवश्य आयी है, पर उससे अवांछित विस्तार तथा नीरसता का सचार ही हुआ है। तदपि आद्योपान्त चौपाई छन्द और सरल सुबोध भाषा मे विरचित 'परम ज्योति महावीर' सफल महाकाव्य है।

श्री अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगंज से सन् १९६४ में कवि मोतीलाल मार्तण्ड 'ऋषभदेव' कृत प्रबन्ध 'श्री ऋषभ-चरितसार' प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत प्रबन्ध को लघु आकार का महाकाव्य कह सकते हैं। मार्तण्ड जी ने जिनसेनाचार्य रचित महापुराण

की कथा को मात्र ७१५ पद्यों में समेट लिया है, अतः रचनात्मक प्रतिभा मुखर नहीं हो सकी है। काव्य की भाषा अवधी है जो खड़ी बोली हिन्दी के पर्याप्त निकट है। भाषा का लालित्य मुख्यतः क्रियाओं में ही प्रकट है। कथानक को दोहा, चौपाई, सोरठा आदि छन्दों में संवारा गया है। प्रबन्ध काव्य का महत्त्व इस दृष्टि से बढ़ जाता है कि हिन्दी भाषा में आदि तीर्थंकर पर रचा जाने वाला यह एकमात्र महाकाव्य है।

मार्तण्ड जी के प्रबन्धकाव्य के पश्चात् उल्लेखनीय हिन्दी जैन महाकाव्य कवि वीरेन्द्र प्रसाद जैन प्रणीत 'पार्श्व प्रभाकर' है जो सन् १९६७ में श्री अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगंज से प्रकाशित हुआ। आकार-प्रकार, भाषा और शैली में यह वीरेन्द्र जी की पूर्व कृति 'तीर्थंकर भगवान महावीर' के समान ही है। प्रस्तुत महाकाव्य में जैन परम्परा के २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पूर्व जन्मों से लेकर निर्वाण तक के जीवन को काव्य का आधार बनाया गया है। काव्य पर भूधरदास रचित 'पार्श्व पुराण' का प्रभूत प्रभाव है। 'पार्श्व प्रभाकर' में कुल १० सर्ग हैं तथा पद्यों की संख्या १३८५ है। कवि ने महाकाव्य का प्रारम्भ मंगलाचरण से न करके काशी राज्य के वैभव वर्णन से किया है, पर सर्गारम्भ से पूर्व 'प्रणत प्रणाम' के अंतर्गत कवि ने प्रभु पार्श्वनाथ की अनुप्रासमयी वन्दना की है। इस कृति के पश्चात् भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाणोत्सव पर भी कुछ उत्कृष्ट हिन्दी जैन महाकाव्य समक्ष आए।

महाकाव्यकार रघुवीर शरण 'मित्र' विरचित 'वीरायन' (महावीर मानस महाकाव्य) वीर निर्वाण संवत् २५०० में भारतोदय प्रकाशन, मेरठ से प्रकाशित हुआ है। कवि ने प्रभु महावीर की अमरवाणी के सुदूरगामी एवं दीर्घकालीन प्रभाव-प्रसार के उद्देश्य से 'वीरायन' महाकाव्य की रचना की है। यह महाकाव्य १५ सर्गों में विभक्त है—पुष्प प्रदीप, पृथ्वी-पीड़ा, तालकुमुदिनी, जन्म ज्योति, बालोत्पल, जन्म जन्म के दीप, प्यास और अंधेरा, संताप, विरक्ति, वनपथ, दिव्य दर्शन, ज्ञानवाणी, उद्धार, अमृत तथा युगान्तर। जैसा कि सर्ग-शीर्षकों से स्पष्ट है तीर्थंकर महावीर की कथा चौथे सर्ग से प्रारम्भ होती है। स्थल-स्थल पर विभिन्न छन्दों से काव्य साफल्य एव जनकल्याण और राष्ट्रोद्धार की याचना से कथा-प्रवाह बाधित हो गया है परन्तु भगवान् महावीर को वर्तमान सन्दर्भ में देखने से भारत की समस्याओं, कुरीतियों, अभावो आदि का निरूपण तथा उनके समाधान का सुन्दर निदर्शन हो सका है। इस भांति कथावस्तु की अपेक्षा 'वीरायन' लक्ष्य-सिद्धि, शिल्प-सौष्ठव एव काव्यात्मक अलंकृति की दृष्टि से अधिक सफल रहा है।

भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव पर ही आदर्श साहित्य सघ, चुरू (राजस्थान) से साध्वी मंजुला का भावनाप्रधान प्रबन्ध 'बन्धन मुक्ति' प्रकाशित हुआ। कवयित्री ने कथानक की अपेक्षा पात्रो के मनोभावो की मार्मिक अभिव्यक्ति को प्रमुखता दी है। महाकाव्यीय मानदण्डों के अनुसार कुछ न्यूनताएँ होते हुए भी विधा की दृष्टि से 'बन्धन मुक्ति' को महाकाव्य कहा जा सकता है। प्रस्तुत महाकाव्य में ६ सर्ग हैं—सिंहावलोकन, संकल्प, अभिनिष्क्रमण, साधना, संघर्ष, प्रतिबोध, उदारता, उद्धार तथा अहिंसा। 'सिंहावलोकन' सर्ग में काव्य-नायक तीर्थंकर महावीर के जन्म से लेकर युवावस्था तक की कथा का सूक्ष्म कलेवर स्मृति चित्र के रूप में अंकित है। दूसरे से सातवें सर्ग तक महावीर के वीतरागो, चितक, सघर्षरत, साधक एव जगकल्याणक व्यक्तित्व की कथाभि-व्यक्ति प्रांजल भाषा में सरसता सहित हुई है। आठवें 'उद्धार' सर्ग में चन्दना दासी की उद्धार कथा अत्यधिक हृदयस्पर्शी है। अन्तिम सर्ग में भगवान् महावीर के अहिंसा, अपरिग्रह और स्याद्वाद सिद्धांतो की सरल काव्यमयी व्याख्या निबद्ध है।

अवन्तिका के शब्दशिल्पी डॉ० छैल बिहारी गुप्त प्रणीत महाकाव्य 'तीर्थंकर महावीर' सन् १९७६ में श्री वीर निर्वाणग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर से प्रकाशित हुआ है। 'सर्गबद्धो महाकाव्यम्' सूत्र के आधार पर कवि ने तीर्थंकर भगवान् महावीर के इतिवृत्त को आठ शीर्षकविहीन सर्गों में संयोजित किया है। महाकाव्यकार ने कथा-निर्वाह में ऐतिहासिक सत्य और जैन मान्यताओं (विशेषकर दिगम्बर आम्नाय) की सुरक्षा का पूर्ण ध्यान रखा है। प्रसाद एव माधुर्य गुण सम्पृक्त भाषा की लयात्मकता श्लाघनीय है। विविध मात्रिक छन्दों के बीच मे स्वतंत्र प्रगीतों का आयोजन भी सुन्दर बन पड़ा है। भावगरिमा, शिल्प-संयोजना, उद्देश्य की उदात्तता की दृष्टि से 'तीर्थंकर महावीर' एक सफल महाकाव्य है।

आधुनिक हिन्दी जैन महाकाव्यों की एक श्रेष्ठ उपलब्धि कवि अभयकुमार 'यौधेय' कृत 'श्रमण भगवान् महावीर चरित्र' है। यह महाकाव्य अगस्त १९७६ में भगवान् महावीर प्रकाशन संस्थान, मेरठ से प्रकाशित हुआ है। महाकाव्य में ६ सोपान हैं तथा प्रत्येक सोपान में विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत कथा का विस्तार किया गया है। 'यौधेय' जी ने ओज व प्रसादमयी भाषा में भगवान् महावीर की जीवन गाथा को श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार प्रस्तुत किया है। ब्राह्मणदम्पति ऋषभदेव-देवानन्दा, अर्जुनमाली, सोमशर्मा ब्राह्मण, प्रसन्नचन्द्र मुनि, सेठ धनाढ्य व शालिभद्र, बहुला दासी आदि की प्रासंगिक कथाओं के समावेश से 'श्रमण भगवान् महावीर चरित्र' इतिवृत्त प्रधान महाकाव्य हो गया है।

उपर्युक्त महाकाव्यों के अतिरिक्त 'अहोधामम्', 'भरतमुक्ति,' 'चरम तीर्थंकर महावीर' तथा 'सत्यरथी' उल्लेखनीय आधुनिक हिन्दी जैन प्रबन्धकाव्य हैं। मुनि विनयकुमार विरचित ९ सर्गों वाले 'अहोधामम्' काव्य में चन्दना सती के जीवन की मार्मिक व सरस अभिव्यक्ति है। 'भरत-मुक्ति' तेरापंथ के प्रसिद्ध आचार्य श्री तुलसी प्रणीत १३ सर्गों का बृहदाकार महाकाव्य है। श्रीमद्विजय विद्या चन्द्र सूरि कृत प्रबन्ध 'चरमतीर्थंकर महावीर' भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाणोत्सव पर प्रकाशित हुआ। इस काव्यकृति को कवि ने ४१ रंगीन चित्रों से सज्जित किया है। कवि भीरव विरचित 'सत्यरथी' प्रबन्ध काव्य सन् १९७८ में प्रकाशित हुआ है। २२८ पृष्ठों के इस सरस काव्य में भगवान् महावीर का महत् जीवन प्रतीकात्मक शैली में अभिव्यंजित है।

हिन्दी जैन महाकाव्यो के अनुशीलन के उपरांत उनकी विशिष्टताओं के विषय में सार रूप से कहा जा सकता है कि इन महाकाव्यों की भित्ति जैनधर्म व दर्शन पर अवलम्बित है। सभी काव्यों के नायक कोई न कोई तीर्थंकर हैं तथा कवियो का महत् उद्देश्य नायक के गरिमासंभूत जीवन की पृष्ठभूमि में मानव को सांसारिक भोगैषणाओं से निर्लिप्त रखकर मुक्ति प्राप्ति के लिए प्रेरित करना है। तीर्थंकरों के चरित्र का अतिशय उत्कर्ष और उनके जीवन में अतिप्राकृत तत्त्वों के समावेश का उद्देश्य आराध्य (नायक) को आकर्षण का केन्द्र बनाकर उनके प्रति भक्त का अनन्य अनुराग जागृत करना, इष्ट की महत्ता व भक्त की लघुता प्रतिपादित करना तथा दैन्य भक्ति के रूप में आचरण की श्रेष्ठता का सन्देश देना है; स्वर्ग-नरक के उल्लेख तथा पूर्व जन्म-जन्मान्तरो की कथा-वर्णन के मूल में जैन कर्म सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना करना है। इस प्रकार त्रिवर्ग के साधन द्वारा मोक्ष पुरुषार्थ की साध्यता ही जैन महाकाव्यो का अभीष्ट प्रतिपाद्य है। इन महाकाव्यो में पौराणिक परम्परा के अनुपालन के साथ ही नवीनता की झलक भी मिलती है। 'वीरायन', 'बन्धनमुक्ति' तथा 'श्रमण भगवान् महावीर चरित्र' में वर्ग-संघर्ष, शोषण के विरोध, आततायियों की भर्त्सना, सामाजिक विद्रूपता तथा मानव की स्वार्थ प्रवृत्ति आदि के चित्रण मे आधुनिक मानववादी स्वर प्रबल हैं। हिन्दी जैन महाकाव्यो में प्रेम और शृंगार के चित्रों को सीमित रूप में ग्रहण किया गया है। कथ्य के अनुरोध से प्रधानता शान्त तत्पश्चात् भक्ति रस की है, शेष सभी रस शान्त रसावसित हैं। महाकाव्यों का कला पक्ष या शिल्प संगठन भी उदात्त व वैविध्यपूर्ण है। इनकी सृजनात्मक प्रेरणाओं के अन्तर्गत गरिमामयी भारतीय (मुख्यतः जैन) संस्कृति का पुनरुत्थान, युगपुरुष तीर्थंकरों की चारित्रिक गरिमा का निरूपण, वर्तमानयुगीन समस्याओं के समाधान की चेष्टा तथा मानव के उज्ज्वल भविष्य की महती आकांक्षा प्रधान है।

आधुनिक हिन्दी जैन महाकाव्यो की संख्या और सफलता को देखते हुए कुछ विद्वानों का यह आरोप कि "अब महाकाव्यों का कोई भविष्य नहीं" सारहीन-सा लगता है। जैसे-जैसे आगम स्रोतों का दोहन होगा, जैन कथाएं लोकमानस में प्रतिष्ठित होंगी और शलाकापुरुषों की चारित्रिक गरिमा से सम्बन्धित बद्धमूल धारणाओं मे परिवर्तन आएगा, सरस एवं उत्कृष्ट जैन महाकाव्यों के सृजन की सम्भावनाएं बढ़ती जाएंगी। समय-समय पर होने वाले महत्त्वपूर्ण तथा राष्ट्रव्यापी धार्मिक अनुष्ठानों से भी काव्यसर्जकों को प्रेरणा प्राप्त होगी। यह सत्य है कि महाकाव्य के रूपविधान में पर्याप्त अन्तर आया है और आज भी वह रचनात्मक परिवर्तनो का मुखापेक्षी है पर इस सत्य से वैमत्य नहीं हो सकता कि महाकाव्य सर्वोत्कृष्ट काव्यरूप है, युग की चरम उपलब्धि है, कवि के यश का आधार है और इन विशिष्टताओं के कारण उसका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है।

जैन महाकाव्य और समाज चेतना

संस्कृत जैन महाकाव्यो के निर्माण की दिशाओं पर व्यापक विचार विमर्श के उपरान्त डॉ० मोहनचंद ने अपने शोध प्रबन्ध "जैन संस्कृत महाकाव्यों में प्रतिपादित सामाजिक परिस्थितियाँ" मे यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है—

संस्कृत जैन महाकाव्य भी जैन संस्कृति को साम्प्रदायिक धर्मचेतना से प्रभावित होकर निर्मित हुए हैं। महाकाव्य विकास की विश्वजनीन प्रवृत्ति के अनुरूप ही प्राचीन भारतीय महाकाव्य परम्परा का निर्माण हुआ है तथा संस्कृत जैन महाकाव्यों का भी इसी सन्दर्भ में मूल्यांकन किया जा सकता है। ८ वीं शताब्दी से १४ वीं शताब्दी ई० के सामन्तयुगीन मध्यकालीन भारत से सम्बद्ध लगभग १९ संस्कृत जैन महाकाव्य महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों की दृष्टि से सफल महाकाव्य होने के अतिरिक्त इनमें युगीन चेतना के अनुरूप सामाजिक परिस्थितियो के प्रतिपादन की पूर्ण क्षमता विद्यमान है।

☐ सम्पादक

तमिलनाडु में जैन धर्म एवं तमिल भाषा के विकास में जैनाचार्यों का योगदान

—पं० सिंहचन्द्र जैन शास्त्री

श्रमण संस्कृति अति प्राचीन है। अनादिकाल से अनन्तानन्त तीर्थंकरों ने इस संस्कृति को अक्षुण्ण रूप से प्रवहमान रखा है। प्रत्येक तीर्थंकर के समय में श्रावक, श्राविका, मुनि, आर्यका के संघ विद्यमान थे। वर्तमान मे तीर्थंकर न होने पर भी चतुर्विध संघ का अस्तित्व अवश्य है, और पंचमकाल के अंतिम समय तक अवश्य रहेगा ही। भारत देश ऋषिमुनियो का देश है। यह धर्म-प्रधान भूमि है। देवता भी इस पृथ्वी पर जन्म लेने के लिए तरसते हैं, ऐसा भागवत मे लिखा है। यहां योग, भोग, त्याग भी हैं, मात्र भौतिक सामग्री की प्रधानता नही है। इस अवनितल मे सत्पुरुष, धर्म संस्थापक, वैज्ञानिक, दार्शनिको ने जन्म लिये हैं; साधु-सन्तगण, वैराग्य, ध्यान, साधना, इन्द्रियनिग्रह आदि में निमग्न होकर इस वसुन्धरा को शोभित करते हुए संसार-सागर मे निमज्ज जनता को देशना के द्वारा उस सागर से उत्तीर्ण कराने वाले वर्तमान मे विद्यमान हैं। सदा आत्मरस मे लीन रहने वाले साहसमय जागरूप कौतूहलिक अन्वेषक एवं साधक भी वर्तमान हैं।

जैन धर्म विश्व के संपूर्ण धर्मों में अग्रगण्य है। इस धर्म के उपदेशक आचार्य दार्शनिक, तत्त्वचिन्तक, अपूर्व त्यागनिष्ठ चारित्र के उन्नायक होने के कारण संसार में आदर्श ख्याति प्राप्त किये हैं। इस धर्म का आधार आध्यात्मिक साधना, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह आदि है। निर्ग्रन्थ आचार्य ही वर्तमान मे धर्म के संरक्षक हैं। वे अपने आत्मोद्धार के कार्य मे संलग्न होने पर भी परहित के कार्य मे निरन्तर प्रयत्नशील होते हैं। वे अलौकिक मुक्ति-पथ को दर्शाते हैं। प्राणिमात्र के लिए मौलिक वस्तु को प्रदान करने वाले हैं।

तीर्थंकरो का गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और मोक्ष आदि पांचो कल्याण उत्तर भारत मे ही हुए हैं परन्तु उन तीर्थंकरों की वाणी को शास्त्रबद्ध करके वर्तमान जनता को प्रदान करने वाले आचार्यों का जन्म प्राय दक्षिण भारत में ही हुआ है। अत. प्राचीन काल से ही उत्तर और दक्षिण का अपूर्व संगम है। भारत के गरिमामय इतिहास मे दक्षिण पथ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उत्तर और दक्षिण के खान-पान, पहनावे एवं भाषा मे वैविध्य होने पर भी विविधा मे एकता है। भारतीय संस्कृति की दृष्टि से यह विविधता व विभिन्नता भारतवर्ष का बाह्य रूप है परन्तु धर्म की दृष्टि से विसमता का रूप नही है। धर्म की दृष्टि से निहित इस सांस्कृतिक एकता के रूप का परिचय प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है। यह जानना भी आवश्यक है कि इस जैन संस्कृति के निर्माण मे किस प्रदेश का क्या विशिष्ट योगदान रहा है। विभिन्न भाषाओ के साहित्य का अध्ययन इस कार्य मे अत्यन्त सहायक होगा।

तमिल साहित्य भारत के अन्यान्य साहित्यो से विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। धर्म, साहित्य, राजनीति, कला, आदि क्षेत्रो में तमिल प्रदेश के निवासी प्राचीन काल से ही अग्रगामी रहे हैं। जैन आचार्यों ने तमिल भाषा के उच्चकोटि के साहित्य की रचना करके प्रबुद्ध समाज के लिए महान् उपकार किया है। धर्म, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, संगीत, आयुर्वेद आदि विषयो के ग्रन्थों की रचना करके तमिल भाषा को प्रज्वलित करने वाले जैन आचार्य ही थे। उनके लिखे ग्रन्थों मे अलौकिक मुक्ति को देने वाला विषय भी है और प्राणिमात्र के लिए ऐहिक सुख को पहुंचाने वाली सामग्री भी।

किसी भी प्रदेश के इतिहास व धर्म के अस्तित्व को ज्ञात करने के लिए उस प्रदेश के साहित्य, अभिलेख और आचार्यों की आदर्श सेवा ही प्रमाणभूत होते हैं। अब हमें यह विचार करना है कि तमिलनाडु में जैन धर्म का अस्तित्व कब से रहा, तमिल साहित्या-

काल में कौन-कौन आचार्य प्रकाशमान रहे इत्यादि। तमिलनाडु में ईस्वी पूर्व पांचवीं शताब्दी से ही जैन धर्म के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। तमिलनाडु के निकटस्थ देश लंका के इतिहास से तमिलनाडु में जैन धर्म का काल ज्ञात होता है।

लंका में जैन धर्म

श्रीलंका एक लघुतर द्वीप भूमि है जो तमिलनाडु से अति निकटस्थ है। उसके चारों ओर हिन्दमहासागर वेष्टित है। वहां पर ई० पू० चौथी शताब्दी से ही जैन धर्म का अस्तित्व था। इसके लिए उस देश का इतिहास ही साक्षी है। महावंश नामक बौद्ध ग्रन्थ लंका के इतिहास को बताने वाला एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह ई० पू० पांचवीं शताब्दी में ही तमिलनाडु में जैन धर्म का अस्तित्व होने का आधार देता है। लंका के राजा पाण्डुकाभय का शासन काल ई० पू० ३७७-३०७ था। उसकी राजधानी अनुराधपुरम थी। उस नगर में जैन निग्रंथ साधुओं के लिए पृथक् रूप में वासस्थान एवं मंदिर उन्होंने बनवाये। निर्ग्रन्थ पर्वत नामक स्थान पर उन्होंने निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए विशेष रूप से आवास स्थान बनवाया था। कालांतर में उस स्थान का नाम पाण्डुकाभय भी पड़ गया। महावंश ग्रन्थ में जैन धर्म का निगण्ठमत आजीवक मता नाम होने की बातें मिलती हैं।[1] अनुराधपुरम के निकटस्थ अभयगिरि पर्वत पर दो मूर्तियां अंकित हैं, उनमे एक भगवान् बाहुबलि की है और दूसरी तीर्थंकर की। ये मूर्तियाँ महावंश ग्रन्थ में बतायी गयी बातों की पुष्टि करती हैं, अत: ई० पू० पांचवी शताब्दी मे लका मे जैन धर्म के अस्तित्व भी सिद्ध करती हैं।

लंका मे जैन धर्म तमिलनाडु से ही गया होगा। वर्तमान में वहां बौद्ध धर्म का बोलबाला है। यह धर्म भी तमिलनाडु के मार्ग से ही लका मे गया है। जैन निर्ग्रन्थ साधु जल मे या यान में चलते नही। लका तो हिन्दमहासागर से वेष्टित है। उत्तर भारत या कलिंग देश से सीधा लंका में जैन साधु का विहार सम्भव नहीं। लंका और तमिलनाडु के मध्यस्थ जल-भाग अति सकुचित है। ई० पू० इस भाग का जलस्थल सूख कर जल-रहित रहा होगा। उसी मार्ग से जैन निर्ग्रन्थ साधु लंका गये होंगे। ऐसा अन्वेषकों का अकाट्य विश्वास एवं मान्यता है। ईस्वी पूर्व पांचवीं शताब्दी में तमिलनाडु के मार्ग से लंका में जैन निर्ग्रन्थ साधु गये हैं तो उसके पूर्व ही तमिलनाडु में जैनधर्म का अस्तित्व अवश्य होना चाहिये।

कुछ लोगो की धारणा है कि आचार्य भद्रबाहु के दक्षिण मे स्थित श्रवणबेलगोला में (ई० पू० तीसरी शताब्दी के) आगमन के बाद ही तमिलनाडु में जैन धर्म का प्रवेश हुआ है। उनकी यह धारणा गलत है। जैन साधुओं का आचार-विचार अति पवित्र होता है। वे सिर्फ श्रावक के हाथ से ही आहार लेते हैं। भद्रबाहु के आगमन से पूर्व तमिलनाडु मे जैन धर्म के अनुयायी श्रावक न रहे हों तो आगन्तुक आचार्यों को आहारादि की व्यवस्था कौन करते। आहारादि की व्यवस्था के बिना आचार्यों का विहार कैसे होता? अत: आचार्यों का प्रवेश एवं लंका का इतिहास आदि से यह सिद्ध होता है कि ईस्वी पूर्व पांचवीं शताब्दी से ही तमिलनाडु में जैन धर्म अवश्य था।

विशाखाचार्य संघ का विहार

ई० पू० तीसरी शताब्दी मे उत्तर भारत मे बारह वर्ष का अकाल पड़ा था। उस समय आचार्य भद्रबाहु बारह हजार मुनियों के साथ दक्षिण भारत में स्थित श्रवणबेलगोला में आकर रहे। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य भी अपने परिवार सहित उनके संघ में रहे। यह इतिहास सर्वसम्मत है। आचार्य भद्रबाहु ने अपने शिष्य विशाखाचार्य को आठ हजार मुनिगणों सहित तमिलनाडु में धर्म के प्रचारार्थ भेजा था। उन मुनिगणो ने तत्काल तमिलनाडु मे पाण्डिय और चोल जनपद मे स्थित दिगम्बर मुनियों के साथ मिलकर सर्वत्र जैन धर्म का प्रचार किया था। इन बातो को तमिलनाडु मे स्थित तत्कालीन अभिलेखों से ज्ञात कर सकते हैं।

इतिहास काल कहलाने वाले रामायणकाल के पूर्व ही तमिलनाडु मे जैन साधु और श्रावकों की अवस्थिति अत्यंत उन्नत दशा मे थी। उस समय के शासकों के सहयोग के बिना धर्म का अस्तित्व नहीं हो सकता था। वे न्यायपूर्वक नीति के अनुकूल शासन करते थे। उनके शासन मे सतो की वाणी एव धर्म का प्रसरण होता था। सामाजिक जीवन, सभ्यता, ज्ञान, कला आदि की अभि-वृद्धि हुई थी। अगर शासक दानव प्रकृति के होते तो संत वहा विद्यमान न रह पाते। तमिल भाषा में कम्बरामायण प्रामाणिक ग्रन्थ है, जो अजैन कवि कम्बन का लिखा हुआ है। उसमे उन्होंने रामचन्द्र के मुंह से ये बातें कहलायी हैं। सुग्रीव के सेना सहित लंका जाते समय रामचन्द्र ने उनको लंका का मार्ग बताते हुए कहा है कि "दक्षिणापथ की सीमा में वेंकटगिरि स्थित है। उस पर्वत पर द्रव्यगुण पर्याय के

प्रत्येक अंशों को जानने वाले, संस्कृत, प्राकृत और दाक्षिणात्य भाषाविद्, सम्यक्दर्शन ज्ञानचारित्र से विभूषित दिगम्बर निर्ग्रन्थ साधुगण कर्मक्षयार्थ अहर्निश अनवरत तप और ध्यान में निमग्न रहते हैं। उनको नमोस्तु करके उनसे आशीर्वाद प्राप्त कर आगे चल पड़ा।" वेंकटगिरि वर्तमान तिरुपति है जो अब आंध्रप्रदेश के अन्तर्गत है। इतिहास कहता है कि तमिलनाडु की सीमा वेंकटगिरि से आरम्भ होती थी। अतः तिरुपति पहले तमिलनाडु के अन्तर्गत था। इस कथन से भी तमिलनाडु में जैन धर्म का अस्तित्व मालूम होता है।

कलिंग देश का इतिहास

कलिंग देश के नरेश खारवेल के शासनकाल में (ई० पू० १६६) मगध नरेशों ने कलिंग पर चढ़ाई की और वहां पर स्थित भगवान् आदिनाथ की विशालकाय प्रतिमा को मगध देश में ले गये। इस घटना के कुछ वर्ष पश्चात् कलिंग नरेश खारवेल पुनः मगध पर चढ़ाई करके विजय पाकर उस पावन प्रतिमा को वापस ले आया। इस महत्त्वपूर्ण विजय से प्रसन्न होकर खारवेल नरेश ने बृहद् सम्मेलन बुलाया जिसमें भारत के सभी प्रांतों के नृपगणों ने भाग लिया। तमिलनाडु से पाण्डिय जनपद के नरेश ने जो जैन धर्मावलंबी था, अपने परिवार सहित जाकर उस ऋषभदेव भगवान् की प्रतिमा की वन्दना की थी। यह समाचार कलिंग देश की हस्तिगुफा के अभिलेख से ज्ञात होता है। अतः कलिंग देश का इतिहास भी तमिलनाडु में जैन धर्म की अवस्थिति को बताता है।

अब तक प्राचीन इतिहास से तमिलनाडु में जैन धर्म के अस्तित्व के सम्बन्ध मे विचार किया गया। आगे अभिलेख के सम्बन्ध में विचार करें।

ब्राह्मी अभिलेख

ब्राह्मी लिपि अति प्राचीन है। इस लिपि का उद्भव भगवान् ऋषभदेव के द्वारा हुआ था। ऋषभदेव ने ही अपनी पुत्री ब्राह्मी को यह लिपि सिखाई थी। यह लिपि प्रायः तमिल लिपि से मिलती जुलती है। इस लिपि से उत्कीर्ण अभिलेख तमिलनाडु के समस्त प्रदेशों में स्थित गिरिकन्दरा के शिलापट्टों पर पाये जाते हैं जहा निर्ग्रन्थ साधुओं का वासस्थान था। ये गिरिकन्दरायें प्राकृतिक हैं, किसी के द्वारा बनायी हुई नह। इन पर्वतों मे स्वच्छ जल से भरे जलकुण्ड भी स्थित हैं। ये पर्वत जनता के वास-स्थान से किंचित् दूर अवस्थित हैं। कुछ स्थान ऐसे भी हैं जहाँ मनुष्य का पहुंचना भी अति कठिन है, तो भी वे स्थान वहां पहुंचने वालों को अपने प्राकृतिक सौन्दर्य से मन की चंचलता को दूर करके शान्ति प्रदान करते हैं। इन गुफाओं में दिगम्बर निर्ग्रन्थ साधु अपना वास-स्थान बनाकर आत्मसाधना मे तत्पर होते हुए सिद्धान्त, न्याय, तर्क, व्याकरण, साहित्य आदि विषयों के उच्चकोटि के ग्रन्थों की रचना भी करते थे। उस समय के नरेशों ने निर्ग्रन्थों के लिए शिलातल पर शय्यायें बनवायीं अर्थात् गुफा के तल भाग को लचीलेदार बनाकर शय्या के उपयुक्त स्थान बनवाए। ये गिरिकन्दरायें एवं शय्यायें वर्तमान में भी मदुरै जिले के निकटस्थ पर्वतो पर विपुल मात्रा मे विद्यमान हैं। इन गुफाओ का विवरण, विगत काल मे स्थित साधुओं की बातें और काल आदि ब्राह्मी लिपि मे लिखे मिलते हैं।

ब्राह्मी का अपर नाम तमिलि है। प्राचीन तमिललिपि ही तमिलि कहलाती है। इसको तमिल ब्राह्मी लिपि भी कहते हैं। इसका उल्लेख समवायांग सूत्र में पाया जाता है, जो ई० पू० पहली शताब्दी का है। उसमें अष्टादश प्रकार के अक्षरों के नाम हैं जिनमे ब्राह्मी, खरोष्ठी, तमिलि आदि अक्षरो का नाम भी है। भाषाविदो व अन्वेषकों का कहना है कि जब से ब्राह्मी लिपि का प्रादुर्भाव हुआ तभी से तमिलि लिपि का भी प्रादुर्भाव हुआ। इन बातों को यह ग्रन्थ साबित करता है। इन अक्षरों से अंकित अधिकतर अभिलेख मदुरै नगर के निकटस्थ आनै मलै, आल्लै मलै, समनरमलै (श्रमणगिरि) आदि पर्वतों की गुफाओं मे व चट्टानो मे पाये जाते हैं, जो ई० पू० तीसरी शताब्दी से पहले के हैं।

ब्राह्मी और तमिलि लिपि के अलावा वट्टलेत्तु लिपि भी पाई जाती है। यह न ब्राह्मी है न तमिलि है। इसकी आकृति तमिल लिपि से ही मिलती जुलती है। इसका खोजपूर्ण आधार दक्षिण भारत के अभिलेख शोध विभाग (South Indian Epigraphy) के पास है।

ब्राह्मी, तमिलि, वटेलुत्तु आदि अभिलेख जहां-जहा पाये जाते हैं उसका विवरण इस प्रकार है—

पुदुकोट्टै जिले मे ६ स्थान, मदुरै जिले मे १२ स्थ न, तिरुनेलवेलि जिले में ७ स्थान, तिरुचिनापल्लि जिले में ३ स्थान, उत्तर आर्काट जिले में ३ स्थान, दक्षिण आर्काट जिले में ५ स्थान, चित्तूर जिले में २ स्थान (वर्तमान में चित्तूर जिला आंध्रप्रदेश में है)।

इन सभी स्थानों में स्थित अभिलेखों में तमिलनाडु के जैन इतिहास का विशद वर्णन प्राप्त है। काल को पांच श्रेणी में विभाजित किया गया है—

१. ई० पूर्व तीसरी शताब्दी व उसके पूर्व
२. ई० पूर्व दूसरी व पहली शताब्दी : प्रथम काल
३. ईस्वी पहली और दूसरी शताब्दी : मध्यम काल
४. ईस्वी तीसरी और चौथी शताब्दी : अंतिम काल
५. ईस्वी पांचवी शताब्दी के बाद का काल

स्थान और अभिलेखों की संख्या निम्न प्रकार है :—

ई० पू० पहली शताब्दी व दूसरी शताब्दी	१२ स्थान ५० अभिलेख
ईस्वी पहली व दूसरी शताब्दी	३ स्थान ५ अभिलेख
ईस्वी तीसरी व चौथी शताब्दी	५ स्थान ११ अभिलेख
ईस्वी पांचवीं व छठी शताब्दी	२ स्थान २ अभिलेख
	२२ ७६

इन बाईस स्थानों में से प्राप्त ७६ अभिलेखों में ५० अभिलेख ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी के हैं। ये सभी अभिलेख जैनधर्म एवं आचार्यों से सम्बन्धित हैं। ऐतिहासिक काल के पूर्व में स्थित नरेशों के समय, उनकी गतिविधि, अभिलेख आदि की अन्वेषणपूर्ण विचार-धारा से यह पता चलता है कि तमिलनाडु में जैनधर्म का अस्तित्व ईस्वी पूर्व पांचवीं शताब्दी के पूर्व से ही था।

जैन आचार्यों की साहित्य-सेवा

जैन आचार्य केवल प्राकृत और संस्कृत भाषा के ही धनी न थे, वे जिस प्रांत में विहार करते थे उस प्रान्त की भाषा की प्रतिभा पाकर तत्रस्थित जनसमुदाय के हितार्थ धर्म और साहित्य ग्रन्थों की रचना भी किया करते थे। तमिल प्रान्त के आचार्यों के कार्य-कलाप अत्यंत अनूठे हैं। उन्होंने तमिल भाषा के उच्च कोटि के ग्रन्थों की रचना की थी। तमिल साहित्य के लिए उन्होंने जो योगदान दिया है वह महत्त्वपूर्ण है। तमिल साहित्य-रचना की प्रवृत्ति लगभग ईस्वी दूसरी शताब्दी से छठी शताब्दी तक अत्यन्त प्रबल थी।

हरिषेण रचित (ई० ९३१) बृहत् कथा कोष तथा कन्नड़ भाषा में देवनन्दि विरचित राजावलि कथे (ई० १८३८) इन ग्रन्थों से तमिल साहित्य व वांङ्मय का परिचय मिलता है। तमिल भाषा के व्याकरण ग्रन्थों में तोलकाप्पियम एक प्रामाणिक ग्रन्थ है जो ई० पूर्व का है। इसके रचयिता जैन आचार्य ही हैं। साहित्य के लिए ही व्याकरण लिखा जाता है, अतः साहित्य रचना काल व्याकरण के पूर्व का मानना चाहिये। जब तोलकाप्पियम व्याकरण ई० पू० का है तो साहित्य रचना काल भी ईस्वी पूर्व होना चाहिये। जब ईस्वी पांचवीं शताब्दी के पहले तमिलनाडु में जैन धर्म का अस्तित्व था उस समय से ही साहित्य का अस्तित्व होना चाहिये।

तमिल साहित्य

तमिल काव्यों को महाकाव्य व लघुकाव्य के नाम से दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है। शिलप्पडिकारम, जीवक चिन्तामणि (९ वीं शताब्दी), कुण्डलकेशी, वलैयापति, मणिमेखलै ये पांचों महाकाव्य माने जाते हैं। इनमें पहले के तीन ग्रन्थ जैन आचार्यों की कृति हैं। चूडामणि, यशोधर काव्य, नागकुमार काव्य, नीलकेशी ये पांचों लघुकाव्य माने जाते हैं। ये सभी काव्य जैन आचार्यों की कृति हैं। इन काव्यों के अलावा और भी अनेक ग्रन्थ हैं जिनका नाम इस प्रकार है—मेरुमन्दपुराणम, नारदचरित, शान्तिपुराणम इत्यादि। व्याकरण, कोष, गणित, संगीत, नाटक, ज्योतिष, नीतिशास्त्र आदि विषयों के अन्य ग्रन्थ भी हैं।

'तोलकाप्पियम' तमिल भाषा का अति प्राचीन ग्रन्थ है। यह ई० पू० तीसरी या दूसरी शताब्दी में रचित एक व्याकरणग्रन्थ है। इसके रचयिता जैन आचार्य हैं, इस बात को जैनेतर विद्वान् भी मानते हैं। इसमें तत्कालीन समाज में प्रचलित गतिविधियों का भी वर्णन पाया जाता है। यह इसकी विशेषता है कि इसमें किसी प्रकार की साम्प्रदायिक बात नहीं है। अहिंसा सम्बन्धी विषयों पर अधिक

बीर दिया गया है। कर्म सिद्धान्त का जिक्र भी है। सर्वज्ञ वीतरागी हितोपदेशी का वर्णन अधिक मात्रा में है।

वाङ्मय के क्षेत्र में साहित्य का स्थान पहले है, उसके बाद व्याकरण का। साहित्य व काव्य के लिए व्याकरण लिखा जाता है। इसके वर्णन व लक्षण को प्रमाणित व परिमार्जित करने के लिए ही व्याकरण की रचना की जाती है। अब 'तोलकाप्पियम' ई० पू० तीसरी शताब्दी की मानी जाती है तो उसके पूर्व ही साहित्य व काव्य का अस्तित्व होना चाहिये : इस दृष्टि से तोलकाप्पियम के पूर्व ही जैन साहित्य के रचना-काल को मानना चाहिये। तोलकाप्पियम के अतिरिक्त नन्नूल, याप्पेरुंगलकारिगै, याप्पेरुंगलं वृत्ति, नेमिनादम, वेण्बा पट्टियल आदि व्याकरण ग्रन्थ भी जैन आचार्यों की कृतियां हैं।

'तिरुक्कुरल' तमिल भाषा का एक प्राचीन नीतिग्रन्थ है। वर्तमान मे भी जैनेतर जनता एवं तमिलनाडु सरकार भी इस ग्रन्थ को महत्ता देती है। इसको तमिलवेद भी कहते हैं। इसके रचयिता तिरुवल्लुवर थे। इनको जैन मानने मे कुछ विद्वान् हिचकिचाते हैं। कुछ विद्वान् तटस्थ हैं। कुछ लोग सम्पूर्ण रूप से जैन आचार्य की कृति मानने को तैयार हैं। यह कुन्दकुन्द आचार्य की कृति मानी जाती है। इसका प्रमाण प्रोफेसर ए० चक्रवर्ती ने तिरुक्कुरल ग्रन्थ की प्रस्तावना में दिया है जो भारतीय ज्ञानपीठ से सन् १९४९ में प्रकाशित हुई थी। इसमें १३३० दोहे हैं। इन दोहो को धर्म, अर्थ, काम के अन्तर्गत तीन भागो मे विभाजित किया गया है। कुल १३३ अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय में दस-दस दोहे हैं। ग्रन्थकर्ता ने इसके पहले दोहे मे आदि भगवान् की स्तुति की है। तदनन्तर लगातार दस दोहो में वीतराग अरहत, जितेन्द्रिय, कमलविहारी, सर्वज्ञ, कृतकृत्य आदि अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग करके मगलाचरण किया है। इन बातो से यह निर्विवाद सिद्ध है कि इसके रचयिता जैन आचार्य ही हैं।

वाङ्मय के विकास और सिद्धान्त की रचना मे तमिल प्रान्त के आचार्यों ने अनुपम योगदान दिया है। उन आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं—कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, अकलक, जिनसेन, गुणभद्र, विद्यानन्दी, पुष्पदन्त, महावीराचार्य, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, मल्लिसेन, वीरनन्दि, सन्मतिवाकरमुनि, वादीभसिंह सूरि आदि। ये सभी प्रातीय भाषा के विद्वान् होते हुए भी सस्कृत और प्राकृत के अकाट्य प्रतिभाशाली थे। वादीभसिंह सूरि ने अपनी कृति क्षत्रचूड़ामणि मे पाण्डिय नरेश राजराजचोल का गुणगान किया है।

तमिल के प्राचीन ग्रन्थ एवं अभिलेखो मे आचार्यों को अडिगल, कुरवर के नाम से तथा आर्यिकाओं को कुरत्तियर नाम से अभिव्यक्त किया गया है। तमिलनाडु की गिरिकन्दराओ से प्राप्त अभिलेखों में निम्नलिखित आचार्य और आर्यिकाओ के नाम उपलब्ध हैं : आचार्यों के नाम :—(१) अच्चनन्दि, (२) अरिष्टनेमि, (३) अष्टोपवासी, (४) भद्रबाहु, (५) चन्द्रनन्दी, (६) दयापाल, (७) धर्मदेव, (८) एलाचार्य (९) गुणकीर्ति भट्टारक, (१०) गुणसेकर, (११) गुणवीर, (१२) गुणवीर कुरवडिगल, (१३) इलयभट्टारक, (१४) इन्द्रसेन, (१५) कनकनन्दि, (१६) कनकचन्द्र, (१७) बलदेव माण्वक नन्दि कनकवीर, (१८) कुरत्ती कनकनन्दी भट्टारक, (१९) कुरत्ती तीर्थ भट्टारक, (२०) गुरु चन्द्रकीर्ति, (२१) माघनन्दि, (२२) मलैय तुवरसर, (२३) मल्लिसेन भट्टारक, (२४) मल्लिसेन वामनाचार्य, (२५) मतिसागर, (२६) मौनि भट्टारक, (२७) मिगै कुमन, (२८) मुनि सर्वनन्दि, (२९) आचार्य श्रीपाल, (३०) माघनन्दि भट्टारक, (३१) अरैयंगाविदि संघनम्बी (३२) नागनन्दि, (३३) नलकूट अमलनेमि भट्टारक, (३४) नाट्टिय भट्टारक, (३५) परवादि मल्लिपुष्पसेन, (३६) वामनाचार्य, (३७) पार्श्व भट्टारक, (३८) पिट्टिणि भट्टारक, (३९) गुणभद्र, (४०) पुष्पसेन वामनाचार्य, (४१) शान्तिवीर कुरवर, (४२), श्री नन्दि, (४३) श्रीमलैकुल श्रीवर्द्धमान, (४४) अच्चनन्दिअडिगल, (४५) वादिराज, (४६) वज्रनन्दि, (४७) वेलिकोंगैयर पत्तडलिगल, (४८) विमलाचार्य, (४९) विनयभासुर कुरवडि, (५०) तिरुक्करण्डिपादमूलत्तर, (५१) गुणसागर, (५२) भवनन्दि, (५३) वीरसेन, (५४) नेमिचन्द्र, (५५) अकलक, (५६) अभयनन्दि, (५७) वीरनन्दि, (५८) इन्द्रनन्दि, (५९) गुणभद्र मामुनि, (६०) वसुदेवसिद्धान्त भट्टारक, (६१) तिरुनक्कदेवर, इत्यादि।

आर्यिकाओं के नाम :—(१) अरिष्टनेमि कुरत्तियर, (२) अव्वैयार, (३) गुण ताङ्कि कुरत्तियार, (४) इलनेसुरत्तु कुरत्तियार, (५) कवुन्दिअडिगल, (६) कनकवीर कुरत्ति, (७) कुडल कुरत्तियार, (८) मम्मैकुरत्तियार, (९) मिलनूर कुरत्तियार, (१०) नलकूर कुरत्तियार, (११) अरिट्टनेमि भट्टारक स्नातक अनशन कुरत्तियार, (१२) पेरुर कुरत्तियार (१३) पिच्चैकुरत्तियार, (१४) पूर्वनन्दि कुरत्तियार, (१५) संघ कुरत्तियार (१६) तिरुचिर्स कुरत्तियार, (१७) श्री विजय कुरत्तियार, (१८) तिरुमलैकुरत्ति, (१९) तिरुप्पर्रुत्तिकुरत्ति, (२०) तिरुचारणत्तु कुरत्ति, आदि।

आचार्य श्री का अनन्य अनुग्रह

अब तक तमिलनाडु के जैन आचार्य एवं आर्यिकाओं के नाम व उनकी साहित्य-सेवा आदि का उल्लेख किया गया है। तमिल भाषा में जो पंच महाकाव्यों का जिक्र हमने किया था उनमें "जीवक चिन्तामणि" तमिल साहित्याकाश में जगमगाता सूर्य किरणवत्

उच्चकोटि का ग्रन्थ है। उसी की श्रेणी में 'मेरुमन्दर पुराणम्' ग्रन्थ है। वर्तमान जैन समाज में इस ग्रन्थ का प्रचलन अधिक हो गया है। इसमें कथावस्तु के साथ-साथ जैन सिद्धान्त की रहस्यपूर्ण बातों को तमिल जनता को उपयोगार्थ प्रदान किया गया है। इसके रचयिता 'वामनाचार्य' हैं जो तमिल प्रान्त की प्रसिद्ध नगरी 'कांचीपुरम्' के त्रैलोक्यनाथ मन्दिर (महावीर स्वामी का मंदिर) में रहते थे। अब वह स्थान 'तिरुप्परुत्ति कुन्रम' व 'जिनकांची' कहलाता है। अब भी वहां पर आचार्य का चरणचिह्न विद्यमान है। आचार्य देशभूषण महाराज ने इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करके हिन्दी जगत् की जनता के सम्मुख तमिल साहित्य की महत्ता को प्रकट किया है। इस महान् ऐतिहासिक कार्य को सम्पन्न करके उन्होंने जो अनूठा कार्य किया है उसके लिए तमिलनाडु जैन समाज, तमिल भाषाविद् व साहित्यकार आचार्यश्री के चिरऋणी रहेंगे। इसमें आचार्यश्री का अनन्य अनुग्रह है कि उन्होंने उत्तर भारत के जैन समाज को तमिल साहित्य की महत्ता ज्ञात करने हेतु महान् कार्य किया है। आचार्यश्री प्रकाण्ड विद्वान्, महान् तपस्वी और ज्ञानी हैं। उनकी मातृभाषा कन्नड़ होते हुए भी वे संस्कृत, हिन्दी, प्राकृत, के प्रतिभासम्पन्न महान् योगी हैं। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। कन्नड़ भाषा साहित्य को भी हिन्दी में अनुवाद करके प्रकाशित कराकर अविस्मरणीय कार्य किया है। उनके दिव्य चरणों में मैं बार-बार नमोस्तु करता हूं।

वर्तमान दिगम्बर जैन समाज में आप अग्रगण्य आचार्य हैं। आपने अनेकों विद्वानों को तैयार किया है। त्यागी, मुनि, आर्यिकाओं को दीक्षित कराकर अनगार धर्म को अक्षुण्ण बनाया है। आपके तत्वावधान व प्रतिबोध के कारण अनेकों दिगम्बर जैन मंदिरों का निर्माण होकर प्रतिष्ठा हुई है। आप पंचमकाल में पंचम गति का मार्ग बताने वाले पंचाननवत् भव्ययोगी महापुरुष हैं। मुनि-धर्म-विरोधी शृगालों के लिए सिंह-पुरुष हैं।

तमिल भाषा के जैन ग्रन्थों की नामावलि

(अ) साहित्य ग्रन्थ :—१, पेरुगत्तियम, २. तोलकाप्पियम्, ३. तिरुक्कुरल, ४. सिलप्पधिकारम्, ५. जीवक चिन्तामणि, ६. पेरियपुराणम्, ७. चूलामणि, ८. पैरुङ्कथै, ९. वलयापदि, १० मेरु मन्दर पुराणं, ११. नारद चरितं, १२. शान्ति पुराणं, १३. उदयण-कुमार विजयम्, १४. नागकुमार काव्यं, १५. कलिंगत्तुप्परणि, १६. यशोधर काव्यम्, १७. रामकथा, १८. किलि विरुत्तम्, १९. एलिविरुत्तम, २० इलन्दिरैयन, २१. पुराण सागरम्, २२. अमिरद पदि, २३. मल्लिनाथ पुराणम्, २४. पिंगल चरित, २५. वामन चरित, २६. वर्धमान।

(आ) व्याकरणग्रन्थ : १. नन्नूल, २. नम्बियकप्पोरुल, ३. याप्परुंगलम, ४. याप्परुंगलक्कारिकै, ५. नेमिनादम, ६. अविनयम, ७. वेण्बापाट्टियल, ८. सन्दनूल, ९. इन्दिरकालियम, १०. अविनियल, ११. वायुप्पियल, १२. मौलिवरि, १३. कडिय नन्नियल, १४. कावकैप्पाडिनियम, १५. सङ्कयाप्पु, १६. सेटयुलियल, १७. नक्कीरर् अडिनूल, १८. कैक्किलै सूत्तिरम, १९. नत्तत्तम, २०. तक्काणियम।

(इ) नीति ग्रंथ : १. नालडियार, २. पलमोलिनानूरु, ३. एलादि, ४. सिरुपंचमूलम, ५. तिणैमालै नूट्रैम्बदु, ६. आचार क्कोवै, ७ अरनेरिच्चारम, ८. अरुङ्कलच्चेप्पु, ९. जीवसम्बोधनै, १०. ओवै (अगवित्तल सूडि) ११. नानमणि क्कडिगै, १२. इन्नानार्पदु, १३. इनियवै नार्पदु, १४. तिरिकडुगम, १५. नेमिनाथ सदगम।

(ई) तर्क ग्रन्थ : १. नीलकेशि, २. पिङ्गलकेशि, ३. अंजनकेशि, ४. तत्तुव दर्शन, ५. तत्वार्थ सूत्रकै।

(उ) संगीत ग्रन्थ : १. पेरुङ्कुरुगु, २, पैञ्चमारै, ३. सैयिट्रियम, ४, भरत सेना पदियम, ५. सयन्तम, ६. इसैत्तमिल सैय्युल कोवै, ७. इसैनुनुक्कम, ८. सिट्रिसै, ९. पैरिसै।

(ऊ) प्रबन्धग्रन्थ : तिरुक्कलम्बगम्, २. तिरुनूट्रन्दादि, ३. तिरुवैंबावै, ४. तिप्पदामालै, ५. तिरुप्पुगल, ६. आदिनादर पिळ्ळैतमिल, ७. आदिनादर उला, ८. तिरुमेट्रिसैयन्दादि, ९. धर्मदेवि अन्दादि, १०. तिरुनादर कुन्ड्रत्तु पत्तुपदिगम।

(ए) नाटक ग्रन्थ : १. गुणनूल, २. अगत्तियम, ३. कूत्तनूल सन्दम।

(ऐ) शिल्पकलाग्रन्थ : १. अधियमूल

(ओ) कोश ग्रन्थ : १. चूडामणि निघन्टु, २. दिवाकरम्, ३. पिङ्गलन्दै।

(औ) ज्योतिष ग्रन्थ : १. जिनेन्द्रमालै, २. उल्ल मुडैयान।

(अं:) गणित ग्रन्थ : १. केट्टिवण्ण सुवडि, २. कणक्कधिकारम, ३. नल्लिलक्क वायपाडु, ४. सिरुकुलि वायपाडु, ५. कीळवाय इलक्कम्, ६. पेरुक्कलवायपाडु।

उपर्युक्त सूची में अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हैं और अनेक ग्रन्थ अप्राप्य व लुप्त हैं किन्तु अन्य ग्रन्थों की व्याख्या व टीका में इन ग्रन्थों का नामोल्लेख पाया जाता है। इस विस्तृत ग्रंथ सूची से यह स्पष्ट है कि तमिलनाडु में जैन धर्म एवं साहित्य के विकास में जैनाचार्यों का विशेष सहयोग रहा है।

उर्दू भाषा में जैन साहित्य

—डॉ० निजामउद्दीन

भारत में विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों को मानने वाले लोग रहते हैं और विभिन्न भाषाओं में धार्मिक साहित्य की रचना इन लोगों ने की है। जैन साहित्य अर्द्धमागधी या प्राकृत में ही नहीं रचा गया, वरन् भारत की अन्य भाषाओं में भी इसकी रचना की गई है। गुजराती, बंगला, पंजाबी, कश्मीरी, उर्दू आदि भाषाओं में जैन साहित्य देखा जा सकता है। यहाँ केवल उर्दू भाषा में विरचित जैन साहित्य का विवरण प्रस्तुत है।

लाला सुमेरचन्द जैन ने "जैन मत सार" नाम से सन् १९३८ में ३१२ पृष्ठों की पुस्तक लिखी जो जैन मित्र मण्डल, दिल्ली से प्रकाशित की गई। उर्दू में लिखने का कारण उन्होंने पुस्तक की भूमिका में स्पष्ट किया है: पहले धर्मग्रन्थ प्राकृत व संस्कृत में रचे गये, और अब उन भाषाओं का प्रचलन नहीं। १८ वीं शताब्दी में (विक्र०) जैनमत के विद्वान् टोडरमल जी, सदासुख जी, दौलतराम जी ने वर्तमान भाषाओं में अनुवाद किया जिनसे बहुत से लोग लाभान्वित हुए। धर्म की भावना को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रचलित भाषा में ही लिखा जाय। अपनी इस पुस्तक में उन्होंने यह भी लिखा कि "जैनप्रकाश" (१९१४), "शाहराहे निजात" (१९०६) और "धर्म के दस लक्षण" (१९११) शीर्षक से उर्दू भाषा में लिखी गई पुस्तकें-पुस्तिकाएं हैं। लाला सुमेरचन्द जैन ने जैनधर्म का विवेचन करते हुए कहा है—"जैनमत दो लफ्जों 'जिन' और 'मत' से मुरक्कब (सयुक्त) ऐसा शख्स जिसने राग द्वेष को जीत लिया, या यूं कहो कि जिसकी न किसी से दोस्ती है न दुश्मनी, जो न किसी मरगूब तबा (रुचिकर, मनोहर) दुनियावी शै (वस्तु) के हासिल करने की रगबत रखता है और नागवार तब शै (अरुचिकर वस्तु) को दूर करने की ख्वाहिश। ऐसे शख्स के लिए दुनिया में कोई शै मरगूब या गैरमागूब नहीं है, वह हर शै को उसकी असलियत के लिहाज से देखता और जानता है और 'जिन' कहलाता है।···जिनमत के मानी हैं ऐसे शख्स की राय जिसमें न तो अज्ञान है और न वह किसी से दोस्ती व दुश्मनी के जजबात (भावना) से मरऊब (प्रभावित) है।"

"जिनमत को ही आम गुफ्तगू में जैन मत कहते हैं। लफ्ज "जैन" का अर्थ "जिन" में एतकाद (विश्वास) रखने वाला शख्स है। · जैनमत शै (वस्तु) के हर पहलू पर गौर करने की वजह से "एकान्त मत" कहलाता है। दीगर तमाम मजहब के ख्यालात इसमें मुश्तमिल (शामिल) हैं, इसलिए यही मजहब यूनिवर्सल मजहब हो सकता है।

'सनातन जैन दर्शन प्रकाश' की रचना लाला सोहन लाल जैन ने की। यह पुस्तक प्रश्नोत्तर रूप में है। पहले श्लोक फिर उर्दू में अनुवाद, बाद में उसका स्पष्टीकरण दिया गया है। अरबी-फारसी शब्दों का खूब प्रयोग किया गया है। उर्दू में लिखने का कारण उन्हीं के शब्दों में पढ़िए—"कई बरसों से मेरे मित्र व दीगर अहबाब ने मुझको बरंगेख्ता (भड़काया) किया कि जैन धर्म में कोई कुछ कहता है और कुछ समझता है। अगर इस बारे में तुम एक किताब बना दो तो बहुत अच्छा होगा क्योंकि सज्जन तो गुण के ग्राही और सत् के मुतलाशी होते हैं। सो वे तो जरूर ही इस सत् धर्म को पाकर नेकनियती और नेक एमाल (शुद्ध कर्म) से अपने जन्म को सफल करेंगे। ······मगर आजकल उर्दू की ज्यादातर परवरती हो रही है, देवनागरी से तो बहुत थोड़े वाकिफ हैं ज्यादा नहीं। इसलिए किताब उर्दू में ही तहरीर (लिखी) हो तो बहुत अच्छा होगा।"

रावलपिण्डी (पाकिस्तान) से सन् १९०३ में लाला केवड़ामल ने "जैन रतन माला" नामक १२ पृष्ठों की प्रश्नोत्तर रूप में एक पुस्तिका लिखी। इसमें संस्कृत के अतिरिक्त अरबी-फारसी के शब्दों का अच्छा प्रयोग किया गया है। यहां इस पुस्तक का कुछ अंश पांचवें अध्याय से उद्धृत किया जाता है—

"प्रश्न—जैनधर्म में ईश्वर की निसबत (विषय) में क्या ख्याल है?

उत्तर—हम निजात युता (मुक्तात्मा) को ईश्वर मानते हैं।

प्रश्न—अगर मानते हो तो ईश्वर को किस रूप से मानते हो?

उत्तर—क्या निजात जुदा का कोई रूप है ? कोई नहीं। मगर हां, अगर आपका यही इशारा कर्ता की तरफ हो तो हम ईश्वर को कर्ता नहीं मानते।

प्रश्न—जैनधर्म मे आत्मा और परमात्मा का क्या फर्क है ?

उत्तर—आत्मा कहते हैं कर्मसहित जीव को, परमात्मा कहते हैं कर्मरहित जीव को (निजात जुदा को)।

प्रश्न—आत्मा का जिस्म के साथ क्या ताल्लुक है ?

उत्तर—जिस तरह आपका ताल्लुक अपनी खास जगह या मकान से है उसी तरह है।"

'अनमोल रत्नों की कुंजी' कई भागों में अयोध्या प्रसाद द्वारा संपादित की गई। पहला भाग प्रश्नोत्तर के रूप में लिखा गया है। दूसरे भाग में महात्मा गांधी और मदनमोहन मालवीय के धर्म, पशु-बलि आदि पर विचार प्रस्तुत किये गये हैं। लाहौर से सन् १६१८ में एक लघु पत्रिका 'जैन धर्म की कदामत व सदाकत पर यूरोपीय मुवर्रखीन की मुदल्लिल राय' लाला मथुरादास के सम्पादन में प्रकाशित हुई। यहां पश्चिमी विद्वानों, विचारकों, चिन्तकों के मतों को एकत्रित किया गया है। लाहौर से 'शाहराह-मुक्ति' शीर्षक से कई प्रचार-पुस्तिकाएं उर्दू मे निकाली गयी। ऐसे ही एक ट्रेक्ट में ३६ भजनों को संकलित किया गया है। 'जैन तत्त्व दर्पण' (१६१७) और 'नव तत्त्व' (१६२१) अम्बाला से प्रकाशित उर्दू ग्रन्थ हैं।

'आयना हमदर्दी' (संपादक पारस दास) दिल्ली से कई भागों में निकलने वाली पत्रिका थी जो १६१६ मे प्रकाशित की गई। इसके तीन भाग हैं—(१) हमदर्दी, रहमदिली, गोश्तखोरी, दिल आजारी और ईजारसानी (कष्ट देना) के मुताल्लिक बानीयान मजाहिब (धर्म प्रवर्तक) शोरा (कविगण) फुजला (विद्वन्मण्डल) और हुकमा (सुधारक) वगैर के ख्यालात मय एक जखीम जमीमा के (विशद परिशिष्ट के साथ), (२) पचास के करीब मशहूर-मशहूर हिन्दू और जैन शास्त्रो के तकरीबन सवा तीन सौ चीदा-चीदा (चुने गये) श्लोकों का अनुवाद, (3) गोश्तखोरी के विषय में डाक्टरो के विचार।

'हुस्न अव्वल' (प्रथम भाग) के संपादक प० जिनेश्वर प्रसाद 'माइल' देहलवी हैं। २५८ पृष्ठों की इस पुस्तक में जैनधर्म के साथ और भी नैतिक, दार्शनिक निबन्ध समाविष्ट हैं। इसके प्रथम अध्याय 'वक्त' का थोड़ा सा अंश यहां दिया जाता है—

"गरज इस तगय्युरात के समन्दर मे क्या जानदार, क्या बेजान, एक सूरत पर किसी को भी करार नहीं है। वक्त एक परिन्दा है कि बराबर उड़ा चला जाता है और इस सुरअत (तीव्रता) से उड़ता है कि निगाहे देख नहीं सकतीं, कान उसके पैरों की सनसनाहट सुन नहीं सकते। हां, उसकी गर्दन मे एक घटी बंधी है जिसकी आवाज से अपनी रफ्तार का इम्तियाज अहले दुनिया को कराता जाता है और मामाने दुनिया को नये से पुराना और पुराने से नया बनाता है। उसके पंजों से अनगिनत धागे उलझे हुए हैं। यह जानदारों के रिश्तेहयात (जीवन के सम्बन्ध) हैं जो परवाज के साथ खिचते चले जाते हैं। उसमे जिसकी हद आ जाती है वह टूट जाता है। इसी को मौत कहते हैं जिस पर किसी को अख्तयार नहीं—

> रौ में है रख्शे उम्र कहां देखिये थमे,
> न हाथ बाग पर है, न पा है रकाब में। (गालिब)

यह भी एक किस्म की तबदीली है और लफ्ज इन्तकाल के मानी भी नक्लोहरकत (गतिमान होना) करना है। हासिल कलाम (कहने का अभिप्राय) यह कि दुनिया एक पुरशोर (कोलाहलपूर्ण) समन्दर है जिसमें हवा के जोर से कहीं मेढ़ा उछल रहा है, कहीं भंवर पड़ रहा है, कहीं पानी पहाड़ों से टकराता है और कहीं यकलख्त बहा चला जाता है। किसी जगह फितरी दिलचस्पियों ने मंजर (दृश्य) को हद से ज्यादा दिल-आवेज बना दिया है और किसी जगह नागहानी (अचानक) हादसों ने वह डरावना और हौलनाक सीन दिखाया है कि जी दहला जाता है।"

जैनधर्म की कथाओं को 'जैन कथा रत्नमाला' में संकलित किया गया है। ये कथाएं उपदेशात्मक हैं। अमनादास ने इनका संग्रह किया है और यह लाहौर से छपी थी। इस पुस्तक को अध्ययन करने के बाद यह मालूम पड़ता है कि संसार स्वप्न के समान है और "इसका आराम नक्श बरआब (पानी पर निशान) है। इन्सान को मौजूदा वक्त गनीमत समझ कर धर्म में उद्यम करना चाहिए। वह जीव को परहित में सहायक होगा। सब अपनी अगराजो मतलब (स्वार्थ) के साथी हैं। सिवाय धर्म के और कोई जीव के दुःख निवारण करने वाला नहीं।"

इसके अतिरिक्त 'ज्ञान सूरज उदय' (दिल्ली), 'लुत्फे रूहानी उर्फ आत्मिक आनन्द' (सं० विश्वम्भरदास), 'वैराग प्रकाश' (लाहौर), 'जैन मजहब के बसीत सूत्रों का खुलासा' (अम्बाला), 'राजे हकीकत' (संपादक दुर्गादास), 'जैन रतन प्रकाश' (लुधियाना) आदि कितनी ही पत्र-पत्रिकाएं उर्दू में निकाली गयी हैं।

सम्राट् अकबर की जैन धर्म में रुचि

□ श्री संजय कुमार जैन

प्राचीन भारतीय साहित्य के प्रति विदेशियों का जिज्ञासाभाव सदैव से रहा है। कुछ धर्मान्ध आक्रान्ताओं एवं विजयी शासकों ने भारतीय साहित्य की अमूल्य निधियों को अग्नि में समर्पित करके अपनी धर्मपरायणता एवं शक्ति का प्रदर्शन करने में भले ही गौरव या अहंकार का अनुभव किया हो किन्तु विदेशियों के बड़े दल ने सहस्राब्दियों से भारतीय विद्याओं के प्रचार-प्रसार एवं संरक्षण में अभूतपूर्व योगदान दिया है।

महान् मुगल अकबर तो वास्तव में भारतीय आत्मा का सजीव प्रतीक था। भारतीय साहित्य एवं सन्तों के नैकट्य ने उसे अत्यधिक उदार बना दिया था। गुणग्राही अकबर ने असंख्य पुस्तकें संकलित की थी। जिनमें तत्कालीन भारत में प्रचलित सभी धर्मों की दुर्लभ पांडुलिपियां थी। सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ विंसेन्ट ए० स्मिथ के अनुसार अकबर द्वारा स्थापित पुस्तकालय की न उस समय कोई समता थी और न ही वर्तमान में। अकबर की मृत्यु के उपरान्त आगरा दुर्ग की सुरक्षित निधि-कोष की तालिका में २४००० पुस्तकों का उल्लेख मिलता है। इतिहासवेत्ता श्री स्मिथ के अनुसार प्रत्येक पुस्तक का औसत मूल्यांकन, वर्णितविनिमय दर के अनुसार २७ से ३० पौण्ड तक आता था। इस प्रकार से पुस्तकों का मूल्य ६४६६७१ से लेकर ७३७१६६ पौण्ड तक होता है।

इस से अद्भुत एवं बहुमूल्य ग्रन्थालय में जैन धर्म से सम्बन्धित प्राचीन धर्मग्रन्थों का बड़ी सख्या में होना स्वाभाविक था, क्योंकि जैन सन्तों का परम्परा रूप में मुगल शासकों से मधुर सम्बन्ध होने के ऐतिहासिक संकेत मिलते हैं। उदाहरण के लिए अकबर के द्वारा विशेष रूप से सम्मानित जैन विद्वान् पद्मसुन्दर के दादा गुरु श्री आनन्दमेरु जी का भी अकबर के पिता एवं पितामह हुमायूं और बाबर से सत्कार सम्मान ग्रहण करने का अकबर शाह श्रृंगार दर्पण की प्रशस्ति में उल्लेख मिलता है।

स्वयं सम्राट् अकबर का जैन सन्तों के प्रति समादर भाव था। इसीलिए उसने अपने गुजरात के राजकीय प्रतिनिधि के माध्यम से जैन सन्त हीरविजय को राजमहल में पधारने का निमन्त्रण भिजवाया था। मुनि श्री हीर विजय ने शाही उपहारों को अस्वीकार करते हुए भी लोककल्याणार्थ फतहपुर सीकरी जाना स्वीकार कर लिया था। बादशाह ने उनके पधारने पर शाही स्वागत किया था। धर्म एवं दर्शन के संबंध में मुनिश्री जी से सम्राट् अकबर एवं प्रमुख दार्शनिकों में गहरा विचार विमर्श हुआ था। मुनिश्री हीरविजय जी से प्रभावित होकर ही सम्राट् अकबर ने १५८२ ई० में कैदखानों के बन्दियों तथा पिंजरों में बन्द पक्षियों को मुक्त करने एवं कुछ निश्चित दिनों में पशुओं के वध को वर्जित कर दिया था। आगामी वर्ष १५८३ ई० में इन आदेशों में संशोधन कर दिया गया और उनका उल्लंघन करने पर प्राणदंड नियत कर दिया गया। सम्राट् अकबर ने अपना बहुप्रिय आखेट त्याग दिया और मछली का शिकार भी सीमित कर दिया।

अकबर के दरबार में धर्मपुरुष श्री भानचन्द एवं श्री सिद्धिचन्द की निरन्तर उपस्थिति एवं राजदरबारियों का उनके प्रति असाधारण सम्मानभाव इस तथ्य का द्योतक है कि मुगल सम्राट् अकबर के उदार शासन में जैन धर्म निरन्तर वृद्धि पर था। तत्कालीन इतिहासवेत्ताओं ने अकबर के उपासनागृह में जिन धर्मों के प्रतिनिधियों का उल्लेख किया है, उनमें भी जैनियों के दोनों सम्प्रदायों का उल्लेख प्राप्त होता है। अतः महान् अकबर के ग्रन्थागार में जैनधर्म से सम्बन्धित पांडुलिपियों का बड़ी संख्या में होना स्वाभाविक है। सम्राट् अकबर ने स्वयं मुनिश्री हीरविजय को एक हस्तलिखित धर्मग्रंथ की पांडुलिपि भेंट की थी। पुस्तक भेंट के समय मुनिश्री हीरविजय ने स्वयं आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा था कि शाही ग्रन्थालय में इतने धर्मग्रन्थ कैसे एकत्र हो गए हैं।

सम्राट् अकबर की मृत्यु के पश्चात् उसका ग्रन्थालय किस-किस शासक के अधिकार में गया और उन्होंने उन पांडुलिपियों का क्या-क्या उपयोग किया? इस विषय पर यदि कुछ विशेष जानकारी मिल पाए तो भारतीय साहित्य की अनेक अज्ञात कड़ियों पर प्रकाश पड़ने की सम्भावना है।

जैन धर्म एवं आचार

जैन धर्म एवं आचार

सम्पादकीय
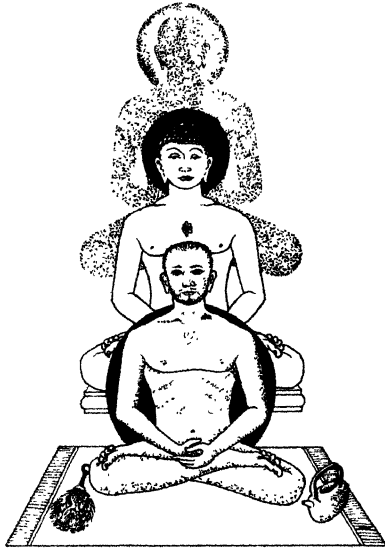
प्राणी की परतन्त्रता

इस संसार में सारा खेल दो पदार्थों का है। ये पदार्थ हैं—(१) जीव, और (२) अजीव। संसार प्रमुखत: इन्ही दो पदार्थों के अभिनय की रंगस्थली बना हुआ है। इन दोनो मे जीव चेतन है तो अजीव अचेतन। दोनो की स्थिति अनादि है। दोनों का परस्पर सम्बन्ध भी अनादि है। किन्तु यह सम्बन्ध अनन्त नही है। दोनो को जोड़ने वाली कड़ी है—कर्म। इस अनादिकालीन कड़ी को जीव अपने सत्पुरुषार्थ से तोड़ भी सकता है। इस कड़ी को तोडने के बाद, जीव (भावात्मक रूप से) लौकिक धरातल से ऊपर उठ कर अलौकिक बन जाता है।

'कर्म' एक बेड़ी है जो जीव को 'परतन्त्र' बनाए रखती है। परतन्त्रता भी इस सीमा तक कि जीव का उठना-बैठना, चलना-फिरना, सोना-जागना, सोचना-समझना, सुख-दुःख की अनुभूति, यहां तक कि जीना-मरना भी अचेतन (भौतिक पुद्गल पदार्थ) पर आश्रित है। आश्चर्य तो यह है कि यह कर्म रूपी बेडी स्वय जीव द्वारा निर्मित है।

ज्यो ही प्राणी इस ससार मे जन्म लेता है, परतन्त्रता भी साये की तरह पीछा करती हुई उसके साथ लगी रहती है। क्योंकि जीव ने अजीवात्मक शरीरादि को ममत्व-बुद्धि के कारण अपने से अभिन्न मान लिया है, और यह ममत्व-बुद्धि तथा उसके द्वारा उत्पन्न अभेद-बुद्धि व अहकार-बुद्धि ही कर्म-बन्धन की कारण हैं। मन जैसे विचित्र कम्प्यूटर-नुमा अमूल्य यन्त्र, तथा उसके अधीन आंख-कान-नाक जैसी इन्द्रिय रूपी मशीन— इन सबसे सुसज्जित मानव-शरीर भी चेतन आत्मा-रूपी पक्षी के लिए एक पिंजरा मात्र है, एक कैदखाना है। शरीरधारी व्यक्ति को इस पिंजरे के प्रति स्वभावत 'ममत्वभाव' उत्पन्न होता है, जो प्राणी के लिए कर्मबन्धन का बीज सिद्ध होता है। यह ममत्व ही आगे चल कर दुर्गति का कारण बनता है।

जन्म लेते ही मानव-शिशु की इन्द्रियां बरबस उसकी आत्मा को भौतिक पदार्थों के प्रति आकृष्ट करती हैं, और इस प्रकार जीव का बाह्य पदार्थों से (ममत्व) सम्बन्ध प्रारम्भ हो जाता है। व्यक्ति के सकल्पशील मन के सम्पर्क मे आने वाली वस्तुओ मे कुछ वस्तुएं उसे अनुकूल और कुछ प्रतिकूल प्रतीत होती हैं। वस्तु स्वय सुख-दुःखात्मकता से शून्य है, किन्तु व्यक्ति के ममत्वमूलक राग-द्वेष के कारण व्यक्ति को अनुकूल या प्रतिकूल, अथवा सुखात्मक या दुःखात्मक प्रतीत होती है। अनुकूल के प्रति आकर्षण होता है, और प्रतिकूल के प्रति विकर्षण। अनुकूलता-प्रतिकूलता की श्रेणी से बाहर की वस्तु के प्रति उपेक्षणीय (तटस्थ) भाव रहता है। अनुकूल के प्रति जो आकर्षण है, वह 'राग' कहलाता है, तथा प्रतिकूल के प्रति जो विकर्षण है, वह 'द्वेष' के नाम से जाना जाता है। उक्त आकर्षण व विकर्षण की स्थिति में आत्मा मोहाविष्ट हो स्वरूपच्युत हो जाता है, और यही से उसके अधःपतन का क्रम प्रारम्भ हो जाता है।

जिससे राग होता है, उसको अपने अधीन करने की इच्छा जागृत होती है। इस इच्छा की पूर्ति मे जो पदार्थ सहायक प्रतीत होते हैं, उनके प्रति भी 'राग' भाव होने से, उसे भी प्राप्त करने की लालसा पैदा हो जाती है। उक्त सभी लालसाए, तथा उनके मूल में रहने वाले मोह (अज्ञान), अहंकार, राग व द्वेष—ये सब मिलकर जीव मे ऐसा परिणमन करना प्रारम्भ कर देते हैं जिससे नई-नई कर्म की बेड़ियों का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। जीव के वैयक्तिक मिथ्यात्वादि के कारण पुद्गल स्वय कर्म रूपो मे परिवर्तित हो जाते हैं, और कर्म के निमित्त से जीव मे रागादि-परिणमन की परम्परा को बढावा मिलता है। उक्त रागादि कषाय जीव मे ऐसी चिकनाहट पैदा कर देते हैं जिससे कर्म-परमाणुओ को जीव के साथ चिपकने में सरलता होती है। परिणामस्वरूप, जीव व कर्म के एकक्षेत्रावगाह-सम्बन्ध के साथ-साथ, विशिष्ट उपश्लेष-रूप सम्बन्ध दृढ होता चला जाता है, और बनने वाली कर्म-बेड़िया जीव को परतन्त्रता की ओर धकेलती जाती हैं। इस परतन्त्रता की बेडियो में जकड़े प्राणी मे राग-द्वेषात्मक परिणमन की सम्भावना अधिक हो जाती है, और इस प्रकार जीव की परतन्त्रता का सिलसिला जारी रहता है। बांधा गया 'कर्म', चाहे वह प्रशस्त हो या अप्रशस्त, बिना अपना फल दिए नष्ट नहीं होता।

धर्म की आवश्यकता

इस कर्म-बन्धन की स्थिति से छूटने का क्या उपाय हो—इस पर प्राचीन काल से चिन्तन होता रहा है। उक्त चिन्तन-प्रक्रिया के अन्तर्गत अनेक जिज्ञासाएं भी जुड़ती गईं। जैसे, विश्व का निर्माण कैसे होता है, कौन-कौन-सी शक्तियां इस सृष्टि का नियमन करती हैं, विश्व का स्वरूप क्या है, क्या कोई अप्रत्यक्ष लोक भी है, मरण के बाद प्राणी का क्या होता है, आदि-आदि। मानव-मस्तिष्क में उक्त जिज्ञासाओं का उठना जितना स्वाभाविक था, उतना ही स्वाभाविक था—चिन्तन के विविध धरातलों से समाधानों की विविधता का भी होना। उक्त जिज्ञासाओं के समाधान के रूप में जो प्रमुख दृष्टिकोण आए, उनसे ही भारतीय धर्मों की विविधता और विशेषता का मौलिक धरातल निर्मित होता रहा है।

भारतीय संस्कृति व चिन्तन की विविध धाराएं

सभ्यता व संस्कृति के विकास की परम्परा में सामाजिक व पारिवारिक संगठन की प्रक्रिया ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती गई, रागात्मक (संगठनात्मक) सम्बन्ध और भी विकसित होते गए, तथा वैचारिक क्षेत्र में भी उन्नति होती गई। चिन्तन के धरातल पर सृष्टि के मूल में नियमन करने वाली विविध शक्तियों के भी प्रमुख स्रोत 'एक ईश्वर' की अवधारणा प्रादुर्भूत हुई। किन्तु चिन्तन की प्रक्रिया एकमुखी तो होनी नहीं। दूसरी ओर सृष्टि के प्रमुख घटक तत्वों में ही स्वतः नित्य परिणमन व निरन्तर विकास/विकार की क्रिया के स्वतः (ईश्वरनिरपेक्ष) होते रहने का सिद्धान्त प्रतिपादित कर भारतीय चिन्तकों ने जन-मानस को नई ज्ञान-ज्योति प्रदान की। इस प्रकार, भारतीय धार्मिक चिन्तन मौलिक रूप से एक होता हुआ भी दो प्रमुख वर्गों में विभक्त हो गया।

समाज के कर्णधारों द्वारा समाज में परस्पर सुख-शान्ति स्थापित करने हेतु कुछ सार्वजनिक नियमों का भी निर्धारण हुआ। नैतिक सदाचार के नियमों का पालन करना 'धर्म' कहलाया, और उसका उल्लंघन 'अधर्म'। चिन्तनशील सभ्य समाज में मानव-जीवन के स्थूल लक्ष्य की प्राप्ति हेतु विविध चिन्तन-धाराएं विकसित हुई। सांसारिक सुख की अपूर्णता का आभास चिन्तकों को हुआ, और अलौकिक/पूर्ण सुख की मान्यता मोक्षरूप पुरुषार्थ के रूप में विकसित हुई। जीवन को सामञ्जस्यपूर्ण व व्यवस्थित रूप देने के लिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों की मान्यता को भी भारतीय संस्कृति में स्थान मिला। एक विचारधारा ने घोषणा की—सुख व शान्ति व्यक्ति के बाह्य वैभव/ऐश्वर्य व शक्ति पर आधारित है। जितना अधिक व्यक्ति के पास बाह्य वैभव होगा, जितने सहायक होंगे, वह उतना ही सुख व शान्ति प्राप्त कर सकता है। दैवी शक्तियों की सहायता से समस्त वाञ्छित वैभव प्राप्त हो सकते हैं—इस मान्यता ने जन्म लिया। फलतः, यज्ञ-पद्धति विकसित हुई, और इन्द्रादि देवताओं की उपासना प्रारम्भ हुई। प्राचीन वैदिक साहित्य में इस यज्ञीय संस्कृति का स्वरूप देखा जा सकता है।

किन्तु दूसरी ओर जो अनीश्वरवादी विचारधारा थी, उसने व्यक्ति के ही अन्दर प्राप्त दैवी शक्ति के आवरण में विविध ऐश्वर्य व शक्ति की प्राप्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इस विचारधारा में किसी अदृश्य बाह्य दैवी शक्ति पर निर्भर होने की अपेक्षा वैयक्तिक श्रम/पुरुषार्थ (तपस्या) की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई। इस विचारधारा में वैयक्तिक शक्ति के आधारभूत ब्रह्मचर्य व इन्द्रिय-संयम की प्रतिष्ठा हुई और साधना का लक्ष्य घोषित हुआ—योग व ध्यान की प्रक्रिया के माध्यम से विविध आत्म-शक्तियों की उपलब्धि करते हुए परम शान्ति प्राप्त करना। इस विचारधारा में आत्मिक उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुंचे व्यक्ति में, अर्थात् पूर्ण स्वशुद्ध आत्मा में 'ईश्वर' का सद्भाव स्वीकारा गया, किन्तु उसे 'सृष्टिकर्तृत्व' गुण से सर्वथा अछूता स्वीकारा गया।

उक्त दो प्रमुख विचारधाराएं सामान्यतया भारतीय विविध दर्शनों की उद्गम-स्थली बनीं। मोक्ष रूप चरम पुरुषार्थ के स्वरूप के विषय में दृष्टियों की विविधता ने भी दर्शनों की विविधता को जन्म दिया। एक विचारधारा के समानान्तर प्रतिपक्षी दूसरी विचारधारा का जन्म लेना अस्वाभाविक नहीं होता। यही कारण था कि भारत में विविध विचारधाराएं प्रकट होती गईं। अपनी प्रतिपक्षी विचारधारा के साथ भी सह-अस्तित्व व परस्परादान-प्रदान की भावना के साथ विचारधारा का विकास होता रहा। भारतीय विचार-धाराओं के परस्पर पक्ष-प्रतिपक्ष रूप में विविध वर्ग इस प्रकार बनाए जा सकते हैं। जैसे—

(१) (क) भोगवादी, (ख) त्यागवादी।

(२) (क) भौतिकवादी, (ख) संयमप्रधान अध्यात्मवादी।

(३) (क) शत्रुओं को समूल नष्ट कर, या पराजित कर साम्राज्य या शक्ति के विस्तार की समर्थक, (ख) मनोविकारों पर विजय प्राप्त कर यौगिक आत्म-शक्तियों के उन्नयन की पक्षधर।

(४) (क) दैवी शक्तियों की दया पर निर्भर, (ख) पूर्णतः आत्माश्रित।

(५) (क) दैवी शक्तियों को अनुकूल बनाने के लिए हिंसा का आश्रय उचित मानने वाली, (ख) हिंसा को किसी भी स्तर पर स्वीकार न करने को आदर्श मानने वाली तथा अध्यात्मयज्ञ/ज्ञान यज्ञ आदि की प्रचारक या पक्षधर।

(६) (क) प्रवृत्तिमार्गी, (ख) निवृत्तिमार्गी, आदि-आदि।

चिन्तन के क्रम मे परस्पर विचारो के आदान-प्रदान तथा एक दूसरे से प्रभावित होने की प्रक्रिया से अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भी हुए। क्रमशः भोग की अपेक्षा त्याग व सयम की श्रेष्ठता बलवती होती गई। कालान्तर में यज्ञीय हिंसा का क्रमशः लोप हो गया। भारतीय संस्कृति मे निवृत्ति मार्ग की श्रेष्ठता सामान्यत स्वीकृत हुई। एक विचारधारा की अनुकृति पर दूसरी विचारधारा मे सामाजिक आवश्यकतानुरूप कई वैचारिक विकास भी होते रहे। जैसे, आत्मवाद व ईश्वरवाद का समन्वित रूप प्रस्तुत हुआ, जिसके फलस्वरूप आत्मजयी व्यक्तित्व को 'भगवान्', 'जगन्नाथ', 'परमेश्वर' आदि विशेषणों से अभिहित किया जाने लगा। निवृत्ति-धर्म की प्रधानता होने पर भी, प्रवृत्ति मार्ग की सर्वथा हेयता नहीं मानी गई, और दुष्प्रवृत्तियो से बचने के लिए शुभ कर्मों की उपादेयता को स्वीकारा गया। तीर्थंकर की वाणी—'आगम' को धर्माधर्म के निर्णायक शास्त्र के रूप में वही स्थान प्राप्त हुआ जैसा स्थान 'वेद' को सृष्टि-कर्ता ईश्वरवादी परम्परा मे प्राप्त था। कालान्तर मे वैदिक व अवैदिक परम्पराओ के रूप मे दोनों की पृथक्-पृथक् प्रतिष्ठि व मान्यता प्रचलित होती गई।

श्रमण संस्कृति व धर्म

सयम व योग-साधना को प्रमुखता देने वाली अवैदिक विचारधारा के रूप मे श्रमण विचारधारा को मान्यता प्राप्त है। यह त्यागवादी, सयमप्रधान अध्यात्मवादी, निवृत्तिमार्गी या निवृत्तिप्रधान विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाली सस्कृति है। इसका नाम 'श्रमण' विचारधारा है, क्योकि इसमे 'श्रम' यानी तपस्या को प्रधानता प्राप्त है, साथ ही तपस्यादि अनुष्ठान का सम्यक् आस्था व सद्विवेक से अनुप्राणित होना भी अपेक्षित/अनिवार्य माना गया है। इसकी मान्यता है कि परम शान्ति किसी बाह्य दैवी शक्ति की उपासना या उसकी कृपा से नही, अपितु 'शम' यानी मनोविकारो का प्रशमन करते हुए अपने अन्दर समता या वीतरागता उत्पन्न कर प्राप्त की जा सकती है। मोक्ष मे अलौकिक सुख/आनन्द की अभिव्यक्ति होती है।

जैन परम्परा मे वीतरागी आत्मा ही उपास्य है। इस मान्यता के कारण देव, गुरु व शास्त्र—इन सभी की वीतरागता आवश्यक प्रतिपादित की गई। समता व शान्ति (शम) के समर्थक होने से इस विचारधारा का 'समण' व 'शमन' नाम सार्थक हो जाते हैं। ममताभावी साधक ही 'श्रमण' कहलाने का अधिकारी माना गया है।

श्रमण धर्म व आचार

दार्शनिक विचारो के विकास की प्रक्रिया मे मानव-जीवन के चार पुरुषार्थ माने गए हैं— धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष। इन मे धर्म का विशेष स्थान है, क्योंकि वह चरम पुरुषार्थ 'मोक्ष' का प्रधान हेतु है। अर्थ व काम पुरुषार्थ की साधना के लिए भी उनके धर्मानुकूल होने की अनिवार्यता शास्त्रो मे प्रतिपादित की गई है।

मोक्ष-मार्ग आध्यात्मिक दृष्टि से 'व्यक्तित्व' के उत्थान की एक प्रक्रिया है, और इस प्रक्रिया मे साधक का स्वत लौकिक/सांसारिक दृष्टि से भी अभ्युदय होता जाता है। इस दृष्टि से भारतीय सस्कृति मे सामान्यत. अभ्युदय व निःश्रेयस् के साधक आचार-विचार को 'धर्म' माना गया है। 'धर्म' व्यक्ति को आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग मे अग्रसर करता उच्च स्थान पर टिकाए रखता है, साथ ही नीचे गिरने से भी रोकता है—यही इसकी द्विमुखी धारणप्रकृति है। इसलिए 'धर्म' का लक्षण 'धारण करना' भी शास्त्रो मे प्रतिपादित किया गया है।

धर्म शब्द, भारतीय सस्कृति मे, नैतिक आचार और कर्तव्य के लिए, साथ ही वैयक्तिक आत्म-गुण व धार्मिक पुण्य के लिए व्यवहृत हुआ है। नैतिक कर्तव्यो के रूप मे 'धर्म' का वर्गीकरण करते समय मुख्यत तीन बाते लक्ष्य मे रखी गई हैं— (१) वैयक्तिक आत्मिक परिष्कार या उन्नयन। (२) समाज के साथ सम्बन्ध। (३) पारमार्थिक कल्याण। दूसरे शब्दो मे, नैतिक कर्तव्यों के विधान मे वैयक्तिक, बौद्धिक व आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ उसके सामाजिक पर्यावरण का भी ध्यान रखा गया है। सामान्य धर्म, वर्णाश्रम धर्म, आपद् धर्म इत्यादि विविध रूपो मे नैतिक आचरणो का वर्गीकरण प्राप्त होता है, जिससे यह स्पष्ट है कि भारतीय चिन्तको ने जहा समाज के सभी व्यक्तियो के लिए धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, विवेक, शास्त्रीय व आध्यात्मिक ज्ञान, सत्य, अक्रोध आदि सामान्य धर्म व नीति का पालन करना आवश्यक समझा, वही समाज मे व्यक्ति के

स्थान व पद-विशेष को ध्यान में रखकर उस व्यक्ति के लिए विशिष्ट धर्म व नीति का विधान करना भी उचित समझा। समाज के प्रत्येक वर्ग व व्यक्ति के लिए, वैयक्तिक गुण व स्वभाव के आधार पर, पृथक्-पृथक् नैतिक कर्तव्यों का निर्धारण किया गया है। नैतिक आचरण का सामान्य, विशिष्ट, नैमित्तिक, आपद्धर्म के रूप में वर्गीकरण भारतीय मौलिक चिन्तन की देन है। 'धर्म' सम्बन्धी विवेचनों से भारतीय नीतिशास्त्र भरे पड़े हैं। विभिन्न जीवन-समस्याओं के सन्दर्भ में नैतिक मूल्यों के निर्धारण-हेतु विविध आख्यान भी मिलते हैं। उक्त विवेचनों से भारतीय चिन्तन की गम्भीरता व व्यापक दृष्टिकोण की पुष्टि होती है।

संक्षेप मे, 'धर्म' मानव जीवन की एक आदर्शमूलक नैतिक व्यवस्था है जो सबके लिए उदात्तीकरण का मार्ग प्रस्तुत करती है। धर्म का विवेचन अपनी गम्भीरता के कारण बहुत सूक्ष्म है, और महापुरुषो के आचरणो के आधार पर ही सरलतया बोधगम्य हो सकता है। इसीलिए भारतीय सस्कृति का यह उद्घोष है कि धर्म ही एकमात्र इहलौकिक व पारलौकिक दृष्टि से सहायक है, और किसी भी स्थिति मे धर्म का त्याग करना श्रेयस्कर नही। धर्म ही माता-पिता है, धर्म से विहीन व्यक्ति का जीवन निरर्थक है इत्यादि सुवचन शास्त्रों में भरे पड़े हैं। धर्म के दस प्रकार शास्त्रो मे बताए गए हैं—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध।

धर्म व दर्शन

समाज मे चिन्तन की परिपक्वता आने की स्थिति मे धार्मिक क्षेत्र मे कुछ मूल प्रश्न उठ खड़े हुए, जिनके समाधान हेतु चिन्तन-पद्धति आविष्कृत हुई जो 'दर्शन' के रूप मे प्रसिद्ध हुई। दर्शन के माध्यम से धर्म को तर्क-बुद्धि पर प्रतिष्ठित किया गया। धर्म, दर्शन के माध्यम से, महान् सत्यो की बौद्धिक व्याख्या प्रस्तुत कर अपने को पुष्ट करता है। जहा धर्म मानवीय हृदय को सतुष्ट करता है, वहाँ दर्शन मस्तिष्क को। सक्षेप मे, धर्म एक नौका है तो दर्शन उसकी पतवार।

जैन (श्रमण) सस्कृति मे भी 'धर्म' का उक्त स्वरूप मान्य रहा है। जैन विचारधारा के अनुसार मिथ्यात्व, रागद्वेष आदि के कारण भव-सागर मे या नरक-कूप मे गिरते हुए प्राणी को बचाने वाला, तथा उसे जन्म-पक से उबार कर, सत्पथ पर ला कर आत्मिक उत्थान कराते हुए, शुद्ध स्वरूप मे प्रतिष्ठित कराने वाला (समता) धर्म है।

धर्म के बिना सुदेश, कुल, जाति, नीरोगता आदि सभी उसी तरह हैं जैसे आख के बिना मुख। धर्म विश्व को पावनता का फल देने वाला, और विश्व का भरण-पोषण करने वाला एक कल्पवृक्ष है। जहा धर्म है, वही विजय होती है—यह समूची भारतीय संस्कृति का उद्घोष है। जितना प्रेम व्यक्ति अपने स्त्री-पुत्रादि मे करता है, उतना यदि जिनोक्त 'धर्म' से करे तो अनायास सुख प्राप्त करे। उत्तम धर्म से युक्त प्राणी नीच कुल का भी हो, तो वह उच्च देव बन जाता है। इन सुविचार-कणो के अतिरिक्त, जैन परम्परा में धर्म के स्वरूप के विषय मे और भी अधिक बहुमूल्य चिन्तन प्राप्त होता है, जिसे यहा प्रस्तुत करना प्रसगोचित होगा।

जैन परम्परा मे 'ईश्वर' को सृष्टिकर्ता के रूप मे नही माना गया, और सृष्टि को अनादि बताते हुए, मौलिक तत्त्वों में अन्तर्निहित परिणमनशील स्वभाव के कारण सृष्टि का सतत सचालन बता कर, तथा वैयक्तिक जीवन की विविधता मे कर्म की कारणता प्रतिपादित कर ईश्वर की अनावश्यकता प्रतिपादित की गई।

'धर्म' का बहुआयामी स्वरूप :

इस प्रकार, जैन परम्परा मे वस्तुगत 'स्वभाव' तथा 'कर्म' को वैदिक 'ईश्वर' का स्थानापन्न बना दिया गया है। 'कर्म' कोई अतिरिक्त तत्त्व नही, वह जीव व अजीव का ही एक परिणमन माना गया है, और उक्त परिणमन स्वभावजन्य है—इस दृष्टि से, कर्म से अधिक व्यापकता 'धर्म' की सिद्ध हो जाती है। वस्तुगत स्वभाव 'धर्म' है, वस्तुगत पर्याय/परिणमन 'द्रव्य-धर्म' कहे गए हैं, और धर्म व धर्मी में अविनाभाव एव अभेद है, इसलिए जैन-परम्परा मे 'धर्म' सर्वद्रव्यव्यापी सत्ता-मात्र का प्रतिनिधित्व करता है, और इस प्रकार वह वैदिक परम्परा के ब्रह्म (निर्गुण) के बहुत निकट आ जाता है।

'धर्म' वस्तु-मात्र का स्वभाव है, और सभी वस्तुओं मे मोक्ष-प्राप्ति की दृष्टि से श्रेष्ठतम या सारभूत या उपादेय वस्तु आत्मा है, अतः आत्मा के शुद्ध परिणाम रूप स्वभाव को श्रेष्ठतम 'धर्म' के रूप मे मान्यता दी गई।

'धर्म' आत्मा का निज स्वभाव है—इस कथन से फलितार्थ यह निकलता है कि वह ऊपर से लादा नहीं जा सकता। 'धर्म' वस्तुतः अन्तर्ज्योति में, चैतन्य की दिव्य अन्तश्चेतना मे निहित है। वह अन्तर स जागृत होता हुआ ही समग्र जीवन में प्रसार पाता है। यह एक ऐसा निर्झर है जो आन्तरिक सदसद्-विवेक के रूप मे मनोविकारों की कठोर चट्टानों को तोड़ कर उद्भूत होता है, और समग्र वैयक्तिक जीवन की बगिया को संयम व अप्रमाद से पूर्ण सदाचार की घास से हरा-भरा कर देता है, वह बाह्य प्रदर्शन की वस्तु

नहीं, अन्तरंग साधना से सम्बद्ध है। वह आन्तरिक प्राण-शक्ति है, आत्मा की नैसर्गिक अनन्त ऊर्जा है, वह साम्प्रदायिक व जातीय संकीर्णताओं में विभक्त नहीं है।

अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त कर आत्मा स्वयं 'धर्म' रूप हो जाता है—ऐसा जैन शास्त्रों में प्रतिपादित है। शुद्धात्मस्वभाव की भावना, जिसके बल पर साधक शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति में समर्थ होता है, संसार-पतन से रक्षा करने वाली होने के कारण 'धर्म' नाम से अभिहित की गई है। आत्मा की शुद्ध स्वाभाविक अवस्था, पूर्ण वीतरागता, पूर्ण समता, अहिंसा, माध्यस्थ्य भाव—ये सभी समानार्थक हैं। अतः इन सभी को जैन परम्परा में 'धर्म' नाम से अभिहित किया गया। इसी दृष्टि से जैन धर्म या मोक्ष-मार्ग को वीतराग-धर्म, अहिंसा-धर्म, समता-धर्म आदि नामों से पुकारा जाता है।

अहिंसा-धर्म का ही विस्तार कर आदि पुराण में पांच सनातन धर्म प्रतिपादित किये गए—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। चाहे धर्माराधक गृहस्थ हो या मुनि, दोनों भूमिकाओं में इन सनातन धर्मों का आंशिक (अणुव्रत) या पूर्णतः (महाव्रत) पालन करना अनिवार्य होता है। उक्त अहिंसा-धर्म का कुछ और अधिक विस्तार (आदि पुराण में) किया गया और प्राणिदया, सत्यभाषण, क्षमा-भाव, निर्लोभता, तृष्णा-अभाव, सम्यग्ज्ञान, वैराग्य—इन्हें 'धर्म' के रूप में उल्लिखित किया गया। स्थानांग सूत्र में धर्म के चार द्वार बताए गए हैं—क्षान्ति, मार्दव, आर्जव, मुक्ति (निर्लोभता)। (वैदिक बृहद्धर्मपुराण में भी धर्म के चार अवयव बताए गए हैं—सत्य, दया, शान्ति, अहिंसा।) जैन परम्परा में धर्म के दश भेद भी प्राप्त होते हैं—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य। इन्हें भी अहिंसा धर्म के ही विस्तार समझने चाहिएं। वैदिक परम्परा में भी दश सनातन धर्म घोषित किए गये हैं—सत्य, दम, तप, शौच, संतोष, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, शम, दया, दान (गरुडपुराण-१/२१३/-४)।

जैन परम्परा की यह स्पष्ट उद्घोषणा है कि अहिंसा सभी व्रतों का सार है और इस पर सभी व्रत व गुण आधारित हैं। सत्य-अचौर्य आदि व्रत अहिंसा के ही गुण हैं। वैदिक परम्परा में भी, जैन परम्परा के अनुरूप, उक्त स्वर यत्र-तत्र सुनाई पड़ता है।

अहिंसा धर्म सब धर्मों का मौलिक आधार है। किसी धर्म से इसके विरोध का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। सभी धर्म—वैदिक या जैन, यही शिक्षा देते हैं कि अन्य धर्मों का तिरस्कार करना उचित नहीं। अन्य धर्मों की तुलना में जैन धर्म की श्रेष्ठता असंदिग्ध है, क्योंकि यही दुःख-मुक्ति का यथार्थ मार्ग प्रस्तुत करता है।

जैन धर्म एवं आचार

आत्मा का त्रैकालिक शुद्ध निर्विकारी स्वभाव—पूर्ण वीतरागता है। पूर्ण वीतरागता तथा कर्म-अबद्धता ही मुक्ति की अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त करने हेतु जिनेन्द्र-उपदिष्ट मोक्ष-मार्ग 'रत्नत्रय' है। रत्नत्रय—अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र—इनका समन्वित/समुदित रूप। जैन परम्परा में उक्त रत्नत्रय को 'धर्म' नाम से अभिहित किया गया है। उक्त रत्नत्रय रूप धर्म को समग्र रूप से स्वयं में उतारने वाला वीतरागी साधु भी 'धर्म' रूप माना गया है।

शास्त्रों में संसार को एक ऐसे समुद्र की उपमा दी गई है जिसमें कर्मरूपी, या जन्ममरणरूपी जल भरा हुआ है। इस जल में शोक-दुःख आदि लहरें उठ रही हैं। इसमें जीव एक समुद्र-पोत है जिस पर शुद्ध स्वभाव या रत्नत्रयात्मक बहुमूल्य सामग्री लदी है। इस समुद्र में इन्द्रियादि छिद्र हैं जिनके कारण कर्म-रूपी जल आता रहता है, और फलस्वरूप अधिक कर्मों के कारण उक्त जीवरूपी पोत संसार में डूब जाता है। इस दुःखद स्थिति से बचने का उपाय इन्द्रियादि छिद्रों को बन्द करना, अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह, तपश्चर्या, व संयमादि-धारण, या जिनोपदिष्ट धर्म व चारित्र का पालन है। चारित्र से तात्पर्य है—रागादि का परिहार जिससे साधक में कर्मों के नष्ट करने की सामर्थ्य पैदा होती है। जैसे, तैरने की कला में प्रवीण व दृढ़ शारीरिक बल वाला तैराक भी हाथ-पांव चलाने की काय-चेष्टा न करे तो समुद्र में डूब जाएगा। वैसे ही, चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति भी संसार-समुद्र में डूब जाएगा। इसीलिए, दृष्टि (सम्यक्त्व) व चर्या (चारित्र) के योग से मोक्ष की प्राप्ति का होना माना गया है। सदाचार से गुण-समूह, गुणसमूह से पुण्य, पुण्य से विजय प्राप्त होती है। इस प्रकार सदाचार का महत्त्व विविध रूपों में प्रतिपादित किया गया है। संसार-समुद्र को पार करने के उपायों में रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र) के साथ, 'तप' का भी समावेश किया गया है।

सम्यक् दर्शन व सम्यक् ज्ञान के बिना सम्यक् चारित्र की स्थिति सम्भव नहीं, अतः सम्यक् चारित्र में सम्यग्दर्शन-ज्ञान दोनों स्वतः समाविष्ट / गृहीत हो जाते हैं। इस प्रकार, (सम्यक्) चारित्र समग्र रत्नत्रय का प्रतिनिधि सिद्ध हो जाता है, और अपनी सर्वश्रेष्ठता भी इंगित करता है। 'चारित्र' में 'तप' भी समाविष्ट है, अतः मोक्ष के उपायों में 'चारित्र' ही सर्वप्रमुख रूप से सिद्धि-दाता है। अपने समान स्वभाव व कार्य के कारण, चारित्र और धर्म एक कोटि में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इसीलिए, आचार्य कुन्दकुन्द ने 'चारित्र' को 'धर्म' नाम से अभिहित किया है।

'चारित्र' बाह्य रूप में हिंसादि कार्यों से निवृत्ति है, परमार्थत: शुद्ध स्वभाव में स्वयं को जोड़ना है, या शुद्धात्मानुभूति या वीतराग आत्मस्वरूप में स्थिरता है। इस प्रकार, जैन दृष्टि से सम्यक् चारित्र, सदाचरण या सदाचार वह आचरण है जो आत्मा की स्वाभाविक स्थिति—पूर्ण वीतरागता की सिद्धि में साधक हो। इसी चारित्र की चरम परिणति, अन्तत: मोक्ष की अवस्था (मुक्त आत्मा की स्वाभाविक स्थिति)—पूर्ण वीतरागता है। चारित्र में ज्ञान-दर्शनादि के अन्तर्भाव को ध्यान में रख कर ही जैन शास्त्रों में 'आचार' के पांच भेद बताए गए हैं—सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्य।

वैदिक व जैन दोनों परम्पराओं में धर्म व आचार की महत्ता प्रतिपादित की गई है। मनु ने आचार को प्रथम धर्म कहा है। धन की अपेक्षा आचार की क्षीणता को अधिक चिन्ताजनक माना गया है। तपश्चर्या का मूल आचार है। चारित्र से चित्त पवित्र होता है और चारित्रवान व्यक्ति का दु:खक्षय अवश्यम्भावी है। बिना सदाचार के शास्त्र-ज्ञान व्यर्थ है—इत्यादि शास्त्रीय सूक्तियों से सदाचार की महत्ता सर्वत: उजागर होती है।

प्रेम व सदाचार के अधिकारी

जैन परम्परा में मोक्ष-मार्ग का प्रथम सोपान 'सम्यक्त्व' है। संसार-समुद्र का कर्णधार या खेवटिया, संसार-नदी की नौका, आचार-वृक्ष का बीज, धर्म रूपी विराट् नगर का एक विशाल प्रवेश-द्वार, मोक्ष रूपी घर का द्वार, धर्म रूपी प्रासाद की नींव, धर्म-तरु का मूल—इत्यादि विशेषणों से शास्त्रों में सम्यक्त्व को अलङ्कृत किया गया है। कहीं उसे मुक्तिश्री का हार, कहीं धर्म का सर्वस्व, कहीं संसार-लता को काटने वाला खड्ग कहा गया है। सम्यक्त्वधारी व्यक्ति वह है जिसे जैन संयम-साधना का अधिकार-पत्र प्राप्त हो गया है।

सम्यग्दर्शन, अर्थात् संसार के अनन्तानन्त जड-चेतन द्रव्यों के स्वतन्त्र अस्तित्व पर, जीव व अजीव द्रव्य पर दृढ़ आस्था। सम्यक्त्व का विपरीत भाव 'मिथ्यात्व' है, जिसे सत्यता की दिशा से विमुख दृष्टिकोण कहना उपयुक्त होगा। इस दृष्टि के पीछे दृष्टि-मोह (दर्शन-मोहनीय) प्रमुख कारण है। दृष्टि-मोह के कारण अनात्मा में भी आत्म-बुद्धि और फलत: पर-द्रव्यों में ममत्व-बुद्धि व सदसद्-विकल्प का उदय होता है। मोहात्मक दृष्टि प्राणी के लिए आत्मघाती सिद्ध होती है। इसके विपरीत, सम्यक्त्व एक समीचीन दृष्टि-योग है जिसमें मिथ्यात्व-अन्धकार का नाश हो जाता है।

सम्यग्दृष्टि के साथ वस्तु-स्वरूप का निर्णय सम्यग्ज्ञान है। श्रद्धान व निर्णय—ये वस्तुत: सहभावी हैं। अत: सद् देव, सद् गुरु, सद् शास्त्र व सद् धर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धान तथा स्व-पर का, आत्मा-अनात्मा का, जड-चेतन का भेद-विज्ञान—ये दोनों इस सम्यग्दर्शन से जुड़े हुए हैं। आत्म-सत्ता की सम्यक् प्रतीति हो जाने पर ही साधक के आचार या धर्माचरण उसके लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र की समीचीनता को अभिव्यक्ति देने वाली तथा तत्त्वसाक्षात्कार को प्रशस्त करने वाली उक्त सम्यक् दृष्टि के बिना भक्ति, ज्ञान, चारित्र या धर्म सब व्यर्थ है। सम्यक् दृष्टि को क्या हेय है, क्या उपादेय है—यह समझने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है। इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि व्यक्ति उक्त विवेक के अभाव में स्वयं का घात कर लेता है। जिस प्रकार कड़वी तूंबी में रखा हुआ दूध भी कड़वा हो जाता है, वैसे ही मिथ्यात्वी में उत्पन्न ज्ञान भी विपरीत रूप (अज्ञान) धारण कर लेता है। मिथ्यात्व के कारण धर्म बुद्धि को पनपने का अवसर नहीं मिलता। गीता में सम्यक्त्व का सात्त्विकी बुद्धि के रूप में, तथा मिथ्यात्व का तामसी बुद्धि के रूप में प्रतिपादन है।

सत्य के प्रति समर्पित सम्यक्त्वी साधक के विचार दुराग्रह (विपरीताभिनिवेश) से रहित अनेकान्त-दृष्टि से युक्त होते हैं। वह शुद्ध आत्म-स्वरूप के आनन्द से परिचित हो जाता है, और फलस्वरूप भौतिक सुखों में उसकी उपादेय-बुद्धि नहीं रहती। उसकी उपादेय बुद्धि शुद्धात्मा तत्त्व में ही रहती है। अत: विषय-कषायों में उसकी प्राय: अरुचि रहती है। वह विषय-सेवन करता तो है, किन्तु अनिच्छा-पूर्वक। सम्यक्त्वधारी साधक शुद्धात्म-प्राप्ति हेतु दृढ़ संकल्प लेकर आंशिक या पूर्ण संयम व व्रत के मार्ग पर चल पड़ता है और दर्शनात्मा व ज्ञानात्मा से चारित्रात्मा बन जाता है, तब मोक्षमार्ग का द्वितीय सोपान प्रारम्भ होता है। व्रत का प्रारम्भ 'पाप-कर्मों से निवृत्ति' से होता है।

लौकिक दृष्टि से जैन श्रावक का आचार सामंजस्यपूर्ण हो—इस दृष्टि से परवर्ती आचार्यों ने धर्म के दो भेद लौकिक व पारलौकिक निर्धारित किए। सामान्य सम्यग्दृष्टि श्रावक लौकिक धर्म को प्रमुखता कभी-कभी देता है, किन्तु आंशिक विरति से युक्त श्रावक पारलौकिक धर्म को ही प्रमुखता देता है, साथ ही सम्यक्त्व व्रत में दूषण उत्पन्न न करने वाले लौकिक विधि-विधानों को भी सम्मान देता है। इसीलिए जैन शास्त्रों में लोक-विरुद्ध कार्यों को करने का निषेध किया गया है। किन्तु मानसिक स्तर पर, शास्त्रकारों की दृष्टि में विवाहादि लौकिक-धर्मों के प्रति सामान्य स्तर के व्यक्ति का ही प्रेम सम्भव है, अध्यात्मरत व्यक्ति का नहीं।

सागार व अनगार धर्म

धर्म या चारित्र के अधिकारी-भेद से भी दो भेद किए गए हैं—(१) सागार (गृहस्थ) धर्म, (२) अनगार (मुनि) धर्म। अनगार मुनि हिंसादि पापों का यावज्जीवन सर्वथा त्यागी व सकल चारित्र का आराधक होता है, किन्तु सागार या गृहस्थ (या उपासक) देशचारित्री—पाँच पापों का एकदेश (आंशिक) त्यागी होता है।

गृहस्थ धर्म—गृहस्थ के लिए पांच अणुव्रतों या अष्ट मूल-गुणो (पाच अणुव्रत तथा तीन मकार-त्याग)[1] का पालन आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, साधक के लिए सप्त शील-व्रतों (तीन गुणव्रतों तथा चार शिक्षाव्रतो) का पालन अपेक्षित है। तीन गुणव्रत हैं—(१) दिग्व्रत (सावद्य क्रियाओ के क्षेत्र को सीमित करने के उद्देश्य से अपने गमनागमन के क्षेत्र की मर्यादा बाधना)। (२) देशव्रत (मर्यादित क्षेत्र मे भी स्थान-विशेष की मर्यादा बाधना)। (३) अनर्थदण्डविरति (सावद्य कार्यों को निष्प्रयोजन न करने का विधान)। चार शिक्षाव्रत हैं—(१) सामायिक (विषयादि निवृत्ति व रागद्वेष त्यागपूर्वक, नियत काल तक समस्त पदार्थों में साम्य भाव का आलम्बन एवं आत्मद्रव्य की लीनता (समाधि का अभ्यास)। (२) प्रोषधोपवास (पर्व-दिनों—अष्टमी व चतुर्दशी के दिनों मे अशनादि चतुर्विध आहार का त्याग, एवं धर्म-कार्य मे समय-यापन)। (३) भोगोपभोग परिमाण (भोगोपभोगों के साधनों की संख्या या परिमाण को मर्यादित करना)। (४) अतिथि संविभाग (अतिथि, विशेषतः साधु को आहारादि-दान)। किन्ही आचार्यों के मत मे सल्लेखना को शिक्षाव्रतो मे परिगणित किया गया है। सल्लेखना मे सब प्रकार की मोहममता को दूर कर शुद्ध आत्मस्वरूप के चिन्तन मे लीन रहने का अभ्यास करते हुए कषाय व शरीर को कृश करते हुए, मृत्यु को अंगीकार करना होता है। कुछ आचार्यों के मत मे अतिथि-पूजा, देशावकाशिक, वैयावृत्य, भोगोपभोग-परिमाण, दान—इन्हे भी शिक्षाव्रतों की श्रेणी में रखा गया है। गुणव्रतों से अणुव्रतों का उपकार होता है, वहाँ शिक्षाव्रतो से मुनिपद की शिक्षा (प्राथमिक पूर्वाभ्यास) मिलती है।

जैन शास्त्रो मे गृहस्थोचित सामान्य कर्तव्यों के रूप मे सप्तव्यसन-त्याग (द्यूत, मांस, मद्य, वेश्या, पर-स्त्री—इनका सेवन न करना, साथ ही चोरी व शिकार का त्याग), आवश्यक षट् कर्म (देवपूजा, गुरुपूजा, स्वाध्याय, संयम, तप, दान) आदि कार्यों का भी विधान किया गया है। रयणसार में श्रावकोचित तिरपन (५३) क्रियाओ का निरूपण है। सामान्य जैन श्रावक भी भावनात्मक रूप से समस्त संसार का शुभाकांक्षी तथा प्रियभाषी व सन्तोषी होता है। दैनिक प्रार्थना मे वह प्राणियों से मैत्रीभाव की कामना करता है तथा देश व राष्ट्र मे सुख-शान्ति की अभिलाषा प्रकट करता है।

व्रती श्रावक की धार्मिक साधना के क्रमिक सोपान को (रागादिक्षय के तारतम्य के अनुसार) ग्यारह प्रतिमाओं के रूप मे वर्णित किया गया है। प्रतिमाधारी श्रावक की 'नैष्ठिक श्रावक' संज्ञा है। प्रतिमा-धारण से पहले वह 'पाक्षिक श्रावक' कहलाता है। ग्यारह प्रतिमा का धर्म तथा पाक्षिक श्रावक का धर्म—इस प्रकार श्रावक धर्म के बारह भेद भी प्रतिपादित किए गए हैं।

दसवी व ग्यारहवी प्रतिमा का धारक 'उत्तम श्रावक' होता है जो सभी प्रकार के सावद्य कर्मों मे या लौकिक कार्यों मे किसी प्रकार की अनुमोदना से भी पूर्णतः विरत होता हुआ, अन्त मे गृह-त्याग कर भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन तथा अल्पतम वस्त्र धारण करता है। एक ही वस्त्र का धारक 'क्षुल्लक', तथा केवल लगोटी का धारक 'ऐलक' कहा जाता है। सातवी, आठवी, नवी प्रतिमा का धारक 'मध्यम श्रावक' होता है जो 'वर्णी' या 'ब्रह्मचारी' नाम से भी पुकारा जाता है। उक्त श्रावक स्वपत्नी-सहवास का त्यागी, हिंसा व परिग्रह से विरक्त होता है। इसमे नीचे की प्रतिमाओ मे 'जघन्य श्रावक' होता है, जो भूमिकानुसार निर्दिष्ट व्रतों का नियमित पालन करता है। इन प्रतिमाओ के नाम हैं—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभोजन-त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह-त्याग, अनुमति त्याग, उद्दिष्ट त्याग। जीवन के अन्त मे सल्लेखना-वृत्ति को अंगीकार करने वाला 'साधक श्रावक' कहलाता है। साधना के मार्ग को कई सोपानों में बाटा गया है। इन सोपानों को 'गुणस्थान' कहा जाता है जिनकी संख्या १४ है। व्रती या प्रतिमाधारी श्रावक की स्थिति पांचवें गुणस्थान में मानी गई है।

अनगार धर्म—वस्तुत. अनगार-धर्म ही जैन श्रावक के लिए प्रमुखत: आचरणीय व उपदेष्टव्य है। जो इस अनगार-धर्म को पालन करने मे अशक्त है किन्तु भविष्य मे मुनि-पद प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है, उसके लिए ही गृहस्थ धर्म का उपदेश कहा गया है। अनगार-धर्म ही मोक्ष-प्राप्ति का साक्षात् कारण है।

मुनि के लिए ज्ञान, संयम व वैराग्य से सम्पन्न होना जरूरी है। बिना वीरता के कोई सुभट, तथा बिना सुहाग-चिह्न के कोई स्त्री सुशोभित नहीं होती, वैसे ज्ञान व संयम के बिना मुनि शोभित नहीं होता। मुनियों के लिए २८ मूलगुणों का पालन अपेक्षित माना

---

१. सत्य, अहिंसा, अचौर्य ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—इनका आंशिक पालन पांच अणुव्रत हैं। मद्यत्याग, मधुत्याग, मांसत्याग—ये तीन मकारों का त्याग है। किन्ही आचार्यों के मत मे देवदर्शन, दया, जल-गालन (जल छानकर पीना), रात्रि-भोजन त्याग, पांच उदुम्बर फलों के त्याग को अष्ट मूलगुणों में परिगणित किया गया है।

गया है। पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रिय-निरोध, छः आवश्यक, केशलोच, अचेलक्य (निर्वस्त्रता), अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थितिभोजन (खड़े होकर कर-पात्र भोजन), एक भक्त (दिन में एक बार भोजन)- ये अठाईस मूलगुण हैं। मूलगुणों के अनुरूप साधु के उत्तर गुणों का भी निरूपण शास्त्रों में किया गया है जिनकी संख्या चौरासी लाख तक बताई गई है। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह—इन पाँचों का पूर्णतः त्याग पांच महाव्रत हैं। गमनागमन, भाषण, एषणा (भोजन ग्रहण), उपकरणों का रखना-उठाना, उत्सर्ग (मूत्र-मलादि विसर्जन)—इन कार्यों को शास्त्रोक्त दोषरहित रीति से संयमपूर्वक करना—ये पांच समितियां हैं। सामायिक (त्रिकाल देववन्दना व नियत काल तक समता भाव का धारण), अर्हदादि-स्तुति, अर्हदादि-वन्दना, प्रतिक्रमण (व्रतों में उत्पन्न दोषों का निन्दापूर्वक शोधन) ,प्रत्याख्यान (मन-वचन-काया से भावी दोषों का त्याग), कायोत्सर्ग (शरीर से नियत काल तक ममत्व का त्याग)—ये छः आवश्यक क्रियाएं हैं।

पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति—इन तेरह (चरण) कर्तव्यों को भी मुनि धर्म के रूप में निरूपित किया गया है। मन, वचन व शरीर को असत् व्यापारों से निवृत्त करना या परिमित काल पर्यन्त सर्वयोगों का निग्रह करना 'गुप्ति' है। गुप्ति में असमर्थ व्यक्ति की स्थिति में या कायादि प्रवृत्ति में अहिंसादि दोष न लगे—ऐसी सम्यक् प्रवृत्ति करना, या प्रमाद न होने देना 'समिति' है। 'समिति' असंयम रूप परिणामों से होने वाले कर्मों के आस्रव को रोक देती है। 'गुप्ति' के कारण आत्मा का रत्नत्रय अपने प्रतिपक्षी मिथ्यात्वादि भावों से सुरक्षित रहता है।

कर्मों से मुक्ति पाने की प्रक्रिया में नये कर्मों के आगमन को रोकना (संवर), तथा गृहीत कर्मों की निर्जरा (एकदेश क्षय)—दोनों जरूरी हैं। संवर व निर्जरा के लिए 'श्रमणोचित धर्म' को सशक्त कारणों में परिगणित किया गया है, और इसके दश भेद भी जैन शास्त्रों में प्रतिपादित किये गए हैं—(१) उत्तम क्षमा, (२) उत्तम मार्दव, (३) उत्तम आर्जव, (४) उत्तम शौच, (५) उत्तम सत्य, (६) उत्तम संयम, (७) उत्तम तप, (८) उत्तम त्याग, (९) उत्तम आकिञ्चन्य, (१०) उत्तम ब्रह्मचर्य। ये दशविध धर्म मुख्यतः साधुओं (अनगार) के लिए कहे गए हैं, किन्तु श्रावकों को भी यथाशक्ति इनका परिपालन करना अपेक्षित बताया गया है। उक्त दशविध धर्मों के परिपालक साधक के पाप-प्रकृतियों का क्षय होता है, तथा प्रशस्त राग के सद्भाव में पुण्य-प्रकृतियों की उत्पत्ति होती है, यद्यपि साधक पुण्य-बन्ध का इच्छुक नहीं होता। जिस सम्यक् चारित्र की चर्चा ऊपर की गई है, उसे 'संयम' धर्म में समाविष्ट समझना चाहिए। दशविध धर्मों में परिगणित उक्त 'संयम धर्म' विशिष्ट चारित्र रूप में साधक को मोक्ष तक पहुंचाने में समर्थ है। 'चारित्र' के ५ भेद शास्त्रों में वर्णित हैं जो मोक्ष-साधना से सम्बद्ध विविध भूमिकाओं को भी इंगित करते हैं। वे भेद हैं—(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापना, (३) परिहार विशुद्धि, (४) सूक्ष्म साम्पराय, (५) यथाख्यात।

सर्वदा के लिए, या नियत काल के लिए सर्वसावद्य कर्मों का त्याग—'सामायिक चारित्र' है। प्रमादादि के कारण व्रत-भंग होने पर, प्रायश्चित्त-पूर्वक पुनः व्रत का धारण 'छेदोपस्थापना चारित्र' है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य—इत्यादि व्रतों का पृथक्-पृथक् रूप से (भेद-विकल्प के साथ) धारण भी 'छेदोपस्थापना चारित्र' है। विशिष्ट शारीरिक साधना तथा शास्त्राध्ययन द्वारा जिस साधक को इतना अभ्यास हो गया है कि आचरण में कहीं भी जीवहिंसा न हो पाए, उस साधक की चारित्रिक विशुद्धि 'परिहार विशुद्धि चारित्र' कहलाती है। समस्त कषायों के उपशान्त या क्षीण होने पर, मात्र सूक्ष्म लोभ का सद्भाव रह, ऐसी स्थिति में 'सूक्ष्म साम्पराय चारित्र' कहा जाता है। चारित्र-मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय होने पर 'यथाख्यात चारित्र' कहा जाता है।

यहां पर उल्लेखनीय है कि दिगम्बर-परम्परा का उक्त उत्तम 'धर्म' इस पंचमकाल में भी उच्छिन्न नहीं हुआ है। आज भी निर्दोष मुनि-चर्या वाले साधु अवश्य हैं। परमपूज्य चारित्र-चक्रवर्ती आ० श्री शान्तिसागर जी महाराज की उत्तम साधु परम्परा में वर्तमान में परम पूज्य आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषण जी महाराज पूरे भारत में धर्म-प्रभावना हेतु विचरण कर रहे हैं। उन्हीं के सुयोग्यतम प्रसिद्ध शिष्य पूज्य एलाचार्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्द जी महाराज भी एक विशिष्ट धर्म-प्रभावक तथा अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी व अध्यात्मयोगी के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। हम सब की यह कामना स्वाभाविक है कि पूज्य आचार्य श्री दीर्घजीवी हों और हम सब को उत्तम धर्म व सदाचार की शिक्षा उनसे ग्रहण करते रहने का सौभाग्य प्राप्त होता रहे और हम सद्गति की दिशा में बढ़ते रहें।

डॉ० दामोदर शास्त्री

उपाचार्य (रीडर) व अध्यक्ष,
जैन दर्शन विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री
केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, शिक्षा मन्त्रालय,
भारत सरकार, कटवारिया सराय,
नई दिल्ली—११००१६

जैन साधना में ध्यान : स्वरूप और दर्शन

देवेन्द्र मुनि शास्त्री

साधना-पद्धति में ध्यान का अत्यधिक महत्त्व रहा है। कोई भी आध्यात्मिक धारा उसके बिना अपने साध्य तक नहीं पहुंच सकती है। यही कारण है, भारत की सभी परम्पराओं ने ध्यान को महत्त्व दिया है। उपनिषद्-साहित्य में[१] ध्यान का महत्त्व प्रतिपादित है। आचार्य पतंजलि ने योगदर्शन में उसके महत्त्व को स्वीकृत किया है। तथागत बुद्ध ने भी ध्यान को बहुत महत्त्व दिया था। भगवान् महावीर ने ध्यान का गहराई से विश्लेषण किया है।

ध्यानशतक[२] मे मन की दो अवस्थाएं बताई हैं—(१) चल अवस्था, (२) स्थिर अवस्था। चल अवस्था चित्त है और स्थिर अवस्था ध्यान है। चित्त और ध्यान— ये मन के ही दो रूप है। जब मन एकाग्र, निरुद्ध और गुप्त होता है तब वह ध्यान होता है। 'ध्यै चिन्तायाम्' धातु से ध्यान शब्द निष्पन्न हुआ है। शब्दोत्पत्ति की दृष्टि से ध्यान का अर्थ चिन्तन है। पर प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ उससे जरा पृथक् है। ध्यान का अर्थ है चित्त को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर करना।[३] आचार्य उमास्वाति ने[४] लिखा है—"एकाग्र चिंता तथा शरीर, वाणी और मन का निरोध ध्यान है।" इससे स्पष्ट है कि जैन परपरा में ध्यान का संबंध केवल मन से ही नहीं है अपितु शरीर, वाणी और मन की एकाग्र प्रवृत्ति की निष्प्रकम्प स्थिति ही ध्यान है। आचार्य पतजलि ने ध्यान का सम्बन्ध केवल मन से माना है।[५] उनका अभिमत है जिसमें धारणा की गई हो उस देश में ध्येय-विषयक ज्ञान की एकतानता, जो अन्य ज्ञान से अपरामृष्ट हो, वह ध्यान है। सदृश प्रवाह से तात्पर्य है जिस ध्येय विषयक प्रथम वृत्ति हो उसी विषय की द्वितीय और तृतीय हो।[६] ध्येय से अन्य ज्ञान बीच मे न हो। पतजलि ने एकाग्रता और निरोध ये दोनों चित्त के ही माने है। गरुड पुराण में[७] ब्रह्म और आत्मा की चिन्ता को ध्यान कहा है।

विशुद्धिमग्ग[८] के अनुसार ध्यान मानसिक है। पर जैनाचार्यों की यह विशिष्टता रही है कि उन्होने ध्यान को मानसिक ही नही माना, किन्तु वाचिक और कायिक भी माना है। पतजलि ने[९] जिसे सप्रज्ञात समाधि कहा है, वह जैन परिभाषा में शुक्ल ध्यान का पूर्व चरण है। पतंजलि ने जिसे असप्रज्ञात समाधि कहा है, उसे जैन परम्परा मे शुक्ल ध्यान का उत्तर चरण कहा है।[१०] जो केवलज्ञानी है उसके केवल निरोधात्मक ध्यान होता है, पर जो केवलज्ञानी नही है उसके एकाग्रतात्मक और निरोधात्मक ये दोनो प्रकार के ध्यान होते हैं। आचार्य भद्रबाहु के सामने एक प्रश्न समुत्पन्न हुआ कि यदि ध्यान का अर्थ मानसिक एकाग्रता ही है तो उसकी सगति जैन परंपरा, जो मानसिक, वाचिक और कायिक एकाग्रता को ही ध्यान मानती है, उसके साथ किस प्रकार हो सकती है?[११] आचार्य भद्रबाहु ने प्रस्तुत प्रश्न का

---

१. छान्दोग्योपनिषद्, ७-६, १ २

२. ज थिरमज्झवसाण त झाण, ज चल तय चित्त। ध्यानशतक, २

३. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा, १४,६३

४ उत्तमसहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। तत्त्वार्थसूत्र, ९ २७

५. पातंजल योगदर्शन, ३ २

६. वही

७. ब्रह्मात्मचिन्ता ध्यान स्यात्। गरुडपुराण, अ० ४८

८. विसुद्धिमग्ग, पृ० १४१-४१

९. तत्र पृथक्त्ववितर्क-सविचारैकत्ववितर्काविचाराख्यशुक्लध्यानभेदद्वये, सप्रज्ञात. समाधिवस्यर्थानां सम्यग्ज्ञानात्। पातजल योगसूत्र, यशोविजय, १/१८

१०. वही,

११. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४६७

समाधान देते हुए कहा—शरीर में वात, पित्त और कफ ये तीन धातु हैं। उनमे से जो प्रचुर होता है, उसी का व्यपदेश किया जाता है। जैसे, वायु कुपित होने पर 'वायु कुपित है' ऐसा कहा जाता है। उसका तात्पर्य यह नही कि पित्त और श्लेष्मा ठीक हैं। इसी तरह, मन की एकाग्रता ध्यान है—यह परिभाषा भी मन की प्रधानता को संलक्ष्य मे रखकर की गई है।[1]

मेरा शरीर अकंपित हो, इस तरह दृढ सकल्प करके जो स्थिर-काय बनता है, उसे कायिक ध्यान कहते हैं।[2] इसी तरह दृढ संकल्प-पूर्वक अकथनीय भाषा का परित्याग करना वाचिक ध्यान है[3] और जहां पर मन एकाग्र होकर अपने लक्ष्य के प्रति संलग्न होता है, शरीर और वाणी भी उसी लक्ष्य की ओर लगते हैं, वहां पर मानसिक, वाचिक और कायिक—ये तीनो ध्यान एक साथ हो जाते हैं।[4] मन सहित काया और वाणी को जब एकरूपता मिलती है तो वह पूर्ण ध्यान है। उसमें अखण्डता होती है, एकाग्रता होती है। एकाग्रता स्वाध्याय मे भी होती है और ध्यान में भी, किन्तु स्वाध्याय मे एकाग्रता घनीभूत नही होती।

ध्यान मे चेतना की वह अवस्था है जो अपने आलबन के प्रति पूर्णतया एकाग्र होती है। एकाग्र चिन्तन ध्यान है। चेतना के विराट् आलोक में चित्त विलीन हो जाता है वह ध्यान है। अतीत काल मे त्रियोग के निरुन्धन को ध्यान कहा गया, पर उसके बाद आचार्य पतंजलि आदि के प्रभाव से जैनाचार्यों ने भी ध्यान की परिभाषाओ मे कुछ परिवर्तन किया। वहा पर वाचिक और कायिक एकाग्रता को कम करके मानसिक एकाग्रता पर बल दिया। आचार्य भद्रबाहु ने चित्त को किसी भी विषय मे स्थिर करने को ध्यान कहा है।[5] आचार्य हेमचन्द्र ने[6] भी 'अभिधानचिंतामणि कोश' मे इसी परिभाषा को दुहराया है। उन्होने कहा— अपने विषय मे मन का एकाग्र हो जाना ध्यान है।

जहा तक चित्त स्थिर नही होगा वहा तक सवर और निर्जरा नही हो सकती और बिना सवर और निर्जरा के ध्येय की प्राप्ति नहीं होती। सामान्य रूप से मानव की शक्तिया इधर-उधर बिखरी हुई रहती हैं। सिनेमा के चलचित्र की तरह प्रतिपल-प्रतिक्षण उसके विचार परिवर्तित होते रहते हैं। जब तक विकेन्द्रित विचार एकाग्र नही बनते वहा तक सिद्धि नही मिलती, भले ही उससे प्रसिद्धि मिल जाए। यही कारण है श्रीमद्भगवद्गीता[7], मनुस्मृति[8], रघुवश[9] और अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक[10] मे ध्यान का महत्त्व बताते हुए स्पष्ट कहा है—**ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते**। ज्ञान से ध्यान बढकर है। ध्यान से मन स्थिर और शान्त हो जाता है। इसलिए उसमे बुद्धि की स्फुरणा होती है—**स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति**।

चित्त को किसी एक केन्द्र पर स्थिर करना अत्यन्त कठिन है। यह सत्य है कि किसी भी एक विषय पर अन्तर्मुहूर्त से अधिक मन स्थिर नहीं हो सकता।[11] जब तक हम चंचल मन पर विजय-वैजयती नही फहराते, तब तक ध्यान सम्भव नही।[12] जैसे जलाशय मे हर क्षण तरंगें तरगित होती रहती हैं वैसे ही मन मे विचार-तरगें उठती है। इन उठी हुई तरगो को स्थिर करना ध्यान है। जिसने मन को जीता ही नही है, वह ध्यान क्या करेगा? मन को बिना वश मे किये ध्यान सिद्ध नही हो सकता। मलिन दर्पण मे रूप नही निहारा जा सकता, वैसे ही रागादि भावयुक्त मन से शुद्ध आत्म-स्वरूप का चिन्तन नही किया जा सकता।

आराधनासार[13] मे आचार्य ने यहा तक कहा है—प्रकाण्ड विद्वत्ता भी प्राप्त की हो, पर यदि सम्यक् प्रकार से ध्यान नही किया गया है तो सभी निरर्थक है। क्योकि उस विद्वत्ता से आकुलता-व्याकुलता नही मिटेगी। आकुलता और व्याकुलता को मिटाने के लिए ध्यान एक सजीवनी बूटी है। ध्यान करते समय पूर्व सस्कारो के कारण यदि मन मे चचलता आये, तो घबराकर ध्यान छोडने की आवश्यकता नही है। क्योंकि निरन्तर अभ्यास से शनैः-शनैः वह चचलता भी नष्ट हो जाती है।

ध्यान के यो अनेक भेद-प्रभेद किये जा सकते हैं, पर मुख्य रूप मे ध्यान के दो भेद होते हैं—(१) अप्रशस्त ध्यान और (२) प्रशस्त

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा, १४६८-६६
२. वही, १४७४
३. वही, १४७६-७७
४. वही, १४७८
५. वही, १४५६, चित्तस्सेगग्गया हवइ झाण।
६. ध्यान तु विषये तस्मिन्नेकप्रत्ययसततिः। अभिधानचिंतामणि कोष, १/८४
७. श्रीमद्भगवद्गीता, १२/१२
८. मनुस्मृति, १/१२/६-७२
६. रघुवश, १/७३
१०. शाकुन्तल नाटक, ७
११. (क) ध्यानशतक, ३, (ख) तत्त्वार्थसूत्र, ६/२८, (ग) योगप्रदीप, १५/३३
१२. ध्यानशतक, ८
१३. आराधनासार, १११

ध्यान। उसे अशुभ और शुभ ध्यान भी कह सकते हैं। आर्त ध्यान और रौद्रध्यान ये दो ध्यान अप्रशस्त हैं और कर्म-बंधन के कारण हैं। धर्म और शुक्ल ध्यान, ये दोनों प्रशस्त ध्यान हैं।

वैदिक परंपरा ने उन्हें क्लिष्ट और अक्लिष्ट ध्यान की संज्ञा दी है। आचार्य बुद्धघोष ने प्रशस्त ध्यान के लिए कुशल शब्द का और अप्रशस्त ध्यान के लिए अकुशल शब्द का प्रयोग किया है। कुशल ध्यान से समाधि होती है क्योंकि वह अकुशल कर्मों का दहन करता है।[1] जो ध्याया जाए वह ध्येय है और ध्याता का ध्येय में स्थिर होना ध्यान है।[2] निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा अपने आत्मा मे अपने आत्मा द्वारा अपने आत्मा के लिए अपने आत्मा के हेतु से और अपने आत्मा का ध्यान करता है, वही ध्यान कहलाता है।[3] यह प्रशस्त ध्यान ही मोक्ष का हेतु है।[4]

ज्ञानार्णव मे[5] ध्यान के अशुभ, शुभ और शुद्ध — ये तीन भेद किये गये हैं और जो अन्तत. आर्त, रौद्र आदि चार ध्यानो में ही समाविष्ट हो जाते हैं।

(आचार्य शुभचन्द्र[6] और हेमचन्द्र ने[7] धर्मध्यान पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत, के इन चार अवान्तर भेदों का वर्णन किया है।) धर्मध्यान के मौलिक रूप आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय और संस्थान-विचय के स्थान पर पिण्डस्थ आदि ध्यान प्राप्त होते हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य-भावना के स्थान पर पार्थिवी, आग्नेयी, वारुणी और मारुति, ये चार धारणाएं मिलती हैं। सम्भव है, इस परिवर्तन का जन-जन के मन मे हठयोग और तंत्र शास्त्र के प्रति जो आकर्षण था जिसके कारण जैनाचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों मे उन विषयों का समावेश किया हो। विज्ञो का ऐसा मानना है पिण्डस्थ आदि जो ध्यान-चतुष्टय हैं उनका मूल स्रोत तंत्रशास्त्र रहा है। 'गुरुगीता' प्रभृति ग्रन्थो मे ध्यान-चतुष्टय का वर्णन प्राप्त होता है।

'नमस्कार-स्वाध्याय' मे[8] ध्यान के अट्ठाईस भेद और प्रभेद भी मिलते हैं। यदि हम गहराई से अनुचिन्तन करें तो ये सभी भेद-प्रभेद आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल मे समाविष्ट हो जाते है। हम यहा पर आर्त ध्यान और रौद्रध्यान के भेद-प्रभेद पर चिन्तन न कर सिर्फ धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान पर ही चिन्तन प्रस्तुत कर रहे है।

धर्म का अर्थ आत्मा को निर्मल बनाने वाला तत्त्व है। जिस पवित्र आचरण से आत्मा की शुद्धि होती है वह धर्म है। उस धर्म में आत्मा को स्थिर करना धर्म-ध्यान है। इसी धर्म-ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा आत्मा कर्मरूपी काष्ठ को जलाकर भस्म करता है और अपना शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध, निरंजन स्वरूप प्राप्त कर लेता है।[9] धर्म-ध्यान के भगवती[10], स्थानांग[11] और औपपातिक[12] आदि में आज्ञाविचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय, संस्थान-विचय ये चार प्रकार हैं। यहां विचय का अर्थ निर्णय अथवा विचार है। वीतराग भगवान की जो आज्ञा है, उनका निवृत्तिमय उपदेश है उसपर दृढ आस्था रखते हुए उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलना एव निषिद्ध कार्यों का परित्याग करना, क्योंकि कहा है — आणाए तओ, आणाए संजमो,[13] आणाए मामग धम्म।[14] यह धर्म-ध्यान का प्रथम भेद आज्ञा-विचय है।

अपाय-विचय—अपाय का अर्थ दोष या दुर्गुण है। आत्मा अनन्त काल से मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग के कारण इस विश्व मे परिभ्रमण कर रहा है। इन दोषो से आत्मा किस प्रकार मुक्त हो सकता है, दोषो की विशुद्धि कैसे हो सकती है—इस विषय पर चिन्तन करना अपाय-विचय है।

विपाक-विचय— आत्मा जिन दोषो के कारण कर्म का बंधन करता है, मोह की मदिरा पीने के कारण कर्म बांधते समय अत्यन्त

---

१. विसुद्धिमग्ग
२. (क) तत्त्वानुशासन, ६६. (ख) इष्टोपदेश, ४७
३. तत्त्वानुशासन, ७४
४. (क) वही, ३४, (ख) ज्ञानार्णव, २५, ३१
५. ज्ञानार्णव, ३ ३८
६. वही, ३७·१
७. योगशास्त्र, ७/८
८. नमस्कारस्वाध्याय ग्रन्थ, पृ० २२५
९. ध्यानाग्निदग्धकर्मा तु सिद्धात्मा स्यान्निरंजन । हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र, ४ ४ ।
१०. भगवती, २५/७
११. स्थानांग, ४/१
१२. औपपातिक, समवसरण प्रकरण, १९
१३. संबोधसत्तरि, ३२
१४. आचारांग, ६/२

आह्लादित होता है। पर ज्ञानी आत्मा कर्मों के विपाक को समझता है। वह जानता है कि आसक्ति-अज्ञान-मोह से बांधे हुए कर्मों का विपाक जब होता है तो अत्यन्त कष्ट होता है। सुख-विपाक और दुःख-विपाक मे कथाओ के माध्यम से उन विपाको पर चिन्तन किया है। इस ध्यान में कटु परिणामों पर चिन्तन होता है और उनसे बचने का संकल्प किया जाता है।

संस्थान-विचय—संस्थान का अर्थ आकार है। लोक के आकार पर चिन्तन करते हुए—मेरा आत्मा इन विविध योनियों में परिभ्रमण करके आया है—ऐसा विचारकर आत्म-स्वरूप का चिन्तन करना।

धर्मध्यान करने वाले साधक के लक्षण और उपलबन इस प्रकार हैं—धर्मध्यान के चार लक्षणों में सर्वप्रथम लक्षण (१) आज्ञारुचि है। यहां पर रुचि का अर्थ विश्वास, गहरी निष्ठा है। जिनेश्वर देव की आज्ञा मे व सद्गुरुजनो की आज्ञा मे पूर्ण विश्वास रखना, उस पर आचरण करना। यदि जिनेश्वर देव की आज्ञा में और जिनेश्वर देव पर निष्ठा नही है, उस कार्य को करने की लगन नही है तो वह कार्य किस प्रकार कर सकेगा? इसलिए सर्वप्रथम जिनाज्ञा में रुचि होना आवश्यक है। दूसरी निसर्ग रुचि है। धर्म पर और सर्वज्ञ पर सहज श्रद्धा होती है। उस श्रद्धा का कारण बाह्य न होकर 'दर्शनमोहनीय' कर्म का क्षयोपक्षम होता है जिसके कारण सहज रुचि होती है।

तृतीय है सूत्र-रुचि। जिन-वाणी को सुनने की जो रुचि होती है वह 'सूत्ररुचि' है। जब तक शास्त्र श्रवण करने की रुचि न होगी, वहां धर्म के गम्भीर रहस्य ज्ञात नहीं हो सकते। इसलिए यह रुचि आवश्यक है। चतुर्थ है अवगाढ रुचि। अवगाढ का अर्थ गहराई मे अवगाहन करना है। नदी, समुद्र या जलाशय में गहराई से डुबकी लगाना अवगाहन कहलाता है। मानव शास्त्रो का अध्ययन करता है, पर जब तक उस शास्त्र मे अवगाहन नही करता, उसके अर्थ पर चिन्तन नही करता, तब तक उसके गुरुगम्भीर रहस्य का परिज्ञान नहीं होता। अवगाहन करने की रुचि से ही आगम के रत्न उपलब्ध होते हैं। इन चार लक्षणो से धर्मध्यानी की आत्मा की पहचान की जाती है। धर्मध्यान के चार आलंबन हैं—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और धर्मकथा।[1] इन चार आलम्बनों से धर्मध्यान मे स्थैर्य प्राप्त होता है।

धर्मध्यान की चार भावनाएं बताई गई हैं—एकत्वानुप्रेक्षा, अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा, ससारानुप्रेक्षा।[2] इन चार भावनाओ से मन में वैराग्य की लहरें तरंगित होती हैं। सासारिक वस्तुओ के प्रति आकर्षण कम हो जाता है। और आत्मा शान्ति के क्षणों मे विचरण करता है।

जैनाचार्यों ने ध्येय के सम्बन्ध मे कहा है कि ध्येय तीन प्रकार का होता है—(१) परालबन—दूसरो का आलंबन लेकर मन को स्थिर करने का जो प्रयास किया जाता है। जैसे एक पुद्गल पर दृष्टि को स्थिर रखकर ध्यान करना। भगवान महावीर ने इस प्रकार का ध्यान किया था। (२) स्वरूपालंबन—बाह्य दृष्टि बन्द करके कल्पना के नेत्रो मे स्वरूप का चिन्तन करना। इस आलंबन मे अनेक प्रकार की कल्पनाएं संजोई जाती हैं। आचार्य हेमचन्द्र और शुभचन्द्र ने पिण्डस्थ-पदस्थ आदि जो ध्यान व धारणा के प्रकार बताये हैं, वे सभी इसी के अन्तर्गत आते हैं। (३) ध्येय-निरवलंबन है। इसमे किसी प्रकार का अवलबन नही होता। मन विचारो से पूर्णतया शून्य होता है। न मन में किसी प्रकार के विचार होते हैं और न विकल्प ही।

स्वरूपालम्बन में पिण्डस्थ आदि ध्यान के सम्बन्ध में बताया है, उनका स्वरूप इस प्रकार है—पिण्डस्थ ध्यान—पिण्ड का अर्थ शरीर है। एकान्त शान्त स्थान पर बैठकर पिण्ड मे स्थित आत्मदेव का ध्यान करना पिण्डस्थ ध्यान है। इसमे विशुद्ध आत्मा का चिन्तन किया गया है। प्रस्तुत ध्यान करने के लिए साधक वीरासन, पद्मासन, सुखासन, सिद्धासन या किसी भी आसन में बैठकर आंखें झुका ले, दृष्टि को नासाग्र पर स्थिर कर ले, मेरुदण्ड सीधा हो और स्थिर हो। यह ध्यानमुद्रा कहलाती है।[3] इस ध्यान-मुद्रा में अवस्थित होकर शरीरस्थ आत्मा का चिन्तन किया जाता है। साधक यह कल्पना करता है कि मेरा आत्मा पूर्ण निर्मल है। वह चन्द्र की तरह पूर्ण कान्तिमान है। वह मेरे शरीर में पुरुष-आकृति मे अवस्थित है। और वह स्फटिक-सिंहासन पर बैठा हुआ है। इस प्रकार की कमनीय कल्पना से आत्मस्वरूप पर चिन्तन करना।

पिण्डस्थ ध्यान की आ० हेमचन्द्र ने पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी, वारुणी और तत्त्वरूपवती ये पाच धारणाएं बताई हैं।[4] धारणा का अर्थ ध्येय में चित्त को स्थिर करना है।[5] अपने शरीर व आत्मा को पृथ्वी की पीतवर्ण कल्पना के साथ भावना पार्थिवी धारणा है। प्रस्तुत धारणा में मध्यलोक को क्षीर समुद्र के सदृश स्वच्छ जल से परिपूर्ण होने की कल्पना की जाती है। उस क्षीर समुद्र मे एक हजार दल वाले स्वर्ण-समान चमकते हुए कमल की कल्पना करें। उस कमल के बीच स्वर्णमय मेरुपर्वत की कल्पना करें। उस मेरुपर्वत के उच्चतम शिखर पर पाण्डुक वन

---

१. देखिए : जैन आचार, पृ० ५१८

२. वही, 'अनुप्रेक्षा एक अनुचिन्तन' लेख

३. अन्तश्चेतो बहिश्चक्षुरधः स्थाप्य सुखासनम्।
समत्वं च शरीरस्य ध्यानमुद्रेति कथ्यते॥ गोरक्षाशतक, ६५

४. योगशास्त्र, ७/६

५. धारणा तु क्वचिद् ध्येये चित्तस्य स्थिरबन्धनम्। अभिधानचिंतामणि कोष,] १/८४

में पाण्डुक शिला पर उज्ज्वल स्फटिक-सिंहासन सुशोभित हो रहा है, उस सिंहासन पर मेरा आत्मा योगी के रूप में आसीन है। इस प्रकार की कल्पना से उसका मन स्थिर हो जाता है। याज्ञवल्क्य[1] के अनुसार पृथ्वी-धारणा सिद्ध होने पर शरीर में किसी प्रकार का रोग नहीं होता।

आग्नेयी धारणा

पार्थिवी धारणा के पश्चात् साधक आग्नेयी धारणा मे प्रविष्ट होता है। वह कल्पना करता है कि आत्मा सिंहासन पर विराजमान होकर नाभि के भीतर हृदय की ओर ऊपर मुख किये हुए सोलह पंखुड़ियों वाले रक्त कमल या श्वेत कमल की कल्पना की जाती है। और उन पंखुड़ियों पर अ, आ, ई, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः इन स्वरों की स्थापना की जाती है और कमल के मध्य में 'र्हं' अक्षर की कल्पना की जाती है। कमल के ठीक ऊपर हृदय-स्थान मे नीचे की ओर मुख किये हुए औंधे मुख वाले मटिया रंग के कमल की कल्पना की जाती है। और उसके प्रत्येक पत्ते पर श्याम रंग से लिखे हुए आठ कर्मों का चिन्तन किया जाता है। प्रस्तुत चिन्तन में नाभि में स्थित कमल के बीच लिखे हुए 'र्हं' अक्षर के ऊपरी सिरे रेफ में से धुआं निकल रहा है—इस प्रकार कल्पना की जाती है। उसी के साथ रक्त वर्ण की ज्वाला को भी कल्पना से अवलोकन करना चाहिए और वह ज्वाला प्रतिपल बढ़ती हुई आठ कर्मों को जला देती है। कमल के मध्य भाग को छेदकर ज्वाला मस्तक तक पहुंच जाए फिर यह चिन्तन करे कि ज्वाला की एक रेखा बाईं ओर से और दूसरी रेखा दाईं ओर से निकल रही है। और दोनों ज्वाला-रेखाएं नीचे आकर पुन: मिल जाती हैं। इस आकृति से शरीर के बाहर तीन कोणवाला अग्नि-मंडल बनता है। उस अग्निमंडल से तीव्र ज्वालाएं धधकती हैं जिससे आठो कर्म भस्म हो जाते हैं। और आत्मा तेज रूप में दमकता है। उसके दिव्य आलोक में साधक अपना प्रतिबिंब देखता है। उपनिषदो के अनुसार, जिसको आग्नेयी धारणा सिद्ध हुई हो उस योगी को धधकती हुई आग में डाल दिया जाये तो भी वह जलता नहीं है।

वायवी धारणा

आग्नेयी धारणा से कर्मों को भस्म कर देने के पश्चात् पवन की कल्पना की जाती है और उसके साथ मन को जोड़ते हैं। साधक चिंतन करता है कि तेज पवन चल रहा है, उस पवन से आठ कर्मों की राख अनन्त आकाश में उड़ गई है, नीचे हृदय-कमल सफेद और उज्ज्वल हो गया है। जिसे वायवी धारणा सिद्ध हो जाती है वह योगी आकाश में उड़ सकता है। वायु-रहित स्थान मे भी वह जीवित रह सकता है, और उसे वृद्धावस्था नही आती।

वारुणी धारणा

यह चतुर्थ धारणा है। पवन के आगे आकाश मे उमड़-घुमड़कर घटाए आ रही हैं, बिजली कौंध रही है, तेज वर्षा हो रही है और उस वर्षा से मेरे आत्मा पर लगी हुई कर्म-रूपी धूल नष्ट हो गयी है। आत्मा पूर्ण निर्मल और पवित्र हो गया है। कहा जाता है, जिसे जल-धारणा सिद्ध हो जाती है वह साधक अगाध जल मे भी डूबता नही। उसके समस्त ताप और पाप शान्त हो जाते हैं।[2]

तत्त्वरूपवती धारणा

इसे तत्त्वभूधारणा भी कहते हैं। इसे आकाश-धारणा भी कहा गया है। इस धारणा में साधक यह चिन्तन करता है—मुझ में अनन्त शक्तियां हैं। मैं आकाश के समान अनन्त हूं। जैसे आकाश पर किसी प्रकार का लेप नहीं होता, उसी तरह मुझ पर भी किसी प्रकार का लेप (आवरण) नहीं। वह आत्मस्वरूप का चिन्तन करता है।

इस तरह इस पिण्डस्थ ध्यान की पांच धारणाएं हैं। इन धारणाओं से साधक अपने ध्येय के सन्निकट पहुंचता है। इन धारणाओं के सिद्ध होने पर आत्म-शक्तियां अत्यधिक जाग्रत हो जाती हैं। इससे कोई भी शक्ति उसे पराभूत नहीं कर पाती।

पदस्थ ध्यान

ध्यान का दूसरा रूप पदस्थ है। पद का अर्थ अक्षरों पर मन को स्थिर करना। पवित्र पदों का अवलंबन लेकर चित्त को स्थिर किया जाता है।[3] इस ध्यान में मंत्र पदों की कल्पना से शरीर के विभिन्न स्थानों पर लिखा जाता है और उन अक्षरों को कल्पना-चक्षु से

---

१. योगवाशिष्ठ, निर्वाण-प्रकरण, पू० ८१ से ९२

२. वही

३. यत्पदानि पवित्राणि समालम्ब्य विधीयते ।
   तत्पदस्थं समाख्यातं ध्यानं सिद्धान्तपारगैः ॥ योगशास्त्र, ८/१

देखने का प्रयत्न किया जाता है। उन मंत्राक्षरों में एकात्मा की अनुभूति की जाती है। और वह उसी रूप में बनने का प्रयत्न करता है। जैसा ध्यान करता है वैसा ही साधक बन जाता है। यदि साधक रुद्र का चिन्तन करे तो रुद्र बनता है। और विष्णु का चिन्तन करे तो विष्णु। मनुष्य जिस स्वरूप का चिन्तन करता है उसी रूप मे बन जाता है। पदस्थ ध्यान मे उसी स्वरूप का चिन्तन किया जाता है।

पदस्थ ध्यान को सिद्ध करने हेतु कितने ही जैनाचार्यों ने सिद्ध चक्र की कल्पना की है। इस सिद्ध चक्र मे आठ पंखुडियो वाले श्वेत कमल की कल्पना की जाती है और उसके बीज कोश मे 'नमो अरिहंताणं' की कल्पना की जाती है और चारो दिशाओ में पखुडियों पर 'नमो सिद्धाणं', 'नमो आयरियाण', 'नमो उवज्झायाणं', 'नमो लोए सव्वसाहूण' इन चार पदो की स्थापना की जाती है, चार विदिशा में चार पंखुडियों पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप इन चार की कल्पना की जाती है। इन नौ पदो की स्थापना कर सिद्ध चक्र पर ध्यान किया जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के स्थान पर "एसो पंचनमुक्कारो सव्वपावपणासणो मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं" इन चार पदों की कल्पना की है। निरन्तर अभ्यास करने से आलबन मे अधिक दृढता आती है। इसी तरह अन्य मन्त्रों की भी स्थापना की जा सकती है। आगम के किसी पद को भी लेकर ध्यान किया जा सकता है। पर यह ध्यान रखना होगा कि मन को एक ही विचारधारा में प्रवाहित करना होगा।

सिद्धचक्र की तरह अविनाशी आत्मस्वरूप का भी ध्यान किया जाता है। उसमे नाभि-कमल, हृदय-कमल, मुख-कमल पर अक्षरों की संस्थापना करके प्रत्येक अक्षर पर मन से चिन्तन किया जाता है। जैसे नाभिकमल के मध्य में अर्हं लिखा है तो सर्वप्रथम अर्हं के भावार्थ पर, उसके स्वरूप पर चिन्तन करना चाहिए; उसके पश्चात् अ आ इ ई प्रभृति अक्षरो पर चिन्तन करना चाहिए। उदाहरणार्थ अ अक्षर अरिहंत, उसका स्वरूप, उस पद को प्राप्त करने का उपाय, उसके साथ ही 'अ' याने अजर-अमर आदि के स्वरूप पर चिन्तन करना। उसके बाद 'आ' याने आत्मा, उसके स्वरूप और उसके दर्शन की कमनीय कल्पना मे मन को भावित करना। जब चिन्तन-प्रवाह प्रारभ होगा तब मन उसमे स्थिर हो जाएगा। जब वहा से मन तृप्त हो जाए तब उसे हृदय-कमल पर षोडशदल कमल के एक-एक अक्षर पर मन को घुमाना चाहिए जैसे क यानी कर्म, कर्म से मुक्त होने का उपाय क्या है? ख याने खति याने क्षमा किस तरह मे धारण करनी चाहिए, आदि प्रत्येक अक्षर पर चिन्तन करना चाहिए। उसके पश्चात् मुख कमल पर ध्यान केन्द्रित किया जाय। इस तरह एक मुहूर्त तक मन-रूपी भौंरे को एक-एक अक्षर पर घुमाकर उसके अपूर्व आनन्द को लिया जा सकता है।

पदस्थ ध्यान में बीजाक्षरो पर भी चिन्तन किया जा सकता है। एकाक्षरी मंत्र ओ३म् आदि मंत्रो पर भी चिन्तन किया जाता है।

रूपस्थ ध्यान

रूपयुक्त तीर्थंकर आदि का चिन्तन करना।[1] साधक एकान्त शान्त स्थान पर बैठता है। आखें मूदकर हृदय की आखें खोल देता है। मन मे विविध प्रकार की कल्पनाए सजोता है। भगवान् का दिव्य समवसरण लगा हुआ है। मैं पावन प्रवचन-पीयूष का पान कर रहा हू और नेत्रो से परिषद को निहार रहा हू। इस प्रकार कल्पना करके रूप का ध्यान करना।

रूपातीत ध्यान

यह ध्यान का चतुर्थ प्रकार है। इसमे निरजन-निराकार के सिद्ध स्वरूप का ध्यान किया जाता है। आत्मा स्वयं को कर्ममल-मुक्त सिद्धस्वरूप मे अनुभव करता है। इस ध्यान मे किसी प्रकार की कोई कल्पना नही होती, न मन्त्र या पद का स्मरण होता है। साधक मन को इतना साध लेता है कि बिना किसी आलबन के मन को स्थिर कर लेना है। वह यह जानता है कि मैं अरूप हू, जो कुछ भी दिखाई दे रहा है वह आत्मा का स्वभाव नही है, वरन् कर्मों का स्वभाव है। यह ध्यान विचारशून्य होता है। इस ध्यान तक पहुंचने के लिए प्रारंभिक भूमिका अपेक्षित है। इस ध्यान मे ध्याता, ध्येय और ध्यान रूप मिट जाते हैं; जैसे नदिया समुद्र मे अपना अस्तित्व समाप्त कर देती हैं वैसे ही ध्याता और ध्यान भी एकाकार हो जाते हैं।

शुक्ल ध्यान

यह ध्यान की सर्वोत्कृष्ट दशा है। जब मन मे से विषय-वासनाए नष्ट हो जाती हैं तो वह पूर्ण विशुद्ध हो जाता है। पवित्र मन पूर्णरूप से एकाग्र होता है, उसमें स्थैर्य आता है। शुक्ल ध्यान के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए लिखा है—जिस ध्यान में बाह्य विषयों का सम्बन्ध होने पर भी उनकी ओर तनिक मात्र भी ध्यान नही जाता, उसके मन मे वैराग्य की प्रबलता होती है। यदि इस ध्यान की स्थिति मे साधक के शरीर पर कोई प्रहार करता है, उसका छेदन-भेदन करता है, तो भी उसके मन मे किंचित् मात्र भी सक्लेश नहीं होता। भयंकर से

१. अर्हतो रूपमालम्ब्य ध्यान रूपस्थमुच्यते। योगशास्त्र, ९/७

भयंकर वेदना होने पर भी वह वेदना का अनुभव नहीं करता। वह देहातीत स्थिति में रहता है।

शुक्ल ध्यान के दो भेद किये गये हैं : शुक्लध्यान और परम शुक्लध्यान। चतुर्दश पूर्वी का ध्यान शुक्ल ध्यान और केवल ज्ञानी का ध्यान परम शुक्ल ध्यान है। प्रस्तुत भेद विशुद्धता और अधिकतर स्थिरता की दृष्टि से किया गया है।

स्वरूप की दृष्टि से शुक्ल ध्यान के (१) पृथक्त्ववितर्क सविचार, (२) एकत्ववितर्क अविचार, (३) सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती, (४) समुच्छिन्न-क्रियाऽनिवृत्ति—ये चार प्रकार हैं। 'पृथक्त्व वितर्क सविचार' में तर्कयुक्त चिन्तन के माध्यम से श्रुतज्ञान के विविध भेदों का गहराई से चिन्तन करना होता है। द्रव्य-गुण-पर्याय पर चिन्तन करते हुए, कभी द्रव्य पर तो कभी पर्याय पर या कभी गुण पर, इस प्रकार भेद-प्रधान चिन्तन करना।

'एकत्ववितर्क सविचार' मे जब भेद-प्रधान चिन्तन करते हुए मन स्थिर हो जाता है तो उसके पश्चात् अभेद-प्रधान चिन्तन प्रारंभ होता है। इस ध्यान में वस्तु के एक रूप-पर्याय को ध्येय बनाया जाता है। जैसे, जिस स्थान में पवन नहीं होता वहां पर दीपक की लौ स्थिर रहती है, सूक्ष्म हवा तो उस दीपक को मिलती ही है, किन्तु तेज हवा नही। वैसे ही प्रस्तुत ध्यान मे सूक्ष्म विचार चलते हैं पर विचार स्थिर रहते हैं जिसके कारण इसे 'निर्विचार ध्यान' की स्थिति कहा गया है। एक ही वस्तु पर विचार स्थिर होने से यह निर्विचार है।

'सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती' ध्यान मे अत्यन्त सूक्ष्म क्रिया चलती है। जिस विशिष्ट साधक को यह स्थिति प्राप्त हो जाती है, वह पुन: ध्यान से च्युत नहीं हो सकता। इसीलिए इसे 'सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती' कहा है। यह ध्यान छद्मस्थ व्यक्ति को नही होता। जिसे केवल-ज्ञान प्राप्त हो गया है, वे ही इस ध्यान के अधिकारी हैं। जब केवलज्ञानी का आयुष्य केवल अन्तर्मुहूर्त अवशेष रहता है, उस समय उस वीत-रागात्मा मे योग-निरोध की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। स्थूल-काय योग के सहारे स्थूल मन-योग को सूक्ष्म रूप दिया जाता है, फिर सूक्ष्मकाय-योग के अवलबन से सूक्ष्म मन और वचन का निरोध करते हैं। केवल सूक्ष्म काय-योग अर्थात् श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया ही शेष रहती है। उस स्थिति का ध्यान ही प्रस्तुत ध्यान है। 'समुच्छिन्न क्रियाऽनिवृत्ति' ध्यान मे श्वासोच्छ्वास का भी निरुन्धन हो जाता है। आत्म-प्रदेश पूर्णरूप से निष्कम्प बन जाता है। मन-वचन-काय के योगो की चचलता पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है। आत्मा तेरहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान मे पहुंच जाता है। यह निष्कम्प अवस्था है। इस क्रिया मे साधक पुन: निवृत्त नहीं होता। इसीलिए इसे 'समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति' शुक्ल ध्यान कहा है। इस ध्यान के दिव्य प्रभाव मे वेदनीय कर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और आयुष्य कर्म—ये चारो कर्म नष्ट हो जाते हैं जिससे वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है।

धर्म ध्यान श्वेताम्बर दृष्टि से छठे गुण स्थान मे प्रारम्भ होता है, किन्तु दिगम्बर-परम्परा धर्मध्यान का प्रारम्भ चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक मानती है। शुक्ल ध्यान के प्रथम दो प्रकारो मे श्रुतज्ञान का आलंबन होता है, किन्तु शेष दो मे किसी प्रकार का आलंबन नहीं होता।

शुक्लध्यानी आत्मा के चार लिंग और चार आलबन एवं चार अनुप्रेक्षाए होती हैं। शुक्लध्यानी आत्मा (१) अव्यथा—भयकर से भयंकर उपसर्ग उपस्थित होने पर भी किंचित् मात्र भी चलित नही होता। (२) असंमोह—उसकी श्रद्धा अचल होती है, न तात्त्विक विषयो मे उसे शंका होती है और न देव आदि के द्वारा माया आदि की विकुर्वणा करने पर भी उसकी श्रद्धा डगमगाती है। (३) विवेक—वह आत्मा और देह के पृथक्त्व से परिचित होता है। वह अकर्तव्य को छोडकर कर्तव्य के पथ पर बढ़ता है। (४) व्युत्सर्ग—वह सम्पूर्ण आसक्तियों से मुक्त होता है। उसके मन मे वीतरागभाव निरन्तर बढता रहता है। इन चिह्नो से शुक्लध्यानी की सहज पहचान हो जाती है।

शुक्लध्यान के भव्य प्रासाद पर आरूढ होने के लिए चार आलंबन बताये हैं—(१) क्षमा—क्रोध का प्रसंग उपस्थित होने पर भी वह क्रोध नही करता; (२) मार्दव—मान का प्रसंग उपस्थित होने पर मान नही करता; (३) आर्जव—माया का परित्याग कर उसके जीवन के कण-कण में सरलता होती है; (४) मुक्ति—वह लोभ को पूर्ण रूप से जीत लेता है।

शुक्लध्यान की अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा, विपरिणामानुप्रेक्षा, अशुभानुप्रेक्षा एवं अपायानुप्रेक्षा—चार अनुप्रेक्षाएं हैं। प्रथम अनुप्रेक्षा में अनन्त भव-परम्परा के बारे में चिन्तन करता है। द्वितीय अनुप्रेक्षा मे वस्तु मे प्रतिपल परिवर्तन होता रहता है, शुभ अशुभ में बदलता रहता है और अशुभ शुभ मे परिवर्तित होता है। इस प्रकार के चिन्तन से आसक्ति न्यून हो जाती है। तृतीय अनुप्रेक्षा मे संसार के अशुभ स्वरूप पर गहराई से चिन्तन होता है जिससे उन पदार्थों के प्रति निर्वेद भावना पैदा होती है। चतुर्थ अनुप्रेक्षा में जिन अशुभ कर्मों के कारण इस संसार में परिभ्रमण है, उन दोषों पर चिंतन करने से वह क्रोध-आदि दोषो से मुक्त हो जाता है। जब तक मन में स्थैर्य नही आता उसके पहले ये अनुप्रेक्षाएं होती हैं, स्थैर्य होने पर उसकी बहिर्मुखता नष्ट हो जाती है।

इस प्रकार ध्यान के स्वरूप के संबंध में गहराई से चिन्तन हुआ है और ध्यान को उत्कृष्ट तप कहा है। ध्यान ऐसी धधकती हुई ज्वाला है जिससे सब कर्म दग्ध हो जाते हैं और आत्मा पूर्ण निर्मल बन जाता है।

जम्बूद्वीप : एक अध्ययन

(जैन सम्मत लोक-संरचना के सन्दर्भ में)

आर्यिका ज्ञानमती माताजी

ये तीन लोक अनादि-निधन—अकृत्रिम हैं। इसको बनाने वाला कोई भी ईश्वर-आदि नही है। इसके मध्यभाग मे कुछ कम तेरह रज्जु लम्बी, एक रज्जु चौडी मोटी त्रसनारी है। इसमे सात रज्जु अधोलोक है एव सात रज्जु ऊचा ऊर्ध्वलोक है, तथा मध्य मे निन्यानबे हजार चालीस योजन ऊंचा और एक रज्जु चौडा मध्यलोक है अर्थात् सुमेरु पर्वत एक लाख चालीस योजन ऊचा है। इसकी नीव एक हजार योजन है जो कि चित्रा पृथ्वी के अन्दर है। चित्रा पृथ्वी के ऊपर के समभाग से लेकर सुमेरु पर्वत की ऊचाई निन्यानबे हजार चालीस योजन है। वही इस मध्यलोक की ऊचाई है। यह मध्यलोक थाली के समान चिपटा है और एक रज्जु तक विस्तृत है।

इसके ठीक बीचो-बीच में एक लाख योजन विस्तृत गोलाकार जम्बूद्वीप है। इस जम्बूद्वीप के ठीक बीच मे सुमेरु पर्वत है। इस जम्बूद्वीप से दूने प्रमाण विस्तार वाला अर्थात् दो लाख योजन विस्तृत जम्बूद्वीप को चारो तरफ से वेष्टित करने वाला लवण समुद्र है। आगे इस समुद्र को वेष्टित करके चार लाख योजन विस्तार वाला धातकीखण्डद्वीप है। उसको चारो ओर वेष्टित करके आठ लाख योजन विस्तार वाला कालोदधि समुद्र है। उसको चारो ओर से वेष्टित करके सोलह लाख योजन विस्तृत पुष्कर द्वीप है। ऐसे ही एक-दूसरे को वेष्टित करते हुए असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं।

अन्त के द्वीप का नाम स्वयम्भूरमण द्वीप है, और अन्त के समुद्र का नाम स्वयभूरमण समुद्र है।

पुष्कर द्वीप के बीचो-बीच मे एक मानुषोत्तर पर्वत स्थित है जो कि चूडी के समान है। इसके निमित्त से इस पुष्कर द्वीप के दो भाग हो गये हैं। इसमे पूर्व अर्धपुष्कर मे धातकीखण्ड के सदृश मेरु, कुलाचल, भरतक्षेत्र, गगा-सिन्धु नदियो आदि की व्यवस्था है। यही तक मनुष्यो की उत्पत्ति है। मानुषोत्तर पर्वत के आगे केवल तिर्यंच और व्यन्तर आदि देवो के ही आवास हैं। अत: एक जम्बूद्वीप, दूसरा धातकीखण्ड, तीसरा आधा पुष्कर द्वीप—ऐसे मिलकर ढाई द्वीप होते हैं। इन ढाई द्वीपो मे ही मनुष्यों की उत्पत्ति होती है और इनमे स्थित कर्मभूमि के मनुष्य ही कर्मों का नाशकर मुक्ति को प्राप्त कर सकते है, अन्यत्र नही।

इस प्रकार से तीनो लोको का ध्यान करना चाहिए। धर्मध्यान के चार भेदो मे अन्तिम 'सस्थान-विचय' नाम का धर्मध्यान है, जिसके अन्तर्गत तीन लोक के ध्यान करने का वर्णन है। इसी प्रकार विरक्त होते ही तीर्थंकर जैसे महापुरुष भी जिनका चिन्तवन करते हैं, ऐसी द्वादशानुप्रेक्षा में भी लोकानुप्रेक्षा के वर्णन मे तीन लोक के स्वरूप के चिन्तवन का आदेश है।

'योजन'-प्रमाण

लोक-संरचना के सन्दर्भ मे जैन आगमो मे विविध क्षेत्रो, द्वीपो, सागरो आदि के परिमाणो के निरूपण मे 'योजन' शब्द व्यवहृत हुआ है। योजन का प्रमाण शास्त्रीय आधार से क्या है?

इसका स्पष्टीकरण 'तिलोयपण्णत्ति' ग्रन्थ के आधार से देखिए—

पुद्गल के सबसे छोटे टुकडे को अणु-परमाणु कहते है।

ऐसे अनन्तानन्त परमाणुओ का	१ अवसन्नासन्न।
८ अवसन्नासन्न का	१ सन्नासन्न
८ सन्नासन्न का	१ त्रुटिरेणु
८ त्रुटिरेणु का	१ त्रसरेणु
८ त्रसरेणु का	१ रथरेणु

८ रथरेणु का—उत्तम भोगभूमियों के बाल का	१ अग्रभाग
उत्तम भोगभूमियों के बाल के ८ अग्रभागो का	मध्यम भोगभूमियों के बाल का १ अग्रभाग
मध्यम भोगभूमि के बाल के ८ अग्रभागों का	जघन्य भोगभूमियों के बाल का १ अग्रभाग
जघन्य भोगभूमियों के बाल के ८ अग्रभागो का	कर्मभूमियों के बाल का १ अग्रभाग
कर्मभूमियो के बाल के ८ अग्रभागो की	१ लीख
८ लीख का	१ जूं
८ जू का	१ जव
८ जव का	१ अंगुल

इसे ही उत्सेधांगुल कहते हैं, इससे ५०० गुणा प्रमाणांगुल होता है।

६ उत्सेधांगुल	१ पाद
२ पाद का	१ बालिश्त
२ बालिश्त का	१ हाथ
२ हाथ का	१ रिक्कू
२ रिक्कू का	१ धनुष
२००० धनुष का	१ कोस
४ कोस का	१ लघुयोजन
५०० योजन का	१ महायोजन

एक महायोजन मे २००० कोस होते है।

नोट—२००० धनुष का १ कोस है। अत. १ धनुष मे ४ हाथ होने से ८००० हाथ का १ कोस हुआ एवं १ कोस में २ मील मानने से ४००० हाथ का एक मील होता है।

अंगुल के तीन भेद हैं—उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल।

बालाग्र, लिक्षा, जू और जौ से निर्मित जो अंगुल होता है वह 'उत्सेधांगुल' है।

पाच सौ उत्सेधांगुल प्रमाण एक 'प्रमाणांगुल' होता है, जिस-जिस काल में भरत और ऐरावत क्षेत्र मे जो मनुष्य हुआ करते हैं उस-उस काल में उन्हीं-उन्हीं मनुष्यो के अंगुल का नाम 'आत्मांगुल' है।

उपर्युक्त उत्सेधांगुल मे ही उत्सेध कोस एव चार उत्सेध कोस से एक योजन बनता है। यह लघुयोजन है।

उत्सेधांगुल से—देव, मनुष्य, तिर्यंच एवं नारकीयों के शरीर की ऊंचाई का प्रमाण और चारों प्रकार के देवों के निवास स्थान व नगर आदि का प्रमाण होता है।

प्रमाणांगुल और प्रमाण-योजन से—द्वीप, समुद्र, कुलाचल, वेदी, नदी, कुण्ड, सरोवर, जगती और भरतक्षेत्र आदि इन सबका प्रमाण जाना जाता है।

आत्मांगुल से—झारी, कलश, दर्पण, वेणु, भेरी, युग, शय्या, शकट, हल, मूसल, शक्ति, तोमर, बाण, नालि, अक्ष, चामर, दुंदुभि, पीठ, छत्र, मनुष्यो के निवास नगर और उद्यान आदि का प्रमाण जाना जाता है।

एक महायोजन मे २००० कोस होते हैं। एक कोस मे २ मील मानने से १ महायोजन मे ४००० मील हो जाते हैं। अतः ४००० मील के हाथ बनाने के लिए १ मील सम्बन्धी ४००० हाथ से गुणा करने पर ४००० × ४००० = १६०००००० अर्थात् एक महायोजन मे १ करोड़ ६० लाख हाथ हुए।

वर्तमान में रैखिक माप में १७६० गज का एक मील मानते हैं। यदि एक गज में २ हाथ मानें तो १७६० × २ = ३५२० हाथ का एक मील हुआ। पुनः उपर्युक्त एक महायोजन के हाथ १६०००००० में ३५२० हाथ का भाग देने से १६०००००० ÷ ३५२० = ४५४५ $\frac{५}{११}$ मील हुए।

परन्तु इस पुस्तक में स्थूल रूप से व्यवहार मे १ कोस मे २ मील की प्रसिद्धि के अनुसार सुविधा के लिए सर्वत्र महायोजन के

२००० कोस को मील से गुणा कर एक महायोजन ४००० मील मानकर उसी से ही गुणा किया गया है।

आजकल कुछ लोग ऐसा कह दिया करते हैं कि पता नहीं, आचार्यों के समय कोस का प्रमाण क्या था। और योजन का प्रमाण भी क्या था!

किन्तु जब परमाणु से लेकर अवसन्नासन्न आदि परिभाषाओं से आगे बढ़ते हुए जघन्य भोगभूमि के बाल के ८ अग्रभागों का एक कर्मभूमि का बालाग्र होता है, तब इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भोगभूमियों के बाल की अपेक्षा चतुर्थकाल के कर्मभूमि के प्रारम्भ का भी बाल मोटा था। पुनः आज पंचम काल के मनुष्यों का बाल तो उससे मोटा ही होगा। आज के अनुसंधानप्रिय विद्वानों का कर्त्तव्य है कि आज के बाल की मोटाई के हिसाब से ही आगे के अंगुल, पाद, हाथ आदि बनाकर योजन के हिसाब को समझने की कोशिश करें।

'जम्बूद्वीप-पण्णत्ति' की प्रस्तावना के २०वें पेज पर श्री लक्ष्मीचन्द जैन एम० एस-सी० ने कुछ स्पष्टीकरण किया है, वह पढ़ने योग्य है। देखिए—

इस योजन की दूरी आजकल के रैखिक माप में क्या होगी?

यदि हम २ हाथ = १ गज मानते हैं तो स्थूलरूप से १ योजन ८०,०००,०० गज के बराबर अथवा ४५४५.४५ मील (MILES) के बराबर प्राप्त होता है।

यदि हम १ कोस को आजकल के २ मील के समान मान लें तो १ योजन ४००० मील (MILES) के बराबर प्राप्त होता है।

कर्मभूमि के बालाग्र का विस्तार आजकल के सूक्ष्म यन्त्रों द्वारा किये गये मापों के अनुसार १/५०० इंच से लेकर १/२०० इंच तक होता है। यदि हम इस प्रमाण के अनुसार योजन का माप निकालें तो उपर्युक्त प्राप्त प्रमाणों से अत्यधिक भिन्नता प्राप्त होती है। बालाग्र का प्रमाण १/५०० इंच मानने पर १ योजन ४९६९४८.४८ मील प्रमाण आता है। कर्मभूमि का बालाग्र १।३००इंच मानने से योजन ८२७४७.४७ मील के बराबर पाया जाता है। बालाग्र को १।२०० इंच प्रमाण मानने से योजन का प्रमाण और भी बढ़ जाता है।

इसलिए एक महायोजन में स्थूल रूप से ४००० मील समझना चाहिए, किन्तु यह लगभग प्रमाण है। वास्तव में एक महायोजन में इससे अधिक ही मील होंगे ऐसा हमारा अनुमान है। इस प्रकार से योजन आदि के विषय में तिलोयपण्णत्ति, जम्बूद्वीपपण्णत्ति, त्रिलोकसार, श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों में दृढ़ श्रद्धा रखते हुए अपने सम्यक्त्व को सुरक्षित रखना चाहिए। जब तक केवली, श्रुतकेवली के चरणों का सान्निध्य प्राप्त न हो तब तक अपने मन को चंचल और अश्रद्धालु नहीं करना चाहिए।

जम्बूद्वीप

इस मध्यलोक में सबसे पहले द्वीप का नाम है जम्बूद्वीप। यह एक लाख योजन विस्तृत है और गोल है। इसमें दक्षिण से लेकर उत्तर तक छह पर्वत हैं, जो कि पूर्व-पश्चिम लम्बे हैं। उनके नाम हैं— हिमवान, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी। इन पर्वतों पर एक-एक सरोवर बने हुए हैं उनके नाम हैं पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक। इन सरोवरों के मध्य पृथ्वी-कायिक जाति के बड़े-बड़े कमल हैं। उन कमलों पर भवन बने हुए हैं, जिनमें क्रम से श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नाम वाली देवियां निवास करती हैं।

छह कुलपर्वतों के निमित्त से इस जम्बूद्वीप में सात क्षेत्र हो गये हैं। जिनके नाम हैं भरत, हेमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत। हिमवान् पर्वत पर जो पद्म सरोवर है उसके पूर्व व पश्चिम भाग से क्रमशः गंगा-सिन्धु नदी निकलती हैं जो नीचे गंगा-सिन्धु कुण्ड में गिरकर आगे बहती हुई विजयार्ध पर्वत के गुफा-द्वार से बाहर आ जाती है और आगे बढ़कर बहती हुई क्रम से पूर्व समुद्र और पश्चिम समुद्र में प्रवेश कर जाती हैं। भरत क्षेत्र के बीच में पूर्व-पश्चिम लम्बा एक विजयार्ध पर्वत है। इसमें तीन कटनियां हैं। प्रथम कटनी पर अभियोग्य जाति के देवों का निवास है। दूसरी कटनी पर विद्याधर मनुष्यों का आवास है, और तृतीय कटनी पर ग्यारह कूट हैं जिसमें पूर्व दिशा की तरफ के कूट पर जिनमन्दिर है, शेष कूटों पर देवों के भवन बने हुए हैं।

छह खण्ड-व्यवस्था

भरत क्षेत्र के बीच में विजयार्ध पर्वत के होने से और हिमवान् पर्वत के सरोवर से गंगा-सिन्धु नदियों के निकलने से इस भरत क्षेत्र के छह खण्ड हो जाते हैं। इनमें से समुद्र की तरफ का बीच का भाग आर्य खण्ड कहलाता है, शेष पांच म्लेच्छ खण्ड माने जाते हैं। उत्तर की तरफ मध्य के म्लेच्छ खण्ड के बीचों-बीच में एक वृषभाचल पर्वत है जिस पर चक्रवर्ती अपनी प्रशस्ति लिखते हैं। मध्य के आर्यखण्ड में ही हम लोगों का निवास है।

अन्य क्षेत्रों की व्यवस्था

इसी पद्म सरोवर के उत्तर भाग से रोहितास्या नदी निकलती है जो कि नीचे गिरकर हैमवत क्षेत्र में बहती हुई पश्चिम समुद्र में मिल जाती है। महाहिमवान् पर्वत के महापद्म सरोवर के दक्षिण भाग से रोहित नदी निकलकर हैमवत क्षेत्र में बहती हुई पूर्व समुद्र में प्रवेश कर जाती है। इसी तरह आगे-आगे के क्षेत्रो मे क्रम से हरित-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला और रक्ता-रक्तोदा ये दो-दो नदियां बहती हैं। भरत क्षेत्र के समान ऐरावत क्षेत्र मे भी छह खण्ड-व्यवस्था होती है।

पर्वतों के कूट

हिमवान् पर्वत पर ११ कूट हैं, महाहिमवान् पर ८, निषध पर ९, नील पर ९, रुक्मि पर ८ और शिखरी पर ११ कूट हैं। इन सभी पर्वतों पर पूर्व दिशा के कूटो पर जिनमन्दिर हैं और शेष पर देवों के और देवियों के भवन बने हुए हैं। इन भवनों मे भी गृह-चैत्यालय के समान जिन चैत्यालय हैं।

हैमवत क्षेत्र मे जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था है, हरिक्षेत्र में मध्यम भोगभूमि की व्यवस्था है। ऐसे ही रम्यक क्षेत्र मे मध्यम भोगभूमि की एवं हैरण्यवत क्षेत्र मे जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था है।

विदेह क्षेत्र

इस विदेह क्षेत्र के बीचो-बीच मे सुमेरु पर्वत है। उत्तर के नील पर्वत के सरोवर से सीता नदी निकलकर पूर्व दिशा में बहती हुई पूर्व समुद्र मे प्रवेश कर जाती है। वैसे ही निषध पर्वत के सरोवर से सीतोदा नदी निकलकर पश्चिम मे बहती हुई पश्चिम समुद्र में प्रविष्ट हो जाती है। जम्बूद्वीप के बीचोबीच में स्थित सुमेरु पर्वत से विदेह के पूर्व और पश्चिम ऐसे दो भेद हो गये हैं। पुन: सीता-सीतोदा नदियों के निमित्त से दक्षिण-उत्तर ऐसे दो-दो भेद हो जाते है। पूर्व विदेह के उत्तर भाग मे भद्रसाल की वेदी, चार वक्षार पर्वत और तीन विभंगा नदियो के निमित्त से आठ विदेह हो गये हैं। ऐसे ही पूर्व विदेह के दक्षिण भाग में आठ विदेह एव पश्चिम विदेह के दक्षिण-उत्तर भाग के आठ-आठ विदेह होने से बत्तीस विदेह हो जाते हैं। इन बत्तीसों विदेह क्षेत्रो मे भी छह-छह खण्ड माने हैं, अन्तर इतना ही है कि वहां शाश्वत कर्म-भूमि रहती है, सदा चतुर्थ काल के आदि काल जैसा काल ही वर्तमान रहता है और यहां भरत क्षेत्र व ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड में षट्काल का परिवर्तन चलता रहता है। सीता नदी के उत्तरभाग मे विदेह क्षेत्र मे सीमन्धर भगवान् का समवसरण स्थित है। इसी नदी के दक्षिण भाग में युगमन्धर तीर्थंकर विद्यमान हैं। सीतोदा नदी के दक्षिण में बाहु जिनेन्द्र एवं सीतोदा के उत्तर भाग में सुबाहु जिनेन्द्र का सतत विहार होता रहता है।

जंबूवृक्ष व शाल्मलीवृक्ष

इस विदेह क्षेत्र मे मेरु के दक्षिण, उत्तर मे देवकुरु और उत्तरकुरु नाम से उत्तम भोगभूमि की व्यवस्था है। इस उत्तरकुरु में ईशान दिशा मे जबूवृक्ष नाम का एक महावृक्ष है जो कि पृथ्वीकायिक है इसकी उत्तरी शाखा पर एक जिनमंदिर है। ऐसे ही देवकुरु मे नैर्ऋत्य दिशा मे शाल्मलीवृक्ष है, उस पर भी दक्षिणी शाखा पर एक जिनमंदिर है। ये दोनो महावृक्ष रत्नों से निर्मित होते हुए भी पत्ते, फल और फूलो से सुन्दर हैं। वायु के झकोरे से इनकी शाखाएँ हिलती रहती हैं और इनसे उत्तम सुगंध भी निकलती रहती है। ये वृक्ष भी अकृत्रिम होने से अनादिनिधन हैं।

गजदंत पर्वत

सुमेरु पर्वत की विदिशाओ में एक तरफ से सुमेरु को छूते हुए और दूसरी तरफ निषध व नील पर्वत को छूते हुए ऐसे चार गजदंत पर्वत हैं। इन पर भी कूटों पर देवो के भवन हैं और सुमेरु के निकट के कूट पर जिन मंदिर है।

विशेष—सभी पर्वतों की तलहटी में, ऊपर में चारो तरफ, सरोवर, नदी, कूट, देवभवन और जिनमंदिरो के भी चारों तरफ वेदिकाओं से वेष्टित सुन्दर बगीचे बने हुए हैं।

सुमेरु पर्वत

इस जंबूद्वीप के बीच में विदेह क्षेत्र है, उसके ठीक मध्य में सुमेरु पर्वत स्थित है। यह एक लाख चालीस योजन ऊंचा है। इसकी नींव पृथ्वी में एक हजार योजन है अत: यह इस चित्रा भूमि से निन्यानवे हजार योजन ऊंचा है। पृथ्वी पर इस पर्वत की चौड़ाई दस हजार

योजन प्रमाण है। पृथ्वी-तल पर ही भद्रशाल वन है जो कि पूर्व-पश्चिम में २२००० योजन विस्तृत है और दक्षिण-उत्तर में २५० योजन प्रमाण है। इस वन से पांच सौ योजन ऊपर आकर नंदनवन है जो कि अंदर मे पांच सौ योजन तक कटनी रूप है। इस वन से साढ़े बासठ हजार योजन ऊपर आकर सौमनस वन है जो पाच सौ योजन की कटनी रूप है। इससे आगे छत्तीस हजार योजन पर पाडुक वन है जो कि चार सौ चौरानबे योजन प्रमाण कटनी रूप है। इस पर्वत की चूलिका प्रारंभ मे बारह योजन है और घटते हुए अग्रभाग मे चार योजन मात्र रह गई है। इन भद्रशाल आदि वनो में आम्र, अशोक, चंपक आदि नाना प्रकार के वृक्ष सतत फलो और फूलो से शोभायमान रहते हैं। चारण-ऋद्धिधारी मुनि, देवगण और विद्याधर हमेशा यहा विचरण करते रहते हैं।

भद्रशाल, नन्दन, सोमनस और पांडुक इन चारों वनो की चारो दिशाओ मे एक-एक चैत्यालय होने मे मेरु के सोलह चैत्यालय हो जाते हैं। ऊपर के पाडुकवन मे चारों ही विदिशाओं मे चार शिलाएँ हैं जिनके पाडुक, पाडुकबला, रक्ता और रक्तकबला ऐसे सुन्दर नाम हैं।

पाडुक शिला पर भरत क्षेत्र के जन्मे हुए तीर्थंकरो का जन्माभिषेक-महोत्सव मनाया जाता है। पाडुककबला शिला पर पश्चिम विदेह के तीर्थंकरों का, रक्तशिला पर पूर्व विदेह के तीर्थंकरों का और रक्तकबला शिला पर ऐरावत क्षेत्र के तीर्थकरो का जन्माभिषेक होता है।

सुमेरु पर्वत का माहात्म्य

जैन सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कृतयुग मे २४ अवतार 'तीर्थंकर' माने गये है। हम और आप जैसे क्षुद्र प्राणियो मे से कोई भी प्राणी सोलह कारण भावनाओ के बल से इस अवतार के योग्य तीर्थंकर प्रकृति नामक एक कर्म प्रकृति का बन्ध करके तीर्थंकर महापुरुष के रूप मे अवतार ले सकता है और किसी भी कृतयुग के चौबीसी मे अपना नाम लिखा सकता है। यह महापुरुष तीर्थंकर रूप मे अवतार लेकर अपना पूर्णज्ञान प्रकट करके इसी भव से परमपिता परमेश्वर के पद को प्राप्त कर लेता है, पुन. नित्य निरजन सिद्ध परमात्मा होकर सदा-सदा के लिए शाश्वत परमानन्द सुख का अनुभव करता रहता है।

ऐसे-ऐसे असंख्यों अवतार पुरुषो का जब-जब जन्म होता है तब-तब इन्द्रों के आसन कम्पित हो उठते है वे भक्ति मे विभोर हो अपने ऐरावत हाथी पर चढ़कर इस मर्त्य लोक मे आ जाते है और उस नवजात शिशु को प्रसूतिगृह से लाकर इसी सुमेरु पर्वत पर ले जाकर असंख्य देवों के साथ महावैभवपूर्वक १००८ कलशो से जन्माभिषेक करके जन्म-कल्याणक उत्सव मनाते हैं। इस युग मे भगवान् वृषभदेव से लेकर महावीर-पर्यन्त चौबीस अवतार हुए हैं। इन सबका भी जन्म-महोत्सव इसी सुमेरु पर्वत पर मनाया गया है। यही कारण है कि यह पर्वत अगणित तीर्थंकरों के जन्माभिषेक से सर्वोत्कृष्ट तीर्थ माना जाता है। यह देव, इन्द्र मनुष्य, विद्याधर और महामुनियो से नित्य ही वंद्य है, अत: इसका माहात्म्य अचिन्त्य है।

यह पर्वत यहा से (वर्तमान उपलब्ध विश्व से) लगभग २०,००,००,००० (बीस करोड़) मील की दूरी पर विदेह क्षेत्र मे विद्यमान है। यह पर्वत पूरे ब्रह्माण्ड मे अर्थात् तीनों लोको मे सबसे ऊचा और महान् है। उसी का प्रतीक एक सुमेरु पर्वत ८१ फुट ऊचा हस्तिनापुर मे निर्मित हुआ है।

चार गोपुर-द्वार

इस जम्बूद्वीप के चारो तरफ वेदी का 'परकोटा' है। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर, इन चारो दिशाओं मे एक-एक महाद्वार है। इनके नाम हैं—विजय, वैजयन्त, जयत और अपराजित।

जम्बूद्वीप के जिन चैत्यालय

इस जम्बूद्वीप मे अठहत्तर अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं। सुमेरु के चार, वन सम्बन्धी १६ + छह, कुलाचल के ६ + चार, गजदत के ४ + सोलह, वक्षार के १६ + चौंतीस, विजयार्ध के ३४ + जम्बूशाल्मलिवृक्ष के २ = ७८, ये जम्बूद्वीप के अठहत्तर अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं।

इस जम्बूद्वीप में हम कहां हैं ?

यह भरत क्षेत्र, जम्बूद्वीप के १९०वें भागअ र्थात् ५२६ ६/१९ योजन प्रमाण है। इसके छह खडो मे जो आर्यखड हैं उसका प्रमाण लगभग निम्न प्रकार है :

दक्षिण का भरत क्षेत्र २३८ ६/१० योजन का है। पद्म सरोवर की लम्बाई १००० योजन है तथा गगा और सिंधु नदियां ५-५ सौ योजन पर्वत पर पूर्व-पश्चिम बहकर दक्षिण मे मुडती हैं। यह आर्यखण्ड उत्तर-दक्षिण मे २३८ योजन चौडा है। पूर्व-पश्चिम मे १००० + ५००

+५०० = २००० योजन लम्बा है। इनको आपस में गुणा करने से २३८ × २००० = ४,७६,००० वर्ग योजन प्रमाण आर्य खण्ड का क्षेत्रफल हो जाता है। अथवा ४,७६,००० × ४०,००,००० = १,९०,४००,००,००,००० 'एक लाख, नब्बे हजार, चार सौ करोड़ वर्ग-कोश' प्रमाण क्षेत्रफल हो जाता है।

आर्यखण्ड

इस आर्यखण्ड के मध्य मे अयोध्या नगरी है। इस अयोध्या के दक्षिण मे ११९ योजन की दूरी पर लवण समुद्र की वेदी है और उत्तर की तरफ इतनी ही दूर पर विजयार्ध पर्वत की वेदिका है। अयोध्या से पूर्व में १००० योजन की दूरी पर गंगा नदी की तट वेदी है अर्थात् आर्यखण्ड की दक्षिण दिशा में लवण समुद्र, उत्तर दिशा मे विजयार्ध, पूर्व दिशा मे गंगा नदी एव पश्चिम दिशा में सिंधु नदी हैं। ये चारों आर्य खण्ड की सीमा रूप हैं।

अयोध्या से दक्षिण मे लगभग ४,७६,००० कोश (चार लाख छहत्तर हजार) कोस जाने से लवण समुद्र है और उत्तर मे इतना ही जाने से विजयार्ध पर्वत है। उसी प्रकार अयोध्या से पूर्व मे ४०,००,००० (चालीस लाख) कोस दूर गगानदी तथा पश्चिम में इतनी ही दूर सिन्धु नदी है।

जैनाचार्यों के कथनानुसार आज का सारा विश्व इस आर्यखण्ड मे ही है। हम और आप सभी इस आर्यखण्ड के ही भारतवर्ष में रहते हैं। वर्तमान मे जो गगा-सिन्धु नदियां दिखती हैं, और जो महासमुद्र, हिमालय पर्वत आदि हैं, वे सब कृत्रिम हैं। अकृत्रिम नदी, समुद्र और पर्वतो से अतिरिक्त ये सभी उपनदी, उपसमुद्र, उपपर्वत आदि है। इन सभी विषयो का विशेष विस्तार समझने के लिए तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थराजवार्तिक, जम्बूद्वीपपण्णत्ति, त्रिलोकभास्कर आदि ग्रन्थो का स्वाध्याय करना चाहिए।

भूभ्रमण-खण्डन

आज के भूगोल के अनुसार कुछ विद्वान् पृथ्वी को घूमती हुई मान रहे हैं। उसके विषय मे तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थ में तृतीय अध्याय मे बहुत अच्छा विवेचन है, वह द्रष्टव्य है —

कोई आधुनिक विद्वान् कहते हैं कि जैनियो की मान्यता के अनुरूप यह पृथ्वी वलयाकार चपटी गोल नही है, किन्तु यह पृथ्वी गेंद या नारंगी के समान गोल आकार की है। यह भूमि स्थिर भी नही है। हमेशा ही ऊपर-नीचे घूमती रहती है, तथा सूर्य, चन्द्र, शनि, शुक्र आदि ग्रह, अश्विनी, भरणी आदि नक्षत्रचक्र, मेरु के चारों तरफ प्रदक्षिणा रूप से अवस्थित है, घूमते नहीं हैं। यह पृथ्वी एक विशेष वायु के निमित्त से ही घूमती है। इस पृथ्वी के घूमने से ही सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि का उदय, अस्त आदि व्यवहार बन जाता है, इत्यादि।

दूसरे कोई वादी पृथ्वी का हमेशा अधोगमन ही मानते हैं एव कोई-कोई आधुनिक पंडित अपनी बुद्धि मे यों मान बैठे हैं कि पृथ्वी दिन पर दिन सूर्य के निकट होती चली जा रही है। इसके विरुद्ध कोई-कोई विद्वान प्रतिदिन पृथ्वी को सूर्य से दूरतम होती हुई मान रहे हैं। इसी प्रकार कोई-कोई परिपूर्ण जल-भाग से पृथ्वी को उदित हुई मानते हैं।

किन्तु उक्त कल्पनाएं प्रमाणो द्वारा सिद्ध नही होती हैं। थोड़े ही दिनो मे परस्पर एक-दूसरे का विरोध करने वाले विद्वान् खड़े हो जाते हैं और पहले-पहले के विज्ञान या ज्योतिष यंत्र के प्रयोग भी युक्तियो द्वारा बिगाड़ दिये जाते हैं।

इसका उत्तर जैनाचार्य इस प्रकार देते हैं—

भूगोल का वायु के द्वारा भ्रमण मानने पर तो समुद्र, नदी, सरोवर आदि के जल की जो स्थिति देखी जाती है, उसमें विरोध आता है।

जैसे कि पाषाण के गोले को घूमता हुआ मानने पर अधिक जल ठहर नही सकता है। अत भू अचल ही है। वह भ्रमण नहीं करती है। पृथ्वी तो सतत घूमती रहे और समुद्र आदि का जल सर्वथा जहां का तहा स्थिर रहे, यह बन नही सकता। अर्थात् गगा नदी जैसे हरिद्वार से कलकत्ता की ओर बहती है, पृथ्वी के गोल होने पर उल्टी भी बह जाएगी। समुद्र और कुओ के जल गिर पड़ेंगे। घूमती हुई वस्तु पर अधिक जल नही ठहर कर गिरेगा ही गिरेगा।

दूसरी बात यह है कि— पृथ्वी स्वयं भारी है। अधःपतन स्वभाव वाले बहुत से जल, बालू, रेत आदि पदार्थ हैं जिनके ऊपर रहने से नारंगी के समान गोल पृथ्वी हमेशा घूमती रहे और ये सब ऊपर ठहरे रहें—पर्वत, समुद्र, शहर, महल आदि जहां के तहा बने रहें— यह बात असभव है।

यहां पुन: कोई भूभ्रमणवादी कहते हैं कि घूमती हुई इस गोल पृथ्वी पर समुद्र आदि के जल को रोके रहने वाली एक वायु है जिसके निमित्त मे समुद्र आदि ये सब जहा के तहां ही स्थिर बने रहते हैं।

इस पर जैनाचार्यों का उत्तर—जो प्रेरक वायु इस पृथ्वी को सर्वदा घुमा रही है, वह वायु इन समुद्र आदि को रोकने वाली वायु का घात नहीं कर देगी क्या ? वह बलवान प्रेरक वायु तो इस धारक वायु को घुमाकर कही की कही फेंक देगी। सर्वत्र ही देखा जाता है कि यदि आकाश में मेघ छाये हैं और हवा जोरो से चलती है, तब उस मेघ को धारण करने वाली वायु को विध्वंस करके मेघ को तितर-बितर कर देती है, वे बेचारे मेघ नष्ट हो जाते हैं, या देशांतर मे प्रयाण कर जाते है। उसी प्रकार अपने बलवान वेग से हमेशा भूगोल को सब तरफ से घुमाती हुई जो प्रेरक वायु है, वह वहां पर स्थिर हुए समुद्र, सरोवर आदि को धारने वाली वायु को नष्ट-भ्रष्ट कर ही देगी। अतः बलवान प्रेरक वायु भूगोल को हमेशा घुमाती रहे और जल आदि की धारक वायु वहा बनी रहे, यह नितात असभव है।

पुनः भूभ्रमणवादी कहते हैं कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है। अतएव सभी भारी पदार्थ भूमि के अभिमुख होकर ही गिरते हैं। यदि भूगोल पर से जल गिरेगा तो भी वह पृथ्वी की ओर ही गिरकर वहा का वहा ही ठहरा रहेगा। अत' वे समुद्र आदि अपने-अपने स्थान पर ही स्थिर रहेंगे।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि—आपका कथन ठीक नही है। भारी पदार्थों का तो नीचे की ओर गिरना ही दृष्टिगोचर हो रहा है। अर्थात्—पृथ्वी मे एक हाथ का लम्बा-चौडा गड्ढा करके उस मिट्टी को गड्ढे के एक ओर ढलाऊ ऊची कर दीजिये। उस पर गेंद रख दीजिये, वह गेंद नीचे की ओर गड्ढे मे ही ढुलक जायेगी। जबकि ऊपरी भाग मे मिट्टी अधिक है तो विशेष आकर्षण शक्ति के होने से गेंद को ऊपरी देश मे ही चिपका रहना चाहिए था, परन्तु ऐसा नही होता है। अत. कहना पडता है कि भले ही पृथ्वी मे आकर्षण शक्ति होवे, किन्तु उस आकर्षण शक्ति की सामर्थ्य से समुद्र के जलादिको का घूमती हुई पृथ्वी से तिरछा या दूसरी ओर गिरना नही रुक सकता है।

जैसे कि प्रत्यक्ष मे नदी, नहर आदि का जल ढलाऊ पृथ्वी की ओर ही यत्र-तत्र किधर भी बहता हुआ देखा जाता है, और लोहे के गोलक, फल आदि पदार्थ स्वस्थान से च्युत होने पर (गिरने पर) नीचे की ओर ही गिरते है। इस प्रकार जो लोग आर्यभट्ट, या इटली-यूरोप आदि देशो के वासी विद्वानो की पुस्तको के अनुसार पृथ्वी का भ्रमण स्वीकार करते है और उदाहरण देते हैं कि—जैसे अपरिचित स्थान मे नौका मे बैठा हुआ कोई व्यक्ति नदी पार कर रहा है, उसे नौका तो स्थिर लग रही है और तीरवर्ती वृक्ष-मकान आदि चलते हुए दिख रहे हैं, परन्तु यह भ्रम मात्र है, तद्वत् पृथ्वी की स्थिरता की कल्पना भी भ्रम-मात्र है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि—साधारण मनुष्य को भी थोडा-सा ही घूम लेने पर आखो मे घूमनी आने लगती है, कभी-कभी खण्ड देश मे अत्यल्प भूकम्प आने पर भी शरीर मे कपकँपी, तथा मस्तक मे भ्रान्ति होने लग जाती है। तो यदि डाकगाडी के वेग से भी अधिक वेग रूप पृथ्वी की चाल मानी जाएगी, तो ऐसी दशा मे मस्तक, शरीर, पुराने गृह, कूपजल आदि की क्या अवस्था होगी—इस पर विद्वान् लोग ही विचार करें।

तिलोयपण्णत्ति, हरिवंश पुराण एवंजम्बूदीव-पण्णत्ति के आधार पर जम्बूद्वीप मे क्षेत्र नगर आदि का प्रमाण—

(१) महाक्षेत्र	(१)	भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात वर्ष अर्थात् क्षेत्र हैं।
(२) कुरुक्षेत्र	(२)	देवकुरु व उत्तरकुरु
(३) कर्मभूमि	(३४)	भरत ऐरावत व ३२ विदेह
(४) भोगभूमि	(६)	हैमवत, हरि, रम्यक व हैरण्यवत तथा दोनो कुरुक्षेत्र
(५) आर्यखण्ड	(३४)	प्रति कर्मभूमि एक
(६) म्लेच्छ खण्ड	(१७०)	प्रति कर्मभूमि पाच
(७) राजधानी	(३४)	प्रति कर्मभूमि एक
(८) विद्याधरो के नगर	(३१५०)	भरत व ऐरावत के विजयार्धों मे से प्रत्येक पर ११५ तथा ३२ विदेहो के विजयार्धों मे प्रत्येक पर ११०।

(—श्री जिनेन्द्र वर्णी द्वारा रचित जैनेन्द्र सिद्धान्त के आधार पर)

परमसिद्धि का चरम सोपान : दिगम्बरत्व

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन

साध्य-साधन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है—जैसा साध्य होता है, उसके अनुरूप ही साधन होते हैं; और जैसे साधन होते हैं, उनके अनुरूप ही सिद्धि प्राप्त होती है। गन्तव्य स्थान जितना ऊंचा, अलभ्य एव दुर्गम होगा, उस तक पहुचने के साधन-सोपानो का भी उतने ही सुदृढ, सक्षम एव सच्चे होना आवश्यक है। सर्वथा निर्दोष, उत्कट एव समीचीन साधनो से ही सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त हो सकता है। परम पुरुषार्थ ही परम प्राप्तव्य या चरम सिद्धि का सोपान हो सकता है।

जन्म-मरणरूप ससार के नानाविध दुःखो मे अभिभूत प्राणियो का समान लक्ष्य दुःख-निवारण एव सुख-प्राप्ति होता है, और प्राणियो को संसार के उक्त दु ख समूह से निकालकर उत्तम सुख मे स्थापित करने का एकमात्र साधन कर्मों का विनाशक समीचीन धर्म ही है।[1] वह 'उत्तम सुख' शुद्ध, नित्य, निर्बाध एव अक्षय होता है, और वह निर्वाण, मोक्ष, मुक्ति या सिद्धावस्था मे ही प्राप्त होता है।[2] उस उत्तम सुख का साधन जो समीचीन धर्म है, उनका स्वरूप स्वय धर्मरूप मे परिणत जिनेन्द्रादि आप्तपुरुषो ने सम्यक्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्-चारित्र रूपी आध्यात्मिक रत्नत्रयी बताया है।[3] इन तीन आत्मिक गुणो की साधना से व्यवहार-धर्म की साधना का श्रीगणेश होता है, और उनकी समन्वयात्मक परिपूर्णता मे ही वस्तुस्वभावरूप आत्मधर्म पूर्णतया चरितार्थ होता है—वही मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, सिद्धत्व या उत्तमसुख की स्थिति है। धर्मपथ पर आरूढ होने वाले सभी मुमुक्षुओ का चरम लक्ष्य यही होता है। किन्तु, ससार की मोहमाया मे ग्रस्त जनसामान्य के लिए तत्काल दुःख का निवारण और बुद्धिग्राह्य लौकिक सुख की, भले ही वह अस्थायी हो, प्राप्ति ही इष्ट होती है। धर्म की साधना से इस उद्देश्य की भी सिद्धि होती ही है। वस्तुत , जिनशासन मे धर्मसाधना के इन द्विविध उद्देश्यों का और उनके द्विविध फलों का, अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस् का यथोचित समावेश हुआ है।[4]

लौकिक सुखशांति, समृद्धि एव उत्कर्ष को अभ्युदय कहते हैं, और पारमार्थिक हित-साधन, आत्म-कल्याण, मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति को निःश्रेयस् कहते हैं। दान-पूजादि शुभोपयोग रूप पुण्यानुबधी क्रियाओ के करने से मनुष्य को लौकिक अभ्युदय प्राप्त होता है। और, समस्त अन्तरग एव बहिरग परिग्रह का परित्याग करके ज्ञान-ध्यान-तप रूप एकनिष्ठ आत्म-साधना करने से कर्मबन्धन से मुक्ति, अर्थात् मोक्षरूप नि श्रेयस फल प्राप्त होता है।

इसी कारण जैन धर्म मे साधको के भी दो वर्ग हैं— श्रावक और साधु। श्रावक-श्राविका सागार, ससारी गृहस्थ स्त्री-पुरुष होते हैं, जो अपना-अपना लौकिक जीवन जीते हैं, मूल एषणाओ एव सज्ञाओ से सहज प्रेरित होकर जीवन की आवश्यकताओ एव सुख-सुविधाओ के जुटाने मे, उनके उत्पादन, अर्जन, वितरण आदि रूप अर्थ-पुरुषार्थ, और उनके भोगोपभोग रूप कामपुरुषार्थ के सम्पादन मे ही प्रायः निमग्न रहते हैं। उनसे केवल यह अपेक्षा की जाती है कि वे अर्थ और काम पुरुषार्थों के साथ धर्मपुरुषार्थ का भी सम्यक् सयोजन रखें, अर्थात् अपनी पूरी सामर्थ्य एव मनोयोगपूर्वक अर्थ का उत्पादन-उपार्जन करें, किन्तु वह धर्मत.-न्यायत करें। इसी प्रकार न्यायोपार्जित साधन-सामग्री

१. ···समीचीन धर्मं कर्मनिबर्हणम् ।
संसारदुःखत सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥ र०क०श्रा०, २

२. जन्म-जरा-ऽऽमय-मरणै:शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम् ।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥ र०क०श्रा०, १३१

३. सद्दृष्टि-ज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु: ।
यदीय-प्रत्यनीकानि भवन्ति भव पद्धति ॥ र०क०श्रा०, ३

४. निःश्रेयसमभ्युदय निस्तीरं दुस्तर सुखाम्बुनिधिम् ।
निष्पिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढ. ॥ र०क०श्रा०, १३०

का यथेच्छ भोगोपभोग करें, किन्तु धर्मत:-न्यायत: ही कर, संयम एवं मर्यादाओ की अवहेलना करके न करें। किसी के साथ अन्याय न करें, किसी का शोषण न करें, सबके साथ भद्रोचित व्यवहार करें, सदाचरण-निष्ठ हो, और एक श्रेष्ठ नागरिक के रूप में पारस्परिक सहयोग एवं सद्भावना के साथ गृहस्थ जीवन-यापन करें। वह सप्त कुव्यसनो के सेवन मे बचें, श्रावक के अष्टमूलगुणो का पालन करें, कषाय मन्द रखें और देवपूजा-गुरूपास्ति-स्वाध्याय-सयम-तप-दान-रूप दैनिक षट्कर्मों का सम्पादन करने मे भी यथाशक्ति उपयोग लगायें। ऐसा करते रहने से उक्त उपासक या श्रावक की व्यवहार-सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझने तथा उसको अपने जीवन मे उतारने मे अभिरुचि होगी और फिर, वह गृहस्थ साधक श्रावक के बारह व्रतों को ग्रहण करके आंशिक या देश-सयम के पथ पर आरूढ होगा। जैसे-जैसे उसकी संसार-देहादि-सबंधी भोगों में विरक्ति बढती जाती है, वह श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओ (दर्जों) मे शनै शनै चढता जाता है, तीसरी मे त्रिकाल सामयिक का नियम लेता है, चौथी में प्रोषधोपवास के रूप में उपवास का अभ्यास करता है, पाँचवी मे सचित्त-त्यागी होता है, छठवी में रात्रि-भोजन एव दिवा-मैथुन का सर्वथा त्याग कर देता है, सातवी प्रतिमा मे वह पूर्ण ब्रह्मचर्य का व्रत ले लेता है, आठवी मे समस्त आरम्भ त्याग देता है, नवी मे गृहस्थी के मामलों मे हस्तक्षेप करना या अपना मतामत देना भी छोड देता है और दसवी मे समस्त परिग्रह का त्याग कर देता है। इस प्रकार साधनापथ में स्वयं को अभ्यस्त करता हुआ वह उदासीन श्रावक घर मे रहता हुआ भी आत्मसाधन करता है। तदन्तर ग्यारहवी प्रतिमा में वह सर्वथा गृहत्यागी हो जाता है और मात्र दो वस्त्र रखने वाले क्षुल्लक का पद विधिवत् दीक्षापूर्वक ग्रहण कर लेता है। त्याग और संयम की भावना और अधिक बढती है तो मात्र कौपीनधारी भैक्ष्यभोजी पाणिपात्री ऐलक पद धारण करता है। उस उत्कृष्ट श्रावक की चर्या एवं समस्त क्रियाएं प्राय: मुनिवत् होती हैं—

> गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य ।
> भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्ट: चेलखण्डधर: ॥[1]

वास्तव में, साधु एव श्रावक रूप दोनो ही श्रेणियो के जैन साधको की लक्ष्यनिष्ठा, सत्यसंधित्सा तथा अभीप्सा मे विशेष अन्तर नही होता। लक्ष्य के प्रति दोनो ही गतिमान हैं, अतएव दोनो की आचार-सहिता मे भी मौलिक भेद नही है—जो अन्तर है वह केवल सामर्थ्य और गति की तीव्रता- मन्दता का है। प्रतिमाओ के माध्यम से, विशेषकर ग्यारहवी प्रतिमा में तो, वह मुनिपद के उपयुक्त योग्यता एवं क्षमता प्राप्त करने के लिए अभ्यास करता है।

जैन धर्म मे साधक का दूसरा वर्ग साधु का है। सर्वथा निष्परिग्रही, सर्वसगत्यागी, महाव्रती निर्ग्रन्थ श्रमण तपस्वी मुनि ही मोक्ष-मार्ग का एकनिष्ठ साधक होता है। अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह नामक पाच महाव्रतो, ईर्या-भाषा-एषणा-आदाननिक्षेपण प्रतिष्ठापना नामक पाच समितियो, पचेन्द्रियसयम, षडावश्यक और अन्य सातगुण—केशलुञ्चन, अचेलकत्व (आचेलक्य, नग्नत्व या दिगम्बरत्व), अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधर्षण, स्थिति-भोजन (एक स्थान मे ही खडे-खडे आहार करना) और एक वह भी मत—सब मिला-कर जैन मुनि के ये अट्ठाईस मूल गुण होते हैं। यथा—

> पंचयमहव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरोदिट्ठा ।
> पंचेविंदियरोहा छप्पिय आवसिया लोचो ॥
> अच्चेलकम्मण्हाणं खिदिसयणमदंतघस्सणं चेव ।
> ठिदिभोयणेगभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा ॥[2]

इन मूलगुणो का एक जैन मुनि निरतिचार पालन करता है। वह प्राय. वनवासी होता है, बस्ती मे नही रहता, निर्जन स्थान में ही रहता है, वर्षावास के चार महीनो के अतिरिक्त किसी एक स्थान मे भी ४-५ दिन से अधिक नही रहता, वह दिन मे केवल एक बार भिक्षा द्वारा प्राप्त योग्य-प्राशुक अन्न-जल, दाता के स्थान पर ही, खडे-खडे, हाथ मे लेकर ग्रहण कर लेता है—इसीसे जैन मुनि को पाणिपात्री या पाणितलभोजी कहा है। उसका शेष समय ध्यानाध्ययन मे, या अवसर हुआ तो गृहस्थों को धर्मोपदेश देने मे भी व्यतीत होता है। मात्र पिच्छिका एवं कमडलु के अतिरिक्त उसके पास कोई भी परिग्रह नही होता—ये भी चर्या मे आवश्यक शौचोपकरणो के रूप मे ही होते हैं। ऐसा ज्ञान-ध्यानतप-लीन योगी ही जैन साधु या मुनि होता है। वह समत्व का साधक एव वीतराग होता है। आत्मसाधना की इस चरम अवस्था के लिए

---

१. र०क०श्रा०, १४७
२. मूलाचार, २/३

दिगम्बरत्व अनिवार्यतः आवश्यक है।[1] दिगम्बर, दिग्वास, आशाम्बर, अचेलक, निश्चेल, क्षपणक, यथाजातरूपधर, अनगार, नग्न और निर्ग्रन्थ—ये सब शब्द पर्यायवाची हैं और जैन मुनियों के लिए प्रयुक्त होते आये हैं।

अतएव, भगवद् कुन्दकुन्दाचार्य का उद्घोष है कि "जिन-शासन में तो वस्त्रधारी सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त नहीं कर सकता, भले ही वह स्वयं तीर्थंकर ही क्यों न हो। नग्नत्व (दिगम्बरत्व) ही मोक्ष-मार्ग है, शेष सर्व (साधुवेश) उन्मार्ग हैं।"

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥[2]

"मुनि के लिए अचेलक (दिगम्बर) रहने तथा स्वयं अपने हाथों का ही भोजन-पात्र के रूप में सद्-उपयोग करने का जो उपदेश परमोत्कृष्ट जिनेन्द्रदेव ने दिया है, वही एकमात्र मोक्ष-मार्ग है, शेष सब मार्ग अमार्ग हैं—

णिच्चेल-पाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ॥[3]

"साधु के बालाग्र जितने परिग्रह का भी ग्रहण नहीं होता, और वह दिन में एक बार ही, एक ही स्थान में खड़े-खड़े, पाणि-पात्र में दिया गया योग्य आहार लेता है—

बालग्गकोडिमेत्तं परिग्गहगहणं ण होइ साहूणं।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि ॥[4]

वह यथाजातरूप दिगम्बर मुनि अपने सिर एवं मुख के केशों का अपने हाथ से उत्पाटन करता है, उसका वेश या रूप शुद्ध होता है, हिंसादि-रहित, शृंगार-रहित, ममत्व एवं आरम्भ-रहित, तथा उपयोग एवं योग की शुद्धि-सहित होता है, वह परद्रव्य-निरपेक्ष होता है। यह साधना-मार्ग अपुनर्भव (मोक्ष) का कारण होता है—

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥
मुच्छारंभविमुक्कं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जोण्हं ॥[5]

'वह यथाजात बालक-जैसी दिगम्बर-मुद्रा का धारक मुनि तिलतुष-मात्र परिग्रह भी ग्रहण नहीं करता, किन्तु यदि वह थोड़ा या बहुत कुछ भी परिग्रह ग्रहण करता है तो निगोद में जाता है—

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुय तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं ॥[6]

इतना ही नहीं, उन्होंने तो यहां तक कह दिया कि 'भावेण होइ णग्गो, किं णग्गेण भावरहियेण ?—अर्थात् मात्र बाह्य में,

---

१ वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्तादिणा असंवरणं।
णिब्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पुज्जं ॥ मूलाचार, १ ३०
बालग्गकोडिमत्तं परिग्गहगहणं ण होइ साहूणं।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि ॥ सुत्तपाहुड, १७
विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥ र०क०श्रा०, १०
त्यक्तबाह्याभ्यन्तरग्रन्थो नि कषायो जितेन्द्रिय।
परीषहसहः साधुर्जातरूपधरो मतः ॥ धर्मपरीक्षा
एकाकी गृहसंत्यक्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः। पञ्चतन्त्रम्
नग्नान् जिनानां विदुः। वराहमिहिर
२. सुत्तपाहुड, २३
३. वही, १०
४. वही, १७
५. प्रवचनसार, ३/५-६
६. सुत्तपाहुड, १८

शरीर को दिगम्बर बना लेना पर्याप्त नहीं है, भावों मे, अपने अन्तर मे, नग्नता या निर्विकारता आनी चाहिए। यदि भाव-शुद्धि नहीं हुई, अन्तरंग में दिगम्बरत्व की प्रतिष्ठापना नही हुई, तो बाह्य दिगम्बरत्व की कोई सार्थकता या उपादेयता नही है। तथा, असजद ण बदे, गंथविहीणो वि सो ण वंदिज्ज—अर्थात् अन्तरग में जो असयमी है वह बाह्य मे सर्व परिग्रह-रहित भी हो तो वह वदनीय नही है। बल्कि जो मात्र बाह्य मे शरीर से ही नगा है, वह दु:ख ही पाता है, ससार-सागर मे भटकता रहता है, उसे बोधि (रत्नत्रय) प्राप्त नही हो पाती है, क्योंकि वह जिन-भावना या जितेन्द्रियता की भावना से दूर है, अपने अन्तरग या भाव-परिणमन मे वह दिगम्बर नही है—

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो ससारसायरे भमई।
णग्गो न लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं॥[1]

प्राय: यही बात श्वेताम्बर परम्परा-सम्मत उत्तराध्ययनसूत्र मे कही गई है, जहा दिगम्बरत्व को जैन मुनि का आदर्श स्वीकार करते हुए, साथ मे यह चेतावनी भी दे दी कि "यदि कोई साधु उत्तमार्थ या जिन-भावना से विवर्जित है, तो उसका नग्न वेष धारण करना निरर्थक है"—परमार्थ से भटके हुए ऐसे साधु-वेशो के, इहलोक तथा परलोक, दोनो ही नष्ट होते हैं—-

निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स जे उत्तमट्ठ-विवज्जासमेइ।
इमे वि से नत्थि परे वि लोए दुहओ वि से झिज्जइ तत्थ लोए॥[2]

इस प्रकार मोक्ष-प्राप्ति के लिए साधक की चरम अवस्था मे दिगम्बरत्व अनिवार्य है, किन्तु वह अन्तरग एव बहिरग दोनो ही प्रकार का युगपत् होना चाहिए, तभी उसकी सार्थकता है। वस्तुतः भावलिंग ही मुक्ति का कारण है, किन्तु वह द्रव्यलिंग के बिना उत्पन्न नही हो सकता—द्रव्यलिंग मे भावलिंग की उत्पत्ति होती है, अकेला द्रव्यलिंग निरर्थक है। यह मार्ग दुर्गम और दुस्साध्य है। यही कारण है कि लगभग चालीस लाख जैन जनसख्या मे केवल सौ-सवासौ ही दिगम्बर मुनि हैं। उनमे भी वास्तविक दिगम्बरत्व के साधक तथा सभी अट्ठाईस मूलगुणो का निरतिचार पालन करने वाले कितने है, यह कहना कठिन है, यों अल्पाधिक शिथिलाचार अथवा आदर्श से स्खलन तो प्राय सभी साधु-सम्प्रदायो मे दृष्टिगोचर होगा। तथापि इस विषय मे भी सन्देह नही है कि एक औसत दिगम्बर मुनि अपनी अत्यन्त कठोर चर्या, व्रत, नियम, सयम मे, तथा शीत-उष्ण-दंश-मशक-नाग्न्य-लज्जा-क्षुधा-पिपासा आदि २२ परीषहों के जीतने मे, और नाना प्रकार के उपसर्गों को सहन करने मे प्राय समर्थ होता है। उसका जीवन एक खुली पुस्तक होता है। ज्ञान की उसमे कमी या अल्पाधिक्य हो सकता है, सस्कारो या परिस्थितिजन्य दोष भी लक्ष्य किये जाते हैं, अथवा सच्चे दिगम्बर मुनि के आदर्श की कसौटी पर भी वह भले ही पूरा-पक्का न उतर पावे, तथापि अन्य परम्पराओ के साधुओं की अपेक्षा वह अपने नियम, सयम, तप, त्याग, कष्टसहिष्णुता, निस्पृहता मे एवं निष्परिग्रहता मे श्रेष्ठतर ही ठहरता है। जो आदर्श को अपने जीवन मे चरितार्थ कर लेते है, उन मुनिराजो की बात ही क्या है! वे सच्चे साधु या सच्चे गुरु ही आचार्य-उपाध्याय-साधु के रूप मे पच परमेष्ठी मे परिगणित है। जिनेन्द्रदेव के वे लघुनन्दन मोक्ष-मार्ग के उपासनीय मार्ग एव अनुकरणीय मार्गदर्शक होते हैं। वे तारणतरण होते है। उन्हीं के लिए कहा गया है कि--

धन्यास्ते मानवा मन्ये ये लोके विषयाकुले।
विचरन्ति गतग्रन्थाश्चतुरंगे निराकुला:॥

इस दिगम्बर मार्ग के प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर आदिदेव भगवान् ऋषभ थे। जिन-दीक्षा लेने के उपरान्त उन्होंने दिगम्बर मुनि के रूप मे तपश्चरण करके केवल-ज्ञान एव 'तीर्थंकर' पद प्राप्त किया था। उनके भरत, बाहुबलि आदि अनेक सुपुत्रों तथा अनगिनत अनुयायियो ने इसी दिगम्बर मार्ग का अवलम्बन लेकर आत्मकल्याण किया। भगवान् ऋषभ के समय से लेकर आज-पर्यन्त यह दिगम्बर मुनि-परपरा अविच्छिन्न चली आई है। बीच-बीच मे काल-दोष से मार्ग मे विकार भी उत्पन्न हुए, चारित्रिक शैथिल्य भी आया, किन्तु संशोधन-परिमार्जन भी होते रहे और मार्ग बना रहा।

जैन परम्परा का वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय भी जो जैन साधु के लिए दिगम्बरत्व को अपरिहार्य या अनिवार्य नही मानता और साधुओं को सीमितसख्यक व बिना सिले श्वेत वस्त्र धारण करने तथा काष्ठपात्रादि रखने की भी अनुमति देता है, इस तथ्य को मान्य करता है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव तथा अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर अपने मुनिजीवन या छद्मस्थकाल मे तथा अर्हतावस्था मे अचेलक अर्थात् दिगम्बर ही रहे थे, यह कि अन्य अनेक पुरातन जैन मुनि दिगम्बर रहे, और यह कि जिन-मार्ग मे जिनकल्पी साधुओं का श्रेष्ठ एवं श्लाघनीय रूप अचेलक ही है, यथा—'आउरणवज्जियाणं विसुद्ध जिणकप्पियाणन्तु'—अर्थात् वस्त्र आदि आवरणयुक्त साधु से आवरण-हीन (वस्त्ररहित,

---

१. भाव पाहुड, ६८
२. उत्तराध्ययन सूत्र, २०/४९

दिगम्बर) जिनकल्पी साधु विशुद्ध है (द्र०प्रवचनसारोद्धार, भा०३, पृ०, १३) तथा 'से हु दिट्ठपहे मुणी जस्स णत्थि ममाइयं'—जिसके परिग्रह नही है, उसी मुनि ने पथ देखा है (आयारो, I, अ० २, उ०६, सूत्र १५७)[1]

कला के क्षेत्र मे, प्रतिमा-विधान के प्राचीन जैनेतर शास्त्रकारो ने भी जिन-प्रतिमा का स्वरूप दिगम्बर ही प्रतिपादित किया है, यथा—

आजानुलम्बिबाहुः श्रीवत्सांकप्रशान्तमूर्तिश्च।
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः॥[2]
निराभरणसर्वांगनिर्वस्त्रांग - मनोहरम्।
सत्यवक्ष स्थले हेमवर्णश्रीवत्सलाञ्छनम्॥

वर्तमान मे उपलब्ध जिनप्रतिमाए मौर्यकाल (ईसापूर्व ४.थी-३ री शताब्दी) जितनी प्राचीन भी हैं और आनेवाली शताब्दियो मे उनकी सख्या उत्तरोत्तर वृद्धिगत रही, किन्तु ६ वी शती ई०के पूर्व निर्मित प्राय सभी तीर्थंकर या जिन-प्रतिमाए, चाहे वे पद्मासनस्थ हो या कायोत्सर्ग मुद्रा मे, खड्गासनस्थ, निर्वस्त्र-दिगम्बर ही है। यही कारण है कि वराहमिहिर आदि प्राचीन शास्त्रकारो ने अर्हन्त देव (जिनदेव या तीर्थंकर भगवानो) की प्रतिमाओ का उपर्युक्त स्वरूप प्रतिपादन किया। ये दिगम्बर प्रतिमाए ६-१०वी शती ई० तक तो उभय सम्प्रदायो के अनुयायियो द्वारा समानरूप से पूजनीय रही, अनेक आज भी है। कई दिगम्बर प्रतिमाए तो ऐसी भी है जो श्वेताम्बराचार्यों द्वारा प्रतिष्ठापित है। किन्तु प्राय उसी काल (६ वी शती ई०) मे साम्प्रदायिक भेद प्रकट करने की दृष्टि से श्वेताम्बर साधु जिन-मूर्तियो मे भी लगोट का चिह्न बनवाने लगे -मुकुट, हार, कुडल, चोली, आगी, कृत्रिम नेत्र आदि का प्रचलन तो इधर लगभग दो-अढाई सौ वर्ष के भीतर ही हुआ है।

जैन परम्परा मे ही नही, अन्य धार्मिक परपराओ मे भी उत्कृष्टतम साधको के लिए दिगम्बरत्व की ही प्रतिष्ठा रही प्राप्त होती है। प्रागैतिहासिक एव प्राग्वैदिक सिन्धु-घाटी सभ्यता के मोहञ्जोदडो (अब पाकिस्तान के लरकाना जिले मे) से प्राप्त अवशेषो मे कायोत्सर्ग दिगम्बर योगियो के अकन से युक्त मृण्मुद्राए मिली है, और हडप्पा (माण्टगुमरी, पाकिस्तान) के अवशेषो मे तो एक दिगम्बर योगिमूर्ति का धड भी मिला है। स्वय ऋग्वेद मे 'वातरशना.' (दिगम्बर) मुनियो का उल्लेख मिलता है, कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक मे उक्त वातरशना मुनियो को श्रमणधर्मा एव ऊर्ध्वरेतस (ब्रह्मचर्य से युक्त) बताया है। श्रीमद्भागवत में भी वातरशना मुनियो के उल्लेख हैं तथा उसमे व अन्य अनेक ब्राह्मणीय पुराणो मे नाभेय ऋषभ को विष्णु का एक प्रारभिक अवतार सूचित करते हुए उन्हे दिगम्बर ही चित्रित किया गया है।[3] ऐसे उल्लेखो पर से स्व० डॉ० मगलदेव शास्त्री का अभिमत है कि 'वातरशना श्रमण' एक प्राग्वैदिक मुनि-परम्परा थी, जिसका प्रभाव वैदिक धारा पर स्पष्ट है, और जिसका अभिप्राय जैन मुनियो से ही रहा प्रतीत होता है। कई उपनिषदो, पुराणो, स्मृतियो, रामायण, महाभारत आदि अनेक ब्राह्मणीय धर्मग्रन्थो व बृहत्सहितादि लौकिकग्रन्थो और क्लासिकल सस्कृत-साहित्य मे भी बहुधा दिगम्बर मुनियो के उल्लेख एव दिगम्बरत्व की प्रतिष्ठा प्राप्त है। राजर्षि भर्तृहरि तो लिखते हैं —

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्म-निर्मूलनक्षमः॥ (वैराग्य शतक, 59)

वस्तुत, ब्राह्मण-परम्परा मे जिन छह प्रकार के सन्यासियो का विधान है, उनमे से तुरीयातीत श्रेणी के सन्यासी सर्वथा दिगम्बर ही होते थे। अवधूत और परमहस भी प्राय दिगम्बर ही रहते थे।[5] जडभरत, शुकदेव मुनि आदि के कई उदाहरण भी मिलते हैं। मध्यकालीन साधु अखाडो

---

१ तथा देखिए आचारागसूत्र, अध्ययन ६, उद्देशक ३, सूत्र ५६-६५, अ० ८, उ० ४, सू० ५३, उ० ६, सू० ६३-६४, उ० ७, सू० १११-१५,
व याकोबी - जैनसूत्राज, १, पृ० ५६
उत्तराध्ययनसूत्र (याकोबी --जैन सूत्राज, २, पृ० १०६), ठाणागसूत्र, पृ० ८१३, सूयगडाग, ७२ व पृ० २५८, आदि
जहाँ जैन साधु का श्रेष्ठतम रूप अचेलक अर्थात् दिगम्बर ही प्रतिपादित किया है।

२. बृ०स०, अ० ५८, वराहमिहिर

३. मानसार, ८१-८२

४ देखिए---भागवतपुराण, स्कध ५, व स्कध २, अध्याय ३,६,७, पद्मपुराण, भूमिकांड, अ० ६५, स्कदपुराण, प्रभास खड, अ० ६, माहेश्वरखड, अ० ३७, विष्णुपुराण, द्वितीयाश, अ० १, शिवपुराण, पू०श०, अग्निपुराण, अ० १०, वायुपुराण, अ०३३, लिगपुराण, अ०४७, ब्रह्माण्डपुराण, अध्याय ४; मार्कण्डेयपुराण, अ० ५०, कूर्मपुराण, अ० ४१, इत्यादि।

५. यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहस्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक् सम्पन्न शुद्धमानस ..निर्मम शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठोऽशुभकर्मनिर्मूलनपर. सन्यासेन देहत्याग करोति स परमहंसो नामेति। अथर्ववेदीय जाबालोपनिषद्, सूत्र ६/६, पृ० २६०-६१
देहमात्रावशिष्टो दिगम्बर ...सम्यग्व जातरूपधरो भवति स ज्ञानवैराग्यसन्यासी। सन्यासोपनिषद् २'१३
आत्ममायारत वेषमवधूत दिगम्बरम्। शाण्डिल्योपनिषद् ३, १

में भी एक अखाड़ा 'दिगम्बरी' नाम से प्रसिद्ध है। नंगे साधु तो आज भी कुम्भमेलों पर देखे जा सकते हैं। पिछली शताब्दी में वाराणसी-निवासी महात्मा तैलंगस्वामी नामक सिद्ध योगी, जो रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे संतों एवं सुधारकों द्वारा भी पूजित थे, सर्वथा दिगम्बर रहते थे। बौद्ध भिक्षुओं के लिए नग्नता का विधान नहीं है किन्तु स्वयं गौतम बुद्ध ने अपने साधना-काल में कुछ काल तक दिगम्बर मुनि के रूप में तपस्या की थी। तत्कालीन अन्य श्रमण तीर्थंकरो—मक्खलिगोशाल, पूरण काश्यप, पकुध कात्यायन, अजित केशकंबलिन, संजय वेलट्ठि पुत्त—स्वयं तथा उनके अनुयायी साधु प्रायः नंगे ही रहते थे। यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्मों में भी सहज नग्नत्व को निर्दोषिता सूचक एवं श्लाघनीय माना गया। जलालुद्दीन रूमी, अल मन्सूर एवं सरमद जैसे सूफी सन्तों ने दिगम्बरत्व की सराहना की है। सरमद तो सदा नंगे ही रहते थे। उनका कहना था—

> तने उरियानी (दिगम्बरत्व में) से बेहतर नहीं कोई लिबास।
> यह वह लिबास है जिसका न उल्टा है, न सीधा ॥

तथा 'पोशानीद लबास हरकारा एबदीद, बेऐबारा लबास अयानीदाद' अर्थात् "पोशाक तो मनुष्य के ऐबों को छिपाने के लिए है। जो बे-ऐब (निष्पाप) होते हैं उनका परिधान तो नग्नत्व ही होता है।" अंग्रेज महाकवि मिल्टन ने भी अपने प्रसिद्ध काव्य 'पैराडाइज लास्ट' में कहा है कि आदम और हव्वा जब तक सरल एवं सहज निष्पाप थे, स्वर्गिक नन्दन-कानन में सुखपूर्वक विचरते थे। किन्तु, जैसे ही उनके उनके मन विकारी हुए, उन्हें उस दिव्य लोक से निष्कासित कर दिया गया। विकारों को छिपाने के लिए ही उनमें लज्जा का उदय हुआ और उन्हें परि-धान (आवरण या वस्त्रों) की आवश्यकता प्रतीत हुई।

वास्तव में दिगम्बरत्व तो स्वाभाविक निर्दोषिता का सूचक है। महात्मा गांधी ने एक बार कहा था, "स्वयं मुझे नग्नावस्था प्रिय है। यदि निर्जन वन मे रहता होऊं तो मैं नग्नावस्था मे ही रहूं।" और महामना काका कालेलकर के शब्दों में तो—"पुष्प नग्न रहते हैं। प्रकृति के साथ जिन्होने एकता नहीं खोयी है ऐसे बालक भी नग्न घूमते हैं, उनको इसकी शरम नहीं आती है और उनकी निर्व्याजता के कारण हमें भी लज्जा-जैसा कुछ प्रतीत नहीं होता। लज्जा की बात जाने दें, इसमें किसी प्रकार का अश्लील, बीभत्स, जुगुप्सित, विश्री, अरोचक हमें लगा है, ऐसा किसी भी मनुष्य का अनुभव नहीं। कारण यही है कि नग्नता प्राकृतिक स्थिति के साथ स्वभावसिद्ध है। मनुष्य ने विकृत ध्यान करके अपने विकारों को इतना अधिक बढ़ाया है और उन्हें उल्टे रास्ते की ओर प्रवृत्त किया है कि स्वभाव-सुन्दर नग्नता उसे सहन नहीं होती। दोष नग्नता का नहीं, पर अपने कृत्रिम जीवन का है।"

कुछ लोग अपने मन के पाप-विकारों, चारित्रिक शिथिलता अथवा अशक्तता या असमर्थता पर परदा डालने के लिए सर्वोच्च कोटि के आत्मसाधकों के भी दिगम्बरत्व का विरोध करते हैं। कोई-कोई सभ्यता, फैशन, लोकाचार, श्लीलता-अश्लीलता आदि की आड़ लेते हैं, यहां तक कि साधु के भी दिगम्बर रूप को अदर्शनीय अथवा अमंगलकारी कहते हैं। किन्तु, जैसा कि सोमदेवाचार्य का कथन है, नग्नत्व तो लोक मे एक सहज स्वाभाविक स्थिति है, वस्त्रावरण ही विकार है। जो स्वयं पापिष्ठ है, उनके लिए एक वस्तु पाप का हेतु बन जाती है, और जो स्वयं निष्पाप हैं उनके ऊपर उसी वस्तु का उसके विपरीत प्रभाव होता है। यदि समस्त प्राणियों के कल्याण-साधन में रत एवं ज्ञान-ध्यान-तपःपूत मुनिजन भी अमंगल होंगे, तो फिर लोक मे ऐसा और क्या है जो अमंगल नहीं होगा—

> सुखानुभवने नग्नो नग्नो जन्मसमागमे।
> बालो नग्नः शिवो नग्नो नग्नश्छिन्नशिखो यतिः ॥
> नग्नत्वं सहजं लोके विकारो वस्त्रवेष्टनम्।
> नग्ना चेयं कथं वन्द्या सौरभेयी दिने दिने ॥
> पापिष्ठं पापहेतुर्वा पश्यानिष्टविचेष्टितम्।
> अमंगलकरं वस्तु प्रार्थितार्थविघाति च ॥
> ज्ञानध्यानतपःपूताः सर्वसत्त्वहिते रताः।
> किमन्यन्मंगलं लोके मुनयो यद्यमंगलम् ॥[1]

सर्वमप्सु सन्यस्य दिगम्बरो भूत्वा। तुरीयातीतोपनिषद्

देशकालविमुक्तोऽस्मि दिगम्बरसुखोऽस्म्यहम्। मैत्रेयी उपनिषद् ३/१६

देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः। सन्यासोपनिषद्, १/१३। तदनन्तर कटिसूत्र कौपीन दण्ड वस्त्र कमण्डलु सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्च-रेत् कपालेशो नान्वेष्टव्य:, ...आशानिवृत्तो भूत्वा आशाम्बरधरो भूत्वा। नारदपरिव्राजकोपनिषद्, ५/१-३६ इत्यादि

१. यशस्तिलकचम्पू।

वस्तुतः, निर्विकार वीतराग सहज दिगम्बर छवि का दर्शन करने से तो स्वय दर्शक के मनोविकार शान्त हो जाते हैं, अब चाहे वह मुद्रा किसी सच्चे सजीव साधु-महात्मा की हो अथवा पाषाण-आदि से निर्मित जिन-प्रतिमा,वीतराग-सर्वज्ञ-हितकर अर्हंत परमात्मा की प्रतिमा हो। भक्तहृदय तो उस मुद्रा के सम्मुख नत होता है, उसकी उक्त परम वीतराग प्रशान्त मुद्रा मे स्वय अपनी आत्मा के निर्मलत्व को पहचानने का प्रयास करता है, प्रेरणा लेता है और समता एव वीतराग-भाव की साधना करता है, उन्हें यथाशक्य अपने जीवन में उतारने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

निर्ग्रन्थ श्रमण तीर्थंकर भगवानों द्वारा स्वय आचरित एव उपदेशित मार्ग का अनुसरण करने वाले उच्च कोटि के महाव्रती आत्मसाधक दिगम्बर मुनियों का सद्भाव प्रायः सदैव रहता आया है। अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु (ई० पू० ४ थी शती के मध्य) के समय तक तो मार्ग एकरस बना ही रहा, उसके दो-तीन दशक बाद के, नन्द-मौर्यकालीन यूनानी लेखकों ने भारतवर्ष के वनवासी निस्पृह दिगम्बर मुनियो के वर्णन किये हैं, जिन्हें वे जिम्नोसोफिस्ट या जिम्नेताई कहते थे। मौर्यकाल के अन्त (लगभग ई० पू० २००) से ही मथुरा आदि कई प्राचीन स्थानो मे दिगम्बर जैन मुनियो के प्रस्तराकन भी मिलने लगते हैं। युवान च्वाग आदि प्राचीन चीनी यात्रियो ने भी देश के विभिन्न भागो मे विचरते दिगम्बर (लि-हि) साधुओ या निर्ग्रन्थो का उल्लेख किया है। सुलेमान आदि अरब सौदागरो और मध्यकालीन यूरोपीय पर्यटकों मे से भी कई एक ने उनकी विद्यमानता के सकेत किए है। डॉ० हेनरिख जिम्मर जैसे कई प्रकाण्ड मनीषियो एव प्राच्यविदो का मत है कि प्राचीन काल मे जैन मुनि सर्वथा दिगम्बर ही रहते थे।

इसमे सन्देह नही है कि दिगम्बरत्व की सम्यक् साधना सरल नही है—अतीव कठोर तप है, हर किसी के बूते का काम नहीं है। किन्तु उसका लक्ष्य भी तो परम प्राप्तव्य की उपलब्धि है। जितना ऊचा लक्ष्य है, वैसी ही उच्च साधना अपेक्षित है। परम सिद्धि का चरम सोपान भीतर एव बाहर का पूर्ण दिगम्बरत्व ही हो सकता है।

'साध्नोतीति साधुः'—जो साधना करता है वही साधु है।

णिब्भूसणं णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पुज्जं। (मूलाचार, १/३२)

गोलमेज परिषद के वक्त जब गाधीजी इंग्लैण्ड मे थे तो वह अपरिग्रह पर भाषण देने गिल्डहाउस आए थे। हाल खचाखच भरा हुआ था और सैकडों लोग बाहर खडे थे। हम बडे ध्यान से यह सुन रहे थे कि एक ऐसे व्यक्ति का, जो अपरिग्रह के बारे में बातें-ही-बातें नही करता था, बल्कि जिसे उसका यथार्थ अनुभव भी था, कहना क्या है ? अन्त में बहुत से सवाल किए गए। कभी-कभी महात्मा को उत्तर देने से पहले रुकना पडता था। बाद मे मुझे मालूम हुआ कि वह सिर्फ इसलिए रुकते थे कि वह मानवीय भाषा मे, अधिक-से-अधिक जितना सही और पूर्णतया सच्चा जवाब हो सके, दें। उनका यह कथन मुझे याद है, "परिग्रह का त्याग पहले-पहल शरीर से वस्त्र उतार देने जैसा नही, बल्कि हड्डी से मास ही अलग करने जैसा लगता है।" आगे उन्होंने कहा था—"अगर आप मुझसे कहे कि 'लेकिन भाई गांधी, तुम तो एक सूती कपडे का टुकडा पहने हुए हो। फिर कैसे कह सकते हो कि तुम्हारे पास कुछ भी नही है ?' तो मेरा उत्तर यह होगा कि 'जब तक मेरा शरीर है, मेरे खयाल से मुझे उस पर कुछ-न-कुछ लपेटना ही पडेगा। मगर' — अपनी मोहिनी मुस्कराहट के साथ उन्होंने आगे कहा—'यहां कोई चाहे तो इसे भी मुझसे ले सकता है, मैं पुलिस को बुलाने नही जाऊंगा।'

—मॉड रॉयडन

(गाधी अभिनन्दन ग्रन्थ से साभार)

जैन श्रमण-परम्परा का धर्म-दर्शन

प० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

संस्कृत-साहित्य मे जिसे 'श्रमण' पद से अभिहित किया गया है,[1] मूल मे वह 'समण' सज्ञापद है,[2] उसके संस्कृत छायारूप तीन होते हैं[3]—शमन, श्रमण और समन ! श्रमणो—जैन साधुओं की चर्या इन तीनो विशेषताओ को लिये होती है। जिन्होने पञ्चेन्द्रियो को सवृत कर लिया है, कषायो पर विजय प्राप्त कर ली है, जो शत्रु-मित्र, दुःख-सुख प्रशसा-निन्दा, मिट्टी-सोना तथा जीवन-मरण मे समभाव-सपन्न हैं, और जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना मे निरतर तत्पर है, वे श्रमण है और उनका धर्म ही श्रमण धर्म है।[4] वर्तमान मे जिसे हम जैन धर्म या आत्मधर्म के नाम से सबोधित करते है, वह यही है। यह अखण्ड भाव से श्रमण सस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है।

लोक मे जितने भी धर्म प्रचलित हैं उनका लिखित या अलिखित दर्शन अवश्य होता है। इसका भी अपना दर्शन है जिसके द्वारा श्रमण धर्म की नीव के रूप मे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की अक्षुण्ण भाव मे प्रतिष्ठा की गयी है। इसे समझने के लिए इसमे प्रतिपादित तत्त्व-प्ररूपणा को हृदयगम कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। जैसा कि समग्र आगम पर दृष्टिपात करने से विदित होता है, इसमे तत्त्व-प्ररूपणा के दो प्रकार परिलक्षित होते है—एक लोक की सरचना के रूप मे तत्त्व-प्ररूपणा का प्रकार, और दूसरा मोक्ष-मार्ग की दृष्टि से तत्त्व-प्ररूपणा का प्रकार। ये दोनो ही प्रकार एक-दूसरे के इतने निकट हैं जिससे इन्हे जुदा नही किया जा सकता, केवल प्रयोजन-भेद से ही तत्त्व-प्ररूपणा को दो भागो मे विभक्त किया गया है।

प्रथम प्ररूपणा के अनुसार जाति की अपेक्षा द्रव्य छह हैं। वे अनादि, अनन्त और अकृत्रिम है। उन्हीके समुच्चय का नाम 'लोक' है। इसलिए जैन दर्शन में लोक भी स्वप्रतिष्ठ और अनादि-अनन्त है। छह द्रव्यो के नाम हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश। इनमें काल द्रव्य सत्स्वरूप होकर भी शरीर के प्रमाण बहु-प्रदेशीय नही है। इसलिए उसे छोड़कर शेष पाच द्रव्य अस्तिकाय हैं। पुद्गल द्रव्य शक्ति या योग्यता की अपेक्षा बहुप्रदेशीय है।

सख्या की दृष्टि से जीव-द्रव्य अनत हैं, पुद्गल-द्रव्य उनसे अनतगुणे हैं, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक है और काल-द्रव्य असख्य हैं।

ये सब द्रव्य स्वरूप-सत्ता की अपेक्षा भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी इन सबमे घटित हो ऐसा इनका एक सामान्य लक्षण है, जिस कारण ये सब 'द्रव्य' पद द्वारा अभिहित किये गये है। वह है—"उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्। सद् द्रव्यलक्षणम्।"[5] जो सत्स्वरूप हो वह द्रव्य है, या सत्स्वरूप होना द्रव्य का लक्षण है। यहा सत् और द्रव्य मे लक्ष्य और लक्षण की अपेक्षा भेद स्वीकार करने पर भी वे सर्वथा दो नही है, एक हैं—चाहे सत् कहो या द्रव्य, दोनो का अर्थ एक है। इसी कारण जैन दर्शन मे अभाव को सर्वथा अभाव-रूप मे स्वीकार करके भी उसे भावान्तर स्वभाव स्वीकार किया गया है।[6]

नियम यह है कि सत् का कभी नाश नहीं होता, और असत् का कभी उत्पाद नही होता। ऐसा होते हुए भी वह सत् सर्वथा कूटस्थ नही है—क्रियाशील[7] है। यही कारण है कि प्रकृत मे सत् को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप मे त्रयात्मक स्वीकार किया गया है।

---

१ येषा च विरोध शाश्वतिक, इत्यस्यावकाश· श्रमणब्राह्मणम्। पातजल भाष्य, २ ४ ६
२. प्रवचनसार, गा० ३/२६
३. पाइयसद्दमहण्णवो (कोश), समण शब्द, पृ० १०८३
४. प्रवचनसार, गा० ३/४०-४२
५. तत्त्वार्थसूत्र, ५, २६-३०
६ भवत्यभावोऽपि हि वस्तुधर्म। युक्त्यनुशासन—५६
७. प्रवचनसार, गा० २/८-१२

अपने अन्वय-स्वभाव के कारण जहां वह ध्रुव है, वही व्यतिरेक पर्यायरूप धर्म के कारण वही उत्पाद-व्यय स्वरूप है।[1] इन तीनो मे काल-भेद नहीं है।[2] जिसे हम नवीन पर्याय का उत्पाद कहते हैं, यद्यपि वही पूर्व पर्याय का व्यय है, पर इनमे लक्षण-भेद होने से ये दो स्वीकार किये गये हैं।[3] इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य एक ही काल मे त्रयात्मक है, यह सिद्ध होता है।

इस त्रयात्मक द्रव्य मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनो ही उसके अश सत् हैं। इनमे कथचित् अभेद है क्योंकि तीनों की सत्ता एक है। जो तीनो मे से किसी एक की सत्ता है वही अन्य दो की है। यह द्रव्य का सामान्य आत्मभूत लक्षण है। इससे प्रत्येक द्रव्य परिणामी नित्य है—यह सिद्ध होता है, क्योंकि समय-समय जो उत्पाद-व्यय होता है वह उसका परिणामीपना है, और ऐसा होते हुए भी वह अपने ध्रुव-रूप मूल स्वभाव को कभी नही छोडता, उसके द्वारा वह सदा ही उत्पाद-व्यय रूप परिणाम को व्यापता रहता है—यह उसकी नित्यता है। आगम मे प्रत्येक द्रव्य को जो अनेकान्त-स्वरूप कहा गया है, उसका भी यही कारण है।

द्रव्य मे उत्पाद-व्यय ये कार्य हैं। वे कैसे होते हैं, यह प्रश्न है—स्वय या पर मे ? किसी एक पक्ष को स्वीकार करने पर एकान्त का दोष आता है, उभयत. स्वीकार करने पर जीव का मोक्ष स्वरूप से अर्थात् परमार्थ मे कथचित् स्वाश्रित है और कथचित् पराश्रित है, ऐसा मानना पडता है।

समाधान यह है कि किसी भी द्रव्य को अन्य कोई बनाता नही है, वह स्वय होता है। अत उत्पाद-व्यय रूप कार्य को प्रत्येक द्रव्य स्वय करता है—यह सिद्ध होता है। वही स्वय कर्ता है, और वही स्वय कर्म है। करण, सप्रदान, अपादान और अधिकरण भी वही स्वय है। अविनाभाव सम्बन्धवश उसकी सिद्धि मात्र 'पर' से होती है, इसलिए उसे कार्य का उपचार से साधक कहा जाता है। पर ने किया, यह व्यवहार है, परमार्थ नही, क्योंकि पर ने किया, इसे परमार्थ मानने पर दो द्रव्यों मे एकत्व की उत्पत्ति आती है जो युक्ति-युक्त नही है। अत प्रकृत मे अनेकात इस प्रकार घटित होता है।

उत्पाद-व्यय कथचित् स्वय होते है क्योंकि वे द्रव्य के स्वरूप हैं। कथचित् पर से होने का भी व्यवहार है, क्योंकि अविनाभाव सम्बन्धवश 'पर' उनकी सिद्धि मे निमित्त है।[4]

जैन धर्म मे प्रत्येक द्रव्य को स्वरूप से जो स्वाश्रित (स्वाधीन) माना गया है, उसका कारण भी यही है। जीव ने पर मे एकत्व-बुद्धि करके अपने अपराध-वश अपना भव-भ्रमणरूप राग-द्वेष-मोह स्वरूप ससार स्वय बनाया है। कर्म-रूप पुद्गल-द्रव्य का परिणाम उसके अज्ञानादि-रूप ससार का परमार्थ-कर्ता नही होता। पर पर को करे, ऐसा वस्तु-स्वभाव नही है। आत्मा स्वय अज्ञानादि-रूप परिणाम को जन्म देता है, इसलिए वह स्वय उसका कर्ता होता है। फिर भी इसके जो ज्ञानावरणादिरूप पुद्गल-कर्म का बन्ध होता है, उस सम्बन्ध मे नियम यह है कि प्रति समय जैसे ही यह जीव स्वरूप से भिन्न पर मे एकत्वबुद्धि या इष्टानिष्टबुद्धि करता है, वैसे ही ज्ञानावरणादि-रूप परिणमन की योग्यता वाले पुद्गल-स्कध स्वय उससे एकक्षेत्रावगाह रूप बध को प्राप्त होकर फल-काल के प्राप्त होने पर तदनुरूप फल देने में निमित्त होते हैं। जीव-कर्म का यह बन्ध अनादि-काल से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धवश स्वय बना चला आ रहा है। वह इसके अनादिपन मे निमित्त नही होता।

पहले हम जिन छह द्रव्यो का निर्देश कर आये है उनमे से चार द्रव्य तो सदा अपने स्वभाव के अनुकूल ही कार्य को जन्म देते हैं। शेष जो जीव और पुद्गल दो द्रव्य हैं, उनमे से पुद्गल का स्वभाव तो ऐसा है कि यह कदाचित् मूल स्वभाव मे रहते हुए भी बध के अनुकूल अवस्था के होने पर दूसरे पुद्गल के साथ नियमानुसार बध को प्राप्त हो जाता है, और जब तक वह इस अवस्था में रहता है, तब तक अपने इकाईपने से विमुख होकर स्कध सज्ञा से व्यवहृत होता रहता है।

इसके अतिरिक्त जो जीव है, उसका स्वभाव ऐसा नही है कि वह स्वभाव से स्वय को कर्म से आबद्ध कर दुर्गति का पात्र बने। अनादि से वह स्वय को भूला हुआ है। उसकी इस भूल का ही परिणाम है कि वह दुर्गति का पात्र बना चला आ रहा है। उसे स्वयं में यही अनुभव करना है और उसके मूल कारण के रूप मे अपने अज्ञान-भाव और राग-द्वेष को जानकर उनसे मुक्त होने का उपाय करना है। यही वह मुख्य प्रयोजन है जिसे ध्यान मे रखकर जिनागम में तत्त्व-प्ररूपणा का दूसरा प्रकार परिलक्षित होता है।

आत्मानुभूति, आत्मज्ञान और आत्मचर्या—इन तीनो रूप-परिणत आत्मा स्वयं ही मोक्ष-मार्ग है। उनमे सम्यग्दर्शन मूल है। 'दंसणमूलो धम्मो,'[5]—इसी प्रयोजन से जीवादि नौ पदार्थ या सात तत्त्व[6] कहे गए हैं। इनमे आत्मा मुख्य है। विश्लेषण द्वारा उसके मूल

१. सर्वार्थसिद्धि, ५/३०
२ प्रवचनसार, गा० २/१०
३. आप्तमीमांसा, का० ५८
४. वही, का० ७५
५. समयसार, गा० १३
६. तत्त्वार्थसूत्र, १/४

स्वरूप पर प्रकाश डालना इस कथन का मुख्य प्रयोजन है। उसी से हम जानते हैं कि मैं चिन्मात्र-ज्योति स्वरूप अखण्ड एक आत्मा हूं। अन्य जितनी उपाधि है वह सब मैं नही हूं। वह मुझसे भिन्न है। इतना ही नही, वह यह भी जानता है कि यद्यपि नर-नारकादि जीव विशेष, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष स्वरूप इन नौ पदार्थों मे मैं ही व्यापता हूं।[1] जीवन के रंग-मंच पर कभी मैं नारकीय बनकर अवतरित होता हूं तो कभी मनुष्य बनकर; कभी पुण्यात्मा की भूमिका निभाता हू तो कभी पापी आदि की, इतना सब होते हुए भी मैं चिन्मात्र ज्योति-स्वरूप अपने एकत्व को कभी नही छोडता हू। यही वह सकल्प है जो इस जीव को आत्म-स्वतन्त्रता के प्रतीक-स्वरूप मोक्ष-मार्ग में अग्रसर कर आत्मा का साक्षात्कार कराने मे समर्थ होता है। ज्ञान-वैराग्य-सम्पन्न मोक्ष-मार्ग के पथिक की यह प्रथम भूमिका है।

यह जीवो के आयतन जानकर पाच उदुबरफलो तथा मद्य, मांस और मधु का पूर्ण त्यागी होता है। इनके त्याग को आठ मूल-गुण कहते हैं[2] जो इसके नियम से होते हैं। साथ ही वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और वीतराग वाणी-स्वरूप जिनागम इसके आराध्य होते हैं।[3] यह आजीविका के ऐसे ही साधनो को अपनाता है जिनमे सकल्पपूर्वक हिसा की सम्भावना न हो।[4] जैसे वन-दाह, तालाब से मछली पकड कर आजीविका करना, आदि।

दूसरी भूमिका का श्रमणोपासक व्रती होता है। व्रत बारह हैं—पाच अणुव्रत, तीन गुण-व्रत और चार शिक्षा-व्रत।[5] यह इनका निर्दोष विधि से पालन करता है। कदाचित् दोष का उद्भव होने पर गुरु की साक्षीपूर्वक लगे दोषो का परिमार्जन करता है और इनमें उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए उस भूमिका तक वृद्धि करता है जहा जाकर लगोटी मात्र परिग्रह शेष रह जाता है।

तीसरी भूमिका श्रमण की है। यह महाव्रती होता है। यह वन मे जाकर गुरु की साक्षीपूर्वक जिन व्रतो को स्वीकार करता है उन्हें गुण कहते हैं। वे २८ होते हैं—५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इद्रियजय, ६ आवश्यक और ७ शेष गुण।[6] शेष गुण, जैसे खडे होकर दिन मे एक बार भोजन-पानी लेना, दोनो हाथो को पात्र बनाकर लेना, केश लुचन करना, नग्न रहना आदि।

इसके जितना भी कार्य होता है, उसे वह स्वावलबनपूर्वक ही करता है, मात्र इसलिए ही हाथो को पात्र बनाकर आहार ग्रहण करता है, हाथो से ही केशलुच करता है। रात्रि मे भूमि पर एक करवट से अल्पनिद्रा लेता है, आदि।

यह सब इसलिए नही किया जाता है कि शरीर को कष्ट दिया जाए। शरीर तो जड है, कुछ भी करो, उसे तो कष्ट होता नही। यदि कष्ट होता भी है तो करने वाले को ही हो सकता है। किन्तु श्रमण का राग-द्वेष के परवश न होकर शरीर से भिन्न आत्मा की सम्हाल करना मुख्य प्रयोजन होता है, इसलिए वे सब क्रियाए उसे, जिन्हे हम कष्टकर मानते हैं, कष्टकर भासित न होकर अवश्य-करणीय भासित होती हैं।

यह जैन धर्म-दर्शन का सामान्य अवलोकन है। इसे दृष्टि-पथ मे लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका मुख्य प्रयोजन वेद, ईश्वरकर्तृत्व और यज्ञीय हिंसा का विरोध करना पूर्व मे कभी नही रहा है। इसके मूल साहित्य षट्खण्डागम, कषायप्राभृत, कुदकुंद द्वारा रचित साहित्य, मूलाचार, रत्नकरंडश्रावकाचार, भगवती-आराधना आदि पर दृष्टिपात करने से उक्त तथ्य स्पष्ट हो जाता है। इसलिए जो मनीषी इसे सुधारवादी धर्म कहकर इसे अर्वाचीन सिद्ध करना चाहते हैं, जान पडता है, वस्तुत उन्होने स्वय इन धर्मग्रथो का ही ठीक तरह से अवलोकन किए बिना अपना यह मत बनाया है। उन्हे यह नही भूलना चाहिए कि वर्तमान मे भारतीय सस्कृति का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उसे न केवल ब्राह्मण या वैदिक सस्कृति कहा जा सकता है, और न ही श्रमण-सस्कृति कहना उपयुक्त होगा। यह एक ऐसा तथ्य है जिसे स्वीकार कर लेने पर श्रमण-सस्कृति से अनुप्राणित होकर भारतीय सस्कृति मे जो निखार आया है, उसे आसानी से समझा जा सकता है।

इससे जिन तथ्यो पर विशेष प्रकाश पडता है, वे निम्न हैं—

(१) इसमे सदा से प्रत्येक द्रव्य का जो स्वरूप स्वीकार किया गया है, उसके अनुसार जड-चेतन, प्रत्येक द्रव्य मे अर्थक्रिया-कारीपना सिद्ध होने से, व्यतिरेक रूप मे परमार्थ से परकर्तृत्व का स्वय निषेध हो जाता है।

(२) व्यक्ति अपने जीवन मे वीतरागता अर्जित करे—यह इस धर्म-दर्शन का मुख्य प्रयोजन है। अहिंसा-आदि वीतरागता का ही दूसरा नाम है, तथा व्यवहार-रूप मे वे उसके बाह्य साधन है। मात्र इसीलिए जैन धर्म मे अहिंसा आदि को मुख्यता दी गई है। यज्ञादि-विहित हिंसा का निषेध करना इसका मुख्य प्रयोजन नही है। जीवन मे अहिंसा के स्वीकार करने पर उसका निषेध स्वय हो जाता है।

ये कतिपय तथ्य हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सुधारवाद की दृष्टि से जैन धर्म की संरचना नही हुई है। वह सनातन है। भारतीय जन-जीवन पर उसकी अमिट छाप है, और यह स्वाभाविक भी है क्योंकि जो पडोसी होते हैं उनमे आदान-प्रदान न हो—यह नही हो सकता।

---

१ समयसारकलश, ७

२ सागारधर्मामृत, २, ३

३. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ४

४ सागारधर्मामृत, १/१३-१४

५ वही, अ० २ व ५

६. प्रवचनसार, गा० ३/८-९

श्रमण कौन ?

डॉ० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

'समयसार' के मोक्षाधिकार मे कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जिस प्रकार बन्धन मे पड़ा व्यक्ति यद्यपि यह जानता है कि मैं बन्धन मे पड़ा हूं, अमुक कारण से बन्धन मे पड़ा हू और बन्धन तीव्र, मध्यम या हीन अनुभाग वाला है, तथापि जब तक वह छेनी और हथौडे के द्वारा उस बन्धन को तोडने का पुरुषार्थ नही करता, तब तक बन्धन से मुक्त नही हो सकता। इसी प्रकार जो मानव अपने बन्धन के कारणो तथा उनकी तीव्र, मध्यम और हीन अनुभाग शक्तियो को जानता है, तथापि जब तक बन्धन को पुरुषार्थ द्वारा नष्ट नही करता, तब तक बन्धन से रहित नही हो सकता। तात्पर्य यह कि सम्यक्चारित्र के बिना, मात्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के होने पर भी, यह जीव तेंतीस सागर के विपुल काल तक इसी ससार मे पडा रहता है। सर्वार्थसिद्धि का अहमिन्द्र अपना तेंतीस सागर का सुदीर्घ काल अपुनरुक्त तत्त्व-चर्चाओं मे व्यतीत करता है, पर गुण-स्थानो की भूमिका मे चतुर्थ गुणस्थान से आगे नही बढ पाता। वह सामान्यतया ४१ प्रकृतियो का ही सवर कर पाता है, अधिक का नही, परन्तु सम्यक्चारित्र के प्रकट होते ही सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य रूप से अन्तर्मुहूर्त मे ही समस्त कर्मों का क्षय कर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। सम्यक्चारित्र की महिमा वचनागोचर है। सम्यग्दर्शन, धर्मरूप वृक्ष का मूल है, तो सम्यक्चारित्र वह शाखा है जिसमे मोक्ष-रूपी फल लगता है। मोक्षमार्ग के प्रकरण मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—तीनो ही यथास्थान अपना-अपना महत्त्व रखते है। इनमे से एक की भी कमी होने पर कार्य-सिद्धि नही हो सकती।

सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही होता है। इनके बिना होने वाला चारित्र, जिनागम में मिथ्याचारित्र कहा गया है। सम्यक्त्व के बिना शुभोपयोग की भूमिका भी इस जीव को मोक्ष-मार्ग मे अग्रसर नही होने देती। कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—

> चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि।
> ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥७९॥ (ज्ञानाधिकार · प्रवचनसार)

पाप के कारणभूत आरम्भ को छोडकर जो शुभ चर्या मे प्रवृत्त है, वह यदि मोहादि को नही छोडता है तो शुद्ध आत्मा को प्राप्त नही हो सकता। तात्पर्य यह है कि मोह-मिथ्यात्व गरल को नष्ट किए बिना आत्मतत्त्व का परिचय नही हो सकता। मोह-विलय का उपाय बतलाते हुए वही कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं—

> जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त-गुणत्त-पज्जयत्तेहि।
> सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥ (ज्ञानाधिकार : प्रवचनसार)

जो द्रव्य, गुण और पर्याय के द्वारा अर्हन्त को जानता है वह आत्मा को जानता है, और जो आत्मा को जानता है उसका मोह नियम से विलय-विनाश को प्राप्त होता है। अर्हन्त जीव-द्रव्य है और मैं भी जीव-द्रव्य हू, फिर कहा अन्तर पड गया कि वे भगवान हो गए और मैं भक्त ही बना रहा? अर्हन्त भगवान उस केवल-ज्ञान गुण के धारक हैं जिसमे लोक-अलोक के समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष प्रतिफलित हो रहे हैं, और एक मैं हूं जो पीठ के पीछे विद्यमान पदार्थ को भी जानने मे असमर्थ हू। अर्हन्त उस विभाव व्यञ्जन पर्याय के धारक हैं जिसके पश्चात् दूसरी विभाव व्यञ्जन पर्याय होने वाली नही है, परन्तु मेरी कितनी पर्यायें शेष हैं—यह मैं नही जान सकता। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से जो अर्हन्त को जानता है, उसे अपने और अर्हन्त के बीच मे अन्तर डालने वाले मोह का ज्ञान नियम से होता है और मोह का ज्ञान होते ही उसे नष्ट करने का पुरुषार्थ जाग्रत होता है। दर्पण देखने से जिसे अपने मुख पर लगी हुई कालिमा का ज्ञान हो गया है, वह कालिमा को नष्ट करने का पुरुषार्थ नियम से करता है। अर्हन्त-विषयक राग शुभबन्ध का कारण है, परन्तु अर्हन्त-विषयक ज्ञान तो संवर और निर्जरा का ही कारण होता है।

मोह के नष्ट होने और आत्म-तत्त्व के प्राप्त कर लेने पर भी यदि यह जीव राग-द्वेष को नही छोडता है तो वह शुद्ध आत्मा को

प्राप्त नहीं कर सकता। राग-द्वेष एक ऐसी कालिमा है जिसके रहते हुए जीव परम शुद्ध वीतराग-भाव को प्राप्त नहीं कर सकता। जो मनुष्य मोह-दृष्टि को नष्ट कर आगम मे कुशलता प्राप्त करता है—आगम-ज्ञान के माध्यम से निजस्वरूप का अध्ययन करता है, तथा विरागचर्या—वीतराग-चरित्र—में पूर्ण प्रयत्न से उपस्थित रहता है, वही श्रमण-मुनि-धर्म नाम से व्यवहृत होता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने बड़ी दृढ़ता के साथ कहा है—

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥८२॥ (प्रवचनसार : ज्ञानाधिकार)

सभी अर्हन्त इसी विधि से—इसी रत्नत्रय के मार्ग से—कर्मों का क्षय कर तथा तत्त्वो का उपदेश कर निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। उन्हें मेरा नमस्कार हो।

आत्मा वीतराग-स्वभाव है। उसकी प्राप्ति वीतराग-परिणति से ही हो सकती है, सराग परिणति से नही। इसलिए मुमुक्षु प्राणी को वीतराग-चर्या मे ही अहर्निश निमग्न रहना चाहिए।

प्रवचनसार के चारित्राधिकार के प्रारम्भ मे ही अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धि-
र्द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ।
बुद्ध्वेति कर्माविरताः परेऽपि
द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु ॥

परम पारिणामिक भाव से युक्त, शाश्वत सुखधाम आत्मद्रव्य की सिद्धि होने पर, कर्म, नोकर्म और भावकर्म मे पृथक् अनुभूति होने पर, चारित्र की सिद्धि होती है और चारित्र की सिद्धि होने पर उस आत्मद्रव्य की सिद्धि होती है—पर से भिन्न अखण्ड एक आत्मद्रव्य की उपलब्धि होती है—इसलिए अन्य जीव भी ऐसा जानकर निरन्तर उद्यमवन्त हो आत्म-द्रव्य के अविरुद्ध चारित्र का आचरण करें।

दुःख-निवृत्ति का साधन यदि कोई है तो वह सम्यक्-चारित्र ही है, सम्यक्-चारित्र की पूर्णता श्रामण्य मुनिपद मे ही होती है। अतएव कुन्दकुन्द स्वामी स्नेहपूर्ण भाषा मे संबोधित करते हुए कहते हैं—

पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुःखपरिमोक्खं ॥१॥ (प्रवचनसार, चारित्राधिकार)

हे भद्र ! यदि तू दुःखों से सर्वथा निवृत्ति चाहता है तो श्रामण्य-मुनि पद अगीकार कर।

जिसका चित्त संसार से विरक्त हो चुका है, ऐसा मुमुक्षु पुरुष, लोक-व्यवहार की पूर्ति के लिए बन्धु-वर्ग से पूछता है तथा माता-पिता, स्त्री-पुत्र से छुट्टी पाकर पंचाचार के धारक आचार्य की शरण मे जाता है। बन्धुवर्ग से पूछने आदि की बात मात्र लोक-व्यवहार की पूर्ति है। अन्तरंग में जब वैराग्य का प्रवाह जोर पकडता है तब वज्रदन्त चक्रवर्ती जैसे महापुरुष यह नही विकल्प करते कि यह षट्खण्ड का वैभव कौन सँभालेगा ? वे अल्पवयस्क पौत्र को राज-तिलक लगाकर वन को चल देते हैं। स्त्री के अनुराग मे निमग्न उदयसुन्दर स्त्री के अल्पकालीन विरह को भी नही सह सका इसलिए उसके साथ ही चला, परन्तु मार्ग मे वन-खण्ड के बीच निश्चलासन मे विराजमान ध्यान-मग्न मुनिराज को देख संसार से विरक्त हो गया और वही पर दिगम्बर मुद्रा का धारी हो गया। स्त्री आर्यिका बन गई और बहिन को लेने के लिए आया हुआ उदयसुन्दर का साला भी मुनि हो गया। सुकोशल स्वामी माता की आज्ञा के विपरीत अपने पिता कीर्तिधर मुनिराज के समीप जाकर मुनिव्रत धारण कर लेते हैं। सुकुमाल स्वामी रस्सी द्वारा महल के उपरितन खण्ड मे नीचे उतर मुनिराज की शरण मे पहुंचते हैं और प्रायोपगमन सन्यास धारण कर सुगति के पात्र होते हैं। दीक्षा लेने का निश्चय कर प्रद्युम्न राजसभा मे जाकर बलदेव और श्रीकृष्ण से आज्ञा माँगते हैं। दीक्षा लेने की बात सुन कर बलदेव हँसकर कहते हैं—अहो, मैं बूढा बैठा हू, पर बच्चा दीक्षा लेने की बात कहता है ! प्रद्युम्न उत्तर देते हैं—आप लोग तो ससार के स्तम्भ हैं—आपके ऊपर ससार का भार लदा हुआ है परन्तु मैं तो स्तम्भ नही हू, इसलिए दीक्षा लेने का मेरा दृढ़ संकल्प है। राजसभा से निवृत्त हो प्रद्युम्न अन्तःपुर मे जाकर स्त्री से कहते हैं - प्रिये ! मेरा गृह-त्याग कर दीक्षा लेने का भाव है। स्त्री पहले से ही विरक्त थी, अतः कहती है—जब दीक्षा लेने का भाव है तब 'प्रिये' सबोधन की क्या आवश्यकता है ? जान पड़ता है अभी आपका वैराग्य मुख मे ही है, हृदय तक नही पहुचा। आपके पहले मैं गृह-त्याग करूगी। अहा, ऐसे निकट भव्य-अल्प ससारी जीव जब विरक्त होते है तब उन्हे किसी से आज्ञा लेने का बन्धन नही है। जिस प्रकार बन्धन तोड मत्त हाथी वन की ओर भागता है, उसी प्रकार वे लोग गृहस्थी का बन्धन तोड वन की ओर भागते है।

विरक्त पुरुष वन में आचार्य-चरणो के निकट जाकर गद्गद-कण्ठ मे निवेदन करता है—भगवन्, मां प्रतीच्छ—मुझे अंगीकार करो—चरणो की शरण दो। मैंने निश्चय कर लिया है—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि ॥४॥ (प्रवचनसार, चारित्राधिकार)

मैं दूसरों का नहीं हूं, और दूसरे भी मेरे नहीं हैं। इस जगत् मे मेरा कुछ भी नही है। इस प्रकार की प्रार्थना सुन मनोविज्ञान के धनी आचार्य दीक्षोन्मुख शिष्य की पात्रता का विचार कर उसे दीक्षा देते हैं। वन मे कौन दीक्षा का उत्सव करने वाला होता है ? कौन उसे दूल्हा के समान सजाकर उसकी बिन्नायकी निकालता है। जिस कीचड से वह निकलकर आया है, पुन: उसी कीचड़ मे अपना पैर नहीं देता। मात्र आचार्यवर की आज्ञा प्राप्त कर यथाजात मुद्रा का धारी होता है तथा घास-फूस के समान दाढ़ी-मूंछ और सिर के केश उखाड़ कर फेंक देता है। इस नव-दीक्षित शिष्य को आचार्य तथा संघस्थ मुनि अल्पसंसारी समझ बड़े स्नेह से साथ मे रखते हैं तथा उसके ज्ञान और वैराग्य की वृद्धि का निरन्तर ध्यान रखते हैं।

वह नवदीक्षित साधु—पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रिय-दमन, छह आवश्यक और शेष सात गुण—इन अट्ठाईस मूल गुणों का पालन करता हुआ निरन्तर सावधान रहता है। भूख, प्यास, सरदी, गरमी तथा डांस, मच्छर आदि का परीषह सहन करता हुआ चरणानुयोग की पद्धति से पाणि-पात्र मे आहार करता है। मधुकरी, गोचरी, अक्षम्रक्षणी, गर्तपूरणी और उदराग्नि-प्रशमनी इन पांच वृत्तियों का पालन करता हुआ अनासक्तिपूर्वक आहार ग्रहण करता है। जो तीर्थंकर गृहस्थावस्था मे सौधर्मेन्द्र के द्वारा प्रेषित आहार करते थे, वे भी दीक्षा लेने के पश्चात् इसी मनुष्य-लोक का आहार ग्रहण करते हैं। दिगम्बर मुद्राधारी मुनि यद्यपि निरन्तर जागरूक रहता है, अपने व्रताचरण मे सावधान रहता है, तथापि प्रमाद या अज्ञानवश कदाचित् कोई दोष लगता है तो निश्छल भाव से गुरु के आगे उसकी आलोचना कर गुरु द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त को स्वीकृत करता है। जिनागम मे ऐसे साधु को ही 'श्रमण' कहा है। कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचन-सार मे श्रमण का लक्षण इस प्रकार कहा है—

> इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्मि।
> जुत्ताहारविहारो रहिदकसायो हवे समणो ॥ २६ ॥ (चारित्राधिकार : प्रवचनसार)

जो मुनि इस लोक में विषयो से नि:स्पृह और परलोक-देवादि पर्यायों में अप्रतिबद्ध होकर योग्य आहार-विहार करता है तथा कषाय से रहित होता है, वही श्रमण कहलाता है। श्रमण के पास मात्र शरीर ही का परिग्रह रहता है और उस शरीर में भी वह ममता से रहित होता है। श्रमण की ज्ञान-साधना को वृद्धिंगत करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—

> एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
> णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥३२॥ (चारित्राधिकार : प्रवचनसार)

जो चित्त की एकाग्रता को प्राप्त कर चुका है, वही श्रमण कहलाता है। एकाग्रता उसी को प्राप्त होती है जिसे पदार्थों का दृढ़ निश्चय है और दृढ़ निश्चय आगम से होता है इसलिए साधु को आगम के विषय में चेष्टा करना उत्कृष्ट है, इसका कारण यह है कि जो साधु आगम से हीन होता है वह निज और पर को नही जानता और जो निज-पर के विवेक से रहित है वह कर्मों का क्षय करने मे असमर्थ रहता है। इसी कारण कुन्दकुन्द स्वामी ने साधु को 'आगमचक्खू साहू' कहा है, अर्थात् साधु का चक्षु आगम ही है। इतना ही नहीं, उन्होंने तो यहा तक लिखा है—

> आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स।
> णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो ॥ ३६ ॥ (चारित्राधिकार . प्रवचनसार)

जिसकी दृष्टि-श्रद्धा आगमानुसार नही है उसके सयम कैसे हो सकता है, और जिसके सयम नही है वह श्रमण कैसे हो सकता है ?

कोई आगम-ज्ञान को ही सर्वस्व समझ ले और शरीरादिक पर-पदार्थों की मूर्छा को नष्ट न करे, तो उसके लिए सबोधित करते हुए आचार्यवर कहते हैं—

> परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
> विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥३९॥ (चारित्राधिकार : प्रवचनसार)

जिस साधु के शरीरादि पर-पदार्थों मे परमाणुमात्र भी मूर्च्छा—ममेदभाव—विद्यमान है, वह समस्त आगम का धारी होकर भी सिद्धि को प्राप्त नही होता।

श्रमण की परिणति से माध्यस्थ भाव टपकता है। देखिये, कितना सुन्दर कहा है—

> समसत्तु-बंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिदसमो।
> समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥४१॥ (चारित्राधिकार : प्रवचनमार)

जिसके लिए शत्रु-मित्र समान हैं, जो सुख और दु:ख मे समता-भाव रखता है, प्रशसा और निन्दा मे समान रहता है, पत्थर के ढेले और सुवर्ण जिसे समान प्रतिभासित होते हैं और जो जीवन-मरण मे भी समता-भाव को सुरक्षित रखता है, वही श्रमण कहलाता है।

जो श्रमण अन्य द्रव्यों को पाकर यदि मोहित होता है, उनमें अहंभाव करता है, राग करता है अथवा द्वेष करता है, तो वह अज्ञानी है तथा विविध प्रकार के कर्मों से बद्ध होता रहता है। इसके विपरीत जो बाह्य द्रव्यों मे न मोह करता है, न राग करता है और न द्वेष करता है, वह निश्चित ही विविध कर्मों का क्षय करता है।

मुनियों का चारित्र निर्दोष रहे— इस उद्देश्य से कुन्दकुन्द स्वामी ने 'भावपाहुड' मे उन्हें इतनी सुन्दर देशना दी है कि उसका अच्छी तरह मनन किया जावे तो चारित्र में दोष का अंश भी नहीं रह सकेगा।

छठवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक की भूमिका मुनि की भूमिका कहलाती है। इसके आगे की भूमिका मे रहने वाले अर्हन्त, देव कहलाते हैं। सिद्ध परमेष्ठी का समावेश भी देव मे ही होता है। गुरु की भूमिका में साधु परमेष्ठी, आचार्य-उपाध्याय और साधु इन तीन भेदों में विभक्त रहते हैं। जो साधु संघ के स्वामी होते हैं, नवीन शिष्यो को दीक्षा देते है और संघस्थ साधुओ को प्रायश्चित्त आदि देते हैं वे आचार्य कहलाते हैं। संघ मे जो पठन-पाठन का काम करते हैं वे उपाध्याय कहलाते हैं, तथा जो आत्म-साधना में लीन रहते हैं वे साधु कहलाते हैं। इन साधुओ के ऋषि, मुनि, यति और अनगार के भेद से चार भेद होते हैं। इन्ही के पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक इस प्रकार पांच भेद होते हैं। इनमे स्नातक मुनि— तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान-वर्ती होने से 'देव' संज्ञा मे व्यवहृत होते हैं। दूसरी शैली से मुनियों के आचार्य-उपाध्याय, तपस्वी शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ के भेद मे दश भेद होते हैं।

इन मुनियों मे कितने ही मुनि शुद्धोपयोगी और कितने ही शुभोपयोगी होते है। अशुभोपयोगी मानव मुनिसंज्ञा के योग्य ही नही हैं। शिष्य-संग्रह, ग्रन्थ-रचना, अर्हद्भक्ति, तीर्थवन्दना तथा तीर्थ-प्रवर्तन की भावना शुभोपयोगी मुनियो के होती है और उपशम श्रेणी अथवा क्षपक श्रेणी मे आरूढ़ मुनि शुद्धोपयोगी कहलाते हैं। ये सब प्रकार के विकल्पो से निवृत्त हो शुद्ध आत्म-स्वरूप में लीन रहते हैं। मुनियो का अधिकांश काल शुभोपयोग मे व्यतीत होता है। उस शुभोपयोग के काल मे वे शुभ कर्मों का बन्ध करते हैं। उपशम श्रेणी मे आरूढ मुनि ग्यारहवें गुण-स्थान से च्युत होकर नियम से नीचे आता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि मुनि चतुर्थ गुणस्थान मे नीचे नही आ पाता, परन्तु उपशम सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व गुणस्थान तक मे आ सकता है और दीर्घकाल तक ससार मे परिभ्रमण कर सकता है। यह उपशम श्रेणी चार बार से अधिक नही होती। पाचवी बार नियम से क्षपक श्रेणी प्राप्त कर जीव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। क्षपक श्रेणी पर आरूढ मुनि नीचे नही आता किन्तु दशम गुणस्थान के अन्त मे मोहकर्म का क्षय कर बारहवे गुणस्थान मे पहुंचता है और वहा अन्तर्मुहूर्त मे शुक्ल ध्यान के द्वितीय पाये के द्वारा शेष घातिया कर्मों का क्षय कर केवल-ज्ञानी बन जाता है। यदि आयु के निषेक समाप्त है तो अन्तर्मुहूर्त मे ही समस्त कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है, और आयु के निषेक शेष हैं तो अधिक मे अधिक देशोनकोटी वर्ष तक केवली-अवस्था मे विहार कर मोक्ष प्राप्त करता है। भावलिंगी मुनि-अवस्था ३२ बार से अधिक नही होती। बत्तीसवी बार के मुनिपद मे वह नियम से निर्वाण-धाम को प्राप्त करता है।

इस प्रकार मोक्ष-प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की पूर्णता अनिवार्य कारण हैं। अतः हे मुमुक्षुजनो! इनके प्राप्त करने का निरन्तर पुरुषार्थ करो। सच्चा पुरुषार्थ यही है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का धारक व्यक्ति ही श्रमण कहलाता है। मोक्ष-मार्ग मे इसी का श्रम श्लाघनीय एव सफल होता है।

अहिंसा चारित्र

जह ते ण पियं दुक्खं तहेव तेसिं पि जाण जीवाणं।
एवं णच्चा अप्पोवमिओ जीवेसु होदि सदा ॥
तेलोक्क-जीविदादो वरेहि एक्कदरगं त्ति देवेहिं।
भणिदो को तेलोक्कं वरिज्ज संजीविदं मुच्चा ॥

भगवान् श्री जिनेन्द्रदेव कहते हैं, हे भव्य, जिस प्रकार तुझे दुःख प्रिय नही है, उसी प्रकार अन्य जीवों को भी वह प्रिय नही है—ऐसा जानो। इस समझदारी के साथ अन्य जीवों के प्रति वैसा ही हित भाव से व्यवहार करो जिस प्रकार तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे प्रति करें। एक ओर त्रैलोक्य की सम्पदा और दूसरी ओर जीवन—इन दोनो मे से किसी एक को चुनकर ले लो— ऐसा देवो द्वारा कहे जाने पर भी कौन ऐसा होगा जो जीवन को छोडकर त्रिलोक का वरण करेगा?

(भगवती आराधना, 783, 788)

जीव-दया का विश्लेषण

पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य

जीव-दया के प्रकार

१. जीवदया का एक प्रकार पुण्यभाव रूप है। पुण्यभाव रूप होने के कारण उसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धतत्त्व में ही होता है, संवर और निर्जरा मे अन्तर्भाव नही होता। यह पुण्यभाव रूप जीवदया व्यवहार-धर्मरूप जीवदया की उत्पत्ति मे कारण है। इस बात को आगे स्पष्ट किया जायेगा।

२. जीवदया का दूसरा प्रकार जीव के शुद्ध स्वभावभूत निश्चय धर्म रूप है। इसकी पुष्टि धवल-पुस्तक १३ के पृष्ठ ३६२ पर निर्दिष्ट निम्न वचन के आधार पर होती है—

करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो।

अर्थ—करुणा जीव का स्वभाव है अत इसके कर्मजनित होने का विरोध है।

यद्यपि धवला के इस वचन मे जीव-दया को जीव का स्वतःसिद्ध स्वभाव बतलाया है, परन्तु जीव के स्वतःसिद्ध स्वभाव-भूत वह जीवदया अनादिकाल से मोहनीय कर्म की क्रोध-प्रकृतियो के उदय से विकृत रहती आई है, अत. मोहनीय कर्म की उन क्रोध-प्रकृतियो के यथा-स्थान यथायोग्य रूप मे होने वाले उपशम, क्षय या क्षयोपशम से जब वह शुद्ध रूप मे विकास को प्राप्त होती है तब उसे निश्चयधर्मरूपता प्राप्त हो जाती है। इसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धतत्त्व में नही होता, क्योकि जीव के शुद्ध स्वभावभूत होने के कारण वह कर्मों के आस्रव और बन्ध का कारण नही होती है। तथा इसका अन्तर्भाव सवर और निर्जरा तत्त्व मे भी नही होता, क्योकि इसकी उत्पत्ति ही संवर और निर्जरापूर्वक होती है।

३. जीवदया का तीसरा प्रकार अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्तिपूर्वक होने वाली दयारूप शुभ प्रवृत्ति के रूप मे व्यवहारधर्म रूप है। इसका समर्थन भी आगम-प्रमाणो के आधार पर होता है। इसका अन्तर्भाव अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्तिरूप होने के आधार पर सवर और निर्जरा का कारण हो जाने से सवर और निर्जरा तत्त्व में होता है, और दयारूप पुण्यप्रवृत्ति रूप होने के आधार पर आस्रव और बन्ध का कारण हो जाने से आस्रव और बन्धतत्त्व मे भी होता है। कर्मों के सवर और निर्जरण मे कारण होने से यह व्यवहारधर्मरूप जीवदया जीव के शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप जीवदया की उत्पत्ति मे कारण सिद्ध होती है।

पुण्यभूत दया का विशेष स्पष्टीकरण

भव्य और अभव्य दोनो प्रकार के जीव सतत विपरीताभिनिवेश और मिथ्याज्ञानपूर्वक आसक्तिवश अदयारूप सकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्ति करते रहते हैं, तथा कदाचित् सासारिक स्वार्थवश दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति भी किया करते हैं। ये जीव यदि कदाचित् अदयारूप संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्ति के साथ सम्यक् अभिनिवेश और सम्यग्ज्ञानपूर्वक कर्त्तव्यवश दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करने लगते हैं तो उनके अन्तःकरण मे उस अदयारूप सकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्ति से घृणा उत्पन्न हो जाती है और तब वे उस अदयारूप संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्ति से सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। इस तरह वह पुण्यभावरूप जीवदया अदयारूप सकल्पी पापमय अशुभ प्रवृत्ति से सर्वथा निवृत्ति-पूर्वक होने वाली दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति-रूप व्यवहारधर्म की उत्पत्ति मे कारण सिद्ध हो जाती है।

निश्चयधर्मरूप जीवदया का विशेष स्पष्टीकरण

निश्चयधर्मरूप जीवदया की उत्पत्ति भव्य जीव मे ही होती है, अभव्य जीव मे नही। तथा उस भव्य जीव मे उसकी उत्पत्ति मोह-नीय कर्म के भेद अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलनरूप कषायो की क्रोध-प्रकृतियो का यथास्थान यथायोग्य

उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने पर शुद्ध स्वभाव के रूप मे उत्तरोत्तर प्रकर्ष को लेकर होती है। इसकी प्रक्रिया निम्न प्रकार है—

(क) अभव्य और भव्य दोनो प्रकार के जीवो की भाववती शक्ति का अनादिकाल से अनन्तानुबन्धी आदि उक्त चारों कषायों की क्रोध-प्रकृतियों के सामूहिक उदयपूर्वक अदयारूप विभावपरिणमन होता आया है। दोनो प्रकार के जीवो मे उस अदयारूप विभावपरिणमन की समाप्ति में कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रयोग्य लब्धियो के विकास की योग्यता भी स्वभावतः विद्यमान है। भव्य जीवों में तो उस अदयारूप विभाव-परिणति की समाप्ति मे अनिवार्य कारणभूत आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धि के विकास की योग्यता भी स्वभावतः विद्यमान है। इस तरह जिस भव्य जीव में जब क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रयोग्य लब्धियो का विकास हो जाने पर उक्त करणलब्धि का भी विकास हो जाता है तब सर्वप्रथम उस करणलब्धि के बल से उस भव्य जीव मे मोहनीय कर्म के भेद दर्शनमोहनीय कर्म की यथासंभवरूप में विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृतिरूप तीन प्रकृतियो का व चारित्रमोहनीयकर्म के प्रथमभेद अनन्तानुबंधी कषाय के नियम से विद्यमान मान, माया और लोभ प्रकृतियो के साथ क्रोध प्रकृति का भी यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने पर चतुर्थ गुणस्थान के प्रथम समय मे उसकी उस भाववती शक्ति का शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्म के रूप मे एक प्रकार का जीवदया-रूप परिणमन होता है।

(ख) इसके पश्चात् उस भव्यजीव मे यदि उस आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धि का विशेष उत्कर्ष हो जावे, तो उसके बल से उसमें चारित्रमोहनीय कर्म के द्वितीय भेद अप्रत्याख्यानावरण कषाय की नियम से विद्यमान मान, माया और लोभ प्रकृतियो के साथ क्रोध-प्रकृति का भी क्षयोपशम होने पर पचम गुणस्थान के प्रथम समय मे उसकी उस भाववती शक्ति का शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्म के रूप मे दूसरे प्रकार का जीवदयारूप परिणमन होता है।

(ग) इसके भी पश्चात् उस भव्य जीव मे यदि उस आत्मोमुखता-रूप करणलब्धि का और विशेष उत्कर्ष हो जावे तो उसके बल से उसमे चारित्रमोहनीयकर्म के तृतीय भेद प्रत्याख्यानावरण कषाय की नियम मे विद्यमान मान, माया और लोभ-प्रकृतियो के साथ क्रोध-प्रकृति का भी क्षयोपशम होने पर सप्तम गुणस्थान के प्रथम समय में उसकी उस भाववती शक्ति का शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्म के रूप में तीसरे प्रकार का जीवदयारूप परिणमन होता है। यहा यह ज्ञातव्य है कि सप्तम गुणस्थान को प्राप्त जीव सतत सप्तम से षष्ठ और षष्ठ से सप्तम दोनों गुणस्थानो मे अन्तर्मुहूर्त काल के अन्तराल से झूले की तरह झूलता रहता है।

(घ) उक्त प्रकार सप्तम से षष्ठ और षष्ठ से सप्तम दोनो गुणस्थानो मे झूलते हुए जीव मे यदि सप्तम गुणस्थान से पूर्व ही दर्शन-मोहनीय कर्म की उक्त तीन और चारित्रमोहनीय कर्म के प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषाय की उक्त चार—इन सात प्रकृतियो का उपशम या क्षय हो चुका हो, अथवा सप्तम गुणस्थान मे ही उनका उपशम या क्षय हो जावे तो उसके पश्चात् वह जीव उस आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धि का सप्तम, अष्टम और नवम गुणस्थानो मे क्रमशः अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के रूप मे और भी विशेष उत्कर्ष प्राप्त कर लेता है और तब नवम गुणस्थान मे ही उस जीव मे चारित्रमोहनीय कर्म के उक्त द्वितीय और तृतीय भेदरूप अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्याना-वरण कषायों की क्रोध-प्रकृतियो के साथ चारित्रमोहनीय कर्म के चतुर्थ भेद सज्वलन कषाय की क्रोध-प्रकृति का भी उपशम या क्षय होने पर उस जीव की उस भाववती शक्ति का शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्म के रूप मे चौथे प्रकार का जीवदयारूप परिणमन होता है।

इस विवेचन का तात्पर्य यह है कि यद्यपि भव्य और अभव्य दोनो प्रकार के जीवो की भाववती शक्ति का अनादिकाल से चारित्र-मोहनीय कर्म के भेद अनन्तानुबन्धी आदि चारो कषायो की क्रोध प्रकृतियो के सामूहिक उदयपूर्वक अदयारूप विभावपरिणमन होता आया है, परन्तु जब जिस भव्य जीव की उस भाववतीशक्ति का वह अदयारूप विभाव-परिणमन यथास्थान उस-उस क्रोध-प्रकृति का यथासभव उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने पर यथायोग्य रूप मे समाप्त होता जाता है, तब उसके बल से उस जीव की उस भाववतीशक्ति का उत्तरोत्तर विशेषता लिए हुए शुद्ध स्वभावरूप निश्चय धर्म के रूप मे दयारूप परिणमन होता जाता है। इतना अवश्य है कि उन क्रोध-प्रकृतियो का यथा-स्थान यथायोग्य रूप में होने वाला वह उपशम, क्षय या क्षयोपशम उस भव्य जीव मे क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रयोग्य लब्धियो के विकासपूर्वक आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धि का विकास होने पर ही होता है।

व्यवहारधर्मरूप जीवदया का विशेष स्पष्टीकरण

भव्य जीव मे उपर्युक्त पाचो लब्धियो का विकास तब होता है जब वह जीव अपनी क्रियावती शक्ति के परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्तियो को क्रियावती शक्ति के ही परिणमनस्वरूप मानसिक, वाचनिक और कायिक अदया-रूप संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तियों से मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के रूप में निवृत्तिपूर्वक करने लगता है। इन अदयारूप संकल्पी-पापमय अशुभ प्रवृत्तियो से निवृत्तिपूर्वक की जाने वाली दयारूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति का नाम ही व्यवहारधर्म रूप दया है। इस तरह यह निर्णीत है कि जीव की क्रियावती शक्ति के परिणमनस्वरूप व्यवहारधर्मरूप जीवदया के बल पर ही भव्यजीव में भाववती शक्ति के परिणमनस्वरूप निश्चयधर्मरूप जीव-दया की उत्पत्ति मे कारणभूत क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रयोग्य और करणलब्धियों का विकास

होता है। इस तरह निश्चयधर्म रूप जीवदया की उत्पत्ति में व्यवहारधर्म रूप जीवदया कारण सिद्ध हो जाती है।

यहां यह ज्ञातव्य है कि कोई-कोई अभव्य जीव भी व्यवहारधर्म रूप दया को अंगीकार करके अपने में क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रयोग्य लब्धियों का विकास कर लेता है। इतना अवश्य है कि उसकी स्वभावभूत अभव्यता के कारण उसमे आत्मोन्मुखतारूप करण-लब्धि का विकास नहीं होता है। इस तरह उसमें भाववती शक्ति के परिणमनस्वरूप निश्चयधर्म रूप जीवदया का विकास भी नहीं होता है। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि भव्य जीव में उक्त क्रोध-प्रकृतियों का यथासंभव रूप में होने वाला यह उपशम, क्षय या क्षयोपशम यद्यपि आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धि का विकास होने पर ही होता है, परन्तु उसमें उस करणलब्धि का विकास क्रमशः क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रयोग्य इन चारो लब्धियो का विकास होने पर ही होता है। अतः इन चारों लब्धियो को भी उक्त क्रोध-प्रकृतियो के यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम में कारण माना गया है।

जीव की भाववती और क्रियावती शक्तियों के सामान्य परिणमनों का विवेचन

जीव की भाववती और क्रियावती— इन दोनों शक्तियों को आगम में उसके स्वतःसिद्ध स्वभाव के रूप में बतलाया गया है। इनमें से भाववतीशक्ति के परिणमन एक प्रकार से तो मोहनीयकर्म के उदय में विभाव-रूप, व उसके उपशम, क्षय या क्षयोपशम मे शुद्ध स्वभावरूप होते हैं, तथा दूसरे प्रकार से हृदय के सहारे पर तत्त्वश्रद्धानरूप या अतत्त्वश्रद्धान रूप और मस्तिष्क के सहारे पर तत्त्वज्ञानरूप या अतत्त्वज्ञानरूप होते हैं। एवं क्रियावती शक्ति के परिणमन संसारावस्था मे एक प्रकार मे तो मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभ और पापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप होते हैं, दूसरे प्रकार से पापमय अशुभ प्रवृत्ति से मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के रूप मे निवृत्तिपूर्वक मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप होते हैं और तीसरे प्रकार से सक्रिय मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा के सहारे पर पुण्य रूपता और पापरूपता से रहित आत्मक्रिया के रूप मे होते हैं। इनके अतिरिक्त ससार का विच्छेद हो जाने पर जीव की क्रियावती शक्ति का चौथे प्रकार मे जो परिणमन होता है, वह स्वभावत. उर्ध्वगमन-रूप होता है। जीव की क्रियावती शक्ति के इन चारों प्रकार से होने वाले परिणमनों में से पहले प्रकार के परिणमन कर्मों के आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारो प्रकार के बन्ध मे कारण होते हैं। दूसरे प्रकार के परिणमन पापमय अशुभ प्रवृत्ति मे निवृत्तिरूप होने से भव्यजीव मे यथायोग्य कर्मों के संवरपूर्वक निर्जरण में कारण होते हैं, तथा पुण्यरूप शुभ प्रवृत्तिरूप होने से यथायोग्य कर्मों के आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप चारो प्रकार के बन्ध में कारण होते हैं। तीसरे प्रकार के परिणमन पुण्यरूपता और पापरूपता से रहित होने से केवल सातावेदनीय कर्म के आस्रवपूर्वक प्रकृति तथा प्रदेश बन्ध में कारण होते हैं और चौथे प्रकार का परिणमन केवल आत्माश्रित होने से कर्मों के आस्रव और बन्ध मे कारण नही होता है और कर्मों के संवर और निर्जरणपूर्वक उन कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाने से कर्मों का सवर और निर्जरण का कारण होने का तो प्रश्न ही नहीं रहता है।

जीव की क्रियावती शक्ति के प्रवृत्तिरूप परिणमनों का विश्लेषण

जीव की भाववती शक्ति के हृदय के सहारे पर अतत्त्वश्रद्धानरूप, और मस्तिष्क के सहारे पर अतत्त्वज्ञानरूप जो परिणमन होते हैं, उनसे प्रभावित होकर जीव की क्रियावती शक्ति के आसक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक सकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन होते हैं। एव कदाचित् सासारिक स्वार्थवश पुण्यमय शुभप्रवृत्तिरूप परिणमन भी होते है, इसी तरह जीव की भाववती शक्ति के हृदय के सहारे पर तत्त्वश्रद्धान रूप और मस्तिष्क के सहारे पर तत्त्वज्ञान रूप जो परिणमन होते हैं उनसे प्रभावित होकर जीव की क्रियावती शक्ति के एक तो आसक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भीपापमय अशुभ प्रवृत्ति रूप परिणमन होते हैं और दूसरे कर्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय शुभप्रवृत्ति रूप परिणमन होते हैं।

ससारी जीव आसक्ति, मोह, ममता तथा राग और द्वेष के वशीभूत होकर मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति रूप जो लोकविरुद्ध हिंसा, झूठ, चोरी तथा पदार्थों के अनावश्यक भोग और संग्रह-रूप क्रियाएँ सतत करता रहता है, वे सभी क्रियाएँ संकल्पी पाप कहलाती हैं। इनमे सभी तरह की स्वपरहितविघातक क्रियाएँ अन्तर्भूत होती हैं।

संसारी जीव अशक्ति, मजबूरी आदि अनिवार्य परिस्थितियोवश मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति-रूप जो लोकसम्मत हिंसा, झूठ, चोरी तथा आवश्यक भोग और सग्रहरूप क्रियाएँ करता है, वे सभी क्रियाएँ आरम्भीपाप कहलाती हैं। इनमे जीवन का संचालन, कुटुम्ब का भरण-पोषण तथा धर्म, सस्कृति, समाज, राष्ट्र और लोक का संरक्षण आदि उपयोगी कार्यों को सम्पन्न करने के लिए नीतिपूर्वक की जाने वाली असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प, वाणिज्य तथा अनिवार्य भोग और सग्रह रूप क्रियाएँ अन्तर्भूत होती हैं।

संसारी जीव जितनी परहितकारी मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियाएँ करता है, वे सभी क्रियाएँ पुण्य कहलाती हैं। इस प्रकार की पुण्यरूप क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं—एक तो सांसारिक स्वार्थवश की जाने वाली पुण्यरूप क्रिया और दूसरी कर्तव्यवश की

जाने वाली पुण्यरूप क्रिया। इनमें से कर्तव्यवश की जाने वाली पुण्यरूप क्रिया ही वास्तविक पुण्यक्रिया है। ऐसी पुण्यक्रिया से ही परोपकार की सिद्धि होती है। इसके अतिरिक्त वीतरागी देव की आराधना वीतरागता के पोषक शास्त्रो का पठन-पाठन, चिन्तन और मनन व वीत-रागता के मार्ग पर आरूढ़ गुरुओं की सेवा-भक्ति तथा स्वालम्बन शक्ति को जाग्रत् करने वाले व्रताचरण और तपश्चरण आदि भी पुण्य-क्रियाओं में अन्तर्भूत होते हैं।

यहां इतना विशेष ज्ञातव्य है कि उक्त आरम्भी पाप भी यदि आसक्ति आदि के वशीभूत होकर किये जाते हैं तथा पुण्य भी अहंकार आदि के वशीभूत होकर किये जाते हैं तो उन्हें संकल्पी पाप ही जानना चाहिए।

संसारी जीव की क्रियावती शक्ति के दया और अदया-रूप परिणमनों का विवेचन

ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि जीव की भाववतीशक्ति का चारित्रमोहनीय कर्म के भेद अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायों की क्रोध प्रकृतियों के उदय मे अदयारूप विभाव-परिणमन होता है, और उन्ही क्रोधप्रकृतियो के यथास्थान, यथासभव रूप में होने वाले उपशम, क्षय या क्षयोपशम मे दयारूप स्वभाव-परिणमन होता है। यहा जीव की क्रियावती शक्ति के मानसिक, वाचनिक और कायिक परिणमनों के विषय मे यह बतलाया जा रहा है कि जीव द्वारा परहित की भावना से की जाने वाली क्रियाएँ पुण्य के रूप मे दया कहलाती हैं और जीव द्वारा पर के अहित की भावना से की जाने वाली क्रियाएँ सकल्पीपाप के रूप मे अदया कहलाती हैं। इनके अतिरिक्त जीव की जिन क्रियाओं में पर के अहित की भावना प्रेरक न होकर केवल स्वहित की भावना प्रेरक हो, परन्तु जिनसे पर का अहित होना निश्चित हो, वे क्रियाएँ आरम्भीपाप के रूप में अदया कहलाती हैं। जैसे—एक व्यक्ति द्वारा अनीतिपूर्वक दूसरे व्यक्ति पर आक्रमण करना सकल्पीपापरूप अदया है, परन्तु उस दूसरे व्यक्ति द्वारा आत्मरक्षा के लिए उस आक्रामक व्यक्ति पर प्रत्याक्रमण करना आरम्भीपापरूप अदया है।

यहां इतना विशेष जानना चाहिए कि जीव की पुण्यमय क्रिया संकल्पीपापमय क्रिया के साथ भी संभव है और आरम्भीपापमय क्रिया के साथ भी सभव है, परन्तु संकल्पी और आरम्भी दोनो पापरूप क्रियाओ मे जीव की प्रवृत्ति एक साथ नही हो सकती है, क्योंकि सकल्पीपापरूप क्रियाओ के साथ जो आरम्भीपापरूप क्रियाएँ देखने मे आती हैं उन्हे वास्तव मे सकल्पी पापरूप क्रियाएँ ही मानना युक्तिसगत है। इस तरह संकल्पी पापरूप क्रियाओ से सर्वथा त्यागपूर्वक जो आरम्भी पापरूप क्रियाएँ की जाती हैं, उन्हे ही वास्तविक आरम्भीपापरूप क्रियाएँ समझना चाहिए।

व्यवहारधर्मरूप दया का विश्लेषण और कार्य

ऊपर बतलाया जा चुका है कि जीव द्वारा मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ क्रियाओं के साथ परहित की भावना से की जाने वाली मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ क्रियाए पुण्य के रूप मे दया कहलाती है और वे कर्मों के आस्रव और बन्ध का कारण होती हैं, परन्तु भव्य और अभव्य दोनो प्रकार के जीवो द्वारा कम से कम मानसिक, वाचनिक और कायिक सकल्पी पाप-मय अदयारूप अशुभ क्रियाओ मे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के रूप मे होने वाली सर्वथा निवृत्तिपूर्वक जो मानसिक, वाचनिक और कायिक दया के रूप मे पुण्यमय शुभ क्रियाए की जाने लगती हैं वे क्रियाएं ही व्यवहारधर्मरूप दया कहलाती हैं। इसमें हेतु यह है कि उक्त संकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ क्रियाओं से निवृत्तिपूर्वक की जाने वाली पुण्यभूत दया भव्य और अभव्य दोनो प्रकार के जीवों मे क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रयोग्य लब्धियों के विकास का कारण होती है, तथा भव्य जीव मे तो वह पुण्यरूप दया इन लब्धियो के विकास के साथ आत्मोन्मुखतारूप करणलब्धि के विकास का कारण होती है। उक्त करणलब्धि प्रथमत मोहनीयकर्म के भेद दर्शनमोहनीय कर्म की यथासंभव रूप मे विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृतिरूप तीन व मोहनीयकर्म के भेद चारित्रमोहनीयकर्म की अनन्तानुबन्धी कषायरूप क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार—इस तरह सात प्रकृतियों के यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम मे कारण होती है। इस तरह उक्त व्यवहारधर्म रूप दया कर्मों के सवर और निर्जरण मे कारण सिद्ध हो जाती हैं। इतनी बात अवश्य है कि उस व्यवहारधर्म रूप दया में जितना पुण्यमय दयारूप प्रवृत्ति का अश विद्यमान रहता है वह तो कर्मों के आस्रव और बन्ध का ही कारण होता है तथा उस व्यवहारधर्म रूप दया का सकल्पीपापमय अदयारूप प्रवृत्ति मे होने वाली सर्वथा निवृत्ति का अश ही कर्मों के सवर और निर्जरण का कारण होता है। द्रव्य-संग्रहग्रन्थ की गाथा ४५ मे जो व्यवहार-चारित्र का लक्षण निर्धारित किया गया है, उसके आधार पर व्यवहारधर्म रूप दया का स्वरूप स्पष्ट रूप से समझ मे आ जाता है। वह गाथा निम्न प्रकार है—

> असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
> वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥४५॥

अर्थ—अशुभ से निवृत्तिपूर्वक होने वाली शुभ प्रवृत्ति को जिन भगवान् ने व्यवहार-चारित्र कहा है। ऐसा व्यवहार-चारित्र व्रत, समिति और गुप्तिरूप होता है।

इस गाथा में व्रत, समिति और गुप्ति को व्यवहारचारित्र कहने मे हेतु यह है कि इनमे अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति का रूप पाया जाता है। इस तरह इस गाथा से निर्णीत हो जाता है कि जीव पुण्यरूप जीवदया को जब तक पापरूप अदया के साथ करता है तब तक तो उस दया का अन्तर्भाव पुण्य-रूप दया मे होता है और वह जीव उक्त पुण्य-रूप जीव-दया को जब पाप-रूप अदया से निवृत्तिपूर्वक करने लग जाता है तब वह पुण्यभूत दया व्यवहार-धर्म का रूप धारण कर लेती है, क्योंकि इस दया से जहाँ एक ओर पुण्यमय प्रवृत्तिरूपता के आधार पर कर्मों का आस्रव और बन्ध होता है वहां दूसरी ओर उस दया से पापरूप अदया से निवृत्तिरूपता के आधार पर भव्य जीव मे कर्मों का संवर और निर्जरण भी हुआ करता है। व्यवहार-धर्म रूप दया से कर्मों का सवर और निर्जरण होता है, इसकी पुष्टि आचार्य वीरसेन के द्वारा जयधवला के मंगलाचरण की व्याख्या मे निर्दिष्ट निम्न वचन से होती है—

सुह-सुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।

अर्थ —शुभ और शुद्ध के रूप मे मिश्रित परिणामो से यदि कर्म-क्षय नहीं होता हो, तो कर्मक्षय का होना असभव हो जायेगा।

आचार्य वीरसेन के वचन में 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पद का ग्राह्य अर्थ

आचार्य वीरसेन के वचन के 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पद मे सुह और सुद्ध दो शब्द विद्यमान हैं। इनमें से 'सुह' शब्द का अर्थ भव्य जीव की क्रियावती शक्ति के प्रवृत्तिरूप शुभ परिणमन के रूप मे और 'सुद्ध' शब्द का अर्थ उस भव्य जीव की क्रियावती शक्ति के अशुभ मे निवृत्तिरूप शुद्ध परिणमन के रूप मे ग्रहण करना ही युक्त है। 'सुह' शब्द का अर्थ जीव की भाववती शक्ति के पुण्यकर्म के उदय मे होने वाले शुभ परिणाम के रूप मे और 'सुद्ध' शब्द का अर्थ उस जीव की भाववती शक्ति के मोहनीय कर्म के यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम में होने वाले शुद्ध परिणमन के रूप मे ग्रहण करना युक्त नही है। आगे इसी बात को स्पष्ट किया जाता है—

जीव की क्रियावती शक्ति के मानसिक, वाचनिक और कायिक शुभ और अशुभ प्रवृत्तिरूप परिणमन कर्मों के आस्रव और बन्ध के कारण होते है, और उसी क्रियावती शक्ति के मानसिक, वाचनिक और कायिक उन प्रवृत्ति-रूप परिणमनो से मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के रूप मे निवृत्तिरूप शुद्ध परिणमन भव्य जीव मे कर्मों के सवर और निर्जरण के कारण होते हैं। जीव की भाववती शक्ति के न तो शुभ और अशुभ परिणमन कर्मों के आस्रव और बन्ध के कारण होते हैं, और न ही उसके शुद्ध परिणमन कर्मों के सवर और निर्जरण के कारण होते हैं, इसमे यह हेतु है कि जीव की क्रियावती शक्ति का मन, वचन और कायिक सहयोग से जो क्रियारूप परिणमन होता है, उसे योग कहते है ('कायवाङ्मनःकर्म योग'—त० सू० ६-१)। यह योग यदि जीव की भाववती शक्ति के पूर्वोक्त तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमनो मे प्रभावित हो तो उसे शुभ योग कहते है और वह योग यदि जीव की भाववती शक्ति के पूर्वोक्त अतत्त्वश्रद्धान अतत्त्वज्ञान रूप अशुद्ध परिणमनो मे प्रभावित हो तो उसे अशुभ योग कहते हैं, ('शुभपरिणामनिवृत्तो योग. शुभः)। अशुभपरिणामनिवृत्तो योग. अशुभ.'—सर्वार्थ-सिद्धि ६-३) यह योग ही कर्मों का आस्रव अर्थात् बन्ध का द्वार कहलाता है। ('स आस्रव' त०सू०६-२)। इस तरह जीव की क्रियावती शक्ति का शुभ और अशुभ योगरूप परिणमन ही कर्मों के आस्रवपूर्वक प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग रूप बन्ध का कारण सिद्ध होता है।

यद्यपि योग की शुभरूपता और अशुभरूपता का कारण होने से जीव की भाववती शक्ति के तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञान रूप शुभ परिणमनो को व अतत्त्वश्रद्धान और अतत्त्वज्ञान रूप अशुभ परिणमनो को भी कर्मों के आस्रवपूर्वक बन्ध का कारण मानना अयुक्त नही है, परन्तु कर्मों के आस्रव और बन्ध का साक्षात् कारण तो योग ही निश्चित होता है। जैसे कोई डाक्टर शीशी मे रखी हुई तेजाब को भ्रमवश आंख की दवाई समझ रहा है तो भी तब तक वह तेजाब रोगी की आख को हानि नही पहुचाती है, जब तक वह डाक्टर उस तेजाब को रोगी की आख मे नही डालता है। जब डाक्टर उस तेजाब को रोगी की आख में डालता है तो तत्काल वह तेजाब रोगी की आंख को हानि पहुंचा देती है। इसी तरह आख की दवाई को आख की दवाई समझकर भी जब तक डाक्टर उसे रोगी की आंख मे नही डालता है तब तक वह दवाई उस रोगी की आंख को लाभ नही पहुचाती है। परन्तु, जब डाक्टर उस दवाई को आख मे डालता है, तो तत्काल वह दवाई रोगी की आख को लाभ पहुचा देती है। इससे निर्णीत होता है कि जीव की क्रियावती शक्ति का शुभ और अशुभ योगरूप परिणमन ही आस्रव और बन्ध का कारण होता है। इतना अवश्य है कि जीव की भाववती शक्ति का हृदय के सहारे पर होने वाला तत्त्वश्रद्धान रूप शुभ परिणमन या अतत्त्वश्रद्धानरूप अशुभ परिणमन और जीव की भाववती शक्ति का मस्तिष्क के सहारे पर होने वाला तत्त्वज्ञानरूप शुभ परिणमन या अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमन भी योग की शुभरूपता और अशुभरूपता मे कारण होने से परम्परया आस्रव और बन्ध मे कारण माने जा सकते हैं, परन्तु आस्रव और बन्ध मे साक्षात् कारण तो योग ही होता है।

इसी प्रकार जीव की क्रियावती शक्ति के योग-रूप परिणमन के निरोध को ही कर्म के सवर और निर्जरण में कारण मानना युक्त है ('आस्रवनिरोधः सवरः'—त०सू०९-१)। जीव की भाववती शक्ति के मोहनीयकर्म के यथासभव उपशम, क्षय या क्षयोपशम में होने वाले स्वभावभूत शुद्ध परिणमनों को सवर और निर्जरा का कारण मानना युक्त नहीं है, क्योंकि भाववती शक्ति के स्वभावभूत शुद्ध परिणमन मोहनीय कर्म के यथासभव उपशम, क्षय या क्षयोपशमपूर्वक होने के कारण सवर और निर्जरा के कार्य हो जाने से कर्मों के संवर और निर्जरण

में कारण सिद्ध नहीं होते हैं। एक बात और ! जब जीव की क्रियावती शक्ति के योगरूप परिणमनो से कर्मों का आस्रव होता है तो कर्मों के संवर और निर्जरण का कारण योग-निरोध को ही मानना युक्त है। यही कारण है कि जीव में गुणस्थानक्रम से जितना-जितना योग का निरोध होता जाता है उस जीव में वहां उतना-उतना कर्मों का संवर नियम से होता जाता है, तथा जब योग का पूर्ण निरोध हो जाता है तब कर्मों का संवर भी पूर्णरूप से हो जाता है। कर्मों का सवर होने पर बद्ध कर्मों की निर्जरा या तो निषेक-रचना के अनुसार सविपाक रूप में होती है अथवा 'तपसा निर्जरा च' (त० सू० ९-३) के अनुसार क्रियावती शक्ति के परिणमन-स्वरूप तप के बल पर अविपाक रूप मे होती है। इसके अतिरिक्त यदि जीव की भाववतीशक्ति के स्वभावभूत शुद्ध परिणमनो को सवर और निर्जरा का कारण स्वीकार किया जाता है तो जब द्वादश गुणस्थान के प्रथम समय में ही भाववती शक्ति के स्वभावभूत परिणमन की शुद्धता का पूर्ण विकास हो जाता है तो एक तो द्वादश और त्रयोदश गुणस्थानों मे सातावेदनीय कर्म का आस्रवपूर्वक प्रकृति और प्रदेशरूप मे बन्ध नही होना चाहिए। दूसरे द्वादश गुणस्थान के प्रथम समय मे ही भाववती शक्ति के स्वभावभूत परिणमन की शुद्धता का पूर्ण विकास हो जाने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनो घाती कर्मों का तथा चारों अघाती कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाना चाहिए। परन्तु जब ऐसा होता नही है तो यही स्वीकार करना पडता है कि आस्रव और बन्ध का मूल कारण योग है, और विद्यमान ज्ञानावरणादि उक्त तीनो घाती कर्मों की एव चारो अघाती कर्मों की निर्जरा निषेकक्रम से ही होती है। त्रयोदश गुणस्थान मे केवली भगवान् अघाती कर्मों की समान स्थिति का निर्माण करने के लिए जो समुद्घात करते हैं वह भी उनकी क्रियावती शक्ति का ही कायिक परिणमन है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जयधवला के मगलाचरण की व्याख्या मे निर्दिष्ट आचार्य वीरसेन के उपर्युक्त वचन के अंगभूत "सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पद से जीव की क्रियावती शक्ति के अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्तिपूर्वक शुभ मे प्रवृत्ति-रूप परिणमनो का अभिप्राय ग्रहण करना ही संगत है। भाववती शक्ति के तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञान रूप शुभ व मोहनीय कर्म के यथास्थान यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम में होने वाले स्वभावभूत शुद्ध परिणमनो का अभिप्राय ग्रहण करना सगत नही है।

यहां यह बात भी विचारणीय है कि जयधवला के उक्त वचन के 'सुह-सुद्ध परिणामेहिं' पद के अन्तर्गत 'सुद्ध' शब्द का अर्थ यदि जीव की भाववतीशक्ति के मोहनीय कर्म के यथासभव उपशम, क्षय या क्षयोपशम मे विकास को प्राप्त शुद्ध परिणमन स्वरूप निश्चयधर्म के रूप में स्वीकार किया जाये तो उस पद के अन्तर्गत 'सुह' शब्द का अर्थ पूर्वोक्त प्रकार जीव की भाववतीशक्ति क तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वज्ञान रूप शुभ परिणमन के रूप मे तो स्वीकार किया ही नही जा सकता है, इसलिए उस 'सुह' शब्द का अर्थ यदि जीव की क्रियावती शक्ति के परिणमन स्वरूप पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया जाये तो यह भी सभव नही है, क्योकि पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति तो कर्मों के आस्रव और बन्ध का ही कारण होती है। अतः उस 'सुह' शब्द का अर्थ जीव की क्रियावती शक्ति के परिणमन स्वरूप पापमय अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्तिपूर्वक पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति के रूप मे ही स्वीकार करना होगा, क्योंकि इस प्रकार के व्यवहार-धर्म के पुण्यमय शुभ प्रवृत्तिरूप अश से जहां कर्मों का आस्रव और बन्ध होता है, वही उसके पापमय अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्तिरूप अश से कर्मों का सवर और निर्जरण भी होता है। परन्तु ऐसा स्वीकार कर लेने पर भी जीव की भाववती शक्ति के स्वभावभूत निश्चयधर्मरूप परिणमन को पूर्वोक्त प्रकार कर्मों के सवर और निर्जरण का कारण सिद्ध न होने से 'सुद्ध' शब्द का अर्थ कदापि नही माना जा सकता है। इस प्रकार जयधवला के 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पद के अन्तर्गत 'सुद्ध' शब्द के निरर्थक होने का प्रसग उपस्थित हो जायेगा। अत उक्त 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' इस सम्पूर्ण पद का अर्थ जीव की क्रियावती शक्ति के परिणमनस्वरूप पापमय अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्तिपूर्वक पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति के रूप मे ही ग्राह्य हो सकता है।

यदि यह कहा जाय कि जीव को मोक्ष की प्राप्ति उसकी भाववती शक्ति का शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्म के रूप मे परिणमन होने पर ही होती है, इस लिए 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पद के अन्तर्गत 'सुद्ध' शब्द निरर्थक नही है तो इस बात को स्वीकार करने मे यद्यपि कोई आपत्ति नही है, परन्तु ऐसा स्वीकार करने पर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि मोक्ष की प्राप्ति जीव की भाववती शक्ति के स्वभावभूत शुद्ध परिणमन के होने पर होना एक बात है और उस स्वभावभूत शुद्ध परिणमन को कर्मक्षय का कारण मानना अन्य बात है, क्योकि वास्तव में देखा जाये तो द्वादशगुणस्थानवर्ती जीव का वह शुद्ध स्वभाव मोक्षरूप शुद्ध स्वभाव का ही अश है जो मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय होने पर ही प्रकट होता है।

अन्त में एक बात यह भी विचारणीय है कि उक्त 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं' पद के अन्तर्गत 'सुद्ध' शब्द का जीव की भाववती शक्ति का स्वभावभूत शुद्ध परिणमन अर्थ स्वीकार करने पर पूर्वोक्त यह समस्या तो उपस्थित है ही कि द्वादश गुणस्थान के प्रथम समय मे शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्म का पूर्ण विकास हो जाने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनो घाती कर्मों का एव चारो अघाती कर्मों के एक साथ क्षय होने की प्रसक्ति होती है। साथ ही यह समस्या भी उपस्थित होती है कि जीव की भाववती शक्ति के स्वभावभूत शुद्ध परिणमन के विकास का प्रारम्भ जब प्रथम गुणस्थान के अन्त समय मे मोहनीयकर्म की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृतिरूप तीन और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ-रूप चार, इन सात प्रकृतियो का उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाने पर चतुर्थ गुणस्थान के प्रथम समय में होता है तो ऐसी स्थिति मे उस स्वभावभूत शुद्ध परिणमन को कर्मों के संवर और निर्जरण का कारण कैसे माना जा सकता है ? अर्थात् नहीं

माना जा सकता है। यह बात पूर्व में स्पष्ट की जा चुकी है।

प्रकृति में कर्मों के आस्रव और बन्ध तथा संवर और निर्जरा की प्रक्रिया

१. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव जब तक आसक्तिवश मानसिक, वाचनिक और कायिक संकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति करते रहते हैं तब तक वे उस प्रवृत्ति के आधार पर सतत कर्मों का आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं, तथा उस संकल्पीपापमय अशुभ प्रवृत्ति के साथ वे यदि कदाचित् सांसारिक स्वार्थवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी करते हैं, तो भी वे उन प्रवृत्तियों के आधार पर सतत कर्मों का आस्रव और बन्ध भी किया करते हैं।

२. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव जब आसक्तिवश होने वाले संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के साथ मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति को कर्तव्यवश करने लगते हैं, तब भी वे कर्मों का आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं।

३. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के रूप मे सर्वथा त्याग कर यदि आसक्तिवश होने वाले मानसिक, वाचनिक और कायिक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के साथ कर्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करने लगते हैं, तो भी वे कर्मों का आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं।

४. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव यदि उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के उक्त प्रकार सर्वथा त्यागपूर्वक उक्त आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का भी मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के रूप में एकदेश अथवा सर्वदेश त्याग कर कर्तव्यवश मानसिक, वाचनिक और कायिक पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करने लगते है, तो भी वे कर्मों का आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं।

५. अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का सर्वथा त्यागकर उक्त आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के साथ कर्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति करते हुए अथवा उक्त संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का सर्वथा व उक्त आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का एकदेश या सर्वदेश त्याग कर कर्तव्यवश पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करते हुए यदि क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रयोग्य लब्धियो का अपने में विकास कर लेते हैं, तो भी वे कर्मों का आस्रव और बन्ध ही किया करते है।

६. यत. मिथ्यात्व गुणस्थान के अतिरिक्त सभी गुणस्थान भव्य जीव के ही होते हैं, अभव्य जीव के नही, अत. जो भव्य जीव सासादन सम्यग्दृष्टि हो रहे हों, उनमे भी उक्त पाचो अनुच्छेदों में से दो, तीन और चार संख्यक अनुच्छेदो में प्रतिपादित व्यवस्थाएँ यथायोग्य पूर्व संस्कारवश या सामान्यरूप से लागू होती हैं, तथा अनुच्छेद तीन और चारमे प्रतिपादित व्यवस्थाएँ मिथ्यात्व गुणस्थान की ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवो में भी लागू होती हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि जीवो में अनुच्छेद एक में प्रतिपादित व्यवस्था इसलिए लागू नहीं होती कि वे जीव एक तो केवल संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति कदापि नही करते हैं व उनकी प्रवृत्ति अबुद्धिपूर्वक होने के कारण वे पुण्यमय दयारूप प्रवृत्ति भी सांसारिक स्वार्थवश नहीं करते हैं, तथा उनमे अनुच्छेद पाच मे प्रतिपादित व्यवस्था इसलिए लागू नहीं होती कि वे अपना समय व्यतीत करके नियम से मिथ्यात्व गुणस्थान को ही प्राप्त करते हैं। इसी तरह मिथ्यात्व गुणस्थान की ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों में अनुच्छेद एक और दो मे प्रतिपादित व्यवस्थाएँ इसलिए लागू नही होतीं कि उनमें संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव रहता है तथा उनमे अनुच्छेद पांच की व्यवस्था इसलिए लागू नही होती कि वे भी मिथ्यात्व गुणस्थान की ओर झुके हुए होने के कारण अपना समय व्यतीत करके मिथ्यात्व गुणस्थान को ही प्राप्त करते हैं। इस तरह सासादन सम्यग्दृष्टि और मिथ्यात्व गुणस्थान की ओर झुके हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सतत यथायोग्य कर्मों का आस्रव और बन्ध ही किया करते हैं। यहां यह ध्यातव्य है कि सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों के साथ सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों की प्रवृत्तियां भी अबुद्धिपूर्वक हुआ करती हैं।

७. उपर्युक्त जीवों से अतिरिक्त जो भव्य मिथ्यादृष्टि जीव और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व-प्राप्ति की ओर झुके हुए हों अर्थात् सम्यक्त्व-प्राप्ति में अनिवार्य कारणभूत करणलब्धि को प्राप्त हो गये हों, वे नियम से यथायोग्य कर्मों का आस्रव और बन्ध करते हुए भी दर्शनमोहनीय कर्म की यथासम्भव रूप में विद्यमान मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति रूप तीन तथा चारित्र मोहनीय कर्म के प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी कषाय की नियम से विद्यमान—क्रोध, मान, माया और लोभ-रूप चार—इस तरह सात कर्म-प्रकृतियों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम रूप में संवर और निर्जरण किया करते हैं। इसी तरह चतुर्थ गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों मे विद्यमान जीव यथायोग्य कर्मों का आस्रव और बन्ध, यथायोग्य कर्मों का संवर और निर्जरण किया करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन का फलितार्थ

१. कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति ही किया करते हैं। अथवा संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के साथ सांसारिक स्वार्थवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी किया करते हैं। कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि

जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के साथ पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति कर्तव्यवश किया करते हैं। कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के सर्वथा त्यागपूर्वक आरम्भीपापमय अदयारूप शुभ प्रवृत्ति के साथ कर्तव्यवश पुण्यमय दया रूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं एवं कोई अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के सर्वथा व आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के एकदेश अथवा सर्वदेश त्यागपूर्वक कर्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

२. कोई सासादन सम्यग्दृष्टि जीव सामान्य रूप से संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के साथ पूर्व संस्कार के बल पर कर्तव्यवश पुण्यमय दया रूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं। कोई सासादन सम्यग्दृष्टि जीव पूर्व संस्कार के बल पर संकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से सर्वथा निवृत्तिपूर्वक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के साथ कर्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं, और कोई सासादन सम्यग्दृष्टि जीव पूर्व संस्कारवश सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से सर्वथा व आरम्भीपाप रूप अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से एकदेश अथवा सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक कर्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते है।

३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि भव्य मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि जीवो के समान ही प्रवृत्ति किया करते हैं, परन्तु उनमे इतनी विशेषता है कि वे सकल्पीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति किसी भी रूप मे नही करते है।

४. चतुर्थ गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानो मे विद्यमान सभी जीव तृतीय गुणस्थानवर्ती जीवो के समान सकल्पी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से सर्वथा रहित होते हैं। इस तरह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव या तो आसक्तिवश आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति के साथ कर्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते है अथवा आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से एकदेश या सर्वदेश निवृत्तिपूर्वक कर्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

५. पंचम गुणस्थानवर्ती जीव नियम से आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से एकदेशनिवृत्तिपूर्वक दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं, क्योकि ऐसा किये बिना जीव को पचम गुणस्थान कदापि प्राप्त नही होता है। इतना अवश्य है कि कोई पचम गुणस्थानवर्ती जीव आरम्भीपापमय अदया रूप अशुभ प्रवृत्ति से सर्वदेशनिवृत्तिपूर्वक कर्तव्यवश पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति किया करते हैं।

६. षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव नियम से आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से सर्वदेश निवृत्ति-पूर्वक कर्तव्यवश पुण्यमय शुभ प्रवृत्ति करते हैं, क्योकि ऐसा किये बिना जीव को षष्ठ गुणस्थान प्राप्त नही होता।

७. षष्ठ गुणस्थान से आगे के गुणस्थानो मे जीव आरम्भीपापमय अदया रूप अशुभ प्रवृत्ति से सर्वथा निवृत्त रहता है तथा पुण्यमय दयारूप शुभ प्रवृत्ति भी बाह्य रूप मे नही करते हुए अन्तरग रूप मे ही तब तक करता रहता है, जब तक नवम गुणस्थान मे उसको अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन कषायो की क्रोध-प्रकृतियो के सर्वथा उपशम या क्षय करने की क्षमता प्राप्त नही होती। तात्पर्य यह है कि जीव के अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्म का उदय प्रथम गुणस्थान से लेकर चतुर्थ गुणस्थान के अन्त समय तक रहता है और पचम गुणस्थान मे और उसके आगे उसका क्षयोपशम ही रहा करता है। इसी तरह जीव के प्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्म का उदय प्रथम गुणस्थान से लेकर पंचम गुणस्थान के अन्त समय तक रहा करता है, और षष्ठ गुणस्थान मे और उसके आगे उसका क्षयोपशम ही रहा करता है तथा इन सभी गुणस्थानो मे सज्वलन क्रोध कर्म का उदय ही रहा करता है। परन्तु सज्वलन क्रोध कर्म का उदय व अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्मों का क्षयोपशम तब तक रहा करता है जब तक नवम गुणस्थान मे इनका सर्वथा उपशम या क्षय नही हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्म का बन्ध चतुर्थ गुणस्थान तक ही होता है। प्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्म का बन्ध पचम गुणस्थान तक ही होता है और सज्वलन क्रोध कर्म का बन्ध नवम गुणस्थान के एक निश्चित भाग तक ही होता है। इन सबके बन्ध का कारण जीव की भाववती शक्ति के हृदय और मस्तिष्क के सहारे पर होने वाले यथायोग्य परिणमनो से प्रभावित जीव की क्रियावती शक्ति का मानसिक, वाचनिक और कायिक यथायोग्य प्रवृत्तिरूप परिणमन ही है। जीव चतुर्थ गुणस्थान मे जब तक आरम्भी पापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का यथायोग्य रूप में एकदेश त्याग नही करता, तब तक तो उसके अप्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्म का बन्ध होता ही रहता है। परन्तु वह जीव यदि आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का एकदेश त्याग कर देता है और उस त्याग के आधार पर उसमे कदाचित् उस अप्रत्याख्यानावरण क्रोधकर्म के क्षयोपशम की क्षमता प्राप्त हो जाती है तो इसके पूर्व उस जीव मे उस क्रोध कर्म के बन्ध का अभाव हो जाता है। यह व्यवस्था चतुर्थ गुणस्थान के समान प्रथम और तृतीय गुणस्थान मे भी लागू होती है। इसी तरह जीव पचम गुणस्थान मे जब तक आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का सर्वदेश त्याग नही करता तब तक तो उसके प्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्म का बन्ध होता ही है, परन्तु यह जीव यदि आरम्भीपापमय अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति का सर्वदेश त्याग कर देता है और इस त्याग के आधार पर उसमें कदाचित् उस प्रत्याख्यानावरण क्रोध कर्म के क्षयोपशम की क्षमता प्राप्त हो जाती है तो इसके पूर्व उस जीव मे उस क्रोध कर्म के बन्ध का अभाव हो जाता है। यह व्यवस्था पंचम गुणस्थान के समान प्रथम, तृतीय और चतुर्थ गुणस्थानो मे भी लागू होती है। पचम गुणस्थान के आगे के गुणस्थानो मे तब तक जीव सज्वलन क्रोध कर्म का बन्ध करता रहता है जब तक वह नवम गुणस्थान मे बन्ध के अनुकूल अपनी मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति करता रहता

है। और जब वह नवम गुणस्थान मे संज्वलन क्रोध कर्म के उपशम या क्षय की क्षमता प्राप्त कर लेता है तो इसके पूर्व उस जीव में उस क्रोध कर्म के बन्ध का अभाव हो जाता है।

इतना विवेचन करने मे मेरा उद्देश्य इस बात को स्पष्ट करने का है कि जीव की क्रियावती शक्ति के मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप अशुभ और दयारूप शुभ प्रवृत्तियो के रूप मे होनेवाले परिणमन ही क्रोध कर्म के आस्रव और बन्ध में कारण होते हैं, और उन प्रवृत्तियों का निरोध करने से ही उन क्रोध कर्मों का सवर और निर्जरण करने की क्षमता जीव मे आती है। जीव की भाववती शक्ति का न तो मोहनीय कर्म के उदय मे होने वाला विभाव परिणमन आस्रव और बन्ध का कारण होता है और न ही मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय या क्षयोपशम मे होने वाला भाववती शक्ति का स्वभावरूप शुद्ध परिणमन संवर और निर्जरा का कारण होता है। इतना अवश्य है कि जीव की भाववती शक्ति के हृदय के सहारे पर होने वाले तत्त्वश्रद्धानरूप शुभ और अतत्त्वश्रद्धानरूप अशुभ तथा मस्तिष्क के सहारे पर होने वाले तत्त्वज्ञानरूप शुभ और अतत्त्वज्ञानरूप अशुभ परिणमन अपनी शुभरूपता और अशुभरूपता के आधार पर यथायोग्य शुभ और अशुभ कर्मों के आस्रव और बन्ध के परम्परया कारण होते हैं, और तत्त्वश्रद्धान व्यवहारसम्यग्दर्शन के रूप मे तथा तत्त्व-ज्ञान व्यवहारसम्यग्ज्ञान के रूप मे यथायोग्य कर्मों के आस्रव और बन्ध के साथ यथायोग्य कर्मों के सवर और निर्जरा के भी परम्परया कारण होते हैं।

इस विवेचन मे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि क्रियावती शक्ति के परिणमनस्वरूप जीव की मानसिक, वाचनिक और कायिक अदयारूप अशुभ और दया रूप शुभ प्रवृत्तिया यथायोग्य अशुभ और शुभ कर्मों के आस्रव और बन्ध का साक्षात् कारण होती हैं, तथा अदयारूप अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्तिपूर्वक होने वाली दयारूप शुभ प्रवृत्ति यथायोग्य कर्मो के आस्रव और बन्ध के साथ यथायोग्य कर्मों के सवर और निर्जरण का साक्षात् कारण होती है, एवं जीव की क्रियावती शक्ति के परिणमन स्वरूप तथा दयारूप शुभ और अदयारूप अशुभरूपता से रहित जीव की मानसिक, वाचनिक और कायिक योगरूप प्रवृत्ति मात्र सातावेदनीय कर्म के आस्रवपूर्वक केवल प्रकृति और प्रदेशरूप बन्ध का कारण होती है, तथा योग का अभाव कर्मों के सवर और निर्जरण का कारण होता है।

इस सम्पूर्ण विवेचन से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि जीव-दया पुण्यरूप भी होती है, जीव के शुद्ध स्वभावभूत निश्चयधर्म रूप भी होती है तथा इस निश्चयधर्म रूप जीवदया की उत्पत्ति मे कारणभूत व्यवहारधर्म रूप भी होती है। अर्थात् तीनो प्रकार की जीवदयाएं अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्त्व रखती है।

मुणि-चारित्त (मुनि-चारित्र)

पंच महव्वय साहू इयरो एक्काइणुव्वए अहवा।
सइ सामइयं साहू पडिवज्जइ इत्तरं इयरो॥
संपुण्णं परिपालइ सामायारिं सयेव साहु त्ति।
इयरो तक्कालम्मि वि अपरिण्णाणाइओ ण तहा॥
हिंसा-विरइ अहिंसा असच्च-विरई अदत्तविरई य।
तुरियं अबम्ह-विरई पंचम संगम्मि विरई य॥

भगवान् श्री जिनेन्द्रदेव कहते हैं कि साधु अर्थात् मुनि पाच महाव्रतो का पालन करता है, तथा गृहस्थ उन्ही पाचो मे से एक, दो, तीन, चार अथवा पाँचो व्रतो का अणुरूप से पालन करता हुआ अणुव्रती होता है। साधु सामायिक सयम का पालन करता है अर्थात् समस्त दूषित आचरणो का एक ही सा परित्याग करता है जबकि दूसरा अणुव्रती श्रावक द्वितीय छेदोपस्थान नामक संयम का पालन करता हुआ अहिंसा आदि व्रतो का पृथक्-पृथक् रूपो से पालन करता है। साधु समस्त सामाचारी अर्थात् सम्यक् चारित्र का सदैव परिपालन करता है, किन्तु दूसरा अर्थात् गृहस्थ सयम के नियमो का पूर्णज्ञाता न होने से एक काल मे सभी व्रतो का साधु के समान पालन नही कर सकता। हिंसा से विरति अर्थात् त्याग का नाम अहिंसा व्रत है। उसी प्रकार असत्य-त्याग दूसरा, व अदत्तादान अर्थात् चोरी का त्याग तीसरा व्रत है। अब्रह्म अर्थात् व्यभिचार का त्याग चतुर्थ, एव सग अर्थात् परिग्रह का त्याग पंचम व्रत है।

(डा० हीरालाल जैन द्वारा संकलित 'जिनवाणी' पृ० १०२-३ से साभार)

सम्यक् चारित्र

प० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

स्वरूप

आचार्य कुन्दकुन्द ने मोह और क्षोभ अर्थात् दर्शनमोह और चारित्रमोह, इनसे रहित आत्म-परिणति को चारित्र कहा है। नामान्तर से उसे 'धर्म' व 'सम' भी कहा गया है। अभिप्राय यह हुआ कि सम्यग्दर्शन और उसके अविनाभावी सम्यग्ज्ञान के साथ समस्त इष्टानिष्ट पदार्थों मे राग-द्वेष न करना—यह 'चारित्र' है।[1]

इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए आचार्य समन्तभद्र ने भी कहा है कि मोह (दर्शनमोह-मिथ्यात्व) के विनष्ट हो जाने पर, सम्यग्दर्शन के प्राप्त हो जाने से जिसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान रूप मे परिणत हो गया है, वह मुमुक्षु भव्य, राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए, चारित्र को स्वीकार करता है।[2]

आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र के पर्यायवाची जिस धर्म का उल्लेख किया है, स्वामी समन्तभद्र ने उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप ही कहा है, उसे ही कर्मनाशक एवं निर्बाध व निराकुल सुख के स्थानभूत मोक्ष को प्राप्त कराने वाला निर्दिष्ट किया है।[3]

श्रमण की सम-स्वरूपता को स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार मे कहा गया है कि—श्रमण शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, प्रशंसा-निन्दा, मिट्टी सुवर्ण तथा जीवन व मरण—इन सब मे सम—हर्ष-विषाद से रहित—होता है।[4]

पुरुष का प्रयोजन स्थिर आत्मस्वरूप को प्राप्त करना है। वह तब सिद्ध होता है जब प्राणी विपरीत अभिप्राय (मिथ्यात्व) को छोड़कर यथार्थरूप मे आत्मा के स्वरूप का निश्चय करता हुआ, उससे विचलित नही होता है। इसे अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थ-सिद्धि (मुक्ति) का उपाय बताया है।[5]

इसका भी यही अभिप्राय है कि जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ राग-द्वेष के परिहारपूर्वक निश्चल आत्मस्वरूप मे अवस्थित होता है, वह अपने प्रयोजन को सिद्ध कर लेता है।

आगे पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे प्रकृत रत्नत्रय के स्वरूप को इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है—आत्मा के निश्चय को सम्यग्दर्शन, उसी आत्मा के अवबोध को सम्यग्ज्ञान, और उसी आत्मा मे स्थिर होने को सम्यक्चारित्र कहा जाता है। ये कर्मबन्ध के अभाव के कारण होकर, संवर और निर्जरा के कारण हैं। इसका कारण यह है कि प्रदेशबन्ध योग से, और स्थितिबन्ध कषाय से हुआ करता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र—ये तीनो न योग-रूप हैं और न कषाय-रूप भी हैं। अतएव उनसे बन्ध की सम्भावना ही कैसे की जा सकती है?[6]

स्वामी समन्तभद्र ने उपर्युक्त निश्चल आत्मस्वरूप की प्राप्ति को आत्यन्तिक स्वास्थ्य बताते हुए, उसे ही आत्मा का प्रयोजन निर्दिष्ट किया है। इसका कारण यह है कि क्षणभंगुर इन्द्रियजनित सुखोपभोग तो उत्तरोत्तर तृष्णा का संवर्धक होने से सन्ताप का ही जनक है, शाश्वतिक सुख का वह कभी कारण नहीं हो सकता।[7]

---

१. प्रवचनसार, १/७
२. रत्नकरण्ड, ४७
३. रत्नकरण्ड, २/३
४. प्रवचनसार, ३/४१
५. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १५
६. वही, २१५-१६
७. स्वयंभूस्तोत्र, ३१

संयम की समानार्थकता

'संयम' यह उक्त चारित्र का प्राय. समानार्थक शब्द है।[1] संयम के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक मे कहा गया है कि व्रतों के धारण, समितियों के परिपालन, कषायों के निग्रह, मन-वचन-काय की दुष्प्रवृत्तिरूप दण्डो के त्याग और इन्द्रियो के जय का नाम संयम है।[2]

यही संयम का स्वरूप धवला में भी एक प्राचीन गाथा को उद्धृत करते हुए निर्दिष्ट किया गया है। वहां इतना विशेष स्पष्ट किया गया है कि 'संयम' में उपर्युक्त 'स' शब्द से द्रव्ययम—सम्यग्दर्शन से रहित महाव्रत—का निषेध कर दिया गया है। आगे वहां सयत के स्वरूप का निर्देश करते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के अनुसार जो यत हैं—अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से विरत हैं—वे 'सयत' कहलाते हैं।[3]

आचार्य कुन्दकुन्द ने उसी श्रमण को संयत कहा है जो पाच समितियो का पालन करता है, तीन गुप्तियों के द्वारा आत्मा का पापाचरण से संरक्षण करता है, पाचो इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखता है, कषायों पर विजय प्राप्त कर चुका है, शत्रु व मित्र आदि मे समभाव रखता है; तथा एकाग्रतापूर्वक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इन तीनो के एक साथ आराधन मे उद्यत रहता है। ऐसा ही 'सयत' परिपूर्ण श्रामण्य (निर्ग्रन्थता) का स्वामी होता है। इसके विपरीत, जो अन्य द्रव्य का आश्रय लेकर राग, द्वेष और मोह को प्राप्त होता है, वह अज्ञानी होकर अनेक प्रकार के कर्मों से सम्बद्ध होता है। कर्मों के क्षय का कारण तो अन्य पदार्थों मे राग, द्वेष और मोह का अभाव ही है।[4]

चारित्र के साथ सम्यग्दर्शन की अनिवार्यता

'दर्शन-प्राभृत' मे चारित्रस्वरूप धर्म को दर्शन-मूलक कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मूल (जड) के बिना वृक्ष स्थिर नही रह सकता, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र स्थिर नही रह सकता। आगे वहां यह स्पष्ट कर दिया गया है कि दर्शन मे जो भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट ही हैं, वे कभी निर्वाण को प्राप्त नही हो सकते। इसके विपरीत, जो चारित्र से भ्रष्ट हैं, वे यथासमय निर्वाण को प्राप्त कर लेने वाले है (इसके लिए आचार्य समन्तभद्र को उदाहरण के रूप मे लिया जा सकता है)। सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव अनेक प्रकार के शास्त्रों मे पारंगत होने पर भी, सम्यग्दर्शन-आराधना से रहित होने के कारण, संसार मे ही परिभ्रमण करते रहते है।[5]

आगे इसी 'दर्शन-प्राभृत' में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि मुमुक्षु भव्य, जितना कुछ सदाचरण शक्य हो, उतना करे। पर जिसका परिपालन नही किया जा सकता है, उस पर श्रद्धा अवश्य रखे। कारण यह कि केवली 'जिन' ने श्रद्धान करने वाले आत्म-हितैषी के सम्यक्त्व को सद्भाव कहा है।[6]

लगभग इसी अभिप्राय को अभिव्यक्त करते हुए 'चारित्र-प्राभृत' मे भी कहा गया है कि जो सम्यक्त्वाचरण से शुद्ध होते हैं वे विवेकी भव्य यदि संयमाचरण को प्राप्त कर लेते है तो शीघ्र निर्वाण को पा लेते हैं। किन्तु जो उस सम्यक्त्वाचरण से भ्रष्ट होते हुए संयमाचरण करते हैं, वे अज्ञानमय ज्ञान मे विमूढ़ होने के कारण निर्वाण को प्राप्त नही कर पाते है।[7]

यहां यह स्मरणीय है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र के दो भेद किये है—सम्यक्त्वाचरण चारित्र और सयमाचरण चारित्र।[8]

आ० समन्तभद्र ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहते है कि जिस प्रकार कुशल केवट यात्रियो को नाव के द्वारा नदी के उस पार पहुंचा देता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन संसार-समुद्र से पार कराने मे उस केवट के समान है। अत: वह ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा प्रमुखता से आराधनीय है। ज्ञान और चारित्र सम्यक्त्व के बिना न उत्पन्न होते हैं, न वृद्धि को प्राप्त होते हैं, न स्थिर रहते हैं, और न अपना फल भी दे सकते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष। यही कारण है जो वहां मोहवान—दर्शनमोह से आक्रान्त मिथ्यादृष्टि—मुनि की अपेक्षा निर्मोह—उस दर्शन-मोह से रहित सम्यग्दृष्टि—गृहस्थ को मोक्ष-मार्ग मे स्थित बतलाते हुए उसे

---

१. देखिए—षट्खण्डागमसूत्र १/१/१२३ (पु० १), और तत्त्वार्थसूत्र, ६/१८

२. देखिए, त० वा० ६/७/१८; पृ० ३३०

३ संयमनं संयम: । न द्रव्ययम सयम, तस्य 'सम्'शब्देनापादितत्वात् । पु० १, पृ० १४४-४५(१/१ ४) । 'सम्' सम्यक्-सम्यग्दर्शनज्ञानानुसारेण—यता. बहिरंगान्तरंगास्रवेभ्यो विरता. सयता: । धवला पु० १, पृ० ३६६, (१/१/१२३)।

४. प्रवचनसार ३/४०-४४

५. दर्शन प्राभृत, २-४

६. वही, २२

७. चारित्र-प्राभृत ६-१०

८. वही, ५

श्रेष्ठ घोषित किया गया है।[1]

भावलिंग की प्रधानता

'भावप्राभृत' में यह स्पष्ट किया गया है कि प्रथम या प्रधान तो भावलिंग है, द्रव्यलिंग को यथार्थ मत समझो; क्योंकि गुण-दोषों का कारणभूत भावलिंग ही है। बाह्य परिग्रह का जो त्याग किया जाता है, वह भाव की विशुद्धि के लिए ही किया जाता है। जो आभ्यन्तर परिग्रह (मिथ्यात्व आदि) से संयुक्त होता है, उसका वह बाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल रहता है।

यहां कुछ उदाहरण

इसके स्पष्टीकरण मे यहां भावप्राभृत मे कुछ पौराणिक उदाहरण भी दिये गए है, जो इस प्रकार हैं[2]—

१ भगवान् आदिनाथ के पुत्र बाहुबलि देहादि-परिग्रह से निर्ममत्व होकर भी मानकषाय से कलुषित रहने के कारण कितने ही काल तक आतापन योग से स्थित रहे, पर केवल-ज्ञान उन्हे प्राप्त नही हुआ।

२. मधुपिंग नामक मुनि देह और आहार आदि के व्यापार से रहित होकर भावी भोगाकाक्षारूप निदान के निमित्त से श्रमणपने को प्राप्त नही हुआ।

३. वशिष्ठ मुनि निदान-दोष के वश दुःख को प्राप्त हुआ। चौरासी लाख योनियो के निवास-स्थान मे ऐसा कोई प्रदेश नही है जहां पर भाव से रहित श्रमण नही रहा है। निर्ग्रन्थ लिंगी भाव से ही होता है, द्रव्यमात्र से —भाव रहित केवल नग्नवेश से —निर्ग्रन्थलिंगी नही होता है।

४. बाहु नामक मुनि ने जिन-लिंग (नग्नता) से सहित होते हुए भी आभ्यन्तर दोष के वश समस्त दण्डक नगर को जला डाला, जिसके कारण वह सातवी पृथिवी के रौरव नामक नारकबिल मे जा पड़ा।

५ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से भ्रष्ट द्रव्य-श्रमण द्वीपायन मुनि अनन्तससारी हुआ।

६. इसके विपरीत, शिवकुमार नाम का भाव-श्रमण (भावी जम्बूस्वामी) युवतिजनों से वेष्टित होता हुआ भी परीतससारी—अधिक-से-अधिक अर्ध-पुद्गल-परिवर्तन प्रमाण परिमित ससार वाला हुआ।

७. बारह अंग और चौदह पूर्व स्वरूप समस्त श्रुत को पढकर भी भव्यसेन मुनि भाव-श्रामण्य को प्राप्त नही हुआ।

८. इसके विपरीत भाव से विशुद्ध शिवभूति नामक मुनि तुषमाष की घोषणा करता हुआ—भेदविज्ञान से विभूषित होकर—केवलज्ञानी हुआ।

श्रमण-दीक्षा

प्रवचनसार के चारित्र-अधिकार मे मुमुक्षु भव्य को लक्ष्य करके यह उपदेश किया गया है कि हे भव्य ! यदि तू दुःख से मुक्त होना चाहता है तो पाचो परमेष्ठियो को प्रणाम करके श्रमण धर्म को स्वीकार कर। इसके लिए माता-पिता आदि गुरुजनो के साथ स्त्री-पुत्रादि से पूछकर, उनकी अनुमति प्राप्त कर, तदनुसार उनकी अनुमति प्राप्त हो जाने पर दर्शन-ज्ञानादि पाच आचारो के परिपालक व अन्य अनेक गुणो से विशिष्ट आचार्य की शरण मे जाकर, सविनय वन्दना करता हुआ, उनसे जिन-दीक्षा देने की प्रार्थना कर। इस प्रकार उनसे अनुगृहीत होकर मुनिधर्म मे दीक्षित होता हुआ दृढतापूर्वक यह निश्चय कर कि मैं न तो दूसरो का कोई हू और न दूसरे मेरे कोई हैं, यहा मेरा अन्य कुछ भी नही। इस प्रकार इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करके बालक के समान निर्विकार दिगम्बर रूप-निर्वस्त्रता को ग्रहण कर ले।

जिनलिंग द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। उनमे तत्काल उत्पन्न हुए बालक के रूप को (नग्नता) धारण करके, जो कैंची या उस्तरे आदि की सहायता के बिना, सिर व दाढ़ी के बालो का लुञ्चन किया जाता है, वह अन्य भी प्रतिक्रिया से रहित शुद्ध 'द्रव्य लिंग' है। वह हिंसा व असत्य आदि पापो से रहित होता है। इसके साथ मूर्च्छा (ममेदबुद्धि) से रहित और उपयोग (आत्मपरिणाम) व मन-वचन-कायरूप योगो की शुद्धि से संयुक्त जिस लिंग मे किसी दूसरे की अपेक्षा नही रहती है, वह भावलिंग है, जो अपुनर्भव का कारण है—जन्म-मरण-जन्य दुःख से मुक्ति दिलाने वाला है।[3]

---

१. रत्नकरण्ड, १/३१-३३
२. भावप्राभृत ४४-५० (कथाएं श्रुतसागरीय टीका में द्रष्टव्य हैं)।
३. प्रवचनसार, ३/५-६

मूलगुण

इस प्रसंग में आगे वहां उन मूल गुणों का भी उल्लेख किया गया है जिनका परिपालन साधु को जिनदीक्षा स्वीकार करके अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। वे मूलगुण हैं—पांच महाव्रत, पांच समितियां, पांचों इन्द्रियों का निरोध, बालों का लुञ्चन करना, छह आवश्यक, अचेलकता (निर्वस्त्रता), स्नान का परित्याग, भूमि पर सोना, दांतों का न धोना, खड़े रहकर भोजन ग्रहण करना और वह भी एक बार ही करना। इस प्रकार यहां इन २८ मूलगुणों का निर्देश करते हुए आगे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ये श्रमणों के २८ मूलगुण जिनेन्द्र के द्वारा कहे गये हैं। इनके परिपालन में जो श्रमण प्रमादयुक्त (असावधान) रहता है, वह छेदोपस्थापक होता है।[1] छेदोपस्थापक होने का स्पष्टीकरण आगे चारित्र-भेदों के प्रसंग में किया जाने वाला है।

यहां इन मूलगुणो का स्पष्टीकरण संक्षेप में 'मूलाचार' के आधार पर किया जाता है—

'मूलगुण' के स्पष्टीकरण में मूलाचार की आ० वसुनन्दी-विरचित आचारवृत्ति में कहा गया है कि 'मूल' शब्द यद्यपि अनेक अर्थों में वर्तमान है, पर यहां उसे 'प्रधान' अर्थ में ग्रहण किया गया है।

इसी प्रकार से 'गुण' शब्द भी अनेक अर्थों मे वर्तमान है, पर उसे यहा 'आचरण-विशेष' अर्थ मे ग्रहण किया गया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि साधु के उत्तर गुणों के आधारभूत प्रधान अनुष्ठान को 'मूलगुण' नाम से कहा जाता है।[2]

पांच महाव्रत

अहिंसा—पृथिवीकायादि छह काय, पांच इन्द्रियां, चौदह गुण-स्थान, चौदह मार्गणाएं, जातिभेदभूत कुल, आयु और जीवो की उत्पत्ति के स्थानभूत योनिया, इन सबको जानकर स्थान, शयन, आसन, गमनागमन एव भोजन आदि के समय प्राणि-हिंसा से रहित होना—इसका नाम 'अहिंसा महाव्रत' है।[3]

सत्य—राग-द्वेष व मत्सरता आदि के वशीभूत होकर असत्य वचन न बोलना, अन्य प्राणियो को पीड़ा पहुचाने वाला सत्य भाषण भी न करना, तथा सूत्र (आगम) व उसके अर्थ के व्याख्यान मे अयथार्थ निरूपण न करना—यह सत्य महाव्रत कहलाता है।[4]

अदत्त परिवर्जन (अचौर्य)—ग्राम, नगर और मार्ग आदि स्थानो में पड़ी हुई, गिरी हुई या भूली हुई किसी भी थोड़ी-बहुत वस्तुओं को नही ग्रहण करना, तथा जो खेत व गृह आदि दूसरे के अधिकार मे हों, उनको भी नही ग्रहण करना—इसे 'अदत्त परिवर्जन' या 'अचौर्य महाव्रत' कहा जाता है।[5]

ब्रह्मचर्य—वृद्धा, बाला और युवती—इन तीन प्रकार की स्त्रियो को क्रम से माता, पुत्री और बहिन के समान समझकर उनसे दूर रहना, चित्रलिखित स्त्रियो के रूप को देखकर कलुषितभाव न करना तथा स्त्रीकलत्र आदि से निवृत्त होना, इसे ब्रह्मचर्य महाव्रत कहते हैं।[6]

असंग (परिग्रहपरित्याग)—जीव से सम्बद्ध शरीर, मिथ्यात्व, क्रोधादि व हास्यादि तथा उससे असम्बद्ध क्षेत्र व गृह-सम्पत्ति आदि, इनका परित्याग करते हुए, संयम व शौच आदि के उपकरणभूत पीछी-कमण्डलु आदि की ओर से भी निर्ममत्व रहना। इसे असग या परिग्रह-परित्याग महाव्रत कहा जाता है।[7]

पांच समितियां

आगमानुसार जो गमनागमनादिरूप प्रवृत्ति की जाती है, उसे 'समिति' कहते हैं। वह पांच प्रकार की है—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और प्रतिष्ठापना।

ईर्या समिति—साधु-प्रयोजन के वश युग-प्रमाण (चार हाथ) भूमि को देखकर प्राणियों के संरक्षण मे सावधान रहता हुआ जो दिन मे प्रासुक मार्ग से गमन करता है, इसे ईर्या समिति कहते हैं। प्रयोजन से यहा शास्त्रश्रवण, तीर्थयात्रा, गुरुवन्दना व भिक्षा-ग्रहण आदि अभिप्रेत हैं, क्योंकि सर्वथा आरम्भ व परिग्रह से रहित साधु के लिए ऐसे ही कुछ धर्मकार्यों के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन नहीं रहता।

---

१. प्रवचनसार, ३/८-९ व मूलाचार १ २-३
२. मूलाचार वृत्ति, १/१
३. वही, १/५; नियमसार गाथा ५६ भी द्रष्टव्य है।
४. वही, १ ६, " ५७ "
५ वही, १/७, " ५८ "
६. वही, १'८, " ५९ "
७. वही, १/९, नियमसार गाथा ६० भी द्रष्टव्य है।

प्रासुक का अर्थ है जन्तुओं से रहित। जिस मार्ग पर हाथी, घोडा व गाय-भैंस आदि का आवागमन चालू हो चुका हो, वह 'प्रासुक' माना जाता है। इस प्रासुक मार्ग से भी दिन मे पर्याप्त प्रकाश के हो जाने पर ही गमन करना चाहिए।[1]

भाषा समिति— पिशुनता, हास्य, कठोरता, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा और निकृष्ट स्त्रीकथादि रूप वचन को छोडकर ऐसा निर्दोष वचन बोलना, जो अपने लिए व अन्य प्राणियों के लिए भी हितकर हो।[2]

आ० अमृतचन्द्र सूरि ने असत्य वचन के चार भेदो का निर्देश करते हुए उनमें चौथे असत्य के ये तीन भेद निर्दिष्ट किये हैं— गर्हित, सावद्य और अप्रिय। इनमें पिशुनता व हास्य से सहित, कठोर, निन्द्य तथा और भी आगम-विरुद्ध जो वचन हो उसे गर्हित असत्य वचन कहा जाता है। पिशुनता का अर्थ है पीछे (परोक्ष मे) व्यक्ति के सत्-असत् दोषो को प्रकट करना। छेदन-भेदन व मारण आदि रूप ऐसे वचनों को, जिनसे जीव-वध आदि पाप-कार्यों मे प्रवृत्ति सम्भव हो, सावद्य अनृत वचन कहते हैं। जो वचन अप्रीति, भय, खेद, वैर, शोक व कलह को उत्पन्न करने वाला है ऐसे सन्तापजनक वचन का नाम अप्रिय है। ऐसे असत्य वचन जब गृहस्थ के लिए भी परित्याज्य हैं, तब भला साधु ऐसे वचनो का प्रयोग कैसे कर सकता है? उसके लिए उनका परित्याग अनिवार्य है।[3]

एषणा समिति—छ्यालीस दोषो से रहित, बुभुक्षा आदि कारणों से सहित, मन-वचन-काय व कृत-कारित-अनुमतरूप नौ कोटियों से विशुद्ध तथा शीत-उष्ण आदि रूप होने पर राग-द्वेष से वर्जित जो भोजन का ग्रहण किया जाता है, उसे एषणा समिति कहा गया है।[4]

आदान-निक्षेपण समिति—ज्ञान के उपकरण-भूत पुस्तक आदि, सयम के उपकरण-स्वरूप पीछी आदि और शौच के उपकरण-भूत कमण्डलु को तथा अन्य सस्तर आदि को भी प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना व रखना, इसका नाम आदान-निक्षेपण समिति है।[5]

प्रतिष्ठापना समिति— जन-समुदाय के आवागमन से विहीन एकान्तरूप, जन्तुरहित, दूसरो की दृष्टि के अगोचर, विस्तृत (बिल आदि से रहित) और जहां किसी को विरोध न हो, ऐसी शुद्ध भूमि मे मल-मूत्र आदि का त्याग करना, यह प्रतिष्ठापना समिति कहलाती है।[6]

पांच प्रकार का इन्द्रिय-निरोध

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन--- इन पाचो इन्द्रियो को अपने-अपने विषय-क्रम से वर्ण, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श की ओर स्वेच्छा से प्रवृत्त न होने देना; यह क्रम से पाच प्रकार का इन्द्रिय-निरोध है। अभिप्राय यह है कि इष्ट व अनिष्ट—पाचो इन्द्रियो के विषयों मे राग-द्वेष से रहित होकर, उन्हे अपने नियत्रण मे रखना, ये पाच इन्द्रिय-निरोध नामक पांच मूलगुण हैं।[7]

छह आवश्यक

जो राग-द्वेषादि के वश नही होता उसका नाम 'अवश', और उसके अनुष्ठान का नाम आवश्यक है। वे आवश्यक छह हैं— सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।[8]

सामायिक---सामायिक का समानार्थक शब्द 'समता' है। जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सयोग-वियोग, मित्र-शत्रु और सुख-दु:ख आदि में सम (राग-द्वेष मे रहित) होना —इसका नाम समता व सामायिक है।[9]

सम्यक्त्व, ज्ञान, सयम और तप के साथ जो प्रशस्त गमन (प्रवृत्ति) होता है, उसे 'समय' कहा जाता है, उसी को यथार्थ 'सामायिक' जानना चाहिए। जो उपसर्ग व परीषह को जीत चुका है, भावनाओ व समितियो मे सदा उपयोग-युक्त रहता है, तथा यम और नियम के परिपालन मे उद्यत रहता है, ऐसा जीव उस सामायिक से परिणत होता है।[10]

---

१. मूलाचारवृत्ति, १/११, नियमसार गाथा ६१ भी द्रष्टव्य है।
२. वही, १/१२, " ६२ "
३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ९१-९९
४ मूला० १/१५, " ६३ "
५. " १/१६, " ६४ "
छ्यालीस दोषों आदि की विशेष जानकारी के लिए 'अनेकान्त' वर्ष २७, कि० ४ में प्रकाशित 'पिण्डशुद्धि के अन्तर्गत उद्दिष्ट आहार पर विचार' शीर्षक लेख द्रष्टव्य है। मूलाचार में 'पिण्ड-शुद्धि' नाम का एक स्वतन्त्र अधिकार (६) ही है।
६. मूला०, १/१७, नियमसार गा० ६५ भी द्रष्टव्य है।
७. वही, १/१६ (आगे गाथा १६-२३ विशेष रूप से द्रष्टव्य है)।
८ वही, १/२४
९. वही, १/२५
१०. मूला०, ७/२३-२८, विशेष जिज्ञासुओं को इस मूलाचार में सामायिक आवश्यक के प्रकरण (७,२१-४६) को देखना चाहिए।

चतुर्विंशतिस्तव —ऋषभादि से महावीर-पर्यन्त हुए चौबीस तीर्थंकरों का नाम-निरुक्तिपूर्वक—नामों की सार्थकता को प्रकट करते हुए—जो गुणानुवाद किया जाता है तथा पूजा करते हुए मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक उन्हें प्रणाम किया जाता है, इसका नाम चतुर्विंशतिस्तव है।[1]

इस चतुर्विंशतिस्तव को साधु किस प्रकार से करे, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि दोनों पांवो के मध्य में चार अगुलो का अन्तर करके स्थित होता हुआ, शरीर व भूमि का प्रतिलेखन करे। इस प्रकार शरीर व भूमि को शुद्ध करके, आकुलता से सर्वथा रहित होता हुआ हाथो को जोड़, निर्मल प्रणामपूर्वक चतुर्विंशतिस्तव को करना चाहिए।[2]

वन्दना —अर्हन्त प्रतिमा, सिद्ध प्रतिमा तथा जो तप मे, श्रुत में एव अन्य ज्ञानादि गुणो में श्रेष्ठ हैं उन्हे और विद्यागुरु व दीक्षा-गुरु, इन सबको कायोत्सर्ग व सिद्धभक्ति-श्रुतभक्ति आदि के साथ जो मन-वचन-काय—की शुद्धिपूर्वक प्रणाम किया जाता है, उसे वन्दना कहते हैं।[3]

मूलाचार के आवश्यक अधिकार मे इस वन्दना 'आवश्यक' की विस्तार से प्ररूपणा की गई है।[4] वहां इस प्रसग में कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म किसे करना चाहिए, तथा किसका, किस प्रकार से, कहा और कितने बार करना चाहिए, उसमे कितनी अवनतिया व कितने सिर झुकाकर प्रणाम किये जाते है, कितने आवर्तों से वह शुद्ध होता है, तथा कितने दोषो से रहित होता है, इस सबका स्पष्टीकरण किया गया है। सक्षेप में इतना समझा जा सकता है कि जो पाच महाव्रतो से विभूषित है, धर्मानुरागी है, आलस्य से रहित है, अभिमान से विहीन है तथा दीक्षा मे लघु है, वह कर्म-निर्जरा का इच्छुक होकर सदा 'कृति कर्म' को करता है। उस निर्जरा के लिए आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक (सघसचालक), स्थविर और गणधर आदि का कृतिकर्म (वन्दना) किया जाता है। व्रत-विहीन माता, पिता, गुरु, राजा, पाखण्डी, श्रावक व सूर्य-चन्द्रादि देव उनकी, तथा पार्श्वस्थ, कुशील, ससक्त, अवसन्न या अवसन्न और मृगचरित्र—इन पाच पार्श्वस्थ मुनियो की भी वन्दना नहीं करनी चाहिए। जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और विनय —इनमे निरन्तर उपयुक्त रहते हैं, उनकी वन्दना करनी चाहिए। आचार्य आदि के साथ ही, जो शील-आदि गुणो के धारको का गुणानुवाद करने वाले हैं, वे भी वन्दनीय है। इसके अतिरिक्त जो व्याक्षिप्त—ध्यान आदि से व्याकुल, विधेय अनुष्ठान की ओर से विमुख, अथवा पृष्ठभाग से स्थित हैं, और जो प्रमाद से युक्त हैं, ऐसे सयत की भी कभी वन्दना नही करनी चाहिए। आहार व नीहार (मल-मूत्रादि) करते समय भी कोई वन्दनीय नही होता। इसके विपरीत जो शुद्ध भूमि मे पद्मासन से स्थित है, अपनी ओर मुख किये है तथा उपशान्त (स्वस्थ-चित्त) है उसकी बुद्धिमान् को विधिपूर्वक वन्दना करनी चाहिए।[5]

प्रतिक्रमण

आहारादि द्रव्य, शयनासनादि क्षेत्र, पूर्वाह्ण-अपराह्ण आदि काल और मन की प्रवृत्ति रूप भाव, व इनके विषय में जो अपराध किया गया है उसके प्रति निन्दा व गर्हापूर्वक मन-वचन-काय से प्रतिक्रिया अभिव्यक्त करते हुए उसे शुद्ध करना, इसका नाम 'प्रतिक्रमण' है। स्वय जो दोषो को अभिव्यक्त किया जाता है, उसका नाम 'निन्दा' है। आलोचनापूर्वक आचार्य-आदि के समक्ष किये गये दोषो को प्रकट करना, यह 'गर्हा' का लक्षण है। निन्दा आत्मप्रकाश रूप, और गर्हा पर-प्रकाश-रूप होती है, यह दोनो मे भेद समझना चाहिए।[6]

यह प्रतिक्रमण दैनिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सावत्सरिक और उत्तमार्थ के भेद से सात प्रकार का है। उत्तम अर्थ के लिए जो जीवन-पर्यन्त चार प्रकार के आहार का परित्याग किया जाता है, उसे उत्तमार्थ प्रतिक्रमण समझना चाहिए।[7]

प्रतिक्रमण करनेवाला कैसा होना चाहिए, प्रतिक्रमण का स्वरूप क्या है, और प्रतिक्रमण के योग्य क्या होता है, इसका 'प्रतिक्रमण' आवश्यक के प्रसग में विस्तार से निरूपण किया गया है।[8]

प्रत्याख्यान— तीनो कालो के आश्रित नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन छह से सम्बद्ध अयोग्य (जो सेवन के योग्य नही हो) का मन-वचन-काय व कृत-कारित-अनुमत इन नौ प्रकारो से परित्याग करना —इसे प्रत्याख्यान कहते हैं।[9]

---

१. मूलाचारवृत्ति, १/२४
२. वही, ७/७६
३. वही, १/२५
४. वही, ७/७५-११४
५. वही, ७/९३-१०१
६. वही, १/२६
७. वही, ७/११६
८. वही, ७/११७-३४
९. वही, १/२७

मूलाचार-प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में भेद दिखलाते हुए वृत्ति में यह स्पष्ट किया गया है कि अतीत काल में उत्पन्न दोषों का प्रतीकार करना, यह प्रतिक्रमण का स्वरूप है, तथा आगे भविष्यत् और वर्तमान मे उत्पन्न होने वाले द्रव्यादिविषयक दोषों का परिहार करना, इसे प्रत्याख्यान कहा जाता है। इसके अतिरिक्त प्रत्याख्यान मे तप के लिए निर्दोष द्रव्यादि का भी परित्याग किया जाता है, किन्तु प्रतिक्रमण में दोषों का ही प्रतीकार किया जाता है, यह भी उन दोनों में विशेषता है।[1]

प्रत्याख्यान करनेवाला किन विशेषताओ से युक्त होता है और प्रत्याख्यान का स्वरूप क्या है, तथा प्रत्याख्यान के योग्य सचित्त-अचित्त आदि द्रव्य कैसा होता है—इसका विस्तार से विचार मूलाचार मे 'प्रत्याख्यान' आवश्यक के प्रकरण में किया गया है।[2]

कायोत्सर्ग—दैवसिक और रात्रिक आदि नियमों—मे आगमविहित कालप्रमाण से उस-उस काल मे जिन गुणो का स्मरण करते हुए जो कायोत्सर्ग किया जाता है—शरीर से ममत्व को छोडा जाता है—इसे कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग कहते हैं।[3]

मूलाचार के षडावश्यक अधिकार में इस कायोत्सर्ग के विषयो पर विस्तार मे विचार किया गया है।[4]

यहा सक्षेप में उसके विषय मे प्रकाश डाला जाता है—

कायोत्सर्ग मे अधिष्ठित होते समय दोनो बाहुओ को लम्बा करके उभय पावो के मध्य मे चार अंगुलो का अन्तर रखते हुए समपाद स्वरूप से स्थित होना चाहिए, तथा हाथ, पांव, सिर और आखो आदि शरीर के सभी अवयवो को स्थिर रखना चाहिए। विशुद्ध कायोत्सर्ग का यही लक्षण है। जो मुमुक्षु विशुद्ध आत्मा निद्रा पर विजय प्राप्त कर चुका है, सूत्र (परमागम) और अर्थ में निपुण है, परिणामो से शुद्ध है तथा बल-वीर्य से सहित है—ऐसा भव्य जीव कायोत्सर्ग मे अधिष्ठित होता है। कायोत्सर्ग मे अधिष्ठित होने वाला आत्म-हितैषी यह विचार करता है कि कायोत्सर्ग मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त करने वाला, व घातियाकर्मजनित दोषो का विनाशक है। इसलिए मैं उसमे अधिष्ठित होने की इच्छा करता हू। 'जिनदेव' ने स्वय उसका आराधन किया है व उपदेश भी दिया है।

कायोत्सर्ग मे अधिष्ठित होता हुआ वह विचार करता है कि एक पद के आश्रित होकर भी मैंने राग-द्वेष के वशीभूत होकर जो दोष उत्पन्न किये हैं, चार कषायो के वश जो गुप्तियो व व्रतो का उल्लघन किया है, छह काय के जीवो का विराधन किया है, सात भय व आठ मद के आश्रय से जो सम्यक्त्व को दूषित किया है, तथा ब्रह्मचर्य धर्म के विषय मे जो प्रमाद किया है, उस सब के द्वारा जो कर्म उपार्जित किया है, उसके विनाशार्थ मैं कायोत्सर्ग मे स्थित होता हू। देव, मनुष्य और तिर्यंच— इनके द्वारा जो उपसर्ग किये गए हैं उनको मैं कायोत्सर्ग में स्थित होता हुआ सहन करता हू। इसका अभिप्राय यह है कि यदि कायोत्सर्ग मे स्थित रहते हुए उपसर्ग आते हैं तो उन्हे सहन करे, तथा उपसर्गों के आने पर यथा-योग्य कायोत्सर्ग करना चाहिए।

कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट काल एक वर्ष और जघन्य भिन्न (एक समय कम) मुहूर्त है। शेष कायोत्सर्ग शक्ति के अनुसार अनेक स्थानों मे होते हैं। आगे दैवसिक प्रतिक्रमण आदि मे कुछ काल का प्रमाण भी निर्दिष्ट किया गया है।[5]

यहां ऊपर पाच महाव्रत, पाच समितिया, पाच इन्द्रियो का निरोध और छह आवश्यक इन इक्कीस मूल गुणो के विषय मे संक्षेप से प्रकाश डाला गया है। अब सात अन्य आवश्यक जो शेष रह जाते हैं, वे इस प्रकार है—

लोच—सिर और दाढी आदि के बालो को जो हाथो से उखाडा जाता है वह 'लोच' कर्म कहलाता है। वह उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का है। इनमे दो मासो के पूर्ण होने पर जो लोच किया जाता है उसे उत्कृष्ट, तीन मासो के पूर्ण होने पर या उसके बीच मे जो लोच किया जाता है उसे मध्यम, तथा चार मासो के पूर्ण होने पर या उनके अपूर्ण रहते भी जो लोच किया जाता है, उसे जघन्य माना गया है। उस लोच को पाक्षिक व चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमण के दिन उपवासपूर्वक करना चाहिए।

यद्यपि बालो को कैंची या उस्तरा आदि की सहायता से भी हटाया जा सकता है, पर उसमे परावलम्बन है। कारण कि उनको दीनतापूर्वक किसी अन्य से मागना पडेगा, परिग्रह-रूप होने से उन्हे पास मे रखा भी नही जा सकता है। बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह का सर्वथा त्याग करने वाले मुनि का मार्ग पूर्णतया स्वावलम्बन रूप है। बालो के बढने पर उनमे जू आदि क्षुद्र जन्तु उत्पन्न होने वाले हैं जिनके विघात को नही रोका जा सकता है। बालो के बढाने मे राग-भाव भी सम्भव है। इसके अतिरिक्त लोच करने मे आत्मबल और सहनशीलता भी प्रकट होती है। इन सब कारणो से उस लोच को मुनि के मूल गुणो मे ग्रहण किया गया है।[6]

---

१. मूलाचारवृत्ति, १/२७
२. वही, ७/१३६-५०
३. " १/२८
४. " ७/१५०-८६
५. वही, ७/१५३-६४
६. वही, १/२६ व उसकी वृत्ति।

आचार्य वसुनन्दी ने अपनी वृत्ति में 'सप्रतिक्रमण दिवस' का अर्थ विकल्प रूप में यह भी किया है कि लोच करके प्रतिक्रमण करना चाहिए।

आचेलक्य—चेल नाम वस्त्र का है, वस्त्र यह चमड़ा व बकला आदि अन्य सबका उपलक्षण है। इसका यह अभिप्राय हुआ कि सूती, रेशमी व ऊनी आदि किसी भी प्रकार के वस्त्र, चमड़े और वृक्ष के बकले व पत्ते आदि अन्य किसी से भी जननेन्द्रिय को आच्छादित न करके, बालक के समान निर्विकार रहना, यह मुनि का 'आचेलक्य' नाम का मूलगुण है। भूषण व वस्त्र से रहित दिगम्बर वेश लोक में पूज्य होता है। इसमें लज्जा को छोड़ते हुए किसी से न तो वस्त्र की याचना करनी पड़ती है, और न उसके फट जाने पर सीने के लिए सुई-धागे आदि की चिन्ता करनी पड़ती है। इस प्रकार वह पूर्णतया स्वावलम्बन का कारण है, जिसकी मुनि-धर्म में अपेक्षा रहती है।[1]

अस्नान—स्नान का परित्याग करने से यद्यपि समस्त शरीर जल्ल, मल्ल और स्वेद से आच्छादित रहता है, पर निरन्तर ध्यान-अध्ययन आदि में निरत रहने वाले साधु का उस ओर ध्यान न जाना तथा उससे घृणा न करके उसे स्वच्छ रखने का रागभाव न रहना, यह मुनि का अस्नान नामक मूल गुण है। इसके आश्रय से इन्द्रिय-संयम और प्राण-संयम दोनों ही प्रकार के संयम का पालन होता है। जल्ल सर्वांगीण मल को कहा जाता है। शरीर के एक देश में होने वाले मैल को मल्ल और पसीने को स्वेद कहते हैं।[2]

क्षिति-शयन—जहां पर तृण आदि रूप किसी प्रकार का संस्तर नहीं है अथवा जिसमें संयम का विघात न हो ऐसे अल्पसंस्तर से जो सहित है तथा जो प्रच्छन्न है—स्त्री व पशु आदि के आवागमन से रहित है, इस प्रकार के प्रासुक (निर्जन्तुक) भूमि-प्रदेश में दण्ड (काष्ठ) या धनुष के समान एक करवट से सोना—यह 'क्षितिशियन' नाम का मूल गुण है।[3]

उक्त प्रकार के जीव-जन्तुओं से रहित शुद्ध भूमि में करवट न बदलकर एक ही करवट से सोने पर जहां स्पर्शन-इन्द्रिय के वश नहीं होना है, वहीं प्राणियों का संरक्षण भी होता है। इस प्रकार दोनों ही प्रकार के संयम का उसमें परिपालन होता है।

अदन्तधावन—अंगुलि, नख, दातौन, तृण, पत्थर व बकला आदि से दातों के मैल को न निकालना, यह अदन्तघर्षणा नाम का मूल गुण है। इसके परिपालन में संयम की रक्षा होने के साथ शरीर की ओर से निर्ममत्व भाव भी होता है।[4]

स्थितिभोजन—भीत व खम्भे आदि के आश्रय को छोड़ दोनों पावों को समान करके, अजलिपुट से दोनों हाथों की अंगुलियों को परस्पर-सम्बद्ध करके स्थित (खड़ा) रहता हुआ जो तीन प्रकार से विशुद्ध स्थान (अपने पांवों का स्थान, उच्छिष्ट के गिरने का स्थान और परोसने वाले का स्थान) में भोजन ग्रहण किया जाता है, उसे स्थिति-भोजन कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि साधु किसी भीत आदि का सहारा न लेकर दोनों हाथों की अंजलि को ही पात्र बनाकर उससे इस प्रकार आहार ग्रहण करता है कि उच्छिष्ट आहार नाभि के नीचे न जा सके। भोजन करते समय दोनों पांव चार अंगुल के अन्तर से सम रहने चाहिए, अन्यथा अन्तराय होता है। अन्य मूल-गुणों के समान इन्द्रिय-संयम व प्राण-संयम दोनों का परिपालन होता है।[5]

एकभक्त—सूर्य के उदय और अस्तगमन काल से तीन मुहूर्तों को छोड़कर, अर्थात् सूर्योदय से तीन मुहूर्त बाद और सूर्यास्त होने से तीन मुहूर्त पहले, मध्य के काल में एक, दो अथवा तीन मुहूर्तों में जो एक बार या एक स्थान में भोजन ग्रहण किया जाता है, उसका नाम क्रमशः एकभक्त और एकस्थान है। इनमें एकभक्त यह मूलगुणों के अन्तर्गत है, जबकि 'एकस्थान' उत्तरगुणों के अन्तर्गत है, इस एक-भक्त मूलगुण के परिपालन में इन्द्रिय-जय के साथ इच्छा के निरोधस्वरूप तप भी होता है।[6]

इन २८ मूलगुणों के अतिरिक्त अन्य भी कुछ दैनिक अनुष्ठान हैं, जिसका साधु को पालन करना चाहिए। उनका औधिक और पदविभागिक समाचार के रूप में विधान किया गया है।[7]

चारित्र के भेद

चारित्र अथवा संयम के ये पांच भेद निर्दिष्ट किये गये है—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात।[8]

---

१. मूला० १/३०
२. " १/३१
३. " १/३२
४. मूलाचार १/३३
५. " १/३४
६. " १/३५
७. इसके लिए 'महावीर जयन्ती-स्मारिका' जयपुर १९८२ में प्रकाशित 'श्रामण्य : साधुसमाचार' शीर्षक लेख द्रष्टव्य है।
८. ष० षट्खण्डागम सू० १/१/१२३ और तत्त्वार्थसूत्र ९/१८

१. **सामायिक**—'मैं सर्व सावद्ययोग से विरत हूं' इस भाव के साथ जो समस्त सावद्य योग का परित्याग किया जाता है, उसे सामायिक संयम कहते हैं। यह द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से कहा गया है। इस नय की अपेक्षा अन्य सब संयमभेद इस एक ही सामायिक संयम के अन्तर्गत हैं। कारण यह कि इस सामायिक संयम में हिंसा-असत्यादि की विवक्षा न करके सभी प्रकार के सावद्य (सपाप) योग का परित्याग किया जाता है।[1]

अजित आदि या पार्श्वनाथ-पर्यन्त २२ तीर्थंकर एक सामायिक संयम का ही उपदेश करते हैं। पर भगवान् ऋषभ और महावीर—ये दो तीर्थंकर छेदोपस्थापन का उपदेश करते हैं। पांच महाव्रतों का जो विभाग किया गया है वह दूसरों को समझाने, पृथक्-पृथक् परिपालन और सुखपूर्वक विशेष ज्ञान कराने के लिए किया गया है। भगवान् आदि जिनेन्द्र के तीर्थ में शिष्य सरल स्वभाव वाले रहे हैं, इन व्रतों का वे कष्टपूर्वक शोधन करते थे, तथा भगवान् महावीर जिनके तीर्थ में शिष्य वक्रस्वभाव वाले रहे हैं, इससे वे उनका पालन कष्टपूर्वक करते थे। पूर्वकाल के व अन्तिम जिन के काल के शिष्य कल्प्य-अकल्प्य (सेव्यासेव्य) को नहीं जानते थे। इसी कारण से आदि जिनेन्द्र और महावीर जिनेन्द्र ने पृथक्-पृथक् बोध कराने के लिए विभाग करते हुए पांच महाव्रतों आदि के रूप में उपदेश दिया है।[2]

२. **छेदोपस्थापना**—विभिन्न देश-कालों में त्रस-स्थावर जीवों के स्वरूप में भेद रहने से उन्हें ठीक न समझ सकने के कारण जो प्रमादवश अनर्थ हुआ है व निरवद्य अनुष्ठान का पालन नहीं किया जा सका है, उससे उपार्जित कर्म का जो भली-भांति प्रतीकार किया जाता है उसका नाम छेदोपस्थापना है। अथवा हिंसा-असत्यादि के भेदपूर्वक उस सावद्य योग से निवृत्त होना, इसे छेदोपस्थापना समझना चाहिए।[3]

धवला में भी लगभग इसी अभिप्राय को प्रकट करते हुए कहा गया है कि उसी एक सामायिक व्रत को जो पांच अथवा बहुत भेदों में विभक्त कर धारण किया जाता है वह छेदोपस्थापना संयम कहलाता है। यह पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से कहा गया है। ये दोनों संयम प्रमत्तसंयत गुण-स्थान से लेकर अनिवृत्तिकरण संयत तक चार गुण-स्थानों में होते हैं।[4]

३. **परिहारविशुद्धि संयम**—प्राणिहिंसा आदि के परिहार से जिस संयम में शुद्धि होती है उसे 'परिहारविशुद्धि संयम' कहा जाता है। यह संयम जिसने तीस वर्ष का होकर वर्ष पृथक्त्व काल तक तीर्थंकर के पादमूल का आराधन किया है, जो प्रत्याख्यान-पूर्व में पारंगत हुआ है, तथा जो जीवों की उत्पत्ति आदि में परिचित और प्रमाद से रहित होता है, ऐसे महाबलशाली अतिशय दुष्कर चर्या का अनुष्ठान करने वाले के होता है, अन्य के वह संभव नहीं है। वह तीनों सन्ध्याकालों को छोड़कर दो गव्यूति गमन किया करता है।[5]

धवला में इसे कुछ विशेष स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिसने तीस वर्ष तक इच्छानुसार भोगों का अनुभव कर, सामान्य व विशेष रूप से संयम को ग्रहण करते हुए, विविध प्रकार के प्रत्याख्यान के प्रतिपादक प्रत्याख्यान-पूर्व का भली-भांति अध्ययन किया है, एवं जो उसमें पारंगत होने से सब प्रकार के संशय से रहित हो चुका है, वह विशेष तप के प्रभाव से परिहार-ऋद्धि से सम्पन्न होता हुआ तीर्थंकर के पादमूल में परिहार-शुद्धि संयम को स्वीकार करता है। इस प्रकार, उस संयम को ग्रहण करके वह बैठने, उठने व गमन करने व भोजन-पानादि रूप व्यापार में प्राणि-परिहार के विषय में समर्थ होता है, इसीलिए उसे परिहार-शुद्धि संयत कहा जाता है।[6] यह प्रमत्तसंयत और और अप्रमत्तसंयत - इन दो गुणस्थानों में होता है।[7]

४. **सूक्ष्मसाम्पराय**—साम्पराय नाम कषाय का है। अतिशय सूक्ष्म कषाय के शेष रह जाने पर जो विशुद्धि होती है, उसे सूक्ष्म साम्पराय संयम कहते हैं।[8] यह एक ही सूक्ष्म साम्परायिक गुणस्थान में होता है।[9]

५. **यथाख्यात**—मोह के पूर्ण रूप से उपशान्त अथवा क्षीण हो जाने पर, जो आत्म-स्वभावरूप अवस्था प्रादुर्भूत होती है, उसका नाम अथाख्यात या यथाख्यात चारित्र है। मोह के क्षय अथवा उपशम के पहले, पूर्ण चारित्र के अनुष्ठाताओं ने उसका निरूपण तो किया है, किन्तु उसे प्राप्त नहीं किया है, इसीलिए उसे 'अथाख्यात' इस नाम से कहा जाता है। अथवा 'यथा' यानी 'जैसा' (आत्मा का स्वभाव) अवस्थित है, उसका उसी प्रकार से निरूपण करने के कारण, उसे 'यथाख्यात' इस नाम से भी कहा जाता है।[10] यह उपशान्तकषाय, क्षीण-

---

१ धवला पु० १, पृ० ३६९
२ मूलाचार, ७/३६-३८
३. तत्त्वार्थवार्तिक ९, १८, ६-७
४. धवला पु० १, पृ० ३७० व ३७४ (सूत्र १२५)
५ तत्त्वार्थवार्तिक ९, १८, ८
६. धवला, पु० १, पृ० ३७०/७१
७ षट्खण्डागम, सू० १/१/१२६ (पु० १)
८ तत्त्वार्थवार्तिक, ९.१८.९, तथा धवला पु० १, पृ० ३७१
९. षट्खण्डागम, सूत्र—१/१/१२७ (पु० १)
१०. तत्त्वार्थवार्तिक, ९/१८/११ व १२, तथा धवला—पु० १, पृ० ३७१

कषाय, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली—इन चार गुणस्थानों में होता है।[1]

मूलाचार में पांच महाव्रतों के स्वरूप का पृथक्-पृथक् निरूपण करके 'महाव्रत' नाम की सार्थकता को प्रकट करते हुए कहा गया है कि ये पांच महाव्रत चूंकि महान् अर्थ—जो मोक्ष है—उसे सिद्ध करते हैं, महान् पुरुषों के द्वारा उनका आचरण किया गया है, तथा स्वयं भी सर्वसावद्य के परित्यागरूप होने से महान् हैं, इसलिए वे महाव्रत कहलाते हैं।[2]

आगे वहां रात्रि-भोजन के परित्याग को महत्त्वपूर्ण बताते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि उन्हीं महाव्रतो के संरक्षण के लिए रात्रि में भोजन के परित्याग, आठ प्रवचन-माताओ और सब-पांचों व्रतों की पृथक्-पृथक् पांच-पांच (कुल २५) भावनाओं का उपदेश दिया गया है।[3]

आठ व तेरह भेद

इसी प्रसंग मे वहां यह भी स्पष्ट किया गया है कि पांच समितियों और तीन गुप्तियो के परिपालन में साधु को परिणामों की निर्मलता के साथ सदा सावधान रहना चाहिए। इस प्रकार यह—पांच समितियो और तीन गुप्तियो रूप—चारित्राचार आठ प्रकार का जानना चाहिए।[4]

इसमे पूर्वोक्त पांच महाव्रतो को सम्मिलित करने पर साधु यह का आचार तेरह प्रकार का हो जाता है।

३. गुप्तियां

पाच समितियों का स्वरूप पीछे मूलगुणो के प्रसंग में कहा जा चुका है। यहां गुप्तियों के स्वरूप को स्पष्ट किया जाता है—

साधु सावद्य कार्य से संयुक्त मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को जो रोकता है, यह गुप्तिसामान्य का लक्षण है। मन को राग-द्वेषादि से हटाना, इसे मन-गुप्ति और असत्य-भाषण आदि से वचन के व्यापार को रोकना अथवा मौन रखना और हिंसादि में प्रवृत्त न होना, यह कायगुप्ति का लक्षण है। इन गुप्तियों से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का सरक्षण होता है, अथवा वे मिथ्यात्व, असंयम व कषायो से आत्मा का संरक्षण करती हैं, इसीलिए 'गुप्ति' यह नाम सार्थक समझना चाहिए। जिस प्रकार खेत (फसल) की रक्षा-वृत्ति खेत के सब ओर निर्मित बाड या बारी करती है, तथा नगर की रक्षा खाई व कोट किया करते हैं, उसी प्रकार ये गुप्तिया साधु का पाप से सरक्षण किया करती हैं। इसीलिए कृत, कारित और अनुमत के साथ मन, वचन व काय योगो की दुष्प्रवृत्ति की ओर से सदा सावधान रहते हुए ध्यान व स्वाध्याय मे प्रवृत्त रहने की साधु को प्रेरणा दी गई है। जिस प्रकार माता पुत्र के पालन मे निरन्तर प्रयत्नशील रहती है, उसी प्रकार पांच समितियां और तीन गुप्तिया— ये आठों, मुनि के ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सदा रक्षा किया करती हैं, इसीलिए इन आठों का 'प्रवचन-माता' के रूप में उल्लेख किया गया है।[5]

कर्माश्रित तीन भेद

चारित्र मूल मे दो प्रकार का है—देशचारित्र और सकलचारित्र।[6] (इनमें से इस लेख मे देश या विकल चारित्र की विवक्षा नही रही है)। सकल चारित्र तीन प्रकार का है—क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक।[7]

क्षायोपशमिक—चार संज्वलन और नौ नोकषायो के देशघाती स्पर्धकों के उदय के रहते हुए जो चारित्र होता है, उसका नाम क्षायोपशमिक चारित्र है। इसका अभिप्राय यह है कि सर्वघाती स्पर्धक अनन्तगुणे हीन होते हुए देशघाती स्पर्धक स्वरूप मे परिणत होकर जो उदय में आते हैं उनकी इस अनन्तगुणी हीनता का नाम क्षय है तथा देशघाती स्पर्धक स्वरूप से अवस्थित रहने का नाम 'उपशम' है। इस प्रकार के क्षय और उपशम के साथ रहने वाले उदय का नाम क्षयोपशम है। इस क्षयोपशम से होने वाले चारित्र को क्षायोपशमिक कहा जाता है।[8]

तदनुसार पूर्वोक्त पांच भेदो मे सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि—इन तीन को क्षायोपशमिक जानना चाहिए।

औपशमिक व क्षायिक—चारित्र मोहनीय—के उपशम व क्षय से जो चारित्र होता है उसे क्रम से औपशमिक व क्षायिक कहा जाता है। पूर्वोक्त पाच भेदों मे सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र सूक्ष्मसाम्परायिक उपशामको के औपशमिक और सूक्ष्मसाम्परायिक क्षपको के क्षायिक होता है। उपशान्त कषाय संयत के औपशमिक (यथाख्यात चारित्र) और क्षीण-कषाय संयत के क्षायिक (यथाख्यात चारित्र) होता है।[9]

---

१. षट्खण्डागम—सूत्र—१/१/१२८ (पु० १)
२. मूलाचार ५/९७
३. मूलाचार, गाथा ५/९८, भावनाओं के लिए देखिए—मूलाचार ५/४०-४६ व तत्त्वार्थसूत्र ७, ३-१२
४. मूलाचार ५/१००
५. मूलाचार, ५, १३४-३६
६. तत्त्वार्थसूत्र ७/२, रत्नकरण्ड० ५०, धवला पु० ६, पृ० २६८
७. धवला पु० ६, पृ० २८१
८. वही, पु० ७, पृ० ९२
९. वही, ७, पृ० ९४-९५

जैन शासन

प० नरेन्द्रकुमार न्यायतीर्थ

जीयात् जैनं शासनमनादिनिधनं सुवन्द्यमनवद्यम् ।
यदपि च कुमतारातीन्, अदयं धूमध्वजोपमं दहति ।।

काम क्रोधादिषड्रिपून् जयति इति जिन. । निजं वेत्ति इति जिनः ।

जो काम-क्रोध-आदि षट् रिपुओं को जीतता है उसे 'जिन' कहते हैं । अथवा जो निज शुद्ध कारण परमात्मा को जानता है, वेदन करता है, अनुभवन करता है, उसे जिन कहते हैं । बिना आत्मज्ञ हुए सर्वज्ञ नही बन सकता । संपूर्ण जगत् (विश्व) आत्म और अनात्म-स्वरूप है । जिसने आत्मा और अनात्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया, वही अनात्मा को त्याग कर आत्मा मे अविचल-स्थिर हो सकता है । आत्मा में स्थिर होने वाला आत्मा ही परमात्मा कहलाता है ।

परमात्मा या सिद्ध बनना नही पडता । स्वत सिद्ध भगवान् आत्मा को जानकर उसमे लीन होना, आत्मा का आत्म-रूप रहना इसी को सिद्ध-परमात्मा कहते हैं । कर्म के अभाव से आत्मा परमात्मा बनता है, यह कहना व्यवहारनय कथन है—उपचार-कथन है ।

मल के अभाव से दर्पण स्वच्छ हुआ, ऐसा कहना लोक-व्यवहार है । वास्तव मे मल के अभाव से दर्पण मे स्वच्छता बाद मे कही बाहर से आती है, ऐसा नही है । स्वच्छता, मल के सद्भाव मे भी दर्पण में ही थी । स्वच्छता दर्पण का स्वभाव है । मल के सद्भाव मे वह अप्रकट था, वही मल के अभाव मे प्रकट हुआ । मल के सद्भाव ने दर्पण की स्वच्छता नष्ट नही की थी तथा मल के अभाव में दर्पण मे स्वच्छता बाद में कही बाहर से लायी, यह बात नही है ।

उसी प्रकार कर्म के अभाव से आत्मा सिद्ध परमात्मा होता है, ऐसा व्यवहारशास्त्र मे व्यवहारनय से कथन किया जाता है । परतु कर्म के अभाव से आत्मा मे परमात्मपना या सिद्धपना बाद मे कही बाहर से आता है—ऐसा नही है । जितना मूल स्वतः सिद्ध बन-बना हुआ आत्मा है उतना ही शेष रहना, जो अनात्मा-रूप उपाधि थी, उसका अभाव होना—इसी को सिद्ध-परमात्मा कहते हैं । उपाधि के सद्भाव मे भी मूल स्वतः सिद्ध बन-बना हुआ जितना आत्मा है उतना ही था । उपाधि के अभाव मे भी उतना ही शेष रहा ।

ससार अवस्था = (आत्मा + उपाधि)
मोक्ष = (ससार) — (उपाधि)
= (आत्मा + उपाधि) — उपाधि
मोक्ष = आत्मा

इस बीजगणित के समीकरण सिद्धान्त से मूल स्वतःसिद्ध आत्मा ही सिद्ध परमात्मा व्यवहार में कहा जाता है ।

ससार मे जो १४ गुणस्थान रूप, १४ मार्गणारूप, १४ जीव समास रूप उपाधि है वह सब अचेतन-अनात्मा है । इन उपाधियो से अत्यन्त भिन्न-पृथक्-विभक्त मेरा स्वत सिद्ध, शुद्ध-बुद्ध, त्रिकाल-ध्रुव ऐसा जो कारणपरमात्मा है, वही मैं हूं, वही मुझे उपादेय, आश्रय करने योग्य है, वही मगल है, वही लोकोत्तम है, वही शरण्य है । शेष सब अनात्मा है, हेय है, आश्रय करने योग्य नही है, शरण्य नहीं है । इस प्रकार स्व-पर का भेद-विज्ञान होने पर, शुद्ध उपयोग द्वारा अपने शुद्ध आत्मा का ही चेतन-वेदन-अनुभवन करना— यही आत्मा का अन्तिम ध्येय है । यही शाश्वत सुख का एकमेव मार्ग है, उपाय है ।

यही मार्ग जिन्होने स्वयं अपनाया, और अपने स्वानुभवपूर्ण शाश्वत सुख के मार्ग का (practical) प्रत्यक्ष कृति-वृत्ति-आचरण द्वारा ध्यानस्थ होकर मूकवृत्ति से जगत् के सब प्राणिमात्र को बतलाया—मार्गदर्शन किया, उन्हीं को जैन शासन में 'जिन' कहा गया है । वीतराग सर्वज्ञ जिन भगवान् द्वारा बतलाया हुआ जो शासन, तत्त्व का यथार्थ उपदेश है, उसी को 'जैन शासन' कहते हैं ।

इसमें सब प्राणि-मात्र को अपनी आत्मा का यथार्थ स्वरूप बतलाकर अपनी आत्मा मे स्थिर होने का, संसार-पारतन्त्र्य से मुक्त होकर—स्वाधीन—स्वतंत्र-शाश्वत सुखमय जीवन बिताने का मार्ग-दर्शन किया है। इसलिए यह जैन शासन किसी एक पथ का या किसी धर्म-विशेष का, किसी जाति-विशेष का न होकर समस्त प्राणि-मात्र के हित का, कल्याण का मार्ग बतलाने वाला सार्वधर्म-शासन, आत्मधर्म शासन कहलाता है।

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥ (आ० हरिभद्र कृत लोकतत्त्वनिर्णय, १/३८)

जैन शासन के प्रणेता भगवान् महावीर हैं, ऐसा जैन शासन का पक्षपात नही है। अन्य मत के प्रणेता कपिल, सौगत आदि हैं, उनके प्रति द्वेष-भाव भी नही है। नाम से कोई भी व्यक्ति हो, परन्तु जो सर्वज्ञ और वीतराग है, जिसका वचन युक्ति—आगम द्वारा बाधित नही है, प्रत्यक्ष प्रतीति द्वारा बाधित नही है, उसी का वचन कल्याणकारी मान कर स्वीकार करना चाहिए।

अन्य दर्शन के नेताओ ने अपने भक्तों को हमेशा अपने भक्त बने रहने का ही उपदेश दिया है—मेरी भक्ति करने वालों को मैं सुखी बना सकता हू। तथा मेरी भक्ति न करने वालो को मैं यथोचित दण्ड दे सकता हूं—इस प्रकार अपने भक्तो को सदैव पराधीन रहने का ही उपदेश दिया है।

परन्तु जैन शासन सब प्राणि-मात्र को पराधीन—ईश्वराधीन न रहकर स्वाधीन—स्वतन्त्र होने का उपदेश देता है। यही जैन शासन का एक अद्वितीय वैशिष्ट्य है। जैन शासन और अन्य शासन मे यही एक विशेषता है।

प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। पराधीन-परतन्त्र नही है। प्रत्येक जीव को अपना स्वतन्त्र अस्तित्व जीवन जीने का अधिकार है। प्रत्येक द्रव्य अपना परिणमन अपनी सामर्थ्य से करने मे स्वतन्त्र है। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय-सृष्टि की रचना करने मे तथा सहार करने मे सर्वथा स्वतन्त्र है, प्रभु है, समर्थ है, ईश्वर है। परतन्त्र, पराधीन, अन्य ईश्वराधीन नही है। इस प्रकार स्वाधीनता—स्वतन्त्रता—का वस्तुसिद्धान्त जैन शासन बतलाता है।

दूसरे द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व अपहरण कर अन्य वस्तु पर, चेतन-अचेतन वस्तु पर, अपना प्रभुत्व-स्वामित्व बलात् स्थापित करना, इसी का नाम 'हिंसा' है। लोक-व्यवहार मे प्राणियो के घात को हिंसा कहते है। परन्तु जैन शासन में रागद्वेष-मोहभाव को अपने ज्ञाता, द्रष्टा स्वभाव का घातक होने से हिंसा कहा गया है। अन्य वस्तु पर अपना स्वामित्व-प्रभुत्व स्थापन करना, अन्य वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व अपहरण करना, इसी को हिंसा कहा है। अहिंसा जैन शासन का प्राण है। अहिंसा का सर्वांग परिपालन होने के लिए सब अन्य वस्तुओ पर का ममत्व-भाव—स्वामित्व-बुद्धि—छोड़कर, सब बाह्य-आभ्यंतर परिग्रह का त्याग कर, नग्न दिगम्बर-अवस्था धारण करना जैन शासन का मुख्य सिद्धान्त माना गया है।

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ॥
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयम्
भवानेवात्याक्षीत् न च विकृतवेषोपधिरत॥ (बृ० स्वयम्भूस्तोत्र, २१/४)

अहिंसा—यह जगत् के सब प्राणियो का जगत्प्रसिद्ध परम ब्रह्म है। जहा अणुमात्र भी आरम्भ-परिग्रह है, अन्य वस्तु पर ममत्व-स्वामित्व-बुद्धि है, वहां पर अहिंसा का यथार्थ परिपालन नही बन सकता। इसलिए अहिंसा धर्म का सर्वांगपूर्ण पालन होने के लिए जैन शासन के नेताओ ने सब बाह्य-आभ्यंतर परिग्रह का त्याग कर नग्न दिगबर अवस्था धारण कर सम्यक् चारित्र कोजैन शासन का साक्षात् स्वरूप बतलाया है।

जैन शासन में जैन शासन के नेता सर्वज्ञ भगवान् 'जिन' देव की मूर्ति आत्मध्यानस्थ, नग्न दिगबर, वीतराग, परमशांत मुद्रा धारण करने वाली मानी गई है, तथा जैन शासन के उपदेशक गुरु-साधु-मुनि भी महाव्रतधारी, सयमी, नग्न दिगबर ही पूज्य माने गये हैं। अहिंसा, अपरिग्रहवाद और अनेकान्तवाद—ये जैन शासन के प्रमुख सिद्धान्त माने गये हैं।

आत्मा स्वभाव से ज्ञाता-द्रष्टा है। अपने स्वभाव मे अपना उपयोग स्थिर करना, इसीका नाम अहिंसा है। अपने स्वभाव को छोडकर शरीर आदि अन्य परद्रव्य, और राग-द्वेष-मोह रूप परभाव, इनकी तरफ उपयोग लगाना, इसीका नाम हिंसा है। परद्रव्य मे एकत्व बुद्धि, ममत्व-बुद्धि—इसी को मिथ्यात्व कहते है। मिथ्यात्व ही महापाप है, आत्मा के स्वभाव का घातक है। परपदार्थ में ज्ञाता-द्रष्टाभाव न रखकर इष्ट-अनिष्ट बुद्धि रखना, पचेंद्रियो के विषय में प्रवृत्ति करना, काम-क्रोध-मान-माया-लोभ इनमे प्रवृत्ति करना, राग-द्वेष-मोह रूप पर-भाव में प्रवृत्ति करना, इसीका नाम हिंसा है। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, अपरिग्रह (पर वस्तु मे परत्व-मूर्च्छा परिणाम) इस प्रकार पंच-पापो मे प्रवृत्ति करना, यह सब आत्म-स्वभाव के घातक होने से हिंसा रूप कहे गए है। यह आत्मा का अधर्म है। अधर्म का त्याग कर

अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव में रहना, इसी का नाम अहिंसा परम धर्म है।

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानात् अन्यत् करोति किम् ।
परभावस्य कर्ताऽऽत्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ।। (समयसार कलश, १७-६२)

आत्मा का लक्ष्य ज्ञान-दर्शन स्वभाव है। आत्मा स्वयं ज्ञान-स्वरूप है। ज्ञान-दर्शन के बिना आत्मा अन्य कुछ भी क्रिया नहीं कर सकता। मैं पर का कुछ भला-बुरा कर सकता हूं—यह विपरीत मान्यता ही व्यवहारी-अज्ञानी लोगों का मोहरूप अज्ञानभाव है। ज्ञानी सहज वैरागी है। जहां समीचीन ज्ञान है वहां पंचेंद्रियों के विषय से सहज विरागता अवश्य होती है। जिसमें सहज विराग है वही ज्ञानी समयग्ज्ञानी कहलाता है। जहां ज्ञान होकर सहज विराग नहीं है, उस ज्ञान को ज्ञान न कहकर अज्ञान ही कहा है। समयसारकलश-३/११५ में वास्तविक 'ज्ञानी' को ज्ञानमय मात्र भाव वाला होने से निरास्रव ही बताया है।

जहां शास्त्रों का बहुत ज्ञान है, परन्तु जहां ज्ञान की ज्ञान में वृत्ति नहीं, स्थिरता नहीं, ज्ञान का निर्णय नहीं, ज्ञान की रुचि नहीं, ज्ञान की पंचेंद्रियों के विषय में वृत्ति है, पंचेंद्रिय-विषय से निवृत्ति-विरक्ति नहीं है, वह ज्ञान ज्ञान ही नहीं है। ज्ञान को 'परिच्छेद' कहा है। जहां आत्मा-अनात्मा का परिच्छेद—भेद-विज्ञान—नहीं है, ज्ञान होकर भी जहां विषयों में प्रवृत्ति पायी जाती है, वह ज्ञान ज्ञान ही नहीं है। इस प्रकार निरास्रव ज्ञान को ही सच्चा ज्ञान कहा है।

जिस प्रकार **ज्ञानपूर्वक वैराग्य** ही आत्मसिद्धि के लिए कार्यकारी होता है, उसी प्रकार **वैराग्य-पूरक ज्ञान** ही आत्मसिद्धि के लिए कारण होता है। 'ज्ञानमेव प्रत्याख्यानम्' ज्ञान का फल प्रत्याख्यान—विरागता कहा है। ज्ञान और विरागता—इनमें परस्पर अविनाभाव संबंध होता है। जहां ज्ञान है वहां विरागता अवश्य होती है। जहां विरागता है वहां ज्ञान अवश्य होता है। विरागता ज्ञानपूर्वक ही होनी चाहिए। वही सच्ची विरागता है। इसी प्रकार ज्ञान विरागतापूरक ही होना चाहिए।

जहां ज्ञान-चेतना है, ज्ञान की रुचि है वहां कर्मचेतना या कर्मफल-चेतना की रुचि नहीं रहती है। कर्मचेतना—कर्मफल-चेतना की रुचि अज्ञानमूलक होती है। ज्ञान और अज्ञान की रुचि एक साथ कदापि नहीं रह सकती। इसलिए अध्यात्मशास्त्र में अज्ञानी को ही रागी कहा है और ज्ञानी को विरागी कहा है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी सराग होकर भी उसके निर्मोही होने से, राग की रुचि न होने से, विरागी कहा है। जो विरागी होकर भी मोही है, राग की रुचि रखता है, कर्म-कर्मफल-चेतना को इष्ट-उपादेय मानता है, पुण्य और पुण्यफल को धर्म मानता है, उसको यथार्थ तत्त्वज्ञान न होने से अज्ञानी कहा है। करणानुयोग से भी उसका गुणस्थान मिथ्यात्व ही कहा है। ज्ञानचेतना यही आत्मा का शुद्ध उपयोगरूप परिणाम है। कर्मचेतना और कर्मफल-चेतना—यह आत्मा का अशुद्ध उपयोगरूप विभावपरिणाम है। मन-वचन-काय के अवलम्बन से आत्मप्रदेश की हलन-चलन रूप शुभ-अशुभ क्रिया करने के प्रति, तथा क्रिया का फल सुख-दुःख व उसका वेदन-अनुभवन करने के प्रति जो उपयोग की प्रवृत्ति है, उसको अशुद्ध चेतना कहते हैं। शुद्ध ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग की प्रवृत्ति को शुद्ध-चेतना या ज्ञान-चेतना कहते हैं।

ज्ञान-चेतना रूप शुद्ध चेतना करना, यह आत्मा का स्वभाव-परिणमन है। शुभ-अशुभ क्रियारूप - कर्म-कर्मफल-चेतनारूप अशुद्ध चेतना करना यह आत्मा का विभाव-परिणमन है। ज्ञान-चेतनारूप स्वभावपरिणमन करना, इसी का नाम अहिंसा है। कर्म-कर्मफल-चेतनारूप अशुद्ध चेतनारूप विभाव-परिणमन करना ज्ञानचेतना का घातक होने से हिंसा है।

(१) ज्ञानचेतना की रुचि—इसीका नाम वीतराग सम्यग्दर्शन है।

(२) ज्ञानचेतना की प्रतीति—इसी का नाम वीतराग सम्यग्ज्ञान है।

(३) ज्ञानचेतना रूप-परिणति, ज्ञानचेतना की अनुभूति—इसीका नाम वीतराग सम्यक्-चारित्र है। इसीका नाम अभेद ज्ञानमय या वीतराग रत्नत्रय है।

(१) कर्म-कर्मफल-चेतना की रुचि—इसीका नाम मिथ्या-दर्शन है।

(२) कर्म-कर्मफल चेतना की रुचिपूर्वक प्रतीति—इसीका नाम मिथ्याज्ञान है।

(३) कर्म-कर्मफल चेतना रूप रुचिपूर्वक परिणति, अनुभूति—इसीका नाम मिथ्याचारित्र है।

परन्तु जहां—(१) ज्ञानचेतना की रुचिरूप वीतराग सम्यग्दर्शन तो विद्यमान है, परन्तु यदि कदाचित् ज्ञानचेतना रूप वीतराग परिणति करने में असमर्थता है, वहां भाव योग उपयोग ज्ञानधारा और द्रव्ययोग उपयोग रूप कर्मधारा-ऐसी मिश्र परिणति रहती है। उसीको सरागसम्यक्त्व और सरागचारित्र कहा जाता है। इस सरागसम्यक्त्व और सरागचारित्र अवस्था में व्रत-समिति पालनरूप कर्म-कर्मफल चेतनारूप-अशुद्ध चेतनारूप-परिणति रहती है, तथापि उसमें सम्यग्दृष्टि ज्ञानी की हेयबुद्धि रहती है, रुचिपूर्वक उपादेय बुद्धि या स्वामित्व-बुद्धि—कर्तृत्व बुद्धि—नहीं रहती है। इसलिए वह अशुद्धचेतना रूप परिणति होकर भी उसके साथ ज्ञानचेतना की रुचिपूर्वक

भावना रहती है, इसलिए वहां द्रव्ययोगरूप मे सरागरूप शुभोपयोग और भावयोगरूप से वीतराग रूप शुद्धोपयोग—इस प्रकार मिश्ररूप परिणाम होता है। जितने अंश मे सरागरूप शुभोपयोग है, उतने अश में आस्रव-बंध होता है और जितने अश मे वीतराग रूप शुद्धोपयोग है, उतने अश में सवरपूर्वक निर्जरा होती है। इसलिए वह अशुद्ध चेतना ज्ञानस्वभाव की तावत्काल-बाधक होने पर भी उसके साथ वीतरागरूप ज्ञानचेतना की भावना रहने से, आगे वह नियम से अशुद्ध चेतना से निवृत्त होकर ज्ञानचेतना रूप परिणति करने से, परम्परा से मोक्षमार्ग की साधक कही गई है।

मिथ्यादृष्टि अज्ञानी को अशुद्धचेतना के प्रति रुचि-राग होने से रागी कहकर बन्धक कहा गया है।

सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी को तावत्काल अशुद्धचेतनारूप द्रव्ययोगरूप परिणति होने से तावत्काल अल्पस्थिति-अनुभागरूप आस्रव-बंध होकर भी ज्ञानचेतना की भावयोग रूप रुचि-भावना निरन्तर होने से, तथा उसके कारण सवर-निर्जरा होने से, उसको अबधक कहकर मोक्ष-मार्ग का परम्परा-साधक ही कहा है। इसलिए ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जबतक जघन्य अवस्था मे, सराग अवस्था मे है, तब तक वह यथापदवी व्रत-संयमरूप आवश्यक कर्म कर्त्तव्यरूप समझकर उसका निर्दोष-निरतिचार पालन करता है। प्रमादी-स्वच्छन्दी होकर निरर्गल-असंयमरूप प्रवृत्ति का कदापि आदर नही करता है। वही ज्ञानी अशुद्धचेतना रूप शुभोपयोगरूप प्रवृत्ति मे भी अन्त में निवृत्त होकर अपनी ज्ञानचेतनारूप शुद्धो-पयोगरूप परिणति मे अविचल स्थिर होता है। इसलिए वीतराग शुद्धोपयोगरूप ज्ञानचेतनारूप परिणति को ही मोक्षमार्ग मे सर्वथा उपादेय, इष्ट माना गया है। ज्ञानी उसीकी निरन्तर भावना-आराधना करता है।

इस प्रकार जैन शासन का मुख्य अग अहिंसा और अपरिग्रहवाद माना गया है।

उसी प्रकार स्याद्वाद तथा अनेकान्तवाद भी जैन शासन का महत्त्वपूर्ण अग है। प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक—परस्पर-विरोधी उभयधर्मात्मक—सामान्य-विशेष धर्मात्मक—द्रव्य-गुण-पर्याय धर्मात्मक है। इसलिए वस्तु-निरीक्षण तथा वस्तु का परीक्षण, इस दृष्टि से वस्तु का यथार्थ ज्ञान, यथार्थ निर्णय कराने वाले हेयोपादेय विज्ञान के रूप मे जैनशासन का अनेकान्तवाद बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

वस्तु का सामान्य धर्म-द्रव्यधर्म-गुणधर्म यह सदा ध्रुव, सत्, नित्य, एकरूप और अभेद-अद्वैत रूप रहता है, तथा विशेष धर्म-पर्याय धर्म असत्—(उत्पाद-व्ययरूप), अनित्य, अनेकरूप, भेदरूप, द्वैतरूप होते है। वस्तु के पर्याय धर्म का आश्रय कर्मबंध का—ससार-दुःख का कारण है, यह जानकर पर्यायदृष्टि—बहिरात्मदृष्टि—मिथ्यादृष्टि का सर्वथा त्याग करना चाहिए, और वस्तु का सामान्यधर्म—द्रव्यधर्म-गुणधर्म, जो सदा ध्रुवरूप है, का आश्रय सवर-निर्जरा-मोक्ष का कारण है, अतः उसीको सर्वथा उपादेय मानकर उसीका चिन्तन-मनन-ध्यान करते हुए उसीमे अविचल स्थिर होना—यही मोक्ष का साक्षात् मार्ग है। शाश्वत सुख-शान्ति का यही उपाय है। न्यायशास्त्र के अनेकान्त मे एक ही वस्तु मे परस्पर-विरोधी सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, तत्-अतत् धर्मों का अस्तित्व अविरोध रूप से अविनाभाव रूप से सिद्ध करना—इतना ही प्रयोजन रहता है।

परन्तु अध्यात्मशास्त्र के अनेकान्त मे—वस्तु का परीक्षण यह मुख्य उद्देश्य होता है। वहा वस्तु का द्रव्यधर्म-गुणधर्म ही एकान्त से (सर्वथा) उपादेय आश्रय करने योग्य है, और वस्तु का पर्यायधर्म एकान्त से (सर्वथा) उपादेय—आश्रय करने योग्य नही है, हेय है। इस प्रकार जो दो सम्यक्-एकान्तो का समुदाय है, उसको अध्यात्म-दृष्टि से अनेकान्त कहा है।

अपने शुद्ध आत्मस्वभाव की रुचि, प्रतीति—अनुभूति-वृत्ति रूप निश्चय-रत्नत्रय ही सवर-निर्जरा का कारण होने से निश्चय मोक्षमार्ग कहा गया है।

जब तक निश्चय मोक्षमार्ग की सिद्धि नही होती, तब तक जघन्य अवस्था मे आत्मस्वभाव के साधक तथा सिद्ध पचपरमेष्ठी की भक्ति, व्रत-सयमरूप आचरणरूप शुभोपयोग प्रवृत्ति को व्यवहार धर्म या व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है। वह वास्तव मे मोक्षमार्ग नही है। क्योंकि वह संवर-निर्जरा का कारण न होकर आस्रव-बध का ही कारण है। तथापि व्यवहार मार्ग मे हेयबुद्धि और निश्चय मोक्षमार्ग मे उपादेय बुद्धि, आत्मस्वभाव की रुचि-भावना—इसे भी उस व्यवहारधर्म के साथ होने से परम्परा से मोक्षमार्ग कहा गया है। इस प्रकार जैन शासन का अनेकान्त शासन सदा जयवन्त रहे।

जैनशासन को ही श्रमण सस्कृति कहते है और उसे जगद्-बन्धु कहा गया है।

> जिनधर्मं जगद्बन्धुं अनुबद्धुमपत्यवत्।
> यतीन् जनयितुं यस्येत् तथोत्कर्षयितुं गुणैः॥ (सागार धर्मामृत, २/७)

जैन शासन जगत् के प्राणिमात्र को आत्मकल्याण का मार्ग बतलाने वाला परमकल्याणकारी मित्र है। उसकी परिपाटी चलते रहने के लिए वीतराग विज्ञान का साक्षात् आदर्शस्वरूप श्रमणधर्म, मुनिधर्म निर्माण कर उनमे वीतराग विज्ञान की, रत्नत्रयधर्म की वृद्धि करने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए। वीतराग विज्ञानस्वरूप श्रमणधर्म-मुनिधर्म ही जैन शासन का मूर्तिमन्त साक्षात् आचरित स्वरूप है।

विजयतां जैन शासनम्।

जैन साधना-पद्धति अर्थात् श्रावक की ११ प्रतिमाएं

ब्र० विदयुल्लता शाह

अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक (गृहस्थ) को आत्मा का साक्षात् निर्विकल्प अनुभव तो कणिका मात्र, रात की बिजली-की चमक-जैसा, हो गया। लेकिन लीन होने का पुरुषार्थ मन्द है, अनुभव मे स्थिर नही है, उससे क्षण-क्षण विचलित हो रहा है—अव्रती है—ऐसी दशा में साधक जीव की ससार—देह—भोगो के प्रति सहज ही आसक्ति कम होने लगती है—उनके प्रति उदासीनता और आत्मरमण के प्रति उल्लास—ऐसा संघर्ष साधना-पथ में अवश्य होता है।

अशुभ भावो से बचने के लिए सहज ही शुभभावरूप व्रतादिको मे प्रवृत्ति होती है—शुभ-मगलप्रद साधनापथ का ही नाम 'प्रतिमा' शास्त्रों मे मिलता है। अन्तरग भावों के अनुसार बाह्य आचरण सामान्यत हो ही जाता है। कहा है— "सयम अंश जग्यो जहा भोग अरुचि परिणाम, उदय प्रतिज्ञा को भयो, प्रतिमा ताको नाम।" साधक की अतरग व बाह्य दशा जिस-जिस प्रतिमा मे जितनी बढ़ती जाती है, उसी को आचार्यों ने ११ दर्जों मे (प्रतिमाओ मे) समझाया है। अतरग शुद्धि तो ज्ञान-धारा है, और उसके साथ रहने वाले भाव (शुभाशुभ) कर्म-धारा है। स्व-स्वरूप की स्थिरता की वृद्धि का पुरुषार्थ यहां होता है, साथ ही वीतरागता की वृद्धि भी होती है।

रागांशानुकूल बाह्य क्रियाएं जो होती है उन्हे व्यवहार चारित्र कहा जाता है।

ग्यारह प्रतिमाओं का परिचय—

१. दर्शन-प्रतिमा—दर्शन याने आत्म-दर्शन, आत्म-साक्षात्कार, सवित्ति, प्रतीति, अनुभवन। अपने वीतराग स्वभाव का अनुभव, इसे ही जैन शासन मे प्रमाण माना है। हरएक द्रव्य को केवल अपना, स्वद्रव्य का ही, अनुभवन हो सकता है। मैं मेरी ही आत्मा का अनुभवन कर सकूंगी—पराई आत्मा का नही। स्कन्ध मे भी एक जड परमाणु अपना ही अनुभव करेगा, अत्यन्त नजदीक के स्वतन्त्र पर-परमाणु का नहीं। आकाश व काल का नही। प्रत्येक स्वतन्त्र अस्तित्व वाला पदार्थ केवल खुद का ही अनुभव कर सकता है, यह अकाट्य नियम है।

इसलिए जब अत्यन्त सौभाग्य की घडी आती है, जब अनन्त ससार का किनारा निकट आता है, तब अपने स्वरूप का, स्वभाव का, शुद्ध आत्मस्वभाव का जो वीतरागभाव है, उसका अनुभव आता है। उस समय अनिर्वचनीय जैसी विलक्षण शान्ति और विलक्षण सुख का अनुभव होता है। ऐसा अपूर्व अनुभवन इस जीव ने पहले कभी किया नही होता। उस अदभुत अनुभव का वह स्वाद भुलाने पर भी भूल नही पाता। उस तरह का स्वाद नित्य बना रहे, यही तमन्ना जागती रहती है। स्वरस के आनन्द से, सन्तोष से, मेरा अपना द्रव्य केवल आनन्द और शान्ति अनुभव कराने वाला है, वह परिपूर्ण है, उस अनुभव मे न जड का रस है, न जड की गन्ध है, न जड का रूप है, न जड का वर्ण है, न किसी भी इच्छा की जलन है! इस आत्मानुभव मे किसी भी पर-जड चीज का अनुभवन नही है--यहा तक कि इस शरीर का भी नही!

अब उसे यही वीतराग दशा हमेशा बनी रहे, बस! यही धुन दिन-रात 24 घटे सवार रहती है। ऐसा जगत का सच्चा रहस्य वस्तुव्यवस्था का रहस्य जिसे खुल गया हो, उसे ही आत्मदर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता है।

इस आत्म-दर्शन की शक्ति ही अद्भुत है। जब से वीतरागता का अनुभव होता है तब से उस जीव के अत्यन्त भद्र परिणाम होते है। निगोद से लेकर सिद्ध तक सभी जीवों का स्वभाव वीतरागी है। कोई जीव छोटा-बडा नही। अपने वीतराग खजाने से हरएक भरपूर है। जिन्होने उस खजाने को पूर्ण रूप से उपलब्ध किया है, वे ही अरिहत और सिद्ध है। आत्मानुभूति से प्राप्त मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ—इस आत्मानुभूति से, उस वीतराग दशा की स्थिरता से ही, वह गडा खजाना मिल सकता है, प्राप्त हो सकता है, अन्य मार्ग से नही। अपने प्रभु विभु भगवान स्वभाव पर अचल, अकप, अडिग, निष्कप श्रद्धा होने को ही आस्तिक्य गुण कहते हैं।

अनादि काल से इस अतस्तत्त्व के न मालूम होने से यह जीव अपने शरीर पर अत्यन्त मोहित था और शरीर की होने वाली पीडा से दुःखी होता था। निजतत्त्व को न समझने वाले प्राणी भी अपने शरीर को होने वाली पीडा से दुःखी होते हैं। इसलिए मेरी तरफ से उन्हें

कुछ भी पीड़ा न हो, यही भाव जागृत होते हैं। दुःखी प्राणि-मात्र को देखकर अन्दर अनुकम्पा—दयाभाव उत्पन्न हो जाता है।

आज तक इस जीव ने अज्ञान की वजह से जो राग-द्वेष किये, वे ही कर्मबन्ध के असली कारण हैं। उस द्रव्य कर्म से शरीर मिलता है और स्वतंत्र आत्मा इस शरीर में बद्ध होता है, और अपनी अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त सुख की स्वाधीनता से वंचित होता है। बद्ध को वह आजादी कहा, जो स्वतन्त्र को होती है; वह शक्ति कहां, जो स्वतंत्र व्यक्ति को होती है। अपनी इस गुलामी को मिटाने का एक मार्ग है—कि भाव कर्मों से छुटकारा पाना। इसलिए उसके परिणाम इतने भद्र होते हैं कि दया, दान, सहकार, परोपकार, सदाचार ही वर्तता है। इन भावो से भी बन्ध होता है और भव-मुक्ति नही होती—यह जानकर ऐसे शुभभाव भी न हों, इस समय में पूर्ण वीतराग बने तो अच्छा, यही एक तीव्र तमन्ना होती है। लेकिन वीतरागता मे चौबीस घंटे नही रहा जाता,तब अशुभ से शुभ तो लाख गुना ठीक मानकर शुभ भाव करता है। जब शुभ भी गुलामी हो तो अशुभ तो खुद अशुभ है। उससे तो संसार-दशा मे भी तीव्र दुःख ही मिलता है—यह जानकर संसार से भयभीत होता है, उसे संवेग कहते हैं। इस ससार में परद्रव्य का एक कण भी अपना नही होता। परद्रव्य की अपने पूर्ण आत्मद्रव्य को जरूरत भी नही, ऐसी स्वयपूर्णता की पक्की श्रद्धा हो चुकी होती है। इसलिए खाना-पीना, शरीर का व्यापार, मन का, वचन का व्यापार इससे भी छुटकारा लेने को चाहने वाला— केवल आत्मस्थिरता बनी रहे, इस विचार से सभी पर-द्रव्यो से, स्त्री, पुत्र से भी मुख मोड लिया जाये, ऐसा तीव्र इच्छुक होता है। इसे ही निर्वेद या वैराग्य कहा जाता है। जहा सच्चा ज्ञान है वहा अविनाभाव से वैराग्य भावना रहती ही है, यही विशुद्धि सहज ही अदकनी होती है। यहां कृत्रिमता की गंध भी नही, यह आत्मोन्नति की सच्ची सीढ़ी है। आत्मा की उन्नति इन अत्यन्त भद्र, कोमल, सात्विक परिणामो मे है। यह असली इन्सानियत है। इन्सान इन्सानियत से ही इन्सान कहलाने का पात्र है, अन्यथा वह पशु से भी गिरा हैं। क्योकि सज्ञी पशु को भी आत्मदर्शन होता है और उसके भी इतने भद्र, विशुद्ध, सात्विक, उदात्त परिणाम होते हैं।

यह नैसर्गिक मनोदशा का दर्शन है। चीन मे ब्रेन वॉशिग का नया तरीका ढूंढा गया। एक आदमी मुश्किल से खडा रह सके (बैठ न सके) ऐसे एक केबिन में अत्यन्त ठण्डे पानी का भरा घडा आदमी के ऊपर लटकाया जाता है। उस घडे से एक-एक बूंद जिसका 'ब्रेन वॉशिग' करना है उसके मस्तिष्क पर निरन्तर गिरता रहे, इसका पूरा इन्तजाम किया जाता है। चौबीस घण्टे में नगा आदमी, सम्पूर्ण, नीरव वातावरण। केवल टपटप गिरती बूंद की आवाज के अलावा और कोई आवाज नही। उस नीरव शान्ति मे वह बिन्दु की आवाज वज्र प्रहार जैसी तीव्र मालूम होने लगती है- -आदमी का पूरा ढाचा कांप जाता है। बस ! केवल चौबीस घण्टे मे वह दूसरा ही आदमी बन जाता है। पूर्व की सब मान्यताएं छोड बैठता है। बस अब उसे जिन विचारो का बनाना है उसके (कर्कश) कर्णकटु रेकॉर्ड लगाये जाते हैं। इतना होने पर वह पूरा बदला हुआ आदमी तैयार होता है।

उक्त स्थिति वैसे ही आॅटोमैटिक ब्रेन-वॉशिग है। यह उच्च स्तर पर और सत्य के किनारे के निकट पहुंचाने वाली अत्यन्त कल्याण-कारी ब्रेन-वॉशिग है। आत्मदर्शन-प्राप्त व्यक्ति भी इन आस्तिक्य, प्रशम, अनुकम्पा, सवेग और वैराग्य की भावना से ओतप्रोत हो जाता है। उस ब्रेन-वॉशिग मे पानी की बूद जो काम करती है, वही काम ब्रेन-वॉशिग मे आत्मदर्शन,करता है। सत्य की राह मिला हुआ वैराग्य-सम्पन्न मन वज्र की चोट का काम करता है और यह आत्मदर्शी आदमी केवल वीतरागता का इच्छुक होता है और इस गुलामी रूप ससार से ऊब जाता है, उसे अब सत् का चश्मा लगा है। इस दुनिया मे जो रूपी द्रव्य का चित्र-विचित्र विविधता का खेल है, उसमे जो मूल परमाणु है वही उसे दिखता है। अब बाहर के रूपी द्रव्य का अनूठा सौंदर्य उसे मोहित नही कर सकता। हीरा हो या पत्थर, सोना हो या ककड, उसमे अब कुछ फर्क नही पडता। देव,मनुष्य, तिर्यंच,नारक अवस्था मे जो द्रव्य रूप अविकारी जीव है वही नजर में आने लगता है। उनकी क्षण-भंगुर पर्यायें गौण हो जाती हैं। उसका कुछ मूल्य ही नही रहता बस। सभी जीवो में प्रभुत्व का ही दर्शन होने लगता है। सब क्षुद्र सकुचित विचार नष्ट होते हैं, केवल वीतरागता सवार होती है। यह अत्यन्त उन्नत मनोदशा का स्वरूप है। दुनिया की अब कोई-सी भी ताकत उसे अपनी वीतरागता की रुचि से छीन नही सकती। केवल एक शुद्ध दशा का मूल्य रह जाता है।

उस आत्मदर्शी को अपनी शुद्ध दशा की खबर हुई है। किंचित वीतरागता में इतने सुख की ताकत, तो जो पूर्ण रूप से इस शुद्ध दशा मे रहने के पात्र हुए हैं, जिन्होंने अपना सच्चा रूप प्रकट करने मे सिद्धि हासिल की है, बस उनका ही बहुमान रहता है। अब दुनिया की ऋद्धि, सिद्धि, सम्पदा,वैभव कुछ मूल्य नही पाती। इसलिए दुनिया को जो बाहरी चमक लुभाती है, वह चमक-दमक अब उसे नही लुभाती। देवगति की चमक-दमक से भी अब दृष्टि चकाचौंध नही होती। उन सराग परिग्रहधारी देव-देवताओ का कुछ मूल्य नही रहता।

अब उनका अनुकरण करने को जी नही चाहता। अब उनकी अनुकम्पा करने को जी चाहता है क्योकि अनाकुल निराकुल सम्पूर्ण सुख के दर्शन होने की हरएक जीव की पात्रता होने पर भी सच्चे सुख के बारे मे ये 'जीव' अनभिज्ञ रह गए हैं, जो अनभिज्ञ होते हैं वे ही देवगति के वैभव को इष्ट समझते हैं, जिन देवगति के देवो को अपने परिपूर्ण आनन्दघन, विज्ञानघन स्वरूप की पहचान हुई है वे भी देवगति को तुच्छ ही गिनते हैं और खुद वे ही, केवल पूर्ण दशा जिन्होने प्राप्त की है ऐसे वीतरागी, हितोपदेशी और सर्वज्ञ देव के ही शरण में जाते हैं। आत्मदर्शी जीव किसी भी सरागी परिग्रहधारी देवताओं के सामने अपना सिर नहीं झुकाता। दुनिया की कोई-सी भी ताकत अब उसे

वीतरागता से मुख मुड़ा नहीं सकती।

इस दशा मे श्रद्धान तो पूर्णता का हो गया है। खुद की पूर्ण होने की तमन्ना 'जाग' उठी है। लेकिन जो शरीर अपना नही, उसके प्रति राग घटाकर व्रत नियमो का अभ्यास नही हो पा रहा है। यह दशा उस शराबी-जैसी है जो शराब के दुष्परिणामो को तो जान चुका है, शराब छोडने का इच्छुक भी है, लेकिन कुछ भी क्रियात्मक प्रगति नही कर पा रहा है।

कुछ प्रगति नही हो रही है, इसलिए अपने दिल को कोसता रहता है, उस अनादि ममत्वपूर्ण आदतो पर विजय पाने को ही चाह रहा है। दिल से अपने गलतियो को दूर करने की इच्छा हो तो वे गलतिया निश्चित ही दूर हो जाती है।

इसलिए सम्यग्दर्शन की यह लाजवाब आत्मोन्नति की पार्श्वभूमि है। यह सम्यग्दर्शन आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया मे फौलादी, बुनियादी नीव है। बुनियादी नीव से ही ऊपर प्रासाद का स्थैर्य रहता है। कमजोर नीव पर बना प्रासाद मिट्टी मे मिल जाता है। इस दशा को भी चतुर्थ गुणस्थान कहते हैं।

स्वरूप की लगन का यह अद्भुत सामर्थ्य है कि इस लगन की तीव्रता मे अत्यन्त कठिन मुनिव्रत भी सहज पलता है। इस लगन की मदता मे ११ प्रतिमा अनायास, बिना कष्ट से सहज आनन्द से पल जाती है। जब व्रत की सहजता हो तभी वे आत्मोन्नति के साधक बन सकते हैं। व्रत मे कष्ट-पीडा का अनुभव सही अर्थों मे निरर्थक हो जाता है। केवल क्रियाकाड ठहरता है। आत्मोन्नति से वे व्रत कोसो दूर रह जाते हैं, जिनका मूल्य मात्र देह-दड के अलावा और कुछ नही रह जाता। इसलिए दर्शन-प्रतिमा मोक्षार्थी के जीवन मे अनन्यसाधारण महत्त्व का स्थान वैसा ही पाती है, जितना चेतना का शरीरधारी मे। अन्यथा मात्र कलेवर! निरा मुर्दापन!

२. **व्रत प्रतिमा**—प्रतिमा शब्द भी अर्थपूर्ण है। प्रतिमा यानि प्रतिकृति। शुद्ध आत्मा की प्रतिकृति जहा हम करते हैं उसे हम जिनप्रतिमा कहते है।

जो ससारी आत्मा शुद्ध आत्मा होने जा रहा है, वह अपने शुद्ध आत्मा की प्रतिकृति रूप से ही मानो स्वीकार किया गया है। प्रतिमा शब्द ही साधक को अपूर्व उत्साह, मनोबल प्रदान करने वाला है।

पहली दर्शन प्रतिमा में साधक की शुद्धात्म दशा का श्रद्धान तो पूर्ण हुआ था। अनादि सस्कार से जो इस शरीर पर प्यार था, उसे तो गलत समझने तक प्रगति हुई थी, लेकिन उसकी तरफ उपेक्षात्मक व्यवहार की शुरुआत नही हुई थी। लेकिन अब उस उपेक्षात्मक व्यवहार का प्रारभ हुआ है। यहा आत्म-साक्षात्कारी पुरुष गृहस्थ के जो १२ व्रत हैं उनको धारण करता है। किसी भी छोटे-मोटे सयम के साथ पाचवा गुणस्थान शुरू हो जाता है।

५ अणुव्रत	३ गुणव्रत	४ शिक्षाव्रत
अहिंसाणुव्रत	देशव्रत	सामायिक
सत्याणुव्रत	दिग्व्रत	प्रोषधोपवास
अस्तेयाणुव्रत	अनर्थदड व्रत	अतिथिसविभाग
ब्रह्मचर्याणुव्रत		भोगोपभोगपरिमाण
परिग्रह-परिमाणाणुव्रत	कुल १२ व्रत	

दूसरी प्रतिमा मे ५ अणुव्रत की ही प्रतिमा होती है। लेकिन ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत—इन सातो को शीलव्रत कहा जाता है। ये शीलव्रत अभ्यासरूप से पाले जाते हैं। ये सात शीलव्रत ही आगे की प्रतिमाए बनती हैं। पहले ही बताया जा चुका है कि वीतरागता का मूल्य आकने वाली, आत्मस्थिरता को ही सच्ची अहिसा माना गया है। उपयोग की यत्र-तत्र भ्रमण मे, राग-द्वेष के निर्माण होने से, वीतराग स्वरूप आत्मस्वभाव की दूरी बढती जाती है।

जो इस हिंसा से अपने को बचाना चाहता है, शुभ भाव को भी जब हिंसा समझकर उसे नगण्य करता जाता है, तब पर-जीवो की घातस्वरूप हिंसा का तो सर्वथा निषेध सहज ही हो जाता है।

उसकी तो इच्छा महाव्रत रूप सयम पालने की है, एकेन्द्रियो की हिंसा से भी बचने की है, लेकिन अभी तीन चौकडी रूप प्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव की योग्यता प्राप्त हुई नही है, उसकी खुद की भी उतनी तीव्र विशुद्धता प्रकट हुई नही है, इसलिए महाव्रत तो नही हुआ है, तो भी पूर्ण व्रत की ही तमन्ना है। जो उनकी पूर्णता नही हो रही है, उसे अपनी असमर्थता, दुर्बलता जानकर, पछतावा करते हुए एकेन्द्रियो की भी हिंसा न हो, यही यत्नाचार जारी रखता है।

गृहस्थ होने से उद्यमी, आरभी, विरोधी हिंसा तो नही टाल सकता, लेकिन सकल्पी हिंसा तो वह प्रतिज्ञापूर्वक नही ही करता।

गृहस्थी होने से पूर्ण रूप से अल्पव्रत नही पाल सकता, लेकिन शक्य कोटि के स्तर पर जितना बने, उतना उच्च स्तर पर 'सत्यादि अणुव्रत' होने पर भी महाव्रत जैसा पालता है। यह अचरज की बात नही, यह सम्यग्दर्शन का अद्भुत सामर्थ्य है। यह दिल की सफाई की

ताकत है। इस तरह अपनी पूरी ताकत से अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-परिमाण व्रत पालता है। प्रतिज्ञा तो अणुव्रत की है, लेकिन लगन तो महाव्रत की रहती है।

भले ही स्वस्त्री से पूरा नाता, संबंध तोड नही पाया, तो भी श्रद्धान की अपेक्षा से पूरा नाता टूट गया है। स्वस्त्री से संबंध होता भी है, लेकिन अब उसे रखना नही, उसे भी छोडना ही है—यह भाव रहता है।

परिग्रह-परिमाण की भी यही बात ! आवश्यकता से अधिक परिग्रह अब रखा ही नही जा रहा है।

३ **सामायिक प्रतिमा**—आत्मदर्शी की बढती हुई विशुद्धि अब उसे प्रतिज्ञारूप सामायिक में बद्ध कर देती है। दूसरी प्रतिमा मे भी सामायिक करता था, लेकिन यहा उसका निरतिचार पालन स्वीकार है। त्रिकाल सामायिक की जाहिर प्रतिज्ञा अब समाज की रूढियो से बचाती है। अब त्रिकाल सामायिक के लिए, स्वकल्याण हेतु समय देने के लिए, कुटुम्बियों से, समाज से मुक्ति मिलती है। एटिकेट्स, मैनर्स, कोई आया-गया, उनका विचार करने के झंझट से मुक्ति हो जाती है।

साधक तो समझता ही है, सामायिक ही आत्मस्थिरता के लिए सरलतम मार्ग है। जीवन में कुछ करने जैसा है तो वह सामायिक है ! आत्म-शान्ति का उपाय है वह सामायिक ही ! जीवन की जान, प्राण, शान है वह सामायिक ही ! लेकिन अपनी ही असमर्थता के कारण २४ घंटे सामायिक में नही ठहरा जाता। तब पछतावा करते हुए खाना-पीना गृहस्थी का कर्त्तव्य भी करता है।

४. **प्रोषधोपवास**—अनादि से चला आया शरीर का मोह एक समय मे हरएक का नही छूटता, वैसा भाग्यशाली एकाध ही होता है। अब निर्ममत्व को मूर्त स्वरूप देने के लिए प्रोषधोपवास और अतराय टालकर भोजन करने का अभ्यास करता है। यह जीवन-भर का अभ्यास अंतिम सल्लेखना मे भी साथ देता है। केवल शरीर को कृश करना, यह उद्देश्य नही, यहा प्रथम से ही चित्त की शाति को प्राधान्य देता है। आहार न मिलने पर भी परिणाम शात रह सके—इसका यह अभ्यास है।

आत्म-अनुभव मे न खाने का अनुभव था, न उस खाने की इच्छा है। केवल अपने द्रव्य मात्र का अनुभव होता है। वहां जितना और जिसका अनुभव होता है बस वही अपनी चीज है—ऐसा अनुभव हुआ है।

अनादि काल से ही विपरीत मान्यता से, मोह से ही, इन क्षुधा-तृषा की, इच्छा की, उत्पत्ति हुई है। अब उस बुरी आदत को प्रयत्न से हटाता है। और वे प्रयत्न ही प्रोषधोपवास रूप से जीवन मे आते हैं। सप्तमी और नवमी का एकाशन। अष्टमी का उपवास, अनशन। उसी तरह तेरस और पूर्णिमा या अमावस्या का एकाशन। और चतुर्दशी का उपवास—इसे प्रोषधोपवास कहते है। अपनी ध्येय प्राप्ति की धुन पर सवार हुआ आदमी अपना मार्ग सहज ही साफ करते जाता है।

५. **सचित्त त्याग** अभी खाने की जरूरत लगती है, यह न शर्म की बात है न गौरव की। अपना स्वभाव स्वय पूर्ण होने पर भी अभी तक जीवन मे आनन्द आने के लिए आहार की सहायता लेनी पडती है। यह पारतन्त्र्य कब मिटे—उसी दिन की राह है।

अभी खाया जाता है, लेकिन अब भूख मिटाने के लिए खाया जाता है, अब असमर्थता जानकर खाया जाता है। अब खाने के लिए जीवन नही, जीवन के लिए खाना 'सूत्र' बन जाता है। उस खाने मे अब कुछ रस नही, स्वाद नही ! है एक परतंत्रता की याद ! सूचना स्मरण !

इसलिए जिसमे अत्यन्त अल्प हिंसा हो, वैसा भोजन करने लगता है। वनस्पति मे 'प्रत्येक शरीर' वनस्पति और 'साधारण शरीर' वनस्पति के प्रकार हैं। पत्ता, सब्जी पर असख्य सूक्ष्म निगोदिया जीव वास करते हैं··· कितने तो नेत्र से भी दिखते हैं।

केवल मेरी वजह से इन बेचारे सूक्ष्म जीवो की हत्या न हो, इस विशुद्ध भावना से जीवन भर के लिए सभी पत्ता-सब्जियो का प्रतिज्ञा रूप त्याग करता है। यही सचित्त त्याग पाचवी प्रतिमा है। इसके पहले ही दो प्रतिमाओ में आठ मूलगुण रूप और कदमूल के अभक्षण रूप प्रतिज्ञा ले चुका है। और भी अचार, मुरब्बा, पापड जैसी चीजें सिर्फ उसी दिन की खाता था। यहां सात शीलो में जो अनर्थदंड व्रत है, वह प्रतिमा रूप हो गया है। यह सब सम्यग्दर्शन की अपूर्व ताकत का चमत्कार—करामात है। यह उन्नत मनोदशा का प्रात्यक्षिक रूप है।

आगे-आगे की प्रतिमा बढाने वाला प्रथम की सभी प्रतिमाओ को निरतिचार रूप से पालता हुआ उत्तर की प्रतिमा में प्रतिज्ञापूर्वक बद्ध होता है। और जो शीलव्रत रह चुके हैं, वे भी अभ्यास रूप से पाले जाते हैं। यहा दूसरी प्रतिमा मे से ही भद्र प्रकृति का द्योतक रूप ठहरा हुआ 'अतिथि संविभाग' व्रत शुरू होता है। यह कोई प्रतिमा नही है। क्योकि इसमे सत्पात्र व्यक्तियो के बारे मे जो चार प्रकार के दान वैयावृत्य, विनय का व्यापार होता है, उसका समावेश होता है। यह मात्र सदाचार है। सम्यग्दर्शन जैसी अनोखी विशुद्धि वाले का तो वह सहज स्वभाव ही है। जो कीडे-मकोडे के बारे मे सहृदय होता है, वह सम्मान-पात्र आदरणीय व्यक्ति को चार प्रकार का दान दें तो इसमें कुछ अचरज की बात नही।

६. **रात्रि-भोजन-त्याग प्रतिमा**—अब वह आत्मदर्शी ससार मे इतना विरक्त हो गया है कि पहले उसे ससार की एटीकेट्स, मैनर्स का ख्याल आता था, घर मे अगर रात को मेहमान आयें तो उसे कैसे खाली पेट रखा जाय ? उसे कम-से-कम, 'खाना खाओ' ऐसा व्यवहार तो करना पडेगा—यह आशका सताया करती थी। लेकिन अब परिणाम इतने विरक्त हो गये हैं,कि इन फालतू एटीकेट्स की, मैनर्स

की, रीति-रिवाजों की कुछ कद्र नही रह जाती। 'रात मे खाओ' यह एटीकेट्स, मैनर्स नही, तो रात मे खाने का नाम भी नही लेना। यह शिष्टता का व्यवहार है। यही असली एटीकेट्स/मैनर्स है। अब वह आचरण से इसकी शिक्षा देने लगता है।

इसका नतीजा यह होने लगता है,रात में घर आने वाला मेहमान दिन में ही खाना खाने उसके घर मे पहुँचता है। क्योंकि उसे अब मालूम हुआ है कि उनके घर सूर्यास्त के पहले खाना नही खाऊंगा तो रात खाली पेट जायेगी। यह कृति ही 'रात्रि भोजन-त्याग' का अधिक प्रसार-प्रचार करेगी।

पहली प्रतिमा से ही वह खुद रात्रि-भोजन नही करता था। अब मन-वचन-काय, कृत-कारित तथा अनुमोदना से भी रात्रि भोजन-त्याग का अनुमोदन करता है।

हरी पत्ता सब्जी न खाने से जीवन-यापन नही होता ऐसा नही, उसी तरह रात मे भोजन न करने से जीवन-यापन होता नही, ऐसा भी नहीं। किन्तु अनावश्यक जो प्रयोग-उपयोग मे छुटकारा हो जाता है, यही अनर्थदंड व्रत का पालन है।

७. **ब्रह्मचर्य प्रतिमा** —आत्मस्थिरता ही एकमात्र अहिंसा है। उसके अलावा पर-चिंतन को आत्मस्वभाव के विरुद्ध मानने वाला आत्मदर्शी अपनी भूल जानकर भी स्वस्त्री से नाता तोड़ नही पाया था। लेकिन अब वह सफलता भी प्राप्त कर चुका है।

अपने अब्रह्मरूप कृति पर विजयी हो चुका है। हजार चिंतनो का उतना मूल्य नही, जितना इस एक कृति का!

आमरण उस नीच कृति से वह अपने को बचा रहा है। अचेतन स्त्री, मनुष्यिणी, तिर्यंच-देवी— इनका मन, वचन और काय से तथा कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग कर चुका है।

यही सबसे अधिक हिंसा की कृति थी। यही आत्मा का सबसे अधिक अधःपतन था। जिसकी अत्यंत अहिंसक सार्वकल्याण की सात्त्विक कृति हो गई, वह कभी भी दूसरे जीव को अब विवाह की सलाह नही दे सकता। जो खुद नरक से बचना चाहता है, वह अपने प्रिय जनो को नरक का द्वार कभी नही दिखा सकता।

यह आत्म-सूर्य के फूटती हुई प्रकाशित किरणो का दर्शन है। यह कथन करने की बात नही,अनुभव की बात है। जहा कथन है वहां अनुभव नही, जहा अनुभव है वहा कथन नही। शब्दो से सत्य का दर्शन नही हो सकता। जहा शब्द छूट जाते हैं वहा सत्य की उपलब्धि होती है। जहा विचार, आशा, आकाक्षा,राग-द्वेष छूट जाते है, वहा जो रह जाता है वही मात्र सत्य है। वही परम शुद्ध आत्मा है। इसलिए सत्य कहा नही जा सकता, मात्र अनुभवन किया जा सकता है।

इस सत्य की जिसे उपलब्धि हो गई है वह, अन्य सभी इस सत्य को प्राप्त करे—इसी सद्भावना का इच्छुक रह जाता है। इसलिए अपने पुत्र-पौत्र भी इस अनाकुल-निराकुल सुख को प्राप्त करे,वे भी जगत् के झूठे कामकाजो से बचें, सदाचार-सम्पन्न, पवित्र चारित्र्य-सम्पन्न हो, इसलिए विवाह मे मात्र हिंसा के अलावा और सुख नही—ऐसा कहता भी है, लेकिन जवानी का नशा सुनता नही। पुत्र-पौत्र मानते नही तब अपनी जिम्मेदारी जानकर सिर्फ उनका विवाह करता है। अगर घर मे वह जिम्मेदारी सभालने वाले हो तो उससे भी छुट्टी ली जाती है।

८. **आरम्भत्यागप्रतिमा**—लेना-देना करना, व्यापार उद्यम चलाना, घर का कारोबार देखना, इन विभाव-क्रियाओ से इतना विरक्त होता है कि सरभ, समारभ, आरभ-रूप रसोई, उदर-निर्वाह का साधन, दुकानदारी, खेती आदि भी छोड देता है। खडणि, पेशणी, चुल्ली, उदकुम्भी, प्रमार्जनी-ये गृहकृत्य तो हिसाकाड से प्रतीत होने लगते है। इन कृत्यो मे सग्रामभूमि का दर्शन होने लगता है। सग्राम-भूमि का जो विदारक, बीभत्स, हिंसाजनक स्वरूप है, उसकी तुलना मे पचसूना म उदर-निर्वाह की क्रिया किसी भी अपेक्षा से कम विदारक, शौर्यपूर्ण, निर्घृण नही है। वहा पचेन्द्रियो का हिंसाकाड है।

'जीवो मंगलम्' भावना का, 'जीयो और जीने दो' भावना का, सहृदयता का, इससे बढकर और क्या सबूत हो सकता है?

वह आरभ-त्याग वाला खाने-पीने रूप परावलबन से और उसके लिए किये जाने वाली क्रिया मे इतना ऊब जाता है, इतनी निर्ममत्व भावना इस प्रकार फूटकर बाहर निकलती है कि जो भी हो! अब यही हिंसात्मक क्रिया आमरण न होगी, फिर इसका मूल्य कितना भी क्यो न चुकाना पडे! यह विचार कर प्रतिज्ञाबद्ध होता है। साधक को विभाव क्रियाओ की कितनी थकान आयी है, इसका अनुमान किया जा सकता है। अब शुद्ध परमात्मा की प्रतिमा साकार होने जा रही होती है।

९. **परिग्रह-त्याग प्रतिमा**—इतने निर्मल परिणामो का नतीजा स्पष्ट है। अब जो पूर्व का अनिच्छा से रखा हुआ, जो परिग्रह था उसको भी अधिक उच्च स्तर पर घटाया जाता है। सिवाय ओढने के वस्त्र, सभी महल, मकान, दुकान के हक छोड देता है। पुत्र-स्त्री एक धर्मशाला मे ठहरे प्रवासी से अधिक मूल्य नही पाते। यहाँ 'भोगोपभोग परिमाण' यह शिक्षाव्रत प्रतिमा-रूप बन गया है। यहां नवी कक्षा उत्तीर्ण होने का स्टेंडर्ड प्राप्त हो चुका है।

१०. **अनुमोदना प्रतिमा**—'जल मे भिन्न कमल' जैसी यह स्थिति है, अत घर मे रहते हुए भी घर के कारोबार में इतनी उदासीनता है कि मन, वचन, काय और कृत-कारित-अनुमोदना से भी अनुमति नही देता। ये सब बेकार की बातें हैं! जिसे अपना चितामुक्त रूप मिला वह क्यो चितायुक्त हो जाय! आत्मस्थिरता की बढती श्रद्धा का ही इस विरक्ति के दर्शन मे योगदान है।

११. उद्दिष्ट आहार-त्याग प्रतिमा—अब न मकान व दुकान से वास्ता रहा न घर-गृहस्थी से। अब न रही खाने की चिंता; न रही रहने की चिंता। अब घर मे रुकने की रुकावट खत्म हो चुकी है। जिसे घर से विरक्ति, गृह-क्रियाओं से विरक्ति हुई है फिर अब उनमें उसे क्यों रुकना? अब घर में नहीं रहा जाता। अपना-पराया भेद खत्म हो चुका है। अब उस घर की भी जरूरत नही है। अब संकुचित भावनाएं गिर चुकी हैं। विशाल, व्यापक, उदात्त, विराट् दृष्टि हुई है। अब वह आत्मस्वरूप में बसता है, देह मे नही। देह तो कही भी और कैसे भी रहे। ममत्व का कारण नहीं रहा तो घर का कारण भी नही रहा।

विनय, भक्ति, श्रद्धा से आहार का योग मिले तो ठीक। नही तो निर्ममत्व बढ़ाने का मिला हुआ एक अपूर्व अवसर।

यहां इतनी विशेषता है कि गृहस्थ अपने लिए खाना बनाता है उसमे जो सरंभ, समारभ, आरभ क्रिया रूप हिंसा होती है वह टल नही सकती थी, वह खुद के लिए वह कार्य किये बिना नही रह सकता था।

अनादि काल से इस आत्मा को विभाव-परिणमन से,विपरीत मान्यता से,क्षुधा-तृषा की बुरी आदत लगी है। आदत कभी भी जल्दी नही छूटती। उसे तो मिटाना ही है। लेकिन चित्तकी स्थिरता के साथ मिटाना मूलत मिटाना है। एक साथ संपूर्ण आहार छोड़ने से शरीर तो उसे एडजेस्ट नही हुआ है। परिणामो मे पीडा का अनुभव जरूर होने लगता है, तब परिणाम बिगड़ने से धर्म न रहकर अधर्म के होने का डर उपस्थित होता है। अच्छे परिणामो से पुण्यबध और आर्त-रौद्र परिणामो स पाप-बध होगा। इसलिए जैन शासन मे परिणामो की शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है।

जब आदर से, सम्मान से भोजन मिले तो लेना, लेकिन अपने लिए बनाये गये भोजन को नही लेना। यह उद्दिष्ट आहार प्रतिमा का उद्देश्य है।

अपने लिए दूसरे ने भी भोजन क्यो न बनाया हो, वहा भी हिंसा वह होती है जिसे टालने का वह इच्छुक था। इसलिए तो उसने आठवीं आरभ-त्याग प्रतिमा में खुद के लिए अपने हाथों से भोजन बनाना तक छोड दिया था। उसमे मुख्यत जीव-रक्षा का प्रधान हेतु था वह हेतु, अपने लिए पराया भी भोजन क्यों न बनाये, उसमे नही पल सकता। हेतु की पूर्ति नही होती, इसलिए मन-वचन-काय और कृत-कारित अनुमोदन—इन सबका नव कोटी की विशुद्धि से आहार लेने की अत्यत सगत विधि बताई गई है।

ग्यारह प्रतिमाधारी नियम से गृह में नही रह सकता। अब इसे 'क्षुल्लक' कहते है। क्षुल्लक एक लगोट और एक खड वस्त्र ही धारण करता है। शास्त्र, पीछी, कमडलु, और दो अत्यन्त अल्प वस्त्र—इतना परिग्रह रह जाता है। स्वावलबी आत्मा के फूटती किरणो के साथ, एकेक वस्त्र और भी गिरता है। जब ओढ़ा हुआ खड वस्त्र गिरता है उसे 'ऐलक' कहते है। जब वह लगोटी गिर जाती है तब उसे निर्ग्रन्थ 'दिगम्बर कहा जाता है।

स्वावलबन, आत्मनिर्भर, स्वयपूर्ण जीवन का पूर्ण रूप से साकार हुआ यह दर्शन है। यह अदर के चैतन्य की चरम सीमा की विशुद्धि का अत्यत प्रकट दर्शन है। यह उस सीमा का सदाचार है, जगत के सब सदाचार जिसकी तुलना मे निस्तेज, निष्प्रभ, निर्माल्य मूल्य हो जाते हैं, गिनती मे भी नही आते।

कोटि-कोटि जिह्वा के उपदेश से उस सदाचार की मूर्ति का दर्शनमात्र ही कराया जा सकता है। वहां शरीर का रोम-रोम मानवता का सगीत मूर्त रूप से गा रहा है। इस एक सदेश मे जो ताकत है वह कोरी बकवास मे कहा? इसलिए नाम-निक्षेप रूप प्रतिमा ही क्यो, मुनिव्रत भी आत्म-विकास मे साधन नही है। इसलिए व्रत जहा हो वहा आत्म-विकास अवश्य हो—यह नही बनता। लेकिन जहा सर्वोच्च पूर्णतारूप परम वीतरागता की शुद्धि की तीव्रतम उत्सुकता होती है, वहा प्रतिमा, मुनिचर्या मिलती है। वहां तो पूर्ण वीतराग होना ही अभिप्रेत है। लेकिन वीतरागता मे स्थिर नही रहा जा सकता,यह देखकर यह पर्यायी मार्ग स्वीकारा है जो अपनी चर्यात्मक मन-वचन-काय की चेष्टा को अपने ध्येय से पूरक बनाया जाता है।

पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक दर्शनादि आरंभिक प्रतिमा से उत्तरोत्तर प्रतिमा को आत्मलीनता में स्थिरता के हेतु अंगीकार करता है। नीचे की दशा को आगे की व्रत प्रतिमाओं मे छोडता नहीं।

१ से ६ प्रतिमा तक जघन्यव्रती श्रावक

७ से ९ तक मध्यम व्रती श्रावक, देशव्रती अगारी

१० से ११ तक उत्कृष्ट व्रती श्रावक

गृहस्थ के सदाचार की ये सीढ़ियां मुनिव्रत अंगीकार करने का लक्ष्य रखने वाला ही पार कर सकता है।

Five Controlling Factors : A Unity Amidst Varieties

Prof. Mahesh Tiwary

Like other systems of Indian Philosophy, the Budhhist Philosophy starts with the definite problem and devotes itself in finding a suitable solution of it. Its problem is very clear from the statement of Buddha like "I see the beings of this world trembling in the snare of desire passing from one state of existence to another and experiencing the same feeling. Where there is joy, where there is laughter, when all things are burning".[1] Such statements make it clear that the state of suffering of the beings attracted the mind of the Buddha and being very much moved by it, he endeavoured for about 45 years of his active life to find out a remedy for this. He wandered throughout the country, met people and gave sermons according to the elevation of mind of the persons' concerned. Being ripe in his experience, he tried to find out a quick and unfailing remedy for this universal ailment of suffering. In this context, we find several solutions prescribed by him. Among them there is one which appears to be a very effective remedy and that is the practice of the five-fold controlling factors (Pañcindriya bhāvana). This is an independent practice for bringing harmony not only in the present life but in the life to come and also helpful in realization of the Summumbonum of life, *i.e.*, Nibbāna

The five controlling factors are the following :

1 Faith as a controlling factor (Saddhindriyam)
2 Energy as a controlling factor (Viriyindriyam).
3. Mindfulness as a controlling factor (Satindriyaṃ)
4 Concentration as a controlling factor (Samādhindriyam)
5 Understanding as a controlling factor (Paññindriyam)

These five factors appear in the list of Bodhipakkhiya-dhammas twice, once as controlling factors (indriyas) and again as powers (bala) They function in controlling the mind and directing it to the right direction in making a smooth way-faring, beginning from the moment of practice till realization of Nibbāna. They also function as power in exercising predominent influence on mind in a particular state. The difference of the two may be understood there in two-fold functions namely, right direction and proper maintenance of the mind in spiritual pursuit In this context when we speak of the practice of five controlling factors, we examine their function in controlling and regulating the mind

Before going into detail of the practice, it seems desirable to add few words about the purpose of such controlling. It is said that the mind is luminous, pure and free from stains in its nature, but it is polluted by in-coming polluting factors. They arise again and again and put the coverings on the mind and as such, it looses its natural form It is then bewildered and fall in the strong snare of ignorance, generating various types of sufferings for itself Therefore, with a view to remove the covering of defilements from the mind and help it to emerge in its pure form, there is the need of a practice and for this, there is a practice of the five controlling factors.

1. Sn. 389, D.P. 31.

What is it ? It may be seen as under :

1. *Faith as a controlling factor (Saddhindriyaṃ)* :

Saddhā generally means faith. It has a special meaning too. It refers to a mental state which has two functions—purifying the mind and making it to exert for higher realization—Sempasādanalakkhaṇā, Sampakhandana—lakkhaṇā ca.[1] While functioning as purifying factor, it removes the hindrances and makes the consciousness pure, tranquil and free from disturbances. It may be understood as a water-purifying gem, which when put into dirty water makes the water pure, tranquil by removing the dust particles from it. While functioning as exerting for higher realization, it inspires confidence and generates endeavour in the stream winner (Sotāpanna) for attainment of higher states like 'Once returner fruit' (Sakadāgāmiphala), 'Never returner fruit' (Anāgāmiphala) or 'Emancipated being fruit' (Arahatphala). In short, it inspires confidence and generates endeavour for attainment of that which is not achieved, as well as for realization of that which is not realized. It is defind as believing or confiding having its characteristic, purifying as function, freedom from pollution as manifestation and object worthy of faith or factors stream winning such as hearing the good law and so on as proximate cause.[2]

2. *Energy as a controlling factor (Viriyindriyaṃ)*

The literal meaning of *Viriya* is energy It in its technical sense is a mental support All the good qualities supported by it, remain firm and do not fall away As a man finding a thatch falling, erects a pillar and being supported by it, the roof does not fall, similarly having inner support generated by it, the moral states remain firm and function properly[3] It is just like the reinforcement of the small army, granting support for further endeavour[4] It may further be defind as a state of strengthening as its characteristic, supporting the co-existent states as function Opposition to giving way is its manifestation and agitation is its proximate cause.[5]

3. *Mindfulness as a controlling factor (Satindriyaṃ)* ·

The third controlling factor is the mindfulness—*Satindriyaṃ* It is the name of a mental state which is nothing but awareness It has two functions—reminding of the good qualities and pointing out the beneficial and otherwise mental states[6] While functioning as reminding it creates awareness at mind door. As a door-keeper standing on the door of the house remains alert, similarly it creats alertness at the mind door Further it reminds of all moral states like four-fold mindfulness, four-fold right effortes, four-fold feet of occult powers, five controlling factors, five powers, seven factors of enlightenment, eight-fold noble path, meditation, insight, wisdom and freedom Being reminded of it one exerts for practising and developing the moral states and acquiring the higher achievements It is just like reminding of the wealth to a king by his treasurer.[7]

Again while pointing out the beneficial states, it reveals the nature of moral states showing clearly that these are beneficial in this way and these are not beneficial in any way. Knowing them so, one acquires and develops the beneficial ones and gives up those which are harmful. With a view to make it more clear, it is further said that reminding is its characteristics, fighting of forgetfulness is its function, guarding or directing the mind to face the object is its manifestation and firm perception is its proximate cause.[8]

---

1. Q.K.M. 1, (M.P.) 52.
2. V.M. 324.
3. V.M, 323.
4. Q.K.M. 1, (M.P.) 57.
5. V.M. 324.
6. Q.K.M. 1, (M.P.) 58.
7. Ibid. 59.
8. V.M. 324.

4. ***Concentration as a controlling factor (Samadhindriyam)*** :

The fourth controlling factor is concentration *Samādhindriyam*. *Samādhi* is veay important term in Buddhist tradition. It plays a vital role in curtailing the mental misdeeds in particular, and physical and vocal misdeeds in general.

The literal meaning of the word may be seen by breaking the word into its three components—Saṃ+ā+dhā, which means keeping the mind completely and properly It means, it is the name of complete and proper absorption of mind on a particular object. Here, proper means with moral consciousness. Thus *Samāddi* is the name of concentration of moral consciousness It draws the mind from different directions and trains it to remain on one object, and doing so it functions as a controlling and guiding factor.[1]

The word *Samādhi* has been discussed in Buddhist Texts very elaborately Nāgasena has defined it as—being the leader. It is said that all good qualities have meditation as their chief,[2] They incline to it and lead themselves up towards it, like the steps leading to the peak of the mountain To illustrate the same view, it has been further said that, as the rafter of the house go to the apex, as the four-fold army leans towards the king, similarly all the good qualities leans towards *Samādhi*. What does it mean ? It means that *Samādhi* functions as becoming the centre of moral states and attracts them, as a powerful magnet does and thereby regulates and directs the mind properly.

Buddhaghosa has also commented upon the word *Samādhi* and says that it puts the consciousness rightly on the object. It is like collecting of the mind Its characteristic is non-wandering or non-distraction. Its function is to conglomerate the moral state, as the water puts the soap powder into a paste. It manifests as peace. The bliss is stated to be its proximate cause [3]

Samādhi has also been described in several ways in which *Rūpa-samādhi* and *Arupa-samādhi* are very commonly quoted in both scriptural texts and in practical endeavour The former is controlling of mind and developing one-pointedness on objects having form and colour The latter does so on the formless objects. Both consumate in suppressing the hindrances, having association of required *jhāna* factors, developing concentration and making the mind pure, serene, tranquil, free from disturbance and subtle. With it, the mind becomes pliable so as to enter into the domain of understanding.

5. *Understanding as a controlling factor (Paññindriyam)*:

The fifth controlling factor is the understanding—*Paññindriyam* Here like Samadhi, *Paññā* also occupies an important place in Buddhist tradition It means understanding But this differs from perception (*Saññā*) as well as knowing (*Viññāna*).

What does it mean ? By perception (*Saññā*) one can know only the apparent form of the object as blue, yellow, red, white or rectangular, circular etc One cannot go deeper than this. Knowing (*Viññāna*) goes one step further, penetrates into the nature of the object and understands it as impermanent, subject to suffering and substanceless Understanding (*Paññā*) advances one step further in the process, and knowing the nature of the object creates detachment therefrom Thus understanding consists in the knowledge of the object as it appears, going into its nature and realizing as it really is and there-after creating detachment therefrom. Doing so it trains the mind in this direction and makes it to realize properly the nature of reality.[4]

1. V.M. 58–60.
2. Q.K.M. 1, (M.P.) 60—61.
3. V.M. 324.
4. V.M. 304—305.

This has also attracted the attention of the great Savant Nāgasena who did not check his temptation of explaining the term. He says that the understansing (*Paññā*) has two characteristics—cutting off and sheding flood of light. It differs from attention (manasikāra). While appearing, it removes the darkness of ignorance and generates light of wisdom, whereby the Four-Noble Truths together with three-fold nature of reality become crystal clear. It is just like holding a lamp in the dark room whereby one can clearly see the things lying therein. It has further been also explained in four-fold method by pointing out its characteristic etc. Here its characteristic has been shown as penetrating into the nature of Dhamma, just like penetration of an arrow sought by a skillful archer. Its function is to illuminate the objects like a lamp and it manifests as non-bewilderment, similar to a perfect guide in a forest. Understanding in this way is the proper vision of an ardent (Yogāvacara) to view the things as they appear and as they really are.[1]

These are the five controlling factors which when developed and practiced properly bring purity of mind and enable one to realize the goal of life Here one should know the process of that development and practice. In this context the tradition says that firstly, the five controlling factors should be understood with their four-fold ways of examination Knowing them so, they should be observed again and again and should be treated as the amicable factors for bringing harmony in life. They should be harboured in mind repeatedly with a wish that they should develop so as to help in the right endeavour. They should also be bifurcated from other states and should be nourished with friendliness in our mind. In this way in course of time, there should be development of these five factors in an effective manner, capable to control and regulate the mind.

In this connection, the tradition makes a suggestion based on a practical experience about the practice of five-fold controlling factor. It says that the equanimity of the five faculties should be maintained, and put into a balanced state One should neither be made too strong, nor too weak. If one becomes too strong then the proper function of the other is not possible. For instance, if Faith becomes strong and others weak, then the Energy faculty cannot perform its function of exerting, the Mindfulness faculty its function of creating awareness, the Concentration faculty its function of not distracting and the Understanding faculty its function of visualizing Therefore, the Faith faculty should be modified and kept in a balanced state. Similar attention should also be paid with reference to other faculties. It is also seen that if the Energy faculty becomes strong, the Faith faculty cannot perform its function of inspiring confidence nor the other faculties have their proper functions Therefore, its modification is essential [2]

There is also a process of balancing of these faculties. All the faculties should not be mixed while making modifications with respect of their functions for balancing. The Faith and the Understanding faculties should be put together in one group for balancing. Why it is so ? It is seen that when the Faith becomes strong, it does not allow Understanding to function well and thereby makes it weak. As such the confidence, which is developed, is uncritical and lean towards superstition. Again when Understanding becomes strong and Faith weak, then there is the development of distraction and also bewilderness of consciousness. The mind leans towards madness. It is just like becoming unable to cure a sick person diseased of medicine itself. It is also said that when Concentration becomes strong and Energy weak, then there is the predominence of idleness, as the Concentration starts favouring laziness and not the efforts. When Energy becomes strong and Concentration weak, the Energy leans towards distraction and the latter becomes disturbed.

Then what one should do? One should maintain the balanced state of Faith faculty and Understanding faculty on one hand the Concentration faculty and Energy faculty on the other. When there shall be the

1. Q.K.M. 1, (M.P.) 61—62.
2. V.M. 87—88.

balancing of Faith and Understanding faculties, a man has proper confidence saturated with understanding, where and when required. Similarly Energy faculty coupled with Concentration faculty in a balanced state, does not lapse into agitation. As a result of this the proper absorption emerges wherever and whenever desired.

Then what should be the role of Mindfulness ? It is realized on the basis of practical experience that a strong Mindfulness is needed in all instances. The reason behind it is obvious. It protects the mind from lapsing it into agitation through Faith, Energy and Understanding. It also protects it from lapsing into idleness, through Concentration. Therefore it is a desirable factor in all instances, as a seasoning of salt in all sauces and as the presence of the Prime Minister in all the business of the right king. It is truely remarked by the Buddha that Mindfulness is universal or invariably common factor with all.

Then how the practice of five controlling factors is helpful in balancing the life here and hereafter and finally in realization of Nibbāna ? It is now obvious that Mindfulness generates a congenial atmosphere for aspiring for the higher spiritual gain or inculcation of sublime human values. Faith generates confidence in that. Energy helps and guarantees support for preserving that atmosphere in mind. The Concentration mars the hindrances and give rise to the constituents of *Jhāna*. Understanding finding such congenial atmosphere penetrates into the nature of reality and knows and visualizing it face to face—that all things are impermanent subject to suffering and substanceless Knowing them so, the man curtails the attachment The greater is the curtailment of attachment, the more is the minimisation of suffering. When there is the total curtailment of attachment, there is total elimination of suffering Attainment of such a state is the attainment of *Nibbāna*—a state of eternal bliss.

Now coming to theme of the topic, it can be said that though these five factors apparently appear functioning in five different ways, yet they consumate in only one function and that is the helping of the emergence of a blissful state which we may say unity amidst diversity. Perhaps this question also disturbed the King Milinda who could not check himself in clarifying the doubt

"These qualities which are so different, O' Nāgasena do they bring about one and the same result ?"

"They do so, O' King, by putting an end of all evil dispositions They are like the various parts of army—elephants, cavalary, chariots and soldiers—who all work to one end. *i e.*, the conquest in battle over the opposite army."[1]

Similarly, though they are five appearing working in five ways, consumate in one action and that is the total negation of suffering and attainment of a state of eternal bliss.

Abbreviations

D.P.—Dhammapada—Nālandā edition.
QKM. (M.P.)—Questions of King Milinda (Milinda Pañho)—S.B E. edition.
Sn.—Suttanipāta—Nālanda edition.
V.M.—Visuddhimagga—Bombay edition.

1. Q.K.M. 1, (M.P.) 62.

Jainism : Symbol of Emergence of New Era

Dr. Sangha Sena

The origin and development of Jainism (more precisely Jinism) and Buddhism reflect the emergence of a new era in the history of Indian perninsula. Both should a definite trend in the social development. It is also to be noted that both of them represent a culture which was distinctly opposed to and rival of the Brāhmaṇic culture as enshrined in the Vedic literature. This seems to be the significance of the mention of two cultures—*Śramana* and *Brāhmaṇa*—in earlier works and the inscriptions of Asoka. Both Jainism and Buddhism were the products of the former.

The majority of the historians hold that on earlier religious order, *Nigaṇtha* or *Nirgrantha* by name was precursor of the Jaina religion[1] The Jaina orientation to it was probably given by Pārśvanātha and Vardhamāna (the latter styled is Mahāvīra), the last two *Tīrthaṅkara-s* or celebrated teachers. By far, the contribution of Vardhamāna seems to be the highest, who raised the religion to the height of one of the major religious orders of his days. He was born in or around 540 B. C. The name of his father was Siddhārtha who was probably the chief of a clan known as *ñāti* or *Jñātṛ*. The clan was closely related with the brave licchavi-s of Vaishali. Vardhamāna left his house-hold at the age of thirty. After hard and arduous penances for twelve years, he is reported to have attained *kaivalya* or liberation Accordingly, he was styled Mahāvīra and was called Jaina or Arahanta by his worthy disciples. After the attainment of Kaivalya, he propagated his faith to the people in general in various parts of present day Bihar and eastern Uttar Pradesh He was accepted and recognised as Tīrthaṅkara. The impact of the teachings of this great son of India was so great that in course of time, the religion to which he gave new orientation, came to be known as Jaina[2] after one of his epithets. He passed away in about 468 B. C. after attaining a full age of 72 years

The upholders of the faith of the Jinas, came to be known as Jainas. They were taught not to believe in God (as creator of this world). They adored and still continue to do so, the Tīrthaṅkaras. The Tīrthaṅkaras were those liberated souls who were once in bondage, but became, through their own efforts free, perfect, omniscient, ommipotent and all-blissful The Jainas believe that every spirit (Jīva) that is in bondage at this point of time can follow the foot-steps of the Tīrthankaras and attain, in due course, like them, perfect knowledge, power and joy. This spirit generated by an element of optimism causes absolute self-confidence in every true Jaina. The importance of personal efforts for the realization of absolute perfection is so great that he is never in the spell of any speculation, but is fully and truely endowed with a promise that he too can one day reach the exalted position of the liberated saints.

---

1. Cf. M. Winternitz, The History of Indian Literature, Vol. II, p. 424 (Reprint Munshiram, Manoharlal, Delhi).
2. The word 'Jina' etymologically means victor. It was used retrospectively to all the Tīrthankaras, because they were believed to have conquered all passions, (rāga and dveṣa) and had thereby attained liberation. The word 'Jaina' is a derivative of the word 'Jina' and hence means the religion of the Jainas.

The monolith of Jainas was broken over the centuries[1] due to diverse social factors, and the faith which was so assiduously built and consolidated by the great Mahāvīra gave way to dicisive forces. It was divided into two clear-cut and rival sects—Digambara[2] and Svetāmbara[3] They did not differ much over the basic philosophical doctrines, but had developed divergences over details of faith and practice. The Digambaras were not prepared to take into cognizance the common frailties of people and they retained although a more rigorous and puritanic attitude towards faith and practice. The Svetāmbaras, on the other hand, being pragmatic to the core, adopted a far more accomodating stand. For instance, the former insist on a rigid and literal interpretation of *Aparigraha* or non-possession, whereas the Svetāmbaras give allowance to wearing of white clothes. Likewise, the former as opposed to the latter, hold that a saint who has obtained perfect knowledge needs no food and that women cannot obtain liberation (without being born once more as a man).

The Jaina Āgama or Canon

The teachings of Mahāvīra were carried for centuries by his faithful followers through oral transmission. The collection of these teachings is called Siddhānta or Āgama. The twelve Angas or 'limbs' (of the body of the Jaina religious sermons) are considered the first and the foremost part of their canon. The Svetambaras, however, incorporate some other categories of texts into their Āgama. Thus their canon include the following—

1. The twelve Angas,
2. The twelve Uvangas (Upāngas) or Secondary Limbs,
3. The ten Painnas (Prakīrṇas) or Scattered Pieces,
4. The six Cheya-Suttas (Cheda-Sūtras),
5. Individual texts (Nandi and Anuogadāra),
6. The four Mūla-Suttas (Mūla-Sūtras)

Jaina Philosophy

As is usual a systematic philosophical system was developed over the teachings of Mahāvīra. It gave rise to a philosophical outlook which was based upon common-sense realism and pluralism. According to Jaina teachings, the objects that we perceive are real as well as many. The world consists of two kinds of reality, living and non-living Every being is supposed to possess a spirit or soul (Jīva) in it, irrespective of its size. It is this consideration which makes Jainas give utmost importance to Ahimsā or avoidance of injury to life. This is considered the backbone of the Jaina ethics. Probably as a corollary to it, Jainism developed an element of great respect for the opinion of others. This attitude of the Jainas might have been instrumental in the formulation of a metaphysical theory of reality as many-faced (Anekāntavāda). Consequent upon this theory a systematic logical doctrine (Syādavāda) was formulated that every judgement is subject to some condition and limitation, and various judgements about the same reality may, therefore, be true each in its own sense, subject to its own conditions.

---

1. Cf. M. Wintunitz, op. cit. p. 428.
2. Digambara literally means 'one clad in air' i e., on who goes naked. This position is the corollary of the fifth Mahāvrata, i.e., Aparigraha or non-possession.
3. Svetāmbara litarally means 'one clad in white'.

Jaina Ethical Theory

Dr. Kamal Chand Sogani

It can not be controverted that human nature is essentially end-oriented. This end-orientation of man implies that human life is a striving towards certain ends. In other words, "it is so thoroughly teleological that it can not be understood apart from what it is seeking to become."[1] The discipline which deals with the process of seeking and striving in terms of good and bad, and consequently in terms of right and wrong is termed Normative ethics and the judgements like A was a good man, to harm someone is wrong are known as Normative judgements of Value and Obligation respectively. Again, the discipline which aims at philosophical analysis of ethical terms or concepts like 'right', 'good', etc., which asks the meaning and definition of such terms, seeks justification of normative judgements, discusses their nature, and is concerned with the analysis of freedom and responsibility is termed Meta-ethics. Besides, there is descriptive historical inquiry to explain the phenomenon of morality in the various periods of history. Thus normative ethics, meta-ethics, and descriptive ethics constitute three kinds of ethical inquiry. In the present paper, I propose to look at Jaina ethics from the normative and meta-ethical perspectives, to the exclusion of its descriptive historical inquiry. In other words, I shall not be describing the Acara of the Householder and that of the Muni in the various periods of history, but shall be dealing with some of the questions regarding value and obligation and meta-ethics, from the point of view of Jaina ethics in order to bring out the contribution of the Jaina to the above ethical questions.

Let us start with the Jaina theory of value, then go on to the Jaina theory of obligation and finally to the Jaina theory of meaning and justification of the judgements of value and obligation (Meta-ethics). The question that confronts us is · What is intrinsically desirable, good or worthwhile in life according to the Jaina ? What intrinsic values are to be pursued according to him ? The answer that may be given is this : What is intrinsically good or valuable or what ought to be chosen for its own sake is the achievement of Ahimsa of all living beings, the attainment of knowledge, the realisation of happiness, the leading of virtuous life, and the experiencing of freedom and good emotions. Thus, the criterion of intrinsic goodness or the good-making characteristic shall be the fulfilment of ends like Ahimsa, knowledge, virtues, etc. and the satisfaction that attends their fulfilment. We may say here that goodness is a matter of degree and this depends on the degree of fulfilment of ends and the resulting satisfaction therefrom. An altogether good shall be wholly fulfilling the ends and wholly satisfying the seeker. The Jaina texts speak of the partial realisation of Ahimsa and the complete realisation of Ahimsa and of other ends. This theory of intrinsic goodness may be called Ahimsa-Utilitarianism. This means that this theory considers Ahimsa and other ends to be the general good. But it may be noted here that this general good shall not be possible without one's own good. What I mean to say is that seeking the good of others shall be not only a means to my own but my own good shall consist partly in seeking theirs Thus, by this theory of Ahimsa-Utilitarianism narrow egoism is abandoned. This Ahimsa-Utilitarianism is to be distinguished from Hedonistic Utilitarianism

1. Blanshard, Reason and Goodness, p. 316

of Mill, but it has some resemblance with the Ideal Utilitarianism* of Moore and Rashdall. The point to be noted here is that Moore[1] distinguishes between good as a means and good as an end (good in itself). When we say that an action or a thing is good as a means, we say that it is liable to produce something which is good in itself (Intrinsically good). The Jaina recognises that Ahimsa can be both good as a means and good as an end. This means that both means and ends are to be tested by the criterion of Ahimsa. I may say in passing that the principle that "the end justifies the means" need not be rejected as immoral if the above criterion of means and ends is conceded. It may look paradoxical that Ahimsa is an end. But it is not so. Samantabhadra has said that Ahimsa of all living beings is equivalent to the realisation of the highest good. This shows that there is no inconsistency in saying that Ahimsa is both an end and a means. Thus, the expression Ahimsa-Utilitarianism seems to me to be the most apt one to represent the Jaina theory of intrinsic goodness.

Let us now proceed to the Jaina theory of obligation. "The ultimate concern of the normative theory of obligation is to guide us in the making of decisions and judgements about actions in particular situations". Here the question that confronts us is this · How to determine what is morally right for a certain agent in a certain situation ? Or what is the criterion of the rightness of actions ? The inter-related question is : What we ought to do in a certain situation ? Or how duty is to be determined ? The answer of the Jaina is that right, ought, and duty can not be separated from the good. The criterion of what is right, etc. is the greater balance of good over bad that is brought into being than any alternative. Thus the view that regards goodness of the consequences of actions as the right-making characteristic is termed teleological theory of obligation as distinguished from the deontological theory of obligation which regards an action as right or obligatory simply because of its own nature regardless of the consequences it may bring into being. The Jaina ethics holds the teleological theory of obligation (Maximum balance of Ahimsa over Himsa as the right-making characteristic).

The question now arises whether Jaina ethics subscribes to act-approach or rule-approach in deciding the rightness or wrongness of actions The former is called act-utilitarianism,[2] while the latter rule-utilitarianism. It seems to me that though the Jaina Acaryas have given us moral rules yet in principle they have followed act-utilitarianism, according to which every action is to be judged on the goodness of the consequences expected to be produced. Since to calculate the consequences of each and every action is not practically possible, Jaina Acaryas have given us guiding moral principles in the form of Anuvratas and Mahavratas, Gunavratas and Siksavratas and so on. This means that Jaina ethics accepts the possibility that sometimes these general moral principles may be inadequate to the complexities of the situation and in this case a direct consideration of the particular action without reference to general principles is necessary. May be, keeping this in view, Samantabhadra argues that truth is not to be spoken when by so doing the other is entangled in miseries.[3] the Karttikeyanupreksa disallows to purchase things at low price in order to maintain the vow of non-stealing[4] According to rule-utilitarianism exceptions can not be allowed. This implies that Jaina ethics does not allow superstitious rule-worship, but at the same time prescribes that utmost caution is to be taken in breaking the rule, which has been built up and tested by the experience of generations. Thus according to Jaina ethics acts are logically prior to rules and the rightness of the action is situational.

---

* The view of ethics which combines the utilitarian principle that ethics must be teleological with a non-hedonistic view of the ethical end, I propose to call Ideal Utilitarianism. Rashdall, Theory of Good and Evil, Vol. I, p. 184

1. Moore, Principia Ethica, pp. 21, 22.
2. Frankena, Ethics, p. 11.
3. Ratnakaranda Sravakacara, 55.
4. Karttikeyanupreksa, 355.

This is of capital importance to note here that according to Jaina ethics, there is no such thing as a moral obligation which is not an obligation to bring about the greatest good. To call an action a duty is dependent on the fact of producing a greater balance of good over evil in the universe than any other alternative. Duty is not self-justifying ; it is not an end in itself. "The very nature of duty is to aim beyond itself. There can no more be a duty to act, if there is no good to attain by it, than to think if there is no truth to be won by thinking."[1] Thus, duty is an extrinsic good, good as a means ; this does not deprive duty of its importance in ethical life, just as health does not become unimportant by its being extrinsic good. The pursuance of Anuvratas for the householder and the Mahavratas for the Muni may be regarded as dutiful actions.

In view of the above, it seems to me that Jaina ethics will look with critical eye at the deontologism of Prichard and Ross. According to Ross there are self-evidently binding *prima-facie* duties such as duties of gratitude, duties of self-improvement, duties of Justices, etc. The conviction of the Jaina is that all these duties are conducive to good as an end. Hence, they should be followed because of the conduciveness to good, and not because that they are independent of good consequences.

We have so far considered the criterion by which we are to determine what we morally ought to do in a given situation, how the rightness or wrongness of actions is to be decided. But the question that remains to be discussed is : How the moral worth of an action is to be evaluated ? How does in Jaina terminology an action become Punya and Papa-engendering ? In other words, how does an action become virtuous and vicious, praiseworthy or blameworthy, morally good or bad ?[2] (1) It is likely that an action by the criterion of rightness may be externally right but internally immorally motivated. A man may seem to be doing things according to a moral rule, but it may be with a bad motive. (2) Again, an action by the standard of rightness may be externally wrong, but it may be done with a good motive. For example, one may kill the rich in order to serve the poor. (3) An action may be externally right and done with good motive. (4) An action may be externally wrong and done with a bad motive. Thus there are four possibilities : (1) Right action and bad motive, (2) Wrong action and good motive, (3) Right action and good motive, and (4) Wrong action and bad motive. The third and fourth category of actions which according to Jaina ethics may be called Subha (auspicious) and Asubha (inauspicious) Lesyas are respectively called virtuous and vicious, are actions having moral merit and demerit. The concept of Lesyas in Jainism also invites our attention to the fact that the degree of praiseworthyness and blameworthyness of actions will depend on the degree of intensity of good and bad motives. The first category of actions (Right action and bad motive) may look proper externally but its moral significance is zero. All deceptions are of this nature. The moral worth of the second category of actions (Wrong action and good motive) is complicated and can be decided on the nature of the case. Though in Jaina ethical works, the importance of good motive is recognised as contributing towards the moral merit of an action, yet the Jaina Acaryas have clearly stated that he who exclusively emphasizes the internal at the expense of the external forgets the significance of outward behaviour. In consequence, both the internal and external aspects should occupy their due places. Ewing rightly observes that "they (good motives) lead us into evil courses on occasion if there is not at the back of our minds a moral consciousness which prevents this, so the strictly moral motive should always in a sense be present potentially."[3]

Let us now try to find out the answer of the Jaina to certain meta-ethical questions. The fundamental questions to be taken into account are : (1) What is the nature of ethical judgements (Obligatory and

1. Reason and Goodness, p. 332.
2. Purusarthasiddhyupaya, 50.
3. Ewing, Ethics, p. 129.

Value) according to the Jaina? and (2) What is their justification? These two are the main questions of ethics in our times. The contemporary moral philosophy has concerned itself with this almost excluding normative ethics; It is not interested so much in practical guidance even of a very general kind as in theoritical understanding and conceptual clarification of ethical judgements.

Let me state the first question more clearly. There have been recognised three kinds of knowledge: (1) Knowledge of fact, as, this flower is yellow; (2) Knowledge of necessity, as $7+5=12$; and (3) Knowledge of value, as A was a good man or murder is wrong. The question under discussion reduces itself to this: Are ethical judgements expressive of any cognitive content in the sense that they may be asserted true or false, or do they simply express emotions, feelings, etc. The upholders of the former view are known as cognitivists, while those holding the latter view are known as non-cognitivists (emotivists). When we say that Himsa is wrong, are we making a true or false assertion or are we experiencing simply feeling? Or are we doing both? According to the cognitivists, the ethical judgement, 'Himsa is wrong' is capable of being objectively true and thus moral knowledge is objective, whereas the non-cognitivists deny both the objectivity of assertion and knowledge, in as much as according to them ethical judgements are identified with feeling, emotions, etc Here the position taken by the Jaina seems to me to be that though the statement, 'Himsa is wrong' is objectively true, yet it can not be divested of the feeling element involved in experiencing the truth of the statement. In moral life knowledge and feeling can not be separated. By implication we can derive from the Tattvarthasutra[1] that the path of goodness can be traversed by knowledge (Jnana) along with feeling and activity (caritra). Amritacandra says that first of all knowledge of right, wrong and good is to be acquired, afterwards moral life is to be practised.[2] Thus the conviction of the Jaina is that the experience of value and obligation is bound up with our feelings and that in their absence we are ethically blind. In fact knowledge and feeling are so interwoven into a complex harmony that we have never a state of mind in which both are not present in some degree. So the claims of cognivitists and non-cognivitists are one sided and are very much antagonistic to the verdict of experience. Blanshard[3] rightly remarks, "Nature may spread before us the richest possible banquet of good things, but if we can look at them only with the eye of reason, we shall care for none of these things; they will be alike insipid. There would be no knowledge of good and evil in a world of mere knowers, for where there is no feeling good and evil would be unrecognisable". "And a life that directs itself by feeling even of the most exalted kind will be 'a ship without a rudder". Thus the nature of ethical judgements according to the Jaina is cognitive-effective. "The achievement of good is a joint product of our power to know and our power to feel."

The next question in meta-ethics is to ask how our ethical judgements (Value and obligation) can be justified. That the ethical judgements are objectively true need not imply that their justification can be sought in the same manner as the justification of factual judgements of ordinary and scientific nature. The reason for this is that value can not be derived from fact, ought from is. In factual judgements our expressions are value-neutral, but in ethical judgements we can not be indifferent to their being sought by ourselves or by others That is why derivation of ought from is, value from fact is unjustifiable. The value judgements according to the Jaina are self-evident and can only be experienced directly, thus they are self-justifying. The conviction of the Jaina is that no argument can *prove* that 'Himsa is evil' and 'Ahimsa is good'. What is intrinsically good or bad can be experienced directly or immediately. The justification of right can be sought from the fact of its producing what is intrinsically good.

In this paper I have ventured to deal with the Jaina ethical theory very briefly in the light of the contemporary discussion of ethical theory. In my view the future Jaina ethics should move in this direction so as to keep pace with the modern discussions of the ethical and meta-ethical problems.

1. Tattvarthasutra, I. 1.
2. Purusarthasiddhyupaya · 36 to 38.
3. Blanshard, Reason and Goodness, pp. 68, 69

The Jaina View of Life

Dr. Ram Jee Singh

1.1 Life is a struggle for perfection. Philosophy should serve as the guiding light in this struggle. Hence, true philosophy, must be a philosophy of life. Our attention has uptill now been mainly directed towards the problems of reality and knowledge, God and Soul, etc, but we have neglected *Man*. However, arts and science, philosophy and culture have got significance only in relation to man. Hence, Vyasa correctly said : There is nothing higher than man (*nahi sresthataram kimchit manusat*). Chandidas perhaps went a little further to say : "Man is higher than everything and nothing is more important than him". (Sabar uppare manusa satya, tahar uppare nai). Even the Greek sophists with his own interpretation regarded "man as the measure of all" (*Homo men sura*). True to this humanistic spirit, the Jainas even denied God because they beleived in the potential divinity of man. This reminds us of the famous Vedic saying : "Those who know Brahman in Man knows the Being who is Supreme". (*Ye puruse Brahma Viduste Viduh Paramesthinam —Atharva Veda*, X. VII. 17)

1.2. According to Jainism, man can attain divinity contained in the concept of Four-fold Infinities (*anantacatustaya*). Thus it shifted the emphasis from God to Man—an outcome of the development of inwardness. Hence, the interest of Jainism has been centred mainly around man, his morality and destiny. Of the seven fundamental categories of Jain philosophy, only two, the 'self' and the 'Non-self' are dealt with from a metaphysical point of view, the other five are mere corrolaries—*Asrava* (inflow of Karmic-matter) is the cause of mundane existence and *Samvara* is the cause of liberation. Everything else is only its amplification (आश्रवो भवहेतु स्यात्संवरो मोक्ष कारणम् । इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपंचनम् ॥) (*Sarva-darsan-samgraha*)

1.3 Our conduct cannot be isolated from our way of life. Truth and valuation are inseperable. Samantabhadra in his *Yuktyanusasanam* (Verse. 15) goes to the extent that "without knowing the real nature of things, all moral distinctions between bondage and liberation, merit and demerit, pleasure and pain will be blurred."

न बन्ध मोक्षे । क्षणिकैकसंस्थो
न संवृतिः सापि मृषास्वभावा ।
मुख्यादृते गौणविधिर्न दृष्टो
विभ्रान्तदृष्टिस्तव दृष्टितोऽन्या ॥

1.4 For Plato, Sankar and Bradley, philosophy, broadly, is the 'knowledge of reality', for the logical Postivist, it is only 'linguistic analysis'. However, for us, philosophy, to be true, must be philosophy of life, where we do not have a part-view but the whole-view or world-view." Idealism was unable to see the trees in the wood, which empiricism could not see the wood in the trees"—said C.D. Broad (*contemporary British Philosophy*, Ed, J.H. Murehead, Vol, I, 1924). These are the two different ways of approaching the problem

but they are not the only ways. Hence, we should see the world steadily and as a whole. If we do not look at the world synoptically, we shall have a very narrow view of it. Purely critical philosophy is arid and rigid.

1.5 The Jaina view of life known as Anekanta (Non-absolutism) is nearer to such a synoptic view. To quote Whitehead, such an non-absolutistic approach is "an endeavour to frame a coherent, logical, necessary system of general ideas in terms of which every element of our experience can be interpreted," (A.N. Whitehead : Process and Reality, 1929, p 4). The function of philosophy is not merely academic pursuit of knowledge and reality, it also serves as a way of life. It has the dual purpose of revealing truth and increasing virtue so that it may provide a principle to live by and purposes to live for. Hence, C.E.M. Joad opines that "we must achieve a synoptic view of the universe" (C E M Joad · A Critique of Logical Positivism, 1950, p.29).

2.1. The Jaina attitude of non-absolutism is rooted in its attitude towards life. Life is dear to all. To do harm to oneself. The Acharanga Sutra (I.5.5) declare "Thou art he whom thou intendest to tyrannise over". Hence a feeling of immense respect and responsibility for human personality inspires Jainism. It has upheld the worth of life very much, hence its main emphasis is on Ahimsa or non-violence.

2.2 However, its concern for non-violence is more due to ideological consciousness than emotional compassion. Unlike Buddhism, Jainism does not view life as a transient and illusory phenomenon, nor it regards it as immutable as the Upanisad-Vedanta philosophers Infact, both absolute permanence and absolute impermanence is absolute non-sense. Ahering to the common experience, Jainism regards the nature of reality as having the characteristic of origination, decay and continuance—giving a non-exclusivists view

2.3 Secondly, Jainism believes in the potential divinity of man. Given freedom of development, every individual can attain the Supreme spiritual progress. Hence, any interference means spiritual degeneration. Violence is nothing but interference with life, hence it must be eschewed in thought, word and deed. In this context, Anekantavada (Non-absolutism) is an extension of Ahimsa in the realm of thought and so is Syadvada a logical corrolary in the field of speech. Anything should be viewed not from only one standpoint (*ekanta*) but from many angles of vision The real is a variable constant, hence there must be variable angles of vision, which will negate dogmatism and imperialism of thought 'Ekanta' means the 'only' point of view, whereas '*Anekant*' implies the principle of reciprocity and interaction among the reals of the universe.

2.4 This Anekant—ideology is the spirit of synthesis (Samanvya-drsti) nurtured into the synthetic culture of India. In the Vedas and Upanisads, the ultimate reality is described neither as real (Sat) nor as unreal (Asat). Some described the reality as one, which others hold it as many. Infact, the ultimate reality is the same, though it is called by different names Agyanvada or Agnesticism of Sanjaya shows, reconciliatory spirit through his Four-fold or Five-fold formula of denial so the Vibhajyavada or the Critical Method of Investigation of Buddha is contrasted with the *Ekantavada*. This is his doctrine of Middle Path or the Mdhyam pratipada which induced Buddha to "treat prevalent opinions with all due consideration". Nagarjuna's Dialichis of Four-fold Antinomies (catuskoti) resembles Anekanta approach, The Bhedabheda system of Bhart prapancha is actually referred to as Anekanta, while the Bhatta—a Mimamsa and the Sankhya have an anekanta bias with respect to some of their ideas and methods. Therefore, Santarakshita attributes the concept of 'vaicitrya' to the Mimamsa as well to the Sankhyas. Even the critique on the right doctrines of Gautama resemble the Anekantavada in its spirit and form although they are not as pervasive as they are in Jainism.

2.5. Anekantavada is the heart of Jainism It constitutes its most original contribution to the philosophical speculation. However, Anekantavad-syadvada has been more maligned than understood even

by the great Vedantic and Buddhist Acharyas. It is misfortune that system like Advaita Vedanta which, realises the inadequacy of logic fails to appreciate the evidence of experience as well as the Probabilistic interpretation of multi-valued logics, which can reconcile the apparent contradictions in the Anekantavada. Anekanta implies twin functions of analysis and synthesis known as conjunctive and disjunctive dialichis respectively or Nayavada and Syadvada.

2.6. Viewed in the light of the doctrine of Anekanta, the reality reveals not merely as many (anantatmakam) but also as infinitely manifold (ananta-dharmatmakam). Though the reality is possused of infinite number of attribute and human knowledge is limited until it attains omniscience. Hence we cannot have the complete grasp of the whole reality or an absolute affirmation or complete negation of a predicate. To know is to relate, therefore our knowledge is essentially relative and limited in many ways. In the sphere of application of the means of knowledge or in the extent of the know how, our thought is relative. The whole reality in its completeness, cannot be grasped by this partial Thought. The objectivity of the universe reveals that the universe is independent of the mind which implies principle of distinction leading to the recognition of non-absolutism.

2.7. In absolute sense, a thing is neither real nor unreal, neither permanent nor evanscent but both. This dual nature of things is proved by a reductio-ad-absurdum of absolutism. Further, this is also the basis of the Law of Causation, because an 'absolute real' can neither be cause nor an effect. However, an 'absolute flex' cannot be the basis of operation for the Law of Causation Similarly, the controversy between unity and pharality can be easily solved by the Anekanta logic, which affirms attributes in a unitary entity. A thing is neither an absolute unity nor an irreconciliable multiplicity. Infact, it is both multiplicity-in-unity. Similarly, both absolute existence and non-existence are metaphysical abstractions.

3.1. To say that a thing is neither real nor unreal, neither eternal nor non-eternal, neither static nor mobile but partakes of the dual nature perhaps is an affront to the beleivers in the traditional Laws of thought No body rejects them but these abstract turmulations are not suited to dynamic character of the universe. Our own observation and experience reveals that the two-valued logic seems to be unreal. So far that abstract turmulation of the Laws of Thought (A is A, Identity), A is not not A (contradiction), A is either A or not-A (Excluded Midoh). They may be right. But their concrete turmulations (A Radio is a Radio) admits of change. A real radio is constantly undergoing change hence this is change according to space and time. Similarly, even change is meaningless without the idea of persistence. Hence the contradiction (A Skylab cannot both be and not be) is only notional because 'A Skylab' is a Skylab so long it works as a laboratory in the Sky but when it takes as a debris after degeneration, it is not the same sky-lab in the same condition. Hence, a skylab can be both a skylab and not a skylab. There is no difficulty to accept in actual experience.

3.2. The denial of pre-non-existence and post non-existence as part of a real bads to the impossibility of all theoretical and practical activity. Similarly, the denial of non-existence of mutual-identity (numerical differences) and absolute non-existence is also impossible. If there is no difference, there will be no distinction, hence no independence between subject and object. If there is negation of identity, there is worse confusion. Hence the nature of reality can neither be exclusively *identity* nor *multiplicity*. As regards relations, no relation is meaningful if there is pure identity and no relation is possible between the two absolutely independent and different terms. Similarly, regarding causal effeciency, the real cannot be either 'absolute constant' nor can it be an 'absolute variant' but a "variable constant."

4.1. It is asked, whether this kind of non-absolutism is itself *absolute* or *not*. Former, there is at least one real which is absolute ; if it is not, it is not absolute and universal fact. Whether non-absolutism is itself absolute or relative depends upon the nature of proposition which is either complete (Sakladesa) or incomplete (Vikladesa). The former being the object of valid knowledge (Pramana) and the latter, two object

of aspectal knowledge (naya). This means that the directive of non-absolutism is not absolute unconditionally. However, to avoid the fallacy of infinity regress, the Jainas distinguish between the non-absolutism (Samyaka Anekanta) and false non-absolutism (Mithya Anekanta). To be valid, therefore, non-absolutism must not be *absolute* but always *relative*. When one attribute is stated as constituting the whole nature of the real and thus implies the negation of other attributes, such cognitions are examples of the 'false absolute.' But *Naya* is not false though it is partial or knowledge from a particular standpoint.

4.2 The nature of unconditionality in the statement "All statements are conditional" is quite different from the normal meaning of unconditionality. This is like the idea contained in the passage "I do not know myself". Where there is no contradiction between *knowledge* and *Ignorance*, or in the 'I am undecided', where there is atleast one decision : "I am undecided". The unconditionality is not at the level of *existence*, which at the level of essence (*thought*) anything is alternative. We do not live in the realm of *thought* or *reason* above. Behind *reason*, there is always the watershed of *unreason* or *faith*. The Jainas, too have faith in that Scriptures as anybody else has in his order. Here is unconditionality. In each community, there is a special absolute. The absolutes themselves are alternation so far as they are possible (till we are on thought level), but I have chosen one and stick to it, it is more than possible, it is existent or actual. At this point, there may be a reconciliation between conditionality and unconditionality. On thought level, the statement "Everything is conditional", holds good but when are adopt the point of view of *existence*, we are bowed to rest with unconditionality.

5.1 Ideologically, we cannot make one-sided exposition But in actual usage, whenever we make any particular statement (S is P or S is not P), it takes the form of a categorical proposition. Even a Hypothetical (If S then P) or a Disjunctive (Either S or P) is said to have a categoric basis and therefore, they can be converted into categorical propositions But since our thought is relative, so must be our expression.

5.2 There is another problem also—how to synthesise the different angles of visions or internal harmony of the opposed predications (S is P, S is not P, S is both P and not P : S is neither P nor not P). It is therefore, the Jainas prefix *Syat* (somehow, in some respect) as a corrective against any absolutist way of thought and evaluation of reality. This is a linguistic tool for the practical application of non-absolutions in words. Because of this prefix *Syat* and the relative nature of proposition, it is called *Syadvada*. But words are only expressive or suggestive (vachaka or junapaka) rather than productive (Karaka). Thus the meaning is, however, eventually rooted in nature of things in reality and we have therefore, to explore a scheme of linguistic symbols (vachanvinyasa) for model judgments representing alternate standpoints (Nayas), or a way of approach or a particular opinion (abhipraya), or view point (apeka).

5.3 This philosophy of Standpoints bears the same relation to philosophy bears the same relation to philosophy as logic don to thought or grammar to language We cannot affirm or deny anything absolutely of any object owing to the endless complexity of things. Every statement of a thing, therefore, is bound to be one-sided and incomplete. Hence the Doctrine of Seven Fold Predication (Saptabhangs) is the logical consumation of the doctrine of relative standpoints (Syadvada). If we insist on absolute predication without conditions (Syat), the only course open is to dismiss either the diversity or the identity as a mere metaphysical fiction. Every single standpoint disignated in every statement has a partial truth. Different aspects of reality can be considered from different perspectives (Nikohepa) Thus Naya is the analytic and Saptabhangs is the synthetic method of studying outological problems.

5.4 In these forms of statements, this doctrine insists on the correlation of affirmation and negation. All judgments are double-edged in character—existent and non-existent The predicate of inexpressibility stands for the unique synthesis of existence and non-existence and is therefore 'unspeakable' (avakatavya). This three to predicates—'existence', 'non-existence' and 'inexpressibility' make seven propositions—which are seven exhaustive and unique modes of expression of truth

Abandonment of Passions in Jainsm

Dr. B. K. Sahay

Jainism is primarily an ethical system. It is mainly concerned with the ethical problem of removal of misery and suffering. The problem of suffering is bound up with passions, for, the very concept of suffering is taken as spiritual unrest of the transcendental nature arising out of the ego—asserting nature of man. Hence the problem of getting rid of miseries implies the abandonment of passions Krodha (anger), Māna (egoism), Māyā (hypocrisy), Lobha (greed) are considered to be the basic passions (Kaṣāya) These are the main forces that held the soul to bondage The Yoga (activities) moved by Kaṣāya (passions) attracts the Karmic particles which invade the soul and settle down on it. Thus the Yoga backed by Kaṣāya is the cause of Āsrava (inflow of karmic particles) and this Āsrava is the cause of bondage.

Really, Yoga is the external condition of bondage, and Kaṣāya the internal condition of bondage. Hence Yoga tinged with passions can only force the inflow of karmic particles (Āsrava) Without eschewing passion completely, attainment of liberation, the supreme goal of life, cannot be accomplished.

The ideal of passionlessness is as much recognised by Jainism as by its sister religions Brāhmanism and Buddhism But all approach the problem of getting rid of passions differently and give their own treatment to it.

Buddhism takes this problem purely on ethical plane Hence it teaches nothing but a mental and moral discipline designed to abondon the egoity, the root cause of passions. It considers the very idea of soul to be the strongest and subtlest form of egoistic clinging. It, therefore, propounds the doctrine of "No-self" which renounces not only phenomenal self altogether but also makes no concession for the transcendental Self. Its opproach is absolutely negative without making any room for the positive treatment of it.

Hinduism takes a positive stand in this regard and considers the individual soul ultimately to be an illusion which must be purged from the Higher Self. Thus it insists on the unity of all individual souls in One Supreme Reality which is called theistically God and absolutistically Brahman. It propounds transcendental oneness to do away with egoity and passions.

Jainism avoids both negative and positive philosophical extremes in this regard which give rise to the nihilism in Buddhism and the eternalism in Hinduism. Jainism takes into account negative and positive both and asserts that they are the two sides of the same reality. Negation and position are obtained simultaneously in the real. This truth is Anekāntic (non-absolutist) in its essence. Against the background of Anekantic philosophy, it propounds that on getting uplifted to the transcendental state the soul servives in its full glory denuded of passions. Thus, in affirming what is, it denies what is not. Like the Buddhism it does not favour annihilation of the self but only extinction of personal identity and personal life. Again, like

the Hinduism it does not prefer the dissolution, of the self into the infinity of Brahman or God, but recommends its upliftment to the most perfect and fully developed state where all the negative ideas of anger, egotism, hypocrisy and greed are completely set aside. Thus according to Jainism passions can be overcome neither by renouncing it altogether nor by unifying it with Absolute or God but by raising and elevating the individual soul to the transcendental state. Jainism avoids the non-entity of the soul on the one hand and unity of the souls on the other hand and accepts the equality of the souls. The eradication of passions is, therefore founded on the principle of equalization and elevation which gives the lofty idea of the peaceful coexistence of liberated souls and reminds us of the Kingdom of ends of Kant

सामायिक भावना

ममत्ति पडिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो। आलंबण च मे आदा अवसेसाइ वोसरे ॥
एगो मे सस्सदो अप्पा णाण-दंसण-लक्खणो। सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोग-लक्खणा ॥
णिंदामि णिंदणिज्जं गरहामि य जं च मे गरहणीयं। आलोचेमि य सव्व सब्भंतर-बाहिर उवहिं ॥
रागेण व दोसेण व ज मे अकदं हुय पमादेण। जो मे किंचि वि भणिओ तमहं सव्वं खमावेमि ॥
संसारचक्क-वालम्मि मए सव्वे वि पोग्गला बहुसो। आहारिया य परिणामिदा य ण य मे गया तित्ती ॥
तिण-कट्ठेण व अग्गी लवण-समुद्दो णदी-सहस्सेहिं। ण इमो जीवो सक्को तिप्पेदु काम-भोगेहिं ॥
णाणं सरणं मज्झं दंसण-सरणं च चरिय-सरण च। तव सजम च सरणं भगव सरण महावीरो ॥
जा गदी अरिहंताण णिट्ठिदट्ठाण जा गदी। जा गदी वीद-मोहाण सा मे भवदु सस्सदा ॥
जं च काम-सुहं लोए ज च दिव्व महासुह। वीयराय-सुहस्सेद णंत-भाग ण अग्घदे ॥

मैं निर्ममत्व होकर ममत्व भाव का त्याग करता हूँ। अब आत्मा ही मेरा एकमात्र आलम्बन है। शेष समस्त अपनत्व के भावो का परित्याग करता हूँ।

ज्ञान और दर्शन गुणों से युक्त यह मेरा एक आत्मा ही तो शाश्वत है, अनादि-निधन है। शेष समस्त भाव तो बाहरी हैं जिनका सदैव सयोग-वियोग होता रहता है।
मैं निन्दनीयकी निन्दा और गर्हणीयकी गर्हणा करता हूँ। मैं अपनी समस्त बाह्य और आभ्यन्तर उपाधियो की आलोचना करता हूँ।

राग के अथवा द्वेष के वशीभूत होकर जो कुछ जानबूझ कर न करने पर भी प्रमाद मे बन पडा हो अथवा अनुचित वचन मुख से निकल गया हो उस सबकी मैं क्षमा चाहता हूँ।

इस ससाररूपी चक्रवाल मे जितने पदार्थ हैं उनका मैंने बहुत बार सग्रह किया और उपभोग किया तो भी उनसे मेरी तृप्ति नही हुई।

जिस प्रकार तृण और काष्ठ से अग्नि को तथा सहस्रो नदियो से समुद्र को तृप्त नही किया जा सकता इसी प्रकार काम-भोगो से इस जीव की तृप्ति नहीं की जा सकती।

मेरे लिये ज्ञान ही शरण है, दर्शन शरण है और चारित्र शरण है। तप और संयम भी शरण है तथा भगवान् महावीर शरण हैं।

जो गति अरहन्त भगवन्तो की, जो गति कृत-कृत्य सिद्धो की तथा जो गति मोह-विजयी वीतरागों को प्राप्त हुई वही शाश्वत मोक्ष की गति मुझे भी मिले।

लोक मे जो कुछ काम और सुख है तथा स्वर्गादि दिव्य लोको मे जो महासुख है वह सब मिलाकर वीतरागको प्राप्त होने वाले निर्वाण-सुख के अनन्तवे भागके बराबर भी नहीं होता।

—डॉ० हीरालाल जैन द्वारा संकलित एव सम्पादित 'जिनवाणी' से साभार

Jain Concept of Ahimsa

Dr. P.M. UPADHYE

Jainism is one of the important ancient faiths in Indian context particular and in world context in general. There are many principles ethical, metaphysical and philosophical in Jainism and there lies one pertinent cardinal principle of Ahimsā in the philosophical thought of Jainism. In fact, ahimsā is the soul of Jainism; bereft of it, Jainism has no existence.

The general meaning of the word Ahimsā means—harmless abstaining from killing, or giving pain to others in thought or deed, the policy or practice of refraining from the use of violence, as in reaction to oppressive authority[1] It also means a doctrine of non-injury to all living beings[2] In a way, 'ahimsā' is an ethical principle applicable to all living beings and in practice, it would mean abstaining from animal food, relinquishing war, rejecting all thoughts of taking life, regarding all living beings akin.[3] With these meaning of the term Ahimsā, in our mind, we will certainly find out the Jain concept of Ahimsā embraces all of them and also extends the limit of Ahimsā so that it has been accepted as one of the important principles of Jainism All the Jain canonical works, biographies of Jain saints and sevants, Jain purāṇas, do proclaim the Ahimsā principle in letter and spirit[4]

According to Jainism, monks and laymen are to follow five great vows and minor vows respectively and the first vow is the Ahimsā, as given in the Jain canonical literature. Vows are to be followed life long. Great vows are unconditional but they are reduced for laymen to their abstaining from offences against live matter leading to death etc. Gross offence against any living being,[13] understood by fettering, beating, wounding, overloading, disregarding the urge of appeasing one's hunger and quenching one's thirst, all this most probably with a view to domestic animals. Such a practice of 'ahimsā' is of a positive nature not negative as it is wrongly understood. Jainism does not stop here. It goes one step further Jainism advocates Ahimsā to be followed directly as well as indirectly. In other words—monks, and laymen or followers of Jainism are to renounce himsā or forbidden activity so far as it consists in one's actively causing it. They should not do it, or cause others to do it, or give consent to others to do it, they should not do it mentally, physically as well as by speech (vide Uvāsagadasāo-etc). This is indeed a noble principle of Ahimsā preached in Jainism.

It has an ethical side. This principle of Ahimsā asks for preservation of life in any form or shape. This also speaks for reverence towards life as Albert Schweitzer has put it, by which the realm of life was

1. See Apte's Sanskrit-English Dictionary, Random House, Dictionary of the English Language.
2. Encyclopaedia of Religion and Ethics. Vol. 1, page 231.
3. Vide Dictionary of Philosophy, page 8.
4. Āyāranga 1-4-2 Sūyagadāṅga 1-11, Nāyādhamma Kahāo, Uvāsaga dasā-o, Uttaradhyayana Sutra, Dasaveyāliya etc.

so immeasurably extended, permeates the discipline of Mahaviras order in a way no other ethical prescription does.[1]

This is in brief the concept of Ahimsa in Jainism.

It may be mentioned that in the Patanjali Yoga. (2.30), there is an imfortant place of Ahimsā in the list of five 'Yamas'. According to Gautama dharma Sūtra, ahimsā is one of the ātma-saṁskāra and it is one of the means of Salvation. Will Durant says that according to Jains, the road to release was by ascetic penances and complete Ahimsā.[2] Even Mahatma Gandhi had been strongly influenced by this Jain concept of Ahimsā which he accepted as the basis of his policy and life.

Even the Buddhism accepts Ahimsā as one of the cardinal principles. The Mahabharata speaks highly of Ahimsā[3] Manu, a great social philosopher does not forget to mention Ahimsā as one of the virtues[4]. This doctrine of non-injury to all living beings finds expression in a mystical passage in Chandogyopaniṣad. (3—17), where five ethical qualities, one being 'ahimsā', are said to be equivalent to a part of sacrifice of which the whole life of man is made an epitome.

Jainism accepted the non-injury doctrine and made it a leading tenet of their school.

The Jain concept of Ahimsā is quite positive, and it is useful for the social development. From individual point of view, it is a social virtue as well as individual one so that there would be peace in society. In today's context of world tension, fear of war, hatred towards each other, Ahimsā as understood by Jainas is an essential factor to bring about peace and sane social order in the world.

Thus, Jain concept of Ahimsā is a great contribution to Indian thought in particular and world thought in particular for the purpose of bringing about sane social order and world peace.

राष्ट्र की रक्षा के लिए ऐसा कोई कार्य नही है जो जैनी न कर सकता हो। जैनियो के पुराण तो युद्धो से भरे पड़े हैं, और उन युद्धो मे अच्छे-अच्छे अणुव्रतियो ने भी भाग लिया है।

पद्मपुराण मे लड़ाई पर जाते हुए क्षत्रियो के वर्णन मे निम्नलिखित श्लोक ध्यान देने योग्य हैं :—

सम्यग्दर्शनसम्पन्न शूर कश्चिदणुव्रती।
पृष्ठतो वीक्ष्यते पत्न्या पुरस्त्रिदशकन्यया॥

किसी सम्यग्दृष्टि और अणुव्रती सिपाही को पीछे से पत्नी और सामने से देव कन्याएं देख रही है।

स्वामी रामभक्त के लेख 'जैनधर्म में अहिंसा' से उद्धृत
वर्णी—अभिनन्दन-ग्रन्थ पृ० सं १३१

1. Vide. The Doctrines of the Jainas, by Walther Schubring, page 301.
2. The Story of Civilisation-Vol. I, page 421.
3. Śāntiparva-(340-89).
4. Manusmriti 5-44-48.

अहिंसा का स्वरूप और महत्व

डा० चन्द्रनारायण मिश्र

अहिंसा का मनोवैज्ञानिक आधार—

अत्यन्त व्यावहारिक रूप में भी यह मानना ही पड़ेगा कि हम जो कुछ कार्य करते हैं उसके पीछे हमारी एकमात्र भावात्मक एषणा यही रहती है कि हमें सुख हो। उसी के गर्भ में यह निषेधात्मक एषणा भी रहती है कि हमें दुःख नहीं हो

दुःखं न मे स्यात्, सुखमेव मे स्यात्,
इति प्रवृत्तः सततं हि लोकः। (बुद्धचरित)

इस सत्य को आधार बनाकर ही जैन मनीषियों ने अहिंसा के व्यवहार की उपादेयता बतलाई है। भगवान महावीर ने सुखेच्छा की मौलिक प्राणिप्रवृत्ति को ही पुरोभाग में रखते हुए कहा था

सव्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविउं न मरीजिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंतिणं॥

सब जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता है। यह एक ऐसी नैसर्गिक और सहज प्रवृत्ति है जिसको इनकारा नहीं जा सकता है। यह एक ऐसे साधारण अनुभव की बात है जो व्यक्ति से लेकर समाज और राष्ट्र तक पर लागू है। वस्तुतः यह सृष्टि के विधान का ही एक आवश्यक प्रेरक तत्त्व है कि हम जीना चाहते हैं। दूसरे रूप में इसे यों भी कहा जा सकता है कि प्रकृति ने हमें जीने का मौलिक अधिकार दिया है। इस अधिकार को यदि कोई जबरन छीनने का प्रयास करता है तो वह घोर अन्याय करता है, पाप करता है। शाश्वत प्रकृति-धर्म के विरुद्ध का आचरण अन्याय और पाप नहीं तो और क्या ? इतना ही नहीं, प्रकृति जिन नियमों में आबद्ध होकर परिचालित होती है उसका यदि कोई उल्लंघन करता है तो उसे प्रकृति के आक्रोश का भागी बनना ही पड़ता है। यह आक्रोश किसी को क्षमा नहीं करता। आक्रोश कार्यशील होकर असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न करता है। साथ ही, एक बिन्दु पर का असन्तुलन सर्वत्र व्याप्त हो जाता है, अर्थात् उसके सम्पर्क में आए अन्य बिन्दुओं को भी प्रभावित कर देता है। असन्तुलन की क्रिया-प्रतिक्रिया ऐसी होती है कि क्षोभों का तांता लग जाता है। इसी को व्यक्तिगत अथवा सामाजिक जीवन में अशान्ति की स्थिति कहते हैं।

इसके विरोध में यह कहा जा सकता है कि जिस जीने की मूल प्रवृत्ति की चर्चा की गयी है उसी का यह भी तो एक उपनियम है कि 'जीवो जीवस्य घातकः'। विकासवाद के नवीन पक्षपाती इसी को survival of the fittest की संज्ञा देते हैं। योग भाष्यकार ने इसी प्रकार के एक प्राचीन मत को उद्धृत किया है जिसका कहना है कि जब तक अन्य प्राणियों की हत्या न की जाय तब तक सांसारिक उपभोग सम्भव नहीं हो सकता है—

नाऽनुपहत्य भूतान्युपभोगः संभवतीति हिंसाकृतोऽप्यस्ति शारीरः कर्माशय इति। (योगभाष्य, २/१५)

यह तो अनुभव-सिद्ध ही है कि बड़े-बड़े विजेताओं के विजय-स्तम्भ की नींव अनगिनत नरमुण्डों पर खड़ी की गयी और धनियों की गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ दरिद्रों की झोपड़ियों को धराशायी कर बनाई गई। किसी भी महत्वाकांक्षा की पूर्ति परपीड़न के बिना सम्भव ही नहीं है। सांसारिक जीवन की दौड़ में वही आगे निकल सकता है जो साथ दौड़ने वालों को धक्का देकर गिरा सकता

हैं। ऐसा भी विश्वास किया जाता है कि महत्वाकांक्षा के बिना सभ्यता आगे बढ ही नही सकती है और उसकी संतुष्टि के लिए प्रतिस्पर्धा की सक्रियता आवश्यक है। प्रतिस्पर्धा में सफलता के लिए अपने प्रतिस्पर्धियों का किसी न किसी प्रकार से दमन करना अनिवार्य है। दमन में परपीड़न होगा ही। इस प्रकार मनुष्य के जीवन से हिंसा के भाव को हटाना एक मधुर कल्पनामात्र है।

मानव धर्म के रूप में अहिंसा—

पाश्चात्य विकासवादियों का यह तर्क आपातत. प्रभावोत्पादक लगता है किन्तु इसका खोखलापन स्वयं इसका ही विपर्यस्त आधार-वाक्य प्रकट कर देता है। यदि वन्य नियम (Rule of jungle) को सभ्य जीवन का भी मानक माना जाय तो सभ्यता का रूप ही विकृत हो जाएगा। 'मात्स्यन्याय' के द्वारा मानव जीवन की नीति को निर्धारित करने पर सभ्यता और संस्कृति की गति ऊर्ध्वमुख न होकर अधोमुख हो जाएगी। डार्विन के पक्षपाती पशु एवं मनुष्य मे केवल परिमाणात्मक भेद मानते है किन्तु भारतीय विचार उनमे गुणात्मक भिन्नता देखता है। अरस्तू के अनुसार पशु के साथ मनुष्य की भिन्नता इसलिए है कि मनुष्य मे बुद्धि है अर्थात् उसमे युक्तिशीलता का गुण है — Man is a rational animal यह गुण पशु मे नही माना गया है। दकार्ते तो पशु को मात्र सजीव मशीन मानते हैं। किन्तु भारतीय विचार के अनुसार तारतम्यजन्य भिन्नता भले ही हो किन्तु पशुओं मे भी बुद्धि है अवश्य—बुद्धिरस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे (मार्कण्डेय पुराण)। वास्तविक भेद तो इस विषय को लेकर है कि पशुओं मे विवेकजन्य कर्त्तव्य की भावना नही रहती जो मनुष्यों मे होती है

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीना पशुभिः समाना। (हितोपदेश)

इस प्रसंग मे कर्त्तव्य शब्द का अर्थ 'मानवीय कर्त्तव्य' समझना चाहिए। जो मानवीय कर्त्तव्य है वही धर्म है। चूँकि कुछ ऐसे कर्त्तव्य होते हैं जिनके द्वारा समग्र जीवन का लक्ष्य सिद्ध होता है इसलिए उनका एक नाम 'धर्म' है (यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः)। ये कर्त्तव्य ऐसे हैं जिनका धारण अत्यावश्यक है (धारणाद्धर्ममित्याहु)। यदि उनका धारण न हो तो समाज मे अव्यवस्था छा जाएगी धर्मो धारयति प्रजा), और सभ्यता विशृंखलित हो जाएगी। जिसे हम संस्कृति कहते है उसकी प्राप्ति असम्भव हो जाएगी। संस्कृति किसी मनुष्य-समाज की होती है, पशु-समुदाय की नही। सभ्यता के पथ पर बढ़ते हुए मानव समाज ने अब तक जिन मूल्यों का स्थापन किया है वे ही उसकी संस्कृति की उपलब्धियाँ है। पशु की ऐसी कोई उपलब्धि नही होती है। पशु साधारणतया दैहिक आवश्यकताओं से प्रेरित होकर क्रियाशील होता है किन्तु मनुष्य की क्रियाशीलता का प्रेरक घटक बौद्धिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वो के प्रति उसकी उन्मुखता है। बाइबिल का निम्नलिखित कथन इसी आशय का व्यक्त करता है

Blessed are those who feel their spiritual need,
for the kingdom of Heaven belongs to them

साधारण प्राणी की भूख-प्यास अन्न-जल से शान्त हो जाती है किन्तु इन दैहिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त मनुष्य की एक पृथक् बुभुक्षा और तृषा होती है जो सुभद्र तत्त्वो की उपलब्धि से ही शमित हो सकती है—

Blessed are those who are hungry and thirsty for uprightness,
for they will be satisfied ' (Bible, The New Testament)

इतनी बड़ी भिन्नता की खाई को देखते हुए भी यदि हम मनुष्य को एक साधारण निम्नवर्गीय प्राणी के समकक्ष रख कर प्राणीमात्र को एक ही नियम मे आबद्ध करने का प्रयास करे तो हमारा निष्कर्ष अवश्य ही भ्रान्तिग्रस्त होगा। इसी प्रकार की भ्रान्तिग्रस्तता का एक नमूना उपर्युक्त विचार है जिसमे हिंसावृत्ति को साधारण जीवन निर्वाह के लिए भी अनिवार्य माना गया है।

इसमे कोई मतान्तर नही है कि मनुष्य एक प्राणी है। परन्तु वह ऐसा निम्नस्तर का प्राणी नही है जिसमे उचित-अनुचित के ज्ञान की सम्भावना नही है। जिस प्राणी मे ऐसा ज्ञान नही रहता है उसके किसी कर्म पर उचित-अनुचित का निर्णय भी नही दिया जा सकता है। बच्चे मे उक्त प्रकार के ज्ञान के अभाव के कारण यदि प्रचलित अर्थ मे उससे कोई अपकर्म भी किया जाता तो उस पर न तो पुण्यपाप का निर्णय लिया जाता है और न वह किसी शास्त्रदण्ड अथवा राजदण्ड का ही भागी समझा जाता है। उसी प्रकार बिच्छू यदि किसी को डंक मार देता तो उसका भी कर्म अच्छे बुरे की परिधि से बाहर ही गिना जाता है क्योंकि वैसा तो उसका स्वभाव ही है।

उसे यह समझने की क्षमता नहीं होती कि कितने प्रतिबद्ध कर्म के लिए उसे क्या करना चाहिए अथवा उसके डंक मारने का दूसरे पर क्या परिणाम होगा है। परन्तु उसी प्रकार स्वाभाविक कर्म होने के बहाने किसी हत्यारे मनुष्य को हत्या के दण्ड से मुक्ति नही मिल सकती है। परिणाम के पूर्व ज्ञान के उपरान्त ही ज्ञानमयुक्त व्यक्ति का कोई ऐच्छिक कर्म होता है। दारुण कष्ट देने अथवा जान लेने के लिए ही कोई हिंसक मनुष्य प्रहार करता है। वह अपने व्यापार के पूर्वगामी और पश्चाद्भावी परिणामो की पूरी जानकारी रखता है। स्वभावत ऐसे ज्ञान का नही रहना कोई दोष नही है, किन्तु ज्ञानभागी होकर भी औचित्य का उल्लघन करना अपराध और पाप है। इसी भेद के कारण पशु-व्यवहार और मानव-व्यवहार में भी भिन्नता है। 'बदले का बदला' पशु-धर्म है किन्तु 'अपराध के बदले क्षमा' यह मानव धर्म है। क्षमा का उद्भव अहिंसा मे ही है। इसी तथ्य पर बल देते हुए करुणावतार ईसामसीह ने शिक्षा दी थी .—

You have heard that they were told 'An eye for an eye and a tooth for a tooth' But I shall tell you not to resist injury, but if any one strikes you on your right cheek, turn the other to him too; and if any one wants to sue you for your shirt, let him have your coat too And if any one forces you to go one mile, go two miles with him. If any one begs from you, give to him, and when any one wants to borrow from you, do not turn away (Bible)

वास्तविक मनुष्य वही है जो मानव धर्म का पालन करता है। और, मानवधर्म के पालन का अर्थ होता है अहिंसाव्रत का पालन। इसलिए कोई भी मनुष्य किसी प्रकार की हिंसा के कर्म मे सम्बद्ध हो और अधर्म अथवा अनौचित्य के दोष मे बरी हो, ऐसा नही हो सकता।

मनुष्य को अन्य प्राणियो का सिरमौर इसलिए कहा गया है कि वह ज्ञान के विकास की दिशा मे सबसे आगे है। परन्तु ज्ञान स्वय अपने मे लक्ष्य नही है, वह तो साधनमात्र है। यहा ज्ञान शब्द से हमारा तात्पर्य वास्तविक ज्ञान से है। वास्तविक ज्ञान वह है जो सम्यक् आस्था और निष्ठा पर आधारित हो एवं जो विशुद्ध मानवोचित चरित्रनिर्माण की ओर उन्मुख करता हो। अन्तिम लक्ष्य है चरित्र निर्माण, शुष्क ज्ञान नही। इसलिए कहा भी गया है कि

> शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
> यस्तु क्रियावान् पुरुष स विद्वान्।
> अन्धस्य कि हस्ततलस्थितोऽपि
> प्रकाशयत्यर्थमिह प्रदीप ॥ (हितोपदेश)

उक्त प्रकार की निष्ठा और ज्ञान के द्वारा जिस चरित्र का निर्माण होता है वही नि श्रेयस का भी अधिकारी होता है. सम्यक्ज्ञान-दर्शन-चारित्राणि मोक्षमार्ग (उमास्वामी कृत तत्वार्थ सूत्र)। परन्तु इन सबो की जड़ मे है मन, वचन और कर्म की एकात्मकता। यदि हम स्वीकारते है और समझते भी है कि अहिंसा का पालन मानवधर्म है तो इसको हमे अपने दैनन्दिन व्यवहार मे उतारना चाहिए। केवल मुख से ऐसा कहना कि 'अहिंसा परमो धर्म' अथवा मात्र इसके महत्त्व को विचार के ही स्तर तक रखना पाखण्ड है—ज्ञानं भार: क्रियां बिना। यह भी एक सम्भावना है कि बहुतेरे लोग परम्परागत रूप मे ही 'अहिंसा परम धर्म है' इस वाक्य को ढोते आ रहे हैं। अहिंसा के वास्तविक रूप से वे वस्तुत अपरिचित रहते हैं। इसलिए इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती है कि ऐसे लोगो के लिए अहिंसा की एक संक्षिप्त परिचयात्मक रूपरेखा प्रस्तुत की जाय।

अहिंसा का निषेधात्मक और भावात्मक पक्ष :

महावीर स्वामी ने सभी प्राणियों के प्रति सयम रखने को अहिंसा कहा है—अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु सजमो (दशवैकालिक, ६-८)। यहा प्राणियो के प्रति सयम का अर्थ है उनके प्रति अकुशलमूलक कार्यों से बचना। इस विचार की व्याख्या व्यासभाष्य में अधिक परिच्छिन्नता से की गयी है। इसमे सभी प्रकार से सब समय प्राणिमात्र के प्रति अनिष्ट चिन्तन के अभाव को अहिंसा कहा गया है.

तत्राऽहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोह (व्यासभाष्य २/३०)

अहिंसा हिंसा का विरोधी भाव है, अत. स्वयं हिंसा के स्वरूप पर एक विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक जान पड़ता है। किसी प्रकार का प्राणिपीडन हिंसा कहलाता है। साधारण व्यवहार में प्राणिवध को हिंसा कहते हैं। यह हिंसा है अवश्य, किन्तु इतना ही भर

हिंसा नहीं है। साथ ही, केवल वही हिंसा का दोषी नहीं है जो साक्षात् रूप से प्राणी की हिंसा करता है। साक्षात् अथवा परम्परया किसी भी रूप में यदि किसी जीवधारी को कष्ट पहुंचाया जाता है तो वह हिंसा का उदाहरण होता है। कृत, कारित और अनुमोदित—ये तीन हिंसा के प्रारम्भिक भेद हैं। कोई हिंसा ऐसी होती है जो कर्त्ता के द्वारा साक्षात् रूप से की जाती है, जैसे किसी व्याधा के द्वारा किसी पशु अथवा पक्षी की हत्या। परन्तु यदि कोई व्यक्ति स्वयं हिंसा नहीं करता बल्कि दूसरे के द्वारा करवाता है तो उसमें भी उसका प्रेरक कर्म हिंसा की ही कोटि में आता है। फलतः किसी की आज्ञा के द्वारा यदि हत्या की जाती है तो आज्ञा देने वाला भी हिंसक ही कहलाएगा। तीसरा भेद वह है जो न कृत है और न कारित ही, किन्तु जिसकी स्वीकृति भर दी गयी हो। किसी प्राणी के वध का विरोध करने के बजाय यदि यह कहा जाय कि 'ठीक है' तो इस प्रकार की स्वीकृति को अनुमोदित हत्या कहेंगे। इनमें से प्रत्येक को लोभ, क्रोध और मोह के भेद से पुनः तीन भागों में विभाजित किया गया है। लोभ-जन्य हत्या या हिंसा का उदाहरण मांस और चमड़े के लिए बकरे आदि का वध है। किसी अपकार का बदला लेने के लिए जो वध किया जाता है वह क्रोधजन्य हिंसा का उदाहरण होता है। काफिर होने के कारण मुसलमानों ने भारतवर्ष में आकर हिन्दुओं का जो कत्लेआम किया वह मोहजन्य हिंसा का उदाहरण है क्योंकि इस प्रकार की हत्या का कारण भ्रमात्मक बुद्धि ही है। फिर मृदुता, मध्यता और तीव्रता के आपेक्षिक भेद के कारण प्रत्येक का मृदु-मृदु, मध्यमृदु, तीव्रमृदु; मृदुमध्य, मध्यमध्य, तीव्रमध्य; मृदुतीव्र, मध्यतीव्र एवं अधिमात्रतीव्र आदि के भेद से इक्यासी प्रकार की हिंसा कही गयी है। यह भी दिग्दर्शनमात्र है। प्राणियों की संख्या अनन्त है; अतः हिंसा का प्रकार भी असंख्येय हो सकता है :

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभ-क्रोध-मोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्

—योगसूत्र २/३४

इन सभी हिंसाओं से बचना ही अहिंसा है।

यों तो अहिंसा शब्द साधारणतया और स्वरूपतः भी निषेधात्मक प्रवृत्ति के अर्थ में व्यवहृत होता आया है। परन्तु अर्थतः यह अभावरूप नहीं है। वस्तुतः इसके अर्थ का बाह्यरूप आभावात्मक और आभ्यन्तर रूप भावात्मक एवं विधिपरक है। इसलिए यह कहना उपयुक्त होगा कि एक ही अहिंसाविचार के दो पक्ष हैं। प्रथम में प्राणियों के प्रति प्रतिकूल या अकुशलमूलात्मक प्रवृत्तियों का निषेध है तो द्वितीय में कुशलमूलात्मक प्रवृत्तियों का स्वतः विधान है। अहिंसा के इस प्रकार महत्त्वगर्भित होने के कारण ही सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के यमनियमों के मूल में इसके अस्तित्व को माना गया है—उत्तरे च यमनियमास्तन्मूला —(व्यासभाष्य २/३०)

यह एक ऐसा महाव्रत है जो देशकाल की भिन्नताओं द्वारा अनवच्छिन्न होकर सर्वत्र एक रूप से लागू है।

जाति-देश-कालसमयाऽनवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम्। —योगसूत्र २/३१

यों तो वेदों में भी 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' जैसे अहिंसा-प्रतिपादक वाक्य मिलते ही हैं, किन्तु मीमांसक इस सामान्य-शास्त्र का विरोध 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' जैसे विशेष शास्त्र के द्वारा मानकर कादाचित्क हिंसा का भी समर्थन करते हैं। परन्तु पीछे चलकर प्रायः जैन एवं बौद्ध विचारों से प्रभावित होकर सांख्य एवं योग जैसे वैदिक दर्शनों ने भी अहिंसा में अपवाद का विरोध किया (सांख्यतत्त्व कौमुदी, २) एक व्यावहारिक विचार यह भी प्रस्तुत किया गया है कि किसी जातिविशेष के व्यवसाय में हुई हिंसा को हिंसा नहीं समझा जाय जैसे मछुए के लिए मछली मारने में हिंसा को। उसी प्रकार पुण्यतीर्थ (काशी, प्रयाग आदि) और पुण्यदिन (चतुर्दशी आदि) में हिंसा का वर्जन किया गया एवं किसी पुण्यकार्य के लिए की गयी हिंसा को हिंसा नहीं समझा गया। परन्तु व्यासभाष्य ने इस विचार का खण्डन कर यह निश्चित किया है कि अहिंसा में किसी भी प्रकार का व्यभिचार सम्भव नहीं है क्योंकि यह तो एक सार्वभौम व्रत है (व्यासभाष्य, २/३१)।

अहिंसा के जिस भावात्मक पहलू की चर्चा की गयी है उसमें प्रायः सभी सत्त्वात्मक गुणों का समावेश हो जाता है, फिर भी उन सबों में प्रमुख स्थान कृपाभाव का है। यही कारण है कि जैनों के प्रश्नव्याकरण सूत्र में अहिंसा को दया भी कहा गया है। इसी को अनुकम्पा या कृपा भी कहते हैं। किसी प्राणी को प्रतिकूल सम्वेदन से अनुकूल सम्वेदन की स्थिति में देखने के लिए सहानुभूतिपूर्ण अन्तःप्रेरणा को दया की संज्ञा दी गयी है —

अनुकम्पा कृपा। यथा सर्वे एव सत्त्वा सुखार्थिनो दुःखप्रहाणार्थिनश्च ततो नैषामल्पापि पीडा मया कार्येति।

(धर्मसंग्रह, अधि० २)

अहिंसा के गर्भ में भी यही भावना होती है—

अहिंसा सानुकम्पा च। (प्रश्नव्याकरण टीका, १ सं०)।

अतः दया अहिंसा का ही भावात्मक पहलू है। योगभाष्य में अहिंसा को सभी महाव्रतों का आधार कहा गया है। उत्तराध्ययन वृत्ति (१-११) ने भी अहिंसा को धर्म का मूल कहा है क्योंकि उसी का भावात्मक पक्ष दया का रूप है (धर्मः··· ·····पूर्णदयामयप्र वृत्तिकत्वादहिंसामूलः)। उसी अर्थ में 'धर्मरत्न प्रकरण' ने भी दया को धर्म का मूल कहा है क्योंकि अन्य सभी अनुष्ठान उसी के अनुगामी हैं—

मूलं धम्मस्स दया, तयणुगयं सव्वमेवाऽणुट्ठाणं।

टी०—मूलमाद्यकारणं धर्मस्य प्रस्तावितरूपस्य दया प्राणिरक्षा।

प्रसिद्ध जैनागम भगवतीसूत्र ने दया का जो वर्णन किया है उससे भी यह स्पष्ट होता है कि अहिंसा को दया का समानार्थक माना गया है। इसमें कहा गया है कि 'जीवमात्र को कष्ट नहीं देना, शोक में नहीं डालना, रोदन एवं अश्रुपात करने का हेतु नहीं होना, ताड़न नहीं करना, भय नहीं दिखाना, अनुकम्पा के रूप हैं (भगवती सूत्र, ६-७)। पारिभाषिक रूप में अहिंसा का भी स्वरूप तो यही है। पुनः 'दया, संयम, लज्जा, जुगुप्सा, कपटहीनता, तितिक्षा, अहिंसा और ह्री'—इन सबों को समानार्थक कहा गया है—

दया य संजमे लज्जा, दुगुंछा अच्छलणाति य।

तितिक्खा य अहिंसा य, हिरीति एगट्ठिया पदा।

(उत्तराध्ययन निर्युक्ति, अ० ३)

इससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जैन विचार में अहिंसा का क्षेत्र कितना व्यापक है। इसकी इसी व्यापकता और धर्म के मूल में होने के कारण जहाँ कहीं धर्म के तत्त्वों को गिनाया गया वहाँ अहिंसा की चर्चा प्रारम्भ में ही की गयी। यह विषय वैदिक और अवैदिक दोनों दर्शनों के प्रसंग में समान रूप से सत्य है। उदाहरण के लिए मनु की निम्नलिखित उक्ति को लें—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥ (मनुस्मृति-१०/६३)

अहिंसा सत्यमस्तेयं त्यागो मिथुनवर्जनम्।

पंचस्वेतेषु धर्मेषु सर्वे धर्माः प्रतिष्ठिताः॥

भारतीय वाङ्मय में इस प्रचलित कथन से सभी सुपरिचित हैं कि वेदव्यास के अठारहों पुराणों का आशय अहिंसा का ही उपदेश है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

जैन आचार-विचार का तो अहिंसा मूलमन्त्र ही है। इसलिए स्वर्ग, मोक्ष आदि की उपलब्धि के जितने साधन हैं उनमें इसे सर्वप्रधान कहा गया है। वस्तुतः अन्य व्रतों का उपदेश भी इसी के संरक्षण के लिए किया गया है:—

अहिंसैषा मता मुख्या स्वर्गमोक्षप्रसाधनी।

एतत्-संरक्षणार्थं च न्याय्यं सत्यादिपालनम्॥ (हारिभद्रीय अष्टक)

जैन विचार की असल फसल अहिंसा ही है। सत्यादि पालन के नियम तो उसकी रक्षा के लिए केवल बेड़े का काम करते हैं:

अहिंसाशस्यसंरक्षणे वृतिकल्पत्वात् सत्यादिव्रतानाम् (वहीं)।

कहने का आशय यह है कि धर्म के और जितने व्रत, नियम आदि हैं वे सभी किसी न किसी रूप में अहिंसा-रूपी अंगी के ही अंग हैं।

सुखोपलब्धि का बीज अहिंसा है—

मनुष्य का जीवन सुख और दुःख दोनों का सम्मिलित अनुभव है। जब तक कोई साधारण जीवन के अनुभव के क्षेत्र में रहता है तब तक ये दोनों अनुभव अवश्यम्भावी हैं। परन्तु ऐहिक जीवन में कोई साधारण व्यक्ति 'केवली' नहीं हो सकता अर्थात् उसे अन्य व्यक्तियों की भी अपेक्षा रहती है। अरस्तू ने ठीक ही कहा था कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहने का अर्थ यह है कि उसे अपने समकक्ष अन्य व्यक्तियों के साथ रहना पड़ता है। समाज की कल्पना हम प्राणिसमाज के रूप में करें तो समाज का क्षेत्र और भी व्यापक हो जाता है। इस क्षेत्र में स्थित प्रत्येक व्यक्ति को अन्य के साथ किसी न किसी सम्बन्ध की स्थापना करके ही रहना पड़ता

है। हमारे सुख-दुःख के कारण सामान्यतया इन्हीं सम्बन्धों के रूप पर निर्भर करते हैं। इसी प्रसग मे यह भी ध्यान में रखना है कि जैन और बौद्ध दर्शन इस तथ्य में विश्वास करते हैं कि अपने सुख-दुःख के निर्माणकर्त्ता हम स्वयं हैं। कर्मवाद पर अटूट विश्वास एवं आस्था रखते हुए जैन दार्शनिको का यह मन्तव्य है कि जो भी हमारे सुख-दुःख के अनुभव हैं वे सभी अपने ही कर्म के फल है। जैसी करनी वैसी भरनी। जो आम का पौधा लगाएगा उसे अमृतफल रसाल मिलेगा, किन्तु जो बबूल का पौधा लगाएगा उसे तो निश्चितरूपेण काँटे ही मिलेंगे, यह अनुभव-सिद्ध है। विज्ञान एवं दर्शन भी इस कार्यकारणवाद की अनिवार्यता पर विश्वास करते है कि कार्य एव कारण में सजातीयता होती है और क्रिया के अनुरूप प्रतिक्रिया भी होती है। कहने का तात्पर्य यह कि कोई भी ऐसा कर्म नहीं होता जो किसी अन्य कर्म के रूप मे प्रतिफलित नहीं होता हो।

इस सामान्य नियम की पृष्ठभूमि मे अब हम अपनी मूलप्रकृति पर पुन दृष्टिपात करें। इसका निर्देश प्रसगवश प्रारम्भ में ही कर दिया गया है कि हम स्वभावत. सुख की प्राप्ति और दु.ख की निवृत्ति की कामना करते हैं। मरणत्रास सबसे बड़ा भय है और जीवन सबसे प्रिय वस्तु होती है। भगवान महावीर ने इसी जीवन के प्रेरक मूलतत्त्व का अपनी देशना का आधार बनाकर कहा है—

सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा।
पियजीविणो जीविउकामा सव्वेसि जीविय पिय॥ (आचाराग सूत्र १/२/३/६३-६४)

उपर्युक्त सत्य को अनिवार्य रूप से मानना ही पड़ेगा। तब फिर कर्म की बात आती है कि कौन से ऐसे कर्म हैं जिनके द्वारा उपर्युक्त इच्छा की यथावत् पूर्ति हो सकती है। इष्ट कर्म की प्राप्ति अनिष्ट कर्म के माध्यम से नहीं हो सकती है। अत किसी अन्य को सुख देकर ही कोई स्वयं भी सुखी हो सकता है, अन्यथा नही :

सर्वाणि सत्त्वानि सुखे रतानि,
दुःखाच्च सर्वाणि समुद्विजन्ति।
तस्मात् सुखार्थी सुखमेव दद्यात्,
सुखप्रदाता लभते सुखानि॥ (सूत्रकृतागवृत्ति)

इसको समझने के लिए कि हमारा कौनसा कर्म औरो के लिए प्रिय अथवा अप्रिय होगा हमें कही अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। यह स्वसंवेद्य है—हम अपने आप से पूछकर यह समझ सकते हैं कि क्या प्रिय (अहिंसात्मक) और क्या अप्रिय (हिंसात्मक) है। हमें जो व्यवहार स्वयं नही रुचता उसे दूसरो के प्रति नही करना है

आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचरेत्। (उपासकाध्ययन, भा. I, श्लो. २६७)

यही अहिंसा-संहिता का प्रथम मूलमन्त्र है। अहिंसा के व्यवहार को अन्य प्राणियो के प्रति भी प्रसारित करने के लिए हमारी सत्त्वात्मक वृत्ति स्वय हमें उत्प्रेरित करती है। इसी को कितने सहजभाव से एक साधु-हृदय के स्वानुभूतिपूर्ण उद्गार ने यों प्रकट किया है :

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा. भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधव॥ (हितोपदेश)

अहिंसा का एक पक्ष यह भी है कि इसके परिणामस्वरूप भय का निवारण अपने आप हो जाता है। जैनागम में इसे एक मार्मिक कथानक के द्वारा समझाया गया है।

महाराज संयति मृगया के लिए एक बार जगल मे गये। वहाँ एक मृग पर उन्होने तीर छोड़ा। तीर ठिकाने लगा, परन्तु वह मृग बिंधे हुए तीर के साथ एक समाधिस्थ मुनि के आगे जा गिरा। संयति उसका पीछा करते हुए जब वहाँ आए तो ऋषि के शाप के भय के कारण काँपने लगे। ऋषि का ध्यान टूटा तो अपने अपराध के लिए संयति उनसे बारम्बार क्षमायाचना करने लगे। भयभीत महाराज की यह स्थिति देखकर ऋषि ने शान्तभाव से उन्हे सम्बोधित करते हुए कहा, 'राजन् मैं तो तुम्हें अभयदान देता ही हू, साथ ही यह भी तुमसे कहता हू कि तू भी अभयदाता बन। इस छोटे से जीवन मे प्राणियो का पीडन कर तू स्वयं कैसे सुखी रह पाएगा ?' :

अभयो पत्थिवा तुब्भ अभयंदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीवलोगम्मि किं हिंसाये पसज्जसि॥

इस वाक्य का असर महाराज संयति पर जादू के समान हुआ और उन्होंने उसी दिन से मृगया पर जाना छोड़ दिया। भय सुख का चोर है क्योंकि भय का वातावरण अशान्ति की स्थिति का उत्पन्न करता है जिसमे सुख की कोई आशा ही नही की जा सकती है। इसलिए सुख के लिए अभय की जननी अहिंसा का स्थापन नितान्त आवश्यक है।

क्रिया-प्रतिक्रिया का नियम ऐसा है कि बिना अहिंसा का भाव रखे हम स्वयं भी वस्तुतः सुखी रहने की कल्पना नही कर सकते हैं। कोई बलशाली निर्बल को सताता है। परन्तु बलशीलता और निर्बलता निरपेक्ष भाव नही हैं। किसी बलशाली को अपने से अधिक बलवान के फेर मे पड़ने पर निर्बल की तरह दुर्गति का भागी बनना पड़ता है। दूसरी बात यह भी है कि निर्बल सदा निर्बल ही नही रहता—'मरे बैल के चाम से लोह भस्म ह्वै जाय'। एक समय ऐसा भी आता है जब निर्बल की 'आह' सघटित होकर प्रचण्ड आघात करती है। संसार की विभिन्न हिंसक क्रान्तियाँ इसका साकार उदाहरण हैं। परन्तु यह भी ध्यान में रखना है कि इस प्रकार की क्रान्तिया समस्याओ का अन्तिम समाधान नहीं कर पाई हैं। वैमनस्य, द्वेष, क्रोध, अपमान, लोभ आदि की जड उन्मूलित न तो हो पाई और न उक्त मार्ग से हो ही सकती हैं। वे कन्द रूप मे अन्तर्हित रहती है और उपयुक्त अवसर पाकर प्रारम्भिक रूप को ग्रहण कर लेती हैं। यही पर प्राचीन भारतीय विचार की नवीन साम्यवादी विचार से भिन्नता है। नवीन साम्यवादी विचार मुख्यतः आर्थिक समता के सिद्धान्त पर आधारित है, और वहा आर्थिक समता की स्थिति को लाने के लिए हिंसा की नीति का अवलम्बन त्याज्य नही समझा जाता है। भारतीय विचार के अनुसार अत्यन्त मौलिक एव व्यापक अर्थ मे सभी प्राणियो मे साम्य है। अज्ञान अथवा मोह मे पड़कर लोग इस सत्य को भूले रहते हैं। इसलिए आवश्यकता इस बात की हैं कि पवित्र साधनो के द्वारा अपवित्र मोह के अन्धकार को हटाया जाय और इस सत्य का साक्षात्कार किया जाय कि सभी प्राणी समान हैं। गीता कहती है :

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ (गीता-५/१८)

इस सत्य के अनुभव के लिए जिन पवित्र साधनो की चर्चा हमने की है उनका उत्स अहिंसा की भूमि में ही है।

अहिंसा मानव-संस्कृति की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है—

हजारो वर्षों की सभ्यता के अनुभवो के बाद मानव ने जीवन के जिन सौम्य तत्त्वों का अन्वेषण किया, वे उसके धार्मिक विश्वासो मे सरक्षित रक्खे गये हैं। भारतीय धार्मिक विश्वास का अर्थ अन्धविश्वास कभी नही समझना चाहिए क्योंकि जिन आदर्शों पर यहाँ धार्मिक आस्था की मुहर लगी है वे वस्तुत शताब्दियो के मनन-चिन्तन के परिणाम हैं। सभ्यता के रूप मे उतार-चढ़ाव आते रहे हैं क्योकि ऐतिहासिक घटनाओ की गति उन्नति एव अवनति, दोनों ही दिशाओ मे रही हैं। विश्वइतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि किसी काल-विशेष मे घटनाओ का क्रम सम्पूर्ण विश्व मे एक ही प्रकार का रहा है। इसी क्रम के मूल्यांकन से उस काल में सभ्यता की स्थिति का पता चलता है। टायनबी आदि इतिहास-दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान मानते हैं कि मानवसभ्यता के प्रारम्भ से लेकर आज तक के समय के बीच केवल एक परमोत्कर्ष का बिन्दु आया है जिसका काल भारत मे उपनिषत्काल से लेकर महात्मा महावीर एव बुद्ध के धर्म प्रचार की अवधि तक का है। इसके केन्द्र-बिन्दु को ई० पू० छठी शताब्दी मे माना गया है जो मोटामोटी स्वामी महावीर का आविर्भावकाल है। इतिहासदर्शन के साहित्य मे इस काल को धुरीणकाल (Axial Period) की सज्ञा दी गयी है। उस काल मे मानवता ने जिन तत्त्वो की खोज की, उसी के चतुर्दिक आज भी उसके आदर्श के चक्र घूम रहे है। उसके आगे किसी अन्य नवीन तत्त्व की उपलब्धि नही हो सकी है। यही कारण है कि उक्त समय को 'धुरीण' काल कहा गया है। ये तत्त्व मूलत उपनिषदों में मुखरित हुए थे किन्तु कर्मकाण्ड ने परवर्त्तीलोक में उन्हें आवृत कर दिया था। उन्हे फिर आगे लाकर पुन सबल करने का श्रेय भगवान महावीर एवं महात्मा बुद्ध को है। हम पूर्वपृष्ठो में यह प्रदर्शित कर ही चुके हैं कि उन्होंने जीवन के जिन सौम्य तत्त्वो पर बल दिया उनमे अहिंसा सर्वप्रमुख है क्योकि अन्य सभी आदर्शों की जननी यही है। मानवसभ्यता के भविष्य का प्रकाश यही है। अनेक ठोकरें खाने के बाद अन्त मे मानव-समाज को समग्ररूप से उस भगवती अहिंसा के शरण मे आना ही पड़ेगा जो प्राणिमात्र के लिए कल्याण की प्रसविनी है।

एसा भगवती अहिंसा तसथावरसव्वभूयखेमकरी। (प्रश्नव्याकरण)

आवें, हम भी अपनी ओर से नतमस्तक होकर इस देवी के चरणों मे अपनी श्रद्धाञ्जलि चढ़ाते हुए उससे सर्वोदय के वरदान की याचना करें

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित्पापमाचरेत्॥ (आ. हरिभद्रकृत धर्मबिन्दुप्रकरण, ७२)

जैन धर्म : करुणा की एक अजस्र धारा

श्री सुमत प्रसाद जैन

जैन धर्म में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध षोडशकारण रूप अत्यन्त विशुद्ध भावनाओं द्वारा उत्पन्न होता है। आत्मोन्नयन की चरम सीमा तक पहुंचाने में सहायक सोलह भावनाएं इस प्रकार हैं—(१) दर्शन विशुद्धता (२) विनय सम्पन्नता (३) शीलव्रतों में निरतिचारता (४) छह आवश्यकों में अपरिहीनता (५) क्षणलवप्रतिबोधनता (६) लब्धिसंवेगसम्पन्नता (७) यथाशक्ति तप (८) साधुओं को प्रासुक परित्यागता (९) साधुओं को समाधिसंधारणा (१०) साधुओं की वैयावृत्ययोगयुक्तता (११) अरहन्त-भक्ति (१२) बहुश्रुतभक्ति (१३) प्रवचन भक्ति (१४) प्रवचनवत्सलता (१५) प्रवचनप्रभावनता (१६) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगयुक्तता। परम चिंतक गुस्तव रोथ के अनुसार श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे तीर्थंकर प्रकृति के अर्जन हेतु बीस भावनाओं का प्रावधान किया गया है।[1]

इस प्रकार के शुभ परिणाम केवल मनुष्य भव में, और वह भी केवल किसी तीर्थंकर या केवली के पादमूल में, होने सम्भव हैं। महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज के अनुसार 'जैनमत में भी केवलज्ञान सभी को प्राप्त हो सकता है, किन्तु तीर्थंकरत्व सब के लिए नहीं है। तीर्थंकर गुरु तथा दैशिक है। इस पद पर व्यक्ति-विशेष ही आ सकते हैं, सब नहीं। तीर्थंकरत्व त्रयोदश गुणस्थान में प्रकट होता है, परन्तु सिद्धावस्था की प्राप्ति चतुर्दश भूमि मे होती है"[2] संसार सागर को स्वयं एवं दूसरों को पार कराने की उत्कट भावना वाले दिव्य पुरुष ही तीर्थंकर रूप मे सम्पूजित होते है। श्री काकासाहब कालेलकर की दृष्टि में 'तीर्थंकर का अर्थ है, स्वयं तरकर असंख्य जीवों को भव-सागर से तारनेवाला। तीर्थ यानी मार्ग बताने वाला। जो सच्छास्त्ररूपी मार्ग तैयार करनेवाला है, वह तीर्थंकर है।'[3] अतः तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि मे भी करुणा का विशेष माहात्म्य है। प्रथमानुयोग के धर्मग्रन्थों में श्रेणिक राजा द्वारा ध्यान-सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देते हुए महामुनि श्री गौतम गणधर द्वारा रौद्रध्यान के सबन्ध में जो सरस्वती प्रकट हुई है वह इस प्रकार है .—

"जो पुरुष प्राणियों को रुलाता है वह रुद्र, क्रूर अथवा सब जीवो मे निर्दय कहलाता है।'[4] रौद्र ध्यान के भेदों में हिंसानन्द के स्वरूप का विवेचन करते हुए योगीन्द्र शिरोमणि श्री गौतम गणधर जी कहते हैं, "मारने और बांधने आदि की इच्छा रखना, अंग-उपांगों को छेदना, सन्ताप देना तथा कठोर दण्ड देना आदि को विद्वान् लोग हिंसानन्द नामक आर्तध्यान कहते हैं। जीवों पर दया न करने वाला हिंसक पुरुष हिंसानन्द नाम के रौद्र ध्यान को धारण कर पहले स्वय का घात करता है और तत्पश्चात् भावनावश वह अन्य जीवों का घात कर भी सकता है अथवा नही भी। अर्थात् अन्य जीवो का मारा जाना उनके आयु-कर्म के आधीन है परन्तु मारने का संकल्प करने वाला हिंसक पुरुष तीव्र कषाय उत्पन्न होने से अपनी आत्मा की हिंसा अवश्य कर लेता है।"[5]

अतः जैनधर्म में भावो को प्रधानता दी गई है। हिंसा के अपराध में शारीरिक रूप से लिप्त न होने पर भी भावहिंसा के कारण मनुष्य का पतन हो जाता है। शारीरिक शक्ति एवं सामर्थ्य के अभाव मे भी परदुःखकातरता का भाव आत्म-विकास में सहायक होता है।

करुणा के दार्शनिक पक्ष को यदि हम इस समय गौण करके भगवान् महावीर स्वामी और समकालीन भारत की सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक स्थिति का ऐतिहासिक विश्लेषण करें तो यह निश्चित रूप से सिद्ध हो जायेगा कि तत्कालीन समाज

१. Gustav Roth "The Terminology of the Karana sequence" (Pr. & Tr. A. I. O. Con. 18th Sess. 1955, Annamalainagar, 1958). pp. 250-259
२. आचार्य नरेन्द्र देव, 'बौद्ध-धर्म-दर्शन', भूमिका, पृ० १५-१६
३. काका साहब कालेलकर, 'जीवन का काव्य', पृ० सं० २२
४. प्राणिनां रोदनाद् रुद्रः क्रूरः सत्वेषु निर्घृणः। आदिपुराण, एकविंश पर्व, पृ० सं० ४७८ पद्य सं० ४२
५. प्रकृष्टतरदुर्लेश्याद्वयोपोद्बलनं हिंसनम्। अन्तर्मुहूर्तकालोत्थं पूर्ववद्भाव इष्यते॥
वधबन्धाभिसंधानमङ्गच्छेदोपतापने। दण्डपारुष्यमित्यादि हिंसानन्दः स्मृतो बुधैः॥
हिंसानन्दं समाधाय हिंस्रः प्राणिषु निर्घृणः। हिनस्त्यात्मानमेव प्राक् पश्चाद् हन्यान्न वा परान्॥ (आदिपुराण, एकविंश पर्व, पृ० सं० ४७९ पद्य सं० ४८-४९)

में हिंसा का बोलबाला था। स्वर्ग-प्राप्ति के लिए यज्ञशालाओं में मूक प्राणियों की बलि, व्यक्ति-व्यक्ति में धर्म के नाम पर भेद की सृष्टि, पांडित्य-प्रदर्शन और आभिजात्य हितों की संरक्षा के लिए लोकभाषाओं की उपेक्षा, असमर्थ एवं साधनहीन पुरुष एवं नारी की समाजव्यापी विवशता एवं दासता इत्यादि हिंसा के विकराल रूपों की छवियाँ ही तो थीं। अत: इस प्रकार के वातावरण में हिंसा का मानसिक रूप से विरोध करने वाले स्वर उठने स्वाभाविक थे। यह उस काल के लिए गौरव का विषय है कि तत्कालीन समाज में चेतना का मन्त्र फूंकने के लिए ऐसे महाप्राण धर्मपुरुषों का जन्म हुआ जो ईश्वर के अस्तित्व को न मानकर कर्म-फल के महत्त्व को स्वीकार करते थे। मानव-समाज की उन्नति के लिए वास्तव में एक ऐसे आचारशास्त्र की आवश्यकता होती है जो अशुभ कर्म का अशुभ, शुभ कर्म का शुभ, और व्यामिश्र का व्यामिश्र फल अथवा परिणाम को स्वीकार करता हो। अत: उस समाज में करुणा के स्वस्थ दर्शन का विकसित होना समय की अनिवार्यता थी।

बौद्धधर्म में सप्तविध अनुत्तर-पूजा द्वारा बोधिचित्त की महान् उपलब्धि के उपरान्त पूजक की इच्छा होती है कि वह समस्त प्राणियों के सर्व दु:खों का प्रशमन करने में सहायक हो। साधक की भक्तिपूर्वक प्रार्थना के स्वर इस प्रकार हैं, "हे भगवन्! जो व्याधि से पीड़ित हैं, उनके लिए मैं उस समय तक औषधि, चिकित्सक और परिचारक होऊँ, जबतक व्याधि की निवृत्ति न हो, मैं क्षुधा और पिपासा की व्यथा का अन्न-जल की वर्षा से निवारण करूँ, और दुर्भिक्षान्तर कल्प में जब अन्नपान के अभाव से प्राणियों का एक दूसरे का मांस व अस्थि-भक्षण ही आहार हो, उस समय मैं उनके लिए पान-भोजन बनूँ। दरिद्र लोगों का मैं अक्षय धन होऊँ। जिस पदार्थ की वह अभिलाषा करें, उसी पदार्थ को लेकर मैं उनके सम्मुख उपस्थित होऊँ।"[1] करुणा से मानवमन को द्रवित कर देने वाली इसी प्रकार की अनुभूतियों से अहिंसा के दर्शन का विकास हुआ। इस विकास की चरम परिणति जैन धर्म में हुई। श्री रामधारी सिंह दिनकर के शब्दों में, "जैनों की अहिंसा बिलकुल निस्सीम है। स्वयं हिंसा करना, दूसरों से हिंसा करवाना या अन्य किसी भी तरह से हिंसा के काम में योग देना, जैन धर्म में सब की मनाही है। और विशेषता यह है कि जैन सम्प्रदाय केवल शारीरिक अहिंसा को ही महत्त्व नहीं देता, प्रत्युत् उसके दर्शन में बौद्धिक अहिंसा का भी महत्त्व है। जैन महात्मा और चिन्तक, सच्चे अर्थों में मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसा का पालन करना चाहते थे। अतएव उन्होंने अपने दर्शन को स्याद्वादी अथवा अनेकान्त-वादी बना दिया। जैन शास्त्रकारों ने पृथ्वी, अग्नि, जल एवं वायु में भी जीव तत्त्व की परिकल्पना की और अपनी सदय दृष्टि के कारण इस प्रकार के प्रावधान किए जिससे उनका अवरोध न हो।"[2] श्री एच० जी० रॉलिनसन ने जैन आचारांग सूत्र में पृथ्वी, अग्नि, जल एवं वायु कायिक के जीवों में जीवन के अस्तित्व के दर्शन किए।[3] अत: विश्वव्यापी जीवों की रक्षा के लिए जैनाचार्यों के मन में कोमल अनुभूतियों का होना आवश्यक था। इसीलिए उन्होंने समस्त जीवों की रक्षा के लिए मंगल उपदेश दिया है। श्री अतीन्द्रनाथ बोस ने सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् जैकोबी को आधार मानकर यह निष्कर्ष निकाला है कि सर्वप्रथम भगवान् महावीर स्वामी ने ही पेड़-पौधों एवं पशु-पक्षियों के जीवन की सुरक्षा के लिए विशेष आज्ञा प्रसारित की थी।[4]

भगवान् बुद्ध एवं भगवान् महावीर स्वामी के उपदेशों से प्रभावित होकर तत्कालीन जगत् में एक वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ और समाज में हिंसापरक अनुष्ठानों एवं मांसाहार को बुरी निगाह से देखा जाने लगा। भारतीय आयुर्वेद एवं चिकित्साशास्त्र के विकास ने धर्मानुरागी समाज को मनुष्य-जाति के साथ-साथ पशु-पक्षियों के लिए भी औषधालय एवं अस्पतालों को खोलने की प्रेरणा दी। प० जवाहरलाल नेहरू के अनुसार "ईसा से कब्ल की तीसरी या चौथी सदी में जानवरों के अस्पताल भी थे। वह शायद जैनियों और बौद्धों के मजहबों के असर से बने थे, जिनमें कि अहिंसा पर जोर दिया गया है।"[5] बौद्ध एवं जैन धर्म से प्रेरणा ग्रहण कर प्रियदर्शी सम्राट् अशोक ने इस प्रकार की गतिविधियों को राजकीय संरक्षण प्रदान किया। धर्मप्रिय सम्राट् अशोक ने अपने एक आदेश में कहा है: —"अगर कोई उनके साथ बुराई करता है, तो उसे भी प्रियदर्शी सम्राट् जहां तक होगा सहन करेंगे। अपने राज्य के वन के निवासियों पर भी प्रियदर्शी सम्राट् की कृपा-दृष्टि है, और वह चाहते हैं कि ये लोग ठीक विचार वाले बनें, क्योंकि अगर ऐसा वे न करें तो प्रियदर्शी सम्राट् को पश्चात्ताप होगा। क्योंकि परम पवित्र महाराज चाहते हैं कि जीवधारी मात्र की रक्षा हो, और उन्हें आत्म-संयम, मन की शान्ति और आनन्द प्राप्त हो।"[6]

---

१. आचार्य नरेन्द्र देव, 'बौद्ध-धर्म दर्शन', पृ० १८८
२. श्री रामधारी सिंह दिनकर, 'संस्कृति के चार अध्याय', पृ० ११९
३. H.G. Rawlinson—'India—a short cultural History'. London, 1937. P.43.
४. Atindra Nath Bose—'Social and Rural Economy in Northern India, 600 B.C. to 209 A. D.' Calcutta, 1942. P. 84.
५. पं० जवाहरलाल नेहरू, 'हिन्दुस्तान की कहानी,' पृ० ११२
६. पं० जवाहरलाल नेहरू, 'हिन्दुस्तान की कहानी,' पृ० ११४

कलिंग-विजय के उपरान्त पश्चात्ताप के क्षणों में सम्राट् अशोक किसी को भी बंदी रूप में देखना पसन्द नहीं कर सकते थे। अतः लोकोपकार के कार्य में संलग्न उस महान् सम्राट् ने स्थान-स्थान पर मनुष्यो एवं पशुओ के अस्पताल खुलवाकर राज्य की नीति में करुणा के धर्म को साकार कर दिया। इस संबन्ध मे गिरनार का शिलालेख विशेष रूप से द्रष्टव्य है :—"राजानो सर्वत्र देवानांप्रियस प्रियदसिनो राञो द्वे चिकीछा कता - मनुसचिकीछा च पसुचिकीछा च ओसुढानि च यानि मनुसोपगानि च यत यत नास्ति सर्वत्रा हारापितानि च रोपापितानि।"[1] अर्थात् - देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्सा की—मनुष्य-चिकित्सा और पशु-चिकित्सा। मनुष्यों औरपशुओं के उपयोग के लिए जहा-जहा औषधियाँ नही थी, वहाँ सब जगह से लायी गई और बोई गई।

भगवान् महावीर एवं भगवान् बुद्ध द्वारा प्रतिपादित अहिंसा और करुणा का दर्शन अपनी संवेदनशीलता एव वैचारिक पृष्ठभूमि के कारण तत्कालीन विदेशी चिन्तकों एव मनीषियो मे भी लोकप्रिय हो गया था। सुप्रसिद्ध गणितज्ञ पिथेगोरस जीवहिंसा का प्रबल विरोधी था। प्रो० एल० सी० जैन ने गणित इतिहास का विशिष्ट अन्वेषण करते हुए इस संबंध में कुछ रोचक जानकारियाँ प्रस्तुत की हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) ऐसा प्रतीत होता है, कि ईसा से (प्रायः ५८२—५०० वर्ष) पूर्व मिस्र मे प्रबल स्वेच्छा से रहते हुए पिथेगोरस ने जिनके ससर्ग मे स्वतः को विभिन्न विज्ञानों से (a lot of knowledge without intellect)[2] परिचित किया था, उनके मिशन का प्रभाव उसके नैतिक जीवन में पशु के प्रति (मुक्ति हेतु), विशुद्ध दया की छाप छोड बैठा था·

"But this crazy crank Pythagorus had made quite a fuss when he saw one of the prominent citizens taking a stick to his dog. "Stop beating that dog!" he had shouted like a madman. "In his howls of pain I recognise the voice of a friend who died in Memphis twelve years ago. For a sin such as you are committing he is now the dog of a harsh master. By the next turn of the Wheel of Birth, he may be the master and you the dog. May he be more merciful to you than you are to him. Only thus can he escape the Wheel. In the name of Apollo my father, stop, or I shall be compelled to lay on you the tenfold curse of the tetractys."

(२) इस चतुष्क्रमण (tetractys), चतुर्गति वधन (स्वस्तिक प्ररूपणा) से विमुक्ति हेतु पिथेगोरस और आगे बढ़कर, हरे पौधों के प्रति भी, ममता प्रदर्शित करता है

"Then, too, there was all this talk about what he ate, or rather about what he would not eat. What could the man possibly have against beans? They were a staple of everyone's diet, and here was Pythagorus refusing to touch them because they might harbour the souls of his dead friends .... He had even deterred a cow from trampling a patch of beans by whispering some magic word in its ear"

इसी प्रकार, (एकेंद्रिय जीव, बालो से निर्मित) ऊनी कपडो से सम्बन्धित अभ्युक्ति निम्न प्रकार है.

"He also tells that the Pythagoreans did not bury their dead in woollen clothing. This looks more like religious ritual than like mathematics. The Pythagoreans, who were held up to ridicule on the stage, were presented as superstitious, as filthy vegetarians, but not as mathematicians".

(३) पुन, मास-भक्षण निषेध की शैली मे आत्मा की नियत सख्या के रूप मे गणित का प्रवेश है

"The thought of all the souls they might have left shivering in the void by devouring their own goats and swine made the good Samians extremely unhappy. A few weeks more of these upsetting suggestions, and they would all be strict vegetarians—except for beans

Equally upsetting was the ghastly thought that some of their own children might be malicious little monsters with no souls to restrain their bestial instincts. For Pythagorus had assured them that the total number of souls in the universe is constant".

प्राचीन मिश्र मे निम्नकोटि के जीवो के प्रति दया, मासभक्षण निषेध एव ब्रह्मचर्य पूजा का उल्लेख आर्चबिशप हु`सली ने इस प्रकार किया है—

"In Egypt there are hospitals for superannuated cats, and the most loathsome insects are regarded with tenderness; ..... ," "Chastity, abstinence from animal food, ablutions, long and mysterious ceremonies of preparations of initiation, were the most prominent features of worship .. . ."

---

१. गिरनार का शिलाभिलेख, ले० स० २, पंक्ति ४-६।

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' के अनुसार इस्लामी रहस्यवाद (तसव्वुफ) के प्रमुख उन्नायक सन्त अबुलअला अलमआरी (१५०७ ई०) भी इन्हीं प्रभाव क्षेत्रों के कारण शाकाहारी था। वह दूध, मधु और चमड़े का प्रयोग नहीं करता था। पशु-पक्षियों के लिए उसके हृदय में असीम सम्वेदना एवं अनुकम्पा का भाव था। वह नैतिक नियमों का सफल प्रचारक था। वह स्वयं भी ब्रह्मचर्य एवं तपस्वियों के आचरणशास्त्र का पालन करता था।

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी के कथनानुसार परमअर्हत के विरुद से विभूषित एवं चौदह हजार एक सौ चालीस मन्दिरों का निर्माण कराने वाले सम्राट् कुमारपाल ने जैनाचार्य श्री हेमचन्द्र की मंत्रणा पर राज्य में पशु-हत्या पर रोक लगवा दी थी।[१] डा० मोहनचन्द के अनुसार सम्राट् कुमारपाल ने एक अर्धमृत बकरे के कारुणिक दृश्य को देखकर अपने राज्य में किसी भी पशु को चोट पहुँचाने पर रोक लगवा दी थी। उन्होंने ११६० ई० में एक विशेष आज्ञा निकालकर १४ वर्षों के लिए राज्य में पशु-बलि, मुर्गों अथवा अन्य पशु-पक्षियों की लड़ाई एवं कबूतरों की दौड़ पर प्रतिबंध लगवा दिया। राज्य में कोई भी व्यक्ति, चाहे वह जन्म कितना भी हीन क्यों न हो, वह अपनी जीविका के लिए किसी भी प्रकार के प्राणी की हत्या नहीं कर सकता था। इस प्रकार की राजाज्ञा से प्रभावित होने वाले कसाइयों की जीविका की क्षतिपूर्ति के लिए राज्यकोष से तीन वर्षों के लिए धन देने का भी विशेष प्रबन्ध किया गया जिससे उनकी हिंसक आदत छूट जाए।[२]

भारत में सर्वधर्म सद्भाव के वास्तविक प्रतिनिधि मुगल सम्राट् अकबर की दया तो वास्तव में निस्सीम एवं अनुकरणीय है। अपनी सहज उदारता से 'दीने-इलाही' को प्राणवान् कर धर्मज्ञ अकबर विश्व सभ्यता एवं संस्कृति के उन्नायक महापुरुषों की श्रेणी में विराजमान हो गया है। उसको प्रारम्भिक अवस्था में जैन विद्वान् उपाध्याय पद्मसुन्दर जी और तत्पश्चात् मुनिश्री हरिविजय जी का संसर्ग मिल गया था। उपरोक्त संसर्गों और गहन चिन्तन ने अकबर को वैचारिक रूप में अनेकान्तवादी बना दिया था। जन-श्रुतियों में तो अकबर पर जैन-सम्राट् होने का भी आरोप लगाया जाता है। श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' ने एक रोचक लोककथा का उल्लेख करते हुए 'संस्कृति के चार अध्याय' में यह जानकारी दी है कि नरहरि नामक हिन्दी-कवि ने गौओं की ओर से निम्नलिखित छप्पय अकबर को सुनाया था :—

> अरिहु दन्त तृन धरै ताहि मारत न सबल कोइ।
> हम सन्तत तृन चरहिं बचन उच्चरहिं दीन होइ।
> अमृत छीर नित स्रवहिं बच्छ महि थम्भन जावहिं।
> हिन्दुहिं मधुर न देहिं कटुक तुरुकहिं न पियावहिं।
> कह कवि 'नरहरि' अकबर सुनो, बिनवत गउ जोरे करन।
> अपराध कौन मोहिं मारियत, मुयहु चाम सेवहिं चरन।

गौओं की प्रार्थना से द्रवित होकर सम्राट् अकबर ने अपने राज्य के बहुसंख्यक नागरिकों की धार्मिक मान्यता को समादर देकर करुणा के दर्शन को मुखरित किया था। श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' के अनुसार धर्म अकबर की राजनीति का साधन नहीं था, प्रत्युत् यह उसकी आत्मा की अनुभूति थी। अबुल फजल और बदायूनी के विवरणों से मालूम होता है कि अकबर सूफियों की तरह कभी-कभी समाधि में आ जाता था और कभी-कभी सहज ज्ञान के द्वारा वह मूल सत्य के आमने-सामने भी पहुंच जाता था। एक बार वह शिकार में गया। उस दिन ऐसा हुआ कि घेरे में बहुत से जानवर एक साथ पड़ गए और वे सब मार डाले गए। अकबर हिंसा के इस दृश्य को सह नहीं सका। उसके अंग-अंग कांपने लगे और तुरन्त उसे एक प्रकार की समाधि हो आई। इस समाधि से उठते ही उसने आज्ञा निकाली कि शिकार करना बंद किया जाए। फिर उसने भिखमंगों को भीख दी, अपना माथा मुड़वाया और धार्मिक भावना के इस जागरण की स्मृति में एक भवन का शिलान्यास किया। जंगल के जीवों ने अपनी वाणीविहीन वाणी में उसे धर्म का रहस्य

---

१. K. M. Munshi—'The Glory That Was Gurjaradesa', Part III, The Imperial Gurjaras. Bom bay, 1944 p. 191-192.

२. Dr. Mohan Chand,—Śyainika Śāstram (The art of hunting in ancient India) Intro. pp.23.

बतलाया और अकबर की जागरूक आत्मा ने उसे पहचान लिया। यह, स्पष्ट ही, उपनिषदों और जैन धर्म की शिक्षा का प्रभाव था।[1] जैन सन्तो की धर्मदेशना से प्रभावित होकर उसने मांसाहार का त्याग कर दिया और इतिहासज्ञ श्री डब्ल्यु कुकी के अनुसार तो सम्राट् अकबर ने जैन धर्म के महापर्व पर्युषण के १२ दिनो मे अपने राज्य मे पशु-हत्या को भी बन्द करवा दिया था।[2] इसी गौरवशाली परम्परा में उसके उत्तराधिकारी सम्राट् जहाँगीर के फरमान दृष्टिगोचर होते है।

राजधानी के श्री दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर जी कूचा सेठ मे मुगल शहंशाह जहांगीर के शाही फरमान २६ फरवरी सन् १६०५ ई० की नकल के अनुसार सम्राट् ने जैन धर्म के मुकद्दश इबादती माह भादो के बारा मुकद्दश ऐय्याम के दौरान मवेशियों और परिन्दो को जबह करना बन्द किया। फरमान मे आदेश दिया गया है—

"हमारी सलतनत के मुमालिक महरूसा के जुमला हुक्काम, नाजिमान जागीर दारान को वाजेह हो फतूहाते दीनवी के साथ हमारा दिलीमनशा खुदाये बर तर की जुमला मखलूक की खुशनूदी हासिल करना है। आज ईद के मौका पर मा बदौलत को कुछ जैन (हिन्दुओं) की तरफ से इस्तेदा पेश की गई है कि माह भादों के मौके पर उन के बारा मुकद्दश ऐय्याम में जानवरों का मारना बन्द किया जावे। हम मजहबी उमूर में हर मजहब व मिल्लत के अगराज व मकासद की तकमील में हर एक की हौसला अफजाई करना चाहते हैं, बल्कि हर जो रूह को एक जैसा खुश रखना चाहते हैं। इसलिये यह दरखास्त मंजूर करते हुए हम हुक्म देते हैं कि भादों के इन बारा मजहबी ऐय्याम में जो (जैन हिन्दुओं) के मुकद्दश और इबादती ऐय्याम हैं इनमे किसी किस्म की कुरबानी या किसी भी जानवर को हलाक करने की मुमानियत होगी। और इस हुक्म की तामील न करने वाला मुजरिम तसव्वर होगा। यह फरमान दवामी तसव्वर हो। दस्तखत मुबारिका, शहनशाह जहाँगीर (मुहर)" वास्तव मे जहाँगीर एक रहमदिल इन्सान था। उसको प्रकृति के विविध रूपों से गहरा प्यार था। अत: उसके दरबार में कलाकारो ने अपनी कोमल तूलिका से बादशाह को प्रिय पुष्पों, पशु-पक्षियों के चित्र बहुलता से चित्रण किए हैं।

मंसूर ने तो चौपायो और पक्षियों के चित्राकन मे ही अपनी कला को समर्पित कर दिया था। जहाँगीरकालीन 'मुर्गे का चित्र'—जो आज कलकत्ते की आर्ट गैलरी की शोभा है—के सौन्दर्य को तो आज तक कोई भी चित्रकार मूर्त रूप नही दे पाया है। बादशाह अकबर की उदार नीति शाहजहाँ के राज्यकाल के पूर्वार्ध तक पुष्पित होती रही है। पुर्तगाली यात्री सेवास्टियन मानरिक के यात्रा-विवरण से यह ज्ञात होता है कि शाहजहा के मुस्लिम अफसरो ने एक मुसलमान का दाहिना हाथ इसलिए काट डाला था कि उसने दो मोर-पक्षियो का शिकार किया था और बादशाह की आज्ञा थी कि जिन जीवो का वध करने से हिन्दुओ को ठेस पहुंचती है, उनका वध नहीं किया जाए।[3]

प्राय: यह धारणा हो गई है कि करुणा की वाणी को रूपायित करने वाले इस प्रकार के अस्पताल मुसलमान शासकों के समय में समाप्त हो गए थे। किन्तु समय-समय पर भारत मे भ्रमण के निमित्त पधारने वाले पर्यटकों के विवरणों ने इस धारणा को खंडित कर दिया है। सुप्रसिद्ध पुर्तगाली यात्री ड्यूरे बारबोसा (जो १५१५ ई० मे गुजरात मे आया था), ने जैन अहिंसा के स्वरूप पर बारीकी से प्रकाश डालते हुए इस सत्य की सम्पुष्टि की है कि जैनधर्मानुयायी मृत्यु तक की स्थिति मे अभक्ष्य (मांस इत्यादि) का सेवन नहीं करते थे। उसने जैनियों की ईमानदारी का उल्लेख करते हुए कहा है कि वे किसी भी जीव की हत्या को देखना तक पसन्द नही करते। उसने राज्य द्वारा मृत्युदण्ड प्राप्त हुए अपराधियो को भी जैन-समाज द्वारा बचाने के प्रयासो का उल्लेख किया है। उसने जैन समाज की पशु-पक्षियो (यहा तक कि हानिप्रद जानवरो) की सेवा का उल्लेख एवं उनके द्वारा निर्मित अस्पतालो और उनकी व्यवस्था का उल्लेख भी किया है।[4]

सुप्रसिद्ध पर्यटक पीटर मुंडे ने भी अपने यूरोप एवं एशिया के भ्रमण (१६०८—१६६७) में पशु-पक्षी चिकित्सालयों को देखा था। कैम्बे में उसने रुग्ण पक्षियों के लिए जैनों द्वारा बनाए गए अस्पताल का विवरण सुना था। उसके यात्रा वृत्तांतों में अनेक पर्यटकों

---

१. श्री रामधारी सिंह दिनकर, 'संस्कृति के चार अध्याय' पृ० ३०७

२. W. Crooke 'An Introduction of the Popular Religion and Folklore of Northern India Allahabad, 1894. 338

३. श्री रामधारी सिंह 'दिनकर', 'संस्कृति के चार अध्याय' पृ० ३०६

४. (a) M S. Commissariat—'A history of Gujarat', Vol 1. Calcutta, 1938 p. 255.
(b) Mansel Lognworth Dames—'The Book of Duarte Barbosa'. Translated from the Portuguese by M. L Dames. Vol. I, London, 1918. (The Hakluyt Society, Second Series, No. 44). P. 110. n. 2.

के नामों का उल्लेख है जिन्होंने गुजरात में जैनों द्वारा समर्पित अस्पतालों (जिन्हें 'पिंजरापोल' कहा जाता है) का भ्रमण किया था।[1] एल० रूजलेट ने भी अपनी पेरिस से प्रकाशित पुस्तक में जैनों की पशु-सम्पदा के प्रति उदार दृष्टि का उल्लेख करते हुए बम्बई एवं सूरत में जैन समाज द्वारा प्रेरित एवं सचालित पशु-पक्षी चिकित्सालयों का उल्लेख किया है।[2]

श्री आर० कस्ट[3], रोबर्ट निधम कस्ट,[4] एड्ली थियोडोर बेस्टरमैन और अरनेस्ट क्रेबे[5], श्री आर० वी० रसेल और श्री हीरालाल[6], विलियम क्रुक[7], एडवर्ड कोंजे[8], ओ० टी० बेट्टेनी[9], श्री ए० एल० खान[10], जे० विलसन[11] इत्यादि सभी विद्वानों ने जैन समाज की दार्शनिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक एवं अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों पर प्रकाश डालते हुए जैनधर्म की सर्वप्रमुख विशिष्टता पशु-पक्षियों के प्रति अप्रतिम अनुराग एवं करुण भाव की भूरि-भूरि सराहना की है। जैनियों के अहिंसात्मक दृष्टिकोण, मानवजाति के प्रति उनकी नैष्ठिक सेवा एवं पशु-पक्षियों पर अमानवीय व्यवहार के प्रति उसकी सतत् जागरूकता की भी सभी ने सराहना की है।

इतिहास के लम्बे सफर मे जैन समाज ने प्राय: पैतृक सस्कारों के कारण भोजन के विषय में कभी भी कोई समझौता नहीं किया है।

इसीलिए सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री श्री एस०टी० मोसीस[12] ने अपने उत्तरी, दक्षिणी आर्कट एवं दक्षिणी कनारा के सर्वेक्षण के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला था कि वहां का जैन समाज मछली, माम और मांस से बने हुए किसी भी पदार्थ का सेवन नहीं करता है। उपर्युक्त मूल्यांकन क्षेत्र-विशेष में ही नही, अपितु सम्पूर्ण भारत मे इन्ही तथ्यों की स्थापना कर सकता है।

सुप्रसिद्ध इतिहास-मनीषी श्री वी० ए० स्मिथ ने जैन धर्मानुयायियों के अहिंसापरक आचरण को विशेष महत्त्व दिया है।[13] अत: करुणा की आधार-भूमि पर खड़ा हुआ यह समाज अहिंसा के तात्त्विक विवेचन के कारण शाकाहारी है। आज विश्व में पशु-पक्षियों की हत्या के विरोध एवं शाकाहार के समर्थन मे वातावरण बन रहा है। बौद्धधर्म एव जैनधर्म के आलोक से प्रकाशित होकर माननीय श्री एल० एच० ऐनडरसन[14] (१८९४ ई०) ने मूक पशु-पक्षियों की हत्या को रुकवाने के लिए शिकागो में किस प्रकार से पशुओं का कत्ल किया जाता है इस विषय पर भाषण किया था। उन्होंने वहां के समाज के विवेक को झकझोरते हुए पशु-पक्षियों की हत्या न किए जाने की विशेष प्रार्थना की थी। उनके स्वर में अनेक शक्तिशाली स्वरों ने योग देकर करुणा की परम्परा को आगे बढ़ाया है।

---

1. Richard Cannac Temple—'The Travels of Peter Munday in Europe and Asia, 1608-1667'. Edited by R. C. Temple. Vol. II : Travels in Asia, 1628-1634. London, 1914. (The Hakluyt Society, second Series, No. 35).
2. L. Rousselet—'L'Inde des Rajahs'—Paris, 1875. P. 17-18.
3. R. Cust—'Les religions et les langues de l' Inde'. Paris. 1880. pp. 47-48.
4. Robert Needham Cust—'Linguistic and Oriental Essays written from the year 1847 to 1887'. Second Series, London, 1887. p. 67-68.
5. Edly Theodore Besterman, Ernest Crawby—'Studies of Savages and Sexes'. London. 1929. p. 170.
6. R. V. Russell and HiraLal—'The tribes and castes of the central provinces of India', London 1916 Vol. I, p. 219-31.
7. William Crooke—'Religion and Folklore of Northern India'. Oxford, 1926. P. 349.
8. Edward Conze—'Buddhism: its Essence and Developments'. Oxford (2nd edi.) 1953. p. 61-62.
9. O. T. Bettany—'The World's Inhabitants or Mankinds, Animals and Plants'. New York, 1988. p. 307.
10. A. L. Khan—'A short History of India'. (Hindu period), 1926. P. 22.
11. J. Wilson—'Final Report on the Revision of Settlement of the Sirsa District in the Punjab (Lahore), 1979-83. P. 101.
12. S. T. Moses—'Fish and Religion in South India'. (QJMS, xiii, 1923, Pp. 549-554). P. 550-551.
13. (a) V. A. Smith—'The Buddhist Emperor of India'—Oxford, 1909(2nd Edi.) P. 58.
    (b) V. A. Smith—'Asoka'. Third Edition. Oxford, 1920. P. 58.
14. L. H. Anderson—'Spirit of the Buddhists and the Jainas Regarding Animal Life Dawning in America'—How Animals are slaughtered in Chicago.(Jbts, II. 1894, Appendix 4).

बीसवीं शताब्दी के युगपुरुष महात्मा गांधी ने अपने विदेश प्रवास से पूर्व एक जैन सन्त की प्रेरणा से तीन नियम व्रत रूप में अंगीकार किए थे। लोक कल्याण के यह मंगल नियम थे—मद्य, मांस और परस्त्री के संसर्ग से बचकर रहना। इन्हीं नियमों के पालन हेतु उन्होंने अनेक प्रकार के प्रयोग किए और पाश्चात्य शाकाहारियों के तर्कों से प्रभावित होकर उन्होंने दूध का भी त्याग कर दिया। दूध का त्याग करते समय उनकी दृष्टि में यह तथ्य भी निहित था कि भारत में जिस हिंसक ढंग से पशु-पालन एवं दूध उत्पादन किया जाता है वह एक सम्वेदनशील सुहृदय मनुष्य के लिए सर्वथा असह्य था। खेड़ा-सत्याग्रह में दुर्बलता से अत्यधिक प्रभावित हो जाने पर भी चिकित्सकों, परिचितजनों के असंख्य अनुरोधों और राष्ट्र सेवा के संकल्प को साकार रूप देने की भावना से ही उन्होंने बकरी का दूध लेना स्वीकार कर लिया था। इस संदर्भ में यह भी स्मरणीय है कि दूध छोड़ने का नियम लेते समय उनकी दृष्टि में बकरी का दूध त्याज्य श्रेणी में नहीं था।

गौवंश की निर्मम हत्या के विरुद्ध उन्होंने शक्तिशाली स्वर उठाये। गाय में मूर्तिमत करुणामयी कविता के दर्शन करते हुए उन्होंने उसे सारी मूक सृष्टि के प्रतिनिधि के रूप में ही मान्यता दे दी थी। उनकी सम्वेदना में सजीव प्राणियों के अतिरिक्त धरती की कोख से उत्पन्न होने वाली वनस्पतियाँ भी रही हैं। सेवाग्राम आश्रम में सतरों के बगीचे में परम्परानुसार फल आने के अवसर पर मिठास इत्यादि के लिए पानी बन्द कर देने की कृषि पद्धति थी। गांधी जी को इससे मर्मान्तिक पीड़ा हुई और उन्होंने आश्रमवासियों से कहा यदि मुझे कोई पानी बगैर रखे और प्यास से मेरी मृत्यु हो तो तुम्हें कैसा लगेगा। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' यह सदा याद रखो। भारतवर्ष का जैन समाज उन सभी के प्रति हृदय से कृतज्ञ है। राजधानी में मुगलों की सत्ता के प्रमुख केन्द्र लालकिले की पर्दे वाली दीवार के ठीक सामने 'परिन्दों का अस्पताल' जैनधर्म की सहस्राब्दियों की परम्परा को स्थापित किए हुए है। इस धर्मार्थ चिकित्सालय की परिकल्पना १९२४ ई० में कुछ धर्मानुरागी श्रावकों ने की थी। वर्तमान में दिगम्बरत्व को सार्थक रूप एवं शक्ति प्रदान करने में अग्रणी परमपूज्य आचार्यशिरोमणि चारित्रचक्रवर्ती स्व० श्री श्री शान्तिसागर जी महाराज की धर्मदेशना से प्रभावित होकर इस चिकित्सालय का शुभारम्भ श्रमण संस्कृति के प्रभावशाली केन्द्र श्री लाल मन्दिर जी (चांदनी चौक) में हो गया। अस्पताल की उपयोगिता को अनुभव करते हुए प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ के आराध्यपुरुष धर्मध्वजा करुणा एवं मैत्री की जीवन्त मूर्ति परमपूज्य आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज के पावन सान्निध्य में भारत सरकार के केन्द्रीय गृहमन्त्री लौहपुरुष श्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने २४ नवम्बर, १९५७ को अस्पताल के नए भवन का उद्घाटन किया था। राजधानी के जैन समाज के युवा कार्यकर्त्ता श्री विनयकुमार जैन की लगन से अस्पताल में तीसरी और चौथी मंजिल को परमपूज्य आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माता जी के सान्निध्य में नया रूप प्रदान किया गया है। पिछले वर्ष इस अस्पताल का कुछ विकास हुआ है जिसके कारण देश-विदेशों में इसकी लोकप्रियता बढ़ी है और धर्म के मिशन के प्रति विश्वव्यापी सद्भावनाएँ प्राप्त हो रही हैं।

वास्तव में पशु-पक्षी चिकित्सालय किसी भी धर्म के व्यावहारिक मन्दिर हैं। इस प्रकार के मन्दिर धर्म के स्वरूप को वास्तविक वाणी देते हैं। जैनविद्याविशेषज्ञ डा० मोहनचंद ने २६ दिसम्बर १९८२ को अस्पताल की सुझाव पुस्तिका में अपनी सम्मति देते हुए लिखा है :—"संसार में अपनी भूख को शान्त करने के लिए जो पक्षियों को अपना आहार बनाते हैं, ऐसे लोग, काश ! इस अस्पताल को देख लें तो शायद उन्हें उपदेश देने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।"

जैनधर्म के आद्य तीर्थंकर श्री ऋषभदेव से लेकर आजतक करुणा की जो अजस्र धारा मानव-मन को अपूर्व शान्ति एवं सुख का सन्देश दे रही है उस सात्त्विक भाव को विश्वव्यापी बनाने के लिए जैन समाज को सकल्प के साथ रचनात्मक रूप देना चाहिए। विश्व की संहारक शक्तियों में सदाशयता का भाव भरने के लिए करुणा के मानवीय एवं हृदयस्पर्शी चित्रों का प्रस्तुतीकरण होना आवश्यक है। आज का विश्व भगवान् महावीर स्वामी, भगवान् बुद्ध एवं राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की वाणी को साकार रूप में देखना चाहता है। अतः सहस्राब्दियों में करुणा एवं अहिंसा के प्रतिनिधि जैन समाज को कुछ इस प्रकार के वैचारिक कार्यक्रम बनाने चाहिएँ जिससे आज की प्रज्ञावान पीढ़ी को सही दिशा मिल सके। क्या जैन समाज आज की परिस्थितियों में भगवान् महावीर के ओजस्वी व्यक्तित्व से प्रेरणा ग्रहण कर, हिंसा के विरुद्ध अनेकान्तवाद का अमोघ शस्त्र लेकर वैचारिक आन्दोलन करने की स्थिति में है ? वैसे आज इस आन्दोलन की विशेष आवश्यकता है। देखें, करुणा के दर्शन को साकार रूप देने के लिए इस बार कौन आता है ?

सुगत-शासन में 'अहिंसा'

प्रो० उमा शंकर व्यास

यद्यपि 'अहिंसा' शब्द तथा इसमें अन्तर्निहित आशय अति प्राचीनकाल से ही ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन चिन्तन-धाराओं में प्राप्त हैं[1] तथापि इन तीनो में समानता की अपेक्षा दृष्टिवैचित्र्य-जनित वैषम्य ही अधिक दृष्टिगत होता है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण धर्म की अद्वैतवादी तथा ज्ञानमार्गी शाखाओ में 'अहिंसा' सत्व-मात्र मे ऐकात्म्य पर आधारित है जबकि ईश्वरवादियो ने समस्त प्राणियो को आराध्य प्रभु का निर्माण तथा उस परम कारुणिक की ही अभिव्यक्ति मानते हुए उन सभी के प्रति अविहिंसन तथा अपीड़न को ही प्रभु की परमोपासना माना है।

जैन-धर्म में तो 'अहिंसा' का अतिशीर्षस्थानीय महत्त्व है। यहां 'अहिंसा' आध्यात्मिक साधना के परमलक्ष्य की ओर ले जाने वाला महत्वपूर्ण उपाय तो है ही, साथ ही पारमार्थिक आशय मे तो उपेय भी। जैन-धर्म की यह अतिविशिष्ट धारणा उनके इस विशिष्ट तत्त्व-विमर्श पर आधारित है कि यह जगत् 'जीव' एव 'अजीव' इन दो मूलभूत तत्त्वों से समन्वित है। न केवल चेतन अपितु कन्द, मूल एव फलो जैसे अचेतन भी जीव होने से जैन-धर्म की अहिंसा की अति-व्यापक परिधि में आ जाते हैं। साथ ही जैन-दर्शन का विशिष्ट कर्म-सिद्धान्त भी उनकी आचार-मीमासा—विशेषतया 'अहिंसा'—की अवधारणा की विशिष्टता के लिए उत्तरदायी है। बौद्धों में 'कर्म' का तात्पर्य मानसिक चेतना या चित्तगत वासना है जोकि कार्य-कारण भाव के रूप में सुख या दुःख का हेतु बनती है। फलस्वरूप बौद्धों मे किसी सचेतन क्रिया को ही 'कर्म' माना गया। दूसरी ओर जैन-दर्शन में 'कर्म' एक सर्वथा स्वतंत्र तत्त्व है। यह 'अजीव' द्रव्य है जोकि अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध (राशि) है। स्वभावत विशुद्धस्वरूप वाली आत्मा कर्म के योग द्वारा ही बन्धनग्रस्त होती है। जैन साधना का अन्तिम लक्ष्य कर्मों के 'आस्रव' का क्षय तथा निर्जरात्व की प्राप्ति है। जहां सामान्य कृत्य साम्परायिक है वही सम्यक्-चारित्र द्वारा प्रभावित कर्म ईर्यापथ हैं। वस्तुत जैन आचार-मीमासा एव तप का एकमात्र लक्ष्य अभिनव कर्मों के उदय को रोकना तथा सञ्चित कर्मों का क्षय है। इस प्रकार जैन-धर्म मे 'अहिंसा' उनके कर्म-सिद्धान्त की विशिष्टता के कारण ही सर्वथा स्वतन्त्र स्वरूप के साथ प्रतिष्ठित हुई है। यही कारण है कि जहा बौद्धो मे केवल जानबूझकर की गई पर-पीडन-क्रिया ही 'हिंसा' होती है—जैनो मे (कम-से-कम प्रायोगिक स्तर मे) किसी भी तरह का प्राणातिपात 'हिंसा' कर्म बन जाता है।

इस सन्दर्भ मे यह भी ध्यातव्य है कि जैन-धर्मानुयायी गृहस्थो तथा जैन-संघ के मध्य अति प्राचीनकाल से जिस प्रकार के निकटतम सम्बन्ध रहे हैं वैसे सभवत. बौद्ध उपासको एव बौद्ध संघ के मध्य कभी भी नही थे। फलस्वरूप 'अहिंसा' आदि व्रतों के अनुष्ठान के सन्दर्भ मे गृही जैनों एव मुनियो के मध्य जो अन्तर है वह मात्र गुणात्मकता का है, प्रकार का नही। अणु-व्रत के रूप में इनका अनुष्ठान एक प्रकार से विरक्त जीवन मे प्रवेश का पूर्वाभ्यास-सा है। तीन गुणव्रतो तथा चार शिक्षाव्रतों के ग्रहण की व्यवस्था इसी तथ्य की ओर इंगित करती प्रतीत होती है। दूसरी ओर, बौद्ध उपासको एवं भिक्षु-संघ के मध्य किसी अतिसुस्पष्ट एवं प्रगाढ सम्बन्धों के अभाव में गृहस्थ बौद्धों में व्यावहारिक तौर पर 'अहिंसा' का अवतरण प्रभावशाली रूप से नही हो सका। जहां बिना किसी अपवाद के समस्त जैन गृहस्थ शाकाहारी हैं, वहीं सम्प्रति बौद्ध उपासको का बहुमत प्रायश मांसाहारी है।

एक अन्य तथ्य दोनो धर्मों के प्रवर्तको के मौलिक दृष्टिकोण में पाया जाने वाला अन्तर भी है। भगवान् महावीर उग्र तपश्चर्या एवं विशुद्ध चारित्र के प्रबल पक्षधर थे तथा इन मामलो मे किसी भी प्रकार की शिथिलता के सर्वथा विरुद्ध थे। फलस्वरूप किसी भी जैन के लिए 'मासाहार' तो क्या, कभी-कभी तो कुछ विशेष प्रकार के कन्दो एव मूलो तक के भक्षण की कल्पना भी अशक्य है। दूसरी ओर शाक्यमुनि बुद्ध ने तत्त्वज्ञान, प्रमाण एवं आचार आदि सभी पक्षो को मध्यम-प्रतिपदा की कसौटी पर परखा, उग्र तपश्चर्या को एक अन्त उद्घोषित किया एवं प्रज्ञा तथा करुणा को ही 'आत्मोद्धरण' का एकमात्र मार्ग बतलाया। फलस्वरूप बौद्ध-संघ को उन्होने तीन कोटियों से

१. छान्दोग्य उपनिषद् ३.१७, सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, सीरीज

परिशुद्ध मत्स्य एवं मांस-भक्षण तक की स्वीकृति दी।

इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि 'ब्राह्मण, जैन एवं बौद्ध—इन तीनों परम्पराओं की पृथक्-पृथक् पृष्ठभूमियों ने उनके 'अहिंसा' सम्बन्धी दृष्टिकोणों को पूर्णतया प्रभावित किया है, जिससे प्रत्येक की अवधारणाओं का अपना वैशिष्ट्य है। प्रस्तुत में 'बौद्ध-धर्म' में 'अहिंसा' के विशिष्टस्वरूप का प्रतिपादन अभीष्ट होने से उसे ही प्रस्तुत किया जा रहा है।

बौद्ध-धर्म में 'अहिंसा'—स्थविरवादियों द्वारा मूल बुद्ध-वचन रूप में उद्घोषित पालि-त्रिपिटक तथा परवर्ती बौद्ध-साहित्य के अनुशीलन के आधार पर 'अहिंसा' की अवधारणा का विश्लेषण निम्न दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :—

(अ) 'अहिंसा' एक चित्त-धर्म (चेतस्) के रूप में, तथा (आ) 'अहिंसा' एक 'शील' के रूप में।

पालि-अभिधम्म (तत्त्व-मीमांसा) में चित्त, चेतसिक, रूप तथा निब्बाण को परमत्थधम्म माना गया है। चेतसिक का उदय एवं निरोध चित्त के ही साथ होता है। इनका आलम्बन भी वही होता है जो चित्त का। किन्तु थेरवाद में परिगणित ५२ प्रकार के चेतसिकों में 'अहिंसा' नाम का कोई स्वतन्त्र धर्म परिगणित नहीं है तथा यह भी स्पष्ट रूप से उल्लिखित नहीं है कि इसे किस 'कुशल' चेतसिक में अन्तर्भूत किया जाए, फिर भी 'अहिंसा' को 'अदोसो' (अद्वेष) नामक कुशल चेतसिक के समुत्थान का ही प्रतिफल माना जा सकता है।

सर्वास्तिवादियों का अभिधर्म-साहित्य अतिविस्तृत है जिसके अधिकतम भाग संस्कृत में विलुप्त, पर चीनी भाषा में अभी तक प्राप्य हैं। यहां 'अहिंसा' को एक स्वतन्त्र चेतसिक माना गया है जिसके उदय से कायिक-कर्म के रूप में 'अहिंसा' का आचरण संभव होता है।[1] 'विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि-प्रकरण' में स्थिरमति ने 'अहिंसा' के कायिक व्यवहार का समुत्थान 'करुणा' नामक चेतसिक के उदय से माना है।[2] उन्होंने 'करुणा' या 'अनुकम्पा' नामक चित्तधर्म पर 'अहिंसा' के पुण्यमय आचरण को आधारित बतलाया है। दूसरी ओर धर्मपाल नामक एक अन्य विज्ञानवादी आचार्य के अनुसार 'अद्वेष' ही वह चित्त-धर्म है जिसके कारण 'अहिंसा' का प्रयोग सम्भव होता है। द्वेषनामक चित्त-धर्म का उदय चित्त में होने पर आलम्बनभूत पदार्थ जीव के विहिंसन का कृत्य विज्ञापित होता है जबकि इसके प्रतिपक्षीभूत 'अद्वेष' चित्त-धर्म के अभ्युत्थान से उक्त पदार्थ का अविहिंसन।

इस प्रकार 'अहिंसा' के इस प्राचीन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि 'अहिंसा' के प्रयोग का मनोवैज्ञानिक आधार प्राणि-मात्र के प्रति करुणा एवं मैत्री के वे उदात्तभाव हैं जिनसे उद्वेलित हो स्वयं शाक्यमुनि बुद्ध ने पहले तो व्यक्तिगत वैभवों को तिलाञ्जलि दी, महाभिनिष्क्रमण किया तथा सम्बोधि प्राप्ति के अनन्तर अस्सी वर्ष की आयु तक बहुजनहिताय नाना निगमों एवं जनपदों में चारिका का वरण किया। धम्मपद[3] में प्राणिघात से विरत रहने का उपदेश देते हुए यह कहा है कि "सभी मृत्यु से डरते हैं, सभी को अपने प्राण प्यारे हैं, अत: दूसरों की पीड़ा को स्वयं अपनी पीड़ा समझते हुए न उन्हें मारो, न इसके लिए दूसरों को प्रेरित करो।"

'करुणा' एवं 'मैत्री' के अतिरिक्त, ह्री (लज्जा) एवं अपत्राप्य नामक चित्त-धर्म भी 'अहिंसा' की प्रायोगिक दशा की मानसिक पृष्ठभूमि हैं, क्योंकि प्राणि-विहिंसनकृत्य में जो क्रूरता है उसकी परिणति 'ह्री' आदि में भी हो सकती है।

'सामञ्ञफलसुत्त' में चुल्लसीलों के व्याख्यान-क्रम में भी 'अहिंसा' के प्रयोग के मानसिक हेतु के रूप में दया-हितानुकम्पा एवं लज्जा को ही बतलाया गया है।[4]

तात्पर्य यह है कि 'अहिंसा' का जो व्यावहारिक प्रयोग है वह तभी संभव है जब इसके आन्तरिक हेतु के रूप में हमारे चित्त में अनुकम्पा, अद्वेष या लज्जा विद्यमान रहेगी। साथ ही यह भी न भूलना चाहिए कि 'अहिंसा' बौद्ध-विचार में एक शोभन कृत्य है। यह किसी कृत्य का विषय न होकर स्वयं ही कृत्य रूप में स्वान्त-सुख का आधान कराने वाली है। इसके विपरीत, द्वेषचित्त वाला व्यक्ति वस्तुत: स्वयं अपना ही अपकार करता है। धम्मपद[5] की यह उक्ति इसी तथ्य का संकेत कराती है —"न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।"

इन सभी तथा एतत्सदृश अन्य स्थलों के देखने से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि 'अहिंसा' वस्तुत: बौद्ध शब्दावली में 'मेत्ता-भावना' का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार अहिंसा मात्र-प्राणिघात से विरति के रूप में निषेधात्मक तथ्य ही न होकर, करुणा एवं मेत्ता के रूप में एक सर्वथा भावात्मक (Positive) धर्म भी है।

किन्तु आध्यात्मिक प्रगति के क्रम में एक ऐसी स्थिति भी आती है जब कि 'अहिंसा' 'मेत्ता अप्पमञ्ञा' नामक चित्त-स्थिति में विलीन हो जाती है। समस्त सत्त्व सुखी, शान्त एवं कुशली हों, इस प्रकार की इच्छा करते हुए अपरिमेय प्राणियों के प्रति अनुकम्पा जागृत

---

१. ताइशो संस्करण में चीनी त्रिपिटक भाग, ४-२६ पृ० १६ ब,
२. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि पृ० २८,
३. धम्मपद, ४ १२९,
४. सामञ्ञफल सुत्त,
५. धम्मपद, १-७,

करके जब मेत्ता-भावना में समस्त सत्त्वों का अन्तर्भाव कर लिया जाता है तब यह विशिष्ट चित्त-स्थिति उत्पन्न होती है। मेत्ता द्वारा 'अहिंसा' के हेतुभूत चित्त का विलयन भी विमुत्ति-चित्त में हो जाता है (मेत्ता-चेतो-विमुत्ति), और इस प्रकार मैत्री-भावना के विकास द्वारा चित्त की विमुक्ति हो जाती है। कहने का तात्पर्य यही है कि 'अहिंसा' का प्रयोग मेत्ता-चित्त के विकास में अत्यन्त उपादेय है। वस्तुतः यह ऐसा सशक्त माध्यम है जिसके द्वारा साधक मेत्ता-चित्त का विकास करते हुए आध्यात्मिक-यात्रा के अन्तिम पड़ाव तक पहुंच सकता है। 'अहिंसा' के चित्त-विशुद्धि के सन्दर्भ मे इस प्रकार की उपादेयता के कारण ही संभवतः अष्टांगिक मार्ग के सम्माकम्मान्त के रूप में[1] दस प्रकार के कुसल कम्मपथों मे से प्रथम कम्म-पथ के रूप मे,[2] तथा सिगालिक[3] के उपदेश देने के क्रम में अनेक प्रकार से 'अहिंसा' का उपदेश प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म के पालि-साहित्य मे किया गया है।

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक व्याख्यान के अतिरिक्त 'शील' के रूप में भी बौद्ध-विनय में 'अहिंसा' का निर्वचन किया गया है। उपासकों के लिए उपदिष्ट पञ्चशीलो तथा सामणेरों के लिए निर्दिष्ट दस सीलों में 'प्राणातिपात से विरति' को सभी शीलों में स्थूलतम या चुल्लसील होने से सर्वप्रथम रखा गया है। अतिव्यापक आशय वाले 'अहिंसा' तत्त्व के लिए इस सन्दर्भ में "पाणातिपाता वेरमणी", या 'पाणातिपाता पटिविरति' इन दो अभिव्यक्तियो का प्रयोग किया गया है।

बौद्ध-चिन्तन में चेतना ही 'कम्म' है, इस आधार पर तथा 'सील' शब्द के विशिष्ट निर्वचन के आधार पर भी बौद्ध-विनिमय में 'विरति' (वेरमणी) या 'पटिविरति' के कृत्यों मे बलवती चेतना या प्रगाढ़तम मे सकल्प का होना पूर्वावश्यकता माना गया है। "प्राणातिपाता वेरमणी" या "मैं प्राणातिपात मे विरत रहूंगा" इस कथन द्वारा विरति-व्रत का शीलत्व तभी प्रतिष्ठापित होता है जबकि व्रत लेने वाला व्यक्ति इस विरति के प्रति सतत जागरूकता आदि सम्यक्रूपेण उपार्जित कर लेता है। दूसरे शब्दो मे 'अहिंसा' (प्राणातिपात-विरति) 'शील' का रूप तभी ग्रहण कर सकती है जबकि इसका ग्रहण एव आचरण चेतनापूर्वक किया गया हो। अतएव शिशु का प्राणातिपात-विरति-व्यापार या पारिवारिक पृष्ठभूमि आदि के कारण किसी व्यक्ति का मासाहार आदि न करने का आचरण 'शील' नही कहला सकता क्योकि इन दोनों ही उदाहरणो मे प्राणातिपात-विरति चेतनापूर्वक नही है।

'सील' का निर्वचन ठीक इसी आशय मे 'विसुद्धिमग्गो'[4] नामक प्रकरण में आचार्य बुद्धघोष द्वारा किया गया है। उन्होने इसे चरिया के परिपूरण का सुदृढ़ सकल्प, बुद्ध के उपदेशों पर चलने का अनथक प्रयास तथा इस प्रयास द्वारा विमुक्ति की प्राप्ति की अभिनीहार वाली चेतना बतलाया है। इस बलवती चेतना के साथ जब किसी शोभन-कृत्य का आचरण किया जाता है, तभी वह कृत्य 'सील' बनता है। अतः जब इस प्रकार की चेतना के साथ 'प्राणातिपात-विरति' (अहिंसा) का कृत्य हो तभी वह 'सील' कहलाएगा।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि बौद्ध-धर्म के अति प्रारम्भिक काल से ही आध्यात्मिक प्रगति का विनियमन शील, समाधि एव प्रज्ञा की त्रिस्वरूप शिक्षाओं द्वारा किया जाता रहा है। परस्पर मे पृथक-पृथक निर्दिष्ट होने पर भी ये एक दूसरे की पूरक है। फिर भी 'सील' तो ऐसी आधार-भित्ति ही है जिस पर साधक अपनी आध्यात्मिक महत्त्वाकांक्षा का सुललित प्रासाद प्रतिष्ठापित कर सकता है। अतएव "प्राणातिपात वेरमणी" इस शिक्षा पद की उपर्युक्त पृष्ठभूमि द्वारा यहा 'अहिंसा' का ग्रहण समर्थित है जबकि इसका आचरण उपर्युक्त पद के साथ उदित सुदृढ़ चेतना के फलस्वरूप किया जाता है।

अवधारणा एवं वास्तविक प्रयोग में अन्तर—

'अहिंसा' का वास्तविक तात्पर्य इस जगत् की यथार्थता का सम्यक् अवगाहन किए बिना ग्रहण किया जाना सम्भव नहीं दिखता। अर्थात् इस विरोधाभास-ग्रस्त जगत् मे 'अहिंसा' की अवधारणा का व्यावहारिक प्रयोग कठोरतापूर्वक अशक्य है। हमारा यह जीवन प्रतिपल प्रतिक्षण सहस्रों जीवाणुओं के श्वास-प्रश्वास में आने-जाने की प्रक्रियाओं का ही तो खेल है। यदि 'अहिंसा' की यथार्थ अवधारणा को व्यवहार में उतारना चाहें तो यह 'जीवन' ही सम्भव न रहेगा, अतः 'अहिंसा' के यथार्थ भाव की 'चित्त' द्वारा 'भावना' ही बुद्ध-धर्म में अभीप्सित है। सम्भवतः इसीलिए बुद्ध ने 'कर्म' (कायिक कर्म) के स्तर पर 'अहिंसा' के कठोर नियम नही बनाए। 'शील' एव विनय के सन्दर्भ से उन्होंने अहिंसा-विषयक जो शिक्षापद उपासको के लिए उपदिष्ट किया उसमें दो तथ्य अन्तर्भूत हैं—

(१) अहिंसा का संकल्प, तथा (२) व्यवहार मे उसकी परिणति।

यदि उपासक ने प्राणातिपात-विरति का सकल्प तो ले लिया परन्तु वास्तविक जीवन में इसका सम्यक्-आचरण न हो सका तो विनय-नियमों के अनुसार उसे शुद्ध चित्त से इसके लिए पटिदेसना करनी होती है। परन्तु जिसने इसका संकल्प ही नही लिया यदि उससे

---

१. मज्झिम, १ पृ० २५१,
२. दीघ, ३ पृ० २६८,
३. दीघ, ३ पृ० १८१ इत्यादि,
४. विसुद्धिमग्गो, सीलकथा

प्राणातिपात हो जाता है तो उसे पतिदेसना नहीं करनी होती।

भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के लिए जो प्रातिमोक्ष नियम हैं उनमे भी 'प्राणातिपात-विरति' का समावेश है। पातिमोक्ख में पाराजिकों के तृतीय शिक्षापद में मनुष्यों के प्राणातिपात का निषेध है, जिसे करने पर पाराजिक होता है और अपराधी भिक्षु या भिक्षुणी का संघ से निष्कासन कर दिया जाता है। पर यह प्राणातिपात जान-बूझ कर किया गया होना चाहिए। यदि यह प्राणातिपात दुर्योग-वश या प्रमाद-वश हो गया हो जिसमें चेतना का योग नहीं है तब तो अपराधी को केवल दोष स्वीकरण मात्र करना होता है। इसी प्रकार चेतनापूर्वक किया गया पशु-पक्षियों का वध भी 'पाचित्तिय' नामक दोष बनता है जिसका शमन 'आपत्ति-देसना' करने पर ही होता है।

इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप से तो प्रारम्भिक बौद्ध धर्म मे 'जीवन' का अत्युच्च मूल्य है तथा इसे समाप्त करना या पीड़ित करना सर्वथा वर्जित है फिर भी इसका आशय यह भी नहीं है कि बुद्ध ने सत्त्वों के जीवन-रक्षण की क्रिया को किसी कोटि या अन्त के स्तर पर प्रतिपादित किया है। देवदत्त बौद्ध-संघ में पंचवस्तुओ (पांच प्रकार के निषेधों) को लागू करना चाहते थे परन्तु बुद्ध ने इनके स्थान पर समाज द्वारा गर्हित दस प्रकार के मांस-भक्षण का निषेध किया। उन्होंने तो भिक्षुओ के लिए भी तीन कोटियों से परिशुद्ध मत्स्य एवं मांस के भक्षण का भी अनुमोदन किया।[१] किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि बुद्ध पशु-हिंसा के समर्थक थे। उन्होंने तो उन यज्ञों की कटु आलोचना की जिनमें पशु-बलि दी जाती थी। उनका तात्पर्य यही था कि किसी भी क्रिया मे उसमे अन्तर्निहित आशय को देखना चाहिए, मात्र उसके बाह्यरूप को नहीं। दूसरे वे 'मध्यम-प्रतिपदा' के दृष्टिकोण से हर बात को देखते थे तथा अन्तो के परिवर्तन के प्रतिपादक थे। उनका प्राणातिपात-विरति-विषयक दृष्टिकोण भी इन्ही तथ्यो पर आधारित समझा जाना चाहिए।

परवर्ती (महायान) बौद्ध-धर्म एवं 'अहिंसा'

महायान बौद्ध धर्म में 'अहिंसा' की अवधारणा एव इसके व्यवहार को और भी विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया गया। यहा भी पाच, आठ तथा दस शिक्षापदो के अतिरिक्त दस कुसलकर्म-पथो के अन्तर्गत 'अहिंसा' को प्रथम स्थान प्रदान किया गया है। 'बोधिसत्त्व' की साधना का तो आधार ही 'अहिंसा' की उद्भाविका 'महा-करुणा' ही है। समस्त सत्वों के समस्त क्लेशो के उद्धरण का संकल्प ही बोधिसत्त्व की सारी साधनाओ के केन्द्र-बिन्दु मे प्रतिष्ठित हुआ है।

महाप्रज्ञापारमिता[२] शास्त्र (चीनी भाषा मे प्राप्त) मे दस कुशल कर्मपथो के विवेचन-क्रम मे यह कहा गया है कि "प्राणातिपात का पाप समस्त पापों में उग्रतम है तथा प्राणातिपात-विरति समस्त शोभन-कृत्यो मे अग्रतम है।" इस शास्त्र मे प्राणातिपात के पातक की गम्भीरता का विशद विवेचन है।

महायान के ब्रह्मजाल सूत्र[३] (चीनी भाषा मे) मे प्राणातिपात को १० प्रकार के पाराजिको में पहला माना गया है तथा बोधिसत्व के लिए किसी भी प्रकार के मांस-भक्षण का निषेध किया गया है। महायान के ही महापरिनिर्वाण सूत्र में यह कहा गया है कि "मांस भक्षण तो वस्तुत: महाकरुणा के बीज को ही नष्ट कर देता है।" तथा "मैं अपने समस्त शिष्यो को मास-भक्षण से विरत रहने का अनुशासन करता हूं।" 'लंकावतार सूत्र'[४] के अनुसार भी "बुद्धत्व के लिए अभिनीहार करने वाले बोधिसत्त्व भला किस प्रकार सत्त्वो के मांस का भक्षण कर सकते हैं।"

सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि महायान मे 'अहिंसा' का प्रायोगिक स्तर अतिविकसित स्वरूप को प्राप्त हुआ। 'बुद्धत्व' की अवधारणा का 'धर्मकाय' मे रूपान्तरण होने से जब प्रत्येक सत्त्व बुद्धबीज से युक्त है तो उसका मास-भक्षण कैसे हो, इस विचार का विकास हुआ। जापान एव चीन के बौद्ध धर्मों पर इस तथ्य ने अत्यधिक प्रभावित किया। फलस्वरूप, जहा थेरवादी भिक्षुओं में मांसाहार का प्रचलन था वही महायान परम्परा के चीनी एव कुछ समय पूर्व तक जापानी भिक्षुओं मे इसका पूर्ण निषेध था। किन्तु मन्त्रयान एवं तन्त्रयान के कारण तिब्बत में वस्तु-स्थिति सर्वथा भिन्न हो गई।

जो भी हो, बौद्ध धर्म मे अपने विशिष्ट कर्म सिद्धान्त के कारण 'अहिंसा' का उपर्युल्लिखित विशिष्ट सिद्धान्त प्रतिष्ठापित हुआ जो जैन-धर्म मे प्रतिपादित 'अहिंसा' की अवधारणा मे वैषम्य ही अधिक दरसाता है। विशेषतया इन दोनो धर्मों के अनुयायियो के मध्य इसका जो वास्तविक प्रयोग है उसमे तो विशेषत: अन्तर के दर्शन होते हैं।

---

१. विनय ४, पृ० १८-२०, सुत्त निपात पृ० २०२ इत्यादि

२. सु० नि० ३०७, दी० नि० १ पृ० १४२, ४३ इत्यादि

३. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ बुद्धिज्म, भाग १ पृ० २८७ मे अकिरा हिराकावा द्वारा उद्धृत

४. वही.

५. लंकावतार सूत्र पृ० ४२५ (डी. सुजुकी द्वारा सपादित)

जैन दर्शन में अहिंसा-एक विश्लेषण

श्री सुनील कुमार जैन

जैन आचार का समूचा साहित्य अहिंसा की साधना से ओत-प्रोत है। अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन जैन-परम्परा मे मिलता है उतना शायद ही किसी अन्य परम्परा मे हो। अहिंसा जैन आचार की मूलभीति है। इसका प्रत्येक सिद्धान्त अहिंसा की भावना से अनुप्राणित है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावों का अनुवर्तन, समता व अपरिग्रह तथा संयम और सच्चरित्र का अनुसाधन अहिंसा के प्रधान स्तम्भ हैं।

अहिंसा जीवन का शोधक तत्त्व है। अहिंसा का सीधा सम्बन्ध आत्मा से है। वह आत्मा का ही निर्विकार व्यापार है। आत्मा ही उसका साधकतम कारण है। आत्मा ही उसकी सुरम्य जन्म-स्थली है और अहिंसा का संपूर्ण क्रिया-कलाप आत्मा के लिए ही होता है।

"अहिंसा परमो धर्मः" अत्यन्त प्राचीन एवं सर्वमान्य सिद्धान्त है। इसका सर्वप्रथम रूप वैदिक परम्परा मे देखने को मिलता है जिसका आरम्भ उपनिषदो मे होता है। कोई भी धर्मग्रन्थ हिंसा अथवा मांसाहार की खुली छूट नही देता। प्राचीन ग्रन्थो ने यत्र-तत्र कुछ विशेष परिस्थितियो मे ही इस हेतु आज्ञा प्रदान की है। इस सम्बन्ध मे वैदिक एवं बौद्ध परम्परा, गांधी विचारधारा, इस्लाम तथा ईसाई, जैनेतर धर्म शास्त्रो से कुछ अंश प्रमाण स्वरूप उद्धृत किए जा रहे हैं, जिन्हें बुद्धि-विवेक की कसौटी पर कसकर यह जाना जा सकता है कि जीव-हिंसा एव मास-भक्षण मानव के लिए कहां तक न्यायोचित है।

जीवन के निर्माण में अहिंसा की महती उपयोगिता विस्मृत करके आज उसे केवल "जीओ और जीने दो" की संकुचित सीमाओं मे प्रतिबद्ध कर दिया गया है। इससे जनजीवन मे अहिंसा विकृत ही नही हुई है, वरन् उसका स्वरूप ही जीवन और जगत से लुप्त-सा हो गया है। इसका फल यह हुआ कि आज व्यक्ति को अपने जीवन के लिए अहिंसा की कोई उपयोगिता नही रही। उसका उपयोग केवल दूसरे प्राणी का बचाने का अनधिकृत तथा विफल प्रयास तक ही सीमित रह गया है।

हिंसा का प्रतिकार करने के लिए अहिंसा का प्रादुर्भाव हुआ। जैन धर्म मे हिंसा-अहिंसा का अत्यन्त विस्तृत एव सूक्ष्म विवेचन हुआ है। "तत्वार्थ सूत्र" मे उमास्वामी ने हिंसा की परिभाषा इस रूप मे दी है :—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।[1]

अर्थात् प्रमादवश जो प्राणघात होता है वही हिंसा है। किसी का प्राणव्यपरोपण ही हिंसा नहीं, मन की सावद्य प्रवृत्ति मात्र ही हिंसा है। इस प्रकार हिंसा मे पहले मन का व्यापार होता है फिर वचन और काय का। प्रमाद-वशीभूत व्यक्ति के मन मे प्रतिशोध की भावना जाग्रत होती है जो हिंसक उद्देश्य की जननी होती है और तब वह कष्टकारी वचन का प्रयोग करने लगता है तथा इससे भी आगे बढ़ने पर उस जीवन का प्राणघात करता है जिसके प्रति उसके मन मे प्रमाद जाग्रत हुआ रहता है।

"दशवैकालिक चूर्णि" मे कहा है कि मन-वचन और काय के दुरुपयोग से जो प्राणघात होता है वही हिंसा है।[2] इस तरह प्रमाद, वश किसी प्राणी का हनन करना अथवा उसे किसी भी प्रकार का कष्ट पहुचाना हिंसा कही जाती है।

हिंसा का मूल कारण है, प्रमाद अथवा कषाय। इसी कारण हिंसा की उत्पत्ति होती है। इसी के अधीन होकर जीव के मन, वचन, काय मे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भाव प्रकट होते है। ये ही चार प्रकार के कषाय हैं, जिनके वश मे होकर वह स्वयं शुद्धोपयोग रूप भाव-प्राणों का हनन करता है। इन्हीं कषायादिक की तीव्रता के फलस्वरूप उसके द्वारा द्रव्य-प्राणों का भी घात होता है।

'आचारांग सूत्र' मे कहा गया है—सभी प्राणियों को, सभी भूतों को, सभी जीवों को तथा सभी सत्त्वों को न तो मारना चाहिए, न अन्य व्यक्ति के द्वारा मरवाना चाहिए, न पीडित करना चाहिए और न उनको घात करने की बुद्धि मे स्पर्श ही करना चाहिए। यही धर्म

१. तत्त्वार्थ सूत्र ७, १.
२. दशवैकालिकचूर्णि : जिनदास गणि, प्रथम अध्ययन १४-४४.

प्राक् समवर्तत मायाध्यक्षात् सिसृक्षोः परमात्मनः सकाशात् समजायत।···सर्वस्य जगतः पतिरीश्वर आसीत्।"[1]

तैत्तिरीय संहिता में हिरण्यगर्भ का अर्थ प्रजापति किया गया है। अत आचार्य सायण उसी के अनुसार हिरण्यगर्भ की व्युत्पत्ति करते हैं—'हिरण्मय अण्डे का गर्भभूत' अथवा 'जिसके उदर में हिरण्मय अण्डा गर्भ की तरह रहता है'। वह हिरण्यगर्भ प्रपञ्च की उत्पत्ति से पहले सृष्टिरचना के इच्छुक परमात्मा से उत्पन्न हुआ। इस प्रकार वैदिक दृष्टि से हिरण्यगर्भ सृष्टि का आदिपुरुष या युगपुरुष प्रतीत होता है।

जैनदृष्टि

जैन मान्यता के अनुसार भगवान् ऋषभ 'हिरण्यगर्भ' नाम से सबोधित किए गए हैं। हरिवंश पुराण मे कहा गया है कि भगवान् ऋषभ के गर्भ में स्थित होने के समय पर्याप्त रूप से हिरण्य (सुवर्ण) की वर्षा हुई, इस कारण देवताओं ने हिरण्यगर्भ कहकर उनकी स्तुति की—

हिरण्यवृष्टिरिष्टाभूद् गर्भस्थेऽपि यतस्त्वयि ।
हिरण्यगर्भ इत्युच्चैर्गीर्वाणैर्गीयसे त्वत ॥[2]

इसी बात को विक्रम की प्रथम शताब्दी के आचार्य विमलसूरि ने अपने प्राकृत भाषा के 'पउमचरियं' नामक ग्रन्थ में वर्णन किया है—

गब्भट्ठियस्स जस्स उ हिरण्णवुट्ठी सकचणा पडिया ।
तेणं हिरण्णगब्भो जयम्मि उवगिज्जए उसभो ॥[3]

विक्रम की नवी शताब्दी के जैनाचार्य जिनसेन ने महापुराण मे ऋषभदेव के चरित्र का वर्णन किया है। वे कहते हैं· "हे प्रभो आप हिरण्यगर्भ हैं, मानो इस बात को समस्त ससार को समझाने के लिए ही कुबेर ने आपके गर्भ मे आते ही सुवर्ण की वृष्टि की"—

"सैषा हिरण्मयी वृष्टिः धनेशेन निपातिता ।
विभोर्हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितुं जगत् ॥"[4]

पं० आशाधर के जिनसहस्रनाम (६६) की श्रुतसागरी टीका मे हिरण्यगर्भ का अर्थ बताते हुए कहा गया है—"गर्भागमनात् पूर्वमपि षण्मासान् रत्नैरुपलक्षिता सुवर्णवृष्टिर्भवति तेन हिरण्यगर्भः" अर्थात्—ऋषभदेव के गर्भ मे आने से छह महीने पूर्व, रत्नो के साथ सुवर्ण की वृष्टि होने लगी, अत उन्हें हिरण्यगर्भ कहते हैं।

आचार्य नेमिचन्द्र ने अपने 'प्रतिष्ठा तिलक' मे तीर्थङ्कर ऋषभदेव की माता की वदना करते हुए कहा है—"अपने पुण्य से उत्पन्न रत्नसमूह की वृष्टि से ससार को तृप्त करने वाले हिरण्यगर्भ को अपने गर्भ मे धारण करने वाली आपकी कौन वदना नही करता"—

"स्वपुण्योद्भूतरत्नौघवृष्टितर्पितभूतलम् ।
हिरण्यगर्भं गर्भे त्वां दधानां को न वन्दते ॥"[5]

आदिपुराण और अभिधानचिन्तामणि मे तीर्थङ्कर ऋषभ के अनेक नामों मे हिरण्यगर्भ का उल्लेख है—

"हिरण्यगर्भो भगवान् वृषभो वृषभध्वजः ।
परमेष्ठी परं तत्त्वं परमात्मात्मभूरपि ॥"[6]
"हिरण्यगर्भो लोकेशो नाभिपद्मात्मभूरपि।"[7]

इस प्रसंग में एक बात और ध्यान देने योग्य है। तीर्थङ्कर ऋषभ के शरीर का वर्ण स्वर्ण के समान पीत था। इसी कारण 'जिनसहस्रनाम' मे उन्हें हिरण्यवर्ण, स्वर्णाभ तथा शातकुम्भनिभप्रभ कहा गया है—

---

१. ऋग्वेद १०/१२१-१ पर सायण का भाष्य।
२. हरिवंशपुराण, ८/२०६
३ पउमचरिय, ३/६८
४. महापुराण, १२/६५
५. नेमिचन्द्र, प्रतिष्ठातिलक ८/२
६. आदिपुराण, २४/३३
७. अभिधान चिन्तामणि, २/१२७

"हिरण्यवर्णः स्वर्णाभः शातकुम्भनिभप्रभः ।"[1]

जिनेन्द्र पूजापाठ की ऋषभपूजा में भी उन्हें 'काञ्चनच्छाय.' कहा गया है।

हिरण्यगर्भ की निरुक्ति करते समय सायण ने कहा है कि "हिरण्मयस्य गर्भस्याण्डभूत: प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः" अर्थात् जो प्रजापति गर्भरूप में स्वर्ण के अण्डे के समान था। सायण की यह हिरण्यगर्भ की निरुक्ति ऋषभदेव के हिरण्यवर्ण होने के कारण उपयुक्त बैठ जाती है। हिरण्यगर्भ के विश्लेषण मे सायण ने ही 'हिरण्यरूप' की निरुक्ति इस प्रकार की है—

'रूप्यत इति रूपं शरीर, सुवर्णमयशरीरो वा हिरण्यरूपः'

नवीं शताब्दी के प्रसिद्ध नाटककार हस्तिमल्ल ने सुभद्रा नाटिका में सुन्दरकाव्य शैली में हिरण्यगर्भ का वर्णन, विजयार्ध पर्वत के वर्णन के प्रसंग मे इस प्रकार किया है—

"हिरण्यगर्भप्रथमाभिषेककल्याणपीठस्य तनोति शोभाम् ।
क्षीरोदपूरस्नपितस्य गौरो रूप्याचलोऽयं कनकाचलस्य ॥"

अर्थात्—रजतवर्ण का यह रूप्याचल (विजयार्धपर्वत) उस कनकाचल (मेरुपर्वत) की शोभा को धारण कर रहा है जो कि हिरण्यगर्भ (ऋषभदेव) के प्रथम अभिषेक की मंगलपीठिका बनकर क्षीरसागर के जल से स्नपित हो रहा है।

जैनेतर साहित्य में महाराज नाभिराय एवं तीर्थंकर ऋषभदेव

श्रीमद्भागवत मे जैन धर्म के आद्यतीर्थंकर श्री ऋषभदेव जी को ईश्वर का अवतार माना गया है। इस रोचक कथा मे भी शुकदेव एव राजा परीक्षित के सम्वाद मे यह प्रकरण आया है कि आग्नीध्र के पुत्र नाभि के कोई सन्तान नही थी। इसलिए उन्होने अपनी भार्या मरुदेवी के साथ पुत्र की कामना से एकाग्रतापूर्वक भगवान यज्ञपुरुष की विशेष समाराधना एव पूजा के निमित्त विशेष आयोजन किया था। पूजन में मनोयोग से तल्लीन ऋषिगण ने नाभि की यज्ञशाला में प्रकट हुए भगवान का स्तवन करने के उपरान्त प्रदत्त वरों से जीवन को सार्थक करने के लिए इस प्रकार की याचना की, "हम आपसे यही वर मांगते हैं कि गिरने, ठोकर खाने, छीकने अथवा जम्हाई लेने और संकटादि के समय एवं ज्वर व मरणादिक की अवस्थाओं मे आपका स्मरण न हो सकने पर भी किसी प्रकार आपके सकल कलिमल विनाशक 'भक्तवत्सल', 'दीनबन्धु' आदि गुण-द्योतक नामो का हम उच्चारण कर सकें।" साथ-ही-साथ उन महात्माओ ने अत्यन्त दीन होकर अपने आशय को प्रार्थना रूप में निवेदित करते हुए सम्मिलित रूप से यह याचना की, "हमारे यजमान ये राजर्षि नाभि सन्तान को ही परम पुरुषार्थ मानकर आप ही के समान पुत्र पाने के लिए आपकी आराधना कर रहे हैं। हे देव! आप भक्तो के बडे-बडे काम कर देते हैं। हम मन्दमतियो ने कामनावश इस तुच्छ कार्य के लिए आपका आवाहन किया, यह आपका अनादर ही है। किन्तु आप समदर्शी हैं। अत. हम अज्ञानियो की धृष्टता को आप क्षमा करें।"

ऋषियो की याचना पर भगवान ने कहा, "ऋषियो! बडे असमजस की बात है। मेरे समान तो मैं ही हूं क्योकि मैं अद्वितीय हू। तो भी ब्राह्मणो का वचन मिथ्या न होना चाहिए, द्विजकुल मेरा ही तो मुख है। इसलिए मैं स्वय ही अपनी अंशकला से आग्नीध्रनन्दन नाभि के यहा अवतार लूगा क्योकि अपने समान मुझे कोई और दिखाई ही नही देता।" श्री शुकदेव जी ने राजा परीक्षित को कथा सुनाते हुए कहा कि इस प्रकार महारानी मरुदेवी के सामने ही उसके पति से इस प्रकार कहकर भगवान अन्तर्धान हो गए, और महारानी मरुदेवी के गर्भ से दिगम्बर सन्यासी ऊर्ध्वरेता मुनियो का धर्म प्रकट करने के लिए सत्त्वमय विग्रह से प्रकट हुए।

अपने सुपुत्र श्री ऋषभदेव जी के गुणों से प्रभावित होकर महाराज नाभि ने उनको राज्याभिषिक्त कर दिया और वह स्वयं अपनी पत्नी मरुदेवी सहित बदरिकाश्रम को चले गए। वहा अहिंसा वृत्ति से कठोर तपस्या और समाधि योग के द्वारा भगवान का स्मरण करते हुए उन्ही के स्वरूप मे लीन हो गए।"

[—आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज द्वारा सम्पादित भरतेश वैभव, प्र०भा० में 'श्रीमद् भागवत में ऋषभदेव तीर्थंकर' के आधार पर--सम्पादक]

---

1. जिनसहस्रनाम, त्रिकाल० ६

भगवान् महावीर का जीवन-दर्शन

श्री नीरज जैन

सर्वान्तवत् तद्गुणमुख्यकल्पं,
सर्वान्तशून्यम् च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तम्
सर्वोदयं तीर्थमिदम् तवैव।

दो हजार वर्ष पूर्व आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचे गये इस पद्य मे भगवान महावीर के तीर्थ को "सर्वोदय तीर्थ" के रूप में व्याख्यापित किया गया है। सर्वोदय का अर्थ है सबका उदय। सबका कल्याण। सर्वोदय की इसी लोक-कल्याणकारी भावना मे भगवान महावीर का सम्पूर्ण जीवन-दर्शन समाया हुआ है। उन्होने सत्य को, अहिंसा को, अस्तेय को, ब्रह्मचर्य को और अपरिग्रह को, इसी सर्वोदय तीर्थ की प्रतिष्ठा का साधन मानते हुए मानव समाज का दिग्दर्शन किया है।

महावीर का जीवन-दर्शन, जीवन की एक विधेय पद्धति है। यह मत करो, वह मत करो, यहा मत आओ, वहा मत जाओ, इसे मत देखो, उसे मत जानो, आदि आदि निषेध-परक अनुबन्धो मे उनका जीवन-दर्शन नही बाधा जा सकता। महावीर हमे जीवन मे पलायन करने की सीख नही देते। वे तो जीवन को विकास और उत्कर्ष के मार्ग पर अग्रेषित करके आत्मा को परमात्मा बनाने की कला हमें सिखाते हैं।

जीवन के उत्कर्ष की इस यात्रा मे "आत्म बोध"—अपने आपको जान लेना—पहली और अनिवार्य शर्त है। स्वय को जाने बिना आत्म-साधना का वह पथ हमारे समक्ष प्रशस्त ही नहीं होता जिस पर भगवान महावीर हमें चलाना चाहते हैं। इस आत्मबोध की दुर्लभता को एक मित्र ने दो पक्तियों मे बाधा है—

जमाने में उसने बड़ी बात कर ली,
खुद अपने से जिसने मुलाकात कर ली।

मन, वाणी और शरीर, यही तीन मुख्य उपकरण मनुष्य के पास होते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि मानव के समस्त क्रिया-कलापों का आधार यह मन, वचन, काय ही हैं। पुण्य हो या पाप, उपकार हो या अपकार, वासना हो या साधना, भोग हो या तप-त्याग, परहित हो या पर-पीडन, भलाई हो या बुराई, इन सबकी सार्थकता या अनुचरण मन-वचन-काय के सहयोग के बिना सभव ही नही हो सकता। भगवान महावीर ने इन तीनो ही शक्तियो को परिष्कृत करके, मानव-जीवन को सवारने का संदेश दिया है। सक्षेप मे यदि कहा जाए तो—आचरण मे अहिंसा, वाणी मे स्याद्वाद, विचारों में अनेकान्त, बस, यही है महावीर का जीवन सिद्धान्त।

अपने आचरण को ऐसा संयत और सुसस्कृत बनाना जिसमें दूसरो को शारीरिक या मानसिक, कैसी भी पीड़ा न पहुचे, यह अहिंसा की मोटी परिभाषा है। महावीर ने जीव मात्र के लिए अहिंसा की उपादेयता को पग-पग पर समर्थन दिया है। अहिंसा सबसे पहले हमे दूसरे के अस्तित्व का बोध कराती है। सबकी सुविधा या असुविधा का आकलन कराती है। वह सबके जीवित रहने के अधिकार का उद्घोष करती है।

भगवान महावीर इस स्थूल हिंसा से छुड़ा कर हमें उस सूक्ष्म और मानसिक हिंसा से भी मुक्त कराना चाहते हैं जो हम अपने शरीर से नहीं, किन्तु मन से, निरन्तर करते रहते हैं। उन्होंने उसे "भाव हिंसा" का नाम दिया है। झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह, ये सब इसी हिंसा के प्रकार-मात्र हैं। यही पांच पाप हैं और इनसे बचकर अपना जीवन निर्वाह करना ही आचरण की अहिंसा है। महावीर ने इस बात पर अधिक जोर दिया है कि हम शरीर की क्रिया के अलावा, मन में भी इन पापो के भागीदार न बनें, ऐसी सावधानी रखनी चाहिए। वे कहते हैं कि मन की इस चपलता के शिकार ऐसे असख्य जीव हैं जिन्होंने दूसरे को कभी कोई पीडा नही पहुंचाई परन्तु उनका मन हिंसा का घोर अपराधी है। असंख्य ऐसे हैं जो कभी किसी का कुछ खीच तो नही पाये पर प्रतिपल चोर हैं। ऐसे लोगो की गिनती भी संभव नही जिन्होंने यद्यपि कभी किसी पर आख तक नही उठाई पर उनके मन ने अनवरत व्यभिचार किया है। तृष्णा और लोभ के मारे ऐसे

व्यक्तियों की संख्या भी बहुत बड़ी है जिनके पास भले खाने-पहनने को भी न हो, पर जिनकी आशा-तृष्णा के लिए वह सृष्टि अपर्याप्त ही ठहरेगी। इस तरह हमारे जीवन को नित्य कलंकित करने वाले पापों की सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक व्याख्या तथा विश्लेषण करते हुए, उससे बचकर, अपने आचरण में अहिंसा की प्रतिष्ठा करने का उपदेश भगवान महावीर ने हमे दिया है।

महावीर का दूसरा सिद्धान्त है "वाणी मे स्याद्वाद"। ससार की प्रत्येक वस्तु अपने में अनेक विशेषताए धारण किये हुए है। ये गुण एक दूसरे के विरोधी होकर भी, वस्तु में एक साथ पाये जाते हैं। जैसे कोई व्यक्ति है, वह अपने पुत्र का पिता तो है, परन्तु साथ ही अपने पिता का पुत्र भी है। अपनी बहिन का भाई तो है परन्तु साथ ही अपनी पत्नी का पति भी है। अपने से छोटों की अपेक्षा बडा तो है पर साथ ही बड़ों के लिए छोटा भी है। एक छोटे नीबू की ओर देखें, वह पीला तो है पर साथ ही साथ खट्टा भी है। हल्का या भारी भी है। नरम या कड़ा भी है। गरम या ठण्डा और छोटा या बडा भी है। तमाशा ये है कि ये सारे गुण-धर्म, कल्पित नही, यथार्थ हैं। पृथक और भिन्न-भिन्न होते हुए भी इन वस्तुओ के सदर्भ में एकदम ठीक और एकसाथ पाये जाने वाले हैं। मुश्किल ये है कि इन सभी गुण-धर्म का एक साथ कहा जाना सभव नही है। क्रम से एक-एक करके ही, हमारी वाणी उनका बखान कर सकती है। इसका अर्थ हुआ कि हम जो कुछ भी कहते हैं कभी पूर्ण और निरपेक्ष सत्य नहीं हो सकता। वह तो आपेक्षिक और आशिक सत्य ही होता है। सत्य के और भी दृष्टिकोण हो सकते हैं तथा यथार्थता अन्य कई प्रकारो से भी देखी और आंकी जा सकती है। जो हम कह पा रहे हैं वही अंतिम नही है। वस्तु के भीतर निहित ऐसे गौण सदर्भों की संभावना को स्वीकार करते हुए सत्य का निरूपण करने का प्रयास ही स्याद्वाद कहलाता है।

अपनी धारणा प्रकट करते समय, स्यात् या कथंचित शब्दो के प्रयोग द्वारा हम आपेक्षिक या आशिक सत्य का उद्घाटन करते हुए भी उन अनगिनत अपेक्षाओं या दृष्टिकोणो की सभावनाए स्वीकार लेते हैं जिनके द्वारा उस सत्य का कथन किया जा सकता है। जिन्हें वाणी एक साथ उजागर नही कर पाती ऐसे सारे आशिक सत्यो को हम स्याद्वाद के सहारे स्वीकार कर सकते हैं। यथार्थ के सापेक्ष निरूपण की इसी पद्धति का नाम है—"वाणी का स्याद्वाद"।

महावीर के जीवन-सिद्धान्त की तीसरी कला है 'विचारो मे अनेकान्त'। सत्य के सदर्भ मे हम यह विश्लेषण कर चुके हैं कि संसार की प्रत्येक वस्तु, अनेक गुण-धर्मों वाली होती है। ससार के स्वरूप का, या अपनी आत्मा का, चिंतन करते समय, उसके पृथक-पृथक संदर्भों मे, पृथक-पृथक दृष्टिकोणो से उसका मनन करना अनेकान्त है। यह अनेकान्त ही महावीर की विचार पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है।

जिस प्रकार शकराचार्य ने अद्वैत दृष्टि के सहारे से और बुद्ध ने मध्यमा प्रतिपदा दृष्टि के सहारे से अपने दर्शन की व्याख्या की है, उसी प्रकार महावीर ने अपने विचारो के निरूपण के लिए अनेकान्त को आधार बनाया है। सभी महापुरुषो ने अपने जीवन में सत्य की शोध करके, अपनी वाणी में उसकी व्याख्या करने का प्रयास किया है। भगवान महावीर की इसी सत्य-शोधक-साधना का नाम अनेकान्तवाद है। अनेकान्त का अकुर सिर्फ सत्य की भूमि मे उग सकता है। पूर्णता और यथार्थता की नीव पर ही अनेकान्त का मन्दिर बनता है।

पूर्ण और यथार्थ सत्य का दर्शन बहुत दुर्लभ है। उसे जान ही लिया जाय तो भी, उसका कथन असंभव-सा है। कथन के प्रयास यदि किये भी जाएं तो देश-काल की परिस्थितियों के कारण, भाषा और बोलियो की सीमा और विविधता के कारण, वक्ता और श्रोता की तात्कालिक मन:स्थिति के कारण ऐसे कथन मे भेद और विरोध उत्पन्न हो जाना अनिवार्य है। जिन्होंने सत्य को आशिक ही जाना है उनके सामने तो और भी कठिनाइया हैं। सत्य के निरूपण मे आने वाली इन्ही कठिनाइयो ने भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों, सम्प्रदायों और मान्यताओं को जन्म दिया है, जो एक दूसरे से टकराकर मानव समाज मे अशान्ति और विद्वेष का वातावरण उत्पन्न करते हैं।

भगवान महावीर ने बहुत गहरे मनन के उपरान्त उस अनेकान्त विचार-पद्धति का आविष्कार किया जिससे सत्य को आंशिक या अपूर्ण रूप में जानने वालों के साथ पूरी तरह न्याय हो सके। इस अनेकान्त के सहारे ही यह संभव था कि अपूर्ण और अपने से विरोधी होकर भी दूसरे की बात मे यदि सत्य है, तथा अपूर्ण और दूसरे से विरोधी होकर भी यदि अपनी बात मे सत्य है तो इन दोनों का समन्वय करके पूर्ण और यथार्थ को ग्रहण किया जा सके। अनेकान्त की इस विचारधारा मे अपूर्ण रूप से विचारित होकर भी पूर्णता गर्भित होती है। किसी एक दृष्टिकोण के विचार पथ में आते ही, अन्य समस्त सभावित दृष्टिकोण, नैपथ्य मे स्वत: उपस्थित हो जाते हैं। इस प्रकार हमारे सीमित ज्ञान को भी सत्य और यथार्थ का ग्रहण करने की क्षमता प्रदान करता है—विचारो का अनेकान्त।

भगवान महावीर के इस जीवन सूत्र के अनुसार जिस व्यक्ति का आचरण अहिंसा से पावन और पवित्र हो गया है, जिसकी वाणी स्याद्वाद के प्रयोग से निर्वैर और प्रामाणिक हो गई है और जिसकी विचारधारा अनेकान्त की लहरो से निर्मल बन गई है, ऐसा ही साधक आत्मबोध का अधिकारी बनकर अपनी आत्मा को परमात्मा के रूप मे प्रकट करके जन्म, जरा और मृत्यु के चक्रव्यूह से बाहर निकलने में सफल हो सकता है। वही आत्म-उपलब्धि है। वही मुक्ति है।

जहां अहिंसा से आचरण-संहिता बंधी हुई है,
स्याद्वाद से वाणी की संतुलता सधी हुई है।
अनेकान्त का इन्द्रधनुष चिन्तन मे जहां छुआ है,
महावीर का जीवन दर्शन सार्थक वहीं हुआ है॥

व्यावहारिक जैन प्रतिमानों की आधुनिक प्रागिसंकता

डॉ० ल० के० ओड

मेरा जन्म तथा आरम्भिक लालन-पालन मन्दसौर (म० प्र०) मे हुआ। कहते हैं कि यह एक प्राचीन नगर है जिसका ऐतिहासिक नाम दशपुर है। जैन मुनियों के प्रवचनों मे सुना था कि अपनी तीर्थंकरावस्था मे भगवान् महावीर का आगमन इस नगर मे हुआ था तथा दशार्ण प्रदेश के तत्कालीन नरेश ने भगवान् महावीर के समीप दीक्षा अगीकार की थी। आज भी इस नगर में जैन धर्मावलम्बियों की संख्या काफी है।

उन दिनो (और मालूम नही कदाचित् आज भी) मन्दसौर नगर साम्प्रदायिक विद्वेष तथा कलह के लिए कुख्यात था। जैनधर्म के विभिन्न सम्प्रदाय एवं उपसम्प्रदायो मे व्याप्त क्लेश भी कभी-कभी हिंसात्मक रूप धारण कर लेता था। जब मैं किशोरावस्था तक पहुंचा तब तक मेरा मन एक विचित्र प्रकार की अनास्था से भर गया था। जैन मुनियो से सुना था कि जहां-जहा भगवान के चरणारविन्द पड़े वह अतिशय क्षेत्र कहलाता है तथा वहा के वातावरण मे पवित्रता व्याप्त रहती है, परन्तु मुझे प्रत्यक्ष दिखाई देता था कि आधुनिक मगध, वैशाली, मालव आदि सभी क्षेत्र तो हिंसा, अनाचार, शोषण तथा कलह के केन्द्र बने हुए थे। क्या भगवान महावीर का प्रभाव इन स्थानों से समाप्त हो गया था?

कभी-कभी मनस्तरंग मुझे इतिहास के उस युग मे ले जाकर खड़ा कर देती थी, जब स्वय भगवान महावीर कभी राजगृही नगरी के नालन्दी पाड़ा मे, तो कभी श्रावस्ती नगर के गुणसिल्ल उद्यान मे, तो कभी वैशाली नगर मे और कभी उज्जैनी के चैत्यालय मे धर्मोपदेश देते दिखाई देते तथा अनेक राजा-रानियां, श्रेष्ठिगण भगवान का उपदेश सुनकर दीक्षा लेते, श्रावकाचार ग्रहण करते तथा भव्यजीव आत्मकल्याण का मार्ग अपनाते। इसके साथ ही मुझे उस युग के युद्ध तथा पारस्परिक कलह भी याद आते। भगवान महावीर के अनुयायी महाराजा चेटक तथा उन्हीं के जामाता मगध के श्रेणिक नरेश के बीच युद्ध, श्रेणिक और कोणिक दोनो पिता-पुत्र और दोनो महावीर के अनुयायी होते हुए भी एक-दूसरे के जन्मजात शत्रु, तत्कालीन वैशाली और मगध के छोटे से भूखण्ड के अनेक जैन धर्मावलम्बी राजाओं में एक-दूसरे के राज्य को हड़प लेने की वृत्ति। इन सब दुर्वृत्तियो को भगवान महावीर रोक नही पाए। उस युग में भी व्यक्ति का निजी आचार तथा सामाजिक आचार अलग-अलग बने रहे। राजा चेटक अपने युद्ध-प्रतिद्वन्द्वी उदयन को एक ओर बन्दी बनाकर कारागृह में डाल सकते हैं, परन्तु सावत्सरिक प्रतिक्रमण के उपरान्त अपने बन्दी मे क्षमायाचना करते हैं क्योकि राजा के रूप में युद्धधर्म का आचार भिन्न है, जिस पर निजी जीवन के आदर्शों की छाप पडना आवश्यक नही है। आचार-सम्बन्धी यह दुविधा भगवान महावीर के समय से लेकर आज तक जैन धर्मावलम्बियों मे देखी जा सकती है।

उक्त द्विधापूर्ण परिस्थितियो मे मेरा मन बारम्बार विद्रोह करता और मैं अपने अत्यन्त धर्मभीरु माता-पिता से प्रश्न करता कि क्या भगवान महावीर के सिद्धान्त शास्त्रो मे पढ़ने तक सीमित हैं और क्या इस व्यावहारिक जगत मे कभी भी उनका प्रयोग हुआ अथवा उनके व्यवहार मे आने की कभी सम्भावना हो भी सकती है? मुझे उनके दैनिक जीवन मे पानी का सीमित व्यवहार, वनस्पति का सीमित उपयोग, मुह पर वस्त्र बाधकर सामायिक के आसन पर बैठना, जानबूझकर किसी भी त्रस जीव को कष्ट न पहुंचाने की वृत्ति, अग्नि-आरम्भ पर नियन्त्रण, वैरभाव से युक्त विषाक्त प्राणियों की भी रक्षा करने की वृत्ति, समय-समय पर व्रत-उपवास, वाणी मे संयम आदि अनेक आचरणो का औचित्य समझ मे नहीं आता। मेरे जिज्ञासु किशोर मन को उनके श्रद्धायुक्त आशावादी उत्तर सन्तुष्ट नही कर पाते; परन्तु एक दिन उन्होने बडी दृढता के साथ कहा कि वह समय शीघ्र आने वाला है जब मानव समाज एकान्तिक मतवाद का त्याग करके भगवान महावीर के अनेकान्तिक सिद्धान्त को स्वीकार करेगा तथा इस सृष्टि की नैसर्गिक एव मानवीय परिस्थितियां "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" के सिद्धान्त को अगीकार करने के लिए मनुष्य को बाध्य कर देंगी।

भविष्यवाणियो मे मेरा विश्वास कभी नही रहा, परन्तु भविष्य शास्त्र (Futurology) मे अवश्य रुचि रही है और इसीलिए

भावित प्रागुक्तियों (Probable Forecast) का मैं रुचिपूर्वक विश्लेषण तथा अवलोकन करता रहता हूं। मेरे पिताजी की प्रागुक्ति तो श्रद्धा समन्वित थी, परन्तु उसके बाद हरमन कान्ह, एल्विन टॉफ्लर आदि अनेक भविष्य शास्त्री लेखकों की पुस्तकें प्रकाशित हुई और उनमें प्रतिदिन समाप्त होने वाले प्राकृतिक स्रोतों की तरफ मनुष्य का ध्यान आकृष्ट किया गया, तो मुझे मेरे पिताजी की प्रागुक्तियां पुनः स्मरण आने लगी। बीसवीं शताब्दी के उत्तरांश में जो वैज्ञानिक अन्वेषण हुए हैं तथा जिस प्रकार के राजनैतिक तथा आर्थिक परिवर्तन हुए हैं, उनसे धीरे-धीरे अब ऐसा आभास होने लगा है कि यदि हमारी इस पृथ्वी को मानव के रहने लायक बनाए रखना है, तो भगवान महावीर के सिद्धान्तों को हमारे दैनिक जीवन व्यवहार में अपनाना होगा, अथवा मानव सृष्टि का विनाश अवश्यम्भावी है।

दैनिक जीवन में सूक्ष्म एवं 'बादर' हिंसा का त्याग

जैन दर्शन मे जीवो की व्याख्या अत्यन्त विशद तथा सूक्ष्म रूप से की गई है। जैनागम मे जीव का लक्षण 'उपयोग' माना गया है अर्थात् जिसमे ज्ञानादि का एकांश या विशेषांश है--वह जीव है। जीव द्रव्य चेतना गुण का धारक होता है, इन्द्रियगम्य नही होता तथा संकोच-विस्तार की शक्ति से युक्त तथा असंख्यातप्रदेशी एक द्रव्य होता है (उत्तराध्ययन, अध्याय २८)। जीव जिस माध्यम से प्रव्यक्त होता है, उसे काया कहते हैं, जो उत्पन्न होती है, वृद्धि पाती है तथा जिसका क्षय होता है। एककोशीय जीव से लेकर अनेक पर्यायों वाले जीवों का सविस्तार विवेचन जैन तत्त्वज्ञान का मूलाधार रहा है। जैन दर्शन मे केवल एकेन्द्रिय जीव से लेकर पञ्चेन्द्रिय जीवो का स्थूल वर्गीकरण ही नही मिलता अपितु एकेन्द्रिय जीवो का भी पांच प्रमुख "काया" रूपो मे श्रेणीकरण किया गया है। वैज्ञानिक गवेषणाओं ने अभी तक वनस्पति काया के जीवो का अस्तित्व स्वीकार किया है, और साथ ही अन्य "काया" में यथा —पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय एवं तेजस काय मे परिव्याप्त बेक्टेरियल जीवाणुओ की उपस्थिति को भी स्वीकार किया है परन्तु इन्हें स्वयं जीव के रूप में नही माना गया, क्योंकि विज्ञान द्वारा मान्य "जीव" की परिभाषा मे इनका समावेश नही हो पाता। कालान्तर में इस बात की पूरी सम्भावना नजर आती है कि जीव की मान्य परिभाषा को अधिक व्यापक बनाया जाएगा तथा सभी प्रकार के सूक्ष्म-बादर, पर्याप्त-अपर्याप्त, त्रस-स्थावर जीवों के अस्तित्व को स्वीकार करके उन सबके प्रति संवेदनशीलता बढ़ती जाएगी।

स्थूल श्रेणीकरण के अतिरिक्त जैन तात्त्विको ने विकास-क्रम की दृष्टि से जीवो का पुनर्वर्गीकरण किया है। सभी पचेन्द्रिय जीव भी एक कोटि में नहीं आते। उनमे भी अनेक प्रकार के अल्पविकसित मस्तिष्क वाले असज्ञी जीव हैं और विकसित मस्तिष्क एवं बुद्धि वाले संज्ञी जीव जिनमे मनुष्य ही नही अपितु देवता भी है, इसी कोटि के विकास क्रम मे आते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार दैनिक जीवन मे प्रत्येक व्यक्ति से यह अपेक्षा की गई है कि वह यथासभव सभी जीवो की रक्षा करे; दूसरे शब्दो मे सभी प्रकार की हिंसा का त्याग करे। प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह अपने जीवन व्यवहार को इस प्रकार सयत रखे जिससे कि जो जीव-वध केवल असावधानी से होता है उसे तो बचाया ही जा सके।

उक्त परिप्रेक्ष्य मे ही जैन धर्मावलम्बी अनावश्यक पानी का अपव्यय नही करते, तथा उतना ही जल का प्रयोग करते हैं जितना जीवन जीने के लिए आवश्यक है। यही बात भूमि-सरक्षण ऊर्जा-संरक्षण, वायु-सरक्षण, वनस्पति-सरक्षण तथा समग्र त्रस (जगम) जीवों के संरक्षण के बारे मे कही जा सकती है। इन सब कार्यों मे जीव विद्यमान है अत इनका उपयोग सावधानीपूर्वक करना चाहिए।

जैन दर्शन के उक्त जीवन व्यवहार का महत्व आज की परिस्थिति मे अत्यधिक बढ गया है। हरमन कान्ट तथा अन्य भविष्य शास्त्रियो ने प्रागुक्ति की है कि हमारी पृथ्वी के प्राकृतिक साधनो का अविचारी दुरुपयोग हम जिस निर्दयता के साथ कर रहे हैं, उसको रोका नही गया, तो हमारी मानव सृष्टि एक शताब्दी से अधिक जीवित नहीं रह सकेगी। इन प्रागुक्तियो के बाद अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय स्तरो पर "पर्यावरण संरक्षण" पर ध्यान दिया जाने लगा।

सहस्रो वर्षों से मनुष्य पृथ्वी के गर्भ से अमूल्य खनिजो को प्राप्त करता रहा है, तथा भूमि के ऊपर कृषि करके धन-धान्य उत्पन्न करता रहा है। प्रकृति का चक्र कुछ इस प्रकार संचालित होता रहता है कि यदि मनुष्य उसमे अतिरेक न करे तो सभी प्राणी एक-दूसरे के सहयोग से सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकते हैं। भगवान महावीर ने डार्विन के "जीवो जीवस्य भोजनम्" के नकारात्मक सिद्धान्त के स्थान पर सकारात्मक कथन किया-"परस्परोपग्रहो जीवानाम्"।

औद्योगीकरण के आगमन के साथ हमने प्रकृति का शोषण अत्यन्त निर्दयता के साथ किया है तथा प्राकृतिक संतुलन को बिगाड़ दिया है। जैन दर्शन में पन्द्रह कर्मादानो निषेध किया गया है। इन पन्द्रह कर्मादानो मे इस प्रकार के "महारंभ" सम्मिलित किए जाते हैं, जैसे वनों का समूलनाश करवाना, भूमि के गर्भ को शून्य बना देना, भूमि की उपज-शक्ति की रक्षा किए बिना उससे इतना उत्पादन लेना कि वह बंजर भूमि बन जाए, जल-संसाधनों को दूषित करना तथा उनके प्राकृतिक आगमन-निगमन में अवरोध उपस्थित करना, ऊर्जा शक्ति का अपव्यय करना इत्यादि। "परस्परोपग्रहः जीवानाम्" के सिद्धान्तानुसार प्रकृति एवं मनुष्य ही नही, बल्कि सृष्टि के सभी जीव एक-दूसरे पर आश्रित हैं तथा एक-दूसरे के सहयोग से जीवन यापन करते हैं। यदि मनुष्य अपने जीवन-यापन हेतु प्रकृति से कुछ लेता

है तो बदले में उसे कुछ देना भी होता है। प्रकृति का आधार शोषण नहीं अपितु सहयोग है। वृक्ष के फल, फूल और लकड़ी उतनी ही उपयोग में ली जानी चाहिए जितनी कि पुनर्वृक्षारोपण द्वारा पुनस्स्थापित की जा सके। वनों के अविचारी विनाश के फलस्वरूप हमारे वायु-मण्डल मे जो असंतुलन आया है उससे हम सब भलीभांति परिचित हैं। भारत के कुछ क्षेत्रों में अतिवृष्टि है तो कुछ में अनावृष्टि अथवा न्यूनवृष्टि। इसका एक कारण वन-सम्पदा का अविचारी दुरुपयोग रहा है। वनो के कारण केवल वर्षा ही आकृष्ट नही होती थी अपितु जल संरक्षण भी होता था और बाढ़ें भी रुकती थी और वायु-मण्डल मनुष्य जीवन के लिए स्वास्थ्यकारी रहता था। हमारा ध्यान पुनः एक बार इस ओर आकृष्ट हुआ है। इस विचार को शुद्ध बौद्धिक आधार पर ग्रहण करने की अपेक्षा इसे श्रद्धासमन्वित बनाने की आवश्यकता है। वन-संरक्षण एव वृक्षारोपण — दोनों ही आज के जीवन की आवश्यकताएं हैं।

जैन आचार के अनुसार प्रत्येक महारम्भ महाहिंसा को जन्म देता है क्योंकि महारम्भ (Large Scale Enterprise) जिस गति से प्राकृतिक साधनों को नष्ट करता है उस गति से उसकी सम्पूर्ति नही करता। पृथ्वी के गर्भ मे नये खनिजो का निर्माण भी होता है और उनको मनुष्य अपने उपयोग के लिए बाहर भी निकालता है। औद्योगीकरण के फलस्वरूप पृथ्वी के गर्भ को हमने इतना खोखला बना दिया है कि खनिजों की स्वाभाविक वृद्धि की शक्ति लगभग नष्ट होती जा रही है। आज खनिज तेलो का अभाव ही हम अनुभव कर पा रहे हैं, परन्तु यदि इसी गति से लोहा, कोयला, ताम्बा आदि अन्य खनिज भी निकाले जाते रहे तो पृथ्वी बन्ध्या हो जाएगी। जैन आचार संहिता के अनुसार खनिजो को निकालने की गति मन्द करने तथा खाली की गई खदानो का पुनरुपचार करने की आवश्यकता है।

कृषि कर्म में हमने इस देश मे यन्त्रीकरण का कुछ वर्ष पूर्व ही आरम्भ किया गया है। कृषि की उपज बढ़ाने के लिए हमने उन्नत बीज, रासायनिक खाद तथा यान्त्रिक उपकरणो का प्रयोग आरम्भ किया परन्तु इनमे भी महारम्भ की आशंका व्याप्त हो गई है। हमारे पशु-धन-सयुक्त कृषि कर्म मे प्राकृतिक सतुलन कायम रखने की प्रक्रिया सन्निहित थी। पशुओ का गोबर खाद का काम करता तथा मनुष्य के खाने लायक सामग्री के बाद जो घास, फूस, चूरी, खली आदि बचे रहते उसे पशु आहार के रूप मे प्रयुक्त किया जाता। अब यान्त्रीकरण के फलस्वरूप ट्रैक्टर उस खनिज तेल का उपभोग करता है, जो शनै शनै नष्ट होता जा रहा है तथा उपउत्पाद के रूप मे वायु मण्डल को दूषित करने वाला धुआ प्रदान किया जाता है। इस प्राकृतिक असतुलन के कारण कुछ समय के लिए अनाज तो शायद विपुल मात्रा में मिल जाए परन्तु वायुमण्डल दूषित हो रहा है, पृथ्वी की उपजाऊ शक्ति शनैः शनैः घट रही है, दूध-दही का अभाव हो रहा है, पशु-धन क्षीण होता जा रहा है और स्थिति अब ऐसी आ गई है कि "डीजल" की कमी का प्रभाव कृषि पर भी आने लगा है। जैन आचार के अनुसार शस्य-वृद्धि, भोजन-लिप्सा पर संयमन, पशु सवर्धन तथा पृथ्वी की उपजाऊ-शक्ति के सरक्षण का कार्य साथ-साथ चलना चाहिए।

वैज्ञानिक प्रगति के कारण जल के अपव्यय तथा प्रदूषण की प्रक्रिया भी आरम्भ हुई। जिन क्षेत्रो मे जलाभाव थे उन क्षेत्रो के अभाव को हम तो पूरी तरह दूर नही कर पाए परन्तु जहा प्रचुर मात्रा मे जल उपलब्ध था उसका अपव्यय भी खूब होने लगा, तथा बड़े-बड़े कारखानों की गन्दगी ने उन जलाशयों को प्रदूषित कर दिया। परिणामस्वरूप जल के जीव, जल मे व्याप्त सूक्ष्म, बादर तथा त्रस जीवों की जो अ-विचारी हिंसा हुई उसके फलस्वरूप परिवेश के जल-सम्बन्धी पर्यावरण का सतुलन बिगडा। आज विपुल जल वाले क्षेत्र भी जलाभाव से ग्रस्त हैं तथा वहां के निवासियो के स्वास्थ्य पर जल प्रदूषण का प्रभाव पड रहा है। जल के प्रयोग में सावधानी तथा मितव्ययता सम्पूर्ण जीव सृष्टि को कायम रखने के लिए आज और भी अधिक आवश्यक हो गई है।

हमारी सृष्टि में ऊर्जा के अनन्त स्रोत हैं। प्रकृति अनेक रूपो मे ऊर्जा का उत्सर्जन करती रहती है। हमारा जीवन ऊर्जा पर आश्रित है, परन्तु ऊर्जा के स्रोतों का उपयोग करने मे भी उसी प्रकार सावधानी बरतना आवश्यक है। ऊर्जा का उपयोग आवश्यक हिंसा के रूप में होना चाहिए और सृष्टि को उसकी पुनः स्थापना करने मे मदद करनी चाहिए। ऊर्जा के प्राकृतिक साधनो का अपव्यय भी मानव-सृष्टि को विनाश की ओर ले जा सकता है।

कभी कहा जाता था कि अन्न, जल तथा वायु तो प्रकृति की निःशुल्क देन है, परन्तु धीरे-धीरे हमारी मानव-सृष्टि मे से तीनो प्राकृतिक साधन मनुष्य की निजी सम्पत्ति बन गये। आज तो किसी के द्वारा न बाधा जा सकने वाला शून्य और उसमे व्याप्त वायु भी मनुष्य की तिजोरियों मे बन्द हो गये है। वायुकाय के जीवों की अविचारी हिंसा ने वायु-प्रदूषण को जन्म दिया है। हमने वायु को परिशुद्ध बनाने के अपने प्रयासो मे वायु के प्राणि-जीवन की साईकिल मे विक्षेप डाल दिया। औद्योगिक महाहिंसा का प्रसार वायुकाय के जीवों तक भी हुआ। वायुमण्डल का प्राकृतिक सतुलन बिगड गया है, परन्तु यदि हम अब भी चाहे तो इस अविचारी हिंसा के प्रवाह को रोककर सतुलन पुनः कायम कर सकते हैं तथा मानव सृष्टि को तथा अन्य सभी जीवो को सुचारु जीवन जीने का अवसर दे सकते हैं।

वनस्पतिकाय के जीवो की हिंसा की बात पहले लिखी जा चुकी है। वनस्पति के जीवों की भी अनेक कोटियां हैं। कुछ वनस्पतियो का प्रयोग अनन्त जीवों का घात कर सकता है और कुछ का प्रयोग वातावरण को संतुलन बनाए रखने में सहायक हो सकता है। यह व्यक्ति की प्रकृति, मानसिक उत्थान तथा आत्मिक संवेदना पर निर्भर करेगा कि कौन व्यक्ति कितनी मात्रा में, किस-किस प्रकार की, और किन-किन रूपो मे वनस्पति का सेवन तथा प्रयोग करता है। कुछ लोग जमीकद का त्याग करते हैं तो अन्य लोग बहुबीजी वनस्पति

का त्याग कर सकते हैं, और कुछ विरले त्यागी जीव वनस्पति-सेवन का सर्वथा त्याग भी कर सकते हैं। मूल सिद्धान्त है अपव्यय का त्याग, सेवन में सतर्कता, वनस्पति जीवों के जीवन चक्र को कायम रखना तथा उपयोग के बदले में प्रकृति को क्षतिपूर्ति के रूप में प्रतिदान करना।

एकेन्द्रिय स्थावर जीवों के बाद-विकास-क्रम में त्रस जीव आते है जिन्हें द्विइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय की श्रेणियों में विभक्त किया गया है और उनमें भी विकासक्रम की अनेक कोटियां परिभाषित की गई हैं। जैनाचार के अनुसार किसी भी त्रस जीव की हिंसा का पूर्ण निषेध किया गया है। जैन श्रावक तथा श्रमण से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने दैनिक जीवन व्यवहार को इस प्रकार संयत रखे जिससे कि छोटे से छोटे कीड़े-मकोड़े का भी वध न हो। जैन श्रावक न मच्छरों को मारता है, न खटमलों का घात करता है; न चूहों को नष्ट करता है, न छिपकलियो की हिंसा करता है; न सांप को पकड़वाता है और न नेवले से उसकी लड़ाई करवाता है। वह न आखेट के लिए वन्य पशुओं को मारता है और न आत्मरक्षा-हेतु हिंसक पशुओं का वध करता है। वह अपने भोजन के लिए वनस्पति जीवों की जितनी हिंसा अनिवार्य है उसे विवेक के साथ करता है, परन्तु अपने भोजन एवं स्वाद हेतु किसी त्रस जीव का घात नहीं करता। चारे-खेती की रक्षा हेतु अथवा आत्मरक्षा हेतु, भय हेतु अथवा प्रतिशोध हेतु वह जान बूझकर किसी त्रस जीव की हिंसा नहीं करता।

सभी त्रस जीव भी इस सृष्टि की साइकिल को सुचारु रूप से चलते रहने में सहायक होते हैं। निसर्ग की इस व्यवस्था में सभी जीवो का अपना स्थान है। प्रकृति के नियमानुसार अपने कर्मों के अनुरूप वे स्वयं एक-दूसरे को नष्ट कर देते हैं। मनुष्य संज्ञी जीव है अत: उसे जानबूझकर हिंसा नहीं करनी है परन्तु सृष्टि के अन्य प्राणियो में जो कर्मानुबन्ध के अनुसार हिंसा होती है वह प्रकृति की साइकिल को चलाए रखने मे मदद करती है। इस प्रकृत हिंसा से मनुष्य अप्रभावित रहता है।

आज हम कुछ प्राणियो को मनुष्य का शत्रु मानते हैं। मक्खी और मच्छरों को रोगों का संवाहक माना जाता है। चूहे हमारे धान्य को नष्ट करने वाले माने जाते हैं। सांप तथा अन्य विषैले प्राणी प्राणघातक माने जाते हैं। टिड्डीदल फसलों का शत्रु कहा जाता है। हिंसक वन्य पशु हमारे घरेलू पशुओ को उठा ले जाते हैं, अत: वे भी मनुष्य के शत्रु कहे जाते हैं।

मनुष्य के शत्रु कहे जाने वाले इन जीवों का भी हमारी सृष्टि मे अपना स्थान है। इस दैविक चक्र में हम जहां किसी कड़ी को तोड़ देते हैं, वहीं हिंसा का चक्र आरम्भ हो जाता है और फिर भी हम आपदाओं से पार नहीं पा सकते। नदी में रहने वाले मगरमच्छ को मारने से मछलियां तो शायद कुछ बच जाए परन्तु अन्य अनेक नुकसानदेह प्राणी भी बच जाते हैं। रोगग्रस्त मछलियों को मार देने से जल को दूषित करने वाले कीट-कृमि शेष रह जाते हैं, और पानी सड़ान्ध मारने लगता है। सांप चूहों को खाता है और यदि सांपों को नष्ट कर दिया जाए तो चूहो की संख्या बढ जाएगी और यदि चूहे नष्ट हो जाएंगे तो उनके भोज्य अनेक कीड़े-मकोड़े हमारे जीवन को दूभर बना देंगे। प्रकृति की व्यवस्था मे सब जीवो का अपना स्थान है तथा यदि प्रकृति को अपना काम मनुष्य के हस्तक्षेप के बिना करने दिया जाए तो सृष्टि-चक्र सुचारु रूप से चलता रह सकता है।

हमने अपने अज्ञान, अहंकार तथा लिप्सा के वशीभूत होकर कुछ वन्य पशुओ का नामोनिशान मिटा दिया। प्रकृति के साथ मनुष्य का यह सबसे क्रूर व्यवहार था। अब कुछ जीव-शास्त्रियो का ध्यान इस तरफ आकृष्ट हुआ है कि सिंह, वानर, हाथी, गोडावण, मोर आदि कुछ प्राणियो के संरक्षण की आवश्यकता है। जैन मतानुसार तो सभी प्राणि-वंश को कायम रखने की आवश्यकता है क्योंकि वे भी हमारे पर्यावरण को जीवित रखने मे अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

प्राकृतिक पर्यावरण को मनुष्य के जीने लायक बनाए रखने हेतु तथा समाज मे संतुलन एवं समानता कायम करने के लिए महा-रंभिक कार्यों पर रोक लगाना आवश्यक है। पश्चिम के जो देश औद्योगीकरण की चरम सीमा पर पहुंच गए हैं वे अब अनुभव करने लगे हैं कि औद्योगिक उत्पादन की गति को मन्द करने की आवश्यकता है तथा जन-समुदाय को अपनी उपभोग-वृत्ति पर नियन्त्रण करने का समय आ गया है, अन्यथा मानव-सृष्टि नष्ट हो जाएगी। महारंभ के स्थान पर विकेन्द्रित उत्पादन की तरफ पश्चिमी देश धीरे-धीरे उन्मुख हो रहे हैं। गांधीवादी अर्थ-व्यवस्था मे इसी विकेन्द्रीकरण की नीति को भारत के लिए श्रेयस्कर माना गया है।

भारतवर्ष बहुल जनसंख्या वाला देश है। इसकी अर्थव्यवस्था में जनशक्ति के उपयोग को प्रधानता मिलनी चाहिए। जो काम मनुष्य की शक्ति से परे हो, अथवा जिन कामों से कुछ वर्गों का शोषण होता हो, ऐसे कामों के लिए यन्त्रो का प्रयोग मान्य हो सकता है, परन्तु जन-शक्ति एव पशु-शक्ति को बेकार बनाकर निरीह अवस्था मे छोड़ देने वाले यन्त्रों का प्रयोग 'महाहिंसा' की कोटि में आता है, जिसका परिहार करना ही उचित है। बड़े उद्योगों की स्थापना की होड़ अब रुकनी चाहिए तथा उनकी भी जितनी क्रियाओं का विकेन्द्री-करण हो सके उतना करना चाहिए। समाज में व्याप्त विशृंखला तथा मानवीय शोषण को मिटाने का एक मार्ग विकेन्द्रीकरण है।

सत्य का स्वरूप तथा अनेकान्त मार्ग

सत्य-कथन दो रूपों में अभिव्यक्त होता है। कथन तथ्यात्मक होता है अथवा व्याख्यात्मक। जब हम किसी वस्तु, घटना, क्रिया

आदि का कथन जैसी वह है अथवा जैसा हमने उसका प्रत्यक्षीकरण (Perceive) किया है, उसी रूप में करते हैं, तब तथ्यात्मक कथन होता है। इसके विपरीत जब हम किसी वस्तु, घटना, विचार अथवा क्रिया आदि की व्याख्या करते हैं तथा अपना अभिमत उसमे समाविष्ट करते हैं तब कथन व्याख्यात्मक कहलाता है।

दोनों ही प्रकार के कथन सीमित रूप मे ही सत्य का उद्घाटन कर सकते हैं। जिन्हें हम प्रत्यक्षीकृत तथ्य कहते हैं, उनकी सीमा हमारी इन्द्रियां हैं, जिनकी शक्ति को वैज्ञानिक उपकरणो की सहायता से बढाया जा सकता है, परन्तु पूर्ण नहीं बनाया जा सकता है। हमारी इन्द्रियां वस्तु को एक परिप्रेक्ष्य में अनुभव करती हैं। समग्र रूप से पदार्थ को हस्तामलकवत् तो सर्वज्ञ ही देख सकता है। इस प्रकार हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान भी अपूर्ण तथा परिवर्तनशील होता है, तथा अलग-अलग लोगो का प्रत्यक्षीकरण भी भिन्न-भिन्न हो सकता है।

प्रत्यक्षीकृत ज्ञान मे सामान्यतया एकरूपता पाई जाती है तथा मतभेद के लिए गुंजाइश कम रहती है, परन्तु जब हम तर्क का आश्रय लेकर व्याख्या करने लगते हैं, तो हमारा अभिमत उसमे समाविष्ट हो जाता है। व्याख्या करने वाला किसी सदर्भ अथवा परिप्रेक्ष्य में सम्मति-कथन करता है। भाषा की सीमा यह है कि कथन के अनन्त सन्दर्भों को मिलाकर एक साथ नहीं कहा जा सकता। जब हम यह कथन करते हैं कि "देवदत्त यज्ञदत्त का पुत्र है" तो हमारे सामने केवल एक सन्दर्भ रहता है, परन्तु देवदत्त के जो अनेकानेक अन्य सन्दर्भ हो सकते हैं वे अनकहे रह जाते हैं।

हमारे जीवन मे प्रायः मनोमालिन्य, पारस्परिक कलह तथा वर्ग-सघर्ष का मूल कारण अपने विचारो के प्रति अत्याग्रह होता है। हम अन्य व्यक्तियों की बात को उचित संदर्भ मे समझे बिना अपनी बात उस पर लादना चाहते हैं। हमारे इस विशाल देश मे प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक विभिन्न विचारों, विश्वासो, सस्कृतियो तथा धर्मों को माननेवाले लोग एक साथ रहते आए हैं। भारतीय संस्कृति की इस उदार वृत्ति को सुदृढ़ करने की आवश्यकता है।

हमने लोकतान्त्रिक शासन-प्रणाली को अपनाया है, जिसमे विभिन्न मत रखने वाले समूह तथा व्यक्ति सहिष्णुतापूर्वक एक-दूसरे के अभिमत को समझने का प्रयास करते हैं तथा बहुजनहिताय बहुमत-विचार को स्वीकार किया जाता है। सिद्धान्ततः यह बात मान्य होते हुए भी हमारे देश में साम्प्रदायिक मतभेद बढे हैं; अपने मत को दूसरो पर आरोपित करके मनवाने का अहकार बढा है और इसके फलस्वरूप देश की एकता टूट रही है।

जैन दर्शन के अनुसार सत्य एकान्तिक न होकर अनेकान्तिक होता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना मत रखने का अधिकार है, परन्तु साथ ही उसे अन्य मतों को उचित संदर्भ मे समझने की चेष्टा करनी चाहिए तथा यदि उचित मालूम हो तो अपना मत परिवर्तन करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। जीवन के उपर्युक्त व्यवहार की प्रासगिकता आज के भारत के लिए और भी अधिक बढ़ गई है।

शोषण-मुक्ति तथा अपरिग्रह

दूसरों के वैध अधिकार का हनन चोरी कहलाता है। जो व्यक्ति अन्य व्यक्तियो की विवशता का लाभ उठाकर, उनके परिश्रम का प्रतिफल स्वय चुरा लेता है उसे स्तेन की संज्ञा दी गई है। जैन दर्शन के अनुसार यह चोरी केवल स्थूल ही नही अपितु सूक्ष्म भी हो सकती है, अतः मनसा-वाचा-कर्मणा अस्तेय व्रत तीसरा महाव्रत माना गया है।

राजस्व अथवा कर की चोरी, परीक्षा मे नकल, किसी अन्वेषक के अनुसधान को अपने नाम से प्रकाशित करवाना, किसी कवि अथवा लेखक अथवा रचनाकार की रचना की चोरी करना भी चौर्य-कर्म हैं। स्तेय अथवा शोषण व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य ही नही होता अपितु वर्ग-वर्ग के बीच भी होता है। दलित वर्ग की समस्याए इसी वर्ग-शोषण के अन्तर्गत आती हैं।

चोरी अथवा शोषण का उद्गम संचय-वृत्ति तथा स्वयं परिश्रम न करने की वृत्ति से होता है। जैन मुनि श्रमण कहलाता है क्योकि वह समाज से अपने पोषण हेतु जितना ग्रहण करता है, उससे कई गुना अधिक श्रम करके समाज को लौटा देता है, और कभी किसी भी वस्तु का सञ्चय नही करता। अचौर्य एव अपरिग्रह दोनो एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। अस्तेय व्रत का परिपालन अपरिग्रह के बिना सम्भव नही है।

जैनागम के अनुसार गृहस्थ का आचरण सर्वथा मुनि जैसा तो नही हो सकता, परन्तु मुनि के आचार को आदर्श मानकर उसके अनुरूप आचरण करने का सतत प्रयास रहना चाहिए। श्रावक सर्वथा अपरिग्रही नही हो सकता परन्तु उसे परिग्रह की सीमा निर्धारित करनी चाहिए। यह सीमा भोजन-सामग्री, वस्त्र, निवास-स्थान, धन तथा सभी उपभोग्य सामग्री के निमित्त बांधी जानी चाहिए। परिग्रह की मर्यादा अलग-अलग लोगों के मनो-विकास के अनुरूप भिन्न-भिन्न हो सकती है, परन्तु असमर्यादित परिग्रह रखना निषिद्ध है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति तथा योग्यता के अनुसार श्रम करना चाहिए, क्योकि समाज से जो ग्रहण किया जाए उसे बिना श्रम किए उपभोग करना चौर्य-कर्म है।

जैनागम का उक्त व्यवहार-निर्देशक सिद्धान्त आधुनिक परिप्रेक्ष्य में सबसे अधिक सगत ठहरता है। वर्ग-संघर्ष को मिटाने का यही

एक मात्र अहिंसक उपाय महात्मा गांधी द्वारा उद्घाटित किया गया है। समाज से शोषण, दमन, भुखमरी मिटाने में जैनागम का उक्त विचार प्रबल भूमिका निर्वाह कर सकता है।

जनसंख्या-वृद्धि पर रोक

श्रावकाचार का चतुर्थ व्रत ब्रह्मचर्य माना गया है। जैनागम मे अनुसार श्रावक के सन्दर्भ मे ब्रह्मचर्य का अर्थ है स्वपरिगृहीता (अथवा परिगृहीत) के साथ संयमित एवं मर्यादित संभोग, तथा अपरिगृहीता (अथवा अपरिगृहीत) के साथ शारीरिक संसर्ग का त्याग। इसके अतिरिक्त सभी प्रकार के अप्राकृतिक संभोग एव मनुष्येतर प्राणियों के साथ मैथुन का निषेध किया गया है।

आज भारतवर्ष जनसख्या-वृद्धि से ग्रस्त है। जितनी मात्रा मे उपभोग सामग्री का उत्पादन नही होता उससे अधिक उपभोक्ता प्रतिदिन जन्म ले लेते हैं। जनसख्या की वृद्धि को रोकने के जो सरकारी उपाय अपनाए गए हैं, उनमे निरोधात्मक उपकरणो का प्रयोग, गर्भ-निपात, वन्ध्यत्व के ऑपरेशन, प्रजनन-निरोधक औषधिया तथा इंजेक्शन आदि आते हैं, परन्तु उक्त सभी उपाय अप्राकृतिक एवं हिंसक हैं। जैनागम द्वारा प्रदर्शित उपाय प्राकृतिक एव अहिंसक हैं। प्रत्येक जैन श्रावक पचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, अमावस्या तथा पूर्णिमा के दिन रति-क्रिया का त्याग करता है तथा शेष दिनो के लिए मैथुन की मर्यादा निर्धारित करता है।

सामाजिक संसर्ग युवा स्त्री-पुरुषो को शारीरिक ससर्ग हेतु भी प्रलुब्ध कर सकता है, और यही सामाजिक दुराचार एव व्यभिचार का आरंभ होता है। जैनागम विवाह-पूर्व तथा विवाहोपरान्त अपरिगृहीत सार्था के साथ शारीरिक संसर्ग का निषेध करता है। सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने के लिए यह वर्जना आवश्यक है। उन्मुक्त रति-सबधो वाले जो भी समाज विकसित हुए, उनमे अशान्ति, कुण्ठा, प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, आत्मघात आदि दुर्वृत्तियो का जन्म हुआ तथा वे समाज शनै:-शनै: विघटित होते गए।

मुझे अब लगता है कि, यदि भारतीय समाज को विघटन से बचाना है और समाज मे शान्ति, समृद्धि तथा भावात्मक एकता कायम करना है, तो जैनाचार ही सार्वजनिक आचार का आधार बन सकते हैं। आज की भ्रान्त एवं अशान्त मानवता की रक्षा का यही एक विकल्प है।

पुनर्मूल्यांकन

यहा हम एक ऐसे विद्वान का उल्लेख करना चाहेंगे जिन्होंने जैन धर्म का गहन अध्ययन करने के अनन्तर अपने विचार बदले हैं। वाशबर्न हॉपकिन्स ने आरम्भ मे जैन धर्म की बड़ी कटु समीक्षा की है। उन्होने लिखा कि भारत के महान धर्मों में से नातपुत्त के धर्म मे सबसे कम आकर्षण है और इसकी कोई उपयोगिता नही है, क्योकि इसकी मुख्य बातें हैं—ईश्वर को नकारना, आदमी की पूजा करना और कीड़ो को पालना। बाद में जैन धर्म के बारे मे अपनी अधूरी जानकारी के बारे मे उन्होने खेद व्यक्त किया। एक पत्र मे उन्होने श्री विजय सूरि को लिखा: "मैंने अब महसूस किया है कि जैनों का आचार-धर्म स्तुति योग्य है। मुझे अब खेद होता है कि पहले मैंने इस धर्म के दोष दिखाए थे और कहा था कि ईश्वर को नकारना,आदमी की पूजा करना तथा कीड़ों को पालना ही इस धर्म की प्रमुख बातें हैं। तब मैंने नही सोचा था कि लोगो के चरित्र एव सदाचार पर इस धर्म का कितना बड़ा प्रभाव है। अक्सर यह होता है कि किसी धर्म की पुस्तकें पढ़ने से हमे उसके बारे मे वस्तुनिष्ठ ही जानकारी मिलती है, परन्तु नजदीक से अध्ययन करने पर उसके उपयोगी पक्ष की भी हमे जानकारी मिलती है, और उसके बारे मे अधिक अच्छी राय बनती है।

—प्रो० एस० गोपालन

जैन धर्म की रूपरेखा, पृ० सं० १०-११ से साभार

जैन धर्म के नैतिक अमोघ अस्त्र

डॉ० उमा शुक्ल

आज देश के सामने एक नहीं, अनेक चुनौतियां मौजूद हैं। सारा देश संक्रमण की स्थिति में है। वह आन्तरिक और बाहरी संकटों से घिरा है। कुछ भौतिक संकट हैं और कुछ आध्यात्मिक। देश की नैतिकता में भारी गिरावट आ रही है। जीवन-संघर्ष निरन्तर कठिन से कठिनतर बनता जा रहा है। शोषण, दमन और उत्पीडन का चक्र भी अपने पूरे वेग से देश की मूक मानवता को निर्मम भाव से पीस रहा है। स्वार्थ और लोभ का मारा मनुष्य अपनी मानवता खोकर दानवता की दिशा में पांव बढ़ाये जा रहा है। सत्ता और सम्पत्ति की चकाचौंध के कारण मनुष्य अपने सत्त्व को खो रहा है।

आज का मानव निराधार एवं नि सहाय स्थिति में है। कोई न कोई आधार पाने के लिए वह व्याकुल है। इस छटपटाहट ने ही उसे नैतिक प्रश्नों के बारे में सोचने को विवश कर दिया है। जिस प्रकार स्वस्थ व्यक्ति की अपेक्षा बीमार को अपनी स्वास्थ्य की चिन्ता अधिक सताती है उसी प्रकार नैतिक संक्रमण काल में नैतिक प्रश्न जितना उभरकर सामने आता है उतना स्थिर अथवा शान्ति काल में नहीं। आजकल प्रतिहिंसा, आपसी भेदभाव और वैर की भावनाएं सर्वत्र सुरसा के मुख की भांति फैलती जा रही हैं। आज रक्षा केवल धर्म कर सकता है लेकिन धर्म इन दिनों उपेक्षित और ह्रास की अवस्था में है।

अध्यात्म से महावीर जिस निर्णय पर पहुंचे थे आज के प्रबुद्ध विचारकों को भी उसी पर पहुंचना है। महावीर का धर्म, कल्पना नहीं, जीवन-अनुभव पर आधारित है। उनका उपदेश सदा नवीन-सा है जिसकी प्रत्येक बूंद मृत जीवन में नया जीवन संचार करने की क्षमता रखती है।

सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति की उन्नति के लिए जैन धर्म में कुछ नैतिक मापदण्ड निर्धारित किये गये हैं। व्यक्ति जब तक अपने समाज का सदस्य है, अपने आत्मिक विकास के साथ-साथ समाज के प्रति भी उसका पूर्ण दायित्व है। यदि वह गृहस्थ जीवन का त्याग करके संन्यास धारण कर ले तो समाज के प्रति उसका दायित्व बहुत कुछ घट जाता है। जैन धर्म के अनुसार गृहस्थ जीवन साधु जीवन का लघु रूप ही है, क्योंकि कोई भी गृहस्थ अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए अपने को मुनिपद के योग्य बना सकता है। महावीर की वाणी में "पुरुष दुर्जय संग्राम में दस लाख शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे, उसकी अपेक्षा तो वह अपनी आत्मा पर ही विजय प्राप्त कर ले तो यही श्रेष्ठ है।" अपने को जीतना और आचरण शुद्ध करना ही जीवन का नैतिक मानदण्ड है। जैन धर्म है 'जिन' भगवान का धर्म। जैन कहते हैं उन्हें जो जिनके अनुयायी हों। 'जिन' शब्द बना है 'जि' धातु से। 'जि' माने 'जीतना' 'जिन' माने जीतने वाला। जिन्होंने अपने मन को जीत लिया; अपनी वाणी को जीत लिया और अपनी काया को जीत लिया वही जैन है। महावीर ने मनुष्य मात्र को सुख की कुंजी बताई थी। उनका मार्ग सामान्य से भिन्न है। वीर तो बाह्य शत्रुओं से झगड़कर विजय प्राप्त करता है पर महावीर तो अपने आन्तरिक शत्रुओं पर विजय पाने में सच्ची विजय मानते हैं। यही सुख-प्राप्ति का सच्चा मार्ग है।

प्राचीन काल से हमारे यहां प्रार्थना में यह कहने का रिवाज है—

'सर्वेऽत्र सुखिन. सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:खमाप्नुयात्।'

यह शुभ कामना है और आकांक्षा है कि दुनिया का शुभ हो। लेकिन इसके साथ-साथ अगर शुभ करने का काम न हो तो ऐसी सदिच्छा का कोई खास मतलब नहीं। श्री अरविन्द ने कहा है—'सर्वोच्च ज्ञान तक बौद्धिक पहुंच और मन पर उस का आधिपत्य एक अनिवार्य और सहायक साधन है। दीर्घकालीन कठोर साधना करके जो तथ्य तथा सत्य महावीर ने प्राप्त किया वह केवल अपने तक ही सीमित नहीं रखा। जो भी उनके सम्पर्क में आये उन्हें अनुभवों का भण्डार खुले हाथों लुटाया। सभी जैन तीर्थंकर ने स्वयं कृत-कृत्य हो जाने पर भी इन्होंने, एक

ही जगह बैठकर या मौन रखकर उस प्राप्त शान्ति को अपने तक ही सीमित नहीं रखा, पर गांव-गांव में घूमकर सद्धर्म के उपदेश दिये। इन के सार नैतिकतापूर्ण हैं।

१. जो मनुष्य धर्म करते हैं उनके रात और दिन सफल हो जाते हैं।

२. ज्ञानी होने का सार ही यह है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे।

३. धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसका अन्तिम रस।

४. क्रोध प्रीति का नाश करता है; मान विनय का, माया मित्रता का और लोभ सभी सद्‌गुणों का। —महावीर वाणी

धर्म सम्बन्धी दृष्टिकोण भी नैतिक मानदण्ड है। धर्म जीवन जीने की कला है। धर्म एक आदर्श जीवन-शैली है। सुख से रहने की पावन-पद्धति है। शान्ति प्राप्त करने की विमल विद्या है। सर्वजन कल्याणी आचार संहिता है, जो सबके लिए है। नीति बीज है, धर्म फल है। नीति कारण है, धर्म कार्य है। अंतस को बदले बिना आचरण नहीं बदला जा सकता। केन्द्र के मूल को बदले बिना, परिधि को बदलने का प्रयास केवल एक निरर्थक स्वप्न है।

जैन धर्म का सबसे बड़ा नैतिक मानदण्ड अहिंसा है। डा० सालतोर ने कहा है—'हिन्दू संस्कृति मे अहिंसा एव सहिष्णुता के सिद्धान्त जैनों की महान देन है।" पार्श्वनाथ ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि सद्गुणों को सामाजिक जीवन में आचरणीय बनाया था। महावीर ने बारह साल की कठोर साधना के बाद सिद्धि प्राप्त होने पर जो उपदेश दिया, उसमें प्रथम स्थान अहिंसा को दिया। उन्होंने बताया कि हर व्यक्ति सुख से जीना चाहता है और दुःख भोगना या मरना नहीं चाहता। इसलिए किसी को दुःख मत दो। हिंसा, दुखों तथा बैर को बढ़ाने वाली है। महावीर ने आत्म-साधना द्वारा मनुष्य की प्रेरणा का स्रोत सुख से जीने की इच्छा माना। डा० अलबर्ट ने कहा है—"हर मनुष्य की सुख से जीने की इच्छा है। इसलिए जीवन को आदर दो और ऐसा जीवन जियो, जिसमें कम से कम दूसरों को न दुःखाया जाय।" अध्यात्म से महावीर जिस निर्णय पर पहुंचे वह व्यावहारिक जीवन का अति उत्तम मानदण्ड है।

महावीर कहते हैं कि हर कार्य सावधानी से कीजिए, यतन से कीजिए, बिना सावधानी के जो काम मूर्च्छा मे होते हैं,वह हिंसा है। उन्होने मूर्च्छा को हिंसा कहा है। बैर के निवारण का उपाय उन्होंने जो अहिंसा और अनेकान्त बताया वह आज भी उतना ही उपयोगी और कारगर है जितना कि उस समय था। निवृत्ति अहिंसा है। अहिंसा का अर्थ प्राणों का विच्छेद न करना, इतना ही नहीं, उसका अर्थ है—मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियों को शुद्ध रखना। दूसरे शब्दों मे यों कहा जा सकता है कि अहिंसा का संबंध जीवित रहने से नहीं, उसका दुष्प्रवृत्ति की निवृत्ति से है। राग, द्वेष, मोह, प्रमाद आदि दोषों से रहित प्रवृत्ति भी अहिंसात्मक है।

कितना उत्तम हो यदि हम इन दिव्य सूत्रों के अनुसार अपने जीवन को ढालें। प्रेम की दिव्य उत्पत्ति भी अहिंसात्मक वृत्ति से होती है। सभी धर्मो मे इसे 'परमधर्म' माना गया है। 'अहिंसा परमोधर्मः'। वैज्ञानिक साधनों से आज विश्व छोटा-सा बन गया है अर्थात् सबका हिलना-मिलना सुगम हो गया है। अतः यदि हम सब को जीना है, सुखी रहना है तो सह-अस्तित्व यानी 'जीओ और जीने दो' का नारा बुलन्द करना होगा। आज रक्षा केवल धर्म कर सकता है लेकिन धर्म इन दिनो उपेक्षित और ह्रास की अवस्था में है। युक्तिवाद के श्रेष्ठ दावों के प्रति सन्देह उत्पन्न हो जाने के बावजूद स्वार्थ और गैरजिम्मेवारी कायम है। इस वर्तमान अवस्था मे हमको आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा करनी चाहिए। आत्मनिर्भरता और उद्यम अनीश्वरवाद से नहीं पनपता। कवि पन्त के शब्दो मे—

'सत्य अहिंसा से आलोकित होगा मानव का मन,
अमर प्रेम का मधुर स्वर्ग हो जावेगा जगजीवन,
आत्मा की महिमा से मंडित होगी नव मानवता।'

परन्तु इस नव मानवता की कल्पना साकार कैसी होगी? इसका उत्तर शील-साधना है। महावीर की वाणी में—शील यानी आचार—शील मुक्ति का साधन है, शील ही विशुद्ध तप है। शील ही दर्शन विशुद्धि है, शील ही ज्ञान-बुद्धि है। शील ही विषयों का शत्रु है। शील ही मोक्ष की सीढ़ी है। जीवों पर दया करना, इन्द्रियों को वश मे करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, सन्तोष धारण करना, सम्यक् दर्शन, ज्ञान और तप—ये सब शील के परिवार हैं। ईर्ष्या, द्वेष आदि से मुक्त होना चाहिए। यही 'शील' है।

महावीर ने दो मार्ग बताये हैं—निवर्तक मार्ग एवं प्रवर्तक मार्ग। निवर्तक मार्ग है—किसी का प्राण नाश न करना,किसी को कष्ट न पहुंचाना, किसी के साथ ईर्ष्या, द्वेष,क्रोध आदि न करना। प्रवर्तक मार्ग है—परिचर्या—सेवा करना, हित तथा प्रिय व्यवहार करना। अपने अन्दर दैवी गुणों का विकास करना। यही सद् आचरण है। सिर काटने वाला शत्रु भी उतना अपकार नही कर सकता, जितना की दुराचरण में रत आत्मा करती है। सांसारिक दुखो से मुक्त होने का साधन बताया है—'जो मानव अपने आप पर नियन्त्रण पा लेता है यानी संयम को आत्मसात् कर लेता है, वह दुःखो से मुक्त हो जाता है। यही जीवन-दिशा है।

जैन आचार शास्त्र का एक दूसरा गुण है जो हमें एक आदर्श पड़ोसी बनने की प्रेरणा देता है। तदनुसार हर एक को सत्य बोलना

चाहिए और सम्पत्ति के अधिकार को मानना चाहिए। इन नैतिक गुणों के कारण हर व्यक्ति समाज का विश्वासभाजन बनता है और सबके लिए सुरक्षा का वातावरण प्रस्तुत करता है। मनुष्य के विचारों में कथनी और करनी का सामंजस्य होना आवश्यक है ताकि इसके द्वारा भी वैयक्तिक तथा सामाजिक सुरक्षा का वातावरण बने। इन गुणों से युक्त नागरिक शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व एवं 'बहुजन हिताय एवं बहुजन सुखाय' के सिद्धान्त का पालन करते हुए संगठित समाज और राष्ट्र की रचना कर सकता है। अहिंसा का सिद्धान्त विश्व नागरिक को इस मानवीय दृष्टिकोण की आवश्यक भूमिका प्रदान करता है। प्रत्येक व्यक्ति में एक दिव्य क्षमता होती है। उसका कार्य है कि वह धर्म-पथ का अनुसरण करता हुआ उस दिव्यता को जाने, पहचाने और अनुभव करे। हमें मानव मात्र का आदर करना चाहिए और सबका यही प्रयत्न हो कि मानव स्वस्थ तथा प्रगतिशील स्थितियो मे रहकर विश्व-नागरिक बने। निस्सन्देह जैन धर्म के मौलिक सिद्धान्तों—अहिंसा, अपरिग्रह एवं अनेकान्त जैसे नैतिक मापदण्डो को ठीक से समझकर 'विश्व कुटुम्ब' की भावना पैदा की जा सकती है।

मनुष्य चारित्रिक उदात्तता से विश्व-कल्याण कर सकता है। जैसे बिन्दु का समुदाय समुद्र है, इसी तरह हम मैत्री करके मैत्री का सागर बन सकते हैं और जगत मे मैत्री भाव से रहें तो जगत का रूप ही बदल जाये। सामयिक पाठ मे यही सार दिया गया है :—

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेसु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभाव विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव॥

लौकिक उन्नति का क्षेत्र हो या आध्यात्मिक साधना का, सर्वत्र उज्ज्वल सत्त्वशाली महानुभाव के सम्पर्क और निर्देश को पाकर ही आज उत्साह, साहस, कर्त्तव्यनिष्ठा, सत्यपरायणता, करुणाशीलता, आत्म-त्याग जैसे मानवीय गुणो का विकास सम्भव हो सकता है। इन नैतिक मानदण्डो को अपनाकर अपना जीवन-मार्ग हम चुन लें और बावजूद तमाम बाधाओ के उस पर चलते रहें—

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरत संसिद्धि लभते नरः।'

मानवीय स्वतन्त्रता

आर्थिक समृद्धि, कामोपभोग, यश, सत्ता और अधिकार या अगाध पांडित्य सब अपने आपमे मनुष्य को शाश्वत सुख या मानसिक शान्ति देने के लिए अपर्याप्त हैं। मानवी असन्तोष फिर भी बना रहता है। मार्क्स, फ्रायड और एडलर यह नही बतला सकते कि मनुष्य का उद्वेग किस प्रकार पूर्णतया मिट सकता है। मनुष्य जब अपनी परिस्थितियो मे अपनी सुप्त सम्भाव्य शक्तियो के पूर्ण विकास के लिए पर्याप्त क्षेत्र पाता है, और स्वय अपने तथा विश्व के बारे मे अपने ज्ञान के आधार पर अपने विश्व के और अन्य मानव प्राणियो के साथ एकलयता का अनुभव करता है, तब उसे अपनी कृति से आनन्द मिलता है। दूसरी ओर संगति मे जरा भी गड़बड होने से, मनुष्य दुःखी चिन्ताकुल, असन्तुष्ट या उत्तेजित हो जाता है, या फिर उसमे वैराग्य के मनोभाव जागते हैं। दूसरे शब्दो में स्वातन्त्र्य के साम्राज्य मे वह सुखी रहता है और बन्धनो मे वह दुःखी हो जाता है। अतः मानवी-स्वतन्त्रता ही सर्वोच्च नैतिक मानदंड है।

—श्री लक्ष्मण शास्त्री जोशी के निबन्ध 'भारतीय समाज-व्यवस्था के नैतिक आधार',
नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० सं० ११० से साभार

अनेकान्तात्मक प्रवचन की आवश्यकता

डॉ० रतनचन्द्र जैन

आज तत्त्व के विषय में जिज्ञासुओं की एकान्त धारणाएँ बन रही हैं। कोई निश्चयनय के ही कथन को सत्य मानता है, कोई व्यवहारनय के ही। इसका प्रमुख कारण है एकान्त प्रवचन। तत्त्व अनेकान्त है अर्थात् परस्पर-विरुद्ध धर्मयुगलों से समन्वित है। अनेकान्त तत्त्व का बोध कराने के लिए उसके दोनो पक्षों का कथन आवश्यक है। किन्तु अनेक प्रवचनकर्ता एक पक्ष का ही कथन करते हैं अथवा एक पर ही अनावश्यक बल देते हैं, दूसरे की उपेक्षा करते हैं। इससे जिज्ञासुओं या श्रोताओं की दृष्टि मे वस्तु का एक ही पक्ष आ पाता है। फलस्वरूप उसके विषय मे उनकी एकान्त धारणा बन जाती है। उदाहरणार्थ, सम्यक्त्वसहित शुभपरिणाम केवल पुण्यबन्ध का कारण नही है, परम्परया मोक्ष का भी हेतु है। किन्तु कुछ प्रवचनकार उसकी बन्धहेतुता का ही वर्णन करते हैं, परोक्ष मोक्षहेतुता की चर्चा नही करते और कुछ उसकी परोक्ष मोक्षहेतुता पर ही बल देते हैं, बन्धहेतुता के विषय मे मौन हो जाते है। इसी प्रकार कोई व्यवहारमोक्षमार्ग की हेयता का ही कथन करता है और कोई उसकी उपादेयता पर ही प्रकाश डालता है। इससे श्रोताओ के मन मे उक्त प्रकार की ही एकान्त धारणाएँ बन जाती हैं।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने एकान्तप्रवचन की हानियाँ बतलाते हुए कहा है कि "तीर्थप्रवृत्ति के निमित्त परमार्थ सत्य के साथ-साथ व्यवहार सत्य का दर्शाया जाना भी आवश्यक है, क्योंकि शरीर और जीव मे परमार्थतः जो भेद है केवल उसी को दर्शाने से लोग उनमें सर्वथा भेद समझ लेंगे और प्राणियों के शरीर का घात करने मे हिंसा नही मानेंगे। तब वे निःसंकोच प्राणियों का वध करेंगे। इससे पापबन्ध होगा और मोक्ष असंभव हो जायेगा। इसी प्रकार आत्मा और रागादिभावो में परमार्थतः जो भिन्नता है, उसीका वर्णन करने से श्रोतागण उनमे सर्वथा भिन्नता मान लेंगे और अपने को पूर्ण शुद्ध समझकर मोक्ष का प्रयत्न ही न करेंगे।" (समयसार। आत्मख्याति ४६) इस प्रकार एकान्तप्रवचन अत्यन्त हानिकारक है।

विद्वानो के एकान्त प्रवचनो से न केवल श्रोता भ्रमित हो रहे है, विद्वज्जगत् मे भी भयंकर द्वन्द्व उत्पन्न हो गया है। इसका निर्देश करते हुए पूज्य क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी जी लिखते हैं—

"आज बड़े-बड़े विद्वान् भी परस्पर आक्षेप कर एक-दूसरे का विरोध करने मे ही अपना समय व जीवन बर्बाद कर रहे हैं। एक केवल उपादान-उपादान की रट लगा रहा है, दूसरा केवल नैमित्तिक भावों या निमित्तो की। एक ज्ञानमात्र की महिमा का बखान करके केवल जानने-जानने की बात पर जोर लगा रहा है और दूसरा केवल व्रतादि बाह्य चारित्र धारण करने की बात पर। कितना अच्छा होता, यदि दोनो विरोधी बातो को अपने वक्तव्य में यथास्थान अवसर दिया जाता" (नयदर्पण, पृष्ठ ३३-३४)।

अनेकान्त तत्त्व का प्रवचन मुख्य-गौणभाव से होता है। एक बार मे तत्त्व के एक ही पक्ष का कथन संभव है। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि वस्तु के जिस धर्म को कथन में प्रमुखता दी जा रही है, उसके विषय में यह बतला दिया जाय कि यह धर्म इस विशेष अपेक्षा से ही वस्तु में है, सर्वथा नही। साथ ही यह सूचना भी दे दी जाय कि अमुक अपेक्षा मे प्रतिपक्षी धर्म भी उसमे है। इससे एकान्त दृष्टिकोण निर्माण न होगा। प्रतिपक्षी धर्म की सूचना उसी समय देना आवश्यक है, अन्यथा श्रोता के मस्तिष्क में वस्तु का अनेकान्त चित्र निर्मित न होगा तथा यह संभव है कि उसे आगे प्रवचन सुनने का अवसर न मिले जिससे वह प्रतिपक्षी धर्म को जानने से अनिश्चित काल के लिए वंचित हो जाय। इससे उसके मस्तिष्क में वस्तु का अनेकान्त चित्र कभी न बन पायेगा और उसके विषय मे उसकी सदा के लिए एकान्त धारणा बन जायेगी। अतः प्रवचनकर्ता के लिए अपना कथन अनेकान्त या स्याद्वादमय बनाना अत्यन्त आवश्यक है। श्री क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी ने इसे अत्यन्त आवश्यक बतलाते हुए यह कैसे किया जा सकता है, इसका सुन्दर निरूपण अपने ग्रन्थ नयदर्पण में किया है।

प्राचीन आचार्यों ने इस तथ्य को पूर्णरूपेण ध्यान मे रखा है। श्रोता एकान्त को ग्रहण न कर ले इस विचार से वे एक पक्ष का निरूपण करते समय प्रतिपक्ष का स्पष्टीकरण भी साथ में करते गये हैं। यह निम्नलिखित उदाहरणों से जाना जा सकता है। आ०कुन्दकुन्ददेव

समयसार में कहते हैं—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥

अर्थात् जो साधक शुद्धोपयोग में समर्थ हो गये हैं उनके लिए शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्म ही उपयोगी है, किन्तु जो उसमें समर्थ नही हुए हैं, उनके लिए विषयकषायरूप दुर्ध्यान का निरोध करने हेतु शुभोपयोगरूप व्यवहारधर्म भी उपयोगी है।

(समयसार। तात्पर्यवृत्ति १२)

समयसार की उपर्युक्त गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने अपेक्षाभेद से निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म दोनों की उपादेयता निरूपण किया है।

शुभप्रवृत्ति के विषय में उन्होंने प्रवचनसार में कहा है—

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥

—जैन मुनियों और श्रावकों की निष्कामभाव से सेवा करने पर यद्यपि किंचित् पुण्यबन्ध होता है, तथापि करनी चाहिए।

इस गाथा में भगवान् कुन्दकुन्द ने शुभप्रवृत्ति की कथंचित् हेयरूपता तथा कथंचित् उपादेयरूपता दोनों का वर्णन किया है।

निम्नलिखित वक्तव्य में आचार्य जयसेन ने शुभोपयोग को पुण्यबन्ध का हेतु बतलाते समय उसके परम्परया मोक्षहेतु होने का भी निरूपण किया है—

"यदा सम्यक्त्वपूर्वकः शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परम्परया निर्वाणं च, नो चेत् पुण्यबन्धमात्रमेव।"

(प्रवचनसार। तात्पर्यवृत्ति ३।५५)

अर्थात् जब सम्यग्दर्शनपूर्वक शुभोपयोग होता है तब मुख्यरूप से पुण्यबन्ध होता है और परम्परया निर्वाण। सम्यग्दर्शनपूर्वक न होने पर मात्र पुण्यबन्ध ही होता है।

इस प्रकार आचार्यों ने शिष्यों को एकान्तवाद से बचाने के लिए अपने प्रवचन को सदा अनेकान्तात्मक या स्याद्वादमय बनाया है।

एकान्त प्रवचन से श्रोता एकान्तवादी बनकर मोक्ष की साधना मे सफल नही हो पाता। कोई केवल निश्चय मोक्षमार्ग का उपदेश सुनकर उसी का अवलम्बन करता है, कोई केवल व्यवहार मोक्षमार्ग का उपदेश पाकर मात्र उसका आश्रय लेता है, जबकि यथावसर दोनों के अवलम्बन की आवश्यकता है, क्योंकि उनमें साध्यसाधक भाव है। व्यवहारमोक्षमार्ग के अवलम्बन के बिना निश्चय मोक्षमार्ग के अवलम्बन की योग्यता नहीं आती और निश्चयमोक्षमार्ग के आश्रय के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता। इसलिए एकान्तरूप से किसी एक का उपदेश देने से साधक का साधना मे विफल होना अनिवार्य है। अतः साधक को तत्त्व का यथार्थ बोध कराने एवं मोक्ष की साधना में सफल बनाने के लिए अनेकान्तात्मक प्रवचन आवश्यक है।

जैन दर्शन की एक विशिष्टता है उसका केवलज्ञान का सिद्धान्त। इसे प्रत्यक्ष ज्ञान या तत्क्षण ज्ञान भी कहते हैं। केवलज्ञान की परिभाषा दी गयी है कि यह परिपूर्ण, समग्र, असाधारण, निरपेक्ष, विशुद्ध, सर्व-भाव-ज्ञापक, लोकालोकविषय तथा अनन्तपर्याय होता है। इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि मनुष्य की ज्ञान-प्राप्ति की प्रगति में सर्वज्ञता का एक ऐसा स्तर आता है जब उसे बिना किसी बाधा के यथार्थता का पूर्ण अन्तर्ज्ञान हो जाता है। चूंकि जैन दर्शन की आधारभूत मान्यता यह है कि इन्द्रिय तथा मन 'ज्ञान के स्रोत' न होकर सिर्फ 'बाधा के स्रोत' हैं, इसलिए स्पष्ट है कि सर्वज्ञ का स्तर दिक् तथा काल की सीमा के परे का है। अतः सर्वज्ञता एक ऐसी पूर्ण अनुभूति है जिसके अन्तर्गत दिक्काल की सीमित विशेषताओं वाले अनुभवों का समावेश नहीं होता। केवलज्ञान की श्रेष्ठता का आधार यह है कि, मति तथा श्रुत के विषय सभी पदार्थ हैं, परन्तु इनमे उनके सभी रूपों का निरूपण नही होता (असर्व-द्रव्येषु असर्व-पर्यायेषु); अवधि के विषय केवल भौतिक पदार्थ हैं, परन्तु इसमें उनके सभी पर्यायों का विचार नहीं होता (रूपिष्वेव द्रव्येषु पर्यायेषु); अवधि द्वारा प्राप्त भौतिक पदार्थों का अधिक शुद्ध एव अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान मनःपर्याय है; और केवलज्ञान का विषय सभी पदार्थ हैं और इसमें उनके सभी पदार्थों का विचार होता है (सर्व-द्रव्येषु सर्वपर्यायेषु च)।

—प्रो० एस० गोपालन (जैन दर्शन की रूपरेखा के द्वितीय भाग 'ज्ञानमीमांसा' मे वर्णित 'केवलज्ञान', पृ० ६४ से साभार)

जैन योग-परंपरा में क्लेश-मीमांसा

कु० अरुणा आनन्द

क्लिश्नन्तीति क्लेशा :—इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिनसे प्राणियों को दुःख प्राप्त होता है, वे 'क्लेश' कहे जाते हैं। जैसे ईश्वर के विभिन्न नाम विभिन्न दर्शनों मे वर्णित हैं, वैसे ही संसार के कारणभूत पदार्थ भी विभिन्न नामों से कथित हैं जो वेदान्त में अविद्या, सांख्य-योग मे क्लेश, बौद्धों में वासना, शैवों में पाश, तथा जैनो में ज्ञानावरणीयादि कर्मों के नाम से जाने जाते हैं। इनमे संज्ञा के भेद को लेकर ही भेद है।

महर्षि पतञ्जलि के मत मे दुःख का कारण अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप पांच क्लेश हैं।

अविद्या

आ० यशोविजय जी ने मिथ्यात्व को ही अविद्या कहा है।[1] स्थानांग सूत्र में मिथ्यात्व के दस प्रकार बताए गए हैं—अधर्म में धर्म मानना, धर्म मे अधर्म मानना, अमार्ग में मार्ग मानना, मार्ग में अमार्ग मानना, असाधु को साधु समझना, साधु को असाधु समझना, अजीव को जीव समझना, जीव को अजीव समझना, अयुक्त को युक्त समझना, युक्त को अयुक्त समझना।

अस्मिता

दृक् शक्ति एव दर्शन-शक्ति मे जो अभिन्नता दृष्टिगत होती है उसे 'अस्मिता' कहते हैं।[2] अर्थात् दृश्य मे द्रष्टा का आरोप, और द्रष्टा मे दृश्य का आरोप 'अस्मिता' है। आ० यशोविजयजी ने दोनों का अन्तर्भाव मिथ्यात्व में ही कर दिया है।[3] आ० यशोविजय जी का यह भी मत है कि यदि 'अस्मिता' को अहंकार और ममकार का बीज मान लें तो अस्मिता का राग-द्वेष मे अन्तर्भाव हो जायेगा।[4]

राग-द्वेष

सुख-भोग के अनन्तर अन्त:करण मे रहने वाली तद्विषयक तृष्णा ही राग है।[5] तथा दुःख के प्रति दुःखनाशविषयक प्रतिकूल भावना द्वेष है।[6] आ० यशोविजयजी ने राग-द्वेष दोनों को कषाय के ही भेद माना है।[7] जैनमतानुसार जिनके द्वारा ससार की प्राप्ति होती है—वे कषाय हैं। कषाय के दो भेद होते हैं—राग और द्वेष। क्रोध और मान—ये दोनो द्वेष हैं तथा माया और लोभ ये दोनों राग हैं। राग और द्वेष के कारण ही मनुष्य अष्टविध कर्मों के बंधन मे बधता है।

अभिनिवेश

प्रत्येक प्राणी में स्वाभाविक रूप से विद्यमान मृत्यु का भय विद्वानो के लिए भी वैसा ही है, जैसाकि मूर्खों के लिए। यही अभिनिवेश है।[8] यशोविजय ने इसे भय सज्ञा का नाम दिया है। जैनदर्शन के अनुसार क्षुद्र प्राणी से लेकर मनुष्य व देव तक सभी ससारी जीवों मे

---

१. अत्राविद्या स्थानांगोक्त दशविध मिथ्यात्वमेव। (य० वृ० सू० २/३)
२. दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता (पा० यो० सू० २/६)
३. अस्मितायां अदृश्ये(दृग् दृश्ये)दृगारोपरूपत्वे चान्तर्भाव, (य० वृ०, सू० २/३)
४. अहंकारममकारबीजरूपत्वे तु रागद्वेषान्तर्भाव इति (य० वृ० सू० २/३)
५. सुखानुशयी रागः। (पा० यो० सू० २/७)
६. दुःखानुशयी द्वेषः। (पा० यो० सू २/८)
७. रागद्वेषौ कषायभेदा एव (य० वृ० सू० २/३)
८. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः (पा० यो० सू० २/९)

आहार, भय, मैथुन व परिग्रह—इन चारों के प्रति जो तृष्णा पायी जाती है, उसे संज्ञा कहते हैं। संज्ञा चार प्रकार की होती है—आहार, संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा।[1] विशिष्ट अन्नादि में संज्ञा अर्थात् वांछाका का होना आहार संज्ञा है। अत्यन्त भय से उत्पन्न भागकर छिपने की इच्छा भय संज्ञा है। मैथुन रूप क्रिया में होने वाली वांछा मैथुन संज्ञा है। धन-धान्यादि को अर्जन करने की जो वांछा होती है उसे परिग्रह संज्ञा कहते हैं। यशोविजय का कहना है कि भय संज्ञा के समान आहार, मैथुन और परिग्रह संज्ञा भी अभिनिवेश है क्योंकि भय के समान आहारादि मे भी विद्वानो का अभिनिवेश देखा जाता है। विद्वानो में अभिनिवेश का अभाव केवल उस समय होता है—जब अप्रमत्त दशा में उन्होने दस संज्ञाओं को रोक दिया हो। संज्ञा मोह रूप अभिनिवेश है। संज्ञा मोह से अभिव्यक्त होने वाला चैतन्य का स्फुरण मात्र ही है।[2]

क्लेशों की अवस्थाएं

अविद्यादिपंच क्लेशों की प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न एवं उदार—ये चार अवस्थाएं हैं। ये चारो अवस्थाएं जैन दृष्टि मे वर्णित मोहनीय कर्म की सत्ता, उपशम, क्षयोपशम, विरोधी प्रकृति के उदयादि कृत व्यवधान और उदयावस्था के भाव रूप ही हैं।

प्रसुप्तावस्था: चित्त मे शक्तिमात्र से स्थित क्लेशों का कार्य करने मे असमर्थ होकर बीज रूप मे अवस्थित रहना प्रसुप्तावस्था है।[3] जैनप्रक्रिया के अनुसार अबाधाकाल के पूर्ण न होने के कारण कर्मदलिक का निषेक हो जाने तक की कर्मावस्था को ही प्रसुप्तावस्था कहा गया है।[4]

जैनदर्शनानुसार कर्म बंधते ही अपना फल देना प्रारम्भ नही कर देते। कुछ समय तक वे वैसे ही पड़े रहते है। कर्म के इस फलहीन अथवा बंध और उदय के अन्तरकाल को आबाधाकाल कहते हैं। आबाधाकाल के व्यतीत हो जाने पर ही बद्ध कर्म अपना फल देना प्रारम्भ करते हैं। आबाधाकाल की स्थिति तक के दो विभाग होते हैं (१) अवस्थानकाल (२) अनुभव या निषेककाल। कर्मपुद्गलो की एक काल में उदय होने वाले रचना विशेष को निषेक कहा जाता है।

तनुअवस्था: प्रतिपक्ष भावना द्वारा अर्थात् तप एवं स्वाध्यायादि क्रियाओ के अनुष्ठान द्वारा अपहत होकर क्षीण होने वाले क्लेशों की तनु अवस्था कही जाती है।[5] आ० यशोविजयजी के मत में कर्मों के उपशम व क्षयोपशमभाव कर्मों की तनु अवस्था है।[6] आत्मा में की निजशक्ति का कारणवश प्रकट न होना उपशम है, कर्मों का आत्मा से सर्वथा दूर होना क्षय है, क्षय और उपशम दोनो का होना क्षयोपशम है।

विच्छिन्नावस्था: एक क्लेश के प्रबल होने पर दूसरे क्लेश की अभिभूतावस्था ही विच्छिन्नावस्था है। यशोविजय के मत मे विरोधीप्रकृति के उदयादि कारणो से किसी कर्म प्रकृति का रुक जाना उसकी विच्छिन्नावस्था है।[7]

उदारावस्था: जिस समय क्लेश अपना व्यापार करने में व्यापृत रहते हैं वह उनकी उदारावस्था कही जाती है।[8] आ० यशोविजय जी ने उदयावलिका के प्राप्त न होने को कर्म की उदारावस्था कहा है।[9]

जैनदर्शनानुसार कर्म की स्वफल प्रदान करने की अवस्था का नाम उदय है। कर्म अपने स्थितिबन्ध के अनुसार उदय मे आते हैं एवं अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं। जिस कर्म की जितनी स्थिति का बंध होता है वह कर्म उतनी ही अवधि तक क्रमशः उदय मे आता है। असंख्यात समय समूह की एक आवलि होती है। इस प्रकार उदयावलिका का अर्थ हुआ—असंख्यात समय तक कर्म का उदय मे आना। यह उदयावलिका अवस्था ही उदारावस्था के नाम से अभिहित है।[10]

उपर्युक्त चार अवस्थाओ के अतिरिक्त एक पाचवी अवस्था भी होती है जिसे क्षीण अवस्था या दग्धबीजावस्था कहा जाता है।

---

१. सण्णा चउव्विहा आहार-भय-मेहुणपरिग्गहसण्णा चेदि। खीण सण्णा वि अत्थि। (धवला २/१, १/४१३ २)
२. विदुषोऽपि भय इवाहारादावप्यभिनिवेशदर्शनात्। केवलं विदुषा(षोऽ)प्रमत्तदशायां दशसंज्ञाविष्कम्भणे न कश्चिदयमभिनिवेशः। संज्ञा च मोहाभिनिवेशः, संज्ञा च मोहाभिव्यक्त चैतन्यमिति (य० वृ० सू० २/९)
३. चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठाना बीजभावोपगम. (व्या० भा० सू० २/४)
४. तेषां प्रसुप्तत्वं तज्जनककर्मणो अबाधाकालापरिक्षयेण कर्मनिषेकाभाव (य० वृ० सू० २/४)
५. प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति (व्या० भा० सू० २/४)
६. तनुत्वमुपशमः क्षयोपशमो वा (य० वृ०, सू० २/४)
७. तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मना पुन. पुन: समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः। (व्या० भा० सू० २/४)
८. विच्छिन्नत्वं प्रतिपक्षप्रकृत्युदयादिनाऽन्तरितत्वम्। (य० वृ० सू० २/४)
९. विषये यो लब्धवृत्तिः स उदार.। (व्या० भा० सू० २/४)
१०. उदारत्वं चोदयावलिकाप्राप्तत्वम्। (य० वृ० सू० २/४)

क्लेशों से निवृत्ति

कोई भी व्यक्ति दु:खी रहना नहीं चाहता। प्रत्येक व्यक्ति सुख की कामना करता है। सुख प्राप्त करने के लिए दु:ख की निवृत्ति अत्यन्तावश्यक है। भौतिक सुख साधनों से प्राप्त सुख क्षणिक होता है अत: उसे सुख नहीं कहा जा सकता। क्लेशों की निवृत्ति तो शास्त्रोक्त साधनों द्वारा ही हो सकती है। इसके लिए प्रथम उदार अवस्था प्राप्त क्लेशों को क्षीण करने के लिए तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान आदि क्रियायोग ही एकमात्र साधन है। इसी सन्दर्भ में यशोविजय मोहप्रधान घाति कर्मों का नाश क्षीणमोह सम्बन्धी यथाख्यात चरित्र से बताते हैं।[1]

जैनागमों मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और मोहनीय इन चारों को घाती कर्म कहा गया है, क्योंकि इनसे आत्मा के चार मूल गुणों (ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य) का घात होता है। इन चारो घाती कर्मों मे मोहनीय कर्म प्रधान है क्योंकि जब तक मोहनीय कर्म बलवान और तीव्र रहता है, तब तक अन्य सभी कर्मों का बन्धन बलवान और तीव्र रहता है तथा मोहनीय कर्म के नाश के साथ ही अन्य कर्मों का भी नाश हो जाता है। अत: आत्मा के विकास की भूमिका मे प्रमुख बाधक मोहनीय कर्म है।

आत्मिक गुणो के विकास की क्रमिक अवस्था को जैनदर्शन मे १४ भागो मे विभक्त किया गया है, जो १४ गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं—मिथ्यादृष्टि, सास्वादन, सम्यक् मिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यक् दृष्टि, देशविरत-विरताविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोग केवली और अयोग केवली। ये १४ गुणस्थान जैनचारित्र की १४ सीढ़ियां हैं। इनमे १२वां गुणस्थान क्षीणमोह है। इस गुणस्थान मे सम्पूर्ण मोह का क्षय हो जाता है, जिससे साधक का कभी पतन नहीं होता। इसका सम्बन्ध यथाख्यात चारित्र से है जो चारित्र का पांचवा भेद है। समस्त मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से जैसा आत्मा का स्वभाव है, उस अवस्था रूप, जो चारित्र होता है वह यथाख्यात चारित्र कहा जाता है, इसका ही दूसरा नाम यथाख्यात है। यथाख्यात से सम्पूर्ण मोह का क्षय हो जाता है।

आ० यशोविजयजी ने अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश रूप पंचक्लेशों को मोहनीय कर्म का औदयिक भाव माना है।[2] आत्मा मे मूढता उत्पन्न करने वाले कर्म मोहनीय कर्म कहलाते हैं। मोहनीय कर्म के प्रभाव से आत्मा के वीतराग भाव—शुद्ध स्वरूप—विकृत हो जाते हैं, जिससे आत्मा रागद्वेष आदि विकारो से ग्रस्त होता है। इस मोहनीय कर्म के उदय से जीव को तत्त्व-अतत्त्व का भेद ज्ञान नहीं हो पाता, वह ससार के विकारो में उलझ जाता है। मोहनीय कर्म का पूर्णत: क्षय हो जाने पर, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय तीनों कर्मों का क्षय एकसाथ हो जाता है। अत: मोहनीय कर्म का क्षय करना चाहिए। मोहनीय कर्म के क्षय से ही कैवल्य की प्राप्ति होती है। जबकि योग की परिभाषा में पंच क्लेशों के नाश से ही कैवल्य प्राप्त होता है।[3]

> सही दृष्टि से देखा जाय तो जैन अनीश्वरवाद वस्तुत: दार्शनिक अनीश्वरवाद है, क्योंकि उसमें सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की सत्ता का गहन विश्लेषण किया गया है और उन दार्शनिको के तर्कों का व्यवस्थित रूप से खण्डन किया गया है जिन्होने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के प्रयत्न किये। जैन धर्म में ईश्वर शब्द का प्रयोग जीव के उच्च स्तरीय अस्तित्व के अर्थ में किया गया है। मान्यता यह है कि ईश्वरीय अस्तित्व मानवीय अस्तित्व से थोडा ही ऊंचा है। क्योंकि यह भी जीवन-मृत्यु के चक्र से मुक्त नहीं है। सर्वार्थसिद्धि नामक सर्वोच्च स्वर्ग मे सर्वाधिक अस्तित्व का काल ३२ और ३३ सागरोपमो के बीच का है। ईश्वरीय जीवो ने अपने जिन अच्छे कर्मों से सामान्य मानवो से अधिक ऊंचा स्तर प्राप्त किया था, उनके समाप्त होते ही उन्हें पृथ्वी पर लौट आना पड़ता है। परन्तु यदि इस काल में वे अतिरिक्त ज्ञान का सग्रह करते हैं, तो उन्हें जन्म के इस कष्टमय चक्र से मुक्ति मिल सकती है।
>
> —प्रो० एस० गोपालन : जैन दर्शन की रूपरेखा के प्रथम भाग भूमिका में वर्णित 'क्या जैन धर्म नास्तिक है?' पृ० ३५ से साभार

---

१. क्षीणमोहसम्बन्धियथाख्यातचारित्रहेया इत्यर्थ: (य० सू० वृ० २/१०)

२. सर्वेऽपि क्लेशा मोहप्रकृत्युदयजभाव एव (य० वृ० सू० २/६)।

३. अत एव क्लेशक्षये कैवल्यसिद्धि : मोहक्षयस्य तद्धेतुत्वात् इति पारमर्षरहस्यम् (य० वृ० सू० २ ६)

कल्याणकों में ज्ञानकल्याणक

डॉ० कन्छेदी लाल जैन

तीर्थंकर—तीर्थ का अर्थ घाट होता है। सरोवर या नदी मे घाट बने रहते हैं जिनके सहारे मनुष्य इनके बाहर सरलता से आ जा सकता है। उसी प्रकार "तीर्थं करोतीति तीर्थंकरः" अर्थात् जो घाट का काम करे वह तीर्थंकर कहलाता है। तीर्थंकर भगवान का अवलम्ब पाकर जीव ससार सिन्धु में न डूबकर, उससे पार हो जाता है। नदी या सरोवर के तीर्थ में तीन विशेषताए होती हैं।

(१) शीतल स्थान होने से ताप शान्त होता है।

(२) शीतल जल से तृष्णा (प्यास) शान्त होती है।

(३) पानी के द्वारा कीचड, मैल आदि की शुद्धि हो जाती है।

इसी प्रकार तीर्थंकर की वाणी का तीर्थ है, उस वाणी को प्रकट करने के कारण ही वे तीर्थंकर कहे जाते हैं। "तीर्थमागमः अर्थात् आगम ही तीर्थ है"। "सुद धम्मो एत्थ पुण्ण तित्थ" श्रुत और धर्म पुण्यतीर्थ हैं। घाट के समान जिनवाणी की तीर्थता के विषय मे मूलाचार (७/७०) में लिखा है—

दाहोवसमणतण्हाछेदो मलपंकपवहणं चेव।
तिहिं कारणेहिं जुत्तो तम्हा तं दव्वदो तित्थं॥

(१) जिनवाणी रूपी तीर्थ मे प्रवेश करने से भी ससार का सन्ताप शान्त होता है। (२) विषयों की तृष्णा शान्त होती है और (३) आत्मा के द्रव्यकर्म, भावकर्म आदि मैल दूर होते हैं इसलिए जिनवाणी द्रव्य तीर्थ है। जिनेन्द्र के द्वारा धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति होती है अतः वे धर्मतीर्थ कहलाते हैं। रत्नत्रय सयुक्त होने के कारण उन्हे भावतीर्थ भी कहा गया है।

त्रिलोकसार मे लिखा है कि पुष्पदन्त तीर्थंकर के समय से लेकर वासुपूज्य के समय तक बीच-बीच मे धर्म विच्छेद हुआ. इस धर्म विच्छेद के काल मे मुनि, आर्यिका, श्रावक. श्राविका का अभाव-सा हो गया था। यद्यपि धर्म का उच्छेद अवसर्पिणी के पचम काल के अन्त में होता है परन्तु हुंडावसर्पिणी कालदोष के कारण चतुर्थ काल मे भी उपर्युक्त सात तीर्थंकरो के तीर्थ काल मे भी बीच-बीच मे धर्मतीर्थ का विच्छेद हुआ, अन्य तीर्थंकरो के तीर्थकाल मे ऐसा नही हुआ। विदेह क्षेत्र मे तो धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति कभी विच्छिन्न नही होती है। वहां तीर्थंकर होते रहते हैं। परन्तु कभी भी एक-दूसरे तीर्थंकर का परस्पर दर्शन नही होता, अर्थात् एक तीर्थंकर के मुक्त हुए बिना, दूसरा तीर्थंकर नहीं होता है।

कल्याणक—तीर्थंकर भक्ति मे तीर्थंकरो को "पचमहाकल्लाणसपण्णाणं" अर्थात् पाच महान कल्याणको से सम्पन्न कहा गया है। चूंकि संसार पांच प्रकार के दुःखो/अकल्याणको (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव) की आधारभूमि है, तीर्थंकरो के पुण्य जीवन के श्रवण, मनन तथा गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष रूप पाच कल्याणको की विधिया देखने से, पांच प्रकार के परावर्तन रूप पांच अकल्याणकों के छूटने का मार्ग मिलता है और अन्ततः यह जीव पंचमगति अर्थात् मोक्ष का पथिक बनता है। तीर्थंकारो के पांच कल्याणक, पंच परावर्तन रूप पांच अकल्याणको के प्रतिपक्षी ही हैं। इन पाचो कल्याणको के समय इन्द्रादि देव आकर महान पूजा, उत्सव, समारोह करते हैं। इन उत्सवों को पंचकल्याणक कहते हैं।

जीवों का सर्वाधिक हित भगवान के ज्ञानकल्याणक के बाद ही होता है, क्योकि जीवो को धर्म का उपदेश तो उनके पूर्ण ज्ञानी होने के उपरान्त ही मिलता है, इस उपदेश से ही जीव अपने कल्याण का मार्ग प्राप्त करते हैं। यो तो प्रत्येक उत्सर्पिणी के तृतीय और अवसर्पिणी के चतुर्थ काल में भारत ऐरावत क्षेत्र से असंख्यात प्राणी मोक्ष प्राप्त करते हैं परन्तु तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं। जिस जीव में लोक-कल्याण की ऐसी विशेष बलवती शुभ भावना उत्पन्न होती है कि इस ससार मे मोह की अग्नि में अगणित जीव जल रहे हैं, मैं इन्हें ज्ञानामृत पिलाकर

सुख का मार्ग बताऊं और इनका उद्धार करूं, इस प्रकार की विश्वकल्याण की प्रबल भावना वाले भव्य प्राणी के ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है।

इस तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध होने में सोलह भावनाएं कारण हैं। परन्तु इन सोलह भावनाओं में दर्शन विशुद्धि भावना ही मुख्य है। दर्शन विशुद्धि भावना पूर्ण होने पर अन्य भावनाएं सहचरी के रूप में आ जाती हैं। किसी के दर्शन विशुद्धि के साथ पन्द्रह भावनाएं सहचरी होने से सोलह भावनाओं के द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है, किसी के केवल दर्शन विशुद्धि मात्र एक भावना से ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो जाता है। किन्हीं के दर्शनविशुद्धि के साथ अन्य कुछ भावनाओं के कारण तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है।

भरत तथा ऐरावत क्षेत्रों के तीर्थंकर पांच कल्याणक वाले ही होते हैं क्योंकि भरत तथा ऐरावत क्षेत्र में होनहार तीर्थंकर देवगति या नरकगति से आते हैं, यद्यपि इस अवसर्पिणी में हुए भरत क्षेत्र सम्बन्धी सभी तीर्थंकर स्वर्गगति से आकर उत्पन्न हुए थे। चूंकि देवगति और नरकगति में तीर्थंकर प्रकृति का सत्त्व रहता है, अतः वहां से आकर तीर्थंकर होने वाला मनुष्य पांच कल्याणक वाला तीर्थंकर होता है। स्वर्ग से आने वाले होनहार तीर्थंकर जीव की माला नहीं मुरझाती जबकि अन्य देवों की माला स्वर्गगति छूटने के छह माह पूर्व मुरझा जाती है। नरकगति से आने वाले होनहार तीर्थंकर के नरकायु के छह माह शेष रहने पर देव जाकर उसके उपसर्गों का निवारण करते हैं।

तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में सम्यग्दृष्टि जीव को ही होता है। भरत क्षेत्र में इस समय केवली या श्रुतकेवली का अभाव होने के कारण, तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं हो सकता है।

ज्ञानकल्याणक की विशेष महिमा—तीर्थंकर प्रकृति का वास्तविक उदय 'केवल ज्ञान' प्राप्त होने पर ही होता है, पूर्णज्ञानी होने के पूर्व छद्मस्थ काल में वे उपदेश नहीं देते हैं, जबकि जीवों का वास्तविक कल्याण तीर्थंकर के उपदेशों से ही होता है। यही कारण है कि णमोकार मंत्र में सर्वप्रथम "णमो अरिहन्ताण" अरहन्तों को नमस्कार बोलते हैं, क्योंकि भगवान की अरिहन्त अवस्था से ही सर्वाधिक लोककल्याण उनकी दिव्यध्वनि द्वारा होता है। लोककल्याण की जिस प्रबल भावना के कारण तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया था वह अरहन्त अवस्था में ही साकार होती है इसलिए तीर्थंकर के ज्ञान कल्याणक का विशेष महत्त्व है।

दो कल्याणक वाले तीर्थंकर—विदेह क्षेत्र में जो तीर्थंकर होते हैं, उनमें कुछ पूर्वभव में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर चुकने वाले होते हैं, उनके तो पांचों कल्याणक होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी तीर्थंकर होते हैं जो उसी मनुष्य भव में गृहस्थ अवस्था में रहते हुए तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करते हैं। चरम शरीरी होने से उसी भव में मुक्त होना है अतः उनके तप, (दीक्षा)ज्ञान और मोक्ष ये तीन कल्याणक ही होते हैं। वहां कुछ ऐसे भी मनुष्य होते हैं जिन्होंने मुनि अवस्था धारण कर ली थी। उसके बाद मुनि अवस्था में ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया, दीक्षा लेकर वे तपस्या तो पहिले से ही कर रहे थे, ऐसी स्थिति में उनके ज्ञान और मोक्ष ये दो ही कल्याणक होते हैं। इस प्रकार ज्ञानकल्याणक प्रत्येक स्थिति में होता है और अधिक समय के लिए होता है। मोक्ष तो अल्प समय में हो जाता है। गर्भ, जन्म और तप ये तीन कल्याणक सभी तीर्थंकरों के नहीं होते हैं। इस दृष्टि से भी ज्ञानकल्याणक पूज्य एवं महत्त्वपूर्ण है।

यद्यपि अरहन्त अवस्था पाते ही तत्काल मोक्ष नहीं हो जाता परन्तु इस अवस्था में अनन्तसुख प्राप्त हो जाता है। इस दशा में क्षायिक ज्ञान, सम्यक्त्व, चारित्र, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, इन नौ लब्धियों की प्राप्ति स्वयं में बड़ा अतिशय है। इन लब्धियों की प्राप्ति के कारण ज्ञानदान, अभयदान, बिना कवलाहार किए शरीर की स्वस्थता, देवों द्वारा पुष्पवृष्टि, दिव्य सिंहासन समवशरण आदि की उपलब्धि होती है।

तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध न करके अन्य मुक्त होने वाले असंख्यात मनुष्य हैं। वे सभी केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, उन्हें सामान्य केवली कहा जाता है। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करके केवलज्ञान प्राप्त करने वाले ही तीर्थंकर कहलाते हैं।

तीर्थंकर केवली का तीर्थ प्रवर्तन काल आगामी तीर्थंकर होने तक चलता है। एक तीर्थंकर के काल में उसी क्षेत्र में दूसरे तीर्थंकर का सद्भाव नहीं होता। परन्तु सामान्य केवली एक ही क्षेत्र में एक साथ अनेक भी हो सकते हैं। यद्यपि सामान्य केवली भी उपदेश देते हैं लेकिन उनके लिए समोशरण की रचना नहीं होती है। उनके लिए गन्धकुटी की रचना होती है। उनके गणधर भी होते हैं। परन्तु जो सामान्य केवली केवल ज्ञान होते ही अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष चले जाते हैं, उनकी वाणी नहीं खिरती है अर्थात् उनका उपदेश नहीं होता है, इसी प्रकार सामान्य केवलियों में कोई मूक केवली भी होते हैं जो उपदेश नहीं देते और मुक्त हो जाते हैं।

ज्ञान कल्याणक के चौबीस अतिशय—तीर्थंकरों के जन्म के दस ही अतिशय होते हैं, ये अतिशय पंचकल्याणक वाले तीर्थंकरों के ही होते हैं। जन्म के अतिशय तीर्थंकर प्रकृति की अतिशयता व्यक्त करते हैं, इन अतिशयों से लोक के सुख तथा कल्याण का विशेष संबंध नहीं है जबकि केवलज्ञान संबंधी दस अतिशय तो ऐसे हैं जो सभी तीर्थंकरों के होते हैं, तीर्थंकरों की अतिशयता तो प्रकाशित करते ही हैं इसके साथ ही चारों ओर सौ-सौ योजन सुकाल होना, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ईति, भीति आदि क्लेशकारक परिस्थितियों का अभाव होना, उनके

शरीर से किसी प्राणी का घात न होना आदि ऐसे अतिशय हैं जो जीवों को सुखी करने वाले तथा दुःख निवारक हैं। तीर्थंकरों के ज्ञान-कल्याणक के समय देवों द्वारा किए गए चौदह अतिशय मिलाकर केवलज्ञान के चौबीस अतिशय हो जाते हैं। ये देवकृत अतिशय भी अन्यान्य जीवों के जीवन को सुखमय बना देते हैं। दिव्यध्वनि से तो अगणित जीवों का कल्याण होता ही है, इसके अतिरिक्त विरोधी प्राणियों का विरोधभाव लुप्त हो जाना, पृथ्वी का वातावरण सुखमय हो जाना भी सुख प्रदान करता है। आठ प्रातिहार्य भी केवलज्ञान के समय के हैं। इस प्रकार तीर्थंकर प्रकृति का पुण्य रूप फल और उसका वास्तविक उदय ज्ञानकल्याणक के रूप मे ही दिखाई देता है, इसलिए ज्ञान-कल्याणक सबसे महत्वपूर्ण तथा उत्कृष्ट कल्याणक है।

समवशरण—भगवान के समवशरण मे बारह कोठे होते हैं जिनमे भव्य प्राणी देव, गणधर, मुनि, देवियां, चक्रवर्ती राजा तथा अन्य नरेश, विद्याधर और मनुष्य तथा स्त्रियां 'पशु-पक्षी आदि गर्भज, संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच वैरभाव भूलकर प्रेम से बैठते हैं और हितकारी वाणी सुनते हैं।

तत्र न मृत्युर्जन्म च विद्वेषो नैव मन्मथोत्माद: ।
रोगान्तकबुभुक्षा पीडा च न विद्यते काचित् ।।

धर्मोपदेश हेतु निर्मित समोशरण मे उपदेश के समय किसी स्त्री को प्रसूति नही होती, किसी जीव की मृत्यु नहीं होती, जीवों को कामोद्रेक, रोग, व्यसन, भूख, प्यास आदि शारीरिक पीडाएं नही भी होती हैं।

समवशरण मे गूंगे को वाणी, अन्धे को देखने की योग्यता, बहरे को सुनने की योग्यता, लूले-लगडे को चलने की योग्यता प्राप्त हो जाती है। रोगी वहां पहुंचते ही नीरोग, कोढी सुन्दर, तथा विषैले जीव निर्विष हो जाते हैं। हृदय से वैर विरोध की भावना लुप्त हो जाती है। भगवान के प्रभामण्डल के प्रभाव से अन्धकार न रहने के कारण वहा रात्रि दिन का भेद नहीं रहता है अत: भव्य रात्रि मे खिरने वाली वाणी का लाभ भी प्राणी लेते हैं। धर्मयुग के १६ सितम्बर, १९७३ के अक मे प्रभामण्डल तथा उसके दीप्तिचक्र के सम्बन्ध में एक लेख प्रकाशित हुआ है जिससे प्रभामण्डल की वैज्ञानिकता पुष्ट होती है।

इस प्रकार ज्ञानकल्याणक के महत्त्व को ध्यान मे रखते हुए भगवान द्वारा उपदिष्ट जिनवाणी के प्रचार-प्रसार का विशेष आयोजन करना चाहिए।

सिद्ध : यह अनुभूतियो के परे का स्तर है। सिद्ध कार्य-कारण के स्तर से ऊपर उठ जाता है, कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। सिद्ध के बारे में कहा गया है कि वह न किसी से निर्मित होता है और न किसी का निर्माण करता है। चूंकि सिद्ध कर्मों के बन्धन मे मुक्त होता है, इसलिए वह बाह्य वस्तुओ से भी पूर्णत: मुक्त हो जाता है। इसलिये उसे न सुख का अनुभव होता है, न दु:ख का। सिद्ध अनन्त परमसुख में लीन रहता है।

सिद्धपद की प्राप्ति निर्वाण की प्राप्ति के समान है। और निर्वाण की स्थिति में, निषेधात्मक रूप में कहें तो, न कोई पीड़ा होती है, न सुख, न कोई कर्म, न शुभ-अशुभ ध्यान, न क्लेश, बाधा, मृत्यु, जन्म, अनुभूति, आपत्ति भ्रम, आश्चर्य, नीद, इच्छा तथा क्षुधा। स्पष्ट शब्दों में कहें तो इस अवस्था में पूर्ण अन्त:स्फूर्ति, ज्ञान, परमसुख, शक्ति, द्रव्यहीनता तथा सत्ता होती है। आचारांग मे सिद्ध स्थिति का वर्णन इस प्रकार है: "जहां कल्पना के लिए कोई स्थान नही, वहाँ से सभी आवाजें लौट आती हैं; वहाँ दिमाग भी नही पहुंच सकता। सिद्ध बिना शरीर, बिना पुनर्जन्म तथा द्रव्य-सम्पर्क से रहित होता है। वह न स्त्रीलिंग होता है, न पुल्लिंगी और न ही नपुसकलिंगी। वह देखता है, जानता है, परन्तु यह सब अतुलनीय है। सिद्ध की सत्ता निराकार होती है। वह निराबद्ध होता है।"

प्रो०—एस० गोपालन : जैन दर्शन की रूपरेखा के पंचम भाग 'नीतिशास्त्र' में वर्णित 'षड्स्तरीय संघ-व्यवस्था', पृ० १६५ से साभार उद्धृत

उत्तम ब्रह्मचर्य : मोक्षमार्ग का अन्तिम चरण

श्री प्रतापचन्द्र जैन

ब्रह्मचर्य धर्म के रूप व श्रेणियां

उत्तम ब्रह्मचर्य मोक्षमार्ग के दस धर्मों में एक है और अन्तिम भी। उसके दो रूप हैं : स्थूल-व्यवहार-रूप और सूक्ष्म-निश्चय-रूप। उसकी श्रेणियां तीन हैं : उत्तम, मध्यम और जघन्य।

स्थूल रूप मे शुक्र रक्षा को ब्रह्मचर्य कहा है। शरीर में सात धातुएं होती हैं, उनमें एक शुक्र है। इसे वीर्य, ब्रह्म और बिन्दु भी कहते हैं। सातो धातुओं में यह सर्वोपरि, सर्वोत्कृष्ट है। शुक्रक्षयात् प्राणक्षयः। सृष्टि रचना की दृष्टि से यह बीज रूप है। योगशास्त्र २/१०५ मे बताया गया है कि इसकी रक्षा से आयु दीर्घ होती है, अस्थियां वज्र समान होती हैं और शरीर पुष्ट। इससे बलशालिता प्राप्त होती है और तेजस्विता आती है। भर्तृहरि के अनुसार शुक्र रक्षा से विष भी प्रभावहीन हो जाता है। ऋषि दयानन्द इसके उदाहरण हैं। उन्हें जोधपुर में एक बार काच पीसकर पिला दिया गया। वे ब्रह्मचारी व शुक्र रक्षक थे। शुक्र-शक्ति ने उन्हे दिये गये विष को प्रभावहीन कर दिया था।

स्थूल जघन्य ब्रह्मचर्य

मर्यादा एवं मानसिक पवित्रता के साथ अपनी विवाहिता स्त्री से ही सन्तोष कर अन्य सभी स्त्रियो को अवस्थानुसार माता, बहिन व पुत्री के समान समझना स्थूल जघन्य ब्रह्मचर्य धर्म/अणुव्रत है। महीने मे २९ दिन पर नारी/पर पुरुष से रमण करने वाले यदि किसी एक दिन विशेषकर व्रत लेकर उस दिन दृढ रहकर उसका हर कीमत पर पालन करते हैं तो वह भी पुण्योन्मुख होने से श्लाघ्य है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा (३३८) मे भी कहा है .

"जो मण्णदि परमहिलं जणणीबहिणीसुआइसारिच्छं।
मणवयणे कायेण वि बंभवई सो हवे थूलो॥"—

अर्थात् मन, वचन और काय से पर स्त्री को जो माता, बहिन और पुत्री के समान समझता है, उसके स्थूल ब्रह्मचर्य होता है।

स्थूल ब्रह्मचर्य व्रत धारक को नारी जाति की झलक अथवा उसके स्पर्श से बचना आवश्यक नही है। बचा भी नहीं जा सकता। जननी नारी ही तो है, जो तीर्थंकर तक को जन्म देती है। वह अपने स्तनो से दूध पिलाती है और पाल-पोषकर बडा एवं योग्य बनाती है। भगिनी और पुत्री भी तो नारी ही है। नारी जाति को विष बेल कहना अनुचित ही नही, वरन् उसके प्रति अन्याय भी है। परन्तु हां, दोनों ही लिंगो के कामाकर्षण को विषबेल कहा जाय तो अनुचित नही है। बुराई की जड़ तो मन का विकार है। मन मे विकार न आने दिया जाय तो नारी-दर्शन और नारी-स्पर्श पथभ्रष्ट नहीं कर सकते। लक्ष्मण जी बनवास मे राम और सीता के साथ उनकी सेवा में बराबर रहे। सीता-हरण के बाद जब मार्ग में मिले आभूषणों को उनसे पहचनवाया गया कि ये सीता जी के तो नहीं है। तब उन्होने उत्तर दिया कि :—

"कंगनं नैव जानामि, नैव जानामि कुण्डले।
नूपरान्नैव जानामि, प्रातः पादानुवन्दनात्॥"

मैं न उनके कंगनों को पहचानता हूँ, और न उनके कुण्डलों को। प्रातः उनके चरणों में नमस्कार करते रहने से उनके नूपरों (बिछुओं) को ही पहचानता हूँ।

उल्लेख है कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा (४०४) जो णवि जादि वियारं तरुणि-यण-कडक्ख-बाण-विद्धो वि, सो चेव सूरसूरो।" अर्थात् जो स्त्रियों के कटाक्ष-बाणों से विद्ध होकर भी विकार को प्राप्त नहीं होता वह शूर होता है। लक्ष्मण जी ऐसे ही विकारमुक्त थे। तभी तो सूर्पणखा के कटाक्ष और हावभाव उन्हें पथभ्रष्ट नही कर सके थे। यही स्थूल जघन्य ब्रह्मचर्य गृहस्थ का धर्म है, जो उसे निवृत्ति की ओर अग्रसर कर

उत्तम ब्रह्मचर्य का मार्ग प्रशस्त करता है, और अनाचार एवं विद्वेष पर अंकुश लगाने/रखने का साधन है।

स्थूल मध्यम ब्रह्मचर्य

जो गृहस्थ श्रावक की सातवी प्रतिमा धारण कर अपनी विवाहिता स्त्री के साथ भी रमने की इच्छा/भावना को त्याग देता है, पहले भोगे भोगों को मन/विचार मे नहीं लाता और स्त्रीराग चर्चा से भी विरत हो जाता है, वह स्थूल मध्यम ब्रह्मचर्य का पालक हो जाता है और ब्रह्मचारी कहलाने लगता है। यह कोई डिग्री/डिकोरेशन नहीं है—बी० ए०, साहित्यरत्न की भांति जैसा कि कुछ व्रती इसे अपने नाम के आगे लगाकर भासित करते हैं। यह तो तलवार की धार पर चलने जैसा धार्मिक दायित्व है, संसार विरत श्रमण मार्ग का माईलस्टोन। वह संसारी होते हुए भी व्रती है। एक कथा है कि एक था युवक और एक थी युवती। दोनो ने ही कौमार-अवस्था में मुनियों से अलग-अलग उत्तम ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया था—एक ने पूर्वार्ध का और दूसरे ने उत्तरार्ध का। संयोग से दोनों प्रणय सूत्र मे बंध गये। प्रथम मिलनबेला में जब दोनों को यह भेद खुला तो दोनो ने एक-दूसरे के व्रत का आदर किया और गृहस्थ अवस्था मे साथ-साथ रहते हुए भी वे उस व्रत का आजीवन अखण्ड पालन करते रहे—जल में कमलवत्। यह है। उत्तम ब्रह्मचर्य का स्टेपिंगस्टोन।

उत्तम ब्रह्मचर्य

समस्त विषय-वासनाओं का निरोध कर निजात्मा मे चरना/रमना उत्तम (सूक्ष्म निश्चय) ब्रह्मचर्य है। केवल मैथुनत्याग, अपनी विवाहिता स्त्री से भी रमण न करना तथा उसकी झलक से एव स्त्री राग चर्चा से बचना ही उत्तम ब्रह्मचर्य नहीं है। संसार के समस्त ऐशो-आराम को तिलांजलि देना, आरम्भ के नौवो धर्मों (क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग और आकिंचन्य) और चारों महाव्रतो (अहिंसा, सत्य, अचौर्य और परिग्रह त्याग) का सम्यक् पालन करते हुए पाचो इन्द्रियो और छठे मन पर पूर्ण काबू पाकर समस्त बाह्य एवं अंतरंग विषय-विकारो को रोक और निकाल बाहर करना श्रमणों का उत्तम ब्रह्मचर्य अर्थात् उसकी सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। अनगार धर्मामृत मे कहा है "या ब्रम्हणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे चर्या तद् ब्रह्मचर्यव्रत सार्वभौम अर्थात् ब्रह्म/स्व-आत्मा में शुद्ध चर्या करना ही सार्वभौम ब्रह्मचर्य है। विषय सेवन विष से भी अधिक घातक है जैसा कि आदिपुराण में निरूपित किया है —

"वरं विषं यदेकस्मिन् भवे हन्ति न हन्ति वा।
विषयास्तु पुनर्घ्नन्ति हन्त ! जन्मान्यनेकशः॥"—३६/७४

अर्थात् विष खा लेना (विषय मे) कही अच्छा है। वह प्राणी को एक ही बार मे मारता है, शायद नही भी मारे, परन्तु विषय-सेवन तो उसे अनन्त बार मारता है।

समस्त वासनाओं/बाह्य एवं अंतरग विषयविकारों को जो निकाल बाहर करता है, वह जीवात्मा इतनी शक्तिशाली हो जाती है कि स्त्रियों के सर्वांगों को देखते हुए भी वह अपने भाव नही बिगडने देती। द्वादशानुप्रेक्षा की गाथा ८० में कहा है :

"सव्वंगं पेच्छंतो, इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं।
सो बम्हचेरभावं, सुक्कदि खलु दुद्धर धरदि॥"

अर्थात् स्त्रियों के सर्वांगो को देखते हुए भी जो इनमें दुर्भाव नही करता, विकार को प्राप्त नही होता, वही वास्तव मे दुर्द्धर ब्रह्मचर्य भाव को धारण करता है। आचार्य स्थूलभद्र इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। वे चातुर्मास मे अवध की अनिंद्य सुन्दरी कोशा वेश्या की कामोत्तेजक चित्रो से भरी चित्रशाला मे जाकर पद्मासन लगाकर आत्मलीन/ध्यानस्थ हो गये थे। वे चित्र उन्हें तनिक भी आकर्षित/विचलित नही कर सके थे और चार माह की दुर्द्धर ध्यान-साधना पूरी करके ही वे वहा से तपे। खरे सोने की भांति वे बेदाग बाहर आये थे।

मोक्ष का प्रवेश द्वार

ब्रह्मचर्य महाव्रतों में अन्तिम (पांचवां), और आत्मा के धर्मों मे दसवा है। इन दोनो का ही आरम्भ अहिंसा एवं क्षमा से होता है। ब्रह्मचर्य व्रत/धर्म धारण करने से पूर्व आरम्भ के चारो व्रतों और नौवो धर्मों को धारण करना और पालन करना आवश्यक है। बगैर उनके धारण/पालन के उत्तम ब्रह्मचर्य चल नही सकता। जैसे-जैसे प्राणी उनसे सम्पन्न होता जाता है, और इन्द्रियो, मन तथा राग-द्वेष भावों का दमन/शमन करता जाता है, वैसे-वैसे वह उत्तरोत्तर आत्मरमण करता हुआ स्थूल से सूक्ष्म, व्यावहारिक से निश्चय एव जघन्य से उत्तम ब्रह्मचर्य को धारण/पालन कर मोक्ष के द्वार पर जा पहुचता है और अन्त मे उसमे प्रवेश कर जाता है। अहिंसा/क्षमा मोक्षमार्ग का प्रवेश द्वार है तो ब्रह्मचर्य उसका अन्तिम छोर है। इस प्रकार इच्छा/वासनाओ का पूर्ण शमन हो जाने पर मोक्ष प्राप्त होता है। कविवर द्यानतराय भी कह गये हैं :

"द्यानत दस धम पैड चढ़िके, शिव महल में पग धरा।"

जब तक उत्तम ब्रह्मचर्य का धारण/पालन नही, तब तक मोक्ष/मुक्ति भी नहीं। तभी तो तीर्थंकरों सहित सभी मोक्षगामियों ने इसका सम्यक् पालन किया था। ब्रह्मचर्य धारण किये बगैर कोई जप, तप, पाठ, प्रतिष्ठा और विधि-विधान भी निर्विघ्न सम्पन्न नहीं होते हैं। विद्याध्ययन के लिए भी इसे अनिवार्य माना गया है।

जैन धर्मशास्त्रों और आधुनिक विज्ञान के आलोक में पृथ्वी

डा० दामोदर शास्त्री

(अ) प्रस्तावना

मानव एक चिन्तनशील प्राणी है।[1] वह अपने आसपास की वस्तुओं तथा वातावरण के रहस्य को समझने के लिए चिर काल से प्रयत्नशील रहा है। संसारी मानव की इन्द्रियों की प्रकृति बहिर्मुखी है, इसलिए अपने अन्तर की ओर झांकने की बजाय, उसका बाह्य जगत् के प्रति आकर्षित होना स्वाभाविक था।[2] असंख्य संसारी प्राणियों में से वह कोई धीर-वीर ही होगा जिसने सर्वप्रथम आत्म-तत्त्व को जानने का यत्न किया।[3]

(क) भारतीय संस्कृति में पृथ्वी

मानव के साहित्यिक मस्तिष्क ने इस सृष्टि को किसी अदृश्य व दैवी महासाहित्यकार की अनुपम, मनोहर व चिरन्तन कृति के रूप में देखा।[4] उसके सौन्दर्यानुरागी स्वभाव ने प्रातःकालीन उषा को कभी एक सुन्दर नर्तकी के रूप में,[5] तो कभी एक बेझिझक संचरणशील नवयौवना नारी के रूप में[6] निहारा। और, यह धरती व आकाश—जिसकी छत्रछाया में वह रहता आया था—उसके लिए माता व पिता थे।[7]

पृथ्वीमाता के प्रति भारतीय संस्कृति में कितना श्रद्धास्पद स्थान है, यह इसीसे प्रमाणित है कि प्रत्येक भारतीय हिन्दू प्रातःकाल उठते ही, समुद्रवसना व पर्वतस्तनमंडिता अलौकिक धरती माता के प्रति यह प्रार्थना करता है :—

१. मण्णंति जदो णिच्चं मणेण णिउणा जदो दु ये जीवो। मणउक्कडा य जम्हा, तम्हा ते माणुसा भणिया (पंचसंग्र-हप्राकृत, १/६२)॥ गोम्मटसार-जीवकाण्ड, गाथा—१४९,
२. पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः, तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मा (कठोप० २/४/१)।
३. कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् (कठोप० २/४/१)।
४. देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति (अथर्ववेद, १०/८/३२)।
५. ऋग्वेद, १/९२/४
६. ऋग्वेद, ७/८०/२
७. (क) माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः (अथर्व० १२/१/१२)। तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः (यजुर्वेद, २५/१७)। पृथिवि मातः (यजु० १०/२३)।
(ख) जिज्ञासा व समाधान की प्रक्रिया के क्रम में ही सम्भवतः मानव ने पृथ्वी व अंतरिक्ष रूपी माता-पिता के भी जनक या पालक (परम-पिता) की कल्पना की होगी.— द्यावाभूमी जनयन्देव एकः (श्वेता० उप० ३/३)। द्यावापृथिवी बिभर्ति (ऋ० १०/१२१/८)। तस्मिन् तस्थुर्भुवनानि विश्वा (यजु० ३१/१९)। एको विश्वस्य भुवनस्य राजा (ऋ० ६/३६/४)। क्षरात्मानावीशते देव एकः (श्वेता० उप० १/१०)।
(ग) वैदिक ऋषि के अनुसार इस पृथ्वी पर अनेक धर्मों तथा अनेक भाषाभाषी लोगों का अस्तित्व रहता आया है— 'जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्' (अथर्व० १२/१/४५)।

समुद्रवसन देवि ! पर्वतस्तनमंडिते ।
विष्णु-पत्नि ! नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ।।

(ख) पृथ्वी के स्वरूप की जिज्ञासा

पृथ्वी के प्रति श्रद्धालु मानव के मन में यह भी जिज्ञासा पैदा हुई कि आखिर यह पृथ्वी कितनी बड़ी है, कैसी है, कहाँ, कब, और कैसे इसकी उत्पत्ति हुई ?

वैदिक ऋषि दीर्घतमा इस पृथ्वी की सीमा को जानने की उत्सुकता व्यक्त करता हुआ दृष्टिगोचर होता है।[1]

श्वेताश्वतर उपनिषद् का ऋषि भी यह जिज्ञासा लिए हुए हैं कि हम कहां से पैदा हुए हैं ?[2] और हम सब का अवस्थान किस पर आधारित है ?[3]

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि भारतीय चिन्तक इस पृथ्वी व सृष्टि के विषय में सतत जिज्ञासु थे, और उन्होंने अपने तपोमय अध्यात्मसाधना के द्वारा, जिस सत्य का साक्षात्कार किया, वह हमारे धर्म-ग्रन्थों में निबद्ध है।

(आ) जैन साहित्य में पृथ्वी

जैन साहित्यकारों ने भी इस पृथ्वी को एक सुन्दर नारी के रूप में देखा। आर्यावर्त उस पृथ्वी का मुख है, समुद्र जिसकी करधनी है, वन-उपवन जिसके सुन्दर केश हैं, विन्ध्य और हिमाचल पर्वत जिसके दो स्तन हैं, ऐसी पृथ्वी (माता) एक सती साध्वी नारी की तरह शोभित हो रही है।[4] किन्तु, जैन दर्शन एक निवृत्तिप्रधान धर्म है,[5] इसलिए साधक का अन्तिम लक्ष्य यही होता है कि वह सिद्धि-रूपी कान्ता का वरण करता हुआ,[6] इस मर्त्य पृथिवी की अपेक्षा, सिद्ध-लोक की 'ईषत्प्राग्भार' पृथिवी (माता) की छत्र-छाया में पहुंचे।[7]

(१) पृथ्वी-सम्बन्धी जिज्ञासा : जैन दृष्टि से

जैन दृष्टि से इस पृथिवी-तल पर अधिकार करने की अपेक्षा इसके स्वरूपादि का ज्ञान प्राप्त करना आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक श्रेयस्कर है। इसके पूर्ण व वास्तविक रूप को जानकर साधक के मन में यह विचार स्वतः उठ खड़ा होगा कि इस पृथ्वी के प्रत्येक प्रदेश

---

१. पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्या (ऋग्वेद—१/१६४/३४)। यजुर्वेद—२३/६१,

२. किं कारणं ब्रह्म कुत: स्म जाता, जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः (श्वेता० उप० १/१)।

३. श्वेता० उप० (वही)। कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः (ऋ० १०/१२९/६—नासदीय सूक्त)। तैत्ति० ब्राह्मण—२/८/९

४. (क) उद्वहन्ती स्तनौ तुगौ, विन्ध्यप्रालेयपर्वतौ। आर्यदेशमुखी रम्या नगरीवलयैर्युताम्। अब्धिकाञ्चीगुणा नीलसत्काननशिरोरुहाम्। नानारत्नकृतच्छायाम्, अत्यन्तप्रवणा सतीम् (रविषेणकृत पद्मपुराण—११/२८६-८७)।। विन्ध्यकैलाशवक्षोजां पारावारोर्मिमेखलाम् (जैन पद्मपु० ११४/२२)।

(ख) जैन आचार्यों की दृष्टि में पृथ्वी एक सहनशील व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करती है। इसीलिए मुनि की परीषहजयता को बताने के लिए पृथ्वी से उपमा शास्त्रों में दी गई है—खिदि-उरगवरसरिसा…साहू (धवला, १/१/१, पृ० ५२), वसुन्धरा इव सव्वफासविसहा (औपपातिक सूत्र—सू० १६)। वसुंधरा चेव सुहुयहुए (स्थानांग—९/६९३ गा० २)।

५. निवृत्तिं भावयेद् (आत्मानुशासन—२३६)। सन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना (समयसार-कलश, १०९)। आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम् (वीतरागस्तोत्र— १९/६)। से ण भंते, अकिरिया किंफला, सिद्धिपज्जवसाणफला (भगवती सू० २/५/२६)। एतं सकम्मविरियं बालाण तु पवेदितं। एत्तोअकम्मविरियं पंडियाण सुणेह मे (सूत्रकृतांग—१/८/९)।

६. ये निर्वाणवधूटिकास्तनभराश्लेषोत्थसौख्याकराः……तान् सिद्धानभिनौम्यहं (नियमसार-कलश, २२४)। धर्मः किं न करोति मुक्तिललनासम्भोगयोग्यं जनम् (ज्ञानार्णव—४/२२)। सिद्धिश्रियालिंगित. (उत्तरपुराण ५०/६८)।

७. (क) यः परित्यज्य भूभार्यां मुमुक्षुर्भवसंकटम् (पद्म पु० ११/२८८)। यावतस्त्वौ मही त्यक्त्वा गृहीत्वा सिद्धियोषिताम् (पद्म पु० ११४/२२)।

(ख) तन्वी मनोज्ञा सुरभिः पुण्या परमभास्वरा। प्राग्भारा नाम वसुधा, लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता। ऊर्ध्वं यस्याः क्षितेः सिद्धाः लोकान्ते समवस्थिताः (तत्त्वार्थसू० भाष्य, अ० १०, उपसंहार, श्लो० १९-२०)।।

पर वह अनन्तों बार जन्म-मरण के चक्र से गुजर चुका है।[1] उस चक्र से छूटने के उपाय को जानने हेतु वह सतर्क हो सकता है। भोगभूमि, कर्म भूमि, म्लेच्छ-भूमि, नरक-भूमि—इन सब के स्वरूप को जानकर साधक पुण्य-पाप के सुफल-दुष्फलादि से सहज परिचित हो जाता है, और असत् कर्मों से निवृत्त होता हुआ सत्कर्मों की ओर अग्रसर हो जाता है। कर्म-भूमि में भी वहाँ उनके निवासियों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के उपरान्त, उसकी यह सहज आकांक्षा उदित होगी ही, कि असंख्य प्राणियों में पुरुषोत्तम—'अर्हत्' आदि—की स्थिति क्यों न प्राप्त की जाय।

संक्षेप में, इस पृथ्वी के स्वरूपादि-ज्ञान से मनुष्य को उसकी अनन्त यात्रा का अतीत, वर्तमान व भविष्य स्पष्ट हो जाता है। वह अपने निरापद गन्तव्य का निर्धारण कर सकने में समर्थ होता है। इसीलिए, आचार्य विद्यानन्दि ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में प्रतिपादित किया है कि समस्त लोक का, तथा पृथ्वी पर स्थित जम्बूद्वीपादि का निरूपण शास्त्रों में न हो, तो जीव अपने स्वरूप से से ही अपरिचित रह जाएगा। ऐसी स्थिति में, आत्म-तत्त्व के प्रति श्रद्धान, ज्ञान आदि की सम्भावना ही समाप्त हो जाएगी।[2] अतः आचार्य विद्यानन्दि ने परामर्श दिया है कि हम सब जैन-आगमों का, तथा उसके ज्ञाता सद्गुरुओं का आश्रय लेकर, किसी भी तरह, मध्य लोक का परिज्ञान तथा उस पर विचार-विमर्श करें।[3]

(२) जैन परम्परा में सृष्टि-विज्ञान का आध्यात्मिक महत्त्व

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वैदिक परम्परा में भी उक्त चिन्तन व विमर्श की प्रेरणा ऋषियों द्वारा दी गई है। अन्नपूर्णोपनिषद् में कहा गया है कि हमें अपने अन्दर की सत्ता के साथ-साथ बाह्य सत्ता के स्वरूप की भी छानबीन करनी चाहिए।[4]

जैन परम्परा में भी सृष्टि-विज्ञान की चर्चा तात्त्विक व धर्म-चर्चा के रूप में मान्य है। जैन सृष्टि-विज्ञान भौतिक विज्ञान की सीमित परीक्षण-पद्धति पर आधारित नहीं, वह तो सर्वज्ञ जिनेन्द्र-देव के स्वतः तप-साधना द्वारा अधिगत लोकालोकज्ञता में, स्पष्ट व प्रत्यक्षतया, झलकते हुए समस्त बाह्य विश्व का निरूपण है।[5]

जैन परम्परा में सृष्टि-विज्ञान का आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है—इसके स्पष्ट प्रमाण निम्नलिखित हैं :—

(१) मोक्ष का प्रमुख साधन ध्यान है। ध्यान से संवर, निर्जरा व मोक्ष—तीनों होते हैं।[6] ध्याता को मोक्ष यदि न भी प्राप्त हो, पुण्यास्रव तो सम्भावित है ही।[7] अस्तु, पुण्यास्रव की स्थिति में भी ध्याता को परम्परया मोक्ष भी मिलेगा।[8] इसलिए,

---

१. सो को वि णत्थि देसो लोयालोयस्स णिरवसेसस्स। जत्थ ण सव्वो जीवो जादो मरिदो य बहुवार (कार्तिकेयानुप्रेक्षा—६८)॥

२. तदप्ररूपणे जीव-तत्त्वं न स्यात् प्ररूपितम्। विशेषेणेति तज्ज्ञान-श्रद्धाने न प्रसिद्ध्यत॥ तन्निबन्धनमक्षुण्णं चारित्रं च तथा क्व नु। मुक्तिमार्गोपदेशो नो शेषतत्त्वविशेषवाक् (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, सू० ३/३९, खंड-५, पृ० ३९९)॥

तेषां हि द्वीपसमुद्रविशेषाणामप्ररूपणे मनुष्याधाराणां नारकतिर्यग्देवाधाराणामप्यप्ररूपणप्रसगान्न विशेषेण जीवतत्त्वं निरूपितं स्यात्, तन्निरूपणाभावे च न तद्विज्ञानं श्रद्धानं च सिद्ध्येत्, तद्-असिद्धौ श्रद्धानज्ञाननिबन्धनमक्षुण्णं चारित्रं च क्व नु सम्भाव्यते? मुक्तिमार्गश्च क्वैवम्? शेष-अजीवादितत्त्ववचनं च नैवं स्यात्। ततो मुक्तिमार्गोपदेशमिच्छता सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्युपगन्तव्यानि। तदन्यतमापाये मुक्तिमार्गानुपपत्ते, तानि चाभ्युपगच्छता तद्विषयभावमनुभवत् जीवतत्त्वमजीवादितत्त्ववत् प्रतिपत्तव्यम्। तत्प्रतिपद्यमाने च तद्विशेषा आधारादय प्रतिपत्तव्या. (वही, पृ० ३९९)॥

३. द्वीपसमुद्रपर्वतक्षेत्रसरित्प्रभृतिविशेष. सम्यक् सकलनैगमादिनयेन ज्योतिषा प्रवचनमूलसूत्रैर्जन्यमानेन कथमपि भावयद्भिः सद्भिः, स्वयं पूर्वापरशास्त्रार्थपर्यालोचनेन प्रवचनपदार्थविदुपासनेन च अभियोगादिविशेषविशेषेण वा प्रपंचेन परिवेद्यः (वही, पृ० ४८९, त० सू० ३/४० पर श्लोकवार्तिक)। (तुलना-सप्तीति· प्रलयं प्रयाति सकला भूलोकसम्बन्धिनी—हरिवंशपुराण—५/७३५)।

४. कोऽहं कथमिदं किं वा कथं मरणजन्मनी। विचारयान्तरे वेत्थ महत्तत् फलमेष्यसि (अन्नपूर्णोपनिषद्, १/४०)॥

५. त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं सालोकमालोकितम्, साक्षाद् येन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं साङ्गुलि (अकलंकस्तोत्र,१)। सालोकानां त्रिलोकानां यद्-विद्या दर्पणायते (रत्नकरण्ड—१/१)। लोकप्रकाश—३/६३४-३५,

६. तपोजातीयत्वात् ध्यानानां निर्जराकारणत्वप्रसिद्धिः (राजवार्तिक, ९/३/३)। कुरु जन्माब्धिमत्येतुं ध्यानपोतावलम्बनम् (ज्ञानार्णव—३/१२)। हैमयोगशास्त्र—४/११३, पंचास्तिकाय—९/२६।

७. शुभध्यानफलोद्भूतां श्रियं त्रिदशसम्भवाम्। निर्विशन्ति नरा नाके क्रमाद्यान्ति परं पदम् (ज्ञानार्णव—३/३२)॥ होंति सुहासवसंवरणिज्जरामरसुहाइं विपुलाइं। झाणवरस्स फलाइं, सुहाणुबंधीणि धम्मस्स (धवला—१३/५, ४, २६/५६)॥ हैमयोग शास्त्र—१०/१८-२१, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित—२/३/८०४,

८. स्वशुद्धात्मभावनाबलेन संसार-स्थितिं स्तोकं कृत्वा देवलोकं गच्छति. तस्माद् आगत्य मनुष्यभवे रत्नत्रयभावनया संसारस्थितिं स्तोकं कृत्वा पश्चान्मोक्षं गताः। तद्भावे सर्वथा मोक्षो भवतीति नियमो नास्ति (द्रव्यसंग्रह. ५७ पर टीका)। हैम-योगशास्त्र, १०/२२-२४,

आ० हेमचन्द्र ने धर्म-ध्यान को मोक्ष व स्वर्ग—दोनों का साधक बताया है।[1]

ध्यान के चार भेदों में तीसरा भेद 'धर्म ध्यान' है।[2] लोक के स्वभाव, आकार, तथा लोकस्थित विविध द्वीपों, क्षेत्रों समुद्रों आदि के स्वरूप के चिन्तन में मनोयोग केन्द्रित करना 'संस्थान-विचय' धर्मध्यान है।[3] 'संस्थान-विचय' धर्म ध्यान के विशेष फल इस प्रकार हैं—(१) लेश्याविशुद्धि, तथा (२) रागादि-आकुलता में कमी।[4]

धर्मध्यान-रूप 'संस्थान-विचय' (लोक विचय) के चार भेद माने गए हैं – (१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ, (३) रूपस्थ, (४) रूपातीत।[5] इनमें 'पिण्डस्थ' धर्मध्यान की पांच धारणाएं हैं—(१) पार्थिवी, (२) आग्नेयी, (३) मारुती, (४) वारुणी, (५) तत्त्वरूपवती।[6] इनमें पार्थिवी धारणा के अन्तर्गत, साधक मध्यलोकवत्-क्षीरसमुद्र के मध्य जम्बूद्वीप को एक कमल के रूप में चिन्तन करता है। इस कमल में मेरु-पर्वत रूपी दिव्य कर्णिका होती है।[7]

(२) ध्यान से मिलती-जुली क्रिया 'भावना' या 'अनुप्रेक्षा' है। वे एक प्रकार की चिन्तन-धाराएं हैं जो बार-बार की जाती हैं। जब इसी चिन्तन-धारा में एकाग्र-चिन्ता-निरोध हो जाता है तो 'ध्यान' की स्थिति हो जाती है।[8] अनुप्रेक्षाएं बारह हैं, उनमें 'लोकानुप्रेक्षा' के अन्तर्गत, विश्व के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन किया जाता है, जिसका फल चित्त-विशुद्धि, एवं ध्यान-प्रवाह की विरति को कम या समाप्त करना आदि है।[9]

(३) लोक के स्वरूप को बार-बार चिन्तन करने से स्वद्रव्यानुरक्ति, परद्रव्य-विरक्ति,[10] तथा समस्त कर्म-मल-विशुद्धि का आधार दृढ होता है।[11] इसी दृष्टि से, आचारांग सूत्र में लोक-सम्बन्धी ज्ञान के अनन्तर ही विषयासक्ति के त्याग में पराक्रम करने का निर्देश है।[12]

(४) लोक-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही, धर्म का निरूपण करना श्रेयस्कर माना गया है।[13]

---

१. स्वर्गापवर्गहेतुर्धर्मध्यानमिति कीर्तितं यावत् (हैम-योगशास्त्र, ११/१)।

२. आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि (त० सू० ६/२६, दिग० पाठ में ६/२८)।

३. लोकसंस्थानस्वभावावधानं संस्थानविचय। तदवयवाना च द्वीपादीना तत्स्वभावावधानं संस्थानविचयः (राजवार्तिक, ६।३६।१०)। लोकस्याधस्तिर्यग् विचिन्तयेदूर्ध्वमपि च बाहुल्यम्। सर्वत्र जन्ममरणे रूपिद्रव्योपयोगाश्च (प्रशमरतिप्रकरण, १६०)॥ त्रिभुवनसंस्थानस्वरूप-विचयाय स्मृतिसमन्वाहार संस्थानविचयो निगद्यते (त० सू० ६।३६ पर श्रुतसागरीय वृत्ति)। हैमयोगशास्त्र, १०/१४, आदि पुराण—२१/१४८-१४६, हरिवंशपुराण—६/१४०, ६३/८८, पाण्डव पु० २५/१०८-११०, ध्यानशतक—५२,

४. नानाद्रव्यगतानन्तपर्यायपरिवर्तनात्। सदासक्त मनो नैव रागाद्याकुलता व्रजेत्॥ धर्मध्याने भवेद् भावः क्षायोपशमिकादिकः। लेश्याः क्रमविशुद्धाः स्युः पीतपद्मसिताः पुनः (हैमयोग शास्त्र—११/१५-१६)॥

५. ज्ञानार्णव—३४/१, हैमयोगशास्त्र—७/८,

६. ज्ञानार्णव—३४/२-३, हैमयोगशास्त्र—७/६,

७ ज्ञानार्णव—३४/४-८, हैमयोगशास्त्र—७/१०-१२,

८. राजवार्तिक, ६/३६/१२ (अनित्यादिविषयचिन्तनं यदा ज्ञानं तदा अनुप्रेक्षा-व्यपदेशो भवति, यदा तत्रैकाग्रचिन्तानिरोधस्तदा धर्म्यध्यानम्)।

६. त० सू० ६/७, हैमयोगशास्त्र—४/५५-५६, लोकस्य संस्थानादिविधिर्व्याख्यातः। तत्स्वभावानुचिन्तनं लोकानुप्रेक्षा। एवं ह्यस्याध्यवस्यतः तत्त्वज्ञानादिविशुद्धिर्भवति (राजवार्तिक, ६।७।८)।

१०. द्र० पंचास्तिकाय—१६७-१६८, समयसार—१०।१०५,

११. स्वतत्त्वरक्तये नित्यं परद्रव्यविरक्तये। स्वभावो जगतो भाव्य. समस्तमलशुद्धये (योगसार-प्राभृत-अमितगतिकृत, ६।३२)॥

१२. विदित्ता लोग वंता लोगसण्णं से मइमं परक्कमेज्जासि (आचारांग, १।३।१।२५)।

१३. सूत्रकृतांग—२।६।२।४६-५०

(५) जैन साहित्य को चार अनुयोगों (विषयों) में विभाजित किया गया है।[1] एक अनुयोग के अन्तर्गत, सृष्टिविज्ञान-सम्बन्धी साहित्य का समावेश किया गया है। दिगम्बर परम्परा मे यह अनुयोग 'करणानुयोग' के नाम से,[2] तथा श्वेताम्बर परम्परा में 'गणितानुयोग' के रूप में[3] प्रसिद्ध है।

(६) जैन पुराणो का वर्ण्य विषय सृष्टि-वर्णन भी है। स्वय जिनेन्द्र देव ने त्रिलोक-स्वरूप का निरूपण किया है।[4] पुराणों का परिगणन 'धर्मकथा' के अन्तर्गत किया जाता है।[5] धर्मकथा को स्वाध्याय के रूप में 'तप' माना गया है।[6] अत: पुराणादि-वर्णित सृष्टि-विज्ञान की सामग्री के मनन का भी होना स्वाध्याय के अनुष्ठान से स्वाभाविक है।

सृष्टि-विज्ञान की सामग्री से परिपूर्ण 'चन्द्रप्रज्ञप्ति' तथा 'सूर्यप्रज्ञप्ति' का स्वाध्याय-काल प्रथम व अंतिम पौरुषी में विहित माना गया है।[7]

आ० पद्मनन्दिकृत 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' (दिगम्बर ग्रन्थ) के अनुसार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति को पढने व सुनने वाला मोक्ष-गामी होता है।[8] इस प्रकार, सृष्टि-विज्ञान-सम्बन्धी साहित्य का श्रवण-मनन आध्यात्मिक दृष्टि से उचित व अपेक्षित सिद्ध होता है।

(७) अगप्रविष्ट जैन द्वादशागी तथा अगबाह्य साहित्य मे सृष्टि-विज्ञान-सम्बन्धी प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है। इसके अतिरिक्त, जैन आचार्यों ने सृष्टि-निरूपण से सम्बन्धित अनेक स्वतत्र ग्रन्थों की रचना की है।[9] इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परा मे सृष्टि-विज्ञान का अध्ययन-अध्यापन अत्यन्त श्रद्धा व रुचि का विषय रहा है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में जैन आगमो मे प्राप्त पृथ्वी-सम्बन्धी निरूपण को प्रस्तुत करते हुए आधुनिक विज्ञान के आलोक मे उसका समीक्षण किया जा रहा है :—

(१) पृथ्वियों की संख्या

जैन परम्परा मे पृथ्वियो की सख्या कही सात,[10], तो कही आठ[11] भी बताई गई है।

---

१ आर्यरक्षित ने (वि० सं० प्रथमशती) ने शिक्षार्थी श्रमणो की सुविधा के लिए आगम-पठन पद्धति का चार भागो में विभाजित किया (द्र० नन्दी थेरावली-२, गाथा-१२४)। विशेषावश्यकभाष्य—२२८६-२२९१,

अनुयोगो के नाम दिगम्बर-परम्परा मे इस प्रकार हैं—(१) प्रथमानुयोग, (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग, (४) द्रव्यानुयोग। श्वेताम्बर-परम्परा में नाम इस प्रकार हैं—(१) चरणकरणानुयोग, (२) धर्मकथानुयोग, (३) गणितानुयोग, (४) द्रव्यानुयोग। (द्र० आवश्यकनिर्युक्ति-गा० ७७३-७४, सूत्रकृताग चूर्णि, पत्र-४, आवश्यक-वृत्ति—पृ० ३०, रत्नकरंड-श्रावकाचार—४३-४६, द्रव्यसंग्रह—४२ पर-टीका

२. रत्नकरण्डश्रावकाचार, १।४३-४४, आदिपुराण—२।९९,

३. आवश्यक-नियुक्ति—१२४,

४. त्रिजगत्समवस्थानं नरकप्रस्तरानपि। द्वीपाब्धिह्रदशैलादीनप्यथास्मायुपादिशत् (आदिपुराण—२४।१५७)।' तिलोयपण्णत्ति—१।९०,

जैन पुराणों का वर्ण्य विषय सृष्टि-वर्णन भी है—'जगत्-सयनिवेशश्च त्रैकाल्यस्य च संग्रह.। जगत: सृष्टिसंहारौ चेति कृत्स्नमिहोद्यते' (आदिपुराण—२।११९)॥ हरिवंश पुराण—१।७१, पद्मपुराण—१।४३,

५. आदि पु० १।२४, १।६२-६३, १।१०७-११६, पद्मपुराण—१।३६, १।२७, हरिवंशपुराण—१।१२७,

६. द्र० त० सू० ९।२०, ९।२५, भगवती आराधना—१०७, भगवतीसूत्र—२५.७।८०१, स्थानाग—५।३।५४१, मूलाचार—३९३, उत्तराध्ययन—३०।३४, २६।२७,

७. स्थानांग—३।१।१३६,

८. जंबूद्दीवपण्णत्ति (दिग०)—१३/१५७

९. द्रष्टव्य-सत्यशोध यात्रा (प्र० वर्द्धमान जैन पेढी, पालीताना), पृ० ४२-६६,

१०. हरिवंश पु० ४/४३-४५, भगवती सू० १२/३/१-२ (गोयमा, सत्त पुढवीओ पन्नत्ताओ)। स्थानाग—७/६६९ (२३-२४), त्रिषष्टि० २।३।४८६, लोकप्रकाश-विनय-विजयगणि-रचित, १२।१६०-१६२,

११. तिलोयपण्णत्ति—२।२४, धवला—१४।५,६,६४। गोयमा! अट्ठ पुढवीओ पण्णत्ताओ। नं जहा—रयणप्पभा जाव ईसीपब्भारा' (भगवती सू० ६।८।१)। स्थानांग—८।८४१ (१०८)। प्रज्ञापनासूत्र—२।७९ (१)।

आठ पृथ्वियों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) रत्नप्रभा

(२) शर्कराप्रभा

(३) बालुकाप्रभा

(४) पंकप्रभा

(५) धूमप्रभा

(६) तम प्रभा

(७) महातम:प्रभा[1]

(८) ईषत्प्राग्भारा,

जिस मध्यलोक मे हम निवास कर रहे हैं, वह रत्नप्रभा पृथ्वी का ऊपरी पटल (भित्ता) है, जिसका विस्तार (लम्बाई व चौड़ाई आदि) असंख्य सहस्र योजन है।[2] किन्तु इसमे मनुष्य-लोक जितने क्षेत्र मे है, वह ४५ लाख योजन लम्बा-चौड़ा, तथा १४२३०४९ योजन परिधि वाला है।[3]

सबसे छोटी और आठवी पृथ्वी ऊर्ध्वलोक में (सभी देव-कल्पविभागों से परे) है,[4] जहां सिद्ध-क्षेत्र (मुक्त आत्माओं का निवास) अवस्थित है।[5] बाकी सात पृथ्विया मध्यलोक के नीचे हैं, जहां नरक अवस्थित हैं।[6]

ये सभी पृथ्विया द्रव्य की दृष्टि से शाश्वत हैं—इनका कभी नाश नहीं होता।[7]

---

१. सात पृथ्वियो के वास्तविक नाम इस प्रकार हैं—धम्मा, वशा, सेला, अजना, अरिष्टा, मघा, माघवती। रत्नप्रभा आदि नाम नहीं, अपितु 'धम्मा' आदि तो पृथ्वियो के गोत्र हैं। द्र० स्थानाग—७।६६६ (सुत्तागमो-भा० २, पृ० २७८), भगवती सूत्र—१२।३।३, जीवाभिगम सूत्र—३।१।६७, लोकप्रकाश—१२।१६३-१६४, त्रिलोकसार—१४५, तत्त्वार्थसूत्र-भाष्य—३।१, तिलोयपण्णत्ति—१/१५३ वराग-चरित—११।१२, हरिवंश पु० ४।४६,

त० सू० ३।१ पर श्रुतसागरीय टीका मे 'धम्मा' आदि सज्ञाए नरकभूमियो की हैं।

२. रयणप्पभा पुढवी केवइयं आयामविक्खभेण पन्नत्ते। गोयमा, असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइ आयामविक्खभेण असंखेज्जाइं जोयण-सहस्साइ परिक्खेवेणं पण्णत्ता (जीवाजीवाभिगमसूत्र—३।१।७६)। तत्थ पढमपुढवीए एकरज्जुविक्खभा सत्तरज्जुदीहा बीससहस्सूण बेजोयणलक्खबाहल्ला (तिलोयपण्णत्ति, १।२८३ पृ० ४८)। प्रथम पृथ्वी एक राजू विस्तृत, सात राजू लम्बी तथा एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। राजू का प्रमाण असख्यात योजन है (प्रमाणागुलनिष्पन्न योजनाना प्रमाणत.। असख्यकोटाकोटी-भिरेका रज्जु प्रकीर्तिता—लोकप्रकाश, १।६४)। आधुनिक विद्वानों के मत मे राजू लगभग १.१६×१०^{११} मील के समान है।

३. तिलोयपण्णत्ति—४।६-७ हरिवंशपुराण—५-५९०, जीवाभिगमसूत्र—३।२ १७७, बृहत्क्षेत्र समास-५, स्थानाग-३।१।१३२.

४. ऊर्ध्वं तु एकैव (त० सू० भाष्य, ३।१)। नृलोकतुल्यविष्कम्भा (त० सू० भाष्य, दशमाध्याय, उपसंहार, श्लोक-२०)। इस पृथ्वी का विस्तार (लम्बाई-चौड़ाई) ४५ लाख योजन है जो मनुष्य क्षेत्र के समान है। इसकी परिधि एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनचास योजन मे कुछ कम मानी गई है—द्र० औपपातिक सूत्र—४२, स्थानांग ३।१।१३२, ८।१०८, दिगम्बर मत मे ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी एक राजू चौडी तथा सात राजू लम्बी है (तिलोयपण्णत्ति, ८।६५२-५८)।

किन्तु इस पृथ्वी के बहुमध्यभाग मे 'ईषत्प्राग्भार' क्षेत्र है जिसका प्रमाण ४५ लाख योजन है (तिलोयपण्णत्ति—८।६५६-५८, हरिवंश पु० ६।१२६),

५. तिलोयपण्णत्ति-९।३, भगवती आराधना-२१३८, २१२७

६. त० सू० ३/२, ज्ञानार्णव-३३/१०, त्रिषष्टि० २/३/४८५, हरिवश पु० ४/७१-७२, प्रज्ञापना सूत्र, २/६६ (सुत्तागमो, २ भाग, पृ० २६४)। जीवाजीवाभिगम-३/२, सू० ८१, लोकप्रकाश-१/१

७. जीवाजीवाभिगम सूत्र, सू० ३/१/७८ व ३/२/८५. जबूद्वीवपण्णत्ति (श्वेताम्बर)-७/१७७ (सुत्तागमो, भा० २, पृ० ६७१)।

(४) पृथ्वियों की स्थिति व आकार

रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों मे प्रत्येक, तीन-तीन वातवलयों के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। इनके नाम हैं—(१) घनोदधि, (२) घनवात, (३) तनुवात। ये वातवलय आकाश पर प्रतिष्ठित हैं।[1] प्रत्येक पृथ्वी को ये वातवलय वलयाकार रूप से वेष्टित किए हुए हैं। पृथ्वी को घनोदधि, घनोदधि को घनवात, घनवात को तनुवात वेष्टित किए हुए है।[2]

रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन काण्ड (विभाग) हैं,—(१) खर, (२) पंक, (३) अब्बहुल।[3] इनमें खरकाण्ड के १६ विभाग हैं।[4] इस प्रकार, प्रथम पृथ्वी और द्वितीय पृथ्वी के मध्य निम्नलिखित प्रकार से (ऊपर से नीचे की ओर) स्थिति समझनी चाहिए :—

(१) रत्नप्रभा पृथ्वी का खर भाग (१६ हजार योजन का)[5]
(२) " " पक भाग (८४ हजार योजन)
(३) " " अब्बहुल भाग (८० हजार योजन)
रत्नप्रभा पृथ्वी का समस्त बाहल्य (मोटाई) एक लाख अस्सी हजार योजन फलित होता है।[6]
(४) (पृथ्वी के नीचे) घनोदधि वातवलय (२० हजार योजन मोटा)[7] (सर्वाधिक सघन)
(५) घनवातवलय (तनुवात वलय की तुलना मे अधिक सघन) (२० हजार योजन मोटा)[7]
(६) तनुवातवलय (घनोदधि व घनवात की तुलना मे अत्यन्त सूक्ष्म व पतला) (२० हजार योजन मोटा)
(७) आकाश

(८) द्वितीय पृथ्वी—शर्कराप्रभा
(इससे नीचे पुन घनोदधि, घनवात, तनुवात वलय हैं।)[8]

रत्नप्रभा से लेकर महातम.प्रभा तक सातों पृथ्वियां एक दूसरे के नीचे छत्रातिछत्र के समान आकार बनाती हुई स्थित हैं।

इस सन्दर्भ मे तुलनात्मक दृष्टि से बृहदारण्यक उपनिषद् का वह कथन मननीय है जो समस्त धरातल को जल से, जल को

---

१. हरिवंश पु० ४/४२, ४/३३, तिलोय-१/२६८-६६, त० सू० भाष्य-३/१, ठाणांग-३/४/३१६, ७/१४-२२, ८/१४,२/३/५०२, लोक प्रकाश-१२/१७७-१७८, ज्ञानार्णव-३३/४-७, जीवाजीवाभिगम, सू० ३/१/७१-७६,

२. रत्नप्रभा आदि सातों पृथ्वियां ऊर्ध्व दिशा को छोड कर शेष नौ दिशाओं मे घनोदधि से छूती हैं, आठवीं पृथ्वी दसों दिशाओं में घनोदधि से छूती है (तिलोयप-२/२४)।
वातवलयो के परिमाण आदि को जानकारी हेतु देखें—लोकप्रकाश-१२/७९-१६०, त्रिलोकसार १२३-१४२, तिलोय प० १/२७०-८२,

३. तिलोय प० २/६, त्रिलोकसार-१४६, जीवाजीवाभिगम, सू० ३/१/६९, ठाणांग-१०/१६१-१६२,

४. तिलोय प० २/१०, जीवाजीवा सू ३/१/६९, ठाणांग-१०/१६३, लोकप्रकाश-१२/१७१,

५. लोकप्रकाश-१२/१६९-७० तिलोय प० २/६, जंबूद्वीव पण्णत्ति (दिग०) ११/११६,

६. हरिवंश पु० ४/४७-४९, लोकप्रकाश-१२/१६८, जीवाजीवा० सू० ३/१/६८,

७. प्रत्येक वातवलय (वायुमण्डल) की मोटाई बीस हजार योजन है (त्रिलोकसार-१२४, तिलोय प० १/२७०)। श्वेताम्बर परम्परा में घनोदधि की मोटाई (मध्यगत बाहल्य) बीस हजार योजन, घनवात एव तनुवात की असंख्य सहस्र योजन मानी गई है (जीवाजीवाभिगम सू० ३/१/७२, लोकप्रकाश-१२/१८०, १८३, १८६)। प्रत्येक वातवलय के विष्कम्भ (प्रत्येक पृथ्वी के पार्श्व भाग में मोटाई) के सम्बन्ध मे भी दोनो परम्परा मतभेद रखती है। इस सम्बन्ध में दिग० परम्परा के ग्रन्थ-तिलोयपण्णत्ति (१/२७१), तथा त्रिलोकसार (१२५), जबूद्वीव प० (दिग०) ११/१२२ आदि द्रष्टव्य है। श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में जीवाजीवाभिगम (सू० ३/१/७६) तथा लोकप्रकाश (१२/१८३-१९०) आदि उल्लेखनीय हैं।

८. तिलोय प० २/२१, त्रिषष्टि० २/३/४६१-६३, त० सू० ३/१ भाष्य। आकासपइट्ठिए वाये, वायपइट्ठिए उदही, उदहीपइट्ठिया तसा थावरा पाणा (भगवती सू० १/६/५४)।

वायु से, वायु को आकाश से ओतप्रोत बताता है।[1] तैत्तिरीय उपनिषद् का यह कथन भी यहां मननीय है जिसके अनुसार आकाश से वायु का, वायु से अग्नि का, अग्नि से जल, का, तथा जल से पृथ्वी का उद्गम माना गया है।[2]

[आकाश, वायु, आग की लपटें, जल—इनमें उत्तरोत्तर सघनता है। घनोदधि शब्द मे आए हुए उदधि (जल-सागर) शब्द से, तथा जैनागमनिरूपित 'गोमूत्र'वत् वर्ण से इसकी जल से समता प्रकट होती है। सम्भव है, घनोदधि जमे बर्फ की तरह ठोस चट्टान जैसा हो। 'तनु वात' सूक्ष्म व तरल वायु हो, इसकी तुलना मे अधिक सघन 'घनवात' आग की लपटो की तरह अधिक स्थूल हो। घन यानी मेघ, मेघ मे वायु बिजली का रूप धारण करती है, बिजली अग्नि का एक रूप है। इस दृष्टि से घनवात को 'अग्नि' के रूप में वर्णित किया गया प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध मे तुलनात्मक अध्ययन-हेतु एक पृथक् शोध-पत्र अपेक्षित है।]

बौद्ध ग्रन्थो में भी ऐसा वर्णन मिलता है जिसके अनुसार पृथ्वी जल पर, जल वायु पर, तथा वायु आकाश पर प्रतिष्ठित है।[3]

तीनो वातवलय वायुरूप ही हैं,[4] [किन्तु सामान्यतः वायु अस्थिर स्वभाववाली होती है, जब कि ये वातवलय स्थिर-स्वभाव वाले वायु-मण्डल हैं। इस दृष्टि से गीता का यह कथन जैन मत से साम्य रखता है कि लोक मे वायु सर्वत्र व्याप्त है और वायु आकाश पर स्थित है।[5]

(५) मध्य लोक का आधार यह पृथ्वी

जम्बूद्वीप से लेकर स्वयम्भूरमण समुद्र तक असख्य द्वीपो व समुद्रो वाले मध्यलोक का आधार इस रत्नप्रभा का ऊपरी 'चित्रा' पटल है।[6] मेरु पर्वत एक लाख योजन विस्तार वाला है। उसमे एक हजार योजन पृथ्वीतल से नीचे है, तथा निन्यानबे हजार योजन पृथ्वी से ऊपर है। इसी मेरु पर्वत से मध्यलोक की सीमा निर्धारित की जाती है।[7] अर्थात् मध्यलोक पृथ्वीतल से एक हजार योजन नीचे से प्रारम्भ होकर, निन्यानबे हजार योजन ऊचाई तक स्थिर है।

जम्बूद्वीप आदि द्वीप, लवणोद आदि समुद्र, भरतादि क्षेत्र, मेरु एवं वर्षधर आदि पर्वत, कर्मभूमियां, भोगभूमियां, अन्तर्द्वीप आदि इस पृथ्वी (चित्रा पटल) पर अवस्थित हैं।[8] मनुष्य लोक—इसी (रत्नप्रभा) पृथ्वी का एक बहुत ही छोटा भाग है।

(६) हमारी पृथ्वी का आकार व स्वरूप

रत्नप्रभा—यह नाम अन्वर्थ है। इस पृथ्वी मे रत्न, वैडूर्य, लोहित आदि विविध प्रभायुक्त रत्न प्राप्त होते हैं।[9]

---

१. यदिद सर्वमप्सु ओतं च प्रोतं च···आप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ···वायुरोतश्चेदमन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति (बृहदा० उप० ३/६/१)।

२. आकाशाद् वायु वायोरग्नि, अग्नेराप. अद्भ्यः. पृथिवी (तैत्ति० उप० ११/२/२)।

३. पृथिवी भो गोतम क्व प्रतिष्ठिता। पृथिवी ब्राह्मणा अम्मंडले प्रतिष्ठिता। अम्मडलो भो गौतम क्व प्रतिष्ठत.। आकाशे प्रतिष्ठितः। आकाशं भो गौतम क्व प्रतिष्ठितम्। अतिसरसि ब्राह्मण···आकाश ब्राह्मण अप्रतिष्ठितमनालम्बनमिति विस्तर (मिलिन्दप्रश्न-६८, अभिधर्मकोश-१/५ की व्याख्या मे उद्धृत)। द्र० अभिधर्मकोश-३/४५-४७)।

४. त्रिभिर्वायुभिराकीर्णं. (ज्ञानार्णव-३३/४)।

५. यथाकाशस्थितो नित्यं वायु सर्वत्रगो महान् (गीता-९/६)।

६. त्रिशष्टि० २/३/५५२-५३,

७. तनुवातान्तपर्यन्तस्तिर्यग्लोको व्यवस्थितः। लक्षितावधिरूर्ध्वाधो मेरुयोजनलक्षया (हरिवंश पु० ५/१)।

८. त०सू० ३/७-१०, लोकप्रकाश-१५/४-५ (रत्नप्रभोपरितल वर्णयाम्यथ तत्र च। सन्ति तिर्यगसङ्ख्येयमाना द्वीपपयोधयः। सार्द्धोद्धाराम्भोधियुग्मसमयैः प्रमिताश्च ते)।

९. ति०प० २/२०, सर्वार्थसिद्धि ३/१, राजवार्तिक ३/१/३, अन्वर्थजानि सप्तानां गोत्राण्याहुरमूनि वै। रत्नादीनां प्रभायोगात प्रथितानि तथा तथा (लोकप्रकाश १२/१६३)।

हमारी यह धरती, नीचे की छः धरतियों के मुकाबले, में आकार (लम्बाई-चौड़ाई) में सबसे छोटी (कम पृथुतर) है।[1] किन्तु मोटाई में यह अधिक है।[2] जहां रत्नप्रभा पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है।[3] वहां द्वितीय पृथ्वी एक लाख बत्तीस हजार, तृतीय एक लाख अठाईस हजार, चतुर्थ एक लाख बीस हजार, पंचम एक लाख अठारह हजार, षष्ठ एक लाख सोलह हजार, तथा सप्तम एक लाख आठ हजार योजन मोटी है।[4]

(क) पृथ्वी में रत्नों की खानें

प्रथम पृथ्वी के खर भाग (१६ हजार योजन) के १६ पटलों (विभागों) में ऊपरी पटल का नाम 'चित्रा' है,[5] जिसकी मोटाई एक हजार योजन है।[6] चित्रा पटल के नीचे पन्द्रह अन्य पटलों के नाम इस प्रकार हैं—(१) वैडूर्य, (२) लोहिताक, (३) असारगल्ल, (४) गोमेदक, (५) प्रवाल, (६) ज्योतिरस, (७) अंजन, (८) अंजनमूल, (९) अंक, (१०) स्फटिक, (११) चन्दन, (१२) वर्चगत, (१३) बहुल, (१४) शैल, (१५) पाषाण।[7] इन पटलों में विविध रत्नों की खानें हैं।[8]

(ख) पृथ्वी का आकार—गोल व चौरस (सपाट) दर्पण की तरह

इस धरती का आकार जैनागमों में 'झल्लरी' (झालर या चूड़ी) के समान वृत्त माना गया है।[9] कुछ स्थलों में इसे स्थाली के समान आकार वाली भी बताया गया है।[10]

पृथ्वी की परिधि वृत्ताकार है, तभी इसे परिवेष्टित करने वाले घनोदधि आदि वातों की वलयाकारता भी संगत होती है।[11]

---

१. त्रिशष्टि० २/३/४८८, जीवाजीवाभिगम सू० ३/२/८२, भगवती सू० १३/४/१०,

२. जीवाजीवाभिगम सू० ३/१/८०, भगवती सू० १३/४/१०,

३. लोकप्रकाश १२/१६८, ति० प० २/९, हरिवंश पु० ४/४७-४९, जीवाजीवा० ३/१/६८, जबूद्वीव प० (दिग०) ११/११४,

४. त्रिशष्टि० २/३/४८७, त० सू० भाष्य-३/१, जीवाजीवा०सू०३/१/६८, ३/२/८१, प्रज्ञापना सू० २/९७-१०३, दिगम्बर-परम्परा में पृथ्वियों की मोटाई द्वितीय पृथ्वी से लेकर सातवीं पृथ्वी तक इस प्रकार है—शर्कराप्रभा-३२०००, बालुकाप्रभा-२८०००, पंकप्रभा-२४०००, धूमप्रभा-२००००, तमःप्रभा-१६०००, महातमःप्रभा—८००० योजन (द्र० तिलोय प० २/२२, १/२८२ पृ० ४६-४९, त्रिलोकसार-१४९)। तिलोयपण्णत्ति में श्वेताम्बर-सम्मत परिमाण को 'पाठान्तर' (मतभेद) के रूप में निर्दिष्ट किया है (ति०प० २/२३,।

५. तिलोयपण्णत्ति २/१०, त्रिलोकसार-१४७, राजवार्तिक ३/१/८, जंबूद्वीव पण्णत्ती (दिग०) ११/११७,

६. ति० प० २/१५, हरिवंश पु० ४/५५.

७. ति० प० २/१५-१८, हरिवंश पुराण (४/५२-५४) में नाम इस प्रकार हैं—चित्रा, वज्रा, वैडूर्य, लोहिताक, मसारकल्प, गोमेद, प्रवाल, ज्योति, रस, अजन, अजनमूल, अंग, स्फटिक, चन्द्राभ, वर्चस्क, बहुशिलामय। त्रिलोकसार (१४७-१४८) तथा जंबूद्वीव पण्णत्ति (दिग०) (११/११७-१२०) में सामान्य अन्तर के साथ नामों का निर्देश है। [लोकप्रकाश (१२/१७२-१७५) में नाम इस प्रकार हैं—रत्न, वज्र, वैडूर्य, लोहित, अक, रिष्ट। जीवाजीवाभिगम सूत्र (३/१/६९) में भी कुछ इसी तरह के नाम दिए गए हैं।

८. ति० प० २/११-१४, लोकप्रकाश १२/१७५

९. मध्ये स्याज्झल्लरीनिभ: (ज्ञानार्णव ३३/८)। मध्यतो झल्लरीनिभ: (त्रिषष्टि० २/३/४७९)। एतावान्मध्यलोक: स्यादाकृत्या झल्लरीनिभ: (लोकप्रकाश १२/४५)। खरकांडे किंसंठिए पण्णत्ते। गोयमा। झल्लरीसंठिए पण्णत्ते (जीवाजीवा० सू० ३/१/७४)। भगवती सू० ११/१०/८, हैम-योग शास्त्र-४/१०५, आदि पुराण-४/४१, आराधनासमुच्चय-५८, जंबूद्वीव प० (दिग०) ११/१०६,

१०. (क) स्थालमिव तिर्यग्लोकम् (प्रशमरति, २११)।
(ख) भगवतीसूत्र में एक स्थल पर मध्यलोक को 'वरवज्र' की तरह की बताया गया है—'मज्झे वरवइरविग्गहियंसि'—५/९/२२५ (१४)।

११. जीवाजीवाभिगम ३/१/७६ (घनोदहिवलए—वट्टे वलयागारसंठाणसंठिए)।

दिगम्बर-परम्परा में इसकी उपमा खड़े हुए मृदंग के ऊर्ध्वभाग (सपाट गोल) से भी दी गई है ।[1]

जम्बूद्वीप का आकार भी रकाबी (खाने की प्लेट) के समान सपाट गोल है, जिसकी उपमा रथ के चक्र, कमल की कर्णिका, तले हुए पूए आदि से की गई है ।[2] जम्बूद्वीपपण्णत्ति (दिगम्बर परम्परा) में इसे सूर्य-मण्डल की तरह वृत्त,[3] तथा सदृश-वृत्त[4] बताया गया है ।

उपर्युक्त निरूपण के परिप्रेक्ष्य में, जैन-परम्परा के अनुसार, पृथ्वी नारंगी की तरह गोल न होकर चिपटी (चौड़ी-पतली, सपाट-दर्पण के समान) सिद्ध होती है ।

प्राचीन भारतीय वैज्ञानिकों (श्रीपति, श्रीलल्ल, सिद्धान्तशिरोमणिकार भास्कराचार्य आदि) ने भी पृथ्वी को समतल ही माना है । वायु पुराण, पद्मपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, भागवत आदि पुराणों मे भी पृथ्वी को समतलाकार या पुष्करपत्रसमाकार बताया गया है ।[5]

(७) **जैनदर्शन और विज्ञान:**

आधुनिक विज्ञान इस पृथ्वी को नारंगी की तरह गोल मानता है । जैन -सम्मत पृथ्वी-आकार तथा विज्ञान-स्वीकृत पृथ्वी आकार के मध्य इस अन्तर को समाप्त करने के लिए जैन विद्वानो द्वारा विविध प्रयत्न किये जा रहे हैं । यह प्रयत्न द्विमुखी है । एक पक्ष के प्रवर्तकों का यह प्रयत्न रहा है कि जैनागमों की ही ऐसी व्याख्या की जाए, जिससे जैन मत या तो आधुनिक विज्ञान के कुछ निकट आ जाए, या समर्थित हो जाए । दूसरे पक्ष के समर्थकों का यह प्रयत्न रहा है कि विज्ञान के मतो को अनेक युक्तियों से सदोष या निर्बल सिद्ध करते हुए जैन-सम्मत सिद्धान्तों की निर्दोषता या प्रबलता प्रकट हो । इन दोनो पक्षो को दृष्टि में रख कर, विज्ञान व जैन मत के बीच विरोध का समाधान यहा प्रस्तुत किया जा रहा है ।

(क) **झल्लरी व स्थाली शब्दों के अर्थ:**

(१) प्रथम पक्ष की ओर से यह समाधान प्रस्तुत किया जाता है कि जैन शास्त्रों में पृथ्वी की उपमा 'झल्लरी' या 'स्थाली' से दी जाती है । आज 'स्थाली' शब्द से भोजन करने की थाली, तथा 'झल्लरी' शब्द से झालर का बोध मानकर जैन परम्परा में पृथ्वी को वृत्त व चिपटी माना गया है । किन्तु झल्लरी' का एक अर्थ 'झाझ' वाद्य भी होता है, और 'स्थाली' का अर्थ खाने पकाने की हंडिया (बर्तन) भी । ये अर्थ आज व्यवहार मे नही हैं । यदि झाझ व हंडिया अर्थ माना जाए तो पृथ्वी का गोल होना सिद्ध हो जाता है और आधुनिक विज्ञान की धारणा से भी सगति बैठ जाती है ।[6]

यहा यह उल्लेखनीय है कि 'झल्लरी' पद का 'झांझ' (वाद्य) अर्थ मे प्रयोग जैन आगम 'स्थानांग' में उपलब्ध भी होता है ।[7] विद्वानों के समक्ष यह समाधान विचारणार्थ प्रस्तुत है ।

---

१. मज्झिमलोयायारो उब्भिय-मुरअद्धमारिच्छो (तिलोयपण्णत्ति, १/१३७) । श्वेता० परम्परा में ऊर्ध्वलोक को ऊर्ध्व मृदंगाकार माना है (भगवती सू० ११/१०/६) । [ति० प० की ऊर्ध्व मृदगाकार मान्यता मे गाणितिक दृष्टि से कुछ दोष था (ऊर्ध्वलोक का घनफल १४७ घन रज्जू होना चाहिए, जो इस मान्यता मे कठिन था), इसलिए आ० वीरसेन-प्रतिपादित आयत चतुरस्राकारलोक की मान्यता दिग० परम्परा मे अधिक मान्य हुई ।]

२. जबूद्दीवे'''वट्टे तेल्लापूयसंठाणसंठिए वट्टे पुरहचक्कवालसठाणसंठिए वट्टे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिए (जंबूद्दीवपण्णत्ति-श्वेताम्बर, १/२-३) । जीवाजीवाभिगम सू० ३/२/८४, ३/१२४, स्थानाग-१-२४८ औपपातिक सू० ४१,

३. जबूद्दीवपण्णत्ति (दिग०) १/२०,

४. जंबूद्दीव प० (दिग०) ४/११

५. द्रष्टव्य-विज्ञानवाद विमर्श-(प्रका० भू-भ्रमण शोध संस्थान, महेसाणा-गुज०), पृ० ७५-८१

६. युवाचार्य महाप्रज्ञ मुनि नथमल जी का मत, (द्र० तुलसीप्रज्ञा (शोध पत्रिका), लाडनूं, अप्रैल-जून, १९७५, पृ० १०६) ।

७. मज्झिमं पुण झल्लरी (=झाझ से मध्यम स्वर की उत्पत्ति होती है)—स्थानांग-७/४२

(ख) फ्लैट-अर्थ सोसाइटी व अन्य संस्थाएं :

(२) दूसरे पक्ष की ओर से समाधान यह प्रस्तुत किया जाता है कि विज्ञान की मान्यता अंतिम रूप तो मानी नहीं जा सकती। विज्ञान तो एक अनवरत अनुसन्धान-प्रक्रिया का नाम है।[1] विज्ञान के अनेक प्राचीन सिद्धान्त आज स्वयं विज्ञान द्वारा खंडित हो गए हैं। पृथ्वी के नारंगी की तरह गोल होने की मान्यता पर भी कुछ आधुनिक वैज्ञानिको का वैमत्य है।[2] अनेक वैज्ञानिक प्रयोगो से पृथ्वी के नारंगी की तरह गोल होने की मान्यता पर प्रश्नचिह्न लगा है। लन्दन मे 'फ्लैट अर्थ सोसाइटी' नामक सस्था कार्य कर रही है जो पृथ्वी को चिपटी सिद्ध कर रही है। भारत में भी पू० १०५ आर्यिका ज्ञानमती माता जी के निर्देशन में दिग० जैन त्रिलोक शोध संस्थान (हस्तिनापुर, मेरठ-उ०प्र०), तथा पू०पं० प्रवर मुनि श्री अभयसागर जी गणी म० की प्रेरणा से कार्यरत 'भू-भ्रमण शोध संस्थान' (The Earth Rotation Research Institute) (मेहसाना, उ० गुजरात) आदि संस्थाएं इस सन्दर्भ मे उल्लेखनीय हैं।

पूज्य पं० प्रवर मुनि श्री अभयसागर जी गणि के प्रयत्नो से विविध साहित्य का निर्माण हुआ है जिसमें पृथ्वी के विज्ञान-सम्मत आकार के विरुद्ध, वैज्ञानिक रीति से ही प्रश्न व आपत्तियां उठाई गई हैं, और जैनसम्मत सिद्धान्त के प्रति सम्भावित दोषो का निराकरण भी किया गया है।[3]

(ग) पृथ्वी की स्थिरता

इसी तरह, जैनागम-परम्परा में पृथ्वी को स्थिर माना गया है, न कि भ्रमण-शील।[4] वेद आदि प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में भी पृथ्वी को स्थिर कहा गया है।[5] भारत के प्रसिद्ध प्राचीन आचार्यों में श्री वराहमिहिर (ई० ५०५) श्रीपति (ई० ९९९) आदि के नाम इस सन्दर्भ मे उल्लेखनीय हैं जिन्होने पृथ्वी की स्थिरता का सयुक्तिक प्रतिपादन किया है।[6] प्राचीन जैनाचार्य श्री विद्यानन्दि स्वामी (ई० ८-९ शती) ने 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' मे भू-भ्रमण के सिद्धान्त को सयुक्तिक खण्डित किया है।[7] आज भी अनेक मनीषी इस सम्बन्ध मे अन्वेषण कर रहे हैं।[8]

आधुनिक विज्ञान इस पृथ्वी को भ्रमणशील मानता है। विज्ञान और जैन मत के बीच इस खाई को वैज्ञानिक सापेक्षवाद तथा जैन अनेकान्तवाद या स्याद्वाद के माध्यम से पाटा जा सकता है।

---

1. "Science is a series of approximations to the truth ; at no stage do we claim to have reached finality ; any theory is liable to revision in the light of new facts." (A.W. Barton, quoted in 'Cosmology : Old and New', Prologue, p.III).

   "Scientific theories arise, develop and perish. They have their span of life, with its successes and triumphs, only to give way later to new ideas and a new outlook." (Leopold Infeld in "The world in Modern Science", p. 231).

2. See · Research-article 'A Criticism upon Modern Views of Our Earth' by Sri Gyan Chand Jain (appeared in Pt Sri Kailash Chandra Shastri Felicitation Volume, pp 446-450),

३. द्र० (१) पृथ्वी का आकार-निर्णय - एक समस्या, (२) क्या पृथ्वी का आकार गोल है? (३) भूगोल विज्ञान-समीक्षा। [प्रकाशक-जम्बूद्वीप निर्माण योजना, कपडवज, गुज०)] (४) विज्ञानवादविमर्श (प्रका० भू-भ्रमण शोध सस्थान, महेसाणा, गुज०)

४. (क) सूर्य की भ्रमणशीलता का उल्लेख जैन शास्त्रो मे प्राप्त है—सूर्यप्रज्ञप्ति १।९-१०, भगवती सूत्र-वृत्ति—५।१।१-२,
   (ख) किन्तु धवला ग्रन्थ (दिग०) मे आचार्य वीरसेन ने पृथ्वी की भ्रमणशीलता का भी सकेत किया है, जो वस्तुतः मननीय है।—

   द्रव्येन्द्रियप्रमितजीवप्रदेशाना न भ्रमणमिति किन्नेष्यते, इति चेन्न। तद्-भ्रमणमन्तरेण आशुभ्रमज्जीवानां भ्रमद्भूम्यादि-दर्शनानुपपत्तेः (धवला, १।१,१,३३, उद्धृत-जैन सिद्धान्त कोश, २।३३९-४० पृष्ठ)।

५. ध्रुवा पृथिवी (पातञ्जल योग सू० २।५ पर व्यास-भाष्य)। ध्रुवासि धरणी (यजुर्वेद-२।५)। पृथिवी वितस्थे (ऋ० १।७२।९)।

६. द्र० विज्ञानवाद-विमर्श (भूभ्रमण शोध संस्थान, महेसाणा-गुज०), पृ० ८१-८३, जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान (ले० मुनि नगराज), पृ १०९,

७. द्र० तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, खण्ड-५, (त० सू० ३/१३ पर श्लोक स० १२-१४, पृ० ५५९-८५)

८. द्र० 'क्या पृथिवी स्थिर है' (ले० आ० जिनमणिसागरसूरि),

आ० विद्यानन्दि ने कहा है—"स्याद्वादी जैनों के यहां ज्योतिषविज्ञानोक्त सभी बातें संगत ठहराई जा सकती हैं।"[1]

वैज्ञानिक परम्परा में भी महान् वैज्ञानिक आइंस्टीन ने सापेक्षवाद का सहारा लेते हुए कहा था—"प्रकृति ऐसी है कि किसी भी ग्रह-पिण्ड की वास्तविक गति किसी भी प्रयोग द्वारा निश्चित रूप से नहीं बताई जा सकती।"[2]

डेन्टन की 'रिलेटिविटी' पुस्तक में उक्त समन्वय को अधिक अच्छे ढंग से निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है—

"सूर्य-मण्डल के भिन्न-भिन्न ग्रहों में जो आपेक्षिक गति है, उसका समाधान पुराने 'अचल पृथ्वी' के आधार पर भी किया जा सकता है, और कोपरनिकस' (वैज्ञानिक) के उस नए सिद्धान्त के आधार पर भी किया जा सकता है जिसमें पृथ्वी को चलती हुई माना जाता है।"[3]

(इ) पृथ्वी पर मध्यलोक का संक्षिप्त विवरण

इस पृथ्वी के मध्य भाग में 'जम्बूद्वीप' स्थित है, जिसका विस्तार एक लाख योजन (लम्बाई-चौड़ाई) है।[4] इसे सभी ओर से (वलयाकार) घेरे हुए दो लाख योजन विस्तार (लम्बाई) वाला तथा १० हजार योजन चौड़ाई वाला लवणसमुद्र है।[5] इसी प्रकार एक दूसरे को घेरते हुए, क्रमशः धातकीखण्ड द्वीप, कालोद समुद्र, पुष्कर द्वीप, पुष्करोद समुद्र, वरुणवर द्वीप, वरुणवर समुद्र, क्षीरवर द्वीप, क्षीरोद समुद्र, घृतवर द्वीप, घृतवर समुद्र, क्षोदवर द्वीप, क्षोदवर समुद्र, नन्दीश्वर द्वीप, नन्दीश्वर वर समुद्र आदि असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। सब के अन्त मे असंख्यात योजन विस्तृत स्वयम्भूरमण द्वीप है।[6]

पुष्कर द्वीप को मध्य में से दो भाग करता हुआ मानुषोत्तर पर्वत है,[7] जिसके आगे मनुष्यो का सामान्यतः आना-जाना सम्भव नहीं।[8] इसलिए मानुषोत्तर पर्वत के पूर्व तक, अढाई द्वीप मे मनुष्य क्षेत्र (मनुष्य-क्षेत्र) की मर्यादा मानी गई है। मानुषोत्तर पर्वत १७२१ योजन ऊंचा, तथा मूल मे १०२२ योजन चौडा है।[9]

---

१. ज्योतिःशास्त्रमतो युक्तं नैतत्स्याद्वादविद्विषाम्। सवादकमनेकान्ते सति तस्य प्रतिष्ठिते (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—४।१३ त० सू० पर, श्लोक सं० १७, खंड-५, पृ० ५८४)॥

२. Rest and motion are merely relative.
Nature is such that it is impossible to determine absolute motion by any experiment whatever. (Mysterious Universe, p. 78).

३. The relative motion of the members of the solar system may be explained on the older geocentric mode and on the other introduced by Copernicus Both are legitimate and give a correct description of the motion but the Copernicus is for the simpler. (Relativity and Commonsence, by Denton)

४. ति० प० ४।११, लोकप्रकाश-१६।२२, हरिवंश पु० ५।३, त० सू० ३।८ पर श्रुतसागरीयवृत्ति, स्थानांग-१।२४८, जम्बूद्वीव पण्णत्ति (श्वेता०) ७।१७६, समवायांग-१।४ जीवाजीवाभिगम-३।१२४,

५. ति० प० ४।२३९८, ४।२४०१, जीवाजीवा० ३।२।१७२,

६. त्रिलोकसार-३०४-३०८, त० सू० ३।८ पर श्रुतसागरीयवृत्ति, लोकप्रकाश-१५।२३-२७, जीवाजीवा० ३।२।१८५, हरिवंश-पु० ५।६२६,

७. हरिवंश पु० ५।५७७, ति० प० ४।२७४८, बृहत्क्षेत्रसमास-५८२, ५८७,

८. ति० प० ४।२९२३, सर्वार्थसिद्धि-३।३५, त० सू० ३।१४ (श्वेता० स०), हरिवंश पु० ५।६११-१२, श्वेताम्बर मत में वैक्रियलब्धि-सम्पन्न तथा चारण मुनि मानुषोत्तर पर्वत के पार भी जा सकते हैं (माणुसुत्तरपव्वयं मणुया ण कयाइ वीइवइंसु वा वीइयवति वा वीइवइस्सति वा णण्णत्थ चारणेहिं वा देवकम्मुणा वा वि—जीवाजीवाभि० सू० ३।२।१७८,) किन्तु हरिवंश पु० (दिग०)-५।६१२ मे समुद्घात व उपपाद मे ही इस पर्वत के आगे गमन बताया है।

९. हरिवंश पु०५।५९१-९३, जीवाजीवा० ३।२।१७८, स्थानांग-१०।४०, बृहत्क्षेत्रसमास-५८३-८४,

मध्य लोक के ठीक मध्य में एक लाख योजन विस्तृत, तथा सूर्य-बिम्बवत् वर्तुलाकार जम्बूद्वीप है।[1] इस द्वीप को विभाजित करने वाले, पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए (लम्बे) छः वर्षधर पर्वत हैं.[2]—(१) हिमवान् (२) महाहिमवान् (३) निषध, (४) नील, (५) रुक्मी, (६)शिखरी। इस प्रकार, जम्बूद्वीप के सात विभाग हो जाते हैं जिनकी वर्ष या 'क्षेत्र' संज्ञा है। ये क्षेत्र हैं—(१)भरतक्षेत्र (२) हैमवत, (३) हरि (४) विदेह, (५) रम्यक, (६) हैरण्यवत, (७) ऐरावत।[3]

मेरु पर्वत विदेह क्षेत्र के मध्य पड़ता है।[4] मेरु के पूर्व की ओर का विदेह 'पूर्व विदेह', पश्चिम की ओर का 'पश्चिम विदेह', उत्तर की ओर का 'उत्तर कुरु', तथा दक्षिण की ओर का विदेह 'देवकुरु' कहलाता है।[5] भरत, हैमवत तथा हरि क्षेत्र मेरु के दक्षिण की ओर स्थित हैं, तथा रम्यक, हैरण्यवत व ऐरावत क्षेत्र उत्तर की ओर स्थित हैं।

जम्बूद्वीप में ६ महाह्रद हैं,[6] जिनमें पद्मह्रद से गंगा नदी व सिन्धु नदी का उद्गम होता है।[7] गंगा नदी दक्षिणार्ध भरतक्षेत्र के मध्य में से होकर प्रवाहित होती हुई, पूर्वाभिमुख हो, चौदह हजार नदियों सहित पूर्वी लवण समुद्र में जा गिरती है।[8] इसी प्रकार, सिन्धु नदी वैताढ्य पर्वत को भेदती हुई, पश्चिमाभिमुख होती हुई, चौदह हजार नदियों सहित, पश्चिमी लवण समुद्र में जा गिरती है।[9]

इसी प्रकार, अन्य नदियों (रोहितास्या, रोहिता, हरिकान्ता आदि) का भी उद्गम आगमों में प्रतिपादित किया गया है।[10] गंगा आदि नदियों में महर्द्धिक देवताओं का वास है, तथा भरत-ऐरावतादि में पुण्यशाली तीर्थंकर-चक्रवर्ती एवं अन्य उत्तम पुरुष होते हैं, इसलिए जम्बूद्वीप को लवण समुद्र कभी जलमग्न नहीं करता।[11]

---

१. स्थानांग-१।२४८, त्रिलोकसार-३०८, त०सू० ३।९ पर श्रुतसागरीय वृत्ति,

२. त० सू० ३।११, ति० प० ४।९४, लोकप्रकाश-१५।२६१-२६३, स्थानांग-६।८५, ७।५१, जम्बूद्वीप (श्वेता०) ६।१२५, बृहत्क्षेत्रसमास २२,२४,

३. हरिवंश पु० ५।१३-१४, त० सू० ३।१०, लोकप्रकाश, १५।२५८-६० ति०प० ४।९१, स्थानांग-६/८४, ७।५०, जम्बूद्वीप (श्वेता०) ६।१२५, बृहत्क्षेत्रसमास-२२-२३,

४. त० सू० ३।९, लोकप्रकाश-१८।३, हरिवंश पु० ५।३, २८३, बृहत्क्षेत्रसमास-२५७,

५. लोकप्रकाश-१७।१४-१६, १८।२-३, त० सू० ३।१० पर श्रुतसागरीय वृत्ति, स्थानांग-४।२।३०८, बृहत्क्षेत्रसमास-२५७,

६ त० सू० ३।१४ (दिग० संस्करण), स्थानांग-६।३।८८, जंबूद्वीप प० (श्वेता०) ४।७३, बृहत्क्षेत्रसमास-१६८, १९६-१९७,

७. ति० प० ४।१९५-१९६, २५२, त० सू० ३।२० (दिग० संस्करण), हरिवंश पु० ५।१३२, बृहत्क्षेत्रसमास-२१४,

८। ति० प० ४।१९६, २१०-२४०, त० सू० ३।२१ (दिग० सं०), लोकप्रकाश-१६।२३६-४९, जंबूद्वीप प० (श्वेता०) ४।७४, हरिवंश पु० ५।१३६-१५०, २७५, २७८, स्थानांग-७।५२, बृहत्क्षेत्रसमास-२१५-२२१

९ त० सू० ३।२२ (दिग० सं०), लोकप्रकाश-१६।२६०-२६३, जंबूद्वीप प० (श्वेता०) ४।७४, ति० प० ४।२३७३, ४।२५२-६४, हरिवंश पु० ५।१५१, स्थानांग-७।५३, बृहत्क्षेत्रसमास-२३३,

१०. लोकप्रकाश-१६।२६७-४५५, १९।१५३-१८३, हरिवंश पु० ५।१३३-१३५, तिलोय प० ४।२३८०, २८१०-११, स्थानांग-७।५२-५३, राजवार्तिक-३।३२, जम्बूद्वीप (श्वेता०) ४।७७, ६।१२५, बृहत्क्षेत्रसमास-१७१-१७२, २३३,

११. जीवाजीवा० ३/१७३,

हरिवंश-पुराण के अनुसार ४२ हजार नागकुमार इस लवणसमुद्र की आभ्यन्तर वेला को तथा ७२ हजार नागकुमार बाह्य वेला को धारण (नियमित) कर रहे हैं (हरिवंश पु० ५/४६६)। जीवाजीवाभिगम सूत्र (सू० ३/१५८) तथा बृहत्क्षेत्र समास, (४१७-१८) में भी यही भाव व्यक्त किया गया है।

जम्बूद्वीप के भरतादि क्षेत्रों के आर्यखण्डों में ३४ कर्मभूमियां हैं। भरत व ऐरावत में १-१, तथा विदेह क्षेत्र में ३२, इस प्रकार कुल कर्मभूमियों की संख्या चौंतीस हो जाती है।[1] इसी प्रकार कुल १७० म्लेच्छखण्ड, तथा ६ भोगभूमियां हैं।[2] (हैमवत, हैरण्यवत, हरि, रम्यक, देवकुरु (विदेह क्षेत्र), उत्तरकुरु (विदेह क्षेत्र)—इन ६ क्षेत्रों में १-१ भोगभूमि है।[3])

विदेह क्षेत्र में कभी धर्मोच्छेद नहीं होता, और वहां सदा तीर्थंकर विद्यमान रहते हैं।[4] वहां हमेशा ही चतुर्थकाल रहता है[5], अर्थात् वहां मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक कोटि 'पूर्व' तक, तथा शरीर की ऊंचाई ५०० धनुष प्रमाण होती है।

भरत व ऐरावत में (५-५ म्लेच्छ खण्डों में कुछ अपवादों को छोड़कर) उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी का षट्कालचक्र निरन्तर प्रवर्तित होता रहता है। अवसर्पिणी में मनुष्यादि की आयु, शरीर की ऊंचाई, विभूति, सुख आदि में ह्रास गतिशील रहता है, किन्तु उत्सर्पिणी में इनमें क्रमिक उन्नति प्रवर्तित रहती है।[6]

भरत क्षेत्र का विस्तार ५२६ $\frac{६}{१९}$ योजन है।[7] भरत क्षेत्र के भी वैताढ्य (विजयार्द्ध) पर्वत[8] के कारण दो भाग हो जाते हैं—(१) उत्तरार्द्ध भरत, तथा (२) दक्षिणार्द्ध भरत।[9] इन दो में से प्रत्येक के भी, गंगा व सिन्धु नदी के कारण ३-३ खण्ड

---

१. (क) ति० प० ४/२३६७, स्थानांग-३/३/३९०, त० सू० ३/३७ (दिग० सं०) तथा इसकी टीकाएं,
   (ख) विदेहों के ३२ भेद इस प्रकार हैं—उत्तर कुरु व पूर्व विदेह को सीता नदी, तथा देवकुरु व अपर विदेह को सीतोदा नदी दो-दो भागों में विभाजित करती हैं, जिससे विदेह के ८ भाग हो जाते हैं। ३ अन्तर्नदियों तथा चार वक्षस्कार पर्वतों से विभाजित होकर इन में से प्रत्येक के ८-८ भाग हो जाते हैं (द्र० लोक प्रकाश-१७/१८-२०, हरिवंश पु० ५/२३८-२५२, बृहत्क्षेत्र समास-३२०, ३६१-३९३)।
   (ग) ५ भरत, ५ ऐरावत, ५ विदेह—इस प्रकार (प्रत्येक में तीन) पन्द्रह कर्मभूमियों का भी निर्देश है (जीवाजीवा० सू० २/४५, ३/१/११३,)
   (घ) समस्त मनुष्य-क्षेत्र (अढ़ाई द्वीप में) ५ भरत, ५ ऐरावत, तथा १६० विदेह—इनमें से प्रत्येक में १-१ कर्मभूमि होने से कुल कर्मभूमियाँ १७० हो जाती है।

२. ति० प० २३९७, त० सू० ३/३७ (दिग० सं०) तथा इस पर टीकाएं।
   समस्त भोगभूमियां ३० (जम्बूद्वीप में ६, धातकी खण्ड में १२, पुष्करार्ध में १२), तथा कुभोगभूमियां-९६ (लवणसमुद्र के अन्तर्द्वीपों में) मानी गई है (द्र० ति० प० ४/२९५४)।
   अन्तर्द्वीपों की संख्या दिगम्बर-परम्परा में ४८ (द्रष्टव्य-तिलोय प० ४/२७४८-८०, त्रिलोकसार-९१३, हरिवंश पु० ५/४८१, राजवार्तिक-३/३७ आदि), तथा श्वेताम्बर-परम्परा में ५६ मानी गई है (द्र० स्थानांग-४/२/३२१-२७, जीवाजीवा० सू० ३/१०८-११३, लो०प्रकाश-१६/३११-१९, भगवती सूत्र ९/३/२-३)।

३. ति० प० ४/२३९७, त० सू० ३/३७ (दिग० सं०) तथा इस पर टीकाएं, स्थानांग ६/३/८३

४. राजवार्तिक-३/१०, त्रिलोकसार-६८०, लोकप्रकाश-१७/३६, ३९, ५५,

५. त० सू० ३/१० तथा ३/३१ (दिग० सं०) पर श्रुतसागरीय टीका व राजवार्तिक, त्रिलोकसार-८८२, लोकप्रकाश-१७/३८, ४२१, बृहत्क्षेत्र समास-३९४.

६. ति० प०/३१३-१४, ४/१५५७, जम्बूद्वीप प० (श्वेता०) २/१८, त्रिलोकसार-७७९, स्थानांग-६/२३-२७, त० सू० ३/२७, (दिग० संस्क०) तथा इस पर टीकाएं, हरिवंश पु० ७/५७,६३ बृहत्क्षेत्र समास-१९५,

७. ति० प० ४/१००, लोकप्रकाश-१६/३०, हरिवंश पु० ५/१७-१८, जम्बूद्वीप प० (श्वेता०) १/१०, त्रिलोकसार-७६७,

८. वैताढ्य (विजयार्ध) पर्वत की ऊंचाई २५ योजन, तथा इसकी जीवा (उत्तर-प्रत्यंचा) का प्रमाण १०७२० $\frac{११}{१९}$ योजन है (द्र० लोकप्रकाश-१६/४८-५२, जम्बूद्वीप प० (दिग०) २/३५, त० सू० ३/१० पर श्रुतसा० टीका, हरिवंश पु० ५/२०-२१, बृहत्क्षेत्र स० ४४, १७८, ५१२,

९. जम्बूद्वीप प० (श्वेता०) १/१५, लोकप्रकाश-१६/३५, ४७, बृहत्क्षेत्र समास-२५,

हो जाते हैं, इस प्रकार भरत क्षेत्र के ६ खण्ड हो जाते हैं।[1] दक्षिणार्ध भरत खण्ड के तीन खण्डों में से मध्य खण्ड का नाम 'आर्यखण्ड' है,[2] जहां तीर्थंकरादि जन्म लेते हैं,बाकी ५ खण्ड म्लेच्छ खण्ड है।[3] दक्षिणार्ध भरत खण्ड की चौड़ाई २३८ $\frac{३}{१९}$ योजन,[4] तथा पूर्व पश्चिम की ओर फैली जीवा की लम्बाई ९७४८$\frac{१२}{१९}$ योजन है।[5]

रत्नप्रभा पृथ्वी के रत्नमय काण्ड के सहस्र योजन के पृथ्वीखण्ड में से एक सौ योजन ऊपर, तथा एक सौ योजन नीचे के भाग को छोड़कर, मध्य के ८०० योजन पृथ्वी पिण्ड में वाणव्यन्तर देव आदि रहते हैं।[6] वाणव्यन्तर देव इस पृथ्वी पर क्रीड़ा विनोद हेतु विचरते रहते हैं।[7] इसी प्रकार, पहली पृथ्वी के प्रथम व दूसरे भाग में भवनवासी देवो[8] तथा पिशाच आदि देवों की स्थिति भी मानी गई है, जिसका विस्तृत निरूपण आगमों में द्रष्टव्य है।[9]

रत्नप्रभा पृथिवी से ७९० योजन की ऊंचाई पर ज्योतिष्क (तारा आदि ज्योतिष-चक्र) देवो की स्थिति है।[10]

जम्बूद्वीप में दो चन्द्र तथा दो सूर्य तथा समस्त मनुष्य लोक मे १३२-१३२ चन्द्र-सूर्य माने गए हैं।[11]

(ख) विज्ञान प्रेमियों की ओर से कुछ आपत्तियां

आजकल विज्ञान की चकाचौंध का युग है। विज्ञान ने हमें अनेक भौतिक सुविधाएँ प्रदान कीं, और हम उसके दास हो गए। यही कारण है कि आज की नई पीढ़ी विज्ञान जगत मे प्रचलित मान्यताओं को तुरन्त स्वीकार कर लेती है, किन्तु आगमो में निरूपित सिद्धान्तों पर श्रद्धा तभी करती है जब वह विज्ञान-समर्थित हो। आजकल विज्ञान-प्रेमी कुछ तार्किक व्यक्ति जैनागम-निरूपित पृथ्वी के स्वरूप पर अनेक आपत्तियां प्रकट करते हैं, जिनका समाधान भी यहा करना अप्रासंगिक न होगा। वे आपत्तिया इस प्रकार हैं—

(१) जैन आगमो के अनुसार, मध्यलोक की रत्नप्रभा पृथिवी का विस्तार असंख्य सहस्रयोजन का बताया गया है। जैन

---

१. ति० प० ४/२६६-६७, लोकप्रकाश-१६/३६१, त० सू० ३/१० पर श्रुतसा० टीका,

२. ति० प० ४/२६७,

३. लोक प्रकाश-१६/४५, १९/२००-२०१,

४. लोक प्रकाश—१६/३७, जबूद्वीप प० (श्वेता०) १/११, बृहत्क्षेत्रसमास-२६

५. जम्बू० प. (श्वेता:) १/११, लोक प्रकाश—१६/३८, जम्बू० प० (दिग.) २/३१, त्रिलोकसार-७६९, बृहत्क्षेत्रसमास-३७,

६. लोक प्रकाश-१२/१९३-१९४, पण्णवणा सूत्र-२/१०६, जीवाजीवा. सू. ३/११६

७. 'लोक प्रकाश—१२/२०१-२११,

८. लोक प्रकाश—१३/१-२, हरिवंश पु. ४/५९-६१,

९. (क) पण्णवणा सू. २/१०६-११९, जीवाजीवा. सू. ३/११६-१२१, (इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जित्ता मज्झे अठहुत्तरे जोयणसयसहस्से)।

(ख) दिगम्बर-परम्परा में कुछ भिन्न मत है। इसके अनुसार रत्नप्रभा के तीन भागों में से प्रथम भाग के एक-एक हजार योजन क्षेत्र को छोड़कर, मध्यवर्ती १४ हजार योजन क्षेत्र में किन्नरादि सात व्यन्तर देवों के तथा नागकुमारादि नौ भवनवासियों के आवास हैं। रत्नप्रभा के दूसरे भाग में असुर कुमार भवनपति और राक्षस व्यन्तरपति के आवास हैं। (द्र० ति० प० ३/७, राजवार्तिक-३/१/८ (तत्र खरपृथिवीभागस्योपर्यधश्चैकैकं योजनसहस्रं परित्यज्य मध्यमभागेषु चतुर्दशसु योजनसहस्रेषु . ...)]

१०. हरिवंश पु ६/१, जम्बू० प० (दिग.) १२/९३, त. सू. ४/१२ पर श्रुतसागरीय टीका, जीवाजीवा. सू. ३/१९५, जम्बू० प० (श्वेता०) ७/१६५,

११. जीवाजीवा. सू. ३/१५३ १७७ (मंदरोद्देश), जबू० प० (श्वेता.) ७/१२६, १९/९९-१०१, जंबूद्वीप प. (दिग.) १२/१४, त्रिलोकसार-३४६, हरिवंश पु. ६/२६, चन्द्रप्रज्ञप्ति (श्वेता.) १/३/१२, भगवती सू. ९/१/२-५, समवायाग—६६/३३२, बृहत् क्षेत्रसमास—३९५, ६४६.

आगमों में समस्त मनुष्य-लोक की लम्बाई-चौड़ाई ४५ लाख योजन, तथा परिधि १४२३०२४९ योजन कही गई है।[1] जम्बूद्वीप की भी परिधि का प्रमाण तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन से कुछ अधिक बताया गया है। योजन का परिमाण भी आधुनिक माप का ४००० मील होता है।[2]

किन्तु विज्ञानवेत्ताओं के अनुसार, वर्तमान विज्ञात पृथ्वी का व्यास ८००० मील है, तथा परिधि २५ सौ मील है। वर्तमान ज्ञात पृथ्वी को जम्बूद्वीप भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब यह प्रश्न उठेगा कि इस जम्बूद्वीप में वर्णित भोगभूमियां कौन-सी हैं? विदेह क्षेत्र कौन सा है जहां सतत, वर्तमान मे भी, तीर्थंकर विचरण करते हैं? भोगभूमियों मे मनुष्यों का शरीर ५०० धनुष प्रमाण तथा आयु भी लाखों करोड़ों वर्ष बताई गई है, ऐसा स्थान वर्तमान ज्ञात पृथ्वी मे कहां है?

इसी प्रकार, वर्तमान ज्ञात पृथ्वी को भरत क्षेत्र भी नही माना जा सकता, क्योंकि तब यह प्रश्न उठेंगे कि उसमें वैताढ्य पर्वत (विजयार्ध) कौन सा है? इस पर्वत की ऊंचाई २५ योजन बताई गई है, तथा उसकी लम्बाई (पूर्व से पश्चिम तक) दस हजार सात सौ बीस योजन के करीब है। आखिर यह पर्वत कहा है।

(२) मनुष्य लोक मे १३२-१३२ सूर्य-चन्द्र माने गए हैं। जम्बूद्वीप मे भी दो सूर्य व दो चन्द्र बताए गए हैं। समस्त पृथ्वी पर तो चन्द्र-सूर्यादि की सख्या इससे भी अधिक, अनगिनत, बताई गई है। किन्तु, प्रत्यक्ष मे तो सारी पृथ्वी पर एक ही सूर्य व एक ही चन्द्र दृष्टिगोचर होता है।

आगमो में बताया गया है कि जब विदेह क्षेत्र मे रात (जम्बूद्वीप स्थित मेरु पर्वत के पूर्व-पश्चिम मे स्थित होने से) होता है, तो भरतादि क्षेत्र में (मेरु पर्वत के उत्तर-दक्षिण में होने के कारण) दिन होता है।[3] आजकल अमेरिका व भारत के बीच प्राय: ऐसा ही अंतर है। तो क्या अमेरिका को विदेह क्षेत्र मान लिया जाय? और ऐसा मान लेने पर वहा वर्तमान मे तीर्थंकरो का सद्भाव मानना पड़ेगा? विदेह क्षेत्र का विस्तार ३३६८४ योजन (लगभग) बताया गया है, क्या अमेरिका इतना बड़ा है? विदेह क्षेत्र में मेरु पर्वत की ऊँचाई (पृथ्वी पर) एक लाख योजन बताई गई है, ऐसा कौन सा पर्वत आज के अमेरिका में है।

(४) जैन आगमानुसार, लवण-समुद्र इस जम्बूद्वीप को बाहर से घेरे हुए है। किन्तु वर्तमान पृथ्वी पर तो पाच महासागर व अनेक नदियां प्राप्त हैं। जैन आगमानुसार उनकी सगति कैसे बैठाई जा सकती है?

(५) यदि वर्तमान पृथ्वी को जम्बूद्वीप का ही एक भाग माना जाय, तो भी कई आपत्तिया हैं। प्रथम तो समस्त पृथ्वी पर एक साथ दिन या रात होनी चाहिए। भारत मे दिन हो और अमरीका मे रात—ऐसा नही हो सकता, क्योंकि समस्त जम्बूद्वीप मे एक साथ दिन या रात होते हैं।

(६) उत्तरी व दक्षिणी ध्रुव मे अत्यधिक लम्बे दिन व रात होते हैं। इसकी संगति आगमानुसार कैसे सम्भव है।

(७) जैनागमों मे पृथ्वी को चपटी व समतल माना गया है,[4] फिर वैज्ञानिकों को यह गोल नारगी की तरह क्यों दिखाई देती है? दूसरी बात, सपाट भूमि मे यह कैसे सम्भव है कि इस भूमण्डल के किसी भाग मे कही सूर्य देर से उदित हो या अस्त हो और कही शीघ्र, कहीं धूप हो कही छाया।

उपर्युक्त शकाओं का समाधान आगम-श्रद्धाप्रधान दृष्टि से निम्नलिखित रूप से मननीय है:—

हम आज जिस भूमण्डल पर है, वह दक्षिणार्ध भरत के छ खण्डो मे से मध्यखण्ड का भी एक अंश है। मध्य खण्ड से बीचों बीच स्थित 'अयोध्या' नगरी से दक्षिण पश्चिम कोण की ओर, कई लाख मील दूर हट कर, हमारा यह भू-भाग है।

---

१. बृहत्क्षेत्रसमास—५, ति प. ४/६-७, हरिवंश पु. ५/५९०, जीवाभि. सू० ३/२/१७७ स्थानाग—३/१/१३२,

२. द्रष्टव्य—'जम्बूद्वीप एक अध्ययन' (ले पू आर्यिका ज्ञानमती जी), आ० देशभूषण म० अभिनन्दन ग्रन्थ (जैन धर्म व आचार खण्ड), पृ० १७-१८,

३. भवेद् विदेहयोराद्य यन्मुहूर्तत्रय निश। स्यात् भारतैरवतयो:, तदेवान्त्यं क्षणत्रयम्, स्वाद।
भवेद विदेहयो रात्रे: तदेवान्त्यं क्षणत्रयम् (लोक प्रकाश—२०/११६-११७)॥ भगवती सू. ५/१/४-६,

४. बलं विभज्य भूभागे विशाले सकल समे (आदिपुराण-४४/१०६)। रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ (जीवाजीवा० सू. ३/१२२) बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे (जम्बू० प० श्वेता०, २/२०)। रयणप्पभापुढवी अंते य मज्झे य सव्वत्थ समा बाहल्लेण (जीवाजीवा० सू. ३/१/७६)।

(ख) पृथ्वी के स्वरूप में काल-क्रम से परिवर्तन शास्त्रसम्मत

(१) पृथ्वी के दो रूप हैं—शाश्वत व अशाश्वत। जैन आगमों में पृथ्वी के शाश्वत (मूल) रूप का ही वर्णन है, परिवर्तनशील भूगोल का नहीं।

वस्तुतः पृथ्वी थाली के समान चिपटी व समतल ही थी। किन्तु अवसर्पिणी काल के प्रारम्भ में इस पृथ्वी पर भारी कचरा (कूड़े-मलबे का ढेर) इकट्ठा हो गया, जो कहीं-कहीं तो लगभग एक योजन ऊंचा तक (४००० मील) हो गया है।[1] यह कचरा भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड में ही इकट्ठा होता है, शेष म्लेच्छ खण्डों में नहीं। यह कचरा अवसर्पिणी काल के अन्त में (खंड प्रलय के समय) प्रलयकालीन मेघों की ४९ दिनों तक की भयंकर वर्षा से ही नष्ट हो पाता है। प्रलयकालीन मेघ आग वर्षा कर इस बढ़े हुए भूभाग को जलाकर राख कर देते हैं।[2] उस समय आग की लपटें आकाश में ऊंचे लोकान्त तक पहुंच जाती है।[3] मेघों की जल-वर्षा से भी पृथ्वी पर कीचड़ आदि साफ होकर, पृथ्वी का मूल रूप दर्पणतलवत् स्वच्छ व समतल प्रकट हो जाता है।[4]

पृथ्वी पर काल-क्रम से पर्वतादि के बढ़ने तथा पृथ्वी की ऊंची-नीची हो जाने की घटना का समर्थन जैनेतर पुराणों से भी होता है। भागवत पुराण में वर्णित है कि पृथु राजा के समय, पृथ्वी पर बड़े-बड़े पहाड़ (गिरिकूट) पैदा हो गए थे। पृथ्वी से अन्न उपजना भी बन्द हो गया था।[5] उस समय, राजा पृथु ने प्रजा की करुण-पुकार पर पृथ्वी पर बड़े गिरिकूटों को चूर्णकर, भूमि की समतलता स्थापित की थी।[6]

(२) जैन-आगम साहित्य में वर्णित है कि द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ के समय द्वितीय चक्रवर्ती सगर महाराज के ६० हजार पुत्रों ने अष्टापद (कैलाश) तीर्थ की सुरक्षा हेतु 'दण्ड रत्न' से चारों ओर परिखा खोद डाली थी। उस परिखा (खाई) को गंगा नदी से धारा (नहर) निकाल कर उसके जल से भर दिया था।[7]

कहा जाता है कि बाद में नागकुमार के कोप से वे सभी पुत्र ध्वस्त हो गए थे। इधर गंगा का जल प्रचण्ड वेग धारण करता जा रहा था। सगर चक्रवर्ती की आज्ञा से तब भगीरथ ने गंगा के प्रवाह को बांधने का प्रयास किया, और वापस उस जल को समुद्र की ओर मोड़ दिया।[8]

एक अन्य कथा के अनुसार, एकबार शत्रुंजय तीर्थ की रक्षा का भाव चक्रवर्ती सगर के मन में आया। उसने अपने अधीन व्यन्तर देवों को कहा कि वे लवण समुद्र से नहर ले आवें। दैवी शक्ति से उस समुद्र का जल शत्रुंजय पर्वत तक आया, किन्तु मार्ग में पड़ने वाले अनेक देशों व क्षेत्रों के लिए विनाशकारी सिद्ध हुआ। इस महाविनाश से सौधर्म इन्द्र का आसन डोला। अंत में सगर चक्रवर्ती ने समुद्र को आगे बढ़ने से रोक दिया। परिणामतः, जहां तक समुद्र प्रविष्ट हो गया था वहीं रुक कर रह गया।

---

१. पृथ्वी का उच्चतम भाग हिमालय का गौरीशंकर (माउन्ट एवरेस्ट) है जो समुद्रतल से २९ हजार फीट (लगभग), साढे पांच मील ऊंचा है। समुद्र की अधिकतम गहराई ३५४०० फीट (लगभग ६ मील) नापी गई है। इस प्रकार पृथ्वी-तल की ऊंचाई-नीचाई साढे ग्यारह मील के बीच हो जाती है।
   शास्त्रों में बताया गया है कि समभूमि से लवणसमुद्र का जल १६ हजार योजन ऊंचा है [(त्रिलोकसार, ९१५, समवायांग—१६/११३)।

२. एवंकमेण भरहे अज्जाखंडम्मि जोयणं एक्कं। चित्ताए उवरि ठिदा दज्झइ वड्ढिंगदा भूमी (तिलोयपण्णत्ति—४/१५५१)॥

३. तिलोयप. ४/१५५२

४. (क) ताहे अज्जाखंडं दप्पणतलतुलिदकंतिसमवट्टं। गयधूलिपंककलुसं होइ समं सेसभूमीहिं (तिलोयप. ४/१५५३)॥ चित्तम्मिवरिसवड्ढम्मही। इगिजोयणमेत्तमवो चुण्णीकिज्जदि हु कालवसा (त्रिलोकसार—८६७)॥
   (ख) भोगभूमि में पृथ्वी दर्पणवत् मणिमय होती है (त्रिलोकसार—७८८)।
   (ग) भागवतपुराण में भी संवर्तक वह्नि द्वारा भू-मण्डल के जलने का वर्णन प्राप्त है (भागवत पुराण—१२।४।९-११)।

५. सम्भवतः यह स्थिति अवसर्पिणी के समाप्त होने तथा उत्सर्पिणी के प्रारम्भ के समय की है।

६. चूर्णयन् स्वधनुष्कोट्या गिरिकूटानि राजराट्। भूमण्डलमिदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः (भागवत पुराण—४।१८।२९)॥

७. [illegible]पुराण—४८।६०१-६०८, पद्मपुराण (जैन)—५।२४९-२५२,

८. वैदिक परम्परा के भागवत पुराण में सगर-वंश, भगीरथ द्वारा तपस्या करने, शिव द्वारा गंगा के वेग को धारण करने की स्वीकृति, तथा गंगा नदी के पृथ्वी पर अवतरण होने आदि की कथा वर्णित है (द्र. भागवत पु. ९।९।१-१२)।

उक्त कथाओं में उन प्रश्नों का समाधान ढूंढ़ा जा सकता है, जिनमें इस पृथ्वी (दक्षिणार्ध भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड के एक छोटे से भू-भाग) पर समुद्र व गंगा आदि नदियों के अस्तित्व को असंगत ठहराया गया है।

(३) इस आर्यक्षेत्र के मध्यभाग के ऊँचे हो जाने से पृथ्वी गोल जान पड़ती है, और उस पर चारों ओर समुद्र का पानी फैला हुआ है और बीच में द्वीप पैदा हो गए हैं। इसलिए, चाहे जिधर से जाएं, जहाज नियत स्थान पर पहुंच जाते हैं।

(४) मध्यलोक का जो भाग ऊपर उठ गया था (जिसके ध्वस्त होने का निरूपण जैन शास्त्रों में वर्णित है) वह भौतिक व पौद्गलिक ही है, और वह इसी पृथ्वी के आसपास के क्षेत्र से निकला होगा। जहां जहां से वह भौतिक स्कन्ध निकला, वहां वहां की जमीन सामान्य स्थिति से भी नीची या ढलाऊ हो गई होगी। भरतक्षेत्र की सीमा पर जो हिमवत पर्वत है, उससे महागंगा और महासिन्धु—ये दो नदियां निकल कर भरत क्षेत्र में बहती हुई लवण समुद्र मे जा गिरती हैं। जहां वे दोनों समुद्र में गिरती हैं, वहां से लवण समुद्र का तथा गंगा नदी का पानी जब इस भूमि पर लाया गया तो वह उक्त गहरे व ढलाऊ क्षेत्र में भरता गया। परिणामस्वरूप, बड़े-बड़े सागरों का निर्माण हुआ। वर्तमान पांच महासागरों के अस्तित्व की पृष्ठभूमि में भी यही कारण है। इनके मध्य में ऊपर उठी हुई भूमि बढ़ती गई और उनमें अनेक द्वीप बन गए जिनमें एशिया आदि उल्लेखनीय हैं। वर्तमान में जो गंगा, सिन्धु आदि नदियां प्राप्त हैं, वे कृत्रिम हैं, या मूल गंगा आदि नदियों से निकली जल-राशि से निर्मित हैं।

(५) समस्त जम्बूद्वीप में २-२ सूर्य व चन्द्र माने गए है। इसके पीछे रहस्य यह है कि जम्बूद्वीप के ठीक मध्य भाग में जो सुमेरु पर्वत है, वह एक लाख योजन ऊंचा (आधुनिक माप मे कई करोड़ मील ऊंचा) है। इसके अतिरिक्त, कई कुलाचल आदि भी हैं। इन पहाड़ों के कारण एक सूर्य का प्रकाश सब तरफ नही जा सकता। एक सूर्य-विमान दक्षिण की तरफ चलता है, तो दूसरा उत्तर की तरफ। उत्तरगामी सूर्य निषध पर्वत की पश्चिम दिशा के ठीक मध्य भाग को लांघता हुआ पश्चिम विदेह मे (६ घंटों मे) पहुंचता है, तो दूसरी तरफ दक्षिणगामी सूर्य नील पर्वत की पूर्व दिशा के मध्य-भाग को पार करता हुआ पूर्व विदेह मे (६ घंटों में) पहुंचता है। इस समय भरत व ऐरावत क्षेत्र मे रात हो जाती है। उत्तरगामी सूर्य (६ घटों में) पश्चिम विदेह के मध्य पहुंचता है। दूसरी तरफ दक्षिणगामी सूर्य (उन्हीं ६ घंटों मे) पूर्व विदेह के ठीक मध्य पूर्वविदेह के मध्य मे पहुंचता है। इस समय पश्चिम विदेह व पूर्व विदेह में मध्यान्ह रहता है।

(६) सूर्य, चन्द्रमा—ये दोनो ही लगभग जम्बूद्वीप के किनारे-किनारे मे मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए घूमते हैं, और ६-६ मास तक उत्तरायण-दक्षिणायन होते रहते हैं। इस आर्य क्षेत्र मे कई ऐसे स्थान इतने गहरे व नीचे हो गए हैं जिनका विस्तार मीलों तक है। ये स्थान इतने नीचे व गहरे हैं कि जब सूर्य उत्तरायण होता है तभी उन पर प्रकाश पड सकता है। कुछ स्थान ऐसे हैं जहा दोनों सूर्यों का प्रकाश पड़ सकता है, और इसलिए उन दोनों स्थानों में दो चार महीने सतत सूर्य का प्रकाश रहता है, तथा सूर्य के दक्षिणायन होने के समय दो चार महीने सतत अन्धकार रहता है।

पृथ्वी की उच्चता व नीचता के कारण ही ऐसा होता है कि एक ही समय कहीं धूप (सूर्य का प्रकाश) होती है तो कहीं छाया। इस तथ्य पर प्रकाश डालने हेतु, आचार्य विद्यानन्दि ने उज्जैन का उदाहरण दिया है। वे कहते हैं, जैसे उज्जैन के उत्तर में भूमि कुछ नीची हो गई है, और दक्षिण में कुछ ऊंची। अत: निचली भूमि मे छाया की वृद्धि, और ऊंचे भूभाग में छाया की हानि प्रत्यक्ष होती है।[1] कोई पदार्थ या भू-भाग सूर्य से जितना अधिक दूर होगा, उतनी ही छाया में वृद्धि होगी।[2]

(७) सूर्य-विमान के गमन करने की १८४ गलियां हैं। प्रत्येक गली की चौड़ाई $\frac{४८}{६१}$ योजन है। प्रत्येक गली दूसरी गली से २-२ योजन के अन्तराल से है। इस प्रकार कुल अन्तराल १८३ हैं। अत: कुल 'चार' (Orbit) का विस्तार $(१८३ \times २) + \left(\frac{४८}{६१} \times १८४\right) = ५१० \frac{४८}{६१}$ योजन प्रमाण ठहरता है।

---

१. ततो नोज्जयिन्या उत्तरोत्तरभूमी निम्नाया मध्यदिने छायावृद्धिर्विरुध्यते। नापि ततो दक्षिणदिशो समुन्नतायां छायाहानिः उन्नतेतराकारभेदवाराया: भक्तिभेदप्रसिद्धेः। प्रदीपादिवद् आदित्याद् न दूरे छायायां वृद्धिघटनाद् निकटे प्रत्यासीपपत्ते: (त०सू० ४।१३ पर श्लोकवार्तिक, खण्ड—५, पृ० ५११)।

२. तस्य छाया महती दूरे सूर्यस्य गतिमनुमापयति अंतिकेऽतिस्वल्पा (त. सू. ४।१३ पर श्लोकवार्तिक, खण्ड—५, पृ. ५०४)।

जम्बूद्वीप में प्रतिदिन सूर्य के उदयान्तर का कारण उसके 'चार' क्षेत्र की पट्टियों की दो-दो योजन की चौड़ाई और उसका अपना विस्तार $\left(\frac{४८}{६१}\text{ योजन}\right)$ है।

चन्द्रमा के १५ हीमण्डल (गलियां) हैं। चन्द्रमा को पूरी प्रदक्षिणा करने में दो दिन-रात से कुछ अधिक समय लगता है, इसलिए चन्द्रोदय के समय में अन्तर पड़ता है।

सूर्य अपने (जम्बूद्वीप में) विचरण-क्षेत्र की १८४ गलियों में विचरता हुआ जब भीतरी गली में पहुंचता है, तब दिन का प्रमाण बढ़ जाता है, और प्रकाश तीव्र हो जाता है। किन्तु जब वह ११० योजन परे बाहरी गली में पहुंचता है, तब भरत क्षेत्र में दिन का प्रमाण छोटा होता है। जब वह मध्यवर्ती मण्डल में पहुंचता है, तब समान दिन-रात (१५-१५ मुहूर्तों के) होते हैं।[1]

जम्बूद्वीप में सूर्य की सबसे प्रथम गली चार (Orbit) की प्रथम आभ्यन्तर परिधि (कर्क राशि) है। लवण समुद्र में ३३० योजन की दूरी पर स्थित गली की अंत की बाह्य परिधि मकर राशि है। आषाढ़ में सूर्य प्रथम गली में या कर्क राशि पर रहते हैं, उस समय १८ मुहूर्त का दिन तथा १२ मुहूर्त की रात्रि होती है। जब सूर्य इस गली से ज्यों-ज्यों बाह्य गलियों में (दक्षिणायन में) चलते हैं, तो गलियों की लम्बाई बढ़ते जाने से, सूर्य की गति तेज होती है। उस समय रात बढ़ती है, और दिन घटता जाता है। माघ के महीने में जब सूर्य मकर राशि—अंतिम गली में पहुंचता है तो दिन १२ मुहूर्त का, तथा रात १८ मुहूर्त की होती है। यहां से सूर्य पुनः उत्तरायण को चलते हैं। प्रथम व अंतिम गलियों में सूर्य एक वर्ष में एक बार ही गमन करते हैं, और शेष गलियों में आने-जाने की दृष्टि से एक वर्ष में दो बार गमन करते हैं। अतः एक वर्ष में १८२×२+२=३६६ दिन होते हैं।[2]

(८) स्वर्गीय पं० गोपालप्रसाद जी बरैया जी ने अपनी पुस्तक 'जैन ज्याग्राफी' पुस्तक में लिखा है :—

"चतुर्थ काल के आदि में इस आर्यखण्ड में उपसागर की उत्पत्ति होती है। ये क्रम से चारों तरफ फैलकर आर्य खण्ड के बहुभाग को रोक लेता है। वर्तमान के एशिया, यूरोप, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया —ये पांचों महाद्वीप इसी आर्यखण्ड में हैं। उपसागर ने चारों ओर फैल कर ही इनको द्वीपाकार बना दिया है।"

(९) इसके अतिरिक्त, भूकम्प आदि कारणों से भी, प्राकृतिक परिवर्तन होते हैं, जिनसे नदियां अपनी धारा की दिशा बदल देती हैं, और पर्वतों की ऊंचाई भी बढ़ जाती है। 'भूगोल' एक पौद्गलिक घटना है। उन-उन क्षेत्रों के जीवों के पाप-कर्म से भी निमित्ततः भूकम्प होता है। पृथ्वी के नीचे घनवात की व्याकुलता, तथा पृथ्वी के नीचे बादर पुद्गलों के परस्पर-संघात (टक्कर) से टूटकर अलग होने आदि कारणों से भूकम्प होने का निरूपण 'स्थानांग' आदि शास्त्रों में उपलब्ध है।[3]

बौद्धग्रन्थ 'अंगुत्तर निकाय' से भी ज्ञात होता है कि पृथ्वी के नीचे महावायु के प्रकम्पन से (तथा अन्य कारणों से) भूकम्प होता है।[4]

(ग) पृथ्वी में परिवर्तन: विज्ञान-सम्मत

आज के भूगर्भ-वैज्ञानिक इस पृथ्वी के अतीत को जानने की जो चेष्टा कर रहे हैं, वह अतीत की सही जानकारी प्राप्त करने में कितनी सफल होगी, यह तो ज्ञात नहीं। किन्तु इतना तो अवश्य है कि पृथ्वी के महाद्वीप और महासागर आजकल जिस आकार प्रकार के हैं, उनका वही आकार-प्रकार सुदूर अतीत में नहीं था और भविष्य में भी नहीं रहेगा। वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है कि

---

१. चैत्र व आश्विन मास में (१५-१५ मुहूर्तों के) दिन-रात की यह स्थिति है। (द्र. समवायांग, सू. १५।१०५)। सबसे छोटा दिन या रात १२ मुहूर्त का होता है (द्र. समवायांग—सू. १२/८१, लोक प्रकाश—२०।७५-१०३, चंदपण्णत्ति—१।१।९)।

२. द्र० लोक प्रकाश, २०वां सर्ग, सूर्य प्रज्ञप्ति व चन्द्रप्रज्ञप्ति, १०८ प्राभृत, जम्बूद्वीपपण्णत्ति (श्वेता.)७।१२६-१५०, भगवती सूत्र—५।१।३-२७,

३. स्थानांग—३।४।१९८, भूकम्प के पांच प्रकार होते हैं (द्र. भगवती सू. १७।३।२)।

४. द्र. अंगुत्तर निकाय, ८।७०

सभी महाद्वीप कम या अधिक गति से निरन्तर खिसकते रहे हैं। उनकी अधिकतम गति प्रतिवर्ष चार इंच या लगभग दस सेन्टीमीटर है। आज से करोड़ों वर्ष बाद की स्थिति के बारे में सहज अनुमान लगाया जा सकता है। तब उत्तरी अफ्रीका उत्तर में खिसकता हुआ भूमध्य सागर को रौंदता हुआ यूरोप से जा मिलेगा और भूमध्यसागर भी एक झील मात्र बनकर रह जाएगा। दूसरी तरफ, आस्ट्रेलिया, इंडोनेशिया और फिलस्तीन एक-दूसरे से जुड़ जाएंगे, और हिन्दचीन से एशिया का भाग जुड़ कर एक नया भूभाग प्रकट होगा। तीसरी ओर, अमेरिका के पश्चिमी तट के समस्त नगर व राज्य एक दूसरे के निकट आ जाएगें और उत्तरी अमेरिका अत्यन्त बड़े आकार का हो जाएगा।

कुछ वर्ष पूर्व, एन्टार्कटिका महाद्वीप के विस्तृत बर्फीले मैदान पर मिले एक विलुप्त जन्तु के जीवाश्म पर वैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि किसी प्रागैतिहासिक युग में आस्ट्रेलिया, दक्षिण एशिया, अफ्रीका व दक्षिण अमरीका महाद्वीप एक दूसरे से जुड़े हुए थे। अब अमरीका के दो वैज्ञानिकों—डा० राबर्ट एस० डिएज और डा० जान सी० होल्डेन ने भी उक्त निष्कर्ष पर सहमति व्यक्त की है और उन्होंने महाद्वीपों के तैरने (खिसकने) की गति, उनकी दिशा, सीमा-रेखाएं, समुद्रगर्भीय पर्वत-श्रेणियों का विस्तार, चुम्बकीय जल-क्षेत्रों की प्राचीन दिशाएं, भूगर्भीय संरचना आदि विषयों पर गहरा अनुसन्धान किया है।

उक्त वैज्ञानिकों ने आज से २२ करोड़ पचास लाख वर्ष पूर्व के भूमण्डल की कल्पना की है। उनके अनुसार तब सभी महाद्वीप एक दूसरे से जुड़े हुए थे और पृथ्वी पर केवल एक विशाल महाद्वीप था। महासागर भी एक ही था। दक्षिणी अमरीका व अफ्रीका दोनों परस्पर सटे हुए थे, और अमरीका का पूर्वी समुद्री तट उत्तरी अफ्रीका के भूखण्ड से चिपका हुआ था। भारत दक्षिण अफ्रीका व एण्टार्कटिका के बीच में कहीं दुबका था। आस्ट्रेलिया एण्टार्कटिका का ही एक भाग था। लगभग ५० लाख वर्ष में इस सबमें विभाजन की रेखा प्रारम्भ हो गई। सबसे पहले दो भाग हुए। उत्तरी भाग में अमरीका व एशिया थे, दक्षिणी भाग में दक्षिणी अमरीका तथा एण्टार्कटिका। अबसे १३ करोड़ ५० लाख वर्ष पूर्व इनके और भी टुकड़े हो गए।

वैज्ञानिकों ने निष्कर्ष निकाला है कि हमारी पृथ्वी के महाद्वीप व महासागर लगभग ८० किलोमीटर या उससे भी अधिक मोटी एक ठोस पदार्थ की पर्त पर अवस्थित थे। ठोस पदार्थ की यह पर्त लाखों वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र में फैली हुई है। ये विशालकाय पर्तें पृथ्वी के गर्भ-क्रोड पर तैरती अथवा फिसलती रहती हैं। यही कारण है कि महाद्वीप व महासागर फिसलते रहते हैं।

डा० जान एम० बर्ड और डा० जान एफ० डेवी नामक अमरीकी वैज्ञानिकों का मत है कि प्राचीन काल में फिसलते हुए जब भारत उपमहाद्वीप का भूखण्ड एशिया महाद्वीप के भूखण्ड से टकराया तो एक गहरी खाई बन गई। दोनों भूखण्ड एक दूसरे को दबाते रहे और उनके किनारे नीचे-नीचे धंसते चले गए। ऊपर का पदार्थ नीचे गर्म क्रोड की तरफ बहता गया। अन्त में जब दोनों भूखण्ड एक दूसरे से आ टकराये, तब उनका अपेक्षाकृत हलका पदार्थ मुख्य भू-भाग से अलग होकर ऊपर उठ गया और बाद में आज के हिमालय पर्वत का आकार ग्रहण कर सका। कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ कि महासागर वाली तह खिसक कर महाद्वीप वाली तह के नीचे जा पहुंची, जिससे पृथ्वी की सतह ऊपर उठ आई जिसका परिणाम एंडीज पर्वत श्रेणी के रूप में प्रकट हुआ। (पर्वत श्रेणियों के निर्माण के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों में प्रायः एकमत नहीं है। पर्वत-श्रेणियों के निर्माण के विविध मत विज्ञान-जगत् में प्रचलित हैं।)

भारतवर्ष की स्थिति आज जैसी सदा से नहीं है। मारवाड़ में जहां 'ओसिया' है, वहां पहले कभी समुद्र था। इसका प्रमाण यह है कि आज भी ओसिया के आसपास स्थित पहाड़ों में १७ फीट ऊंची, २१ फीट चौड़ी व ३७ फीट लम्बी आकार की काली लकड़ी की विशाल नौकाओं के अवशेष मिले हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः वहां कोई बन्दरगाह था। इस बन्दरगाह के नष्ट हो जाने से वहां के व्यापारी देश के विभिन्न भागों में फैल गये। ये व्यापारी 'ओसवाल' नाम से प्रसिद्ध हैं।

भूगर्भ-शास्त्रियों को हिमाचल पर्वत की चोटी पर सीप, शंख, मछलियों के अस्थि-पंजर प्राप्त हुए हैं जिससे हिमालय पर्वत की लाखों वर्ष पूर्व समुद्र में स्थित होने की पुष्टि होती है। जिओलोजिकल सर्वे आफ इंडिया के भूतपूर्व डाइरेक्टर डा० बी० एस० चोपड़ा को भारतवर्ष में वाराणसी (उ० प्र०) के एक कूंए से एक ऐसा कीड़ा प्राप्त हुआ जिसका अस्तित्व आज से एक करोड़ वर्ष पूर्व भी था। उक्त प्रकार का कीड़ा आज भी आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड व दक्षिणी अफ्रीका में प्राप्त होता है। वाराणसी में इस कीड़े की प्राप्ति से भारतवर्ष का भी अत्यन्त प्राचीन काल में आस्ट्रेलिया आदि की तरह किसी अखण्ड व अविभक्त प्रदेश से सम्बद्ध होना पुष्ट हो जाता है।

(घ) पृथ्वी में क्षेत्रीय परिवर्तन के समर्थक जैनशास्त्र

जैन शास्त्रों से अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिन से यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी के बाह्य स्वरूप में भी परिवर्तन होते हैं।

यहां यह शंका उपस्थित की जा सकती है कि जैनागमों में तो पृथ्वी शाश्वत बताई गई है।[1] इस स्थिति में उसमें महान् परिवर्तन कैसे सम्भव है ? जैन आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में[2] तथा आचार्य अकलंक ने तत्वार्थ राजवार्तिक में[3] स्पष्ट लिखा भी है कि भरतादिक क्षेत्र में भौतिक व क्षेत्रीय परिवर्तन सम्भव नहीं है।

क्या इसका कोई ऐसा शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध है जिससे यह सिद्ध होता हो कि भरतादिक्षेत्र में भौतिक या क्षेत्रीय परिवर्तन हो सकता है ?

उक्त शंका का समाधान इस प्रकार है:—

(१) पृथ्वी का मूल आकार—बाहरी लम्बाई-चौड़ाई, परिधि आदि—पूर्णतः शाश्वत है, यानी उसका विनाश सम्भव नहीं है। बाह्य परिमाण में उच्चावचता अवश्य सम्भव है। इस परिवर्तन के बावजूद उसका मूल सदा अपरिवर्तित रहता है।

(२) अवसर्पिणी काल में भरत व ऐरावत क्षेत्र के अन्दर, जिस प्रकार क्षेत्रस्थ मनुष्यों की ऊंचाई, आयु, सुख, विभूति आदि में क्रमशः ह्रास होता है, उसी प्रकार, भरत-ऐरावत क्षेत्रों में भी (क्षेत्रीय) परिवर्तन होते हैं।

(क) तत्त्वार्थ सूत्र के (दिगम्बरपरम्परा-सम्मत पाठ में उपलब्ध) 'ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः' (त० सू० ३/२८) सूत्र से स्पष्ट संकेत होता है कि भरत व ऐरावत क्षेत्र की भूमियां अवस्थित (एक जैसी) नहीं रहती।

आचार्य विद्यानन्दि ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थ में स्पष्ट कहा है कि तत्त्वार्थसूत्र (भरतैरावतयोर्वृद्धि-ह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्—३/२७ दिगम्बर-पाठ) में संकेतित परिवर्तन भरतादिक्षेत्र से सम्बन्धित समझने चाहिएं। मनुष्यादिक की आयु आदि में परिवर्तन तो गौण ही है।[4]

(ख) आचार्य विद्यानन्दि ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्र-४/१३ पर) में कहा है कि यह पृथ्वी सर्वत्र दर्पणवत् समतल (चौरस-सपाट) नहीं है, क्योंकि जगह-जगह पृथ्वी की उच्चावचता की प्रतीति प्रत्यक्ष हो रही है।[5]

---

१. इमाणं भंते रयणप्पभा पुढवी कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! न कयाइ ण आसि ण कयाइ णत्थि ण कयाइ ण भविस्सइ भुविं च भवइ य भविस्सइ य धुवा णियया सासया अक्खया अव्वया अवट्ठिया णिच्चा (जीवाजीवा. सू. ३।१।७८)

२. न तयोः क्षेत्रयोर्वृद्धिह्रासौ स्तः, असम्भवात्। तत्स्थानां मनुष्याणां वृद्धि-ह्रासौ भवतः (त. सू.—३।२७ पर सर्वार्थसिद्धि टीका)। क्षेत्रयोर्वृद्धिह्रासयोरसंगच्छमानत्वात् (त. सू. ३।२७ पर श्रुतसागरीय वृत्ति)।

३. राजवार्तिक (त. सू. ३।२७)

४. तन्मनुष्याणामुत्सेधानुभवायुरादिभिर्वृद्धिह्रासौ प्रतिपादितौ, न भूमेः अपरपुद्गलैरिति मुख्यस्य घटनात्, अन्यथा मुख्यशब्दार्थातिक्रमे प्रयोजनाभावात्। तेन भरतैरावतयोः क्षेत्रयोर्वृद्धि-ह्रासौ मुख्यतः प्रतिपत्तव्यौ, गुणभावतस्तु तत्स्थमनुष्याणामिति तथावचनं सफलतामस्तु, ते प्रतीतिश्चानुल्लंघिता स्यात् (त. सू. ३।१३ पर श्लोकवार्तिक, खण्ड—५, पृ. ५७२)।

५. न वयं सर्वत्र समतलामिव भूमिं भाषामहे, प्रतीतिविरोधात्। तस्याः कालादिवशादुपचयापचयसिद्धेर्निम्नोन्नताकारसद्भावात् (त. सू. ४/१३ पर श्लोकवार्तिक, खण्ड—५, पृ. [illegible])।

जैन मतानुसार काल-क्रम के साथ प्रत्येक भौतिक पदार्थ में वर्ण-रसादिगत परिवर्तन स्वभावसिद्ध है।[1]

(ग) शाश्वती वस्तु में भी परिवर्तन होते हैं, इसके समर्थन में आ० आत्मारामजी कृत 'सम्यक्त्व शल्योद्धार' का कथन यहां मननीय है—"शाश्वती वस्तु घटती-बढ़ती नहीं, सो भी झूठ है। क्योंकि गंगा-सिन्धु का प्रवाह, भरतखण्ड की भूमिका, गंगा-सिन्धु की वेदिका, लवण-समुद्र का जल वगैरह घटते-बढ़ते रहते हैं।"[2]

(घ) आ० विनयविजयगणि कृत लोकप्रकाश ग्रन्थ में,[3] तथा उत्तर पुराण,[4] पद्मपुराण,[5] तिलोयपण्णत्ति,[6] चन्द्रप्रभचरित[7] आदि ग्रन्थों में स्पष्टतः क्षेत्र को ही हानिवृद्धिगत निरूपित किया गया है।

(ङ) अगर क्षेत्रीय परिवर्तन स्वीकार न किया जाए तो भोगभूमिकाल के अंत में, चौदहवें कुलकर नाभिराय के समय कल्पवृक्षों का नष्ट होना,[8] उन्हीं के समय बिना बोये धान्य पैदा होना,[9] बारहवें कुलकर के समय अदृष्टपूर्व कुनदियों व कुपर्वतों का उत्पन्न हो जाना,[10] प्रलयकाल (अवसर्पिणी के अंतकाल में) ग्राम-नगरादि का नाश,[11] गंगा व सिन्धु नदियों को छोड़ कर सभी नदियों की समाप्ति,[12] गंगा-सिन्धु नदियों का विस्तार रथ या बैलगाड़ी जितना संकुचित होना,[13] तीर्थंकर के केवल ज्ञान-लाभ के समय तीनों लोकों में प्रक्षोभ होना,[14] तथा उत्सर्पिणी के प्रारम्भ में पुनः नगरादिकों, पर्वतों, नदियों आदि का पुनः निर्माण हो जाना[15] आदि परिवर्तनों की संगति कैसे हो सकेगी ?

(च) अनुयोगद्वार-सूत्र में उल्कापात, चन्द्र-ग्रहण, इन्द्र-धनुष, एवं ग्राम, नगर भवन आदि की श्रेणी में ही भरत आदि क्षेत्रों, हिमवत् आदि पर्वतों तथा रत्नप्रभा आदि पृथिवियों को सादि-पारिणामिक बताया गया है।[16] यहां टीकाकार पू० आ० घासीलाल जी महाराज ने शंका उठाई है कि वर्षधर पर्वतादि तो शाश्वत हैं, फिर वे सादिपारिणामिक कैसे ? इस शंका का समाधान

---

१. अनुयोगद्वार सूत्र, ८६, स्थानांग—३/४/४१८
२. सम्यक्त्व शल्योद्धार, पृ. ४५
३. नानावस्थं कालचक्रैर्भारतं क्षेत्रमीरितम् (लोकप्रकाश—१६/१); तथा वही, १९/१०१-१०३
४. ऐरावतं समं वृद्धिहानिभ्यां परिवर्तनात् (उत्तर पुराण—६२/१६)।
५. षष्ठकालक्षये सर्वं क्षीयते भारतं जगत्। धराधरा विशीर्यन्ते मर्त्यकाये तु का कथा (पद्म पुराण-जैन, ११७/२६)॥
६. अवसेसवण्णणाओ सुसमस्स व होंति तस्स खेत्तस्स। णवरि य संठिदरूवं परिहीणं हाणिवड्ढीहि (तिलोयप०—४/१७४४)॥
७. भरतैरावते वृद्धिह्रासिनी कालभेदतः (चन्द्रप्रभचरित, १८/३५)।
८. कल्पवृक्षविनाशे क्षुधितानां युगलानां सस्यादिभक्षणोपायं दर्शयति (त. सू. ३/२७ पर श्रुतसा. वृत्ति), तथा तिलोयप०—४/४९७,
९. अकृष्टपच्यानि सस्यादीनि चोत्पद्यन्ते (त. सू. ३/२७ पर श्रुतसा. वृत्ति), तथा तिलोयप. ४/४९७
१०. कुनद्यः कुपर्वताश्चोत्पद्यन्ते (त. सू. ३/२७ पर श्रुतसा. वृत्ति), कद्दमपवहणदीओ अविट्ठपुव्वाओ (तिलोय प. ४/४८५)।
११. पव्वयगिरिडोंगरउत्थलभट्ठिमाईए य वेयड्ढगिरिवज्जे विरावेहिंति (भगवती सू. ७/६/३१), जंबूदीव प. (श्वेता.) २/३७,
१२. सलिलबिलगड्डदुग्गविसमनिण्णुन्नताइं गंगासिंधुवज्जाइं समीकरेहिंति (भगवती सू. ७/६/३१), तथा जंबूदीव प. (श्वेता.) २/३६,
१३. गंगासिंधूओ महानदीओ रहपहवित्थाराओ (भगवती सू. ७/६/३४)।
१४. तिलोय प. ४/७०६
१५. भरहे वासे भविस्सइ पव्वदरक्खगुच्छगुम्मलयवल्लितण-पव्वयगहरियगओ सहिए, उवचियतयपत्तवालंकुरपुप्फफलसमुइए सुहोवभोगे यावि भविस्सइ (जंबूदीव प.—श्वेता. २/३८)।
१६. साइपारिणामिए अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा......गंधव्वनगरा उक्कावाया......दिसादाहा......इंदधणू......वासहरा गामा णगरा घरा पव्वया पायाला भवणा निरया रयणप्पहा......परमाणुपोग्गले दुपएसिए जाव अणंतपएसिए (अनुयोग द्वार सूत्र, १२६)।

करते हुए वे कहते हैं कि वर्षधरादि में जो शाश्वतपना है, वह उनका 'अपना आकार न छोड़ना' ही है। शाश्वतपना होने से उनमें परिणमन होने का निषेध नहीं समझना चाहिए।[1]

प्रत्येक भौतिक संरचना में संघटन-विघटन की प्रक्रिया प्राकृतिक नियमों के अनुरूप होती रहती है। विघटन-पर्याय को प्राप्त परमाणु प्रतिसमय (जघन्यकाल) दूर होते रह सकते हैं और संघटन-पर्याययोग्य दूसरे असंख्य परमाणु उनमें संयुक्त हो सकते हैं। एक सुदीर्घ अवधि के बाद, एक-एक करके उस संस्थान के सारे परमाणु बदल जाते हैं, इसके बावजूद, सामान्य दृष्टि में यह संस्थान ज्यों का त्यों अपरिवर्तित कहा जाता है। संभवतः इसी दृष्टि से जम्बूद्वीपादि को शाश्वत व अशाश्वत—दोनों कहा गया है।[2]

(छ) सर्वार्थसिद्धिकार व राजवार्तिककार द्वारा भरतादिक्षेत्रगत परिवर्तन के निषेध कर दिये जाने का तात्पर्य इतना ही है कि पृथ्वी एक शाश्वत इकाई है—यह न कभी बनेगी और न नष्ट होगी।[3] जैसे, किसी एक घर में अनेकानेक प्राणियों के मरते जन्मते हुए भी घर ज्यों का त्यों रहता है। उस घर में समय-समय पर परिवर्तन (मरम्मत, परिष्कार आदि) भी हुए हैं, पर वह घर जितनी जमीन घेरे था, उतनी ही जगह पर है, घटा-बढ़ा नहीं है। इसलिए उस घर को नष्ट नहीं मानते और नहीं उसे दूसरा घर समझ बैठते हैं। उसी तरह, अनेक नगर ऐसे हैं जिनके नाम सदियों से चले आ रहे हैं। यद्यपि उन नगरों में अनेक भौतिक परिवर्तन हो गए हैं, किन्तु उन्हें दूसरे नगर के रूप में नहीं माना जाता। पृथ्वी में भी यत्र-तत्र, कालक्रम से, परिवर्तन होते हुए भी परिमाण में वह ज्यों की त्यों है। दूसरी बात, पृथ्वी आदि में जो परिवर्तन होता है, वह उसके मूलरूप को नष्ट नहीं करता, भले ही प्रभावित अवश्य करता हो। अस्तु, शास्त्रों में जो पृथ्वी का निरूपण है, वह मूल रूप का ही है। कालगत सामयिक वृद्धि-ह्रास होने पर भी मूल की अवृद्धि-अहानि को देखते हुए, भरतादि क्षेत्र में अपरिवर्तनीयता का निरूपण पूर्णतः संगत होता है। भरतादि क्षेत्रों में परिवर्तन असम्भव मानने के निरूपण को उसी प्रकार समझना चाहिए जैसा कि आत्मा को अबद्ध व अस्पृष्ट मानना, जबकि कर्मबन्ध की प्रक्रिया का शास्त्रों में विस्तार से निरूपण भी मिलता हो।

वस्तुतः, पृथ्वी में परिवर्तन व अपरिवर्तन—ये दो कथन अनेकान्तात्मक प्रवचन (समग्र) के दो अंश (भाग) हैं। सर्वज्ञ वचन तो उभयनयात्मक है। एक तरफ भरतादिक्षेत्रों के पर्वतादि का आकार-परिमाण नियत कर दिए गए हैं, दूसरी तरफ, उत्पादव्ययात्मक पौद्गलिक परिवर्तन का भी शास्त्रों में निरूपण है, साथ ही उत्सर्पिणी-आदि काल-चक्रानुरूप क्षेत्रीय परिवर्तन का भी संकेत है। व्याख्याता को चाहिए कि वह दोनों प्रवचनैकदेशों में परस्पर-बाधकता उद्भावित न करे, बल्कि समन्वय का प्रयास करे, बशर्ते प्रत्यक्षादि-प्रतीति से विरोध न हो। प्रायः इसी भाव को आचार्य विद्यानन्दि ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में व्यक्त किया है।[4]

(ज) राजवार्तिककार आ० अकलंक जहां भरतादि में क्षेत्रगत वृद्धि-ह्रास न होने का निरूपण करते हैं, वह भरतादि क्षेत्र की 'नियतावधिकता' को लक्ष्य में रख कर है, न कि सामान्य परिवर्तन को लक्ष्य कर।[5]

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि आगमों में जो सर्वज्ञ तीर्थंकर की वाणी है, इस भावी भौगोलिक परिवर्तनों का संकेत क्यों नहीं किया गया? आज विज्ञान जिस प्रकार प्रमाण सहित यह बताने में सक्षम है कि इतने वर्षों पूर्व, अमुक रीति से, अमुक-अमुक क्षेत्रीय परिवर्तन हुए हैं, किसी तीर्थंकर ने अपने अतीत या भावी परिवर्तनों का संकेत क्यों नहीं किया? इसका सीधा-सा समाधान यह

---

१. ननु वर्षधरादयः शाश्वताः, न ते कदाचिदपि स्वकीयं भावं मुञ्चन्ति, तत्कथं पुनरेषां सादिपारिणामिकत्वमुक्तम्? इति चेदाह—वर्षधरादीनां शाश्वतत्वं तदाकारमात्रेणैव अवतिष्ठमानत्वात् बोध्यम् (अनुयोगद्वार सूत्र, सू. १२६ पर पू. श्री घासीलाल जी म. कृत टीका)।

२. जंबूदीवे......सिय सासए सिय असासए (जंबूदीव प. पण्णत्ता.—७/१७७), दव्वट्ठियाए सासए, वण्णपज्जवेहिं......असासए, (वहीं, तथा द्र. जीवाजीवाभिगम सू. ३/२/७८)।

३. उपर्युक्त,

४. तत एवं चूलादेव भरतैरावतयोस्तत्परभूमिषु च स्थितेर्नैतत्र वृद्धिह्रासयोगाकोगाभ्यां विशिष्टत्व कथनं न बाध्यते (त. सू.—३।२८ पर श्लोकवार्तिक, खण्ड—५, पृ. ३४८-४९)।

५. इमौ वृद्धि-ह्रासौ, कस्य, भरतैरावतयोः। ननु क्षेत्रे व्यवस्थितावधिके, कथं तयोर्वृद्धिह्रासौ? अतः उत्तरं पठति—तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यसिद्धिर्भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासयोगः (राजवार्तिक, ३।२७)।

है कि आगमों में उक्त परिवर्तन के मौलिक सिद्धान्तों का निरूपण यत्र-तत्र-सर्वत्र हुआ है। दूसरी बात, अनन्त, पदार्थों के अनन्त धर्मों में से कुछ का ही कथन सम्भव होता है। प्रज्ञापनीय पदार्थों में से भी अनन्तवां भाग 'श्रुत' आगमों में निबद्ध हो पाता है।[1] समस्त श्रुत का बहुत थोड़ा सा भाग अब सुरक्षित रह गया है। कई विषयों के उपदेश भी विच्छिन्न हो गए हैं जिसका संकेत भी जैन शास्त्रकारों ने यत्तत्र किया है।[2] सम्भव है, दृष्टिवाद (द्वादशांग) के लुप्त भाग में वे सब बातें हों जो अब उपलब्ध होतीं तो वैज्ञानिक जगत् उपकृत होता, साथ ही विज्ञान से तथाकथित विरोध की स्थिति भी पैदा नहीं होती।

जैन आगमों व शास्त्रों में अनेक सिद्धान्त ऐसे हैं जो परवर्तीकाल में वैज्ञानिक जगत् में आविष्कृत व समर्थित हुए। अनेक वैज्ञानिकों ने जैन आचार्यों की सूक्ष्मदर्शिता को स्वीकारा है। आज आवश्यकता है जैन आगमों व शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन की, और अपेक्षा है कुतर्क छोड़ कर श्रद्धा-भावना की[3], तभी इन शास्त्रों से अमूल्य विचार-रत्नों को हम ग्रहण कर सकते हैं।

---

१. (क) पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो॥ (गोम्मटसार, जीवकाण्ड, ३३४)
शब्दाश्च सर्वे संख्येया एव, द्रव्यपर्यायाः पुनः संख्येयासंख्येयानन्तभेदाः (राजवार्तिक, १/२६/४)।

अवाच्यानामनन्तांशो भावा प्रज्ञाप्यमानकाः।
प्रज्ञाप्यमानभावानाम्, अनन्तांशः श्रुतोदितः॥ (गोम्मट जी० का० ३३४ पर कर्णाटवृत्ति, पृ० ५६१)

(ख) जिनवाणी एक समुद्र है, शास्त्र तो उसमें से गृहीत जल-बिन्दु के समान हैं—
जिणवयणमिवोवही सुहुयो (षट्खण्डागमधवला (१/१/१, गाथा-५०, पृ० ६०)।
कथितं तत्समुद्रस्य कणमेकं वदाम्यहम् (पद्मपुराण १०५/१०७)।

(ग) सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव के मुख से भव्य-जनकल्याणार्थ ज्ञान-पुष्पों की वृष्टि होती है, जिसे कुशल गणधर अपने बुद्धि रूपी वस्त्र में ग्रहण करते हैं—

तवनियमनाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठिं भवियजणविबोहणट्ठाए॥

तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गेण्हिउं निरवसेसं।
तित्थयर-भासियाइं गंथंति तओ पवयणट्ठा॥ (विशेषावश्यक भाष्य-१०९४-१०९५)।

२. (क) उवएसो संपइ उच्छिण्णो (ति० प० ४/१४७१)। अम्हाण णत्थि उवदेसो (ति० प० ४/१५७२)। उवदेसो संपइ पणट्ठो (ति० प० ४/२३९९)।

(ख) श्वेताम्बर परम्परा में १२वां अंग दृष्टिवाद पूर्णतः नष्ट हो गया है—
सव्वत्थ वि णं वोच्छिन्ने दिट्ठिवाए (भगवती सूत्र, २०/८/१)। एतच्च सर्वं समूलोत्तरभेदं सूत्रार्थतो व्यवच्छिन्नम् (समवायांग सूत्र टीका)।
दिगम्बर-परम्परा में दृष्टिवाद का कुछ अंश (षट्खण्डागम व कषायपाहुड ग्रन्थों के रूप में) अवशिष्ट है—

तदो सव्वेसिमंगपुव्वाणमेगदेसो आइरिय-परम्पराए आगच्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो...महाकम्मपयडिपाहुडस्स वोच्छेदो होहदित्ति समुप्पण्णबुद्धिणा पुणो दव्वपमाणाणुगममादिं काऊण गंथरचणा कदा (षट्खण्डागम-धवला १/१/१ पृ० ६८, ७२)।

३. आगमस्य अतर्कगोचरत्वात् (धवला १/१/२५, पृ० २०७)। प्रत्यक्षागमबाधितस्य तर्कस्य अप्रमाणत्वात् (गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९६ पर कर्णाटवृत्ति — जीव प्र० टीका)। सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते। आज्ञासिद्धं तु तद् ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः (आलापपद्धति, ६)। प्रत्यक्षं तद् भगवताम्हतां तैश्च भाषितम्। गृह्यतेऽस्तीत्यतः प्राज्ञैर्न छद्मस्थ-परीक्षया (राजवार्तिक, १०/९/श्लोक-३२)॥

तुलना—श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम् (गीता ४/३९)। तर्काप्रतिष्ठानात् (ब्रह्मसूत्र २/१/११)। तर्कोऽप्रतिष्ठः (महाभारत, वनपर्व, ३१३/११७)। कुतर्क के कारण जो संशय-ग्रस्त हैं, उनके अन्तःकरण में ईश्वर का वास असम्भव है—तर्कवादात् हेतुवादात्, नाध्यावसति माधवः (महाभा० शांति पर्व, १४९/७१)।

जैन इतिहास, कला और संस्कृति

तीर्थराज श्री सम्मेदशिखर जी के मंदिर
की एक कलात्मक वेदी

जैन इतिहास, कला और संस्कृति

सम्पादकीय

जैन धर्म की उदात्त लोकमंगल की पृष्ठभूमि का विशद विवेचन करते हुए सुप्रसिद्ध गांधीवादी विचारक काका साहब कालेलकर की मान्यता है कि त्रिविध अहिंसा—स्याद्वाद रूपी बौद्धिक अहिंसा, जीवदया रूपी नैतिक अहिंसा और तपस्या रूपी आत्मिक अहिंसा का आदर्श सिद्धान्त प्रस्तुत करने वाला धर्म ही विश्व धर्म हो सकता है। उनकी दृष्टि में जैन धर्म विश्व धर्म है और वर्तमान सन्दर्भ में यह धर्म मिशनरी धर्म होने के लायक है। विश्व के किसी भी देश का, किसी भी वंश का मनुष्य तीर्थंकरों की वाणी का अनुसरण करके जैन बन सकता है। इतिहास साक्षी है कि जैन धर्मानुयायियों ने स्वयं को विश्व-समाज, राष्ट्रीय धारा और लोक जीवन से कभी पृथक् नहीं किया और न ही अपने को प्रस्थापित करने के लिए आग्रहवादी दृष्टि अपनाई।

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य जैन इतिहास, कला और संस्कृति के उन आयामो को उद्‌घाटित करना है जिनसे विश्व संस्कृति एवं राष्ट्रीय जीवन अनुप्राणित हुआ है। इतिहास, कला और संस्कृति से हमारा अभिप्राय पूर्व परम्परा, सौन्दर्य-चेतना और मानवीय सहिष्णुता से है। सोवियत संघ मे प्राच्य विद्याओं के जनक माननीय इ० मिनायेव ने भारत के गौरवमय अतीत का आख्यान करते हुए कहा है—"किसी भी आत्मिक विकास का मर्म हम उसके ऐतिहासिक विकास की सम्पूर्णता में ही देख सकते हैं और उसे केवल तभी समझ सकते हैं, जबकि इस विकास प्रक्रिया पर हम इसकी भ्रूणावस्था तक दृष्टिपात करते हैं और जब इस तरह इसके स्रोत प्रकट होते हैं।"[1] इवान मिनायेव ने वैदिक, बौद्ध और जैन धर्मों का अध्ययन उन्हें एक दूसरे से अलग करके नहीं किया। उनके अनुसार—"यदि शोधकर्ता विभिन्न धार्मिक मतो के बीच आनुवंशिक संबंध की ओर तथा उनके पारस्परिक ऐतिहासिक संबधो की ओर, जिन्होंने विभिन्न धाराओ का सूत्रपात किया, उचित ध्यान नही देगा, तो धर्म का इतिहास एकतरफा ही रहेगा।"[2]

प्राचीन विश्व में किन्हीं कारणों से इतिहास लेखन की क्रमबद्ध परम्परा का विकास नहीं हो पाया। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की दृष्टि में, "भारतवर्ष के निर्मल आकाश में इतिहास चन्द्रमा का दर्शन नहीं होता, क्योंकि भारतवर्ष की प्राचीन विद्याओ के साथ इतिहास का भी लोप हो गया। कुछ तो पूर्व समय में शृंखलाबद्ध इतिहास लिखने की चाल ही न थी और जो कुछ बचा-बचाया था वह भी कराल काल के गाल मे चला गया।" वस्तुत: इतिहास लेखन की परम्परा अत्याधुनिक है और साथ ही समग्र चेतना के विशदीकरण हेतु तुलनात्मक संस्कृतियो के अध्ययन पर बल देती है। साहित्यानुरागी जैन सन्तों के समर्थ कृतित्व के कारण विगत २५०० वर्ष के भारतीय इतिहास को समझने के लिए उपयोगी सामग्री उपलब्ध होती है। स्व० डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने जैनों की ऐतिहासिक चेतना की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि जैनो ने प्राय: २५०० वर्ष की संवत्गणना का हिसाब भारतीयों में सबसे अच्छा रखा है।

भारतीय कला की यदि कोई परिभाषा की जाए तो वह ईश्वर की सुन्दर सृष्टि का कृत्रिम प्रारूपण होगा। भारतीय कलाकार अध्यात्म दर्शन की आत्मानुभूति से उसी प्रकार कला का सर्जन करता आया है जैसे एक दार्शनिक साधक मुक्ति के लिए साधना करता है। सत्यं, शिवं, सुन्दरम् भारतीय कला की एक सन्तुलित एवं लोकप्रिय व्याख्या रही है जिसमें सत्य, सौन्दर्य और अध्यात्म तीनों का सम्मिलन हुआ है। इनमे से एक भी पक्ष यदि कम रह जाए तो कला विकृत हो जाती है।

'भारतीय कला की आत्मा और स्वरूप' शीर्षक निबन्ध में श्री शिशिर कुमार घोष की यह मान्यता रही है कि स्वाधीन मनुष्य ही कला की साधना कर सकता है। परतन्त्रता की बेड़ियों मे जकड़ा समाज कला के वास्तविक मर्म को अभिव्यक्त करने मे असमर्थ रहता है। उनके अनुसार—अगणित चीनी यात्री, जो उस युग मे यहां के विश्वविद्यालयों मे अध्ययन और गुहा-मन्दिरों के दर्शन के लिए आये, यहाँ के विचार और प्रभाव अपने साथ चीन ले गए जो वहाँ के वास्तु-चित्र और मूर्तिकला में प्रस्फुटित हुए। यही नहीं, वहाँ से वे प्रभाव जापान गये और वहाँ भी उन्हें वही

१-२ ग० बोंगार्द लेविन एवं विगासिन, भारत की छवि, पृ० १०१

सम्मान मिला।''[1] वास्तविकता यह है कि भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र के अन्तर्गत जैन कलाओं की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। सम्भवतया चीनी यात्रियो के माध्यम से जैन कलाओं का विश्व-व्यापक प्रचार हुआ है।

जैन धर्म की पौराणिक मान्यताओ के अनुसार अवसर्पिणी युग मे भोगभूमि के अवसान और कर्मभूमि की रचना के सन्धिकाल मे अयोध्या के अन्तिम मनु-कुलकर श्री नाभिराज के यहाँ जगज्जननी मरुदेवी की पवित्र कुक्षि से चैत्र कृष्ण नवमी के दिन जैन धर्म के आद्य तीर्थंकर श्री ऋषभदेव का जन्म हुआ। श्री ऋषभदेव विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न सिद्ध पुरुष थे। उन्होने कर्मयुग के आरम्भ मे असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और विद्यारूप लौकिक षटकर्मों का प्रवर्तन किया। भगवान् ऋषभदेव द्वारा उत्प्रेरित श्रमण सस्कृति को कालान्तर मे तेईस तीर्थंकर— अजितनाथ, सभवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी ने अनुप्राणित किया।

जैन पुराणकारो ने तीर्थंकरों की आयु एव शरीर की ऊचाई के सबध मे विस्तार से विवेचन किया है। डॉ देवसहाय[2] त्रिवेद ने जैन अनुश्रुतियों के आधार पर भगवान् ऋषभदेव के परिनिर्वाण का काल ४१ ३४ ५२ ६३० ३०८ २०३१ ७७७ ४६ ५१२१ के आगे ४५ बार ६ लिखकर वर्ष पूर्व प्रकट किया है। शायद ७० अंको की विशद सख्या को दृष्टिगत करते हुए इतिहासकारो ने तीर्थंकर परम्परा के ऐतिहासिक अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगा दिया है। भारतीय पुराणशास्त्र मे उल्लिखित इस प्रकार की पौराणिक गुत्थियो के समाधान के लिए इतिहासवेत्ताओं और गणितवेत्ताओ को विशेष ध्यान देना चाहिए। इस सन्दर्भ मे आचार्य रजनीश का विचार दृष्टव्य है — ''महावीर एक बहुत बड़ी सस्कृति के अन्तिम व्यक्ति हैं, जिस सस्कृति का विस्तार कम-से-कम दस लाख वर्ष है। जैन तीर्थंकरो की ऊंचाई—शरीर की ऊचाई—बहुत काल्पनिक मालूम पड़ती है। उनमे महावीर भर की ऊचाई आदमी की ऊचाई है। बाकी तेईस तीर्थंकर बहुत ऊचे हैं। इतनी ऊचाई नही हो सकती। ऐसा ही वैज्ञानिको का अब तक का ख्याल था, लेकिन अब नही है।''[3]

जैन धर्म के आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव और अन्तिम तीन तीर्थंकरो—भगवान् नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एव महावीर स्वामी के अस्तित्व को अब ऐतिहासिक रूप से स्वीकार किया जाने लगा है। वैदिक साहित्य के आद्य धर्मग्रन्थ ऋग्वेद एव तैत्तिरीयारण्यक मे वातरसना मुनि का उल्लेख इस प्रकार है—

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥ (ऋग्वेद म० १०, अ० ११, सूत्र १३६। २)
वातरसना ह वा ऋषय श्रमण ऊर्ध्वमन्थिनो बभूव (तैत्तिरीयारण्यक २/७/१, पृ० १३७)

तैत्तिरीयारण्यक की प्रस्तुत पंक्ति के सन्दर्भ मे ऋग्वेद की उपरोक्त गाथा का विवेचन और जैन मुनि की आचार्य परम्परा से उसकी तुलना से यह सिद्ध हो जाता है कि वैदिक साहित्य मे प्रयुक्त शब्द—वातरशनमुनि, वातरशन श्रमण, श्रमण सस्कृति की प्राग्-वैदिकता के प्रमाण हैं। श्रीमद्-भागवत में ऋषभ को जिन श्रमणों के धर्म का प्रवर्तक बताया गया है और उनकी प्रशस्ति इन शब्दो मे की गई है—'धर्मान्दर्शयति कामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुबावततार।' अर्थात् भगवान् ऋषभ श्रमणो, ऋषियो तथा ब्रह्मचारियो का धर्म प्रकट करने के लिए शुक्ल सत्त्वमय विग्रह से प्रकट हुए।

प्राचीनकाल मे भगवान् ऋषभदेव की लोकमान्यता को दृष्टिगत रखते हुए काका कालेलकर साहब ने ठीक ही कहा है—ऐसा दिखाई देता है कि हिन्दू समाज को संस्कारी बनाने मे ऋषभदेव का बड़ा भारी हिस्सा था। कहा जाता है कि विवाह व्यवस्था, पाकशास्त्र, गणित, लेखन आदि संस्कृति के मूल बीज ऋषभदेव ने ही समाज मे बोये थे। ऐतिहासिक दृष्टि से जैन धर्म की प्राचीनता का उल्लेख करते हुए सुप्रसिद्ध प्राच्यवेत्ता डॉ० हैनरिक जिम्मर[4] की मान्यता है कि जैन धर्म आर्येतर धर्मों मे प्राचीनतम है। उनकी यह मान्यता अधिकतर प्राच्यविदो की इस मान्यता के विपरीत है जो भगवान् महावीर को भगवान् गौतम बुद्ध का समकालीन और जैन धर्म का संस्थापक मानते हैं। स्वय जैन धर्मानुयायियो की भांति डॉ० जिम्मर की मान्यता है कि महावीर जैन तीर्थंकरो की शृंखला मे अन्तिम तीर्थंकर थे न कि जैन धर्म के सस्थापक। डॉ० जिम्मर जैन-मतानुयायियों की इस मान्यता से भी सहमत हैं कि उनका धर्म आर्यों से पूर्व द्रविडों के समय से चला आ रहा है।

---

१. श्री शिशिर कुमार घोष, नेहरू अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ३६०-३६१
२. डॉ० देवसहाय त्रिवेद, प्राङ् मौर्य बिहार, पृ० १४५
३. आचार्य रजनीश, महावीर वाणी — भाग-१, पृ० ५
४. जैन बिबलियोग्राफ़ी (छोटेलाल जैन), वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली, तालिका १६२०

सिन्धु सभ्यता के महान् अन्वेषक सर जॉन मार्शल का यह विश्वास रहा है कि सिन्धु संस्कृति यज्ञ प्रधान वैदिक संस्कृति से सर्वथा भिन्न रही है। उन्होंने मोहनजोदड़ो से प्राप्त कुछ मुहरों पर जैन प्रभाव को इंगित करते हुए लिखा है कि तीन मुहरों पर जैन तीर्थंकरों की कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े दिगम्बर वृक्ष देवता दिखाई देते हैं।

सिन्धु सभ्यता का समुचित विश्लेषण करने के लिए स्वतन्त्र भारत में कुशल पुराविदों की देखरेख मे विशेष उत्खनन कार्य हुआ है। भारतीय पुराविदों ने लगभग ७०० ऐसे स्थलों की जानकारी दी है जिनका महत्त्व हड़प्पा या मोहनजोदड़ो से कम नहीं है। नवीनतम शोधो के अनुसार सिन्धु सभ्यता से प्रभावित भौगोलिक परिधि की सीमाओं मे अत्यधिक विस्तार हुआ है। देश-विदेश के अनेक भाषाविज्ञ पुराशास्त्री अब ५ हजार से अधिक की संख्या में प्राप्त अभिलेखों का वैज्ञानिक एव तुलनात्मक अध्ययन कर रहे हैं।

सोवियत संघ में प्रो० क्नोरोज़ोव के नेतृत्व में हड़प्पा के पुरालेखों का वैज्ञानिक अध्ययन करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकला है कि हड़प्पाकालीन लेखो की भाषा प्राक् द्रविड है। रूसी विद्वान् ग० बोंदार्ग एव अ० विगासिन ने सोवियत अनुसन्धानो के आधार पर स्वीकार किया है —"द्रविड भाषी समष्टि के विघटन से पहले उन्नत विकसित कृषि से तथा पशुपालन से भी परिचित थे। सामान्य द्रविड़ शब्द भडार मे कृषि प्रक्रिया के सभी प्रमुख चरणों से संबंधित शब्द—जुताई, बुवाई, कटाई, ओसाई आदि हैं। निस्सदेह विकसित कृषि शब्दावली का होना सामान्य द्रविड़ काल में द्रविड़ कबीलो के जीवन मे कृषि की प्रमुख भूमिका को इगित करता है।"[1] सिन्धु घाटी मे कृषि प्रधान समाज की स्थिति को देखकर जैन धर्म के आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा प्रस्थापित मानव संस्कृति के प्रथम चरण की याद आ जाती है। उनके सत्प्रयास से ही मानवजाति ने कर्मयुग के आरम्भ मे पशु-पालन एवं कृषि का सर्वप्रथम प्रयोग किया था। सिन्धु लिपि के अनावरण से पूर्व सिन्धु घाटी की सभ्यता के सम्बन्ध मे अधिकारपूर्वक कुछ भी कहना असंगत है। सोवियत् विद्वान् ग० बोंदार्ग एव अ० विगासिन ने सत्य ही कहा है—"जब तक हड़प्पा की मुद्राओ का रहस्य नही खुलता, तब तक हड़प्पा समाज के स्वरूप के बारे मे पूरी तरह कुछ कहना असम्भव है। इस संस्कृति के उद्‌भव, आबादी की नृजातीय उत्पत्ति और धार्मिक विश्वासो आदि के बारे मे सिद्धान्त अत्यधिक एकतरफा और प्राक्कल्पनात्मक लगते हैं।"[2] सोवियत संघ मे हुए शोधकार्य के आधार पर लेखक-द्वय ने अपनी मान्यता को अभिव्यक्त करते हुए कहा है—"हड़प्पा लेखो के अध्ययन के लिए सोवियत सघ मे जो शोधकार्य हुआ है, उनसे यह कहने का आधार मिलता है कि हड़प्पा परम्पराओं का बौद्ध, हिन्दू, जैन धर्मों पर, नगरो के निर्माण पर, उससे कहीं बाद के प्राचीन भारतीय समाज के सामाजिक ढाचे पर काफी प्रभाव पड़ा।"[3]

जैन धर्म मे मूर्ति पूजा की अवधारणा पौराणिक युग से चली आ रही है। सिन्धु घाटी में जैन मूर्ति पूजा के प्रसंग पर विचार करते हुए एलाचार्य मुनि विद्यानन्द जी ने अपने एक निबन्ध 'मोहनजोदड़ो : परम्परा और प्रभाव' मे पर्याप्त प्रकाश डाला है। एक साहित्यिक अभिलेख के आधार पर डॉ० उमाकान्त प्रेमानन्द शाह द्वारा प्रदत्त जानकारी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर की चन्दनकाष्ठ-निर्मित जीवन्तस्वामी की प्रतिमा का प्रचलन तीर्थंकर महावीर के युग मे ही हो गया था। उदयगिरि की हाथी गुम्फा से प्राप्त एक अत्यन्त प्राचीन अभिलेख (मौर्यकाल १६५वा वर्ष) के आधार पर जैन समाज में प्रचलित मूर्ति पूजा के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक सामग्री मिलती है। विश्वप्रसिद्ध इस अभिलेख का कुछ अश इस प्रकार है—

...मगधानं च विपुल भयं जनेतो हथिसु गंगाय पाययति (I) मागधं च राजानं बहसतिमितं पादे वंदापयति (I) नंदराज नीतं च कलिंग-जिन-संनिवेसं गहरतनाय पडिहारेहि अंगमागध-वसुं च नेयाति (I)[4]

अर्थात् सम्राट् खारवेल अपने राज्य के बारहवें वर्ष मे...और मगध के निवासियो में विपुल भय उत्पन्न करते हुए उसने अपने हाथियों को गंगा पार कराया और मगध के राजा बृहस्पतिमित्र से अपने चरणो की वन्दना कराई—(वह) कलिंग जिन की मूर्ति को जिसे नन्दराज ले गया था, घर लौटा लाया और अंग और मगध की अमूल्य वस्तुओं को भी ले आया। अभिलेख के इस अंश का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि मगधाधिपति नन्दराज (४२४ ई० पू०) ने कलिंग को पराजित किया था और वे कलिंग जिन की मूर्ति को मगध ले गए थे। कलिंगाधिपति सम्राट् खारवेल ने कलिंग जिन की प्रतिमा को वापिस लाने के लिए अपने राज्य के १२वें वर्ष मे मगध पर चढ़ाई की। युद्ध में मगधाधिपति बृहस्पतिमित्र को पराजित करके चेदि सम्राट् खारवेल कलिंग जिन की मूर्ति को अपने राज्य मे वापिस ले आए। इस अभिलेख से यह भी प्रतीत होता है कि पुरातन काल से कलिंग जिन की जैन तीर्थंकर प्रतिमा कलिंग राज्य के स्वाभिमान का प्रतीक रही होगी। इस अभिलेख से जैन मूर्तिकला की प्राचीनता ऐतिहासिक रूप से सिद्ध होती है।

पाटलिपुत्र (लोहानीपुर) मे नाले के निकट की खुदाई से प्राप्त शिरविहीन प्रतिमा को तीर्थंकर की प्राचीनतम प्रतिमा कहा जाता है।

१-३. ग० बोंदार्ग लेविन एवं अ० विगासिन, भारत की छवि, पृ० २६१, २५३, २५६

४. जैन शिलालेख संग्रह भाग 2, शिलालेख सं० 2

पालिश व चमक के आधार पर इसे मौर्यकालीन मूर्ति माना गया है। खुदाई में प्राप्त नींवाधार से मूर्ति की पूजा के लिए मन्दिर की कल्पना करना असंगत नहीं है। इस मूर्ति का विश्लेषण करते हुए महान् पुरातत्त्वशास्त्री श्री अमलानन्द घोष का अभिमत है—"लोहानीपुर से मौर्ययुगीन तीर्थंकर प्रतिमाएं यह सूचित करती हैं कि इस बात की सर्वाधिक सम्भावना है कि जैन धर्म पूजा-हेतु प्रतिमाओं के निर्माण में बौद्ध और ब्राह्मण धर्म से आगे था। बौद्ध या ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित देवताओं की इतनी प्राचीन प्रतिमाएं अभी तक प्राप्त नहीं हुई हैं जिनकी शैली पर लोहानीपुर की मूर्तियां उत्कीर्ण की गई हैं।"[1]

मौर्य राज्य के पतन और सेनापति पुष्यमित्र के अभ्युदय से जैन मूर्ति कला के विकास में अवरोध आना स्वाभाविक था। सेनापति पुष्यमित्र श्रमण परम्परा का कट्टर विरोधी था। उसने अपने राज्य में यह घोषणा कराई थी कि "यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि" अर्थात् जो मुझे एक श्रमण का सिर देगा उसे मैं सोने के सौ सिक्के (दीनार) दूंगा। जैन धर्मानुयायियों ने प्रबल विरोध के युग में भी अपनी कला के संरक्षण एवं विकास का प्रयास किया। पभोसा की गुफाएँ और मथुरा की शुंगकालीन मूर्तियां जैन समाज की अदम्य जीवनशक्ति का उदाहरण हैं।

प्राचीनकाल से मथुरा भारतीय संस्कृति का प्रभावशाली केन्द्र रहा है। जैन धर्म के पौराणिक साहित्य में इस नगरी का विशेष उल्लेख मिलता है। बृहत्कल्पभाष्य की अनुश्रुति के अनुसार इस नगर के ९६ ग्रामों में लोग अपने घरों के द्वारों के ऊपर तथा चौराहों पर जिन मूर्तियों की स्थापना करते थे। इस क्षेत्र से जैन पुरावशेष बड़ी संख्या में प्राप्त होते हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् डॉ० राखलदास बन्द्योपाध्याय ने मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन एवं गुप्तकालीन पुरातात्त्विक सामग्री का विश्लेषण करते हुए कहा है—"मथुरा जिले में और उसके निकटवर्ती जिलों से जो अभिलेख प्राप्त हुए हैं उनमें से अधिकांश से यही सिद्ध होता है कि ई० पू० पहली शताब्दी से लेकर चौथी शताब्दी ई० तक जो मन्दिर बने उनमें नब्बे प्रतिशत जैन और बौद्ध-धर्म के थे।"[2]

जनरल कनिंघम, डॉ० फ्यूरर, प० राधाकृष्ण द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कंकाली टीला (मथुरा) में की गई खुदाई से लगभग एक सहस्र जिन प्रतिमाएं, स्तूप, आयागपट, तोरण इत्यादि प्राप्त हुए हैं। इस पुरातात्त्विक सामग्री में अनेक महत्त्वपूर्ण अभिलेख भी हैं। यथा—

(क) नमो आरहतो वधमानस आराये गणिका—ये लेणशोभिकाये धितु शमणसाविकाये नादाये गणिकाये वासये आरहता देविकुला आयगसभा प्रपा शीलपटा पतिष्ठापितं निगमा—ना अरहतायतने स [ह] मातरे भगिनिये धितरे पुत्रेण सर्विन च परिजनेन अरहतपुजाये।[3]

(ख) नमो अरहंतानं फगुयशस नतकस भयाये शिवयशा—[—]—[—]काये आयागपटो कारितो अरहतपुजाये [॥][4]

(ग) ···तस्य पुत्रो कुम [ा] रभटि गंधिको तस—नं प्रतिमा वर्धमानस्य प्रतिमखित [वो] धित[5]

(घ) ···कपुत्रस्य गोट्टिकस्य लोहिकाकारकस्य दान सर्व्वसत्वान हितसुखायास्तु।[6]

विद्वानों द्वारा किए गए शोधकार्य के परिणामस्वरूप कंकाली टीला से प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्री और अभिलेखों का अध्ययन करने से कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य प्राप्त हुए हैं—

(१) दो हजार वर्ष पहले जैन प्रतिमाएं नग्न ही बनाई जाती थीं। मूर्तियों में वस्त्रों का प्रदर्शन कालान्तर में हुआ।

(२) तीर्थंकर प्रतिमाएं कायोत्सर्ग एवं पद्मासन दोनों मुद्राओं में हुआ करती थी। अभिलेखों के आधार पर अधिकांश प्रतिमाएं आदिनाथ, अजितनाथ, सुपार्श्वनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ और महावीर स्वामी की होती थीं। पुरानी मूर्तियों में लांछन (चिह्न)—बैल, हाथी इत्यादि नहीं हुआ करते थे। तीर्थंकर वृषभदेव के केश (जटाएं), सुपार्श्व एवं पार्श्वनाथ के सर्पफण उन्हें पहचानने में सहायता देते हैं। सर्वतोभद्रिका (चतुर्मुख) प्रतिमाओं का भी प्रचलन था।

(३) जैन धर्म सर्वसाधारण का धर्म था। प्रस्तुत लेख में उद्धृत किये गए अभिलेख क, ख, ग और घ से सिद्ध होता है कि पूजा-प्रतिष्ठा के कार्य में गणिकाएं, गणिकापुत्रियां, नर्तकियां, गंधिक (इत्र बेचने वाले), लुहार इत्यादि समान रूप से भाग लेते थे।

(४) कुषाणकालीन समाज में मातृपरम्परा का भी उल्लेख होता था। यथा वात्सीपुत्र, गोतिपुत्र इत्यादि।

---

१. डॉ० अमलानन्द घोष, जैन कला एवं स्थापत्य—खंड-१, पृ० ४

२. श्री राखलदास बंद्योपाध्याय, गुप्त युग, पृ० ८८

३-६ जैन शिलालेख संग्रह भाग-२, शिलालेख सं० ८, १५, ४२, ५४

(५) अभिलेखों में जैन मुनियों के गणों, कुलों और शाखाओं का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार के गण, कुल एवं शाखा श्वेताम्बर आगम 'कल्पसूत्र' की स्थविरावली में तथा कुछ वाचक आचार्यों के नाम नन्दिसूत्र की पट्टावली से मिलते हैं।

(६) तीर्थंकर मूर्तियों में यक्ष-यक्षिणी का चित्रांकन भी हुआ करता था। यक्षिणी चक्रेश्वरी, अम्बिका की पृथक् मूर्तियां बननी आरम्भ हो गई थीं। यक्ष मूर्तियों में नेगमेष एवं धरणेन्द्र की मूर्तियां उल्लेखनीय हैं। जैन देव कुल के क्रमिक विकास को समझने मे यहां की मूर्तियां उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।

(७) 'देवनिर्मित बोद स्तूप', आयागपट, सरस्वती की आकर्षक प्रतिमा इत्यादि जैन कला की सम्पन्नता एवं विकासोन्मुखी स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हैं।

बौद्ध साहित्य के परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध मानवाकार मूर्तियो के निर्माण को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। इसीलिए प्रारम्भिक बौद्ध काल में महात्मा बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण नही हो पाया। कालान्तर मे जैन धर्म में मूर्ति पूजा की लोकप्रियता एवं महत्त्व को दृष्टिगत करते हुए बौद्ध धर्मानुयायियों ने भगवान् बुद्ध की मूर्ति बनाने की परम्परा प्रारम्भ की। इस सम्बन्ध मे डॉ० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी ने बुद्ध-प्रतिमा के निर्माण के आधार का विश्लेषण करते हुए लिखा है—"बैठे हुए बुद्ध की मूर्ति कदाचित् भरहुत-कला मे दृष्टिगोचर होने वाली दीर्घ तापसी की प्रतिमा को देखकर बनाई गई हो। कुछ विद्वानों के मतानुसार मथुरा से प्राप्त जैन-आयागपट्टों पर अंकित तीर्थंकर प्रतिमा भी इसका आधार हो सकती हैं।"[1]

श्री शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी ने एक कुषाणकालीन बुद्ध प्रतिमा की चरण चौकी पर जैन मूर्ति शैली के प्रभाव का उल्लेख किया है। डॉ० राखलदास बंद्योपाध्याय ने भी मानकुंवर से प्राप्त भगवान् बुद्ध (गुप्त सं० १२९) की बहुचर्चित मूर्ति की मथुरा से प्राप्त तीर्थंकर प्रतिमा (गुप्त सं० ११३) से तुलना करते हुए कहा है कि बुद्ध की मूर्ति में प्रयुक्त अभयमुद्रा जिन मूर्तियों से ली गई है। उनके मतानुसार मानकुंवर और उक्त जैन मूर्ति में सिंहासन के सिंह, धर्मचक्र और उसका पीठक और इसी प्रकार स्वयं बुद्ध की आकृति कुषाण परम्परा मे है, जैन मूर्ति में श्रद्धा-वनत भक्त भी इसी प्रकार अंकित हुए हैं।[2] इन सन्दर्भों से सिद्ध होता है कि प्रारम्भिक बौद्ध मूर्तियों पर जैन मूर्ति कला का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा होगा।

गुप्तकालीन जैन मन्दिर एवं मूर्तियां अनेक स्थानों से प्राप्त हुए हैं। देवरिया जिले के अन्तर्गत सलेमपुर मझोली से पांच मील दूर स्थित कहांव ग्राम से प्राप्त स्तम्भलेख इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस अभिलेख मे सम्राट् के नाम के साथ गुप्त सम्वत् का भी प्रयोग किया गया है। "पंचेन्द्रांस्थापयित्व···" से ज्ञात होता है कि भद्र नामक व्यक्ति ने पांच तीर्थंकरों की प्रतिष्ठा में इस स्तम्भ का निर्माण कराया था। जैन स्थापत्य की विशिष्ट शैली मेरुओं में भी चार, आठ एवं बारह पहल होते हैं। जैन मूर्ति शास्त्र में पांच जैसी विषम संख्या के उपयोग की जानकारी नहीं मिलती। प्रस्तुत अभिलेख से जैन स्थापत्य की दुर्लभ विधा—पांच तीर्थंकरों से युक्त वेदिका की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि जैन देव शास्त्र पर शोधपरक कार्य करने वाले अनुसन्धाताओं के लिए अत्यन्त उपादेय है।

जैन मूर्तिशास्त्र मे वैविध्यपूर्ण मूर्तिकला का विधान है। जैन धर्मानुयायियों ने पाषाण की भांति धातु में भी सबसे पहले तीर्थंकर प्रति-माओं का निर्माण किया था। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम में भगवान् पार्श्वनाथ की कांस्य मूर्ति को विश्व की सर्वाधिक प्राचीन धातु प्रतिमा के रूप में जाना जाता है। धातु प्रतिमाओं की दृष्टि से गुप्तकाल में अनेक जैन प्रतिमाएं निर्मित हुईं। चौसा में मिट्टी की खुदाई में से प्राप्त जैन धातु मूर्ति समूह (१६ तीर्थंकर प्रतिमा, १ कल्पवृक्ष, १ धर्मचक्र) का निर्माण प्रारम्भिक कुषाणकाल एवं आरम्भिक गुप्त काल मे हुआ था। जैन धातु प्रतिमा का यह समूह बिहार मे जैन धर्म के सबल अस्तित्व का द्योतक है। कालान्तर में सुरक्षा की दृष्टि से भी धातु-प्रतिमाओं का बड़ी संख्या मे निर्माण हुआ। आज देश-विदेश के संग्रहालयो एव जैन मन्दिरो मे लाखों की संख्या में जैन धातु प्रतिमाएं विराजमान हैं। जैन समाज मे मूर्तियों की इस बहुलता का कारण जैन धर्म ग्रन्थों में वर्णित पुण्य कर्म बंध का विवेचन रहा होगा। आचार्य वसुनन्दि ने श्रावकाचार की ४८१वीं गाथा में कहा है—"जो कुन्थुम्भरि के पत्र बराबर जिन मन्दिर बनाकर उसमें सरसों के बराबर भी जिन प्रतिमा की स्थापना करता है वह मनुष्य तीर्थंकर पद के योग्य पुण्यबंध करता है।" फलस्वरूप अपने भावी जीवन को सुखद बनाने की दृष्टि से श्रावक समुदाय ने भारतवर्ष के विभिन्न राज्यों में बड़ी संख्या में जिनबिम्बों एवं मन्दिरों का निर्माण कराया।

श्री आर० डी० बैनर्जी[3] ने चीनी यात्री युवान च्वांग के विवरणों को आधार मानकर इस तथ्य की पुष्टि की है कि उड़ीसा के बौद्ध

---

१. डॉ० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० १६६
२. द्रष्टव्य श्री राखलदास बंद्योपाध्याय, गुप्त युग, पृ० १२३-१२४
३. जैन बिबलियोग्राफी (छोटेलाल जैन), वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली, तालिका सं० १२०७

प्रदेश में उस समय १० हजार से अधिक जैन मन्दिर थे। इसी प्रकार श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी[1] ने लिखा है कि सम्राट् कुमारपाल ने आचार्य हेमचन्द्र के परामर्श से ११६० ई० में जैन मत अंगीकार किया और 'परमअर्हत' की उपाधि ग्रहण की। उसके राज्य में १४१४० जैन मन्दिरों का निर्माण कराया गया। सुप्रसिद्ध मध्यकालीन इतिहास-लेखक डॉ० ईश्वरी प्रसाद के अनुसार, "आबू का जैन मन्दिर मुसलमान काल से पहले की भारतीय स्थापत्य-कला का सर्वांग सुन्दर उदाहरण है।" और दिलवाड़ा के जैन मन्दिरों के कलात्मक वैभव के सम्बन्ध में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का कथन है कि "वस्तुपाल-तेजपाल की अमरकृति भारतीय शिल्प की अमर निधि है। संगमरमर को मोम और मक्खन की तरह काटकर सुन्दर फूल-पत्ते निकाले गए हैं।" "इस प्रकार स्पष्ट है कि संख्या एवं गुणवत्ता दोनों दृष्टि से जैन मन्दिरों का अपूर्व कीर्तिमान रहा है।

जैन धर्म में मूर्ति पूजा का विधान भावशुद्धि के लिए किया गया था। तीर्थंकर प्रतिमाएँ सांसारिकता में लिप्त मानव समाज को आत्मानुसन्धान के लिए प्रेरित करती हैं। जैन मूर्तियों के मुखमंडल पर अनन्त शांति एवं वीतराग भाव के दर्शन होते हैं। तीर्थंकर मूर्तियों में अन्तर्निहित सौन्दर्य को देखकर कलाप्रेमी भावविह्वल हो जाते हैं। महान् कला प्रेमी बैंजमिन रोलैण्ड भी जैन मूर्ति शिल्प की कायोत्सर्ग मुद्रा और उसके दर्शन से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। उन्होंने लिखा है कि "यदि हम किसी जैन सन्त की दिगम्बर प्रतिमा और यूनान के प्राचीन वास्तुशिल्प के अन्तर्गत अपोलो (सूर्य) देवता की मूर्तियों को साथ-साथ रखकर देखें तो दोनों में इतनी अधिक समानता है कि हम सहसा यह सोचने लगते हैं कि कदाचित् दोनों का स्रोत एक ही है।

यूनान में कई स्थानों पर उपलब्ध अपोलो देवता की नग्न प्रतिमाओं का समय ईसा से पूर्व सातवीं से पांचवीं सदी तक माना गया है। यद्यपि अलग-अलग प्रदेशों में मिलने वाली इन मूर्तियों में तकनीक और निर्माण सामग्री की दृष्टि से कुछ अन्तर है किन्तु सभी एकदम सीधी खड़ी हुई मुद्रा में हैं, दोनों बाहें देहयष्टि से सटी हुई है और एक पांव कुछ आगे की ओर बढ़ा हुआ है। जैन तीर्थंकरों की प्रतिमा और यूनानी देवता की प्रतिमा दोनों में मूर्तिकार ने एक वीर और अतिमानवीय सत्ता के स्वामी के व्यक्तित्व की झलक एक पूर्णतया विवस्त्र प्रतिमा के माध्यम से प्रस्तुत की है। दोनों में कन्धों की चौड़ाई बहुत अधिक है, कमर पतली है और आगे की ओर से खड़ी हुई मुद्रा में दोनों भुजाएं देहयष्टि के साथ सटी हुई हैं।

जैन तीर्थंकरों की दिगम्बर प्रतिमाओं में कायोत्सर्ग का मूर्तिमान चित्रण है। कायोत्सर्ग योग साधना की वह चरम स्थिति है जिसमें साधक सभी प्रकार के भौतिक प्रलोभनों से मुक्त हो जाता है। भगवान् बाहुबली के सम्बन्ध में तो प्रसिद्ध है कि इस स्थिति में उनके अंगों में माधवी लताएं लिपट गयी थीं और चरणों के आसपास चींटियों ने घर बना लिए थे। साधना की इस चरम स्थिति में कोई शारीरिक क्रिया नहीं होती और निर्विकल्प ध्यान के माध्यम से धर्ममय यह काया इतनी शुद्ध और निष्कलंक हो जाती है कि उसमें दैवी आलोक के दर्शन होते हैं। यह पूर्णता की वह स्थिति है जिसमें निराकार का तेज है और साकार पदार्थ में रहने वाला कोई कलुष नहीं है।

यूनान के सूर्य देवता (अपोलो) और जैन प्रतिमाओं में एक मूलभूत अन्तर यह है कि जैन प्रतिमाओं का अभीष्ट एक आध्यात्मिक आदर्श उपस्थित करता है, न कि शरीर सौष्ठव का प्रभावशाली प्रदर्शन। जैन प्रतिमाओं की नग्नता में आध्यात्मिक वैराग्य झलकता है, न कि सुन्दर और पुष्ट देहयष्टि। यूनानी सूर्य देवता की प्रतिमा में स्नायुमण्डल के सुन्दर एवं सुपुष्ट गठन को उभारा गया है जबकि जैन प्रतिमाओं में ऐसा संकेत भी नहीं है। जैन प्रतिमाओं में साधना की चरम स्थिति (समाधि) में पहुंचे योगी के दर्शन होते हैं और मूर्तियों की समग्र शरीर रचना और विशाल बाहुओं में समाधि की सहजता झलकती है। इस स्थिति में आत्मा वायविक परिवेश से बिल्कुल कटकर परमात्मा से एकाकार होकर पूर्णता को प्राप्त करती है।"[2] इस प्रकार जैन तीर्थंकर प्रतिमाएं इन्द्रियों पर आत्मा की जय का महाकाव्य हैं।

सुल्तान महमूद गजनी, शहाबुद्दीन, मुहम्मद गौरी आदि विदेशी मुसलमानों के निरन्तर आक्रमणों के परिणामस्वरूप जैन स्थापत्य कला को आघात पहुंचा। धर्मान्ध शासकों की विरोधी नीति के कारण शताब्दियों की साधना से निर्मित अनेक कलात्मक जैन मन्दिर ध्वस्त कर दिए गए और उनके अवशेष से नई इमारतें खड़ी की गईं। श्री एच० एच० कोल ने १८७२ ई० में लन्दन में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'प्राचीन दिल्ली का वास्तुशिल्प' में कुतुब मीनार के निकट स्थित 'कुव्वत-उल-इस्लाम' मस्जिद का उल्लेख करते हुए ठीक ही लिखा है कि मस्जिद के दक्षिणी खंड के एक प्रस्तर स्तम्भ में महात्मा बुद्ध अथवा किसी जैन तीर्थंकर की प्रतिमा देखी जा सकती है। मस्जिद की छतों और गुम्बदों में जैन वास्तुशिल्प की छाप स्पष्ट है। स्तम्भ भी वैसे ही हैं जैसे आबू पर्वत में हैं। छत और कम दिखाई देने वाले खम्भों में जैन सन्तों (तीर्थंकरों) की

१. जैन बिबलियोग्राफ़ी (छोटेलाल जैन), वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली, तालिका सं० १३५७
२. वही, तालिका ६१६

पद्मासन स्थित मूर्तियां और अन्य धर्म चिह्न अभी भी देखे जा सकते हैं। मस्जिद के सम्पूर्ण वास्तुशिल्प में राजस्थान के जैन वास्तुशिल्प की गहरी छाप है।[1] देश के विभिन्न भागों में कट्टर मौलवियों की प्रेरणा से अनेक विशालकाय जैन मन्दिरों को मस्जिद का रूप दे दिया गया। पुरातत्ववेत्ता श्री मुनीशचन्द्र जोशी के अनुसार—अजमेर स्थित मस्जिद, अढ़ाई दिन का झोंपड़ा, मूलरूप में जैन मन्दिर था। इस मस्जिद के पास और उसके भीतर जैन मूर्तियां पाई गयी थीं। मस्जिद के परिवर्तित रूप में भी उसकी संरचना चतुष्कोण जैन मन्दिरों तथा उनकी अलकृत छतों से मिलती-जुलती है। स्तम्भों का रूपांकन सबल है और उसमें सुस्पष्ट अलंकरण योजना है।[2]

कुछ उदार मुस्लिम शासकों के राज्यकाल में जैन धर्मानुयायियो ने अपने मन्दिरों का पुनर्निर्माण कराया। भारतवर्ष के जैन मन्दिरों मे मुस्लिम शासन के विभिन्न कालों की अनेक मूर्तियां उपलब्ध होती हैं। अनेक मुसलमान शासको ने भारतीयता के रंग मे रंगकर जैन मुनियों का सम्मान किया और जैन विद्वानों को प्रश्रय दिया। महान् मुगल सम्राट् अकबर ने पूर्ववर्ती सुल्तानों द्वारा अपहृत धातु जिनमूर्तियों को जैन समाज को लौटा दिया। गंगाजल का आचमन करने वाले सम्राट् अकबर को भारतीय संस्कृति के सर्वधर्म सद्भाव का प्रतीक पुरुष माना जा सकता है।

भारतवर्ष मे जैन मन्दिर एव मूर्तियों की अनवरत परम्परा को दृष्टिगत करते हुए यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य बोध मे अग्रणी जैन समाज अपने आराध्य पुरुषों की पूजा, आत्मशान्ति एवं गुरुभक्ति के लिए मन्दिरों का निर्माण कराने मे सर्वप्रमुख रहा है। जैन मन्दिर एवं मूर्तिकला के क्रमिक विकास के अध्ययन से यह महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है कि उदार एवं धर्मनिरपेक्ष शासको के राज्यकाल मे देश समृद्ध होता है और कलाओं के विकास को बल मिलता है। इसके विपरीत धर्मान्ध एवं कट्टरपंथी शासको के राज्यकाल मे जनता दुःखी रहती है, राज्यकोष को क्षति पहुंचती है और कलाए मरणोन्मुखी हो जाती हैं।

जैन साहित्य एवं पुरातत्त्व के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतवर्ष के विभिन्न राज्यों मथुरा, पाटलिपुत्र, पेशावर आदि स्थानों पर बड़ी संख्या मे जैन स्तूप रहे हैं। मथुरा जैन स्तूपो की नगरी के रूप मे प्रसिद्ध रहा है। जम्बूस्वामीचरित्र के कर्त्ता पं० राजमल्ल (मुगल सम्राट् अकबर के समकालीन) के अनुसार—उस समय मथुरा मे ५१५ जीर्ण स्तूप मौजूद थे और उनका उद्धार टोडर नाम के एक धनिक साहु ने अगणित द्रव्य व्यय करके कराया था।

जैन स्थापत्य कला के क्षेत्र मे गुहा मन्दिरों का विशिष्ट स्थान है। प्रारम्भ मे जैन साधु पर्वत की उपत्यकाओं मे धर्म साधना करते थे। अतएव भारतवर्ष के पर्वतीय स्थलों में सहस्रों जैन गुहाओं का अस्तित्व मिलता है। स्थापत्य की दृष्टि से बहुविध ऐतिहासिक सामग्री इनसे प्राप्त होती है। धर्मराज सम्राट् अशोक द्वारा बिहार की पहाड़ी बराबर में निर्मित चार गुफाएं और उसके वंशज राजा दशरथ द्वारा निर्मित नागार्जुनी की तीन गुफाएं जैन सन्तों को समर्पित की गई थीं। डॉ० र० चम्पकलक्ष्मी ने भारतीय कला एवं स्थापत्य के अन्तर्गत 'दक्षिण भारत' शीर्षक प्रकाशित लेख में ३०० ई० पू० से ३०० ई० तक की गुफाओं का विस्तार से विवरण दिया है। आनैमले, अरिट्टपट्टि, मांगुलम, मुत्तुप्पट्टि, तिरुप्परंकुरम, तिरुच्चुनुर, अलगरमलै, करुगालक्कुडि, कीळवलवु, तिरुवादवूर, विक्किरमंगलम, मेट्टुपट्टि (मदुरै जिला) पिल्लैयर्पत्ति, मरुकल्तलै (रामनाथपुरम् जिला) तिरुच्चिरप्पल्लि, सित्तन्नवासल, नार्त्तमलै तेनिमलै, पुगलूर, अर्द्धनारीपलैयम् (तिरुच्चिरप्पल्लि जिला), अरच्चलूर (कोयम्बतूर जिला) ममन्दूर, सेंदुरम्बलु, तिरुनाथरकुण्ड, सोलवन्दिपुरम् (उत्तर अर्काट), व्याम्बिकपुरम (चित्तूर जिला) की रमणीक गुफाएं जैन सन्तो के समर्थ व्यक्तित्व एवं कृतित्व की गौरवपूर्ण गाथा हैं। कालान्तर में कुछ गुहाएं अन्य धर्मों के केन्द्र के रूप मे परिवर्तित कर दी गई। उड़ीसा में खण्डगिरि की मंचपुरी गुहा, सर्पगुहा, हरिदासगुहा, व्याघ्रगुहा, जम्बेश्वरगुहा, छोटा हाथी गुंफा, तत्त्वगुहा और अनन्तगुहा से ऐसे बारह अभिलेख मिलते हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि ई० प्रथम शताब्दी पूर्व उड़ीसा मे जैन मुनियों के निवास के लिए कलिंग सम्राट् खारवेल की महारानी, राजकुल के सदस्य, न्यायाधीश एवं श्रावक समाज ने बड़ी संख्या मे गुफाए बनवाई थी।[3]

जैन चित्रकला का इतिहास बहुत प्राचीन है। भारतीय चित्रकला के मर्मज्ञ विद्वान् माननीय श्री रायकृष्ण दास ने भारतीय चित्रकला के सर्वाधिक प्राचीन केन्द्र सरगुजा जिले के रामगढ़ पहाड़ी पर स्थित जोगीमारा-सीताबेंगा गुफाओं के कुछ चित्रों की जैनों से सम्बद्धता के संकेत दिए हैं।[4] पल्लववंशीय राजा महेन्द्रवर्मा ने धर्मान्तरण से पूर्व तिरुच्चिरापल्ली के निकट सित्तन्नवासल में एक गुफा मन्दिर बनवाया था। गुफा

---

१. जैन बिबलियोग्राफी (छोटेलाल जैन), वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली, तालिका २८२

२. श्री मुनीशचन्द्र जोशी, जैन कला एवं स्थापत्य—खंड-२, पृ० २५१

३. पृष्ठव्य, डॉ० र० चम्पकलक्ष्मी, जैन कला एवं स्थापत्य—खंड-१, पृ० १००-१०७

४. श्री अमलानन्द घोष, जैन कला एवं स्थापत्य—खण्ड-१, पृ० ११

मन्दिर की प्रारम्भिक भित्ति चित्र संयोजना में जैन प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। आकाश मे मेघो के बीच नृत्य करती हुई अप्सरा तथा राजा-रानी की आकृतियां सुन्दर एवं सजीव हैं। मन्दिर की छत पर बने हुए चित्रों मे कमल सरोवर का प्रस्तुतीकरण अत्यन्त प्रभावशाली है। सित्तन्नवासल के गुहा मन्दिर की छत, तोरण, स्तम्भ इत्यादि पर हुआ चित्रांकन भारतीय कला के इतिहास की अनुपम निधि है। ऐलोरा का कैलाशनाथ मन्दिर, तिरुमलाई के जैन मन्दिर, श्रवणबेलगोल के जैन मठ के भित्ति-चित्र प्राचीन जैन कला वैभव के सूचक हैं।

भारतीय संस्कृति और कला के विशेषज्ञ श्री वाचस्पति गैरोला ने जैन चित्रकला के इतिहास, परम्परा और प्रभाव का विस्तार से इस प्रकार विवेचन किया है—"भारतीय चित्रकला के इतिहास मे जैन चित्रकला न केवल अपनी समृद्ध थाती के लिए, अपितु प्राचीनता के लिए भी प्रसिद्ध है। भारतीय चित्रकला की समस्त शैलियों में १५वी शती ई० से पहले के जितने भी चित्र प्राप्त हैं, उनमे मुख्यता तथा प्राचीनता जैन चित्रों की है। प्राचीन महत्त्व के ये जैनचित्र दिगम्बर जैनियो से सम्बद्ध हैं, जिन्होंने अपने सम्प्रदाय-सम्बन्धी ग्रन्थो को चित्रित करवाने में बड़ी रुचि ली। इन आरम्भिक जैनचित्रों को विद्वानों ने पश्चिमी गुजरात तथा अपभ्र श शैली नाम दिया है···।"

वस्तुत: ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से १०वी शती ई० से लेकर १५वी शती ई० तक की चित्रकला-परम्परा को जीवित बनाये रखने में जैन कलाकारों का सर्वाधिक योगदान रहा है। जैन चित्रकला के मुख्यत तीन माध्यम हैं ताडपत्र, कपड़ा तथा कागज। कागज की पोथियों पर जैन कलाकारों ने सुन्दर चित्र बनाये हैं। इस प्रकार की अधिकतर पोथिया यद्यपि जैनधर्म से ही सम्बद्ध है, तथापि 'मार्कण्डेय पुराण', 'दुर्गा सप्तशती' आदि ग्रन्थों के चित्रण मे भी जैन कलाकारो का योगदान रहा। उन्होंने 'रति रहस्य', 'कामसूत्र' आदि ग्रन्थो के आधार पर भी कागज पर फुटकर चित्र निर्मित किये। कागज की जो पोथियां चित्रित की गयी हैं उन्हे ताड़पत्रीय आकार मे काटकर उन पर लेखन तथा चित्रण का कार्य किया गया है। इन पोथियों पर मूल्यवान् स्वर्ण तथा रजत रंगों का उपयोग किया गया है। ताडपत्र और कागज के अतिरिक्त वस्त्र तथा पटों पर भी जैन-कलाकारों ने चित्रण किया। इन कलाकारो को वस्त्रचित्रो की प्रेरणा सम्भवत' बौद्धकला से प्राप्त हुई थी। जैन शैली का एक महत्त्वपूर्ण वस्त्रचित्र वाशिंगटन की फ्रीयर आर्ट गैलरी मे सुरक्षित है, जो 'वसन्तविलास' (१५०८ वि० मे रचित) पर आधारित है और जिसे विश्व चित्रकला के इतिहास मे दुर्लभ कलाकृति माना जाता है।

शैली एवं संरचना की दृष्टि से जैन चित्रकला का अपना पृथक् महत्त्व है। उसका चक्षु-चित्रण उसकी विशिष्टता का द्योतक है, जो प्रत्येक दर्शक को सहज ही आकर्षित कर लेता है। जैन चित्र-कला का यह चक्षु-चित्रण वस्तुत: जैन मूर्ति शिल्प का रिक्थ है, जिसे विशेष रूप से जैन प्रतिमाओं में देखा जा सकता है। उसका प्रभाव राजपूत तथा मुगल शैलियो पर भी परिलक्षित हुआ। रंगों और रेखाओं के संयोजन में भी जैन कलाकारों की सजगता प्रशंसनीय है। ताड़पत्रों पर अंकित चित्रों में प्रधानत: पीले रंग का उपयोग है, यद्यपि कहीं-कहीं स्वर्ण रंग को भी संयोजित किया गया है। कागज के चित्रों की पृष्ठभूमि पीले तथा लाल रंग की है और वस्त्रचित्रों पर उनके छोटे-छोटे चिह्न अंकित कर दिये गये हैं।

जैन कलाकार राजपूत कलम की ओर लगभग १५वी शती से ही आकर्षित होने लगे थे। बाद मे मुगल चित्रकला में ईरानी शिल्प के बढ़ते हुए प्रभाव से वह भी अछूती न रह सकी। फलत: राजपूत चित्रकला की बढ़ती हुई समृद्धि मे जैन चित्रकला की परिणति हो गयी। इस रूप में जैन चित्रकला राजपूत चित्रकला के साथ निरन्तर सम्पर्क स्थापित करती गयी। किन्तु कुछ बातो मे दोनो की भिन्नता बनी रही। हिन्दू राजपूत कला जब स्थूल मांसलता की ओर अग्रसर हुई और उसमे राग-रागिनी, नख-शिख, बारहमासा विषयक चित्रो का अम्बार लगने लगा तब भी जैन कला अपनी परम्परागत धार्मिकता मे अडिग बनी रही।"[1]

जैन धर्म के प्रारम्भिक प्रतिष्ठानो के निर्माण मे काष्ठ का बहुलता से प्रयोग हुआ है। श्री हृदयवदन राव के अनुसार—"जैन मतावलम्बियो ने प्रारम्भ में जिन धार्मिक स्थानो का निर्माण किया उनके लिए काष्ठ का उपयोग किया गया। कालान्तर में इनके स्थान पर पत्थर के पक्के चैत्यालय बनाए गए। इस तथ्य का उल्लेख उस समय के अनेक शिलालेखो मे मिलता है।" जैन काष्ठ शिल्प की प्राचीनता एवं जैन कला में काष्ठ के वैशिष्ट्यपूर्ण प्रयोगों को दृष्टिगत कर डॉ० विनोद प्रकाश द्विवेदी ने सत्य ही कहा है—"काष्ठ शिल्प मे जैनो ने अपने सहगामी हिन्दुओं और बौद्धों का नेतृत्व किया। जैन काष्ठ शिल्पांकनों से उनका निर्माण कराने वाले जैन धनिकों की अभिरुचि का आभास मिलता है जो अपने घर-देरासरो या मन्दिरों मे उपलब्ध तिल-तिल स्थान का अलंकरण हुआ देखना चाहते थे।"[2] वास्तव मे जैन काष्ठ शिल्प श्रावकों के अन्तर्मन की सौन्दर्यानुभूति का भक्तिपरक चित्रण है।

---

१. दृष्टव्य, श्री वाचस्पति गैरोला, भारतीय संस्कृति और कला, पृ० २६१-२६३

२. डॉ० विनोद प्रकाश द्विवेदी, जैन कला एव स्थापत्य—खंड ३, पृ० ४५१

श्री रंगाचारी वनजा[1] के अनुसार दक्षिण भारतीय मुद्राओं पर जैन प्रभाव का प्रमाण आरम्भिक पाण्ड्य शासकों की चतुष्कोण तांबे में ढली या ठप्पे की सहायता से बनायी गई उन कास्य-मुद्राओं से मिलने लगता है जो उन्होंने तीसरी और चौथी शताब्दी के मध्य प्रसारित की थीं। पाण्ड्य शासकों का प्रारम्भिक धर्म जैन धर्म था। अत: पाण्ड्य शासकों की मुद्राओं पर अष्ट मंगल द्रव्य—स्वस्तिक, श्रीवत्स, नद्यावर्त, वर्धमानक, भद्रासन, कलश, दर्पण और मत्स्य युगल का होना अस्वाभाविक नहीं है। होयसल नरेश बिट्टी विष्णुवर्धन ने १११६ ई० में चोल राज्यपाल से तलकाड जीतने के उपरान्त स्वर्ण मुद्राएं प्रसारित की थीं। अब तक यह माना जाता रहा है कि मुद्रा के अग्रभाग पर अंकित आकृति चामुण्डा की है। श्री वनजा के अनुसार मुद्राओं पर अंकित केसरी सिंह और सिंहासीन यक्ष अम्बिका का आरम्भ में गलत अर्थ ले लिया गया था। किन्तु सूक्ष्म परीक्षण के पश्चात् सिद्ध हुआ है कि यह आकृति और उसके आयुध अम्बिका के हैं।

जैनाचार्य अपनी उदार दृष्टि के लिए विख्यात रहे हैं। देश के प्रत्येक अंचल की पदयात्रा करके उन्होंने लोक जीवन के विविध पक्षों को अपने चक्षुओं से देखा है और अपने धर्म को युगीन परिस्थितियों के अनुरूप बनाने के लिए उन्होंने लोक सम्कृति के अनेक तत्त्वों का जैन धर्म में समावेश कर लिया है। श्री वाचस्पति गैरोला के अनुसार—

"तीर्थंकरों के दोनों पार्श्वों में यक्ष-यक्षिणियों के युगल चित्र वस्तुत: जैन तीर्थंकरों और कलाकारों के लोक-जीवन के प्रति अनुराग के प्रतीक हैं।···जैन साहित्य के निर्माताओं ने जिस प्रकार लोक भाषाओं को अपनाकर लोक-जीवन के प्रति अपनी निष्ठा को व्यक्त किया उसी प्रकार जैन कलाकारों ने अपनी कला-कृतियों में लोक-विश्वासों को अभिव्यंजित कर लोक-सामान्य के प्रति अपनी गहन अभिरुचि को प्रकट किया है।"[2]

जैन पुराणशास्त्र में चक्रवर्ती सम्राट् भरत की दिग्विजय यात्रा में वर्णित देश एवं नगरों की तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन संसार के भूगोल की जैनाचार्यों को विशेष जानकारी थी। जैन तीर्थंकर अपने विशिष्ट प्रभाव के कारण देश-विदेश में सपूजित थे। कर्नल टाड के अनुसार प्राचीन काल में चार बुद्ध या मेधावी महापुरुष हुए हैं। इनमें पहले आदिनाथ ऋषभदेव थे। दूसरे नेमिनाथ थे। ये नेमिनाथ ही स्केण्डिनेविया निवासियों के प्रथम ओडिन तथा चीनियों के प्रथम फ़ो नामक देवता थे।[3]

प्राचीन काल में जैन धर्म के मिशन का विश्वव्यापी प्रचार-प्रसार हुआ था। बौद्ध धर्म के प्रचलन से पूर्व ही जैन धर्म के सिद्धान्तों ने मध्य एशिया को प्रभावित किया था। महान् अनुसन्धाता प्रो० बील की मान्यता है कि गौतम बुद्ध द्वारा धर्मप्रवर्तन से बहुत पूर्व मध्य एशिया में उससे मिलता-जुलता धर्म प्रचलित था। सर हेनरी रालिन्सन ने तो मध्य एशिया के बल्खनगर का नव्यविहार तथा ईंटों से बने हुए अन्य प्राचीन स्मारकीय अवशेषों को देखकर उरगवंशी भगवान् पार्श्वनाथ (काश्यप) के वहां जाने के सम्बन्ध में जानकारी दी है।[4] इसी प्रकार श्री डी० जी० महाजन[5] ने सन् १९४५ में हुए भारतीय इतिहास सम्मेलन में प्रस्तुत अपने अन्वेषणात्मक लेख में प्रतिपादित किया कि श्रीलंका के प्राचीन ग्रन्थों 'दीपवंश' और 'महावंश' से यह तथ्य प्रकाशित होता है कि श्रीलंका में जैनमत बौद्धमत से बहुत पहले प्रचलित था। जैन मतानुयायी सम्राट् उदयन ने अनुराधापुर नगर की स्थापना की और अनेक जैन मन्दिरों, मठों और स्तूपों का वहां निर्माण कराया। इसी प्रकार पांडुकभय तथा अभय प्रभृति नरेशों ने निर्ग्रंथों की सेवार्थ कई निर्माण कराए और अनेक स्तूपों और जैन मूर्तियों की स्थापना की। श्रीलंका के मूल आदिवासी जिन्हें 'वेद्द' कहा जाता था वास्तव में जैन मतानुयायी विद्याधर थे।

जैन धर्म अपनी उदार दृष्टि एवं जीवन मूल्यों के कारण सनातन काल से मानव मात्र के धर्म के रूप में जाना जाता है। इसके समुन्नत दर्शन एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने मानव समाज के चिन्तन पक्ष को प्रभावित किया है। प्राचीन युग में इस महान् विचारधारा ने तत्कालीन संसार को किस प्रकार से संस्कारित करने में सहयोग दिया, यह अब शोध का विषय है। समय-समय पर विभिन्न शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित निबन्धों से यह जानकारी अवश्य मिलती है कि भारतवर्ष के इस प्राचीन धर्म का विश्व समाज के उन्नयन में अपूर्व सहयोग रहा है। उदाहरण के लिए श्री सिल्वालेवी ने यह जानकारी दी है कि सुमात्रा आदि प्रदेशों में जैनधर्म का प्रभाव रहा है। पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री के अनुसार जापान में प्रचलित झेन मत भी जैन धर्म से प्रभावित है। पंडिताचार्य महोदय ने तो यह सिद्ध किया है कि लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व दक्षिण भारत में बहुत से जैनी अरब देश से आकर बसे थे। अरब पर्यटक सुलेमान के अनुसार राष्ट्रकूट नरेशों की अरबी मुसलमानों से गहरी मैत्री थी और वे उन्हें

---

१. द्रष्टव्य श्री रंगाचारी वनजा, जैन कला एवं स्थापत्य, खंड-३, पृ० ४७४-४७५

२. श्री वाचस्पति गैरोला, भारतीय संस्कृति और कला, पृ० ६४

३-४. द्रष्टव्य, डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ० ४४ एवं ४८

५. जैन बिबलियोग्राफ़ी (छोटेलाल जैन), वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली, तालिका १३६२

व्यापार के लिए विशेष सुविधाएं देते थे। अतः प्राचीन भारत में राष्ट्रकूट नरेशों के संरक्षण में पल्लवित जैन धर्मानुयायियों का बड़ी संख्या में अरब और उसके निकटवर्ती देशों में होना कोई असम्भव बात नहीं है। इतिहास साक्षी है कि जैन कला के महान् उन्नायक मन्त्रीद्वय वस्तुपाल एवं तेजपाल का जैन मन्दिरों के साथ-साथ हिन्दू एवं मुसलमान तीर्थ स्थलों से भी रागभाव रहा है। इसीलिए उन्होंने एक कलापूर्ण आरसी-पत्थर का तोरणद्वार बनवाकर भेंट स्वरूप मक्का भेजा था। जैन धर्मानुयायी प्राचीनकाल से ही स्थापत्य कला में अग्रणी रहे हैं। सहिष्णुता के पोषक जैन धर्मानुयायियों ने देश-विदेश की कला शैलियों से सामंजस्य बनाए रखा। डॉ० हेर्मरिक जिम्मर ने भगवान् पार्श्वनाथ की सर्पफणयुक्त प्रतिमा और मैसोपोटामिया की प्राचीन कला के स्वरूपों में सादृश्यता को देखते हुए दोनों कलाओं के मध्य सम्पर्क सूत्रों की उद्भावना की है।[1]

जैन कला प्रतीक कितने प्रभावशाली रहे हैं और उनका देश-विदेश में किस प्रकार से अनुकरण हुआ है, जैन सर्वतोभद्रिका इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। प्रो० सरसी कुमार सरस्वती ने अपने विद्वत्तापूर्ण लेख 'पूर्व भारत' में जैन सर्वतोभद्रिका का विशद विवेचन एवं तुलनात्मक अध्ययन करके यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि जैन कला के इस विशिष्ट प्रतिमा-प्रतीक का सम्बन्ध एक दुर्लभ प्रकार के मन्दिरों के विकास के साथ देखा जा सकता है। ये दुर्लभ मन्दिर दक्षिण पूर्व एशिया में भी पाये जाते हैं। उनके अनुसार बर्मा के बौद्ध मन्दिरों में जैन सर्वतोभद्रिका को ही नहीं वरन् सर्वतोभद्र की अभिकल्पना को भी सुस्पष्ट और सुनिश्चित विधि से अपनाया गया है।[2]

भगवान् महावीर स्वामी के पच्चीस सौवें परिनिर्वाण महोत्सव के सन्दर्भ में भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'जैन कला एवं स्थापत्य', द्वितीय खण्ड की सम्पादकीय टिप्पणी में भारतीय पुरातत्त्व के महान् अध्येता श्री अमलानन्द घोष ने श्री मुनीशचन्द्र जोशी एवं डॉ० क्लाउ फिशर द्वारा दी गई जानकारी के आधार पर उत्तर-पूर्व बल्गारिया एवं करेज एमीर (अफगानिस्तान) से प्राप्त तीर्थंकर मूर्ति के सम्बन्ध में जानकारी दी है। विद्वान् सम्पादक ने डॉ० क्लाउ फिशर की टिप्पणी को प्रस्तुत करते हुए अफ़गानिस्तान के बामियान नामक स्थान पर एक संगमरमर की तीर्थंकर मूर्ति और पूर्वी तुर्किस्तान के तुर्फान ओसिस की गुफाओं में एक जैन मुनि के चित्रांकन की रोचक जानकारी दी है। इसी प्रकार की एक महत्त्वपूर्ण जानकारी महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने मेरी जीवन यात्रा (भाग-२) में दी है। सन् १९३४ की तिब्बत यात्रा का विवरण लेखक ने इस प्रकार दिया है—"फिर खिदोड प्रसाद गए। इसमें एक कमरा ग्यगर् लहखङ् (भारतीय मन्दिर) है। वहां सात-आठ पांतियों में बहुत-सी पीतल की मूर्तियां रखी हुई हैं, जिसमें बहुत-सी भारतीय हैं, कुछ तो बहुत ही सुन्दर और कुछ सातवीं-आठवीं सदी की हो सकती हैं। सम्वत् ११९१ (११३४ ई०) की एक जैन मूर्ति भी देखी।" महाकवि बाण की 'सर्वद्वीपान्तरसचारी पादलेप' की परिकल्पना भ्रमणशील श्रावकों में चरितार्थ होती है। स्वाभाविक है कि उद्यमी श्रावक व्यापार के निमित्त देशाटन करते हुए अपनी पूजा-अर्चा के लिए तीर्थंकर मूर्तियां साथ ले गए होंगे। सम्भव है, आने वाले समय में विद्वत् वर्ग अपने सतत परिश्रम एवं निष्ठापूर्ण शोध से इस दिशा में नई जानकारियां प्रस्तुत करेंगे।

सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से जैन धर्म में चतुर्विध संघ—मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका का विधान किया गया है। समाज के सर्वांगीण विकास में सभी का सम्मिलित योग होता है। आत्म-साधक मुनि की दैनिकचर्या में श्रावक-श्राविकाओं का सहयोग रहता है। इसी भांति समाज के कल्याण के निमित्त मुनि भी प्रयत्नशील रहते हैं और अपवाद स्वरूप भक्तों को अनुगृहीत करते हैं। महापुराण अध्याय ६५/९८ में एक ऐसे मुनिराज का उल्लेख है जिन्होंने रेणुका के सम्यक्त्व व व्रत ग्रहण से सन्तुष्ट होकर मनवांछित पदार्थ देने वाली कामधेनु नाम की विद्या और मन्त्र सहित एक फरसा भी उसे प्रदान किया था।

जैन मुनिचर्या में रात्रि के समय मौन का विधान किया गया है। किन्तु करुणाशील जैन मुनि किसी व्यक्ति के अधःपतन को देखकर दुःखी हो जाते हैं। विसंगतियों के शिकार मनुष्यों के उद्धार के लिए यदा-कदा वह अपनी प्रचलित परिपाटी का अनायास उल्लंघन भी कर जाते थे। पद्मपुराण अध्याय ४८/३८ में कामपीड़ा से व्यथित यक्षदत्त को रात्रि के समय दरिद्रों की बस्ती में एक सुन्दरी के घर में जाता हुआ देखकर अवधिज्ञान से युक्त मुनि के मुखारविन्द से 'मा' अर्थात् निषेध है, शब्द सहसा निकल गया था। जैन धर्मानुयायियों ने परम्परा से अपने पवित्र आचरण एवं व्यवहार से भारतीय समाज में विशिष्ट गौरव अर्जित किया है। श्रावकरत्न वस्तुपाल से जब राजा वीरधवल ने राज्य का मन्त्रीपद संभालने के लिए कहा, उस अवसर पर वस्तुपाल का उत्तर जैन समाज की चारित्रिक गरिमा का प्रतीक बन गया है—

> न्याय यदि स्पृशसि लोभमपाकरोषि, कर्णेजपानपधिनोषि शम तनोषि।
> सुस्वामिमनस्तव धृतः शिरसा निदेश स्तन्तूनमेष भयकाडा परथाऽस्तु भद्रम ॥ बालचन्द्रसूरि (बसन्त विलास, सर्ग ३, पद्य ८०)

---

१. वही, तालिका १९२०

२. प्रो० सरसी कुमार सरस्वती, जैन कला एवं स्थापत्य—खण्ड २, पृ० २६८

जैन समाज सदैव राष्ट्रीय धारा का अंग रहा है और अपनी देशभक्ति एवं स्वामिभक्ति के लिए प्रसिद्ध रहा है। लोभ के वशीभूत देश के हितों की उपेक्षा करने वाले व्यक्तियों को जैन काव्यकारों ने महापापी एवं घृणित बतलाया है। रणमल्ल के देशद्रोह को देखकर जैन कवि नयचन्द्रसूरि की आत्मा क्रंदन कर उठी थी—"धाक् वक्त्रं रणमल्ल ! कृष्णय निर्जं पापिस्त्वमलुब्धकं।"

भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन में जैन समाज सदैव अग्रणी रहा है। इस आन्दोलन की सभी प्रमुख धाराओं—क्रान्तिकारी गतिविधियां, अहिंसक आन्दोलन और आजाद हिन्द फौज की गतिविधियों में जैन समाज तन-मन-धन से समर्पित रहा है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी द्वारा प्रवर्तित स्वदेशी आन्दोलन जैन समाज में अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। स्वदेशी की भावना का पालन करने के लिए उन्होंने अपने मन्दिरों में पूजा करने वाले भाई-बहनों के लिए खद्दर के कपड़े एवं कश्मीरी केशर अथवा चन्दन के तिलक को मान्यता दी थी। इस सम्बन्ध में मि० जून ने सन् १९२२ में प्रकाशित 'जैन एवं स्वदेशी' लेख में यह उल्लेख किया है कि जैन समाज ने यह निर्णय किया था कि पूजा के समय मन्दिरों में हाथ से कते हुए खद्दर से बने हुए वस्त्र पहने जाएं और यदि शुद्ध कश्मीरी केशर न मिले तो केवल चन्दन का ही व्यवहार किया जाए।[1]

भारतवर्ष के सांस्कृतिक इतिहास के सम्यक् विश्लेषण के लिए समाज का यह दायित्व हो जाता है कि वह अपनी ऐतिहासिक विरासत की समुचित सुरक्षा का प्रबन्ध करे। काल के क्रूर प्रहारों से बची हुई पुरातात्विक सामग्री से हम अपने गौरवशाली अतीत की कड़ियों को शृंखलाबद्ध कर सकते हैं। आवश्यक प्रबन्ध व्यवस्था, उचित रख-रखाव आदि के अभाव में अनेक महत्त्वपूर्ण कलाकृतियां एवं पाण्डुलिपियां नष्टप्राय अवस्था में पहुँच गई हैं। माननीय रूसी विद्वान् इ० मिनायेव महोदय ने फरवरी १८७५ में बिहार राज्य के बौद्ध, जैन और हिन्दू स्मारकों को देखा था। इस यात्रा में उनका ध्यान स्थानीय संग्रहालय की ओर आकर्षित हुआ, जो सर्वथा उपेक्षित अवस्था में था, हालांकि मिनायेव के शब्दों में वहां प्राचीन अभिलेखों, स्तम्भों, मूर्तियों आदि का बहुत अच्छा संग्रह था। मिनायेव ने इन स्मारकों के भविष्य के सम्बन्ध में अपनी चिन्ता को अपनी डायरी में इस प्रकार शब्दबद्ध किया है :—"इस संग्रह में अनेक रोचक वस्तुएं हैं, जिनका अधिक अच्छा रख-रखाव होना चाहिए और फोटो छपने चाहिएं। सभी वस्तुएं बाग में रखी हुई हैं, इस तरह धूप-पानी से बिगड़ रही हैं, और कुछ वर्ष बीतने पर इस संग्रह में से कुछ विज्ञान के लिए सदा-सदा के लिए खो जायेंगी।"[2]

सांस्कृतिक सम्पदा की दृष्टि से भारतवर्ष का जैन समाज सनातन काल से समृद्ध रहा है। एक पुरातत्वशास्त्री के अनुसार सम्पूर्ण भारतवर्ष में शायद एक भी ऐसा स्थान नहीं होगा जिसे केन्द्र बनाकर यदि बारह मील व्यास का एक काल्पनिक वृत्त खींचा जाए तो उसके भीतर एक या अधिक जैन मन्दिर, तीर्थ, बस्ती या पुराना अवशेष न प्राप्त हो जाए। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुई खुदाइयों में जैन अवशेषों की संख्या को दृष्टिगत करते हुए महाप्राण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ऐंटिक्वेरियन शब्द की व्यंग्यात्मक व्याख्या करते हुए 'रामायण का समय' शीर्षक लेख में कहा है—"दो चार ऐसी बँधी बातें हैं जिन्हें कहने से वे ऐंटिक्वेरियन हो जाते हैं। जो मूर्तियां मिलीं वह जैनों की हैं, हिन्दू लोग तातार से या और कहीं पश्चिम से आये होंगे···इत्यादि।" महाकवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को काशी के जैन वैभव ने चकित कर दिया था। उन्होंने अपनी अन्वेषणपरक अनुभूतियों को व्यक्त करते हुए पुरावृत्त संग्रह में लिखा है—

(अ) काशी के पञ्चक्रोशी मार्ग के पद-पद पर पुराने बौद्ध व जैन मूर्तिखण्ड, पुराने जैन मन्दिरों के शिखर, दासे, खम्भे और चौखटें टूटी-फूटी पड़ी हैं।···

(आ) हमारे गुरु राजा शिवप्रसाद तो लिखते हैं कि—"केवल काशी और कन्नौज में वेदधर्म बच गया था।" पर मैं यह कैसे कहूँ, वरन् यह कह सकता हूँ कि काशी में सब नगरों से विशेष जैन मत था और यहीं के लोग दृढ़ जैनी थे।

(इ) पंचक्रोशी के सारे मार्ग में वरंच काशी के आसपास के अनेक गाँव में सुन्दर-सुन्दर शिल्पविद्या से विरचित जैन खंड पृथ्वी के नीचे और ऊपर पड़े हैं।

(ई) कपिलधारा मानो जैनों की राजधानी है। कारण, ऐसा अनुमान होता है कि प्राचीन काल में काशी उधर ही बसती थी, क्योंकि सारनाथ वहां से पास ही है और मैं वहां से कई जैन मूर्ति के सिर उठा लाया हूँ।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने 'मेरी जीवन यात्रा (पहला भाग)' में सन् १९१० के संस्मरणों में जैन पुरातात्विक सामग्री की उपेक्षा के सम्बन्ध में अपनी मनोव्यथा को इस प्रकार व्यक्त किया है—अभी सारनाथ का आदूघर नहीं बना था, खुदाई में निकली मूर्तियां जैन मन्दिर के पीछे वाले चारदीवारी घिरावे में रखी हुई थीं। वहां एक काले खां नाम के आदमी थे। पूछने पर उन्होंने अपने को सिंहाली बतलाया। उन्होंने बुद्ध की

---

1. जैन बिबलियोग्राफी (छोटेलाल जैन), वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली, तालिका १९४७
2. ग० बोंगार्द : अ० विल्किन, भारत की छवि, पृ० १११-११२

मूर्तियों को दिखलाया। एक ठोस मन्दिर प्रतीक के चारों ओर नंगी मूर्तियों के बारे में पूछने पर उन्होंने हँसकर कहा—जैन मूर्ति है। पुरातत्व की वस्तुओं और मूर्तिकला से यह पहिला साक्षात्कार था।" भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और पं० राहुल सांकृत्यायन जैसे दिग्गज विद्वानों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से अवलोकित जैन पुरातात्विक सम्पदा के दर्शन अब दुर्लभ हो गए हैं। प्राचीन मूर्तियो के राष्ट्र विरोधी तस्करो ने सांस्कृतिक वैभव के केन्द्रों को ध्वस्त-सा कर दिया है।

१० फरवरी १९८७ को दैनिक जनसत्ता में केन्द्रीय जांच ब्यूरो द्वारा पकड़ी गई करोड़ो रुपये के मूल्य की मूर्तियो के चित्र को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि देश के पर्वतीय मन्दिरों और निर्जन स्थानों पर स्थित जैन कलाकृतियां अब सुरक्षित नहीं हैं। ८ जून १९८६ को जनसत्ता में प्रकाशित 'चम्बलघाटी का एक और चेहरा' मे भी श्री आलोक तोमर ने इसी व्यथा को प्रकट करते हुए श्योपुर के जंगल और महागांव के निर्जन प्रदेश में स्थित जैन मूर्ति समूह की सुरक्षा के सम्बन्ध में सुधी पाठको का सफलतापूर्वक ध्यान आकर्षित किया है। प्राचीन कलाकृतियों की निरन्तर चोरी अथवा तस्करी से राष्ट्र मे असन्तोष पनप रहा है। जनसामान्य के रोष की अभिव्यक्ति का स्वर देते हुए जनसत्ता ने १६ जनवरी १९८७ को 'बड़े चोर' शीर्षक सम्पादकीय में इस समस्या के अनेक पक्षो पर प्रकाश डाला है। विद्वान् सम्पादक ने राष्ट्र की निधियो की तस्करी एवं उपेक्षा करने वाले पदाधिकारियों की निन्दा करते हुए कहा है—"भारत से पुरानी कलाकृतिया उड़ा ले जाने का धधा इतने जोरो से चलता है कि पश्चिमी-बर्लिन में सिर्फ भारतीय चित्रों को रखने के लिए अलग से एक अजायबघर बनाया गया है। अमेरिका मे बास्टन, फिलेडेल्फिया, क्लीवलैंड, शिकागो और वाशिंगटन के अजायबघरो मे भारत की अनेक अमूल्य कलाकृतिया देखी जा सकती हैं। विदेश के निजी शौकीनों के घरों में भारत की कितनी कलाकृतियाँ पहुँची होंगी इसका तो हिसाब ही नहीं हो सकता। देश की कला-सम्पदा का जो हिस्सा विदेश जाने से बच जाता है वह देश के ही ऊंचे अफसरों और अमीरो के घरो की शोभा बढ़ाने के काम आता है। अक्सर बड़े लोगो के घरो मे प्राचीन कलाकृतियों के बढ़िया संग्रह पाए जाते हैं। ये कलाकृतियां अपनी अफसरी का इस्तेमाल करते हुए या तो यू ही पुरातात्विक महत्त्व की जगहो स उठा ली गई हैं या फिर किसी छोटे महन्त, पुजारी या चोर से लगभग मुफ्त मे खरीदी गई हैं। वैसे कलाकृतियो की बड़ी चोरियो मे भी अक्सर बड़े प्रतिष्ठित लोग ही लिप्त पाए गए हैं। लगता है कि देश के बड़े लोगो को आजकल देश की कला सम्पदा बिकाऊ दिखती है।"

वस्तुत: किसी भी राष्ट्र और समाज के उत्थान मे उसका गौरवमय अतीत एक प्रेरणास्रोत का कार्य करता है। विश्व के सभी धर्म अपनी पूर्व परम्परा से ही प्राणशक्ति एवं नीति निर्देशक सिद्धान्त प्राप्त करते हैं। अत: प्रत्येक समाज का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपने पूर्वजों द्वारा प्रदत्त सांस्कृतिक उत्तराधिकार के सरक्षण एवं विकास के लिए सदैव सजग रहे। इतिहास के विशद अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जो समाज अपने अतीत, पूर्व परम्पराओं, साहित्य, दर्शन इत्यादि से प्रेरणा ग्रहण नहीं करता, वह शीघ्र ही काल कवलित हो जाता है। अत: भारत-वर्ष के जैन समाज को अपने धर्म में निहित महान् मूल्यो के सरक्षण, प्रचार-प्रसार आदि के लिए विशेष उपक्रम करना चाहिए। जैन धर्म की उदार विश्वपोषक नीति के कारण अनेक महानुभावों ने जैन समाज को परामर्श के रूप मे अपनी महान् ऐतिहासिक परम्पराओ के संरक्षण एव विकास के लिए सहृदयता से उपयोगी सुझाव दिए हैं। सुप्रसिद्ध प्राच्यविद्या विशेषज्ञ डॉ० वेन्सेन्ट ए० स्मिथ ने तो इस सन्दर्भ मे 'पुरातत्व की खोज जैनों का कर्त्तव्य' नामक निबन्ध लिखकर जैन समाज से यह अपेक्षा की थी कि वह एक प्रभावशाली समिति का गठन कर अपनी ऐतिहासिक सामग्री से विश्व को परिचित कराए। डॉ० स्मिथ ने प्रस्तावित समिति के लिए कुछ शोध सम्बन्धी कार्यक्रमो की रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की थी—

(अ) जैनो के अधिकार मे बड़े-बड़े पुस्तकालय (भण्डार) हैं जिनकी रक्षा करने मे वे बड़ा परिश्रम करते हैं। इन पुस्तकालयों मे बहुमूल्य साहित्य भरा पड़ा है जिनकी खोज अभी बहुत कम हुई है। जैन ग्रथ खासतौर पर ऐतिहासिक और अर्ध-ऐतिहासिक सामग्री से परि-पूर्ण हैं। इतिहास की दृष्टि से अब जैन ग्रन्थो का मूल्याकन होना चाहिए।

(आ) प्राचीन काल मे महावीर स्वामी का धर्म आजकल की अपेक्षा बहुत दूर-दूर तक फैला हुआ था। एक उदाहरण लीजिए—जैन धर्म के अनुयायी पटना के उत्तर वैशाली मे और पूर्व बगाल मे आजकल बहुत कम हैं, परन्तु ईसा की सातवी शती मे इन स्थानों मे उनकी संख्या बहुत ज्यादा थी। मैंने इस बात के बहुत-से प्रमाण अपनी आँखो से देखे हैं कि बुदेलखड मे मध्यकाल मे और विशेष कर ग्यारहवीं और बारहवीं शतियो में जैन धर्म की विजय-पताका खूब फहरा रही थी। इस देश मे ऐसे स्थानो पर जैन मूर्तियो का बाहुल्य है, जहां पर अब एक भी जैनी नही दिखता। दक्षिण और तमिल देशो मे ऐसे अनेक प्रदेश हैं जिनमे जैन धर्म सदियो तक एक प्रभावशाली राष्ट्र-धर्म रह चुका है किन्तु वहा अब उसका कोई नाम तक नही जानता।

(इ) चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय मे प्रचलित कथा पर मि० लूइस राइस और डॉ० फ्लीट के वादविवाद का रोचक विवरण देते हुए उन्होंने कहा है कि—अब समय आ गया है कि कोई जैन विद्वान् कदम बढ़ावे और इस पर अपनी दृष्टि से वाद-विवाद करे। परन्तु इस काम के लिए एक वास्तविक विद्वान् की आवश्यकता है, जो ज्ञानपूर्वक विवाद करे, उटपटाग बातो से काम नही चलेगा। आजकल की विद्वत्-

संबंधी हर बात के प्रमाण मांगती है और वह चाहती है कि जो बात कही जाय वह ठीक हो और उसके विषय में जो विवाद किया जाय वह स्पष्ट और न्यायुक्त हो। जैन धर्म के विकास एवं अवरोध का इतिहास जानने के लिए यह खोज होनी चाहिए।

(ई) (i) जिन बड़े-बड़े प्रदेशों में जैन धर्म किसी समय फैला हुआ था बल्कि बड़े जोर पर था वहाँ उसका विध्वंस किन-किन कारणों से हुआ, उनका पता लगाना हमारे लिए सर्वथा उपयुक्त है और यह खोज जैन विद्वानों के लिए बड़ी मनोरंजक भी होगी।

(ii) इस विषय से मिलता-जुलता एक विषय और है जिसका थोड़ा अध्ययन किया गया है। वह दक्षिण का धार्मिक युद्ध है और खासकर वह युद्ध है जो चोलवंशीय राजाओं को मान्य शैवधर्म और उनके पहले के राजाओं के आराध्य जैन धर्म में हुआ था।

(उ) जैनों के महत्त्वपूर्ण भग्नावशेषों की जांच के लिए प्राचीन चीनी यात्रियों और विशेषकर हुएनसांग की पुस्तकों का अध्ययन करना चाहिए। उनकी मान्यता है कि हुएनसांग की यात्रा सम्बन्धी पुस्तक के बिना किसी पुरातत्वान्वेषी का काम नहीं चल सकता। जो जैन विद्वान् उपर्युक्त पुस्तकों से काम लेना चाहते हैं वह यदि चीनी भाषा न जानते हों, तो उन्हें पुरावशेषो की जाच के लिए अंग्रेजी या फ्रैंच भाषा सीखनी चाहिए।

(ऊ) डॉ० स्मिथ ने सम्राट् कनिष्क सम्बन्धी एक कथा को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि आज से लगभग अठारह सौ वर्ष पूर्व महाराज कनिष्क ने एक बार जैन स्तूप को गलती से बौद्ध स्तूप समझ लिया था। ऐसी स्थिति में यदि आजकल के पुरातत्ववेत्ता जैन स्मारकों को बौद्ध स्मारक मान बैठते हैं तो कोई बड़ी बात नहीं है। डॉ० स्मिथ ने सन् १६०१ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'मथुरा के जैन स्तूप और अन्य प्राचीन वस्तुएं' का उल्लेख करते हुए कहा है कि इस पुस्तक के प्रकाशन से सब विद्यार्थियों को मालूम हो गया कि बौद्धों के समान जैनों के भी स्तूप और घेरे किसी समय बहुलता से मौजूद थे। परन्तु अब भी किसी ने जमीन के ऊपर के मौजूद स्तूपों में से एक को भी जैन स्तूप प्रकट नही किया। मथुरा का स्तूप, जिसका हाल मैंने अपनी पुस्तक मे लिखा है, बुरी तरह से खोदे जाने से बिल्कुल नष्ट हो गया है। मुझे पक्का विश्वास है कि जैन स्तूप अब भी विद्यमान हैं और खोज करने पर उनका पता लग सकता है। और स्थानों की अपेक्षा राजपूताने मे उनके मिलने की अधिक संभावना है।

(ए) मेरे ख्याल में इस बात की बहुत कुछ संभावना है कि जिला इलाहाबाद के अन्तर्गत 'कोसम' ग्राम के भग्नावशेष प्रायः जैन सिद्ध होंगे —वे कनिंघम के मतानुसार बौद्ध नहीं मालूम होते। यह ग्राम निस्संदेह जैनों का कौशाम्बी नगरी रहा होगा और उसमें जिस जगह जैन मन्दिर मौजूद हैं वह स्थान अब भी महावीर के अनुयायियों का तीर्थ क्षेत्र है। मैं कोसम की प्राचीन वस्तुओं के अध्ययन की ओर जैनो का ध्यान खासतौर पर खींचना चाहता हूं। मैं यह दिखलाने के लिए काफी कह चुका हूँ कि इस विषय की बहुत-सी बातों का निर्णय होना बाकी है।

(ऐ) यदि कोई जैन कार्यकर्त्ता, जो पर्याप्त योग्यता रखता हो और जिसे जैन समाज से वेतन मिलता हो, सरकारी पुरातत्त्व विभाग में उसकी सेवाएं समर्पित कर दी जायं, तो वह बहुत काम कर सकता है। यह और भी अच्छा होगा कि ऐसे कई कार्यकर्त्ता सरकारी अधिकारियों के निरीक्षण मे काम करें।

दक्षिण भारत की प्रारम्भिक भाषाओं में जैनाचार्यों के स्वर्णिम योग को दृष्टिगत करते हुए सहज रूप से कहा जा सकता है कि जैन धर्मबंधु आरम्भ से ही लोक जीवन के उन्नयन में क्रियाशील थे। जैन आचार्यों के प्रभाव से दक्षिण भारत में अनेक सांस्कृतिक केन्द्रों एवं पाठशालाओं की स्थापना हुई। चीनी यात्री युवान च्वांग के यात्रा-विवरण में कांची के जैन वैभव का विशेष वर्णन मिलता है। जैन धर्मानुयायियों की कलाप्रियता एवं साहित्यिक गतिविधियों के प्रभाव से ही दक्षिण भारत में मूर्तिपूजा, मन्दिर-निर्माण एवं शैक्षणिक संस्थाओं का विकास सम्भव हो पाया है। प्रो० एस० एस० रामास्वामी आयंगर के अनुसार—"दक्षिण भारत में मूर्तिपूजा और देव-मन्दिर-निर्माण की प्रचुरता का कारण जैन धर्म का प्रभाव है। शैव-मन्दिरों में महात्माओं की पूजा का विधान जैनियों ही का अनुकरण है।" इतिहास साक्षी है कि जैन धर्म में अन्तर्निहित मूल्यों का प्रचार-प्रसार उदार एवं सर्वधर्म सद्भाव में विश्वास रखने वाले राज्यकाल में ही सम्भव हो पाया है। कट्टर शासकों के काल में जैन धर्मानुयायियों को वेदना का गरल पीना पड़ा है। कट्टर शैव सम्बन्दर की प्रेरणा से आठ हजार जैन कोल्हू मे पेल दिए गए। अनेक जैन बसदि एवं स्तम्भों को अन्य धर्म के उपासना-गृह मे परिवर्तित कर दिया गया। प्राचीन जैन भग्नावशेषों की बड़ी संख्या और उनकी उपेक्षा को देखते हुए अनेक अधिकारी विद्वानों ने इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है। नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 'मैसूर' में श्री न० स० रामचन्द्रैया ने मैसूर राज्य के उपेक्षित जैन वैभव की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए लिखा है—"शृंगेरी के आसपास अनेक जैन 'बसदि' मौजूद हैं, हालांकि वे जीर्ण-शीर्ण अवस्था में ही हैं। सच पूछा जाये तो शृंगेरी जैन धर्म का एक गढ़ ही था।"···जैनों के गढ़ के पतन के बाद जैनों के स्थान उजड़ कर जीर्ण-शीर्ण

स्थिति को पहुंच गये। अभी भी लगभग २५ वर्ग मीटर के क्षेत्रफल मे लगभग एक दर्जन जैन बसदियां देखने को मिलती हैं। इस क्षेत्र से एकत्र की गयी कई जैन मूर्तियां कालेज संग्रहालय में प्रदर्शित हैं।

मैसूर जिले मे शालिग्राम के निकट हनसोगे मे तीन कोठरियो वाली एक प्राचीन बसदि है जिसे त्रिकूटन चैत्यालय कहा जाता है और जो आदिनाथ तीर्थंकर को समर्पित है। इस भव्य जैन स्मारक की बड़ी अवहेलना की गयी है। इसमे अत्यंत उत्कृष्ट मूर्तियां है। किसी काल में हनसोगे दक्षिणी जैन धर्म के एक बहुत बड़े धर्माध्यक्ष का मुख्य स्थान था।

सुविख्यात श्री शारदा मन्दिर के प्रांगण मे लगभग १८ मीटर ऊंचा एक एकाश्म स्तम्भ खड़ा है। यह जैन परम्परा वाला मान स्तम्भ ही है। स्तम्भ के दक्षिण मुख पर एक जैन मूर्ति खुदी हुई है। इससे सिद्ध है कि यह न तो कोई गरुड़ 'कंबा' है और न रूढ़ हिंदू मन्दिर-वास्तुकला का कोई ध्वज स्तम्भ ही।

भगवान् महावीर ने अपने धर्मोपदेश मे जनसाधारण के स्वर को अभिव्यक्ति दी थी। समाज मे व्याप्त विसंगतियो की तरफ उन्होंने सफलतापूर्वक ध्यान आकर्षित किया। समता के आधार पर सामाजिक सरचना पर उन्होंने बल दिया। इसीलिए तीर्थंकर महावीर द्वारा प्रवर्तित धर्म ने देश में शीघ्र ही गहरी जड़ें जमा ली। रूसी विद्वान् ग्रि० म० बोंगर्द-लेविन के अनुसार—"आरम्भ मे उनके उपदेशों ने बिहार में ही जड़ पकड़ी जहां उनके प्रभावशाली संरक्षक और सहायक थे, किन्तु कालान्तर में भारत के दूरस्थ प्रदेशो मे भी उनके पंथ के केन्द्र स्थापित हो गए। वह महावीर तथा जिन (इंद्रियो के विजेता) के नाम से प्रसिद्ध हुए। नये धर्म के सासारिक जीवन को त्याग देने वाले अनुगामियों के अलावा बहुत-से गृहस्थों ने भी महावीर का अनुगमन किया। इस तरह के लोगो के लिए गार्हस्थ का परित्याग करना आवश्यक नहीं था, पर उन्हें गृहस्थो के लिए निर्धारित विधान का पालन करना होता था। कालान्तर मे जैन धर्म न केवल देश के सांस्कृतिक जीवन में, बल्कि सामाजिक जीवन में भी एक महत्त्वपूर्ण कारक बन गया।"[2]

भगवान् महावीर स्वामी ने अपनी पद-यात्राओं द्वारा देश के बड़े भू-भाग को अनुगृहीत किया था। उनकी सरल एवं सटीक शिक्षाएं जन सामान्य की भाषा अर्धमागधी में होती थी। अतः समाज के सभी वर्गों से उनका सहज सम्बन्ध बन जाता था। आज के भारत में जैन समाज को अल्पसंख्यक रूप मे देखकर यह विचार मन में आता है कि विश्वधर्म के प्रणेता महावीर के अनुयायियो की संख्या इतनी कम क्यों रह गई? इस अवसर पर विस्तृत विवेचन मे न जाकर केवल इतना कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर द्वारा प्रणीत धर्म मे आस्था रखने वाले भाई-बहिनों को कालान्तर मे सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के कारण अपनी धार्मिक मान्यताओं में कुछ परिवर्तन करने पड़े थे। इस प्रकार के परिवर्तनों के उपरान्त भी जैन धर्म का सांस्कृतिक प्रभाव उनके जीवन मे आज तक दृष्टिगोचर होता है। इतिहास इस सत्य की पुष्टि करता है कि प्राचीन काल मे बिहार, उड़ीसा एवं बंगाल मे जैन धर्म की अत्यन्त सम्मानजनक स्थिति थी। आज भी इन राज्यों में सराक बड़ी संख्या मे रहते हैं और जैन धर्म मे प्रतिपादित अहिंसा के सिद्धान्त का पालन करते हैं। उनकी दैनिक दिनचर्या सूर्योदय से आरम्भ होकर सूर्यास्त के साथ समाप्त हो जाती है। वह कट्टर शाकाहारी के रूप में वर्जित वृक्षो के फलो का भी सेवन नही करते। श्री एल० एम० ओमेले ने १६०८ ई० में लिखा था—"श्रावक शब्द का अपभ्रष्ट रूप ओडिशा के सराक लोगो की पहचान बना। इन लोगो की ओडिशा मे चार बस्तियां हैं। पुरी के सराक दूसरों से भिन्न हैं। ये लोग शाकाहारी हैं और माघ सप्तमी के अवसर पर खंडगिरि के गुफा मन्दिरों मे एकत्र होते हैं।"[3] खोजबीन से यह जानकारी मिलती है कि माघ सप्तमी का पावन दिवस भगवान् सुपार्श्वनाथ एवं चन्द्रप्रभु का मोक्ष कल्याणक दिवस है।

इसी प्रकार राहुल सांकृत्यायन ने बिहार के जथरिया भूमिहार को भगवान् महावीर की परम्परा मे स्वीकार किया है। अपने अकाट्य तर्कों को प्रस्तुत करते हुए उन्होने कहा है—वैशाली के लिच्छवियो की एक शाखा ज्ञात थी, जिसे पालि मे नात या नती भी कहा जाता है। तीर्थंकर महावीर को वैशालिक और ज्ञातृपुत्र (पालि: नात-पुत्र) कहा गया है। उनके वैशाली मे उत्पन्न और ज्ञातृ-सन्तान होने मे कोई सन्देह नहीं, लेकिन अभी बहुत-से जैन इसे मानने मे आनाकानी कर रहे हैं। बीच मे इस भूमि से जैनो के उच्छिन्न हो जाने और पीछे स्थानो को मनमाना प्राचीन नाम देकर तीर्थ बना लेने के बाद इसके लिए यह हिचकिचाहट स्वाभाविक है। भगवानपुर रत्ती का अर्थ है रत्ति परगने का भगवानपुर। भगवानपुर नाम के कितने ही गांव हैं। इसलिए यह विशेषण लगाना पड़ा। रत्ति नत्ति या ज्ञातृ का ही बिगड़ा रूप है। आजकल भी इस परगने मे जथरिया भूमिहार बड़ी संख्या में रहते हैं। यह लिच्छवियो की उसी ज्ञातृ-शाखा की सन्तान है, ज्ञातृ से ही जथरिया शब्द बना। महावीर भी काश्यप-गोत्री थे, और

१. दृष्टव्य, श्री न० स० रामचन्द्रैया, मैसूर, पृ० १४६ एवं १५८
२. भारत का इतिहास, पृ० १४१
३. जैन बिबलियोग्राफी (छोटेलाल जैन), वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली, तालिका १६८

यह भी काश्यप गोत्री हैं। ज्ञातृ लोग क्षत्रिय थे, और यह अपने को भूमिहार ब्राह्मण कहते हैं, यह भेद जरूर है जिसका समाधान मुश्किल नहीं है।[1]

बंगाल राज्य में प्राप्त जैन अवशेषों के परिधि क्षेत्र के अन्तर्गत निवास करने वाली जातियों का विश्लेषण करते हुए श्री सरसी कुमार सरस्वती ने अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है—बंगाल मे जैन अवशेष उन स्थानों से प्राप्त हुए हैं जहां कभी जैन मंदिर या संस्थान आदि रहे थे। यह उल्लेखनीय है कि यह क्षेत्र बहुत लम्बे समय से उन लोगों का निवास-स्थान रहा है जिन्हें 'शराक' नाम से जाना जाता है। ये लोग कृषि पर निर्भर करते हैं तथा कट्टर रूप से अहिंसावादी हैं। आज इन लोगों ने हिन्दू धर्म अपना लिया है। रिसले ने अपनी पुस्तक 'ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ बंगाल' में बताया है कि लोहरडागा के शराक आज भी पार्श्वनाथ को अपना एक विशेष देवता मानते हैं तथा यह भी मान्य है कि इस जन-जाति का 'शराक' नाम श्रावक से बना है, जिसका अर्थ जैन धर्म के अनुयायी गृहस्थ से है। ये पूर्वोक्त समस्त साक्ष्य संकेत देते हैं कि शराक मूलतः श्रावक थे; इस बात का समर्थन उनकी परंपराएं भी करती हैं। इस सर्वेक्षण से यह भी ज्ञात होता है कि जैन धर्म पूर्व भारत मे एक सुगठित समुदाय के रूप में रहा है जिसके संरक्षक शराकवंशीय मुखिया होते थे।[2]

जैन धर्म के सांस्कृतिक प्रभाव का विश्लेषण करने के लिए किसी समर्थ मुनि अथवा श्रावक दल को भगवान् महावीर स्वामी की पदयात्रा के पथ (जैन धर्मग्रन्थो मे तीर्थंकर महावीर स्वामी के चातुर्मास का विवरण विस्तार सहित मिलता है) का अनुगमन करके सूक्ष्म सर्वेक्षण करना अथवा कराना चाहिए।

भारतवर्ष के जैन समाज के पास अन्य धर्मानुयायियों की अपेक्षा बड़ी संख्या मे ऐतिहासिक अभिलेख सुरक्षित हैं। इन अभिलेखो के द्वारा भारतीय इतिहास की समस्याओ का समाधान किया जा सकता है। १९६९ ई० मे विदिशा नगर के निकट बेस नदी के तटवर्ती टीले की खुदाई से प्राप्त तीर्थंकर चन्द्रप्रभु की चरणचौकी के लेख से गुप्तकालीन सम्राट् रामगुप्त की ऐतिहासिकता सिद्ध हो गई है। यह लेख इस प्रकार है—"चन्द्रप्रभस्य प्रतिमेयं कारिता महाराजाधिराज श्री रामगुप्तेन उपदेशात पाणि-पात्रिक-चन्द्रक्षमाचार्य्य-श्रमण-श्रमण-प्रशिष्य आचार्य संघसेन श्रमण शिष्यस्य गोलक्यान्त्या-सत्पुत्रस्य चेलू-श्रमण स्येति।"

इन अभिलेखो के द्वारा जैन इतिहास, कला और संस्कृति का अधिकारपूर्वक विवेचन किया जा सकता है। खेदपूर्वक कहना पड़ रहा है कि भारतवर्ष के जैन समाज ने अपनी सांस्कृतिक सम्पदा के इस अनमोल खजाने की बड़ी उपेक्षा की है। देश-विदेश के विद्वानो के सतत् परिश्रम के परिणामस्वरूप अनेक जैन अभिलेख प्रकाश मे आ पाए हैं। महान् प्राच्यविद्या विशेषज्ञ लूइस राईस के अनथक प्रयास से मैसूर राज्य के जैन अभिलेख प्रकाश मे आए हैं। अभिलेखो की पाडुलिपि बनाना और उसे पढ़ना वास्तव मे एक श्रमसाध्य कार्य है। हाथी गुम्फा से प्राप्त जैन सम्राट् खारवेल से सम्बन्धित प्राकृत अभिलेख का पाठ लगभग एक शताब्दी की समर्पित साधना से निश्चित हो पाया है। हाथी गुम्फा का यह अभिलेख सन् १८२७ ई० मे स्टर्लिंग महोदय को प्राप्त हुआ था। सर्वश्री स्टर्लिंग, जेम्स प्रिन्सेस, जनरल कनिंघम, राजेन्द्रलाल मित्र, भगवान लाल इन्द्र जी, राखालदास बनर्जी, काशीप्रसाद जायसवाल प्रभृति विद्वानों के निरन्तर शोधपूर्ण उपक्रमों की परम्परा को विकसित करते हुए डॉ० बेणीप्रसाद माधव ने प्रस्तुत लेख का पाठ निश्चित करते हुए ३०० पृष्ठों मे 'ओल्ड ब्राह्मी इन्सक्रिप्सन्स' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। देश-विदेश की पत्रिकाओ मे प्रकाशित जैन अभिलेखो, जिनका अधिकांश पाठ रोमन लिपि मे है, के आधार पर जैन शिलालेख संग्रह भाग १ से ५ तक का प्रकाशन भी हुआ है। इस प्रकार के अनुष्ठान मे सक्रिय रुचि लेने के लिए सर्वश्री नाथूराम प्रेमी, डॉ० हीरालाल, पं० विजयमूर्ति शास्त्राचार्य, डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी प्रभृति विद्वान् साधुवाद के पात्र हैं। साधन सम्पन्न जैन समाज की अखिल भारतीय संस्थाओं को इस संदर्भ में सक्रिय रुचि लेनी चाहिए। प्राचीन जैन अभिलेखो के पुनर्मूल्यांकन के लिए भारतीय पुरालिपियो के अध्ययन की विशेष व्यवस्था भी होनी चाहिए।

देश के विभिन्न भागो मे हो रहे उत्खननों अथवा अन्य सूत्रो से प्राप्त जैन पुरातात्विक सामग्री के प्रदर्शन के लिए राष्ट्रीय एवं राजकीय संग्रहालयो मे पृथक् से गैलरी होनी चाहिए। शिक्षा मन्त्रालय और पुरातत्व विभाग को प्रतिवर्ष देश-विदेश से प्राप्त अथवा जानकारी में आए हुए जैन अवशेषों की जानकारी के लिए स्वतन्त्र रूप से पत्रिका प्रकाशित करनी चाहिए। इस प्रकार की पत्रिका मे पुरातात्विक सामग्री के चित्र एवं लेख की प्रतिलिपि भी होनी चाहिए। भारतवर्ष के जैन समाज को भी इसी प्रकार अपने मन्दिरों की सांस्कृतिक सम्पदा से विश्व को परिचित कराने के लिए उपयोगी प्रकाशन करने चाहिए। इस संबंध में टाइम्स आफ इण्डिया द्वारा प्रकाशित 'पैनोरमा आफ जैन आर्ट

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, मेरी जीवन यात्रा (छठा भाग) पृ० १३७
२. प्रो० सरसी कुमार सरस्वती, जैन कला एवं स्थापत्य—खंड २, पृ० २७७

(साउथ इंडिया)' एक उपयोगी ग्रंथ सिद्ध हुआ है। इस कड़ी को विकसित करने के लिए उत्तर भारत, पूर्व भारत, पश्चिम भारत के कला वैभव पर भी पृथक् से इसी प्रकार के ग्रन्थ प्रकाशित होने चाहिए।

हमारे लिए सौभाग्य का विषय है कि हम स्वतन्त्र भारत मे सर्वधर्म सद्भाव के सिद्धान्त को अंगीकार कर सार्वभौम भारतीय गणराज्य के नागरिक के रूप मे 'आस्था और चिन्तन' की सृजना कर रहे हैं। इस ग्रन्थ के अभिनन्दनीय महापुरुष श्री देशभूषण जी ने अपने को जैन इतिहास, कला और संस्कृति के प्रचार-प्रसार में समर्पित किया हुआ है। उनके भागीरथ प्रयास से जैन संस्कृति एव कला को पर्याप्त संरक्षण एवं दिशा मिली है।

उदार चिन्तकों एवं इतिहासप्रेमियो को अतीत की सही जानकारी देते समय पर्याप्त सावधानी रखनी चाहिए। सत्य का विवेचन करते समय राष्ट्रीय हित में कट्टरवादी विचारधारा की निन्दा करनी चाहिए। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व की पुरातात्त्विक सामग्री का अध्ययन, एवं विश्लेषण इतिहास की परम्पराओ को जोड़ने एवं आवश्यक जानकारी के लिए होना चाहिए। साम्प्रदायिक एव आग्रहवादी दृष्टि की अवहेलना वास्तव मे युगीन परिस्थितियो की माग है।

१६१७, दरीबा कलां
दिल्ली-११०००६

सुमतप्रसाद जैन
प्रबन्ध सम्पादक

संस्कृति का स्वरूप : भारतीय संस्कृति और जैन-संस्कृति

प्रो० विजयेन्द्र स्नातक

संस्कृति क्या है और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, यह निर्णय करना कठिन है। संस्कृति के विधायक तत्त्वों को दृष्टि में रखकर ही इसके स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है किन्तु संस्कृति-निर्माता तत्त्व भी विद्वानों और विचारकों की दृष्टि में समान नहीं हैं। 'नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्' जैसी बात संस्कृति की परिभाषाओं में भी पायी जाती है। इसलिए संस्कृति की सर्वांगपूर्ण, निर्दोष और सर्वसम्मत परिभाषा देने की बात मैं नहीं कर सकता। मैं सबसे पहले एक प्रश्न उठाना चाहता हूं जो संस्कृति के मूल उद्‌भव से संबंध रखता है, तदनंतर उसके विधायक तत्त्वों की चर्चा करूंगा।

कुछ विचारक ऐसा मानते हैं कि संस्कृति का मूल, जन्मजात वंश-परम्परा से उत्पन्न सहजात संस्कार में निहित है। उन्हीं जन्मजात संस्कारों का प्रतिफलन व्यक्ति के चरित्र में होता है और वही व्यक्ति की संस्कृति को इस धरोहर से निर्मित करता है। दूसरे विद्वान् इस विचार का जोरदार खंडन करते हैं। उनकी मान्यता है कि संस्कृति शब्द में ही उसके अर्जित करने की प्रक्रिया निहित है। जो संस्कार अर्थात् निरन्तर अभ्यास द्वारा विकसित की जाए वह संस्कृति है। इसके लिए शिक्षा, नैतिकता, आचरण की पवित्रता, साहित्य, विज्ञान आदि का उपार्जित ज्ञान तथा समाज में व्यवहार की विधि आदि की अपेक्षा रहती है। उनका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति जन्मत: ज्ञानवान्, विवेकी, शिक्षित, अनुभवी या पंडित नहीं होता। आभिजात्य या कुलीनता तो उसे जन्म से प्राप्त हो जाती है किन्तु संस्कृति उसे संसार में रहकर संस्कार द्वारा अर्जित करनी होती है। अत: जन्म या वंश-परम्परा के साथ संस्कृति का अविच्छिन्न संबंध नहीं माना जा सकता।

तीसरी कोटि के कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो वंश-परम्परा या जन्म के मध्य समन्वय करके यह मानते हैं कि संस्कृति प्रतिभाजन्य ईश्वरीय वरदान है। यह वरदान जाति, वर्ण, धर्म आदि की अपेक्षा नहीं करता। अकुलीन, निर्धन या दलित वर्ग में जन्म लेने वाला व्यक्ति भी ईश्वरीय देन से प्रतिभाशाली और सुसंस्कृत होता देखा गया है, अत: इसे ईश्वरीय देन ही माना जाना चाहिए। वस्तुत: प्रतिभाजन्य संस्कृति में विश्वास रखने वाले यह भूल जाते हैं कि ज्ञान-विज्ञान, कला और साहित्य में अद्‌भुत क्षमता रखने वाले प्रतिभाशाली सभी व्यक्ति सुसंस्कृत नहीं होते। कतिपय विलक्षण विद्वान् और प्रतिभाशाली व्यक्तियों का चरित्र इतना संस्कृतिविहीन और अशिष्ट पाया जाता है कि हम उन्हें किसी प्रकार संस्कृत व्यक्ति नहीं कह सकते। संस्कृति-पूर्णता के लिए धन-वैभव, ऐश्वर्य-संपत्ति, प्रतिभा-क्षमता, विद्या-कला, ज्ञान-विज्ञान आदि से संपन्न होना मात्र पर्याप्त नहीं है। आचरण और व्यवहार की पवित्रता, मानवीय संवेदना, सहिष्णुता, परदु:खकातरता, अपरिग्रह, अहिंसा और क्षमाशीलता आदि गुणों की भी नितान्त आवश्यकता है। एफ०जे० ब्राउन ने अपनी पुस्तक 'एजुकेशनल सोशियालोजी' में संस्कृति को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "संस्कृति मानव के संपूर्ण व्यवहार का ढांचा है जो अंशत: भौतिक परिवेश से प्रभावित होता है। यह परिवेश प्राकृतिक एवं मानव-निर्मित दोनों प्रकार का हो सकता है। किन्तु प्रमुख रूप से यह ढांचा सुनिश्चित विचारधाराओं, प्रवृत्तियों, मूल्यों तथा आदर्शों द्वारा प्रभावित होता है, जिसका विकास समूह द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जा सकता है।" इसी आधार पर 'प्रिमिटिव कल्चर' के लेखक एडवर्ड टायलर ने संस्कृति को ज्ञान, विश्वास, कला, साहित्य, रीति-रिवाज का अर्जित ज्ञान ठहराया है और कहा है कि मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते इन सबके सम्मिश्रण से संस्कृति को प्राप्त करता है। वास्तव में संस्कृति का विस्तार इतना व्यापक है कि उसे हम न तो जन्मजात कह सकते हैं, न उसे ईश्वरीय देन ठहरा सकते हैं और न विद्वत्ता या प्रतिभा के आधार पर उसकी अनिवार्यता सिद्ध कर सकते हैं।

वस्तुत: संस्कृति शब्द किसी ठोस यथार्थ (सत्) का वाचक नहीं है, बल्कि केवल एक अमूर्त कल्पना है। इसलिए विद्वानों के विचार भी अस्पष्ट और विविध हैं। एक विद्वान् के मत में, "संस्कृति के स्वरूप की जिज्ञासा वास्तव में अर्थ तथा मूल्य के स्वरूप की

विकसता है। संस्कृति हमारी जीवनविधा तथा विचार-विधा में, प्रतिदिन के परस्पर आदान-प्रदान में, कला, साहित्य, धर्म, विज्ञान तथा मनोरंजन की विशिष्ट विधाओं में व्यक्त हमारी प्रकृति ही है।" एक विद्वान् ऐसे भी हैं जो जीवन-दृष्टि को ही संस्कृति मानते हैं

संस्कृति के संबंध में एक विषय पर सभी विद्वानो मे मतैक्य है। सभी विचारक यह मानते हैं कि मानवेतर प्राणियों में संस्कृति नहीं होती। संस्कृति मानव की अपनी विशिष्टता है। मानव के पास अपनी संस्कृति को अभिव्यक्त करने के साधन हैं। कला, विज्ञान, दर्शन, साहित्य आदि इसी कोटि मे आते हैं जो मानवेतर प्राणियो के पास नही होते।

संस्कृति समाज के संरक्षण और मानव-विकास की सरणि है। यदि स्वस्थ और सभ्य समाज की हम अपेक्षा करें तो हमें संस्कृति के संपोषण का प्रयत्न करना होगा। संस्कृति के इस संपोषण मे सैकडो वर्ष लगते हैं और शनै शनै विविध संस्कारों और रीति-रिवाजों से छनकर संस्कृति रूप धारण करती है। किसी लेखक की मान्यता है कि "सैकडो वर्षों मे थोडा-सा इतिहास बनता है, सैकड़ों वर्षों के इतिहास के बाद परम्परा बनती है, यह परपरा ही किसी जाति या देश की आधार-भूमि बनती है। संस्कृति सुदीर्घ-कालीन अनुभव, प्रयोग और विविध परीक्षणो की परिणति होती है। सस्कृति राष्ट्रीय रिक्थ है—यह ऐसी संपदा है जो राष्ट्र को प्रकाश देती है, आत्मविश्वास जाग्रत् करती है। उसे आशावादी और उत्कर्षकामी बनाती है।"

संस्कृति-विवेचन के सदर्भ मे सभ्यता और धर्म की चर्चा करना मैं आवश्यक समझता हू। इन दोनो शब्दों को प्राय: संस्कृति के समानांतर या कभी-कभी प्रमादवश पर्याय के रूप मे प्रयोग मे लाया जाता है। विद्वानों ने प्रारभ से इस भ्रम के निवारण की चेष्टा की है और यह स्पष्ट करना चाहा है कि सभ्यता और संस्कृति के मध्य विभाजक रेखा खीचना कठिन नहीं है। संस्कृति मनुष्य की उन क्रियाओं, व्यापारों और विचारो का नाम है जिन्हे वह साध्य के रूप मे देखता है। सस्कृति मानव-समाज के विकास की द्योतक है। संस्कृति का संबध चितन, मनन तथा आचरण की उदात्तता से है। आध्यात्मिक स्तर पर विकसित होने पर ही मनुष्य संस्कृति के परिवेश में प्रविष्ट होता है। सभ्यता से तात्पर्य मनुष्य के भौतिक उपकरण, साधन, आविष्कार, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थान तथा उपयोगी कलाओं का अंगीकार है। सभ्यता मनुष्य की क्रियाओ द्वारा उत्पन्न उपयोगी साधनो तथा दैनंदिन वस्तुओं पर निर्भर करती है। किसी समाज या राष्ट्र की आतरिक प्रकृति की पहचान उसकी संस्कृति से होती है, सभ्यता उस समाज या राष्ट्र को प्राप्त बाह्य उपकरणों से जानी-पहचानी जाती है। सस्कृति का लक्ष्य मानव जाति के लिए शाश्वत मूल्यों की खोज है तो सभ्यता का ध्येय मानव-समाज के लिए भौतिक सुख-सुविधा के साधन जुटाने से है। जर्मन विद्वान् स्पेंगलर ने सभ्यता को संस्कृति की चरम दशा कहा है। यह चरम दशा उत्थान की नही, उसके पतन की भी होती है। अर्थात् भौतिक उपकरणो एव सुख-साधनों की अतिशयता ही पतन का कारण बनती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण पाश्चात्य देशो की वैज्ञानिक प्रगति तथा उससे उत्पन्न सभ्यता है।

संस्कृति और धर्म का पारस्परिक क्या सबंध है और क्या धर्म सस्कृति का अविच्छिन्न अंग है ? धर्म-विहीन समाज और संस्कृति-विहीन समाज क्या समान हैं ? इस प्रकार के और भी अनेक प्रश्न इस सदर्भ मे उठाए जाते रहे हैं। वास्तव में धर्म शब्द संकीर्ण अर्थ में प्रयुक्त न होकर कर्त्तव्य, शुद्धाचरण, सयम, नियम आदि के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। तब उसमें संस्कृति के अनेक उपादान समाहित रहते हैं किन्तु जब धर्म, मजहब के संकीर्ण दायरे मे रूढ़िवादिता और धर्मांधता का वाचक बनता है, तब उसका संस्कृति से सीधा सरोकार नहीं रहता। व्यक्ति और समाज के जीवन को जो धारण कर सके, वही सच्चा धर्म है। समाज की व्यवस्था, नियमित चर्या तथा व्यक्ति-विकास के नियमो का उपदेष्टा ही धर्म है। कणाद मुनि के शब्दो मे "यतोऽभ्युदयनिश्रेयस सिद्धि: स धर्म:" जिससे अभ्युदय, इस लोक का उत्कर्ष और नि श्रेयस, परलोक का कल्याण होता हो वह धर्म है। सस्कृत व्यक्ति के लिए इसी प्रकार के धर्माचरण की आवश्यकता है। अत. पथ, मत, सप्रदाय, मजहब आदि की सकीर्णताओ से ऊपर उठाकर जो प्राणिमात्र के कल्याण का पथ प्रशस्त करे वह धर्म ही सही धर्म है और धर्म-पथ पर सस्कृति के मार्ग से चला जा सकता है। अत: यह स्पष्ट है कि धर्म और संस्कृति का घनिष्ठ संबंध होने पर भी सस्कृति शब्द धर्म का पर्याय नही है। इन दोनो मे अन्योन्याश्रय सबध होने पर भी मौलिक अंतर है। कुछ ऐसे रूढ़िवादी धार्मिक व्यक्ति समाज मे देखे जाते है जो धर्म के नाम पर दभ और पाखड का प्रपच फैलाकर समाज को भ्रमित करते हैं, वस्तुत: वे धार्मिक नही हैं और सस्कृति से तो उनका दूर का भी नाता-रिश्ता नही माना जा सकता है।

धर्म-साधना मे व्यक्ति और समाज दोनो का योगदान रहता है। किन्तु व्यक्तिगत साधना या व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर हम संस्कृति का स्वरूप निर्धारित नही कर सकते। समष्टिगत या सामाजिक अनुभव को ही सस्कृति की संज्ञा दी जा सकती है। सामाजिक अनुभव हमें तीन रूपो मे दिखाई देता है। उसे हम तीन विधाओ मे अलग-अलग करके भी रख सकते हैं। पहला रूप शिल्प-कौशल, वैज्ञानिक तथा तकनीकी आविष्कार का है जो ज्ञान के भौतिक रूप हैं। दूसरी विधा वे सस्थाए हैं जो समाज को व्यवस्थित करने के लिए किसी समाज मे स्थापित होती हैं जैसे सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक सस्थाए। तीसरी विधा दर्शन और कला की है जिसमे साहित्य, संगीत, चित्रकला आदि का समावेश है। यह सर्जनात्मक होने के साथ सूक्ष्मतर भी है। अब देखना यह है कि क्या तीनों विधाओं का प्रत्येक समाज मे विकास होना जरूरी है, ताकि वे सस्कृत और सभ्य समझे जा सकें ? इसका उत्तर स्पष्ट है। ऐसा

देखा गया है कि आदिम समाज में कलात्मक दृष्टि से कभी-कभी अधिक समृद्धि पायी जाती है। यांत्रिक आविष्कारों से समृद्ध होने पर भी कुछ जातियाँ सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ी होती हैं और उनका चारित्रिक स्तर भी हीन कोटि का होता है। सभ्यता की दृष्टि से अमरीका आज समृद्ध है किन्तु मानव-मूल्य एवं कलात्मक संस्कार की दृष्टि से वह संस्कृति के स्तर पर निर्धन ही माना जाएगा।

पाश्चात्य विचारकों ने संस्कृति और सभ्यता शब्दों के प्रयोग पर ही नहीं, इनके क्षेत्र और अवधारणा पर भी विचार व्यक्त किए हैं। कभी संस्कृति के एक खास पहलू को सभ्यता कहने वाले विद्वान् इसे संस्कृति का मात्र पर्याय स्वीकार नहीं करते। मैकाइवर ने सभ्यता को उपयोगिता के साथ और संस्कृति को मौलिक मूल्यों के साथ जोड़कर देखने की बात कही है। इसीलिए कभी-कभी सभ्यता का संस्कृति से विरोध भी संभव हो सकता है। कुछ विद्वान् परम्परा को संस्कृति के साथ रखकर इसे नैतिक मूल्यों तथा सभ्यता को व्यावहारिक मूल्यों की सीमा में रखकर इनका पार्थक्य व्यक्त करते हैं। जो लोग संस्कृति को सामाजिक विरासत या सामाजिक परंपरा में देखते हैं वे भी इनका पार्थक्य स्पष्टतः रेखांकित नहीं कर पाते। इसी विचार-सरणि में ऐसे भी व्यक्ति हैं जो कुटुम्ब के आचरण को संस्कृति के विकास में प्रमुख स्थान देते हैं किंतु साम्यवादी चिंतन में परंपरा को कोई स्थान नहीं है। मार्क्स ने तो स्पष्टतः परम्परा को एक भयावना स्वप्न माना है और कहा है कि यह नयी पीढ़ी के मस्तिष्क पर भूत-सा छाया रहता है।

आधुनिक युग में संस्कृति शब्द का कुछ ऐसा अर्थ-विस्तार हुआ है कि एक ओर वह अपने मूल से विच्छिन्न हो गया है तो दूसरी ओर ऐसे क्षेत्र में पहुंच गया है जहाँ वह अपनी सार्थकता खो बैठा है। इसमें संदेह नहीं कि ललित कलाएं संस्कृति-निर्माण में सहायक होती हैं किंतु आजकल जिस प्रकार सांस्कृतिक कार्यक्रम शब्द का प्रयोग होने लगा है वह एक सीमित कलात्मक प्रदर्शन है। संस्कृति कलाओं तक सीमित नहीं है। संस्कृति का व्यक्ति और समाज के मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास के साथ गहरा संबंध है। संस्कृति किसी बाह्य प्रदर्शन तक चाहे वह कलात्मक (नृत्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला आदि) प्रदर्शन ही क्यों न हो, सीमित नहीं है। संस्कृति का व्यक्तिसंस्कार के साथ गहरा और अटूट संबंध है। व्यक्ति को केन्द्र में रखकर उसके विकास और परिष्कार के लिए किए गए प्रयासों में संस्कृति का अन्वेषण एक सीमा तक संस्कृति की सही खोज है।

भारतीय संस्कृति के मूलाधार

भारतीय संस्कृति का विवेचन और विश्लेषण करने से पहले यह ज्ञातव्य है कि भारत की संस्कृति एक गतिशील (डायनैमिक) संस्कृति है। वह युग-धर्म के साथ अपने रूपाकार में परिवर्तनशील रही है अतः यह मान लेना कि वैदिक युग की, रामायण या महाभारत युग की, पौराणिक युग की, बौद्धकाल की या मध्ययुग की संस्कृति ठेठ भारतीय है, भारतीय संस्कृति के मूलाधार को न समझना ही है। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने दिनकर-प्रणीत 'संस्कृति के चार अध्याय' पुस्तक की भूमिका में भारतीय संस्कृति के व्यापक रूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"भारतीय जनता की संस्कृति का रूप सामासिक (कंपोजिट) है और उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। एक ओर तो इस संस्कृति का मूल आर्यों से पूर्व मोहंजोदड़ो आदि की सभ्यता तथा द्रविड़ों की महान् सभ्यता तक पहुँचता है, दूसरी ओर इस संस्कृति पर आर्यों की बहुत गहरी छाप है जो भारत में मध्य एशिया से आए थे। पीछे चलकर यह संस्कृति उत्तर-पश्चिम से आने वाले तथा फिर समुद्र की राह से आने वाले लोगों से बार-बार प्रभावित हुई। इस प्रकार हमारी राष्ट्रीय संस्कृति ने धीरे-धीरे बढ़कर अपना आकार ग्रहण किया। इस संस्कृति में समन्वयन तथा नये उपकरणों को पचाकर आत्मसात् करने की अद्भुत क्षमता है।" इस लम्बे उद्धरण से स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति का इतिहास जितना पुराना है, उतने ही उपकरणों का वैविध्य भी इस में है। इस संस्कृति को विश्व के सभी राष्ट्रों से भिन्न एवं उदात्त माना जाता है। इसे सभी विद्वानों ने उदार संस्कृति की संज्ञा दी है। 'हिन्दू व्यू आफ लाइफ' पुस्तक में डा० राधाकृष्णन ने लिखा है कि "हिन्दू धर्म ने बाहर से आने वाली जातियों तथा आदिवासियों के देवी-देवताओं को स्वीकार कर अपना देवी-देवता मान लिया। ईरानी, हूण, शक, कुषाण, पार्थियन, बैक्ट्रियन, मंगोल, सीथियन, तुर्क, ईसाई, यहूदी, पारसी सभी भारतीय संस्कृति के महासागर में विलीन हो गए—ठीक वैसे ही जैसे छोटी नदियां और नद समुद्र में आकर विलीन हो जाते हैं।" इसलिए भारतीय संस्कृति का काल निर्धारण करना या उसे किसी एक युग विशेष की देन ठहराना समीचीन नहीं है। लोकनीय एवं अभ्युदयमूलक परिवर्तनों को ग्रहण करना भारतीय मनीषा की अपनी विशेषता है। यदि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय संस्कृति का अनुशीलन किया जाए तो ज्ञात होगा कि इसमें युगानुरूप संशोधन, परिवर्तन, परिमार्जन होते रहे हैं और उस काल की विशिष्ट देन को यह संस्कृति सहेजकर आत्मसात् करती रही है। इसीलिए इसे सामासिक संस्कृति, अनेकता में एकतामूलक संस्कृति, सामंजस्य और समन्वय की संस्कृति कहा जाता है। इस प्रकार के विशेषण विश्व के किसी अन्य राष्ट्र की संस्कृति के साथ प्रयुक्त नहीं होते।

भारतीय संस्कृति को समझने के लिए उसके ऐक्यमूलक सिद्धांत को समझना होगा। भारत विशाल देश है। विविध वर्णों और जातियों का देश है। विविध भाषाओं तथा धर्म-संप्रदायों का देश है। विविध रीति-रिवाजों तथा विविध वेशभूषाओं का देश है; फिर

की सांस्कृतिक भूमिका पर वह एक है, इसकी एकता असंदिग्ध है। विन्सेंट स्मिथ ने 'हिन्दुस्तान का इतिहास' में इस तथ्य को उद्घाटित करते हुए लिखा है कि "निस्संदेह भारत में एक ऐसी गहरी मूलभूत एकता है जो भौगोलिक पार्थक्य अथवा राजनीतिक शासन से निर्मित एकता से कहीं अधिक गहन एवं गंभीर है।" यह एकता रक्त, रंग, भाषा, वेशभूषा, रीति-रिवाज, धर्म-संप्रदाय की अनेकानेक भिन्नताओं का अतिक्रमण करके बहुत ऊंची उठ जाती है। भारतीय संस्कृति के मूलभूत उपादानों मे मानव को प्रमुख स्थान पर रखकर उसके विकास का चिंतन है। इस दृष्टि से मानव को सर्वश्रेष्ठ मानकर समस्त क्रिया-कलाप और सांस्कृतिक अनुष्ठान उसी के निमित्त किए जाने चाहिए, ऐसी मान्यता हमारी संस्कृति में प्रारम्भ से व्याप्त रही है। समस्त विश्व की मंगलकामना भी हमारी संस्कृति की आधार-शिला है। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दु:खभाग्भवेत्' में इसी कामना को व्यक्त किया गया है। ईशोपनिषद् मे यही भाव दूसरे शब्दो में व्यक्त किया गया है, "जो व्यक्ति समस्त प्राणियों को आत्मा में और आत्मा को समस्त प्राणियों में देखता है वह किसी से घृणा नहीं करता।" अर्थात् मानव ही नही, समस्त प्राणियों के प्रति रागात्मक संबंध रखने का उपदेश 'भारतीय चिंतन' में वैदिक काल से रहा है। मानवात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा भारतीय संस्कृति में है।

भारतीय संस्कृति व्यक्ति के आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक विकास को समानान्तर रूप से स्वीकार करती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने को स्वतंत्र एकाश मानकर पहले अपना परिष्कार करे, तदनंतर समाज को स्वस्थ दिशा देने का प्रयास करे। व्यष्टि-निर्माण के बिना समाज-निर्माण की कल्पना करना मूल को छोडकर पत्तियों और शाखाओं को सींचना है। यदि व्यक्ति के निजी जीवन मे आचरण की पवित्रता नही है और मनसा, वाचा, कर्मणा वह सत्य की प्रतिष्ठा नहीं करता, तो वह सुसंस्कृत समाज का निर्माण कभी नहीं कर सकता। जो व्यक्ति मन, वचन और कर्म में साम्य नही रखता, उसे विद्वान् होने पर भी दंभी, धनवान होने पर भी लोभी, कुलीन होने पर भी अकुलीन समझा जाता है। अत. संस्कृति का धन, वैभव, ऐश्वर्य, प्रभुता, पांडित्य, आभिजात्य, मान-सम्मान के साथ अनिवार्य संबंध नहीं है।

भारतीय संस्कृति में आत्म का विगलन और परात्म का पोषण है। अर्थात् स्वसुख-भोग की कामना से रहित होकर समाज को सुखी बनाने के प्रयत्न में संलग्न व्यक्ति सुसंस्कृत है। सुसस्कृत व्यक्ति को ऐसा कोई काम नही करना चाहिए जिसे वह अपने प्रति सहन नही कर सकता। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्' मे इसी उदात्त आशय को व्यक्त किया गया है। व्यक्ति को सुसंस्कृत होने के लिए आत्मसयम, अपरिग्रह, तितिक्षा, करुणा, अहिंसा, सत्य, सेवा, त्याग, समता, प्रेम और समन्वय की आवश्यकता है। जो व्यक्ति दूसरों के लिए अर्थात् समाज के लिए अधिक से अधिक कष्ट उठाकर जीवन-यापन करने मे विश्वास करता है वह अपरिग्रही तो होता ही है, आत्मदमन के साथ निरीह और निःस्वार्थ भी होता है। इसीलिए परदु:खकातर होना—परायी पीड़ा को समझना वैष्णव सस्कृति का विशिष्ट तत्त्व ठहराया गया है। वास्तव मे यह भाव भारतीय संस्कृति के मूल में ही व्याप्त रहा है। रामायण और महाभारत जो प्राचीन भारतीय संस्कृति के सवाहक महाकाव्य हैं, आज भी इसीलिए समादृत हैं कि उनमे इस कोटि के चरित्रों की अवतारणा की गई है जिन्हें आज भी हम जाति, देश, काल की सीमाओ से ऊपर उठकर संस्कृति के मानदंड के रूप मे स्वीकार कर सकते हैं। दुष्कृति का विनाश, सुकृति की रक्षा, धर्म की संस्थापना आदि विशेषण उन्ही महापुरुषो के लिए प्रयुक्त होते हैं जो संस्कृति के यान को युग-युगों तक बढ़ाते लाए हैं। आज के युग मे भी महान वैज्ञानिको का मानवता के कल्याण के लिए आत्म-बलिदान, राजनीतिज्ञों का राष्ट्र के लिए उत्सर्ग, समाज-सुधारको का समाज के लिए निःस्वार्थ भाव से समर्पण और साहित्यकारो तथा विचारको के मानव की विचारधारा के परिष्कार के लिए किए गए रचनात्मक प्रयत्न, सस्कृति-विकास की परपरा मे आने वाले अनुकरणीय कार्य हैं। इन्ही से राष्ट्रीय संस्कृति बनती है।

भारतीय संस्कृति शब्द का प्रयोग करने पर यह प्रश्न अनेक बार उठाया गया है कि क्या किसी देश और जाति की अपनी भिन्न संस्कृति होती है जो किसी और देश की नही हो सकती? क्या भौगोलिक परिवेश एव सामाजिक परिस्थितियों से राष्ट्रीय अथवा जातीय सस्कृतियों का निर्माण होता है? इन प्रश्नों का आशय यही है कि यदि भारतीय राष्ट्रीय संस्कृति जैसी कोई संस्कृति है तो क्या वह मानव-संस्कृति या विश्व-संस्कृति से भिन्न, कुछ सीमित सस्कृति है? इस प्रश्न के उत्तर मे मुझे यह कहने में कोई सकोच नहीं है कि संस्कृतियो के निर्माण में एक सीमा तक देश और जाति का योगदान रहता है। सस्कृति के मूल उपादान तो प्रायः सभी सुसंस्कृत और सभ्य देशों के एक सीमा तक समान रहते हैं किंतु बाह्य उपादानों में अंतर अवश्य आता है। राष्ट्रीय या जातीय संस्कृति का सबसे बडा योगदान यही है कि वह हमे अपने राष्ट्र की परपरा से सपृक्त बनाती है, अपनी रीति-नीति की संपदा से विच्छिन्न नही होने देती। आज के युग मे राष्ट्रीय एव जातीय सस्कृतियो के मिलन के अवसर अति सुलभ हो गए हैं, संस्कृतियों का पारस्परिक संघर्ष भी शुरू हो गया है। कुछ ऐसे विदेशी प्रभाव हमारे देश पर पड रहे हैं जिनके आतक ने हमें स्वयं अपनी संस्कृति के प्रति संशयालु बना दिया है। हमारी आस्था डिगने लगी है। यह हमारी वैचारिक दुर्बलता का पक्ष है। अपनी संस्कृति को छोड़,

विदेशी संस्कृति के अविवेकहीन अनुकरण से हमारे देश के राष्ट्रीय गौरव को जो ठेस पहुंच रही है वह किसी जागरूक राष्ट्र-प्रेमी व्यक्ति से छिपी नहीं है। भारतीय संस्कृति में त्याग और ग्रहण की अद्भुत क्षमता रही है, अतः आज के वैज्ञानिक युग में हम किसी भी विदेशी संस्कृति के जीवंत तत्त्वों को ग्रहण करने में पीछे नहीं रहना चाहेंगे, किंतु अपनी सांस्कृतिक निधि की उपेक्षा करके वह परावलंबन राष्ट्र की गरिमा के अनुरूप नहीं है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सूर्य की आलोकप्रदायिनी किरणों से पौधे को चाहे जितनी जीवनी शक्ति मिले, किंतु अपनी जमीन और अपनी जड़ों के बिना कोई पौधा जीवित नही रह सकता। अविवेकपूर्ण अनुकरण केवल अज्ञान का ही पर्याय है ।

भारतीय संस्कृति को बिना समझे कुछ विदेशी लेखकों ने इसे रूढ़िवादी तथा अंधविश्वासमयी संस्कृति कहा है। धर्म के संकीर्ण आवेष्टन मे उन्हें भारतीय संस्कृति में जड़ता लक्षित हुई, किन्तु भारत की धर्मप्राणता ने जिस रूप में अन्य धर्मों को उन्मुक्त भाव से स्वीकार किया, उस ओर इन लेखकों का ध्यान नही गया। भारत की धर्मप्रवणता से न तो इस्लाम को ठेस पहुंची और न ईसाइयत के प्रचार-प्रसार में बाधा आई। मुसलमान, ईसाई और पारसी अपने-अपने धार्मिक विश्वासों के साथ भारतीय संस्कृति के अनेक पोषक तत्त्वों से समृद्ध होते रहे। पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा उर्दू का उद्भव भारतीय भाषाओं से हुआ, वही उर्दू आज हिन्दू-मुसलमान दोनों की भाषा है। हिंदुओं की रथयात्रा का रूपांतरण मुसलमानो के ताजियो में माना जाता है। सुख का दुःख में वह विपर्यय भी संस्कृतियों के संघर्ष का परिणाम है। भारतीय संस्कृति भारत से बाहर जिन-जिन देशो में गई, वहां अपनी छाप अवश्य छोड़ती आई। मिस्र का प्रथम धर्मोपदेष्टा और शासक मेनस अब केवल धर्मग्रंथों में ही है किंतु जिस मनु को उन्होंने 'मेनस' नाम से माना है वह मनु आज भी भारतीय साहित्य, धर्म और स्मृतियों में जीवित है। चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, बर्मा, बोर्नियो आदि देशों में बौद्ध धर्म के माध्यम से भारतीय संस्कृति का संक्रमण हुआ और आज भी वह इन देशों की अपनी सामाजिक परम्पराओं और धार्मिक मान्यताओं मे देखी जा सकती है। हमारी संस्कृति आक्रामक कभी नही रही, यही उसकी विशेषता है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति के कुछ मानदंड थे, जो युग के अनुरूप बदलते गए। वर्णाश्रम-व्यवस्था, अध्यात्मवाद, मोक्ष, अपरिग्रह, अहिंसा, यज्ञ, श्रमण या संन्यास आदि के प्रति आज उस प्रकार का आग्रह नहीं रह गया है। आश्रम-व्यवस्था तो लगभग समाप्त हो गई है। मोक्ष और पुनर्जन्म के सिद्धांत दार्शनिक चिंतन के विषय हो गए हैं। संन्यासाश्रम और श्रमण संस्कृति भी सार्वदेशिक रूप मे लक्षित नही होती। इसी प्रकार वैदिक कर्मकांड, यज्ञ और आरण्यक जीवन भी संस्कृति का अनिवार्य अंग नहीं रह गया है। यह सब परिवर्तन भारतीय संस्कृति की उदारता के ही सूचक हैं। मूढ़ाग्रह से मुक्त होने का यह प्रमाण है। मैं इन तत्त्वों का विरोध नही करता, किन्तु युगधर्म ने उन्हें छोड़ दिया तो संस्कृति के भी वे अनिवार्य उपकरण क्यों माने जाएं ?

भारतीय संस्कृति के आंतरिक एवं बाह्य पक्षो को समझने के लिए उन्हें पृथक्-पृथक् करके परखना होगा। यदि संस्कृति का आंतरिक पक्ष उद्‌घाटित करना है तो भारत के विभिन्न धर्मों, दर्शनो, साहित्यिक ग्रन्थों, लोकविश्वासों तथा सर्वस्वीकृत धारणाओं का अध्ययन अपेक्षित है। कुछ ऐसे मौलिक सिद्धांत और शाश्वत सत्य हैं जो भारतीय संस्कृति के मेरुदण्ड कहे जा सकते हैं। आस्तिकवाद भारतीय अध्यात्म का सुफल है। इस आस्तिकवाद को हमारे मनीषी दार्शनिको ने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' के रूप में प्रारम्भ किया था, जिसकी परिणति अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद आदि अनेक रूपो मे हुई। इसके साथ ही एकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद और बहुदेववाद भी हमारे चिन्तन मे स्वीकृत हुआ। आधिदैविक और आधिभौतिक शब्दो के माध्यम से भी हमारे यहां इन विषयों पर गंभीरता के साथ विचार-विमर्श हुआ है। यह सब चिन्तन विचार-स्वातंत्र्य का ही परिचायक है। आस्तिकवाद के भीतर ही अवतारवाद की कल्पना भी देखी जा सकती है। अवतारवाद के साथ ईश्वरीय शक्ति के त्रिविध रूप भी स्वीकृत हुए हैं जिन्हें ब्रह्मा, विष्णु, शिव नाम से व्यवहृत किया जाता है। इन तीनों देवताओ मे समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न भी चिरकाल से चला आ रहा है। भक्तिकालीन साहित्य में इस समन्वय को तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में मुखर किया है। भगवान् विष्णु और भगवान् शिव का स्वरूप इस बहिरंग विरोधाभास का सर्वश्रेष्ठ चित्र प्रस्तुत करता है। 'रामचरितमानस' और 'विनयपत्रिका' को पढ़ते समय पाठक के भीतर द्विधात्मक भाव आ सकते हैं, क्योंकि एक ही ईश्वर स्वयं को दो रूपो मे अभिव्यक्त करता है। दोनो एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। एक श्याम है तो दूसरा गौर, एक का विग्रह वस्त्राभूषणों से अलंकृत है तो दूसरा नग्न और नाग धारण करता है। एक लोक-मर्यादा का संरक्षक है तो दूसरा अपने प्रत्येक क्रिया-कलाप से मर्यादा का उपहास करता प्रतीत होता है। विष्णु देवताओं के संरक्षक हैं, शिव देवाधिदेव होते हुए भी असुरों की पूजा स्वीकार करते हैं—एक लोकपालक है तो दूसरा सृष्टि का संहारक। दोनों में बाह्य रूप से कितना वैभिन्न्य है किन्तु तत्त्वतः दोनो एक हैं। यह समन्वय भारतीय दर्शन, चिन्तन और आचरण में सर्वत्र पाया जाता है।

इसके साथ ही हमारे यहां बौद्ध और जैन दर्शन नास्तिक कहे जाने पर भी भारतीय संस्कृति से बाहर नहीं हैं। संसार की क्षणभंगुरता का प्रतिपादन केवल दर्शन का ही विषय नहीं, भारतीय चिन्तन का भी परिणाम है जिसे परवर्ती भारतीय सूफी कवियों ने भी

स्वीकार किया। भारतीय संस्कृति में अनासक्त भाव से कर्म करने का विधान है। गीता के द्वारा यह अनासक्ति योग बहुत अधिक मान्य हुआ और अन्य धर्मावलम्बियों के लिए भी कर्म का प्रेरक तथा कर्मफल से अनासक्त बनाने में सहायक हुआ। निष्काम कर्म की भावना को हम भारतीय संस्कृति की महान् देन कह सकते हैं। विश्व के किसी देश की संस्कृति में इस प्रकार की कर्म-प्रेरणा उपलब्ध नहीं होती। सी० ई० एम० जोड के शब्दों में—"मानव जाति को भारतवासियों ने जो सबसे बड़ी चीज वरदान के रूप में दी है, वह यह है कि भारतवासी हमेशा ही अनेक जातियों के लोगों और अनेक प्रकार के विचारो के बीच समन्वय स्थापित करने को तैयार रहे हैं, और सभी प्रकार की विविधताओं के बीच एकता कायम करने की उनकी योग्यता और शक्ति अप्रतिम रही है।" भारतीय दर्शन आत्म-दर्शन है—पाश्चात्य दर्शन भौतिकता का दर्शन, अत. उसका सास्कृतिक आधार भी वैसा ही है। भारतीय जन की प्राचीन काल में चतुर्वर्ग फल-प्राप्ति (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) की इच्छा रहती थी। दार्शनिक शब्दों मे इसे 'पुरुषार्थ-चतुष्टय' कहा गया है। यह पुरुषार्थ-चतुष्टय साहित्य और कला में भी अभिव्यक्ति पाता रहा।

जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध मे भी भारतीय संस्कृति द्विधाग्रस्त नही है। शरीर के प्रति मोह को इस सस्कृति मे स्थान नहीं मिला, किन्तु साथ ही नीरोग और स्वस्थ शरीर से शतायु होने की कामना पाई जाती है। 'जीवेम शरद. शतम्' इसी कामना का उद्घोष है। सुख-दुःख में समान रहने का उपदेश तो गीता मे है, किन्तु भारतीय महाकाव्यो के नायक उसे चरितार्थ करते हैं। रामायण का नायक रामचन्द्र पुरातन संस्कृति का जीवन्त प्रतीक है। सिंहासनारूढ होने का सुख उसे मोहित नहीं करता—वनवास की आज्ञा भी उसके लिए दुःख का कारण नहीं है। दोनों स्थितियो को वह समान रूप से स्वीकारता है। भारत के महाकाव्यों मे, लोक-कथाओं में, पौराणिक आख्यानों में जो महापुरुष सहस्रो शताब्दियो से जीवित हैं, उनमे हरिश्चन्द्र, दधीचि, शिवि, बलि, रामचन्द्र, कृष्णचंद्र, युधिष्ठिर, भगवान् गौतम बुद्ध और भगवान् महावीर स्वामी आदि का नाम संस्कृति के किसी न किसी एक विशेष गुण के कारण ही है।

अहिंसा, करुणा, मैत्री, मुदिता और विनय को सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए केवल जैन और बौद्ध धर्म में ही नही, सभी भारतीय धर्मों में अनिवार्य माना गया है। अहिंसा और जीव-दया इसी कारण संस्कृति का अग बन गई। किन्तु जब विभिन्न देशों और विभिन्न धर्मावलंबियों का भारत में आगमन और समंजन हुआ, इन तत्त्वों मे यथाभिलषित परिवर्तन भी आए। परिवर्तन भविष्य मे भी होंगे, इस संभावना को हम निरस्त नहीं कर सकते; किन्तु भारतीय संस्कृति उन परिवर्तनो में अपना स्वरूप विलीन नहीं करेगी। इन परिवर्तनों को हम भारतीय संस्कृति की प्रतिमा के अलंकरण ही मानते हैं जिन्हे देश-कालानुसार उतारा और पहना जा सकता है।

भारतीय संस्कृति पर यों तो प्राचीन काल से ही आघात होते रहे हैं किन्तु इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रहार पूरी निष्ठुरता के साथ हुए। इन प्रहारों को झेलकर तथा इन धर्मों को अपने अचल में समेट कर भारतीय सस्कृति जीवित रही, यही इसकी जीवंतता का प्रमाण है। ब्रिटिश शासनकाल में ही पुनर्जागरण का समय आया। उसी पुनर्जागरण में राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, महात्मा गाधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे व्यक्ति उत्पन्न हुए और उन्होंने भारतीय संस्कृति की मूल धारा को अक्षुण्ण रखा। इस युग के इन महापुरुषों ने सस्कृति को अधिकाधिक उदार बनाने का ही प्रयास किया; धार्मिक सहिष्णुता का परिचय देकर संकीर्ण मनोवृत्ति से बचाये रखा।

जैन संस्कृति की आधारशिला

जैन धर्म भारत का प्राचीन धर्म है जिसका मूल प्रवर्तन प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के द्वारा हुआ। प्रथम तीर्थंकर का काल अनिर्णीत है। उनके और चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर के बीच काल की दृष्टि से कितना अन्तराल है, यह भी निश्चित नहीं है। भगवान् महावीर को जैन धर्म का प्रवर्तक मानने की भूल इसी कारण होती है कि उनसे पूर्व उत्पन्न तेईस तीर्थंकरों का क्रमबद्ध इतिवृत्त सुलभ नहीं है किन्तु उनके नाम प्राचीन साहित्य में उपलब्ध हैं। भगवान् महावीर ने जैन धर्म मे युगानुरूप क्रान्तिकारी परिवर्तन किये और एक प्रकार से जैन धर्म को भारतीय चिन्तन धारा मे प्रमुख स्थान पर नवीन दर्शन और ज्ञान के साथ ला खड़ा किया। भगवान् महावीर का युग अनेक दृष्टियों से अन्तर्विरोधों तथा घात-प्रतिघातों से पीड़ित था। उस युग में युद्ध, संघर्ष के साथ हिंसा को कर्मकांड में भी स्थान मिल गया था। फलत· मानव-मूल्यों में भी प्रतिक्रियावादी दृष्टि प्रमुख हो गई थी।

जैन धर्म की पुन·स्थापना या व्यापक प्रचार की दृष्टि से पुनरुत्थान के बाद जो नवीन दर्शन और सांस्कृतिक मूल्य स्थापित हुए, उनका महत्त्व निर्विवाद रूप से सर्वस्वीकृत है। इन जीवन-मूल्यों से जिस संस्कृति का चित्र उभरता है, उसे हम जैन धर्म की सांस्कृतिक देन कह सकते हैं। जिस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि 'आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि' अर्थात् समस्त शिल्प आत्म-संस्कृति की अभिव्यक्ति या प्रकाश है, उसी प्रकार जैनाचार के समस्त नियम और उपदेश जैन संस्कृति की अभिव्यक्ति हैं। जैन धर्म में लोक-जीवन के परिष्कार के लिए जो साधन स्वीकार किये गये, उनमें जनसम्पर्क को प्रमुख स्थान दिया गया। जनसम्पर्क के लिए लोक-

भाषा अर्थात् सामान्य जनता की भाषा को प्रमुख स्थान मिला। अर्धमागधी, प्राकृत, पालि, अपभ्रंश आदि भाषाएँ जैनाचार्यों के प्रत-संपर्क की भाषाएँ बनीं और इनके द्वारा उपदेशों का प्रचार हुआ। जैनाचार्य संस्कृत भाषा में पूर्ण पारंगत थे किन्तु प्राकृत जन के साथ सौहार्द स्थापित करने के लिए उन्होंने लोकभाषाओं का प्रश्रय लिया था।

जैन संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है चिन्तन में उदारता। किसी एक विचार को पकड़ कर उसका आग्रह व्यक्त करना जैन संस्कृति में नहीं है। इसलिए अनेकान्त जैसे उदार दर्शन की स्थापना हुई। किसी भी विषय में किसी एक विचार को अन्तिम सत्य नहीं कहा जा सकता। पक्ष-प्रतिपक्ष पर विचार करने से उसी विचार के अनेक बिन्दु हो सकते हैं। दृष्टि-भेद से भी वस्तु-भेद होता है। सापेक्षता से भी भेद लक्षित किया जा सकता है। संभावनाओं की इयत्ता न होने से अनेकान्त सिद्धान्त का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। किसी भी वस्तु या विचार को हम एकायामी नहीं ठहरा सकते। एक समय में हम किसी वस्तु की सम्पूर्णता का कथन नहीं कर सकते। जब हम किसी वस्तु को परिभाषित करते हैं तब किसी विशेष दृष्टि से ही करते हैं, वह दृष्टि समग्र-दृष्टि नहीं होती। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि हम वस्तु को समग्रतम दृष्टि से देखें, परखें और अपने मत को अंतिम सत्य न समझें। इस दृष्टिकोण से वस्तु के समझने में विवाद नहीं होता।

इसी सिद्धान्त को दूसरी दार्शनिक शब्दावली में 'स्याद्वाद' शब्द से अभिहित किया गया है। जैन संस्कृति की उदार दृष्टि इस स्याद्वाद में भी समाहित है। यह वस्तु ऐसी है, ऐसी भी है और ऐसी से कुछ भिन्न भी है। कैसी है, यह इसकी सम्पूर्णता में कथन करना दुष्कर है। जब हम अपने पक्ष के प्रतिपादन के साथ प्रतिपक्ष को भी समझने और ग्रहण करने की गुंजाइश लेकर चलते हैं तो उदारता, सहिष्णुता, समता और सामरस्य का वातावरण बनता है जो सुसंस्कृत समाज का लक्ष्य है। जैनधर्म में संस्कृति का यह उच्चादर्श चिन्तन-मनन के क्षेत्र में सर्वत्र लक्षित किया जा सकता है। जैन संस्कृति की यह मौलिक देन है जो मत-मतान्तरों के संघर्ष और वैमनस्य को समूल नष्ट करती है। स्याद्वाद का सिद्धान्त सूक्ष्म दार्शनिक सिद्धान्त होने के साथ व्यावहारिक जीवन का भी मार्गदर्शक सिद्धान्त है। संस्कृति के क्षेत्र में यह एक बड़ा प्रकाश-स्तम्भ है। इस सिद्धान्त में व्यक्ति-स्वातंत्र्य की पूर्णरूपेण रक्षा है। प्रत्येक व्यक्ति अपने विचार को रखता हुआ वस्तुपरक दृष्टि से तत्त्व चिन्तन कर सकता है।

जैन संस्कृति में आचार-मर्यादा को प्रमुख स्थान दिया गया है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र का विधान है। यह त्रयी जीवन के श्रद्धा, तर्क और आचरण के सम्मिलन से सदाचार का पथ प्रशस्त करती है। यदि हम इन तीनों का सम्यक् बोध करलें तो जीवन में सांस्कृतिक दृष्टि से उच्चादर्श तक पहुंच सकते हैं। यह शब्दत्रयी अपने परिवेश में उन सब उदात्त गुणों को समेट लेती है जो मानव-समाज को कल्याण के पथ पर ले जाते हैं।

आचरण की पवित्रता के लिए जैन धर्म में पाँच व्रतों का विधान है। ये पाँच महाव्रत तथा दश नियम योगदर्शन के यम-नियमों के समान ही हैं। पाँच व्रतों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य हैं। श्रावक इनका आंशिक रूप से भी पालन करें तो उनके जीवन में सुख-संतोष का समावेश होगा। साधुओं के लिए इन व्रतों का पालन अनिवार्य है और पूर्णरूपेण उन्हें इनको अपनी चर्या में स्थान देना होता है। अहिंसा का जो रूप सामान्यतः समझा जाता है, जैन धर्म में उतना ही पर्याप्त नहीं है। अहिंसा मन, वचन और कर्म तीनों स्थलों पर ग्रहण करनी होती है तभी व्यक्ति पूर्ण अहिंसक बनता है। अपरिग्रह तो जैन साधुओं में आज भी देखा जा सकता है। मनुष्य स्वभाव से परिग्रही होता है, उसे अपरिग्रही बनाना सरल नहीं है। किन्तु अपरिग्रही बनने पर इस क्षणभंगुर संसार का समस्त वैभव तृणवत् त्याज्य बन जाता है। ब्रह्मचर्य का व्रत नारी जाति के सम्मान और प्रतिष्ठा से जुड़ा है। समाज में नारी को प्रतिष्ठा तभी मिलेगी जब लम्पटता, दुराचार, व्यभिचार आदि दूषित वृत्तियाँ दूर होंगी। इनके लिए ब्रह्मचर्य व्रत की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है।

जैन धर्म में सामाजिक वैषम्य की किसी रूप में भी स्वीकृति नहीं है। जैन संस्कृति सामाजिक न्याय, मैत्री और समता पर बल देकर बंधुता की स्थापना करती है। भगवान् महावीर ने जैन संस्कृति की पुनःस्थापना करते हुए इन सभी जीवन-मूल्यों को समाज के लिए अनिवार्य माना है। मनुष्य के संस्कार-संवर्धन के लिए इन उदात्त गुणों का ग्रहण जिस समाज में होगा, वह स्वयमेव सुसंस्कृत हो जाएगा।

जैन संस्कृति का प्रमुख लक्ष्य व्यक्ति और समाज को एक अहिंसक, शान्तिप्रिय, निर्भीक, प्रीतिपूर्ण, सौहार्दपूर्ण, सुखोन्मुख जीवन-शैली प्रदान करना है। जैनाचार्यों के समस्त शास्त्र और उपदेश-वचन विषमता में समता की स्थापना करने में प्रवृत्त रहे हैं। वैचारिक सहिष्णुता इस संस्कृति का जीवन-मूल्य है, अनेकान्त इसी का समर्थन है। समाज में साथ रहते हुए हम एक-दूसरे के विचारों को समझें, अपने को पूर्ण न मानें, स्याद्वाद इसी का अनुमोदन करता है। इन सिद्धान्तों की स्वीकृति से जो संस्कृति निर्मित होगी वह विश्व में प्रेम, मैत्री और बंधुता की स्थापना कर सकेगी। पारस्परिक विश्वास इस संस्कृति का आधार-स्तंभ है अतः जैन धर्म प्राचीन काल से

आज तक समय के थपेड़ों को सहिष्णु होकर झेलता चला आ रहा है और उसकी संस्कृति अक्षुण्ण बनी हुई है। भारतीय संस्कृति का यह एक सुदृढ़ आधार है। भारतीय संस्कृति को समझने के लिए इसे तदाकार कर ही समझना होगा। जैन संस्कृति का समग्र अवदान तो साहित्य, धर्म, दर्शन, कला, भाषा, इतिहास, पुरातत्त्व आदि सभी क्षेत्रों में देखा जा सकता है। समस्त भारत में जैन धर्म के असंख्य अनुयायी हैं और प्रायः सभी भारतीय भाषाओं मे इस प्राचीन धर्म के ग्रंथ पाये जाते हैं जिनके आधार पर हम जैन संस्कृति के व्यापक महत्त्व को समझ सकते हैं।

संक्षेप मे, विश्व संस्कृति का इतिहास मनुष्य के निर्माण का इतिहास है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आधुनिक युग की वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति ने संस्कृति को व्यापक आयाम देकर आगे बढ़ाया है। ज्यों-ज्यो ज्ञान-विज्ञान के नये क्षेत्र खुलेंगे—मनुष्य की बुद्धि, जिज्ञासा और चेतना का प्रसार होगा और संस्कृति की दिशा मे भी मनुष्य को अधिक सक्रिय होना पड़ेगा। किन्तु मानव को सतर्क रहकर यह भी देखना होगा कि वैज्ञानिक विकास की यह प्रक्रिया मात्र बौद्धिक ही न बने; मनुष्य की संवेदनशील रागात्मिका वृत्ति से इसका संबंध टूटे नहीं। विज्ञान के आविष्कारक यदि अणुबम और हाइड्रोजन बम बनाने मे लगे रहे तो मानव-संस्कृति के कलंक नागासाकी और हिरोशिमा के बीभत्स और भीषण दृश्य पुन उपस्थित हो सकते है। भारतीय संस्कृति इसीलिए युद्ध को भी धर्म-युद्ध की संज्ञा देती रही है। ऐसी संज्ञा अन्यत्र कहीं नहीं है। मानव और दानव की संस्कृति मे भेद मानती रही है। निरीह, निहत्थे, निरस्त्र, निरपराध मनुष्यो पर बम-वर्षा केवल असंस्कृत कर्म ही नहीं, अमानवीय भी है। अत भारतीय संस्कृति ज्ञान-विज्ञान के रचनात्मक विकास मे आस्था रखते हुए 'जियो और जीने दो' में विश्वास रखती है। हम मृत्यु-पूजक नहीं है, हम दूसरे का धन छीनने का स्वप्न नहीं देखते। 'मा गृध कस्यस्विद्धनम्' हमारा मंत्र है। अहिंसा, अपरिग्रह, शांति और संतोष हमारी दिनचर्या है। आत्मा की अमरता मे हमारा विश्वास है। हम प्राणिमात्र के सुख की कामना करते हैं। महापुरुषों का सम्मान हमारी संस्कृति मे सर्वोच्च स्थान पाता है। 'महाजनो येन गतः स पंथा.' इसीलिए कहा गया है कि हम मनीषियो का आदर करते है। हमने किसी ईसा मसीह को सूली पर नहीं चढ़ाया, किसी सुकरात को जहर का प्याला नहीं पिलाया, किसी गेलीलियो की आँखे नहीं फोड़ी। यदि हमे कहीं आसुरी वृत्ति के विरोध मे खड़ा होना पड़ा तो युद्ध-क्षेत्र मे उस असुर का सामना किया और उसे परास्त किया है।

हम मानव को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए उसके सांस्कृतिक विकास के लिए साहित्य, दर्शन, विज्ञान, कला और शिल्प को आवश्यक मानते हैं। हम समस्त संसार को सुसंस्कृत एवं सभ्य देखना चाहते है। हमारा विश्वास है कि विश्व का सांस्कृतिक विकास ही विश्व-शांति, विश्व-मैत्री और विश्व-ऐक्य की सरणि है। किसी जड़-परंपरा मे हम मूढ़ आस्था नहीं रखते। रूढ़िवादिता और अंधविश्वासों की बेड़ियाँ तोड़कर प्रगति और प्रकाश मे विचरण करने की अदम्य लालसा हममें प्रारम्भ मे रही है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' और 'मृत्योर्माऽमृतं गमय' उसी लालसा के उद्घोष हैं। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' केवल सूक्ति ही नहीं, जीवन-सरणि है। अपने विचारो और विश्वासो में आस्था का भी हमारे यहाँ स्थान है। 'स्वधर्मे निधन श्रेय' इसीलिए सद्धर्म की नीति है। प्रसिद्ध मनीषी इमर्सन ने कहा है—"अपने विचार मे आस्था या विश्वास रखना, यह विश्वास रखना कि जो तुम्हारे अपने हृदय के लिए सत्य है वह सब मनुष्यों के लिए सत्य है—यही प्रतिभा है।" हमारी संस्कृति मे इस प्रतिभा की स्वीकृति ही नहीं, वरण है। इसी प्रतिभा से रूढ़ियो का दबाव हटता है और यही प्रतिभा मनुष्य-समाज को उच्चतर भूमिका की ओर अग्रसर करती है। उच्चतर भूमिका की ओर अग्रसर होना ही संस्कृति के मार्ग की ओर बढ़ना है।

"सहिष्णुता, उदारता, सामासिक संस्कृति, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और अहिंसा—ये एक ही सत्य के अलग-अलग नाम हैं। असल मे यह भारतवर्ष की सबसे बड़ी विलक्षणता का नाम है, जिसके अधीन यह देश एक हुआ है और जिसे अपनाकर सारा संसार एक हो सकता है। अनेकान्तवादी वह है जो दुराग्रह नहीं करता। अनेकान्तवादी वह है जो दूसरो के मतों को भी आदर से देखना और समझना चाहता है। अनेकान्तवादी वह है जो अपने पर भी संदेह करने की निष्पक्षता रखता है। अनेकान्तवादी वह है जो समझौतो को अपमान की वस्तु नहीं मानता। अशोक और हर्षवर्धन अनेकान्तवादी थे, जिन्होंने एक धर्म मे दीक्षित होते हुए भी सभी धर्मों की सेवा की। अकबर अनेकान्त-वादी था, क्योकि सत्य के सारे रूप उसे किसी एक धर्म मे दिखाई नहीं दिए एवं सम्पूर्ण सत्य की खोज मे वह आजीवन सभी धर्मों को टटोलता रहा। परमहंस रामकृष्ण अनेकान्तवादी थे, क्योकि हिन्दू होते हुए भी उन्होने इस्लाम और ईसाइयत की साधना की थी। और, गांधीजी का तो सारा जीवन ही अनेकान्तवाद का उन्मुक्त अध्याय था।

वास्तव मे भारत की सामासिक संस्कृति का सारा दारोमदार अहिंसा पर है, स्याद्वाद और अनेकान्तवाद की कोमल भावना पर है। यदि अहिंसा नीचे दबी और असहिष्णुता एवं दुराग्रह का विस्फोट हुआ, तो वे सारे ताने-बाने टूट जायेंगे जिन्हें इस देश मे आनेवाली बीसियो जातियो ने हजारो वर्ष तक मिलकर बुना है।"

—रामधारीसिंह 'दिनकर'

('एई महामानवेर सागर-तीरे' से)

The Jaina Inscriptions From Mathura

Dr. Umakant P. Shah

From the excavations of the Kankāli Ṭīlā, Mathura, a large number of inscribed Jaina sculptures have been obtained. Buhler, Luders and others have published these inscriptions and discussed them long ago V. A. Smith published his monumental work on the Antiquities of the Jaina Stupa at Kankālī Ṭīlā, Mathura. But all this was done long ago V. S. Agrawal rendered very valuable service by publishing a Catalogue of Jaina Antiquities in the Mathura Museum. He also gave readings of the inscriptions on the Jaina sculptures in the Mathura Museum Prof. Lohouizen-de Leeue in her monumental work on the Scythian Period discussed some Jaina sculptures from Mathura along with the problem of calculation of the dates given in these inscriptions. Her theory was that in some of these inscriptions, while giving the year, the number for hundred was omitted. This theory has not met with universal approval. For example G.S. Gai, Epigraphist to the Government of India, argued against it in a recent paper published in the Aspects of Jaina Art and Architecture. Again, the age assigned to some of the undated inscriptions on the Āyāgapaṭas from Mathura, given by Smith and Buhler, is not acceptable to some scholars.

But it is still more important to note that readings of some inscriptions, published earlier, are open to correction as well as new interpretation. For example, an inscription which was supposed to read Nandyāvarta (Arhat) and was interpreted to refer to the image of the Jaina whose cognizance is Nandyāvarta, has been read again by K. D. Bajpai, who read the word as "Muni Survrata," thus referring to the image of the Arhat Munisuvrata. I have read this inscription and found that K. D Bajpai's reading is correct and preferrable. Again the reading "*pratimāvo dve thubhe*" was read and interpreted formerly as "*pratimā Vodve thubhe*" and the Stūpa was called "Vodva Stūpa" by almost all later writers The late prof. Alsdorf wrote to me that his teacher Dr. Lüders had corrected the interpretation and split the words properly as "*pratimāvo dve thube i.e.* two images in the (Devanirmita) stūpa These notes of Prof. Lüders are still unpublished.

Many of these inscriptions refer to the names of Jaina monks—ācāryas and others—a longwith their gaṇa, kula, śākhā. We have not tried to identify them with the help of Jaina literary traditions, especially of the Paṭṭāvalis. What is required now is, first, to prepare tentative charts giving age of monks as well as of their Śākhās etc , with the help of both Digambara and Śvetāmbara Paṭṭāvalis. Then we must try to give a date to those monks of the Paṭṭāvalis whose names are found in the Mathura Inscriptions. Again, we can work out tentative dates of different gaṇas, Śākhās and kulas. A corelation of literary and inscriptional evidence would then help us in finding out the approximate but reasonable age of the different inscribed sculptures from the Stūpa at Mathura

For this, the Jaina Community must come out with necessary funds and should plan to publish each and every Jain sculpture from Mathura, alongwith fresh estampages and photographs of the inscriptions, read and edited by a small committee of well-known Indian Epigraphists They may differ amongst themselves regarding the age of the script of different (especially undated) inscriptions but we can publish views of each of these scholars editing them.

For placing the history of the Jaina Samgha and the Jaina art on a sound footing, this is very essential. Such a study is now long overdue. The committee of experts will also compare the scripts of different

inscriptions with those of Buddhist and Hindu inscriptions of the Kushâna period from Mathura and may also prepare charts of evolution of the different letters.

All this is an expensive job but must be undertaken and completed with the help of our old aging but highly experienced epigraphists before it is too late.

This scheme will also bring to light in beautiful plates in one volume, all the Jaina sculptures from Mathura now mainly preserved in the museums at Lucknow and Mathura. Smith's old book mainly publishes line-drawings of only a few important sculptures.

At the time of celebrations of 2500 years of Shri Mahâvîra's Nirvâna I had made this appeal before our leading Jains as well as some scholars. I now hereby request the whole Jaina Community to consider this and plan such a project with proper funds with the help and cooperation of the Director-General of Archaeology in India and the Ministry of Education and Cultural affairs of the U. P. State Government.

This would be our fitting tribute to the cause of Jainism and to Revered Ācāryaratna Śri Deśabhusana ji Mahārāja.

अब हम अहिंसा व्रत का विचार करेंगे। अहिंसा शब्दार्थ 'न मारना है। परन्तु मुझे इसमे बड़ा अर्थ समाया हुआ दीखता है। अहिंसा का अर्थ 'न मारना' मात्र करने से मैं जिस स्थान मे पहुँचता हूं,उससे कही ऊँचे स्थान मे अहिंसा में रहा हुआ अगाध अर्थ मुझे ले जाता है। अहिंसा का सच्चा अर्थ यह है कि हम किसी को नुकसान न पहुँचाए; जो अपने को हमारा शत्रु मानता हो, उसके लिए भी हम अनुदार विचार न रखें। इस विचार के मर्यादित रूप पर जरा ध्यान दीजिए। मैं यह नही कहता कि 'जिसे हम अपना शत्रु मानते हो', बल्कि यह कहता हूँ कि 'जो अपने को हमारा शत्रु समझता हो' क्योंकि जो अहिंसा धर्म पालता है, उसके लिए कोई शत्रु हो ही नहीं सकता; वह किसी को शत्रु समझता ही नहीं। हम ईंट के बदले पत्थर फेंकें तो हमारा बरताव अहिंसा धर्म के खिलाफ ठहरेगा। पर मैं तो इससे भी आगे जाता हूँ। हम अपने मित्र की प्रवृत्ति या कथित शत्रु की प्रवृत्ति पर गुस्सा करें, तो भी हम अहिंसा के पालन मे पिछड़ जाते हैं। मैं यह कहना चाहता हूँ कि गुस्सा करने का मतलब यह चाहना है कि शत्रु को किसी तरह की हानि पहुँचे, या उसे दूर कर दिया जाए, फिर भले ही ऐसा हाथ से न होकर किसी दूसरे के हाथ से हो, या दिव्य सत्ता द्वारा हो। इस तरह का विचार भी हम अपने मन में रखेंगे, तो हम अहिंसा धर्म से हट जायेंगे। ···अहिंसा धर्म हमें यह सिखाता है कि हमें अपने आश्रितों की इज्जत अधर्म को तैयार हुए आदमी के आगे अपनी कुरबानी करके बचानी चाहिए। बदले मे मारने के लिए शरीर और मन की जितनी बहादुरी चाहिए, उससे ज्यादा बहादुरी अपने को कुरबान कर देने के लिए चाहिए।

— मोहनदास करमचंद गांधी

(सच्ची शिक्षा, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद पृ० ५३-५५ से साभार)

Dikpalini Matrikas : A Jain Iconographical Innovative Contribution (?)

Prof. Arya Ramchandra G. Tiwari

DIRECTIONS—NUMBER

The number of directions is variously suggested in different texts/rituals. Their range extends from sixteen[1] to four[2] or even three if the reference to only Indra, Agni and Vayu, in the Kenopanishad[3] has any significance in this respect

In between these two extremes the number of directions according to some texts, are twelve[4] or eleven[5] (i. e., four main directions, four mid-points of those main directions plus upper region, lower region and the one lowerer than it) or ten[6] (i.e., eight cardinal points plus the upper and the lower regions) or nine[7] (*i.e.*, the eight cardinal points plus the upper region) or eight[8] (*i.e*, the eight cardinal points, *viz.*, four directions and four mid-points between them) or seven[9] or six[10] (*i e.*, four main directions plus upper and lower regions) or five,[11] *i.e.*, the four main directions plus the upper region).

N.B. The Puranic texts edited by Shriram Acharya are indicated by the capital 'A' within brackets, *e.g.*, Vaman Puran (A) 7/12.

1. See the cardinal points of the sacrificial hall or the scheme of arranging the different points of the Mandap in the tantric form of worshipping Ganapati.
2. Brhadaranyaka Upa. 4/2/4; Chhandogya Upi. 3/15/2.
3. Kena Upa. 3/3, 7. 11; 4/2.
4. *e.g.*, the points for the location of the Zodiac signs in the Ram-yantra.
5. Shukla Yajurveda 22/24/1.
6. Vayu Purana (A) 24/150; Markandeya P. (A) 81/19; Garuda P (A) 2/6/40; Padma P. (A) 2/30/10; Brahmavaivarta P. (A) 2/62/40; Kurma P. (A) 15/45; Ganesha Gita 1/25; Mahabharat (Gita Press) 134/17; Val. Ramayana (Gita Press) 3/25/38; Jaimini's Ashvamedhaparvam (Gita Press 4/89); Bhasa : Avimarkam 3/4; Shudraka : Mrchchhakatika 8/24; Vaishakhadatt : Mudrarakshasa 3/7; Narayana Tantra : Kalyana 47/1/551-552; Haridra Ganapati Tantra : Kalyana 47/1/479-80, etc ,
7. Shukhanand's commentary on Shukla Yajurveda 23/37/1.
8. Vaman P. (A) 7/21; Bhavishya P. (A) 2/23; Linga P. (A) 2 /5-8, 69/18-19, 80/8-11; Surya P. (Gautama edi.) 41/14-18; Agni P. (Anand Ashrama) 96/12; Matsya P (A) 41/8-9, etc .
9. See Brahma p. (A) 2/27/14. No indication regarding the location of these seven points is given.
10. Atharvaveda 13/1-12: Ganapati Upa. Upanishanaka-Kalyana, p. 698
11. Aitareya Brahmana (Martin Tr), p. 12; Chhandogya Upa. Bk. 3 Ch. 13; Kena Upa. 2/3/3; Somadev : Kathasaritasagara 9/6/260, etc.,

The Jain tradition accepts ten directions.[1] Out of these ten, two directions (*viz.*, upper and lower regions), assigned to Urdhva Brahma and Patalanaga,[2] are especially reserved for referring to the flight of mind or to the dissemination of fame or for the diffusion of intangible things like fragrance, sound moon-beams, flash of light emitted by lightning, sun shine, darkness, etc. . for tangible objects and things or for travelling purposes only eight directions are used. Therefore, the images of the Dikpalas in different Hindu (both Jain and non-Jain) shrines are *usually* eight only in number.

Even though *generally* the number of the Dikpalas is believed to be eight (and *sometimes* ten) only, there is no unanimity about their names and the directions over which they preside.

The Surya Purana[3] asserts that they are (beginning clockwise with the easter quarter) Indra, Agni, Yama, Nirrti, Varuna, Vayu, Ravi, and Chandra The Linga P.[4] suggests that they are Indra, Agni, Vivasvana, Yama, Varuna, Vayu, Soma and Ishana but at another place[5] it has mentioned Indra, Agni, Yama, Varuna, Vayu, Yakshendra (Kuber), Chandra and Surya while still at another place[6] the list given has Vivasvana for Nirrti and Soma for Kuber. The Manusmrti[7] has given Surya and Chandra for Nirrti and Ishana repectively, According to some texts,[8] they are Indra, Agni, Yama, Nirrti, Varuna, Maruta, Kuber and Mahadev.

In the Narayana Tantra,[9] Ananta, and Brahma are further added as the lords of the lower and the upper regions respectively. The Brahma Purana,[10] the Shri-Rama-Purvatapaniyopanishad (ch.6), and the Haridra-Ganapati-Tantra[11] agree with it But the Jinacharitra (V. 12) suggests Dharanendra and Chandra in the place of Brahma and Ananta. The Diparnava[12] has given Urdhva-Brahma and Patalanaga as the presiding deities of the upper and lower regions. The Varaha Purana (Ch. 29) refers to the directions being given in marriage to the ten Dikpalas, *viz*, Indra, Agni, Yama, Nirrti, Varuna, Vayu, Kuber, Ishana, Brahma and Sheshanaga.

The generally accepted view about the names of the Astadikpalas (together with their mansions) is Indra (east), Agni (south-east), Yama (south), Nirrti (south-west), Varuna (west), Vayu (north-west), Kuber (north) and Ishana (north-east) The names of their respective consorts are Shachi, Svaha, Dhumorna (or Girikanya), Tamsi (or Nirrti) Charshani (alias Varuni, Gauri or Jaladevi), Svasti (alias Shiva), Rddhi (alias Bhadra, Sarvasampati or Chitrasena) and Sampati (alias Shiva) according to different Puranic and other authorities. They are referred to as the Digvadhus.[13]

The consorts of these Dikpalas (*i.e.*, Digvadhus) are usually referred to or portrayed with their respective spouses only [14]

1. Jinacharitra V. 264; Diparnava (Somapura edi.) 24/1-10.
2. Diparnava 24/9-10.
3. Surya P. (Gautama edi.) 41/14-18.
4. Linga P. (A) 49/18-19.
5. *Ibid* (A) 80/8-11.
6. *Ibid* (A) 25/ᥴ-8.
7. Manusmrti 7/4.
8. Vaman P. Bhavisya P., etc. (See note 8 above).
9. Kalyana 47/1/551-52.
10. Brahma P. (A) 1/28/30-31.
11. Kalyana (Gita Press) 47/1/579-80.
12. Diparnava 24/9-10.
13. Shiva-Tandava Stotra V. 4.
14. See Linga P (A) 80/8-11.

Several complete sets of the Dikpalas with their respective consorts are found both in situ and in the numerous museums all over the country (For two such sets see Appendix A). But independent images of these goddesses (individually or collectively) are hardly witnessed anywhere. Neither does any text on iconography refer to their individual and independent attributes to identify them nor any of them suggest any norms for portryal of these goddesses apart from their overlords.

But what about the Dikpalini-Matrikas, or say, the Dikpalinis? MATRIKAS—MEANING AND SIGNIFICANCE

The word 'Matrika' literally means 'a mother'; but in a *technical* sense the Matrikas are the physical representatives of the potency or energy of the male deities. According to the Shakta tradition all the different gods are adored for the different qualities and quantities of Energy embodied in or manifested through them. Devoid of their galvanizing vitality, these gods would be just dull, faceless, inert and insignificant figures. By the Grace of Shakti only 'Shava' becomes 'Shiva', 'Pashu' is raised to the status of 'Pashupati' and 'Sthanu' is transformed into 'Mahadev' or 'Mahesha' It is the Energy (Shakti which actualizes and expresses itself through these several vehicles or channels. It lends them such a high status, potency and significance that they get raised to the level of gods.

Each of the several gods and goddesses has a special aspect, degree and quality of the Energy of the Supreme Shakti working and revealing through him or her. Still She and Her Energy remain unaffected, ungragmented and perfect because She is Eternal, Indivisible and Free from any tinge of imperfection. All forms are Her Forms. Still she is Formless. She is the Inner Essence which bestows identity/individuality on everybody and everything and yet she retains Her basic Personality and intrinsic identity.

However, the Shakti of any particular god should not be confused with his consort because the better-half is simply that god's companion at the best while the Shakti is his prime support, his motive-and motor-power which activates him and lends him significance and status.

This distinction is very vital for understanding the role of different goddesses some of whom are just consorts while some others are Shaktis. *No Shakti can ever be portrayed as a consort of any god and represented in his embrace or by his side as his spouse.*

Sometimes even reputed texts fail to observe the distinction and fall into fatal error of treating consort as Shakti For example, the Nrsimha-Purva-Tapaniya-Upanishad (Ch. 3) has called the Vaishnavi as Shridevi, Nrsimhi as Shrilakshmi, Maheshvari as Ambika, Brahmani as Sarasvati, Kaumari as Shasthidevi, etc., The Mudgala Purana[1] has mistakenly called Siddhi the consort of Ganapati, as his Shakti. In iconographical texts Savitri and Brahmani, the consort and Shakti of Brahma respectively, are represented with the same articles and vehicle which is incorrect. This is due to mistaking Savitri as the wife of Brahma. She is, in fact, Brahmani, the Shakti of that god. His consort is Sarasvati. It was only in the later period that Savitri came to be confused with his better-half and Shakti simultaneously.

This confusion is understandable and can be explained. Once the concept of the Shaktis and their Shaktimanas was quite different than what came to be accepted in the later days. For example, Savita and Savitri, Agni and Prthvi, Varuna and Apa, Vayu and Akasha, Yajna and Chhanda, Megha and Viddhuya, Aditya and Dhyuloka, Chandra and the Nakshatras, Mana and Vani, and Purusha and Stri constituted the pairs of the Shaktimanas and their Shaktis[2] Later on the concept of Shakti and his male counterparts were distinctly defined though no clear guidelines were laid down for their differentiation and distinction.

1. Mudgala P. 2/52/9-11.
2. Savitri. Upa. VV. 1-9.

Today the Matrikas or Shaktis and the respective consorts of different gods are different personalities. They are different in texture and status. Therefore, the Dikpalini-Matrikas or simply Dikpalinis should not be confused with the Digvadhus (*i.e.*, consorts of these gods) though several times such a distinction is not observed even in some Puranic texts.[1] Aindri, Hutashani (Agneyi), Yamya, Nairrti, Varuni, Vayavi, Kauberi and Aishanya are the Dikpalinis,[2] *i e*, the Shakti (the female counterpart of the Shakti or energy) of Indra, Agni, Yama, Nirrti, Varuna, Vayu, Kuber and Ishana respectively. One should not miscontrue the goddesses of one group with those of the other one. The distinction and difference between the Matrikas and consorts of a god is clearly discernible in the Rudrahrdayopanishad (Vv. 17-21).

ASTA-DIKPALINI MATRIKAS—THEIR IMAGES

The Matrikas mentioned in the Shiv Purana[3] *viz.*, Brahmani, Narayani, Aindri, Vaisvanari, Yamya, Nairrti, Varuni, Vayavi, Kauberi, Yakshesvari and Garudi), include among them all the Asta-Dikpalini Matrikas (if we accepted the Yakshesvari as Aishanya) but they are not mentioned here as a separate and a distinct group of goddesses In this group some of the goddesses cannot be members of the Asta-Dikpalini Matrikas, *e g.*, Brahmani, Narayani and Gaurudi. The Gaurudi cannot be accommodated even in the Ten-Dikpalini group also.

As regards the portrayal of the Matrikas, Varahamihira[4] speak only of depicting the Matrikas with the article and vehicle attributes of their respective gods. Utpala Bhatt (X cen.A.D.) while commenting on this statement referred to Brahmani, Vaishnavi, Raudri, Kaumari, Aindri, Yamya, Varuni, Kauberi, Narsimhi, Varahi and Vainayaki only. In other words, only the names of the Matrikas of the regents of four principal directions (*viz*, east (Aindri), south (Yamya), west (Varuni) and north (Kauberi), only are mentioned by him. There is also no other clear evidence of the images of the Asta Dikpalinis being made and installed by that time. No iconographical text refers to their images and their special attributes. By corollory, it can be said that the reference in the Linga Purana[5] (referred to above) to these Dikpalinis or the Dikpalini-Matrikas (*viz.*, Aindri, Hutashani, Yamya, Nairrti, Varuni, Vayavi, Kauberi and Aishanya) is, in all probability, an interpolation of the period later than X cen. A D.

Here a note of caution would not be superfluous. It should be borne in mind that, unless otherwise warranted, the presence of *any or some* of these Dikpalini-Matrikas in any group of images of the Matrikas or the otherwise should not be accepted as an evidence of the worship of *all* of them. For example, Aindri is found among the Sapta-Matrikas wherein even if we accept Maheshvari as a proxy for Aishanya and Bhairavi for Nairrti of the Asta-Matrika group, the absence of the remaining Dikpalini-Matrikas will remain eloquently unexplained. Aishanya was, perhaps, included for the first time in the Matrika group in the Devikavacha wherein at one place[6] Chamunda, Varahi, Aindri, Vaishanavi, Maheshvari, Kaumari, Lakshmi, Aishvari and Brahmani are mentioned; at another place,[7] however, eleven Matrikas are spoken of, *viz.*, Aindri, Agneyi, Varahi, Narrti, Varuni, Vayavi, Kaumari, Aishanya, Brahmani and Vaishnavi (one for each of ten directions) and Chamunda for all the ten directions together. Here again Yamya and Kauberi are significantly absent.[8]

---

1. Shiv Purana (Gita Press), p. 498.
2. Linga P. (A) 96/70
3. Shiv Purana (Gita Press), p. 496.
4. Varahamihira : Brahatsamhita 57/56.
5. Linga P. (A) 96//0.
6. Devikavacham Vv. 9-11.
7. Devikavacham Vv. 17-20.
8. It is interesting to note that except Maheshvari as a proxy for Aishanya and Bheravi for Nairrti, none of the Digpalini-Matrikas are included among the sixteen Matrikas referred in Brahmavaivartia P. (A :

Now let us turn to the sculptural evidence to find out what it as to offer.

The Vijaya Stambha. Chittor, built in 1505 V.S., (1449 A.D) has some surviving figures of the Dikpalinis-Matrikas (with their names inscribed on the respective slabs) on its top storey. Of course, some of the figures are completely lost due to cruel erasures so much so that even their names are also scrapped away. However, the inclusion of the Brahmani and the Shesha (Matrika of Sheshanaga) points to the possibility of these goddesses being ten in number; but the palpable evidence of erasures on several of the slabs also does not preclude the possibility of the remaining ones being carved there.

The details of the remaining pieces on the top storey are as follows :

(N.B The names in brackets are found inscribed on the pieces themselves.)

S No.	*Name*	*Pose*	*No of hands*	*Articles*	*Vehicle*	*Remark*
(1)	Aindri		——Lost——————			
(2)	Agneyi		——Lost——————			
(3)	Yamya	Dvibhanga	4	Sword : Shield (Lost) : Kalash	Buffalo	
(4)	Nairrti		——Lost——————			
(5)	Vayavi	Dvibhanga	2	Banner : Gatvanga	Deer	
(6)	Aishanya	Dvibhanga	4	Battle-axe . Cobra Varad Mudra : Kalash	Nil	
(7)	Brahmani	Dvibhanga	4	Lotus : Book Varad Mudra : Kalash	Swan	
(8)	Shesha	Dvibhanga	4	Cobra : Cobra Varad Mudra (?) : Kalash	Cobra	

Besides these pieces, some images of the Dikpalini-Matrikas are found in other stories of this Stambha as well.

The details of these images are as follows :

(9)	'Agneyi'	Ardhaparyankasana	4	Ladle : Lotus Varad Mudra+Aksamala : Kalash	Ram	
(10)	'Varuni'	Dvibhanga	2	Lotus : Jangha Hasta	Nil	
(11)	'Vayavi'	Dvibhanga	2	Banner : On her own head with palm facing sky	Nil	
(12)	'Kauberi'	Dvibhanga	2	Top of Nakulaka : Tail of Nakulaka	Nil	
(13)	'Kauberi'	Ardhaparyankasana	4	Lotus : Lotus Varad Murda+Aksamala : Kalash	Elephant	Portrayed as Lakshmi

2/105/17-20), *viz.*, Kotari, Shonit, Chandrani, Vaishnavi, Shanta, Brahmani, Bramhavadini, Kaumari, Nrsimhi, Varahi, Vikatakrti, Maheshvari, Mahamaya, Bhairavi, Bhimarupini, and Bhadrakali while the Rudramalaya has even dropped these two also and mentioned Sandhya, Sarasvati, Tridhamurti, Kalika, Subhaga, Uma, Malini, Kubjika, Kalasamrdhya, Aparajita, Raudrani, Bhairavi, Mahalakshmi, Pithanayika, Khetrajara and Ambika.

A glance on the above table would show that except the names on their slabs there is no clue in the form of article-attributes or vehicle to co-relate the forms of Nos. 10 and 13 with the gods whose Matrikas they are supposed to portray. Therefore, one is forced to conclude that by the middle of XV cen. A.D. a somewhat faulty tradition had sprung up in Mewar under the inspiring guidance of the erudite Maharana Kumbha to depict the Dikpalini Matrikas among the deities to be venerated, if not, worshipped. And again this is the only datable structural wherein the Dikpalini-Matrikas are sought to be portrayed in any royal monument in Chittor or elsewhere during the period when the royal family of Mewar was struggling to give up its Shaivaite moorings to entertain Vaishnavaite leanings. Of course, this cannot be denied that some stray images from unknown sites and origin are found in different places in Mewar.

For example, one image of Varuni in Ardhaparyankasana and four hands bearing clockwise (beginning with the lower right one) the Varad Mudra+an Aksamala, a goad, a noose, and a Kalash is found on the exterior of the southern limb of the Sasa-Bahu (Sanskrit : Sahatravahu ?) twin-temple complex, Nagada (near Eklingji). This structural is attributed to XI Cen. A.D. when that region was under the sway of the Solankis of Gujarat.

An *almost* complete set of the Dikpalini Matrikas is found in a dilapidated Shakta temple in the bed of the Baghela Tank (near the Sasa-Bahu twin-temple), Nagada (near Eklingji). The temple pre-dates the tank and as such should have been built in XII-XIII cen. A.D , if not in XI cen. ; but it is also, probably, a relic of the Solanki impact on Mewar.

The details of these images are as follows : –

S.No	*Name*	*Pose*	*No. of hands*	*Articles*	*Vehicle*	*Remarks*
(1)	Aindri	Dvibhanga	4	Goad : Thunderbolt Varad Mudra . Kalash	Elephant	
(2)	Agneyi	Dvibhanga	4	Ladle : Lotus Varad Mudra : Kalash	(Lost)	
(3)	Yamya	Dvibhanga	4	Staff Cock Pen Paper	Buffalo	
(4)	Chamunda (Emaciated old dry figure of a woman)	Paryankasana	2	Resting on thigh : Resting on thigh	Nil	
(5)	Varuni	Dvibhanga	4	Lotus : Goad Varad Mudra Kalash	Crocodile	
(6)	Shitala	Riding on a donkey	4	Holding a winnowing pan with both upper hands Vyakhyana Mudra : Kalash	Donkey	
(7)	Kauberi	Dvibhanga	4	Goad · Nakulaka (Lost) : Kalash	Elephant	
(8)	Aishanya	———Lost———				

An analysis of this set would reveal very significant changes in the list under local impact. Instead of Nairrti, Chamunda is substituted and Vayavi is replaced by Shitala. This again serves to remind one of the uncomfortable position of the Dikpalini Matrikas in the cultural climate then prevailing in Mewar during XII—XIII cen. even among the Shaktas.

There was a set of the Dikpalini Matrikas on the exterior of the Vindhyavasinidevi Temple, Eklingji, also. The temple was originally as old as the one in the bed of the Baghela Tank, Nagada (near Eklingji) The recent repairs of the mutilated images have unfortunately resulted in their misrestoration.

As found today, the details regarding these goddesses are as follows :

S No.	*Name*	*Pose*	*Number of hands*	*Articles*	*Vehicle*	*Remarks*
(1)	Aindri	Dvibhanga	4	Thunderbolt · Goad Varad Mudra : Kalash	Elephant	
(2)	Agneyi	Dvibhanga	4	Lotus : Ladle Varad Mudra : Kalash	Swan	
(3)	Yamya	Dvibhanga	4	Shakti : Peacock Varad Mudra : Kalash	Peacock	
(4)	Nairrti	Dvibhanga	4	Lotus : Shield Sword : Human head by tuft	Dog	
(5)	Varuni	Dvibhanga	4	Shakti : Noose Varad Mudra : Kalash	Crocodile	
(6)	Vayavi		———Lost———			
(7)	Kauberi	Dvibhanga	4	Mace : Disc Varad Mudra+Aksamala : Kalash	(Damaged)	
(8)	Aishanya	Dvibhanga	4	Trident : Cobra Varad Mudra : Bijora	Bull	

An analysis of these figures will reveal the mistaken restoration of several goddesses who were, probably, set up there as Dikpalini-Matrikas. Instead of the Agneyi, they have put up Brahmani with a Swan vehicle. If, instead of Swan, ram would have been intuited, the figure would have correctly responded to the requirements of the portrayal of Agneyi. Similarly, instead of peacock, buffalo should have been put in, the figure of Yamya. Similarly, the figure of Kauberi is wrongly touched up as Vaishnavi. Instead of disc in her upper left hand, a Nakulaka should have been placed. Similarly, the conch in her lower left hand was, in fact, a Kalash ; thus, the original figure had the Varad Mudra+an Aksamala, a mace, a Nakulaka and a Kalash in her hands. Vaishnavi is already portrayed in this temple in this collection. So there was no need to repeat her representation at the cost of Kauberi.

A similar instance of misunderstanding and mishandling of the Dikpalini-Matrikas can also be detected in a recently reconstructed Siddhambika Temple, Disa (Gujarat). This temple is venerated both by the Jain and non-Jain Dishavals of Gujarat. According to the local tradition current among the devotees of these goddess, i e, the Dishavals, the mother of Shiddhraj Jaisingh had visited this shrine for a boon of a male child and had stayed there for her confinement Having got a son, he was given the pet name of Siddharaj after the deity. Siddharaj's original name was Jaisingh The additional prefix of 'Siddharaj' was added to it in honour of and ingratitude to the deity whose boon was responsible for his birth The story further adds that Siddharaj Jaisingh was not born in Palanpur[1] but in Disa near Palanpur. Whatever the truth in this popular belief, the fact that the site of this temple is very old one appears to be tolerably certain.

The details of the Dikpalini Matrikas or their substitutes as found to-day on the exterior of this temple are as follows :—

S.No	*Name*	*Pose*	*No of hands*	*Articles*	*Vehicle*	*Remarks*
(1)	Aindri	Dvibhanga	4	Lotus : Lotus Varad Mudra + Aksamala : Kamandalu	Elephant	**Portrayed as Lakshmi**
(2)	Agneyi	Dvibhanga	2	Garland : Kamandalu (One logus above either shoulder)	Nil	**Portrayed like Surya Matrika**
(3)	Yamya	Dvibhanga	4	Cock : Lotus Varad Mudra + Aksamala : Kalash	Nil	
(4)	Nairrti	Dvibhanga	4	Mace Damaru Aksamala : Kamandalu		**Dog licking the bottom of Kamandalu as in Bhairav's images it licks drippings from human head**
(5)	Varuni	Dvibhanga	4	Goad : Noose Varad Mudra + Aksamala : Jangha Hasta + Kalash	Elephant	**Crocodile misunderstood for elephant**
(6)	Vayavi	Dvibhanga	4	Banner : Banner Varad Mudra + Aksamala : Kamandalu	Deer	**Two identical images**
(7)	Kauberi	Dvibhanga	4	Elephant on Lotus : Elephant on Lotus Varad Mudra + Aksamala : Kamandalu	Nil	**Portrayed as Gajalakshmi; two images**

1. Rasa-Mala I/1/171.

S.N.	Name	Pose	No. of hands	Articles	Vehicle	Remarks
(8)	Aishanya	Dvibhanga	2	Chain held overhead with both hands (Her right foot is bent and supported on the head of a monkey while the sole of her left foot rest on a human being who has his hands folded like Garuda)	(1) Human Being (2) Monkey	Portrayed like Vajrashankhala, one of the sixteen Vidyas among the Jains

One can hardly expect such a distortion of the Dikpalini-Matrikas anywhere else. Aindri is misconstrued as Lakshmi, Agneyi as the Matrika of Surya, Nairrti's human head has become a Kalash, Gajalakshmi in the place of Kauberi and Vajrashankhala, a Jain Vidya, in the place of Aishanya.

However, for carefully restored images a rennovated temple of XVI cen. origin, see Appendix 'B'.[1]

Some surviving images of the Dikpalini-Matrikas are found on the exterior of the Sambbavanathji (Jain) Temple, Kumbhariya (near Ambaji : Mt. Abu) also. This temple was originally built in 1228 A.D.[1] None can say to-day for certain that the present structure is as old as that. Perhaps, it is a XV cen. or XVI cen. A.D. edifice. However, some of the images fixed in the outer of the temple might be nearly as old as XIII cen. A.D. Some Dikpalinis-Matrikas are found inside the temple as well.

The details of the Dikpalini-Matrikas found therein are as under :—

S.No.	Name	Pose	No. of hands	Articles	Vehicle	Remarks
(1)	Aindri	Ardhaparyankasana	4	Goad : Thunderbolt Varad Mudra : (Lost)	Elephant	
(2)	Aindri	Dvibhanga	4	(Lost) : Thunderbolt Varad Mudra : Bijora	Elephant	
(3)	Agneyi	Dvibhanga	4	Shakti : Lotus Varad Mudra : Bijora	Ram	
(4)	Agneyi	Ardhaparyankasana	4	Shakti : (Lost) Varad Mudra : Bijora	Nil	
(5)	Varuni	Ardhaparyankasana	4	Lotus : Noose Varad Mudra : Bijora	Nil	
(6)	Kauberi	Ardhaparyankasana	4	Top of Nakulaka : Tail of Nakulaka Varad Mudra : Bijora	Nil	
(7)	Aishanya	Ardhaparyankasana	4	Trident : Cobra Varad Mudra : (Lost)	Nil	

1. Diparnava, Intro. p.46.

In a XV Cen. A.D. Jain temple known as the Golera Jain Temple in Kumbhalgadh (Mewar: Rajasthan), there was a complete set of Dikpalini-Matrikas on its exterior. Except Nairrti, the whole set has luckily survived to this day.

The details of these images are as under :—

S.N.	Name	Pose	No of hands	Articles	Vehicle	Remarks
(1)	Aindri	Dvibhanga	4	Thunderbolt : Goad Varad Mudra+Aksamala : Kalash	Elephant	
(2)	Agneyi	Dvibhanga	4	Ladle : Lotus Varad Mudra+Aksamala : Kalash	Ram	
(3)	Yamya	Dvibhanga	4	Staff : Cock Pen : Paper	Buffalo	
(4)	Nairrti		........(Lost)... .			
(5)	Varuni	Dvibhanga	4	Noose : Lotus Varad Aksamala : Kalash	Nil	
(6)	Vayavi	Dvibhanga	4	Banner : Banner Varad Mudra+Aksamala : Kalash	Nil	
(7)	Kauberi	Dvibhanga	4	Nakulaka : Goad Varad Mudra+Aksamala : Kalash	Elephant	
(8)	Aishanya	Dvibhanga	4	Trident : Cobra Varad Mudra+Aksamala . Kalash	Bull	

A complete set of the Dikpalini Matrikas is found on the exterior of the Parshvanath Temple in the compound of the famous Jain temple in Ranakpur. This is the most interesting and the least damaged set of these goddesses in this area It also belongs to XIV-XV cen. A.D.[1]

1. The construction of this temple began in 137?-77 A.D and ended in 1441-42 A.D., according to the inscription found in this temple

The details of this set of Dikpalini-Matrikas are as follows :—

S.No.	Name	Pose	No. of hands	Articles	Vehicles	Remarks
(1)	Aindri	Dvibhanga	4	Thunderbolt : Goad Varad Mudra+Aksamala : Bijora	Elephant	
(2)	Agneyi	Dvibhanga	4	Ladle : Book Varad Mudra+Aksamala : Kalash	Ram	
(3)	Yamya	Dvibhanga	4	Staff : Cock Pen : Paper	Buffalo	
(4)	Nairrti	Dvibhanga	4	Damaru : Shield Sword : Human head held by tuft	Dog	
(5)	Varuni	Dvibhanga	4	Lotus : Noose Varad Mudra+Aksamala : Kalash	Crocodile	
(6)	Vayavi	Dvibhanga	4	Banner · Banner Varad Mudra+ Aksamala : Kalash	Deer	
(7)	Kauberi	Dvibhanga	4	Tail of Nakulaka : Top of Nakulaka Mace : Kalash	Elephant	
(8)	Aishanya	Dvibhanga	4	Trident : Cobra Varad Mudra+Aksamala : Bijora	Bull	

This is the most well-preserved old set of the Dikpalini-Matrikas in existence in the area under reference, *i. e.*, from Chittor to Delwara which lends a unique significance to the Jain shrine wherein it is found.

However, the earliest traces of the group images of the Dikpalini-Matrikas are discernible in the surviving figures on the pillars of the famous Rudramal in Siddhapur (Banasakantha : Gujarat). Originally this temple was built in 941 A.D[1] and its repairs, possibly, with suitable extention was carried out by Siddharaj Jaisingh in XI-XII[2] Cen. A.D. More than two sets of the Dikpalini-Matrikas are discernible on its surviving pillars which suggests that, perhaps, on set was carved on pillars in each direction at least. Most of these pillars are gone together with major portion of this once the most stupendous monument. Even most of the figures on the surviving pillars are completely lost. However, taking the figures from pillars from different directions, the following Dikpalini-Matrikas can be made out.

1. Diparnava, Intro., p.p. 46.
2. Durgashankar Kevalram Shastri : Gujarat-no Madhyakalina Rajput Itihas (Gujarat Vidyasabha ; Ahmedabad, 1953 edi.), pp. 303-304.

The details of the Dikpalini-Matrikas sets weaved out of the relics of the Rudramal are as follows :—

S.No.	*Name*	*Pose*	*No. of hands*	*Articles*	*Vehicle*	*Remarks*
(1)	Aindri	Dvibhanga	6	Noose : Thunderbolt Goad : (Lost) (Lost) : (Lost)	Elephant	
(2)	Agneyi	Dvibhanga	6	Lotus : Book Ladle : (Lost) Varad Mudra : (Lost)	Nil	One attendant with folded hands
(3)	Yamya	Ardhaparyankasana	6	Shakti : Cock Staff : Tarjani Mudra (Lost) : (Lost)	Nil	
(4)	Aishanya	Ardhaparyankasana	6	Damaru : Shield (Lost) : (Lost) (Lost) : (Lost)	Nil	
(5)	Varuni	Ardhaparyankasana	6	Lotus : Noose (Lost) . (Lost) (Lost) : (Lost)	Nil	
(6)	Vayavi		———Lost———			
(7)	Kauberi	Dvibhanga	6	Top of Nakulaka : Tail of Nakulaka Staff : Bijora Varad Mudra : (Lost)	Elephant	
(8)	Aishanya	Ardhaparyankasana	6	Trident : Cobra Horn · (Lost) (Lost) : (Lost)	Nil	

It would be of interest to have a look at the Dikpalas each with six hands found on the relics of this temple.

S.No.	*Name*	*Pose*	*No. of hands*	*Articles*	*Vehicle*	*Remarks*
(1)	Indra	Dvibhanga	6	Thunderbolt : Goad Lotus : Abhaya Mudra Varad Mudra : Bijora	Elephant	
(2)	Agni		———Lost———			
(3)	Yama		———Lost———			
(4)	Nirrti	Dvibhanga	6	Damaru : Shield Sword : Human head by tuft Varad Mudra : Khappar	Dog	
(5)	Varuna	Dvibhanga	6	Lotus : Noose Goad : (Lost) (Lost) : (Lost)	Crocodile with mouth like an elephant	
(6)	Vayu		———Lost———			
(7)	Kuber		———Lost———			
(8)	Ishana	Dvibhanga	6	Damaru : Cobra Trident : Abhayay Mudra Varad Mudra : Bijora	Bull	

Several other figures portraying the Dikpalas with six hands each are found on other pillars in different directions also but they are so mutilated that except the fact that several sets of the Dikpalas were carved on pillars set in different parts of the temple, nothing else can be made out.

That there was at least one set of the Dikpalini-Matrikas each with only four hands can be guessed from the figure of Kauberi on one of the pillars wherein she is depicted in Ardhaparyankasana with the Varad Mudra and a bowl in the lower right and the lower left hands respectively. The Upper right hand is holding the top of Nakulaka whose tail is held in her upper left hand. No vehicle is given.

Along with other images, several isolated imags of the Dikpalini-Matrikas are also found in Chittor and other adjoining places. Some of them are :

(1) **Aindri**

One image of this goddess in Dvibhanga and with four hands and elephant vehicle is found in the Rshabhadevji Temple (Shata-Bisa Dehara), Chittor. She has the Varad Mudra plus an Aksamala, staff, goad, and a Kalash in her hands. This temple was originally built in cir. XI-XII cen. A.D. and repaired in XV cen. It has been again repaired in the recent times.

(2) **Yamya**

One image of Yamya in Dvibhanga was fixed in the steps on the northern bank of the Baghela Tanks Eklingji. She had a pen, a staff, a cock and a paper in her four hands. No vehicle was given. Now this piece is stolen away.

(3) **Varuni**

One image of this goddess in Ardhaparyankasana and with four hands and crocodile vehicle is found in the Pitaliyanji Jain Temple, Kumbhalgadh (a cir. XV cen. A.D. structure). The goddess has the Varad Mudra, a goad, a noose, and a Kalash in her hands. Ordinarily, this goddess can be identified as Vajrankusha also, *i.e.*, one of the sixteen Vidyas in the Jain tradition. But she can as well be Varuni as another such piece in Ardhaparyankasana and with a crocodile vehicle is found in the Rshabhadevji Temple (Shata-Bisa Dehara) Chittor, also Goddess Vajrankusha has an elephant for her vehicle.[1]

(4) **Vayavi**

One image of this goddess in Dvibhanga and with four hands is found again in Rshabhdevji Temple, Chittor. She has four hands which are endowed with the Varad Mudra+an Aksamala, (Lost), a Gatvanga, and a Kalash. Deer is also given below as her vehicle.

An analysis of the above data should suggest that the concept of the Dikpalini-Matrikas as auxiliary deities was for the first time introduced by Siddharaj Jaisingh in the Rudramal in XI cen. A.D. Perhaps, it had something to do with the portrayal of these Matrikas in Orissa in XIII cen. A.D. as evidenced by the images in the Anant Vasudev Temple, built by Chandradevi it the Later Ganga Period in 1278 A.D. in Bhubaneshvar.[2]

Siddharaj Jaisingh was greatly influenced by the Jain Acharyas[3] and had reportedly built some Jain

1. Diparnava 23/57.
2. Panigrahi, K. C. : Archaeological Remains at Bhubaneshvar (Calcutta : 1941), pp. 70-71. For the date of this temple see Harekrushna Mahta : The History of Orissa (Cuttack : 1959), Vol. 1, p. 291.
3. Shastri, op. cit., p. 318.

temples as well.[1] His brother Kumarpal had almost accepted Jainism as his personal religion.[2] Siddharaj Jaisingh's iconographical innovation of endowing some images with six hands is clearly obvious from the figures still discernible at the Rudramal in Siddhapur Therefore, it is fair to believe that the inspiration for the images of the Dikpalas with six hands in the main shrine in Ranakpur Jain temple-complex might have been derived from the Rudramal. Similarly, the prototypes of the images of the Dikpalini-Matrikas on the exterior of the Parshvanath temple within the compound of this complex can be traced back to the image of Dikpalini-Matrika (with four hands each) discovered in the Rudramal. The Golera Jain Temple, Kumbhalgadh, perhaps, followed the Parshvanath Temple in XVI-XV cen. A.D.

One must not fail to recall that the Sasa-Bahu Temple-complex in Nagada (near Eklingji) is a XI cen. A.D. monument, believed to be of the Solanki period by several scholars Thus, the tradition invented by Siddharaj entered Mewar via Nagada Therefore, the set of the Dikpalini-Matrikas found on the exterior of the dilapidated Temple in the bed of the Baghela Tank, Nagada, should also belong to the same tradition. It is contemporaneous with the Vindhyavasinidevi Temple, Eklingji. Both these structurals with the Dikpalini Matrikas had, possibly, derived their inspiration from the Solanki school exemplified in the Rudramal. Therefrom in XVI cen A.D. it travelled to adorn the Shakta shrine in Javar (near Udaipur).

By the time Maharana Kumbha, however, this tradition was not completely absorbed and assimilated in the Shaiva-Shakta tradition of Mewar. Therefore, we have the images of the Dikpalini-Matrikas in the Vijaya Stambha revealing the semi-digested tradition of the Solanki school The failure to assimilate the iconographical details of these Matrikas is clear from the fact that none of the books on iconography written during or about that period even refer to them, much less describe them This failure to understand the special significance and the chief features of these Matrikas, perhaps, led to the mistaken rennovation of the Siddhambika Temple in Disa.

In short, the tradition of giving iconographical expression to the Dikpalini-Matrikas should go to Siddharaj Jaisingh. The inspiration for this innovation might be attributable to the Jain impact on that great monarch because only in the Jain structurals this tradition is followed and that too correctly. The non-Jains (Shaktas excepted) fumbled miserably when they wanted to adopt it

Even if one, who is inclined to deny any Jain impact on Siddharaj Jaisingh in this respect, will have to accept that this concept was adopted and popularized in the subsequent period by the Jain iconograpers only. At least in this respect their contribution stands unrivalled and in all respects even unique This certainly speaks volumes for the elasticity, catholicity, self-confidence and inner vitality of Jainism in accepting, adopting and assimilating the best elements from other traditions to enrich its own spiritual content. Herein lies its true greatness and a clue to assess real inner strength.

× × × × × ×

I certainly deem it to be a great honour to be associated in paying my humble tribute to the Acharyaratna Shri Deshabhushanji Maharaja I pray to God that his great spiritual power may lead all-Jains and non-Jains alike to the True Path of Love, Service and Self-sacrifice. May the blessings of this great saint bring Peace and Happiness to all : 'सर्वेऽपि सुखिन सन्तु सर्वे सन्तु निरामया: ।

1. *Ibid*, p. 304.
2. *Ibid*, p. 367.

Find below the details regarding the Dikpalas along with their respective consorts as found in the Chintamani Parshvanath Temple (in the compound of the famous marble temple), Delwara, and the Shantinath Jain Temple, Achalgadh (near Delwara). Though the present Shantinath Jain Temple does not appear to be older than XV-XVI cen. A.D., one of the images found in it bears an inscription dating 1245 A.D All the deities are in Dvibhanga

	Chintamani Parshvanath Temple, Delwara	*Shantinath Temple Achalgadh*
(1) Indra & Shachi	*Indra* :—Goad : Thunderbolt Varad Mudra + Aksamala : Around the waist of Shachi *Shachi* :—Around the neck of Indra (Elephant vehicle) : Lotus	Goad . Thunderbolt Varad Mudra + Aksamala : Around the waist of Shachi Around the neck of Indra : Lotus
(2) Agni & Svaha	*Agni* :—Ladle : Fire pot Varad Mudra : Around the waist of Svaha *Svaha* :—Around the neck of Agni (Ram vehicle) : Lotus	Ladle : Fire-pot Varad Mudra : Around the waist of Svaha Around the neck of Agni : Lotus
(3) Yama & Dhumorna	*Yama* :—Khatvanga : Cock Sword : Around the waist of Dhumorna *Dhumorna* :—Around the neck of Yama (Buffalo vehicle): Bijora	Khatvanga : (Indistinct) Varad Mudra : Around the waist of Dhumorna Around the neck of Yama : Lotus
(4) Nirrti & Tamasi	*Nirrti* :—Damaru : Shield Sword : Around the waist of Tamasi *Tamasi* :—Around the neck of Nirrti : Noose (Dog vehicle)	Khatvanga : (?) Sword : Around the waist of Tamasi Around the neck of Nirrti : Bijora
(5) Varuna & Charshni	*Varuna* :—Noose : Cup Varad Mudra + Lotus : Around the waist of Charshani *Charshani* :—Around the neck of Varuna : Lotus (Crocodile vehicle)	Noose : (?) Varad Mudra + Lotus : Around the waist of Charshani Around the neck of Varuna : Lotus

	Ghintamani Parshvanath Temple Delwara	*Shantinath Temple Achalgadh*
(6) Vayu & Svasti	*Vayu* :—Banner : Banner Varad Mudra : Touching the right breast of Svasti *Svasti* : — Around the neck of Vayu : Banner (Deer vehicle)	Banner : Banner Varad Mudra : Around the waist of Svasti Around the neck of the Vayu : Lotus
(7) Kuber & Rddhi	*Kuber* :—Thunderbolt : Nakulaka Mace : Around the waist of Rddhi *Rddhi* :—Around the neck of Kuber : Bijora (Elephant vehicle)	(COVERED IN A NEWLY BUILT WALL)
(8) Ishana & Sampati	*Ishana* :—Trident : Cobra Bijora : Around the waist of Sampati *Sampati* :—Around the neck of Ishana : Mirror (Bull vehicle)	Trident : Cobra (?) Bijora : Around the waist of his consort Around the neck of Ishana : Lotus

APPENDIX 'B'

A complete set of the Dikpalini-Matrikas is found on the exterior of the Javarmata Temple. Javar (near Udaipur : Rajasthan). The original temple, as evidenced by an inscription at its main entrance, was built in 1655 or 1655 V.S. (*i.e.*, 1598 or 1599 A.D.) in the reign of Maharana Amarsingh (s/o Maharana Pratap). That structure was greatly damaged by the Muslim invaders and the present shrine is obviously a restored and reconstructed one. Naturally, at least some of its images should have undergone some drastic malformations at the hands of the retouching artist. Fortunately, they have not

All the images of these goddesses are in Ardhaparyankasana and have four hands each. The details regarding their article-attributes are as follows :—

S.No.	*Name*	*Pose*	*No. of hands*	*Articles*	*Vehicle*
(1)	Aindri	Ardhaparyankasana	4	Thunderbolt : Goad Varad Mudra+Aksamala : Bijora	Elephant
(2)	Agneyi	Ardhaparyankasana	4	Ladle : Lost Varad Mudra : Kamandalu	Ram
(3)	Yamya	Ardhaparyankasana	4	Staff : cock Varad Mudra : Bijora	Buffalo
(4)	Nairrti	Ardhaparyankasana	4	Damru : Shield Sword : Human head held by tuft	Dog (licking drippings from the human head)
(5)	Varuni	Ardhaparyankasana	4	Noose : Lotus Varad Mudra+Aksamala : Kamandalu	Crocodile
(6)	Vayavi	Ardhaparyankasana	4	Banner : Banner Varad Mudra+Aksamala : Kamandalu	Deer
(7)	Kauberi	Ardhaparyankasana	4	Goad : Nakulaka going over her both the shoulders Varad Mudra+Aksamala : Kamandalu	Elephant
(8)	Aishanya	Ardhaparyankasana	4	Trident : Damaru Varad Mudra+Aksamala : Kamandalu	Bull

भारतीय धार्मिक समन्वय में जैन धर्म का योगदान

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी

भारत का प्राचीन इतिहास समन्वयात्मक भावना से ओतप्रोत था। इस देश मे अनेक भौगोलिक, जनपदीय विभिन्नताओं के होने पर भी सांस्कृतिक दृष्टि से यह देश एक था। इस सश्लिष्ट सस्कृति के निर्माण मे भारतीय धार्मिक-सामाजिक प्रणेताओं तथा आचार्यों का प्रभूत योगदान रहा है।

हमारे मनीषी संस्कृति-निर्माताओं ने देश के विभिन्न भागों मे विचरण कर सच्चे जीवन-दर्शन का संदेश फैलाया। धीरे-धीरे भारत और उसके बाहर अनेक सस्कृति-केन्द्रों की स्थापना हुई। इन केन्द्रो पर समय-समय पर विभिन्न मतावलंबी लोग मिलकर विचार-विमर्श करते थे। सांस्कृतिक विकास में इन केन्द्रों का बडा योगदान था। भारत मे तक्षशिला, मथुरा, वाराणसी, नालंदा विदिशा, विक्रमशिला, देवगढ, वलभी, प्रतिष्ठान, कांची, श्रवणबेलगोल आदि अनेक सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित हुए।

ईसा से कई शताब्दी पूर्व मथुरा मे एक बड़े जैन स्तूप का निर्माण हुआ। जिस भूमि पर वह स्तूप बनाया गया था, वह अब ककाली टीला कहलाता है। इस टीले के एक बड़े भाग की खुदाई पिछली शताब्दी के अंतिम भाग मे हुई थी, जिसके फलस्वरूप एक हजार से ऊपर विविध पाषाण-मूर्तियां मिली थी। हिन्दू और बौद्ध धर्म सम्बन्धी कुछ इनी-गिनी मूर्तियों को छोड़कर इस खुदाई में प्राप्त शेष सभी मूर्तियां जैनधर्म से सम्बन्धित थी। उनके निर्माण का समय ई० पू० प्रथम शती से लेकर ११०० ईसवी तक है। कंकाली टीला तथा ब्रज क्षेत्र के अन्य स्थानों से प्राप्त बहुसंख्यक जैन मंदिरों एव मूर्तियो के अवशेष इस बात के सूचक हैं कि वहां एक लबे समय तक जैन धर्म का विकास होता रहा।

बौद्धो ने भी मथुरा मे अपने कई केन्द्र बनाये, जिनमे चार मुख्य थे। सबसे बड़ा केन्द्र उस स्थान के आस-पास था जहा आजकल कलक्टरी कचहरी है। दूसरा शहर के उत्तर मे यमुना के किनारे गोकर्णेश्वर और उसके उत्तर की भूमि पर था। तीसरा यमुना-तट पर ध्रुवघाट के आसपास था। चौथा केन्द्र श्रीकृष्ण-जन्मस्थान के पास गोविदनगर क्षेत्र मे था। हाल मे वहा से बहुसख्यक कलाकृतियों तथा अभिलेखो की प्राप्ति हुई है, जो राज्य-सग्रहालय मथुरा मे सुरक्षित हैं। अनेक हिन्दू देवताओ की प्रतिमाओ की तरह भगवान् बुद्ध की मूर्ति का निर्माण भी सबसे पहले मथुरा मे हुआ। भारत के प्रमुख चार धर्म भागवत, शैव, जैन तथा बौद्ध ब्रज की पावन भूमि पर शताब्दियो तक साथ-साथ पल्लवित-पुष्पित होते रहे। उनके बीच ऐक्य के अनेक सूत्रो का प्रादुर्भाव ललित कलाओं के माध्यम से हुआ, जिसमे समन्वय तथा सहिष्णुता की भावनाओ मे वृद्धि हुई। इन चारो धर्मों के केन्द्र प्राय. एक-दूसरे के समीप थे। बिना पारस्परिक द्वेषभाव के वे कार्य करते रहे।

भारत का एक प्रमुख धार्मिक तथा कला का केन्द्र होने के नाते मथुरा नगरी को प्राचीन सभ्य ससार मे बडी ख्याति प्राप्त हुई। ईरान, यूनान और मध्य एशिया के साथ मथुरा का सास्कृतिक सम्पर्क बहुत समय तक रहा। उत्तर-पश्चिम में गधार प्रदेश की राजधानी तक्षशिला की तरह मथुरा नगर विभिन्न सस्कृतियो के पारस्परिक मिलन का एक बडा केन्द्र बना रहा, इसके फलस्वरूप विदेशी कला की अनेक विशेषताओं को यहा के कलाकारों ने ग्रहण किया और उन्हे देशी तत्त्वों के साथ समन्वित करने मे कुशलता का परिचय दिया। तत्कालीन एशिया तथा यूरोप की सस्कृति के अनेक उपादानो को आत्मसात् कर उन्हे भारतीय तत्त्वों के साथ एकरस कर दिया गया। शको तथा कुषाणो के शासन-काल मे मथुरा मे जिस मूर्तिकला का बहुमुखी विकास हुआ, उसमे समन्वय की यह भावना स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है।

वैदिक धर्म के विकास को जानने तथा विशेषरूप से स्मार्त-पौराणिक देवी-देवताओ के मूर्ति-विज्ञान को समझने के लिए ब्रज की कला मे बडी सामग्री उपलब्ध है। ब्रह्मा, शिव, वासुदेव, विष्णु, देवी आदि की अनेक मूर्तियां ब्रज में मिली हैं, जिनका समय

ई० प्रथम शती से लेकर बारहवीं शती तक है। विष्णु की कई गुप्तकालीन प्रतिमाएं अत्यन्त कलापूर्ण हैं। कृष्ण एवं बलराम की भी कई प्राचीन मूर्तियां मिली हैं। बलराम की सबसे पुरानी मूर्ति ई० पूर्व दूसरी शती की है, जिसमे वे हल और मूसल धारण किये दिखाये गये हैं। अन्य हिन्दू देवता, जिनकी मूर्तियाँ मथुरा कला में मिली हैं, कार्तिकेय, गणेश, इन्द्र, अग्नि, सूर्य, कामदेव, हनुमान आदि हैं। देवियों में लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती, महिषमर्दिनी, सिंहवाहिनी, दुर्गा, सप्तमातृका, वसुधारा, गंगा-यमुना आदि के मूर्त रूप मिले हैं। शिव तथा पार्वती के समन्वित रूप अर्धनारीश्वर की भी कई प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं।

ब्रज में प्राप्त जैन अवशेषो को तीन मुख्य भागों मे बाँटा जा सकता है: तीर्थंकर प्रतिमाएं, देवियों की मूर्तिया और आयागपट्ट। चौबीस तीर्थंकरों में से अधिकांश की मूर्तियां ब्रज की कला में उपलब्ध हैं। नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका तथा ऋषभनाथ की यक्षिणी चक्रेश्वरी की मूर्तियां उल्लेखनीय हैं। आयागपट्ट प्राय: वर्गाकार शिलापट्ट होते थे जो पूजा में प्रयुक्त होते थे। उनपर तीर्थंकर, स्तूप, स्वस्तिक, नद्यावर्त आदि पूजनीय चिह्न उत्कीर्ण किए जाते थे। मथुरा-संग्रहालय म भी एक सुदर आयागपट्ट है जिसे उस पर लिखे हुए लेख के अनुसार लवणशोभिका नामक एक गणिका की पुत्री वसु ने बनवाया था। इस आयागपट्ट पर एक स्तूप का अंकन है तथा वेदिकाओं सहित तोरण-द्वार बना है। मथुरा-कला के कई उत्कृष्ट आयागपट्ट लखनऊ-संग्रहालय में भी हैं। रंगवल्ली का प्रारम्भिक सज्जा-अलंकरण इन आयागपट्टों मे दर्शनीय है।

मथुरा के समान भारत का एक बड़ा सास्कृतिक केन्द्र विदिशा-साँची क्षेत्र था। वहाँ वैदिक, पौराणिक, जैन तथा बौद्ध धर्म साथ-साथ शताब्दियों तक विकसित होते रहे। विदिशा के समीप दुर्जनपुर नामक स्थान से हाल मे तीन अभिलिखित तीर्थंकर प्रतिमाएँ मिली हैं। उन पर लिखे हुए ब्राह्मी लेखों से ज्ञात हुआ है कि ई० चौथी शती के अंत मे इस स्थल पर वैष्णव धर्मानुयायी गुप्त वंश के शासक रामगुप्त ने कलापूर्ण तीर्थंकर प्रतिमाओ की प्रतिष्ठापना करायी। संभवत: कुल प्रतिमाओ की संख्या चौबीस थी। विदिशा नगर के निकट एक ओर उदयगिरि की पहाडी में वैष्णव धर्म का केन्द्र था, तथा दूसरी ओर पास ही साँची मे बौद्ध केन्द्र था। जैन धर्म के समता-भाव का इस समस्त क्षेत्र में प्रभाव पडा। बिना किसी द्वेष-भाव के सभी धर्म यहा सवर्धित होते रहे।

इस प्रकार के उदाहरण कौशाम्बी, देवगढ़ (जिला ललितपुर, उ० प्र०) खजुराहो, मल्हार (जिला बिलासपुर, म० प्र०), एलौरा आदि मे भी मिले हैं। दक्षिण भारत में वनवासी, कांची, मूडबिद्री, धर्मस्थल, कारकल आदि ऐसे बहुसख्यक स्थानो मे विभिन्न धर्मों के जो स्मारक विद्यमान हैं, उनसे इस बात का पता चलता है कि समवाय तथा सहिष्णुता को हमारी विकासशील संस्कृति मे प्रमुखता दी गयी थी।

विभिन्न धर्मों के आचार्यों ने समवाय-भावना को विकसित तथा प्रचारित करने में उल्लेखनीय कार्य किये हैं। जैन धर्म मे आचार्य कालक, कुदकुद, समंतभद्र, हेमचद्र, देवकीर्ति आदि ने इस दिशा मे बड़े सफल प्रयत्न किये। जनसाधारण मे ही नहीं, समृद्ध व्यवसायी वर्ग तथा राजवर्ग मे भी इन तथा अन्य आचार्यों का प्रभूत प्रभाव था। पारस्परिक विवादो को दूर करने मे तथा राष्ट्रीय भावना के विकास मे उनके कार्य सदा स्मरणीय रहेंगे। जैन धर्माचार्यों ने दक्षिण भारत के दो प्रसिद्ध राजवंशों—राष्ट्रकूट तथा गंग-वंश—के तीव्र विवादों को दूर कर उनमें मेल कराया। अनेक आचार्य मार्ग की कठिनाइयों की परवाह न कर दूर देशों मे जाते थे। कालकाचार्य, कुमारजीव, दीपकर, अतिशा आदि के उदाहरण हमारे सामने है। पश्चिमी एशिया, मध्य एशिया, चीन, तिब्बत तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के अनेक देशों मे इन विद्वानों ने भारतीय सस्कृति का सदेश फैलाने मे बड़ा कार्य किया। उनका सदेश समस्त जीवों के कल्याण हेतु था। दीपकर के बारे मे प्रसिद्ध है कि जब उन्हे ज्ञात हुआ कि भारत पर विदेशी आक्रमणों की घटा उमड़नेवाली है, तब वे तिब्बत को (जहां वे उस समय थे) छोड़कर भारत आये। यहां वे बगाल के पाल शासक नयपाल से मिले और फिर कलचुरि-शासक लक्ष्मीकर्ण के पास गये। इन दोनो प्रमुख भारतीय शासकों को उन्होंने समझाया कि आपसी झगडे भूलकर दोनों शासक अपने शत्रु का पूरी तरह मुकाबला करें, जिससे देश पर विदेशी अधिकार न होने पाये। इस यात्रा मे आचार्य दीपंकर को लंबे मार्ग की अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। परतु राष्ट्र के हित के सामने ये सब कष्ट उनके लिए नगण्य थे।

श्रवणबेलगोल के लेखों से ज्ञात हुआ है कि वहाँ विभिन्न कालो में अनेक प्रसिद्ध विद्वान् रहे हैं। ये विद्वान् जैन शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य धर्मों के शास्त्रों में भी प्रवीण थे। अन्य धर्माचार्यों के साथ उनके शास्त्रार्थ होते थे, परन्तु वे कटुता और द्वेष की भावना से न होकर शुद्ध बौद्धिक स्तर के होते थे।

गुप्त-युग के पश्चात् भारत मे बौद्ध धर्म का प्रभाव अत्यत सीमित क्षेत्र पर रह गया। इसमें पूर्वी भारत तथा दक्षिण कोसल एवं उड़ीसा के ही कुछ भाग थे। दूसरी ओर जैन धर्म का व्यापक प्रसार प्राय: सम्पूर्ण देश में व्याप्त हो गया। इधर

वैष्णवों तथा शैवों ने अपने धर्मों में अन्य विचारधाराओं के कल्याणकारी तत्त्वों को अंतर्भुक्त कर उदारता का परिचय दिया। मध्य काल में उत्तर तथा दक्षिण भारत में वैष्णव तथा शैव धर्मों का प्रचार बहुत बढ़ा। जैन धर्मावलम्बियों ने उनके उदार दृष्टिकोण के संवर्धन में योग दिया। जैनाचार्यों ने अपने धर्म के अनेक कल्याणप्रद तत्त्वों को उन धर्मों में समन्वित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न किया।

यहाँ यह बात विचारणीय है कि भारतीय इतिहास के मध्यकाल में अनेक बड़े राजनीतिक तथा सामाजिक परिवर्तन हुए। अब वैदिक पौराणिक धर्म ने एक नया रूप ग्रहण किया। पशु-बलि वाले यज्ञ तथा तत्संबंधी जटिल क्रियाकलाप प्रायः समाप्त कर दिये गये। नये स्मार्त धर्म ने देश-काल के अनुरूप धर्म-दर्शन के नये आयाम स्थापित किये। जैन धर्म के अहिंसा तथा समताभाव ने इन आयामों के निर्माण को प्रोत्साहन दिया। वर्णाश्रम, संस्कार, प्रशासन, अर्थनीति आदि की तत्कालीन व्यवस्था का जैन धर्म ने विरोध नहीं किया, अन्यथा अनेक सामाजिक जटिलताएँ उपस्थित होतीं। जैन शासकों, व्यापारियों तथा अन्य जैन धर्मावलंबियों ने उन सभी कल्याणकारी परिवर्तनों की प्रेरणा दी तथा उनका निर्माण पूरा कराया जो राष्ट्रीय भावना के विकास में सहायक थे। भारत की व्यापक सार्वजनीन संस्कृति के निर्माण में जैन धर्म का निस्संदेह असाधारण योगदान है।

"आवश्यक से अधिक संग्रह चोरी है"

जैन-संस्कृति का आदेश है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उचित साधनों का आश्रय लेकर ही प्रयत्न करना चाहिए। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख-सामग्री का संग्रह, जैन-संस्कृति में चोरी माना गया है। व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र क्यों लड़ते हैं ? इसी अनुचित संग्रह-वृत्ति के कारण दूसरों के जीवन के सुख-साधनों की उपेक्षा कर कोई भी सुख-शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। अहिंसा के बीज अपरिग्रह-वृत्ति में ही ढूंढे जा सकते हैं। एक अपेक्षा से कहें तो अहिंसा और अपरिग्रह दोनों ही पर्यायवाची शब्द हैं।

जैन संस्कृति का सन्देश है कि कोई भी मनुष्य समाज से सर्वथा पृथक् रहकर अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। समाज में घुल-मिल कर ही वह अपने जीवन का आनन्द उठा सकता है और दूसरे आसपास के सभी साथियों का भी उत्थान कर सकता है। जब यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता, तब यह भी आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार बनाए, विशाल बनाए, विराट् बनाए और जिन लोगों से खुद को काम लेना है, उनके हृदय में अपनी ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करे। जब तक मनुष्य अपने पार्श्ववर्ती समाज में अपनत्व की भावना पैदा नहीं करेगा, तब तक समाज का कल्याण नहीं हो सकता। एक-दूसरे का आपस में अविश्वास ही तबाही का कारण बना हुआ है।

—आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

(पर्यूषण पर्व, रविवार, ३ सितम्बर १९५७ को महानगरी दिल्ली में एक जनसभा का मार्गदर्शन करते हुए।)

अमृतचन्द्र और काष्ठा संघ

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई, से प्रकाशित 'प्रवचनसार' के अन्त मे 'प्रशस्ति' शीर्षक से एक प्रशस्ति मुद्रित है। यह प्रशस्ति अमृतचन्द्र की टीका के पश्चात् मुद्रित है। इसमें वि० सं० १४६९ तथा गोपाद्रि (ग्वालियर) के देवालय के उल्लेखपूर्वक काष्ठा संघ माथुरान्वय के मुनियों की परम्परा का वर्णन है। इस प्रशस्ति के पश्चात् जयसेनाचार्य की प्रशस्ति है, जो प्रवचनसार के दूसरे टीकाकार हैं। उस प्रशस्ति का शीर्षक है: टीकाकारस्य प्रशस्तिः। अर्थात् यह प्रशस्ति टीकाकार जयसेन की है। इस में उन्हें मूल संघ का लिखा है। किन्तु उक्त लेखक-प्रशस्ति के इसी आधार पर अमृतचन्द्र को काष्ठा संघ का नहीं माना जा सकता। वह तो प्रवचनसार की प्रति लिखाने वाले की प्रशस्ति है। वह काष्ठा संघी थे। किन्तु इस बादरायण सम्बन्ध से अमृतचन्द्र काष्ठा-संघी नहीं कहे जा सकते।

श्री नाथूराम जी प्रेमी ने 'अमृतचन्द्र' शीर्षक अपने लेख में लिखा है कि मेघविजय गणि ने अपने 'युक्तिप्रबोध' ग्रन्थ में अमृतचन्द्र के नाम से कई पद्य उद्धृत किये हैं उनमें दो प्राकृत के हैं।

१. यदुवाच अमृतचन्द्रः—

सव्वे भावो जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूण।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं॥

२ श्रावकाचारे अमृतचन्द्रोऽप्याह—

संघो कोवि न तारइ कट्ठो मूलो तहेव णिप्पिच्छो।
अप्पा तारइ अप्पा तम्हा अप्पा दु झायव्वो॥

इनमें से प्रथम गाथा तो समयसार की ३४ वी गाथा है। और दूसरी गाथा ढाढसी गाथा नामक ग्रन्थ की है। यह ढाढसी गाथा माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित तत्त्वानुशासनादि-संग्रह मे मुद्रित है। इसमें ३८ गाथाएँ हैं। ऊपर छपा है—

'अज्ञातनाम काष्ठासंघ मुक्ताचार्यकृता।'

अर्थात् यह किसी काष्ठासंघी आचार्य की कृति है। इसकी एक गाथा को मेघविजय गणि अमृतचन्द्र के नाम से उद्धृत करते हैं। अतः जैसे लेखक-प्रशस्ति के आधार पर अमृतचन्द्र को काष्ठा-संघ का नही माना जा सकता, उसी प्रकार मेघविजय गणि के उल्लेख के आधार पर भी उन्हें काष्ठा संघ का नहीं माना जा सकता।

दर्शनसार के रचयिता देवसेनाचार्य ने काष्ठासंघी माथुर संघ को जैनाभासों में गिनाया है। उन्होंने काष्ठासंघ की मान्यताएँ इस प्रकार बतलाई हैं—

इत्थीण पुण दिक्खा खुल्लयलोयस्स वीरचरियत्तं।
कक्कस केसग्गहणं छट्ठं च अणुव्वदं णाम॥

अर्थात् वे स्त्रियों को दीक्षा देते थे। क्षुल्लकों की वीरचर्या मानते थे, आदि।

यहां यह बतला देना उचित होगा कि इस संघ में अनेक आचार्य और ग्रन्थकार हुए हैं किन्तु स्त्री-दीक्षा आदि की चर्चा किसी में नहीं है। स्व० प्रेमीजी ने 'अमितगति' शीर्षक लेख में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

यहां इसकी चर्चा करने का मुख्य कारण यह है कि अमृतचन्द्र जी और जयसेन जी की टीका के आधारभूत ग्रन्थों की गाथाओं की संख्या में अन्तर है। अमृतचन्द्र जी ने अनेक गाथाओं को, जिन पर जयसेन जी ने टीका रची है, मान्य नहीं किया है। यहां यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि कुन्दकुन्दाचार्य के प्रथम टीकाकार अमृतचन्द्र हैं, उनसे लगभग दो-ढाई सौ वर्ष पश्चात् जयसेन

हुए हैं। प्रवचनसार के चारित्राधिकार में गाथा २४ और २५ के बीच कुछ गाथाएँ जयसेनाचार्य की टीका मे हैं जिनमें स्त्री के संयम का निषेध किया है। उनपर अमृतचन्द्र की टीका नही है। इस पर से ऐसी कल्पना की जा सकती है कि चूँकि काष्ठा संघ स्त्री-दीक्षा का पक्षपाती है और अमृतचन्द्र काष्ठासघी थे, इसीसे उन्होंने उनपर टीका नही रची। किन्तु हमे इस कल्पना में कुछ सार प्रतीत नहीं होता ; क्योंकि अमृतचन्द्र जी ने कुन्दकुन्द के द्वारा प्रतिपादित साधु के अट्ठाईस मूल गुणों को स्वीकार किया है। गाथा ३-१६ मे कुन्दकुन्द कहते हैं कि परिग्रह से सबन्ध अवश्य होता है इसीलिए श्रमणो ने उसे छोड दिया। इसकी टीका में अमृतचन्द्र लिखते हैं—"परिग्रह सर्वथा अशुद्धोपयोग के बिना नही होता है। उसका परिग्रह के साथ सर्वथा अविनाभाव सबध है। अत. परिग्रह एकान्त से बन्धरूप है। इसी लिए भगवन्त अर्हन्तो ने, परम श्रमणो ने स्वय ही सभी परिग्रह को पहले छोडा। और इसीलिए दूसरो को भी प्रथम ही सब परिग्रह छोडने योग्य है।" आगे भी परिग्रह की निन्दा के सम्बन्ध में जितनी गाथाएँ हैं, सबपर अमृतचन्द्र की टीका है। ऐसी स्थिति मे स्त्री-दीक्षा का पक्षपात सभव नही है। असल मे प्रवचनसार की रचनाविधि को देखते हुए यह सभव प्रतीत नही होता कि कुन्दकुन्द स्त्री-दीक्षा के निषेध पर यहा दस गाथाएँ रचेंगे, इसके कथन के लिए लिंगप्राभृत, भावप्राभृत आदि रचे गये हैं। अतः अमृतचन्द्र जैसा कुन्दकुन्द का व्याख्याता, जिसने अपनी विद्वत्तापूर्ण व्याख्याओ के द्वारा कुन्दकुन्द के कृतिरूपी प्रासादो पर कलशारोहण किया है, आचार्य कुन्दकुन्द की मान्यताओ की अवमानना करने वाला नही हो सकता। यदि कुन्दकुन्द के प्रति उनकी गहरी आस्था नही होती, तो वे उनकी कृतियों पर इतनी विशद पाण्डित्यपूर्ण और ग्रन्थानुगामिनी टीकाएँ न रचते। अवश्य ही उनको कुन्दकुन्दत्रयी पढने के पश्चात् वस्तुतत्त्व की यथार्थस्थिति का सम्यक् अवबोध हुआ है जिससे उनके अन्तःकपाट उद्घाटित होकर अन्तःकरण शान्त-रस से आप्लवित हुआ है।

उनकी व्याख्या का लक्ष्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थो की शाब्दिक व्याख्या नही रहा, वे तो उसमे रहे निगूढ तत्त्व को उद्घाटित करके पाठक के सामने रख देना चाहते थे। उनकी भाषा भी भाव के ही अनुरूप है। सस्कृत के सरस प्रौढ गद्य और पद्य मे अध्यात्म की सरिता का प्रवाह शान्त धीर गति मे प्रवाहित होता हुआ उसमे अवगाहन करने वाले सुविज्ञ पाठक को भी अपने साथ प्रवाहित कर लेता है और सुविज्ञ पाठक भी उसमे निमग्न होकर अपना बाह्य रूप को भूल स्वानुभूति से आप्लावित हो जाता है।

इसमें सन्देह नही कि कुन्दकुन्द की रचना प्राकृत मे होकर भी दुरूह नही है। उन्होंने बहुत ही सरल शब्दो मे अपनी बात कही है। किन्तु अमृतचन्द्र की भाषाशैली दुरूह है। संस्कृत भाषा का प्रौढ पण्डित ही उसमे प्रवेश करने का साहस कर सकता है। किन्तु सस्कृत भाषा का प्रौढ पंडित होकर भी यदि वह अनेकान्त तत्त्व की बारीकियों से सुपरिचित नही है तो भी उसके हाथ कुछ नही लग सकता। अमृतचन्द्र का अपने विषय पर पूर्ण अधिकार है। वे अनेकान्त तत्त्व के अधिकारी विद्वान् हैं और उसके प्रयोग में अत्यन्त कुशल है।

डा० ए० एन० उपाध्ये ने रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई से प्रकाशित प्रवचनसार की अपनी विद्वत्तापूर्ण अंग्रेजी प्रस्तावना (पृ० ६४) मे भी उक्त चर्चा की है और उसके अन्त मे लिखा है--

"यदि मेघविजय जी का कथन प्रामाणिक है तो अमृतचन्द्र काष्ठा सघ के हो सकते हैं। और यदि वे काष्ठासघ के हैं, तो उनके द्वारा प्रयुक्त कुछ शब्दो और वाक्यांशो तथा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों मे से कुछ प्रामाणिक गाथाओ की उनकी टीकाओ मे न पाये जाने पर सुविधापूर्वक प्रकाश डाला जा सकता है। किन्तु यह सब मात्र अनुमान पर निर्भर है।"

यहाँ यह बतला देना उचित होगा कि अमृतचन्द्र की टीकाओं से जयसेन की टीकाओ मे उपलब्ध गाथाओं की संख्या अधिक है। अमृतचन्द्र की टीका के अनुसार पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार की गाथा-सख्या क्रमश. १७३, २७५ और ४१५ है। किन्तु जयसेन की टीका के अनुसार क्रमशः १८१, ३११ और ४३९ है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि अमृतचन्द्र कुन्दकुन्द के आद्य टीकाकार हैं और जयसेन ने उनकी टीकाओ को आधार बनाकर ही अपनी टीकाएँ लिखी हैं। तथा दोनों के मध्य मे कम से कम एक शताब्दी का अन्तराल अवश्य रहा है। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि अमृतचन्द्र ने अपनी टीकाओ मे ग्रन्थकार कुन्दकुन्द का कोई निर्देश नही किया है। उन्होंने ग्रन्थकार के लिए पञ्चास्तिकाय की टीका के अन्त मे 'अथैव शास्त्रकार.' इत्यादि लिखते हुए शास्त्रकार शब्द का प्रयोग किया है। इससे ऐसा सन्देह होता है कि जो प्रतियाँ उन्हे प्राप्त हुई उनमे कुन्दकुन्द का नाम न होगा। कुन्दकुन्द ने स्वयं तो अपनी कृतियो मे अपना नाम दिया नही है। तथा उन ग्रन्थों से ही प्रभावित होकर अमृतचन्द्र ने उनकी टीका लिखी होगी। अन्यथा जिन रचनाओं ने उन्हें उनकी इतनी सुन्दर विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखने के लिए प्रेरित किया, उन रचनाओ के कर्त्ता का नामोल्लेख तक न करना सभव प्रतीत नहीं होता।

कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों मे जिस अध्यात्म का प्रतिपादन किया है वह अन्यत्र नहीं मिलता। अत: अमृतचन्द्र ने उसे कुन्द-कुन्द के ग्रन्थो में ही पाया होगा। उसे पाकर वह इतने प्रभावित हुए कि उस पर उन्होंने ऐसे टीका-ग्रन्थ लिखे, मानो वे 'उस विषय के

गहरे अभ्यासी और अत्यन्त निष्णात विद्वान्' हैं। उनकी टीकाओं ने कुन्दकुन्द के प्राभृतत्रय को चमका दिया है। कुन्दकुन्द के द्वारा आरोपित, अध्यात्मरूपी वृक्ष को सिञ्चित करके पुष्पित करने का काम अमृतचन्द्र ने ही किया है। उन्होंने प्रत्येक गाथा पर जो भाष्य लिखा है वह सर्वथा आगमानुकूल है और गाथा के हार्द को स्पष्ट करने वाला है। निश्चय और व्यवहार की गुत्थियों को सुलझाते हुए उनके पारस्परिक विरोध को मिटाने के लिए उनका एक सूत्ररूप कलश ही इसका उदाहरण है—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहा: ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥

समयसार की टीका में आगत पद्य जो 'समयसार-कलश' के नाम से ख्यात हैं, सचमुच में अमृत-कलश हैं। उन कलशों में अध्यात्मरूपी अमृत भरा है।

ऐसे टीकाकार अमृतचन्द्र ने क्यों अपने टीका-ग्रन्थों में कुन्दकुन्द का नामनिर्देश तक नहीं किया, यह चिन्त्य है। इसके साथ ही उनके टीकाग्रन्थों की गाथा-संख्या में जयसेन के टीका-ग्रन्थों की गाथा-संख्या से अन्तर होने का कारण भी समझ में नहीं आता। सन्तोष के लिए यही मानना पड़ता है कि उन्हें जो प्रतियां प्राप्त हुईं, उनमें इतनी ही गाथाएँ रही होंगी। किन्तु इस पर से यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि जयसेन के सम्मुख अमृतचन्द्र की टीका के रहते हुए भी अधिक गाथाएं उन्हें कहाँ से प्राप्त हो गईं? और इस पर से यह सन्देह भी हो सकता है कि उन्हें अमृतचन्द्र ने क्या जानबूझकर छोड़ दिया? और यदि ऐसा किया तो क्यों किया? प्रवचनसार के तीसरे चारित्राधिकार में गाथा २४ के बाद ग्यारह गाथाएँ स्त्रियों के मुक्तिनिषेध से सम्बद्ध हैं जो जयसेन की टीका में पायी जाती हैं किन्तु अमृतचन्द्र की टीका में नहीं हैं। डा० उपाध्ये ने अपनी प्रस्तावना में जो यह लिखा है कि यदि अमृतचन्द्र काष्ठासंघी हैं तो कुछ गाथाओं के उनकी टीका में न पाये जाने पर सुविधापूर्वक प्रकाश डाला जा सकता है। इसमें उनका संकेत उक्त गाथाओं की ओर प्रतीत होता है क्योंकि देवसेन के दर्शनसार के अनुसार काष्ठासंघ स्त्री-दीक्षा को स्वीकार करता है। किन्तु काष्ठा संघ स्त्री-मुक्ति मानता था, इसका कहीं से भी समर्थन नहीं होता। अतः अमृतचन्द्र की टीका में उक्त गाथाओं के न पाये जाने से यह कल्पना करना उचित नहीं है कि वह काष्ठासंघी थे या स्त्री-मुक्ति मानते थे।

डा० उपाध्ये ने लिखा है, "मेरा अनुमान है कि अमृतचन्द्र अति आध्यात्मिक थे और वह साम्प्रदायिक वाद-विवाद में पड़ना पसन्द नहीं करते थे। तथा सम्भवतया वह अपनी टीका को आचार्य कुन्दकुन्द के उत्कृष्ट मन्तव्यों को लेकर ऐसी बनाना चाहते थे जो सब सम्प्रदायों को स्वीकार हो और तीक्ष्ण साम्प्रदायिक आक्रमणों से अछूती हो (प्रव० प्रस्ता०, पृ० ५१)

अपनी प्रस्तावना टिप्पण दो (पृ० ५१) में अमृतचन्द्र के श्वेताम्बर होने की संभावना का निराकरण करते हुए डा० उपाध्ये ने लिखा है: "अमृतचन्द्र अट्ठाईस मूलगुण स्वीकारते हैं जिनमें एक नग्नता भी है। वह प्रवचनसार (३/गाथा ४,६,२५) में आये साधु के 'अहजाद रूव' (नग्न-पद) को स्वीकारते हैं तथा अपने तत्त्वार्थसार में विपरीत मिथ्यात्व का स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं—

सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली ।
रुचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तत् स्मृतम् ॥

"जहां सग्रन्थ को निर्ग्रन्थ और केवली को ग्रासाहारी माना जाता है, यह विपरीत मिथ्यात्व है।"

उक्त दोनों बातें श्वेताम्बर मानते हैं। अतः अमृतचन्द्र के मत से वे 'विपरीत मिथ्यादृष्टि' हैं।

हमारे मत से प्रवचनसार जैसे क्रमबद्ध दार्शनिक ग्रन्थ में कुन्दकुन्द जैसे सिद्धहस्त ग्रन्थकार स्त्री-दीक्षा के विरोध में इतनी गाथाएँ नहीं लिख सकते। लिंगपाहुड एवं भावपाहुड आदि में भी उन्होंने बहुत सन्तुलित शब्दों में ही सवस्त्र मुक्ति और स्त्री-मुक्ति के विरोध में लिखा है। उनके प्राभृतत्रय रत्नत्रय हैं, अतः रत्नों के पारखी अमृतचन्द्र ने भी प्राञ्जल टीका की आभा से उन रत्नों को ऐसा चमका दिया कि विस्मृत-जैसे कुन्दकुन्द जैनाकाश में सूर्य की तरह प्रकाशित हो उठे। यदि अमृतचन्द्र ने अपनी टीकाएँ न रची होतीं, तो कौन कह सकता है कि कुन्दकुन्द एक हजार वर्ष की तरह आगे भी विस्मृति के गर्त में न पड़े रहते?

अमृतचन्द्र की टीका से प्रभावित होकर ही जयसेन ने भी तीनों प्राभृतों पर अपनी टीकाएं लिखीं। और जयसेन की संस्कृत टीकाओं से प्रभावित होकर बालचन्द्र ने कनड़ी में टीका लिखी। और इस तरह कुन्दकुन्द के अध्यात्म की त्रिवेणी सर्वत्र प्रवाहित हो गई। इसका मुख्य श्रेय अमृतचन्द्र को ही प्राप्त होता है।

जैन सरस्वती प्रतिमाओं का उद्भव एवं विकास

डा० ब्रजेन्द्र नाथ शर्मा

सरस्वती की पूजा-आराधना जैन, हिन्दू एवं बौद्ध धर्मों में अत्यन्त प्राचीन काल से समान रूप से प्रचलित रही है। सरस्वती समस्त ज्ञान, विद्या, संगीत, कला एवं विज्ञान की प्रमुख अधिष्ठात्री मानी जाती है। सरस्वती एक प्रमुख नदी का नाम भी था जिसका अब पूर्णतया लोप हो गया है और इसका केवल एक मात्र अंकन हमे महाराष्ट्र राज्य के एलोरा की प्रसिद्ध गुहाओं में मिलता है जिसका निर्माण वाकाटक युग, ५वीं शती ई० मे हुआ था। हिन्दू धर्म में सरस्वती की पूजा वाग्देवी आदि नामों से की जाती थी और मध्यकालीन मूर्ति कला में इन्हें ब्रह्मा की पत्नी के रूप में विशेषतया दिखाया जाता था। पूर्वी भारत की पाल कला मे सरस्वती को लक्ष्मी सहित विष्णु की पत्नी के रूप में प्रदर्शित किया जाता था। भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता मे एक अद्वितीय प्रस्तर पालकालीन मूर्ति विद्यमान है, जिसमे कि ब्रह्मा के साथ सरस्वती एवं सावित्री का अंकन भी मिलता है। बौद्ध साहित्य मे सरस्वती के अनेक नामो मे वज्र-वाग्दा, महासरस्वती, आर्या-वज्र-सरस्वती तथा वज्र-वीणा-सरस्वती आदि का विशेष रूप से वर्णन मिलता है। धातु निर्मित पालकालीन ९ वीं शती ई० की नालन्दा से प्राप्त एक सुन्दर सरस्वती मूर्ति अब राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में विद्यमान है। नृत्य-सरस्वती की दो विलक्षण प्रतिमाए मध्य प्रदेश के उदयेश्वर मन्दिर तथा कर्णाटक के हेलेबिद देवालय पर देखी जा सकती हैं।

जैन साहित्य मे अनेक स्थलों पर सरस्वती का उल्लेख मिलता है। 'भारतीकल्प' के लेखक मल्लिषेण ने सरस्वती की आराधना करते लिखा है कि "हे देवि, साख्य, चार्वाक्, मीमांसक, सौगत तथा अन्य मत-मतान्तरो को मानने वाले भी ज्ञान-प्राप्ति के लिए तेरा ध्यान करते है।"[1] 'आचारदिनकर' मे श्रुतदेवता को "श्वेतवर्णा, श्वेतवस्त्रधारिणी, हंसवाहना, श्वेतसिंहासनासीना, भामण्डलालकृता एवं चतुर्भुजा बताया गया है। देवी के बाए हाथो में श्वेतकमल एवं वीणा तथा दाएं हाथों में पुस्तक एवं मुक्ताक्ष-माला का विधान बताया गया है"।[2] ऐसे ही तिलोयपण्णत्ती, सरस्वतीकल्प, निर्वाणकलिका, शारदास्तवन, पठितसिल्पसारस्वतस्तव एवं आचार्य हेमचन्द्र की अभिदानचिन्तामणि आदि जैन ग्रथो मे सरस्वती की प्रतिमा सबधी महत्त्वपूर्ण विवरण प्राप्त होते हैं।

सरस्वती की प्राचीनतम प्रस्तर प्रतिमा जो कुषाणकाल, २ री शती ई० की है, पुनीत स्थल कंकाली टीला, मथुरा से प्राप्त हुई थी और अब राज्य सग्रहालय, लखनऊ मे प्रदर्शित है। इस शीशरहित मूर्ति मे देवी एक ऊची पीठिका पर बैठी दिखाई गई हैं तथा इनका दाहिना हाथ अभयमुद्रा व बाए मे वह एक पुस्तक पकडे हुए हैं। इनके दोनो ओर एक-एक उपासक खड़ा है। कला की दृष्टि मे यह मूर्ति अत्यन्त सादी है। मूर्ति की पीठिका पर उत्खनित अभिलेख से ज्ञात होता है कि सिंह के पुत्र गोव ने दान हेतु इसका निर्माण किया था। अभिलेख इस प्रकार है :[3]

१. (सि) द्धम् सव ५४ हिमन्तमासे चतु (र्थे) ४ दिवसे १० अ
२. स्य पूर्वायां कोट्टियातो (ग) णातो स्थानी (य) तो कुलातो
३. वैरातो शाखातो श्रीग्रह (ा) तो सम्भोगातो वाचकस्यार्य्या
४. (ह) अस्तहस्ति शिष्यो गणिस्य अर्य्य माघहस्ति श्रद्धचारो वाचकस्य अ
५. र्य्य देवस्य निर्वतने गोवस्य सहिपुत्रस्य लोहिक कारुकस्य दान
६. सर्व सत्वान हितमुखा एक (सर) स्वती प्रतिष्ठापिता अवतले रंग (१) नत्तनो
७. मे..................

१. बालचन्द्र जैन, जैन प्रतिमा विज्ञान, जबलपुर, १९७४, पृ० ५३.
२. वही, पृ० ५४, १३७.
३. ब्रजेन्द्र नाथ शर्मा, जैन प्रतिमाए, दिल्ली, १९७९, पृ० ७१-७२, चित्र २८.

राजस्थान की भूतपूर्व रियासत सिरोही के वसन्तगढ़ नामक स्थान से प्रारम्भिक मध्य युग में निर्मित अनेक तीर्थंकरों एवं जैन धर्म के अन्य देवी-देवताओं की धातु मूर्तियां प्राप्त हुई थीं। इन्हीं प्रतिमाओं में सरस्वती की भी एक सुन्दर मूर्ति है जो अपने उठे दाहिने हाथ में पूर्ण विकसित कमल तथा बाएं हाथ मे पुस्तक पकड़े हैं। देवी ने एक अत्यन्त आकर्षक मुकुट, गले में एकावली, ऊर्ध्वसूत्र, कुण्डल एवं साड़ी आदि पहन रखी है। इस स्थानक देवी के पद्मासन के दोनों ओर एक-एक मंगल कलश है जो शुभ का प्रतीक है। इनके शीश के पीछे एक प्रभा-मण्डल है। कला की दृष्टि से यह सुन्दर मूर्ति लगभग ६५०-७०० शती ई० की बनी प्रतीत होती है।[1] यह मूर्ति अब पीडवाड़ा के महावीर स्वामी के मन्दिर में स्थित है।

प्रारम्भिक मध्य युग में बनी दो अन्य सरस्वती मूर्तियां कुछ वर्ष पूर्व गुजरात के अकोटा नामक स्थान से अन्य जैन प्रतिमाओं के साथ प्राप्त हुई थीं। इनमें से प्रथम मूर्ति जो कुछ खण्डित है, उपर्युक्त वर्णित वसन्तगढ़ से प्राप्त प्रतिमा से काफी साम्यता रखती है। इस मूर्ति में भी देवी ने अपने दाहिने हाथ में कमल तथा बाएं हाथ मे पुस्तक ले रखी है, इसका अलंकरण भी पर्याप्त रूप से सुन्दर है। लगभग ७०० वी सवत् में बनी इस मूर्ति का आसन तथा शरीर का कुछ भाग टूटा हुआ है। यह मूर्ति अब बड़ौदा संग्रहालय में प्रदर्शित है।[2]

अकोटा से प्राप्त सरस्वती की अन्य मूर्ति भी बड़ौदा संग्रहालय में विद्यमान है। यद्यपि इसकी पीठिका भी काफी खण्डित है, परन्तु इसका सौम्य मुख एवं शरीर की बनावट बड़ी कलापूर्ण है। इसमें भी देवी ने अपने दोनों हाथों में कमल एवं पुस्तक ले रखी है। मूर्ति पर खुदे लेख से पता चलता है कि इसिया नामक एक गणिनी ने इसकी प्रतिष्ठापना की थी। यह दो पंक्तियों का लेख निम्न प्रकार है :

१. ॐ देवधर्मोयं निवृय कुलिक

२. स्य। इसिया (?) गणिण्यो (?) (णी ?)।

लिपि के आधार पर इस मूर्ति का निर्माण काल लगभग ६००-६२० का माना गया है।[3]

श्री चिन्तामणि जैन मन्दिर, बीकानेर मे भी धातु की बनी जैन प्रतिमा प्रतिष्ठापित है। देवी समभगमुद्रा में खड़ी है और वसन्तगढ़ तथा अकोटा से प्राप्त अन्य सरस्वती मूर्तियों की भांति यह भी अपने दाहिने हाथ मे सनाल कमल तथा बाएं में पुस्तक लिए हैं। इनका केश विन्यास बड़ा सुन्दर है तथा इनके कानों में गोल कुण्डल, गले में हार और नीचे के अधो-भाग में साड़ी पहन रखी है। इनकी आंखों में चांदी लगी हुई है। यद्यपि इस प्रतिमा का प्रभा-मण्डल एवं पीठिका खण्डित हो गई है फिर भी यह पर्याप्तरूप से कलापूर्ण है और लगभग ८ वी शती ई० की बनी प्रतीत होती है।[4]

मध्य प्रदेश के विश्वप्रसिद्ध चन्देल-कालीन खजुराहो में बने देवालयों पर भी अनेक सरस्वती प्रतिमाएं उत्कीर्ण है।[5] यहां के जैन मन्दिरों में आदिनाथ एवं पार्श्वनाथ देवालय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पार्श्वनाथ मन्दिर पर बनी एक मूर्ति में सरस्वती को पद्मासन मुद्रा में बैठे दिखाया गया है। इस चतुर्हस्ता देवी के ऊपर के हाथों में पुस्तक एवं पद्म है तथा नीचे वाले दोनों हाथ खण्डित हैं। इनके बाएं पैर के पास इनका वाहन हंस दिखाया गया है। इनके शीश के ऊपर ध्यानी तीर्थ-कर की लघु मूर्ति बनी है और पैरों के निकट दोनों ओर उपासक आदि दिखाए गए हैं। पार्श्वनाथ मन्दिर पर बनी एक अन्य मूर्ति में उपर्युक्त मूर्ति की ही भांति ऊपर के दो हाथों में कमल एवं पुस्तक है तथा निचले हाथों से वह वीणा-वादन कर रही हैं। इसी देवालय पर उत्कीर्ण एक अन्य प्रतिमा मे भी वह ऊपर के दो हाथों में पुस्तक तथा कमल लिए हैं, जबकि इनका निचला दाहिना हाथ वरद मुद्रा में तथा बाएं वाला बायां हाथ कमण्डलु पकड़े हुए है। पार्श्वनाथ देवालय पर ही हमें ६-भुजी सरस्वती प्रतिमा के भी दर्शन होते हैं जिसमें देवी भद्रासन मे विराजमान हैं। इनके ऊपर वाले हाथों में वैसे ही कमल एवं पुस्तक हैं, मध्य वाले दो हाथों से वह वीणा-वादन कर रही हैं और नीचे वाले दो हाथ वरद मुद्रा में तथा कमण्डलु पकड़े हैं। देवी के दोनों ओर चंवरधारी सेवकों का अंकन है। शीश के ऊपर 'जिन' तथा पैर के समीप भक्तगण दर्शाये गये हैं। इस प्रकार से पार्श्वनाथ देवालय पर हमें सरस्वती का अंकन विभिन्न प्रकार से मिलता है।

---

१. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह, 'ब्रोन्ज होर्ड फ्राम वसन्तगढ़', ललित कला, नई दिल्ली, नं० १-२, पृ० ६१, चित्र XV, १५.

२. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह, 'स्टडीज इन जैन आर्ट', बनारस, १९५५, चित्र, ३४.

३. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह, 'अकोटा ब्रोन्जेज', बम्बई, १९५९, चित्र १८.

४. प्रकाश चन्द्र वार्ष्णेय, 'ए न्यूली डिस्कवर्ड जैन सरस्वती फ्राम बीकानेर', जर्नल आफ इण्डियन म्यूजियम्स, नई दिल्ली, भा० ३०-३१, पृ० ७६, चित्र १८.

५. मारुतिनन्दनप्रसाद तिवारी, 'रीप्रजेन्टेशन आफ सरस्वती इन जैन स्कल्पचर्स आफ खजुराहो'; जर्नल आफ दी गुजरात रिसर्च सोसाइटी, बम्बई, अक्टूबर, १९७३, पृ० १०७-११२.

राजस्थान में चौहानकाल में बनी कई महत्त्वपूर्ण सरस्वती प्रतिमाएं भी प्रकाश में आई हैं। इनमें से दो श्वेत संगमर्मर निर्मित सरस्वती प्रतिमाएं बीकानेर जिले के पल्लू ग्राम से प्राप्त हुई थी, जिनमें से एक अब राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली और दूसरी बीकानेर संग्रहालय मे प्रदर्शित है। इन प्रतिमाओं मे राष्ट्रीय संग्रहालय मे स्थित आदमकद प्रतिमा कला की दृष्टि से बीकानेर संग्रहालय वाली मूर्ति से अधिक भव्य प्रतीत होती है। देवी त्रिभंग मुद्रा मे एक पूर्ण विकसित कमल पर खड़ी हैं। इनके ऊपर के दो हाथों में सनाल पद्म तथा रेशमी डोरे से बंधी ताडपत्रीय पुस्तक, निचले दाहिने हाथ मे जो कि अभय मुद्रा में है, अक्षमाला और निचले बाएं हाथ में कमण्डलु पकड रखा है जो कि अमृत घट का प्रतीक है। देवी ने अत्यन्त सुन्दर मुकुट, अनेक हार, कुण्डल, कोकब, बाजूबन्ध, भुजबन्ध, माला तथा पारदर्शक साडी पहिन रखी है। पैरो मे पादजालक हैं। शीश के पीछे कमल रूपी प्रभा मण्डल, जिसके ऊपर ध्यानी 'जिन' तथा दोनों ओर आकाश मे उडते गन्धर्व उत्कीर्ण हैं। मूर्ति के दोनों ओर एक-एक वीणा-वादिनी सेविका तथा पैरो के निकट दानकर्ता एवं उसकी पत्नी बैठे दिखाये गए हैं जिनके हाथ अञ्जली-मुद्रा में हैं। देवी के पद्मपीठ के नीचे इनके वाहन हंस का भी अंकन है। चौहानकालीन, 12 वी शती ई० की यह मूर्ति मध्यकालीन भारतीय प्रस्तर कला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण मानी गई है।[१]

बीकानेर संग्रहालय वाली सरस्वती मूर्ति उपर्युक्त मूर्ति से आकार मे कुछ छोटी अवश्य है परन्तु उसमे भी चतुर्हस्ता देवी ने ऐसे ही अपने आयुध पकड रखे हैं। इस मूर्ति के साथ एक सुन्दर प्रभा-तोरण भी प्रदर्शित है, जिसके ऊपर जैन धर्म के प्रमुख देवी-देवताओं की लघु मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। यह मूर्ति भी चौहान कला १२ वी शती ई० की मानी गई है।[२]

कुछ वर्ष पूर्व जिला नागोर के लाडनू नामक स्थान से सरस्वती की एक लेख-युक्त प्रतिमा प्रकाश में आई है। इसमें चतुर्हस्ता देवी पल्लू ग्राम की मूर्तियों की ही भांति अपने ऊपर के हाथों में पुण्डरीक व ताडपत्रीय पुस्तक तथा निचले हाथों में अक्षमाला एवं अमृत घट लिए त्रिभंग मुद्रा में खडी हैं। श्वेत संगमर्मर निर्मित इस मूर्ति के प्रभा-मण्डल के दोनों ओर मालाधारी गन्धर्व तथा सबसे ऊपर ध्यानी 'जिन' का अंकन है।

यह सरस्वती मूर्ति भव्य मुकुट एवं विभिन्न वस्त्राभूषणों से पूर्ण रूप से सुसज्जित है। इसके पैरों के निकट वंशी-वादिका, वीणाधारिणी एवं दो चंवरधारणियों की भी लघु मूर्तियां बनी हैं तथा पैरों के नीचे इनका वाहन हंस है। साथ ही दान-कर्ताओं का भी अंकन प्राप्त है जिन्होंने इस मूर्ति का निर्माण कराया था। मूर्ति की पीठिका पर संवत् १२१९ अर्थात् ११६२ ई० के लेख से विदित होता है कि विक्रम संवत् १२१९ वैशाख सुदि ३ शुक्रवार को आशादेवी नामक श्रेष्ठी वासुदेव की पत्नी ने सपरिवार इसकी प्रतिष्ठापना आचार्य श्री अनन्तकीर्ति द्वारा कराई थी। तीन पंक्तियों का मूल लेख इस प्रकार है[३] :

१. (ॐ) संवत् १२१९ वैशाख श (स) उदी ३ शुक्रे ॥श्री माथुर संघे॥

२ आचार्य श्री अनन्तकीर्ति भक्त-श्रेष्ठि वहु [सु] देव पत्नी आशा –

३. देवी सकुटुंवा [बा] सरस्वती [वतीम्] प्रणमति ॥ पूर्णघट चिह्न ? ॥शुभमस्तु॥ शंख चिह्न (?) ॥

राजस्थान में सेवाडी नामक स्थान से भी सरस्वती की सुन्दर मूर्ति प्रकाशित है। चतुर्हस्ता देवी ने अपने तीन हाथों में उपर्युक्त प्रतिमा की भांति कमल, पुस्तक तथा टूटा कमण्डलु ले रखा है जबकि इनका निचला दाहिना हाथ, जो सम्भवत: अक्षमाला पकड़े था, अब पूर्णतया खण्डित है। इसमें भी देवी को विभिन्न वस्त्राभूषणों से सुसज्जित किया गया मिलता है। देवी के दाहिनी ओर वीणावादिनी व बायी ओर वंशीवादिका का अंकन है तथा सामने इनका वाहन हंस भी दर्शाया गया है। मूर्ति के दोनों ओर विभिन्न तालों मे नृत्य करती एवं विभिन्न वाद्यों को बजाती सुरसुन्दरियो को बडी कुशलता से उकेरा गया है। मूर्ति के बायी ओर दानकर्ता को हाथ जोडे बैठा दिखाया गया है।[४]

---

१. कादम्बरी शर्मा, 'जैन प्रतिमाओं में सरस्वती, चक्रेश्वरी, पद्मावती और अम्बिका,' सिद्धान्ताचार्य पंडित कैलाश चन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ; रीवा, १६८०, पृ० ३२२-३२४, चित्र १.

२. विजय शंकर श्रीवास्तव, 'कैटलॉग एण्ड गाईड टू गंगा गोल्डन जुब्ली म्यूजियम', बीकानेर, जयपुर, १६६०-६१, पृ० १३, चित्र ३.

३. देवेन्द्र हाण्डा एवं गोविन्द अग्रवाल, 'ए न्यू जैन सरस्वती फ्राम राजस्थान', ईस्ट एण्ड वैस्ट, रोम, २३, १-२, पृ० १६६-७०, चित्र १.

४. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह, 'सम मेड्रीवल स्कल्पचर्स फ्राम गुजरात एण्ड राजस्थान', जर्नल ग्राफ दी इण्डियन सोसाईटी ग्राफ ओरियन्टल आर्ट, कलकत्ता, १६६७, चित्र ३१.

माऊन्ट आबू स्थित सुप्रसिद्ध लूण वसही के जैन मन्दिर में भी सरस्वती की ललितासन में बैठी मूर्ति विद्यमान है। इसमें भी चतुर्हस्ता देवी अपने हाथों में क्रमश: अक्षमाला, सनाल कमल, ताडपत्रीय पुस्तक और कमण्डलु लिए हैं। इनके शीश के दोनों ओर मालाधारी गन्धर्व और पैरों के समीप भक्तों का अंकन है। इस चालुक्य युगीन १२वीं शती ई० की मूर्ति में उल्लेखनीय बात यह है कि इनके एक ओर सूत्रधार लोयण व दूसरी ओर सूत्रधार केला खड़े हैं जिनके हाथ अञ्जली मुद्रा में हैं और इनमें से एक ने तो माप-दण्ड भी ले रखा है। संभवत: यह सूत्रधार ही इस जैन देवालय अथवा इस मूर्ति के निर्माता रहे होंगे।[1]

चालुक्ययुगीन एक अन्य कलात्मक सरस्वती मूर्ति उत्तरी गुजरात में कुम्भारिया नामक स्थान पर बने भगवान् नेमिनाथ के मन्दिर के बाहरी भाग पर भी देखी जा सकती है। यहाँ पर देवी जो अपने वाहन हंस पर विराजमान हैं, अपने ऊपर के दो हाथों में सनाल कमल तथा वीणा लिए हैं तथा इनके निचले हाथों में अक्षमाला व पुस्तक है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि इस प्रकार की प्रतिमाओं में वीणा के स्थान पर प्राय: हमें पुस्तक और पुस्तक के स्थान पर पूर्णघट ही देखने को मिलता है। यह मूर्ति जो कला की दृष्टि से अधिक भव्य नहीं मानी जा सकती, लगभग ११वीं-१२वीं शती की बनी प्रतीत होती है।[2]

उपर्युक्त प्रतिमाओं के अतिरिक्त जैन सरस्वती की सफेद संगमर्मर में निर्मित एक अन्य मूर्ति जो मालवा प्रदेश में परमार काल लगभग १२वीं शती ई० में बनी होगी, अभी हाल में नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय ने प्राप्त की है। इसमें देवी को एक ऊँचे आसन पर ललितासन में बैठे दर्शाया गया है। देवी चतुर्हस्ता हैं और अपने हाथों में सभी आयुध पकड़े हैं। इनके शीश के ऊपर 'जिन' का स्पष्ट अंकन दीखता है।

उपर्युक्त प्रतिमा की समकालीन ही एक अन्य सरस्वती मूर्ति उत्तर प्रदेश के देवगढ़ नामक स्थान पर भी विद्यमान है। देवी जो चतुर्भुजी हैं अपने ऊपर के हाथों में अक्षमाला एवं कमल तथा निचला दाहिना हाथ वरद मुद्रा में है और निचला बायां हाथ पुस्तक लिए है। सरस्वती के शीश व दोनों ओर ध्यानी 'जिन' मूर्तियों का अंकन है। पैरों के दोनों ओर सेविकायें बनी हैं। यह मूर्ति सम्भवत: १२वीं शती की बनी प्रतीत होती है।

(दृष्टव्य : बी० सी० भट्टाचार्य, 'दी जैन आइकनोग्राफी', दिल्ली, १९७४, पृ० १२३, चित्र ४१)

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुषाण काल लगभग २री शती ई० में मथुरा में प्राचीनतम जैन सरस्वती मूर्ति बनी और जैसे-जैसे इस देवी की पूजा का प्रचार हुआ, वैसे ही वैसे इसकी मूर्तिकला का भी विकास हुआ और इसके फलस्वरूप देश के विभिन्न भागों में असंख्य सरस्वती प्रतिमाओं का कलाकारों ने पाषाण एवं धातु के माध्यम से निर्माण किया।[3] भारत के अनेक भागों से प्राप्त एवं देश-विदेश के संग्रहालयों में प्रदर्शित प्राय: सभी जैन सरस्वती प्रतिमाओं का हमने विस्तृत वर्णन अपने ग्रन्थ **"जैन प्रतिमाएँ"** (दिल्ली, १९७९) में किया है, जो जैन कला में रुचि रखने वालों के लिए अवश्य उपयोगी हो सकता है।

सरस्वती आख्यान का महत्त्व

वेदों के सरस्वती आख्यान में भी ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी सारगर्भित उल्लेख हैं। विशेषकर उस समय जब यह नदी समुद्र तक बहती थी तथा गंगा और यमुना से भी अधिक पवित्र मानी जाती थी। इसके तट पर जब यज्ञ प्रारम्भ हुआ था तब वसन्त के प्रारम्भ में होने वाला सम दिन-रात सम्भवत: मूल नक्षत्र में पड़ा था। यह नक्षत्र अब भी सरस्वती विषयक कार्यों के लिए पवित्र माना जाता है यद्यपि अब यह दशहरे पर उदित होता है। तैत्तिरीय संहिता में सरस्वती तथा अमावस्या को समान कहा है तथा सरस्वती के प्रिय सारस्वान् को पूर्णिमा से अभिन्न बताया है। अत: मूल नक्षत्र में पड़ी अमावस्या वसन्त के सम दिन-रात का संकेत करती है और यज्ञ के वर्ष के प्रारम्भ की सूचक थी, नक्षत्र भी मूल (प्रारम्भ, जड़) से गिने जाते हैं और उसके बाद ज्येष्ठा (सबसे बड़ा), आदि आते हैं। उत्तर वैदिक-युग तक नक्षत्रों की सूची कृत्तिका से प्रारम्भ होती थी। इसके उपरान्त सरस्वती नदी तक राजस्थान का समुद्र विलीन हो गया और इसकी जलराशि का बहुभाग गंगा तथा यमुना में बह गया। इस सबके आधार पर वसन्त के सम दिन-रात के मूल नक्षत्र में पड़ने का समय १६६८० ई० पू० का सूचक है। भूगर्भशास्त्र सम्बन्धी तथा ज्योतिष-शास्त्रीय प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि आर्य लोग अत्यन्त प्राचीन युग में भी सरस्वती देश के प्रभु थे। ... वैदिक आर्यों, जैनों तथा बौद्धों का पुरातत्त्व इस प्रकार हमें २०००० ई० पू० तक ले जाता है तथा इनका आदि देश भारतवर्ष में ही होना चाहिए जो कि उस समय ४० अक्षांश तक फैला था। यह अत्यन्त आवश्यक है कि जैनधर्म के विद्यार्थी 'सुषमा दु:षमा' कल्पों तथा तीर्थंकरों की जीवनी में आने वाले विविध आख्यानों का गम्भीर अध्ययन करके निम्न वाक्य को सार्थक करें।

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्

प्रो० एस० श्री नीलकण्ठ शास्त्री के निबन्ध जैन धर्म के आदि देश से साभार
वर्णी-अभिनन्दन-ग्रन्थ पृ० सं० १९६-९७

---

१. ब्रजेन्द्र नाथ शर्मा, 'सोशल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया', नई दिल्ली, १९७२, पृ० १४१, चित्र २८.

२. मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, 'ए नोट आन एन आइकनोग्राफिक डाटा एट कुम्भारिया, नार्थ गुजरात,' सम्बोधि, अहमदाबाद, अप्रैल १९७३, चित्र ३.

३. उमाकान्त, प्रेमानन्द शाह, 'आइकनोग्राफी आफ दी जैन गोडेस सरस्वती, जर्नल आफ दी यूनिवर्सिटी आफ बाम्बे', न० १०, १-२, पृ० १९५-२१७; मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, 'सरस्वती इन जैन स्कल्पचर्स', श्रमण, वाराणसी, न० २२, ३, पृ० २७-३४; वही, न० २२, ४, पृ० २५-२८.

चतुर्विध संघ-प्रस्तरांकन

श्री शैलेन्द्रकुमार रस्तोगी

जे-२४३ सर्वतोभद्र-प्रतिमा के चरणों के दोनों ओर श्रावक एवं श्राविका (कंकाली टीला, मथुरा).

मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका, इनके समुदाय को जैन संघ कहते हैं। मुनि और आर्यिका गृहत्यागी वर्ग है। श्रावक तथा श्राविका गृही वर्ग है। जैन संघ में ये दोनों वर्ग बराबर रहते हैं। जब ये वर्ग नहीं रहेंगे तो जैनसंघ भी नहीं रहेगा और जब जैनसंघ नहीं रहेगा तब जैन धर्म भी न रहेगा।[1]

अस्तु, मथुरा की ई० पू० से ईस्वी सन् की ब्राह्मणधर्म की, यथा, विष्णु, शिवादि की प्रतिमाओं की चरण-चौकी बिल्कुल सादा मिलती हैं। किन्तु, बुद्ध की दो[2] प्रतिमाओं पर मूलमूर्ति के नीचे आधार की पट्टी पर धर्मचक्र के आस-पास मालाधारी गृहस्थ जो आभूषणादि से वेष्टित हैं, उन्हें अलंकरण के रूप में बनाया हुआ पाते हैं। ये अलंकरण हैं, ऐसा बौद्धकला एवं धर्म के मर्मज्ञ विद्वान् प्रो० चरणदास चटर्जी ने इन पंक्तियों के लेखक को एक भेंट में बतलाया था।[3] दूसरे, बुद्ध-प्रतिमा के नीचे मध्य में बोधिसत्व तथा उनके दाँए बाँए स्त्रियां तथा पुरुष गृहस्थ मालाएं लिये खड़े हैं। इन दो निदर्शनों को छोड़कर यहाँ के संग्रह में एक स्वतन्त्र पट्ट[4] है जिस पर माला लिये, लम्बा कोट पहने पाँच पुरुष खड़े हैं। ऊपर पत्रावलि, नीचे स्तम्भों के मध्य माला व पुष्प लिये पाँच पुरुष आवक्ष और दायीं तरफ गरुड़ पक्षी व नीचे खिला कमल बना है। एक दूसरा छोटा सिरदल,[5] जिस पर तीन श्रावक व बायीं तरफ के शेर का मुखमात्र ही शेष है।[6]

---

१. जैन धर्म, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी, पृ० २८५।
२. रा० सं० सं०, बी० १ व ६६. १८३।
३. मैंने प्रो० सी० डी० चटर्जी से भेंट दि० ८.१२.८१ को उनके आवास 'सप्तपर्णी' में की। उन्होंने बताया कि खुद्दकपाठ में ऐसा वर्णन है कि भिक्षु मालादि नहीं ले सकता है। दीघनिकाय में बुद्ध ने स्वयं साधुओं को मालादि से दूर रहने को कहा है।
४. रा० सं० सं०, बी०—१४७।
५. जे—५४
६. जे—३५४ व जे—६०६।

बी-१ : जैन शैली से प्रभावित बुद्ध-प्रतिमा की चरण-चौकी—मध्यस्थित धर्मचक्र के बायीं ओर दो स्त्रियां तथा दो पुरुष, स्त्रियों में प्रथम माला व द्वितीय कमलपुष्प लिए हुए हैं तथा बायीं ओर माला लिए हुए प्रथम तथा पीछी (?) जैसी वस्तु लिए हुए अंतिम मूर्ति है (कुषाण काल, मथुरा)

उपरोक्त निदर्शनों की अल्पता हमें मथुरा की जैन प्रतिमाओं के सिंहासनों पर बहुलता से दृष्टिगोचर होती है।

जिस समय जैन प्रतिमाओं का ई० पू० से प्रारंभ पाते हैं उसी समय पीछी, कमण्डल लिए नग्न साधु व दूसरी खंडित मूर्ति, जिसका वस्त्र खण्ड मात्र ही शेष है, दीख पड़ते हैं।[1] यह वही सर्व प्राचीन स्तम्भ है जिस पर भगवान् ऋषभनाथ के वैराग्य का चित्रण है। इस पट्ट के अतिरिक्त एक आयाग पट्ट, जिसके मध्य में चौकी पर पार्श्वनाथ, जिन पर सातफण बने हैं, विराजमान हैं और इन्हीं की वंदना में दो जिनकल्पी साधु नमस्कार-मुद्रा में खड़े हैं। ये दोनों कला-रत्न ई० पू० के हैं। क्योंकि तीर्थंकर के बैठने व अन्य आकृतियों की बनावट के आधार पर इन्हें शुङ्गकाल का माना गया है।

(आयाग-पट)

इन ईसा-पूर्व के दो निदर्शनों के अतिरिक्त राज्य-संग्रहालय, लखनऊ में कंकाली टीला मथुरा की कुल ६६ प्रतिमाएं हैं जिन पर जैन धर्म के चतुर्विध संघ का बहुलता से प्रस्तरांकन किया गया है। इनमें ४५ बैठी, ५ खड़ी, ६ सर्वतोभद्र, २ ऐसी प्रतिमाएं जिनपर शेरों का रेखांकन व लेख,[2] ११ ऐसी घिसी हुई प्रतिमाएं जिनके नीचे संघ बनाया गया होगा किन्तु इस समय आभासमात्र ही शेष है। एकमात्र प्रतिमा, जिस पर लेख नहीं है।[3]

---

१. जै—२५३, जैन स्तूप एण्ड एण्टीक्विटी, पृ० १७, प्लेट X, स्मिथ, वी० सी०।
२. जे—२१ व जै—७१
३. जै—१०८

जे-१०८ : चतुर्विध संघ, लेखरहित एकमात्र प्रतिमा (कुषाण काल, कंकाली टीला, मथुरा)
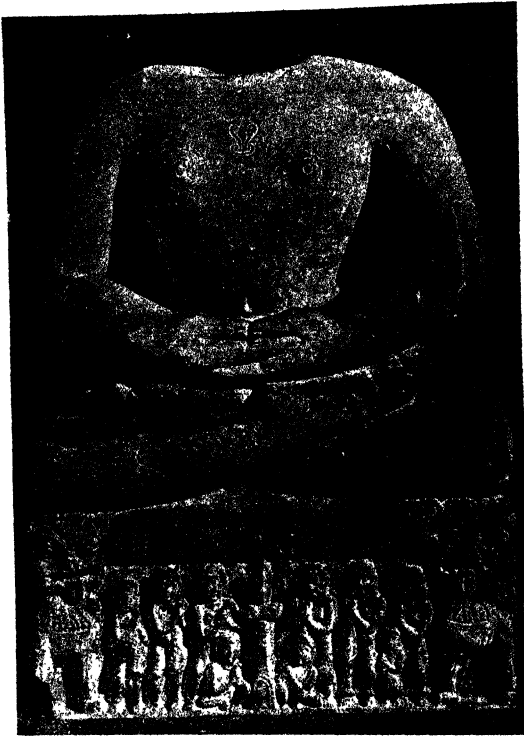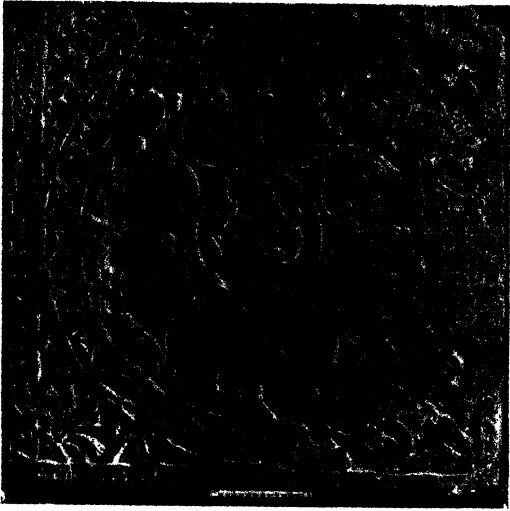
चि-२५३ : दो जिनकल्पी साधु (लगभग प्रथम शती ई० पू०, कंकाली टीला मथुरा)

अभिलिखित और चतुर्विध संघ के विलेखन से युत जैन कला-रत्न कनिष्क सं०—४ से वसुदेव सं० ९८ तक के हैं। हुविष्क वर्ष ५८ व ६० व ४८ विशेष उल्लेखनीय हैं। यहाँ पर यह स्पष्ट द्रष्टव्य है कि मात्र मूर्ति की शैली के अलावा लिपि भी ध्यान देने योग्य है क्योंकि एक प्रतिमा[1] जो सं० ३१ की है किन्तु अन्य मूर्तियों जिनपर बाद का सं० पाते हैं, से भिन्न है बाद वाली प्राचीन है और जे-१५ बाद की अर्थात् इनसे कुषाण काल की है शेष कुषाण-काल की हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वत्र एक ही शक संवत् का प्रयोग नहीं हुआ है कोई अन्य संवत् भी मथुरा में प्रारम्भ या बाद में था उसे भी अपनाया गया है।[2] तीन प्रतिमाएँ ऐसी हैं जिन पर मात्र गृहस्थ ही धर्मचक्र के बने हैं। इन्हीं में सम्भवनाथ की प्रतिमा है जिसके मध्य में त्रिरत्न पर धर्मचक्र तथा इसके बायीं ओर वस्त्राभूषणों से समलंकृत माला लिये एक श्राविका और दायीं ओर श्रावक, जो बायें कंधे पर उत्तरीय डाले खड़ा है। दोनों ही ने दाएँ हाथों में पुष्प ले रखा है। यहाँ पर चक्र रक्षक दो यक्ष भी नहीं बनाये गए हैं। दो यक्ष धर्मचक्र के आसपास बैठे रहते हैं तीन स्थलों पर धर्मचक्र मस्तक पर रखे बने हैं और एक है।[4]

---

१ जे—१५

२. म्यु० बुलेटिन सं० ६, पृ० ४६, श्रीवास्तव, वी० एन०, सम इन्टरेस्टिंग जैन स्कल्पचर इन स्टेट म्यु० लखनऊ।

३. महा० जय० स्मा० १९८०, जयपुर, ये तु हिले, रस्तोगी, शैलेन्द्र कुमार।

४. जे-११, जे-६० व जे-६८
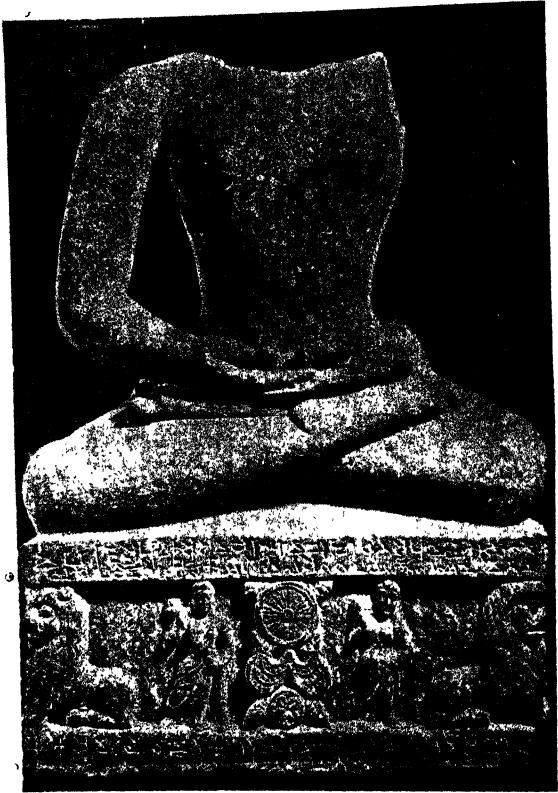
जे-१६ : श्रावक-श्राविका से युक्त चरण-चौकी पर 'सम्भवस्य प्रतिमा' से अभिलिखित मूर्ति (कंकाली टीला, मथुरा)
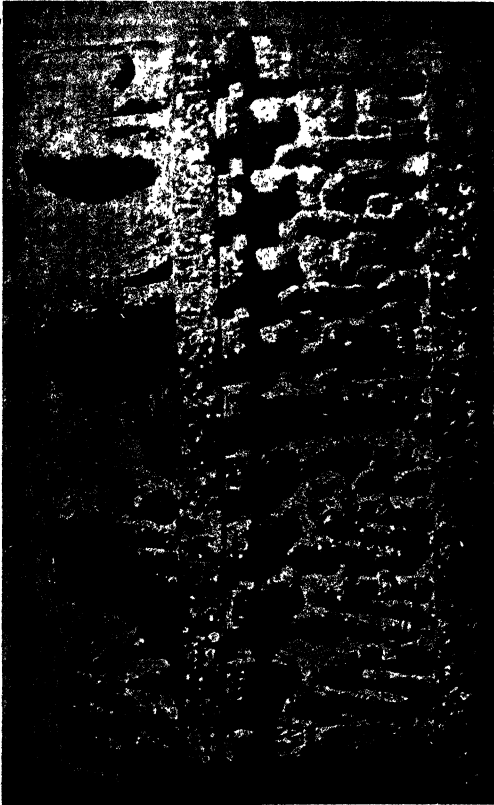
जे-६ : कायोत्सर्ग मुद्रा वाली वर्द्धमान-प्रतिमा की चौकी—मध्य-स्थित धर्मचक्र के दोनों ओर एक-एक चंवर सहित बैठे हुए तुंदिल यक्ष तथा खड़े हुए आभूषित उपासक-उपासिकाओं के साथ तीन-तीन बालक। इस पर सिंहों व अर्द्धफलकों का नितान्त अभाव है (कुषाण काल सं० २०, कंकाली टीला, मथुरा)

कायोत्सर्ग प्रतिमाओं पर बायीं ओर स्त्री साध्वी जो पुस्तक व पीछी लिये दूसरी ओर साधु वस्त्रखण्ड लिये खड़ा बना है। ऐसा लगता है कि बायीं ओर यक्षी व दायें यक्ष बनाये जाने की जो धारा मध्यकाल मे स्थिर हुई उसका जन्म सं० ९ अर्थात् ७८ + ९ = ८७ ई० में हो चुका था। खड़ी और बैठी प्रतिमाओं में मुख्य अन्तर यह है कि प्रथम कोटि की प्रतिमा पर सिंहांकन अनिवार्य है जब कि दूसरी में खम्भे। एक प्रतिमा पर जिसे स० ७९ मे बनाया गया था, दायी ओर अर्द्धचेलक साधु, तत्पश्चात् त्रिरत्न पर धर्मचक्र व बायीं ओर तीन स्त्रियाँ, जो हाथों में कमल लिए लम्बी धोती, कुण्डल व चूरी पहने बनी हैं श्राविकाएँ हैं। ये काफी लम्बी हैं, ऐसा लगता है कि विदेशी हैं।

आर्यिकाएँ ज्ञान के लिए पुस्तक व शुद्धि के लिए पीछी लिये आभूषण रहित बनायी गई हैं। इन्हीं के साथ श्राविकाएँ कई ढंग से साड़ी बांधे, माथे पर टीका पहने, कान व हाथ तथा पैरो मे आभूषणों से मंडित रूपायित की गई हैं। ये दायें हाथ से माला बायें हाथ से साड़ी का छोर, कहीं हाथ कमर, पर रखे, क्वचित पुष्प लिए पायी जाती हैं। इनके साथ छोटे बालक हाथ जोड़े भी दीख जाते हैं। कहीं कहीं पर गौण स्थान पर हाथ जोड़े या पुष्पथाल लिए जो दासी हो सकती है, बनाई गई है। धर्मचक्र के दायीं ओर वस्त्रखण्ड (अग्गोयर) व पीछी लिए साधु तदुपरान्त बांये कंधे पर उत्तरीय या अधोवस्त्र का आधा छोर डाले दायें हाथ में माला पकड़े श्रावक या गृही बने हैं। इनके साथ भी छोटे बालक वंदना की मुद्रा में पाये जाते हैं। सबसे किनारे पर दास हाथ जोड़े बने पाये जाते हैं।

अर्द्धचेलक—अग्गोयर—अर्द्धफालक[1] के अन्य उल्लेखनीय निदर्शन कण्हश्रमण, कछौटे[2] व एक प्रतिमाखण्ड[3] पर साधु वस्त्रखण्ड लिए है, नग्न है व हवा में उड़ता हुआ बना है सामने छत्र व मालाधारी विद्याधर बना है।

जे-३० तीन श्रावकों से अनुसरित वन्दन मुद्रा में जिनकल्प साधु (वसुदेव सं० ८० उत्कीर्ण है, कंकाली टीला, मथुरा)

---

१. जे—६२३, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २१३; ले० जैन, जगदीश चन्द्र, जैन धर्म, पृ० ४१९, ले० शास्त्री, कैलाश चन्द्र, वाराणसी, बम्बई ४।
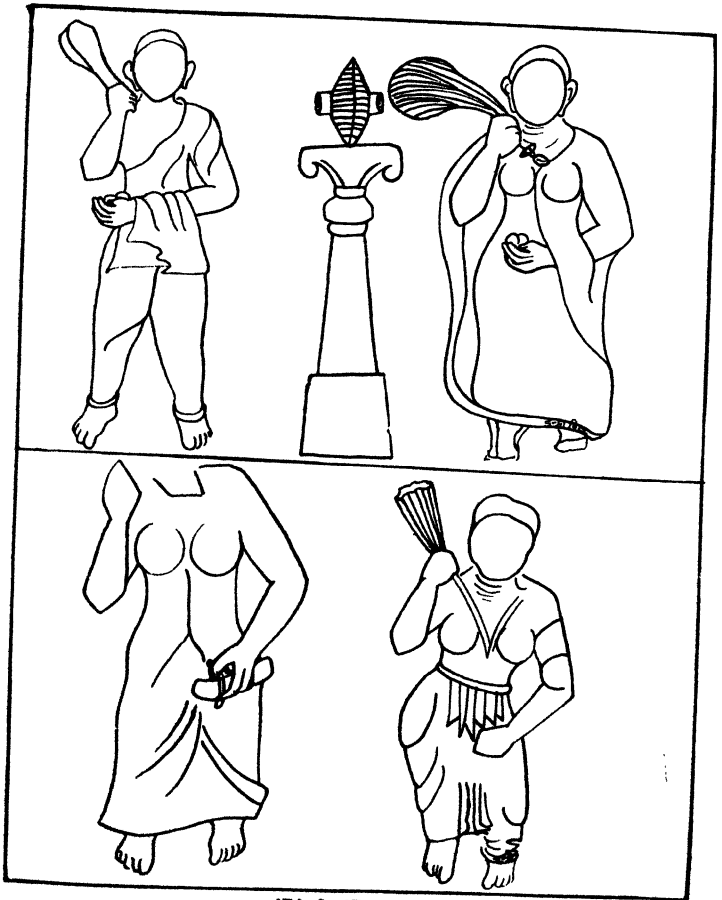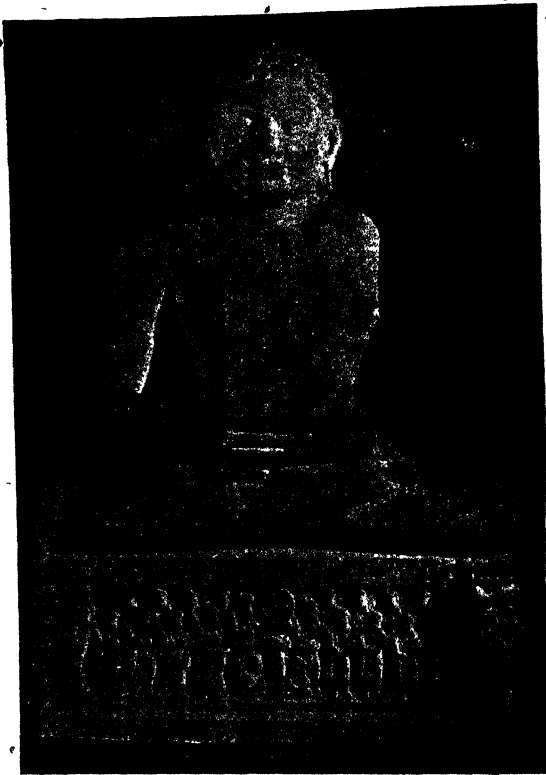
२. बी—२०७।

३. जे—१०५।

卐 रेखाचित्र 卐

जे-६८६ : चरण-चौकी पर धर्मचक्र के दाएँ श्राविकाएँ एवं बाएँ श्रावक (कुषाणकाल, मथुराशैली, अहिच्छत्रा, रामनगर, उत्तर प्रदेश)

जिन कल्पधारी साधु भी पुराशिल्प में प्राप्त हुए हैं ।[1] तीन ऐसे उदाहरण हैं पूर्वोक्त आयागपट्ट वाले विवस्त्र साधुओं को छोड़कर, वसुदेव सं ८० की तीर्थंकर प्रतिमा की सिंहासन वेदी पर हाथ जोड़े विवस्त्र एक साधु खड़े हैं । इनके पीछे तीन गृहस्थ माला लिए खड़े हैं, तीनों के कंधे पर शाली है । यहाँ अर्द्धफालक का अभाव है । दूसरी ओर तीन स्त्रियाँ हाथ जोड़, चौथी कमल लिए हैं ।[2] इसी प्रकार दूसरी प्रतिमा पर साध्वी हैं ।[3] तीसरी पर विवस्त्र साधु एक हाथ में पीछा लिए खड़ा है ।[4] एक प्रतिमा का टुकड़ा जिसपर दायी ओर गृही, अर्द्धफालक व साध्वी मात्र हो है । शेष यह साध्वी पीछी व दूसरे हाथ में फल लिए है । इसके वस्त्र ध्यान देने योग्य हैं नीचे एक वस्त्र उसके उपर चादर सी ओढ़े है, जिसकी गाँठ गले के नीचे है भीतर दूसरा हाथ है ।[5] प्रायः साध्वी एक साड़ी अथवा साड़ी पर लम्बा सिला कोट पहने बनाई गई है । जो कञ्चुक जैसा है ।

अहिच्छत्रा की मात्र प्रतिमा जिस पर स्त्री वर्ग दाँये व पुरुष वर्ग बाँए बनाया गया, जो कलाकार का नया प्रयोग या भूल कही जा सकती है । एक सर्वतोभद्र प्रतिमा की चौकी पर सुन्दरता से चारो ओर वंदन मुद्रा में पुरुष-स्त्री, साधु-साध्वी बने हैं । यह संवत् ७४ की है जो उस पर खुदा है तथा अहिच्छत्रा से प्राप्त हुई है । किन्तु, मथुरा के चित्तीदार लाल पत्थर की बनी है ।

इस प्रकार अविच्छिन्नरूप से ईसा की प्रथम व द्वितीय शती में चतुर्विध जैन संघ का पुराशिल्प में प्रभूत मात्रा में विवेचन पाते हैं । किन्तु गुप्तकाल में धर्मचक्र के आस-पास दो या तीन उपासक घुटनों के बल बैठे वन्दन-मुद्रा में बनाने की प्रथा मात्र ही प्रतिमाओं पर दीख पड़ती है ।
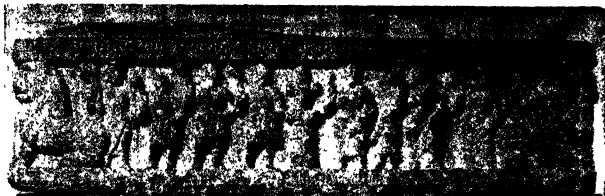
जे-२६ : आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव की चरण-चौकी पर चतुर्विध-संघ (सम्राट हुविष्क ६० ई०, कंकाली टीला, मथुरा)

१. जे—१० प्राचीन मार बरसुधा, पृ० ३१ ले० डा० मोती चन्द्र ।
२. जे— १०८
३. जे—२१
४. जे—१७ देखिए रेखाचित्र
५. जी—६८४ ।

इस माथुरी जैन चतुर्विध संघ के विषय में जो अभिमत मेरे पूज्य गुरुवर्य डा० ज्योतिप्रसाद जी जैन ने मुझसे कहा देखिए, वह कितना समीचीन प्रतीत होता है : मथुरा के जैन संघ का जो मूलतः दिगम्बराम्नाय था, लेकिन संघ-विभाजन के बाद भी जिसका सम्पर्क एक-दूसरे से अलग होती हुई दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों धाराओं के साथ बना और जो उन दोनों के बीच समन्वय करने के लिए प्रयत्नशील रहा, कालान्तर में दोनों ही धाराओं ने उसके साथ अपना संबंध जोड़ने का प्रयत्न भी किया, इस समन्वय के प्रयत्न स्वरूप ही ऐसा लगता है कि कम से कम ई० सन् की प्राथमिक दो शताब्दियों में मथुरा में तथाकथित अर्द्धफालक सम्प्रदाय के जैन मुनियों का अस्तित्व रहा जो न तो सर्वथा निर्वस्त्र दिगम्बर ही थे और न पश्चाद्वर्ती श्वेताम्बर साधुओं की भांति सवस्त्र या सचेल ही थे। मात्र एक खण्ड-वस्त्र अपने मुड़े बाएं हाथ पर लटकाए अपनी प्रत्यक्ष नग्नता को आवृत करते हुए प्रतीत होते हैं। ऐसे मुनियों के अनेक अंकन मथुरा की तत्कालीन कला में उपलब्ध होते हैं।[1]

भारत के पौराणिक नगरों में मथुरा का गौरवशाली स्थान है। इस महानगर में भारत की सामासिक सभ्यता एवं संस्कृति का उदय तथा विकास हुआ था। भौगोलिक कारणों से तत्कालीन भारतीय समाज में मथुरा की विशेष स्थिति थी क्योंकि यह नगर एक ऐसे राजमार्ग पर स्थित था जो शताब्दियों से इस प्रदेश को दूर-दूर के कला-प्रेमियों, तक्षकों, पर्यटकों, वाणिज्यिक सार्थवाहों, महत्वाकांक्षी शासकों, धनलोलुप आक्रान्ताओं को आकर्षित करने के अतिरिक्त प्रमुख नगरों एवं अनेक मार्गों से परस्पर सम्बन्धित करता था। इन्हीं राजमार्गों पर विचरण करते हुए अनेकानेक सन्तों ने भारतीय जनमानस को धर्मोपदेश देते हुए इसी नगर को अपनी धार्मिक गतिविधियों एवं विद्या के प्रचार-प्रसार का केन्द्र बना लिया।

अनेक ऐतिहासिक, भौगोलिक एवं अन्य कारणों से इन प्रकार के सांस्कृतिक केन्द्र समय के साथ अपनी गरिमा को खो देते हैं। किन्तु इस प्रकार के नगरों की गौरव गाथाएं इतिहासज्ञों, दार्शनिकों एवं चिन्तकों को शोध की प्रेरणा देती रहती हैं।

मथुरा के सांस्कृतिक वैभव को प्रकाश में लाने के लिए सरस्वतीपुत्र सुप्रसिद्ध प्राच्यवेत्ता जनरल सर अलेक्जेंडर कनिंघम ने जो प्रयास किए थे, वे भारतीय स्थापत्य एवं मूर्तिकला के इतिहास में सदैव श्रद्धा की दृष्टि से देखे जायेंगे। उनकी महान् परम्परा को विकसित करते हुए डा० फुहरर के योगदान से तो जैन स्थापत्य एवं मूर्तिकला और उसके क्रमिक विकास को एक निश्चित आधार ही मिल गया है। अतः भारतवर्ष के कलाप्रेमी, इतिहासज्ञ एवं जैन धर्मानुयायी इन दोनों महान् आत्माओं के १८५३ से १८९६ तक के उत्खनन के प्रति श्रद्धा से नतमस्तक है।

उपर्युक्त उत्खननों से प्राप्त कलानिधियों पर अभी अनेक दृष्टियों से शोध की अपेक्षा है। योजनाबद्ध एवं वैज्ञानिक ढंग से यदि मथुरा से प्राप्त जैन अवशेषों कलानिधियों, स्तूपों आयागपट्टों पर विशद अध्ययन का प्रयास किया जाए तो भारतीय इतिहास के साथ-साथ जैनधर्म के अभ्युदय विकास, संघभेद, मूर्तिकला और उसके क्रमिक विकास पर निश्चय ही प्रकाश पड़ेगा।

विद्वान् लेखक ने 'चतुर्विध संघ प्रस्तांकन' में जो दृष्टि दी है, उस पर डा० भगवतशरण उपाध्याय जी का ध्यान गया था। उनके मतानुसार प्राचीन तीर्थंकर मूर्तियों में बी० ४ के आधार पर सामने दो सिंहों के बीच धर्मचक्र बना है जिसके दोनों ओर उपासकों के दल हैं। कुषाणकालीन तीर्थंकर मूर्तियों पर इस प्रकार का प्रदर्शन एक साधारण दृश्य है।

आशा है, जैन समाज जागरूक होकर इस प्रकार की ऐतिहासिक धरोहरों के विश्लेषण को प्रोत्साहित कर जैन मूर्तिकला के इतिहास को वैज्ञानिक आधार देने में योग देगा।

☐ सम्पादक

विशेष आभार — लेख में प्रयुक्त सभी चित्र निदेशक, राज्य संग्रहालय, लखनऊ के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं। चित्रों का छायांकन श्री राजेश सिन्हा एवं श्री रंजन खाँ ने किया है।

1. डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने दिसम्बर १०-१२-८० को अपनी भेंट वार्ता में उक्त अभिमत प्रकट किया था एतदर्थ लेखक उनका आभारी है।

'मूलाराधना' : ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक मूल्यांकन

—प्रो० राजाराम जैन

शौरसेनी प्राकृत के गौरव-ग्रन्थों में 'मूलाराधना' का स्थान सर्वोपरि है। यद्यपि यह ग्रंथ मुख्यत. मुनि-आचार से सम्बन्ध रखता है और उसमे तद्विषयक विस्तृत वर्णनो के साथ-साथ कुछ मौलिक तथ्यों—यथा जैन साधुओं की मरणोत्तर-क्रिया[1], सल्लेखना काल मे मुनि-परिचर्या[2], मरण के विभिन्न प्रकार[3] एव उत्सर्ग-लिङ्गी स्त्रियों[4] की भी जानकारी दी गई है। फिर भी, भौतिक ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी विविध प्रासगिक सन्दर्भों के कारण इसे संस्कृति एवं इतिहास का एक महिमा-मण्डित कोष-ग्रंथ भी माना जा सकता है। उसमे वर्णित आयुर्वेद-सम्बन्धी सामग्री को देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार स्वय ही आयुर्विज्ञान के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक क्षेत्र मे सिद्धहस्त था। बहुत सम्भव है कि उसने आयुर्वेद सम्बन्धी कोई ग्रंथ भी लिखा हो, जो किसी परिस्थिति-विशेष में बाद मे कभी लुप्त या नष्ट हो गया हो।

ग्रंथ-परिचय

मूलाराधना का अपर नाम भगवती-आराधना भी है। उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एव सम्यक्तप रूप चतुर्विध आराधनाओ का वर्णन[5] २१७० गाथाओं मे तथा उसका विषय-वर्गीकरण ४० अधिकारों मे किया गया है। प्रस्तुत ग्रंथ की लोकप्रियता एवं महत्ता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि विभिन्न कालों एवं विविध भाषाओ मे उस पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं।[6] इसकी कुछ गाथाएँ आवश्यक निर्युक्ति, बृहत्कल्पभाष्य, भत्तिपइण्णा एवं सम्थारग नामक श्वेतांबर ग्रन्थो मे भी उपलब्ध हैं।[7] यह कह पाना कठिन है कि किसने किससे उन्हें ग्रहण किया ? किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वाचार्यों की श्रुति-परम्परा ही इनका मूल-स्रोत रहा होगा।

ग्रन्थकार-परिचय

मूलाराधना के लेखक शिवार्य के नाम एवं काल-निर्णय के विषय में पं० नाथूराम प्रेमी[8], डॉ० हीरालाल जैन[9], पं० जुगलकिशोर मुख्तार[10] एव प० कैलाशचन्द्र शास्त्री[11] प्रभृति विद्वानों ने विस्तृत रूप में अपने गहन विचार प्रकट किए हैं और प्रायः सभी के निष्कर्षों के आधार पर उनका अपरनाम शिवकोटि[12] या शिवभूति[13] था। वे यापनीय-संघ के आचार्य थे।[14] इनके

---

१. दे० गाथा—१९६६-२०००
२. दे० गाथा—६६२-७१२
३. दे० गाथा—२५-३० तथा २०११-२०८३
४. दे० गाथा—८१
५. दे० गाथा—१-८
६. दे० जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी, पृ ७४-८६
७. वही, पृ० ७१-७३
८. वही, (बम्बई १९५६) पृ० ९६-८६
९. दे० भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० १०६
१०. अनेकान्त, वर्ष १, किरण १
११. दे० भगवती आराधना (प्रस्तावना)
१२. जैन साहित्य एवं इतिहास, पृ० ७५
१३. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० १०६
१४. जैन साहित्य एवं इतिहास, पृ० ६८-६९

गुरु का नाम आर्य सर्वगुप्त[1] था। डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन ने कुछ पुष्ट साक्ष्यों के आधार पर इनका समय प्रथम सदी ईस्वी निर्धारित किया है।[2]

मूलाराधना के संस्करण

मूलाराधना के अद्यावधि दो ही सस्करण निकल सके हैं। प्रथम संस्करण मूलाराधना के नाम से नवम्बर १९३५ ई० में सोलापुर से प्रकाशित हुआ, जिसमें कुल पत्र स० १८७८ तथा मूलगाथा सं० २१७० है।[3] इसमें ३ टीकाएँ प्रस्तुत की गई हैं: (१) अपराजितसूरि (लगभग ९वीं सदी विक्रमी) कृत विजयोदया टीका, (२) महापण्डित आशाधर कृत (लगभग १३वीं सदी) मूलाराधना-दर्पण टीका, एवं माथुरसघीय अमितगति (११वी सदी) कृत पद्यानुवाद के रूप मे संस्कृत आराधना टीका। मूलाराधना के आद्य सम्पादक पं० फडकुले ने विजयोदया-टीका का हिन्दी अनुवाद एव ११ पृष्ठो की एक प्रस्तावना भी लिखी, जो परवर्ती समीक्षकों के अध्ययन के लिए कुछ आधारभूत सामग्री प्रस्तुत करती रही। वर्तमान मे यह संस्करण अनुपलब्ध है।

इसका दूसरा सस्करण सन १९७८ मे जीवराज ग्रन्थमाला सोलापुर से भगवती-आराधना के नाम मे प्रकाशित हुआ है।[4] इसके दो खण्ड एव कुल ९५१ पृष्ठ हैं। इसमे केवल अपराजितसूरि कृत विजयादया टाका एव मूल गाथाओं तथा विजयोदया टीका का हिन्दी अनुवाद ही प्रस्तुत किया गया है। परिशिष्ट मे गाथानुक्रमणी, विजयोदया टीका मे आगत पद्यों एव वाक्यो की अनुक्रमणी, पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी के साथ-साथ ५३ पृष्ठों की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना एव भाषा-टीकानुगामी विषय-सूची प्रस्तुत की गई है। प्रथम सस्करण की त्रुटियाँ इस सस्करण मे दूर करने का प्रयास किया गया है। इन विशेषताओं से यह संस्करण शोध-कर्ताओं के लिए उपादेय बन पड़ा है।

सांस्कृतिक सन्दर्भ

मूलाराधना के आचार दर्शन एव सिद्धान्त पर तो पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है, किन्तु उसका सास्कृतिक पक्ष, जहाँ तक मुझे जानकारी है, अभी तक अचर्चित ही है। इस कारण ईस्वी सन् की प्रारम्भिक सदी की भारतीय संस्कृति को उजागर करने में मूलाराधना का क्या योगदान रहा, इसकी जानकारी आधुनिक शोध-जगत् को नही मिल सकी। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर मूलाराधना मे शिवार्यकालीन आर्थिक जीवन, कुटीर एव लघु-उद्योग, विनिमय-प्रकार एव मुद्राएँ, माप-तौल के साधन, ऋण एव ऋणी की स्थिति, व्यापारिक कोठियाँ, यातायात के साधन, विभिन्न पेशे एव पेशेवर जातियाँ, प्राकृतिक, राजनैतिक एव मानवीय भूगोल, वास्तुकला, शिल्प एव स्थापत्यकला, वैज्ञानिक रासायनिक प्रक्रियाएँ, आयुर्वेद के विविध स्थान, मानव-शरीर-सरचना एव भ्रूण-विज्ञान, मानव-शरीर मे मस्तक, मेद, ओज, वसा, पित्त एव श्लेष्मा का प्रमाण, रोग एवं रोगोपचार-विधि एव औषधियाँ, दण्ड-प्रथा आदि से सम्बद्ध प्रचुर सन्दर्भ-सामग्री उपलब्ध होती है। अत मूलाराधना पर अभी तक हुए शोध-कार्यों के मात्र पूरक के रूप में उसकी सांस्कृतिक सामग्री को व्यवस्थित रूप में यहाँ सक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

आर्थिक चित्रण : उद्योग-धन्धे

मूलाराधना अपने समय की एक प्रतिनिधि रचना है। आर्थिक दृष्टिकोण से उसका अध्ययन करने से उसमे कविकालीन भारत के आर्थिक जीवन एव उद्योग-धन्धो की स्पष्ट झलक मिलती है। यह भी विदित होता है कि दण्ड-प्रथा अत्यन्त कठोर होने एवं जनसामान्य के प्राय· सरल-प्रकृति तथा कठोर परिश्रमी होने के कारण उस युग का औद्योगिक वातावरण शांत रहता था। सभी को अपनी प्रतिभा, चतुराई एव योग्यतानुसार प्रगति के समान अवसर प्राप्त रहते थे। कुटीर एव लघु उद्योग-धन्धो का प्रचलन सामान्य था, जिसे समाज एव राज्य का सहयोग एव सरक्षण प्राप्त रहता था। आज जैसे भारी उद्योग-धन्धों (Heavy Industries) के प्रचलन के कोई सन्दर्भ नही मिलते। मूलाराधना मे विविध उद्योग-सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है :

१. चर्मोद्योग—चमड़े पर विविध प्रकार के वज्रलेप आदि करके उससे विविध वस्तुओं का निर्माण।[5]

---

१. जैन साहित्य एव इतिहास, पृ० ९९.
२. J. P. Jain : Jain sources of History of Ancient India, 130-131.
३. प० जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले द्वारा सम्पादित एव रावजी सखाराम दोशी द्वारा प्रकाशित।
४. प० कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा सम्पादित।
५. चम्मेण सह पर्वतो····· जोणिगसिलेसो—गाथा १३७.

२. सूती वस्त्रोद्योग—सूती वस्त्रों का निर्माण, उन पर चित्रकारी, वस्त्र-सिलाई, कढ़ाई एवं रँगाई।[1]

३. रेशमी वस्त्रोद्योग—रेशम के कीड़ों का पालन-पोषण एवं रेशमी वस्त्र-निर्माण।[2]

४. बर्तन-निर्माण—कांसे के बर्तनों का निर्माण अधिक होता था।[3] स्वास्थ्य के लिए हितकर होने की दृष्टि से उसका प्रचलन अधिक था। आयुर्वेदीय-सिद्धान्त के अनुसार उसमें भोजन-पान करने से प्रयोक्ता को विशिष्ट ऊर्जा-शक्ति की प्राप्ति होती थी।

५. सुगन्धित पदार्थों का निर्माण—शारीरिक सौन्दर्य के निखार हेतु जड़ी-बूटियों एवं लोध्र आदि पदार्थों से स्नान-पूर्व मर्दन, अभ्यंगन की सामग्री का निर्माण, मिट्टी के सुवासित मुख-लेपन-चूर्ण (Face Powders) एवं अन्य वस्तुएँ।[4]

६. रत्नछेदन-घर्षण—रत्नों की खराद एवं उनमें छेद करना।[5]

७ औषधि-निर्माण।

८. आभूषण-निर्माण—मुकुट, अंगद, हार, कड़े आदि बनाने के साथ-साथ लोहे पर सोने का मुलम्मा अथवा पत्ता-पानी चढ़ाना[6] तथा लाख की चूड़ियाँ बनाना।[7]

९ मूर्ति-निर्माण[8]।

१०. चित्रनिर्माण[9]।

११. युद्ध-सामग्री का निर्माण (दे० गाथा० १२२२)

१२ नौका-निर्माण (दे० गाथा० १२२२)

१३ लौह उद्योग (दे० गाथा—१२२२) दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुएँ तैयार करना।

मुद्राएँ (सिक्के)

मुद्राएँ मानव-समाज के आर्थिक विकास की महत्त्वपूर्ण प्रतीक मानी गई हैं। ईसापूर्व काल में वस्तु-विनिमय का प्रमुख साधन प्राय वस्तुएँ ही थी, जिसे आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने Barter System कहा है। किन्तु इस प्रणाली से वस्तु-विनिमय में अनेक प्रकार की कठिनाइयों के उत्पन्न होने के कारण धीरे-धीरे एक नये विनिमय के माध्यम की खोज की गई, जिसे मुद्रा (सिक्का) की संज्ञा प्रदान की गई। मूलाराधनाकाल चूंकि मुद्राओं के का विकास-काल था, अत: उस समय तक सम्भवत: अधिक मुद्रा-प्रकारों का प्रचलन नहीं हो पाया था। ग्रन्थकार ने केवल ३ मुद्रा-प्रकारों की सूचना दी है, जिनके नाम हैं—कागणी,[10] कार्षापण[11] एवं मणि[12]। कागणी सिक्के की सम्भवत: अन्तिम छोटी इकाई थी।

विनिमय के साधन (Medium of Exchange)

वस्तु-विनिमय के माध्यम यद्यपि पूर्वोक्त मुद्राएँ थी, किन्तु मूलाराधना के टीकाकार अपराजित सूरि ने वस्तु विनिमय प्रणाली अर्थात् Barter System के भी कुछ सन्दर्भ प्रस्तुत किए है। हो सकता है कि उस समय अधिक मुद्राओं की उपलब्धि न होने अथवा उनका प्रचार अधिक न हो पाने अथवा मुद्राओं की क्रय-शक्ति कम होने के कारण विशेष परिस्थितियों में वस्तुविनिमय प्रणाली (Barter System) भी समानान्तर रूप में उस समय प्रचलन में रही हो। अपराजितसूरि के अनुसार यह प्रणाली दो प्रकार की थी—

१. सुण्णई उण्णइ आवइ गाथा ६१७
चित्तपड व विचित्त ··गाथा २१०५

२. कोसेय कोसियारुव्व· गाथा ६११

३. कलियंसिगारो ··गाथा ५७६

४ वस्त्र मल्लं व धूव वासं वा। सवाहण परिमद्दण···गाथा ६४
···गंधेण मट्टिया·· गाथा ३४२
ण्हाणधाणु अब्भपुंकसियाछाल्लवल्लि मूलेहिं। मुहकेसवास तंबोलगंधमल्लेहिं धूवेहिं।
···गोसीस चदणं व मधेसु· गाथा १८६६

५. वइरंरयणेसु...वेरुलिय व मणीव ··गाथा १८६६
··चितामणि···गाथा १४६५

६-७ रउपीढ़ं व कडयं ग्रहवा कयडुक्कड जहा कडय। महवा अवपूरियय· गाथा ५८३

८. दे गाथा स० १५६१ (लोहपडिमा)···गाथा स० २००८—(पुव्वरिसीणपडिमा)

९. दे० गाथा ११३६

१०-११-१२ दे० कागणि लाभे कार्षापणं वाञ्छति···गाथा स० ११२७ की विजयोदया टीका, पृ० ११३६···कागणीए विक्केइ मणि बहुकोडिसयमोल्लं। गाथा सं० १२२१

(१) द्रव्यक्रीत[1]—अर्थात् जिसमें सचित्त गो-बलीवर्द आदि तथा अचित्त घृत, गुड़-खाण्डादिक देकर बदले में इच्छित वस्तुओं का क्रय किया जाता था। (२) भावक्रीत विनिमय का दूसरा माध्यम भावक्रीत कहलाता था, जिसमें विद्या, मन्त्र आदि सिखाकर अथवा विद्या, मन्त्र-तन्त्र आदि के द्वारा किसी को कष्टमुक्त कर उसके बदले में उससे कोई इच्छित वस्तु प्राप्त की जाती थी।[2]

माप-तौल के साधन

माप-तौल के प्रमाणस्वरूप ग्रन्थकार ने अजली,[3] आढक,[4] पल[5] एवं प्रस्थ[6] का उल्लेख किया है। मूलाराधना के टीकाकार पं० आशाधर ने १ प्रस्थ को १६ पल के बराबर[7] तथा १ आढक को ६४ पल के बराबर[8] माना है। सुप्रसिद्ध वैय्याकरण पाणिनि[9] के अनुसार—

४ तोले का १ पल, ४ पल की १ अजली (कौटिल्य के अनुसार १२॥ तोले की) तथा चरक के अनुसार ३ सेर का १ आढक (कौटिल्य के अनुसार २॥ सेर का) तथा पाणिनि के अनुसार ५० तोला का १ प्रस्थ। पाणिनि ने इसका अपरनाम कुलिज भी कहा है। उपर्युक्त प्रस्थ एवं आढक बुन्देलखण्ड के ग्रामों में प्रचलित वर्तमान पोली एवं अढइया से पूरा मेल खाते हैं।

श्रम-मूल्य निर्धारण

श्रम का मूल्य श्रम अथवा श्रमिक की योग्यतानुसार नकद द्रव्य या बदले में आवश्यक वस्तुएँ देकर आँका जाता था। नकद द्रव्य लेकर श्रम बेचने वाले श्रमिकों को भृतक अथवा कर्मकर की संज्ञा प्राप्त थी।[10]

ऋण एवं ऋणी की स्थिति

वर्तमान-युग में ऋण का लेन-देन मानव-सभ्यता एवं आर्थिक विकास का प्रतीक माना गया है, किन्तु प्राचीन काल का दृष्टिकोण इससे भिन्न प्रतीत होता है। अत: उस समय सामान्यतया राज्य की ओर से न तो ऋण देने की व्यवस्था का ही उल्लेख मिलता है और न उस समय ऋण लेना अच्छा ही माना जाता था। पाणिनि ने ऋण लेने वाले को अधमर्ण[11] अधम-ऋण अथवा (आधा मरा हुआ) तथा ऋण देने वाले सेठ-साहूकार को कुत्सितार्थक कुसीदिक[12] अर्थात् सूदखोर कहा गया है। मूलाराधना काल में णयरसेट्ठी (नगरसेठ या साहूकार) ही वस्तुत: उस समय के बैंकों का कार्य करते थे। आज की भाषा में इसे Indeginous-Bank-System कहा गया है। इस प्रकार के नगरसेठ या साहूकार को मूलाराधना में धणिद[13] (अर्थात् धनद या उत्तमर्ण) कहा गया है और ऋण लेने वाले को धारणी[14] या धारक (Bearer) कहा गया है। यहाँ यह तथ्य ध्यातव्य है कि शिवार्य ने कर्जदार को अधमर्ण नहीं माना है, उसे धारणी या धारक कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि ईस्वी सन् के प्रारम्भिक वर्षों में कर्जदार अथवा साहूकार को उतना कुत्सित नहीं माना जाता था, जितना पाणिनि-युग में। वस्तुत: शिवार्य का युग आर्थिक विकास का युग था। इस प्रकार के युग में कर्ज का लेन-देन आवश्यक जैसा माना जाने लगता है।

मूलाराधना में एक प्रसंग में बताया गया है कि अपराधी व्यक्ति यदि कारागार में बन्द रहते हुए भी किसी धणिद से ऋण की याचना करता था तो उसे कुछ शर्तों पर निश्चित अवधि तक के लिए ऋण मिल सकता था और उस द्रव्य से वह कारामुक्त हो सकता था।[15] निश्चित अवधि समाप्त होते ही धणिद धारणी से ब्याज सहित अपना ऋण वसूल कर लेता था।[16] यदि वह वापिस नहीं लौटाता था तो धणिद को यह अधिकार रहता था कि वह उसे पुन: कारागार में बन्द करा दे।[17] मूलाराधना में ब्याज की दरों आदि के संकेत नहीं मिलते।

---

१. दे० गाथा सं० २३० की विजयोदया टीका, पृ० ४४३—सचित्त गो-बलीवर्दक दत्त्वा ……अचित्त घृतगुडखण्डादिकं दत्त्वा क्रीतं द्रव्यक्रीतं। विद्यामन्त्रादि-दानेन वा क्रीतं भावक्रीतम्।

२. दे० गाथा २३० की मूलाराधनादर्पण टीका।

३ से ८. दे० गाथा १०३४ की मूलाराधनादर्पणटीका, पृ० १०७६—अञ्जाढक द्वात्रिंशत्पलमात्रम्, तथा गाथा १०३५ की मूला० टी०, पृ० १०७६ प्रस्थःषोडशपलानि…

९. दे० पाणिनि-परिचय (भोपाल, १९६५) पृ० ७४-७५.

१०. दे० गाथा १४७५—गहिदवेयणो भिच्चो—मूला० टी०—गहि दवेयणो गृहीत वेतन कर्ममूल्य येन, भरणो भृतक: कर्मकर।

११. दे० पाणिनि-परिचय, पृ० ७८.

१२. दे० पाणिनि-परिचय, पृ० ७८-७९.

१३-१४. दे० गाथा सं० १४२५—पुव्वमयमुवमुत्त काले णाएण तेत्तिय दव्व। तथा १६२६—को धारणीओ धणियस्सवितओ दुक्खिओ होज्ज।
प्रथम संस्करण में यह गाथा पुनरुक्त है।

१५-१७. दे० गाथा सं० १२७९—दारुण जहा मत्थ रोधनमुक्को सुहू धरे वसइ।
पत्ते समए य पुणो रु भइ तह चेव धारणिओ॥

व्यापारिक कोठियाँ (Chambers of Commerce and Markets)

मूलाराधना में विविध भवन-प्रकारों में 'आगंतुकागार'[1] का उल्लेख भी मिलता है। अपराजितसूरि ने उसका अर्थ आगन्तुकानां वेश्म'[2] तथा पं० आशाधर ने 'सार्थवाहादि गृहम्'[3] किया है जो प्रसंगानुकूल होने से उचित ही है। इसका संकेत नहीं मिलता कि इन सार्थवाहगृहों अथवा व्यापारिक कोठियों की लम्बाई-चौड़ाई क्या होती थी तथा सार्थवाहों से उसके उपयोग करने के बदले में क्या शुल्क लिया जाता था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ये सार्थवाह-गृह चारों ओर से सुरक्षित अवश्य रहते होंगे तथा उनमें सर्वसुविधासम्पन्न आवासीय कक्षों के साथ-साथ व्यापारिक सामग्रियों को अल्प या दीर्घकाल तक सुरक्षित रखने के लिए भण्डारगृह (Godowns) की सुविधाएँ भी प्राप्त रहती होंगी। एक प्रकार से ये सार्थवाहगृह क्रय-विक्रय के केन्द्र तो रहते ही होंगे, साथ ही राज्य की औद्योगिक रीति-नीति के निर्धारक-केन्द्र भी माने जाते रहे होंगे। पाणिनि ने इन्हें 'भाण्डागार' कहा है।

मार्ग-प्रणाली

मूलाराधना में मार्ग-प्रकारों में जलमार्ग एवं स्थलमार्ग के उल्लेख भी मिलते हैं। जलमार्ग से नौकाओं द्वारा विदेश-व्यापार हेतु समुद्री यात्रा का उल्लेख मिलता है।[4] इसके अनेक प्रमाण मिल चुके हैं कि प्राचीन भारतीय सार्थवाह दक्षिण-पूर्व एशिया, मध्य एशिया, उत्तर-पश्चिम एशिया, योरुप तथा वर्तमान अफ्रिका के आस-पास के द्वीप-समूहों से सुपरिचित थे। प्रथम सदी के ग्रीक लेखक प्लीनी ने लिखा है कि "विदेश-व्यापार के कारण भारत को बहुत लाभ होता है और रोम-साम्राज्य का बहुत अधिक धन भारत चला जाता है।"[5] स्थल मार्गों में किसी दीर्घ एवं विशाल राजमार्ग की चर्चा नहीं मिलती है, किन्तु कुछ ग्रामीण, आटविक एवं पर्वतीय मार्गों के उल्लेख अवश्य मिलते हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं[6]—

१. ऋजुवीथि—सरल मार्ग।
२. गोमूत्रिक—गोमूत्र के समान टेढ़ा-मेढ़ा मार्ग।
३. पेलविय—बाँस एवं काष्ठ-निर्मित चतुष्कोण पेटी के आकार का मार्ग।
४. शंबूकावर्त—शंख के आवर्त्त के आकार का मार्ग।
५. पतंगवीथिका—लक्ष्य-स्थल तक बना हुआ मार्ग।

पेशे एवं पेशेवर जातियाँ

विभिन्न पेशों एवं पेशेवर जातियों के उल्लेखों की दृष्टि से मूलाराधना का विशेष महत्त्व है। ग्रन्थ-लेखन-काल तक भारत में कितने प्रकार के आजीविका के साधन थे और उन साधनों में लगे हुए लोग किस नाम से पुकारे जाते थे, ग्रन्थ से इसकी अच्छी जानकारी मिलती है। तत्कालीन सामाजिक दृष्टि से भी उसका विशेष महत्त्व है। महाजनपद युग विभिन्न पेशों अथवा शिल्पों का विकास-युग माना गया है, जिसकी स्पष्ट झलक मूलाराधना में मिलती है। उसमें १७ प्रकार के पेशों एवं पेशेवर जातियों के उल्लेख मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) गधव्व (गान्धर्व)
(२) णट्ट (नर्तक)
(३) जट्ट (हस्तिपाल)
(४) अस्स (अश्वपाल)
(५) चक्क (कुम्भकार)
(६) जंत (तिल, इक्षुपीलनयन्त्र, यान्त्रिक)
(७) अग्गिकम्म (आतिशबाज)
(८) फरुस (शांखिक, मणिकार आदि)
(९) णत्तिक (कौलिक, जुलाहा)
(१०) रजय (रजक)

---

१. दे० गाथा सं० २३१.
२-३. दे० गाथा सं० २३१ की विजयोदया एवं मूला० टी०, पृ० ४५२.
४ दे० गाथा १६७३— ···वाणियगा सागरजलम्मिणावाहिं रयणपुण्णाहिं।
पत्तणमासण्णा विहु पमादमूढ़ा वि बज्जति॥
५. दे० डॉ० रामजी उपाध्याय—भारतीय संस्कृति का उत्थान (इलाहाबाद, वि० सं० २०१८), पृ० २१२.
६. दे० गाथा २१८— " उज्जुवीहि गोमुत्तिय च पेलविय।
सम्बूकावट्टपि य पदंगवीधीय··· ॥ पृ० ४३१.

(११) पाडहिय (पटहवादक)
(१२) डोम्ब (डोम)
(१३) णड (नट)
(१४) चारण
(१५) कोट्टय (कुट्टक, लकडी एवं पत्थर की काटकूट करने वाले)
(१६) करकच (कतर-ब्योंत करने वाले)
(१७) पुष्पकार (माली)
(१८) कल्लाल (नशीली वस्तुएँ बेचने वाले)
(१९) मल्लाह[1]
(२०) काष्ठिक (बढ़ई)
(२१) लौहिक (लुहार)
(२२) मात्सिक
(२३) पात्रिक
(२४) कांडिक
(२५) दाम्भिक
(२६) चार्मिक
(२७) छिपक
(२८) भेदक
(२९) पण्डक
(३०) सार्थिक
(३१) सेवक
(३२) ग्राविक
(३३) कोट्टपाल
(३४) भट
(३५) पण्यनारीजन
(३६) द्यूतकार, एव
(३७) विट[2]

भौगोलिक सामग्री

किसी भी देश के निर्माण एव विकास तथा सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियो के नियन्त्रण मे वहां की भौगोलिक परिस्थितियो का सक्रिय योगदान रहता है। भारत में यदि हिमालय, गगा, सिन्धु, समुद्रीतट एव सघन वन आदि न होते, तो उसकी भी वही स्थिति होती जो अधिकांश अफ्रीकी देशो की है। मूलाराधना यद्यपि धर्म-दर्शन एव आचार का ग्रन्थ है, फिर भी उसमे भारतीय भूगोल के तत्कालीन प्रचलित कुछ उल्लेख उपलब्ध होते हैं, जिनका आधुनिक भौगोलिक सिद्धान्तो के सन्दर्भ मे वर्गीकरण एव संक्षिप्त विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है :—

१. **प्राकृतिक भूगोल** —इसके अन्तर्गत प्रकृति-प्रदत्त पृथ्वी, पर्वत, नदिया, वनस्पति, जलवायु, हवा आदि का अध्ययन किया जाता है। मूलाराधना मे पर्वतों मे मुद्गल पर्वत,[3] कोल्लगिरि[4] एव द्रोणमति पर्वत[5] के उल्लेख मिलते हैं। महाभारत के अनुसार कोल्लगिरि दक्षिण भारत का वह पर्वत है, जिसमे कावेरी नदी का उद्गम हुआ है[6]। द्रोणमति पर्वत एव मुद्गल पर्वत की अवस्थिति का पता नही चलता। महाभारत में इस नाम के किसी पर्वत का उल्लेख नही हुआ है। प्राकृतागमो मे उल्लिखित एक **मुद्गलगिरि** की पहिचान आधुनिक मुगेर (बिहार) से की गई है[7]।

नदियो मे गगा[8] एवं यमुना के नामोल्लेख मिलते हैं। यमुना को णइपूर[9] कहा गया है, जिसका अर्थ टीकाकारो ने यमुना नदी किया है। विदित होता है कि ग्रन्थकार के समय से टीकाकार के समय तक यमुना नदी मे अन्य नदियों की अपेक्षा अधिक बाढ आती रहती थी। अतः उसका अपरनाम 'णइपुर' (बाढ वाली नदी) के नाम से प्रसिद्ध रहा होगा।

अन्य सन्दर्भों मे पृथिवी के भेदो मे मिट्टी, पाषाण, बालू, नमक एव अभ्रक आदि, जल के भेदो मे हिम, ओसकण, हिम बिन्दु आदि,[10] वायु के भेदो मे झझावात (जलवृष्टियुक्त वायु --Cyclonic winds) तथा माण्डलिक (वर्तुलाकार भ्रमण करती हुई)

---

१. दे० गाथा ६३३-३४—गधव्वणट्टजट्टरमचक्क जतग्गिकुम्मफरुसेय।
पत्तिय रजयापाडहिडोबणडरायमग्ग य।
चारण कोट्टगकल्लाल करकचे पुप्फदय॥
२ दे० मूलाराधना की अमितगति स० टी० श्लोक स० ६५६-६५७। पृ० स० ८३४-३५ तथा गाथा स० १७७४
३ गाथा स० १४५०...मोग्गलगिरि.
४. गाथा स० १५५२ ..दोणिमत.
५ गाथा सं० २०७३.. कोल्लगिरि
६ महाभारत —सभापर्व ३१/६८
७. भारत के प्राचीन जैन तीर्थ (डॉ० जे० सी० जैन), वाराणसी, १९५२, पृ० ३६
८. गाथा— १५४३.
९. गाथा १५४५.
१०. गाथा ६०८ की विजयोदया टीका, पृ० ८०५-६

वायु ; तथा वनस्पति (Vegetation) के भेदों में बीज, अनन्तकायिक, प्रत्येककायिक, वल्ली, गुल्म, लता, तृण, पुष्प एवं फल आदि को लिया गया है जो वर्तमान प्राकृतिक भूगोल के भी अध्ययनीय विषय हैं।

प्राकृतिक दृष्टि से प्रदेशों का वर्गीकरण कर उनका नामकरण इस प्रकार किया गया है —

१. अनूप देश[1]—जलबहुल प्रदेश।

२. जांगल देश[2]— वन-पर्वत बहुल एवं अल्पवृष्टि वाला प्रदेश।

३. साधारण देश[3]—उक्त प्रथम दो लक्षणों के अतिरिक्त स्थिति वाला प्रदेश।

राजनैतिक भूगोल—राजनैतिक भूगोल वह कहलाता है, जिसमे प्रशासनिक सुविधाओ की दृष्टि से द्वीपों, समुद्रों, देशों, नगरों-ग्रामों आदि की कृत्रिम सीमाएं निर्धारित की जाती हैं। इस दृष्टि से मूलाराधना का अध्ययन करने से उसमे निम्न देशों, नगरों एवं ग्रामों के नामोल्लेख मिलते हैं—

देशों में बर्बर[4], चिलातक[5], पारसीक[6], अंग,[7] वंग[8] एवं मगध[9] के नाम मिलते हैं। जैन-परम्परा[10] के अनुसार ये देश कर्म-भूमियों के अन्तर्गत वर्णित हैं। ग्रन्थकार ने प्रथम तीन देश म्लेच्छदेशों मे बताकर उन्हें संस्कारविहीन देश कहा है।[11]

महाभारत में भी बर्बर को एक प्राचीन म्लेच्छदेश तथा वहाँ के निवासियों को बर्बर कहा गया है[12]। नकुल ने अपनी पश्चिमी दिग्विजय के समय उन्हें जीतकर उनसे भेंट वसूल की थी[13]। एक अन्य प्रसंग के अनुसार वहाँ के लोग युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में भेंट लेकर आए थे[14]। प्रतीत होता है कि यह बर्बर देश ही आगे चलकर अरब देश के नाम से प्रसिद्ध हो गया। उत्तराध्ययन की सुखबोधा टीका के मूलदेव कथानक में एक प्रसंगानुसार सार्थवाह अचल ने व्यापारिक सामग्रियों के साथ पारसकुल की यात्रा जल-मार्ग द्वारा की तथा वहाँ से अनेक प्रकार की व्यापारिक सामग्रियाँ लेकर लौटा था। प्रतीत होता है कि यही पारसकुल मूलाराधना का पारसीक देश है। वर्तमान में इसकी पहिचान ईराक-ईरान से की जाती है। क्योंकि ये देश आज भी Percian Gulf के देश के नाम से प्रसिद्ध हैं।

चिलातक देश का उल्लेख बर्बर एवं पारसीक के साथ म्लेच्छ देशों मे होने से इसे भी उनके आसपास ही होना चाहिए। हो सकता है कि वह वर्तमान चित्राल हो, जो कि आजकल पाकिस्तान का अंग बना हुआ है।

अंग एवं मगध की पहिचान वर्तमानकालीन बिहार तथा बंगदेश की पहिचान वर्तमानकालीन बंगाल एवं बँगलादेश से की गई है।

नगरों मे पाटलिपुत्र[15], दक्षिण-मथुरा[16], मिथिला[17], चम्पानगर[18] कोसल अथवा अयोध्या[19] एवं श्रावस्ती[20] प्रमुख हैं। ये नगर प्राच्य भारतीय वाङ्मय मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। जैन, बौद्ध एवं वैदिक कथा-साहित्य तथा तीर्थंकरों तथा बुद्ध, राम एवं कृष्ण-चरित मे और भारतीय इतिहास की प्रमुख घटनाओं का कोई-न-कोई प्रबल पक्ष इन नगरों के साथ इस भाँति जुड़ा हुआ है कि इनका उल्लेख किए बिना वे अपूर्ण जैसे ही प्रतीत होते हैं।

अन्य सन्दर्भों मे कुल[21], ग्राम[22] एवं नगर[23] के उल्लेख आए हैं। ग्रामों मे 'एकरथ्या ग्राम'[24] का सन्दर्भ आया है। सम्भवतः यह ऐसा ग्राम होगा जो कि एक ही ऋजुमार्ग के किनारे-किनारे सीधा लम्बा बसा होगा। समान स्वार्थ एवं सुरक्षा को ध्यान में रखकर ग्रामो, नगरों अथवा राज्यों का जो संघ बन जाता था, वह कुल कहलाता था।

१-३. दे० गाथा ४५० की टीका, पृ० सं० ६७७.

४-६. दे० गाथा सं० १८६१ की टीका, पृ० सं० १६७३-७४.

१०-११ वही

१२. महाभारत—सभापर्व, ३२/१७.

१३ महाभारत—सभापर्व, ५१/२३.

१४. प्राकृत प्रबोध—(मूलदेव कथानक), चौखम्बा, वाराणसी।

१५. दे० गाथा सं० ४४ की टीका, पृ० १४४, तथा गाथा सं० २०७४.

१६. दे० गाथा सं० ६० की टीका, पृ० १८७.

१७ दे० गाथा सं० ७५२.

१८. दे० गाथा सं० ७५६.

१९. दे० गाथा सं० २०७३.

२०. दे० गाथा सं० २०७५ की टीका, पृ० १०२७.

२१-२३. गाथा सं० २६३.

२४. गाथा ११२८.

मानवीय भूगोल—इसके अन्तर्गत मानव जाति के क्रमिक विकास की चर्चा रहती है। मूलाराधना में ४ प्रकार के मनुष्यों के उल्लेख मिलते हैं: (१) कर्मभूमिज[1] अर्थात् वे मनुष्य, जो कर्मभूमियों में निवास करते हैं और जहां असि, मसि, कृषि, शिल्प, सेवा, वाणिज्य आदि के साथ-साथ पशु-पालन एवं व्यावहारिकता आदि कार्यों से आजीविका के साधन मिल सकें। साथ ही साथ स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त करने के साधन भी मिल सकें। इस भूमि के मनुष्य अपने-अपने कर्मों एवं संस्कारों के अनुरूप प्रायः सुडौल एवं सुन्दर होते हैं।

२. मूलाराधना के टीकाकार के अनुसार अन्तर्द्वीपज[2] मनुष्य वे हैं, जो कालोदधि एवं लवणोदधि समुद्रों के बीच स्थित ९६ अन्तर्द्वीपों में से कहीं उत्पन्न होते हैं। ये गूंगे, एक पैर वाले, पूछ वाले, लम्बे कानों वाले एवं सींगोंवाले होते हैं। किसी-किसी मनुष्य के कान तो इतने लम्बे होते हैं कि वे उन्हें ओढ़ सकते हैं। कोई-कोई मनुष्य हाथी एवं घोड़े के समान कानों वाले होते हैं।

३. भोगभूमिज[3] मनुष्य मद्यांग, तूर्यांग आदि १० प्रकार के कल्पवृक्षों के सहारे जीवन व्यतीत करते हैं।

४. सम्मूर्च्छिम[4] मनुष्य कर्मभूमिज मनुष्यों के श्लेष्म, शुक्र, मल-मूत्र आदि प्रगद्वारों के मल से उत्पन्न होते ही मर जाते हैं। उनका शरीर अगुल के असख्यातवें भाग प्रमाण बताया गया है।

उक्त मनुष्य-प्रकारों में से अन्तिम तीन प्रकार के मनुष्यों का वर्णन विचित्र होने एवं नृतत्त्व-विद्या (Anthropology) से मेल न बैठने के कारण उन्हें पौराणिक-विद्या की कोटि में रखा जाता है। वैसे अन्तर्द्वीपज मनुष्यों का वर्णन बड़ा ही रोचक है। रामायण, महाभारत एवं प्राचीन लोककथाओं में लम्बे कानों वाले मनुष्यों की कहानियां देखने को मिलती हैं। इनके उल्लेखों का कोई न कोई आधार अवश्य होना चाहिए। मेरा विश्वास है कि इस प्रकार की मानव जातियाँ या तो नष्ट हो गई हैं अथवा इनकी खोज अभी तक हो नहीं पाई है। मानव-भूगोल (Human Geography) सम्बन्धी ग्रन्थों के अवलोकन से यह विदित होता है कि अन्वेषकों ने अभी तक बाल, सिर, नाक, शरीर के रंग एवं लम्बाई-चौड़ाई के आधार पर मानव-जातियों की खोजकर उनका तो वर्गीकरण एवं विश्लेषण कर लिया है,[5] किन्तु लम्बकर्ण जैसी मानव-जातियाँ वे नहीं खोज पाए हैं। अतः यही कहा जा सकता है कि या तो वे अभी अगम्य पर्वत वनों की तराइयों में कहीं छिपी पड़ी हैं अथवा नष्ट हो चुकी हैं।

कला एवं विज्ञान—कला का उपयोग लोकरुचि के साथ-साथ कुछ धार्मिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं को व्यक्त करने हेतु किया जाता है। प्रदर्शनों के माध्यम पत्थर, लकड़ी, दीवाल, मन्दिर देवमूर्ति, ताड़पत्र एवं भोजपत्र आदि रहे हैं। धीरे-धीरे इनमें इतना अधिक विकास हुआ कि इन्हें वास्तु, स्थापत्य, शिल्प, चित्र, संगीत आदि कलाओं में विभक्त किया गया। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर मूलाराधना में वस्तुकला के अन्तर्गत गन्धर्वशाला, नृत्यशाला, हस्तिशाला, अश्वशाला, तैलपीलन, इक्षु-पालन सम्बन्धी यन्त्रशाला, चक्रशाला, अग्निकर्मशाला, शालिक एवं मणिकारशाला, कौलिकशाला, रजकशाला, नटशाला, अतिथिशाला, मद्यशाला, देवकुल, उद्यानगृह[6] आदि स्थापत्य एवं शिल्प के अन्तर्गत लोहपडिमा[7] पुव्वग्गिसीणपडिमा[8], कट्ठकम्म[9], चित्तकम्म[10], जोणि-कडेउ[11], कसियभिंगार[12] आदि तथा संगीतकला के अन्तर्गत पांचाल-संगीत[13] के नामोल्लेख मिलते हैं।

विज्ञान—मूलाराधना यद्यपि आचार सिद्धान्त एवं अध्यात्म का ग्रन्थ है किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि आत्म-विद्या के साथ-साथ भौतिक विद्याओं का भी निरन्तर विकास होता रहता है। बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि भौतिक विद्याओं से ही आत्म विद्या के विकास की प्रेरणा मिलती रही है। ईस्वी की प्रथम सदी तक जैनाचार्य शिवार्य को तत्कालीन भौतिक विज्ञान-विकास की कितनी जानकारी थी, उसकी कुछ झलक प्रस्तुत ग्रन्थ में मिलती है, जिसका परिचय निम्न प्रकार है

---

१ गाथा ४४६ की स० टी०, पृ० ६५३.

२-४ दे० गाथा ४४६ की टीका, पृ० ६५२.

५. दे० मानव भूगोल—एस० डी० कौशिक (मेरठ १९७३-७४)।

६. गाथा ६३३-६३४—गधव्वणट्टजट्टस्सचक्कजतग्गिकम्म फरुसेय।
   णत्तियरजयापाडहिंडविणव ··· ···॥
   वारणकोट्टग कल्लालकरकच··· ·····।

७-८ दे० गाथा २००८ तथा १५६९

९. दे० गाथा १०५९—रूवाणि कट्ठकम्मादि ··· .

१०. दे० गाथा १३३६

११. दे० गाथा ३३७

१२ दे० गाथा ५७९

१३ दे० गाथा १३५६.

शिवार्य ने जोणिकसलेसो[१] (वज्रलेपः), रसपीदय[२] (रसरसितम्) कवडुकडं[३] (तनुस्वर्णपत्राच्छादितम्), जडुपूरिदय[४] (जतुपूर्णम्) जैसी रासायनिक प्रक्रियाओं की सूचना देते हुए वज्रनेरयुक्तवर्म[५], स्वर्णरसाच्छादित लौहकटक[६] स्वर्णपत्राच्छादित लौहकटक[७] तथा किमिराग कंबल[८] जतुरागवस्त्र[९] स्वर्ण के साथ लाक्षा-क्रिया आदि उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए हैं। यद्यपि वज्रलेप एवं अन्य रासायनिक प्रक्रियाओं की विधि ग्रन्थ में नहीं बतलाई गई है किन्तु इतना अवश्य है कि जन सामान्य के लिए उनकी जानकारी हो चुकी थी। अन्य प्रमाणों से भी यह सिद्ध हो चुका है कि वज्रलेप कई प्रकार का होता था तथा चमड़े एवं पत्थर पर उसका लेप कर देने से अल्पमूल्य की सामग्रियाँ भी बहुमूल्य, सुन्दर एवं टिकाऊ बन जाती थीं। कहा जाता है कि प्रियदर्शी सम्राट अशोक के स्तम्भ बलुई पत्थर[१०] से निर्मित थे किन्तु वज्रलेप के कारण ही लोगों ने प्रारम्भ में उन्हें धातु का मान लिया था। बराबर (गया, बिहार) की पहाड़ी गुफाओं में भी अशोक द्वारा आजीविक-परिव्राजकों एवं निर्ग्रन्थों के लिए निर्मित गुफाओं में वज्रलेप ही किया गया था, जिनके कारण वे आज भी शीशे की तरह चमकती हैं।

आयुर्विज्ञान—मूलाराधना में आयुर्विज्ञान-सम्बन्धी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। चरक एवं सुश्रुत संहिताओं को दृष्टि में रखते हुए उसका वर्गीकरण निम्न ८ भागों में किया जा सकता है—

१. **सूत्रस्थान**—जिसमें ग्रन्थकार ने चिकित्सक के कर्तव्य की सूचना देते हुए कहा है कि प्रारम्भ में उसे रोगी से तीन प्रश्न (निक्खुनो, गा० ६१८) करना चाहिए कि तुम क्या खाते हो, क्या काम करते हो और तुम अस्वस्थ कब से हो? इसके साथ-साथ इसमें औषधि के उपयोग[११], रोगोपचार[१२], भोजन विधि[१३] का वर्णन रहता है।

२. **निदान स्थान**—जिसके अन्तर्गत कुष्ठ[१४], ज्वर[१५], खांसी[१६] आदि रोगों के उल्लेख मिलते हैं।

३ **विमान स्थान**—जिसके अन्तर्गत रोग-निदान[१७] आदि रहते हैं।

४ **शारीर स्थान**—जिसमें शरीर का वर्णन[१८] एवं शरीर तथा जीव का सम्बन्ध[१९] बताया जाता है।

५ **इन्द्रिय स्थान**—जिसमें इन्द्रियों का वर्णन, उनके रक्षा एवं मृत्यु का वर्णन किया जाता है[२०]।

६ **चिकित्सा स्थान**—इसमें श्वास, कास, कुच्छि (उदरशूल), मदिरापान एवं विषपान के प्रभाव, नेत्रकष्ट, भतेच्छ [भस्मक व्याधि] आदि के वर्णन मिलते हैं।

७ **कल्प स्थान**—जिसमें रेचन मन्त्राच्चार आदि का वर्णन किया गया है।

८. **सिद्धि स्थान**—जिसमें वस्तिकर्म (एनिमा) आदि का वर्णन है। मानव-शरीर संरचना (Human Anatomy) —मानव-शरीर संरचना का वर्णन ग्रन्थकार ने विस्तार पूर्वक किया है, जो संक्षेप में निम्न प्रकार है—

   १. मानव-शरीर में ३०० हड्डियाँ हैं जो मज्जा नामक धातु से भरी हुई हैं। उनमें ३०० जोड़ लगे हुए हैं।
   २ मक्खी के पंख के समान पतली त्वचा से यदि यह शरीर न ढंका होता तो दुर्गन्ध से भरे इस शरीर को कौन छूता?
   ३. मानव-शरीर में ९०० स्नायु, ७०० शिराएँ एवं ५०० मांसपेशियाँ हैं।
   ४ उक्त शिराओं के ४ जाल, १६ कंडरा एवं ६ मूल हैं।

---

१. दे० गाथा ३३७ की सं० टीका, पृ० ५४८ तथा गाथा ३४३.
२. दे० गाथा ६०८ की सं० टीका, पृ० ७८९.
३-७. वही ११—१५
८-९. वही १६-१७ दे० गाथा ५६७ एवं उसकी सं० टी०, पृ० ७७९
१०-११. दे० भारतीय संस्कृति (शर्मा) पृ० ३१४.
१२. दे० गाथा ३६०, १०५२
१३. दे० गाथा ६८८, १२२१.
१४. दे० गाथा २१५.
१५-१६. दे० गाथा १२२३.
१७-१८. दे० गाथा १५४२.
१९. दे० गा० १०५३—वाइयपित्तिसंभियरोगा तण्हाछुहा समादीया।
            णिच्चं तवंतिदेहं अद्दहिज्जतं व जह अग्गी॥
२०-२१. दे० गाथा—१०२७-८०.

५. मानव-शरीर में २ मांसरज्जु हैं।
६. मानव-शरीर में ७ त्वचाएँ, ७ कालेयक (मांसखण्ड) एवं ८० लाख-करोड़ रोम हैं।
७. पक्वाशय एवं आमाशय में १६ आंतें रहती हैं।
८. दुर्गन्धमल के ७ आशय हैं।
९. मनुष्य-देह में ३ स्थूणा (वात पित्त श्लेष्म), १०७ मर्मस्थान और ९ व्रणमुख हैं।
१०. मनुष्य-देह में वसानामक धातु ३ अंजुली प्रमाण, पित्त ६ अंजुली प्रमाण एवं श्लेष्म भी उतना ही रहता है।
११. मनुष्य-देह मे मस्तक अपनी एक अंजुली प्रमाण है। इसी प्रकार मेद एवं ओज अर्थात् शुक्र ये दोनों ही अपनी १-१ अंजुली प्रमाण हैं।
१२. मानव-शरीर में रुधिर का प्रमाण ½ आढक, मूत्र १ आढक प्रमाण तथा उच्चार-विष्ठा ६ प्रस्थ प्रमाण हैं।[1]
१३. मानव-शरीर में २० नख एवं ३२ दाँत होते हैं।[2]
१४. मानव-शरीर के समस्त रोम-रन्ध्रों से चिकना पसीना निकलता रहता है।[3]
१५. मनुष्य के पैर मे कांटा घुसने से उसमे सबसे पहले छेद होना है फिर उसमें अंकुर के समान मांस बढ़ता है फिर वह कांटा नाड़ी तक घुसने से पैर का मास विघटने लगता है, जिससे उसमें अनेक छिद्र हो जाते हैं और पैर निरुपयोगी हो जाता है।[4]
१६. यह शरीर रूपी झोपड़ी हड्डियो से बनी है। नसाजालरूपी वक्कल से उन्हें बांधा गया है, मांसरूपी मिट्टी से उसे लीपा गया है और रक्तादि पदार्थ उसमे भरे हुए हैं।[5]
१७. माता के उदर में वात द्वारा भोजन को पचाया जाकर जब उसे रसभाग एवं खलभाग मे विभक्त कर दिया जाता है तब रसभाग का १-१ बिन्दु गर्भस्थ बालक ग्रहण करता है। जब तक गर्भस्थ बालक के शरीर में नाभि उत्पन्न नही होती, तब तक वह चारो ओर से मातृभुक्त आहार ही ग्रहण करता रहता है।[6]
१८. दांतो से चबाया गया कफ से गीला होकर मिश्रित हुआ अन्न उदर मे पित्त के मिश्रण से कड़ुआ हो जाता है।[7]

भ्रूण-विज्ञान—(Embroyology)—भौतिक एव आध्यात्मिक विद्या-सिद्धियो के प्रमुख साधन-केन्द्र इस मानव-तन का निर्माण किस-किस प्रकार होता है? गर्भ मे वह किस प्रकार आता है तथा किस प्रकार उसके शरीर का क्रमिक विकास होता है, उसकी क्रमिक-विकसित अवस्थाओ का ग्रन्थकार ने स्पष्ट चित्रण किया है। यथा—

१. **कललावस्था**—माता के उदर मे शुक्राणुओ के प्रविष्ट होने पर १० दिनों तक मानव-तन गले हुए तांबे एव रजत के मिश्रित रग के समान रहता है।[8]
२. **कलुषावस्था**—अगले १० दिनो मे वह कृष्ण वर्ण का हो जाता है।[9]
३ **स्थिरावस्था**—अगले १० दिनों मे वह यथावत् स्थिर रहता है[10]।
४. **बुद्बुदभूत**—दूसरे महीने में मानव-तन की स्थिति एक बबूले के समान हो जाती है।[11]
५. **घनभूत**—तीसरे मास मे वह बबूला कुछ कड़ा हो जाता है।[12]
६. **मांसपेशीभूत**—चौथे मास मे उसमे मांसपेशियो का बनना प्रारम्भ हो जाता है।[13]
७. **पुलकभूत**—पाँचवें मास मे उक्त मास-पेशियो में पाच पुलक अर्थात् ५ अंकुर फूट जाते हैं, जिनमे से नीचे के दो अंकुरो से दो पैर और ऊपर के ३ अंकुर मे से बीच के अंकुर से मस्तक तथा दोनो बाजुओं में से दो हाथों के अंकुर फूटते हैं।[14] छठवें मास में हाथो-पैरो एव मस्तक की रचना एव वृद्धि होने लगती है।[15]

---

१. इस प्रकरण के लिए देखिए गाथा संख्या ३६०, ७०२, ७२९-३०, १०२७-३५, १४६६
२. दे० गाथा १०३५
३. दे० गाथा १०४२
४. दे० गाथा ४६५.
५. दे० गाथा १८१६.
६-७. दे० गाथा १०१६.
८-१०. दे० गाथा १००७.
११ दे० गाथा १००८.
१२-१५. दे० गाथा १००९

८. सातवें मास में उस मानव-तन के अवयवों पर चर्म एवं रोम की उत्पत्ति होती है तथा हाथ-पैर के नख उत्पन्न हो जाते हैं।[1] इसी मास में शरीर में कमल के डण्ठल के समान दीर्घनाल पैदा हो जाता है, तभी से यह जीव माता का खाया हुआ आहार उस दीर्घनाल से ग्रहण करने लगता है।[2]

९. आठवें मास में उस गर्भस्थ मानव-तन में हलन-चलन क्रिया होने लगती है।[3]
नौवें अथवा दसवें मास में वह सर्वांग होकर जन्म ले लेता है।[4]

गर्भ-स्थान की अवस्थिति—आमाशय एवं पक्वाशय इन दोनों के बीच में जाल के समान मास एवं रक्त से लपेटा हुआ वह गर्भ ९ मास तक रहता है। खाया हुआ अन्न उदराग्नि से जिस स्थान में थोड़ा-सा पचाया जाता है, वह स्थान आमाशय और जिस स्थान में वह पूर्णतया पचाया जाता है वह पक्वाशय कहलाता है। गर्भस्थान इन दोनों (आमाशय एवं पक्वाशय) के बीच में रहता है।[5]

रोग-उपचार एवं स्वस्थ रहने के सामान्य नियम—शरीर के रोगों एवं उपचारों की भी ग्रन्थकार ने विस्तृत चर्चा की है। उनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं—

१. आँख में ९६ प्रकार के रोग होते हैं।[6]
२ मूलाराधना के टीकाकार प० आशाधर के अनुसार शरीर में कुल मिलाकर ५,६८,९९,५८४ रोग होते हैं।[7]
३. वात, पित्त एवं कफ के रोगों में भूख, प्यास एवं थकान का अनुभव होता है तथा शरीर में भयंकर दाह उत्पन्न होती है।[8]
४. ईख कुष्ठ रोग को नष्ट करने वाला सर्वश्रेष्ठ रसायन है।[9]
५. वात-पित्त-कफ से उत्पन्न वेदना की शान्ति के लिए आवश्यकतानुसार वस्तिकर्म (एनिमा), ऊष्मकरण, ताप-स्वेदन, आलेपन, अभ्यंगन एवं परिमर्दन क्रियाओं के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।[10]
६. गोदुग्ध, अजमूत्र एवं गोरोचन ये पवित्र औषधियाँ मानी गई हैं।[11]
७ कांजी पीने से मदिराजन्य उन्माद नष्ट हो जाता है।[12]
८. मनुष्य को तेल एवं कषायले द्रव्यों का अनेक बार कुल्ला करना चाहिए। इससे जीभ एवं कानों में सामर्थ्य प्राप्त होता है। अर्थात् कषायले द्रव्य के कुल्ले करने से जीभ के ऊपर का मल निकल जाने से वह स्वच्छ हो जाने के कारण स्पष्ट एवं मधुर वाणी बोलने की सामर्थ्य प्राप्त करती है।[13]
९. मनुष्य को अन्य पानकों की अपेक्षा आचाम्ल पानक अधिक लाभकर होता है, क्योंकि उससे कफ का क्षय, पित्त का उपशम एवं वात का रक्षण होता है।[14]
१०. पेट की मल-शुद्धि के लिए मांड सर्वश्रेष्ठ रेचक है[15]
११. कांजी से भीगे हुए बिल्व-पत्रादिकों से उदर को सेकना चाहिए तथा सेंधा नमक आदि से संसिक्त बत्ती गुदा-द्वार में डालने से पेट साफ हो जाता है।[16]
१२. पुरुष के आहार का प्रमाण ३२ ग्रास एवं महिला का २८ ग्रास होता है।[17]

१-२. दे० गाथा. १०१०, १०१७.
३-४. दे० गाथा १०१०.
५. दे० गाथा १०१२.
६. दे० गाथा १०५४.
७. दे० गाथा १०५४ की मूलाराधना सं० टी०
८. दे० गाथा १०५३.
९. दे० गाथा १२२१.
१०. दे० गाथा १४९९.
११. दे० गाथा १०५२.
१२. दे० गाथा १६०.
१३. दे० गाथा ६८८.
१४. दे० गाथा ७०१.
१५. दे० गाथा ७०२.
१६. दे० गाथा ७०३.
१७. दे० गाथा २११.

११. उपवास के बाद मित और हल्का आचाम्ल भोजन लेना चाहिए।[1]

सामाजिक जीवन—मूलाराधना मे सामाजिक जीवन का पूर्ण चित्र तो उपलब्ध नहीं होता, किन्तु जो सामग्री उपलब्ध है, वह बड़ी रोचक है। उसका परिचय निम्न प्रकार है :

नारी के विविध रूप—यह आश्चर्य का विषय है कि मूलाराधनाकार ने नारी के प्रति अपने अनुदार विचार व्यक्त किए हैं। उसके प्रति वह जितना रूक्ष हो सकता था, हुआ है तथा परवर्ती आचार्यों को भी उसने अपनी इन्ही भावनाओ से अभिभूत किया है। इस अनुदारता का मूल कारण सैद्धान्तिक ही था। इसके चलते जैन-संघ के एक पक्ष ने जब उसके प्रति अपनी कुछ उदारता दिखाई तो संघ-भेद ही हो गया। मेरी दृष्टि से इस अनुदारता का कारण सैद्धान्तिक तो था ही, दूसरा कारण यह भी रहा होगा कि निश्चित सीमा तक गार्हस्थिक सुख-भोग के बाद नारी एवं पुरुष मन, वचन एवं काय से पारस्परिक व्यामोह से दूर रहें। नारी स्वभावत: ही क्षमाशील, कष्टसहिष्णु एवं गम्भीर होती है। आचार्यो ने सम्भवत उनके इन्हीं गुणो को ध्यान मे रखकर तथा पुरुषों की उनके प्रति सहज आकर्षण की प्रवृत्ति से उन्हे विरक्त करने के लिए उसके शारीरिक एवं वैचारिक दोषो को प्रस्तुत किया है। इसका अर्थ यह कदापि नही लेना चाहिए कि नारी समाज के प्रति स्वत. ही उनके मन मे किसी प्रकार का विद्वेष-भाव था। मुझे ऐसा विश्वास है कि आचार्यों के उक्त विचारों को तत्कालीन समाज विशेषतया नारी-समाज ने स्वीकार कर लिया था, अन्यथा उसके प्रबल विरोध के सन्दर्भ प्राप्त होने चाहिए थे। मूलाराधना मे नारियो की निन्दा लगभग ५० गाथाओ में की गई है। एक स्थान पर कहा गया है—"जो व्यक्ति स्त्रियो पर विश्वास करता है, वह बाघ, विष, चोर, आग, जल-प्रवाह, मदोन्मत्त हाथी, कृष्णसर्प और शत्रु पर अपना विश्वास प्रकट करता है।"[2] "कथचित् व्याघ्रादि पर तो विश्वास किया जा सकता है किन्तु स्त्रियों पर नही।"[3] "स्त्री शोक की नदी, वैर की भूमि, कोप का सम्मिलित रूप, कपटो का समूह एवं अकीर्ति का आधार है।"[4] "यह धननाश की कारण, देह मे क्षय रोग की कारण एव अनर्थों की निवास तथा धर्माचरण मे विघ्न और मोक्षमार्ग मे अर्गला के समान है।"[5]

इस प्रसंग मे कवि की नारी सम्बन्धी कुछ परिभाषाए देखिए, वे कितनी मौलिक एव सटीक हैं :—

वह-वधु—पुरुष का विविध प्रकार की मानसिक एव शारीरिक क्रियाओ-प्रक्रियाओ द्वारा एक साथ अथवा क्रमिक ह्रास, क्षय अथवा वध करने वाली होने के कारण वह स्त्री वधु कहलाती है।[6] (वधमुपनयति इति वधु)

स्त्री—पुरुष मे दोषो का समुदाय संचित करने के कारण स्त्री स्त्री कहलाती है।[7]

नारी—मनुष्य के लिए न+अरि=नारी के समान दूसरा शत्रु नही हो सकता। अतः वह नारी कहलाती है।[8]

प्रमदा—मनुष्य को वह प्रमत्त-उन्मत्त बना देती है, अत: प्रमदा कहलाती है।[9]

विलया—पुरुष के गले मे अनर्थों को बांधती रहती है, अथवा पुरुष में लीन होकर वह उसे लक्ष्यच्युत कर देती है, अत: विलया कहलाती है।[10]

युवती एवं योषा—पुरुष को दुखो से युक्त करती रहती है, अत: वह युवती एव योषा कहलाती है।[11]

अबला—हृदय मे धैर्य दृढ न रहने के कारण वह अबला कहलाती है।[12]

कुमारी—कुत्सित मरण के उपाय करते रहने के कारण वह कुमारी कहलाती है।[13]

महिला—पुरुष के ऊपर दोषारोपण करते रहने के कारण वह महिला कहलाती है।[14]

दण्ड-प्रथा—मौर्यकालीन दण्ड-प्रथा के विषय मे प्राप्त जानकारी के आलोक मे शिवार्यकालीन दण्ड-प्रथा का अध्ययन कुछ मनोरंजक तथ्य उपस्थित करता है। अशोक पूर्वकालीन दण्ड-प्रथा अत्यन्त कठोर थी। अगच्छेदन, नेत्रस्फोटन एवं मारण की सजा उस समय सामान्य थी, किन्तु सम्राट् अशोक ने उसमे पर्याप्त सुधार करके अपनी दण्डनीति उदार बना दी थी। अवश्य ही उसने मृत्यु-दण्ड को सर्वथा क्षमा नहीं किया था, फिर भी परलोक सुधारने के लिए उसने तीन दिन का अतिरिक्त जीवन-दान स्वीकृत कर दिया था।

---

१. दे० गाथा २५१

२-३. दे० गाथा ६५२-५३.

४-५. दे० गाथा ६८३-८५.

६-७. दे० गाथा ६७७.

८-९. दे० गाथा ६७८

१०-१४. दे० गाथा ६७९-८२.

प्रतीत होता है कि शिवार्यकाल तक अशोक की वे परम्पराएं किन्हीं विशेष राजनैतिक कारणों से स्थिर नहीं रह पाई थीं और उनमें रूक्षता एवं कठोरता पुनः आ गई थी। इसका अनुमान मूलाराधना में प्राप्त उक्त विषयक सन्दर्भों से लगाया जा सकता है। दण्डों के कुछ प्रकार निम्नलिखित हैं :—

१. दण्डन[1]— राजा द्वारा धनापहार (Attachment of Property)
२. मुण्डन[2]— सामान्य अपराध पर शिरोमुण्डन।
३. ताड़न[3]—घूसा, लाठी, बेंत अथवा चाबुक से पिटवाना।
४ बन्धन[4]— बेड़ी, सांकल, चर्मबन्ध अथवा डोरी से हाथ-पैर अथवा कमर बंधवाकर कारागार में डलवा देना।
५. छेदन[5]— कर्णछेद, ओष्ठछेद, नकछेद एवं मस्तकछेद कराना।
६. भेदन[6]— कांटों की चौकी पर लिटा देना।
७. भञ्जन[7]— दन्तभजन, हाथी के पैरों के नीचे रूंधवा देना।
८. अपकर्षण[8]—आंखों एवं जीभ अथवा दोनों को खिचवा लेना।
९. मारण[9]—गड्ढे में फेंककर ऊपर से मिट्टी भरवा देना, गला बांधकर वृक्षशाखा पर लटकवा देना, अग्नि, विष, सर्प, क्रूर प्राणी आदि के माध्यम से अपराधी के प्राण ले लेना।

भोज्य पदार्थ— मूलाराधना में विविध भोज्य पदार्थों के नामोल्लेख भी मिलते हैं। उनका वर्गीकरण, खाद्य, स्वाद्य एवं अवलेह्य रूप तीन प्रकार से किया गया है। ऐसे पदार्थों में अनाज से निर्मित सामग्रियों में पुआ, भात, दाल एवं घी, दही, तेल, गुड़, मक्खन, नमक, मधु एवं पत्रशाक प्रमुख हैं।[10]

पकाए हुए भोजनों के पारस्परिक सम्मिश्रण से उनके जो सांकेतिक नाम प्रचलित थे, वे इस प्रकार हैं —

१ संसृष्ट[11]—शाक एवं कुल्माष (कुलत्थ) आदि से मिश्रित भोजन।
२ फलिह[12]—थाली के बीच में भात रखकर उसे चारों ओर से पत्ते के शाक से घेर देना।
३. परिख[13]—थाली के मध्य में भात आदि भोज्यान्न रखकर उसके चारों ओर पक्वान्न रख देना।
४. पुष्पोपहित[14]—व्यञ्जनों के बीचोंबीच पुष्पों की आकृति के समान भोज्यान्न की रचना कर देना।
५. गोवहिय[15]—जिसमें मोठ आदि धान्य का मिश्रण न हो, किन्तु जिसमें भाजी, चटनी वगैरा पदार्थ मिला दिए गए हों।
६. लेवड[16]—हाथ में चिपकने वाला अन्न।
७ अलेवड[17]—हाथ में नहीं चिपकने वाला अन्न।
८. पाण[18]—सिक्थसहित अथवा सिक्थरहित भोजन।
९. पूतपूरक[19]—आटे की बनाई हुई पूड़ी।

पानक-प्रकार—भोज्य-पदार्थों के अतिरिक्त पेय पदार्थों की चर्चा मूलाराधना में पृथक् रूप से की गई है। उन्हें छह प्रकार[20] का बताया गया है—

१. स्वच्छ— उष्ण जल
२. बहल—कांजी, द्राक्षा, तिंतणीफल (इमली) का रस आदि।
३ लेवड—दधि आदि।
४. अलेवड— मांड आदि।

१-२ दे० गाथा १५६२.
३. दे० गाथा १५६३-६४.
४-९. दे० गाथा १५६५-६६
१०. दे० गाथा २१३-२१५
११-१८. दे० गाथा २२०
१९. दे० गाथा १००६
२०. दे० गाथा ७००

५. सशित्थ—चावल के कण सहित माँड़ ।

६. असित्थ—चावल के कण रहित माँड ।

अस्त्र-शस्त्र—मूलाराधना में अस्त्रों-शस्त्रों के उल्लेख भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। उन्हें ५ भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) प्रहारात्मक शस्त्रास्त्रों में—मुग्दर[1], भुशुंडि[2], गदा[3], मुशल[4], मुष्टि[5], यष्टि[6], लोष्ट[7], दण्ड[8] एवं घन[9] के नामोल्लेख मिलते हैं। इसी प्रकार छेदक शस्त्रास्त्रों में – शूल[10], शंकु[11], शर[12], असि[13], छुरिका[14], कुन्त[15], तोमर[16], चक्र[17], परशु एवं शक्ति[18], और भेदक, कर्तक एवं रक्षक में क्रमशः पाषाणपट्टिश[19], करकच[20] एवं कवच[21] के उल्लेख मिलते हैं ।

यन्त्र—मूलाराधना में तीन प्रकार के यन्त्रों के उल्लेख मिलते हैं। इन्हें देखकर उस समय के वैज्ञानिक आविष्कारों की सूचना मिलती है। ग्रन्थकार ने उनके नाम इस प्रकार बतलाए हैं—

१. **पीलन-यन्त्र**[22]—जिसमें पेरकर अपराधी को जान से मार डाला जाता था।

२. **तिलपीलन यन्त्र**[23]—तिल का तेल निकालने वाला यन्त्र।

३. **इक्षुपीलन यन्त्र**[24]—इक्षुरस निकालने वाला यन्त्र।

प्रतीत होता है कि प्रथम प्रकार के यन्त्र पर प्रशासन का नियन्त्रण रहता होगा और भयंकर अपराधकर्मी को उस यन्त्र के माध्यम से मृत्युदण्ड दिया जाता रहा होगा। अन्य दो यन्त्र सामान्य थे, जिन्हें आवश्यकतानुसार कोई भी अपने घर रख सकता था।

लोक-विश्वास—समाज में तन्त्र, मन्त्र एवं अन्य लौकिक विद्याएँ निरन्तर ही प्रभावक रही हैं। इनके बल पर तान्त्रिकों एवं मान्त्रिकों ने लोकप्रियता प्राप्त कर अन्धश्रद्धालु वर्ग पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। ग्रन्थकार ने उनके कुछ रोचक सन्दर्भ प्रस्तुत किए हैं, जिनमें से एक निम्न प्रकार है—क्षपक साधु के स्वर्गवास के समय उसके हाथ-पैर एवं अंगूठा के कुछ अंश बाँध देना अथवा काट देना चाहिए। यदि ऐसा न किया जायगा तो मृतक शरीर में क्रीडा करने के स्वभाववाला कोई भूत-प्रेत अथवा पिशाच प्रवेश कर उस शव-शरीर को लेकर भाग जायगा।[25] आगे बताया गया है कि शिविका की रचना कर बिछावन के साथ उस शव को बाँध देना चाहिए। उसका माथा घर अथवा नगर की ओर होना चाहिए, जिससे यदि वह उठकर भागे भी, तो वह घर अथवा नगर की ओर मुड़कर न भाग सके।[26]

साहित्यिक दृष्टि से—मूलाराधना केवल धार्मिक आचार का ही ग्रन्थ नहीं है, साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन करने पर उसमें विविध काव्यरूप भी उपलब्ध होते हैं। काव्यलेखन में जिस भावुकता, प्रतिभा, मनोवैज्ञानिकता तथा रागात्मकता की आवश्यकता है, वह शिवार्य में विद्यमान है। उपर्युक्त विविध अलंकारों के प्रयोगों के साथ-साथ भावानुगामिनी भाषा एवं वैदर्भी शैली मूलाराधना की प्रमुख विशेषताएं हैं। जो साधु बाह्याडम्बरों का तो प्रदर्शन करता है, किन्तु अपने अन्तरंग को साफ नहीं रखता, देखिए, कवि ने उपमा के सहारे उसका कितना मार्मिक वर्णन किया है—

घोडगलिंडसमाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स ।
बाहिरकरणं किसे काहिदि बगणिहुदकरणस्स ।। गा० १३४७

अर्थात् जो साधु बाह्याडम्बर तो धारण करता है, किन्तु अपना अन्तरंग शुद्ध नहीं रखता, वह उस घोड़े की लीद के समान है, जो ऊपर से तो सुन्दर, सुडौल एवं चमकीली दिखाई देती है, किन्तु भीतर से वह अत्यन्त दुर्गन्धपूर्ण है। ऐसे साधु का आचार बगुले के समान मिथ्या होता है।

आत्म-स्तुति अहंकार की प्रतीक मानी गई है। भारतीय संस्कृति में उसकी सदा से निन्दा की जाती रही है। शिवार्य ने ऐसे व्यक्ति की षंढ से उपमा देते हुए कहा है—

णय जायंति असंता गुणा विकत्थयंतस्स पुरिसस्स ।
धंसिहु महिलायंतो व पंडवो पंडवो चेव ।। गाथा ३६२ ।।

१-२. दे० गाथा १५७१.

३. दे० गाथा १५७१ की सं० टी० पृ० १४३७.

४-२२. दे० गाथा ८५८, १५७१, १५७५-७६, १६८१ एवं सं० टीकाएँ

२३. दे० गाथा १५५५.

२४. दे० गाथा ६११.

२५. दे० गाथा १९७६-७९ एवं उसकी सं० टी०.

२६. दे० गाथा १९८०-८१.

अर्थात् गुणहीन व्यक्ति यदि अपनी स्तुति भी करे तो क्या वह गुणी बन जाता है ? यदि कोई षंढ—नपुंसक स्त्री के समान हाव-भाव करता है तो क्या वह स्त्री बन जाता है ?

दृष्टान्तालंकार की योजना कवि ने एक कोढ़ी व्यक्ति का उदाहरण देकर की है। वह कहता है कि जिस प्रकार कोढ़ी व्यक्ति अग्निताप से भी उपशम को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार विषयाभिलाषा भोगासक्ति को शान्त करने वाली नहीं, बल्कि बढ़ाने वाली ही है—

> जह कोढिल्लो अग्गि तप्पंतो णेव उवसमं लभदि ।
> तह भोगे भुंजंतो खणं पि णो उवसमं लभदि ॥ गा० १२५१.

शब्दावली—मूलाराधना की भाषा-शैली यद्यपि सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक है, उसमें पारिभाषिक शब्दावलियों के ही प्रयोग किए गए हैं। फिर भी लोक भाषा के शब्द भी प्रचुर मात्रा में व्यवहृत हुए हैं। इनसे तत्कालीन शब्दों की प्रकृति एवं अर्थ-व्यञ्जना तो स्पष्ट होती ही है, आधुनिक भारतीय भाषाओं के उद्भव एवं विकास तथा भाषावैज्ञानिक अध्ययन करने की दृष्टि से भी उनका अपना विशेष महत्त्व है। कुछ शब्दावली ऐसी भी है, जिसका प्रयोग आज भी उसी रूप में प्रचलित है। यथा कुट्टाकुट्टी (गाथा १५७१), थाली (गाथा १५५२), बिल (गाथा १२), कोई (गाथा १८३०,) चुण्णाचुण्णी (चूर-चूर, गाथा १५७१), तल (बुन्देली एवं पंजाबी तला=गर्म, गाथा १५६६), खार (क्षार, गाथा १५६६), गोट्ठ (गाथा १५५६), चालनी (गाथा १५५३), उकड़ (गाथा २२४), वालुयमुट्ठी (गाथा १७५६)।

सूर्य के गमन की स्थिति को देखकर चलने वाले अणुसूरी, पडिसूरी, उड्ढसूरी एवं तिरियसूरी कहे जाते थे। कड़ी धूप के समय पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा की ओर चलने वाला अणुसूरी, पश्चिम दिशा से पूर्व दिशा की ओर चलने वाला पडिसूरी, दोपहर के समय चलने वाला उड्ढसूरी एवं सूर्य को तिरछा कर चलने वाला तिरियसूरी कहलाता था (दे० गाथा २२२, पृ० ४२७)।

जैन कथा-साहित्य का आदि स्रोत—मूलाराधना जैन कथा साहित्य का आदि स्रोत माना जा सकता है। उसमें लगभग ७२ ऐसे कथा-शीर्षक हैं, जो नैतिक अथवा अनैतिक कार्य करने के फल की अभिव्यक्ति हेतु प्रस्तुत किए गए हैं। चूँकि मूलाराधना एक सिद्धांत ग्रन्थ है, कथा-ग्रन्थ नहीं, अतः उसमें कथा-शीर्षक देकर कुछ नायक एवं नायिकाओं के उदाहरण मात्र ही दिए जा सकते थे, दीर्घकथाएँ नहीं। उन शीर्षकों से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि वे कथाएँ प्राचीन काल से ही चली आ रही थीं और उन्हीं में से शिवार्य ने आवश्यकतानुसार कुछ शीर्षक ग्रहण किए थे। परवर्ती कथाकार निश्चय ही शिवार्य से प्रेरित रहे, जिन्होंने आगे चलकर उन्हीं शीर्षकों के आधार पर बृहत्कथाकोष, आराधनाकथा-कोष पुण्याश्रव कथा कोष, आदि जैसे अनेक कथा-ग्रन्थों का प्रणयन किया। मूलाराधना के कुछ कथा-शीर्षक निम्न प्रकार हैं—

१. नमस्कार मन्त्र के प्रभाव से अज्ञानी सुभग ग्वाला मरकर चम्पानगरी के वृषभदत्त सेठ का पुत्र बनकर उत्पन्न हुआ। (गाथा ७५६)
२. यम नाम का राजा मात्र एक श्लोक खण्ड का स्वाध्याय कर मोक्षगामी बना। (गाथा ७७२)
३. अल्पकालीन अहिंसा-पालन के प्रभाव से शिशुमार-सरोवर में प्रक्षिप्त चाण्डाल मरकर देव हुआ। (गाथा ८२२)
४. गोरसंदाव मुनि १२ वर्ष तक कामसुन्दरी गणिका के सहवास में रहा, किन्तु उसके पैर के कटे अंगूठे को वह नहीं देख पाया। (गाथा ६१५)
५. कामी कडारपिंग। (गाथा ६३५)
६. अत्यन्त सुन्दर पति राजा देवरति का त्याग कर रक्ता रानी गान-विद्या में निपुण एक लंगड़े से प्रेम करने लगी। (गाथा ६४६)
७. वेश्यासक्त सेठ चारुदत्त। (गाथा १०८२)
८. वेश्यासक्त मुनि शकट एवं कूपार। (गाथा ११००)
९. मधुबिन्दु दर्शन। (गाथा १२७४)
१०. पाटलिपुत्र की सुन्दरी गणिका गन्धर्वदत्ता। (गाथा १३५६)
११. द्वीपायन मुनि का कोप एवं द्वारिका दहन। (गाथा १३७४)
१२. एणिका पुत्र यति। (गाथा १५४३)
१३. मुनि भद्रबाहु कथा। (गाथा १५४४)
१४. मुनि कार्तिकेय। (गाथा १५४६)

१५. विलाकी पुत्र-कथा। (गाथा १५५३)

१६. चाणक्य मुनि-कथा। (गाथा १५५६)

अन्य सन्दर्भ—महाभारत, रामायण (गा० ६४२), वैदिक सन्दर्भों मे स्त्री, गाय एव ब्राह्मणो की अवध्यता (गा० ७९२), विभिन्न शास्त्र के अंग, स्वरादि ८ भेद (पृ० ४५०), काम की दस अवस्थाएँ (गाथा ८८२-८५), अंगसंस्कार (गा० ९३), कृषि-उपकरण (गा० ७९४), मन्त्र-तन्त्र (गा० ७६१-६२), आयातित सामग्रियो मे तुरुष्क तैल (गा० १२१७), विविध निषद्याएँ (गा० ११६८-७३), विविध वसतिकाएँ एवं संस्तर (गा० ६३३-६४६), कथाओ के भेद (गा० ६५१ एव १४४०, १६०८), आराधकर्म (गा० १५६२-६३, ८६४-८२) तथा स्त्रियो के विविध हाव-भाव (गा० १०८६-९१) आदि प्रमुख हैं।

इस प्रकार मूलाराधना में उपलब्ध सांस्कृतिक सन्दर्भों की चर्चा की गई। किन्तु यह सर्वेक्षण समग्र एव सर्वाङ्गीण नहीं है, ये तो मात्र उसके कुछ नमूने हैं, क्योकि संगोष्ठी के सीमित समय मे इससे अधिक सामग्री के प्रस्तुतीकरण एव उसके विश्लेषण की स्थिति नही आ सकती। ग्रन्थ के विहगावलोकन मात्र से भी मै इस निष्कर्ष पर पहुँचा हू कि मूलाराधना निस्सन्देह ही सिद्धांत, आचार, अध्यात्म तथा मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एव ऐतिहासिक सन्दर्भ-सामग्रियो का कोष-ग्रन्थ है। उत्तर भारत की आधुनिक भारतीय भाषाओ के उद्भव एव विकास तथा उनके भाषावैज्ञानिक अध्ययन करने की दृष्टि मे भी मूलाराधना का अपना महत्त्व है। किन्तु दुर्भाग्य यह है कि शोध-जगत् मे वह अद्यावधि उपेक्षित ही बना रहा। इस पर तो ३-४ शोध-प्रबन्ध सरलता से तैयार कराए जा सकते हैं।[1]

भारतीय संस्कृति : लोक मंगल का स्वरूप

भारत जैसी मिश्रित सस्कृति, जिसमें इतने विरोधी सिद्धान्तो को स्थान मिला, अपने आरम्भ मे ही बहुत सहनशील प्रकृति की थी। इतना ही नहीं, इस सस्कृति की सबसे बडी विशेषता यह है कि सिद्धान्तो का स्वीकार करने मे, (विशेषत अध्यात्म के सम्बन्ध मे) यह बहुत ही तर्कपूर्ण रही है। दूसरे की स्थिति या उसके दृष्टिकाण के सम्बन्ध मे समादर की भावना एक भारतीय के लिए बहुत ही स्वाभाविक है। भारतीय मस्तिष्क के प्रतीक भारतीय साहित्य के अतिरिक्त भारतीय सस्कृति ने अपनी प्राजल अभिव्यजना के रूप मे महत् दर्शन और महती कला को अपनाया, और इन सभी मे भारतेतर मानवता के लिए भी सन्देश है। भारत ने उदासीन भाव मे आक्रमणकारियो का स्वागत किया, और उन्हे जो कुछ देना था भारत ने लिया, और उनमे से बहुतो को तो भारत आत्मसात् करने मे भी सफल हुआ। उसने बाह्य जगत् को भी, केवल कला, विद्या, और विज्ञान ही नही अपितु अध्यात्म का बहुमूल्य उपहार, अपनी प्रकृति, सामाजिक दर्शन, मानवता के कष्टो का हल, जीवन के पीछे छिपे शाश्वत सत्य की प्राप्ति आदि अपनी सर्वोत्तम भेंट दी। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्म के आदर्श सिद्धान्तों ने एक ऐसे पथ का निर्माण किया, जिस पर चल कर भारत ने अतीत मे मानवता की सेवा की, और अब भी कर रहा है। भारत ने इस्लाम के रहस्य-वादी दर्शन एवं सूफी मत को कुछ तत्त्व दिये, और जब ये तत्त्व पश्चिम की इस्लामी भूमि मे विशिष्ट रूप धारण कर चुके तो फिर पुन: लिये भी। इसके पास जो भी विज्ञान या सायंस था, विशेषत गणित, रसायनशास्त्र तथा चिकित्साशास्त्र में, इसने पश्चिम को दिया; और अब इस क्षेत्र मे भी मानवता की साधारण यंत्रिक सम्पत्ति को धनवती बनाना चाहता है।

डॉ० सुनितिकुमार चाटुर्ज्या के निबन्ध 'भारत की आन्तर्जातिकता' से साभार

नेहरू अभिनंदन-ग्रंथ पृ० सं० ३१३

---

1. पंजाबी विश्व-विद्यालय पटियाला (पंजाब) द्वारा दिनांक १७—१९ अक्टूबर १९७९ को आयोजित अखिल भारतीय प्राच्य जन विद्या संगोष्ठी में प्रस्तुत एवं प्रशंसित शोध निबन्ध।

मौर्य चन्द्रगुप्त विशाखाचार्य

—श्री चन्द्रकान्त बाली, शास्त्री

जैन-जगत् के बड़े-बड़े तपस्वी, वीतराग, जितेन्द्रिय एवं मेधावी मुनियों, उपाध्यायों एवं आचार्यों ने अपने विचक्षण व्यक्तित्व के बल पर महान्-से-महान् सम्राटों को श्रमण-जीवन यापन के लिए प्रेरित किया—यह बात जैन-समाज के लिए गौरवपूर्ण एवं महिमामयी मानी जाएगी। इसी संदर्भ में हम मौर्यवंशी—संक्षिप्त सीमा के अन्तर्गत गुप्तवंशी—चन्द्रगुप्त का समयांकन करने चले हैं। एतन्निमित्त कुछ-एक महत्त्वपूर्ण मुद्दों का संक्षिप्त परिचय देना हम सामयिक समझते हैं।

मौर्यवंश उक्त वंश की स्थापना किसने की ? इसका समाधान अब इतना जटिल नहीं रहा। अब इतिहासकार इस बात पर सहमत हुए जाते हैं कि मौर्यवंश की स्थापना नंदवंश में से आठवें नन्द 'मौर्यनन्द' ने की। इस प्रसंग में मौर्यनन्द का उल्लेख इसलिए भी अनिवार्य हो गया है कि जैन-समाज का इतिहास मौर्यनन्द के युग से स्पष्ट-से-स्पष्टतर होने लगा है। कहते हैं—मौर्यनन्द ने कलिंग देश पर आक्रमण किया था और वहाँ से महावीरस्वामी की प्रतिमा उठा लाया था। जैन-संदर्भों से यह भी ज्ञात हो जाता है कि आठवें नन्द (मौर्यनन्द) ने कलिंग पर कब आक्रमण किया था ? परन्तु उनकी संदर्भ-सम्प्रेषित तिथि भरोसे के योग्य नहीं है।[1] यूनानी इतिहासकारों द्वारा प्रतिपादित भारतीय काल-संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में हम जानते हैं कि आठवें नन्द ने ४५१ ई० पू० में कलिंग देश पर आक्रमण किया था। इस बात की पुष्टि 'खारवेल-प्रशस्ति' नाम से विख्यात अभिलेख से हो जाती है। इस प्रकार जैन-इतिहास से जुड़े हुए मौर्यनन्द को हम मौर्यवंश का प्रथम पुरुष मानते हैं।

चन्द्रगुप्त मौर्य नाम से विख्यात मगध-सम्राट् क्या मौर्यनन्द का पुत्र है ? इस प्रश्न के समाधान में 'अस्ति' और 'नास्ति'—दोनों किस्म के उत्तर मिलते हैं। जहाँ तक जैन-साहित्य का सम्बन्ध है उससे पता चलता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य-पुत्र[2] है। इस स्थापना की दृढ़तर पुष्टि 'मुद्राराक्षस' नामक संस्कृत नाटक से भी हो जाती[3] है। परन्तु हम समझते हैं कि कालगत वैषम्य के कारण मौर्यनन्द और चन्द्रगुप्त के दरम्यान पिता-पुत्र के रिश्ते की संभावना क्षीण है। 'नन्द' की भ्रान्ति में आकर लोग-बाग चन्द्रगुप्त मौर्य को पद्मनन्द का पुत्र मान बैठे हैं। यह भी अश्रद्धेय प्रसंग है। मौर्यनन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य के मध्य तीसरे व्यक्ति की चर्चा एक वरेण्य सत्य के रूप में सामने आ रही है। मौर्यनन्द के पुत्र एवं चन्द्रगुप्त के पिता के रूप में पूर्वनन्द का उल्लेख[5] मनोरंजक भी है और अभिनन्दनीय भी है। यही कारण है कि 'कामन्दकीय नीतिसार' के टीकाकार ने लिखा है 'मौर्यकुलप्रसूताय' यह चन्द्रगुप्त का विशेषण है। इन सब संदर्भों के आलवाल में विकसित मौर्यवंश का परिचय इस प्रकार है

---

1. जैन काल-गणना-विषयक प्राचीन परम्परा (हिमवन्त थेरावली) से ज्ञात होता है कि वीरनिर्वाण-संवत १४९=३७८ ई० पू० में आठवें नन्द ने कलिंग पर चढ़ाई की थी। यह विश्वसनीय नहीं है। कारण, ४२०-३८२ ईसवी पूर्व में मगध पर नवम नंद शासन कर रहा था। सम्भवतः यदि यह संख्या वीरजन्म से मान ली जाय तो यथार्थपरक हो भी सकती है। यथा ५९९ – १४९ = ४५० ई० पू० में आठवें नन्द ने कलिंग पर आक्रमण किया होगा।
2. वेदवाणी, बहालगढ़ (सोनीपत) वर्ष ३३, अंक ७.
3. वीर निर्वाण-संवत् और जैन काल-गणना : मुनि कल्याण विजय ; पृष्ठ १६६ ।
4. द्रष्टव्य —अंक २ और श्लोक संख्या ६ ।
5. (क) पूर्वनन्दसुत कुर्यात् चन्द्रगुप्तं हि भूमिपम् ॥ —कथा सरित्सागर : १/४/११६
   (ख) मौर्याद् पत्न्यां पूर्वनन्दसुतस्तत । चन्द्रगुप्त कृतो राजा चाणक्येन महौजसा ।
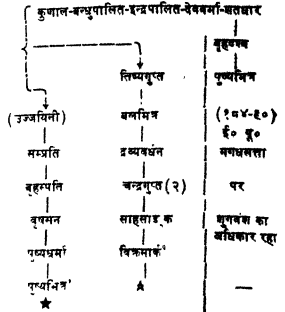
प्रस्तुत प्रसंग में द्रव्यवर्धन (दधिवाहन था) का पुत्र चन्द्रगुप्त एक वरेण्य व्यक्तित्व है जिसकी अमर गाथाओं से जैन-साहित्य सम्यक्तया आप्लावित है।

गुप्तवंश जैन-ग्रन्थों से पता चलता है कि सम्राट-अशोक ने गुप्त-संवत्सर[3] चलाया। इस पर दिवंगत मुनिश्री कल्याणविजय ने अपनी नकारात्मक टिप्पणी भी लिखी है। इसके विपरीत हम इस गुप्त-संवत्सर पर अनुसंधानपूर्वोचित श्रद्धा रखते हैं और एतन्निमित्त साक्ष्य ढूँढने में तत्पर हैं। यह तो जैन-शास्त्रों में लिखा है कि जब उज्जयिनी पर से सम्प्रति (वंश) का शासन समाप्त हो गया, तब "वहाँ का राज्यासन अशोक के पुत्र तिष्यगुप्त के पुत्र बलमित्र और भानुमित्र नामक राजकुमारों को मिला।" बहुत संभव है तिष्यगुप्त से इस वंश का नाम 'गुप्तवंश' पड़ा हो। हम जानते हैं कि सूर्यवंश में 'इक्ष्वाकुवंश' और इक्ष्वाकुवंश में रघुवंश का शाखा-उपशाखा के रूप में प्रस्फुटन इतिहास-सम्मत है, तद्वत्, नंदवंश से मौर्यवंश और मौर्यवंश से 'गुप्तवंश' का प्रस्फुटन वंश-विज्ञान की दृष्टि से प्रशस्त है और ऐतिह्य है। हम चन्द्रगुप्त के परिचय-विश्लेषण में 'गुप्तवंश' को ध्यान में रखेंगे।

१२ वर्षीय अकाल भारत में १२-१२ वर्ष के अकाल पड़ने का इतिहास काफी पुराना है। पुराण-शास्त्रों से ज्ञात होता है कि महाराजा प्रतीप के जमाने में १२-वर्षीय (३३६८-३३५६ ई० पू०) अकाल पड़ा था। जैन-इतिहास के अनुसार भी १२-वर्षीय दो अकाल पड़ने की सूचना है। पहला अकाल पद्मनन्द (अर्थात् नवम नंद) के शासनकाल में ३८२-३७० ईसवी पूर्व में पड़ा था। दूसरा अकाल शुंगवंशी पुष्यमित्र के शासनकाल में, अर्थात् १६०-१४८ ईसवी पूर्व में पड़ा था। इन दो अकाल-घटनाओं की वजह से जैन-जगत् को महती अपूरणीय क्षति उठानी पड़ी। चूँकि प्राङ्मौर्य युगों में जैन-आगम केवल कण्ठस्थ हुआ करते थे अतः अकाल के दुष्प्रभावों के परिणामस्वरूप असंख्य जैनमुनि दिवंगत हुए और उनके अमर निर्वाण के साथ ही कण्ठस्थ जैन-आगम भी तिरोहित हो गए। उनके पुनर्आविर्भाव की सर्वविध संभावनाएँ भी लुप्त हो गई थीं। लगभग यही स्थिति दूसरे अकाल में भी थी। इन दोनों अकालों के बीच में एक स्पष्ट विभाजक

---

१ यदा पुष्यमित्रो राजा प्रघातितः तदा मौर्यवंशः समुच्छिन्नः। —अशोकावदान

२. विक्रमार्क का उज्जयिनी में राज्याभिषेक; हिमवन्त थेरावली (वीर निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना, पृष्ठ १८५)

३. 'वीर निर्वाण से २३९ वर्ष बीतने पर मगधाधिपति अशोक ने कलिंग पर चढ़ाई की और वहाँ के राजा क्षेमराज को अपनी आज्ञा मनाकर वहाँ पर उसने अपना 'गुप्त-संवत्सर' चलाया।' इस पर मुनिश्री की टिप्पणी (२) ध्यानाकर्षित करती है: "मालूम होता है थेरावली-लेखक ने अपने समय में प्रचलित गुप्त राजाओं के चलाए गुप्त-संवत् को अशोक का चलाया हुआ मान लेने का धोखा खाया है।"

—वीर निर्वाण-संवत् और जैन काल-गणना: पृष्ठ १७१

रेखा की आसानी से पहचाना भी जा सकता है। पहला अकाल (३८२-३७० ई० पू०) सार्वभौम था, जबकि दूसरा अकाल सार्वभौम न था, बल्कि उत्तर भारत तक सीमित था। जैनशास्त्रों के परिशीलन से पता चलता है उक्त अकाल की विभीषिका से समस्त असंख्य मुनि, उपाध्याय एवं आचार्यगण दक्षिण की ओर प्रस्थान कर' गए। इससे ज़ाहिर है कि उस समय (१६०-१४८ ई० पू०) दक्षिण भारत अकाल की दुश्छाया से सुरक्षित रहा होगा।

भद्रबाहु : जैन-जगत की आचार्य परम्परा में महास्थविर भद्रबाहु का स्थान अत्यन्त वरेण्य नजर आता है। पहले अकाल के दुश्चक्र से बच निकले आचार्यों में भद्रबाहु ही एक ऐसे व्यक्ति थे, जिनके सान्निध्य में जैन-आगमों की पुनरुद्धार-भावना से प्रेरित जैन-मुनियों ने भगीरथ प्रयत्न करके जैन-शास्त्रों का आकलन किया था। बल्कि यू कहना चाहिए कि जैन-आगमों की रक्षा में भद्रबाहु का योगदान दिव्य एवं प्रथम कोटि का था।

भद्रबाहु के समनामधारी एक अन्य भद्रबाहु भी हुए है, जो जन्मना ब्राह्मण थे और प्रसिद्ध आचार्य वराहमिहिर' के भाई थे। सामान्यतया यह बताया जाता है कि पहले तो दोनों भाई जैन-दीक्षा लेकर श्रमण-जीवन यापन करने लगे, परन्तु भद्रबाहु को कनिष्ट होने पर भी शीघ्र ही 'आचार्यत्व-पद' पर प्रतिष्ठित किया गया, अतः आचार्यत्व-वंचित वराहमिहिर क्रोध के वशीभूत पुनः 'ब्राह्मणत्व' अंगीकार करके ज्योतिर्विद्या के बलपर जीवन-यापन करने लगा।

चिन्तन दो व्यक्तियों का समनामधारी होना भ्रान्ति-सृजन में अपने-आप में एक अपूर्व कारण है, जो कहीं भी दो समनामधारी व्यक्तियों में प्रायः होता रहता है पर यहाँ दोनों भद्रबाहुओं के युग में अकाल के अस्तित्व ने उनके समीकरण को और अधिक गंभीर बना दिया है। इतना ही नहीं, चन्द्रगुप्तों का (जो सौभाग्यवश दोनों मौर्य थे) अस्तित्व भी इनके समीकरण में पर्याप्त योगदानी प्रतीत हो रहा है। यहाँ बड़े गंभीर अनुसंधान की अपेक्षा है ताकि समीकरण को बिलगाकर भद्रबाहुओं की ठीक-ठीक पहचान हो सके।

साहसाङ्क-संवत् १४६ ईसवी पूर्व का साल उज्जयिनी में एक राजा साहसाङ्क हुआ है, जिसने अपने नाम से 'साहसाङ्क-संवत्' चलाया था। बड़े संतोष की बात है कि साहसाङ्क-संवत् की परम्पराएँ मिल' गई है। यथाप्राप्त काल-परम्परा के परिशीलन से मालूम पड़ता है कि साहसाङ्क-संवत् का प्रतिष्ठान-वर्ष १४६ ईसवी पूर्व का साल है। इसी वर्ष की एक अन्य महत्त्वपूर्ण सूचना भी है। वराहमिहिर ने 'कुतूहलमंजरी' की रचना युधिष्ठिर-संवत्' ३०४२ = जय संवत्सर में की थी। विषयान्तर होने पर भी यह जान लेना निहायत जरूरी है कि महाराजा युधिष्ठिर का अभिषेक दो बार हुआ था—पहला अभिषेक पाण्डु-निधन के पश्चात् ३१८८ ई० पू० में हुआ था; दूसरा अभिषेक भारती संग्राम के पश्चात् ३१४८ ई० पू० में हुआ था। अतः प्रथम अभिषेक-काल (३१८८ ई० पू०) के ३०४२ वर्षों के पश्चात् अर्थात् ३१८८-३०४२=१४६ ई० पू० में 'कुतूहल-मंजरी' की रचना हुई—इसे तर्कातीत ही समझो। इस अद्भुत संयोग-लब्ध संवत्सर-सामंजस्य को देखते हुए महाराजा साहसाङ्क तथा आचार्य वराहमिहिर की समसामयिकता' का केवल अनुमेय नहीं मान सकते। यह एक वास्तविकता है जिससे यथासमय लाभ उठाया जाएगा।

प्राचीन शक भारतीय इतिहास, विशेषतया जैन इतिहास, शक-संवत् के माध्यम से ही जाना-पहचाना जाता है। शक-संवत् को एक तरह से इतिहास का मील-पत्थर मान लिया गया है। आनन्द की बात यह है कि शक-संवत् की प्रामाणिक प्रतिष्ठापना वराहमिहिर के काल-सूत्र में "षट्-द्विक-पंच-द्वियुत शककाल तस्य राज्यस्य।" मानी जाती है। इस प्रसंग में वराहमिहिर की आप्तता इसलिए महत्त्वपूर्ण हो गई है कि वराहमिहिर 'द्रव्यवर्धन-चन्द्रगुप्त-साहसाङ्क' का निकट-सम्पृक्त व्यक्ति है। वराहमिहिर का

---

१. "इतश्च तस्मिन् दुष्काले कराले कालरात्रिवत्।
निर्वाहार्थं साधुसंघ, तीरं नीरनिधेर्ययौ।" —परिशिष्ट पर्व ९/५५

२. "प्रतिष्ठानपुरे वराहमिहिरभद्रबाहुद्विजौ बांधवौ प्रव्रजितौ।
भद्रबाहोराचार्यपदे दत्ते रुष्टः सन् वराहो द्विजवेषमादृत्य वाराही संहिता कृत्वा निमित्तैं जीवति।" —कल्पकिरणावली १६३

३. चतुर्विंशत्यधिकेऽब्दे चतुर्भिर्वर्षे गते शुके साहसमल्लाङ्के नामस्ये प्रथमे दिने संवत् ६४४, भाद्रपद सुदि १, शुके श्रीमद् विजयसिंहदेव राज्ये। यथा—
२४×४=९६+६००=६९६—१४६=८५० ईसवी सन्;
संवत् ६४४—६४=८५० ईसवी सन्। विदित हो, गर्दभिल्ल वंश ने चार संवत् चलाए थे, इनमें से प्रथम "विक्रम संवत्" ६५-६४ ईसवी पूर्व में चला था।

४. स्वस्ति श्री नृप सूर्यसूनुजनिताके द्विवेदाम्बर ३—(३०४२)
मासाब्दविते त्वनेहसि जयं वर्षे वसन्तादिके। वर्णमास फाल्गुन:।

निधन शक संवत् ५०६ = ११३ ईसवी पूर्व मे हुआ माना जाता[1] है। संदर्भ + दन्तवार्ता के समन्वय से उसकी आयु १६५-११३ ईसवी पूर्व की मानी जा रही है।

यहाँ यह शका होनी नितरां नैसर्गिक है कि राष्ट्रीय एव बहु-चर्चित शक-सवत् की उपेक्षा करके प्राचीन शक-संवत् की कल्पना करना तथा उसकी सदिग्ध उपयोगिता की स्थिति मे उससे काम चलाना कहाँ तक उचित है ? इस शका का समाधान आवश्यक है। जैन-ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि मौर्य-वश से पूर्व नन्द-वश था, नद-वश से भी पूर्व शक-वश था। इस पूर्वोत्तर शृखला मे आबद्ध[2] शक-वंश की 'सत्ता' लगभग जैन-जागरण की समकालिक वास्तविकता है, इसलिए नन्द-पूर्व शक-वश द्वारा स्थापित शक-सवत् ही जैन-इतिहास का सशक्त काल-बोधक सूत्र है, जिसकी उपेक्षा कर सकना सभव नही है।

चूंकि वराहमिहिर ने अपनी रचना (कुतूहल मजरी) मे युधिष्ठिर सवत् ३०४२ का सकेत दिया है, अत उसी से २५६६ वर्ष पश्चात् ३१८८-२५६६ = ६२२ ई० पू० मे स्थापित शक-सवत् की प्रासंगिकता को मजूर करके हो हमे जैन-अनुसधान मे उद्यत होना चाहिए।

ऐतिहासिक स्थिति 'भारतवर्ष' समग्र ऐतिहासिक दृष्टि से एक इकाई के रूप मे मान्यता-प्राप्त था, अर्थात् सारा भारतवर्ष एक था और आज भी उसकी यही स्थिति है। परन्तु शासन को सुचारु रूप मे चलाने के लिए उसके अनेक 'प्रभाग' परिकल्पित किये गए थे। केन्द्रीय सत्ता एकमेव थी और वह पाटलीपुत्र मे सन्निहित थी। कम-से-कम सिकन्दर आक्रमण तक उसकी यही 'एकात्मता' सर्वमान्य थी, जैसा कि हमने लिखा है। उस समय कौशल, कौशाम्बी, मालव, सिन्ध, सौवीर, लाट, काश्मीर, हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ आदि प्रदेश भारतीय भौगोलिक एव राजनयिक इकाई के अग-स्थानीय प्रदेश माने जाते थे। मगध-सत्ता का सहज भाव मे केन्द्र सरकार तथा अन्य प्रभागीय सत्ता का प्रदेश-सरकार कह सकते है। यही कारण है पुराण-शास्त्रो मे *मगधाधीशो* का शासन-काल सवत्सरोल्लेख-पूर्वक है, जबकि प्रादेशिक राजाओ का नामाङ्कन मात्र से काम चलाया गया है। हमारे आलोच्य समय मे मगध पर पुष्यमित्र का शासन था और मालवा पर गुप्तान्वयी चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन था। उज्जयिनी उस समय मालवा की राजधानी थी।

विमर्श-परामर्श

समनामधारी दो चन्द्रगुप्तो के अस्तित्व से भारतीय इतिहास अस्तव्यस्त हुआ ही है। अथवा हम उसे समझने मे असफल रहे है। इस भ्रान्ति के आविर्भाव का कारण दो-दो अकालो का घटित होना भी है, और अपरिपक्व अनुसधायको मे अकाल-घटनाओ का कालगत विश्लेषणात्मक परिचय प्राप्त करने की अक्षमता भी है, फिर चन्द्रगुप्त एव अकाल-घटना से जुडे हुए समनामधारी दो भद्रबाहुओ का वस्तुपरक परिचय खोजना भी किसी ने आवश्यक नही समझा। हम भद्रबाहुओ के प्रति श्रद्धाभिभूत जरूर थे, पर आँख उठा कर उन्हे देखने और परखने की योग्यता से हम 'कोरे' थे परिणामत यह भ्रान्ति अपनी जड जमाकर उद्भूत हुई कि पूर्वनन्दपुत्र चन्द्रगुप्त मौर्य आचार्य भद्रबाहु के प्रभावाकर्षण मे जैन-साधु हो गया था। किसी ने यह सोचने की आवश्यकता नही समझी कि क्या चन्द्रगुप्त युग मे महास्थविर भद्रबाहु विद्यमान भी थे ? जैन-साक्ष्यो से हम पूर्णतया अवगत है कि महास्थविर का महाप्रयाण[3] वीर-सवत् १७० = ३५७ ई० पूर्व मे हुआ था। उस समय तक चन्द्रगुप्त पदासीन नही हुआ था। पौराणिक एव जैन-साक्ष्यो से हम इस परिणाम पर पहुँचे है चन्द्रगुप्त मौर्य ३४२ ईसवी पूर्व मे अभिषिक्त हुआ था। हालाँकि आधुनिक इतिहासकार चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए ३२२-२१ ईसवीपूर्व का समय बताते है। चूकि हम आधुनिक विचारो की अवहेलना करना नही चाहते और अपनी धार्मिक मान्यताओ के प्रति अविचल निष्ठा भी हमे अभीष्ट है, अत चन्द्रगुप्त मौर्य का समय ३४२-३२१ ईसवीपूर्व मानने मे कोई विप्रतिपत्ति शेष नही रह जाती। पौराणिक साक्ष्यो को उपस्थापित करने मे निबन्ध का विस्तार हो जाएगा, अत हम अधिक-से-अधिक जैन-साक्ष्यो तक सीमित रह कर विचार करते है। जैन-पट्टावलियो के अनुसार

---

१ नवाधिकपचशतसख्यशाके (५०६) वराहमिहिराचार्यो दिवगत। ६२२-५०९ = ११३ ईसवी पूर्व मे वराहमिहिर का निधन हुआ।

२ ता एव सगवसो य नववसो य मउरवसो य।
सयराहेण पणट्ठा समय सज्झाणवसेण ॥

—तित्थोगाली ७०५

३ (क) चोदस पुव्वच्छेदो वरिससते सत्तरे विणिदिट्ठो।
साहुम्मि थूलभद्दे अन्ने य इमे भवे भावा।

—तित्थोगाली पइन्नय

(ख) प्रथ म सुधर्मा २०, जम्बू ४४, प्रभाव ११, शय्यभव २३, यशोभद्र ५०, सभूति विजय ८,
भद्रबाहु १४ = १७०, ५२७-१७० = ३५७ ई० पूर्व का काल।

	त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति	हरिवंशपुराण	तित्थोगालीपइन्नय	विविध तीर्थ कल्प
राजा पालक =	६०	६०	६०	६०
नंद राज्य =	१५५	१५५	१५५	१५५
	२१५	२१५	२१५	२१५

वीर-निर्वाण से २१५ वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य का उदय हुआ। यहाँ एक विशेष 'शब्द' हमारा ध्यान आकर्षित करता है, वह है—निर्वाण। हमने निर्वाण का अर्थ समझ लिया है—'मोक्ष'। जबकि कोशग्रन्थानुसार नानार्थक 'निर्वाण' का अर्थ केवल मोक्ष ही नही है, बल्कि केवली ज्ञान[1] को भी 'निर्वाण' कहते हैं। यह विस्तार से बताने की आवश्यकता नहीं है कि ४२ वर्ष की वय मे महावीरस्वामी को केवली ज्ञान हुआ था। वह वर्ष ५९९ -४२=५५७ ई० पू० का था, सो ५५७—२१५=३४२ ई० पू० मे चन्द्रगुप्त मौर्य का चाणक्य की सहायता से मगधसम्राट् के रूप मे अभ्युदय जैन-मान्यता के सर्वथा अनुरूप है और यही मान्यता पुराण-शास्त्रों की भी है। इस आकलन के अनुसार नन्दकालीन अकाल (३६२-३५० ई० पू०) चन्द्रगुप्त-अभिषेक के २८-वर्ष-प्राक् समाप्त हो चुका था। इतना ही नही, उस समय तक महास्थविर भद्रबाहु के दिवंगमन को भी १५ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। निष्कर्षत काल-विसंगति के संदर्भ मे अकाल-घटना के परिप्रेक्ष्य मे चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु को करीब-करीब लाना या बताना निरा अनैतिहासिक है। फिर कहाँ रह जाता है—चन्द्रगुप्त मौर्य का मुनिवेश धारण करना और जैन-यतियो के साथ दक्षिण मे चले जाना ? इस समग्र सन्दर्भ-जाल के परिवेश मे चन्द्रगुप्त मौर्य की जैन दीक्षा लेने की बात हठपूर्वक मन और मस्तिष्क से निकालनी ही होगी।

अब गुप्तान्वयी चन्द्रगुप्त मौर्य की बात करते है।

हम पतञ्जलिविरचित 'महाभाष्य' तथा वामनजयादित्य-विरचित 'काशिका' मे पढ़ते है—'पुष्यमित्र सभम्' 'चन्द्रगुप्त सभम्'[2]। इन दो नरनाथो की सभा मे कौन-कौन कोविद-कवि विद्यमान थे—यह बताना यहाँ अप्रासंगिक है, अलबत्ता इतना स्मरण रख लेना बहुत जरूरी है—पुष्यमित्र की सभा मे व्याकरणमूर्ति पतंजलि विद्यमान थे, चन्द्रगुप्त की सभा मे वामन-जयादित्य जैसे भाषामूर्ति व्याकरण-रत्न विद्यमान थे। अत इनका एक अत्यल्पाक्षरी संदर्भ बड़ा निर्णायक सिद्ध हुआ है। पहले तो इन संदर्भों से इनका पौर्वापर्य का ज्ञान होता है। मगधनरेश पुष्यमित्र पूर्वोदित व्यक्ति है, उज्जयिनी-नाथ चन्द्रगुप्त पश्चादुदित व्यक्ति है। पुष्यमित्र १८५-१८४ ई०पू० मे मगध-सम्राट् बना था। पुराण-शास्त्र प्रतिपादित करते है कि (चन्द्रगुप्त मौर्य के) १३७वें वर्ष बाद पुष्यमित्र[3] हुआ। पौराणिक काल-गणना के अनुसार सप्तर्षिसवत् (१) १२४=३२१ ईसवी पूर्व मे चन्द्रगुप्त मौर्य का निधन हुआ सो ३२१—१३७=१८४ ई०पू० मे पुष्यमित्र का युग आरम्भ होता है। आधुनिक इतिहासकारो का अभिमत भी इस मान्यता से भिन्न नही है; उनके मतानुसार सम्राट् अशोक का निधन २३२ ईसवीपूर्व मे हुआ। तत्पश्चात् कुणाल ८+बन्धुपालित ८+इन्द्रपालित १०+देववर्मा ७+शतधार ८+बृहदश्व ७= योग ४८ वर्ष; सो, २३२ ४८=१८४ ई० पू० मे सम्राट् पुष्यमित्र का आगमन पौराणिक भी है, ऐतिहासिक भी है। यदि पट्टावलियों मे अंकित पुष्यमित्र वही है, जिसकी चर्चा हम कर रहे है, तो मानना होगा कि जैन-मान्यता भी पौराणिक स्वीकृति मे बहुत दूर नही है। हम पिछले अनुच्छेद मे पढ़ आए है त्रैलोक्य प्रज्ञप्ति, हरिवंश पुराण, तित्थोगाली और विविधतीर्थकल्प के अनुसार वीरनिर्वाण से २१५ वर्ष बाद चन्द्रगुप्त मौर्य का उदय हुआ। उससे १६० वर्ष बाद पुष्यमित्र मगध-सम्राट् बना। ये सब मिलाकर २१५+१६०=३७५ वर्ष हुए। अत: महावीरस्वामी के केवली ज्ञान से ३७५ वर्ष बाद, अर्थात् ५५७—३७५=१८२ ई० पू० मे पुष्यमित्र का अभ्युदय जैन-कालगणना सम्मत है, जो पौराणिक स्वीकृति से केवल दो वर्ष न्यून है। हमने पुष्यमित्र के काल-निर्धारण पर इतनी विस्तृत चर्चा इसलिए की है कि पुष्यमित्र के संदर्भ मे गुप्तान्वयी चन्द्रगुप्त मौर्य का समय निश्चित कर सके।

चन्द्रगुप्त मौर्य (२) पुष्यमित्र के बाद उज्जयिनीश्वर बना, पर वह कब बना ? इसका उत्तर हम विपरीत क्रम से लेते हैं। चन्द्रगुप्त के पुत्र साहसाङ्क ने अपना सवत् चलाया, जो १४६ ई० पू० से परिगणित हुआ हम मान लेते है —१४६ ई० पू० में

१. कैवल्य निर्वाण नि:श्रेयसममृतमक्षर ब्रह्म।
अपुनर्भवोऽपवर्ग: मुक्ति र्मोक्षो महानन्द ॥ —हलायुधकोश १२४

२. (क) संसदम् कर्माविद् तिष्ठते य:। —किरात० ३/१४

(ख) संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास : प्रथम भाग ; पृष्ठ ३२५।

३ सप्तर्षिवाद् शतं पूर्ण तेभ्यो शुगान् भविष्यति। —वायु

साहसाङ्क उज्जयिनीश्वर बना होगा। १४६ ई० पू० चन्द्रगुप्त राज्य की अवरसीमा मानने में कोई आपत्ति नहीं है। फिर इस युग में १२-वर्षीय अकाल का उल्लेख महत्त्वपूर्ण निर्णायक दस्तावेज की हैसियत पा गया है। हम अकाल-प्रकरण में पढ़ आये हैं दूसरा अकाल १६०-१४८ ई० पू० में पड़ा था। और यहां थोड़े से अनुमान की भी गुंजाइश है कि चन्द्रगुप्त का 'राज्याभिषेक' १७० ई० पू० में हुआ होगा। इस तरह अनुमान+संवत्संदर्भ दोनों के परिणामस्वरूप उज्जयिनीश्वर चन्द्रगुप्त का शासनकाल १७०-१४७ ई० पू० तक सहज भाव से स्वीकार किया जा सकता है। १२-वर्षीय 'अकाल' इस काल-सीमा के अन्तर्भुक्त हो ही जाता है। यही इसके पूर्वापर-क्रम का रहस्य है।

हमने उज्जयिनीश्वर चन्द्रगुप्त को बार-बार गुप्तान्वयी लिखा है। इसका प्रमुख कारण अशोक पुत्र तिष्यगुप्त की वंशवल्लरी में चन्द्रगुप्त को गुप्तान्वयी मानना वंशविज्ञान-सम्मत है। फिर इसके सभा-पंडित वामन-जयादित्य का होना एक महत्त्वपूर्ण संदर्भ में अवगत होता है।[1] उसके अनुसार साहसाङ्क को गुप्तान्वयी लिखा गया है। अतः साहसाङ्क के संवत् में प्राग्वर्ती चन्द्रगुप्त को वामन-जयादित्य के उल्लेख के साथ गुप्तान्वयी मानना विज्ञान-सम्मत है, तर्क-संगत है और संदर्भ-सिद्ध भी है।

भद्रबाहु के समनामधारी भद्रबाहु की पहचान अब इतनी जटिल नहीं रही। भद्रबाहु ने चन्द्रगुप्त का सभाव्य दुष्काल की सूचना[2] दी थी। इसका प्रभाव चन्द्रगुप्त पर पड़ा। चन्द्रगुप्त का अन्य नाम चन्द्रगुप्ति' भी सुनने में आता[3] है। यही चन्द्रगुप्त भद्रबाहु से जैन दीक्षा लेकर विशाखाचार्य बन गया।[4] भद्रबाहु का समय १६०-१०० ईसवीपूर्व तक मानने योग्य है। चन्द्रगुप्त ने योगबल द्वारा देह-विसर्जन किया।[5] यहाँ प्रयोगतः स्मरण रखने की बात यह है कि विशाखाचार्य होनेवाले चन्द्रगुप्त को सर्वत्र उज्जयिनीश्वर ही लिखा[6] है। चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु के शिष्यत्व-गुरुत्व की मान्यता सर्वत्र[7] देखने में आती है।

बस अन्तिम चर्चा। श्रवणबेलगोल जैन-तीर्थ पर भद्रबाहु-चन्द्रगुप्त की चर्चा एक विख्यात शिलालेख में वर्तमान है। यह भी अनुमान[8] है कि उसका समय शक-संवत् ५७२ है। यदि उक्त शिलालेख पर ५७२ शक उत्कीर्ण है, तो मानना होगा उज्जयिनी की उक्त धार्मिक गाथा का यह प्राचीनतम साक्ष्य है, जो ६२२ ईसवी पूर्व से गिना जाता है ६२२-५७२=५० ई० पू० के प्रमाण से बढ़कर और प्रमाण क्या होगा ?

---

१. "गुप्तान्वय जलधर मार्ग चन्द्रमसि वामनजयादित्य प्रमुख सखकमलविनिगत-सुवितमक्तावलो मणिब्रु इमसहित कणन् विक्रमाङ्कम साहसाङ्कम्।
—कन्नड पंचतन्त्र, आल इंडिया ओरिएण्टल कान्फ्रेंस मैसूर, दिसम्बर १९२४, पृष्ठ ५६८।

२. "…भद्रबाहु-स्वामिना उज्जयन्यामष्टाङ्गमहानिमित्तान्वज्ञन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसंवत्सर-काल-वैषम्यमुपलभ्य कथिते सर्वसंघ उत्तरपथात् दक्षिणपथं प्रस्थितः।"
—पार्श्वनाथबस्ति का लेख

३. (क) "चन्द्रगुप्तिर्नृपस्तत्राऽचकच्चारु गुणोदयः।"
—रत्ननन्दिरचित भद्रबाहुचरित

(ख) "चन्द्रगुप्तिमुनि शीघ्र प्रथमो दशपूर्विणाम।
सर्वसंघाधिपो जात' विषखाचार्यसंज्ञक: ॥"
—बृहत्कथाकोश

४. "तदत्रोज्जयिनीनाथ चन्द्रगुप्तो महीपतिः।
वियोगात् यतिनां भद्रबाहु मन्वा[illegible]"
—भद्रबाहुचरित

५. "समाधिमरणं प्राप्य चन्द्रगुप्तो दिवं ययौ॥"
—परिशिष्ट पर्व ८/४४४

६. (द्रष्टव्य टिप्पणी संख्या-३)

७. (क) "यदीय शिष्योऽजनि चन्द्रगुप्त समग्रशीलानतदेववृद्ध।
विवेश यत्तीव्रतप प्रभावात प्रभूतकीर्ति भुवनान्तराणि॥"

(ख) "चन्द्रप्रकाशोज्ज्वलसान्द्रकीर्ति श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्य।
यस्य प्रभावात् वनदेवताभि आराधित: स्वस्य गणो मुनीनाम् ॥"

८. वीर निर्वाण-संवत् और जैन काल-गणना, मुनिश्री कल्याण विजय : ६३-७७ पृष्ठ।

निष्कर्ष : पुष्यमित्र और चन्द्रगुप्त की समकालिकता इस रहस्य को द्योतित करती है कि मगध सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य को यहाँ अप्रासंगिक ही समझा जाय। यदि साहसांक-संवत् के संदर्भ द्वारा चन्द्रगुप्त-शासन की अवरसीमा १४६ ई० पू० प्रमेय है तो उसकी ऊर्ध्व-सीमा १७० ई० पू० अनुमेय है। वराहमिहिर एवं भद्रबाहु का 'भ्रातृत्व' दोनों को २००-१०० ईसवीपूर्व के मध्यान्तर में ले जाता है, जो मध्यान्तर चन्द्रगुप्त मौर्य (१) के प्रतिकूल पड़ता है। वराहमिहिर का प्रस्तावित प्राचीन शक ६२२ ई०पू० का है, जो पार्श्वनाथ बस्ती के अभिलेख को आलोकित करता है और वही अभिलेख गाथा को और काल-गणना को प्रमाणित करता है। अत. तिष्यगुप्त के वंश मे हुए मौर्यचन्द्रगुप्त (२) का विशाखाचार्य बन जाना जैन-इतिहास की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

काल-सारिणी

ईसवी पूर्व	घटनाएँ
४१०	नवम नंद का राज्याभिषेक।
३८२-३७०	नन्दयुगीन प्रथम अकाल।
३५७	महास्थविर भद्रबाहु का निधन।
३४२	चन्द्रगुप्त मौर्य (१) का अभ्युदय।
२७६	सम्राट् अशोक का अभिषेक।
२५७	सम्प्रति को उज्जयिनी का राज्य मिला।
१६७	बलमित्र (तिष्यगुप्त का पुत्र) उज्जयिनीश्वर बना।
१८४	पुष्यमित्र मगध-सम्राट् बना।
१६०-१००	आचार्यश्री भद्रबाहु का समय
१७०	चन्द्रगुप्त मौर्य (२) उज्जयिनीश्वर बना।
१६०-१४८	१२-वर्षीय दूसरा अकाल।
१४६	साहसाक-संवत् की स्थापना।
११३	वराहमिहिर का निधन।
१०० लगभग	चन्द्रगुप्त विशाखाचार्य का निधन।
५०	ईसवीपूर्व के लगभग पार्श्वनाथबस्ति का अभिलेख।

—पुराणशास्त्र + जैनशास्त्र + अन्य सदर्भों का समवेत निष्कर्ष

सैन्य-प्रयाण के अनन्तर, यूनानी दार्शनिक अरस्तू कपरगमश पर साथ आए हुए यूनानी दर्शनशास्त्रियों के दल ने सिकन्दर को रक्तपात से विमुख करने के लिए भारतीय ऋषियों, विशेषत दिगम्बर साधुओं (जिम्नासोफिस्त) के प्रभाव क्षेत्र एव आत्मबल से प्रभावित होकर कलानोस एवं दन्दामिस (दोलामस) से भेंट करने के लिए प्रेरित किया इतिहासवेत्ताओ के अनुसार कलानोस तथा दन्दामिस ही क्रमश. मुनि कल्याण और आचार्य धृतिसेन थे। डा० भगवतशरण उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति के स्रोत' मे निम्नलिखित मत प्रस्तुत किया है—

"सिकन्दर को सलाह दी गयी थी कि वह दो सम्मानित तर्कशास्त्रियो (जिम्नासोफिस्त) से भेंट करे जिनके नाम कलानोस और दन्दामिस थे। उसने उन्हे बुलाया, पर उन्होने मिलने से इनकार कर दिया। ओनेसिक्रितोस नामक यूनानी दार्शनिक को (जिसने एथेन्स मे डियोजिनीज की परम्परा के सिनिक दार्शनिक के रूप मे नाम कमा लिया था) सिकन्दर ने उन तर्कशास्त्रियो को लाने के लिए भेजा। कलानोस ने यूनानी दार्शनिक को अपने कपड़े उतार कर बातचीत करने के लिए कहा और जब यूनानी दार्शनिक ने उसका पालन किया तब उससे बातचीत की. और बड़े समझाव-बुझाव के बाद वह सिकन्दर से मिलने के लिए राजी हुआ। सिकन्दर उसकी निर्भीक स्वतंत्र वृत्ति से प्रभावित हुआ, हालांकि उसने इतनी बड़ी सेना लेकर इधर-उधर भटकने और लोगो का सुख-चैन बिगाड़ने के लिए सिकन्दर की भर्त्सना की। कलानोस ने चमड़े का एक रूखा टुकड़ा धरती पर फेंका और दिखाया कि जब तक कोई चीज केन्द्र पर स्थित नही होती तब तक उसके सिरे ऊपर-नीचे होते रहेंगे और कि यही उसके साम्राज्य का चरित्र था जिसके सीमान्त सदा अलग होने के लिए सिर उठाते रहते थे। "अन्तत अपनी मृत्यु के बाद तुम्हें उतनी ही धरती की आवश्यकता होगी जितनी कि तुम्हारे शरीर की लम्बाई है," उसने कहा। अपनी इच्छा के विपरीत वह सिकन्दर के साथ फारस गया जहा उसने आग मे प्रवेश कर समाधि ली। दन्दामिस को अपनी मातृभूमि छोड़ने के लिए सहमत नही किया जा सका।"

—सम्पादक

"जैन साहित्य में आर्थिक ग्राम-संगठन से सम्बद्ध मध्यकालीन 'महत्तर', 'महत्तम' तथा 'कुटुम्बी'"

—डॉ० मोहनचन्द

'ग्राम संगठन' के सन्दर्भ में 'महत्तर' तथा 'कुटुम्बी' के ऐतिहासिक विकासक्रम को समझने के लिए आवश्यक है कि 'ग्राम संगठन' के प्रारम्भिक स्वरूप को समझा जाय। ऋग्वेद' में अनेक स्थानों पर 'ग्राम' का उल्लेख आया है जिसका अर्थ 'समूह' अथवा 'समुदाय' है।[2] संगीतशास्त्र[3] में तथा भाषाशास्त्र[4] में 'ग्राम' का 'समुदाय' अर्थ अब भी सुरक्षित है किन्तु वर्तमान में 'ग्राम' शब्द का अर्थ उस भूमि-प्रदेश का परिचायक है जिसमें कुछ लोग बसे हों तथा खेती आदि करते हों। वैदिक काल में 'ग्राम' का स्वरूप कुछ भिन्न था। वैदिक आर्य जब भारत में आए तो उन्होंने 'जन' के रूप में स्वयं को सगठित कर लिया था।[5] वैदिक आर्य स्वसमुदाय को 'सजात'[6], 'सनाभि'[7] आदि कहते थे तथा दूसरे जनों को 'अन्यनाभि'[8] अथवा 'अरण'[9] के नाम से पुकारते थे। प्रारम्भ में आर्यों के ये जन अव्यवस्थित एवं घुमक्कड़ रहे थे तथा अपने किसी शक्तिशाली पुरुष के नेतृत्व में इधर-उधर जाकर बसने लगे थे। इसके लिए 'समुदाय' की विशेष आवश्यकता थी। ऋग्वेद में आर्यों के कबीलों की यही सामुदायिक गतिविधि 'ग्राम' के नाम से प्रसिद्ध थी। किसी स्थान पर स्थायी रूप में बसने पर वह स्थान भी 'ग्राम' कहा जाने लगा था। अनेक ग्रामों का संगठित स्वरूप 'जनपद' कहलाया तथा उस जनपद के शासक को राजा कहा जाने लगा।[10] ग्रामों के घुमक्कड़ स्वरूप का चित्रण उत्तर वैदिक युग में निर्मित शतपथ ब्राह्मण में भी हुआ है। शतपथ ब्राह्मण एक ऐसे 'ग्राम' का उल्लेख करता है जो कहीं भी स्थायी रूप से बसा नहीं था तथा अपने नेता शर्याति के नेतृत्व में चलता फिरता रहता था।[11] इन ग्रामों के मुखिया को 'ग्रामणी' की संज्ञा दी गई है।[12]

---

१ तुलनीय —'असि ग्रामेष्वविता पुरोहितोऽसि', ऋग्वेद, १.४४.१० पर सायण भाष्य — 'ग्रामेषु जननिवासस्थानेषु।' 'ग्रामं असि्मन्ननातुरम्' ऋग्वेद १.११४.१ पर सायण—'अस्मदीये ग्रामे वर्तमान। यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथास', ऋग्वेद, २.१२.७ पर सायण०—'यस्य अनुशासने ग्रामाः', 'ग्रमन्ते गच्छन्ति ग्रामा जनपदाः'। 'निषुरन्तो ग्रामजिता' ऋग्वेद, ५.५४.८ पर सायण० 'ग्रामजितो ग्रामस्य जेतारो नर इव। कथा ग्रामं न पृच्छसि' ऋग्वेद १०.१४६.१ पर सायण— कथं ग्रामं न पृच्छसि निर्जनारण्ये कथं रमसे। गाव इव ग्रामं यूयुधि:', ऋग्वेद, १०.१४९.४ पर सायण० 'गाव इव यथारण्ये सञ्चरन्तो गावः ग्रामं शीघ्रमभिगच्छन्ति।

२. विशेष द्रष्टव्य —सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, मसूरी, १९६८, पृ० ३४-३५.

३. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, सम्पा० द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी तथा तारणीश झा, इलाहाबाद, १९५७, पृ० ४१९.

४. Phoneme (ध्वनिग्राम), गोलोक विहारी धल, ध्वनिविज्ञान, पटना, १९७४, पृ० २५०.

५. विशेष द्रष्ट० – मोहनचन्द, संस्कृत जैन महाकाव्यों में वर्णित नगरों तथा ग्रामों के भेद (लेख), तुलसीप्रज्ञा, जैन विश्वभारती, लाडनूं, खण्ड-२, अंक ७-८, जुलाई-दिसम्बर, १९७६, पृ० ५१-५२, ६५-६६

६. तैत्तिरीय ब्राह्मण, २.१३.२ तथा अथर्ववेद, ३.३.५.

७. अथर्व०, १.३०.१

८ सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था, पृ० ३४.

९ वही, पृ० ३४

१० वही, पृ० ३५

११ तुल० 'शर्यातो ह वा इद मानवो ग्रामेण चचार। स तदेव प्रतिवेशो निविविशे तस्य कुमारा क्रीडन।' शतपथ० ४.१.५.२.

१२ तुल० 'यावन्तो गृहान् परेत्य वैश्यो वै ग्रामणीस्तस्मात् सत्वा भवति', शतपथ०, ५.३.१.६.

ग्रामों की उपर्युक्त अनवस्थित दशा को स्थिर करने तथा इन ग्रामों के अन्तर्गत आने वाले 'कुटुम्बों' अथवा 'कुलों' को व्यवस्थित करने के उद्देश्य से महाभारत, कौटिल्य के अर्थशास्त्र आदि में 'राजतन्त्र' की सहायता ली गई है तथा वास्तुशास्त्रीय व्यवस्थित पद्धति के अनुरूप ग्राम, दुर्ग, जनपद आदि के निवेश को महत्त्व दिया गया है।[1] इस प्रकार 'ग्राम संगठन' की प्रारम्भिक पृष्ठभूमि मूलतः सामाजिक संगठन का महत्त्वपूर्ण अंग रही थी जिसमें गोत्र, कुल,वंश, परिवार आदि का विशेष औचित्य था।[2] किन्तु परवर्ती काल में कृषि विकास के कारण ग्रामों द्वारा ही आर्थिक उत्पादन किया जाता था फलतः ग्राम संगठन को राजनैतिक शासन व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। गुप्तकाल तथा इससे उत्तरोत्तर शताब्दियों में ग्राम संगठन सामन्तवादी अर्थव्यवस्था की रीढ़ की हड्डी ही बन गए, जो आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था से केन्द्रित थे तथा राजनैतिक शक्ति के प्रभुत्व की मुख्य शक्ति के रूप में उभर कर आए थे।[3] यही कारण है कि प्राणनाथ आदि इतिहासकार यह कहते हैं कि 'ग्राम का अर्थ गाँव नहीं अपितु राष्ट्र (Estate) है जो अठारह प्रकार के करों का भुगतान करते थे।'[4] पी०वी० काणे ने इस मान्यता का खण्डन किया है तथा ग्राम को कुछ एकड़ भूमि से युक्त निवासार्थक इकाई ही माना है।[5] वस्तुतः प्राणनाथ द्वारा ग्राम के उपर्युक्त स्वरूप का वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से समर्थन नहीं किया जा सकता तथापि यह कहना होगा कि इनकी राष्ट्र के रूप में की गई ग्राम-परिभाषा मध्यकालीन राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में उपयुक्त है तथा सामन्तवादी ढांचे में 'ग्राम' के वास्तविक एवं परिवर्तित स्वरूप को स्पष्ट करती है। राजा हर्ष के लिए 'चतुरुदधिकेदारकुटुम्बी'[6] तथा ग्राम मुखिया—'महत्तर' को 'जनपदमहत्तर'[7] एवं 'राष्ट्र महत्तर'[8] के रूप में मिली मान्यता ग्राम संगठन के राष्ट्रीय औचित्य को प्रकट करता है।

सातवीं शताब्दी ई० से बारहवीं शताब्दी ई० तक के मध्यकालीन ग्राम संगठनों का भारतीय अर्थ-व्यवस्था को आत्मनिर्भर एवं ग्रामोन्मुखी बनाने में विशेष योगदान रहा है। परिवर्तित आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार किसी भी सामन्त राजा की उपादेयता उसके अधीन हुए ग्रामोत्पादन के लाभ से आंकी जाती थी। अब ग्रामों में वस्तुओं का उत्पादन बाजार में बेचने के लिए न होकर आभिजात्यवर्ग की आवश्यकतापूर्ति के लिए किया जाता था। इस व्यवस्था में किसान भूमि से बन्धे होते थे तथा भूमि के स्वामी वे जमींदार

---

१. महाभारत (शान्तिपर्व), १२.८७.२-८.

२. Sharma, R.S., *Social Changes in Early Medieval India*, The First Devraj Chanana Memorial Lecture, University of Delhi, Delhi, 1969, p. 13 तथा तुल०—
'शूद्रकर्षकप्रायं कुलशतावरं पञ्चशतकुलपरं ग्रामं निवेशयेत्'। अर्थशास्त्र, २.१. ग्रामाः गृहशतेनेष्टो निकृष्टः समधिष्ठितः। परस्तत्पञ्चशत्यास्यात् सुसमृद्धकृषीवलः॥ आदिपुराण, १६.१६५.

३. Altekar, *State & Government in Ancient India*, Delhi, 1972, pp. 226-227.

४. 'डॉ० प्राणनाथ द्वारा जैन ग्रंथ 'प्रज्ञापनोपाङ्ग' के आधार पर 'ग्राम' की परिभाषा करना पी० वी० काणे के मत में भ्रान्त तथा अप्रमाणिक है। जैन टीकाकार के 'गामनिवेसेसु' इत्यादि—'ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्रामः यदि वा गम्यः शास्त्रप्रसिद्धानामष्टादशकराणामिति ग्रामः' नामक उद्धरण काणे महोदय के मत से कोशशास्त्रीय प्रमाण से अधिक और कुछ नहीं। वस्तुतः डॉ० प्राणनाथ द्वारा जिस राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में 'ग्राम' के संगठनात्मक स्वरूप को उभारा गया है उसके कई तथ्य विचारणीय हैं। प्राणनाथ का मन्तव्य है कि मध्ययुगीन भारत की राजनैतिक व्यवस्था पूरी तरह से सामन्तों की जकड़न में आ चुकी थी। ग्राम संगठन के सभी महत्त्वपूर्ण पहलुओं को पड़ोसी सामन्त राजा सुलझाते थे तथा उसमें ग्रामवासियों का प्रतिनिधित्व नहीं के समान था। भारतवर्ष की यह सामन्त पद्धति ग्रीक आदि देशों की सामन्त पद्धति से बहुत कुछ मिलती थी। जिसमें किसान, मजदूर, भूमिहीन मजदूर, दिहाड़ी वाले मजदूर एवं दासकृषकों के पास न तो राजनैतिक शक्ति थी और न ही कोई ऐसा संवैधानिक अधिकार था जिससे वे अपने दमन एवं शोषण के प्रति आवाज उठा सकें। इन सभी तथ्यों के आधार पर डॉ० प्राणनाथ 'ग्राम' को एक ऐसे व्यापक सन्दर्भ में प्रस्तुत करते हैं जिससे 'ग्राम संगठन' का औचित्य राज्य के सन्दर्भ में किया जाने लगा था और राज्य के स्वरूप का अवमूल्यन होकर 'ग्राम संगठन' आज से केन्द्रित हो चुका था। इसी प्रयोजन से डॉ० प्राणनाथ 'ग्राम' को estate संज्ञा देने में नहीं हिचकिचाते जो वास्तुशास्त्रीय परिभाषा की दृष्टि से अयुक्तिसंगत है किन्तु 'राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्था के व्यावहारिक सन्दर्भ में उपयुक्त है।'

विशेष द्रष्टव्य—(*i*) Pran Nath *A Study in Economic Condition of Ancient India*, p.26 & ch. I, III, VI, London, 1929.

(*ii*) Kane, P.V., *History of Dharma Śāstra*, Vol. III, p. 140, f n. 182.

(*iii*) Nigam, Shyamsunder, *Economic Organisation in Ancient India*, Delhi, 1975, pp.77-80.

५. Pran Nath, *A Study in Economic Conditions of Ancient India*, pp. 39-40.

६. हर्षचरित, सम्पादक पी० वी० काणे, दिल्ली, १९६६, पृ० १५.

७. दशकुमारचरित, उच्छ्वास, ३, पृ० ७७.

८. शिलालेखसंग्रह, ४.१५३५ तथा *I.A.* Vol. V, p. 114.

थे जो असली काश्तकारों और राजाओं के बीच की कड़ी बने हुए थे। इन्हीं राजनैतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में मध्यकालीन ग्राम संगठनों का शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से विशेष महत्त्व हो गया था। सामन्त राजाओं ने ग्राम संगठन पर पूर्ण नियन्त्रण रखने के उद्देश्य से ग्रामों में रहने वाले जमींदारों, शिल्पी-प्रमुखों, जाति-प्रमुखों आदि को भी शासन-प्रबन्ध में अपना भागीदार बना लिया था।

ग्राम संगठन के इसी वैशिष्ट्य के संदर्भ में 'महत्तर' तथा 'कुटुम्बी' शब्दों का इतिहास छिपा हुआ है। इन दोनों शब्दों के अर्थों को समझने के लिए प्राचीन तथा मध्यकालीन ग्राम संगठन के उन दोनों स्वरूपों को समझना अत्यावश्यक है जिसमें सर्वप्रथम ग्राम संगठन सामाजिक संगठन की मूल इकाई रहे किन्तु परवर्ती काल में इन पर राजतन्त्र का विशेष अंकुश लगा जिसके कारण 'ग्राम संगठन' का औचित्य आर्थिक एवं राजनैतिक मूल्यों की दृष्टि से किया जाने लगा। परिणामतः 'महत्तर' एवं 'कुटुम्बी' के पदों का प्रारम्भिक स्वरूप सामाजिक संगठनपरक होने के बाद भी मध्यकाल में राजनैतिक व्यवस्था के अनुरूप राजकीय प्रशासनिक पद के रूप में परिवर्तित हो गया।

महत्तर—'महत्' शब्द से तरप् प्रत्यय लगाकर 'महत्तर' शब्द का निर्माण हुआ है। इस तरप् प्रत्यय के आग्रह से ऐसी पूर्ण सम्भावना व्यक्त होती है कि 'महत्तर' किसी अन्य व्यक्ति अथवा पद की तुलना में बड़ा रहा होगा।[1] इस संदर्भ में अग्निपुराण के उल्लेखानुसार पाच कुटुम्बियों के बाद छठे 'महत्तर' की व्यवस्था दी गई है। अग्निपुराण के इस उल्लेख से यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पाच कुटुम्बों वाले ग्राम तथा छठे महत्तर की संगठित शक्ति को बड़े से बड़ा शक्तिशाली व्यक्ति पराजित नहीं कर सकता।[2] इस प्रकार ग्राम संगठन के संदर्भ में विभिन्न कुलों अथवा कुटुम्बों के मुखिया 'कुटुम्बी' कहलाते थे तथा उन पांच-छः कुटुम्बियों के ऊपर 'महत्तर' का पद था। रामायण में एक स्थान पर 'जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात्' कहकर अप्रत्यक्ष रूप से शूद्र जाति के 'महत्तर' की ओर संकेत किया गया है।[3] शब्दकल्पद्रुम में महाभारत के नाम से 'महत्तर' का उल्लेख करने वाले एक पद्य को उद्धृत किया गया है,[4] किन्तु महाभारत के 'क्रिटिकल एडिशन' में इस पद्य के 'महत्तर' पाठ के स्थान पर 'बृहत्तर' पाठ स्वीकृत किया गया है।[5] अतएव रामायण एवं महाभारत में आए 'महत्तर' के सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है। कात्यायन के वचनों के अनुसार 'महत्तर' ग्राम का प्रतिष्ठित व्यक्ति होता था तथा ग्राम के सभी झगड़ों का निपटारा करता था।[6] इतिहासकारों के अनुसार अग्निपुराण आदि में आए 'महत्तर' सम्बन्धी उल्लेख यह सिद्ध नहीं करते हैं कि यह राजा द्वारा एक प्रशासनिक अधिकारी के रूप में नियुक्त किया जाता था।[7] इस संबंध में अभयकान्त चौधुरी महोदय की धारणा है कि राजा प्रायः बड़े-बड़े ग्रामों के ग्राम प्रमुखों को नियुक्त करता था किन्तु पाच-छह छोटे-छोटे गावों के प्रशासन को ग्राम के वे प्रतिष्ठित व्यक्ति ही चला लेते थे जो प्रायः धन-धान्य सम्पन्न होते थे तथा सुशिक्षित भी।[8] इस तर्क के आधार पर चौधुरी महोदय अग्नि पुराण में आए 'महत्तर' को भी ग्राम के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति से अधिक कुछ नहीं मानते।[9] इस विषय में यह कहना अपेक्षित होगा कि अग्निपुराण में पाच कुटुम्बों से युक्त ग्राम तथा छठे 'महत्तर' का जो निर्देश हुआ है वह निःसंदेह यह स्पष्ट कर देता है कि 'महत्तर' ग्राम का वह महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होता था जिसके अधीन कम से कम पाच कुटुम्बों के मुखिया 'कुटुम्बी' आते थे। इस प्रकार अग्नि पुराण में तत्कालीन ग्राम संगठन का एक व्यवस्थित स्वरूप दिया गया है तथा यह महत्त्वपूर्ण नहीं

---

१. तुल० 'प्रथमनयोरनिर्णयेन महान्' स्यारराजाराधाकान्तदेवबहादुरकृत शब्दकल्पद्रुम भाग ३, पृ० ६५०.

२. 'कुटुम्बैः पञ्चभिर्ग्रामः षष्ठस्तत्र महत्तरः।
देवासुरमनुष्यैर्वा स जेतुं नैव शक्यते॥' अग्निपुराण, १६५.११

३. शब्दकल्पद्रुम, भाग ३, पृ० ६५० पर उद्धृत—रामायण १ १.१०१ तथा हलायुधकोश पर उद्धृत पृ० ५२१
डॉ० रामाश्रय शर्मा ने रामायण के २.६४.२६ उद्धरण के आधार पर रामायण काल में 'श्रेणीमहत्तर' के अस्तित्व की पुष्टि की है किन्तु वर्तमान में उपलब्ध रामायण के अधिकांश संस्करणों में यह सन्दर्भ अनुपलब्ध है।
Sharma, Ramashraya, *A Socio-Political Study of the Vālmiki Rāmāyana*, Delhi, 1971, p. 373.

४. वही, महाभारत, ७.१७२. ५६—'अणीयां समणुभ्य च बृहद्भ्यश्च महत्तरम्।'

५. तुल० 'ददर्श भूतधृदंश सर्वदेवैरपीश्वरम्।
अणीयसामणीयांस बृहद्भ्यश्च बृहत्तरम्॥' महाभारत, पूना संस्करण, ७ १७२.५६.

६. तुल० 'सर्वकार्यप्रवीणाश्चालुब्धा वृद्धा महत्तराः॥' धर्मकोश, भाग-१, पृ० ६१ पर उद्धृत।

७. Choudhary, Abhay Kant, *Early Medieval Village in North-Eastern India*, Calcutta, 1971, p. 217.

८. वही, पृ० २१७-१८.

९. 'The mahattara', as mentioned in a verse of the ***Agni Purāna*** (165.11), may look like a village head, but he does not enjoy the status of the 'grāmapati' or the 'grāmabhartā' duly appointed by the king', ***Ibid.***, p.217.

है कि उसे राजा स्वयं नियुक्त करता था अथवा नहीं। इस प्रकार ग्राम संगठन की न्यूनतम इकाई कुटुम्ब अथवा कुल के मुखिया 'कुटुम्बी' से पद में बड़ा होने के कारण 'महत्तर' में 'तरप्' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है।

जैन साहित्य में उपलब्ध होने वाले अनेक 'महत्तर' सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि यह पद ग्राम संगठन से सम्बन्धित पद था। बृहत्कल्पभाष्य[1] के एक उल्लेखानुसार किसी उत्सव-गोष्ठी के अवसर पर महत्तर, अनुमहत्तर, ललितासनिक, कटुक, दण्डपति आदि राजकीय अधिकारियों के उपस्थित रहने एवं राजा की अनुमति से सुरापान आदि करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[2] इस उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि 'महत्तर' ग्राम संगठन का सदस्य होता था तथा उसकी सहायता के लिए 'अनुमहत्तर' पद भी अस्तित्व में आ गया था। निशीथ भाष्य के प्रमाणों के आधार पर डा० जगदीशचन्द्र जैन ने 'ग्राम महत्तर' एवं 'राष्ट्र महत्तर' दो पदों के अस्तित्व की सूचना दी है।[3] डा० जगदीशचन्द्र जैन ने राष्ट्र महत्तर को राठौड़ (रट्ठउड) के समकक्ष सिद्ध करने की भी चेष्टा की है।[4] इस सम्बन्ध में यह विशेष रूप से विचारणीय प्रश्न है कि यदि राष्ट्र महत्तर को राठौड़ का संस्कृत मूल माना जाता है तो 'ग्राम महत्तर' को भी 'गौड' का संस्कृत मूल मानना चाहिए। डा० आर० एस० शर्मा महोदय ने सूचित किया है कि मध्यकालीन दक्षिण भारत में ग्राम प्रवर तथा ग्राम मुखिया के रूप में 'गौन्ड' अथवा 'गौड' का अस्तित्व रहा था। वर्तमान में मैसूर में ये गौड शूद्र वर्ण के हैं।[5] किंतु दूसरी ओर गौड ब्राह्मणों के अस्तित्व की भी सूचना मिलती है। अभिप्राय यह है कि मध्यकालीन 'गौन्ड' जिन्हें कि भूमिदान दिया जाता था तथा जो राजकीय प्रशासनिक अधिकारों का भोग करते थे ग्राम संगठन के संदर्भ में 'ग्राम महत्तर' से अभिन्न रहे थे। वर्तमान में 'महत्तर' के अनेक अवशेष प्राप्त होते हैं जिनमें महतो, मेहता, महत्था, मल्होत्रा, मेहरोत्रा, मेहतर आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[6] 'महत्तर' मूल की इन जातियों में ब्राह्मण, वैश्य, कायस्थ, शूद्र आदि सभी वर्गों के लोग सम्मिलित थे तथापि मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था में अर्थ व्यवस्था के ग्रामोन्मुखी हो जाने से जिस दास प्रथा की विभीषिका को जन्म मिला उसके कारण अधिकांश कृषि ग्राम शूद्रों द्वारा बसाए गए परिणामतः ग्राम-मुखिया भी अधिकांश रूप से शूद्र ही होने लगे थे। इस विशेष परिस्थिति में 'महत्तर' शूद्र होने के रूप में रूढ होने लगे तथा इनके पद का अवमूल्यन भी होता गया। त्रिकाण्ड शेष (१४वीं शती ईस्वी) में 'महत्तर' को शूद्र तथा 'ग्रामकूट' के पर्यायवाची शब्द के रूप में परिगणित करने का मुख्य कारण भी यही है कि ये अधिकांश मात्रा में शूद्र होते थे तथा पारिभाषिक दृष्टि से वे 'ग्रामकूट' अर्थात् ग्राम के मुखिया भी थे।[7] कौटिल्य के अर्थशास्त्र[8] में ग्राम के मुखिया के लिए 'ग्रामकूट' का प्रयोग आया है जो परवर्ती काल में 'महत्तर' के रूप में प्रसिद्ध हो गया। हेमचन्द्र की देशीनाममाला (१२ वीं शती ई०) में 'महत्तर' के प्रशासकीय वैशिष्ट्य को विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है। हेमचन्द्र ने 'महत्तर' के तत्कालीन प्राकृत एवं जनपदीय भाषाओं में प्रचलित अनेक देशी रूपों का उल्लेख किया है। इनमें से एक रूप था 'महत्तर' तथा कुछ लोग इसे 'मेहरो' अथवा 'मेहर' भी कहते थे। इस महत्तर अथवा मेहरो को ग्राम प्रवर अर्थात् ग्राम मुखिया के रूप में स्पष्ट किया गया है।[9] 'महत्तर' के एक दूसरे शब्द-रूप का भी हेमचन्द्र उल्लेख करते हैं वह है 'महयरो' जिसे जंगलात के अधिपति (गह्वरपति) के रूप में स्पष्ट किया गया है।[10] इस प्रकार १२वीं शताब्दी ईस्वी में महत्तर के देशी रूप 'मइहर' अथवा 'महयर' प्रचलित होने लगे थे तथा इनका प्रयोग ग्राम संगठन आदि के अर्थ में ही किया जाता था।

---

१ बृहत्कल्पभाष्य, २ ३५७४.
२. वही, २.३५७४-७६.
३. जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी, १९६५, पृ० ६२ तथा तुल० निशीथभाष्य, ४. १७३५.
४ वही, पृ० ६२.
५. 'Similarly *gaumdas* village elders and headmen who were assigned lands and given fiscal and administrative rights in the medieval Deccan, did not belong to one single cast, and their modern representatives called 'gaudas' in Mysore are regarded as Śūdras'
Sharma. R.S. *Social Change in Early Medieval India*, pp. 10-11.
६. वही, पृ० १०.
७. 'शूद्रस्वात् पावणी ग्रामो ग्रामकूटो महत्तरः।' त्रिकाण्डशेष, २.१०.१.
८ अर्थशास्त्र, ४.४ ६.
९. 'महहरो ग्रामप्रवरः। मेहरो इत्यन्ये।' देशीनाममाला, ६. १२१. तथा तुल० पाठभेद (१) महर (२) मेहर.
१० 'महयरो गह्वरपतिः।' देशी० ६.१२३.

अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर इतिहासकारों की धारणा है कि नवी शताब्दी ई० के मध्य तक 'महत्तर' शब्द का स्थान 'महत्तम' ने लिया था।[1] पी० वी० काणे महोदय के द्वारा दी गई सूचना के अनुसार गुप्त कालीन अभिलेखों तथा दान पत्रों में 'महत्तर' का उल्लेख आया है,[2] इनमें से जयभट्ट के एक दान पत्र (५ वी शती ई०) में 'राष्ट्रग्राम महत्तर' का प्रयोग भी मिलता है।[3] परिणामत: यह कहा जा सकता है कि ग्राम संगठन के अतिरिक्त 'राष्ट्र' के सदर्भ मे भी 'महत्तर' नामक प्रशासनिक पद का प्रयोग होने लगा था। पालवंश के दान पत्रों में 'महत्तर' का अन्तिम प्रयोग देवपाल का मोंग्यार दान पत्र है।[4] तदनन्तर नवी शती ई० के मध्य-भाग में 'महत्तम' का प्रयोग होने लगा था। देवपाल के नालन्दा पत्र में इसका सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है।[5] तदन्तर त्रिलोचन पाल के ताम्र पत्र,[6] गोविन्द चन्द्र के बसई-दान पत्र,[7] मदन पाल तथा गोविन्द चन्द्र के ताम्रपत्र,[8] गोविन्दचन्द्र के बनारस दान पत्र[9] मे निरन्तर रूप से 'महत्तर' के स्थान पर 'महत्तम' का उल्लेख आया है।

वस्तुत अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर यह द्योतित होता है कि गुप्तकाल के उपरान्त ग्राम संगठन का विशेष महत्त्व बढ़ गया था फलत. सामन्त पद्धति की विशेष परिस्थितियो में अधिकाधिक व्यक्तियो को सन्तुष्ट करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी थी तथा भूमिदान एव ग्रामदान के राजकीय व्यवहारों मे भी वृद्धि हो गई थी। इस कारण 'महत्तर' से बड़े पद 'महामहत्तर', 'राष्ट्र महत्तर,' 'वीथिमहत्तर' आदि भी अस्तित्व में आने लगे थे। 'महामहत्तर' का उल्लेख धर्मपाल के खलीमपुर दान पत्र[10] में आया है जो अभय कान्त चौधुरी के अनुसार महत्तरो के सगठन की ओर संकेत करता है।[11] 'महामहत्तर' सभी महत्तरों के ऊपर का पद था। 'वीथि महत्तर' जिला स्तर पर नियुक्त किया गया राजकीय अधिकारी था। गुप्तवश वर्ष १२० दान पत्र मे इसका उल्लेख आया है।[12] 'राष्ट्रमहत्तर' का उल्लेख 'राष्ट्रग्राममहत्तर' के रूप मे ५वी शताब्दी ई० के गुप्त लेख मे हुआ है।[13] उत्तरवर्ती मध्यकाल में 'राष्ट्र महत्तर' के आधार पर मंत्री आदि के लिए 'महत्तर' का प्रयोग होने लगा। वास्तव मे गुप्तकाल से लेकर १२ वीं शताब्दी ई० तक के काल में 'महत्तर' एक सामन्तवादी अलकरणात्मक पद के रूप मे प्रयोग किया जाने लगा था। समय-समय पर तथा भिन्न-भिन्न प्रान्तों में 'महत्तर' के प्रयोग के विभिन्न दृष्टिकोण रहे थे। जैन साहित्य तथा अन्य भारतीय साहित्य के 'महत्तर' से सम्बन्धित विभिन्न उल्लेख इस प्रकार हैं—

१. विमलसूरि कृत प्राकृत पउमचरिउ में मयहर (महत्तर) का उल्लेख हुआ है। एक स्थान पर विजय, सूर्यदेव, मधुगन्ध, पिंगल, शूलधर, काश्यप, काल, क्षेम नाम के मयहरों का निर्देश भी आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पउमचरिय 'महत्तर' को सामाजिक संगठन के महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में वर्णित करता है।[14]

२. बाण के हर्षचरित में 'जरन्महत्तर'[15] की व्याख्या करते हुए विद्वानो में अनेक मतभेद हैं। पी० वी० काणे के[16] मतानुसार इसे

---

१. Choudhary, *Early Medieval Village*, p. 218.

२. तुल० Kavi Plate of Jayabhata (5th cent A.D.), *Indian Antiquary*, Vol.V, p.114, Maliya Plate of Dharasena II, *Gupta Inscription* No. 38, plate 164, p. 169; Abhona Plates of Śankaragaṇa (595 A.D.), *Epigraphia Indica*, Vol. IX, p 297, Palitana Plate of Simhaditya (Gupta year 255), *E I.* Vol. XI, pp. 16, 18, Valabhi Grant of Dharasena II, (Gupta year 252), *I A.*, Vol 15, p. 187

३. *I A.* Vol. V, p. 114

४. Monghyar Grant of Devapāla

५. Nalanda grant of Devapāla

६. *I A.* Vol XVIII, pp. 33, ff.1.4.

७. *Ibid*, XIV, pp. 101, ff. 1.11.

८. *Ibid.*, XVIII, pp. 14, ff 1.12

९. *Ibid*, II, plate No. 29, ff. 1.9.

१०. Khalimpur Plate of Dharmapāla, *E.I.*, Vol. IV, plate No. 34, 1 47.

११. *Ibid.*, IV, plate No. 34, 1 47.

१२. *Indian Historical Quarterly*, Vol. 19, plate 12, pp.,16, 21.

१३. 'राष्ट्रग्राममहत्तर':

१४. पउमचरिउ, ६३ १६-१७.

१५. 'मार्गग्रामनिर्गतैराग्रहारिकजाल्मै: पुर:सरजरन्महत्तरोत्तम्भिताम्भ. कुम्भैरुपायनीकृतदधिगुडखण्डकुसुमकरण्डैर्बनबहितपेटकै: सरभसं समुत्सर्पद्भि:' हर्षचरित, सप्तम उच्छ्वास, सम्पा० पी० वी० काणे, पृ० ५६.
हर्षचरित, पृ० २१२, निर्णय सागर सस्करण, बम्बई, १९४६ तथा तुलना कीजिए—रघुवंश, १. एव चन्द्रप्रभचरित, १३.४१.

१६. हर्षचरित, पृ० १८३, सम्पादक, पी०वी० काणे, बम्बई १९१८.

ग्राम मुखिया (village head) की संज्ञा दी गई है तो कौवेल[1] के अनुसार इसे वयोवृद्ध बुजुर्ग (aged elders) के रूप में स्पष्ट किया गया है।

३. दण्डी के दशकुमारचरित में शतहलि नामक व्यक्ति को जनपद के प्रशासक के रूप में 'जनपदमहत्तर' की संज्ञा दी गई है।[2]

४. कल्पसूत्र की टीका में आए कौटुम्बिका (कोदुम्बिया) को 'ग्राममहत्तर' के तुल्य स्वीकार करते हुए उसे ग्राम-प्रभु,अवलगक, कुटुम्बी आदि शब्दों से स्पष्ट किया गया है।[3]

५. जिनसेन के आदि पुराण में विभिन्न राजदरबारी अधिकारियों के प्रसंग में 'महत्तर' का भी उल्लेख आया है।[4] इसके दूसरे पाठ में 'महत्तम' का प्रयोग भी उपलब्ध होता है।

६. सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू की टीका में राज्य के अठारह प्रकार के अधिकारी पदों में से 'महत्तर' नामक पद का उल्लेख भी मिलता है।[5] मंत्री के एकदम बाद महत्तर का परिगणन करना इसके महत्त्व का द्योतक भी है।

७. वीरनन्दिकृत चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य[6] (९७०-९७५ ई०) में युद्ध प्रयाण के अवसर पर राजा पद्मनाभ तथा उसकी सेना के अहीरों के घोष ग्रामों के निकट से आने पर कम्बल ओढ़े हुए गोपालाओं के अहीरों—'गोष्ठमहत्तरों' द्वारा दही तथा घी के उपहार से राजा का स्वागत करने का उल्लेख आया है।[7] ऐसा ही सदर्भ कालिदास के रघुवंश में भी आया है किन्तु उन्होंने वहां पर 'गोष्ठमहत्तर' के स्थान पर 'घोषवृद्ध' का प्रयोग किया है[8] जो इस तथ्य का सूचक है कि कालिदास युगीन घोष ग्रामों के मुखिया (घोषवृद्ध) नवीं दसवीं शताब्दी ई० में 'गोष्ठमहत्तर' के नाम से प्रसिद्ध हो गए थे। चन्द्रप्रभ महाकाव्य की टीका चन्द्रप्रभ काव्यपंजिका में 'गोष्ठमहत्तर' को 'गोपाल-प्रभु' अर्थात् 'अहीरों के स्वामी' के रूप में स्पष्ट किया गया है है।[9] चन्द्रप्रभचरित के प्रस्तुत उल्लेख से ज्ञात होता है कि अहीरों के ग्रामों में भी 'महत्तर' पद का अस्तित्व आ चुका था। ये 'महत्तर' युद्ध प्रयाण आदि अवसरों पर राजा को उपहार देकर प्रसन्न करते थे तथा राजा द्वारा दान में दी गई भूमि के अनुग्रह का भुगतान भी करते थे।

८. दसवीं शताब्दी ई० में निर्मित पुष्पदन्त कृत जसहरचरिउ[10] (यशोधर चरित) में कवि पुष्पदन्त का राजा नरेन्द्र के निजी महत्तर नन्न के निवास पर रहने का उल्लेख मिलता है। महत्तर नन्न मंत्री भरत का पुत्र था तथा अपने पिता के उपरांत वह ही मंत्री पद पर आसीन हुआ।[11] इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि दसवीं शताब्दी ई० में दक्षिण भारत के राष्ट्रकूट शासन में 'महत्तर' पद एक गौरवपूर्ण पद हो गया था जो मंत्री पद से थोड़ा ही कम महत्त्वपूर्ण पद रहा होगा।

९. हरिषेण कृत बृहत्कथाकोश (१० वीं शताब्दी ई०) में अशोक नामक धनाढ्य 'महत्तर' द्वारा गोकुल की भूमि अधिग्रहण करने के

---

१ हर्षचरित, सम्पादक, कौवेल तथा थोमस, दिल्ली, १९६१, पृ० २०८.

२. तुल० 'गृहपतिश्च ममान्तरङ्गभूतो जनपदमहत्तरः शतहलिरलीकवादशीलमवनेपवन्तः' दशकुमारचरित, उच्छ्वास ३, पृ० ७७.

३. 'कौटुम्बिकाः कतिपय कुटुम्बप्रभवोवलगकाः ग्राममहत्तराः,' कल्पसूत्र २.६१ पर उद्धृत टीका, Stien Otto, *The Jinist Studies* Ahmedabad, 1948, p. 79

४. 'सामन्तप्रहितान् दूतान् द्वाः स्थैरानीयमानकान्।
समावयन् यथोक्तेन समानेन पुनः पुनः॥
परचक्रनरेन्द्राणामानीतानि महत्तरैः। महत्तमैः।
उपायनानि सपश्यन् यथास्वं तांश्च पूजयन्॥' आदिपुराण, ५.१०-११

५. 'सेनापतिर्गणको राजश्रेष्ठी दण्डाधिपो मन्त्री महत्तरो बलवत्तरश्चत्वारो वर्णाश्चतुरङ्गबलं पुरोहितोऽमात्यो महामात्यश्चेत्यष्टादशराज्ञां तीर्थानि भवन्ति' यशस्तिलक १.१९ पर उद्धृत टीका.
Kane, P.V., *History of Dharmaśāstra*, Vol. III, p. 113, fn. 148.

६. चन्द्रप्रभचरित, १३.१-४१.

७. तुल० 'रुचिररत्नकराजितविग्रहैर्विहितसभ्रमगोष्ठमहत्तरैः।
पथि पुरो दधिसर्पिरुपायनान्युपहितानि विलोक्य स पिप्रिये॥' चन्द्रप्रभचरित, १३.४१.

८. 'हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्।
नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम्॥ रघुवंश, १.४५.

९. तुल०-'गोष्ठमहत्तरैः-गोपालप्रभुभिः उपहितानि आनीतानि। चन्द्रप्रभ, १३.४१. पर पञ्जिका टीका.

१०. तुल०-'कोंडिल्लगोत्तणहदिणयराहु वल्लहणरिंदघरमहयराहु।
णण्णहो मंदिर णिवसंतु संतु अहिमाणमेरु कइ पुप्फयंतु॥ पुष्पदन्त कृत जसहरचरिउ, १.१.३-४, सम्पा० हीरालाल, दिल्ली, १९७२.

११. पुष्पदन्तकृत जसहरचरिउ, भूमिका, पृ० ९.

लिए प्रतिवर्ष एक हजार घी के घड़े राजा को देने की शर्त का उल्लेख आया है। अशोक नामक इस 'महत्तर' ने अपनी दोनों पत्नियों को सन्तुष्ट करने के लिए गोकुल को दो भागो में विभक्त कर प्रत्येक पत्नी को पाच सौ घी के घड़े देने का दायित्व सौंप दिया।[1] बृहत्कथा के इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'महत्तर' पद राजा द्वारा किन्हीं शर्तों पर दिया जाने वाला पद विशेष रहा होगा। ग्राम संगठन के संदर्भ मे 'महत्तर' अपने काम को आसान बनाने के लिए अपनी पत्नियों अथवा अन्य लोगों को भागीदार बना लेते थे। अशोक नामक महत्तर की दो पत्नियो को आधे-आधे ग्राम का स्वामी बना देने का वृत्तान्त भी ग्राम संगठन के सामन्तवादी ढाचे को विशद करता है। बृहत्कथा के एक अन्य स्थान पर 'महत्तरिका'[2] का भी उल्लेख आया है जो संभवत. 'महत्तरक' की पत्नी हो सकती है जिस पर सभवत प्रशासनिक जिम्मेवारी भी रहती थी। बृहत्कथा कोश मे एक स्थान पर राज दरबार मे भी 'महत्तरो' की उपस्थिति कही गई है जो राजकीय उत्सवों के अवसर पर याचकों को दान आदि देने का कार्य करते थे। बृहत्कथा कोश के 'कडारपिङ्गकथानक' मे 'महत्तर' को मन्त्री के रूप में भी वर्णित किया गया है।[3]

१०. निशीथचूर्णी मे कचुकी सदृश अन्तःपुर के कर्मचारी के रूप मे 'महत्तर' का उल्लेख मिलता है।[4]

११ कल्हण की राजतरंगिणी मे 'महत्तर'[5] एवं 'महत्तम'[6] दोनो का प्रयोग आया है जिनमे 'महत्तर' अन्तःपुर का रक्षक था तो मंत्री कलश के लिए 'महत्तम' का प्रयोग हुआ है।

१२. कथासरित्सागर मे मिलने वाले 'महत्तर' के सभी प्रयोग अन्तःपुर का रक्षक (chamberlain) के लिए ही हुए हैं।[7]

१३. मेहेर वंशीय 'वाखल' राजकुल मे उत्पन्न मण्डलीक नागार्जुन के पुत्र महानन्द को मेहेरो द्विजवल्लभ: सहित. पुत्रपौत्रैश्च' के रूप मे वर्णित करने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि १४वी शताब्दी ईस्वी मे 'महत्तर' मूलीय मेहेरवश वर्ण से द्विज था।[8]

१४ बिहार मे 'महत्तम' मूलीय महतो अथवा महतो वश के लोग वर्ण से शूद्र एव ब्राह्मण दोनों होते थे।[9]

१५. १७वी शताब्दी ई०मे जैन लेखक साधु सुन्दरगणि ने अपने ग्रथ उक्ति रत्नाकर मे 'महत्तर' के लिए देशी शब्द 'मेहरू' का प्रयोग किया है।[10] हेमचन्द्र के देशीनाममाला[11] मे महत्तर के लिए प्रयुक्त 'महहर' अथवा 'मेहरो' के भाषा शास्त्रीय विकासक्रम की शृखला मे 'उक्तिरत्नाकर' मे उक्त 'मेहरू' की तुलना की जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि बारहवी शताब्दी ईस्वी

---

१. तुल० 'वाराणसीसमीपे च गङ्गारोधसि सुन्दर। पलाशोपपद: कूटो ग्रामो बहुधनो ऽभवत्।
आसीदशोकनामाऽत्र ग्रामे बहुधनो धनी। महत्तरोऽस्य भार्या च नन्दा तन्मानसप्रिया।
वृषभध्वजभूपाय घृतकुम्भसहस्रकम्। वर्षे वर्षे प्रदायास्ते भुञ्जानो गोकुलानि स।
दृष्ट्वा ग्रशोको महाराटिं तथा नन्दासुनन्दयो:। अर्धार्धगोकुलम् कृत्वा ददौ कार्यविचक्षण:॥' बृहत्कथाकोश, सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, बम्बई, १९४३, २१.३-४, २१ ७-८.

२. तुल०-'मीनोपी पपाताशु तन्महत्तरिका वरा।' बृहत्कथा, ७३.४३.

३. तुल०-पट्टबन्ध विधायास्य कर्कण्डस्य नराधिपा:।
मन्त्रिणस्तलवर्गाश्च विनेमु: पदपङ्कजम्॥
कनक रजत रत्न तुरङ्ग करिवाहनम्।
स ददुर्महत्तरा हृष्टा याचकेभ्यो मुहुर्मुहु:॥ बृहत्कथा—१.५६.६४-६५.
तथा-'सत्य कडारपिङ्गोऽय मन्महत्तरनन्दन' बृहत्कथा० ८२ ३५

४. निशीथचूर्णी, ९.

५. तुल० 'हृर्षान्तिक दण्डकारण्य: प्रायान्निजमहत्तर:।' राजतरङ्गिणी, ७.६५९.

६. तुल० 'महत्तमस्य पुत्रो द्विप्रशस्ताख्यस्य सोऽभवत्।' वही, ७.४३८.

७. तुल० 'केनाऽयं रचितोऽत्रेति सोऽपृच्छच्च महत्तरान्।
ते च न्यवेदयस्तस्मै तु कर्तारं तिलकस्य माम्॥' कथासरित्सागर, १.५.३४.
तथा—'एतन्महत्तरवच: श्रुत्वा सर्वेऽपि तत्क्षणम्।
सत्यमेवैतदिति तत्र बभाषिरे॥ कथा० ६.६.१९.

८. Discalker, *Inscriptions of Kathiavada*, p. 73.

९. Choudhari, *Early Medieval Village*, p. 221

१०. उक्तिरत्नाकर, सम्पादक जिनविजय मुनि, राजस्थान, १९५७, पृ० २७.

११. देशीनाममाला, ६-१२१.

में 'महत्तर' के लिए प्रयुक्त सभी देशी शब्द 'ग्राम मुखिया' के द्योतक थे परन्तु धीरे-धीरे वंश अथवा जाति के रूप में भी इनका प्रयोग किया जाने लगा था। यही कारण है कि १३२१ ई० में काठियावाड़ से प्राप्त शिलालेख में 'मेहेर' को द्विज वंश कहा गया है।[१]

इस प्रकार महत्तर एवं महत्तम सम्बन्धी उपर्युक्त साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों के प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'महत्तर' ग्राम संगठन से सम्बन्धित एक अधिकारी विशेष था। महत्तर राज्य द्वारा नियुक्त किया जाता था अथवा नहीं इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता किंतु मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था में 'महत्तर' की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी। वह ग्राम संगठन के एक प्रमुख व्यक्ति के रूप में राजा तथा उसकी शासन व्यवस्था से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध था। पांचवी शताब्दी ई० के उत्तरवर्ती अभिलेखीय साक्ष्यों में 'महत्तर' तथा 'महत्तम' के उल्लेख मिलते हैं जिनका सम्बन्ध प्राय राजाओं द्वारा भूमिदान आदि के व्यवहारों से रहा था। इतिहासकारों द्वारा प्रतिपादित यह तथ्य कि ९वी शताब्दी ई० के उत्तरार्ध के उपरात 'महत्तर' के स्थान पर 'महत्तम का प्रयोग होने लगा था, एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है तथा युगीन सामंतवादी राज्य व्यवस्था के व्यवहारिक पक्ष पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। 'महत्तर' का 'महत्तम' के रूप मे स्थानांतरण का एक मुख्य कारण यह भी है कि नवी शताब्दी ई० में पाल वंशीय शासन व्यवस्था में 'उत्तम' नामक एक दूसरे ग्राम संगठन के अधिकारी का अस्तित्व आ चुका था।[२] 'उत्तम' की तुलना मे 'महत्तर' की अपेक्षा 'महत्तम' अधिक युक्तिसंगत पड़ता था। इस कारण 'उत्तम' नामक ग्राम मुखिया से कुछ बड़े पद वाला अधिकारी महत्तम कहा जाने लगा था।[३] पालवंशीय दान पत्रों में 'महत्तर'-'महत्तम', 'कुटुम्बी' आदि के उल्लेखों से यह भी द्योतित होता है कि सामान्य किसानों के लिए 'क्षेत्रकर' का प्रयोग किया गया है।[४] 'कुटुम्बी' इन सामान्य किसानों की तुलना मे कुछ विशेष वर्ग के किसान थे जो विभिन्न कुलो तथा परिवारो के मुखिया के रूप मे ग्राम सगठन मे सम्बद्ध थे। उसके उपरान्त 'उत्तम' नामक ग्रामाधिकारियो का स्थान आता था जो संभवत: 'कुटुम्बी' मे बड़े होने के कारण 'उत्तम' कहलाते थे। इन 'उत्तम' नामक ग्रामाधिकारियों के ऊपर 'महत्तम' का पद रहा था। पालवंशीय शासन व्यवस्था में इन विभिन्न पदाधिकारियों के क्रम को इस प्रकार रखा जा सकता है—

क्षेत्रकर 7 कुटुम्बी 7 उत्तम 7 महत्तम[५]

'उत्तम' नामक एक नवीन पदाधिकारी के अस्तित्व से 'महत्तर' के पूर्व प्रचलित पद को धक्का ही नही लगा अपितु इसके अर्थ का अवमूल्यन भी होना चला गया। भारतवर्ष के कुछ भागों विशेषकर उत्तरपूर्वी प्रान्तो तथा कश्मीर आदि प्रदेशों मे 'महत्तर' तथा 'महत्तम' दोनों का प्रयोग मिलता है किन्तु 'महत्तर' अन्तपुर के रक्षक (chamberlain) के लिए प्रयुक्त हुआ है जबकि 'महत्तम' शासन व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के लिए आया है।[६] कथासरित्सार मे भी 'महत्तर' अन्त पुर के रक्षक के रूप मे ही निर्दिष्ट है। किन्तु गुजरात दक्षिण भारत आदि प्रान्तो में 'महत्तर' के अवमूल्यन का कम प्रभाव पड़ा तथा वहाँ १२वी शताब्दी ई० तक भी 'महत्तर' को ग्राम सगठन के अधिकारी के रूप में मान्यता प्राप्त थी। १२वी शताब्दी ई० के उपरान्त 'महत्तर' एव 'महत्तम' पदों के प्रशासकीय पदों की लोकप्रियता कम होती गई तथा इसकी देशी सज्ञाएँ मेहरा, मेहेर, मेहरू, महतों आदि वश अथवा जाति के रूप मे रूढ होती चली गई। इन जातियों में किसी वर्ण विशेष का आग्रह यद्यपि नही था तथापि शूद्र एव निम्न वर्ण की जातियो का इनमें प्राधान्य रहा था। इसका कारण यह है कि मध्य काल मे इन जातियों मे सम्बद्ध लोग ग्राम सगठन के मुखिया रहे थे एवं राजकीय सम्मान के कारण भी उनका विशेष महत्त्व रहा था। फलत इन महत्तरों की आने वाली पीढियो के लिए 'महत्तर' तथा उससे सम्बद्ध 'मेहरा', 'महतो' सम्बोधन गरिमा का विषय था। यही कारण है कि वर्तमान काल में भी महत्तर-महत्तम के अवशेष विभिन्न जातियों के रूप मे सुरक्षित हैं। आर्थिक दृष्टि से इनमें से कई जातियां आज निर्धन कृषक जातिया हैं किन्तु किसी समय में इन जातियों के पूर्वज भारतीय ग्रामीण शासन व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण पदों को धारण करते थे। ठीक यही सिद्धात ११वी १२वी शती ई० के 'पट्टकिल'[७] तथा आधुनिक 'पटेल' अथवा 'पाटिल'; मध्यकालीन 'गौन्ड'[८] तथा आधुनिक 'गौड़', मध्यकालीन 'कुटुम्बी', आधुनिक कुन्बी, कुर्मि, कोडी;

---

१. Discalker, *Inscriptions of Kathiavada*, p.73.
२. *I A.* Vol. XXIX, No. 7, 1.31.
३. तुल० 'महत्तमोत्तमकुटुम्बी' Land grants of Mahipāla I,
   I A. Vol. XIV, No. 23, 11.41-42.
४. Choudhari, *Early Medieval Village*, p. 220.
५. वही, पृ० २२०.
६. राजतरंगिणी, ७.११६ तथा ७.४१८.
७. Sharma, R.S., *Social Change in Early Medieval India*, p.10.
८. वही, पृ०. १०

मध्यकालीन, 'राष्ट्र महत्तर',[1] 'आधुनिक राठौड़'; मध्यकालीन रणक, ठाकुर, रौत,नायक तथा आधुनिक राणा, ठाकुर, रावत, नाइक आदि पर भी लागू होता है।[2] इनमें से रणक, ठाकुर, रौत, नायक आदि कतिपय वे उपाधियां थी जो प्राय: शिल्पियों, व्यापारियों आदि के प्रधानों को सामन्ती अलंकरण के रूप में प्रदान की जाती थी तथा परवर्ती काल मे इन अलकरणात्मक पदों के नाम पर जातियां भी निर्मित होती चली गई।

कुटुम्बी – संस्कृत 'कुटुम्बी' भाषा शास्त्र एव व्याकरण की दृष्टि से अवैदिक एवं अपाणिनीय प्रयोग है। चारों वेदों[3] तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी[4] मे इसके प्रयोग नही मिलते। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृत कुड धातु से निष्पन्न 'कोडियो' 'कोडिय' 'कोडुम्बियों' 'कुडुम्बी' आदि जनपदीय देशी शब्दों का संस्कृतिकृत रूप 'कुटुम्ब' अथवा 'कुटुम्बी' है। परवर्ती काल में संस्कृत अभिलेखों कोश ग्रन्थों आदि मे 'कुटुम्बी' का जो अर्थ वैशिष्ट्य देखा जाता है उसका प्रारम्भिक इतिहास प्राकृत आगम ग्रन्थों में विशेष रूप से सुरक्षित है।[5] हेमचन्द्र की देशीनाममाला मे आए कुडुंबिम्रं/कुडुब्बिम्र का अर्थ मैथुन अथवा सुरत कहा गया है।[6] इस सम्बन्ध मे पिशल का विचार है कि कुडुंबिम्रं मैथुनपरक अर्थ के कारण ही विवाह सस्था से जुड गया तदन्तर प्राकृत 'कुटुम्ब' 'परिवार' अथवा गृहस्थाश्रम का द्योतक बन गया।[7] इस प्रकार 'कुटुम्ब' अथवा 'कुटुम्बी' के भाषा शास्त्रीय उद्‌गम पर वैदिक परम्परा के साहित्य की तुलना में प्राकृत जैन परम्परा के साहित्यिक साक्ष्य अधिक उपयोगी प्रकाश डालते हैं।

वैदिक परम्परा के साहित्य की दृष्टि से 'कुटुम्बी' का छान्दोग्योपनिषद्[8] मे सर्वप्रथम प्रयोग मिलता है जिसका प्राय: परिवार अथवा गृहस्थाश्रम अर्थ किया गया है।[9] मत्स्य पुराण में उपलब्ध होने वाले 'कुटुम्बी' विषयक लगभग सभी प्रयोग चतुर्थ्यन्त हैं तथा ब्राह्मण के विशेषण के रूप मे ही प्रयुक्त हुए हैं।[10] दीक्षितार महोदय ने ब्राह्मण के कुटुम्बी विशेषण को एक ऐसा विशेषण माना है जिससे दानग्रहण के अधिकारी विशेष की योग्यता परिलक्षित होती है।[11] इसी सन्दर्भ मे वायुपुराण के वे उल्लेख भी विद्वानों के लिए विचारणीय हैं जहा सप्तर्षियो के स्वरूप को ब्राह्मण-वैशिष्ट्य के रूप मे उभारा गया है तथा इन्हे गोत्र प्रवर्तक मानने के साथ-साथ 'कुटुम्बी' भी कहा गया है।[12] कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे दुर्ग-निवेश के अवसर पर राजा द्वारा कुटुम्बियो की सीमा निर्धारण की चर्चा

---

१. जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज, पृ० ६२.

२. Majumdar, N.G , Inscriptions of Bengal, III, No.5. 36.

३. द्रष्टव्य—चतुर्वेद वैयाकरण पदसूची, होशियारपुर, १९६०.

४. Katre, S.M., *Dictionary of Pāṇini*, Poona, 1968, Part I, pp. 180-181.

५. कल्पसूत्र, २.६१, औपपातिकसूत्र, १५.३८, ४८.

६. देशीनाममाला, २.४१.

७. Pischel, R., *The Deśīnāmamālā of Hemacandra*, Bombay, 1938, p 3.

८. 'कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयान.' छान्दोग्योपनिषद्, ८.१५.१.

९. 'कुटुम्बे गार्हस्थ्योचित कर्मणि' छान्दो, ८.१५.१ पर उपनिषद्ब्रह्मयोगी, पृ० २२५.

१०. तुल० 'यो दद्यात् वृषसयुक्त ब्राह्मणाय कुटुम्बिने।
शिवलोके स पूतात्मा कल्पमेक वसन्नर: ॥
पौर्णमास्यां मघी दद्यात् ब्राह्मणाय कुटुम्बिने।
वराहस्य प्रसादेन पदमाप्नोति वैष्णवम् ॥
दातव्यमेतत् सकल द्विजाय कुटुम्बिने नैव तु दाम्भिकाय।
समर्पयेद्विप्रवराय भक्त्या कृताञ्जलि: पूर्वमुदीर्य मन्त्रम् ॥
सकल्पयित्वा पुरुष सपत्न दद्यादनेकव्रतदानकाय।
अव्यङ्गरूपाय जितेन्द्रियाय कुटुम्बिने देयमनुद्धताय।
शर्करासयुक्त दद्याद् ब्राह्मणाय कुटुम्बिने।
रवि काञ्चनक कृत्वा पलस्यैकस्य धर्मवित् ॥'
मत्स्यपुराण, ५३.१९, ५३ ४०, ७२.३५, ६६ १५, ७५.३, सम्पा० जीवानद, कलकत्ता, १८७६

११. Dixitar, Purāna Index.

१२. तुल० वायुपुराण—६१.९२-९६ तथा—
प्रजाम्यैवंतं यन्ति स्म रसैश्चैव स्वय कृतै:।
कुटुम्बिन ऋद्धिमतो बाह्यान्तर निवासिन: ॥ वायुपुराण, ६१.९६
गुरुमंडल सीरीज, कलकत्ता, १९५९

आई है[1] किन्तु इस सन्दर्भ में भी 'कुटुम्बी' के अर्थ-निर्धारण में मत-वैभिन्य देखा जाता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में आए इस 'कुटुम्बी' को प्रायः 'गृहस्थ',[1] 'श्रमिक',[2] 'नागरिक',[3] निम्न वर्ग के 'दुर्गान्तवासी'[4] आदि विविध अर्थों में ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार ईस्वी पूर्व के प्राचीन साहित्य में उपलब्ध 'कुटुम्ब' के परिवार अर्थ में तो कोई आपत्ति नहीं किन्तु इससे सम्बद्ध 'कुटुम्बी' का स्वरूप संदिग्ध एवं अस्पष्ट जान पड़ता है। ईस्वी पूर्व के जैन आगम ग्रन्थ तथा जैन शिलालेख 'कुटुम्बी' के अर्थ निर्धारण की दिशा में हमारी बहुत सहायता करते हैं। जैन आगम कल्पसूत्र[6] में भगवान् महावीर के आठवें उत्तराधिकारी 'सुत्थिय' द्वारा कौटिक' अथवा 'कोडिय'गण की स्थापना करने का उल्लेख आया है जो कि बाद में चार शाखाओं में विभक्त हो गया था।[7] सम्भवतः वायु पुराण में गोत्र प्रवर्तक 'कुटुम्बी' कल्पसूत्रोक्त 'कोटिक' अथवा 'कोडिय' से बहुत साम्यता रखता है। कोडिय गण में फूट पड़ने के कारण जो चार शाखाएं अथवा कुल बन गए थे उनमें 'वणिय' अथवा 'वणिज्ज' नामक कुल भी रहा था।[8] कल्पसूत्रोक्त इस सामाजिक संगठन में फूट पड़ने की घटना की वासिट्ठिपुत-अभिलेख (ल्यूडर्स सख्या – ११४७) से भी तुलना की जा सकती है। [9]इस लेख में कहा गया है कि मध्यमवर्ग के कृषक तथा वणिक् लोग परस्पर टूटकर स्वतन्त्र गृहों तथा कुटुम्बों (कुलों) में विभक्त हो गए थे।[10] Siri Pulumayi के अनुसार इन गृहों तथा कुटुम्बों के मुखिया क्रमशः 'गृहपति' तथा 'कुटुम्बी' कहलाते थे।[11]

कल्पसूत्र[12] तथा औपपातिक सूत्र[13] में 'कोडुम्बिय' (कौटुम्बिक) का उल्लेख 'माडम्बिय' (माडम्बिक) 'तलवर' आदि प्रशासनिक अधिकारियों के साथ आया है, जो यह सिद्ध करता है कि जैन आगम ग्रन्थों के काल में 'कोडुम्बिय' अथवा 'कौटुम्बिक' प्रशासनिक पदाधिकारियों के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था। इस सबन्ध में कल्पसूत्र की एक टीका के अनुसार 'कोडुम्बिय' अथवा 'कौटुम्बिक उन अनेक कुटुम्बों (कुलों) अथवा परिवारों के स्वामी थे जिन्हें प्रशासनीय दृष्टि से 'अवलगक' अथवा 'ग्राम-महत्तर' के समकक्ष समझा जा सकता था —'कौटुम्बिकाः—कतिपयकुटुम्बप्रभवावलगका ग्राममहत्तरा वा'[14] प्रस्तुत टीका में आए 'अवलगक' को लगान एकत्र करने वाले ग्रामाधिकारी के रूप में समझना चाहिए।[15] बंगाल के हजारीबाग जिले के 'दुधपानि' स्थान से प्राप्त शिलालेख में वर्णित एक घटना के अनुसार राजा आदिसिंह द्वारा भ्रमरशाल्मलि नामक पल्ली ग्राम में ग्रामवासियों की इच्छा से एक धन धान्य सम्पन्न वणिक को 'अवलगक' के रूप में नियुक्त करने का उल्लेख आया है।[16] वह 'अवलगक' राजा का विशेष पक्षपाती व्यक्ति था तथा पल्ली ग्राम का राजा कहलाता था।[17] इस शिलालेख से 'अवलगक' को राज्य प्रशासन की ओर से नियुक्त अधिकारी के रूप में सिद्ध करने

---

१. तुल०-'कर्मान्तक्षेत्रवशेन वा कुटुम्बिनां सीमानां स्थापयेन्।'
अर्थशास्त्र, २.४.२२, सम्पादक, टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, १९२४.

२ तुल०-'कुटुम्बियों' अर्थात् साधारण गृहस्थ के कारखाने, अर्थशास्त्र, अनु० रामतेज शास्त्री, पृ० ६२.

३ 'Families of workmen may in any other way be provided with sites befitting their occupation and field work.'
Sham Shastri, *Kautilya's Arthaśastra*, Mysore, 1951/p.54.

४ 'नगर में बसने वाले परिवारों के लिए निवास भूमि का निर्णय'—उदयवीर शास्त्री, अनु० अर्थशास्त्र, पृ० ११४.

५. 'कुटुम्बिनां दुर्गान्तवासोचितस्थानां यथावरांणा, कर्मान्तक्षेत्रवशेन···सीमानं स्थापयेत्।
—अर्थशास्त्र, २.४.२२, टी० गणपति शास्त्रीकृत श्रीमूल टीका.

६ *Sacred Books of the East*, Vol. XXII, p. 292

७ Buhler, J.G., *The Indian Sect of the Jainas*, Calcutta, 1963, p 40.

८ वही, पृ० ४०.

९ *I.A.*, Vol. XLVIII, p. 80.

१० वही, पृ० ८०.

११. वही, पृ० ८०.

१२. कल्पसूत्र, २.६१.

१३ औपपातिक, १४.

१४ Stein, Otto, *The Jinist Studies*, p.79.

१५. तुल० 'आलवन'—फसल काटना (लू) तथा 'आर्यव'—पहली फसल जो गृह देवताओं को समर्पित की जाती है।
—Turner, R.L., *A Comparative Dictionary of the Indo Aryan*, London, 1912, p. 62.

१६. Stein, Otto, *The Jinist Studies*, p. 80.

१७. वही, पृ० ८०.

के लिए प्रामाणिक आधार मिलता है तथा इसी रूप में 'कुटुम्बी' को भी समझा जा सकता है। मध्यकालीन ग्राम संगठन के आर्थिक पक्ष पर प्रकाश डालने वाले इस शिलालेख के उल्लेखानुसार 'अवलगन'(प्रेम उपहार)को राजा तक पहुँचाने वाले व्यक्ति की 'अवलगक' संज्ञा थी। संभवतः प्रारम्भ में कटी हुई फसल के राजकीय भाग से इसका अभिप्राय रहा होगा।[1] किन्तु बाद में किसी भी व्यक्ति से सम्बन्ध अच्छे करने के लिए भी किसी प्रकार का प्रेमोपहार देना 'अवलगन' कहलाने लगा।[2] मध्यकालीन अर्थव्यवस्था में इसका विशेष प्रचलन हो गया था।

'कुटुम्बी' के कोशशास्त्रीय अर्थ का भी रोचक इतिहास है। अमरकोशकार (५वी शती ई०), 'कुटुम्बिनी' तथा 'कुटुम्बव्यापृत'[3] शब्दों के उल्लेख तो करते हैं किन्तु स्वतन्त्र रूप से 'कुटुम्बी' के किसान अर्थपरक पर्यायवाची शब्दों का कहीं भी उल्लेख नहीं करते। ऐसा प्रतीत होता है कि अमरकोश के काल मे 'कुटुम्बी' को किसान के पर्यायवाची शब्दों मे स्थान नहीं मिल पाया था। उन्होंने किसान के 'क्षेत्राजीवी', 'कर्षक:', 'कृषिक:', 'कृषिवल:' केवल चार पर्यायवाची शब्द गिनाए हैं[4] जबकि दसवीं शताब्दी ई० में निर्मित हलायुध कोश में इन चार पर्यायवाची शब्दो के अतिरिक्त 'कुटुम्बी' भी जोड दिया गया।[5] इस प्रकार हलायुध कोश ने सर्वप्रथम दसवीं शताब्दी ई० में 'कुटुम्बी' के 'किसान' अर्थ को मान्यता दी तदनन्तर हेमचन्द्र[6] ने भी इसे परम्परागत रूप से किसान के पर्यायवाची शब्द के रूप में स्वीकार कर लिया।[7] १२वी शताब्दी ई० में हेमचन्द्र की देशीनाममाला मे 'कुटुम्बी' से सादृश्य रखने वाले अनेक प्राकृत शब्द मिलते हैं उनमें 'कुडुम्बिअम्'[8] तथा 'कोडिओ'[9] महत्त्वपूर्ण हैं। हेमचन्द्र ने 'कुडुम्बिअम्' का अर्थ सुरत अथवा मैथुन किया है[10] किन्तु 'कोडियो' को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है जो ग्राम भोक्ता होता था तथा छल-कपट से ग्रामवासियों को परस्पर लड़ा-भिड़ाकर गांव में अपना आधिपत्य जमा लेता था —'भेएण ग्रामभोत्ता य कोंडिओ'—'कोंडियओ भेदेन ग्रामभोक्ता। ऐकमत्यं ग्रामीणानामपास्य यो मायया ग्राम भुनक्ति।'[11]

इस प्रकार देशीनाममाला से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृत परम्परा मे चले आ रहे 'कौडुम्बिय' 'कोडिय' आदि प्रयोग हेमचन्द्र के काल तक 'कोडिओ' के रूप में ग्रामशासन के अधिकारी के लिए व्यवहृत होने लगा था।

सातवी शताब्दी ई० बाणरचित हर्षचरित मे कुटुम्बियो के जो उल्लेख प्राप्त होते हैं उनके सम्बन्ध मे दो तथ्य महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो 'कुटुम्बी' का प्रयोग 'अग्रहार' 'ग्रामेयक' 'महत्तर' 'चाट' आदि के साथ हुआ है जो स्पष्ट प्रमाण है कि 'कुटुम्बी' भी ग्रामेयक

---

१. तुल० Turner, Comparative Dic. p 62, Stein, *The Jinist Studies*, p.80, fn. 172.

२. तन्त्रारण्य (पृ० १८), हेमचन्द्रकृत परिशिष्टपर्व (८,१२) तथा पञ्चतन्त्र (किलहार्न संस्करण पृ० २८) मे 'अवलगन' को किसी व्यक्ति के विश्वास जीतने एवं उसके प्रति आदर व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। ओटो स्टेन का विचार है कि राजा के लिए स्वैच्छिक उपहार देने की परम्परा का उल्लेख रामायण आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त रुद्रदामन् शिलालेख आदि मे भी हुआ है। अतएव उन्होंने कल्पसूत्र की टीका के एक उद्धरण पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा है कि अवलगन प्रेम-कर होता था। 'कौटुम्बिक' मध्यम वर्ग के लोगो का प्रतिनिधित्व करते हुए एक दायित्व के रूप में राजा को स्वैच्छिक उपहार तथा कर इत्यादि भेंट करते थे।

'So we are entitled to translate *avalagana* "Love-tax" and *avalagaka-n.* is evidently the same while the masculine is the donor—an avalagana (ka), *Kautumbika* would be therefore the representatives of the middle-class, which had the duty to present to the king voluntary presents, taxes.'—Stein, ***The Jinist Studies***, p. 81-2.

३. तुल० 'भार्या जायाथपुंभूम्निदारा: स्यात् कुटुम्बिनी' अमर० २ ६ ६ तथा
'कुटुम्ब व्यापृतस्तु य स्यादभ्यागारिक:' अमर० ३ १ ११

४. 'क्षेत्राजीव: कर्षकश्च कृषिकश्च कृषीवल:।' अमर० २ ९.६.

५. तुल० 'क्षेत्राजीव: कृषिक: कृषिवल: कर्षक: कुटुम्बी च।' अभिधानरत्नमाला, २ ४१६.

६. अभिधानचिन्तामणि, ३-५५४.

७. त्रिषष्टिशलाका०, २ ४ १७३ तथा २ ४.२४०.

८. देशीनाममाला, २ ४१.

९. देशीनाममाला, २.४८.

१०. 'कुडुम्बिअं सुरए', देशी० २.४१.

११. देशी० २ ४८.

यक आदि के समान प्रशासनिक अधिकारी रहा होगा।[1] दूसरे राजा हर्ष दिग्विजय के अवसर पर किसी वन ग्राम में कुटुम्बियों के घरों को देखकर वहां रहने लगते हैं। फलतः ये 'कुटुम्बी' सामान्य किसान न होकर राजा के विश्वासपात्र व्यक्ति रहे होंगे जिनपर युद्ध प्रयाण आदि के अवसर पर राजा तथा उसकी सेना के रहन-सहन तथा भोजन आदि की व्यवस्था का दायित्व भी रहता था।[2] इस प्रकार हर्षकालीन भारत में कुटुम्बी ग्राम संगठन के प्रशासनिक ढांचे से पूर्णतः जुड़ चुके थे।

कात्यायन के वचनानुसार श्रोत्रिय विधवा, दुर्बल आदि कुटुम्बी को 'राजबल' माना गया है तथा इनकी प्रयत्न पूर्वक रक्षा करने का निर्देश दिया गया है।[4] मध्यकालीन भारत के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सोमदेव के नीतिवाक्यामृत (१०वी शती ई०) में कुटुम्बियों को बीजभोजी कहा गया है तथा उनके प्रति अनादर की भावना अभिव्यक्त की गयी है।[5] इसी प्रकार नीतिवाक्यामृत में राजा को निर्देश दिए गए हैं कि वे द्यूत आदि व्यसनों के अतिरिक्त कारणों से आए हुए कुटुम्बियों के घाटे को पूरा करें तथा उन्हें मूल-धन देकर सम्मानित करें।[6] नीतिवाक्यामृत के इन उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि 'कुटुम्बी' राजा के प्रशासन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे किन्तु सामन्तवादी भोग-विलास तथा सामान्य कृषकों के साथ दुर्व्यवहार करने के कारण इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा समाप्त हो चुकी थी। नीतिवाक्यामृत में सामान्यतया किसान के लिए 'क्षुद्रकर्षक'[7] प्रयोग मिलता है अतएव 'कुटुम्बी' को उन धनधान्य सम्पन्न किसानों के विशेष वर्ग के रूप में समझना चाहिए जो परवर्ती काल में जमींदार के[8] रूप में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना सके थे।

बारहवीं शताब्दी ई० मध्यकालीन सामन्तवादी अर्थव्यवस्था की चरम परिणति मानी जाती है। इस समय तक ग्राम संगठन पूर्णतः सामन्तवादी प्रवृत्तियों से जकड़ लिए गए थे।[8] इसका परिणाम यह हुआ कि ग्राम संगठनों के कुटुम्बी आदि ठीक उसी प्रकार समझे जाने लगे थे जैसे सामन्त राजा। हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित महाकाव्य में युद्ध प्रयाण के अवसर पर ग्रामाधीश आदि स्वयं को कुटुम्बियों के समान कर देने वाले तथा अधीन रहने वाले बताते हैं।[9] त्रिषष्टि० में एक दूसरे स्थान पर कुटुम्बियों को सेना तथा सामन्त राजाओं के समान अधीनस्थ माना गया है।[10] हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में आए ये उल्लेख यह

---

१. 'क्वचिदसहायैः क्लेशार्जितक्षामकुटुम्बिसम्पादितसीदत्सीरभेद ······· क्वचिन्नरपतिदर्शनकुतूहलादुपगत प्रजवितप्रधावितग्रामेयकजनपदय मार्गग्राम-निर्गतं यावहारिकजाल्मैः पुरःसरजरन्महत्तरोत्क्षिप्ताम्भ कुम्भोपायनीकृत्य दधिगुडखण्डकुसुमकरण्डकैर्वनपटितपेटकैः।'
हर्षचरित, सप्तम उच्छ्वास, पृ०, ५६, —सम्पादक—पी० वी० काणे, दिल्ली, १९६५.

२. 'पोष्यमाणवनविहारमालुधानकगृहाजिरजातकादिभिरविकुटुम्बिनां बृहेरूपेत वनग्रामक दर्शं तत्रैव वासमदिति।'
हर्षचरित, पृ०९६.

हर्षचरित में आए कुटुम्बी विषयक अन्य उल्लेख—

—'पक्वीटाबलमुखैः पीतकुटैःदवारिणा पुरःसरवनवृषलीबर्दयुगसरेण नैकटिक कुटुम्बिलोकेन काष्ठसम्भारार्थमटवी प्रविशता।'
हर्ष०, पृ० ६८.

—'सोऽयं सुजन्मा सुगृहीतनामा तेजसां राशिः चतुरुदधिकेदारकुटुम्बी भोक्ता ब्रह्मस्तम्भफलस्य सकलादिराजचरितजयज्येष्ठमल्लो देवः परमेश्वरो हर्षः।'
हर्ष० पृ० ३५

—'प्रातिवेश्यविषयवासिना नैकटिककुटुम्बिकलोकेन'
हर्ष० पृ० २२६.

३. Thapar Romila, *A History of India*, Part I, Great Britain, 1974, pp. 242-43.

४. 'श्रोत्रिया विधवा बाला दुर्बलाश्च कुटुम्बिनः।
एते राजबला राज्ञा रक्षितव्याः प्रयत्नतः॥'
(कात्यायन), कृत्यकल्पतरु, राजधर्मकाण्ड, भाग ११, पृ० ८४.

५. 'बीजभोजिनः कुटुम्बिन इव नास्त्यधार्मिकस्यायत्यां किमपि शुभम्।'
नीतिवाक्यामृत, १.४५.

६. 'व्यसनेन क्षीयमाणान् मूलधनप्रदानेन कुटुम्बिनः प्रतिसम्भावयेत्।'
नीतिवाक्यामृत, १७.५३.

७. नीतिवाक्यामृत, १९ ८.

८. 'Out of the revenue retained by the vassal he was expected to maintain the feudal leview which underlying his oath of loyality to his king, he was in duty bound to furnish for the king's services. To break his oath was regarded as a heinous offence.'
Thapar, Romila, *A History of India*, Part I, p. 242.

तथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, २.४.१७०-७२.

९. 'कुटुम्बिका इव वयं करदा वशगाश्च वः।' त्रिषष्टिशलाका०, २.४.१७३.

१०. 'कुटुम्बिनः पत्तयो वा सामन्ता वा त्वदाश्रयाः।
ततः परं बलिष्ठानामत्यधीना हि नः स्थितिः॥'
त्रिषष्टिशलाका०, २.४.२४०

स्पष्ट कर देते हैं कि 'कुटुम्बी' स्वरूप से कृषक अवश्य रहे होंगे क्योंकि समग्र कृषकदासों पर ये आधिपत्य करते थे किन्तु ये वास्तविक व्यवसाय करने वाले किसान नहीं थे। हेमचन्द्र द्वारा अभिधान चिन्तामणि में कोशशास्त्रीय अर्थ के रूप में 'कुटुम्बी' को कृषक[1] मानना अर्थ की दृष्टि से परम्परानुमोदित तथा युक्तिसंगत है किन्तु लौकिक व्यवहार की प्रासंगिकता की दृष्टि से 'कुटुम्बी' देशीनाममाला में कहे गए 'कौडिओ' के तुल्य था जो ग्रामभोक्ता होने के साथ-साथ छलकपटपूर्ण व्यवहार से ग्रामवासियों को परेशान करता था किंतु राजा के विश्वासपात्र तथा विनम्र सेवक के रूप में राजा को हर प्रकार से सहायता करता था।

मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था एवं सामुदायिक ढांचों के सन्दर्भ में इतिहासकारों तथा पुरातत्त्ववेत्ताओं ने 'कुटुम्बी' सम्बन्धी जिन मान्यताओं का प्रतिपादन किया है, उनमें प्रो० आर० एस० शर्मा का मन्तव्य है कि मध्यकालीन 'कुटुम्बी' वर्तमान कालिक बिहार एवं उत्तर प्रदेश की शूद्र जाति 'कुर्मियों' तथा महाराष्ट्र की 'कुन्बियों' के मूल वंशज रहे थे।[2] प्रो० शर्मा के अनुसार मध्यकालीन भारत में हुए सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप वैश्यों तथा शूद्रों के व्यवसायों में काफी परिवर्तन आ चुके थे। गुप्त काल की उत्तरोत्तर शताब्दियों में शूद्रों ने वैश्यों द्वारा अपनाई जाने वाले कृषि व्यवसाय को प्रारम्भ कर दिया था। सातवीं शताब्दी ई० के ह्वेनसांग तथा ग्यारहवीं शताब्दी ई० के अलबेरूनी ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि शूद्र कृषि कार्य में लग चुके थे तथा वैश्यों एवं शूद्रों में रहन-सहन की दृष्टि से भी कोई विशेष भेद नहीं रह गया था। इसी ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य में प्रो० शर्मा 'कुटुम्बियों' को सम्भवतः एक ऐसी कृषक जाति से जोड़ना चाहते हैं जो वर्ण से शूद्र थी।[3] डी० सी० सरकार[4] तथा वासुदेव शरण अग्रवाल[5] की भी यही धारणा है कि 'कुटुम्बी' उत्तर भारत की 'कुलम्बी' अथवा 'कुन्बी' जाति के लोग रहे होंगे। इस प्रसंग में टर्नर महोदय की 'इण्डो आर्यन डिक्शनरी' के वे तथ्य भी उपयोगी समझे जा सकते हैं जिनमें उन्होंने संस्कृत 'कुटुम्बी' तथा प्राकृत 'कुडुम्बी' को आधुनिक पूर्वी हिन्दी तथा सिन्धी के 'कुर्मी', पश्चिमी हिन्दी के 'कुन्बी', गुजराती के 'कन्बी' तथा 'कलमी', पुरानी गुजराती के 'कलम्बी' मराठी के 'कलाबी' तथा 'कुन्बी' का मूल माना है।[6] भाषा शास्त्रीय इस सर्वेक्षण के आधार पर सभी प्रान्तों में बोली जाने वाली तत्तद्भाषाओं में 'किसान' अर्थ की एकरूपता देखी जाती है। इस प्रकार इतिहासकारों तथा कोशकारों ने 'कुटुम्बी' शब्द के केवल उस पक्ष को स्पष्ट किया है जिसके आधार पर 'कुटुम्बी' को 'कृषक जाति' के रूप में स्पष्ट किया जा सकता है। किन्तु 'कुटुम्बी' का वर्तमान समाधान व्यवहारतः सर्वथा पूर्ण नहीं है। अभिलेखीय साक्ष्यों तथा अनेक साहित्यिक साक्ष्यों के ऐसे उद्धरण दिए जा सकते हैं जिनसे यह भावना दृढ़ होती जाती है कि 'कुटुम्बी' लोगों की ग्राम संगठन के धरातल पर एक ऐसी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही होगी जिसके कारण 'कुटुम्बी' राजा तथा किसानों के मध्य बीच की कड़ी रहे होंगे जिसके कारण उन्हें ग्राम प्रशासन का महत्त्वपूर्ण अधिकारी माना जाने लगा था।

मध्यकालीन ग्राम संगठनों को ग्रामोन्मुखी तथा आत्म निर्भर अर्थ व्यवस्था ने बहुत प्रभावित किया जिसे इतिहासकार सामन्तवादी अर्थ व्यवस्था के रूप में भी स्पष्ट करते हैं।[7] गुप्तवंश[8] तथा पालवंश[9] के दान पत्रों में उस व्यवस्था के उस आर्थिक एवं राजनैतिक ढांचे की पुष्टि होती है जिसके अन्तर्गत ऐसे अनेक प्रशासकीय पदों का अस्तित्व आ गया था जो भूमिदान तथा ग्रामदान के संवैधानिक व्यवहारों की देख-रेख करते थे। इस सन्दर्भ में 'कुटुम्बी' पद विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[10]

मध्ययुगीन दक्षिण भारत के ग्राम संगठन के सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि पल्लववंशीय राजाओं के काल में 'कोडुक्कपिल्लै' नामक एक अधिकारी के पद का अस्तित्व रहा था।[11] इस अधिकारी का मुख्य कर्त्तव्य ग्राम दान तथा ग्रामों से आने

---

१. अभिधानचिंतामणि, ३ ५५४.
२. **Sharma**, *Social Changes in Early Medieval*, p. 11.
३. वही, पृ० ११
४. **Sircar, D.C.**, *Select Inscriptions*, Vol. I, Calcutta, 1942, p. 498.
५ वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, १९५३, पृ० १८१, पाद० ४
६. **Turner, R L**, *A Comparative Dictionary of the Indo-Aryan Languages*, London, 1912, p. 165.
७. आर० एस० शर्मा, भारतीय सामन्तवाद, अनु० आदित्य नारायण सिंह, दिल्ली, १९७३, पृ० १-२.
८. **Puri, B N.**, *History of Indian Administration*, Vol. I, Bombay, 1968, p. 138.
९. **Choudhari**, *Early Medieval Indian Village*, p. 220.
१०. *Indian Historical Quarterly*, Vol. XIX, p. 15.
११. **Meenakshi, C.**, *Administration & Social Life under the Pallavas*, Madras, 1938, p. 56.

वाले 'परिहार' आदि करों से सम्बन्धित व्यवहारों को देखना था।[1] 'परिहार' आदि करों के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि ये कर ग्रामों से प्राप्त होने वाले अठारह प्रकार के कर थे जिनकी सूचना भी पल्लववंश के अभिलेखों से प्राप्त होती है।[2] इस प्रकार दक्षिण भारत में 'कुडुम्बनी'' अथवा 'कोडिय' की मान्यता पर 'कोडुक्कपिल्लै' नामक प्रशासकीय पद स्वरूप से विशुद्ध राजकीय अधिकारी का पद रहा था तथा यह ग्राम संगठन के आर्थिक ढाँचे को नियन्त्रित करता था।

इस प्रकार 'कुटुम्बी' विषयक जैन साहित्य एवं जैनेतर साक्ष्यों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में 'कोडिय' के रूप में गुप्तकालीन एवं मध्यकालीन 'कुटुम्बी' समाज संगठन की न्यूनतम इकाई-परिवार अथवा कुल के प्रधान के रूप में प्रतिनिधित्व करते थे। तदनन्तर पाँच अथवा उससे अधिक परिवारों के समूह —'ग्राम' के संगठनात्मक ढाँचे में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान बनता गया।[3] मध्यकालीन ग्राम संगठन में 'महत्तम' अथवा 'महत्तर' से कुछ छोटे पद के रूप में उनकी प्रशासकीय स्थिति रही थी। यही कारण है कि भूमिदान तथा ग्रामदान सम्बन्धी अभिलेखीय विवरण 'करद-कुटुम्ब' के रूप में इनकी उपस्थिति आवश्यक मानते हैं। इतिहासकारों ने कुर्मियों तथा कुन्बियों के रूप में जिस कृषक जाति को कुटुम्बियों का मूल माना है वह उस अवस्था का द्योतक है जब 'कुटुम्बी' ग्राम प्रशासन की अपेक्षा गोत्र अथवा जाति के रूप में अधिक लोकप्रिय होते चले गए थे तथा संगठनात्मक ढाँचे में इनका स्थान 'जमींदारों' आदि ने ले लिया था।[4] कुटुम्बी के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि ये अधिकांश रूप से शूद्र थे। ब्राह्मण आदि वर्ण के रूप में भी इनका अस्तित्व रहा था। अधिकांश ग्राम शूद्रों द्वारा बसाये जाने के कारण ही वर्तमान में शूद्र कुन्बियों तथा कुर्मियों की संख्या अधिक है।

—०—

दक्षिण की जैन जातियाँ

दक्षिण महाराष्ट्र और कर्नाटक प्रान्त में (मैसूर स्टेटको छोड़कर) जैनों की केवल चार जातियाँ हैं, (१) पंचम, (२) चतुर्थ, (३) कासार बोगार और (४) शेतवाल। पहले ये चारों जातियाँ एक ही थीं और 'पंचम' कहलाती थीं। 'पंचम' यह नाम वर्णाश्रमी ब्राह्मणोंका दिया हुआ जान पड़ता है। प्राचीन जैनधर्म जन्मतः वर्णव्यवस्था का विरोधी था, इसलिए उसके अनुयायियों को ब्राह्मण लोग अवहेलना और तुच्छताकी दृष्टिसे देखते थे और चातुर्वर्णसे बाहर पाँचवें वर्णका अर्थात् 'पंचम' कहते थे। जिस समय जैनधर्मका प्रभाव कम हुआ और उसे राजाश्रय नहीं रहा, उस समय धीरे धीरे यह नाम रूढ़ होने लगा और अन्ततोगत्वा स्वयं जैनधर्मानुयायियों ने भी इसे स्वीकार कर लिया। ऐसा जान पड़ता है कि नवीं दसवीं शताब्दिके लगभग यह नामकरण हुआ होगा। इसके बाद वीरशैव या लिंगायत सम्प्रदायका उदय हुआ और उसने इन जैनों या पंचमोंको अपने धर्ममें दीक्षित करना शुरू किया। लाखों जैन लिंगायत बन गये, परन्तु लिंगायत हो जानेपर भी उनके पीछे पूर्वोक्त 'पंचम' विशेषण लगा ही रहा और इस कारण इस समय भी वे 'पंचम लिंगायत' कहलाते हैं। उस समय तक चतुर्थ, शेतवाल आदि जातियाँ नहीं बनी थीं, इस कारण जो लोग जैनधर्म छोड़कर लिंगायत हुए थे, वे 'पंचम लिंगायत' ही कहलाते हैं 'चतुर्थ लिंगायत' आदि नहीं। दक्षिणमें मालगुजार या नम्बरदारको पाटील कहते हैं। वहाँके जिस गाँव में एक पाटील लिंगायत और दूसरा पाटील जैन होगा, अथवा जिस गाँवमें लिंगायत और जैन दोनोंकी बस्ती होगी, वहाँ लिंगायत पंचम जातिके ही आपको मिलेंगे और जिस गाँवमें पहले जैनोंका प्राबल्य था, वहाँके सभी लिंगायत पंचम होंगे। अनेक गाँव ऐसे हैं, जहाँके जैन पाटीलों और लिंगायत पाटीलोंमें कुछ पीढ़ियोंके पहले परस्पर सूतक तक पाला जाता था। जिस गाँवके जैन पाटीलोंमें चतुर्थ और पंचम दोनों भेद हैं, वहाँके लिंगायत पाटील केवल पंचम हैं। इससे मालूम होता है कि लिंगायत सम्प्रदायके जन्मसे पहले बारहवीं शताब्दि तक सारे दाक्षिणात्य जैन पंचम ही कहलाते थे, चतुर्थ आदि भेद पीछेके हैं। दक्षिणके अधिकांश जैन ब्राह्मण भी—जो उपाध्याय कहलाते हैं—पंचम-जातिभक्त हैं, चतुर्थादि नहीं। इससे भी जान पड़ता है कि ये भेद पीछे के हैं। —श्री नाथूराम प्रेमी

---

१. Aiyangar, K.V.R., *Some Aspects of Ancient Indian Polity*, Madras, 1938, pp. 118-9.
२. वही, पृ० ११८.
३. तुल० अभिधानराज, १६२.११, तथा देशी०, २.४८.
४. मोहन चन्द, जैन संस्कृत महाकाव्यों में प्रतिपादित सामाजिक परिस्थितियाँ (शोधप्रबन्ध), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९७७, पृ० २१४.

तीर्थंकर तथा वैष्णव प्रतिमाओं के समान लक्षण

—डॉ० भगवतीलाल राजपुरोहित

वैष्णव तथा जैन अपनी आचार-शुद्धता की दृष्टि से परस्पर पर्याप्त निकट है। पूजा तथा अर्चन मे भी पर्याप्त समता है। इसी प्रकार वैष्णव तथा जिन कलात्मक बिम्बो मे भी पर्याप्त समता है।

वैष्णवी प्रतिमा के वक्ष पर श्रीवत्स चिह्न अंकित करने का विधान है। वराहमिहिर के बृहत्संहिता ग्रन्थ मे यह विधान किया गया है।

कार्योऽष्टभुजो भगवांश्चतुर्भुजो द्विभुज एव वा विष्णु ।

श्रीवत्साङ्कितवक्षा कौस्तुभमणिभूषितोरस्क ॥

यही बात मानसार मे भी कही गयी है—

सर्ववक्ष:स्थले कुर्यात्तदूर्ध्वे श्रीवत्सलाछनम् ।

तीर्थंकरो का प्रतिमा-विधान करते हुए वराहमिहिर ने अपने उसी बृहत्संहिता ग्रन्थ मे लिखा है कि श्रीवत्स का चिह्न उनकी मूर्ति पर भी होना चाहिए।

आजानुलम्बबाहु **श्रीवत्साङ्क** प्रशान्तमूर्तिश्च ।
दिग्वासास्तरुणो रूपवाश्च कार्योऽर्हता देव ॥

साथ ही उन्हे '**श्रीवत्सभूषितोरस्क**' भी कहा गया है। समस्त तीर्थंकरो से सम्बन्धित यह सामान्य विशेषता है। फिर भी अपराजितपृच्छा मे तीर्थंकरो के भिन्न-भिन्न चिह्न बताते हुए शीतलनाथ का श्रीवत्स चिन्ह बताया गया है। उसी प्रकार श्रेयांसनाथ के साथ बनायी जाने वाली यक्षिणी का नाम भी मानवी अथवा **श्रीवत्सा** है। मानसार के अनुसार सब तीर्थंकरो के हृदय पर सुनहला श्रीवत्सलाछन होना चाहिए।

सर्ववक्ष स्थले हेमवर्ण **श्रीवत्सलाछनम्** ।

पार्श्वनाथ का चिह्न सर्प है। उनकी प्रतिमा सर्पछत्र से युक्त बनाई जाती है। पार्श्वनाथ के यक्ष का नाम भी पार्श्व है और वह भी सर्परूप बनाया जाता है।

विष्णु की शेषशायी प्रतिमा मे भी शेषनाग का छत्र रहता है। यह पद्मपुराण, अपराजितपृच्छा, विष्णुधर्मोत्तरपुराण इत्यादि ग्रन्थ से स्पष्ट है। आभिचारिक शयन मूर्ति मे शिर के समीप दो कुडली से युक्त समुन्नत दो फणो का होना उत्तम बताया गया है। एक फण मध्यम तथा फणरहित अधम। पार्श्वनाथ तथा विष्णु की प्रतिमाओ मे नागछत्र होते हैं। जबकि शिवप्रतिमा मे नागभूषण होते हैं, नागछत्र नही होते। उज्जयिनी से उपलब्ध शिवप्रतिमा मे नागभूषण प्राप्त नही होता।

यह संभव है कि प्रतिमा मे नागचिह्न नागनृपो के वर्चस्व तथा उनके संरक्षण मे उन धर्मों के पल्लवन का प्रतीक हो। असंभव नही यदि नागनृपो ने ही नाग (सर्प) प्रतीक चिह्न प्रचलित किये हो, अपनी यादगार को अमिट बनाने के लिए। पर, लगता है उज्जैन पर नागो का वर्चस्व नही रहा, विशेषत परमार-युग मे। इसीलिए परमारो ने अपने इष्टदेव शिव की प्रतिमाओ मे भी नाग नही अंकित करवाया। परमारो और नागो मे शत्रुता थी। परमारो ने उन्हे पराजित किया था। यही कारण है कि शैव होते हुए भी उन्होंने नागविनाशक गरुड को अपना राजचिह्न बनाया था। गरुड नाग का विध्वंसक जो है। गुप्त राजा भी नागविनाशक थे। इसीलिए उनका चिह्न भी गरुड था। यद्यपि वे वैष्णव भी थे। परन्तु शुंगो के शासनकाल मे एक ओर वैष्णवी गरुडस्तम्भ भी मिलता है तो नागचिह्ना-कित मुद्रा भी मिलती है। पर, वह नागचिह्न अग्निमित्र की रानी धारिणी की अगूठी पर था जो स्वय भी धारणसगोत्रा, नागराज-कुमारी थी।

विष्णु की शेषशायी प्रतिमा के नयनयोगनिर्मिलित होते है। तथैव तीर्थंकर प्रतिमा भी ध्यानस्थ होती है, विशेषत. बैठी हुई। विष्णु का मुखमडल अलौकिक शान्ति से सपन्न स्मिति और अण्डाकार से सम्पन्न होता है तथैव तीर्थंकर की प्रतिमा का मुख भी अण्डाकार तथा अमित शान्ति से सपन्न प्रदर्शित होता है। विष्णु के शिर के पीछे प्रभामडल दिखाया जाता है और बुद्ध तथा जिन की प्रतिमा भी प्रभामंडल सपन्न दिखाई जाती है। शान्ति, सौम्यता तथा ध्यानलीनता बुद्ध एव शिव की प्रतिमा मे भी पाई जाती है।

इस प्रकार प्रतिमाओ के प्रतीकचिह्न उन धर्मों की समानधर्मिता प्रकट करते हैं, भेद मे भी अभेद दिखाते हैं। साथ ही यह भी सिद्ध करते हैं कि ये समस्त प्रतीक किन्ही विशिष्ट परिस्थितियो मे भिन्न-भिन्न मतावलम्बियो ने स्वीकार कर लिये हैं। पर, इस सबसे भारतभूमि के निवासियो की वैचारिक तथा भावात्मक एकता तो व्यक्त होती ही है।

मालवा से प्राप्त अच्युता देवी की दुर्लभ प्रतिमाएँ

—डॉ० सुरेन्द्र कुमार आर्य

भारतीय जैन मूर्तिशिल्प मे अश्व पर सवारी किये अच्युता, अच्छुप्ता या अच्छुम्ना देवी की प्रतिमाएं कम मिलती हैं। एक प्रतिमा उज्जैन स्थित दिगम्बर जैन पुरातत्व संग्रहालय जयसिंहपुरा मे सुरक्षित है। दो अन्य जो विगत दो वर्षों मे पुरातात्विक सर्वेक्षण करते समय मुझे झर ग्राम व गंधावल ग्राम मे मिली हैं। यहा पर इसी देवी की प्रतिमा पर चर्चा की जायेगी।

श्वेताम्बर साहित्य मे इस देवी को अच्छुप्ता कहा गया है व इसके लक्षण बतलाये गये है कि यह देवी घोड़े पर आरूढ़ है व चतुर्हस्ता है एव चारों हाथो मे धनुष, तलवार, ढाल व तीर लिए हुए है—

'सव्यपाणि-धृतकार्मुकवराऽन्यस्फुरद्विशिखखड्गधारिणी।
विद्युद्दामतनुरश्ववाहनाऽच्छुप्तिका भगवती।'

दिगम्बर साहित्य मे भी इस देवी को अश्ववाहना व तलवारधारिणी कहा गया है—

'धौतासिहस्ता हयगेऽच्युते त्वा हेमप्रभा त्वा प्रणता प्रणौमि।'

प्रारंभिक प्रतिमा जो जैनसंग्रहालय जयसिंहपुरा, उज्जैन मे सुरक्षित है वह काले स्लेटी पत्थर पर उत्कीर्ण एव अभिलेखयुक्त है। यह प्रतिमा लगभग ३२ वर्ष पूर्व बदनावर नामक ग्राम से जमीन के नीचे से मिली थी। इस प्रतिमा के लेख मे वर्द्धमानपुर की स्थिति का विवाद समाप्त हो गया था। आचार्य जिनसेन ने इसी स्थान पर अपनी प्रसिद्ध कृति हरिवंशपुराण पूर्ण की थी और यही पर प्रसिद्ध शान्तिनाथ का मंदिर था। डॉ०वि० श्री वेलणकर ने बदनावर (उज्जैन धार के मोटरमार्ग पर बड़नगर से १२ कि० मी० पश्चिम दिशा मे स्थित) मे हीरालाल सिखी के खेत मे ६२ जैन प्रतिमाएं प्राप्त की थी। बाद मे यहीं से प० सत्यंधर कुमार सेठी ने इस अभिलेखयुक्त प्रतिमा को प्राप्त किया एव उसे उज्जैन संग्रहालय मे सुरक्षित रखा।

प्राचीन वर्द्धमानपुर व आज के बदनावर से प्राप्त इस प्रतिमा मे देवी घोड़े पर आरूढ है। प्रतिमा चतुर्हस्ता है, दोनों दाहिने हाथ भग्न हैं, ऊपर के बायें हाथ मे एक ढाल है और नीचे का हाथ घोड़े की लगाम या वल्गा सभाले हुए है। दाहिना पैर रकाब मे है और बाया उस की जंघा पर रखा हुआ है। इस प्रकार मूर्ति का मुख सामने व घोड़े का उसके बायी ओर है। देवी के गले मे गलहार है व कान मे कर्णकुण्डल। प्रतिमा के मुख के आस पास प्रभामंडल है, उसके पास तीन तीर्थंकर प्रतिमाएँ पद्मासन मे अंकित हैं। चारों कोनों मे भी छोटी-छोटी जैन तीर्थंकर प्रतिमाएं है। नीचे २ पंक्तियो का लेख है जिसके अनुसार अच्युता देवी की प्रतिमा संवत् १२२९ (ई० ११७२) मे कुछ कुटुम्बों के व्यक्तियो ने वर्द्धमानपुर के शांतिनाथ चैत्यालय मे प्रस्थापित की थी। डॉ० हीरालाल जैन ने अपने लेख मे यह सिद्ध किया है कि यही वह स्थान है और इसका नाम वर्द्धमानपुर था जहा शान्तिनाथ मंदिर मे शक संवत ७०५ (ई०७८३) मे आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण की रचना पूर्ण की थी।[1] प्रतिमा के नीचे अभिलेख का वाचन इस प्रकार है.—सवत १२२९ वैसाख वदी ९ शुक्रवारे अद्य वर्द्धमापुरे श्री शान्तिनाथचैत्ये सा श्री···गोशल भार्या ब्रह्मदेव उ देवादि कुटुम्ब सहितेन निज गोत्र देव्या श्री अच्छुप्ताया प्रतिकृति कारिता। श्री कुलादण्डोपाध्याय प्रतिष्ठिता।"

१२ वीं शताब्दी के कुछ अभिलेखयुक्त प्राप्त मूर्तियो के ढेर से एक अन्य अच्युतादेवी की प्रतिमा झर नामक ग्राम मे मिली है। यहां पर विशाल जैनमंदिर रहा होगा व इन्द्र, यम, वरुण, ईशान्य व नैऋत्य देवता की लाल पत्थर पर उत्कीर्ण प्रतिमाएं मिली हैं। यह स्थान उज्जैन से ४५ कि० मी० पश्चिम दिशा मे उज्जैन-रतलाम मोटरमार्ग पर रुणीजा नामक ग्राम के पास है। लाल पत्थर पर घोड़े पर आसीन देवी के आभूषण अत्यन्त सुन्दर रूप से उकेरे गये हैं। तलवार व ढाल स्पष्ट आयुध दृष्टिगोचर होते हैं। शेष दो हाथ भग्न हैं। अश्व की बनावट में कलात्मकता नहीं है। देवी के मुख के चारो ओर प्रभामंडल है। ऊपर एक तीर्थंकर पद्मासन में अंकित है। शिल्प के आधार पर व अन्य प्रतिमाओं के अभिलेख से यह मूर्ति १२वीं शताब्दी की प्रतीत होती है।

दूसरी प्रतिमा गंधावल नामक ग्राम मे मिली है। गंधावल ग्राम जैन अवशेषो से भरा हुआ है। यहाँ शैव, वैष्णव व जैन अवशेष बहुतायत से मिले हैं। यहा पर पार्श्वनाथ, अभिनन्दननाथ व सुमतिनाथ की की खड्गासन मे निर्मित परमारकालीन प्रतिमाए गधर्वसेन के मंदिर के आसपास पडी हैं। यहाँ पर संग्रहालय मे भी लगभग ६५ तीर्थकर प्रतिमाएं सुरक्षित है। गधावल की यह अच्युतादेवी की प्रतिमा लेखयुक्त नही है। मूर्ति निर्मिति की शैली के आधार यह प्रतिमा १० वी शताब्दी की विदित होती है।

इसके अतिरिक्त कांस्य व पीतल की कुछ लघु आकार की अच्युता देवी की प्रतिमा सुन्दरसी, जामनेर व पचोर ग्राम के दिगम्बर जैन मंदिरो मे सुरक्षित है। पचोर मे एक पाषाण निर्मित प्रतिमा असुरक्षित पडी हुई है। महावीर भगवान् के २५००वे निर्वाण महोत्सव पर उज्जैन के उत्साही जैन पुरातत्व प्रेमी प० सत्यधर कुमार जी सेठी, मक्सी पार्श्वनाथ तीर्थ के मंत्री श्री झांझरी जी के मालव-प्रान्तीय जैन पुरातत्व अभिरक्षण समिति के तत्वावधान मे इस दिशा मे लगभग ३ वर्षो से जैन पुरातत्वीय सपदा के सकलन का कार्य चल रहा है उसमे मुझे भी कार्य करने का सुअवसर मिला व अनेको स्थानो पर मालवा भूमि मे जैन मूर्तियो शिलालेख, ताम्रलेखो, हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचना मिली, जिनका विवरण तैयार किया जा रहा है।

निश्चय ही मध्यकाल मे मालवाभूमि अपनी पूर्व की जैन पुरातत्व सपदा से मंडित रही व उसमे अच्युता देवी की पाषाण एवं धातु प्रतिमाएं विशिष्ट कलागत सौन्दर्य को उजागर करती है।

विद्यादेवियों का माहात्म्य

नीलाजना अप्सरा के नृत्य मे जीवन की क्षणभंगुरता को दृष्टिगत कर भगवान् श्री वृषभ देव को वैराग्य हो गया। उन्होने सिद्धार्थक वन मे सब परिग्रह का त्यागकर चैत्र कृष्ण नवमी के दिन दीक्षा ग्रहण की। तपोवन मे कच्छ-महाकच्छ के पुत्र नमि-विनमि भगवान् के गुणो का स्तवन करते हुए भोग सामग्री की याचना कर रहे थे। भवनवासियो के अन्तर्गत नागकुमार देवो के इन्द्र धरणेन्द्र ने अपना आसन कम्पायमान देखकर इस प्रकरण को जान लिया। जिनभक्त धरणेन्द्र ने दिति तथा अदिति नामक देवियो के साथ आकर नमि-विनमि को उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर विजयार्ध पर्वत का आधिपत्य एव विद्याकोश दिए। अदिति देवी ने उन्हे विद्याओं के आठ निकाय दिए तथा गान्धर्व सेन नामक विद्याकोष बतलाया। विद्याओ के आठ निकाय इस प्रकार थे। (१) मनु, (२) मानव, (३) कौशिक, (४) गौरिक, (५) गान्धार, (६) भूमितुण्ड, (७) मूलवीर्यक, (८) शंकुक। दिति ने भी उन्हे निम्नलिखित आठ निकाय प्रदान किए (१) मातङ्ग, (२) पाण्डुक, (३) काल, (४) स्वपाक, (५) पर्वत, (६) वंशालय, (७) पांशुमूल, (८) वृक्षमूल। इन सोलह निकायो की नीचे लिखी विद्याएँ कही गई है —

> प्रज्ञप्ती रोहिणी विद्या विद्या चाङ्गारिणीरिता। महागौरी च गौरी च सर्वविद्याप्रकर्षिणी ॥
> महाश्वेताऽपि मायूरी हारी निर्वंशशाड्वला। सा तिरस्कारिणी विद्या छायासङ्क्रामिणी परा ॥
> कूष्माण्डगणमाता च सर्वविद्याविराजिता। आर्यकूष्माण्डदेवी च देवदेवी नमस्कृता ॥
> अच्युतार्यवती चाऽपि गान्धारी निर्वृति परा। दण्डाध्यक्षगणश्चापि दण्डभूतसहस्रकम् ॥
> भद्रकाली महाकाली काली कालमुखी तथा। एवमाद्याः समाख्याता विद्या विद्याधरेशिनाम् ॥

हरिवंशपुराण २२/६२-६६

प्रज्ञप्ति, रोहिणी, अङ्गारिणी, महागौरी, गौरी, सर्वविद्याप्रकर्षिणी, महाश्वेता, मायूरी, हारी, निर्वंशशाड्वला, तिरस्कारिणी,, छायासंक्रामिणी, कूष्माण्ड गणमाता सर्वविद्याविराजिता, आर्यकूष्माण्डदेवी, अच्युता, आर्यवती, गान्धारी, निर्वृति, दण्डाध्यक्षगण, दण्डभूतसहस्रक, भद्रकाली, महाकाली, काली और कालमुखी—इन्हे आदि लेकर विद्याधर राजाओ की अनेक विद्याएँ कही गई हैं।

विद्याधरो की एक सौ दस नगरियो मे विद्याधर निकायो के नाम से युक्त तथा भगवान् वृषभदेव, धरणेन्द्र और दिति-अदिति देवियों की प्रतिमाओ से सहित अनेक स्तम्भो का पौराणिक उल्लेख भी प्रथमानुयोग के धर्मग्रथो मे मिलता है।

विद्यादेवियो की प्राचीन प्रतिमाएँ बडी मात्रा मे अभी उपलब्ध नही हुई है किन्तु मूर्तिशास्त्र पर प्रकाश डालने वाले प० आशाधर (१२२८ ई०) के 'प्रतिष्ठा सारोद्धार' के तीसरे अध्याय मे विद्यादेवियो के नामोल्लेख मे अनेक देवियो—रोहिणी, जाम्बूनदा, गौरी, गान्धारी, ज्वालामालिनि, महामानसी आदि के साथ अच्युता का भी विशेषरूप से वर्णन मिलता है। इससे यह प्रतीत होता है कि विद्यादेवी के रूप मे अच्युता की प्रतिमाओं को १२वी-१३वी शताब्दी में मान्यता मिल गई थी।

—सम्पादक

---

१. डा० हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० ३५६.

एशियाई श्रमण परम्परा : एक विहङ्गम दृष्टि

प्रो० चन्द्रशेखर प्रसाद

एशियाई श्रमण परम्परा का स्रोत भारतीय बौद्ध श्रमण परम्परा है। एशियाई देशो में बौद्ध धर्म के प्रवेश-प्रसार के साथ ही बौद्ध श्रमण परम्परा भी वहाँ स्वीकृत हुई क्योंकि बौद्ध धर्म मूलतः श्रमण धर्म था। वर्तमान में भी इन देशो में बौद्ध धर्म एवं परम्परा पूर्ण ओजस: जीवित है। इन देशों की श्रमण परम्परा के मूल स्रोत एवं भारत में बौद्ध श्रमण परम्परा के स्वरूप को भी हम सरसरी नजर से देखना चाहेंगे क्योंकि इससे एशियाई श्रमण परम्परा की विशेषताओं को समझने में सहायता मिलेगी।

श्रमण परम्परा का मूल स्रोत :

श्रमण परम्परा के मूल स्रोत के सम्बन्ध में दो प्रमुख विचारधारायें हैं। प्रारम्भ में विद्वानों की यह धारणा थी कि श्रमण धर्म एवं परम्परा हिन्दू अर्थात् प्राचीन वैदिक धर्म एवं परम्परा की ही एक धारा है। इस धारणा के पीछे सुदृढ़ आधार भी था। भगवान् गौतम बुद्ध और भगवान् महावीर क्षत्रिय कुल के आर्य थे। जिन दो धर्मों का इन्होंने प्रणयन किया उनके अनुयायी भी हिन्दू समाज के ही थे। भगवान् गौतम बुद्ध और भगवान् महावीर ने हिन्दू धर्म में प्रचलित कुरीतियों का विरोध किया एवं धर्म सुधारक के रूप में अपने मतों का प्रचार किया जो कालान्तर में दो पृथक् धर्म के रूप में उभर आये। भगवान् गौतम बुद्ध को विष्णु का अवतार माना गया। भगवान् महावीर की पूजार्चना हिन्दू लोग भी करते हैं। हिन्दू एवं जैन धर्मावलम्बियों के सामाजिक-धार्मिक जीवन में वैसा कोई विभेद नहीं है जो दो धर्मावलम्बियों के जीवन में देखने को मिलता है। इनका समाज एक है और ये समान जीवन व्यतीत करते हैं।

परन्तु, सिन्धुघाटी के पुरैतिहासिक स्थलों के उत्खनन से प्राप्त पुरातात्विक सामग्रियों से विद्वानों की यह धारणा बदलती जा रही है। सिन्धुघाटी सभ्यता एक अत्यन्त विकसित नगर सभ्यता थी। आर्यों ने इसे विनष्ट कर वैदिक सभ्यता की स्थापना की। उस सिन्धुघाटी सभ्यता का कोई प्रभाव वैदिक सभ्यता पर नहीं पड़ा, ऐसा नहीं हो सकता। इतिहासकारों एवं इस क्षेत्र के अन्य विद्वानों का ध्यान उन धाराओं को खोज निकालने की ओर गया है जो विशुद्ध रूप से आर्येतर हैं और कालान्तर में वैदिक सभ्यता में आत्मसात् कर ली गयी हैं या संश्लेषित रूप में उभरकर आयी हैं। श्रमण परम्परा के सम्बन्ध में भी विद्वानों की यह धारणा दृढ होती जा रही है कि इस परम्परा का मूल आर्येतर है। मोहनजोदडो के उत्खनन से प्राप्त यति की प्रतिमा (जो शिव का प्राक्‌रूप है) सिन्धुघाटी सभ्यता में श्रमण प्रवृत्ति की विद्यमानता को प्रमाणित करती है। इसके विपरीत, आर्य सभ्यता का रुझान लौकिकता और सांसारिकता की ओर है। वेद की ऋचाओं में सोमरसपान, देवताओं के हास्यप्रेम आदि की प्रशंसा की गई है। ऋग्वेद के केशीसूक्त में नग्न केशवाले यतियों की छटा पर स्तम्भन का भाव प्रकट किया गया है।

इस धारणा के पक्ष में यह भी तर्क दिया जाने लगा है कि विरोध और सुधार एक परिधि के अन्तर्गत ही सम्भव होते हैं। बौद्ध धर्म और जैन धर्म उस सुषुप्त श्रमण धारा में आते हैं जो भगवान् गौतम बुद्ध और भगवान् महावीर के व्यक्तित्व के प्रभाव में वैदिक धर्म के समकक्ष आ प्रतिष्ठित हुए। आर्यों ने सिन्धुघाटी सभ्यता के भौतिक रूप को विनष्ट कर दिया, परन्तु श्रमण जैसी मूलप्रवृत्तियाँ सुषुप्तावस्था में विद्यमान रहीं। स्थान और काल के भेद से आर्य-समाज में प्रचलित कर्मकाण्ड, बलिप्रथा, जातिप्रथा आदि की असंगतियों के प्रति असंतोष उत्पन्न हुआ और उनका विरोध भी होने लगा। अपनी समस्याओं का समाधान पाने के आकांक्षी आर्यजन अपने समाज की परिधि के बाहर आ गये। बुद्धत्व की प्राप्ति के पूर्व भगवान् गौतम बुद्ध भी अपनी समस्याओं का समाधान पाने के लिये श्रमण परम्परा में आये। इनके आचार्य एवं सहयोगी श्रमण थे। उन बहिर्गत आर्यजनों का सहयोग पाकर सुषुप्तावस्था में पड़ी श्रमण परम्परा जागृत होने लगी। भगवान् गौतम बुद्ध और भगवान् महावीर के काल तक परिव्राजक, आजीवक, जटिल आदि अनेक नामों से ज्ञात श्रमणों की काफी

बड़ी संख्या उत्तर भारत में थी। बौद्ध साहित्य में निगण्ठनातपुत्त (भगवान् महावीर) को समाहित कर छ: प्रमुख आचार्यों के नाम अनेक स्थानों पर मिलते हैं। उन आचार्यों की प्रतिष्ठा इतनी बढ़ गई थी कि स्वय मगध सम्राट् अजातशत्रु भी उनसे भेंट करने गये थे। यह स्पृहणीय आदर-सत्कार प्रमाणित करता है कि श्रमण जीवन पद्धति समाज मे अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर चुकी थी। सम्भवत: यही कारण है कि भगवान् गौतम बुद्ध और भगवान् महावीर को गृहस्थानुयायियों को अलग से सगठित करने की आवश्यकता नही हुई। इनके विशिष्टानुयायी श्रमण थे जिन्हे सगठित रखने का प्रयास चलता रहा।

श्रमण का शाब्दिक एवं पारम्परिक अर्थ :

श्रमण शब्द श्रम् धातु में अन् प्रत्यय लगाकर बना है। मोनियर विलियम के कोश मे इसका अर्थ 'परिश्रम करना, विशेषकर श्रम-साध्य निम्नकोटि का कार्य करना' है। इस दृष्टि से इसका प्रयोग आत्मपीडन, तप आदि मे सलग्न यति, भिक्षु आदि के लिए हुआ है। आप्टे महाशय के अनुसार मुक्ति की प्राप्ति के लिए ध्यान मे सलग्न व्यक्ति श्रमण है। ब्राह्मण लोग बुद्ध को श्रमण शब्द से सम्बोधित करते थे। पालि साहित्य में 'समणो गोतमो' प्रयोग प्राय मिलता है। पालि साहित्य के अट्ठकथाकारो मे अग्रणी आचार्य बुद्धघोस ने समण (श्रमण) का अर्थ 'समित पापत्ता' (पापों का शमन हो जाना) किया है। इस अर्थ को इस रूप मे भी व्यक्त किया गया है—'समित्त पापानं समणोति'। जिसके पापों का शमन हो चुका है, वह श्रमण है। जैनसाहित्य के स्थानाङ्गसूत्र मे श्रमण की परिभाषा है - 'सममणई तेण सो समणो'। अभिधान राजेन्द्र मे सममणई की व्याख्या इस प्रकार है—'समिति समतया शत्रुमित्रादिषु अणति प्रवर्तते इति समण सर्वत्र तुल्य प्रवृत्तिमान्' (जो शत्रु एव मित्रो मे समान रूप से प्रवृत्त है वह श्रमण है।) स्थानाङ्गसूत्र मे ही श्रमण को 'सु-मन' (सुन्दर मन) वाला कहा गया है—'सो समणो जइ सुमणो भावेण जइ ज होइ पावमणो'।

श्रमण के उपर्युक्त अर्थ श्रमण की व्यक्तिगत आध्यात्मिक उपलब्धि की ओर सकेत करते हैं। परन्तु परम्परा के रूप में श्रमण एक विशिष्ट जीवन पद्धति की ओर इगित करता है जिसकी कुछेक विशेषतायें हैं। इस परम्परा मे वेद और वैदिक कर्मकाण्ड की कोई मान्यता नहीं थी। वे समाज और सामाजिक सगठनो से दूर रहते थे तथा सामाजिक समस्याओ की चिन्ता प्रसगवश ही करते थे। प्रत्येक व्यक्ति अपनी समस्याओ के समाधान एव नयी जीवन-पद्धति के अन्वेषण मे सतत् प्रयत्नशील रहता था। श्रमणधर्म होने के कारण बौद्धधर्म के सम्बन्ध में भी श्रमण परम्परा की विशेषतायें प्रयोज्य हैं।

बौद्ध परम्परा में श्रमण के स्थान पर भिक्षु शब्द का प्रयोग हुआ है। पालि साहित्य मे भिक्खु (भिक्षु) की व्याख्या इस प्रकार की गई है—'भिक्खाचरियं अज्झुपगतोति भिक्खु' (भिक्षा से जीवन-यापन करने वाला भिक्षु है)। एक अन्य पहलू से भी इसकी व्याख्या की गई है - 'ससारे भय इक्खति' (ससार मे भय देखता है)। सासारिक जीवन मे भय देखने वाला ही ससार से निकलने एव तदनुरूप आचरण करने के लिए उद्यत होता है। ऐसे व्यक्तियो के लिए जीवन-यापन का सम्यक् साधन भिक्षा है।

बौद्धधर्म में भिक्षुजीवन

बौद्धधर्म भिक्षुधर्म था। इसके विशिष्टानुयायी भिक्षु थे। बुद्ध ने सारे धर्मोपदेश एव विनय के नियमो का विधान भिक्षुओं को लक्ष्य कर किया था। बौद्धधर्म मे चरमलक्ष्य की प्राप्ति निर्वाण है। निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है—तृष्णा रहित (नि वाण)। निर्वाण वह चरमावस्था है जहाँ पहुँचकर भिक्षु का चित्त आस्रवों से विमुक्त हो जाता है और उसे विमुक्तिज्ञान प्राप्त हो जाता है। उनका जीवन-चक्र समाप्त हो जाता है, ब्रह्मचर्य पूर्ण हो जाता है, करने योग्य सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न हो जाते हैं, पुनर्जन्म नही होता है—'खीणाजाति, वुसितं ब्रह्मचरियं, कत करणीयं, नापर इत्थत्तायाति'।

निर्वाण की प्राप्ति मध्यमाप्रतिपदा से होती है। आत्मपीडन और कामलिप्सा के दो अन्तो से विलग रहते हुए शील समाधि एव प्रज्ञा के मार्ग पर चलना ही मध्यमाप्रतिपदा है। शील से आचरण शुद्ध होता है तथा चित्त परिशुद्ध और शान्त होता है। समाधि द्वारा परिशुद्ध एवं शान्त चित्त मे एकाग्रता आती है जिससे अनित्य दु ख एव अनात्म के ज्ञान का साक्षात्कार होता है। एकाग्रचित्त द्वारा अनित्य, दुःख एव अनात्म के ज्ञान का साक्षात्कार ही प्रज्ञा है। शील समाधि एवं प्रज्ञा के चक्रवाताकारीय मार्ग की परिणति निर्वाण में होती है।

मध्यमाप्रतिपदा पर चलने के लिए भिक्षु जीवन अपनाना अनिवार्य माना गया है। घर-परिवार छोड़, केश मुँड़ मुड़वा, चीवर धारण कर, बौद्धधर्म एवं संघ की शरण में प्रव्रज्या लेना ही भिक्षु-जीवन का प्रारम्भ है। भिक्षुओं के आचार को नियंत्रित करने के लिए विनय विहित नियमों का विस्तृत विधान है। भिक्षुओं की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश है कि 'पिण्डपात' ही भिक्षुओं का आहार होगा, 'रुक्खमूल' ही सयनासन होगा, 'पंसुकूल' से बना चीवर ही परिधान होगा और 'पूतिमुत्त' (गोमूत्र) ही अस्वस्थ हो जाने पर भैषज्य होगा।

भिक्षा प्राप्त करने की सम्यक् विधि 'सपदान चारिका' है। 'सपदान चारिका' करते हुए भिक्षुगण मध्याह्न के पूर्व पार्श्ववर्ती ग्रामों में जाते थे और बिना किसी भेदभाव के एक के बाद एक घर के सामने मौनभाव से कुछ क्षण खड़े होकर भिक्षा ग्रहण करते थे। खाने के लिए पर्याप्त भोजन एकत्र हो जाने पर लौट आते थे। भोजन का संग्रह परिहार्य था। भिक्षा के प्रकार के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का प्रत्यक्ष या परोक्ष संकेत निषिद्ध था। बुद्ध और उनके अनुयायी निमंत्रित किए जाने पर गृहस्थों के घर भी भोजन के लिए जाते थे। चीवर का दान भी भिक्षुओ को मिलने लगा था। आवास के लिए विहारो का दान भी बुद्ध को दिया गया था।

भिक्षुजीवन स्वैच्छिक एवं व्यक्तिपरक था। समाज एवं भिक्षुसंघ के प्रति भी जिम्मेदारियाँ थी पर भिक्षु को सजग रहना पड़ता था कि वे उसके गन्तव्य तक पहुँचने में बाधक न हों। बहुतों के हित के लिए, बहुतों के सुख के लिए (बहुजन हिताय बहुजन सुखाय) सदाचारिका करते रहने का आदेश था। एक साथ एक ही दिशा मे चारिका करना वर्जित था।

बुद्ध के मृत्योपरांत धर्म एवं परम्परा में नया मोड़

बौद्धधर्म एव दर्शन के विकास के क्रम मे स्व-निर्वाण के लिए एकमुखी प्रयत्न को स्वार्थपरक समझा जाने लगा और पर-कल्याण की चिन्ता प्रमुख होती गई। इस प्रकार महायान का जन्म हुआ और स्व-निर्वाण के लिए समर्थ रहते हुए भी स्व-निर्वाण को स्थगित रखकर पर को दुःखमुक्त कराने का आदर्श जीवन का प्रमुख लक्ष्य बन गया। इस परिवर्तन का सीधा प्रभाव भिक्षुओ के आचार में उनकी आहारचर्या पर पड़ा और आमिषाहार का सर्वथा वर्जन कर दिया गया।

सम्राट् अशोक के काल तक भिक्षुसंघ अट्ठारह सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था। महायान के विकास से बौद्ध समाज वैचारिक दृष्टि से दो दलों में विभक्त हो गया। पूर्व के सभी सम्प्रदायों को हीनयानी की सज्ञा मिली। महायान मे पर-कल्याण का लक्ष्य था पर इस लक्ष्य को कार्यरूप देने के लिए भिक्षु को स्वयं समर्थ बनना था और इस हेतु प्रणीत बोधिसत्त्वचर्या अत्यन्त दुरूह एव समयापेक्ष थी। इस त्रुटि को दूर करने का प्रयत्न किया गया और मन्त्र-तन्त्र की साधना के द्वारा बोधि की प्राप्ति को सहज बनाया गया।

मंत्रयान के विकास के साथ ही बौद्धदर्शन में एक नया मोड़ आया। तृष्णा का निरोध, ससार से विरति एव परिशुद्ध ब्रह्मचर्य के पालन के स्थान पर राग ही चरम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन बन गया। इस परिवर्तन से भिक्षुओं की जीवन-चर्या मे पूर्व-वर्जित मद्य, मत्स्य, मांस, मैथुन आदि का विधान पुनः हो गया। ऐसा समझा जाता है कि मद्य आदि शब्दो का प्रयोग सांकेतिक था, परन्तु व्यवहार मे निम्न स्तर पर इनका दुरुपयोग हुआ।

बुद्ध ने भिक्षुसंघ की स्थापना नित्यचारिका मे लगे भिक्षुओ मे की थी, पर शनैः-शनैः भिक्षुओ मे स्थायी निवास की परम्परा चल पड़ी और विदेशो मे बौद्धधर्म एव परम्परा के प्रवेश के काल तक भिक्षु आरामवासी-विहारवासी बन चुके थे। बुद्ध के जीवन काल मे ही बुद्ध और सघ को आरामों-विहारो का दान मिलने लगा था और भिक्षुओं मे स्थायी निवास की परम्परा का प्रारम्भ हो चुका था। आरम्भ मे आराम-विहार नित्यचारिका में रत भिक्षुओ के रात्रि विश्राम एव वर्षावास की अवधि मे त्रैमासिक निवास के उपयोग मे आते थे पर कालान्तर मे भिक्षुगण किसी आराम-विहार-विशेष से सम्बद्ध रहकर वहां के स्थायी निवासी होने लगे। राजाओं एवं धनिकों के उदारतापूर्वक आर्थिक सबल एव सरक्षण पाकर आराम-विहार धनोधान्य से पूर्ण हो गये। सम्राट् अशोक के राज्यकाल मे पाटलिपुत्र के अशोकाराम मे सुख-सुविधायें इतनी बढ़ गयी थी कि भिक्षुवेश में सुख-सुविधा के कामुकों की संख्या ही अधिक हो गयी थी।

विदेशों में बौद्धधर्म एव परम्परा का प्रवेश-प्रचार

सम्राट् अशोक ने बौद्धधर्म की लोकोपयोगिता को देखकर देश-विदेश मे बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार का कार्यक्रम बनाया। उस समय से बौद्धधर्म एव परम्परा एशियाई देशो मे प्रविष्ट हुई और अबाधगति से सवर्धित होती गई। यह वर्तमान मे भी अधिकांश देशों में अक्षुण्णतः जीवित है। इन देशो की बौद्ध-श्रमण परम्परा को मोटे तौर पर तीन भागों—थेरवादी, महायानी और लामाधर्म—मे विभक्त कर देखना चाहेंगे।

थेरवादी परम्परा :

दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में थेरवादी परम्परा है। थेरवाद बौद्धधर्म के अट्ठारह सम्प्रदायों में एक मात्र जीवित सम्प्रदाय है। यह सम्प्रदाय रूढ़िवादी रहा है। सम्राट् अशोक के संरक्षण में इस सम्प्रदाय की एक संगीति पाटलिपुत्र में हुई जिसमें धर्म-विनय का पुनः संगायन हुआ। संगीति के उपरान्त धर्म-प्रचारक भेजे गये। वे धर्म-प्रचारक अवश्य ही थेरवादी धर्म-विनय एवं तत्कालीन परम्परा को इन देशों में ले गये।

श्रीलंका (तत्कालीन सिंहल) में भेजे गये धर्म-प्रचारकों में प्रमुख सम्राट् अशोक के पुत्र महेन्द्र थे। उनकी पुत्री संघमित्रा भी धर्म-प्रचारकों में एक थीं। उस समय श्रीलंका में देवानाम् प्रियतिस्स का राज्यकाल था। बौद्धधर्म के प्रवेश के पूर्व वहाँ कौन-सा धर्म था इसका ऐतिहासिक विवरण नहीं मिला है। बौद्धधर्म को राजा और प्रजा दोनों ने सहर्ष स्वीकार किया। लोग घर-परिवार छोड़कर भिक्षु भी बनने लगे। शनैः शनैः सम्पूर्ण देश बौद्ध हो गया। श्रीलंका में प्रवेश के पूर्व ही भिक्षु आरामवासी-विहारवासी बन चुके थे। वहाँ भी आराम-विहार बनने लगे और भिक्षु किसी आराम-विहार-विशेष से सम्बद्ध हो गये। इस प्रवृत्ति ने अभयगिरिवासियों और महाविहार-वासियों के बीच प्रतिस्पर्धा को जन्म दिया जो आगे चलकर संघ में विभाजन का कारण बना। फिर भी, धर्म विनय एवं परम्परा अक्षुण्ण रही। ईसा पूर्व पहली शताब्दी में सर्वप्रथम सम्पूर्ण बुद्धवचन को लिपिबद्ध किया गया जो पालितिपिटक के रूप में आज हमें उपलब्ध है। यह तिपिटक ही श्रीलंका के बौद्ध धर्म एवं परम्परा का आधार है। अतः वहाँ का बौद्ध धर्म एवं उसकी परम्परा भारतीय बौद्ध धर्म एवं परम्परा की अटूट शृंखला है जिसे सम्राट् अशोक के धर्म-प्रचारक वहाँ ले गए थे।

दक्षिण पूर्व एशियाई देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में भी श्रीलंका ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है और उसका बौद्धधर्म एवं उसकी परम्परा सर्वमान्य मापदण्ड रहा है। बर्मा भौगोलिक दृष्टि से श्रीलंका की अपेक्षा भारत का पार्श्ववर्ती है और स्थलमार्ग से सम्बद्ध है। ईसा पूर्व में ही बौद्धधर्म दुर्गम पर्वतीय मार्ग को पारकर वहाँ पहुंच गया था। परम्परानुसार सम्राट् अशोक के धर्म-प्रचारक, सोन और उत्तर, सुवर्णभूमि (बर्मा) में धर्म-प्रचार के लिए गये थे। प्रारम्भ में, थेरवाद के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों का भी प्रवेश वहाँ हुआ, परन्तु बारहवीं शताब्दी के अन्त में वहाँ सिंहल परम्परानुकूल भिक्षुसंघ की स्थापना हुई जो कालान्तर में सम्पूर्ण बर्मा में मान्य हुई। बर्मा ने भी श्रीलंका की तरह थेरवाद धर्म एवं परम्परा के संयोजन में अविस्मरणीय योगदान किया है।

थाईलैण्ड, लाओस और कम्पुचिया सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि से क्षेत्रीय एकाई के रूप में थे। कम्पुचिया पाँचवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म के प्रभाव में आया। उस समय तक वहाँ हिन्दू धर्म भी लोकप्रिय बना हुआ था। कम्पुचिया के पूर्व ही थाईलैण्ड (तत्कालीन स्याम) में बौद्धधर्म का प्रवेश हो चुका था। चूँकि सम्पूर्ण क्षेत्र कम्पुचिया के राजनैतिक प्रभुत्व में था, इस कारण कम्पुचिया की धार्मिक स्थिति का थाईलैण्ड और लाओस पर प्रभाव पड़ता रहा और बौद्धधर्म एकच्छत्र होकर नहीं फैल सका। तेरहवीं शताब्दी में थाईलैण्ड ने कम्पुचिया के राजनैतिक प्रभुत्व को समाप्त किया और लाओस पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इससे इस क्षेत्र में थेरवाद को राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ और तबसे इस क्षेत्र में थेरवाद का प्रचार-प्रसार हो गया। थाईलैण्ड का प्रभुत्व बढ़ने से ही वहाँ की धार्मिक स्थिति का प्रभाव अब कम्पुचिया पर पड़ने लगा। धीरे-धीरे हिन्दू धर्म का प्रभाव कम होता गया और थेरवाद उभरकर एक-च्छत्र होकर सम्पूर्ण क्षेत्र में फैल गया। वर्तमान में भी इस क्षेत्र के तीनों देशों में थेरवादी बौद्धधर्म ही एकमात्र लोकधर्म है। थाईलैण्ड में इसे राजधर्म का श्रेय प्राप्त है।

वियतनाम (प्राचीन चम्पा) सामाजिक-राजनैतिक दृष्टि से चीन के अधिक सन्निकट रहा है। तीसरी शताब्दी तक वहाँ बौद्धधर्म का प्रवेश हो चुका था। चीनी यात्री इत्सिंग के अनुसार वियतनाम में अधिकतर आर्य सम्मितीय सम्प्रदाय के अनुयायी थे। महायान का भी प्रचार हुआ। वर्तमान में भी वहाँ हीनयान और महायान दोनों परम्पराएं विद्यमान हैं पर वहाँ की हीनयानी परम्परा श्रीलंका आदि की परम्परा से भिन्न है। वहाँ के हीनयानी पालितिपिटक के समानान्तर चीनी में अनुवादित अन्य सम्प्रदाय के धर्म विनय का अनुसरण करते हैं।

इन्डोनेशिया और मलेशिया में इस्लाम के पूर्व हिन्दू और बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार हुआ था। प्राचीन में सुवर्ण द्वीप के नाम से अभिहित यह क्षेत्र सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र था। भारत से नालन्दा महाविहार के आचार्य धर्मपाल के वहाँ जाने का विवरण मिलता है। विक्रमशिला के प्राचार्य अतीश दीपङ्कर भी सुवर्ण द्वीप के संघाचार्य के पास किसी समय धर्म की शिक्षा लेने के लिए वहाँ गये थे। कालान्तर में यह सम्पूर्ण क्षेत्र इस्लाम हो गया पर हिन्दू और बौद्ध संस्कृति के चिह्न अभी भी वहाँ विद्यमान हैं।

श्रीलंका से लेकर कम्पुचिया तक थेरवाद एवं उसकी परम्परा पूर्ण ओजस जीवित है। यद्यपि इन देशों की श्रमण परम्परा में भौगोलिक एवं अन्य कारणों से विलगाव है, पर थेरवादी होने के कारण श्रमण परम्परा के स्वरूप में एकरूपता है। श्रमण जीवन का चरम लक्ष्य, भिक्षु बनने की प्रक्रिया, भिक्षुओं की जीवनचर्या आदि वैसी ही है जैसी पालितिपिटक में वर्णित है। इस रूप में इन देशों की परम्परायें हमें विदेश गमन के पूर्व की भारतीय थेरवादी परम्परा की झाँकी उपस्थित करती है। यहाँ काल और स्थान के कारण कुछ सुधार एवं परिवर्तन भी स्पष्ट रूप से किए गए हैं। इन देशों में बौद्धधर्म एवं परम्परा के प्रवेश के पूर्व ही भिक्षु आरामवासी-विहार-वासी बन चुके थे। इन देशों में भी धर्म के प्रवेश के साथ ही आराम-विहार बनने लगे थे और भिक्षु किसी आराम-विहार-विशेष से

सम्बद्ध रहने लगे थे। आज भी भिक्षुओं का अपना-अपना विहार है। नित्य चारिका करते रहने का विधान नियम मात्र ही रह गया है। कभी-कभी भिक्षु सपदानचारिका करते हैं, निमंत्रित किये जाने पर गृहस्थो के घर भी भोजन के लिए जाते हैं, पर साधारणत आरामों-विहारों में ही वहाँ के भिक्षुओ का भोजन एक साथ बनता है। भोजन के प्रकार के प्रति कोई विभेद नही किया जाता है। मध्याह्न तक दिन में एकबार ही भोजन करने का नियम है। गृहस्थो द्वारा दिया गया दान ही भिक्षुओं का आर्थिक स्रोत है। किसी प्रकार की नौकरी भिक्षु नही कर सकते। आज के बदलते परिवेश में भिक्षुओं का रहन-सहन भी बदलता जा रहा है और दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नाना प्रकार की चीजो का संचय एवं उन्हे प्राप्त करने के लिए अर्थ रखने की प्रथा भी सामान्य जीवन पद्धति में आ गई है।

भारत में बौद्धधर्म के उदय के पूर्व ही गृहस्थ जीवन धार्मिक रूप से सुव्यवस्थित था। बुद्ध को उनके लिए नई जीवन पद्धति के अन्वेषण की आवश्यकता नही पड़ी। बौद्ध धर्म एव संघ मे आस्था रखने वाले गृहस्थो के लिए बुद्ध ने मात्र पञ्चशील (हिंसा, स्तेय, कामवासना में व्यभिचार, असत्य एव मद्यपान से विरति) तथा समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यो के निर्वाह आदि के उपदेश दिए थे। ये सब भी अल्परूप थे और प्रसंगवश ही दिए गए थे। भिक्षुगण गृहस्थो के लिए किसी प्रकार के धार्मिक कृत्य का सम्पादन नही करते थे। गृहस्थो द्वारा आमंत्रित किए जाने पर भोजनोपरान्त केवल धर्मोपदेश करते थे। गृहस्थ स्वय भी धार्मिक कृत्य के रूप मे त्रिशरण गमन और पंचशील के पालन के सकल्प को दुहराते थे।

बौद्ध धर्म के प्रवेश-प्रचार के पूर्व इन देशो मे कोई अपना प्रवर्तित धर्म नही था। अत बौद्धधर्म वहाँ लोकधर्म बन गया। फलत. गृहस्थों के लिए बौद्धधर्म के आदर्शों के अनुरूप एक जीवन पद्धति को उभारना अनिवार्य था। गृहस्थो के सभी अनुष्ठानों एव धार्मिक कृत्यो के अवसर पर भिक्षु उनके घर जाते है और उनका सम्पादन कराते है। उनके कल्याण एव शान्ति के लिए मगल पाठ करते हैं। भिक्षु कुछ हद तक हिन्दू समाज के ब्राह्मणो के समान गृहस्थो के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाते है।

इन देशो मे विशेषकर थाईलैण्ड, लाओस और कम्पुचिया मे बौद्धधर्म के लोकधर्म बनने के साथ-साथ जीवन मे भिक्षु बनना तक आवश्यक धार्मिक कृत्य हो गया है। प्रत्येक व्यक्ति जीवन मे एकबार भी कुछ समय के लिए ही सही, भिक्षु अवश्य बनता है। भिक्षु बनकर जीवन पर्यन्त भिक्षु बने रहना श्रेयस्कर है भिक्षु समाज मे सर्वश्रेष्ठ माने जाते है एव उन्हे समाज के सभी वर्ग के लोगो का सम्मान मिलता है। फिर भी भिक्षु जीवन से गृहस्थ जीवन मे लौट आना हेय नही समझा जाता। अधिकतर लोग निश्चित अवधि के लिए भिक्षु बनते है और पुन: गृहस्थ जीवन मे लौट आते हैं।

महायानी परम्परा :

सम्राट् अशोक के पौत्र विजय सभव ने खोतान मे बौद्धधर्म का प्रचार किया। शक, कुशान एव भारतीय व्यापारियो ने धर्म के प्रचार-प्रसार मे महत्त्वपूर्ण योग दिया। इस्लाम के प्रसार के पूर्व सम्पूर्ण पूर्वी तुर्किस्तान बौद्ध था। पूर्वी तुर्किस्तान मे बौद्धधर्म चीन पहुचा। बाद मे भारत और चीन के बीच सीधा सम्पर्क स्थापित हो जाने पर भारतीय भिक्षु चीन जाने लगे। प्रथम शताब्दी के लगभग चीन मे बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ और शीघ्र ही उसे राजकीय मान्यता मिल गई। चौथी शताब्दी तक बौद्धधर्म की गतिविधियाँ काफी तेज हो गई थी। भारत मे सभी सम्प्रदायो के ग्रथ बहुतायत मे वहाँ पहुच गए थे और भारतीय एव चीनी भिक्षुओं के सम्मिलित प्रयास से उन ग्रन्थो का अनुवाद होना भी प्रारम्भ हो चुका था। चीनी भिक्षु भी अपनी जिज्ञासा की शान्ति के लिए नये-नये ग्रन्थो की खोज कर रहे थे। उन्ही जिज्ञासु भिक्षुओं मे एक फाहियान थे जो पाचवी शताब्दी मे भारत आये। फाहियान के बाद आने वाले चीनी यात्रियो मे ह्वेनसाग और इत्सिग का नाम अग्रणी है। बौद्धिक स्तर पर सभी सम्प्रदायो के ग्रन्थो का अध्ययन चीन मे हुआ, पर लोक धर्म के रूप में महायान ही यहाँ स्वीकृत हुआ। साम्यवादी होने के पूर्व तक चीन महायानी देशो मे अग्रणी था।

बौद्धधर्म के प्रवेश के समय चीन भारत के समान ही सभ्यता एव संस्कृति मे उन्नत था। कन्फ्यूशियस बुद्ध के समकालीन थे. उनके सामाजिक दर्शन एव नैतिक शिक्षा ने चीन के सामाजिक सगठन को सुदृढ आधार प्रदान कर दिया था। लाओत्सु के तत्त्व चिंतन में उन्हे एक गूढ दर्शन भी मिल चुका था जिसमे प्रकृति के उन नियमो का निरूपण किया गया था जिनमे सम्पूर्ण विश्व नियत्रित होता है। परन्तु कन्फ्यूशियस और लाओत्सु के चिन्तन मे धार्मिक तत्त्व नही थे जिनके अभाव मे मनुष्य सम्पूर्ण भौतिक एव बौद्धिक समृद्धि के बाद भी पूर्णता का अनुभव नही कर पाता है। कार्य-कारण के सिद्धात पर आधारित पुनर्जन्म का सिद्धान्त, निर्वाण का चरम लक्ष्य, पर-कल्याण का आदर्श आदि ने एक ओर बुद्धिजीवियों को प्रभावित किया, वही दूसरी ओर बुद्ध के रूप मे श्रद्धा एव आस्था का केन्द्र बिन्दु एव दुःख दौर्मनस्य में उनका शरण ने साधारणजन मे सुरक्षा का भाव उत्पन्न किया। चीन मे पूर्व में भी ईश्वर की कोई कल्पना नही थी। बौद्ध धर्म भी अनीश्वरवादी था। स्वपरिश्रम से चरम लक्ष्य की प्राप्ति जैसा जीवन दर्शन उनके अनुरूप था। महायान के पर-कल्याण का आदर्श और कन्फ्यूशियस का अपत्यवत् स्नेह एवं सामाजिक सम्बन्धो की अतिशय चिन्ता के मध्य कोई आन्तरिक विरोध नही था। बौद्धधर्म सभी स्तरों पर स्वीकृत हुआ और कन्फ्यूशियस और लाओत्सु के धर्म के साथ मिलकर जनजीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने मे पूरक बन

गया। साधारणत: प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक संगठन एवं सम्बन्धों मे कन्फ्यूसियस के आदर्श को मानता, ज्योतिष सम्बन्धी बातों में लाओत्सु के ताओवाद का अनुसरण करता और आध्यात्मिक आकांक्षाओं की सन्तुष्टि बौद्ध धर्म की शिक्षा-दीक्षा मे पाता था।

बाह्य जीवन में थेरवादी और महायानी भिक्षुओं के बीच विशेष अन्तर नही है। महायानी एवं हीनयानी भिक्षुओं की चर्या में जो अन्तर आ पड़ा, वह महायान में बोधिसत्त्व चर्या के विकास के कारण हुआ। बोधिसत्त्व के लिए आमिषाहार सर्वथा निषिद्ध है। भौगोलिक आवश्यकताओं के रहते भी चीन मे भिक्षु निरामिष भोजन ही करते थे। कुछ तो दूध का भी वर्जन करते थे। भारत में ही विभिन्न सम्प्रदायो के बीच चीवर मे अन्तर आ पड़ा था। थेरवादी भिक्षुओं के चीवर मे यहा के भिक्षुओं का परिधान भी बदल गया है।

समाज के प्रति भिक्षुओं की जिम्मेदारियाँ भी हीनयानी भिक्षुओं की अपेक्षा सिद्धान्तत अधिक थी क्योंकि ये पर-कल्याण के आदर्श मे विश्वास करने वाले थे। भिक्षु साधारणजन की धार्मिक-आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूरा करते थे।

चीन से बौद्ध धर्म कोरिया मे गया। कोरिया के सामाजिक गठन का आधार भी कन्फ्यूसियस का सामाजिक दर्शन था। कोरिया मे बौद्ध धर्म का प्रचार चीनी बौद्ध धर्म एव परम्परा का ही विस्तार मात्र था। कालान्तर मे स्थानीय विशेषतायें भी उभर आयीं और कोरियाई बौद्धधर्म का एक अपना स्वरूप भी बन गया। कोरिया के ही सम्पर्क से बौद्धधर्म जापान गया, परन्तु शीघ्र ही जापान की दृष्टि चीन की ओर पड़ी और जापान ने चीनी बौद्ध धर्म एव परम्परा को हूबहू अपना लिया। प्रारम्भ मे बौद्ध धर्म उच्च वर्ग के लोगों के मध्य ही फैल सका और उस अवस्था मे वह चीनी बौद्ध धर्म एव परम्परा का विस्तार मात्र था। तेरहवी शताब्दी मे इसे राष्ट्रीय रूप देने एव साधारण जन मे लोकप्रिय बनाने के लिए प्रयास किया जाने लगा। इसमे पूर्ण सफलता मिली और बौद्धधर्म शीघ्र ही यहाँ का लोक धर्म बन गया। इस काल मे श्रमण परम्परा मे एक ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मोड आया। सिनरान ने विवाहित भिक्षु जीवन की प्रथा का प्रारम्भ किया। वर्तमान मे स्थिति यह है कि कुछेक सम्प्रदायों मे ही भिक्षु बनने और आजीवन ब्रह्मचर्य के पालन की प्रथा शेष रह गई है। साधारणजन के लिए धार्मिक कृत्यों एव अनुष्ठानो के सम्पादन करने वाले मंदिरो के अधिकारी वर्ग का उदय हुआ जो हिन्दू समाज के ब्राह्मण वर्ग के समकक्ष प्रतीत होते है। ये धार्मिक कार्यों के सम्पादन के समय एक विशेष प्रकार का परिधान पहनते हैं और शेष समय मे गृहस्थ जैसा जीवन व्यतीत करते है।

इस शताब्दी मे विशेषकर द्वितीय विश्व युद्ध के कुछ पूर्व मे जापानी बौद्ध परम्परा मे एक और महत्त्वपूर्ण मोड आया है—वह है गृहस्थ बौद्ध सम्प्रदायो का जन्म। इन सम्प्रदायो के अपने अनुयायी है, अपना मंदिर है, अपने धार्मिक एव गैर-धार्मिक संस्थान है। धार्मिक कृत्यों का सम्पादन वे स्वयं करते है। आज भौतिक सुख-सुविधाये और बढ़ते भाग-दौड ने व्यक्ति के जीवन मे मानसिक तनाव पैदा कर दिया है. मानवीय गुणो का ह्रास हो रहा है और व्यक्ति 'स्व' मे केन्द्रित हो विलगाव की भावना का शिकार बनता जा रहा है। बुद्ध के बताये मार्ग पर चलकर अपने बदलते परिवेश के बीच व्यक्ति किस प्रकार मानसिक संतुलन बनाये रख सकता है और सबके साथ सुखी जीवन जी सकता है, यही इन सम्प्रदायों की मुख्य समस्यायें है।

जापान मे भिक्षु जीवन वही था जो चीन और कोरिया मे, पर बौद्ध धर्म के राष्ट्रीकरण एवं उसके सिद्धान्त को जीवन मे उतारने के क्रम मे भिक्षुओं का कार्यक्षेत्र भी विस्तृत हो गया। वे धार्मिक ग्रन्थो के अध्ययन-अध्यापन मे सिमटे रहने की अपेक्षा सम्पूर्ण सभ्यता एवं संस्कृति के विकास मे पूर्ण योगदान करने लगे। परिणामस्वरूप चित्रकला, उद्यान, फूल सज्जा, टी सिरेमनी आदि का विकास हुआ। आज ये चीजे जापान की अपनी विशेषतायें बनी है और जापान के लोगों का सम्पूर्ण जीवन सौन्दर्यपरक हो गया है। इन सबके विकास का श्रेय बौद्ध भिक्षुओं को ही है।

तिब्बत का लामा-धर्म .

तिब्बत मे बौद्ध धर्म का प्रवेश सातवी शताब्दी मे चीन एवं नेपाल के सम्पर्क मे आने पर हुआ, परन्तु शीघ्र ही तिब्बत भारत की ओर मुड़ा और वहा भारतीय भिक्षुओं के सहयोग से धर्म का प्रचार-प्रसार हुआ। उस समय भारत मे बौद्धधर्म एव दर्शन के विकास का अन्तिम चरण, मंत्र-तन्त्र का युग था। बौद्धधर्म के प्रवेश के पूर्व तिब्बत की सभ्यता एवं संस्कृति विकसित नही थी। धर्म के नाम पर लोगो के बीच फैला अन्धविश्वास एव प्राकृतिक शक्तियों की उपासना ही लोकधर्म था जिसे बौद्धधर्म के सहयोग से बोन धर्म के रूप मे विकसित किया गया। तिब्बत की भौगोलिक स्थिति, उसका बौद्धिक स्तर एव जन-विश्वास की पृष्ठभूमि में तांत्रिक बौद्ध धर्म लोगों के अधिक अनुकूल सिद्ध हुआ और सम्पूर्ण तिब्बत मे इसी का प्रचार-प्रसार हुआ। परन्तु तांत्रिक बौद्धधर्म का धार्मिक स्वरूप वहां के लोगों के विश्वास, रीति-रिवाज आदि के साथ मिलकर एक नये रूप मे उभर आया जिसे लामाधर्म के नाम से अभिहित किया गया।

लामा का अर्थ है—गुरु। तिब्बत में तांत्रिक बौद्धधर्म के प्रचार का श्रेय पद्मसंभव को है। सर्वप्रथम लामा शब्द से उन्हें ही सम्बोधित किया गया। परन्तु, कालान्तर में सभी बौद्ध भिक्षुओं के लिए लामा शब्द का व्यवहार होने लगा और इस अर्थ में यह शब्द भिक्षु का पर्याय हो गया। वर्तमान मे स्थिति यह है कि साधारणतः हम जिस किसी-तिब्बती को भी लामा कह देते हैं।

लामाधर्म की एक खास विशेषता है उसका अवतारवाद। बौद्धधर्म मे पुनर्जन्म की बात है पर अवतार की बात मात्र लामाधर्म में ही है। अनेको अवतारी लामाओं की परम्परायें तिब्बत में हैं। ये अवतारी लामा मृत्यूपरान्त पुन जन्म लेते हैं और उनके श्रद्धालु अनुयायी उन्हे खोज निकालते हैं। अवतारी लामाओ मे सर्वोपरि दलाई लामा और पन्चेन लामा हैं। दलाई लामा गेलुपा सम्प्रदाय के प्रमुख एवं तिब्बत के राज्याधिपति होते हैं और पन्चेन लामा को सिद्धान्तत. दलाई लामा का धर्मगुरु माना जाता है।

लामा लोगो की चरिया मे अन्य भिक्षुओ की अपेक्षा एक विशेषता यह है कि वे पूर्णरूपेण अपने को आध्यात्मिक चिंतन में निमग्न रखते हैं। आध्यात्मिक साधना ही उनका सम्पूर्ण जीवन है। धार्मिक ग्रंथो का पाठ इस साधना का प्रमुख अंग है।

सोलहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे तिब्बत के लामाधर्म का प्रचार मंगोलिया मे हुआ। गेलुपा सम्प्रदाय के द्वितीय प्रमुख अवतारी लामा सोनम ग्यत्से ने मंगोलिया के एक प्रमुख मंगोल सेनानायक आलताई खाँ को लामाधर्म मे दीक्षित किया और मंगोलिया में लामा धर्म का प्रचार किया। सोनम ग्यत्से के धर्म ज्ञान मे प्रभावित होकर आलताई खाँ ने उन्हे 'दलाई' की उपाधि से सम्मानित किया। उस समय से उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती अवतारी दलाई लामा कहलाते हैं। दलाई मंगोल शब्द है और इसका अर्थ है—ज्ञान का सागर। परम्परा मे मंगोलिया का बौद्धधर्म तिब्बती लामाधर्म के समरूप ही है। मंगोलिया की बौद्ध श्रमण परम्परा लामा परम्परा का विस्तार है।

भारत बौद्ध-श्रमण परम्परा का अन्त्योदय

बौद्ध श्रमण परम्परा अपनी जन्मभूमि मे ही मर गई। ऐसी मान्यता है कि नवी शताब्दी मे ही शंकराचार्य ने इसकी जड खोद डाली थी और बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी मे तुर्की हमलावरो ने इसके प्रतिष्ठानों को लूट-खसोट कर इसे दफना दिया। वाह्य कारण जो भी रहे हो, बौद्धधर्म स्वय अपनी परम्परा को मृत्युन्मुखी बनाने के दोष से मुक्त नही है। कट्टरवादिता के कारण जैन श्रमण परम्परा हिन्दू धर्म एव परम्परा के समानान्तर अपना अस्तित्व बनाये रखने मे समर्थ रही। बौद्धधर्म मे कट्टरवादिता नही थी। सह-अस्तित्व एव सामजस्य का पक्षधर था। विचारो मे सतत् विकासोन्मुखी था और उसमे असीम ग्राह्यता एव लोच थी। इन्ही गुणो के कारण बौद्धधर्म एशियाई देशो मे अंगीकृत हुआ और आज भी जीवित है। परन्तु ये ही गुण भारत मे बौद्धधर्म एव परम्परा के ह्रास के कारण बने। रबड की तरह इसके धर्म-दर्शन के अतिशय विस्तार से इसका अपना रंग फीका पडता चला गया और हिन्दू धर्म-दर्शन से इसके विलगाव की दूरी प्राय समाप्त होती गई। अपने विकास के तृतीय क्रम से यह वही पहुँच गया जहां से हटकर इसने एक विशिष्ट स्थान ग्रहण किया था और एक विशिष्ट जीवन-दर्शन के रूप मे उभर कर अपनी उपयोगिता एवं उपादेयता सिद्ध की थी। शील समाधि एव प्रज्ञा की भावना ही प्रारम्भ मे आध्यात्मिक चरमोत्कर्ष पर पहुचने का मार्ग था। महायान के विकास तक पहुचते-पहुँचते यह धर्म स्वय कर्मकाण्डों के चक्कर मे आ गिरा और तन्त्रयान के अन्तिम चरण मे आकर समाज के निम्न उपेक्षित वर्ग की चीज बन कर रह गया। धीरे-धीरे सम्पूर्ण समाज के लिए इसकी उपयोगिता जाती रही और इसकी जीवनधारा सूखती चली गई।

इस शताब्दी में बौद्ध धर्म का पुनर्जागरण हुआ है। पश्चिमी विद्वानो के सम्पर्क से भारतीय विद्वानो का ध्यान भी बौद्धधर्म एवं परम्परा की ओर गया और इसके अध्ययन-अध्यापन का प्रारम्भ हुआ। इसके मानने वालो का भी उदय हुआ। डा० अम्बेडकर के प्रभाव से बड़ी संख्या मे लोग इस धर्म में प्रवर्तित हुए। ये नव-बौद्धधर्मावलम्बी पश्चिम मे ही हैं। पूर्व मे, विशेषकर असम, बंगाल और बंगलादेश के कुछ भागों में भी बौद्ध समुदाय है। ये अटूट परम्परा के अंग हैं। बौद्धधर्म प्राय. विनष्ट हो गया था, पर पूर्व के कुछ बीहड़ प्रदेशों मे जीवित रहा। समय-समय पर बर्मा और थाईलैन्ड से बौद्ध धर्मावलम्बी भी आकर परम्परा को जीवित रखने मे सहायक बने। अब पुनरुत्थान की हवा में आकर नव-जीवन पा लिया है।

एशियाई श्रमण परम्परा के स्वरूप एव इतिहास पर हमने एक विहङ्गमदृष्टि डाली। यह विडंबना ही है कि समाज से दूर रहने वाले श्रमणों ने भारत एवं अन्य देशो में एक सुसंस्कृत समाज के निर्माण मे अमूल्य योगदान दिया है। विशेषकर, उन देशों में जहां बौद्ध धर्म एवं परम्परा के प्रवेश के पूर्व विकसित सभ्यता एवं संस्कृति नहीं थी, वहां की सभ्यता, संस्कृति, कला एवं साहित्य का विकास बौद्ध धर्म एवं परम्परा के सम्पर्क में आकर ही हुआ। दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व के देशों में बौद्धधर्म ग्रन्थों की भाषा पालि ही है जो बुद्धवचन

की मूल भाषा के सन्निकट की प्राचीन भारतीय भाषा है। इन देशों की भाषाओं में पालि के शब्द बहुतायत में मिलते हैं। तिब्बती साहित्य तो विशुद्ध रूप से बौद्ध साहित्य है। समुन्नत चीनी भाषा और साहित्य भी बौद्ध धर्म एवं परम्परा से मिलकर और अधिक समुन्नत और समृद्ध हुए। गांधीजी के तीन बन्दर जो उन्हें चीन से प्राप्त हुए थे, उनकी कहानी भी बौद्धधर्मोद्भूत है। सम्पूर्ण जापान में पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन के रूप में मनाया जाने वाला लोक नृत्य एव लोक गीतो से सराबोर उराबोन उत्सव का स्रोत उलम्बन सूत्र है जिसमें धर्म सेनापति महामौद्गल्यायन द्वारा अपनी मा की सद्गति के लिये किए गये प्रयत्न की कथा है। जापान का विश्वप्रसिद्ध 'नो' ड्रामा बौद्ध मन्दिरों में बौद्ध भिक्षुओं द्वारा विकसित हुआ है। तिब्बती मंदिरो मे आकर्षक नृत्य और सगीत का सम्पादन होता है। चित्रकला मे तिब्बती थंका विश्वप्रसिद्ध है और इसकी विषय-वस्तु बौद्ध शास्त्रो मे वर्णित बुद्ध, बोधिसत्व एव उनका लोक है। कम्पुचिया के आंकोर-वाट् और इन्डोनेशिया के बोरोबुदुर के मन्दिर स्थापत्य कला के अपूर्व नमूने हैं। बर्मा के पैगोडा, थाईलैन्ड के वाट्, तिब्बती गोम्फा में अनेकों अपनी भव्यता के और कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध हैं। जापानी मन्दिर काष्ठनिर्मित ही है, पर उनमे लगा उद्यान उनके सौम्य वातावरण को और सौम्य बना देता है। क्योतो के रियोआनजी का विश्वविश्रुत राक् गार्डेन, सीमित में असीमित को आभासित करने का मानव प्रयास अद्वितीय है। अपने देश मे भी अजन्ता की चित्रकारी, साची का भव्य स्तूप, नालन्दा महाविहार का विशाल भग्नावशेष एक अति सुसंस्कृत समाज के उत्कर्ष की मूल गाथाएँ है।

एशियाई बौद्ध श्रमण परम्परा की एशिया के बदलते राजनैतिक परिवेश मे क्या स्थिति रहेगी, यह कुछ देशो मे स्पष्ट नहीं है, विशेषकर, साम्यवादी देशो मे। चीन के साम्यवादी होने के साथ श्रमण परम्परा वहां समाप्त कर दी गई है, ऐसा अनुमान किया जाता है। पर विश्व मच पर बौद्धधर्म के अध्ययन और उसकी उपयोगिता की बात जहा होती है, चीन भी उसमे भागीदार बनने लगा है। चीन के रास्ते ही अन्य साम्यवादी देश भी जायेगे, यह सोचना भी तर्क-सगत है। अन्य देशो मे यह परम्परा पूर्ण ओजस: जीवित है और वर्तमान मे भी इसकी उपयोगिता का अनुभव सभी स्तरों पर किया जा रहा है। बौद्धेतर देशो मे भी इसकी लोकप्रियता बढ रही है। जैनधर्म एव परम्परा जो स्वदेश के ही विशेष वर्ग मे सिमट कर रह गई है, अपनी परिधि से निकलकर सम्पूर्ण मानव-समाज के लिए कार्य करे तो मानवीय गुणो के विकास एवं मानवीय समस्याओ के समाधान मे सहयोग मिलेगा और एक सुन्दर समाज के निर्माण का आदर्श साकार होगा।

सब का दुःख ही मेरा दुख है

जो अस्तित्व है, वही जीवन है। जीवन एक निधि है जिसके मूल्य न शून्य है, न क्षणिक। यह महाचैतन्य की अभिव्यक्ति है। जब व्यक्ति जीवन को कर्म की ओर मानता है, और उस कर्मण्यता मे मानव की हित-चिंता का अमृत मिलता है, तभी वह सतुलित स्थिति प्राप्त करता है। इस सम्बन्ध मे रन्तिदेव का यश ध्यान देने योग्य है। राजा रन्तिदेव को जो धन प्राप्त होता उसे वे स्वय भूखे और निर्धन रहकर दूसरो को द डालते थे। यो अडतालीस दिन बीत गए और भूख-प्यास का दु ख सहते हुए कही से रसहार उन्हे मिला। उसी समय ब्राह्मण अतिथि आ गया। श्रद्धा से प्रेरित रन्तिदेव ने अपना कुछ भाग उसे दे दिया। उस अतिथि मे विष्णु के दर्शन उन्होने किए। ब्राह्मण खाकर चला गया। उसी समय एक शूद्र आया। रन्तिदेव ने उसमे भी भगवान का रूप देखा और एक भाग उसे दे दिया। उसके चले जाने पर कुत्तो से घिरा हुआ एक श्वपाक चाडाल आया और भख की टेर लगाकर राजा से कुछ खाने को मागा। राजा ने जो बचा था, वह भी आदर के साथ उसे देकर श्वपाक और उसके श्वगण को प्रणाम किया। अब केवल एक व्यक्ति के लिए पर्याप्त भोजन बच रहा था। जैसे ही उन्होने उसे पीना चाहा की एक पुल्कस ने आ कर आवाज लगाई, "मुझ अपवित्र को भी कुछ जल दो।" उसकी वह करुणा वाणी सुनकर रन्तिदेव का मन सतप्त हो गया और उन्होने प्यास से मरणप्राय होते हुए भी वह पानी उसे देते हुए निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण किया :—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ॥
आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तः स्थितो येन भवन्त्यदुःखा ।

मै भगवान से अपने लिए सद्गति नही चाहता, न आठ सिद्धियों से युक्त सम्पत्ति ही, न मोक्ष या निर्वाण की मुझे चाह है। मेरी तो यही इच्छा है कि सब देह-धारियों का दु ख सिमट कर मेरे ही अन्तःकरण मे भर जाए, जिससे वे दु ख से छूट सकें। उस युग के लेखक ने इस भावना को अमृत वचन (अमृत वच) कहा है। सचमुच मानव के कंठ से निकलनेवाली इस प्रकार की वाणी मृत्यु-रहित ही है। पूर्व युग मे यह परम भागवतों और बोधिसत्वो की वाणी थी और आज के युग मे अपने-आप को मानव हित मे विगलित करनेवाले महात्माओ की वाणी भी यह है।

□डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल
(राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त अभिनन्दन ग्रंथ की भूमिका से साभार

जैन धर्म, जैन-दर्शन तथा श्रमण संस्कृति

—डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे

जैन धर्म की गणना संसार के प्रमुख, प्रभावपूर्ण एवं प्रतिष्ठित धर्मों में की जाती है। जैन धर्म और जैन समाज ने एक स्वस्थ तथा प्रौढ़ आचारसंहिता का निर्माण किया है जिसे हम श्रमण-संस्कृति के नाम से अभिहित करते हैं। इस संस्कृति के विश्व की संस्कृति को अनेक मौलिक तथा अभिनव प्रदेय हैं जो कि आज की मानवता के लिए अत्यन्त उपादेय, महनीय एवं तुष्टि-दायक है।

वास्तव में जैन धर्म हिन्दू धर्म के व्यापकत्व में समाहित हो सकता है और इस धर्म एवं संस्कृति का निरीक्षण-परीक्षण-मूल्यांकन एक विशाल, विस्तीर्ण एवं उदार मान्यताओं से संपृक्त होना चाहिए। जो महासागर है उसे महासागर की ही दृष्टि से निरखा-परखा जाना चाहिए और उसे किसी भी प्रकार सरोवर की संकीर्णता में आबद्ध अथवा सीमित नहीं किया जाना चाहिए। जब कोई धर्म अथवा संस्कृति सम्प्रदाय या सीमाओं में परिसीमित होने लगता है तो उसके उन्मुक्त विकास एवं परिपक्व पुरोगति में अवरोध उत्पन्न होने लगता है और वह अनेक प्रकार की विषमताओं तथा विकारों से गलित होने लगता है। यही दृष्टि प्रगतिशीलता की जननी है।

कतिपय विद्वानों का ऐसा अभिमत है कि जैन धर्म अनादि काल से भारत में प्रचलित है। विश्व के प्राचीन धर्मों में जैन धर्म का भी स्थान है। कुछ पंडितों का मत है कि संसार का आदिम मानव जैन ही था परन्तु इस दिशा में मत-मतान्तर मिलते हैं। जैन धर्म के आदिम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव स्वामी है। भारत तथा आर्य-संस्कृति के आदि एवं मूल ग्रन्थ ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में ऋषभदेव तथा नेमिनाथ के नाम आते है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि द्रविड़ जाति की भी कोई प्रशाखा जैन धर्मावलम्बिनी रही है। जैन-संस्कृति के इतिहासविदों की यह सम्मति है कि सिन्धु सभ्यता के प्राचीन एवं महान् ध्वंसावशेष मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा के पुरातत्वीय उत्खननों से भी जैन धर्म की पुरातनता प्रमाणित होती है। भगवान् पार्श्वनाथ तथा तीर्थंकर महावीर स्वामी को जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकरों के रूप में ग्रहण किया गया है। भगवान् महावीर स्वामी अत्यन्त लोकप्रिय तीर्थंकर हुए और भारतीय इतिहास एवं संस्कृति में उनको एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। भारतीय इतिहास ने उनको विशिष्ट रूप में अपने क्रोड में सुशोभित किया है। उन्होंने जैन धर्म को लोकधर्म तथा श्रमण-संस्कृति को जैन-संस्कृति के रूप में प्रतिष्ठित किया और जैन-दर्शन को कतिपय नवीन सूत्र तथा तत्त्व प्रदान किए।

जैन-दर्शन और श्रमण संस्कृति अतीव गरिमा-मंडित, वैचारिक एवं श्रेष्ठ सैद्धान्तिक-व्यावहारिक भित्ति पर स्थित है। जैन-संस्कृति को वैदिक-संस्कृति के विरुद्ध एक क्रान्ति के रूप में निरूपित, प्रतिपादित किया जाता है। भारतीय संस्कृति में जो चार महान् क्रान्तियां हुई, उनमें जैन-बौद्ध धर्म के उद्‌भव को क्रान्ति के रूप में मान्यता प्राप्त है। यह द्वितीय क्रान्ति थी। वैदिक धर्म और जैन धर्म में आधारभूत अन्तर यह है कि जहां वैदिक संस्कृति संसार को सादि तथा सान्त के रूप में मानती है वहां जैन या श्रमण संस्कृति संसार को अनादि तथा अनन्त के रूप में स्वीकार करती है।

वस्तुतः जैन धर्म, जैन दर्शन और श्रमण संस्कृति के तीन प्रधान और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त अथवा तत्त्व हैं—अहिंसा, तपस्या और अनेकान्तवाद। ये त्रिपुटी हैं और इसी त्रिवेणी पर श्रमण-संस्कृति रूपी तीर्थराज प्रयाग बसा हुआ है। उपरिलिखित तीन सिद्धान्तों में ही जैन दर्शन का नवीनतम निष्कर्ष अनुस्यूत है। इन तीन तत्त्वों में ही अन्य सिद्धान्तों को परिगणित किया जा सकता है।

श्रमण संस्कृति का मूल मंत्र है कि प्राणीमात्र के प्रति समता और विश्व के समस्त जीवों के प्रति दया-समवेदना-सहानुभूति की भावना-कामना का अधिकाधिक प्रसरण-क्रियान्वयन हो। भारतीय संस्कृति के समान श्रमण-संस्कृति में भी भौतिक तत्त्व की अपेक्षा

आत्म-तत्त्व की महत्ता तथा प्राधान्य को स्वीकार किया गया है। श्रमण-संस्कृति निवृत्ति प्रधान है और जैन धर्म तपप्रधान कर्म है। श्रमण-संस्कृति में आत्म-शुद्धि को जीवन का प्रधान लक्ष्य माना गया है और इसी हेतु इस धर्म मे तपस्या को बड़ी महिमा एवं प्रमुखता प्राप्त है। जैन धर्म और श्रमण-संस्कृति की नींव आध्यात्मिकता, तपस्या, त्याग, सत्य एव विश्व-प्रेम, विश्व-मैत्री के सूत्रों से निर्मित है। प्राय: ये समस्त तत्त्व भारतीय संस्कृति में सहजोपलब्ध हैं। श्रमण-संस्कृति के पाँच प्रधान महाव्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

अहिंसा का जैन धर्म में बड़ा सम्मान तथा गुणगान मिलता है। श्रमण-संस्कृति मे अहिंसा को अतीव व्यापक रूप में ग्रहण किया गया है। यदि हम अहिंसा को जैन दर्शन और संस्कृति का प्राण कहे तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। किसी भी जीव की मन, वचन और काया से हिंसा न करने का नाम ही अहिंसा है। अहिंसा के व्यापक दायरे मे दया, सहिष्णुता आदि के महान् गुण समाहित हैं। जैन-मुनियों और सन्तो का जीवन व आचरण अहिंसा का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन है। समूचा जैन-समाज अहिंसा को व्यावहारिक रूप में स्वीकार करता है।

अस्तेय का शाब्दिक अर्थ होता है—चोरी न करना। परन्तु इस तत्त्व का गूढार्थ अथवा मूल मन्तव्य यह है कि जो वस्तु अपनी नही उस पर आधिपत्य स्थापित नही करना चाहिए। आज की सभ्यता से उत्पन्न कलुषता, आपाधापी, दौड़-धूप, मृगतृष्णा के निराकरण का सर्वोत्तम उपाय या विधि अपरिग्रह है। ससार के सुखो का अपनी इच्छा से त्याग कर देना तृष्णा मे विरक्ति और अनेक वस्तुओं के संग्रह का मोह-त्याग ही वास्तव मे अपरिग्रह है। असचय ही अपरिग्रह है। सत्य जीवन का सार है। सत्य ही जीवन है और जीवन ही सत्य है। ब्रह्मचर्य से शक्तियो का आसेचन होता है और हमारा मन एकोन्मुख होता है। क्या गृहस्थ और क्या सन्यासी, साधु, यति—सबके लिए ब्रह्मचर्य की उपादेयता अगाध, अमोघ एव अपरिहार्य मानी गई है। ब्रह्मचर्य निष्ठा, साधना तथा ध्यान-अन्विति की मंजूषा है। ब्रह्मचर्य तत्त्व को महावीर स्वामी ने जैन धर्म को प्रदान किया।

श्रमण-संस्कृति की रगो मे तप का शुद्ध, पवित्र, निर्मल और बहुमूल्य रक्त प्रवहमान है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त महाव्रतो को कार्य रूप मे परिणत करने का सम्पूर्ण श्रेय तपश्चर्या को है। तप ही मानव को धर्म की ओर सोल्लास उन्मुख करता है। जैन धर्म मे दो प्रकार के तप माने गये हैं (क) बाह्य तप, (ख) आभ्यतरिक तप। बाह्य तप के अन्तर्गत अनशन, अवमोदरिका, भिक्षाचर्या, रस-परित्याग, काया-क्लेश, सलीनता आदि आते हैं। आभ्यन्तर तपो मे प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग आदि की गणना होती है। जहा बाह्य तप शरीर के दृश्यमान पदार्थों को शुद्ध करता है वहा आभ्यन्तर तप शरीर के आन्तरिक पदार्थों तथा तत्त्वो को विमल बनाकर, हमारे अन्त करण को शुचि करता है।

कहने की आवश्यकता नही कि जैन सस्कृति के उपरिलिखित महाव्रतो की हिन्दू-सस्कृति मे भी विशेष महत्ता है। उपनिषदो मे यह तथ्य बारम्बार उभर कर आया है कि ईश्वर ने तप के बल से ही विश्व का निर्माण किया है। उपनिषदो में तपस्या पर बड़ा बल दिया गया है। जैन-संस्कृति के मूलभूत दर्शन से गाधी-दर्शन सर्वाधिक रूप मे प्रभावित हुआ। श्रमण-सस्कृति में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मोक्ष के तीन मार्ग के रूप मे ग्रहण किया गया है। आदि काल से ही श्रमण-संस्कृति मानव को इस सच्चिदानन्द मोक्ष की ओर बढने की ही प्रेरणा देती आई है।

अनेकान्तवाद ही एक ऐसा उपादान है जो श्रमण-सस्कृति की मौलिकता, पृथक्ता तथा स्वयंभू स्थिति को सिद्ध करने मे पर्याप्त शक्ति रखता है। अनेकान्तवाद जैसा दर्शन-तत्त्व अन्यत्र सर्वथा अनुपलब्ध है। इसे जैन-दर्शन मे अनेक नामो से अभिहित किया गया है। यथा—स्याद्वाद, अपेक्षावाद, सप्तभगी आदि। अनेकान्तवाद को जैनागम के जीव अथवा बीज के रूप में ग्रहण किया गया है। यह जैन-दर्शन की महान् विभूति और अनिर्वचनीय उपलब्धि है। यह वैचारिक दर्शन सत्य की अमर-अजर शाश्वत स्थिति पर संस्थित है। यह निश्चय व्यवस्था का स्थापनकर्ता है। समन्वय की स्थिति को स्वीकार करने के कारण इसे अनेक धर्मात्मक रूप प्राप्त हैं। स्यात् का अर्थ कदाचित् होता है और स्यात् दोनो ही विरोधी स्थिति को स्वीकार करता है और यह मानता है कि कदाचित् यह भी हो सकता है, कदाचित् यह भी ठीक है और कदाचित् वह भी हो सकता है और कदाचित् वह भी ठीक है। दोनो ही सम्भाव्य स्थितियों की संभावना की जाती है। उदाहरणार्थ—

बौद्ध दर्शन दुःखवादी दर्शन है। वह ससार को सदा क्षणिक रूप में ग्रहण करता है। परन्तु सांख्य दर्शन के अनुसार संसार सर्वथा अविनाशी और नित्य है।

अनेकान्तवाद संधि कराने वाला और सामंजस्य कराने वाला है। वह दो विभिन्न और विरोधी-विगामी दृष्टियो में एकता स्थापित करता है।

अनेकान्तवाद दो दृष्टियों से तत्त्व व्यवस्था करता है। वे हैं—

(क) द्रव्य दृष्टि—इसके अनुसार किसी भी वस्तु का नाश नही होता और वस्तु नित्य है।

(ख) पर्याय दृष्टि—इसके मतानुसार वस्तु अनित्य तथा परिवर्तनशील है।

इन दोनों दृष्टियो से आज उपरिलिखित दृष्टान्त पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाना चाहिए। पर्याय-दृष्टि से बौद्ध दर्शन सर्वथा समुचित है। द्रव्य की दृष्टि से सांख्य दर्शन ठीक है। परमाणुओं का नाश नही होता। निष्कर्ष यह है कि पूर्ण वस्तु नित्यानित्यात्मक है। इस प्रकार अनेकान्तवाद का दर्शन अद्भुत शक्तियो एवं परिहार-अंशों से आपूर्ण है।

आज के युग और ससार मे अनेकान्तवाद की महती उपयोगिता है। संसार मे संकीर्णता, स्थानीयता, फिरकाबाजी, क्षेत्रीयता, साम्प्रदायिकता आदि की प्रवृत्तिया पनप रही हैं। उन सबकी अचूक दवा अनेकान्तवाद है। विश्व मे धर्म के नाम पर होने वाले भयानक रक्तपातो की रामबाण औषधि अनेकान्तवाद मे सरल रूप में खोजी जा सकती है। अनेकान्तवाद ससार को शान्ति तथा प्रेम का पवित्र संदेश देता है। जैनो का स्याद्वाद ही महान् वैज्ञानिक आइस्टीन का सापेक्षवाद है। जैनो का परमाणुवाद आज के विज्ञान द्वारा सर्वथा सम्पुष्ट है। इस प्रकार जैन-दर्शन की अनेक मान्यताएँ आज के विज्ञान द्वारा समर्थित-प्रतिपादित हो रही हैं जिनसे स्पष्ट है कि जैन धर्म, जैन दर्शन और श्रमण सस्कृति वैज्ञानिक, सतुलित और युगानुकूल है। श्रमण- संस्कृति का स्थायी और ऐतिहासिक महत्त्व है। इस संस्कृति ने वैदिक धर्म और सस्कृति मे मान्य कर्मकाण्ड, यज्ञ-अनुष्ठानो के बाहुल्य, पशुबलि तथा आडम्बर का विरोध किया।

आजकल विश्व के उबलते हुए वातावरण मे श्रमण-संस्कृति शीतल सुहावनी जल-वृष्टि के समान है। उसके अनेक सिद्धान्त और अवयव समूची मानवता के लिए वरदान के सदृश हैं। एक प्रकार से जैन-सस्कृति और जैन धर्म मानव संस्कृति तथा मानवधर्म के रूप मे हमारे समक्ष आते हैं। जैन-धर्म और श्रमण-सस्कृति मे वे सब गुण, विशिष्टताएँ और महानताएँ हैं जो कि एक मानव संस्कृति में होनी चाहिए। चाहे कोई व्यक्ति जैन हो अथवा जैन न हो, परन्तु वह आदर्श धर्मनिष्ठ और नैतिक आचरणशील होने के लिए जैन-सिद्धान्तो को स्वयमेव स्वीकार कर लेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन न होने पर भी हम आचरण, कर्त्तव्य तथा मान्यताओं में जैन ही रहते हैं, इसलिए जैन धर्म मानव धर्म के रूप में हमारे समक्ष प्रतिष्ठित है।

जैन शब्द 'जिन' धातु से व्युत्पन्न है। इसका शाब्दिक अर्थ होता है इन्द्रियों पर सयम रखने वाला। इस दृष्टिकोण से यदि हम मानव-चिंतन करें तो हमे यह विदित होता है कि जो भी व्यक्ति अपनी इन्द्रियो पर सयम-नियंत्रण-नियमन रखता हो वह जैन है—यह आवश्यकता नही कि उसे जैन होना ही चाहिए। इस दृष्टि से ही जैन संस्कृति को बडी महत्ता तथा व्यापक गौरव प्राप्त हो जाता है। इसी दृष्टि से जैन धर्म के आचार्यों और जैन धर्मावलम्बियों को विचार करना चाहिए और समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ आचरण-व्यवहार करना चाहिए। इससे राष्ट्रीय एकता तथा भावनात्मक समन्वयीकरण की अभीप्सित-वांछित भावनाएँ प्रबल, प्रबुद्ध तथा जाग्रत हो सकेंगी और हम साम्प्रदायिक सद्भाव का आदर्श रूप उपस्थित करने में समर्थ-सक्षम हो सकेंगे।

विदेशो मे जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म के प्रति बडा सम्मान और आकर्षण बढ़ गया है। अमेरिका के 'बीटनिक' आज जैनाचरण करते हुए दिखायी पड रहे है। अहिंसा और अनेकान्तवाद पाश्चात्य देशो के अनेक वात्याचक्रो और भौतिक सघर्षों की सुधा सिद्ध हो सकती है।

अहिंसा की व्यापकता

जैनधर्म की अहिंसा, अहिंसा का चरम रूप है। जैनधर्म के अनुसार मनुष्य, पशु, पक्षी, कीडे, मकोडे, आदि के अतिरिक्त पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और वनस्पति मे भी जीव हैं। मिट्टी के ढेले मे कीडे, आदि जीव तो हैं ही, परन्तु मिट्टी का ढेला स्वयं पृथ्वी कायिक जीवों के शरीर का पिंड है। इसी तरह जल बिन्दु मे यन्त्रों के द्वारा दिखने वाले अनेक जीवों के अतिरिक्त वह स्वयं जल-कायिक जीवो के शरीर का पिंड है। यह बात अग्निकाय, आदि के विषयों मे भी समझनी चाहिए। इस प्रकार का कुछ विवेचन पारसियो की धर्म पुस्तक 'आवेस्ता' में भी मिलता है। जैसे हमारे यहां प्रतिक्रमण का रिवाज है उसी तरह उनके यहां भी पश्चाताप की क्रिया करने का रिवाज है। उस क्रिया में जो मंत्र बोले जाते हैं उनमें से कुछ का भावार्थ इस तरह है—"धातु उपधातु के साथ जो मैंने दुर्व्यवहार (अपराध) किया हो उसका मैं पश्चाताप करता हूं।" "जमीन के साथ मैंने जो अपराध किया हो उसका मैं पश्चाताप करता हूं।" "पानी अथवा पानी के अन्य भेदों के साथ जो मैंने अपराध किया हो उसका मैं पश्चाताप करता हूं।" "वृक्ष और वृक्ष के अन्य भेदों के साथ जो मैंने अपराध किया हो उसका मैं पश्चाताप करता हूं। महताब, आफताब, जलती अग्नि, आदि के साथ जो मैंने अपराध किया हो मैं उसका पश्चाताप करता हूं।"

पारसियों का विवेचन जैनधर्म के प्रतिक्रमण-पाठ से मिलता जुलता है जो कि पारसी धर्म के ऊपर जैनधर्म के प्रभाव का सूचक है।

स्वामी रामचन्द्र के लेख 'जैनधर्म में अहिंसा' से साभार
वर्णी—अभिनन्दन—ग्रन्थ पृ० सं० १२४-२५

भारतीय संस्कृति में श्रमण संस्कृति का योगदान

डॉ० रवीन्द्रकुमार जैन

संस्कृति शब्द का अर्थ और परिभाषा

प्राय अंग्रेजी के कल्चर शब्द के पर्याय के रूप मे संस्कृति शब्द समझा जाता है। जिस प्रकार एग्रीकल्चर अपनी भावात्मक ससार अवस्था को प्राप्त कर कल्चर बन गया। अर्थात् जीवन की मूलभत उपयोगिता—भूखतृप्ति परिष्कृत होकर, निखर कर कल्चर बनी। संस्कृति मे भी उसी प्रकार कृष्टि - कृषि या कृति निहित है। सम्भवत कृष्टि शब्द का दीर्घकालीन विकास ही संस्कृति शब्द के गर्भ मे रहा हो। बगाल मे कृष्टि शब्द का प्रयोग कृषि के लिए ही होता है। यद्यपि कुछ शब्दगत साम्य अवश्य मिलता है, परन्तु पौर्वात्य—विशेषत: भारतीय और पाश्चात्य सांस्कृतिक चेतना मे जो मौलिक अन्तर है, उसे भुलाया नही जा सकता। पश्चिम की सांस्कृतिक चेतना बहिर्मुखी, यथार्थमूलक और अन्तत भोगात्मक रही है, जबकि हमारी जीवनदृष्टि सदा अन्तर्मुखी—आत्मपरक, आदर्शमूलक और त्यागप्रधान रही है। कुछ भी हो, यह शब्द संस्कृत भाषा का है अत हम इसकी व्युत्पत्ति भी वही खोजनी होगी। सम् उपसर्ग पूर्वक कृ-करणे धातु मे सुट् का आगम करके क्तिन् प्रत्यय करने पर संस्कृति शब्द सिद्ध होता है। इस शब्द मे सम् और कृति ये दो शब्द ऐसे हैं जिनके विद्वानो ने अनेक अर्थ किए है। सहज और सीधा अर्थ यही हो सकता है—सम् अर्थात् सम्यक् और पूर्ण रीति से कृति अर्थात् किए गए कार्य। जिस प्रकार परिश्रम से जोता, गोड़ा और निराया गया अच्छी मिट्टी वाला खेत निश्चित रूप से अच्छी फसल देता है, उसी प्रकार विभिन्न साधनाओ मे परिपक्व हुआ व्यक्तिगत या जातीय जीवन संस्कृत-जीवन कहा जा सकता है। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी मे संस्कृति—कल्चर—शब्द की यह व्याख्या है—मस्तिष्क, रुचि और आचार-व्यवहार की शिक्षा और शुद्धि, इस प्रकार शिक्षित और शुद्ध होने की अवस्था, सभ्यता का बौद्धिक पक्ष, विश्व की सर्वोत्कृष्ट ज्ञात और कथित वस्तुओं से स्वय का परिचित कराना।[1] आप्टे के संस्कृत शब्दकोष मे संस्कृ धातु के अनेक अर्थ दिए गए है—सजाना, संवारना, पवित्र करना, सुशिक्षित करना आदि।[2]

जहाँ तक संस्कृति के मूल मन्तव्य और परिभाषा की बात है, विभिन्न विद्वानों ने इस दिशा मे भी अपने मौलिक और प्रामाणिक विचार प्रकट किए हैं। "यह मन, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि है। ······संस्कृति कुछ ऐसी चीज का नाम है जो बुनियादी और अन्तर्राष्ट्रीय है। फिर संस्कृति के कुछ राष्ट्रीय पहलू भी होते हैं। और इसमे कोई सन्देह नही कि अनेक राष्ट्रों ने अपना कुछ विशिष्ट व्यक्तित्व तथा अपने भीतर कुछ खास ढग के मौलिक गुण विकसित कर लिए है।"[3] संस्कृति शब्द का सम्बन्ध संस्कार से है जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। संस्कृत शब्द का भी यही अर्थ है। अंग्रेजी शब्द कल्चर मे वही धातु है जो एग्रीकल्चर मे है। इसका भी अर्थ पैदा करना या सुधारना है। संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं और जाति के भी।

---

१. The training and refinement of mind, tastes and manners, the condition of being thus trained and refined, the intellectual side of cultivation, the acquainting ourselves with the best that has been known and said in the world.

२. To adorn, grace, decorate, (2) to refine, polish, (3) to consecrate by repeating mantras, (4) to purify (a person) (5) to cultivate, educate, train, (6) make ready, proper, equip, fit out, (7) to cook food, (8) to purify, clean, (9) to collect, heap together.

३. संस्कृति के चार अध्याय (लेखक—रामधारी सिंह दिनकर), पृ० ६ पर पंडित जवाहरलाल नेहरू की प्रस्तावना।

-जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं। "भाववाचक होने के कारण संस्कृति एक समूहवाचक शब्द है।"[1] श्री करपात्री जी के अनुसार वेद एवं वेदानुसारी आर्ष धर्मग्रन्थों के अनुकूल लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयसोपयोगी व्यापार ही मुख्य संस्कृति है और वही हिन्दू संस्कृति अथवा भारतीय संस्कृति है।"[2] डॉ० सम्पूर्णानन्द की संस्कृति सम्बन्धी मान्यता भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, वे एक क्रान्तचेता के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं—"वस्तुतः संस्कृति पद्धति, रिवाज या सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संस्था नहीं है। भावना-गाना, साहित्य, मूर्तिकला, चित्रकला, गृहनिर्माण, इन सबका अन्तर्भाव सभ्यता में होता है। संस्कृति अन्तःकरण है, सभ्यता शरीर है। संस्कृति सभ्यता द्वारा स्वयं को व्यक्त करती है। संस्कृति वह साँचा है, जिसमें समाज के विचार ढलते हैं। वह बिन्दु है जहाँ से जीवन की समस्याएँ देखी जाती हैं।"[3] डॉ० देवराज लिखते हैं - "हर संस्कृति की अपनी सभ्यता होती है। सभ्यता किसी संस्कृति की बाहरी, चरम अवस्था होती है। सभ्यता संस्कृति की अनिवार्य परिणति है। सभ्यता किसी संस्कृति की बाहरी, चरम, कृत्रिम अवस्था का नाम है। यदि संस्कृति जीवन है तो सभ्यता मृत्यु, संस्कृति विस्तार है तो सभ्यता कठोर स्थिरता। सभ्यताएँ नैसर्गिक धरती के स्थान पर आनेवाले कृत्रिम प्रस्तर नगर हैं जो 'डोरिक' तथा 'गोथिक' के आध्यात्मिक शैशव का अन्त संकेतित करते हैं।"[4] चर्चित सभी परिभाषाओं का सीधा सार यह है कि हमारी जीवन-साधना का साररस ही संस्कृति है अर्थात् हमारी दृढ़ीभूत चेतना-प्रेरक जीवन की आन्तरिक पद्धति ही संस्कृति है। संस्कृति किसी भी देश या जाति की प्रबुद्ध आन्तरिक चेतना की वह स्वस्थ और मौलिक विशेषता है जिसके आधार पर विश्व के अन्य देशों में उसका महत्त्वांकन होता है। आज किसी भी देश की संस्कृति ऐसी नहीं है जो अन्य देशों की संस्कृतियों से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित न हो। सजीव संस्कृति सदा उदार और ग्रहणशील होती है। संस्कृति सदा एक विकासशील संस्था के रूप में ही रहकर किसी देश या जाति के गर्व का कारण बन सकती है। कुछ मौलिक विशेषताओं के साथ प्रत्येक संस्कृति के अनेक अन्तर्राष्ट्रीय तत्त्व भी होते हैं। जो संस्कृति कम ग्रहणशील होती है, या अतीतोन्मुखी होती है, धीरे-धीरे वह अपना चैतन्य महत्त्व खोकर मात्र ऐतिहासिक संस्था बनकर रह जाती है। किन्तु इतिहास में भी सातत्य और परिवर्तनशीलता का प्रवाह या क्रम चलता ही रहता है। संस्कृति में भी यही क्रम नितांत वांछनीय है। संस्कृति में वर्तमान का योग और भविष्यत् की सम्भावनाएँ सदा अपेक्षित रहती हैं। वह पुरातन और नवीन का सुन्दर समन्वय है, मात्र प्राचीन उपलब्धियों की व्याख्यायिका नहीं है। प्राचीन श्रेष्ठ में उसकी जड़ है, वर्तमान के पवन और साररस से उसे अंकुरण, पल्लवन और पुष्पत्व मिलता है और भविष्यत् में उसका अधिकाधिक फलीभूत होना निहित है। अतः संस्कृति अपनी पूर्णता के लिए वर्तमान और भविष्यत् की भी अपेक्षा रखती है। इतिहास की रचना घटनाएँ करती हैं और साहित्य घटनाओं को भावना के फलक पर उतारता है; संस्कृति भी घटनाओं को आत्मा और भावना के विशाल फलक पर उतारती है। संस्कृति भावनामूलक है और सभ्यता बुद्धिमूलक। बुद्धि विकास और विश्लेषणशील है अतः उसमें अधिकाधिक परिवर्तन की सम्भावना रहती है। भावना में बहुत धीरे-धीरे परिवर्तन होता है। संस्कृति में उसकी मूल चेतना में परिवर्तन आने में शताब्दियाँ लग जाती हैं। यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि संस्कृति समष्टिगत उपलब्धियों का सारतत्त्व होने के साथ-साथ वैयक्तिक उपलब्धियों से भी अपना रक्त और मांस ग्रहण करती है। व्यक्ति का चिन्तन और सृजन निश्चय ही संस्कृति में नवजीवन का संचार करता है। जिस प्रकार हमारे शरीर की क्रियाशीलता और पूर्णता में सभी अंगों और उपांगों का सम्मिलित सहयोग है और जिस प्रकार अनेक दिशाओं से आगत अनेक छोटी-बड़ी सरिताएँ सरिकाएँ सागर को सागरत्व प्रदान करती हैं, उसी प्रकार संस्कृति का सागर भी अनेक व्यक्ति और जाति पुंजों की सम्मिलित चेतना का सागर है।

भारतीय संस्कृति की प्रतिनिधि विशेषताएँ

भारतवर्ष अनेक संस्कृतियों का संगम देश है। इसकी संस्कृति में अनेक धर्मों, सम्प्रदायों और जातियों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अतः किसी एक धर्म या जाति के नाम से इस संस्कृति को सम्बोधित नहीं किया जा सकता। ऐसा करना स्वयं को असंस्कृत घोषित करना मात्र होगा। फिर इतिहास और वास्तविकता भी तो हमें एकांगी होने से रोकती है। अतः हमारी संस्कृति की प्रथम प्रतिनिधि विशेषता उसकी समन्वयशीलता और सामाजिकता में निहित है। "संस्कृति के लिए व्यक्ति के अभिमान, राष्ट्र के अभिमान और कौम के अभिमान—सबको तिलांजलि देनी पड़ती है। मानव-जाति जिस दिन संस्कृति का महत्त्व समझेगी, उसी दिन वह अपनी आत्मा के साथ

---

१. डॉ० बुलावराय : भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, पृ० १
२. कल्याण (गोरखपुर), हिन्दू संस्कृति अंक, पृ० ३६
३. सम्मेलन पत्रिका (प्रयाग), लोक संस्कृति अंक, पृ० २२
४. संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ० १४०

साक्षात्कार करने के योग्य हो सकेगी। संस्कृति न तो भौगोलिक सीमा को महत्त्व देती है और न राजनीति को ही; वह तो अखिल मानवता की सम्मिलित पूंजी है।"[1] जिस प्रकार विज्ञान और गणित के सिद्धान्त या नियम सर्वत्र एक हैं उसी प्रकार मानव-जाति की आत्यन्तिक भावात्मक चेतना एक है, अत: किसी देश या जाति के नाम पर संस्कृति मे भेद करना अनुचित है। फिर भी, जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, प्रत्येक देश और जाति का दृष्टिकोण-भेद से जीवन के प्रति दूसरो से इतर प्रवेश भी हो सकता है। भारतीय संस्कृति को प्राय: वैदिक या हिन्दू संस्कृति कह दिया जाता है। प्राय. लोगो की यह धारणा रही है कि भारतीय संस्कृति मूलत: आर्यों की संस्कृति रही है और आर्य यहा के मूल निवासी है। परन्तु आज यह भी सिद्ध हो चुका है कि आर्य भारत मे बाहर से आए और उनके पूर्व यहाँ कम-से-कम दो संस्कृतियाँ विद्यमान थी—आष्ट्रिक और द्रविड। और बाद मे तो हूण, सीथियन और यूनानी भी आए ; यूरोपियन भी आए, अंगरेजो का तो शासन ही काफी समय तक रहा। इन सबका प्रभाव निश्चय ही भारतीय संस्कृति पर पडा। इससे यहाँ की संस्कृति व्यापक, गहरी और दीप्तप्राण हुई। भारतीय विराटता और भी विराट हुई। निश्चित रूप से दूसरों के सम्पर्क से हमारी जीवन-धारणा, विद्या, कला, विज्ञान और सौन्दर्य-चेतना मे अनेक नये और स्वस्थ अध्याय जुड़े हैं। भारत ने सबको आत्मसात् किया है। सबको अपना बनाया है। आज भारत मे विद्यमान सभी जातिया, धर्म और विचारधाराएं एक दूसरे से कितनी अधिक प्रभावित हैं, यह किससे छिपा है। हाँ, बहुधा दुराग्रहवश हम प्रभावित होने पर भी दूसरे की महत्ता को स्वीकार नही करते। खान-पान, रीति-रिवाज, आचार और भाषा तथा वेशभूषा आदि मे निश्चित रूप से हममे अनेक दिशाओ का समन्वय है। समूची भारतीय जनता यद्यपि आज एक दूसरे से बहुत घनिष्ट भाव मे सम्बद्ध है, तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि यह सब प्रकार से मिलकर एकाकार रूप हो गयी है। उसकी विशिष्ट बातें बहुत-कुछ बनी हुई हैं। आर्य और आर्येतर जातियो का महान् सगम मे भारतीय जनता है।"[2]

भारतीय दृष्टि मे धर्म, संस्कृति और जीवन तीनो एकाकार हैं। अन्त बाह्य प्रवृत्तियो मे समन्वय खोजने का इस धारा मे निरन्तर यत्न किया है। सभी के प्रति ग्रहणशीलता का भाव ही समन्वय है। यदि यह सम्भव न हो सके तो कम-से-कम अविरोध भाव तो होना ही चाहिए। बहुधा या अनेकता मे ऐक्य प्राप्त करने का प्रयत्न भी इस संस्कृति से दृष्टिगोचर होता है। "एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" यह हमारा विख्यात सूत्र है। अनेक संघर्षों के बीच समन्वय खोजने का भी हमारा निरन्तर प्रयत्न रहा है।

अनासक्ति भाव

ऐहिक जीवन और सासारिक सुखो के प्रति गहरी अनासक्ति का भाव भारतीय संस्कृति की दूसरी विशेषता है। निर्धन हो या धनवान, शासक हो या शासित, रुग्ण हो या स्वस्थ, बालक हो, युवक हो या वृद्ध हो, प्रत्येक की चेतना का अन्तिम झुकाव परलोक की ओर ही रहा है। वैराग्य, तितिक्षा और असग्रह ससार भर मे इतना कही भी प्रश्रय न पा सके। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि भारत मे लौकिक उन्नति हुई ही नही, बस उसकी ओर एक तीव्र भाव न रहा। फलत आज भी हम जगत् के अनेक देशों की तुलना मे वैज्ञानिक, आर्थिक और औद्योगिक उन्नति मे पिछड़े हुए है। निरन्तर विकसित देशो की सहायता और कृपा की हमे अपेक्षा रहती है। भौतिक उन्नति को हमने जीवन के सच्चे विकास मे, मुक्तिमार्ग मे बाधक ही माना। हमारी इस परलोकपरायणवृत्ति ने हमें उदारता, सन्तोष और सहिष्णुता की गहरी शिक्षा दी, पर दूसरी ओर ज्ञान-विज्ञान के अनेक द्वार भी बन्द कर दिए। हाँ, हम भावात्मक और परलोकपरक तर्कमूलकचिन्तन मे अवश्य आगे बढ़े। "चैतन्य ही महान्, नित्य, रसपरिपूर्ण और प्राप्त करने योग्य तत्त्व है।" इस प्रकार का सचेष्ट प्रयत्न और तीव्र विश्वास हिन्दू भारतीय संस्कृति के प्रत्येक युग मे प्रकट होता रहा है। ससार और उसके भोग अल्प, तुच्छ, सीमित और जीतने योग्य हैं—यह दृढ़ प्रतीति हिन्दू-मन मे सदा ऊँची प्रतिष्ठा की पात्र बनी रही।"[3]

कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त

कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त भारतीय संस्कृति की तीसरी विशेषता है। अपने समस्त सुख और दु:ख का उत्तरदायी कर्म ही है। कोई अन्य हमें कष्ट नहीं दे सकता। मनुष्य अपने पूर्वकृत कर्म का ही फल भोगता है। "इस विश्वास से उसमें अपूर्व शक्ति आती है। वह भले ही विपत्तियो से कातर हो जाय, फिर भी दु:ख उसको दूसरों की भाँति विचलित नहीं करते। मृत्यु भी उसके लिए उतनी

---

१. अलबर्ट आइन्सटाइन (भगवानदास केला लिखित "मानव संस्कृति", पृष्ठ ४३)
२. आचार्य क्षितिमोहन सेन : संस्कृति संगम, पृष्ठ २६
१. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल : कल्याण "हिन्दू संस्कृति अंक", पृष्ठ १७

महत्त्व की चीज नहीं है। वह ऐसा मानता है कि यह अनुभव उसे लाखों बार हो चुका है और अभी न जाने कितनी बार होना है।"[1] कर्म के साथ भगवत्कृपा को भी भारतीय संस्कृति में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। सब कुछ होने पर भी इस कृपा के बिना कुछ भी नहीं हो सकता, यह प्रत्येक भारतीय का लगभग अटूट विश्वास है। गतजन्म और परजन्म की ही चेतना में उसका समस्त जीवन बीतता है। "इस लोक में रहते हुए भी हिन्दू की दृष्टि परलोक को ढूंढ़ती रहती है।"[2]

आस्तिकता और आदर्श

ईश्वर की पराशक्ति, उसकी सर्वोपरि महत्ता, उसका सर्वज्ञत्व और उसका सर्वव्यापकत्व आदि बातें भारतीय आत्मा और मस्तिष्क में चिरकाल से बद्धमूल हैं। स्वयं को ईश्वर के सम्मुख अतितुच्छ समझना भी हमारी आत्मतुष्टि का बड़ा कारण है। दूसरी ओर समस्त भारतीय जनता सदा से आदर्शजीवी रही है। भक्ति, सेवा, त्याग, तप, मातृ-पितृ भक्ति आदि आदर्शों के लिए भारतीय जनता युग-युग से संघर्ष करती आयी है। फलतः हमारा व्यवहार पक्ष अत्यन्त अविकसित रह गया जो आज प्रत्यक्ष है। पुरु ने पराजय स्वीकार कर ली, देश को गुलाम बनाना स्वीकार कर लिया, किन्तु सिकन्दर के वध का अवसर पाकर भी, वचनबद्ध होने के कारण उसे छोड़ दिया। पृथ्वीराज ने अपने पराजित और शरणागत के आदर्श के कारण—उसके अभयदान की चेतना के कारण, गौरी को अनेक बार छोड़ दिया। भीष्म का आमरण ब्रह्मचर्य और राम का सुदीर्घ वनवास भी पितृ-भक्ति आदर्श के ही ज्वलन्त उदाहरण हैं। गांधी और नेहरू, जो कि आधुनिक चेतना से सम्पन्न थे, ने भी अनेक बार अपने आदर्शजीवी होने का परिचय दिया है। हमने आदर्श को देश और जाति से भी बढ़कर महत्त्व दिया है। आज प्रश्न यह है कि आदर्श तो व्यक्तिगत होता है फिर उसे एक व्यापक राष्ट्र के साथ सम्बद्ध करना कहाँ तक उचित है? व्यक्ति अपने आदर्श की रक्षा के लिये क्या समूचे देश को भी नारकीय यातना के लिए विवश कर सकता है? उसे दासता की ओर मोड सकता है? ये प्रश्न आज समाधान मांगते हैं। हमारे आज के पिछड़ेपन मे हमारे आदर्श कहाँ तक उत्तरदायी हैं, इसपर भी हमें ठण्डे मन और खुली दृष्टि से विचार करना है। समर्थ को कुछ भी अच्छा लग सकता है। पर जबकि हम धन में, विज्ञान मे, अन्नोत्पादन मे, शस्त्रास्त्र के निर्माण मे, उद्योग-धन्धो मे, यथार्थमूलक जीवन-दृष्टि मे आज भी पिछड़े हुए हैं और इन दिशाओ मे सम्पन्न देशों की ओर आए-दिन दीनतापूर्वक हाथ फैलाए रहते हैं, यह कहा तक उचित होगा कि अब भी हमारी आँखें न खुलें? तो पहले हम पूर्ण समर्थ हो, उसके पश्चात् हमारे आदर्श अन्य देशों के भी अनुकरण के विषय बन सकते हैं। इसके बिना हमारे आदर्श हमे उपहसित ही कराते रहेगे। आदर्श शक्तिशाली का होता है, कमजोर का नही।

आचार और रूढ़ियां

भारतीय संस्कृति की पाचवीं विशेषता उसमे व्याप्त क्रियाकाण्ड और रूढ़ियो मे है। अनेक देवी-देवताओं का अनेक प्रकार के क्रियाकाण्डो द्वारा पूजन, अर्चन और प्रसादन होता है। यह सुविदित ही है कि अध्यात्म-प्रधान भारतीय चेतना धीरे-धीरे भयंकर क्रियाकाण्ड की आदी हो गई। क्रियाकाण्ड, जो कभी एक मुक्ति-साधन के रूप मे आरम्भ हुआ था, आगे चलकर उसे ही साध्य मान लिया गया। अनेक प्रकार की रूढ़ियां भी सामने आईं और आज भी हैं। इन सब पर बहुत विचार होता आया है, अत संकेतमात्र पर्याप्त होगा।

विकासशीलता

भारतीय संस्कृति की अन्तिम विशेषता उसकी विकासशीलता है। विकास सृष्टि का नियम है। यह हमारी संस्कृति में भी सुस्पष्ट है। यद्यपि भारत के चारो ओर समुद्रों और पर्वतों का ऐसा दुर्लंघ्य जाल फैला रहा है कि इसके निवासियों को अन्य देशों के निरन्तर आवागमन का लाभ नहीं हो सका है। यह बाधा अब दूर हुई है। प्राचीन काल मे यदि कोई जाति कभी आ भी गई तो फिर वह लौटकर शायद ही गई। वह यही की होकर रह गई। "इस संस्कृति में समन्वयन तथा नये उपकरणों को पचा कर आत्मसात् करने की अद्भुत योग्यता थी। जब तक इसका यह गुण शेष रहा, यह संस्कृति जीवित और गतिशील रही। लेकिन, बाद को आकर इसकी गतिशीलता जाती रही, जिससे यह संस्कृति जड हो गई और उसके सारे पहलू कमजोर पड़ गये।"[3] ....बहुत

---

१. डॉ० सम्पूर्णानन्द : कल्याण "हिन्दू संस्कृति अंक", पृष्ठ ७२

२. वही

३. रामधारी सिंह 'दिनकर' "संस्कृति के चार अध्याय" पर पंडित जवाहरलाल नेहरू द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृष्ठ ६

दिनों तक बाहरी दुनिया से अलग रहने के कारण, भारत का स्वभाव भी और देशो से भिन्न हो गया । हम ऐसी जाति बन गए जो अपने आप में घिरी रहती है । हमारे भीतर कुछ ऐसे रिवाजो का चलन हो गया जिन्हे बाहर के लोग न तो जानते हैं और न समझ ही पाते हैं । जाति प्रथा के असख्य रूप भारत के इसी विचित्र स्वभाव के उदाहरण है ।"[1] "हमारे गुणो से ऐसी शिक्षा नहीं मिलती जैसी हमारे दोषो से । विश्वमित्र के सूक्तो, कपिल के तत्त्वदर्शन और कालिदास के काव्यो के पढने मे उतनी शिक्षा नही मिलती, जैसी हमारे राजनैतिक जीवन के गिरने और पुरोहितो के प्रभुत्व मे । गौतमबुद्ध और अशोक के नायक होने मे लोगो के धर्म की उन्नति के हाल मे उतनी शिक्षा नही मिलती, जितनी कि सर्वसाधारण मे स्वतन्त्रता के लिए बिल्कुल अभाव मे । ······प्राचीन हिन्दुओं के मानसिक और धार्मिक जीवन का इतिहास अनुबन्धता, पूर्णता और गम्भीर भावो मे अनुपम है । परन्तु वह इतिहासवेत्ता जो इस मानसिक जीवन का केवल चित्र उतारता है, अपने कर्तव्य को आधा करता है । हिन्दू इतिहास का एक दूसरा और खेदजनक भाग भी है और कथा के इस भाग को भी ठीक-ठीक कह देना आवश्यक है ।"[2] भारतीय सस्कृति को कम ही सही पर गहरे और व्यापक परिवर्तनो मे से गुजरना पड़ा है । बाहर के आघातो को छोड भी दें, तो भी अन्दर के ही कम नही है । हिन्दुओ के बाहुल्य के कारण प्राय: यहा की सस्कृति को भी हिन्दू या वैदिक सस्कृति कह दिया जाता है । प्राचीन वैदिक धर्म मे और अद्यतनीन हिन्दूधर्म मे प्राय. साम्य नही मिलता । प्राचीन वैदिक आर्य पूर्णतया लौकिक चेतना या दृष्टिकोण के थे । उनके देवता निराल थे । वे उनसे वर्तमान जीवन के लिए बजय, सन्तान और सुख की याचना करते थे । कर्ममूलक बन्धन और मोक्ष की चिन्ता मे कभी उनके ललाट मे सलवटे न पडी थी । वे परलोक के प्रति भी उत्सुक न थे । ब्राह्मण-युगीन यज्ञ सम्बन्धी पशुबलि का भी आज का हिन्दूधर्म समर्थन नही करता । महावीर, बुद्ध और परवर्ती भक्ति आन्दोलन की व्यापक अहिंसा और प्रेम भावना का गहरा प्रभाव पडा है । भास और कालिदास के समय का भारत पर्याप्त समृद्ध, सन्तुलित, स्पष्ट एव लोकचेतनावलित और व्यावहारिक था । वह प्राचीन वैदिक और परवर्ती पौराणिक धारणाओ से बहुत कुछ परे है । वैदिक युग प्राकृतिक शक्तियो का, जीवन के भौतिक सघर्षो का और वर्तमान-प्राप्त जीवन के सरक्षण का युग था । पौराणिक युग आदर्शो का था । कालिदास का युग स्वतन्त्र चेतना और आदर्श तथा व्यवहार के सन्तुलन का था । तुलसी के आदर्श और परलोकपरायण युग से भी यह युग भिन्न था । रीतिकालीन जीवन यान और मासल चेतना का था और आज का जीवन कितनी अस्थिरता का है, अविश्वास का है, कौन नही जानता ? किन्तु इस विकासक्रम से हमारी सस्कृति पुष्ट ही हुई है ।

भारतीय संस्कृति में पांच क्रान्तियां

भारतीय सस्कृति इस देश मे बाहर से आकर बसने वाली और एतद्देशीय अनेक जातियो की सस्कृतियो के सम्मिश्रण से आज के पुष्ट रूप को प्राप्त कर सकी है । अत. आज यह बता सकना बडा कठिन एव विवादग्रस्त विषय है कि इस सस्कृति के निर्माण मे किस जाति का कितना और कौन-सा भाग है । सागर मे निमज्जित अनेक सरिताओ की निजता जिस प्रकार नही रहती, ठीक उसी प्रकार हम यहाँ समझ सकते है । फिर भी जैसे एक ही सागर के देश-विशेष और अवस्था-विशेष के आधार पर अनेक नाम हैं, उसी प्रकार यहाँ भी सस्कृतियो के नाम हैं । उनकी कुछ मौलिक छापो को विवेक के साथ सहज ही समझा भी जा सकता है । पहली क्रान्ति आर्यों के आगमन से आई । देवोपासना, आचार, रहन-सहन सभी कुछ प्रभावित हुआ । पहले से विद्यमान द्रविड जाति ने कई नए अनुभव किए । आर्य सस्कृति द्रविडो की अपेक्षा अधिक स्वस्थ और सम्पन्न थी । उसने द्रविडो की चेतना को पर्याप्त नवता दी । दूसरी क्रान्ति महावीर और बुद्ध द्वारा ई० पू० 5वी शती मे अनेकमुखी व्यापक मानवीय चेतना का सम्बल लेकर आयी । याज्ञिक क्रिया काण्ड, पशुबलि और अनाचार तथा मठाधीशो के विरोध मे अपनी पूरी बौद्धिक और मानवीय मान्यताएँ लेकर उक्त दोनों महापुरुष आए । तीसरी क्रान्ति यवनो के आगमन से हुई । ये यहाँ आकर धीरे-धीरे शासक ही हो गए । इनकी सभी मान्यताएँ भारतीय जीवन-दृष्टि के विपरीत थी । भारतीय सस्कृति के जीवन मे कदाचित् यह सबसे बडा सघर्ष-काल था । धर्म, नीति, कला, आचार और समाज सब कुछ हमसे पृथक् था । पर भारत की विशालता मे यह भी समा गई । यह सस्कृति जो आग बनकर आई थी, गगा की लहरों सदृश भारतीय मन ने इसे शनै: शनै: ठडा कर लिया । चौथा मोड था दक्षिण से उत्तर मे आए भक्ति आन्दोलन का । इस आन्दोलन से पुरानी आस्तिक भावना को बडा बल मिला । भारतीय मन सगठित होने लगा । और, पाचवी क्रान्ति अंगरेजो के आगमन से आयी । और सभी जातियाँ तो भारत मे आकर कुछ समय के बाद यही की हो गई, यहाँ के जीवन मे बहुत-कुछ घुल-मिल गई, पर अंगरेज यहाँ सौ वर्ष से अधिक रहकर भी विदेशी ही रहे । उनमे अपनी सस्कृति के प्रति बहुत अभिमान था । अंगरेजो ने भी हमें यथार्थ जीवनदृष्टि,

---

१. रामधारी सिंह दिनकर : "सस्कृति के चार अध्याय" पर पंडित जवाहरलाल नेहरू द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृष्ठ ८

२. आर० सी० दत्त : "प्राचीन भारत की सभ्यता का इतिहास", पृष्ठ १६

व्यावहारिकता और वैज्ञानिकता की ओर प्रेरित किया। भारत अंगरेजों के कारण एक बहुत बड़े जगत् के सम्पर्क में आया। "अनेक संस्कृतियों और जातियों के मिलन से भारतीय संस्कृति में जो एक प्रकार की विश्वजनीनता उत्पन्न हुई, यह सचमुच संसार के लिए वरदान है।"[1] "भारतीय संस्कृति में कालभेद से जो विभिन्न स्तर पाये जाते हैं, हमारा कर्तव्य है कि हम न केवल उनके परस्पर सम्बन्ध का ही, किन्तु प्रत्येक स्तर की पूर्वावस्था और अनन्तरावस्था का भी, उन-उन त्रुटियों का भी, जिनके कारण एक स्तर के पश्चात अगले स्तर का आना आवश्यक होता गया, पता लगावें, जिससे एक धारावाहिक जीवित परम्परा के रूप में भारतीय संस्कृति को हम समझ सकें। उपर्युक्त प्रकार के अध्ययन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति के विभिन्न कालो के साथ हमारी न केवल ममत्व या तादात्म्य की ही भावना हो, किन्तु बुद्धियुक्त सहानुभूति भी हो।"[2]

श्रमण संस्कृति

भारतीय संस्कृति मूलत: अध्यात्मप्रधान और समभावधारिणी है। इस संस्कृति पर सामान्यत: देशी-विदेशी अनेक प्रभाव पड़े, अनेक क्रान्तियाँ आईं, पर इसकी आन्तरिक चेतना को सर्वाधिक प्रौढ़ता, वैज्ञानिकता और मानवीयता से श्रमण-धारा ने ही झकझोरा, संवारा और पुन: निर्मल किया। ई० पू० 5-6 ठीं शताब्दी मे वैदिक संस्कृति के अन्तर्गत प्रचलित यज्ञो मे पशुबलि, अतिव्यय-साध्य क्रियाकाण्ड का अन्धाधुन्ध प्रचार, जाति प्रथा, अस्पृश्यता की तीव्र भावना आदि बातें सामान्य जनमानस की असह्य पीड़ा का कारण बन चुकी थीं। धर्म के नाम पर कुछ पण्डे व पुजारी जनता को मनमाना पथभ्रष्ट कर रहे थे। निष्कर्ष यह है कि हिंसा, आडम्बर, असहिष्णुता, प्रभुता और भोगो की ओर जीवन को बलात् चलाया जा रहा था। "भारतीय संस्कृति समभाव प्रधान है। इसमें श्रम, शम और सम—ये तीन मूल तत्त्व है। दूसरे शब्दो मे साधना, शान्ति और समत्व की भावना ही देश की संस्कृति के मूल मे हैं। उक्त तीनो बाते ज्ञान की निर्मल अवस्था मे ही झलक सकती है।"[3] पर ज्ञान पर अर्थात सद्-असद् के विवेक पर ही तो पर्दा पड़ गया था !

वैदिक और श्रमण संस्कृतिया ही इस देश का सच्चा प्रतिनिधित्व करती है। इन दोनो मे भारतीय संस्कृति की विराट् प्रतिमा देखी जा सकती है। बौद्धो और जैनो की यह महती देन—श्रमण संस्कृति, भारतीय संस्कृति की अक्षय और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निधि है। यहा हम अपनी सीमित योजना के कारण केवल जैनधारा से आगत श्रमण तत्त्वो पर विचार करेंगे। जैनधर्म मूलत: ज्ञान-प्रधान है, पर अध्यात्मतत्त्व भी उसमे समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। आज आचार, मूर्ति-पूजा, तीर्थ-यात्रा और भक्ति जो कुछ भी इसमे साधना-मार्ग ऐसा दृष्टिगोचर होता है वह सब साधनमात्र है, साध्य नही। साधन विकास की एक अवस्था के बाद छोड़ दिया जाता है। फिर जैन आचार को आचार्यों ने अनाचार की सीमाओ में जाने से सदा बचाया है। ऐसी किसी व्यवस्था या प्रवृत्ति को कभी प्रोत्साहन नही दिया गया जो किसी भी स्तर के स्वैराचार का कारण बनती।

श्रमण शब्द की आत्मा त्रितात्त्विक है। वे तत्त्व हैं—श्रम, शम और सम। ये तीनो तत्त्व भौतिक और आध्यात्मिक दोनो ही दिशाओ मे चरम उपलब्धि के प्रदाता हैं।

श्रम

प्रत्येक प्राणी और विशेषत: मानव को ईमानदारी से यथाशक्ति अनवरत श्रम साधना का आदी होना चाहिए। श्रम से ही जीवन की महानता का उद्भव होता है। श्रम से जीवन निर्मल होता है ; आत्मविश्वास का उदय होता है ; अकर्मण्यता और आलस्य का क्षय होता है। श्रम सच्चे सुख का प्रथम और अनिवार्य सोपान है। किसान, विद्वान्, राजा तथा साधु, श्रम सभी के लिए अनिवार्य है। जो बिना श्रम—मुख्यत दैहिक साधना—के अन्न खाता है और सुख भोगता है वह आत्मद्रोही, धर्मद्रोही और अन्तत. राष्ट्रद्रोही है। श्रम के अभाव में किया गया चिन्तन अनिवार्य रूप से वर्गवाद, साम्राज्यवाद, अनाचार और घृणित भोग-परम्परा का जनक होता है। अत: श्रमण महावीर और बुद्ध ने श्रम की अनिवार्यता का प्रत्येक मानव के लिए प्रतिपादन किया। श्रम के साथ विवेकदृष्टि को भी

---

१. रामधारी सिंह 'दिनकर' ; संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १७.
२. डॉ० मंगलदेव शास्त्री : "भारतीय संस्कृति का विकास, वैदिक धारा", पृष्ठ १८
३. डॉ० रवीन्द्र कुमार जैन ; "कविवर बनारसीदास : जीवनी और कृतित्व", पृष्ठ ११२

श्रमण संस्कृति में महत्त्व दिया गया है। श्रम कैसा हो, किसके लिए हो, यह भी श्रमकर्ता के लिए विचारणीय है। अन्तःकरण से किया गया हो और महान उद्देश्य से परिचालित हो तभी प्रशंसनीय है। यदि हम श्रम दूसरे के लिए न कर सके तो कम-से-कम स्वयं के लिए तो करें। उत्कृष्ट श्रम वही है जो जीवमात्र की हितकामना से किया जाता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति सच्चे और नियमित श्रम को जीवन में अपना ले तो फिर मानव-जाति के दुखी होने का कोई कारण ही नहीं रहेगा। इस प्रकार श्रमण महावीर ने भारतीय जीवन की आहत, भ्रष्ट और आक्रान्त चेतना को श्रम का महान् सन्देश दिया। इस सन्देश के द्वारा शोषण, अनाचार और धार्मिक ठेकेदारी को भी महावीर ने सर्वथा अवांछनीय और अनुचित घोषित किया। महावीर के समय किस प्रकार कुछ पण्डे व पुरोहित धर्म की आड़ लेकर अपनी उच्चता, ईमानदारी और भोगवृत्ति का समर्थन कर रहे थे—यह बात एक अन्य प्रसंग में कथित डा० रामविलास शर्मा के इस कथन से स्पष्ट हो जाती है—"अंग्रेजी साम्राज्य के स्तम्भ देशी नरेश अचानक धर्मावतार बन गए हैं। उनके अखबार जाट, राजपूत, क्षत्रिय, सिख आदि-आदि जातीयता के नाम पर मध्यवर्ग के लोगों और किसानों को शान्ति और जनतंत्र के खिलाफ उकसाते हैं। ये राजा इस बात का प्रचार करते हैं कि किसी जाति-विशेष के लोग ही शासन करने की योग्यता रखते हैं।"[1] स्पष्ट है कि एक विशिष्ट वर्ग के लोग उस युग में भी श्रम से बचने के बौद्धिक उपाय सोच उठे थे। मांसाहार भी डटकर प्रचलित था और वह भी धर्म के नाम पर।

शम

श्रम की उपलब्धि शमात्मक होनी चाहिए। सच्चा व्यक्तिगत और सार्वजनिक श्रम अवश्य ही शान्ति की स्थापना करेगा। तपस्वी को तप से आत्मा में एक निर्मलता का अनुभव होता है, वही उसकी उपलब्धि है। मजदूर को श्रम से भोजन मिलता है, उससे पेट भरता है, मन शान्त होता है, वही उसकी उपलब्धि है। जब श्रम से हमें इच्छित शान्ति नहीं मिलती तो दो ही बातें हो सकती हैं। या तो श्रम अविवेक से किया गया है, या फिर लोक में श्रम के मूल्यांकन की व्यवस्था गलत है। महावीर और महात्मा बुद्ध का आशय यही था कि बिना सच्ची साधना के मन को सच्ची शान्ति नहीं मिल सकती।

सम

श्रम के फलस्वरूप मानव को शान्ति मिलती है और शान्त अवस्था में ही वह उत्कृष्ट ढंग से अपने लिए और सारी मानवता के लिए सोच सकता है। उक्त दो अवस्थाएँ विश्वमैत्री और विश्वबन्धुत्व की स्वस्थ भूमिका प्रस्तुत करती हैं। मानव-मन में इतनी निर्मलता और सरलता आ जाती है कि वह प्रत्येक मानव और जीवन में आत्मवत् अनुभूति करता है। सभी प्रकार की क्षुद्रता उससे निकल जाती है।

यह तो श्रमण शब्द की व्यापकता पर एक संक्षिप्त-सी टिप्पणी हुई। अब हम जैन-परम्परा की कुछ विशिष्ट सांस्कृतिक देनों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे। सामान्यतया कह दिया जाता है कि भारतीय संस्कृति में समन्वय, सर्वभूत-मैत्री, अनासक्ति, परलोकपरकता और अध्यात्म आदि का अद्भुत योग है। पर ये सभी तत्त्व किन-किन स्रोतों से आकर इसमें एकाकार हुए हैं, यह जानना भी हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके बिना हमारी दृष्टि वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती। अहिंसक आचरण की तलस्पर्शी और प्रयोगात्मक चेतना तथा जीवन पद्धति निश्चित रूप से जैन और बौद्ध स्रोतों से आई है। अपरिग्रह या निर्ममता की भावना भी उक्त दोनों धाराओं ने एक विशिष्ट प्रयोग के रूप में प्रस्तुत की। ये दो बातें जीवन के आचरण या व्यवहार पक्ष को ध्यान में रखकर प्रस्तुत की गईं। चिन्तन के क्षेत्र में अनेकान्त दृष्टि द्वारा ज्ञान का चिरकाल से अवरुद्ध मार्ग भी जैनाचार्यों ने खोला। इन तीनों देनों पर हम क्रमशः संक्षेप में विचार करेंगे।

अहिंसा

अहिंसक आचरण जैन-विचारधारा का प्राण है। धर्म का मौलिक रूप अहिंसा है। सत्य आदि उसके विस्तार हैं—'अवसेसा तस्स रक्खट्ठा' शेष व्रत अहिंसा की रक्षा के लिए है।[2]

समस्त जैनाचरण अहिंसामूलक है और चिन्तन अर्थात् विचारधारा अनेकान्तात्मक। प्रायः समस्त धर्मों की शिक्षाएं वर्जनात्मक होती हैं। अहिंसा भी ऐसा ही निषेधात्मक शब्द है। किन्तु जैन-अहिंसा निषेध के द्वारा अकर्मण्यता को प्रोत्साहित नहीं करती। उसका क्रियात्मक रूप भी है। वह है—

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा : संस्कृति और साहित्य, पृष्ठ २९४
२. मुनि श्री नथमल : "अहिंसा तत्त्वदर्शन", पृष्ठ १

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभाव विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ।।

अर्थात् प्राणीमात्र मे मैत्री, गुणीजनो मे प्रमोद, दुखी जीवो के प्रति दयाभाव और विपरीत आचरण या विचार वालो के प्रति माध्यस्थभाव की ही एक अहिंसक हृदय भगवान से प्रार्थना करता है । आरम्भी, उद्योगी, सकल्पी और विरोधी—इन चारो प्रकारो की हिंसा का त्याग आवश्यक बताया गया है। भगवान् महावीर के समय मे हिंसा का धर्म के नाम पर भयकर ताण्डव हो रहा था । उक्त चारो प्रकार से हिंसा फैल रही थी। हिंसा के समर्थन में नित्य नई व्याख्याएँ धर्माधिकारी गढ़ रहे थे । धर्म मे ही नही समाज मे भी हिंसक आचरण अनेक रूपो मे प्रविष्ट हो चुका था । वर्णवाद, छुआछूत, नारी के प्रति हीन भावना, मत्स्य न्याय आदि बातें जनसमाज को प्रतिक्षण नारकीय यातना दे रही थी । महावीर ने धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति का शंखनाद किया । वे एक विराट् सामाजिक और धार्मिक चेतना लेकर आए। करोडो आत्माओ का पीड़ित स्वर उनकी वाणी मे मुखरित हुआ । उन्होने घोषित किया कि कोई भी धर्म मन, वाणी या कर्म से किसी को दुःख देने का समर्थन नही कर सकता । जो धर्म की ऐसी व्याख्या करता है वह स्वयं हमारी दया का पात्र है और धर्म के सच्चे स्वरूप को नही जानता । जैनधर्म की महती सास्कृतिक देन के सम्बन्ध मे प्रसिद्ध विद्वान् डा० राधाकमल मुखर्जी लिखते है—"भारतीय सभ्यता को जैनधर्म की सर्वोच्च मूल्य की देनें हैं—प्रत्येक जीवधारी के प्रति, उदारता और तपस्या पद्धति के प्रति, वस्त्रत्याग और उपवासादि के प्रति विश्वसनीय आदरभावना । यह बात केवल साधुओं ने ही नही, श्राविकाओं ने नही, किन्तु जन-समान्य ने भी स्वीकार की । बड़े-बड़े राजाओ और पुरोहितो ने भी ।"[1] अहिंसक आचरण विश्वमैत्री और समभाव की प्रथम सीढ़ी है । आत्मशुद्धि के लिए सबसे पहली आवश्यकता अहिंसक दृष्टि की है। अहिंसा का वास्तविक परिणाम आत्मशुद्धि है। यह एक नियम का सिद्धान्त है।[2] जिसकी आत्मा ही निर्मल नही है वह कैसे स्वयं को श्रेष्ठ कह सकता है ? श्रेष्ठता का प्रथम पाठ अहिंसक और सदाशय आचरण है । शक्तिशाली ही अहिंसक हो सकता है। अहिंसक को आत्मा बलवती होती है। किसी को दण्डित करने और उसके प्राण लेने की अपेक्षा कई गुणा अधिक आत्मबल उसे क्षमा कर देने मे लगता है । कापुरुष कभी अहिंसक नही हो सकता, क्योंकि अहिंसा त्याग और साहस दोनो चाहती है और इन गुणो का कायर व्यक्ति मे सर्वथा अभाव होता है । कायर को अपने प्राण सबसे अधिक प्रिय होते है, स्वार्थ और अवसरवादिता भी उसमे भरपूर होती है, उसके जीवन का केवल एक ही सिद्धान्त होता है—जीना और केवल अपने लिए जीना तथा जीने के लिए किसी भी मार्ग को स्वीकार कर लेना । महावीर द्वारा प्रतिपादित अहिंसा उनके युग के लिए वरदान सिद्ध हुई । मानव जाति के लिए आज अहिंसा की उस युग से अधिक आवश्यकता है । अहिंसा की मानव को सदा अपेक्षा रहेगी । प्राय कहा जाता है कि जैन-अहिंसा के कारण ही भारत कायर हो गया और सैकडो वर्ष गुलाम रहा । ये वे ही लोग हैं जो प्राय आवेश और भावुकता मे सोचा करते हैं । स्वार्थान्धता, पारस्परिक कलह, विलासिता और अहम्मन्यता हमारी पराजय के मूल कारण हैं, जो आज भी अनेक रूपो मे हमारे भीतर काम कर रहे है। अहिंसा कभी पतन और पराजय स्वीकार नही कर सकती । मुनि और गृहस्थ की अहिंसा के स्तरो को न समझने के कारण भी लोगो मे पर्याप्त भ्रम फैलता रहा है । अहिंसक मृत्यु से नही डरता, वह असंग्रही भी होता है, फिर उसमे कायरता को कहाँ अवसर है ?

अपरिग्रह-असंग्रह

अहिंसक आचरण मनुष्य मे विशाल लोकचेतना जागृत करता है । इस आचरण के फलस्वरूप असंग्रह की भावना का उदय होता है . व्यक्तिगत सुख का अधिकतम त्याग मानव में जागृत होता है । पहले सासारिक भोग-विलास की सामग्री का त्याग किया जाता है, यह त्याग बाह्य-असग्रह है और आन्तरिक सासारिक इच्छाओ का त्याग आन्तरिक-असंग्रह है । महावीर के युग मे धर्म के नाम पर पण्डे-पुजारी अधिकाधिक सग्रहवृत्ति के आदी हो चुके थे । व्यक्तिगत और वर्गगत स्वार्थ सर्वोपरि स्थान ले चुके थे। एक ओर घोर भुखमरी, अशिक्षा एव रुग्णता थी और करोडो व्यक्ति मात्र अस्तित्व के लिए तड़प रहे थे, जबकि दूसरी ओर मुट्ठीभर लोगों के हाथ में जीवन की सारी सुख-सुविधाएँ केन्द्रित थी । महावीर ने स्वय अहिंसक और अपरिग्रही बनकर, राज्य-सुख त्याग कर जनता के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत किया । "यह सब ससार से घृणा करके नही किया, किन्तु जीवन की पूर्णता, वास्तविकता और विश्व के ऐक्य को खोजने के लिए यह मार्ग अपनाया ।"[3]

---

१. राधाकमल मुखर्जी : ए हिस्ट्री ऑफ सिविलिजेशन, पृष्ठ १६१.
२. मुनि श्री नथमल : अहिंसा तत्त्वदर्शन, पृष्ठ २१८
३. आत्माराम वालचन्द्र देव : हिस्ट्री ऑफ जैन मोनाकिज्म, पृष्ठ २.

भारतीय संस्कृति को श्रमण संस्कृति की तीसरी देन विचार के क्षेत्र से सम्बद्ध है। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि जैन आम्नाय की समस्त आचार-प्रक्रिया अहिंसामूलक है और विचार-पद्धति अनेकान्तात्मक। अत. अहिंसा और अपरिग्रह जैनाचार की आधार भूमि है और अनेकान्त तथा स्याद्वाद विचार-पथ के प्रकाश-स्तम्भ। जैन दर्शन मे दो शब्द प्रचलित हैं—(1) अनेकान्त (2) स्याद्वाद। अनेकान्त द्वारा वस्तु की अनेक रूपात्मक और गुणात्मक सत्ता का बोध होता है, वस्तु की स्थिति समझ में आती है। अत: यह वस्तु या विषय-बोध की व्यवस्था है। और स्याद्वाद द्वारा वस्तु की अनेकविध सत्ता का कथन किया जाता है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता है। अत प्रत्येक व्यक्ति को जीवन-विकास की पूरी सुविधाएँ मिलनी चाहिएं। वह स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। अत उसकी स्वतंत्रता का अपहरण नही होना चाहिए। प्रत्येक जीव साधना के द्वारा सर्वोच्च आत्मोपलब्धि कर सकता है। विचार के क्षेत्र में महावीर के पूर्व भारतीय जीवनधारा मे इतनी व्यापक और गम्भीर क्रान्ति कभी नही आई। कभी किसी अवसर पर यह तो मिलता है, "एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" परन्तु एक स्थिर दार्शनिक मान्यता के रूप मे ऐसा कुछ नहीं मिलता। किसी भी प्रकार की एकांगी दृष्टि को जैन दर्शन अस्वीकार करता है। जगत् की कोई भी वस्तु 'ही' के द्वारा प्रतिपादित नही की जा सकती। प्रत्येक वस्तु की सापेक्ष सत्ता है। कोई भी वक्ता एक ही क्षण मे किसी वस्तु के प्रति जो कुछ भी कहेगा वह केवल आंशिक और सापेक्ष सत्य ही हो सकता है। जवाहरलाल मोतीलाल नेहरू के पुत्र थे, यह कथन मोतीलाल नेहरू की दृष्टि से ठीक है। किन्तु जवाहरलाल का सम्बन्ध और भी लाखो व्यक्तियों से था और वे सबकी दृष्टि मे अनेक रूपो मे थे। हाथी और अंधो का प्रसिद्ध उदाहरण सभी जानते हैं। महावीर ने घोषित किया कि जो दूसरो की जीवनदृष्टि और विचारधारा के प्रति सहिष्णु और उदार नहीं है, उसका चिन्तन कभी स्वस्थ और निर्माणकारी नही हो सकता। जो दूसरे के विचारो को सहृदयता और तटस्थता से न सुनता है और न समझता है, उसे दूसरो से अपने विचारो के प्रति सहृदयता और तटस्थता की आशा कदापि नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार श्रमण महावीर ने अपने युग मे प्रवर्धमान दुराग्रह और एकांगितापूर्ण चिन्तनधारा को अनेकान्त की उज्ज्वल और समन्वयकारिणी चिन्तन चेतना दी। इससे समस्त वर्गों मे अपने प्रति आत्म-सम्मान का भाव जगा, वे समस्त उपेक्षा और कुन्ठा को तिलांजलि देकर पूरे उत्साह के साथ एक नव-युग के निर्माण मे सहयोग देने लगे। महावीर और महात्मा बुद्ध ने इस चेतना के द्वारा समस्त देश मे एक नवजागरण के युग का सूत्रपात किया। अन्ध श्रद्धा और रूढियो से भारतीय जनता को मुक्त होने की स्वस्थ बौद्धिक चेतना इन युगनेताओ द्वारा हमे मिली। भारतीय संस्कृति मे क्रान्ति और परिवर्तन के अनेक युग आए। इन सबमे उसे बल ही मिला है। किसी सम्प्रदाय को कभी भी अपनी देन पर गर्व नहीं करना चाहिए। नेता और महापुरुष किसी वर्गविशेष की सम्पत्ति नही होते, उनपर समस्त विश्व का अधिकार होता है। फिर प्रत्येक वर्ग अन्य वर्गों से भी बहुत अधिक प्रभावित होता है।

किन्तु दुर्भाग्य यह है कि जिस श्रमण-परम्परा ने कभी सच्ची साधना, सदाचरण और ज्ञानमार्ग का अक्षयदीप जलाया था; आगे चलकर वही अत्यन्त दुरूह साधना, क्रियाकाण्ड, भट्टारकवाद और खण्डन-मण्डन के दलदल मे फंस गयी। आज अपने आचार और चिन्तन के प्रति इस सम्प्रदाय में दुराग्रह कम नही है। दूसरो को तो क्या एक ही वृक्ष की दो शाखाएँ एक दूसरी से कितनी दूर जा पडी हैं, दिगम्बर और श्वेताम्बर वर्गों मे तीसरो जैसा युद्ध होता ही रहता है। जब घर मे ही यह हाल है तब दूसरो के सम्मुख आदर्श और उच्चता बघारने मे कितना औचित्य है, हमे ईमानदारी मे सोचना चाहिए। जिस समन्वय और अखण्डता का महावीर ने अक्षयदीप जलाया था, उसकी आज क्या अवस्था है ? जातिभेद, छुआछूत और व्यर्थ के आडम्बर को कितनी मात्रा मे आज तक हम छोड सके हैं ? क्या आज भी नये प्रकार के पण्डे और पुरोहित हमे जीवनसत्य से कोसो दूर नही रख रहे हैं ? आज फिर जनता को अपने विवेक से काम लेना है और समन्वय तथा स्वच्छ आचार की भावना को बलवती करना है।

"वास्तव मे भारतीय संस्कृति के प्रवाह और स्वरूप को समझने के लिए हमे जनता के विकास की दृष्टि से ही उसका अध्ययन करना होगा। भारतीय इतिहास के विभिन्न कालो का महत्त्व भी हमे किसी सम्प्रदाय या राजवंश की दृष्टि से नही, किन्तु जनता की दृष्टि से ही मानना पड़ेगा। इस प्रकार के अध्ययन से ही हमे प्रतीत होगा कि भारतीय संस्कृति की प्रगति में वैदिकयुग के समान ही बौद्धयुग या सन्तयुग का भी महत्व रहा है।"[१]

जो सच्चे अर्थों मे सन्त हैं वे अपने ऊपर भी शंका करते हैं और, एक सिद्धान्त को मानते हुए भी, वे यह भाव बनाए रखते हैं कि सम्भव है अन्य सिद्धान्तो मे भी सत्य का कोई अंश हो, जो हमे दिखाई न पडा हो। समन्वय, सह-अस्तित्व और सहिष्णुता ये एक ही तत्त्व के अनेक नाम हैं। इसी तत्त्व को जैनदर्शन शारीरिक धरातल पर अहिंसा और मानसिक धरातल पर अनेकान्त कहता है।"[२]

---

१. डॉ० मंगलदेव शास्त्री : भारतीय संस्कृति का विकास, पृष्ठ ११

२. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १३६

जैन धर्म और उसका भरतीय सभ्यता और संस्कृति को योगदान

डॉ० चमनलाल जैन

आज भारतीय इतिहास मे जैन और बौद्ध धर्म का उल्लेख ईसा से ६वीं शती पूर्व की धार्मिक क्रान्ति के रूप में साथ-साथ आता है। अत: अधिकांश मे यह धारणा बन गई है कि उपर्युक्त दोनो धर्मों का प्रादुर्भाव साथ हुआ था। परन्तु वर्तमान काल मे होने वाले अनुसंधानों के आधार पर तथा जैन ग्रन्थों का प्रामाणिक छानबीन में यह तथ्य स्पष्ट हो गया है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से काफी पूर्व का धर्म है। उसके २४ तीर्थंकरों मे स दो—नेमनाथ और पार्श्वनाथ—का होना इतिहास ने स्वीकार कर ही लिया है, अन्य तीर्थंकरों को भी शनैः शनैः स्वीकार किया जा रहा है। ग्यारहवे तीर्थंकर श्रेयांसनाथ जिनके नाम पर सारनाथ नाम चला आ रहा है तथा महाभारत काल में नेमनाथ का होना सर्वस्वीकृत हो चुका है। पार्श्वनाथ का जन्म ईसा पूर्व ८वी सदी में काशी में होना और गहन तपस्या में लीन होने के पश्चात् पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति कर "निर्ग्रन्थ" धर्म (जैन धर्म का पूर्वरूप) का प्रचार कर सौ वर्ष के लगभग आयु मे मोक्ष प्राप्ति का उल्लेख सुप्रसिद्ध भारतीय इतिहासकार श्री आर० सी० मजूमदार[1] ने भी किया है। ऋग्वेद[2] व सामवेद[3] में भी जैनियो के प्रथम एवं बाईसवें तीर्थंकर श्री ऋषभदेव व अरिष्टनेमि का उल्लेख आया है। अभी हाल की एक खुदाई मे हस्तिनापुर मे प्राप्त अवशेष भी भगवान् ऋषभदेव की मान्यता की पुष्टि करते हैं। सिन्धु घाटी के उत्खननों और वहाँ की मूर्तियो तथा लिप्याक्षरो को पढ़े जाने के उपरान्त इस धर्म की प्राचीनता उस काल तक स्वीकार की जाने लगी है। कुछ विद्वान् तो पहले ही इस धर्म को वैदिक धर्म से भी पूर्व का प्राचीन धर्म होने की सम्भावना को स्वीकार करते थे।[4] अत. जैन धर्म निर्विवाद हो एक स्वतन्त्र धर्म है और इसका अन्य धर्मों के मूलोद्गमों से कोई सम्बन्ध नहीं है। छठी शताब्दी ईसा पूर्व की स्थिति में भगवान् महावीर का जो उल्लेख इतिहास मे आता है वह इसलिये कि उन्होंने तत्कालीन चिन्तनीय सामाजिक और धार्मिक स्थिति में उसे एक नवीन पर्यावरण में प्रस्तुत किया।

उस समय देश मे अनेक विचारधाराएं काम कर रही थीं। जैसे—देवतावाद, जड़वाद और अध्यात्मवाद। ये धाराएं केवल कर्मकाण्डों, वितण्डावादो और बाह्य चमत्कारो से लिप्त थी। भावनाएं संकीर्ण हो चुकी थी, धर्म के नाम पर हिंसा, विलासिता और शिथिलाचार बढ़ रहा था। मांस, मदिरा और मैथुन मे साधारण जनता व्यस्त थी, स्त्री मनुष्य की भोगवस्तु बन चुकी थी, जनता प्रवृत्ति मार्ग पर बहुत आगे बढ़ चुकी थी। यज्ञ-हवन, दान-दक्षिणा से देवी-देवताओं को ब्राह्मणों और पुरोहितों द्वारा खरीदा जा सकता था। कर्मकाण्डों और विश्वासों ने मनुष्य को आत्मविश्वास और पुरुषार्थ से हीन बना कर देवताओं का दास बना दिया था। भगवान् महावीर ने इस दशा से उबारने के निमित्त मनुष्य का दर्जा देवताओं से भी उच्च बताया और उसे उन्नति कर परमात्मा तक बनने का उपदेश दिया। उन्होंने बताया कि मनुष्य का दुःख-सुख देवताओ के अधीन नहीं वरन् उसकी अपनी वृत्तियों के अधीन है। अत: उसे कर्म करने में सावधान रहना चाहिये। अच्छे कर्म करने पर मनुष्य विकास पथ पर अग्रसर हो परमात्मपद को प्राप्त कर सकता है। यह विकास निजी भावों के अतिरिक्त बाह्य द्रव्य, क्षेत्र और काल पर भी निर्भर करता है। निजी भाव और बाहर की स्थिति की प्रतिकूलता में जीव का पतन और अनुकूलता में उत्थान होता है। अत: यह मनुष्य के लिये आवश्यक है कि वह अपने भावो में सुधार के साथ देश

---

१. R. C. Majumdar : Ancient India, 1952 Edition, Chapter V, p. 176.

२. ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो
अरिष्टनेमि स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु, ऋग्वेद, अध्याय ६, वर्ग १६, सूक्त २२

३. सामवेद अध्याय २५, मन्त्र १६

४. Encyclopaedia of Religion, Vol II. pp. 199-200; Vol VII. p. 472

काल का भी सुधार करे। इस प्रकार लोक-सेवा और सुधार में ही अपना सुधार एवं कल्याण है। मनुष्य का सर्वोच्च धर्म है कि वह जीवों को समान समझकर उनके प्रति दया का व्यवहार करता रहे। बड़ों के प्रति श्रद्धा का एवं बुरों, दुर्बुद्धि और दुर्व्यवहारियों के प्रति चिकित्सक के समान व्यवहार करना आवश्यक है। एकान्त पद्धति के दृष्टिकोण के कारण व्यक्ति हठी, अहंकारी, संकीर्ण विचारों वाला और मनोमालिन्यमय होता जाता था। इसीलिये भगवान् महावीर ने एकान्त पद्धति की कड़ी आलोचना की तथा अनेकान्तवाद का पोषण किया, जिसके अनुसार प्रत्येक बात को उदार और विभिन्न दृष्टिकोणों से समझने का उपदेश दिया। उनका कथन था "वस्तु के कण कण को जानो, तब उसके स्वरूप को कहो।" इससे विचार के क्षेत्र में सहिष्णुता आई। इस प्रकार अनेकान्तवाद के मूल में है—सत्य की खोज। सत्य को विभिन्न दृष्टिकोणों से जानकर स्याद्वाद के कथन द्वारा जीवन के धरातल पर उतारना यही उनका वैशिष्ट्य है।

यह एक आध्यात्मिक या बौद्धिक क्रान्ति थी। इसी कारण इसे भारतीय इतिहास में बौद्धिक क्रान्ति के नाम से पुकारा गया है। भगवान् महावीर को इन्द्रियों पर विजय करने के कारण "जिन" कहा गया और इनके धर्म को तथा उसके अनुयायियों को जैन कहा जाने लगा।

इस क्रान्ति का भारतीय इतिहास पर व्यापक प्रभाव पड़ा। भारतीय सभ्यता और संस्कृति का कोई अंग ऐसा नहीं है जो जैन धर्म के प्रभाव से अछूता रहा हो। अतः यहां हम संक्षेप में उसका दिग्दर्शन करना आवश्यक समझते हैं।

१. **राजनैतिक प्रभाव**—जैन धर्म बौद्ध धर्म की अपेक्षा तीव्रता से फैलना प्रारम्भ हुआ।[1] उत्तर में कन्नौज, गान्धार बल्ख से लेकर दक्षिण में सिंहलद्वीप तक, पश्चिम में सिन्धु, सुराष्ट्र से लेकर पूर्व में अंग, बंग तक सभी स्थानों और जातियों में वह धर्म व्याप्त हो गया। न केवल भारत में वरन् भारत के बाहर के देशों में भी यह धर्म फैला। महावंश[2] नामक बौद्ध ग्रंथ से प्रतीत होता है कि ४३७ ई० पूर्व में सिंहलद्वीप के राजा ने अपनी राजधानी अनुरुद्धपुर में जैन मन्दिर व मठ बनवाये थे जो ४०० वर्ष तक कायम रहे। भगवान् महावीर के समय से लेकर ईसा की प्रथम शती तक मध्य एशिया और लघु एशिया के अफगानिस्तान, ईरान, ईराक, फिलिस्तीन, सीरिया, मध्य सागर के निकटवर्ती यूनान, मिश्र, ईथोपिया (Ethopia) और एबीसीनिया आदि देशों से जैन श्रमणों का सम्बन्ध व सम्पर्क बराबर बना रहा। यूनानी लेखकों के कथन से सिद्ध होता है कि पायथागोरस (Pythegorse), पेरहो (Pyrrho), डायजिनेस (Diogenes) जैसे यूनानी तत्ववेत्ताओं ने भारत में आकर जैन श्रमणों से शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की थी।[3] सिकन्दर महान् के साथ जाने वाले जैन ऋषि कल्याण के पश्चात् सैकड़ों जैन श्रमणों ने उक्त देश में समय-समय पर जाकर अपने धर्म का प्रचार किया और वहां पर अपने मठ बनाकर रहते रहे।[4] कुछ विद्वानों का मत है कि प्रभु ईसा ने इन्हीं श्रमणों से जो कि फिलिस्तीन में मठ बनाकर बहुत बड़ी संख्या में रह रहे थे, अध्यात्म विद्या के रहस्य को सीखा था।[5]

भगवान् महावीर के समय में ही बिम्बसार, अजातशत्रु, उदयन, शतानिक, प्रसेनजित और वैशाली के लिच्छवी शासक जैन धर्म के समर्थक बने। वैशाली (विदेह) में उस समय भी बहुत बड़ी संख्या में जैन थे। उनके उपरान्त महाराजा नन्दवर्द्धन जो कलिंग से जिन मूर्ति मगध में लाये थे, जैन धर्म के अच्छे उपासक हुए। शिशुनाग और नन्द राजाओं ने भी जैन धर्म को अपनाया। चन्द्रगुप्त मौर्य न केवल जैन धर्म के अनुयायी थे वरन् अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वह जैन भिक्षु हो गये थे। उन्होंने भद्रबाहु के साथ अकाल के समय जैन भिक्षु के रूप में दक्षिण की ओर प्रस्थान किया था। सम्प्रति, शालिसूक मौर्य और वृहद्रथ भी जैन धर्म के अनुयायी थे। जैन सम्राट् ऐल खारवेल ने उस मूर्ति को जो महाराजा नन्दवर्द्धन द्वारा ले जाई गई थी, २७५ वर्ष उपरान्त पुष्यमित्र शुंग को परास्त कर वापिस कलिंग में लाकर पुनः वहाँ पर स्थापित किया। इसी सम्राट् ने शकों और यूनानी राजा मनेन्द्र (मेनेंडर) को परास्त कर देश को विदेशियों से मुक्त किया। यही यवन सम्राट् मनेन्द्र अपने अन्तिम जीवन में जैनधर्म में दीक्षित हो गये थे।[1] क्षत्रप सम्राट् नहपान विक्रमादित्य जो जैन धर्म में दीक्षित होकर भूतबलि नामक दिगम्बर जैन आचार्य बन गये थे, ने षट् खंडागम शास्त्र की

1. R. C. Majumdar: Ancient India, Chap. V, page 178.
2. Prof. Buhler—An Indian sect of the Jainas, page 37
3. (A) Dr. B. C. Lav—Historical Gleanings, page 42
   (B) Sir williams James—Asiatic Researches, Vol. III, page 6.
   (C) Mogathenes—Ancient India, page 104.
   (द) डा० कामता प्रसाद—दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि, पृ १११—१३, २४३
४. प० सुन्दर लाल—हजरत ईसा और ईसाई धर्म, पृ० २२.
५. वीर——वर्ष २, पृष्ठ ४४६-४४९.

रचना की।[1] कनिष्क, हुविष्क और वासदेव आदि शक राजाओं के समय में भी जैन धर्म की मान्यता बहुत थी। नरसिंह, अमोघवर्ष, जयसिंह, सिद्धराज सभी ने जैन धर्म को प्रमुख मान्यता प्रदान की। गुजरात का प्रतापी शासक कुमारपाल जिसके आचार्य हेमचन्द्र जैसे जैन विद्वान् गुरू रहे, जैन धर्म के अनन्य उपासक थे। आपने अपने शासन में सम्पूर्ण साम्राज्य से मांस, मदिरा आदि का निषेध करा दिया।

दक्षिण में तो जैन धर्म और तीव्रता से फैला। वहाँ के कदम्ब, चेर, चोल, पाड्य, गग, होयसाल आदि राजवशों मे अनेक प्रसिद्ध जैन शासक हुए। यहाँ के जैन सेनापति और दडनायक जैसे श्री विजय, चामुडराय, गगराज और हुल्ल ने भी भारतीय इतिहास को काफी प्रभावित किया। केवल चामुडराय, जिन्होंने ८४ युद्ध लडकर विरुद पद प्राप्त किया था, ने श्रवणबेलगोला की प्रसिद्ध ५७ फीट ऊँची एक पत्थर की बाहुबली की मूर्ति निर्मित कराकर भारतीय संस्कृति को अपूर्व योगदान दिया। मेवाड के सच्चे भक्त भामाशाह जिन्होंने अतुल धन-राशि देकर हल्दी घाटी के युद्ध में अपना जौहर दिखाया था, जैन ही थे। अकबर के शासन काल में इस धर्म के मानने वालो की सख्या करोड से भी अधिक थी। अकबर के समय मे जैन विद्वान् हरिविजय सूरि, विजयसेन सूरि, भानुचन्द्र उपाध्याय उनके दरबार मे रहे थे। इस प्रकार जैन सम्राट्, विद्वान् व पडित विभिन्न रूप मे भारतीय इतिहास को सदैव प्रभावित करते रहे हैं।

२. **सामाजिक प्रभाव** :—सामाजिक क्षेत्र मे जीवन का कोई ऐसा आयाम नहीं जिसे जैन धर्म ने प्रभावित न किया हो। पारिवारिक जीवन, रहन-सहन, भोजन, वस्त्र, खान-पान, आमोद-प्रमोद, स्त्रियो की स्थिति और अन्य समाज के वर्ग सभी को जैन धर्म का योगदान रहा है। परिवार मे प्रात स्नान कर नित्य नियम से पूजन व स्वाध्याय करने मन्दिर मे जाना, साय को रात्रि होने से पूर्व भोजन कर उसके उपरान्त मन्दिर मे आरती कर धार्मिक प्रवचन आदि सुनना—इस प्रकार की व्यवस्था से उन्होने जीवनक्रम को नियमित कर दिया। मासाहार निषेध, बिना छना जलपान निषेध और अन्य खान-पान के नियम जहाँ धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है वहाँ स्वास्थ्य की दृष्टि से भी परमावश्यक और लाभकारी है। स्त्रियो को भी पुरुषो के समान अध्ययन, स्वाध्याय और भजन-पूजन का अधिकार प्रदान कर उन्हे भी पुरुषो के समान मान्यता प्रदान कर समाज मे उच्च स्थान दिलाया। जाति व्यवस्था के बन्धनों को त्याग कर सभी जाति को पूजन, धर्म और अन्य सभी प्रकार की समान सुविधा प्रदान कर एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण को रोका। भगवान् महावीर के सदेश, "जो तुम हो वह दूसरा है"—"स्वरूप दृष्टि से आत्मा एक है, अर्थात् समान है"—"समस्त जीवों को अपने समान समझो" मे उन्होने विभिन्न जातियो से उच्च और नीच, महानता और हीनता की भावना निकाली। "जन्म से कोई न ब्राह्मण है और न शूद्र" यही महावीर का समभाव समाज मे क्रांति लाया। इतना ही नही 'प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकती है"—इस सन्देश मे आपने सभी वर्ग और जाति के लोगो को प्रगति की ओर बढ़ने को अग्रसर किया। महावीर की सदैव यह दृष्टि रही कि आदर्श समाज कैसा हो। इस हेतु ही आपने निरपराधी को दण्ड न देना, असत्य न बोलना, चोरी न करना, न चोर को किसी प्रकार की सहायता देना, स्वदार-सन्तोष के प्रकाश मे काम भावना पर नियन्त्रण रखना, आवश्यकता से अधिक सग्रह न करना, व्यय-प्रवृत्ति के क्षेत्र की मर्यादा करना, जीवन मे समता, सयम, तप और त्याग वृत्ति को विकसित करना आदि नियमों को प्रचारित किया। भगवान् महावीर की यह सामाजिक क्रान्ति हिंसक न होकर अहिंसक है, सघर्षमूलक न होकर समन्वयमूलक है। अत सामाजिक क्षेत्र मे इसका पर्याप्त योगदान रहा।

3 **धार्मिक प्रभाव**—धार्मिक दृष्टि से जैन धर्म ने भारतीय समाज को सबसे अधिक योगदान दिया। क्योंकि उस समय धर्म में अनेक कुरीतियाँ व्याप्त थी। धर्म उपासना की नही प्रदर्शन की वस्तु हो गया था, यज्ञो में पशुओ का बलिदान तक धार्मिक क्रिया बन चुका था। अत उन कुरीतियो को दूर करने हेतु भगवान् महावीर ने प्रचलित उपासना पद्धति का तीव्र शब्दो मे खण्डन किया। उन्होने बताया कि ईश्वर को प्राप्त करने के साधनो पर किसी वर्ग विशेष का अधिकार नही है। उसे प्रत्येक व्यक्ति बिना धर्म, वर्ग या लिंग के भेद के मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता के आधार पर प्राप्त कर सकता है। इस निमित्त केवल अपनी कषायों—क्रोध, मान, माया, लोभ का त्याग आवश्यक है। इतना ही नही आपने प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं ईश्वर बनने मे समर्थ घोषित कर जनता के हृदय में शक्ति, आत्मविश्वास और आत्मबल का तेज भरा। आपके प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त जिनका भारतीय दर्शन पर प्रभाव पडा, निम्न हैं :—

(क) **अहिंसा मार्ग** —भगवान् महावीर का कथन, "किसी भी प्राणी का घात मत करो", "जिस प्रकार तुम्हें दुःख-सुख का अनुभव होता है, उसी प्रकार दूसरे प्राणी भी दु.ख-सुख का अनुभव करते हैं अत जो तुम्हे अपने लिए नही रुचता हो, उसका व्यवहार दूसरे के प्रति मत करो। इसीलिए सदा अहिंसा के पालन में सतर्क रहो," उनके अहिंसा धर्म का मूलाधार है। वास्तव मे अहिंसा ही जैन

1. डा० कामता प्रसाद —दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि, पृ० १२०

दर्शन की आधार भूमि है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह सभी इसी के अंग हैं : भगवान् के इस उपदेश से प्रभावित हो जनता हिंसा से घृणा करने लगी। सभी धर्मों ने अहिंसा के इस सिद्धान्त को अपनाया। भगवान् महावीर ने तो अहिंसा का प्रयोग समग्र जीवन के लिए बताया—चाहे सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक कोई-सा क्षेत्र क्यों न हो। सामाजिक क्षेत्र में ऊँच-नीच का भेदभाव त्यागकर समता की भावना से जीवन को सन्तुलित किया। आर्थिक जीवन को उचित रूप से सचालित करने हेतु परिग्रह को मर्यादा बना कर चलना बताया तथा राजनैतिक जीवन को ठीक प्रकार सचालित करने हेतु कर-ग्रहण सिद्धान्त मे यह बताया कि राजा को प्रजा से उतना ही लेना चाहिए जो उचित हो। इस हेतु उन्होने भौंरे के फूल से रस ग्रहण के सिद्धान्त के अनुसार कर लेने को अपनाने का समर्थन किया है। आधुनिक युग मे महात्मा गांधी ने अहिंसा के इसी सिद्धान्त को ग्रहण कर और उसका प्रयोग कर सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित किया है।

(ख) **अपरिग्रह** :—अपरिग्रह का अर्थ है – परिग्रह पर दृढता के साथ उत्तरोत्तर सयम रखना। यह वास्तव मे अहिंसा का ही एक अंग है। आपके इस सिद्धान्त को अपनाने से समाज मे व्याप्त अनेक कुरीतियां समाप्त होने लगेगी। स्वेच्छा से सम्पत्ति के अधिग्रहण पर संयम रखने से सामाजिक न्याय और उपभोग-वस्तुओ के समान वितरण की समस्या सुलझेगी। इस सिद्धान्त को पूर्णरूपेण अपनाने से वर्ग-संघर्ष समाप्त हो जाएगा और शनै:-शनै: एक विवेकशील समाज की रचना हो जाएगी। आपके इस सिद्धान्त को हम साम्यवाद के नाम से भी पुकार सकते हैं।

(ग) **अनेकान्तवाद** —उस समय अनेक मत-मतान्तर प्रचलित होने के कारण वे एकागी सत्य को ही सम्पूर्ण सत्य समझते थे। सब का दावा था कि जो कुछ हमारा कथन है वही सच्चा है और सब झूठे हैं। अनेकान्त द्वारा आपने प्रत्येक वस्तु को ठीक समझने के लिये उसे विभिन्न दृष्टियों से देखना और पृथक्-पृथक् पहलुओ मे विचार करना बता कर सर्वांगीण सत्य का स्वरूप बताया। इस सिद्धान्त ने समाज में सहिष्णुता उत्पन्न की। दूसरो के दृष्टिकोण को समझने की प्रवृत्ति भी लोगो मे आई। वास्तव मे यह सिद्धान्त जो स्याद्वाद भी कहा गया है, भारतीय दर्शन को जैन धर्म की अनूठी देन है।

(घ) **कर्मवाद** – भगवान् महावीर ने कहा—तुम जैसा करोगे वैसा फल पाओगे। कोई भगवान् तुम्हे दु:ख-सुख नहीं देता किन्तु पूर्वबद्ध कर्मों का प्रतिफल तुम्हें समय आने पर अपने आप मिल जाता है। इस प्रकार यह कर्म सिद्धान्त हमे बताता है कि अपने भाग्य के निर्माता हम स्वयं हैं। अत सदैव शुभ आचार-विचार रखो जिससे कर्म तुम्हारी आत्मा को मलिन न कर सके। इन कर्मों का नाश करने से ही आत्मा परमात्मा बन सकती है। इसमे किसी की दया की आवश्यकता नही। तुम स्वयं स्वावलम्बी बनो और नर से नारायण बन जाओ। इस प्रकार आपने कर्मवाद के द्वारा आत्मस्वातन्त्र्य का पाठ पढाया। इस सिद्धान्त ने भी भारतीय समाज और दर्शन को बहुत बडी मात्रा मे प्रभावित किया। आज आप प्रत्येक भारतवासी को कर्म सिद्धान्त का अलाप गाते हुये पाते हैं।

(ङ) **गुणवाद** :—उस समय समाज मे उच्च-नीच की गणना जाति मे ही होती थी। भगवान् महावीर ने बताया—"मनुष्य जाति एक है। यह केवल गुण हैं जो मनुष्य को ऊँचा-नीचा बनाते है।" अत: आपके इस सिद्धान्त से समाज मे अनाचार पैदा करने वाले व्यक्तियो को कठोर आघात लगा। अब से श्रमण सघ मे शूद्रो और ब्राह्मणो सबको बराबर का दर्जा दिया जाने लगा। इस सिद्धान्त से जनता मे अच्छे गुण वाला बनने की भावना भी व्याप्त होने लगी। इस प्रकार धीमे-धीमे समाज मे शान्ति स्थापित हो गई।

इनके अतिरिक्त आपने संयम, सत्य, दया, क्षमा, शूरता और अस्तेय आदि जो सिद्धान्त प्रस्तुत किये वे भी अनुपम हैं।

४ **आर्थिक प्रभाव** :—भगवान् महावीर स्वय एक राजा के पुत्र थे और अर्थ की उपयोगिता को भी भली-भाँति जानते थे। अत. उन्होंने यह निश्चित मत जनता के समक्ष प्रस्तुत किया कि सच्चे जीवनानन्द के लिये आवश्यकता से अधिक संग्रह कदापि उचित नही। आवश्यकता से अधिक संग्रह से व्यक्ति लोभ-वृत्ति मे फंस जाता है और समाज का शेष अंग उस वस्तु-विशेष से वंचित रह जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि समाज मे दो वर्गों का निर्माण हो जाता है—प्रथम सम्पन्न वर्ग और दूसरा विपन्न वर्ग। अब जब दोनों के स्वार्थों मे टकराव आता है तो उन दोनो मे सघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। इस बात को कार्ल मार्क्स ने वर्ग-सघर्ष का नाम दिया। उन्होंने इसका समाधान एक हिंसक क्रान्ति मे बताया। परन्तु भगवान् महावीर ने इस आर्थिक असमानता को दूर करने हेतु अपरिग्रह की विचारधारा प्रस्तुत कर वर्ग-संघर्ष उत्पन्न होने का अवसर न दे, उसे मूल मे ही समाप्त कर दिया। जब वर्ग ही निर्मित न होंगे तो संघर्ष भी न होगा। इस प्रकार आपने उसे जड से ही समाप्त कर दिया। आपने वस्तु के प्रति ममत्वभाव को छोडकर समभाव का सिद्धान्त प्रस्तुत किया, जिससे जब समभाव मन मे आएगा तब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को हडपने का प्रयास न करेगा। फिर वह किसी को अपने अधीन रखने की भावना न करेगा। सब ही स्वतन्त्र रूप से अपने व्यक्तित्व का विकास करेंगे। इस प्रकार की सर्वहितकारी भावना से निश्चय ही विश्वशान्ति को बल मिलेगा। इस अपरिग्रह के आने से समाज में शोषण वृत्ति समाप्त हो जाएगी। पारस्परिक अविश्वास, ईर्ष्या, द्वेष, छल-कपट, दुख-दारिद्रय शोक-सन्ताप, लूट-खसोट आदि सबका प्रमुख कारण परिग्रह वृत्ति है। इससे बचने पर और परिमित

परिग्रह से समाज में से इन्हें कम किया जा सकता है। आपके आर्थिक सिद्धान्तानुसार शासक को भी, जैसा कि अहिंसा सिद्धान्त में ऊपर लिखा गया है, भौंरे के फूलों से रस ग्रहण के समान जनता से यथावश्यक ही कर लेना चाहिए। इस कर ग्रहण और राज्य व समाज कार्यों पर व्यय हेतु दूसरा उदाहरण आप सूर्य का देते हैं। जिस प्रकार सूर्य वसुन्धरा से वाष्प के रूप मे फल (कर) लेता है और बाद में मेघ के रूप में सबको वितरित कर देता है उसी प्रकार शासक को जनता से कर एकत्रित करना चाहिए और जनहितार्थ बिना अपने पराये के भेद के लगा देना चाहिए। अतः आपका समता अपरिग्रह आदि का सिद्धान्त आर्थिक क्षेत्र मे क्रान्ति लाया।

५. साहित्यिक प्रभाव की देन :—साहित्यिक क्षेत्र मे जैन साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसे कई नवीन भाषाओं के निर्माण में प्रमुख योगदान देने वाला कहा जा सकता है। इस धर्म के अधिकांश प्रारम्भिक लेखकों ने प्रचलित भाषा में अपने सिद्धान्तों व ग्रन्थों की रचना की। इसी कारण सस्कृत से प्राकृत और उससे अपभ्रंश का जन्म हुआ। बाद मे शौरसेनी अपभ्रंश से हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं और अर्द्ध-मागधी अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी का जन्म हुआ।

जैन साहित्य बहु आयामी, बहुरंगी और बहुक्षेत्रीय कहा जा सकता है। उत्तरी भारत मे पंजाब, बिहार से लेकर सुदूर लंका तक जैन साहित्य और धर्म का प्रचार हुआ। प्राचीनकाल के दिगम्बर साहित्यकारो मे कुन्दकुन्द, उमास्वामि, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलक, विद्यानन्दिन, माणिक्यनन्दिन, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र और सोमदेव प्रमुख हैं। कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, रयणसार, उनुपेक्खा आदि प्रमुख ग्रंथ लिखे। आप जैन साहित्य के कीर्तिस्तम्भ हैं। आपके बाद उमास्वामि नामक आचार्य ने संस्कृत मे तत्त्वार्थसूत्र और अनेक ग्रन्थ रचे। आपको आध्यात्मविशारद कहा जा सकता है। समन्तभद्र और अकलक दक्षिण और उत्तर दोनों के सांस्कृतिक सन्धि पत्रो के रूप मे स्मरणीय हैं। समन्तभद्र ने लगभग समस्त देश की यात्रा कर अनेक ग्रंथ रचे जिनमे रत्नकरण्ड-श्रावकाचार सबसे प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण है। पूज्यपाद ने ३७ कलाओ और विज्ञानों की चर्चा कर अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया। अकलक आठवी शती मे एक उच्चकोटि के नैयायिक हुये जिनकी समता करने वाले इस भूमि पर बहुत कम हुये है। ६वी शती में वीरसेन हुये जिनके शिष्य जिनसेन ने दक्षिण में अपूर्व ग्रन्थो की रचना की। आचार्य जिनसेन का वर्द्धमान पुराण, पार्श्वाभ्युदय महापुराण, हरिवंश पुराण और आदि पुराण तथा जयधवल टीका विशिष्ट कृतियां हैं। सोमदेव की यशस्तिलक और नीति वाक्यामृत क्रमशः साहित्य और राजनीति की महोपलब्धियां हैं।

इनके अतिरिक्त शिवार्य की भगवती आराधना, पुष्पदन्त भूतबलि का षट्खण्डागम, गुणधर का कसायपाहुड, निर्मलसूरि की उपचरियम, गुणभद्र की उत्तरपुराण भी इस काल की प्रमुख कृतियाँ हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रंथों में ११ अंग, १२ उपांग, ६ छेद सूत्र और १० प्रकीर्णक सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनके अधिकांश ग्रन्थ अर्द्ध मागधी (शौरसेनी मिश्रित) भाषा मे हैं। इन ग्रन्थों पर अनेक आचार्यों ने भाष्य टीकाएं आदि लिखी हैं। इनके अतिरिक्त जैन-धर्म के तीर्थंकर तथा राम, कृष्ण आदि ६३ शलाकापुरुषो के ऊपर भी अनेक ग्रन्थ और काव्य लिखे गये।

चरित्र और कथाओ के माध्यम से भी जैनाचार्यों ने विभिन चरित्रों का वर्णन देने के साथ आचार, विचार, कर्मव्रत, उपवास, आदि को स्पष्ट करने हेतु पर्याप्त ग्रन्थों की रचना की है। बृहतकथाकोश, आख्यानमणिकोश, यशोधर चरित्र, श्रीपाल चरित्र, कुवलयमाला, सुगन्ध दशमी, यशस्तिलक चम्पू, जीवन्धर चम्पू, चन्द्रप्रभु चरित्र, गद्यचिन्तामणि, तिलकमन्जरी, कालकाचार्य कथानक, उत्तमा चरित्र, चम्पका श्रेष्ठ ग्रन्थ है। अन्य रचनाओं में पालगोपाल कथानक, सम्यक्त्व कौमदी, अन्तरकथा सग्रह, कथा महोदधि व कथा रत्नाकर आदि अनेक ग्रन्थों द्वारा भारतीय साहित्य और समाज को प्रभावित किया है।

धर्मेतर विषयो पर भी जैन साहित्यकारों व आचार्यों ने पर्याप्त काम किया है। ज्योतिष, गणित और आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थ उनके द्वारा रचे गये। सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करण पर मलयगिरी की टीकायें महत्त्वपूर्ण हैं। हरिभद्र सूरि, नरचन्द्र, हर्षकीर्ति, महावीराचार्य, श्रीधराचार्य और राजादित्य के ज्योतिष और गणित के ग्रन्थ भारतीय साहित्य की अनूठी देन हैं। व्याकरण, अलंकार, छन्द, नाटक, शकुन-विचार और संगीत आदि पर भी जैनाचार्यों ने अभूतपूर्व काम किया है। देवनन्दि का जैनेन्द्र व्याकरण, हेमचन्द्र आचार्य का सिद्ध हेमशब्दानुशासन, देशी नाम माला और द्वाश्रय महाकाव्य, साधु सुन्दर गणि का धातुरत्नाकर, त्रिविक्रम का प्राकृत शब्दानुशासन, कोश क्षेत्र में धनमाल का पाइअलच्छी नाम माला, धनंञ्जय की नाम माला, धरसेन का विश्वलोचन कोश, हेमचन्द्र का अभिधान चिन्तामणि, नाम माला, अलंकार क्षेत्र में हेमचन्द्र का काव्यानुशासन वाग्भट्टालंकार तथा अजितसेन का अलंकार चिन्तामणि, छन्द के क्षेत्र में रत्नमंजूषा, जयकीर्ति का छन्दानुशासन, हेमचन्द्र का छन्दोनुशासन, नाट्य क्षेत्र में रामचन्द्र सूरि और गुणचन्द्र गणि का नाट्य दर्पण, संगीत में अभयचन्द्र का संगीतसार अनुपम कृतियां हैं।

द्रविड़ भाषाओं के साहित्य को समृद्ध करने में भी जैन आचार्यों का प्रशंसनीय योगदान रहा है। तमिल भाषा के १८ नीति ग्रन्थों कुरल और नालडियार, पाँच महाकाव्यों में शिलप्पदिकारम, वलयापति और चिन्तामणि तथा पाँचो लघु काव्य प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ हैं। तेलुगू के नन्नयभट्ट का महाभारत भी अच्छा ग्रन्थ है। कर्नाटक साहित्य पर तो जैनधर्म का सर्वाधिक प्रभाव रहा है। आदि पुराण और भारत के लेखक महाकवि पम्प, नन्ननाथवर्मा, कोशीराज, राजदित्य, श्रीधराचार्य कीर्तिवर्मा, जगछल, मगरस, सिंहकीर्ति आदि जैन साहित्यकार प्राचीन काल से मध्यकाल तक जैन साहित्य का सृजन करते रहे। १२ वी सदी मे आचार्य हेमचन्द्र ने सस्कृत, प्राकृत, शोरसनो, राजस्थानी, अपभ्रंश आदि भाषाओं में अनेक ग्रंथ रचकर अपनी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा का परिचय दिया है। बाद मे मध्ययुग मे श्री राजशेखर का प्रबन्ध कोश, विमलसूरि का पद्मचरित्र, विक्रम का नेमदूत, मालवसुन्दरि कथा, यशोधरा चरित्र आदि प्रमुख कृतियां रची गईं।

उसके उपरान्त १५८१ मे हिन्दी के विद्वानो मे गोरवदास, रायमल, नैनसुख, समयसुन्दर, कृष्णदास, बनारसीदास, भगवतीदास, कविरत्न शेखर, भूधरदास, दौलतराम, महोपाध्याय रूपचन्द्र, प० टोडरमल आदि सैकड़ो कवि हुए। इन विद्वानो और कवियों के ग्रन्थों को अध्ययन कर प्रकाश मे लाने का उत्तरदायित्व आधुनिक विद्वानो और शोधकर्ताओ का है।

६. **कलाशास्त्रीय प्रभाव**—कला के क्षेत्र मे भी जैनधर्म ने पर्याप्त योग दिया। प्राचीनकाल मे ईसा से छठी शती पूर्व के उपरान्त प्राप्त मूर्तियों और अन्य ऐतिहासिक प्रमाण इस तथ्य की पुष्टि करते है। उदयगिरि और खण्डगिरि की जैन गुफायें खुजराओं, शत्रुञ्जय, गिरनार के मन्दिर, देउलवाडा के जिनालय, हुम्मारपुर कुम्भरिया, श्री राणकपुर तीर्थ का १४४४ स्तम्भो वाला विशालकाय जिनालय, लोद्रवा मन्दिर इसमे विशेष उल्लेखनीय हैं। शत्रुंज्जय पर्वत पर ६ विशाल दुर्ग है जिनमे छोटे बड़े ३ सहस्र जिनालय और २५ सहस्र से ऊपर प्रतिमायें हैं। गिरनार पर्वत के जैन तीर्थ के सैकड़ो मन्दिरो मे सम्राट् कुमारपाल, महामन्त्री वस्तुपाल-तेजपाल और संग्रामसीनी की टूंक शिल्प की दृष्टि से विशेष वर्णनीय हैं। आबू पर्वत पर देउलवाड़ा मे विमलदड नायक का आदिनाथ जिनालय, लोद्रवा (जैसलमेर) का पार्श्वनाथ मन्दिर, ग्वालियर की प्रतिमायें, उडीसा की हाथी गुफायें, दक्षिण भारत की गोमटेश्वर की बाहुबलि की ५७ फुट ऊंची प्रतिमा संसार में अद्भुत और आश्चर्यजनक हैं। इनके अतिरिक्त मथुरा, बिहार मे चौसा मे प्राप्त मूर्तिया, ललितपुर देवगढ़ की मूर्तिया, बिहार में पार्श्वनाथ की मूर्तिया, दक्षिण भारत की अनेक मूर्तिया, जैनधर्मशालायें, कीर्तिस्तम्भ मानस्तम्भ स्तूप, पावापुरी, राजगिरि, सोनागिरि की पहाड़ियों मे बने जैन मन्दिर और महावीर जी, पद्मपुरी (जयपुर) के जैन मन्दिर भी कला की अद्भुत कृतिया हैं।

वास्तव मे पूर्ण जैन मन्दिर मे कला की दृष्टि से अनेक स्थान दर्शनीय होते है। उन पर विभिन्न प्रकार की कलाकारी ध्यान से देखने योग्य होती है। जैसे—सीढ़िया, शृंगार चोकी, परिकोष्ठ, सिंहद्वार, प्रतोली, निज मन्दिर द्वार, मूलगम्भारा और उसकी वेदिका। कला के काम मे अधिकाश जैनधर्म कथाओ का भाव अंकित किया होता है। स्थापत्य की दृष्टि से जैन मन्दिर सर्वांगपूर्ण होते हैं। इनका अध्ययन करना जहाँ आनन्दमय है वहाँ भारतीय संस्कृति को भी अपार लाभकारी होगा।

सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि जैनधर्म और महावीर सस्कृति का, भारतीय इतिहास, उसकी सभ्यता और संस्कृति को अपूर्व योगदान है। भारतीय जीवन का कोई क्षेत्र ऐसा नही है जिस पर जैन सस्कृति का प्रभाव दृष्टिगत न होता हो।

भगवान् महावीर का संदेश

भगवान् महावीर के सन्देश और उनके लौकिक जीवन के संबंध मे अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करने का भी हमारे लिये ही नही समस्त संसार के लिये विशेष महत्त्व है। 'अहिंसा परमो धर्मः' का सन्देश उनकी अनुभूति और तपश्चर्या का परिणाम था। महावीर के जीवन से मालूम होता है कि कठिन तपस्या करने के बाद भी वे शुष्क तापसी अथवा प्राणियों के हित-अहित से उदासीन नही हो गये थे। दूसरो के प्रति उनकी आत्मा स्नेहार्द्र और सहृदय रही। इसी सहानुभूतिपूर्ण स्वभाव के कारण जीवन के सुख-दुख के बारे में उन्होंने गहराई से सोचा है और इस विषय मे सोचते हुए ही वे वनस्पति के जीवों तक पहुचे हैं। उनकी सूक्ष्म दृष्टि और बहुमूल्य अनुभव, जिसके आधार पर वे अहिंसा के आदर्श पर पहुचे, साधारण जिज्ञासा का ही विषय न रहकर वैज्ञानिक अध्ययन तथा अनुसधान का विषय होना चाहिए।

□ राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद

वैशाली-अभिनन्दन-ग्रन्थ पृ० १०६ से साभार

जैन परम्परा का सांस्कृतिक मूल्यांकन

डॉ० मोरेश्वर पराडकर

भारतीय संस्कृति के इतिहास में जैन धर्म तथा उसके अनुयायियों ने ठोस कार्य किया, इसमें कोई संदेह नहीं है। भारतीय संस्कृति का इतिहास इस बात का साक्षी है कि वैदिक काल के अन्तिम अंश मे उपनिषदों की शिक्षा के कारण भारत मे प्रबल वैचारिक परिवर्तन हुआ। इसके फलस्वरूप कर्मकाण्ड निःसार प्रतीत हुआ, वेदों के प्रामाण्य पर आघात हुआ और ईसा के पूर्व आठवीं शताब्दी में ही प्रचलित जीवन के विषय में लोगों मे असन्तोष की लहर पैदा हुई। इसी काल मे वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध करने वाले श्रमण-संप्रदायों का जन्म हुआ जिनमें नन्दवच्छ द्वारा प्रवर्तित आजीविक-पंथ, मक्खलि गोसाल द्वारा पुरस्कृत अक्रियावादी पंथ, अजित केशकम्बली द्वारा प्रस्थापित विशुद्ध भोगवादी संप्रदाय, पकुध कात्यायन प्रणीत शाश्वतवाद तथा संजय बेलट्ठिपुत्त द्वारा पुरस्कृत अज्ञेयवाद का प्रधान रूप से समावेश है। इनके अतिरिक्त कई प्रकारों के तपस्वी, परिव्राजक, जटाधारी, भैक्षिक, उच्छवृत्ति को अपनाने वाले, औतिक तथा प्रागण्डिक अपनी-अपनी पद्धति के अनुसार देहदण्ड पर जोर देकर जनता के मन पर प्रभाव डाल रहे थे। वैचारिक मन्थन की इस पार्श्व-भूमि पर वर्धमान महावीर तथा तथागत द्वारा प्रणीत कर्म एवं दर्शन का सही मूल्यांकन करना समीचीन होगा।

जैनों की परम्परा के अनुसार जैन धर्म अत्यन्त प्राचीन है। जैन धर्मानुयायियों का कथन है कि वैदिक साहित्य में भी जैन तीर्थङ्करों के नाम पाए जाते हैं। युग-युग में जैन धर्म के जो प्रणेता हुए उन्हीं को 'तीर्थङ्कर' की संज्ञा प्राप्त है और जैन परम्परा के अनुसार वर्धमान महावीर तक जो चौबीस तीर्थङ्कर हुए उनके नाम हैं—ऋषभदेव, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमती, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, सुविधि (पुष्पदन्त), शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनंत, धर्म, शान्ति, कुंथु, अर, मल्ली, मुनिसुव्रत, नमी, अरिष्टनेमी, पार्श्व तथा वर्धमान (महावीर)। प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती भरत एवं युवराज बाहुबलि जैसे विद्वान् एवं बलवान् व्यक्तियों के बीच राज्यलोभ एवं मान-रक्षा की वजह से जो अनहिंसा-विरहित संघर्ष हुआ वही उनकी आंखों मे पहला 'महाभारत' है जिसकी हिंसायुक्त पुनरावृत्ति द्वापर युग के कौरव-पांडव संघर्ष में याने सुविदित महाभारत[1] मे पाई जाती है। परम्परा के अनुसार तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्व वर्धमान महावीर के २५० वर्ष पूर्व पैदा हुए थे। इन्होंने आत्मसंयम तथा तप पर बल देकर निर्ग्रंथ परिव्राजकों के संघ का निर्माण किया। आत्मसंयम कर्म-निर्माण का अवसर प्रदान नहीं करता और तप उनके कथनानुसार कर्म का नाश करने में सक्षम होता है। भगवान् पार्श्व नाथ को 'चाउज्जाम धम्म' के निर्माण का श्रेय प्राप्त है, जो सत्य, अहिंसा, अस्तेय एवं ब्रह्मचर्य इन्हीं चार नियमों की स्थापना करते हैं। जैन परिभाषा के अनुसार ये नियम हैं—(१) सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणम् (२) सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणम् (३) सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणम्, तथा (४) सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणम्। संयम तथा साधुत्व का अनुपम आदर्श प्रतिस्थापित करने वाले भगवान् महावीर ने (सिद्धार्थ-पुत्र वर्धमान ने) इसमें 'सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणम्' को याने अपरिग्रह के तत्त्व को जोडकर पांच महाव्रतों का निर्माण किया। सभी इन्द्रियों पर पूर्ण विजय पाने के कारण महावीर को 'जिन' याने विजेता एवं उनके मतानुयायियों को 'जैन' कहा जाने लगा।

भगवान् महावीर ने सम्पूर्ण वैभव तथा ऐहिक सुख को तिलांजलि देकर दिगम्बर रूप मे बारह वर्षों तक लगातार भारत का भ्रमण किया। आत्मक्लेश, अनशन, अध्ययन तथा चिंतन से मानव कर्म से मुक्त हो सकता है—इसे प्रतिपादित किया। कैवल्य की प्राप्ति के लिए उनके सिद्धान्त के अनुसार न वेदों के प्रामाण्य की स्वीकृति आवश्यक है, न यज्ञों का आडम्बर रचाना जरूरी है। कर्मकाण्ड के आडम्बर से बहुजन समाज ऊब उठा था, उसे पांचों महाव्रतों पर जोर देने वाला महावीर-प्रणीत धर्म रोचक प्रतीत हुआ। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह -इन पांचों को विशुद्ध रूप मे अपनाना केवल विरागी मुनियों के लिए ही सम्भव है—इसे भली-

१. इसके स्पष्टीकरण के लिए देखें—मराठी में ज. ने. क्षीरसागर प्रणीत 'आर्या-महापुराण धर्मयुद्ध' और उस पर प्रस्तुत लेखक की टिप्पणियां। प्रकाशन—१९८१ मार्च-अप्रैल।

भांति समझकर साधारण व्यक्तियों के लिए पांच अणुव्रतों का 'श्रावक' धर्म बतला कर जैन धर्म को जनसुलभ बनाने में सराहनीय दूरदर्शिता दिखाई गई। अणुव्रतों में भी संयम एवं तपस्या के मूल स्रोत को कायम रखा गया है, इसे भुलाया नहीं जा सकता। उदाहरण के तौर पर 'सव्वाओ बहिद्धाणाओ वेरमणम्' के स्थान पर परदारागमन के निषेध का नियम अणुव्रती के लिए विहित है। अणुव्रती धन का सीमित मात्रा में संचय कर सकता है; उस पर अंकुश रखना आवश्यक माना गया। मतलब, अणुव्रतो का पालन परिहित मे बाधा रूप न रहते हुए स्वहित की साधना की सहूलियत देना है। जैन धर्म के प्रति आकर्षण के निर्माण मे इसका बहुत बड़ा हाथ रहा है। जाति-भेद के सिद्धान्त का प्रबल विरोध करके जैनों ने धर्म के प्रसार एव प्रचार के लिए लोकभाषा प्राकृत को माध्यम के रूप में अपनाया, और नीति-विषयक शिथिलता पर रोक लगाकर कर्म-सिद्धान्त को व्यापक रूप प्रदान करके समाज को धर्माभिमुख बनाया। यही जैन धर्म की महत्त्वपूर्ण देन है।

जैन धर्म के प्रमुख तत्त्व हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यग् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र जो 'रत्नत्रय' के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग.' यही उनका सिद्धान्त है। सम्यक् दर्शन निर्दोष एव सर्वज्ञ तीर्थङ्करों द्वारा वर्णित तत्त्वों की यथार्थता में अटूट विश्वास का दूसरा नाम है। सम्यक् ज्ञान का मतलब है तीर्थङ्करो द्वारा प्रतिपादित सात तत्त्वों की, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा तथा मोक्ष की सम्पूर्ण जानकारी पाना। सम्यक् चारित्र—जैसा कि स्पष्ट है उक्त दर्शन एवं ज्ञान के अनुसार आचरण करने से सम्बन्ध रखता है। उपर्युक्त पाच अणुव्रतो के पालन से दोषयुक्त आरम्भों को छोड़कर मोक्ष-प्राप्ति के लिए अनुकूल भावभूमि पैदा होती है और साधुओ के लिए जैन धर्म में विहित पाचो महाव्रतों का पालन करने से मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति होती है।

भगवान् महावीर के उपदेश को उनके सुशिष्यो ने मौखिक परम्परा के बल पर सुरक्षित रखा। इसी उपदेश के संग्रह १४ पूर्वों के नाम से पहचाने जाते हैं। भद्रबाहु भगवान् महावीर के सुशिष्यो की अन्तिम कड़ी हैं। मौर्यकाल मे उत्पन्न द्वादशवार्षिक भीषण अकाल के कारण भद्रबाहु अपने शिष्यो के साथ स्थानान्तरण करके दक्षिण मे मैसूर तक चले जाने पर बाध्य हुए। इसी से आगे चलकर आचारो की भिन्नता के बल पर दिगम्बर तथा श्वेताबर पथो का जन्म हुआ। भद्रबाहु के निर्वाण के उपरान्त दिगम्बर पथो की मूल परम्परा लुप्त हुई। पाटलिपुत्र में आचार्य स्थूलभद्र द्वारा आयोजित धर्म-परिषद् मे वृद्धो के स्मरण के आधार पर १२ अङ्गों का संकलन किया गया सही, किन्तु उसे सिर्फ श्वेताबरों की मान्यता प्राप्त हुई। धीरे-धीरे उक्त मौखिक परम्परा भी लुप्तप्राय होने लगी। इसीलिए वलभी में ईसा के उपरान्त ५१२ मे देवर्धिगणि की अध्यक्षता में आयोजित धर्मसभा मे जो जैन आगम स्थापित किए गए उनकी सख्या ४५ मानी गई। देवर्धिगणि ने अपने नन्दिसूत्र मे धर्मग्रन्थो के वर्गीकरण के अवसर पर ७२ धर्म ग्रन्थों का उल्लेख किया जिनमें १२ अङ्गप्रविष्ट, ६ आवश्यक, ३१ कालिक तथा २९ उत्कालिक ग्रन्थ समाविष्ट हैं। पश्चिमीय पण्डित डॉ० बुहलर के वर्गीकरण के अनुसार ११ अङ्गों, १२ उपाङ्गो, ६ छेद सूत्रो एव ४ मूल सूत्रो के साथ देवर्धिगणिप्रणीत नन्दिसूत्र तथा अणुयोगद्वार का भी अन्तर्भाव होता है। लेकिन इनको प्रमाण मानना श्वेताबरो के लिए ही मजूर है। आगे चलकर श्वेताबरो मे भी दो भेद हुए—मूर्तिपूजक एवं स्थानकवासी। जैन धर्मानुयायी साधु, साध्वी, श्रावक एव श्राविका विभाजित हैं। श्वेतांबरो के मतानुसार इनमे साधु एवं साध्वी ही मोक्ष के अधिकारी हैं।

दिगम्बर पंथ के अनुयायियो ने बारह अङ्गो को तो प्रमाण मान लिया। बारहवा अङ्ग है दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद)। इसमें १४ पूर्वों में से उन अशों का समावेश है जो पाटलिपुत्र की धर्मसभा के समय तक अवशिष्ट थे। इस दृष्टिवाद के पहले खण्ड में 'चंद पज्जत्ति', 'सूरियपज्जत्ति' तथा 'जम्बुद्दीव-पज्जत्ति' का अन्तर्भाव है। अङ्गो के अतिरिक्त ७४ अङ्गबाह्य ग्रन्थों को भी दिगम्बर पंथियों ने धर्मग्रन्थों मे समाविष्ट किया। दिगम्बर पंथ के अनुयायियो मे भी चतुर्थ, पचम, तेरापथी आदि कई भेद हैं। जैन धर्म के अनुयायियों के जो चार वर्ग ऊपर बनवाए गए उनमे साधु 'केवल' ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त भोजन नही करते। यदि साध्वी मोक्ष प्राप्ति की इच्छुक हो तो सदाचार एव तप के बल पर उसे पुरुष जन्म प्राप्त करके साधु बनना नितान्त आवश्यक है। श्रावक एवं श्राविका भी बिना साधुत्व को पाए मोक्ष के अधिकारी नही होते। इस विषय मे श्वेताबर पथ के अनुयायियो का दृष्टिकोण अधिक उदार प्रतीत होता है।

जैन ग्रन्थो मे सम्यक् ज्ञान के पाच भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मन-पर्यय तथा केवल। मति ज्ञान इन्द्रिय-संयोग से उत्पन्न होने वाला वह ज्ञान है जो मति ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय के उपरान्त प्राप्त होता है। मति ज्ञान के बाद धर्म ग्रन्थों के पठन से उत्पन्न ज्ञान को 'श्रुत' की सज्ञा प्राप्त है। सम्यक् दर्शन आदि गुणों के विकास के उपरान्त द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव इन चारों प्रकारों से पैदा

होने वाले ज्ञान को अवधि ज्ञान कहा जाता है, इसकी अपनी विशिष्ट सीमा होती है। ईर्ष्यादि अन्तरायों के दूर होने के बाद व्यक्ति दूसरों के मन के व्यापार को भापने लगता है; इसी ज्ञान का नाम है मनःपर्यय। इसके बाद विशिष्ट तपस्या के बल पर व्यक्ति सर्व वस्तुओं के ज्ञान से संपन्न होता है जो सम्पूर्ण एवं निराबाध होता है। इसी को 'केवल ज्ञान' कहते हैं जिसके अधिकारी हैं सिर्फ अर्हत्, सिद्ध एवं तीर्थङ्कर।

ज्ञान एवं चारित्र की उपासना के बल पर जैन धर्म के अनुयायियों ने साहित्य के क्षेत्र में भी अविस्मरणीय कार्य किया है। दिगम्बर पंथ के विद्वान् आचार्यों ने परवर्ती काल मे लुप्त आगमों के स्थान पर नवीन धर्म-ग्रन्थों का प्रणयन करके उन्हें चारों वेदों का प्रामाण्य प्रदान किया। ये वेद हैं प्रथमानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग एवं चरणानुयोग। धार्मिक विधि-विधानों की चर्चा करने वाले चरणानुयोग मे वट्टकेरकृत 'मूलाचार', 'त्रिवर्णाचार' अथवा समन्तभद्रप्रणीत 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' जैसे ग्रन्थों का अन्तर्भाव होता है। द्रव्यानुयोग अधिकतर दर्शन से सम्बद्ध है; इसमे कुन्दकुन्दाचार्य के विख्यात ग्रन्थो के साथ-साथ उमास्वामि प्रणीत 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' तथा समन्तभद्र विरचित 'आप्तमीमांसा' जैसे ग्रन्थों का समावेश करना समीचीन है। करणानुयोग मे 'सूर्यप्रज्ञप्ति', 'चन्द्रप्रज्ञप्ति' अथवा 'जयधवला' जैसी रचनाओं का समावेश है जिनमे सृष्टि के रहस्य को सुलझाने का महान् प्रयत्न किया गया है। प्रथमानुयोग मे वे पुराण ग्रन्थ समाविष्ट हैं जिनमे काव्य एव इतिहास का मनोज समन्वय किया गया है।

वैदिक संस्कृति में पुराण को इतिहास के साथ जोडा गया है; 'इतिहास पुराणानि च' का उल्लेख कई स्थानों पर पाया जाता है। इतिहास में अगर 'इति ह आस' याने घटित घटनाओं के कथन पर जोर दिया जाता है तो पुराणों मे प्राचीन ऋषियों, राजाओं एवं महापुरुषों के चरित्र-कथन को महत्त्व प्राप्त होता है। 'पुराण पञ्चलक्षणम्' भी इसी के प्राधान्य की ओर संकेत करता है। क्या वंश, क्या मन्वन्तर, क्या वंशानुचरित सभी मे महापुरुषो की गाथाए सामने आती हैं। महापुरुषो के जीवन से सम्बद्ध होने के कारण इनमे जनमानस को प्रेरणा देने की अनूठी शक्ति होती है और इसीलिए जनजीवन पर पुराणों का महत्त्व अंकित है। जैन धर्म के पुराणों में उपर्युक्त पाचो लक्षण तो हैं ही, साथ-साथ इनमे इतिवृत्त की या इतिहास की सुरक्षा अधिक अनुपात मे की गई है।

उपलब्ध जैन पुराणो की रचना सस्कृत साहित्य के विख्यात भाष्यकारो के काल मे आरम्भ हुई; अतएव इनकी भाषा अधिकतर सस्कृत ही है। जैन सस्कृत साहित्य के पुरस्कर्ताओ मे तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता आचार्य गृद्धपिच्छ का उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिए। इन सूत्रों पर संस्कृत में भाष्य लिखने वाले पूज्यपाद अकलक तथा विद्यानन्द जैसे महर्षियों का कार्य सराहनीय है। श्वेताबराचार्य पादलिप्तसूरि प्रणीत 'निर्वाण कलिका' परवर्ती काल मे अवतीर्ण हुई। ईसा की तीसरी शताब्दी मे आचार्य मानदेव रचित 'शान्तिस्तव' श्वेताबर जैनो द्वारा समादृत ग्रन्थ है। परवर्ती काल में श्वेताबर आचार्य सिद्धसेन दिवाकर तथा दिगम्बर आचार्य समन्तभद्र को आदरपूर्वक वन्दना करना समीचीन होगा। आचार्य सिद्धसेन प्रणीत 'सन्मतितर्क' एव समन्तभद्र विरचित 'आप्तमीमांसा' जैन दर्शन को सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने वाले महान् ग्रन्थ हैं। ईसा की छठवी शताब्दी मे दिगम्बर आचार्य पूज्यपाद (अथवा देवनन्दी) की कृतियो से जैन संस्कृत साहित्य गौरवान्वित हुआ। सातवी शताब्दी के आचार्य मानतुङ्ग ने 'आदिनाथ-स्तोत्र' लिखकर संस्कृत स्तोत्र-साहित्य को समलकृत किया। इसी का प्रचलित नाम है 'भक्तामरस्तोत्र' जिसकी लोकप्रियता उस पर लिखी गई अनगिनत टीकाओ से स्पष्ट है। ईसा की आठवीं शताब्दी पर दिगम्बर आचार्य अकलक तथा श्वेताबर आचार्य हरिभद्रसूरि के कर्तृत्व की छाप अमिट रूप से अङ्कित है। इनकी कृतियो के कारण जैन सस्कृत साहित्य को वैचारिक विश्व में अनुपम प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। दिगम्बर आचार्य रविषेण का 'पद्मपुराण' इसी समय प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ जैन पुराणो की उज्ज्वल परम्परा का प्रवर्तक सिद्ध हुआ। दिगम्बराचार्य जिनसेन विरचित महापुराण इसी उज्ज्वल परम्परा का जगमगाता रत्न है। दार्शनिक एवं वैचारिक साहित्य की उपर्युक्त पार्श्वभूमि के कारण ईसा की नववी शताब्दी मे विरचित 'महापुराण' ऋषिप्रणीत होने के कारण आर्ष तो है ही, साथ-साथ 'सूक्तशासनात् सूक्त' एवं 'धर्मानुशासनात् धर्मशास्त्रम्' का रूप धारण कर चुका है। जैन दर्शन का उत्तम काव्य के साथ अनूठा मेल उपस्थित करने वाला महापुराण दो भागों में उपलब्ध है; पहला पूर्वपुराण (आदिपुराण) तथा दूसरा 'उत्तरपुराण'। पूर्वपुराण के १०००० श्लोक आचार्य जिनसेन द्वारा रचित हैं। उनके पश्चात् उनके सुशिष्य आचार्य गुणभद्र ने २००० श्लोक लिखकर पूर्वपुराण पूरा किया और ८००० श्लोकों के उत्तर पुराण की रचना की। इस महापुराण मे २४ तीर्थङ्कर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण तथा ९ प्रतिनारायण याने कुल मिलाकर ६३ महापुरुषों के चरित्र उनके पूर्व जन्मो के साथ-साथ वर्णित हैं। ये महापुरुष जैनों के लिए अनुकरणीय आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इनकी महिमा क्या दिगम्बर, क्या श्वेताम्बर जैन दोनो द्वारा स्वीकृत है। श्वेताम्बर जैन इसे 'पुराण' की सज्ञा देकर नही अघाते; वे इस ग्रन्थ को 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' कहकर इसका गौरव करते हैं। जिनसेन-प्रणीत 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य भी सस्कृत साहित्य का चेतोहर अलङ्कार है। जैनों की अधिकांश पौराणिक कथाए वैदिक पुराणों की कथाओं से ली गई हैं सही; किन्तु जैनों का कथाकोश

महत्त्वपूर्ण कथाओं का संग्रह है। जैन कथा साहित्य में गुजरात के महान् पण्डित कवि एवं साधु हेमचन्द्र (जन्म ई० सं० १०८६) द्वारा प्रणीत 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' का स्थान उच्च कोटि का है।

तत्त्वदर्शन तथा तर्कशास्त्र में जैन धर्म ने जो कार्य किया उसका मूल्य शाश्वत माना जाएगा। 'षड्दर्शनसमुच्चय' जैसे अनेक असाधारण ग्रन्थों के प्रणेता हरिभद्रसूरि से लेकर वर्तमान समय के तेरापथी आचार्य तुलसी तथा उनके सुशिष्य आचार्य नथमल जैन तक पण्डितों की परम्परा अविच्छिन्न रूप मे चली आ रही है। क्या तर्कशास्त्र, क्या व्याकरण, क्या कोश, क्या काव्य सभी क्षेत्रों को समृद्ध करने का श्रेय इन पण्डितों को प्राप्त है। जैनों की दार्शनिक विचार-पद्धति मे 'अनेकान्तवाद' वह मौलिक सिद्धान्त है जिसमें पश्चिमीय दार्शनिक हेगेल और कार्ल मार्क्स द्वारा पुरस्कृत एव प्रतिपादित विरोध-विकास पद्धति के बीज पाए जाते हैं। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादस्ति अवक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति अवक्तव्यश्च—सप्तभङ्गीनय के इन सातों प्रकारों द्वारा किया गया दर्शन ही वस्तु के संपूर्ण ज्ञान का परिचायक है। यह सिद्धान्त वास्तव मे दर्शन के क्षेत्र मे 'परमतसहिष्णुता' का आदर्श उपस्थित करता है और उपनिषदों के 'नेति नेति' की तरह मानव की अपूर्णता की ओर सकेत करके जैन दर्शन की अनूठी दृष्टि का प्रमाण प्रस्तुत करता है। कोई अचरज नही कि सभी दर्शनों के प्रकाण्ड पण्डित हरिभद्रसूरि 'लोकतत्त्वनिर्णय' मे कहते हैं—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेष कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचन यस्य तस्य कार्य. परिग्रह ॥

जिस जैन धर्म मे दीक्षित महापण्डित एवं कवि हेमचन्द्र सोमनाथ के मन्दिर मे प्रणाम करते हुए कह उठते हैं "मैं उसकी वन्दना करता हूं जिसके मन के राग, द्वेष आदि संसार के बीज के अकुर की वृद्धि मे सहायक विकारो का क्षय या विध्वंस हुआ है; चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हर हो अथवा जिन हो"[१] उस धर्म की एव साहित्य की उदार देन के विषय में कोई सन्देह नहीं हो सकता।

श्री हॉपकिन्स का आचार्य श्री विजय सूरि को लिखा पत्र

"मैंने अब महसूस किया है कि जैनो का आचार धर्म स्तुति योग्य है। मुझे अब खेद होता है कि पहले मैंने इस धर्म के दोष दिखाये थे और कहा था कि ईश्वर को नकारना, आदमी की पूजा करना तथा कीड़ो को पालना ही इस धर्म की प्रमुख बातें हैं। तब मैंने नहीं सोचा था कि लोगों के चरित्र एव सदाचार पर इस धर्म का कितना बडा प्रभाव है। अक्सर यह होता है कि किसी धर्म की पुस्तकें पढ़ने से हमे उसके बारे मे वस्तुनिष्ठ ही जानकारी मिलती है, परन्तु नजदीक से अध्ययन करने पर उसके उपयोगी पक्ष की भी हमे जानकारी मिलती है और उसके बारे मे अधिक अच्छी राय बनती है।"

एस० गोपालन, जैनधर्म की रूपरेखा (अनुवादक-गुणाकर मुले), दिल्ली १९७३, पृ० ११ से सभार

---

१. देखें—भवबीजाङ्कुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो वा जिनो वा नमस्तस्मै ॥

भगवान् महावीर : श्रमण संस्कृति के महान् उत्थापक

डॉ० नन्दकिशोर उपाध्याय

भारत एक विशाल और महान् देश है। यहां की सभ्यता और संस्कृति भी उतनी ही महान् है। यहां न जाने कितने धर्म और कितनी संस्कृतियां फैली। इनमे वैदिक, जैन एव बौद्ध संस्कृतियो का आज भी उतना ही महत्त्व है। इन तीन संस्कृतियो के सम्बन्ध मे हम ज्यामिति के शब्दों मे अगर कहें तो कह सकते हैं कि वैदिक संस्कृति एक ऐसी आधार रेखा है जिस पर बौद्ध और जैन श्रमण संस्कृति की दो भुजाएं आपस मे मिलकर समद्विबाहु त्रिभुज का निर्माण करती हैं।

'श्रमण' शब्द की व्याख्या के पहले संस्कृति क्या है? हम इसे समझ ले। संस्कृति शब्द अपने आप में इतना विशाल और महान् है कि इसे किसी परिभाषा मे बांध लेना सहज प्रतीत नही होता है। श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' रचित 'संस्कृति के चार अध्याय'[1] नामक ग्रंथ की प्रस्तावना मे पंडित नेहरू ने संस्कृति के सम्बन्ध मे लिखा है "संस्कृति है क्या? शब्दकोष उलटने पर इसकी अनेक परिभाषाएं मिलती हैं। एक बड़े लेखक का कहना है कि ससार मे जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गयी हैं, उनसे अपने आपको परिचित करना संस्कृति है।" एक दूसरी परिभाषा मे यह कहा गया है कि "संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियो का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास अथवा परिष्कृति या शुद्धि है। यह सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है।"[1] इस अर्थ मे संस्कृति कुछ ऐसी चीज का नाम हो जाता है जो बुनियादी और अन्तर्राष्ट्रीय है। फिर संस्कृति के कुछ राष्ट्रीय पहलू भी होते हैं और इसमें कोई संदेह नही कि अनेक राष्ट्रों ने अपना कुछ विशिष्ट व्यक्तित्व तथा अपने भीतर कुछ खास ढंग के मौलिक गुण विकसित कर लिये हैं। भारतीय जनता की संस्कृति का रूप सामाजिक है और उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। एक ओर तो इस संस्कृति का मूल आर्यों से पूर्व मोहन-जोदड़ो आदि की सभ्यता तथा द्रविडों की महान् सभ्यता तक पहुंचता है। दूसरी ओर इस संस्कृति पर आर्यों की बहुत ही गहरी छाप है जो भारत मे मध्य एशिया से आये थे। पीछे चलकर यह संस्कृति उत्तर-पश्चिम से आने वाली तथा फिर समुद्र की राह से पश्चिम से आने वाले लोगों से बराबर प्रभावित हुई। इस तरह हमारी राष्ट्रीय संस्कृति ने धीरे-धीरे बढ़कर अपना आकार ग्रहण किया। इस संस्कृति में समन्वय तथा नये उपकरणों को पचाकर आत्मसात् करने की अद्भुत योग्यता थी। रविन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी कविता 'महामानवेर सागर तीरे' में अनेक सभ्यताओं के समन्वित स्वरूप को संस्कृति बताया है।

संस्कृति को किसी व्याख्या या परिभाषा मे बांधना सहज नहीं, किन्तु उसे हम एक रूपक से समझने का प्रयत्न कर सकते हैं। अमरकण्टक पहाड से नर्मदा नदी निकलकर अपने साथ चट्टानों को घसीटती हुयी समतल तक आती है। इस यात्रा में ये चट्टान आपस में घिसकर अत्यन्त लघु और सुन्दर रूप ग्रहण कर लेते हैं और लोग इसे ग्रहण कर नर्मदेश्वर भगवान कह कर इसकी पूजा करते हैं। हम समझते हैं ठीक इसी प्रकार सदियों से पूर्वजों की सभ्यताओं और संस्कार के छाप पड़ते-पड़ते जो हमारे पास शेष बची रह जाती है वही हमारी संस्कृति है। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध इसी श्रमण संस्कृति के दो नर्मदेश्वर हैं।

भगवान् महावीर को श्रमण संस्कृति का उत्थापक कहा गया है। श्रमण का अभिप्राय संन्यासी, योगी, तपस्वी, मुनि, यति एवं साधु से है। पालि के ग्रन्थो में 'समण-ब्राह्मण' का सर्वत्र उल्लेख मिलता है। भगवान् बुद्ध को 'समणो गोतमो' कहकर पुकारा गया है। 'सामञ्ञफलसुत्त' श्रामण्य फल का विवेचन प्रस्तुत करता है। श्रमण और ब्राह्मण कहने से ही पता चलता है कि बुद्ध के पहले से ही दोनों संस्कृतियां साथ-साथ चलती आ रही हैं। कुछ लोगों का विचार है कि श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृति के बाद पनपी है। किन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता है। ब्रह्मजालसुत्त में जिन ६२ मतवादों की चर्चा है, वे अति प्राचीन हैं और वे सब के सब अवैदिक हैं। भगवान् बुद्ध के समय जिन छः धर्माचार्यों की चर्चा है वे भी सब के सब अवैदिक हैं, और इनका स्वरूप एक दिन में नहीं

---

१. संस्कृति के चार अध्याय – रामधारी सिंह दिनकर, प्रस्तावना।

बना होगा। हमे लगता है कि जैसे क्लासिकल संस्कृत (Classical Sanskrit) के साथ-साथ जनभाषा चलती रही, वैसे ही वैदिक संस्कृति के साथ-साथ लोक धर्म या लोक संस्कृति भी साथ-साथ चलती रही। भगवान् बुद्ध २४वे बुद्ध थे और महावीर चौबीसवें तीर्थंङ्कर थे। इससे भी पता चलता है कि इनके धर्म और विचार वैदिक संस्कृति के पीछे के नही बल्कि पूर्व के थे क्योंकि वेदों में भी इनकी चर्चा है।[1] बहुत दिनों तक तो भगवान् महावीर को ही जैनधर्म का जन्मदाता माना जाता रहा है। किन्तु इतिहास ने यह सिद्ध कर दिया है कि महावीर के पूर्व और कई तीर्थंङ्कर हो चुके हैं; यजुर्वेद मे ऋषभदेव, अरिष्टनेमि और अजितनाथ की चर्चा मिलती है। उदयगिरि एवं खण्डगिरि के हाथीगुम्फा अभिलेख से पता चलता है कि जैन सम्राट् खार-वेल, पुष्यमित्र के समय मगध पर चढ़ाई कर जिस मूर्ति को प्राप्त करने मे सफल हुए थे, वह आदि तीर्थंङ्कर ऋषभदेव की प्रतिमा बतायी गयी है।[2]

श्रीमद्भागवत मे ऋषभदेव को आदि तीर्थंङ्कर बताया गया है।[3] ऋषभदेव की गणना मनु से पांचवें पीढ़ी मे की गई है। इससे ऋषभदेव की अति प्राचीनता का स्पष्ट बोध होता है। पुराणों मे ऋषभदेव को विष्णु के आठवें अवतार के रूप मे स्मरण किया गया है। यहां यह द्रष्टव्य है कि गीतगोविन्द मे भगवान् बुद्ध को नवम अवतार के रूप मे स्वीकार किया गया है।[4] महाभारत के अनुसार अहिंसा धर्म और अहिंसक यज्ञ की कल्पना बुद्ध पूर्व थी जिसके प्रवर्त्तक घोर अंगिरस थे। इन्हे ही नेमिनाथ कहा गया है, जो कृष्ण के गुरु थे। ई० पू० ८वीं सदी में तेईसवें तीर्थंङ्कर पार्श्वनाथ हुए। उनका जन्म काशी मे हुआ था। काशी के पास ही ग्यारहवें तीर्थंङ्कर श्रेयांसनाथ का जन्म हुआ था जिनके नाम पर सारनाथ का नाम चला आता है। श्रमण सम्प्रदाय का पहला संगठन पार्श्वनाथ ने किया था।

इस तरह हम देखते हैं कि जैन धर्म एक बहुत ही प्राचीन धर्म है और श्रमण संस्कृति की एक मुख्य धारा के रूप में ऋषभदेव से अब तक प्रवहमान है। पार्श्वनाथ ने इस धर्म और संस्कृति को एक नया मोड दिया और इसे एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया। पालि ग्रन्थो मे निगण्ठनाथपुत्त और उसके 'चातुर्यामसवर' की चर्चा मिलती है। चातुर्यामसवर या चार महाव्रत से पार्श्वनाथ के ही धर्म का बोध होता है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह को चातुर्याम सवर बताया गया है।[5]

श्रमणो मे कदाचित् प्राचीनतम सम्प्रदाय निगण्ठो अथवा जैनो का ही था। ईसा से अगणित वर्ष पहले से जैनधर्म भारत में फैला हुआ था। आर्य लोग जब मध्यभारत मे आये तब यहा जैन लोग मौजूद थे।[6] गया के निकट बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों में निर्मित गुहाओं में अशोक एवं उसके पौत्र दशरथ के अभिलेख मिल रहे हैं जिनमे आजीविको की चर्चा है। ये आजीवक कौन थे? इनकी संस्कृति क्या थी? पालि ग्रन्थो मे आजीविकों की चर्चा मिलती है। ये प्राय नग्न रहा करते थे और अत्यन्त दुष्कर तपश्चर्या में लीन रहा करते थे। बुद्ध काल मे 'मक्खलिपुत्तगोसाल' को इस सम्प्रदाय का नेता माना गया है। वह अपने को उदायी कुण्डियायन का शिष्य बताता है। यह कुण्डियायन बुद्ध से लगभग १५० वर्ष पूर्व था। गोशाल नियतिवादी थे। पालि ग्रन्थो में 'किस्ससकिच्च' और 'नन्दवच्छ' नामक अन्य दो आजीवक नेताओ का भी जिक्र मिलता है। 'गोसाल' को महावीर का शिष्य भी बताया गया है। हमें लगता है कि इन आजीविको की भी एक लम्बी परम्परा वैदिक काल से ही रही है जो अन्तत जैन संस्कृति मे मिल गई। ब्रह्मजाल और सामञ्ञफलसुत्त से जैसा पता चलता है, बुद्धकाल में बासठ मतवाद एव छ. प्रमुख सम्प्रदायों की प्रसिद्धि थी। ये श्रमण कहे जाते थे, बुद्ध और महावीर काल मे ये ही श्रमण कुछ बुद्ध और कुछ जैन हो गए और दोनो ने अपनी अलग-अलग सख्या बढ़ा ली। आज हमारे सामने मूल रूप से वैदिक, जैन एवं बौद्ध—तीन संस्कृतियां बची रह गई हैं।

---

१. "जैन मान्यता के अनुसार यह धर्म अत्यन्त प्राचीन है और इसका श्रीगणेश सृष्टि से प्रारम्भ होता है। विश्व के विशाल कारण क्रम मे तीर्थंङ्करो की सख्या ७२० है, किन्तु मानवता के प्रचलित इतिहास मे इनकी सख्या २४ है"—भारतीय धर्म एवं संस्कृति—डा० बुद्ध प्रकाश, पृष्ठ ५६.

२. नन्दराजनीत च का (लिं) ग जिनं संनिवेस······अग मगध वसु च नयति - खारवेल का हाथी-गुम्फा अभिलेख, भारत के प्राचीन अभिलेख, प्रभातकुमार मजूमदार, पृ० १००

३ मनु-प्रियव्रत-अग्नीध्र- नाभि-ऋषभदेव—श्रीमद् भागवत—स्कन्ध-५ अध्याय २-६।

४. निन्दसि यज्ञ विधेरह श्रुतिजातम् सदयहृदय-दर्शितपशुघातम्। धृतकेशव-बुद्ध-शरीर, जय जगदीश हरे। (गीत गोविन्दम्)

५. उपालि सुत्त—म० नि०।

६. दि शोर्ट स्टडी इन साइन्स ऑफ कम्परेटिव रीलिजीयन—मेजर जेनरल जे० सी० फारलांग।

महावीर जैन (श्रमण) संस्कृति के महान उत्थापक के रूप में जाने जाते हैं। जैसा ऊपर कहा गया है, पार्श्वनाथ ने ही जैन धर्म में चार व्रतों की व्यवस्था कर इस धर्म को सुव्यवस्थित किया है।[1]

जैन विद्वान् पं० बेचरदास जी का कहना है कि "पार्श्वनाथ के बाद दीर्घतपस्वी वर्धमान हुए। उन्होंने अपना आचरण इतना कठिन और दुस्सह रक्खा कि जहां तक मेरा ख्याल है, इस तरह का कठिन आचरण अन्य किसी धर्माचार्य ने आचरित किया हो ऐसा उल्लेख आज तक के इतिहास में नहीं मिलता। वर्धमान का निर्वाण होने से परमत्याग मार्ग के चक्रवर्ती का तिरोधान हो गया।"[2] पालि साहित्य में इसे ही 'अत्तकिलमथानुयोग' कहा है। आत्म-क्लेश का शायद इससे बड़ा कोई रूप अब तक देखने को नही मिला है। महावीर को इसका साक्षात् स्वरूप माना गया है। पार्श्वनाथ के चातुर्याम संवर मे ब्रह्मचर्य को जोड़कर महावीर ने इसे 'पंचमहाव्रत' का स्वरूप प्रदान किया। इसलिए महावीर को 'पंचमहाव्रतधारी' कहा गया है। अपरिग्रह को तो इस धर्म मे अपरिमेय बल प्राप्त है। संग्रह की तो कोई बात नही, जिसने अपने शरीर मे कोई गांठ ही नही लगायी उसे परिग्रह से क्या मतलब ? इसी अर्थ मे तो महावीर को निगंठ या 'निर्ग्रन्थ' कहा गया है। महावीर को 'जिन' कहा गया है और 'जिन' के द्वारा जो कहा गया वही 'जैनधर्म' है। जिन शब्द का अर्थ होता है—जीतने वाला। जिसने अपने आत्मिक विकारो पर पूरी तरह से विजय प्राप्त कर ली है वही 'जिन' है। जो 'जिन' बनते हैं वे हम प्राणियों में से ही बनते हैं। प्रत्येक जीवात्मा परमात्मा बन सकता है। इसलिए 'जिन' अपने कर्मों के प्रयत्नो का फल है। जिन को सर्वज्ञ और वीतराग कहा गया है। जिन धर्म के विचार और आचार दो अंग हैं। इनके विचारो का मूल स्याद्वाद मे है और आचारों का मूल अहिंसा में। भगवान् महावीर ने इस 'स्याद्वाद' और अहिंसा दोनों का चरम उत्थान किया। स्यात् शब्द का अभिप्राय 'कथंचित्' या 'किसी अपेक्षा' से है। अतः संसार मे जो कुछ है वह किसी अपेक्षा से नही भी है। इसी अपेक्षावाद का दूसरा स्वरूप 'स्याद्वाद' है जिसका प्रयोग अनेकान्तवाद के लिए भी किया जाता है। अतः अनेकान्त दृष्टि से प्रत्येक वस्तु 'स्यात्-सत्' और 'स्यात्-असत्' है। यह कितना बड़ा उदार सिद्धान्त है, जो इसमे भी कोई अपनी गांठ नही लगाता है।

आचारवाद मे अहिंसा का सर्वाधिक महत्त्व है। अहिंसा मे कायरता नहीं है बल्कि वीरता है। शौर्य आत्मा का एक प्रधान गुण है, जब वह आत्मा के ही द्वारा प्रकट किया जाता है तब उसे वीरता कहते हैं। इस तरह यह अहिंसा या तो वीरता का पाठ पढ़ाती है या क्षमादान का। महावीर के इस रूप को हम क्या कहें—अहिंसा, शौर्य, क्षमा या उससे भी कोई ऊपर की चीज ? इसे ही देखकर तो लोगो ने वर्धमान को उस दिन से 'महावीर' कहा। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय और ब्रह्मचर्य ये सबके सब वीर-धर्म हैं, साधारण धर्म नही है। मगध के पावापुरी नामक स्थान मे इस आत्मजयी भगवान् महावीर का परिनिर्वाण हुआ। यहां आज लोग हर वर्ष लाखों की संख्या मे एकत्र होकर दीपावली के रूप मे भगवान् के निर्वाण दिवस को मनाते हैं।

आज महावीर के भक्तों ने भगवान् को तो अपना लिया है किन्तु उनके सिद्धान्तों को भुला दिया है। इसीलिए आज 'अणुव्रत' और महाव्रत की महत्ता अत्यधिक बढ़ गयी है। अगर हम एक क्षण के लिए भी इस सिद्धान्त का पालन करते हैं और अपने जीवन में उतारते हैं तो जगत् का बड़ा उपकार करते हैं। आज जो विश्व मे इतने तनाव हैं, इससे हमें भगवान् महावीर के मार्ग से ही मुक्ति मिल सकती है। यही नही, प्रवृत्ति से धीरे-धीरे हटकर निवृत्ति के मार्ग पर चलकर मोक्ष पद को प्राप्त कर सकते है। अपने जीवन काल में घूम-घूम कर महावीर ने लोगों को इस सिद्धान्त से परिचित करवाया और इस मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित किया। श्रमण संस्कृति का सारा स्वरूप हम महावीर के चरित्र में देख सकते हैं। अपना सारा जीवन इन्होंने इस संस्कृति के उत्थान मे लगा दिया। आज लोक मे जो कुछ भी है वह इसी तप:पुञ्ज 'जिन' के विकीर्ण तेज की रश्मियां हैं।

---

१. चातुयामसंवरसंवुतो—सब्बवारिवारितो, सब्बवारियुतो, सब्बवारिधुतो, सब्बवारिफुटो सामञ्ञफलसुत्तवण्णना, सुमङ्गल विलासिनी, सं० डॉ० महेश तिवारी, पृ० १८८।

२. जैन साहित्य में विकार, पृ० ८७-८८।

आन्ध्रप्रदेश में लोक संस्कृति की जैन परम्परा

डॉ० कर्ण राजशेषगिरिराव

भारत देश मे धर्म और दर्शन का घनिष्ठ संबध रहा है। इसके दो कारण है :—

(१) ससार आध्यात्मिक है। (२) विश्व की अनेकता मे एकता विद्यमान है। अत: यह धारणा बलवती बन गई है कि वास्तविक सत्य एक ही है। उस सत्य के अन्वेषण मे विभिन्न धर्मों के मार्ग पृथक्-पृथक् हैं। अत: उनके दार्शनिक विचारो मे मतभेद होना सहज ही है।

भारत मे समस्त दर्शनो को स्थूल रूप मे दो भागो मे विभक्त किया गया है (१)आस्तिक(२) नास्तिक। आस्तिक दर्शन वेदों की प्रामाणिकता को मानते हैं। नास्तिक वे हैं जो वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार नही करते। नास्तिक दर्शन तीन हैं—(१) चार्वाक, (२) बौद्ध, और (३) जैन। चार्वाक दर्शन भौतिकवादी है। गौतम ने (५३५ ई० पू०—४८५ ई० पू०) बौद्ध दर्शन की स्थापना की थी। बोधि प्राप्ति से पूर्व वे अनीश्वरवादी सिद्धान्त के समर्थक थे। वर्धमान महावीर (ई० पू० ५९९-५२७ ई० पू०) जैन धर्म के सस्थापक थे। महावीर के निर्वाण के अनन्तर उनके अनुयायी दो विभागो मे विभक्त हो गये: (१) दिगम्बर (२) श्वेताम्बर। दिगम्बर मत के अनुयायी दिगम्बरत्व (पूर्णनग्नत्व) का प्रचार करते थे। इस मार्ग को निर्ग्रंथिक कहा जाता है। श्वेताम्बर मार्ग के अनुयायी श्वेताम्बर (श्वेत वस्त्र) को पहनना स्वीकार करते थे। अहिंसा-सिद्धान्त के अपनाने से ही जैन धर्म का विशेष प्रचार हुआ।

ऐतिहासिक विकास :—

प्राचीन हिन्दू धर्म ने आन्ध्र प्रदेश को दो महान् उपहार दिये हैं। वे हैं—(१) मंदिर, और (२) मठ। इसी प्रकार बौद्ध एवं जैन धर्मों की लोकप्रियता के कारण आन्ध्र प्रदेश मे बौद्ध विहारो एव जैन बस्तियो को भी प्रभुत्व की स्थिति प्राप्त हुई। हिन्दू धर्म के अन्य रूपों के साथ-साथ जैन धर्म ने भी आन्ध्र प्रदेश के लोगो का ध्यान बहुत आकर्षित किया था और इस धर्म के अनुयायियो की सख्या भी पर्याप्त मात्रा मे थी। इस धर्म को भी राजाओ का और जनता का सरक्षण प्राप्त था। आन्ध्र प्रदेश मे जैन धर्म के अवशेषो का यद्यपि काल निश्चित नही है तथापि इनके आधार पर कुछ विश्वासपूर्वक कहा जाता है कि ई० पू० द्वितीय शताब्दी से इस धर्म का प्रचार व प्रसार यहा था।

सातवाहन किसी व्यक्ति या जाति का नाम न रहकर एक परिवार का नाम था। इस परिवार के तीस राजाओ ने ई० पू० २२० से ई० पू० २२० वर्ष तक शासन किया। इनमे उल्लेखनीय हैं—

प्रथम तथा द्वितीय शातकर्णि, कुतल, हाल, गौतमीपुत्र, पुलमावि और यज्ञश्री। सातवाहन नरेश वैदिक धर्मावलंबी थे। फिर भी वे अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु थे। प्रथम सातवाहन राजा जैन धर्म का अनुयायी रहा। जैन धर्म के इतिहास मे अत्यन्त प्रसिद्ध सिंहनन्दी आन्ध्र प्रदेश मे सम्बद्ध थे। पूर्वी गोदावरी स्थित आर्यवटमु वासुपूज्य तीर्थंकर के समय का क्षेत्र था। वहां का जैन स्तूप मिट्टी के लिए खुदवाया गया। जैन मिट्टी के काम मे कुशल थे। उन दिनों बडे-बडे तालाबो को खुदवा कर उस मिट्टी से स्तूप को या गढ की दीवार को बनाने की परिपाटी थी। निम्नलिखित तटाक जैनो द्वारा खुदवाये गये—

नेमा ग्राम (पिठापुरम)

नेदुनूरू (अमलापुरम)

पेनगोंडा (पश्चिमी गोदावरी)

जैन धर्म वासुपूज्य तीर्थंकर के समय मे ही प्रतीपालपुरम (भट्टिप्रोलु) आया था। पर उसमें उल्लिखित नाम कमल श्री, संघश्री आदि नाम इक्ष्वाकु काल को सूचित करते हैं। पहली शताब्दी मे कोंडकुंदाचार्य तथा ५वीं शताब्दी में पल्लव नरसिंह के समय के 'लोक विभाग' के रचयिता जैनाचार्य सिंहनन्दी जैन धर्म के उत्साही प्रचारक थे।

सातवाहन वंश के पश्चात् चालुक्यों के समय में ही आंध्र प्रदेश में स्थायी शासन स्थापित हुआ था। ६२५ ई० से १०७० ई० (लगभग चार सौ वर्ष) तक इस वंश का उस भू-प्रदेश पर शासन रहा, जिस पर सातवाहन शासन कर चुके थे। चालुक्य नरेश के समय बहुत से लोग बौद्ध और जैन धर्म के अनुयायी थे किन्तु प्रधानता वैदिक धर्म को मिल चुकी थी। फिर भी चालुक्य शासन के अन्तिम काल में बौद्ध धर्म विलीन हो गया, वैदिक धर्म और जैन धर्म बने रहे। इन दोनों धर्मों में संघर्ष होता रहा। कलिंग के चन्द्रवंशी शासक जैन मत को मानते थे। कलिंग और आन्ध्र में जैन धर्म की क्या स्थिति थी, इसका परिचय कलिंग के मुखलिंग, तेलंगाने के कुलनिपाक और गोदावरी जिले के ताटिपाक में बने हुए विशाल जैन मंदिरों से मिल सकता है। आज भी वहां तीर्थंकरों के जुलूस निकाले जाते हैं।

आठवीं शताब्दी में राष्ट्रकूट राजा ध्रुव ने वेंगी राजा चतुर्थ विष्णुवर्द्धन को हराकर उसकी पुत्री शीला महादेवी से विवाह कर समझौते का मार्ग प्रशस्त किया। राष्ट्रकूट जैन धर्म के अनुयायी थे। उक्त विवाह के कारण पूर्वी गोदावरी तक पश्चिमी गोदावरी मंडलों में जैन धर्म पुन: सुप्रतिष्ठ हुआ। अनेक तटाक खुदवाये गये। पर आश्चर्य की बात यह है कि कोई अभिलेख नही मिला। पिठापुरम्, अत्तलूर, वामनपूडि, आर्यवटमु, काजुलूरु, शील, प्रेंनगोंड, कलचमर्रु, आदि ग्रामो में जैन तीर्थंकरों के विग्रहों (मूर्तियों) की प्राण-प्रतिष्ठा की गयी। काकतीय का राज्य काल लगभग तीन सौ वर्षों तक अवस्थित रूप से चलता रहा। ११५८ ई० तक काकतीयों ने आन्ध्र प्रदेश पर काबू पा लिया था। प्रतापरुद्र (प्रथम) गणपति देव, रुद्रांबा और प्रतापरुद्र (द्वितीय) इस वंश में उल्लेखनीय शासक हुए। काकतीय वंश के प्रारम्भिक राजा जैन थे। कुछ समय पश्चात् इस वंश ने शैव मत की दीक्षा ली। जात-पांत से रहित सर्व-जन-समता के जैन सिद्धान्त को शैव धर्म ने भी अपनाया। सोमदेवराजीयमु में लिखा है कि गणपति देव ने अनुमकोंडा के बौद्धो एवं जैनियों को बुलवाकर उन्हे प्रसिद्ध विद्वान तिक्कन्न के साथ शास्त्रार्थ करने पर मजबूर किया। गणपतिदेव ने तिक्कन्न की वाक्पटुता से प्रभावित होकर जैनियों के सिर उड़ा दिये और बौद्धों को बरबाद कर दिया। जहां दूसरी ओर काकतीय नरेशों ने जैन मंदिर बनवाये। अनुमकोंडा की पहाडी चट्टान पर उन्होंने जैन तीर्थंकरो की विशाल मूर्तिया बनवाई। उसी पहाड पर पद्माक्षी का मदिर भी है।

धर्मामृतम् (१४ वी शताब्दी) के अनुसार भट्टिप्रोलु में जैन सघ तसल्ली से जम गया। उन दिनों के कोई जैन अवशेष या चिन्ह उपलब्ध नही होते।

ओनमालु :—

आन्ध्र प्रदेश में वर्णमाला को "ओनमालु" कहा जाता है। यह स्पष्ट है कि आज कल आन्ध्र प्रदेश में अक्षराभ्यास ओं नम: शिवाय, सिद्धं नम: से किया जाता है। मंडनम् मुंडनं पुंस: कह शिरोमुंडन की प्रथा भी चालू है। उत्तर भारत और केरल में श्री गणेशाय नम के साथ विद्यारंभ होता है। पर आन्ध्र और कर्नाटक प्रदेशो के अन्दर ओं नम शिवाय के साथ सिद्धं नम: भी जोड दिया जाता है। जैनी ओं नम: सिद्धेभ्य: के मन्त्र के साथ विद्याभ्यास करवाते थे। क्योकि यहां पहले जैन धर्म का प्रचार था। इसका प्रभाव लोक-जीवन पर पड़ा होगा और सिद्धम् नम: जैनियो से प्रचलित हुआ। व्याकरण के नियमानुसार 'नम. सिद्धेभ्य:' होना चाहिए। गाथा सप्तशती के दूसरे अध्याय के ६१वें श्लोक के आधार पर साहित्याचार्य भट्ट श्री मथुरानाथ शास्त्री ने कहा है कि लोग ओं नम: सिद्धम् के साथ अक्षराभ्यास करते थे। कविवर क्षेमेंद्र ने अपनी कृति "कविकण्ठाभरणम्" मे वर्णमाला को अनोखे रूप में श्लोकबद्ध किया है—पहला श्लोक है—

ॐ स्वस्त्यंकम् स्तुम: सिद्धमंतमर्वृयमितीलितम्।
उदादूर्जंपथ्य वैश्या ॠ ऋ छ क निगूहनम्॥

अंत में कहा गया है -

एतामिमंम: सरस्वत्यं य: क्रियामातृकाम् जपेत्।

उक्त श्लोक में स्तुम: सिद्धम् ध्यान देने योग्य है।

अवशेष : —

जोगीपेट का कस्बा किसी समय पूर्णतया जैन जोगियो की बस्ती थी। वहा पर आज भी जैन धर्म के अनुयायी मौजूद हैं। वहाँ से कुछ दूर "कोलनुपाक" जैनियों का सुप्रसिद्ध तीर्थस्थल है जहा दूर-दूर से लाखो यात्री हर साल आते है। हैदराबाद शहर में जैनियों के प्राचीन मंदिर हैं। वरंगल और अनुमकोंड में शहर के अन्दर और बाहरी पहाडी चट्टान पर बहुतेरी जैन मूर्तियां मौजूद हैं।

हम लोग आज भी जहां-तहां मंदिरों के बाहरी भागों में जैन मूर्तियां पाते हैं। हैदराबाद के अन्दर गढवाल के निकट पूडूर नामक ग्राम में मंदिर के बाहर कुछ ऐसी जैन मूर्तियां हैं जिन्हें गांव वाले बाहरी देवता के नाम से याद करते हैं। वहीं पर एक शिलालेख भी है, जो जैन अभिलेख कहलाता है जो आठ सौ वर्ष पुराना है।

जैन धर्म संबंधी खंडहरों में उल्लेखनीय है विक्कवोलु (पूर्वी गोदावरी), दानवुलपाडु (कडपा), पंट्टचेरूवु (हैदराबाद), वेमुलवाड (करीमनगर), पेछ तुंबलं (कर्नूल), बोलनुपाल (नलगोंडा), गोल्लत्तगूडि (महबूबनगर), गोल्लत्तगूडि के केबलय में महावीर की मूर्ति उपलब्ध हुई है जो "हैदराबाद म्यूजियम्" में है।

ह्वेन्त्सांग ने लिखा कि अमरावती आदि प्रदेशो मे दिगम्बर जैनालय थे। विक्कवोलु कलशमुरू, गुडिवाड, शिवगंगा विजयवाडा, धर्मवरम, अम्मनब्रोलु, निडकोलकंल्ड, कंबदूरू, अमरापुरम, वल्डमानु, जडचर्ल, पोट्ल चेरूवु कोल्लिपाक, अनुमकोंड, नगुनूरू, दानवुलपाडु में जैनालय थे। दानवुलपाडु में लोक प्रसिद्ध जैनालय था जिसमें तीर्थंकरो की बडी-बडी मूर्तियां थी। पेनुकोंड (अनंतपुर) जैन विद्या केन्द्र था। वीर शैव काव्यों में जैन धर्म और बौद्ध धर्म के उत्पीडन और उन्मूलन के बारे में जो दतकथाएं प्रचलित और मान्य हैं, उनकी सत्यता के बारे में निम्नलिखित तथ्य कुछ प्रश्नचिन्ह उपस्थित करते हैं। पालुकुरिकी सोमनाथ ने लिखा है कि जैनियों को नाना प्रकार की यातनाएं दी गई थी। जैनियो पर पथराव तक किये गये थे। इस प्रकार १२०० ई० तक जैन धर्म क्षीण हो चुका था और उसकी जगह वीर शैव धर्म स्थापित हुआ। ध्यान देने की बात यह कि आन्ध्र प्रदेश मे पहले जैन धर्म का ही प्रचार लोक में अधिक था। वरंगल के आदि शासक जैनी ही थे। कल्याणी के बिल्लालराज्य के अन्दर बरवेद्वर के नेतृत्व मे वीर—शैव सप्रदाय की आंधी उठी। करीम नगर जिले के "वेमुलवाडा' में भी जैन मदिर शिवालय के रूप मे परिवर्तित हुआ। मदिर मे पहरे से प्रतिष्ठित असली जैन मूर्तियां बेचारी दरबान बनकर मदिर के दरवाजे पर खडी हैं। हिन्दू जब जैन-मूर्तियों को ऐसी दशा मे पाते हैं तो उनकी नग्नता को छिपाने के विचार से उन पर मिट्टी पोत देते हैं अथवा चिथडा या सूत लपेट देते हैं। वरंगल आन्ध्र की राजधानी थी। उसी नगर के बीच "स्वयंभू" भगवान का मदिर बना था। इसे मुसलमानो ने तहस-नहस कर डाला। वीर शैवो ने जैनियो की थोड़ी-बहुत नग्न मूर्तियों को अपने वीर भद्र की मूर्ति मे परिवर्तित कर लिया।

लोक संस्कृति :—

जैन धर्म आन्ध्र प्रदेश में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। यहा दिगम्बर और श्वेताम्बर मार्ग के अनुयायी रहे हैं। उमास्वामि ने प्रथम शताब्दी ई० में तत्त्वार्थाधिगम सूत्र की रचना की। इसमे उन्होने तत्त्वो और उनके ज्ञान की पद्धति का वर्णन किया है। कुमारिल भट्ट (लगभग ६५०) ने इसकी आलोचना की है। तीर्थंकरो के आलय जहा थे वहा लोकोपकार की दृष्टि से आन्ध्र प्रदेश मे तटाक खुदवाये गये थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि जैन समाज-सेवक थे। जैन धर्म संबधी परपराओं की अमिट छाप आज भी आन्ध्र लोक जीवन पर विद्यमान हैं। अक्षराभ्यास ओं नमः शिवाय, सिद्ध नमः द्वारा किया जाता है। शिरोमुंडन-परिपाटी को वैष्णव धर्मावलबियो ने अनिवार्य बनाया है। लोकप्रियता की दृष्टि में रखकर उन दिनो जुलूस आदि मनाये जाते थे जिसकी नकल शैव एवं वैष्णव धर्मों ने की है। अहिंसा सिद्धान्त के अपनाने से ही जैन धर्म का विशेष प्रचार आन्ध्र प्रदेश में हुआ है। यह मत धर्म के नैतिक सिद्धान्तो पर जितना बल देता है, उतना विवेचनात्मक विषयो पर नहीं। इसलिए जब शैवो से इसका सघर्ष हुआ तब जैन धर्म के अनुयायियो ने शास्त्रार्थ पर जोर नही दिया था। जैन एव बौद्ध धर्म इतने लोकप्रिय इसलिए हुए कि उन्होने धर्म के साथ-साथ लोकभाषा प्राकृत की प्रतिष्ठा भी की थी। रविषेण (६६० ई०) कृत पद्मपुराण का प्रभाव आन्ध्र साहित्य पर पडा। कहते हैं कि मुलवाड़ा भीमकवि जैन कवि थे। तेलंगाना में आज भी अनेक जैन देवालय हैं जिनमें कोलनुपाक, वरगलु, वेमुलवाड आदि उल्लेखनीय हैं। जैन-धर्मानुयायी सिंहनन्दी जाति से आन्ध्र थे। तीर्थंकरो के तपस्वी जीवन ने जनता के विचारो को सबसे अधिक प्रभावित किया। वैष्णव सप्रदाय तपस्या-आदर्श के प्रति निष्ठा मे एक प्रकार मे मध्यमार्गी रहा और शैव सप्रदाय जैसी अनोखी निष्ठा तक नही गया। महावीर ने पार्श्वनाथ (१००८ ई० पू०) के द्वारा सस्थापित और अपने समय मे विद्यमान धर्म का सुधार किया था। पार्श्वनाथ के व्यक्तित्व की गरिमा और महिमा से अभिभूत हो आन्ध्र लोक-हृदय ने पेनुगोंडा मे पार्श्वनाथ की बस्ती प्राचीन काल मे बनवाई थी। यहां के एक शिलालेख में जिनभूषण भट्टारक का उल्लेख है। जैनों के चतुर्दश विद्या केन्द्रो मे पेनुगोंडा एक है। कोल्लिपाक मे आज कल भी जिनभवन हैं। आन्ध्र ग्रामों के अन्त में जहां "पाडु" का उल्लेख है, वहा यह समझा जाता है कि वह ग्राम कभी जैनो का ग्राम रहा होगा। ऐसे जिन "पाडु" नेल्लूर जिले मे अधिक हैं। नेल्लूर जिले के वागपट्टे गाव मे जैन कूप हैं। तेनुगु मे अनेक मदिरों मे पद्मासनविकृत मूर्तियां हैं जो "सन्यासीदेव" कहलाते हैं। ऐसे देव आर्यवट, पिठापुर, नेदुनूरू, तातिपाक, दाक्षाराम, पेनुगोंडा आदि गांवो मे हैं। ये देव जैन धर्म के देव ही हैं। नायकल्लु गुणदल आदि गांवां मे जो खंडहर हैं वे जैन धर्म से सबद्ध हैं। इस प्रकार आन्ध्र प्रदेश में जैन धर्म का लोक-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा जिसके प्रभाव सम्बन्धी अवशेष आज भी विद्यमान हैं।

Jaina Influence on Tamils

Prof. S. Thanyakumar

JAINISM IN TAMIL COUNTRY :

Jainism, according to scholars, flourished in Tamil Nadu as early as 3rd century B.C. Literary and inscriptional evidences also support the antiquity of Jainism in Tamil country. Historians believe that Jainism spread to Ceylon through Tamil Nadu. Though the Historians fix 3rd century B.C. as the earliest period, Jains believe that their religion in this part is much older than the available evidences show. Valmiki in his Ramayana refers to *Jain Munis* to whom Lord Rama paid obeisance on his way to south. Present studies place Ramayana to 8th century B.C.

The earliest extant Tamil work is "Tholkappiam" and its author is a Jain. This work gives details about the earliest Tamil community and its social structure. It speaks of the highest spiritual stage after destroying the bondage of Karma. Author of Tholkappiam describes "the Lord is one who liberates his soul from Karmas and who becomes the omniscient Self". This is the religious ideal of the Religion of Ahimsa —the Jainism.

Nachinarkiniyar, in his commentary on Tholkappiam refers to an incident wherein a sage Agasthya visited Lord Krishna and brought with him a clan of agriculturists *Aruvalars* and *Padunenkudi Velir* and settled them in Tamil nadu. Lord Krishna was a Cousin of 22nd Thirthankar Lord Neminath. The Jains literature indicates that Lord Krishna will be born as a Thirthankar and propagate Jaina religion. So it is inferred that Agasthiar, himself a Jain, brought with him a clan of Jaina agriculturists and settled them in Tamil country. The term *'Aruvalar'* finds place in one of the earliest inscriptions from the cave, presently in Andhra Pradesh. Further, the name Agasthiar has significance in that the present day Tamil Jains have a custom of naming their children *Agastheyappan*, *Agasthi*, and *Agastheyappa nainar* varied forms of Agasthiar.

Lord Parswanath, the 23rd Thirthankar, whom all agree to be a historical personage, was born in 1039 B.C. This was 3,750 years after the nirvana of Bhagwan Aristanemi. "Oriental scholars are not quite certain whether Aristanemi, the 22nd Thirthankar is an historial personage. The Name Arisatnemi occurs in Vedic hymns and implies an important Vedic rishi. *Aristanemi* and his cousin *Krishna* were related to the kings of Kuru Vamsa. As Arishtanemi renounced the world and retired from worldly life, he did not take part in the fraternal struggle of Mahabharata but his cousin brother Vasudeva (Krishna) was the prime factor and inspirer of the great war. This great war has to be assumed as an historical event and Krishna to be an historical personage. Then his cousin brother Aristanemi is also entitled to have a place in this historical picture" (Prof. A. Chakravarthy Nainar). There is no uniformity regarding the exact date of the Mahabharata war and it varies from 950 B.C. to 3000 B.C.

So the theory that Jaina religion was introduced into South India and Tamil Nadu by the migration of Jaina Sangha under the leadership of Bhadra Bahu can not be accepted. This migration gave additional vigour to the non-violent cult which was the prominant faith with the people in the South

The advent of Jainism followed by other faiths like Buddhism, militant forms of Hinduism and Vedic religion. Unlike Jaina preachers, others entered in the field of politics and vied with each other in eliminating one religion or the other.

The tolerant Tamil society entertained all faiths and this led to demoralisation and loss of self confidence among Tamils. The Bhakti movement which gained upperhand under the leadership of saint Gnansambandar led to prosecution of Jains. Jainism which was once the predominant religion throughout the Tamil country by 9th century A.D. becomes restricted to a few pockets especially in the present districts of South Arcot, North Arcot, Chingleput, and Tanjore,. Even now there are monuments and inscriptions in other districts.

It is claimed that Saint Gnanasambandar sang away Jainism out of Tamil Nadu It is not his songs, but prosecution with the help of members of Royal family that led to disappearance of Jaina Saints and conversion of Sravakas into the Saiva fold. This is further aggravated by the anti-Jaina propagation of Alwars. —Champions of Vaishnavism.

JAINA INFLUENCE :

Inspite of prosecution and conversions the Jaina principles have not been eradicated from Tamil country. Even now one can easily find them among the Tamils which clearly indicate the Jaina influence on Tamils.

The extent of Jains' influence in this part of the land—Tamil country is inestimables. Tamil literature and habits of Tamils echo the depth and width of Jaina influence. Udichi Devar, author of a Jaina Tamil work Thirukalambagam, while describing who Jains are, says :

"They like the Dharma Preached by one who moves on Lotus ;
Scorn killing ; never utter falsehood ;
Don't steal, never develop liking on wives of othermen ;
Don't loose temper out of anger,
Neither take meat nor honey
Don't eat after sunset ;
Never decry the elders"

This exposition may suit any common man who wished to be a member of a civilized society.

VEGETARIANISM :

One of the fore-most Jaina principles that has rooted deeply in Tamil Society is Vegetarianism. Meat eating was uniformly condemned by all. The sobriety of the mind is influenced by the purity of the food. One of the famous poets of the 19th Century Thiru. V. Ka. has pointed out "The highest stage of not eating meat is Jainism"

The vegetarian food, which is presently called "Saiva food" in olden days referred to as *Aarugatha food*—the food of Jains. Even now in Ceylon it is called by this old name. The Tamils who acquired meat eating as a secondary habit, avoid it on the important religious festival days. Generally the original customs and practices of a society are reflected in the festivals. Most of the customs and practices not observed by the people in their day to day life are observed atleast on festival days. This points out the fact that Tamils influenced by the religion of Ahimsa were all vegetarians.

ANIMAL SACRIFICE :

In ancient Tamil nadu even the hunters offered only millets and honey to their deities. But later on due to misguidance animals were sacrificed to appease minor deities This cruel act of Tamils was condemned by the Jains from the beginning. Ancient Tamil literature contains Kavyas that are composed on this subject (Nilakesi, Yasotharakavyam, Jeevasambothanai).

Jainism condemned it from pre-historic days. This fact is further supported by the fact that in Tamil nadu the "South Indian Humanitarian League" a society formed by Jains and other spearheaded the move to bring in legislation banning animal sacrifices in temples. Late C.S. Mallinath Jain and Late T.S. Sreepal, both Tamil Jains carried out wide publicity condemning the animal sacrifice. Late T.S. Sreepal was called

Jeevabandhu for his services. All fair-minded Tamils irrespective of their religious affiliations helped for this just cause and to-day animal sacrifice is legally banned in Tamilnadu. Thus in Tamilnadu Jains influence bid good buy to this barbaric practice.

SOCIAL CUSTOMS :

There are a number of social customs peculiar to Jains that find their place among Tamils irrespective of their religious belief. Jainism preaches to avoid hot discussions and hilarious conversation and revelry on the dinning table. This is to avoid physiological effects that follow. Conversation and discussions while eating effects one's digesting capacity and there is every possibility for suffocation.

Avoiding taking food after sunset is yet another influence of Jains on Tamils. Even now some saivaites in Tirunelveli district do not take food at night.

Festivals like Deepavali, Sivaratri and Saraswati pooja are introduced by Jains among Tamils.

KARMA :

One of the important principles of Jainism is the Karma theory. In Ancient Tamil literature there are references to Karma theory of Jains. In PURANANOORU a Sanga Tamil work, there is a poem that reflects the Jaina Karma theory :

"As the raft moves along the current of the water
So the Soul along the fate"
"Evil and good are not given by others"
(results from our own activities)

When Tamils were exposed to faiths that approved of atonements, the ethics and self confidence of Tamils deterioted. Tamils were duped by a group of people that they can cast away the effects of their bad deeds by the offerings to the deities.

RELIGIOUS TOLERANCE :

The Syadvada or Anekanta Vada also had a profound influence on Tamils. The religious tolerance widely prevalent in Tamil Society is the echo of the Syadvada. Jaina theory that every statement or view is neither fully correct nor wrong taught the Tamils to develop tolerance and respect others' views even if they are enemies.

Jaina authors review only the views of other faiths and never touch personalities associated with the faiths. This had its effects and Tamils developed religious tolerance.

PARIMITA PARIGRAHA :

Parimita Parigraa is yet another virtue endowed upon Tamils by the Jains. Though Jainism does not restrict one's earnings beyond one's need, it condemns its accumulation in one hand. While enthusiastically working in his own field of occupation whatever accures to him beyond his self imposed limit must be set apart for the benefit of the whole society. For this Jainism advocates *Chaturvidha Dhana*. These dhanas are not restricted to any particular community. To give alms without caste distinction by Tamils is a legacy of Jaina thinking, This principle is being dealt in detail by the ancient tamil works. Of these *Thirukural* is the fore-most :

"The wealth that is acquired by the householder by toil and effort must set apart for helping those that are fit to be recipients." (212)

"Share your meal with the needy. Protect every living being. This is the chief of all the moral precepts formulated by those well-versed in Scriptures" (322)

Thirukkural is a scale of Jaina influence of Tamils. It is the social expression of Jaina religion.

EQUALITY :

When Tamils were suppressed on the basis of caste and creed Jainism advocated equality. Ancient Jaina Tamil works reflect this. Some of them go to the extent of condemning Varnashrma dharma based on caste system.

Jainism infused self-confidence and self respect in Tamils who were isolated from the main stream of life. Jainism pointed out that "it is the conduct and character of an individual that are important". One's birth in a particular caste or community has no relevance. When Tamils were suppressed on the basis of caste, Jaina thinking created confidence in them. Arungalacheppu, a Tamil work says,

"Even a low casteman, if possess right faith, is divine".

In another Tamil work it is stated that

"All are equal in birth and differ in their excellence
by their profession."

These Jaina works and Jaina preaching instilled in Tamils self confidence and forced those who preached caste differences, special status based on birth to a particular caste, to recognize this and accept the the social equality.

EDUCATION :

The response to education by Tamils without any caste difference is yet another influence of Jains. Jaina taught all people without caste or sex difference. Jaina ascetics taught children all aspects of education. The centres of learning are called Pallis. The term Palli refers to the abodes of Jain Munis. Even today the school in Tamilnadu are known as Pallis. From this one can judge the influence in the field of education. The children before they start their lesson pay homage to Siddhas. Even child would say *Namostu siddham.* This was followed even in Karnataka, there children say *Sidham namah.*

This obeisance to siddhas was a secular prayer in those days which later on lost significance. But the term Palli still remains.

The Jains and Jaina ascetics were responsible for the enrichment of Tamil lietrature. They popularised palmscripts and writing and litrerary activities.

"Jains had been great students and copyists of books'.

(Burnell : South Indian Paleography)

"It was through the fostering care of the Jains that the South seems to have been inspired with new ideals and literature enriched with new forms and expressions"

(Literary History of India)

The contribution of Jains to Tamil Literature is inestimable. They have enriched the Tamil language in an organised manner. There are Jaina works on grammar, Kavyas, linguistics, lexicography, ethics, maths, music and philosophy. Most of these are contributed by ascetics who never mentioned their names. In many of the puranas and Kavyas some of the modern scientific principles are explained in clear terms. ('Neelakesi'—a tamil Kavya speaks how Rainbow is formed, plants are living beings-evolution-clinilcal tests of feaces and urine etc.)

"That what is known as Augustanage of Tamil Literature was also the age of the predominance of the Jains".

(M.S. Ramasamy Iyengar : "Studies in South Indian Jainism")

Equality of women to education is first established by Jains. There are many inscriptional evidences that support this. The Jaina women were well versed in scriptures and other fields. They spread their knowledge to other woman irrespective of caste and creed. Jain nuns conducted schools and colleges exclusively for women. When the women are forbidden from the field of education it is the Jaina influence that

created many women stalwarts among Tamils. AVVAI, KURATHI, KAUNTI etc. are the terms that refer to learned women of Tamilnadu. There are many Tamil works that are addressed to women. This also shows the concern of Jains towards the education of Tamil women.

Equality of women for religious study spread among Tamils due to Jaina influence.

ARTS AND ARCHITECTURE :

The influence of Jains in the fields of Arts and Architecture is remarkable. Jains were the pioneers in the field of Temple architecture. The Jaina conceptions of divinity and prayer paved the way for temples for Arhnts. The earlier forms of places of worship are cave temples, bas-reliefs and monolithic granite idols. Later massive temples with distinct gopurams and mandaps were constructed. The earliest extant temples of grandeur are the Jain temples. Temple worship paved way for iconography, wall paintings and sculpturing. The cave paintings at Sithannavasal in Pudukottai district and Tirumalai in North Arcot district show the Jains interest in paintings. Jains standardised the temple architecture. This has inspired and influenced the Tamils of other religious faiths also to construct massive temples.

In the Jaina temple arcitecture a stambha called Manastambha is a unique feature. This is installed in the front of the mahamandapa and generally taller than the Vimana above the Garbhagriha.

Patronage of fine arts by Jains influenced and encouraged Tamils to develop these arts. There are many jaina Tamil works that speak in length about these.

Jains and Jainism by their presence in Tamil country influenced Tamils to a larger extent in diverse fields like culture, language, literature and social ethics.

"*Kural or Tirukkural*, the most popular Tamil classic, also known as the *Tamil Veda* and highly admired all over the world, is also attributed by tradition to Kundakunda, his another name being Elācārya. It is said that after composing it he gave the work to his disciple Tiruvalluvar who introduced it to the Saṅgama at Madura. It appears that the Sarasvati movement also marked the beginning of Tamil Literature and it is very likely that the Jaina ascetic scholars of the South took a leading part in the literary activity of the early Tamil Saṅgama. The authorship of *Tolkappiyam*, the earliest Tamil grammar which seems to have preceded even the *Kural*, is also attributed to a Jaina. No wonder that Kundakunda who was the foremost leader of the South Indian Jain Congregation, a great author, and a Dravidian by birth, was associated with the early literary activity in Tamil also".

—Jyoti Prasad Jain, *The Jaina Sources of the History of Ancient India*, Delhi, 1964, p. 126

प्राचीन जैन स्थल भद्दिलपुर : ऐतिहासिकता

डॉ० के० सी० जैन

प्राचीन समय में भद्दिलपुर जैन धर्म का एक बड़ा केन्द्र रहा है। जैन अनुश्रुतियो के अनुसार यह दसवें जैन तीर्थंकर शीतलनाथ का जन्म स्थल था,[1] और बाईसवें जैन तीर्थंकर अरिष्टनेमि भी यहा आ चुके हैं।[2] यह भी कहा जाता है कि चौबीसवें जैन तीर्थंकर महावीर ने भी यहां पर पांचवां चौमासा किया था।[3] करीब चौथी सदी के लेखक संघदास गणि के ग्रथ वासुदेव हिंडि मे उल्लेख मिलता है कि वासुदेव ने अभ्युमंत के साथ भद्दिलपुर नगर की यात्रा की जहा उसने राजकुमारी पुड्रा से विवाह किया।[4] जैन पट्टावलियां[5] एक मत से उल्लेख करती हैं कि मूल संघ के पहिले छब्बीस भट्टारको की पीठ भद्दलपुर रही है। सत्ताईसवां भट्टारक महाकीति भद्दलपुर में हुआ था किन्तु वह अपनी पीठ यहाँ से उज्जैन ले गया।

भद्दिलपुर मलय राज्य की राजधानी रहा है। मलय $25\frac{1}{2}$ आर्य देशो मे एक माना जाता था।[6] भगवती सूत्र मे सोलह महाजनपदों मे भी इसे गिना जाता है। मलय देश के भद्दिलपुर की स्थिति विद्वान् अभी तक ठीक नहीं बतला सके हैं, और इसके बारे में उनके विभिन्न मत हैं।

मूल सघ की चार प्रकाशित पट्टावलियो से पता चलता है कि भद्दलपुर मालवा मे था, किन्तु वे इस स्थान की निश्चित स्थिति का उल्लेख नही करती। बहुत बाद की लिखी होने के कारण पट्टावलियो पर विश्वास भी नही किया जा सकता। प्राचीन साहित्य और अभिलेखों से भी मालवा में किसी प्राचीन स्थल का नाम भद्दलपुर होने का पता नही चलता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन समय मे मालवा मलय के नाम से भी नही जाना जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि पट्टावलियो के लेखको ने भ्रम से मालवा को मलय मान लिया।

प्रोफेसर जगदीश चन्द्र जैन[7] का विचार है कि भद्दिलपुर की पहिचान बिहार मे हजारीबाग जिले के भदिया ग्राम से की जानी चाहिए। प्राचीन समय मे मलय देश बिहार मे पटना के दक्षिण गया के दक्षिण-पश्चिम मे स्थित था। यह विचार भी ठीक प्रतीत नही होता क्योंकि यह प्रदेश प्राचीन समय मे मलय देश नही जाना जाता था। भदिया की पहिचान भद्दिलपुर से नही की जा सकती क्योकि इसके लिए साहित्य और अभिलेख का कोई प्रमाण नही मिलता है। यह स्थान मूल सघ के प्राचीन भट्टारको की पहली पीठ के रूप मे भी नहीं रहा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन समय मे जैन धर्म मे सबन्धित भद्दिलपुर दक्षिण मे स्थित था। यह मलय राज्य की राजधानी थी। चू कि मलय शब्द की उत्पत्ति द्रविड भाषा के शब्द 'मलइ' जिसका अर्थ 'पहाडी' से हुआ है यह असंभव नही है कि इस नाम का राज्य दक्षिण मे स्थित था। अमरकोश और कालिदास के रघुवश मे मलय प्रदेश को दक्षिण भारत मे बतलाया गया है।[8] बिल्हदी के अभिलेख मे भी यह उल्लिखित मिलता है कि त्रिपुरी के कल्चुरी राजा शंकर गण (८७८-८८८ ई०) ने मलय देश पर आक्रमण

१. आवश्यक निर्युक्ति, ३८३
२. अन्तगडदसाओ, ३, पृ० ७
३. लाइफ इन ऐंश्यट इण्डिया एज डिपिक्टेड इन द जैन कैनन्स, पृ० २५४
४. वासुदेवहिण्डि, पृ० ७४
५. पीटरसन रिपोर्ट, १८८३-८४ ; इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, २१, पृ० ५८
६. पन्नवणा, १,३७, पृ० ५५६, बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति, १,३२६३ ; प्रवचन सारोद्धार, पृ० ४४६
७. लाइफ इन ऐंश्यंट इंडिया एज डिपिक्टेड इन द जैन कैनन्स, पृ० २५४
८. रघुवंश, ४, ६, ६, ४६-४८, ६, ६४; अमरकोश, २-६

कथा।[1] जैन ग्रंथों में मलय और भद्दिलपुर के उल्लेख से प्रकट होता है कि बहुत प्राचीन समय में ही जैन धर्म का प्रचार सुदूर दक्षिण तक हो गया था। समयोपरांत प्राचीन जैन लेखकों ने प्रसिद्ध प्राचीन जैन स्थलों का संबन्ध किसी न किसी भांति जैन तीर्थंकरों से जोड़ने का प्रयत्न किया किन्तु वास्तव में ऐसा संबन्ध नहीं रहा। दक्षिण में कई स्थलों के नामों का अंत 'मलइ' से होना प्राचीन मलय राज्य की स्थिति दक्षिण मे होना पुष्ट करता है।[2] इसके अतिरिक्त मूल संघ की सबसे प्राचीन पट्टावली से भी पता चलता है कि भद्दलपुर दक्षिण में स्थित था।

मूलसंघ के आरंभ के छब्बीस भट्टारको की पीठ भद्दलपुर रही है। मूलसंघ के सस्थापक कुंदकुंद का निवास स्थान भी दक्षिण में ही था। बाद के इसी संघ के पच्चीस भट्टारको का कार्य भी दक्षिण भारत रहा। ऐसा कोई प्रमाण नही मिलता कि इतने प्राचीन समय में मूलसंघ का अस्तित्व कही अन्य स्थल मे रहा हो। इस मूलसघ के प्रथम पीठ के भद्दिलपुर व भद्दलपुर नाम के स्थल की स्थिति कही न कहीं दक्षिण में होनी चाहिए किन्तु अभी तक इस स्थल की ठीक से स्थिति व पहिचान नही की जा सकी है।

आचार्य कुन्दकुन्द एवं भद्दिलपुर का भट्टारक पट्ट

देव मिल्यो यक आयकैं, करी बीनती येहु। कहि ऐसो अबहू करूं, आग्या मोकौं देहु ॥
तब मुनिवर ऐसैं कही, विदिह षेत्र ले जाय। श्रीमन्दिर स्वामी तणौं दरसण मोहि कराय ॥
तब स्वरधारी विमान मुनि, चालयो मद्धि अकास। राह मांहि पीछी गिरी, ठीक पड़यो नहि तास ॥
मुनि बोले पींछी विनां, हम नहि मग चालंत। देव विचारी सो करूं, जिह विधि चालै संत ॥
गृधिपछ्छि के परन की, पींछी दई बनाय। गृध्रपछाचारिज यहै, तब तै नांम कहाय ॥
स्वरमुनि गये विदेह मैं, दरसण किय जिनराय। ऊंचो सब ही को लषी, धनुष पाच सै काय ॥
चक्रवर्ति आयो तहां, दरस करण जगदीस। लषि वन मुनि कौ हाथ मै, लयै उठाय महीस ॥
भाषी यह को जीव है, कमडल पीछी धार। जिन भाषी मुनि है यहै, भरथषंड कौ सार ॥
तब चक्रीयन को धरयौ, एलाचारिज नाम। फुनि आये निज षेत्र मैं, करि मनवांछित काम ॥

भदिलापुर दक्षिण दिसा, पट्ट भये छब्बीस। बहुरि सुनहु जे जे भये, जिहठा मुनि-गन ईस ॥
छसै-तियासी साल तै, पट बैठे मुनिराज। भट्टारक-पद पाय करि, भये सुधर्म जिहाज ॥

बख्तराम साह कृत बुद्धि-विलास से साभार

---

१. एपिग्राफिया इंडिका, १, पृ० २५१
२. पंचपांडवमलइ, तिरुमलइ, वल्लिमलइ, मार्तामलइ, तेनिमलइ, अलगर्मलइ, ऐवर्मलइ, कलुगुमलइ और वस्तिमहल।

दिगम्बर तीर्थ गेरसप्पा के जैन मंदिर और उनकी वर्तमान दुर्दशा

स्वर्गीय श्री अगरचन्द नाहटा

जैन धर्म का प्रचार भारत के कोने-कोने मे हुआ। चौबीस तीर्थकरो के विहार, जन्म, दीक्षा, केवल और निर्वाण के स्थान तीर्थ रूप में प्रसिद्ध हुए और आगे चलकर अन्य मुनियो आदि के साधना और निर्वाण स्थल भी तीर्थ कहलाए। प्राचीन और चमत्कारी मूर्तियो के कारण भी तीर्थों की सख्या मे वृद्धि होती गई। इस तरह दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायों के आज सैकड़ों तीर्थ-स्थान हैं। अनेक प्राचीन तीर्थ नष्ट हो गए और अनेक नये स्थापित होते गये। इनमे से कुछ स्थान तो दोनो सम्प्रदायों के लिए मान्य हैं, पर बहुत-से स्थान दोनों के अलग-अलग हैं। दक्षिण, भारत मे दिगम्बर सम्प्रदाय का अधिक प्रचार रहा। अत: उनके तीर्थ दक्षिण भारत में अधिक हैं। राजस्थान, गुजरात आदि स्थानो पर श्वेताम्बरो के तीर्थों की अधिकता है। इन तीर्थों के सम्बन्ध मे अनेक ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं। ऐसे ग्रन्थो मे भी दिगम्बरो की अपेक्षा श्वेताम्बरो के तीर्थों सम्बन्धी ग्रन्थ अधिक हैं।

तीर्थों की सुव्यवस्था के लिए वैसे तो अलग-अलग अनेक पेढ़िया है, पर श्वेताम्बर तीर्थों की सबसे बड़ी पेढ़ी आनन्द जी कल्याण जी की है, जिसका मुख्य कार्यालय अहमदाबाद मे है। पालीताना आदि मे भी इस पेढ़ी के कार्यालय हैं। दिगम्बर तीर्थों की बड़ी समिति का कार्यालय बम्बई मे है। स्वर्गीय कानजी महाराज के श्रावको ने इधर एक नई समिति गठित की है। पुरानी समिति का कोष तो करोड़ों रुपए का हो चुका है, इस नई समिति मे भी लगभग एक करोड़ रुपए है। रुपया तो समाज की तीर्थों के प्रति भक्ति के कारण प्राय: एकत्र हो जाता है, किन्तु उसका सुव्यवस्थित सदुपयोग किया जाना बहुत आवश्यक है। हमारी दृष्टि मे तीर्थों के जीर्णोद्धार का जैसा और जितना कार्य आनन्द जी कल्याण जी पेढ़ी ने किया है, वैसा दिगम्बर समाज की समिति ने नहीं किया।

तीर्थों को मानने-पूजने वाले व्यक्ति जहा रहते है वहा उनकी सभाल, पूजा-व्यवस्था आदि ठीक रहती है, किन्तु अनेक स्थानों पर मन्दिर तो काफी पुराने और अच्छे है परन्तु जैनों की आबादी न होने से उन मन्दिरो की स्थिति बहुत खराब है। ऐसा ही एक दिगम्बर तीर्थ गेरसप्पा है जिसका उल्लेख ज्ञानसागर रचित सर्वतीर्थ वन्दना और विश्वभूषण रचित सर्वत्रैलोक्य जिनालमक जयमाला मे पाया जाता है जो डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर द्वारा सम्पादित 'तीर्थ वन्दना सग्रह' ग्रन्थ मे प्रकाशित है। इनमे से विश्वभूषण ने तो गेरसप्पा मे पार्श्वनाथ का उल्लेख ही किया है, किन्तु ज्ञानसागर ने तीन छप्पय इस तीर्थ क सम्बन्ध मे दिए हैं जिनके अनुसार गिरसोपा मे रानी भैरव देवी का राज्य है। पार्श्वनाथ के तीन भूमि मन्दिर हैं, चार मंजिला चतुर्मुख मन्दिर दो सौ खम्भों से सुशोभित है। इस नगर के गिरसप्पा, गेरसोप्पा, गेरुसोप्पे आदि विभिन्न नाम मिलते है। डा० जोहरापुरकर ने लिखा है कि यह नगर मैसूर प्रदेश मे पश्चिमी समुद्र के किनारे स्थित है। इसके अतिरिक्त उन्होंने और कोई विवरण नही दिया। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने स्वयं इस नगर को देखा नही। हाल ही मे पुरातत्व और कला के सुप्रसिद्ध श्वेताम्बरी विद्वान् श्री मधुसूदन ढांकी का एक लेख प्राच्य विद्या-मंदिर बड़ौदा की शोध-पत्रिका 'स्वाध्याय' के दीपोत्सव सवत् २०३७ के अक मे प्रकाशित हुआ है। उन्होंने लिखा है कि तीस वर्ष पहले गेरसप्पा के चतुर्मुख जिनालमक का तलदर्शन कजिन्से ने प्रकाशित किया था। उससे मेरा ध्यान वहां के मन्दिरो की ओर गया। अभी चार वर्ष पूर्व कर्नाटक के शिकोगापचक की ओर जाने पर स्वय जाकर उस दिगम्बर तीर्थ को देखने का अवसर मिला।

श्री ढांकी आजकल 'अमेरिकन इस्टीट्यूट ऑफ इण्डियन स्टडीज' के प्रधान संचालक के रूप में बनारस में रहते हैं। इंस्टीट्यूट की ओर से उन्हे भ्रमण, फोटोग्राफी आदि सभी सुविधाएं प्राप्त हैं। अत. गेरसप्पा के जैन मदिरो से सम्बन्धित आठ सुन्दर चित्र अपने लेख के साथ प्रकाशित किए हैं। इनमे से तीन चित्र जैन मूर्तियो के हैं, शेष मन्दिरो के। यद्यपि गेरसप्पा की यात्रा बहुत विकट है, फिर भी उन्होंने साहस करके जगल मे इन दिगम्बर जैन मदिरो को खोज निकाला।

ये जैन मन्दिर जगल मे एकान्त स्थान पर गांव से कुछ दूर हैं। इन तक पहुंचने के लिए श्री ढांकी को नौका-यात्रा करनी पड़ी। अनेक कठिनाइयों के बाद वे पहुच गए और सुन्दर चित्र व पूरी जानकारी लेकर लौटे। जगत् विख्यात जोगा के फॉल से लगभग

बीस मील दूर टेढ़े-मेढ़े रास्ते से होकर नदी पार कर वे गाव पहुंचे। वहां का प्राकृतिक दृश्य देखकर वे मुग्ध हो गए। चारों ओर झुरियाली और लता-वृक्षों से घिरे इस स्थान पर उन्होंने मन्दिर को खण्डहर रूप में देखा जिसकी दीवारें जीर्ण-शीर्ण थी। गर्भगृह में पहुंचने पर काले पत्थर की सुन्दर जिन-प्रतिमा के दर्शन हुए। उन्होंने आस-पास के जैन मन्दिरो को भी देखा और खण्डहरों व प्रतिमाओं के चित्र लिए।

ये सभी मन्दिर विजय नगर के उत्कर्ष काल के हैं। एक चतुर्मुख जिनालय भी है। मन्दिरों को देखकर उन्हें कबोडिया के देवलों का स्मरण हो आया। इस मन्दिर में चारों ओर पद्मासनस्थ विशाल जैन-मूर्ति हैं। पहले मन्दिर की मूर्ति को तो उन्होंने भगवान् नेमिनाथ की माना है। चतुर्मुख जिनालय के गर्भ-गृह के पश्चिम दिशा की जिन-मूर्ति का चित्र 'स्वाध्याय' पत्रिका के मुखपृष्ठ पर दिया है। हिरिय बसती (बस्ती) के जिन चंद्रोग्र पार्श्वनाथ की मूर्ति का भव्य चित्र अन्तिम कवर पृष्ठ पर छपा है। पीछे कुडलाकार सर्प हैं, ऊपर सात फण हैं। कायोत्सर्ग मुद्रा में खडी हुई इस सपरिकर मूर्ति को देखते हुए मन नही भरता। ऐसी सुन्दर न जाने कितनी मूर्तियां भारतवर्ष के कोने-कोने मे सर्वथा उपेक्षित, खडित व अपूज रूप मे पड़ी हैं। उनकी ओर तो किसी का ध्यान ही नहीं जाता और नई-नई अनेक मूर्तियां बनती जा रही हैं जो कला की दृष्टि से उन उपेक्षित पड़ी मूर्तियो के सामने कुछ भी नही हैं। मूर्तियां बनानी ही हैं तो प्राचीन मूर्तियों को सामने रखकर वैसी ही मनोहर मूर्तिया बनानी चाहिए जिन्हे देखते ही ध्यान लग जाए। गुप्तकालीन एक ऐसी ही पार्श्वनाथ की अन्य मूर्ति के सम्बन्ध मे मैंने एक स्वतन्त्र लेख लिखा है। वह मूर्ति वर्तमान मे पटना मे कानोडिया जी के संग्रहालय में विद्यमान है। ऐसी विरल मूर्ति का जैन समाज का कुछ भी ध्यान नही है। यद्यपि गेरसप्पा की उक्त पार्श्वनाथ की मूर्ति उतनी प्राचीन नहीं है। श्री मधुसूदन ढाकी ने तो उसे 14वीं-15वीं शताब्दी की बतलाया है, किन्तु ज्ञानसागर और विश्वभूषण ने इस पार्श्वनाथ मूर्ति के कारण ही गेरसप्पा को 'पार्श्वनाथ तीर्थ' बतलाया है।

गेरसप्पा के शिलालेखो मे १२वीं शताब्दी तक के प्राचीन लेख मिले हैं। १४वी-१५वी शताब्दी मे विजयनगर महाराज के एक सामन्त का शासन था। सघन वनराजी, पूर्व और दक्षिण मे दुर्गम पहाड़ और उत्तर मे मेघवती, सदानीरा, इरावती नदियो से घिरा यह तीर्थ वास्तव में दर्शनीय है। प्रति वर्ष होने वाली अतिवृष्टि के कारण यहा के निवासी निकटवर्ती स्थानो मे जाकर बस गए और इन मन्दिरो के चारो ओर जगल छा गया। ईस्वी सन् १६२५ मे एक पुर्तगाली प्रवासी इधर से गुजरा तो यहा के राजमहल खंडहर हो चुके थे, ऐसा उल्लेख उसने किया है। जब १४वी-१५वी शताब्दी मे यहा के मन्दिर बने तब यहा काफी धनाढ्य जैन रहते थे। जैन-धर्म को राज्याश्रय भी प्राप्त था, इसीलिए इतने सुन्दर मन्दिर यहा बन सके। दिगम्बर मुनि भी दर्शनार्थ पहुचते रहे। इसीलिए तीर्थ-मालाओं मे यहां के पार्श्वनाथ तीर्थ का उल्लेख मिलता है। गुजरात के भट्टारक ज्ञानसागर १६वी शताब्दी मे यहा पहुचे तब यह नगरी अच्छे रूप में विद्यमान थी। भैरवीदेवी यहा शासन करती थी। पार्श्वनाथ के मन्दिर को त्रिभूमिया प्रासाद लिखा है। इस मन्दिर को दान दिए जाने का सन् १४२१ का शिलालेख प्राप्त है। गोकर्ण के महामहेश्वर मन्दिर सम्बन्धी १५वी शताब्दी के शिलालेख मे यहां की हिरिक बस्ती के चंद्रोगृह पार्श्वनाथ का उल्लेख है। ढाकी जी के अनुसार यहा की शांतिनाथ बस्ती को दान देने का उल्लेख भी मिलता है। चतुर्मुख जिनालय चार भूमि वाला और २०० खम्भो वाला होने का उल्लेख ब्रह्मज्ञान सागर ने किया है। इसके अनेक स्तम्भ अब नष्ट हो चुके हैं। सन् १३७८ से १३१२ के मध्य दडनायक सोमण्ण के पुत्र रामण्ण की पत्नी रामक्के ने यहा तीर्थकर अनन्तनाथ की बसती नामक मन्दिर बनाया था और नेमिनाथ की प्रतिमा अजय श्रेष्ठी ने बनवाई थी। [विस्तारपूर्वक जानकारी के लिए मधुसूदन ढाकी का 'स्वाध्याय' में प्रकाशित सचित्र लेख देखे।]

एक विनम्र अनुरोध

प्राचीन तीर्थ गेरसप्पा के सम्बन्ध मे पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग वर्षों पूर्व से विचारोत्तेजक सामग्री प्रस्तुत करता रहा है। किन्तु समाज की उदासीनता एव केन्द्रीय सगठन के अभाव मे दिगम्बर जैन समाज के अनेक महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक केन्द्र अब विस्मृति के गर्भ मे चले गए है।

पश्चिम भारत के पुरातत्त्व सर्वेक्षण ने वर्ष 1892-93 मे अनेक आवश्यक सूचनाए देकर इन मन्दिरों के कलात्मक वैभव एवं पुरातात्त्विक महत्त्व से जनसाधारण को परिचित कराया था। उपरोक्त रपट मे चतुर्मुख बस्ती के जिनालय मे चतुर्मुख प्रतिमा (चार दिशाओं में चार तीर्थंकरों की प्रतिमा)का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। साथ ही वर्धमान जिनालय एव उसमे प्रतिष्ठित जिनबिम्ब, चतुर्मुख बस्ती में भगवान् पार्श्वनाथ के जिनबिम्ब, पार्श्वनाथ बस्ती एव वर्धमान स्वामी के मन्दिर के विशेष कलात्मक पाषाणो एव कलात्मक वैभव का परिचय दिया है।

जैन समाज को इस प्रकार की उपयोगी रपटों के आधार पर अपने उपेक्षित तीर्थों के विकास एवं सरक्षण मे गहरी रुचि लेनी चाहिए। —सम्पादक

जैन धर्म और स्थापत्य का संगम तीर्थ—ओसिया

डॉ० सोहनकृष्ण पुरोहित

राजस्थान के ऐतिहासिक नगर जोधपुर से ५२ किलोमीटर दूर उत्तर पश्चिम दिशा मे जैन धर्म और स्थापत्य का प्रमुख केन्द्र "ओसिया" स्थित है। ओसिया ग्राम मे आज भी वैष्णव, शैव, और जैन मन्दिर विद्यमान हैं। इसलिए यदि इसे "मन्दिरों का नगर" कहा जाय तो अतिशयोक्ति नही होगी।

अभिलेखों और साहित्यिक ग्रन्थों मे ओसियां को उपकेशपट्टन[1] अथवा उपशीशा[2] कहकर पुकारा गया है। इस नगर की स्थापना के सम्बन्ध मे जनसाधारण में कई किंवदन्तिया प्रचलित है। एक कथा के अनुसार विक्रम सम्वत् प्रारम्भ होने के चार सौ वर्ष पूर्व भीनमाल में भीमसेन नामक राजा राज्य करता था। उसके श्रीपुञ्ज तथा उप्पलदेव नामक दो राजकुमार थे। एक बार दोनों राजकुमारों में किसी बात को लेकर झगड़ा हो गया। इसलिए श्रीपुञ्ज ने उप्पलदेव पर यह ताना कसा कि जो व्यक्ति अपने बाहुबल से राज्य स्थापित करता है, उसी को दूसरे पर प्रभुत्व जमाने का अधिकार होना है। अपने भ्राता के मुख से यह वाक्य सुनकर उप्पलदेव वहां से तुरन्त रवाना हो गया तथा अपने एक मंत्री को लेकर दिल्ली पहुचा। वहा उसने साधु नामक राजा से एक नया राज्य स्थापित करने की स्वीकृति प्राप्त की तथा मारवाड के उपकेशपुर या ओसिया मे अपने नवीन राज्य की स्थापना की। उप्पलदेव की अधिष्ठात्री देवी चामुण्डा थी। डा० डी० आर० भण्डारकर[3] का मत है कि भीनमाल के किसी परमार राजा पर शत्रु का अत्यधिक दबाव बढ जाने से उसने यहा आकर "ओसला" (शरण) लिया था इसलिए इस स्थल का नाम ओसिया पडा। डॉ०के०सी०जैन की मान्यता है कि भीनमाल से ओसिया आने वाला राजकुमार परमार-वंशीय नहीं, अपितु गुर्जर प्रतिहार वंश का था। जैनग्रन्थ "उपकेशगच्छ प्रबन्ध" (१३२६ ई०) के अनुसार सुर-सुन्दर नामक राजा के पुत्र श्रीपुञ्ज का पिता से झगडा हो जाने पर ओसिया राज्य की स्थापना की थी[5]। महावीर-मन्दिर के एक लेख[6] के अनुसार आठवी शताब्दी के अन्तिम दशक तक यहां प्रतिहार नरेश वत्सराज का शासन था। ओसिया की स्थापना के सम्बन्ध मे हमारी मान्यता है कि इसका सस्थापक सभवत भीनमाल का कोई राजकुमार था। वह किस राजवंश का था ; इस सम्बन्ध मे हमारा अनुमान है कि वह कोई चावडा वशीय राजकुमार था। प्रतिहार और परमार वंश का इतिहास अब लगभग स्पष्ट हो चुका है और उसमे श्रीपुञ्ज या उप्पलदेव जैसे राजकुमारों का उल्लेख नही मिलता। जबकि चावडा वंश[7] का इतिहास अभी भी अंधकार-पूर्ण है। इन परिस्थितियो मे ओसिया राज्य की स्थापना का काल यदि छठी शती ई० में रखते हैं तो वह अनुचित नही कहा जा सकता।

ओसवाल जाति का मूल निवास स्थान

ओसिया को महाजनो की ओसवाल जाति की उत्पत्ति से भी सम्बन्धित माना जाता है। यहां जनसाधारण मे प्रचलित एक कथानक के अनुसार ओसिया का राजा उप्पलदेव अथवा श्री पुञ्ज चामुण्डा देवी का कट्टर भक्त था। एक बार प्रसिद्ध जैनाचार्य रत्नप्रभ सूरी (भगवान् पार्श्वनाथ के सातवें पट्टेश्वर) अपने ५०० शिष्यो सहित चातुर्मास करने हेतु ओसिया आये ; लेकिन वहां पर

---

१. ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द, जोधपुर राज्य का इतिहास खण्ड १, पृष्ठ २८
२. गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बडौदा, ७६ पृष्ठ १४६
३. भण्डारकर, डी०आर०, प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑव आर्क्योलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, वेस्टर्न सर्किल, १६०७, पृष्ठ ३६
४. जैन, के०सी०, एन्शियेंट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑव राजस्थान, पृ० १८०
५. वही (लहर २, सख्या ८, पृष्ठ १४)
६. नाहर, पूर्ण चन्द्र, जैन इन्स्क्रिप्शंस, कलकत्ता, १६१८-२६, संख्या ७८८
७. शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रू दि एजिज, पृ० ११२, २८८, ४४०, ७०७, २२६, १३१

जैन मुनियों हेतु निवास की उचित व्यवस्था न होने पर उन्होंने किसी अन्य स्थान पर जाकर चातुर्मास करने का निश्चय किया। भगवती चामुण्डा माता की प्रेरणा से कुछ साधुओं ने आचार्य रत्नप्रभ सूरी से ओसिया में ही चातुर्मास करने की प्रार्थना की जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। एक दिन ओसिया के राज-परिवार के किसी बालक को काले नाग ने डस लिया। परिणामस्वरूप उस बालक की अकाल मृत्यु हो गई। लेकिन आचार्य रत्नप्रभ सूरी ने अपने आध्यात्मिक प्रभाव से उस बालक को पुन: जीवित कर दिया। इस चमत्कार से प्रभावित होकर राजा और उसकी प्रजा भेंट सहित आचार्य के पास पहुचे। लेकिन आचार्य महोदय ने भौतिक भेंट लेने से मना कर दिया। अत. राजा ने आचार्य रत्नप्रभ सूरी से प्रार्थना की कि वे यह बतलाये कि उनकी क्या इच्छा है ताकि वह उसे पूरा कर आचार्य की सेवा का लाभ उठायें। तब आचार्य रत्नप्रभ सूरी ने कहा कि उनकी तो एक मात्र इच्छा यही है कि ओसिया के सभी लोग जैन धर्म स्वीकार कर लें। इस प्रकार जो लोग आचार्य रत्नप्रभ सूरी से दीक्षित हुए, वे और उनके वंशज ओसवाल कहलाये।[1] आचार्य रत्नप्रभ सूरी का ओसियां की जनता पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वहा के राजा ने स्वयं भी जैन धर्म अंगीकार कर लिया और वहां की चामुण्डा माता की पशुबलि को बन्द करवा दिया। इस घटना के बाद वहां की अधिष्ठात्री देवी को सच्चियाय माता कहकर उनकी पूजा की जाती है।

अब प्रश्न उठता है कि ओसवाल जाति की उत्पत्ति कब हुई? जैन मुनियों ने ओसवाल जाति की उत्पत्ति का समय वीर निर्वाण सम्वत् ७० (४५७ ई० पू०) माना है।[2] महामहोपाध्याय पण्डित गौरीशकर हीराचन्द ओझा[3] ने इस तिथि को कल्पना पर आधारित माना है, क्योंकि ४५७ ई० पू० तक तो ओसिया नगर की स्थापना भी नही हुई थी। उन्होंने ओसवाल जाति की उत्पत्ति ११वी शताब्दी ईसवी के आसपास स्वीकार की है। श्री के०सी०जैन ने भी अपने ग्रन्थ मे यह स्वीकार किया है कि हमे नवी शताब्दी से पूर्व ओसवाल जाति का उल्लेख नही मिलता है[4]। हमारी मान्यता है कि ओसवाल जाति की उत्पत्ति ८वी शताब्दी के प्रारम्भ मे कभी हुई थी। "नाभिनन्दन-जिनोद्धार प्रबन्ध" नामक ग्रन्थ (जिसकी रचना कक्क सूरी ने (१३३८ ई०) की थी), सूचित करता है कि ओसिया मे ओसवालो के १८ गोत्र निवास करते थे।[5] उनमे से एक "बैसाथ" गोत्र के लोग भी थे लेकिन गोष्ठिको से सैद्धान्तिक मतभेद होने के कारण वे किराडू मे आकर बस गये थे।

—ओसिया के महावीर मन्दिर की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

जैन साहित्य मे ओसिया का उल्लेख एक जैन तीर्थ स्थान के रूप मे हुआ है। यहा पर कई वैष्णव तथा जैन मन्दिर बने हुए हैं जिन पर परवर्ती गुप्त स्थापत्य का प्रभाव है।[6] यहा का महावीर मन्दिर तो जैन-स्थापत्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। यह मन्दिर अपनी उचित व्यवस्था के कारण आज भी पूर्णतया सुरक्षित है। दूर से देखने पर तो यह मन्दिर एक देव विमान समान दिखलाई देता है। एक किवदन्ती के अनुसार, भगवान् महावीर के निर्वाण के ७० वर्ष पश्चात् आचार्य रत्नप्रभ सूरी ने इस मन्दिर मे प्रतिमा की स्थापना की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य रत्नप्रभ सूरी ने इस क्षेत्र में जैन धर्म का प्रचार किया, और इस मन्दिर मे प्रतिमा स्थापित कर उसे प्रारम्भिक स्वरूप प्रदान किया था। मन्दिर के कलात्मक स्वरूप को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस मन्दिर के निर्माण मे शताब्दियो की कला का प्रयोग किया गया है—परन्तु क्योकि आचार्य रत्नप्रभ सूरी ने ही यहां जैन धर्म का प्रचार किया था, इसलिए यहा जैन धर्म से सम्बन्धित जो अवशेष है, उन सब की अनुश्रुतियां का सम्बन्ध उक्त जैन मुनि से जुड़ गया है। महावीर-मन्दिर की एक श्लोक-बद्ध प्रशस्ति (वि० स० १०१३-९५६ ई०) से यह ज्ञात होता है कि यह मन्दिर प्रतिहार नरेश वत्सराज के समय (हरिवंश पुराण के अनुसार शक सवत् ७०५-७८३ ई०) मे विद्यमान था।[7] इसी प्रकार एक अन्य लेख (वि० सं० १०७५-१०१९ ई०) से यह संकेतित होता है कि इस मन्दिर का द्वार दो व्यक्तियो ने मिलकर बनवाया था। मन्दिर के द्वार, मूर्तियों तथा स्तम्भों पर उत्कीर्ण लेखों (९७८ से १७०१ ई०) से यह जानकारी मिलती है कि इस मन्दिर का तोरण द्वार कई बार

---

१. जैन, के०सी०, पूर्वोक्त, पृष्ठ १८३
२. ओझा, पूर्वोक्त, पृष्ठ २९
३. वही।
४. जैन के०सी०, पूर्वोक्त, पृष्ठ १८३
५. मुनि ज्ञान सुन्दर जी, भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास, फलावो, १९४३, पृष्ठ १५९ पर उद्धृत।
६. शर्मा, दशरथ, पूर्वोक्त, पृ० ७२
७. ओझा, पूर्वोक्त, पृष्ठ २९

पुनर्निर्मित करवाया गया था।[1] मन्दिर के स्थापत्य के आधार पर डॉ०के०सी० जैन ने इसे आठवीं शताब्दी में निर्मित माना है।[2] परवर्ती काल में जिन्दक नामक एक व्यापारी ने इस मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया था।[3] ११८८ ई० के दो अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण श्राविका पाल्हिया की पुत्री तथा देवचन्द्र की पुत्रवधू और यशोधर की पत्नी ने अपना भवन महावीर मन्दिर के रथ को रखने हेतु दान दिया था।[4] इस लेख की पुष्टि कक्क सूरी के "नाभिनन्दन जिनोद्धार प्रबन्ध" नामक ग्रन्थ से भी होती है। इसके अनुसार महावीर के एक स्वर्णरथ का नाम "नर्दम" था जो वर्ष में एक बार नगर-परिक्रमा के लिए उपयोग में लाया जाता था।[5] इससे संकेतित है कि प्राचीन काल में ओसिया में महावीर प्रतिमा का एक जलूस भी निकाला जाता था।

महावीर मन्दिर का स्थापत्य[6]

ओसिया का प्रमुख जैन मन्दिर महावीर का मन्दिर है। इस मन्दिर का मुख उत्तर की ओर है। इस मन्दिर की सम्पूर्ण निर्मिति में प्रदक्षिणा पथ के साथ गर्भगृह, पार्श्वभित्तियों के साथ गूढमण्डप तथा सीढ़िया चढकर पहुंच जाने योग्य मुखचतुष्की सम्मिलित है। द्वार मण्डप से कुछ दूरी पर एक तोरण है जिसका निर्माण एक शिलालेख के अनुसार १०१० ई० मे किया गया था, किन्तु इससे भी पूर्व ९५६ ई० में द्वार-मण्डप के सामने समकेन्द्रित वालाणक (आच्छादित सोपानयुक्त प्रवेश द्वार) का निर्माण कराया गया था। गर्भगृह के दोनों ओर एक आच्छादित वीथि निर्मित है। मुख-मण्डप तथा तोरण के मध्य रिक्त स्थान के दोनो पार्श्वों मे युगल देवकुलिकाएं बाद में निर्मित की गई हैं।

गर्भगृह एक वर्गाकार कक्ष है जिसमें तीन अंगो अर्थात भद्र, प्रतिरथ और कर्ण का समावेश किया गया है। उठान में पीठ के अन्तर्गत एक विशाल भित्ति, विस्तृत अन्तरपत्र और चैत्य तोरणों द्वारा अलकृत कपोत सम्मिलित हैं। कपोत के ऊपर बेलबूटों से अलंकृत बसत पट्टिका चौकी के समानान्तर स्थित पीठ के ऊपर सामान्य रूप से पाये जाने वाले वेदी बंध स्थित हैं। वेदी बंध के कुम्भ देवकुलिकाओं द्वारा अलकृत हैं. जिनमे कुबेर, गज—लक्ष्मी तथा वायु आदि देवताओ की आकृतियां बनाई गई हैं। इस प्रकार का अलंकरण गुप्तकालीन मन्दिरो में ढूढा जा सकता है। वेदी बंध के अलकरणयुक्त कपोतो के ऊपर उद्गमो से आवेष्ठित देवकुलिकाओं में दिग्पालो की आकृतियाँ बनी हुई हैं। जघा की परिणति पद्म बल्लरियो की शिल्पाकृति के रूप मे होती है और वरण्डिका को आधार प्रदान करती हैं। वरण्डिका द्वारा छाद्य से आवेष्ठित दो कपोतो के बीच अतराल की रचना होती है। गर्भ गृह भद्रो को उच्च कोटि के कलात्मक झरोखों से युक्त उन गवाक्षों से संबद्ध किया गया है जो राजसेनक वेदिका तथा आसनपट्ट पर स्थित हैं। इन गवाक्षों को ऐसे चौकोर तथा मनोहारी युगल भित्ति-स्तम्भों द्वारा विभाजित किया गया है जो कमल-पुष्पो, घट-पल्लवो, कीर्तिमुखों तथा लता-गुल्मों के अंकन द्वारा सुरुचिपूर्वक अलकृत किये गये हैं और उनके ऊपर तरंग टोडो की निर्मिति हैं। छज्जों से युक्त गवाक्षों के झरोखों के विविध मनोहर रूप प्रदर्शित हैं। गर्भगृह के ऊपर निर्मित शिखर मौलिक नही है। यह ग्यारहवी शताब्दी की मारू-गुर्जर शैली की एक परवर्ती रचना है। विकसित कर्णों को दर्शाने वाले उरः शृंगो तथा लघु शृंगो की तीन पंक्तियां इसकी विशेषताएं हैं।

गूढ मण्डप की रूपरेखा मे केवल दो तत्त्व सम्मिलित हैं अर्थात् भद्र और कर्ण। वरण्डिका तक गर्भगृह के गोंटे तथा अन्य अलंकरण इसके अन्तर्गत आते हैं। इसकी जघा के अग्रभाग का अलकरण यक्षो, यक्षियो और विद्या देवियों की प्रतिमाओं द्वारा किया गया है। सामने के कर्ण मे बायी ओर सरस्वती और पार्श्वयक्ष तथा दायी ओर अच्छुप्ता और अप्रतिचक्रा की प्रतिमाएं स्थित हैं।

गूढ मण्डप की छत तीन पंक्तियो की फानसना है, जिसका सौन्दर्य अद्भुत है। प्रथम पंक्ति स्कन्ध से प्रारम्भ होती है और वह विद्याधर और गन्धर्वों की नृत्य करती हुई आकृतियो से अलंकृत है, जिनके पश्चात् छाद्य तथा शतरजी रूप उत्कीर्ण आते हैं। प्रथम पंक्ति के चार कोने भव्य शृंगो से मण्डित है। भद्रो मे रथिका प्रक्षिप्त होती है जिस पर पश्चिम दिशा मे कुबेर तथा पूर्व में एक अपरिचित यक्ष की आकृति सम्मिलित है। दूसरी पंक्ति के चार कोनों को सुन्दर कर्णकूटो द्वारा अलंकृत किया गया है और उसके शीर्ष भाग मे सुन्दर आकृति के घण्टा कलश का निर्माण किया गया है।

त्रिक मण्डप का शिखर गूढ मण्डप के सदृश फानसना प्रकार की दो पंक्तियो वाला है। इसके ऊपर चारो ओर सिंह कर्ण

---

१. वही।
२. जैन के०सी० पूर्वोक्त, पृष्ठ १८२
३. आर्क्योलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, एन्युअल रिपोर्ट, १९०८-९ पृष्ठ १०९
४. जैन के०सी०, पूर्वोक्त पृष्ठ १८३-१८४ पर उद्धृत
५. वही।
६. यह सम्पूर्ण सामग्री "जैन कला एव स्थापत्य" खण्ड प्रथम (भारतीय ज्ञान पीठ, नई दिल्ली १९७५) के श्री कृष्ण देव के लेख से ज्यों की त्यो की गई है। इसके लिए हम विद्वान् लेखक तथा भारतीय ज्ञानपीठ के अत्यन्त आभारी हैं।

के तीन फलक हैं। उत्तर की ओर के सिंह कर्ण पर महाविद्याओं, गौरी वरोट्या तथा मानसी की आकृतियां हैं। पश्चिमी फानसना के उत्तर की ओर यक्षी-चक्रेश्वरी, महाविद्या, महाकाली तथा वाकुदेवी की आकृतियां दर्शायी गई हैं। पश्चिम की ओर पार्श्व में यक्षी-मूर्तियों के मध्य महाविद्या मानवी की आकृति है।

द्वार मण्डप की दो पंक्तियों वाली फानसना छत घण्टा द्वारा अवेष्ठित है। इसके त्रिभुजाकार तोरणो की तीन फलको में प्रत्येक पर देवी-देवताओं की प्रतिमाएं उत्कीर्ण की गई हैं। पूर्व की ओर महाविद्या काली और महामानसी और वरुणयक्ष की प्रतिमाएं हैं। पश्चिम की ओर देवियों द्वारा संपार्श्वित महाविद्या रोहिणी की मूर्ति है। उत्तर की ओर यक्ष सर्वानुभूति, आदिनाथ तथा अम्बिका की प्रतिमाएं हैं।

गर्भ गृह की भीतरी रचना साधारण है किन्तु उसमें तीन देवकुलिकाएं निर्मित हैं जो अब रिक्त हैं। गर्भगृह के द्वार के कलात्मक विवरण हाल में किये गये रंग-लेप और शीशे की जड़ाई के कारण छिप गये हैं।

शाला के चारो स्तम्भ मूलरूप से चौकोर हैं और उन्हें घट पल्लवो—(बेलबूटों) नागपाश और विशाल कीर्तिमुखो द्वारा अलंकृत किया गया है। शाला के ऊपर की छत नाभिच्छेद शैली में निर्मित है। इसकी रचना सादे गजतालुओं द्वारा होती है। गूढ़ मण्डप की भित्तियों पर पर्याप्त गहराई की दस देवकुलिकाएं हैं। उनमे से दो कुबेर और वायु की आकृतियां हैं। गूढ़ मण्डप को प्रत्येक कमाशास्वित प्रदक्षिणा शैली में निर्मित इन देवताओं की प्रतिमाये रोहिणी, वेरोट्या, महामानसी और निर्वाणी का प्रतिनिधित्व करती हैं। प्रत्येक भद्र के सरदल के ऊपर स्थित फलक पर अनुचरों के साथ पार्श्वनाथ की दो प्रतिमाओ को दर्शाया गया है।

ऐसा विश्वास करने के लिए अनेक कारण हैं कि आठवीं शताब्दी में वत्सराज द्वारा निर्मित मूल मन्दिर के अभिन्न अंग के रूप में वलानक विद्यमान था और 956 ई० में स्तम्भ युक्त कक्ष के अतिरिक्त निर्माण के साथ इसका नवीनीकरण कराया गया था।

मूल महावीर मन्दिर प्रारम्भिक राजस्थानी वास्तुकला का एक मनोरम नमूना है। इसमें महान् कला गुण सम्पन्न मण्डप के ऊपर फानसना छत तथा जैन वास्तुकला के सहज लक्षणों से युक्त त्रिक मण्डप की प्राचीनतम शैली का उपयोग किया गया है। मुख्य मन्दिर और उसकी देवकुलिकाएं प्रारम्भिक जैन स्थापत्य और मूर्तिकला के समृद्ध भण्डर हैं और देवकुलिकाएँ तो वास्तव में स्थापत्य कला के लघु रत्न ही हैं।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि 'ओसिया' भारत का एक महान् जैन तीर्थ स्थान है। प्राचीन काल से ही यह स्थल एक प्रमुख तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध रहा है। विद्वान् पाठकों का ध्यान इस लेख के माध्यम से निम्न बिन्दुओं की ओर आकर्षित किया जा सकता है—प्रथम, ओसिया के मन्दिर की जब रत्नप्रभ सूरी ने स्थापना की, उस समय यह बहुत ही साधारण मन्दिर रहा होगा। द्वितीय, मन्दिर में उपलब्ध अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि इसका कौन-सा खण्ड कब बना और कब विद्यमान था और किसने बनवाया था। लेकिन मुख्य बात यह है कि मन्दिर का शिखर मारु-गुर्जर शैली का और लगभग ११वीं शताब्दी का है। अत: स्पष्ट है कि मन्दिर का शिखर बाद में जोड़ा गया था। हम जानते हैं कि बिना शिखर के मन्दिर प्रारम्भिक गुप्तकाल में बनते थे। इसलिए मन्दिर-निर्माण की तिथि गुप्तकाल के प्रारम्भ में रखी जा सकती है। लेकिन मन्दिर में जो अंकन और कलात्मक प्रतीक उपलब्ध हैं, उनसे यह संकेतित है कि इसने कलात्मक स्वरूप गुप्तोत्तर काल मे धारण किया था, परन्तु इसने अपना वर्तमान स्वरूप ग्यारहवीं शताब्दी मे धारण किया था।

ग्यारहवीं शताब्दी के बाद तो ओसियां की ख्याति एक प्रमुख तीर्थ के रूप मे दूर-दूर तक फैलने लगी थी। बारहवीं शती में प्रसिद्ध विद्वान् सिद्धसेन ने अपने ग्रन्थ (सकलतीर्थ स्तोत्र) मे ओसिया को प्रमुख तीर्थ स्थल के रूप में उद्धृत किया है।[1] श्वेताम्बरों का उपकेशगच्छ भी ओसिया से सम्बन्धित रहा है। इस गच्छ का उल्लेख 1202 ई० के लेखो मे मिलता है।[2] सिरोही (राजस्थान) राज्य के अजारी ग्राम से प्राप्त 1137 ई० के शिलालेख में इस गच्छ का नाम मिलता है।[3] ओसिया का उपकेशगच्छ तेरहवीं से सोलहवीं शती के मध्य जैसलमेर, उदयपुर तथा सिरोही में प्रसिद्ध था।[4] ओसिया के अधिकांश वैष्णव मन्दिर मोहम्मद गौरी के आक्रमण के समय नष्ट कर दिए गए थे।[5] लेकिन यह हमारा सौभाग्य है कि यहां का सच्चियाय माता तथा महावीर मन्दिर आज भी पूर्णतया सुरक्षित हैं। भारत के प्रत्येक नागरिक हेतु ओसिया मन्दिर स्थापत्य एवं धार्मिक दृष्टि से वास्तव में अवलोकन के योग्य है।

---

१. गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, ७६, पृष्ठ १५६, जैन के०सी० द्वारा पूर्वोक्त पृ० १८४ पर उद्धृत। उपकेशगच्छ प्रबन्ध, नाहर २, संख्या ८, पृ० १४

२. शर्मा दशरथ पूर्वोक्त पृ० ४२२, नाहर पूर्वोक्त १ पृष्ठ ७९१

३. जिन विजय, मुनि, अर्बुदाचल प्रदाक्षिणा जैन लेख, सन्दोह, संख्या ४०४, भावनगर, वि० सं० २००५

४. वही, नाहर पूर्वचन्द्र, पूर्वो, खण्ड २, ३

५. जैन के०सी०, पूर्वोक्त, पृ० १८४

प्रसिद्ध कला-तीर्थ : राणकपुर

डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी

जैन धर्म का उद्देश्य है—मनुष्य की पूर्णता अर्थात् ससारी आत्मा स्वय परमात्मा बने। यह धर्म मनुष्य में निहित देवत्व को आत्मानुभूति के माध्यम से प्रकट करने की प्रेरणा प्रदान करता है, और उसे इस प्रवृत्ति मे सहायता भी देता है। एक ओर जहां जैन पद्धति में कठोर अनुशासन, संयम, त्याग और तपस्या की प्रधानता है वही दूसरी ओर कला भी दिव्यत्व की उपलब्धि और उसके साथ तादात्म्यीकरण का अत्यन्त पवित्र साधन है। इस धर्म के अनुयायियो ने सदा ही ललित कलाओ के भिन्न-भिन्न रूपों और शैलियों को प्रोत्साहित किया है।

जैन कला मूलतः धर्म की अनुगामिनी ही रही परन्तु साधना की कठोरता और रूक्षता को कोमल और स्निग्ध रूप प्रदान करने में भी उसने धर्म की विपुल सहायता की है। धर्म के भावनात्मक, भक्तिपरक और लोकप्रिय रूपो के विकास के लिए कला और स्थापत्य की अनगिनत कृतियों के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई। इनके निर्माण मे और इन्हे अधिकाधिक रम्य और मोहक बनाने में जैन लोगों ने श्रम और अर्थ खर्च करने मे कोई कसर नही उठा रखी है। जैन धर्म की आत्मा जैन कला मे स्पष्टतः प्रतिबिम्बित होती है। जैन कला सौन्दर्य-बोध के आनन्द का तो सृजन करती ही है परन्तु उससे भी अधिक आत्मोत्सर्ग, शान्ति, समता और सहिष्णुता की भावनाओं को उद्दीप्त करती है। इस प्रभाव से इन्कार नही किया जा सकता है।

विभिन्न ऐतिहासिक युगो की विविध शैलियो मे कला और स्थापत्य की कृतिया यो तो सम्पूर्ण भारत मे ही बिखरी हुई हैं परन्तु जैन तीर्थस्थल (तीर्थ क्षेत्र, सिद्ध क्षेत्र, अतिशय क्षेत्र आदि) विशेष रूप मे सच्चे अर्थों मे कला के भण्डार हैं। जैन लोगो ने अपने तीर्थ क्षेत्रों के लिए जिन स्थानों को चुना है, वे पर्वतो की चोटियो पर या एकान्त निर्जन घाटियो मे, भौतिकता की चकाचौंध से दूर सांसारिक आपाधापी के जीवन से अलग, हरे-भरे शान्त मैदानो मे हैं। ये स्थान आत्मिक चिन्तन और निश्चल ध्यान में अत्यन्त सहायक सिद्ध होते हैं। इन पवित्र क्षेत्रो के सम्पर्क से आत्मा का कालुष्य दूर होकर निर्मलता प्रकट होती है। ये स्थान और यहाँ निर्मित कलात्मक जिनालय और देव-विग्रह मुक्तात्माओ और महान् पुरुषो के सजीव स्मारक हैं।

यहा एक बात यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हू कि जैनधर्म मे देवोपासना किसी सासारिक आकांक्षा के लिए या लौकिक सकटों के निवारण के लिए नही की जाती। जैनधर्म की मुख्य मान्यता यह है कि ससारी प्राणी अपने सुख-दुःख, और पाप-पुण्य का फल स्वय ही भोगता है, ईश्वर या परमात्मा का इसमे कोई दखल नही है। अतः जैनो के समस्त धार्मिक क्रिया-कलापों का उद्देश्य है—आत्मशुद्धि। आत्मशुद्धि को प्राप्त करने पर ही कर्मों (भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म) से मुक्ति मिल सकती है और तभी आत्मा परमात्मा बन सकता है। तीर्थक्षेत्रो, सिद्धक्षेत्रो, अतिशयक्षेत्रो एव पुण्य-स्थलो की यात्राए भी इसी उद्देश्य से की जाती हैं। ये तीर्थयात्राएं पुण्य-सञ्चय और आत्मशुद्धि मे सहायक होती हैं।

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि इस देश की गौरवशाली सास्कृतिक थाती को समृद्ध करने मे जैनधर्म के अनुयायियों ने विपुल सहयोग दिया है। यदि यह भी कह दिया जाय कि वे अन्य क्षेत्रो की भाति इस क्षेत्र मे भी अग्रणी रहे हैं तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। उन्होंने भारत देश के सास्कृतिक भण्डार को कला और स्थापत्य की अगणित कृतियो से समृद्ध किया है। उनमे से अनेक कृतियों की भव्यता और कला-गरिमा इतनी उत्कृष्ट और अद्भुत बन पडी है कि उनकी उपमा नही मिलती, वे अपनी मिसाल आप ही हैं और ईर्ष्या योग्य हैं। स्वयं को ही सर्वाधिक जागरूक मानने वाले विदेशी यात्रियो ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।

जैन मन्दिरो की शैली भिन्न-भिन्न है परन्तु जो भी उनमे भक्तिपूर्वक प्रविष्ट होता है, उस पर एक-सा ही प्रभाव पड़ता है। श्रवणबेलगोला, हलेबिड्, देवगढ़, आबू, राणकपुर आदि के प्रसिद्ध जैनमन्दिर वास्तुकला के उत्कृष्ट नमूने हैं। भक्तिप्रवण दर्शनार्थियों पर उनके दर्शन का प्रभाव शान्ति और अनासक्ति के रूप मे दृष्टिगत होता है। जैन मन्दिर का तो प्रयोजन ही यही है कि यहाँ बैठकर

प्रभु-परमात्मा के गुणों का चिन्तन-मनन शान्तिपूर्वक हो सके और आराधक भगवान् की ओर उन्मुख हो सके। यह भावना मन्दिर निर्माण की शैली से जागृत की जाती है। गर्भगृह, शुकनासिका, मुखमण्डप आदि वातावरण को शान्ति और गरिमा प्रदान करते हैं।]

राजस्थान में राणकपुर का त्रैलोक्यदीपक तीर्थाधिराज, श्रीचतुर्मुख युगादीश्वर विहार जैन कला और धार्मिक भावना का सजीव चित्र है। भारतीय स्थापत्य कला का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक यह जिनालय गर्व से अपना सिर ऊंचा कर पन्द्रहवीं शताब्दी की विकसित कला को प्रकट करता है। इस महामन्दिर को देखने के लिए हजारों की संख्या में भारतीय और विदेशी पर्यटक प्रतिवर्ष पहुंचते हैं। पश्चिम भारत के शिखर मण्डित 'मध्यशैली' (मिडिल स्टाइल) मे निर्मित जैन मन्दिरों मे इसका मुख्य स्थान है।

यह स्थान मेवाड़ में अरावली की सुरम्य उपत्यकाओं के बीच सादड़ी से छह मील दक्षिण में है। इसका निकटतम रेलवे स्टेशन फालना है जो दिल्ली अहमदाबाद मेन रेलवे लाइन पर है। राणकपुर के इस प्रसिद्ध जैन मन्दिर की प्रतिष्ठापना सन् १४३६ में हुई। मन्दिर का निर्माण जैन-धर्मानुयायी धरणाक पोरवाड के आदेश से देपाक नामक वास्तुविद् के मार्गदर्शन मे हुआ। मन्दिर के मुख-मण्डप के प्रवेशद्वार पर स्थित स्तम्भ पर खुदे हुए अभिलेख से यह जानकारी मिलती है कि इस भव्य चौमुखे मन्दिर के निर्माण मे कला और स्थापत्य के महान् आश्रयदाता राणा कुम्भा का महान् योग रहा है। राणा कुम्भा वि० सं० १४६० मे राजसिंहासन पर समासीन हुए। इनके राज्यकाल मे शिल्पकला की बहुत उन्नति हुई। चित्तौड का कीर्तिस्तम्भ, जयस्तम्भ, राणकपुर का यह मन्दिर और आबू का कुम्भाशाम राणा की कलाप्रियता के श्रेष्ठ प्रतीक हैं।

"प्राग्वाटवंशावतंस संघपति मागण सुत सं० कुरपाल··· ······" शिलालेख मे 'राणपुर' नाम दिया हुआ है जिससे स्पष्ट है कि 'राणपुर' नाम राणा कुम्भा के नाम पर रखा गया है। 'राण' राणा का और 'पुर' पोरवाड का संक्षिप्त रूप है। दोनों नामों को जोड़ कर 'राणपुर' नाम रखा गया है।[1] राणपुर शब्द का प्रयोग और उच्चारण ही शुद्ध है परन्तु वही अब लोक भाषा में राणकपुर या रणकपुर होकर ख्यात हो गया है।

यह मन्दिर ३७१६ वर्गमीटर क्षेत्र में फैला हुआ है। इसमें २६ बड़े कमरे और ४२० स्तम्भ हैं। इससे प्रकट होता है कि इस मन्दिर की योजना बडी महत्त्वाकांक्षी रही है। मन्दिर 'त्रैलोक्यदीपक' नाम से भी जाना जाता है। अधुना, राणकपुर मे प्रतिवर्ष दो मेले भरते हैं—एक चैत्र कृष्णा दशमी के दिन और दूसरा आश्विन शुक्ला त्रयोदशी के दिन। धरणाक और उनके भाई रत्ना के वंशज आज भी मेले के दिन केशर और इत्र से पूजा करना, आरती उतारना और ध्वजारोहण करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं।

मन्दिर मे और भी शिलालेख हैं, उनसे इसके निर्माता का और जीर्णोद्धार-काल का पता तो चलता है परन्तु इसकी नींव कब पडी और इसे बनने में कितने वर्ष लगे—इस बात की सही-सही जानकारी अद्यावधि नहीं हो सकी है। ऐसी जनश्रुति है कि मन्दिर बनने मे चालीस वर्ष पूरे हुए। मन्दिर के निर्माण में कितनी धन-राशि खर्च हुई, इस बात का उल्लेख एक भी शिलालेख में नहीं है। राजस्थान के ख्यातिलब्ध इतिहासकार कर्नल टॉड ने अपनी पुस्तक 'एनल्स एण्ड एण्टीक्वीटिज ऑफ राजस्थान' में लिखा है कि यह मन्दिर लाखों रुपयों का है और इसके निर्माण में राणा कुम्भा ने अपने राजकोष से ८०,००० रुपये दिये थे, फिर चन्दा एकत्र कर इसका निर्माण-कार्य पूरा किया गया था। परन्तु इस कथन का आधार क्या है, इस बात का उल्लेख टॉड महोदय ने नही किया। उनकी यह बात सामान्यत: मानने योग्य नहीं दीखती, मनगढ़न्त-सी लगती है क्योंकि स्वयं टॉड साहब ने इस मन्दिर के दर्शन एक बार भी नही किए थे।

मन्दिर के शिलालेखों से पता चलता है कि इसमे समय-समय पर जैन श्रावको द्वारा जीर्णोद्धार के कार्य सम्पन्न कराये गये। पहले मन्दिर आज की तरह पूर्ण स्थिति में नहीं था। मन्दिर में अलग-अलग स्थानों पर धन्ना और रत्ना के वंशजों ने तथा अन्य जैन श्रावकों ने भिन्न-भिन्न कालों में तीर्थंकरों की मूर्तियों का निर्माण और उनकी प्रतिष्ठापना का पुनीत कार्य अपने समकालीन जैनाचार्यों द्वारा करवाया था। निर्माण, प्रतिष्ठा और जीर्णोद्धार का कार्य लगभग वि० सं० १६०० तक चलता रहा। जीर्णोद्धार का काम तो आज भी चल ही रहा है।

इस चतुर्मुखी मन्दिर के बहिर्भाग में दो तरह के पत्थरों का उपयोग हुआ है। फर्श पर सेवाडी का पत्थर लगा है तो दीवारों पर सोनाणा का पत्थर। चतुर्मुखी मूलनायक प्रतिमा के अतिरिक्त शेष सभी मूर्तिया सोनाणा के पत्थर की ही बनी हैं। मन्दिर का उत्तुङ्ग शिखर ईंटों से बनाया गया है। चतुर्मुखी से मतलब है—चार मूर्तियां चारो दिशाओं में मुख किये हुए, एक दूसरी के पीठ से सटी। ये चारों मूर्तियाँ मन्दिर के मूलनायक आद्य (प्रथम) तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ की हैं। सफेद पत्थर से बनी हुई हैं। प्रत्येक मूर्ति

१. ऐसी प्रसिद्धि है कि मन्दिर के लिए जमीन इसी शर्त पर दी गई थी कि इसका नाम राणा के नाम पर रखा जाए।

के मुख की ओर एक बड़ा द्वार है। मुख्य द्वार पश्चिम की ओर है। इसके पीछे खुदाई का सुन्दर काम है। मन्दिर का मूल गर्भ-गृह वर्गाकार है। पहले खण्ड पर भी इसी तरह का मन्दिर है जिसमें चार प्रतिमाएं विराजमान हैं। इसकी चारों दिशाओं में भी चार द्वार हैं। दूसरे खण्ड पर जाने के लिए अखण्ड पत्थर की बनी सीढ़ियाँ बड़ी अद्भुत हैं। पृथ्वी-तल के मन्दिर में प्रत्येक द्वार के आगे गूढ़ मण्डप न होकर एक-एक लघु सभामण्डप है। मन्दिर के मुख्य मण्डप की ओर एक बड़ा मन्दिर है। प्रत्येक सभामण्डप के आगे एक-एक छोटा देवालय है। इस भांति चारों कोनों में मन्दिर हैं। इनके आगे चार गुम्बदों का समूह है जो चार सौ बीस स्तम्भों पर आधारित है। प्रत्येक समूह के मध्य गुम्बदों की ऊंचाई तीन मञ्जिल जितनी है। सबमे बड़ा और प्रधान गुम्बद गर्भ-गृह के ऊपर है। मन्दिर के चारों ओर ८६ देहरियां हैं जिन्हें पृथक्-पृथक् करने हेतु मध्य में कोई दीवार नही है। ये देहरिया अन्य प्रतिमाएं स्थापित करने हेतु छोटे मन्दिर के आकार की हैं। मन्दिर के उत्तर-पश्चिम की बडी देहरी मे सम्मेदशिखर जी की खुदाई का काम है। एक शिला पर गिरनार और शत्रुञ्जय की पहाड़ियों की खुदाई का काम है। मन्दिर के बाहर २३वें तीर्थङ्कर श्री पार्श्वनाथ भगवान् की प्रतिमा सर्प-देह में लिपटी हुई, सहस्रफण युक्त, कायोत्सर्गावस्था मे स्थित है। शत्रुञ्जय गिरनार पट्ट, नन्दीश्वर द्वीप पट्ट, सहस्रफण पार्श्वनाथ आदि धार्मिक महत्त्व के उल्लेखनीय शिल्पप्रतीक हैं।

इनके अलावा और भी कई स्थानों पर खुदाई का बहुत ही श्रेष्ठ और कलात्मक काम है। मुख्य मन्दिर में प्रवेश करते ही मुखमण्डप की छत का कटाई का काम अत्यन्त दर्शनीय है। इस एक ही शिला मे शिल्पकार ने चाँद की कलाओं का विकास बताया है। रङ्गमण्डप के दो तोरणद्वार अखण्ड पत्थर से बने हैं जिनमे कला सजीव रूप मे प्रकट हुई है। रंगमण्डप के गुम्बद के घेरे मे चारों ओर नाचती हुई पुत्तलिकाएं खड़ी हैं। मन्दिर मे चौरासी तहखाने भी बताये जाते है, जो धरती मे दूर-दूर तक फैले हुए है।

आजकल मन्दिर का सम्पूर्ण प्रबन्ध जैनियो की प्रमुख संस्था आनन्दजी कल्याणजी की पैढ़ी करती है। इसका प्रधान कार्यालय अहमदाबाद में है। एक शाखा सादडी मे है जो सादड़ी, राणकपुर और राजपुरा के मन्दिरो की देखरेख करती है। इस पैढ़ी ने कई लाख रुपये मन्दिर के जीर्णोद्धार मे लगाये हैं, फिर भी अभी बहुत काम होना शेष है। राणकपुर कभी एक बड़ी बस्ती रही है। यदि इस क्षेत्र की खुदाई कराई जाए तो प्रभूत मात्रा मे ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हो सकती है और मन्दिर के सम्बन्ध मे भी नई बातें प्रकाश में आ सकती हैं।

मन्दिर की कलापूर्ण रचना को देखकर अत्यन्त प्रभावित हुए योरोपीय विद्वान् सर जेम्स फर्ग्यूसन ने अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर' मे लिखा है—"इस मन्दिर का कोई एक भाग ही नही, अपितु इसका सारा रूप ही विशेषता-सम्पन्न है। मन्दिर का बासा (पृथ्वीतल) जमीन से बहुत ऊंचा होने से मन्दिर बहुत ऊंचा दिखाई देता है। मन्दिर का प्रत्येक स्तम्भ अलग ढंग से सुसज्जित है। ४२० स्तम्भों मे से एक स्तम्भ की अभिकल्पना (कटाई की डिजाइन) दूसरे स्तम्भ की अभिकल्पना से नहीं मिलती। शिल्पकार की छैनी इतनी खूबसूरती से चली है कि उसने पत्थर मे हाथी-दांत की सी नक्काशी करने मे सफलता प्राप्त की है। जहां तक मेरी जानकारी है, भारतवर्ष मे इस कोटि का कोई दूसरा मन्दिर या भवन नही है जिसमे स्तम्भों पर इतना सुन्दर और प्रभावशाली निर्माण कार्य हुआ हो। मन्दिर के निर्माण के लिए ३७१६ वर्गमीटर जमीन घेरी गई है जो मध्ययुग के योरोपीय मन्दिरों के बराबर है परन्तु कारीगरी और सौन्दर्य मे यह मन्दिर योरोपीय मन्दिरो से कही अधिक बढ़-चढ़ कर है।"

मन्दिर की प्रत्येक शिला और पत्थर पन्द्रहवी शताब्दी की कला का जीवन्त नमूना है। इस अद्वितीय कलातीर्थ की कला का वर्णन करने का सामर्थ्य लेखनी में नहीं। लेखनी साक्षात् दर्शन से हृदय मे उत्पन्न होने वाले आनन्द को अभिव्यक्त नहीं कर सकती है।

अवनितलगतानां कृत्रिमाकृत्रिमाणां,

वनभवनगतानां दिव्यवैमानिकानाम्।

इह मनुजकृतानां देवराजार्चितानां

जिनवरनिलयानां भावतोऽहं स्मरामि॥

जैन सांस्कृतिक गरिमा का प्रतीक बुन्देलखण्ड

श्री विमलकुमार जैन सोंरया

बुन्देलखण्ड भारत का एक ऐसा भू-भाग है जो मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश के लगभग 22 जिलों की सीमा में आता है। भारतीय साहित्य, कला, संगीत, वास्तुकला आदि विविध क्षेत्रों में धर्म एवं संस्कृति की व्यापकता बुन्देलखण्ड में बहुत फलवती हुई है।

सामान्य रूप से इस क्षेत्र ने साहित्य-सेवियों में वाल्मीकि, वेदव्यास, गुणभद्र, भवभूति, मित्रमिश्र, जगनिक, तुलसी, केशव, भूषण, पद्माकर, बिहारी, चन्द्रसखी, ईसुरी, रायप्रवीण, सुभद्राकुमारी, सेठ गोविन्ददास, मैथिलीशरण गुप्त, वृन्दावनलाल वर्मा जैसे शतशः साहित्य-देवताओं को जन्म देने का गौरव प्राप्त किया है—तो शौर्य नक्षत्रों में रणबाकुरे आल्हा-ऊदल, विराटा की पद्मिनी, छत्रसाल, हरदौल, अकलंक, निकलंक, दुर्गावती, रानी लक्ष्मीबाई, चन्द्रशेखर आजाद जैसे सहस्त्रो वीरों को उत्पन्न करने का गौरव लिए है।

सोनागिर, खजुराहो, देवगढ़, चन्देरी, थूबौन, अजयगढ, ग्वालियर, पपौरा, नैनागिरि, कुण्डलपुर, पावागिर, मदनपुर, द्रोणगिर, चित्रकूट, ओरछा, कालिंजर, अमरकंटक, सूर्यमंदिर मीरगेन आदि स्थापत्य-कला के अद्वितीय कलागढ और तीर्थों को अपने अंचल में सजोए बुन्देलखण्ड के शताधिक क्षेत्र आज भी इस भू-भाग की गरिमा को युगों युगों के थपेड़े खाकर जीवित रखे हैं।

संगीत-सम्राट तानसेन, मृदङ्गाचार्य कुदऊ, विश्वजयी गामा, चित्रकार कालीचरण जैसे अगणित रससिद्ध कलावत उपजाकर तथा पन्ना की हीरा खदान, भेड़ाघाट का संगमरमर तथा विन्ध्य शृंखलाओ मे सुरक्षित सोना, चादी, मैंगनीज, तावा, लोहा, अभ्रक आदि खनिज सम्पत्ति के भण्डारो से युक्त आज भी बुन्देलखण्ड भारत की प्रतिष्ठा मे अपना स्थान रखे है।

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से आज तक की सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, आचरणिक, व्यावहारिक आदि विविध आयामो की प्रामाणिक जानकारी के लिए बुन्देलखण्ड भारत मे गौरव का स्थान प्राप्त किए है। यहां शिल्प कला, सस्कृति, शिक्षा, साहस, शौर्य अध्यात्म का धनी, प्रकृति और खनिज पदार्थों का जीता-जागता गढ़ रहा है।

यहां के जनमानस में सदैव आचरण की गंगा प्रवाहित होती रही है। कला और संस्कृति के अद्वितीय गढ़ यहां की गरिमा के प्रतीक बने हैं। यहा का कंकर-कंकर शकर की पावन भावना से धन्य है। विश्व में भारत जहा अपनी आध्यात्मिक गरिमा और संस्कृति-सभ्यता में सदैव अग्रणी रहा है; वहां बुन्देलखण्ड भारत के लिए अपनी आध्यात्मिक परम्परा और संस्कृति मे इतिहास की महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करने मे अग्रसर रहा है। अध्यात्म की प्रधानता हमारे देश की परम्परागत निधि रही है तथा भारतीय सस्कृति मे अध्यात्म की मंगल ज्योति सदैव प्रकाशवान रही है। भारत का दर्शन—साहित्य—मूर्तियां—भाषाए—वास्तुकलाए—शासन व्यवस्थाए सभी में अध्यात्म की आत्मा प्रवाहित है। धार्मिक भावनाओ को शाश्वत बनाए रखने के लिए ही विपुल परिमाण मे मंदिरो और मूर्तियो का निर्माण किया गया है। मंदिरो की रचना और उनमें चित्रित कलाएँ उस युग की सामाजिक और धार्मिक परम्पराओ की ऐतिहासिक साक्षी हैं। हमें प्रामाणिक इतिहास की पुष्टि और संस्कृति का स्वरूप इन्हीं प्रतिमानों से उपलब्ध हुआ है।

बुन्देलखण्ड में स्थपतियों, शिल्पियो, कलाकारों एवं कला-प्रेरकों ने अध्यात्म-प्रधान कृतियां निर्मित कीं। उनका झुकाव प्राय: कला की अपेक्षा परिणामों की ओर विशेष रहा है; अत: कलागत विलक्षणता इने-गिने स्थानों मे ही देखने को मिलती है। आदिम-युगीन एवं प्रागैतिहासिक काल की संस्कृति का जीता-जागता चित्रण यदि भारत में आज भी जीवन्त है तो उसका केन्द्र बुन्देलखण्ड ही है। उस युग के चित्र व कलाएं आज भी मंदिरों एवं गुफाओं में विद्यमान हैं। यहां के प्राय: जैन मंदिर और मूर्तियां, गढ़, गुफाएं, बीजक पट, शिलालेख आदि इस बात के साक्षी हैं, कि भारतीय परम्पराओं में जन-जीवन, सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक परम्परा कहां कब और कितनी फलीभूत एवं पल्लवित हुई है।

ऐतिहासिक दृष्टि से हम आदिम युग से लेकर वर्तमान काल तक भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत श्रमण संस्कृति का पर्यवेक्षण इतिहास-क्रम के आधार पर ६ भागों मे विभक्त कर सकते हैं: (१) प्रागैतिहासिक काल—जो ईस्वी पूर्व ६०० से भी पहले माना गया है—में मंदिरों के निर्माण होने के प्रमाण साहित्य में उल्लिखित हैं: (२) मौर्य और शुंगकाल—ईस्वी पूर्व ५००—मंदिरों का प्रचुर मात्रा में निर्माण कार्य हुआ। इस युग की मुद्राओं पर अंकित मंदिरों के चिह्न इस सत्य के साक्षी हैं। विदिशा, बूढ़ी चन्देरी (बुन्देलखण्ड के ऐतिहासिक स्थल हैं) की खुदाई के समय प्राप्त विष्णु मंदिर, पार्श्वनाथ मंदिर, शान्तिनाथ मंदिर के अवशेष ई० पूर्व २००

वर्ष के हैं। मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि का भी प्रयोग यहां के तीर्थों व शिलापट्टों मे देखने को मिलता है। (३) शक-सातवाहनकाल—ईसापूर्व २०० वर्ष तक इस काल की परिगणना की गई है। इस युग मे जैन मंदिरो का विपुल मात्रा मे निर्माण होना पाया जाता है। इस युग के मंदिरों के अवशेष अनेक प्राचीन स्थलों जैसे सीरोन—मदनपुर—मडखेरा आदि पर आज भी पाए जाते हैं। (४) कुषाणकाल—ईसा की पहली शती से ३ शती तक का काल है। इस युग मे मंदिरो के साथ ही राजाओ की प्रतिमाओं का भी निर्माण हुआ है जिन्हें देव-कुल की संज्ञा से अभिव्यक्त किया जाता था। इस काल के मंदिर भारत मे मथुरा, अहिक्षेत्र, कम्पलजी, हस्तिनापुर में हैं तथा बुन्देलखण्ड में तो इस युग की प्रतिमाएं अनेक जगह पाई जाती हैं। (5) गुप्तकाल—ईसा की चौथी से छठी शताब्दी तक का समय है। इस काल में मंदिरों की कला-कृति सुन्दरता के रूप में प्रतिष्ठित हुई। बुन्देलखण्ड के तीर्थों मे देवगढ़—चन्देरी—मदनपुर—सीरोन—मडखेरा आदि स्थानों में इस युग के मंदिर पाए गए हैं। द्वार-स्तम्भो की सजावट, तोरण द्वार पर देवमूर्तियो, लघुशिखर एवं सामान्य गर्भ-गृह से युक्त मंदिर इस युग की शैली के प्रतिमान रहे हैं। विशिष्ट प्रकार की मूर्तियों का निर्माण इस युग की विशेषता है जो प्राय: बुन्देलखण्ड के अधिकांश प्राचीन तीर्थस्थलों मे मिलती है। (६) गुप्तोत्तरकाल—ईसा की ७वी शताब्दी से १८वी शताब्दी तक के समय का इस श्रेणी में समाहार करते हैं। वर्द्धन काल—गुर्जर प्रतिहारकाल—चन्देली शासन काल—मुगलमराठा काल एवं अंग्रेजी शासन काल तक का समय गुप्तोत्तर काल में परिगणित किया गया है। इस युग मे मंदिरो के शिखर की साजसज्जा को विशेष महत्त्व दिया गया है। इस काल में चार प्रकार की शैली मुख्य रूप से प्रचलित हुई—(अ) गुर्जर प्रतिहार शैली—इस शैली के अन्तर्गत निर्मित मंदिरों के भीतर गर्भ-गृह और सामने मण्डप बनाया जाता था। कला और स्थापत्य की पर्याप्त सवृद्धि इस समय हुई। प्राय: अधिकांश जैन तीर्थ इसके साक्षीभूत प्रमाण हैं। (ब) कलचुरी शैली—इसमे मंदिरो के बाहरी भागों की साज-सज्जा विशेष रूप से पाई जाती है। मंदिरों के शिखर की ऊंचाई भी बहुत होती है। इस शैली के मंदिरो की बाह्य भित्ति कला अपने आप में अद्वितीय है। खजुराहो तो इस कला का गढ़ ही है। (स) चन्देल शैली—इसमे मंदिरों की शिखर-शैली उत्कृष्ट रूप मे प्राप्त हुई है। रतिचित्रों का विकास भी इस शैली के मंदिरों में हुआ है जो मंदिर की बाह्य भित्तियो पर गढे गए हैं। इस शैली के मंदिर चन्देरी—खजुराहो—देवगढ़ आदि में पर्याप्त मात्रा में स्थित हैं। (द) कच्छपघात शैली—इस शैली के मंदिर कला के अद्वितीय नमूने है। मंदिर के प्रत्येक भाग पर कला की छटा दिखाई पड़ती थी।

काल-विभाजन के इस क्रम मे भारतीय संस्कृति के साथ श्रमण संस्कृति और कला का निरन्तर विकास हुआ है। बुन्देलखण्ड के जैनतीर्थों की वास्तुकला के अध्ययन की दृष्टि मे कोई ठोस प्रयत्न नही हुआ। प्रागैतिहासिक काल से लेकर गुप्तोत्तर काल तक यहाँ की कला में जैन संस्कृति की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती रही है। भारत मे मूर्तिकला की गरिमा बुन्देलखण्ड मे देखने को मिलती है। मूर्तिकला के सर्वोत्कृष्ट गढ और मूर्ति-निर्माण के केन्द्रस्थल बुन्देलखण्ड मे ही विद्यमान हैं। यहां की मूर्तिकला एक-सी नहीं है। भिन्न-भिन्न स्थानो पर भिन्न-भिन्न प्रकार की मूर्तिकला के उत्कृष्ट रूप बने है। अनेक प्रकार की, आसनों सहित स्वतंत्र तथा विशालकाय, शिलापट्टो पर उकारित मूर्तिया बहुधा इस क्षेत्र मे उपलब्ध हैं। कुछ मूर्तियाँ आध्यात्मिक और कुछ मूर्तियां लौकिक दृष्टि से निर्मित हुई हैं। लौकिक दृष्टि से निर्मित मूर्तियाँ कला के बेजोड नमूने हैं। उनसे सामाजिक रहन-सहन, आचार-विचार तथा प्रवृत्तियाँ एवं भावनाओ का तलस्पर्शी परिज्ञान होता है। भारत की मूर्ति-कला में बुन्देलखण्ड का योगदान सर्वोत्कृष्ट है। विभिन्न देवी-देवताओं की तुलना मे जैन तीर्थकरों की मूर्तिया बहुत बडी सख्या मे उपलब्ध हैं। जैन मूर्तियों के चतुर्विंशतिपट्ट, मूर्ति अंकित स्तम्भ एवं सहस्रकूट शिलापट्ट प्राय: इस क्षेत्र मे अनेक जगह है। देव-देवियो, विद्याधरो, साधु-साध्वियो, श्रावक-श्राविकाओं, युग्मों, प्रतीको, पशु-पक्षियो के साथ प्रकृतिचित्रण, आसन और मुद्राए इस क्षेत्र मे कला के अद्वितीय नमूने हैं। इन आयामों से हम कला के विभिन्न विकास-क्रमों का अध्ययन प्राप्त कर सकते हैं। सामाजिक और धार्मिक चेतना के पुञ्ज-रूप इन गढ़ों ने जैन संस्कृति की समुन्नति मे बहुत बड़ी भूमिका निभाई है। बुन्देलखण्ड के ऐसे शताधिक पुरातन क्षेत्र हैं जहां वास्तुकला के वर्णित आयामों का स्वरूप-दर्शन हमें मिलता है। बुन्देलखण्ड के इन ऐतिहासिक पुरातन क्षेत्रो मे मुख्य हैं देवगढ़, बूढ़ीचन्देरी, खजुराहो, विदिशा, बरुआसागर, मडखेरा, कन्नौज, नौहटा, बिर्नका (सागर) पाली, त्रिपुरी, अमरकटक, सोहागपुर, बानपुर, पचराई, कुण्डलपुर, बालाबेहट, बजरंगढ़, पवा, पचराई, डिठला, रखेतरा, आमनचार, गुर्जलकागिरि, चर्णगिरि, नारियलकुण्ड, धुबौन, अहार, पपौरा, चन्देरी, झाँसी संग्रहालय, पावागिर, धावल, मदनपुर, द्रोणगिर, रेसंदीगिर (नैनागिर), मिसई, उर्दमऊ, कोनीजी, नवागढ, पाटनगंज, करगुंवा, सोनागिर, क्षेत्रपाल (अतारा), क्षेत्रपाल (महरौनी), क्षेत्रपाल (ललितपुर), भोएरा (वधा), भोंएरा (ललितपुर), व्यारस पुर, दूबई, चांदपुर, सीरोन (ललितपुर), सीरोन, (मडावारा), गिरार, बडागाव (धसान), सेरोन; काटीतराई, बिलहरी, पठारी, भेडाघाट, त्रिपुरी, ग्वालियर किला, शिवपुरी, आदि। इनसे हमें जैन संस्कृति और कला का व्यापक रूप से अतुल भण्डार देखने को मिला है।

आशा है, पुरातत्त्व के परिप्रेक्ष्य मे भारतीय संस्कृति के अध्ययन की पर्याप्त प्रामाणिक निधि उपर्युक्त स्थलो पर प्राप्त करने के लिए पुरातत्त्व अन्वेषक अपने पुण्य प्रयास साकार करेंगे।

मालवा की परमारकालीन जैन प्रतिमाएं

डॉ० (श्रीमती) मायारानी आर्य

मालवा क्षेत्र मे परमार-काल में शैव तथा वैष्णव धर्म के साथ ही साथ इस वैभवशाली भूमि मे जैनधर्म का प्रचार-प्रसार भी अपनी दिशा में निरन्तर प्रगति की ओर बढ़ता रहा। जैन मंदिरो की स्थापना कर उनमें तीर्थंकरो की प्रतिमाएं भी प्रतिष्ठापित की गई। एक जैन पट्टावली[1] के अनुसार ५६वें जैनाचार्य मधचन्द्र ने उज्जैन से १०८३ ई० मे जैन धर्म का प्रचार किया था व पश्चिमी मालवा मे उनके प्रभाव से अनेक श्रेष्ठि वर्ग ने दान देकर इन मंदिरों का निर्माण करवाया था। मालवा के जैनाचार्यों मे अमितगति, महासेन, धनपाल, जिनदत्त, परमार राजा वाक्पति मुंज जैन ग्रंथो व जैन मंदिरो के निर्माण मे प्रसिद्ध हैं।[2]

बारहवी शताब्दी के मध्य श्री देवधर उज्जैन के जैनसंघ के प्रमुख आचार्य थे जिन्होने मालवा मे जैन मंदिरो के निर्माण मे योगदान दिया।[3]

भोजपुर[4] मे आदिनाथ की 20 फीट ऊंची प्रतिमा प्राप्त हुई है जिसके वाहन व यक्षिणी चक्रेश्वरी से पहचान की गई है। भोज के समय शान्तिनाथ की प्रतिमा सागरनंदि ने स्थापित करवाई थी।[5] इसी स्थान पर नरवर्मन के शासनकाल मे चिल्लन नामक व्यक्ति ने पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित करवाई थी।[6] वैसे यह भोजपुर के जैन मंदिर मे है और उसकी चौकी पर संवत् ११५७ (११०० ई०) के लेख में नेमिचन्द्र के पौत्र तथा श्रेष्ठिन् राम के पुत्र चिल्लन के द्वारा दो जिन तीर्थंकरो की प्रतिमा स्थापित करने का उल्लेख है।

समरांगण सूत्र के अनुसार तीर्थंकरो की प्रतिमा शास्त्रीय विन्यास की दृष्टि से आजानुबाहु, श्री वत्सलाछन, सौम्य एव शान्त, नग्न रूप, तरुणावस्था व विशिष्ट वृक्ष से सबंधित रहती थी।[7] यही शास्त्रीय रूप प्रकल्पित था। दशपुर से अजितनाथ, सुमतिनाथ, शीतलनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ की वाहनयुक्त प्रतिमाए और यक्षिणी पद्मावती की प्रतिमाएं मिली हैं। गंधावल[8] व ऊन[9] मे इस काल की तीर्थंकर प्रतिमाए प्रतिष्ठित हैं।

उज्जैन से प्राप्त ध्यानावस्थित महावीर के प्रतिमा-फलक मे ऊपर वादक-गण संगीत के वाद्य लिये प्रसन्नता व्यक्त कर रहे है। एक आकृति नृत्य-मुद्रा मे है, शेष सब बाँसुरी, तुरही व घड़ियाल बजा रहे है। इन सबका अकन रचना-विन्यास की दृष्टि से कलात्मक है। यहां विमलनाथ, अभिनन्दननाथ व पार्श्वनाथ की कुछ प्रतिमाओ पर वि० स० १११३-१११६ के लेख उत्कीर्ण हैं।

करेडी से ११वी शताब्दी की नेमिनाथ की प्रतिमा मिली है। इसी प्रकार की आदिनाथ की प्रतिमा भी इसी काल को मिली है। इसके गोमुखी यक्ष व चक्रेश्वरी यक्षिणी अलंकरणयुक्त हैं। यही से शान्तिनाथ की एक अन्य प्रतिमा संवत् १२४२ (११६४ ई०) की भव्य एवं सुन्दर कलायुक्त रूप मे प्राप्त हुई है। ऊन से श्रेयांसनाथ की गेंडा वाहन वाली प्रतिमा अभिलेखिक आधार

---

१. इंडि० एण्टि, भाग २० व २१, पृष्ठ-५८
२. तिलकमंजरी, पृ० १०२
३. आ० स० ई० १६२७-२८, पृष्ठ-४८
४. वही, १६३५-३६, पृ० ८३
५. इपि० इंडि० भाग, ३५, पृष्ठ १८५
६. वही, भाग ३५, पृष्ठ १८६
७. समरांगण सूत्रधार, ५०, १०
८. आ० स० ई०, १६१८-१६ पृ० २२
९. इंडि०, एण्टि, भाग ११, पृष्ठ २५५

पर परमारकालीन है। बदनावर से प्राप्त एक मूर्ति-फलक पर प्रमुख नेमिनाथ हैं व पद्मासन मुद्रा में अन्य चार तीर्थंकर हैं जो प्रशंसनीय हैं।

बड़ोह, ग्यारसपुर, सुहानिया, भेलसा, गंधावल, आष्टा तथा बडवानी मे अनेक जैन भग्न मंदिर व मूर्तियां मिलती हैं। बावन गज की ऊँचाई की विशाल महावीर प्रतिमा का निर्माण वि० सं० १२३३ मे बड़वानी मे हुआ। यहा परमार काल मे निर्मित आदिनाथ, संभवनाथ, पद्मप्रभ, चन्द्रनाथ, वासुपूज्य, शांतिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ और पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ हैं जिन पर अभिलेख हैं।

गंधावल[1] की जैन देवियों मे पद्मावती, मानवी, प्रचण्डा, अंबिका व अशोका प्रसिद्ध हैं। ऊन[2] से भी इस प्रकार की मूर्तियां मिली हैं। बदनावर की अश्वारोही मानवी देवी, उज्जैन की अम्बिका तथा पद्मावती प्रतिमाएं विशेष आकर्षक हैं। बदनावर की अभिलेख युक्त चार जैन देविया प्राप्त हुई हैं। इन पर निर्मलादेवी, सिद्धायिका देवी, अकुशा और प्रचण्डा लिखा है जिन पर संवत् १२२६ वैशाख बदी का अभिलेख है। धारड़ा से अष्टभुजी देवी की प्रतिमा वि० स० १२२७ की प्राप्त हुई है। यह जैन देवी एक वृक्ष को पकड़े हुए है, दाहिने भाग मे एक बैल है जिससे अनुमान है कि आदिनाथ की यक्षिणी चक्रेश्वरी हो। आष्टा, मक्सी, पचौर व सखेटी से पद्मावती और चक्रेश्वरी की प्रतिमाएं मिली हैं। दशपुर की पद्मावती अपने मूर्तिशिल्प मे विशेष आकर्षक बन पड़ी है।

इन जैन देवियों मे सरस्वती (पचौर से प्राप्त) और सुतरादेवी की प्रतिमाए भी महत्त्वपूर्ण कलाकृतियां हैं। अच्युतादेवी की एक मूर्ति बदनावर से प्राप्त हुई है। देवी अश्वारूढ तथा चतुर्हस्ता है। वाम हस्त मे ढाल पकड़े हैं और एक से बल्गा थामे हैं। इसके दो हस्त भग्न हैं। देवी के गले व कानों मे अलंकार है। ऊपर बिम्ब मे तीन जिनप्रतिमाए हैं और चारों कोनों पर भी छोटी-छोटी जैन तीर्थंकरों की चार आकृतियां हैं। प्रतिमा ३ फुट ६ इच ऊंची है। चरण-चौकी के लख (संवत् १२२६ वैशाखबदी) के अनुसार अच्युता देवी को कुछ कुटुम्बो के व्यक्तियो ने वर्द्धमानपुर के शांतिनाथ चैत्यालय में प्रतिस्थापित किया था। उज्जैन की चक्रेश्वरी प्रतिमा में बिम्ब-फलक पर तीर्थंकर हैं। देवी चक्रेश्वरी पुरुषाकृति-गण पर आसीन है व नीचे अष्ट पुरुष आकृतियां हैं जो अष्ट दिक्पाल की हैं। नीमथूर, मोड़ी, रिंगनोद, जीरण, कुसई (मदसौर), सोनकच्छ, गोदलमऊ; ईसागढ़, नरवर से भी परमारकालीन जैन देवियों व तीर्थंकरों की प्रतिमाएं मिली हैं।[3]

जिनप्रभसूरिकृत "विविध-तीर्थकल्प"[4] मे दशपुर, कुडगेश्वर, मगलापुर मे सुपार्श्व और भाइलस्वामीगढ़ मे महावीर-प्रतिमाओं के स्थल बतलाये गये हैं। बाद में आकर बडवानी, उज्जैन, मक्सी, बनेडिया आदि ऐसे स्थान थे जिनका जैन-तीर्थ-रूप में महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया था। इस प्रकार मालवा मे परमारकालीन शासको ने शैव व वैष्णव धर्म के साथ-साथ जैन धर्म व जैन कला का पूर्णतः विकास किया।

भारतीय इतिहास मे परमार शासको को सर्वधर्म सद्भाव का प्रतिनिधि माना जाता है। भारतीय लोककथाओं का नायक मुंज राजा सीयक का पुत्र था। राजा सीयक ने अपने जीवन के अन्तिम काल मे एक जैनाचार्य से मुनि दीक्षा ग्रहण की थी। महाराज भोज के युग मे धारा नगरी दिगम्बर जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र बन गई थी। आचार्य अमितगति, माणिक्यनन्दि, नयनन्दि, प्रभाचन्द्र आदि न भोजराज से सम्मान प्राप्त किया था। गुलामवंश के शक्तिशाली सम्राट् शमशुद्दीन अल्तमश की धर्मान्ध एवं शक्तिशाली सेना से पराजित हो जाने के उपरान्त भी राजा देवपाल ने शक्ति-संग्रह करके सभी धर्मों के प्रति समादर भाव प्रदर्शित करके राष्ट्र को एकसूत्र मे बांधने का मंगल मंत्र दिया था। उस विकट काल मे धर्मान्ध शासक भारतीय मन्दिरों को निर्दयता से गिरा रहे थे। किन्तु विध्वंस के इस महानर्तन में भी परमार शासकों के संरक्षण के कारण पं० आशाधर, दामोदर कवि इत्यादि अनेक महत्त्वपूर्ण धर्मग्रन्थों का प्रणयन करते रहे।

☐ सम्पादक

१. आ० स० इं०, १६३५-३६, पृ० ८३

२. वही, १६१८-१६, पृष्ठ १०; प्रो० रि० आ० सं० इं० वे० स०, १६१६ पृष्ठ ८४

३. मालवा के जैन पुरावशेष—श्री महावीर स्मारिका, १६७६, पृष्ठ, ८२-८५

४. विविध-तीर्थकल्प, ३२, ४७' ८५

जैनधर्म में देवियों का स्वरूप

डॉ० पुष्पेन्द्र कुमार शर्मा

जैनधर्म प्रमुखतया मन्दिरों का धर्म है अर्थात् मन्दिर में उपासना हेतु जाना जैनधर्म का एक प्रमुख अंग है। मन्दिर ही जैनधर्म के संग्रहालय हैं। अतएव भारत में असंख्य जैन-मन्दिर उपलब्ध होते हैं। जैन साधक मूर्तियों को घरों में स्थापित नही करते, परन्तु मन्दिरों में ही जाकर पूजा करते हैं। जैन-मन्दिरों मे देवताओं, तीर्थङ्करों, देवियो, यक्षों आदि की मूर्तिया स्थापित की जाती हैं। देवताओं की मूर्तिस्थापना सम्भवतः हिन्दूधर्म का प्रभाव हो क्योंकि हम यह देखते हैं कि सारे हिन्दू देवी-देवताओं को जैन-धर्म में स्थान मिला है।

जैनधर्म में छठीं और सातवीं शताब्दी के उपरान्त देव-समुदाय एक बहुत बड़े स्तर पर विकसित हो चुका था। मूर्तियो की निर्माणविधि, प्रतिष्ठा आदि विषयों पर यथेष्ट मात्रा में ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। पूजित देवताओं मे कुछ देवताओ की पूजा केवल श्वेताम्बर सम्प्रदाय या दिगम्बर सम्प्रदाय तक ही सीमित रही है। जैनधर्म मे देवियों का भी एक बहुत बड़ा वर्ग उपलब्ध होता है। इनमें से कुछ श्वेताम्बर पन्थ की हैं, इन देवियों के नाम, लक्षण, पूजाविधि भिन्न हैं और कुछ दिगम्बर सम्प्रदाय की देवियां हैं जिनकी पूजाविधि, नाम, लक्षण और स्वरूप भिन्न हैं।

जैनधर्म के प्राचीन ग्रन्थो में देवियों को तीन वर्गों मे विभाजित किया गया[1]—

१. प्रासाद देवियाँ —जिन देवियों की मूर्तियाँ मन्दिरों मे प्रतिष्ठापित हैं तथा सर्वत्र मिलती हैं।

२. कुल देवियाँ—ये तान्त्रिक देवियाँ जिनको भक्तलोग अपने-अपने कुल देवता के रूप में पूजते हैं एवं जिनकी पूजा गुरु द्वारा प्रदत्त मन्त्रों द्वारा की जाती है। चण्डी, चामुण्डा आदि कुलदेवियां हैं।

३. सम्प्रदाय देवियाँ—किसी सम्प्रदाय की देवियाँ या जाति-विशेष की देवी अम्बा, सरस्वती, गौरी, त्रिपुरा, तारा आदि देवियाँ इस वर्ग में आती हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह विभाजन सैद्धान्तिक नहीं है परन्तु इससे यह अवश्य ज्ञात होता है कि तान्त्रिक देवियाँ जैनधर्म में प्रवेश पा गई थीं और पूजा की वस्तु थीं। ये तान्त्रिक देवियाँ—काली, चामुण्डा, दुर्गा, ललिता, कुरुकुल्ला, कालरात्रि आदि केवल श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ही प्रचलित रहीं।

जैनधर्म में मूर्तिलक्षणों के आधार पर देवियों के तीन वर्ग किये जा सकते हैं—

१. शासन देवियाँ—ये देवियाँ जैनधर्म या संघ का पालन करती हैं, भक्तों के विघ्न नाश करती हैं एवं मन्दिरों में मे तीर्थंकरों के साथ इनकी मूर्तियाँ मिलती हैं। ये २४ होती हैं। चक्रेश्वरी, अम्बिका आदि इनमें प्रमुख हैं।[2]

२. विद्या देवियाँ—ये विद्या की अधिष्ठात्री देवता हैं। इनकी संख्या सोलह बतलाई गई है। इन्हें श्रुतदेवियाँ भी कहा जाता है। इनमें सरस्वती, काली, ज्वालामालिनी आदि प्रमुख हैं।

३. यक्षिणी देवियाँ—जैनधर्म में यक्षों एवं यक्षिणियों का देव पद स्वीकृत किया गया है। ये अधिकतर धन की देवियाँ हैं। इनमें भद्रकाली, भृकुटी, तारा आदि प्रमुख हैं।

---

१. तत्र देव्यस्त्रिधा प्रासाददेव्यः संप्रदायदेव्यः कुलदेव्यश्च। प्रासाददेव्यः पीठोपपीठेषु गुहास्थिता भूमिस्थिता प्रासादस्थिता लिंगरूपा वा स्वयम्भूतरूपा वा मनुष्यनिर्मितरूपा वा। संप्रदायदेव्यः अम्बासरस्वती—त्रिपुराताराप्रभृतयो गुरूपदिष्टमन्त्रोपासनीयाः। कुलदेव्यः चण्डीचामुण्डाकण्टेश्वरीव्याघ्रराजीप्रभृतयः।

२. या पाति शासनं जैनं संघप्रत्यूहनाशिनी।
साभिप्रेतसमृद्धयर्थं भूयाच्छासनदेवता॥ —(हेमचन्द्र)

इन देवियों की मूर्ति का निर्माण करते हुए कलाकार देवी के वर्ग का पूरा-पूरा ध्यान रखते थे। अर्थात् शासनदेवी, विद्यादेवी या यक्षिणी के लक्षण या चिह्नों का स्पष्ट एवं सूक्ष्मतर विवेचन प्रस्तुत किया जाता था। मूर्तियाँ मथुराकाल से लेकर आजतक उपलब्ध होती रही हैं। मूर्तिकला को जीवित रखने का सतत प्रयास कलाकारों ने किया है। इनमे से बहुत-सी देवियाँ तो हिन्दू देवियों के समान ही हैं और कुछ देवियों ने जैनधर्म की स्पष्ट छाप रखते हुए भी हिन्दू देवियों के नाम, रूप और आयुध आदि धारण किये हैं। बहुतसी मूर्तियाँ मूर्तिकला की दृष्टि से भव्यतम कलाकृतियाँ हैं।

जैन मतानुयायी तीर्थङ्करों के साथ ही साथ अन्य देवी-देवताओं की भी पूजा करते हैं। इनमे प्रमुख हैं—सरस्वती, अम्बिका और पद्मावती। इसी नाम की हिन्दू देवियों से भिन्नता दिखलाने के लिए इनको विभिन्न तीर्थङ्करों के साथ-साथ सम्बद्ध कर दिया गया है। देवी के मुकुट पर उसी तीर्थङ्कर की प्रतिमा होती है जिसके साथ वह सम्बद्ध होती है। इन मूर्तियों के निर्माण मे शास्त्रीय विधियों का पालन करते हुए भी कलात्मकता का पूर्ण ध्यान रखा गया है। ये मूर्तियाँ उच्च भावात्मक कला, भंगिमा एवं अभिव्यक्ति का उदाहरण हैं। कुछ देवियाँ केवल तान्त्रिक देवियाँ हैं।

सरस्वती— सरस्वती देवी की मूर्तियाँ तीन प्रकार की उपलब्ध होती हैं—दो भुजावाली देवी, चतुर्भुजी देवी एवं चार से अधिक भुजाओं से युक्त। मुख्य रूप से सरस्वती देवी के हाथ मे पुस्तक होती है एवं हंस को उसका वाहन दिखलाया गया है। एक बहुत ही सुन्दर सरस्वती की मूर्ति सिरोही स्टेट राजस्थान के एक जैन मन्दिर से प्राप्त हुई है। इसका समय लगभग आठवीं शताब्दी माना जाता है। इसमें सरस्वती देवी पद्मासन पर स्थित है तथा उसके दोनो हाथों मे कमल सुशोभित हो रहे हैं।[1]

राजपूताना संग्रहालय में एक पत्थर की सरस्वती मूर्ति बहुत ही सुन्दर है जो बाँसवाड़ा राज्य से प्राप्त की गई है। देवी की चार भुजाएँ हैं। बायी भुजाओं मे पुस्तक एवं वीणा है तथा दायी भुजाओं मे माला एवं कमल सुशोभित हैं। मुकुट में एक छोटे आकार की शिवमूर्ति जड़ी हुई है। एक छोटी संगमरमर की सरस्वती मूर्ति अचलगढ़ से प्राप्त हुई है। इसमे चार भुजाओं वाली देवी के ऊपर के दोनों हाथों मे वीणा और पुस्तक है तथा निचले हाथो में माला व कमण्डलु है। देवी इसमे मयूरवाहन हैं।[2]

इसी प्रकार सरस्वती की एक बहुत ही सुन्दर प्रतिमा बीकानेर से प्राप्त हुई है जिसे मध्यकालीन मूर्तिकला का भव्यतम उदाहरण कहा जा सकता है। यह सफेद संगमरमर पर बनी है एवं सौम्यस्वरूपा है। देवी की चार भुजाएँ हैं। इनकी ऊपर वाली भुजाओं मे कमल एवं पुस्तक है और निचली भुजाओ में कमण्डलु और मुद्रा। देवी खड़ी हुई हैं। सरस्वती देवी की बहुत ही सुन्दर प्रतिमाएँ आबू के जैन मन्दिर में भी प्राप्त होती हैं। चार भुजाओं वाली देवी के हाथो मे वीणा, पुस्तक, माला और कमल अंकित हैं। इसी मन्दिर (विमल वसही) मे सरस्वती की सोलह भुजा वाली प्रतिमा भीतरी छत पर अंकित की गई है। यह विद्या की देवी हैं, भद्रासन में स्थित हैं, दोनों तरफ नृत्य करते हुए परिचारक खड़े हैं। आठ भुजाओं के विषय दृष्टिगोचर होते हैं—शेष पहचान मे नहीं आते हैं। सिंहासन में हंस की प्रतिमा दिखाई दे रही है। इसी प्रकार तेजपाल द्वारा निर्मित मन्दिर मे सरस्वती की सुन्दर प्रतिमा विद्यमान है। भद्रासन पर बैठी हुई देवी के हाथों मे पुस्तक के स्थान पर कमण्डलु प्रदर्शित किया गया है।

मथुरा से प्राप्त जैनस्तूप मे सरस्वती और अम्बिका की प्रतिमाएँ मिली हैं। सरस्वती की मूर्ति का शिर विद्यमान नहीं है। बहुत ही कलात्मक वस्त्र पहने हुए हैं। दोनो तरफ एक-एक परिचारिका विद्यमान है। इससे यह ज्ञात होता है कि बड़े प्राचीन काल से जैनधर्म में सरस्वती की पूजा होती रही है। वैसे भी विद्यादेवियो की पूजा जैनधर्म की अपनी विशेषता है। १६ विद्यादेवियाँ या श्रुतदेवियाँ केवल जैन देव-परिवार मे ही प्राप्त होती हैं।[3]

सरस्वती वीणापुस्तकधारिणी तथा हंसवाहना है। यह हिन्दू सरस्वती देवी के समान ही है। केवल जिन मूर्ति मुकुट में होने पर जैन देवी है ऐसा प्रकट होता है।

अम्बिका देवी—इस देवी की पूजा बड़े प्राचीन काल से जैन लोग करते रहे हैं। यह देवी जैन आम्नाय की देवी स्वीकार की गयी है, जिस प्रकार बौद्धों की तारादेवी हैं। यद्यपि २२वें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ के साथ इन्हें सम्बद्ध माना जाता है किन्तु सभी तीर्थंकरों के साथ इनकी प्रतिमाएँ उपलब्ध होती हैं। मथुरा में इनकी सबसे प्राचीन मूर्ति प्राप्त हुई है। यह मूर्ति लाल पत्थर की है। श्री जिनप्रभ-

1. Progress report of archaeological survey, West region – 1905-1906, page 48
2. Jainism in Rajasthan : K.C. Jain, p.133
3. श्रुतदेवता शुक्लवर्णा हंसवाहना चतुर्भुजा वरदकमलान्वितदक्षिणकरा पुस्तकाक्षमालान्वितवामकरा चेति।
   पुस्तकाक्षमालिकाहस्ता वीणाहस्ता सरस्वती।

सूरि अपने विविधतीर्थकल्प में इनको मथुरा तीर्थ की अधिष्ठात्री देवी मानते हैं तथा सिंहवाहिनी बताते हैं। इनके हाथ मे प्राय: आम्रलता एवं बालक विद्यमान रहते हैं। एलोरा की प्रसिद्ध गुफाओं में भी अम्बिका देवी की बहुत-सी मूर्तियां गढ़ी हुई हैं। अम्बिकाजी की विशाल मूर्ति आम्र वृक्ष के नीचे बैठी हुई दिखलाई गई है। श्री नेमिनाथ उनके मुकुट पर विराजमान हैं। सिंह भी विद्यमान है तथा आम्र के वृक्ष पर मयूर दृष्टिगत होता है।

जैन आचार्यों एवं भक्तो ने समय-समय पर विभिन्न उद्देश्यों के लिए अम्बिका देवी की आराधना की है। कभी शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने के लिए, कभी अपना सिद्धान्त स्थापित करने के लिए और समाज मे सफलता के लिए इनकी पूजा की जाती रही है। अम्बिका देवी की प्राचीन मूर्तियाँ नवमुनि गुफाओ, खण्डगिरि की गुफाओं एवं धाङ्क (काठियावाड) मे प्राप्त होती हैं। डॉ० साकलिया के अनुसार इनका काल तीसरी या चौथी शताब्दी माना जा सकता है। सरस्वती और अम्बिका की इन प्राचीन मूर्तियो की विशेषता यह है कि ये दोनों देवियां स्वतन्त्र देवता के रूप में प्राप्त होती हैं। शासन देवता या गौण देवता के रूप में नही। इन दोनो देवियों की पूजा प्राचीन काल से चली आ रही है। इनका वाहन सिंह दिखलाया गया है। दसवी शती की एक धातु मूर्ति अम्बिका देवी की प्राप्त हुई है। उनकी बायी भुजा में बच्चा है एवं दायी मे... ..है। बारहवी शताब्दी की एक विशाल मूर्ति मोरखाना से प्राप्त हुई है। इसमें देवी सिंहवाहिनी प्रदर्शित हैं। प्रतिमालक्षण की दृष्टि से ये निश्चित रूप से जैनदेवी कही जा सकती हैं। मूर्तिकला का सुन्दर नमूना है। नरैना के मन्दिर में अम्बिका की तीन मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। इनमे देवी सिंह पर बैठी हुई हैं। चौदहवीं शती की धातुमूर्ति जयपुर में सुरक्षित है। देवी सिंह पर आरूढ हैं एव शिशु उनकी गोद मे है। तमिलनाडु के जैन मन्दिर में विशाल तथा मध्यभाग में स्थित देवी प्रतिमा है। सिर पर मुकुट और कानो में कुण्डल शोभित हैं। सिंह पर बैठी हुई हैं, दो भुजाएँ हैं। एक हाथ से किसी बालिका का स्पर्श कर रही हैं तथा दूसरे में गुच्छा है। चारण पर्वत पर भी अम्बिका की मूर्ति मिली है। यह एक विशाल मूर्ति है, दो भुजाएँ, सिंह आदि सभी कुछ है। कहीं-२ इस देवी को नेमिनाथ की यक्षिणी भी बतलाया गया है। प्रारम्भिक काल मे तमिलनाडु मे इस देवी की काफी पूजा होती रही है। जैन चित्रकला में भी अम्बिका देवी के बहुत अच्छे चित्र उपलब्ध होते हैं। पद्मावती, ज्वालामालिनी आदि देवियो के २०० वर्ष पुराने सुन्दर चित्र जैन भाण्डागारो मे सुरक्षित हैं।

विमलशाह के प्रसिद्ध जैनमन्दिर मे २० भुजाओं वाली अम्बिका देवी की मूर्ति भीतरी छत पर विद्यमान है। ललितासन में देवी सिंह पर आरूढ़ हैं। उनकी भुजाओं में खड्ग, शक्ति, सर्प, गदा, ढाल, परशु, कमण्डलु, अभयमुद्रा और वरदमुद्रा दीख रही हैं। शेष भुजाओं के पदार्थ टूटे हुए होने के कारण पहचान में नहीं आते हैं। देवी ने सिर पर मुकुट, कानों मे कुण्डल, गले में मोतियों की माला, कमर में करधनी, हाथों में कंगन, पैरों मे नूपुर, अधोवस्त्र (साड़ी) और दुपट्टा धारण किया हुआ है।

ज्वालामालिनी देवी—यह यक्षिणी है और आठवें तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभ के साथ रहती है। इसकी पूजा दिगम्बर सम्प्रदाय में की जाती है। भैंस इसका वाहन है, आठ भुजाएँ हैं जिनमें आयुध हैं। इनके वर्णन के अनुसार यह ज्वालारूप है। दो हाथों में सर्प तथा आयुध होते हैं। कर्नाटक में एक जैन मन्दिर बेलगोला में चन्द्रप्रभ के साथ ज्वालामालिनी की प्रतिमा है। केवल दो भुजाएँ हैं एवं सिंह इनका आसन है।

जैन देवसमुदाय मे ज्वालामालिनी या महाज्वाला नाम की एक देवी हैं। यह देवी भी भैंसे पर बैठती हैं तथा इनकी आठों भुजाओं में आयुध होते हैं। पोन्नूर (तमिलनाडु) में एक जैन मन्दिर में इस देवी की मूर्ति है। देवी की आठ भुजाएँ हैं जिनमे से दाएँ हाथों में चक्र, अभयमुद्रा, गदा एवं शूल हैं और बायी भुजाओं मे शंख, ढाल, कपाल और पुस्तक विद्यमान हैं। मुखमण्डल ज्वालामय दिखलाया गया है। यह मूर्ति हिन्दुओं की महाकाली से काफी समानता रखती है। मद्रास मे यह प्रचलित है कि जैनमुनि हेलाचार्य (नवम् शती) ने ज्वालामालिनी देवी की पूजा प्रचलित की थी। नीलगिरि पर्वत पर अग्नि देवी की स्थापना की गई है। इस देवी के मन्त्र और कल्प स्वतन्त्र रूप से लिखे गये हैं। इस देवी की पूजा प्राय: तान्त्रिक विधि से होती रही है और यह यक्षिणी पूजा का प्रारम्भ कराती है। नरसिंहपुर के मन्दिर में ज्वालामालिनी की प्रतिमा अष्टभुजा आयुधधारिणी मिलती है। इस देवी की कर्नाटक में पूजा अधिक प्रचलित है।

सिद्धायिका देवी (यक्षिणी)—तमिलनाडु में प्राप्त मूर्तियों मे एक स्त्री देवता को युद्ध करते हुए दिखलाया गया है तथा वह सिंह पर आसीन है। उसके दो हाथों में धनुष बाण हैं और शेष दो में दूसरे आयुध हैं। देवी के सिंह ने शत्रु के हाथी को धराशायी किया हुआ है। यह सिद्धायिका नाम की यक्षिणी है जो महावीर जी की रक्षा में तत्पर रहती है। इनकी एक मूर्ति अन्नामलाई स्थान से भी प्राप्त हुई है।

पद्मावती देवी—इस देवी की पूजा प्राचीन काल से कर्नाटक में होती आ रही है। नवीं-दसवीं शताब्दी ई० के उत्तरवर्ती शिलालेखों एवं प्रतिमाओं से इस तथ्य की प्रामाणिक पुष्टि होती है। यद्यपि यह पार्श्वनाथ की यक्षिणी है फिर भी स्वतन्त्र रूप से भी इस

देवी की पूजा होती रही है। 'पद्मावती-देवी-लब्ध-वर-प्रसाद' जैसे विशेषण मिलते हैं। कुछ लोग इसकी मान्यता द्वितीय शताब्दी से मानते हैं, परन्तु इसके व्यापक प्रभाव के प्रमाण प्राय: दसवीं से १५वीं शती तक के मिलते हैं। अनेक ग्रन्थ, माहात्म्य और लोककथाएँ इस देवी का उल्लेख करते हैं। ग्यारहवीं शती में मल्लिषेण द्वारा रचित 'भैरवपद्मावती कल्प' प्रसिद्ध है। मन्त्रविद्या और तन्त्रसम्बन्धी की विधि द्वारा इन देवियों की पूजा होती थी। परवर्ती काल की बहुत सारी प्रतिमाएँ इस बात को प्रमाणित करती हैं। पद्मावती देवी के स्वतन्त्र रूप में मन्दिर भी बनाये गये हैं जिनमें नागदा का प्रसिद्ध मन्दिर भी है।

प्राय: यह देवी पार्श्वनाथ जी के साथ ही पायी जाती है। बारहवी शताब्दी की पाषाणमूर्ति बघैरा मे पायी गई है। इसी प्रकार की एक धातु मूर्ति जयपुर के सिरमौरिया मन्दिर मे स्थित है। इसका काल १६०० ई० बतलाया जाता है। देवी के दोनों हाथों में शिशु हैं और मुकुट पर पार्श्वनाथ की प्रतिमा बनी हुई है। जयपुर के दूसरे मन्दिर मे पद्मावती की पाषाण मूर्तिस्थापित है। देवी की चार भुजाएँ हैं, शान्तमुद्रा है एवं चारो भुजाओ मे चार पदार्थ हैं। तमिलनाडु में प्राप्त प्रतिमाओं मे इनकी मूर्ति भी मिली है। एक चरण कमल पर स्थित, दूसरा नीचे की ओर लटका हुआ है। सिर पर सर्पफणों का मुकुट है। चार भुजाएँ हैं, एक में सर्प, दूसरे में फल, एक में गदा तथा एक से दूसरे का स्पर्श है। दो परिचारिकाएँ भी सेवारत हैं।

पद्मावती देवी के साथ सर्प का सम्बन्ध सदा से रहा है तथा वह पातालवासिनी हैं।[1] मूर्तिकला मे सर्प तथा कमल दोनों ही सुस्पष्टतया अंकित किये जाते रहे हैं। बंगाल मे मनसा देवी सर्पों की देवी के रूप मे पूजी जाती हैं। पर ये दोनों देवी एक ही हैं अथवा भिन्न-२ हैं ऐसा कोई निर्णय अभी नहीं किया जा सकता है।

महाकाली—श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यह देवी कमलो पर स्थित है। चार भुजाओ वाली है तथा वरदमुद्रा, अंकुश, पाश और कमल धारण किये हुए है। यह यक्षी भी है। विद्यादेवी के रूप मे प्रसिद्ध है तथा मन्दा देवी है। विद्यादेवी के रूप मे मुर्गे पर बैठी हुई है तथा वज्र और कमल हाथ में लिए हुए हैं।[2]

इस देवी का नाम दिगम्बर सम्प्रदाय मे वज्रशृंखला भी है। हंस इसका वाहन है तथा इसकी भुजाओं में सर्पपाश, माला एवं फल सुशोभित हैं[3]—

यह भी यक्षिणी तथा विद्यादेवी दोनों हैं। श्वेताम्बर पन्थ मे इसकी काली, महाकाली, कालिका आदि नामों से पूजा करते हैं। देवी का रंग काला है, कमल पर स्थित हैं। तन्त्रों की देवी काली भी इसी प्रकार की है परन्तु वह कमलासना नहीं है।[4]

चक्रेश्वरी—श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनो सम्प्रदायो मे देवी को चक्रधारिणी एवं गरुडवाहिनी बतलाया गया है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार देवी अष्ट-भुजा है तथा बाण, गदा, धनुष, वज्र, शूल, चक्र एवं वरद मुद्रा के चिह्न हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय में देवी की या तो चार भुजाओं वाली प्रतिमाएँ हैं या द्वादश भुजाएँ होती हैं। द्वादशभुजा देवी की आठ भुजाओं मे चक्र विद्यमान है।

यह देवी पहले तीर्थंकर ऋषभदेव की शासन देवता है। गरुड एवं चक्र आदि लक्षणो से एवं नाम से भी यह देवी हिन्दुओं की देवी वैष्णवी से या तो पर्याप्त समानता रखती है या उससे बहुत अधिक प्रभावित है। कुछ मूर्तिकारों ने हाथों में पाश अंकित करके इस देवी को यक्षी परिवार की देवता माना है। परन्तु चक्र ही इसका मुख्य लक्षण है। बहुत सारी प्रतिमाएं स्वतन्त्ररूप में या तीर्थंकर के साथ प्राप्त होती हैं। यथा—देवगढ़ तथा मथुरा से प्राप्त मूर्ति दस भुजाओं वाली है। उदयगिरि (उड़ीसा) से प्राप्त प्रतिमा द्वादश भुजा है।[5]

---

१. तथा पद्मावती देवी कुर्कुटोरगवाहना।
स्वर्णवर्णा पद्मपाशभृद्दक्षिणकरद्वया।
फलांकुशधराभ्यां च वामदोर्भ्यां विराजिता॥ —हेमचन्द्र

२. तथोत्पन्ना महाकाली स्वर्णरुक् पद्मवाहना।
दधाना दक्षिणो बाहू सदा वरदपाशिनौ।
मातुलिङ्गांकुशधरौ परौ बाहू च बिभ्रती। —हेमचन्द्र

३. वरदा हंसमारूढा देवता वज्रशृंखला।
नागपाशाक्षसूत्रोरुफलहस्ता चतुर्भुजा॥ (प्रतिष्ठासारसंग्रह)

४. कालिकादेवी श्यामवर्णां पद्मासनां चतुर्भुजाम्।
वरदपाशाधिष्ठितदक्षिणभुजां नागाङ्कुशान्वितवामकराम्॥
(निर्वाण कलिका)

५. जैन इकोनोग्राफी, पृ० ८-१४४-४५.

शत्रुञ्जय पर्वत पर बने जैन मन्दिरों से प्राप्त संगमरमर की प्रतिमा अष्टभुजा है तथा उपर्युक्त चिह्नों से अंकित है। गिरनार पर्वत (गुजरात) पर बने तेजपाल और वस्तुपाल के जैन मन्दिरों में 'चतुर्भुजा' देवी की प्रतिमा स्थापित है। ऊपर के दोनों हाथों में चक्र तथा नीचे के हाथों में माला एवं शंख सुशोभित हैं। देवी का वाहन गरुड भी दिखाई दे रहा है।

यह शेष २३ शासन देवताओं की नायिका हैं, तथा सूरिमन्त्र, पंच परमेष्ठी और सिद्धचक्र यन्त्र मन्त्रों की अधिष्ठात्री है। इसके मन्त्रों में श्री, ह्री, कीर्ति, लक्ष्मी आदि देवता भी प्रतिष्ठित हैं। भैरव पद्मावती कल्प मे दो सूक्तों मे इस देवी की स्तुति है तथा दोनों में ही यह देवी चक्र तथा गरुड सहित विद्यमान है।[1]

यक्षी—ब्रिटिश म्यूजियम लन्दन मे सिंहासन पर बैठी हुई यक्षी की प्रतिमा रखी हुई है। दो भुजाएँ हैं, एक चरण नीचे की ओर है। प्रतिमा बड़ी ही सुन्दर बन पड़ी है। दूसरी प्रतिमा आठ भुजाओ वाली यक्षी की है। इस पर अंकित लेख मे यक्षी का नाम सुलोचना दिया गया है। उसके नेत्र सुन्दर हैं तथा उनके ऊपर वाले हाथो मे माला है। दायीं ओर एक हाथ खण्डित है, तीसरे हाथ में चक्र है तथा चतुर्थ हाथ वरद मुद्रा मे है। बायीं ओर की दूसरी भुजा मे दर्पण है, तीसरे मे शंख तथा चौथे मे एक प्याला है जो टूट गया है। दोनों ओर चँवरधारिणियां खड़ी हैं। मस्तक के ऊपर 'जिन' की प्रतिमा है।[2]

श्री लक्ष्मी—धन की देवी के रूप में श्री देवी का वर्णन दिगम्बर-सम्प्रदाय में प्राप्त होता है। यह देवी चार भुजाओं वाली है तथा हाथों में कमल एव पुष्प विद्यमान हैं। यह गौरवर्ण देवी है।[3]

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे यही देवी लक्ष्मी के नाम से प्रसिद्ध है। गजवाहिनी है एवं कमल भुजाओ मे सुशोभित है।[4]

प्राचीनकाल से ही लक्ष्मी की पूजा जैन धर्म में होती रही है। धनतेरस के दिन लक्ष्मी की विशेष पूजा सम्पन्न की जाती है। उसी दिन जैन महिलाएँ अपने आभूषणो को धारण करती हैं। लक्ष्मी का वर्णन हिन्दू लक्ष्मी देवी से बहुत भिन्न नहीं है। केवल जैन लक्ष्मी गजवाहिनी है जबकि हिन्दुओं के यहाँ कमलासन होती हैं। इस देवी की अनेक प्रतिमाएँ प्राचीनकाल से लेकर अब तक मिलती रही हैं।[5]

योगिनियाँ—जैन आकर ग्रन्थो मे योगिनियों की संख्या ६४ बतलाई गई है। इनके अनुसार ये रौद्र देवता हैं तथा जिन की आज्ञानुसार कार्य करती हैं :—योगिन्यो भीषणा रौद्र देवताः क्षेत्ररक्षकाः।

ये देवियाँ मूलरूप से तान्त्रिक देवियाँ हैं। अग्निपुराण और मन्त्रमहोदधि में इनका वर्णन प्राप्त होता है। किन्तु जैन अनुयायी भी क्षेत्र-रक्षक के रूप में इनकी पूजा करते हैं। ये अधिकतर भयकर देवियां हैं, कुछ इनमें से सौम्यस्वरूपा भी हैं, क्षेत्रपालों के अधीन इनको स्वीकार किया गया है। इनकी मूर्तियाँ तो अधिक प्राप्त नहीं होती हैं परन्तु मन्त्र और स्तोत्र प्राप्त होते हैं तथा कुछ पाण्डुलिपियों में इनके नाम भी प्राप्त होते हैं।

शान्तिदेवी—ग्रन्थो मे इस देवी का वर्णन मिलता है। यह कमल पर बैठी हुई है तथा चार भुजाओं में माला, कमण्डलु, वरदमुद्रा एवं घट सुशोभित है। गौरवर्ण है।[6]

यह देवता जैनधर्म मे बिल्कुल नयी है। बौद्धधर्म एवं हिन्दू धर्म में इस प्रकार की किसी देवी का वर्णन नहीं मिलता है। जैन लोग ऐसा विश्वास करते हैं कि यह देवी जैनसंघ की रक्षा करती है एवं संघ को उन्नत करती है।[7]

---

१. जैन इकोनोग्राफी पृ० ३३०-३३१
२. मिडीवल इन्डियन स्कल्पचर, पृ०—४२
३. ओं ह्रीं सुवर्णे चतुर्भुजे पुष्पकमलधनुषहस्ते,
   श्री देवी मन्दिरप्रतिष्ठाविधाने अत्रागच्छ ॥
४. पीतवस्त्रां सुवर्णाङ्गी पद्महस्तां गजान्विताम्।
   क्षीरोदतनयां देवीं कामधात्रीं नमाम्यहम् ॥
   महालक्ष्मी नमः (जैनपांडुलिपिः रामघाट पुस्तकालय)
५. जैन इकोनोग्राफी, पृ०—१८२-१८३
६. शान्तिदेवतां धवलवर्णां कमलासनां चतुर्भुजां,
   वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरां कुण्डिकाकमण्डलुवामकराम्।
७. श्रीचतुर्विधसंघस्य शासनोन्नतिकारिणी।
   शिवशान्तिकरी भूयात् श्रीमती शान्तिदेवता ॥ (प्रतिष्ठाकल्प)

इन देवियों के अतिरिक्त ब्रह्माणी की मूर्ति बघेरा के जैन मन्दिर में मिलती है। इसी प्रकार जयपुर के लूणकरण जी पाण्ड्या जैनमन्दिर में एक देवी की प्रतिमा है जिसमें देवी महिष पर बैठी हुई दिखलाई गई है। अष्टभुजा देवी की चार भुजाओं में तलवार, धनुष, बाण और परशु हैं तथा दूसरी ओर शंख, चक्र एवं दो और वस्तुएं हैं। इन प्रतिमाओं पर निश्चित रूप से तान्त्रिक प्रभाव देखा जा सकता है।

हिन्दू देवी-देवता भी जैन मन्दिरों मे स्थान पा जाते हैं। इस प्रकार जैन-धर्म ने हिन्दू धर्म के प्रति उदारता एवं सहिष्णुता का परिचय दिया है। सीता, लक्ष्मी, दुर्गा आदि देवियो की स्थापना एव पूजा गौण देवताओं के रूप मे की गई है। देवियों की पूजा इतने अधिक परिमाण मे जैनधर्म में प्रचलित थी और अभी भी चल रही है। यह इस बात का परिचायक है कि शक्तिपूजा या शाक्त मत का प्रभाव जैनधर्म पर यथेष्ट पडा है। भारत में शक्तिपूजा या देवीपूजा जनमानस मे हर प्रदेश मे व्याप्त हो गई है। जैनधर्म लोकधर्म होने के कारण इस धारा को रोक नही सका और उसने इसे आत्मसात् कर लिया। जैनधर्म की यही विशेषता उसको अभी तक प्रमुख धर्म के रूप में जीवित रख रही है। विद्यादेवी की विशेष पूजा व्यक्त करती है कि जैन आचार्यों ने भारतीय विद्यानिधि में भी अमूल्य योगदान दिया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :—

१. भट्टाचार्य—जैन इकोनोग्राफी, लन्दन—१९३९
२. कैलाशचन्द्र जैन—जैनिज्म इन राजस्थान, शोलापुर—१९६३
३. मोहनलाल भगवानदास झवेरी—श्रीभैरवपद्मावतीकल्प, अहमदाबाद—१९४४
४. रघुनन्दनप्रसाद तिवारी—भारतीय चित्रकला और मूलतत्त्व, दिल्ली—१९७३
५. आचारदिनकर (१४वी शती)—पाण्डुलिपि
६. प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ आर्कियोलोजिकल सर्वे—पश्चिम खड—१९०५-६
७. पी० बी० देसाई—जैनिज्म इन साउथ इन्डिया, शोलापुर—१९५७
८. एपिग्राफिका कर्नाटिका—खण्ड (II)
९. गुप्ते—इकोनोग्राफी आफ अजन्ता एण्ड एलोरा
१०. बेन्जमीन रोलैन्ड—आर्ट एन्ड आर्किटेक्चर आफ इन्डिया
११. रामप्रसाद चन्दा—मिडीवल इन्डियन स्कल्पचर, दिल्ली

जैनधर्म मे प्रत्येक तीर्थंकर के साथ शासनदेवता के रूप मे एक यक्ष और एक यक्षिणी का शास्त्रीय विधान किया गया है। तिलोयपण्णत्तिकार ने चौबीस तीर्थंकरो की यक्षिणियो की सूची इस प्रकार से दी है—

चक्रेश्वरी, रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृंखला, वज्रांकुशा, अप्रतिचक्रेश्वरी, पुरुषदत्ता, मनोवेगा, काली, ज्वालामालिनी, महाकाली, गौरी, गान्धारी, वैराटी, सोलसा, अनन्तमति, मानसी, महामानसी, जया, विजया, अपराजिता, बहुरूपिणी, कुष्माण्डी, पद्मा और सिद्धायिनी।

तीर्थंकर की माता द्वारा देखे गए सोलह स्वप्नो में लक्ष्मी का उल्लेख आता है। प्रथमानुयोग के धर्म ग्रन्थो में सरस्वती को मेधा एवं बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी के रूप मे समादृत किया गया है। हरिवंशपुराणकार ने बाईसवें अध्याय में विद्यादेवियों—प्रज्ञप्ति, रोहिणी इत्यादि का उल्लेख किया है। जिनागम मे ब्राह्मी, सुन्दरी, सीता, द्रौपदी इत्यादि अनेक गुणसम्पन्न महिलाओं को सती के रूप मे स्वीकार किया गया है। शिल्पकारो एव कवियो ने उनकी प्रतिष्ठा मे मूर्तियों का निर्माण एवं ग्रन्थों का प्रणयन किया है। आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की यक्षिणी चक्रेश्वरी की मूर्ति कंकाली टीले से प्राप्त होती है। अम्बिका, सरस्वती, पद्मावती इत्यादि अनेक यक्षिणियों एवं देवियों की मनोज्ञ प्रतिमा भी नये उत्खननों से निरन्तर प्राप्त हो रही हैं। किन्तु खेदपूर्वक कहना पड रहा है कि अनेक जैन यक्ष-यक्षियों की मूर्तियों को शास्त्रीय जानकारी के अभाव में अन्य धर्मों के मूर्ति समूह मे सम्मिलित कर लिया जाता है। जैन समाज को अपने पुरातात्त्विक वैभव की रक्षा के लिए जैन मूर्ति कला एवं उसके विकास से सम्बन्धित साहित्य का बड़ी मात्रा में वितरण कराना चाहिए।

☐ सम्पादक

जैन आगमों में नारी

—डॉ० विजय कुमार शर्मा

आगम साहित्य का उद्भव और विकास—ई० पू० छठी शताब्दी न केवल भारतवर्ष के लिये अपितु समस्त संसार के लिए अत्यन्त ही उथल-पुथल का युग रहा है। धार्मिक मत-मतान्तर, दार्शनिक विवाद, सामाजिक परिवर्तन, रूढ़िवाद का प्राबल्य आदि-आदि तत्कालीन समाज की विशेषता रही है। साधारण जन इन उतार-चढ़ावों, मत-मतान्तरों से खिन्न और पीड़ित थे। ऐसी ही विप्लवमयी अवस्था में भगवान् बुद्ध एवं महावीर का आविर्भाव हुआ। यद्यपि इन दोनों ने ही राज्य-वैभव का परित्याग जाति, रोग, शोक, वृद्धावस्था एवं मृत्यु के दुःखों से छुटकारा पाने के मार्ग की खोज हेतु किया था परन्तु तत्कालीन मत-मतान्तर-वाद एवं सामाजिक उत्पीड़न भी उन्हें घर से बेघर करने में कम सहायक नहीं हुए थे। अतः एक ओर दोनों का उद्देश्य जाति-जरा, मृत्यु से पीड़ित प्रजा को सदा सर्वदा सुख की स्थिति का मार्ग दिखाना था तो दूसरी ओर तत्कालीन समाज में व्याप्त वर्ण व्यवस्था और हिंसामय यज्ञ-याग आदि से मुक्ति दिलाकर सर्वसाधारण के लिये निवृत्ति-प्रधान श्रमण सम्प्रदाय की स्थापना करना था। अतः इन दोनों ही सम्प्रदायों में समानता का होना अत्यन्त स्वाभाविक था। त्रिपिटक एवं आगम के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों की समानता मात्र विषयवस्तु के वर्णन तक ही सीमित नहीं है बल्कि कितनी ही गाथाएं और शब्दावलियां भी समान हैं। दोनों शास्त्रों का वैज्ञानिक एवं तुलनात्मक अध्ययन मनोरंजक और उपयोगी हो सकता है।

आगम भगवान् महावीर के उपदेशों का संकलन है। ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् लोकहित में श्रमण महावीर यावज्जीवन जम्बूद्वीप के नाना गांव, निगम, जनपद आदि में घूम-घूमकर उपदेश करते रहे। उन दिनो सूत्रो को कण्ठाग्र रखने की परम्परा थी। आगमो को सुव्यवस्थित बनाये रखने हेतु समय-समय पर जैन श्रमणो के सम्मेलन होते थे। उन सम्मेलनों मे, उनके गणधरों ने भगवान् के उपदेशों का सूत्र रूप मे निबद्ध किया। आगम साहित्य का निर्माण-काल पाँचवी शताब्दी ई० पूर्व से लेकर पाँचवीं शताब्दी ई० तक माना जाता है। इस तरह से आगम एक हजार वर्ष का साहित्य कहा जा सकता है। ये आगम सूत्रमय शैली में होने के कारण अत्यन्त गम्भीर एवं दुरूह थे। इन्हें बोधगम्य बनाने के लिये समय-समय पर आचार्यों ने इन पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और टीकाएँ लिखी। कथा लिखने की यह परम्परा ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी से लेकर ईस्वी सन् की सोलहवी शताब्दी तक चलती रही। साहित्य समाज का दर्पण होता है अतः ये आगम साहित्य, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, तत्कालीन भारतीय समाज के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। इनके सम्यक् अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें प्रचुर मात्रा में तत्कालीन सांस्कृतिक और सामाजिक विवरण प्राप्त हैं।

प्रस्तुत निबन्ध मे हमारा प्रयास आगम साहित्य के आधार पर नारी का अध्ययन प्रस्तुत करना है। ग्रन्थों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि जैन आगम ने मनुस्मृति में आये नारी स्वरूप का ही पिष्टपेषण किया है। नारी के सम्बन्ध में वहाँ कहा गया है :—

> जाया पितिव्वसा नारी दत्ता नारी पतिव्वसा।
> विहवा पुत्रवसा नारी नत्थि नारी सयंवसा॥[1]
>
> तुलनीय— बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
> पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतंत्रताम्॥[2]

अर्थात् जब स्त्री पैदा होती है तो वह पिता के अधीन रहती है, विवाहोपरान्त पति के अधीन हो जाती है और विधवा होने पर पुत्र के अधीन हो जाती है। अर्थात् नारी यावज्जीवन परतंत्र रहती है। व्यवहार भाष्य के इस श्लोक को आगम साहित्य की नारी-सम्बन्धी

---

१. व्यवहार भाष्य-३, २३३
२. मनु० ५।१४८

धारणाओं का प्रतिनिधि-वाक्य माना जा सकता है। आगम साहित्य मे स्त्रियों को विश्वासघाती, कृतघ्न, कपटी और अविश्वसनीय बताया गया है। फलस्वरूप इन पर कठोर नियंत्रण रखने का स्पष्ट निर्देश है। रामचरितमानस में संत तुलसी का नारी के सम्बन्ध में यह कथन यहाँ उल्लेखनीय है :—

विधिहु न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी ॥[1]

एवं— महावृष्टि चली फूटि कियारी। जिमि स्वतंत्र भय बिगरहिं नारी ॥[2]

आगम में स्त्रियों को प्रताड़ित करने के अनेक प्रसंग प्राप्त हैं। बृहत्कल्प भाष्य की यह कथा इस कथन की पुष्टि के लिये पर्याप्त मानी जा सकती है। कथा है कि एक पुरुष के चार पत्नियां थीं। उसने चारों को अपमानित कर गृहनिष्कासन का दण्ड दिया। उनमें से एक दूसरे के घर चली गई, दूसरी अपने कुलगृह मे जाकर रहने लगी, तीसरी अपने पति के मित्रगृह में चली गई। परन्तु चौथी अपमानित होकर भी अपने पतिगृह में ही रही। पति ने इस पत्नी से प्रसन्न होकर उसे गृहस्वामिनी बना दिया।[3]

भावदेवसूरि के पार्श्वनाथ चरित्र मे स्त्रियों के सम्बन्ध मे जो भाव व्यक्त किया गया है, वह उनकी दयनीय स्थिति को और अधिक उजागर कर देता है। वहाँ कहा गया है कि एक ज्ञानी गंगा की रेत की मात्रा का ठीक-ठीक अनुमान लगा सकता है, गंभीर समुद्र के जल को वह थाह सकता है, पर्वत के शिखरो की ऊँचाई का सही-सही माप कर सकता है, परन्तु स्त्री-चरित्र की थाह वह कतई नहीं पा सकता।[4] स्त्रियो को प्रकृति से विषम, प्रिय-वचन-वादिनी, कपट-प्रेमगिरि तटिनी, अपराध सहस्र का आलय, शोक उत्पादक, बल-विनाशक, पुरुष का वध-स्थान, वैर की खान, शोक की काया, दुश्चरित्र का स्थान, ज्ञान की स्खलना, साधुओं की अरि, मत्तगज सदृश कामी, बाघिनी की भांति दुष्ट, कृष्ण सर्प के सदृश अविश्वसनीय, वानर की भाँति चंचल, दुष्ट अश्व की भाँति दुर्दर्ष, अरतिकर, कर्कशा, अनवस्थित, कृतघ्न आदि-आदि विशेषणो से सम्बोधित किया है। नारी पद की व्याख्या करते हुए कहा गया है—"नारी समान न नराणं अरओ" अर्थात् नारी के सदृश पुरुषों का कोई दूसरा अरि नहीं, अतएव वह नारी है। अनेक प्रकार के कर्म एवं शिल्प द्वारा पुरुषों को मोहित करने के कारण महिला—"नाना-विधेहि कम्मेहि सिप्पइयाएहि पुरिसे मोहंति", पुरुषों को उन्मत्त बना देने के कारण प्रमदा—'पुरिसे मत्ते करेंति', महान् कलह करने के कारण महिलया—'महंतं कलिं जणयंति', पुरुषों को हाव-भाव द्वारा मोहित करने के कारण रमा—"पुरिसे हावभावमाइएहिं रमंति", शरीर मे राग-भाव उत्पन्न करने के कारण अंगना—"पुरिसे अंगाणुराए करिंति", अनेक युद्ध, कलह, संग्राम, शीत-उष्ण, दुःख-क्लेश आदि उत्पन्न होने पर पुरुषों का लालन करने के कारण ललना—"नानाविहेसु जुद्धभंडणसंगामाडवीसु महारणगिण्हणसीउण्हदुक्खकिलेसमाइएसु पुरिसे लालंति", योग-नियोग आदि द्वारा पुरुषों को वश में करने के कारण योषित्—'पुरिसे जोगनिओगेहिं वसे ठाविंति' तथा पुरुषो का अनेक रूपों द्वारा वर्णन करने के कारण वनिता—'पुरिसे नानाविहेहि भावेहिं वण्णिति' कहा गया है।[5] इस आशय का आवश्यकचूर्णी का यह श्लोक उल्लेखनीय है :—

अन्नपानैर्हरेद्बालां, यौवनस्थां विभूषया।

वेश्यास्त्रीमुपचारेण वृद्धां कर्कशसेवया ॥[6]

वे स्वयं रोती हैं, दूसरों को रुलाती हैं, मिथ्याभाषण करती हैं, अपने मे विश्वास पैदा कराती हैं, कपटजाल से विष का भक्षण करती हैं, वे मर जाती हैं परन्तु सद्भाव को प्राप्त नही होती है। महिलाएँ जब किसी पर आसक्त होती हैं तो वे गन्ने के रस के समान अथवा साक्षात् शक्कर के समान प्रतीत होती हैं लेकिन जब वे विरक्त होती हैं तो नीम से भी अधिक कटु हो जाती हैं। युवतियां क्षण भर मे अनुरक्त और क्षण भर मे विरक्त हो जाती हैं। हल्दी के रंग के जैसा उनका प्रेम अस्थायी होता है। हृदय से निष्ठुर होती हैं तथा शरीर, वाणी और दृष्टि से रम्य जान पडती हैं। युवतियों को सुनहरी छुरी के समान समझना चाहिये।[7] उत्तराध्ययन टीका मे स्त्रियों को अति-क्रोधी, बदला लेने वाली, घोर विष, द्विजिह्व और द्रोही कहा है।[8] बौद्ध साहित्य के अंगुत्तरनिकाय में इसी से मिलता-जुलता वर्णन मिलता है। वहाँ स्त्रियो को आठ प्रकार से पुरुष को बांधने वाली कहा गया है—रोना, हँसना, बोलना,

---

१. रामचरितमानस-२३३-३
२. वही ३३३-२०
३. बृहत्कल्पभाष्य-१,१२५६, पिण्डनिर्युक्ति ३२६ आदि
४. विन्तरनित्स, हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ० ५७५
५. तन्दुलवैचारिक, पृ० ५० आदि, द्रष्टव्य—कुणाल-जातक, असातमंत जातक आदि
६. आवश्यकचूर्णी, पृ० ४६२
७. डा० जे० सी० जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २४७
८. उत्तराध्ययन टीका ४, पृ० १३ आदि

एक तरफ हटना, भ्रूभंग करना, गंध, रस और स्पर्श। स्त्री रूप, स्त्री शब्द, स्त्री गंध, स्त्री रस और स्त्री स्पर्श पुरुषों के चित्त को अपनी ओर आकर्षित करता है।[1]

राजा को तो स्त्रियों से और भी बचकर रहने हेतु कहा गया है। स्त्रियों से पुनः-पुनः मिलना उनके लिये खतरे का निमन्त्रण बताया गया है। स्त्री गृह में राजा के प्रवेश की तुलना सर्प बिल में मण्डूक के प्रवेश से की गई है। आगम साहित्य में अनेक बार यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार स्त्रियों की माया मे पड़ कर अनेक राजाओं ने अपना विनाश आमंत्रित किया।

स्त्रियों को शिक्षा कुशल गृहिणी मात्र बनाने के लिये दी जाय— "नातीव स्त्रियः व्युत्पादनीयाः स्वभावसुभगोऽपि शास्त्रोपदेशः।" स्त्रियों का कर्तव्य एवं अधिकार अपने पति तथा बच्चों की सेवामात्र ही निर्धारित है। पुरुषों के कार्यक्षेत्र में उनका हस्तक्षेप सर्वथा वर्जित था। उन्हें चंचल कहा गया है। उनके मानसिक स्तर की चंचलता की तुलना कमल-पत्र पर गिरे जल-बिन्दु से की गयी है; जो पतन के अनन्तर शीघ्र ही फिसल जाता है। वैसे पुरुषों की गति नदी की तेज धार में गिरे वृक्ष के सदृश बताई गई है जिसे दीर्घकाल तक जल के थपेड़ों को सहना पड़ता है। आगमों का यह निश्चमत है कि स्त्रियां पुरुष के नियन्त्रण में रहकर ही रक्षित एवं इच्छित की प्राप्ति कर सकती हैं। जिस प्रकार असि पुरुष के हाथ मे रहकर ही शोभता है उसी प्रकार स्त्री भी पुरुषाश्रय मे ही शोभित होती है। इस कथन की पुष्टि 'नीतिवाक्यामृत' के इन श्लोकों मे से हो जाती है :—

अपत्यपोषणे गृहकर्मणि शरीर-संस्कारे।
शयनावसरे स्त्रीणां स्वातंत्र्यं नान्यत्र ॥

स्त्रीवशपुरुषो नदीप्रवाहपतितपादप इव न चिरं नन्दति।
पुरुषमुष्टिस्था स्त्री खड्गयष्टिरिव कमुत्सवं न जनयति ॥[2]

स्त्रियों को दृष्टिवाद सूत्र, महापरीज्ञा सूत्र एवं अरुणोपपात सूत्र का अध्ययन निषिद्ध है।[3] इनके निषेध का कारण इन सूत्रों में सर्वकामप्रद विद्यातिशयों का वर्णन है। इसके साथ ही स्त्रियों को शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से कमजोर, अहंकारबहुल एवं चंचला कहा गया है। चूंकि ये सूत्र इनकी शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से ग्राह्य नहीं हो सकते अतः नारी के लिये इनका अध्ययन निषिद्ध है। इतना ही नहीं, भिक्षुओं की तुलना में भिक्षुणियों के लिये अधिक कठोर विनय के नियमों का विधान जैन एवं बौद्ध सम्प्रदाय में है। इसकी पराकाष्ठा तो इस उल्लेख से होती है जिसमें तीन वर्ष की पर्याय वाला निर्ग्रन्थ तीस वर्ष की पर्याय वाली श्रमणी का उपाध्याय तथा पांच वर्ष की पर्याय वाला निर्ग्रन्थ साठ वर्ष की पर्याय वाली श्रमणी का आचार्य हो सकता है। इतना ही नहीं, शतायु साध्वी को भी एक नवदीक्षित भिक्षु के आगमन पर श्रद्धापूर्वक आसन से उठ अभिनन्दन करने का आदेश है। बौद्ध धर्म मे भी आठ गुरु धर्मों के अन्तर्गत बताया गया है कि यदि कोई भिक्षुणी सौ वर्ष की पर्याय वाली हो तो भी शीघ्र प्रव्रजित भिक्षु का अभिवादन करना चाहिए और उसे देखते ही सम्मान से आसन से उठ जाना चाहिये।[4]

जैन सूत्रों मे स्त्रियों को मैथुनमूलक बताया गया है जिनके कारण अनेकानेक संग्राम हुए। इस सम्बन्ध मे सीता, द्रौपदी, रुक्मिणी, पद्मावती, तारा, कंचना, रक्तसुभद्रा, अहिन्निका, सुवर्णगुलिया, किन्नरी, सुरूपा आदि का नाम उल्लेखनीय है।[5]

स्त्रियों के सम्बन्ध में इन हेय विचारों के अतिरिक्त आगम ग्रन्थों में कुछेक प्रशस्ति-वाक्य भी प्राप्त हैं। ये सामान्यतया साधारण समाज द्वारा मान्य नहीं हैं। इससे यही प्रमाणित होता है कि स्त्रियों के आकर्षक सौन्दर्य से कामुकतापूर्ण साधुओं की रक्षा के लिये, स्त्री-चरित्र को लांछित करने का प्रयत्न है। विषय-विलास और आत्मकल्याण मे आग-पानी का सा विरोध है। इसलिये अखिल जीव कोटि के कल्याण मे संलग्न श्रमण सम्प्रदाय विषय-विलास की प्रधान साधन रूप 'उस नारी' की भरपेट निन्दा न करते तो क्या करते? ऐसी निन्दा से, ऐसी दोष-दृष्टि से ही तो उस ओर वैराग्य उत्पन्न होगा। इसके अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों की तत्कालीन रचनाओं के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि स्त्रियां कैसे दुनियां भर के दोषों की खान हो गईं और वह भी विशेषकर जैन और बौद्ध काल में। बृहत्संहिता के रचयिता वराहमिहिर ने स्त्रियों के प्रति आगम के इस भाव का विरोध करते हुए कहा है—"जो

---

१. अंगुत्तर निकाय-२, ८ पृ० ३०६, वही १०, १, पृ० ३
२. आचार्य सोमदेव, नीतिवाक्यामृत, पृ० २४-४६, २४-४२
३. व्यवहार ७.१५-१६; ७.४०७
४. चूलवग्ग-१०, १-२, पृ० ३७४-५
५. प्रश्नव्याकरण-१६ पृ० ८५ अ, ८६ अ

दोष स्त्रियों में दिखाये गये हैं वे पुरुष में भी मौजूद हैं। अन्तर इतना है कि स्त्रियां उनको दूर करने का प्रयत्न करती हैं जबकि पुरुष उनसे बिलकुल उदासीन रहते हैं। पुरुष समाज उसे दोष ही नहीं मानते। उदाहरण देते हुए वराहमिहिर ने कहा है कि विवाह की प्रतिज्ञाएँ वर-वधू दोनों ही ग्रहण करते हैं किन्तु पुरुष उनको साधारण मानकर चलते है जबकि स्त्रियां उन पर आचरण करती हैं। उन्होंने प्रश्न उठाया है कि कामवासना से कौन अधिक पीड़ित होता है? पुरुष जो कामवासना की तृप्ति हेतु वृद्धावस्था में भी विवाह करता है या वह स्त्री जो बाल्यावस्था मे विधवा हो जाने पर भी सदाचरण का जीवन व्यतीत करती है? पुरुष जब तक उसकी पत्नी जीवित रहती है, तब तक उससे प्रेम-वार्तालाप करते हैं परन्तु उसके मरते ही दूसरी शादी रचाने मे नही सकुचाते। उसके विपरीत स्त्रियां अपने पति के प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट करती हैं। पति की मृत्योपरान्त पति के साथ चिता मे भस्म हो जाती हैं। अब सुधीजन यह निर्णय कर सकते हैं कि प्रेम में कौन अधिक निष्कपट है—पुरुष या महिला?[1]

स्त्रियों के शुक्लपक्ष के वर्णन में भी आगम पीछे नहीं हैं। वहां अनेक ऐसी स्त्रियो का वर्णन मिलता है जो पतिव्रता रही हैं। तीर्थंकर आदि महापुरुषों को जन्म देने वाली भी तो स्त्रिया ही थी। अनेकानेक स्त्रियो का उल्लेख मिलता है जो गतपतिका, मृतपतिका, बालविधवा, परित्यक्ता, मातृरक्षिता, पितृरक्षिता, भ्रातृरक्षिता, कुलगृहरक्षिता और स्वसुकुलरक्षिता कही गई हैं।[2] स्त्रियों को चक्रवर्ती के चौदह रत्नो में गिनाया गया है।[3] सकट काल मे स्त्रियों की रक्षा सर्वप्रथम करने को कहा गया है। मल्लिकुमारी को (श्वेता०) मे तीर्थंकर कह कर सम्बोधित किया गया है। भोजराज उग्रसेन की कन्या राजीमती का नाम जैन आगम मे आदरपूर्वक उल्लिखित है।[4] विवाह के अवसर पर बाड़ो में बंधे हुए पशुओं का चीत्कार सुनकर अरिष्टनेमि को वैराग्य हो गया तो राजीमती ने भी उनके चरण-चिह्न का अनुगमन कर श्रमण दीक्षा ग्रहण की। एक बार अरिष्टनेमि, उनके भाई रथनेमि और राजीमती तीनो गिरनार पर्वत पर तपस्या कर रहे थे। वर्षा के कारण राजीमती के वस्त्र गीले हो गये। उसने अपने वस्त्रो को निचोडकर सुखा दिया और पास की गुफा में खड़ी हो गई। सयोग से रथनेमि भी गुफा मे ध्यानावस्थित थे। राजीमती को निर्वस्त्र अवस्था मे देखकर उनका मन चलायमान हो गया। उसने राजीमती को भोग भोगने के लिए आमंत्रित किया। राजीमती ने इसका विरोध किया। उसने मधु और घृत युक्त पेय का पान कर ऊपर से मदन फल खा लिया, जिससे उसे वमन हो गया। रथनेमि को शिक्षा देने के लिये वमन को वह पेय रूप मे प्रदान कर कुमार्ग से सन्मार्ग पर लाने में सहायक हुई।[5]

आगम ग्रन्थो के स्त्री के सम्बन्ध मे इन द्वन्द्वात्मक विचारों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जहां कहीं स्त्री चरित्र के कृष्णपक्ष का वर्णन है वह तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का उद्दीपन है, इसमें आगमकारों के किसी व्यक्तिगत मत का द्योतन नहीं। स्त्री योनि मे उत्पन्न होने के कारण जीवन के चरमोद्देश्य की प्राप्ति में उनका स्त्रीत्व बाधक नहीं बताया गया है। आगम ग्रन्थो मे अनेक ऐसे उदाहरण प्राप्त हैं जिनमे महिलाओ ने ससार त्यागकर परमपद की प्राप्ति की एवं जनता को सन्मार्ग पर लाने का हर सभव प्रयास किया। ऐसी महिलाओ मे ब्राह्मी, सुन्दरी, चन्दना, मृगावती आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। जैन संघ में आचार्य चन्दना को बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त था। इनके नेतृत्व मे अनेक साध्वियो ने सम्यक् चारित्र का पालन कर मोक्ष की प्राप्ति की।[6] श्रमण महावीर के उपदेश से प्रभावित होकर अनेक राजघरानों की स्त्रिया सासारिक ऐश्वर्य को छोडकर साध्वी बन गई थी। कोशाम्बी के राजा शतानीक की भगिनी का नाम इस सदर्भ मे उल्लेखनीय है।[7] शारीरिक एवं मानसिक गुणो मे कतिपय स्थानों पर स्त्रियों के सम्बन्ध में आगम साहित्य का अत्यन्त ही व्यावहारिक एव जनग्राह्य मत का निदर्शन आचार्य सोमदेव का 'नीतिवाक्यामृत का यह कथन करता है—

सर्वा. स्त्रिय: क्षीरोदवेला इव विषामृतस्थानम्।
न स्त्रीणां सहजो गुणो दोषो वास्ति।
किन्तु नद्य: समुद्रमिव यादृशं पतिम्
आप्नुवन्ति तादृश्यो भवन्ति स्त्रिय:।[8]

---

१. बृहत्सहिता ७६.६.१२, १४, १६ तथा ए० एस० अल्तेकर द पोजीसन ऑव वीमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन, पृ० ३८७
२. औपपातिक सूत्र-३८, पृ० १६७-८
३. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति ३.६७, उत्तराध्ययन टीका १८, पृ० २४७ अ
४. बृहत्कल्पभाष्य-४.४३३४-३६
५. दशवैकालिक सूत्र २.७-११, इत्यादि-इत्यादि
६. अन्तकृद्दशा-५, ७, ८
७. व्याख्या प्रज्ञप्ति-१२.२, पृ० ५५६
८. आचार्य सोमदेव, नीतिवाक्यामृतम्-२४, १० और २५

अर्थात् स्त्रियाँ नवनीत के सदृश हैं जो दुरुपयोग से विषवाहक एवं सदुपयोग से अमृत का वाहन करने वाली होती हैं। स्त्रियों को नदी के जल के सदृश कहा गया है जो समुद्र में मिलकर अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को समाप्त कर समुद्र का जल हो जाता है। इसी प्रकार स्त्रियां अपने पति में समाहुत होकर अपने त्याग की पराकाष्ठा को ही द्योतित करती हैं।

आगम ग्रन्थों के स्त्रियों के प्रति इन सामान्य धारणाओं के अवलोकन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वहाँ पुरुषों से इन्हें हीन दिखाने का प्रयास नहीं, अपितु कैवल्य प्राप्ति के उद्देश्य से प्रव्रजित भिक्षुओं का उनके प्रति विकर्षण मात्र उत्पन्न करना है।

विवाह :—आगम ग्रन्थों में स्त्रियों के सम्बन्ध में सामान्य धारणाओं के विवेचन के उपरान्त उनकी सामाजिक स्थिति के सच्चे वर्णन हेतु तत्कालीन विवाह-प्रणाली की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होता है। विवाह का हिन्दू संस्कारो में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। अधिकांश गृह्यसूत्र का प्रारम्भ विवाह संस्कार से होता है। इसकी प्राचीनता का प्रमाण तो ऋग्वेद[1] एवं अथर्ववेद[2] में इसकी काव्यमय अभिव्यक्ति है। विवाह को यज्ञ का स्थान प्राप्त था। अविवाहित व्यक्ति को अयज्ञिय अथवा यज्ञहीन कहा जाता था।[3] जब तीन ऋणों के सिद्धान्त का विकास हुआ तो विवाह को अधिकाधिक महत्त्व और पवित्रता प्राप्त होने लगी।[4] एकाकी पुरुष तो अधूरा है, उसकी पत्नी उसका अर्धभाग है, ऐसी धारणायें विवाह के साथ ही स्त्रियों के प्राचीन भारत मे महत्त्व को भी दर्शाती हैं।

अनेक कारणों से भारतवर्ष में विवाह को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। निस्सन्देह, मानव विकास के पशुपालन और कृषि-युग मे इस आदर या महत्त्व के मूल में अनेक आर्थिक और सामाजिक कारण विद्यमान थे। कालक्रम से हिन्दू धर्म में सामाजिक तथा आर्थिक कारणों की अपेक्षा देवताओं एवं पितरो की पूजा ही विवाह का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य माना जाने लगा। भारत के सदृश ही अन्य प्राचीन राष्ट्र, यथा इसराइल, यूनान, स्पार्टा, रोम आदि में भी विवाह को एक पवित्र संस्कार माना जाता था।[5] प्लूटार्क के अनुसार स्पार्टा में अविवाहित व्यक्ति अनेक अधिकारों से वंचित कर दिये जाते थे और युवक अविवाहित वृद्धों का सम्मान नहीं करते थे।[6] हाँ ईसाई धर्म विवाह के सम्बन्ध में थोड़ा इतर विचार वाला अवश्य प्रतीत होता है।[7] जो भी हो, उपर्युक्त विवरण के आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि विवाह के मूल में सम्भवतः नवजात शिशु की पूर्ण असहायावस्था तथा विभिन्न अवधियों के लिये माता एवं नवजात शिशु की रक्षा एवं उनके लिये उस अवधि में भोजन की आवश्यकता थी। इस प्रकार विवाह का मूल परिवार में निहित प्रतीत होता है, विवाह में परिवार का नहीं। स्त्री और पुरुष के स्थायी सम्बन्ध की जड ही पैतृक कर्त्तव्यों में निहित है। पुत्र के लिये कामना, शिशु तथा पत्नी की रक्षा, गार्हस्थ्य जीवन की आवश्यकता तथा पारिवारिक जीवन का आदर्श वैवाहिक विधि-विधानों एवं कर्मकाण्डों में वर्णित हैं। हिन्दू संस्कार पूर्ण विकसित, साङ्गोपाङ्ग, स्थायी तथा नियमित विवाह को ही मान्यता प्रदान करता है। स्पष्ट है कि हिन्दू शास्त्रों के अनुसार विवाह स्त्री-पुरुष के बीच एक अस्थायी गठबन्धन नहीं, अपितु एक आध्यात्मिक एकता है। इसी एकता का वह परमपवित्र बंधन कहा जा सकता है जो दैवी विधान एवं धर्मशास्त्रों के साक्ष्य मे सम्पन्न होता है। आगम साहित्य मे भी विवाह के सम्बन्ध मे इसी प्रकार की सामान्य धारणा मिलती है।

हिन्दू शास्त्रों के अनुसार विवाह की प्राचीनता, आवश्यकता एवं उपयोगिता की रूपरेखा जानने के पश्चात् विवाह योग्य वय एवं प्रकार का जानना आवश्यक प्रतीत होता है। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद के मन्त्रों से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि वैदिक काल में वर-वधू इतने प्रौढ़ होते थे कि स्वयं अपने सहयोगी का चुनाव करते थे।[8] वर से यह अपेक्षा की जाती थी कि उसका अपना एक स्वतन्त्र घर हो और जिसकी साम्राज्ञी उसकी पत्नी हो, भले ही उस घर मे वर के माता-पिता भी क्यो न रहते हो। गार्हस्थ्य जीवन मे पत्नी को सर्वोच्च स्थान दिया जाता था।[9] स्पष्ट है कि बाल-विवाह का प्रचलन नही था। जैन आगमों मे विवाह योग्य वय का कोई निश्चित वर्णन नहीं

---

१. ऋग्वेद १०-८५

२. अथर्ववेद-१४.१.२

३. अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः—तै० ब्रा० २.२.२६

४. जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजा पितृभ्यः—तै० सं० ६.३.१०.५

५. विलिस्टाइन गुडसेल 'ए हिस्ट्री ऑव द फैमिली एज ए सोशल एण्ड एजुकेसनल इंस्टिट्यूशन, ५-५८

६. लाइफ ऑव लिकर्गस, बॉन्स क्लासिकल लाईब्रेरी, भा० १, पृ० ८१

७. विलिस्टाइन गुडसेल 'ए हिस्ट्री ऑव द फैमिली एज ए सोशल एण्ड एजुकेशनल इंस्टिट्यूसन पृ० ८०

८. ऋग्वेद ८.५५, ५, ८

९. अथर्ववेद १४, १-४४

गिरता। पिण्डनिर्युक्ति टीका में इस सम्बन्ध में कुछ संकेत प्राप्त है। वहां एक लोकश्रुति का उल्लेख मिलता है कि यदि कन्या रजस्वला हो जाय तो जितने उसके रुधिर-बिन्दु गिरें, उतनी ही बार उसकी माता को नरकगामी होना पड़ता है।[1]

स्मृतियों में विवाह के आठ प्रकारों का उल्लेख है, यथा—ब्राह्म, दैव, ऋषि, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच।[2] इनमें से कुछ का मूल वैदिक काल में भी मिलता है। विभिन्न गृहसूत्रों में विवाह के भिन्न-भिन्न प्रकार बताये गये हैं। परन्तु ये आठ प्रकार प्रकारान्तर से सभी गृहसूत्रों में उल्लिखित हैं।

आगम ग्रन्थों में विवाह के तीन प्रकार का वर्णन है। सजातीय विवाह की परम्परा का ही प्राबल्य था। विवाह में जातीय समानता के साथ ही आर्थिक स्थिति एवं व्यवसाय पर भी ध्यान दिया जाता था। समान आर्थिक स्थिति एवं समान व्यवसाय वालों के साथ ही विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया जाता था। ऐसा करने में उनका मुख्य उद्देश्य वंश परम्परा की शुद्धि था। निम्न जाति एवं निम्न आर्थिक स्थिति वालो के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने से कुल की प्रतिष्ठा के भग होने का भय होता था। जातक कथाओं में भी इसी प्रकार के समान जाति, समान आर्थिक स्थिति एव समान व्यवसाय वालों में विवाह का वर्णन मिलता है। बहु विवाह का भी प्रचलन था। ज्ञाताधर्म कथा मे मेघकुमार द्वारा समान वय, समान रूप, समान गुण, और समान राजोचित पद वाली आठ कन्याओं से विवाह करने का उल्लेख है।[3] विवाह की इस सामान्य परम्परा का कुछ अपवाद भी आगमों में वर्णित है। उदाहरण के लिये राजमंत्री तेयलिपुत्र ने एक सुनार की कन्या से विवाह किया था।[4] अन्तःकृद्दशा में क्षत्रिय गजसुकुमाल का ब्राह्मण कन्या से तथा राजकुमार ब्रह्मदत्त का ब्राह्मण और वणिको की कन्याओ से विवाह हुआ था—ऐसा वर्णन प्राप्त है। उत्तराध्ययन टीका में राजा जितशत्रु का चित्रकार कन्या से विवाह का वर्णन है। विजातीय विवाह के इस अपवाद के साथ ही विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच भी विवाह के कतिपय उदाहरण मिलते हैं। राजा उद्रायण जो तापसो का भक्त था उसका विवाह प्रभावती से हुआ था जो श्रमणोपासिका थी।[5] श्रमणोपासिका सुभद्रा का विवाह बौद्धधर्मानुयायी से होने का प्रमाण मिलता है।[6] विवाह-सम्बन्ध का निर्धारण परिवार के वयोवृद्ध आपसी परामर्श से करते थे। वृद्धो के निर्णय मे वर का मौन रहना स्वीकृति मानी जाती थी।[7]

विवाह मे वर अथवा उसके पिता द्वारा, कन्या के पिता अथवा उसके परिवार को शुल्क देने की परम्परा थी। ज्ञाताधर्मकथा में कनकरथ राजा के मंत्री तेयलि पुत्र एवं पोट्टिला मूषिकदारक कन्या के विवाह मे शुल्क का वर्णन मिलता है। आवश्यकचूर्णी मे एक व्यापारी का वर्णन आया है जो अपनी पत्नी से अप्रसन्न रहा करता था। उसने अपनी पत्नी को घर से निकाल दिया और बहुत-सा शुल्क देकर दूसरा विवाह किया। इसी तरह एक चोर ने अपने चौर्य कर्म से अपरिमित धन संग्रह कर, यथेच्छ शुल्क दे किसी कन्या से विवाह किया। चम्पा के कुमारनंदी स्वर्णकार ने पाँच-पाँच सौ सुवर्ण मुद्रा देकर अनेक सुन्दरी कन्याओ से विवाह किया था।[8] शुल्क के अतिरिक्त विवाह-प्रसंग में आगम प्रीतिदान का उल्लेख करता है। मेघकुमार द्वारा आठ राज-कन्याओ से विवाह करने के अवसर पर मेघकुमार के माता-पिता ने अपने पुत्र को विपुल धन प्रीतिदान मे दिया। मेघकुमार ने इसे अपनी आठो पत्नियो मे बांट दिया।

आज की तरह आगम काल मे दहेज की विभीषिका नही थी। यद्यपि कन्या को माता-पिता द्वारा दहेज देने का वर्णन कहीं-कहीं प्राप्त होता है। उपासकदशा मे राजगृह के गृहपति महाशतक के रेवती आदि तेरह पत्नियो द्वारा दहेज मे प्राप्त धन का विस्तार से वर्णन है।[9] प्री-बुद्धिस्ट इण्डिया मे वाराणसी के राजा द्वारा अपने जमाई को १,००० गाव, १,००० हाथी, बहुत-सा माल खजाना, एक लाख सिपाही और १०,००० घोड़े दहेज मे देने का उल्लेख आया है।[10]

---

१. पिण्डनिर्युक्ति टीका — पृ० ५०६
२. ब्राह्मो दैवस्तथा आर्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।
   गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ मनु स्मृ० ३.२१, याज्ञवल्क्य स्मृति १.५८-६१
३. ज्ञाताधर्मकथा १, पृ० २३
४. वही १४, पृ० १४८
५. आवश्यकचूर्णी १, पृ० २३
६. दशवैकालिकचूर्णी—पृ० ३६६
७. ज्ञाताधर्मकथा— १६, पृ० १६८
८. आवश्यकचूर्णी—पृ० ८६
९. उपासक दशा० ४, पृ० ६१, अल्तेकर—पृ० ८२-८४
१०. मेहता—प्री० बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० २८१

उपर्युक्त आगमकालीन वैवाहिक परम्परा, विधि-विधान, आयोजन, आवश्यकता, पवित्रता आदि विचार हिन्दू शास्त्रों से मिलते-जुलते हैं। कुछ छोटे-मोटे सामान्य विभेद के साथ पूर्णतया हिन्दू विवाह-प्रणाली ही आगम विवाह, प्रणाली मानी जा सकती है।

गणिका :—आगमकालीन भारतीय नारी का सच्चा चित्र उपस्थित करने हेतु नारी जाति की एक प्रमुख संस्था गणिका के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण भी इष्ट प्रतीत होता है।

गणिका भारतीय समाज की एक अत्यन्त प्राचीन संस्था है। ऋग्वेद में गणिका के लिए नृतु शब्द का प्रयोग मिलता है।[1] वाजसेनीय संहिता में वेश्यावृत्ति को एक पेशा स्वीकार किया गया है। स्मृतियां इस पेशे को सम्मानजनक नहीं बताती हैं।[2] बौद्ध साहित्य में गणिकाओं को सम्माननीय स्थान दिया गया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में गणिकाओं का समाज में सम्मानजनक स्थान का उल्लेख मिलता है। राजाओं द्वारा उन्हें छत्र, चमर, सुवर्ण घट आदि प्रदान कर सम्मान देने की बात कही गई है। वात्स्यायन के कामसूत्र में वेश्याओं का विशद वर्णन है। वहां वेश्याओं को कुम्भदासी, परिचारिका, कुलटा, स्वैरिणी, नटी, शिल्पकारिका, प्रकाश विनष्टा, रूपाजीवा एवं गणिका—इन नौ भागों में विभक्त किया गया है। इन नौ विभाजनों में सर्वश्रेष्ठ राजा द्वारा पुरस्कृत को कहा गया है।[3] उदान की टीका परमत्थदीपनी में इसे नगरशोभिणी कहा गया है। गणिका तत्कालीन समाज का एक सदस्य मानी जाती थी। आर्थिक एवं राजनैतिक गणों से सम्बन्धित व्यक्तियों की सम्पत्ति मानी जाती थी।[4] मनुस्मृति में गण और गणिका द्वारा दिया हुआ भोजन ब्राह्मणों के लिए अस्वीकार्य बताया गया है।[5] मूलसर्वास्तिवादियों के विनयवस्तु में आम्रपालि को वैशाली के गण द्वारा भोग्य कहा गया है।[6] आचार्य हेमचन्द्र के काव्यानुशासन-विवेक में गणिका की परिभाषा करते हुए कहा गया है—"कलाप्रागल्भ्यधौर्त्याभ्यां गणयति कलयति गणिका।"[7] अतः ऐसा प्रतीत होता है कि सामान्य लोगों के द्वारा गणिका आदरणीय मानी जाती थी। वात्स्यायन के अनुसार वह सुशिक्षित और सुसंस्कृत तथा विविध कलाओं में पारंगत होती थी।[8] गणिका को गणिकाओं के आचार-व्यवहार की शिक्षा-दीक्षा दी जाती थी। गणिकाओं के अभिषेक का वर्णन भी मिलता है।[9] प्रधान गणिका का बड़े ही धूम-धाम से अभिषेक किया जाता था। बृहत्कल्पभाष्य में किसी रूपवती को वशीकरण आदि द्वारा वश में करके उसे गणिका के पद पर नियुक्त करने का उल्लेख मिलता है। नगरशोभिणी का सम्बन्ध किसी खास सम्भ्रान्त पुरुष से होता था। जनसाधारण की उपभोग्य वस्तु वह नहीं होती थी। प्रेमी पुरुष के परदेश-गमन पर वह कुलवधू की तरह विरहिणी व्रत का पालन करती थी। मृच्छकटिक की वसंतसेना, कुट्टिनीमत की हारलता, कथासरित्सागर की कुमुदिका आदि इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं।

साध्वी संघ :—श्रमण महावीर के चतुर्विध संघ में साध्वी संघ का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इनका जीवन भिक्षावृत्ति से चलता था। इन्हें एक अनुशासित एवं नियंत्रित जीवन व्यतीत करना होता था। संघ के विधान के अनुसार ये साध्वियां भिक्षुओं द्वारा आरक्षित होती थीं। कुत्सित आचरणवाले पुरुषों से इनकी रक्षा के लिये इनके निवास स्थान में किवाड़ का प्रबन्ध होता था। कपाट के अभाव में भिक्षु संवरी का कार्य करते थे। किसी भी कारण से साध्वी यदि गर्भवती हो जाती तो उसे संघ से निष्कासित नहीं किया जाता था, अपितु उस पुरुष का पता कर राजा द्वारा दण्ड दिलवाया जाता था जिससे भविष्य में इस प्रकार के दुराचरण की पुनरावृत्ति न हो। परन्तु इसके बावजूद भी साध्वियों के गर्भवती होने की चर्चा आगम ग्रन्थों में प्राप्त है। बौद्ध साहित्य के जातक कथा के मातंग जातक में उल्लेख है कि किसी मातंग ने अपने अंगूठे से अपनी पत्नी की नाभि का स्पर्श किया, और वह गर्भवती हो गई।[10] इसी तरह धम्मपद अट्ठकथा में उप्पलवण्णा के साथ श्रावस्ती के अंधवन में किसी ब्रह्मचारी के द्वारा बलात्कार करने का जिक्र है।[11]

---

१. वैदिक इण्डेक्स—१, पृ० ४५७
२. याज्ञवल्क्यस्मृति १, पृ० ४५७
३. पेन्जर कथासरित्सागर
४. चकलदार-स्टडीज इन वात्स्यायन कामसूत्र—१६६
५. मनुस्मृति—४-२०६
६. विनय वस्तु—१७
७. काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) पृ० ४१८
८. चकलदार-स्टडीज इन वात्स्यायन कामसूत्र पृ० १६८
९. आवश्यक चूर्णी—२६७
१०. मातंग जातक, पृ० ५८६
११. धम्मपद अट्ठकथा २, पृ० ४६-५२

साध्वियों के अपहरण करने का वर्णन भी आगम में मिलता है। कालकाचार्य की साध्वी भगिनी सरस्वती को उज्जैनी के राजा गर्दभिल्ल द्वारा अपहरण कर अन्तःपुर में रखने का वर्णन प्राप्त है। बृहत्कल्पभाष्य में एक कथा आई है जिसमें भृगुकच्छ के एक बौद्धवणिक् ने एक साध्वी के रूपलावण्य से मोहित हो, जैन श्रावक बन, कपट भाव से उन्हें अपने जहाज में चैत्य-वन्दन करने के लिये आमंत्रित किया। साध्वी के जहाज में पैर रखते ही उसने जहाज खुलवा दिया।[1] साध्वियों को चोर उचक्के भी कष्ट पहुंचाया करते थे। इस विपन्नावस्था में साध्वियों को अपने गुह्य स्थान की रक्षा चर्मखण्ड, शाक के पत्ते या अपने हाथ से करने का विधान मिलता है।[2]

जैन आगमों मे साध्वियों को दौत्यकर्म करते हुए भी दर्शाया गया है। ज्ञातृधर्मकथा मे मिथिला की चोक्खा परिव्राजिका का वर्णन मिलता है। उसे वेद शास्त्र तथा अन्य शास्त्रों का पण्डित कहा गया है। वह राजा, राजकुमारो आदि संभ्रान्त परिवारवालों को दानधर्म, शौचधर्म तथा तीर्थाभिषेक का उपदेश करती हुई विचरण करती थी। एक दिन वह अनेक परिव्राजिकाओं के साथ राजा कुम्भक की पुत्री मल्लिकुमारी को उपदेश दे रही थी। उपदेश-क्रम में राजकुमारी द्वारा पूछे कतिपय प्रश्नो का उत्तर न देने के कारण राजकुमारी ने उन्हें अपमानित कर अन्तःपुर से निष्कासित कर दिया। अपमानित हो, चोक्खा परिव्राजिका पञ्चाल देश के राजा जित-शत्रु के पास पहुंची और मल्लिकुमारी के रूप लावण्य का वर्णन कर राजा को उसे प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया।[3] उत्तराध्ययन टीका में एक कथा आई है जिसमें एक परिव्राजिका बुद्धिल की कन्या रयणावाई का प्रेम पत्र ब्रह्मदत्त कुमार के पास ले जाते हुए दिखाया गया है एवं ब्रह्मदत्त कुमार का उत्तर रयणावाई को पहुंचाते बताया गया है।[4] दशवैकालिकचूर्णि मे एक परिव्राजिका को एक युवक का प्रेम-संदेश एक सुन्दरी के पास ले जाते हुए दिखाया गया है। सुन्दरी द्वारा परिव्राजिका अपमानित होती है।[5]

कहीं-कहीं स्त्रियां पति को प्रसन्न करने के लिए अथवा पुत्रोत्पत्ति के लिये भी परिव्राजिकाओं की सहायता लेते देखी जाती हैं। तेयलीपुत्र आमात्य की पत्नी पोट्टिला अपने पति को इष्ट नही थी। वह अपना समय साधु-साध्वियो की सेवा-उपासना में बिताया करती थी। एक दिन सुव्रता नाम की साध्वी पोट्टिला के पास आई। पोट्टिला ने साध्वी की उचित सत्कारोपरान्त निवेदन किया—"आप साध्वी हैं, अनुभवी हैं, बहुश्रुत हैं। मेरे पतिदेव मुझसे अप्रसन्न रहते हैं। कृपया कोई ऐसा उपाय बतायें जिससे मेरे स्वामी मुझ से प्रसन्न रहने लगें तो मैं आपकी कृतज्ञ रहूंगी। यह सुनकर सुव्रता कानो पर हाथ दे वहा से चली गई।[6] इसी तरह एक परिव्राजिका किसी स्त्री को अपने पति को वशीभूत करने हेतु अभिमंत्रित तण्डुल देते दिखाई गई है।[7] सन्तानोत्पत्ति के लिये मंत्र-प्रयोग, विद्या-प्रयोग, वमन, विरेचन आदि का वर्णन भी प्राप्त होता है।[8]

आगम एवं तत्कालीन अन्य ग्रन्थों के अवलोकन के पश्चात् निगमन में कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति, उनका स्थान, सम्मान कालक्रम से घटते-बढ़ते रहे हैं। कहीं तो उनकी प्रचुर प्रशंसा और कही उनकी घोर निन्दा की गई है। स्त्रियों के किसी कार्य विशेष के अवलोकन से उनके सम्बन्ध में मत निर्धारित किया जाता था एवं उसी के आधार पर उनके सम्बन्ध में सामान्य धारणाओं का विकास होता था। उनके आचार-व्यवहार ही उनकी सामाजिक स्वतंत्रता के मापदण्ड थे।

मनु के स्वर मे स्वर मिलाते हुए जैन आगम भी स्त्रियो को अविश्वसनीय, कृतघ्न, धोखाधड़ी करने वाली आदि आदि विशेषणों से विशेषित करते हैं। स्त्रियो को सदा-सर्वदा पुरुषो के नियंत्रण मे रहने का परामर्श दिया गया है। उनकी स्वतन्त्रता उन्हें नाश को प्राप्त कराने वाली कही गई है। स्त्री-चरित्र अमापनीय कहा गया है।

स्त्रियों के सम्बन्ध में इन हीन धारणाओं के साथ ही कुछ प्रशस्ति-वाक्य भी प्राप्त हैं। इन्हे चक्रवर्ती के चौदह रत्नों में एक कहा गया है। श्वे०आगम सर्वोच्चपद (तीर्थंकर) प्राप्त महिला का भी वर्णन करता है। कई स्थानों मे इन्हें पुरुषों को सन्मार्ग पर लाते

---

१. बृहत्कल्पभाष्य—१, २०५४
२. वही—१, २९८६
३. ज्ञातधर्मकथा ८, पृ० १०८-१०
४. उत्तराध्ययन टीका १३, पृ० १९१
५. दशवैकालिकचूर्णी २, पृ० ९०
६. ज्ञातधर्मकथा—१४, पृ० १५१
७. ओघनिर्युक्ति टीका—५९७, पृ० १९३
८. निरयावलि ३, पृ० ४८

हुए दिखाया गया है। स्त्रियों को त्याग भाव से परिपूर्ण दिखाया गया है। त्याग में इनकी तुलना नदी के जल से की गई है जो नाना ग्राम-निगम-जनपदों से प्रवाहित हो समुद्र में मिल कर अपना भिन्नास्तित्व बिल्कुल भुला देता है। नदी के जल की तरह पत्नी भी पति से मिलकर तादात्म्य पा लेती है। वह अपना स्वतंत्रास्तित्व समाप्त कर अर्द्धाङ्गिणी कहलाने लगती है। स्त्री का यह त्याग उसकी महानता का परिचायक है। स्त्रियों के इन गुणों के कारण ही आगम ग्रन्थ उन्हे सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। यहां तक कि गणिका जिन्हें आज का समाज दीन-हीन दृष्टि से देखता है को आज भी आगम ग्रन्थों मे एक विशिष्ट स्थान दिया गया है। इनके महत्त्व और सम्मानसीय सामाजिक स्थान का यहां अत्यन्त मनोरम वर्णन प्राप्त है। आज भारतीय समाज मे स्त्रियों के प्रति विशेषकर लड़कियो के प्रति जो दीन-हीन विचार हैं उनका सर्वथा अभाव वहां दिखता है। कन्या तत्कालीन समाज की भार नही मानी जाती थी। वहां उसके शुभ्ररूप का ही दिग्दर्शन होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि आगम ग्रन्थ स्त्रियो के प्रति सम्मान और समभाव के पक्षपाती रहे हैं। जैन आगमो मे,जहा कही भी स्त्रियों की हीनावस्था का वर्णन मिलता है उसका मात्र उद्देश्य भिक्षुओं में स्त्रियों के प्रति विकर्षण पैदा करना ही है। काम-भोग और आत्मकल्याण की खोज ये दोनो दो छोर हैं। ये सिक्के के दो पहलू माने जा सकते हैं जो एक होकर भी कभी एक दूसरे से नही मिलते। इसलिये अखिल विश्व के प्राणियो के कल्याण हेतु रचित आगम ग्रन्थ काम-भोगों के प्रधान साधन रूप उस नारी की निन्दा न करते तो क्या करते ? ऐसा करने मे उनका मुख्य उद्देश्य विषय-विलास के प्रति वैराग्य उत्पन्न करना था न कि मानव प्राणी में उनके प्रति घृणा का भाव पैदा करना।

आगम साहित्य मे स्त्री का वर्णन वर्तमान भारतीय नर-नारी के लिये अनुकरणीय एवं उपयोगी प्रतीत होता है। पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित, उनके अन्धानुकरण में लीन, विषय विलास के नशे मे चूर भारतीय नवयुवक नवयुवतियां भारतीय परम्पराओं एवं सामाजिक नियमो की अवहेलना कर वासना के पीछे उन्मत्त हो रहे हैं। कविशिरोमणि, संत तुलसीदास ने रामचरितमानस में उनका अत्यन्त ही सच्चा चित्र खींचा है। वहां उन्होंने उनकी दयनीय दशा का वर्णन करते हुए कहा है :—

> नारि बिबस नर सकल गोसाईं, नाचहिं नर मरकट की नाईं।
> गुनमंदिर सुन्दर पति त्यागी, भजहिं नारि पर पुरुष अभागी।

काश ! भारतीय नवयुवक अपनी प्राचीन गरिमा के अनुकूल आगम मे वर्णित आचार-संहिता का अनुपालन करते, जिसके अभाव मे असामाजिक, कुत्सित विचारों का उद्भव हो रहा है, और वे भारतीय समाज को दुर्दशा की ओर अग्रसारित कर रहे हैं। काश ! नारी के सम्बन्ध मे हमारी स्वस्थ धारणाएं बनती। पुनः नारी अपनी प्राचीन खोई प्रतिष्ठा को प्राप्त करती। उन्हें हम सृष्टि की आधारशिला के रूप मे देखते जिनके अभाव में हर रचना अधूरी और हर कला रंगहीन रह जाती है। काश ! "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता" का मंत्र पुनः घर-घर गुंजायमान होता।

भगवान् महावीर स्वामी की जन्मभूमि वैशाली नारी जाति को सम्मान देने के लिए विश्वविख्यात रही है। सम्राट् अजातशत्रु के अमात्य वर्षकार की जिज्ञासा का उत्तर देने के लिए भगवान् बुद्ध ने गृद्धकूट शिखर पर अपने प्रिय शिष्य आनन्द से सात प्रश्न किये थे। 'सत्त अपरिहाणि धम्म' के पाँचवें सूत्र का रोचक सम्वाद इस प्रकार है—

> किन्ति ते आनन्द सुत वज्जी या ता कुलित्थियो कुलकुमारियो ता न आक्कस्स पसय्ह वासेन्ती 'ति ?'
> 'सुतं मे तं भन्ते वज्जी या ता कुलित्थियो ···पे०··· वासेन्ती 'ति।'

'यावकीवञ्ज आनन्द वज्जी या ता कुलित्थियो कुलकुमारियो ता न आक्कस्स पसय्ह वासेस्सन्ति, वुद्धि येव आनन्द वज्जीनं पाटिकङ्खा नो परिहानि।'

श्रमण संस्कृति के उन्नायक महापुरुष वास्तव मे नारी जाति के हितों के शुभचिन्तक थे। इसीलिए उन्होंने अपनी संघ व्यवस्था में नारी को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया था।

☐ सम्पादक

दिल्ली का ऐतिहासिक जैन सार्थवाह : नट्टल साहू

आचार्य श्री कुन्दनलाल जैन

सार्थवाह शब्द की व्याख्या करते हुए अमरकोष के टीकाकार क्षीरस्वामी ने लिखा है 'जो पूंजी के द्वारा व्यापार करनेवाले पान्थों का अगुआ हो वह सार्थवाह है।' प्राचीन भारत की सार्थवाह परम्परा का गुणगान डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस प्रकार किया है, "कोई एक उत्साही व्यापारी सार्थ बनाकर व्यापार के लिए उठता था। उसके सार्थ मे और लोग भी सम्मिलित हो जाते थे जिसके निश्चित नियम थे। सार्थ का उठना व्यापारिक क्षेत्र की बडी घटना होती थी। धार्मिक तीर्थ यात्रा के लिए जैसे संघ निकलते थे और उनका नेता संघपति (संघवई, संघवी) होता था वैसे ही व्यापारिक क्षेत्र में सार्थवाह की स्थिति थी। भारतीय व्यापारिक जगत् में जो सोने की खेती हुई उसके फूले पुष्प चुननेवाले व्यक्ति सार्थवाह थे। बुद्धि के धनी, सत्य में निष्ठावान्, साहस के भंडार, व्यावहारिक सूझ-बूझ में पगे हुए, उदार, दानी, धर्म और संस्कृति मे रुचि रखने वाले, नई स्थिति का स्वागत करने वाले, देश-विदेश की जानकारी के कोष...रीति-नीति के पारखी—भारतीय सार्थवाह महोदधि के तट पर स्थित ताम्रलिप्ति से सीरिया की अन्ताखी नगरी तक, यव द्वीप और कटाह द्वीप से चोलमंडल के सामुद्रिक पत्तनों और पश्चिम में यवन बर्बर देशों तक के विशाल जल थल-पर छा गए थे।"[1]

सार्थवाहों की गौरवशाली परम्परा का शक्तिशाली राज्यो के अभाव, केन्द्रिय सत्ता के बिखराव, जीवन की असुरक्षा एवं अराजकता के कारण लोप होने लगा था। इस समाप्तप्रायः परम्परा मे विक्रम् सम्वत् ११८९ (ई० सन् ११३२) में दिल्ली के एक प्रसिद्ध जैन धर्मानुयायी श्रावक शिरोमणि नट्टल साहू के दर्शन हो जाते हैं।

उनकी प्रशंसा में विबुध श्रीधर नामक अपभ्रंश के श्रेष्ठ कवि ने अपनी "पासणाह चरिउ" नामक सर्वोत्कृष्ट रचना में बड़े गौरव के साथ विभिन्न स्थलों पर उल्लेख किया है। उन्होंने उनके नाम का नट्टल, णट्टलु, नट्टण, नट्टलु, नट्टणु, नट्टुल आदि रूपों में उल्लेख किया है।

अग्रवाल वंशी नट्टल साहू के पिता का नाम जेजा तथा माता का नाम मेमडिय था। जेजा साहू के राघव, सोढ़ल और नट्टल नाम से तीन पुत्र उत्पन्न हुए थे, जिनमे से तृतीय पुत्र नट्टल साहू बडा प्रतापी एवं तत्कालीन् सर्वश्रेष्ठ समृद्ध व्यापारी एवं धार्मिक निष्ठा से परिपूर्ण राजनीतिज्ञ भी था। श्री हरिहर द्विवेदी ने जेजा को नट्टल का मामा लिखा है[1] जो संभवतः कोई और व्यक्ति रहा होगा। इसी तरह उन्होंने नट्टल के प्रशंसक अल्हण को उनका पिता बताया है। यह भी प्रमाणसिद्ध नहीं है क्योंकि कवि विबुध श्रीधर जब हरियाणा से दिल्ली पधारे तो वे अल्हण साहू के यहां ठहरे थे जो तत्कालीन राजमंत्री थे और उन्हे अपनी प्रथम रचना 'चंदप्पह चरिउ' सुनाई थी जिससे प्रभावित होकर अल्हण साहू ने कवि से अनुरोध किया था कि वह नट्टल साहू से अवश्य ही मिले। इस पर कवि ने कहा था कि 'इस संसार में दुर्जनों की कमी नही है और मुझे कहीं अपमानित न होना पड़े इसलिए जाने के लिए झिझक रहा हूं, परन्तु जब अल्हण साहू ने नट्टल साहू के गुणों की प्रशसा की और उसे अपना मित्र बताया तब कविवर अल्हण के अनुरोध पर नट्टल साहू से मिलने गये।

जब नट्टल साहू ने कविवर का उचित सम्मान और आदर किया और श्रद्धाभक्तिपूर्वक उनसे अनुरोध किया कि 'पासणाहचरिउ' की रचना करें तो फिर कविवर ने मार्गशीर्ष कृष्णा अष्टमी रविवार को दिल्ली में सं० ११८९ मे 'पासणाह चरिउ'

१. सार्थवाह लेखक डॉ० मोतीचन्द्र में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की भूमिका से पृ० १
२. वही पृष्ठ २
१. दिल्ली के तोमर, पृ० ७९

की रचना समाप्त की। यह ग्रन्थ इतिहास की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसमें तत्कालीन तोमरवंशी राजा अनंगपाल तथा उसके शासन का प्रामाणिक वर्णन मिलता है। इसके साथ ही तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का भी विस्तृत ऐतिहासिक विवेचन मिलता है। यह अनंगपाल कौन था—द्वितीय या तृतीय, इस पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है।

नट्टल साहू ने दिल्ली में भगवान् श्री आदिनाथ का भव्य मन्दिर बनवाया था और कवि श्रीधर की प्रेरणा से चन्द्रप्रभु स्वामी की प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई थी और मन्दिर पर पंचरंगी ध्वजा फहराई थी। नट्टल साहू जहां समृद्ध और धनी व्यक्ति थे, वहां उदार, धार्मिक एवं परोपकारी जीव भी थे। उनका व्यापार अंग-बंग, कलिंग, गौड, केरल, कर्नाटक, चोल, द्रविड़, पांचाल, सिंध, खस, मालवा, लाट, जट, भोट, नेपाल, टक्क, कोंकण, महाराष्ट्र, भदानक, हरियाणा, मगध, गुर्जर, सौराष्ट्र आदि देशों से होता था तथा वहां के राजा नट्टल साहू का बड़ा भरोसा और आदर करते थे। वे बड़े भारी सार्थवाह थे और हो सकता है, उन्होंने महाराजा अनंगपाल के संदेशवाहक राजदूत के रूप में भी विस्तृत ख्याति अर्जित की हो।

किसी का मत है कि नट्टल साहू ने आदिनाथ की जगह पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया था; किन्तु इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। जो कुछ भी हो, कालान्तर में यह मन्दिर ध्वस्त कर दिया गया जिसके अवशेष अब भी महरौली में कुतुबमीनार के पास उपलब्ध होते हैं। नट्टल को अनंगपाल का मंत्री भी कहा जाता है, पर ऐसा कहीं उल्लेख नहीं है। संभवतया उसके प्रताप एवं समृद्धि के कारण उसे अनंगपाल का मंत्री मान लिया गया हो। नट्टल के बारे में कवि ने निम्न संस्कृत श्लोक भी लिखे हैं—

आसीदत्र पुरा प्रसन्न-वदनो विख्यात-दत्त-श्रुतिः, शुश्रूषादिगुणैरलंकृतमना देवे गुरौ भाक्तिकः।
सर्वज्ञः क्रम-कंज-युग्म-निरतो न्यायान्वितो नित्यशो, जेजाख्योऽखिलचन्द्ररोचिरमलस्फूर्जद्यशोभूषितः॥
यस्यांगजोऽजनि सुधीरिह राघवाख्यो, ज्यायाननंतमतिरञ्जित-सर्व-बोधः।
अधीतकाव्यय-नभोज्ज्वल-पार्वणेंदुः, श्रीमानानेक गुण-रंजित-चारु-चेताः॥
ततोऽभवत्सोढल नामधेयः सुतो द्वितीयो द्विषदप्रमेयः। धर्मार्थकामत्रितये विदग्धो जिनाधिप-प्रोक्तवृषेण मुग्धः॥
पश्चादभूच्छशिमंडल-भासमानः, ख्यातः क्षितीश्वरजनादपि लब्धमानः।
सद्दर्शनामृत-रसायन-पानपुष्टः श्रीनट्टलः शुभमना क्षपितारिदुष्टः॥
तेनेमुत्तमधिया प्रविचिन्त्य चित्ते, स्वप्नोपमं जगदशेषमसारभूतं।
श्रीपार्श्वनाथचरितं दुरितापनोदि, मोक्षाय कारितमितेन मुदं व्यलेखि॥

येनाराध्य विशुद्ध धीरमतिना देवाधिदेवं जिनं,
सत्पुण्यं समुपार्जितं निजगुणैः संतोषिता बांधवाः।
जैनं चैत्यमकारि सुन्दरतरं जैनीं प्रतिष्ठां तथा।
स श्रीमान्विदितः सदैव जयतात्पृथ्वीतले नट्टलः॥

उपर्युक्त श्लोको मे श्री नट्टल साहू की प्रतिष्ठा और विशेषता का ज्ञान सरलता से हो जाता है। श्री नट्टलसाहू तत्कालीन दिल्ली के जैन समाज का एक सर्वप्रमुख श्रेष्ठ ऐतिहासिक पुरुष था जिसकी कीर्ति दिग्दिगंत तक व्याप्त थी।

कविवर विबुध श्रीधर ने अपने ग्रन्थ में नट्टल साहू के विषय में अपभ्रंश में जो कुछ लिखा है, उसे भी मूल रूप में प्रसंगवश यहां उद्धृत करना उपयुक्त होगा जिससे पाठकों को इस श्रेष्ठि श्रावक के चरित्र के उदात्त गुणों और सूक्ष्मातिसूक्ष्म विशेषताओं का परिचय मिल सके और वे उससे प्रेरित हो जाएँ।

तहिं कुल-गयण णवेसिय पयंगु, सम्मत्त विहूसण भूसियंगु।
गुरुभत्ति णविय तेल्लोक-णाहु, विट्ठउ अल्हण णामेण साहु।
तेण वि णिज्जिय कंदप्पहासु, णिसुणेवि चरिउ चंदप्पहासु।
जंपिउ सिरिहर ते धण्णवंत, कुलबुद्धि विहवमाण सिरियवंत।
अणवरउ भमई जगि जाहिं कित्ति, धवलंती गिरि-सायर-धरित्ति।
सा पुणु हवेइ सुकइत्तणेण, वाएण सुएण सुकित्तणेण।

जा अविरल धारहिं जणमण हारहिं दिज्जइ धणु बंदीयणहं।
ता जीव णिरंतरि भुअणब्भंतरि भमइं कित्ति सुंदर जणहं॥

कुलेण विलक्खिउ-समिद्धएण, णय-विणय सुसील-सिणिद्धएण।
कित्तणु विहाइ धरणियलि जाम, सिसिरयर-सरिसु जसु ठाइ ताम।

सुकइत्तें पुणु जा सलिल-रासि, ससि-सूर-मेरु-णक्खत्त-रासि।
सुकइत्तु वि पसरइ भवियणाहँ, संसग्गें रंजिय जण-मणाहँ।

इह जेजा णामे साहु आसि, अइ णिम्मलयर-गुण-रयण-रासि।
सिरि-अयरवाल-कुल-कमल-मित्तु, सुइ-धम्म-कम्म-पवियण्ण-वित्तु।

मेमडिय णाम तहो जाय भज्ज, सीलाहरणालंकिय सलज्ज।
बंधव-जण-मण-संजणिय-सोक्ख, हंसीव उहय-सुविसुद्ध पक्ख।

तहो पढम पुत्तु जण णयण रामु, हुउ आरक्खि तसजीव गामु।
कामिणि-माणस-विद्दवण-कामु, राहउ सव्वत्थ पसिद्ध णामु।

पुणु बीयउ विवुहाणंद-हेउ, गुरु भत्तिए संथुअ अरुह-देउ।
विणयाहरणालंकिय-सरीरु, सोढल-णामेण सुबुद्धि धीरु।

पुण तिज्जउ णंदणु णयणाणंदणु जगे णट्टलु णामे भणिउ।
जिणमइ णीसंकिउ पुण्णालंकिउ जसु बुहेहिं गुण गणु गणिउं॥

जो सुंदरु बीया इंदु जेम, जण-वल्लहु दुल्लहु लोय तेम।
जो कुल-कमलायर-रायहंसु, विहुणिय-चिर-विरइय-पाव-पंसु।

तित्थयरु पयट्टावियउ जेण, पढमउ को भणियइ सरिसु तेण।
जो देइ दाणु बंदीयणाहं, विरएवि माणु सहरिस मणाहं।

पर-दोस-पयासण-विहि-विउत्तु, जो ति-रयण-रयणाहरण-जुत्तु।
जो दितु चउव्विहु दाणु भाइं, अहिणउ बंधू अवयरिउ णाइं।

जसु तणिय कित्ति गय दस दिसासु, जो दितु ण जाणई सउ सहासु।
जसु गुण-कित्तणु कइयण कुणंति, अणवरउ वंदियण जिरु थुणंति।
जो गुण-दोसहं जाणइ वियारु, जो परणारी-रइ णिव्वियारु।
जो रूव-विणिज्जिय-मार-वीरु, पडिवण्ण-वयण-धुर-धरण-धीरु।

सोमहु उवरोहें णिहय विरोहें णट्टलसाहु गुणोह-णिहि।
दीसइ जाएप्पिणु पणउ करेप्पिणु उप्पाइय भव्वयणदिहि॥
तं सुणिवि पयपिउ सिरिहरेण, जिण-कव्व-करण-विहियायरेण।
सव्वउ जं जंपिउ पुरउ मज्झु, पइ सब्भावें बुह मइ असज्झु।

परसंति एत्थु विबुहहं विवक्ख, बहु कवड-कूट-पोसिय सवक्खु।
अमरिस धरणीधर सिर विलग्ग, णर सरूव तिक्ख मुह कण्णलग्ग।
असहिय परणर गुण गरुअ रिद्धि, दुव्वयण हणिय पर कज्ज सिद्धि।
कयणा सा मोडण मत्थ रिल्ल, भूमिउ डिभंगि णिविय गुणिल्ल।

को सक्कइ रंजण ताह चित्तु, सज्जण पयडिय सुअणत्त रित्तु।
तहिं लइ महु किं गमणेण भव्व, भव्वयण बंधु परिहरिय-गव्व।
तं सुणिवि भणिउं गुण-रयण-धामु, अल्हण णामेण मणोहिरामु।
मइ भणिउं काइं पइं अरुहभत्तु, किं मुणहि ण णट्टलु भूरिसत्तु।

जो अम्म-धुरंधर उण्णय-कंधर सुअणे-सहावालंकरिउ।
अणुदिणु णिच्चलमणु जसु बंधवयणु करइ बयणु णेहावरिउ।
जो भव्वभाव पयडण समत्थु, ण कया वि जासु भासिउ णिरत्थु।
णाइण्णइ वयणई दुज्जणाहं, सम्माणु करइ पर सज्जणाहं।
संसग्गु समीहइ उत्तमाहं, जिणधम्म विहाणें णित्तमाहं।
णिच करइ गोट्ठि सहुं बुहयणेहिं, सत्थत्थ-वियारण हिय-मणेहिं।
किं बहुणा तुज्झु समासिएण, अप्पउ अप्पेण पसंसिएण।
महु वयणु ण चालइ सो कयावि, जं भणमि करइ लहु तं सयावि।
तं णिसुणिवि सिरिहरु चलिउ तेत्थु, उववि्ट्ठउ णट्टलु ठाइ जेत्थु।
तेणवि तहो आयहो विहिउ माणु, सपणय तंबोलासण समाणु।
जं पुव्व जम्मि पविरइउ किंपि, इह विहिवसेण परिणवइ तंपि।
बणु एक्क सिणेहे गलिउ जाम, अल्हण णमेण पउत्तु ताम।
भो णट्टल णिरुवम धरिय कुलक्कम, भणमि किंपि पइं परम सुहि।
पर समय परम्मुह अगणिय दुम्मह परियाणिय जिण समय विहि।
कारावेवि णाहेयहो णिकेउ, पविइण्णु पंच वण्णं सुकेउ।
पइं पुणु पइट्ठ पविरइय जेम, पासहो चरित्तु जइ पुणवि तेम।
विरयावहि ता संभवइ सोक्खु, कालंतरेण पुणु कम्ममोक्खु।
सिसरयर-विंबे णिय जणण णामु, पइं होइ चडाविउ चंद-धामु।
तुज्झु वि पसरइ जय जसु रसंत, दस दिसहि सयल असहण हसंतु।
तं णिसुणिवि णट्टलु भणइं साहु, सइवाली पिय मम तणउं णाहु।
भणु खंड रसायणु सुह ह्यासु, रुच्चइ ण कासु हयतणु पयासु।
एत्थंतरि सिरिहरु वुत्त तेण, णट्टलु णामेण मणोहरेण।
भो तहु महु पयडिय णेहभाउ, तुहुं पर महु परियाणिय सहाउ।
तुहुं महु जस सरसीरुह सुभाणु, तुहुं महु भावहि णं गुण-णिहाणु।
पइं होतएण पासहो चरित्तु, आयण्णमि पयडहि पावरित्तु।
तं णिसुणिवि पिसुणिउं कविवरेण, अणवरउ लद्ध-सरसइ-वरेण।
विरयमि गयगावें पविमल भावें तुह वयणें पासहो चरिउ।
पर दुज्जण णियरहिं हयगुण पयरहिं घरु पुरु णयरावरु भरिउ।
इय सिरिपासचरित्तं रइयं बुह-सिरिहरेण गुण-भरियं।
अणुमण्णियं मण्णोज्ज णट्टल-णामेण भव्वेण।
विजयंत-विमाणाओ वम्मादेवीइ णंदणो जाओ।
कणयप्पहु चविऊणं पढमो संधी परिसमत्तो।
राहव साहुहें सम्मत्त-लाहु, संभवउ समिय संसार-दाहु।
सोढल नामहो सयल वि धरित्ति, धवलंति भमउ अणवरउ कित्ति॥
तिण्णि वि भाइय सम्मत्त-जुत्त, जिणभणिय धम्म-विहि करण धुत्त।
महिमेरु जलहि ससि सूरु जाम, सहुं तणुरुहेहिं णंदंतु ताम।
चउविहु वित्थरउ जिणिंद-संघु, परसमय खुद्दवाईहि दुलंघु॥
वित्थरउ सुयजसु भुअणि पिल्लि, तुट्टउ तोडत्ति संसार-वेल्लि।
विक्कम णरिंद सुपसिद्ध कालि, ढिल्ली पट्टणि धण कण विसालि॥
सणवासि एयारह सएहिं, परिवाडिए वरिसहं परिगएहिं।
कसणट्ठमीहिं आगहणमासि, रविवारि समाणिउ सिसिर मासि॥

सिरि पासणाहु जिम्मलु चरित्तु, सयलामल-गुण रयणोह दित्तु।
पणवीस सयइं गंथहो पमाणु, जाणिज्जहिं पणवीसहिं समाणु।
जा चन्द दिवायर महिहु रसायर ता बुहयणहिं पढिज्जउ।
भवियहिं भाविज्जउ गुणहिं थुणिज्जउ वरलेयहिं लिहिज्जउ ।।
इय पासचरित्तं रइयं, बुह-सिरिहरेण गुणभरियं।
अणुमण्णियं मणुज्जं णट्टल-णामेण भव्वेण ।।
पुव्व-भवंतर-कहणो पास-जिणिंदस्स चारु-णिव्वाणो।
जिण-पियर-दिक्ख-गहणो बारहमो संधी परिसम्मत्तो ।।
अहो जण णिच्चलु चित्त करेवि, भिसं विसएसु भमंतु धरेवि।
खणेक्क पयंपिउ मज्झु सुणेहु, कु भावइं सव्वइं होतह णेहु।
इहत्थि पसिद्धउ ढिल्लिहिं ठक्क, णरुत्तमु अवइण्णउं सक्कु।
समक्खमि तुम्हहं तासु गुणाइं, सुरासुर-राय मणोहरणाइं।
ससंक सुहा समकित्तिह धामु, सुरायले किण्णर गाइय णामु।
मणोहर-माणिणि-रंजण कामु, महामहिमालउ लोयहं वामु।
जिणेसर-पाय-सरोय-दुरेहु, विसुद्ध मणोगइ जित्तइ सुरेहु।
समा गुरु भत्तु गिरिंदु व धीरु, सुही-सुहओ जलहिव्व गहीरु।
अदुज्जणु मज्जण सुक्ख-पयासु, वियाणिय मागह लोय पयासु।
असेसहं सज्जण मज्झि मणुज्ज, णरिंदहं चित्ति पयासिय चोज्जु।
महामइवंतहं भावइ तेम, सरोयणराहं रसायणु जेम।
सवंस णहंगण भासण-सूरु, सवधव-वग्ग मणिच्छिय पूरु।
सुहोह पयासणु धम्मुय मुत्तु, वियाणिय जिणवर आयमसुत्तु।
दयालय वट्टण जीवण बाहु, खलाणण चव पयासण राहु।
पिया अइ वल्लह वाल्हिे णाहु
बहुगुणगणजुत्तहो जिणपयभत्तहो जो भासइ गुण नट्टलहो।
सो पयहिं णहगणु रमिय वरगणु लभइ सिरिहर हय खलहो ।।

पंचाणुव्वय धरणु स सयल सुअणहं सुहकारणु। जिणमय पह संचरणु विसम विसयासा वरणु ।।
मूढ-भाव परिहरणु मोहमहिहर-णिद्दारणु । पाव-विल्लि णिद्दलणु असम सल्लहं ओसारणु ।।
वच्छल्ल विहाण पविहाणय वित्थरणु जिण-मुणि-पय-पुज्जाकरणु। अहिणदउ णट्टल साहु चिरु विवुहयणहं मण-धण-हरणु ।।
दाणवंतु तंकि दंति धरिय तिरयणि त कि सेणिउं। रूववंतु कि मय तिजय तावणु रइ भाणिउ ।।
अइगहीरु त कि जलहि गरुय लहरिहि हय मुखहु। अइ थिरयरु त कि मेरु वप्प वय रहियउ त कि नहु ।।
णउ दंति न सेणिउं नउ मयणु ण जलहि मेरु ण पुणु न नहु। सिक्खिवु साहु जेजा तणउं जगि नट्टलु सुपसिद्ध इहु ।।
अंग-बंग-कालिंग-गउड़-केरल-कण्णाडहं। चोड-दविड-पंचाल-सिंधु-खस-मालव-लाडहं ।।
जट्ट-भोट्ट-णेवाल-टक्क-कुंकण-मरहट्टहं। भायाणय-हरियाण-मगह-गुज्जर-सोरट्ठहं ।।
इय एवमाइ देसेसु णिरु जो जाणियइ नरिंदहिं। सो नट्टलु साहु न वण्णियइ कहि सिरिहर कइ विंदहिं ।।
दहलक्खण जिण-भणिय-धम्मु धुर धरणु वियक्खणु। लक्खण उवलक्खिय सरीरु परचित्तु व लक्खणु ।।
सुहि सज्जण बुहयण विहीउ सोसालंकरियउ। कोह-लोह-मायाहि-माण-भय-मय-परिरहियउ ।।
गुरुदेव-पियर-पय-भत्तियरु अयरवाल-कुल-सिरि-तिलउ। णदउ सिरि णट्टलु साहु चिरु कइ सिरिहर गुण-मण-निलउ ।।
महिर-घोसु नवजलहरुव्व सुर-सेलु व धीरउ। मलभर रहियउ महयलुव्व जलणिहि व गहीरउ ।।
चिंतियपर चिंतामणिव्व तरणि व तेइल्लउ। माणिणि-मणहर रइवरुव्व भव्वयण पियल्लउ ।।
गंभीउ व गुणगणमण्डिउ परिनिम्महिय अलक्खणु। जो सो वण्णियइं न केउ ण भणु नट्टलु साहु सलक्खणु ।।

जैन मन्दिरों के शासकीय अधिकार

श्री लालचन्द जैन, एडवोकेट

भारतवर्ष का अल्पसंख्यक जैन समाज अपनी समर्पित निष्ठा एवं धर्माचरण के लिए इतिहास में विख्यात रहा है। जैन-धर्मानुयायियों ने अपने आचरण एवं व्यवहार में एकरूपता का प्रदर्शन करके भारतीय समाज के सभी वर्गों का स्नेह अर्जित किया है। इतिहास में कुछ अपवाद भी होते हैं। कभी-कभी कट्टर शासक सत्ता में आ जाते हैं और वे राजसत्ता का प्रयोग अपने धर्म प्रचार के लिए करते हैं। इस प्रकार के धर्मान्ध शासन में अन्य धर्मावलम्बियों की धार्मिक मान्यताओं पर प्रहार भी किया जाता है।

जैन आचार्यों एवं मुनियों ने सदा से प्राणीमात्र के कल्याण के लिए अपना पावन सन्देश दिया है। हृदय की गहराई से निकली हुई भावना समादर की दृष्टि से देखी जाती है। मुनि हीरविजय सूरि एवं उनके शिष्यों के अनुरोध पर मुगल सम्राट् जलालुद्दीन अकबर ने मिती ७ जमादुलसानी सन् ९९२ हिजरी को एक फ़रमान जारी कर पजूषण (पर्यूषण) के १२ दिनों में जीव हिंसा पर प्रतिबन्ध लगा दिया था।

मेवाड़ के शासक जैन मन्दिरों को अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। जैन समाज भी मन्दिरों की पवित्रता को बनाए रखने के लिए निश्चित आचार संहिता का कड़ाई से पालन करता था। इस दृष्टि से महाराजा श्री राजसिंह का आज्ञा-पत्र जैन समाज के लिए एक स्वर्णिम दस्तावेज है। कर्नल टॉड कृत 'राजस्थान' नामक ग्रन्थ मे आज्ञा पत्र का अविकल पाठ इस प्रकार से है—

महाराणा श्री राजसिंह मेवाड़ के दस हजार ग्रामों के सरदार, मंत्री और पटेलों को आज्ञा देता है। सब अपने-अपने पद के अनुसार पढ़े!

१. प्राचीन काल से जैनियों के मन्दिर और स्थानों को अधिकार मिला हुआ है इस कारण कोई मनुष्य उनकी सीमा (हद) में जीववध न करे यह उनका पुराना हक है।

२. जो जीव नर हो या मादा, वध होने के अभिप्राय से इनके स्थान से गुजरता है वह अमर हो जाता है (अर्थात् उसका जीव बच जाता है।)

३. राजद्रोही, लुटेरे और कारागृह से भागे हुए महापराधियों को जो जैनियो के उपासरे में आकर शरण लें, राजकर्मचारी नहीं पकड़ेंगे।

४. फसल में कूंची (मुठ्ठी), कराना की मुठ्ठी, दान की हुई भूमि, धरती और अनेक नगरों में उनके बनाये हुए उपासरे कायम रहेंगे।

५. यह फरमान ऋषि मनु की प्रार्थना करने पर जारी किया गया है जिसको ११ बीघे धान की भूमि के और २५ मलेटी के दान किये गये हैं। नीमच और निम्बाहीर के प्रत्येक परगने में भी हरएक जाति को इतनी ही पृथ्वी दी गई है अर्थात् तीनों परगनों मे धान के कुल ४५ बीघे और मलेटी के ७५ बीघे।

इस फरमान के देखते ही पृथ्वी नाप दी जाय और दे दी जाय और कोई मनुष्य जतियों को दुःख नहीं दे, बल्कि उनके हकों की रक्षा करे। उस मनुष्य को धिक्कार है जो उनके हकों को उल्लंघन करता है। हिन्दू को गौ और मुसलमान को सूअर और मुर्दार की कसम है॥ (आज्ञा से)

सम्वत् १७४९ महसूद ५ वीं, ईस्वी सन् १६९३।

शाह दयाल (मंत्री०)

जयपुरी-कलम का एक सचित्र विज्ञप्ति लेख

—श्री भंवरलाल नाहटा

जैन धर्म में गुरुओं को अपने नगर में चातुर्मास के हेतु आमन्त्रित करने मे विज्ञप्ति-पत्र प्रेषण की प्रथा बड़ी ही महत्त्वपूर्ण रही है।[1] इसी प्रसंग से काव्य-कला व चित्र-कला को भी खूब प्रोत्साहन मिला। फलत. परिवर्तनशील जगत् के तत्कालीन नगरों, इमारतों, देवालयों, बगीचों तथा विशिष्ट व्यक्तियो के सुन्दर चित्र भी सुरक्षित रह गये। इनके माध्यम से हम अतीत के रीति-रिवाज, संस्कृति और रहन-सहन आदि सभी बातों का ज्ञान फिल्म की तरह चक्षुगोचर कर सकते हैं। इस प्रकार के विज्ञप्ति-पत्रों को चित्रित करने में चित्रकारों को महीनों का समय लगता था, तब जाकर सौ-सौ फीट लम्बे टिप्पणक विज्ञप्ति-पत्र बनते। तत्पश्चात् विद्वान् लोग अपनी काव्य-प्रतिभा की चमत्कार-पूर्ण अभिव्यक्ति किया करते, विज्ञप्ति-लेख लिख कर। ये विज्ञप्ति-लेख दो प्रकार के हुआ करते, एक तो मुनिराजो के क्षामणा पत्र, जिनमे चातुर्मास के समय धर्म-ध्यान की विविध प्रवृत्तियो व तीर्थयात्रा आदि का विशद वर्णन होता। दूसरे प्रकार के गुरुगुण-वर्णात्मक लेख रहता और श्रावक-संघ के द्वारा अपने नगर मे पधारने का आमन्त्रण लिखा हुआ रहता, जिसमें प्रधान श्रावकों के हस्ताक्षर भी अवश्य रहते। सचित्र-विज्ञप्ति-पत्रो मे दूसरे प्रकार के विविध चित्रमय ही अधिक मिलते हैं। ऐसे विज्ञप्ति-पत्रों का परिचय प्रकाशित करने से इतिहास के रिक्त पृष्ठो पर स्वर्ण-लेख आलोकित हो जाएगा। अत: यह चित्र-समृद्धि वाले पत्र जिनके भी पास या जानकारी मे हो, उनका परिचय प्रकाशित करने का अनुरोध किया जाता है। उपलब्ध सचित्र-विज्ञप्ति-पत्रों में सबसे पहला पत्र जहांगीर कालीन विजयसेन सूरि का है। जैन सचित्र-विज्ञप्ति पत्रो के सम्बन्ध मे बडोदा से प्राचीन विज्ञप्ति पत्र नामक सचित्र ग्रंथ भी प्रकाशित हो चुका है।

कलकत्ता जैन समाज के अग्रगण्य धर्मिष्ठ श्रीयुत् स्व० सुरपतसिंह जी साहब दूगड के सग्रह मे अजीमगंज से प्रेषित २०वीं शताब्दी का एक सचित्र-विज्ञप्ति-पत्र है जो मुनिराज श्री रत्नविजय जी की सेवा मे ग्वालियर भेजा गया था। चित्रकला की दृष्टि से यह विज्ञप्ति-पत्र बड़ा सुन्दर और कला-पूर्ण है। इसमे एक विचित्रता तो यह है कि अजीमगंज से भेजा हुआ विज्ञप्ति-पत्र होते हुए भी उसमें इस स्थान का कोई नाम तक नही है। केवल सही करने वाले श्रावकों के नाम ही, इस स्थान का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि यह विज्ञप्ति पत्र बंगाल से मध्य प्रदेश—ग्वालियर—को भेजा गया था। इस विचित्रता का कारण यही मालूम देता है कि यह चित्रमय विज्ञप्ति-पत्र राजस्थान के कला-प्रधान सुरम्य नगर जयपुर से चित्रित करवाकर व लिखवाकर मगवाया गया था, जिसे बिना किसी परिवर्तन व सम्वत् मिति लिखे, केवल श्रावको की सहिया करके मुनिश्री को भेज दिया गया था। वह विज्ञप्ति-पत्र १६ फुट लम्बा व ११½ इंच चौड़ा है। इसका यहां संक्षिप्त परिचय कराया जाता है।

इस विज्ञप्ति-पत्र मे सर्वप्रथम मंगलमय पूर्ण कलश का चित्र अंकित है जिसको पुष्पहार पहनाया हुआ है एवं ऊपर फूलो की टहनी लगी हुई है। दूसरा चित्र छत्र का है, जिसकी छाया मे दो चामरधारी पुरुष व दो स्त्रियाँ हैं, जिनके हाथ में मयूर-पिच्छिकाएं हैं। तत्पश्चात् अष्ट मागलिक के चित्र बने हुए हैं। फिर चतुर्दश-महास्वप्नो के नयनाभिराम चित्र हैं। सूर्य के चित्र में न मालूम किसके लिये व्याघ्र चित्रित किया गया है। इन महास्वप्नो की दर्शिका श्री त्रिशला माता लेटी हुई दिखलाई है। जिन माता के पलग के निकट चार परिचारिकाएं खड़ी हुई हैं तथा एक सिरहाने की ओर बैठी हुई है। चित्रकार ने उद्यान के मध्य में सिद्धार्थ राजा का महल बनाया है। जयपुर के किसी सुन्दर महल से इसकी समता की जा सकती है। तदुपरान्त एक जिनालय का चित्र है, जिसमें मूलनायक श्री पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा विराजमान है, सभामंडप मे सात श्रावक खड़े-खड़े प्रभु-दर्शन कर रहे हैं, तीन श्रावक पंचांग-नमस्कार द्वारा चैत्यवन्दना करते हुये दृष्टिगोचर होते हैं। एक श्रावक मंदिर जी की सीढ़ियो पर चढ़ता हुआ एवं दो व्यक्ति बाहर निकलते हुए

१. श्वेताम्बर जैन समाज मे सांवत्सरिक पर्व के अवसर पर दूरवर्ती गुरुजनो को क्षमापत्र (खमापणा) भेजने की परिपाटी रही है। कालान्तर में किसी मुनि या आचार्य को चातुर्मास के लिए आमन्त्रित करने के लिए विज्ञप्ति-पत्र का उपयोग होने लगा। दिगम्बर जैन समाज में विज्ञप्ति पत्रों का प्रचलन नहीं है तथा मुनि एवं आचार्य को निमन्त्रित करने के लिए श्रावकगण श्रीफल भेंट करते हैं।

☐ सम्पादक

बतलाये हैं। यह जिनालय, एक सुन्दर वाटिका में है जो आम, केला, अशोक, झाऊ आदि के वृक्षों तथा श्वेत लाल रंग के पुष्पों-पौधों से सुशोभित है। मंदिर जी का मुखद्वार बड़ा विशाल व प्रतोलीद्वार दुमंजिला है, जिसकी इमारत में गवाक्षों के रंगे हुए कट कड़े, जाली तथा अवशिष्ट भाग श्वेत भूमिका पर सुनहरे काम के सुन्दर चित्र बने हुए हैं। प्रतोली का द्वार खुला हुआ और दूसरा द्वारा बन्द किया हुआ है। द्वार के आगे दाहिनी ओर चार व बायें तरफ आठ, कुल मिलाकर बारह संतरी पहरा दे रहे हैं। ये लोग नीले रंग की वर्दी पहिने व हाथ मे संगीन लिये तैनात हैं, इसके बाद पाँच हाथियों के चित्र हैं जिनका सौन्दर्य व वस्त्राभरण दर्शनीय है, तीन हाथियों पर अम्बाड़ी व एक पर खुला हौदा प्रक्षरित है, जिस पर पताकाएं हैं। दूसरे पर बन्द पड़दे वाली जनानी-अम्बाड़ी है। तीसरे पर स्याम मुखवण्ड माहे-मुरातब है, जो जयपुर का शाही सम्मान सूचक चिह्न है। सभी हाथियों पर महावत हैं पर एक पर दो व्यक्ति दूसरे भी बैठे हुए हैं। इस पर पंचवर्णी ध्वजा-पताका लहरा रही है। इस चित्र मे दो व्यक्ति भूमि पर खड़े हुए हैं, जो प्रहरी मालूम देते हैं। इसके बाद अश्वमडली का चित्र है, इनमें दो श्वेत और दो नीले रंग के घोड़े हैं, एक सवार बैठे हुए हैं और तीन घोड़ों की लगाम थामे खड़े हैं। एक सवार अपने आगे धारण किए हुए डके पर चोट दे रहा है। दूसरे दोनों सवार छड़ीदार और पताका धारी मालूम होते हैं, चार ऊंटों की ओठी (सवार) बन्दूक धारण किये हुए हैं। कुल ६ ऊंट है। इसके बाद बड़े चित्र में सेना दिखाई है, इसमें अग्रगामी ६ व्यक्ति फौजी बैण्ड (वाजित्र) के १५ सैनिक हैं, जिनके ब्लू रंग की पोशाक पहनी हुई है। तदुपरान्त पालकी, रथ, ऊंट व घुड़सवार भी हैं। दो व्यक्ति पालकी के आगे व चार व्यक्ति रथ के आगे-आगे चल रहे हैं। एक रथ का केवल जोत दीखता है, उसके बैल आराम से बैठे हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इसके बाद वाले चित्र मे चार वाद्य-यंत्र-धारी खड़े हैं और दो नर्तकियाँ नृत्य कर रही हैं। इसकी पृष्ठ भूमि में वाटिका और एक कोठी है। आगे के चित्र में मुनिराज के स्वागतार्थ श्राविका संघ गज-गामिनी चाल से आता हुआ बताया है, जिसकी अग्रेश्वरी श्राविका के मस्तक पर मंगल के लिए पूर्ण-कलश धारण किया हुआ है।

अब शहर की प्राचीर देखिये—इसका रंग गुलाबी है तथा प्रतोली द्वार की शुभ्र धवल मिती पर स्वर्णमय काम बड़ा ही रमणीक है। प्रतोली द्वार के मध्य में राजसी-वस्त्रो के ठाठ मे एक प्रभावशाली व्यक्ति हाथ जोड़े खड़ा है। सामने मुनिराज अपनी शिष्य मंडली के साथ पधार रहे हैं। श्री रत्न-विजय जी महाराज के साथ ११ साधु हैं। ये सभी साधु पीतवस्त्रधारी हैं और रजोहरण और मुख-वस्त्रिका धारण किये हुए हैं। आश्चर्य यह है कि चित्रकार ने इनका चोलपटा भी श्वेत के स्थान में पीला बना दिया है। मुनि श्री के स्वागतार्थ श्रावक उपस्थित हैं। इसके बाद चित्र किसी कोठी का है, जो बगीचे के मध्य में है। मुनि श्री रत्न विजय जी यहां आकर तख्त पर विराजमान हुए हैं। उनके पीछे बड़ा-सा तकिया दिखाया है, जो चित्रकार की साध्वाचार अनभिज्ञता का द्योतक था यति-समाज मे प्रचलित प्रथा के विपरीत है। मुनि श्री के समक्ष स्थापनाचार्य जी विराजमान हैं। श्रावक-श्राविकाओं ने स्वर्णमय बहुमूल्य मोती-माणक आदि जवाहरात के आभूषण तथा रेशमी व जरी के वस्त्र पहने हुए हैं। कोठी की छत पर चार कन्याओं के झांकते हुए मुख दिखाई देते हैं। इसके बाद मुनिश्री के पृष्ठ भाग में एक लघु शिष्य खड़ा है। चौक मे १५ श्रावक व १४ श्राविकाएं दाहिने व बायें तरफ बैठे हुए व्याख्यान श्रवण कर रहे है। इसके बाद के चित्र मे वाटिका के मध्यस्थ फर्श का एक भाग बताया है, जिस पर आठ व्यक्ति गाते-बजाते हुए बैठे हैं, जो गधर्व लोग मालूम देते हैं, दो व्यक्ति खड़े हैं। अब अन्तिम चित्र १५½ इंच लम्बा व १०½ इंच चौड़ा जयपुर नगर का है जिसका संक्षिप्त परिचय कराया जाता है।

इस चित्र में जयपुर नगर की प्राचीर (परकोटा शहरपनाह) का भाग सामने दो तरफ का दिखलाया है। नगर के चार दरवाजे चांदपोल, सांगानेर दरवाजा, घाट दरवाजा आदि दिखाये हैं। चौरास्ते की तीन चौपड़ होने के कारण मकानों की श्रेणियां आठ भागों में विभक्त हो गई हैं। मकानों की इन श्रेणियों में गुलाबी, हरे, नीले व पीले रंग दो-दो दिखाये हैं। इस चित्र की सूक्ष्मता में चित्रकार ने कमाल कर दिखाया है। इतने छोटे चित्र में वृक्ष, नर-नारी, हाथी घोड़े, इक्के आदि से जयपुर का राजमार्ग बड़ी कुशलता से चित्रित किया है। इसमें तीन चौपड़, सरगासूली (ईसरलाट), जलमहल, सिरेड्योढी, त्रिपोल्या, जौहरी बाजार, हवामहल आदि इमारतें देखते ही खूब आसानी से पहिचानी जाती हैं। नगर का बाह्य भाग भी घनघोर जंगल के हरिताभ वातावरण से परिपूर्ण है। सांगानेरी दरवाजे के सामने वाले भाग में मंदिर, तम्बू, डेरा आदि भी दृष्टिगोचर होते हैं। सामने मोती डूंगरी रानी जी का महल आदि तथा नगर के पृष्ठ भाग मे नाहरगढ़, जयगढ़ और आमेर महल आदि के पहाड़ी दृश्य बड़े ही मनोरम हैं। सबसे ऊंचे भाग में दुर्ग के प्रोलि-प्राकार व परकोटा तथा दुर्ग के कापिशीर्षक दिखाई दे रहे हैं। गढ़ का गणेश, सूर्य मंदिर, गलता, मोहनबाड़ी आदि दर्शनीय स्थान, वाटिका व तालाब आदि का चित्रण करके चित्रकार ने जयपुरी चित्रकला का अच्छा परिचय दिया है।

चित्रों की समाप्ति के बाद विज्ञप्ति-लेख की बारी आती है, जिसकी प्रारंभिक पंक्तियां इस प्रकार है :

श्रीमत्पार्श्वे जिनेन्द्र-पाद-कमल-ध्यानैकतानाः सदा
श्रेष्ठ-ध्यान-गुणोऽतिरक हृदयाः षट्-कायिका सेवकाः

पीयतार्थ विज्ञायकाः निखिल सार्वज्ञाणमाख्यातिणी,
व्याख्यातारमूल सर्वदेन नितरां धर्मांकुरोत्पादकाः ॥१॥
सत्सिद्धान्त विचार-दक्ष-मतयो दीप्तोविशीर्षा युताः
पालक-दंभ वाहने अग्नि-सदृशा श्री-संघ-संपूजिताः'''॥

उपर्युक्त लेख में यह विज्ञप्ति, किस संवत मिती में, कहां से भेजा गया, निर्देश नहीं है पर श्रावकों की हस्ताक्षर नामावली से इसे अजीमगंज से भेजा गया निश्चित होता है। जिन प्रधान-श्रावकों के नाम इसमें हैं, उनके वंशज आज भी विद्यमान हैं। श्री सुरपत सिंह जी दूगड जिनके संग्रह में यह विज्ञप्ति लेख है, सर्व प्रथम सही करने वाले सुप्रसिद्ध लक्ष्मीपत सिंह धनपति सिंह आदि के वंशज हैं उनसे पूछने पर इस लेख का समय सं० १४३० के लगभग का विदित हुआ। लेख जिन्हें भेजा गया वे पन विजय जी अपने समय के विद्या पात्र व प्रभावशाली जैन मुनि थे। हमारे संग्रह में उनके कतिपय पत्र विद्यमान हैं।

यह सचित्र विज्ञप्ति पत्र ऐसे विज्ञप्ति पत्रों का एक अन्तिम नमूना है। इसके बाद का कोई सचित्र-विज्ञप्ति-लेख हमारे अवलोकन में नहीं आया। लेख अधिक बड़ा न होने पर भी चित्रकला की दृष्टि से भी बड़ा ही मूल्यवान है। लेख से उस समय की भक्ति-भावना का चित्र-सा उपस्थित हो जाता है। जयपुर के दाधीच नानूलाल ने इस लेख का निर्माण किया। चित्रकार का नाम नहीं पाया जाता, पर यह किसी कुशल कलाकार की कृति है।

जयपुर के कुशल चित्रकार गणेश मुसव्वर के बनाये हुए सुन्दर चित्र कलकत्ते के जैन श्वेताम्बर पंचायती मंदिर में लगे हुए हैं, जो कि संवत् १६-२५ से १६-३५ के मध्य बने हुए हैं। इन चित्रों व सुप्रसिद्ध राय बद्रीदास जी के मंदिर के विशाल चित्रों का परिचय फिर कभी कराया जाएगा। जयपुर की चित्रकला का दूर-दूर तक कितना आदर था, यह कलकत्ते के इन चित्रों से सुस्पष्ट है। जैन मंदिरों में चित्र करने के लिए जयपुर के चित्रकारों को कलकत्ते तक में बुलाया जाता था।

श्रमण धर्म

ज्ञातृपुत्र महावीर को श्रमणधर्मा कहा गया है। प्राचीन भारतीय श्रमण धर्म की वास्तविक परम्परा जैसी महावीर के साधना-प्रधान धर्म मे सुरक्षित पाई जाती है वैसी अन्यत्र नहीं। किन्तु इस श्रम का व्यापक अर्थ था। शरीर का श्रम श्रम है। बुद्धि का श्रम परिश्रम है। आत्मा का श्रम आश्रम है। एकतः श्रम श्रमः। परितः श्रम परिश्रमः। आ समन्तात् श्रमः आश्रमः। एक मे जो शरीर मात्र से अधूरा या अवयव श्रम किया जाता है वह श्रम है। एक में जो मन और शरीर की सहयुक्त शक्ति से पूरा श्रम किया जाता है, वह परिश्रम है। और सबके प्रति चारों ओर प्रसृत होनेवाला जो श्रम भाव है वह आश्रम कहलाता है। ये तीन प्रकार के मानव होते हैं। केवल जो श्रमिक हैं, वे सीमित, जड़-भावापन्न, दु:खी और क्लान्त रहते हैं। जो अपने केन्द्र में जागरूक शरीर और प्रज्ञा से सतत प्रयत्नशील रहते हैं वे दूसरी उच्चतर कोटि के प्राणी हैं। वे सुखी होते हुए भी स्वार्थनिरत होते हैं। किन्तु तीसरी कोटि के उच्चतम प्राणी वे हैं जिनके मानस केन्द्र की रश्मियो का वितान समस्त विश्व में फैलता है और जिनका आत्मभाव सबके दु:ख-सुख को अपना बना लेता है। ऐसे महानुभाव व्यक्ति ही सच्चे मानव हैं। वे ही विश्वमानव, महामानव या श्रेष्ठ मानव होते हैं। ऐसे ही उदार मानव सच्ची श्रमण-परम्परा के प्रतिनिधि और प्रवर्तक थे। वे किसी निजी स्वार्थ या सीमित स्वार्थ की प्राप्ति या भोगलिप्सा के लिये अरण्यवास नही करते थे, वह सुख स्वार्थ तो उन्हें गृहस्थ जीवन में भी प्राप्त हो सकता था। अनन्त सुख की संयम द्वारा उपलब्धि ही श्रमण जीवन का उद्देश्य था जिसमे समस्त सीमा-भाव विगलित हो जाते हैं। काश्यप महावीर द्वारा प्रवेदित धर्म एवं शाक्य-श्रमण गौतम द्वारा प्रवेदित धर्म दोनों इस लक्ष्य में एक सदृश हैं। दार्शनिक जटिलताओं को परे रखकर मानवता की कसौटी पर दोनों पूरे उतरते हैं।

☐ डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल
वैशाली-अभिनन्दन-ग्रन्थ से साभार

मोहन-जो-दड़ो : जैन परम्परा और प्रमाण

—एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द जी

भारतीय जैन शिल्पकला का प्रयोजन क्या है और क्यों इसका इतना विकास हुआ—यह एक ऐसा विषय है, जिस पर काफी उन्मुक्त और युक्तियुक्त विचार होना चाहिये। जैनधर्म और दर्शन वैराग्यमूलक हैं। उनका सम्बन्ध अन्तर्मुख सौन्दर्य से है; किन्तु यह जिज्ञासा सहज ही मन में उठती है कि क्या अन्तर्मुख सौन्दर्य की कोई बाह्य अभिव्यक्ति संभव नहीं है? क्या कोई काष्ठ, धातु या पाषाण-खण्ड अपने आप बोल उठता है? संभव ही नहीं है; क्योंकि यदि किसी पाषाण-काष्ठ-खण्ड आदि को शिल्पाकृति लेनी होती तो वह स्वयं वैसा कभी का कर चुका होता; किन्तु ऐसा है नहीं। बात कुछ और ही है। जब तक कोई साधक/शिल्पी अपनी भव्यता को पाषाण में लयबद्ध/तालबद्ध नहीं करता, तब तक किसी भी शिल्पाकृति में प्राण-प्रतिष्ठा असंभव है। काष्ठ, मिट्टी, पत्थर, कांसा, तांबा—माध्यम कोई भी हो—चेतन की तरंगों का रूपांकन जब तक कोई शिल्पी उन पर नहीं करता, वे गूंगे बने रहते हैं।

मूर्ति जैनों के लिए साधना-आराधना का आलम्बन है। वह साध्य नहीं है, साधन है। उसमें स्थापना निक्षेप से भगवत्ता की परिकल्पना की जाती है। शिल्पी भी वही करता है। मोहन-जो-दड़ो में जो सीलें (मुद्राएँ) मिली हैं, वे भी साधन हैं, साध्य नहीं हैं; मार्ग हैं, गन्तव्य नहीं हैं; किन्तु शिल्प और कला, वास्तु और स्थापत्य के माध्यम इतने सशक्त हैं कि उनके द्वारा परम्परा और इतिहास को प्रेरक, पवित्र और कालातीत बनाया जा सकता है।

जैन स्थापत्य और मूर्ति-शिल्प का मुख्य प्रयोजन आत्मा की विशुद्धि को प्रकट करना और आत्मोत्थान के लिए एक व्यावहारिक एवं सुमधुर भूमिका तैयार करना है, इसलिए सौन्दर्य, मनोज्ञता, प्रफुल्लता, स्थितप्रज्ञता, एकाग्रता, आराधना, पूजा आदि के इस माध्यम को हम जितना भी यथार्थमूलक तथा भव्य बना सकते हैं, बनाने का प्रयत्न करते हैं। इनमें भगवान् भला कहाँ है ? कैसे हो सकते हैं ? फिर भी हैं और हम उन्हें पा सकते हैं। मूर्ति की भव्यता इस मे है कि वह स्वय साधक मे उपस्थित हो और साधक की सार्थकता इसमें है कि वह मूर्ति में समुपस्थित हो। इन दोनों के तादात्म्य मे ही साधना की सफलता है।

मोहन-जो-दड़ो से प्राप्त सीलों (मुद्राओ) की सब से बड़ी विशेषता है कला की दृष्टि से उनका उत्कृष्ट होना। शरीर-गठन और कला-संयोजन की सूक्ष्मताओं और सौन्दर्य की सतुलित अभिव्यक्ति ने इन सीलों को एक विशेष कला-सपूर्णता प्रदान की है। बहुत सारे विषयो का एक साथ सफलतापूर्वक संयोजन इन सीलो की विशेषता है।

उक्त दृष्टि से भारत सरकार के केन्द्रीय पुरातात्त्विक सग्रहालय मे सुरक्षित सील क्र० ६२०/१६२८-२६ समीक्ष्य है। इसमे जैन विषय और पुरातथ्य को एक रूपक के माध्यम से इस खूबी के साथ अंकित एव समायोजित किया गया है कि वे जैन पुरातत्त्व और इतिहास की एक प्रतिनिधि निधि बन गये हैं। न केवल पुरातात्त्विक अपितु इतिहास और परम्परा की दृष्टि से भी इस सील (मुद्रा) का अपना महत्त्व है।

इसमे दायीं ओर नग्न कायोत्सर्ग मुद्रा मे भगवान् ऋषभदेव हैं, जिनके शिरोभाग पर एक त्रिशूल है, जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) का प्रतीक है। निकट ही नतशीश है उनके ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत, जो उष्णीष धारण किये हुए राजसी ठाठ मे हैं। वे भगवान् के चरणो म अजलिबद्ध भक्ति-पूर्वक नतमस्तक हैं। उनके पीछे वृषभ (बैल) है, जो ऋषभनाथ का चिह्न (पहचान) है। अधोभाग मे सात प्रधान अमात्य हैं, जो तत्कालीन राजसी गणवेश मे पदानुक्रम से पंक्तिबद्ध हैं।

चक्रवर्ती भरत सोच रहे हैं · 'ऋषभनाथ का अध्यात्म-वैभव और मेरा पार्थिव वैभव !! कहाँ है दोनो में कोई साम्य ? वे ऐसी ऊँचाइयो पर हैं जहाँ तक मुझ अकिंचन की कोई पहुच नही है।' भरत की यह निष्काम भक्ति उन्हे कमल-दल पर पड़े ओस-बिन्दु की भाँति निर्लिप्त बनाये हुए है। वे आकिंचन्य-बोधि से धन्य हो उठे हैं।

'सर्वार्थसिद्धि' १-१ (आचार्य पूज्यपाद) मे कहा है . 'मूर्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तम्' (वे निःशब्द ही अपनी देहाकृति मात्र से मोक्षमार्ग का निरूपण करने वाले हैं)। शब्द जहाँ घुटने टेक देता है, मूर्ति वहाँ सफल संवाद बनाती है। मूर्ति भक्ति का भाषातीत माध्यम है। उसे अपनी इस सहज प्रक्रिया मे किसी शब्द की आवश्यकता नही है। उसकी अपनी वर्णमाला है, इसीलिए मिट्टी, पाषाण आदि को आत्मसंस्कृति का प्रतीक माना गया है।

कौन नहीं जानता कि मूर्ति पाषाण आदि मे नहीं होती, वह होती है वस्तुत· मूर्तिकार की चेतना मे पूर्वस्थित जिसे कलाकार क्रमश: उत्कीर्ण करता है अर्थात् वह काष्ठ आदि के माध्यम से आत्माभिव्यंजन या आत्मप्रतिबिम्बन करता है। पाषाण जड़ है; किन्तु उसमें जो रूपायित या मूर्तित है वह महत्त्वपूर्ण है। मूर्ति मे सम्प्रेषण की अपरिमित ऊर्जा है। यही ऊर्जा या क्षमता साधक को परम भागवत्ता अथवा परमात्मतत्त्व से जोड़ती है अर्थात् साधक इसके माध्यम से मूर्तिमान तक अपनी पहुंच बनाता है।

शिल्पशास्त्र प्रथमानुयोग का विषय है। विशुद्ध आत्मबोधि से पूर्व हम इसी माध्यम की स्वीकृति पर विवश हैं। आगम क्या है ? आगम माध्यम है सम्यक्त्व तक पहुचने का। आगम केवली के बोधि-दर्पण का प्रतिबिम्ब है, जिसका अनुगमन हम श्रद्धा-भक्ति द्वारा कर सकते हैं। 'आगम' शब्द की व्युत्पत्ति है : 'आगमयति हिताहितं बोधयति इति आगमः' (जो हित-अहित का बोध कराते हैं, वे आगम हैं)। तीर्थंकर की दिव्यवाणी को इसीलिए आगम कहा गया है।

कहा जा सकता है कि अध्यात्म से पुरातत्त्व एवं मूर्तिशिल्प आदि की प्राचीनता का क्या सम्बन्ध है ? इस सिलसिले में हम

कहेंगे कि शिल्पकला आदि के माध्यम से आगम बोधगम्य बनता है और हम बड़ी आसानी से उस कंटकाकीर्ण मार्ग पर पग रखने मे समर्थ होते हैं ।

जैनधर्म की प्राचीनता निर्विवाद है । प्राचीनता के इस तथ्य को हम दो साधनों से जान सकते हैं : पुरातत्त्व तथा इतिहास । जैन पुरातत्त्व का प्रथम सिरा कहाँ है, यह तय करना कठिन है; क्योंकि मोहन-जो-दडो की खुदाई मे कुछ ऐसी सामग्री मिली है, जिसने जैनधर्म की प्राचीनता को आज से कम-से-कम ५००० वर्ष आगे धकेल दिया है ।[1] सिन्धुघाटी से प्राप्त मुद्राओ के अध्ययन से स्पष्ट हुआ है कि 'कायोत्सर्ग मुद्रा' जैनों की अपनी लाक्षणिकता है । प्राप्त मुद्राओ पर तीन विशेषताएँ हैं : कायोत्सर्ग मुद्रा, ध्यानावस्था और नग्नता (दिगम्बरत्व) ।[2]

मोहन-जो-दडो की सीलों पर योगियो की जो कायोत्सर्ग मुद्रा अंकित है उसके साथ वृषभ भी है । वृषभ ऋषभनाथ का चिह्न (लाँछन) है । पद्मचन्द्र कोश में ऋषभ का व्युत्पत्तिक अर्थ दिया है : 'सम्पूर्ण विद्याओ मे पार जाने वाला एक मुनि ।'[3] हिन्दू पुराणो मे जो वर्णन मिलता है उसमे ऋषभ और भरत दोनों के विपुल उल्लेख हैं । पहले माना जाता रहा है कि दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम से ही इस देश का नाम भारत हुआ, किन्तु अब यह निर्भ्रान्त हो गया है कि भारत ऋषभ-पुत्र 'भरत' के नाम पर ही 'भारत' कहलाया ।[4] इसका पूर्वनाम अजनाभवर्ष था । नाभि (अजनाभ) ऋषभ के पिता थे । उन्ही के नाम पर यह अजनाभवर्ष कहलाया । 'वर्ष' का अर्थ है 'देश', तदनुसार 'भारतवर्ष' का अर्थ हुआ 'भारतदेश' । मोहन-जो-दडो की सकेतित सील मे भरत चक्रवर्ती की मूर्ति भी उकेरी गयी है । इन सारे पुरातथ्यों की वस्तुनिष्ठ समीक्षा की जानी चाहिये ।

प्रस्तुत सील को जब हम तफसीलवार या विस्तार मे देखते है तब इसमे हमे सात विषय दिखायी देते हैं . (१) ऋषभ-देव नग्न कायोत्सर्गरत योगी । (२) प्रणाम की मुद्रा मे नतशीश भरत चक्रवर्ती । (३) त्रिशूल । (४) कल्पवृक्ष पुष्पावलि । (५) मृदु लता । (६) वृषभ (बैल) । (७) पंक्तिबद्ध गणवेशधारी प्रधान आमात्य ।

निश्चय ही इस तरह की संरचना का आधार पीछे से चली आती कोई सुदृढ़ सांस्कृतिक परम्परा ही हो सकती है । प्रचलित लोक-परम्परा के अभाव मे मात्र जैनागम के अनुसार इस तरह की परिकल्पना सभव नही है ।

इतिहास मे ही हम अपने प्राचीन रिक्थ (धरोहर) को प्रामाणिक रूप मे सुरक्षित पाते हैं । इतिहास, ऐतिह्य और आम्नाय समानार्थक शब्द हैं ।[5] इतिहास शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार इसका वाच्यार्थ है . 'इति ह आसीत्' (निश्चय से ऐसा ही हुआ था तथा परम्परा से ऐसा ही है) । इतिहास असल में दीपक है । जिस तरह एक दीपक से हम वस्तु के यथार्थ रूप को देख पाते हैं, ठीक वैसे ही इतिहास से हमें पुरातथ्यो की निर्भ्रान्त सूचना मिलती है ।

परम्परा और इतिहास मे किंचित् अन्तर है । इतिहास ठोस तथ्यो पर आधारित होता है, परम्परा लोकमानस मे उभरती और आकार ग्रहण करती है । एक पीढी जिन आस्थाओं, स्वीकृतियो और प्रचलनो को आगामी पीढ़ी को सौंपती है, परम्परा उनसे बनती है । परम्पराओ का कोई सन्-सवत् नही होता । वैसे इस शब्द के नानार्थ है । एक अर्थ पुरासामग्री भी है । परम्परा अर्थात् एक सुदीर्घ अतीत से जो अविच्छिन्न चला आ रहा है वह । योगियों की भी एक अविच्छिन्न परम्परा रही है । योगविद्या क्षत्रियो की अपनी मौलिकता है । क्षत्रियों ने ही उसे द्विजों को हस्तान्तरित किया ।[6] ऐसा लगता है कि सिन्धुघाटी के उत्खनन मे प्राप्त सीलें एक सुदीर्घ परम्परा की प्रतिनिधि हैं । वे आकस्मिक नही है, अपितु एक स्थापित सत्य को प्रकट करती है ।

---

१. सिन्ध फाइव थाउजेंड इयर्स एगो, रामप्रसाद चन्दा, 'मॉडर्न रिव्ह्यू' कलकत्ता, अगस्त १९३२

२. अतीत का अनावरण, आचार्य तुलसी, मुनि नथमल, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९६९, पृ. १६

३. पद्मचन्द्र कोश, पृ. ४९५; ऋषभदेव (पु.) १. ऋष+अभक्=जाना, दिव=अच् (सम्पूर्ण विद्याओ मे पार जाने वाला एक मुनि), २. जैनो का पहिला तीर्थंकर ।

४. मार्कण्डेय पुराण : सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ. २२-२४

५. आदिपुराण १/२५, आचार्य जिनसेन ।

६. प्रतिष्ठातिलक १८/१; नेमिचन्द्र ।

भारतीय इतिहास, संस्कृति और साहित्य ने इस तथ्य को पुष्ट किया है कि सिन्धुघाटी की सभ्यता जैन सभ्यता थी।[1] सिन्धुघाटी के संस्कार जैन संस्कार थे। इससे यह उपपत्ति बनती है कि सिन्धुघाटी में प्राप्त योगमूर्ति, ऋग्वैदिक वर्णन तथा भागवत, विष्णु आदि पुराणों में ऋषभनाथ की कथा आदि इस तथ्य के साक्ष्य हैं कि जैनधर्म प्राग्वैदिक ही नहीं वरन् सिन्धुघाटी सभ्यता से भी कहीं अधिक प्राचीन है।

श्री नीलकण्ठदास साहू के शब्दों में : 'जैनधर्म संसार का मूल अध्यात्म धर्म है। इस देश में वैदिक धर्म के आने से बहुत पहले से ही यहाँ जैनधर्म प्रचलित था। खूब संभव है कि प्राग्वैदिकों में शायद द्रविड़ों में यह धर्म था।'[2]

कुछ ऐसे शब्द हैं, जो जैन परम्परा में रूढ़ बन गये हैं। डा० मंगलदेव शास्त्री का कथन है कि 'वातरशन' शब्द जैन मुनि के अर्थ में रूढ़ हो गया था। उनकी मान्यता है कि 'श्रमण' शब्द की भाँति ही 'वातरशन' शब्द मुनि-सम्प्रदाय के लिए प्रयुक्त था। मुनि-परम्परा के प्राग्वैदिक होने में दो मत नहीं हैं।[3]

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल भारतीय इतिहास के जाने-माने विद्वान् रहे हैं। उन्होंने भी स्वीकार किया है कि भारत का नाम ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर ही भारतवर्ष हुआ। इससे पहले भ्रान्तिवश उन्होंने दुष्यन्त-पुत्र भरत के कारण इसे भारत अभिहित किया था।[4]

जैनों का इतिहास बहुत प्राचीन है। भगवान् महावीर से पूर्व तेईस और जैन तीर्थंकर हुए हैं, जिनमें सर्वप्रथम हैं ऋषभनाथ। सर्वप्रथम होने के कारण ही उन्हें आदिनाथ भी कहा जाता है। जैन कला में उनकी जो मुद्रा अंकित है वह एक गहन तपश्चर्यारत महायोगी की है। भागवत में ऋषभनाथ का विस्तृत जीवन-वर्णन है।[5]

जैन दर्शन के अनुसार यह जगत् अनादिनिधन है अर्थात् इसका न कोई ओर है और न छोर। यह रूपान्तरित होता है, किन्तु अपने मूल में यह यथावत् रहता है। युग बदलते हैं; किन्तु वस्तु-स्वरूप नहीं बदलता। द्रव्य नित्य है। उसका रूपान्तरण संभव है; किन्तु ध्रौव्य असंदिग्ध है।

आज जो युग चल रहा है वह कर्मयुग है। माना जाता है कि यह युग करोड़ों वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ था। उस समय भगवान् ऋषभनाथ युग-प्रधान थे। असि (रक्षा), मसि (व्यापार), कृषि (खेती) और अध्यात्म (आत्मविद्या) की शिक्षा उन्होंने दी। उन्होंने प्रजाजनों को, जो कर्मपथ से अनभिज्ञ थे; बीज, चक्र, अंक और अक्षर दिये। कर्मयुग की यह परम्परा तब से अविच्छिन्न चली आ रही है।

ऋषभनृप दीर्घकाल तक शासन करते रहे। उन्होंने उन कठिन दिनों में जनता को सुशिक्षित किया और उनकी बाधाओं, व्यवधानों और दुविधाओं का अन्त किया। अन्त में आत्मशुद्धि के निमित्त उन्होंने श्रमणत्व ग्रहण कर लिया और दुर्द्धर तपश्चर्या में निमग्न हो गये। स्वयं द्वारा स्थापित परम्पराओं और प्रवर्तनों के अनुसार उन्होंने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना सम्पूर्ण राजपाट सौंपा और परिग्रह को जड़मूल से छोड़ कर वे वैराग्योन्मुख हो गये, फलतः वे परम ज्ञाता-दृष्टा बने। उन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियों को जीत लिया, अतः वे 'जिन' कहलाये। 'जिन' की व्युत्पत्ति है 'जयति इति जिन.' (जो स्वयं को जीतता है, वह जिन है)।

कैवल्य-प्राप्ति के बाद उन्होंने जनता को अध्यात्म का उपदेश दिया और बताया कि आत्मोपलब्धि के उपाय क्या हैं? चूंकि उनका उपनाम जिन था, अतः उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म जैनधर्म कहलाया। इस तरह जैन धर्म विश्व का सर्वप्रथम धर्म बना।

---

१. भारतीय दर्शन, पृ० ६३; वाचस्पति गैरोला।

२. उड़ीसा में जैनधर्म; डॉ० लक्ष्मीनारायण साहू; श्री अखिल जैन मिशन, एटा, प्र० प्र०, ज०, १९५९

३. 'नवनीत', हिन्दी मासिक, बम्बई, डॉ० मंगलदेव शास्त्री; जून १९७४; पृ० ६९

४. दे० टि० क्र० ४

५. जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका; पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री; भूमिका—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल; पृ० ८

भगवान् ऋषभनाथ का वर्णन वेदों मे नाना सन्दर्भों में मिलता है। कई मन्त्रों में उनका नाम आया है। मोहन-जो-दड़ो (सिन्धुघाटी) में पाँच हजार वर्ष पूर्व के जो पुरावशेष मिले हैं उनसे भी यही सिद्ध होता है कि उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म हजारों साल पुराना है। मिट्टी की जो सीलें वहाँ मिली हैं; उनमें ऋषभनाथ की नग्न योगिमूर्ति है। उन्हें कायोत्सर्ग मुद्रा में उकेरा गया है। उनकी इस दिगम्बर खड्गासनी मुद्रा के साथ उनका चिह्न बैल भी किसी-न-किसी रूप में अंकित हुआ है। इन सारे तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि जैनों का अस्तित्व मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता से अधिक प्राचीन है।

श्री रामप्रसाद चन्दा ने अगस्त १९३२ के 'माडर्न रिव्यू' के "सिन्ध फाइव थाउजैंड इयर्स एगो" नामक लेख (पृ० १५८-५९) में कायोत्सर्ग मुद्रा के सम्बन्ध मे विस्तार से लिखते हुए इसे जैनों की विशिष्ट ध्यान-मुद्रा कहा है और माना है कि जैनधर्म प्राग्वैदिक है, उसका सिन्धुघाटी की सभ्यता पर व्यापक प्रभाव था :—

"सिन्धु घाटी की अनेक सीलों मे उत्कीर्णित देवमूर्तियाँ न केवल बैठी हुई योगमुद्रा मे हैं और सुदूर अतीत में सिन्धुघाटी में योग के प्रचलन की साक्षी हैं अपितु खड़ी हुई देवमूर्तियाँ भी हैं जो कायोत्सर्ग मुद्रा को प्रदर्शित करती हैं।"

"कायोत्सर्ग (देह-विसर्जन) मुद्रा विशेषतया जैन मुद्रा है। यह बैठी हुई नहीं, खड़ी हुई है। 'आदिपुराण' के अठारहवें अध्याय में जिनों-मे-प्रथम जिन ऋषभ या वृषभ की तपश्चर्या के सिलसिले मे कायोत्सर्ग मुद्रा का वर्णन हुआ है।"

"कर्जन म्यूजियम ऑफ आर्कियोलॉजी, मथुरा मे सुरक्षित एक प्रस्तर-पट्ट पर उत्कीर्णित चार मूर्तियों में से एक ऋषभ जिन की खड़ी हुई मूर्ति कायोत्सर्ग मुद्रा मे है। यह ईसा की द्वितीय शताब्दी की है। मिस्र के आरम्भिक राजवंशों के समय की शिल्प-कृतियों मे भी दोनो ओर हाथ लटकाये खड़ी कुछ मूर्तियाँ प्राप्त हैं। यद्यपि इन प्राचीन मिस्री मूर्तियों और यूनान की कुराई मूर्तियों की मुद्राएँ भी वैसी ही हैं, तथापि वह देहोत्सर्गजनित निःसंगता, जो सिन्धुघाटी की सीलों पर अंकित मूर्तियों तथा कायोत्सर्ग ध्यान-मुद्रा मे लीन जिन-बिम्बों मे पायी जाती है, इनमे अनुपस्थित है। वृषभ का अर्थ बैल है, और यह बैल वृषभ या ऋषभ जिन का चिह्न (पहचान) है।"

मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में उपलब्ध मृण्मुद्राओं (सीलों) में योगियों की जो ध्यानस्थ मुद्राएँ हैं, वे जैनधर्म की प्राचीनता को सिद्ध करती हैं। वैदिक युग मे व्रात्यों और श्रमणों[1] की परम्परा का होना भी जैनो के प्राग्वैदिक होने को प्रमाणित करता है। व्रात्य का अर्थ महाव्रती है। इस शब्द का वाच्यार्थ है : 'वह व्यक्ति जिसने स्वेच्छया आत्मानुशासन को स्वीकार किया है।' इस अनुमान की भी स्पष्ट पुष्टि हुई है कि ऋषभ-प्रवर्तित परम्परा, जो आगे चल कर शिव मे जा मिली, वेदचर्चित होने के साथ ही वेदपूर्व भी है।[2] जिस तरह मोहन-जो-दड़ो में प्राप्त सीलों की कायोत्सर्ग मुद्रा आकस्मिक नहीं है, उसी तरह वेद-वर्णित ऋषभ नाम भी आकस्मिक नहीं है, वह भी एक सुदीर्घ परम्परा का द्योतक है, विकास है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में जिन अतीन्द्रियदर्शी 'वातरशन' मुनियों की चर्चा है, वे जैन मुनि ही हैं।

श्री रामप्रसाद चन्दा ने अपने लेख मे जिस सील का वर्णन किया है, उसमे उत्कीर्णित ऋषभ-मूर्ति को ऋषभ-मूर्तियों का पुरखा कहा जा सकता है। ध्यानस्थ ऋषभनाथ, त्रिशूल, कल्पवृक्ष-पुष्पावलि, वृषभ, मृदु लता, भक्त और सात मन्त्री आदि महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं। जैन वाङ्मय से इन तथ्यों की पुष्टि होती है।[3] इतिहासवेत्ता श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने भी इस तथ्य को माना है।[4] मथुरा-संग्रहालय में भी ऋषभ की इसी तरह की मूर्ति सुरक्षित है।[5] पी० सी० राय ने माना है कि मगध में पाषाणयुग के बाद कृषि-युग का प्रवर्तन ऋषभयुग में हुआ।[6]

---

१. भारतीय दर्शन; वाचस्पति गैरोला पृ० ९३
२. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारीसिंह दिनकर; पृ० ३९
३. आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव; डॉ० कामताप्रसाद जैन; पृ० १३८
४. हिन्दू सभ्यता; डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, (हिन्दी अनु० वासुदेवशरण अग्रवाल); दिल्ली; १९७५; पृ० ३९
५. वही; पृ० २१
६. जैनिज्म इन बिहार; पी० सी० राय चौधरी; पृ० ७

श्री चन्दा ने जिस सील का विस्तृत विवरण दिया है, वह परम्परा जैन साहित्य में आश्चर्यजनक रूप से सुरक्षित है। आचार्य वीरसेन (धवला के रचनाकार),[1] विमलसूरि-रचित प्राकृत ग्रन्थ 'पउमचरियं'[2] एवं जिनसेनकृत 'आदिपुराण'[3] में जो वर्णन मिलते हैं उनमे तथा उक्त सील में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव देखा जा सकता है। इन वर्णनों के सूक्ष्मतर अध्ययन से पता चलता है कि इस तरह की कोई मुद्रा अवश्य ही व्यापक प्रचलन मे रही होगी क्योकि मोहन-जो-दड़ो की सील में अंकित आकृतियों तथा जैन साहित्य में उपलब्ध वर्णनों का यह साम्य आकस्मिक नही हो सकता। निश्चय ही यह एक अविच्छिन्न परम्परा की ठोस परिणति है। यदि हम पूर्वोक्त ग्रन्थों के विवरणो को सील के विवरणों से समन्वित करें तो सम्पूर्ण स्थिति की स्पष्ट व्याख्या इस प्रकार सम्भव है:

पुरुदेव (ऋषभदेव) नग्न खड्गासन कायोत्सर्ग मुद्रा मे अवस्थित हैं। उनके शीर्षोपरि भाग पर त्रिशूल अभिमण्डित है, यह रत्नत्रय की शिल्पाकृति है। कोमलदिव्यध्वनि के प्रतीक रूप एक लता-पर्ण मुखमण्डल के पास सुशोभित है।[4] दो ऊर्ध्वग कल्पवृक्ष-शाखाएँ हैं पुष्प-फलयुक्त, महायोगी उससे परिवेष्टित हैं। यह भक्ति-प्राप्य फल की द्योतक है। चक्रवर्ती भरत भगवान् के चरणों मे अंजलिबद्ध प्रणाम-मुद्रा मे नतशीश हैं।[5] भरत के पीछे वृषभ हैं, जो भगवान् ऋषभनाथ का चिह्न (लांछन) हैं। अधोभाग में अपने राजकीय गणवेश में सात मन्त्री हैं, जिनके पदनाम हैं—माण्डलिक राजा, ग्रामाधिपति, जनपद-अधिकारी, दुर्गाधिकारी (गृहमंत्री), भण्डारी (कृषिवित्त मन्त्री), षडंग बलाधिकारी (रक्षा-मन्त्री), मित्र (परराष्ट्र मन्त्री)।

मोहन-जो-दड़ो की मुद्राओ मे उत्कीर्णित इन तथ्यो का स्थूल भाष्य सम्भव नही है; क्योकि परम्पराओ और लोकानुभव को छोड कर यदि हम इन सीलो की व्याख्या करते हैं तो यह व्याख्या न तो यथार्थपरक होगी और न ही वैज्ञानिक। जब तक हम इस तथ्य को ठीक से आत्मसात नही करेंगे कि मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता पर योगियो की आत्मविद्या की स्पष्ट प्रतिच्छाया है, तब तक इन तथ्यो के साथ न्याय कर पाना सम्भव नही होगा; अत इतिहासविदो और पुरातत्त्ववेत्ताओ को चाहिये कि वे प्राप्त तथ्यो को परवर्ती साहित्य की छाया मे देखे और तब कोई निष्कर्ष लें। वास्तव मे इसी तरह के तुलनात्मक और व्यापक, वस्तुनिष्ठ और गहन विश्लेषण से ही यह सम्भव हो पायेगा कि हमारे सामने कोई वस्तुस्थिति आये।

अब हम उन प्रतीको की चर्चा करेंगे, जो मोहन-जो-दड़ो के अवशेषो से मिले हैं और जैन साहित्य मे भी जिनका उपयोग हुआ है। यहाँ तक कि इनमे से कुछ प्रतीक तो आज तक जैन जीवन मे प्रतिष्ठित हैं।

सब से पहले हम 'स्वस्तिक' को लेते हैं। सिन्धुघाटी से प्राप्त कुछ सीलो मे स्वस्तिक (साँथिया) भी उपलब्ध है।[6] इससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि सिन्धुघाटी के लोकजीवन मे स्वस्तिक एक मांगलिक प्रतीक था। साँथिया जैनो मे व्यापक रूप मे पूज्य और प्रचलित है। इसे जैन ग्रन्थो, जैन मन्दिरो और जैन ध्वजाओ पर अंकित देखा जा सकता है। व्यापारियो मे इसका व्यापक प्रचलन है। दीपावली पर जब नये खाते-बहियो का आरम्भ किया जाता है, तब साँथिया माँडा जाता है।

स्वस्तिक जैन जीव-सिद्धान्त का भी प्रतीक है। इसे चतुर्गति का सूचक माना गया है। जीव की चार गतिया वर्णित है नरक तिर्यंच, मनुष्य तथा देव। स्वस्तिक के शिरोभाग पर तीन बिन्दु रखे जाते है, जो रत्नत्रय के प्रतीक है। इन तीन बिन्दुओ के ऊपर एक चन्द्रबिन्दु होता है जो क्रमश लोकाग्र और निर्वाण का परिचायक है। 'स्वस्ति' का एक अर्थ कल्याण भी है।

---

१. छक्खडा —मंगलाचरण, १/१/२५ आचार्य वीरसेन, (निरयण निमूल धारिय)।

२ पउमचरियं, विमलसूरि, ४/६८-६९

३. आदिपुराण; आचार्य जिनसेन २४/७३-७४

४. पुरुदेवचम्पूप्रबन्ध १/१, श्रीमद् अर्हद्दास (दिव्यध्वनि मृदुलतालंकृतमुख)।

५. पउमचरियं; विमलसूरि; ४/६८-६९

६ भारत मे संस्कृति एवं धर्म, डॉ० एम० एल० शर्मा, पृ० १९

'त्रिशूल' दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रतीक है, जो सिन्धुघाटी की सीलों पर तो अंकित है ही, जैन ग्रन्थों मे भी जिसकी चर्चा मिलती है। त्रिशूल आज भी लोकजीवन में कुछ शैव साधुओ द्वारा रखा जाता है। जैन परम्परा मे त्रिशूल को रत्नत्रय का प्रतिनिधि माना गया है। त्रिरत्न हैं : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। इसकी चर्चा 'धवला',[1] 'आदिपुराण'[2], 'पुरुदेव चम्पू'[3] मे मिलती है। त्रिशूल को जैनों का 'जैत्र' अस्त्र कहा गया है।

तीसरा है कल्पवृक्ष। यह कायोत्सर्ग मुद्रा मे खड़ी ऋषभमूर्ति के परिवेष्टन के रूप में उत्कीर्णित है। 'आदिपुराण' तथा 'संगीत समय सार' में इसके विवरण मिलते हैं।[4]

अर्हद्दास ने 'मृदु लतालकृतमुखः' कह कर मृदुलता-पल्लव का आधार उपलब्ध करा दिया है।[5]

भरत चक्रवर्ती श्रद्धाभक्तिपूर्वक ऋषभमूर्ति के सम्मुख अंजलि बाँधे नमन-मुद्रा मे उपस्थित हैं। आचार्य जिनसेन, विमलसूरि आदि ने भरत की इस मुद्रा का तथा उनके द्वारा ऋषभार्चन का वर्णन किया है।[6] तुलनात्मक अध्ययन और व्यापक अनुसंधान से हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि मोहन-जो-दड़ो की सील पर जो रूपक अंकित है वह जन-जीवन के लिए सुपरिचित, प्रौढ़, प्रचलित रूपक है अन्यथा वह वहां से छन कर कवि परम्परा मे इस तरह क्यों कर स्थापित होता ?

एक तथ्य और ध्यान देने योग्य है कि ब्राह्मणो को अध्यात्मविद्या क्षत्रियों से पूर्व प्राप्त नहीं थी। उन्हे यह क्षत्रियो से मिली, जिसका वे ठीक से पल्लवन नहीं कर पाये। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में इसकी झलक मिलती है।[7]

इससे पहले कि हम इस चर्चा को समाप्त करें कुछ ऐसे तथ्यों को और जाने जिनका जैनधर्म और जैन समाज की मौलिकताओं से सम्बन्ध है।

जैनधर्म आत्मस्वातन्त्र्यमूलक धर्म है। उसने न सिर्फ मनुष्य बल्कि प्राणिमात्र की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया है। जीव तो स्वाधीन है ही, यहाँ तक कि परमाणु-मात्र भी स्वाधीन है। कुल ६ द्रव्य हैं। प्रत्येक स्वाधीन है। कोई किसी पर निर्भर नहीं है। न कोई द्रव्य किसी की सत्ता मे हस्तक्षेप करता है और न ही होने देता है। वस्तुतः लोकस्वरूप ही ऐसा है कि यहाँ सम्पूर्ण यातायात अत्यन्त स्वाधीन चलता है। जैनो का कर्म-सिद्धान्त भी इसी स्वातन्त्र्य पर आधारित है। श्री जुगमन्दरलाल जैनी ने आत्मस्वातन्त्र्य के इस सिद्धान्त को बहुत ही सरल शब्दो मे विवेचित किया है।[8]

इस भ्रम को भी हमे दूर कर लेना चाहिये कि जैन और बौद्ध धर्म समकालीन प्रवर्तन हैं। वास्तविकता यह है कि बौद्धधर्म जैनधर्म का परवर्ती है। स्वय गौतम बुद्ध ने आरम्भ मे जैनधर्म को स्वीकार किया था; किन्तु वे उसकी कठोरताओं का पालन नहीं कर सके, अतः मध्यम मार्ग की ओर चले आये।[9] इससे यह सिद्ध होता है कि बौद्धधर्म भले ही वेदों के खिलाफ रहा हो, किन्तु जैनधर्म जो प्राग्वैदिक है कभी किसी धर्म के विरुद्ध नहीं उठा, या प्रवर्तित हुआ। उसका अपना स्वतन्त्र विकास है। सम्पूर्ण जैन वाङ्मय मे कही किसी का विरोध नही है। जैनधर्म समन्वयमूलक धर्म है, विवादमूलक नही—उसके इस व्यक्तित्व से भी उसके प्राचीन होने का तथ्य पुष्ट होता है।

---

१. दे० टि० क्र० १८
२. आदिपुराण; आचार्य जिनसेन १/४, (रत्नत्रय जैन जैत्रमस्त्र जयत्यदः)।
३. पुरुदेवचम्पूप्रबन्ध; श्रीमदर्हद्दास ५, (रत्नत्रयं राजति जैत्रमस्त्रम्)।
४. आदिपुराण; आचार्य जिनसेन; १५/३६; संगीतसमयसार; आचार्य पार्श्वदेव ७/६६
५. दे० टि० क्र० २१
६. आदिपुराण; २४/७७-७८, आचार्य जिनसेन; पउमचरियं ४/६८-६९; विमलसूरि।
७. छान्दोग्य उपनिषद्, शांकर भाष्य ५/७
८. आउटलाइन्स ऑफ जैनिज्म, जुगमंदरलाल जैन; पृ० ३४४
९. मज्झिमनिकाय (पालि) १२ महासिहनाद सुत्तं; पृ० ६०५

यहां श्री पी० आर० देशमुख के ग्रन्थ 'इंडस सिविलाइजेशन एंड हिन्दू कल्चर' के कुछ निष्कर्षों की भी चर्चा करेंगे। श्री देशमुख ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'जैनों के पहले तीर्थंकर सिन्धु सभ्यता से ही थे। सिन्धुजनों के देव नग्न होते थे। जैन लोगों ने उस सभ्यता/संस्कृति को बनाये रखा और नग्न तीर्थंकरो की पूजा की।'[1]

इसी तरह उन्होंने सिन्धुघाटी की भाषिक संरचना का भी उल्लेख किया है। लिखा है: 'सिन्धुजनों की भाषा प्राकृत थी। प्राकृत जन-सामान्य की भाषा है। जैनों और हिन्दुओं मे भारी भाषिक भेद है। जैनो के समस्त प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ प्राकृत में हैं; विशेषतया अर्द्धमागधी में; जबकि हिन्दुओं के समस्त ग्रन्थ संस्कृत मे हैं। प्राकृत भाषा के प्रयोग से भी यह सिद्ध होता है कि जैन प्राग्वैदिक हैं और उनका सिन्धुघाटी सभ्यता से सम्बन्ध था।'[2]

उनका यह भी निष्कर्ष है कि जैन कथा-साहित्य मे वाणिज्य कथाएँ अधिक हैं। उनकी वहां भरमार है, जबकि हिन्दू ग्रन्थों मे इस तरह की कथाओ का अभाव है। सिन्धुघाटी की सभ्यता मे एक वाणिज्यिक कॉमनवेल्थ (राष्ट्रकुल) का अनुमान लगता है। तथ्यो के विश्लेषण से पता लगता है कि जैनों का व्यापार समुद्र-पार तक फैला हुआ था। उनकी हुंडिया चलती/सिकरती थीं। व्यापारिक दृष्टि से वे मोड़ी लिपि का उपयोग करते थे। यदि लिपि-बोध के बाद कुछ तथ्य सामने आये तो हम जान पायेंगे कि किस तरह जैनों ने पाँच सहस्र पूर्व एक सुविकसित व्यापार-तन्त्र का विकास कर लिया था।[3]

इन सारे तथ्यो से जैनधर्म की प्राचीनता प्रमाणित होती है। प्रस्तुत विचार मात्र एक आरम्भ है; अभी इस सन्दर्भ मे पर्याप्त अनुसधान किया जाना चाहिये।
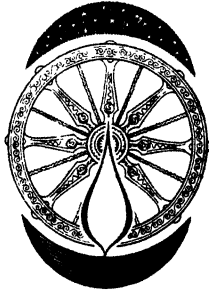
१. इंडस सिविलाइजेशन, ऋग्वेद एंड हिन्दू कल्चर; पी० आर० देशमुख; पृ० ३६४.
२. वही; पृ० ३६७.
३. वही, पृ० ३६५.

गोम्मटेश दिग्दर्शन

दिव्य साधक
आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

गोम्मटेश दिग्दर्शन

सम्पादकीय

भगवान् बाहुबली अथवा गोम्मटेश के स्मरण मात्र से तीर्थ-क्षेत्र श्रवणबेलगोल का गौरवमय अतीत अनायास ही सजीव हो उठता है। इस महान् आध्यात्मिक केन्द्र की सरचना में जिनागम के सूर्य, चौदहपूर्वधारी, अष्टांग महानिमित्त के ज्ञाता, अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु से लेकर श्री देशभूषण जी तक की आचार्य परम्परा का अनवरत योग रहा है। इसी कारण प्रस्तुत ग्रथ मे 'गोम्मटेश दिग्दर्शन' की सयोजना सकारण की गई है।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी की साधना के क्रमिक विकास मे श्रवणबेलगोल का अप्रतिम योग रहा है। संयोगवश प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रंथ की योजना का प्रारम्भिक स्वरूप निर्धारित करते समय जैन समाज मे श्रवणबेलगोल स्थित भगवान् बाहुबली की एकल पाषाण निर्मित विश्वप्रसिद्ध प्रतिमा के सहस्राब्दी प्रतिष्ठा समारोह एव महामस्तकाभिषेक महोत्सव की योजना पर विचार-विनिमय हो रहा था।

उत्तरभारत में द्वादशवर्षीय भीषण अकाल का पूर्वाभास पाकर आचार्य भद्रबाहु अपने बारह हजार शिष्यों के साथ कटवप्र पर्वत (कलबप्पु) पधारे थे। आचार्य भद्रबाहु ने अपने अन्त समय का अनुमान कर संघस्थ मुनियों को धर्म प्रचार के निमित्त चोल, पाण्ड्य आदि प्रदेशो की ओर जाने का आदेश दिया और स्वय अपने शिष्य मुनि चन्द्रगुप्त (मुनि दीक्षा से पूर्व मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त) के साथ यहाँ रह गए। आचार्य भद्रबाहु ने इसी क्षेत्र पर समाधिमरण किया। चन्द्रगिरि पर स्थित भद्रबाहु गुफा मे उनके चरण आज भी विद्यमान हैं और श्रद्धालु श्रावक-श्राविकाएँ शताब्दियो से उनका पूजन करते चले आए हैं। गुफा मे पाषाण पर उत्कीर्ण लेख 'श्री भद्रबाहु स्वामिय पादं जिनचन्द्र प्रणमता' अब उपलब्ध नही है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य की तपस्या, समाधिमरण अथवा उनके वशजो द्वारा कराए गए निर्माण के कारण कटवप्र पर्वत का नाम चन्द्रगिरि पड़ गया है। आचार्य भद्रबाहु एवं मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के समाधिपूर्वक आत्मोत्सर्ग के संबध मे अनेक साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्य प्राप्त होते हैं। सेरिंगपट्टम से प्राप्त दो शिलालेखों में उल्लेख है कि कलबप्पु शिखर (चन्द्रगिरि) पर महामुनि भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के चरण चिह्न है। ये शिलालेख लगभग शक स० ८२२ के हैं। श्रवणबेलगोल से प्राप्त एक अभिलेख शक सं० ५७२ (६५० ई०) मे कहा गया है कि जो जैनधर्म भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मुनीन्द्र के तेज से भारी समृद्धि को प्राप्त हुआ था उसके किंचित् क्षीण हो जाने पर शान्तिसेन मुनि ने उसे पुनःस्थापित किया।

जैन इतिहास में श्रवणबेलगोल को सल्लेखना व्रत से श्री-मंडित भूमि के रूप में श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। आचार्य भद्रबाहु के समाधिमरण के उपरान्त जैन साधुओं मे सल्लेखना की पद्धति अत्यधिक लोकप्रिय रही होगी। श्रवणबेलगोल से प्राप्त अभिलेखो मे से लगभग १०० अभिलेख समाधिमरण से सम्बन्धित हैं जिनमे से अधिकाश भगवान् गोम्मटेश्वर की प्रतिमा के निर्माण से पूर्व के हैं। श्रवणबेलगोल स्थित चन्द्रगिरि, इन्द्रगिरि एव निकटवर्ती क्षेत्र में मन्दिरों की बहुलता को दृष्टिगत करते हुए इस क्षेत्र को मन्दिरो की नगरी ही कहा जा सकता है। इतिहासज्ञों का अनुमान है कि मौर्य सम्राट् बिन्दुसार ने दक्षिण विजय अभियान के अन्तर्गत अपने कुल-गुरु भद्रबाहु के समाधिस्थान एवं अपने पिता मुनि चन्द्रगुप्त की तपोभूमि के दर्शन किए थे और श्रद्धास्वरूप जैन मन्दिरों का निर्माण भी करवाया था।

श्रवणबेलगोल के प्रारम्भिक जैन मन्दिर द्रविड़ शैली मे बने हुए हैं। परवर्ती काल मे अन्य शैलियो के अनुकरण पर भी मन्दिरों का निर्माण हुआ है। महान् सेनापति गंगराज द्वारा निर्मित शान्तिनाथ बस्ति की बाहरी दीवारो पर तीर्थंकर, यक्ष, यक्षिणी, सरस्वती, मन्मथ, मोहिनी, नृत्यांगना, गायक, वादित्रवाही आदि के मनमोहक चित्र हैं। श्रवणबेलगोल के शृंगार मे प्रायः दक्षिण भारत के सभी प्रमुख राजवंशों एवं जनसामान्य की रुचि रही है। इसीलिए यहाँ के मन्दिरों मे वैविध्यपूर्ण शैलियों के दर्शन होते हैं। विद्वानों की धारणा है कि श्रवणबेलगोल कर्नाटक के विभिन्न भागों में पायी जाने वाली विभिन्न शैलियों का अपूर्व संग्रहालय है। वास्तुकला की चालुक्य, विजयनगर, और होयसल शैली वाली मूर्तिकला का यहाँ अद्भुत संयोग है।

प्रकृति की रम्य गोद में स्थापित श्रवणबेलगोल की तपोभूमि समर्थ आचार्यों, भट्टारकों एवं विद्वानों के कृपाप्रसाद से ज्ञानाराधना का प्रमुख केन्द्र बन गई। इतिहासमनीषी डा० ज्योतिप्रसाद ने इस क्षेत्र की विशिष्टताओं का निरूपण करते हुए कहा है—"जैन साहित्य एवं शिलालेखों

मे प्राप्त विवरणो से प्रकट है कि जो कभी एक निर्जन प्रदेश मे स्थित नगी पहाडी मात्र थी, समय पाकर भक्त यात्रियों के लिए पवित्र तीर्थस्थान बन गयी। शिक्षा एव दीक्षा का कार्यक्षेत्र बन गयी। धर्म और सस्कृति का विश्वविद्यालय बन गयी, एक धर्म-राज्य या संस्थान बन गयी। बकंमैन नामक एक विदेशी पर्यटक ने १९०४ ई० मे प्रकाशित अपनी पुस्तक 'थ्रू टाउन एण्ड जगल' मे श्रवणबेलगोल के दर्शन करके लिखा था कि "इस सुन्दर मैसूर राज्य के सम्पूर्ण क्षेत्र मे इस जैसा अन्य कोई स्थान ढूढे नही मिलेगा, जहाँ इतिहास और प्राकृतिक सौन्दर्य इस प्रकार दृढ़ता के साथ परस्पर लक्षित होते हैं।" एक विद्वान् ने श्रवणबेलगोल के ज्ञान-केन्द्र की तत्कालीन सुप्रसिद्ध नालन्दा विश्वविद्यालय से तुलना करते हुए लिखा है कि "व्याकरण, काव्य, छद, अलकार, सिद्धान्त, चिकित्साशास्त्र तथा न्याय वे प्रमुख विषय थे जिनमे निष्णात होने एव विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए श्रवणबेलगोल के मुनिजन अपना शान्त जीवन समर्पित करते थे।"

इन्द्रगिरि स्थित भगवान् गोम्मटेश्वर की एकल पाषण से निर्मित विश्व की सर्वाधिक विशाल एव कलात्मक प्रतिमा के निर्माण की पृष्ठ-भूमि का विवेचन करने के लिए तत्कालीन जैन इतिहास एवं साहित्य का गम्भीर अनुशीलन अपेक्षित है। इस प्रकार की आश्चर्यजनक और मन्त्र-मुग्ध कर देने वाली पौराणिक मूर्ति का निर्माण वास्तव मे शताब्दियो की सतत् साधना का फल है।

जैन मूर्तिकला मे भगवान् बाहुबली का स्वतन्त्र एव प्रभावशाली चित्राकन ८वी -९वी शताब्दी मे आरम्भ हो गया था। सुप्रसिद्ध प्राच्य विद्या विशेषज्ञ श्री सी० शिवराम मूर्ति की अतिम कृति 'पैनोरमा आफ़ जैन आर्ट' मे चित्र सं० ४८-ए, ८७, ९६, १२०, १४३, १४५, १४६, १५४, १५५ से विदित होता है कि श्रवणबेलगोल स्थित भगवान् गोम्मटेश्वर की प्रतिमा के निर्माण से पूर्व ही भगवान् बाहुबली की प्रतिमाओं का दक्षिण भारत मे बडी संख्या मे निर्माण होने लगा था। विद्वान् लेखक ने सभी चित्रो का ज्ञानोपयोगी विवेचन किया है। भगवान् बाहुबली की प्रतिमाओ के अन्तर्गत होने वाले क्रमिक विकास की जानकारी के लिए प्रयुक्त टिप्पणियाँ उपादेय हैं। भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'जैन कला एव स्थापत्य' मे चित्र स० ११४ (बदामी, ८वी शती), ११८-ख (एलोरा, १०वी शती), १३५ (चित्तामुर, दक्षिण अर्काट, ९वी-१०वी शती), २१५ (तिरुमलै, १०वी शती), ३५२ (प्रिंस आफ वेल्स संग्रहालय, ८वी-९वी शती), श्रीमती र० चम्पकलक्ष्मी द्वारा तिरुप्परकुरम की गुफा मे उत्कीर्ण ८वी-९वी शती की गोम्मट प्रतिमा, डा० प्रियतोष बनर्जी द्वारा पोडासिगडी एव चरपा से प्राप्त गोम्मटेश्वर की प्राचीन मूर्तियो के विश्लेषण से यह अनुमान लगता है कि ८वी-९वी शताब्दी के आरम्भ मे भगवान् बाहुबली की प्रतिमाओ के निर्माण का दक्षिण भारत मे प्रचलन हो गया था।

जैन साहित्य मे भावपाहुड, विमलसूरिकृत पउमचरिउ, तिलोयपण्णत्ति, वसुदेवहिण्डी, उपदेशमाला, आचार्य रविषेण कृत पद्मपुराण आदि मे भगवान् बाहुबली का सक्षिप्त कथानक प्राप्त होता है। ९वी शताब्दी के आरम्भ अथवा मध्य मे जिनागम के प्रतिमान आचार्य वीरसेन के यशस्वी शिष्य श्री जिनसेन ने महापुराण की रचना मे प्रथम कामदेव बाहुबली स्वामी के कथानक को सदा-सदा के लिए अमर कर दिया। भगवान् ऋषभदेव के उदात्त चरित्र के महान् गायक श्री जिनसेन की प्रशस्ति मे आचार्य गुणभद्र ने कहा है कि जिस प्रकार हिमालय से गंगा का प्रवाह, सर्वज्ञ के मुख से सर्वशास्त्ररूप दिव्यध्वनि और उदयाचल के तट से देदीप्यमान सूर्य का उदय होता है उसी प्रकार वीरसेन स्वामी से जिनसेन का उदय हुआ। आचार्य लोकसेन के अनुसार श्री जिनसेन कवियो के स्वामी एवं तत्कालीन राजाधिराजाओ द्वारा वन्दनीय थे।

विद्यानुरागी राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष आचार्य जिनसेन के अगाध पांडित्य एव कवित्व शक्ति के प्रति असीम श्रद्धा भाव रखते थे। आचार्य जिनसेन के चरणों मे भक्तिपूर्वक नमन करके उन्हे असीम सतोष प्राप्त होता था। धर्मपरायण सम्राट् अमोघवर्ष ने अपनी विपदा के साथी अधीनस्थ राजा बकेय की समर्पित सेवाओ के फलस्वरूप ८६० ई० में चन्द्रग्रहण के अवसर पर बकेय द्वारा निर्मित जैन मन्दिर के लिए तलमूर गाँव एवं अन्य गाँवो की भूमि दान मे दी थी। इसी बकेय के नाम पर बकापुर राजधानी बनाई गई। कालान्तर मे यह स्थान जैन धर्म एव सस्कृति का महान् केन्द्र बन गया। राष्ट्रकूट नरेश अकालवर्ष के राज्य मे चेल्लकेतन (बकेय) के पुत्र लोकादित्य की साक्षी मे बंकापुर के जिनमन्दिर मे श० स० ८२० मे उत्तरपुराण के पूर्ण हो जाने पर महापुराण की विशेष पूजा का आयोजन हुआ।

बकापुर की साहित्यिक एव आध्यात्मिक गतिविधियो के संरक्षण मे तत्कालीन युग के सर्वाधिक प्रभावशाली आचार्य श्री अजितसेन का स्वर्णिम योग रहा है। इस महान् आचार्य के सांस्कृतिक अवदान की स्तुति करते हुए आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने उन्हें ऋद्धिप्राप्त गणधर देवादि के समान गुणी तथा भुवन गुरु बतलाया है—

अज्जज्जसेण गुणगण समूह संधारि-अजियसेण गुरु।
भुवणगुरु जस्स गुरु सो राओ गोम्मटो जयउ॥ (कर्मकाण्ड गाथा ७३३)

आचार्य अजितसेन तत्कालीन सभी प्रमुख राजाओ द्वारा सम्मानित थे। गगवशीय राजा मारसिंह, राजा राचमल्ल (चतुर्थ), सेनापति चामुण्डराय उनके प्रमुख शिष्य थे। आचार्यश्री के कृपा-प्रसाद से ही महाकवि रन्न एव नागदेव ने काव्यसाधना आरम्भ की थी। ऐसे प्रतापी गुरु की प्रेरणा से कर्नाटक राज्य के जन-मन मे आचार्य जिनसेन द्वारा उत्प्रेरित भगवान् बाहुबली की विशाल एव उत्तुंग प्रतिमा के निर्माण का विचार

आना स्वाभाविक ही है।

जैनधर्म के प्रतिपालक राजा मारसिंह ने सन् ६७४ ई० मे भट्टारक अजितसेन के समीप तीन दिवस तक सल्लेखना व्रत का पालन कर बंकापुर मे समाधिमरण किया था। अपने पराक्रमी शासनाधिपति राजा मारसिंह के देहोत्सर्ग को देखकर सेनापति चामुण्डराय और उनकी माता का मन संसार की असारता की भावना से भर गया होगा। ऐसी स्थिति मे माता काललदेवी एवं सेनापति चामुण्डराय का तीर्थाटन करते हुए श्रवणबेलगोल पहुँच जाना अप्रत्याशित नही है। आचार्य अजितसेन की प्रेरणा से अनेक युद्धों के विजेता अजेय सेनापति चामुण्डराय के मन मे परम-पूज्य आचार्य जिनसेन द्वारा परिकल्पित भगवान् बाहुबली की शब्द-मूर्ति को साकार रूप देने का विचार निश्चित रूप से आया होगा और साहित्यानुरागी चामुण्डराय ने महापुराण में अप्रतिम अपराजेय योद्धा प्रथम कामदेव बाहुबली की प्रबल वैराग्यानुभूतियों एवं कठोर तपश्चर्या को सजीव रूप देने के लिए कायोत्सर्ग मुद्रा मे विशाल मूर्ति के निर्माण का सकल्प किया होगा।

आचार्य जिनसेन की काव्यात्मक परिकल्पना का कठोर पाषाण पर मूल्यांकन करने के लिए हीरे की छैनी और मोती के हथौड़े का प्रयोग किया गया। ग्रेनाईट के प्रबल पाषाण पर सिद्धहस्त कलाकारो ने जिस निष्ठा एवं कौशल से अपनी छैनी का प्रयोग किया है उससे भारतीय मूर्तिकारो का मस्तक सदैव के लिए ऊंचा हो गया है।

पहाड़ी की चट्टान को काटकर एक शिला खंड में उत्कीर्ण इस लोकोत्तर प्रतिमा की गणना विश्व के आश्चर्यों में की जाती है। इस प्रतिमा का सिंहासन प्रफुल्ल कमल के आकार का है। इस कमल के बनाये चरण के नीचे ३ x ४ इंच का नाप खुदा हुआ है। इस नाप को १८ से गुणा कर देने पर मूर्ति का नाप निकल आता है। समय-समय पर हुए सर्वेक्षणो मे मूर्ति की लम्बाई का विवादास्पद उल्लेख मिलता है। फरवरी १९८१ मे सहस्राब्दी प्रतिष्ठा समारोह के अवसर पर विशेषज्ञो द्वारा मूर्ति की लम्बाई ५८ फुट ८ इंच (१७.९ मीटर) निश्चित कर दी गयी है।

तपोरत भगवान् गोम्मटेश भारतीय चेतना के प्रतीक पुरुष रहे हैं। इसी कारण चिक्कहनसोगे (मैसूर) से प्राप्त १०वी सदी के प्रारम्भ के एक अभिलेख मे गोम्मटदेव को स्थावर तीर्थ कहा गया है। इस तीर्थ के विकास एव सरक्षण मे जैन एव जैनेतर राजाओ एव जन सामान्य का सहयोग रहा है। विजयनगर नरेश बुक्काराय ने इस तीर्थ की प्रतिष्ठा मे पारस्परिक सामंजस्य का एक अनुकरणीय निर्णय देकर सर्वधर्म सद्भाव की भावना को अनुप्राणित किया और देश के वैष्णव एव जैन समाज मे अटूट भ्रातृत्व की बुनियाद डाली। मैसूर नरेश चामराज औडेयर ने श्रवणबेलगोल के मन्दिर की भूमि को रहन से मुक्त कराया। उनके सद्प्रयासों से श्रवणबेलगोल के तत्कालीन भट्टारक (जो विपदा के समय अन्यत्र चले गए थे) को पुनः मठ मे प्रतिष्ठित किया गया। इस तीर्थ क्षेत्र के भव्य एवं विराट् स्वरूप को परिलक्षित करते हुए चैन्नरायण के कुण की चट्टान मे उत्कीर्ण अभिलेख काव्यात्मक शैली में 'सन्देह' अलकार के माध्यम से निम्नलिखित चित्रण कर रहा है—

पुट्टसामि-सट्टर श्री-देवीरम्मन मग चेन्नण्णन मण्टप आदि-तीर्थद कौलविदु हालु-गोलनोविदु अमृत-गोलनोविदु गगे नदियो। तुंग-भद्रियोविदु मंगला गौरेयो विदु बृन्दावनवोविदु स गार-तोटवो। अयि अयिया अयि अयिये वले तीर्थ वले तीर्थ जया जया जया जय।।

अर्थात् यह पुट्टसामि और देवीरम्म के पुत्र चण्णण का मण्डप है या आदितीर्थ है? यह दुग्धकुण्ड है या कि अमृतकुण्ड? यह गंगा नदी है या तुगभद्रा या मंगलगौरी? यह वृन्दावन है कि विहारोपवन? ओहो! क्या ही उत्तम तीर्थ है!

श्रवणबेलगोल भारतीय समाज का एक आध्यात्मिक तीर्थ है। सन् १९२५ मे आयोजित महामस्तकाभिषेक के अवसर पर मैसूर नरेश स्व० श्री कृष्णराज ने अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हुए कहा था—"जिस प्रकार भारतवर्ष बाहुबलि के बन्धु भरत के साम्राज्य के रूप मे विद्यमान है उसी प्रकार यह मैसूर की भूमि गोम्मटेश्वर के आध्यात्मिक साम्राज्य के प्रतीक रूप मे है।" इस तीर्थ की परम्परा ने सम्पूर्ण राष्ट्र का ध्यान आकर्षित किया है। सुप्रसिद्ध वास्तुशिल्पी एव कलाविशेषज्ञ मिर्जा इस्माईल महोदय की यह धारणा रही है कि श्रवणबेलगोल किसी धर्म विशेष की रुचि का प्रतीक न होकर समस्त राष्ट्र की कलात्मक निधि का परिचायक है।

भगवान् बाहुबली सहस्राब्दी प्रतिष्ठा समारोह के अवसर पर केन्द्रीय सचार मन्त्री श्री सी० एम० स्टीफन ने महामस्तकाभिषेक को धार्मिक महोत्सव की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय मेला कहना उपयुक्त समझा था। उन्होंने श्रवणबेलगोल की ऐतिहासिक परम्परा को नमन करते हुए स्वीकार किया था—"श्रवणबेलगोल पूरे देश की अनुपम निधि है। यह वह महान् स्थल है जहां उत्तरावर्त के सम्राट् ने अन्तिम शरण प्राप्त की और इस स्थान को ही उन्होंने अपनी साधना के लिए चुना। इस घटना से श्रवणबेलगोल उत्तर एवं दक्षिण भारत के बीच भावात्मक सम्बन्धों की सिद्धि करने वाला, राष्ट्रीय महत्त्व का स्थान बनकर हमेशा के लिए महान् हो गया।" इस अवसर पर एक और सत्य का उद्घाटन करते हुए उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था कि भारतीय डाक व तार विभाग को यह टिकट इसलिए भी निकालना पड़ा है, क्योंकि गोम्मटेश्वर की इस कलात्मक प्रतिमा ने पूरे देश का ही नहीं, विदेशों का भी ध्यान आकर्षित किया है। वास्तव में भगवान् गोम्मटेश्वर की प्रतिमा आज की

सन्तप्त मानवता के लिए एक वरदान है। पृथ्वी और आकाश के मध्य राग-द्वेष के बन्धनों से मुक्त होकर विचरण करने वाली यह देवोपम प्रतिमा भौतिकता से ग्रस्त संसारी प्राणियों को जीवन की निर्लिप्तता का अमर सन्देश दे रही है।

भारतीय कला एवं संस्कृति की उपासिका श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अपने इतिहास प्रेमी पिता श्री जवाहरलाल नेहरू के साथ ७ सितम्बर, १९५१ को इस अलौकिक मूर्ति के सर्वप्रथम दर्शन किए। इस नयनाभिराम प्रतिमा में अन्तर्निहित मूल्यों ने उन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया। भगवान् गोम्मटेश के महामस्तकाभिषेक के अवसर पर जनमंगल कलश का प्रत्यावर्तन करते हुए २९ सितम्बर, १९८० को एक विशाल जनसभा को सम्बोधित करते हुए उन्होंने भगवान् गोम्मटेश के विग्रह को 'शानदार' एवं 'सुन्दर मूर्ति' का उपमान दिया। उन्होंने अपने भाषण में कहा—"उस मूर्ति को देखकर एक रोशनी दिल में आती है, एक शान्ति आती है। एक नई प्रकार की भावना हृदय में उत्पन्न होती है।" भगवान् बाहुबली की कलात्मक मूर्ति के सौन्दर्य का विवेचन करते हुए वह भावविह्वल हो गई थीं। कल्पनालोक में विचरण करते हुए उन्होंने दार्शनिक शब्दावली में कहा था—"उस मूर्ति की प्रशंसा बहुत लोगों ने की है। कवियों ने की है। मैं उसके लिए कहां से शब्द ढूंढूं ? मेरी तो यह आशा है कि किसी दिन आप सब जा सकेंगे, उसके दर्शन करेंगे।"

एक दिगम्बर मुनि के रूप में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी अपने दीक्षा गुरु तपोनिधि श्री जयसागर जी के साथ सन् १९३७ में श्रवणबेलगोल पधारे थे। भगवान् बाहुबली की विशाल एवं मनोज्ञ प्रतिमा ने आपको अत्यधिक प्रभावित किया था। निकटवर्ती पहाड़ियों के जैन वैभव तथा समर्थ आचार्यों एवं मुनियों की साधनास्थली (समाधियों) ने आपके मानस को आन्दोलित कर दिया। आचार्यश्री जयसागर जी की प्रेरणा से श्री देशभूषण जी ने श्रवणबेलगोल को अपनी साधनास्थली बना लिया।

आचार्यश्री पर्वत की शिला पर स्थित भगवान् बाहुबली की कलात्मक प्रतिमा के अलौकिक सौन्दर्य का घंटों तक नियमित अवलोकन किया करते थे। उस समय दूर-दूर तक फैले हुए नीले आकाश के पर्दे में आचार्यश्री को चतुर्दिक भगवान् के चरणों का शुभ्र प्रसार ही दिखलाई पड़ता था। अपनी साधना के प्रारम्भिक वर्षों में आपने इसी तीर्थ पर भारतीय भाषाओं का गहन अध्ययन किया। इसलिए इन्द्रगिरि पर स्थित भगवान् गोम्मटेश की लोकोत्तर प्रतिमा के चरणों में जन-जन की भावनाओं का महार्घ्य समर्पित करने की भावना से प्रस्तुत ग्रंथ में 'गोम्मटेश दिग्दर्शन' खंड का विशेष प्रावधान किया गया है। एक दिगम्बर मुनि के रूप में आचार्यश्री श्रवणबेलगोल में आयोजित तीन महामस्तकाभिषेक समारोहों—२६ फरवरी, १९४०, ३० मार्च, १९६७ एवं २२ फरवरी, १९८१ के प्रत्यक्ष साक्षी रहे हैं। विगत एक सहस्र वर्ष के इतिहास में किसी भी जैन आचार्य के लिए यह गौरवपूर्ण उपलब्धि है। ३० मार्च, १९६७ के महामस्तकाभिषेक के अवसर पर आचार्यश्री की भावदशा का अंकन एक पत्रकार ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—"आचार्यश्री आठ घण्टों तक एकाग्र होकर महामस्तकाभिषेक का कार्यक्रम देखते रहे। हिलना-डुलना तो दूर की बात है, उनके तो पलक तक झपकते नहीं दिखाई देते थे।"

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी का वयोवृद्ध एवं अस्वस्थ होते हुए भी २६ जनवरी, १९८१ को श्रवणबेलगोल पहुंच जाना वास्तव में उनकी जीवटशक्ति एवं भगवान् गोम्मटेश के प्रति असीम भक्ति का परिचायक है। इसीलिए २० फरवरी, १९८१ को श्रवणबेलगोल के भट्टारक कर्मयोगी श्री चारुकीर्ति जी ने आचार्यश्री के प्रति श्रद्धा उद्गार व्यक्त करते हुए कहा—"आचार्य महाराज के प्रति हम क्या कहें ? इस अशक्त वृद्धावस्था में कोथली से चलकर यहां तक आने का उन्होंने कष्ट उठाया, यह गोम्मट स्वामी के चरणों में उनकी भक्ति और हम पर उनके स्नेह भाव का प्रतीक है। मेले में उनका दर्शन प्राप्त हुआ यह लाख-लाख लोगों का सौभाग्य ही कहना चाहिए।"

इस महामस्तकाभिषेक की पूर्व सन्ध्या पर देश की लोकप्रिय तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी के दर्शन करना चाहती थीं। मंच की ओर जाते हुए उन्होंने महोत्सव के आयोजकों से जिज्ञासावश यह प्रश्न किया था—'आचार्य देशभूषण जी कहाँ विराजते हैं ?' उस समय संयोगवश सुरक्षा की दृष्टि से इन दोनों महान् विभूतियों की भेंट नहीं हो पाई किन्तु महोत्सव के अवसर पर विराट् जनसभा को सम्बोधित करते हुए उन्होंने सर्वप्रथम आचार्यरत्न को स्मरण करके उन्हें 'मुनिदेव' के गौरवपूर्ण अलंकरण से सम्बोधित कर उनकी साधना के प्रति राष्ट्र की श्रद्धा व्यक्त की थी। इसी अवसर पर शताब्दियों के उपरान्त आचार्यश्री की अध्यक्षता में समागत श्रमणों, दिगम्बर जैन आचार्यों, मुनियों, आर्यिकाओं एवं अन्य त्यागीजनों की एक धर्मसभा भी आयोजित हुई। इस सभा में दिगम्बर जैन मुनि परिषद् का विधिवत् गठन किया गया। इस प्रकार श्रवणबेलगोल मुनिश्री देशभूषण जी महाराज की आध्यात्मिक यात्रा का साधना केन्द्र है, और इसी सन्दर्भ में प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ में इससे सम्बन्धित 'गोम्मटेश दिग्दर्शन' खंड की संयोजना की गई है। इस खंड के सम्पादन का दायित्व श्री जगबीर कौशिक का रहा है।

१६१७, दरीबा कलां,
दिल्ली-११०००६

सुमत प्रसाद जैन
(प्रबन्ध सम्पादक)

Spritual Magnificence of Bhagawan Gommateshwara and Foreign Writers

Justice T. K. Tukol

Ancient Indian Art has been religious in Character. The temples were built with sculptural decorations and paintings to serve the aesthetic and spiritual needs of the devotees visiting them. Jain temples are sermons in stones speaking the doctrines of renunciation, peace and meditation. The images themselves are simple, either sitting or standing in deep meditation, often amidst the serenity of a hill or a lonely forest quite away from the turmoil of worldly life. They are beautiful in their simplicity; the grandeur is only to be discerned from the serenity of their facial expressions, of sound and quite proportionate parts of their bodies. They are almost uniform without any variety unless it be the idol of a *yaksha* or *yakshini*.

The images of *Yakshas* and *Yakshiṇis* are carved at some distance from the main image; they appear as if they have flown down to earth from their heavenly abode with all their crowns and ornaments, eager to render service to the Tīrthankara seated or standing on the central platform or other ornamental seat. They are indisputably handsome. The well-built bodies of the Tīrthankaras are mistaken by European art critics as well-fed, according little credit for their yogic poses and deep continuous meditation. The simplicity of the images normally stands in contrast with decorative pillars, attractive designs on the ceiling and the outer walls of beautiful temples to satisfy the tastes of the dignitaries who undertake to construct them.

The statue of Gommateshwara at Sravanabelgola was sculptured at the behest of Chamundaraya, the Minister and Military General of Rachamalla, the Ganga king. Gommata means 'beautiful' and that was the nickname of Chamundaraya; so Gommateshwara means "Lord, the beautiful ', though the statue represents Bhagavān Bāhubali, who attained salvation even before his father, Adināth or Vṛashabhadev, the first Tīrthankara, to whom references are found in the Ṛgveda, Yajurveda, Śrīmad Bhāgavat and Dhammapada.

Every image which is worshipped by followers of different faiths has its own religious history and background; or else, it might represent some principles which form the very core of a religion. Gommateshwara or Bāhubali is son of the first Tīrthankara. When Ṛshabhadeva decided to renounce his kingdom prior to his acceptance of asceticism, he divided his territory between all his sons including Bharat and Bāhubali. After his father had become a Tīrthankara, Bharat desired that he should become an Emperor by gaining suzerainty over the entire kingdom of his father. So he first sent his royal messengers to all his younger brothers to inform them of his intentions and call upon them to surrender their territories to him. The brothers were all surprised at his greed but they did not want war. So they surrendered their respective portions of the empire of their father, accepted asceticism from their father who was by then a Tīrthankara and wended their way to solitary places for meditation on the Self. Bharat was quite happy over the success of his mission and was thus encouraged to send the same messengers to Bāhubali.

On hearing that his elder brother had entertained the ambition of becoming an emperor like his father, he told the messengers to inform his brother that it was the duty of a son to obey his father and be satisfied with the portion of the kingdom allotted to his share. Bharat was not happy with Bāhubali's answer and invited him for a war. Bāhubali told him that he was prepared for it, that the fight should be between them-

selves only and that no innocent soldier should be involved in their fight consistently with the principle of Ahimsā practised by Ṛshabhadev. It was agreed that they should fight among themselves by *dṛshti-yuddha* (looking at each other without winking the eye-lids as long as possible), *Malla-yuddha* (fight to test their mutual physical strength) and *jala-yuddha* (splashing of water at each other with force from a well or tank) and that whoever won in all, should be declared the victor. Bāhubali was superior to Bharat in physique, height and strength. He won the battle in all the three events and became victorious. Bharat had no alternative but to surrender to his younger brother all his kingdom and accept his sovereignty. So, out of sheer desperation, he weilded his *Chakra* (wheel) which would cut the head or any other part of the body of Bāhubali; to his great disillusionment, the wheel flashed towards Bāhubali flew towards him but stood by his side without harming him in any manner. Thus, truth and justice triumphed ; Bharat stood crest-fallen.

Bāhubali was a hero not only on the battle-field but also in the conquest of his soul. He felt grieved for making his elder brother bend down his head in shame for the sake of perishable and impermanent glory or kingship so, he told his brother that he had surrendered all his kingdom to him and would accept asceticism. He was thus a unique hero who found satisfaction in renunciation even in his victory. He became a *muni*, became deeply engrossed in meditating over the infinite qualities of the soul and attained liberation. Though kukkuta-serpants built their ant-hills around the lower portion of his body and the mādhavi creepers encircled his thighs and arms, he remained undisturbed, calm and engrossed in meditation. Bharat was astonished at the spiritual achievements of Bāhubali and fell at his feet. After Bāhubali attained liberation, he erected a colossus in gold measuring 525 arrows in height at Paudanapur where Bāhubali ruled. It became a great spiritual centre for worship and meditation

This is the back-ground history of erection of the colossus of Bāhubali of Gommateshwara. Madhura was the capital of Ganga kings; Chamundaraya was an eminant Prime Minister, a brave General of the army, learned in religious lore, a literateur in Kannada and a devoted pious house-holder. Āchārya Nemichandra and Ajitajinasenāchārya were his preceptors; in fact the former wrote two renowned works in Jaina philosophy; *Dravyasangraha* and *Gommatasāra* which have immortalized the Ācharya in the history of Jaina philosophy. During the course of their talk, Kālalādevi, the mother of Chamundarāya, came to know of the colossus at Paudanāpurā and vowed not to take milk until she had a visit to that holy place and offered her prayers. When Chamundaraya came to know of his mother's vow, he started with his family and the two *gurus* to go to Paudanāpur. During the course of their journey, they halted at Śravanabelgola which had already become famous as a holy place, hallowed by the visit and death by *Sallekhana* of Śrutakevalin Bhadrabāhu in 272 B.C. and of his disciple Chandragupta Maurya who had accompanied him with 12000 other monks as the Śrutakevalin had predicted of a severe famine for 12 years in the north The details of this event are to be found in an inscription (No. 1, 600 A D. E C. Vol. II). Though the historocity of this event was first doubted by some scholars, Vincent Smith who has written on Ancient Indian History, has supported the event to be true. Prof. S.R. Sharma, the author of "*Karnataka and Jain Culture*" and Dr. Saletore, the author of "*Medlveal Jainism*" are in agreement with Smith. These events find support from "*Bṛhat-kathākośa*" by Harishena written in 981 and by *Bāhubalicharitre* in Samskrit written by Ratnanandi.

Chamundaraya and his party paid their homage to the foot-prints of Bhadrabāhu and to the idol of Bhagavan Pārśvanāth in the temple built in the name of Chandragupta by his grandson on the small-hill (vindhya-giri), and rested for the night It is believed that both Chamundaraya and his mother dreamt identical dreams in which Padmāvati and Kūshmāndini, both *yakshinis* told them that Paudānapurā was far distant, that the colossus of Bāhubali had become wholly covered with the ant-hills built by the kukkuta serpants which surrounded it and that he would see the image of Bāhubali on the summit of the opposite hill (indragiri), if he were to aim his golden arrow at the top. The next morning, Chamundaraya took his bath, paid his homage to the foot-prints of Badrabahu and to Bhagavān Pārśvanāth. Then he shot his arrow at the top of summit on the hill opposite. There, to the joy of all, appeared the head of Bāhubali, Chamundarāya secured the services

of eminent sculptors and had the colossus measuring 57½ ft. in height made after considerable labour. Lewis Rice who first prepared the volume of "*Mysore Gazetteer*" stated that the magnificient image of unequalled beauty with a serene and contemplative face with a mild smile was prepared by Ariṭṭonemi, which is a prākrit form of Arishṭanemi. History makes no reference to such sculptor, though there was one Acharya Arishtanemi who lived in about 650 A.D. as testified to by inscription No. 11 (E.C. Vol. II). Mention is made in inscription No. 458 of one Arittanemi-panditara, the destroyer of other philosophies. There is no other Arishtanemi mentioned in any of the inscriptions. It appears to me that as was usual with the ancient artists, they preferred to remain anonymous rather than carve their names somewhere. Chamundarāya must have employed a large number of workmen, though some Jaina Ācharya might have supervised the work, since the image is identical in description with that given by Jinasena Acharya in his *Mahapurāna.*

This colossus of incomparable beauty, serenity and engrossed in contemplation of the self, has received encomiums from numerous foreign artists and historians who visited India. None can dispute that the colossal image of Gommateshwara is an immemorable contribution of Chāmundarāya to Indian art and a tribute to the workmanship of the sculptors of the time, who have chosen to remain anonymous. It may be of interest to students of history to know that a similar small bronze image is to be found in the Prince of Wales Museum in Bombay.

The image is standing erect facing the North. It is, as already stated, serene in facial expression and the head is attractive "with curled hair in short spiral ringlets" as described in the Mahāpurāṇa. Upto the thighs, the figure is supported by ant-hills upto the thighs. Thereafter. the upper portion of the image stands erect without any support standing on an open lotus whose petals are proportionately carved to spread out accommodating the big feet. A plant of *Mādhavi* creeper has been carved to snow as if it has grown encircling the thighs and the arms. It has been cut out of a solid granite rock standing on the top of the hill Indragiri. Even though it has been standing in the open overlooking the whole world, it has braved the vagaries of the sunshine, cold and rains.

Gommateshwara has watched over India for 1000 years preaching his message of Ahimsa and peace, of the perishable nature of worldly wealth and glory, of the need for renunciation of worldly pleasures, and meditation with concentration on the infinite qualities of the soul to attain imperishable bliss in heaven, never to return to the worries and anguishes of worldly life.

Behind the statue is a closed corridor with small uniform cells containing small images of the Twenty-four Tīrthankaras and of some *Yakshas* and *yakshiṇis.*

"The statues of this Jain Saint (Gommata)" says Fergusson in his book : *History of Indian and Eastern Architecture, Vol. II* "are among the most remarkable works of native art in the south of India. Three of them are wellknown and have long been known to Europeans That at Sravanabelgola attracted the attention of the Duke of Wellington, when as Sir Wellesley, he commanded a division at the seige of Seringapatam. He, like all those who followed him, was astonished at the amount of labour such a work must have entailed, and puzzled to know whether it was a part of the hill or had been moved to the spot where it now stands. The former is the more probable theory. The hill is one mass of granite about 400 feet in height, and probably had a mass or Tor standing on the summit, either as a part of the subadjacent mass or lying on it. This, the Jains undertook to fashion into a statue 58 feet in hight, and have achieved marvellous success .....Whether, however, the rock was found in situ, or was moved, nothing grander and more imposing exists anywhere out of Egypt, and even there no known statue surpasses in height, though it must be confessed that, they do excel it in perfection of art they exhibit". (Page 72). But it is certai.. that the Rameses in Egypt do not exhibit the same saintly expression on the face which is artistically most perfect and absorbing as in the case of Gomateshwara.

Mrs. N.R. Gusheva, who is a Russian author has written a book on "*Jainism*." She merely refers to Sravanabelgola being the centre of Jainism in the South and to the image of Gomateshwara as of "tremendous size" carved from a rock in 980-999 A.D.

Workman in his "*Town and Jungles*" has been more realistic and impartial. He has stated that "the image is majestic and has impressive grandeur". "The monolithic Indian saint is thousands of years younger than the prostrate Rameses or the guardians of Abu Simbal ; but he is more impressive, both on account of his commanding position on the brow of the hill overlooking the wide stretch of plain and his size." He has also appreciated "the wondrous contemplative expression touched with a faint smile" (Pages 82-4).

The main purpose of art is to assist human beings in mastering their environment with a view to liberate themselves. Zimmer has referred to the characteristics of Jain sculpture in "*The Art of Indian Asia, Vol. I*" and has stated : "The Jain sculpture is the only art in India in which absolutely unclothed figures are found .....the nakedness of statues, like that of the monks of the archaic period, represents a condition of absolute detachment from the world, from the social order, and the common values of earthly life. For, the Jaina gospel of release from the bondage of life and rebirth was unremitting in its disciplines of remunciation." (Page 15). He has also referred to the absolute perfection of Jain saints, purging themselves "of all the idiosyncrasies ... that make for the movement and variety of life " He speaks of "rigid symmetry and utter immobility of their stance and of their spiritual aloofness." Referring the Jain images he observes that they are generally "rigid, erect, immobile, with arms held stiffly down, knees straight and the toes directly forward. The ideal physique of the Tirthankara is compared to the body of a lion, powerful chest and shoulders..." He further refers to the supreme triumph achieved by them by yoga and meditation (Page – 133). These are the observations of the author with reference to all Jain images in general I have no doubt that they do apply with equal force to the statue of Gommateshwar which speaks of the "spiritual aloofness" of Jain saints.

This description applies to all Jain images whether sitting in *padmasana* or standing in *kayotsaraga*. Sound health and well-built body are the result of numerous restrictions in food, high ethical thoughts and meditation. A Tirthankara stands far supreme above all the run of common ascetics : there is therefore no surprise in his well-built body.

Dr. Anand K. Coomaraswamy is an eminent writer from Ceylon whose book on *Indian and Indonesian Art* expresses his views on Gommateshwar. He speaks of "the most remarkable ... great image of Gommateshwar" as being "one of the largest free standing images in the world" representing the "serenity of one practising *Kayotsarga* austerity, undisturbed by the serpants about his feet, the ant-hill rising to the thighs or the growing creeper that has already reached his shoulders." This is indeed a graphic description of one who is fully immersed in deep in meditation, being oblivious to all things worldly and his liberated soul enjoying the heavenly bliss of an abode from which there is no return Even when his victory over Bharat had placed emperorship at his feet, he spurned the glories and pleasures of the throne as his father had earlier and followed the path of renunciation to become the first *Siddha* in the Jain tradition. The facial expression impresses the onlooker with detachment, austerity and harmony of one who has attained bliss in heaven.

It would not be out of place to refer to an experience which I had with some two American academics who had come to visit Gommateshwara. They were sitting gazing at the monolith for a couple of hours; I gave them the religious background of the image. Words like "oh marvellous, magnificent, unimaginable" came from their mouths. They told me that they were feeling elated at the sight of Bhagavan, never experienced before.

Havell studied the entire field of Indian art of different religions. His critical impressions are contained in his book "*The Art Heritage of India.*" He was attracted by the Hindu art where there are "divine incarnations of heroes, like Krishna who laboured for the material prosperity of humanity." He therefore feels that the Jaina artists were limited "to a very small range of ideas" without the help of a mythology which allows free scope both for imagination and variety of picturesque colours. According to him, the Jain art suffers from "poverty of intellect " It must be remembered that life undoubtedly offers a

variety of colours, scenes which are either glamourous or austere according as people seek for what is beautiful to the eyes or satisying to them in their search for the real. Divine philosophy comes from within and whatever helps to realise it, is spiritual. Real beauty is ennobling and is the outcome of careful, intelligent and victorious struggle against the innumerable obstacles that beset the path of harmonious living. Even Krishna whose external appearance has provided material for painting of numerous pictures of excellent art pleasing to the eyes, yet the philosophy which he has preached in the Bhagwadgeeta is one of inner satisfaction, being "divine philosophy." It is undoubtedly true that even among the art-lovers there are those who seek what is satisfying to the eye and others who seek for what is elevating to the soul. Since Jainism has not valued material prosperity, their art and architecture have an inner appeal. For one who finds satisfaction from external appearance, Jain art has little to offer except by their temples; it ministers to the inner grace, holiness, goodness and purity that help for liberation of the soul from the shackles of worldly life.

Prof. A.L. Basham, who is a learned and widely read scholar, has written a fine book: *The Wonder that was India*. It deals with almost all aspects of life, history, philosophy, literature and art. He admits that "nearly all the artistic remains of ancient India are of a religious nature or were at least made for religious purposes". According to him, "the artistic remains are expressions of deep religious experiences" and "sermons in stone". Writing about Gomateshwara, he says : "Asceticism and self denial in various forms are praised in much Indian religious literatures, but the ascetics who appear in sculpture are usually well-fed and cheerful As an example, we may cite the colossal rock-cut medieval image of Jain saint Gommateshwara at Sravana Belgola in Mysore. He stands bolt-upright in the posture of meditation known as *Kayotsarga*, with feet firm on the earth, and arms held downwards but not touching the body, and he smiles faintly. The artist must have tried to express the soul almost set free from the trammels of matter, and about to leave for its final resting place of ever-lasting bliss at the top of the universe. Whatever the intentions of the artist, however, Gommateshwara is still an ordinary young man of his time, full of vitality. The saint is said to have stood so long in meditation that creepers twined around his motionless legs, and they are shown in the sculpture; but though intended to portray his sanctity, they do but emphasise that he is a creature of the earth whom the earth pulls back".

I am unable to understand the last part of the remarks quoted above. It must be remembered that interpretation of work of art depends upon the knowledge of the religious, ethical or material background which a work of art is prepared to represent, absence of such knowledge will make us miss the spirit and know only what appeals to the eye. "Beauty is the virtue of the body, as virtue is beauty of the soul," said Emerson. While the former is visible to the naked eyes, the latter is not; the depth of understanding of the virtue of a soul necessarily depends upon the extent of knowledge of the principles which a work of art represents. Reading a work of art is itself an art depending upon depth of knowledge of the subject which it represents. As they say rightly, "heard melodies are sweet but those unheard are sweeter still". We have already seen that one of the critics has rightly said that Gommateshwara was quite unmindful of the anthills and creepers that had grown round his feet as he was deeply engrossed in meditation; the reading of Prof. Basham that the creepers which had entwined around his legs appeared to pull him back as he is a creature of the earth, appears to be superficial and contrary to the religious conception. If the creepers showed that he was a man of the earth, then Bāhubali would have removed them. The author has said, "Gommateshwara is still an ordinary young man of his time"; but this cannot be accepted by those who have read the life-story of Bāhubali, whether real or mythological. This observation of the author is inconsistent with his earlier observation that the artist must have tried to express that the soul was almost set free from the trammels of matter and about to leave for the final resting place of ever-lasting bliss. To my mind, there is a certain amount of self-contradiction.

Another foreign writer who has referred to Gommateshwara is Jack Finegan, the author of "*Archaelogy of World Religions*". He has studied all the religions mentioned in his book including Jainism and its principles. He refers to the image as "a colossal statue of a great man of the Jaina faith". Then he

goes on to describe the image : "A remarkable example of the latter type of sanctuary may be seen on the summit of Vindhyagiri Hill at Sravana Belgola. In the centre of the open court surrounded by corridors adorned with Jinas and other figures, stands the enormous statue pictured in Fig. 75. The huge image measuring fifty-seven feet in height and standing erect and unclothed facing north, represents Gommata (Gommateshwara). Although the figure is treated in conventional form, there is a calm and serene expression upon the face. The anthills rise on either side and, as in the relief in the Indra Sabha, creeping plants spring from the ground and twine around the thighs and arms of the saint. Thus is symbolized the profound abstraction of the great ascetic who stands in his place of seclusion, neither moving nor noticing while ants build and plants climb around him. Inscriptions (No. 175, 176, 179) at the side of the statue, "Chamunda Raja caused (this image) to be made" and thus we learn that it was none other than the famous minister of Rajamalla who was responsible for the making of this monument. The date must have been about 983." The author then quotes the prose translation of Boppana's poem fully (as reproduced in Ephigraphia Carnatica Vol. II at pages 97-101).

This year, the Mahamastakabhisheka of Bhagavan Bāhubali is being celebrated by the Jainas with the active co-operation of the Government of Karnataka to mark the thousandth year of installation of the statue. There is however a difference of opinion amongst scholars as to the date of installation.

The celebration should not end merely like a mass congregation gathering to perform certain ritualistic ceremonies. Every one who participates in the celebration and even those who do not attend, must imbibe something of the renunciation of Bāhubali. What is most needed today in the world is his stoppage of blood-shed by not involving the armies of both sides in his war with his brother. The principles of Ahimsa, love, austerity, aparigraha and meditation which form the core doctrines of Jainism should be understood and practised in daily life by every one according to his capacity. The Jain concept of Puja or anointation is that it should not end with rituals. But those who are engaged in the acts and who observe the ceremonies, must meditate upon the infinite qualities of religion which Bahubali symbolises. The end of a Puja is self-purification and sincere effort towards perfection of ethical conduct a spiritual qualities of the soul. All expenditure would be waste of money if the devotees fail to aim at perfection

अरे, ये खड़े हैं गोमटेश्वर ! दसों दिशाएं मानो विनत हो कर उस विशाल चरण-युगल तले नील कमल बन कर बिछ गई हैं। अनन्तों की गहन, अशेष नीलिमा के भीतर से यह कौन उत्तुंगकाय व्यक्तिमत्ता अनायास रूप ले कर प्रकट हो गई है ? आकाश ने इसके बाहु-मूलों में मुँह दुबका लिया है। ससागरा पृथ्वी इसके चरणों में लिपटी पड़ी है। कोमल और कराल ने समान रूप से इसका प्यार पाया है। यदि इसकी बाहुओं और जंघाओं ने कोमल लताओं के परिरम्भण स्वीकार किये हैं, तो इसकी रानों पर भुजगम विषधरों ने अपने चुम्बन भी अंकित किये हैं। प्रकृति की परम वत्सला गोद में शिशु की तरह अभय आत्मार्पण करके, यहाँ पुरुष ने उसके हृदय पर प्रभुता प्राप्त की है। निरंजन, निराकार असीमता ने यहाँ सीमा का वरण किया है। क्या मानवीय कल्पना ने कभी इससे अधिक भव्य-दिव्य सपना देखा है ? मुक्त अलकावलि से शोभित उस कोटि सूर्यों-से प्रचण्ड प्रतापी मुख-मण्डल पर जगत् के सारे दुख-द्वन्द्व, क्लेश-विषाद की सारभूत छाया पड़ रही है। पर नासाग्र पर स्थिर वह दृष्टि, एक निर्बाध विजेता की समता और वीतरागता लिए एकदम निर्विकार और भावशून्य है, और उन सुदृढ़ फिर भी कमनीय ओठों के बीच जो अस्फुट मुस्कान दीपित है, उसमें सर्वजन-वल्लभ का सम्पूर्ण प्यार लहरा रहा है। मानो निरंजन, निराकार सच्चिदानन्द ने निर्बन्धन होते हुए भी, ईषत् मुस्कुरा कर काया-माया के बन्धन को स्वीकार कर लिया है।

श्री वीरेन्द्र कुमार जैन की एक स्वप्न फन्तासी कथा 'जब गोमटेश्वर ने डग भरा' से सादर उद्धृत

Colossal Image of Bahubali : The Sublime Sculpture

Dr. Vilas A. Sangave

Shravana-Belagola, the most ancient and prominent spiritual centre of the Jainas in South India, has been famous in the world for the last many centuries for its lasting contributions to the culture of the world through its ideal saints, classic philosophical works, exquisite sacred monuments like temples, caves, pillars, etc., and especially the impressive colossal image of Gommateshvara. Shravana-Belagola is the well-known temple-city of the Jainas in India as it contains innumerable shrines situated on the Vindhyagiri hill, on the Chandra-giri hill, in the village proper and in the adjacent villages like Jinanathapura and Kambada-halli. These shrines, as per the established practice in South India, have been divided broadly into two categories, viz., '*Bastis*' and '*Bettas*'. This division of the southern Jaina shrines into two classes, called Bastis and Bettas, is the major peculiarity that distinguishes the Jaina architecture of the south India from that of the north India. The term 'Basti', properly 'Basadi' signifies a Jaina temple, and it is the Kannada form of the Sanskrit word 'Vasati' having the same meaning. Hence 'Bastis' are temples, in the usual acceptance of the word in north India, containing image of one or more of the twenty-four Tirthankaras which are the usual objects of worship. On the other hand, the term 'Betta', in Kannada language, literally means a hill; but it is used in a specific sense by the Jainas in South India. Here the term 'Betta' is applied to a special form of shrine consisting of a courtyard open to the sky, with cloisters round about and in the centre a colossal image, not of a Tirthankara, but of a saint and usually of the saint Bahubali, the son of the first Tirthankara Lord Rishabhadeva. Hence the colossal image of Bahubali on the Vindhyagiri hill belongs to the category of 'Bettas' and provides the best example and the most ancient example of such 'Bettas'. This colossal and dignified image of Bahubali, which is one the largest free-standing images in the world, is the most distinctive contribution of Shravana-Belagola to the culture of the world both from the sculptural point of view as the magnificent creation of art in the world and from the philosophical point of view through the message of eternal values it gives to the world.

The colossal image of Gommateshvara is the most impressive and wonderful image in the world because of its huge size of 57 feet in height and of its location on the crest of the Vindhyagiri hill which rises over 450 feet above the level of the ground. Due to its unique size and location this image, unlike other images, is visible from distances of about 10 miles all round. It is carved out of a tall granitictor which was originally on the hill top and which amply satisfied the sculpture by its homogeneity and fine grained texture. The sculpture is finished in the round from the head down to the region of the thighs by the removal of the unwanted rock from behind, front and sides. Below the thighs, the knees and the feet are cut in very high relief with the parent rock-mass still left on the flanks and sear, as if to support it. The flanking rock masses depict ant-hills and 'Kukkuta-sarpas', i.e., cockatrices emerging out and from among them, and on either side emerges a 'madhavi' creeper climbing up to entwine the legs and thighs and ascending almost to the arms, near the shoulders, with their leaves spaced out and terminating in a cluster of flowers or berries. The pedestal on which stand the feet of Gommata, each measuring 9 feet, is a full-blown lotus. Broad-chested and majestic, Gommata stands erect in the 'Khadgasana'—pose with his arms dangling on either side reaching to the knees and with thumbs facing

in. The carving of the almost rounded head, 7.6 feet high, erect, facing the north, with a sublime composure, is a most marvellous composition of any age. The half-closed and contemplative eyes with gaze turned towards the tip of the sharp and sensitive nose, the well-shaped pouting lips wearing a benign and serene smile, that could be discerned by a view from any direction, the slightly-projected chin with a dimple above, an imperceptibly high cheek, lobed ears and subdued and voluted curls of locks on the head invading the broad forehead—all make for a charming face, yet quite serene. The broad shoulders, 26 feet across, of sturdy appearance and the lack of well-modulated elbow and knee joints, the broad and slightly heaved up chest, the narrow hip, about 10 feet wide in front, the wider pelvis, about 13 feet across in front, and rounded gluteal bulges, as if to balance the erect stance, the incurved and channelled midline of the back, the firmly-planted pair of feet, in brief all the '*mahapurusha-lakshanas*' in good proportion, accentuate the beauty of the modelling and the grace of the stance, while at the same time they indicate the conventions of Jaina iconography adopted in respect of the Tirthankara forms that had to eschew undue emphasis on corporeal graces tending to the worldly and voluptuous. The sculptor has very effectively brought into existence in stone the concept of a *mahapurusha*' with all the '*anga-lakshanas*'. The nudity of the figure, indicating absolute renunciation of a 'Kevalin', i. e., omniscient, the stiff erectness of the stance suggesting firm determination and self-control of a Jina and the beaming smile yet contemplative gaze—all blend together to bring out the greatness of conception and the mastery of the sculptor. The deft skill with which, besides the head and its mien, the crease lines on the neck and the palm lines, the hands, the fingers and even the nails or the feet with their toes and nails are delineated in this hard intractable 'in situ' rock is something to be marvelled at.

Further, as a masterpiece of monoliths the image of Gommateshvara is unrivalled in the world. The Egyptian colossi, including that of Ramses, as also the great Buddhas on the faces of the cliffs of Bamian in Afganistan, are at best reliefs, while the Gommateshvara is in the round for most of its height above the knees, with a rear side as perfectly shaped modelled as the front side. Further, this sculpture is cut out and is wrought out by the hardest stone as compared to the above reliefs carved in much softer sand stone or lime stone.

Added to this is the mirror-like smooth and shining polish of the entire body that brings out the rich fine grains of this grayish white granite, an art that had been lost or forgotten for more than a millennium since the workmen of Asoka had polished the extensive interiors of the Ajivika caves in the hills near Gaya in north India. For a hypaethral statue on a high hill-top exposed to Sun, rain, heat, cold and abrasive dust and rain-carrying winds the polish acts as a great refractory—a fact which the makers seem to have understood. Unlike the earlier examples of Gommata at Ellora and other places, the creepers entwining round the body have been shown here with great control with their distinctive foliage well-spaced apart and in a way that would not detract from the majesty of the main figure itself

Thus this colossal image of Bahubali is known as a marvellous creation of art, unsurpassed so far, in the world But this image is still more significant in the world for the message of eternal values which it gives to the entire humanity. The image, though huge, is so expressive that apart from its total effect of awe and serenity, its different features also invariably convey certain profound meanings which create a deep impact on the visitors even within a very short period of their visit For instance, the stiff erectness of the image in the 'Kayotsarga' posture indicates perfect self control and firm self-confidence, the faint and benign smile of the face indicates complete inward bliss and utmost sympathy for the suffering world, the nudity of the figure suggests absolute renunciation and full detachment from the world, and the huge size of the figure reveals the greatness of the saint and at the same time it creates the feelings of hope in man that he also can achieve similar greatness by following the path of penance laid down by him Its 'bhavya', i.e., grand, pose, its 'vitaraga', i.e., impassive, face, its exquisite appearance and its meditative mood are really exemplary Even though it is one thousand years old, it looks extremely beautiful and bright, as though quite fresh from the

chisel of the artist. It creates such a deep impact of superb feelings on the mind which even the reading of scriptures would not be in a position to do. Naturally, this image evokes in the minds of the visitors utmost admiration for the unknown artist, who carved it, and for the commander-in-chief Chamunda-Raya, who installed it.

Further, the very sight of the image gives a kind of profound spiritual bliss and mental satisfaction to us. If ever and anywhere stone can speak, it certainly speaks here for all the time. Nay; it does more. It instils in us feelings of devotion, piety and humility. It makes us bold to shun all forms of hypocracy and sin, and strengthens us to walk on the path of rightousness. Obviously, the sublime statue creates at once deep feelings of compelling reverence and complete submission. For example, there have been many instances when the fierce iconoclasts who rushed up the hill to mutilate the image, had, on seeing it, to throw their axes aside and stand ashamed in mute reverence. That is why during the long period of Muslim domination in the South India, this image, unlike images at Hampi, Koppal, Lakkundi and other sacred places in Karnataka, remained throughout unhurt and unmutilated. Similarly, this image did evoke pious feelings in the minds of foreign dignitaries also. The great general Sir Arthur Wellesley who was commanding the British troops at Sringapatam heard about this image and went to see it. On entering the enclosure and on seeing the image the impression created in his mind was such that he took off his hat and exclaimed, "O ! My God !". Further, in this connection the recent incidence of the visit of Prime Minister Jawaharlal Nehru, along with his daughter Smt. Indira Gandhi, to Shravana-Belagola on the 7th September 1951 only for the purpose of seeing the image of Gommateshvara can be cited. On entering the enclosure when Pandit Nehru perceived the full view of the image, he was so much impressed by the sublime and imposing figure that he was struck with awe and wonder, continued to look at it for several minutes with concentration of mind, stood before the image in prayerful mood and ultimately exclaimed to Smt. Indira Gandhi standing nearby : "Am I standing on this earth or am I in the environment of the heaven ? I am seeing for the first time in my life such an unparalleled and pleasing image."

Moreover, a number of eminent philosophers, historians, art critics and archaeologists, both Indian and foreign, have expressed their expert opinions about the sublimity of the sculpture and the specific features of the image.

बहुधा मूर्तिकार सम्पूर्ण मूर्ति को तो सुन्दर बना देते है, परन्तु जिसके द्वारा व्यक्तित्व का उभार दिखाया जाता है उस चेहरे को नही बना पाते। इसलिए किसी मूर्ति को देखते समय, मैं उसकी मुखमुद्रा की ओर निराशा की अपेक्षा लेकर ही डरते-डरते देखता हूं। अच्छी से अच्छी मूर्तियों मे भी कुछ न कुछ त्रुटि रह जाती है। दूध-शक्कर मे नमक की कंकडी मिल ही जाती है। इस मूर्ति का सहज आगे आया हुआ अधरोष्ठ देख कर मन में शंका हुई कि अब मेरा उत्साह नष्ट होने वाला है। इसलिए विशेष ध्यानपूर्वक देखने लगा। आगे से देखा, बगल से देखा, किसी न किसी निर्णय पर तो आखिर पहुंचना ही था। जब तक मैं मूर्ति के सौन्दर्य को देखता रहा, तब तक कुछ निश्चय न कर सका। चित्त मे अनिश्चितता की अस्वस्थता फैलने लगी। परन्तु शीघ्र ही मैं सचेत हो गया और मैंने पागल मन से कहा—"सौन्दर्य का तो यहां ढेर है, लेकिन यह स्थान सौन्दर्य खोजने का नही है। यदि मुखमण्डल पर रूप-लावण्य हो, पर भाव न हो, तो वह मूर्ति पूजनीय नही हो सकती। वह कुछ प्रेरणा ही नही दे सकती। यह मूर्ति यहां दुनियादारी की दीक्षा देने नहीं खडी है। इस मूर्ति से पूछो, यह स्वय तुमसे सब कुछ कह देगी।'

दृष्टि बदली और उस मूर्ति की भावभंगिमा की ओर ध्यान गया। फिर तो कहना ही क्या था, क्षण भर में ही वैराग्य और कारुण्य का स्रोत बहने लगा। नही-नही, वैराग्य और कारुण्य का झरना झरने लगा और मन उसके प्रवाह मे नहा कर भव्यता के शिखर पर चढ़ने लगा। एक आचार्य ने ऐसी ही किसी मूर्ति के दर्शन करते समय कहा है—'यत्कारुण्यकटाक्ष कान्तिलहरी प्रक्षालयत्यात्मम्…' अर्थात् जिसकी कारुण्यपूर्ण कृपादृष्टि के जलप्रवाह से हृदय के भाव धुल कर स्वच्छ हो जाते हैं। इस यथार्थता का पूरा-पूरा अनुभव हमे यहीं हुआ। मूर्ति के मुख पर सहज कारुण्य है। दीर्घकाल तक मनुष्य की दुर्बलता, उसकी नीचता, निस्सार जीवन के प्रति उसका मोह आदि देखकर मानव जाति के प्रति अपार दुख, मूर्ति की आंखो और होठों मे समा गया है। इतना होने पर भी निराशा और खीज का कहीं आभास तक नही मिलता। दुनिया तो ऐसी ही होती है, ऐसी ही है, इसीलिए तो उसके उद्धार का प्रश्न बड़ा होता है। मनुष्य की पापमयप्रवीणता अधिक बलिष्ठ है अथवा महापुरुषों, बोधिसत्वों, तीर्थंकरो तथा अवतारों की क्षमा तथा करुणावृत्ति ? इस प्रश्न का उत्तर मनुष्य को सदा एक ही तरीके से जो मिला है, वही उत्तर हमें इस मूर्ति की मुख-मुद्रा से मिलता है।

स्व० श्री काका कालेलकर के यात्रा संस्मरण 'मेरी श्रवणबेलगोल-यात्रा' से सादर उद्धृत।

Gommateswara Mahamastakabhishek : AUnique 1000th Year Event

Sh. Satish Kumar Jain

The 58 feet and 8 inches (17.9 metres) high Gommateswara colossus of Lord Bahubali atop the Indragiri hill in tiny town of Sravanbelgola in Chennayapatna taluka of Hassan district of Karnataka is the poem in stone. A masterpiece of craftsmanship, it has become symbolic of the best of inconography.

The Imperial Gazeteer praised the colossus as a 'wonder of the world'. Duke of Wellington (later Sir Arthus Wellesly and Governor General of India) who passed through southern parts of Mysore during his conquest in the south was greatly impressed by this gigantic and artistic statue The distinguished archaeologist Fergusson had all praises for this lofty monolith beautiful piece of sculpture

One and all of the thousands of Indian and foreign visitors who come to visit daily this lofty statue of great serenity invariably express at its sight "Marvellous !", "Magnificent !", "Unimaginable !".

Carved out of a single rock on the summit of Vindhyagiri hill, locally known as Indragiri or Dodda Betta in Kannada i.e. the larger hill, the statue is in fine grained light grey granite stone, which is known for its hardness and durability. The hill is 3347 feet high from main sea level and 470 feet high above the plain at its feet. It is the highest monolith statue of this beauty and great serenity in the world. Even though the Buddha images at Bamiyan in Afghanistan are 120 to 175 feet high and there is yet another 84 feet high statue of Lord Rishabhadeva, father of Bahubali and first Jain Tirthankar among the 24 of the present cycle, known as Bawangaja at Chulgiri hill in Satpura range, 8 kms. from a place called Barwani in West Nimar district of Madhya Pradesh, and the image of Rameses II in Egypt is probably near to the height of Gommateswara statue, they all lack in that fineness of chieselling and divinity. They are supported too. The free-standing Gommateswara statue is unique for its divine smile on the face, highly impressive body fiture and height.

Dr. Anand K. Coomaraswamy, an eminent painter, art critic and writer from Sri Lanka has referred to the Gommateswara statue in his book on Indian and Indonensian Art as 'one of the largest free-standing images in the world in the serenity of Kayotsarga undisturbed by the serpents about his feet, the ant-hills rising to the thighs and the growing creepers reaching the shoulders'.

Another foreign writer Jack Firegan speaks of the image as "a colossus statue of a great man of the Jain faith", and "a remarkable example of the latter type of sanctuary at Vindhyagiri".

Appreciating the statue, Boppanna, a great Kannada poet of 12th century A D. wrote in his verse, which has been inscribed in epigraph of the same century (cir 1180 A. D.) near the entrance of Suttalaya at Indragiri, "when an image is very lofty it may not have beauty; when possessed of loftiness and real beauty it may not have supernatural power; but loftiness, real beauty and mighty supernatural power have very well united in this image of Lord Bahubali making it worthy of worship in its glorious form".

According to Jain scriptures Rishabhadeva or Adinath ruled over Ayodhya. He gave to the people the art of *asi* (swordsmanship for defence), *krishi* (agriculture), *vanijya*, (barter and commerce), *vidya* (literature and arts), and *shilpa* (crafts). He also evolved a social order for organised and better living of the

people. From his first queen Yashaswati, he had the eldest son Bharat and other sons and a daughter Brahmi and from the second queen Sunanda, the son Bahubali and a daughter Sundari. Daughters Brahmi and Sundari are said to have been educated by Rishabhadeva for imparting to the people the scriptology, and numerology and fine arts respectively.

Rishabhadeva, before becoming the Jain ascetic to attain *nirvana*, made Bharat the ruler of Ayodhya and Bahubali of Podanpur. The remaining sons were given other territories for independent rule.

Being the first Chakravarti emperor, Bharat had to move for conquests along with his great army and the Chakra, which was capable of killing opposing enemies. After returning from conquests the Chakra, which was at the forefront, did not enter Ayodhya also stopping the army to enter the capital. The reason ascribed to this was that brother Bahubali and the remaining brothers had not yet accepted Bharat's sovereignty and thus making the great conquest incomplete. Whereas the other brothers preferred to become ascetics and thus making possible their territories coming under control of Bharat, the mighty Bahubali chose to be in war with the elder brother to maintain his independence.

Great armies of the two brothers took positions against each other. However, on the sane advice of able and aged ministers, the war and unwanted bloodshed was avoided. Instead, the two brothers agreed to three different duals, *drishti-yuddha*, the fight of staring each other down, *jala-yuddha*, a fight in water and finally *malla-yuddha*, a wrestling bout, among themselves alone to determine the superiority over the other. By virtue of his being taller and stronger, Bahubali had a win over Bharat in all the duals. But having developed much respect for the elder brother and renunciation towards the world by them, he became a Jain ascetic inspite of strong persuasion by Bharat.

Bahubali did severe penance for over a year in the standing posture (Kayotsarga) for attaining *nirvana*. So much absorbed he was in meditation that the ants made chambers near his feet and creepers grew and entwined his legs and arms. This did not stir him at all He, however, did not attain *kewaljnan*, which precedes *nirvana*, because of doubt flickering in his mind that he was standing on the land which belonged to Bharat and was thus like one of his subjects and secondly he caused humiliation to his elder brother in defeating him. On satisfactory explanation having been given by Bharat and the sisters to his doubts, Bahubali instantly attained *kewal-jnan*. He left the earthly body and attained *nirvana* even before his father Rishbhadeva and became the first *mokshagami*.

Jain sources tell that chivalrous Chaumundraya, able commander and minister of Ganga king Rachmalla IV, who ruled over Talkaddu in 10th century A.D., and his mother Kalala Devi having heard the story of Bahubali decided to get sculptored a colossus of great beauty of ascetic Bahubali at the summit of Dodda Batta, i.e. the Indragiri hill.

The grand statue was completed at great expenses and labour. The inscriptions in Kannada, Tamil and Marathi languages, in 10th century characters, on ant-chambers at the feet of the image, state that Gommateswara was caused by Chamundraya. It was consecrated on March 12, 981 A.D. by Chamundraya's preceptor, Sidhantachakravarti Nemichandra. Since, out of affection he used to call Chamundraya as Gommatta, i.e. the cupid, he named the colossus after his name as Gommateswara. It also means the handsome and the excellent deity, as Bahubali was considered very handsome—the cupid. By looking at the Gommateswara statue, it appears as if the spirit hidden in rocks for centuries suddenly revealed itself wholly and in all its greatness and simplicity." According to Shri T.K. Tukol, retired Justice of the Karnataka High Court, two American academicians sat and dazed at the monolith for nearly two hours as the religious background of the image was narrated to them.

The statue stands in Kayotsarga posture facing north. Selection of location by Chaumundraya is really excellent and unparallel in whole of Karnataka. When carved, it must have provided a splendid view to the viewers from far and near as there were no enclosures on the hill then. These were constructed later

by Gangaraja, Jain minister of Hoysala king Vishnuvardhana. Even now the portion above the chest is visible to the viewers from all directions from a distance of 20-25 kilometres.

The broad shoulders with large chest, long and muscular arms stretched straight downwards, long ear lobes, straight and intricately chieselled nose, half-open lovely eyes, curly hair, well-modulated lips and above all the faint divine smile are the most noteworthy features of the image. The smile indicates the state of bliss having been attained by detachment, renunciation and penancing.

The madhavi creeper is shown winding itself round both legs and arms upto shoulders to indicate the complete absorption of Bahubali in meditation and detachment with the physical body. On the ant-hills on both sides, which give support to this huge statue upto thighs, is inscribed that the image was made by Chaumundraya The pedestal of the image is designed to represent an open lotus.

On 1st January, 1865, Bowring who was chief-commissioner of Mysore had the statue measured a 57 feet high. A platform was specially erected to ascertain the exact height of the statue It was recorded in his book 'Eastern Experiences' The Public Works Department of the princely state of Mysore measured the colossus at Mahamastakabhisehka in 1871 as 56 feet and 6 inches high. The measurement of various parts of the body has been recorded in Indian Antiquary Part II Late Shri Narsimhachar, who was Director of Archaeology, Mysore and did stupendous task of compiling the large number of stone epigraphs of Sravanbelgola and Mysore State, considered its height in 1923 as 57 feet The Mysore Archaeological Department reported in 1957 that the height was 58 feet In view of varying estimates the Institute of Indian Art History of Karnataka University recently measured the statue scientifically with a survey instrument called "theodolite" and came to the conclusion that its exact height is 58 feet and 8 inches and not 57 feet as was being believed till now

Few places in Karnataka have such an antiquity and continuity as Sravanbelgola has as a holy town of Jains and centre of art and learning It provides at one place, the best that is in sculpture, epigraphy, poetry and scenic beauty. The small town which has been bestowed by nature two lovely hills, several ponds, most notable being Kalyani Sarowar and lush green fields alround with tall coconut and palm trees, has its history from about 297 B C When Jain Acharya saint Bhadrabahu reached there from Ujjaini along with his saint disciple emperor Chandragupta Maurya, the great ruler of the empire of Magadha and a large number of other Jain saints, anticipating a severe famine of 12 years in upper India He passed away quietly at a cave in Chandragiri hill, then known as Katvapra or Kalvappu, after about a year of penances there by following the religious practice of *sallekhna* and attained *nirvana*, while Chandragupta Maurya was attending on him. His footprints in the Bhadrabahu cave, named after him are still worshipped by hundreds of visitors and devotees daily. Chandragupta and many other Jain Munis who did penance at that hill later made their heavenly journey from there.

Chandragiri hill, named after Chandragupta Maurya, also known as Chikka Betta, i.e. smaller hill, is 3052 feet above sea level and 175 feet above the plain from its foot It is infested with several old Jain temples, 14 in number, and manstambhas which are fine examples of craftsmanship Important of these temples are Chandragupta Basadi—which is the oldest and is said to have been set up by saint Chandragupta himself on his grandson emperor Ashoka in memory of his grand-father, who did penances there for over 12 years; Chaumundraya Basadi—built by the same Chaumundraya who installed the Gommateswara colossus and which is the largest there and a superb piece of architecture in Ganga and Dravida style, and Paraswanath Basadi. The temples other than Chandragupta Basadi were built during 7th to 12th century A.D.

Indragiri hill came into prominence after installation of Gommateswara statue in 981 A. D., whereafter several Jain temples were built there and centre of devotion shifted from Chandragiri to that. There are 5 temples on the hill, 4 of which were built during the 17th century. But to serious students of religion and history Chandragiri is no less important still for its ancient history, the old epigraphs and the temples.

Sravanbelgola means white pond of the Jain ascetics. It has derived its name from the words Shraman (which later became Sravana), referring to the statue of saint Bahubali or the other Jain ascetics, who did penances there, and Kannad words Bel (white)+Kola (pond). The white pond refers to the clear watered beautiful Kalyani Sarowar which is between the two hills. The town itself has 7 temples, including Akkanna Basadi which is a fine specimen of Hoysala architecture. The temples were built during 10th to 15th century A D. The Bhandari Basadi, which is the largest temple in the town, is known all over the country for finely chieselled 24 Tirthankaras of the same size, made of fine black stone, and installed on a straight and large *vedica* (pedestal).

Sravanbelgola is conveniently accessible by fine motor roads from Bangalore which is 145 kms., from Hassan which is 50 kms, from Arsekere which is 65 kms, and from Mysore which is 89 kms.

The 600 stone epigraphs, largest in number at one place, which have been discovered so far on the two hills, the town and the suburban villages, oldest of which being one of the 6th century A.D at Chandragiri hill, speak of the many many centuries old religious and cultural heritage of Sravanbelgola—the sacred Tirthakashetra—and of the association the various dynastic rules of the south had with the place and the grand holy Gommateswara colossus.

Mahamastakabhisheka

The first Mahamastakabhisheka i e. head-anointment of the statue was performed in March 981 A D. at the above consecration ceremony During the 1000 years of installation of this statue, 981 A.D. to 1981 A.D, presumably 72 head anointments have presumably been performed so far after the interval of 10, 12 and 15 years or so. The first being in 981 A.D, and the 72nd on February, 22, 1981. As the head anointment of this high statue is possible at a fixed Graha-yoga at great expense and with special preparations, it is called Mahamastakabhisheka i e great head-anointment event.

The year and details of all the probable 72 head anointments are yet not available. The earliest source of information about the head anointment of the statue is the stone scripture of 1398 A.D. at a pillar of Siddhar Basadi (temple) of Indragiri hill which tells that before the head anointment of statue having been conducted by Panditacharya in that year seven head anointments had been performed in the past. A poet Panchbana has mentioned about another head anointment in 1612 A.D. by a religious head Shantivarni. According to poet Anantakavi the head anointment of 1677 A D. was arranged at the expense of Vishalaksha, Jain minister of Mysore ruler Chikka Devraj Vodeyar. According to poet Shantaraja-pandit Krishnaraj Vodeyar III got the head-anointment performed near about 1825 A.D

The rulers of Mysore have always been impressed by the divinity and uniqueness of this statue. It was an age old tradition for the Vodeyar rulers of Mysore to be present at the head anointment ceremony and participate in the poojah. They as a matter of fact had the traditional right to be the first worshippers at the occasion.

Awe-inspiring accounts have been given of the head anointment ceremonies held in 1887, 1900, 1910, 1925, 1940, 1953 and 1967 which were held at much expense and had several days of colourful celebrations.

The long awaited head anointment on 22nd February 1981, presumably 72nd in order, came as a captivating climax to the month long 1000th year anniversary celebrations of installation of the colossus. Between 3 to 4 lakh people, from all parts of India and also from various other countries, who witnessed the grand spectacle were in ecstatic delight and a near realm of religious fantasy. The people came to the small town of Sravanbelgola like flood by every conceivable means of transport and even on foot. They started occupying vantage points at the opposite chandragiri hill, roads and squares and the fields around from the night of 21st February itself. By about 7 00 A.M. of 22nd February it was an ocean of people to be seen all round.

The entry to Gommateswara statue temple on summit of Indragiri was restricted to those who had bought the *kalashas* (pots), their accompanists in fixed number, to the VIP pass holders and the Jain saints. About 3000 persons including about 100 Jain Munis & nuns (Arjikas), many foreigners, about 300 Indian and foreign photographers and journalists, and elite of the country's Jain community and of Karnataka government witnessed the spiritually moving head-anointment ceremony of the statue from close quarters of the courtyard and varandahas of the temple and the specially erected large and high platform on three sides of the image. Each group was specifically arranged in separate sections. In the courtyard, facing feet of Lord Gommateswara, where the Jain Munis and Arjikas with Acharya Deshbhushanji, Acharya Vimal Sagarji, Ailacharya Vidyanandji and Swasti Charukirti Swami Bhattarak of Jain Math of Sravanbelgola sitting in front line. To their left were seated the Arjikas.

The men and women were seen climbing 650 steps of the hill barefoot to reach the summit, in unending rows, clad in saffron or clean clothes from 5.00 A.M. itself. Those who could not climb the steps hired the cane chairs to be carried on shoulders of the labourers.

The day-long celebrations began at 6.00 A. M. of 22nd February with installation of 1008 brass kalashas of different sizes, each topped with a coconut and mango leaves on the freshly harvested paddy, chanting of Namokar and other Mantras.

The poojah started at 8.00 A.M. at the appointed muhurta with signal of Bhattarak Charukritiji. Kalash holders queued up at one corner of the scaffolding for their names to be called. The eagerly awaited Mahamastakabhisheka, first with water, started at about 9.15 A.M. The *kalashas* were passed on by a chain of priests from the feet of the image. Ten persons, who had paid rupees one lakh each for a *kalash*, named 'Shatabdi Kalash' first went upto the iron scaffolding one by one As the kalashas were poured over the head of holy colossus loud cries of "Bhagwan Bahubali ki Jai" echoed in the sky. Thereafter the remaining 998 bidders of *kalashas*, who had bought the *kalashas* for amounts of rupees fifty thousand down to rupees five hundred each had their turn to the head anointment.

Kalashas were bought for the prices as under :

Shatabdi Kalash	10	Rs. 1,00,000 each
Divya	4	50,000 ,,
Ratna	4	25,000 ,,
Swarna	200	11,000 ,,
Rajat	200	5,000 ,,
Tamra	140	2,500 ,,
Kansya	200	1,000 ,,
Gullikayajji	250	500 ,,
Total	1008	

Head-anointment with water took more than three hours to complete. From about 12.30 P.M. onwards it was followed by spectacular sugarcane juice, coconut water, milk and ritual Panchamrita Abhisheka. First came anointment with 500 litres of sugarcane juice poured on the head from large brass urns. Loud cheers, bugles and melodies of the musicians gave further colour to the grand spectacle. Then came pouring of 500 litres of coconut water and thereafter followed pouring of 500 litres of milk, a mixture of termeric powder, cardemom, camphor, slove sandalwood and saffron When the milk was rolling down from head to feet, the image turned proverbial milk-white presenting a unique sight. The whole atmosphere filled in with pleasant fragrance of sandalwood and other substances. The sceanario went on changing with the colour of the liquid used and the effect was dazzling in the bright sunshine. Greatly influenced, an American cameraman suddenly exclaimed "suddenly it seems a living deity."

Several participants danced and sang fully drenched with emotions. In fantasy, devotees rushed to the base of the image to be drenched in the streaming showers of colour. To many it was a most pleasant and even unforgetable experience of the life to be all wet in sandal, saffron and the like liquids which touched the body of their Lord. Many devotees spread their dhotees, which they were wearing, in drains and squeezed the liquid into flasks and glasses and even the plastic covers of their invitation cards as holy substance to take home. For some it was an even deeper experience, a moment of some psychic revelation or simple spiritual therapy. Several young women devotees who stood in a corner of the temple courtyard, had their arms out-stretched and mouths open as if yeaning for more of these blissful moments. Others bowed and moaned in ecstasy at the foot of the Lord. The visual splendour of the event would have its unique importance for ages to come, both as a religious pilgrimage and a tourist extravaganza.

As the Abhisheka was in progress a hovering helicopter showered flower petals on the sacred statue. The nine hour poojah and head anointment ceremonies came to an end around 3.00 P.M. The whole affair was conducted under the direction of erudite Ailacharya Vidyanandji and under the personal supervision of Bhattarak Charukirti Swamiji.

A day earlier, on 21st February 1981, the Prime Minister of India, Smt. Indira Gandhi, showered flower petals on the colossus from a helicopter and offered a silver plated coconut to be placed at the feet of the deity. She also addressed a mammoth gathering of over a lakh of devotees appreciating the colossus of Lord Bahubali as a symbol of country's rich heritage and the contribution of Bhagwan Bahubali and Mahavir to propagation of non-violence and peace, and the great contribution of Jainism to Indian literature. She released a number of cultural magazines brought out on the occasion.

Smt Indira Gandhi had set the wheel of Mahamastakabhisheka ceremonies move by inaugurating the "Jana Mangal Kalash", a huge copper vessel of 8 feet height and 7 feet diameter installed on a vehicle, at a large public meeting held outside the Red Fort at Delhi on September 29, 1980. After passing through a large number of towns and cities of the country, the Kalasha reached Sravanbelgola on February 20, 1981.

The ceremonies in the chain of five week long head anointment programme were started at Sravanbelgola on February 9, 1981 by mangal poojah, and inauguration and flag hoisting by Karnataka Chief Minister, Shri Gundu Rao and release of one rupee commemorative postage stamp of Lord Bahubali by the Union Communication Minister, Shri C. M. Stephen in the spacious Chamundraya pavilion. The functions which continued upto February, 25, 1981 in a particular and March 15, 1981 in general included Pancha Kalyanak Mahotsava on five days, ballet on Bahubali and other cultural programmes. Sarva Dharma Sammelan on February 19, Jana Mangal Kalash Abhisheka of the statue and felicitation of some selected literary and social figures on Feb. 23, and Jalyatra in Kalyani Sarowar on Feb. 24.

भरत और बाहुबली दोनो को ही जैनों के दोनो सम्प्रदायों मे विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। आजकल भी श्वेताम्बर व्यापारी शारदा-पूजन के समय अपने बहीखातो के आरम्भ मे 'भरत चक्रवर्ती की ऋद्धि होजो' 'बाहुबली का बल होजो' लिखते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय मे बाहुबली का वन्दन कर व्यायाम की शिक्षा प्रारम्भ की जाती है, तथा बाहुबली के नाम पर आश्रम और औषधालय आदि चलाये जाते है। ईसा की ११वीं शताब्दी मे निर्मित आबू की विमल वसही की शिल्पकला मे भरत और बाहुबली के युद्ध के दृश्य अंकित हैं। इसी प्रकार शत्रुंजय तीर्थ का एक शिखर बाहुबली के नाम से सुप्रसिद्ध हैं। मैसूर से १०० किलो मीटर दूर श्रवणबेलगोल में गंगवंशी राचमल के महामात्य चामुण्डराय (गोम्मटराय) द्वारा १०वीं शताब्दी में ५७ फुट उन्नतकाय गोम्मटेश्वर बाहुबली की दिव्य प्रतिमा दुनिया की शिल्पकला मे अपनी सानी नही रखती। चारो ओर पहाड़ियों तथा वन-उपवन राशि से घिरी हुई यह विशाल मूर्ति हृदय मे दिव्य मनोभावो का सचार करती हुई जान पड़ती है।

डॉ० जगदीशचन्द्र जैन के लेख 'भरत बाहुबली रास' से साभार उद्धृत

श्रवणबेलगोला के अभिलेखों में दान परम्परा

श्री जगबीर कौशिक

शुद्ध धर्म का अवकाश न होने से धर्म मे दान की प्रधानता है। दान देना मंगल माना जाता था। याचक को दान देकर दाता विभिन्न प्रकार के सुखों की अनुभूति करता था। अभिलेखों के वर्ण्य-विषय को देखते हुए यह माना जा सकता है कि दान देने के कई प्रयोजन होते थे। कभी मुनि राजा या साधारण व्यक्ति को समाज के कल्याण हेतु दान देने के लिए कहता था तथा कभी लोग अपने पूर्वजों की स्मृति मे बस्ति या निषद्या का निर्माण करवाते थे। किन्तु प्रसन्न मन से दान देना विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

साधारण रूप मे स्वयं अपने और दूसरे के उपकार के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान है। राजवार्तिक में भी इसी बात को कहा गया है।[1] किन्तु धवला के अनुसार रत्नत्रय से युक्त जीवों के लिए अपने वित्त का त्याग करने या रत्नत्रय के योग्य साधनों को प्रदत्त करने की इच्छा का नाम दान है।[2] आचार्यों ने अपनी कृतियों मे दान के विभिन्न भेदों की चर्चा की है। सर्वार्थसिद्धि में आहारदान, अभयदान तथा ज्ञानदान नामक तीन दानों की चर्चा की है[3] जबकि सागारधर्मामृत[4] के अनुसार सात्त्विक, राजस, तामस आदि तीन प्रकार के दान होते है। किन्तु मुख्य रूप से दान को दो भागों मे विभाजित किया जा सकता है—अलौकिक व लौकिक। अलौकिक दान साधुओं को दिया जाता है, जो चार प्रकार का है—आहार, औषध, ज्ञान व अभय तथा लौकिक दान साधारण व्यक्तियों को दिया जाता है। जैसे-समदत्ति, करुणादत्ति, औषधालय, स्कूल, प्याऊ आदि खुलवाना।

श्रवणबेलगोला के लगभग दो सौ अभिलेखों मे दान परम्परा के उल्लेख मिलते है। इनमे मुख्य रूप से ग्रामदान, भूमिदान, द्रव्यदान, बस्ति व मन्दिरों का निर्माण व जीर्णोद्धार, मूर्ति दान, निषद्या निर्माण, आहार दान, तालाब, उद्यान, पट्टशाला (वाचनालय), चैत्यालय, स्तम्भ तथा परकोटा आदि का निर्माण जैसे दान वर्णित हैं। इन दानों को अलौकिक व लौकिक नामक दो भागों में विभक्त किया जाता है—

अलौकिक दान—जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अलौकिक दान साधुओं को दिया जाता है। क्योंकि लौकिक दान मे जिन वस्तुओं की गणना की गई है, जैनाचार मे उन वस्तुओं को मुनियों के ग्रहण करने योग्य नहीं बतलाया गया है। श्रवण-बेलगोला के अभिलेखों मे अलौकिक दान मे से केवल आहार दान[5] का उल्लेख मिलता है।

आहार दान—आहार दान का अत्यन्त महत्त्व है। इसके महत्त्व का उल्लेख करते हुए पद्मनंदिपंचविंशतिका[6] में बतलाया गया है कि जैसे जल निश्चय करके रुधिर को धो देता है, वैसे ही गृहरहित अतिथियों का प्रतिपूजन करना अर्थात् नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान करना भी निश्चय करके गृहकार्यों से सञ्चित हुए पाप को नष्ट करना है। श्रवणबेलगोला के अभिलेखों मे भूमि रहन से मुक्त करने पर तथा कष्टों के परिहार होने पर आहारदान की घोषणा करने का वर्णन मिलता है। एक अभिलेख के अनुसार[7] कलिभद्र ने घोषणा की

---

1. परानुग्रहबुद्ध्या स्वस्यातिसर्जनं दानम्। (राजवार्तिक—६/१२/४/५२२)
2. धवला—१३/५,५-१३७/३८९/१२।
3. सर्वार्थसिद्धि —६/२४/३३८/११।
4. सागारधर्मामृत—५/४७
5. जैन शिलालेख संग्रह, भाग एक, लेख संख्या—९९-१०१, ४९७।
6. पद्मनंदिपंचविंशतिका—७/१३।
7. जै० शि० ले० सं०, भाग एक, ले० सं० ९९।

है कि चकुडि सेट्टि ने मेरी भूमि रहन से मुक्त कर दी, इसलिए मैं सर्वदा एक संघ का आहार दूंगा। अष्टादिक्पालक मण्डप के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख[1] में कहा है कि चौडी सेट्टि ने हमारे कष्ट का परिहार किया है, इस उपलक्ष्य में मैं सर्वदा एक संघ को आहार दूंगा। जबकि इसी स्तम्भ पर उत्कीर्ण दूसरे अभिलेख में[2] आपद् परिहार करने पर वर्ष में छह मास तक एक संघ को आहार देने की घोषणा की है। इस प्रकार आलोच्य अभिलेखों के समय में आहार दान की परम्परा विद्यमान थी।

लौकिक दान—जो दान साधारण व्यक्ति के उपकार के लिए दिया जाता है, उसे लौकिक दान कहते हैं। इसके अन्तर्गत औषधालय, स्कूल, प्याऊ, बस्ति, मन्दिर, मूर्ति आदि का निर्माण व जीर्णोद्धार तथा ग्राम, भूमि, द्रव्य आदि के दान सम्मिलित किए जाते हैं। आलोच्य अभिलेखों में इस दान के उल्लेख पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं, जिनका वर्णन इस प्रकार है—

(i) **ग्राम दान**—श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में ग्राम दान सम्बन्धी उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। ग्रामों का दान मन्दिरों में पूजा, आहारदान या जीर्णोद्धार के लिए किया जाता था। इन ग्रामों की आय से ये सभी कार्य किए जाते थे। शान्तल देवी द्वारा बनवाये गए मन्दिर के लिए प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव को एक ग्राम का दान दिया गया।[3] मैसूर नरेश कृष्णराज ओडेयर ने भी जैन धर्म के प्रभावनार्थ बेल्गुल सहित अनेक ग्रामों को दान में दिया।[4] कभी-कभी राजा अपनी दिग्विजयों से लौटते हुए मूर्ति के दर्शन करने के उपरान्त ग्राम दान की घोषणा करते थे। गोम्मटेश्वर मूर्ति के पास ही पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण एक अभिलेख[5] के अनुसार राजा नरसिंह जब बल्लाल नृप, ओडेय राजाओं तथा उच्चङ्गि का किला जीतकर वापिस लौट रहे थे तो मार्ग में उन्होंने गोम्मटेश्वर के दर्शन किए तथा पूजनार्थ तीन ग्रामों का दान दिया। चन्द्रमौलि मन्त्री की पत्नी आचलदेवी द्वारा निर्मित अक्कन बस्ति में स्थित जिन मन्दिर को चन्द्रमौलि की प्रार्थना से होय्सल नरेश वीर बल्लाल ने बम्मेयनहल्लि नामक ग्राम का दान दिया।[6] मन्त्री हुल्लराज ने भी नयकीर्ति सिद्धान्तदेव[7] और भानुकीर्ति[8] को सवणेरु ग्राम का दान दिया। बम्मेयनहल्लि नामक ग्राम के सम्मुख एक पाषाण पर उत्कीर्ण एक लेख के अनुसार[9] आचल देवी ने बम्मेयनहल्लि नामक ग्राम का दान दिया।

इसी प्रकार कई अभिलेखों में आजीविका, आहार, पूजनादि के लिए ग्राम दान के भी उल्लेख मिलते है। शासन बस्ति के सामने एक शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार[10] विष्णुवर्द्धन नरेश से पारितोषिक स्वरूप प्राप्त हुए, 'परम' नामक ग्राम को गङ्गराज ने अपनी माता पोचलदेवी तथा भार्या लक्ष्मी देवी द्वारा निर्मापित जिन मन्दिरों को आजीविका के लिए अर्पण किया। महा-प्रधान हुल्लमय ने भी अपने स्वामी होय्सल नरेश नारसिंहदेव से पारितोषिक में प्राप्त सवणेरु ग्राम को गोम्मट स्वामी की अष्टविध पूजा तथा मुनियों के आहार के लिए दान दिया।[11] वीर बल्लाल राजा ने भी 'बेक्क' नामक ग्राम का दान गोम्मटेश्वर की पूजा के लिए ही किया था।[12] कण्ठीरायपुर ग्राम के लेखानुसार[13] गङ्गराज ने पार्श्वदेव और कुक्कुटेश्वर की पूजा के लिए गोविन्दवाडि नामक ग्राम का दान दिया। चतुर्विंशति तीर्थंकर पूजा के लिए बल्लाल देव ने मारुहल्लि तथा बेक्क ग्राम का दान दिया।[14] शल्य नामक ग्राम का दान बस्तियों के जीर्णोद्धार तथा मुनियों की आहार व्यवस्था के लिए किया गया था।[15] किन्तु आलोच्य अभिलेख में दो अभिलेख[16] ऐसे हैं

---

१. जै० शि० सं० भाग एक, ले० स० १०० ।
२. —वही—ले० सं० १०१ ।
३. —वही ले० सं० ५६ ।
४. —वही—ले० स० ८३ ।
५. —वही—ले० स० ६० ।
६. —वही—ले० सं० १२४
७. —वही—ले० सं० ११६.
८. —वही— ले० सं० १३७
९. —वही— लै० स० ४६४.
१०. —वही— ले० सं० ५९.
११. —वही— ले० स० ८०
१२. —वही— ले० सं० १०७
१३. —वही— ले० सं० ४८६.
१४. —वही— ले० सं० ४९१.
१५. —वही— ले० सं० ४९३.
१६. —वही— लै० सं० ४९२ एवं ४८०

जिनके अनुसार ग्राम दान दानशाला, कुण्ड, उपवन तथा मण्डप आदि की रक्षा के लिए किया गया। इस प्रकार हम अभिलेखों से यह जानते हैं कि धार्मिक कार्यों की सिद्धि के लिए ग्राम दान की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी।

(ii) **भूमिदान**—आलोच्य काल में ग्राम दान के साथ-साथ भूमि दान की भी परम्परा थी। श्रवणबेलगोला के अभिलेखों में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनमें भूमि दान के प्रयोजन का वर्णन मिलता है। मुख्यत: भूमिदान का प्रयोजन अष्टविध पूजन, आहार दान, मन्दिरों का खर्च चलाना होता था। कुम्बनहल्लि ग्राम के एक अभिलेख के अनुसार वादिराज देव ने अष्टविध पूजन तथा आहार दान के लिए कुछ भूमि का दान किया। इसी प्रकार के उल्लेख अन्य अभिलेखो मे[1] भी मिलते हैं। श्रवण बेल्गोला के ही कुछ अभिलेखों में ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनमें दान की हुई भूमि के बदले प्रतिदिन पूजा के लिए पुष्पमाला प्राप्त करने का वर्णन है। गोम्मटेश्वर द्वार के दायी ओर पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण एक अभिलेख के अनुसार[2] बेल्गुल के व्यापारियो ने गङ्ग समुद्र और गोम्मटपुर की कुछ भूमि खरीदकर उसे गोम्मटदेव की पूजा हेतु पुष्प देने के लिए एक माली को सदा के लिए प्रदान की। इसी प्रकार के वर्णन अन्य अभिलेखों में[3] भी मिलते हैं। कुछ ऐसे भी अभिलेख हैं जिनमे बस्ति या जिनालय के लिए भूमिदान के प्रसग मिलते हैं। मंगायि बस्ति के प्रवेश द्वार के साथ ही उत्कीर्ण एक लेख मे वर्णन मिलता है कि पण्डितदेव के शिष्यों ने मंगायि बस्ति के लिए दोड्डन कट्टे की कुछ भूमि दान की।[5] नागदेव मन्त्री द्वारा कमठपार्श्वदेव बस्ति के सम्मुख शिलाकुट्टम और रङ्गशाला का निर्माण करवाने तथा नगर जिनालय के लिए कुछ भूमिदान करने का उल्लेख एक अभिलेख[6] में मिलता है। उस समय मे भूमि का दान रोगमुक्त होने या कष्ट मुक्त तथा इच्छा पूर्ति होने पर भी किया जाता था। महासामन्ताधिपति रणावलोक श्री कम्बयन् के राज्य मे मनसिज की रानी के रोगमुक्त होने के पश्चात् मौनव्रत समाप्त होने पर भूमि का दान किया।[7] लेख मे भूमि दान की शर्त भी लिखी हुई है कि जो अपने द्वारा या दूसरे द्वारा दान की गई भूमि का हरण करेगा, वह साठ हजार वर्ष तक कीट योनि मे रहेगा। गन्धवारण बस्ति के द्वितीय मण्डप पर उत्कीर्ण लेख में पट्टशाला (वाचनालय) चलाने के लिए भूमि दान का उल्लेख है।[8] भूमिदान से सम्बन्धित अनेक उल्लेख अन्य अभिलेखों में भी मिलते हैं।[9] इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्कालीन दान परम्परा मे भूमि दान का महत्त्वपूर्ण स्थान था, जिससे प्राय: सभी प्रयोजन सिद्ध किए जाते थे।

(iii) **द्रव्य (धन) दान**—श्रवणबेलगोला के अभिलेखो मे नगद राशि को दान स्वरूप भेंट करने के उल्लेख मिलते हैं। उस धन से पूजा, दुग्धाभिषेक इत्यादि का आयोजन किया जाता था। गोम्मटेश्वर द्वार के पूर्वी मुख पर उत्कीर्ण एक लेख के अनुसार कुछ धन का दान तीर्थंकरो के अष्टविध पूजन के लिए किया गया था।[10] चन्द्रकीर्ति भट्टारकदेव के शिष्य कल्लय्य ने भी कम से कम छह मालाएं[11] नित्य चढ़ाने के लिए कुछ धन का दान किया।[11] राजा भी धन का दान किया करते थे। वे जिस ग्राम में निर्मित मन्दिर इत्यादि के लिए दान करना होता था, उस ग्राम के समस्त कर इस धार्मिक कार्य के लिए दान कर देते थे। राजा नारसिंह देव ने भी गोम्मटपुर के टैक्सों का दान चतुर्विंशति तीर्थंकर बस्ति के लिए किया था।[12] द्रव्य दान की एक विधि चन्दा देने की परम्परा भी होती थी। चन्दा मासिक या वार्षिक दिया जाता था। मोसले के वड्डु व्यवहारि बसववेट्टि द्वारा प्रतिष्ठापित चौबीस तीर्थंकरों के अष्टविध पूजन के लिए मोसले के महाजनो ने मासिक चन्दा देने की प्रतिज्ञा की।[11] मासिक के अतिरिक्त वार्षिक चन्दा देने के उल्लेख भी मिलते

---

१ जैन शि० स भाग एक ले० स० ४६५.
२. वही— ले० स० ४९६ एव ४९९
३. —वही — ले० सं० ६२.
४. —वही—ले० स० ८८–८९.
५. —वही— ले० स० १३३.
६. —वही— ले० स० १३०.
७. —वही— ले० सं० २४
८. —वही— ले० सं० ५१.
९ —वही— ले० सं० ८४, ९६, १२९, १४४, १०८, ४५४, ४७६-७७, ४८४, ४९०, ४९८, ५००.
१०. —वही— ले० स० ८७.
११. —वही— ले सं० ६३
११. —वही— ले० स० १३८.
११. —वही—ले० स० ८६.

है। चतुर्विंशति तीर्थंकरों के अष्टविध पूजार्चन के लिए मोसले के कुछ सज्जनों ने वार्षिक चन्दा देने की प्रतिज्ञा की।[1] गोम्मटेश्वर द्वार पर उत्कीर्ण एक लेख के अनुसार[2] बेल्गुल के समस्त जौहरियों ने गोम्मटदेव और पार्श्वदेव के पुष्प पूजन के लिए वार्षिक चन्दा देने का संकल्प किया था।

प्रतिमा के दुग्धाभिषेक के लिए द्रव्य का दान करना अत्यन्त श्रेष्ठ माना जाता था। कोई भी व्यक्ति कुछ सीमित धन का दान करता था। उस धन के ब्याज से जितना दूध प्रतिदिन मिलता था, उससे दुग्धाभिषेक कराया जाता था। आदियण्ण ने गोम्मटदेव के नित्याभिषेक के लिए चार गद्याण का दान किया, जिसके ब्याज से प्रतिदिन एक 'बल्ल' दूध मिलता था।[3] हुलिगेरे के सोवण्ण ने पांच गद्याण का दान दिया, जिसके ब्याज से प्रतिदिन एक 'बल्ल' दूध मिलता था।[4] इसी प्रकार दुग्धदान के लिए अन्य उदाहरण[5] भी आलोच्य अभिलेखों में देखे जा सकते हैं। अष्टादिक्पालक मण्डप के स्तम्भ पर खुदे एक लेख के अनुसार[6] पुट्ट देवराजे अरसु ने गोम्मट स्वामी की वार्षिक पाद पूजा के लिए एक सौ बारह का दान दिया तथा गोम्मट सेट्टि ने बारह गद्याण का दान दिया।[7] इसके अतिरिक्त श्रीमती अब्बे ने[8] चार गद्याण का तथा एरेयङ्ग ने बारह गद्याण[9] का दान दिया।

(iv) **बस्ति (भवन) निर्माण**—आलोच्य अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय बस्ति निर्माण भी दान परम्परा का एक अंग था। ये बस्तियाँ पूर्वजों की स्मृति में जन साधारण के कल्याणार्थ बनवाई जाती थीं। आज भी पार्श्वनाथ, कत्तले, चन्द्रगुप्त, शान्तिनाथ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, चामुण्डराय, शासन, मज्जिगण्ण, एरडुकट्टे, सवतिगन्धवारण, तेरिन, शान्तीश्वर, चेन्नण्ण, ओदेगल, चौबीस तीर्थंकर, भण्डारि, अक्कन, सिद्धान्त, दानशाले, मङ्गायि आदि बस्तियों को खण्डितावस्था में देखा जा सकता है। ये बस्तियाँ गर्भगृह, सुखनासि, नवरङ्ग, मानस्तम्भ, मुखमण्डप आदि से युक्त होती थीं।

इन्हीं उपरोक्त बस्तियों के निर्माण की गाथा ये अभिलेख कहते हैं। दण्डनायक गङ्गराज ने कत्तले बस्ति अपनी माता पोचब्बे के लिए निर्माण करवाई थी।[10] गन्धवारण बस्ति में प्रतिष्ठापित शान्तीश्वर की पादपीठ पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार[11] शान्तलदेवी ने इस बस्ति का निर्माण कराया था तथा अभिषेकार्थ एक तालाब भी बनवाया था।[12] इसी प्रकार भरतय्य ने भी एक तीर्थस्थान पर बस्ति का निर्माण कराया, गोम्मटदेव की रङ्गशाला निर्मित कराई तथा दो सौ बस्तियों का जीर्णोद्धार कराया।[13] इसके अतिरिक्त समय-समय पर दानकर्ताओं ने परकोटे इत्यादि का निर्माण करवाया था।

(v) **मन्दिर निर्माण**—भारतवर्ष में मन्दिर निर्माण की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। आलोच्य अभिलेखों में भी मन्दिर निर्माण के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। मन्दिरों का निर्माण प्रायः बस्तियों में होता था। राष्ट्रकूट नरेश मारसिंह ने अनेक राजाओं को परास्त किया तथा अनेक जिन मन्दिरों का निर्माण करवाकर अन्त में संल्लेखना व्रत का पालन कर बंकापुर में देहोत्सर्ग किया।[14] अभिलेखों के अध्ययन से इतना तो ज्ञात हो ही जाता है कि मन्दिरों का निर्माण प्राय. बेल्गोल नगर में ही किया जाता था क्योंकि यह नगर उस समय में जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र था। शासन बस्ति में पार्श्वनाथ की पादपीठ पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार[15] चामुण्ड के

---

१. जै० शि० स० भाग एक, ले० स० १६१.
२. —वही— ले० स० ६१
३. —वही— ले० स० ६७.
४. —वही— ले० स० १११.
५. —वही— ले० स० ६४-६५
६. —वही— ले० स० ६८.
७. —वही— ले० स० ८१.
८. —वही— ले० सं० ११५.
९. —वही— ले० स० ४९२.
१०. —वही— ले० सं० ६४.
११. —वही— ले० सं० ६२.
१२. —वही— ले० सं० ५६.
१३. —वही— ले० सं० ११५.
१४. —वही— ले० सं० ३८१.
१५. —वही— ले० सं० ६७.

पुत्र और अजितसेन मुनि के शिष्य जिनदेवण ने बेल्गोल नगर में जिन मन्दिर का निर्माण करवाया। दण्डनायक एच ने भी कोपण, बेल्गोल आदि स्थानों पर अनेक जिन मन्दिरों का निर्माण करवाया।[1] आचलदेवी ने पार्श्वनाथ मन्दिर का निर्माण भी बेल्गोल तीर्थ पर ही करवाया।[2] मन्दिर निर्माण में जन साधारण के अतिरिक्त राजा भी अपना पूर्ण सहयोग देते थे। गङ्ग नरेशों ने कल्बप्पु में एक विशाल जिन मन्दिर व अन्य पाँच जिन मन्दिरों का निर्माण करवाया तथा बेल्गोल नगर में परकोटा, रङ्गशाला व दो आश्रमों सहित चतुर्विंशति तीर्थंकर मन्दिर का निर्माण करवाया।[3] राजाओं के अतिरिक्त उनकी पत्नियों द्वारा करवाये गए मन्दिर निर्माण के उल्लेख भी मिलते हैं।[4] मललकेरे (मनलकेरे) ग्राम में ईश्वर मन्दिर के सम्मुख एक पत्थर पर लिखित एक लेख[5] में वर्णन मिलता है कि सातण्ण ने मनलकेरे में शान्तिनाथ मन्दिर का पुनर्निमाण तथा उस पर सुवर्ण कलश की स्थापना कराई।

(vi) **मूर्ति निर्माण**—आलोच्य अभिलेखों के अध्ययन से तत्कालीन मूर्ति निर्माण की परम्परा का भी हमें ज्ञान होता है। भारतवर्ष में श्रवणबेल्गोलस्थ बाहुबलि की प्रतिमा सुप्रसिद्ध है। एक अभिलेख के अनुसार[6] इस मूर्ति की प्रतिष्ठापना चामुण्डराय ने करवाई थी। अखण्डबागिलु की शिला पर उत्कीर्ण एक लेख में वर्णन आता है कि भरतमय्य ने बाहुबलि की मूर्ति का निर्माण कराया।[7] किन्तु बाहुबलि की मूर्तियों के अतिरिक्त अन्य तीर्थंकरों आदि की मूर्तियों के निर्माण के उल्लेख भी अभिलेखों में उपलब्ध होते हैं। तञ्जनगर के बलिरम् अप्पाउ श्रावक ने प्रथम चतुर्दश तीर्थंकरों की मूर्तियाँ निर्माण कराकर अर्पित की।[8] एक अन्य अभिलेख[9] में भी श्रावक द्वारा पञ्चपरमेष्ठी की मूर्ति निर्मित कराकर अर्पण करने का उल्लेख मिलता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस समय मूर्तियों का निर्माण दानार्थ भेंट करने के लिए भी करवाया जाता था।

(vii) **जीर्णोद्धार**—पुराने मन्दिरों व बस्तियों आदि का जीर्णोद्धार करवाना भी उतना ही पुण्य का काम समझा जाता था, जितना कि नए मन्दिरों को बनवाना। श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में भी जीर्णोद्धार सम्बन्धी उद्धरण पर्याप्त मात्रा में देखे जा सकते हैं। शासन बस्ति के एक लेख के अनुसार[10] गङ्गराज ने गङ्गवाडि परगने के समस्त जिन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया। महामण्डलाचार्य देवकीर्ति पण्डितदेव ने प्रतापपुर की रूपनारायण बस्ति का जीर्णोद्धार व जिननाथपुर में एक दानशाला का निर्माण करवाया।[11] इसके अतिरिक्त पालेद पद्मयण्ण ने एक बस्ति का[12] तथा मन्त्री हुल्लराज ने बकापुर के दो भारी और प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया।[13] इसके अतिरिक्त अन्य अभिलेखों[14] में भी बस्तियों और मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाने के उल्लेख मिलते हैं।

(viii) **निषद्या निर्माण**—अर्हदादिकों व मुनियों के समाधिस्थान को निषद्या कहते हैं। श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में निषद्या निर्माण से सम्बन्धित अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। इसका निर्माण प्रकाशयुक्त व एकान्त स्थान पर किया जाता था। यह बस्ति से न तो अधिक दूर तथा न ही अधिक समीप होता था। इसका निर्माण समतल भूमि तथा क्षपक बस्ति की दक्षिण अथवा पश्चिम दिशा में होता था। अभिलेखों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि निषद्या गुरु, पति, भ्राता, माता आदि की स्मृति में बनवाई जाती

---

१. जै० शि० सं० भाग एक ले० सं० १४४
२. —वही— ले० सं० ४६४.
३. —वही— ले० सं० १३६
४. —वही— ले० सं० ४४-५३
५. —वही— ले० सं० ४६६.
६. श्री चामुण्डे राजे करवियले। (जै० शि० सं० भाग एक ले० सं० ७५).
७. —वही— ले० सं० ११५.
८. —वही— ले० सं० ४४१.
९. —वही— ले० सं० ४३७.
१०. —वही— ले० सं० ५६.
११. —वही— ले० सं० ४०.
१२. —वही— ले० सं० ४७०.
१३. —वही— ले० सं० १३७.
१४. —वही— ले० सं० ११४, १०३ तथा ४६६.

थी। चट्टिकब्बे ने अपने पति की निषद्या का निर्माण करवाया था।[1] सिरियब्बे व नागियक्क ने सिङ्गिमय के समाधिमरण करने पर निषद्या का निर्माण करवाया।[2] महानवमी मण्डप में उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार[3] शुभचन्द्र मुनि का स्वर्गवास होने पर उनके शिष्य पद्मनन्दि पण्डितदेव और माधवचन्द्र ने उनकी निषद्या निर्मित करवाई। नयकीर्ति, माघनन्दि और त्रिभुवनमल्ल ने भी अपने गुरु के स्मारक रूप में निषद्या की प्रतिष्ठापना करवाई थी।[4] मुनि समाज के अतिरिक्त राजा या उनके मन्त्री भी अपने गुरु आदि की स्मृति में निषद्या का निर्माण करवाते थे। पोय्सल महाराज गंगनरेश विष्णुवर्द्धन ने अपने गुरु शुभचन्द्र देव की निषद्या निर्मित करवाई थी।[5] मन्त्री नागदेव ने भी अपने गुरु श्री नयनकीर्ति योगीन्द्र की निषद्या निर्मित करवाई।[6] मेघचन्द्र त्रैविद्य के प्रमुख शिष्य प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव ने महाप्रधान दण्डनायक गंगराज से अपने गुरु की निषद्या का निर्माण करवाया था।[7] इनके अतिरिक्त अन्य अभिलेखों में[8] भी निषद्या निर्माण के उल्लेख मिलते हैं।

(ix) अन्य दान—पूर्व वर्णित दानों के अतिरिक्त परकोटा निर्माण, तालाब निर्माण, पट्टशाला निर्माण, चैत्यालय निर्माण तथा स्तम्भ प्रतिष्ठा जैसे अन्य दानों के उल्लेख भी आलोच्य अभिलेखों में उपलब्ध होते हैं। गङ्गराज ने गङ्गवाडि में प्रतिष्ठापित गोम्मटेश्वर की प्रतिमा का परकोटा तथा अनेक जैन बस्तियों का जीर्णोद्धार करवाया।[9] गोम्मटेश्वर द्वार की दायीं ओर एक पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण एक लेख[10] में वर्णन आता है कि बालचन्द्र ने अपने गुरु के स्मारक स्वरूप अनेक शासन रचे तथा तालाब आदि का निर्माण करवाया। बल्लण के संन्यास विधि से शरीर त्याग करने पर उसकी माता व बहन ने उसकी स्मृति में एक पट्टशाला (वाचनालय) स्थापित करवाई।[11] इनके अतिरिक्त चैत्यालय निर्माण[12] और स्तम्भ प्रतिष्ठापना[13] के वर्णन भी श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में मिलते हैं।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आलोच्यकाल में दान परम्परा का अत्यन्त महत्त्व था। दान प्रायः अपने पूर्वजों की स्मृति में तथा जन साधारण के उपकार के लिए दिया जाता था। उस समय बस्ति निर्माण, मन्दिर निर्माण तथा जीर्णोद्धार, धन दान, मूर्ति दान, निषद्या निर्माण, तालाब, पट्टशाला, चैत्यालय, परकोटा निर्माण आदि के अतिरिक्त निर्माण व जीर्णोद्धार सम्बन्धी कार्यों के लिए ग्राम व भूमि का दान दिया जाता था। ग्राम व भूमि से प्राप्त होने वाली आय से आहार आदि की व्यवस्था भी की जाती थी।

---

१. जै० शि० सं० भाग एक, लें० सं० ६८.
२. —वही— लें० सं० ५१.
३. —वही— लें० सं० ४१.
४. —वही— लें० सं० ३६.
५. —वही— लें० सं० ४३.
६. —वही— लें० सं० ४९.
७. —वही— लें० सं० ४७
८. —वही— लें० सं० ४८, ४०, ४१.
९. —वही— लें० सं० ५१, ७५, ६०.
१०. —वही— लें० सं० ६०.
११. —वही— लें० सं० ५१.
१२. —वही— लें० सं० ४३०.
१३. —वही— लें० सं० ४१.

युगों-युगों में बाहुबली (ऐतिहासिक सर्वेक्षण, कथा-विकास एवं समीक्षा)

डॉ० (श्रीमती) विद्यावती जैन

बाहुबली प्राच्य भारतीय वाङ्मय का अत्यन्त लोकप्रिय नायक रहा है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल एवं तेलगु भाषाओं में विविध कालों की विविध शैलियों में उसका सरस एवं काव्यात्मक चित्रण मिलता है। इन ग्रन्थों में उपलब्ध चरित के अनुसार वे युगादिदेव ऋषभदेव के द्वितीय पुत्र थे जो आगे चलकर पोदनपुर नरेश के रूप में प्रसिद्ध हुए। उनकी राजधानी तक्षशिला थी। उनके सौतेले भाई भरत चक्रवर्ती जब दिग्विजय के बाद अपनी पैतृक राजधानी अयोध्या लौटे तब उनका चक्ररत्न अयोध्या में प्रविष्ट न होकर नगर के बाहर ही अटक गया। उनके प्रधानमंत्री ने इसका कारण बतलाते हुए उनसे कहा कि "भरत की दिग्विजय यात्रा अभी समाप्त नहीं हो सकी है, क्योंकि बाहुबली ने अभी तक उसका अधिपतित्व स्वीकार नहीं किया है। उस अहंकारी को पराजित करना अभी शेष ही है।" महाबली भरत यह सुनकर आग-बबूला हो उठते हैं तथा वे तुरन्त ही अपने दूत के माध्यम से बाहुबली को अपना अधिपतित्व स्वीकार करने अथवा युद्ध भूमि में मिलने का संदेश भेजते हैं।

२१ वें कामदेव के रूप में प्रसिद्ध बाहुबली जितने सुन्दर थे उतने ही बलिष्ठ, कुशल, पराक्रमी एवं स्वाभिमानी भी। वे भरत की चुनौती स्वीकार कर संग्राम-भूमि में उनसे मिलते हैं और अनावश्यक नर-संहार से बचने के लिए वे भरत के सम्मुख दृष्टि युद्ध, जल युद्ध एवं मल्लयुद्ध का प्रस्ताव रखते हैं। भरत के स्वीकार कर लेने पर उसी क्रम से युद्ध होता है और उनमें भरत हार जाते हैं। अपनी पराजय से क्रोधित होकर भरत बाहुबली की प्राण-हत्या के निमित्त उन पर अपना चक्र रत्न छोड़ते हैं, किन्तु चक्ररत्न नियमतः प्रक्षेपक के वंशजों की किसी भी प्रकार की हानि नहीं करता, अतः वह वापिस लौट आता है। बाहुबली अपने भाई के इस अमर्यादित एवं अनैतिक कृत्य से ग्लानि से भर उठते हैं और सांसारिक व्यामोह का त्याग कर दीक्षित हो जाते हैं। उपलब्ध बाहुबली-चरितों की यही संक्षिप्त रूपरेखा है। इसी कथानक का चित्रण विविध कवियों ने अपनी-अपनी अभिरुचियों एवं शैलियों के अनुसार किया है। इस विषय पर शताधिक कृतियों का प्रणयन किया गया है, उनमें से जो ज्ञात एवं प्रकाशित अथवा अप्रकाशित कुछ प्रमुख कृतियां उपलब्ध हैं, उनका संक्षिप्त परिचय यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

शौरसेनी-आगम-साहित्य में अष्टपाहुड साहित्य अपना प्रमुख स्थान रखता है। इसके प्रणेता आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन परम्परा के आद्य आचार्य एवं कवि माने गए हैं। उन्होंने दर्शन सिद्धान्त, आचार एवं अध्यात्म सम्बन्धी साहित्य का सर्वप्रथम प्रणयन कर परवर्ती आचार्यों के लिए दिशादान किया। कुन्दकुन्द कृत षट्पाहुड के टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने उनके पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य एवं गृद्धपिच्छाचार्य नाम भी बतलाए हैं।[1] नन्दिसंघ से सम्बद्ध विजयनगर के एक शिलालेख में भी कुन्दकुन्द के उक्त पाँच अपर नामों के उल्लेख हैं।[2] उक्त शिलालेख वि० सं० १४४३ का है। श्रुतसागरसूरि ने इन्हें विशाखाचार्य का परम्परा-शिष्य माना है।[3] प्रोफेसर हॉर्नले ने उन्हें नन्दिसंघ की पट्टावलियों के आधार पर विक्रम की प्रथम सदी का आचार्य स्वीकार किया है।[4] उनके अनुसार कुन्दकुन्द वि० सं० ४९ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। ४४ वर्ष की आयु में उन्हें आचार्य पद मिला, ५१ वर्ष १० माह तक वे इस पद पर बने रहे और उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० माह १५ दिन की थी।[5] प्रो० ए० चक्रवर्ती ने भी इस मत का समर्थन किया है।[6] इस प्रकार सिद्ध होता है कि जैन परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का साहित्य सर्वप्रथम लिखित साहित्य के रूप में उपलब्ध है। उनकी रचनाओं में से निम्नकृतियां प्रसिद्ध एवं प्रकाशित हैं :—

१-२. दे० कुन्दकुन्दभारती (फल्टण, १९७०), प्रस्तावना पृ० ४,
३. वही पृ० ५.
४-६. वही पृ० ६.

पञ्चास्तिकाय, समयसार, प्रवचनसार नियमसार, अष्टपाहुड (दंसणपाहुड चरित्तपाहुड, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, सीलपाहुड, एवं लिंगपाहुड) बारसाणुवेक्खा और भक्त संग्रहो। इनमें से आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने भावपाहुड की गाथा सं० ४४ में सर्वप्रथम बाहुबली की चर्चा की और लिखा कि—"हे धीर-वीर, देहादि के सम्बन्ध से रहित किन्तु मान-कषाय से कलुषित बाहुबली स्वामी कितने काल तक आतापन योग से स्थित रहे ?[1] वस्तुत: बाहुबली चरित का यही आद्यरूप उपलब्ध होता है। यह कह सकना कठिन है कि कुन्दकुन्द ने किस आधार पर बाहुबली को अहंकारी कहा तथा उससे पूर्व वे क्या थे तथा आतापन योग में क्यों स्थित रहे ? प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्द के पूर्व कोई ऐसा कथानक प्रचलित अवश्य था, जिसमें बाहुबली का इतिवृत्त लोक-विश्रुत था और आचार्य कुन्दकुन्द ने उसे मान-कषाय के प्रतिफलके एक उदाहरण के रूप में यहां प्रस्तुत किया। परवर्ती बाहुबली चरितों के लेखन के लिए उक्त उक्ति ही प्रेरणा स्रोत प्रतीत होती है।

आचार्य विमलसूरि कृत पउमचरियं[2] के चतुर्थ उद्देशक में "लोकट्ठिइ उसभमहाणाहियारो" नामक प्रकरण में भरत-बाहुबली संघर्ष की चर्चा हुई है। कवि ने उसकी गाथा सं० ३६ से ५५ तक कुल २० गाथाओं में उक्त आख्यान अंकित किया है। उसके अनुसार बाहुबली भरत का विरोधी था और वह उसकी आज्ञा का पालन नहीं करता था। अत: भरत अपनी सेना लेकर बाहुबली से युद्ध हेतु तक्षशिला जा पहुंचा। वहां दोनों की सेनाएँ जुट जाती हैं। नरसंहार के बचने के लिए बाहुबली दृष्टि एवं मुष्टि युद्ध का प्रस्ताव रखते हैं। भरत उसे स्वीकार कर इन माध्यमों से युद्ध करता है, किन्तु उनमें वह हार जाता है। इस कारण क्रुद्ध होकर वह बाहुबली पर अपना चक्र फेंकता है। किन्तु वह भी उनका कुछ बिगाड़ नहीं पाता। भरत के इस व्यवहार से बाहुबली का मन विराग से भर जाता है और कषाययुद्ध के स्थान पर संयमयुद्ध अथवा परीषह-युद्ध के लिए वह सन्नद्ध हो जाता है।

आचार्य विमलसूरि का जीवन-वृत्तान्त अनुपलब्ध है। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान हर्मन याकोबी ने विविध सन्दर्भों के आधार पर उनका समय २७४ ई० माना है।[3] यह भी अनुमान किया जाता है कि उन्होंने 'पूर्व साहित्य' की घटनाओं को सुनकर 'राघवचरित' नाम का भी एक ग्रन्थ लिखा था, जो अद्यावधि अनुपलब्ध है।

उक्त पउमचरिय जैन परम्परा की आद्य रामायण मानी जाती है। इसकी भाषा प्राकृत है। उसमें कुल ११८ पर्व (सर्ग) एवं उनमें कुल ८२६१ गाथाएं हैं। उक्त ग्रन्थ को आधार मानकर आचार्य रविषेण ने अपने संस्कृत पद्मपुराण की रचना की थी।

तिलोयपण्णत्ती[5] शौरसेनी आगम का एक प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है। उसमें बाहुबली का केवल नामोल्लेख ही मिलता है और उसमें उन्हें २४ कामदेवों में से एक कहा गया है।[6] उसमें यह भी बताया गया है कि ये कामदेव २४ तीर्थंकरों के समयों में ही होते हैं और अनुपम आकृति के धारक होते हैं।[7]

तिलोयपण्णत्ती के कर्ता जदिवसह (यतिवृषभ) का समय निश्चित नहीं हो सका है किन्तु विविध तर्क-वितर्कों के आधार पर उनका समय ई० की ५ वीं ६ वीं सदी के मध्य अनुमानित किया गया है।[8]

प्रस्तुत तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थ दिगम्बर जैन परम्परानुमोदित विश्व के भूगोल तथा खगोल-विद्या और अन्य पौराणिक एवं ऐतिहासिक सन्दर्भों का अद्भुत विश्वकोष माना गया है। इस ग्रन्थ का महत्त्व इसलिए भी अधिक है कि ग्रन्थकार ने पूर्वागत परम्परा के विषयों की ही उसमें व्यवस्था की है, किन्हीं नवीन विषयों की नहीं।[1] अत: प्राचीन भारतीय साहित्य इतिहास एवं पुरातत्त्व की दृष्टि से यह ग्रन्थ मूल्यवान है। इसमें कुल ९ अधिकार तथा ५६५५ गाथाएं हैं। इसका सर्वप्रथम आंशिक प्रकाशन जैन सिद्धांत भवन आरा १० तथा तत्पश्चात् जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुर से सर्वप्रथम अधुनातम सम्पादकीय पद्धति से हुआ है।

---

१. दे० कुन्दकुन्द भारती, भावपाहुड गाथा ४४ पृ० २६२.
२. पउमचरियं (वाराणसी, १९६२) ४/३६-५५ पृ० ३३-३५.
३—४. दे० पउमचरियं अंग्रेजी भूमिका पृ० १५.
५. जीवराज ग्रन्थमाला (सोलापुर, १९५१ १९५६) से दो खण्डों में प्रकाशित।
६—७. तिलोयपण्णत्ती ४/१४७४ पृ० ३१७.
८. भारतीय संस्कृति के विकास में जैनधर्म का योगदान (डॉ० हीरालाल जैन) प्रकाशक—मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् भोपाल १९६२ पृ० ६९.
९. Tilogya-Pannatti of yativrsabha के नाम से प्रकाशित (१९४१ ई०)

अर्धमागधी आगम साहित्य एवं उनकी टीकाओ के अनुसार बाहुबली ऋषभदेव की द्वितीय पत्नी सुनन्दा के पुत्र थे, वे एवं सुन्दरी (पुत्री) युगल के रूप में जन्मे थे। उन्हें बहली का राज्य प्रदान किया गया था · उनकी राजधानी तक्षशिला थी। जब उन्होंने अपने भाई भरत का प्रभुत्व स्वीकार नहीं किया तब भरत ने उन पर आक्रमण कर दिया था। बाहुबली ने व्यर्थ के नरसंहार से बचने हेतु व्यक्तिगत युद्ध करने के लिए भरत को तैयार कर लिया। उन दोनो मे नेत्रयुद्ध, वाग्युद्ध एवं मल्लयुद्ध हुए। उनमें पराजित होकर भरत ने बाहुबली पर चक्ररत्न से आक्रमण कर दिया। बाहुबली यद्यपि वीर-पराक्रमी थे, फिर भी भाई के इस कार्य से उन्हें संसार के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई और उन्होंने दीक्षा लेकर कायोत्सर्ग मुद्रा मे कठोर तपस्या की। उसमें वे इतने ध्यानमग्न थे कि पहाड़ी चींटियों ने बांबी बनाकर उनके पैरो को उसमें ढ़ंक लिया। इतना होने पर भी उन्हे जब कैवल्य की प्राप्ति नही हुई, तब उनकी बहिन ब्राह्मी और सुन्दरी ने उनका ध्यान उनके भीतर ही छिपे हुए अहंकार की ओर दिलाया। बाहुबली ने उसका अनुभव कर उसका सर्वथा परित्याग कर दिया और फलस्वरूप उन्हे कैवल्य की प्राप्ति हुई। बाहुबली के संसार त्याग करते समय भरत ने उनके पुत्र को तक्षशिला का राज्य प्रदान कर दिया। बाहुबली के शरीर की ऊँचाई ५०० धनुष थी। उनकी कुल आयु ८४ लाख पूर्व वर्ष थी।[1]

संघदासगणि ने अपनी वसुदेवहिण्डी[2] में "बाहुबलिस्स भरहेण सह जुज्झ विक्खाणाणुप्पत्तीय" नामक प्रकरण मे बाहुबली के चरित का अंकन किया है। उसका साराश इस प्रकार है—

दिग्विजय से लौटकर भरत अपने दूत को बाहुबली के पास उनकी राजधानी तक्षशिला में भेजकर उन्हें अपनी सेवा में उपस्थित रहने का संदेश भेजते हैं। बाहुबली भरत के इस दुर्व्यवहार पूर्ण सन्देश को सुनकर आगबबूला हो उठते हैं। उनके अहंकार पूर्ण इस व्यवहार से क्रुद्ध होकर भरत ससैन्य तक्षशिला पर चढ़ाई कर देते हैं। बाहुबली और भरत वहा यह निर्णय करते हैं कि उनमें दृष्टियुद्ध एवं मुष्टियुद्ध हो। उन दोनों युद्धों में हारकर भरत बाहुबली पर चक्र से आक्रमण करते हैं। उसे देखकर बाहुबली कहते है कि मुझसे पराजित होकर मुझ पर चक्र से आक्रमण करते हो? यह सुनकर भरत कहते हैं कि मैंने चक्र नहीं मारा है। दैव ने उस शस्त्र को मेरे हाथ से फिकवाया है। इसके उत्तर में बाहुबली कहते हैं कि तुम लोकोत्तम पुत्र होकर भी यदि मर्यादा का अतिक्रमण करोगे तो फिर सामान्य व्यक्ति कहाँ जायेंगे? अथवा इसमे तुम्हारा क्या दोष, क्योकि विषय लोलुपी होने पर ही तुम ऐसा अनर्थ कर रहे हो। ऐसा विषय लोलुपी होकर मैं इस राज्य को लेकर क्या करूंगा? यह कहकर वे समस्त आरम्भो को त्यागकर योगमुद्रा धारण कर लेते हैं और तपस्या कर कैवल्य-प्राप्ति करते हैं।[3]

वसुदेवहिण्डी का अद्यावधि प्रथम खण्ड ही दो जिल्दो मे प्रकाशित हैं। इनमे मे प्रथम जिल्द से ७ लम्भक (अध्याय) हैं। द्वितीय जिल्द मे ८ से २८ वें लम्भक हैं किन्तु उनमे से १९—२० वें लम्भक अनुपलब्ध थे।[4] किन्तु अभी हाल मे डा० जगदीश चन्द्र जैन (बम्बई) के प्रयत्नों से वे भी मिल चुके हैं।[5] उसके रचयिता श्री सघदासगणि है। इनका समय विवादास्पद है किन्तु कुछ विद्वानों का अनुमान है कि उनका समय ६ वी सदी के पूर्व का रहा होगा।[6]

धर्मदासगणि ने अपनी उपदेशमाला[7] मे 'बाहुबली दृष्टान्त' प्रकरण मे बाहुबली एव भरत की वही कथा निबद्ध की है, जो संघदासगणि ने वसुदेवहिण्डी मे[8]। यद्यपि वसुदेवहिण्डी की अपेक्षा उपदेशमाला के कथानक में अपेक्षाकृत कुछ विस्तार अधिक है, फिर भी कथानक में कोई अन्तर नही। यदि कुछ अन्तर है भी तो वह यही कि उपदेशमाला का कथानक अलंकृत शैली में है जब कि वसुदेवहिण्डी

---

१. दे० Agmic Index Vol. I [Prakrit proper Names] Part II Ahmedabad 1970-72 p. 507-8
२. जैनआत्मानन्दसभा भावनगर (१९३०-३१ ई०) से प्रकाशित).
३. दे० वसुदेवहिण्डि पचमलम्भक पृ० १८७.
४. दे० वसुदेवहिण्डि पृ० ३०८.
५. दे० Proceedings of the A.I.O.C 28th session Karnataka University Nov. 1976 Page 104
६. दे० भारतीय सस्कृति में जैनधर्म का योगदान पृ० १४३
७. निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन सघ दिल्ली (१९७१ ई०) से प्रकाशित
८. दे० उपदेशमाला पृ० ८०—९५

कर कथानक संक्षिप्त एवं केवल विवरणात्मक । कुछ विद्वान् धर्मदासगणि को संघदासगणि के समान ही महावीर का सक्षात् शिष्य मानते हैं, किन्तु यह इतिहास समर्थित नहीं है । सम्भावना यह है कि वे संघदास के समकालीन अथवा किञ्चित् पश्चात्कालीन हैं। वसुदेवहिण्डी का उत्तरार्द्ध संघदासगणि की मृत्यु के बाद उन्होंने ही पूरा किया था ।[1]

महाकवि रविषेण ने अपने संस्कृत पद्मपुराण[2] के चतुर्थ पर्व में बाहुबली का संक्षिप्त वर्णन किया है। उन्होंने बाहुबली को भरत का सौतेला भाई कहा है । उनके अनुसार बाहुबली अहंकारी था, अत. उसे चकनाचूर करने के लिए भरत अपनी चतुरंगिणी सेना लेकर पोदनपुर आता है और बाहुबली से युद्ध करता है। युद्ध में अनेक प्राणियों के मारे जाने से दुखी होकर बाहुबली ने भरत से दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध एवं बाहुयुद्ध, करने की प्रेरणा की जिसे भरत ने स्वीकार कर लिया किन्तु पराजित होकर उसने बाहुबली पर चक्ररत्न छोड़ दिया । चरमशरीरी होने के कारण वह चक्र बाहुबली का कुछ भी न बिगाड़ सका। किन्तु भरत के इस अमर्यादित कृत्य ने बाहुबली को सांसारिक भोगों से विरक्त बना दिया। उन्होंने तत्काल ही दीक्षा लेकर कठोर तपस्या की और मोक्ष लाभ लिया ।[3]

आचार्य रविषेण का रचनाकाल उनकी एक प्रशस्ति के अनुसार वि० स० ७३४ सिद्ध होता है ।[4] इनके व्यक्तिगत जीवन परिचय की जानकारी के लिए सामग्री अनुपलब्ध है । इनके नाम के साथ सेन शब्द संयुक्त रहने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे सेनगण-परम्परा के आचार्य रहे होंगे ।[5]

रविषेण की एकमात्र कृति पद्मपुराण ही उपलब्ध है। इसका मूलाधार विमलसूरिकृत पउमचरियं है।[6] पद्मपुराण जैन संस्कृत साहित्य का आद्य महाकाव्य तो है ही साथ ही वह सस्कृत मे दिगम्बर जैन परम्परा की रामकथा का भी सर्वप्रथम लिखित ग्रन्थरत्न है।

आचार्य जिनसेन (शक संवत् ७७०) कृत संस्कृत आदिपुराण[7] के १६-१७ वें पर्व में बाहुबली का वर्णन मिलता है। कथा के आरम्भ मे बताया गया है कि बाहुबली का जन्म ऋषभदेव की दूसरी रानी सुनन्दा से हुआ। वे कामदेव होने के कारण अत्यन्त सुन्दर एवं पराक्रमी थे । योग्य होने पर उनका राजतिलक कर दिया गया। इसके बाद पुन: ३५ वें एवं ३६ वें पर्व के ४६१ श्लोकों में भरत एवं बाहुबली के ऐश्वर्य तथा वैभव का वर्णन है। बाहुबली द्वारा भरत की अधीनता स्वीकार नहीं किए जाने पर भरत अपनी विजय को अपूर्ण समझते हैं । अत वे बाहुबली के पास अपने दूत के द्वारा प्रभुत्व स्वीकार कर लेने सम्बन्धी सन्देश भेजते हैं। किन्तु वे उसे अस्वीकार कर युद्धभूमि मे निपट लेने को ललकारते हैं । भरत एव बाहुबली युद्ध मे भिड़ने की तैयारी करते हैं और निरपराध मनुष्यो का सहार बचाने के लिए वे धर्मयुद्ध प्रारम्भ करते हैं । उनके बीच जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध एवं बाहुयुद्ध होता है । इन तीनों युद्धो में जब भरत पराजित हो जाता है तब वह बाहुबली पर चक्ररत्न का वार करता है। इस अनैतिक एवं अमर्यादित कार्य से बाहुबली को बड़ा दुख होता है । उन्हे ऐश्वर्य एव भोगलिप्सा के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है । अत: वे वैराग्यधारण कर कठोर तपश्चर्या करते हैं और कैवल्य की प्राप्ति करते है।

आदिपुराण मे चित्रित बाहुबली का उक्त चरित ही सर्वप्रथम विस्तृत, सरस एव काव्य शैली मे लिखित बाहुबली चरित माना जा सकता है। कवि ने परम्परा-प्राप्त सन्दर्भो को विस्तार देकर कथानक को अलकृत एवं सरस बनाया है ।

महाकवि जिनसेन का समय विवादास्पद है किन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार उनका काल ई० सन् ६९२ के आसपास माना जा सकता है।[8] जिनसेन की अन्य कृतियो मे पार्श्वाभ्युदय, वर्धमानपुराण एव जयधवला टीका प्रसिद्ध हैं। कृतियों के क्रम में आदिपुराण उनकी अन्तिम रचना थी । इसमे कुल ४७ पर्व हैं जिनमे प्रारम्भ के ४२ एवं ४३ वें पर्व के प्रथम ३ श्लोकों की रचना करने के बाद उनका स्वर्गवास हो गया। अत· उसके बाद के शेष पर्वों के १६२० श्लोको की रचना उनके शिष्य गुणभद्र ने की थी।[9]

---

१. दे० वसुदेवहिण्डि—प्रस्ताविक पृ० ५.
२. भारतीय ज्ञानपीठ (काशी १९५८-५९) से तीन भागो मे प्रकाशित
३. दे० पद्मपुराण पर्व ४।६७-७७.
४. दे० वही १२३।१८१, तथा भूमिका पृ० १९-२०.
५. दे० पद्मपुराण—प्रस्तावना—पृ० १९
६. दे० वही प्रस्तावना पृ० २२.
७. भारतीय ज्ञानपीठ (काशी १९६३-६८) से प्रकाशित
८. दे० पद्मपुराण—प्रस्तावना पृ० २१.
९. वही.

महाकवि पुष्पदन्त ने अपने अपभ्रंश महापुराण[1] मे "नाभेय चरित प्रकरण" में बाहुबली के चरित का अंकन मर्मस्पर्शी शैली में किया है। उसकी पांचवी सन्धि मे जन्म वर्णन करके कवि ने १६वीं से १८ वीं सन्धि तक बाहुबली का वर्णन जिनसेन के आदिपुराण के अनुसार ही किया है। पुष्पदन्त की वर्णनशैली जिनसेन की वर्णन-शैली से अधिक सजीव एवं सरस बन पड़ी है। पुष्पदन्त ने भरत दूत एवं बाहुबली के माध्यम से जो मर्मस्पर्शी सवाद प्रस्तुत किए हैं तथा सैन्य संगठन, सैन्य संचालन तथा उनके पारस्परिक युद्धों के समय जिन कल्पनाओं एवं मनोभावों के चित्रण किए गए हैं वे उनके बाहुबली चरित को निश्चय ही एक विशिष्ट काव्य-कोटि में प्रतिष्ठित कर देते हैं।[2]

महाकवि पुष्पदन्त कहा के निवासी थे, इस विषय में विद्वान अभी खोज कर रहे हैं। बहुत सम्भव है कि वे विदर्भ अथवा कुन्तलदेश के निवासी रहे हो। उनके पिता का नाम केशवभट्ट एवं माता का नाम मुग्धादेवी था। उनका गोत्र काश्यप था। वे ब्राह्मण थे किन्तु जैन सिद्धान्तो से प्रभावित होकर बाद मे जैन धर्मानुयायी हो गए। वे जन्मजात प्रखर प्रतिभा के धनी थे। वे स्वभाव से अत्यन्त स्वाभिमानी थे और काव्य के क्षेत्र मे तो उन्होने अपने को काव्यपिशाच, अभिमानमेरु, कविकुलतिलक जैसे विशेषणों से अभिहित किया है। उनके स्वाभिमान का एक ही उदाहरण पर्याप्त है कि वीर-शैव राजा के दरबार मे जब उनका कुछ अपमान हो गया तो वे अपनी गृहस्थी को थैले मे डालकर चुपचाप चले आए थे और जंगल में विश्राम करते समय जब-जब किसी ने उनसे नगर में चलने का आग्रह किया तब उन्होंने उत्तर दिया था कि—"पर्वत की कन्दरा मे घास-फूस खा लेना अच्छा, किन्तु दुर्जनों के बीच मे रहना अच्छा नही। माँ की कोख से जन्म लेते ही मर जाना अच्छा किन्तु सबेरे-सबेरे दुष्ट राजा का मुख देखना अच्छा नहीं।[3]

कवि की कुल मिलाकर तीन रचनाएं उपलब्ध हैं—णायकुमारचरिउ,[4] जसहरचरिउ,[5] एवं महापुराण अथवा तिसट्ठिमहापुरिस गुणालंकार। ये तीनों ही अपभ्रंश भाषा की अमूल्य कृतियाँ मानी जाती हैं। कवि पुष्पदन्त का समय सन् ६६५ ई० के लगभग माना गया है।[6]

जिनेश्वर सूरि ने अपने कथाकोषप्रकरण[7] की ७वी गाथा की व्याख्या के रूप मे "भरतकथानकम्" प्रसग मे बाहुबली के चरित का अंकन किया है। उसमे ऋषभदेव की दूसरी पत्नी सुनन्दा से बाहुबली एवं सुन्दरी को युगल रूप मे बताया गया है।[8] शेष कथानक पूर्व ग्रन्थो के अनुसार ही लिखा गया है। किन्तु शैली कवि की अपनी है। उसमे सरसता एव जीवन्तता विद्यमान है।

आचार्य जिनेश्वरसूरि वर्धमानसूरि के शिष्य थे।[9] उन्होने वि० स० ११०८ मे उक्त ग्रन्थ की रचना की थी। लेखक अपने समय का एक अत्यन्त क्रान्तिकारी कवि के रूप मे प्रसिद्ध था। जिनेश्वरसूरि की अन्य प्रधान कृतियाँ है—प्रमालक्ष्म, लीलावतीकथा षट्स्थानक प्रकरण एव पचलिंगीप्रकरण।[10] उक्त कथाकोषप्रकरण, भारतीय कथा साहित्य के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

आचार्य सोमप्रभ कृत कुमारपालप्रतिबोध[11] के "राजपिण्डे भरतचक्रिकथा" नामक प्रकरण की लगभग २० गाथाओ मे बाहुबली का प्रसंग आया है।[12] इसका कथानक उस घटना से प्रारम्भ होता है जब भरतचक्रि दिग्विजय के बाद अयोध्या लौटते हैं तथा चक्ररत्न के नगर मे प्रवेश करने पर वे इसका कारण अमात्य से पूछते हैं तब अमात्य उन्हे कहता है—

'किंतु कणिट्ठो भाया तुज्झ सुणदाइ नदणो अत्थि।
बाहुबलित्ति पसिद्धो विवक्ख-बल-दमण बाहुबलो॥'

बाहुबली-कथानक उक्त गाथा से ही प्रारम्भ होता है और भरत उनसे दृष्टि, गिरा, बाहु, मुट्ठी एव लट्ठी से युद्ध में पराजित होकर बाहुबली के वध हेतु अपना चक्र छोड देते हैं। किन्तु सगोत्री होने से चक्र उन्हे क्षतिग्रस्त किए बिना ही वापिस लौट आता है। बाहुबली भरत की अपेक्षा अधिक समर्थ होने पर भी चक्र का प्रत्युत्तर न देकर ससार की विचित्र गति से निराश होकर दीक्षित हो जाते हैं और यहीं पर बाहुबली-कथा समाप्त हो जाती है।[13]

---

१ भारतीय ज्ञानपीठ (दिल्ली १६७६ ई०) से प्रकाशित.
२. दे० महापुराण १६-१८ सन्धियाँ
३ दे० जैन साहित्य और इतिहास—नाथूरामप्रेमी (बम्बई, १६५६) पृ० २२५-२३५.
४. भारतीय ज्ञानपीठ (दिल्ली १६७२) से प्रकाशित
५. भारतीय ज्ञानपीठ (दिल्ली, १६७२) से प्रकाशित.
६. दे० णायकुमार चरिउ की प्रस्तावना —पृ० १८.
७-८ सिंघी जैन सीरीज (ग्रन्थांक ११) (बम्बई १६४६) से प्रकाशित—दे० भरत कथानकम् पृ० ५०-५५
६-१०. दे० वही प्रस्तावना पृ० 2
११. दे० कथाकोषप्रकरण—प्रस्तावना पृ० ४३.
१२ Govt Central Library, Baroda (1920 A.D.) से प्रकाशित.
१३-१४. दे० कुमारपाल प्रतिबोध—तृतीय प्रस्ताव पृ० २१६-१७.

आचार्य सोमप्रभ का रचनाकाल ई० सन् ११९५ माना गया है।[1] ये गुजरात के चालुक्य सम्राट कुमारपाल एवं आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे।[2] सोमप्रभ ने प्रस्तुत रचना का प्रणयन उस समय किया था जब वह प्राग्वाटवंशी कविराजा श्रीपाल के पुत्र कवि सिद्धपाल के यहां निवास कर रहा था।[3] कवि ने इस ग्रन्थ की रचना नेमिनाग के पुत्र शेठ अभयकुमार के हरिश्चन्द्र एवं श्रीदेवी नामक पुत्र एवं पुत्री के धर्मलाभार्थ की थी।[4] इस ग्रन्थ के निर्माण के समय आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने तीन शिष्यों द्वारा इसे सुना था।[5] कवि सोमप्रभ की अन्य रचनाओं में सुमतिनाथचरित, सूक्तिमुक्तावलि (अपरनाम सिन्दूरप्रकर) एवं शतार्थकाव्य उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं। इनमें से कुमारपाल प्रतिबोध प्रस्ताव शैली में लिखा गया है। इसमें कुल ५ प्रस्ताव (अध्याय) है तथा कुल लगभग ६७ कथानक लिखे गए हैं जो विविध नैतिक आदर्शों से सम्बन्धित हैं।

रास परम्परा के साहित्य में जितनी रचनाएं उपलब्ध है उनमें **भरतेश्वर बाहुबली रास**[5] सर्वप्रथम एवं अति विस्तृत रचना मानी गई है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह सन्धिकालीन हिन्दी जैन साहित्य की कृति है तथा लगभग १३वी सदी से १५ वी सदी के मध्य लिखे गए रास-साहित्य की एक प्रतिनिधि रचना है।

प्रस्तुत रास-काव्य की बाहुबली कथा का प्रारम्भ अयोध्यानगरी के सम्राट ऋषभ के गुण वर्णनो से होता है। उनकी सुमंगला एवं सुनन्दा नामक रानियो से क्रमश भरत एवं बाहुबली का जन्म होता है। योग्य होने पर भरत को अयोध्या तथा बाहुबली को तक्षशिला का राज्य मिलता है। ऋषभ को जिस दिन कैवल्य की प्राप्ति होती है उसी दिन भरत को उनकी आयुधशाला में दिव्य चक्ररत्न की उपलब्धि होती है। उसके बल से वे दिग्विजय करते है। वापिस लौटते समय जब वह अयोध्या के बाहर रुक जाता है तभी उन्हे विदित होता है कि बाहुबली को जीते बिना उनकी सफलता अपूर्ण है। यह देखकर वे अपने दूत को भेजकर बाहुबली को अपनी अधीनता स्वीकार करने का सन्देश भेजते हैं। बाहुबली के द्वारा अस्वीकार किए जाने पर दोनों भाइयो मे युद्ध हो जाता है और वह लगातार १३ दिनो तक चलता है। दोनो पक्षों की अपार सेना की क्षति देखकर तथा अवशिष्ट सैन्य क्षति-ग्रस्त न हो इस उद्देश्य से वे नेत्रयुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध करते है। भरत इन युद्धो मे बाहुबली से पराजित होकर उनपर चक्र चला देते हैं। इस मर्यादा विहीन कार्य से भी यद्यपि बाहुबली का कुछ बिगड़ता नही फिर भी उन्हें भरत के इस अनैतिक कार्य पर बड़ा दुख हुआ और वे वैराग्य से भरकर दीक्षित हो गए। भरत ने शासन सम्हाला और यशार्जन किया। यही पर कथा का अन्त हो जाता है।

यह रचना वीर रस प्रधान है किन्तु उसका अवसान शान्त रस मे हुआ है भयानक नरसंहार के बाद जब दोनों भाइयो में नेत्रयुद्ध, जलयुद्ध एवं मल्लयुद्ध होता है तब उसमे भरत की पराजय होती है और वह आगबबूला होकर बाहुबली पर चक्ररत्न से आक्रमण कर देते हैं। भौतिक सम्पदा प्राप्ति के लिए भरत के इस अनैतिक और अमर्यादित कार्य को देखकर बाहुबली को वैराग्य हो जाता है और वे कहते हैं—

"धिक् धिक् ए एय संसार धिक् धि राणिम राज रिद्धि।
एवडु ए जीव महार की धड कुण विरोध वसि॥"

वीर रस प्रधान उक्त काव्य के उक्त प्रसग मे समस्त आलम्बन शान्ति मे परिवर्तित हो जाते हैं। इस सहसा परिवर्तन की निर्दोष अभिव्यक्ति कवि की अपनी विशेषता है। स्वपराजय जन्य तिरस्कार के कारण भरत का अपने सहोदर पर धर्मयुद्ध के स्थान पर चक्र का प्रहार घोर अनैतिक कार्य था। इसी अनैतिक कार्य ने बाहुबली के हृदय मे शम की सृष्टि की और फलस्वरूप वे दीक्षित हो जाते हैं। यह देख भरत के नेत्र डबडबा उठते हैं और वे उनके चरणों मे गिर जाते है। यथा—

"सिरिवरि ए लोच करेउ कासगि रहीउ बाहुबले।
असूह आंखि भरेउ तस पणमए भरह भडो॥"[7]

प्रस्तुत काव्य में प्रयुक्त विविध अलकारो की छटा प्रसंगानुकूल विविध छन्द योजना, कथनोपकथन एवं मार्मिक उक्तियो ने इसे एक आदर्श काव्य की कोटि में ला खड़ा किया है। तत्कालीन प्रचलित भाषाओ का तो इसे संग्रहालय माना जा सकता है। इस।

१-२. दे० वही अंग्रेजी—प्रस्तावना पृ० ३.
३-४. दे० कुमारपाल प्रतिबोध—अंग्रेजी प्रस्तावना पृ० ३.
५. दे० आदिकाल के अज्ञात हिन्दी रास-काव्य—पृ० १७-२४.
६-७. दे० भरतेश्वर बाहुबलीरास—पद्य सं १९१, १९३,

उत्तर अपभ्रंश (यथा-रिसय, भरह, चक्क आदि) राजस्थानी, जूनी, गुजराती (यथा-काल, परवेश, कुमर, आणंद, डामी, जिणभई आदि) के साथ-साथ अनेक प्राचीन (यथा नमिवि, नरिंदह आदि), नवीन (यथा—वार, वरिस, फागुण) आदि एवं तत्सम (यथा—चरित, मुनि, गुणगणभंडार आदि) शब्दों के भी प्रयोग हुए हैं।

प्रस्तुत रचना के लेखक शालिभद्र सूरि हैं। रचना में कवि ने उसके रचना स्थल की सूचना नहीं दी किन्तु भाषा एवं वर्णन प्रसंगों से यह स्पष्ट विदित होता है कि वे गुजरात अथवा राजस्थान के निवासी थे तथा वहीं कही पर उन्होंने इसकी रचना की होगी। कवि ने इसका रचना काल स्वय ही वि० स० १२४१ कहा है। यथा—

"जो पढइ ए वसह वदीत सो नरो नितु नव निहि लहइ ए।
सवत् ए बार एकतालि फागुण पचमिइ एउ कोउ ए ॥"[1]

महाकवि अमरचन्द्र कृत पद्मानन्द महाकाव्य[2] मे बाहुबली के चरित्र का चित्रण काव्यात्मक शैली मे हुआ है। उसके नौवें सर्ग में भरत—बाहुबली जन्म एवं १७वें सर्ग मे वर्णित कथा के आरम्भ के अनुसार दिग्विजय से लौटने प र भरत का चक्ररत्न जब अयोध्या नगरी में प्रविष्ट नही होता तब उसका कारण जानकर भरत अपनी पूरी शक्ति के साथ बाहुबली पर आक्रमण करते हैं और सैन्य युद्ध के पश्चात् दृष्टि, जल एव मुष्टियुद्ध मे पराजित होकर भरत अपना चक्ररत्न छोड़ता है किन्तु उसमे भी वह विफल सिद्ध होता है। बाहुबली भरत के इस अनैतिक कृत्य पर दुखी होकर ससार के प्रति उदासीन होकर दीक्षा ग्रहण कर तपस्या हेतु वन में चले जाते हैं।

पद्मानन्द महाकाव्य मे नवीन कल्पनाओं का समावेश नही मिलता। बाहुबली की विरक्ति आदि सम्बन्धी अनेक घटनाएं चित्रित की गई हैं। उनका आधार पूर्वोक्त पउमचरिय एव पद्मपुराण ही हैं। कवि की अन्य उपलब्ध रचनाओ में बालभारत, काव्य-कल्पलता, स्यादिशब्द समुच्चय एवं छन्दरत्नावली प्रमुख हैं।[3]

कवि अमरचन्द्र का काल वि० सं० की १४ वी सदी निश्चित है।[4] वे गुर्जरेश्वर वीसलदेव की राजसभा में वि० स० १३०० से १३२० के मध्य एक सम्मानित राजकवि के रूप मे प्रतिष्ठित थे।[5] बालभारत के मगलाचरण मे कवि ने व्यास की स्तुति की है। इससे प्रतीत होता है कि कवि पूर्व में ब्राह्मण था किन्तु बाद मे जैन धर्मानुयायी हो गया।[6] जिस प्रकार कालिदास को 'दीपशिखा' एवं माघ को 'घण्टामाघ' की उपाधियां मिली थी उसी प्रकार अमरचन्द्र को भी 'वेणीकृपाण'[7] की उपाधि से अलकृत किया गया था। कवि का उक्त पद्मानन्द महाकाव्य १७ सर्गों में विभक्त है।

शत्रुञ्जय माहात्म्य[8] में धनेश्वरसूरि ने भरत बाहुबली की चर्चा की है। उसके चतुर्थ-सर्ग मे बाहुबली एवं भरत के युद्ध संघर्ष तथा उसमे पराजित होकर भरत द्वारा बाहुबली पर चक्ररत्न छोड़े जाने तथा चक्ररत्न के विफल होकर वापिस लौट आने की चर्चा की गई है। बाहुबली भरत के इस अनैतिक कृत्य पर ससार के प्रति उदासीन होकर दीक्षा ले लेते हैं। प्रस्तुत काव्य में कुल १५ सर्ग हैं तथा शत्रुञ्जय तीर्थ से सम्बन्ध रखने वाले प्राय सभी महापुरुषो की उसमें चर्चा की गई है।

एक प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि धनेश्वरसूरि ने वि० स० ४७७ मे प्रस्तुत काव्य को वलभी नरेश शिलादित्य को सुनाया था।[9] किन्तु अधिकांश विद्वानो ने उसे इतिहास सम्मत न मानकर उनका समय ई० सन् की १३ वीं शती माना है।[10] वे चन्द्रगच्छ के चन्द्रप्रभसूरि के शिष्य थे।[11]

---

१. दे० भरतेश्वर बाहुबलीरास—पद्य स० २०३
२. सयाजीराव गायकवाड़ ओरियण्टल इंस्टीट्यूट (बड़ौदा १९३२ ई०) से प्रकाशित.
३. विशेष के लिए दे० संस्कृत-काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान (दिल्ली १९७१) पृ० ३५३.
४. वही पृ० ३५२.
५. वही पृ० ३५१
६. वही पृ० ३५२.
७. बालभारत—आदिपर्व ११।६.
८. श्री पोपटलाल प्रभुदास (अहमदाबाद वि० स० १९९५) द्वारा प्रकाशित
९. शत्रुञ्जय माहात्म्य—१५/१८७.
१०-११. दे० संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान पृ० ४५१.

धनपाल कृत बाहुबलिदेवचरिउ[1] का अपरनाम कामचरित भी है। इसकी १८ सन्धियों में महाकाव्यात्मक शैली में बाहुबली के चरित का सुन्दर अंकन किया गया है। कवि ने सज्जन-दुर्जन का स्मरण करते हुए कहा है कि "यदि नीम को दूध से सींचा जाय, ईख को यदि शस्त्र से काटा जाय, तो भी जिस प्रकार वे अपनी मधुरता नही छोड़ते, उसी प्रकार सज्जन-दुर्जन भी अपने स्वभाव को नहीं बदल सकते। तत्पश्चात् कवि ने इन्द्रियजयी ऋषभ का वर्णन कर बाहुबली के जीवन का सुन्दर चित्रांकन किया है। इसका कथानक वही है, जो आदिपुराण का, किन्तु तुलना की दृष्टि से उक्त बाहुबली चरित अपूर्व है।

इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता यह है कि इसकी आद्य-प्रशस्ति में ऐसे अनेक पूर्ववर्ती साहित्यकारों एवं उनकी रचनाओं के उल्लेख मिलते हैं, जो साहित्य जगत के लिए सर्वथा अज्ञात एव अपरचित थे। उनमे से कुछ के नाम इस प्रकार हैं:—कवि चक्रवर्ती धीरसेन, वज्रसूरि एवं उनका षट्दर्शनप्रमाण ग्रन्थ, महासेन एवं उनका सुलोचना चरित; दिनकरसेन एवं उनका कन्दर्पचरित (अर्थात् बाहुबली चरित); पद्मसेन और उनका पार्श्वनाथचरित, अमृताराधना (कर्त्ता के नाम का उल्लेख नही), गणि अम्बसेन और उनका चन्द्रप्रभचरित तथा धनदत्तचरित; कवि विष्णुसेन (इनकी रचनाओं का उल्लेख नही); मुनि सिंहनन्दि और उनका अनुप्रेक्षाशास्त्र एव णवकारमन्त्र, कवि नरदेव (रचना का उल्लेख नही); कवि गोविन्द और उनका जयधवल आर शालिभद्र चतुर्मुख, द्रोण, एवं सेढु[2] (इनकी रचनाओं के उल्लेख नहीं)। जैन-साहित्य के इतिहासकारो के लिए ये सूचनाए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

इस रचना के रचयिता महाकवि धनपाल हैं, जो गुजरात के पल्हणपुर या पालनपुर के निवासी थे। उस समय वहा वीसलदेव राजा का राज्य था। उन्होंने चन्द्रवाड नगर के राज्य-श्रेष्ठी और राज्यमन्त्री, जैसवाल कुलोत्पन्न साहू वासाधर की प्रेरणा से उक्त बाहुबलीदेवचरिउ की रचना की थी। वासाधर के पिता—सोमदेव सम्भरी (शाकम्भरी ?) के राजा कर्णदेव के मन्त्री थे।

अपने व्यक्तिगत परिचय मे कवि ने बताया है कि पालनपुर के पुरवाड़वंशीय भोवइ नामके नगर सेठ ही उसके (कवि के) पितामह थे। उनके पुत्र सुहडप्रभ तथा उसकी पत्नी सुहडादेवी से कवि धनपाल का जन्म हुआ था। कवि के अन्य दो भाई संतोष एवं हरिराज थे।

कवि धनपाल के गुरु का नाम प्रभाचन्द्र था। उनके आशीर्वाद से कवि को कवित्वशक्ति प्राप्त हुई थी। ये प्रभाचन्द्र गणि ही आगे चलकर योगिनीपुर (दिल्ली) के एक महोत्सव मे भट्टारक रत्नकीर्ति के पट्ट पर प्रतिष्ठित किए गए थे। इन्होंने अनेक वादियो को शास्त्रार्थ मे पराजित किया था। दिल्ली के तत्कालीन सम्राट मुहम्मदशाह तुगलक इनकी प्रतिभा से अत्यन्त प्रसन्न रहते थे। बाहुबलिदेव-चरिउ की अन्त्य-प्रशस्ति के अनुसार कवि का समय वि० स० १४५४ की वैशाख शुक्ल त्रयोदशी सोमवार है।

रत्नाकरवर्णी कृत भरतेशवैभव[3] भारतीय वाङ्मय की अपूर्व रचना है। इसकी २७ वी सन्धि मे प्रसंग प्राप्त कामदेव आस्थान सन्धि में बाहुबली के बल वीर्य पुरुषार्थ एव पराक्रम के साथ-साथ उनकी स्वाभिमानी एवं दर्पीली वृत्ति एवं विचार दृढ़ता का हृदयग्राही चित्रण किया गया है। वैसे तो यह समस्त ग्रन्थ गन्ने की पोरों के समान सर्व प्रसंगों मे मधुर है किन्तु भरत एवं बाहुबली का संघर्ष इस ग्रन्थ की अन्तरात्मा है। भाई-भाई मे अहंकारवश भावों मे विषमता आ सकती है। किन्तु तद्भव मोक्षगामी चरमशरीरी तीर्थंकर पुत्रों मे प्राणान्तक वैमनस्य हो, यह कवि की दृष्टि से युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। अत. कवि ने दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध, मल्लयुद्ध के माध्यम से भरतेश्वर को पराजित कराकर भी भरतेश्वर के गौरव की सुरक्षा की है। भरतेश-वैभव के अनुसार भुजबली (बाहुबली) पर चक्ररत्न का प्रयोग उसके वध के लिए नहीं अपितु उनकी सेवा के लिए प्रेषित किया गया है। इस रूप में कवि ने कथानक के हार्द को निश्चय ही एक नया मोड़ प्रदान किया है। इस प्रसंग मे कवि की सूझ-बूझ अत्यन्त सराहनीय एवं तर्कसंगत है। अन्य कवियों के कथन की प्रामाणिकता की रक्षा करते हुए भी कवि ने निजी भावना को अभिव्यक्त कर अपने कवि चातुर्य का सुन्दर परिचय दिया है।

भरतेश-वैभव ग्रन्थ पाँच कल्याणों में (सर्गों मे) विभक्त है—भोगविजय कल्याण, दिग्विजय कल्याण, योगविजय कल्याण, मोक्षविजय कल्याण एवं अर्ककीर्ति विजय कल्याण। इनमे ८० सन्धियाँ एवं ६६६० श्लोक संख्या है। देवचन्द्रकृत राजवलिकथा के अनुसार इस ग्रन्थ में ८४ सन्धियाँ होनी चाहिए। इससे प्रतीत होता है कि प्रस्तुत उपलब्ध कृति में ४ सन्धियाँ अनुपलब्ध हैं।[4]

---

१. आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर में सुरक्षित एवं अद्यावधि अप्रकाशित प्रति के आधार पर प्रस्तुत विवरण.

२. दे० वही आद्य प्रशस्ति.

३. धर्मवीर जैनग्रन्थमाला कल्याण-भवन (सोलापुर १६७२ ई०) से दो जिल्दों में प्रकाशित.

४. दे० भरतेश-वैभव-प्रस्तावना पृ० १

इसके रचियता रत्नाकरवर्णी क्षत्रियवंश के थे। उनके पिता का नाम श्रीमन्दरस्वामी, दीक्षागुरु का नाम चारुकीर्ति तथा मोक्षपथगुरु का नाम हंसनाथ (परमात्मा) था। कवि देवचन्द्र के अनुसार भरतेश-वैभव का रचियता कर्णाटक के सुप्रसिद्ध जैन तीर्थ—मूडबिद्री के सूर्यवंशी राजा देवराज का पुत्र था, जिसका नाम 'रत्ना' रखा गया। रत्नाकर के विषय मे कहा जाता है कि वह अत्यन्त स्वाभिमानी किन्तु अहंकारी कवि था। अपने गुरु से अनबन हो जाने के कारण उसने जैन धर्म का त्याग कर लिंगायत धर्म स्वीकार कर लिया था और उसी स्थिति मे उसने वीरशैवपुराण, बासवपुराण, सोमेश्वर शतक आदि रचनाए की थी। कवि की भरतेश वैभव के अतिरिक्त अन्य जैन रचनाओ मे रत्नाकरशतक, अपराजितशतक, त्रिलोकशतक प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त लगभग २००० श्लोक प्रमाण अध्यात्म गीतो की रचना की थी।[1]

कवि ने अपनी त्रिलोकशतक की प्रशस्ति मे उसका रचनाकाल शालिवाहन शक वर्ष १४७९ (मणिशैल गति इंदुशालिशक) अर्थात् सन् १५५७ कहा है। इससे यह स्पष्ट है कि रत्नाकर का रचनाकाल ई० की १५ वी सदी का मध्यकाल रहा है।[2]

ग्रन्थ की मूल-भाषा कन्नड है। अपनी विशिष्ट गुणवत्ता के कारण यह ग्रन्थ भारतीय वाङ्मय का गौरव ग्रन्थ कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नही होगी।

१५ वी सदी हिन्दी के विकास एव प्रचार का युग था। राम साहित्य के साथ-साथ सन्त कवि कबीर, सूर एव जायसी, हिन्दी के क्षेत्र मे धार्मिक साहित्य का प्रणयन कर चुके थे। उसने जन-मानस पर अमिट प्रभाव छोडा था। जैन कवियो का भी ध्यान इस ओर गया और उन्होंने भी युग की माग को ध्यान मे रखकर बाहुबली चरित का लोक प्रचलित हिन्दी मे अंकन किया।

इस दिशा मे कवि **कुमुदचन्द्र कृत बाहुबली छन्द**[3] नामकी आदिकालीन हिन्दी रचना महत्वपूर्ण है। उसमे परम्परागत कथानक को छन्द-शैली मे निबद्ध किया गया है। इसकी कुल पद्य सख्या २११ है। इसके आदि एव अन्त के पद्य निम्न प्रकार है—

> भरत महीपति कृत मही रक्षण बाहुबलि बलवंत विचक्षण।
> तेह भनो करसु नवछंद सांभलता भणतां आनंद॥
>
> करणा केतकी कमरख केली नव-नारंगी नागर बेली।
> अगर तगर तरु तुंबुक ताला सरल सुपारी तरल तमाला॥
>
> संसार सारित्यागं गतं विबुद्ध वृंद वंदित चरण।
> कहे कुमुदचन्द्र भुजबल जयो सकल सघ मगल करण॥

इस ग्रन्थ का रचनाकाल वि० स० १४६७ है। यह ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित है।

भट्टारक **सकलकीर्ति** कृत **वृषभदेवचरित** (आदिपुराण) सस्कृत का पौराणिक काव्य है, जिसमे जिनसेन की परम्परा के बाहुबली कथानक का चित्रण किया गया है। सकलकीर्ति का समय विक्रम की १६ वी सदी का प्रारम्भ माना गया है।

"**कार्कलद गोम्मटेश्वर चरिते**" सागत्य छन्द मे लिखित कन्नड भाषा का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमे १७ सन्धिया (प्रकरण) एवं २२२५ पद्य हैं। इस ग्रन्थ मे गोम्मटेश्वर अथवा बाहुबली का जीवन चरित तथा सन् १४३२ ई० मे कारकल मे राजावीरपाण्ड्य द्वारा प्रतिष्ठापित बाहुबली-प्रतिमा का इतिवृत अंकित है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रन्थ बडा महत्वपूर्ण है।

प्रस्तुत रचना के लेखक कवि **चन्द्रम** है। इनका समय १६ वी सदी के लगभग माना गया है।[4]

पुण्यकुशलगणि (रचनाकाल वि० स० १६४१—१६६६) विरचित **भरतबाहुबली महाकाव्यम्** सस्कृत भाषा मे लिखित बाहुबली सम्बन्धी एक अलकृत रचना है जिसके १८ सर्गों के ५३५ विविध शैली के श्लोको मे बाहुबली के जीवन का मार्मिक चित्रण किया गया है।

इसके सम्पादक मुनि नथमल जी है, जिन्होने तेरापन्थी शासन सग्रहालय मे सुरक्षित हस्तप्रति एव आगरा के विजयधर्मसूरि ज्ञानमन्दिर मे सुरक्षित हस्तप्रति उपलब्ध करके उन दोनो के आधार पर इसका सम्पादन किया है। अनेक त्रुटित श्लोकों की पूर्ति

---

१. दे० वही—पृ० १-०.
२. दे० वही पृ० २-५.
३. दे० राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो की सूची—भाग ५ पृ० १०६६.
४. जै० सि० भा० ५।२।१२-१००.

मुनिराज नथमल जी ने की है तथा समग्र ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद मुनिश्री दुलहराज जी ने किया है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन सन् १९७४ में जैन विश्वभारती लाडनूं से हुआ।[1]

इसका कथानक भरत चक्रवर्ती के छह खण्डों पर विजय प्राप्त करने के बाद उनके अयोध्यानगरी मे प्रवेश के साथ होता है। उस समय बाहुबली बहली प्रदेश के शासक थे। बाहुबली के अपने अनुशासन मे न आने से भरत चक्रवर्ती अपनी विजय को अपूर्ण मान रहे थे, अत वे बाहुबली के पास सुवेग नामक दूत को भेजकर बाहुबली को संकेत करते हैं कि वे भरत का अनुशासन स्वीकार कर लें। बाहुबली इसे अस्वीकार कर देते हैं और अन्त मे दोनों में १२ वर्षों तक भयानक युद्ध होता है। युद्ध की समाप्ति पर बाहुबली भगवान ऋषभदेव के पास दीक्षा ले लेते हैं और भरत चक्रवर्ती शासन का काम करते हैं। अन्त में दीक्षा ग्रहण कर लेते है।[1]

काष्ठासंघ नन्दी तट गच्छ के भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के शिष्य पाजों ने सवत् १७४९ मे भरतभुजबलीचरित्र की रचना की। इस रचना की पद्य संख्या २११ है।

अन्तिम पद्य का एक अश निम्न प्रकार है—

कारजो जिनचन्द्र इंद्रवंदित नमि स्वार्थे।
संघवो भोजनी प्रीत तेहना पठनार्थे॥
बलि सकल श्रीसंघ मे येथि सह वांछित फले।
चक्रिकाम नामे करी पाजो कहु सुरतरु फले॥

कन्नड भाषा मे बाहुबली सम्बन्धी अनेक रचनाएं लिखी गई। इनमे से देवचन्द्रकृत "राजाबलिकथे" अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसे जैन इतिहास का प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया है। इस ग्रन्थ की प्राचीन ताडपत्रीय प्रति मैसूर के राजकीय प्राच्य ग्रन्थागार मे सुरक्षित है जिसमें कुल २९८ पृष्ठ है। इसका वर्ण्य-विषय १३ प्रकरणो मे विभक्त है। उसके प्रथम प्रकरण मे (पृष्ठ ४-५) भरत चक्रवर्ती की दिग्विजय, बाहुबलि युद्ध एव उनके द्वारा दीक्षा ग्रहण सम्बन्धी प्रसग संक्षिप्त रूप मे वर्णित हैं।[2]

बाहुबलिशतक[3]—बाहुबली सम्बन्धी एक स्तुति परक हिन्दी रचना है जिसके लेखक श्री महेशचन्द्र प्रसाद हैं। इन्होंने सन् १९३५ मे श्रवण बेलगोला की यात्रा की थी तथा गोम्मटेश की मूर्ति स प्रभावित होकर उक्त रचना लिखी थी इसमे कुल १०५ पद्य हैं। नमूने के कुछ पद्य इस प्रकार है—

जग तें पाहुन होत जब, जग में पाहुन होत।
जगतें पाहन होत जब, जग में पाहन होत॥
हास नहीं उपहास यह, कली कली का मानु।
कसो कलेजे की कली, तोड़ी कली समानु॥
नहीं धरा पर किछु धरा, भरा कलेश निहसेस।
धीर धराधर पै खड़े, यहै देन उपदेश॥
नासहु तम अज्ञान तुम, प्रख्यर प्रभा प्रकासि।
अनहित अनु कोउ दिव्य रुचि रुचिर रेडियम-रास॥
बना सदा ही रहे तव स्नेह पेट्रोल।
जाते पहुंचे मोक्ष को आतम-मोटर पोल॥

वर्तमान मे भी बाहुबली चरित सम्बन्धी साहित्य का प्रणयन हो रहा है। इस रचनाओ मे मूल विषय के साथ-साथ आधुनिक शैलियो एवं नवीन वादो के प्रयोग भी दृष्टगोचर होते हैं। रचनाएँ गद्य एव पद्य दोनो में हैं। ऐसी रचनाओं में 'अन्तर्द्वन्द्वों के पार'[4] (श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन) गोम्मटेश गाथा[5] (नीरज), जय गोम्मटेश्वर[6] (श्री अक्षय कुमार जैन), भगवान आदिनाथ[7] (श्री बसन्त कुमार शास्त्री), बाहुबली वैभव[8] (श्री द्रोणाचार्य) प्रमुख हैं।

उक्त ग्रन्थ तो प्रकाशित अथवा अप्रकाशित होने पर भी अध्ययनार्थ उपलब्ध है, अतः उनकी विशेषताएं इस निबन्ध में प्रस्तुत की गई हैं। किन्तु अभी अनेक ग्रन्थरत्न ऐसे भी है, जिनकी केवल संक्षिप्त सूचनाएं तो उपलब्ध हैं किन्तु अध्ययनार्थ उन्हें उपलब्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि वे दूरदेशी विभिन्न शास्त्र भण्डारो मे बन्द है। इनके प्रकाश मे आने से बाहुबली कथानक पर नया प्रकाश पड़ेगा, इसमें सन्देह नहीं। ऐसे ग्रन्थो का विवरण इस प्रकार है—

---

१. जैन विश्वभारती, लाडनूं से प्रकाशित.
२. जैन सिद्धान्त भास्कर २।४।१५४.
३. जैन सिद्धान्त भास्कर २।४।१५९-६०.
४-५. भारतीय ज्ञानपीठ (दिल्ली, १९७९) से प्रकाशित.
६. स्टार पब्लिकेशन्स (दिल्ली, १९७९) से प्रकाशित.
७. अखिल राकेट बुक्स मेरठ से प्रकाशित.
८. धर्मोद्योत प्रकाशन, फीरोजाबाद (आगरा) से प्रकाशित.

क्रम संख्या	ग्रन्थ नाम एवं उसका प्रमाण	प्रणेता	भाषा	रचनाकाल	प्रतिलिपिकाल	पत्र संख्या	उपलब्ध करने अथवा जानकारी प्राप्त करने के स्रोत	विशेष
१	२	३	४	५	६	७	८	९
१.	आदिपुराण	आदिपम्प	कन्नड़	९४१ ईस्वी	—	अज्ञात	Jaina Antiquary Vol V No IV pp. 144-146	ऋषभदेव चरित वर्णन प्रसंग में बाहुबलि चरित वर्णित है।
२.	नाभेयनेमि द्विसन्धान काव्य	हेमचन्द्र	संस्कृत	विक्रम की १३ वीं सदी	—	अज्ञात	पाटण प्राचीन भण्डार नं० १ झवरीवाडा, पाटन	श्लेष-शैली में बाहुबलि चरित वर्णित है।
३.	बाहुबलीदेवचरिउ	धनपाल	अपभ्रंश	वि० सं० १४५४	—	२७०	आमेर शा० भं०, जयपुर में सुरक्षित	—
४.	बाहुबलि छन्द पद्य सं० २११	कुमुदचन्द्र	हिन्दी	वि० सं० १४६७	—	अज्ञात	आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर	हिन्दी भाषा-विकास की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण है।
५	तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकारु	रइधू०	अपभ्रंश	—	वि० सं० १४९६	९०२	ग्रन्थ सूची भा० ५/१०६६ दि० जैन मन्दिर बारा बंकी	—
६	भुजबलि-शतक	दोड्डय	कन्नड	वि० सं० १५५०	—	अज्ञात	Jain Antiquary Vol V No IV, pp. 144-146.	१०० पद्यो मे बाहुबलि चरित वर्णित है
७.	बाहुबलीचरिते	पंचबाण	कन्नड	१६१४ ई०	—	अज्ञात	" "	—
८.	भरतराज दिग्विजय वर्णन-भाषा	अज्ञात	हिन्दी	—	वि० स १७३८ असोज सुदी ५	५६	आमेर शा० भं० जयपुर ग्रन्थ सूची भा० ३/६५.	इस रचना को जिनसेन कृत आदिपुराण के २६ वें पर्व का प्राचीन हिन्दी कथानुवाद माना जा सकता है। हिन्दी भाषा विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण रचना
९.	बाहुबलिवेलि	वीरचंद्रसूरि	राजस्थानी हिन्दी	—	वि० सं० १७४४	१०	दि० जैन खण्डेलवाल मन्दिर उदयपुर में सुरक्षित	दे० आमेर शा० भं० जयपुर ग्रन्थसूची भा० ५/११६"
१०.	भरतभुजबलिचरित २२० पद्य	पामो	हिन्दी	वि० सं० १७४९	—	अज्ञात	भट्टारक सम्प्रदाय (सोलापुर) पृ० २८६	
११.	भुजबलिरास	जिनहर्षगणि	गुजराती	वि० सं० १७५५	—	अज्ञात		
१२.	गोम्मटेश्वरचरिते	अनन्तकवि	कन्नड़	१७८० ई०	—	अज्ञात	Jain Antiquary Vol V No IV pp. 144-146	

जिस प्रकार बाहुबली के चरित से प्रभावित होकर विभिन्न कवियो ने विविध कालों एवं भाषाओं में तद्विषयक साहित्य प्रणयन किया उसी प्रकार आधुनिक काल के अनेक शोध प्रज्ञों एवं कलाकारों ने बाहुबली चरित तथा तत्सम्बन्धी इतिहास, कला, संस्कृति, साहित्य, भूगोल, पुरातत्त्व, शिलालेख आदि विषयों पर शोध निबन्ध भी लिखे हैं। उनके अध्ययन से बाहुबली के जीवन के विविध अंगों पर प्रकाश पड़ता है। ऐसे निबन्धों की संख्या शताधिक है। उनमें से कुछ प्रमुख निबन्ध निम्न प्रकार हैं—

क्रम संख्या	शोध निबन्ध शीर्षक	भाषा	लेखक	जानकारी के स्रोत	विशेष
१	२	३	४	५	६
१.	जैनबिद्री अर्थात् श्रवण-बेलगोला	हिन्दी	डॉ० हीरालाल जैन	जैन सिद्धान्त भास्कर आरा (बिहार) ६/४/२०१-२०४	इस निबन्ध के अनुसार श्रवण-बेलगोल का अर्थ है जैनमुनियों का धवलसरोवर। इस लेख में लेखक ने श्रवणबेलगोल के प्राचीन इतिहास तथा चन्द्रगुप्त-चाणक्य आदि के जैन होने सम्बन्धी अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं।
२.	श्रवणबेलगोल एवं यहां की श्री गोम्मट मूर्ति	हिन्दी	पं० के० भुजबलि शास्त्री	जै० सि भा० ६/४/२०५-२१२	गोम्मट शब्द की व्युत्पत्ति पर विशेष विचार। यथा मन्मथ>मम्मह>गम्मट>गोम्मट
३.	श्रीबाहुबली की मूर्ति गोम्मट क्यों कहलाती है ?	हिन्दी	श्री गोविन्द पै	जै० सि० भा० ४/२	
४.	गोम्मट शब्द की व्याख्या	हिन्दी	डॉ० ए० एन० उपाध्ये	जै० सि० भा० ८/२/८५-९०	गोम्मट शब्द की कई दृष्टियों से व्युत्पत्ति एवं विकास का अध्ययन।
५.	श्रवणबेलगोल के शिलालेख	हिन्दी	डॉ० कामताप्रसाद जैन	जै० सि० भा० ६/४/२३३-२४१	श्रवणबेलगोल के शिलालेखों का ऐतिहासिक अध्ययन
६.	श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम	हिन्दी	,, ,,	जै० सि० भा० ८/१/१०-१६ तथा ८/२/८१-८४.	
७.	श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में कतिपय जैनाचार्य	हिन्दी	बी० आर० रामचन्द्र दीक्षित	जै० सि० भा० ८/१/३९-४३.	
८.	गोम्मट मूर्ति की प्रतिष्ठाकालीन कुण्डली का फल	हिन्दी	पं० नेमिचन्द्र जैन (डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री)	जै० सि० भा० ६/४/२६१-२६६.	
९.	गोम्मट स्वामी की सम्पत्ति का गिरवी रखा जाना	हिन्दी	पं० जुगल किशोर मुख्तार	जै० सि० भा० ६/४/२४३-२४४.	श्रवणबेलगोल के ताम्रपत्र लेख सं० १४० तथा सन्दर्भ के शिलालेख सं० ८४ के आधार पर लिखित आश्चर्यचकित कर देने वाला निबन्ध। उक्त दोनों अभिलेख कन्नड़ भाषा में लिखित है।

१	२	३	४	५	६
१०.	बेणुर	हिन्दी	पं० के० भुजबलि शास्त्री	जै० सि० भा० ५/४/ २३४-२३६.	इस निबन्ध में बताया गया है कि कारकल के भैररसवंश के तत्कालीन शासक ने इम्मडि-भैरवराय वीर तिम्मण अजिल (चतुर्थ) को कारकल के गोम्मटेश की कीर्ति को बनाए रखने हेतु आदेश भेजा कि वह बेणुर में गोम्मटेश की स्थापना न करके उसे कारकल भेज दे। किन्तु वीर तिम्मण ने उसका आदेश नहीं माना।
11.	The Mastakabhiṣeka of Gommṭeśwara at Śrawaṇabelgola	English (Research Paper)	Prof. M. H. Krishṇa	Jaina Antiquary Vol. V No. IV prp. 101-106.	
12.	The Date of the Consecration of the Image of the Gommaṭeśwara	English	S. Srikanṭha Shastri	Jaina Antiquary Vol. V No. IV pp. 107-114	
13.	Śrawaṇabelgola its secular importance	English	Dr. B. A. Saletore	Jaina Antiquary Vol V No. IV p.p. 115-122	
14.	Monastic life in Śrawaṇabelgola	English	R. N. Saletore	Jaina Antiquary Vol. V No. IV p.p, 123-132	
15.	Belgola and Bahubali	,,	Prof. A. N. Upadhye	Jaina Antiquary Vol. V No. IV p.p. 137-140.	
16.	Śrawaṇabelgola. Its meaning and message	,,	Prof. S. R. Sharma	,, ,, pp. 141-143	
17.	Bahubali story in Kannada literature	,,	Prof K. G. Karndangar	,, ,, pp. 144-146	
18.	New studies in south Indian Jainism—Śrawaṇabelgola culture	,,	Prof. B. Sheahgiri Rao.	,, ,, pp. 147-162	
१९.	वीर मार्तण्ड चामुण्डराय	हिन्दी	पं० के० भुजबली शास्त्री	जै० सि० भा० ६/४/ २२९-२३२	श्रवणबेलगोल में ५७ फीट ऊँची बाहुबली की मूर्ति के निर्माता का प्रामाणिक जीवन वृत्त.
२०.	दक्षिण भारत के जैन वीर	हिन्दी	श्री त्रिवेणीप्रसाद	वही पृ० २४६-२५७	
२१.	दाक्षिणात्य जैनधर्म	हिन्दी	आर० ताताचार्य [हिन्दी अनु०—वर्द्धमान हेंगडे]	वही पृ० १०२-१०९	
२२.	जैनबद्री (श्रवणबेलगोल) मूलबद्री (मूडबिद्रे) की चिट्ठी	हिन्दी	डॉ० कामताप्रसाद	जैन सि० भा० ५/१/५१-५४	रत्नमयी मूर्तियों का विवरण
२३.	मूडबिद्रे में स्थित रत्नमयी प्रतिमाओं का विवरण	हिन्दी	पं० के० भुजबली शास्त्री	दिगम्बर जैन २५/१-२	,, ,,
२४.	महाबाहुर्बाहुबलि	संस्कृत ४४ पद्य	,, ,,	जै० सि० भा० ६/४/२४५-२४८	जिनसेनाचार्य कृत आदिपुराण के अनुसार भरत बाहुबली कथानक

संक्षेप में, बाहुबली कथा विकास की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो बाहुबलिचरित का मूल रूप आचार्य कुन्दकुन्द के पूर्वोक्त अष्टपाहुड में मिलता है, जो अत्यन्त संक्षिप्त है एवं जिसका दृष्टिकोण शुद्ध आध्यात्मिक है। किन्तु उसी सूत्र को लेकर परवर्ती साहित्यकारों ने अपनी-अपनी रुचियों एवं कल्पनाओं के आधार पर क्रमशः उसे विकसित किया। दूसरी सदी के आसपास विमलसूरि ने उसे कुछ विस्तार देकर भाई-भाई (भरत—बाहुबली) के युद्ध के रूप में चित्रण कर कथा को सरस एवं रोचक बनाने का प्रयत्न किया। अहिंसक दृष्टिकोण के नाते व्यर्थ के नर संहार को बचाने हेतु दृष्टि एवं-मुष्टि युद्ध की भी कल्पना की गई। इसी प्रकार बाहुबली के चरित्र को समुज्ज्वल बनाने हेतु ही भरत के चरित में कुछ दूषण लाने का भी प्रयत्न किया गया। वह दूषण और कुछ नहीं, केवल यही कि पराजित होने पर वे पारम्परिक मर्यादा को भंग कर बाहुबली पर अपने चक्र का प्रहार कर देते हैं।

११-१२ वीं सदी में विदेशियों ने भारत पर आक्रमण कर भारतीय जन जीवन को पर्याप्त अशान्त बना दिया था। विदेशियों से लोहा लेने के लिए अनेक प्रकार के हथियारों के आविष्कार हुए, उनमें से लाठी एवं लाठी से संयुक्त हथियार सार्वजनीन एवं प्रधान बन गए थे। बाहुबलीचरित में भी दृष्टि, मुष्टि एवं जिरा-युद्ध के साथ उक्त लाठी-युद्ध ने भी अपना स्थान बना लिया था।

१२ वीं सदी तक के साहित्य से यह ज्ञात नहीं होता कि भरत-बाहुबली का युद्ध कितने दिनों तक चला। किन्तु १३ वीं सदी में उस अभाव की भी पूर्ति कर दी गई और बताया जाने लगा की वह युद्ध १३ दिनों तक चला था। यद्यपि १७ वीं सदी के कवियों को यह युद्ध काल मान्य नहीं था। उनकी दृष्टि में वह युद्ध १२ वर्षों तक चला था। १३ वीं सदी की एक विशेषता यह भी है कि तब तक बाहुबलीचरित सम्बन्धी स्वतन्त्र रचना लेखन नहीं हो पाया था। किन्तु १३वीं सदी में बाहुबली कथा जनमानस में पर्याप्त सम्मानित स्थान बना चुकी थी। अतः लोक रुचि को ध्यान में रखकर अनेक कवियों ने लोक भाषा एवं लोक शैलियों में भी इस चरित्र का स्वतन्त्र-रूपेण अंकन प्रारम्भ किया, यद्यपि संस्कृत, प्राकृत एवं अन्य भाषाओं में भी उसका छिटपुट चित्रण होता रहा।

रासा शैली में रससिक्त रचना 'भरतेश्वर-बाहुबली रास' लिखी गई। अपनी दिशा में वह सर्वप्रथम स्वतन्त्र रचना कही जा सकती है।

१५ वीं सदी के महाकवि रइधू द्वारा "बाहुबलीदेवचरिउ" नामक महाकाव्य अपभ्रंश-भाषा में सर्वप्रथम स्वतन्त्र महाकाव्य लिखा गया। इसका कथानक यद्यपि जिनसेनकृत आदिपुराण के आधार पर लिखा गया। किन्तु विविध घटनाओं को विस्तार देकर कवि ने उसे अलंकृत काव्य की कोटि में प्रतिष्ठित किया है। परवर्ती काव्यों में भरतेश-वैभव (रत्नाकरवर्णी) एवं 'भरत-बाहुबली महाकाव्यम्' (पुण्यकुशलगणि) भी अपने सरस एवं उत्कृष्ट काव्य सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि प्रायः समस्त कवियों ने बाहुबली के चरित्र को समुज्ज्वल बनाने हेतु भरत के चरित्र को सदोष बनाने का प्रयत्न किया है तथा पराजित होकर चक्र प्रहार करने पर उन्हें मर्यादाविहीन, विवेक विहीन होने का दोषारोपण किया गया है। किन्तु एक ऐसा विशिष्ट कवि भी हुआ, जिसने कथानक की पूर्व परम्परा का निर्वाह तो किया ही, साथ ही भरत के चरित्र को सदोष होने से भी बचा लिया। इतना ही नहीं, बाहुबली के साथ भरत के भ्रातृत्व स्नेह को प्रभावकारी बनाकर पाठकों के मन में भरत के प्रति असीम आस्था भी उत्पन्न कर दी; उस कवि का नाम है रत्नाकरवर्णी। वह कहते हैं कि विविध युद्धों में पराजित होने पर भरत को अपने भाई बाहुबली के पौरुष पर अत्यन्त गौरव का अनुभव हुआ। अतः उन्होंने बाहुबली की सेवा के निमित्त अपना चक्ररत्न भी भेज दिया। निश्चय ही कवि की यह कल्पना साहित्य क्षेत्र में अनुपम है।

इस प्रकार बाहुबली के साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके नायक बाहुबली का चरित्र उत्तरोत्तर विकसित होता गया। तद्विषयक ज्ञात एवं उपलब्ध साहित्य की मात्रा यद्यपि अभी पर्याप्त अपूर्ण ही कही जायगी क्योंकि अनेक अज्ञात अपरिचित एवं अव्यवस्थित शास्त्र भण्डारों में अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ पड़े हुए हैं, उनमें अनेक ग्रन्थ बाहुबलीचरित सम्बन्धी भी होंगे, जिनकी चर्चा यहां शक्य नहीं। फिर भी जो ज्ञात हैं, उनका समग्र लेखा-जोखा भी एक लघु निबन्ध में सम्भव नहीं हो पा रहा है। अतः यहां मात्र ऐसी सामग्री का ही उपयोग किया गया है, जिससे कथानक-विकास पर प्रकाश पड़ सके तथा बाहुबली सम्बन्धी स्थलों एवं अन्य सन्दर्भों का भूगोल, इतिहास, संस्कृति, पुरातत्त्व, समाज, साहित्य एवं दर्शन की दृष्टि से भी अध्ययन किया जा सके।

मानव-मन की विविध कोटियों को उद्घाटित करने में सक्षम और कवियों की काव्य प्रतिभा को जागृत करने में समर्थ बाहुबली का जीवन सचमुच ही महान है। उस महापुरुष को लक्ष्य कर यद्यपि विशाल साहित्य का प्रणयन किया गया है किन्तु यह आश्चर्य है कि उस पर अभी तक न तो कोई समीक्षात्मक ग्रन्थ ही लिखा गया और न उच्चस्तरीय कोई शोध कार्य ही हो सका है। इस प्रकार की शोध समीक्षा न होने के कारण वीर एवं शान्तरस-प्रधान एक विशाल साहित्य अभी तक उपेक्षित एवं अपरिचित कोटि में ही छिपी प्रकार की रहा है यह स्थिति सोचनीय है।

श्रवणबेलगोला के अभिलेखों मे वर्णित बैंकिंग प्रणाली

श्री विमलस्वरूप रस्तगी

बैंकिंग प्रणाली प्राचीन भारत मे अज्ञात नहीं थी। बैंकिंग प्रणाली की स्थापना भारतवर्ष मे प्राचीन काल में ही हो गई थी किन्तु यह प्रणाली वर्तमान पाश्चात्य प्रणालियो से भिन्न थी। प्राचीन समय मे श्रेणी तथा निगम बैंक का कार्य करते थे। देश की आर्थिक नीति श्रेणी के हाथों में थी। वर्तमान काल के 'भारतीय चैम्बर आफ कामर्स' से इसकी तुलना कर सकते हैं। पश्चिम भारत के क्षत्रप नहपान के दामाद ऋषभदत्त ने धार्मिक कार्यों के लिए तंतुवाय श्रणी के पास तीन हजार कार्षापण जमा किए थे। उसमें से दो हजार कार्षापण एक कार्षापण प्रति सैंकड़ा वार्षिक ब्याज की दर से जमा किए तथा एक हजार कार्षापण पर ब्याज की दर तीन चौथाई पण (कार्षापण का अडतालिसवाँ भाग) थी।[1] इसी प्रकार के सन्दर्भ अन्य श्रेणी, जैसे तैलिक श्रेणी आदि के वर्णनों में भी मिलते हैं। जमाकर्त्ता कुछ धन जमा करके उसके ब्याज के बदले वस्तु प्राप्त करता रहता था।

इसी प्रकार के उल्लेख श्रवणबेलगोला के अभिलेखों में भी मिलते हैं। दाता कुछ धन या भूमि आदि का दान कर देता था, जिसके ब्याज स्वरूप प्राप्त होने वाली आय से अष्टविध पूजन, वार्षिक पाद पूजा, पुष्प पूजा, गोम्मटेश्वर-प्रतिमा के स्नान हेतु दुग्ध की प्राप्ति, मन्दिरों का जीर्णोद्धार, मुनि संघों के लिए आहार का प्रबन्ध आदि प्रयोजनो की सिद्धि होती थी। इस प्रकार इन अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दसवी शताब्दी के आसपास बैंकिंग प्रणाली पूर्ण विकसित हो चुकी थी। आलोच्य अभिलेखों में जमा करने की विभिन्न पद्धतियां परिलक्षित होती हैं। गोम्मटेश्वर द्वार के दायीं ओर एक पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण एक अभिलेख के अनुसार[2] कल्लय्य ने कुछ धन इस प्रयोजन से जमा करवाया था कि इसके ब्याज से छह पुष्प मालाएँ प्रतिदिन प्राप्त होती रहें। इसके अतिरिक्त आलोच्य अभिलेखों में धन की चार इकाइयों—वरह, गद्याण, होन, हग के उल्लेख मिलते हैं। शक संवत् १७४८ के एक अभिलेख[3] में वर्णन आता है कि देवराजे अरसु ने गोम्मट स्वामी की पादपूजा के लिए एक सौ वरह का दान दिया। यह धन किसी महाजन या श्रेणी के पास जमा करवा दिया जाता था तथा इसके ब्याज से पाद पूजा के निमित उपयोग में आने वाली वस्तुएं खरीदी जाती थीं। तीर्थंकर सुत्तालय में उत्कीर्ण एक लेख[4] में वर्णन आता है कि गोम्मट सेट्टि ने गोम्ममटेश्वर की पूजा के लिए बारह गद्याण का दान दिया। पूजा के अतिरिक्त अभिषेकादि के प्रयोजन से भी धन जमा करवाया जाता था। इस धन पर मिलने वाले ब्याज से नित्याभिषेक के लिए दूध लिया जाता था। एक प्रतिज्ञा-पत्र में[5] वर्णन मिलता कि सोवण्ण ने आदिदेव के नित्याभिषेक के लिए पांच गद्याण का दान दिया, जिसके ब्याज से प्रतिदिन एक 'बल्ल' (सम्भवत: दो सेर से बडी माप की इकाई होती थी) दूध लिया जा सके। विन्ध्यगिरि पर्वत एक अभिलेख[6] के अनुसार आदियण्ण ने गोम्मट देव के नित्याभिषेक के लिए चार गद्याण का दान दिया। इस राशि के एक 'होन' (गद्याण से छोटा कोई प्रचलित सिक्का) पर एक 'हाग' मासिक ब्याज की दर से एक 'बल्ल' दूध प्रतिदिन लिया जाता था। वहीं के एक अन्य अभिलेख के अनुसार[7] गोम्मट देव के अभिषेकार्थ तीन मान (अर्थात् छह सेर) दूध प्रतिदिन देने के लिए चार गद्याण का दान दिया गया। अन्य अभिलेख में[8] वर्णन मिलता है कि केति सेट्टि ने गोम्मट देव के नित्याभिषेक के लिए तीन गद्याण का दान दिया, जिसके

---

१. ए० इं० भाग ८, नासिक लेख।
२. जै० शि० सं० भाग एक, ले० सं० ६३।
३. जै० शि० सं०, भाग एक, ले० सं० ९८।
४. —वही– ले० सं० ८१।
५. —वही—ले० सं० १३१।
६. —वही—ले० सं० ९७।
७. —वही—ले० सं० ९४।
८. —वही—ले० सं० ९५।

ब्याज से तीन मान दूध लिया जाता था। उपर्युक्त ये तीनों ही अभिलेख तत्कालीन ब्याज की प्रतिशतता जानने के प्रामाणिक साधन हैं किन्तु इन अभिलेखों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उस समय ब्याज की प्रतिशतता कोई निश्चित नहीं थी। क्योंकि ये दोनों लेख एक ही स्थान (विन्ध्यगिरि पर्वत) तथा एक ही वर्ष (शक संवत् ११२७) के हैं किन्तु एक अभिलेख में चार गद्याण के ब्याज से प्रतिदिन तीन मान दूध तथा दूसरे में तीन गद्याण के ब्याज से भी तीन मान दूध प्रतिदिन मिलता था। किन्तु इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जाएगा।

पूजा एवं नित्याभिषेकादि के अतिरिक्त प्रयोजनों के लिए भी धन का दान दिया जाता था। दानकर्ता कुछ धन को जमा करवा देता था तथा उससे प्राप्त होने वाले ब्याज से मन्दिरों-बस्तियों का जीर्णोद्धार तथा मुनियों को प्रतिदिन आहार दिया जाता था। पहले बेलगोल में ध्वंस बस्ति के समीप एक पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण एक अभिलेख[1] में वर्णन आया है कि त्रिभुवनमल्ल एरेयङ्ग ने बस्तियों के जीर्णोद्धार एवं आहार आदि के लिए बारह गद्याण जमा करवाएं। श्रीमती अब्बे ने भी चार गद्याण का दान दिया।[2] धन दान के अतिरिक्त भूमि तथा ग्राम देने के भी उल्लेख अभिलेखों में मिलते हैं। इसे 'निक्षेप' नाम से संज्ञित किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत कुछ सीमित वस्तु देकर प्रतिवर्ष या प्रतिमास कुछ धन या वस्तु ब्याज स्वरूप ली जाती थी। इस दान की भूमि या ग्राम से पूजा सामग्री, पुष्प मालाएँ, दूध, मुनियों के लिए आहार, मन्दिरों के लिए अन्य सामग्री प्राप्त की जाती थी। शक संवत् ११०० के एक अभिलेख के अनुसार[3] बेल्गुल के व्यापारियों ने मङ्गसमुद्र और गोम्मटपुर की कुछ भूमि खरीदकर गोम्मट देव की पूजा के निमित्त पुष्प देने के लिए एक माली को सदा के लिए प्रदान की। चिक्क मदुकण्ण ने भी कुछ भूमि खरीदकर गोम्मटदेव की प्रतिदिन पूजा हेतु बीस पुष्प मालाओं के लिए अर्पित कर दी।[4] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भूमि से होने वाली आय का कुछ प्रतिशत धन या वस्तु देनी पड़ती थी। इसी प्रकार के भूमिदान से सम्बन्धित उल्लेख अभिलेखों में मिलते हैं। तत्कालीन समाज में भूमिदान के साथ-साथ ग्राम दान की परम्परा भी विद्यमान थी। ग्राम को किसी व्यक्ति को सौंप दिया जाता था तथा उससे प्राप्त होने वाली आय से अनेक धार्मिक कार्यों का सम्पादन किया जाता था। एक अभिलेख के अनुसार[5] दानशाला और बेल्गुल मठ की आजीविका हेतु ८० वरह की आय वाले कबालु नामक ग्राम का दान दिया गया। इसके अतिरिक्त जीर्णोद्धार, आहार, पूजा, आदि के लिए ग्राम दान के उल्लेख मिलते हैं।

आलोच्य अभिलेखों में कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जिनमें किसी वस्तु या सम्पत्ति को न्यास के रूप में रखकर ब्याज पर पैसा ले लिया जाता था तथा पैसा लौटाने पर सम्पत्ति को लौटा दिया जाता था। इस जमा करने के प्रकार को 'ओत्तिगे' कहा जाता था। अक्कदेव मण्डप के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार[6] महाराजा चामराज ओडेयर ने बेल्गुल मन्दिर संघुकारों को बुलाकर कहा कि तुम बेल्गुल मन्दिर की भूमि मुक्त कर दो, हम तुम्हारा रुपया देते हैं। इसी प्रकार का वर्णन एक अन्य अभिलेख में भी मिलता है।[7] इसके अतिरिक्त प्रतिमास या प्रति वर्ष जमा कराने की परम्परा उस समय विद्यमान थी। इसकी समानता वर्तमान आवर्ती जमा योजना (RecurringDeposit Scheme) से की जा सकती है। इसमें पैसा जमा किया जाता था तथा उसी पैसे से अनेक कार्यों का सम्पादन किया जाता था। विन्ध्यगिरि पर्वत के एक अभिलेख के अनुसार[8] बेल्गुल के समस्त जौहरियों ने गोम्मटदेव और पार्श्वदेव की पुष्प-पूजा के लिए वार्षिक धन देने का संकल्प किया। एक अन्य अभिलेख[9] में वर्णन आता है कि अक्षुरदकों की नियुक्ति के लिए प्रत्येक घर से एक 'हण' (सम्भवतः सोने के सिक्के जैसे कोई सिक्के) जमा करवाया जाता था। जमा करने के लिए श्रेणी या निगम कार्य करता था। इस प्रकार जमा करने की विभिन्न पद्धतियाँ उस समय विद्यमान थीं।[10]

ब्याज की प्रतिशतता—आलोच्य अभिलेख तत्कालीन ब्याज की प्रतिशतता जानने के प्रामाणिक साधन हैं। इन अभिलेखों में ब्याज के रूप में दूध प्राप्त करने के उल्लेख अधिक आया है। इसलिए सर्वप्रथम हमें दूध के माप की इकाइयाँ जान लेनी चाहिए। अभिलेखों में दूध के माप की दो इकाइयाँ मिलती हैं—मान और सेर। मान दो सेर के बराबर का कोई माप होता था तथा [illegible]

---

1. —वही—शि० ले० ४१२।
2. —वही—शि० ले० ११३।
3. —वही—शि० ले० ८२।
4. —वही—शि० ले० ४३६।
5. —वही—शि० ले०—२१, २१, ६६, १०६, १२६, ४२४, ४०६ आदि।
6. —वही—शि० ले० ४३१।
7. —वही—शि० ले० ४७।
8. —वही—शि० ले० १४०।
9. —वही—शि० ले० ६१।
10. —वही—शि० ले० ६४।

से बड़ा कोई माप रहा होगा, जो अब अज्ञात है। गोम्मटेश्वर द्वार के दायीं ओर एक पाषाण पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार[1] गोम्मटदेव के अभिषेकार्थ तीन मान दूध प्रतिदिन देने के लिए चार गद्याण का दान दिया। अतः यह समझा जा सकता है कि चार गद्याण का ब्याज इतना होता था जिससे तीन मान अर्थात् लगभग छह सेर दूध प्रतिदिन खरीदा जा सकता था। किन्तु अन्य अभिलेख[2] के अनुसार केति सेट्टि ने गोम्मटदेव के नित्याभिषेक के लिए तीन गद्याण का दान दिया, जिसके ब्याज से प्रतिदिन तीन मान दूध लिया जा सके। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि उस समय की ब्याज की प्रतिशतता कोई निश्चित नहीं थी। क्योंकि उपरोक्त दोनों अभिलेख एक ही स्थान तथा एक ही वर्ष के हैं। तब भी जमा की गई राशि भिन्न-भिन्न है। ब्याज की प्रतिशतता के किसी निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले तत्कालीन धन की इकाइयों को जान लेना आवश्यक है।

एक गद्याण	=	६० पै० के समान
एक हण	=	५ पै० „ „
एक वरह	—	३० पै० „ „
एक होन या होग	=	२५ पै० „ „
एक हाग	=	३ पै० „ „

इस प्रकार धन की इकाइयों का ज्ञान होने के पश्चात् अभिलेखों में आए ब्याज सम्बन्धी उल्लेखों को समझना सुगम हो जाता है। १२७५ ई० के अभिलेख[3] में वर्णन आता है कि आदियण्ण ने गोम्मटदेव के नित्याभिषेक के लिए चार गद्याण का दान दिया। इस रकम के एक 'होन' पर एक 'हाग' मासिक ब्याज की दर से एक 'बल्ल' दूध प्रतिदिन दिया जाए। अत उस समय २५ पैसे पर ३ पैसे प्रतिमास ब्याज दिया जाता था। जिससे ब्याज की प्रतिशतता १२% निकलती है। जबकि १२०६ ई० अभिलेख[4] के अनुसार नगर के व्यापारियों को यह आज्ञा दी गई कि वे सदैव आठ हण का टैक्स दिया करेंगे, जिससे एक हण ब्याज में आ सकता है अर्थात् ४० पैसे पर ५ पैसे ब्याज मिलने से यह सिद्ध होता है कि ब्याज की मात्रा १२ १/२% प्रतिमास थी। उपरोक्त दोनों अभिलेखों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि बारहवीं—तेरहवी शताब्दी में ब्याज की मासिक प्रतिशतता १२% के आस-पास थी।

प्राचीन योजनाएं : आधुनिक सन्दर्भ में :—आलोच्य अभिलेखों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उस समय भी आज की भाँति विभिन्न बैंकिंग योजनाएं प्रचलित थी, जिनमें निक्षेप, न्यास, औपानिधिक, अन्विहित, याचितक, शिल्पिन्यास, प्रतिन्यास आदि प्रमुख थी। ये अभिलेख उस समय की आर्थिक व्यवस्था का दिग्दर्शन कराते हैं जबकि क्रय-विक्रय विनिमय के माध्यम से होता था। जमाकर्ता कुछ धन या वस्तु जमा करवाकर उसके बदले ब्याज में नगद राशि न लेकर वस्तु ही लेता था। इसी प्रकार के उद्धरण, जो आलोच्य अभिलेखों में आए हैं, का विवेचन पहले किया जा चुका है। धन जमा करवाकर उसके ब्याज के रूप में दूध या पुष्प आदि लेना या भूमि देकर उससे अन्य अभीप्सित वस्तुओं की प्राप्ति करना।

उपरोक्त प्राचीन योजनाओं में से श्रवणबेलगोला के अभिलेखों में दो योजनाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिन्हें आधुनिक सन्दर्भ में स्थायी बचत योजना (Fixed Deposit) और आवर्ति जमा योजना (Recurring Deposit Scheme) कहा जा सकता है। स्थायी बचत योजना की समानता प्राचीन काल में प्रचलित 'औपानिधिक' नामक योजना से कर सकते हैं। इसके उदाहरण के रूप में हम उन अभिलेखों को ले सकते हैं जिनमें कुछ धन जमा करवाकर उसके ब्याज के रूप में कोई वस्तु (दूध, पूजा सामग्री आदि) सदैव लेते रहते थे। आवर्ति जमा योजना के अन्तर्गत हम उन उदाहरणों को देख सकते हैं जिनमें कुछ धन की इकाई प्रतिमास अनिवार्य जमा करवाई जाती थी।[4] इन दो योजनाओं के अतिरिक्त अग्रिम ऋण योजना (Advance Loan Scheme) की झलक भी इन अभिलेखों में मिलती है।[5] इनसे ज्ञात होता है कि सम्पत्ति जमा करने पर कुछ धन ऋण स्वरूप मिल जाता था और जब वह धन जमा न करवाया जा सका तो उसका भुगतान करने की इच्छा महाराजा चामराज ओडेयर ने रहनदारों के समक्ष व्यक्त की।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि भारत वर्ष में बैंकिंग प्रणाली ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से पहले विद्यमान थी। आलोच्य काल में बैंक से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार की पद्धतियां विद्यमान थीं तथा जमा राशि पर लगभग १२% ब्याज दिया जाता था।

---

१. जै० शि० सं० भाग एक, लं० सं० १५।
२. —वही—लं० सं० १७।
३. —वही—लं० सं० १२८।
४. —वही—लं० सं० ६१, १२८, १३६ आदि।
५. —वही—लं० सं ८४, १४०।

जन-जन की श्रद्धा के प्रतीक भगवान् गोम्मटेश

—सुमतप्रसाद जैन

जैन धर्म के आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव के परमपराक्रमी पुत्र, पोदनपुर नरेश, प्रथम कामदेव, तद्भव मोक्षगामी बाहुबली की दक्षिण भारत मे गोम्मटेश के रूप मे वन्दना की जाती है। भगवान् श्री ऋषभदेव की रानी यशस्वती ने भरत आदि सौ श्रेष्ठ पुत्र एव कन्यारत्न ब्राह्मी को जन्म दिया। दूसरी रानी सुनन्दा से सुन्दरी नामक कन्या एवं पुत्र बाहुबली का जन्म हुआ। सुन्दरी और बाहुबली को पाकर रानी सुनन्दा ऐसी सुशोभित हुई जैसे पूर्व दिशा प्रभा के साथ-साथ सूर्य को पाकर सुशोभित होती है। सुन्दर एव हृष्ट-पुष्ट बालक बाहुबली को देखकर नगर-जन मुग्ध हो जाते थे। नगर की स्त्रियाँ उसे मनोभव, मनोज मनोभू, मन्मथ, अगज, मदन आदि नामो से पुकारती थी। अष्टमी के चन्द्रमा के समान बाहुबली के सुन्दर एवं विस्तृत ललाट को देखकर ऐसा लगता था मानो ब्रह्मा ने राज्यपट्ट को बांधने के लिए ही उसे इतना विस्तृत बनाया है। बाहुबली के वक्षस्थल पर पांच सौ चार लड़ियों से गुम्फित विजयछन्द हार इस प्रकार शोभायमान होता था जैसे विशाल मरकत मणि पर्वत पर अनवरत निर्झर प्रवाहित हो रहे हों।

भगवान् ऋषभदेव ने स्वयं अपने सभी पुत्र-पुत्रियो को सभी प्रकार की विद्याओ का अभ्यास एव कलाओ का परिज्ञान कराया। कुमार बाहुबली को उन्होने विशेष कामनीति, स्त्री-पुरुषों के लक्षण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, घोड़ा-हाथी आदि के लक्षण जानने के तन्त्र और रत्न परीक्षा आदि के शास्त्रो मे निपुण बनाया। सुन्दर वस्त्राभूषणों से सज्जित, विद्याध्ययन मे तल्लीन ऋषभ-सन्तति को देखकर पुरजन पुलकित हो उठते थे। आचार्य जिनसेन ने इन पुत्र-पुत्रियों से शोभायमान भगवान् ऋषभदेव की तुलना ज्योतिषी देवो के समूह से घिरे हुए ऊंचे मेरुपर्वत से की है।

उन सब राजकुमारो मे तेजस्वी भरत सूर्य के समान सुशोभित होते थे और बाहुबली चन्द्रमा के समान शेष राजपुत्र ग्रह, नक्षत्र तथा तारागण के समान शोभायमान होते थे। ब्राह्मी दीप्ति के समान और सुन्दरी चांदनी के समान कान्ति बिखेरती थी।

भगवान् ऋषभदेव को कालान्तर में नीलाजना अप्सरा का नृत्य देखते-देखते संसार से वैराग्य हो गया। उन्होंने महाभिनिष्क्रमण के समय अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक कराकर युवराज पद पर बाहुबली को प्रतिष्ठित किया। शेष पुत्रो के लिए भी उन्होंने विशाल पृथ्वी का विभाजन कर दिया। राजा भरत ने सम्पूर्ण पृथ्वीमडल को एकछत्र शासन के अन्तर्गत संगठित करने की भावना से दिग्विजय का अभियान किया। उन्होने अपने परम पौरुष मे हिमवान् पर्वत से लेकर पूर्व दिशा के समुद्र तक और दक्षिण समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक समस्त पृथ्वी को वश मे कर चक्रवर्ती राज्य की प्रस्थापना की।

साठ हजार वर्ष की विजय यात्रा के उपरान्त सम्राट् भरत ने जब अपनी राजधानी अयोध्या नगरी मे प्रवेश किया, उस समय सेना की अग्रिम पक्ति मे निर्बाध रूप से गतिशील चक्ररत्न सहसा रुक गया। सम्राट् भरत इस घटना से विस्मित हो गए। उन्होंने अपने पुरोहित एव मन्त्रियो से प्रश्न किया कि अब क्या जीतना शेष रह गया है? निमित्तज्ञानी पुरोहित ने युक्तिपूर्वक निवेदन किया कि आपके भाइयो ने अभी तक आपकी आधीनता स्वीकार नही की है।

चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना मे संलग्न महाबाहु भरत को यह विश्वास था कि उनके सहोदर उनकी आधीनता को स्वीकार कर लेंगे। किन्तु स्वतन्त्रता प्रेमी सहोदरो द्वारा भरत को इस भूतल का एकमात्र अधिपति न मान पाने के कारण सम्राट् भरत को क्रोध हो आया। उनके मन मे यह विश्वास हो गया कि यद्यपि उनके सौ भाई है, किन्तु वे सभी स्वयं को अवध्य मानकर प्रणाम करने और मेरी आधीनता मानने से विमुख हो रहे है। निमित्तज्ञानी पुरोहित की मन्त्रणा से अनुज बन्धुओ को अनुकूल बनाने के लिए विशेष दूत भेजे गए। बाहुबली के अतिरिक्त सम्राट् भरत के शेष अन्य सहोदरो ने पिता के न होने पर बड़ा भाई ही छोटे भाइयो के द्वारा पूज्य होता है, ऐसा मानकर अपने पिताश्री से मार्गदर्शन लेने का निर्णय किया। उन्होंने कैलाश पर्वत पर स्थित जगतवन्दनीय भगवान् ऋषभदेव के पावन चरणो की वन्दना के पश्चात् उनसे निवेदन किया—

त्वत्प्रणामानुरक्तानां त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणाम्। त्वद्वच:किंकराणां नो यद्वा तद्वाऽस्तु नापरम्॥ (आदिपुराण, पर्व ३४/१०२)

अर्थात् आपको प्रणाम करने में तत्पर, हम लोग अन्य किसी की उपासना नहीं करना चाहते।
तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपने धर्मपरायण पुत्रों का मार्गदर्शन करते हुए कहा—

> भंगिना किमु राज्येन जीवितेन चलेन किम्। किं च भो यौवनोन्मादैरैश्वर्यबलदूषितैः।।
> किं च भो विषयास्वाद कोऽप्यनास्वादितोऽस्ति वः। स एव पुनरास्वादः किं तेनास्त्याशितंभवः।।
> यत्र शस्त्राणि मित्राणि शत्रवः पुत्रबान्धवाः। कलत्रं सर्वभोगीणा धरा राज्यं धिगीदृशम्।।
> तदलं स्पर्द्धया दध्व यूय धर्ममहातरो। दयाकुसुमम्लानि यत्तन्मुक्तिफलप्रदम्।।
> पराराधनदैन्योनं परैराराध्यमेव यत्। तद्वो महाभिमानानां तपो मानाभिरक्षणम्।।
> दीक्षा रक्षा गुणा भृत्या दयेय प्राणवल्लभा। इति ज्याय स्तपोराज्यमिदं श्लाघ्यपरिच्छदम्।। (आदिपुराण, पर्व ३४)

अर्थात् हे पुत्रो, इस विनाशी राज्य से क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? इस राज्य के लिए ही शस्त्र मित्र हो जाते हैं, पुत्र और भाई शत्रु हो जाते हैं तथा सबके भोगने योग्य पृथ्वी ही स्त्री हो जाती है। ऐसे राज्य को धिक्कार हो। तुम लोग धर्म वृक्ष के दयारूपी पुष्प को धारण करो जो कभी भी म्लान नहीं होता और जिस पर मुक्तिरूपी महाफल लगता है। उत्तम तपश्चरण ही मान की रक्षा करने वाला है। दीक्षा ही रक्षा करने वाली है, गुण ही सेवक है, और यह दया ही प्राणप्यारी स्त्री है। इस प्रकार जिसकी सब सामग्री प्रशंसनीय है ऐसा यह तपरूपी राज्य ही उत्कृष्ट राज्य है। भगवान् ऋषभदेव के मुखारविन्द से सांसारिक सुखों की नश्वरता और मुक्ति लक्ष्मी के शाश्वत सुख के उपदेशामृत का श्रवण कर भरत के सभी अनुजों ने दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली। स्वतन्त्रता प्रेमी पोदनपुर नरेश बाहुबली अब सम्राट् भरत के लिए एकमात्र चिन्ता का कारण रह गये।

सम्राट् भरत अपने अनुज बाहुबली के बुद्धिचातुर्य एवं रणकौशल से अवगत थे। आदिपुराण के पैंतीसवें पर्व (पद्य ६-७) में वह बाहुबली को तरुण बुद्धिमान्, परिपाटी विज्ञ, विनयी, चतुर और सज्जन मानते हैं। पद्य ८ में वे बाहुबली की अप्रतिम शक्ति, स्वाभिमान, भुजबल की प्रशंसा करते हैं। बाहुबली के सम्बन्ध में विचार करते हुए सम्राट् भरत का मन यह स्वीकार करता है कि वह नीति में चतुर होने से अभेद्य है, अपरिमित शक्ति का स्वामी होने के कारण युद्ध में अजेय है, उसका आशय मेरे अनुकूल नहीं है, इसलिए शान्ति का प्रयोग भी नहीं किया जा सकता। अर्थात् बाहुबली के सम्बन्ध में भेद, दण्ड और साम तीनों ही प्रकार के उपायों से काम नहीं लिया जा सकता। अपभ्रंश कवि स्वयम्भूदेव एवं पुष्पदन्त ने महाबली बाहुबली की अपरिमित शक्ति से सम्राट् भरत को अवगत कराने के लिए क्रमशः मन्त्री एवं पुरोहित का विधान किया है। महाकवि स्वयम्भू के पउमचरिउ का मन्त्री राजाधिराज भरत से कहता है—

> पोअण-परमेसरु चरम-देहु। अखलिय-मरट्टु जयलच्छि-गेहु।।
> दुव्वार-वइरि-वीरन्त-कालु। णामेण बाहुबलि बल-विसालु।।
> सीहु जेम पक्खरियउ खन्तिएँ धरियउ जइ सो कह वि वियट्टइ।
> तो सहुँ खन्धावारे एक्क-पहारें पट मि देव दलवट्टइ।। (पउमचरिउ, चौथी सन्धि २/६-९)

अर्थात् पोदनपुर का राजा और चरमशरीरी, अस्खलितमान और विजय लक्ष्मी का घर, दुर्जेय शत्रुओं के लिए यम, बल में महान्, नाम से बाहुबली, सिंह की तरह सनद्ध परम क्षमाशील वह यदि किसी तरह विघटित होता है तो हे देव, वह स्कंधावार सहित आपको भी एक ही प्रहार में चूर-चूर कर देगा।

महाकवि पुष्पदन्त ने 'महापुराण' (सन्धि १६/११) में चतुर पुरोहित के द्वारा बाहुबली की साधन सम्पन्नता एवं शौर्य से राजा भरत को परिचित कराते हुए कहा है कि बाहुबली के पास कोश, देश, पदभक्त, परिजन, सुन्दर अनुचर अन्तःपुर, कुल, छल-बल, सामर्थ्य, पवित्रता, निखिलजनों का अनुराग, यशकीर्तन, विनय, विचारशील बुध संगम, पौरुष, बुद्धि, ऋद्धि, दर्पोद्यम, गज, राजा, असम महीधर, रथ, करभ और तुरगम हैं।

इस प्रकार की अकल्पित स्थिति के निवारण के लिए बाहुबली के पास दूत मन्त्री भेजने का निर्णय लिया गया। महाकवि स्वयम्भू के अनुसार राजा भरत ने अपने मन्त्रियों को परामर्श दिया कि वे बाहुबली को उनकी आज्ञा स्वीकार करने का आदेश दें और यदि वह मेरे प्रभुत्व को स्वीकार न करे तो इस प्रकार की युक्ति निकाली जाए जिसमें हम दोनों का युद्ध अनिवार्य हो जाए। महाकवि पुष्पदन्त के पुरोहित ने सम्राट् भरत को परामर्श दिया कि आप उसके पास दूत भेजें। यदि वह आपको नमन करता है तो उसका पालन किया जाए अन्यथा बाहुबली को पकड़ लिया जाए और उसे बाधकर कारागार में डाल दिया जाए।

आदिपुराण का सम्राट् भरत बाहुबली द्वारा आधीनता न स्वीकार करने पर दुःखी है और उसकी समझ मे यह नही आ रहा है कि मेरे अनुज बाहुबली ने ऐसा क्यों किया ? उसने बाहुबली को अपने अनुकूल बनाने के लिए निःसृष्टार्थ राजदूत की विशेष रूप से नियुक्ति की। आचार्य पुष्पदन्त के अनुसार भरत के दूत को राजद्वार पर देखकर प्रतिहार ने बाहुबली को सूचित किया कि द्वार पर राजा भरत का दूत खड़ा है। हे स्वामी ! अवसर है, आप 'हाँ-ना' कुछ भी कह दें। किन्तु महाप्राण बाहुबली ने क्षत्रियोचित गरिमा के अनुकूल प्रतिहार से कहा —"मना मत करो ! भाई के अनुचर को शीघ्र प्रवेश दो।" आदिपुराण का निःसृष्टार्थ राजदूत सरस्वती एवं लक्ष्मी से मंडित परमसुन्दर बाहुबली की अपूर्व कान्ति को देखकर मुग्ध हो गया। बाहुबली के सौन्दर्य मे उसे तेज रूप परमाणुओं का दर्शन हुआ। चतुर राजदूत की कूटनीति को विफल करते हुए युवा बाहुबली ने आक्षेप सहित कहा—

प्रेम और विनय ये दोनों परस्पर मिले हुए कुटुम्बी लोगों मे ही सम्भव हो सकते हैं। बड़ा भाई नमस्कार करने योग्य है यह बात अन्य समय मे अच्छी तरह हमेशा हो सकती है परन्तु जिसने मस्तक पर तलवार रख छोड़ी है उसको प्रणाम करना यह कौन-सी रीति है ? तेजस्वी मनुष्यो के लिए जो कुछ थोड़ा-बहुत अपनी भुजारूपी वृक्ष का फल प्राप्त होता है वही प्रशंसनीय है, उनके लिए दूसरे की भौंहरूपी लता का फल अर्थात् भौंह के इशारे से प्राप्त हुआ चार समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का ऐश्वर्य भी प्रशंसनीय नही है। जो पुरुष राजा होकर भी दूसरे के अपमान से मलिन हुई विभूति को धारण करता है निश्चय से उस मनुष्यरूपी पशु के लिए उस राज्य की समस्त सामग्री भार के समान है। वन मे निवास करना और प्राणो को छोड़ देना अच्छा है किन्तु अपने कुल का अभिमान रखने वाले पुरुष को दूसरे की आज्ञा के अधीन रहना अच्छा नहीं है। धीर-वीर पुरुषो को चाहिए कि वे इन नश्वर प्राणों के द्वारा अपने अभिमान की रक्षा करें क्योंकि अभिमान के साथ कमाया हुआ यश इस ससार को सदा सुशोभित करता है।

सम्राट् भरत की राज्यलिप्सा का विरोध करते हुए बाहुबली स्पष्ट शब्दों मे कहते हैं –

> दूत तातवितीर्णा नो महीमेनां कुलोचिताम्। भ्रातृजायामिवाऽऽदित्सोर्नास्य लज्जा भवत्पतेः।
> देयमन्यत् स्वतन्त्रेण यथाकाम जिगीषुणा। मुक्त्वा कुलकलत्रं च क्ष्मातलं च भुजार्जितम्।
> भूयस्त दलमालप्य स वा भुङ्क्तां महीतलम्। चिरमेकातपत्राङ्कमहं वा भुजविक्रमी। (आदिपुराण पर्व ३५)

हे दूत, पिताजी के द्वारा दी हुई यह हमारे ही कुल की पृथ्वी भरत के लिए भाई की स्त्री के समान है। अब वह उसे ही लेना चाहता है ! तेरे ऐसे स्वामी को क्या लज्जा नही आती ? जो मनुष्य स्वतन्त्र हैं और इच्छानुसार शत्रुओं को जीतने की इच्छा रखते हैं वे अपने कुल की स्त्रियों और भुजाओं से कमाई हुई पृथ्वी को छोड़कर बाकी सब कुछ दे सकते हैं। इसलिए बार-बार कहना व्यर्थ है, एक छत्र से चिह्नित इस पृथ्वी को वह भरत ही चिरकाल तक उपभोग करे अथवा भुजाओं मे पराक्रम रखने वाला मैं ही उपभोग करूँ। मुझे पराजित किये बिना वह इस पृथ्वी का उपभोग नही कर सकता। महाकवि स्वयभू के 'पउमचरिउ' का मन्त्री राजा बाहुबली को उत्तेजित करने के लिए कहता है कि जिस प्रकार अन्य भाई सम्राट् भरत की आज्ञा मानकर रहते हैं, उसी प्रकार आप भी रहिए। स्वाभिमानी बाहुबली उत्तर देते हैं कि यह धरती तो पिताजी की देन है। मैं किसी अन्य की सेवा नही कर सकता। बाहुबली द्वारा अपने पक्ष का औचित्य सिद्ध करने और सम्राट् भरत की आधीनता न स्वीकार करने पर भरत के मन्त्रियो ने क्रोध के वशीभूत होकर बाहुबली के स्वाभिमान को ललकारते हुए कहा—

> 'जइ वि तुज्झु इमु मण्डलु बहु-चिन्तिय-फलु आसि समप्पिउ वप्पें।
> गामु सीमु खलु खेत्तु वि सरिसव-मेत्तु वि तो वि णाहिँ विणु कप्पें।। (पउमचरिउ)

अर्थात् यदि तुम समझते हो कि यह धरती-मण्डल तुम्हें पिताजी ने बहुत सोच-विचार कर दिया है, तो याद रखो गांव, सीमा, खलिहान और खेत, एक सरसों भर भी, बिना कर दिये तुम्हारे नहीं हो सकते।

महाभारत मे भगवान् कृष्ण से कौरवराज दुर्योधन ने इसी प्रकार की दर्पपूर्ण भाषा का प्रयोग किया था। मन्त्री के प्रत्युत्तर में महापराक्रमी बाहुबली ने वीरोचित उत्तर देते हुए कहा—वह एक चक्र के बलपर गर्व कर रहा है। वह नही जानता कि चक्र से उसका मनोरथ सिद्ध नहीं होगा। मैं उसे युद्धक्षेत्र मे ऐसा कर दूंगा जिससे उसका मान सदा के लिए चूर हो जाए।

महाकवि पुष्पदन्त के महाकाव्य का राजदूत सम्राट् भरत की अपरिमित शक्ति का विवेचन कर बाहुबली को युद्ध में पराजित होने का भय दिखलाकर भरत को कर देने का सुझाव देता है। स्वाभिमानी बाहुबली अपने आन्तरिक गुणो के अनुरूप राजदूत को गागर मे सागर जैसा उत्तर देते हुए कहते हैं—

> कंदप्पु अवप्पु ण होमि हउं दूययकरउ णिवारिउ।।
> संकप्पें सो महु केरएण पहु वज्झिहइ णिरारिउ।। (महापुराण)

अर्थात् मैं कन्दर्प (कामदेव) हूं, अदर्प (दर्पहीन) नहीं हो सकता। मैंने दूत समझकर मना किया है। मेरे संकल्प से वह राजा निश्चित रूप से दग्ध होगा।

प्रजावत्सल बाहुबली को भारत की सनातन संस्कृति का प्रतीक पुरुष माना जाता है। एक सिद्धान्तप्रिय राजा के रूप में वह राज्य के वर्चस्व को बनाए रखने के लिए अपने पराक्रमी अग्रज भ्राता से भी युद्ध करने को सन्नद्ध हो जाते हैं। एक ऐतिहासिक सत्य यह भी है कि महाकवि स्वयम्भू, आचार्य जिनसेन एवं महाकवि पुष्पदत के युग मे पराक्रमी राजा अपने-अपने राज्यो की संस्कृति की रक्षा के लिए तत्पर रहते थे। शायद इसी कारण कन्नड भाषा के महाकवि पम्प (सन् ६४१ ई०) ने 'आदिपुराण' (कन्नड) मे यश को ही राजा की एकमात्र सम्पत्ति घोषित किया है। इसीलिए भगवान् बाहुबली के विराट् व्यक्तित्व मे ८वी-६वी शताब्दी के भारतीय इतिहास के प्राणवान् मूल्य स्वयमेव समाहित हो गए हैं। राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित अपराजेय बाहुबली राज्यलक्ष्मी के मद से पीडित राजा भरत के राजदूत के अनीतिपूर्ण प्रस्ताव की अवहेलना करके पोदनपुर के नगरजनों को अपने परिवार का अभिन्न अंग मानते हुए ओजपूर्ण वाणी मे कहते हैं—

ज दिण्णं महेसिणा दुरियणासिणा णयरदेसमेत्तं।
तं मह लिहियसासण कुलविहूसण हरइ को पहुत्तं ॥
केसरिकेसर वरसइथणयलु सुहडहु सरणु मज्झु धरणीयलु।
जो हत्थेण छिवइ सो केहउ कि कयतु कालाणलु जेहउ ॥ (महापुराण)

अर्थात् पापो को नाश करने वाले महर्षि ऋषभ ने जो सीमित नगर देश दिये हैं वह मेरे कुलविभूषित लिखित शासन हैं, उस प्रभुत्व का कौन अपहरण करता है ? सिंह की अयाल, उत्तम सती के स्तन तल, सुभट की शरण और मेरे धरणी तल को जो अपने हाथ से छूता है, मैं उसके लिए यम और कालानल के समान हूँ ?

पोदनपुर के सुखी नागरिक भी अपने राजा बाहुबली की लोककल्याणकारी नीतियो के अनुगामी थे। युद्ध का अवसर उपस्थित होने पर पोदनपुर के निवासियो मे उत्साह का वातावरण बन गया। पोदनपुर की जनता के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए आचार्य जिनसेन ने कहा है, "जो पुरुष अवसर पड़ने पर स्वामी का साथ नही देते वे घास-फूस के बने हुए पुरुषों के समान सारहीन हैं।"

चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना मे सलग्न सम्राट् भरत ने राजदूतों के विफल हो जाने पर स्वतन्त्रता-प्रेमी राजा बाहुबली के राज्य पोदनपुर पर चतुरंगिणी सेना के द्वारा घेरा डाल दिया।

महाकवि स्वयम्भू के अनुसार राजा बाहुबली के दूतो ने उसे भरत के युद्धाभियान की सूचना देते हुए कहा—शीघ्र ही निकलिए देव ! प्रतिपक्ष समुद्र की भांति वेगवान गति से बढ रहा है। अपने राज्य पर शत्रु-पक्ष के प्रबल आक्रमण को देखकर शूरवीर बाहुबली ने रणक्षेत्र में विशेष सज्जा की। महाकवि स्वयम्भू के अनुसार बाहुबली की एक ही सेना ने भरत की सात अक्षौहिणी सेना को क्षुब्ध कर दिया। रणक्षेत्र मे एकत्रित सम्राट् भरत एव पोदनपुर नरेश बाहुबली की सेनाओं मे युद्ध हुआ अथवा नही, इस सम्बन्ध मे जैन पुराणकारो मे मतभेद है। आचार्य रविषेण (पद्मपुराण पर्व ४/६६) के अनुसार दोनो पक्षो मे हाथियो के समूह की टक्कर से उत्पन्न हुए शब्द से युद्ध प्रारम्भ हुआ। उस युद्ध मे अनेक प्राणी मारे गए। आचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण (सर्ग ११/७६)मे दोनो सेनाओं के मध्य वितता नदी के पश्चिमी भाग मे हुई मुठ-भेड का उल्लेख किया है। महाकवि स्वयम्भू के पउमचरिउ (संधि ४/८/८) के अनुसार रक्तरंजित तीरो से दोनो सेनाएँ ऐसी भयंकर हो उठी मानो दोनो कुसुम्भी रंग मे रंग गयी हो। महकवि पुष्पदन्त के महापुराण के अनुसार दोनो सेनाओ की युद्ध सज्जा अभूतपूर्व थी और किसी भी क्षण पृथ्वी पर विराट् युद्ध होने की स्थिति बन गई थी। आचार्य जिनसेन के आदिपुराण मे दोनों राजाओ की सेनाए युद्धक्षेत्र मे आ गई थी किन्तु दोनो मे युद्ध नही हुआ। उनके अनुसार युद्ध का श्रीगणेश होने से पहले ही दोनो पक्षों के मन्त्रियो ने आवश्यक मन्त्रणा के उपरान्त दोनो राजाओ को परस्पर तीन प्रकार के युद्ध—जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और बाहुयुद्ध के लिए तैयार कर लिया था। स्वयम्भू के 'पउमचरिउ', आचार्य जिनसेन के 'हरिवंश पुराण', पुष्पदन्त के 'महापुराण' के अनुसार दोनों पक्षो के मन्त्रियो ने देशवासियों के व्यापक हित और परिस्थितियो का आकलन करते हुए दोनो राजाओं से परस्पर तीन प्रकार के युद्ध करने का प्रस्ताव रखा था। युद्ध मे पराक्रम एवं पौरुष के प्रदर्शन के लिए उत्सुक सेना को युद्ध-विराम का आदेश देने के लिए महाकवि पुष्पदन्त ने एक नाटकीय युक्ति का प्रयोग किया है—

बिहिं बलहं मज्झि जो मुयइ बाण। तहु होसइ रिसहहु तणिय आण ॥

अर्थात् दोनो सेनाओं के बीच जो बाण छोड़ता है,उसे श्री ऋषभनाथ की शपथ।

प्रारम्भिक जैन साहित्य का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि युद्धक्षेत्र मे दोनों पक्षों के निरपराध योद्धाओं को मृत्यु के मुख का आलिंगन करते हुए देखकर उदारचेता बाहुबली ने स्वयं सम्राट् भरत के सम्मुख दृष्टि युद्ध का प्रस्ताव रखा था। आचार्य रविषेण के अनुसार

सम्राट् भरत के युद्धोन्मादजन्य परिणामो को दृष्टिगत करते हुए भुजाओं के बल से सुशोभित बाहुबली ने हँसकर राजा भरत से कहा कि इस प्रकार से निरपराध प्राणियों के वध से हमारा और आपका क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। उसने स्वयं एक महायोद्धा की भांति मानवीय समस्याओं के निदान के लिए अहिंसक युद्ध का प्रस्ताव राजा भरत के सम्मुख रखा—

अथोवाच विहस्यैव भरतं बाहुविक्रमी। किं वराकेन लोकेन निहतेनामुनावयो: ।।
यदि नि:स्पन्दया दृष्ट्या भवताहं पराजित:। ततो निर्जित एवास्मि दृष्टियुद्धे प्रवर्त्यताम् ।। (पद्मपुराण, संधि४/७०-७१)

जैन संस्कृति के पोषक राजा बाहुबली द्वारा युद्धक्षेत्र मे निरपराध मनुष्यों के अनावश्यक संहार से बचने के लिए अहिंसात्मक युद्ध का प्रस्ताव तर्कसंगत लगता है। चक्रवर्ती राज्य की स्थापना मे संलग्न आग्रहवादी सम्राट् भरत के लिए दिग्विजय अत्यावश्यक थी। इसीलिए उसे अपने प्राणप्रिय अनुज पर आक्रमण करना पड़ा। इसके विपरीत राजा बाहुबली का उद्देश्य अपने राज्य की प्रभुसत्ता को बनाए रखना था। राजा बाहुबली ने अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए कहा था—

पवसन्तें परम-जिणेसरेण। जं किं पि विहज्जेवि दिण्णु तेण ।।
तं अम्हहुँ सासणु सुह-णिहाणु। किउ विप्पिउ णउ केण वि समाणु ।।
सोपिहिमिहैं हउँ पोयणहों सामि। णउ देमि ण लेमि ण पासु जामि ।।
दिट्ठें ण तेण किर कवणु कज्जु। (पउमचरिउ, सन्धि ४/४)

अर्थात् दीक्षा लेते समय पिताजी ने बँटवारे मे जितनी धरती मुझे दी थी, उस पर मेरा सुखद शासन है, किसी के साथ मैंने कुछ बुरा भी नही किया। वह भरत तो सारी धरती का स्वामी है, मैं तो केवल पोदनपुर का अधिपति हू, न तो मैं कुछ देता हू और न लेता हूं और न उसके पास आता हूं। उससे भेंट करने मे मेरा कौन-सा काम बनेगा?

अत: आत्मविश्वास से मंडित पराक्रमी बाहुबली द्वारा पोदनपुर की अस्मिता की रक्षा के लिए स्वय को दाव पर लगा देना असंगत नहीं है। वैसे भी बाहुबली को जैन पुराण शास्त्र मे प्रथम कामदेव माना गया है। सौन्दर्यशास्त्र के रससिद्ध महापुरुष के लिए अपनी जन्मभूमि अयोध्या और अपने राज्यक्षेत्र पोदनपुर के निवासियो का युद्धोपरान्त दारुण दुःख देखा जाना सम्भव नही था। इसीलिए उन्होंने सम्राट् भरत से विजयी होने के लिए तीन प्रकार के युद्धों का प्रस्ताव स्वय रखा था। आचार्य विमलसूरिकृत 'पउमचरिउ' और 'आवश्यकचूर्णि' की गाथाओं के अनुसार भी राजा बाहुबली ने लोककल्याण की भावना से अहिंसक युद्ध का प्रस्ताव रखा—

भणओ य बाहुबलिणा, चक्कहरो किं वहेण लायेस्स।
दोण्हं पि होउ जुज्झं, दिट्ठीमुट्ठीहि रणमज्झे ।। (पउमचरिउ, ४, ४३)
ताहे ते सव्वबलेण दो वि देसते मिलिया, ताहे
बाहुबलिणा भणियं—किं अणवराहिणा लोगेण
मारिएण? तुम अह च दुयगा जुज्झामो। (आवश्यकचूर्णि, पृ० २१०)

सम्राट् भरत एवं राजा बाहुबली दोनो को अपने अप्रतिम शौर्य पर अगाध विश्वास था। इसीलिए दोनो चरमशरीरी महायोद्धा तीन प्रकार के प्रस्तावित युद्ध मे अपनी शक्ति के परीक्षण के लिए सोत्साह मैदान मे उतर गए। तीर्थंकर ऋषभदेव के इन दोनो बलशाली पुत्रो को युद्धक्षेत्र मे देखकर आचार्य जिनसेन को ऐसा प्रतीत हुआ जैसे निषध और नीलपर्वत पास-पास आ गए हो। उन्होंने युद्धोत्सुक बाहुबली एव भरत की तुलना क्रमश: ऊंचे जम्बूवृक्ष एवं चूलिकासहित गिरिराज सुमेरु से की है। विजयलक्ष्मी के आकांक्षी सम्राट् भरत एवं बाहुबली के मध्य पूर्व निर्धारित तीनों युद्ध हुए। जैन पुराणकारो ने इन दोनो महापुरुषो के पराक्रम का अद्भुत वर्णन किया है। इनके युद्ध के प्रसंग में जैन काव्यकारों ने लौकिक एवं अलौकिक अनेक उपमानों का सुन्दर संयोजन किया है। सम्राट् भरत एवं राजा बाहुबली के दृष्टियुद्ध का विवरण देते हुए महाकवि स्वयम्भू ने लिखा है—

अवलोइउ भरहें पढमु भाई। कइलासें कञ्चण-सइलु णाइँ ।।
अमिय-सियायम्ब विहाइ दिट्ठि। ण कुवलय-कमल-रविन्द-विट्ठि ।।
पुणु जोइउ बाहुबलीसरेण। सरे कुमुय-सण्डु णं दिणयरेण ।।
अवरामुह-हेट्ठामुह-मुहाइँ। णं वर-बहु-वयण-सरोरुहाइँ ।।
उवरिल्लियएँ विसालएँ भिउडि-करालएँ हेट्ठिम दिट्ठि परज्जिय।
णं णव-जोव्वणइत्ती चञ्चल-चित्ती कुलवहु हउअएँ तज्जिय ।। (पउमचरिउ, सन्धि ४/९)

अर्थात् उन्होंने (नन्दा और सुनन्दा के पुत्रो ने) दृष्टियुद्ध प्रारम्भ किया, सबसे पहले भरत ने अपने भाई को देखा, मानो कैलाश पर्वत ने सुमेरु पर्वत को देखा हो। काले और सफेद बादलो के समान उसकी दृष्टि उस समय ऐसी शोभित हो रही थी मानो नीले और सफेद कमलो की वर्षा हो रही हो। उसके बाद बाहुबली ने भरत पर दृष्टिपात किया मानो सूर्य ने सरोवर मे कुमुद-समूह को देखा हो। पराजित भरत का मुख उत्तम कुल-वधू की तरह सहसा नीचे झुक गया। बाहुबली की विशाल भौहोंवाली दृष्टि से भरत की दृष्टि ऐसी नीची हो गयी जैसे सास से ताड़ित चचलचित्त नवयौवना कुल-वधू नम्र हो जाती है।

दृष्टियुद्ध मे पराजित होने पर भरत एव बाहुबली मे जल-युद्ध एव बाहु-युद्ध भी हुए और इन दोनों युद्धों में भरत पराजित हो गए। राजा बाहुबली के मन मे अपने अग्रज भ्राता के लिए असीम सम्मान भाव था। इसीलिए उन्होंने बाहु-युद्ध मे विजयी होने पर पृथ्वी मंडल के विजेता राजा भरत को हाथो पर इस प्रकार से उठा लिया जैसे जन्म के समय बालजिन को इन्द्रराज ने श्रद्धा से बाहुओं पर उठा लिया था—

उच्चाइउ उभय-करेंहि णरिन्दु। सक्केण व जम्मणें जिण-वरिन्दु॥
एत्थन्तरें बाहुबलीसरासु। आमेल्लिउ देवेंहि कुसुम-वासु॥ (पउमचरिउ, सन्धि ४/११)

राजा बाहुबली के जयोत्सव पर स्वर्ग के देवो ने हर्षातिरेकपूर्वक पुष्प वृष्टि की। सम्राट् भरत इस पराजय से हतप्रभ हो गये। लोक-नीति का त्याग करके उन्होंने अपने अनुज बाहुबली के पराभव के लिए अमोघ शस्त्र 'चक्ररत्न' का स्मरण किया। उदार बाहुबली पर 'चक्र-रत्न' के प्रयोग को देखकर दोनो पक्षों के न्यायप्रिय योद्धाओं ने सम्राट् भरत के आचरण की निन्दा की। राजा बाहुबली चरमशरीरी थे। फलत: चक्ररत्न उनकी परिक्रमा करके सम्राट् भरत के पास निष्फल होकर लौट आया।

अपने अग्रज भरत की साम्राज्य लिप्सा एवं राज्यलक्ष्मी को हस्तगत करने के लिए स्वबन्धु पर चक्ररत्न के वर्जित प्रयोग को दृष्टिगत करते हुए परमकारुणिक अपरिग्रह मूर्ति बाहुबली मे इस असार संसार के प्रति विरक्त भाव उत्पन्न हो गया। नीतिपरायण धर्मज्ञ सम्राट् भरत के इस अभद्र आचरण को देखकर बाहुबली सोचने लगे—

अचिन्तयच्च किन्नाम कृते राज्यस्य भंगिनः। लज्जाकरो विधिर्भात्राज्येष्ठेनायमनुष्ठितः॥
विपाककटुसाम्राज्यं क्षणध्वंसि धिगस्त्विदम्। दुस्त्यजं त्यजदप्येतदंगिभिर्दुष्कलत्रवत्॥
कालव्यालगजेनेदमायुरालानकं बलात्। चाल्यते यद्बलाधानं जीवितालम्बनं नृणाम्॥
शरीरबलमेतच्च गजकर्णवदस्थिरम्। रोगाखुपहतं चेदं जरद्देहकुटीरकम्॥
इत्यशाश्वतमप्येतद् राज्यादि भरतेश्वरः। शाश्वतं मन्यते कष्टं मोहोपहतचेतनः॥
(आदिपुराण, पर्व ३६/७०-७१, ८८-९०)

अर्थात् हमारे बड़े भाई ने इस नश्वर राज्य के लिए यह कैसा लज्जाजनक कार्य किया है। यह साम्राज्य फलकाल मे बहुत दुःख देने वाला है, और क्षणभंगुर है इसलिए इसे धिक्कार हो। यह व्यभिचारिणी स्त्री के समान है क्योंकि जिस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री एक पति को छोड़कर अन्य पति के पास चली जाती है उसी प्रकार यह साम्राज्य भी एक पति को छोड़कर अन्य पति के पास चला जाता है। जिसके बल का सहारा मनुष्यों के जीवन का आलम्बन है ऐसा यह आयुरूपी खम्भा कालरूपी दुष्ट हाथी के द्वारा जबरदस्ती उखाड़ दिया जाता है। यह शरीर का बल हाथी के कान के समान चंचल है और यह जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी झोपड़ा रोगरूपी चूहों के द्वारा नष्ट किया हुआ है। इस प्रकार यह राज्यादि सब विनश्वर हैं। फिर भी, मोह के उदय से जिसकी चेतना नष्ट हो गयी है ऐसा भरत इन्हे नित्य मानता है यह कितने दुःख की बात है?

चिन्तन की इसी प्रक्रिया मे उन्होंने राज्य के त्याग का निर्णय ले लिया। अपने निर्णय से सम्राट् भरत को अवगत कराते हुए उन्होने कहा—

देव मज्झु खमभाउ करेज्जसु। जं पडिकूलिउ त म रूसेज्जसु।
अप्पउ लच्छिविलासें रंजहि। लइ महि तुहु जि णराहिव भुंजहि।
णहणिवडियणीलुप्पलविट्ठिहि। हउ पुणु सरणु जामि परमेट्ठिहि। (महापुराण, सन्धि १८/२)

अर्थात् हे देव, मुझ पर क्षमाभाव कीजिए और जो मैंने प्रतिकूल आचरण किया है उस पर क्रुद्ध मत होइए। अपने को लक्ष्मीविलास से रंजित कीजिए। यह धरती आप ही लें, और इसका भोग करें। मैं, जिन पर आकाश से नीलकमलो की वृष्टि हुई है, ऐसे परमेष्ठी आदिनाथ की शरण मे आता हूं।"

अनुज के मुखारविन्द से निकली हुई वाणी से भरत के सन्तप्त मन को शान्ति मिली। बाहुबली के विनम्र एवं शालीन व्यवहार को देखकर सम्राट् भरत विस्मयमुग्ध हो गये और उनके उदात्त चरित्र का गुणगान करते हुए कहने लगे—

पइं जिह तेयवतु ण दिवायरु। णउ गम्भीरु होइ रयणायरु।
पइ दुज्जसकलकु पक्खालिउ। णाहिणरिंदवंसु उज्जालिउ।
पुरिसरयणु तुहु जगि एक्कल्लउ। जेण वयउ महु बलु वेयल्लउ।
को समत्थु उवसमु पडिवज्जइ। जगि जसढक्क कासु किर वज्जइ।
पइ मुएवि तिहुयणि को चगउ। अण्णु कवणु पच्चक्खु अणंगउ।
अण्णु कवणु जिणपयकयपेसणु। अण्णु कवणु रक्खियणिवसासणु। (महापुराण, सन्धि १८/३)

तुम जितने तेजस्वी हो, उतना दिवाकर भी तेजस्वी नही है। तुम्हारे समान समुद्र भी गम्भीर नही है। तुमने अपयश के कलंक को धो लिया है और नाभिराज के कुल को उज्ज्वल कर लिया है। तुम विश्व मे अकेले पुरुषरत्न हो जिसने मेरे बल को भी विकल कर दिया। कौन समर्थ व्यक्ति शान्ति को स्वीकार करता है। विश्व मे किसके यश का डंका बजता है। तुम्हे छोडकर त्रिभुवन में कौन भला है? दूसरा कौन प्रत्यक्ष कामदेव है। दूसरा कौन जिनपदो की सेवा करनेवाला है और दूसरा कौन नृपशासन की रक्षा करनेवाला है।

दीक्षार्थी बाहुबली ने सासारिक सुखो का त्याग करते हुए अपने पुत्र को राज्य भार देकर तपस्या के लिए वन मे प्रवेश किया। उन्होंने समस्त भोगों को त्याग कर वस्त्राभूषण उतारकर फेंक दिए और एक वर्ष तक मेरु पर्वत के समान निष्कम्प खडे रहकर प्रतिमा योग धारण कर लिया।

दीक्षा रूपी लता से आलिंगित बाहुबली भगवान् निवृत्तिप्रधान साधुओं के लिए शताब्दियो से प्रेरणा-पुंज रहे हैं। महाकवि स्वयभू ने 'पउमचरिउ' मे भगवान् बाहुबली की तपश्चर्या का सक्षिप्त किन्तु प्रभावशाली चित्रांकन इस प्रकार किया है—

वेढिउ सुट्ठु विसालेहि वेल्ली-जालेहि अहि-विच्छिय-वम्मीयहि।
खणु वि ण मुक्कु भडारउ मयण-वियारउ ण ससारहों भीयहि। (पउमचरिउ, संधि ४/१२)

अर्थात् पर्वत की तरह अचल और शान्त चित्त होकर खडे रहे। बडी-बडी लताओं के जालो, साप-बिच्छुओ और बाबियों से वे अच्छी तरह घिर गये, कामनाशक भट्टारक बाहुबलि एक क्षण भी उनसे मुक्त नही हुए। मानो संसार की भीतियों ही ने उन्हें न छोड़ा हो!

महाकवि पुष्पदन्त ने भगवान् बाहुबली की अकाम-साधना को विश्व की सर्वोपरि उपलब्धि मानते हुए चक्रवर्ती भरत के मुखारविन्द से कहलवाया है—

"थुणइ णराहिउ पयपडियल्लउ पइ मुएवि जगि को वि भल्लउ।
पइ कामे अकामु पारद्धउ पइं राए अराउ कउ णिद्धउ।
पइं बाले अबालगइ जोइय पइं अपरेण वि परि मइ ढोइय।
पइ जेहा जगगुरुणा जेहा एक्कु दोण्णि जइ तिहुयणि तेहा।" (महापुराण, ८।६)

अर्थात् आपको छोडकर जग मे दूसरा अच्छा नही है, आपने कामदेव होकर भी अकामसाधना आरम्भ की है। स्वय राजा होकर भी अराग (विराग) से स्नेह किया है, बालक होते हुए भी आपने पण्डितों की गति को देख लिया है। आप और विश्वगुरु ऋषभनाथ जैसे मनुष्य इस दुनिया मे एक या दो होते हैं।

भगवान् बाहुबली की कठोर एव निस्पृह साधना ने जिनागम के सूर्य आचार्य जिनसेन के मानस पटल को भावान्दोलित कर दिया था। इसीलिए उन्होने अपने जीवन की सान्ध्य वेला मे तपोरत भगवान् बाहुबली की शताधिक पद्यो द्वारा भक्तिपूर्वक अर्चा की है। 'आदिपुराण' के पर्व ३६।१०४ में योगीराज बाहुबली के तपस्वी परिवेश को देखकर उनके भक्तिपरायण मन मे पत्तों के गिर जाने से कृश लतायुक्त वृक्ष का चित्र उपस्थित हो गया। साधना काल मे भयकर नागो और वनलताओ से वेष्टित महामुनि बाहुबली के आत्मवैभव का उन्होने आदिपुराण पर्व ३६।१०६-११३ मे इस प्रकार दिग्दर्शन कराया है—

दधान: स्कन्ध पर्यन्तलम्बिनी: केशवल्लरी:। सोऽन्वगादूढकृष्णाहिमण्डलं हरिचन्दनम्॥
माधवीलतया गाढमुपगूढ: प्रफुल्लया। शाखाबाहुभिरावेष्ट्य सध्रीच्येव सहासया॥
विद्याधरी करालून पल्लवा सा किलाशुषत्। पादयो: कामिनीवास्य सामि नम्राऽनुनेष्यती॥

रेजे स तदवस्थोऽपि तपो दुश्चरमाचरन् । कामीव मुक्तिकामिन्यां स्पृहयालुः कृशीभवन् ॥
तपस्तनूनपात्ताप संतप्तस्यास्य केवलम् । शरीरमशुषन्नोर्ध्वंशोषं कर्माप्यशर्मदम् ॥

अर्थात् कन्धों पर्यन्त लटकती हुई केशरूपी लताओ को धारण करने वाले वे बाहुबली मुनिराज अनेक काले सर्पों के समूह को धारण करने वाले हरिचन्दन वृक्ष का अनुकरण कर रहे थे। फूली हुई वासन्तीलता अपनी शाखारूपी भुजाओं के द्वारा उनका गाढ़ आलिंगन कर रही थी और उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो हार लिये हुए कोई सखी ही अपनी भुजाओं से उनका आलिंगन कर रही हो। जिसके कोमल पत्ते विद्याधरों ने अपने हाथ से तोड़ लिये हैं ऐसी वह वासन्ती लता उनके चरणों पर पड़कर सूख गयी थी और ऐसी मालूम होती थी मानो कुछ नम्र होकर अनुनय करती हुई कोई स्त्री ही पैरों पर पड़ी हो। ऐसी अवस्था होने पर भी वे कठिन तपश्चरण करते थे जिससे उनका शरीर कृश हो गया था और उससे ऐसे जान पड़ते थे मानो मुक्तिरूपी स्त्री की इच्छा करता हुआ कोई कामी ही हो। तपरूपी अग्नि के सन्ताप से सन्तप्त हुए बाहुबली का केवल शरीर ही खड़े-खड़े नहीं सूख गया था किन्तु दुःख देनेवाले कर्म भी सूख गये थे अर्थात् नष्ट हो गये थे।

उग्र और महाउग्र तप से भगवान् गोम्मटेश अत्यन्त कृश हो गए थे। उन्होंने दीप्त, तप्तघोर, महाघोर नाम के तपश्चरण किए थे। इन तपो से मुनिराज बाहुबली ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे मेघो के आवरण से निकला हुआ सूर्य अपनी किरणो से जगत् को प्रकाशवान कर देता है। उनकी तपश्चर्या के प्रभाव से परस्पर विरोध भाव रखने वाले जगल के प्राणियो मे भी सद्भाव बन गया था। आचार्य जिनसेन के शब्दो में—

विरोधिनोऽप्यमी मुक्तविरोधं स्वैरमासिताः। तस्योपाङ्घ्रिगजसिंहाद्याः शशंसुर्वैभवं मुनेः।
जरज्जम्बूकमाघ्राय मस्तके व्याघ्रधेनुका। स्वशावनिर्विशेषं तामपीप्यत् स्तन्यमात्मनः॥
करिणो हरिणारातीनन्वीयुः सह यूथपैः। स्तनपानोत्सुका भेजुः करिणीः सिंहपोतकाः॥
कलभान् कलभांकारमुखरान् नखरैः खरैः। कण्ठीरवः स्पृशन् कण्ठे नाभ्यनन्दि न यूथपैः॥

(आदिपुराण, पर्व ३६/१६५-१६८)

अर्थात् उनके चरणो के समीप हाथी, सिंह आदि विरोधी जीव भी परस्पर का बैर-भाव छोड़कर इच्छानुसार उठते-बैठते थे और इस प्रकार वे मुनिराज के ऐश्वर्य को सूचित करते थे। हाल की ब्यायी हुई सिंहनी भैंसे के बच्चे का मस्तक सूंघकर उसे अपने बच्चे के समान अपना दूध पिला रही थी। हाथी अपने झुण्ड के मुखियो के साथ-साथ सिंहो के पीछे-पीछे जा रहे थे और स्तन के पीने मे उत्सुक हुए सिंह के बच्चे हथिनियों के समीप पहुंच रहे थे। बालकपन के कारण मधुर-शब्द करते हुए हाथियों के बच्चो को सिंह अपने पैने नाखूनों से उनकी गरदन पर स्पर्श कर रहा था और ऐसा करते हुए उस सिंह को हाथियो के सरदार बहुत ही अच्छा समझ रहे थे—उसका अभिनन्दन कर रहे थे।

भगवान् बाहुबली के लोकोत्तर तप के पुण्य स्वरूप तिर्यंच जीवो के हृदय मे व्याप्त अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया था। जंगल के क्रूर जीव शान्ति सुधा का अमृतपान कर अहिंसक हो गए थे। भगवान् गोम्मटेश के चरणों के समीप के छिद्रो मे म काले फण वाले नागराजो की लपलपाती हुई जिह्वाओं को देखकर प्रातःस्मरणीय आचार्य जिनसेन को भगवान् की पूजा के निमित्त नील कमलो से परिपूरित पूजा की थाली की सहसा स्मृति हो आई—

उपाङ्घ्रि भोगिनां भोगैर्विनीलैर्व्यरुचन्मुनिः। विन्यस्तैरर्चनायेव नीलैरुत्पलदामकैः।

(आदिपुराण, पर्व ३६/१७१)

दिव्य तपोमूर्ति गोम्मटेश स्वामी की सतत साधना जन-जन की आस्था का केन्द्र रही है। भगवान् बाहुबली के तपोरत रूप से अभिभूत कन्नड कवि गोविन्द पै भाव-विह्वल अवस्था मे प्रश्न कर बैठते हैं—'तुम धूप मे मुरझाते नही, ठण्ड मे ठिठुरते नही, वर्षा से टपकते नहीं, तुम्हारे विवाह मे दिशारूपी सुहागिनो ने तुम्हारे ऊपर नक्षत्र-अक्षत बरसाए, चन्द्र और सूर्य का सेहरा तुम्हारे सिर पर रखा, मेघ-दुन्दुभि के साथ बिजली से तुम्हारी आरती उतारी, नित्यता-वधू आतुरता से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है! आंखे खोलकर देखते क्यों नही? हे गोम्मटेश्वर!' (र० श्री० मुगलि, कन्नड साहित्य का इतिहास, पृ० २२६)

चक्रवर्ती सम्राट् भरत ने तपोमूर्ति बाहुबली स्वामी द्वारा एक वर्ष की अवधि के लिए धारण किए गए प्रतिमायोग व्रत की समापन वेला के अवसर पर महामुनि बाहुबली के यशस्वी चरणो की पूजा की। पूजा के समय श्री गोम्मटस्वामी को केवलज्ञान हो गया। यह प्रसन्न चित्त सम्राट् भरत का कितना बड़ा अहोभाग्य था! उन्हे बाहुबली स्वामी के केवलज्ञान उत्पन्न होने के पहले और पीछे—दोनों ही समय मुनिराज बाहुबली की विशेष पूजा का अवसर प्राप्त हुआ। सम्राट् भरत ने केवलज्ञान उत्पन्न होने से पहले जो पूजा की थी वह अपना अपराध नष्ट करने के लिए की थी और केवलज्ञान होने के बाद जो विशेष पूजा की वह केवलज्ञान की उत्पत्ति के अनुभव के लिए की थी। आचार्य जिनसेन के अनुसार सम्राट् भरत द्वारा केवलज्ञानी बाहुबली की भक्तिपूर्वक की गई अर्चना का शब्दो में वर्णन नही किया जा सकता।

सम्राट् भरत और बाहुबली के अटूट प्रेम संबंध का विवरण देते हुए उन्होंने लिखा है—

स्वजन्मानुगमोऽस्त्येको धर्मरागस्तथाऽपरः। जन्मान्तरानुबन्धश्च प्रेमबन्धोऽतिनिर्भरः।।

इत्येकशोऽप्यमी भक्तिप्रकर्षस्य प्रयोजकाः। तेषां नु सर्वसामग्री कां न पुष्णाति सत्क्रियाम्।

(आदिपुराण, पर्व ३६।१९०-९१)

अर्थात् प्रथम तो बाहुबली भरत के छोटे भाई थे, दूसरे भरत को धर्म का प्रेम बहुत था, तीसरे उन दोनों का अन्य अनेक जन्मों से संबंध था, और चौथे उन दोनों मे बड़ा भारी प्रेम था। इस प्रकार इन चारों मे से एक-एक भी भक्ति की अधिकता को बढ़ाने वाले हैं, यदि यह सब सामग्री एक साथ मिल जाये तो वह कौन-सी उत्तम क्रिया को पुष्ट नहीं कर सकती अर्थात् उससे कौन-सा अच्छा कार्य नहीं हो सकता ?

समस्त पृथ्वी पर धर्म साम्राज्य की स्थापना करने वाले चक्रवर्ती सम्राट् भरत को इस सनातन राष्ट्र की सांस्कृतिक सम्पदा – आत्म-वैभव से श्रीमंडित सिद्ध पुरुष के रूप मे जाना जाता है। इसीलिए उन्हे 'राजयोगी' के रूप मे भी स्मरण किया गया है। धर्मप्राण भरत ने जिनेन्द्र बाहुबली के ज्ञान कल्याणक की भक्तिपूर्वक रत्नमयी पूजा की थी। उन्होंने रत्नों का अर्घ बनाया, गंगा के जल की जलधारा दी, रत्नों की ज्योति के दीपक चढ़ाये, मोतियों से अक्षत की पूजा की, अमृत के पिण्ड से नैवेद्य अर्पित किया, कल्पवृक्ष के टुकड़ो (चूर्णों) से धूप की पूजा की, पारिजात आदि देववृक्षों के फूलों के समूह से पुष्पों की अर्चा की, और फलों के स्थान पर रत्नों सहित समस्त निधियाँ चढ़ा दी। इस प्रकार उन्होंने रत्नमयी पूजा की थी।

सम्राट् भरत की भक्तिपरक रत्नमयी पूजा के उपरान्त स्वर्ग के देवों ने भगवान् गोम्मटदेव की विशेष पूजा की। केवलज्ञानलब्धि के समय अनेक अतिशय प्रकट हुए, जैसे—सुगन्धित वायु का सचरण, देवदुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, छत्रत्रय, चंवरों का ढुलना, गन्ध कुटी आदि का स्वयमेव प्रकट हो जाना।

आचार्य जिनसेन के अनुसार भगवान् बाहुबली के नाम के अक्षर स्मरण मे आते ही प्राणियो का समूह पवित्र हो जाता है। उनके चरणों के प्रताप से सर्पों के मुह के उच्छ्वास से निकलती हुई विष की अग्नि शान्त हो जाती है।

तपोनिधि भगवान् गोम्मटेश की विराट् प्रतिमा की सस्थापना की सहस्राब्दी के उपलक्ष्य मे १९८१ के महामस्तकाभिषेक के अवसर पर भारतीय डाक व तार विभाग ने एक बहुरंगी डाक-टिकट प्रकाशित करके भगवान् गोम्मटेश की मुक्ति-साधना के प्रति राष्ट्र की श्रद्धा को अभिव्यक्त किया था। अपने इसी वैशिष्ट्य के कारण भगवान् गोम्मटेश शताब्दियों से जन-जन की भावनाओं के प्रतिनिधि रूप में सम्पूजित हैं। आचार्य पुष्पदन्त ने लगभग १००० वर्ष पूर्व सत्य ही कहा था कि भगवान् गोम्मटेश्वर के पवित्र जीवन की गाथा पर्वत की गुफाओं तक में गायी जाती है—मदरकंदरतं गाइय जस !

जैन पुराण शास्त्रो मे भगवान् बाहुबली के प्रकरण मे कुछ विवादास्पद सन्दर्भों का उल्लेख मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द के 'भाव पाहुड' की गाथा सं० ४४ मे बाहुबली का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—"हे धीर-वीर, देहादि के सम्बन्ध से रहित किन्तु मान-कषाय से कलुषित बाहुबली स्वामी कितने काल तक आतापन योग मे स्थित रहे ?" श्वेताम्बर साहित्य मे तपोरत भगवान् बाहुबली मे शल्य भाव की विद्यमानता मानी गई है। श्वेताम्बर साहित्य के अनुसार बाहुबली दीक्षा लेकर ध्यानस्थ हो गए और यह निश्चय कर लिया कि कैवल्य प्राप्त किए बिना भगवान् ऋषभदेव के समवशरण मे नही जाऊँगा। तीर्थंकर ऋषभदेव के समवशरण मे जाने पर बाहुबली को अपने से पूर्व के दीक्षित छोटे भाइयो को नमन करना पड़ता। ऐसी स्थिति में उन्हें सर्वज्ञ होने के उपरान्त ही भगवान् के समवशरण में जाना श्रेयस्कर लगा होगा।

जैन पुराण शास्त्र मे उपरोक्त धारणाओ के मूल स्रोत की प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नही है। किन्तु आचार्य रविषेण कृत 'पद्मपुराण', महाकवि स्वयम्भू कृत 'पउमचरिउ', आचार्य जिनसेन कृत 'हरिवंशपुराण', आचार्य जिनसेन कृत 'आदिपुराण' और महाकवि पुष्पदन्त कृत 'महापुराण' का पारायण करने से तपोरत भगवान् बाहुबली मे शल्यभाव की विद्यमानता स्वयमेव निरस्त हो जाती है—

ततो भ्राता समं वैरमवबुध्य महामनाः। संप्राप्तो भोगवैराग्यं परमं भुजविक्रमी।।

संत्यज्य स ततो भोगान् भूत्वा निर्वस्त्रभूषणः। वर्षं प्रतिमया तस्थौ मेरुवन्नि.प्रकम्पकः।।

वल्मीकविवरोद्यातैरत्युग्रैः स महोरगैः। श्यामादीनां च वल्लीभि. वेष्टितः प्राप केवलम्।।

(पद्मपुराण पर्व ४ / ७४-७६)

आचार्य रविषेण के अनुसार उदारचेता बाहुबली भाई के साथ वैर का कारण जानकर भोगों से विरक्त हो गए और एक वर्ष के लिए मेरु पर्वत के समान निष्प्रकम्प खड़े रहकर प्रतिमा योग धारण कर लिया। उनके पास अनेक बामियां लग गईं जिनके बिलों से निकले

हुए विशाल सर्पों और लताओं ने उन्हें वेष्टित कर लिया और अन्ततः इसी दशा में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

महाकवि स्वयंभू कृत 'पउमचरिउ' (संधि ४/१२) में बाहुबली स्वेच्छा से तपोवन में जाते हैं—

किं आए साहमि परम-मोक्खु। जहिं लब्भइ अचलु अणन्तु सोक्खु ॥
मुणिसल्लु करेंवि जिणु गुरु भणेवि। थिउ पञ्च मुट्ठिसिरे लोउ देवि ॥
ओलम्बिय-करयलु एक्कु वरिसु। अविओनु अचलु गिरि-मेरु सरिसु ॥

अर्थात् इस पृथ्वी से क्या ? मैं मोक्ष की समाराधना करूंगा, जिससे अचल, अनन्त और शाश्वत सुख मिलता है। बाहुबली ने निःशल्य होकर जिनगुरु का ध्यान किया और पंचमुष्टियों से केशलोचन किया। बाहुबली दोनों हाथ लम्बे कर एक वर्ष तक मेरुपर्वत की तरह अचल और शान्त चित्त होकर खड़े रहे। महाकवि स्वयंभू ने सन्धि ४/१३ में तपोरत बाहुबली में थोड़ी-सी कषाय अर्थात् भरतभूमि पर खड़े रहने का परिज्ञान, का उल्लेख किया है, शल्य का नहीं। आचार्य जिनसेन कृत 'हरिवंशपुराण' (सर्ग ११/६८) में बाहुबली के एक वर्ष के प्रतिमायोग का उल्लेख मिलता है। इसी पद्य में बाहुबली के कैलाश पर्वत पर तपस्या करने का उल्लेख भी आया है। जैन पुराणों में हरिवंश पुराण ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसमें भरत एवं बाहुबली के युद्ध की निश्चित संग्राम भूमि अर्थात् वितता नदी के पश्चिम भाग का उल्लेख मिलता है। सम्भवतया हरिवंशपुराणकार ने ऐसा लिखते समय किसी प्राचीन कृति का आधार लिया होगा। बाहुबली के कैलाश पर्वत पर तपस्या करने के उल्लेख से यह सिद्ध हो जाता है कि तपोरत बाहुबली में शल्य-भाव की विद्यमानता परवर्ती लेखकों की कल्पना मात्र है। महाकवि पुष्पदन्त ने 'महापुराण' (१८/५/८) में बाहुबली के कैलाश पर्वत पर तपस्या करने का उल्लेख इस प्रकार किया है—'गए केलासु परायउ भयुबलि।' उन्होंने बाहुबली के चरित्र की विशेषता में 'खाविउं खम भूसणु गुणावतहं' और 'पइ जित्ति खमा वि खम भावें' जैसी काव्यात्मक सूक्तियां लिखकर उन्हें गुणवानों में सर्वश्रेष्ठ एवं क्षमाभूषण के रूप में समादृत किया है। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण (पर्व ३६/१३७) में सत्य ही कहा है कि तपोरत बाहुबली स्वामी रसगौरव, शब्दगौरव और ऋद्धिगौरव से युक्त थे, अत्यन्त निःशल्य थे और दश धर्मों के द्वारा उन्हें मोक्षमार्ग में दृढ़ता प्राप्त हो गई थी। इस प्रकार उपरोक्त पांचों जैन पुराणों के तुलनात्मक विवेचन से यह सिद्ध होता है कि तपोरत बाहुबली में शल्य भाव नहीं था।

भगवान् बाहुबली का कथानक जैन समाज में अत्यधिक लोकप्रिय रहा है। जैन धर्म की पौराणिक रचनाओं में बाहुबली स्वामी का प्रकरण बहुलता से मिलता है। प्रारम्भिक रचनाओं में यह कथानक संक्षेप में दिया गया है और परवर्ती रचनाओं में इसका क्रमशः विस्तार होता गया। भगवान् बाहुबली को धीर-वीर उदात्त नायक मानकर अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना हुई है। आधुनिक कन्नड़ भाषा के अग्रणी साहित्यकार श्री जी० पी० राजरत्नम् ने गोम्मट-साहित्य की विशेष रूप से ग्रन्थ-सूची तैयार की है, जिसमें कतिपय ऐसे ग्रन्थों का उल्लेख है, जिनकी जानकारी अभी भी अपेक्षित है। संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में निबद्ध 'अनन्त वे मधुर' और 'बाहुचन्द्रमा' से प्रायः अधिकांश विद्वान् अपरिचित हैं। पौराणिक मान्यताओं में भगवान् बाहुबली के स्वरूप के विशद विवेचन के लिए बाहुबली साहित्य का मन्थन अत्यावश्यक है। उदाहरण के लिए आचार्य रविषेण (ई० ६४३-६८०) ने 'पद्मपुराण' (पर्व ४/७७) में भगवान् बाहुबली को इस अवसर्पिणी काल का सर्वप्रथम मोक्षगामी बतलाया है—

ततः शिवपदं प्रापदायुषः कर्मणः क्षये। प्रथमं सोऽवसर्पिण्यां मुक्तिमार्गं व्यशोधयत् ॥

इसके विपरीत भगवान् बाहुबली के कथानक को जनमानस में प्रतिष्ठित कराने में अग्रणी आचार्य जिनसेन ने भगवान् ऋषभदेव के पुत्र सर्वज्ञ अनन्तवीर्य को इस अवसर्पिणी युग में मोक्ष प्राप्त करने के लिए सब से अग्रगामी (सर्वप्रथम मोक्षगामी) बतलाया है—"सबुद्धोऽनन्तवीर्यश्च सर्वेऽपि तापसास्तपसि स्थिताः। भट्टारकान्ते संबुद्धय महा प्राव्राज्यमास्थिता।" (आदिपुराण, पर्व २४/१८१)

जैन पुराण शास्त्र में इस प्रकार की समस्याओं के समाधान के लिए गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है। भगवान् बाहुबली को इस अवसर्पिणी युग का सर्वप्रथम मोक्षगामी स्वीकार करने के कुछ कारण यह हो सकते हैं कि बाहुबली का कथानक आदि युग से जन-जन की जिज्ञासा एवं मनन का विषय रहा है। जैन पुराणों में प्रायः परम्परा रूप में भगवान् ऋषभदेव की वन्दना की परिपाटी चली आ रही है। इस पद्धति का अनुकरण करते हुए प्रायः सभी पुराणकारों एवं कवियों ने तीर्थंकर ऋषभदेव की वन्दना के साथ भरत एवं बाहुबली प्रकरण का उल्लेख किया है। भगवान् बाहुबली की तपश्चर्या, केवलज्ञान लब्धि और मोक्ष का प्रायः सभी पुराणों में बहुलता से उल्लेख मिलता है। बाहुबली प्रथम कामदेव थे और उन्होंने चक्रवर्ती भरत से पहले मोक्ष प्राप्त किया था। इसी कारण उन्हें सर्वप्रथम मोक्षगामी भी कहा जाता है।

चक्रवर्ती सम्राट् भरत द्वारा पोदनपुर स्थित भगवान् बाहुबली की ५२५ धनुष ऊंची स्वर्ण निर्मित प्रतिमा का आख्यान श्रवणबेलगोल स्थित भगवान् गोम्मटेश की ऐतिहासिक मूर्ति के निर्माण का मुख्याधार है। इस लुप्तप्राय तीर्थ का गोम्मटदेव से विशेष सम्बन्ध रहा है। अजेय सेनापति चामुण्डराय द्वारा श्रवणबेलगोल में भगवान् बाहुबली की प्रतिमा के निर्माण से पूर्व के जैन साहित्य मे पोदनपुर की सुख-समृद्धि का उल्लेख बहुलता से मिलता है। इस महान् तीर्थ के माहात्म्य को देखते हुए पूज्यपाद देवनन्दि (लगभग ५०० ई०)ने निर्वाणभक्ति(तीर्थवन्दना संग्रह, पद्य २६) में इस तीर्थ की गणना सिद्ध क्षेत्र में की है। यदि निर्वाण भक्ति का यह अंश प्रक्षिप्त नही है तो पोदनपुर की गणना निश्चय ही प्राचीन तीर्थक्षेत्रों मे की जा सकती है।

एक जनश्रुति के अनुसार चक्रवर्ती सम्राट् भरत ने अपने अनुज बाहुबली की तपश्चर्या एवं मोक्षसाधना के उपलक्ष्य मे भगवान् गोम्मटेश की राजधानी पोदनपुर मे बाहुबली के आकार की ५२५ धनुष ऊची स्वर्ण प्रतिमा बनवाई थी। कालान्तर में प्रतिमा के निकटवर्ती क्षेत्र मे कुक्कुट सर्पों का वास हो गया और मूर्ति का नाम कुक्कुटेश्वर पड गया। कालान्तर मे मूर्ति लुप्त हो गई और उसके दर्शन केवल दीक्षित व्यक्तियो के लिए मन्त्र भक्ति से प्राप्य रह गये। जैनाचार्य जिनसेन (आदिपुराण के रचयिता से भिन्न लोककथाओ मे उल्लिखित अन्य) के मुखारविन्द से भगवान् बाहुबली की मूर्ति का वर्णन सुनकर सेनापति चामुण्डराय की माता काललदेवी ने मूर्ति के दर्शन की प्रतिज्ञा की। अपनी धर्मपरायणा पत्नी अजितादेवी से माता की प्रतिज्ञा के समाचार को जानकर चामुण्डराय परिवार जनो के साथ भगवान् गोम्मटेश की मूर्ति के दर्शनार्थ चल दिए। मार्ग मे उन्होंने श्रवणबेलगोल के दर्शन किए। रात्रि के समय उन्हे पद्मावती देवी ने स्वप्न मे कहा कि कुक्कुट सर्पों के कारण पोदनपुर के भगवान् गोम्मटेश के दर्शन सम्भव नही हैं किन्तु तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् गोम्मटेश तुम्हे इन्द्रगिरि की पहाडी पर दर्शन देंगे। चामुण्डराय की माता काललदेवी को भी ऐसा ही स्वप्न आया। सेनापति चामुण्डराय ने स्नान-पूजन से शुद्ध होकर चन्द्रगिरि की एक शिला से दक्षिण दिशा की तरफ मुख करके एक स्वर्ण-बाण छोडा जो बडी पहाडी (इन्द्रगिरि) के मस्तक की शिला मे जाकर लगा। बाण के लगते ही भगवान् गोम्मटेश्वर का मुख मंडल प्रकट हो गया। तदुपरान्त सेनापति चामुण्डराय ने कुशल शिल्पियों के सहयोग से अगणित राशि व्यय करके भगवान् गोम्मटेश की विश्वविख्यात प्रतिमा का निर्माण कराया। मूर्ति के बन जाने पर भगवान् के अभिषेक का विशेष आयोजन किया गया। अभिषेक के समय एक आश्चर्य यह हुआ कि सेनापति चामुण्डराय द्वारा एकत्रित विशाल दुग्ध राशि के रिक्त हो जाने पर भी भगवान् गोम्मटेश की मूर्ति की जंघा से नीचे के भाग पर दुग्ध गंगा नही उतर पाई। अभिषेक अपूर्ण रह गया। ऐसी स्थिति मे चामुण्डराय ने अपने गुरु अजितसेन से मार्गदर्शन की प्रार्थना की। आचार्य अजितसेन ने एक साधारण वृद्धा नारी गुल्लिकायाज्जि को भक्तिपूर्वक 'गुल्लिकायि'(फल का कटोरा) मे लाए गए दूध से भगवान् का अभिषेक करने की अनुमति दे दी। महान् गुल्लिकायाज्जि द्वारा फल के कटोरे मे अल्पमात्रा मे लाए गए दूध की धार से प्रतिमा का सर्वांग अभिषेक सम्पन्न हो गया और सेनापति चामुण्डराय का मूर्ति-निर्माण का दर्प भी दूर हो गया।

भगवान् गोम्मटेश की सातिशययुक्त प्रतिमा के निर्माण सम्बन्धी लोक साहित्य मे ऐतिहासिक तथ्यो का समावेश हो गया है। भक्तिपरक साहित्य अथवा दन्तकथाओं से इतिहास को पृथक् कर पाना सम्भव नहीं होता। उदाहरण के लिए इन्द्रगिरि पर सेनापति चामुण्ड-राय द्वारा भगवान् गोम्मटेश के विग्रह की स्थापना के उपरान्त भी श्री मदनकीर्ति (१२वी शताब्दी) ने पोदनपुर स्थित भगवान् गोम्मटेश की प्रतिमा के अतिशय का चमत्कारपूर्ण वर्णन इस प्रकार किया है—

> पादांगुष्ठनखप्रभासु भविनामाभान्ति पश्चाद् भवाः।
> यस्यात्मीयभवा जिनस्य पुरतः स्वस्योपवासप्रमाः॥
> अद्यापि प्रतिभाति पोदनपुरे यो वन्द्यवन्द्यः स वै।
> देवो बाहुबली करोतु बलवद् दिग्वाससां शासनम्॥ (मदनकीर्ति, तीर्थ वन्दन संग्रह, पृ० ३)

कवि के अनुसार पोदनपुर के भगवान् बाहुबली के चरणनखों में भक्तों को अपने पूर्व भवों के दर्शन होते हैं। इस सम्बन्ध मे कवि की रोचक कल्पना यह है कि दर्शको को उसके व्रतों की संख्या के अनुसार ही पूर्व भवों का ज्ञान हो पाता है।

मेरी निजी धारणा है कि इन्द्रगिरि स्थित भगवान् बाहुबली की कलात्मक प्रतिमा का निर्माण अनायास ही नही हो गया। इस प्रकार के भव्य निर्माण में शताब्दियों की साधना एव विचार मंथन का योग होता है। दक्षिण भारत में राष्ट्रकूट शासन के अन्तर्गत महान् धर्मगुरु आचार्यप्रवर वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र ने श्रुत साहित्य एवं जैन धर्म की अपूर्व सेवा की है। इन महान् आचार्यों की सतत साधना एवं अध्यवसाय से जैन सिद्धान्त ग्रन्थ एवं पौराणिक साहित्य का राष्ट्रव्यापी प्रचार-प्रसार हुआ। परमप्रतापी राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (प्रथम) की आचार्य वीरसेन एवं जिनसेन में अनन्य भक्ति थी। आचार्य जिनसेन स्वामी ने जीवन के उत्तरार्द्ध में आदिपुराण की रचना की। आदिपुराण

के ४२ पर्व पूर्ण होने पर उनका समाधिमरण हो गया। समाधिमरण से पूर्व ही उन्होंने भगवान् बाहुबली से सम्बन्धित पर्व ३४, ३५ और ३६ का प्रणयन कर लिया था। भगवान् बाहुबली के चरणों में अपनी आस्था का अर्घ्य समर्पित करते हुए उन्होंने (पर्व ३६/२१२) में भगवान् गोम्मटेश्वर की वन्दना करते हुए कहा था कि योगिराज बाहुबली को जो पुरुष हृदय मे स्मरण करता है उसकी अन्तरात्मा शान्त हो जाती है और वह निकट भविष्य में जिनेन्द्र भगवान् की अपराजेय विजयलक्ष्मी (मोक्षमार्ग) को प्राप्त कर लेता है—

जगति जयिनमेनं योगिनं योगिवर्यै-
रधिगतमहिमान मानितं माननीयैः।
स्मरति हृदि नितान्तं य. स शान्तान्तरात्मा
भजति विजयलक्ष्मीमाशु जैनीमजय्याम् ॥

आचार्य जिनसेन अपने युग के परमप्रभावक धर्माचार्य थे। तत्कालीन दक्षिण भारत के राज्यवंशों एवं जनसाधारण में उनका विशेष प्रभाव था। शक्तिशाली राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (प्रथम) ने सम्भवतया उन्हीं के प्रभाव से जीवन के अन्तिम भाग में दिगम्बरी दीक्षा ली थी। ऐसे महान् आचार्य एवं कवि के मानस पटल पर अंकित भगवान् बाहुबली की विशाल प्रतिमा को मूर्त रूप देने का विचार जैन धर्मावलम्बियों में निश्चित रूप से आया होगा। धर्मपरायण सम्राट् अमोघवर्ष (प्रथम) का अपने अधीनस्थ राजा बंकेय से विशेष स्नेह था। उदार सम्राट् ने राजा बंकेय द्वारा निर्मित जिनमन्दिर के लिए तलेमुर गांव का दान भी किया था। जैन धर्म परायण राजा बंकेय ने अपने पौरुष से बंकापुर नाम की राजधानी बनाई जो कालान्तर में जैन धर्म का एक प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र बन गयी। सम्राट् अमोघवर्ष (प्रथम) के पुत्र अकालवर्ष और राजा बंकेय के पुत्र लोकादित्य में प्रगाढ मैत्री थी। सम्राट् अकालवर्ष के राज्यकाल मे राजा लोकादित्य की साक्षी में उत्तरपुराण के पूर्ण हो जाने पर महापुराण की विशेष पूजा का आयोजन हुआ। उत्तरपुराण की पीठिका के आशीर्वचन में कहा गया है—महापुराण के चिन्तवन से शान्ति, समृद्धि, विजय, कल्याण आदि की प्राप्ति होती है। अतः भक्तजनों को इस ग्रन्थराज की व्याख्या, श्रवण, चिन्तवन पूजा, लेखन कार्य आदि की व्यवस्था मे रुचि लेनी चाहिए। परवर्ती राष्ट्रकूट नरेशों एव गंगवंशीय शासकों मे विशेष स्नेह सम्बन्ध रहा है। राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र चतुर्थ का गंगवंशीय राजा मारसिंह ने अभिषेक किया था। राजा इन्द्र चतुर्थ ने जीवन के अन्तिम भाग में सल्लेखना द्वारा श्रवणबेलगोल मे आत्मोत्सर्ग किया। गंगवंशीय राजा मारसिंह ने बंकापुर में आचार्य अजितसेन के निकट तीन दिन तक उपवास रखकर समाधिमरण किया था।

बंकापुर के सांस्कृतिक केन्द्र की गतिविधियों का नियमन आचार्य अजितसेन के यशस्वी मार्गदर्शन मे होता था। उनके अगाध पांडित्य के प्रति दक्षिण भारत के राज्यवंशों में विशेष सम्मान भाव था। गंगवंशीय राजा मारसिंह, राजा राचमल्ल (चतुर्थ), सेनापति चामुण्डराय एवं महाकवि रन्न उनके प्रमुख शिष्य थे। आचार्य जिनसेन की प्रेरणा से स्थापित बंकापुर के सांस्कृतिक केन्द्र मे महापुराण के महातपी बाहुबली भगवान् की तपोरत विराट् मूर्ति के निर्माण का विचार निरन्तर चल रहा था।

सेनापति चामुण्डराय ने अपने प्रतापी शासक राजा मारसिंह की समाधि के समय सम्भवतया भगवान् बाहुबली की विशाल प्रतिमा के निर्माण का स्वप्न लिया होगा। दक्षिण भारत के शिल्पियो को संगठित करने मे जैन धर्म के यापनीय संघ की प्रभावशाली भूमिका रही है। इस महान् मूर्ति के निर्माण की सकल्पना मे आदिपुराण को साकार करने के लिए समर्थ आचार्य अजितसेन और आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती का वरद्हस्त सेनापति चामुण्डराय को उपलब्ध था। आचार्य जिनसेन की परिकल्पना से भगवान् गोम्मटेश्वर का प्रबल पाषाण पर मूर्त्यांकन आरम्भ हो गया। आचार्यद्वय—अजितसेन एव नेमिचन्द्र की कृपा से भगवान् गोम्मटेश की लोकोत्तर मूर्ति का निर्माण सम्भव हुआ और इस प्रकार अपराजेय सेनापति चामुण्डराय की धनलक्ष्मी भगवान् गोम्मटेश के चरणों मे सार्थक हुई।

माता गुल्लिकायाज्जि को भगवान् गोम्मटेश्वर के मस्तकाभिषेक के अवसर पर असाधारण गौरव देने मे भी सम्भवतया कुछ ऐतिहासिक कारण रहे हैं। दक्षिण भारत में यापनीय सघ के आचार्यों का अनेक राज्यवंशो एव जनसाधारण पर अपने असाधारण कृतित्व का प्रभुत्व रहा है। कन्नड भाषा के प्रारम्भिक अभिलेखों में यापनीय सघ के साधुओं का अनेकश उल्लेख मिलता है। इस सम्प्रदाय मे अनेक प्रतिभाशाली आचार्य एवं कवि हुए हैं, जिन्होंने सस्कृत, प्राकृत, कन्नड आदि भाषा मे शताधिक प्रतिष्ठित ग्रन्थो की रचना की है। यापनीय सघ के उदार आचार्य लोकजीवन के प्रति उन्मुख रहे हैं। परिवेश से दिगम्बर रहते हुए भी वे नारी मुक्ति के पक्षधर थे। सम्भवतया इन्हीं आचार्यों के सांस्कृतिक प्रभाव से दक्षिण भारत मे नारी जाति को पूजा-अनुष्ठान मे विशेष गौरव प्राप्त हुआ। भगवान् गोम्मटेश के महामस्तकाभिषेक मे गुल्लिकायाज्जि का अभिषेक जल समग्र नारी जाति के भक्ति भाव का प्रतीक है।

भगवान् गोम्मटेश्वर के विग्रह के यशस्वी निर्माता राजा चामुण्डराय अनेक युद्धों के विजेता थे। उन्होंने अपने स्वामी राजा मारसिंह एवं राजा राचमल्ल (चतुर्थ) के लिए अनेक युद्ध किए थे। उनके पराक्रम से शत्रु भयभीत हो जाते थे। त्यागब्रह्मदेव स्तम्भ पर उत्कीर्ण एक

पाषाण लेख (१०६/२८१) में उनके कुल एवं विजय अभियानों का ऐतिहासिक विवरण इस प्रकार मिलता है—

ब्रह्म-क्षत्र-कुलोदयाचल-शिरोभूषामणिर्भानुमान् ।
ब्रह्म-क्षत्रकुलाब्धि-वर्द्धन-यशो-रोचिस्सुधा-दीधितिः ।
ब्रह्म-क्षत्र-कुलाकराचल-भव-श्री-हार वल्लीमणिः
ब्रह्म-क्षत्र-कुलाग्निचण्डपवनश्चामुण्डराजोऽजनि ।
कल्पान्त-क्षुभिताब्धि-भीषण-बलं पातालमल्लानुजम्
जेतुं वज्जिवलदेवमुद्यतभुजस्येन्द्र-क्षितीन्द्राज्ञया ।
पत्युश्री जगदेकवीर नृपतेर्जैत्र-द्विपस्याग्रतो
धावद्दन्तिनि यत्र भग्नमहितानीकं मृणालीकवत् ।
अस्मिन् दन्तिनि दन्त-वज्र-दलित-द्विट्-कुम्भि-कुम्भोपले
वीरोत्तंस-पुरोनिषादिनि रिपु-व्यालांकुशे च त्वयि ।
स्यात्कोनाम न गोचरप्रतिनृपो मद्बाण-कृष्णोरग-
ग्रासस्येति नोलम्बराजसमरे यः श्लाघितः स्वामिना ।
खातःक्षार-पयोधिरस्तु परिधिश्चास्तु त्रिकूटस्पुरी
लंकास्तु प्रतिनायकोऽस्तु च सुराराातिस्तथापि क्षमे ।
तं जेतु जगदेकवीर-नृपते त्वत्तेजसेतिक्षणात्-
निर्व्यूढं रणसिंग-पार्त्थिव-रणे येनोर्जितं गर्जितम् ।
वीरस्यास्य रणेषु भूरिषु वय कण्ठग्रहोत्कण्ठया
तप्तास्सम्प्रति लब्ध-निर्वृतिरसास्त्वत्खड्ग-धाराम्भसा ।
कल्पान्त रणरगसिंग-विजयी जीवेति नाकांगना
गीर्व्वाणी-कृत-राज-गन्ध-करिणे यस्मै वितीर्व्वाशिषः ।
आक्रष्टुं भुज-विक्रमादभिलषत् गंगाधिराज्य-श्रिय
येनादौ चलदंक-गंगनृपतिर्व्यर्त्थाभिलाषीकृतः ।
कृत्वा वीर-कपाल-रत्न-चषके वीर-द्विषश्शोणितम्
पातु कौतुकिनश्च कोणप-गणाःपूर्णाभिलाषीकृताः ।

धर्मपरायण माननीय श्री हर्गडे जी(लगभग ई० १२००) ने इसी स्तम्भ पर यक्ष देवता की मूर्ति का निर्माण कराने के लिए इस दुर्लभ अभिलेख को तीन ओर से घिसवा दिया। किन्तु श्री हर्गडे जी के इस भक्तिपरक अनुष्ठान के कारण इस शिलालेख के महत्त्वपूर्ण अंश लुप्त हो गए हैं। परिणामस्वरूप जैन समाज महान् सेनानायक चामुण्डराय और गोम्मट विग्रह के निर्माण की प्रामाणिक जानकारी से वंचित रह गया है। चामुण्डराय के पुत्र आचार्य अजितसेन के शिष्य जिनदेवण ने लगभग १०४० ई० में श्रवणबेलगोल में एक जैन मन्दिर (अभिलेख ६७ (१२१)) बनवाकर अपने यशस्वी पिता की भांति भगवान् गोम्मटेश के चरणों मे श्रद्धा अर्पित की थी। आचार्य अजितसेन की यशस्वी शिष्य परम्परा कनकनन्दि, नरेन्द्रसेन (प्रथम), त्रिविधचक्रेश्वर, नरेन्द्रसेन, जिनसेन और उभयभाषा चक्रवर्ती मल्लिषेण की श्रवणबेलगोल के विकास एवं संरक्षण में रुचि रही है।

श्रवणबेलगोल स्थित भगवान् गोम्मटस्वामी की नयनाभिराम प्रतिमा अपने निर्माणकाल से ही जन-जन की आस्था के प्रतीक रूप में सम्पूजित रही है। एक लोककथा के अनुसार स्वर्ग के इन्द्र एवं देवगण भी इस अद्वितीय प्रतिमा की भुवनमोहिनी छवि के दर्शन के निमित्त भक्ति भाव से पृथ्वी की परिक्रमा करते हैं। भगवान् गोम्मटस्वामी के विग्रह के निर्माण में अग्रणी सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ने कर्मकाण्ड की गाथा सं० ६६६ मे भगवान् बाहुबली स्वामी की विशाल प्रतिमा के लोकोत्तर स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि उसे सर्वार्थसिद्धि के देवों ने और सर्वावधि-परमावधिज्ञान के धारी योगियों ने दूर से देखा।

इन्द्रगिरि पर स्थित भगवान् गोम्मटेश की तपोरत प्रतिमा के चरणों में अपनी भक्ति का अर्घ्य समर्पित करते हुए आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने कहा है—

उपाहिमुत्तं धनधाम-वज्जियं,
सुसम्मजुत्त मय-मोहहारयं।
वस्सेय पज्जंतमुववास-जुत्तं,
तं गोमटेस पणमामि णिच्चं ।। (गोम्मटेस-थुदि, पद स० ८)

अर्थात् समस्त उपाधियों से मुक्त होकर, धनधाम आदि सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़कर, मद-मोह आदि विकारों को निरस्त करके, सुखद समभाव से परिपूरित हो, जिन्होंने एक वर्ष का उपवास किया, उन भगवान् गोम्टेश्वर का मैं नित्य नमन करूँ।

दक्षिण भारत मे कर्नाटक राज्य के उदार होयसल वंशी नरेशो के राज्यकाल मे जैनधर्म का विशेष संरक्षण हुआ। होयसल नरेश राजा विनयादित्य का समय भारतीय इतिहास में 'जैन मन्दिरों के निर्माण का स्वर्णयुग' माना जाता है। श्रवणबेलगोल से प्राप्त एक अभिलेख [लेख सं० ५३ (१४३)]मे कहा गया है कि उन्होंने कितने ही तालाब व कितने ही जैनमन्दिर निर्माण कराये थे। यहाँ तक कि ईंटों के लिए जो भूमि खोदी गई वहाँ तालाब बन गये, जिन पर्वतो से पत्थर निकाला गया वे पृथ्वी के समतल हो गये, जिन रास्तो से चूने की गाड़ियाँ निकली वे रास्ते गहरी घाटियाँ हो गये। इसी वंश के प्रतापी राजा विष्णुवर्धन(ई० ११०६ से ११४१)के राज्यकाल मे होयसलेश्वर एवं शांतलेश्वर के विश्व प्रसिद्ध शिवालयो का निर्माण हुआ। उपरोक्त मन्दिरों के लिए विशाल नदी-मण्डप बनाए गए। सैकड़ो शिल्पियो के संयुक्त परिश्रम से कई मास मे नन्दियों की मूर्ति बनकर तैयार हुई। विशाल नन्दियों की मूर्ति को बैलगाड़ियों और वाहनो द्वारा देवालय तक ले जाना असम्भव था। नवनिर्मित नन्दी की प्रतिमाएँ मन्दिर तक कैसे पहुंची इसका रोचक विवरण श्री के० वी० अय्यर ने 'शान्तला' मे एक स्वप्न-कथा के रूप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"देव, नन्दी-पत्थर के नन्दी चले आ रहे हैं ! वे जीवित हैं ! उनका शरीर सोने के समान चमक रहा है ! वहाँ जो प्रकाश फैला है, वह नन्दियो के शरीर की कांति ही है। प्रभो, उनकी आखें क्या हैं, जलते हुए अंगारे हैं ! हम लोगो ने जो कुछ देखा, वही निवेदन कर रहे हैं। महा-प्रभो, इसमे कोई अतिशयोक्ति नहीं है। यदि यह असत्य हो, तो हम अपने सिर देने के लिए तैयार हैं। कैसा आश्चर्य है ! पत्थर के नन्दी चले आ रहे हैं ! भगवान् बाहुबली स्वामी— विराट् शिला-प्रतिमा— स्वयं नन्दियों को चलाते आ रहे हैं ! अटारी पर खड़े होकर अपनी आँखों से हमने यह दृश्य देखा है ! फौरन ही आपके पास आकर समाचार सुना दिया है ! शिला-कृतियाँ जीवित हो उठी हैं—यह कैसा अद्भुत काल है ! अप्पा जी (नरेश विष्णुवर्धन) ने कहा—'तुम लोग धन्य हो कि सबसे पहले ऐसे दृश्य को देखने का सौभाग्य प्राप्त किया ! जाओ, सबको यह संतोष का समाचार सुनाओ कि जीवित नन्दी पैदल चले आ रहे हैं और भगवान् बाहुबली उन्हें चलाते आ रहे हैं।

जब उपस्थित लोगो को यह मालूम हुआ, तब उनके आनन्द की सीमा न रही। उन्नत सौधाग्रो तथा वृक्षो के शिखरों पर चढ़कर लोग इस दृश्य को देखने लगे। लगभग तीन कोस की दूरी पर भगवान् बाहुबली—श्रवणबेलगोल के गोम्मटेश्वर स्वामी—नन्दियों को चलाते आ रहे थे। महोन्नत शिलामूर्ति जो कि बारह पुरुषो के आकार-सी बड़ी है—एक सजीव, सौम्य पुरुष के रूप मे दिखाई दे रही थी। गोम्मटेश्वर के प्रत्येक कदम पर धरती काँपने लगती थी। उनके पद-तल मे जितने लता-गुल्म पड़ते थे, चूर-चूर हो जाते थे। अहंकार की भाँति जमीन के ऊपर सिर उठाये हुए शिला खण्ड भगवान् बाहुबलि के पदाघात से भूमि मे धँस जाते थे। नन्दियो के बदन से सोने की-सी छवि छिटकती थी। उनके गले मे बँधे हुए, पीठ पर लटकते हुए नाना प्रकार के छोटे-बड़े घंटे, कमर पर, बगल मे, पैरों मे लगे हुए घुंघरू मधुर निनाद कर रहे थे, जिनकी प्रतिध्वनि कानन मे सर्वत्र गूंज रही थी। × × ×

वे नन्दी ! दीदी, सुनहले रंग के नन्दी। मेरु पर्वत की भाँति उन्नत, पुष्ट, उत्तम आभरणों से सजे हुए नन्दियो का परम सौम्य एवं सुन्दर भगवान् बाहुबली का चलाते हुए आना ऐसा भव्य दृश्य था जिसकी महत्ता का परिचय उसे स्वयं देखने पर ही हो सकता है। शब्दों से उसका वर्णन करना सचमुच असंभव ही है। लोग परस्पर कहने लगे—'इससे बढ़कर पुण्य का दृश्य और कहाँ देखने को मिलेगा ! इसे देखकर हमारी आँखें धन्य हुईं। मरते दम तक मन मे इस दृश्य को रखकर जी सकते हैं।' × × ×

बाहुबली स्वामी नन्दियों को देवालय के महाद्वार तक चलाते आये। तब अप्पाजी, तुम, छोटी दीदी, मैं तथा उपस्थित सब लोगों ने आनन्द तथा भक्ति से हाथ जोड़कर बाहुबली तथा नन्दियो के चरणों पर सिर रखकर प्रणाम किया। महाद्वार के ऊपर से लोगो ने पुष्पों से महाबलि स्वामी का मस्तकाभिषेक किया।" (पृ० २३२, २३३, २४०)

प्रस्तुत अंश के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि भगवान् बाहुबली जैन एवं जैनेतर धर्मों के परमाराध्य पुरुष के रूप मे शताब्दियों से वन्दनीय रहे हैं। शैव मन्दिर के निर्माण की परिकल्पना मे भगवान् बाहुबली का भक्ति एवं श्रद्धा से स्मरण और उनका सुगन्धित पुष्पों से देवालय के महाद्वार पर पुष्पाभिषेक यह सिद्ध करता है कि भगवान् बाहुबली जैन समाज के ही नहीं अपितु सम्पूर्ण कर्नाटक राज्य की

अर्चा के प्रमुख देवपुरुष रहे हैं। सम्राट् विष्णुवर्धन के प्रतापी सेनापति ने विषम परिस्थितियों में भी होयसल राज्य की कीर्ति-पताका के लिए कठोर श्रम किया था। शांतला के लेखक श्री के० वी० अय्यर के अनुसार—

"पत्तों की आड़ में छिपे हुए सुगन्धित पुष्प की भाँति गंगराज ने होयसल राज्य का निर्माण करके सिंहासन पर स्वयं न बैठकर राज्य की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए निरन्तर कष्ट उठाया और अपनी कीर्ति होयसल राज्य को दान करके निष्काम कर्मी कहलाकर वे परम पद को प्राप्त हुए।" इन्हीं महान् गंगराज ने गोम्मटेश्वर का परकोटा बनवाया, गंगवाडि परगने के समस्त जिन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया, तथा अनेक स्थानों पर नवीन जिनमन्दिर निर्माण कराये। प्राचीन कुन्दकुन्दान्वय के वे उद्धारक थे। इन्हीं कारणों से वे चामुण्डराय से भी सौगुणे अधिक धन्य कहे गये हैं।

राजा विष्णुवर्धन के उत्तराधिकारी नरसिंह प्रथम (ई० ११४१ से ११७२) अपनी दिग्विजय के अवसर पर श्रवणबेलगोल आए और गोम्मट देव की विशेष रूप से अर्चा की। उन्होंने अपने विशेष सहायक पराक्रमी सेनापति एवं मन्त्री हुल्ल द्वारा बेलगोल में निर्मित चतुर्विंशति जिनमन्दिर का नाम 'भव्यचूडामणि' कर दिया और मन्दिर के पूजन, दान तथा जीर्णोद्धार के लिए 'सवणेरु' ग्राम का दान कर भगवान् गोम्मटेश के चरणों में अपने राज्य की भक्ति को अभिव्यक्त किया। मन्त्री हुल्ल ने नरेश नरसिंह प्रथम की अनुमति से गोम्मटपुर के तथा व्यापारी वस्तुओं पर लगने वाले कुछ कर (टैक्स) का दान मन्दिर को कर दिया। होयसल राज्य के विघटन पर दक्षिण भारत में विजयनगर एक शक्तिशाली राज्य के रूप मे उदित हुआ। प्रजावत्सल विजयनगर नरेशों के राज्यकाल मे राज्य की विशेष समृद्धि हुई। विजयनगर नरेश सर्वधर्म सद्भाव की परम्परा मे अटूट आस्था रखते थे। उनके राज्यकाल मे एक बार जैन एवं वैष्णव समाज मे गम्भीर मतभेद हो गया। जैनियों में से आनेयगोण्डि आदि नाडुओं ने राजा बुक्काराय से न्याय के लिए प्रार्थना की। राजा ने जैनियों का हाथ वैष्णवों के हाथ पर रखकर कहा कि धार्मिकता मे जैनियों और वैष्णवों मे कोई भेद नहीं है। जैनियों को पूर्ववत् ही पञ्चमहावाद्य और कलश का अधिकार है। जैन दर्शन की हानि व वृद्धि को वैष्णवों को अपनी ही हानि व वृद्धि समझना चाहिए। न्यायप्रिय राजा ने श्रवणबेलगोल के मन्दिरों की समुचित प्रबन्ध व्यवस्था और राज्य मे निवास करने वाले विभिन्न धर्मों के अनुयायियों मे सद्भावना की कड़ी को जोड़कर भगवान् गोम्मटेश के चरणों में श्रद्धा के सुमन अर्पित किए थे। वास्तव में भगवान् गोम्मटेश राष्ट्रीय एकता एवं विश्वबन्धुत्व के अनुपम उपमेय हैं।

मैसूर राज्यवंश आरम्भ से ही भगवान् गोम्मटेश की असीम भक्ति के लिए विख्यात रहा है। इस तीर्थ की प्रबन्ध व्यवस्था एवं विकास में मैसूर नरेशों, मन्त्रियों, राज्य अधिकारियों एवं जनसाधारण का विशिष्ट सहयोग रहा है।

श्रवणबेलगोल के मन्दिरों पर आई भयंकर विपदा को अनुभव करते हुए मैसूर नरेश चामराज ओडेयर ने बेलगोल के मन्दिरों की जमीन को ऋण से मुक्त कराया था। एक विशेष आज्ञा द्वारा उन्होंने मन्दिर को रहन करने व कराने का निषेध किया था। श्रवणबेलगोल के जैन मठ के परम्परागत गुरु चारुकीर्ति जी तेलगु सामन्त के त्रास के कारण अन्य किसी स्थान पर सुरक्षा की दृष्टि से चले गये थे। मैसूर नरेश ने उन्हें ससम्मान वापिस बुलाया और पुनः मठ मे प्रतिष्ठित करके श्रवणबेलगोल की ऐतिहासिक परम्परा को प्राणवान् बनाया। जैन शिलालेख संग्रह मे संग्रहित अभिलेख ८४ (२५०), १४० (३५२), ४४४ (३६५), ८३ (२४९), ४३३ (३५३), ४३४ (३५४) मैसूर राज्यवंश की गोम्मटस्वामी मे अप्रतिम भक्ति के द्योतक हैं। मैसूर राज्यवंश एवं उसके प्रभावशाली जैनेतर पदाधिकारियों की भगवान् गोम्मटेश के चरणों मे अटूट आस्था का विवरण देते हुए श्वेताम्बर मुनि श्री शील विजय जी ने अपनी दक्षिण भारत की यात्रा (वि० सं० १७३१-३२) में लिखा है—

"मैसूर का राजा देवराय भोज सरीखा दानी है और मद्य-मांस से दूर रहने वाला है। उसकी आमदनी ६५ लाख की है। जिसमें से १८ लाख धर्म कार्य मे खर्च होता है। यहाँ के श्रावक बहुत धनी, दानी और दयापालक हैं। राजा के ब्राह्मण मंत्री विशालाक्ष (बेलाम्बुर पंडित) विद्या, विनय और विवेकयुक्त हैं। जैन धर्म का उन्हें पूरा अभ्यास है। जिनागमों की तीन बार पूजा करते हैं, नित्य एकाशन करते हैं और भोजन में केवल १२ वस्तुएँ लेते हैं। प्रतिवर्ष माघ की पूनों को गोम्मटस्वामी का एक सौ आठ कलशों से पंचामृत अभिषेक कराते हैं। बड़ी भारी रथ यात्रा होती है।" (नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य का इतिहास, पृ० ५५९)।

मैसूर राज्यवंश परम्परा से भगवान् बाहुबली के मस्तकाभिषेक मे श्रद्धा से रुचि लेता आया है। सन् १८२६ मे आयोजित मस्तकाभिषेक के अवसर पर संयोगवश श्रवणबेलगोल में महान् सेनापति चामुण्डराय के वंशज, मैसूर नरेश कृष्णराज ओडेयर के प्रधान अंगरक्षक की मृत्यु हो गई थी। उनके पुत्र पुट्ट देवराज अरसु ने अपने पिता की पावन स्मृति मे गोम्मटस्वामी की वार्षिक पाद पूजा के लिए उक्त तिथि को १०० 'वरह' का दान दिया। गोम्मटेश्वर तीर्थक्षेत्र की पूजा-अर्चा आदि के लिए इसी प्रकार से अनेक भक्तिपरक अभिलेख श्रवणबेलगोल से प्राप्त होते हैं।

श्रवणबेलगोल स्थित भगवान् गोम्मटस्वामी की विशाल एवं उत्तुंग प्रतिमा का रचनाशिल्प एवं कला कौशल दर्शनार्थियों को

मन्त्रमुग्ध कर देता है। ऐसी स्थिति मे कला प्रेमियों को अनायास जिज्ञासा होती है कि आज से लगभग १००० वर्ष पूर्व भगवान् बाहुबली की इतनी विराट् मूर्ति का निर्माण कैसे किया गया होगा, किस प्रकार इस विशालकाय मूर्ति को पर्वत पर लाया गया होगा और कैसे इसे पर्वत पर स्थापित किया गया होगा। इन्द्रगिरि पर्वत पर स्थित भगवान् गोम्मटेश्वर की प्रतिमा के निर्माण, कला-कौशल, रचना-शिल्प आदि के सम्बन्ध मे महान् पुरातत्ववेत्ता श्री के० आर० श्रीनिवासन् द्वारा प्रस्तुत शोधपूर्ण जानकारियां अत्यन्त उपादेय हैं। विद्वान् लेखक ने भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'जैन कला एवं स्थापत्य' खण्ड २ के अन्तर्गत 'दक्षिण भारत' (६०० से १००० ई०) की मूर्ति कला का विवेचन करते हुए अपनी मान्यताओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"श्रवणबेलगोल की इन्द्रगिरि पहाड़ी पर गोम्मटेश्वर की विशाल प्रतिमा मूर्तिकला मे गंग राजाओं की और, वास्तव में, भारत के अन्य किसी भी राजवंश की महत्तम उपलब्धि है। पहाडी की १४० मीटर ऊंची चोटी पर स्थित यह मूर्ति चारों ओर से पर्याप्त दूरी से ही दिखाई देती है। इसे पहाडी की चोटी के ऊपर प्रक्षिप्त ग्रेनाइट की चट्टान को काटकर बनाया गया है। पत्थर की सुन्दर रवेदार उकेर ने निश्चय ही मूर्तिकार को व्यापक रूप से संतुष्ट किया होगा। प्रतिमा के सिर से जांघों तक अंग-निर्माण के लिए चट्टान के अवांछित अंशों को आगे, पीछे और पार्श्व से हटाने मे कलाकार की प्रतिभा श्रेष्ठता की चरम सीमा पर जा पहुची है। × × × × पार्श्व के शिलाखण्डों मे चींटियों आदि की बांबियां अंकित की गयी हैं और कुछेक मे से कुक्कुट-सर्पों अथवा काल्पनिक सर्पों को निकलते हुए अंकित किया गया है। इसी प्रकार दोनों ही ओर निकलती हुई माधवी लता को पांव और जांघो से लिपटती और कंधो तक चढ़ती हुई अंकित किया गया है, जिनका अंत पुष्पों या बेरियों के गुच्छों के रूप मे होता है। × × × यह अंकन किसी भी युगके सर्वोत्कृष्टअंकनों मे से एक है। नुकीली और संवेदनशील नाक, अर्धनिमीलित ध्यानमग्न नेत्र, सौम्यस्मित-ओष्ठ, किंचित् बाहर को निकली हुई ठोडी, सुपुष्ट गाल, पिण्डयुक्त कान, मस्तक तक छाये हुए घुंघराले केश आदि इन सभी से आकर्षक, वरन् देवात्मक, मुखमण्डल का निर्माण हुआ है। आठ मीटर चोडे बलिष्ठ कंधे, चढ़ाव-उतार रहित कुहनी और घुटनो के जोड़, संकीर्ण नितम्ब जिनकी चौड़ाई सामने से तीन मीटर है और जो बेडौल और अत्यधिक गोल हैं, ऐसे प्रतीत होते हैं मानो मूर्ति को संतुलन प्रदान कर रहे हो, भीतर की ओर उरेखित नालीदार रीढ़, सुदृढ और अडिग चरण, सभी उचित अनुपात मे, मूर्ति के अप्रतिम सौंदर्य और जीवन्तता को बढ़ाते हैं, साथ ही वे जैन मूर्तिकला की उन प्रचलित परम्पराओं की ओर भी सकेत करते हैं जिनका दैहिक प्रस्तुति से कोई सम्बन्ध न था— कदाचित् तीर्थंकर या साधु के अलौकिक व्यक्तित्व के कारण, जिनके लिए मात्र भौतिक जगत् का कोई अस्तित्व नहीं। केवली के द्वारा त्याग की परिपूर्णता-सूचक प्रतिमा की निरावरणता, दृढ़ निश्चयात्मकता एवं आत्मनियन्त्रण की परिचायक खड्गासन-मुद्रा और ध्यानमग्न होते हुए भी मुखमण्डल पर झलकती स्मिति के अकन मे मूर्तिकार की महत् परिकल्पना और उसके कला-कौशल के दर्शन होते हैं। सिर और मुखाकृति के अतिरिक्त हाथो, उंगलियो, नखो, पैरो तथा एड़ियों का अकन इस कठोर दुर्गम चट्टान पर जिस दक्षता के साथ किया गया है, वह आश्चर्य की वस्तु है। सम्पूर्ण प्रतिमा को वास्तव मे पहाडी की ऊंचाई और उसके आकार-प्रकार ने संतुलित किया है तथा परम्परागत मान्यता के अनुसार जिस पहाडी चोटी पर बाहुबली ने तपश्चरण किया था वह पीछे की ओर अवस्थित है और आज भी इस विशाल प्रतिमा को पैरो और पार्श्वों के निकट आधार प्रदान किये हुए है, अन्यथा यह प्रतिमा और भी ऊंची होती। जैसा कि फर्ग्युसन ने कहा है: 'इससे महान और प्रभावशाली रचना मिश्र से बाहर कहीं भी अस्तित्व मेनही है और वहा भी कोई ज्ञात प्रतिमा इसकी ऊँचाई को पार नही कर सकी है।' × × × इसके अतिरिक्त है समूचे शरीर पर दर्पण की भांति चमकती पालिश जिससे भूरे-स्वेत ग्रेनाइट प्रस्तर के दाने भव्य हो उठे है, और भव्य हो उठी है इसमें निहित सहस्र वर्ष से भी अधिक समय से विस्मृत अथवा नष्टप्राय वह कला जिसे सम्राट् अशोक और उसके प्रपौत्र दशरथ के शिल्पियों ने उत्तर भारत मे गया के निकट बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों की आजीविक गुफाओ के सुविस्तृत अत. भागो की पालिश के लिए अपनाया था। × × × मूर्ति के शरीरांगों के अनुपात के चयन में मूर्तिकार पहाड़ी-चोटी पर निरावृत मूर्ति की असाधारण स्थिति से भली-भांति परिचित था। यह स्थिति उस अण्डाकार पहाडी की थी जो मीलों विस्तृत प्राकृतिक दृश्यावली से घिरी थी। मूर्ति वास्तविक अर्थ मे दिगम्बर होनी थी, अर्थात् खुला आकाश ही उसका वितान और वस्त्राभरण होने थे। मूर्तिकार को इस निस्सीम व्योम-वितान के नीचे अवस्थित कलाकृति को स्पष्ट रूप मे इस पृष्ठभूमि के अंतर्गत देखना होगा और वह भी दूरवर्ती किसी ऐसे कोण से जहां से समग्र आकृति दर्शक की दृष्टि-सीमा मे समाहित हो सके। ऐसे कोण से देखने पर ही शरीरांगों के उचित अनुपात और कलाकृति की उत्कृष्टता का अनुभव हो सकता है।" (पृष्ठ २२५-२२७)

गोम्मटेश्वर द्वार के बायीं ओर एक पाषाण पर अंकित शिलालेख ८५ (२३४) मे कन्नड कवि बोप्पण 'सुजनोत्तम' ने भगवान् गोम्मटेश्वर के अलौकिक विग्रह के निर्माण, रचना-कौशल, जनश्रुतियो आदि का हृदयग्राही विवेचन किया है। बत्तीस पद्यों में प्रस्तुत की गई यह काव्यात्मक प्रशस्ति वास्तव मे कविराज बोप्पण के मुख मे प्राकृतिक रूप से स्थित बत्तीस दातो की सम्मिलित पूजा है। भगवान् गोम्मटेश की कलात्मक प्रतिमा की प्रशसा मे कवि का कला प्रेमी मन इस प्रकार से अभिव्यक्त हुआ है—

अतितुंगाकृतिया दोडागददरोल्सौन्दर्यमौन्नत्यमु
गुतसौन्दर्यमुमागे मत्तातिशयंतानागदौन्नत्यमुं ।
गुतसौन्दर्यमुमूर्जितातिशयमुं तन्नल्लि निन्दिर्द्दु वें
क्षितिसम्पूज्यमो गोम्मटेश्वर जिनश्रीरूपमात्मोपमं ।

× × ×

मरेवुं पारवु मेले पक्षिनिवहं कक्षद्वयोद्देशदोल्
विसवुत्तुं पोरपोण्मुगुं सुरभिकाश्मीरारुणच्छायमी-
तेरदाश्चर्य्यमनीक्षिलोकद जनं तानेय्दे कण्डिर्द्दु दा-
र्म्मरैवर्म्मोद्भुते गोम्मटेश्वरजिनश्री मूर्त्तियं कीर्त्तिसल् ॥

अर्थात् 'जब मूर्ति बहुत बड़ी होती है तब उसमें सौन्दर्य प्राय: नहीं आता । यदि बड़ी भी हुई और सौन्दर्य भी हुआ तो उसमें दैवी प्रभाव का अभाव हो सकता है । पर यहां इन तीनों के मिश्रण से गोम्मटेश्वर की छटा अपूर्व हो गई है । कवि ने एक दैवी घटना का उल्लेख किया है कि एक समय सारे दिन भगवान् की मूर्ति पर आकाश से 'नमेरु' पुष्पों की वर्षा हुई जिसे सभी ने देखा । कभी कोई पक्षी मूर्ति के ऊपर होकर नहीं उड़ता । भगवान् की भुजाओं के अधोभाग से नित्य सुगन्ध और केशर के समान रक्त ज्योति की आभा निकलती रहती है ।

विगत एक सहस्राब्दी से भगवान् बाहुबली की अनुपम प्रतिमा जन-जन के लिए वन्दनीय रही है । दिग्विजयी सम्राटों, कुशल मन्त्रियों, शूरवीर सेनापतियों, मुसलमान राजाओं, अंग्रेज गवर्नर जनरल, देश-विदेश के कलाविदों एवं जनसाधारण ने इस मूर्ति में निहित सौन्दर्य की मुक्त कंठ से सराहना की है । कायोत्सर्ग मुद्रा में वह महान् मूर्ति जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति का सन्देश दे रही है । सुप्रसिद्ध कला-प्रेमी एवं चिन्तक श्री हेनरिक जिम्मर ने भगवान् गोम्मटेश की कलात्मक एवं आध्यात्मिक सम्पदा का निरूपण करते हुए लिखा है--

'आकृति एवं अंग-प्रत्यंग की संरचना की दृष्टि से यद्यपि यह प्रतिमा मानवीय है, तथापि अधर लटकती हिमशिला की भाँति अमानवीय, मानवोत्तर है, और इस प्रकार जन्म-मरण रूप संसार से, दैहिक चिन्ताओं से, वैयक्तिक नियति, इच्छाओं, पीड़ाओं एवं घटनाओं से सफलतया असंपृक्त तथा पूर्णतया अन्तर्मुखी चेतना की निर्मल अभिव्यक्ति है।···किसी अभौतिक अलौकिक पदार्थ से निर्मित ज्योतिस्तंभ की नाईं वह सर्वथा स्थिर, अचल और चरणों में नमित एवं सोत्साह पूजनोत्सव में लीन भक्त-समूह के प्रति सर्वथा निरपेक्ष पूर्णतया उदासीन बद्धासीन है।' (महाभिषेक स्मरणिका, पृ० १८५)

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की गौरवशाली परम्परा में राष्ट्रीय नेताओं एवं उदार धर्माचार्यों की प्रेरणा से भारतीय जन-मानस में प्राचीन भारत के गौरव के प्रति विशेष आकर्षण का भाव बन गया । स्वतन्त्र भारत में प्राचीन भारतीय विद्याओं के उन्नयन एवं संरक्षण के लिए विशेष प्रयास किए गए हैं । भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री श्री जवाहर लाल नेहरू का भारतीय विद्याओं एवं इतिहास से जन्मजात रागात्मक सम्बन्ध रहा है । महान् कलाप्रेमी श्री नेहरू ने ७ सितम्बर १९५१ को अपनी एकमात्र लाडली सुपुत्री इन्दिरा गांधी के साथ भगवान् गोम्मटेश की प्रतिमा के दर्शन किए थे । भगवान् गोम्मटेश के लोकोत्तर छवि के दर्शन से वह भाव-विभोर हो गए और उन गौरवशाली क्षणों में उन्हें अपने तन-मन की सुध नहीं रही । आत्मविस्मृति की इस अद्भुत घटना का उल्लेख करते हुए उन्होंने मठ की पुस्तिका में लिखा है— I came, I saw and left enchanted ! (मैं यहां आया, मैंने दर्शन किए और विस्मय-विमुग्ध रह गया !)

वास्तव में भारतीय कलाकारों ने इस अद्वितीय प्रतिमा में इस देश के महान् आध्यात्मिक मूल्यों का कुशलता से समावेश कर दिया है । इसीलिए इस प्रतिमा की शरण में आए हुए देश-विदेश के पर्यटक एवं तीर्थयात्री अपनी-अपनी भाषा एवं धर्म को विस्मरण कर विश्व-बन्धुत्व के उपासक बन जाते हैं । भगवान् गोम्मटेश की इस अलौकिक प्रतिमा ने विगत दस शताब्दियों से भारतीय समाज विशेषत: कर्नाटक राज्य की संस्कृति को प्राणवान् बनाने में अपूर्व सहयोग दिया है । भगवान् बाहुबली के इस अपूर्व जिन बिम्ब के कारण ही श्रवणबेलगोल राष्ट्रीय तीर्थ बन गया है । इस महान् कलाकृति के अवदान से प्रेरित होकर श्री न० स० रामचन्द्रैया ने विनीत भाव से लिखा है—

"बाहुबली की विशाल हृदयता को ही इस बात का श्रेय है कि सभी देशों और अंचलों से, उत्तरोत्तर बढ़ती हुई संख्या में, वहां आने वाले तीर्थ-यात्री भाषा तथा धर्म के भेदभाव को भूल जाते हैं । न केवल जैनों ने, बल्कि शैवों और वैष्णवों ने भी, यहां मन्दिर बनवाये हैं और इस जैन तीर्थ-स्थान को अनेक प्रकार से अलंकृत किया है । गोम्मट ही इस आध्यात्मिक साम्राज्य के चक्रवर्ती सम्राट् हैं । साहित्य एवं कला के साथ यहां धर्म का जो सम्मिश्रण हुआ है उसके पीछे इसी महामानव की प्रेरणा थी । कर्नाटक की संस्कृति में जो कुछ भी महान् है उस सबका

वह प्रतीक बन गया है। कालिदास कह गये हैं कि महान् लोगों की आकांक्षाएं भी महान् ही होती हैं—'उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना।' बाहुबली मानव-उत्कृष्टता के उच्चतम शिखर पर पहुंचे हुए थे। मानव इतिहास में इससे अधिक प्रेरणादायक उदाहरण और कोई नहीं मिल सकता। बोप्पण के वृत्त की एक पंक्ति यहां उद्धृत करने योग्य है। 'एमक्षिति सम्पूज्यमो गोम्मटेश्वर जिनश्रीरूप आत्मोपमम्!' इससे हमें वाल्मीकि की सुविदित उपमा का स्मरण हो आता है—'गगनं गगनाकारं सागरं सागरोपमम्।' गोम्मट की भव्य तथा विशाल उत्कृष्टता अद्वितीय है। (मैसूर, पृ० १४३)

भगवान् गोम्मटेश के इसी भव्य एवं उत्कृष्ट रूप के प्रति श्रद्धा अर्पित करने की भावना से देश की लोकप्रिय प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भगवान् बाहुबली सहस्राब्दी प्रतिष्ठापना समारोह के अवसर पर हेलीकाप्टर से गगन-परिक्रमा करते हुए भगवान् गोम्मटेश का सद्यजात सुगन्धित कुसुमों एवं मंत्र-पूत रजत-पुष्पों से अभिषेक किया था। इसी अवसर पर आयोजित एक विशाल सभा में भगवान् गोम्मटेश के चरणों में श्रद्धा अभिव्यक्त करते हुए उन्होंने इस महान् कला-निधि को शक्ति और सौन्दर्य का, बल का प्रतीक बतलाया था। महामस्तकाभिषेक के आयोजन की सस्तुति करते हुए उन्होंने इस अवसर को भारत की प्राचीन परम्परा का सुन्दर उदाहरण कहा था। भगवान् गोम्मटेश की विशेष वन्दना के निमित्त वह अपने साथ आस्था का अर्घ्य—चन्दन की माला, चांदी जड़ा श्रीफल और पूजन सामग्री ले गई थीं। उपर्युक्त सामग्री को आदरपूर्वक श्रवणबेलगोल के भट्टारक स्वामी को भेंट करते हुए उन्होंने कहा था—"इसे देश की ओर से और मेरी ओर से, अभिषेक के समय बाहुबली के चरणों में चढ़ा दीजिए।"

राष्ट्र की ओर से भगवान् बाहुबली के चरणों में नमन करती हुई श्रीमती इन्दिरा गांधी ऐसी लग रही थीं जैसे मूर्ति प्रतिष्ठापना के समय इन्द्रगिरि पर्वत पर जनसाधारण की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक हजार वर्ष पूर्व की पौराणिक माता गुल्लिकायाज्जी का अनायास ही अवतरण हो गया हो! वास्तव में माता गुल्लिकायाज्जी एवं लोकनायिका श्रीमती इन्दिरा गांधी भारत की समग्र चेतना का प्रतिनिधित्व करने वाली महान् महिलाएँ हुई हैं। इन दोनों नारीरत्नों द्वारा किए गए भक्तिपूर्वक अनुष्ठान में सम्पूर्ण राष्ट्र की निष्ठा स्वयमेव प्रस्फुटित हो रही है। भगवान् गोम्मटेश अब सिद्धालय में विराजमान हैं और रागभाव से अतीत हैं। अत: आयोजनपूर्वक पूजा-अर्चा का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु पूजा-अर्चा की स्थिति में साधक भगवान् गोम्मटेश की अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर अक्षय सुख का अर्जन कर लेता है। इसीलिए भगवान् गोम्मटेश का प्रेरक चरित्र शताब्दियों से लोकमानस की श्रद्धा का विषय रहा है।

[विशेष : प्रस्तुत निबन्ध में चर्चित शिलालेख जैन शिलालेख संग्रह (भाग एक) से उद्धृत किये गए हैं।]

बाहुबली स्तवन

आचार्यश्री जिनसेन स्वामी

(१)

सकलनृपसमाजे दृष्टिमल्लाम्बुयुद्धै-
विजितभरतकीर्तिर्यः प्रवव्राज मुक्त्यै ।
तृणमिव विगणय्य प्राज्यसाम्राज्यभारं,
चरमतनुधराणामग्रणीः सोऽवताद् वः ॥

(२)

भरतविजयलक्ष्मीर्जाज्वलच्चक्रमूर्त्या,
यमिनमभिसरन्ती क्षत्रियाणा समक्षम् ।
चिरतरमवधूतापत्रपापात्रमासी-
दधिगतगुरुमार्गं सोऽवताद् दोर्बली वः ॥

(३)

स जयति जयलक्ष्मीसंगमाशामवन्ध्यां
विदधदधिकधामा संनिधौ पार्थिवानाम् ।
सकलजगदगारव्याप्तकीर्तिस्तपस्या-
मभजत यशसे यः सूनुराद्यस्य धातुः ॥

(४)

जयति भुजबलीशो बाहुवीर्यं स यस्य
प्रथितमभवदग्रे क्षत्रियाणां नियुद्धे ।
भरतनृपतिनामा यस्य नामाक्षराणि
स्मृतिपथमुपयान्ति प्राणिवृन्दं पुनन्ति ॥

(५)

जयति भुजगवक्त्रोद्वान्तनिर्यद्गराग्निः
प्रशममसकृदापत् प्राप्य पादौ यदीयौ ।
सकलभुवनमान्यः खेचरस्त्रीकराग्रोद्-
ग्रथितविततवीरुद्वेष्टितो दोर्बलीशः ॥

(६)

जयतिभरतराजप्रांशुमौल्यग्ररत्नो-
पललुलितनखेन्दुः स्रष्टुराद्यस्य सूनुः ।
भुजगकुलकलापैराकुलैर्नाकुलत्वं
धृतिबलकलितो यो योगभृन्नैव भेजे ॥

(७)

शितिभिरलिकुलाभैराभुजं लम्बमानैः
पिहितभुजविटपो मूर्धजैर्वेल्लिताग्रैः ।
जलधरपरिरोधध्याममूर्ध्नेव भूध्रः
श्रियमपुषदनूनां दोर्बली यः स नोऽव्यात् ॥

(८)

स जयति हिमकाले यो हिमानीपरीतं
वपुरचल इवोच्चैर्बिभ्रदाविर्बभूव ।
नवघनसलिलौघैर्यश्च धौतोऽब्दकाले
खरघृणिकिरणानप्युष्णकाले विषेहे ॥

(९)

जगति जयिनमेनं योगिनं योगिवर्यै-
रधिगतमहिमानं मानितं माननीयैः ।
स्मरति हृदि नितान्तं यः स शान्तान्तरात्मा
भजति विजयलक्ष्मीमाशु जैनीमजय्याम् ॥

गोम्मटेश-थुदि

आचार्यश्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती

(१)

विसट्ट - कंदोट्ट - दलाणुयारं,
सुलोयण चंद-समाण-तुण्डं ।
घोणाजियं चम्पय-पुप्फसोहं,
तं गोम्मटेस पणमामि णिच्चं ।।

(२)

अच्छाय-सच्छं जलकंत-गंड,
आबाहु-दोलंत सुकण्णपास ।
गइंद-सुण्डुज्जल-बाहुदण्डं,
तं गोम्मटेस पणमामि णिच्च ।।

(३)

सुकण्ठ-सोहा-जियदिव्वसंखं,
हिमालयुद्दाम-विसाल-कंधं ।
सुपेॅक्ख-णिज्जायल-सुट्ठुमज्झं,
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं ।।

(४)

विंज्झायलग्गे-पविभासमाण,
सिहामणिं सव्व-सुचेदियाण ।
तिलोय-संतोसय-पुण्णचंदं,
गोम्मटेस पणमामि णिच्चं ।।

(५)

लयासमक्कंत - महासरीरं,
भव्वावलीलद्ध - सुकप्परुक्खं ।
देविंदविंदच्चिय पायपोम्मं,
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं ।।

(६)

दियंबरो यो ण च भीइ जुत्तो,
ण चांबरे सत्तमणो विसुद्धो ।
सप्पादि-जंतुप्फुसदो ण कंपो,
त गोम्मटेसं पणमामि णिच्च ।।

(७)

आसां ण ये पेॅक्खदि सच्छदिट्ठि,
सोक्खे ण वछा हयदोसमूलं ।
विरायभाव भरहे विसल्लं,
तं गोम्मटेस पणमामि णिच्चं

(८)

उपाहिमुत्त धण-धाम-वज्जियं,
सुसम्मजुत्त मय - मोहहारयं ।
वस्सेय पज्जंतमुववास - जुत्त,
त गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं ।।

लेखकानुक्रमणिका

(गणधराचार्य) कुन्थु सागर जी
(मुनि) कुन्दन ऋषि जी
कुन्दनलाल जैन
कुलानन्द भारतीय
(ब्र०) कुसुमबाई जैन
कृष्णचन्द्र पन्त
(प्रो०) कृष्णदत्त बाजपेयी
(डॉ०) कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध'
कृष्णमुरारि 'जिया'
(डॉ०) के० कृष्णामूर्ति
(डॉ०) के० जी० देशमुख
(डॉ०) के० सी० जैन
केवलचन्द एच० रावत
केशवराव पारखी
(डॉ०) कैलाश 'कमल'
(डॉ०) कैलाशचन्द्र जैन
(पं०) कैलाशचन्द्र शास्त्री
कैलाशपति मिश्र
खुर्शीद आलम खान
गंगाराम
(मुनि०) गिरीश जी महाराज
गुरप्रसाद कपूर
(आचार्यकल्प) ज्ञानभूषण जी
(आर्यिकारत्न) ज्ञानमती माता जी
चन्द्रकान्त बाली
(डॉ०) चन्द्रनारायण मिश्र
(क्षुल्लक) चन्द्रभूषण जी
(डॉ०) चन्द्रशेखर त्रिपाठी
चन्द्रशेखर प्रसाद
(डॉ०) चमनलाल जैन
(भट्टारक) चारुकीर्ति स्वामी जी
(डॉ०) चेतनप्रकाश पाटनी
जगत भंडारी
जगदम्बीप्रसाद यादव
जगन्नाथ प्रसाद
जगप्रवेश चन्द्र
जगबीर कौशिक
(पं०) जमुनाप्रसाद जैन शास्त्री
(डॉ०) जयकिशन प्रसाद खंडेलवाल
(क्षुल्लक) जयकीर्ति जी
जयप्रकाश अग्रवाल
जयप्रकाश 'जय'
(क्षुल्लक) जयभूषण जी
जयश्री जैन
जवाहरलाल भारत
जार्ज फर्नांडीस
जाहिद अली
जिनगौडा अप्पगौडा पाटिल
(आचार्य) जिनेन्द्र
जिनेन्द्र कुमार जैन
(मुनि) जिनेन्द्र वर्णी जी
(प्रो०) जी० आर० जैन
जी० एस० ढिल्लों
(प्रो०) जे० एल० शास्त्री
(श्रीमती) जे० के० गांधी
जे० के० जैन
(डॉ०) जे० डी० भोमज
जे० बी० खन्ना
जैनमती जैन
जैनेन्द्र कुमार
(महामहिम राष्ट्रपति, ज्ञानी) जैलसिंह जी
(डॉ०) ज्योतिप्रसाद जैन
(जस्टिस) टी० के० तुकोल
डालचन्द जैन
डी० पी० यादव
(प्रो०) डेविड पिंगरी
तन्न बाबू
ताराचन्द जैन
(डॉ०) तेजसिंह गौड
(पं०) दयाचन्द्र साहित्याचार्य
(डॉ०) दयानन्द भार्गव
दयानन्द योगशास्त्री
दरोगामल जैन
दामोदर चन्द्र
(डॉ०) दामोदर शास्त्री
(डॉ०) दुलीचन्द्र जैन
(मुनि) देवनन्दि जी
(डॉ०) देवनारायण शर्मा

(डॉ०) देवराज पथिक
(मुनि) देवेन्द्र शास्त्री जी
धनेन्द्र कुमार जैन
(ब्र०) धर्मचन्द शास्त्री
(राष्ट्रसन्त मुनि) नगराज जी
नगेन्द्र कुमार जैन बिलाला
(युवाचार्य महाप्रज्ञ मुनि) नथमल जी
(डॉ०) नन्दकिशोर उपाध्याय
नन्दकिशोर शर्मा
(स्वामी) नन्दनन्दनानन्द सरस्वती जी
नन्दलाल जैन
(पं०) नरेन्द्रकुमार न्यायतीर्थ
(डॉ०) नरेन्द्रनाथ त्रिपाठी
नरेन्द्र भानावत
नारायणचन्द पराशर
(प्रो०) नारायण वासुदेव तुंगार
(डॉ०) निजामुद्दीन
निर्मला जैन
निहालचन्द जैन
निहालसिंह जैन
नीरज जैन
नीरा जैन
नेमचन्द जैन
नेमिचन्द्र जैन 'विनम्र'
(मुनि) नेमिसागर जी महाराज
पन्नालाल जैन
(डॉ०) पन्नालाल जैन साहित्याचार्य
(मुनि) पार्श्वकीर्ति जी
(डॉ०) पी० एम० उपाध्ये
(प्रो०) पी० सी० जैन
पुरुषोत्तम जैन
पुरुषोत्तम दास काकोडकर
(उपाध्याय मुनि) पुष्कर जी
(डॉ०) पुष्पा गुप्ता
(डॉ०) पुष्पेन्द्र कुमार शर्मा
पूर्णचन्द्र जैन
प्यारेलाल खंडेलवाल
प्रकाशचन्द्र जैन
(डॉ०) प्रकाश सिंघई

प्रतापचन्द्र जैन
(डॉ०) प्रभा कुमारी
प्रभात जैन
(डॉ०) प्रभुदयाल अग्निहोत्री
(डॉ०) प्रमोदकुमार जैन
प्रमोद महाजन
(डॉ०) प्रमोद मालवीय
(डॉ०) प्रेमचन्द जैन
(वैद्य) प्रेमचन्द जैन
प्रेमचन्द जैन मादीपुरिया
(डॉ०) प्रेमचन्द रांवका
(डॉ०) प्रेमसुमन जैन
(पं०) फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
(प्रो०) बंसीधर भट्ट
(पं०) बलभद्र जैन
बलवन्तराय तायल
बाबूलाल पलंदी
(डॉ०) बालकृष्ण अकिंचन
(पं०) बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
बिशनस्वरूप रुस्तगी
बी० एन० पांडे
(डॉ०) बी० के० खादाबादी
(डॉ०) बी० के० सहाय
(मुनि) बुद्धिसागर जी
(डॉ०) ब्रजेन्द्रनाथ शर्मा
भँवरलाल नाहटा
भगतराम जैन
(डॉ०) भगवतीलाल राजपुरोहित
भदन्त आनन्द कौसल्यायन
(उपाध्याय मुनि) भरतसागर जी
(डॉ०) भरत सिंह
(सेठ सर) भागचन्द सोनी
(डॉ०) भागचन्द्र जैन
भारत सिंह
भीकूराम जैन
मदन पांडेय
मदन शर्मा 'सुधाकर'
मनफूल सिंह चौधरी
(डॉ०) मनोज पांडेय

महताब चन्द जैन
महताबसिंह जैन जौहरी
महावीरप्रसाद जैन
(डॉ०) महावीरसरन जैन
(मुनि) महेन्द्र कुमार जी
महेन्द्र कुमार जैन
(डॉ०) महेन्द्रकुमार 'निर्दोष'
(डॉ०) महेन्द्र सागर प्रचंडिया
(प्रो०) महेश तिवारी
मांगीलाल सेठी 'सरोज'
माणकचन्द नाहर
माधव श्रीधर रणदिवे
मानमल कुदाल
(डॉ०) मायारानी आर्य
मिश्रीलाल जैन
मिश्रीलाल पाटनी
मिश्रीलाल शाह जैन शास्त्री
(डॉ०) मुकुटबिहारी लाल अग्रवाल
मैंसी निशान्त
मोतीलाल विजय
(डॉ०) मोरेश्वर पराडकर
(डॉ०) मोहनचन्द
मोहन धारिया
(डॉ०) यज्ञदत्त शुक्ल
(पं०) यतीन्द्र कुमार वैद्यराज
युगेश जैन
(डॉ०) योगेन्द्रनाथ शर्मा 'अरुण'
योगेन्द्र मकवाणा
(डॉ०) रघुवीर वेदालंकार
(डॉ०) रतनचन्द जैन
(क्षुल्लक) रत्नकीर्ति जी
रमेशचन्द जैन
(डॉ०) रमेशचन्द जैन
(डॉ०) रमेशचन्द्र गुप्त
(डॉ०) रमेशचन्द्र मिश्र
(डॉ०) रमेश भाई लालन
(मुनि) रमेश शास्त्री जी
रमेश सी० जिणजिनागी
(डॉ०) रवीन्द्रकुमार जैन
(डॉ०) रवीन्द्र कुमार सेठ
(डॉ०) रवेलचन्द आनन्द
रवेश जमींदार
(मुनि) राकेश कुमार जी
(आचार्य) राजकुमार जैन
(पं०) राजकुमार शास्त्री
(डॉ०) राज बुद्धिराजा
(क्षुल्लिका) राजमती जी
राजमल पवैया
(प्रो०) राजाराम जैन
राजीव प्रचंडिया
(डॉ०) राजेन्द्रप्रकाश भटनागर
राजेन्द्रप्रसाद जैन (कम्मोजी)
(डॉ०) राधाचरण गुप्त
रामचन्द्र सारस्वत
(डॉ०) रामजी उपाध्याय
(डॉ०) रामजी सिंह
(डॉ०) राममूर्ति त्रिपाठी
(पं०) रामरत्न प्रभाकर शास्त्री
रामाश्रय प्रसाद सिंह
रामेश्वर नीखरा
(डॉ०) रियाज गाजियाबादी
रुचिरा गुप्ता
(डॉ०) ल० के० ओड
लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज'
(डॉ०) लक्ष्मीनारायण दुबे
लक्ष्मी निवास बिरला
(डॉ०) लालचन्द जैन
लालचन्द जैन एडवोकेट
लाल डहोमा
(डॉ०) लालबहादुर शास्त्री
(प०) वंशीधर व्याकरणाचार्य
वसन्तकुमार जैन
वसन्तकुमार जैन शास्त्री
वाचस्पति मौद्गल्य
(डॉ०) विजयकुमार मल्होत्रा
(डॉ०) विजयकुमार शर्मा
(डॉ०) विजय कुलश्रेष्ठ
(प्रो०) विजयेन्द्र स्नातक

विजेन्द्र कुमार जैन
(डॉ०) विद्याधर जोहरापुरकर
(एलाचार्य मुनि) विद्यानन्द जी महाराज
(डॉ०) विद्यावती जैन
(ब्र०) विद्युल्लता शाह
(डॉ०) विमल कुमार जैन
विमल कुमार जैन सोरया
(आचार्य) विमलसागर जी महाराज
(डॉ०) विलास ए० संगवे
(डॉ०) वी० एस० जैन
वीणा कुमारी
(डॉ०) वीणा गुप्ता
(पं०) वीरचन्द जैन
वीरेन्द्र सिंह
वृद्धिचन्द्र जैन
वेदप्रकाश गर्ग
(जगद्‌गुरु) शंकराचार्य जी (पुरी)
शकुन्तला जैन
शकुन्तला डी० चौगले
शरद्‌चन्द्र शास्त्री
शर्मनलाल जैन 'सरस'
शशिप्रभा जैन 'शशांक'
(डॉ०) शशिरानी अग्रवाल
(आचार्य) शांतिसागर जी
(डॉ०) शिवकुमार
(डॉ०) शिवचरण लाल जैन
शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी
(डॉ०) शोभनाथ पाठक
(डॉ०) शोभा मोवार
श्रीकृष्ण पाठक
श्रीचन्द चोरड़िया
श्रीपाल जैन कसेरे
(डॉ०) श्रीरंजन सूरिदेव
(डॉ०) श्रेयांस कुमार जैन
(आचार्यकल्प) श्रेयांस सागर जी
(प्रो०) संघसेन
संजयकुमार जैन
संतोष जैन
(पं०) संदीप कुमार जैन
(मुनि) संभवसागर जी
(डॉ०) सज्जन सिंह लिश्क
सतीश कुमार जैन
(डॉ०) सतीश कुमार भार्गव
(डॉ०) सत्यदेव मिश्र
(डॉ०) सत्यपाल नारंग
(डॉ०) सत्यप्रकाश बजरंग
सत्यप्रकाश मालवीय
(आचार्य) सन्मति सागर जी
(क्षुल्लक) सन्मति सागर 'ज्ञानानन्द' जी
समरब्रह्म चौधुरी
समरेन्दु कुंडु
सलेकचन्द जैन
(डॉ०) सागरमल जैन
(पं०) सिंहचन्द्र जैन शास्त्री
(क्षुल्लक) सिद्धसागर जी
सी० के० जैन
सुधा खाब्या
सुधीर कुमार जैन
सुधेश जैन
(सेठ) सुनहरीलाल जैन
(ब्र०) सुनीता शास्त्री
सुनील कुमार जैन
(डॉ०) सुन्दरलाल कथूरिया
(पं०) सुन्दर लाल जैन
(आचार्य) सुबल सागर जी महाराज
सुबोध कुमार जैन
सुमत प्रकाश जैन
सुमत प्रसाद जैन
सुमति चन्द्र शास्त्री
(मुनि) सुमन्त भद्र जी
सुमेर चन्द जैन
(मुंशी) सुमेर चन्द जैन
सुमेरु चन्द्र जैन 'दिवाकर'
(डॉ०) सुरेन्द्र कुमार आर्य
सुरेन्द्र कुमार जैन जौहरी
(डॉ०) सुरेन्द्र कुमार शर्मा
सुरेन्द्र पाल सिंह
(डॉ०) सुरेश गौतम

सुरेशचन्द्र जैन
(प्रो०) सुरेशचन्द्र गुप्त
(मुनि) सुव्रत शास्त्री जी
(विश्वधर्म प्रेरक मुनि) सुशील कुमार जी
(डॉ०) सुशीलचन्द्र दिवाकर
सुशील जैन
(डॉ०) सूर्यकान्त बाली
सैयद शाहबुद्दीन
सोमपाल शर्मा
(डॉ०) सोहनकृष्ण पुरोहित
स्वामी साहिब काज़मी
हजारीलाल काका 'बुंदेलखंडी'
(डॉ०) हरीन्द्र भूषण जैन
हरेन भूमिज
(डॉ०) हरेन्द्र प्रसाद वर्मा
हुकमचन्द जैन
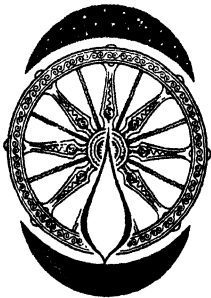
परिशिष्ट-२

दातारों की नामावलि

३२०००)-रुपये

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के जयपुर वर्षायोग (१९८२ ई०) के अवसर पर श्रद्धालु श्रावक-श्राविकाओं द्वारा भेंट

२५९९९)५१ रुपये

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी न्यास (पजी०) दिल्ली द्वारा अनुदान

६००१)-रुपये

अजित प्रसाद जैन पटाखेवाले
१२९८ वकीलपुरा, दिल्ली-११०००६

५००१)-रुपये

अनन्त कुमार जैन
जैन मैडिको, १४०१ बाजार गुलियान, दिल्ली-११०००६

डा० कैलाशचन्द्र रवीन्द्र कुमार जैन
३१ डिप्टीगंज, सदर बाजार, दिल्ली-११०००६

(श्रीमती) पुष्पा जैन, धर्मपत्नी श्री अनन्त कुमार जैन
१२९८ वकीलपुरा, दिल्ली-११०००६

(श्रीमती) शकुन्तला जैन, धर्मपत्नी श्री अजितप्रसाद जैन पटाखेवाले
१२९८ वकीलपुरा, दिल्ली-११०००६

(श्रीमती) शकुन्तला जैन धर्मपत्नी श्री अजित प्रसाद जैन जौहरी
२९४२ कटरा खुशहालराय, किनारी बाजार,
दिल्ली-११०००६

५०००)-रुपये

कश्मीरचंद गौधा
शान्ति विजय एण्ड कं०, ५२ जनपथ, नई दिल्ली-११०००२

प्रद्युमन कुमार जैन, सुपुत्र स्व० श्री मोरीमल जैन सर्राफ
३२२ दरीबा कलां, दिल्ली-११०००६

रमेशचन्द्र जैन
पी० एस० जैन कं० लि०, ७-ए राजपुर रोड,
दिल्ली-११००५४

सुमेर चन्द जैन मैदावाले
दिल्ली वनस्पति सिंडीकेट, १८१७ खारीबावली
दिल्ली-११०००६

३१००)-रुपये

श्रीपाल जैन मोटर वाले
१ कोर्ट रोड, सिविल लाइन्स, दिल्ली-११०००६

३०००)-रुपये

सुरेश चन्द जैन
२५ डिप्टीगंज, सदर बाजार, दिल्ली-११०००६

२५००)-रुपये

अनिल कुमार जैन, सुपुत्र श्री दरबारीमल जैन साड़ीवाले
१/४२२५-ए अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-११०००२

२२००)-रुपये

बलवन्तराय जैन
१८-ए, सी० सी० कालोनी, दिल्ली

२१००)-रुपये

नानगराम जैन जौहरी
२०३२-ए, गली बर्फवाली, किनारी बाजार,
दिल्ली-११०००६

२०००)-रुपये

(श्रीमती)कुसुम जैन, धर्मपत्नी श्री विमल कुमार जैन
डी-९ विवेक विहार, शाहदरा, दिल्ली-११००३२

बुद्धामल ओमप्रकाश जैन सर्राफ
गुड़ बाजार, रेवाड़ी-१२३४०१ (हरियाणा)

(श्रीमती) राजमती जैन, धर्मपत्नी श्री नन्हेमल जैन
२५ डिप्टीगंज, सदर बाजार, दिल्ली-११०००६

१५००)-रुपये

(श्रीमती) सोमादेवी जैन धर्मपत्नी स्व० श्री खेमचन्द जैन
३६६४ चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

११०१)-रुपये

नरेश चन्द जैन
नरेश उद्योग, लोनी इण्डस्ट्रीज एरिया, लोनी, गाजियाबाद (उ० प्र०)

११००)-रुपये

महेशचंद्र जैन, सुपुत्र स्व० श्री भगत राय जैन
जी ६६, मस्जिद मोठ, नई दिल्ली-११००४८

१००१)-रुपये

अजितप्रसाद जैन ठेकेदार
५-ए/२८ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

अजित प्रसाद जैन पीतलवाले
४८२६/२४ प्रहलाद गली, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

अनिल कुमार जैन, सुपुत्र श्री अरहदास जैन बिजलीवाले
४३६४-६७/४ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

अभिमन्यु कुमार, सुपुत्र स्व० श्री अतरचंद जैन
एम १५७, ग्रेटर कैलाश पार्ट II, नई दिल्ली-११००४८

उलफतराय विमल कुमार जैन
डी-९ विवेक विहार, शाहदरा, दिल्ली-११००३२

कमलकान्त जैन
१४९० कूँचा सेठ, दरीबाकलां, दिल्ली-११०००६

कृष्णकुमार जैन
अशर्फी मैडिको, ३ दीवानहाल, चांदनी चौक, दिल्ली-११०००६

(श्रीमती) गुणमाला जैन, धर्मपत्नी स्व० श्री पूरनमल जैन जौहरी
१२२ दरीबाकलां, दिल्ली-११०००६

(श्रीमती) जयमाला जैन मातेश्वरी डा० एस० के० जैन
५६५ एसप्लेनेड रोड, दिल्ली-११०००६

(श्रीमती) जयवन्ती जैन
१४९० कूँचा सेठ, दरीबाकलां, दिल्ली ११०००६

जिनेन्द्र कुमार जैन
५० ओल्ड थारगूपेठ, बंगलौर-५३

(श्रीमती) डैजी जैन
१४९० कूचा सेठ, दरीबाकलां, दिल्ली-११०००६

ताराचन्द जिनेन्द्र कुमार जैन कागजी
जिनेन्द्र पेपर मार्ट, २३६७ छत्ता शाहजी, चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

दरोगामल जैन कागजी
धनेश पेपर मार्ट, चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

दामचन्द्र बाफना
ई ४५ ग्रेटर कैलाश पार्ट II, नई दिल्ली-११००४८

धनीचन्द जैन सितारेवाले, सुपुत्र स्व० श्री महावीर प्रसाद जैन
३३७ दरीबाकला, दिल्ली-११०००६

नन्नूमल जैन (विजया बैंक)
१४३१ फव्वारा, चांदनी चौक, दिल्ली ११०००६

नन्नूमल जैन जौहरी
१/४२३८, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

नरेन्द्र कुमार जैन, सुपुत्र स्व० श्री नेमचन्द जैन जौहरी
४८४१ ए/२४ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

नरेशचन्द जैन मादीपुरिया, सुपुत्र स्व० श्री कुन्दनलाल मादीपुरिया
२ टोडरमल रोड, बंगाली मार्केट, नई दिल्ली-११०००१

नानकचंद जैन, सुपुत्र श्री सलेकचंद जैन
जे-८६ कालका जी, नई दिल्ली

पद्मसैन जैन कागजी
२४८६ नाईवाड़ा, चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

पुरुषोत्तम जैन, सुपुत्र स्व० श्री जुगनलाल जैन
१७/२ भागीरथ पैलेस, चाँदनी चौक, दिल्ली-११०००६

प्रमोद कुमार जैन
पी० के जैन एण्ड संस, २३५ कूँचा मीर आशिक, चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

प्रेमचन्द जैन मादीपुरिया
प्रेमसन, ११७६/७७ कटरा खुशहालराय, किनारी बाजार, दिल्ली-११०००६

फूलचन्द जैन कागजी
२३१० धर्मपुरा, बाजार गुलियान, दिल्ली-११०००६

बाबू दयाल जैन 'नीलकमल', सुपुत्र स्व० श्री बिशम्भर दयाल जैन
एम० २, जगतराम पार्क, लक्ष्मीनगर, दिल्ली-११००९२

भुजप्पा अप्पाराव यलगुद्री
मु० पो० माहिषवाडीगी, ता० अथणी, जिला बेलगांव, कर्नाटक

महेन्द्र कुमार जैन
ई-१०६, ग्रेटर कैलाश-३ (मस्जिद मोठ),
नई दिल्ली-११००४८

(श्रीमती) मैनासुन्दरी जैन, धर्मपत्नी श्री पवन कुमार जैन जौहरी
३२२ दरीबाकलां, दिल्ली-११०००६

मोहनलाल, रमणलाल, विजयकुमार गंगवाल
भगवान् महावीर मार्ग, मु० पो० चालीस गांव,
जि० बेलगांव, कर्नाटक

मोहनलाल श्रीपाल जैन
३७४६ गली मामन जमादार, पहाड़ी धीरज,
दिल्ली-११०००६

रमेशचन्द जैन, सुपुत्र स्व० श्री मीरीमल जैन सर्राफ
३२२ दरीबाकलां, दिल्ली-११०००६

रमेशचन्द संजीव कुमार जैन
१२११/१६ कटरा सत्यनारायण, चांदनी चौक,
दिल्ली-११०००६

(श्रीमती) रीटा जैन
१४६०, कूचा सेठ, दरीबाकलां, दिल्ली-११०००६

रोशनलाल जैन सुपुत्र स्व० श्री अतरचंद जैन
ई ११४ मस्जिद मोठ, नई दिल्ली-११००४८

विनय कुमार जैन दूधवाले सुपुत्र स्व० श्री फ़िरोजीलाल जैन
३४४ दरीबाकलां, दिल्ली-११०००६

विमल किशोर जैन
१४६० कूचा सेठ, दरीबाकलां, दिल्ली-११०००६

(श्रीमती) शकुन्तला देवी जैन धर्मपत्नी श्री मक्खनलाल जैन
३५ रामनगर, पहाड़गंज, नई दिल्ली-११००५५

शान्तप्पा यशवन्तप्पा मिर्जी
मु० पो० चिकोड़ी, जि० बेलगाव, कर्नाटक

शेखर जैन (स्व० श्री उग्रसेन जैन की स्मृति में)
दिगम्बर आर्ट प्रेस, २३५० धर्मपुरा, दिल्ली-११०००६

श्रीमन्दरकुमार जैन कागजी सुपुत्र स्व० श्री नेमचन्द जैन कागजी
१४९२ कूचा सेठ, दरीबाकलां, दिल्ली-११०००६

सनतकुमार जैन सितारेवाले सुपुत्र श्री महावीर प्रसाद जैन
३३७ दरीबाकलां, दिल्ली-११०००६

सलेकचन्द जैन सुपुत्र श्री चन्द्रभान जैन
१५०६ कूचा सेठ, दरीबाकलां, दिल्ली-११०००६

सातगौडा बालगौडा पाटील
मजलेकर, सांगली, महाराष्ट्र

सुखमाल जैन सुपुत्र स्व० श्री प्रेमचन्द जैन सितारेवाले
ग्लास बिड्स एम्पोरियम, २६३० किनारी बाजार,
दिल्ली-११०००६

(श्रीमती) सुन्दर देवी जैन
बी-४ शास्त्री पार्क, दिल्ली

सुभाष चन्द जैन सुपुत्र स्व० श्री जयचन्द जैन बिजलीवाले
एस० आर० लाईट्स, १८५३ भागीरथ पैलेस,
चांदनी चौक, दिल्ली-११०००६

सुमत प्रसाद जैन
बर्द्धमान ड्रग्स, १६१७ दरीबाकलां, दिल्ली-११०००६

सुमत प्रसाद जैन सुपुत्र स्व० श्री जुगल किशोर जैन कपड़ेवाले,
जैन टैक्सटाइल्स, ६११ गांधी क्लाथ मार्केट, चांदनी चौक,
दिल्ली-११०००६

सुमेरचन्द जैन (मुंशी जी)
२५६६ छत्ता प्रतापसिंह, किनारी बाजार,
दिल्ली-११०००६

सुमेर चन्द सुशील कुमार जैन कागजी
१४६२ कूंचा सेठ, दरीबाकला, दिल्ली-११०००६

सुरेश चन्द जैन सुपुत्र स्व० श्री निरंजनलाल जैन
के-५० नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

हौसक्का भीमगौड नसलापुरे (गलतगा)
मु० पो० बोडकीहाल, ता० चिकौडी, जि० बेलगांव, कर्नाटक

१०००)-रुपये

अज्ञात श्रावक बन्धु द्वारा ब्र० माणिकबाई (संघस्थ)

अज्ञात श्रावक बन्धु द्वारा ब्र० माणिकबाई (संघस्थ)

त्रिलोक चन्द महेन्द्र कुमार जैन
४४६४ गली राजा पट्टनमल, पहाड़ी धीरज,
दिल्ली-११०००६

(श्रीमती) निर्मला जैन धर्मपत्नी श्री लालचन्द जैन एडवोकेट
४७६८/२३ भरतराम रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-११०००२

पन्नालाल सुरेश चन्द जैन
१२२८ वकीलपुरा, दिल्ली-११०००६

महताब सिंह जैन जौहरी,
३०४ दरीबाकलां, दिल्ली-११०००६

महेन्द्र कुमार जैन ठकेदार
महावीर प्रसाद एण्ड सन्स, चावडी बाजार,
दिल्ली-११०००६

रघुवीर सिंह जैन चैरिटेबल ट्रस्ट
७/३२ दरियागज, नई दिल्ली-११०००२

राजेन्द्र प्रसाद जैन (कम्मोजी)
१३०४ गली गुलियान, दिल्ली-११०००६

लखमीचन्द जिनेन्द्र कुमार जैन
गोयल एण्ड कं०, १५२२ कूचा सेठ, दरीबाकलां,
दिल्ली-११०००६

लालचन्द जैन एडवोकेट
४७६८/२३, भरतराम रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-११०००२

८५१)-रुपये

जिनगौडा अप्पगौडा पाटील
मु० पो० सदलगा, ता० चिकोडी, जिला बेलगांव(कर्नाटक)

५५१)-रुपये

मै० जैन इंजीनियरिंग वर्क्स
३२/२ ए, भीकम सिंह कालोनी, विश्वास नगर, दिल्ली

मै० जैनसंस गैरेज टूल्स
सदर बाजार, दिल्ली-११०००६

५०१)-रुपये

एम० एल० जैन
२१ बी अर्जुन नगर, नई दिल्ली-११००२१

जयनारायण जैन
२०-ए अशोक पार्क, नई रोहतक रोड,
नई दिल्ली-११०००५

जे० के० जैन
मनोज इंजीनियरिंग वर्क्स, जैन मंदिर गली,
रघुबरपुरा-न. १, दिल्ली-३१

मै० डी० फार्मा लि०
बी-१४२ ओखला, फेज-१, नई दिल्ली

मै० डी० फार्मा लेब० प्रा० लि०
८५६४ गोशाला मार्ग, नई किशनगंज, दिल्ली-११०००६

मै० निकोन लाईट्स
१८६२/२७ हरीराम इलैक्ट्रीक मार्केट, भागीरथ पैलेस,
दिल्ली-११०००६

मै० महावीर ट्रेडिंग कम्पनी
१८५३ भागीरथ पैलेस, चांदनी चौक, दिल्ली-११०००६

यतेन्द्र जैन सुपुत्र श्री एन० एस० जैन
जी-४ यमुना अपार्टमैन्ट, अलकनन्दा, नई दिल्ली

मै० लोकेश सिनेमा
नागलोई जाट, दिल्ली

(श्रीमती) संतोष जैन धर्मपत्नी श्री ज्ञानसागर जैन
१२६५ वकीलपुरा, दिल्ली-११०००६

मै० सुप्रीम लैम्प शेड कं०
भागीरथ पैलेस, चांदनी चौक, दिल्ली-११०००६

वीरेन्द्र कुमार जैन सी० ए०
४३६४/४ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

५००)-रुपये

श्रीमती छुहारो देवी हरीचन्द जैन धर्मार्थ न्यास
२३ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

(श्रीमती) बसन्ती देवी जैन,
३७५ दरीबाकलां, दिल्ली-११०००६

महेन्द्र कुमार जैन
६२७/३ श्री पारसनाथ रोड, पानीपत(हरियाणा)

२५१)-रुपये

अजित प्रसाद जैन एडवोकेट
एक्स ४१-ए ग्रीन पार्क, नई दिल्ली-११००४८

आई० डी० जैन
एल-१/२३८-बी, एल० आई० जी०, डी० डी० ए०
फ्लैट्स, कालकाजी, नई दिल्ली-११००१६

आर० आर० ट्रेडिंग कं०
अमरनाथ बिल्डिंग, भागीरथ पैलेस, चांदनी चौक,
दिल्ली-११०००६

आर० के० जैन,
जी-१४१८ चितरंजन पार्क, कालका जी,
नई दिल्ली-११००१९

ए० के० जैन
जे० आर० इलक्ट्रोनिक्स, १८५३ भागीरथ पैलेस,
चांदनी चौक, दिल्ली-११०००६

एम० एस० लाईट,
जनतपुरी, दिल्ली

कश्मीरी लाल जैन एडवोकेट
१४८१ पंजाबी मोहल्ला, सब्जी मण्डी, दिल्ली-११०००७

किरणचन्द जैन एण्ड सन्स,
६१७-ए चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

ज्ञानचन्द्र जैन
८८० ईस्ट पार्क रोड, करौल बाग, नई दिल्ली-११०००५

जे० आर० इण्डस्ट्रीज
३/१ आनन्द पर्वत इण्ड० एरिया, करौल बाग,
नई दिल्ली-११०००५

लोढिया ग्लास एम्पोरियम
महावीर नगर, फ़िरोजाबाद (उ० प्र०)

विशम्भर दास महावीर प्रसाद जैन, सर्राफ
चादनी चौक, दिल्ली-११०००६

भूषण कुमार विजय कुमार जैन
कटरा सत्यनारायण, चांदनी चौक, दिल्ली-११०००६

मोहन कुमार जैन एडवोकेट
३६७४ नया बाजार, दिल्ली-११०००६

वीरा इलैक्ट्रिक कं०
अमरनाथ बिल्डिंग, भागीरथ पैलेस, चांदनी चौक,
दिल्ली-११०००६

श्रीपाल मनोज कुमार जैन
कटरा सत्यनारायण, चादनी चौक, दिल्ली-११०००६

सुधीर कुमार जैन सुपुत्र श्री नरेश चन्द जैन
१५०७ कूचा सेठ, दरीबाकलां, दिल्ली-११०००६

सुरेशचन्द जैन
द्वारा मै०जयचंदा इलैक्ट्रिक्स,१०/२०४६-ए, गली नं०-१,
राजगढ़ एक्स०, दिल्ली

सूर्या इलैक्ट्रिक क०
१८५३ भागीरथ पैलेस, चांदनी चौक, दिल्ली-११०००६

१२१)-रुपये

देवेन्द्र कुमार जैन, टाइपिस्ट दिल्ली विश्वविद्यालय
मै० डी० सी० उमरावसिंह, ३०११ मस्जिद खजूर, किनारी
बाजार, दिल्ली-११०००६

१०१)-रुपये

गोपाल जी द्वारा मै० अमर डैकोरेटर्स
महालक्ष्मी मार्केट (पहली मंजिल) भागीरथ पैलेस,
चादनी चौक, दिल्ली-११०००६

मै० शालीमार इलैक्ट्रिक क०
बाजीची माधोदास, दिल्ली-११०००६

मै० सुपरलाईट इलैक्ट्रोनिक्स,
भागीरथ पैलेस, चांदनी चौक, दिल्ली-११०००६

५००१)-रुपये

महावीर प्रसाद नरेन्द्र कुमार जैन, गाजियाबाद वाले
दीपक इंडस्ट्रीज, गाँव-लिबासपुर, दिल्ली-११००४२

विशेष : महाराज श्री के जयपुर वर्षायोग—सन् १९८२ के अवसर पर श्रद्धालु श्रावक-श्राविकाओं द्वारा प्राप्त ३२०००) रुपये का विवरण सम्बद्ध व्यक्ति से प्राप्त नहीं हो सका है, अतः पृथक् नामोल्लेख नहीं किया जा सका।

हे जिन-वाणी के सार्थवाह !

हे जिन-वाणी के सार्थवाह !
युगश्रेष्ठ ! तपी !
निर्ग्रन्थ ! अहिंसा के साधक !
करुणा के अक्षय स्रोत !
धर्म के दीप्त दिवाकर !!

हे तत्वज्ञान के मूर्त रूप,
आलोक-पुरुष !
तुम संस्कृति के शीतल सुधांशु !
तुम सत्य, शुद्ध, अविरुद्ध रूप !!

तुम हो अजेय !
तुमने पर्वत को और अधिक ऊँचाई दी—
जिन-प्रतिमाएँ स्थापित करके !
तुम युग-साधक !
तुम दिगम्बरत्व की चरम साधना के ललाट !
तुम वाणी के उद्गीथ !
धर्म के सिन्धु—
निरन्तर प्रवहमान !!

निवास : ३ सी-१४ नई रोहतक रोड,
करौल बाग, नई दिल्ली-११०००५

डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त
प्रधान संपादक

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज भूतपूर्व राष्ट्रपति महामहिम फखरुद्दीन अली अहमद को आशीर्वाद प्रदान करते हुए

तत्कालीन उपराष्ट्रपति श्री गोपाल स्वरूप पाठक महाराजश्री द्वारा सम्पादित विशालकाय ग्रन्थ
'भगवान् महावीर और उनका तत्त्व दर्शन' का विमोचन करते हुए

तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री आचार्यश्री के जन्मजयन्ती समारोह मे आशीर्वाद लेते हुए

समयानुकूल मंत्रणा

मंगल - सामग्री - अर्पण
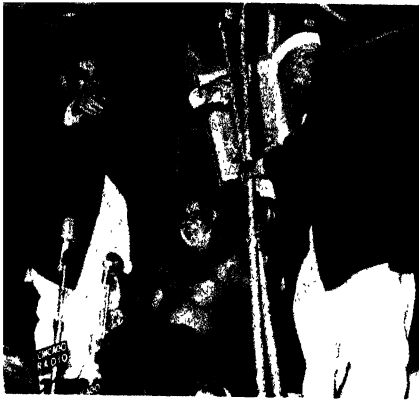
राष्ट्रीय सुरक्षा कोष के लिए
रजत दंड ग्रहण करते हुए

उपदेश - श्रवण की दो मुद्राएं

जैन समाज की ओर से सम्मान एवं आभार

↑ भगवान् महावीर स्वामी के पच्चीस सौवें परिनिर्वाण महोत्सव की राष्ट्रीय समिति की बैठक मे
संसद् भवन मे तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी
एवं अन्य मन्त्रियो के मध्य महाराजश्री ↓
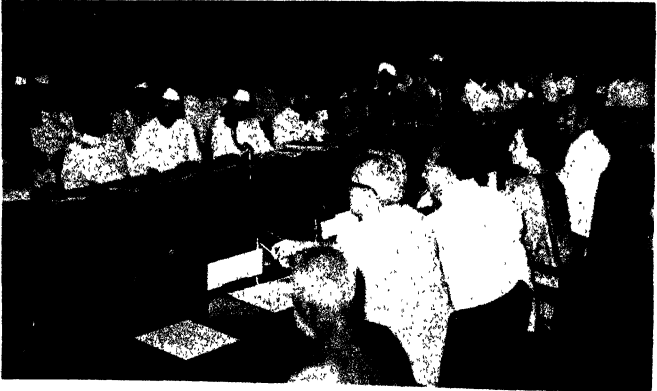
भगवान् महावीर स्वामी के २५०० वें निर्वाण महोत्सव पर आचार्यश्री द्वारा रचित 'भगवान् महावीर और उनका तत्व दर्शन' ग्रन्थ के विमोचन समारोह में तत्कालीन उपराष्ट्रपति महामहिम श्री गोपाल स्वरूप पाठक

प्रसिद्ध विद्वान एवं राजनैतिज्ञ डा० सम्पूर्णानन्द को आचार्यश्री 'सिरि भूवलय' का महत्त्व समझाते हुए

तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष एवं भूतपूर्व मुख्यमंत्री (कर्नाटक) श्री निजलिगप्पा आचार्यश्री से शुभाशीर्वाद ग्रहण करते हुए
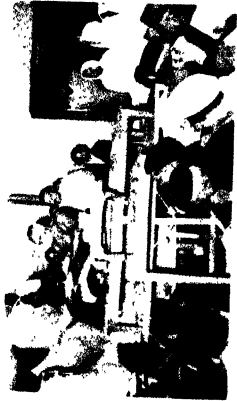
तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष श्री यू० एन० ढेबर आचार्यश्री से धर्म-ग्रन्थ प्राप्त करते हुए

तत्कालीन गृहमंत्री श्री गोविन्द वल्लभ पत एक समारोह मे आचार्यश्री से ग्रन्थ-राज 'सिरि भूवलय' के सम्बन्ध में विचार करते हुए

राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री मोहनलाल सुखाडिया को आचार्यश्री द्वारा आशीर्वाद

भूतपूर्व केन्द्रीय मंत्री श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी आचार्यश्री के सान्निध्य में

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री वेंकटरमण अय्यर एवं धर्ममूर्ति श्री जुगलकिशोर बिरला आचार्यश्री के सान्निध्य मे

जयपुर की महारानी गायत्रीदेवी आचार्यश्री की प्रशस्ति करते हुए

बंगलौर उच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री टी० के० तुकौल आचार्यश्री के चरणों में

भूतपूर्व राज्यपाल (बंगाल) श्री धर्मवीर द्वारा आचार्य श्री के सान्निध्य में धर्म-सभा को सम्बोधन

भूतपूर्व मुख्यमंत्री (राजस्थान) श्री शिवचरण माथुर तथा राज्यपाल महोदय आचार्य श्री को भाव-सुमन अर्पित करते हुए

आनन्द जी कल्याण जी पेढ़ी अहमदाबाद के अध्यक्ष सेठ कस्तूर भाई, मध्यप्रदेश के योजनामंत्री श्री मिश्रीलाल गंगवाल तथा अन्य श्रावक समाज

केन्द्रीय मंत्री श्री वी० शकरानन्द 'श्री देशभूषण आरोग्यधाम' कोथली के शिलान्यास समारोह मे

कर्नाटक के मुख्यमंत्री श्री रामकृष्ण हेगड़े को आचार्य श्री द्वारा आशीर्वाद

बेलगाँव की धर्म-सभा में आचार्य श्री के साथ तत्कालीन राजस्व मंत्री श्री रत्नप्पा कुंभार, जेल अधीक्षक, केन्द्रीय कारागृह, बेलगांव एवं अन्य समाज-प्रमुख
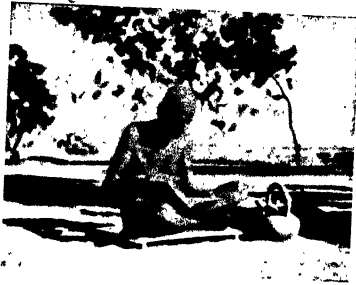
बलिहारी गुरु आपकी !

दिगम्बरत्व की विलुप्त-प्राय: परम्परा को बीसवीं शताब्दी में पुन: प्रतिष्ठित करने वाले
परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज

बलिहारी गुरु आपकी !

आचार्य शांतिसागर जी द्वारा दीक्षित स्याद्वाद केसरी श्री पायसागर जी महाराज
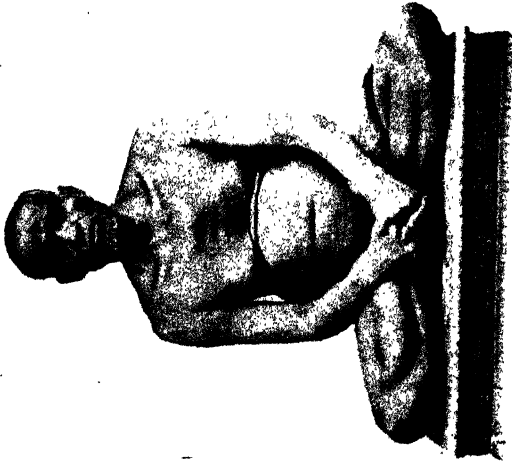
आचार्य श्री पायसागर जी द्वारा दीक्षित परम तपोनिधि श्री जयकीर्ति जी महाराज, जिनसे कालान्तर में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी ने दीक्षा प्राप्त की ।

सामायिक में लीन उपसर्ग-विजेता आचार्यश्री की यौवनावस्था का एक दुर्लभ चित्र

आत्म-चिन्तन में लीन वयोवृद्ध आचार्य श्री

दो युगप्रमुख आचार्य—आचार्य धर्मसागर जी महाराज तथा आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज

संघस्थ कतिपय मुनियों के मध्य आचार्य-द्वय

भगवान् महावीर स्वामी के २५०० वे परिनिर्वाण महोत्सव के अवसर पर महानगरी दिल्ली में पट्टाचार्य धर्मसम्राट् श्री धर्मसागर जी महाराज एवं आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ससंघ धर्मदेशना करते हुए।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज, आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज. गणधर श्री कुंथु सागर जी महाराज ससंघ शांतिगिरि, कोथली के श्री मन्दिर जी के प्रकोष्ठ मे

गणधर श्री कुंथु सागर जी एवं अन्य मुनिगणों के मध्य विशेष जाप की मुद्रा में

अपने गुरु भाई श्री कुलभूषण जी महाराज एवं अन्य त्यागीवृन्द के साथ

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अपने धर्मप्रभावक शिष्य एलाचार्य श्री विद्यानन्द जी एवं संघ के अन्य त्यागीवृन्द के साथ

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी के प्रभावी शिष्य आचार्य सुबलसागर जी द्वारा संघ सहित धर्म-प्रभावना

शांतिगिरि के लतामंडप में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी तथा मुनि वरांगसागर जी (क्षुल्लक अवस्था में) की भक्ति-प्रणति करते हुए एक श्राविका

गणधराचार्य कुंथुसागर जी को अभिनन्दन ग्रन्थ की रूपरेखा से परिचित कराते हुए समिति के मंत्री श्री सुमतप्रसाद जैन एवं अन्य सहयोगी

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी एवं मुनि श्री विद्यानन्द जी के श्रीचरणों में प्रणति निवेदन करते हुए जैनविद्या विशेषज्ञ डॉ० उपाध्याय

भाचार्यश्री की प्रेरणा से निर्मित कोषली के जिनालय का भव्य एवं उत्तुंग शिखर
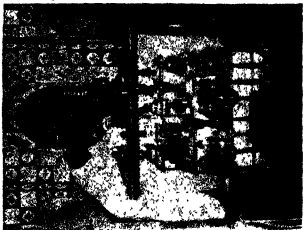
अंखियाँ हरि-दर्शन की प्यासी !

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी द्वारा प्रस्थापित पर्वतीय तीर्थक्षेत्र चूलगिरि (जयपुर) में
भगवान् महावीर स्वामी की विशाल एवं उत्तुंग प्रतिमा
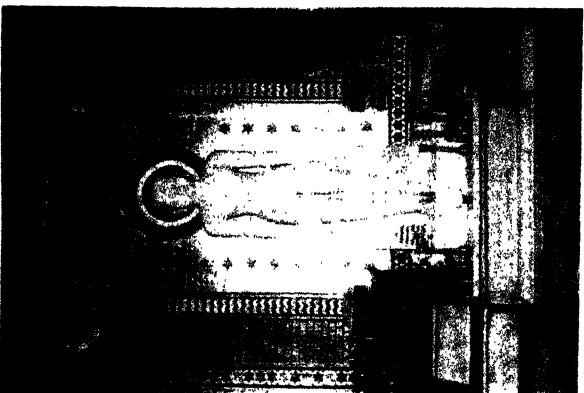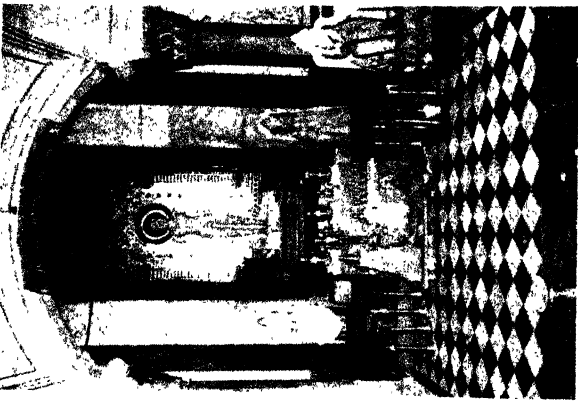
आचार्यश्री की प्रेरणा से निर्मित कोथली के विशाल मंदिर मे भगवान् महावीर स्वामी की मनोज्ञ प्रतिमा के दो छायाकन
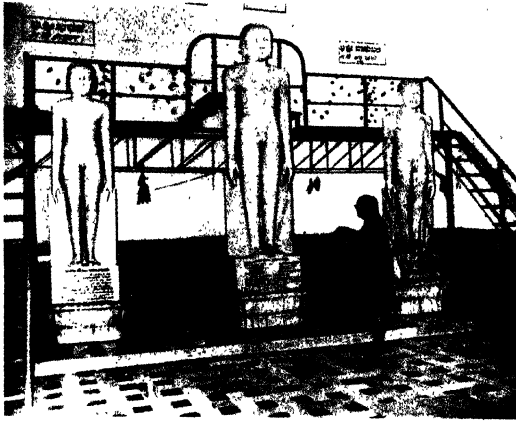
शांतिगिरि का कला–वैभव

भ० भरत, भ० ऋषभदेव तथा भ० बाहुबलि की प्रतिमाओं के दर्शन करते हुए आचार्यश्री

तीर्थंकर युगमंधर स्वामी

विदेह क्षेत्र स्थित
तीर्थंकर प्रकोष्ठ

शीतांगार का कला—वैभव

मंदिर के भीतरी भाग में आकर्षक प्रतिमाएं

तीर्थंकर प्रतिमा

भगवान् महावीर

कमल मंदिर

निर्माणाधीन समवशरण
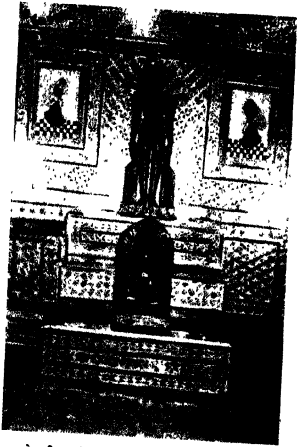
जैन कला–वैभव

कोथली का ऐतिहासिक जैन पद्मावती मन्दिर

नवनिर्मित मंदिर में 'समयसार' का प्रस्तरांकन

कोथली स्थित प्राचीन जैन मन्दिर

शांतिगिरी मे प्रतिस्थापित देवी ज्वालामालिनि तथा देवी पद्मावती

जैन कला-वैभव

कुम्भोज (बाहुबलि) का एक मनोरम दृश्य

कुम्भोज स्थित भगवान् बाहुबलि

कागवाड स्थित भगवान् शांतिनाथ

कागवाड़ की गुफा में दुर्लभ तीर्थंकर प्रतिमा

जैन कला—वैभव

प्राचीन तीर्थंकर प्रतिमा (सदलगा)

कोल्हापुर मे आचार्यश्री की प्रेरणा से निर्मित
भ० आदिनाथ की उत्तुंग प्रतिमा
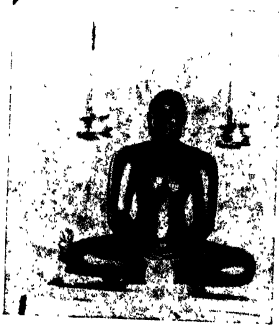
भगवान् शांतिनाथ (शेडवाल)

भ० शांतिनाथ (सदलगा)

जैनमठ, कोल्हापुर की
कलात्मक प्रतिमा

जैन मुनि परम्परा मे उपाध्याय परमेष्ठी की
देवगढ़ से प्राप्त एक दुर्लभ प्रतिमा

आचार्यश्री द्वारा अयोध्या मे निर्मित भगवानन् ऋषभदेव के मन्दिर का विशालकाय मुख्य द्वार
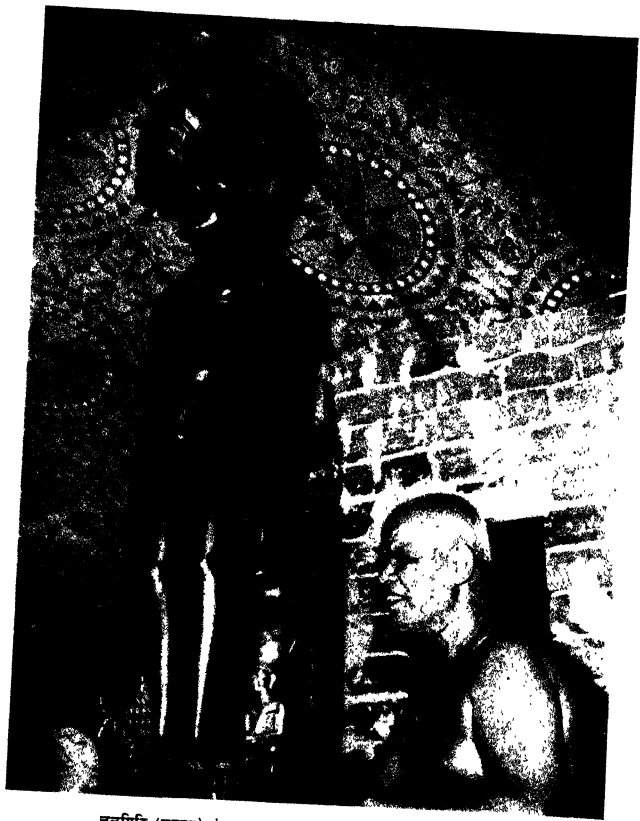
चूलगिरि (जयपुर) पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के सफल आयोजन पर
आचार्यश्री द्वारा आत्मसन्तोष की अनुभूति

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव (जयपुर)

धर्मानुष्ठान की विभिन्न मुद्राएं

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव (जयपुर)

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर आचार्यश्री के सम्मान में श्रद्धालुओं द्वारा निर्मित 'श्री देशभूषण नगर' एवं आचार्यश्री द्वारा पंचकल्याणक की विभिन्न गतिविधियों का निरीक्षण

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव (जयपुर)

चूलगिरि (जयपुर) में आचार्यश्री द्वारा सम्पन्न विशिष्ट धार्मिक अनुष्ठान
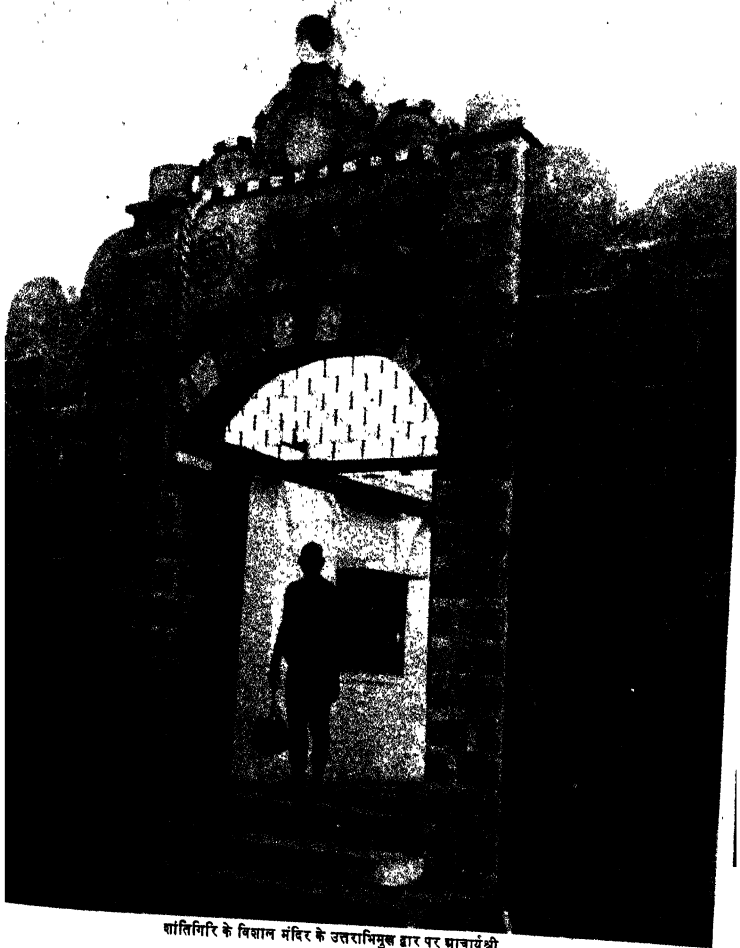
शांतिगिरि के विशाल मंदिर के उत्तराभिमुख द्वार पर प्राचार्यश्री

सर्वधर्म सद्भाव

श्री लक्ष्मीनारायण मंदिर (बिरला मंदिर) दिल्ली, के गीता भवन मे धर्मोपदेश

कर्नाटक मे धर्मसभा को सम्बोधन

जयपुर मे प्रवचन
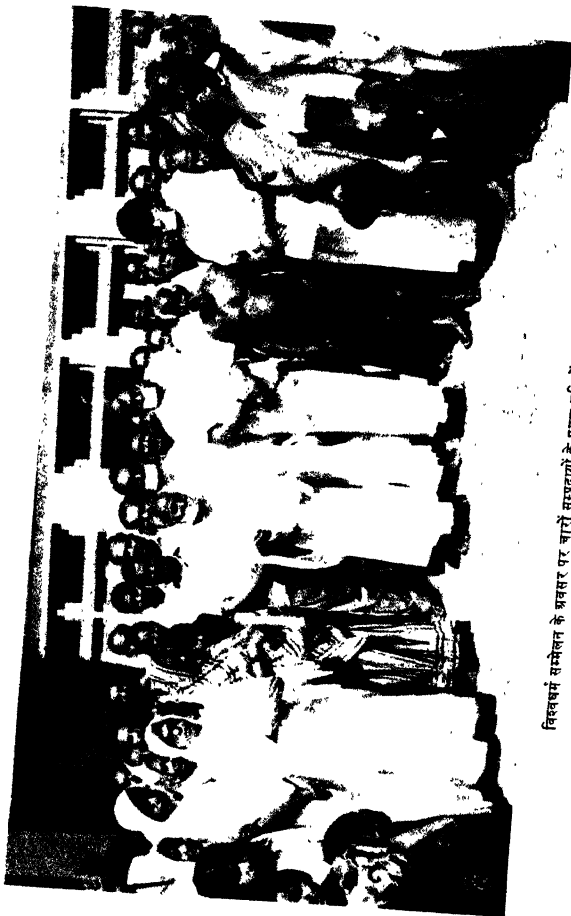
विश्वधर्म सम्मेलन के अवसर पर चारों सम्प्रदायों के प्रमुख मुनियों, साध्वियों आदि के मध्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी

क्षमावाणी पर्व पर आचार्यश्री के साथ मुनि श्री सुशीलकुमार जी, मुनि श्री लाभचन्द्र जी, अन्य जैन सन्त एवं तत्कालीन मुख्य कार्यकारी पार्षद श्री राधारमण

जैन सन्तों के साथ आचार्य श्री
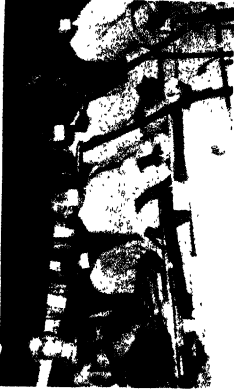
आचार्य श्री एवं जैन सन्तों के सान्निध्य में सभा को सम्बोधित करते हुए श्री जगन्नाथ पहाड़िया

आचार्य श्री द्वारा चतुर्विध संघ को सम्बोधन

विश्वधर्म सम्मेलन की शोभायात्रा मे संत कृपालसिंह, मुनि श्री सुशील कुमार आदि धर्म गुरुओं के मध्य आचार्य श्री देशभूषण जी

कम्बोडिया के बौद्ध साधु आचार्य श्री के साथ

जयपुर स्थित वैष्णव तीर्थ गलता जी मे जैनेतर सन्तों के साथ भक्तों की अर्चना स्वीकार करते हुए आचार्य श्री

विदेशी विद्वानों की आचार्य श्री में आस्था

जर्मन तथा अमरीका के विद्वानों द्वारा आचार्यश्री के मानवोत्थान संबंधी कार्यों की सराहना

जापान के प्रो० नाकामुरो को आचार्य श्री द्वारा शास्त्र-प्रदान

विश्व शांति सम्मेलन मे आचार्य श्री एक इटेलियन प्रोफेसर को धर्म-ग्रन्थ प्रदान करते हुए

विदेशी भक्तों के मध्य

साहित्य–पुरुष

स्वाध्याय

साहित्य के आराधक

दिगम्बर आर्ट कॉटेज में श्री उग्रसेन के साथ मुद्रण की तकनीक का आचार्य श्री द्वारा निरीक्षण

आचार्यश्री का हस्त-लेख

(हिन्दी का हस्तलेख)

(कन्नड़ का हस्तलेख)

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी द्वारा रूपान्तरित अंकलिपि मे निबद्ध सर्वभाषामय विश्व के अद्भुत ग्रन्थ
'सरि भूवलय' के दो पृष्ठों की प्रतिलिपि।

शुभश्री–सन् १६८२

"आस्था और चिन्तन" के सृजन का संकल्प

इतिश्री–सन् १६८६

अभिनन्दन ग्रन्थ के सफल प्रकाशन पर आचार्यश्री से आशीर्वाद ग्रहण करते हुए समिति के मन्त्री सुमतप्रसाद जैन
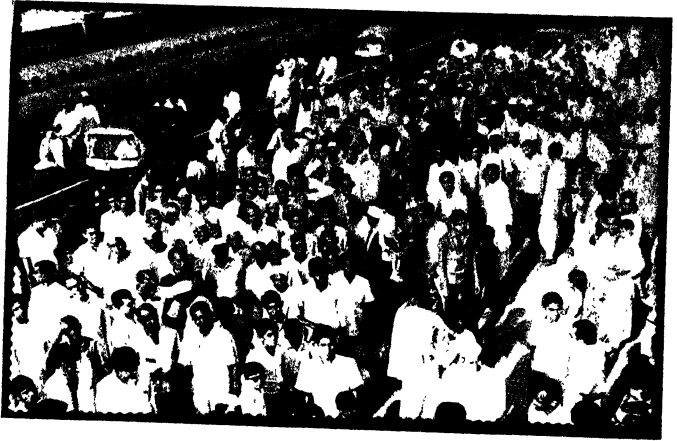
जयपुर नगर-प्रवेश के समय आचार्यश्री का भव्य स्वागत

नगर में अभूतपूर्व शोभा-यात्रा

अपराध-वृत्ति के शमनार्थ आचार्यश्री द्वारा विभिन्न कारागृहों में बन्दियो को धर्मोपदेश

ग्वालियर जेल मे दस्यु सुन्दरी फूलनदेवी द्वारा आचार्यश्री की वन्दना

जयपुर जेल मे प्रवचन

बेलगाव जेल मे अधिकारियों एवं बन्दियो द्वारा स्वागत

वह गृह जहाँ आचार्य श्री का जन्म हुआ

आचार्य श्री की पैतृक कृषि-भूमि एवं उनकी बालसुलभ क्रीडाओं का साक्षी आम्रवृक्ष

आचार्य श्री के पैतृक निवास में उनके निकट सम्बन्धियों के मध्य अभिनन्दन ग्रन्थ समिति के महामंत्री श्री सुमतप्रसाद जैन

आचार्य श्री के बालसखा से उनके प्रारम्भिक जीवन के बारे में जानकारी लेते हुए श्री सुमतप्रसाद जैन

आचार्य श्री द्वारा बाल कलाकार को प्रोत्साहन

आचार्यरत्न श्री देशभूषण शिक्षण प्रसारक मंडल द्वारा संचालित कोल्हापुर का कालिज

आचार्य श्री ... निर्मित कोथली की बाल पाठशाला

कोथली स्थित श्री देशभूषण हाई स्कूल के लिए भूमिदान करने वाले दलितवर्ग के ...
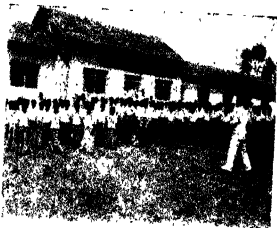
श्री देशभूषण हाई स्कूल के प्रांगण में विद्यार्थियों द्वारा व्यायाम प्रदर्शन

ग्राहार के निमित्त संकल्पपूर्वक द्वार-प्रेक्षण (पडगाहन)

कर-पात्र में ग्राहार-ग्रहण

निस्पृह साधक आचार्य श्री के केश-लोच का एक दृश्य

मुनि श्री विद्यानन्द जी को दिगम्बरी दीक्षा प्रदान करते समय
आचार्य श्री द्वारा उनका केश-लोंच

मुक्ति के लिए धर्मोपदेश

आचार्यश्री के चरणों में समर्पित दो धर्म-जिज्ञासु :
क्षुल्लक पार्श्वकीर्ति (वर्तमान मुनि विद्यानन्द जी) तथा
सुप्रसिद्ध उद्योगपति श्री साहू शांतिप्रसाद जैन

शांतिगिरि के अपराजितेश्वर द्वार पर
धर्म का अभय रूप

आसन्न-मृत्यु आर्यिका कृष्णामती जी को सम्बोधन

न जाने नक्षत्रों से कौन,
निमन्त्रण देता मुझको मौन !

संघस्थ क्षुल्लिका रत्नभूषण माता जी का
अग्नि को समर्पित पार्थिव शरीर

निर्भय निर्द्वन्द्व निश्छल निर्झर

मृदु मंद मंद मंथर मंथर

अवयव की दृढ मांसपेशियाँ !

वरद् हस्त

मंगलदायी हस्त-युगल

बन्दऊँ गुरु-पद कंज

ॐ